श्री रज्जब वाणी

(श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका टीका सहित)

इन्दव सवैया

दादु दिवाकर रश्मि निहार खिला यह रज्जब पंकज नीका ।
सुन्दर गंध गिरा इसकी करती सब रोम प्रसन्न सु जीका ।।
ज्ञान प्रदीप जगा कर के हरती अनयास महा तम ही का ।
सो सबके उपयोगि बनी सु लगा निज भाल 'नरायण' टीका ।।

टीकाकार—

संतकवि कविरत्न स्वामी नारायणदास

पुष्कर

अथ प्राक्कथन

सर्व नियन्ता सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा की अनुपम कृपा से, संत प्रवर श्री स्वामी दादू जी महाराज के सुयोग्य शिष्य श्री स्वामी रज्जब जी महाराज की यह अद्भुत अनुभव वाणी, श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका टीका सहित आप महानुभावों के कर कमलों में है। यह राजस्थानी संत साहित्य का अनुपम ग्रंथ है। इसका सामान्य ज्ञान मुझे श्री स्वामी रामदास जी महाराज दुबल धनियाँ से प्राप्त हुआ था। अब से पांच वर्ष पूर्व जब श्री दादू वाणी की श्री दादू गिरार्थ प्रकाशिका टीका श्री स्वामी भगवान्दास जी परमहंस की विशेष प्रेरणा से मैंने लिखी थी, उसका प्रकाशन होने के पश्चात् अनेक संतों ने मुझे प्रेरित किया कि श्री रज्जब वाणी की टीका अवश्य लिखो। उन संतों में से सब से अधिक आग्रह पूज्य श्री स्वामी मंगलदास जी महाराज श्री दादू महा विद्यालय मोती डूंगरी जयपुर का रहा, उन्होंने मुझे हस्त लिखित प्राचीन पुस्तक देकर लिखने में प्रवृत्त किया। मैंने उन की आज्ञा मान कर परमात्मा तथा संतों के बल पर यह कार्य आरंभ किया और उन्हीं की अनुपम कृपा से यह सुन्दर रूप में संपन्न भी हो गया। इसके पद भाग के भजनों पर तालें श्री स्वामी राघवदास जी संगीताचार्य, दयाल आश्रम निवाई (टोंक) राजस्थान ने बैठाई हैं तथा कुछ साखियों के संगीत सम्बंधी पारिभाषिक शब्दों के अर्थ बताने की भी कृपा की है। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूं। इस ग्रंथ को पांच भागों में विभाजित किया गया है—(१) साखी भाग के १९३ अंगों में ५३४२ साखी हैं। (२) पद भाग की २० रागों में २०९ भजन हैं। (३) सवैया भाग के २५ अंगों में ११६ सवैयादि कवित्त हैं और इसी भाग में श्री स्वामी रज्जब जी महाराज के भेंट के ३४ पद्य भी हैं। (४) लघु ग्रंथ भाग चार में १५ ग्रंथ हैं—(१) छंदत्रिभंगी ग्रंथ के तीन अंगों में ३३ पद्य हैं। (२) अरिल ग्रंथ के ९ अंगों में ८३ अरिल हैं। (३) बावनी में ३६। (४) बावनी अक्षर उद्धार में ३७। (५) पंद्रह तिथि में १७। (६) सप्त वार में ८। (७) गुरु उपदेश आतम उपज में १३। (८) अविगत लीला में १०। (९) अकल लीला में २०। (१०) प्राण पारिख में ८। (११) उत्पत्ति निर्णय में २६। (१२) गृह वैराग्य बोध में १६। (१३) पराभेद में २०। १४ दोष दरीबा में २७। (१५) जैन जंजाल में २१ पद्य हैं। (५) छप्पय ग्रंथ भाग पांच के ४० अंगों में ८९ छप्पय हैं।

उक्त संपूर्ण सटीक इस रज्जब वाणी का मनन करने से राजस्थानी संत साहित्य के समझने की योग्यता प्राप्त होगी तथा विचित्र अनुभव भी प्राप्त होगा। इस ग्रंथ के विषय में विशेष कुछ लिखना सूर्य को

दीपक दिखाने के समान होगा। जैसे नेत्र खोलने पर सूर्य अपने आप ही दीख जाते हैं, वैसे ही इस सटीक ग्रंथ को पढ़ने पर इस की विशेषतायें अपने आप ही ज्ञात हो जायेंगी।

यह १२२ वर्ष जीवित रहने वाले, बाल ब्रह्मचारी, साधन द्वारा सिद्धावस्था को प्राप्त, उच्च कोटि के संत का अनुभव है। इसका मूल संस्करण प्रथम ज्ञान-सागर प्रेस बम्बई से संवत् १९७५ में प्रकाशित हुआ था, उसमें छप्पय ग्रंथ पर श्री स्वामी रामदास जी महाराज दुबल धनियाँ कृत टिप्पणी भी थी। दूसरा संस्करण डी. ए. वी. कालेज कानपुर के प्राध्यापक श्रीमान् व्रजलाल जी वर्मा एम. ए. पी-एच. डी. द्वारा संपादित उपमा प्रकाशन कानपुर से सन् १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस के आदि में भूमिका और अन्त में कठिन शब्दार्थ कोश भी दिया है। फिर भी इसको टीका बिना सर्व साधारण नहीं समझ सकते थे तथा बहुत-से स्थल तो साक्षरों को भी समझने में कठिन पड़ते थे। इस का प्रथम संस्करण तो अशुद्ध छपा ही था, द्वितीय संस्करण उससे भी अधिक अशुद्ध छप जाने से और भी कठिन बन गया है किंतु यह तृतीय संस्करण सटीक होने से सर्वोपयोगी हो गया है। इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये। संपादन का कार्य पूर्ण हो जाने पर इसके प्रकाशन की व्यवस्था बैठ नहीं रही थी किंतु एक महानुभाव ने इसके कुछ अंश श्रवण किये, तब हरि इच्छा से उन के हृदय में इस के प्रकाशन की तीव्र इच्छा हुई। उसी से श्रीमान् नारायण सिंह जी शेखावत ने इसके प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया और इस अति महँगाई के समय भी इसका प्रकाशन करा कर संत साहित्य के प्रेमियों का महान् हित किया है। अनेक विषयों के आचार्य, महा विद्वान् माननीय श्री स्वामी सुरजनदास जी महाराज ने इस की भूमिका लिख कर बड़ा अनुग्रह किया है। तथा केशव आर्ट प्रेस, हाथी भाटा अजमेर के मालिक श्रीमान् जगन्नाथ जी यादव ने इस के सुन्दर रूप से प्रकाशन का पूर्ण प्रयत्न किया है। एतदर्थ मैं उक्त सभी महानुभावों का आभारी हूं, जिससे यह अनुपम ग्रंथ आप महानुभावों के कर कमलों में इस रूप में उपस्थित हुआ है। इस की टीका में जो कुछ विशेषता है, वह तो महानुभाव संतों का कृपा प्रसाद है और कोई त्रुटि रह गई हो तो वह मेरा प्रमाद है। उसके लिये मुझे क्षमा प्रदान करके सुधारने का कष्ट करेंगे। अन्त में मैं आशा करता हूं कि परमार्थ प्रिय सज्जन गण इससे लाभ उठाकर मेरा तथा इसमें सहयोग देने वाले सभी महानुभावों का परिश्रम सफल करेंगे। ओ३म् शांति शांति शांति।

दि० २५-२-६७ ई०
श्री कृष्ण कृपा कुटीर
पुष्कर

विनीत—
नारायण दास स्वामी

भूमिका

महात्मा रज्जब महात्मा दादूजी के प्रमुख शिष्यों में अन्यतम हैं। साधना, साहित्यरचना व कवित्व की दृष्टि से सन्त साहित्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। रज्जबजी की दो कृतियां उपलब्ध हैं—१ रज्जबवाणी व सर्वङ्गी या सर्वांगयोग। इनमें रज्जबवाणी रज्जबजी की मौलिक रचना है, तथा सर्वंगी या सर्वांगयोग साधना के भिन्न भिन्न विषयों पर अनेक महात्माओं की तत्तद्विषयक उक्तियों का सङ्कलन है। दोनों ही रचनायें अपनी अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

रज्जबवाणी में अनेक विषयों का निरूपण है। उसकी साखी भाग में ही १६३ अंग हैं। सवैया भाग में २५ अंग हैं, त्रिभंगी भाग में ३ अंग तथा कवित्त भाग में ४० अंग हैं। बावनी भाग में ५२ अक्षरों पर पन्द्रह तिथियों पर, सात वारों पर तथा अन्य फुटकर विषयों पर रचनायें हैं। पद भाग में विभिन्न रागों में अनेक विषयों का प्रतिपादन है। यद्यपि साखी भाग में तथा सवैया त्रिभंगी व कवित्त भागों में विषयों का भेद नहीं है प्रायः प्रतिपाद्य विषय वे ही हैं जो साखी भाग में हैं केवल छंदों का भेद है। इतना होने पर भी रज्जबजी का प्रतिपाद्य विषय-क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है साथ ही उनने अपनी वाणी में विविध छंदों का प्रयोग, किया है। निर्गुणी संतों की वाणियों में सुंदरदासजी को छोड़कर इतने छंदों का प्रयोग बहुत कम ने किया है।

रज्जबवाणी के सम्पादक डा० ब्रजलालजी ने छंदों के आधार पर रज्जबवाणी को ८ भागों में विभक्त किया है—१ साखी, २ पद (भजन) विभिन्न रागों में, ३ सवैया, ४ गुण छंद, इसमें दोहा तथा त्रिभंगी छंद हैं, ५ गुण अरिल, ६ तेरह लघु ग्रन्थ, (चौपाई छंदों में), ७ कवित्त (छप्पय) ८ शिष्यों द्वारा रचित रज्जब महिमा। रज्जबवाणी के साखी भाग में १६३ अंग हैं जबकि दादूवाणी के साखी भाग में केवल ३५ अंग हैं। किंतु रज्जबवाणी के १६३ अंगों में प्रतिपादित विषय प्रायः वे ही हैं जो कि दादूवाणी में हैं। दादूजी ने उन विषयों का संक्षेप में निरूपण किया है जबकि रज्जबजी ने उन विषयों का विस्तृत विवेचन करते हुए दादूवाणी के एक अंग में प्रतिपादित अवान्तर विषयों के निरूपण के लिए भिन्न अंगों की रचना की है। उदाहरण के लिए दादूवाणी में गुरुदेव के अंग में जिन अवान्तर विषयों का निरूपण किया गया है रज्जबजी ने उनका भिन्न-भिन्न अंगों में निरूपण किया है। जैसे—दादूजी ने गुरुदेव के अंग के अंतर्गत 'सत्यासत्य गुरु पारख लक्षण' में सत्य तथा असत्य गुरु व शिष्य के लक्षणों का प्रतिपादन किया है। रज्जबजी ने उसी के निरूपण के लिए 'गुरु-सिष निगुरा का अंग' नाम से एक पृथक् अंग की रचना की है। दादूजी ने गुरुदेव के अंग के अन्तर्गत 'गुरुलक्षण' शीर्षक में सद्गुरु के लक्षणों का तथा इसी शीर्षक एवं 'गुरु सिषप्रमोध'

शीर्षक में शिष्य के लक्षणों का निरूपण संक्षेप से किया है। रज्जबजी ने इसके लिए 'गुरुसिषनिदान निर्णय' नामक पृथक् अंग की रचना की है। इसी प्रकार 'गुरुमुख कसौटी' आदि अन्य अंगों की पृथक् रचना है। किंतु रज्जबजी की वाणी बड़ी विस्तृत व सशक्त है। उनका लौकिक ज्ञान बहुत विशाल है। उपमा व दृष्टान्त उनकी जिह्वा पर नृत्य करते हैं। शब्दों पर उनका पूर्ण आधिपत्य है। उपमाओं व दृष्टान्तों द्वारा वस्तु का विशद व विस्तृत वर्णन करने में वे सिद्धहस्त हैं। इसी लिए उनके शिष्यों ने उनकी प्रशंसा में ठीक ही लिखा है कि दृष्टान्त उनके सामने सदा आज्ञाकारी सेवक की तरह खड़े रहते हैं। जैसे—

ज्यूं बसि मन्त्र के आवत वीर जहाँ जस जो तहाँ तस मूके।
ज्यूं धर्मराज के काज करैं सब दूत अनेक रहैं ढिग ढूके॥
ज्यूं नृप के तप तेज ते कम्पत पास रहैं नर आइ कहूंके।
ऐसे ही भांति सबै दृष्टान्त ही आगे खड़े रहैं रज्जब जू के॥

यही कारण है कि दृष्टान्तों के द्वारा विषय का प्रतिपादन जितना रज्जबजी की वाणी में उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र नहीं। दृष्टान्त भी लौकिक शास्त्रीय व पौराणिक सभी प्रकार के मिलते हैं। जैसे—

केसर कनक कपूर मुक्त मन, यह पैदायस जोइ।
खेत नदी है कैलि शुक्ति गुरु ठाहर उतपति होइ॥
ऊपरि साधु कठोर गति जैसी विधि नालेर।
अन्तर गति कोमल मतै जन रज्जब विच हेर॥
पानी पीया पवन मुख तृष्णा तरुणी गुण होइ।
भाई कृत भाई किया नाहीं अचरज कोइ॥
गुरु अगस्त गगन हि रहे शिष समुद्र धर वास।
रज्जब ऊंचहूं के मिल्यूं सहज गये आकास॥

यहाँ आदि की दो साखियों में लौकिक दृष्टान्त हैं। तृतीय साखी में तृषारोग सम्बधी आयुर्वेदशास्त्रीय दृष्टान्त है तथा चतुर्थ साखी में अगस्त्य के उदय पर धरास्थित समुद्र जल आकाश में चला जाता है इस पौराणिक आख्यानरूप दृष्टान्त का उल्लेख है। रज्जबजी की यह विशेषता है कि एक ही विषय का विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा तब तक वर्णन करते रहते हैं जब तक तत्सम्बन्धी दृष्टान्तों की इतिश्री नहीं हो जाती। जैसे—

सेवक स्वामी एक है ता ऊपर अधिकार।
यथा बुदबुदा वारिशिर देखे सब संसार॥
स्वामी सेवक शिर धरचा आदू अद्भुत बन्ध।
रज्जब देख्या पुहमि पर पुत्र पिता के कन्ध॥

स्वामी कर सेवक बड़े नाहीं अचरज कोइ।
रज्जब तस फल शीश पर प्रत्यक्ष देखैं जोइ ।।
भगवन्त भूमि ऊपर दरसै बन्दे वृक्ष सु माल।
सो रज्जब परमारथी सब आनन्द प्रतिपाल ।।

यहाँ सेवक स्वामी से ऊपर है इसको अनेक दृष्टान्तों से सिद्ध किया है। रज्जबजी प्रतिपादच विषय के प्रतिपादन के लिए प्रबल तर्कों का भी उपयोग करते हैं। एक उदाहरण देखिए:—

पुकार लगे प्रकटे प्रभु रजू भये तज रूठ।
सो समसरि सब ठौर थे आवण जाणा झूंठ ।।
बन्ध्या बांधे को भजे मुक्त होन की आस।
तो रज्जब कैसे खुले इहि झूंठे विश्वास ।।
रज्जब जो जामै मरै ताका तजिए वास।
हर्माहि अमर सो क्यों करै आप फिरै गर्भवास ।।
उधरचा कहिये जीव सो जिहि जामण मृत नांहि।
तो रज्जब आवै ब्रह्म क्यों उतपति परलय मांहि ।।

इन साखियों में रज्जबजी ने निरंजन अतएव अवताररहित ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए न कि अंजन अवतारी की इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए कितनी सुन्दर व प्रबल अनेक युक्तियाँ दी हैं। युक्तियाँ स्पष्ट हैं उनकी व्याख्या की अपेक्षा नहीं।

रज्जबजी कठिन से कठिन शास्त्रीय विषयों को भी लौकिक दृष्टांतों के द्वारा स्पष्ट करने में सिद्धहस्त हैं। ब्रह्म ईश्वर व जीव के भेद को वेदान्त शास्त्रादि के द्वारा भी जहाँ जनसाधारण को स्पष्ट करना कठिन हो जाता है वहाँ रज्जब जी ने इन तीनों के भेद को सूर्याग्नि, आतसी सीसे में प्रतिबिम्बित अग्नि तथा वृक्षों में बद्ध अग्नि के दृष्टान्त से स्पष्ट कर दिया है। साथ ही उनका क्या कार्य है यह भी विशद रूप से बतला दिया है जैसे:—

दिनकर दर्पण द्रुमन में अग्नि सु नाहीं एक।
इक निरहार, अहार इक, इक वपु बन्द विवेक ।।
सोई सूरज की अगनि, सब प्राणहु प्रतिपाल।
दिल दर्पण अवतार वासदे, तिन तन तनुका जाल।
चीव ज्वाला वपु वन बंधे, ईहि ठाहर यहु हाल ।।

अर्थात् सूर्य में, दर्पण में व वृक्षों में एक ही अग्नि नहीं है। सूर्याग्नि निराहार है अर्थात् वह किसी को जलाती नहीं। अपितु सब को प्रकाशित करती है, पालती है। आतसी सीसे में प्रतिबिम्बित अग्नि पास में

रखे हुए तृण तूलादि को जलाती है। वृक्षों में बंधी हुई अग्नि प्रकाशित भी नहीं होती जिस प्रकार प्रारंभ की दोनों अग्नियाँ प्रकाशित होती हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सभी जगत् को व जगत् के कारण माया व अज्ञान को भी आश्रय प्रदान द्वारा उनकी रक्षा करता है तथा उन्हें प्रकाशित करता है। इसीलिए संक्षेप-शारीरककार ने ब्रह्म को ही सर्व का आश्रय बतलाया है। जैसे—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। इति।

आतसी सीसे में प्रतिबिम्बित अग्नि की तरह अवतार रूप चैतन्य (ईश्वर) दुष्टों का संहार भी करता है। इसी कार्य के लिए तो वह निरंजन ब्रह्म माया का आश्रय लेकर साकार रूप में अवतार लेता है, जैसा कि गीता में लिखा है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

किन्तु जिस प्रकार वृक्षों में बद्ध (सुप्त) अग्नि न जलाती है और न प्रकाश करती है। उसी प्रकार जीव जो कि शरीर में (अष्ट पुरी) में बंधा हुआ है वह चैतन्य के वास्तविक स्वरूप के आच्छादित होने से न दुष्टों का संहार तथा न सज्जनों की रक्षा करने में ही समर्थ होता है। बद्धता के कारण ही वह अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् बद्ध व संसारी कहलाता है। यहाँ इस वैदिक रहस्य का भी उद्घाटन कर दिया है कि अग्नि वृक्षों में बद्ध (सुप्त) रहती है जैसे ही वह जगा दी जाती है अपने लोक में चली जाती है। जैसे—

शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मतासि इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि आदिद्देवेषु राजसे॥ ऋ०सं०

रज्जब जी ने रूपकों का भी प्रयोग दृष्टन्तों की तरह प्रचुर मात्रा में किया है। वे जिस प्रकार दृष्टान्तों के द्वारा वर्ण्य विषय का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार रूपकों के द्वारा भी। कुछ उदाहरण देखिए:—

रज्जब वसुधा वेद सब कुल आलम सु कुरान।
पण्डित काजी वे बड़े दुनिया दफ्तर जान॥
साधू सेझे कूपजल निगम कलस हैं चार।
जन रज्जब ता नीर के कुल पण्डित पनिहार॥
ब्रह्म वेद ब्रह्माण्ड यहु कीया सकल कुरान।
रज्जब मांड मुसाफ को बांचे जान सुजान॥

आकिल गुरु अगस्त हैं सिष समुद्र मन लीन।
जन रज्जब गुणगणसहित मुये मनोरथ मीन॥
वाइक बादल ज्यों उठहि आतम सुन्नि मझार।
वेद पुरान घटा मिलहिं अरथ सु अम्बु अपार॥
जप जहाज जलनिधि जगत जीव चढो कोइ आय।
रज्जब पारस परमगुरु सो पद परसे जाइ॥

इनमें द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम बहुत ही सुन्दर व महत्त्वपूर्ण हैं। इस द्वितीय रूपक में साधुपदवाच्य महर्षियों को सेभे वाला कूप जल और चारों वेदों को कलस बतला कर यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार अटूट स्रोत वाले कूप जल से हजारों व लाखों घड़ों को भरा जा सकता है फिर भी उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आ सकती उसी प्रकार उन महर्षियों से चार वेदों का नहीं अनंत वेदों का निर्माण हो सकता है फिर भी उनके ज्ञान का कोई अन्त नहीं है। जैसे स्रोत वाले कूप के सामने कलश जल नगण्य है उसी प्रकार साधु महर्षियों के ज्ञान के संमुख वेदों का ज्ञान अतिस्वल्प है। इससे गीता के निम्न वचन की कितनी सुन्दर सङ्गति बैठती है:—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ गीता२अ.

निम्न साखी में रज्जब ने संसार के यावत् सुकृतों की अपेक्षा नाम की महिमा को कितनी सुन्दर रीति से एक के अंक व शून्य के द्वारा प्रकट किया है—

सब सुकृत हैं शून्य सम एका एक सुनाम।
पृष्ठ लाग दशगुण सबै नहीं तो नाहीं ठाम॥

अर्थात्—जैसे एक अंक के बाद लगने से शून्य का दश गुणा महत्त्व है पर पहिले लगने से लेशमात्र भी नहीं उसी प्रकार नाम जप के साथ सुकृत कार्य किये जाते हैं तो उनका महत्त्व दश गुणा बढ जाता है और नाम के बिना तनिक भी उनका महत्त्व नहीं है।

ध्यान योग—रज्जबजी का ध्यान योग दर्शन के अनुसार प्रत्ययैकतानता रूप ही नहीं है अपितु तन मन आदि का लय होकर ध्येय मात्र का शेष रह जाना है जैसा कि निर्विकल्प समाधि में होता है। जैसे—

भूति भूत भगवन्त लग होहं सोहं ध्यान।
यथा धूम पावक सहित रज्जब शून्य समान॥

रज्जब इस ध्यान को जीव की ब्रह्मरूपता-प्राप्ति का उपाय मानते हैं। जैसे—

ज्यों भृङ्गी का ध्यान धर कीट भृङ्ग ह्वै जाय ।
त्यों रज्जब जिव ध्यान धर जगपति माँहि समाय ।।

रज्जब इस ध्यान में मनोवृत्ति की ध्येयाकारता की अपेक्षा मानते हैं चाहे ध्येय स्थूल रूप में दूर या पास कहीं भी क्यों न हो। किन्तु यदि मनोवृत्ति ध्येय में लग कर ध्येयाकार बन जाती है तो ध्यान की सिद्धि हो जाती है और लक्ष्यप्राप्ति भी हो जाती है। इसी लिये उनने कच्छपी गाय, नटनी, कामिनी, कीट व विषयी नर के जो दृष्टांत दिये हैं उनमें कुछ में उनका ध्येय समीप है जैसे—नटनी का ध्येय रस्सा, कामिनी का ध्येय मस्तकस्थ घट, कन्तु कुछ के ध्येय इस प्रकार के हैं जो स्थूल रूप से दूर हैं—जैसे कच्छपी के ध्येय उसके अण्डे, गौ का ध्येय वत्स, विषयी नर का ध्येय कामिनी तथा कीट का ध्येय भृंग। किन्तु मनोवृत्ति के ध्येयाकार बन जाने से वे सब अति समीप ही होते हैं।

कच्छपी दृष्टि ध्यान धर अकल पुरुष की ठौर ।
तो रज्जब सहजैं मिलें परम पुरुष सिरमोर ।।
गऊ जाय वनखंड में धरै वच्छ पर ध्यान ।
यूं रज्जब ह्वै राम सों तो पहुंचै हरि यान ।।
जैसे नटनी बरत चढि धरै कौन विधि ध्यान ।
त्यों रज्जब रमि राम मधि मिलें प्राणपति प्रान ।।
ज्यों कामिन सिर कुम्भ धरि मन राखे ता माँहि ।
ज्यों रज्जब करि राम सों कारिज विनसै नाँहि ।।

निर्गुण भक्तिमार्गी सुमिरन को उपास्य प्राप्ति के रूप में प्रधान साधन मानते हैं। किन्तु यह स्मरण यद्यपि नाम-जप से प्रारंभ होता है और इसकी परिसमाप्ति अजपा जाप में होती है। जैसा कि दादूजी ने कहा है—

पहली श्रवण द्वितीय रसन तृतीय हिरदै गाइ ।
चतुर्थी चेतन भया तब रोम रोम ल्यो लाइ ।।

यह चतुर्थ अवस्था ही अजपाजाप है जहाँ तन और मन का लय हो जाता है मनोवृत्ति या सुरति ब्रह्म में लगकर तदाकार बन जाती है और यहाँ केवल रसना से ही जाप नहीं होता किंतु रोम-रोम तदाकार बन जाता है, रोम रोम से जाप होता है। यही अजपा जाप है यही उत्तम जाप व उत्तम सुमिरन है। महात्माओं ने इसी को महत्ता प्रदान की है। रज्जबजी भी अजपाजाप को ब्रह्म-प्राप्ति का उत्तम साधन मानते हैं। उनके अनुसार मुख या श्वास से नाम-जप अजपा जाप नहीं है किंतु आत्मा, मनोवृत्ति या सुरति का ब्रह्म में लय कर देना है। वे कहते हैं कि

शरीर, श्वास और शब्द से तो हरि स्मरण तीनों लोकों में सभी ठौर होता है किंतु वह अजपाजाप नहीं है, अपितु जीव या मनोवृत्ति को अगम ब्रह्म में लगा देना अजपा-जाप है। जैसे—

शरीर शब्द अरु श्वास करि हरि सुमिरन तिहुँ ठाम।
जन रज्जब आतम अगम अजपा इसका नाम॥
मुख मारुत सेती अगम सुमिरन सुरति मंझार।
'रज्जब' करसी एक कोइ अजपा जप व्यवहार॥
वक्त्र बैन वायू रहित होय सु अजपा जाप।
'रज्जब' मन उनमन लगैं प्रकटै आपै आप॥

रज्जबजी कहते हैं कि नाम रूपी पंखों से हजारों जीव आकाश में उड़ते हैं। किंतु ऐसा कोई बिरला ही साधक है जो पारद की तरह नामरूपी पंख का नाश कर अर्थात् उसके बिना सुरति के द्वारा ही ब्रह्म में लीन होता है। रज्जबजी के अनुसार रसना से जब नाम का उच्चारण होता है तब अन्य चारों इन्द्रियाँ मौन रहती हैं, उनसे जाप नहीं होता, किंतु अजपा जाप में पाँचों इन्द्रियों से ही जाप होता है। जैसे—

सहस नाम पंखों सु परि आतम जाय आकास।
एक प्राण पारामयी उडहिं नाम पर नास॥
'रज्जब' रसना बोलहीं चहुँ इन्द्रिय चुपचाप।
ये पांचों कारज समर्थ यूं सो अबोल्या जाप॥

संत लोग अपनी रचना में कभी-कभी समान वर्णों से आरम्भ होने वाले शब्दों का परस्पर संबन्ध बतलाकर शब्द-चमत्कार भी प्रदर्शित किया करते हैं। वस्तुतः यह शब्द-चमत्कार उनका प्रयत्न-साध्य नहीं होता अपितु अनायास ही होता है। दादूजी की निम्न साखी में यह चमत्कार स्पष्ट है।

नारायण नैना बसे मन ही मोहन राय।
हिरदै माहीं हरि बसे आतम एक समाय॥

यहाँ नारायण के साथ नैना का, मोहन के साथ मन का तथा हरि के साथ हिरदै शब्द का संबन्ध इसी प्रकार का है। रज्जबजी की वाणी में ऐसे अनायास शब्द चमत्कार के निदर्शन मिलते हैं।

सुमिरन सम सम्पद नहीं धन नहीं ध्यान समान।
वित यह बारंबार ले 'रज्जब' रिधि रट जान॥
हरिजी ग्राहक हेत के नारायण लेहि नेह।
मनसा वाचा कर्मणा संतो करो सनेह॥

हाँ सुमिरन और सम्पदा का, धन और ध्यान का, रिधि व रट का,

हरि व हेत का नारायण व नेह का संतों और सनेह का सम्बन्ध इसी शब्द-चमत्कार का उदाहरण है।

निर्गुणी संतों ने ब्रह्म को निर्गुण व निरंजन स्वीकार करते हुए भी उसे ज्ञान का विषय न मान कर उपासना या भक्ति का विषय माना है।

उपासना में उपास्य व उपासक का यत्किंचित् भेद रसास्वादन के लिए माना ही जाता है। जैसा कि स्वामी सुन्दरदास जी ने कहा है:—

हरि में हरिदास विलास करै हरिसों कबहूं न विछोह परै।
हरि अक्षय त्यों हरिदास सदा रस पीवन को यह भाव जुदा॥

किंतु अन्तिम ध्येय निर्गुणी संतों का तथा ज्ञानमार्गी वेदांतियों का एक ही है। निर्गुण भक्तिमार्गी भी भक्ति के लिए कुछ आवश्यक तत्वों को स्वीकार करते हैं। जैसे १—उपास्य में परम प्रेम या परा अनुरक्ति। क्योंकि उपास्य में परम प्रेम या परा अनुरक्ति ही भक्ति है। इसी लिए 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे' के द्वारा शाण्डिल्य ने तथा 'सा त्वस्मिन् परम-प्रेमरूपा' इस नारद सूत्र के द्वारा नारद ने परमप्रेम को ही भक्ति का स्वरूप बतलाया है।

२—प्रपत्ति (अनन्यशरणागति) या सर्वात्मना आत्मसमर्पण। भक्ति के इस तत्व का निरूपण गीता में भी अति स्पष्ट रूप से मिलता है। जैसे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व-पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

३—विरह। जिस प्रकार ज्ञान में प्रतिबन्धी रागादिदोषों के नाश के लिए ज्ञानाग्नि की आवश्यकता मानी गई है उसी प्रकार भक्ति में भक्तिविरोधी दोषों के समूल नाश के लिए विरहाग्नि की आवश्यकता मानी गई है। यह विरहाग्नि भक्त के सकल रागादि कषायों को नष्ट कर उपास्य के प्रति परम प्रेम को जागरित करती है। इसी लिए दादू जी ने कहा है:—

विरह अग्नि में जलि गये मन के मैल विकार।
'दादू' विरही पीव का देखेगा दीदार॥
पहिलो आगम विरह का पीछे प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लै लीन मन तहाँ मिलन की आस॥

श्रीमद्‍भागवत में भी कहा है:—

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः॥ इति।

भगवान् ने अदृश्य होकर गोपियों में विरह की उत्पत्ति से यही कार्य किया है। जैसे—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ।।

नारद ने तो इसी लिए 'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति' सूत्र के द्वारा परम व्याकुलता रूप विरह को भक्ति का स्वरूप ही मान लिया है ।

४—भक्त भगवान् को पति या स्वामी मान कर तथा स्वयं को कान्ता समझ कर सेवा करता है । इस प्रकार की आराधना बहुत से भक्तों में मिलती है । जैसे—

'दादू' पुरुष हमारा एक है हम नारी बहुरङ्ग ।
जे जे जैसी ताहिसों खेलै तिस ही सङ्ग ।।

नारद ने भी 'त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदासनित्यकांताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम् ।' इस सूत्र के द्वारा यही बात बतलाई है ।

५—अभिमान का परित्याग तथा दीनतादि भावों का ग्रहण भक्ति के लिए आवश्यक है । नारद ने 'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वात् दैन्यप्रियत्वाच्च' 'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्' इन सूत्रों से ईश्वर को अभिमानद्वेषी तथा दीनताप्रिय बतलाया है । भागवत में भी इसी रहस्य को बतलाया है:—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ।।
जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ।।

६—कामिनी व काञ्चन का परित्याग भी भक्ति के लिए आवश्यक है जैसा कि भागवत में कहा है:—

पदापि युवतिं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि ।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अंगसंगतः ।।
योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिषु द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपयोगबुद्ध्या पतंगवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ।।

नारद ने भी 'स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्' इस सूत्र के द्वारा उपर्युक्त कामिनी व काञ्चन के परित्याग को भक्ति का आवश्यक तत्त्व बतलाया है ।

७—बाह्य लौकिक मर्यादाओं का परित्याग भी भक्ति की उन्नत दशाओं में स्वतः सिद्ध है । नारद ने भी 'यो लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति' इत्यादि सूत्र के द्वारा इसी रहस्य का स्पष्टीकरण किया है । इसी लिए ज्ञानी को व अत्युत्तम भक्त को अतिवर्णाश्रमी कहा गया है । जैसे—

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णाश्रमान् सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥
नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥

नारद ने भी कहा है:—'लोकहानौ चिंता न कार्या निवेदितात्म-लोकवेदाचारत्वात् ।' अर्थात् लोकहानि की चिंता भक्त को नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भक्त अपने आप को तथा लौकिक व वैदिक सभी कर्मों को भगवान् के अर्पण कर चुका है ।

८—योगक्षेम-चिंता का अभाव

ईश्वर के विश्वास पर योगक्षेम की चिंता का सर्वथा परित्याग भी भक्त अवश्यमेव करता है भक्तों के योगक्षेम की चिंता स्वयं भगवान् करते हैं, जैसा कि गीता में स्पष्ट कहा है:—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

सन्तों ने भी यही कहा है:—

दादू छाजन भोजन सहज में सँइयाँ देइ सो लेइ ।
तार्थें अधिका और कछु, सो तूँ कांइ करेइ ।
दादू टूका सहज में सन्तोषी जन खाइ ।
मृतक भोजन गुरुमुखी, काहे कलपै जाइ ॥

९—वेदादिखण्डन

वेदादिशास्त्रों का ज्ञान ईश्वरसाक्षात्कार के लिए अपर्याप्त है इस तथ्य को सभी अध्यात्मशास्त्र के प्रणेताओं ने एक स्वर से स्वीकृत किया है । क्योंकि वेद की गति त्रैगुण्य तक है और वेदांतियों का ब्रह्मतत्व या संतों का आराध्य निरंजन परमात्मा केवल अनुभूति का विषय है और निस्त्रैगुण्य है । अतः वेदों की वहाँ गति नहीं । उपनिषद् भी उसे नेतिनेति द्वारा बोधन करते हैं या लक्षणा द्वारा उसका संकेत मात्र करते हैं किंतु उसके वास्तविक स्वरूप का बोधन करने में वे असमर्थ हैं । जैसा कि गीतादि शास्त्रों में कहा है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ भ.गीता२अ

तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्ववादः प्रायेण शुद्धो न चकास्तिन साधु ।।
न तस्य तत्वग्रहणाय साक्षाद्वरीयसोरपि वाचः समासन् ।
स्थाने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ।।

नारद भी चारों वेदों वेदाङ्गों का तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन कर लेने के बाद भी सनत्कुमार से यही कहते हैं कि 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् ।' ।छा.-उ.। इस श्रुतिके द्वारा वेदादि के अध्ययन से ही आत्मा का ज्ञान नहीं होता यह सिद्ध हो जाता है । अन्यथा वेदादि के ज्ञान के बाद 'नाहमात्मवित्' यह कथन कैसे उपपन्न होता ।

मुण्डकोपनिषद् में भी 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदंति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति' इस श्रुति से वेदादि को अपरा विद्या में समाविष्ट कर ब्रह्मबोधक विद्या को इस से भिन्न 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इस श्रुति के द्वारा परा विद्या शब्द से कहा है । ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार वस्तुतः अनुभूति के द्वारा होता है न कि वेदादि शास्त्रों के द्वारा । इसी लिए यह कहा गया है:—

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते ।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ।। उप०
स्वानुभूत्येकवेद्याय नमः शान्ताय ब्रह्मणे । इति ।

संतों ने भी इसी आधार पर ब्रह्म को वेदादिशास्त्रों का अविषय तथा अनुभूति का विषय बतलाया है:—

जो कुछ वेद कुरान थैं अगम अगोचर बात ।
सो अनुभव साँचा कहै यहु दादू अकह कहात ।।
जब घट अनुभव ऊपजै तब किया करम का नास ।
भै भ्रम भागे सबै पूरण ब्रह्म प्रकास ।।

अतः संतों को वेदादिशास्त्रों का विरोधी बतलाना सर्वथा असङ्गत है। जिस तथ्य का गीता, श्रीमद्भागवत, उपनिषत् आदि ग्रंथों में निरूपण किया गया है उसी बात को यदि महात्मा अपने अनुभव के आधार पर प्रतिपादन कर देते हैं तो उन पर इतना क्षोभ क्यों। संतों के वेद कुरान के खण्डन का यही तात्पर्य है कि ब्रह्म का साक्षात्कार वेदादि के द्वारा नहीं होता अपितु अनुभूति द्वारा होता है ।

१०—गुरुमहत्त्व

ज्ञान की तरह निर्गुण भक्ति मार्ग में गुरु का अत्यंत महत्त्व है। गुरु के आश्रय के बिना परमात्मतत्व का साक्षात्कार नहीं हो

सकता । भगवान् शङ्कराचार्य ने भी विवेकचूडामणि में तत्वजिज्ञासु को गुरु की शरण में जाने का उपदेश दिया है:—

उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्वजिज्ञासुरात्मनः ।
उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्धविमोक्षणम् ।। वि.चू. ३४

उपनिषद् में भी 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । मु-उ.

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

इत्यादि वचनों के द्वारा गुरु की महिमा प्रदर्शित की है । संतों ने भी इसे ही प्रतिपादित किया है:—

इक लख चन्दा आनि घर सूरज कोटि मिलाइ ।
दादू गुरु गोविन्द बिन तो भी तिमिर न जाइ ।।
घट घट राम रतन है दादू लखै न कोई ।
सतगुरु शब्दों पाइये सहजैं ही गमि होइ ।।

११—परमात्मभय.

परमात्मतत्व में मन को एकाग्र व लीन करने के अनेक साधन हैं । उनमें परमात्मा के भय को भी भक्तिमार्ग में साधन माना गया है । इस भय के द्वारा मनोवृत्ति आराध्य परमात्मा में तन्मय हो जाती है और तन्मयता ही परमात्मसाक्षात्कार का प्रमुख साधन है । तन्मयता के अन्य साधनों के साथ भय साधन का निरूपण श्रीमद्भागवत् में भी किया गया है:—

'तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।
स्नेहात् कामेन वा युञ्जयात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ।।
कीटः पेशस्कृता बद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम् ।।
कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ।।
गोप्यः कामात्, भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णायः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ।।

महात्माओं ने भी इस भय को परमात्मसाक्षात्कार का साधन माना है:—

साईं तेरे डर डरों सदा रहूँ भय भीत ।
अजा सिंह ज्यों भय घणा दादू लीया जीत ।।

डरिये रे डरिये तार्थें राम नाम चित धरिये ।

....

अजा सिंह ज्यों रहिये दादू दरसन लहिये रे ॥

१२– सर्वकामना-परित्याग

आराध्य परमात्मा के अतिरिक्त अन्य सब लौकिक व पारलौकिक ऋद्धि, सिद्धि, मुक्ति आदि की कामना का अभाव भी भक्त में रहता है। भक्त एकमात्र आराध्य का दर्शन चाहता है उसी के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है अन्य किसी फल के लिए नहीं। यहाँ तक कि वह मुक्ति को भी नहीं चाहता। इसी लिए भक्त वृत्रासुर ने भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहा है:—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

नारद ने भी भक्ति सूत्र में कहा है–'यत् प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साहीभवति ।" अर्थात् जिस परमात्म भक्ति को प्राप्त कर न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न किसी से द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्ति करता है और न किसी सांसारिक भोग में उत्साहित रहता है। यही बात संतों ने कही है:—

दरसन दे दरसन दे, हौं तो तेरी मुक्ति न मांगौं । टेक
सिद्धि न माँगौं ऋद्धि न माँगौं, तुमही माँगौं गोविन्दा ॥१॥
जोग न मांगौं, भोग न मांगौं तुमही मांगौं राम जी ॥२॥
घर नहिं मांगौं बन नहिं मांगौं तुमही मांगौं देव जी ॥३॥
दादू तुम्ह बिन और न माँगौं दरसन मांगौं देहु जी ॥४॥

१३–विश्वबन्धुत्व व सर्वभूतनिर्वैरता

जब भक्त या ज्ञानी सभी प्राणियों में व सभी पदार्थों में आत्म रूप ब्रह्म की सत्ता का दर्शन करता है तब उसे अपने से भिन्न कुछ प्रतीत नहीं होता और न वह किसी से वैर या विरोध ही कर सकता है। उस समय स्वपरभेद के नष्ट हो जाने से स्वतः विश्वबंधुत्व-भावना का उदय हो जाता है। सर्वभूतनिर्वैरता भी यही तत्त्व है। क्योंकि यदि अपने से या अपने आराध्य परमात्मा से भिन्न कोई पदार्थ हो तो वह उससे वैर विरोध करे। अतः विश्वबंधुत्व-भावना व सर्वभूतनिर्वैरता का मूल सर्वव्यापक आत्मा का सर्वत्र दर्शन है। इस सर्वात्मभाव का तथा सर्वत्र आत्मदर्शन का प्रतिपादन उपनिषदों में स्पष्ट मिलता है:—

'आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मादक्षिणतः, आत्मा उत्तरतः; आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।

गीता में भी—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

इस श्लोक के द्वारा इसी अर्थ की अभिव्यक्ति की है ।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेससाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

यह सूक्ति भी इसी विश्वात्मभावना का प्रदर्शन कर रही है ।

संतों ने भी इस ऐकात्म्य के आधार पर ही विश्वबंधुत्व व सर्वभूतनिर्वैरता का प्रतिपादन किया है:—

किस सों वैरी ह्वै रह्या दूजा कोई नांहि ।
जिसके अङ्ग थैं ऊपजे सोई है सब मांहि ।।
सब घट एकै आतमा जानै सो नीका ।
आपा पर में चीन्ह ले दरसन है पिव का ।।
आतम भाई जीव सब एक पेट परिवार ।
दादू मूल विचारिए दूजा कौन गँवार ।।

१४—आत्मा की अज्ञेयता

आत्मस्वरूप की अज्ञेयता सभी शास्त्रों में बतलाई गई है। केवल आत्मतत्व ही नहीं अपितु तद्विरचित सृष्टि भी मानव के द्वारा पूर्णतया अज्ञेय है ।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।
न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा माऽगन् प्रथमजा ऋतस्य आदिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ।।
किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयत् ।।

'यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं न यस्य वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।। केनोपनिषद्

इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म की या आत्मतत्व की अविज्ञेयता ही बतलाई गई है। परमात्मतत्व की इस अविज्ञेयता के कारण ही वह आश्चर्य व हैरान की वस्तु बन गई है। इसी लिये गीता में कहा है—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।गीता अ० २।।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।

रज्जबजी ने भी—"अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" इस केन श्रुति की तरह ब्रह्म को अज्ञेय ही बतलाया है—

अनजाने जाने कहैं, जाने सु कहैं अजान ।
रज्जब साधू वेद सब, हेरि हुए हैरान ।।

केवल परमात्मतत्व ही नहीं उसकी सृष्टि भी अज्ञेय है। क्योंकि अविगत की कृति व उसका प्रकार भी अविगत होता है। जब जीव उसकी कृति को ही समझने में असमर्थ है तब उस अकृत परमात्मा के स्वरूप को तो समझ ही क्या सकता है:—

अविगत ने अविगत किया, जो देख्या निरताय ।
रज्जब अकिया को कहै, किया न समझा जाय ।।
किहीं भाँति यहु कछु, किया सो कोई न जाने जान ।
रज्जब रहिये देखकर, हरि हिकमत हैरान ।।
करतार अलख करणी अलख, अलख आतमा देव ।
रज्जब अलखों में पड्या, क्यों लख कीजे सेवा ।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपरिवर्णित सभी तत्व भारतीय हैं जिनका निरूपण भारतीय शास्त्रों में अतिचिरतंन काल से चला आ रहा है। संतों ने ये तत्व भारतीय परम्परा से ही लिये हैं न कि सूफी परम्परा से। अपितु सूफी संत भी इन तत्वों के लिए भारत के ऋणी हैं। अद्वैत निर्गुण ब्रह्म, निर्गुण उपासना, ज्ञान तथा उसके उपर्युक्त आवश्यकतत्त्व भारत से ही अन्य देशों में पहुँचे हैं न कि भारत ने अन्यों से लिया है। अतः इन तत्वों का निरूपण संतवाणियों में देख कर डा. व्रजलालजी द्वारा प्रतिपादित सूफी-प्रभाव की कल्पना संगत प्रतीत नहीं होती।

साधना

रज्जब जी की साधना का प्रकार वही है जो कि उनके सद्गुरु श्री दादू जी का है। दादूजी की साधना में श्रवण[1], नामस्मरण, विरह[2], प्रेम व लय का

---

[1] पहिली श्रवण द्वितीय रसन तृतीय हृदय गाइ।
चतुर्थी चेतन भया तब रोम रोम ल्यौ लाइ।।

[2] बाट विरह की सोधि करि पन्थ प्रेम का लेहु।
लय के मारग जाइये दूसर पाँव न देहु।।

समावेश है। नामस्मरण आरंभ में रसना से किया जाता है, तदन्तर हृदय से करते हुए तन व मन का चेतन में लय कर दिया जाता है। निर्गुण भक्तिमार्ग में हठयोग आदि को न अपना कर लययोग को अपनाया जाता है, जिसमें बिना किसी बाह्य साधनों के मन को विषयों से रोक कर चित्त को आत्मा में लगा कर आत्माकार बना दिया जाता है अर्थात् मन का लय आत्मा में कर दिया जाता है। यही इन संतों का सहजयोग या सहज समाधि कहलाती है। इस निर्गुण भक्तिमार्ग में नामजप या नामस्मरण का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। किंतु वह नाम-स्मरण केवल रसना से नामोच्चारण नहीं है अपितु निम्न-लिखित प्रकार का जाप है:—

नख सिख सब सुमिरण करें, ऐसा कहिये जाप।
अन्तर विगसै आतमा, दादू प्रकटे आप॥

अन्तर गति हरि हरि करै, तब मुख की हाजत नाँहि।
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मन ही माँहि॥

रज्जब जी ने नाम की महिमा बतलाते हुए लिखा है—

नाम बिना नाँहीं निस्तारा, और सबै पाखण्ड पसारा॥टेक॥
भरम भेष तीरथ व्रत आसा, दान पुण्य सब गल के पासा॥१॥
जप तप साधन संकट सूना, लै बिन लगते सबै अलूना॥२॥
पान फूल फल दूधाधारी, मन मनसा बिगरे बहु ख्वारी॥३॥
काशी करवत गिरि तैं गिरना, हेम हुताशन मूरख मरना॥४॥
नानाविध धारै बहु धरमा, हरि सुमिरण बिन करत न करमा॥५॥
जन रज्जब रत मति रंकारा, प्राणि प्रवीण सु उतरत पारा॥६॥

निर्गुण भक्तिमार्गी सन्त बाह्याडम्बर के प्रबल विरोधी थे। इसी लिए रज्जब जी ने उपर्युक्त पद में बाह्य भेष, तीर्थ, व्रत, जप, तप आदि की निस्सारता बतलाते हुए नामस्मरण की महत्ता प्रदर्शित की है जिस का पर्यवसान लय में होता है। निम्नाङ्कित पद में बाह्याडम्बर-रहित परब्रह्म के प्यारे सच्चे साधु का कितना सुन्दर वर्णन किया है:—

आये मेरे परब्रह्म के प्यारे
त्रिगुण रहित निरगुण निज सुमिरत सकल स्वांग गहि डारे॥टेक॥
माला तिलक करै नहिं कबहूँ, सब पाखण्ड पचि हारे।
साँचे साध रहति सादो गति, सकल लोक में सारे॥१॥
नाम प्रताप प्रपंच न माने, षट दर्शन सों न्यारे।
भज भगवंत भेष सब त्यागे, एक सांच के गारे॥२॥

जिनके दरस परम सुख उपजै, सो आये चलि द्वारे।
जन रज्जब जगपति सों ऊँचै, प्राण उधारण हारे ।।३।।

माया

माया को अनादि व सान्त वेदांती मानते हैं। अर्थात् माया की उत्पत्ति नहीं होती किंतु आत्मज्ञान द्वारा उसका नाश अवश्य होता है। माया त्रिगुणात्मिका है, वह सारे संसार को उत्पन्न करती है। यहाँ तक कि जीव और ईश्वर की कल्पना भी माया पर ही आश्रित है। इसी लिये श्रुति में कहा है—'मायाऽऽभासेन जीवेशौ करोति' इति। यह माया ही सच्चिदानंद अपरिच्छिन्न आत्मा को कर्तृत्व, भोक्तृत्व, परिच्छिन्नत्व आदि धर्मों से युक्त की तरह प्रतीति करवा देती है। इसी लिए पञ्चदशी में कहा है:—

कूटस्थासंगमात्मानं, जगत्त्वेन करोति सा।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ।।चि० दी० प्र०।।

रज्जब जी ने माया के इसी स्वरूप का निम्नांकित पद में सुन्दर निरूपण किया है।

संतों आवै जाइ सु माया।
आदि न अंति मरै नहिं जीवै, सो किनहूं नहिं जाया ।।
लोक असंख्य भये जा मांही, सो कहि गर्भ समाया।
बाजीगर की बाजी यहु सब जगत भुलाया ।।
सुन्नि खाय अकल अविनाशी, पंच तत्त नहिं काया।
औतार अपार भये, आभू ज्यूं देखत दृष्टि बिलाया ।।
ज्यों मुख एक देखि द्वै दरपन, भोलों दस करि गाया।
जन रज्जब ऐसी विधि जानै, ज्यों था त्यों ठहराया ।।

रज्जब जी ने अपने सद्गुरु श्री दादू जी की वाणी का अत्यंत मार्मिक रूप से चिंतन व परिशीलन किया था अतः उनके सिद्धांतों का रज्जब वाणी में विशुद्ध रूप से व्याख्यान हुआ है। अतः दादू वाणी के मर्म को जानने वाले पुरुषों को रज्जब-वाणी का अवश्य अध्ययन व मनन करना चाहिए। साथ ही नानाविध दृष्टांतों, रूपकों, व पौराणिक तथ्यों का भी निरूपण विषय-विवेचना के लिए इसमें विस्तृत रूप से किया गया है जो कि रज्जब जी की चतुर्मुखी प्रतिभा का द्योतक है। कथा करने वालों के लिए, किसी विषय का मार्मिक व यौक्तिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी रज्जब वाणी का अध्ययन लाभप्रद है।

किंतु दादू जी की वाणीमें उनकी परिपक्व सहज अनुभूति की सहज प्रयत्नसिद्ध शैली में अभिव्यक्ति हुई है। इसी लिए उनकी भाषा अत्यंत

सरल, सरस व प्राञ्जल है। दादू जी की वाणी प्रयत्न सिद्ध रचना नहीं है यह इसी बात से सिद्ध है कि दादू जी ने वाणी की रचना नहीं की किंतु उन्होंने समय पर आगन्तुक जिज्ञासुओं और भक्तों को जो उपदेश दिये उनका संकलन उनके शिष्यों ने किया और पश्चात् रज्जब जी आदि ने उसे प्रकरणवद्ध कर अङ्ग आदि की योजना की। किंतु रज्जब जी की वाणी में यह बात नहीं है। उनकी यह रचना यत्नसिद्ध है। इसमें अनुभूतियों का सहज प्रकाशन नहीं, अपितु कवित्व है। किसी एक विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक दृष्टांतों, रूपकों, युक्तियों तथा पौराणिक व शास्त्रीय संकेतों का भी समावेश है। उनकी भाषा भी अधिक देशी शब्दों से युक्त है जो शुद्ध हिन्दी से कुछ दूर पड़ गये हैं। इस लिए यह जनसाधारण के लिए तथा अच्छे हिन्दी भाषा के ज्ञाताओं के लिए भी कठिन व दुर्बोध हो गई है। बिना किसी अच्छी व्याख्या के इसका आशय समझना कठिन था। कविरत्न परमहंस स्वामी नारायण-दासजी महाराज ने इस पर सरल टीका लिख कर दादू समाज तथा हिन्दी साहित्यकारों की महती सेवा की है।

पूज्य स्वामी जी ने गुरुमुख से भी इसका अध्ययन किया और पश्चात् अपने स्वाध्याय व अनुभव का पूर्ण योग कर इस टीका की रचना की है। अतः यह उनका प्रयास रज्जब जी के भावों को समझने के लिए बहुत सहायक सिद्ध होगा। यह तो मैं नहीं कह सकता कि जो व्याख्या की गई है वह पाठकों के लिए मतभेद रहित होगी। कहीं किसी का मतभेद भी हो सकता है, पर इस टीका के बिना तो रज्जब वाणी के बहुत से स्थलों का अर्थ समझना भी कठिन था उसकी पूर्ति इस से अवश्य होती है। अतः इस श्लाघनीय प्रयास के लिए पूज्य स्वामी जी सभी की प्रशंसा व श्रद्धा के पात्र होंगे ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है।

मैं पूज्य स्वामी जी का आदेश पालन करने के लिए ही समय का संकोच तथा रज्जब वाणी का अध्ययन न होते हुए भी भूमिका-लेखन में प्रवृत्त हुआ। अतः इसमें बहुत सी त्रुटियों का रहना स्वाभाविक है। विद्वान् पाठक उनके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

——सुरजनदास स्वामी

॥ ॐ ॥

अथ अनन्त श्री संत प्रवर दादूजी महाराज के सुयोग्य शिष्य संत रज्जब जी का संक्षिप्त जीवन चरित्र

रज्जबजी का जन्म जयपुर के समीप साँगानेर नगर में हुआ था। ये एक प्रतिष्ठित सैनिक पठान के पुत्र थे। इनका पिता राजा भगवन्तदास व मानसिंह आंबेर नरेश की सेना में एक छोटे नायक थे। रज्जबजी का पूर्व नाम 'रज्जबअली खाँ' था। इनकी सगाई (मंगनी) आंबेर में एक अच्छे घराने के पठान के यहां हो गई थी। समय आने पर जब विवाह का समय निश्चय हो गया, तब बरात सजकर साँगानेर से आंबेर जा रही थी। जयपुर उस समय नहीं बसा था, जयपुर के स्थान में वन ही था। जब आंबेर के समीप आये तो रज्जबजी को ज्ञात हुआ कि—महात्मा दादूजी यहाँ ही विराजते हैं। तब उनको सतसंग की इच्छा हुई। कारण—दादूजी का नाम वे पहले सुन चुके थे और ये सत्संगी भी थे। इससे दूल्हे के भेष में ही बरातियों के साथ दादूजी के दर्शन करने दादू आश्रम की ओर चल दिये।

संत प्रवर दादूजी महाराज उस समय मावटे बन्धे की पाल के समीप राम बाग के पूर्व की ओर तथा मार्ग के दाहिनी ओर पर्वत की जड़ में रहा करते थे। रज्जबजी अपने साथियों के साथ वहां जा पहुँचे। दादूजी उस समय ध्यानस्थ थे। रज्जबजी आदि वहाँ बैठ गये। थोड़ी देरमें साथियों ने कहा—"दर्शन कर लिये, चलो।" रज्जबजी बोले "हमने तो दर्शन कर लिये किंतु संतोंने तो हमको नहीं देखा है। महाराजका ध्यान टूटे तब तक ठहरो।" ठहरना पड़ा बींद बिना बराती जाकर क्या करें। ध्यान टूटा तब रज्जबजी ने दण्डवत प्रणाम किया और ठीक सामने बैठ गये। दादूजी ने देखा, एक युवक दूल्हे के भेष में सजा हुआ सन्मुख बैठा है। उसका मुख मण्डल देखने में अति सुन्दर और शांत है तथा ज्ञान पिपासा से युक्त ज्ञात होता है। दादूजी युवक के हृदय को पहचान गये। रज्जबजी भी दादूजी के दर्शन करके प्रेम निमग्न हो रहे थे।। उस समय दादूजी उन पर अपनी कृपा पूर्ण दृष्टि डालते हुये यह वचन बोले—

"कीया था शुभ काम को, सेवा कारण साज।
दादू भूला वन्दगी, सरे न एक हु काज॥"

यह तुम्हारा शरीर रूप कार्य भगवान् ने हरि भक्ति रूप शुभ कार्य को करने के लिये तथा अन्यों से कराने के लिये उत्पन्न किया था किंतु हे युवक! तुम ईश्वर भक्ति को भूल गये हो और जिस विवाह रूप कार्य को करने जा रहे हो उस कार्य से तो तुम्हारा एक भी कार्य सिद्ध नहीं होगा अर्थात् न तो ईश्वर भक्ति ही कर सकोगे और न साँसारिक आशा

ही पूर्ण कर सकोगे। भाव यह है—साँसारिक भोग तो सृष्टि के आरंभ से ही भोगते रहे हो अब तो तुम्हें ईश्वर प्राप्ति का साधन करना चाहिये। रज्जबजी को दादूजी महाराज ने उक्त वचन ही कहा था किंतु आज-कल जो वचन विशेष प्रचलित हैं जैसे—"रज्जब तैं गज्जब किया, शिर पर बाँधा मोर। आया था हरि भजन को करे नरक को ठौर" वा—रज्जब तैं गज्जब किया, शिर पर बाँधा मौर। तेरा तो पति और था तू किस पर बाँधा मौर॥" यह दादूजी महाराज की जीवन लीला लिखने वालों के हैं। उक्त दादूजी महाराज का वचन रज्जबजी के हृदय पटल को वेध कर उनके अन्तरात्मा में प्रवेश कर गया। बस फिर क्या था, वे चिर शाँति रूप दुलहिन के ब्रह्मानन्द रूप प्रेम में निमग्न हो गये। गुरुदेव की सैन से सहसा उनका जीवन बदल गया। उसी समय रज्जबजी ने साँसारिक जीवन त्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया। थोड़ी देर के बाद बरातियों ने कहा—बस, दर्शन हो गये, अब चलो, देर मत करो। तब रज्जबजी ने अपना सेहरा उतार कर अपने छोटे भाई के सन्मुख रख दिया और कहा—"जाओ तुम विवाह कर लो—मैं अब विवाह नहीं करूंगा।" यह सुनकर रज्जबजीके पिता को बड़ा दुःख हुआ। बरात वालों तथा कन्या वालों के यहाँ बड़ी हलचल मची। उस समय कोई रज्जबजी को बुरा कहता था तो कोई दादूजी महाराज को और कोई महात्माजी की सिद्धाई की प्रशंसा करता था तो कोई रज्जबजी के वैराग्य की प्रशंसा करता था। रज्जबजी के घर वालों ने तथा अन्य बुद्धिमान् व्यक्तियों ने भी बहुत कुछ समझाया। दादूजी महाराज ने भी लोगों की प्रेरणा से कहा—"भाई जाओ विवाह करा लो, नहीं तो फिर पर नारियों की ओर देखोगे। गुरुदेव का यह वचन सुनकर रज्जबजी बोल उठे—"रज्जब घर-घरणी तजे, पर-घरणी न सुहाय। अहि तज अपनी कंचुकी, किसकी पहने जाय॥" यह कह कर उन्होंने स्पष्ट और दृढ़ता के साथ कह दिया कि—मैं विवाह नहीं करूंगा। कारण उनके तो वैराग्य का गहरा रंग चढ़ चुका था। तब दोनों पक्षों ने हार मान कर रज्जबजी के छोटे भाई से उस कन्या का विवाह करा दिया और रज्जबजी दादूजी महाराज के शिष्य हो गये। आयु भर दूल्हा के भेष में ही रहे। कारण—दादूजी के यहाँ तो वाह्य भेष-भूषा का कोई विचार था ही नहीं। वे तो अंतरंग साधना को ही महत्त्व देते थे। इसलिये रज्जबजी ने यह सोच कर कि—जिस भेष में मैंने परम गुरु तथा परम तत्त्व पाया है उसका त्याग मुझे कभी नहीं करना चाहिये। दूल्हा का भेष नहीं त्याग कर आयु भर दूल्हा ही बने रहे थे। उक्त विवाह निषेध और दादूजी के शिष्य होने की आँबेर की घटना राघवदासजी कृत भक्तमाल में ऐसे ही लिखी है—

मनहर—रज्जब अज्जब राजस्थान आँबानेरि आये,
गुरु के शबद त्रिया व्याह संग त्यागो है।

पायो नर देह प्रभु सेवा का काज साज यह,
ताको भूल गयो शठ विषै रस लागो है ।।
मौड़ खोल डारा तन मन धन वारा,
सत शील व्रत धारा मन मारा काम भागो है ।
भक्ति मौज दीन्ही गुरु दादू दया कीन्ही,
उर लाय प्रीति लीन्ही माथे बडो भाग्य जागो है ।।"

इसी प्रकार शाहपुरा राम स्नेही सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक महात्मा रामचरणजी महाराज ने भी अपनी वाणी में कहा है—

दादू जैसा गुरु मिले, शिष रज्जब-सा जाँण ।
एक शब्द में उद्धरा, रही न खेंचा ताँण ।।१।।

रज्जब को दादू दिया, एक शब्द में ज्ञान ।
'रामचरण' सब छाँडि के, हो गया ब्रह्म समान ।।२।।

लगभग वि. सं. १६४४ में रज्जब जी आँबेर में दादू जी महाराज के शिष्य हुये थे । उस समय रज्जब जी की आयु लगभग २० वर्ष की होगी । रज्जब जी गुरु सेवा, सत्संग और ईश्वर भजन में सदा तत्पर रहते थे । कथा–कीर्तन, शास्त्र श्रवण से उनका अति प्रेम था । वे प्राय: दादूजी महाराज के पास ही रहा करते थे, जहां कहीं कथा होती वहां अवश्य जाकर बड़े ध्यान से सुना करते थे और सुनी कथा तथा अपने विचार दूसरों को सुनाया करते थे । दादू जी महाराज के मुख से निकली हुई वाणी शीघ्र याद कर लिया करते थे । श्री दादू वाणी संग्रह और अंग बाँधने का भी आपने काम किया था । इस प्रकार उनका अभ्यास बढ़ गया था, वे स्वयं भी कथा करने लग गये थे । जिसको सुन कर दादू जी महाराज भी हर्षित होते थे । रज्जब जी ५-६ वर्ष के इस प्रकार के अभ्यास से पद्य रचना भी करने लग गये थे । रज्जब जी का दृष्टांतों के देने तथा कथाओं के सुनने-सुनाने में बड़ा प्रेम था । एक समय एक पंडित की कथा में रज्जब जी गये थे । वह पंडित दृष्टांत बहुत सुन्दर देता था । उसकी कथा सुन कर रज्जब जी अपने मन में यह विचार करके कि– मुझे ऐसे दृष्टांत देना कैसे आये उदास थे । दादू जी महाराज ने उनको उदास देख कर पूछा—"आज उदास कैसे हो ? रज्जब जी ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया कि—"मैं आज जिन पंडित की कथा सुन कर आया हूं, उन के समान मुझे दृष्टांत देने की योग्यता अभी प्राप्त नहीं हुई है । तब अपने प्रिय शिष्य की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये दादू जी महाराज ने रज्जब जी को वरदान दिया कि—"तुम को इस विषय में उस से भी अच्छी योग्यता प्राप्त हो जायगी ।" तब से रज्जब जी दृष्टांतों

के देने में बहुत निपुण हो गये थे। इस विषय में उन की वाणी ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह युक्ति-दृष्टांतों से परिपूर्ण है। संत साहित्य में दृष्टांतों के विषय में "रज्जब वाणी" की समता करने वाला ग्रंथ नहीं ज्ञात होता। रज्जब जी कथा करते थे तब दृष्टांतों की भर मार कर देते थे। इसी लिये उनकी कथा सर्वप्रिय होती थी। एक दुरसा आढा नामक चारण जिसने अपनी कवित्त्व शक्ति द्वारा अकबर से लाख पसाव प्राप्त किया था और जहांगीर से विजय पत्र प्राप्त किया था, उसने एक स्वर्ण का अंकुश बना रक्खा था, जो उससे शास्त्रार्थ में हारता था उसे अपनी पालकी का वाहन बनाता था और कहता था जो मुझे जीत लेगा, उसे यह अंकुशादि दे दूंगा। वह अपनी कवित्त्व शक्ति से दिग् विजय करता हुआ साँगानेर में रज्जब जी के पास आया और उन को प्रश्न रूप से यह दोहा सुनाया—

"बावन अक्षर सप्त स्वर, गल भाषा छत्तीस।
इतने ऊपर जो कथे, तो जानूं कवि ईश॥"

तब रज्जब जी ने उत्तर दिया—

"बावन अक्षर सप्त स्वर, गल भाषा छत्तीस।
इतने ऊपर उर भजन, अन अक्षर जगदीश॥"

इस को सुन कर दुरसा आढा निरुत्तर हो गया और रज्जब जी को ही अपना गुरु मान कर उन के सत्संग से लाभ उठाया। रज्जब प्रायः दादू जी महाराज के पास ही रहा करते थे किंतु कभी २ साँगानेर भी चले जाते थे। रज्जब जी बड़े दयालु थे। आँबेर में किसी एक संत के पास एक छोटी अवस्था का शिष्य था। उस के गुरु उसे पढाया करते थे। वह गुरु सेवा में तो बहुत तत्पर था किंतु उस की बुद्धि बड़ी मंद थी। इससे उसे दंड बहुत मिलता था। रज्जब जी को उस पर बड़ी दया आती थी और उसकी गुरु सेवा से रज्जब जी बहुत प्रसन्न थे। एक दिन उस पर दया करने के लिये एकांत में उसकी परीक्षा करने लगे, वे बोले—"भाई! तेरे गुरु बड़े निर्दय हैं, तुझे बहुत पीटते हैं, तू उनको छोड़ दे और हमारे पास आजा, हम तुझे प्रेम से पढ़ायेंगे।" रज्जब जी का यह वचन सुन कर वह बोला—"नहीं महाराज! मेरे गुरु तो बड़े दयालु हैं, उन का मारना-पीटना ही मुझ पर दया करना है, मैं गुरु जी का त्याग कभी भी नहीं करूंगा, ऐसा वचन आप फिर कभी भी नहीं कहना।" बस, रज्जब जी तो उसकी दृढ़ता ही देखना चाहते थे। उन्होंने उसके ऊपर कृपा करके शिर पर अपना वरद हस्त रख दिया, जिस से उसकी बुद्धि बहुत अच्छी हो गई थी।

रज्जब जी में गुरु भक्ति अपार थी। जब खाटू ग्राम में पहले तो घरू ट्रिथ रावने दादू जी महाराज को निमन्त्रण देकर बुलाया था फिर एक

दुष्ट चित्त मंत्री के बहकाने से उसका मन बदल गया था। महाराज ने तो निमंत्रण मान लिया था। वे नियत समय पर अपने कुछ शिष्यों के साथ खाटू पधार गये। राव ने कुछ प्रश्न किये उनका उचित उत्तर भी दादू जी महाराज ने दे दिया था किंतु मंत्री के बहकाने से अश्रद्धा हो गई थी। इसलिये उसनें कहा—"यह तो चतुराई है, ज्ञान तो नहीं है।" संत शांति प्रिय थे कुछ न बोले और वहां से शिष्यों के साथ उठ कर चल दिये। मंत्री के कहने पर फिर मार्ग में जाते समय दादू जी महाराज पर मतवाला हाथी छोडा गया। उस समय मार्ग में दादू जी महाराज के एक ओर गरीबदास जी और एक ओर रज्जब जी साथ २ चल रहे थे। गरीबदास जी ने कहा—"महाराज! इस मार्ग में तो षड्यंत्र ज्ञात होता है।" दादू जी बोले—षड्यंत्र करने वालों को हानि है, अपनी रक्षा तो विश्व रक्षक प्रभु करेंहींगे। इतने में ही सामने मतवाला हाथी दिखाई दिया। तब रज्जब जी उसे रोक ने आगे बढने लगे किंतु महाराज ने कहा—क्यों बढते हो? उसमें हमारा रक्षक परब्रह्म नहीं है क्या? यह सुनते ही रज्जब जी पीछे हट गये। रज्जब जी जैसे विरक्त थे वैसे ही उनमें शौर्य भी था। वे आजानु बाहु थे। हाथी आया, दादू जी महाराज के चरण अपनी सूंड से छूये और चरण रज मस्तक पर चढाई। महाराज ने भी उसके शिर पर अपना कर कमल रक्खा फिर वह शांति के साथ लौट गया तब राजा की श्रद्धा बढी फिर उसनें क्षमा याचना की तथा सत्संग भी किया। कहा भी है—

प्रथम बुलाये भाव कर, पीछे कियो कुभाव।
दुर्जन को वाह्यों वह्यो, ताथैं भोलो राव॥

एक समय की बात है, दादू जी महाराज कुछ शिष्यों के साथ मार्ग से जा रहे थे। मार्ग में एक पानी का नाला पड़ा उसमें पानी थोड़ा था कीचड़ अधिक था, दादूजी महाराज ने शिष्यों से कहा—"इस नाले में थोड़ी-थोड़ी दूर पर पत्थर डाल दो जिस से अपने पैर भी कीचड़ में नहीं होंगे और अन्य यात्रियों को भी सुविधा हो जायगी।" अन्य शिष्य तो पत्थरों की खोज में लगे और रज्जब जी नाले के कीचड़ में लम्बे पड़ कर बोले—गुरु देव! आप तो पधारिये मेरे इस शरीर पर चरण रखते हुये। पत्थरों की क्या आवश्यकता है, यह शरीर आप की सेवा में भी नहीं आया तो फिर इसका क्या बनेगा? यह देख कर अन्य शिष्य भी उन की गुरु भक्ति से प्रभावित हुये तथा दादू जी महाराज भी प्रसन्न हुये थे और उनकी गुरु भक्ति की श्लाघा की थी।

नारायणे नगर की कथा है—दादूजी महाराज एक काष्ठ की चौकी पर स्नान करके उस पर बैठे ही रज्जबजी से बोले—"रज्जबजी! जरा मेरी खड़ाऊ तो ले आओ, रज्जबजी ने कहा—महाराज खड़ाऊ का क्या

करना है, मैं चौकी सहित आसन पर ले चलता हूं। आप विराजे रहें। ऐसा कह कर चौकी उठाना चाहा किंतु चौकी तिल भर भी नहीं हिली। पहले तो रज्जबजी बड़ी उमंग में थे कि—महाराज का शरीर तो बहुत कृश है, मैं अभी आसन पर लेजा धरूंगा। दादूजी ने अपने प्रिय शिष्य के हृदय में बल का अभिमान देखा, इसलिये उसको तोड़ने के हेतु वे बहुत भारी बन गये। तब रज्जब हाथ जोड़े हुये नत मस्तक होकर बोले– "हिले न चले न पिले न ढिले अस रोप रहा बल बंड बिहारी। अटे न मिट्यो न बट्यो न लुट्यो अजु माया रु मान गये पच हारी ।। हिलायो चलायो डुलायो न डोल ही देखहु साधु सुमेरु से भारी। दादू ये साधु अनादि शिरोमणि रज्जब देख भयो बलिहारि ।।" फिर खड़ाऊ ला दी। (इस सवैये का अर्थ सवैया ग्रंथ में देखो)

एक समय अपने शिष्य मंडल तथा अन्य संतों के साथ किसी भक्त के घर भोजन करने जा रहे थे। मार्ग में एक गरीब ब्राह्मण ने प्रार्थना की– भगवन् मुझे भी भोजन के लिये ले चलो। अन्य साधुओं ने तो उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया किंतु रज्जबजी के कानों में भी उसकी बात जा पहुँची थी। उन्होंने कहा–साथ-साथ आ जाओ। उसके वस्त्र मैले और फटे हुवे थे अन्य साधु पास नहीं बैठाना चाहते थे इससे उसे पंक्ति से अलग बैठाया गया। रज्जबजी ने सोचा यह तो ठीक नहीं हैं। यदि इसी प्रकार परोसने वालोंने व्यवहार किया तो ब्राह्मण भूखा रह जायगा। उसे बुला कर अपने पास बिठा लिया और भली भांति भोजन करा दिया। अतः उनमें दया की मात्रा भी कम नहीं थी।

एक समय नारायणे नगर के निवासी दादूजी महाराज के शिष्य बखनाजी गृहस्थ थे, उनने रज्जबजी को उनकी मंडली के सहित भोजन का निमंत्रण दिया था। जब जीम कर चले गये तब बखनाजी की धर्म पत्नी ने बखनाजी से पूछा—"भगवन्! आप भी दादूजी महाराज के शिष्य हैं और रज्जब जी भी उन्हीं के शिष्य हैं। किंतु रज्जब जी का बहुत बड़ा प्रभाव है आपका तो उन के समान कुछ भी दिखाई नहीं देता, यह क्या बात है? पत्नी की बात सुन कर बखना जी बोले—

"जन रज्जब को संपदा, गुरु दादू दीन्ही आप।
बखना के टोटा नहीं, तेरे चरणों का सु प्रताप ।।

दादू जी महाराज ने स्वयं रज्जब जी को ज्ञान-संपदा प्रदान की है, वही मुझे की है। ज्ञान-संपदा की कमी मुझ में भी नहीं है। यदि कमी है तो यही है कि–मैं गृहस्थ हूं और वे विरक्त हैं। इस कमी में कारण तेरे चरणों का प्रताप है। तू नहीं होती तो मेरी भी रज्जब जी के समान ही प्रतिष्ठा हो सकती थी। यह सुन कर बखना जी की पत्नी मौन रही।

दादू जी महाराज के ब्रह्म लीन होने पर रज्जब जी ने अपने नेत्र बन्द कर लिये थे, खोल कर नहीं देखते थे। अन्य संत यदि कहते कि–भगवान् ने नेत्र देखने के लिये ही तो दिये हैं विहित दृष्टि से देखने में क्या हानि है? ऐसा कहने पर रज्जब जी कहते थे—"अब संसार में नेत्र खोल कर देखने योग्य कुछ नहीं रहा है जिसे देखा जाय। गुरु महाराज का शरीर अवश्य देखने योग्य था किंतु वह अब धरातल पर रहा नहीं है, और अन्य को देखने की इच्छा नहीं है।"

एक समय एक भेषधारी साधु ने रज्जब जी के आगे अपने त्याग की बडाई आरंभ की वह बोला—हम पैसा नहीं ग्रहण करते, जूता नहीं पहनते, हमारे जैसा त्यागी कौन होगा? रज्जब जी ने यह सोच कर कि–इसे त्याग का अभिमान है और यह राग से अर्थात् ग्रहण से भी बुरा होता है कहा—"पशु पैसा ना गहे, ना पहरे पैजार। रज्जब ऐसे त्याग से मिले न सिरजनहार।" रज्जब जी वाह्य वस्तुओं के त्याग को विशेष महत्त्व नहीं देते थे, राग त्याग को ही महत्त्व देते थे। उक्त वचन सुन कर त्यागी का अभिमान गलित हो गया और वह त्याग की वास्तविक स्थिति को भी समझ गया।

रज्जब जी का विचार था कि–साधन बिना पुस्तकों द्वारा पढा हुआ ज्ञान हृदय में ठहरता नहीं है, कहा है—

कनक कटोरे बाहरा, रहे न बाघणि क्षीर।
त्यों रज्जब साधू शबद, राखे घट गंभीर॥

सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र बिना नहीं ठहरता, जैसे तैल-घृत मिट्टी के पात्र से झर जाते हैं, वैसे ही वह भी अन्य पात्रों से झर जाता है। वैसे ही ज्ञानी संतों के ज्ञान-पूर्ण शब्द गंभीर अन्त:करण में ही ठहरते हैं। अंत:करण गंभीर निष्काम कर्म और उपासना से ही होता है अध्ययन करने से नहीं होता। पढने से बुद्धि तीव्र अवश्य होती है। जीव ब्रह्म का भेद भी रज्जब जी अज्ञान से ही मानते हैं—"जीव ब्रह्म अंतर इता, जिता-जिता अज्ञान।" रज्जब जी ने अपने जीवन काल में महान् साहित्य की रचना की है, जो जीवों के कल्याण का परम साधन है। आप के दो ग्रंथ है। (१) रज्जब वाणी। इस में प्रथम साखी ग्रंथ है, उसमें १६३ अंग हैं। ५३४२ साखियां हैं। दूसरे पद भाग में २० राग हैं और २०६ भजन हैं तीसरा सवैया भाग है। इसमें अंग २५ और सवैया ११६ हैं। इसी ग्रंथ के साथ रज्जब जी के शिष्यों की कृति रज्जब जी के भेंट के ३४ पद्य हैं। चौथा लघु ग्रंथ भाग है। इसमें प्रथम छंद त्रिभंगी ग्रंथ है, इसके ३ अंग हैं और ३३ छंद हैं। दूसरा अरिल ग्रंथ है, इसमें नौ अंग हैं और ८३ अरिल हैं। तीसरा बावनी ग्रंथ है, इसमें ३६ पद्य हैं। चौथा बावनी

अक्षर उद्धार ग्रंथ है, इसमें ३७ पद्य है। पांचवा पंद्रह तिथि ग्रंथ है। इसमें १७ पद्य हैं। छटा सप्त वार ग्रंथ है, इसमें ८ पद्य हैं। सातवां गुरु उपदेश आत्म उपज ग्रंथ है इसमें १३ पद्य हैं। आठवां अविगत-लीला ग्रंथ है, इसमें १० पद्य हैं। नौवां अकल लीला ग्रंथ है, इसमें २० पद्य हैं। दशवां प्राण-पारिख ग्रंथ है, इसमें ८ पद्य हैं। ग्यारहवां उत्पत्ति निर्णय ग्रंथ है, इसमें २६ पद्य हैं। बारहवां गृह वैराग्य बोध ग्रंथ है, इसमें १६ पद्य हैं। तेरहवां परा भेद ग्रंथ है, इसमें २० पद्य हैं। चौदहवां दोष दरीबे ग्रंथ है, इसमें २७ पद्य हैं। पंद्रहवां जैन जंजाल ग्रंथ है, इसमें २१ पद्य हैं। भाग पांच में छप्पय ग्रंथ है, इसमें ४० अंग हैं और छप्पये ८६ हैं। उक्त सभी ग्रंथ रज्जब वाणी नाम से प्रसिद्ध हैं। (२) दूसरा ग्रन्थ सर्वंगी है। इसमें अनेक महात्माओं के वचनों के साथ अपनी वाणी भी दी है। यह संग्रह ग्रन्थ है और बड़ा भी है, इसमें १४२ अंग हैं। इस प्रकार रज्जब जी के ज्ञान का भंडार भी विशाल है। बाल कवि महात्मा सुन्दरदास जी का भी रज्जब जी से बहुत प्रेम था। सुंदरदास जी समय २ पर साँगानेर आया करते थे। दादू जी महाराज ने, महा प्रस्थान के कुछ ही पहले जब सुंदर दास जी ११ वर्ष के ही थे, रज्जबज़ी से कहा--:'यह आत्मा होनहार है, इसका तुम विशेष ध्यान रखना।'' इस गुरुदेव के वचन का ध्यान रखते हुये ही जगजीवनजी दौसा वाले और रज्जब जी सुंदरदास जी का विशेष ध्यान रखते थे, उक्त दोनों सतों ने ही उन्हें काशी लेजा कर पढाया था।

रज्जब जी के—गोविंददास, खेमदास, हरिदास छीतरदास, जगन दास, दामोदरदास आदि १२ शिष्य थे। इन की शिष्य परंपरा अभी चल रही है। इस प्रकार रज्जब जी ब्रह्म-चिंतन और सत्संग में रहते हुये तथा लोक-कल्याण के साधन रूप साहित्य की रचना करते हुये, इस धरातल पर १२२ वर्ष रहे थे। अन्त में अपने गुरुदेव दादूजी महाराज के उपदेश के अनुसार, जैसे दादूजी का वचन है--"हरि भज साफिल जीवना, परोपकार समाय। दादू मरणा तहँ भला, जहँ पशु पक्षी खाय।।सं. १७४६ वि. में अपने शिष्य रामदास को साथ लेकर टोंक की ओर एक वन में जाकर रामदास को पीछा भेज दिया और आप नाशवान् शरीर को त्याग कर ब्रह्म लीन हो गये। इधर बाल कवि सुन्दरदास ज़ी रज्जबजी से मिलने साँगानेर आये थे, उन्हें ज्ञात हुआ कि—वे तो ब्रह्म लीन हो गये। तब सुंदरदास जी भी अपने शरीर को त्याग कर साँगानेर में ही ब्रह्म लीन हो गये थे। इस प्रकार दोनों महान् संत संसार का उपकार करके स्वस्वरूप में स्थित हो गये हैं। ओ३म् शांति शांति शांति।

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायण दास कृत श्री स्वामी रज्जब जी महाराज का संक्षिप्त जीवन चरित्र समाप्तः।

॥ ॐ ॥

ईश्वर पद के प्राप्ति का, हेतु मनुज तन पाय।
सद् शिक्षा गह भजन कर, श्वासन वृथा गमाय॥

अनेक ग्रंथ निर्माता संतकवि कविरत्न श्रीस्वामी
नारायणदासजी महाराज, श्री कृष्ण कृपाकुटीर पुष्कर

॥ ॐ ॥

अथ विषय-सूची

विषय	पृ०

पद भाग २

सवैया ग्रन्थ भाग ३

श्री परमात्मने नमः

अथ श्री रज्जबवाणी

(श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका टीका सहित)

अथ स्तुति का अंग १

मंगल करने से कार्य निर्विघ्न समाप्त होता है, अतः रज्जब जी अपनी वाणी के आदि में स्तुति रूप मंगल कर रहे हैं—

दादू नमो नमो निरंजनम्, नमस्कार गुरु देवतः ।
वन्दनं सर्व साधवा, प्रणामं पारंगतः ।१।

श्री गुरु देव दादू जी महाराज को तथा निरंजन परब्रह्म को और सब संतों को अनेक प्रणाम कर के, मैं वाणी रूप कार्य आरम्भ करता हूं, इसका जो विचार करके इसके सार तत्त्व को धारण करेंगे वे संसार-सागर से पार होकर परब्रह्म को प्राप्त होंगे ।

सिजदा[2] पूरे पीर[1] को, गुरु ज्ञानहिं डंडौत ।
रजब भये भगवंत के, सर्व आत्महुं नौत[2] ।२।

पूर्णता को प्राप्त सिद्ध[1] महात्मा को, ज्ञानी गुरुजनों को और भगवान् को मैं डंडवत प्रणाम[2] करता हूँ, भगवान् को प्रणाम करने से सभी आत्माओं को प्रणाम हो जाता है ।

गुरु अक्षर[1] धर[2] साधु कवि, सबन करूं शुभ स्तुति ।
रज्जब की चक[3] चूक[4] पर, क्षमा करो ह्वै सूति[5] ।३।

श्री गुरुदेव, अविनाशी[1] ब्रह्म, विष्णु[2] संत और कवि आदि सभी की सुन्दर स्तुति करता हूँ, सभी मुझ पर अनुकूल[5] रहते हुए मेरी महान्[3] भूल[4] को भी क्षमा करेंगे ।

शरीर शब्द की एक गति,[1] त्रिविध भाँति तन होय ।
भले बुरे बिच बपु वयन, दोष न दीज्यो कोय ।४।

शरीर और शब्दों की एक ही रीति[1] होती है, अर्थात् शरीर उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, तीन प्रकार के होते हैं और उन में शब्द भी उक्त तीन प्रकार के ही होते हैं, जैसे शरीर होते हैं, उनके लिये वैसे ही शब्द कहे जाते हैं, उत्तम के लिए उत्तम, मध्यम के लिए मध्यम, कनिष्ठ, के लिए कनिष्ठ अतः मेरे शब्द व्यवहार के लिये मुझे कोई भी दोष न दें ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित स्तुति का अंग १ समाप्तः । साखी ।४।

अथ भेंट का अंग २

स्तुति अंग के अनन्तर लघु उपहार और प्रभु मिलन का महत्त्व बताने के लिये भेंट का अंग कह रहे हैं।

लाभ लहा किन हूं नहीं, दीरघ दात[1] न कीन्ह।
रज्जब राम उमंग करि, सो दादू को दीन्ह ।१।

परमात्मा को देने[1] योग्य महान् उपहार न देने वाले किस भक्त ने प्रभु प्राप्ति रूप महान् लाभ नहीं लिया, अर्थात् अति लघु भेंट देकर भी भक्त भगवान् को प्राप्त हुये हैं। उस अति लघु एक पैसे की भेंट का ही अपना साक्षात्कार रूप फल हर्षावेश में आकर रामजी ने दादू जी को दिया था। बाल्यावस्था में अहमदाबाद के कांकरिया तालाब पर वृद्ध रूप भगवान् को दादू जी ने एक पैसा भेंट किया था। प्रसंग कथा दृष्टांत सुधा-सिन्धु तरंग ७।९२ में देखो।

सांई लग[1] सेवा रची, टरचा न अपनी टेक[2]।
दादू सम नहिं दूसरा, दीरघ दास सु एक ।२।

प्रभु की प्राप्ति तक[1] भक्ति करते रहे, अपने प्रभु मिलन के प्रण[2] से किंचित् भी नहीं हटे, अतः दादू जी के समय में दादू जी के समान महान् दूसरा एक भी भक्त ज्ञात नहीं होता।

दादू दूजा ना गह्या, निवह्या एक हि ठाट[1]।
जन रज्जब लागा नहीं, कंचन गिरि को काट ।३।

दादू जी ने एक परब्रह्म को छोड़ कर, उपास्य रूप से अन्य को ग्रहण नहीं किया और एकमात्र निर्दंभ रूप ढंग[1] से ही जीवन निर्वाह किया। जैसे सुवर्ण के पर्वत पर मैल नहीं जमता वैसे ही दादू जी के कोई भी दोष न लग सका।

करामात कर ना गही, सिद्धि न सूंघी साध।
रज्जब रिधि रूठा रह्या, दादू दिल सु अगाध ।४।

उस महान् दादू संत ने किसी भी चमत्कार को हृदय-हस्त में ग्रहण नहीं किया अर्थात् आदर नहीं किया और सिद्धि की तो गंध तक न ली, अर्थात् सिद्धियों में उनकी रुचि नहीं रही। ऋद्धि से भी सदा उपराम ही रहे। अतः दादू जी का हृदय अति अगाध ज्ञात होता है।

दादू शूर अजीत गढ़, पूरा प्राण प्रचंड।
रज्जब गुण जै जै करैं, हारचा सब ब्रह्मंड ।५।

दादू जी पूर्णता को प्राप्त हुये प्राणी हैं, मन और आसुर गुणों को जीतने में महान् वीर हैं। उनका अन्तःकरण रूप दुर्ग कामादि के द्वारा नहीं जीता जा सकता। अतः कामादि गुण उनका जय घोष करते हैं। उनकी समता करने में सभी ब्रह्मांड के प्राणी हार मानते हैं, वा सभी ब्रह्मांड के प्राणी उनके दिव्य गुणों की समता करने में हार मान कर बारंबार उनकी जय ध्वनि करते हैं।

सकल नाग नर निग्रहै, स्वांग्यों शब्द सुनाय।
रज्जब दादू शेष गति, अहि विधि गह्या न जाय।६।

सर्पों को पकड़ ने वाले पूंगी का शब्द सुना कर सभी सर्पों को पकड़ लेते हैं किन्तु साधारण सर्प के समान शेष नाग को नहीं पकड़ सकते, वैसे ही भेषधारी साधु सभी को अपने शब्दों द्वारा पकड़ कर शिष्य बना लेते हैं किन्तु दादू जी तो शेष के समान महान् थे, अतः उन्हें न पकड़ सके।

दादू दरिया राम जल, सकल संत जन मीन।
सुख सागर में सब सुखी, जन रज्जब जो लीन।७।

संत प्रवर दादू जी समुद्र हैं, राम ही जल है और सभी साधक संत मच्छियों के समान हैं। जो साधक-संत उक्त सुख-सागर में निमग्न रहते हैं, वे सब सदा के लिए सुखी हो जाते हैं अर्थात् गुरु के उपदेशानुसार राम का चिन्तन करते हैं वे सब आनन्द रूप राम को प्राप्त होकर आनन्द रूप ही हो जाते हैं।

गुरु दादू रु कबीर की, काया भयी कपूर।
रज्जब रीझ्या देख कर, सह गुण निर्गुण नूर।८।

जैसे कपूर की टिकिया आकाश में लय हो जाती है, वैसे ही गुरु दादू और कबीर का शरीर भी प्रभु में लय हो गया। रज्जब जी कहते हैं— इस प्रकार दादू जी के सगुण शरीर को भी निर्गुण रूप होते देख कर मैं उनका अति प्रेमी भक्त बन गया हूँ। शरीर संस्कार के समय दोनों ही संतों के शरीरों के स्थान में चद्दरों के नीचे पुष्प मिले थे। प्रसंग कथा दृ. सु. सि. में देखो।

काया कपूर हि ले गये, प्राणी परिमल अंग।
रज्जब मिलते देखिये, सहज शून्य के संग।९।

जैसे कपूर अपने आकार को अपने स्वरूप सुगंधि के साथ ही ले जाता है वैसे ही प्राणधारी दादू जी अपने शरीर को अपने स्वरूप आत्मा के साथ ही ले गये, शव के रूप में नहीं छोड़ा। वे सहज शून्य ब्रह्म के साथ मिलते हुये शिष्यों के द्वारा देखे गये। भैराणे गिरी की गुहा द्वार पर सभी शिष्यों के देखते२ ही अन्तर्द्धान हुये थे।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भेंट का अंग २ समाप्तः। साखी ११।

अथ गुरुदेव का अंग ३

भेंट-अंग के अनन्तर गुरु की विशेषतादि बताने के लिये गुरुदेव का अंग कह रहे हैं।

रज्जब रहिये राम में, गुरु दादू के सु प्रसाद ।
नातर जाता देखतों, जन्म अमोलक बाद ।१।

१-१८ में गुरु की विशेषता बता रहे हैं—श्री गुरु दादू जी के कृपा प्रसाद से संसार-प्रवाह में जाने से रुक कर राम के चिन्तन में लग गये हैं, यदि दादू जी नहीं मिलते तो देखते२ ही अमूल्य नर जन्म व्यर्थ ही चला जाता ।

दादू दीन दयालु गुरु, सो मेरे शिर मौर ।
जन रज्जब उनकी दया, पाई निश्चल ठौर ।२।

जो दीनों पर दया करने वाले गुरु देव दादू जी हैं, वे ही मेरे शिर के मुकुट हैं। उनकी दया से ही मुझ दास ने निश्चल ब्रह्म रूप स्थान प्राप्त किया है।

जन रज्जब युग युग सुखी, गुरु दादू की दाति[1] ।
आप समागम कर लीये, भयी निरंजन जाति[2] ।३।

गुरु दादू के उपदेश रूप दान[1] से हम शिष्य युग-युग प्रति सुखी रहेंगे। कारण उस उपदेश ने हमें अपने स्वरूप ब्रह्म से मिला कर ब्रह्म ही बना दिया है। अब हमारी भी सत्ता[2] निरंजन ब्रह्म रूप ही हो गई है।

गुरु दादू सौं गम[1] भयी, समझ्या सिरजन हार ।
रज्जब राते राम से, छूटे विषय विकार ।४।

गुरु दादू जी की कृपा से हमारा परमार्थ में प्रवेश[1] हुआ तथा परमात्मा का स्वरूप समझ में आया। अब हमारे हृदय से सभी विकार हट गये हैं और हम राम के वास्तव स्वरूप में ही अनुरक्त रहते हैं।

गुरु दादू की दृष्टि सौं, देख्या दीरघ राम ।
रज्जब समझे साधु सब, सर्या सु आतम काम ।५।

श्री गुरु दादू जी की ज्ञान दृष्टि से अति विशाल व्यापक राम का हमने साक्षात्कार किया है तथा उनके सम्पर्क में आने वाले सभी साधक संतों ने निर्गुण राम का स्वरूप समझा है और उन साधक संतात्माओं का आत्म-परमात्म मिलन रूप कार्य सम्यक् प्रकार सिद्ध हुआ है।

जन रज्जब सुकृत सबै, गुरु दादू का उपकार।
मनसा बाचा कर्मना, ता में फेर[2] न सार[1] ।६।

मुझ दास से जो भी मन, वचन और कर्म से शुभ कर्म हुये हैं, वे सब गुरु दादू जी के उपकार द्वारा ही हुये हैं। यह मेरा वचन सत्य[1] ही है, इसमें मिथ्या रूप परिवर्तन[2] नहीं हो सकता।

रज्जब शिष दादू गुरु, दिन्हा दीरघ ज्ञान।
तन मन आतम ब्रह्म का, समझ्या सब सु स्थान ।७।

मुझ शिष्य को गुरु दादू जी ने महान् ज्ञान प्रदान किया है, जिससे मैंने स्थूल शरीर, मन, आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप रूप स्थान सब प्रकार से भली भाँति समझ लिया है वा तन, मन, आत्मा और सभी स्थानों में ब्रह्म का व्यापक रूप सम्यक् प्रकार समझ लिया है।

रज्जब को अज्जब मिल्या, गुरु दादू सु प्रसिद्ध।
व्योरन[1] माया ब्रह्म की, सकल बताई विद्ध[2] ।८।

मुझ को अद्भुत और सुप्रसिद्ध संत प्रवर दादू जी गुरु रूप से प्राप्त हुये हैं, उन्होंने माया और ब्रह्म का विस्तार से विवरण[1] करके माया को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य तथा निज स्वरूप समझने की सम्पूर्ण विधि[2] मुझे बताई है।

रज्जब रजा[1] खुदाइ की, पाया दादू पीर[2]।
कुल[3] मंजिल[4] महरम[5] किया, दिल नाहीं दिलगीर[6] ।९।

ईश्वर की इच्छा[1] से ही सिद्ध[2] गुरु दादू जी प्राप्त हुये हैं, उन्होंने प्रभु को प्राप्त करने वाले साधन मार्ग के सभी[3] पड़ावों[4] का मुझे मर्मज्ञ[5] कर दिया है, अब मैं अपने हृदय में दुखी[6] नहीं होता।

रज्जब रज[2] मा[1] पाइया, गुरु दादू दरबार।
धरे[3] अधर[4] का सुख लह्या, सन्मुख सिरजनहार ।१०।

गुरु दादू जी के सत्संग रूप दरबार में जाने से हृदय-मध्य[1] ही ज्ञान रूप प्रकाश[2] वा बल प्राप्त हुआ है, जिससे परमेश्वर को सन्मुख देखते हुये, हमने मायिक[3] और ब्रह्म[4] सुख प्राप्त किया है। यही गुरु-ज्ञान की विशेषता है, गुरु ज्ञान बिना उपासक को विरह-वेदना के कारण मायिक सुख दुःख होते हैं और ब्रह्म सुख मिलता नहीं।

रज्जब को अज्जब मिल्या, गुरु दादू दातार।
दुख दरिद्र तब का गया, सुख संपत्ति अपार ।११।

मुझ को अद्भुत योग्यता वाले और ज्ञानादि के प्रदाता दादू जी गुरु रूप में प्राप्त हुये हैं, तभी से मेरा अज्ञान जन्य दुःख तथा भोगाशा रूप दरिद्र चला गया है और सुमति रूप संपत्ति तथा अनन्त ब्रह्म सुख मुझे प्राप्त हुआ है।

देखो पारस परस तों, लोहे लाभ सु लीन्ह।
रज्जब गुरु दादू मिलत, सो गति[1] हमसों कीन्ह।१२।

सज्जनो ! देखो ! पारस से स्पर्श होते ही लोहे ने सुवर्ण में परिवर्तनरूप सुन्दर लाभ प्राप्त किया है, वैसे ही गुरुदेव दादू जी से मिलने पर वही परिवर्तन रूप दशा[1] दादू जी ने हमारी कर दी है अर्थात् अन्तःकरण से भव-भावना हटा कर उसमें ब्रह्म भावना भरदी है।

तलब[3] तसल्ली[4] तालिबाँ,[2] दादू की दरगाह[1]।
रज्जब रज[6] मा[5] पाइये, हाफू[8] कुली[7] गुनाह।१३।

दादू जी के सत्संग-दरबार[1] में शिष्यों[2] को इच्छा[3] पूर्ति रूप संतोष[4] होता है और अन्तःकरण के भीतर[5] ज्ञान प्रकाश[6] होकर सब[7] दोष नष्ट[8] हो जाते हैं।

गुरु दादू देखत कटे, जीव की कोटि जंजीर।
जन रज्जब मुक्ते किये, पाया पूरा पीर।१४।

गुरु देव दादू जी के दर्शन करते ही जीव की कर्म बन्धन रूप कोटि जंजीर कट जाती हैं। उन्होंने अनेकों को अज्ञान-पिशाच से मुक्त किया है। वे ही पूर्णता को प्राप्त महात्मा दादू जी मुझे प्राप्त हुये हैं।

गुरु दादू का ज्ञान सुन, छूटें सकल विकार।
जन रज्जब दुस्तर तिरहिं, देखैं हरि दीदार।१५।

गुरु देव दादू जी का ज्ञानोपदेश श्रवण करने से प्राणियों के सभी दोष छुट जाते हैं और वे दुस्तर संसार से पार होकर परब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।

तन त्रिभुवन तम पूरि था, आतम अंध विशेष।
तहँ रज्जब सूझ्या सकल, दादू दिनकर देख।१६।

शरीर रूप त्रिभुवन में अज्ञान रूप अंधकार परिपूर्ण था, जीवात्मा आत्म-ज्ञाननेत्र विहीन होने से विशेष रूप से अंध ही था किन्तु दादू रूप सूर्य को देखते ही अन्तःकरण में ज्ञानप्रकाश प्रकट होने से ब्रह्म, जीव, माया, आदि सब का स्वरूप भास ने लग गया है।

फाटे परवत पाप के, गुरु दादू की हाँक ।
रज्जब निकस्या राह उस, प्राण मुक्त बेवाक[1] ।१७।

गुरु दादू जी की भक्ति ज्ञान मय उच्च आवाज से पाप रूप पर्वत फट कर मार्ग बन गया है, उसी मार्ग से निकल कर साधक प्राणी परमात्मा को प्राप्त होकर पूर्ण[1] रूप से मुक्त हो जाते हैं ।

हरि सिद्धि[1] हीरा मयी, वज्र[2] न बेधी जाय ।
तहाँ गुरु गैला[3] किया, तब शिष्य सूत समाय ।१८।

हरि की माया[1] हीरा रूप है, जैसे हीरा[2] सहजही बेधा नहीं जाता वैसे ही माया का मन से त्याग रूप वेध सर्व साधारण से नहीं होता किन्तु उसमें जब से गुरु देव ने साधन रूप मार्ग[3] बना दिया है, तब से शिष्य रूप धागा उसके बाहर निकल कर परमात्मा को प्राप्त होता है और परमात्मा में ही समा जाता है ।

दादू दोस्त जीव का, जन रज्जब जग माँहि ।
कै[1] जिन सिरजे सो सही, तीजा कोई नाँहि ।१६।

१६-२५ में गुरु पर अपना भरोसा बता रहे हैं—मुझ शिष्य रूप जीव के सच्चे मित्र जगत् में दादू जी ही हैं वा[1] जिन ने मुझे उत्पन्न किया है वे ईश्वर हैं, तीसरा कोई भी नहीं है ।

जन रज्जब जगदीश लग, दादू श्री गुरुदेव ।
मनसा बाचा कर्मना, तब लग माडी[1] सेव ।२०।

श्री गुरुदेव दादू जी परमात्मा की उपासना में लग कर जब तक पर ब्रह्म को प्राप्त न हुये तब तक मन वचन कर्म से भक्ति करते[1] ही रहे और ऐसा ही उपदेश हम शिष्यों को भी दिया अतः हम उन पर ही भरोसा करते हैं ।

गुरु दादू के दस्त[1] में, जन रज्जब की जान ।
ज्यों राखैं त्यों रहेंगे, सदक[2] दिया सुबहान[3] ।२१।

मुझ शिष्य के प्राण गुरु दादू जी के हाथों[1] में हैं, वे जैसे भी रक्खेंगे वैसे ही मैं रहूंगा । मैंने तो उन्ही को परमेश्वर[3] समझकर उन पर अपने को निछावर[2] कर दिया है ।

आदि अंत मधि ह्वै गये, सिध साधक शिरताज ।
जन रज्जब के जीव की, गुरु दादू को लाज ।२२।

सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त तक अर्थात् मेरे जन्म तक साधकों के शिरोमणि अनेक सिद्ध हुये हैं, किन्तु मेरे जीवात्मा की मुक्ति करना रूप लाज तो श्री गुरु दादू जी को ही रखनी पड़ी है ।

दादू के दीदार में, रज्जब मस्त मुरीद[1] ।
खिल[2] खाना[3] कुरबान कर, कीया सखुन[4] खरीद ।२३।

गुरु दादू जी के दर्शन करने में ही मैं शिष्य[1] मस्त रहता हूं। निश्चय[2] पूर्वक कहता हूँ मैंने अपने घर,[3] भोजनादि सभी दादू जी पर निछावर कर दिये हैं। दादू जी ने अपने उपदेश रूप वचनों[4] से मुझे खरीद लिया है।

गुरु दादू का ज्ञान गहि, रज्जब कीया गौन ।
तन मन इन्द्रिय अरि दलन, मुँहडे आवे कौन ।२४।

तन, मन और इन्द्रियों को संयम में रखने वाला तथा कामादि शत्रुओं का नाशक गुरुदेव दादू जी का ज्ञान ग्रहण करके मैंने पर ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में गमन किया है, अतः मेरे को बीच में रोकने वाला मेरे सन्मुख कौन आ सकता ? अर्थात् कोई भी नहीं आ सकता ।

गुरु दादू का हाथ शिर, हृदय त्रिभुवन नाथ ।
रज्जब डरिये कौन सौं, मिल्या सहायक साथ ।२५।

मेरे शिर पर गुरुदेव दादू जी का हस्त है और हृदय में त्रिलोक के स्वामी परमात्मा हैं, गुरु दादू जी की कृपा से सदा साथ रहने वाले परमात्मा सहायक मिल गये हैं, अब मैं किससे डर सकता हूं।

गुरु दादू की गति गहै, ता शिर मोटे भाग ।
जन रज्जब युग युग सुखी, पावे परम सुहाग ।२६।

२६-२९ में दादू जी की साधन पद्धति ग्रहण करने वाले को बड़भागी बता रहे हैं—यदि कोई गुरुदेव दादू जी की साधन रूप चाल को ग्रहण करता है तो, जानना चाहिये उसके शिर पर सौभाग्य के अंक अंकित हैं, वह परब्रह्म प्राप्ति रूप सौभाग्य को प्राप्त करके प्रति युग सुखी रहेगा।

शब्द सुरति[1] गुरु शिष्य है, मिलें श्रवण सु स्थान ।
भाव भेंट परि दया दत, रज्जब दे ले जान ।२७।

शब्द ही गुरु हैं और वृत्ति[1] ही शिष्य है। शब्द वक्ता के मुख से आता है और वृत्ति अन्तःकरण से आती है, दोनों का मिलन श्रवण रूप सुन्दर स्थान पर होता है, वृत्ति-शिष्य भाव रूप भेंट देता है तब शब्द गुरु से दया पूर्वक ज्ञान रूप दान[2] लेता है। शब्द और वृत्ति ही यथार्थ गुरु-शिष्य हैं यह बात सत्य जानो।

सर्वस्व दे सर्वस्व लिया, शिष सद्गुरु कने[1] आय ।
रज्जब महद मिलाप की, महिमा कही न जाय ।२८।

शिष्य सद्गुरु के पास[1] जाकर अपना तन, मन, धनादि सब कुछ गुरु के समर्पण करता है तब भक्ति, योग, ज्ञानादिक जो भी गुरु के पास होता है वह सब कुछ प्राप्त करता है। इस गुरु और शिष्य के महान् मिलन की महिमा इतनी महान् है कि मुख से तो कही भी नहीं जा सकती।

सद्गुरु की सुन सीख को, उपज्या यही विचार ।
रज्जब रचे सु राम सों, विरचे इहिं संसार ।२९।

सद्गुरु के ज्ञानोपदेश को श्रवण करके साधकों के हृदय में राम सत्य है और संसार असत्य है, यही विचार उत्पन्न हुआ। इसी कारण वे संसार से विरक्त होकर राम में ही अनुरक्त हुये अतः बडभागी हैं।

मन समुद्र गुरु कमठ ह्वै, किया जु महणारंभ[1] ।
रज्जब बीते बहुत युग, अचल न आतम अंभ[2] ।३०।

३०-३६ में गुरु की विशेषता बता रहे हैं—मन रूप समुद्र को गुरु रूप कच्छप ने ज्ञान-रत्न निकालने के लिये मथना[1] आरंभ किये बहुत युग, बीत गये हैं, किन्तु अभी भी जीवात्मा रूप जल[2] स्वस्वरूप स्थिति रूप निश्चलता को प्राप्त नहीं हुआ है फिर भी ज्ञान रत्न निकाले बिना गुरु छोड़ते नहीं। इसमें समुद्र मन्थन समय का रूपक दिया है।

गुरु बिन गम[3] नहिं पाइये, पिंड प्राण[1] पर वेश[2] ।
रज्जब गुरु गोविन्द बिन, कौन दिखावे देश ।३१।

स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर[1] से परे अपने निज स्वरूप-घर[2] को प्राप्त करने का विचार[3] गुरु बिना नहीं मिलता। गोविन्द की कृपा और गुरु के ज्ञान बिना स्वस्वरूप-देश को कौन दिखा सकता है ?

गुरु बिन गम[1] नहिं पाइये, समझ न उपजे आय ।
रज्जब पंथी पंथ बिन, कौन दिसावर[2] जाय ।३२।

गुरु बिना परमेश्वर के ध्यान[1] करने की युक्ति नहीं मिलती और हृदय में ब्रह्म-ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे पथिक पंथ बिना किसी भी विदेश[2] को नहीं जा सकता, वैसे ही साधक ब्रह्म ज्ञान बिना संसार दशा रूप देश से ब्रह्म-स्थिति रूप प्रदेश में नहीं जा सकता।

ब्रह्मांड पिंड की एक गति, पावे खोजी प्रान ।
उभय ठौर सब अंश हैं, समझावे गुरु ज्ञान ।३३।

ब्रह्मांड और पिंड का स्वरूप एक जैसा ही है किन्तु उसे विचार-शील प्राणी ही समझ पाता है। दोनों ही स्थानों के सभी भाग समान हैं इस बात को भली भाँति गुरु देव का ज्ञान ही समझा पाता है।

विविध भाँति बूटी व्यथा, वैद्य सु जाने भेव[1] ।

त्यों आशंका अनन्त विधि, समझावें गुरु देव ।३४।

नाना प्रकार की बूटियें और रोग होते हैं, बूटियों के गुण-रहस्य[1] और आकारों को तथा रोगों की विभिन्नता, निदान, उपद्रवादि के रहस्य को सम्यक प्रकार से वैद्य ही जान पाता है, वैसे ही नाना प्रकार की शंकाओं के समाधान कर के गुरु-देव ही प्राणियों को अध्यात्म विषय समझाते हैं।

रज्जब अग्नि अनन्त हैं, एक आतमा माँहि ।

सद्गुरु शीतल सर्व विधि, बहु वह्नि बुझ जाँहि ।३५।

एक ही अन्तःकरण में क्रोधाग्नि, कामाग्नि आदि बहुत प्रकार की अग्नियें हैं किन्तु सद्गुरु का अन्तःकरण उक्त सभी अग्नियों से रहित होने से सद्गुरु सर्वथा शीतल हैं, अतः उनके उपदेशानुसार साधन करने से उक्त सभी अग्नियें शांत हो जाती हैं।

सद्गुरु बिन संदेह को, रज्जब भाने कौन ।

सकल लोक फिर देखिया, निरखे तीनों भौन ।३६।

संपूर्ण लोकों में घूम कर देखा है तथा तीनों भुवनों को विचार द्वारा भी देखा है, उनमें साधक के ब्रह्म-आत्म विषयक संशय को नष्ट कर सके ऐसा सद्गुरु बिना कोई भी नहीं है।

गुरु सु दिखावे शब्द में, रमता[1] रामति[2] और ।

देखन को दर्पण इहै, जन रज्जब निज ठौर ।३७।

३६-४४ में गुरु शब्दों की विशेषता बता रहे हैं—रमने[1] वाले राम को और उसकी रमन[2] भूमि मायिक संसार को सद्गुरु अपने शब्दों में भलि भाँति भिन्न भिन्न दिखा देते हैं, अर्थात् राम सत्य है और माया तथा मायिक कार्य मिथ्या है, यह बता देते हैं। वैसे ही ब्रह्म रूप निज धाम को देखने के लिये भी इस संसार में सद्गुरु शब्द ही दर्पण है।

सद्गुरु वाइक बीज है, प्राण पुहमि[1] में बोय ।

रज्जब राखे जतन कर, मन वाँछित फल होय ।३८।

साधन-वृक्ष का बीज सद्गुरु वचन ही है, उसको साधक प्राणी निज अन्तःकरण रूप पृथ्वी[1] में बोये और विचार जल से सींचना तथा कुविचार-पशुओं से बचाना रूप यत्न से रक्खे तो, मन की इच्छानुसार उससे फल प्राप्त होगा।

जो प्राणी रुचि से गहै, उर अंतर गुरु बैन ।
जन रज्जब युग युग सुखी, सदा सु पावे चैन ।३६।

जो प्राणी गुरु वचनों को प्रेम पूर्वक हृदय में धारण करता है वह अपने जीवन काल में सदा सम्यक् प्रकार सुख ही पाता है और ब्रह्म को प्राप्त करके प्रति युग में सुखी रहता है।

सद्गुरु शब्द अनन्त दत[1], युग युग काटे कर्म ।
जन रज्जब उस पुण्य पर, और न दीसे धर्म ।४०।

सद्गुरु का शब्द प्रदान करना अनन्त दान[1] है, अनन्त युगों के कर्मों को नष्ट कर डालता है, सद्गुरु शब्द जन्य ज्ञान से होने वाले पुण्य से अधिक अन्य कोई भी धर्म नहीं दीखता ।

सद्गुरु के शब्दों सुन्यो, बहुत होय उपकार ।
जन रज्जब जगपति मिले, छूटे सकल विकार ।४१।

शास्त्र तथा संतों से सुनते आ रहे हैं कि-सद्गुरु शब्दों द्वारा महान् उपकार होता है । संपूर्ण विकार हटकर परमेश्वर का साक्षात्कार होता है ।

सुख दाता दुख भंजता, जन रज्जब गुरु साध ।
शब्द माँहि सांई मिलैं, दीरघ दत्त[1] अगाध ।४२।

संसार में गुरु और संत ही दुःख नष्ट करके सुख देने वाले हैं, उनके शब्दों में कथित ज्ञान में स्थित होने से परब्रह्म प्राप्त होते हैं । अतः उनका शब्द प्रदान करना ही महान् और अगाध दान[1] है ।

जेते जीव सुकृत करैं, इहि सारे संसार ।
तेते रज्जब ज्ञान सुन, साधुन के उपकार ।४३।

इस संपूर्ण संसार में जितने भी प्राणी पुण्य कर्म करते हैं, वे सभी संतों का ज्ञानोपदेश सुनकर के ही करते हैं । अतः संसार में जो कुछ भी अच्छापन है वह सब संतों का ही उपकार है ।

कबीर नामदेव कह गये, परम पुण्य उपकार ।
जन रज्जब जीव उद्धरैं, शब्दों इहिं संसार ।४४।

कबीर, नामदेवादि संत गुरु शब्दों से होने वाले उपकार और परम पुण्य को कह गये हैं, । इस संसार में गुरु-शब्दों द्वारा ही जीवों का उद्धार होता है ।

मात पिता का दान ले, दिया सबन का भंग।
जन रज्जब जीव में जटचा, युग युग गुरु दत संग।४५।

४५ में गुरु उपदेश दान की अपारता बता रहे हैं—माता पितादि सब संसारियों का दिया हुआ धन तो लेने के पीछे कोई दिन नष्ट हो जाता है किन्तु गुरु का दिया हुआ उपदेश जीव में संस्कार रूप से जटित प्रतियुग में ही रहता है।

गुरु तरुवर अँग[1] डाल बहु, पत्र बैन फल राम।
रज्जब छाया में सुखी, चाख्यूं सरे सु काम।४६।

४६ में गुरु की विशेषता कह रहे हैं—गुरुदेव विशाल वृक्ष हैं, उन में जो गुरुपने के बहुत से लक्षण[1] हैं वे ही डालें हैं उनके वचन ही पत्ते हैं, और राम ही फल है। गुरु-वृक्ष की सत्संग रूप छाया में जो बैठते हैं वे सुखी रहते हैं और जो राम रूप फल का साक्षात्कार रूप आस्वादन करते हैं, उनका मुक्ति रूप कार्य सिद्ध होता है।

रज्जब नर नारी युगल, चकवा चकवी जोड़।
सुगुरु बैन बिच रैन में, किया दुहूं घर फोड़।४७।

४७ में गुरु-वचन की विशेषता बता रहे हैं—नर और नारी दोनों चकवा-चकवी की जोड़ी के समान हैं, श्रेष्ठ गुरु के वचन ही रात्रि है। रात्रि में जैसे चकवा चकवी अलग हो जाते हैं, वैसे ही गुरु-वचन हृदय में आने पर नर-नारी का मिलन भी नहीं होता। गुरु-वचन नर और नारी दोनों के ही राग रूप घर को तोड़ कर उन्हें विरक्त करता रहा है।

गोविन्द गिरा सूरज किरण, गुरु दर्पण अति तेज।
जन रज्जब सुरता[3] वनी, लगे तिहाइत[1] हेज[2]।४८।

४८—१.६ में गुरु महिमा कह रहे हैं—भगवद्-वाणी वेद सूर्यकिरण के समान है गुरु दर्पण के समान हैं, जैसे सूर्य किरण का तेज आतशी शीशा में अधिक हो जाता है, वैसे ही गुरु में जाकर भगवद्-वाणी वेद का ज्ञान-बल बढ़ जाता है। आतशी शीशा से अग्नि निकल कर जैसे वन को जलाता है, वैसे ही गुरु से ज्ञानाग्नि निकल कर तीसरे[1] श्रवण करने के प्रेम[2] युक्त साधक-भूमि की वृत्ति[3]-वनी में प्रकट होकर उसके अज्ञानादि वृक्षों को भस्म करता है।

गुरु दरजी सूई शबद, डोरा डोरी सोय।
रज्जब आतम राम सौं, सद्गुरु सींवै कोय।४९।

गुरु रूप दरजी है, शब्द रूप सूई है, जीवों के उद्धार की लग्न है, वही धागा है । इस प्रकार जीवात्मा को राम से मिलाना रूप सींने का कार्य कोई विरले सद्गुरु ही करते हैं ।

रज्जब आतम राम बिच, गुरु ज्ञाता सु दलाल ।
ज्यों चकवा चकवी मिले, सूरज काटे साल ।५०।

जैसे सूर्य चकवा चकवी को मिलाकर उनके वियोगजन्य दुःख का अन्त करता है, वैसे ही जीवात्मा और राम के बीच में ज्ञानी गुरु ही सुन्दर दलाल हैं जीव को परमात्मा से मिला कर उसके दुःख का अन्त करते हैं ।

सद् गुरु मेले सूर ज्यों, आत्म ओले गालि ।
जन रज्जब जल व्है गये, सके न आपो टालि ।५१।

जैसे सूर्य ओलों को गाल कर जल में मिला देता है, ओले होकर भी जल अपने जल रूप को नहीं त्याग सकता, वैसे ही सद्गुरु जीवात्मा के अज्ञान को नष्ट करके ब्रह्म से मिला देते हैं, जीवात्मा में अज्ञान आने पर भी वह अपने चेतन स्वरूप का त्याग नहीं कर सकता ।

सद् गुरु सूर सुभाय,[1] शब्द सलिल रसना रसनि[2] ।
जन कन[4] उदय उपाय, जन रज्जब उनकी धसनि[3] ।५२।

सद्गुरु सूर्य के समान स्वभाव[1] वाले हैं, सूर्य की गर्मी से जल ऊंचे उठकर आकाश में जाता है, फिर वर्ष कर पृथ्वी में घुसता है । वैसे ही गुरु की कृपा से उनके अन्तःकरण से शब्द उठता है और जिह्वा पर आता है फिर उसकी ध्वनि[2] साधक के अन्तः करण में घुसती है । इस प्रकार जल और शब्द की जो नीचे घुसने[3] की क्रिया है, वही अन्न[4] और भक्त के उत्पन्न होने का उपाय है, अर्थात अन्न जल से और भक्त गुरु-उपदेश से उत्पन्न होता है ।

जन रज्जब गुरु की दया, सु दृष्टि प्राप्त सु होय ।
प्रकट रु गुप्त पिछानिये, जिस हि न देखे कोय ।५३।

गुरु देव की दया से सुन्दर ज्ञान दृष्टि प्राप्त होती है, जिस के बल से साधक प्रकट रूप से भासने वाले मायिक संसार को मिथ्यारूप से पहचानता है और जिसे कोई भी अज्ञानी नहीं देख सकता उस गुप्त रूप से रहने वाले परब्रह्म को सत्य तथा अपना निज स्वरूप समझ कर पहचानता है ।

मरजीवे की मैत्री हि, मोती आवे, हाथ ।
त्यों रज्जब गुरु की दया, मिले सु अविगत[1] नाथ ।५४।

मरजीवा से मित्रता होने पर निश्चय ही मोती मिलता है। वैसे ही गुरु की दया होने पर मन इन्द्रियों के अविषय[1] परमात्मा मिलते हैं।

गुरु गोविन्द हि सेव तों[1], सब अंग[2] हुं शिष पूर[3]।
जन रज्जब ऊंणति[4] उठैं, दुख दारिद्र सु दूर।५५।

गुरु-गोविन्द की सेवा करने से[1] शिष्य संपूर्ण शुभ लक्षणों[2] से पूर्ण[3] हो जाता है, उसकी सब प्रकार की कमी[4] उसके हृदय से उठ जाती हैं। जन्मादिक दुःख नष्ट हो जाते हैं और आशा रूप द्ररिद्रता भी सम्यक् प्रकार दूर हो जाती है।

सद्‌गुरु शून्य[1] समान है, शिष आभे[2] तिन माँहि।
अकलि[3] अंभ[4] तिन में अमित, रज्जब टोटा नाँहि।५६।

सद्‌गुरु आकाश[1] के समान, हैं, और गुरु आज्ञा में रहने वाले शिष्य बादल[2] के सामन हैं। नभ स्थित बादल में जैसे अपार जल[4] होता है, वैसे ही गुरु आज्ञा में रहने वाले शिष्यों में अपार ज्ञान[3] होता है, कुछ भी कमी नहीं रहती है।

रज्जब बपु बनराय विधि, मधि मन मधु सम सान।
बलिहारी गुरु मक्षिका, यहु छानी[1] गति[2] छान[3]।५७।

जिस प्रकार वन पंक्ति के पुष्पों में शहद छिपा रहता है, वैसे ही शरीराध्यास में मन रहता है। जैसे शहद को मधु मक्षिका निकाल लाती है वैसे ही गुरु मन को निकाल लाते हैं, यह जो मन की छिपी[1] हुई स्थिति[2] है उससे भी मन को गुरु निकाल[3] लाते हैं, अतः मैं गुरुदेव की बलिहारी जाता हूँ।

माया पानी दूध मन, मिले सुमुहकम[1] बंधि[2]।
जन रज्जब बलि हंस गुरु, सोधि लहीसो संधि।५८।

जैसे जल और दूध दृढ़[1] संबंध[2] से मिले रहते हैं तो भी उनको हंस अलग कर देता है। वैसे ही माया और मन दृढ़ संबंध से मिले रहते हैं, तो भी माया और मन की राग रूप संधि को खोज के गुरु अपने उपदेश के द्वारा माया को मिथ्या बताकर मन को माया से अलग कर देते हैं, अतः मैं गुरुदेव की बलिहारी जाता हूँ।

अर्क अंभ का नाश कर, स्वाद रंगतें काढ़।
रज्जब रचना हंस की, क्षीर नीर पर बाढ़।५९।

सूर्य जल को नष्ट करके ही स्वाद तथा रंग से अलग करते हैं किन्तु हंस बिना नष्ट किये ही दूध से जल को अलग कर देते हैं। अतः अलग करने की क्रिया रूप रचना हंस की ही श्रेष्ठ मानी जायगी। वैसे ही काल

शरीर को नष्ट करके धनादि से अलग करता है किन्तु गुरु शरीर के रहते हुये ही उपदेश द्वारा धनादि से अलग कर देते हैं, अतः गुरु का कार्य श्रेष्ठ है।

संसार सार[1] में विभूति वह्नि, मनसा अग्नि मिलाप ।
शीत रूप ह्वै सद्गुरु काढ़े, मिश्रित मुक्त सुताप ।६०।

जैसे लोहे[1] में प्रथम अग्नि होता है किन्तु बाहर का अग्नि मिलता है तब ही वह तपता है, फिर बाहर का अग्नि शांत होने पर लोहा शीतल हो जाता है, वैसे ही संसार में ऐश्वर्य रूप अग्नि तो प्रथम ही है किन्तु मन से उत्पन्न चिन्तादि रूप अग्नि उससे मिलता है तब संसारिक प्राणी संतप्त होते हैं, फिर सद्गुरु अपने उपदेश से चिन्तादि रूप अग्नि को उनके मन से निकाल लेते हैं तब पुनः सांसारिक प्राणी उस संताप से मुक्त हो जाते हैं।

प्राण पिंड में सानिया,[2] पंच पचीसों घोलि[1] ।
जन रज्जब गुरु ज्ञान बल, हरि हि मिलाये खोलि ।६१।

माया विशिष्ट ने आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन पंच तत्त्वों तथा पृथ्वी की—अस्थि, मेद, क्षुधा, रोध, भय, । जल की—त्वक्, मूत्र, तृषा, भ्रमण, मोह । अग्नि की—मांस, रक्त, आलस्य, ऊर्ध्वगमन, क्रोध । वायु की—नाड़ी, शुक्र, संगम, अतिनिर्गमन, काम । आकाश की—रोम, श्लेषम, निद्रा, उच्चस्थिति, लोभ । इन २५ प्रकृतियों का पंचीकरण[1] बनाकर शरीर रचना द्वारा प्राणी को इनमें मिलाकर[2] इनके राग से बाँध दिया है, यही चिज्जड़ ग्रंथी है । गुरुदेव ने ही इसको अपने ज्ञान-बल से खोल कर हमें परब्रह्म से मिलाया है ।

जीव रच्या जगदीश ने, बाँध्या काया माँही ।
जन रज्जब मुक्ता किया, गुरु सम कोई नांहि ।६२।

ईश्वर ने जीव को उत्पन्न किया किन्तु शरीर के राग में बाँध दिया, इससे वह दुखी ही रहा । फिर गुरुदेव ने ज्ञानोपदेश द्वारा राग के मूल कारण अज्ञान को नष्ट करके राग-बन्धन से मुक्त किया है और पर ब्रह्म से मिलाया है । अतः इस संसार में गुरु के समान जीव का सच्चा हितैषी कोई भी नहीं है ।

अरिल——शक्ति सुःख अरु शीत जमे तन हिम हि ज्यों ।
आतम अंड सु कूंज बंधे बपु वारि यों ।।
सद् गुरु सूरज तेज, विरह वैशाख रे ।
परि बहे नैन नद पूर,[1] मिल हिं सुत मात रे ।६३।

जैसे अति शीत के कारण जल हिमालय पर बर्फ बन कर जम जाता है, उसपर कूंज पक्षी अंडा रखकर उष्ण प्रदेशों में आ जाता है। अंडे पर भारी हिम राशि जम जाती है। फिर वैशाख मास में सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से बर्फ गल कर जल प्रवाह[1] के रूप में नदियों द्वारा बह जाता है, अंडा निरावरण हो जाता है। उसी समय कूंज पक्षी वहां पहुंच जाता है और अंडा अपनी माता को प्राप्त कर लेता है। वैसे ही मायिक सुखार्थ बने हुए शरीर में ईश्वर आत्म को रख कर, संसार व्यवस्था में संलग्न रहते हैं। आत्मा मायिक सुखों के राग और देहाध्यासादि अज्ञान के नीचे दब जाता है, तब दयालु गुरु उसे ईश्वर से मिलने की प्रेरणा करते हैं। उससे ईश्वर वियोग-व्यथा से वह रोता है तब विषय रागादि गल कर नेत्रों के द्वारा अश्रु रूप से बह जाते हैं, मन निर्मल और स्थिर हो जाता है फिर गुरुदेव के द्वारा दिये गये ब्रह्म ज्ञान से पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। इस अरिल में ब्रह्मात्मा के वियोग और संयोग दोनों ही की पद्धति बताई गई है।

सकल कर्म ताला भये, जीव जड़्या ता माँहि।
रज्जब गुरु कूंची बिना, कबहूँ खूटे नाँहि।६४।

जीव अपने किये हुये संपूर्ण कर्म रूप ताले में बन्द है गुरु-ज्ञान रूप कूंची के बिना यह कभी भी नहीं खुल सकता।

त्रिगुण रहित कूंची गुरु, ताला त्रिगुण शरीर।
जन रज्जब जिव तो खुले, जे योग्य मिले गुरु पीर।६५।

कर्मजन्य त्रिगुणात्मक शरीर ही ताला है, उसमें जीव बन्ध हो रहा है। यदि भाग्यवश कोई गुरुपने की योग्यता से युक्त सिद्ध गुरु मिल जावे और कृपा करके अपना त्रिगुण रहित ज्ञान रूप कूंची लगाकर उक्त ताले को खोल दे तो जीव मुक्त हो जाता है।

सद्गुरु रहिता सकल सौं, सब गुण रहिता बैन।
रज्जब मानी साखि सो, उस वाइक[1] में चैन।६६।

सद्गुरु संपूर्ण विकारों से रहित होते हैं, उनके वचन भी त्रिगुण वा संपूर्ण दोष रूप गुणों से रहित होते हैं। हमने भी उसी साक्षी को माना है, जो उन गुरुदेव ने कही है। उस अपने स्वरूप को बताने[1] वाले गुरुदेव के वचनों में रहने से ही ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।

गोपि[1] गांठ गुण गात मुर[2], खोले गुरु समरत्थ।
रज्जब इन बिन और का, तहां न पहुँचे हत्थ।६७।

तीन[२] गुणों की लगी हुई ग्रंथि शरीर में गुप्त[१] रूप से स्थित है, जो समर्थ गुरु होते हैं वे ही उसे खोल पाते हैं। इन समर्थ गुरुओं के बिना अन्य का ज्ञान रूप हाथ उस ग्रन्थि के पास नहीं पहुंचता।

रज्जब बाँध्या ब्रह्म का, गुरुदेव छुड़ावे।
औरों को यहु गम[१] नहीं, कोई बीच न आवे।६८।

कर्मानुसार ईश्वर द्वारा शरीर में बाँधे हुये जीव को, गुरु ही ज्ञानोपदेश से मुक्त करते हैं। अन्यों को यह विचार[१] शक्ति प्राप्त नहीं होती। अतः गुरुपने के लक्षणों से रहित कोई भी प्राणी साधकों के बीच में गुरु रूप से नहीं आना चाहिए।

रज्जब नीचे को ऊंचा करे, भगवत् भांडा फोड़ि।
सो मध्यम उत्तम किये, सद्गुरु इंहि सु खोड़ि।६९।

ईश्वर यदि नीचे जीव को ऊंचा बनाते हैं, तो शरीर छुटने पर कर्मानुसार मनुष्य को देव बना देते हैं, किन्तु सद्गुरु तो वर्तमान शरीर में ही ज्ञानोपदेश द्वारा मध्यम प्राणी को भी उत्तम बना देते हैं।

हुमा बावने पारस सद्गुरु, कृत करतहि अधिकार।
जगदीश ईश ह्वै जन्म दूसरे, इन सौं अब की बार।७०।

१ हुमा नामक एक पक्षी होता है, जो केवल सूखी हड्डियाँ खाकर निर्वाह करता है, किसी को भी नहीं सताता। उसकी छाया जिसपर पड़ जाती है, वह दरिद्री होनेपर भी वर्तमान जन्म में ही बादशाह बन जाता है। २ बावने चन्दन की सुगन्धि से वन-वृक्ष चन्दन बन जाते हैं। ३ पारस के स्पर्श से लोहा सुवर्ण बन जाता है। ४ सद्गुरु के ज्ञानोपदेश से जीव वर्तमान शरीर में ही संत बन जाता है। हुमा, बावन, चन्दन, पारस और सद्गुरु को ईश्वर ने ही यह वर्तमान में परिवर्तन करना रूप कार्य का अधिकार दिया है। अतः इनसे ही यह कार्य होता है। ईश्वर किसी को राजा बनाते हैं या स्वर्ग में भेजते हैं, तो वर्तमान शरीर को छोड़ने पर ही बनाते, भेजते हैं। कारण–जिस प्रारब्ध कर्म से शरीर बना है उसे भोगने के पश्चात् ही वर्तमान शरीर में किये कर्म का फल नृपति शरीर दूसरे जन्म में ही मिलता है। हुमा की छाया का फल, पारस के स्पर्श का फल, चन्दन की सुगन्धि का फल भविष्य काल की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे ही गुरुदेव के ज्ञानोपदेश का फल दूसरे जन्म की अपेक्षा नहीं रखता। यही गुरुदेव की महिमा है।

गुरु भृंगी के कृत्य[१] को, कृत्य न पूजै[२] कोय।
रज्जब रचना राम की, ये ही पलटे दोय।७१।

वसुधा माँहीं बीज हैं, त्यों आतम अंकूर ।
पै गगन गुरु वर्षा बिना, प्रकट न ह्वै मा[1] सूर[2] ।८१।

पृथ्वी में बीज तो रहते हैं, किन्तु आकाश की वर्षा बिना अंकुर निकल कर प्रकट नहीं होते। वैसे ही जीवात्मा में ज्ञान तो रहता है, किन्तु गुरु उपदेश बिना उससे अन्तःकरण में[1] ब्रह्मानन्द[2] प्रकट नहीं होता।

अंकुर अग्नि शिष सार[1] में, पै[2] घाट[3] घड़्या नहिं जाय ।
ब्रह्म अग्नि गुरु बकत्र[4] ह्वै, जब लग परे[5] न आय ।८२।

जैसे लोहे[1] में अग्नि तो है, परन्तु[2] बाहर के अग्नि से जब तक उसे न तपाया जाय तब तक उसकी कोई शस्त्रादि वस्तु[3] नहीं बन सकती। वैसे ही शिष्य में ज्ञान के अँकुर तो हैं, किन्तु जब तक गुरु के मुख[4] से उसके श्रवण में ब्रह्म-ज्ञानाग्नि नहीं पड़ता[5] तब तक वह ब्रह्मज्ञानी नहीं बन सकता।

ब्रह्म अग्नि गुरु उर रहे, तहाँ परे शिष सार ।
घाट काट सु कढाहि कर, पुनि पावक सु नियार ।८३।

जैसे लोहे की वस्तु अग्नि में पड़ती है तब अग्नि उसके मैल को जला डालता है और पुनः उससे अलग हो जाता है। वैसे ही शिष्य, गुरु के हृदय में रहने वाले ब्रह्म-ज्ञान रूप अग्नि में पड़ता है; अर्थात् गुरु के मुख से श्रवण करके धारण करता है, तब अपने अन्तःकरण के मल विक्षेप आवरण रूप मैल को अन्तःकरण से निकलवाकर आनन्दित होता है और वह ब्रह्म-ज्ञान रूप अग्नि भी अन्तःकरण से अलग होकर आत्म-स्वरूप से रहता है।

तवा तेग अंकुश कुश आतम, पारस प्रभु को पाय ।
रज्जब पलटे तिनहुँ मिल, पै गुरु सोनी बँक जाय ।८४।

लोहे के बने तवा, तलवार, अंकुश और कुश, पारस से स्पर्श होते ही सुवर्ण बन जाते हैं, किन्तु उनके बक्रतादि आकार और नाम ज्यों के त्यों बने रहते हैं। फिर वे स्वर्णकार के पास जाते हैं तब वह उन्हें गलाकर एक कर देता है। पूर्व के नाम और आकार नहीं रहते, मात्र सुवर्ण नाम रहता है। वैसे ही प्राणी उपासना द्वारा साकार प्रभु को प्राप्त करके अति श्रेष्ठ बन जाता है, किन्तु उसका जीवत्व भ्रम नष्ट नहीं होता। जब ब्रह्मनिष्ठ गुरु प्राप्त होते हैं तब ही भ्रम नष्ट होता है, फिर वह अपने को ब्रह्मस्वरूप ही समझता है।

रज्जब स्वर्ग[1] नसेनी सद्गुरु, सावधान शिष जाँहि ।
शून्य माँहि चैतन्य है, ता में सहज समाहि ।८५।

सद्गुरु का ज्ञान ईश्वर[1] के पास पहुँचाने की सीढ़ी है, किन्तु जो सावधान शिष्य होते हैं वे ही उसपर चढ़कर अर्थात् उसे धारण करके ईश्वर के पास जाते हैं और विकार-शून्य निर्विकल्प समाधि में स्थित जो चेतन स्वरूप है, उसका साक्षात्कार करके अनायास उसी में समा जाते हैं।

गुरु अगस्त[1] गगन[2] हि रहै, शिष समुद्र धर[3] बास।
रज्जब ऊंचहु के मिल्यूं, सहज गये आकाश।८६।

जैसे सूर्य[1] आकाश में रहता है और समुद्र पृथ्वी[3] पर रहता है, किन्तु सूर्य की गर्मी से समुद्र-जल आकाश में चढ़ जाता है। वैसे ही गुरु की वृत्ति ब्रह्म[2] में रहती है और शिष्य की वृत्ति माया[3] में; अर्थात् मायिक शरीरादि में रहती है, किन्तु श्रेष्ठ गुरुदेव के सत्संग से वह सहज ही ब्रह्म में चली जाती है, अर्थात् ब्रह्माकार ही रहने लगती है।

सद्गुरु सूरज ले चढ़े, शिष सत सलिल सुभाइ।
जन रज्जब नर नीर ज्यों, नीचा आपै जाइ।८७।

यह सत्य है कि स्वभाव से जल और नर की गति अपने आप तो नीचे की ओर ही होती है, किन्तु सूर्य की किरणों से जल आकाश को जाता है और गुरु की कृपा से नर पर-ब्रह्म को प्राप्त होता है।

रज्जब ताँबे लोह सौं, बहुत भांति के नंग[1]।
महापुरुष पारस मिले, कुल कंचन के अंग[2]।८८।

ताँबे और लोहे से बनी हुई बहुत प्रकार की वस्तुएँ[1] हों और वे पारस से स्पर्श हो जायँ, तो सब सुवर्ण हो जाती हैं। वैसे ही नाना प्रकार के स्वभाव वाले प्राणी महापुरुष गुरुदेव से जा मिलते हैं, तब सम्पूर्ण रूप से ब्रह्म के ही स्वरूप[2] होजाते हैं।

गुरु चंदन चन्दन किये, वृक्ष अठारह भार।
डाल पान फल फूल का, रज्जब नहीं विचार।८९।

ढाई मन का एक भार होता है। प्रत्येक वनस्पति का एक-एक पत्ता लेने से अठारह भार होते हैं, इसीलिये वृक्षों को अठारह भार कहते हैं। चन्दन अठारह भार वृक्षों के डाल, पत्ते, फूल, फलादि सभी अंगों को अपनी सुगंधि से युक्त करता है। वैसे ही गुरु शिष्यों की जाति आदि का विचार न करके उनके तन मन इन्द्रियादि सभी अंगों को सुधारते हैं।

गुरु पारस पल में परसि, शिष कंचन कर लीन।
सो रज्जब महँगे सदा, कुल कालिमा सु छीन।९०।

गुरु और भृंगी के कार्य[1] की समता[2] किसी का भी कार्य नहीं कर सकता। राम साधारण मानव और कीट की रचना करते हैं, किन्तु गुरु साधारण मानव को अपने उपदेश द्वारा संत बनाकर ब्रह्म से मिला देते हैं और भृंग कीट को भृंग बना देता है। ये दो ही राम की रचना को बदलते हैं, अन्य कोई भी नहीं बदल सकता।

रज्जब प्राण पषाण जड़, गुरु गराब[1] किये देव।
पेखो पिंड पलटे प्रथम, सृष्टि सु लागी सेव।७२।

देखो, जो पाषाण खण्ड प्रथम पैरों की ठोकरें खाता है, राज[1] उसी की देव-मूर्ति बना देता है, फिर सब उसकी पूजा करते हैं। वैसे ही प्राणी प्रथम अज्ञानी होता है, फिर गुरु उपदेश द्वारा उसे संत बना देता है और सब संसार उसकी सेवा करता है।

षट् दर्शन सलित हुं पड़्यूं, आतम लोढी होय।
सु गुरु राज मूरति गढ़े, सो वन्दे सब कोय।७३।

जैसे नदियों में पत्थर पड़ जाता है, तब टक्करें खा २ कर लोढ़ी तो बन जाता है, किन्तु राज के हाथ में जाने से वह उसकी सुन्दर मूर्ति बना देता है, फिर उस मूर्ति को सब नमस्कार करते हैं। वैसे ही जोगी, जगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, और शेख। इन ६ प्रकार के भेषधारियों में जाने से जीवात्मा घर, कुलादि से रहित तो हो जाता है, किन्तु गुरु की शरण जाने से गुरु उपदेश द्वारा उसे ब्रह्म ज्ञानी संत बना देते हैं, फिर उसे सभी वन्दना करते हैं।

देही[1] दरिया माँहि, गुरुदेव बसाई द्वारिका।
और हुँ होय सु नाँहि, ना कोई उन सारिखा।७४।

जैसे श्रीकृष्ण ने समुद्र में द्वारिकापुरी बसाई थी। वैसे ही गुरुदेव ने जीवात्मा[1] रूप समुद्र में ज्ञान-रूप द्वारिका बसाई है। यह कार्य अन्य से अच्छी प्रकार नहीं हो सकता। कारण–गुरू के समान इस कार्य में निपुण अन्य कोई भी नहीं है।

बाहर बैठे बहिर्मुख, गुरुमुख भीतर जाय।
रज्जब रीता क्यों पड़े, खोल खजना खाय।७५।

गुरु उपदेश से विमुख प्राणी ही तीर्थ व्रतादि बाह्य साधनों में स्थित हैं, किंतु गुरु उपदेश रूप आज्ञा में चलने वाले साधक अन्तर्मुख वृत्ति द्वारा भीतर जाते हैं और अज्ञान कपाट को खोलकर ज्ञान-निधि के ब्रह्मानन्द पदार्थ का आस्वादन करते हैं। कहिये ऐसे साधकों का अन्तःकरण ब्रह्मानन्द से वंचित कैसे रह सकता है?

गुरु मुख बासा पिंड में, मन मुख ह्वै ब्रह्मंड ।
रज्जब भीतर भय नहीं, बाहर खंड हु खंड ।७६।

गुरु उपदेश रूप आज्ञा में रहने वाले साधकों की वृत्ति का निवास शरीर के भीतर अन्त:करण में ही रहता है और मनोनुकूल चलने वालों की वृत्ति ब्रह्मांड के विभिन्न पदार्थों पर जाती है । अन्तर्वृत्ति वालों को तो अद्वैत निष्ठ होने से कोई भी प्रकार का भय नहीं होता, किन्तु बहिर्वृत्ति वालों की वृत्ति के पदार्थ भेद से नाना खंड होते रहते हैं, और भेद भय का कारण है, यह भी प्रसिद्ध है ।

सद्गुरु काढे सकल सौं, तन मन पर लेजाय ।
जन रज्जब राखे तहाँ, जहाँ निरंजन राय ।७७।

सद्गुरु अपने उपदेश द्वारा धन, धाम और स्वजनादि सबके राग से निकालकर, तनाध्यास तथा मनके मनोरथों से भी परे जहां विश्व के अधिष्ठान निरंजन राम का साक्षात्कार होता हैं, उस निर्विकल्प समाधि में लेजाकर अपने आत्म-स्वरूप ब्रह्म में स्थित करते हैं ।

तन मन शक्ति समुद्र गति, निर्मल नाम जहाज ।
बादबान[1] बुधि थंभ चढ, गुरु सारे शिष काज ।७८।

अध्यासरूप शरीर की शक्ति और चंचलतादि रूप मन की शक्ति का स्वरूप समुद्र के समान दुस्तर है, किन्तु गुरुदेव, निरंजन राम के निर्मल नाम का जहाज बनाकर तथा बुद्धिरूप स्तम्भ पर ज्ञानरूप वस्त्र[1] चढ़ाकर, संसार से पार जाना रूप कार्य शिष्य का सिद्ध कर देते हैं ।

गुरु दीरघ गोविन्द सौं, सारे शिष्य सुकाज ।
ज्यों रज्जब मक्का बडा, परि पहुँचे बैठि जहाज ।७९।

जैसे बड़ा तो मक्का तीर्थ ही है, किन्तु वहाँ जहाज पर बैठकर पहुँचा जाता है । वैसे ही बड़े तो गोविन्द ही हैं, किन्तु गुरु उपदेश बिना गोविन्द की प्राप्ति कठिन है । शिष्य के मुक्ति-रूप कार्य को सिद्ध करते हैं, अत: शिष्य की दृष्टि से गुरु गोविन्द से भी बड़े माने जाते हैं ।

सांई शून्य समीर[1] सम, वायु वदन गुरु ठाट[2] ।
गाल खाल के मारतौं, रज्जब निपजे घाट[3] ।८०।

ईश्वर आकाश के वायु[1] के समान हैं, गुरु की बनावट[2] मुख के वायु के समान है । आकाश के वायु से कोई शब्द नहीं बनता, किन्तु मुख के वायु की चोट गाल आदि चर्म स्थानों में लगती है, तब शब्दरूप शरीर[3] बनता है और उन गुरु-मुख से निकले हुये शब्दों से शिष्यों का उद्धार होता है । अत: प्राणियों के उद्धार करने वाले गुरु ही हैं ।

जैसे लोहा पारस से स्पर्श होता है, तब उसके कालापन आदि सम्पूर्ण दोष नष्ट होकर वह क्षणभर में सोना बन जाता है और महँगा बिकता है, वैसे ही शिष्य गुरु के ज्ञान को धारण करता है, तब उसके मल आदि सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्म का साक्षात्कार करके सदा के लिये महान् बन जाता है ।

रज्जब निपजहिं इन्द्र गुरु, अदभू[1] आदम ऐन[2] ।
पहुप पत्र फल पूजिये, सुर नर पावहिं चैन ।९१।

जैसे इन्द्र से वृक्ष[1] उत्पन्न होते हैं, फिर उनके पुष्प, पत्र, फलादि से सुर नरादि की पूजा होती है, तब सुर और नरादि को आनन्द प्राप्त होता है । वैसे ही गुरु उपदेश द्वारा मानव ठीक[2] ठीक सुधर जाते हैं, तब उनके कर्म, भक्ति, ज्ञानादि से सभी सुर नरादि आनन्दित होते हैं ।

तिल तालिब[7] गुल[1] पीर[2] मिल, सुहबत[3] सोंधा[4] होय ।
जन रज्जब गुंजस[5] बिना, कुंजद[6] बास न कोय ।९२।

जैसे तिल-तेल और पुष्पों[1] के संग[3] से तेल में सुगन्ध[4] हो जाती है । बिना संग[5] तिल[6]-तेल में सुगन्ध नहीं आती । वैसे ही जिज्ञासु[7] को सिद्ध[2] गुरु का सत्संग मिलता है, तब उसमें ज्ञान आता है, बिना सत्संग नहीं आता ।

देही दरिया नाम सु नाव, बुधि बादबान[1] विचार सुवाव[2] ।
रज्जब किया गुरु सब साज, ईहिं विधि उतरै पार जहाज ।९३।

जीवात्मा ही दरिया है, उसमें देहाध्यादि जल है, ईश्वर का नाम नौका है, बुद्धि ही जहाज स्तम्भ का कपड़ा[1] है, विचार ही वायु[2] है । इस प्रकार गुरुदेव ने सब साज सजाया है, उक्त जहाज से तथा उक्त विधि से प्राणी संसार-सागर से पार उतरता है ।

मन समुद्र के बुदबुदे, मनहुँ मनोरथ माँहि ।
रज्जब गुरु अगस्त[1] बिन, कहो गगन क्यों जाँहि ।९४।

समुद्र के बुदबुदे सूर्य[1] किरण बिना आकाश को नहीं जाते; अर्थात् सूर्य किरण से जल सूखता है, तब बुदबुदे नष्ट होते हैं, वैसे ही मन के मनोरथ गुरु उपदेश बिना ब्रह्म में लय नहीं होते ।

प्राण कीट गुरु भृंग बिन, ब्रह्म कमल क्यों जाय ।
जन रज्जब या युक्तिबिन, विष्टा रहे समाय ।९५।

जैसे कीट भृंग बिना कमल पर नहीं जा सकता, भृंग की भृंग बनाने की युक्ति बिना विष्टा में ही पड़ा रहता है । वैसे ही गुरु की उपदेश

रूप युक्ति बिना जीव ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता, विषयों में ही फँसा रहता है ।

रज्जब सद्गुरु बाहिरा, स्वातिन ह्वै शिष आश ।
ज्यों पक्षी पंखौं बिना, कैसे जाय अकाश ।६६।

जैसे चातक पक्षी को स्वाति विन्दु की इच्छा नहीं हो और न पंख हो, तो वह आकाश में कैसे जा सकता है । वैसे ही जो शिष्य गुरु आज्ञा बिना बाहर गमन करता है और न ब्रह्म प्राप्ति की आशा ही रखता है, तब कैसे ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है ?

गुरु मुख मारग ना गहे, मन मुख चाल्या जाय ।
रज्जब नर निवहै नहीं, बातैं कहो बनाय ।६७।

गुरु मुख से सुने हुये ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में तो चलता नहीं और अपने मन की इच्छानुसार विषयों की ओर ही चला जारहा है, वह नर नाना विचित्र ढंग बना बना कर बातें तो चाहे कहता रहे, किन्तु ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में उसका निर्वाह नहीं हो सकता ।

मन मुख मानुष भूत पशु, गुरु मुख ज्ञाता देव ।
रज्जब पाया प्राणने, पंच खानि का भेव ।६८।

मन की इच्छा के अनुसार चलने वाले मनुष्य पशु और भूत तुल्य होते हैं, गुरु आज्ञानुसार चलने वाले ज्ञानी और देव तुल्य होते हैं । जिस प्राणी ने उक्त बात अच्छी प्रकार जानली उसने जेरज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज और नादज इन पांचों खानियों का रहस्य अच्छी प्रकार जान लिया ।

उडग[1] इन्दु दामिनि दुणंद[2], पावक दीप असंखि ।
रज्जब राम न सूझई, बिन गुरु ज्ञान सु अँखि ।६६।

तारा[1] चन्द्रमा, बिजली, सूर्य,[2] अग्नि, दीपक, ये सभी असंख्य होवें तो भी निरंजन राम तो गुरु-ज्ञान रूप नेत्रों के बिना नहीं दीखते ।

दीपक रूपी धरणि ह्वै, सूरज मय आकाश ।
जन रज्जब गुरु ज्ञान बिन, हिरदै नहीं उजास ।१००।

सम्पूर्ण पृथ्वी दीपक रूप हो जाय और सब आकाश सूर्य रूप हो जाय, तो भी गुरु के ज्ञान बिना प्राणी के हृदय में तो प्रकाश नहीं होता ।

शिष शरीर अंधे अवल[1], सु गुरु नैन निज ठाट[2] ।
रज्जब चेले चरण चल, इष्ट दृष्ट[3] संग बाट ।१०१।

प्रथम[1] शिष्य शरीर ज्ञान-नेत्रों से हीन होने के कारण परमार्थ पथ में अंधे ही होते हैं, फिर श्रेष्ठ गुरु अपने ज्ञान-नेत्रों से उनके ज्ञान नेत्र बनाते[2] हैं, तब शिष्य परमार्थ पथ में गुरु ज्ञान के संग अर्थात् गुरु उपदेश के अनुसार अपनी वृत्ति रूप चरणों से चलकर अर्थात् उपदेश को धारण करके अपने इष्टदेव ब्रह्म का दर्शन[3] करते हैं ।

जे सद्गुरु की दृष्टि में, दूर निकट ले पाल ।
जन रज्जब दृष्टांत को, कूंज अंड ले न्हाल[1] ।१०२।

यदि शिष्य पर सद्गुरु की दया दृष्टि हो तो शिष्य के दूर रहने पर भी समीप के समान वे उसका पालन करते रहते हैं, देखलो,[1] इसमें कूंज पक्षी के अंडे का दृष्टांत प्रसिद्ध है । वह हजारों मील दूर रहकर भी अंडे का पालन अंडाकर वृत्ति से ही करता रहता है ।

जे सद्गुरु की दृष्टि में, तो गंदा क्यों होय ।
जन रज्जब दृष्टांत को, कछुवी अंडहिं जोय ।१०३।

यदि सद्गुरु की दया दृष्टि में रहे तो शिष्य का हृदय कभी भी मलीन नहीं हो सकता । देखो, इसमें कच्छपी के अंडे का दृष्टांत प्रसिद्ध है । कच्छपि अंडों से दूर रहते हुये भी उनको देखती रहती है, उसकी दृष्टि मात्र से ही अंडों का पालन होता है ।

कछी[1] चखी[2] कूंजी सुरति, अन्य पंखि पंखवाय ।
त्रिविधि अंड ज्यों गुरु शिषहुँ, रज्जब निपजे भाय[3] ।१०४।

कछुवी[1] का अंडा दृष्टि[2] से, कूंजी का वृत्ति से, अन्य कुक्कुट आदि पक्षियों के अंडे पंखों की वायु से पोख पाते हैं, उक्त तीन प्रकार के अंडों के समान ही गुरु के भाव[3] से शिष्य उत्पन्न होते हैं ।

रज्जब कूंजी काल इत, तो उत अंडे गल जाँहि ।
त्यों सद्गुरु त्यागे सुरति सौं, तो शिष निपजे नाँहि ।१०५।

यदि इधर उष्ण प्रदेश में कूंजी मर जाय, तो वहां हिमालय पर रखे हुये अंडे गल जाते हैं, वैसे ही यदि सद्गुरु अपनी वृत्ति से शिष्य को त्यागता है, तो शिष्य की भक्ति, ज्ञानादि खेती नहीं उत्पन्न होती ।

चंचल नग[1] निश्चल भया, सद्गुरु पकड़ी बाँह ।
रज्जब रह गया शब्द में, ज्ञान कूप मन छांह ।१०६।

जैसे सूर्य के मार्ग को रोकने के लिये बढ़ते हुये विन्ध्य पर्वत[1] को अगस्त्य जी ने रोका था, तब वह वहां ही रुक गया था, वैसे ही जब सद्गुरु ने शिष्य की वृत्ति रूप बाँह अपने उपदेश रूप हाथ से पकड़ली तब जैसे

कूप की छाया कूप में ही रहती है, वैसे ही मन सद्गुरु के शब्दों में ही रह गया, अब सत्यत्व भ्रांतिपूर्वक विषयों में नहीं जाता।

मन मनसा पांचों प्रकृति, गुन ग्रासे गुरु ज्ञान।
जन रज्जब सरवर लहरि, शोष लेय ज्यों भान[1]।१०७।

जैसे सूर्य[1] जल शोषण द्वारा सरोवर की लहरियों का शोषण कर लेते हैं, वैसे ही गुरु का ज्ञान-मन की चपलता, बुद्धि की विपरीतता, पांचों विषयों का राग, माया की सत्यता, त्रिगुण वा क्रोधादि गुण इन सबको नष्ट कर देता है।

आकिल[1] गुरु अगस्त्य है, शिष समुद्र मन लीन।
जन रज्जब गुण गण सहित, मुये मनोरथ मीन।१०८।

अगस्त्य ने समुद्र पान किया तब समुद्र के मच्छी आदि जल जन्तु मर गये थे, वैसे ही ज्ञानी[1] गुरु ने शिष्य के मन को भगवान में लीन किया, तब उसके क्रोधादि गुणों के समूह के साथ ही मन के सम्पूर्ण मनोरथ भी नष्ट होगये।

शिष्य सदा सुस्थिर रहैं, सुन सद्गुरु की सीख।
रज्जब विषय विकार दिशि, कबहूं भरहि न बीख[1]।१०९।

सद्गुरु का सत्योपदेश सुनकर शिष्य का मन परमात्मा के स्वरूप में सदा स्थिर रहता है विषय-विकारों की ओर कभी एक पैर[1] भी नहीं रखता।

जन रज्जब गुरु बैन सुन, बिलय होतब पु बीज।
यथा हाक हनुमंत की, सुनत होत नर हीज।११०।

११०-११३ में गुरु-वचन की विशेषता बता रहे हैं—जैसे सिंहल द्वीप में हनुमान जी की आवाज जो नर सुन लेता है, वह हिजड़ा हो जाता है वैसे ही गुरु के वचनों को श्रवण करने पर श्रोता के शरीर में ही बिन्दु लय हो जाता है।

मन अहि लहै न माग, रोक्या मोर महंत मुनि।
रज्जब रहि गये पाग, फनि श्रवननि सुन नाद ध्वनि।१११।

जैसे मोर मार्ग रोक लेता है तब सर्प उस मार्ग में आगे नहीं बढ़ पाता, मोर की आवाज सुनकर सर्प के पैर रुक जाते हैं। वैसे ही सद्गुरु रूप महन्तमुनि अपने शिष्यों के मन का विषय-मार्ग रोक लेते हैं, गुरु की ज्ञानोपदेश ध्वनि सुन कर मन के विषयाकार वृत्ति रूप पैर रुक जाते हैं।

रज्जब रहै कपूर मन, मिरच सु शब्दों माँहि ।
नातरु[1] डाबी डील में, ढूंढया लहिये नाँहि ।११२।

जैसे कपूर काली मिरचों के साथ तो डब्बी में ठहरता है, नहीं[1] तो, नहीं ठहरता, वैसे ही मन सद्गुरु शब्दों के साथ रहने से तो शरीर में रहता है, नहीं तो भाग जाता है, खोजने पर भी नहीं मिलता ।

ब्यालों माँही बालक बाँधे, विद्या के बल बादि[1] ।
गुरु प्रसाद रहै इन्द्रियों में, पाया मंत्र युगादि ।११३।

जैसे सँपेरा[1] सर्प कीलने की विद्या के बल से अपने बालक को सर्पों के बीच में बाँध देता है, वह बालक डरता नहीं । वैसे ही गुरु के कृपा-प्रसाद से युगादि परमेश्वर का नाम रूप मंत्र वा ज्ञान रूप मंत्र गुरु-देव के शब्द द्वारा प्राप्त किया है, उसी के बल से शिष्य इन्द्रियों के विषयों में रहने पर भी डरता नहीं ।

मन मनसा[1] इन्द्रिय गुण माँखी, हरि सुमिरण हरताल ।
गुरु की दया दिनाई[2] पाई, दुख दायों का काल ।११४।

११४ में गुरु की दया की विशेषता बता रहे हैं—मन की मलीनता, चपलता, बुद्धि[1] की विपरीतता, विभिन्नता, इन्द्रियों के दोष रूप गुण ये सब मक्खी के समान हैं । हरि-स्मरण हरताल के समान है, जैसे हरताल पर मक्खी नहीं बैठती वैसे ही हरि-स्मरण करने से उक्त सभी की हानि-कारक शक्ति नष्ट हो जाती है । शिष्य पर गुरुदेव की ज्ञान प्रदान रूप दया है वही उक्त सभी सांसारिक दुख देने वालों की विनाशक[2] है ।

अहि इन्द्रियों के गिलन को, गरुड़ सुगुरु उर आनि ।
मारुत भख ऐसे मरे, जन रज्जब पहिचानि ।११५।

११५-१२१ में गुरु की विशेषता पूर्वक गुरु-ज्ञान ग्रहण करने की प्रेरणा कर रहे हैं— जैसे सर्प को खाने के लिये गरुड़ समर्थ है, सर्प को गरुड़ के द्वारा मराया जाय तो वह सहज ही मारा जाता है, वैसे ही इन्द्रियों को वश में करने के लिये गुरु समर्थ हैं उनका ज्ञान हृदय में धारण करोगे तो, इस युक्ति से इन्द्रियां सहज ही अधीन हो जायँगी, यह यथार्थ ही जानो ।

पंच तिणे गुरु मुख छये, माया मेघ डर नाँहि ।
जन रज्जब सो जल इसा, निकसे परवत माँहि ।११६।

जैसे मूंजा की पत्तियों से अच्छी प्रकार छप्पर बना दिया जाय तो, बादल से वर्षने वाले जल का डर नहीं रहता, नहीं तो जल ऐसा है कि

पर्वत से भी निकल जाता है। वैसे ही पांचों इन्द्रियें यदि गुरु-मुख से सुने ज्ञान द्वारा परमात्मा के स्वरूप में ही लग जावें तो माया के द्वारा पतन का भय नहीं रहता, नहीं तो माया ऐसी है कि बड़े २ तपस्वियों को भी मोहित करके परमार्थ से गिरा देती है।

माया पानी पुहमि[1] घट, निकसे सकल मँझार।
रज्जब रहै सुकुंभ में, घड़्या सु गुरु के बार[2] ।११७।

जैसे पृथ्वी[1] की मिट्टी तो कैसी भी हो सभी से जल निकल जाता है किन्तु कुंभकार के द्वारा तैयार किये हुये घड़े से नहीं निकलता। वैसे ही माया सभी के हृदय को छेद डालती है किन्तु गुरु के द्वार[2] पर ज्ञानोपदेश द्वारा तैयार हुये अन्तःकरणको नहीं छेद सकती अर्थात् उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकती।

सद्गुरु साधु सवित्त[1] तहँ, वैरागर[2] की खानि।
रज्जब खोद विवेक सौं, तहाँ नहीं कछु हानि ।११८।

सद्गुरु और संत भक्ति वैराग्यादि रूप धन[1] से युक्त हैं, उन्ही में ज्ञान रूप हीरों[2] की खानि है, हे साधक! तू विवेक पूर्वक उनसे प्रश्न पूछनादिरूप खोदने की क्रिया कर तो तुझे लाभ ही होगा, वहां पर हानि तो कुछ नहीं होती।

सद्गुरु पारस पौरसा[1], अक्षय अभय भण्डार।
रज्जब बचन विवेक धन, लहिये बारम्बार ।११९।

सद्गुरु पारस और पूजा करके काटने से हाथ-पैरों का सुवर्ण प्रति दिन देने वाली स्वर्ण निर्मित मनुष्याकार मूर्ति[1] के समान है, निर्भय करने वाले ज्ञान-धन के अक्षय भण्डार हैं। अतः विवेकपूर्वक उन के वचनों से ज्ञान-धन बारम्बार लेना चाहिये।

ज्यों बहु रत्न समुद्र में, त्यों सद्गुरु शब्द धनाढि।
मरजीवा ह्वै माँहि मिल, जन रज्जब वित[1] काढि ।१२०।

जैसे समुद्र में बहुत रत्न हैं, वैसे ही सद्गुरु भी भक्ति, वैराग्य,ज्ञानादि युक्त शब्दधन के धनाढ्य हैं किन्तु जो मरजीवा समुद्र में गोता लगाता है, उसे ही रत्न मिलते हैं। वैसे ही जो सद्गुरु के शब्दों में मन लगाता है वही ज्ञानादिक धन[1] निकाल सकता है।

मन वच्छा ह्वै चूंखिये, सद्गुरु सुरही[1] जाय।
रज्जब पीवे थूण[2] दे, दीरघ दरवे गाय ।१२१।

जैसे वच्छा गो[1] के स्तनों को पकड़ कर थोबे[2] देदे कर दूध चूंखता है तब गो अधिक दूध देती है। वैसे ही साधक, ज्ञान प्राप्ति की इच्छा मन में करके गुरु के पास जाता है और शंका होने पर बारम्बार पूछता रहता है तो उसे महान् ज्ञान प्राप्त होता है।

सुसंवेद[1] गुरु ज्ञान में, शिष शिक्षा पढ़ लेय।
जैसे दरपन देखते, दर्श दिखाइ देय।१२२।

१२२ में योग्य शिष्य ज्ञान प्राप्त करता है यह कहते हैं—गुरु के ज्ञान में भली प्रकार अनुभव[1] रहता है। शिष्य जब गुरु-शब्दों को पढ़ता है, तब ही उनसे ज्ञान की शिक्षा मिलती है और जैसे दर्पण देखते ही अपने मुखका दर्शन होता है, वैसे ही ज्ञान द्वारा देखने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

गुरु घर माँही धन घणा, शिष संग्रह्या न जाय।
जब लग लक्षण न लेन के, युक्ति न उपजे आय।१२३।

१२३ में अयोग्य शिष्य ज्ञान धारण नहीं कर सकता यह कह रहे हैं—गुरु के अन्तःकरण रूप घर में ज्ञान तो बहुत है किन्तु जब तक शिष्य के अन्तःकरण में ज्ञान लेने योग्य युक्ति और लक्षण उत्पन्न नहीं होते तब तक शिष्य से ज्ञान ग्रहण नहीं किया जाता।

बहुत बार बेटे भये, परि पिता न पाया आप।
जन रज्जब जन्मे नहीं, जे गुरु मिल्या न बाप।१२४।

१२४-१२६ में गुरु की दुर्लभता बता रहे हैं—अनन्त बार पुत्र रूप में उत्पन्न तो हुये किन्तु स्वयं गुरु रूप पिता तो अभी तक मिल न सके। यदि गुरु-पिता न मिले तो जन्म होने पर भी नहीं होने के समान ही है, कारण—गुरु द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही मनुष्य जन्म है। प्रभु प्राप्त न हुये तो नर जन्म निष्फल है।

माता पिता असंख्य ह्वैं, चौरासी के माँहि।
रज्जब यह सौदा घणा, पर सद्गुरु मेला नाँहि।१२५।

चौरासी लक्ष योनियों में माता पिता तो असंख्य मिल जाते हैं। अतः स्वजन मिलन रूप व्यापार तो संसार में बहुत-अधिक है किन्तु सद्गुरु मिलन दुर्लभ है।

युवती जातक योनि बहु, चौरासी के बास।
जन रज्जब जिव को नहीं, सद्गुरु चरण निवास।१२६।

चौरासी लक्ष योनिओं में निवास के समय नारी, पुत्रादि तो बहुत प्राप्त होते हैं किन्तु वहां पर प्राणी को सद्गुरु चरणों में निवास प्राप्त नहीं होता ।

मात पिता सुत नारि सौं, विष फल आवे हाथ ।
जन रज्जब गुरु की दया, सदा सु सांई साथ ।१२७।

१२७ में माता पितादि से गुरु की अधिकता बता रहे हैं—माता, पिता, पुत्र, नारी आदि स्वजनों से विषय रूप विष फल ही मिलता है किन्तु गुरुदेव की दया से सदा के लिये परब्रह्म का साथ मिलता है अर्थात् प्राणी परब्रह्म रूप ही हो जाता है ।

सद्गुरु साधु न छोडिये, जे तू स्याणा दास ।
रज्जब रहँट कहां रहे, जब ना वध ह्वै नास[1] ।१२८।

१२८-१३० में गुरु-त्याग से हानि होती है यह कह रहे हैं—यदि तू चतुर सेवक है तो श्रेष्ठ सद्गुरु का त्याग कभी न करना । कारण—जैसे बैलों की नासिका[1] में बँधी हुई रस्सी अरहट की हाल की खूंटी के न बँधी हो तो बैल अरहट के पास कहाँ रहेंगे ? मार्ग छोड़ देंगे । वैसे ही श्रेष्ठ सद्गुरु के चरणों में न रहेगा तो, भगवान् के पास कहाँ रह सकेगा, वह परमार्थ पथ को छोड़ कर संसार में ही जायगा ।

सद्गुरु साधु जहाज तज, विरचे मूरख दास ।
जन रज्जब हैरान है, कहां करेगा बास ।१२९।

जैसे जहाज से विरक्त होकर जहाज को छोड़ दे तो किस पर बैठ कर समुद्र पार करेगा ? वैसे ही यदि श्रेष्ठ सद्गुरु से भी विरक्त होकर उनको त्याग दे तो बड़ा आश्चर्य है, वह प्रभु प्राप्ति रूप अखंड शांति के लिये कहाँ निवास करेगा ।

जन रज्जब गुरु साण पर, भूंठी मन तलवार ।
तो तीखी कत कीजिये, रे जीव सोच विचार ।१३०।

यदि साण पर चढ़ाने पर भी तलवार तीखी नहीं होती तो कहाँ होगी? वैसे ही गुरु के उपदेश से भी मन सूक्ष्म नहीं हो सका तो, हे जीव ! सोच विचार कर कह फिर कहाँ सूक्ष्म होगा ?

जे पंच रात अंतर पड़्या, शिष तरुवर गुरु मेह ।
जन रज्जब जोख्यूं[1] नहीं, तऊ हरे उस नेह ।१३१।

१३१ में कहते हैं, गुरु का किंचित् वियोग हानिकर नहीं—जैसे पांच दिन वर्षा न हो तो वृक्ष की हानि[1] नहीं होती, वह पूर्व वर्षे हुये से ही

हरा रहता है। वैसे हो यदि कुछ दिन गुरु का वियोग हो भी जाय तो भी शिष्य की हानि नहीं होती वह प्रथम सुने हुये गुरु के उपदेश में स्नेह रखने से ही निर्दोष रहता है।

रज्जब सींचे सद्‌गुरू, हरि लग हरे सु प्राण।
सदा सुखी सुमिरण करैं, सूखैं नहीं सुजाण।१३२।

१३२ में गुरु की दया का फल बता रहे हैं—यदि सद्‌गुरु दया पूर्वक उपदेश-जल से सींचते रहें तो हरि के चिन्तन में लगकर साधक प्राणी प्रसन्नता रूप हरियाली से युक्त ही रहेंगे, हे सुजान! दुःख रूप शुष्कता उनमें नहीं आयेगी, कारण—जो हरि स्मरण करते हैं, वे तो सदा ही सुखी रहते हैं।

शब्द सुरति परसे नहिं, तब लग बाँझी जोय[1]।
रज्जब परसी जानिये, जब बालक विरहा होय।१३३।

१३३-१३८ में शब्द और सुरति के मिलन की पहचान बता रहे हैं—जैसे नारी[1] पुरुष से नहीं मिलती तब तक बंध्या ही है और जब उसके बालक हो जाय तब जानो कि—यह पुरुष से मिली है। वैसे ही जब तक वृत्ति सद्‌गुरु शब्द से नहीं मिलती तब तक बंध्या ही है। जब वृत्ति में भवगद् विरह उत्पन्न होता है तब ही निश्चय होता है कि—यह सद्‌गुरु शब्द से मिली है।

घन बादल वर्षा भई, सींप हि श्रद्धा नाँहि।
रज्जब उपज्यों ऊपजे, स्वाति बूंद पड़ माँहि।१३४।

बादलों के समूह से स्वाति नक्षत्र में वर्षा हुई किन्तु शुक्ति में उसे लेने की इच्छा नहीं हुई तो मोती कैसे होगा? वह तो सींप में स्वाति बिन्दु लेने की श्रद्धा होने पर ही स्वाति बिन्दु उसमें पड़कर उत्पन्न होगा। वैसे ही वृत्ति में सद्‌गुरु-शब्द ग्रहण की श्रद्धा न होगी तो ज्ञान उत्पन्न न होगा। श्रद्धा होने पर ही वृत्ति में शब्द स्थिर होकर ज्ञान होगा।

घटा सुगुरु आशोज की, स्वाति बूंद सत बैन।
सींप सुरति श्रद्धा सहित, तहँ मुक्ता मन ऐन[1]।१३५।

आश्विन मास घन-घटा से वर्षने वाली स्वाति बिन्दु को शुक्ति ठीक[1] ढंग से लेती है, तब ही उसमें मोती बनता है। वैसे ही श्रेष्ठ गुरु के सत्य वचन शिष्य की वृत्ति श्रद्धा सहित ग्रहण करती है तब मन साँसारिक भावनाओं से भली प्रकार मुक्त हो जाता है।

आतम आरतिवंत है, सद्‌गुरु शब्द समाय।
रज्जब रुचि के राचणे, फल मांही रह जाय।१३६।

जीवात्मा विरह दुःख से युक्त होता है, तब उसकी वृत्ति सद्गुरु-शब्दों में ही लीन होती है, फिर अपनी रुचि के अनुसार प्रभु-प्रेम में निमग्न होती है। उक्त साधना का फल यही होता है कि—वृत्ति संसार में जाने से रुक कर प्रभु में ही स्थिर हो जाती है ।

सद्गुरु वर्षे मेघ ज्यों, रज्जब ऋतु शिर आय ।
शिष वसुधा ह्वै लेय जल, ऊगे अगम अघाय[1] ।१३७।

वर्षा ऋतु में बादल वर्षते हैं, उस जल को पृथ्वी लेती है तब उसमें अनन्त बीज उगते हैं और उनसे हरियाली होकर पृथ्वी की शोभा बढती है। वैसे ही, सद्गुरु जिज्ञासा होने पर शिष्यों को ज्ञान प्रदान करते हैं, शिष्य उसे ग्रहण करते हैं तब तृप्त[1] हो जाते हैं ।

रज्जब रवे[2] सु सार[1] के, चम्बुक लगे सु धाय ।
त्यों अंकूरी आतमा, सद्गुरु मिले सु आय ।१३८।

जैसे चम्बुक को पृथ्वी की रेत में हिलाने से रेत में स्थित लोह[1] के दाने[2] दौड़ कर चम्बुक के आ लगते हैं। वैसे ही जिसमें परमार्थ का अँकुर है वह जीवात्मा सद्गुरु से आ मिलता है ।

चेला तब ही जानिये, चित्त रहै चितलाय ।
रज्जब दूजा देखिये, जब लग आवे जाय ।१३९।

१३९-१४२ में शिष्य की पहचान बता रहे हैं—जब तक विषयों में चित्त का गमनागमन होता है तब तक शिष्य न कहला कर शिष्य से अन्य संसारी ही कहलायेगा। शिष्य तभी जानना चाहिये, जब वह अपने चित्त को चेतन में ही लगाये रहे ।

शिष्य सही सोई भया, रहै सीख में जोय ।
रज्जब श्रद्धा सीख सौं, दूजा कदे न होय ।१४०।

सच्चा शिष्य वही कहलाता है, जो गुरु की शिक्षा में रहता है। श्रद्धा सहित गुरु की शिक्षा मानने वाले शिष्य में द्वैत भाव कभी भी उत्पन्न नहीं होता ।

तालिब[1] तब ही जानिये, रहै तलब[2] तन पूरि ।
रज्जब सो सहजै मिले, नाहीं मुरशिद[3] दूरि ।१४१।

जिज्ञासु[1] तभी जानना चाहिये जब उसके शरीर में गुरु प्राप्ति की चाह[2] परिपूर्ण रूप से हो। जो गुरु प्राप्ति की उत्कृष्ट अभिलाषा वाला होता है वह अनायास ही गुरु से मिलता है, उससे गुरु[3] दूर नहीं रहते ।

मुरीद मता[2] तब जानिये, मन मुरीद[1] जब होय।
रज्जब पावे पीर[3] को, ता सम और न कोय।१४२।

जब मन में शिष्य[1]पन के लक्षण[2] आजावें तभी शिष्य जानना चाहिये। वही सिद्ध[3] गुरु को प्राप्त करता है और उस के समान अन्य कोई भी नहीं हो सकता।

चेला चित चाहै नहीं, सत्य स्वरूपी बोल।
रज्जब गुरु गाफिल भया, रूता[2] दे दे रोल[1]।१४३।

१४३-१४४ में अयोग्य शिष्य का परिचय दे रहे हैं–शिष्य सत्य स्वरूप ब्रह्म संबन्धी वचन सुनना ही नहीं चाहता, बेचारा गुरु उपदेश देना रूप हल्ला[1] कर-कर के गाफिल होकर रो[2] पड़ता है।

गुरु बायक[1] सब गोय[2] पर, शिष श्रवना कलि[3] हेठी।
रज्जब अणमिल मेलिये, कदे न निपजे नेठि[4]।१४४।

जैसे बोलने[1] वाला पृथ्वी[2] पर हो और सुनने वाला पृथ्वी के नीचे हो तो उनका मेल कैसे मिलेगा। वैसे ही गुरु में जो वचन रूप गुरु है. वह तो जिह्वा[2] पर है और शिष्य में जो वृत्ति रूप शिष्य है, वह पाप[3] के कारण श्रवणों से भी नीचे है अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति श्रवणों में स्थित होकर नहीं सुनती ; अतः यह न मिलने वालों का मेल करना है। ऐसे साधकों के हृदय में कभी भी निष्ठा[4] उत्पन्न नहीं होती।

शिष मांहीं शिष सुरति है, गुरु माँहीं गुरु बैन।
रज्जब ये राजी नहीं, तब लग झूंठे फेन।१४५।

१४५ में यथार्थ गुरु-शिष्य का परिचय दे रहे हैं-शिष्य में ब्रह्म-जिज्ञासा युक्त वृत्ति ही शिष्य है और गुरु में ब्रह्म संबन्धी वचन ही गुरु है। जब तक ये उक्त गुरु शिष्य प्रसन्नता पूर्वक न मिलें तब तक प्रतीतिमात्र बाहर के गुरु-शिष्यादि का अभिनय जल के फेन के समान मिथ्या ही है।

गुरु प्रसिद्ध पारस मिले, शिष्य हि खोटा जोय।
रज्जब पलटे लोह सब, कंकर का क्या होय।१४६।

१४६-१५५ में अयोग्य शिष्य का परिचय दे रहे हैं—पारस की यह बात प्रसिद्ध है कि वह सभी प्रकार के लोहे को सोना बना देता है किन्तु पारस से कंकर का भी सोना होता है क्या ? वैसे ही गुरु भी शिष्यों को संत बनाने में प्रसिद्ध हैं परन्तु जो शिष्य दोषों से पूर्ण हो और गुरु उपदेश से दोष न त्यागे वह कैसे संत बनेगा ?

सद्गुरु चंदन बावना, परस्यूं पलटे काठ ।
रज्जब चेला चूक में, रह्या बाँस के ठाट ।१४७।

बावने चदन के स्पर्श से काष्ठ चन्दन हो जाते हैं किन्तु बाँस अपने पोलादि दोषों के कारण नहीं हो पाता । वैसे ही सद्गुरु के उपदेश से शिष्यों के हृदय बदल जाते हैं यदि कोई का न बदले तो उस का प्रमाद ही न बदलने में कारण होता है गुरु का नहीं ।

सद्गुरु चिन्तामणि मिल्या, शिष में चिन्ता नाँहि ।
तो रज्जब कहु क्या मिले, जे माँगे नहिं माँहि ।१४८।

चिन्तामणि हाथ आजाने पर भी मन में किसी वस्तु की इच्छा न करे तो क्या मिलेगा ? वैसे ही सद्गुरु मिल जाने पर भी शिष्य के मन में उनसे ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा न हो और न प्रश्न करे तो क्या मिलेगा ?

कल्प वृक्ष गुरु को कहा, जे कल्पै नहिं दास ।
जन रज्जब रुचि प्यास बिन, निश्चय जाय निराश ।१४९।

कल्प वृक्ष के नीचे जाकर किसी वस्तु के प्राप्त करने की कल्पना न करे तो वह प्राणी अपनी अभिलाषा के बिना निराश होकर जाता है । वैसे ही रुचि के बिना गुरु के पास जाकर प्रश्न न करे तो गुरु का क्या दोष है ! वह तो निश्चयपूर्वक निराश हो जायगा ।

काम धेनु गुरु क्या करे, शिष निष्कामी होय ।
रज्जब मिल रीता रह्या, मंद भाग्य शिष जोय[1] ।१५०।

कामना न करने वाले का कामधेनु क्या भला करेगी ? वह तो कामधेनु से मिलकर भी खाली ही रहेगा । वैसे ही देख[1] गुरु मिलने पर भी शिष्य प्रश्न न करे तो, वह मन्द भाग्य ही है ।

रज्जब वर्ण अठारह भार विधि, सद्गुरु चन्दन माँहि ।
शब्द वास भिद सो सबै, अरण्ड बाँस खल नाँहि ।१५१।

जैसे चन्दन की सुगन्ध से विद्ध होकर अठारह भार वनस्पति चन्दन बन जाती हैं अर्थात् अपनी गंध को छोड़ कर चन्दन की सुगन्ध से युक्त हो जाती हैं किन्तु ऐरण्ड और बाँस नहीं बदलते । वैसे ही सद्गुरु के उपदेशमय शब्दों से चारों ही वर्ण के प्राणियों के हृदय बदल जाते हैं किन्तु दुष्टों के नहीं बदलते ।

बिन घटि माल रहट की भरमे, जल आवे कुछ नाँही ।
त्यूं रज्जब चेतन[1] बिन चेला, रीता संगति माँही ।१५२।

जब घटिकाओं के बिना अरहट्ट की माला घूमती है तब किंचित मात्र भी जल नहीं निकलता। वैसे ही जिस शिष्य में सात्त्विकी बुद्धि[1] न हो वह सत्संग में रहकर भी खाली ही रह जाता है।

रज्जब नर तरु वित्त[1] के, मिल रीते सु अयान।

मंगलगोटा[2] मुख्य फल, मर्कट मुग्ध न जान।१५३।

जैसे नारियल[2] वृक्ष फल रूप धन[1] वाला है तथा उसका फल मंगल-द्रव्यों में भी मुख्य है किन्तु मूर्ख वानर उसके फल में रहने वाले खोपरे को नहीं जानता अतः उसके उपभोग से वंचित रह जाता है। वैसे ही सद्‌गुरु रूप नर ज्ञान-धन से युक्त हैं, वह धन साधन के मुख्य फल मंगल मय ब्रह्म की प्राप्ति का हेतु है, तो भी अज्ञानी प्राणी उनसे मिलकर भी ज्ञान-धन से वंचित ही रह जाता है।

कामधेनु अरु कल्पतरूवर, बिना कामना शुभग सरोवर।

चाह बिना चिंतामणि क्या दे, त्यों सेवक स्वामी कने[1] क्या ले।१५४।

बिना इच्छा करे कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और सुन्दर सुधा-तालाब से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। वैसे ही शिष्यरूप सेवक बिना प्रश्न किये गुरु-रूप स्वामी से[1] क्या ले सकता है ?

एरंड बंस लागे नहीं, गुरु चन्दन की वास।

रीते रहे गठोले पोले, रज्जब परिमल पास।१५५।

सुगंधयुक्त चन्दन के पास रहने पर भी एरण्ड और बाँस गाँठों वाले तथा पोले होने से चन्दन की सुगंध नहीं ग्रहण कर पाते। वैसे ही विवेक हीनता रूप पोल, देहाध्यासादि रूप गाँठें होने से गुरु के पास रहने पर भी साधक गुरु का ज्ञान धारण नहीं कर सकते।

गुरु सिमटे[1] गोविन्द भज, शिष सद्‌गुरु को सेय।

रज्जब बिझुका[2] खेत में, चरे न चरने देय।१५६।

१५६ में अयोग्य गुरु-शिष्य का परिचय दे रहे हैं—गुरु तो भगवद् भजन करके भगवद् में स्थित[1] होते हैं और शिष्य सेवा करके व्यवस्थित[1] होता है किन्तु जैसे खेत में मृगों को डराने वाला पुतला[2] न तो खेत को खाता है और न खाने देता है, वैसे ही जो गुरु गोविन्द को न भजता है और न क्रूर स्वभाव के कारण शिष्य को अपनी सेवा ही करने देता है तथा शिष्य भी न गुरु सेवा ही करता है और न बहिर्मुखता के कारण गुरु को भजन ही करने देता है, वे दोनों ही अयोग्य हैं।

देह हिं दीक्षा देत हैं, दिल दीक्षा कोइ नाँहि।

रज्जब सद्‌गुरु सो सही, जो दीक्षा दे दिल माँहि।१५७।

१५७ में अयोग्य और योग्य गुरु का परिचय दे रहे हैं—देह को तो माला, तिलक, गेरुआ वस्त्रादि भेष रूप दीक्षा देते हैं किन्तु अन्तःकरण को सुधारना रूप दीक्षा नहीं देते वे अयोग्य गुरु हैं और जो अन्तःकरण को सुधारना रूप दीक्षा देते हैं वे ही योग्य सद्गुरु कहे जाते हैं ।

जीव ब्रह्म सौं जो गुरु बाणें,[1] सो गुरु लेय दलाली ।
रज्जब कैसी गुरू दक्षिणा, जे शिष का दिल खाली ।१५८।

१५८ में योग्य और अयोग्य गुरु का परिचय दे रहे हैं—जो गुरु जीव का ब्रह्म से मिलन रूप बानक बनादे[1] अर्थात् जीव-ब्रह्म का भेद दूर कर दे वही गुरु रूप दलाल योग्य है तथा सेवा रूप दलाली लेने का अधिकारी है और जिस गुरु से शिष्य का अन्तःकरण भक्ति, वैराग्य, ज्ञानादि से भी नहीं भरा जा सका, खाली ही पड़ा है, उस को कैसी गुरु-दक्षिणा दी जाय अर्थात् वह अयोग्य गुरु है, अतः गुरुदक्षिणा का अधिकारी नहीं है ।

पर कारज किरपण करै, अपने काम उदार ।
जन रज्जब गुरु स्वारथी, शिष सब किये ख्वार ।१५९।

१५९ में अयोग्य गुरु का परिचय दे रहे हैं—अन्य संतों की सेवा के अवसर पर तो अपने भक्तों को कृपणता का उपदेश करता है अर्थात् कहता है इन्हें कोई आवश्यकता नहीं है और अपना कार्य करने के लिये उदार बनने का उपदेश करता है । ऐसा गुरु पूरा स्वार्थी होता है और अपने सब भक्तों के अन्तःकरण को खराब कर देता है ।

चणे चुटायुँ[1] ऊंचो गुणैं,[2] खूंटयूं[3] व्है खलु[4] हान ।
यूं रज्जब शिष नीपजे, गुरु ज्ञाता पहचान ।१६०।

१६० में योग्य गुरु का परिचय दे रहे हैं—चणे के खेत को फाल आने से पूर्व थोड़ा-थोड़ा ऊपर से तुड़ाने[1] से अच्छा समझा[2] जाता है, कारण—उसमें अधिक शाखायें निकल कर फल अधिक आता है किन्तु उखाड़[3] देने से तो निश्चय[4] हानि ही होती है । वैसे ही ज्ञानी गुरु को जानो, वे अपने शिष्यों से थोड़ी-थोड़ी सेवा लेते हैं तब शिष्यों का मन बढ़ता रहता है और उनकी शक्ति के बाहर दबाव डालने से तो हानि ही होती है । उक्त रीति से ही ज्ञानी गुरुओं के शिष्य श्रेष्ठ बनते हैं । अतः ऐसे व्यवहार वाले गुरु ही योग्य गुरु कहलाते हैं ।

गुरु गंगा ठौर हि रहै, शब्द सलिल ले जाँहि ।
जन रज्जब जग भाव यह, मन मल मंज हि माँहि ।१६१।

१६१-१६३ में गुरु की स्थिरता तथा अपरिवर्तन स्थिति का परिचय दे रहे हैं--जैसे गंगाजी अपने स्थान पर ही रहती हैं किन्तु संसार के भावुक जन भाव पूर्वक जल को ले जाते हैं और आचमन से ही अपने को पवित्र मानते हैं। वैसे ही गुरु तो अपने स्थान पर ही रहते हैं किन्तु उनके शब्द साधक लोक ले जाते हैं और उनको सुनने वाले लोग भी उनके द्वारा अपने मन के भीतर का मल दूर करते हैं। जगत् में यह भावना प्रसिद्ध ही है।

प्राण पत्र गुरु तरु तजहिं, विपद् वात की घात।
सो रज्जब नौ खण्ड में, और न जाति कहात।१६२।

वायु के आघात से निम्ब वृक्ष अपने पत्ते तो त्याग देता है, फिर भी निम्ब वृक्ष ही कहलाता है, किसी अन्य जाति का वृक्ष नहीं। वैसे ही किसी कष्ट के आघात से गुरु भी अपने प्राण को तो त्याग देते हैं, फिर भी वे पृथ्वी के नौओं खण्डों में अपनी वाणी के द्वारा गुरु ही कहलाते हैं, खल नहीं।

चीनी चूड़ी ठीकरी, चौथे आतम अंग।
रज्जब रे जे रज रले, पै पलटचा रूप न रंग।१६३।

चीनी मिट्टी के बर्तन के टुकड़े, चूड़ी, ठीकरी, ये चाहे रेते में मिल जायँ तो भी अपने रूप-रंग में ही रहते हैं, बदलते नहीं और चौथा आत्मा का स्वरूप देहादि के साथ मिला हुआ रहने पर भी देहादि से नहीं मिलता। वैसे ही गुरु का अन्तःकरण विषय-राग रूप परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता।

षड् दर्शन के गुरुहुँ का, आदि गुरु गोविन्द।
सो रज्जब समझे नहीं, तो सभी जीव मति मंद।१६४।

१६४ में आदि गुरु का परिचय दे रहे हैं--जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी और शेख इन ६ प्रकार के भेषधारियों के गुरुओं के आदि गुरु परमात्मा हैं, उन परमात्मा का यथार्थ स्वरूप न समझे तब तक सभी जीव मन्द बुद्धि माने जाते हैं।

सद्गुरु को पूजै[1] नहीं, यद्यपि स्याणे दास।
रज्जब आभे[2] बहु चढैं, तो भी तल आकाश।१६५।

१६५ में कहते हैं गुरु के समान शिष्य नहीं हो सकते—बादल[2] बहुत ऊंचे चढ़ जाते हैं तो भी आकाश के तो नीचे ही रहते हैं। वैसे ही यद्यपि शिष्य अति चतुर हो जाते हैं तो भी सद्गुरु के समान[1] नहीं हो सकते।

रज्जब दीपक लाख पर, कोटि ध्वजा आनन्द ।
तो गुरु की कर आरती, जामें है गोविन्द ।१६६।

१६६-१६७ में गुरु की आरती करने की प्रेरणा कर रहे हैं–जब लाख पर दीपक जलाकर और कोटि पर ध्वजा चढा कर सुख का परिचय देते हैं, तब जिन गुरुदेव में गोविन्द विराजमान हैं, उनकी आरती अवश्य करनी चाहिये । पूर्व काल में यह प्रथा थी कि–लखपति होने पर अपने घर की छत पर आकाशी दीपक जलाया करते थे और कोटिपति होने पर घर की छत पर ध्वजा चढाई रखते थे, उसी का निर्देश १६६ में किया है ।

रज्जब छत्र धरे चौंरों ढरैं, जहाँ नृपति नर होय ।
तो गुरु उर गोविन्द है, नख शिख आरति जोय[1] ।१६७।

जब नर नृपति हो जाता है तब उस पर श्वेत छत्र रहता है, चँवर ढोले जाते हैं, गुरुदेव के हृदय में तो परमात्मा स्थित हैं फिर आरती जो[1] कर उनके नख से शिखा तक सभी अंगों की आरती क्यों न की जाय वा अपने नख से शिखा तक के अंगों को ही आरती के समान जो कर अर्थात् सावधान करके गुरुसेवा में संलग्न करना रूप आरती क्यों न की जाय ?

यथा गोद परधान के, बालक राजकुमार ।
ता को रज्जब सब नवें उस बालक के प्यार ।१६८।

१६८ में गुरुदेव को नमस्कार करने की प्रेरणा कर रहे हैं––जैसे राज-कुमार बालक प्रधानमन्त्री की गोद मे हो तो उस बालक के प्यार से उसे सभी नमस्कार करते हैं, वैसे ही गुरु के हृदय में गोविन्द होने से वे सभी को नमस्कार के पात्र हैं, उन्हें प्रणति करना चाहिये ।

रज्जब कागज पूजिये, वेद वचन बिच आथि[1] ।
तो गुरु को किन[2] पूजिये, जाके गोविंद साथि ।१६९।

१६९ में गुरु की पूजा करने की प्रेरणा कर रहे हैं––वेद-वचन रूप पूंजी[1] जिन कागजों में होती है, वे कागज भी पूजे जाते हैं ।, तब जिनके साथ भगवान् हैं उन गुरुदेव की पूजा क्यों न[2] की जाय ? गुरु की पूजा अवश्य करनी चाहिये ।

जड़ मूरति उर नाम बिन, तापर मंगलाचार ।
तो रज्जब कर आरती, गुरु पर बारंबार ।१७०।

१७० में गुरु की आरती बारम्बार करने की प्रेरणा कर रहे हैं—जो पत्थर, काष्ठ, मिट्टी, सुवर्ण आदि धातुओं की बनी जड़ मूर्ति जिसके हृदय में हरि नाम भी नहीं होता, उसके लिये मंगलकार्य करते हुए उसकी

आरती करते हैं, तब चेतन और हरि नाम चिन्तन युक्त हृदय वाले गुरुदेव की आरती तो बारम्बार करनी चाहिये ।

शिला सँवारी राज नें, ताहि नवैं सब कोय ।
रज्जब शिष सद्गुरु गड़े, सो पूजा किन होय ।१७१।

१७१ में गुरुदेव की पूजा करने की प्रेरणा कर रहे हैं—राज जब साधारण शिला की मूर्ति बना देता है तब सब उसको प्रणाम करते हुये उसकी पूजा करते हैं, फिर सद्गुरु तो अपने उपदेश द्वारा शिष्यों को ठीक करके परमात्मा से मिला देते हैं, वे पूजा के पात्र क्यों न होंगे ? सद्गुरु की पूजा अवश्य करनी चाहिये ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरुदेव का अंग ३ समाप्तः ।सा० १८३।

अथ गुरु-शिष्य निगुँरा का अंग ४

गुरुदेव के अंग के अनन्तर अयोग्य गुरु और अयोग्य शिष्यों का परिचय देने के लिये गुरु-शिष्य निगुँरा का अंग कह रहे हैं—

गुरु शिष भूखे मिले अभागी, दीक्षा नहिं मानहु दौ[1] लागी ।
संतोष नीर नाहीं सो नीरा,[2] तृष्णा अग्नि बुझावे बीरा[3] ।१।

गुरु प्रतिष्ठा का भूखा और शिष्य विषयों का भूखा दोनों भाग्यहीन मिल जाते हैं तब गुरु द्वारा शिष्य को जो दीक्षा मिलती है सो दीक्षा न होकर मानो दावाग्नि[1] लगा है, ऐसा ज्ञात होता है । जैसे समीप[2] जल न हो तो वन[3] का अग्नि नहीं बुझता वैसे ही इनके मन के समीप संतोष न होने से इनकी उक्त तृष्णा नष्ट नहीं होती, सदा तृष्णा से जलते ही रहते हैं ।

भूखे गुरु शिष यूं मिलैं, ज्यों वैशाखे बँस डार ।
जन रज्जब बोलत घसत, दोऊ जर बर छार ।२।

तृष्णा रूप भूख से युक्त गुरु-शिष्यों का मिलन वैशाख मास में बाँस की डालों के घिसने के समान होता है । वैशाख में बाँस की डालें वायु-वेग से घिसती हैं तब अग्नि प्रकट होकर बाँस जल जाते हैं, वैसे ही गुरु-शिष्य अपनी आपस की बोल-चाल द्वारा क्रोधाग्नि प्रकट होने से जल-जल कर मरते रहते हैं ।

चेला चकमक गुरु गति गार,[1] गोष्टी[4] ठणका[2] अग्नि अपार ।
मिलत महातम[3] जलन सुहोय, ऐसे दई[5] न मेली दोय ।३।

चकमक का आघात[2] पत्थर[1] पर लगता है तब किंचित् अग्नि निकल कर बहुत हो जाता है, सूत्र, पट, काष्ठादि को जलाता है । यह चकमक

और पत्थर के मिलन का ही माहात्म्य[3] है। वैसे ही शिष्य और गुरु की बातों[4] से क्रोधाग्नि चमक आता है और दोनों के हृदयों को जलाता है, यही उन के मिलन का माहात्म्य है। ईश्वर[5] ऐसे गुरु-शिष्य न मिलावे।

सद्गुरु सीझ्या पोरसा, शिष शाखों शिर भाग।
रज्जब पूरे पीर बिन, ठाहर उभय अभाग।४।

सद्गुरु अपने को सिद्ध पौरषा (सिद्धि युक्त सुवर्ण के पुतले) के समान बताते हुये शिष्य-प्रशिष्यादि शाखाओं का भार शिर पर खड़ा करता है और कहता है—तुम्हारे अच्छे भाग्य थे तभी तो मेरे शिष्य हो सके हो, भाग्य बिना हमारे समान गुरु कहाँ मिलते हैं। शिष्य भी उन कपटी गुरुओं की कपट पूर्ण बातों से उन पर मुग्ध होते हुये तथा गुरु की प्रसंशा के पुल बाँधते हुये संसार के सरल प्राणि को धोखा देते हैं जब तक पूर्णावस्था को प्राप्त सिद्ध गुरु प्राप्त नहीं होते तब तक उक्त प्रकार के गुरु और शिष्य दोनों ही के हृदय स्थान में उक्त प्रकार का दंभ रहता है और यह उनके भाग्यहीनता का ही चिह्न है।

रज्जब चेला चक्षु बिन, गुरु मिल्या जाचंध[1]।
कूप मयी यहु कुंभिनी[2] क्यों पावें प्रभु पंथ[3]।५।

जैसे कोई नेत्रहीन मनुष्य आवाज देकर के कहे—कोई मुझे अमुक-ग्राम को पहुँचा दे तो मैं उसे अमुक पुरस्कार दूंगा। उसे कोई जन्मांध[1] कहे—चल मैं पहुँचा दूंगा, तो वे दोनों मार्ग छूट जाने से कूप में ही पड़ेंगे। वैसे ही ज्ञानहीन स्वार्थी शिष्य-गुरु मिल जाते हैं तब उनके लिये यह संपूर्ण पृथ्वी[2] ही कूप रूप है अर्थात् वे दोनों संसार कूप में ही पड़ते हैं, परब्रह्म प्राप्ति का मार्ग[3] उन्हें नहीं मिलता।

गुरु के अंग[1] हुं गुरु नहीं, शिष्य न ले ही सीख।
रज्जब सौदा ना बण्याँ, पेट भरहु कर भीख।६।

गुरु के लक्षण[1] गुरु में नहीं है और शिष्य भी शिक्षा धारण नहीं करता, तब परब्रह्म प्राप्ति रूप व्यापार तो बनता नहीं, केवल भिक्षा करके पेट भरने का मार्ग खुल जाता है।

रज्जब राम न रहम कर, अक्षर लिखे न भाल।
तार्थें सद्गुरु ना मिल्या, गुरु शिष रहे कंगाल।७।

राम के दया न करने से विधाता ने मुक्ति प्राप्ति के अंक ललाट में नहीं लिखे अर्थात् गुरु प्राप्त होने का प्रारब्ध नहीं बना, इसी से सद्गुरु नहीं मिले। सद्गुरु के अभाव से गुरु और शिष्य दोनों ही आत्म ज्ञान न होने से सांसारिक आशाओं द्वारा कंगाल ही रहे।

गुरु घर धन ह्वै पाइये, शिष्य सुलक्षण ले हि ।
उभय अभागी एकठे, कहा लेय कहा देहि ।८।

गुरु के अन्तःकरण रूप घर में ज्ञान-धन हो तो शिष्य को प्राप्त हो और शिष्य भी शिष्यपने के सुन्दर लक्षणों से युक्त हो तो ज्ञान-धन ले सके किन्तु जब दोनों ही भाग्यहीन मिल जायँ तब गुरु क्या दे और शिष्य क्या ले ।

बैयर[1] सौं बैयर मिल्यों, कहो पूत क्यों होय ।
त्यों रज्जब सद्गुरु बिना, सब खोजों[2] की जोय[1] ।९।

कहो ? नारी[1] से नारी मिले तब पुत्र कैसे होगा ? वैसे ही सद्गुरु बिना सभी शिष्य नपुँसकों[2] की नारियों के समान हैं । जैसे नपुँसक की नारी के संतान नहीं होती वैसे ही सद्गुरु बिना शिष्यों को ज्ञान नहीं होता ।

अजा[1] कंठ कुच पय[2] नहीं, क्या पीवे दुहि ग्वाल ।
त्यों रज्जब शिष सूम गति, गुरु भूखा बेहाल ।१०।

बकरी[1] के गले के स्तनों में दूध[2] नहीं होता, वे तो देखने मात्र के ही होते हैं । उनको ग्वाल दुह करके पीना चाहे तो क्या पीयेगा ? वैसे ही यदि शिष्य सूम मिल जाय और गुरु आशा द्वारा भूखा मिल जाय तो, उक्त अजागलस्तन और ग्वाल की-सी ही दुखद गति उनकी होगी ।

घर घर दीक्षा देंहि गुरु, शिष्य न सुलझे कोय ।
जन रज्जब सब लालची, तायैं भला न होय ।११।

स्वार्थी गुरु घर २ पर जाकर दीक्षा देते हैं किन्तु उनके उपदेश से कोई भी शिष्य अज्ञान बन्धन से नहीं निकलता, कारण—गुरु और शिष्य दोनों ही सांसारिक विषयों के लोभी हैं, इसीलिये दोनों का ही मुक्ति रूप भला नहीं होता ।

शिष सारे गुरु को गिलैं, गुरु सेवक सब खाय ।
रज्जब दोनों यूं मिले, हरि में कौन समाय ।१२।

शिष्य तो सभी गुरु के धनादि को खाना चाहते हैं और गुरु सभी सेवकों का खाना चाहता है इस प्रकार दोनों ही सांसारिक आशाओं से घिरे हुये हैं तब दोनों में से हरि में कौन समायेगा ? अर्थात् दोनों ही मुक्त न हो सकेंगे ।

कुल चेले चीणा भये, गुरु को यह गम[1] नाँहि ।
रज्जब पैठा प्रीति कर, बूडि मुवा यूं माँहि ।१३।

चीणा नामक अनाज चपटा और चिकना होता है, उसकी राशि पर कोई कूद पड़े तो उसमें डूब जाता है। वैसे ही शिष्य तो सब चीणा के समान हैं, किन्तु गुरु को यह ज्ञान[1] नहीं कि—यह मुझे ही दबा लेंगे, वह तो प्रेम से उनमें प्रवेश करता है परन्तु अन्त में उनके जाल से उन्हीं में समाप्त हो जाता है अर्थात् गुरु का सर्वस्व वे ही खा जाते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरु-शिष्य निर्गुण का अंग ४ समाप्त ।सा०१६६।

अथ गुरु शिष्य निदान निर्णय का अंग ५

गुरु-शिष्य निर्णय-अंग के अनन्तर गुरु-शिष्यपने में हेतु निर्णय का विचार करने के लिये गुरु-शिष्य निदान निर्णय का अंग कह रहे हैं—

सद्गुरु सोध रु कीजिए, साहिब सौं साचा ।
रज्जब परसे पार ह्वै, सुन मनसा वाचा ।१।

१-३ में परीक्षा करके गुरु बनाने की प्रेरणा कर रहे हैं—जो ईश्वर की आज्ञानुसार रह कर ईश्वर के आगे सच्चा रहता हो, ऐसी परीक्षा कर के ही गुरु बनाना चाहिये, ऐसे गुरु का उपदेश श्रवण करके मन वचन द्वारा उसके अनुसार व्यवहार करता है वह संसार से पार होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है।

सद्गुरु सोध रु कीजिये, साहिब सौं पूरा ।
रज्जब रहता राखिले, गुरु जीवन मूरा ।२।

ईश्वर की आज्ञा मानने में जो ईश्वर के आगे पूरा हो ऐसी जांच करके ही गुरु बनाना चाहिये। जो गुण विकारों से रहित होता है वही गुरु संसार प्रवाह में बहते हुये प्राणी को जीवन के मूल परब्रह्म में स्थिर रख सकता है।

सत जत सुमिरण हिरदै साँच, सो सद्गुरु शिष ह्वै मन राच ।
रज्जब कहै परख गुरुदेव, सेवक हो कीजे ता सेव ।३।

जो सत्य, संयम, ईश्वर स्मरणादि साधनों में हृदय से सच्चा हो वही सद्गुरु है, उसी का शिष्य होकर उसी में मन से प्रेम करो। हम तो यही कहते हैं कि—प्रथम परीक्षा करके ही गुरु बनाओ और सच्चे सद्गुरु के सेवक बन कर सेवा करो।

सद्गुरु मृतक[1] जहाज गति, शिष सब जीवित माँहि ।
जन रज्जब जोल्यूं[2] गई, भव जल बूडैं नाँहि ।४।

४-६ में सच्चे सद्गुरु की शरण में हानि नहीं होती यह कहते हैं— सद्गुरु शुष्क[1] काष्ठ से बने हुये जहाज के समान है और शिष्य उसमें बैठने वाले जीवित प्राणियों के समान हैं, जैसे जहाज में बैठने वाले जल में नहीं डूबते उनका डूबने का भय[2] चला जाता है। वैसे ही जीन्मुक्त[1] सद्गुरु की शरण में जाने से संसार दशा रूप जीवन वाले प्राणियों का संसार भय चला जाता है, वे संसार-सागर में नहीं डूबते।

रज्जब काचा सूत शिष, लिपट्या सद्गुरु हाथ।
काल कसौटी देय दिव्य, जले न साँचे साथ।५।

पूर्वकाल में कच्चा सूत हथेली पर लिपेट के उस पर दिव्य (न्यायालय की सत्यासत्य परीक्षार्थ हाथ पर रक्खा जाने वाला लोह का गोला) रखते थे। तब सच्चे का हाथ नहीं जलता था और झूठे का जल जाता था। वैसे ही सच्चे सद्गुरु के संग रहने से शिष्य काल-दंड रूप परीक्षा से व्यथित नहीं होता

महापुरुष मुहुरे बँधे, तालिब काचे तार।
रज्जब जल हि न युगल वे, अन्तक अग्नि मझार।६।

जैसे मोहरे (मोर पंखों से निकले हुये तामे के मणिये) में कच्चा तार बँधा हो तो, वह अग्नि में नहीं जलता वैसे ही महापुरुष सद्गुरु की शरण में जाने पर शिष्य कालाग्नि में नहीं जलता।

कोयल अंडे काक गृह, सुत निपजे पर सेव।
त्यों रज्जब शिष भाव को, प्रति पाले गुरु देव।७।

७ में गुरु से ही शिष्य की रक्षा होती है यह कहते हैं-कोयल के अंडे काक के घर में रहते हैं और अपने से अन्य काकों की सेवा से बड़े होते हैं किन्तु कोयल उनका भाव से ही पालन करती है और बड़े होने पर ले जाती है, वैसे ही शिष्य संसार में रहते हैं किन्तु गुरु उनका भाव से ही पालन करते हैं और वैराग्य होने पर ले जाते हैं। कोयल अपने अंडे काक के आलम में छोड़ आती है। काक उनको अपने जानकर पालते हैं कुछ बड़े होने पर कोयल उनके पास जाकर अपनी बोली सुनाती रहती है और जब वे उड़ने लगते हैं तब काक के न होने के समय उन्हें साथ ले जाती है।

गुरु संतोषी चन्द्र मय, शिष नक्षत्र निरीहाय[1]।
जन रज्जब तिहिं सभा को, देख दृष्टि बलि जाय।८।

८ में योग्य गुरु शिष्य धन्य हैं, यह कह रहे हैं-जैसे बिना ही इच्छा चन्द्रमा को नक्षत्र मंडल घेरे रहता है, वैसे ही संतोषी गुरु को विरक्त[1]

शिष्य घेरे रहते हैं, उन की सभा का दर्शन करके दृष्टि उन पर बलिहारी जाती है ।

चंद उदय ज्यों चाह बिन, कमल खिले अपभाय ।
त्यों रज्जब गुरु शिष्य ह्वै, तो दोष न दीया जाय ।९।

९-१५ में स्वार्थ रहित गुरु का परिचय दे रहे हैं—चन्द्रोदय होने पर चन्द्रमा की बिना इच्छा ही अपने भाव से चन्द्रमुखी कमल खिलते हैं, वैसे ही सद्गुरु के दर्शन होने पर यदि कोई अपने भाव से शिष्य बनता है तो गुरु को स्वार्थी होने का दोष नहीं दिया जा सकता ।

चंदन करि बदले वनी, पारस पलटे लोह ।
त्यों रज्जब शिष काज कर, गुरु ज्ञाता निरमोह ।१०।

जैसे चन्दन की सुगन्धि द्वारा वन बदलता है, पारस से लोह बदलता है, वैसे ही शिष्य को बदलने का काम करके भी ज्ञानी गुरु शिष्यों में मोह नहीं करते ।

सद्गुरु सूरज शशिहर संदल[1], पुनि पेखे त्यों हमाय ।
रज्जब पंचहुँ प्राण पोषिये, स्वारथ रहित सुभाय[3] ।११।

सद्गुरु, सूर्य चन्द्रमा, चन्दन[1] और हुमा[2] पक्षी इन पांचों को ही देखिये प्राणियों का पोषण करके भी स्वभाव[3] से ही स्वार्थ रहित रहते हैं ।

जिहिं छाया ह्वै छत्रपति, सो हित रहित हमाय ।
त्यों रज्जब गुरु शिष्य गति, दुहुँ में कौन कमाय ।१२।

जिस हुमा पक्षी की छाया शिर पर पड़ने से मनुष्य राजा हो जाता है, वह पक्षी अपने स्वार्थ के लिये तो छाया नहीं पटकता, वैसे ही गुरु भी अपने स्वार्थ के लिए उपदेश नहीं देते । हुमा और गुरु इन दोनों में से कौन-सा क्या कमाता है ? कुछ नहीं, अतः स्वार्थ रहित हैं ।

लोह शिष्य पारस गुरु, मेले मेलनहार ।
सौंघे सौं मँहगे भये, अनवांछित व्यवहार ।१३।

जैसे लोह से पारस कुछ भी नही चाहता किन्तु फिर भी स्पर्श होते ही पारस लोह को सुवर्ण बना देता है और लोह सौंघे से मँहगा हो जाता है, वैसे ही मिलाने वाले भगवान् गुरु-शिष्य का मेल बिना ही इच्छा मिला देते हैं और गुरु के निस्पृह व्यवहार युक्त उपदेश से शिष्य महान् बन जाता है ।

महन्त मयंक उदीप[1] त्यौं, देखे सब संसार ।
रज्जब रारचों[2] रस परै, उन हि न आँखों प्यार ।१४।

चन्द्रमा का प्रकाश[१] बढ़ते ही सब संसार उसे देखता है और उसके शीतल प्रकाश से आँखों[२] को आनन्द प्राप्त होता है किन्तु चन्द्रमा का तो आँखों से प्रेम नहीं है, वैसे ही गुरु रूप महन्त की महिमा सब संसार देखता है जिज्ञासुओं को आनन्द प्राप्त होता है किन्तु गुरु का कोई स्वार्थ नहीं है ।

सद्‌गुरु सलिता ज्यों बहै, हित[१] हरि सागर माँहि ।
रज्जब समदी[२] सेवका, सहज संग मिल जाँहि ।१५।

जैसे बड़ी नदी सागर से मिल कर भी मिलने के लिये[१] बहती रहती है और उसके संग मिल कर छोटे नाले[२] भी समुद्र में पहुंच जाते हैं, वैसे ही सद्‌गुरु हरि में मिलकर भी मिलने के साधन उपदेशादि करते ही रहते हैं और ईश्वर की भक्ति करने वाले सेवक भी उनके संग से सहज ही ईश्वर से मिल जाते हैं ।

रज्जब काया काठ में, प्रकटी आज्ञा आग ।
मन शिष निकस्या धूम ज्यों, गया गगन गुरु लाग ।१६।

१६-२६ में गुरु की विशेषता बता रहे हैं—काष्ठ में अग्नि प्रकट होता है तब धूम्राँ आकाश में जाकर लय हो जाती है, वैसे ही गुरु की उपदेश रूप आज्ञा से ज्ञान प्रकट होता है तब शिष्य का मन शरीराध्यास से निकल कर समाधि में जाता है और ब्रह्ममें लय होता है ।

ओले अंडे मोतियहुँ, घड़े सँवारे कौन ।
त्यों रज्जब शिष नीपजे, मन वच कर्म गुरु भौन ।१७।

आकाश से वर्षने वाले ओलों को, अंडों को और सींप के मोतियों को कौन घड़कर सुधारता है ? वे अपने आप ही समयानुसार बन जाते हैं, वैसे ही शिष्य गुरु के द्वार पर रहने से मन वचन कर्म से उपदेश धारण करते हैं तब अपने भावनानुसार आप ही श्रेष्ठ बन जाते हैं ।

रज्जब सद्‌गुरु स्वाति गति, बैन बूंद निज वारि ।
मन मुक्ता निपजे तहां, नर निरखो सु निहार ।१८।

सद्‌गुरु स्वाति नक्षत्र के समान हैं, उनके अपने वचन ही बिन्दु के समान हैं, देखो स्वाति बिन्दु सींप में पड़ती है तब ही मोती उत्पन्न होता है, वैसे ही ध्यान पूर्वक देखो, श्रवणों द्वारा गुरु-वचन शिष्य के मन में जाते हैं तब ही ज्ञान उत्पन्न होता है ।

सद्‌गुरु चम्बुक रूप हैं, शिष सूई संसार ।
अचल चले उनके मिल्यूं, ता में फेर न सार ।१९।

संसार में सद्गुरु चम्बुक के समान हैं, और शिष्य सूई के समान हैं। जैसे चम्बुक के द्वारा अचल सूई में गति होती है, वैसे ही सांसारिक भावना से ऊपर उठना रूप गति जिसमें नहीं होती, उस शिष्य में सद्गुरु के संग से परब्रह्म की ओर गति होने लगती है। यह कथन सार रूप है, इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता।

पावक रूपी परम गुरु, लाखमयी सब लोय[1]।
रज्जब दर्शन तिन हुं के, कठिन से कोमल होय।२०।

सद्गुरु अग्नि रूप हैं, अन्य सब लोक[1] लाख रूप हैं। जैसे अग्नि की समीपता से कठिन लाख कोमल हो जाती है, वैसे ही सद्गुरु के संग से सब प्राणियों का कठोर हृदय भी कोमल हो जाता है।

काँसी कणजा[1] काच लग, बधैं तताई[2] माँहि।
जन रज्जब शीतल समय, अस्थल छोडैं नाँहि।२१।

काँसी, लाख,[1] काच यह गर्म[2] ही बढ़ते हैं, शीतल होने पर नहीं बढ़ते टूट जाते हैं। वैसे ही शिष्य भी साधन में लग कर साधन संताप से ही ब्रह्म की ओर बढ़ते हैं, साधन न करने से देहाध्यासादिरूप स्थान को नहीं त्यागते, मर ही जाते हैं।

जीव जल हिमगिरि होत है, शक्ति शीत के संग।
सो पाषाण पानी भया, गुरु ग्रीषम के अंग।२२।

जैसे शीत से जल हिमालय पर हिम बन जाता है और ग्रीष्म ऋतु में पुनः जल हो जाता है, वैसे ही माया के सम्पर्क से जीव संसारी बन जाता है और गुरु के संग से पुनः ज्ञानी होकर परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

ज्यों श्रावण सीगणि[1] फिर हि, त्यों शठ सुरति संसार।
रज्जब सूधी होय सो, कमणीगर गुरु द्वार।२३।

श्रावण में वर्षा की आर्द्रता से धनुष[1] का काष्ठ कुछ टेढ़ा हो जाता है, फिर आश्विन मास में कमान बनाने वाला कमणीगर उसे सीधाकर देता है, वैसे ही मूर्ख प्राणी की वृत्ति संसार में काम क्रोधादि विकार रूप बक्रता को प्राप्त होती है, तब गुरु द्वारा ही सीधी की जाती है।

हाथा जोड़ी गुरु हुं सूं, मूसल मन सु मिलाँहि।
ये इकठे ये ही कर हिं, और हुं किये न जाँहि।२४।

धान कूटते समय मूसल दोनों हाथों को मिला देता है, वैसे ही गुरु भिन्न विचार धारा के दो व्यक्तियों के मन विचार साम्यता द्वारा मिलादेते हैं

वा मन को ईश्वर में जोड़ देते हैं, दोनों हाथों को और मन-ईश्वर को जैसे मूसल और गुरु मिलाते हैं वैसे अन्य कोई भी नहीं मिला सकता।

निवाण[1] नैण[2] मटुकी मुकुर, सजल सूर प्रतिबिम्ब।
रज्जब कफ[3] करुणा[4] किये, जागे तहां विलम्ब।२५।

जलाशय[1] तथा मटकी, में पानी, और शीशा में शुद्ध चमक हो तो ही सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है किन्तु जहाँ नेत्रों के आडा हाथ[3] लगादे वहाँ प्रतिबिम्ब उठने में देर लगती है, वैसे ही गुरु के द्वारा अन्तःकरण[2] में श्रद्धा हो तो ज्ञान जगता है किन्तु जहाँ गुरु उपदेश धारण करने में दुःख[4] माने वहाँ ज्ञान जगने में देर होती है।

अनिल[1] आगि आनन[2] अनंत, पै गर[3] हि न कंचन कान।
रज्जब सोनी सद्गुरू वज्र वारि विधि बान।२६।

वायु[1] अग्नि और मुख[2] अनन्त हैं किन्तु स्वर्णकार के मुख की वायु और अग्नि से ही सुवर्ण गलता है अन्य की से नहीं गलता[3], सोनी वज्र के समान कठोर सोना को जल के समान बना देता है, वैसे ही गुरु के मुख की वायु द्वारा बने शब्दों का ज्ञानाग्नि कान के द्वारा प्राणी के अन्तःकरण में जाता है तब अज्ञान नष्ट होकर अन्तःकरण जल के समान सब के लिये सम हो जाता है।

सब गुरु तीरंदाज[1] हैं, सेवक मन नीशाण[2]।
रज्जब गुरु कमनैत[3] सो, जा का बैठा बाण।२७।

२७-३० में कहते हैं, जो शिष्य का उद्धार करदे वही गुरु है—सभी गुरु बाण चलाने वालों[1] के समान हैं और सेवकों का मन लक्ष्य[2] है, किंतु जिसका बाण लक्ष्य को ठीक बेधता है, वही अच्छा कमान चलाने वाला[3] होता है। वैसे ही जिसका ज्ञान अज्ञान को नष्ट करदे वही गुरु श्रेष्ठ माना जाता है।

सेवक मन मिहरी[1] भया, मर्द मिले गुरु आय।
रज्जब साबित[3] सो सही[2], जा सौं फल रह जाय।२८।

सेवक का मन नारी[1] के समान है, गुरु मर्द के समान है, जिस मर्द से नारी में गर्भ रूप फल रह जाता है, वही मर्द ठीक[2] माना जाता है। वैसे ही जिस गुरु से ज्ञान हो जाता है, वही पूरा[3] गुरु माना जाता है।

तन मन शिष रोगी भये, वैद्य मिले गुरु आय।
जन रज्जब सु हकीम हद, जासौं व्यथा विलाय।२९।

शरीर रोगी होने पर अनेक वैद्य मिलते हैं किन्तु सबसे अच्छा चिकित्सक वही माना जाता है, जिससे रोग दूर हो जाय। वैसे ही शिष्य का मन भव-रोग से व्यथित है, उसे भी अनेक गुरु मिलते हैं, किन्तु जो जन्मादि दुःख को दूर करे वही सबसे अच्छा गुरु माना जाता है।

रोगी वैद्य पिछान ले, बूंटी सत्य सुजान।
व्यथा विलय ह्वै परसतैं, रज्जब सो सु प्रमान[1]।३०।

जो रोगी के रोग को और उसकी औषधि को यथार्थ रूप से पहचान लेता है, वही बुद्धिमान सच्चा वैद्य है, उसकी चिकित्सा से रोग दूर हो जाता है, वैसे ही जो साधक के विकारों को और उनके दूर करने के साधनों को पहचान लेता है, वही माननीय[1] गुरु है उस श्रेष्ठ गुरु के उपदेश से भव-रोग नष्ट हो जाता है।

तृण[1] तोयं[2] रस तन हुं मिल, तनै[3] तनइया[4] होत।
रज्जब जंगम[5] जगमगे, स्थावर[6] गल गये गोत।३१।

३१-३२ में गुरु की विशेषता बता रहे हैं—घास[1] और जल[2] शरीर में जाकर मिलते हैं तब जठराग्नि से पच कर रस बनता है, रस से रज-वीर्य बनकर शरीर[3] से पुत्र[4] होता है। देखो, अचल[6] घास और जल, चल[5] शरीर के संग से पुत्र रूप से शोभित होता है और स्थावर गोत्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही मूर्ख प्राणी गुरु के संग से ज्ञानी रूप से शोभित होता है और मूर्खपना नष्ट हो जाता है।

विविध भाँति बूटी वन हुं, वेत्ता[1] ल्याव हिं जौय[2]।
रज्जब रोग तिन हुं हटे, पै वैद्य वन्दना होय।३२।

वन में नाना प्रकार की औषधियाँ होती हैं, उनको जानने वाले[1] देख[2] कर लाते हैं। रोग उन औषधियों से ही हटते हैं, परन्तु रोग निवृत्ति पर पूजा चिकित्सा करने वाले वैद्य की ही होती है, वैसे ही वेदादि ग्रंथों में नाना प्रकार के विचार हैं, उनको समझने वाले विद्वान् संग्रह करते हैं, अज्ञान भी उन विचारों से ही नष्ट होता है, परन्तु अज्ञान नष्ट होने पर पूजा उपदेशक गुरु की ही होती है।

सब हुन्नर संसार के, किन हुं किये करि याद।
सो रज्जब किस काम के, अब दे सो उस्ताद।३३।

३३-३५ में कहते हैं, ज्ञानोपदेश करे वही गुरु है—किसी ने संसार के सभी गुण-विद्यादि परिश्रम कर के याद किये हों वे आज किस काम के हैं? जो वर्तमान में अधिकारियों को देते हैं वे ही गुरु हैं।

सब संतों के सत शबद, जिनमें अलख अभेव ।
अब समझावे जो जिसहिं, सो तिस का गुरु देव ।३४।

सभी संतों के वे शब्द यथार्थ हैं, जिनमें मन इन्द्रियों का अविषय अद्वैत ब्रह्म अर्थ रूप से स्थित है किन्तु जिस को जो अब उन शब्दों को समझाता है वही उसका गुरु है ।

तुपक[1] पावक दारू गोली, कहीं कहीं सौं होय ।
पै रज्जब निर्दोष सब, मारे वैरी सोय ।३५।

बंदूक[1], अग्नि, बारूद, गोली कहाँ-कहाँ से संग्रह होती है किन्तु उनके बनाने वाले सभी निर्दोष माने जाते हैं, जो बंदूक से गोली मारता है, वही शत्रु माना जाता है । वैसे ही गुरु, शब्द, युक्ति आदि कहां कहां से संग्रह करता है किन्तु उन शब्द और युक्ति के आदि कारण पुरुष को गुरु न मान कर जो वर्तमान में उपदेश देता है उसे ही गुरु माना जाता है ।

षड् दर्शन के रँग रँगी, आतम जल ज्यों आय ।
रज्जब सद्गुरु सूर ज्यों, किरण कर्ष ले जाय ।३६।

३६-३९ में सद्गुरु की विशेषता बता रहे हैं—जल किसी रंग में पड़कर रंगा जाता है तब सूर्य अपनी किरण से खेंच कर उसे रंग रहित कर देते हैं, वैसे ही जब जीवात्मा जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेख, इन ६ प्रकार के भेष धारियों के भेष मतादि आग्रह में फँस जाता है तब सद्गुरु ही उपदेश द्वारा उससे मुक्त करके ब्रह्म साक्षात्कार कराते हैं ।

कूवे बाय[1] तलाब के, धणियों[2] कछू न होय ।
जन रज्जब जल जाँहि सूर में, त्यों सद्गुरु सब कोय ।३७।

कूप, बावली[1], तालाबादि जलाशयों के जल को सूर्य खेंच लेते हैं, जलाशयों के स्वामियों[2] से कुछ भी रोक-थाम नहीं होती । वैसे ही सभी भेष धारियों के शिष्यों को सद्गुरु उनके मताग्रह से मुक्त करके परब्रह्म की ओर खेंच लेते हैं ।

गुरु गाफिल देखत रहैं, सद्गुरु शिष ले जाय ।
रज्जब पहुंचे गीध ज्यों, अति चलते के पाय ।३८।

साधारण गुरु तो सकाम कर्मों का उपदेश देने से परमार्थ में असावधान रहते हैं, और आशा पूर्ति के लिये शिष्यों की ओर देखते ही रहते हैं, शिष्यों का उद्धार नहीं कर सकते, इससे शिष्य संसार से पार नहीं हो सकते किन्तु सद्गुरु तो गिद्ध के समान ज्ञान रूप दूर दृष्टि वाले होने से परब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं और शिष्यों को भी निष्काम कर्म का उपदेश देना रूप अति शीघ्र चलने वाले पैर देकर ज्ञान मार्ग द्वारा ब्रह्म के पास पहुँचा देते हैं ।

मन कपूर नाहीं रहै, चित्र चीर के बंधि ।
सद्गुरु लेहि समीर ज्यों, गठि बँध पड़े न संधि ।३६।

जैसे कपूर को कपड़े की गाँठ में बँधे रहने पर भी वायु उड़ा ले जाता है और कपड़े की गाँठ में कोई संधि नहीं होती । वैसे ही विचित्र संसार में बँधे हुये मन को गुरु निकाल कर परमात्मा की ओर ले जाते हैं और संसार ज्यों का त्यों रहता है ।

विविध बास बहु बंदगी, चले पवन सँग पीर[1] ।
रज्जब स्रक[2] सौरभ[3] ज्यों, विरला पहुँचे वीर ।४०।

४०–४४ में सच्चे शिष्य का परिचय दे रहे हैं—नाना प्रकार की सुगन्ध वायु के साथ ही चलती है किन्तु माला[2] की सुगन्ध[3] बिना वायु भी गले में होने से एक स्थान से दूसरे स्थान को चली जाती है । वैसे ही भक्ति आदि नाना प्रकार के साधन सिद्ध[1] गुरु के साथ रहने से ही चलते हैं किन्तु सच्चे साधक की श्रेष्ठ साधना गुरु के साथ न रहने पर भी चलती है ।

सहगुण निर्गुण गुरु गरट,[1] गाहक शिषौं अनेक ।
रज्जब गुरु गोविन्द ले, सो चेला कोइ एक ।४१।

सगुण निर्गुण उपासना बताने वाले गुरुओं के समूह[1] के समूह मिलते हैं और उपदेश ग्रहण करने वाले शिष्यों के भी अनेक समूह मिलते हैं किन्तु जो सच्चे गुरु को प्राप्त करके गोविन्द को प्राप्त कर सके वह शिष्य कोई विरला ही होता है ।

विधु[1] विलोकि बहु लक्षणा, गाहक गुण हु अपार ।
पै रज्जब सुधा चकोर ले, जिहिं बल गिले अँगार ।४२।

देखो, चन्द्रमा[1] में बहुत-से शुभ लक्षण रूप गुण हैं और उनको ग्रहण करनेवाले भी अनन्त हैं, किन्तु जिसके बल से अग्नि के अंगारे भी खाये जा सकते हैं, उस अमृत को तो चकोर पक्षी ही लेता है । वैसे ही सद्गुरु में बहुत-से गुण होते हैं और उनको ग्रहण करने वाले भी अनन्त होते हैं किन्तु जिसके बल से अज्ञान नष्ट होता है, उस ब्रह्म ज्ञान को तो कोई सच्चा शिष्य ही लेता है ।

चंद्र चकोर हिं प्रीति है, देखे सब संसार ।
वह सौदा औरै कछू, जहिं बल गिले अँगार ।४३।

चन्द्रमा में चकोर पक्षी का प्रेम है, यह सभी संसार के प्राणी देखते हैं, किन्तु जिसके बल से चकोर अग्नि के अंगारे भी खा जाता है, वह व्यापार तो प्रेम से विलक्षण अमृत पान ही है । वैसे ही शिष्यों का प्रेम

गुरु में होता है ही किन्तु जिस ज्ञान के बल से अज्ञान नष्ट होता है, उस ज्ञान को धारण करना रूप व्यापार तो भिन्न ही होता है। जिसमें वह होता है, वही सच्चा शिष्य है।

रज्जब महन्त मयंक के, चेला होय चकोर।
इन्द्रिय गिले अँगार ज्यों, अग्नि करे नहिं जोर।४४।

चन्द्रमा का सच्चा प्रेमी चकोर पक्षी होता है, वही अपनी प्रेम साधना से चन्द्रामृत को पान करता है जिसके बल से अग्नि के अंगारे भी खा जाता है, अग्नि उस पर अपनी शक्ति का कुछ भी प्रयोग नहीं करता। वैसे ही महान् गुरु का सच्चा शिष्य होता है वह अजय इन्द्रियों को भी जीत लेता है। उस पर इन्द्रियाँ अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती हैं।

एक गुरु है आरसी, शिष चख अटके वार[1]।
जन रज्जब चश्मा गुरू, काढै अपने पार[2]।४५।

४५-४६ में गुरु और सद्‌गुरु का परिचय दे रहे हैं—दर्पण[1] में तो नेत्र रुक जाते हैं, दर्पण के पार की वस्तु नहीं देख पाते, चश्मा से नेत्र आगे[2] की वस्तुओं को भी देखते हैं। वैसे ही साधारण गुरु तो शिष्य को अपने शरीरादि की सेवा[1] में लगा लेता है, शिष्य उसीमें रुक जाता है, ईश्वर उपासनादि द्वारा आगे बढ़कर ब्रह्म साक्षात्कार नहीं करपाता। और सद्‌गुरु ज्ञान द्वारा शिष्यों को आगे बढ़ाकर परब्रह्म[2] का साक्षात्कार करा देता है।

शब्द शीत गुरु जल मही,[1] अति गति[2] निर्मल माँहि।
तिन में दीसे परे का, वैला[3] दीसे नाँहि।४६।

पृथ्वी[1] में पड़े किंचित् जल में शब्द, शीतलता, गंभीरता, निर्मलता नहीं होती और न दूर की वस्तु ही दीखती, अपने भीतर की वस्तु दीखती है, किन्तु अति गहरे[2] जल में शब्द, शीतलता, गंभीरता, निर्मलता और प्रतिबिम्ब रूप से दूर के वृक्षादि भी दीखते हैं। वैसे ही साधारण गुरु में आत्म-ज्ञानयुक्त शब्द, क्षमारूप शीतलता, स्वभाव की गंभीरता निर्मलता नहीं होती। उसके द्वारा पास[3] का मायिक संसार स्वर्गादि वा मायिक मूर्तियाँ ही ईश्वर रूप से दिखाई जाती हैं, माया से परे परब्रह्म को वह नहीं दिखा सकता। सद्‌गुरु में आत्म-ज्ञानयुक्त शब्द, क्षमारूप शीतलता, अति गंभीरता, निर्मलता होती है, उनके द्वारा पास[3] की मायिक मूर्तियाँ परब्रह्म रूप नहीं भासतीं, वे माया से परे परब्रह्म को ही ध्येय ज्ञेय रूप से बताते हैं।

वित[1] वोहित[2] सब साह का, सद्‌गुरु खेवण हार।
धन धणी[3] के हि जायगा, रज्जब उतरे पार।४७।

४७-५१ में गुरु का अधिकार बता रहे हैं—जहाज[२] में धन[१] तो साहुकार का ही होता है, केवट का नहीं। समुद्र के तट पर पहुँचने पर धन स्वामी[३] के ही जायगा। केवट को केवल उताराई ही मिलेगी। वैसे ही जीवात्मा तो परमात्मा का अंश है, परमात्मा में ही जायगा, उसे गुरु अपनी उपासना में लगावे तो, यह गुरु का प्रमाद है। गुरु को चाहिये कि शिष्य से अपने अधिकार की सेवा लेते हुये उसे ज्ञान द्वारा संसार से पार करके परब्रह्म से मिलावे।

जे काजी काईन[१] पढे, तो कुछु खसम न होय।

रज्जब व्याह कराय कर, ब्राह्मण बींद न कोय।४८।

यदि काजी निकाह[१] पढता है और ब्राह्मण व्याह कराता है तो क्या, ये दोनों संबन्ध पद्धति को पढते हुये उसके द्वारा संबन्ध कराने से लड़की के स्वामी तो नहीं बन सकते, अपनी दक्षिणा ही लेते हैं, लड़की तो वर को ही प्राप्त होती है। वैसे ही गुरु शिष्य का परमात्मा से संबन्ध कराता है, शिष्य को परमात्मा की उपासना करनी चाहिये, उपकार प्रदर्शनार्थ गुरु की भी सेवा करनी चाहिये। परमात्मा की उपासना छुड़ाकर अपनी उपासना कराना गुरु का अधिकार नहीं।

घट[१] भण्डार भगवंत का, आतम वित[२] तिहिं थान।

भण्डारी भण्डार में, जन रज्जब गुरु ज्ञान।४९।

शरीर में अन्तःकरण[१] ही भगवान् का भण्डार है, आत्मा ही उस में धन[२] है, उस भण्डार के आत्म-धन का भण्डारी गुरु है। उसे गुरु, ज्ञान द्वारा दिखाता है, गुरु-ज्ञान बिना वह आत्मा नहीं दीखता।

वजूद[१] खजाना अलह का, जर[३] अंदर अरवाह[२]।

रज्जब पीर[४] खजानची, दस्त[५] न सक ही बाह[६]।५०।

शरीर[१] ईश्वर के खजाने हैं, इसके भीतर आत्माएँ[२] ही धन[३] हैं, सिद्ध[४] गुरु ही खजान्ची हैं। किन्तु वे आत्म-धन को अपना समझकर उस पर हाथ[५] नहीं डालते अर्थात् जीवात्मा को अपनी उपासना में नहीं लगाते। भगवान् का समझकर रक्षा करते हुये भगवान् में ही लगाते हैं। अतः धन्य[६] हैं।

श्रिया[२] शक्ति शरीर जीव लौं, वस्तु पराई वीर[१]।

जिसकी तिस हिं चढावता, कुण[३] माँगे क्या सीर[४]।५१।

हे भाई[१] लक्ष्मी[२], शक्ति, शरीर, जीव तक ये सभी वस्तु पराई हैं अर्थात् ईश्वर की हैं। जिस ईश्वर की हैं, उसको समर्पण करते हुये इन को कौन[३] माँगता है? माँगने वाले का इनमें क्या साझा[४] है? अर्थात् गुरु

का अधिकार इन सबको हजम करने का नहीं है, शिष्य से सेवा लेने का ही है ।

शरीर शरीर हुं उपज हिं, सुरति[1] सीप के माँहिं ।
पै रज्जब गुरु इन्द्र बिन, मन मुक्ता ह्वै नाँहि ॥५२॥

५२-५४ में गुरु की विशेषता बता रहे हैं—जैसे सीप से सीप उत्पन्न होती है वैसे ही नारी-पुरुष के संयोग[1] से शरीर तो उत्पन्न हो जाता है, परन्तु इन्द्र बिना सीप में मोती और गुरु बिना मन में ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता ।

आदम[1] करि आदम उदय, सीप हि निपजे सीप ।
पै मन मुक्ता गुरु इन्द्र करि, सद्‌गुरु स्वाति समीप ॥५३॥

मनुष्य[1] से मनुष्य और सीप से सीप उत्पन्न होती है किन्तु मन में ज्ञान सद्‌गुरु के समीप रहकर उपदेश सुनने से और सीप में मोती स्वाति-विन्दु पड़ने से ही होता है ।

सद्‌गुरु श्रावण की कला[1], ता में मौज[2] सु स्वाति ।
तब मोती मन नीपजे, जन रज्जब इहिं भाँति ॥५४॥

श्रावण के दिनों[1] में स्वाति नक्षत्र की विन्दु से सीप में मोती उत्पन्न होता है, इसी प्रकार सद्‌गुरु के समीप रहने के दिनों में उपदेश सुनने का आनन्द[2] मिलता है, तब मन में ज्ञान उत्पन्न होता है ।

जन रज्जब गुरु धरणि पर, शिष सारे वनराय[1] ।
घट[2] प्रमाण रस सब पिवें, अपणे अपणे भाय[4] ॥५५॥

५५-५६ में शिष्यों के भाव का परिचय दे रहे हैं—पृथ्वी पर की वन-पंक्ति[1]यों के वृक्ष अपने आकर और शक्ति के समान[3] ही जल पान करते हैं । वैसे ही गुरु के आश्रय रहने वाले शिष्य भी सब अन्तःकरण[2] की वृत्ति से अपने २ भाव[4] के समान ही ज्ञान, भक्ति, योगादि के उपदेश रस का पान करते हैं ।

जन रज्जब गुरु ज्ञान जल, सींचे शिष वनराय[1] ।
लघु दीरघ अरु स्वाद विध, ह्वै अंकूर स्वभाय[2] ॥५६॥

बादल वन पंक्तियों[1] के सभी वृक्षों के बीजों को समान ही जल सींचते हैं किन्तु सब के अँकुर भिन्न २ प्रकार के होते हैं, कोई छोटा, कोई बड़ा, और कटु मधुरादि स्वाद भी सबके भिन्न २ होते हैं । वैसे ही गुरु तो उपदेश सबको समान ही देते हैं किन्तु शिष्य सभी अपने २ स्वभाव[2] के अनुसार ही योग्यता प्राप्त करते हैं ।

पान फूल फल तरु लगै, त्यों त्रिविधि भांति गुरु शिष्य[1] ।
फूल वास तरु गुरु लिये, रज्जब सब विधि पिष्य[2] ॥५७॥

५७-५९ में गुरु तथा शिष्य निर्णय का विचार कर रहे हैं—जैसे वृक्ष के पत्ते, फूल और फल लगते हैं, वैसे ही तीन प्रकार के शिष्य[1] गुरु के होते हैं, उनकी भिन्न पद्धति अब सब देखें[2] । फूल वृक्ष से सुगन्ध लेता है, फूल के समान शिष्य गुरु से ज्ञान लेता है ।

बात[1] पात छाया लिये, ज्ञान सु गुल[2] सम वास ।
करणी[3] फल गुरु तरु गहैं, त्रिविधि भांति परकास[4] ॥५८॥

जैसे पत्ता वृक्ष से छाया देने की योग्यता प्राप्त करता है, वैसे ही एक प्रकार का शिष्य गुरु से कथा[1] कहने की योग्यता प्राप्त करता है । जैसे पुष्प[2] वृक्ष से सुगन्ध लेता है, वैसे ही दूसरे प्रकार का शिष्य गुरु से आत्म ज्ञान लेता है । जैसे फल वृक्ष से तृप्ति प्रदान करने की शक्ति लेता है, वैसे ही तीसरे प्रकार का शिष्य ज्ञान के अनुसार निष्ठा रूप कर्त्तव्य[3] प्राप्त कर के अन्यों को भी तृप्ति प्रदान करता है । उक्त रीति से गुरु से शिष्य तीन प्रकार से ज्ञान[4] प्राप्त करते हैं ।

गुरु तरु शिष लागे सु यूं, ज्यों डाल पान फल फूल ।
बात घात इक झड़ पड़ैं, एक न छाडैं मूल ॥५९॥

जैसे वृक्ष के डाल, पत्ते, फूल, फल लगते हैं, वैसे ही गुरु के साथ शिष्य लगते हैं । जैसे पत्ते, फूल और फल तो वृक्ष को किंचित् वायु के वेग से छोड़ देते हैं किन्तु डाल वृक्ष के मूल को किंचित् वायु के आघात से नहीं छोडती । वैसे ही कुछ शिष्य तो गुरु के कठोर शब्दों को श्रवण कर के गुरु का संग छोड़ देते हैं और कुछ गुरु के उपकार की महानता को देखते हुये कटु उपदेश से चलायमान नहीं होते और आजीवन गुरु का संग तथा सेवा को नहीं छोड़ते ।

रज्जब गृह गृह गुरु दीपक दशा, तिनहूँ न पूरे आश ।
गुण तारे भ्रम शीत का, सद्गुरु सूरज नाश ॥६०॥

६०-६१ में सद्गुरु की विशेषता बता रहे हैं—घर घर में दीपक जलते हैं किन्तु उनसे तारों के अदर्शन और ठंडी के अभाव की आशा पूर्ण नहीं होती । सूर्य उदय होता है तभी तारों का अदर्शन और ठंडी का अभाव होता है वैसे ही गुरुओं की दशा है, गुरु घर-घर में घूमते हैं किन्तु उनसे काम-क्रोधादि गुण और अज्ञान का नाश नहीं होता । गुण और अज्ञान का नाश रूप कार्य तो सद्गुरु से ही होता है ।

रज्जब बिक्त[1] रूप गुरु बहु मिलै, शिष चखि [2]वोत[3] न कोय।
एकै सद्गुरु सूर सम, तिमिर हरै त्रयलोय ॥६१॥

रात्रि में जुगनू[1] बहुत दिखाई देते हैं किन्तु उनसे अंधकार नाश होकर नेत्रों[2] को स्पष्ट वस्तु दर्शन का आनन्द[3] नहीं मिलता, एक सूर्य के उदय होने से ही त्रिलोक का अंधकार नष्ट होकर स्पष्ट भासने का आनन्द प्राप्त होता है। वैसे ही गुरु तो बहुत मिलते हैं किन्तु उनसे शिष्यों को अज्ञान नाश द्वारा आनन्द नहीं मिलता। वह तो सद्गुरु प्राप्त होने पर ही मिलता है।

गुरु अनन्त शिष हूँ घणे, पै सद्गुरु भेटैं भाग।
रज्जब रागी बहु मिलैं, पै विरलहु दीपक जाग ॥६२।

६२ में सद्गुरु भाग्य से ही मिलते हैं, यह कहते हैं—गायक तो बहुत मिलते हैं किन्तु दीपक राग गान से दीपक किसी विरले से ही जगता है। वैसे ही गुरु भी बहुत मिलते हैं, शिष्य भी बहुत हैं किन्तु शिष्य के हृदय में ज्ञान दीपक जगाने वाला कोई विरला ही सद्गुरु होता है और वह किसी भाग्यशाली शिष्य को ही भाग्यवश मिलता है।

बहुते स्वामी शैल[1] सुत[2], के[3] पारस गुरु जान।
रज्जब पलटे लोह शिष, तिनका होय बखान ॥६३॥

६३ में अयोग्य और योग्य गुरु का परिचय दे रहे हैं—बहुत-से गुरु रूप स्वामी तो पर्वत[1] के पत्थर[2] के समान होते हैं, जैसे पर्वत के पत्थर से लोह नहीं बदलता। वैसे ही उनसे शिष्य नहीं बदलता, किन्तु कोई[3] विरला ही सद्गुरु पारस के समान होता है, पारस से लोह सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही सद्गुरु से ज्ञान द्वारा शिष्य का हृदय बदल जाता है, भेद से अभेद में आजाता है। जो उक्त रीति से शिष्य को बदल देते हैं, उन्हीं का यश-गान किया जाता है।

वैद्य व्यथा में आपही, रोगी चीन्हैं नाँहि।
रज्जब दोन्यों दृष्टि बिन, पचन भये गल[1] माँहि ॥६४॥

६४-६५ में अयोग्य गुरु शिष्य का परिचय दे रहे हैं—वैद्य स्वयं भी रोगी हो और रोगी भी यह नहीं जान सके कि वैद्य भी रोगी है, तब दोनों ही रोगाग्नि से संतप्त होकर नष्ट होते हैं। वैसे ही गुरु भी अज्ञानी हो और शिष्य भी न जान सके कि गुरु भी अज्ञानी है तब दोनों ही ज्ञान-दृष्टि बिना भवाग्नि से पक कर संसार दशा में ही नष्ट[1] होते हैं।

रोगी को भासे उभय, वैद्यहि दीसे तीन।
रज्जब ऐसे गुरु शिषहु, कहु सु क्या मिल कौन ॥६५॥

रोगी को एक के दो दीखे और वैद्य को एक के तीन दीखे तब कहो? ऐसे वैद्य से रोगी मिलकर अपना क्या भला करलेगा? वैसे ही शिष्य से अधिक अज्ञानी गुरु मिल जाय तो ऐसे गुरु शिष्य मिलकर कहो क्या कर लेंगे? अर्थात् दोनों संसार में ही रहेंगे परब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते।

वैद्य व्यथा बूझे नहीं, पीर न पावे पीर[1] ।

रज्जब मिलै न नाम गुण, क्यों सु वंदिये वीर[2] ॥६६॥

६६-६७ में अयोग्य गुरु का परिचय दे रहे हैं—वैद्य रोग को न समझ सके और गुरु[1] साधक की कठिनता-रूप पीड़ा को न समझ सके तो उनमें नाम के अनुरूप गुण तो मिलते नहीं, फिर हे भाई[2] ! उन्हें वैद्य और गुरु मानकर क्यों वन्दना की जाय? अर्थात् गुरु के लक्षणों बिना गुरु अयोग्य ही माना जाता है।

आशंका अरु घाव, मन मरकट सु दिखाव ही ।

अगले मति बिन वानरे, रज्जब ठौर उठाव ही ॥६७॥

कोई कारण से किसी वानर के घाव हो जाय तो वह दूसरे वानर को दिखाता है, तब देखने वाला वानर यह समझकर कि—यह कोई जन्तु इसके चिपक गया है, घाव को उस ठौर से उखाड़ने की-सी चेष्टा करता है। जिससे घाव अधिक बढ जाता है। वैसे ही शिष्य अपने मन की शंका गुरु को बताता है तो गुरु बुद्धि-हीन होने से उसे तो दूर नहीं कर सकता किन्तु उसके स्थान में और कई शंकाएं खड़ी कर देता है। अतः ऐसा गुरु अयोग्य ही माना जाता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरु शिष्य निदान निर्णय का अंग ५ समाप्तः ॥ सा-२६३ ॥

अथ गुरु मुख कसौटी का अंग ६

गुरु शिष्य निदान निर्णय अंग के अनन्तर गुरु मुख से उपदिष्ट साधन द्वारा होने वाले कष्ट और उससे शिष्य की होने वाली उन्नति तथा परीक्षा का परिचय देने के लिये गुरु मुख कसौटी का अंग कह रहे हैं।

गुरु ज्ञाता परजापती[1], सेवक माँटी रूप ।

रज्जब रज सौं फेरि कर, घड़ले कुंभ अनूप ॥ १ ॥

ज्ञानि गुरु कुंभकार[1] के समान हैं और शिष्य मिट्टी के समान है। जैसे कुंभकार पृथ्वी की रज को कूटना आदि कष्ट देकर अनुपम कलश बना देता है, वैसे ही गुरु साधन कष्ट देकर साधारण प्राणी को भी अति श्रेष्ठ संत बना देते हैं।

सेवक कुंभ कुंभार गुरु, घड़[1] घड़ काढे खोट ।
रज्जब माँहि सहाय कर, तब बाहर दे चोट ॥ २ ॥

शिष्य घट के समान हैं और गुरु कुंभार के समान हैं, जैसे कुंभार घड़े के चोट[1] लगा २ कर उसका दोष निकालता है किन्तु पहले भीतर कपड़ा-युक्त हाथ से सहायता करता है, तब बाहर से थप्पी की चोट लगाता है । वैसे ही गुरु भीतर से हित चाहते हुये ही शिष्यों को साधन का कष्ट देते हैं ।

क्रोध न करहिं कुलाल गुरु, दीसे बहु विधि मार ।
रज्जब निपजे पात्र क्यों, बिन कसणी व्यवहार ॥३॥

कुंभार मिट्टी पर नाना प्रकार के आघात लगाता है किन्तु क्रोध नहीं करता कारण–कूटना, पीटना, तपाना आदि कष्टप्रद व्यवहार करे बिना तो पात्र बनता ही नहीं । वैसे ही गुरु क्रोध न करके ही शिष्य पर कठोर वचन और साधन कष्ट देना आदि व्यवहार करते देखे जाते हैं, कारण–बिना उक्त व्यवहार के शिष्य ब्रह्म साक्षात्कार करने के योग्य होता ही नहीं ।

सद्‌गुरु शंका ना करै, जैसे लोह लुहार ।
रज्जब मारे महरकर, ताय[1] करे तत[2] सार[3] ॥ ४ ॥

जैसे लुहार लोह पर चोट मारते समय यह शंका नहीं करता कि यह नष्ट हो जायगा, वह तो लोह को पहले से अच्छा बनाने की भावना से ही तपा[1]-तपा कर श्रेष्ठ[3] बनाता है । वैसे ही गुरु शिष्य को साधन-कष्ट देते समय यह शंका नहीं करते कि—इसकी हानि होगी, वे तो दयापूर्वक वचन-बाण मारते हैं और ज्ञानाग्नि[2] से तपा २ कर ब्रह्म[3]निष्ठ बना देते हैं ।

कालबूत[1] कसणी[2] भई, सेवक साँठी[3] जानि ।
रज्जब तावे[4] तीरगर[5], त्यों सद्‌गुरु की बानि[6] ॥ ५ ॥

जैसे तीर बनाने वाले[5] साँचे[1] से लोह शलाका[3] वा लकड़ी[3] को ठीक करके फिर उसे तपा[4] २ कर लक्ष्य वेधने योग्य बाण तैयार करता है, वैसा ही सद्‌गुरु का स्वभाव[6] है, वे साधन कष्ट[2] से शिष्य को तपा २ कर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बना देते हैं ।

प्राण पटहुँ उरतू[1] करहि, झूठ साँच सा[2] साद[3] ।
दिवसा दे न दझाव हीं, धनि धनि गुरु उस्ताद ॥ ६ ॥

वस्त्र पर उस्तरि करने वाला उस्तरि[1] करता है तब वस्त्र साफ होजाता है, वह[2] सफाई ही उसकी ठीक होने की निशानी[3] है। उस्तरि करनेवाला उस्ताद प्रतिदिन[4] उस्तरि करता है किन्तु वस्त्र को जलाता नहीं, धन्य है उसे, वैसे ही गुरु ज्ञानाग्नि से युक्त सत्य उपदेश करते हैं और मिथ्या को भिन्न करके दिखा देते हैं, उपदेश का धारण करना है वही साधक के श्रेष्ठ बनने का चिन्ह[3] है। गुरु प्रतिदिन उपदेश करते हैं किन्तु किसी के अन्तःकरण को व्यथित नहीं करते, ऐसे गुरुदेव को बारम्बार धन्यवाद है।

काया कद[1] उरतू[2] किया, गुरु उस्ताद हि ताय[3]।
शंकट में शोभा भई, नर देखहु निरताय[4] ॥ ७ ॥

उस्तरि करनेवाला उस्ताद वस्त्र पर उस्तरि[2] करता है तब देखो, तपाने[3] और दबाने रूप कष्ट से भी वस्त्र की शोभा बढ़ जाती है। वैसे ही गुरु प्रयत्न[1] पूर्वक उपदेश द्वारा साधन कष्ट से साधक के शरीर को शुद्ध करते हैं। हे नरो! विचार[4] करके देखो, जिनकी भी शोभा हुई है, उनकी साधन कष्ट से ही हुई है।

मन रूपा[1] निर्मल भया, सद्गुरु सोनी हाट।
रज्जब शीशे शब्द सौं, कटै कलंकों काट[2] ॥ ८ ॥

स्वर्णकार चाँदी[1] के मैल को निकालने के लिये उसमें शीशा डालते हैं, शीशा चाँदी के कलंक रूप मैल को निकाल लाता है, इस प्रकार सोनी की हाट पर जाकर चाँदी निर्मल होती है। वैसे ही शिष्य का मन सद्गुरु के उपदेश से निर्मल होता हैं, सद्गुरु के शब्द मन के कलंक रूप मैल[2] को निकाल देते हैं।

ज्यों धोबी की धमस[1] सहि, उज्वल होय सु चीर।
त्यों शिष तालिब[2] निर्मले, मार सहें गुरु पीर[3] ॥ ९ ॥

धोबी की चोटें[1] सहन करता है तब वस्त्र उज्जवल होता है, वैसे ही योग के साधक शिष्य, योगी गुरु की और जिज्ञासु[2] ज्ञानियों[3] की परीक्षा रूप मार सहन करते हैं, तब ही वे निर्मल होकर सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं।

जन रज्जब गुरु गुर्ज[1] सहि, करहु न सोच विचार।
काया पलटे कीट क्यों, बिन भृंगी की मार ॥१०॥

किसी भी प्रकार का सोच-विचार न करके गुरु की कठिन शिक्षा रूप गदा[1] को सहो अर्थात् धारण करो। बिना भृंगी के डंक की तथा ध्वनि की मार सहे बिना कीट का शरीर बदलकर भृंग कैसे हो सकता है?

वैसे ही गुरु की कठिन शिक्षा धारण करे बिना अन्तःकरण कैसे बदल सकता है ।

अर्क[1] इन्दु[2] ज्यों सद्गुरु, गुण द्वय अजब अनूप ।
रज्जब तपते वर्ष हीं, शीतल सुधा स्वरूप ॥११॥

सद्गुरु सूर्य[1] और चन्द्रमा[2] के समान हैं । उनमें तप्त गुण सूर्य का और शीतल सुधा रूप चन्द्रमा का गुण विद्यमान है । जैसे सूर्य अधिक तपता है तब वर्षा करता है । वैसे ही सद्गुरु से अधिक प्रश्न करने पर वे विचित्र उपदेश रूप वर्षा करते हैं । चन्द्रमा जैसे शीतल सुधा वर्षा कर सबको तृप्त करता है । वैसे ही सद्गुरु अपने शान्तिपूर्ण वचन-सुधा से सबको तृप्त करते हैं ।

सद्गुरु सतयुग की अगनि, ताव तेज अधिकार ।
शिष सोना ह्वै सोलहा, रज्जब कसनी सार ॥१२॥

सत्ययुग की अग्नि में अधिक ताप होने से सोना श्रेष्ठ होता है । वैसे ही सद्गुरु में ज्ञान-तेज अधिक होने से शिष्य श्रेष्ठ बनता है । सोना के श्रेष्ठ बनने में ताप और शिष्य के श्रेष्ठ बनने में साधन कष्ट ही सार हेतु है ।

शिष शंकट में नीपजे, गुरुहुं सु बंधे गंठ ।
मन मणि गण छेदे बिना, रज्जब बँधे न कंठ ॥१३॥

मणि समूह छेद करे बिना कंठ में नहीं बाँधा जाता, वैसे ही साधन संकट सहन करे बिना गुरुओं की ज्ञान-गांठ में मन भली प्रकार नहीं बँधता । अतः शिष्य साधन-संकट में ही श्रेष्ठ बनता है ।

कठिन कसौटी[1] नीपज्या, तिसहिं कसौटी नाँहि ।
वासण[2] डरे न बासदे[3], पाका पावक माँहि ॥१४॥

जो साधन-संकट[1] से श्रेष्ठ बना है, उसे यम-यातनादि का कष्ट नहीं होता । जो बर्तन[2] अग्नि में पका है, वह अग्नि[3] से नहीं डरता ।

मन हस्ती मैमंत[1] शिर, गुरु महावत होय ।
रज्जब रज डारे नहीं, करै अनीति न कोय ॥१५॥

मदमत्त[1] हाथी के शिर पर महावत होता है तब वह अपने ऊपर रेत नहीं डालता, । वैसे ही शिष्य-मन के वृत्ति-शिर पर गुरु ज्ञान होता है तब मन अनीति नहीं करता ।

मन मारुतभख[1] सूधा किया, सोधी[3] दोनों जाड़[2] ।
काम क्रोध अरु लोभ मोह की, च्यारों डाढ़ उपाड़ ॥१६॥

सर्प[1] की ऊपर नीचे की दोनों दाढ़ों[2] को शुद्ध[3] करदी अर्थात् विप निकाल दिया तो मानों सर्प को सीधा कर दिया, अर्थात् फिर उससे कोई हानि नहीं होती, वैसे ही मनकी काम, क्रोध, लोभ और मोह रूप चारों दाढ़ें उपाड़ दी तो मानों मन को सीधा कर दिया। अब उससे भी कोई हानि नहीं हो सकेगी।

मन भुजंग[1] गुरु गारड़ी[2], राखे कील करंड[3]।
जन रज्जब निर्विष करै, दुष्ट दशन कर खंड ॥१७॥

सर्प[1] को सर्प विष नाशक मंत्र जानने वाला[2] कीलन मंत्र से कीलकर पिटारे[3] में रखता है और उसके विष से दूषित दाँत तोड़कर उसे निर्विष बना देता है। वैसे ही सद्गुरु उपदेश द्वारा मन की दूषित वृत्तियों को नष्ट करके मन को निर्विषय बना देते हैं।

मन भवंग[1] गुरु गरुड गहि, किया गगन को गौन।
जन रज्जब जिवकी पड़ी, मूसे गटके कौन ॥१८॥

सर्प[1] को पकड़ कर गरुड़ आकाश को उड़ता है तब सर्प के हृदय से अपनी रक्षा की उपाय गिर पड़ती है, अर्थात् वह अपने प्राणों की रक्षा भी नहीं कर सकता तब चूहे कैसे खायगा ? वैसे ही गुरु साधन द्वारा पकड़ कर साधक के मन को ब्रह्म में ले जाते हैं, तब मन अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता, अर्थात् उसका मन पना भी वहां नहीं रहता तब विषयों का उपभोग कैसे कर सकता है ?

अनल पक्षि गुरु ने लिये, पंच तत्त्व अरु प्रान[1]।
ज्यों गगना[2] गय[3] ले उडे, छूटा क्षिति[4] अस्थान[5] ॥१९॥

जैसे अनल पक्षी हाथियों[3] को लेकर आकाश[2] मार्ग से उड़ता है तब हाथियों का पृथ्वी[4] रूप स्थान[5] छुट जाता है। वैसे ही पंच तत्त्व रूप पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन[1] को सद्गुरु उपदेश द्वारा उठा कर ब्रह्म में ले जाते हैं तब उनका मायारूप स्थान छुट जाता है। अनल पक्षी का परिचय— अनल पक्षी आकाश में रहता है। अंडा देता है तब अंडा पृथ्वी पर आता है। उस अंडे से जन्मा हुआ बच्चा खाने के लिये कुछ हाथियों को अपने पंजों में पकड़ कर पुन: आकाश को चला जाता है।

मन मैमंतों[1] ले गये, सुगुरु अनल आकाश।
सो न छुडाये छूट हीं, नख शिख किये गराश ॥२०॥

अनल पक्षी हाथी[1] को आकाश में ले जाता है तब वह छुड़ाने से नहीं छुटता, उसे तो नख से शिखा तक अनल पक्षी खाजाता है। वैसे ही श्रेष्ठ

गुरु साधक के मन को साधन द्वारा ब्रह्म में ले जाते हैं तब उसका भी अभाव हो जाता है ।

सद्‌गुरु सीगणि[1] हाथ ले, मारे मर्म[2] विचार ।
जन रज्जब जाके बणैं, सो बैठे तन हार ।।२१।।

सद्‌गुरु अपने अन्तःकरण रूप हाथ में, जीव के कल्याण की भावना रूप धनुष[1] लेकर तथा शिष्य-हृदय के दोष-विनाशक-रहस्य[2] का विचार करके अर्थात् कौन दोष है और किस बाण से नष्ट होगा, ऐसा विचार करके वचन-बाण मारते हैं । बाणाघात से जिन शिष्यों के कार्य ठीक बन जाते हैं, वे तो शरीराध्यास को खोकर स्व स्वरूप में ही स्थित हो जाते हैं ।

ज्ञान खड्ग गुरु देव गहि, दे सेवक शिर आन ।
मारत ही मोहन मिले, जे ओडे[1] जिव जान ।।२२।।

गुरुदेव ज्ञान-रूप तलवार को शास्त्र-रूप शस्त्रागार से उठाकर लाते हैं और शिष्य के जीवत्व अभिमान रूप शिर पर मारते हैं । यदि शिष्य अपने हृदय में कल्याण-प्रद जानकर उसे झेल[1] लेता है, तो मारते ही अर्थात् अभिमान के नष्ट होते ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है ।

सद्‌गुरु साँग[1] सु शब्द की, रसन हाथ ले देय ।
जन रज्जब जगपति मिलैं, जे उर श्रवण सु लेय ।।२३।।

सद्‌गुरु, ज्ञान युक्त सुन्दर शब्द रूप भाला[1] जिह्वा रूप हाथ में लेकर मारते हैं, यदि कोई भली प्रकार श्रवणों द्वारा उसे हृदय में धारण करता है, उसे परब्रह्म मिलते हैं ।

ज्ञान गुर्ज[1] गुरुदेव गहि, गर्द[2] किया रण माँहि ।
जो रज्जब सन्मुख गया, सो फिर आवे नाँहि ।।२४।।

गुरुदेव ने ज्ञान-रूप गदा[1] हृदय-हाथ में ग्रहण करके योग-संग्राम में कामादि शत्रुओं को धूलि[2] में मिला दिया है अर्थात् नष्ट कर दिया है । ऐसे गुरुदेव के सन्मुख जो भी गया है अर्थात् उनका ज्ञान धारण किया है, वह फिर जन्मादि संसार में नहीं आता है ।

ध्यान[1] धनुष गहि सद्‌गुरु, मारैं वायक[2] बाण ।
रज्जब सावज[3] शर सहित, पड़े परस्पर आण ।।२५।।

सद्‌गुरु हृदय-हाथ में विचार[1]-धनुष लेकर अर्थात् अन्तःकरण में साधकों के कल्याण को विचार करके साधक-शिकार[3] के वचन[2]-बाण मारते हैं, तब अनेक शिष्य रूप शिकार परस्पर मिलकर वचन-बाण

के सहित गुरु के चरणों में आ पड़ते हैं अर्थात् वचनों को विचारते हुये गुरुदेव के पास आते हैं ।

रज्जब भलका[1] भाव का, साँटी[2] शब्द सु लाय ।
काबिज[3] गुरू कमान[4] गहि[5], मारया तीर चलाय ।।२६।।

साधकों का कल्याण करने का विचार रूप धनुष[4] ग्रहण[3] करने वाले गुरु ने शब्द रूप लचीली लकड़ी[2] पर भाव रूप भल्ल:[1] लगाकर तैयार किये हुये बाण को उठाया[5] और उक्त धनुष पर चढाकर वह तीर साधक-हृदय के मोह-मृग पर मार दिया, मोह नष्ट होते ही साधक का कल्याण होजाता है ।

सद्गुरु शब्द सु मार शर, जो फोड़े त्रयलोक ।
रज्जब छेदैं सकल गुण, अइया[1] पैनी[2] नोक[3] ।।२७।।

जो तीनों लोकों में स्थित साधकों के अज्ञान को तोड़ता है वा अज्ञान नाश द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर रूप तीनों लोकों का अभाव करता है, ऐसा सुन्दर-शब्द रूप बाण मारकर सद्गुरु, शिष्यों के सभी दोष रूप गुणों को नष्ट करके उनकी वृत्ति निर्गुण ब्रह्म में स्थित करते हैं । सद्गुरु के शब्द-बाण का अग्र[3] भाग ऐसा[1] ही तीखा[2] है ।

रज्जब रुचे सु रोष रस, सद्गुरु पारस बैन ।
प्राणी पलटै लोह ज्यों, लागे कंचन ऐन ।।२८।।

लोह पारस की टक्कर लगते ही अपनी पूर्व स्थिति से बदल कर साक्षात् स्वर्ण ही हो जाता है, अतः पारस की टक्कर भी लोह के लिये सुन्दर सिद्ध होती है । वैसे ही सद्गुरु के रोष पूर्ण वचन भी रस-रूप ही भासते हैं, कारण-उनसे प्राणी का हृदय बदल कर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, अतः वे रुचिकर ही सिद्ध होते हैं ।

शिष लोहा पारस गुरू, ज्यौं त्यों राम मिलाव ।
रज्जब भावै रोष रस, परसे कंचन भाव[1] ।।२९।।

जैसे पारस की टक्कर भी लोह को स्वर्ण की आकृति[1] में बदल देती है । वैसे ही सद्गुरु के रोषपूर्ण वचन भी प्राणी को राम से मिलाकर पूर्वावस्था से बदल देते हैं, अतः रस रूप ही भासते हैं और सभी साधकों को प्रिय लगते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरु मुख कसौटी का अंग ६ समाप्तः सा.।।२६२।।

अथ आज्ञाकारी आज्ञा भंगी का अंग ७

गुरुमुख कसौटी अंग के अनन्तर गुरु जनों की आज्ञा मानने वालों और न मानने वालों का परिचय देने के लिये तथा आज्ञा मानने न मानने से होने वाले लाभ-हानि का प्रदर्शन करने के लिये आज्ञाकारी आज्ञा भंगी का अंग कह रहे हैं—

आज्ञा गुरु गोविन्द को, चलै सु चेला चार ।
रज्जब रम[1] तों[2] मन मुखो, पग पग पूरी मार ॥ १ ॥

१-३ में आज्ञाकारी, आज्ञा भंगी का परिचय दे रहे हैं—गुरु की आज्ञा में शिष्य व गोविन्द की आज्ञा में दास चलते हैं तब तो आनन्द रहता है और मन की इच्छानुसार चलने[1] से[2] पद-पद पर चिन्ता, काम, क्रोधादि की खूब मार खानी पड़ती है ।

आज्ञा में आतम रहै, आज्ञा भाने भंग ।
रज्जब सगुरा सीख में, निगुरा अपने रंग[1] ॥ २ ॥

गुरुजनों की आज्ञा पालन करने से जीवात्मा जन्मादि संसार में भ्रमण करने से रुक जाता है । आज्ञा न मानने से बारंबार मरता है । जिसको गुरु प्राप्त हुआ है, वही श्रेष्ठ शिक्षा द्वारा आज्ञा में रहता है । जिसे गुरु नहीं मिला वह अपनी वासना[1] के अनुसार चलता है ।

पिता पूत नर नारि के, गुरु शिष आज्ञा रंग ।
रज्जब राजा चाकर हु, हुकम हते मन भंग ॥ ३ ॥

पिता की आज्ञा में पुत्र, पति की आज्ञा में पत्नी, गुरु की आज्ञा में शिष्य, राजा की आज्ञा में सेवक रहते हैं, तब आनन्द रहता है । आज्ञा न मानने से पितादि के मन का प्रेम पुत्रादि से टूट जाता है ।

सद्गुरु सरवर क्या करै, जे शिष सफरी[1] मन खोट ।
रज्जब बंसी[2] वाम[3] लग, खेंच लई यम चोट ॥ ४ ॥

४-५ में आज्ञा न मानने वाले का परिचय दे रहे हैं—जब मच्छी[1] स्वयं ही अपने मन के लालच रूप दोष से काँटे[2] को जा पकड़े तब सरोवर क्या करे ? फिर तो पकड़ने वाला खेंचकर सरोवर के बाहर ले आता है और वह मर जाती है । वैसे ही शिष भी जब गुरु-आज्ञा न मानकर स्वयं ही पर नारी[3] में आसक्त होता है तब सद्गुरु क्या करे ? फिर तो यम यातना भोगे ही गा ।

रज्जब रमणी[2] रासभा[1], कपट सु कठ[3] गढ माँहि ।
शिष सिंह खात पलाइगें[4], गुरु गिरि दूषणनाँहि ॥ ५ ॥

गधा[1] काष्ठ[3] के पींजरे में है और नारी[2] कपट के किले में है। यदि सिंह पींजरे में घुसेगा[4] तो उसे गधा ही खाने को मिलेगा, इसमें पर्वत का क्या दोष है ? नहीं घुसता तब तो पर्वत में वन्य मृग मिल सकता था। वैसे ही शिष्य गुरु की आज्ञा न मानना रूप कपट-किले में घुसेगा[4] तो उसे नारी का उपभोग ही मिलेगा। इसमें गुरु का क्या दोष है ? कपट नहीं करता, यथार्थ रूप से गुरु आज्ञा में रहता तो अवश्य ब्रह्मानन्द प्राप्त होता।

गुरु अगस्त उर[1] चढत ही, शिष समुद्र नभ जाँहि।
जन रज्जब उतरे तहाँ, सो खारे क्षिति[2] माँहि ॥ ६ ॥

६ में आज्ञाकारी और आज्ञा भंगी का परिचय दे रहे हैं--अगस्त्य ऋषि के हृदय[1] में समुद्र शोषण की बात आते ही समुद्र नभ में चला गया अर्थात् सूख गया और जो जल पृथ्वी[2] पर उतरा वह खारा हो गया। वैसे ही जो गुरु आज्ञा में रहते हैं, वे शिष्य तो ब्रह्म में लय हो जाते हैं और आज्ञा में नहीं रहते वे पृथ्वी पर कामादि क्षार से युक्त होते हैं।

आज्ञा भंगी मन मुखी, व्यभिचारी व्रत नाश।
रज्जब रीता रती बिन, नाँहि चरण निवास ॥ ७ ॥

७ में आज्ञा भंगी का परिचय दे रहे हैं--गुरुजनों की आज्ञा न मानने वाला मन की इच्छा के अनुसार चलता है, सद्व्रतों का नाश करके, व्यभिचारी बनता है किन्तु आज्ञा मानना रूप रती बिना भक्ति ज्ञानादि से रहित ही रहता है। प्रभु के चरणों में निवास नहीं कर सकता।

आज्ञा में आगे रहैं, गुरु गोविन्द हजूर।
जन रज्जब दिल दूसरे, द्वै ठाहर तै दूर ॥ ८ ॥

८-१२ में आज्ञाकारी तथा आज्ञा भंगी का परिचय दे रहे हैं--जो गुरुजनों की आज्ञा मानने में आगे रहता है, वह गुरु और गोविन्द के अति निकट रहता है। जिसका मन आज्ञा मानने से विमुख रहता है, वह गुरु के ज्ञान रूप स्थान से और गोविन्द के साक्षात्कार रूप स्थान से दूर ही रहता है अर्थात् न उसे ज्ञान होता है और न गोविन्द मिलते हैं।

आज्ञा में अनमोल[1] है, अन आज्ञा अढ[2] आघ[3]।
रज्जब रंग[5] सु रजा[4] में, विरच्यों[6] बाल्हे[7] बाघ[8] ॥ ९ ॥

गुरुजनों की आज्ञा में रहने से व्यक्ति अति उत्तम[1] माना जाता है। आज्ञा में न रहने से उसकी उत्तमता[3] में कमी[2] आ जाती है। सम्यक् आज्ञा[4] में रहने से ही आनन्द[5] मिलता है। गुरुओं की आज्ञा मानने से विरक्त[6] होने पर तो बहिर्मुख[7] होकर सिंह[8] के समान भय-प्रद होता है।

गुरु की आज्ञा में रहै, सो शिष कोई एक ।
रज्जब रहे वन रोझ मन, आज्ञा भंग अनेक ॥१०॥

गुरु की आज्ञा में रहने वाला शिष्य तो कोई विरला ही होता है । वन में रहने वाले रोझों के समान बहिर्मुख मन आज्ञा भंग करने वाले, तो अनन्त मिलते हैं ।

असली आज्ञा में चलैं, बाहर धरैं न पाँव ।
रज्जब कपटी कम असल, खेलैं अपना दाँव ॥११॥

सच्चे शिष्य आज्ञा में ही चलते हैं, आज्ञा से बाहर एक पैर भी नहीं चलते अर्थात् कुछ भी नहीं करते । जो कपट से सच्चे बने हुये और वास्तव में झूठे, वे तो अपने स्वार्थ का दाँव खेलते हैं अर्थात् स्वार्थ सिद्धि के लिये ही सब कुछ करते हैं, कल्याण के लिये कुछ नहीं ।

रज्जब रहिये रजा में, गुरु गोविन्द हजूर ।
इनकी आज्ञा मेट तैं, देखत पड़िये दूर ॥१२॥

गुरु और गोविन्द की आज्ञा में रहोगे तभी गुरु और गोविन्द के समीप रह सकोगे, इनकी आज्ञा से बाहर जाने से तो देखते[२] ही इनसे दूर पड़ जाओगे ।

गुरु धरती गोविन्द जल, शिष तरुवर मधि पोष ।
रज्जब सरके ठौरतैं, देखि दुहुं दिशि दोष ॥१३॥

१३-१५ में आज्ञाकरी और आज्ञा भंगी की होने वाली उन्नति तथा हानि दिखा रहे हैं–गुरु पृथ्वी के समान हैं और गोविन्द जलके समान हैं । वृक्ष पृथ्वी में लगा रहता है तब तो जल से उसका पोषण होता रहता है और पृथ्वी से उखड़ जाने पर जल से गल जाता है । वैसे ही शिष्य गुरु की आज्ञा में रहता है तब तो निष्काम गोविन्द भजनादि से परमार्थ में उसका पोषण होता रहता है और गुरु आज्ञा में नहीं रहता तब सकाम साधना द्वारा संसार में ही पड़ता है ।

शिष्य गुडी[१] सुरति डोरी में, गुरु खिलार हित हाथ ।
तंतू टूटे तैं गई, साबित[२] सांई साथ ॥१४॥

पतंग[१] डोरी में बँधकर उड़ाने वाले खिलारी के हाथ में है तब तक तो उसके साथ है और डोरी टूट जाय तो उसके हाथ से चला जाता है । वैसे ही शिष्य आज्ञा मानना रूप वृत्ति-डोरी में बँधकर गुरु के स्नेह-हाथ में है तब तक तो ठीक[२] रूप से परमात्मा के साथ है और आज्ञा मानना रूप वृत्ति टूट जाय तो वह भी प्रभु से दूर हो जाता है ।

ज्यों घोड़ा असवार वश, चलैं पराये भाय[1] ।
रज्जब अड़[2] अपनी गहै, तभी मार बहु खाय ॥१५॥

अश्व अश्वारोही के वश में है तथा अपने से भिन्न अश्वारोही के भावानुसार[1] चलता है तब तक तो ठीक है और जब वह अपनी टेक[2] पकड़ता है तब खूब मार खाता है । वैसे ही शिष्य गुरु आज्ञा में चलता है तब तक तो ठीक है और अपने हट से मनकी इच्छानुसार चलता है तब भारी यम यातना भोगता है ।

अणी[1] अग्नि अहि सौं असह[2], गुरु आज्ञा में गौन ।
जन रज्जब तन त्रास तुच्छ, मन हिं मरावे कौन ॥१६॥

१६ में कहते हैं, गुरु आज्ञा पालन कठिन होने पर भी, उसका फल देखते हुये कष्ट अति कम है—भाला आदि का अग्र[1] भाग चुभन से, अग्नि के ताप से और सर्प से होने वाले दुःख से भी गुरु आज्ञा पालन करने का दुःख असह्य[2] है तो भी इसका जो मन को जीतना रूप महाफल है, उसके आगे इससे होने वाला शारीरिक कष्ट अति तुच्छ है । कारण—गुरु को छोड़कर और कौन मन को मारने में सहायता करता है ?

सीता सुरति उलंघिया, राम लीक गुरु बैन ।
रज्जब रावण काल कर, चढ्या न पावे चैन ॥१७॥

१७-१८ में आज्ञा भंगियों के उदाहरण कह रहे हैं—सीता ने राम के भाई लक्ष्मण की लीक का उलंघन किया तब रावण के हाथ में आकर कष्ट उठाया । वैसे ही शिष्य की वृत्ति गुरु के वचनों को उलंघन करती है तब शिष्य काल के हाथ में आकर व्यथित होता है ।

रज्जब रजा[1] रजानिकर[2], अजाजील शैतान ।
हुआ फजीहत फरिश्ता[3], मेट अलह फरमान[4] ॥१८॥

ईश्वर ने आदि मानव आदम को रचकर अप्सराओं तथा फरिश्ताओं को कहा, इसे प्रणाम करो, अन्य सबने तो आदम को प्रणाम किया किन्तु शैतान अजाजील ने ईश्वर की यह आज्ञा[1] नहीं मानी । इस ईश्वर के हुक्म[4] को न मानने[2] से ही उस ईश्वर दूत[3] को बेइज्जत पूर्वक फरिश्ताओं से निकाल दिया गया । बड़ों की आज्ञा न मानने से ऐसा ही होता है । अतः गुरुजनों की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये । यह कथा छप्पय ग्रंथ के आज्ञा भंग अंग १५ छप्पय एक की टीका में विस्तार से है, वहां देखो ।

रज्जब गुरु गोविन्द की, मया[1] मेघ प्रतिपाल ।
इन बिरच्यूं[2] राचे[3] विघन, केवल आतम काल ॥१९॥

१९ में आज्ञा मानने, न मानने का लाभालाभ दिखा रहे हैं—गुरु और गोविन्द की कृपा[1] रूप मेघ से पालन होता है। इन दोनों से उपराम[2] होने से केवल विघ्न ही होते[3] हैं और जीवात्मा को यम-यातना भोगनी पड़ती है। अतः सदा गुरु और गोविन्द की आज्ञा में ही रहना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आज्ञाकारी आज्ञा भंगी का अंग ७ समाप्तः ॥ सा० ३११ ॥

अथ आज्ञाकारी का अंग ८

आज्ञाकारी, आज्ञा भंगी-अंग के अनन्तर आज्ञा पालक,आज्ञा पालन आदि का विचार करने को आज्ञाकारी का अंग कह रहे हैं—

गुरु आज्ञा में शिष्य यूं, ज्यों अदभू[1] इक पाय।
रज्जब सेवक सो सही, सर्वस्व सेवा भाय ॥ १ ॥

१-१५ में आज्ञाकारी के परिचय पूर्वक आज्ञा पालन का फल बता रहे हैं—जैसे वृक्ष[1] निरन्तर पृथ्वी में खड़ा रहता है, वैसे ही शिष्य निरन्तर गुरु सेवा में स्थित रहता है, वही सच्चा सेवक है, जिसका सर्वस्व भावपूर्वक सेवा में आजाता है।

गुरु आज्ञा अँगुरी बँधे, चेले चक्री होय।
आवे जाय रजा में रज्जब, दूजा नाँहीं कोय ॥ २ ॥

जैसे अँगुली के बँधी हुई चक्री, चक्री वाले की इच्छा से ही आती जाती है, चक्रीधर की इच्छा बिना चक्री के गमनागमन का दूसरा हेतु कोई भी नहीं है। वैसे ही सु-शिष्य गुरु आज्ञा में बँधे हुये रहकर ही सब व्यवहार करते हैं, कोई अन्य हेतु लेकर नहीं करते।

सद्गुरु सूरज शिष सलिल, आज्ञा आवे जाँहि।
रज्जब रहतौं ईंहि जुगति, सेवक स्वामी माँहि ॥ ३ ॥

जैसे सूर्य की किरण से जल पृथ्वी पर आता है और आकाश को जाता है। वैसे ही जो शिष्य सद्गुरु की आज्ञा पालन रूप युक्ति से रहता है अर्थात् आज्ञानुसार ही सब व्यवहार करता है वह सेवक स्वामी में ही मिल जाता है।

धोम वास बल वायु के, संग समीर सु जाँहि।
तैसे रज्जब गुरु शिषों, सदा सु आज्ञा माँहि ॥ ४ ॥

जसे धुआँ और गन्ध वायु के बल से वायु के साथ जाती हैं। वैसे ही शिष्यगण भी सम्यक् प्रकार सदा गुरु की आज्ञा में रहने के बल से गुरु के साथ ही परब्रह्म में मिल जाते हैं।

हरि आज्ञा में अणसरे,[1] गुरु दिनकर[2] इकतार[3] ।
रज्जब शिष सो किरण सम, सदा सु तिनकी लार ॥ ५ ॥

ईश्वर आज्ञा अनुसार[1] सूर्य[2] निरन्तर[3] चलते हैं, सूर्य की किरण भी सूर्य के साथ ही चलती हैं । वैसे ही ईश्वर आज्ञानुसार गुरु चलते हैं, गुरु आज्ञानुसार शिष्य सदा गुरु के साथ रहता है ।

चंद सूर पाणी पवन, धरती अरु आकाश ।
ये सांई के कहे में, त्यों रज्जब गुरु दास ॥ ६ ॥

चन्द्रमा, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश ये सभी परमात्मा की आज्ञा में चलते हैं । वैसे ही शिष्य गुरुदेव की आज्ञा में चलते हैं ।

पाणी पवन सूर्य शशि सोधे,[1] धन्य धणी[4] जिन ये परमोधे ।
चूक[2] हिं चक[3] हिन सीख मँझारी, जन रज्जब ता पर बलिहारी ॥७॥

जल, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, इन सबके व्यवहार हमने अन्वेषण[1] करके देखे हैं, ये सब भूल[2] कर भी भ्रम[3] में नहीं पड़ते, निरन्तर ईश्वर की शिक्षा रूप आज्ञा में ही चलते हैं । जिनने इनको उपदेश दिया है, वे स्वामी[4] धन्य हैं, मैं उनकी बलिहारी जाता हूं ।

ज्यों हलवाई की हाट तज, माँखी कहीं न जाय ।
त्यों रज्जब गुरु शिष बँधे, उडहि न रहे उडाय ॥ ८ ॥

जैसे हलवाई की हाट की मक्खियों को उडा २ कर थक जाते हैं किन्तु वे हाट को छोड कर कहीं भी नहीं जातीं । वैसे ही शिष्य गुरु की आज्ञा में बँधे रहते हैं, हटाने पर भी नहीं हटते ।

नाम मिठाई विविध परि, जहां भरे हृद[1] हाट ।
रज्जब मिल हिं उडाव तौं, मानुष माँखी ठाट[2] ॥ ९ ॥

नाना प्रकार की मिठाई पड़ी रहने से हाट में मक्खियाँ उडाने पर भी आती हैं । वैसे ही ईश्वर आज्ञाकारी गुरु के हृदय[1] में भगवान् के नाना नाम-गुण भरे रहने से गुरु के पास मनुष्यों का समूह[2] रहता है, वे हटाने से भी नहीं हटते ।

रज्जब आज्ञा में ऊभा रहै, आज्ञा बैठे आय ।
आज्ञा में आडा हुआ, आज्ञा ऊठे जाय ॥१०॥

आज्ञाकारी आज्ञानुसार ही उठता है, बैठता है, आता है, जाता है, आड़ा होता है, खड़ा रहता है, सभी व्यवहार आज्ञानुसार करता है ।

आज्ञा में पति व्रत रहै, आज्ञा में धर्म नेम ।

रज्जब आज्ञा उर चढे, आज्ञा कुशल रु क्षेम ।।११।।

गुरु-गोविन्द की आज्ञा में रहने से ही पतिव्रत धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म और साधन नियमों का पालन होता है । जब गुरु-गोविन्द की आज्ञा हृदय में जम जाती है तब उस आज्ञा द्वारा सदा आनन्द-मंगल ही रहता है ।

आज्ञा में आतम अरथ[1], आज्ञा ऊरण[2] होय ।

आज्ञा चले सु उद्धरे, साध कहैं सब कोय ।।१२।।

गुरु-गोविन्द की आज्ञा में चलने से ही आत्म-धन[1] प्राप्त होता है, सब प्रकार के ऋणों से मुक्त[2] होता है, संसार से पार होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है, ऐसा ही सब संत कहते हैं ।

आज्ञा में ऊभा रहै, एक मना इकतार ।

रज्जब उज्वल अनन्य ह्वै, वह उतरेगा पार ।।१३।।

जिसका हृदय उज्वल है और जो एक मन से सदा गुरु-गोविन्द की आज्ञा में ही खड़ा रहता है, वह अनन्य दशा को प्राप्त होकर संसार-सागर से अवश्य पार हो जायगा ।

आज्ञा में अघ ऊतरैं, आज्ञा पावन प्राण ।

सो आज्ञा आठों पहर, जन रज्जब उर आन ।।१४।।

गुरु-गोविन्द की आज्ञा में चलने से पाप नष्ट हो जाते हैं, प्राणी पवित्र हो जाता है । उस गुरु–गोविन्द की आज्ञा को अष्ट पहर हृदय में रखना चाहिये ।

आज्ञा में ऊंची दशा, आज्ञा उत्तम ठौर ।

उभय एक आज्ञा चल्यों, सो आज्ञा शिर मौर ।।१५।।

गुरु-गोविन्द की आज्ञा में चलने से उच्च अवस्था और उत्तम स्थान प्राप्त होता है, जीव-ब्रह्म दोनों एक हो जाते हैं । यह आज्ञा पालन रूप साधन सभी साधनों में शिरोमुकुट के समान है ।

शिष श्रद्धा यों चाहिये, ज्यों वसुधा रतिवन्त ।

रज्जब वर्षा गुरु वयन, लिया दशों दिश कन्त ।।१६।।

१६-१७ में शिष्य को प्रेरणा कर रहे हैं—जैसे पृथ्वी की श्रद्धा इन्द्र में होती है तब वर्षा रूप से पृथ्वी अपने स्वामी इन्द्र को प्राप्त करती है । वैसे ही शिष्य की श्रद्धा गुरु वचनों में होनी चाहिये तभी दशों दिशा में परमात्मा का साक्षात्कार होता है ।

चेला चेतन चाहिये, ज्यों अक्षर[1] शब्द हि लेय ।
रज्जब शिष श्रद्धा यही, गुरु मत जान न देय ॥१७॥

शिष्य को गुरु-वचन ग्रहण करने में इस प्रकार सावधान रहना चाहिये, जिस प्रकार अक्षरों को ग्रहण करने में शब्द रहता है । शब्द में एक मात्रा की कमी हो तो भी अखरती है । वैसे ही शिष्य को भी अपनी कमी अखरना चाहिये वा जैसे भी शब्दों द्वारा अविनाशी[1] ब्रह्म का स्वरूप समझ सके वैसे ही शिष्य को सावधान रहना चाहिये । शिष्य की उत्तम श्रद्धा की यही पहचान है कि वह गुरु के सिद्धांत को अपने हृदय से नहीं जाने दे ।

बावन अक्षर सेवका, सद्गुरु शब्द समान ।
रज्जब दुहुँ सों एक व्है, सो गुरु शिष्य प्रमान ॥१८॥

१८ में गुरु-शिष्य की प्रमाणिकता बता रहे हैं—जैसे वर्णमाला के बामन अक्षर और शब्द मिलकर एक हो जाते हैं । वैसे ही गुरु और शिष्य दोनों मिलने पर ब्रह्म रूप में एक हो जावें वे ही गुरु-शिष्य प्रामाणिक हैं ।

शिष श्रद्धा जंतर घटी, सद्गुरु जंत्रक जान ।
रज्जब रहिये कंध चढ़, सकल कला उर ठान ॥१९॥

शिष्य की श्रद्धा सितार घटिका के समान है और गुरु सितार बजाने वाले के समान हैं । सितार आदि वाद्यों की तुम्बी जो उनके ऊपर होती है, वह जब बजाने वाले के कंधे पर जाकर वहां ठहरती है तब गायन सम्बन्धी सभी कलायें उससे निकलती हैं । वैसे ही शिष्य की श्रद्धा जब गुरु में होती है, तब उसके हृदय में सभी अध्यात्म विषय अवगत हो जाते हैं ।

तेल लौण आफु[1] रु गुड़, पय[2] पाणी सौं मेल ।
त्यों रज्जब गुरु ज्ञान में, शिष्य सुमति का खेल ॥२०॥

२०-२३ में सुमति शिष्य का परिचय दे रहे हैं—जैसे एक ही जल के मेल से तिल में तेल, भूमि में लवण, अफीम के डोडे में अफीम[1], ईख में गुड़ और दूध वाले वृक्षों में दूध[2] होता है । वैसे ही एक गुरु के उपदेश से अनेक प्रकार के शिष्य तैयार होते हैं किन्तु ब्रह्म-प्राप्ति रूप खेल का आनन्द किसी सुमति शिष्य को ही प्राप्त होता है, सब को नहीं ।

अमलबेत सूई मिल एकै, त्यों शिष सद्गुरु संग ।
रज्जब द्वितीय भाव न दर्शे, अंग[1] समाये अंग[2] ॥२१॥

अमलवेत वृक्ष का फल बहुत खट्टा होता है । उसमें सूई रख देने से सूई गल कर उसी में मिल जाती है, वैसे ही शिष्य को सद्गुरु का सग

मिल जाने पर शिष्य के हृदय में द्वैत भाव नहीं दिखाई देता, उसका आत्मा[1] सद्गुरु आत्मा के लक्ष्य स्वरूप ब्रह्म[2] में समा जाता है।

आदि तिणैं,[1] रस नीपजी, अंत तिणा[2] दिल माँहि।
रज्जब शिष सितिया[3] मतै, गुरु गुण लोपे नाँहि ॥२२॥

मिश्री[3] प्रथम ईख[1] के रस से उत्पन्न हुई और अन्त में भी बाँस की सींक[2] को अपने बीच में रक्खा अर्थात् मिश्री तैयार होने पर भी उसके बीच में बाँस की सींक रही (जैसे आजकल धागा बीच में रखकर मिश्री बनाते हैं, वैसे ही पूर्व काल में बाँस की सींकों पर बनाई जाती थी)। इतनी श्रेष्ठ बनकर भी मिश्री ने तृण का उपकार नहीं भूला, वैसे ही सुमति शिष्य कितना ही श्रेष्ठ हो जाने पर गुरु के उपकार रूप गुणों को मन से नहीं भूलता।

मिश्री मन विसरी नहीं, आदू जो उपकार।
मीठों सौं मीठी भई, तेउ[1] तिणा उरधार ॥२३॥

मिश्री ने अपने ऊपर किया हुआ ईख रूप तृण का उपकार नहीं भूला, वह उन मधुर गन्नों से भी अधिक मधुर हो गई किन्तु तो भी[1] बाँस की सींक रूप तृण को अपने बीच में ही रक्खा। वैसे ही सुमति शिष्य गुरु से योग्यता में अत्यधिक बढ जाय तो भी गुरु का उपकार नहीं भूलता।

गुरू बूंद शिष समुद्र का, मिलत महातम जोय।
परफुल्लित सायर[1] सुगुण, उठत बुदबुदे होय ॥२४॥

२४ में गुरु शिष्य मिलन-माहात्म्य बता रहे हैं—देखो, जब विन्दु समुद्र से मिलती है तब समुद्र[1] प्रसन्न होता है, इसीसे समुद्र में बुद्बुदे उठते हैं। वैसे ही जब शिष्य को गुरु मिलते हैं, तब शिष्य में सुन्दर गुण उत्पन्न होते हैं। यही गुरु और शिष्य के मिलन का माहात्म्य है।

गुरु सन्मुख शिष रह सदा, कदे करो मत और।
ज्यों रज्जब वसुधा विरछ[1], सुखी दुखी इक ठौर ॥२५॥

२५-२६ में शिष्य को गुरु आज्ञा में रहने की प्रेरणा कर रहे हैं—वृक्ष[1] वर्षा से सुखी और आतप से दुखी होने पर भी पृथ्वी में एक स्थान पर ही रहता है, उखड़ने से तो नष्ट ही होगा। वैसे ही शिष्य को सदा गुरु की आज्ञा में ही रहना चाहिये। गुरु-आज्ञा से विमुख होने का उपदेश कभी भी कोई न करे, कारण-गुरु से विमुख होते ही परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

ज्यों सद्गुरु के शब्द में, त्यों चल शिष्य सुजान।
जन रज्जब रहु इस मतै[1], छाडहु खैंचातान ॥२६॥

हे बुद्धिमान् शिष्य ! जैसे सद्‌गुरु के उपदेश रूप शब्दों में चलने का विधान है, वैसे ही चल, इस सद्‌गुरु आज्ञा रूप सिद्धान्त[1] में ही स्थित रह, अन्य मत मतान्तरों की खैंचातान को छोड़ दे ।

हीरा हेम[1] सोई खरे, जो लागे भाणे[2] भित्त[3] ।
रज्जब चहुँटे गुरु शबद, सो चेला चोखे चित्त ॥२७॥

२७ में सुमति शिष्य का परिचय दे रहे हैं—हीरा और स्वर्ण[1] वही अच्छा माना जाता है जिसके पीठ[3] पर तोड़ने के समान चोट[2] लगे और वे परस्पर चिपकते जावें (स्वर्ण के भूषण में हीरा बैठाया जाता है, तब जिसमें बैठाया जाता है उस स्थान की दीवाल के और हीरा के थोड़ी थोड़ी चोट मारी जाती है, जिससे वह हीरा भूषण में दब कर स्थिर हो जाता है) वैसे ही जो साधन कष्ट देने पर भी गुरु के शब्दों के विचार में लगा रहे, वही शिष्य अच्छे हृदय का माना जाता है ।

गुरु आज्ञा इन्द्रिय दमन, आज्ञा परिहर काम ।
रज्जब आज्ञा आप[1] हत, आज्ञा भजिये राम ॥२८॥

२८--२९ में गुरु आज्ञा पालन की प्रेरणा कर रहे हैं—गुरु आज्ञानुसार साधन करके इन्द्रियों को जय करो, काम को त्यागो, अपने मिथ्या अहंकार[1] को नष्ट करो और राम का भजन करो ।

गुरु आज्ञा अंजन[1] तजो, आज्ञा अन्तर[2] मेट ।
रज्जब आज्ञा उर वसो, आज्ञा अविगत[3] भेंट ॥२९॥

गुरु आज्ञानुसार विचार करके हृदय से माया[1]-राग को त्यागो, भेद[2]-भावना को नष्ट करो, वृत्ति को आन्तर मुख करके साक्षी रूप से हृदय में स्थिर रहो और मन इन्द्रियों के अविषय[3] ब्रह्म से मिलो ।

गुरु आज्ञा अवतार तज, आज्ञा अश्म न सेव ।
आज्ञा अठसठ त्यागिये, रज्जब आज्ञा एव ॥३०॥

३०--३२ में आज्ञा का स्वरूप बता रहे है—गुरु आज्ञानुसार अवतारों को परब्रह्म मानना त्यागो, परब्रह्म मानकर पत्थर की सेवा न करो, ६८ तीर्थों में भ्रमण करना छोडकर, निरन्तर निरंजन राम का भजन करो, यही गुरुदेव की आज्ञा है ।

सात वार एकादशी, आश उपास उतार[1] ।
रज्जब भजिये राम को, तेतीसौं तिरस्कार ॥३१॥

रविवारादि सात वारों और एकादशी उपवासादि से आत्मकल्याण की आशा त्यागकर इनकी उपासना मन से हटा[1] दो और ११ रुद्र १२

आदित्य ८ वसु २ अश्विनीकुमार, इन ३३ देवताओं की भी आराधना त्यागकर निरंतर निरंजन राम का ही भजन करो।

गुर आज्ञा दुनिया तजहु, आज्ञा दर्शन त्याग ।
रज्जब आज्ञा ऐन यहु, पाखंड प्रपंच से भाग ॥३२॥

गुरु आज्ञानुसार सांसारिक राग को त्यागो, जोगी, जंगम, सेवड़े, संन्यासी, बौद्ध और शेखों के भेष तथा मताग्रह को त्यागो। पाखंड-प्रपंच से दूर भागो, यही गुरु की यथार्थ आज्ञा है।

शिष्य सदा सत शब्द मधि[1], गुरु थिर गोविंद माँहि ।
उभय उमर ठाहर व्यतीत, तब सँचर[2] कछु नाँहि ॥३३॥

३३ में गुरु-शिष्य की निर्दोषता दिखा रहे हैं–शिष्य सदा गुरु के यथार्थ शब्दों में[1] मन लगाये रहता है और गुरु गोविन्द के चिन्तन में मन स्थिर रखता है। इस प्रकार दोनों की आयु उक्त 'शब्द मनन' और 'गोविन्द भजन' रूप दोनों स्थानों में ही व्यतीत होती है, तब उनमें कोई भी दोष[2] नही रहता वे निर्दोष ही हैं।

शिष सोई सत सीख में, गुरु सोइ ज्ञान गरक्क[1] ।
मन वच कर्म रज्जब कहै, युगल[2] जु पावैं जक्क[3] ॥३४॥

३४ में योग्य गुरु-शिष्य का परिचय दे रहे हैं–जो यथार्थ शिक्षानुसार चलता है वही शिष्य है और जो ज्ञान में निमग्न[1] रहता है वही गुरु है। हम मन, वचन और कर्म से यथार्थ ही कहते हैं, उक्त प्रकार के गुरु-शिष्य दोनों[2] ही शांति[3] को प्राप्त होते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आज्ञाकारी का अंग ८ समाप्तः। सा. ३४५॥

अथ गुरु संयोग वियोग माहात्म्य का अङ्ग ९

आज्ञाकारी अंग के अनन्तर गुरु के संयोग और वियोग से होने वाले फलाफल का परिचय देने के लिये गुरु संयोग वियोग माहात्म्य[1] का अंग कह रहे हैं—

सद्गुरु प्रत्यक्ष परसतैं, शिष की शंका जाँहि ।
ज्यों दिनकर[1] सौं दिन दरसे, त्यों निशि सूझे नाँहि ॥ १ ॥

सद्गुरु के मिलने पर शिष्य की शंका नष्ट हो जाती है, यह प्रत्यक्ष ही है। जैसा सूर्य[1] के प्रकाश से दिन में दीखता है, वैसा रात्रि में नहीं दीखता। वैसे ही गुरु के संग से ज्ञान होता है, वैसा ज्ञान गुरु के अभाव में नहीं होता।

गुरु चन्दन जीवित मुवौं, वचन वास बिच होय।
नर तरु निपजे परसपर, त्यों पीछे नहिं कोय ॥ २ ॥

चन्दन मृतकवत सूखे काष्ठों को भी अपनी सुगन्ध द्वारा उन्हें सुगन्धित करना रूप जीवन देता है। वैसे ही गुरु ज्ञानहीन नरों को भी अपने वचनों द्वारा ज्ञानयुक्त करता है। सुगन्ध द्वारा चन्दन और काष्ठ परस्पर मिलते हैं तब चन्दन बनते हैं। गुरु वचनों द्वारा गुरु और नर परस्पर मिलते हैं तब नर ज्ञानी बनते हैं। चन्दन और गुरु के अभाव में उक्त कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

शब्द डंक गुरु भृंग पर, मारत तन में जंत[1]।
उभय उतर्चों उभय अंग, सु कला न कंटक[2] मंत[3] ॥ ३ ॥

शब्द गुरु के पास हो और डंक भृंग के पास हो तब ही गुरु शिष्य के शब्द मारता है और भृंग कीट[1] के डंक मारता है। शब्द गुरु से हट जाय तथा डंक भृंग से हट जाय, तो इन दोनों के हट जाने से शिष्य और कीट में परिवर्तन रूप सुन्दर कला प्रकट नहीं होगी। उस उद्योग में विघ्न[2] ही समझो[3]।

गुरु हमाइ[1] संयोग शब्द पर, परस्यूं पलटे प्राण।
रज्जब विछड्यूं बल घटे, समझें संत सुजाण ॥ ४ ॥

हुमा[1] पक्षी की छाया के संयोग से प्राणी दरिद्री से बदलकर राजा हो जाता है और गुरु के शब्द संयोग से साधारण मानव से बदलकर संत हो जाता है। हुमा और गुरु के संयोग बिना उनका वर्तमान बल भी घटता जाता है किन्तु इस रहस्य को कोई विरले बुद्धिमान् संत ही समझ पाते हैं।

सद्गुरु सिंह समान हैं, शब्द डंक नख ठौर।
जीवित जाय गह जोर वर, उतरे बल कुछ और ॥ ५ ॥

सद्गुरु सिंह के समान हैं, जैसे सिंह के नख जीवित अर्थात् पंजे के लगे हैं तब तो उनमें श्रेष्ठ बल होता है और पंजे से उतरने के पीछे उनका बल अन्यावस्था को प्राप्त होता है अर्थात् फिर उनसे कोई भी नहीं डरता, प्रत्युत डरपोक बालक के गले में भी बाँधे जाते हैं। वैसे ही सद्गुरु शब्द गुरु मुख द्वारा तो महान् कार्य करता है और गुरु मुख से हट जाने पर उसमें पूर्ववत शक्ति नहीं रहती।

वाराह[1] वारण[2] वक्त्र[3] बल, देखहु दुहुं के दंत।
तैसे गुरु मुख शब्द सयाणा[4], मनहु मनावै मंत[5] ॥ ६ ॥

देखो, शूकर[1] और हाथी[2] इन दोनों के मुख[3] में दाँतों का ही बल है। हे सुजान[4] वैसे ही गुरु के मुख में शब्द का बल है, वे शब्द-बल से ही साधकों के मनको अपना सिद्धान्त मनवाते[5] हैं।

रज्जब जाँहि पारे पैदा हुये, पारवती मधि पूत ।
सो पारा अजहूं घणा, पै[1] पी न होत सुत सूत[2] ॥ ७ ॥

जिस पारे से पार्वती में पुत्र उत्पन्न हुये थे, वही पारा अब भी बहुत है किन्तु[1] इस पारे[2] के पीने पर पुत्र नहीं होता। पारा शंकरजी का वीर्य माना जाता है, वह वीर्य रूप से शंकरजी में था तभी पुत्र हुये थे। वैसे ही सद्गुरु के जीवन काल में उनके मुखसे शब्द सुनने से बहुत से शिष्यों का उद्धार होता है, पीछे वे ही शब्द ग्रंथाकार में रहते हैं किन्तु गुरु मुख बिना मुक्त नहीं करते, उन्हें कोई सद्गुरु सुनाता है तभी साधकों को यथार्थ बोध होता है।

निनाणवें कोटि[1] नराधिपति[2], निपजे[3] गोरख ज्ञान ।
अब रज्जब एकहुँ नहीं, शब्द सत्ता घट मान ॥ ८ ॥

योगिराज गोरक्षनाथ जी के मुख से सुने शब्दों के ज्ञान द्वारा ९९ प्रकार[1] के राजा[2] साधक होकर[3] मुक्त हुये थे। उन्हीं शब्दों का पाठ अब भी किया जाता है किन्तु पढ़ने वालों में एक भी मुक्त नहीं होता, तब निश्चयपूर्वक मानना होगा कि शब्द की शक्ति रूप सत्ता कम हो गई।

जन रज्जब गोदावरी, गोरख गिरा सु गाल ।
सूधे[1] सिध ऊंधे[2] शिला, देख हुये तत्काल ॥ ९ ॥

देखो, गोदावरी कुंभ मेले में गोरक्षनाथ जी के मुखसे निकली वाणी (खड़े सिद्ध, बैठे शिला) से तत्काल ही उनके अनुकूल[1] तो सिद्ध होगये और उनसे प्रतिकूल[2] शिला होगये। अब वह वाणी बोलने से कहां सिद्ध और शिला होते हैं ? अर्थात् सिद्धों के मुखसे ही ऐसा होता है। वैसे ही गुरु के मुख के शब्द से ही शिष्य मुक्त होते हैं।

प्रसंग कथा—गोदावरी कुंभ मेले में नाथों की जमात के लिये आने वाली मतीरों की गाडी से गोरक्षनाथ ने मार्ग में एक मतीरा से आधा लेकर आधा गाड़ी में रख दिया था। नाथ समूह ने गाडी जूंठी करने का दोष लगाकर, मत्सेन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ के हाथ पीछे की ओर बाँधे, शिरों पर भारी पत्थर रक्खे और धूप में खड़े कर दिये। यह देखकर अच्छे २ संत तो इस दंड को अनुचित बताकर सभा में खड़े होगये और अभिमानी बैठे २ हँस रहे थे। उसी समय गोरक्षनाथ ने 'खड़े सिद्ध बैठे शिला' वाणी कही थी। यह कथा छप्पय ग्रन्थ के 'आज्ञा भंग अंग १४।१' की टीका में विस्तार से है वहाँ देखो।

उहै[1] शब्द आनन[2] अनन्त, कहैं सुनैं सब कोय ।
पै रज्जब उहिं[3] शक्ति बिन, सिद्ध शिला नहिं होय ॥१०॥

वही[1] शब्द अब अनन्त मुखों[2] से कहा सुना जाता है किन्तु उस[3] गोरक्षनाथ की शक्ति बिना न कोई सिद्ध होता है और न कोई शिला होता है ।

रज्जब मुये जिलावता, मंत्र धन्वन्तरि वैद[1] ।
वह विद्या वादी[2] अजहुँ, परि वह नुकता[3] नहिं कैद[4] ॥११॥

पूर्व काल में मंत्र और धन्वन्तरि वैद्य[1] मुर्दों को भी जीवित कर देते थे , वही मंत्रविद्या और उसके कथन[2] करने वाले अब भी हैं किन्तु वह मुर्दों को जीवित करने वाली सूक्ष्म बात[3] रूप शक्ति उनके अधीन[4] अब कहां है ? वह तो उन्हीं के साथ थी वैसे ही ज्ञान की बातें करने वाले तो बहुत हैं किन्तु शिष्यों को जीवन्मुक्त बनाने वाले कहां हैं ? वे तो सद्गुरु ही होते हैं ।

रसन रसातल पर पड़ी, ज्ञान गजा[1] सु अपार ।
रज्जब जड़[3] गढ़ भानते,[2] गये उठावनहार ॥१२॥

पृथ्वी पर अपार भारी शिलायें[1] वा गदायें[1] पड़ी हैं किन्तु उनको उठा कर जो किलों को तोड़ते[2] थे, वे चले गये, तब किले कैसे टूटें । वैसे ही जिह्वा से ज्ञान की बातें तो बहुत कही जाती हैं किन्तु उन्हें धारण करके जड़ता[3] अर्थात् अज्ञान को नष्ट करते थे वे साधक नहीं रहे । भाव यह है—योग्य गुरु शिष्यों का संयोग ही मुक्ति का हेतु है, वियोग नहीं है ।

भूत[1] बात सुन भूत की, भूत होत क्या बेर ।
सोइ बात बहु वदन सुन, सोन होत तो फेर ॥१३॥

भूत बात को सुनकर प्राणी[1] को भूत होते देर नहीं लगती, किन्तु वही बात फिर परम्परा से बहुत मनुष्यों के मुखों से सुनने पर भी वह भूत होना रूप कार्य तो नहीं होता तब उस बात में परिवर्तन अवश्य माना जायगा । वैसे ही ब्रह्मवेता के मुखसे महावाक्य सुनने पर ब्रह्म प्राप्ति में कुछ भी देर नहीं लगती । वही महावाक्य ब्रह्मवेता से भिन्न अनेक परोक्ष ज्ञानी सुनाते हैं किन्तु उससे कोई भी द्वन्द्वों से मुक्त होकर ब्रह्मनिष्ठ नहीं होता ।

रज्जब वपु वायक मिलत, फहम[1] करहु बहु फेर ।
मनसा वाचा कर्मना, हाजिर हडका[2] हेर[3] ॥१४॥

एक तो सद्गुरु सन्मुख स्थित होकर उपदेश करें और एक उनका वचन परम्परा से सुनें। विचार[1] करके देखो,[3] इन दोनों बातों में बहुत अन्तर है। वचन मात्र सुनने से मन वचन कर्म से उनके सम्मुख उपस्थित होने की अति उत्कंठा[2] होती है।

साधु[1] सिह के शब्द सु शंकित,[2] दर्श दुखी परस[3] नास।
रज्जब कही विचार कर, त्रिविधि भांति की त्रास ॥१५॥

जैसे सिंह के शब्द सुनने से व्यक्ति चिंतित[2] होता है, सिंह को देखने से दुखी होता है और सिंह पकड़ले[3] तो नाश ही हो जाता है। वैसे ही श्रेष्ठ[1] गुरु शब्द से त्रिताप चिंतित होती हैं, दर्शन से व्यथित होती हैं और स्वरूप साक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाती हैं, यह हमने विचारकर के ही कहा है।

गुरु अगनी सेवा त्रिविधि, देख ताप सत माँहि।
जन रज्जब मुर[1] मामले[2], एक बंदगी नाँहि ॥१६॥

अग्नि में काष्ठ डालना, वायु देना और जल से बचाना यही तीन प्रकार की अग्नि की सेवा हैं। वैसे ही गुरु में भी देखो, सत्य रूप ताप है, अतः उनको भी भोजन देना, उनके साधन में विघ्न न होने देना, अनुकूल वातावरण से प्रसन्न रखना, यही तीन प्रकार की सेवा है, वा तन मन वचन से सेवा करना ही त्रिविध सेवा है। इन तीन[1] कामों[2] के लिये एक प्रकार की सेवा नहीं होती, तीन प्रकार की ही होती है और गुरु संयोग से ही होती है, वियोग होने पर नहीं होती।

हनुमंत हाँक हनुमंत मुख, तो व[1] हीज अब होय।
पै रज्जब ता शब्द का, वक्ता औरै कोय ॥१७॥

हनुमान जी के मुखसे हनुमान जी की हाँक सुनते ही पुरुष हिजड़े हो जाते थे किन्तु अब हनुमान जी के बिना अनेक मानव वही[1] आवाज दें, कोई नहीं हिजड़ा होता। वैसे ही ब्रह्म वेता के मुख से महावाक्य रूप शब्द सुनने से ब्रह्मवेता होजाते थे, अब उसी महावाक्य को अनेक परोक्ष ज्ञानी सुनाते हैं परन्तु कोई भी ब्रह्मवेता नहीं होता, कारण— महावाक्य का यथार्थ वक्ता तो विद्या मात्र के विद्वानों से भिन्न ब्रह्मनिष्ठ ही होता है। सिंहल द्वीप में हनुमान जी किसी नियत समय पर हाँक मारते हैं उसे सुनने वाले पुरुष हिजड़े हो जाते हैं। यह कथा छप्पय ग्रंथ के असाध्य रोग अंग के छप्पय दो की टीका में विस्तार से है वहां देखो।

चंबुक चर्चा गहि गुण गाढ़, सुरति सूई रज रिधि सौं काढ़।
पारस गुरु मिलतहि गति जोय, वहि सोना वहि साधू होय ॥१८॥

जैसे चम्बुक सूई को रज से निकालकर पकड़ लेता है। वैसे ही ज्ञान चर्चा माया रूप ऋद्धि और मायिक गुणों से वृत्ति को निकालकर दृढ़ता से पकड़ लेती है, माया में नहीं जाने देती। लोहा पारस से मिलता है और शिष्य सद्गुरु से मिलता है। तब देखो, मिलते ही उनकी क्या गति होती है। जो गलियों में पड़ा काट से गल रहा था वही लोहा सुवर्ण बन जाता है और जो संसार के विषयों में आसक्त था वही प्राणी निरासक्त संत बन जाता है। ये उक्त संयोग से ही बनते हैं।

रज्जब सद्गुरु ज्योति जिव, शब्द सही सुप्रकास।
शिष सोने कर्म काट[1] का, कहिं मिल होय सु नास ॥१९॥

सद्गुरु जीवों के लिये ज्योति के समान हैं, उनके यथार्थ शब्द ही सुन्दर प्रकाश है। लोहे के खंड पारस से कहीं भी मिले उनके मैल[1] का नाश होकर वे सुवर्ण बन जाते हैं; वैसे ही शिष्य गुरु से कहीं भी मिलें, उनके कर्मों का नाश होकर वे ब्रह्मनिष्ठ हो जाते हैं।

गुरु नराधिपति शिष उमराव[1], वचन बीच प्रतिहार[2] सुभाव।
घट[4] बध[3] पटा करे नर नाथ, सो निधि[5] नहीं शब्द के हाथ ॥२०॥

गुरु राजा के समान हैं, शिष्य सरदारों[1] के समान हैं, वचन समाचार देनेवाले[2] के समान हैं, सरदारों के लिये पट्टा करते समय कमी[4] वेशी[3] करनी हो, तो राजा ही कर सकता है, यह राजा के हाथ का खजाना[5] समाचार देने वाले के हाथ नहीं है, वैसे ही शिष्यों की योग्यता की कम वेशी गुरु के ही हाथ है अन्य के नहीं।

ओंकार आतम अवतार, ता सुत शब्द सदा प्रतिहार[1]।
इष्टों लग पोरचों[2] प्रवेश, आगे रज्जब दाता देश ॥२१॥

ओंकार आत्मा का ही अवतार है। शब्द सृष्टि का आदि कारण ओंकार है, इसलिये उससे उत्पन्न, उसके पुत्र रूप शब्द ही संदेश-वाहक[1] हैं, उन शब्दों में से भी जो इष्ट देव परब्रह्म की ओर लगते हैं अर्थात् परब्रह्म का बोध कराते हैं, उन शब्दों के द्वारा ही परब्रह्म के अन्तरंग साधन रूप द्वारों[2] में प्रवेश किया जाता है, फिर आगे तो विश्व को आजीविका देने वाले परब्रह्म का निर्विकल्प समाधि रूप देश आही जाता है और इसमें ब्रह्म का साक्षात्कार भी हो जाता है।

विवेकी जीव वस्ती जहाँ, ब्रह्म बासदे[1] माँहि।
शब्द धूम व्योम[2] हि गहै, चुणे चकोर सु नाँहि ॥२२॥

जहाँ विवेकी जीवों की बस्ती है, वहाँ ब्रह्म रूप अग्नि[1] है, उसकी ब्रह्म ज्ञान युक्त शब्द रूप धुआं को भी जिज्ञासु रूप आकाश[2] ग्रहण करता

है किन्तु इसे भेदवादो रूप चकोर खा नहीं सकता, कारण–जैसे बस्ती के चूल्हों में चकोर नहीं पहुँचता, वैसे ही विवेकियों के हृदय में भेदवादियों की वृत्ति नहीं पहुँचती ।

मति सु मुकर जड़ में दरसे, चेतन को मुख दोष ।
सोइ लाज आतम करे, रज्जब व्है संतोष ॥२३॥

जैसे जड़ दर्पण में चेतन मनुष्य को अपने मुख के दोष दीखते हैं तब वह उनसे लज्जित होकर उनको हटाता है और हटजाने पर उसे प्रसन्नता होती है । वैसे ही बुद्धि में मल, विक्षेप, आवरण दोष दिखाई देते हैं उनसे जो लज्जित होकर उन्हें हटाता है तब उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होकर संतोष होता है ।

गुरु चंदन शिष वनी विधि, पेखो पलटे पास ।
रज्जब दूर न मूर[1] व्है, शब्द सकल भर वास ॥२४॥

देखो, चन्दन के पास वन होगा, उसके वृक्षों को तो चंदन अपनी सुगन्ध भर कर बदल देगा । परन्तु दूर होने पर तो लेश[1] मात्र भी परिवर्तन नहीं हो सकता । वैसे ही गुरु के पास रहने वाले शिष्यों को तो गुरु अपने शब्दों द्वारा उनमें ज्ञान भरकर असंत को संत रूप में बदल देगा, किन्तु दूर होगा उसे तो लेश मात्र भी नहीं बदलेगा ।

रज्जब पावे दूरसौं, शब्द वास नर नाग ।
पै गुरु चंदन पास गये, शीतल होंय सुभाग[1] ॥२५॥

सर्प को चन्दन की सुगन्ध तो दूर से मिल जाती है किन्तु उसके विष की गरमी मिटकर शीतलता तो तभी प्राप्त होती है, जब सर्प चन्दन के पास जाकर उसके लिपटता है । वैसे ही गुरु का शब्द तो परम्परा से साधकों के द्वारा मिल जाता है, किन्तु परम शांति प्राप्त होने का सौभाग्य[1] तो गुरु के पास जाने पर ही मिलता है ।

रज्जब केशर खेत गुरु, बीज वचन बिच जोर ।
आन[1] अवनि[2] उर विपुल[3] अति,पै सो कण[4] करहिं न फोर[5] ॥२६॥

जिसमें केशर उत्पन्न होती है उसी खेत में केशर का बीज डालने से वह जोर करता है, दूसरे[1] पृथ्वी[2] के खेत अत्यधिक[3] हैं किन्तु उनमें वह बीज[4] अँकुरित[5] नहीं होता । वैसे ही ज्ञान के वचन गुरु के हृदय में ही सबल रहते हैं, अन्य हृदय तो अत्यधिक हैं किन्तु उनमें वह अज्ञान नष्ट करने की योग्यता नहीं रखता ।

रज्जब सद्गुरु सीप सम, शिष व्है स्वाति सुनीर ।
मन मुक्ता मधि निपज ही, जुदे न निपजे वीर ॥२७॥

गुरु रूप सीप में शिष्य रूप स्वाति विन्दु पड़ता है अर्थात् गुरु के उपदेश में शिष्य की चित्तवृत्ति लगती है, तब ज्ञान रूप मोती उत्पन्न होता है। हे भाई ! सीप से स्वाति विन्दु दूर रहे और गुरु से शिष्य दूर रहे, तो दोनों में ही मोती और ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

सद्गुरु सुन्दरि शुक्ति मधि, शिष सुत मुक्ता खेत ।
देखो निपजे ठौर नग, जन रज्जब कह देत ।।२८।।

पुत्र उत्पन्न होने का गर्भाशय रूप खेत नारी में है, मोती के उत्पन्न होने का खेत सीप का मध्य भाग है और देखो, अन्य नग भी अपने उत्पन्न होने के स्थान में ही उत्पन्न होते हैं। वैसे ही शिष्य के उत्पन्न होने का ज्ञान रूप खेत सद्गुरु में है अर्थात् गुरु ज्ञान से ही शिष्य को तत्त्व ज्ञान होता है। यह हमने यथार्थ ही कहा है।

केशर कनक कपूर मुक्त मन, यह पैदायश जोय ।
खेत नदी है केलि शुक्ति गुरु, ठाहर उत्पति होय ।।२६।।

केशर खेत में, स्वर्ण सुमेरु से आने वाली नदियों में, कपूर केले में, मोती सीप में उत्पन्न होता है, वैसे ही गुरु के संग से मन में ज्ञान उत्पन्न होता है।

पिंड प्राण बिन कुछ नहीं, सूखी काया काठ ।
त्यों अनुभव बिन अनुभवी, ज्यों पंडित बिन पाठ ।।३०।।

प्राणाधारी जीव के बिना यह शरीर शुष्क काष्ठ के समान कुछ भी सारयुक्त नहीं, पाठ स्मरण न हो तो पंडित कुछ नहीं, यथार्थ अनुभव न हो तो नाम मात्र का अनुभवी कुछ नहीं, वैसे ही गुरु संयोग बिना शिष्य कुछ नहीं।

रज्जब वपु वायक[1] चले, परस्यो[2] पूरा पीर[3] ।
पर काया सु प्रवेश गुरु, मृतक शब्द शरीर ।।३१।।

गुरु के शरीर से वचन[1] चलते हैं, वे जिसके हृदय को स्पर्श[2] करते हैं, वह पूरा सिद्ध[3] हो जाता है। इस प्रकार गुरु मृतक शब्द रूप शरीर से अपने से भिन्न शिष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं।

गुरु पंडित अक्षर शबद, आदम[1] अपढ न लेश ।
रज्जब पैठे पीर[2] सँग, पर ठाहर सु प्रवेश ।।३२।।

अक्षर ही गुरु है, शब्द ही पंडित है, अतः अक्षर और शब्दों को सभी जानते हैं, मानव[1] किंचित् मात्र भी अपठित नहीं है फिर भी माया से परे ब्रह्म रूप स्थान में निर्विघ्न प्रवेश करना होता है तब तो सिद्ध[2] गुरु के संग से ही प्रवेश होता है, अन्यथा नहीं।

जैसे राछ[1] अकज[4] सब, उस्तादहुं[2] बिन जेम[3] ।
त्यों रज्जब गुरु बिनगिरा, मनसा वाचा नेम[5] ॥३३॥

जैसे जो[3] भी करीगरों[2] के औजार[1] हैं, वे कारीगरों के बिना सभी बेकार[4] हैं, हम मन वचन से नियम[5] करके कहते हैं, वैसे ही गुरु बिना वाणी ब्रह्म को नहीं दिखा सकती ।

रज्जब पागी[1] बिना न पग कढैं, देखो धर गिरि नीर ।
शब्द खोज तत पंच पर, सो क्यों निकसे बिन पीर[2] ॥३४॥

देखो, पृथ्वी, पर्वत और जल में कहीं भी खोजी[1] बिना मानव के खोज भी नहीं निकलते, फिर शब्द ब्रह्म का खोज तो पंच तत्त्व रचित संसार के ऊपर जाकर निकाला जाता है, वह बिना सिद्ध[2] सद्गुरु के कैसे निकलेगा ?

नाम शब्द निज नाव है, समुद्र रूप संसार ।
रज्जब गुरु खेवट बिना, चढे न पहुँचे पार ॥३५॥

परमात्मा के नाम तथा ज्ञानमय शब्द निजी नौका है, संसार ही समुद्र है, जैसे नौका पर चढ़ तो सकता है किन्तु पर पार तो केवट बिना नहीं पहुँच सकता, वैसे ही नाम उच्चारण करना और ज्ञान की बातें याद कर लेना, यही नाम तथा शब्द रूप नौका में चढना है किन्तु गुरु-केवट बिना संसार से पार कभी भी नहीं हो सकता ।

परख बिना नाणा[1] न कुछ, वैद्य बिना औषद्ध[2] ।
त्यों रज्जब सद्गुरु विमुख, शब्द मिले जिव[3] रद्द[4] ॥३६॥

परीक्षा के बिना रत्न[1] वा सिक्के[1] कुछ नहीं, वैद्य बिना औषधि[2] कुछ नहीं, वैसे ही सद्गुरु से विमुख प्राणी[3] को शब्द मिलने पर भी बेकार[4] है, कारण—गुरु बिना केवल शब्द से परम पद प्राप्त नहीं होता ।

वचन बाट बहुतै[1] चली, जीव खड़ा तहँ आय ।
रज्जब गुरु भेदी[2] बिना, प्राण[3] पंथ किहिं जाय ॥३७॥

जिनने शास्त्र बचन रूप मार्ग में बहुत ही[1] गमन किया है, अर्थात् पढ़ गये हैं, वेद दर्शनाचार्य होगये हैं । ऐसे विद्वानों के पास आकर जीव कल्याणार्थ स्थित होते हैं किन्तु शास्त्र में अनेक मार्ग बताये हैं । जब तक किसी भी एक साधना को सांगोपाँग करके ब्रह्म प्राप्त न कर सके, तब तक साधन मार्ग का पूरा रहस्यवेता[2] नहीं हो सकता । अतः साधन-मार्ग के रहस्यवेता सद्गुरु के बताये बिना साधक[3] किस साधन-मार्ग से ब्रह्म प्राप्ति के लिये आगे बढे ? विद्वान् तो पठित वचन सुना देता है, साधन-मार्ग में उसकी गति नहीं होती जो ठीक साधन बता सके ।

रज्जब राजा बिन कटक, बनजारों बिन बैल ।

त्यों सद्गुरु बिन शब्द दल, ह्वै न काज[1] की सैल[2] ॥३८॥

राजा बिना सेना का और बनजारों बिना बैलों का गमन ठीक नहीं होता, वैसे ही सद्गुरु बिना शब्द-सैन्य का भी अज्ञान नाश रूप कार्य[1] सिद्ध हो सके ऐसा गमन[2] नहीं हो सकता अर्थात् सद्गुरु बिना केवल शब्दों से ब्रह्म प्राप्ति होना संभव नहीं है ।

रज्जब आतिशबाज[1] बिन, गोला नालि[2] न काज ।

ऐसी विधि गुरु बिन गिरा, ज्यों नर बिन गज बाज[3] ॥३९॥

बारूद बनाने वाले[1] के बिना गोला, गोली, तोप[2], बन्दूक[2] किस काम की हैं ? ये सब बारूद होने पर ही काम देती हैं तथा मनुष्य बिना हाथी और अश्व[3] भी किस काम के हैं अर्थात् ये मनुष्य के द्वारा ही काम करते हैं । वैसे ही सद्गुरु बिना वाणी ब्रह्म प्राप्ति कराने में सफल नहीं हो सकती ।

पुस्तक पैगह[1] वचन सु बाज,[2] अर्थ असवार गुरु गति राज ।

चढे चढाये नहिं तहँ नाँहीं, रज्जब रचना यह दल[3] माँहीं ॥४०॥

पैदल[1] सेना, अश्व[2] और सवार की गति राजा के अधीन है, राजा आज्ञा देता है, उसी प्रकार सेना[3] में चढाई करना रूप रचनात्मक कार्य की व्यवस्था होती है, नहीं आज्ञा दे तो नहीं होती । वैसे ही पुस्तक, वचन और अर्थ ये गुरु के द्वारा ही कार्य करने में समर्थ होते हैं । गुरु इनका अज्ञान नाशार्थ प्रयोग करे, तो अज्ञान को नष्ट करते हैं, नहीं तो नहीं कर पाते ।

बैन बाजि निज नाम को, कहत सुनत जग माँहि ।

पै रज्जब गुरु असवार बिन, कारज आवहिं नाँहि ॥४१॥

अश्व का नाम कहने-सुनने से ही कोई कार्य नहीं होता, सवार द्वारा ही अश्व से कार्य होता है । वैसे ही जगत् में अपने २ इष्ट का नाम सभी कहते सुनते हैं किन्तु भगवान् नहीं मिलते । गुरु द्वारा उसकी साधन पद्धति जानकर आन्तर साधना करने से ही वह भगवत् प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध करने में समर्थ होता है ।

चाबुक अंकुश शब्द सत, हय गय मन पर धार ।

रज्जब गुरु असवार बिन, को काढै पशु मार ॥४२॥

चाबुक अश्व पर, अंकुश हाथी पर रख दिया जाय तो क्या वे जिस स्थान में हैं, वहां से रखने वाले के इच्छित स्थान पर जा सकते हैं ? नहीं । किन्तु उन पशुओं पर सवार बैठकर चाबुक, अंकुश मारते हुये चलावेगा

तभी अभीष्ट स्थान को जायेंगे । वैसे ही मन ने सत्य शब्द रट लिये तो क्या है ? कुछ नहीं । गुरु उनका अर्थ समझाना रूप चोट मार कर मन को विषयासक्ति से निकाल के ज्ञान-मार्ग द्वारा परब्रह्म रूप स्थान में ले जाकर लय करता है, तभी प्राणी मुक्त होता है ।

शब्द पुराणी[1] क्या करे, जे गुरु खाडती[2] नाँहि ।
रज्जब चले न बैल रथ, समझ देख मन माँहि ॥४३॥

बैलों को चलाने की लकड़ी[1] रथ पर रख दी जाय,तो रथ के बैल चलते हैं क्या ? हाली[2] उस लकड़ी की चोट मार कर चलाता है तभी बैल चलते हैं । वैसे ही मन में विचार कर देखो, गुरु के बिना केवल शब्द से शिष्य का मन साधन-मार्ग में नहीं चल सकता । गुरु जब साधन-पद्धति बतायेंगे तभी साधन-मार्ग से प्रभु को प्राप्त होगा ।

विचार नाथ वायक दिया, लिया सु चेतन नाथ ।
रज्जब निपजे देखतौं, चेला हाथों हाथ ॥४४॥

विचारशील गुरु रूप विचारनाथ ने उपदेश रूप शब्द प्रदान किया और साधन में सावधान शिष्य रूप चेतननाथ ने ग्रहण किया, ऐसे शिष्य के हृदय में वर्तमान शरीर में देखते २ ही हाथों हाथ ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

अरिल—सद्गुरु सूरज कांति, सूर सम है धणी[1] ।
शब्द सलिल कफ[2] कान, गुरू शिष अति बणी ॥
आदम[3] अश्म[4] असंख्य तहां नहिं यहु कला ।
परिहाँ रज्जब योग दुर्लभ भाग लहि ये भला ॥४५॥

सूर्य किरण द्वारा वर्षा जल अँजली[2] में प्राप्त हुआ हो और सूर्य का प्रकाश भी हो, तब सूर्य का प्रतिबिम्ब अंजली के जल में भासता है, वैसे ही ब्रह्म-ज्ञान युक्त गुरु के शब्द कान द्वारा शिष्य के हृदय में जावें और ब्रह्म[1] का ज्ञान रूप प्रकाश हो, तब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । इस प्रकार के गुरु-शिष्य हों तब उनकी विशेष रूप से बनती है, अन्यथा पत्थर[4] रूप मनुष्य[3] असंख्य हैं, किन्तु उनमें यह ज्ञान कला प्रकट नहीं होती । यह जीव का मिलन रूप योग होना अति दुर्लभ है, कोई अच्छे भाग्य से ही मिलता है ।

चिदानन्द चन्द्र सु कला, चन्द्र मणी गुरु संत ।
उभय मिलत अमृत स्रवे, पीव हिं जीवन जंत ॥४६॥

चन्द्र किरण चन्द्रमणि पर पड़ती है तब उससे अमृत टपकने लगता है, उसे पान करके प्राणी जीवित रहते हैं । वैसे ही चिदानन्द ब्रह्म का

ज्ञान-प्रकाश गुरु रूप संत में आता है, तब गुरु से ज्ञानामृत टपकने लगता है, उसे जिज्ञासु जीव पान करके ब्रह्मरूप नित्य जीवन प्राप्त करते हैं।

शब्द बीज करसा गुरु, चेला चकहुँ[1] स्वरूप।
नाम नाज यूं नीपजे, महर मेघ हरि भूप ॥४७॥

राजा की कृपा से भूमि[1] मिले, किसान उसमें बीज बोये फिर भली प्रकार मेघ वर्षा करे तब नाज उत्पन्न हो। वैसे ही गुरु अपने शब्दों से शिष्य को उपदेश करे और हरि कृपा हो तब निरंतर हरिनाम चिन्तन द्वारा ब्रह्म निष्ठा प्राप्त होती है।

शब्द आरसी[1] अर्थ सु आगी, सद्‌गुरु सविता[2] सन्मुख जागी।
आरति[4] बीच अहार[3] अनूपा, प्रीतम पावक प्रकटहि रूपा ॥४८॥

आतशी शीशा[1] में सूर्य[2] की किरण पड़ती है तब उससे अग्नि निकलता है, उस शीशे के नीचे अग्नि के भोजन[3] रूप कोमल तृण रूई आदि कुछ होता है तब वह अग्नि प्रकट रूप में आकर तृणादि को भस्म करता है। वैसे ही सद्‌गुरु के सन्मुख शब्द आते हैं तब उनसे अर्थ निकलता है और हरि वियोग दुख[4] से युक्त साधक के हृदय में अनुपम प्रियतम का स्वरूप प्रकट होता है, वह वियोग व्यथा को नष्ट कर डालता है।

गुरु शिष नर नार्यों मिल्यूं, ब्रह्म बाल विधि होय।
शब्द शुक्र[1] सुरति[2] सुन्दरि, फल पावे नहिं कोय ॥४९॥

नर-नारी के मिलन विधि से ही बालक उत्पन्न होता है, विदेश से नारी के पास वीर्य[1] भेज दिया जाय, तो बालक रूप फल नहीं मिलता। वैसे ही गुरु शिष्य के मिलने पर ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है, गुरु की पुस्तक पढने से ही शिष्य की वृत्ति[2] को अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान रूप फल नहीं मिलता।

त्रिविध भाँति तरणी[1] तपे, तिमिर हंत सम भाय[2]।
सविता[3] सद्‌गुरु आथवैं[5,4], पाला[5] अघ[6] न गराय[7] ॥५०॥

ग्रीष्म, वर्षा और शीत काल इन तीनों समयों में सूर्य[1] तीन प्रकार से तपते हैं तथा अंधकार को तीनों ही समय में सम भाव[2] से नष्ट करते हैं, किन्तु सूर्य[3] छिप[4] जाने पर बर्फ[5] तो नहीं गलता[7]। वैसे ही सद्‌गुरु भक्ति, योग और ज्ञान के ग्रन्थ लिखकर उपदेश तो सबको समभाव से ही करते हैं किन्तु साधक के सन्मुख न होने से उसके हृदय का संशय विपर्य्य रूप पाप[6] नष्ट नहीं होता।

रज्जब साधु शब्द सुरही[1] सु पय[2], कीये पलट अशुद्ध।
अब अर्थ घृत काढे बिना, दीपक बलै[3] न दुद्ध ॥५१॥

गो[1] के दूध[2] में जामन देकर उसे दही रूप में बदल दिया जाय तब न तो वह दूध रहता और न घृत निकाले बिना उस से दीपक ही जलता[3] है। वैसे ही लोक, गुरु-रूप संत के वचन बदल लेते हैं तब न तो वे शुद्ध रूप में रहते और न उनसे यथार्थ अर्थ निकाले बिना ज्ञान-दीपक ही जलता है।

काष्ट लोह पाषाण शब्द सत, अगनी अर्थ प्रकाश।
कौन काम का सौं सरे, सुन हुँ विवेकी दास ॥५२॥

काष्ट, लोहा, पत्थर इन में अग्नि होता है और उसका प्रकाश भी होता है किन्तु किस के प्रकाश से कौन-सा काम सिद्ध होता है ? अर्थात् मनुष्य बिना कुछ भी नहीं होता। वैसे ही हे विवेकी दास सुन ! सत्य शब्दों में अर्थ हैं किन्तु सद्गुरु बिना किस के अर्थ से कौन-सा काम होता है ? अर्थात् गुरु मुख द्वारा सुने शब्दों से ही ज्ञान द्वारा ब्रह्म प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध होता है।

रज्जब शब्द समुद्र मधि, मत[1] मुक्ता निज ठौर।
सो गुरु मर जीवे बिना, आनि[2] न सकई और ॥५३॥

समुद्र में मोती अपने स्थान पर है, उसे मरजीवा बिना अन्य कोई भी नहीं ला[2] सकता। वैसे ही शब्दों में विचार[1] हैं किन्तु उसे गुरु बिना अन्य कोई भी नहीं निकाल सकता, गुरु ही निकाल कर शिष्यों को प्रदान करते हैं।

शब्द शाल[1] ताला जड़या, अर्थ द्रव्य धर माँहि।
सु गुरु दृष्टि कूंची बिना, हस्त सु आवे नाँहि ॥५४॥

शब्द रूप घर[1] में अर्थ रूप धन रखकर, अज्ञान रूप ताला लगा दिया है, यह सद्गुरु की युक्ति-युक्त ज्ञान-दृष्टि रूप ताली के बिना अन्तःकरण रूप हाथ में नहीं आ सकता।

वायक[1] बादल अर्थ जल, गुरु आज्ञा सु निकास।
बिन संयोग वर्षा बिना, चेले चकहु[2] निरास ॥५५॥

बादलों में जल है किन्तु वर्षा के योग बिना खेती[2] को नहीं मिलता। वैसे ही शब्दों[1] में ज्ञान रूप अर्थ है, किन्तु वह गुरु आज्ञा से ही निकलता है, बिना गुरुसंयोग के शिष्य शब्दों से निराश हुये-से ही रहते हैं।

महापुरुष पारस परसि, पलटहिं प्राण सु धात।
मिलतौं मंगल मौन में, रज्जब तहां न बात ॥५६॥

पारस से लोह धातु मिलती है तब तत्काल स्वर्ण रूप में बदल जाती है। वैसे ही महापुरुष से प्राणी मिलता है तब मौन में अखंड शांति रूप मंगल होता है, और वहां ब्रह्म भिन्न सांसारिक बात नहीं होती।

कह्या सु आया शिष कने[1], अकह रह्या गुरु माँहि ।
रज्जब वह कहिं और है, जो शब्द समावे नाँहि ॥५७॥

जो गुरु द्वारा शब्दों से कहा गया, वह शब्दार्थ रूप ज्ञान तो शिष्य के पास[1] आगया और जो न कहा गया वह गुरु में ही रहा, किन्तु जो ब्रह्म शब्दों में नहीं समाता वह तो शब्दार्थों से भिन्न कहीं और ही स्थिति में है अर्थात् शब्द सद्भाव से रहित निर्विकल्पावस्था में ही उसका आत्मरूप से साक्षात्कार होता है ।

गुरु वकील निज ब्रह्म कने[1] शब्द रहैं संसार ।
बहु बचनों बहुते मिलैं, विरला सद्गुरु लार ॥५८॥

ब्रह्म रूप न्यायाधीश के पास[1] जीवात्मा का सद्गुरु रूप निजी वकील रहता है, और शब्द तो संसार में रहते हैं, विविध प्रकार के प्रवचनों रूप शब्दों द्वारा तो ब्रह्म से बहुत मिलते हैं अर्थात् शब्दों द्वारा तो ब्रह्मज्ञानी बहुत बनते हैं, किन्तु सद्गुरु के बताये हुये साधनों द्वारा सद्गुरु के साथ लगकर कोई विरला साधक ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है । जैसे वकील न्यायाधीश के पास अपने मुवक्कल का समर्थन करता है, वैसे ही सद्गुरु अपने शिष्य का ब्रह्म के पास समर्थन करता है अर्थात् संशय विपर्य्य से रहित करके अद्वैत स्थिति में लाता है ।

ओंकार आतमा क्षीरं[1], ताहि जमाया मथैं घृत वीरं[2] ।
वाणी तक्र[3] जुदे जीव जाणी, उलटि मिले जाँवण पय[4] पाणी॥५९॥

दूध[1] को जमाकर मन्थन करते हैं तब घृत छाछ[3] से अलग हो जाता है और वह छाछ का जल जामन के रूप में पुनः दूध[4] में मिल जाता है किन्तु घृत नहीं मिलता । हे भाई[2] ! वैसे ही ओंकार के चिन्तन द्वारा जीवात्मा का अन्तःकरण स्थिर होता है, फिर स्थिर बुद्धि के द्वारा विचार किया जाता है तब अपरोक्ष ज्ञान होता है, अपरोक्ष ज्ञान होने पर जीव, ओंकारादि शब्द रूप वाणी को और अपने स्वरूप को भिन्न जानकर स्व-स्वरूप ब्रह्म में ही स्थित होता है, फिर संसार में नहीं आता और शब्द पुनः संसार में मिल जाते हैं ।

सीखी साखी विसाह्या[1] बरा,[2] नाथ बोले खोटा[3] न खरा[4] ॥६०॥

६०-६३ में अपने कथित विचारों पर प्रमाण दे रहे हैं—संतों की साखी तो सीखली और लोगों को सुनाकर उससे बड़ा[2] मोल लिया[1] अर्थात् उसका फल भोग ही प्राप्त किया । कारण— गुरु बिना अपने आप सीखे हुये साखी शब्दों से ब्रह्म-बोध नहीं होता, यह हम मिथ्या[3] नहीं बोलते, सत्य[4] ही कहते हैं ।

६० का पद्य गोरक्ष नाथादि में से किसी श्रेष्ठ नाथ संत का ज्ञात होता है ।

कबीर सोई अक्षर सोई बयन,[1] जण[2] जू[6] जूवा[3] चवंति[4]।
कोई जु मेल्है[5] केलिवणि,[7] अमी रसायन हुंति[8] ॥६१॥

वही अक्षर और वही वचन[1] सब बोलते हैं किन्तु जो[6] कोई ज्ञानी जन[2] उनमें होने वाली[8] ज्ञानामृत रसायन को टपकाता[4] है वह दूसरा[3] ही होता है और कोई विरला साधक ही उसे अपनी विचार-शक्ति[7] से हृदय में धारण[5] करता है। इसमें कबीरजी के वचन से अपना विचार प्रामाणिक है यह बताया है।

दादू कहँ आशिक[1] अल्लाह के, मारे अपने हाथ।
कहँ आलम[2] औजूद[3] सौं, कहै जबाँ[4] की बात ॥६२॥

जो अपने साधन रूप हाथों से निजी इन्द्रिय, मन, देहाध्यासादि पर विजय प्राप्त की है, ऐसे प्रभु के प्रेमी[1] गुरु कहां और जो सांसारिक[2] भोगों में आसक्त, देहाध्यास[3] से बँधे हुये हैं, केवल मुखसे[4] ज्ञान की बातें करते हैं, वे कहां। अर्थात् सच्चे गुरु के संयोग से ही जीव का कल्याण होता है। झूठे गुरु के संयोग से नहीं।

देवे किरका[1] दरदका, टूटा जोड़े तार।
दादू सांधे[2] सुरति को, सो गुरु पीर[3] हमार। ६३॥

जब से तू भगवद् विमुख हुआ है, तब से दुःख ही दुःख पा रहा है। ऐसा उपदेश करके भगवद्-विरह दुःख का कण[1] प्रदान करे और अज्ञान-बश विषयों में आसक्त होने से जो भजन का तार टूट गया है, उसे जोड़ दे अर्थात् प्राणी को भजन में लगादे। वृत्ति भंग के कारण-प्रमाण, विकल्प, विपर्य्य, निद्रा, स्मृति से वृत्ति को बचाकर आत्म-स्वरूप ब्रह्म में जोड़[2] दे। उक्त लक्षणों से युक्त, सिद्ध[3] सन्त है, वही हमारा गुरु है।

६२-६३ अपने गुरुजी के विचारों द्वारा अपना विचार प्रमाणिक सिद्ध किया है।

साँचे सद्गुरु की कथा, जैसा दीपक राग।
रज्जब वाणी स्वर सुनत, जड़ दिल दीपक जाग ॥६४॥

जैसा दीपक राग होता है, वैसी ही सच्चे सद्गुरु की कथा होती है। दीपक राग को यथार्थ रूप से गाने वाला राग-सिद्ध गायक जब दीपकराग गाता है तब उसके मुखसे दीपक राग के स्वर निकलते ही दूर पड़ा जड़ दीपक बिना ही अग्नि के अपने आप प्रज्वलित हो जाता है। वैसे ही सच्चे सद्गुरु के मुख से निकली हुई वाणी को सुनने से अज्ञानी के हृदय में भी ज्ञान-दीपक जग जाता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरु संयोग वियोग माहात्मय का अंग ६ समाप्तः ॥ सा० ४०६ ॥

अथ विरह का अंग १०

गुरु संयोग वियोग अंग के अनन्तर भगवद् वियोग और वियोगियों का परिचय देने के लिये विरह का अंग कह रहे हैं—

कबहुँ सो दिन होयगा, पीव मिलेगा आय ।
रज्जब आनँद आतमा, त्रिविधि ताप तन जाय ।। १ ।।

वह दिन कब उदय होगा ? जिस दिन परब्रह्म का साक्षात्कार होने से शरीर के त्रय ताप दूर होकर जीवात्मा को ब्रह्मानन्द प्राप्त होगा ।

प्राण पिंड रग रोम सब, हरि दिशि रहे निहारि ।
ज्यों वसुधा[1] वनराय[2] सौं, विरही चाहै वारि[3] ।। २ ।।

जैसे पृथ्वी[1] वन पंक्तियों[2] से अलग होने लगती है अर्थात् वनस्पतियाँ सूखने लगती हैं तब जल[3]वृष्टि चाहती है । वैसे ही विरही के प्राण, शरीर, रग, रोम आदि सभी अंग उपांग हरि दर्शनार्थ हरि की ओर ही देखते रहते हैं ।

साधु शब्द श्रवणों सुने, विरह वियोगी बैन ।
तब तैं वेधी आतमा, रज्जब परे न चैन ।। ३ ।।

विरही ने जबसे विरह सम्बन्धी संतों के शब्द सुने हैं, तब से ही जीवात्मा उनके शब्द-बाण से विद्ध हो गया है, लव मात्र भी शांति नहीं मिल रही है ।

बादल विरह वियोग के, दर्द दामिनी[1] माँहि ।
रज्जब घट[2] ऐसी घटा, भैझड़[3] भागे नाँहि ।। ४ ।।

वियोगी के अन्तःकरण[2] में निम्नलिखित प्रकार घटा चढ रही है—वियोग के अनुभव द्वारा विरह रूप बादल चढ रहे हैं, व्यथा रूप बिजली[1] चमक रही है, और भयंकर झड़[3] लग रहा है, बन्द नहीं होता ।

विरहनि बिहरे[1] रैन दिन, बिन देखे दीदार ।
जन रज्जब जलती रहै, जाग्या विरह अपार ।। ५ ।।

विरहनी प्रियतम के दर्शन बिना चैन न पड़ने से रात-दिन इधर-उधर विचरती[1] है । अपार विरह उत्पन्न हो जाने से विरह-व्यथा से जलती रहती है ।

रज्जब कहिये कौन सौं, इस विरहा की बात ।
मानहुं रावण की चिता, अह निशि नहीं बुझात ।। ६ ।।

इस विरहाग्नि की बात किससे कहें, यह तो मानों रावण की चिता ही बन गई है, दिन-रात बुझती ही नहीं ।

विरहा पावक उर वसे, नख शिख जारे देह ।
रज्जब ऊपर रहम[1] कर, वर्षहु मोहन मेह[2] ॥ ७ ॥

यह विरह रूप अग्नि हृदय में बसता है और नख से शिखा तक शरीर को जला रहा है । हे विश्व-विमोहन परमात्मा रूप बादल[2] मुझ पर अनुग्रह[1] करके दर्शन रूप जल वर्षा कर इसे बुझाइये ।

विरहनि वसुधा की अगनि, ब्रह्म व्योम क्यों जाहि ।
रज्जब वर वर्षा बिना, उर धर क्यों सु सिराहि ॥ ८ ॥

जैसे पृथ्वी के वन का अग्नि आकाश में जाकर जलसे नहीं बुझता और न वर्षा बिना बुझता । वैसे ही विरहनी के हृदय का अग्नि ब्रह्म के पास नहीं जा सकता और न किसी अन्य से बुझता, है वह ब्रह्म रूप स्वामी का हृदय में दर्शन होने से ही बुझता है ।

विरही बालक गूंग पशु, काहि कहै दुख सुक्ख ।
रज्जब मन की मन रही, लहै न मारग मुक्ख ॥ ९ ॥

विरही, नवजात बालक, गूंगा और पशु अपना दुःख सुख किसको कहते हैं ? इनके मन की व्यथा मन में ही रहती है । जब तक ब्रह्म-ज्ञान रूप मुख्य मार्ग नहीं प्राप्त होता तब तक विरह का दुःख समाप्त नहीं होता ।

अंतर ही अंतर घणा, बिच ही बीच अपार ।
माँहीं माँहिं न मिल सकूं, दीरघ दुख करतार ॥१०॥

मेर अन्तःकरण के मध्य ही साक्षी रूप से मेरे प्रियतम रहते हैं किंतु फिर भी उनमें और मेरे में बहुत भेद है । वे विश्वकर्त्ता व्यापक हैं, अतः मैं उनके बीच में ही व्याप्य रूप से रहता हूँ किन्तु फिर भी उनके और मेरे मिलन में अज्ञान रूप अपार व्यवधान पड़ रहा है । वे मेरे में हैं, मैं उनमें हूँ, इस प्रकार ओत प्रोत होने पर भी उनका साक्षात्कार नहीं होता इसीसे महान् दुःख हो रहा है ।

रज्जब चखि[1] चुख[2] चिहुर[3] की, नैनहुँ काढे नीर ।
सांई सुरति सुमेरु सम, सु नैनहुँ अटके वीर[4] ॥ ११ ॥

नेत्र[1] की पलक के भीतर के छोटे २ परबालों[3] की चुभन[2] नेत्रों से जल निकालती है किन्तु हे भाई[4] ! प्रियतम प्रभु के वियोगाकार वृत्ति तो सुमेरु के समान विशाल होने पर भी वह जल नेत्रों में ही अटक जाता है अर्थात् प्रभु वियोग का दुःख तो बहुत होता है किन्तु नेत्रों से अश्रु नहीं गिरते, कारण- विरहाग्नि से भीतर ही जल जाते हैं ।

रज्जब बारह बाहिरा[1], विरह तेरहाँ मेघ ।
वाँहि[2] सौं तिन[3] कन[4] जन[5] सुवाँहि,[6] करै कौन कहु सेघ[7] ॥१२॥

बाहिर[1] के बारह मास के बारह सूर्य और तेरहवाँ बादल इन[2] से ही घासादि तृण[3] और अन्न[4] उत्पन्न होते हैं, वैसे ही विरह[6] द्वारा श्रेष्ठ भक्त[5] होते हैं। विरह उत्पन्न होने पर भक्त, भगवद् से भिन्न किस से संबन्ध[7] करता है ? जिसका संबन्ध परब्रह्म को छोड़ अन्य से नहीं होता वही श्रेष्ठ भक्त कहलाता है और ऐसा भक्त विरह उत्पन्न होने से ही होता है ।

दशवें कुल का नाग है, दरद सु देही माँहि ।
जन रज्जब ताके डसे, मंत्र रु मूली नाँहि ॥१३॥

नागों के दशवें कुल का नाग जिसे डसता है, वह उसके विष से बच नहीं सकता, कारण, उसके विष को दूर करने वाला न तो कोई मंत्र है और न कोई बूंटी है। वैसे ही जिसके हृदय में विरह का दर्द है, उसको दूर करने का भी मंत्र तथा बूंटी नहीं है। उसकी व्यथा तो प्रियतम के मिलने से ही मिटती है ।

रज्जब विरह भुवंग[1] परि, औषधि हरि दीदार ।
बिन देखे दीरघ दुखी, तन मन नहीं करार[2] ॥१४॥

विरह रूप सर्प[1] के काटने पर, हरि-दर्शन रूप औषधि उसके विष को उतार सकती है। हरि-दर्शन बिना विरही भक्त महान् दुखी रहता है, उसके तन और मन में उत्साह पूर्वक कार्य करने की शक्ति[2] नहीं रहती ।

भलका[1] लागा भाव का, सेवक हुआ सु मार ।
रज्जब तलफै तब लगे, मिले न मारन हार ॥१५॥

जबसे भगवद्-विरह भावना रूप भाला[1] मन के लगा है, तबसे ही मन भगवत् प्राप्ति में बाधक कामादि शत्रुओं को अच्छी प्रकार मारकर भगवान् का सु सेवक होगया है। अब यह तब तक तड़फता रहेगा जब तक भाला मारने वाले भगवान् दर्शन न देंगे ।

ज्यों विरहनि वर बीछुटे, बिहर[1] गई तहिं काल ।
त्यों रज्जब तुम कारने, विपति माँहि बेहाल ॥१६॥

जैसे अपने स्वामी के बिछुड़ने पर वियोगिनी का हृदय तत्काल विदीर्ण[1] होने लगता है, वैसे ही हे प्रभो ! हम विरहीजनों में विरह-विपत्ति आपड़ी है, हम आपके दर्शनार्थ अति व्याकुल हैं ।

जैसे नारी नाह[१] बिन, भूली सकल श्रृंगार ।

त्यों रज्जब भूला सकल, सुन सनेह दिलदार ॥१७॥

जैसे नारी अपने पति[१] का वियोग होने पर विरह व्यथा से व्यथित रहती है और सौन्दर्य के साधन सभी श्रृंगारों को भी भूल जाती है । वैसे ही हम भी अपने प्यारे प्रभु के स्नेह की कथा सुनकर सब कुछ भूल गये हैं ।

अरिल–शक्ति[१] सुःख शशि सीर[२] सुधा रस वर्ष हीं ।

पीवत प्राण पीयूष[३] सब हि मन हर्ष हीं ॥

मो मन वाजि[४] विशेष विरह बपु चाँदियाँ[५] ।

परिहाँ रज्जब रस विष होय, उभय मुख बाँदियाँ ॥१८॥

मायिक[१] सुखों का उपभोग करके तथा चन्द्रमा की शीतल[२] किरणों से वर्षने वाले अमृत[३] रस का पान करके सभी प्राणियों का मन हर्षित होता है किन्तु मेरा मन तो घोड़े[४] के समान विशेष प्रकार का है और उस के विरह रूप घाव[५] है । घोड़े के पीठ पर घाव हो और उस घाव में शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा की किरण द्वारा चन्द्रामृत पड़ जाय तो वह घोड़ा मर जाता है । वैसे ही मेरे मन में मायिक सुखों की अभिलाषा आजाय तो मेरा मन भी परमार्थ दृष्टि से मर जायगा । देखो, चन्द्रामृत अन्य सबको तो हितकर रस रूप है किन्तु घोड़े को तो विष रूप होकर मार देता है, वैसे ही मायिक सुख अन्य सबके मन को तो हितकर है किन्तु मेरे मन को तो परमार्थ से गिरा देता है, परन्तु घोड़े के घाव पर पट्टी लगी हो तो घोड़ा नहीं मरता, वैसे ही मेरे मन में मायिक सुखों की अभिलाषा न आये और पूर्ण वैराग्य हो तो मेरा मन भी परमार्थ से न गिरेगा ।

रज्जब रुचे न राम बिन, सकल भांति के सुःख ।

भगवंत सहित भावहिं सबै, नाना विधि के दुःख ॥१९॥

राम के दर्शन न होने से सभी प्रकार के सुख भी हमें रुचिकर नहीं हो रहे हैं और राम के साथ रहने पर तो सभी प्रकार के दुःख भी हमें प्रिय लगते हैं ।

जन रज्जब जगदीश बिन, ऋतु भली कोइ नाँहि ।

शीत उष्ण वर्षा बुरी, विरह व्यथा मन माँहि ॥२०॥

जगदीश्वर के दर्शन बिना कोई भी ऋतु प्रिय नहीं लगती है । जब विरह का दुःख मन में रहता है तब हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा तीनों ही ऋतु बुरी लगती हैं ।

दृग[१] द्रुम[२] डारी ऐन,[३] चित चुल्है पावक जरै ।

परी अग्नि उत[४] घैन[५], तो रज्जब रस[६] इत[७] झरै ॥२१॥

वृक्ष[२] की गीली डाली चूल्हे में लगी हो और चूल्हे[४] में अग्नि बहुत[५] हो तो चूल्हे से बाहर जो लकड़ी का मुख[७] है उससे पानी[६] निकलता है, वैसे ही चित्त में सच्चा[३] विरहाग्नि हो तो नेत्रों[१] से अश्रु निकलते रहते हैं।

रज्जब वह्नी[१] विरह की, गुण गण अवटै[२] वीर[४]।
काया काठ कसेरे[३] जरहिं, सु नैनहुं निकसे नीर ॥२२॥

चूल्हे पर चढे हुये बर्तन में दालादि के दाने अग्नि[१] के द्वारा उबलते[२] हैं, जब अग्नि ठीक नहीं जलता है तब लकड़ियों को चिमटा से छेड़ने[३] से ठीक जलने लगता है और लकड़ी गीली होने से चूल्हे से बाहर वाले मुख से पानी निकलता है, वैसे ही हे भाई[४]! विरह रूप अग्नि कामादि गुणों के समूह को तपाकर शक्ति-हीन करता है। विरहीजनों की कथा सुनना वा भगवान् का स्मरण करना ही विरहाग्नि को छेड़ना है, उस से शरीर जलता है अर्थात् क्षीण होता है और नेत्रों से अश्रु गिरते रहते हैं।

रोज[१] रेश्मी जेवड़ों[२] हुं, तन मन बाँधे घोलि[३]।
जन रज्जब जो यूं जड़े, सु कहां जाहिं कहु खोलि ॥२३॥

विरहीजनों के तन मन विरह-व्यथा के रुदन[१] रूप रेशमी रस्सों[२] से कसकर[३] बांधे हुये हैं, कहिये फिर जो ऐसे अच्छी प्रकार जकड़े हुये हैं, वे भगवान् के बिना कहां जाकर अपने रुदन रूप बन्धन को खोल सकते हैं अर्थात् भगवान् के दर्शन से ही उनका रोना बन्द होता है।

रज्जब चाढ़े दुर्ग दुख, बाँधे सांकल शोच।
हरिताली ताले जड़े, क्यों निकसे मन मोच ॥२४॥

भगवद् विरहीजनों को विरह ने दुख रूप किले में चढाकर शोक रूप जंजीर से बाँध रक्खा है और हरि दर्शन का अभाव रूप ताला लगा रखा है, उक्त ताले को खोलने की ताली हरि के पास है, वे अपनी कृपा रूप ताली से खोल कर दर्शन न दे तब तक मन दुख-दुर्ग से निकलकर शोक-सांकल से कैसे मुक्त हो सकता है?

रज्जब भय की भाकसी[१], करणी[२] कूंदै[३] पाय।
हाथ हथकड़ी हेत की, सरक्या रती न जाय ॥२५॥

हमारा मन हरि-वियोग जन्य भय रूप कैद[१] की कोठड़ी में बन्द है उसके कर्तव्य[२] रूप कुंडा[३] लगा है और उसके वृत्ति रूप हाथ में हरि-प्रेम रूप हथकड़ी पड़ी है, अतः विषयों की ओर उससे किंचित् मात्र भी नहीं चला जाता।

इन्द्री अनंग[1] न ऊतरे, आँख्यूं आँसू जाँहिं ।
रज्जब मन मोरा भये, महापुरुष महि[2] माँहिं ॥२६॥

पृथ्वी[2] में हरि-विरही रूप महापुरुषों के मन मयूर पक्षी के समान होगये हैं, जैसे मोर पक्षी के सामने मोरनी आने पर मोर के आँखों से आँसू गिरते हैं तब मूत्र इन्द्रिय से बिन्दु[1] नहीं गिरता, वैसे ही हरि-विरही भक्तों के आँखों से अश्रु गिरते रहते हैं अतः उन्हें काम[1] नहीं सताता ।

इन्द्रिय आभे[1] पंच मिल, घट[2] सु घटा जुरी आय ।
रज्जब विषय न वर्ष ही, विरह वायु ले जाय ॥२७॥

पंच ज्ञानेन्द्रियों की विषयाशा रूप बादल[1] मिलकर अन्तःकरण[2] रूप आकाश में अच्छी घटा बन गई है, फिर भी उक्त घटा विषय-वारि नहीं वर्षा सकती, कारण, इसे विरह रूप वायु उड़ाकर लेजाता है, अर्थात् हृदय में भगवद् विरह आने पर विषयाशा तथा विषयासक्ति नहीं रहती ।

विरह सु वोहित[1] बैठकर, तिरिये शुक्र[2] समंद ।
ईहिं ठाहर पौहण[3] यही, पार पहुँचण बंद[4] ॥२८॥

विरह रूप जहाज[1] पर बैठकर काम[2]-समुद्र को तैरना चाहिये । इस काम-समुद्र के पार जाने के लिये यह भगवद् विरह ही श्रेष्ठ वाहन[3] है, इसी से काम-समुद्र के बाँध[4] पर पहुँचा जाता है अर्थात् काम को जीता जाता है ।

दुख दिनकर की दृष्टि[1] करि, नेह नीर नभ जाँहि ।
रज्जब रमिये शून्य[2] में, यही युक्ति जग माँहि ॥२९॥

सूर्य की किरणों[1] के द्वारा ही जल आकाश में जाता है, वैसे ही भगवद्-विरह-दुःख से ही प्राणी का प्रेम विषयों से हट कर प्रभुमें जाता है । विरह द्वारा प्रकट प्रेम से ही निर्विकार[2] ब्रह्म में रमण करना चाहिये । ब्रह्म से मिल कर ब्रह्मानन्द प्राप्त करने की श्रेष्ठ युक्ति जगत् में यही है ।

रज्जब आज्ञा अग्नि मधि,[1] आतम अंभ[2] निकास ।
उलट समावे शून्य में, पंथी पंथ सु तास ॥३०॥

जैसे गरमी पड़ने से जल[2] समुद्र के मध्य[1] से निकल कर आकाश में चढ़ता है, वैसे ही गुरु-उपदेश रूप आज्ञा से आत्मा रूप पथिक संसार से निकल कर सांसारिक भावनों से विपरीत विरह रूप प्रभु प्राप्ति के मार्ग द्वारा निर्विकार ब्रह्म में समाता है ।

विरह सूर अति गति तपै, तन मन मांड[1] मझार।
रज्जब निकसे राम जल, विरहा के उपकार ॥३१॥

ब्रह्मांड[1] में सूर्य विशेष रूप से तपता है तब समुद्र से जल निकल कर वर्षता है, वैसे ही जब भक्त का तन मन विरह से अत्यन्त व्याकुल होता है तब राम का दर्शन होता है। अतः राम का दर्शन विरह के उपकार से ही होता है।

तन मन ओले ज्यों गलहिं, विरह सूर की ताप।
रज्जब निपजै देखतों, यूं आपा गलि आप ॥३२॥

जैसे सूर्य के ताप से बर्फ के पत्थर गलकर देखते २ ही जल रूप हो जाते हैं, वैसे ही विरहजन्य दुःख से तन मन के अहंकारादि विकार गल जाने से देखते २ ही आत्मज्ञान उत्पन्न होकर साधक अपने शुद्ध स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।

काया काष्ठ मनुवा धोम, इश्क अग्नि मिल जाँहि सु व्योम।
आदि अंत मधि मुक्ति सुमाग, रज्जब लहिये पूरण भाग ॥३३॥

जैसे अग्नि के संयोग से काष्ठ की धुआँ आकाश में चली जाती है, वैसे ही विरह-युक्त प्रेम से मन शरीरासक्ति को छोड कर परब्रह्म के स्वरूप में लीन होता है। सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में भी यह विरह ही मुक्ति धाम का सुन्दर मार्ग माना जाता है। कोई भाग्यशाली ही इस पूर्ण-ब्रह्म प्राप्ति के साधन मार्ग को ग्रहण करता है।

नर नारी सब नाज, विरहा बारू भाड़ की।
रज्जब अज्जब साज, काचे पाके परसतैं ॥३४॥

जैसे नाज के कच्चे दाने भाड़ की गरम बालू से मिलकर पक जाते हैं, उनकी उगने की शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही नर नारी भगवद् विरह के ताप से पक जाते हैं, उनकी जन्मादि क्लेशदायिनी शक्ति नष्ट हो जाती है। अतः सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिये भगवद्-विरह अद्भुत सामग्री है।

दोस्त नाँहीं दर्द सम, जे दिल अंदर होय।
जीव सीव[1] एकै करे, जे ब[2] सदा हु ते दोय ॥३५॥

यदि मन में हो तो विरह-व्यथा के समान जीव का मित्र अन्य कोई भी नहीं है, कारण, जो अब[2] अज्ञान दशा में सदा से ही दो भास रहे हैं उन जीव और ब्रह्म[1] को एक करता है।

विरह अग्नि व्है युक्ति सौं, आतम सार[1] मझार ।
कपट कीट कुल काढ़ि दे, तामें फेर न सार ॥३६॥

लोह[1] के युक्ति से अग्नि लगाया जाय तो, लोह का सब मैल निकाल देगा । वैसे ही जीवात्मा में युक्ति पूर्वक विरह प्रकट होगा, तो उसका सब कपट निकाल देगा । उक्त बात सर्वथा सत्य है ।

सप्त धातु अग्नि हि मिले, अग्नि हि निकसे काट ।
रज्जब अज्जब ठौड़ को, वह्नी विमल सु वाट ॥३७॥

लोहादि सप्त धातुओं में अग्नि मिलता है, काष्ठ से अग्नि निकलता है और परमधाम रूप अद्भुत स्थान को जाने के लिये भी विरहाग्नि ही शुद्ध और सुन्दर मार्ग है ।

तन मन काष्ठ ज्यों जरहिं, हेत हुताशन लागि ।
रज्जब रंग भंग बंक बल, जहां विरह की आगि ॥३८॥

जैसे अग्नि से काष्ठ जल जाता है, वैसे ही प्रेम रूप अग्नि से तनासक्ति और मन का भ्रम नष्ट हो जाता है । जहां विरहाग्नि प्रकट होता है, वहां विषय-प्रेम वक्रता तथा आसुर गुणों का बल नष्ट हो जाता है ।

विरहा चोरी[1] पैठि कर, मुसे[2], सकल गुण देह ।
जन रज्जब कण काढिले, ज्यों चुंबक तज खेह ॥३९॥

जैसे रेत वा भस्म में छिपकर चुंबक पत्थर रेत तथा भस्म को छोड़कर लोह के कण काढ लेता है, वैसे ही विरह छिपकर[1] देह में घुसता है और देह को छोड़कर देह के सभी गुणों को चुरा[2]कर निर्गुण स्थिति तक पहुँचा देता है ।

विरह बेहरे[2] विगति[1] से, फाड़े[4] पिंड पराण[3] ।
रज्जब रज[5] मा[6] काढिले, विरहा चतुर सुजाण ॥४०॥

विरह विचित्र रीति[1] से चीरता[2] है, प्राणी[3] के शरीर को विषयों से अलग करता है वा प्राण पिंड का वियोग कर देता है । और विरह ऐसा चतुर सुजान है कि मन को रजोगुण[5] में[6] से निकालकर भगवान में लगाता है ।

कमान कसौटी[1] विरह शर, प्राण चलावन हार ।
रज्जब छेदे सकल गुण, यूं अरि हूं हि सु मार ॥४१॥

साधनजन्य कष्ट[1] ही धनुष है, विरह ही बाण है, साधक प्राणी ही चलाने वाला वीर है, उक्त सामग्री द्वारा ही सब गुण नष्ट किये जाते हैं, इस प्रकार ही कामादि शत्रुओं को सम्यक् रीति से मारना चाहिये ।

ज्यों चुंबक शिल नाल जटि, अस[1] ऊभा रह जाय ।
त्यों रज्जब मन को विरह, जे देख्या निरताय[2] ॥४२॥

जैसे चुंबक की शिला पर अश्व[1] का पैर पड़ते ही उसके पैर की लोहे की नाल चुंबक पर भूषण में रत्न के समान जटित हो जाती है और घोड़ा वहां ही खड़ा हो जाता है, चल नहीं सकता, वैसे ही मन को भगवद्-विरह रोक देता है, विषयों में नहीं जाने देता, जिन साधकों ने विचार[2] कर के देखा है, उन्हें यह ठीक ज्ञात हुआ है ।

विरह केतकी पैठि कर, मन मधुकर व्है नास ।
रज्जब भुगते कुसुम बहु, मरे न तिन की वास ॥४३॥

भ्रमर बहुत प्रकार के पुष्पों की वास-रस का उपभोग करता है किन्तु उनकी सुगंध से मरता नहीं और केतकी के पुष्प पर जाता है तब उसकी गंध से मस्तक फटकर मर जाता है । वैसे ही मन अन्य विषयादि के उपभोग से नहीं मरता, भगवद्-विरह व्यथा से ही मरता है ।

रज्जब बंशी[2] विरह की, देही दरिया[1] डारि ।
यूं अगस्त्य आरंभ बिन, मन मच्छा ले मारि ॥४४॥

अगस्त्य के उदय होने पर वर्षाती नदी[1] का पानी सूखने से मच्छी मर जाती हैं वा सूर्य की तीव्र किरणों के द्वारा पानी सूखने से मच्छी मर जाती हैं (रज्जब जी अगस्त्य शब्द का प्रयोग सूर्य के अर्थ में भी करते हैं) किन्तु अगस्त्य के जल सुखाने के आरम्भ बिना भी मच्छी पकड़ने का काँटा[2] नदी में डालकर मच्छी मारी जा सकती हैं, वैसे ही देह रूप नदी में विरह रूप बंशी डालकर मन-मच्छ को मारना चाहिये, अर्थात् विरह से मन मारा जाता है ।

विरही प्राणी चकोर है, विरहा अग्नि अँगार ।
रज्जब जारे और को, उनके प्राण अधार ॥४५॥

विरही प्राणी चकोर पक्षी के समान हैं, विरह अग्नि के अंगारों के समान है । अग्नि के अंगारे अन्य को तो जलाते हैं किन्तु चकोर के भोजन रूप होने से प्राणाधार हैं, वैसे ही विरह अन्य को तो दुःख-प्रद होता है, किन्तु भगवद्-विरही भक्तों का तो जीवन रूप होता है ।

विरही बेहरे विरह बिन, जे उर पावक नाँहि ।
रज्जब यथा समुद्रजिव[1], जीवे ज्वाला माँहि ॥४६॥

यदि हृदय में विरहाग्नि न हो तो विरही का हृदय फटने लगता है, जैसे अग्निकीट[1] अग्नि की ज्वाला में ही जीवित रहता है, अग्नि बिना मर जाता है, वैसे ही विरही विरह बिना नहीं जी सकता ।

विरही सावित विरह में, विरह बिना मर जाइ ।
ज्यों चूंने का कांकरा, रज्जब जल मिल राइ[1] ॥४७॥

चूने के कंकर पर जब तक जल न पड़े तब तक ही वह साबित रहता है । जल पड़ते ही उसमें दरार[1] पड़ती है और वह फूट जाता है, वैसे ही विरही भी विरहावस्था में ही ठीक रहता है, विरह न रहने पर मर जाता है ।

इश्क अल्लाह मलंग[2] मन, दिल दरू'न[1] बिच चौक ।
रज्जब मंजिल[3] आशिकां, अजब[4] बिना लद[5] शौक ॥४८॥

हृदय रूप भीतरी[1] चौक में परमहंस[2] का मन ईश्वर के विरहयुक्त प्रेम में निमग्न रहता है, यह विरह ही प्रेमियों के ठहरने का स्थान[3] है । इस विलक्षण[4] विरह के बिना विरहीजनों पर महान् शोक रूप भार आ पड़ता[5] है, जिससे व्यथित होकर रोते रहते हैं ।

रज्जब ज्वाला विरह की, कबहूं प्रकटे माँहि ।
तो सींचो घृत सौचसौं, कर्म काष्ट जरि जाँहि ॥४९॥

हृदय में कभी विरहाग्नि की ज्वाला प्रकट हो जाय, तो उसे भगवद्-वियोगजन्य संताप रूप घृत से सींचना चाहिये । ऐसा करने से कर्म रूप काष्ठ जल जायेंगे और निष्कर्म होकर निष्कर्म ब्रह्म को प्राप्त हो जाओगे ।

अठार भार विधि आदमी, विरही बंस विशेष ।
हरे हुताशन हरि प्रकट, रज्जब अचरज देख ॥५०॥

अन्य मानव तो संपूर्ण वनस्पतियों के समान हैं और भगवद्-विरही विशेष करके बाँस के समान है । जैसे बाँस में अग्नि प्रकट होकर बाँस को जलाता है, तब वह प्रथम से सुन्दर हो जाता है वैसे ही विरही के हृदय में ज्ञान रूप में हरि प्रकट होकर उसके अज्ञान को जला देते हैं फिर वह आश्चर्य रूप अपने स्वरूप को देखता है ।

पंख पटम्बर पिण्ड परि, माँहि पपीहे प्राण ।
जन रज्जब दोऊ दहैं, दिली दोस्त बिन जान ॥५१॥

ताप से बचने के लिये चातक पक्षी के शरीर पर पंख और विरही के शरीर पर श्रेष्ठ वस्त्र होते हैं, तो भी चातक का मन अपने दिली प्रेमी स्वाति बिन्दु के अभाव में और हरि-विरही का मन अपने दिली मित्र हरि दर्शन के अभाव में जलता रहता है यह सत्य ही जानो ।

साधू सारस शोक को, स्वांग रहित सत शूल ।
जन रज्जब जग जुगल बिन, त्यागैं जीव सु मूल ॥५२॥

संत और सारस पक्षी दोनों के सुन्दर भेष न होने पर भी उनकी विरह जन्य शोक की पीड़ा सत्य होती है । सारस अपनी जोड़ी के पक्षी बिना अपने जीवन के मूल प्राणों को त्याग देता है और संत अपने प्रभु के दर्शन बिना जगत् में नहीं रहना चाहता प्राणों का त्याग कर देता है ।

शूर सती का जुध जलन, एक हि समय सु नाश ।
ता ऊपर चारचों पहर, पहले किये विनाश ॥५३॥

वीर का युद्ध के द्वारा और सती नारी का चिता में जलने के द्वारा एक समय ही नाश होता है किन्तु उस विरही पर तो चारों पहर ही विरह रूप विपत्ति पड़ी रहती है, उसके सुखों का तो पहले ही विरह विनाश कर देता है ।

रज्जब कायर कामिनी, रही विपति के रंग ।
सती चली सल[1] चढन को, पहर पटम्बर अंग ॥५४॥

डरपोक नारी सती न होकर पति वियोग का दुःख भोगने के लिये रह जाती है, किन्तु सती नारी तो शरीर पर श्रेष्ठ वस्त्र पहनकर चिता[1] पर चढ़ने को चल पड़ती है । इसी प्रकार भगवद्-विरही भक्त विरहाग्नि से नहीं डरते अभक्त ही डरते हैं ।

रे प्राणी पति परिहरचा, बेहरि जाय क्यों नाँहिं ।
जन रज्जब ज्यों जल गये, पंक[2] तिड़ी[3] सर[1] माँहिं ॥५५॥

हे प्राणी तूने परमात्मा रूप स्वामी को त्याग दिया है, अतः जैसे तालाब[1] का जल सूखने से कीचड़[2] फट[3] जाता है वैसे ही प्रभु वियोग से तेरा हृदय क्यों नहीं फट जाता ?

चकई ज्यों चक्रित[1] भई, रैनि परी बिच आय ।
जन रज्जब हरि पीव को, क्यों कर परसौं[2] जाय ॥५६॥

रात्रि आजाने से चकवा से चकवी का वियोग होने पर जैसे चकवी चकित[1] होती है वैसे ही आत्मा का अज्ञान होने से हरि-वियोग से विरही की बुद्धि चकित होकर सोचती है कि—मैं अपने प्रियतम हरि से किस साधन मार्ग से जाकर मिल[2] सकूंगी ? सूर्योदय पर चकवा चकवी का मिलन होता है, वैसे ही आत्म ज्ञानोदय पर विरही और भगवान् का मिलन होता है ।

चकवी को चकवा मिले, बीतें यामिनि[1] याम[2] ।

रज्जब रजनी आयु बिहाई, मिले न आतम राम ॥५७॥

रात्रि[1] की चारों पहर[2] व्यतीत होने पर चकवी को तो चकवा मिल जाता है किन्तु हमारी आयु-रात्रि व्यतीत होने पर भी हमें अपने आत्मस्वरूप राम नहीं मिल रहे हैं, अतः खेद है ।

विरह अग्नि एकै सबहुं, हृद[1] हाँडी सु अनेक ।

भाव भिन्न भोजन विविध, रज्जब रंधैंहि विवेक ॥५८॥

हृदय[1] रूप हँडिया बहुत हैं, प्रेमपात्र संबन्धी भाव रूप भोजन भी सबके विचित्र प्रकार के हैं, उन भाव-भोजनों को पकानेवाला विरह रूप अग्नि एक ही है किन्तु उन भावों को विवेकपूर्वक पका कर हरि को प्राप्त करना ही विशेषता है ।

एक विरह बहु भांति का, भाव भिन्न बिच होय ।

रज्जब रोवे राम को, सो जन विरला कोय ॥५९॥

विरह तो एक ही प्रकार का होता है किन्तु विरहीजनों के मन में प्रेम-पात्र सम्बन्धी भाव विभिन्न होते हैं अर्थात् भगवद्-भिन्न के भी विरही होते हैं, किन्तु वह जन कोई विरला ही होता है जो रात्रि दिन भगवान् के लिये ही रोता है ।

सकल बोल विरकत भये, गुरु वाइक मन लाग ।

रज्जब रोवे दर्श को, यहु साँचा वैराग ॥६०॥

विरह उत्पन्न होने पर साधक संपूर्ण वचन विलास से विरक्त हो जाता है, केवल सद्गुरु वचनों में उसका मन लगता है और रात्रि दिन प्रियतम प्रभु के दर्शनार्थ रोता रहता है, वह विरहपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है ।

वे परवाही बपू[1] से, ता[2] ऊपर वैराग ।

रज्जब रोवे इस मते,[3] ता शिर मोटे भाग ॥६१॥

जो शरीर[1] पोषणादि की परवाह नहीं करता और उस[2] बे परवाह रूप भावना से भी विरक्त रहता है अर्थात् उसका अभिमान भी मन में नहीं आने देता । ऐसे विचार[3] में स्थित होकर भी भगवद् दर्शनार्थ रात्रि-दिन रोता है उस महानुभाव का विशाल भाग्य है ।

माँहि बहै बाहर कहै, सो सुन रीझे राम ।

रज्जब बातों के विरह, कदे न सीझे काम ॥६२॥

जैसा विरह भीतर धारण करता है वैसा ही बाहर कहता है, उसी को सुनकर रामजी प्रसन्न होते हैं और जो केवल विरह की बातें ही करते हैं, उन बातों से कभी भी भगवत् प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध नहीं होता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विरह का अंग १० समाप्तः । सा० ४७१॥

अथ एकांगी प्रीति का अंग ११

प्रीति इकंग महा बुरी, दुख दीरघ दिल होय ।
काहि पुकारे किस कहै, बेली नाँहीं कोय ।। १ ।।

पतंग की प्रीति दीपक में तो है किन्तु दीपक की प्रीति पतंग में नहीं, वैसे ही भक्त की प्रीति भगवान् में हो और भगवान् की प्रीति भक्त में न हो तो यह प्रीति एकांगी कहलाती है और इस से महान् दुःख होता है, अतः यह बहुत बुरी है । इस स्थिति में प्रेमी किसको पुकारे और किसको कहे । इस स्थिति में कोई भी साथ नहीं देता, किन्तु भगवान् के भक्त की यह स्थिति नहीं होती कारण भगवान् सर्वज्ञ हैं वे भक्त के हृदय को जानते हैं, उनका भक्त पतंग के समान नहीं मरता उसे दर्शन हो ही जाते हैं ।

प्रीति इकंगी लागतैं, प्राणि परे दुःख द्वन्द ।
मरकट सूवा ज्यों बँधे, बिन बन्धन दृढ फंद ।। २ ।।

जैसे वानर पृथ्वी में गड़ी हुई संकड़े मुख की चणे की हंडिया में दोनों मूठी चणे की भर कर बन्धन में पड़ता है और शुक पक्षी नलिका पर बैठकर नलिका घूम जाने से भ्रमवश बन्धन में पड़ता है, वैसे ही एकांगी प्रीति लगने से प्राणी महान् दुख की उलझन में पड़ जाता है और बिना ही बन्धन दृढ़ फंदे में पड़ जाता है ।

चातक मोर पुकार सुन, कछु मेघ न आवे ।
तैसे रज्जब रटत है, पिव पीर न पावे ।। ३ ।।

चातक तथा मयूर पक्षी बहुत पुकारते हैं किन्तु मेघ उनकी इच्छानुसार कब आकर वर्षता है, वैसे ही प्रेमी प्रभु को रटते हैं किन्तु प्रभु तो उनके हृदय की पीड़ा को भी नहीं देख पाते ।

चकोर चाहि चंद न उदय, जीव ब्रह्म त्यों आहि ।
नातो एक हि ओर को, यहु दुख कहिये काहि ।। ४ ।।

चन्द्रमा चकोर की इच्छा से नहीं उदय होता, वैसे ही जीव की इच्छा से ब्रह्म का दर्शन नहीं होता, कारण, चन्द्रमा में तथा ब्रह्म में चकोर और जीव के समान प्रीति नहीं है । अतः इस एकांगी प्रीति का दुःख किससे कहा जाय अर्थात् प्रेमपात्र की कृपा बिना यह नहीं मिटता ।

देखहु विरह विवेक बिन, उपज्या अहमक[1] अंग[2] ।
दीपक के दिल ही नहीं, रज्जब पचन[3] पतंग ।। ५ ।।

देखो, दीपक के तो हृदय भी नहीं है फिर भी मूर्ख[1] पतंग के शरीर[2] में बिना ही विवेक दीपक का प्रेम उत्पन्न हो जाता है । इससे दीपक के विरह से व्यथित होकर पतंग दीपक की अग्नि में ही जल[3]-मरता है ।

रज्जब माया ब्रह्म दिशि, जीव आप सौं जाय ।

उभय[1] सु बेपरवाह वे, नर देखो निरताय ।। ६ ।।

हे नरो ! विचार करके देखो तो ज्ञात होगा, जीव अपने आप ही माया तथा ब्रह्म की ओर जाते हैं माया और ब्रह्म तो दोनों[1] ही बेपरवाह हैं, उन्हें जीवों की आवश्यकता नहीं ।

रज्जब जलना मड़े[1] सँग, त्यों एकांगी प्रीत ।

दुख सुख की पूछे नहीं, यह देखो विपरीत ।। ७ ।।

जो दुःख सुख की बात नहीं पूछता उस मुरदे[1] के साथ जलने के समान ही एकांगी प्रीति है । देखो, इसका फल अपने से विपरीत दुःख ही होता है ।

औषधि कीजे आयु बिन, सो लागे कोइ नाँहि ।

त्यों एकांगी प्रीति है, समझ देख मन माँहि ।। ८ ।।

मन में विचार करके देखो, आयु समाप्त होने पर कटु कषायादि औषधि खाने से कोई लाभ नहीं, दुःख ही होता है, वैसे ही एकांगी प्रीति से कोई लाभ नहीं दुःख ही होता है ।

आतम औषधि क्या करे, आगे रोग असाध्य ।

बहु विधि बूटी बन्दगी, लागे नाँहि अराध्य ।। ९ ।।

यदि शरीर में असाध्य रोग हो, तो बहुत प्रकार की बूटी आदि औषधियाँ भी उसको दूर नहीं कर सकेंगी, वैसे ही प्रेमपूर्वक नाना भांति से सेवा पूजा करने पर भी यदि आराध्य देव के हृदय में भक्त सम्बन्धी प्रेम नहीं लगे, तो यह एकांगी प्रीति दुःखप्रद ही होगी ।

वज्र[1] न वेधी बींधणी, ब्रह्म बन्दगी तेम[2] ।

रज्जब करुणा[3] कर थके, रीझे नहीं सु नेम ।।१०।।

काष्ठादि में छेद करने वाली बींधनी हीरा[1] में छेद नहीं कर सकती त्योंही[2] सेवा-पूजादि साधन ब्रह्म पर प्रभाव नहीं डाल सकते । बहुत से भक्त दुःख[3]पूर्वक विनय करते हुये थक गये है किन्तु ब्रह्म नियमादि साधनों से प्रसन्न नहीं होते । अतः वे जब तक भक्त से प्रेम न करें तब तक एकांगी प्रीति क्लेशप्रद ही है ।

अकल कलहुँ कलिये[1] नहीं, सब भागे जिव जोर ।

रज्जब रही सु एक ही, दर्श दया प्रभु ओर ।।११।।

कला रहित ब्रह्म से बाह्य साधन रूप कलाओं द्वारा संबन्ध[1] नहीं किया जाता, उससे सम्बन्ध करने में जीव के सभी बल हार मानकर भाग गये हैं, उस प्रभु के दर्शनार्थ एक मात्र उनकी दया ही सफल रही है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित एकांगी प्रीति का अंग ११ समाप्तः ।।सा. ४८२।।

अथ ब्रह्म अग्नि का अङ्ग १२

ब्रह्म अग्नि सु विचार है, मैल दहै मन माँहि।
रज्जब रज यूं ऊतरे, अभि अंतरि अघ जाँहि ॥ १ ॥

भली प्रकार ब्रह्म-विचार ही ब्रह्माग्नि है, वह मन के भीतर के मल विक्षेपादि मैल को जलाता है। इस प्रकार ही मन की मोह रूप रज और आन्तर पाप नष्ट होते हैं।

काया कर्म काष्ठ जरहिं, ब्रह्म अग्नि बिच आन।
पावक प्राण[2] खुले पावक सौं, रज्जब शून्य[1] समान ॥ २ ॥

काष्ठ में अग्नि डाला जाता है तब काष्ठ जलकर काष्ठ में बद्ध अग्नि मुक्त हो जाता है और दोनों अग्नि आकाश[1] में अदृश्य होकर व्यापक अग्नि में मिल जाते हैं, वैसे ही गुरु उपदेश द्वारा अन्तःकरण में ब्रह्म ज्ञान आने पर कर्म समूह जलकर अज्ञान से आच्छादित स्वस्वरूप आत्मा[2] अज्ञान से मुक्त हो जाता है। फिर आत्मा तथा ज्ञान दोनों ही सर्व-विकार शून्य ब्रह्म[1] में समा जाते हैं।

काया काष्ठ गुण घुण कर्म, प्राणी पावक पाया मर्म[1]।
गुरु मुख अग्नि ब्रह्म गियान, रज्जब वह्नी[2] वह्नी खुलान ॥३॥

काष्ठ में घुण रहते हैं और काष्ठ को ही खाते हैं, किन्तु उस काष्ठ में अग्नि डाला जाय तो काष्ठ के भीतर बँधा हुआ अग्नि मुक्त हो जायगा और घुणों को भी भस्म कर डालेगा। वैसे ही शरीर में गुण तथा कर्म हैं और शरीर को ही दुःखी सुखी करते हैं, किन्तु गुरु मुख से सुने हुये ब्रह्म-ज्ञान रूप अग्नि को अन्तःकरण में लाया जाय तो अज्ञान के द्वारा काया में बद्ध आत्मा रूप अग्नि मुक्त हो जायगा और गुण तथा कर्मों को नष्ट कर देगा। उक्त प्रकार ही अग्नि[2] से अग्नि मुक्त होता है। यह रहस्य[1] हमको श्री गुरुदेव के उपदेश द्वारा ही प्राप्त हुआ है।

प्रभु प्रभाकर[1] अंश है, आतम तन तिनु[2] आग।
रज्जब संकट शोभ तैं,[3] सोइ मुक्त जब जाग ॥ ४ ॥

सूर्य[1]कान्तमणि (आतशी शीशा) के नीचे तृण[2] हों और उस मणि में सूर्य की किरण पड़े, तो तृणों में अग्नि प्रकट हो जाता है और तृण भस्म हो जाते हैं, अग्नि अपने अंशी में मिल जाता है, वैसे ही आत्मा ईश्वर का अंश है और शरीर में बद्ध है, जब गुरु-उपदेश द्वारा अन्तः-करण में ब्रह्म-ज्ञान आता है तब आत्मा अज्ञान निद्रा से जागकर गुण कर्मादि से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार तनाध्यास, गुण-विकार और

कर्मों के नाश रूप संकट से[3] ही आत्मा की शोभा होती है, वह ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म रूप ही हो जाता है ।

मन मनसा[1] तत[2] पंच ले, पुनि रज्जब रग रोम ।
इह[4] जगि[3] जग में जगमगै,[5] ब्रह्म अग्नि मधि होम ।। ५ ।।

मोह निद्रा से जागकर[3] मन-बुद्धि[1] के विकार, पांचों तत्त्व[2] से उत्पन्न पंच विषयों का राग और रग-रोम अर्थात् स्थूल शरीर का अध्यास इन सबको ब्रह्म-अग्नि में होम दे अर्थात् ब्रह्म ज्ञान द्वारा नष्ट कर दे तभी इस[4] जगत् में साधक का ब्रह्म तेज चमकने[5] लगता है ।

विरह अग्नि की हद्द है, ब्रह्म अग्नि बेहद्द ।
रज्जब रोवे दिवस दश, ज्ञान अखंडित गद्द[1] ।। ६ ।।

विरह अग्नि की तो सीमा है, उससे वियोगी दश दिन अर्थात् कुछ काल ही रोता है, प्रियतम के प्राप्त होने पर विरहाग्नि शांत हो जाता है किन्तु ब्रह्म ज्ञान रूप अग्नि बेहद्द है, ब्रह्म प्राप्ति हो जाने पर भी ब्रह्म रूप से अखंडित रहता है और नम्र हृदय में उसकी 'अहंब्रह्मास्मि' रूप आवाज[1] निरन्तर होती रहती है ।

ब्रह्म अग्नि वडवा अनल,[1] तन तोयों[2] को खाय ।
इश्क अग्नि काचौ कहूं, जो वपु वारि बुझाय ।। ७ ।।

जैसे वडवानल अग्नि[1] समुद्र के जल[2] समूह को खाता है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञान रूप अग्नि तनाध्यासादि को खा जाता है । जो प्रियतम के शरीर का संयोग होते ही बुझ जाता है । वह विरह-प्रेम रूप अग्नि तो कच्चा ही कहलाता है ।

तप्त कुण्ड ब्रह्म अग्नि है, जीव जल सदा गर्म ।
वासदेव[1] बल हीन विरह की, उन्हें[2] शीत सु मर्म ।। ८ ।।

ब्रह्म ज्ञानरूप अग्नि तप्त कुंड की उष्णता के समान है, जैसे तप्त कुंड का जल सदा उष्ण रहता है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञानाग्नि से जीव सदा उष्ण रहता है, अर्थात् उसमें मैं जन्मता हूँ, मरता हूँ, कर्त्ता हूँ, भोगता हूँ इत्यादिक शीतलता नहीं आती और विरहरूप अग्नि[1] बलहीन है, प्रियतम मिलन पर शांत हो जाता है । यही ब्रह्म ज्ञानाग्नि और विरहाग्नि के उष्ण[2] तथा शीतलता का सुरहस्य है ।

ब्रह्म अग्नि श्रुति[1] सार[2] में, ताव सहे गुण दोय ।
रज्जब रज तज नीकसे, वस्तू अनूप होय ।। ९ ।।

लोह[२] में अग्नि डाला जाता है और लोहा उसके तप को सहन करता है तब उसमें एक तो उसका मैल जल जाने से निर्मलता आती है. दूसरे उसकी जो भी वस्तु बनाओ वह अनुपम सुन्दर बनती है । वैसे ही प्राणी के कानों[१] में ब्रह्म ज्ञान गुरु उपदेश द्वारा पड़ता है, तब वह रजोगुणादि गुणों को त्यागकर सांसारिक भावनाओं से निकलता है और ब्रह्म रूप अनुपम वस्तु बन जाता है ।

पंच एक पच्चीस उभय को, माया माखी खाय ।
ब्रह्म अग्नि संयोग ताप तें, अजरी[१] तहां न जाय ॥१०॥

आकाशादि पंचभूत, उनसे बना एक शरीर, पच्चीस प्रकृति, मन मति दोनों इन सबको माया रूप मक्खी खा जाती है, किन्तु जैसे मक्खी अग्नि के पास नहीं जाती, वैसे ही ब्रह्म ज्ञानाग्नि का संयोग जिसके अन्तःकरण में होता है, वहां उसके ताप के भय से वह माया-मक्खी[१] नहीं जाती ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित ब्रह्म अग्नि का अंग १२ समाप्त ॥सा. ४६२॥

अथ विरह विभङ्ग का अङ्ग १३

दर्द नहीं दीदार का, तालिब[१] नाँहीं जीव ।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहाँ मिले सो पीव ॥ १ ॥

न तो जीव जिज्ञासु[१] है और न हरि-दर्शनार्थ उसके हृदय में पीड़ा ही है, फिर विरह वियोग व्यथा बिना वे प्रियतम प्रभु कहां मिलते हैं ? अर्थात् नहीं मिलते ।

दर्द बिना क्यों देखिये, दर्शन दीन दयाल ।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहां मिले सो लाल ॥ २ ॥

दीनदयालु परमातमा का साक्षात्कार बिना साधन कष्ट उठाये कैसे किया जासकता है । विरहजन्य वियोग व्यथा के बिना वे प्रियतम कहां मिलते हैं ? अर्थात् नहीं मिलते ।

श्रवणों सुरति न पीव की, प्रेम न लेहि समाय ।
रज्जब रुचि माँहीं नहीं, कहां मिले सो आय ॥ ३ ॥

न तो कान से भगवद् यश सुनने की वृत्ति ही बनती है, न प्रभु-प्रेम को अपनाकर हृदय में धारण करता है, जब हृदय में प्रभु से मिलने की रुचि ही नहीं तब वे कहां आकर मिलेंगे ? अर्थात् वे हृदय में ही प्रकट होकर मिला करते हैं, सो हृदय उनके प्रकट होने योग्य है नहीं ।

नयनों नेह न ताह[1] का, वहिं दिशि दृष्टि न जाँहिं ।
रज्जब राम हि क्यों मिले, तालिब[2] नाँहीं माँहिं ॥ ४ ॥

न तो नेत्रों में ही प्रभु[1] का स्नेह है, न उन प्रभु की ओर विचार दृष्टि ही जाती है, अर्थात् प्रभु मिलन सम्बन्धी विचार ही नहीं होता । जब जिज्ञासु[2] जैसी भावना ही मन में नहीं है, तो फिर राम कैसे मिलेंगे ।

रसना रस हि न लाइये, हिरदै नाँहीं हेत ।
रज्जब राम हि क्या कहैं, हम ही भये अचेत ॥ ५ ॥

न तो रसना इन्द्रिय को उसके चिन्तन रस में लगाते, न हृदय में प्रेम ही करते, अतः हम ही असावधान हो रहे हैं, राम को कहैं भी क्या ?

पिंड प्राणि रोगी नहीं, औषधि नाम न लेहि ।
तो वैद्य विधाता क्या करै, दारू दर्शन देहि ॥ ६ ॥

प्राणी का शरीर रोगी न हो तो वह औषधि का नाम भी नहीं लेता, फिर उसे वैद्य औषधि देकर क्या करेगा ? वैसे ही प्राणी में विरह-व्यथा है ही नहीं और वह प्रभु दर्शन का तो नाम भी नहीं लेता, फिर उसे प्रभु दर्शन देकर क्या करेंगे ? अर्थात् जो जिस का पात्र होता है उसकी प्राप्ति से उसे लाभ होता है अन्य को नहीं होता ।

दारू चाहे दर्द वंद, निरोगा सु नहिं लेय ।
औषधि अरथी आतमा, जो माँगे सो देय ॥ ७ ॥

जिसके रोगजन्य दर्द होता है, वही औषधि चाहता है । जो भली प्रकार निरोगी है वह तो औषधि मिलने पर भी नहीं खाता, जो औषधि का इच्छुक प्राणी है वह तो औषधि का जो भी मूल्य माँगे वही देकर लेता है, वैसे ही जिसके वियोगजन्य व्यथा है, वही हरि-दर्शन चाहता है और सर्वस्व देकर भी लेने को तैयार रहता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विरह विभंग का अंग १३ समाप्तः ॥सा. ४६६॥

अथ भय भीत भयानक का अंग १४

भै मिल आतम यूं बँधै, ज्यों जल शीत हि लाग ।
रज्जब अचरज देखिया, कुंभ काया दे त्याग ॥ १ ॥

जैसे शीत लगने से जल का पिंडा बँध जाता है और ऐसा आश्चर्य देखा जाता है कि—घड़े का त्याग करके भी फैलता नहीं, वैसे ही भय से प्राणी बँध जाता है और शरीर त्याग करने पर भी जिसका भय है उसको त्यागता नहीं, अर्थात् जिससे डरता है उसीके आकार वृत्ति रहती है ।

समझ शीत लागे जमहि, प्राणी पाणी दोय ।
फूटे में सारे रहैं, रज्जब देखा जोय ॥ २ ॥

शीत लगने से जल जम जाता है और बर्तन फूटने पर भी बर्फ साबित रहता है, वैसे ही विचार पूर्वक भय से प्राणी एक स्थिति में स्थिर रहता है और किसी अंग विशेष के टूटने पर भी डिगता नहीं, यह हमने देखा है और हे साधक ! तू भी इस स्थिति में आकर देख ।

जमैं जीव जल ठाहरे, रायल[1] काया कुंभ ।
रज्जब पिघले बह चले, देखो आतम अंभ[2] ॥ ३ ॥

जल[2] शीत से जम जाने से तो दरार[1] वाले घड़े में भी ठहर सकता है और ताप के द्वारा पिघलते ही बह चलता है, वैसे ही जीव जन्मादिदुःख के भय से उपासना करके ब्रह्म में स्थिर होने से तो नाना छिद्रों वाले शरीर में भी स्थिर रहता है और विषयाशा ताप से तपने से पिघलकर अर्थात् चंचल होकर विषयों की ओर बह चलता है ।

भय भीत बिना भूले नहीं, देह विदेह न होय ।
जन रज्जब दृष्टांत कूं, कीट भृंग ले जोय ॥ ४ ॥

जन्मादिक भय से डरे बिना ब्रह्म चिन्तन द्वारा देहाध्यास त्यागकर विदेह नहीं हो सकता, इस में कीट-भृंग का दृष्टांत प्रसिद्ध है, देख लो भृंग के भय से कीट अपने कीट शरीर को छोड़कर भृंग का शरीर धारण करता है, वैसे ही जीव ब्रह्म बन जाता है ।

चंदन संगति चंदनी, पारस कंचन होय ।
कीट भृंग भय मिल भये, तो डर सम और न कोय ॥ ५ ॥

चंदन का संग होने से वनी चन्दन के भय से चन्दनी (चन्दन की गंध से युक्त) हो जाती है । पारस के भय से लोहा स्वर्ण बन जाता है । भृंग के भय से कीट भृंग हो जाता है । अतः पूर्व स्थिति बदलने में निपुण भय के समान अन्य कोई भी नहीं है ।

जन रज्जब सात्त्विक[1] लिये, गरीबी गरकाब[2] ।
तो प्राणी पानी जमे, मारग ह्वै सिर आब[3] ॥ ६ ॥

पानी शीत के भय से जमता है तब उसकी चमक[3] बढ़ जाती है, वैसे ही ईश्वर भय से प्राणी में सात्त्विकता[1] आती है तब उसका अभिमान नष्ट हो जाता है और वह गरीबी में निमग्न[2] रहता है, इस भय के मार्ग में प्राणी के शिर की शोभा[3] बढ़ जाती है ।

निर्भय नटनी पुहमि[1] पर, बरत[2] चढे भय भीत ।
त्यों रज्जब चढ सुरति पर, भय मिल होय अतीत[3] ॥ ७ ॥

पृथ्वी[1] पर नटनी निर्भय रहती है तब तो उसे धन्यवाद नहीं मिलता, रस्से[2] पर चढकर गिरने के भय से भीत होती है तब ही दर्शक उसे धन्यवाद देते हैं। वैसे ही जो साधक ब्रह्माकार-वृत्ति पर आरूढ होकर ब्रह्म भिन्न वृत्ति न हो जाय इस भय से युक्त रहता है, वह सर्व प्रपंच से अलग[3] होकर ब्रह्मरूप हो जाता है तब ही उसे धन्यवाद मिलता है।

ज्यों जहाज के थंभ शिर, रह्या काक तज तेज ।
त्यों रज्जब भय भीत ह्वै, करहु नाम सौं हेज[1] ॥ ८ ॥

काक पक्षी अपने देश की ओर ही मुख करके बैठता है, अतः दिशाज्ञान के लिये जहाज में काक पक्षी रखते थे और समुद्र में दूर जाने पर उसे छोड़ देते थे. समुद्र में अन्य स्थान बैठने को मिलता न था तब वह अपने तेज-बल का त्याग करके भयभीत हुआ जहाज के स्थंभ पर ही बैठ जाता था। वैसे ही मृत्यु आदि के भय से डरकर ईश्वर नाम-चिन्तन में ही प्रेम[1] करो।

जे सांई का सोच ह्वै, तो मन फूले नाँहि ।
जन रज्जब सिमट्या रहै, ज्यों अजा उभयसिंह माँहि ॥ ९ ॥

दो सिंहों के पींजरों के बीच में बाँधकर रक्खी गई बकरी को कितना ही खिलाओ वह मोटी नहीं होती, वैसे ही यदि ईश्वर का भय हो तो मन सांसारिक विषयों से नहीं फूलता, संकुचित ही रहता है।

रज्जब राम न भूलिये, जे मीच रहै मन माँहि ।
याद करन को आदमी, या सम और सु नाँहि ॥१०॥

यदि मृत्यु का भय मन में रहे तो प्राणी राम को नहीं भूल सकता, हे मानव ! भगवान् को याद कराने का साधन इस मृत्यु भय के समान अन्य कोई भी नहीं है।

रज्जब डर घर साधु का महा पुरुष रहै माँहि ।
तिन के सब कारज सरे, जु बाहर निकसे नाँहि ॥११॥

संतों का स्थान भय ही है, महापुरुष भय में ही निवास करते हैं अर्थात् मृत्यु, बुराई, आसुर गुणादि से सदा डरते ही रहते हैं, जो मृत्यु आदि के भय से मन को बाहर नहीं जाने देते उनके सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

रज्जब डर डेरा बडा, बडे रहैं बिच आय ।
भय को भय लागे नहीं, नर देखो निरताय ॥१२॥

भय रूप स्थान महान् है, बड़े पुरुष भी निर्भयता मे बुरे कर्म करने की स्थिति से आकर भय में ही रहते हैं अर्थात् बुराइयों से डरते रहते हैं। हे नरो ! विचार करके देखो, जो स्वयं भय में स्थित है उस को भय नहीं लग सकता ।

भय मिल सब कारज सरैं, भय मिल निपजे साध ।
रज्जब अज्जब ठौर डर, डर घर अगम अगाध ॥१३॥

विचार पूर्वक भय युक्त कार्य करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं, मृत्यु आदि के भय से युक्त रहने से ही मन में साधुपना उत्पन्न होता है । भयरूप स्थान अद्भुत है तथा भयरूप घर में निवास करने से प्राणी अगम अगाध ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

भय मधि भूत भला रहे, डर सौं डिगे सु नाँहि ।
संशय सोच सहाय को, मुनि सुमिरें मति माँहि ॥१४॥

वृत्ति में भय रहने से प्राणी अच्छा रहता है अर्थात् पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, भय के कारण ही अपने धर्म कार्यों से नहीं डिगता । संशय और शोक के सहायक भय का मुनि भी अपनी मति में चिन्तन करते हैं अर्थात् मुनि भी डरते हैं, तभी वे सदा स्वधर्म में स्थित रहते हैं ।

भाव भक्ति का मूल भय, भय कर भजिये राम ।
रज्जब भय मिल भृत्य[1] ह्वै, भय में सीझे काम ॥१५॥

भय-भाव तथा मुक्ति का कारण है, जन्मादि भय से डर के ही राम का भजन किया जाता है । जो जन्मादि भय से युक्त होता है, वही राम का भजन कर के भक्त[1] होता है । संसार-बन्धन से डरता है तभी मुक्ति का साधन करता है और साधन से ज्ञान द्वारा मुक्ति रूप कार्य सिद्ध होता है ।

महर[1] कहर[2] तैं डरपिये, करत हरत क्या वेर ।
ता थैं भय भागे नहीं, रज्जब समझ्या फेर ॥१६॥

दया[1] युक्त तथा क्रोध[2] युक्त दोनों ही व्यक्तियों से डरते रहना चाहिये, कारण क्रोधी को क्रोध करते क्या देर लगती है और दयालु को दया-त्यागते क्या देर लगती है । इसलिये हृदय से भय नहीं भगना चाहिये । हमने इनके परिवर्तन को भली प्रकार समझ लिया है, अतः डरते रहकर ही सब काम करना चाहिये ।

महर कहर सौं डरपिये, द्वै बिन दिल दिलगीर[1]।
त्रिविधि भांति त्रासे रहै, रज्जब पूरण पीर ॥१७॥

दया और क्रोध दोनों से ही डरते रहना चाहिये, जो इन दोनों से रहित रहता है, वही मन उदासीन[1] रहता है। जो मन वचन कर्म से डरता रहता है, वही अन्त में पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त करके सिद्धावस्था को प्राप्त होता है।

भय के भाजन[1] में रहे, सुकृत सरीखा धन्न।
जन रज्जब निर्भय भये, दह दिशि निकसे मन्न ॥१८॥

भय रूप पात्र[1] में ही पुण्य के समान धन रहता है अर्थात् डरते रहने से पाप कर्म नहीं होते और पुण्य की रक्षा होती है। निर्भय होने से मन दश इन्द्रिय रूप दशों दिशाओं से निकलकर पाप कर्म करने में प्रवृत्त होता है।

भाव भक्ति भय बिन नहीं, भय बिन भजे न राम।
रज्जब भय बिन भ्रष्ट ह्वै, भय बिन सरे न काम ॥१९॥

भय बिना श्रद्धा तथा भक्ति नहीं होती, भय बिना कोई भी अज्ञानी राम को नहीं भजता, भय बिना इच्छानुसार पाप कर्म करके प्राणी भ्रष्ट हो जाता है, मृत्यु आदि के भय बिना मुक्ति रूप कार्य भी नहीं सिद्ध होता।

रज्जब सब डर निडर को, निर्भय को भय पूर।
निर्संशय संशय घणा, प्रत्यक्ष प्राण हजूर ॥२०॥

जो पाप कर्म से नहीं डरता उसके पीछे सभी प्रकार के भय लगे रहते हैं। जो ईश्वर से नहीं डरता उसके लिये सब विश्व भय से पूर्ण है। जो अपने को निर्संशय मानता है, उसमें बहुत संशय रहते हैं। ईश्वर, संत, शास्त्र और पाप कर्म से नहीं डरता, इच्छानुसार करता है, उस प्राणी के कर्मों का फल उसके सामने प्रत्यक्ष ही आ जाता है।

निडर निलज्ज निश्शंक ह्वै, पूरि करे अपराध।
जन रज्जब जग सौं रचे, परिहर संगति साध ॥२१॥

जो निडर, निलज्ज और निश्शंक होता है, वह पूर्ण रूप से पाप ही करता रहता है और संतों की संगति को छोड़कर संसार के पापी प्राणियों से ही प्रेम करता है।

भय भाग्यूं भूले भजन, सत संगति रुचि नाँहि।
जन रज्जब सेवा गई, संशय नाँहीं माँहि ॥२२॥

मृत्यु आदि का भय चले जाने से भगवद् भजन करना भी भूल जाता है सत्संग में भी रुचि नहीं रहती, आत्म विषयक संशय मन में नहीं होने से सद्गुरु तथा संतों की सेवा का भाव भी प्राणी के मन से चला जाता है ।

अदब[2] अकलि[1] में पाइये, शर्म साफ दिल माँहि ।

बे अदबी बे शर्म में, रज्जब रजमा[3] नाँहि ॥२३॥

ज्ञान[1] युक्त में ही आदर[2] का भाव रहता है, साफ हृदय में लज्जा रहती है, आदर भाव से रहित और निर्लज्ज में उन्नतिप्रद योग्यता[3] नहीं रहती ।

जो तन निपजा तीन करि, तहां न नीतिगि[1] साज[2] ।

जन रज्जब सुत पंच का, करे कौन की लाज ॥२४॥

शुद्ध माता पिता से उत्पन्न होता है उसमें नीति, लज्जा, पाप कर्म से भय रहता है । जिसमें जार का बिन्दु भी पड़ा हो, वह तीन का पुत्र है उसमें नीतिज्ञ[1] होने का साधन[2] नहीं होता । जिसके चार जार हैं और एक पति उन पांच से उत्पन्न पुत्र किसकी लज्जा करेगा, अर्थात् जो भय रहित व्यभिचारिणी नारी का पुत्र हो, वह किस को पिता मान कर लज्जा करेगा ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भयभीत भयानक का अंग १४ समाप्तः ॥सा. ५२३॥

अथ विरक्त का अङ्ग १५

इस अंग में विरक्त विषयक विचार दिखा रहे हैं—

त्यागी ताखे[1] की दशा, तहां न माया घास ।

जन रज्जब तब जानिये, ब्रह्म अग्नि परकाश ॥ १ ॥

विरक्त पुरुष तक्षक[1] जाति के सर्प के समान होता है । तक्षक जाति के सर्प की बाँबी के पास लगभग एक बीघा भूमि में घास नहीं होता, वैसे ही विरक्त के पास माया नहीं रहती । ऐसा विरक्त हो तभी समझना चाहिये कि इसमें ब्रह्म ज्ञानाग्नि का प्रकाश हुआ है ।

गृह दारा सुत वित्त सौं, यहु मन भया उदास ।

जन रज्जब राम हिं रच्या, छूटचा जगत निवास ॥ २ ॥

विरक्त का यह चंचल मन भी घर, नारी, पुत्र, धनादि से उदास हो जाता है, उसका सांसारिक विषयों में रहना छुट जाता है और वह राम में ही अनुरक्त रहता है ।

त्याग तेग सौं मारिये, रज्जब लंगर[1] लोभ ।
मनसा वाचा कर्मना, तो तिहुं लोक में शोभ ॥ ३ ॥

ढीठ[1] लोभ को वैराग्य रूप तलवार से मारना चाहिये, हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं, लोभ को नष्ट करने से ही तीनों लोकों में शोभा होती है ।

रज्जब रह गया राम में, तज रामति का द्वन्द्व ।
नभ नीर परसे नहीं, भया सीप का बूंद ॥ ४ ॥

स्वाति जल का बिन्दु सीप में जाकर मोती बन जाता है तब अन्य जल के समान न तो आकाश में जाता और न जल से मिलता, वैसे ही संसार भ्रमण के हेतु काम क्रोधादि द्वन्द्वों को त्याग के विरक्त का मन राम में ही स्थिर रह जाता है, पुनः सांसारिक विषयों में अनुरक्त नहीं होता ।

बपु[1] वसुधा[2] सौं वैर विधि, विरच्या[3] लग वैकुण्ठ ।
रज्जब रुचे न विनशती[4], यहु उर अंतर अण्ट[5] ॥ ५ ॥

विरक्त का मन शरीर[1] तथा पृथ्वी[2] के भोगों से और वैकुण्ठ तक से जैसे वैर के द्वारा वैरी से उपराम[3] होता है, वैसे ही उपराम हो जाता है, उसे विनाशी[4] माया रुचि कर नहीं लगती, विरक्त के हृदय में यह वैराग्य की गाँठ[5] ही लग जाती है, अर्थात् वह वैराग्य को नहीं छोड़ता ।

माया काया मन मतें,[2] विरच्या[3] प्राण प्रचण्ड[1] ।
रज्जब न्यारा नाम बल, नजर नहीं नौ खंड ॥ ६ ॥

तीव्र[1] वैराग्य युक्त प्राणी माया, शरीर और सांसारिक मन के विचारों[2] से उपराम[3] हो जाता है, निरन्जन राम के नाम चिन्तन के बल से सबसे ही अलग रहता है, इस नौ खंड वाली पृथ्वी के किसी भी पदार्थ पर उस की रागयुक्त दृष्टि नहीं पड़ती ।

विरच्या बरते बरतणिहि, तन मनत्रितिरस्कार ।
जन रज्जब रत नाम सौं, यहु विरक्त व्यवहार ॥ ७ ॥

उपरामता से सब कार्य करता है, तीनों लोकों के भोगों का तन-मन से अनादर करता है और निरंतर निरंजन राम के नाम में अनुरक्त रहता है, यही विरक्त पुरुष का व्यवहार है ।

रज्जब रूठा ऋद्धि सौं, सिद्धि सुहावे नाँहि ।
इन आगे इसका धणी, सो बैठा मन माँहि ॥ ८ ॥

विरक्त पुरुष ऐश्वर्य से उपराम रहता है, सिद्धियाँ उसे प्रिय नहीं लगतीं, इन सिद्धि आदि से परे इनका स्वामी परमात्मा है, वही विरक्त के मन में निरंतर स्थित रहता है ।

पाइ परी पाई नहीं, ऋद्धि सिद्धि निधि ऐन[1] ।
रज्जब त्यागी ते पुरुष, संतति शक्ति न सैन ।। ९ ।।

जो नाना प्रकार के ऐश्वर्य, अष्ट सिद्धि, नौ निधि साक्षात्[1] पैरों में पड़ने पर भी उनको नहीं प्राप्त के समान ही समझते हैं अर्थात् उनसे उपराम ही रहते हैं । संतान तथा मायिक सुख-प्राप्ति के लिये संकेत मात्र भी नहीं करते, उद्योग तो कैसा, वे ही त्यागी पुरुष हैं ।

मुख की सिलक[1] गुदा की ढीमा[2], त्यागत सोच नहीं कुछ जीमा ।
त्यों विभूति बरतणि ले डारी, यूं माया मुनिवर सौं न्यारी ।।१०।।

मुख की लार पंक्ति[1] वा वमन और गुदा का मल[2] इनको त्यागने से मन में कुछ भी चिन्ता नहीं होती, वैसे ही विरक्त पुरुष माया को कार्य में लेकर पटक देते हैं, उसमें राग नहीं करते, इसी से माया मुनिवरों से अलग ही रही है ।

सोने मुख पीला किया, रूपे किया सुश्वेत ।
जन रज्जब सु वियोग ही, साधु किया नहिं हेत ।।११।।

संतों ने प्रेम नहीं किया, संतों के वियोग-दुःख के कारण ही सोना पीला पड़ गया और चाँदी श्वेत हो गई ।

जोड़े के सुख सौं रह्या, जड़ काटी जग माँहि ।
रे रज्जब संसार में, सो फिर आवे नाँहि ।।१२।।

जो नारी पुरुष के जोड़े से होने वाले सुख से अलग रहा है और जगत् के धनादि में जो अपनी आसक्ति रूप जड़ जमी थी उसे वैराग्य से काट दी है, वह पुनः संसार में नहीं आता ब्रह्म में लीन हो जाता है ।

रज्जब तूटी त्रिभुवन, करतों त्रिय तिरस्कार ।
सो योगी यशवंत जग, जग में जै जै कार ।।१३।।

नारी का त्याग करते ही तीनों भुवनों के विषय सुखों से वृत्ति हट जाती है, जो तन मन से नारी का त्याग कर देता है, वह योगी जगत् में यश का भागी होता है और उस की जगत् में जय ध्वनि होती है ।

रज्जब आये रहत[1] में, उर अबला अनमेल ।
तन से तिय तिरस्कार कर, खेल चले यह खेल ।।१४।।

जो शरीर से नारी का त्याग करके मन से भी नारी से नहीं मिले वे ही यह वैराग्य का खेल खेलकर तथा संसार से चलकर ब्रह्म[1] स्वरूप में आये हैं, अर्थात् ब्रह्म रूप हुये हैं।

नर नारी न्यारा भया, निकस गया नौ खंड।
रज्जब राता राम सौं, रही सु माया मंड[1] ॥१५॥

विरक्त नर तन मन से नारी से अलग हो जाता है, उसी समय नौ खंड के विषय सुखों से निकल जाता है और राम में अनुरक्त होकर ब्रह्म रूप हो जाता है, फिर माया उसका क्या कर सकती है? वह तो ब्रह्मांड[1] में ही रह जाती है। ब्रह्म में माया का अभाव है।

रज्जब त्यागी घर घरनि, पर नारी न सुहाय।
अहि अपनी तज काँचुली, का की पहरे जाय ॥१६॥

जो विरक्त निज नारी को त्याग देता है, उसे पर नारी अच्छी नहीं लगती, सर्प अपनी काँचुली त्यागकर किसी अन्य सर्प की पहनने कब जाता है?

मनसा वाचा कर्मना, गहै न त्यागन हार।
रज्जब रुचे न ऊगले, उर अबला रु अहार ॥१७॥

जो मन, वचन, कर्म से त्याग देता है, वह पुनः ग्रहण नहीं करता, जैसे वमन करे हुये आहार को ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती, वैसे ही त्यागी हुई नारी की इच्छा नहीं होती।

रज्जब रवि को दरशते, अरुचि छींक चखि नीर।
शक्ति सुन्दरी सन्मुखै, सो गति साधू वीर[1] ॥१८॥

सूर्य के सामने देखने से देखने की रुचि नहीं होती, छींकें आने लगती हैं और नेत्रों में पानी आने लगता है, देखने वाले की स्थिति बिगड़ जाती है, वैसे ही हे भाई[1] स्वर्णादि माया और नारी के सामने देखने से विरक्त की स्थिति भी बिगड़ जाती है।

कायर कोट[2] हुं सौं गिर हिं, कंध न लेहि करवाल[1]।
त्यों अधपति[3] अबल[4] हुं सु डरि, गहैं गरीबी हाल ॥१९॥

कायर कंधे पर तलवार[1] रखकर युद्ध में नहीं जाते तो भी किले[2] पर से युद्ध करने वाले वीरों की तलवारों की चमक देख के भय से चक्कर खाकर नीचे गिर जाते हैं, वैसे ही राजा[3] लोग विरक्तों के समान काम से युद्ध तो कहां कर सकते हैं, केवल काम के शस्त्र नारी[4] से ही डरकर गरीबी दशा में आ जाते हैं, अर्थात् दीन गरीब प्राणी के समान नारी के आगे उसकी गुलामी करते हैं।

साधू सुत के जावणैं,[२] हरि सिद्धि नहिं हेत।
पूत नीपजे मात मरि, खोटा[३] खच्चर बेत[१] ॥२०॥

खच्चरी के पेट रूप स्थान[१] से जब खच्चर जन्मता[२] है तब पेट को फाड़कर माता के मरने पर ही जन्मता है, अतः माता की दृष्टि से बुरा[३] है। वैसे ही परमात्मा के विरक्त संतरूप पुत्र जन्मता है तब उस का हरि सिद्धि (माया) से प्रेम नहीं होता, वह माया को नष्ट करके अर्थात् मिथ्या समझ कर के ही होता है।

बादल वायु वारि नर मोती, सगुण निर्गुण राखे राग।
केलि कपूर बहुरि नहिं आवे, यूं रज्जब बींधा वैराग ॥२१॥

बादल, वायु, जल, नर मोती और सगुण है, किन्तु निर्गुण में प्रेम रखते हैं। बादल, आकाश में ही रहता है, वायु आकाश में ही चलता है, पृथ्वी पड़ा जल आकाश में ही चढता है। आकाश में इन्हें धारण करने का कोई गुण भी नहीं है किन्तु फिर भी उक्त तीनों का प्रेम आकाश में है। नर गुणों से युक्त होने पर भी निर्गुण ब्रह्म से प्रेम करता है। मोती बहु गुण युक्त होने पर भी हीन गुण वाली सीप में ही प्रेम करता है, अन्य में नहीं बनता, किन्तु फिर भी ये कपूर और विरक्त के समान नहीं हो सकते। कपूर केले में बनता है फ़िर भी केले से उड जाने के पीछे पुनः केले में नहीं आता, वैसे ही विरक्त संसार में जन्मता है किन्तु वह वैराग्य से इतना विद्ध हो जाता है कि पुनः संसार में नहीं जन्मता। अतः विरक्त का ही निर्गुण प्रेम सफल है, बादल आदि का नहीं कारण वे पुनः पुनः सगुण संसार में आते रहते हैं।

धन्य जु निकस्या धोम ज्यों, रह्या शून्य[१] कर सीर[२]।
रज्जब तीर कमान ज्यों, निकसि फिरै बहु वीर ॥२२॥

धनुष से बाण जाता है और पुनः वीर के द्वारा कमान पर चढाया जाता है ऐसे विरक्त तो संसार में बहुत हैं जो घरादि को त्याग देते हैं और पुनः भोग-वासना के द्वारा जन्मादि संसार में आते हैं, किन्तु जैसे रसोई से निकला हुआ धुआँ पुनः रसोई में नहीं आता, आकाश[१] में लीन[२] हो जाता है, वैसे ही संसार भावना से निकल कर पुनः भोग-वासना से जन्मादि संसार में नहीं आता है, ब्रह्म[१] में ही लीन हो जाता है वही विरक्त वीर धन्य है।

प्राणी पारे परि[१] रमहिं[२], वामा[३] वैद्य न दूर।
उभय न पावे उभय कर, जो ह्वै गये कपूर ॥२३॥

अग्नि संस्कार करते समय जब तक वैद्य पास रहता है तब तक पारा उड़ नहीं सकता, वैद्य के वश में पड़ने[१] से अपने आधार पात्र में ही

विचरता[2] है। वैसे ही जब तक प्राणी नारी[3] के वश में पड़ा रहता है तब तक तो घर में रहता है। वैद्य दूर चला जाय और पारा कपूर के समान उड़ जाय तो फिर वैद्य के हाथ नहीं आता। वैसे ही जो पुरुष नारी के दूर रहने पर सत्संग द्वारा परम विरक्त होकर घर से निकल जाय तो वह भी उड़े हुये कपूर के समान फिर नारी के हाथ नहीं आता।

पारे प्राणि कपूर है, उभय उडैं सम साथ।
एक सु वामा वैद्य कर, एक सु नाम हि हाथ ॥२४॥

पारा और प्राणी कपूर के समान हैं, जैसे कपूर उड़ जाता है वैसे ही उक्त दोनों भी उड़ जाते हैं किन्तु जैसे काली मिरचों के साथ रहने पर कपूर नहीं उड़ पाता वैसे ही वैद्य के अधीन पारा नहीं उड़ पाता और नारी के अधीन प्राणी विरक्त नहीं हो पाता। पारा वैद्य के हाथ में रहता है और पुरुष नारी के हाथ में रहता है, किन्तु जो पारा अपनी ख्याति के हाथ में आजाता है अर्थात् पारा उड़ने वाला है, यह प्रसिद्ध है, अतः जो उड़ जाता है, वह वैद्य के अधीन नहीं रहता। तथा जो पुरुष भगवान् नाम के हाथ आजाता है अर्थात् निरन्तर नाम चिन्तन करता है, वह विरक्त हो जाता है और जैसे कपूर उड़कर आकाश में मिल जाता है, वैसे ही भोग-वासना को त्याग कर ज्ञान द्वारा ब्रह्म में मिल जाता है, वह नारी के अधीन नहीं रहता।

विरक्तताप हुं पौणि[1] की, सो सम कही न जाय।
बीज[2] बुहारी की पड़िणीं,[3] नर देखो निरताय[4] ॥२५॥

हे नरो! विचार[4] करके देखो, घर में बिजली[2] के पड़ने से और बुहारी के पड़ने[3] से एक-सा ही संताप होता है क्या? अर्थात् नहीं, वैसे ही भगवद् वियोग जन्य ताप विरक्त संत की और पशु[1] समान अज्ञानी प्राणी की समान नहीं कही जाती।

धौ गति टूटे एक को, सालर गति सब कोय।
रज्जब टूटा सो भला, जो फिर हरया[1] न होय ॥२६॥

सालर वृक्ष की डाली टूट कर पृथ्वी के संबन्ध से पुनः हरी होजाती है, ऐसे ही विरक्त होकर पुनः विषयों में अनुरक्त होने वाले तो सभी हैं अर्थात् दोष दृष्टि से सभी को वैराग्य होता रहता है किन्तु वे पुनः राग में फँस जाते हैं। धोकड़ा वृक्ष की डाली टूट जाने पर पुनः हरी नहीं होती, ऐसे ही जो विरक्त होकर पुनः विषयों में राग नहीं करता ऐसा कोई विरला ही होता है और जो विरक्त होकर पुनः अनुरक्त[1] नहीं होता वही विरक्त श्रेष्ठ होता है।

मिहरी मूंगोड़ी भई, साधू मन भया काग ।
जन रज्जब जो यूं तजे, ताके मोटे भाग ।।२७।।

जैसे मूंगोड़ी को काक पक्षी नहीं खाना चाहता, वैसे ही संत का मन नारी का संग नहीं चाहता । जैसे काक ने मूँगोड़ी तजी वैसे ही जो नारी को तज देता है उसका विशाल भाग्य है ।

मूंगोड़ी वायस तजी, त्यों वैरागी तज वाम[1] ।
पंखी की पर[2] लीजिये, रज्जब सरे सु काम ।।२८।।

जैसे काक पक्षी ने मूंगोड़ी तजी है वैसे ही हे विरक्त तू नारी[1] को त्याग दे । पक्षी की यह श्रेष्ठ[2] शिक्षा धारण कर वा पक्षी जैसे अपने पंख[2] को त्याग कर पुनः धारण नहीं करता, वैसे ही नारी को त्याग कर पुनः उसे मत ग्रहण कर तभी तेरा मुक्ति रूप कार्य सम्यक सिद्ध होगा ।

नारी नैन न देखिये, श्रवण हुं सुनिये नाँहि ।
बैयर बचन न बोलिये, रज्जब रस भंग माँहि ।।२९।।

कामुक दृष्टि से नारी को मत देखो, कामुक भावना रख कर नारी का चरित्र तथा वचन मत सुनो, कामुक भावना से नारी शब्द मत बोलो वा कामुक भावना से नारी से मत बोलो कारण, कामुक भावना से देखने, सुनने और बोलने से हृदय का भजन-रस नष्ट हो जाता है । अतः माता, बहिन, पुत्री और आत्म दृष्टि से ही देखो, सुनो और बोलो ।

माता मेरी सकल ही, जो जन्मी जग आय ।
जन रज्जब जननी सबै, कासौं विषय कमाय ।।३०।।

जगत् में जो भी नारी जन्मी है, वह मेरी माता है, जब सभी माता हैं तब किससे विषय सुख प्राप्त किया जाय ?

जा माता में हम भये, सो माता सब ठौर ।
रज्जब विरच्या यूं समझ, नहीं भजन कोइ और ।।३१।।

जिस माता से हम जन्मे हैं, वह माता सब स्थानों में है, यही समझ कर हम विरक्त हुये हैं । हमारे मन में माता रूप भावना से भिन्न अन्य प्रकार का कोई भी चिन्तन नहीं होता ।

सब ही माता सब बहिन, सब पुत्री कर जान ।
रज्जब के रमणी नहीं, समझा सद्गुरु ज्ञान ।।३२।।

जो अपने से अवस्था में बड़ी हों उन सबको माता, समान अवस्था की हों उन सबको बहिन और छोटी हो उन सबको पुत्री समझना चाहिये ।

सद्गुरु के ज्ञान से यही हमने समझा है, अतः हमारी दृष्टि में भोगने योग्य नारी कोई भी नहीं है ।

रज्जब निकसे पूत ह्वै, पैठे पुरुष न होय ।
नाता माता का रह्या, सो जन विरला कोय ॥३३॥

जो पुत्र होकर निकला और पुनः पुरुष होकर प्रवेश नहीं किया उसी का माता का संबन्ध रहा है, ऐसा पुरुष कोई विरलाही होता है ।

नारी नींद न विलसिये, सुन्दरि स्वप्ने त्याग ।
जन रज्जब जग वह यती, वन्दनीय[1] वैराग ॥३४॥

विरक्त को नारी संग सोते समय स्वप्न में भी नहीं करना चाहिये, जो स्वप्न में भी नारी से बचा रहता है, वह सच्चा यती है और उसी का वैराग्य माननीय[1] है ।

मनसा नारी त्याग कर, मन वैरागी होय ।
रज्जब राखे जतन यहु, जती कहावे सोय ॥३५॥

जिसका मन भोगाशा रूप नारी को त्याग कर विरक्त हो जाय और पुनः भोगाशा मन में नहीं आजाय इसका यत्न रक्खे, ऐसा साधक ही यती कहलाता है ।

रज्जब दारा देह को, परसे पुरुष न प्राण ।
बालक व्यसन न उपजे, सो वैरागी जाण ॥३६॥

जो प्राणधारी पुरुष देह रूप नारी का स्पर्श न करे अर्थात् ,देहाध्यास त्याग दे और जिसके मादक पदार्थ सेवन वा कामादि कोई भी प्रकार का व्यसन रूप बालक नहीं उत्पन्न हो, उसी को विरक्त जानना चाहिये ।

पंच विषय पंचौं रहत[1], मन से मनोरथ त्याग ।
रज्जब लायक राम को, यहु उत्तम वैराग ॥३७॥

पंच ज्ञानेन्द्रिय आसक्ति पूर्वक पांचों विषयों में जाने से रह[1] जाय और मन से मनोरथ रूप विषयों का त्याग हो जाय, तब समझना चाहिये कि अब बुद्धि ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हुई है और इस अवस्था को ही उत्तम वैराग्य कहते हैं ।

मनसा पंच भरतार तज, जे वैरागिनि होय ।
रज्जब पावे परम घर, जहाँ न सुख दुख दोय ॥३८॥

यदि बुद्धि पंच विषय रूप पंच भरतारों को त्याग करके विरक्त हो जाय, तो जहां विषयजन्य सुख और दुख दोनों ही नहीं है, उस पर ब्रह्म रूप श्रेष्ठ घर को प्राप्त कर लेती है।

जन रज्जब तन सौं तरक,[1] मन की माने नाँहि।
सो विरक्त ब्रह्मांड में, बैठा निज मत[2] माँहि ॥३९॥

जिसने शरीर का राग त्याग[1] दिया हैं, मन की अनुचित बात भी नहीं मानता और जो अपने सिद्धान्त[2] में अडिग स्थिर रहता है, ब्रह्माण्ड में वही विरक्त कहलाता है।

माया मोह मदन मन मारे, काया कसणी दण्ड।
सो रज्जब विरकत सही, घर ही में वन खण्ड ॥४०॥

जो आत्मज्ञान द्वारा मायिक मोह को और वस्तु विचार द्वारा काम को नष्ट करता है तथा शरीर को साधन-कष्ट रूप दंड देता है, वही सच्चा विरक्त है, उसके लिये घर में ही वन निवास की-सी स्थिति बन जाती है।

सूख वृक्ष संसार यहु, पंखि प्राण तज आश।
रज्जब पत्र न फूल फल, त्रिविधि भांति सुख नाश ॥४१॥

यह संसार सूखे वृक्ष के समान है, जैसे सूखे वृक्ष से पक्षी की पत्र, फूल और फल की आशा पूर्ण नहीं होती, वैसे ही संसार में प्राणी की मन, वचन और शरीर संबन्धी तीनों ही प्रकार की सुखाशा नष्ट ही होती है, पूर्ण नहीं होती। अत: सूखे वृक्ष से पक्षी को और संसार से प्राणी को सुख की आशा त्याग ही देना चाहिये।

मृतक को मूली[1] नहीं, क्या फूके बिन आगि।
रज्जब रीते भाव बिन, सो प्राणी दे त्यागि ॥४२॥

मुर्दे की औषधि[1] नहीं की जासकती, अग्नि बिना जलाने का काम नहीं हो सकता, ऐसे ही विरक्त को चाहिये, जिन प्राणियों में श्रद्धा-भाव नहीं होता उनका त्याग ही अच्छा है, कारण, उनका उद्धार तो होगा नहीं उलटा विरक्त के साधन में विघ्न ही करेंगे।

रज्जब रीते प्राणि में, हेरि चढे क्या हाथ।
वैद्य न करही वैद्यगी, मुये शरीरों साथ ॥४३॥

जो श्रद्धा आदि से रहित है, उसे श्रेष्ठ बनाने का यत्न करे तो उसके क्या हाथ लगेगा ? अर्थात् वह श्रेष्ठ नहीं बनता। वैद्य प्राण रहित शरीरों की चिकित्सा नहीं करता वैसे ही विरक्त श्रद्धा आदि से रहित का त्याग ही करते हैं।

रज्जब रीता आतमा, जे हिरदै हरि नाँहि ।
तहाँ समागम को करे, सूने मंदिर माँहि ॥४४॥

जिसके हृदय में हरि चिन्तन नहीं होता, वह जीवात्मा खाली हृदय का माना जाता है । सूने घर में कोई जाय, तो वहां उससे कौन मिलेगा ? अतः उक्त खाली हृदय का व्यक्ति और सूना घर दोनों ही त्याज्य हैं ।

पिण्ड प्राण बिन कुछ नहीं, त्यों आतम बिन राम ।
सूने सदनों शोभ क्या, रज्जब रीती ठाम ॥४५॥

जैसे प्राणों के बिना शरीर निस्सार है, वैसे ही राम बिना जीवात्मा निस्सार है । सूने घर की तथा राम-भजन बिना हृदय रूप स्थान की क्या शोभा है ? अर्थात् कुछ नहीं, अतः विरक्त दृष्टि से त्याज्य हैं ।

भेड न चाटे भेड को, सुख दुख व्है भय भीत ।
रज्जब तैसी ठौर तज, ले पशु की रस रीत ॥४६॥

भेड़ भेड़ को नहीं चाटती, कारण, उसकी ऊन में काँटे रहते हैं । अतः चाटने वाली भेड़ को सुख के स्थान में दुख ही मिलता है । ऐसे ही जिस स्थान में विरक्त को अपने साधन में विघ्न रूप दु.ख हो, उस स्थान को उक्त पशु की रीति के अनुसार त्यागकर भजन-रसका पान करना चाहिये ।

रज्जब चाटे भेड सुत, जब लग शुद्ध शरीर ।
भुरट भुंड भरि आवतों, मुख मेलै[1] नहिं वीर ॥४७।

भेड़ अपने बच्चे को तब तक चाटती है, जब तक उसका शरीर शुद्ध रहता है, फिर जब उसकी ऊन में भुरटादि काँटे फँस जाते हैं तब हे भाई ! उस पर चाटने के लिये अपना मुख नहीं रखती[1] । वैसे ही विरक्त के लिये सदोष व्यक्ति का त्याग ही श्रेष्ठ है ।

तन मन त्रिगुणी त्याग कर, आतम उनमनि लाग ।
सो रज्जब रामहिं मिलैं, घट पट अन्तर भाग ॥४८॥

तन अध्यास, मन के मनोरथ और त्रिगुणात्मिका माया को त्यागकर जो जीवात्मा समाधि में लगा रहता है, उसके अन्तःकरण का अज्ञान रूप वस्त्र का परदा दूर हो जाता है और वह राम से मिल जाता है ।

ध्रुव अनाथ व्है नीकस्या, तब से सरे सब काज ।
रज्जब पाया प्राण ने, धरे[1] अधर[2] का राज ॥४९॥

ध्रुव बालक जब माता पिता आदि का आश्रय त्याग के, अपने को अनाथ समझकर, विरक्त होकर, भगवद्-भजन करने के लिये घर से निकला तभी से उसके सभी कार्य सिद्ध होते ही गये और अन्त में उस विरक्त ने मायिक[1] राज्य तथा ब्रह्म[2] दोनों को ही प्राप्त किया । यही विरक्त की विशेषता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विरक्त का अंग १५ समाप्तः ।।सा० ५७२।।

अथ सूक्ष्म त्याग का अङ्ग १६

इस अंग में बता रहे हैं कि बाहर के पदार्थों का त्यागना सुगम है किन्तु आन्तर विकारों का त्यागना कठिन है—

वश[1] अवश[2] छूटहिं सदा, जन रज्जब रिधि[3] राज ।
पै मन मनोरथ त्यागने, महा कठिन यह काज ।। १ ।।

स्वतंत्रता[1] से वा परतंत्रता[2] से राज्यादि सँपत्ति[3] छुट ही जाती है, परन्तु मन के मनोरथों का त्यागना रूप कार्य महान् ही कठिन है ।

व्याज राज सब त्याग दे, मूल मनोरथ माँहि ।
जन रज्जब जिय जगत सौं, तब लग छूटे नाँहि ।। २ ।।

मन में जो राज्य का मनोरथ है, वह तो मूल धन के समान है और बाहर का राज्य व्याज के समान है । लेन देन करने वाला व्याज को तो छोड़ देता है किन्तु मूल धन नहीं छोड़ता । वैसे ही प्राणी बाहर के राज्य को तो आक्रमणकारियों द्वारा छोड़ भागता है किन्तु राज्य का मनोरथ नहीं छुटता और जब तक प्राणी का मन जगत के मनोरथों को नहीं त्यागता तब तक मुक्त नहीं हो सकता ।

तन सौं विषया छूट ही, पर मन सौं छूटे नाँहि ।
रज्जब कश्मल तब लगै, गृह वैराग्य सु माँहि ।। ३ ।।

शरीर से तो विषयों का त्याग हो जाता है किन्तु मन से नहीं छुटते । चाहे घर में रहो वा संन्यासी बन जाओ, जब तक मन में विषयों का चिन्तन है तब तक पापादि विकार रहते ही हैं प्राणी उनसे मुक्त नहीं होता ।

रज्जब नारी माँही नर घणे, नर में नारि अनन्त ।
महलाइत मन माँहिली, तजे सु साधू संत ।। ४ ।।

नारी में मनोरथ रूप नर बहुत हैं और नर में मनोरथ रूप नारियाँ बहुत होती हैं। नारी नरों का संकल्प करना रूप और नर नारियों का संकल्प करना रूप भीतर के महलों को त्यागते हैं वे ही श्रेष्ठ साधक और संत माने जाते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सूक्ष्म त्याग का अंग १६ समाप्त।सा० ५७६॥

अथ मोह मरदन निर्मोही का अंग १७

ज्यों सलित[1]हु समदी[2] मिलहिं, त्यों पंच तत्त्व परिवार।
सो संतति कुछ है नहीं, रज्जब समझ विचार॥ १॥

१-४ में मोह को नष्ट करके निर्मोही हुये ज्ञानी का परिचय दे रहे हैं—जैसे नदियाँ[1] समुद्र[2] में मिलती हैं, वैसे ही पंच तत्त्व जन्म शरीरादि परिवार आत्मा से मिलता है। नदियों के आने से समुद्र की वृद्धि नहीं होती और जल उड़कर आकाश में जाने से ह्रास नहीं होता, वैसे ही पंच तत्त्व जन्य शरीरादि से आत्मा की वृद्धि तथा ह्रास नहीं होता। उक्त प्रकार से जो आत्मा को जान लेता है वह मोह को नाश करके निर्मोही हो जाता है, उसकी जो संतान आदि परिवार है वह आत्मा से भिन्न कुछ नहीं, कारण आत्मा का विवर्त्त है। विवर्त्त अधिष्ठान से भिन्न कुछ नहीं होता, जैसा रज्जु का सर्प रज्जु से भिन्न कुछ नहीं होता ऐसे ही विचार के द्वारा अपने आत्मा को समझ कर साधकों को मोह नष्ट कर के निर्मोही होना चाहिये।

ज्यों रज्जब नर नाव में, दह दिशि बैठैं आय।
पार गये पंथों पड़ें, मोह न बाँध्या जाय॥ २॥

जैसे पथिक नदी तट पर सभी दिशाओं से आकर नौका में बैठते हैं और नदी पार जाने पर अपने अपने मार्गों में चल पड़ते हैं, कौन किस के मोह में बँधता है, वैसे ही घर पर परिवार का संयोग वियोग है। मोह नष्ट कर के निर्मोही हुआ ज्ञानी परिवार के मोह में नहीं बँधता।

बहु विहंग बैठैं बिरख, पंथी बसैं सराय।
रज्जब मोह न बँध हिं, नर देखो निरताय॥ ३॥

रात्रि को वृक्ष पर बहुत से पक्षी आकर बैठते हैं और प्रातः सब उड़ जाते हैं, सराय में यात्री ठहरते हैं और चले जाते हैं, वृक्ष पक्षियों के और सराय यात्रियों के आने जाने के हर्ष-शोक से नहीं बँधते, वैसे ही हे नरो! विचार कर के देखो, मोह को नष्ट कर के निर्मोही बना ज्ञानी भी परिवार के मोह में नहीं बँधता।

वैरी मिलहिं सु वैर विधि, ऋणी मिले ऋण भाय ।
रज्जब चूकै वैर ऋण, पीछे रह्या न जाय ।। ४ ।।

परिवार में कुछ तो पूर्व जन्मों के वैरी आकर मिलते हैं और वैरी के समान दुःख ही देते हैं । कुछ पूर्व जन्मों का ऋण देने तथा लेने आते हैं । वे सभी वैर तथा ऋण चुक जाने पर मर के चले जाते हैं फिर नहीं रहते, अतः ऐसे परिवार के मोह में, मोह नष्ट करके निर्मोही हुआ ज्ञानी नहीं बँधता, अज्ञानी ही बँध कर क्लेश उठाते हैं ।

शीत कोट स्वप्ने की संपद्, माया मोह न बंध ।
रज्जब राख्यूं देख तों, कहा होय जाचंध[1] ।। ५ ।।

निर्मोही बनने की प्रेरणा कर रहे हैं—बर्फ से बना हुआ किला वा गन्धर्व नगर और स्वप्न का धन जैसे मिथ्या है, वैसे ही यह व्यवहारिक मायिक मोह का बँधन भी प्रतीति मात्र ही है, वास्तव में नहीं है । बर्फ का किला और गन्धर्व नगर सूर्य की ताप बढ़ने पर और स्वप्न का धन जगने पर कुछ भी नहीं रहता । वैसे ही ब्रह्म-ज्ञान होने पर मायिक-मोह बँधन भी कुछ नहीं रहता । सब कुछ नाश होने वाले हैं, नष्ट होते देख भी रहे हैं किन्तु फिर भी प्राणी न जाने क्यों जन्मांध[1] के समान हो रहे हैं, मोह को त्यागकर सुखी नहीं होते ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मोह मरदन निर्मोही का अंग १७
समाप्तः ।।सा० ५८१।।

अथ संपत्ति विपत्ति मद हरन का अङ्ग १८

इस अंग में संपत्ति के मद से रहित और विपत्ति के क्लेश से रहित संतों का परिचय दे रहे हैं—

संपति विपत्ति मद हरन, जा में यह मत होय ।
रज्जब ऋधि आये गये, जे रङ्ग न पलटे कोय ।। १ ।।

जो ऐश्वर्य के आने पर तथा जाने पर कोई प्रकार का रंग नहीं बदले अर्थात् हर्ष-शोक नहीं करे, जिसके हृदय में यह एकरस रहने का सिद्धांत स्थिर हो वही व्यक्ति संपत्ति का अभिमान रूप मद और विपत्ति का क्लेश रूप मद दोनों को हृदय से दूर करने वाला होता है ।

रज्जब संपति विपत्ति में, साहस एक समान ।
आतम अकल अतीत वह, पाया पद निर्बान ।। २ ।।

जिसका साहस संपत्ति के समय तथा विपत्ति के समय एक-सा रहा है, उसी जीवात्मा ने कला विभाग से रहित, सर्वातीत निर्वाण पद को प्राप्त किया है ।

मान रहित अरु मान में, सुमन समुद सम देख ।
संपत्ति मिले सो ना बधे, घटे न विपति विशेष ।। ३ ।।

समुद्र को वर्षाकाल में नदियों द्वारा जल रूप संपत्ति मिलने पर समुद्र बढता नहीं और गीष्म ऋतु में न आने से घटता नहीं, वैसे ही संपत्ति-विपत्ति में सम रहने वाले संतों का मन अपमान होने पर और सम्मान होने पर सम देखा जाता है । न सम्मान से सुखी होता और न अपमान को विपत्ति मानता, यही संतों की विशेषता है ।

संपत्ति में सूधे दरसैं, विपत्ति मध्य बहु बंक ।
रज्जब मन सु मयंक से, नहिं ईश्वर नहिं रंक ।। ४ ।।

चन्द्रमा सोलह कला रूप संपत्ति के समय सीधा दिखाई देता है और शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन उसकी दो कला रहती है, तो भी उसमें वक्रता रहती है, अर्थात् वह विपत्ति में दीन नहीं होता वैसे ही संतों के सुन्दर मन भी चन्द्रमा के समान ही रहते हैं, उनमें संपत्ति के समय ईश्वरता और विपत्ति के समय रंकता नहीं आती ।

पूजा पुष्टि[1] से दीन ह्वै, बिन पूजा बलवंत ।
रज्जब लीन्ही बाल बुधि, समझचा साधू संत ।। ५ ।।

बालक को सुन्दर सिंहासन पर बैठाकर बहुत[1] पूजा करने से वह दीन-सा होगा, और माता की गोद में बिना पूजा ही बल युक्त-सा भासेगा । वैसे ही विचारशील संतों ने बाल बुद्धि का आश्रय लिया है, वे पूजा प्रतिष्ठा से प्रसन्न नहीं होते, दीन से हो जाते हैं और साधारण स्थिति में आत्म-बल युक्त प्रसन्न रहते हैं ।

संपति में सिमटी रहै, विपति विगासे[1] जोय ।
साधु कली ज्यों जाय की, गुण नहिं व्यापै कोय ।। ६ ।।

संत जाय-बेलि के पुष्प की कली के समान हैं, जैसे वह वृक्ष के लगी रहती है तब तक तो सिकुड़ी रहती है और वृक्ष से अलग होने लगती है तब खिल[1] जाती है, देखो, वैसे ही संतों का जब तक माया से संबन्ध रहता है तब तक तो वे संकुचित रहते हैं और माया का अभाव रूप विपत्ति आती है तब वैराग्य से विकसित[1] हो जाते हैं, फिर उनको कामादि कोई भी गुण व्यथित नहीं करता ।

आकिल[1] अंध्रिप[2] शक्ति[3] सलिल[4] लेहिं, तो तन कोमल कोर।
रज्जब रहता उभय रस, काया कष्ट कठोर ॥७॥

वृक्ष[2] को उचित समय पर जल[4] मिलता रहे तब तो उसके पत्तों की कोरें कोमल रहती हैं और नहीं मिले तो कठोर हो जाती हैं—सूखती नहीं, वैसे ही बुद्धिमान्[1] को मायिक[3] सुख मिलते रहें तब तो कोमल रहता है और नहीं मिले तो शारीरिक कष्ट में भी दृढ़ रहता है अर्थात् मन में खेद नहीं मानता।

बहु पूजा मन लघु भये, तुच्छ सेवा दीरघ्घ।
रज्जब अज्जब देखिया, महन्त महोदधि[1] मघ्घ[2] ॥ ८ ॥

वर्षा ऋतु में बहुत जल आने पर तो समुद्र लघु रहता है, बढ़ता नहीं और शरद् ऋतु में जल कम आता है तब बढ़ता है, वैसे ही संतों की बहुत पूजा होने पर तो उनका मन लघु हो जाता है, अर्थात् उसे हर्षोल्लास नहीं होता और प्रतिष्ठा की कमी होती है तब ब्रह्म चिन्तन की अधिकता से हर्षोल्लास बहुत होता रहता है। उक्त प्रकार महान् संत और समुद्र[1] का यह सिद्धान्त मार्ग[2] अद्भुत ही देखा जाता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित संपत्ति विपत्ति मद हरण का अंग
१८ समाप्तः सा.५८६॥

अथ लै का अङ्ग १९

इस अंग में ब्रह्म में वृत्ति लगाना रूप लय साधना का विचार कर रहे हैं—

रज्जब ल्यौ मग लाँघिये, लाँबे लोक अनंत।
आतम के अंतर उठे, कामिनि पावे कंत ॥ १ ॥

जब नारी की जीवात्मा में लय साधन उठता है, अर्थात् वह अपने पति में वृत्ति लगाकर सती होती है तब लय मार्ग द्वारा बड़े २ अनन्त लोकों को लांघकर अपने पति को प्राप्त कर लेती है। वैसे ही साधक लय साधना द्वारा अनेक वासनामय लोकों को लांघकर परब्रह्म को प्राप्त होता है।

ल्यौ[1] लाग्यों लहिये अलह, लौ[1] में लूट अपार।
रज्जब लौ लहिय लुक्या,[2] उर अन्य न आधार ॥ २ ॥

लय साधना द्वारा ईश्वर प्राप्त होता है, लय साधन में स्थित होने पर अपार अध्यात्म धन लूटा जा सकता है। जो माया की आड़ में

छिपा[2] हुआ परब्रह्म है उसे लय साधना द्वारा ही प्राप्त करो। हृदय अन्य साधना का आधार निरंतर नहीं बन सकता, ब्रह्माकार वृत्ति[1] ही हृदय में निरंतर रह सकती है।

ल्यौ की लाठी मारतौं, मीच सु मारी जाय।
रज्जब ल्यौ लाल हि मिलै, लौ में काल न खाय॥ ३॥

ब्रह्म में वृत्ति लगाना रूप दंडा मारने से मृत्यु भी मारी जाती है, इस साधना के करने वाले प्रियतम ब्रह्म से मिलते हैं, ब्रह्म में वृत्ति लीन होने के समय काल नष्ट नहीं करता, अर्थात् समाधि में स्थित रहने से आयु क्षीण नहीं होती।

रज्जब लौ में लाभ है, लीन हुआ रहु माँहि।
लौ में लत[1] लागे नहीं, और खता[2] मिट जाँहि॥ ४॥

ब्रह्म में वृत्ति लगाने से परमानन्द प्राप्ति रूप भारी लाभ है, अतः वृत्ति ब्रह्म में लीन करके ही रहना चाहिये। ब्रह्म में वृत्ति लगाने रूप साधन में स्थित रहने से कोई भी दुर्व्यसन[1] नहीं लगता और काम क्रोधादि के द्वारा भी धोखा[2] नहीं खाता।

जन रज्जब या लोक में, ल्यौ निस्तारण हार।
आदि अंत मधि मुनि मही, लघु दीरघ लौ लार॥ ५॥

इस लोक में ब्रह्म में वृत्ति लगाना रूप साधन ही संसार से पार करने वाला है। इस भूमंडल में सृष्टि के आदिकाल, मध्यकाल और अंत समय तक जो भी मुनि हुये हैं, वे ब्रह्म में वृत्ति लगाना रूप साधन से ही लघु से महान् हुये हैं।

रज्जब लायक ठौर ल्यौ, ल्यौ में रहे सु लाज।
लघु दीरघ ह्वै लाग ल्यौ, ल्यौ करणी शिरताज॥ ६॥

ब्रह्म में वृत्ति लगाना रूप साधन निर्विकल्प स्थिति रूप उचित स्थान में स्थित करता है तथा इस साधन से ब्रह्म प्राप्ति द्वारा संसार में साधक की लज्जा रह जाती है, ब्रह्म में वृत्ति लगाकर लघु भी महान् हो जाते हैं, मानव के लिये ब्रह्म में वृत्ति लगाना रूप कर्तव्य शिरोमणि है।

ल्यौ मारग लूटैं नहीं, लोभी लूटण हार।
रज्जब पग लागे चलहिं, परपंची सरदार॥ ७॥

परमानन्द को लूटने की आशा वाले, ब्रह्म में वृत्ति लगाकर तो नहीं लूटते किन्तु उसे लूटने के लिये संसार प्रपंच में फंसे हुये श्रीमान् सरदारों

के पैरों में लगे चलते हैं अर्थात् उनकी गुलामी करते हैं और दुःख ही पाते हैं ।

रज्जब लाहा[1] लाभ ल्यौ, टूटे टोटा हानि ।
सावधान साधे रही, रे जीव जीवन जानि ।। ८ ।।

ब्रह्म में वृत्ति लीन करने से लोभ पर लाभ होता है और ब्रह्म से वृत्ति हटाने पर हानि पर हानि होती है । हे जीव ! ब्रह्म में वृत्ति लगाने रूप साधन को अपना जीवन जानकर सावधानी से करता रह, इसी में तेरा कल्याण है ।

ल्यौ सुमिरन धुनि ध्यान धर,चिवन[1] नेह कर नाम ।
जन रज्जब जप जिकर रट, सुरति संभालैं राम ।। ९ ।।

ब्रह्म में वृत्ति लीन करना, स्मरण करना, नाम-ध्वनि-कीर्तन करना, ध्यान धरना, चिन्तन[1] करना, प्रभु में प्रेम करना, जप करना, प्रभु की चर्चा करना, नाम रटना, प्रभु में सुरति लगाना, और राम को याद करना, ये सर्वोपयोगी साधन हैं, इन्हें करते रहना चाहिये ।

बन्दे को यहु बंदगी, साहिब करना याद ।
यह सेवा सुमिरन इहै, इहै जिकर फरियाद ।।१०।।

भगवान् को निरंतर याद रखना, यही भक्त की भक्ति है, यही सेवा है, यही स्मरण है, यही चर्चा है, यही पुकार है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित लय का अंग १९ समाप्त ।सा० ५९९।।

अथ सुमिरन का अंग २०

इस अंग में स्मरण सबन्धी विचार दिखा रहे हैं—

राम नाम मूल मंत्र, सत्य नाम निरंजनं ।
यथा ध्यावै तथा पावै, भजे भरिये भाजनं ।। १ ।।

राम नाम ही मूल मंत्र है, सत्य नाम ही निरंजन ब्रह्म है, जो जैसी उपासना करता है, वैसा ही फल पाता है। भजन करने से अवश्य ही अन्तः-करण रूप पात्र आनन्द से भर जाता है ।

रज्जब रटि जटि नामसौं, आठों पहर अखण्ड ।
सुमिरन सम सौदा नहीं, निरख देख नौ खंड ।। २ ।।

आठों पहर अखंड नाम को रटते हुये, जैसे जड़िया भूषण में नग को जड़ता है, वैसे ही वृत्ति नाम में जड़ दे । हे साधक ! चाहे तू पृथ्वी के

नौग्रों खंडों में दृष्टि फैलाकर देखले, स्मरण के समान श्रेष्ठ साधन रूप व्यापार नहीं मिलेगा ।

इस माया मंडाण मधि, सुमिरन सम कछु नाँहि ।
सो आधार उर राखिये, जन रज्जब जिव माँहि ॥ ३ ॥

इस माया रचित संसार में कल्याण का साधन हरि स्मरण के समान अन्य कोई भी नहीं है । अतः हे जीव ! उसीको अपने कल्याण का आधार समझकर निरंतर हृदय में रखना चाहिये ।

बावन अक्षर वारिनिधि, मध्य रत्न रंकार ।
रज्जब लिया विलोय वित, आतम का आधार ॥ ४ ॥

जैसे समुद्र में रत्न हैं, वैसे ही वर्णमाला के ५२ अक्षरों में 'राँ' है । देव दानवों ने समुद्र का मन्थन करके १४ रत्न रूप धन निकाला था, वैसे ही संतों ने वर्णमाला से 'राँ' निकाला है, जो कल्याण मार्ग में जीवात्मा का आश्रय है, अर्थात् नाम चिन्तन से ही कल्याण होता है ।

रज्जब भजन भण्डार में, दीरघ दौलत[1] दोय ।
इहां सुखी संसार मधि, आगे आनँद होय ॥ ५ ॥

भजन रूप भण्डार में दो प्रकार का महान् धन[1] है एक तो वैराग्य और दूसरा आत्मज्ञान । वैराग्य से व्यक्ति राग रहित व्यवहार करता है, अतः यहां संसार में सुखी रहता है और आत्मज्ञान से आगे आनन्द स्वरूप हो जाता है । भजन करने से वैराग्य और ज्ञान स्थिर रहते हैं ।

रैणाइर[1] रंकार[2] मधि, मुकता[3] रिधि सिधि माँहि ।
जन रज्जब मथ जापकर, रत्नहुं टोटा नाँहि ॥ ६ ॥

समुद्र[1] में रत्न रूप धन बहुत था, देव दानवों ने मन्थन करके निकाला, वैसे ही हे साधक ! राम के बीज मंत्र "राँ"[2] में ऋद्धि सिद्धि रूप धन बहुत[3] है, जाप रूप मन्थन कर, फिर तेरे पास भी कमी नहीं रहेगी ।

साहिब के घर सौंज[1] बहु, सुमिरन सम कोइ नाँहि ।
रज्जब भज भगवंत ह्वै, सकल बोल ता माँहि ॥ ७ ॥

ईश्वर के घर में नाना प्रकार की सामग्री[1] है किन्तु स्मरण के समान कोई भी नहीं है । भजन करने से प्राणी भगवान् बन जाता है, संपूर्ण शास्त्र तथा सभी संतों के वचन उस भगवत् स्मरण में लगाने की ही प्रेरणा करते हैं ।

रज्जब बंदा बंदगी, कियों सरे सब काज।
सेवक सेवा कर लहै, श्री सहित शिर-ताज ॥ ८ ॥

भक्त जब भक्ति करता है तब ही उसके विक्षेप निवृत्तिपूर्वक सभी कार्य सिद्ध होते है। इस प्रकार सेवक सेवा करके माया और माया पति परमात्मा को भी प्राप्त करता है।

अकलि[1] उजास[2] अनन्त बल, ऋद्धि सिद्धि मधि नाम।
रज्जब आवहि शिव शक्ति, सत सुमिरण जिहि ठाम ॥ ९ ॥

ज्ञान[1] के प्रकाश[2] से देखो तो नाम स्मरण में अनन्त बल है, ऋद्धि सिद्धि नाम स्मरण से मिलती है, जिस स्थान में सत्य ब्रह्म का सम्यक् स्मरण होता है वहां माया और ब्रह्म दोनों ही आते हैं, अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार होता है और मायिक पदार्थों की भी कमी नहीं रहती।

रज्जब अज्जब राम धन, विघ्न रहित बहु माल।
वित[1] बे हद जाको मिले, भाग्य भले तिहि भाल ॥१०॥

राम स्मरण रूप अद्भुत धन विघ्न रहित है, इसे कोई लूट नहीं सकता, इस से इच्छानुसार बहुत माल मिलता है, जिसको यह असीम धन[1] मिलता है, उसका भाग्य विशाल समझना चाहिये।

तीन लोक चौदह भुवन, अरु ब्रह्मंड इक्कीस।
सब ठाहर सीझें[1] सुमरि, रज्जब रट जगदीस ॥११॥

तीन लोक चौदह भुवन और इक्कीस ब्रह्मांड, इन सभी स्थानों में रहने वाले प्राणी ईश्वर स्मरण द्वारा ही सिद्धावस्था[1] को प्राप्त हुये हैं। अतः निरंतर जगदीश्वर का स्मरण करना चाहिये।

चार युग चहुँ वेद मुख्य, सबै डिढावहि नाम।
रज्जब सिध साधक कहै, यहु सीजण की ठाँम ॥१२॥

चारों युगों के प्राणियों के उद्धारार्थ चारों वेदों ने विशेषकर नाम स्मरण रूप साधन ही दृढ़ता से करने को कहा है तथा सिद्ध और साधक संत भी मुक्ति रूप सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिये ईश्वर नाम स्मरण रूप स्थान ही श्रेष्ठ बताते हैं।

षट् दर्शन नाम हि कहैं, नाम हि वेद पुरान।
तो रज्जब नाम हि गहो, पाया भेद विनान[1] ॥१३॥

षड् दर्शन (६ शास्त्र) वा नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, ये ६ भी नामस्मरण की प्रेरणा करते हैं और वेद पुराणादि सद्ग्रंथ भी नामस्मरण साधन को श्रेष्ठ कहकर उसके करने की प्रेरणा

करते हैं। उक्त शास्त्रादि तथा सद्गुरु के उपदेश से हमने नामस्मरण विषयक रहस्यमय विज्ञान[1] प्राप्त कर लिया है। अतः साधक को नाम-स्मरण साधन ही करना चाहिये।

सब ही वेद विलोय कर, अंत दृढ़ावें नाम।
तो रज्जब जगदीश भज, इतना ही है काम ॥१४॥

सम्पूर्ण वेदों का मनन करके विद्वान् संत नामस्मरण रूप साधन ही दृढ़ता से करने को प्रेरणा करते हैं। तब जगदीश्वर का ही भजन करना चाहिये, साधक को अपने कल्याण के लिये नाम स्मरण रूप कार्य ही बहुत है।

साधु वेद बोल हि सु यूं, राम कहे सब कीन।
जन रज्जब जग उद्धरहिं, जो जीव जगपति लीन ॥१५॥

संत तथा वेद ऐसा ही कहते हैं कि—जिसने राम का स्मरण कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया। जो जीव जगत्पति परमेश्वर के स्मरण में लीन होते हैं, वे जगत् से पार हो जाते हैं।

रज्जब पैठे राम में, सो रट द्वारे होय।
मिलबे को मारग यही, और न दूजा कोय ॥१६॥

जो भी राम के स्वरूप रूप धाम में प्रवेश करते हैं, वे राम-स्मरण रूप द्वार से ही करते हैं, राम से मिलने का मार्ग यही है अन्य कोई भी नहीं है।

साधु वेद सारे कहैं, सब तज सुमिरन लाग।
रज्जब रत रंकार यूं, मस्तक आया भाग ॥१७॥

सम्पूर्ण संत तथा सभी वेद यही कहते हैं कि सबको त्यागकर परमेश्वर के नाम स्मरण में ही लगो। इस प्रकार जो सबको छोडकर राम मंत्र के बीज "राँ" स्मरण में ही अनुरक्त है, तो समझना चाहिये कि उसका भाग्योदय ही हुआ है।

रज्जब टीका नाम को, वेद कुरान सु देंहि।
यूं तत्त्ववेत्ता त्याग सब, हरि सुमिरन कर लेंहि ॥१८॥

वेद तथा कुरान भी ईश्वर के नाम स्मरण को ही सब साधनों में श्रेष्ठ होने का वचन देते हैं। इसीलिये भली भांति तत्त्व को जानने वाले सब कुछ त्यागकर हरि-स्मरण रूप साधन ही करते हैं।

नाम लाग नर निस्तर्राहि, हिन्दू मूसलमान ।
उभय ठौर एकहि कही, रज्जब वेद कुरान ॥१९॥

वेद तथा कुरान रूप दोनों ही स्थानों में यह एक ही बात कही है कि क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों ही धर्म वाले नर ईश्वर नाम-स्मरण में लग कर संसार-सिन्धु से पार हो जाते हैं ।

गगन गुडी कुंभ कूप ह्वै, त्यों व अगम नर नाथ ।
तो तीनों क्या दूर है, जे रज्जब रजु हाथ ॥२०॥

आकाश में पतंग है, घड़ा कूएँ में है, वैसे ही नरनाथ परमेश्वर दूर हैं, फिर भी यदि हाथ में रस्सी है, तो क्या दूर हैं ? पतंग उतारा जा सकता है, घड़ा बाहर निकाला जा सकता है, वैसे ही ईश्वर-स्मरण रूप डोरी अन्तःकरण रूप हाथ में है, तो उन्हें प्राप्त करने में भी क्या देर लगती है ?

एक अलिफ में सब इलम[1], कुल[2] कतेब कुरान ।
हत्या[3] तज हाफिज[4] भया, जन रज्जब सब जान ॥२१॥

सबसे प्रथम एक ॐ अक्षर उत्पन्न होता है, वही ईश्वर का आदि नाम है और वेदादि संपूर्ण विद्यायें सूक्ष्म रूप से उसमें रहती हैं, वैसे ही फारसी का प्रथम अक्षर अलिफ है, ईश्वर का पहला नाम है उस एक अक्षर में संपूर्ण विद्यायें[1] तथा कुरानादि सब[2] किताबें सूक्ष्मरूप से रहती हैं, ईश्वर नाम जप से प्राणी सब कुछ जान जाता है और हिंसा[3] त्याग-कर सबका संरक्षक[4] बन जाता है ।

सब इल्मों शिर अलिफ[1] है, कुल कामिल[2] इस माँहिं ।
तू तामें पैवस्त[3] हो, और कह्या कुछ नाँहिं ॥२२॥

संपूर्ण विद्याओं में शिरोमणि ईश्वर का पहला नाम[1] ही है, इस नाम में संपूर्ण प्रकार की पूर्णता[2] है । हे साधक ! तू नाम-स्मरण रूप साधना में ही प्रवेश[3] कर । ईश्वर साक्षात्कार के लिये अन्य कोई भी साधन नाम से श्रेष्ठ नहीं कहा गया है ।

रंकार अलिफ चहुँ[1] वेद में, है आतम अरवाहि[2] ।
रट रज्जब कण लीजिये, भूल न कूकस[3] खाहि ॥२३॥

राम मंत्र का पहला बीज "राँ" उसका लक्ष्य अर्थ रूप ब्रह्म चारों[1] वेदों में व्याप्त है और संपूर्ण जीवात्माओं[2] में आत्म रूप से है । अतः हे साधक ! "राँ" का स्मरण करके ब्रह्म रूप कण को प्राप्त कर और विषयरूप भूसे[3] को भूल से भी मत खा ।

रं कार अलिफ रोटी बडी, रज्जब रुचि सौं खाय ।
भूख भंग[1] भगवंत लग, यह धापण की राह ॥२४॥

राम मंत्र का पहला "राँ" चिन्तन द्वारा तृप्ति का हेतु होने से महान् रोटी के समान है, जो प्रीतिपूर्वक खाता है, अर्थात् चिन्तन करता है, उसकी आशा रूप भूख नष्ट[1] हो जाती है और वह भगवान् के स्वरूप में अभेदभाव से लग जाता है । जीवात्मा के तृप्त होने का मार्ग यह स्मरण ही है ।

ररै रीझ्या राम जी, अलिफ अलह अस नाँव ।
रज्जब दोनों एक हैं, मन वच कर्म करि गाव ॥२५ ॥

राम मंत्र के पहले "राँ" के स्मरण से रामजी और अल्लाह के पहले "अ" से अल्लाह प्रसन्न होते रहे हैं, नाम का महत्त्व ऐसा ही है, राम और अल्लाह ये शब्द ही तो हैं, इनका नामी ईश्वर एक ही है, अतः मन वचन कर्म से नाम का गायन करते रहना चाहिये ।

रज्जब राम रहीम कहि, आदि पुरुष कर याद ।
सदा सनेही सुमिरिये, जन्म न जावे बाद ॥२६॥

दयालु राम का नाम मुख से बोल, आदि पुरुष प्रभु का स्मरण कर, सदा अपने प्रेमी प्रभु का स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे यह मानव जन्म व्यर्थ न जाय ।

अल्लह अल्लह कहत ही, अलह लह्या सो जाय ।
रज्जब अज्जब हरफ है, हिरदै हित चित लाय ॥२७॥

अल्लह, अल्लह नाम कहते २ जो न प्राप्त होने योग्य है वह अल्लाह भी प्राप्त हो जाता है । यह अल्लाह नाम अद्भुत अक्षरों से बना है । अत: मुसल्मानों को हृदय में प्रेमपूर्वक चित्त लगा कर स्मरण करते रहना चाहिये ।

सकल नाम जिव के सगे, जाप जिकर रट जंत ।
रज्जब राम रहीम रत, मिल्या सु निर्मल मंत ॥२८॥

चिन्तन करने से ईश्वर के सभी नाम जीव के हितकारक संबन्धी हैं, अत: हे जीव ! नाम जाप करके, नाम संबन्धी चर्चा करके, नाम की रट लगा करके, दयालु राम में अनुरक्त हो, संत शास्त्रों से यही निर्मल और सुन्दर परामर्श मिला है ।

नाम अनेकों एक है, तो भज राम रहीम ।
ज्यों ज्यों सुमिरै सांइयाँ, जन रज्जब सु फहीम[1] ॥२९॥

एक ईश्वर के नाम अनेक हैं, तब नामों में भेद बुद्धि न रखकर दयालु राम के कोई भी नाम का स्मरण करना चाहिये। ज्यों ज्यों स्मरण बढ़ता जायगा त्यों त्यों ही समझदार[1] होता जायगा और प्रतिष्ठित हो जायगा।

नाम अनन्त अनन्त के, सो सब एक समानि।
रज्जब जाणें सो सुमिर, मन वच कर्म उर आनि॥३०॥

अनन्त स्वरूप परमात्मा के नाम भी अनन्त हैं और निष्काम भाव से स्मरण करने से सभी ब्रह्म प्राप्ति रूप समान फल देते हैं, अतः मन, वचन, कर्म से हृदय में नाम का स्मरण करके उस पर ब्रह्म के स्वरूप को जानने का यत्न करो।

नाम अनेकों एक गुण, ज्यों बहु बूंद हुँ वारि[1]।
जन रज्जब जान रु कही, नर निरखहु सु निहारि॥३१॥

जैसे बहुत जल विन्दुओं में जल[1] एक ही होता है, वैसे ही ईश्वर के नाम अनेक हैं किन्तु उनमें स्मरण करने पर इच्छा पूर्ति करना रूप गुण एक ही है। यह बात हमने अच्छी प्रकार जानके कही है, हे साधक नर! तू भी ध्यानपूर्वक देख।

ज्यों आतम अरवाह इक, त्यों ही राम रहीम।
उदक आब कछु द्वै नहीं, रज्जब समझ फहीम[1]॥३२॥

जैसे उदक और आब दोनों जल के ही नाम हैं, आत्मा और अरवाह दोनों आत्मा के ही नाम हैं, वैसे ही राम और रहीम दोनों ईश्वर के ही नाम हैं। ज्ञानी[1] जनों की यही समझ है।

साहिब सबका एक है, राखै नाम अनेक।
रज्जब समझे समझ ही, पूरण परम विवेक॥३३॥

हिन्दू मुसलमानादि सभी का ईश्वर एक ही है किन्तु अपनी रुचि के अनुसार सभी भिन्न २ नाम रख लेते हैं। जो समझे हुये संत होते हैं वे ही अपने श्रेष्ठ विवेक द्वारा पूर्ण ब्रह्म के स्वरूप को समझते हैं।

रज्जब नाम सु एक के, अनन्तों कहे अनन्त।
कोई सुमिर हु एक फल, वेत्ता[1] वदति[2] महन्त॥३४॥

एक ही ईश्वर के अनन्त प्राणियों ने अनन्त नाम कथन करे हैं, तो भी कोई भी नाम का स्मरण करो, इच्छा पूर्ति रूप फल एक ही होगा। ऐसा ही ज्ञानी[1] महन्त जन कहते[2] हैं।

सोते सांई सुमिरिये, बैठा ब्रह्म समाल।
रज्जब राम हि ले उठो, लै[1]लागा मधि चाल ॥३५॥

सोते समय भी ईश्वर का स्मरण करना चाहिये, बैठे हुये भी ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये, हृदय में राम का चिन्तन करते हुये ही उठना चाहिये, राम में वृत्ति[1] लगाते हुये ही चलना चाहिये।

लीये सूता ले उठे, मुख हृदय हरि नाम।
जन रज्जब ज्यों जीव सब, अपने अपने काम ॥३६॥

जैसे सभी प्राणी अपने २ काम में संलग्न रहते हैं, वैसे ही साधक को भी चाहिये कि—हृदय में हरि-चिन्तन और मुख से हरि नाम उच्चारण करता हुआ ही सोवे और उठे।

ज्यों जोगी मृग सींग सौं, विप्र जनेऊ जाण।
त्यों रज्जब राम हि गहो, तकि हरियल की बाण ॥३७॥

जैसे नाथ मृग के सींग को नहीं छोड़ता, ब्राह्मण जनेऊ नहीं छोड़ता, और हरियल पक्षी का स्वभाव देखो वह काष्ठ को नहीं छोड़ता, वैसे ही प्रतिक्षण राम का स्मरण करते रहना चाहिये।

तन मन ले सुमिरण करे, रोम रोम रट राम।
यूं रज्जब जगदीश भज, सरे सु आतम काम ॥३८॥

तन को अनुचित व्यवहार से और मन को भोग-वासनाओं से ऊंचा उठाकर स्मरण करे, रोम २ से राम नाम की रट लगाता रहे, इस प्रकार जगदीश्वर का भजन करने से ही जीवात्मा का मुक्ति रूप कार्य सिद्ध होता है।

सुमिरण सुरति संभालना, अविगत याद अराध।
भजन यही भूले न प्रभु, रज्जब निज मग लाध ॥३९॥

वृत्ति द्वारा नाम को संभालना ही स्मरण है, मन इन्द्रियों के अविषय राम को याद रखना ही आराधना है, प्रभु को न भूलना ही भजन है। इस प्रकार साधन करने से ही निज स्वरूप प्राप्ति का ज्ञान रूप मार्ग प्राप्त होता है।

बंदे को यहु बन्दगी, साहिब करना याद।
यह सेवा सुमिरन यही, यही जिकर फरियाद ॥४०॥

भक्त के लिये यही भक्ति कर्तव्य है कि—निरन्तर भगवान् को याद रखना, यही सेवा है, यही स्मरण है, यही चर्चा है और यही पुकार है।

तू हीं तू हीं तन में करे, इक तत तृष[1] तिहुँ काल।
जन रज्जब रुचि सौं रटे, भाग भले तिहिं भाल ॥४१॥

शरीर में मनोवृत्ति निरन्तर 'तू हीं तू हीं'' करती रहती है। तीनों कालों में एक ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करने की ही तृषा[1] अर्थात् अभिलाषा लगी रहती है। इस प्रकार जो प्रीति से हरि नाम की रट लगाये रहता है उस का भाग्य विशाल है।

रज्जब प्राण पिंड ब्रह्मांड मधि, जीव जगत गुरु नाम।
संत सजीवन सो सुमिर, तिनकी मैं बलि जाम ॥४२॥

ब्रह्मांड में जो प्राण अर्थात् सूक्ष्म शरीर धारी और पिंड अर्थात् स्थूल शरीर धारी जगत् के जीव गुरु द्वारा प्राप्त हुये ईश्वर नाम का स्मरण करते हैं, वे सजीवन संत हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी मैं बलिहारी जाता हूं।

नाम लेत निर्भय भये, साधू सुर नर शेष।
जन रज्जब लै लूटि है, मानुष देही देश ॥४३॥

नाम-स्मरण करने से ही, शेषजी, देवता, संत और साधारण नर भी काल-कर्म के भय से रहित हुये हैं। इस मनुष्य देह रूप देश में नाम-स्मरण रूप धन की वृत्ति द्वारा चिन्तन करना रूप लूट विशेष रूप से होती है, अतः मानव को इसमें प्रमाद नहीं करना चाहिये।

सदा सनेह रहै सुमिरन सौं, भाग्य भजन में भीगा भाव।
जन रज्जब जप जीवन जोया, मानुष देही पाया डाँव॥४४॥

जिस का हरि-स्मरण में सदा प्रेम है, अन्तःकरण के सभी भाव भजन-रस से भीगे रहते हैं, वह भाग्यशाली है। अतः मनुष्य देह रूप सुन्दर दाँव प्राप्त हुआ है, इसमें जीवों के जीवन रूप परमात्मा के नाम का जप अवश्य करना चाहिये।

सब ठाहर सु उपाधि है, सुमिरन में सु समाध।
रज्जब सु गुरु प्रसाद सौं, सो ठाहर सुख लाध ॥४५॥

सभी सांसारिक व्यवहार रूप स्थानों में नाना प्रकार की उपाधियाँ भासती हैं, किन्तु हरि-स्मरण में स्थित रहने से समाधि होकर परम सुख प्राप्त होता है, अतः गुरु के कृपा-प्रसाद से उस हरि स्मरण रूप स्थान में ही सुख मिलता है।

सुमिरन सितिया[1] पीजिये, तो नख शिख शीतल होय।
बूजी ठाहर दहणि[2] सब, रज्जब देखो जोय ॥४६॥

हरि-स्मरण रूप मिश्री[1] का पान करोगे, तो तुम्हारे शरीर में नख से शिखा पर्य्यन्त शीतलता का अनुभव होगा। अन्य सांसारिक व्यवहार रूप स्थानों में तो सब प्रकार जलन[1] ही होती है, यह तुम स्वयं ही अनुभव करके देख सकते हो।

सुमिरण शहद सु पीजिये, प्राण पिंड द्वै पोष।
रज्जब रोग कहां रहे, भागे अंतर दोष ॥४७॥

हरि-स्मरण रूप शहद को पीना चाहिये, इससे सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों का ही पोषण होता है। जब उक्त औषधि से भीतर का दोष नष्ट हो जाता है, तब रोग कहां रहता है?

सुख अनन्त हरि नाम में, जाका वार न पार।
जन रज्जब आनन्द व्है, सुमिरचों सिरजन हार ॥४८॥

हरि-नाम-स्मरण रूप साधन में स्थित रहने से हमें जिसका आदि अन्त भी नहीं ज्ञात होता ऐसा अनन्त सुख प्राप्त होता है। सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का स्मरण करने से सभी को सदा आनन्द ही होता है।

सकल सुखी हरि सुमिरतों, मनसा वाचा मान।
जन रज्जब रुचि सौं रटी, यह जीव जीवन जान ॥४९॥

हम मन वचन से कहते हैं, तुम सत्य मानो, हरि-स्मरण करने से सभी सुखी होते हैं। रे जीव! हरि-स्मरण को अपना जीवन रूप जानकर प्रेमपूर्वक हरि का नाम रटा कर।

रज्जब अज्जब काम है, राम नाम रुचि सेव।
आठौं पहर अखंड रट, मानुष सें व्है देव ॥५०॥

प्रेमपूर्वक राम नाम रटते हुये भक्ति करना अद्भुत कार्य है, अतः राम नाम को अखंड अष्ट पहर रटना चाहिये। ऐसा करने से प्राणी मनुष्य से देव अर्थात् ब्रह्म बन जाता है।

सांई सुमिरन सत्य है, सद्गति सुमिरन हार।
जन रज्जब युग युग सुखी, वक्ता श्रोता पार ॥५१॥

ईश्वर-स्मरण मुक्ति का सच्चा साधन है, जो स्मरण करता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है और ब्रह्म रूप होकर प्रति युग में सुखी रहता है, नाम के वक्ता और श्रोता भी संसार से पार हो जाते हैं।

सुरति[1] माँहि सांई सुमिरि, नाम निरति[2] मधि राखि।
जन रज्जब जग उद्धरैं, सद्गुरु साधू साखि[3] ॥५२॥

मनोवृत्ति[1] में निरंतर ईश्वर का स्मरण रख और विचारों[2] में भी नाम को मुख्यता से रख, ऐसा करने से प्राणी संसार से पार हो जाता है, इसमें सद्गुरु और संतों की साक्षी[3] है।

रज्जब अज्जब यह मता, निशि दिन नाम न भूल।
मनसा वाचा कर्मना, सुमिरन सब सुख मूल ॥५३॥

यह स्मरण करने का सिद्धांत अद्भुत है, नाम को रात्रि-दिन में कभी भी न भूलना चाहिये। हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं कि––हरि स्मरण संपूर्ण सुखों का मूल हेतु है।

सुमिरन सम संपद् नहीं, धन नहिं ध्यान समान।
वित यह बारंबार ले, रज्जब रिधि रट जान ॥५४॥

हरि-स्मरण के समान कोई भी संपत्ति नहीं है, ध्यान के समान कोई भी धन नहीं है, हरि-नाम रटने को ही ऋद्धि जानो और यह स्मरण-धन बारम्बार प्राप्त करना चाहिये, अर्थात् निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये।

निमिष मुहूरत नाम ले, तिल[1] पल सुमिरन होय।
जन रज्जब या[2] उमर[3] में, साफिल बरियाँ[4] सोय ॥५५॥

जिस मुहूर्त्त (दो घड़ी), निमेष, पल और पल के अल्प[1] भाग में हरि-स्मरण होता है, इस[2] मानव तन की आयु[3] में वही समय[4] सफल है।

सोई बेला[1] सो घड़ी, सो क्षण मात्र सु[2] सत्य।
रज्जब रहिये राम में, और अकारथ[3] जत्य[4] ॥५६॥

जिस में वृत्ति राम में रहती है, वह समय[1], वह घड़ी, वह क्षण मात्र भी सुन्दर[2] और सत्य है, अन्य सब यत्न[4] तो व्यर्थ[3] हैं।

सुमिरन में सुकृत सबै, जे मन वच कर्म होय।
जन रज्जब जगपति मिले, भेद न भासे कोय ॥५७॥

यदि मन, वचन, कर्म से हो तो, हरि-स्मरण में सभी सुकर्मों का फल स्थित है, स्वयं जगदीश्वर का साक्षात्कार भी होता है और कोई प्रकार का भेद-भाव भी नहीं दीखता।

सब सुकृत सेवक किये, जब जीव जगपति लीन।
रज्जब राम विसार तों, विविध बुराई कीन ॥५८॥

जब मन जगदीश्वर के स्मरण में लीन हो जाता है, तब समझना चाहिये कि––इस भक्त ने सभी सुकृत कर लिये और राम को भूलता है तो समझो उसने नाना प्रकार की बुराइयाँ कर डालीं।

नाम लेत नेकी उदय, बदी विसारत होय ।
जन रज्जब जानी जुगति, प्रत्यक्ष दीसे दोय ॥५९॥

हरि-स्मरण करने से भलाई का जन्म होता है और नाम को भूलने से बुराई का जन्म होता है । भलाई, बुराई के उदय की उक्त युक्ति हमने जानली है, इससे दोनों प्रत्यक्ष दीखती हैं ।

रज्जब तिरिये राम भज, बूडे राम विसार ।
जगपति जाण्यों जीत है, हृदय नहीं तो हार ॥६०॥

राम के भजन से प्राणी संसार से पार होता है और राम को भूलने से संसार में डूबता है । जगदीश्वर का स्वरूप जानने से तो संसार में प्राणी की जीत होती है और हृदय में राम का चिन्तन नहीं हो तो हार होती है ।

निर्भय प्राणी नाम में, सौ भूले भय पूरि ।
ज्यों रज्जब सुख मीन जल, दुख दीरघ जब दूरि ॥६१॥

जैसे मच्छी जल में सुखी रहती है और जल दूर होते ही महान् दुख में पड़ जाती है, वैसे ही हरि नाम-स्मरण रूप साधन में स्थित रहने से प्राणी निर्भय रहता है और नाम भूलने से अत्यधिक भय प्राप्त होता है ।

रज्जब नाम निरंजन नीर है, महा मुनी मन मीन ।
सुख सागर माँही सुखी, दुख दीरघ जब भीन[१] ॥६२॥

निरन्जन ब्रह्म का नाम रूप जल है, और महा मुनीश्वरों के मन मच्छियाँ हैं । जैसे मच्छियाँ सागर में सुखी रहती हैं, वैसे ही मुनियों के मन ब्रह्मानन्द में सुखी रहते हैं । मच्छी जल से और मुनि-मन निरन्जन के नाम से अलग[१] होते ही महान् दुख में पड़ जाते हैं ।

नाम नेह सेती भजे, तो कोइ गुण व्यापे नाँहि ।
पै हरि सुमिरण हेत बिन, तो द्वन्द्व हि दग्धे माँहि ॥६३॥

यदि प्रेम से हरि नाम का स्मरण किया जाय तो हृदय में कामादि में से कोई भी गुण व्याप्त होकर व्यथित नहीं करता और यदि हरि-स्मरण बिना प्रेम किया जायगा, तो अवश्य हृदय को काम क्रोधादि द्वन्द्व जलायेंगे ।

नाज नाम की एक गति, पानी प्रेम सु पोष ।
इन दोनों के दोय बिन, रज्जब रवि गुण दोष ॥६४॥

नाज और नाम की एक-सी ही रीति है, नाज का पोषण पानी से और नाम का प्रेम से होता है । नाज और नाम इन दोनों के जल और

प्रेम के बिना सूर्य और गुण दोष रूप हो जाते हैं। बिना पानी नाज सूर्य की ताप से जल जाता है और बिना प्रेम नाम का शास्त्र कथित फल नहीं होता।

रज्जब नाम नराधिपति, सकल अंग उमराव।
मिलेहि कारज सिद्ध ह्वै, अमिल मडै[1] नहिं पाव ॥६५॥

ईश्वर नाम राजा के समान है, अन्य साधन सरदारों के समान हैं राजा और सरदार मिलकर कार्य करें तो सुगमता से सिद्ध होता है, नहीं मिलने से सरदारों के पैर कार्य सिद्धि तक नहीं टिक[1] सकते, वैसे ही नाम और अन्य साधन मिलकर तो मुक्ति रूप कार्य कर लेते हैं, नाम बिना अन्य साधन मुक्ति रूप कार्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं होते।

अज्ञान कष्ट अठसठ सहित, सब व्रत रोजे कीन।
जन रज्जब हरि नाम में, मन वच कर्म जो लीन ॥६६॥

अज्ञानावस्था में अड़सठ तीर्थों के स्नान, सब प्रकार के व्रत, रोजे करे जाते हैं, उन सबका फल उसे प्राप्त हो जाता है, जो मन, वचन और कर्म से हरि-नाम-स्मरण में लगा रहता है।

सुमिरन करे सु शास्त्र है, बुधि उपजे सो वेद।
विषया तजे सु व्याकरण, रज्जब पाया भेद ॥६७॥

हरि-नाम-स्मरण करना ही श्रेष्ठ शास्त्रों का अभ्यास करना है, बुद्धि में ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होना ही वेदाध्ययन है, विषयों का त्याग करना ही व्याकरण पढ़ना है। इस प्रकार गुरु कृपा से हमने वेदादि का यथार्थ रहस्य प्राप्त किया है।

अस्थूल सु अक्षर अर्थ हरि, काढ़े पंडित प्राण।
रज्जब ज्ञाता गुणी सो, समझ्या सोइ सुजाण ॥६८॥

मंत्र के अक्षर तो स्थूल हैं, उनमें जो अर्थ है, वही हरि है, जो प्राणी पंडित होता है, वही शब्दार्थ रूप हरि को निकाल कर हृदय में धारण करता है, तब वही ज्ञानी, गुणी, समझदार और सुजान कहलाता है।

अर्थ किया उस प्राणी ने, तन मन लाया ठौर।
रज्जब रह गया राम में, भूल न भासे और ॥६९॥

जिस प्राणी ने अपने तन को परब्रह्म रूप संत सेवा और मन को ब्रह्म चिन्तन रूप स्थान में लगाया है, उसी ने वेदादि का यथार्थ अर्थ समझकर धारण किया है, उसका मन राम के वास्तव स्वरूप में ही स्थिर रहता है, उसे भूल से भी मायिक प्रपंच नहीं भासता।

कौडी कौटि न चाहिये, कहतों केवल राम ।
रज्जब दम दम सुमिरिये, नहिं दामों से काम ।।७०।।

माया रहित राम का स्मरण करने के लिये न कौड़ी की और न कौटि रुपयों की आवश्यकता है, अतः प्रति श्वास स्मरण करना चाहिये, स्मरण करना रूप कार्य धन से सिद्ध नहीं होता ।

दया रूप नर सु तरु मय, पै गुण स्वाद न जाँहिं ।
ब्रह्म अग्नि निज नाम बिन, रज्जब सुधि[1] नहिं माँहिं ।।७१।।

दयालु नर श्रेष्ठ वृक्ष के समान उदार होता है किन्तु जैसे वृक्ष का कटु कषायादि स्वाद नष्ट नहीं होता, वैसे ही दयालु के भी अन्तःकरण के गुण दूर नहीं होते, वृक्ष-स्वाद अग्नि से जलने पर ही नष्ट होता है । वैसे ही निज नाम स्मरण द्वारा ब्रह्म ज्ञान रूप अग्नि उत्पन्न होता है तभी दयालु के गुण नष्ट होते हैं, अन्यथा भीतर स्थित निजात्मा का अनुभव[1] नहीं होता ।

सप्त धातु तन शुद्ध व्है, पड़ पावक प्रभु नाँउ[1] ।
रज्जब रज मल ऊतरे, बासदेव[2] बलि जाँउ ।।७२।।

अग्नि में पड़ने से सात धातुओं का भीतरी मैल तथा बाहर की रज नष्ट होकर वे शुद्ध हो जाती हैं, वैसे ही राम नाम[1] चिन्तन द्वारा ब्रह्मज्ञा-नाग्नि उत्पन्न होकर प्राणी के स्थूल शरीर की हिंसादि रूप रज और सूक्ष्म शरीर का कामादि रूप मैल नष्ट हो जाता है, अतः हम ज्ञानाग्नि[2] की बलिहारी जाते हैं ।

सप्त धातु पलटे सुतन, परसे पारस नाँउ ।
रज्जब कटे कलंक कुल, प्रभु प्रभुता बलि जाउं ।।७३।।

जाति पारस के स्पर्श से सातों ही धातु सब दोषों से रहित होकर बदल जाती हैं, वैसे ही परमात्मा के नाम-स्मरण से संपूर्ण दोष नष्ट होकर उभय शरीरों में शुद्धता रूप परिवर्तन हो जाता है, अतः उस प्रभु की प्रभुता की मैं बलिहारी जाता हूं ।

हरि सुमिरन संशय हरे, पाप जाप सौं जाँहि ।
जन रज्जब जगदीश भज, नौ निधि है जा माँहि ।।७४।।

हरि नाम जप से पाप नष्ट हो जाते हैं, हरि-स्मरण ज्ञान द्वारा संशय हर लेता है, जिसके भजन में नौ निधि भी स्थित हैं, उस जगदीश्वर का ही निरन्तर भजन कर ।

कर्म हुँ कर्म सु नाम निज, जम का जम हरि जाप।
रज्जब रटतों ना रहे, प्राणि पिंड के पाप ॥७५॥

राम नाम का स्मरण अपने श्रेष्ठ कर्मों से भी श्रेष्ठ कर्म है, यम का भी यम है, अर्थात् यम को भी दंड देने वाला है। राम नाम-स्मरण करने से प्राणी के शरीर के पाप नष्ट हो जाते हैं।

रज्जब बीरज नाम निज, रिधि सिधि डाल बतीस।
पहुप पत्र प्रभुता अनन्त, राम नाम फल शीस ॥७६॥

साधन वृक्ष का निज नाम बीज है, अठारह सिद्धियाँ और चौदह रत्न रूप ऋद्धि ये ३२ डाल हैं, और भी जो अनन्त प्रकार की प्रभुता हैं, वे ही पत्र पुष्प हैं, इसके शिर पर पुनः राम नाम रूप ही फल आता है, अर्थात् साधन के आरम्भ में भी नाम और अन्त में भी नाम स्मरण ही रहता है, यह नाम की महान् विशेषता है।

घट दीपक बाती पवन, ज्ञान ज्योति सु उजास।
रज्जब सीचे तेल ले, प्रभुता पुष्टि प्रकाश ॥७७॥

शरीर दीपक है, प्राण वायु बत्ती है, ज्ञान ज्योति है, उसका सत्ता-प्रकाश सुन्दर है, जैसे तेल सींचने से प्रकाश की वृद्धि होती है, वैसे ही हरि-नाम-स्मरण करने से प्रभुता की और ज्ञान ज्योति के सत्ताप्रकाश की भी वृद्धि होती है, अर्थात् ब्रह्म को सर्वत्र व्यापक देखने लगता है।

नाम निरंजन नीर है, सब सुकृत वनराय[1]।
जन रज्जब फूले फले, सुमिरन सलिल सहाय ॥७८॥

निरंजन ब्रह्म का नाम जल है, और संपूर्ण शुभ कर्म वन पंक्तियां[1] हैं, जैसे जल वर्षने से सब वन फूलते फलते हैं, वैसे ही नाम-स्मरण की सहायता से संपूर्ण सुकृतों की वृद्धि होती है।

सुमिरन सेवा मूल है, सब सुकृत शृंगार।
रज्जब शोभा सकल की, देखो सुमिरन हार ॥७९॥

हरि-नाम-स्मरण ही भक्ति का मूल है, अर्थात् नाम-स्मरण से ही भक्ति होती है और संपूर्ण शुभ कर्मों का शृंगार है। देखो, लोक में भी प्रसिद्ध है, नाम-स्मरण करने वाला संत सभी की शोभा बढ़ाता है।

नाम नाक बिन कुछ नहीं, सुकृत सबै शृंगार।
रज्जब रुचे न राम वर, तामें फेर न सार ॥८०॥

जिस नारी के नाक नहीं उसके सभी शृंगार-बेकार हैं, वह अपने स्वामी को प्रिय नहीं लगती, वैसे ही नाम-स्मरण के बिना संपूर्ण सुकृत भी कुछ नहीं, नाम स्मरण बिना साधक राम को प्यारा नहीं लगता, यह बात यथार्थ है।

सब सुकृत हैं शून्य सम, एका एक सु नाम।
पृष्ट लाग दश गुण सबै, नहीं तो नाँही ठाँम ॥८१॥

संपूर्ण शुभ कर्म शून्य (०) के समान हैं और अकेला हरि नाम एका (१) के समान है, जैसे एका पर अनुस्वार लगते ही १० हो जाते हैं और नहीं लगे तो कुछ नहीं, वैसे ही शुभ कर्म रूप शून्य नाम रूप एका की पीठ पर लग जायें अर्थात् नाम-स्मरण के साथ शुभ कर्म किये जायँ तो उनका दशगुण फल हो जाता है और नाम-स्मरण न करके शुभ कर्म करने से कर्त्ता को भगवद् धाम में स्थान नहीं मिलता।

रज्जब भव समुद्र शिर पर धरी, नाम निरंजन नाव।
जाया चाहे पार को, सो प्राणी चढ जाव ॥८२॥

संसार-समुद्र के शिर पर राम नाम रूप नौका रक्खी है, जो प्राणी इसके पार जाना चाहे, वह इस पर चढ़कर जा सकता है।

जप जहाज जलनिधि जगत, जीव चढो कोइ आय।
रज्जब पारस परम गुरु, सो पद परसे जाय ॥८३॥

राम नाम का जप ही जहाज है, उस पर चाहे कोई भी जीव चढ़े अर्थात् जप करे, वही संसार-समुद्र से पार होकर जीव-लोह को ब्रह्म रूप सुवर्णता की प्राप्ति कराने वाले परमगुरु-पारस से मिलकर ब्रह्म रूप परमपद को प्राप्त करता है।

रज्जब अज्जब देखिये, जप जगदीश जहाज।
प्राणी पहुँचे पार चढ, सरे[१] सु आतम काज ॥८४॥

जगदीश्वर के नाम का जप अद्भुत जहाज रूप देखा जाता है, प्राणी उस पर चढ़कर अर्थात् जप करके संसार-समुद्र से पार पहुँच जाता हैं और जीवात्मा का परब्रह्म प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध[१] हो जाता है।

वोहित बिन क्यों समुद्र लंघिये, औषधि बिन क्यों रोग।
त्यों रज्जब निज नाम बिहुना,[१] कदे न निपजे योग ॥८५॥

जहाज के बिना समुद्र नहीं लांघा जाता, औषधि सेवन बिना रोग नष्ट नहीं होता, वैसे ही निज नाम (नाम तीन प्रकार के होते हैं--१ गुणज जैसे--दयालु। २ कर्मज जैसे--मधुसूदन। ३ निज-गुण, कर्म के बिना ही जो स्वरूप भूत हो जैसे--ॐ, राम, ब्रह्म, सत्य आदि) के स्मरण बिना[१]

योग कभी भी सिद्ध नहीं होता। योग में नाम स्मरण की मुख्यता रहती है।

ब्रह्म वृक्ष के सहस जड़, सब ही औषधि आदि।
रज्जब रोग कहां रहे, खाय रु दीज्यो दादि[1] ॥८६॥

ब्रह्म रूप वृक्ष के नाम रूप हजारों जड़ हैं और सभी जन्मादि संसार-रोग को नष्ट करने के लिये आदि काल से ही औषधि रूप हैं, उनका स्मरण रूप भक्षण करने से जन्मादि रोग कहां रह सकता है ? अतः हे साधको ! उनमें से किसी का भी स्मरण रूप भक्षण करके उससे होने वाले लाभ के विषय में उसकी अवश्य प्रशंसा[1] करना।

देख्या दह दिशि नाँहीं माग, रज्जब उलटा उनमन लाग।
सुमिरन साँच उतर वा[1] पार, नौ लख कांवरू एक ही द्वार ॥८७॥

संतों ने विचार करके सभी ओर देखा है, यथार्थ रूप से ब्रह्म चिन्तन किये बिना ब्रह्म प्राप्ति का कोई भी मार्ग नहीं है। जैसे नौ लाख कावड़ों का जल एक ही द्वार से रामेश्वर के चढ़ता है, वैसे ही यथार्थ स्मरण द्वारा ही संसार-सिन्धु के उस[1] पार जाकर ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है।

समझ सुहागा रूप, साँच सहित सुमिरन करै।
रज्जब युक्ति अनूप, जिहिं कंचन करता गरै ॥८८॥

सुहागा डालकर अग्नि लगाने से सुवर्ण गल जाता है, वैसे ही विचार के सहित यथार्थ रूप से राम नाम स्मरण करना अनुपम युक्ति है, जिस युक्ति के द्वारा सृष्टिकर्त्ता ईश्वर भी द्रवित हो जाते हैं, अर्थात् प्रसन्न हो जाते हैं।

निश्चय पर नावै[2] नहीं, करणी बडा करार[1]।
जन रज्जब सब शोध कर, काढ्या सुमिरन सार ॥८९॥

कर्त्तव्य भावना रूप विशाल किनारे[1] वाली संसार-सरिता को पार करने के लिए ब्रह्म में अभेदनिश्चय से अधिक श्रेष्ठ नाव[2] कोई भी नहीं है। संतों ने उस अभेद निश्चय के लिये सभी साधनों में से विचार द्वारा खोजकर सब साधनों का सार ब्रह्म चिन्तन ही निकाला है।

रज्जब निश्चय नीव पर, भाव भक्ति की भीति।
सो सुदृढ़ निश्चल रहै, और सबै भय भीति ॥९०॥

जिस साधक में यह निश्चय है कि—"भगवद्-भजन बिना प्राणी का कल्याण नहीं हो सकता," इस निश्चय रूप नीव पर ही श्रद्धा-भक्ति

रूप दीवाल उठती है, जिसमें अडिग श्रद्धा-भक्ति होती है, वह किसी प्रकार भी डिगता नहीं, अपने साधन में सुदृढ़ और निश्चल रहता है, अन्य सब कालादि से भयभीत रहते हैं ।

भक्ति भावली[1] ठाहरे, चपल चावली[2] जाय ।
रज्जब समझ असमझ का, भजन भेख निरताय ॥६१॥

भक्ति-भाव-वाली[1] वृत्ति ही स्मरण में ठहरती है, चंचलता रूप उत्साह-वाली[2] विषयों में जाती है । अतः ज्ञान, अज्ञान, भजन और भेष का विचार करोगे तो ज्ञान पूर्वक भजन ही श्रेष्ठ ज्ञात होगा, चंचलता युक्त भेष नहीं, इसलिये भाव भक्तियुक्त स्मरण ही कर्तव्य है ।

रज्जब रत रंकार[1] सौं, ममै[2] मनसा[3] नाँहि ।
सदा सुखी सुमिरन करै, महा मग्न मन माँहि ॥६२॥

जिसकी बुद्धि[3] माया[2] में नहीं जाती, राम मन्त्र के बीज "राँ"[1] में ही अनुरक्त रहती है और निरन्तर नाम स्मरण करता रहता है, उसका मन महान् स्मरण रस में निमग्न होकर सदा सुखी रहता है ।

लिख्या पढया सीख्या सुण्या, जीव कह्या जब राम ।
मनसा वाचा कर्मना, येता[1] ही है काम ॥६३॥

जिस जीव ने अपने जीवन में निरन्तर राम-नाम स्मरण कर लिया तो समझना चाहिये, उसने सब कुछ लिख लिया, पढ लिया, सीख लिया और सुन लिया । हमतो मन, वचन, कर्म से कहते हैं कि उक्त प्रकार स्मरण करके राम को प्राप्त करले बस, जीव के लिये इतना[1] ही कर्तव्य कर्म है ।

पाव नाम छाडै संसारा, अर्ध नाम शरीर विसारा ।
पौंण नाम जीव वृत्ति त्यागी, सेर नाम साँई सुरति लागी ॥६४॥

संसार भावना छुट जाय तब पाव भर स्मरण, शरीर की आसक्ति त्याग दे तब आधसेर, जीवपने की वृत्तियों को त्याग दे तब तीन पाव और निरन्तर परब्रह्म में वृत्ति लगी रहे तब समझना चाहिये सेर भर स्मरण हुआ है अर्थात् यही स्मरण की पूर्णावस्था है ।

नींद लागि होई निरमूलै, तो सुमिरन संग क्यों न सब भूलै ।
पास पसारा परसे नाँहीं, यूँ रज्जब न्यारा है माँहीं ॥६५॥

घोर निद्रा आने पर अपने सब संसार का अभाव हो जाता है, सुषुप्ति में सम्पूर्ण अपना घरादि मायिक विस्तार पास ही है, तो भी उससे संयोग नहीं होता, वैसे ही हरि स्मरण के समय भी सब संसार को क्यों नहीं भूलते अर्थात् भूलना चाहिये । साधक स्मरण द्वारा सुषुप्ति के समान संसार को भूलकर संसार में रहता हुआ भी संसार से न्यारा रहता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित स्मरण का अंग २० समाप्तः ॥सा० ६६४॥

अथ भजन भेद का अङ्ग २१

इस अंग में भगवद्-भजन संबन्धी रहस्य का विचार कह रहे हैं—

सब करणी साधन किये, त्यागी शूर सुजान ।
जो रज्जब राम हिं भजे, मन मनसा धर आन ॥ १ ॥

जो साधक शूर विषयाशा को त्यागकर तथा मन और बुद्धि अपने स्थान में स्थिर करके राम को भजता है, उसने सभी कर्तव्य पालन और सभी साधन कर लिये अर्थात् भजन से साधक के सभी काम हो जाते हैं ।

जन रज्जब जंजाल तज, मन मनसा कर ठाँम ।
करने को कहु क्या रह्या, यूं लागा जब नाम ॥ २ ॥

जग-जाल को तजकर तथा मन बुद्धि को अपने आदि परमात्मा के स्वरूप में लीन करके नाम चिन्तन में लगा है, तब कहो ? क्या करना शेष रहा है ?

रज्जब राखो नाम में, पंच पचीसौं मन्न ।
सब समेटि सुमिरन करे, सोई साधू जन्न ॥ ३ ॥

पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पच्चीस प्रकृतियाँ और मन को नाम में लगाये रक्खो, उक्त प्रकार सबको नाम में एकत्र करके सुमिरन करता है वही जन साधु है ।

रज्जब सुमिरे राम को, रोक दशों दिशि द्वार ।
नख शिख राखे नाम में, यों ही पैला[1] पार ॥ ४ ॥

अनुचित विषयों की ओर जाने के दश इन्द्रिय रूप दश द्वारों को रोक कर नख से शिखा पर्य्यन्त शरीर को नाम परायण रखना चाहिये, ऐसा करने से ही संसार के पर[1] पार जाकर प्रभु से मिलना होता है ।

जन रज्जब जगदीश भज, आतम के अस्थान ।
सुख सागर संबूह[1] की, अंतर उघड़े खान ॥ ५ ॥

जीवात्मा के आदि स्थान जगदीश्वर का भजन करना चाहिये, भजन करने से भीतर ही सर्व[1] रूप सुख-समुद्र रूप ब्रह्मानन्द की खान निकल आती है ।

रज्जब भज भगवन्त को, तन मन भीतर पैठ ।
निर्मल नैनों निरख निधि, नाभि निरंतर बैठ ॥ ६ ॥

मन को शरीर के भीतर स्थिर करके भगवान् का भजन करना चाहिये, निरन्तर नाभिस्थान में वृत्ति को टिकाकर भजन द्वारा प्राप्त निर्मल ज्ञान-नेत्रों से ब्रह्म रूप निधि को देखना चाहिये ।

नाभि निरंतर नाम बिन, राखे भाखे नाँहि ।
रज्जब सब पड़दे उठे, जाके यहु मत माँहि ।। ७ ।।

जो निरन्तर नाभि स्थान में नाम को रखता है, अन्य बातें न तो हृदय में रखता और नहीं कहता, ऐसा ही जिसके हृदय में निश्चय है उसके और ब्रह्म के बीच में जो अविद्यादि पड़दे हैं, वे सब हट जाते हैं ।

नाम निरंजन लीजिये, तन मन आपो गाल ।
तो रज्जब रामहिं मिले, बैठे सालहिं साल ।। ८ ।।

तन और मन के अहंकार को नष्ट करके निरंजन ब्रह्म का नाम चिन्तन करना चाहिये, चिन्तन करने से आत्मा परमात्मा से मिलकर जैसे पिलंग के पागों के छिद्रों में लकड़ी बैठ जाती है, वैसे ही आत्मा परमात्मा दोनों एक ही हो जाते हैं ।

नाम निरंजन लीजिये, तन मन आतम माँहि ।
जन रज्जब यूं सुमिरतों, परम पुरुष मिल जाँहि ।। ९ ।।

तन, मन और बुद्धि को परमात्मपरायण करके निरन्जन ब्रह्म का नाम चिन्तन करना चाहिये, इस प्रकार स्मरण करने से परम पुरुष परमात्मा मिल जाते हैं ।

सु स्थिर आतम एक पल, रज्जब भज ही राम ।
मन मोती ज्यों नीपजे, स्वाति नक्षत्री नाम ।।१०।।

एक क्षण भी बुद्धि को स्थिर करके राम का भजन किया जाय तो जैसे स्वाति नक्षत्र के जल से शुक्ति में मोती उत्पन्न होता है, वैसे ही मन में ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

नहीं सु निकसे आरसी, छति[1] सु गायब होय ।
रज्जब दरपन सती के, प्रत्यक्ष दीसे दोय ।।११।।

सती होने वाली माता के अंगुष्ठ से आरसी नामक भूषण तो नहीं निकलता, वह होता[1] हुआ भी लुप्त हो जाता है, किन्तु सती का अन्तःकरण-दर्पण है उससे उसे यह लोक और परलोक दोनों ही दीखते हैं । वैसे ही साधक का इन्द्रिय ज्ञान तो लुप्त हो जाता है किन्तु भजन द्वारा प्राप्त ज्ञान-दर्पण से उसे ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप प्रत्यक्ष दीखते हैं ।

रज्जब साधु सती रामहि कहै, पर हरि तन धन प्रीति।
इष्ट अभ्यासे उभय को, तज भजणी रस रीति ॥१२॥

सती तन धनादि की प्रीति को त्यागकर अपने अभीष्ट पतिदेव में ही मन को स्थिर रखती है, चिता की ज्वाला को देखकर भागने का विचार नहीं करती, वैसे ही साधु तन धनादि की प्रीति तथा दौड़कर विषयों में जाने की रस रीति को त्यागकर अपने इष्ट निरंजन ब्रह्म में वृत्ति स्थिर रखता है।

एक बंदगी विश्व में, एकै ब्रह्म सु होय।
रज्जब श्रावण स्वाति की, वारि बूंद गुण दोय ॥१३॥

श्रावण के जल की बिन्दु और स्वाति नक्षत्र के जल की बिन्दु एक जैसी ही होती है किन्तु गुण भिन्न है, स्वाति से मोती बनता है श्रावण की से नहीं, वैसे ही सांसारिक प्रीति और ब्रह्म की भक्ति भी भिन्न गुणवाली है, सांसारिक प्रीति से बन्धन और ब्रह्म भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है।

तन सुमिरन ढिकू चड़स, रहट रूप उनहार।
रज्जब सुमिरन शून्य मन, वर्षा विपुल अपार ॥१४॥

हाथ से माला फेरना तथा शरीरधारी का स्मरण करना, ढिकली, चड़स और रहट माला के समान है, जैसे इनसे माप का जल आता है, वैसे ही उक्त भजन से सीमित फल ही मिलता है और मन के द्वारा सर्व विकार शून्य ब्रह्म स्मरण भारी वर्षा के समान है। भारी वर्षा से अपार जल मिलता है वैसे ही ब्रह्म भजन से अपार ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्म पद प्राप्त होता है।

अराध अराधहु अंतरा, भजन भजन बहु भेद।
रज्जब पावे एक को, नर निज नाम न खेद ॥१५॥

आराधना, आराधना में भी निष्कामता और सकामता रूप बहुत अंतर है तथा भजन, भजन में भी निर्गुण, सगुण, चित्त स्थैर्यता, चपलतादि रूप बहुत रहस्य है। कोई विरला नर ही जिसके चिन्तन में दुःख नहीं है, ऐसे निज नाम का भजन कर पाता है।

भगवंत भजन सब विधि भला, पाये मानुष जूनि[1]।
रज्जब सुमिरन सो सही, जापर स्रवे[2] सु शूनि[3] ॥१६॥

मनुष्य जन्म[1] पाने पर वैसे तो भगवान् का भजन सभी प्रकार का अच्छा ही है किन्तु सच्चा स्मरण तो वही है, जिस पर विकार शून्य राम[3] जी कृपामृत गिरावें[2]।

सुमिरन लागे लोग बहु, पर लही न ठावी ठौर ।
रज्जब मिलिये राम सौं, वह अराध कोइ और ।।१७।।

यद्यपि बहुत लोग स्मरण में लगते रहे हैं किन्तु अपना निश्चित ब्रह्मरूप स्थान सभी को नहीं मिलता, जिस निष्काम आराधना के द्वारा राम से मिला जाता है, वह आराधना सकाम आराधना से भिन्न ही है ।

औषधि अकल अराध है, सब संतन की साखि ।
रज्जब रोग न तन रहै, कोई ल्यो पछ राखि ।।१८।।

सभी संत यह साक्षी देते हैं कि कला विभाग से रहित परमात्मा की उपासना ही औषधि है, उस औषधि को दैवी गुण धारण रूप पथ्य रख कर के कोई भी सेवन करे उसके शरीर में काम क्रोधादि रोग नहीं रहेंगे ।

नाम नेह बिन लीजिये, ज्यों रूखा खाया नाज ।
रज्जब पुष्ट न प्राण ह्वै, मरे न जीवन साज ।।१९।।

प्रेम बिना नाम का उच्चारण करना रूखा नाज खाने के समान है, रूखे नाज से प्राणी का शरीर पुष्ट नहीं होता, खाने वाला न तो मरता ही है और न सुखपूर्वक जीवित ही रहता है । वैसे ही बिना प्रेम नाम उच्चारण करने से विशेष लाभ नहीं होता, न तो वह मुक्त होता है और न विषयों में उसे आनन्द मिलता है ।

काचे पाके रूखे सूखे, नाम नाज नहिं दोष ।
पै छप्पन भोग सहित जु जीजे[1] सो कुछ औरे पोष ।।२०।।

कच्चा हो वा पक्का हो, रूखा हो वा सूखा हो, नाज से पोषण होने में तो कोई दोष नहीं किन्तु छप्पन भोग सहित भोजन जीमने[1] से पोषण होता है वह तो विलक्षण ही होता है, वैसे ही नाम से तो लाभ ही होता है किन्तु विवेक, वैराग्य, चित्त स्थैर्यादि के सहित निज नाम के चिन्तन से जो आनन्द होता है वह कुछ विलक्षण ही होता है ।

रज्जब भय भगवन्त के, रोम कहैं उठ राम ।
अऊंट[1] कोड़ि रट एक फल, एक हिये कहि राम ।।२१।।

हृदय में एक राम का चिन्तन करने से राम का वियोग अनुभव होकर राम वियोग भय के द्वारा रोम खड़े होकर राम-राम करने लगते हैं, इस प्रकार साढ़ेतीन[1] कोटि राम-नाम का जप एक साथ होता रहता है, उसका एक अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति ही फल होता है ।

ऊँचा नीचा होय जग, कर डंडौत निमाज ।
रोम रोम रज्जब भया, गुरु गोविन्द के काज ।।२२।।

जगत् के मनुष्य ऊंचे तथा नीचे होकर दंडवत और नमाज द्वारा उपासना करते हैं किन्तु हमारे तो गोविन्द और गुरु की कृपा रूप कार्य से रोम-रोम से ही उपासना हो रही है।

अठारहभार ऊभी भई, आये अविगत[1] नांउ[2]।
रज्जब जीये रोम रस, सो बेला[3] बलि जांउ ॥२३॥

मन इन्द्रियों के अविषय परमात्मा[1] का नाम[2] हृदय में आने से रोमावलि खड़ी होगई और जिस समय में रोम-रोम से चिन्तन द्वारा रसपान करते हुये जीवित रहे, संतों के उस समय[3] की मैं बलिहारी जाता हूँ।

रज्जब माया ब्रह्म का, रोम रोम रस पीन।
सो विहड़े[1] तिन विछुड़तैं, जैसे जल विन मीन ॥२४॥

जो माया का चिन्तन रूप रस रोम २ से पान करता है, वह माया के बिछुड़ने से और जो ब्रह्म का चिन्तन रूप रस रोम २ से पान करता है, वह ब्रह्म के वियोग[1] से, जैसे जल बिना मच्छी मर जाती है, वैसे ही वह भी शरीर को त्याग देता है।

जन रज्जब विछुड़त मर्रोह्, जिनके अमल अराध।
मनसा वाचा कर्मना, साखी सद्गुरु साध ॥२५॥

जिनके हृदय में स्वार्थ-मल रहित परमात्मा की भक्ति है, वे प्रभु के वियोग दुःख से व्यथित होकर मर जाते हैं। यह बात हम मन, वचन, कर्म से सत्य ही कहते हैं, इसमें सद्गुरु और संतों की भी साक्षी है।

नीति निवृत्ति[1] प्रभुता[2] प्रभु, चतुर स्थान कर गौन।
रज्जब पावे प्राण पति, भृत्य[3] भगवंत सु भौन[4] ॥२६॥

व्यवहारिक नीति, वैभव,[2] स्वामीपना, और वैराग्य[1] का अभिमान, इन चारों से दूर रहने वाला भक्त[3] ही भगवान् के भवन[4] को जाकर प्राण-पति परमेश्वर को प्राप्त करता है।

शरीअत सेव शरीर की, तरीक़ते दिल राह।
माँहि मारफत कीजिये, हकीक़त मिल जाह ॥२७॥

मुसल्मानी धर्म की चार अवस्थाओं द्वारा भजन-रहस्य बता रहे हैं—दोनी कानून रूप शरीअत में तो भजन द्वारा भी शरीर की ही सेवा में लगा रहता है। शुद्धाचरण रूप तरीकत में मन से प्रभु का मार्ग पकड़ता है। अध्यात्म विद्या रूप मारफत में ईश्वरीय ज्ञान का विचार करता है। मूल तत्त्व ब्रह्म में निष्ठा रूप हकीकत में पहुँचने पर ब्रह्म में ही मिल जाता है। इस प्रकार अवस्था भेद से भजन भेद भी होता है।

धर्म योग ब्रह्मांड मध्य, कर्म योग पिंड माँहि।
भक्ति योग सो प्राण घर, अगम योग ठहराँहि ॥२८॥

धर्म योग सभी ब्रह्मांड में व्याप्त है वा धर्म योग का साधक ब्रह्मांड में ही रहता है। कर्म योग व्यक्ति की भावना से भिन्न २ होने से शरीर में ही है वा शरीर से होता है। भक्ति योग प्राणी के हृदय रूप घर में होता है। उक्त तीनों योगों से प्राणी गतिशील रहता है किन्तु ब्रह्म-चिन्तन द्वारा ब्रह्म प्राप्ति रूप अगम योग से योगी ब्रह्म में स्थिर होकर ब्रह्म रूप ही होजाता है। अतः ब्रह्म चिन्तन ही रहस्यमय भजन है।

मणियें मोहन नाम सब, सूत समीर[2] न मेर[1]।
जन रज्जब हित हाथ ले, आठों पहर सु फेर ॥२९॥

आन्तर माला बता रहे हैं—विश्वविमोहन परमात्मा के सभी नाम मणियें हैं, प्राण[2] वायु सूत है, इस आन्तर माला के सुमेरु[1] नहीं होता अर्थात् इसकी समाप्ति नहीं होती, निरंतर फिरती ही रहती है। इसे हृदय के प्रेमरूप हाथ में लेकर अष्टपहर निरंतर ही फेरा कर।

अकलि[1] कष्ट[2] सेती[3] घड़ै, मणियें नाम अनन्त।
रज्जब माला मोहनी, सुमिरै साधू संत ॥३०॥

विचारशील व्यक्तियों ने बुद्धि[1] के परिश्रम[2] से[3] भगवान् के अनन्त नाम रूप मणियें बनाये हैं, उन नामों से बनी हुई मोहिनी माला द्वारा साधु-संत ही भगवान् का स्मरण करते हैं।

पंच पचीसों त्रिगुण मन, ये मणिये जिव फेरि।
रज्जब माला माँहिली, जोगेश्वर जप हेर ॥३१॥

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पच्चीस प्रकृतियें, तीन गुण और मन ये ही माला के मणियें हैं। इनसे बनी हुई माला भीतरी माला कहलाती है। योगीश्वरों का जाप इसी माला द्वारा होता है अर्थात् योगीश्वर उक्त सब को भगवत् परायण रखते हैं। हे जीव ! इस माला को विचार द्वारा खोजकर के निरंतर फेर।

मारुत मोज सु माला मणियें, मन हुं उधारण मंत।
रज्जब जूना जाप यह, जोगेश्वर सुमिरंत ॥३२॥

सहज स्वभाव से चलने वाले श्वास ही माला के मणियें हैं और मन का विषयों से उद्धार करने के लिये भी संतों ने ऐसी ही माला फेरने की सलाह दी है। पूर्व काल का यही जाप है। योगीश्वर लोग भी इसी प्रकार स्मरण करते थे।

माया घट मणियें सबै, सुमिरे साँई साध ।
रज्जब तुच्छ तसबीह रही, माला मिली अगाध ॥३३॥

माया रचित सभी शरीर मणियें हैं, जैसे मणिये पर नाम उच्चारण किया जाता है, वैसे ही प्रत्येक शरीर को ब्रह्म रूप ही देखते हैं, संत लोग इसी प्रकार परब्रह्म का स्मरण करते हैं । जिन संतों को उक्त अगाध ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली माला मिली है, उनके हाथ से काष्ठादि की माला दूर ही रही है ।

रज्जब माला माँहिली, जा को सद्गुरु देय ।
सो सुन काँधे काठ का, कबहुँ भार न लेय ॥३४॥

जिस को सद्गुरु कृपा करके मानस चिन्तन रूप भीतरी माला देते हैं अर्थात् मानस चिन्तन की युक्ति बता देते हैं । हे साधको ! सुनो वह अपने कंधे पर काष्ठादि की मालाओं का भार कभी भी नहीं धारण करता ।

रज्जब सुमिरन माहिला, माला रहित सु होय ।
पंच पचीसों त्रिगुण मन, विरला फेरे कोय ॥३५॥

भीतर का स्मरण माला रहित ही होता है, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पच्चीस प्रकृति, त्रिगुण इन सबको भगवत् परायण करना रूप माला कोई विरला संत ही फेरता है ।

विदा होय बाइक[1] वदन[2], छूटहिं श्वास शरीर ।
तब काष्ठ कर कौन के, सुमिरन सुरति सधीर ॥३६॥

जब मुख[2] से वचन[1] बंद हो जाता है और शरीर से श्वास निकलने वाले होते हैं तब काष्ठ की माला किसके हाथ में फिरती है, किन्तु वृत्ति से होने वाला स्मरण तो धीर पुरुषों का उस समय भी होता रहता है ।

रज्जब उर[1] कर[2] के भजन, कछु पाड़ा[3] पड़ जाय ।
यथा रुपया ठौर बिन, गैरी[4] नाम कहाय ॥३७॥

जैसे रुपया जिस देश का होता है, उससे भिन्न राज्य में अन्य[4] देश का कहलाता है, वैसे ही हृदय[1] के भजन और हाथ[2] से माला फेरने के भजन में कुछ अन्तर[3] पड़ ही जाता है, दोनों सम नहीं होते हृदय का भजन ही श्रेष्ठ कहलाता है ।

रज्जब उर[1] कर[2] के भजन, अंतर ह्वै द्वै हाथ ।
आतम अबला[3] धाम में, वर[4] बाहर निज नाथ ॥३८॥

हृदय के भजन और हाथ[2] से माला फेरने के भजन में दो हाथ जितना अंतर है अर्थात् भेद रहता है। नारी[3] तो घर में हो और उसका स्वामी[4] बाहर हो तब नारी को स्वामी के पास रहने का-सा सुख नहीं मिलता, वैसे ही जीवात्मा को हृदय में चिन्तन होने से जो आनन्द मिलता है, वैसा माला फेरने से नहीं मिलता, कारण माला फेरने से हृदय में प्रभु की अनुभूति नहीं होती।

रङ्ग महल रङ्कार मध्य, रहे जु आतम राम।
सो सुख मुख नहिं कहि सकै, सुरति लहै विश्राम।।३९।।

राम मंत्र के बीज 'राँ' रूप रंग महल में आत्म स्वरूप राम रहते हैं अर्थात 'राँ' का जप करने से राम का दर्शन होता है और दर्शन से होने वाला सुख मुख से नहीं कहा जाता, किन्तु मनोवृत्ति को पूर्ण शांति मिलती है।

रज्जब सुमिरन सदन[1] मध्य, धरे[2] अधर[3] के सुःख।
जे कोइ पैठै प्राणियाँ, कदे न पावे दुःख ।।४०।।

प्रभु-स्मरण रूप धाम[1] में मायिक[2] सुख तथा ब्रह्म[3] सुख दोनों ही हैं, जो कोई प्राणी उसमें प्रवेश करता है, वह कभी भी दुःख नहीं पाता अर्थात परमात्मा का स्मरण करने से दोनों प्रकार का ही सुख प्राप्त हो जाता है।

सब अक्षर सांई सुमिर, रे दिव्य दृष्टि दास।
रज्जब रत रह राम में, त्योंही प्राण पचास ।।४१।।

हे दिव्य दृष्टि भक्त ! सभी अक्षरों के द्वारा प्रभु का स्मरण कर, जैसे 'राम' इन दो अक्षरों में भक्त प्राणी रत रहते हैं, वैसे ही अन्य पचास अक्षरों में रत रहना चाहिये अर्थात् ईश्वर के विभिन्न नामों में सभी अक्षर आते हैं, उन नामों से स्मरण करना ही अन्य पचास अक्षरों से स्मरण करना है, ५२ ही अक्षर हैं।

बावन अक्षर करि भजे, वेत्ता बावन वीर।
जन रज्जब सुध बुद्धि का, ररै ममै में सीर ।।४२।।

बावन अक्षरों से बनने वाले विविध शब्दों को समझने में वीर ज्ञानी जन तो बावन अक्षरों के द्वारा प्रभु का भजन करते हैं, किन्तु जो सरल, शुद्ध बुद्धि के अधिकारी जन हैं उनका तो रकार मकार से बने राम नाम के स्मरण में ही साजा है अर्थात् अधिकार है।

रज्जब रहै न नाम बल, नेह बिना मन थीर।
ज्यों चूने बिन पाथरहुं, रोक्या रहै न नीर ।।४३।।

जैसे चूना लगाये बिना केवल पत्थरों की दीवाल से पानी नहीं रुकता, निकलता रहता है, वैसे ही प्रभु में प्रेम किये बिना केवल नाम-स्मरण के बल से ही मन प्रभु में स्थिर नहीं रहता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भजन भेद का अंग २१ समाप्तः॥सा०७३७॥

अथ अजपा जाप का अङ्ग २२

इस अंग में अजपा जाप सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

शरीर शब्द अरु श्वास करि, हरि सुमिरन तिहुँ ठाँम ।
जन रज्जब आतम अगम, अजपा इसका नाम ॥ १ ॥

शरीर की प्रत्येक क्रिया द्वारा, नाम रूप शब्द द्वारा और श्वास द्वारा एक साथ निरंतर स्मरण होता रहता है, तब इसी का नाम अजपा जाप हो जाता है, इस अजपा जाप से आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है ।

मुख सौं भजै सु मानवी, दिल सौं भजै सो देव ।
जीव सौं जपै सु ज्योति में, रज्जब साँची सेव ॥ २ ॥

जो मुख से भजन करता है, वह मानव है, दिल से भजन करता है, वह देवता है और जो जीव से अर्थात् आत्मा को ब्रह्म रूप समझकर भजता है, वह ब्रह्म ज्योति में ही लीन हो जाता है, यही सच्ची उपासना है ।

रज्जब मुख अक्षर मुख सप्त स्वर, मुख भाषा छत्तीस ।
एतौं ऊपर उर भजन, अन अक्षर जगदीश ॥ ३ ॥

जोधपुर राज्य के पांचेटिया ग्राम के चारण दुरशा आडा, यह भावना लिये घूम रहे थे कि चर्चा में मुझे कोई जीत लेगा तो मैं उसका शिष्य बन जाऊँगा और मैं जीत लूंगा तो हारने वाले व्यक्ति को मेरी पालकी के जोतकर चलाऊंगा । वह घूमता हुआ साँगानेर में रज्जबजी के पास आ पहुँचा और बोला—"बावन अक्षर सप्त स्वर, मुख भाषा छत्तीस । इतने ऊपर जो कथे, तो जानूं कवि ईश ॥" इसी के उत्तर में यह उक्त साखी कही थी । साखी का अर्थ—बावन अक्षर, सप्त स्वर और छत्तीस भाषा, इनका तो मुख से व्यवहार होता है, किन्तु हृदय में जो ब्रह्म का भजन किया जाता है वह अक्षर, सप्त स्वर और सभी भाषाओं से परे है । यह सुनकर दुरशा आडा ने नत मस्तक होकर रज्जब जी को अपना गुरु मान लिया तथा अपनी पालकी आदि सभी रज्जबजी के चरणों में भेंट करदी ।

नेह निनामे[1] सौं किया, ध्यान धरचा बिन अंक[2] ।
रज्जब मनहुँ जहाज बिन, हनुमत पहुँच्या लंक ॥ ४ ॥

नामरहित[1] ब्रह्म से प्रेम किया और चिन्ह[2] रहित ब्रह्म का ध्यान किया, उक्त प्रकार साधन से परब्रह्म के पास ऐसे पहुँचे, जैसे हनुमान् जी बिना ही जहाज के लंका में पहुँचे थे।

रज्जब सहस नाम पंखों, सु परि, आतम जय आकाश।
एक प्राण पारा मई, उडहि नाम पर नाश ॥ ५ ॥

परमात्मा के सहस्र नाम रूप पंखों की सकाम चिन्तन रूप उडान द्वारा जीवात्मा ब्रह्म रूप आकाश की ओर जाता है, किन्तु कामना प्राप्ति के लिये पुनः संसार में ही आजाता है, परन्तु पारा उड़ता है और उड़ने के स्थान पर पुनः नहीं आता, ऐसे ही कोई एक नाम-पंखों से निष्काम चिन्तन रूप उड़ान लगाता है और वह अपना अभाव कर देता है अर्थात् ब्रह्म में मिल जाता है।

नर नग गुटि का सिद्ध तन, पंखों बिना उड़ंत।
तैसे रज्जब नाम बिन, नेह माग तहँ जंत ॥ ६ ॥

जैसे नर गुटिका (पारादि से बनी गोली मुख में रखकर उस) के बल से, हीरा हीरी के वियोग से हीरी के पास जाने के लिये, और सिद्ध शरीर, ये पंखों बिना ही आकाश में उड़ जाते हैं, वैसे ही नाम-पंख बिना भी जीव स्नेह मार्ग द्वारा उड़कर परब्रह्म के पास पहुँच जाता है।

रज्जब हित पर हद हुई, निरख्या नेह निराट[1]।
पय पाया पाषाण मुख, करी सु ऊबट[2] बाट ॥ ७ ॥

स्नेह की महिमा ऐसी है कि—परमात्मा रूप सीमा तक पहुँचा देता है, स्नेह से भक्तों ने परमात्मा को पूर्ण[1] रूप से देखा है, प्रेम के द्वारा ही नामदेव ने पाषाण मूर्ति को दूध पिलाया था, स्नेह अगम[2] में भी मार्ग बना देता है।

नाम सुई पट प्राण पति, सुरति सनेही ताग।
रज्जब रज तज काढतों, कौन वस्तु बिच लाग ॥ ८ ॥

नाम तो सुई है, प्राण पति परमात्मा वस्त्र है, स्नेह से युक्त सुरति तागा है, वृत्ति रूप तागा को साफ करके नाम सुई द्वारा ब्रह्म-वस्त्र से निकालने में किस वस्तु की आवश्यकता पड़ती है ? किसी की भी नहीं। भाव यह है, स्नेह युक्त वृत्ति निरन्तर नाम चिन्तन रूप अजपा जाप द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करती है।

रज्जब रटतों जीव ही, चित चातक सम जाप।
मक्र वक्र बोले नहीं, आप हरत हरि आप ॥ ९ ॥

जैसे चातक पक्षी स्वाति बिन्दु के लिये पीव पीव रटता रहता है, वैसे ही जीव निरन्तर अजपा जाप जपता है । मच्छी मुख से तो पानी नहीं पीती किन्तु उसकी प्यास जल रोम रोम द्वारा उसमें प्रवेश कर के बुझाता है, वैसे ही अजपा जाप का साधक मुख से तो नाम नहीं बोलता, फिर भी हरि उस की अभिलाषा पूर्ण करते ही रहते हैं ।

रज्जब रसना रहित रस, पीवे प्राण प्रवीन ।
वक्र बिना ज्यों वारि सुख, रोम रोम ले मीन ॥१०॥

जैसे मच्छी मुख बिना ही रोम-रोम से जल पान का सुख लेती है, वैसे ही रसना से उच्चारण करे बिना ही चतुर साधक प्राणी अजपा जाप का रसपान करते रहते हैं ।

रज्जब रसना बोल ही, चहुँ इन्द्रिय चुप चाप ।
ये पंचों कारज समर्थ, यूं स अबोल्या जाप ॥११॥

जैसे एक रसना द्वारा वाक् इन्द्रिय बोलती है, अन्य श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, और त्वचा चुप रहती है फिर भी पांचों अपना अपना कार्य करने में समर्थ हैं ऐसे ही बिना बोले वह अजपा जाप होता है ।

मुख मारुत सेती अगम, सुमिरन सुरति मझार ।
रज्जब करसी एक को, अजपा जप व्यवहार ॥१२॥

वृत्ति से होने वाला स्मरण मुख और प्राण वायु की गति से परे हैं, यही अजपा जाप है किन्तु अजपा जप करने का व्यवहार कोई विरला ही करेगा ।

वक्र बैन वायू रहित, होय सु अजपा जाप ।
रज्जब मन उनमनि लगें, प्रकटे आपे आप ॥१३॥

अजपा जाप मुख, वचन और प्राण वायु से रहित ही होता है, अजपा जाप से मन समाधि में लग जाता है और अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार अपने आप ही हो जाता है ।

मिहरि पतिव्रत मीन मत, दोनों नाम न लेहिं ।
पै होत इष्ट अलाहिदे, नेह माग जीव देहिं ॥१४॥

पतिव्रता नारी मुख से तो पति का नाम नहीं लेती किन्तु उस के मन में पति ही बसा रहता है, मच्छी मुख से तो पानी नहीं पीती किन्तु रोम-रोम से पीती ही रहती है, वैसे ही अजपा जाप करने वाला मुख से तो नाम उच्चारण नहीं करता किन्तु भीतर निरंतर करता ही रहता है । उक्त तीनों अपने प्रियतमों के अलग होने से प्रेम के मार्ग में अपना प्राण भी त्याग देते हैं ।

कछी पंछी हेत ले, अंडे क्यों उपजंत ।
रज्जब राम कहे बिन ऐसे, अजपा जाप करन्त ॥१५॥

कछुवी अपने अंडे दूर जल तट पर रखती है, उसी से वे पककर फूट जाते हैं। कूंज पक्षी हिमालय पर अंडा रखता है, उस पर भारी बर्फ राशि जम जाती है, कूंज उन्हें उन में वृत्ति रख कर ही पालता है। देखो, ये उक्त अंडे माताओं के दूर रहने पर भी स्नेह से बच्चे के रूप में कैसे उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे ही राम नाम बोले बिना ही साधक स्नेह से अजपा जाप करते हैं।

हरि जी गाहक हेत के, नारायण लेंहि नेह ।
तो मनसा वाचा कर्मना, संतो करो सनेह ॥१६॥

हरि तो प्राणी के प्रेम के ग्राहक हैं, नारायण हृदय के स्नेह को ही लेते हैं, तब हे संतो ! मन, वचन और कर्म से प्रभु से प्रेम ही करो, प्रेम से ही अजपा जाप होता है।

रज्जब जप जप जन थके, अजपा जपा न जाय ।
अगह अंभ ज्यों आरसी, आख्यूं सो न गहाय ॥१७॥

जैसे न ग्रहण करने योग्य दर्पण का पानी आँखों से दीखता तो है किन्तु पकड़ा नहीं जाता, वैसे ही बहुत से भक्त जन जप करते २ थक तो गये हैं किन्तु उनसे अजपा नहीं जपा जाता अर्थात् वह तो स्वतः ही होता रहता है।

स्वप्ने मन सुमिरन करे, लगे नहीं तन ताप ।
अचेत उदर अरभक[१] वधै, यूं ह्वै अजपा जाप ॥१८॥

स्वप्न में मन शरीर में अग्नि लगने का स्मरण करता है तब स्थूल शरीर को कहां ताप लगता है तथा माता के पेट में बालक[१] बढता है तब माता को कब पता लगता है कि किस क्षण में कितना बढा, ऐसे ही अनजान में निरन्तर अजपा जाप होता रहता है।

मन पवन अरु सुरति को, आतम पकड़ै आप ।
रज्जब लावै तत्त्वसौं, यूं ही अजपा जाप ॥१९॥

जब साधक आत्मा मन और बुद्धि वृत्ति को स्वयं निग्रह करके पर-ब्रह्म रूप तत्त्व के चिन्तन में लगता है तब जैसे वह चिन्तन निरन्तर होता रहता है, वैसे ही अजपा जाप होता है।

ब्रह्माण्ड पिण्ड मन प्राण तज, सुख में सुरति समाय ।
रज्जब अजपा जाप यहु, नर देखो निरताय ॥२०॥

ब्रह्माण्ड, शरीर, मन, प्राण, इन सब को त्याग कर बुद्धि-वृत्ति सुख स्वरूप ब्रह्म में समा जाय, इस का नाम अजपा जाप है । हे साधक नरो ! विचार करके देखो, तुम्हें भी यह भली भांति ज्ञात होगा ।

सुरता सुई समान है, रज्जब वैद्य विवेक ।
अम्बलबेत आराध में, उभय वस्तु ह्वै एक ।।२१।।

जैसे वैद्य सुई को अम्बलबेत नींबू में रख देता है तब वह गल कर अम्बलबेत रूप ही हो जाती है, वैसे ही विवेक युक्त साधक वृत्ति को अजपा जाप रूप उपासना में रखता है तब वह भी ब्रह्म रूप ही हो जाता है, इस प्रकार नींबू और सुई तथा जीव और ब्रह्म दोनों वस्तु एक हो जाती हैं ।

सुमिरण शून्य समान है, आतम अभ्र अनेक ।
रज्जब वायु विचार मिल, बाट बटाऊ एक ।।२२।।

जैसे आकाश में अनेक बादल दिखाई देते हैं, वे सभी वायु द्वारा एक मार्ग से चलकर आकाश में ही लय हो जाते हैं, वैसे ही स्मरण में संलग्न अनेक साधक आत्माएँ पथिक भी विचार द्वारा एक अजपा जाप मार्ग से ब्रह्म में ही लय होते हैं ।

नाम लिहारी[1] नापिगा,[2] नदी नाथ[3] निज नांउ ।
पंथ पथिक मिल एक ह्वै, यहु अजपा बलि जांउ ।।२३।।

जैसे सभी नदियाँ[2] विभिन्न मार्गों से चलकर समुद्र[3] में जाते ही, वे मार्ग और जल सभी समुद्र में मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही निज नाम का स्मरण करने वाले[1] सभी साधक और साधन अजपा जाप की परिपाकावस्था में जाते ही सब ब्रह्ममें मिलकर अद्वैत ब्रह्म रूप ही हो जाते हैं, यह एक हो जाना ही अजपा जाप है, हम इस अवस्था की बलिहारि जाते हैं ।

जिस नुकते[1] साहिब स्रव[2]हिं, सही[3] सु अजपा जाप ।
रज्जब पावे प्राण सो, जा जीवहिं दे आप ।।२४।।

जिस सूक्ष्म साधन[1] से भगवान् दया[2] करते हैं, वही सच्चा[3] अजपा जाप है । यह अजपा जाप साधन, जिस जीव को स्वयं भगवान् देते हैं, उसी प्राणी को प्राप्त होता है ।

प्रेम प्रीति हित नेह सु यारी, राम मुहब्बत सुरति सँभारी ।
ज्जब रत रुचि धुन सु आगे, द्वादश कला लगन को लागे ।।२५।।

१. प्रेम २. प्रीति ३. हित ४. स्नेह ५. थारी ६. राग ७. मुहब्बत ८. सुरति ९. सँभारना १०. रत होना ११. रुचि १२. धुन, ये जो प्रेम की द्वादश कला हैं, इन से आगे अजपा जाप में कोई विरले साधक की ही लग्न लगती है अर्थात् अद्वैत स्थिति को विरला ही प्राप्त होता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अजपा जाप का अंग २२ समाप्तः

।।सा० ७६२।।

अथ ध्यान का अङ्ग २३

इस अंग में ध्यान सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

विभूति[1] भूत[2] भगवंत लग, होहं[3] सोहं[4] ध्यान ।
यथा धूम पावक सहित, रज्जब शून्य समान ।। १ ।।

माया[1] प्राणी[2] और भगवान् यह भेद भासता है तब तक ही [3] [4], वह मैं हूँ[4] ऐसा ध्यान रहता है, फिर साधन की परिपाकावस्था ज्ञान में तो जैसे काष्ठ को जला कर धूआँ और अग्नि दोनों ही लय हो जाते हैं, वैसे ही ध्यान, ध्याता, ध्येय रूप त्रिपुटी ब्रह्म में लय हो जाती है, उस स्थिति में अद्वैत ही भासता है ।

ध्यान रुधिर खीरो भयो, ध्यान सु लोही काम ।
तैसे रज्जब ध्यान में, प्राणि पलट ह्वै राम ।। २ ।।

जैसे रक्त से दूध और लोही से वीर्य बनता है, वैसे ही ध्यान में स्थित होने से प्राणी बदल कर राम स्वरूप ही हो जाता है ।

रज्जब एक हि ध्यान में, नर नारायण होय ।
मनसा वाचा कर्मना, कीट भृंग ले जोय ।। ३ ।।

हम मन वचन कर्म से कहते हैं कि—एक मात्र नारायण के ध्यान में वृत्ति स्थित रहने से नर नारायण बन जाता है, इसका उदाहरण लोक में भी प्रत्यक्ष है देखलो, कीट भृंग का ध्यान करता है तब भृंग ही बन जाता है ।

परम पुरुष का ध्यान धर, जैसे चन्द्र चकोर ।
जन रज्जब चारों पहर, मेली पलक न कोर ।। ४ ।।

जैसे चकोर पक्षी रात्रि के चारों ही पहरों में अपने नेत्रों की पलक के किनारे न मिला कर चन्द्रमा का ध्यान करता है, वैसे ही परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करना चाहिये ।

कच्छपी दृष्टि सु ध्यान धर, अकल पुरुष की ठौर ।
तो रज्जब सहजै मिले, परम पुरुष श्री मौर ॥ ५ ॥

जैसे कछवो का ध्यान अपने अण्डों के स्थान पर ही रहता है, वैसे ही कलारहित परम पुरुष परमात्मा के साक्षात्कार होने के स्थान अष्टदल कमल पर साधक का ध्यान रहे तो मायापति परमात्मा अनायास ही मिल जाते हैं ।

गऊ जाय वन खंड में, धरे वत्स पर ध्यान ।
यूं रज्जब ह्वै राम सौं, तो पहुँचे हरि थान ॥ ६ ॥

गो वन में चली जाती है किन्तु उसका ध्यान घर में स्थित बच्छे पर ही रहता है, वैसे ही जीव का ध्यान राम के स्वरूप में रहे तो जीव भी हरि के स्थान को पहुँच जाता है ।

जैसे नटनी बरत[1] चढ़, धरे कौन विधि ध्यान ।
त्यों रज्जब रम राम मधि, मिले प्राण पति प्रान ॥ ७ ॥

जैसे नटनी रस्से[1] पर चढ़कर जिस प्रकार रस्से का ध्यान करती है, वैसे ही ध्यान द्वारा राम में रमना चाहिये, तब ही प्राणी को प्राणपति परमेश्वर मिलते हैं ।

ज्यों कामिनि शिर कुंभ धरि, मन राखे ता माँहि ।
त्यों रज्जब कर राम सौं, कारज विनशे नाँहि ॥ ८ ॥

जैसे नारी जल से भरा घड़ा शिर पर रहने पर भी सहेली से हँस २ कर बातें करती हैं किन्तु मन घड़े में रखती हैं, इससे घड़ा नहीं पड़ता, वैसे ही सब काम करते हुये मन राम में रखने पर भी कोई कार्य नष्ट नहीं होता ।

ज्यों विषयी पर नारि सौं, अति गति माडे ध्यान ।
जन रज्जब जगपति मिले, यूं हरि सौं चित सान ॥ ९ ॥

जैसे कामी नर विशेष कर के पर नारी का ध्यान करता है, वैसे ही यदि हरि के ध्यान में मन लगाया जाय, तो जगत्पति परमात्मा मिल जाते हैं ।

ज्यों भृंगी का ध्यान धर, कीट भृंग ह्वै जाय ।
त्यों रज्जब जिव ध्यान धर, जगपति माँहि समाय ॥१०॥

जैसे कीट भृंग का ध्यान करके भृंग बन जाता है, वैसे ही जीव ब्रह्म का ध्यान करके ब्रह्म बन जाता है ।

पंच तत्त्व घर पंच रस, प्राण तत्त्व घर ध्यान ।
रज्जब रचे बखानियहिं, जो जिहिं ठाहर ठान ॥११॥

आकाशादि पंच तत्त्वों से रचित पंच ज्ञानेन्द्रियों के घर पंच विषय रूप रस हैं । वे विषयों में स्थिर रहती हैं । मन रूप तत्त्व का घर ध्यान है, मन ध्यान में ही स्थिर रहता है । जो जिस स्थान को अपना बनाकर उसमें रत रहता है, उसी का कथन करता है । ईश्वर ध्यान में रत ईश्वर का और मायिक ध्यान में रत माया का कथन करता है ।

ध्यान याद सुरति निरति सँभाल, सप्त अष्ट पोषंति[1] पाल[2] ।
धरे[3] अधर[4] बिच ध्यान जुहोइ, नि[5] ध्यान निकट पावे नहीं कोइ ॥१२॥

ध्यान, याद, सुरति, निरति (विचार), सँभालना, इनसे ही सप्त धातु मय स्थूल शरीर का पोषण[1] होता है और १ ज्ञानेन्द्रिय पंचक, २ कर्मेन्द्रिय पंचक, ३ अन्तःकरण चतुष्टय ४ प्राणादि पंचक, ५ भूत पंचक, ६ काम, ७ त्रिविध कर्म ८ वासना । इन पुरी अष्ट का भी पालन[2] होता है । माया[3] तथा ब्रह्म[4] के बीच सम्बन्ध कराने का कारण ध्यान ही सिद्ध होता है, बिना[5] ध्यान निकट रहने पर भी प्रभु नहीं मिलते ।

ध्यान म्यान माँही रहे, राम काम तरवारि ।
रज्जब रुचि के हाथ में, जो जाने सो धारि ॥१३॥

जैसे म्यान में तलवार रक्खी जाती है, वैसे ही ध्यान में राम तथा काम दानों ही रक्खे जाते हैं किन्तु विचार द्वारा जिसको अपने कल्याण का कारण समझे उसे ही प्रेम रूप हाथ से ध्यान में रखना चाहिये । कल्याण का साधन राम का ध्यान ही है, अतः राम का ध्यान करना चाहिये, काम का नहीं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित ध्यान का अंग २३ समाप्तः ॥सा० ७७५॥

अथ नाम महिमा का अङ्ग २४

इस अंग में नाम महिमा सम्बन्धी विचार करेंगे—

नमो नाम सम कुछ नहीं, साधु वेद मत माँहि ।
तीरथ व्रत न योग यज्ञ, पटतर कहे न जाँहि ॥ १ ॥

संत तथा वेद मत का विचार करने पर ज्ञात होता है कि—ईश्वर नाम स्मरण के समान कोई भी साधन नहीं है, फिर तीर्थ, व्रत, योग और यज्ञ तो उसके समान कैसे कहे जा सकते हैं, उस नाम को हम नमस्कार करते हैं ।

अर्ध नाम सम कुछ नहीं, जप तप तीरथ दान ।
षट् कर्म कष्ट रु साधना, समसरि[1] नाम न जान ॥ २ ॥

परमात्मा के आधे नाम के समान भी कुछ नहीं है । जप, तप, तीर्थ, दान, तथा ब्राह्मणों के षट्कर्म—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान देना, दान लेना, और नाना साधन रूप कष्ट नाम-स्मरण के समान[1] नहीं जानना चाहिये ।

नाम ठाम रोके न कोइ, जप तप तीरथ दान ।
रज्जब साधन कष्ट सब, सुमिरण सम न बखान ॥ ३ ॥

नाम के स्थान को कोई भी नहीं रोक सकता अर्थात् नाम की समता कोई भी नहीं कर सकता, जप, तप, तीर्थ स्नान, दान और भी नाना साधना रूप कष्ट ये सब नाम-स्मरण के समान नहीं कहे जाते ।

सकल धर्म हरि नाम मधि, जप तप तीरथ दान ।
ज्यों रज्जब वृक्ष बीज में, बाहर द्रसे[1] न पान ॥ ४ ॥

जैसे सारा वृक्ष बीज में होता हैं, बाहर एक पत्ता भी नहीं दीखता[1] वैसे ही संपूर्ण धर्म तथा जप, तप, तीर्थ, दान, हरि नाम-स्मरण में आ जाते हैं, बाहर नहीं रहते अर्थात् सबका फल नाम-स्मरण से प्राप्त हो जाता है ।

निश्चल ह्वै नाम हि भजे, एक मुहूरत मन्न ।
ता शम कृत मन सब कहैं, वेद रु वेत्ता जन्न ॥ ५ ॥

एक घंटा वा एक क्षण भी जिसका मन निश्चल होकर राम का भजन करता है, तो उसने अपने मन को जीता है, ऐसा वेद तथा सभी विद्वान् कहते हैं ।

महन्त मुखों सेती[1] सुन्या, रज्जब भजन प्रताप ।
ज्यों माया[2] सौं माया उदय, त्यों नाम निरंजन आप[3] ॥ ६ ॥

जैसे पैसे[2] से पैसा बढ़ता है, वैसे ही निरंजन ब्रह्म के नाम-चिन्तन से ब्रह्म[3] प्राप्त होता है, ऐसा ही भजन का प्रताप महान् संतों के मुख से[1] सुना है ।

बहु विद्या हूनर[1] बहुत, सुमिरण सम नहि कोय ।
रज्जब गुण[2] गुण सौं मिले, नाम सु नरहरि[3] होय ॥ ७ ॥

विद्या और गुण[1] तो बहुत हैं किन्तु हरि-नाम-स्मरण के समान कोई भी नहीं है, कारण विद्या और गुणों से तो सांसारिक विषय[2] ही

प्राप्त होते हैं और नाम-स्मरण से ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म ही हो जाता है ।

अज्ञान कष्ट सब शक्ति[1] में, शिव[2] सेवा हरि नाम ।
ज्यों भृत[3] भामिनि राज घर, सुत संपद् द्वै ठाम ।। ८ ।।

जैसे दास[3] की नारी दासी राजा के घर रहती है किन्तु उस का पुत्र और भूषणादि धन अपने घर तथा राज-महल दोनों स्थानों में रहता है, वैसे ही जीवात्मा शरीर में रहता है किन्तु उसका मन और प्रेम माया[1] में तथा हरि नाम दोनों में रहता है, माया में रहता है तब तो अज्ञान जन्य कष्ट मिलता है और हरि नाम में रहता है तब ब्रह्म[2] की भक्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

रज्जब नाम धणी[1] सौं नाम का, दीसे तेज अनन्त ।
लीनौं[2] घर लौंडा[3] भया, साखी साधू संत ।। ९ ।।

राम नाम के नामी[1] राम से नाम का प्रताप अत्यधिक दिखाई देता है, देखो, जिन भक्तों ने सविधि नाम लिया[2] अर्थात् चिन्तन किया उन दशरथादि के घर नामी राम पुत्र[3] भी हो गये हैं, इस की साक्षी श्रेष्ठ संत भी देते हैं ।

नाम धणी सौं नाम की, महिमा अधिक बखान ।
निज वपु धर तौं बूड गये, नाम तिरे पाषान ।।१०।।

राम ने अपने शरीर के हाथ से जल पर पत्थर धरे वे तो डूब गये और नल-नील ने राम नाम लिखकर जल पर पत्थर धरे वे तिर गये अतः नामी से नाम की महिमा अधिक ही कही जाती है ।

फाटै थंभ रु मूरति पिवे, मंदिर मुख दिशि आन ।
रज्जब धनि धनि नाम बल, पानि तिरे पाषान ।।११।।

नाम-स्मरण के बल से प्रह्लाद के लिये स्थम्भ फटा, नाम देव के हाथ से मूर्ति ने दूध पान किया, तथा मंदिर का मुख दूसरी दिशा में हो गया (ये कथाएँ भक्त मालों में प्रसिद्ध हैं) सेतु बाँधते समय जल पर पत्थर तिरे, अतः नाम-स्मरण जन्य शक्ति धन्य है, धन्य है ।

नाम हिं राखे प्राण पति, अपनी ठौर[1] उठाय ।
तो रज्बज ता नाम की, महिमा कही न जाय ।।१२।।

प्राणपति परमेश्वर भी अपने आकार[1] को हटाकर उस के स्थान में अपने नाम को ही रखते हैं, तो फिर उस नाम की महिमा कैसे कही जा सकती है ?

नर नारायण सौं बड़ा, प्रकट नाम परकास ।
दोन्यों आगे नाम के, सेवक स्वामी दास ॥१३॥

नाम चिन्तन द्वारा ब्रह्म-ज्ञान रूप प्रकाश प्रकट होकर नर नारायण (विष्णु) से भी बड़ा होजाता है, अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है । नाम के आगे सेवक और स्वामी दोनों ही दास के समान रहते हैं, अर्थात् नाम स्मरण के बल से ही सेवक नारायण रूप स्वामी के पास जाता है और नारायण-रूप स्वामी सेवक के पास आता है ।

रज्जब नाम नराधिपति, अंग[1] अनन्त उमराव[2] ।
दल बल महिमा क्या कहूँ, देख्या विपुल[4] बणाव[3] ॥१४॥

नाम तो राजा के समान है, और जो अनन्त साधन[1] हैं वे सरदारों[2] के समान हैं । इनके समूह और बल की महिमा मैं क्या कह सकता[3] हूं ? किन्तु मैंने देखा है, मोह दल को जीतने के लिये, इनकी सजावट महान्[4] है ।

युग युग राखी नाम की, संकट करी सँभाल ।
रज्जब महिमा क्या कहैं, वेद न जाने व्याल[1] ॥१५॥

परमात्मा ने नाम की महिमा प्रति युग में अखंड रक्खी है, नाम चिन्तन करने वालों की दुःख के समय सहायता की है, नाम की महिमा हम तो क्या कह सकते हैं, वेद तथा शेष[1] जी भी पूर्ण रूप से नहीं जानते ।

रज्जब महिमा नाम की, नर पै कही न जाय ।
जाके वश दोउ देखिये, कुदरत सहित खुदाय ॥१६॥

जिस नाम के वश में माया और माया का स्वामी ईश्वर दोनों हैं, उस नाम की महिमा मनुष्य से कैसे कही जा सकती है ।

नख शिख सूरत[1] शुक्ल[2] मध्य, मनसा वाचा मान ।
तैसे रज्जब नाम में, नाम धणी[4] परवान[3] ॥१७॥

जैसे नख से शिखा पर्यन्त रूप[1] को देखकर मन बलात् काम[2] में जाता है, वैसे ही मन वचन से नाम को ही यथार्थ[3] रूप से नामी[4] मान कर नाम में ही मन लगाना चाहिये ।

मूल डाल तरु बीज मधि, त्यों जन जगपति नाम ।
रज्जब रीझ्या देखकर, बडहु बड़ी निज ठाम ॥१८॥

जैसे बीज में मूल, डाल आदि सभी वृक्ष रहता है, वैसे ही नाम में भक्त और भगवान् दोनों ही रहते हैं, अर्थात् नाम में भगवान् अर्थ रूप

से तथा व्यापक रूप से रहते हैं और भक्त का मन नाम में रहता है। इस नाम रूप स्थान को देखकर हम अति प्रसन्न हैं, हमारी नाम रूप जगह बड़े स्थानों से भी बड़ी है।

रज्जब एकहि नाम मध्य, देखी दीरघ ठौर।
संत अनन्त समाव हिं, अस्थल इसा न और ॥१९॥

एक नाम ही अति विशाल जगह देखी है, जिस में ज्ञानी, योगी, भक्त, कर्मकाण्डी आदि अनन्त संत समाते हैं, अर्थात् सभी नाम चिन्तन करते हैं। नाम साधना के समान साधन रूप स्थान अन्य नहीं है।

बडहुं बडा सांई सही, ताहि बडे सत साध।
दोनों आये नाम में, रज्जब नाम अगाध ॥२०॥

बड़े जो ब्रह्मादि हैं उनसे भी बड़ा परमात्मा है, परमात्मा से भी बड़े परमात्मा के प्यारे सच्चे संत हैं, संत और परमात्मा की महिमा नाम में स्थित है, तभी तो नाम चिन्तन से प्रकट होती है, अत: नाम की महिमा अगाध है।

शशि सांई तारे सुजन, ध्रुव रूपी निज नाँउं।
प्रदक्षिण देही शाम सौं, जन रज्जब वलि जाँउं ॥२१॥

चन्द्रमा और तारे सायंकाल से ही ध्रुव के परिक्रमा देते हैं, वैसे ही परमात्मा और श्रेष्ठ भक्त निज नाम के प्रदक्षिणा देते हैं, अर्थात् नाम के पास ही रहते हैं, ऐसे नाम की मैं दास वलिहारी जाता हूँ।

साधू सांई शीश पर, नाम सदा शिर मौर।
रज्जब रीझ्या देखकर, अकल[1] कले[2] जहिं ठौर ॥२२॥

संत तथा परमात्मा के शिर पर नाम सदा मुकुट के समान रहता है, अर्थात् दोनों से श्रेष्ठ है, जिस नाम चिन्तन के द्वारा कलारहित[1] परमात्मा भी कला[2] धारण करते हैं, उस नाम रूप स्थान को देखकर मैं अति प्रसन्न हूँ।

रज्जब सुमिरन की सिफत[1], मो पै कही न जाय।
जा के वश दोनों भये, कुदरत[2] सहित खुदाय ॥२३॥

जिसके वश में माया[2] और माया का स्वामी ईश्वर दोनों हैं, उस नाम-स्मरण की महिमा[1] मेरे से कैसे कही जा सकती है?

नमो नाम सम कुछ नहीं, धरे[1] अधर[2] बिच और।
जन रज्जब ता सौं बँधे, शिवरु शक्ति इक ठौर ॥२४॥

मायिक[1] संसार और परमात्मा[2] के मध्य नाम के समान अन्य कुछ भी नहीं है, उस नाम के प्रताप से ब्रह्म और माया दोनों एक भक्तरूप स्थान में बँधे हैं, अर्थात् दोनों ही नाम-स्मरण से अधीन हो जाते हैं, उस नाम को नमस्कार है ।

नमो नाम महिमा अनंत, बोध न वाणी माँहि ।
रज्जब कहिये कौन विधि, अकल कह्या नहीं जाहि ।।२५।।

नाम की महिमा अनन्त है, उसे कह सके ऐसा ज्ञान वाणी में तो है ही नहीं फिर किस प्रकार कही जा सकती है ? निज नाम कला विभाग से रहित है अत: उसका यश नहीं कहा जा सकता, हम तो नाम को नमस्कार ही करते हैं ।

रज्जब रंचक भजन की, महिमा कही न जाय ।
अर्ध नाम पशु[1] उद्धरे, नर देखो निरताय[2] ।।२६।।

किंचित् मात्र भजन की भी महिमा नहीं कही जा सकती, हे नरो ! विचार[2] करके देखो तो सही आधे नाम के उच्चारण से भी गजराज[1] का उद्धार होगया ।

आदम[1] ईदम[2] औलिया[3], गहिये अगह अलाह ।
सिफत[4] नाम की क्या कहूं, बन्ध अबन्धू बाह[5] ।।२७।।

नाम-स्मरण की महिमा[4] मैं क्या कहूं, नाम-स्मरण करके यह[2] मनुष्य[1] संत[3] बन जाता है, न ग्रहण किया जाय उस ब्रह्म को आत्म रूप से ग्रहण करता है, और संसार बन्धन में बँधे हुये प्राणियों को मुक्त कर के धन्य[5]वाद का पात्र होता है ।

सारंग[1] सर्प शिशु स्वर सुनत, मगन होत मुर[2] मान ।
त्यों जगदीश्वर जाप वश, जन रज्जब जिव जान ।।२८।।

मृग,[1] सर्प और बच्चा ये तीनों[2] बीणा आदि बाजों के स्वर को सुन कर प्रसन्न होते हुये बजाने वाले के अधीन हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वर जीव द्वारा किये गये नाम जाप को जानकर प्रसन्न होते हैं और उसके अधीन हो जाते हैं, अर्थात् उसकी इच्छानुसार व्यवहार करते हैं, यह यथार्थ ही मानना चाहिये ।

नाहर[1] जरख सु मंत्र वश, अबला[2] ह्वै असवार ।
तो नाम लेत नर नेह सौं, क्यों ना ह्वै करतार ।।२९।।

बाघ[1] और जरख भी मन्त्र के अधीन हो जाते हैं और उनपर डाकिनी नारी[2] बैठकर घूमती है, तो फिर स्नेहपूर्वक ईश्वर का नाम जपने से ईश्वर क्यों न अनकूल होंगे ?

जन जगपतिके मध्य मन, द्वै दिशि जीव इक नांउ।
रज्जब राखे नाम मन, तिनकी मैं बलि जांउ॥३०॥

भक्त तथा भगवान् दोनों के मन में एक नामरूप जीव है, अर्थात् भक्त भी नाम के आश्रय जीवित रहता है और भगवान् के अस्तित्त्व का भी बोध नाम से ही होता है, ऐसे नाम में जो निरन्तर अपना मन रखते हैं, मैं उनकी बलिहारी जाता हूँ।

नाम निरंजन जीव है, सो साधु मध्य श्वास।
तो रज्जब हरि क्यों रहे, बिन आये उन पास॥३१॥

नाम ही निरन्जन राम का जीव है और वह संत के प्रति श्वास के साथ रहता हैं, अर्थात् निरन्तर स्मरण रहता है, तो फिर उन संतों के पास आये बिना हरि कैसे रह सकते हैं ?

नाम नाज जीवन सबहुं, आदम[1] की औलाद[2]।
और हु और अहार है, देखर[4] दीज्यो दाद[3]॥३२॥

आदि मानव[1] की संतान[2] मनुष्य जाति का, भगवान् नाम-स्मरण रूप नाज ही जीवन है, अर्थात् नाम-स्मरण बिना मानव में आत्म बल की वृद्धि नहीं होती। अन्य पशु जाति आदि का आहार अन्य वस्तुएँ हैं, अतः नाम का स्मरण करके नाम-स्मरण द्वारा प्राप्त आत्म बल को प्रत्यक्ष देखकर[4] के साधक को नाम-स्मरण की प्रशंसा[3] अवश्य करनी चाहिये।

काया काष्ठ में बंधी, देखो आज्ञा आगि[1]।
सो मुकती[2] ह्वै रज्जबा, नाम अँगारे लागि॥३३॥

काष्ठ में अग्नि[1] बँधा रहता है किन्तु अँगारा लगने पर काष्ठ जल कर वह अग्नि व्यापक अग्नि में लय हो जाता है, वैसे ही आत्मा को परमात्मा से मिलने की आज्ञा होने पर भी वह देहाध्यास के कारण शरीर में ही बद्ध है किन्तु निरन्तर नाम-स्मरण होने से वह खुल[2] जाती है, अर्थात् नाम-स्मरण द्वारा ज्ञान होकर आत्मा परमात्मा में अभेद रूप से मिल जाता है।

कर्म काष्ठ कहु क्या करे, जब प्रकटे पावक नांउ।
अठारह भार अघ दहम[1] ह्वै, बासदेव[2] बलि जांउ॥३४॥

जैसे अठारह भार वनस्पति रूप काष्ठ अग्नि के आगे क्या जोर कर सकता है ? वह तो भस्स ही हो जाता है, वैसे ही नाम-स्मरण द्वारा ज्ञानाग्नि प्रकट होने पर कर्म क्या कर सकते हैं ? वे तो भस्म[1] ही हो जाते हैं उस ज्ञानाग्नि[2] की हम बलिहारी जाते हैं।

प्रतिमा[1] पूजा नाम धरि, नाम तिरे पाषान ।

सोई नाम नर उर बस्या, सीझे[2] क्यों न सुजान ।।३५।।

राम, कृष्णादि नाम रखने पर ही मूर्ति[1] की पूजा होती है, बिना नाम धरे तो कोई भी नहीं पूजता और नाम अंकित होने पर ही सेतु बाँधने के समय पत्थर जल पर तिरे थे । हे बुद्धिमान् ! राम-नाम मनुष्य के हृदय में निरन्तर बसा रहे तो यह सिद्धावस्था[2] रूप मुक्ति को क्यों नहीं प्राप्त होगा ? अर्थात् होगा ही ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित नाम महिमा का अंग २४ समाप्तः ।।सा. ८१०।।

अथ नाम निरूप आदम अकलि का अंग २५

इस अंग में मानव ने अपनी बुद्धि से रूपरहित परमात्मा के जो नाम रक्खे हैं, उन नामों तथा मानव की बुद्धि विषयक विचार कर रहे हैं ।

नाम नाव आदम[1] गढी, भरचा सु आदम भार ।

आदम खेवहिं अकलि सौं, आदम उतरहिं पार ।। १ ।।

ज्ञानी मनुष्यों[1] ने ही नाम रूप नौका बनाई है और साधक मनुष्य रूप बोझा भरा है, गुरु रूप मनुष्य ही बुद्धि द्वारा उसे चलाते हैं, इस प्रकार ही साधक मनुष्य संसार-सिन्धु के पार उतरते हैं ।

धन्य धन्य आदम अकलि, अकल कल्या धर नांउ ।

रज्जब रीझ्या देखकर, बुद्धि बँधन बलि जांउ ।। २ ।।

मनुष्य की बुद्धि को धन्य है, धन्य है जिसने कलारहित ब्रह्म का भी नाम रख करके उसे कलायुक्त-सा कर दिया है, बुद्धिमानों के इस कला-बँधन को देखकर मैं भी अति प्रसन्न हूं और बलिहारी जाता हूँ ।

नाम नेह नर के बँध्या, निराकार निर्बन्ध ।

रज्जब धन्य आदम अकलि, अकलहिं बाह्या[1] फंद ।। ३ ।।

नाम-स्मरण के कारण ही बन्धनरहित निराकार परमात्मा नर के स्नेह में बँधा है, मनुष्य की बुद्धि को धन्य है, जिसने कलारहित परमात्मा को कला रूप फँदे में डाल[1] दिया ।

अकलि[1] बडी दी आदम[2]हिं, नाम निनाम[3]हिं दीन्ह ।

अगह गह्या जिहिं बुद्धि सौं, अलग सलग[4] कर लीन्ह ।। ४ ।।

सृष्टि कर्त्ता ने मनुष्य[2] को विशाल बुद्धि[1] दी है, जिसके बल से मानव ने नाम-रहित[3] को भी नाम प्रदान किया है और मन इन्द्रियों के

द्वारा जो नहीं ग्रहण किया जाता, उस ब्रह्म को आत्म रूप से ग्रहण किया है, इस प्रकार जो जीव और ब्रह्म अलग भास रहे थे, उन्हें एक[४] कर लिया है ।

आदम ने अचरज किया, नाम सु दीपक राग ।
तिमिर हंत सो उर धरहु, रज्जब जागहिं भाग ॥ ५ ॥

मानव ने परमात्मा के जो नाम रक्खे हैं, वे दीपक राग के समान हैं, दीपक राग गाने से जैसे दीपक जग कर अँधेरा दूर होता है, वैसे ही नाम-स्मरण से हृदय का अज्ञान रूप अँधेरा दूर होता है । अतः नाम को सदा हृदय में रक्खो, तुम्हारा भाग्योदय होगा ।

सांकल आतम राम को, नाम रूप निज जान ।
देख अबन्धूं बन्धना, जन रज्जब हैरान ॥ ६ ॥

आत्माराम को बाँधने के लिये एक मात्र निज नाम-स्मरण रूप जंजीर ही समर्थ है, नाम-स्मरण रूप जंजीर बन्धनरहित परमात्मा को भी बाँधने वाला है, यह देखकर हमें बड़ा आश्चर्य होता है ।

मन उनमन[१] मूसल उभय, हाथा जोड़ी नांउ ।
बंध अबन्धूं बंदगी, हिकमत[२] पर वलि जांउ ॥ ७ ॥

मूसल से धान कूटते समय दोनों हाथ अपने आप मिल जाते हैं, वैसे ही नाम-स्मरण के द्वारा मन समाधि[१] अवस्था में जाता है तब जीव और ब्रह्म दोनों मिल जाते हैं । स्मरण रूप भक्ति तत्त्वज्ञान द्वारा बन्धनयुक्त जीव और बन्धन रहित ब्रह्म दोनों को एक कर देती है, ज्ञानी मानव के उस तत्त्व-ज्ञान[२] की हम बलिहारी जाते हैं ।

नाम सभी संतों धरे, गहि गहि गुण उनमान ।
यहु रज्जब इस ओर तें, सुमिरन का अस्थान ॥ ८ ॥

परमात्मा के सभी नाम संतों ने गुण, कर्म को ग्रहण करके तथा स्वरूप का अनुमान करके रक्खे हैं । इस साधक अवस्था की ओर से परब्रह्म के चिन्तन का मुख्य स्थान नाम ही है, अर्थात् नाम का आश्रय लेकर के ही स्मरण किया जाता है ।

सब ही नाम स्वभाव के, काढ़े अकलि विचार ।
जन रज्जब गुण गूंथ कर, जोड़े सहस हजार ॥ ९ ॥

परमात्मा के सभी नाम स्वभाव, गुण तथा स्वरूपानुसार बुद्धि से विचार करके निकाले गये हैं और गुणों के द्वारा गूंथ करके तो बुद्धि-मानों ने हजार २ नाम जोड़कर सहस्र नाम स्तोत्रों की रचना की है ।

जेती हिकमत हुक्म में, ये सब तिसके नांउ ।
सब साहिब जिस नाम में, ताकी मैं बलि जांउ ॥१०॥

जितनी भी विद्यायें उस प्रभु की आज्ञा में हैं, वे सभी उसके नाम हैं, अर्थात् गुण, कर्म, और स्वभाव से बनने वाले नाम सब विद्या द्वारा ही बनते हैं, किन्तु प्रभु के जिस स्वरूपभूत निज नाम में सब कुछ आ जाता है, मैं उसी नाम की बलिहारी जाता हूँ ।

नाम निनामे[1] के धरे, संतों शोध स्वभाय ।
रज्जब माने राम जी, सुमरयाँ करी सहाय ॥११॥

संतों ने परमात्मा के स्वभाव को विचार द्वारा खोजकर नाम-रहित[1] के भी नाम रख दिये हैं और राम जी ने भी उन्हें अपने नाम मानकर स्मरण करने वालों की सहायता की है ।

निराकार का नाम तन, अलिफ[1] अलह औजूद[2] ।
जन रज्जब यहु गहन गति, मालिक है मौजूद[3] ॥१२॥

निराकार परमात्मा का शरीर नाम ही है, फारसी का आदि अक्षर[1] ही अल्लाह का शरीर[2] है । परमात्मा नाम रूप से सब जगह विद्यमान[3] हैं, किन्तु उनके स्वरूप को जानकर उनमें प्रवेश करना बड़ा कठिन है ।

आकाश अनंग आभे गहै, त्यों अविगत रस नाम ।
रज्जब आवे तहां तैं, अवनि सु आतम ठाम ॥१३॥

आकाश निराकार है फिर भी बादलों को ग्रहण करता है, वैसे ही मन इन्द्रियों के अविषय परमात्मा निराकार हैं, तो भी नाम-चिन्तन रूप रस को ग्रहण करते हैं । जैसे आकाश में स्थित बादलों से जल पृथ्वी पर आता है, वैसे ही नाम-चिन्तन द्वारा आत्मा ब्रह्म स्वरूप-धाम में आता है ।

निकुल[1] निनामा[2] शून्य[3] में, आभा[4] रूपी नाम ।
जन रज्जब चित चातका, जल जीवन जिस ठाम ॥१४॥

जैसे आकाश में बादल[4] होते हैं, वैसे ही कुलरहित[1] और नाम-रहित निर्विकार[3] ब्रह्म में नाम है । जिस बादल में जीवन रूप जल होता है, उस बादल की ओर ही चातक पक्षी जाता है, वैसे ही जिस नाम में चित्त को रस आता है, उसी नाम रूप धाम की ओर चित्त जाता है ।

मही महादेव ते गये, नीर नाम आकाश ।
सो सहस गुण हो स्रवे,[1] समा[2] किया फिर तास ॥१५॥

पृथ्वी से जल आकाश को जाता है और वह हजार गुणा होकर वर्षता[1] है तथा वही पुनः सुकाल[2] कर देता है, वैसे ही महादेवजी आदि के द्वारा धरे हुये प्रभु के नाम ब्रह्म रूप आकाश में जाते हैं, अर्थात् उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं, फिर वे ही चिन्तन द्वारा हजार गुणा आनन्द देकर साधकों को आनन्दित करते हैं ।

जे कुछ उपज्या मांड में, नाम सभी के नांहि ।
रज्जब काढ़े ज्ञान सौं, जो लक्षण उन मांहि ॥१६॥

ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी उत्पन्न हुये हैं, उन सभी के पहले नाम न थे, फिर बुद्धिमानों ने अपने ज्ञान बल से जैसे लक्षण उनमें देखे, वैसे ही उनके नाम रख दिये. वैसे ही परमात्मा के रक्खे गये हैं ।

नाम निनामे पर धरचा, ता पर नर का नेह ।
या पर और न सूझ ही, रज्जब देखैं येह ॥१७॥

नामरहित परमात्मा का ज्ञानीजनों ने नाम रख दिया है, नाम के द्वारा ही मनुष्य का प्रेम प्रभु में होता है । प्रभु प्राप्ति का साधन इस नाम चिन्तन से श्रेष्ठ अन्य नहीं दीखता, हमतो इसे ही सर्वश्रेष्ठ रूप से देख रहे हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित नाम निरूप आदम अकलि का अंग २५ समाप्तः ॥सा० ८२७॥

अथ भजन प्रताप का अंग २६

स्वर्ग रसातल शेष लग, जहां तहां सब ठाम ।
जन रज्जब वन्द हि सबै, जा हिरदै हरि नाम ॥ १ ॥

स्वर्ग, मृत्यु, रसातल में शेष जी के स्थान तक जहां तहां सब स्थानों के निवासियों में जिसके हृदय में हरि नाम रहता है, उसे सभी प्रणाम करते हैं ।

जिहिं घट नौबत नाम की, सो प्रकटे संसार ।
जन रज्जब जगमग[1] रह्या, सेये सिरजन हार ॥ २ ॥

जिसके अन्तःकरण में नाम रूप नौबत बज रही है, अर्थात् निरन्तर नाम चिन्तन होता रहता है, वह संसार में सर्वत्र प्रकट हो जाता है । जिसने सृजनहार परमात्मा की भक्ति की है, वे जगत् में अपने सुयश प्रकाश से चमक[1] रहे हैं ।

रज्जब सुकृत नाम की, नित नौबत जहँ बाज।
सो सुनिये सब लोक में, ऊँची अगम अवाज ॥ ३ ॥

नाम चिन्तन रूप शुभ कर्म की नौबत जहां भी नित्य बजती है, उसकी आवाज इतनी ऊंची है कि—वह सभी लोकों में सुनती है तथा मन इन्द्रियों के अविषय परमात्मा तक पहुँचती है, अर्थात् हरि नाम का चिन्तन करने वाला छिप नहीं सकता।

डाके सुमिरन सुकृत के, दिल सु दमामा साज।
रज्जब छिप सु बजाइये, ह्वै सब लोक अवाज ॥ ४ ॥

स्मरण रूप शुभ कर्म का डाका डालने के लिये अन्तःकरण में सूक्ष्म उच्चारणस्वरूप नगाड़ा वाद्य छिपकर भी बजावे, तो भी उसकी आवाज सब लोकों में पहुँच जाती है, अर्थात् भक्त को सभी लोकवासी जान जाते हैं।

अति गति[१] सूधा[२] नाम था, सोइ लिया निज दास।
रज्जब छाना[३] क्यों रहे, वाणी सुयश सुवास ॥ ५ ॥

मोक्ष[१] का सरल[२] मार्ग नाम चिन्तन ही था, जो भी भगवान् का निजी भक्त हुआ है, उसने वही नाम चिन्तन रूप मार्ग अपनाया है, अतः वह छिपा[३] हुआ कैसे रह सकता है? उसकी वाणी रूप सुगन्ध उसके यश को सभी लोकों में फैला देती है।

तन मन तिली[१] समान है, नाम निरंजन फूल।
जन रज्जब सौंधा[२] भये, मिल[४] सौंधा के मूल[३] ॥ ६ ॥

तन मन तो तिलों[१] के समान हैं और निरंजन राम का नाम फूलों के समान है, जैसे फूलों के संग से तिलों का तेल सुगन्धित[२] होजाता है और सुगंध के मूल्य[३] में मिलता[४] है, वैसे ही निरंजन राम के नाम चिन्तन से प्राणी के तन मन भक्त हो जाते हैं और भक्त के समान सत्कार के पात्र होते हैं।

अठार भार विधि आदमी, चन्दन चिन्तन नाम।
रज्जब सकल सुगंध ह्वै, धन्य संतन विश्राम ॥ ७ ॥

मनुष्य तो अठारह भार वनस्पति के समान है और नाम का चिन्तन चन्दन के समान है, जैसे चन्दन के संग से सभी वनस्पति सुगंधयुक्त हो जाती है, वैसे ही नाम चिन्तन से मनुष्य भगवद् भक्ति से युक्त हो जाते हैं। संतों को विश्राम देने वाले राम नाम को धन्य है।

मन इन्द्रिय पति आतमा, तरुवर नींम्ब स्वरूप ।
हरि चितवन चन्दन परसि, रज्जब पलटि अनूप ॥ ८ ॥

मन इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा का स्वरूप नीम्ब वृक्ष के समान है, हरि चिन्तन चन्दन के समान है । जैसे चन्दन की सुगंध से नीम्ब बदल जाता है, वैसे ही नाम चिन्तन से जीवात्मा जीवत्व भाव से बदलकर उपमारहित ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है ।

तन मन आतम लोह को, मिल्या सु पारस नांउ ।
तिन तीन्यों कंचन किये, सत सुमिरन बलि जांउ ॥ ९ ॥

तन, मन और बुद्धि रूप लोह को नाम रूप पारस मिला है । पारस स्पर्श से जैसे लोहा सोना बन जाता है, वैसे ही नाम चिन्तन ने तन, मन और बुद्धि इन तीनों को शुद्ध बना दिया है, अतः सत्य स्वरूप परमात्मा के नाम स्मरण की मैं बलिहारी जाता हूं ।

नाम प्रताप पषान तिरे जल, तो प्राणि तिरे क्यों नाँहि ।
रज्जब रारचों[1] देखिये, फहम[2] करो मन माँहि ॥१०॥

नाम के प्रताप से सेतु बाँधते समय पत्थर तिरे हैं, तो फिर प्राणी क्यों न तिरेंगे ? अपने मन में ज्ञान[2] को धारण करके ज्ञान नेत्रों[1] से देखो तभी नाम का प्रताप भली प्रकार भासेगा ।

देवल[1] फेरचा चक्र ज्यों, प्रतिमा पींडा माँहि ।
भृत्य[2] भाव भंजन गढ्या[4], कुलाल[3] सु चिन्हे नाँहि ॥११॥

भजन के प्रताप से नामदेव के लिये मंदिर[1] को कुम्हार चक्र को फेरता है, वैसे ही फेर दिया था और चक्र फेरने से उस पर धरा मिट्टी का पींडा फिरता है, वैसे ही मूर्ति भी फिर गई थी । इस प्रकार भक्त[2]-भाव रूप बरतन बनाया[4] गया, अर्थात् भक्त की इच्छानुसार कार्य कर दिया गया, किन्तु मंदिर और मूर्ति ने तो फेरने वाले ईश्वर रूप कुम्हार[3] को नहीं जाना, जिसने भजन किया था उस नामदेव ने ही जाना । विशेष-नामदेव की जूतियाँ कीर्तन करते समय कमर से खुल कर सभा में गिर पड़ी थीं, तब सबने उसे बाहर निकाल दिया था, वह रुष्ट होकर मंदिर के पीछे जा बैठा था, तब भगवान् के द्वारा उक्त घटना घटित हुई थी ।

रज्जब मंदिर मूर्ति सुई सम, चुंबक चिन्तन नाम ।
अचल चले एके मिल्यूं, बधे कौन की माम[1] ॥१२॥

मंदिर और मूर्ति तो सुई के समान हैं, नाम चिन्तन चुंबक पत्थर के समान है, जैसे चुंबक से सुई हिलने लगती है, वैसे ही नामदेव के

नाम चिन्तन से मिलकर अचल मंदिर और मूर्ति चंचल होकर फिर गये थे। इस घटना में किसकी शक्ति[1] रूप महिमा अधिक मानी जायगी? नाम चिन्तन की ही मानी जायगी।

मंदिर सह मूरति फिरी, मुई जिलाई गाय।
नामदेव के भजन की, जन रज्जब बलि जाय ॥१३॥

मंदिर के सहित मूर्ति फिर गई तथा मरी हुई गाय को जीवित करदी, अतः नामदेव के भजन की मैं बलिहारी जाता हूँ। विशेष-ईर्ष्यालु व्यक्तियों ने गाय को मार के नामदेव के द्वार पर पटक दी थी और नामदेव ने गाय मार दी यह प्रचार किया था, फिर नामदेव ने संकीर्तन करते हुये गाय को जीवित कर दिया था।

नामदेव दिब साचे देखो, भरथरि शूली धना सुखेत।
चारयों चेतन पूजिये, रज्जब जड़ों न हेत ॥१४॥

नामदेव के लिए मंदिर फिरा तब मंदिर की महिमा न होकर रामदेव की ही हुई। सत्यासत्य का निर्णय करने पर लोह-गोला[1] की महिमा नहीं होती किन्तु सच्चे मनुष्य की ही होती है। भर्तृहरि को चोर मानकर शूली लगाई, तब शूली हरी होकर न लगने से शूली की महिमा नहीं हुई, भर्तृहरि की ही हुई। बिना बीज खेत उत्पन्न होने से खेत की महिमा नहीं हुई, धन्ना की ही हुई। परिवर्तन रूप चमत्कार उक्त मंदिरादि चार जड़ों में दिखाई देता है किन्तु पूजे जाते हैं नामदेवादि चेतन ही, उनकी पूजा में जड़ मंदिरादि हेतु नहीं हैं उनका भजन ही है।

दास भाव निज दास का, दीपक राग व्यवहार।
अश्मदेव तमहर जगे, धन्य जगावन हार ॥१५॥

भगवान् के निजी भक्त के दास भाव का व्यवहार दीपक राग के समान है, जैसे यथार्थ रूप में दीपक राग गाने से अंधकार को हटाने वाला दीपक जग-जाता है, वैसे ही भक्त के यथार्थ भाव से पत्थरमय परमात्मादेव की उपासना से भी अज्ञानांधकार को नष्ट करने वाला ज्ञान जग जाता है, इस पर पत्थरमय देव को धन्यवाद नहीं मिलता, किन्तु उसे जगाने वाले उपासक को ही दिया जाता है।

जे बिन बीजहिं खेती भई, तो खेतहिं क्या अधिकार।
जन रज्जब धनि धनि धना, कहै सकल संसार ॥१६॥

यदि बिना बीज बोये ही खेती उत्पन्न हो गई, तो खेत को उसके उत्पन्न होने के धन्यवाद का क्या अधिकार है? अर्थात् नहीं, सब संसार धना भक्त को ही धन्य धन्य कहता है, कारण, धना के भजन के प्रताप से ही खेत निपजा था।

सूखी शूली सौं हरी, भई भरथरी भाय ।
जन रज्जब ता जुगल में, पर हिं कौन के पाय ॥१७॥

भर्तृहरि के सच्चे भाव से शूली सूखी होने पर भी हरी होगई, यह देखकर शूली और भर्तृहरि इन दोनों में से लोग किस के चरणों में पड़ते हैं ? अर्थात् भर्तृहरि के भजन के प्रताप से हरी हुई थी, अत: भर्तृहरि के चरणों में प्रणाम किया जाता है ।

जल थल महियल[1] खंभ खँग[2], विष वह्नि[3] अहि[4] लाय ।
रज्जब इष्ट[5] न अष्ट में, बन्दहिं[6] वन्दें[8] भाय[7] ॥१८॥

प्रहलाद जल में नहीं डूबा, पर्वत से नीचे स्थल में डालने से नहीं मरा, पृथ्वी[1] में दबाने से, तलवार[2] से काटने से, विष देने से,अग्नि[3] में डालने से, सर्प[4] कटाने से भी नहीं मरा, खंभ से नृसिंह प्रकट हुए, इन उक्त अष्ट में किसी का भी पूज्य[5] भाव नहीं हुआ, सभी भक्त[8] के भजनयुक्त सुन्दर भाव[7] को ही प्रणाम[6] करते हैं, अर्थात् उक्त सभी कार्य भजन के प्रताप से ही सिद्ध हुये हैं ।

शिला तिराई समुद्र शिर, बंधी वरुण पर पाज ।
पै रज्जब वन्दन समय, रामचंद्र सौं काज ॥१९॥

नल नील ने समुद्र पर शिला तिराई, समुद्र पर सेतु बाँधा गया, किन्तु इसमें नल नील तथा समुद्र की विशेषता जानकर कोई नल नील वा समुद्र को प्रणाम नहीं करते ! इस कार्य के लिए प्रणाम करते समय रामचन्द्र जी को ही प्रणाम करते हैं । इसी प्रकार भक्त के जीवन में जो भी विशेष घटना घटित होती है, वह उसके भजन के प्रताप से होती है और उसके लिये धन्यवाद भक्त को ही दिया जाता है ।

लोह तेल दिब[1] ना दहै, सतवादी सु शरीर ।
तो रज्जब तिहुं तत्त्व[2] में, कौन वन्दिये वीर[3] ॥२०॥

प्राचीन काल में उष्ण लोह चिपकाने तथा गर्म तेल के कड़ाह में डालने का कठोर दंड दिया जाता था, तब निर्दोषी सत्यवादी के शरीर को वे नहीं जलाते थे और सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए पीपल का पत्ता हाथ पर रखके वा कच्चे धागे हाथ पर लपेट के उस पर अति गर्म लोह का गोला[1] रखते थे । वह निर्दोषी सत्यवादी के हाथ को नहीं जलाता था, तो हे भाई[3]! अब सोचिये उक्त उष्ण लोह, तेल और लोह का गोला इन तीनों वस्तुओं[2] में से किस को पूजा जाय ? अर्थात् पूज्य तो सत्यवादी ही है, उसके सत्य के कारण उक्त तीनों नहीं जलाते, असत्यवादी और दोषी को तो जलाते ही हैं । वैसे ही भक्त के जीवन की विशेषताओं में भक्त का भजन ही हेतु है, अतः वह भजन का ही प्रताप है ।

पंसेरी पिछले पले, अगले वित्त[1] व्यवहार।
फड़का[2] माँडहिं कौन दिशि, वेता[3] करो विचार ॥२१॥

तुला से वस्तु तोलते हैं तब पंसेरी तो पिछले पलड़े में रहती है और वस्तु अगले पलड़े में, धन[1] देने का व्यवहार अगले पलड़े की वस्तु लेने के लिए किया जाता है और वस्तु लेने वाला पल्ला[2] भी किस ओर बिछाता है ? अर्थात् वस्तु वाले पलड़े की ओर ही बिछाता है। हे ज्ञानी[3] ! इसका विचार करो, वस्तु तोलने में निमित्त होने पर भी पंसेरी का विशेष महत्त्व नहीं, वस्तु का ही है। वैसे ही मूर्ति आदि के निमित्त से भजन किया जाता है, तो भी मूर्ति आदि का विशेष महत्त्व नहीं, भजन का ही है। जैसे धन से वस्तु मिलती है, वैसे हो भजन से भगवान् के दर्शन मिलते हैं।

रज्जब अंडे भाव के, पंखी प्राण सु दीन।
सेवा के बल सुत भये, ठाहर कछू न कीन ॥२२॥

पक्षी जिस स्थान में अंडे देता है, उस स्थान का विशेष महत्त्व नहीं। कारण, स्थान तो कुछ नहीं करता, वे तो पक्षी की सेवा के बल से ही बच्चे बनते हैं। वैसे ही साधक प्राणी किसी तीर्थ स्थान में रहकर भगवान् में भाव करता है तब तीर्थ स्थान भाव का पोषण नहीं करता, वह तो साधक की भक्ति के बल से ही आगे भगवत् साक्षात्कार रूप अवस्था को प्राप्त होता है, वह भजन का ही प्रताप है, स्थान का नहीं।

तृण तरु बेली अग्नि बिन, वह्नि[3] ताखे[1] व्याल[2]।
पावक प्रकटे सकल मध्य, सो पन्नग[4] पर जाल ॥२३॥

घास, वृक्ष, लता और अग्नि के बिना ही तक्षक[1] सर्प[2] में विषाग्नि[3] उत्पन्न होता है और वह सर्प[4] उसी से अन्य को जलाता है, वैसे ही तीर्थ स्नान, माला, मूर्ति आदि बाह्य साधनों के बिना ही अन्तरंग साधन रूप भजन से सभी साधकों में ज्ञानाग्नि प्रकट होता है और वही स्वरूप से भिन्न अज्ञानादि को जला देता है, यह भजन का ही प्रताप है, अन्य का नहीं।

साधू सविता[2] की कला,[1] शब्द सदा परकाश।
वहि सुनतों वहि देखतों, उर आँख्यों तम नाश ॥२४॥

संत सूर्य[2] के तेज[1] के समान हैं, जैसे सूर्य का प्रकाश आंखों से देखने पर देखने वालों के अंधकार को सदा ही हर लेता है, वैसे ही संत का शब्द सुनने वालों के हृदय का अज्ञान सदा के लिये नष्ट कर देता है।

रज्जब अज्जब काम है, जे सुमिरे कोउ जंत[1]।
सकल लोक शिर कीजिये, उर सेवक भगवंत ॥२५॥

परमात्मा का स्मरण अद्भुत कार्य है, यदि कोई जीव[1] निरन्तर अपने हृदय में स्मरण करता है, तो उस भक्त को भगवान् संपूर्ण लोकों के शिरोमणि अपने स्वरूपमय ही कर लेते हैं।

सब विधि नर के काम को, नाम निरंजन सत्ति[1]।
जन रज्जब जो ज्यों भजे, ताकी मोटी मत्ति[2] ॥२६॥

मनुष्य की कार्य सिद्धि के लिये सब प्रकार निरंजन राम का नाम ही सच्चा[1] हेतु है, जो मनुष्य जैसे तैसे भी निरंजन का भजन करता है, तो उसकी बुद्धि[2] विशाल ही कही जाती है।

पति परमेश्वर वीरज नाम, अबला आतम रति[1] रुचि ठाम।
मेला या सम कोई नाँहीं, विगति बाल ब्रह्म उपजे माँही ॥२७॥

परमेश्वर पति है, नाम वीर्य है, आत्मा नारी है, आत्मा का परमात्मा में प्रेम ही काम-क्रीड़ा[1] के स्थानापन्न है, उक्त मिलन के समान संसार में कोई भी मिलन नहीं हो सकता, इस मिलन से ही हृदय में मुक्ति[2]प्रदाता ब्रह्म-ज्ञान रूप बालक उत्पन्न होता है।

नाम निधारे[1] धार बहु, काटे साँकल कोड़ि।
रज्जब हद हथियार यहु, हथियारहु की वोड़ि[2] ॥२८॥

निरन्जन नाम अज्ञानियों को धाररहित[1] भासता है, किन्तु उसके बहुत तीक्ष्ण धार है, तभी तो ज्ञान द्वारा कोटि कर्म रूप जंजीरों को काट डालता है, इस नाम रूप हथियार ने तो हद्द करदी है, यह हथियारों की सीमा[2] का हथियार है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हथियार है।

रज्जब एकहि जाप में, जल ज्वाला गुण दोय।
अठारह भार आतम[1] उदय, जम सु जवासा जोय ॥२९॥

जैसे जल में पोषक और शोषक दो गुण दिखाई देते हैं—जल अठारह भार वनस्पतियों को उत्पन्न करके उनका पोषण करता है किन्तु जवासे को जला डालता है, वैसे ही नाम भी शोषक और पोषक दो गुणों से युक्त है—नाम चिन्तन करने से, नाम अन्तःकरण[1] में दैवी गुणों को उत्पन्न करके उनका पोषण करता है और आसुर गुणों को नष्ट कर देता है।

रज्जब भागे भजन सुन, अघ इन्द्रिय गुण चोर।
ज्यों भुजंग चन्दन तजैं, तरु शिर बोले मोर ॥३०॥

चन्दन वृक्ष की डाली पर बैठकर मोर बोलता है तब चन्दन के लिपटे हुये सर्प चन्दन को छोड़कर दूर भाग जाते हैं, वैसे ही भजन की ध्वनि सुनकर पाप, इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति, ज्ञान-धन को चुराने वाले काम क्रोधादि गुण रूप चोर हृदय से भाग जाते हैं ।

जन रज्जब राम हि भजे, पाप रहे नहिं संग ।
ज्यों तुपक[1] की त्रास सुन, तरुवर तजे विहंग[2] ॥३१॥

जैसे बन्दूक[1] की आवाज सुनकर वृक्ष पर बैठे हुये पक्षी[2] वृक्ष को छोड़कर उड़ जाते हैं, वैसे ही राम के भजन करने से प्राणी के संग पाप नहीं रहते ।

पाले के पर्वत गलहिं, देख सूर की ताप ।
ऐसी विधि अघ ऊतरहिं, जन रज्जब हरि जाप ॥३२॥

सूर्य की ताप से बर्फ के पर्वत गल जाते हैं, उसी प्रकार हरि नाम के जप से हृदय के पाप उतर जाते हैं ।

गुण तारे माया तिमिर, शीत भरम मन चंद ।
रज्जब सुमिरन सूर सौं, सहज पड़े सब मंद ॥३३॥

जब निरंजन नाम-स्मरण रूप सूर्य उदय होता है तब उससे क्रोधादि गुण रूप तारे, माया रूप अँधेरा, भ्रम रूप शीत, ये सभी अनायास ही मंद पड़ जाते हैं ।

रज्जब भजन भानु उर उदित ही, अस्त होय गुण चारि ।
तम तारे शशि शीत गत, नर देखो सुनिहारि ॥३४॥

सूर्य उदय होते ही तम, तारे, चन्द्रमा और शीत ये चारों ही अस्त प्राय हो जाते हैं, वैसे ही भजन का प्रताप उदय होते ही काम क्रोधादि गुण, माया, भ्रम और मन की चपलता ये चारों गुण हृदय से चले जाते हैं । हे विचारशील नरो ! तुम विचार द्वारा देखो यह बात सत्य है ।

नाम निरंजन उर बसे, तो कोउ गुण व्यापे नाँहि ।
जन रज्जब ज्यों सर्प विष, गरुड़ द्वार मुख माँहि ॥३५॥

जैसे गरुड़द्वार (मोर की पंखों से निकाला हुआ ताँबा) मुख में होने से शरीर पर सर्प विष का प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही निरंजन राम का नाम हृदय में रहने पर कामादि कोई भी मायिक गुण हृदय में व्याप्त नहीं होता, अर्थात् हृदय को व्यथित नहीं करता ।

अहि इन्द्री आतम[1] डसी, विष नख शिख रह्यो छाय ।
रज्जब मंत्र सु राम रट, तब ही ऊतर जाय ॥३६॥

इन्द्रिय रूप सर्प ने अन्तःकरण[1] को काटा है, उसका विषय रूप विष नख से शिखा पर्य्यन्त व्याप्त हो गया है। जैसे सर्प विष मन्त्र से उतरता है, वैसे ही यह विष निरंतर निरंजन राम के नाम, राम मंत्र की रटन लगावे तब उतरता है।

दूजो दिल व्यापे[1] नहीं, जिहिँ हिरदय हरि आन[2]।
ज्यों रज्जब रजनी गई, देखो देखत भान[3] ॥३७॥

देखो, जैसे सूर्य[3] को देखते ही रात्रि चली जाती है, वैसे ही जिसके हृदय में भजन द्वारा हरि आजाते[2] हैं, उसके हृदय को हरि चिन्तन के बिना दूसरी बात प्रभावित[1] नहीं करती।

भाव भानु भासत समय, तम तारे गुण नाश।
जन रज्जब रजनी पड़चाँ, फेरि करे परकाश ॥३८॥

सूर्य के दीखते ही अँधेरा और तारे नहीं दिखाई देते किन्तु रात्रि पड़ते ही पुनः अँधेरा होता है और तारे प्रकाश करने लगते हैं, वैसे ही भाव द्वारा मन भगवान् में लय होने के समय तो भ्रम और दुर्गुण नहीं भासते किन्तु संसार की ओर मन जाते ही पुनः भ्रम और दुर्गुण हृदय में भासने लगते हैं।

रज्जब उर गिरि की गुफा, ज्ञान दीप तम दूरि।
चित चेतन सु चिराक बिन, तहाँ तिमिर भर पूरि ॥३९॥

जैसे पर्वत की गुफा में चिरकाल से अँधेरा भरा रहता है किन्तु दीपक जलाते ही दूर हो जाता है वैसे ही चिरकाल से हृदय में अज्ञान है, किन्तु ज्ञान के आते ही दूर हो जाता है। अतः जब तक भजनद्वारा चित्त में चेतन ब्रह्म का साक्षात्कार रूप चिराग नहीं आता तब तक भ्रम रूप अंधकार परिपूर्ण ही रहेगा।

पाप पुंज कुल[1] कालिबाँ,[2] सकल नाम सौं जाँहि।
ज्यों रज्जब मद[3] भाजना,[4] फूटा गंगा माँहि ॥४०॥

जैसे मदिरा[3] का बर्तन[4] गंगा में फूटता है तब मदिरा गंगा जल में मिलते ही शुद्ध हो जाती है, वैसे ही जब मन नाम-स्मरण में लगता है तब संपूर्ण[1] तन[2] शुद्ध हो जाता है, उसकी सभी पाप राशि चली जाती है।

जाति पांति कुल सब गये, राम नाम के रंग।
रज्जब लागे लोह ज्यों, पारस का परसंग ॥४१॥

लोह को पारस का स्पर्श प्राप्त होता है तब उसकी लोह रूप जाति, हिंसक शस्त्रों की पंक्ति और लोह वस्तुएँ बनने की कुल परंपरा ये सभी बातें चली जाती हैं और वह सुवर्ण होकर सर्वप्रिय भूषण बन जाता है, वैसे ही राम नाम के स्मरण का रंग लगने पर प्राणी का जाति दोष, पांति अर्थात् संग दोष और कुल परंपरा दोष सभी नष्ट हो जाते हैं, फिर वह संतत्त्व को प्राप्त होकर सर्वप्रिय ब्रह्म-रूप ही हो जाता है ।

ताँमे के पात्र सु घने, लोहे के हथियार ।

रज्जब पारस परसतें, कुल कंचन व्यवहार ।।४२।।

ताँबे के बहुत-से बर्तन हों तथा लोहे के बहुत-से हथियार हों, पारस के स्पर्श होते ही वे सब सुवर्ण हैं, ऐसा वचन व्यवहार होता है । वैसे ही पूर्व चाहे कोई भी जाति हो भगवद् भजन करने पर वे सभी भक्त कहे जाते हैं ।

संगति साधू सूर की, आतम अंभ[1] समान ।

कुल कालिबाँ[4] कुठौर कस,[2] सुमिरन शून्य[3] विलान ।।४३।।

संत संगति सूर्य-किरण के समान है आत्मा जल[1] के समान हैं । सूर्य-किरण के संग से जल खराब स्थान पर कैसे[2] रह सकता है ? वह तो आकाश[3] में चला जाता है, वैसे ही संत संगति से प्राणी कुल और शरीर[4] की आसक्ति में बँधा कैसे रह सकता है ? वह तो स्मरण द्वारा ब्रह्म[3] में विलीन हो जाता है, यही भजन का प्रताप है ।

रज्जब काग़ज टाट के, मसि माँहीं व्यवहार ।

वेद कुरान सु वन्दिये, जे बिच आया करतार ।।४४।।

काग़ज टाट के बनते हैं, उनमें स्याही के द्वारा वेद तथा कुरान लिखने का व्यवहार किया जाता है, तब सभी काग़ज और स्याही को प्रणाम करते हैं, फिर जिनके हृदय में सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का स्मरण सदा के लिये आगया है, उन्हें क्यों नहीं प्रणाम किया जायगा ? अर्थात् किया जाता है और बह भजन का ही प्रताप है ।

पहले चंम सु चूमिये, जे बाँध्या बीच मुसाफ[1] ।

तो जाति पाँति क्या पूछिये, सुहबत[2] देखो साफ ।।४५।।

यदि मित्र[1] अपने प्रेम में बँध गया है और पहले चमड़ा भी चूम लिया है, तो फिर जाति पाँति क्या पूछता है ? शुद्ध मित्रता[2] ही देखना चाहिये । भगवान् शुद्ध प्रेम को ही देखते हैं, जाति, पाँति, आकृति को नहीं देखते ।

ग्वाल भीलनी सौं मिल खेले, शंख बजाया कौनै काज ।

शाक अरोग्या कौनै के घर, नीच ऊंच की रही न लाज ।।४६।।

भगवान् राम ने भिलनी के बेर खाये, भगवान् कृष्ण ग्वाल बालों के साथ खेलते रहे, जिसके जिमाने पर पांडवों के यज्ञ में शंख बजाया था, वह वाल्मीक कौन था ? सरगरा था, जिनके घर जाकर शाक खाया था, वे विदुर कौन थे ? दासी पुत्र थे। अतः भगवान् को नीच वा ऊंच के घर जाने पर कभी भी लज्जा नहीं आती, वे तो शुद्ध भक्ति से ही प्रेम करते हैं। वह चाहे किसी में भी हो, उसी के यहां जा पहुँचते हैं।

नामहिं भजैं सु निर्मले, नीच ऊंच राव रंक।
जन रज्जब रस लीजिये, ईख बंक निष्कलंक ॥४७॥

ईख बाँका होने पर भी उसको दोष-रहित जानकर उसका रस ग्रहण करते हैं, वैसे ही जो नाम-स्मरण करते हैं, वे चाहे जाति से ऊंच हों वा नीच हों—राजा हों वा रंक हों, शरीर की आकृति भी कैसी ही हो वे निर्मल ही माने जाते हैं। उनसे भगवत् कथा श्रवण रूप रस लेना चाहिये।

साधू चन्दन चंद का, बंक वर्ण कोउ नाँहिं।
वह शीतल रु सुगंध वहै, वहिके गोविंद माँहिं ॥४८॥

संत, चन्दन और चन्द्रमा की आकृति का टेढापन और रंग को कोई नहीं देखता, किन्तु संत में गोविन्द की अनुभूति, चन्दन की सुगंध और चन्द्रमा की शीतलता को सभी देखते हैं। संत में गोविन्द की अनुभूति भजन का ही प्रताप है।

कड़वी मीठी तुम्बिका, आम नीम की नाव।
रज्जब तिरिये चहुं चढ़, तो कुल की और न आव[१] ॥४९॥

कड़वी तूम्बी हो वा मीठी, आम की लकड़ी से बनी नाव हो वा निम्ब की से चारों में किसी पर भी चढ़कर तिर सकते हैं, इसी प्रकार कुल ऊंच हो वा नीच भजनकर के सभी भव-सागर से तिर सकते हैं, तो फिर कुल की परमार्थ प्राप्ति में कोई शोभा[१] नहीं, भजन की ही है।

रज्जब नीच न नीच कुल, जे मन उत्तम भाव।
क्षार समुद्र सुधारस निकसे, तो कुल का कौन कहाव ॥५०॥

यदि मन का भजन द्वारा उत्तम भाव हो गया है, तो नीच कुल में जन्मा मनुष्य नीच नहीं होता। देखो, क्षार समुद्र से भी अमृत रस निकला है, तो फिर नीच-ऊंच में कुल का कहना ही क्या है ? भाव की ऊंच नीचता से ही प्राणी ऊंच नीच होता है।

जे मन उत्तम भाव है, तो कुल का क्या भेद।
जन रज्जब दृष्टांत को, यथा मंजारी मेद[१] ॥५१॥

जैसे बिलाव की गांठ[1] वा फोडा[1] के पीप में सुगंध होती है, इससे वह श्रेष्ठ ही माना जाता है, वैसे ही यदि मन में उत्तम भाव है, तो वह उत्तम ही है कुल का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। मेद का विशेष विवरण छप्पै ग्रंथ के भजन प्रताप अंग ६ के छप्पै ४ की टीका में देखें।

नीम धतूरे आक विष, मधु निकसे उन माँहि।
रज्जब विष अमृत भया, तो कुल कारण कोउ नाँहि ।।५२।।

निम्ब, धतूरा, आकड़ा, ये विष हैं, किन्तु इनके पुष्पों में भी शहद निकलता है। देखो, विष से अमृतमय शहद हो गया तब उत्तमता या हीनता में कुल कारण नहीं सिद्ध होता ऊंच-नीच भाव ही कारण हैं।

यथा पद्मनी नीच कुल, केशर विष्टा होय।
रज्जब भुगतै राजवी,[1] कुल कारण नहिं कोय ।।५३।।

पद्मनी जाति की नारी नीच कुल में उत्पन्न हो जाती है, केशर विष्टा के खाद से अच्छी होती है। उक्त दोनों को राज[1] पुरुष वा राजा महाराजा भी भोगते हैं। अतः उत्तमता में उत्तम कुल कारण नहीं है, वस्तु की उत्तमता ही कारण है।

कुल पर्वत नहिं पूजिये, सुत प्रतिमा की मानि[1]।
त्यों रज्जब रामहिं भजे, गई सकल कुल कानि ।।५४।।

पत्थर की मूर्ति का कुल पहाड़ है, उसकी पूजा तो कोई नहीं करता, उसके पुत्र पत्थर से बनी मूर्ति को पूज्य[1] समझकर पूजा करते हैं, वैसे ही राम का भजन करने से कुल की संपूर्ण लज्जा चली जाती है अर्थात् भक्त में कुलादि दोष न देखकर उसकी पूजा करते हैं।

दीरघ कुल सु अतेरु बूडे, लघु कुल तारक तारै।
सो रज्जब गुण कैसे मेटें, जा सौं जल निधि पारै ।।५५।।

बड़े कुल के हों और तैरना नहीं जानते हों, तो स्वयं भी डूबते हैं और ज्ञान नौका द्वारा तैरने वाले हों, तो वे तारने वाले होने से संसार-सागर से तारते हैं। जिस ज्ञान के द्वारा वे संसार-सिन्धु से पार करते हैं, वह उनका गुण कैसे मेटा जा सकता है?

प्रतिमा[1] नई पुराने पर्वत, प्रत्यक्ष देखो जोय।
रज्जब भरम दिनों का भागा, पूजा किस की होय ।।५६।।

मूर्ति[1] जिस पर्वत के पत्थर से बनी है, वह पर्वत पुराणा है और मूर्ति नई है, यह अपनी दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष देख सकते हो। देखने से प्रतिमा अधिक दिन की है वा पर्वत यह भ्रम तो दूर हो ही जाता है, फिर बड़ी

आयु वाला पूज्य हो, तो पर्वत की पूजा करनी चाहिये मूर्ति की नहीं। अतः पूजा में हेतु भजन का प्रताप ही है, आयु नहीं।

भजन जोर भगवन्त लग, जाति जोर लग देह।
जन रज्जब साधों कह्या, जाने सो कर लेह ॥५७॥

जाति की शक्ति तो शरीर तक ही काम देती है और भजन की शक्ति भगवान् से मिलाने तक का काम करती है। संतों ने यही कहा है, किन्तु जो भजन का प्रताप जानता है, वही भजन करके भगवान् को प्राप्त करता है।

प्रथमे[1] कड़वा बीज था, पुनि पाके सोइ होय।
मधि मीठा तन तोरई, रज्जब लीजे जोय ॥५८॥

पहले[1] तुरई बोते हैं तब बीज कड़वा होता है, फिर पक जाने पर कड़वा हो जाता है, किन्तु बीच में तुरई मीठी होती है तब उसे सभी शाक के काम में लेते हैं, वैसे ही कुल के आगे पीछे अच्छे न हों और बीच में भक्त होजाय तो वह पूज्य ही है।

रज्जब दादा दोजखी,[1] पोता पापी होय।
दोन्यों बिच साधू भया, नाहीं अचरज कोय ॥५९॥

विरोचन का दादा हिरण्यकशिपु तो नरकगामी[1] हुआ और उसका पोता विरोचन भी पापी हुआ, किन्तु दोनों के बीच में प्रहलाद संत हो गया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः उत्तमता में कुल कारण नहीं है, भजन ही है।

आगा क्षार समुद्र में, पीछे हिमालय मूल।
जन रज्जब बिच वंदिये, गंगा का अस्थूल ॥६०॥

गंगा की अगली धार क्षार समुद्र में है और पीछे हिमालय पर्वत उद्गम स्थान है, समुद्र और हिमालय के बीच में जो गंगा का स्थूल स्वरूप है उसी को प्रणाम करते हैं, वैसे ही आगे-पीछे कुल कैसा ही हो बीच में भक्त होगा, तो भजन के प्रताप से वही पूज्य होगा, कुल नहीं।

कुल साँकल काया कड़ी, लोहा में सु विशेष।
रज्जब प्रभु पारस परसि, कंचन होत सु देख ॥६१॥

जैसे लोहे की साँकल में लोहे की कड़ियाँ विशेष रूप से लगी रहती हैं, किन्तु देख, पारस का स्पर्श होते ही लोह सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही कुल में विशेष रूप से शरीर फँसा है, किन्तु भजन द्वारा प्रभु की प्राप्ति होते हो कुल और शरीर का अध्यास जाता रहता है।

राम नाम की गर्ज सुन, बधै वंश ज्यों भाव ।
रज्जब रीझ्या देखकर, अति आतुर गति चाव[1] ॥६२॥

जैसे बादल की गर्जना सुनकर बाँस बढ़ता है, वैसे ही राम-नाम की ध्वनि सुनकर भाव बढ़ता है, उत्साह[1] और आतुरतापूर्वक शीघ्र गति से जो भाव बढ़ता है उसे देखकर हम अति प्रसन्न हैं ।

आतम फल आतुर उदय, तथा आँवली राति ।
रज्जब अज्जब देखिये, इस अंकुर की जाति ॥६३॥

जैसे आमला के भादू के कृष्ण पक्ष की एक ही अंधेरी रात्रि में एक साथ ही सब फल आ जाता है, वैसे ही अन्तःकरण में भजन का फल शीघ्रता से एक साथ ही उदय हो जाता है, इस आमला और भजन रूप अंकुर की जाति ऐसी ही अद्भुत देखी जाती है ।

एक आदमी आँवलनि, फल पावे तत्काल ।
अन्य सु अठारह भार नर, सहज सु फल सुन साल[1] ॥६४॥

एक भजनानन्दी मनुष्य तो ऐसा होता है कि उसे आमलनि के समान तत्काल ही फल मिल जाता है और सुनो, अन्य मनुष्य अठारह भार वनस्पतियों के समान हैं, जैसे अन्य वनस्पतियों के वर्ष[1] भर में कोई के कब, कोई के कब शनैः २ फल लगता है, वैसे ही उन मनुष्यों को अपने कर्म का शनैः २ फल मिलता है ।

रज्जब हरि रिधि तिनहुं की, जो जप जीवित बाल ।
माल न मूओं को मिले, जे खाये कर्म काल ॥६५॥

पिता के मरने पर उसका बालक जीवित हो तो उसे उसका धन मिलता है, मरे हुये को तो नहीं मिलता, वैसे ही जीवत्व अहंकार मरने पर ब्रह्म चिन्तन रूप बाल जीवित रहता है तभी उसे ब्रह्म साक्षात्कार रूप ऋद्धि प्राप्त होती है, कर्म और काल के द्वारा खाये जाकर मरने वालों को ब्रह्म साक्षात्कार रूप माल नहीं मिलता ।

रज्जब भागी भूख, भजन करत भगवंत का ।
गये सु दारिद दूख, आपद फिर आवे नहीं ॥६६॥

भगवान् का भजन करने से भक्तों की सभी प्रकार की आशा तृष्णा रूप भूख भाग जाती है तथा दरिद्रता जन्य दुःख दूर हो जाते हैं, पुनः विपत्ति नहीं आती ।

माया छाया पांव तल, जब सांई सूरज शीश ।
रज्जब कही विचार कर, दीसै विश्वा बीस ॥६७॥

जब सूर्य शिर पर होते हैं तब छाया पैरों के पास आ जाती है, वैसे ही जब भजन द्वारा परमात्मा निरंतर हृदय में रहते हैं तब माया चरणों में आ गिरती है। यह हमने विचार करके ही कहा है और विचारशीलों को यह बात बीसों विश्वा यथार्थ ही दिखाई देती है।

रंकार अलिफ[1] भीतर लिखे, कागज कमल कलूब[2]।
अतुल तुला कैसे तुले, विच बैठा महबूब[3] ॥६८॥

किसी दानी सेठ के बहुत आग्रह करने पर कि कुछ तो ग्रहण करो, तब नामदेव ने तुलसी पत्र पर "राँ" लिखकर कहा—"इसकी बराबर तोल दो" सेठ ने तुला पर हीरादि रत्न, सुवर्णादि धातु, अन्न, यज्ञ, दानादि सभी चढ़ाये किन्तु "राँ" की बराबर नहीं हुआ। वैसे ही राम मंत्र का प्रथम[1] अक्षर "राँ" जिसके भीतर हृदय[2] कमल रूप कागज पर लिखा है अर्थात् उसका निरंतर चिन्तन होता है और प्रेम-पात्र[3] परमात्मा भीतर बैठा है, वह भक्त भजन के प्रताप से अतुल्य है, वह कैसे किसके बराबर हो सकता है?

नर नारायण नाम में, सुमिरन सम ये श्वास।
भूलें भूत[1] विभूति[2] में, रज्जब किया विमास[3] ॥६९॥

नर यदि अपने ये श्वास नाम स्मरण में लगाकर बराबर स्मरण करता रहे, तो नारायण हो जाय, किन्तु विचार[3] करने पर ज्ञात हुआ है कि प्राणी[1] माया[2] में लगकर परमात्मा के स्मरण को भूल जाते हैं।

तितो[2] बार[3] माया मुकत, नरहरि[1] नाम समाय।
रज्जब छूटे लय लक्ष्य, लच्छी[4] मय ह्वै जाय ॥७०॥

जितनी देर मन भगवान्[1] के नाम-स्मरण में रहता है, उतनी[2] देर[3] माया से मुक्त रहता है और जब मन को स्मरण द्वारा नाम में लय करने का लक्ष्य छुट जाता है तब मन माया[4]मय हो जाता है। अतः मन को स्मरण में ही रखना चाहिये।

रज्जब जाप जिकर[1] करे, तिती बार जीव जाग।
सुमिरन भूले श्वास जिहिं, तब सूता पल लाग ॥७१॥

जितनी देर जीव नाम का जप, तथा भगवद् सम्बन्धी चर्चा[1] करता है, उतनी देर ही जागता है और जिसके श्वास नाम स्मरण भूलने पर आते हैं तब समझो उसके नेत्रों की पलक लग गई और वह सूता है।

नाम विसारन नींद निज, जागणं जप जगदीश।
मन वच कर्म रज्जब कहै, खैंचत वेद हदीस ॥७२॥

जगदीश्वर के नाम को भूलना ही निद्रा है और जपना ही जागना है। यह मैं भी मन, वचन, कर्म से कहता हूं और वेद तथा हदीस (मुसल्मानों का स्मृति जैसा ग्रंथ, मुहम्मद साहिब के वचनों का संग्रह) भी रेखा खेंचकर कहते हैं, अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं।

निष्काम नाम ले नर नारायण, सुमिरत शक्ति[1] सकाम।
रज्जब रज[2] तज काढ तू, भजन भेद गति[4] प्राम[3] ॥७३॥

निष्काम भाव से नाम-स्मरण करने से नर नारायण को प्राप्त करता है और सकाम भाव से करने से माया[1] मिलती है। हे साधक ! तू रजोगुण[2] का त्याग करके मन को माया से निकाल, तभी तुझे भजन भेद की रीति[4] प्राप्त[3] होगी।

नाम विसारे नींद है, गृह वैराग्य सु हानि।
रज्जब रटे सु रैनि दिन, सोई जाग्या जानि ॥७४॥

राम नाम का भूलना ही निद्रा है, नाम को भूलने से गृहस्थ तथा विरक्त दोनों को ही हानि है। जो रात्रि-दिन नाम को रटता है, वही जगा हुआ है, ऐसा ही जानना चाहिये।

झूंठ साँच के संग सदा, ज्यों दीपक अँधियार।
रज्जब लोई लय बुझत, तिमिर न आवत बार ॥७५॥

जैसे दीपक के साथ अँधेरा रहता है, वैसे ही सत्य के साथ मिथ्या रहता है। दीपक की ज्योति बुझने पर अँधेरे को आते देर नहीं लगती, वैसे ही सत्य स्वरूप परमात्मा के नाम का स्मरण हटते ही हृदय में मिथ्या मायिक प्रपंच आते देर नहीं लगती।

रज्जब रीता राम बिन, भरचा भजे भगवान।
मनसा वाचा कर्मना, नीके किया निदान ॥७६॥

राम के भजन बिना प्राणी खाली है, जो भगवान् का भजन करता है वही भरा है। हमने मन, वचन, कर्म से खाली और भरे का यही मूल कारण निश्चय किया है।

माया काया मसि मिली, प्राण सु पाणी माँहि।
रज्जब सुमिरन सूर बिन, जीव जल निर्मल नाँहि ॥७७॥

जैसे शुद्ध जल में काला रंग मिल जाय, तो वह सूर्य की किरण द्वारा जल सूखे बिना नहीं निकलता, वैसे ही प्राणी में माया तथा काया की आसक्ति रूप मैल मिला है, नाम-स्मरण बिना जीव निर्मल नहीं हो सकता।

रज्जब स्याही सुकल[1] करि, सब अक्षर अरु स्थूल ।
नामहि निर्मल ठौर दोउ, बाकी मैले मूल ॥७८॥

स्याही से सब अक्षर बने हैं और वीर्य[1] से सब स्थूल शरीर बने हैं, जिन अक्षरों में भगवान् का नाम आ जाता है, वे अक्षर तथा जिन शरीरों के हृदय में नाम चिन्तन होता है वे शरीर तो निर्मल हैं, बाकी के सभी मैले हैं । अतः दोनों स्थानों में निर्मलता का हेतु नाम ही है ।

कुलक्षण क्वैलों[1] भरी, काया रीठ[2] समान ।
नाम अग्नि उज्वल उभय, और उपाय न आन ॥७९॥

कोयलों[1] से भरी कोटड़ी अति काली होती है उसी के समान कुलक्षणों से भरी काया अतिकाली[2] है, कोयलों की कोटड़ी में अग्नि लगादी जाय और काया के हृदयदेश में नाम चिन्तन आरम्भ कर दिया जाय, तो दोनों उज्वल हो जायँगी, इनको उज्वल करने का अन्य कोइ उपाय नहीं है ।

अंभ[1] आतमा घटा घटि[2] तबै बीज[3] बल[4] संग ।
भानु भजन मिलतों रजब, उभय अनूपम अंग[5] ॥८०॥

बादलों की घटा में जल[1] होता है तब उसमें बिजली[3] का संयोग भासता है और सूर्य का प्रकाश मिलने से उस घटा का स्वरूप[5] अनुपम भासने लगता है वैसे ही शरीर में[2] आत्मा होता है तब उसमें माया की शक्ति[4] भासने लगती है, फिर भगवद्-भजन होने लगता है तब तो उसके भी दैवी गुण रूप लक्षण[5] अति उत्तम भासने लगते हैं ।

वपु[1] वसुधा[2] जीव जल पड़े, पंच स्वाद कर्म कीच ।
रज्जब नाम निहंग[3] चढि, तब सु तें[4] न तिन[5] बीच ॥८१॥

पृथ्वी[2] पर जल पड़ने से कीचड़ हो जाता है, फिर सूर्य की किरण से जल अकाश[3] में चढ़ जाता है तब उन[5] जल कणों में वे[4] रज कण नहीं रहते, वैसे ही जीव शरीर[1] को धारण करता है तब पंच ज्ञानेन्द्रियों के पंच विषयों के स्वाद रूप रेता मिलने से कर्म रूप कीचड़ हो जाता है और जीव उसमें फँस जाता है, फिर नाम चिन्तन द्वारा ब्रह्म[3] की प्राप्ति होने पर जीवों[5] में वे[4] विषय के राग नहीं रहते ।

काया कुंभनि[1] पैठ तों, जीव जल स्वाद अनेक ।
रज्जब भगवँत भानु मिल, उभय रूप रस एक ॥८२॥

पृथ्वी[1] में जल प्रवेश करता है तब उसके अनेक स्वाद हो जाते हैं, वैसे ही शरीर में जीव प्रवेश करता है तब उसमें भी अनेक विषयों की आशा प्रकट होती है, किन्तु सूर्य की किरण द्वारा जल आकाश में जाता है और जीव को भजन द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है तब दोनों के

स्वरूप में एक ही रस रहता है, जल में केवल जल का रस और जीव में आत्म स्थिति रूप रस रहता है।

शूद्र वैश्य क्षत्रिय ब्रह्म, चतुर वर्ण बे काम।
जन रज्जब मध्यम सभी, जो सुमिरैं नहिं राम ॥८३॥

शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण चारों वर्णों में जो राम का स्मरण नहीं करते वे सभी बेकार हैं तथा उत्ताम नहीं कहे जाते।

मुख भुज उपजै पेट पग, पड़ धरती धर[1] होय।
दंत केश विष्टा रु नख, रज्जब बिछुड़े जोय[2] ॥८४॥

जैसे शरीर के मुख के दाँत, भुजा के केश, पेट का मल और पैर के नख, जब तक शरीर के लगे हैं तब तक तो उत्तम हैं, किन्तु देखो[2], शरीर से अलग होकर पृथ्वी पर पड़ने पर अछूत हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, पेट से वैश्य, पैर से शूद्र उत्पन्न होते हैं, किन्तु ईश्वर के भजन को त्यागकर माया[1] के उपासक हो जाते हैं, तब उत्तम नहीं रहते।

पारस मय मूरति प्रभू, चतुर वर्ण लोह भाय।
रज्जब कंचन होत है, ठाहर कहीं लगाय ॥८५॥

पारस की मूर्ति के मुख, भुजा, पेट, पैरों में से चाहे किसी भी स्थान पर लोह को लगा दो, वह तो सुवर्ण हो ही जायगा, वैसे ही चारों वर्ण भगवान् के स्वरूप में लगने से तो उत्तम हो ही जाँयगे, नहीं लगे तो अधम ही हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भजन प्रताप का अंग २६ समाप्तः
॥सा० ६१२॥

अथ साधु परीक्षा का अङ्ग २७

इस अंग में साधु की परीक्षा संबन्धी विचार कहैंगे—

रज्जब नर नग सो सही, तम त्रासन रु उजास।
जग जल में बूडे[1] नहीं, सोहीरा हरिदास[2] ॥ १ ॥

नग वही है जो अंधेरे को नष्ट करके प्रकाश करे, नर वही है जो अज्ञान को दूर करके ज्ञान प्रकट करे, हीरा वही है जो जल में नहीं डूबे[1], संत[2] वही है जो जगत् में न डूबे अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाय।

महा पुरुष पारस परखि, निश्चय रूप न रंग।
प्राण पषाण सु मानिये, रज्जब पलटे अंग ॥ २ ॥

पारस तथा संत की परीक्षा, रूप वा रंग से नहीं होती, लोहे को सुवर्ण और जीव को ब्रह्म बना देने से ही होती है। जो प्राणी केवल भेषादि द्वारा रूप-रंग बदलते हैं, वे तो साधारण पत्थर के समान हैं और जो साधन द्वारा संत बनते हैं, वे पारस के समान हैं।

तन मन तेल कड़ाह विधि, तपता शीतल होय।
सो साधू स्रक[1] बावना,[2] रज्जब लीजे जोय ॥ ३ ॥

कड़ाह के तपे हुये तेल में फूल माला[1] डालने पर तेल शीतल हो जाय, तो समझना चाहिये यह माला बावने चन्दन[2] के फूलों की है, वैसे ही दुखों से संतप्त तन मन को अपने उपदेश से शीतल करदे वही संत है, यही संत और बावने चन्दन की परीक्षा है।

रज्जब रचना रहित की, दर्श परस दर्शन्त।
वपु संयम वाणी विमल, वदन[3] ज्योति[1] झलकन्त[2] ॥ ४ ॥

अज्ञानादि विकार रहित संत की चेष्टादि रचनायें, दर्शन तथा मिलन से आप ही ज्ञात हो जाती हैं, उनके शरीर में पूर्ण संयम, वाणी में पवित्रता और मुख[3]मंडल पर ब्रह्म तेज[1] चमकता[2] रहता है।

नर नक्षत्र[1] दोऊ दिपहिं,[3] नाम ध्वजा[2] जिन शीश।
सो रज्जब कैसे छिपहिं, प्रकट किये जगदीश ॥ ५ ॥

जिस तारे[1] के शिर पर चोटी[2] होती है और जिस नर के हृदय में भगवान् का नाम-स्मरण होता है, वे दोनों ही प्रकाश तथा यश से प्रदीप्त[3] होते हैं, जिनको जगदीश्वर ने ही प्रकट किया है, वे कैसे छिप सकते हैं ?

हरि हीरा हृदय रहे, सो घट छाना नाँहि।
रज्जब दीसे दूर सों, ज्यों दीपक भोडल माँहि ॥ ६ ॥

जिसके हृदय में हरि रूप हीरा रहता है, अर्थात् निरंतर हरि का ध्यान रहता है, वह शरीर छिपा कैसे रह सकता है ? वह तो जैसे भोडल में जलने वाला दीपक दूर से ही दीखता है, वैसे ही दूर देश से भी यश रूप प्रकाश द्वारा दीख जाता है।

दुर्बल देही दीन मत[1], रहे राम के संग।
जन रज्जब जग सौं जुदे, ये सन्तन के अंग ॥ ७ ॥

शरीर दुर्बल होना, विचार[1] में दीनता होना, सांसारिक भावनाओं से अलग रहते हुये निरंतर नाम-स्मरण द्वारा राम के संग रहना ये ही संतों के लक्षण हैं।

सकल धरे[1] सौं धूत[2] गति, कहीं न बाँधे मन्न ।
जन रज्जब जग सौं जुदे, सोई साधू जन्न ॥ ८ ॥

संपूर्ण मायिक[1] प्रपंच से कांपते[2] रहते हैं, अर्थात् डरते रहते हैं । किसी भी वस्तु वा व्यक्ति में आसक्ति रज्जु द्वारा मन को नहीं बाँधते, इस प्रकार सांसारिक भावनाओं से अलग रहते हैं, वे ही जन संत हैं ।

आतम[1] कहीं न बंधही, बिन सांई अरु साध ।
जन रज्जब ता संत की, पूरण बुद्धि अगाध ॥ ९ ॥

जिस का मन[1] परमात्मा और सिद्ध संतों के बिना अन्य किसी में भी नहीं बँधता, उस साधक संत की बुद्धि पूर्ण रूप से अगाध है ।

ज्यों मुख दोष लहै दर्पण में, फूटा मोती मोती माँहि ।
त्यों रज्जब साधु सौं साधु, मनसा वाचा छाना नाँहि ॥१०॥

जैसे मुख का दोष दर्पण में और फूटा मोती मोतियों में दीख जाता है छिपता नहीं, वैसे ही मन तथा वचन से साधु से साधु छिप नहीं सकता ।

सब घट में सांई दरसै, बोले भया विनाण[1] ।
रज्जब साधू परखिये, कहि गुण कहा बँधाण ॥११॥

आत्म रूप से परमात्मा सभी शरीरों में दिखाई देते हैं, किन्तु बोलने से उसके विज्ञान[1] वा अज्ञान[1] का पता चलता है । अतः साधु की परीक्षा जो उसके लक्षण रूप गुण शास्त्र संतों ने कहे हैं तथा जो उसके शरीर की दिनचर्या का बंधान कहा है, उस की तुलना करके करना चाहिये ।

ढोल दमामा[1] थाल शिर, डंका एकहि होय ।
त्यों वायक बहुगुण भरया, बूझे विरला कोय ॥१२॥

ढोल, नगाड़ा[1] थाल इन पर एक ही डंका पड़ता है, किन्तु ध्वनि भिन्न २ निकलती है, उस ध्वनि से ही पहचान होती है कि यह उसकी आवाज है, वैसे ही एक प्रश्न से ही प्राणियों के मुख से अनेक वचन निकलते हैं और वे बहुत गुणों से भरे रहते हैं, उनको कोई विरला विचार शील मनुष्य ही समझ पाता है और वही साधु की परीक्षा कर सकता है ।

रज्जब परखे प्राणि को, दिल में देखे जोय ।
जैसी ह्वै तैसी कहै, पूरा पारिख सोय ॥१३॥

जो प्राणी के मन में स्थित दोष-गुणों को देखता है, वही उसकी परीक्षा कर सकता है, फिर जैसी मन की स्थिति हो वैसा ही कथन करे, वही पूरा परीक्षक है ।

नख शिख काढे नजर में, मन मत[1] ले निरताय[2]
जन रज्जब दे हाथ में, खोटी खरी बताय ॥१४॥

नख से शिखा पर्य्यन्त दृष्टि से देखे और मन के भाव[1] को विचार[2] करके देखे, फिर जैसे कोई वस्तु को हाथ में देकर बताते हैं, वैसे ही उसकी बुराई और सच्चाई को बता दे वही साधु की परीक्षा कर सकता है ।

जीव की जाणे जौहरी, परखे सौंज[1] सराफ ।
जन रज्जब जान रु कहै, सो कहना सब माफ ॥१५॥

जैसे रत्नों की परीक्षा जौहरी जानता है और सुवर्ण की बनी भूषणरूप सामग्री[1] की परीक्षा सराफ जानता है, वैसे ही जीव के हृदय की बात को साधु की परीक्षा करने वाला जानता है । वस्तु को जानकर उसका दोष कहा जाता है तब उस परीक्षक का कहना सभी माफ होता है, अर्थात् दोष बताने पर भी परीक्षक को दोषी नहीं कहा जाता ।

रज्जब मन मंडाण[1] को, विरला परखणहार ।
नग नाणे[3] अंग[4] अंग[2] अनन्त, बहु विधि वित विस्तार ॥१६॥

मन की सजावट[1] की परीक्षा कोई विरला ही कर सकता है । अनन्त शरीरों[2] के मनों में सात्त्विक गुणरूप नग, राजसगुण रूप सिक्के[3], तामसगुण रूप हीन लक्षण[4] अतन्त रहते हैं; इस प्रकार बहुत प्रकार का गुण रूप धन का विस्तार मन में रहता है । अतः उसकी परीक्षा साधारण मानव नहीं कर पाता । मनकी परीक्षा ही साधु परीक्षा है ।

अचेत अवस्था नींद नर, यहु चूकण की ठौर ।
पै सूतों[2] स्यावत[3] रहै, सो रज्जब शिर मौर ॥१७॥

मनुष्य की अज्ञान[1] अवस्था ही निद्रा है और यही लक्ष्य से भ्रष्ट होने का स्थान है, किन्तु जो सुप्तावस्था[2] में भी ब्रह्म रूप लक्ष्य प्राप्तिके लिये सावधान[3] है, वही हमारा शिरोमणि संत है ।

ज्यों जागत त्यों सोवतें, स्वप्ने माँहि सु होय ।
रज्जब पारिख[1] प्रीति की, लग्न कहावे सोय ॥१८॥

जैसे जाग्रतावस्था में लग्न हो, वैसे ही सोते समय स्वप्नावस्था में भी हो, वही प्रीति-परीक्षा[1] की लग्न कहलाती है, अर्थात् जागते तथा सोते जिसकी वृत्ति निरंतर ब्रह्म परायण रहती हो, वही संत है ।

तन त्यागी त्रिभुवन भरे, मन त्यागी कोउ एक ।
रज्जब रैनि स्वप्न में, लहिये विगति[1] विवेक ॥१६॥

तन से कामिनी का त्याग करने वाले त्यागी तो त्रिभुवन में बहुत भरे हैं, किन्तु मन से त्यागी कोई विरला ही मिलेगा । रात्रि के समय स्वप्न में विवेकपूर्वक देखने से अपनी विशेष दशा[1] का ज्ञान प्राप्त होगा कि मैं त्यागी हूं या रागी ।

तन योगी मन भोगिया, रहति[1] रुपइये खोट ।
स्वप्ने के सूलाक[2] में, उघड़ी पत्री ओट[3] ॥२०॥

तामे के रुपये के ऊपर चांदी की पत्री लगादे, तो उसमें छेद[2] करते ही पत्री की आड[3] हटजाती है और खोट सिद्ध होकर पोल खुल जाती है, वैसे ही तन से तो जो योगी बना है और मन से भोगी है, उसकी विरक्तता वा ब्रह्मचर्य[1] में दोष है और वह तन के योगीपने की आड[3] स्वप्न में हटकर उसकी पोल खुल जाती है ।

मन मुक्ता काचे बुरे, माँहि मनोरथ नीर ।
रज्जब राम जु जौहरी, पाड़ा[2] लागे वीर[1] ॥२१॥

जब तक मोती में जल रहता है तब तक वह कच्चा है, जौहरी के पास उसके मूल्य में बट्टा[2] लगता है, वैसे ही हे भाई[1] ! जब तक विषय-मनोरथ मन में हैं, तब तक रामजी के पास उसके संतपने में बट्टा[2] लगता है, अर्थात् उसे पूरा संत नहीं मानते ।

मन की मिटी न लालसा, तन करि परसे नाँहि ।
रहति[1] रुपये खोट है, तुछ मति तामा माँहि ॥२२॥

मन की विषयाशा तो नष्ट हुई नहीं, किन्तु शरीर से कामिनी को नहीं छूना, तो उसकी विरक्तता[1] वा ब्रह्मचर्य रूप रुपये में तुच्छ बुद्धि रूप ताँबा का खोट है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साधु परीक्षा का अंग २७
समाप्तः ॥सा० ६३४॥

अथ साधु असाधु परीक्षा का अंग २८

सब गुण सधहि तु[1] साध है, अन साधे सु असाध ।
रज्जब पाई प्राण ने, पूरी पारिख[2] लाध[3] ॥ १ ॥

सभी दैवी गुण रूप साधना सिद्ध कर लेता है, तो[1] वही साधु कहलाता है और नहीं सिद्ध कर पाता है तब तक असाधु है। बुद्धिमान प्राणियों ने साधु असाधु की यही पूरी परीक्षा[2] उपलब्ध[3] की है।

भगवंत न भूले सो भला, बुरा विसारे सोय।
रज्जब काढे मांड में, भले बुरे चुन दोय॥ २॥

जो भगवान् को नहीं भूले वही साधु है और भूलता है वही असाधु है, सभी ब्रह्माण्ड में खोज करने पर ये दो ही चुनकर साधु-असाधु निकाले गये हैं।

त्रिगुण तुला ऊपर तुले, कंकर पुनः कपूर।
एक समाने शून्य में, एक धरा मधि धूर॥ ३॥

तुला पर तोलने से कंकर और कपूर बराबर उतर जाते हैं, किन्तु कंकर तो धरा की धूलि में मिलता है और कपूर आकाश में मिलता है, वैसे ही त्रिगुणात्मक संसार में चाहे साधु-असाधु का शरीर बराबर मान लिया जाय किन्तु, साधु तो ब्रह्म को प्राप्त करता है और असाधु मायिक संसार में मिलता है।

धरे माँहि सौं धरचा ऊपजे, सो धरती ह्वै जाय।
रज्जब साधु कपूर शून्य सुत, शून्यहिं माँहि समाय॥ ४॥

धरती पर धरे हुये पर्वत का कंकर धरती ही बन जाता है और आकाश की स्वाति बिन्दु से बना कपूर आकाश में ही समाता है, वैसे ही मायिक प्रपंच में फँसा हुआ असाधु संसार में ही रहता है और साधु ब्रह्म में समा जाता है, यही साधु असाधु की परीक्षा है।

आकार भार दोन्यों द्रसहिं, कंकर पुनः कपूर।
उभय चढे आकाश दिशि, उभय अवनि मधि धूर॥ ५॥

कंकर तथा कपूर में आकार और भार दोनों ही दिखाई देते हैं, किन्तु कपूर का तो आकार-भार आकाश में चढ़ता है और कंकर का पृथ्वी में मिलकर धूलि हो जाता है, वैसे ही साधु का आकार-भार संसार में नहीं रहता-कारण साधु का आत्मा ब्रह्म में लय हो जाता है, असाधु का आकार-भार संसार में रहता है।

आभे[1] अवनि[2] सु देखिये, त्यों साधू संसार।
एक समाये शून्य में, एक रहै आकार॥ ६॥

जैसे बादल[1] और पृथ्वी[2] का आकार दिखाई देता है, वैसे ही साधु और सांसारिक असाधु प्राणी का आकार दिखाई देता है, किन्तु जैसे

बादल का आकार आकाश में मिल जाता है, वैसे ही साधु ब्रह्म में मिल जाता है और जैसे पृथ्वी का आकार बना रहता है, वैसे ही असाधु का संसार में बना रहता है।

पाणी अरु पाषाण के, पर्वत पृथ्वी माँहि।
एक समाये सूर में, इक अवनि सु छाडे नाँहि ॥ ७ ॥

पृथ्वी में बर्फ और पत्थर दोनों ही प्रकार के पर्वत हैं, किन्तु बर्फ के पर्वत तो सूर्य में समा जाते हैं, अर्थात् गलकर किरणों द्वारा ऊँचे चढ जाते हैं, किन्तु पत्थर के पृथ्वी को नहीं छोड़ते, वैसे ही संत तो ब्रह्म में मिल जाते हैं किन्तु असंत संसार को नहीं छोड़ते।

रज्जब पानी पृथ्वी पर पड़या, पृथ्वी पानी माँहि।
ज्यों सलिल समाना शून्य में, त्यों अवनि आकाश न जाँहि ॥ ८ ॥

जल पृथ्वी पर पड़ा है और पृथ्वी जल में है, किन्तु जैसे जल आकाश में चला जाता है, वैसे पृथ्वी आकाश में नहीं जाती, वैसे ही संत-असंतों के शरीर भी परस्पर मिले रहते हैं, किन्तु संत तो ब्रह्म में लय हो जाते हैं, असंत नहीं होते।

रज्जब सोना शैल[1] सुत, तुले बराबर तोल।
तो कुछ आघन एक ह्वै, लहै न समसरि मोल ॥ ९ ॥

सोना और पर्वत[1] का पुत्र पत्थर तुला में तोल में बराबर तुलने पर भी पत्थर का आदर सोने के समान नहीं होता और न सोने के समान पत्थर का मूल्य मिलता, वैसे ही साधु-असाधु के शरीर भेष के द्वारा समान दीखने पर भी असाधु साधु के समान नहीं हो सकता।

दोय भाव के दो पले, तुला हाथ हरि माँहि।
जड़ चेतन सुत तहँ चढ़े, मोल एक सो नाँहि ॥१०॥

दो प्रकार की भावना वाले दो पलड़ों वाला तुला हरि के हाथ में है, असाधु भावना वाले पलड़े पर जड़ बाट के समान असाधु-पुत्र चढ़ता है, और साधु भावना वाले पलड़े पर चेतन पदार्थ अर्थात् ज्ञानी साधु-पुत्र चढ़ता है, उन दोनों का मूल्य एक नहीं हो सकता, अर्थात् हरि के पास साधु की समता असाधु नहीं कर सकता।

वस्तु बाट दोऊ तुलहिं, लिपैं छिपैं सो नाँहि।
रज्जब कही विचार कर, ताको[1] तुला सु माँहि ॥११॥

तुला में देखो[1], वस्तु और बाट दोनों तुल रहे हैं, वे किसी प्रकार छिपते नहीं, कारण वस्तु गुण युक्त है और बाट गुण हीन है, वैसे ही हमने भी विचार करके ही कहा कि साधु दैवी गुण युक्त है, असाधु शुभ

गुणहीन है, अतः साधु अपने गुणों के कारण न तो किसी में लिपायमान होता और न असाधुओं से छिपता ।

प्राण पले[1] है प्राण-पति, पिंड पले सु पषान[2] ।
भाव भार भेला[3] तुला, विगता[4] वस्तु बखान[5] ॥१२॥

विवेक रूप तुला का एक पलड़ा तो प्राणी रूप है और दूसरा शरीर रूप है, प्राणी रूप पलड़े[1] में प्राणपति-परमात्मा रूप वस्तु है और शरीर रूप पलड़े में बाट का पत्थर[2] है, प्राणी का परमात्मा में जो भाव और बाट का भार साथ[3] तुल रहे हैं, अर्थात् दोनों पलड़े बराबर हैं, किन्तु जिस मनुष्य को परमात्मा-रूप वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो गया है वह परमात्मरूप वस्तु को बाट से अधिक समझता है और ज्ञानी[4] संत कहा[5] जाता है, बराबर समझता है वही अज्ञानी और असंत कहा जाता है ।

साधू सोने में जड़्या, खोटा पीतल प्राण ।
जन रज्जब भोले[1] बिके, परख्यूं भिन्न विनाण[2] ॥१३॥

सोने में पीतल मिल जाता है तब भूल[1] से तो वह सोने के भाव बिक सकता है, किन्तु परीक्षा करने पर वह भूल रूप अज्ञान[2] मिटते ही पीतल सोने के भाव नहीं बिक सकता भिन्न भाव से बिकेगा, वैसे ही असाधु साधु का भेष बनाकर साधुओं में मिल जाता है और जब तक परीक्षक न मिले तब तक साधु हो माना जाता है, परीक्षा होने पर नहीं ।

रज्जब रत्नों में फटक[1], रूप रंग मिल जाय ।
आगे आघ[2] न एक ह्वै, बिके न सो सम भाय[3] ॥१४॥

स्फटिक[1] (काच जैसा पत्थर) रूप-रंग से रत्नों में मिल जाता है, किन्तु आगे जौहरी के पास उसका आदर[2] रत्नों के समान नहीं होता और न रत्नों के भाव[3] सम बिकता, वैसे ही असंत भेषादि द्वारा संतों में मिल जाता है, किन्तु परीक्षा होने पर वह संत के समान नहीं सिद्ध होता ।

खेचर पैठे बंस ह्वै, साधू मिश्री माँहि ।
जन रज्जब जल मिल जुदे, भिन्न भिन्न ह्वै जाँहि ॥१५॥

मिश्री में बाँस की सींक मिली रहती है, किन्तु जल में मिलने पर दोनों अलग २ होते हैं, वैसे ही असाधु साधुओं में मिल जाता है किन्तु परीक्षा करने पर वह साधु सिद्ध नहीं होता । जैसे अब धागों पर जमाते हैं, वैसे ही रज्जब जी के समय में मिश्री बाँस की सींकों पर जमाई जाती थी ।

अरिल--संतों माँहि असंत न भूल समाव ही।
कपटी दीजे काढ़ि कपट नहिं भाव ही॥
ज्यों पानों में पान चुनौती[1] आँनरे।
परि हाँ रज्जब दीजे डार लगे जब खान रे॥१६॥

जैसे पानों में लगी हुई सींक[1] को पान खाते समय निकाल कर पृथ्वी पर डाल देते हैं, वैसे ही संतों में असंत भूल से भी नहीं समाता, सच्चे सत्संगियों को कपट अच्छा नहीं लगता, वे कपटी असंत का संतपना अपने हृदय से निकाल देते हैं, अर्थात् उसे संत नहीं मानते।

ऊपर संत असंत सम, अंतरि अंतर होय।
रज्जब पाणी ईख का, रूप एक रस दोय॥१७॥

जैसे जल और ईख के रस का रूप समान-सा दिखाई देता है, किन्तु पान करने पर दोनों के दो रस ज्ञात होंगे, वैसे ही ऊपर के भेषादि से तो संत और असंत समान ही दिखाई देते हैं, किन्तु भीतर अन्तःकरण के भावों को देखने पर बहुत भेद ज्ञात होगा।

साधू मिश्री मधुर मत, फोकट[1] फटक[2] पषान।
जन रज्जब रंग एक-से, चाख्यों भिन्न विनान[3]॥१८॥

मिश्री और स्फटिक[2] पत्थर का रंग एक-सा दिखाई देता है, किन्तु चाखने से उनके भिन्नत्व का ज्ञान[3] होगा, अर्थात् मिश्री मधुर और स्फटिक निरस[1] ज्ञात होगा, वैसे ही साधु और असाधु भेषादि से एक-से दिखाई देते हैं किन्तु प्रसंग पड़ने पर उनके भिन्न मत दिखाई देंगे, उनमें साधु का सर्वप्रिय और असाधु का विक्षेप-प्रद सिद्ध होगा।

साधू पारस परम निधि, और शिला संसार[1]।
जन रज्जब वपु एक-से, गुण गति[2] भिन्न विचार॥१९॥

साधु तो परम धन पारस के समान है और असाधु[1] साधारण शिला के समान है, पारस और शिला दोनों पत्थर होने से आकार में समान हैं, वैसे ही साधु और असाधु के शरीर समान हैं, किन्तु उनके गुणों का स्वरूप[2] विचारा जाय, तो पारस-शिला और साधु-असाधु भिन्न भिन्न ही सिद्ध होते हैं।

साधू कोयल काग जग, दर्श एक उनमान।
जन रज्जब बोलै विगति[1], अरु खान पान पहचान॥२०॥

कोयल और काक दोनों के रंग देखने से तो अनुमान होता है कि दोनों एक जाति के पक्षी होंगे, किन्तु उनकी आवाज, विशेष प्रकार की

गति[1], खान पानादि से ही उनकी पहचान होती है, वैसे ही संत असंत भी समान ही दीखते हैं, किन्तु उनके वचन, विशेष भाव[1]-विचार और खान-पानादि व्यवहार से ही उनकी पहचान होती है।

निर्मोल नगन में ताग ज्यों, ईख चढे विष वेल।
रज्जब अहि चन्दन मिले, गुण गति[1] औरै खेल ॥२१॥

जैसे बहुमूल्य नगों में धागा, ईख-वृक्ष पर विष-वेलि और चन्दन पर सर्प लिपटने पर भी उनके गुणों के स्वरूप[1] रूप खेल भिन्न २ ही रहते हैं, अर्थात् धागा नग के गुण नहीं लेता, विष वेलि ईख के गुण नहीं लेती, सर्प चन्दन के गुण नहीं लेता, वैसे ही असाधु साधुओं में रहने पर भी उनके गुण ग्रहण नहीं करता।

उलटा चले सु औलिया[1], सूधी गति संसार।
जन रज्जब यूं जान ले, इनका यही विचार ॥२२॥

संसार से विपरीत परमात्मा की ओर ध्यानादि द्वारा गमन करते हैं, वे ही संत हैं और संसार प्रवाह के साथ सीधे चलते हैं, अर्थात् विषयों के लिये ही प्रयत्नशील हैं, वे ही असंत हैं। इनके पहचानने का यही उपाय है कि उक्त कही हुई गतियों को विचार द्वारा देखकर इन्हें जानें।

विषय वायु वश ह्वै बहैं, वपु बादल वित[1] नाश।
जन रज्जब उलटे बहैं, तिनकी उर धर आश ॥२३॥

जो बादल वायु के वश होकर चलते हैं, तो समझो उनका जल रूप धन[1] नष्ट हो गया है और जो बादल वायु के उलटे, अर्थात् सामने चलते हैं, उनके वर्षने की आशा हृदय में रक्खो, उनमें जल है, वैसे ही जो विषयों में आसक्त हैं उनके शरीरों में ज्ञान-धन नहीं है, वे असाधु हैं और जो विषयों को त्यागकर उलटे, अर्थात् ध्यानादि द्वारा परमात्मा की ओर चलते हैं, उनमें ज्ञान धन है, वे ही संत हैं, उनकी ऐसी आशा हृदय में रक्खो कि ये उपदेश द्वारा हमारा उद्धार कर सकेंगे।

संसारी[1] अरु साधु का, पाया भेद विनान[2]।
रज्जब पारस जल तिरे, बूडे सोइ पषान ॥२४॥

असाधु[1] और साधु के भेद का विज्ञान[2] हमने जान लिया है कि उनमें क्या भेद है, जैसे जल पर तिरने वाला पत्थर तो पारस होता है और डूबने वाला पत्थर। वैसे ही संसार से ऊपर परमात्मा के स्वरूप में जिसकी वृत्ति रहती है वही संत है और जिसकी वृत्ति संसार के विषयों में रहती है, वह असंत है।

साधू हिरदा शून्य[1] सम, मुक्ता[2] मल न रहाय ।
और सकल उर धर[4] मयी[3], बहु विधि विघ्न उपाय ॥२५॥

संत का हृदय आकाश[1] के समान है, जैसे आकाश सभी मलों से मुक्त[2] रहता है, उसमें मल नहीं रहता, वैसे ही संत का हृदय सब पापादि दोषों से रहित है, उसमें कोई भी दोष नहीं रहता और संपूर्ण असंतों का हृदय पृथ्वी[4] रूप[3] है, जैसे पृथ्वी विविध प्रकार के उपायों से मैली होती रहती है, वैसे ही असंतों के हृदय बहुत प्रकार के दोष रूप विघ्नों से मलीन होते रहते हैं ।

संसारी[1] राकेश[2] उर, झाँई[3] दर्शे माँहि ।
साधू दिल सूरजमयी,[4] प्रतिबिम्ब पड़े सुनाँहि ॥२६॥

असंत[1] का हृदय चन्द्रमा[2] के समान है, जैसे चन्द्रमा में पृथ्वी की छाया[3] पड़ती है, वैसे ही असाधु के हृदय में विषयों की छाया पड़ती है, अर्थात् विषयाशा रहती है । संत का हृदय सूर्य-रूप[4] है, जैसे सूर्य में पृथ्वी का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता वैसे ही संत के हृदय में विषयाशा नहीं रहती । यही संत-असंत की परीक्षा है ।

दर्पण में दीपक दर्शे, दीवे दर्पण नाँहि ।
यूं संसारी[1] अरु साधु के, व्यौरा[1] उरहु सु माँहि ॥२७॥

दर्पण में दीपक का प्रतिविम्ब दीखता है, किन्तु दीपक में दर्पण का प्रतिविम्ब नहीं दीखता, वैसे ही असाधु[1] के हृदय में तो विषयाशा भासती है किन्तु साधु के हृदय में नहीं भासती । यही उनके हृदय का समाचार[1] है ।

अंगहु[1] अंग मिले नहीं, गुण लक्षण गत[3] गात[2] ।
तो रज्जब क्यों होयगा, साधु सम कथ बात ॥२८॥

संत के लक्षणों[1] से असंत के लक्षण तो मिलते नहीं, अतः जिसके शरीर[2] से शुभगुण और संत के लक्षण तो चले गये[3] हैं, फिर वह संत के समान केवल बातें करके ही संत कैसे हो सकेगा ?

बादल वन्दे शीश पर, सूखे सजल अपार ।
रज्जब रत रीतों नहीं, धन्य जु वर्षनहार ॥२९॥

शिर पर सूखे और जल-सहित बहुत बादल हैं किन्तु खाली बादलों से कौन प्रेम करता है ? वर्षने वालों को ही धन्यवाद दिया जाता है, वैसे ही शिर पर, अर्थात् साधु भेष से युक्त बहुत साधु दिखाई देते हैं, किन्तु

ध्यान ज्ञानादि साधनों से खाली पर कौन श्रद्धा करता है ? जो ज्ञान रूप वर्षा वर्षाते हैं, उन्हें ही धन्यवाद दिया जाता है ।

आँख उदर ठाहर उभय, एक समान सु नाँहि ।

एकहु रज न समाव ही, उगल गले इक माँहि ॥३०॥

शरीर में नेत्र और पेट ये दो स्थान हैं, ये दोनों एक से नहीं हैं, नेत्र में तो किंचित् मात्र रज भी नहीं समाती और पेट खाकर भरता है और खाली भी होता है, वैसे ही विराट् शरीर के साधु और असाधु दोनों स्थानों में से साधु में तो किंचित मात्र भी दोष तथा पाप नहीं समाता और असाधु हिंसादि कर्म करके पाप हृदय में भरता है और उनका फल भोगकर उनको हृदय से निकालता भी है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साधु असाधु परीक्षा का अंग २८ समाप्त: । सा० ६६४ ।

अथ साधु महिमा का अङ्ग २९

इस अंग में साधु महिमा सम्बन्धी विचार करेंगे—

रज्जब साधु अगाध है, कहिये कौन समान ।

देखो शिव शक्ति सहित, सेवक ह्वै तहँ आन ॥ १ ॥

संतों की महिमा अगाध है । कहिये, उनकी महिमा के समान किसकी महिमा है ? देखो तो सही, संतों के स्थान में आकर माया के सहित ब्रह्म भी सेवक होकर रहते हैं ।

सकल धरे ऊपर धरचा, सांई अपना साध ।

रज्जब महिमा क्या कहै, अस्थल अगम अगाध ॥ २ ॥

परमात्मा ने अपने संतों को संपूर्ण मायिक प्रपंच के ऊपर रक्खा है, हम उनकी महिमा क्या कह सकते हैं ? उनकी महिमा रूप स्थान अति अगम और अगाध है ।

कीये में नाँहीं किया, साधु सम कोउ और ।

आप समाना इन्हों में, इनको दी उर ठौर ॥ ३ ॥

ईश्वर ने अपने बनाये हुये संसार में संत के समान अन्य कोई भी नहीं बनाया है, संतों के हृदय में स्वयं परमात्मा समाये रहते हैं और अपना हृदय रूप स्थान संतों को दिया है, अर्थात् संतों का विशेष ध्यान रखते हैं ।

साधू दिल सांई रहै, हरि हिरदै में साध।
रज्जब महिमा क्या कहै, ठाहर उभय अगाध ॥ ४ ॥

संतों के हृदय में परमात्मा रहते हैं और परमात्मा के हृदय में संत रहते हैं, संत और परमात्मा इन दोनों का ही महिमा रूप स्थान अगाध है, उसका कथन मैं पूर्ण रूप से कैसे कर सकता हूं ?

साधु अगाध अगस्त्य है, सांई सुधा समुंद।
उभय समाने उभय उर, रज्जब रही न बुंद ॥ ५ ॥

संत तो अपार महिमा वाले अगस्त्य ऋषि के समान हैं और परमात्मा अमृतमय समुद्र के समान हैं। जैसे समुद्र पान के समय समुद्र अगस्त्य में समा गया था, एक विन्दु भी शेष न रही थी और समुद्र के अभिमानी देवता के हृदय में अगस्त्य का आकार बस रहा था, वैसे ही संत के हृदय में हरि और हरि के हृदय में संत रहते हैं।

वृक्ष बीज मिश्रित सदा, सेवक स्वामी तेम[1]।
पाला पानी होत है, पुनि पानी तैं हेम[2] ॥ ६ ॥

जैसे बीज में वृक्ष है और वृक्ष में बीज है, वैसे ही[1] सेवक में स्वामी है और स्वामी में सेवक है। जैसे बर्फ जल बन जाता है और जल से पुनः बर्फ[2] बन जाता है, वैसे ही परमात्मा संत बन जाता है और संत परमात्मा बन जाता है।

माया ब्रह्म ने जो किया, सो उन बाहर नाँहि।
रज्जब साधु अगाध दिल, उभय समाने माँहि ॥ ७ ॥

माया और ब्रह्म ने जो संसार रचा है, वह उनके बाहर नहीं है, किन्तु संत का हृदय तो महान् अगाध है कारण, माया और ब्रह्म दोनों उसमें समाये हुये हैं, यद्यपि संत माया का चिन्तन नहीं करते किन्तु माया ब्रह्म से अलग नहीं रह सकती अतः वह संत के हृदय में है किन्तु संत को मोहित नहीं कर सकती, संत उसे मिथ्या समझते हैं।

साधु शक्ति[1] कपूर गति, अकल कला इहि भौन[2]।
सह गुण निर्गुण होत है, मिल परमारथ पौन[3] ॥ ८ ॥

साधु की माया[1] की गति कपूर के आकार की गति के समान होती है, जैसे कपूर में भार और गंध रूप कला दिखाई देती है, किन्तु वायु[3] मिलने पर वह अकल हो जाता है, अर्थात् भार और गंध दोनों ही कपूर के स्थान में नहीं रहते, वैसे ही इस संसार-भवन[2] में संत की सगुणता रूप शरीरादि माया परमार्थ विचार होने पर नहीं रहती, वे निर्गुण ब्रह्म-रूप ही हो जाते हैं।

आकार भार छाया अरु वास, जन कपूर के चार्‌यों नास ।
अंजन[1] पलट निरंजन होई, यह गति बूझे विरला कोई ॥ ९ ॥

जैसे कपूर का आकार, भार, छाया और गँध चारों ही वायु के संग से चले जाते हैं, वैसे ही संत के भी चारों परमार्थ विचार द्वारा चले जाते हैं, वह मायिक[1] आकार से बदलकर निरंजन ब्रह्म को प्राप्त होता है, इस निरंजन ब्रह्म की प्राप्ति रूप गति को कोई विरला ज्ञानी संत ही समझता है ।

साहिब सौं साधू बड़े, साधू बड़ा न कोय ।
रज्जब देख्या गुरु दृष्टि, सब नीके कर जोय[1] ॥१०॥

परमात्मा से संत बड़े हैं, संतों से बड़ा कोई नहीं है, यह हमने गुरु-देव की ज्ञान-दृष्टि द्वारा देखा है । हे साधक ! तू भी सबको अच्छी प्रकार विचार करके देख[1] ।

सेवक स्वामी एक ह्वै, ता ऊपरि अधिकार ।
यथा बुदबुदा वारि शिर, देखे सब संसार ॥११॥

सेवक स्वामी के साथ एक हो जाता है, उस एकता पर भी जैसे जल का बुद-बुदा जल रूप होने पर भी जल के ऊपर रहता है, इसको सब संसार देखता है वैसे ही सेवक का अधिकार स्वामी से ऊपर रहने का होता है ।

स्वामी सेवक शिर धर्‌या, आदू अद्‌भुत बंध ।
रज्जब पेख्या पुहमि पर, पुत्र पिता के कंध ॥१२॥

स्वामी ने सेवक को शिर पर ही धारण किया है, यह अद्‌भुत संबन्ध आदि काल का ही है, हमने वर्तमान में भी पृथ्वी में पुत्र को पिता के कंधे पर देखा है । अतः संत हरि से अधिक हैं ।

स्वामी कर[1] सेवक बड़े, नाँहीं अचरज कोय ।
रज्जब तरु फल शीश पर, प्रत्यक्ष देखो जोय[2] ॥१३॥

स्वामी के द्वारा[1] ही सेवक बड़ा बनता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, सेवक का जो[2] बड़प्पन है वह प्रत्यक्ष है, देखो वृक्ष का फल वृक्ष के शिर पर ही रहता है ।

भगवन्त भूमि ऊपर दर्शें, वन्दे वृक्ष सु[1] भाल[2] ।
सो रज्जब परमारथी, सब प्राणिहुं प्रतिपाल ॥१४॥

जैसे वृक्ष पृथ्वी से उत्पन्न होकर भी पृथ्वी के शिर[2] पर दिखाई देते ,हैं वैसे ही भगवान् की भक्ति द्वारा संत बनकर भी श्रेष्ठ[1] संत भगवान्

के शिर पर दिखाई देते है. इस बड़प्पन का कारण यह है कि—वे वृक्ष तथा संत दोनों ही सभी प्राणियों के प्रतिपालक और परमार्थी हैं।

सांई शून्य समान है, वन्दे[1] बादल जूंणि[2]।
तिन माँहीं ह्वै दे प्रभू, चौरासी की चूंणि[3] ॥१५॥

परमात्मा आकाश के समान हैं और संत[1] बादल के समान हैं. जैसे आकाश बादलों द्वारा वर्षा करके चौरासी लक्ष योनियों[2] को चून[3] (भोजन) देने में निमित्त होता है, वैसे ही प्रभु उन संतों द्वारा ही सबको सुख-शांति देते हैं।

आदम[1] माँहीं ऊपजे, शब्द स[2] विता[3] सो शीश[4]।
रज्जब रीझ्या देखकर, त्योंही जन जगदीश ॥१६॥

जैसे मनुष्य[1] में विचार-धन[3]-सहित[2] शब्द उत्पन्न होता है, वही शिरोमणि[4] माना जाता है, उसी से मानव समाज आनन्दित होता है, वैसे ही संसार में जो संत उत्पन्न होता है, उसे ही देखकर जगदीश्वर प्रसन्न होते हैं।

साधों के हित सृष्टि यहु, सिरजी सिरजनहार।
यथा पिता पुत्रहु निमित्त, श्रम[1] करहिं संसार ॥१७॥

संसार में जैसे पिता पुत्र के लिये परिश्रम[1] करता है. वैसे ही सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर ने यह सृष्टि संतों के लिये ही रची है, सृष्टि बिना संत सेवा कैसे होती ?

खलक[1] मुलक[2] खेती करी, खालिक[3] खसम सु साथ।
ता में कण जण नीपजे, हरि हाली के हाथ ॥१८॥

संसार[1] रूप देश[2] अर्थात् खेत में साधन रूप खेती करी है. संसार का कर्त्ता[3] स्वामी ब्रह्म भी व्यापक होने से तथा प्रतिक्षण चिन्तन होने से साथी ही है, जैसे खेत में हाली के हाथ से अन्नकण उत्पन्न होकर प्राणियों के पोषक होते हैं, वैसे ही हरि के कृपा-रूप हाथ से संसार में संत उत्पन्न होकर संसार को सुखद होते हैं।

भजन भूमि जन कन उदय, समा[1] धणी[2] के होय।
यहु खेती सुखदायकी, बूझे विरला कोय ॥१९॥

भूमि में अन्नकण उत्पन्न होते हैं तब भूमि के स्वामी[2] के लिये अच्छा समय[1] होता है, वैसे ही भजन से संत उत्पन्न होते हैं तब वह समय प्रभु को प्रिय होता है, भजन-भूमि में उत्पन्न होने वाली संत-रूप खेती महान् सुखप्रद होती है, किन्तु उस सुख को कोई विरला ही समझ पाता है।

भक्त भेंट भगवन्त है, जे कुछ हरि घर माँहि ।
परि बन्दा[1] पैठा बन्दगी, सु कछू कबूले[2] नाँहि ॥२०॥

जो भी कुछ हरि के घर में है, वह सभी कुछ भगवान् संत को भेंट रूप में देने को तैयार हैं, किन्तु संत[1] तो भगवान् की भक्ति में ही स्थित हैं अन्य कुछ भी स्वीकार[2] नहीं करता ।

नाम निनामे[1] के धरे, करी सु सेवा ठौर ।
तार्थे रज्जब राम के, साधू सवा[2] न और ॥२१॥

नाम-रहित[1] निरंजन राम के नाम धरे हैं और निष्काम अवस्था रूप स्थान में स्थित रहकर भक्ति की है, इसलिये राम के प्रिय संत के चतुर्थांश[2] के समान भी अन्य नहीं हो सकते ।

रज्जब भक्त भण्डार में, राख्या नाँणा नाम ।
तो देखो भगवन्त घर, साधु शिरोमणि ठाम ॥२२॥

संत ने अपने अन्तःकरण रूप भण्डार में नाम रूप धन रक्खा है तब ही तो देखो, भगवान् ने अपने संसार रूप घर में संत को सर्व शिरोमणि स्थान प्रदान किया है, अर्थात् संत को अपना स्वरूप ही बताया है ।

व्योम विराजे धू धरे[1], पाताल पन्नगपति[2] संत ।
रज्जब मंडन[3] मांड के, मन वच कर्म महंत[4] ॥२३॥

संत ध्रुव आकाश में विराजते हैं और संत शेषजी[2] पाताल में रक्खे[1] गये हैं, फिर भी हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं कि महान्[4] संत सभी ब्रह्माण्ड के भूषण[3] हैं, चाहे वे कहीं भी विराजें ।

मात मही मधि पैठि[1] कर, सुमिरे शुकदेव शेष ।
रज्जब छिप्यों न वित[2] छिपे, प्रकट भये सब देस ॥२४॥

शुकदेव ने माता के उदर में प्रवेश[1] करके और शेषजी ने पृथ्वी में प्रवेश करके स्मरण किया, इस प्रकार छिपने पर भी उनका भजन-रूप धन[2] नहीं छिप सका, वे दोनों विश्व के सभी देशों में प्रकट होगये हैं ।

अकलि[1] अल्प उनमान[2] तुच्छ, जो कुछ कहैं बनाय ।
रज्जब सांई साधु की, महिमा कही न जाय ॥२५॥

ईश्वर और संत की महिमा कहते समय जो कुछ भी बनाकर कहा जाय, उसमें कहने वाले की बुद्धि[1] अल्प और अनुमान[2] भी तुच्छ ही सिद्ध होते हैं, कारण, ईश्वर और संत की महिमा पूर्ण रूप से कथन नहीं की जा सकती ।

रज्जब महिमा साधु की, मोपै कही न जाय।
आदि अंत मधि मांड में, जो निबहै इक भाय[१] ॥२६॥

जो सन्त जीवन के आदि, मध्य, अन्त तक इस ब्रह्माण्ड में सन्तपने के भाव[१] का एक रस निर्वाह कर लेता है उस सन्त की महिमा मेरे से पूर्ण रूप से नहीं कही जा सकती।

एक रंग राता रहै, दूजे रंग रुचि नाँहि।
जन रज्जब ता संत सम, को कहिये कलि माँहि ॥२७॥

जो एक अद्वैत ब्रह्म-रंग में अनुरक्त रहता है, द्वैत रूप विषय-रंग की प्रीति जिसमें नहीं होती, उस सन्त के समान इस कलियुग में किस को कहा जा सकता है ? अर्थात् उसके समान कोई नहीं है।

बन्दे एक खुदाय के, आदि अंत मधि अब्ब।
जन रज्जब मस्तक धरै, मन वच कर्म सौं सब्ब ॥२८॥

सृष्टि के आदि काल के, मध्यकाल के, अन्त के और अब वर्तमान काल के ईश्वर के प्यारे सन्त सभी एक-से हैं, हम तो मन, वचन और कर्म से सभी को मस्तक पर धारण करते हैं अर्थात् शिरोमणि समझते हैं।

शुक्र सूर विधु[१] वृहस्पति, पंचम ध्रू दिशि देख।
वन्दनीक[२] सब वन्दिये, अचला चलन विशेष ॥२९॥

शुक्राचार्य, सूर्य, चन्द्रमा[१], बृहस्पति, और पंचम ध्रुव की ओर देखो, जो अचल है और शेष चार चलने वाले हैं किन्तु इनमे न्यूनता-विशेषता नहीं सभी पूजनीय[२] हैं, सभी को प्रणाम करना चाहिये। सन्त सभी समान हैं।

साधू सूरज सारिखे,[१] दृष्टि इष्ट संग देश।
रज्जब रारच्यों[२] राजवी,[३] जहां करहिं परवेश ॥३०॥

साधु और सूर्य समान[१] हैं, साधु की दृष्टि अपने इष्ट परमात्मा के संग और सूर्य की दृष्टि अस्ताचल प्रदेश के साथ लगी रहती है किन्तु फिर भी सन्त और सूर्य जहां भी प्रवेश करते हैं वहां ही नेत्रों[२] को आनन्दित[३] करते हैं। सन्त ज्ञान नेत्रों को भी खोलते हैं, यह उनमें विशेषता है।

समझे[२] सोने सारिखे, सो महँगे महि[१] माँहि।
रज्जब प्यारे पुहमि[३] पर, जहां जगत में जाँहि ॥३१॥

पृथ्वी[१] में ज्ञानी[२] सन्त सोने के समान हैं, सोना कम होने से महँगा है वैसे ही ज्ञानी कम होने से महँगे हैं। सोना और सन्त पृथ्वी[३] पर प्यारे

ही लगते हैं किन्तु सन्त तो जगत् में जहां भी जाय वहां सभी को प्यारा लगता है ।

साधु उदय सूरज कला,[1] गुण तारे तम ज्ञान ।
रज्जब रारि[2] खुलैं सबै, चखि[4] चेतन[3] परकाश ॥३२॥

साधु का जन्म सूर्य की प्रकाश शक्ति[1] के समान है, जैसे सूर्य के प्रकाश से तारे और अँधेरे का अभाव हो जाता है और नेत्र[2] सबके खुलकर देखने में समर्थ होते हैं, वैसे ही सन्त के संग से आसुर गुण और अज्ञान का नाश हो जाता है तथा ब्रह्म के ज्ञान प्रकाश द्वारा ज्ञान-नेत्र[4] खुलकर सत्या-सत्य को देखने में समर्थ होते हैं ।

लेखे[1] में सब आइया, जे कछु उपज्या आय ।
रज्जब राम अलेख हैं, अरु साधु लिख्या न जाय ॥३३॥

जो कुछ भी सृष्टि में उत्पन्न होकर दृष्टि में आये हैं, उन सब का यश लिखने[1] में आगया है किन्तु राम और साधु इन दोनों की महिमा अलेख है अर्थात् इनका यश पूर्ण रूप से लिखा नहीं जाता ।

रज्जब अगह अगाध अंग,[2] सांई साधू दोय ।
और सु बंधे बंदि में[1], चौरासी लख जोय ॥३४॥

चौरासी लक्ष योनियों में जो भी उत्पन्न हुये हैं वे सभी तो सीमा के बन्धन[1] में बँधे हुये हैं अर्थात् उनके गुण तथा यश पूर्ण रूप से कहे जा सकते हैं किन्तु परमात्मा और सन्त इन दोनों के लक्षण[2] अन्य से ग्रहण नहीं किये जाते तथा दोनों की महिमा भी अगाध है ।

वृक्ष बीज वसुधा पड़हिं, बीज रहै वपु जाय ।
सत्य साधु गति[1] शक्ति[2] त्यों, नर देखो निरताय[3] ॥३५॥

वृक्ष और बीज दोनों पृथ्वी पर पड़ते हैं, उनमें वृक्ष तो नष्ट हो जाता है किन्तु बीज रह जाता है, वैसे ही हे नरो ! विचार[3] कर के देखो, सच्चे संत की मुक्ति[1] होने पर भी उनकी ज्ञान[2]-शक्ति ग्रन्थों द्वारा पृथ्वी पर रह जाती है ।

अनेकों मिल एक की, सरभरि[1] करी न जाय ।
रज्जब साधू सूर सम, नर नक्षत्र निरताय[2] ॥३६॥

संत सूर्य के समान हैं, अन्य नर अन्य नक्षत्रों के समान हैं, विचारो,[2] जैसे अनेक नक्षत्र मिलकर एक सूर्य के बराबर नहीं हो सकते, वैसे ही अनेक नर मिल कर भी एक संत की समता[1] नहीं कर सकते ।

स्वर्ग लोक साधू सदन, वेत्ता[1] वैकुण्ठ थान ।
रज्जब अज्जब ठौर ये, जहां भजन भगवान ॥३७॥

साधक सन्त का स्थान स्वर्ग लोक है, ज्ञानी[1] सन्त का स्थान वैकुण्ठ है, जहां भगवान् का भजन होता है वे ये उक्त स्थान बड़े अद्भुत हैं ।

हरि मंदिर साधू हृदय, जहां रहे निज अंग[1] ।
सो चित्त चित्रशाला बनी कवि कह सके न रंग ॥३८॥

सन्त का हृदय ही हरि मन्दिर है, जहां अपने प्रिय[1] परमात्मा रहते हैं, वह सन्त का चित्त जैसे कोई विचित्र चित्रशाला बनी हो ऐसा अनुपम दिखाई देता है, उस का प्रेमरूप रंग कुशल कवि भी नहीं कह सकता ।

चौदह विद्या चतुर ही, दहणारथ[1] दे[2] धाय[3] ।
साधन कष्ट सभी करे, पर साधु हुआ न जाय ॥३९॥

मनुष्य चौदह विद्याओं में भी चतुर हो जाता है, दहनार्थ[1] अर्थात् शरीर को जलाने के लिये भी दौड़[3] लगाता[2] है, अन्य भी सभी साधन जन्य कष्ट सहन कर लेता है किन्तु उससे सन्त नहीं बना जाता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साधु महिमा का अंग २९ समाप्त॥सा. १००३॥

अथ तीर्थ सत्संग का अंग ३०

इस अंग में सत्संग रूप तीर्थ सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

साधू सलिता[1] शब्द जल, ईहि गंगा कोई जाय ।
रज्जब रज मल[2] ऊतरे, मन भागीरथि न्हाय ॥ १ ॥

सन्त रूप नदी[1] में शब्द रूप जल है, इस गंगा में स्नानार्थ कोई विरला ही जाता है, जो उक्त भागीरथी गंगा में स्नान करता है, उसके मन के पाप[2] और अविद्या रूप रज दोनों ही हट जाते हैं ।

साधू तीरथ ज्ञान जल, विरला पावे कोय ।
रज्जब यहु अठसठ अगम, प्राप्त भाग्य से होय ॥ २ ॥

सन्त रूप तीर्थ का ज्ञान जल किसी विरले साधक को ही प्राप्त होता है, यह सन्ततीर्थ ६८ तीर्थ करने वालों से तो अगम ही है अर्थात् उन्हें प्राप्त होना कठिन है, यह तो बड़े भाग्य से ही मिलता है ।

महन्त मुखहि मंदाकिनी, वाणी वारि[1] प्रवाह ।
गगन गंग निर्मल बहै, मन मज्जन[2] कर न्हाह[3] ॥ ३ ॥

महान् सन्तों का मुख ही मंदाकिनी गंगा है, उनकी वाणी ही उसमें जल[1] का प्रवाह है, यह निर्मल ज्ञान-गंगा आकाश में ही बहती है अर्थात् शब्द आकाश का गुण है, उसी में चलता है, इस ज्ञान-गंगा में स्नान[3] करके मन को उज्वल[2] करो ।

चिदानन्द के चरण निज, साधू के उर माँहि ।
पेखो पति के पगन को, ठाहर और सु नाँहि ।। ४ ।।

चेतन-आनन्द स्वरूप परमात्मा के निजी अर्थात् आत्मस्वरूप चरण सन्तों के हृदय में हैं, अपने स्वामी परमात्मा के पाद पद्मों को वहां ही देखो, अन्य स्थान में उनका दर्शन नहीं हो सकेगा ।

ज्ञान गंग तहँतें[1] चली, प्राणि प्रवीण सु न्हाँहि ।
रज्जब पाप जु युगन के, जीव जड़े सो जाँहि ।। ५ ।।

जैसे गंगा ब्रह्म लोक में स्थित विष्णु के चरणों से चली है, वैसे ही सन्तों के हृदय में स्थित परमात्मा के स्वरूप भूत चरणों[1] से ज्ञान-गंगा चली है, इसमें चतुर प्राणी ही स्नान करते हैं । जो युगों से जीव के हृदय में पाप भूषण में नग के समान जटित हैं, वे सभी ज्ञान-गंगा में स्नान करने से हट जाते हैं ।

ज्ञान गंग पर देही[1] देवल,[2] मूरति आतम राम ।
इहां[3] सांपड़ो[4] सेय प्राणपति, सरहि[5] शिरोमणि काम ।। ६ ।।

ज्ञान-गंगा पर आत्मा[1] रूप मंदिर[2] है, आत्म स्वरूप राम ही उसमें मूर्ति है अर्थात् ज्ञान द्वारा आत्म स्थिति होने पर ही आत्मा में आत्म स्वरूप राम का साक्षात्कार होता है । अतः इस[3] ज्ञान-गंगा में स्नान[4] करके आत्म स्थिति द्वारा अभेद रूप से ब्रह्म की भक्ति करो अर्थात् निरंतर ब्रह्माकार वृत्ति रक्खो, इससे तुम्हारा परम-सुख प्राप्ति रूप सबसे बड़ा कार्य सिद्ध[5] होगा ।

सत्य तीर्थ सत्संग है, वारि विमल बिच बोध ।
रज्जब रज मल ऊतरे, वेत्ता[1] वदन[2] सु शोध[3] ।। ७ ।।

सच्चा तीर्थ सत्संग ही है, संशय विपर्य्यय रहित पवित्र ज्ञान ही उसमें जल है, सत्संग तीर्थ में स्नान करने से पाप रूप मल और अविद्या रूप रज सदा के लिये उतर जाते हैं । ज्ञानी[1] के मुख[2] के शब्दों में इस ज्ञान-जल को खोज[3] कर स्नान करो ।

सत्य तीर्थ सत्संग है, जल जगदीश्वर नाम ।
दान पुण्य को बहु किये, रज्जब अठसठ ठाम[1] ।। ८ ।।

दान, पुण्य, यज्ञादि करके उनका फल स्वर्गादि सुख भोगने के लिये तो बहुत तीर्थ बनाये हैं और उनमें ६८ स्थान[1] मुख्य हैं किन्तु सच्चा तीर्थ तो सत्संग ही है, परमात्मा का नाम ही उसमें जल है अर्थात् सत्संग द्वारा नाम चिन्तन करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है, सत्य ब्रह्म की प्राप्ति में हेतु होने से ही सत्संग सत्य तीर्थ है ।

तीरथ आतम राम है, परसे[1] पावन होय ।
जन रज्जब पहुँचे बिना, अघ उतरे नहिं कोय ॥ ९ ॥

आत्म स्वरूप राम ही तीर्थ है, उससे मिलते[1] ही प्राणी पवित्र होकर पवित्र करने वाला हो जाता है । आत्मा और रामकी अभेद अवस्था में पहुँचे बिना सर्वथा पाप नहीं उतरते, कारण, प्रायश्चित द्वारा पाप नष्ट करने पर भी कर्तृत्व भाव होने से पुनः हो जाता है ।

चरणार्विन्द ते प्रकटी, साधु हृदय मँझार ।
रज्जब गङ्गा ज्ञान की, मन मल मज्जन हार ॥१०॥

सन्तों के हृदय स्थान में स्थित परमात्मा के स्वरूप भूत चरण कमलों से ज्ञान-गंगा प्रकट हुई है, इसका ब्रह्म साक्षात्कार रूप जल पाप रूप मल को सदा के लिये हटाकर मन को उज्वल करने वाला है ।

सलिता[1] साधु जवाब जल, मन मल मज्जन होय ।
रज्जब रज यूं ऊतरे, उर अंतरि अघ धोय ॥११॥

साधु ही नदी[1] है, प्रश्न का उत्तर ही जल है, सन्तों के साथ प्रश्नोत्तर होने से मन का संशय रूप मल हटकर मन संशय-रहित उज्वलता को प्राप्त होता है । इस प्रकार हृदय के भीतर का संशय रूप पाप धोया जाता है, तब अविद्या रूप रज भी उतर जाती है । अविद्या नष्ट होते ही ब्रह्म प्राप्ति रूप जीवन का लक्ष्य पूरा हो जाता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित तीर्थ सत्संग का अंग ३० समाप्तः । सा० १०१४ ॥

अथ साधु संगति परम लाभ का अङ्ग ३१

इस अंग में सन्त संगति ही प्राणी के लिये परम लाभ रूप है, यह कहेंगे—

साधू सङ्गति सुठि[1] भली, घड़े[2] माँहि घड़[3] लेय ।
रज्जब सौंज[4] सँवारि कर, जीव माँहि जिव[5] देय ॥ १ ॥

सन्तों की संगति अच्छी[1] से भी अच्छी है, ईश्वर के बनाये[2] हुये शरीर में भी भक्ति ज्ञानादि सुखद साधन उत्पन्न[3] कर देती है और

कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरणादि सभी सामग्री[४] सुधार कर जीव में भी जीव देती है अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति रूप परमशांति[५] देती है ।

जैसे चन्दन बावना, वेधि[१] गया वनराय[२] ।
त्यों रज्जब पलटे सबै, साधू सङ्गति आय ॥ २ ॥

जैसे बावने चन्दन की सुगंध से सभी वन पंक्ति[२] विद्ध[१] हो जाती है अर्थात् सभी वृक्ष चन्दन बन जाते हैं, वैसे ही साधु संगति में आकर सभी बदल जाते हैं, अर्थात् सन्त बन जाते हैं ।

लोहा पारस परसतों, रुद्र[१] रूप ह्वै जाय ।
रज्जब गत[२] ज्ञाता भया, साधू सङ्गति आय ॥ ३ ॥

लोहे के भयंकर शस्त्र को पारस का स्पर्श मिलता है तब उसका वह भयंकर[१]पना चला जाता है और वह प्रिय दर्शन सुवर्ण रूप बन जाता है, वैसे ही साधु संगति में आने से जीव का जो ब्रह्म से भिन्न ज्ञातापना है वह चला[२] जाता है, वह ब्रह्म का ज्ञाता अपने को न मानकर ब्रह्म रूप ही मानता है ।

पारस परसत लोह, सौंघे[१] सौं महँगा भया ।
तो क्यों न करीजे मोह, रज्जब साँचे साधु सौं ॥ ४ ॥

लोहा पारस से मिलते ही सस्ते[१] से महँगा बन जाता है, वैसे ही सन्तों की संगति से जीव की उन्नति होती है, फिर सन्तों से प्रेम क्यों नहीं करना चाहिये ? अवश्य करना चाहिये ।

रज्जब पारस परसतें, लोहा पलट्या गोत[१] ।
त्यों निर्धन धनवंत मिल, अ वित[२] स विता[३] होत ॥ ५ ॥

लोहा पारस से मिलता है तब उसका गोत्र[१] बदल जाता है फिर वह लोह न कहलाकर सुवर्ण कहलाता है, वैसे ही ज्ञान-धनसे युक्त सन्त से मिलकर निर्धन अज्ञानी प्राणी, ज्ञान-धन से रहित[२] होने पर भी ज्ञान-धन-युक्त[३] होकर ज्ञानी कहलाता है ।

रज्जब लघु दीरघ मिलत, मान महातम जोय[१] ।
यथा तक्र[२] पय[३] परसतों, जावण हुं दधि होय ॥ ६ ॥

देखो[१], जैसे थोड़ी-सी छाछ[२] दूध[३] में मिलती है, तब वह जावण भी दही बन जाता है, वैसे ही यह बात निश्चित रूप से मानो कि-जब छोटे बड़ों से मिलते हैं तब छोटों का महात्म्य बढ़ जाता है अर्थात् साधारण जीवों की सन्त संग से उन्नति होती है ।

रीते सङ्गति भरचों की, जे हुंहि भूरि[1] सु[2] भाग।
देख दश गुने होत हैं, शून्य सु एक हिं लाग ॥ ७ ॥

यदि बहुत[1] अच्छा[2] भाग्य होता है तब कहीं ज्ञान-धन से खाली प्राणी को ज्ञान-धन से परिपूर्ण सन्तों का संग मिलता है, मिलने पर तो देखो, एका (१) पर शून्य (०) लगते ही दश (१०) गुना हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी ज्ञानी हो जाता है।

भव-सागर संसार यह, साधू शुद्ध जहाज।
रज्जब परसे पार ह्वै, कठिन सरे यहु काज ॥ ८ ॥

यह संसार जन्म[1] से आदि दुखों का समुद्र है, इससे पार करने के लिये निर्विकार सन्त ही जहाज हैं, जो उन सन्तों का संग करते हैं, वे इस भव-सागर से पार हो जाते हैं, उनका यह कठिन कार्य सन्त द्वारा सिद्ध हो जाता है।

रज्जब निमधे[1] राम जी, साधू जन सु जहाज।
काढहिं शक्ति[2] समुद्र से, प्रभु प्रकटे पर काज ॥ ९ ॥

रामजी संसार-समुद्र के मध्यनहीं[1] मिलते, अर्थात् संसार-भावना से पार होने पर ही राम का साक्षात्कार होता है और उससे पार करने के लिये श्रेष्ठ सन्त जन ही जहाज हैं, जैसे जहाज समुद्र से निकालता है, वैसे ही सन्त माया[2] से निकालते हैं, प्रभु ने सन्त परोपकारार्थ ही प्रकट किये हैं।

ज्यों नाले मिल नापिगा[1], सिन्धु समाप्त सु नीर।
त्यों रज्जब रामहिं मिलै, सत संगति बहु वीर[2] ॥१०॥

जैसे नालों का जल नदियों[1] में मिलकर समुद्र में जा मिलता है फिर नदी नालों का नाम समाप्त हो जाता है, वह समुद्र जल कहलाता है वैसे ही हे भाई[2] ! संसारी प्राणी साधु संगति के द्वारा बहुत-से राम के वास्तव स्वरूप को प्राप्त होते हैं, फिर वे संसारी नहीं कहलाते, ब्रह्म रूप ही कहे जाते हैं।

पारस चुंबक लोह मिल, पुनि चन्दन वन राय[1]।
जड़ पलटे मृतक चलहिं, त्यों सत्संगति आय ॥११॥

पारस के सङ्ग से जड़ लोहा सुवर्ण रूप में बदलता है, चन्दन के सङ्ग से जड़ वन पंक्ति[1] के वृक्ष चन्दन रूप में बदलते हैं और मृतकवत लोहा चुंबक के सङ्ग से चलने लगता है, वैसे ही सत्सङ्गति में आने से जड़ अज्ञानी प्राणी ज्ञानी रूप में बदलता है तथा परमार्थ में न चलने वाला मृतकवत प्राणी साधन द्वारा परमार्थ में चलने लगता है।

ज्यों शिल[1] सूखी नदी में, जड़ी तुम्बिका बेल ।
सो रज्जब सहजैं तिरे, त्यों सत्संगति मेल ।।१२।।

जैसे निरस सूखी शिला[1] तुम्बिकाओं की बेलि में जड़ी हो, अर्थात् उसके बहुत-से तुम्बड़े बाँध दिये जाँय तो वह अनायास ही तिरजाती है, वैसे ही मूर्ख प्राणी भी प्रतिदिन सत्सङ्ग करने लग जाय तो वह भी सहज ही संसार-सागर को तैर कर पार हो जायगा ।

तन मन सिमटे सहज ही, जो सत्संगति होय ।
जन रज्जब दृष्टांत को, बेलि लजालू जोय ।।१३।।

देखो, दृष्टांत के लिये लाजवन्ती की बेलि, जैसे लाजवन्ती मनुष्य का हाथ पड़ने से संकुचित हो जाती है, वैसे ही सत्संग से प्राणी के तन तथा मन विषय-विस्तार को त्याग कर प्रभु में स्थिर हो जाते हैं, तन ब्रह्म स्वरूप सन्तों की सेवा में और मन निरंतर ब्रह्म चिन्तन में ही स्थिर रहता है ।

साधू चन्दन बैन वास तैं, कुल काष्ट गये रोग ।
रज्जब देखहु देखते, भये देव गति जोग ।।१४।।

देखो, चन्दन की सुगन्ध से काष्ट का कुल परम्परागत दुर्गंध रूप रोग नष्ट होकर वह देखते देखते ही देवताओं के पास जाकर उनकी पूजा के योग्य हो जाता है, वैसे ही सन्तों के वचनों को श्रवण करने से प्राणी का कुल परम्परागत हीन जाति रूप रोग देखते देखते ही नष्ट होकर वह ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है ।

रज्जब पलटे जीव सुध[1], साधू संगति आय ।
पारस लोहा पहुप[2] तिल, स्रक[3] चन्दन वन राय[4] ।।१५।।

जैसे पारस से लोहा सुवर्ण रूप में, पुष्पों[2] से तिल तैल सुगन्ध रूप में, निर्गंध पुष्प-माला[3] चन्दन के इत्र सुगन्ध से सुगन्ध रूप में और चन्दन वृक्ष से वन पंक्ति[4] के वृक्ष चन्दन रूप में बदल जाते हैं, वैसे ही सरल[1] स्वभाव वाले साधरण जीव भी साधु संगति में आकर सन्त रूप में बदल जाते हैं ।

स्वर्ग नसीनी[1] जगत जहाज, दीर्घ दुर्भिक्ष[2] में ज्यों नाज ।
दुख की दारू[3] जीवन जड़ी[4], रज्जब साधु समागम घड़ी ।।१६।।

सन्तों के समागम की घड़ी, स्वर्ग में चढ़ने के लिये सीढ़ी[1], संसार-सागर से तिरने के लिये जहाज, महान् दुष्काल[2] के कष्ट से बचने के लिये अन्न, रोग से बचने के लिये औषधि[3], जीवन को सुरक्षित रखने के लिये रसायन बूंटी[4] रूप है ।

रज्जब साधू दरसतैं, साहिब आवे याद ।
आयु न पूजे[1] उस पल[2] हिं, देखर दीज्यो दाद[3] ॥१७॥

सन्तों के दर्शन मात्र से ही परमात्मा का स्मरण होने लगता है, फिर सत्सङ्ग के तो एक क्षण[2] के बराबर[1] भी सम्पूर्ण आयु नहीं हो सकती, अतः सत्सङ्ग का माहात्म्य प्रयत्क्ष देखकर के अवश्य प्रशंसा[3] करना चाहिये ।

साधु दत्त[1] की मिति[2] नहीं, सांई आवे हाथि ।
रज्जब और न देखिये, देता ऐसी आथि[3] ॥१८॥

साधु के दान[1] की सीमा[2] नहीं है, उसके उपदेश से परमात्मा भी हाथ आजाते हैं अर्थात् मिल जाते हैं । देखिये और कोई भी ऐसी पूंजी[3] नहीं देता, जिससे परमात्मा मिल सकें ।

सदा अभूली भूलिये, भूल्या आवे याद ।
यहु रज्जब सतसंग फल, देखर दीज्यो दाँद ॥१९॥

जीव जिसे कभी भी नहीं भूलता उस माया को भी सत्सङ्ग से भूल जाता है और जिसे भूला रहता है वह परमात्मा स्मरण हो आता है । यही सत्सङ्ग का फल है, यह प्रत्यक्ष देखकर सत्सङ्ग की प्रशंसा अवश्य करनी चाहिये ।

रज्जब साधू दान सम, दिया किसी का नांहि ।
मनसा वाचा कर्मना, समझ देख मन माँहि ॥२०॥

साधु के दिये हुये दान के समान किसी का भी दान नहीं होता, हम तो मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही कहते हैं, तुम भी मन में विचार कर के देख लो ।

जो दत[1] जीव हिं जीव दे, तिहिँ पसाव[2] प्रभु दूर ।
रज्जब साधू नाम देंहि, सु नरहरि[3] करे हजूर ॥२१॥

जीव को अन्य जीव जो सुवर्णादि दान[1] देते हैं, उस दान से प्रभु की कृपा[2] नहीं होती, साधु नाम रूप दान देते हैं, वह नाम सम्यक् रीति से प्रभु[3] के पास उपस्थित कर देता है ।

चिदानन्द का चिन्तवन, चौरासी में नाँहि ।
जन रज्जब सो पाइये, साधू संगति माँहि ॥२२॥

चौरासी लक्ष योनियों में चेतन आनन्द स्वरूप ब्रह्म का चिन्तन भी नहीं हो पाता, वह ब्रह्म साधु संगति में आत्म रूप से प्रत्यक्ष प्राप्त होता है ।

नाम नाव साधू कनें,[1] बूडत लेहि चढाय।
महिमा उस उपकार की, रज्जब कही न जाय ॥२३॥

साधू के पास[1] राम-नाम रूप नौका है, वह संसार-सागर में डूबते हुये प्राणी को उस पर चढ़ा लेता है और प्रभु के पास पहुँचा देता है, साधु के उस उपकार की महिमा किसी भी प्रकार कही नहीं जा सकती।

शब्द संदेशा ना लहत, साधुन कनें जो जीव।
तो रज्जब रह[1] चलती नहीं,प्राण न परसत पीव ॥२४॥

जो जीव साधुओं के पास से शब्द रूप समाचार नहीं सुनता, तो उसकी वृत्ति परमार्थ मार्ग[1] में नहीं चल सकती और वह प्राणी प्रभु से नहीं मिल पाता।

परम पुरुष पारस परसि, साधू सोना होय।
तो रज्जब सत्संग सौं, मिलत न वरजो कोय ॥२५॥

पारस से स्पर्श होने पर लोहा सोना हो जाता है, वैसे ही सत्सङ्ग में जाने से ध्यानादि साधन द्वारा परम पुरुष परमात्मा से मिलकर साधारण प्राणी भी सन्त हो जाता है, अतः सत्सङ्ग में जाकर सन्तों से मिलने वाले को कोई न रोके।

साधू वाणी छाँह हमाई[1], भाग हुं पड़े शीश पर आई।
देखत दोन्यों पाँवहि राज, रज्जब होंहि सकल शिर ताज ॥२६॥

सन्तों की वाणी कान में और हमा[1] पक्षी की छाया शीश पर बड़े भाग्य से ही पड़ती है, जिसके शिर पर हमा[1] पक्षी की छाया पड़ती है, वह राजा हो जाता है और जिसके कानों में सन्तों की वाणी पड़ती है, वह सकल शिरोमणि आत्म राज्य ब्रह्म पद को प्राप्त होता है। देखो, देखते देखते वर्तमान शरीर में ही दोनों महाराज पद को प्राप्त हो जाते हैं।

साधू संदल[1] पारस पारा, भृंगी छाँह हमाय[2]।
रज्जब मन तन पलटणों, भागहुं मिलहि सु आय ॥२७॥

साधु, चन्दन[1], पारस, पारा, भृंगी और हमा[2] पक्षी की छाया, इनका संयोग मन और शरीर दोनों को बदलने वाला है तथा बड़े भाग्य की प्रेरणा से ही आकर ऐसा संयोग मिलता है। साधु संग से शरीर में संयम और मन में ज्ञान रूप परिवर्तन होता है, चन्दन से वृक्ष का गन्ध-गुण और आकार बदलता है। पारस से लोह का मूल्य और रंग बदलता है। पारा से औषधि रसायन रूप में बदल जाती है। भृंगी से कीट का आकार और स्वभाव बदलता है। हमा पक्षी की छाया से भाग्य और भेष बदलता है।

हद[1] बेहद[2] के बीच में, साधू[3] संत दलाल।
सौदा[4] आतम राम सौं, इन करि ह्वै दर[5]हाल[6] ॥२८॥

मायिक संसार[1] और ब्रह्म[2] के बीच में श्रेष्ठ[3] सन्त ही दलाल हैं, इनके द्वारा आत्मा का राम से मिलन रूप व्यापार[4] वर्तमान[6] में[5] ही हो जाता है।

रज्जब अज्जब काम है, साधू जन संसार।
जिन मिलते मोहन मिलैं, प्राणपुरुष ह्वै पार ॥२९॥

संसार में सन्त जनों का कार्य अद्भुत देखा जाता है, जिसके संग से प्राणधारी पुरुष संसार-सागर से पार होकर विश्व-विमोहन ब्रह्म में मिल जाता है।

रज्जब अज्जब रूप, साधू जन संसार मधि[1]।
जेंहि मिल मिलहिं अनूप, सकल बोल कारज सिधि[2] ॥३०॥

संसार में[1] सन्त जनों का स्वरूप अद्भुत है, उनके सभी वचन जीव के कार्य को सिद्ध[2] करने वाले होते हैं और जिनके सङ्ग से उपमा रहित परमात्मा भी मिल जाते हैं।

असंख्य[1] लोक आतम फिरे, तो भी साधु न होय।
जन रज्जब सत्सङ्ग बिन, सीझ्या[2] सुन्या न कोय ॥३१॥

जीवात्मा अनन्त[1] लोकों में फिर आवे, तो भी साधु नहीं हो सकता, संसार में सत्सङ्ग के बिना कोई भी ज्ञानी[2] हुआ हो ऐसा नहीं सुनने में आता।

भाव भक्ति सत जत जुदे, अंग[1] न आवहिं अंग[2]।
रज्जब रीती[3] आतमा, एक बिना सत्सङ्ग ॥३२॥

भाव, भक्ति, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य आदि भिन्न भिन्न साधन करने से प्रिय[1]तम ब्रह्म अभेद रूप से अपने शरीर[2] में नहीं आता अर्थात् आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान नहीं होता। वह तो सत्सङ्ग से ही होता है। अतः सत्सङ्ग के बिना जीवात्मा आत्म-ज्ञान रहित होने से खाली[3] ही माना जाता है।

भजनीक भीम ज्यों दे गये, उर गिरि में लय[2] लात।
रज्जब सेझे[1] ज्ञान जल, पग पग तीरथ जात[3] ॥३३॥

जैसे भीम ने जहां भी लात मारी वहां ही जल उमग[1]ने के स्थान हो गये, वैसे ही भजन करने वाले सन्तों ने उपदेश से जिन साधकों के हृदय में ब्रह्म चिन्तन[2] स्थापन किया है, उनके हृदय में ज्ञान उमग पड़ा है,

उनकी पद-पद पर ही तीर्थ यात्रा[3] होती है अर्थात् उनके लिये सभी स्थान तीर्थ रूप हैं ।

बैन बूंद ज्यों वर्षांहि, साधू घट घन[1]घोर ।
रज्जब उर धर[2] नीपजहिं, ज्यौसावहिं[3] कुल[4] कोर[5]॥३४॥

जैसे बादल[1] की घोर घटा जल बिन्दुओं के वर्षने से पृथ्वी[2] पर अन्न उत्पन्न होते हैं और उनसे कोटिन[5] परिवार[4] लाभ[3] उठाते हैं, वैसे ही सन्त वचनों द्वारा साधकों के हृदय में ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे भी अनन्त प्राणियों को लाभ होता है ।

साधू शशि वर्षे सुधा, पीवहिं प्राणि पीयूख[1] ।
रज्जब सुख सुरता[2] लहै, निकसे दारिद दुःख ॥३५॥

चन्द्रमा अमृत[1] वर्षाता है, उसको पान करके सभी प्राणी सुखी होते हैं, वैसे ही सन्त उपदेश देते हैं, उससे जीवत्व भाव-दरिद्रता तथा जन्मादि दुःख निकलकर प्राणियों की चित्त-वृत्ति[2] को ब्राह्मनन्द प्राप्त होता है ।

अंबु[1] न चढ हि आकाश दिशि, बिन आदित्य अगस्त ।
त्यों रज्जब सत्सङ्ग बिन, हरि आवें क्यों हस्त ॥३६॥

सूर्य और अगस्त्य बिना जल[1] आकाश की ओर नहीं चढ़ता, वैसे ही सत्सङ्ग बिना हरि हृदय रूप हाथ में नहीं आते अर्थात् हृदय में नहीं दीखते ।

मुक्ता[1] महोदधि[2] वारि बादल हु, पारस लहिये पथरों माँहि ।
त्यों साधुन में सांई दीसे, अन्य ठाहरों ऐन[3] वित[4] नाँहि ॥३७॥

समुद्र[2] में मोती[1], बादल में जल और पत्थरों में पारस मिलता है, वैसे ही साधुओं में हरि मिलते हैं, अन्य स्थानों में सत्य[3] ब्रह्मरूप धन[4] नहीं मिलता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साधु संगति परम लाभ का अंग ३१ समाप्तः । सा.१०५१॥

अथ साधु का अङ्ग ३२

इस अंग में साधु सम्बन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—

बादल बन्दे[1] एक गति,[2] शून्य[3] सुधा-रस लेंहि ।
जन रज्जब जल उमग कर, स्रवै[4] हि सबनि सुख देंहि ॥ १ ॥

बादल और सन्तों[1] की चेष्टा[2] एक-सी ही होती है, जैसे बादल जल ग्रहण करके तथा आकाश[3] में स्थित होकर वर्षा द्वारा सबको देते हैं, वैसे ही सन्त ज्ञान-सुधा-रस ग्रहण करके तथा ब्रह्म[3] में स्थित होकर ज्ञान की उमग द्वारा ज्ञान की वर्षा[4] करके सभी को ब्रह्मानन्द प्रदान करते हैं।

शून्य[1] सलिल[2] सो लेत हैं, बादल वेत्ता[3] वीर[4]।
पीछें परमारथ कर हिं, देहिं सब हिं सो नीर ॥ २ ॥

जैसे बादल जल[2] को ग्रहण करके आकाश[1] में रहते हुये वह जल वर्षा द्वारा सबको देकर परमार्थ करते हैं, वैसे ही हे भाई[4] ! ज्ञानी[3] सन्त ज्ञान को ग्रहण करके स्वस्वरूप ब्रह्म में स्थित रहते हुये उपदेश द्वारा ज्ञान प्रदान करके परमार्थ करते हैं।

साधू जन संसार में, आभे का अवतार।
सींच समावे शून्य में, आवें पर उपकार ॥ ३ ॥

संसार में सन्तों का जन्म लेकर आना बादलों के समान है, जैसे बादल वर्षा करके आकाश में समा जाते हैं, वैसे ही सन्तजन ज्ञान का उपदेश कर के ब्रह्म में समा जाते हैं, बादल और सन्त परोपकार के लिये ही संसार में आते हैं।

मिनषा[1] देही खेतो क्षिति,[2] माँहीं प्राण किसान।
रज्जब साधू घट[3] घटा, वर्ष्यों नेपै[4] जान ॥ ४ ॥

पृथ्वी[2] के खेत को किसान बोता है किन्तु घन-घटा वर्षने से ही खेती[4] होती है, वैसे ही मनुष्य[1] शरीर साधन-क्षेत्र है, साधक प्राणी साधन करता है, किन्तु सन्त देह[3] द्वारा उपदेश करें तभी ज्ञान उत्पन्न होता है।

बादल बन्दे[4] एक गति[3], वाणी वर्षा होय।
जन रज्जब संसार में, पीवे सु[1] गुरा[2] कोय ॥ ५ ॥

बादल तथा सन्तों[4] की चेष्टा[3] एक-सी होती है, जैसे बादल वर्षा करते हैं, वैसे ही सन्त वाणी द्वारा ज्ञानामृत की वृष्टि करते हैं, किंतु जिसका उपदेशक गुरु[2] श्रेष्ठ[1] हो, ऐसा कोई साधक ही उसका पान करता है, जो गुरु श्रेष्ठ नहीं होते वे तो अपने शिष्यों को बाँध लेते हैं, श्रेष्ठ सन्तों के उपदेश को श्रवण करने का अवकाश ही नहीं देते, उलटा उनसे उपराम कराते हैं।

बादल विधि बन्दे[1] किये, शून्य[2] सुधा रस भाय।
कलि कुलाल के पात्र ज्यों, अगहन[4] अंबु[3] गहाय[5] ॥ ६ ॥

सन्त[1] बादल के समान बनाये गये हैं, जैसे बादल जल को लिये हुये आकाश में रहते हैं, वैसे ही सन्तों को ज्ञान-सुधा-रस प्रिय लगता है, उसे धारण करके ब्रह्म[2] स्वरूप में स्थित रहते हैं। बादल से वर्षा हुआ जल[3] कोरी मिट्टी से ग्रहण नहीं[4] किया जाता, किन्तु कुम्हार के पकाये हुये बर्तन में ठहरता[5] है, वैसे ही कलियुग में सन्तों का ज्ञान साधन द्वारा पके हुये साधक के हृदय में ही ठहरता है, सबमें नहीं ठहरता।

बादल बन्दे[1] एक गति,[2] सकल अधर[3] व्यवहार।
जन रज्जब जग सौं जुदे, परसे नहीं विकार ॥ ७ ॥

बादल और संतों[1] की चेष्टा[2] एक-सी ही होती है, जैसे बादल अपना वर्षा आदि व्यवहार आकाश में अधर रहकर ही करते हैं, वैसे ही संत भी अपना सब व्यवहार ब्रह्म[3] में स्थित रह कर ही करते हैं, इस प्रकार से जगत् से अलग ही रह जाते हैं, उनको कामादि विकार स्पर्श नहीं करते।

साधू आभे सारिखा, सदा शून्य में वास।
रज्जब आवहिं पुहमि पर, निष्कामी रु निराश ॥ ८ ॥

संत बादल के समान होते हैं, जैसे बादल सदा आकाश में रहता है, वैसे ही संत सदा ब्रह्म स्वरूप में स्थित रहते हैं, पृथ्वी पर आते हैं अर्थात् व्यवहार में वृत्ति आती है, तो भी आशा रहित निष्काम भाव से ही उपदेशादि लोक हित का कार्य करते हैं।

ब्रह्माण्ड पिंड[1] सौं नीकसे, आभे आतम होय।
सदा समाने शून्य में, बादल बंदे दोय ॥ ९ ॥

बादल ब्रह्माण्ड से और संतात्मा माता के शरीर[1] से निकलते हैं किन्तु बादल और संत दोनों सदा शून्य में ही रहते हैं और शून्य में ही समाते हैं। बादल आकाश रूप शून्य में और संत ब्रह्मरूप शून्य में समाते हैं।

साधु सुधा के कुंड हैं, अवलोकहु दिल माँहिं।
तिहिं अमृत आतम अमर, सो पीवहु क्यों नाँहिं ॥१०॥

तुम विचार द्वारा अपने अन्तःकरण में देखो, तुम्हें ज्ञात होगा कि संत ज्ञानामृत के कुंड हैं, उस ज्ञान-सुधा से जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर अमर हो जाता है, उसे तुम क्यों नहीं पान करते ? पीना चाहिये।

साँई सौंपी साधु को, औषधि अमर अराध[1]।
जीया चाहै आइ ल्यो, सन्त सजीवनि लाध[2] ॥११॥

परमात्मा ने संतों को अमर बनाने वाली पराभक्ति[1] रूप औषधि दी है, जिसे ब्रह्म प्राप्ति रूप नित्य जीवन चाहिये, वह संतों के पास आकर उनसे ले, पराभक्ति रूप संजीवनी संतों के पास ही मिलती[2] है ।

रज्जब सुरही[1] सृष्टि में, शशि साधू पय थान ।

तृण जन को ठाहर इहै, करहु सु अमृत पान ॥१२॥

सृष्टि रूप कामधेनु[1] में चन्द्रमा और संत ये दोनों दूध के स्थान स्तनों के समान हैं, वृक्ष लतादि तृणों के लिये अमृत पान का स्थान चन्द्रमा है और साधक जनों के लिये ज्ञानामृत पान का स्थान संत है, अतः संतों के पास बैठकर ज्ञानामृत का पान करना चाहिये ।

स्वारथ पैठे[1] सांकड़े,[2] चौरासी लख प्रान ।

परमारथ को एक को, रज्जब सन्त सुजान ॥१३॥

चौरासी लक्ष योनियों के प्राणी स्वार्थ होने पर तो घर में घुसकर[1] अति समीप[2] बैठते हैं, किन्तु परमार्थ के लिये तो कोई विरले ज्ञानी संत ही प्र यत्नशील देखे जाते हैं ।

साधू घट मानहुं[1] घटा, स्रवही[2] तहां सुकाल ।

रज्जब ये वर्षे नहीं, प्रत्यक्ष तहँ दुष्काल ॥१४॥

संतों को बादल की घटा के समान समझो[1], बादल जहां वर्षते[2] हैं वहां सुकाल और नहीं वर्षते वहां दुष्काल होता है, वैसे ही संत जहां ज्ञानामृत की वर्षा करते हैं वहां परमशांति रूप सुकाल और नहीं करते वहां मानस दुःख रूप दुष्काल होता है, यह सबको प्रत्यक्ष है ।

जीव ब्रह्म साधू करैं, ज्यों पारस सोना होय ।

अन्य प्राणि पाषाण असंख्य हैं, पै तिनहुं न पलटे कोय ॥१५॥

अन्य असंख्य पत्थरों के स्पर्श से भी नहीं बदलता वही लोहा पारस के स्पर्श होते ही तुरन्त सुवर्ण बन जाता है, वैसे ही जीव असंख्य अज्ञानियों से नहीं बदलता किन्तु ज्ञानी सन्त के संग से जीव ब्रह्म बन जाता है ।

बावन सौं न बराबरी, ह्वै न अठारह भार ।

वह सुगंध सबको करे, त्यों साधू संसार ॥१६॥

बावने चन्दन की समता अठारह भार वनस्पतियाँ नहीं कर सकतीं, कारण, वह तो सब वन को सुगंधित कर देता है, अन्य से ऐसा कहां होता है ? वैसे ही संसार में सन्तों की समता कोई नहीं कर सकता, कारण, वे तो अज्ञानी को भी ज्ञानी बनाकर ब्रह्म से मिला देते हैं, अन्य से ऐसा कहां हो सकता है ?

मति[1] सु पात्र मन उदक[2] भर, तन तिष्टे[3] में राखि ।
रज्जब ताता हेम[4] ह्वै, सोरा साधू[6] साखि[5] ॥१७॥

सुनार पात्र में जल[2] भरकर फिर अग्नि के तसले[3] में सुवर्ण को रख के तपाता है, जब सोना[4] तप जाता है तब उसमें सोरा डालकर उसे शुद्ध करता है, पीछे उक्त जल पात्र में डालकर शीतल करता है, वैसे ही साधक सन्त श्रेष्ठ विचार[1] में मन को स्थिर करके देह में रखता है, फिर वह भगवद् विरह द्वारा सन्तप्त होता है तब सिद्ध सन्तों[6] की ज्ञानोपदेशमय साक्षी[5] देकर उसे संयम विपर्य्यय रहित शुद्ध करके ब्रह्म-निष्ठा द्वारा शीतल करता है ।

साधू शीतल परसतैं, जलता शीतल होय ।
जन रज्जब दृष्टांत को, चन्दन सर्प हिं जोय ॥१८॥

विष से जलता हुआ सर्प शीतल चन्दन के जा लिपटता है तब विष की ज्वाला कम होकर वह भी शीतल हो जाता है, इस दृष्टांत के समान ही विषयाशा से सन्तप्त प्राणी, विषयाशा रहित शांत चित्त शीतल स्वभाव सन्तों के पास जाता है तब वह भी विषयाशा रहित होकर शीतल हो जाता है ।

साधू सूरज शोधले, प्रकट गुप्त हरि नीर ।
रज्जब पीवे जीव सुधि, शब्द सरोवर तीर ॥१९॥

जल चाहे प्रकट हो वा गुप्त हो, उसे सूर्य खोज लेते हैं और खेंचकर वर्षा द्वारा सरोवर भर देते हैं फिर उसे प्राणी पान करके अपनी प्यास बुझाते हैं, वैसे ही सन्त हरि के गुप्त निरंजन रूप को तथा प्रकट साकार रूप को खोजकर ग्रहण करते हैं और उसका परिचय अपने शब्दों द्वारा देते हैं, उस शब्द सरोवर के अर्थ ज्ञान रूप तट पर बैठकर शुद्ध स्वभाव वाले जिज्ञासु जीव उसका पान करके अपनी जिज्ञासा पूर्ण करते हैं ।

ऊपरि साधु कठोर गति, जैसी विधि नालेर[1] ।
अंतरि गत कोमल मतै, जन रज्जब बिच हेर ॥२०॥

जैसे नारियल[1] ऊपर कठोर और भीतर कोमल होता है, वैसे ही सन्त ऊपर से कठोर और भीतर से कोमल होते हैं, उनके अन्तःकरण में जो भीतर कोमलता है, उसी कोमल मत को तुम देखो, बाहर साधन कराने के लिये जो कुछ कठोरता दिखाते हैं, उस पर ध्यान न दो ।

बाहर साधू विघ्न गति, ज्यों चंदन रु भुजंग[1] ।
जन रज्जब बिच जोइले, शीतल वास सुगंध ॥२१॥

जैसे चन्दन के ऊपर सर्प[1] लिपटे रहने से विघ्न रूप दिखाई देता है, किन्तु भीतर तो सुगंध और शीतलता से युक्त है, वैसे ही सन्त बाहर तो सांसारिक सुखों के त्याग का उपदेश देने से सुख में विघ्न-से दिखाई देते हैं, किन्तु उनके भीतर ब्रह्मानन्द प्राप्त कराने की अभिलाषा रहती है।

बाहर साधू सीप गति, मैली तन ज्योती[1] ।
जन रज्जब बिच जोइले,[2] मुक्ताहल[3] मोती ॥२२॥

जैसे बाहर से तो सीप का तेज[1] मैला होता है, किन्तु देखलो[2], भीतर तो मोती है, वैसे ही बाहर से तो संत का शरीर सजाया हुआ नहीं होता, किन्तु भीतर अन्तःकरण में तो ज्ञान रूप मोती[3] भरे हुये हैं।

साधू सकणाँ[1] माँहि मन, ज्यों मक्के की ज्वारि[2] ।
जन रज्जब जोख्यूं[3] गई, पंखी सके न ख्वारि[4] ॥२३॥

साधु मक्का के सिट्टे[1] के समान है, जैसे सिट्टे में दाने[2] होते हैं. वैसे साधु का मन साधु में है, मक्का के दानों को पत्तों से छिपा रहने से पक्षी खराब[4] नहीं कर सकते, वैसे ही साधु के मन को ध्यान-ज्ञानादि-कोश में रहने से कामादि द्वारा आने वाली हानि[3] का भय चला जाता है।

ऊपर कोमल बेर विधि, तो पक्षि चूंथि[1] ले जाँहि।
रज्जब रहु नारेल गति,[2] कुंदन[3] कोमल माँहि ॥२४॥

बेर के समान ऊपर कोमल होने से, जैसे बेर को पक्षी काट[1] लेते हैं, वैसे ही सकामी साधु को विक्षेप देंगे, अतः साधु नारियल के समान ऊपर से कठोर और भीतर से कोमल होगा, तो भी सुन्दर ही लगेगा। जैसे भूषण में नीचे सोने का पतला पत्तर[3] कोमल होता है और ऊपर नग कठोर होता है, तो भी भूषण सुन्दर ही लगता है, वैसे ही साधु भी ऊपर कठोर होने पर भी भीतर कोमल होने से सुन्दर ही लगेगा।

संत सिंघाड़ा नारियल, कोमल कठिन सुदेख।
रज्जब राखा[1] वित्त[2] का, बाबे[3] किया विशेष ॥२५॥

भली प्रकार देखो, संत, सिंघाड़ा और नारियल को ईश्वर ने इनकी रक्षा का ध्यान रखते[1] हुये ऊपर से विशेष कठोर बनाकर उनके भीतरी कोमल द्रव्य[2] की रक्षा का साधन किया है। ऐसा न करने से तीनों ही नहीं पक सकते थे, सिंघाड़ा और नारियल को पक्षी आदि खा जाते और साधु को सकामी भ्रष्ट कर देते।

पानी पीया पवन मुख, तृषा तरुणी गुण होय।
भाई कृत भाई किया, नाहीं अचरज कोय ॥२६॥

वातज तृषा रोग में मुख से पानी पिया जाता है, तो भी प्यास बढ़ती ही जाती है। प्यास लगाना अग्नि का कार्य है, किन्तु अग्नि का सखा वायु

ही उसको बढ़ा देता है, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है ? वैसे ही साधक संत को भगवत् प्राप्ति की इच्छा होती है, तब वह भजन करता है, ज्यों २ भजन करता है, त्यों २ उक्त इच्छा रूप गुण प्रबल होता जाता है, फिर सिद्ध संत उपदेश द्वारा उसे शांत करता है। साधक संत के भाई सिद्ध संत ने साधक संत का कार्य कर दिया अर्थात् प्रभु का साक्षात्कार करा दिया, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है ?

तत्त्व तत्त्व के काम को, पंचों प्रीति अपार।
पिंड ब्रह्माण्ड विलोक तैं, व्यौरा[1] लहै विचार ॥२७॥

एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कार्य करने को तैयार रहता है, जैसे अग्नि की वृद्धि के लिये वायु सहायक होता है, ऐसे ही परस्पर पांचों सहायक होते हैं, पांचों में अपार प्रीति है, यह शरीर तथा ब्रह्माण्ड को संतों के विचार द्वारा देखने से पता[1] चलता है।

जब दीवै दीवा दरस, तब तल के तम नाँहि।
यूं साधू साधू मिलत, अगम[1] अशंका जाँहि ॥२८॥

दीपक को दीपक दिखाया जाता है तब दोनों दीपकों के नीचे के अंधेरे चले जाते हैं, वैसे ही साधु से साधु मिलता है, तब दोनों की मन इन्द्रियों के अविषय[1] ब्रह्म सम्बन्धी शंकायें चली जाती हैं।

यार[1] यार सो है सही, ज्यों हाथ हि धोवे हाथ।
मुख मोहन परसन[2] चलैं, साफ होय करि साथ ॥२९॥

जैसे एक हाथ से दूसरा हाथ मिलता है तब दोनों साथ ही धोये जाते हैं, वैसे ही साधु[1] से साधु मिलता है तब मुख से विश्व विमोहन परमात्मा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर[2] चलते हैं, जिससे दोनों के हृदय साफ होकर यथार्थ रूप से सुशोभित होते हैं।

आतम निपजै अंड ज्यों, बैठै साध विहंग[1]।
रमतों[2] पंखै परि रमैं,[3] तप्त निवारण अंग[4] ॥३०॥

अंडा उत्पन्न होकर पक्षी[1] के पंखों के नीचे रहता[2] है, तब कष्ट रहित बच्चा बनकर आकाश में घूमने[3] लगता है, वैसे ही जीवात्मा उत्पन्न होकर संतों के पास बैठता है तब त्रिताप को दूर करने वाले ज्ञान द्वारा अपने प्रिय[4] ब्रह्म में विचरता है।

बैठैं साधु विहंग[1] विधि आतम अंड सुदान।
रज्जब रमतों[2] सुख स्रवहिं,[3] पक्षी प्राणि सुजान ॥३१॥

साधु पक्षी[1] के समान बैठते हैं, पक्षी अंडे पर बैठकर पंखों की वायु द्वारा उसे भली प्रकार सुख देता है, वैसे ही ज्ञानी संत प्राणियों के पास

बैठते हैं और उनके सत्संग में जो स्थिर[2] रहते हैं, उन्हें ब्रह्मानन्द प्रदान[3] करते हैं।

परम-पुरुष[1] पंखै सु परि, सुमिरत स्रवत[2] समीर[3] ।
रज्जब प्रकटे जो जहां, और न निकसे वीर[4] ॥३२॥

पक्षी के पंखों के नीचे अंडा रहने से पक्षी उसका स्मरण करते हुये उसे वायु[3] देता[2] है। हे भाई[4] ! जो वायु वहां पंखों से प्रकट होती है वैसी पोषक और कहीं से भी नहीं निकलती, वैसे ही संतों[1] के सत्संग में रहने से रहने वाले का संत स्मरण रखते हैं और ज्ञान देकर उसका कल्याण करते हैं, जो ज्ञान संतों से मिलता है, वैसा कहीं भी नहीं मिलता।

काया काष्ठ सूखे उठहिं, मथतों गोष्टि[1] आग ।
रज्जब सरसे[2] ज्ञान जल, जलहि नहीं सो जाग ॥३३॥

अरणी की सूखी दो लकड़ियों को घिसने से अग्नि प्रकट होकर प्रज्वलित होता है, यदि वे जल से भीगी हों तो नहीं प्रकट होता, वैसे ही सत्संग में चर्चा[1] करते समय ज्ञान रहित शरीर से ही क्रोधाग्नि प्रकट होता है, जो अन्तःकरण ज्ञान जल से भीगा[2] है, उसमें वह क्रोधाग्नि प्रकट होकर नहीं प्रज्वलित होता।

साधू गुस्सा जल चोट ज्यों, मारत ही मिट जाय ।
रज्जब परसै परस्पर, रहै नहीं ठहराय ॥३४॥

साधु का क्रोध जल पर चोट मारने के समान होता है, जल पर मारी चोट की लकीर उसी क्षण मिट जाती है, वैसे ही संत का क्रोध भी तत्काल मिट जाता है, वे उसी क्षण परस्पर पूर्ववत मिल लेते हैं, उनमें क्रोध स्थिर नहीं रहता।

साधू जन जे सुरति[1] करि, अथवा गाली देय ।
रज्जब तिहिं रिस[2] वारने, रस मांहीं करि लेय ॥३५॥

संत सम्यक् प्रीति[1] करैं वा गाली दें दोनों ही जीव के लिए हितकर हैं, हम उनके उस क्रोध[2] पर भी निछावर होते हैं, वे क्रोध को भी भीतर रस रूप किये रहते हैं, जैसे माता बच्चे के मुख से मिट्टी निकाल कर उसके थप्पड़ मारती है तब उसके मन में बच्चे के प्रति हित भरा रहता है, वैसे ही संतों में हित दृष्टि ही रहती है।

सब जग जाने पलक में, जे साधु करैं कुछ और ।
ज्यों रज्जब सूरज ग्रहण, सब समझैं सब ठौर ॥३६॥

जैसे सूर्य ग्रहण को सभी स्थानों में सब समझते हैं, वैसे ही संत जो एक पलक में जीव की स्थिति पूर्व से भिन्न कर देते हैं अर्थात् ज्ञान द्वारा दुखी को सुखी कर देते हैं, सो सभी जगत् जानता है ।

जो जन सदा अडोल[1] था, सोई ह्वै चकचाल[2] ।
तो रज्जब जाने जगत्, ज्यों आया भूचाल ।।३७।।

पृथ्वी सदा स्थिर[1] है किन्तु जब भूकंप होता है तब सभी जगत् जान जाता है कि भूचाल हुआ, वैसे ही जो मनुष्य सदा विषयों में स्थिर रहता है, वही संतों के उपदेश से विषयों से चंचल[2] अर्थात् मुख फेर कर ब्रह्म चिन्तन में स्थिर होता है तब संतों के कार्य को सभी जगत् जानता है ।

भक्ति भाव बैठे फिर हि, साधू श्रवण सु कंध ।
दुनियाँ दिशि देखें नहीं, रज्जब अंधी अंध ।।३८।।

जैसे श्रवण कुमार की अंधी माता और अंधा पिता, उसके कंधे पर बैठे २ ही सब स्थानों में फिरते थे, वैसे ही भक्ति-भाव संतों में ही रहते हैं, संतों द्वारा ही उनका प्रचार होता है, अपने आप वे संसार में अपनी दृष्टि नहीं फैला सकते ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साधु का अंग ३२ समाप्तः ।।सा० १०८६।।

अथ महर मुहूर्त्त का अंग ३३

इस अंग में दया होने के समय रूप मुहूर्त्त का विचार कर रहे हैं—

महर मुहूरत मैं लखी, जब साँई सिरजे साध ।
प्राण हु सेती प्रीति अति, रज्जब रहम[2] अगाध ।। १ ।।

ईश्वर ने जब संतों को उत्पन्न किया है, उसी समय को मैंने विचार द्वारा दया[1] करने का मुहूर्त्त देखा है, कारण—प्राणियों से संतों का प्रेम बहुत है और उनमें दया[2] भी अगाध है ।

महर[1] मेदनी[2] सो सही, जे महि[2] पर वर्षे मेह[3] ।
त्यों नेह निशानो नरहरि[4] हि, जे मेलै[5] साधु सनेह ।। २ ।।

पृथ्वी[2] पर सच्ची दया[1] करना वही है जो उस पर वर्षा[3] वर्षाना, वैसे ही भगवान्[4] के प्रेम-पूर्वक दया करने के समय की पहचान वही कि जो अपने प्रेमी संत जीवों के पास भेजें[5] ।

महर मौज[1] देना दिया, जब हि मिलाये साध ।
रज्जब संगति तिनहुं की, जीव जन्म फल लाध[2] ।। ३ ।।

जब संतों को मिलाकर उनका सत्संग दे दिया तब मानो दया-पूर्वक जो आनन्द[1] देना होता है वह सभी दे दिया, उन संतों की संगति से जीव को जन्म का फल मिल[2] जाता है।

महर[1] मुहूरत जानिये, जब सांई मेलै साध।
रारि[2] श्रवण रसना रचहिं[3], कोटि कटे अपराध ॥ ४ ॥

जिस समय ईश्वर संत मिला दे, वही ईश्वर के दया[1] करने का मुहूर्त्त है, संत मिलने पर नेत्र[2] भगवान् के दर्शनार्थ, श्रवण कथा श्रवणार्थ, रसना नाम रटनार्थ अनुरक्त[3] होती हैं और अनेक जन्मों के किये हुये कोटिन अपराध नष्ट हो जाते हैं।

महर मुहूरत जानिये, जब सांई मेलै साध।
नाम सुधा रस पाइये, कृपा सु अगम अगाध ॥ ५ ॥

जब ईश्वर संतों का संग दें, तब वही समय ईश्वर की कृपा होने का मुहूर्त्त समझना चाहिये, जब संत मिलते हैं, तब ईश्वर नाम का उपदेश देकर नाम स्मरण-सुधा-रस का पान कराते हैं और उनकी कृपा का फल अगम अगाध ब्रह्म की प्राप्ति होता है।

साधु संगति सुमिरन सुकृत, महर मुहूरत होय।
रज्जब अज्जब मुक्ति फल, पावे विरला कोय ॥ ६ ॥

जिस समय में, साधुओं का संग होता है, ईश्वर नाम-स्मरण होता है, निष्कामभाव से परोपकारादि पुण्य कार्य होता है, वही ईश्वर की दया होने का मुहूर्त्त है, उक्त साधना का फल, जिसको कोई विरला साधक ही प्राप्त करता है, वह अद्भुत मोक्ष रूप मिलता है।

जब जगदीश दया करैं, तब साधु समागम होय।
जन रज्जब अघ[1] ऊतरैं, कर्म न लागे कोय ॥ ७ ॥

जब जगदीश्वर दया करते हैं, तब साधु-समागम होता है, संतों के संग से आत्म-ज्ञान होकर सभी पाप[1] नष्ट हो जाते हैं, फिर कोई भी कर्म का फल उस ज्ञानी को नहीं लगता, वह ब्रह्म रूप हो जाता है।

महर मुहूरत माह[1] में, काया कुंभ जु होय।
रज्जब दुहुं में द्वै ठरैं, जीव जल देखो जोय ॥ ८ ॥

माघ[1] मास में जो घड़ा बनता है उसमें जल अधिक शीतल रहता है, वैसे ही ईश्वर की दया के समय रूप मुहूर्त्त में जो शरीर बनता है अर्थात् गर्भवती को साधु-संग, नाम-स्मरणादि का अवकाश मिलता है, तो उस शरीर में जीव शांति युक्त ही होता है, तुम इतिहास पर दृष्टि डालकर

देखो, प्रह्लादादि इसमें प्रमाण हैं। प्रह्लाद की माता गर्भवती थी तब देवर्षि नारद के आश्रम में रहकर सत्संग करती रही थी। उसीसे प्रह्लाद शांतियुक्त हुआ था।

महर मुहूरत आदमी, माह[1] मुहूरत कुंभ।

जन रज्जब शीतल उभय, देखो आतम अंभ ॥ ९ ॥

माघ[1] मास के समय रूप मुहूर्त्त में घड़ा बनता है तब उसमें जल शीतल रहता है, और ईश्वर कृपा के समय रूप मुहूर्त्त में मनुष्य शरीर बनता है तब उसमें जीवात्मा का शीतल स्वभाव होता है, सो तुम देख लो दोनों शीतल होते हैं।

रज्जब महर मुहूरत ऊपजै, मह[1] यति[2] मही महंत[3]।

ज्यों मुक्ता होय न स्वाति बिन, समझो साधू संत ॥१०॥

पृथ्वी में महान्[1] त्यागियों[2] में भी प्रधान[3] संत ईश्वर कृपा के समय रूप मुहूर्त्त में ही उत्पन्न होते हैं। जैसे स्वाति बिन्दु बिना सीप में मोती नहीं बनता, वैसे ही ईश्वर कृपा बिना श्रेष्ठ संत नहीं जन्मते, यह सत्य ही समझो।

कृपा कहर[1] सामीप्य थे, जब सिरज सिघारी[2] सृष्टि।

रज्जब अगम सुगम भया, गुरु दादू की दृष्टि ॥११॥

जब ईश्वर ने सृष्टि रची थी तब हम उनकी कृपा के द्वारा उनके पास ही थे और जब सृष्टि का संहार[2] किया तब उनके क्रोध[1] के द्वारा उनके पास ही थे, किन्तु बीच में वह ईश्वर हमारे लिये अगम हो गया था सो अब श्री गुरु दादू जी की ज्ञान दृष्टि द्वारा सुगम होगया है अर्थात् वह हमारा स्वरूप ही है ऐसा अपरोक्ष ज्ञान होगया है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित महर मुहूर्त का अंग ३३

समाप्तः ।सा० ११००॥

अथ प्रसिद्ध साधु का अङ्ग ३४

इस अंग में प्रसिद्ध संत सम्बन्धी विचार करेंगे—

सकल प्राण पर्वत जलैं, आपा[1] अग्नि सु लागि।

रज्जब साधू हिम गिरी, तहां न प्रकटे आगि ॥ १ ॥

अन्य पर्वत तो बांसों के संघर्षण से उत्पन्न अग्नि द्वारा जलते हैं, किन्तु हिमालय नहीं जलता, वैसे ही अन्य प्राणी तो अहंकार[1] से उत्पन्न

काम-क्रोधादि रूप अग्नि से जलते हैं, किन्तु अहंकार रहित प्रसिद्ध संत उक्त अग्नि से नहीं जलते।

रज्जब जग जलता मिले, साधू शीतल अंग[1]।
चंदन विष व्यापे नहीं, जो कोटिक भिदै[2] भुवंग[3] ॥ २ ॥

चन्दन के वृक्ष में चाहे कोटिन सर्प[3] घुस[2] जाँय, तो भी उस पर विष का प्रभाव नहीं होता, वैसे ही त्रिताप से जलते हुये जगत् के प्राणी संतों से मिलते हैं, किन्तु प्रसिद्ध संतों का अन्तःकरण[1] तो शीतल ही रहता है।

ताको कुछ व्यापे नहीं, जो समझ्या मन माँहि।
रज्जब रज[1] परसे नहीं, जे कंचन पर युग जाँहि ॥ ३ ॥

युग प्रमाण दिन व्यतीत हो जाने पर भी सुवर्ण पर मैल[1] नहीं लगता, वैसे ही जो अपने मन में अपने स्वरूप को समझ गया है, उस प्रसिद्ध संत ज्ञानी को कामादि कुछ भी नहीं व्यापते।

ज्यों सब सरिता समुद्र हि मिलें, फिरे न खारा साव[1]।
तैसे रज्जब साधु गति, क्यों भाने कोइ भाव ॥ ४ ॥

मधुर जल वाली सभी नदियाँ समुद्र में मिलती हैं किन्तु समुद्र का खारापन किंचित[1] भी नहीं बदलता, वैसी ही प्रसिद्ध साधु की अवस्था है, उसके भाव को कोई कैसे नष्ट कर सकता है।

साधू चन्दन बावना, नर तरु लाव हि वास।
आदम[1] भार अठार[2] की, तिन हिं न परसे[3] पास ॥ ५ ॥

बावना चन्दन अठारह[2] भार वनस्पतियों के वृक्षों को अपनी सुगंध से बदलता है, किन्तु उनकी गंध के स्पर्श[3] से आप नहीं बदलता, वैसे ही प्रसिद्ध संत उपदेश द्वारा अन्य मनुष्यों[1] के दूषित भावों को बदलते हैं, किन्तु अन्य मनुष्यों के दूषित भाव उनके पास तक नहीं आ सकते।

प्रसिद्ध साधु पारस मई,[1] लोहा रूपी लोग।
रज्जब आप न पलट हिं, और हु पलटन[2] जोग ॥ ६ ॥

प्रसिद्ध संत पारस रूप[1] हैं, अन्य मनुष्य लोह रूप हैं, जैसे पारस लोह को बदल देता है, किन्तु आप नहीं बदलता, वैसे ही प्रसिद्ध संत अन्य मनुष्यों को बदलने[2] योग्य हैं, किन्तु आप अपनी निष्ठा में ही रहते हैं, बदलते नहीं।

चंदन सर्प मिले अमिल, मणि भुजंग पण[1] तेम[2]।
त्यों रज्जब साधू असध,[3] लक्षण मिले न नेम ॥ ७ ॥

चन्दन और सर्प, मणि और सर्प, मिले हुये रहने पर भी बिना मिले के समान हैं, कारण-चन्दन और मणि सर्प के विष को नहीं ग्रहण करते, वैसी ही[2] प्रसिद्ध साधुओं की प्रतिज्ञा[1] है, वे असाधु[3] के साथ मिले हुये रहने पर भी उनके लक्षण और नियमों से बिना मिले ही रहते हैं।

जोक न लार्गाह पोरस हिं, घुण नहि भखै अँगार।
त्यों रज्जब साधू शकति, लिपहि न शिश्न विकार॥ ८॥

सुवर्ण की पुरुष मूर्ति के जोक नहीं लगती, घुण अँगारों को नहीं खाता, वैसे ही प्रसिद्ध संतों की शक्ति है, वे भी काम विकार से लिपायमान नहीं होते।

दीपक हीरे लालका, द्रुम[1] चित्राम सु बेलि।
तैसे रज्जब साधु हैं, मारुत[2] माया न पेलि[3]॥ ९॥

हीरे वा लाल का दीपक और चित्र के वृक्ष[1] बेलि वायु[2] से नहीं डिगते[3], वैसे ही प्रसिद्ध साधु माया से नहीं डिगते।

लोभी लोहा चलि मिलैं, अहि[1], चंबक चित्राम[2]।
निरिहाई[3] कंचन मई[4], नर निश्चल निष्काम॥१०॥

लोहा चलकर चुंबक से मिलता है, वैसे ही जो चित्त को रमाने[2] वाला होता है[1], उससे लोभी का मन जा मिलता है, किन्तु निर्लोभी[3] प्रसिद्ध संत सोने रूप[4] हैं, जैसे सोना चलकर चुंबक से नहीं मिलता, वैसे ही निष्कामी प्रसिद्ध संत नर निश्चल रहते हैं, उनका मन सुन्दर विषयों की ओर नहीं जाता।

बीज[1] वायु बादल चपल, पै शून्य न चंचल होय।
त्योंही जग पति में जगत, अहल[2] हलावे कोय॥११॥

बिजली[1], वायु और बादल तो चंचल हैं किन्तु उनके संग से आकाश, तो चंचल नहीं होता, वैसे ही ईश्वर में अन्य सब जगत् तो चंचल है, किन्तु प्रसिद्ध संत ब्रह्म को प्राप्त करके अचंचल[2] बन गये हैं, उन्हें कौन हिला सकता है?

रज्जब सांई[1] शून्य[2] सम, कोई विरला साध।
सो सब में न्यारा अकल[3], पूरण बुद्धि अगाध॥१२॥

ब्रह्म[1] और आकाश[2] के समान निर्विकार कोई विरला प्रसिद्ध साधु ही होता है, वह आत्म रूप से सबमें पूर्ण और सबसे अलग निराकार[3] ही अपने स्वरूप को समझता है, उसकी बुद्धि अगाध होती है।

शून्य[1] स्वरूपी साधु हैं, पंच तत्त्व तिन माँहिं।
रज्जब रहैं सु एकठे, लिपैं छिपैं सो नाँहिं ॥१३॥

प्रसिद्ध संत ब्रह्म[1] स्वरूप हैं, यद्यपि पंच तत्त्व तथा उनके कार्य रूप पंच ज्ञानेन्द्रिय उनके शरीर में हैं, तो भी वे उनके विषयों में लिपायमान नहीं होते और न संसार में छिपते हैं।

रज्जब मनसा[1] बीज[2] सौं, डर हि न साधू शेष।
अकलि[3] अवनि[4] शिर पर सदल[5], पिसण[6] नहीं परवेश ॥१४॥

शेषजी बिजली[2] से नहीं डरते कारण, उनके शिर पर मोटाई-युक्त[5] पृथ्वी[4] है, वैसे ही प्रसिद्ध संत मन से उत्पन्न आशादि[1] से नहीं डरते कारण, उनके अन्त:करण में विवेकादि दैवी गुण सेना-सहित[5] आत्म ज्ञान[3] है, इससे दुष्ट[6] गुण उनके हृदय में प्रवेश नहीं करते।

अष्ट धातु काया कुल[1] पर्वत, मनसा[2] मही सु माँहिं।
रज्जब साधू अनल[3] सम, कुश कंटक कोउ नाँहिं ॥१५॥

पृथ्वी पर अष्ट धातुओं वाले संपूर्ण[1] पर्वत हैं, वैसे ही आशा[2] रूप पृथ्वी पर सात वीर्यादि धातु और आठवाँ जीव रूप धातु वा अष्ट पुरी (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, अन्त:करण चतुष्टय, पंच प्राण, पंचभूत, काम, त्रिविध कर्म, वासना) रूप अष्ट धातुओं से युक्त संपूर्ण[1] शरीर हैं, जिस पर्वत में अग्नि[3] लगता है, उसमें कुशा और कांटे नहीं रहते, वैसे ही जिन शरीरों को साधु संग मिल जाता है उनमें क्रोधादि आसुर गुण नहीं रहते।

तार हुं पर तोरा[1] नहीं, दामिनी[2] का लवलेश[3]।
चपला[4] करि चमकैं नहीं, रज्जब रवि राकेश[5] ॥१६॥

बिजली[2] का जोर[1] तारों पर किंचित्[3] मात्र भी नहीं चलता और न बिजली[4] से सूर्य तथा चंद्रमा[5] चमकते, वैसे ही माया[4] वा विषयाशा का जोर प्रसिद्ध संतों पर कुछ नहीं चलता और न वे उनसे चमकते।

इन्द्रिय अहि[1] सु अंगार हैं, साधू मोर चकोर।
यह अहार ये ही करैं, और थकित[2] इहिं ओर ॥१७॥

सर्पों[1] को मोर और अंगारों को चकोर खाता है, वैसे ही इन्द्रियों को प्रसिद्ध साधु खाते हैं अर्थात् जीतते हैं। सर्प, अंगार और इंद्रियों का आहार, मोर, चकोर और संत ही करते हैं अन्य सब इस कार्य की ओर से हारे[2] हुये हैं।

आत्म अंभ[1] भुवि स्थूल परि, उदय प्रकीरति[2] प्राण[3] ।

रज्जब रज तलि तत्त्व तोय[4], तहां न दोय निशाण ।।१८।।

पृथ्वी पर जल[1] वर्षता है, तब उससे बहुत-से प्राणी[3] उत्पन्न होते हैं और उसकी विशेष शोभा[2] होती है, वही जल[4] तत्त्व जब पृथ्वी के रज के नीचे रहता है तब उक्त दोनों चिन्ह उसके नहीं भासते, वैसे ही जीवात्मा स्थूल शरीर में आता है, तब उसका प्राण[3] संचार और विशेष शोभा रूप चिह्न दिखाई देते हैं, सूक्ष्म शरीर में रहता है तब दोनों चिह्न नहीं भासते ।

तन मन धक्का देत हैं, पुनि धक्का पंच भूत ।

रज्जब इनमें ठाहरै, सो आतम अवधूत ।।१६।।

शरीर, मन और पंच भूत मायिक कार्य होने से माया की ओर ही धकेलते हैं, किन्तु इनके धक्कों में भी जो पर-ब्रह्म के चिन्तन में स्थिर रहता है वह आत्मा अवधूत अर्थात् प्रसिद्ध संत है ।

मनह[1] मनोरथ मेट कर, दिल राखे जु दुर[2] स[3] ।

रज्जब काल कुभाव को, पूरा प्राण पुरस ।।२०।।

मनके[1] मनोरथों को नष्ट करके अपने अंतःकरण से कुभावना रूप काल को जो दूर[2] रखता है,वही[3] प्राणियों में पूरा पुरुष रूप प्रसिद्ध साधु है ।

तन माँहीं तन तैं जुदा, मन माँहीं मन दूर ।

इन्द्रियों माँहि अलाहिदा[1], रज्जब साधू शूर ।।२१।।

जो शरीर में रहकर भी शरीर के दोषों से अलग रहता है, मन में रहकर भी मन के विकारों से दूर रहता है, इन्द्रियों में रहकर भी उनके विषयों की आसक्ति से अलग[1] रहता है, वही संत शूर प्रसिद्ध साधु है ।

ब्रह्माण्ड पिंड मनसा[1] मुकत[2], सोई शिरोमणि साध ।

जन रज्जब नर नीपज्या, अविगत[3] भाव अगाध ।।२२।।

जो ब्रह्माण्ड के स्वर्गादि सुखों की आसक्ति से, शरीर के अध्यास से और मन के मनोरथादि[1] से मुक्त[2] होगया है, वही सर्व शिरोमणि प्रसिद्ध साधु है, ऐसा जो भी नर उत्पन्न हुआ है, वह मन इन्द्रियों के अविषय[3] पर-ब्रह्म में अगाध भाव करके ही उत्पन्न हुआ है ।

मीच माँहि स्यावत रहै, नर नारायण हेत ।

जन रज्जब ता संत की, हरि बलिहारी लेत ।।२३।।

मृत्यु के समय में भी जो नर, नारायण के प्रेम में प्रसन्न रहता है, उस प्रसिद्ध संत की बलिहारी स्वयं हरि भी लेते हैं ।

जिहि ठाहर[1] बोलें शबद, तहां धरै तन मन्न।

रज्जब रहति[2] कहति[3] मिल, निपज्या[4] साधू जन्न[5] ॥२४॥

भक्ति वा ज्ञान जिस अवस्था[1] के शब्द बोलते हैं, उसी में अपने तन-मन को स्थिर रखते हैं अर्थात् वैसे ही धारण करते हैं, इस प्रकार धारणा[2] और कथन[3] दोनों मिलने पर ही प्राणी[5] प्रसिद्ध साधु बनता[4] है।

आतम कण सु पकाइये, ब्रह्म अग्नि के माँहि।

अविगत[1] आदम[2] मुख पड़ै, सो फिर आवे नाँहि ॥२५॥

जिस अन्नकण को भली भांति अग्नि पर पका के मनुष्य[2] मुख में चबा कर खा जाता है वह दाना फिर नहीं उगता, वैसे ही जीवात्मा ब्रह्म-ज्ञानाग्नि से पक जाने पर मन इन्द्रियों के अविषय[1] ब्रह्म में लय हो जाता है, फिर नहीं जन्मता वही प्रसिद्ध संत कहलाता है।

बालपने बैलै[1] नहीं, यौवन युवती त्याग।

रज्जब विकल[2] न वृद्धपन, उर न अवस्था लाग ॥२६॥

जो बच्चेपन में वस्तु संयोग-वियोग से रोते हुये विलाप[1] नहीं करता, यौवन में नारी का त्याग रखता है, वृद्धावस्था के दुखों से बेचैन[2] नहीं होता, इस प्रकार तीनों अवस्था जिसके हृदय में नहीं लगती अर्थात् विक्षिप्त नहीं करती वही प्रसिद्ध संत है।

देखहु ध्रुव प्रहलाद दिशि, सनकादिक शुकदेव।

रज्जब रहे सु एक रस, आदि अंत मधि[1] सेव ॥२७॥

देखो, ध्रुव प्रहलाद, सनकादिक और शुकदेव, जन्म से आयु के अन्त भाग तक तथा मध्य[1] में भी भजन में एक रस रहे हैं, इसी से वे प्रसिद्ध संत हैं।

रज्जब गर्भि[1] न व्यापी गर्भ की, पिंड[2] न परस्या[4] प्राण[3]।

अन्य घटहुं उरझ्या नहीं, शुकदेव संत सुजान ॥२८॥

गर्भ की दूषित स्थिति[1] भी जिनके मन को विक्षिप्त न कर सकी, न स्थूल[2] वा सूक्ष्म[3] शरीर को अध्यास द्वारा छुवा[4] अर्थात् दोनों शरीरों में आसक्त नहीं हुये, अपने से भिन्न नारी आदि परिवार के शरीरों में भी जिनका मन नहीं फंसा वे ज्ञानी शुकदेव प्रसिद्ध संत हैं।

आप उपाये अमल जन, तहां न माया मैल।

रज्जब रज परसे नहीं, जैसे सोवन[1] शैल[2] ॥२९॥

ईश्वर ने जिनको मल रहित उत्पन्न किया है, उन पर मल नहीं चढ़ता, जैसे सोने[1] के पर्वत[2] पर काई नहीं चढ़ती, वैसे ही मल रहित प्रसिद्ध संत-जनों के मन में माया-मल नहीं चढ़ता।

सकल चकहु[1] पर चक्कवै[2], करै न चिन्ता राज।
रज्जब रोटी रुध्र मै[3], अन्य अधिपति दुख साज ॥३०॥

संत सभी भू-भाग[1] पर चक्रवर्ती[2] राजा हैं, किन्तु अन्य राजाओं के समान राज्य की चिन्ता नहीं करते, अन्य राजाओं की रोटी तो दंडादि के पैसे से बनी हुयी होने से रक्तमय[3] होती है, और दुख की सामग्री रूप है, किन्तु प्रसिद्ध संत रूप राजा की रोटी भिक्षान्न होने से अमृतमय है, और सुख का साधन है, अतः प्रसिद्ध संत राजा से अधिक हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित प्रसिद्ध साधु का अंग ३४
समाप्तः ॥सा.११३०॥

अथ माया मध्य मुक्ति का अंग ३५

इस अंग में माया में रहकर भी मुक्त रहने वाले ज्ञानी संतों के संबन्धी विचार कर रहे हैं–

मणि भुजंग ज्यों एकठे, गुण गति भिन्न विचार।
जन रज्जब ऐसे रहै, साधू इहि संसार ॥ १ ॥

मणि और सर्प दोनों साथ रहते हैं, किन्तु उनके गुण भिन्न ही होते हैं, मणि सर्प-विष के पास रहने पर भी उससे मुक्त रहती है, वैसे ही ज्ञानी साधु संसार में रहते हुये भी ब्रह्मज्ञान के विचार द्वारा संसार से भिन्न ही रहते हैं।

जन रज्जब रवि शशि सदा, रहैं शून्य[1] अस्थान।
एक महल एका नहीं, देखो गति मति आन ॥ २ ॥

सूर्य और चन्द्रमा दोनों आकाश[1] रूप एक ही स्थान में रहते हैं, किन्तु देखो, उनकी चाल भिन्न ही होती है, वैसे ही ज्ञानी संत और अज्ञानी एक महल में रहने पर भी उनकी बुद्धि के विचारों में एकता नहीं रहती, अज्ञानी माया में बद्ध रहता है, ज्ञानी माया से मुक्त होता है।

लोई[1] रंग राचे नहीं, सूत सदा मध्य श्वेत।
जन रज्जब जन यूं जुदे, नहीं धरे सौ हेत ॥ ३ ॥

मारवाड़ में एक रंग होता है, वह ऊन से बनी कम्बलो[1] को तो रँगता है, किन्तु कम्बली में लगे सूत के धागों को नहीं रँगता, वे श्वेत ही रहते हैं, वैसे ही अज्ञानी तो माया-रंग से रँगे जाते हैं, किन्तु ज्ञानी जन माया रंग से अलग ही रह जाते हैं कारण, उनका मायिक संसार में प्रेम ही नहीं होता, उनकी वृत्ति तो निरंतर ब्रह्माकार ही रहती है।

दर्पण में सब देखिये, गहिबे को कुछ नाँहि।
त्यों रज्जब साधू जुदे, माया काया माँहि ॥ ४ ॥

दर्पण में प्रतिबिम्ब से सब दीखते हैं, किन्तु पकड़ने के लिये कुछ भी नहीं है, वैसे ही ज्ञानी संत में माया तथा काया संबन्धी व्यवहार प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं है, वे तो उससे मुक्त ही हैं।

जिते[1] चित्र चंदवे[2] महल, तिते[3] छाँह में नाँहि।
त्यों माया सब साधु पर, सो व[4] नहीं उर माँहि ॥ ५ ॥

जितने[1] चित्र मंडप[2] वा महल में होते हैं, उतने[3] उनकी छाया में नहीं होते, वैसे ही जो माया ज्ञानी संत के शरीर पर दिखाई देती है, सो वह[4] उनके हृदय में नहीं होती।

रज्जब रिधि[1] थोड़ी बहुत, साधू मग्न न होय।
ज्यों बादल सूखे सजल, बीज[2] बुझे नहिं जोय ॥ ६ ॥

माया[1] चाहे थोड़ी हो वा बहुत ज्ञानी सन्त उसके हर्ष-शोक में निमग्न नहीं होता, देखो बादल जल सहित हो वा सूखा हो बिजली[2] उससे नहीं बुझती।

सोखे पोखे सूर ज्यों, संकट आवे नाँहि।
त्यों रज्जब साधु जुदे, माया काया माँहि ॥ ७ ॥

सूर्य जल सुखाकर शोषण करते हैं और जल वर्षाकर पोषण भी करते हैं, दोनों ही क्रिया में उन्हें कोई कष्ट नहीं होता, वैसे ही सन्तों द्वारा शरीरादि का शोषण-पोषण होता है, किन्तु उन्हें दोनों ही स्थितियों में कष्ट नहीं होता, वे माया तथा काया से अलग ब्रह्म स्वरूप में ही स्थित रहते है अतः शरीर माया में रहते हुये भी वे माया तथा काया से मुक्त ही रहते हैं।

रज्जब सूर न मैला जल गहे, तज नहिं निर्मल होय।
बरतणि[1] बरतैं साधु यूं, रंग न पलटैं कोय ॥ ८ ॥

सूर्य मैले जल को ग्रहण करके मैले नहीं होते और उसे त्यागकर निर्मल नहीं होते, वे तो सदा एक रस ही रहते हैं, ऐसे ही व्यवहार[1] से सन्तजन सांसारिक वस्तुओं को वर्तते हैं, उनसे मैले वा निर्मल नहीं होते कारण, वे तो अपनी निष्ठा रूप रंग को कभी बदलते ही नहीं।

साधू सूरज सारिखा, आदि अंत मधि[1] लाल।
रज्जब रहता एक रस, तिमर न परसे साल ॥ ९ ॥

संत सूर्य के समान हैं, जैसे सूर्य आदि मध्य[1], अंत में लाल रहता है और उसे वर्ष भर में कभी भी अँधेरा नहीं छू पाता, वैसे ही सन्त मायिक संसार में रहते हुये भी एक रस रहते हैं, उन्हें अज्ञान स्पर्श करके दुःख नहीं दे सकता ।

रज्जब वेत्ता[1] बीजली, घट सु घटा के माँहि ।

शक्ति सलिल न्यारे[2] निकट, लिपै छिपै सो नाँहि ॥१०॥

बिजली बादल की घटा में जल के पास रहते हुये भी जल से नहीं छिपती और जल से अलग ही रहती है, वैसे ही ज्ञानी[1] सन्त मायिक शरीर में रहकर माया के निकट रहते हुये भी उससे लिपायमान न होकर अलग[2] ही रहते हैं ।

बडवानल अरु वज्र[1] को, पाणी परसे नाँहि ।

यूं रज्जब रहते पुरुष, मिलैं न माया माँहि ॥११॥

समुद्र में रहने वाले बडवानल अग्नि को और बादल में रहने वाली बिजली[1] को जल नहीं छूता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष माया में रहते हैं, किन्तु माया में नहीं मिलते, अलग ही रहते हैं ।

रज्जब पुरुष पुहमि[2] पहरैं सदा, अम्बर[3] भार अठार ।

बाहर देखैं बाहिले[1], माँहि नग्न व्यवहार ॥१२॥

बहिर्मुखी[1] जन बाहर से पृथ्वी[2] को अठारह भार वनस्पति रूप वस्त्र[3] और ज्ञानी सन्त को सुन्दर वस्त्र पहने हुये देखते हैं, किन्तु भीतर से दोनों ही नग्न हैं । पृथ्वी के भीतर वनस्पति नहीं है और सन्त के मन में सुन्दर वस्त्रों का राग नहीं है ।

आभे[1] अम्बर[2] शून्य[3] ने, ओढे केती बार ।

बागों[4] में बाहर खड़ी, रज्जब समझ विचार ॥१३॥

आकाश[3] ने कितनी ही बार बादल[1] रूप वस्त्र[2] ओढ़े हैं, फिर भी वह नग्न ही है, वैसे ही, आत्मा वस्त्रों[4] में रहने पर भी नग्न ही स्थित है, इसको आत्म विचार द्वारा समझो अर्थात् वस्त्र स्थूल शरीर पहनता है आत्मा नहीं । ज्ञानी अपने को शरीर रूप नहीं मानता आत्म रूप मानता है, अतः वह वस्त्र पहने हुये भी नग्न ही है, उसके लिये वस्त्र त्याग वा ग्रहण समान ही है ।

रज्जब साधू सिरटा मक्कई, दश बागे तन धार ।

ब्रह्म भूमि रस पीजिये, मन कन निपज अपार ॥१४॥

सन्त मक्की के सिट्टे के समान हैं, मक्की के सिट्टे पर दशों पड़दे होते हैं, तो भी वह भूमि का जल पान करता है, उसी से उसमें अनेक दाने

उत्पन्न होते है, वैसे ही साधु के शरीर पर दश वस्त्र हों और वह ब्रह्म-चिन्तन-रस का पान करे, तो उसका मन भी महान् होगा, अतः माया में रहकर माया से मुक्त ब्रह्म चिन्तन से ही होता है।

वसन[1] तजे दुर्वासना, अशन[2] तजे उर आस।
यूं भूखे नंगे रहैं, जन रज्जब निज दास ॥१५॥

भगवान् के निजी भक्त सन्त दुर्वासना रूप वस्त्रों[1] को और हृदय की विषयाशा रूप भोजन[2] को त्यागते हैं, इस प्रकार ही वे भूखे नंगे रहते हैं, आन्तर साधना में वस्त्र-भोजन का त्याग महत्त्व नहीं रखता।

रिधि सिधि में न्यारे रहैं, भुगता[1] भगवंत हाथ।
रज्जब मुक्ते राम मिल, सब संपति तिन साथ ॥१६॥

ज्ञानी सन्त ऋद्धि सिद्धियों में रहकर भी उनसे अगल ही रहते हैं और भगवान् के कृपा रूप हाथ से प्राप्त प्रसाद के भोक्ता[1] होते हैं, सभी सम्पत्ति उनके साथ होने पर भी वे राम से मिल जाने के कारण उनके विकारों से मुक्त ही रहते हैं।

मिलती मिलहि न संत जन, पाई परसैं नाँहि।
रज्जब रचै[1] न राशि पर, सो विरक्त मन माँहि ॥१७॥

सन्त जन मिलती हुई सम्पत्ति से मन द्वारा नहीं मिलते और प्राप्त का भी मन से स्पर्श नहीं करते अर्थात् उसमें राग नहीं रखते। जो धन राशि पर अनुरक्त[1] नहीं होता वही मन में विरक्त है।

नर नारी रोटी दुपड़, ज्ञान धीव घट माँहि।
रज्जब सीझैं एकठे, लिपै छिपै सो नाँहि ॥१८॥

घी लग जाने से दो पड़त की रोटी तवे पर एक साथ सिद्ध होती है, तो भी एक पड़त के साथ दूसरा पड़त नहीं मिलता, वैसे ही अन्तःकरण में आत्म ज्ञान हो जाने पर एक घर में दो नर नारी रहते हैं, किंतु एक दूसरे में लिपायमान नहीं होते और न अन्य से छिपते।

शक्ति[1] सलिल माँहीं रहै, विरक्त बीज समान।
जन रज्जब माँहीं मुकत, एक मेक अरु आन[2] ॥१९॥

बिजली बादल के जल में एक मेक रहती हुई भी उससे अलग के समान मुक्त रहती है, वैसे ही विरक्त सन्त माया[1] में एक मेक रहते हुये भी उससे अलग[2] के समान मुक्त ही रहते हैं।

अधिके ओछे अंभ मध्य, अंबुज के आनन्द।
रज्जब रवि शशि सन्मुखी, विघ्न नहीं व्रत बन्द ॥२०॥

अधिक वा न्यून जल में कमल के आनन्द ही रहता है, कारण-उसके सूर्य मुखी हो तो सूर्य के सन्मुख और चन्द्र मुखी हो तो चन्द्रमा के सन्मुख देखने का व्रत है, इस व्रत बन्धन से ही उसे कोई विघ्न नहीं सताता, वैसे ही सन्त का निरंतर ब्रह्माकार वृत्ति रखने का व्रत है, इसी से अधिक वा थोड़ी माया में भी उसके आनन्द ही रहता है, कोई भी विघ्न नहीं आता।

समूह[2] स्वल्प[3] शक्ति[4] हिं मुक्त, पाया साधू खोज[1]।
जैसे रज्जब वारि मध्य, शशि सौं सुरति सरोज[5] ॥२१॥

हमें सन्तों के व्यवहार का पता[1] लग गया है, वे जैसे चन्द्र मुखी कमल[5] भारी जल राशि[2] में वा अति थोड़े[3] जल में हो, किंतु उसकी वृत्ति चन्द्रमा में ही रहती है, वैसे ही संत माया के समूह में रहो वा अति थोड़ी माया में रहो उसकी वृत्ति तो निरंतर ब्रह्म में ही रहती है, अतः वह माया[4] से मुक्त ही रहता है।

रज्जब रचै[1] न ऋद्धि सौं, विदु[2] जन विरचै[3] नाँहिं।
महापुरुष माया मुकत, बैठे हरि पद माँहिं ॥२२॥

ज्ञानी[2] जन माया से प्रेम[1] नहीं करते और विरक्त[3] भी नहीं होते, वे महापुरुष तो हरि के वास्तविक स्वरूप में स्थित रहने से माया से मुक्त ही रहते हैं।

ऊणति[1] ऊंधी सूधी संपति, बपु[2] बाती दरसांहिं।
रज्जब प्रीति मिली पावक झली[3], ब्रह्म व्योम[4] दिशि जाँहिं ॥२३॥

दीपक की बत्ती ऊंधी अर्थात् नीचे लटकती हो वा सीधी आकाश की ओर हो अग्नि लगते[3] ही उसकी ज्योति आकाश[4] की ओर ऊंची[1] ही जायगी, वैसे ही संत का शरीर[2] माया की ओर हो वा साधन में लगा हो, किन्तु उनकी आत्मा ब्रह्म के साथ मिली है, अतः वृति प्रीतिपूर्वक ब्रह्म की ओर ऊंची ही जाती है।

अंकुर अग्नि सारंग[1] अहर[2], मुर[3] मुख दिशि आकाश।
यूं रज्जब साधू सुरति, शक्ति[4] तजे शिव[5] पास ॥२४॥

बीज का अंकुर, अग्नि की ज्वाला और जल के गड्ढे[2] में पड़ा चातक[1] पक्षी इन तीनों[3] का मुख आकाश की ओर ही रहता है, वैसे ही संत की वृत्ति माया[4] को त्यागकर ब्रह्म[5] के पास ही रहती है।

ज्यों है फहम[1] फरास का, त्यों ही साधु सुजान।
उभय श्रवनि उखरी रुपै, बधैं सुदिशि असमान ॥२५॥

फरास का वृक्ष उखड़ने पर भी पुनः पृथ्वी में रोपने पर लग जाता है और आकाश की ओर ही बढ़ता है, वैसे ही ज्ञानी संत की बुद्धि[1] कि

कारण विशेष से ब्रह्म से हट जाती है तो भी पुनः ब्रह्म-विचार में लगकर ब्रह्म की ओर ही बढ़ती हैं।

मुदित न माया आवतैं, जाती शक्ति न शोग[1]।
रज्जब रिधि मधि यूं मुकत, भावी[2] करहिं सुभोग ॥२६॥

सन्त माया आने से प्रसन्न नहीं होते और माया के जाने से शोक[1] नहीं करते, इस प्रकार वे माया में रहते हुये भी जीवन मुक्त होकर रहते हैं, प्रारब्ध[2] वश ही माया का उपभोग करते हैं।

शक्ति[1] रूप आये गये, साधू रस रँग[2] एक[3]।
सो रज्जब माया मुकत, पाया परम विवेक ॥२७॥

माया[1] का कोई भी प्रकार का रूप आने वा जाने में सन्त अद्वैत[3] ब्रह्म-रस के प्रेम[2] में स्थिर रहते हैं, जिसने उक्त प्रकार परम विवेकपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लिया वही माया से मुक्त है।

माया काया में मुकत, आतम गुण हुं अतीत[1]।
सो भगता भगवंत सम, जन रज्जब तत[2] जीत ॥२८॥

जिस की बुद्धि मायिक गुणों से अलग[1] होकर ब्रह्म-विचार में स्थित है, जो माया तथा काया में रहते हुये भी माया-काया से मुक्त है और जिस ने पंच तत्त्व[2] तथा उनके कार्य पंच ज्ञानेद्रियों को जीत लिया है, वह भक्त भगवान् के समान ही माना जाता है।

रज्जब तन में मन मुक्ते रहैं, बरतणि[1] बँधे सु नाँहिं।
पै चम दृष्टि देखैं उन्हें, माया काया माँहिं ॥२९॥

ज्ञानी सन्त शरीर में रहते हुये भी मन के द्वारा शरीराध्यास से मुक्त रहते हैं, किसी प्रकार के व्यवहार[1] में नहीं बँधते किन्तु, चर्म चक्षुओं से ही देखने वाले अज्ञानी प्राणी उन्हें माया तथा काया में बँधे हुये-से देखते हैं।

रज्जब काढ़ें देह दधि, मन माखन सु विलोय।
छाजन भोजन छाछ में, उभय न एकठ[1] होय ॥३०॥

दही का मन्थन करके मक्खन निकालने पर उसे छाछ में ही डाल देते हैं, किन्तु वह और छाछ दोनों एकमेक[1] रूप से नहीं मिलते मक्खन अलग ही रहता है, वैसे ही विचार द्वारा देहाध्यास से मन को निकाल लेने पर वह शरीर के भोजन-वस्त्रादि संपादन कार्यों में लगने पर भी देह को आत्मा मान कर उसके साथ एकमेक नहीं होता।

रज्जब माया में मुकत, साँई साधू दोय।
यथा शिष्य गुरु ज्ञान ले, गति मति एकहि होय ॥३१॥

जैसे गुरु का ज्ञान ग्रहण करने पर शिष्य की व्यवहार रूप गति और बुद्धि गुरु की गति-मति के साथ एक हो जाती है, वैसे ही ज्ञानी सन्त ब्रह्म रूप हो जाता है, अतः जैसे ब्रह्म माया में रहकर भी माया से मुक्त है वैसे ही ज्ञानी भी माया में रहकर माया से मुक्त है ।

बाहर रहु भावे वरुण[1] मध्य, पत्थर भिदे[2] न तेह ।
त्यों रज्जब माया मुकत, नाँहीं शक्ति[3] सनेह ।।३२।।

पत्थर जल[1] में रहे चाहे बाहर रहे, वह तो दोनों स्थानों में समान भाव से ही रहता है, जल में रहने पर भी जल उसमें नहीं घुसता[2], वैसे ही सन्त माया में रहकर भी माया से मुक्त ही रहते हैं, उनमें माया[3] सम्बन्धी प्रेम नहीं रहता ।

घर बाहर माया मुकत, जे शक्ति[1] सुरति[2] में नाँहि ।
रज्जब रूखे चोपड़्यों;[3] तेल न केशों माँहि ।।३३।।

केशों को रूखा रखने पर वा तेल लगाने[3] पर वे भीतर तो सम ही रहते हैं तेल उनमें नहीं घुसता, वैसे ही जिसकी वृत्ति[2] में माया[1] सम्बन्धी राग नहीं है, तो वह चाहे घर में रहे वा बाहर वन में रहे माया से मुक्त ही है ।

रज्जब एक विचार बल, माया मध्य सु मुक्ति[1] ।
मिले अमिल ज्यों तेल जल, ऐसे साधु रु शक्ति ।।३४।।

जैसे तेल और जल मिलने पर भी बिना मिले-से दिखाई देते हैं, वैसे ही ज्ञानी संत और माया मिले हुये-से दिखाई देने पर भी संत अद्वैत ब्रह्म-विचार के बल से माया में रहकर भी माया से छुट्टी[1] पा जाते हैं ।

सलिल[1] शक्ति[2] उलटे चलै, मीन मुनीश्वर माग[3] ।
रज्जब माया में मुकत, यहु उत्तम वैराग ।।३५।।

मच्छी जल[1] प्रवाह के साथ न चलकर उलटी सामने चलती है, वैसे ही संत मायिक[2] प्रवाह संसार के मार्ग[3] में न चलकर उलटे परमात्मा की ओर ही चलते हैं अर्थात् वृत्ति ब्रह्माकार ही रखते हैं, यही उत्तम वैराग्य है, इसी से वे माया में रहकर भी माया से मुक्त रहते हैं ।

अवनि[1] पानी पहुप[2] दिल, उभय अंबु[3] निधि[4] माँहि ।
रज्जब शशि सांई सुरति, सलिल शक्ति[5] यूं नाँहि ।।३६।।

चन्द्र मुखी कमल[1] का पुष्प[2] जल[3] में रहता है, किन्तु उसकी प्रीति जैसी चन्द्रमा में होती है वैसी जल में नहीं होती, वैसे ही संत माया[4] में रहता है, किन्तु उसके हृदय की प्रीति जैसी ब्रह्म में होती है, वैसी माया[5] में नहीं होती ।

समझो सुरति सु सीप, शक्ति[1] समुद्र माँहीं रहै ।
रज्जब स्वाति समीप, उदधि[2] उदक[3] सो ना गहै ॥३७॥

संत की ज्ञान युक्त वृत्ति सीप के समान है, जैसे सीप समुद्र में रहती है, किन्तु समुद्र[2] का जल[3] ग्रहण नहीं करती स्वाति बिन्दु को ही ग्रहण करती है, वैसे ही संत की वृत्ति माया[1] में रहती है, किन्तु मायिक सुखों में आसक्त नहीं होती, ब्रह्म चिन्तन द्वारा ब्रह्म के पास रहती है ।

साधु शक्ति मध्य यूं रहै, ज्यों अंबुज[1] अंबु[2] थान ।
मिले अमिल रज्जब कहै, साक्षी[5] शशिहर[3] भान[4] ॥३८॥

जैसे कमल[1] जल[2] के स्थान तालाब में उसके जल से मिलकर भी अलग रहता है, कमल के इस व्यवहार को देखने-वाले[5] चन्द्रमा[3] और सूर्य[4] हैं, वैसे ही सन्त माया में मिलकर भी उससे अलग ही रहते हैं, सन्त के इस व्यवहार के साक्षी ब्रह्म हैं ।

रज्जब माया में मुकत, ज्यों जंतर के तार ।
सकल राग माँही नहीं, वेत्ता[1] करो विचार ॥३९॥

जैसे सितार रूप यंत्र के तारों में सभी राग दिखाई देती हैं किन्तु उनमें कुछ भी नहीं है, वैसे ही ज्ञानी[1] का विचार करो, उसमें माया भासती है, किन्तु वह माया से मुक्त है ।

साधू दोयज[1] चन्द पर, सब की आँवें आँख ।
मन मयंक[2] सो मोह बिन, दई[3] दृष्टि नहिं नाँख ॥४०॥

दूज[1] के चन्द्र दर्शनार्थ सबके नेत्र उस पर जाते हैं, किन्तु चन्द्रमा[2] किसी की ओर नहीं देखता, वह तो अपनी सहज गति में ही प्रवृत्त रहता है, वैसे ही संत दर्शनार्थ संत की ओर सभी के नेत्र आते हैं, किन्तु संत का मन मोह रहित होने से संत रागपूर्वक किसी पर भी दृष्टि नहीं डालता, प्रारब्ध[3]वश ही प्रवृत्त होता है ।

ऋद्धि[1] रहित अथवा सहित, नर निस्तारा[2] नाँहिं ।
साक्षी शुकदेव जनक हैं, देखो दोन्यों ठाँहिं[3] ॥४१॥

माया[1] रहित वा सहित रहने से मनुष्य की मुक्ति[2] नहीं होती, देखो इन दोनों स्थानों[3] में शुकदेव मुनि तथा राजा जनक साक्षी हैं । शुकदेव माया रहित और जनक माया सहित रहकर मुक्त हुये हैं ।

जन पद पाया जनक ने, माया मध्य सु मुक्त ।
रज्जब कहैं विदेह विरुद, साक्षी साधू सत्त ॥४२॥

जनक ने माया के मध्य रहकर भी मुक्त जनों का पद प्राप्त किया है, उसकी विदेहता का यथार्थ यश इतिहास कहते हैं और संतजन साक्षी देते हैं।

माया मध्य सु मुक्त का, भूत[1] न जानैं भेव[2]।
रज्जब राजा जनक गुरु, शिष्य भया शुकदेव ॥४३॥

माया में रहकर मुक्त रहने का रहस्य[2] सांसारिक प्राणी[1] नहीं जानते, साधक ही जानते हैं, इसीसे माया रहित साधक शुकदेव माया सहित राजा जनक को गुरु बनाकर उनके शिष्य हुये हैं।

रज्जब वारि[1] विभूति[2] में, वारण[3] मन गरकाव[4]।
नाक[8] भाव ऊपरि द्रसे,[5] तो बूडा वद[6]हु न जाव[7] ॥४४॥

जल[1] में हाथी[3] डूबा[4] हुआ हो, किन्तु किंचित सूंड[8] जल के ऊपर हो, तो वह डूबा हुआ नही कहा[6] जाता[7], वैसे ही संत का मन माया[2] में डूबा हुआ दिखाई[5] देता हो, किन्तु मन का भाव माया से ऊपर ब्रह्म में हो, तो वह डूबा हुआ नहीं कहा जाता।

सुरति सीप संयम गह्या, देही दरिया माँहिं।
यूं रज्जब मिश्रित[1] मुकत, माँहीं माँहीं नाँहिं ॥४५॥

सीप समुद्र में मिली हुई[1] रहकर भी समुद्र का जल नहीं पान करने का तथा स्वाति बिन्दु पान करने का संयम ग्रहण करती है, इसी से समुद्र में रहकर भी नहीं रहने के समान है, वैसे ही संत मायिक कार्य देहादि में रहते हैं, किन्तु उनकी वृत्ति देहादि राग में न लगने का तथा ब्रह्म चिन्तन में लगने का संयम ग्रहण करती है, इसी से शरीर में रहकर भी न रहने के समान मुक्त रहते हैं।

सारंग[1] सीप गृहस्थ का, शून्य[2] सलिल सौं सीर[3]।
त्यों रज्जब तीजे सती, द्वै द्वै निपजै वीर[4] ॥४६॥

चातक[1] पक्षी और सीप का आकाश[2] के जल स्वाति बिन्दु में ही साझा[3] है, वैसे ही तीसरे सत्य ब्रह्म को चिन्तन द्वारा धारण करने वाले गृहस्थ सती संत का ब्रह्म में ही साझा है, हे भाई[4]! उक्त दो दो के मिलने से अर्थात् चातक और स्वाति बिन्दु के मिलने से प्यास निवृत्ति रूप तृप्ति, सीप-स्वाति बिन्दु मिलने से मोती, ब्रह्म-सती मिलने से मुक्ति उत्पन्न होती है।

नर नलिनी[1] द्वै द्वै गुणें, शक्ति सलिल सम गेह।
परमारथ स्वारथ इनहुं, सांई सूर सनेह ॥४७॥

संत कमलिनी[1] के समान हैं, जैसे कमलिनी स्वार्थ तथा परमार्थ रूप दो गुणों से युक्त है, वैसे ही संत हैं। कमलिनी अपने पोषण रूप स्वार्थ के लिये तो जल में रहती है, किन्तु उसका पारमार्थिक प्रेम सूर्य से है, वैसे ही संत शरीर रक्षा रूप स्वार्थ से तो घर की माया में रहते हैं, किन्तु उनका पारमार्थिक प्रेम परब्रह्म से होता है।

इक गृही अरु कृत्य[1] करहिं, माया मध्य उदास।
जन रज्जब रामहिं मिले, कोटि कुटंतर[2] दास[3] ॥४८॥

एक गृहस्थ है और कर्तव्य कर्म[1] करते हुये माया में रहता है, किन्तु माया से उदास रहता है, वह मुक्त ही है, उक्त प्रकार के कोटिन भक्त[3] घर में[2] रहते हुये भी निरंजन राम को प्राप्त हुये हैं।

एक योग में भोग है, एक भोग में योग।
इक बूडहिं वैराग्य में, इक तिरहिं गृही लोग ॥४९॥

एक साधक योग साधन करता है, किन्तु उसकी वृत्ति भोगार्थ लालायित है, तो वह भोग ही है। एक भोगों में लगा दिखाई देता है, किन्तु उसकी वृत्ति ब्रह्म चिन्तन में है, तो वह योग ही है। एक वैराग्य युक्त संतों का-सा भेष बनाये हुये है, किन्तु उसकी वृत्ति में भोग-राग स्थित है, तो वह संसार-सागर में डूबेही गा। एक गृहस्थ है किन्तु गृह कार्य करते हुये भी उसकी वृत्ति ब्रह्म चिन्तन में रत्त है तो वह संसार-सागर को तैर कर ब्रह्म को ही प्राप्त होगा।

अनल पंखि की आँख अवनि[1] पर, सीप सरोज[2] सुरति[3] आकाश।
ऊंचे नीचे का भ्रम भागा, रज्जब शोधत[4] आशा आश[5] ॥५०॥

अनल पक्षी आकाश में रहता है, किन्तु उसकी दृष्टि पृथ्वी[1] पर रहती है, सीप और कमल[2] जल में रहते हैं, किन्तु उनकी वृत्ति[3] आकाश में रहती है, अतः ऊंचे-नीचे रहने में विशेषता-न्यूनता का भ्रम हमारे हृदय से भाग गया है, हम तो यही खोजते[4] हैं कि इसकी आशा का आधार[5] क्या है ? यदि माया है, तो डूबेगा और ब्रह्म है तो तिरेगा।

खग[1] खाली दीसै उरे,[2] रज्जब पृथ्वी पास।
सप्त सिधुरे[3] ले उडै, अनल पंखि आकाश[1] ॥५१॥

यहां[1] पृथ्वी के पास रहने वाले पक्षी[2] तो खाली उड़ते हैं और आकाश में रहने वाला अनल पक्षी पृथ्वी पर से सात हाथी[3] लेकर उड़ता है और आकाश में चला जाता है, वैसे ही माला, तिलकादि भेष-भूषा द्वारा प्रभु के पास रहने वाले वा मंदिरों में रहने वाले तो वास्तविक भक्ति से रहित हैं और उक्त बाह्य चिन्हों से रहित साधक समाधि के सप्त साधनों को सिद्ध करके निर्विकल्प समाधि रूप आकाश में जाकर ब्रह्म से मिल जाते हैं।

सिल[1] हु सहित असिल[2] हु आगे, पैंतैं[3] पहुच्या जाय ।
जन रज्जब है हद[4] वही, महँगे मोल बिकाय ॥५२॥

नाज चाहे सिला[1] किया हो अर्थात् एक एक दाना खेत से चुना हुआ हो वा खलियान[2] से काढा हुआ हो, आगे दूकान पर तो पवित्र[3] होगा वही महँगा बिकेगा कूड़ा कंकर वाला नहीं, वैसे ही साधक चाहे मालातिलकादि भेष-भूषा से युक्त हो वा रहित आगे परमात्मा के पास तो जो पवित्रता की हद्द[4] पर पहुंच गया है अर्थात् सांसारिक वासना रहित हो गया है वही आदर पायेगा, बाह्य चिह्नों से नहीं ।

सकल सृष्टि शिर शेष के, माया मुद्रा माँहि ।
रज्जब भारी के भजन, हलके[2] पूजैं[1] नाँहि ॥५३॥

सभी सृष्टि शेष जी के शिर पर है और लक्ष्मी रूप माया भी उनके शरीर की मुद्रा में है अर्थात् शेष शय्या पर हैं तो भी उसके भजन में सृष्टि का भार वा माया विघ्न नहीं कर सकती, अतः छोटे[2] बड़ों के भजन को नहीं पहुँचते[1] अर्थात् उनकी समता नहीं कर सकते ।

मारुत[1] भख[2] पति[3] मरजीवहुं, होड न ह्वै नर नीच ।
मही[4] महोदधि[5] उन शिरहुं, बोझ बात अन्य मीच[6] ॥५४॥

वायु[1] को खाने[2] वाले सर्पों के स्वामी शेष[3] जी की वा मरजीवा की बराबरी तुच्छ जीवों से नहीं हो सकती, शेष जी के शिर पर संपूर्ण पृथ्वी[4] है और मरजीवा के शिर पर समुद्र[5] की जल राशि है, अन्य को तो इतना बोझा उठाने की बात से भी मौत[6] आने लगेगी । वैसे ही माया मध्य मुक्त-जनों की समता साधारण प्राणी नहीं कर सकते ।

मोर चकोर महन्त भख, विष[1] वह्नी[2] रु विभूति[3] ।
अन्य कटै अरु आँच कथ, तिहुं होत मृत सूत[4] ॥५५॥

मोर का भक्ष्य विषयुक्त सर्प[1] है, चकोर का भक्ष्य अग्नि[2] है, महान् सन्त का भक्ष्य माया[3] है, मोरादि तीन को तो सर्पादि तीन ठीक[4] हैं, किन्तु अन्य को सर्प, अग्नि और माया तीनों काटने, जलाने और मिथ्या कहकर त्यागने से मृत्यु प्रदाता ही सिद्ध होते हैं ।

सर्प शक्ति[1] विष ना चढै, गरुड़द्वार[2] मुख नाम ।
दुहुं[4] को दोष न दोय का, दुनी[3] मरै जिहि ठाम ॥५६॥

मोर के पंखों से निकला हुआ ताँमा[2] मुख में रखने से सर्प विष नहीं चढ़ता और भगवान् का नाम मुख में रखने से माया[1] का विष नहीं चढ़ता, सर्प विष और मायाजन्य दोषों से दुनियाँ[3] के प्राणी मरते हैं, किन्तु उन

दोनों का दोष उक्त गरुड़द्वार और नाम जिनके मुख में हैं उन दोनों[४] को नहीं लगता, वे नहीं मरते ।

रंणायर[१] रिधि[२] मध्य धसि, मोहन मुक्ता लेहिं ।
मरजीवा मुनि[३] सहज कृत, और तहां जीव देंहि ॥५७॥

समुद्र[१] में घुसकर मरजीवा मोती लेता है और माया[२] में घुसकर मननशील संत[३] विश्वविमोहन ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, उक्त कार्य मरजीवा और मुनि के लिये तो सहज हैं, किन्तु अन्य करने लगें तो प्राण खो बैठेंगे ।

झंपा[१] पाती[२] मरजीवे, पैठैं[३] दरिया माँहिं ।
इक मुक्ता ले बाहुड़े, इक मर मधि आवे नाँहिं ॥५८॥

एक तो छलांग[१] मारके पड़ने[२] वाला और दूसरा मरजीवा दोनों समुद्र में घुसते[३] हैं उनमें मरजीवा तो मोती लेकर लौट आता है और दूसरा भीतर ही मर जाता है जीवित बाहर नहीं आता, वैसे ही संत तो ब्रह्म का साक्षात्कार करने से माया से निकल आते हैं, किन्तु असंत माया की आसक्ति में ही मर जाते हैं निरासक्त नहीं होते ।

बीज[१] वारि माँहीं अबुझ, अन्य वह्नी[२] बुझ जाँहिं ।
ज्यों रज्जब तारू अतिर, दीसे जग जल माँहिं ॥५९॥

जैसे अन्य अग्नि[२] तो जल में पड़ने से बुझ जाते हैं, किन्तु बिजली[१] तो जल में भी नहीं बुझती, वैसे ही जो बाह्य चिन्ह माला तिलकादि से युक्त संसार-जल से तैरने वाले दिखाई देते हैं वे तो संसार को नहीं तैर पाते और जो उक्त चिन्हों से रहित सांसारिक कार्य करते हुये भी मन से परमात्मा के सच्चे भक्त हैं वे अनायास ही संसार-सागर को तैर कर ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं ।

तेरू[१] अणतेरू[२] पड़ैं, शक्ति[३] सु सलिता हेर[४] ।
उभय अभ्यासैं अंभ[५] में, पै तिरण[६] बूडणे फेर[७] ॥६०॥

देख[४] नदी में तैरने वाला[१] और तैरना न जानने वाला दोनों पड़ते हैं, तब दोनों ही जल[५] में से बाहर निकलने का अभ्यास करते हैं, किन्तु उनके अभ्यास में फरक[७] रह जाता है, तैराक[१] निकल[६] आता है, अतैराक[२] डूब जाता है, वैसे ही ज्ञानीसंत और अज्ञानी दोनों मायिक[३] कार्यों में पड़ते हैं, तब संत तो ज्ञान बल से निकलकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु अज्ञानी निकलने का प्रयत्न करने पर भी माया से नहीं निकल सकते, माया की आसक्ति-रज्जु में ही फँसे रहते हैं ।

शूर सती संसार में, अलग सलग[1] दरसंत ।
त्यों रज्जब साधू शकति, नमो निरंतर मंत[2] ॥६१॥

संसार में शूर वीर पुरुष और सती नारी अन्य साधारण नर-नारियों के विचारों से अलग रहते हुये भी सबके साथ[1] समान ही दिखाई देते हैं, वैसे ही ज्ञानी संत सर्वसाधारण के समान माया में रहते हुये भी विचार द्वारा निरंतर अलग ही रहते हैं, उनके विचार रूप प्रयत्न[2] को हम नमस्कार करते हैं ।

एक काम निष्काम ह्वै, सकल साधना येह ।
रज्जब सो सीझ्या[1] सही, वह वन रहो कि गेह ॥६२॥

साधक को मुख्य एक ही काम है कि वह निष्काम बने, सभी साधनाओं का यही फल है । जो निष्काम हो जाता है, वह यथार्थ में सिद्धावस्था[1] को प्राप्त ज्ञानी माना जाता है । ऐसा संत वन में रहो वा मायामय घर में वह तो मुक्त ही है ।

जड़ विहूण[1] जल मंडली[2], जीवे पाणी माँहि ।
त्यों अतीत आशा रहित, पर आलम न्यारे नाँहि ॥६३॥

जल के ऊपर छाई हुई काई[2] जड़ बिना[1] पानी में जीवित रहती है, नष्ट नहीं होती, वैसे ही सन्त आशा रहित होते हैं फिर भी संसार में ही रहते हैं अलग नहीं होते, उन्हें सांसारिक राग नहीं बाँध सकता ।

अमर बेलि जड़ बिन हरी, भरी डाल सो[1] पान ।
त्यों रज्जब माया मुकत, संतत[2] शक्ति सु आन[3] ॥६४॥

अमर बेलि बिना जड़ ही हरी रहती है और वह[1] वृक्ष की डालों तथा पत्तों में भरी रहती है, वैसे ही आशा रहित सन्त निरन्तर[2] माया में रहते हुये भी माया से अन्य[3] ब्रह्म में भली प्रकार वृत्ति रखते हैं, इसी से माया से मुक्त रहते हैं ।

अरिल---बेदाने की बेलि फूल फल ह्वै सदा ।
त्यों निरिहाई[1] नर पास सकल पाया[2] मुदा[3] ॥
बीज[4] गये गुरु ज्ञान न सो ठाहर रही ।
परि हां रज्जब रहते ऋद्धि सिद्धि में यूं सही ॥६५॥

बेदाने की बेलि में सदा ही फूल फल रहते हैं, वैसे ही निरीह[1] (इच्छा रहित) ज्ञानी पुरुष के पास सभी सुख रहते हैं । इन दोनों का सदा आनन्दित रहने का अभिप्राय[3] हमने विचार द्वारा पा लिया[2] अर्थात् जान लिया है यदि बेदाने की बेलि का मूल[4] नष्ट हो जाय तो वह उस पूर्व वाली

फूल-फल युक्त स्थिति में न रहेगी, वैसे ही सन्त में गुरु का ज्ञान न रहे तो वह भी ऋद्धि सिद्धि में रहकर मुक्त नहीं रह सकता, यह यथार्थ है। गुरु ज्ञान होने से ही माया में रहकर मुक्त रहते हैं।

रज्जब ऋद्धि हिं दुहाग दे, दिया भक्ति हिं सुहाग।
उभय एक घर में रहैं, अभगा सहित सभाग ॥६६॥

एक पुरुष के दो नारी हों उनमें एक दुहागिनी और दूसरी सुहागिनी, वे दोनों एक घर में ही रहती हैं किन्तु एक दुर्भाग्यवती है और दूसरी महा भाग्यवती है, वैसे ही सन्तों के माया और भक्ति दोनों ही रहती हैं किन्तु माया को सन्तों ने दुहाग दे दिया और भक्ति को सुहाग दिया है इस कारण माया से मुक्त रहते हैं।

रज्जब सतियहुं[1] जती[2] सु पोषिये, नर निरखो निर्वाह।
फूटौं सारे ऊबरै[3], अवलोकहु सु अवाह[4] ॥६७॥

कुम्हार के आँवां[4] को देखो, फूटे बर्तनों के आश्रय से ही साबत बर्तन बचते[3] हैं, वैसे ही हे नरो ! सन्तों के निर्वाह की ओर देखो, सद् गृहस्थों[1] के द्वारा ही संन्यासियों[2] का पोषण होता है।

ररा अक्षर मात्र हुं भरचा, ममे मात्रा नाँहिं।
रज्जब अज्जब राम लगि, वंदनीक[1] जग माँहिं ॥६८॥

राम के बीज मंत्र "राँ" में रकार तो आकार की मात्रा युक्त है और अर्ध चन्द्राकार अनुस्वार रूप मकार मात्रा रहित है किन्तु राम के बीज मंत्र में लग जाने से दोनों ही जगत् में पूजनीय[1] हैं. वैसे ही सन्त माया से युक्त हों वा रहित हों राम के स्वरूप में संलग्न होने से संसार में पूजनीय हैं।

आतम अक्षर माया मात्रा, अर्थ लगैं परवाणि[1]।
रज्जब विमुखे बे अरथ, उभय सु मिथ्या जाणि ॥६९॥

अक्षर तथा मात्राओं का अर्थ ठीक लगता है तब तो प्रमाण[1] रूप है अर्थात् ठीक है और बिना अर्थ है तो मिथ्या ही जानना चाहिये, वैसे ही जीवात्मा और माया यदि भगवत् अर्थ में लगते हैं अर्थात् जीवात्मा परम अर्थ रूप ब्रह्म के चिन्तन में संलग्न है और माया परमार्थ में लगती है तब तो ठीक है। जीवात्मा भगवद् विमुख है तथा माया परमार्थ रहित है, तो दोनों को मिथ्या ही जानना चाहिये अर्थात् व्यर्थ हैं।

रज्जब अर्थ लगे अक्षर स[1]खर[2], केवल मात्रा[3] संग।
त्यों ऋद्धि[4] रहित अथवा सहित, अविगत[5] भाव[6] अभंग[7] ॥७०॥

अक्षर का अर्थ लगने से तो चाहे वह स्वर[3] रहित अकेला हो वा स्वर सहित हो, तेज[2] युक्त[1] ही माना जाता है अर्थात् अच्छा है, वैसे ही जिस संत में मन इन्द्रियों के अविषय ब्रह्म[5] का प्रेम[6] अखंड[7] है वह माया[4] रहित हो वा सहित, तेजस्वी ही माना जाता है और वही माया मध्य मुक्त है ।

मान हुं मात्रा[1] संग सदा, अक्षर अर्थ स्थूल ।
रज्जब छक[2] छूटे बिना, उभय[3] न विनशैं मूल ।।७१।।

यदि अक्षर के साथ अर्थ है तो मानो मात्रा उसके साथ ही है, वैसे ही जीवात्मा में आशा है तो मानो स्थूल शरीर उसके साथ ही है । स्वर[1] हीन अक्षर ही अर्थ हीन होता है, अतः अर्थ ही स्वर का मूल कारण है, वैसे ही स्थूल शरीर का मूल कारण आशा है, जब तक अर्थ और आशा[2] नष्ट न हो तब तक मात्रा और स्थूल शरीर ये दोनों[3] भी नष्ट नहीं होते । ज्ञानी की आशा नष्ट हो जाती है इस कारण वह माया में रहकर मुक्त रहता है ।

रज्जब दामिनी[1] देह निज, चमक मनोरथ माँहिं ।
सो बीजलि वपु[2] गिरे बिन, अग्नि सु लागे नाँहिं ।।७२।।

अपना शरीर[2] ही बिजली[1] है, मन का मनोरथ ही उसकी चमक है, बिजली पड़ने पर अग्नि लगता है, वैसे ही उक्त बिजली गिरे बिना अर्थात् देहाध्यास नष्ट हुये बिना ज्ञानाग्नि प्रकट नहीं होता । ज्ञान होने पर ही माया मध्य मुक्ति सिद्ध होती है ।

ज्यों शेषनाग शुकदेव गति,[1] अवनि उदर के माँहिं ।
त्यों रज्जब रिधि[2] मध्य सभी, भजन ब्रह्म ह्वै जाँहिं ।।७३।।

शेष नाग पृथ्वी में जाकर और शुकदेव माता के पेट में जाकर[1] भजन द्वारा ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, वैसे ही सभी गृहस्थी संत माया[2] में रहकर भी भजन द्वारा ब्रह्मरूप हो जाते हैं ।

धरी[1] धरे[2] में है सदा, वपु बरतनि[3] दृढ बंध ।
रज्जब रिधि[4] रहिता भजन, सो समझैं नहिं अंध ।।७४।।

मायिक शरीरों की व्यावहारिक[3] वृत्ति माया[1] रूप होने से मायिक[2] अर्थात् विष्णु शिवादि गुणात्माकों के ही उपासना रूप दृढ़ बन्धन में बँधी है, अतः ज्ञान-नेत्रों से हीन अंधे प्राणी माया[4] रहित निरंजन परमात्मा का भजन कैसे होता है, वह रहस्य नहीं समझते ।

अम्बर[1] आभों[2] को मिल हि, जन रज्जब रजरूप ।
वसुधा[3] वस्त्र सु एक ह्वै, पर बादल अमल अनूप ।।७५।।

बादलों[2] को तथा पृथ्वी को सूक्ष्म रजरूप वस्त्र[1] मिलता है किन्तु बादल तो वर्षा द्वारा रज रहित हो जाते हैं और पृथ्वी[3] तथा रज दोनों एक हो जाते हैं, वैसे ही संतों और असंतों को माया मिलती है किन्तु संत तो ज्ञान द्वारा माया रहित हो जाते हैं और असंत मायामय ही बन जाते हैं अर्थात् माया में आसक्त हो जाते हैं ।

माया पानी मीन जग, मरहिं नीर के दोष ।
जन रज्जब अहि आड गति[1], जल थल में संतोष ॥७६॥

जल के कम होने रूप दोष से मच्छियाँ मरने लगती हैं किन्तु जल में रहने वाले सर्प तथा आड नामक पक्षियों को कोई कष्ट नहीं होता, उनकी चेष्टा[1] तो जल तथा स्थल में समान ही होती है, वैसे ही माया कम होने से सांसारिक प्राणी तो मरने लगते हैं अर्थात् दुखी होते हैं किन्तु संत तो माया सहित वा रहित दोनों स्थितियों में ही संतोष द्वारा परम प्रसन्न रहते हैं ।

अतीत[1] अडवे[2] सारिखा, खपता[3] खेत समान ।
रज्जब विझुका[4] बन रहे, नाँही खैंचातान ॥७७॥

संत[1] तो खेती की रक्षार्थ बनाये हुये मानव पुतला[2] के समान हैं और माया के लिये पचने[3] वाले खेती के समान हैं, पुतला और खेती दोनों खेत में हैं किन्तु खेती पशुओं द्वारा नष्ट होती है अडवा नहीं । साधक को उस हिरण विभुका (मृगों को भगाने[4] वाले) के समान बने रहना चाहिये । उस समत्व रूप स्थिति में सांसारिक खैंचातान नहीं रहती ।

पक्षी उडहिं आकाश को, आभे[1] अवनि मिलाँहिं ।
रज्जब रहै न सो तहां, बहुरि घरे[2] घर जाहिं ॥७८॥

पक्षी आकाश में उड़ते हैं और बादल[1] पृथ्वी के पर्वतों से आमिलते हैं किन्तु वे दोनों ही वहां नहीं रहते, पक्षी पृथ्वी पर अपने आलय[2] में आ जाते हैं और बादल अपने घर आकाश में चले जाते हैं, वैसे ही संत माया में आते हैं और असंत माला तिलकादि भेष द्वारा ईश्वर की ओर आते हैं किन्तु संत माया में नहीं रहते, उनकी वृत्ति ब्रह्म में रहती है और असंत की वृत्ति ईश्वर चिन्तन में नहीं रहती माया के चिन्तन में रहती है ।

रज्जब सत्य शब्द नर नग[1] सही, रहती[2] सु मादा[3] तास ।
कंत[4] कलत्र[5] बिन क्यों रहै, समय सुन्दरी पास ॥७९॥

सत्य ब्रह्म के स्वरूप बोधक महावाक्य रूप शब्दों से युक्त संत नर हीरे के समान हैं और ब्रह्मनिष्ठा[2] ही हीरी[3] के समान है । जैसे हीरा[1]

रूप पति[४] उसकी हीरी रूप नारी[५] के बिना नहीं रहता, समय पर हीरी के पास चला जाता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानमय महावाक्य रूप शब्दों का मनन करने वाला संत ब्रह्मनिष्ठा बिना नहीं रहता समय पर ब्रह्मनिष्ठा को अवश्य प्राप्त होता है ।

जरा जीव को ले चले, जहमत[१] आवे जाय ।
आरम्भ गृह वैराग्य के, नर देखो निरताय ॥८०॥

हे नरो ! विचार करके देखो, चाहे मनुष्य गृह के आरंभ में हो अर्थात् गृहस्थ के कार्य करता हो वा वैराग्य के द्वारा उनसे विरक्त होकर साधन करता हो, दोनों के ही शरीरों में रोग[१] आदि दुःख तो आते हैं और चले जाते हैं किन्तु वृद्धावस्था आती है तब तो प्राणी के शरीर को मृत्यु के मुख में ही ले जाती है, भाव यह है—शरीर के रोग मृत्यु आदि माया मध्य मुक्त वा बद्ध दोनों को ही होते हैं ।

एक हु को खाँसी भई, एक हु को भया खैन[१] ।
वह दिन दहुं[२] चहुं[३] जायगी, वह पच[४] मरना ऐन[५] ॥८१॥

एक को तो खाँसी का रोग हुआ है और एक को क्षय[१] रोग हुआ है । वह खाँसी तो दो[२] चार[३] दिन में चली जायगी किन्तु क्षय रोगी तो इलाज के लिये पूरा[५] परिश्रम[४] करके भी अंत में मरेहीगा, वैसे ही सन्त को तो माया लगी है, सो छुट जायगी किन्तु असन्त तो माया में ही पच २ कर मरेगा ।

रज्जब चंचलता द्वै भांति की, देखो उदधि[१] विवेक ।
तब निकसे चौदह रतन, अब निकसे नहिं एक ॥८२॥

चंचलता दो प्रकार की होती है, उसका उदाहरण समुद्र है । देखो, समुद्र[१] मन्थन के समय की चंचलता से तो समुद्र से चौदह रत्न निकले थे किन्तु अब की चंचलता से एक भी नहीं निकलता, वैसे ही ज्ञानी की विवेक पूर्वक चंचलता से तो भक्ति ज्ञानादि अनेक रत्न निकलते हैं किन्तु अज्ञानी की चंचलता से एक भी अच्छी बात नहीं निकलती ।

एक साँच में झूंठ है, एक झूंठ में साँच ।
रज्जब लीजे माँहिली, तज मुँहडै[१] की बाच ॥८३॥

एक ज्ञानी सन्त सत्य ब्रह्म में संसार को मिथ्या कह रहे हैं दूसरे भक्त मिथ्या संसार में ब्रह्म को सत्य कह रहे हैं, उन दोनों के मुख[१] से बोली जाने वाली वाणी के भेद को छोड़कर जो उनके मन के भीतर ब्रह्म की सत्यता है, उसी को धारण करना चाहिये अर्थात् ब्रह्म परायण होना चाहिये ।

एक रंग में रोस है, एक रोस में रंग।
रज्जब समझो भावना, आतम भंग अभंग ॥८४॥

यदि भावना अच्छी न हो तो प्रेम से बोलने वाले के वचन से भी क्रोध आता है, और भावना अच्छी हो तो क्रोधपूर्वक बोलने वाले के वचन में भी प्रेम होता है, वैसे ही भेद भावना द्वारा आत्मा मरने वाला भासता है और अभेद भावना द्वारा अविनाशी ब्रह्म रूप भासता है। ज्ञानी आत्मा को अभेद भावना द्वारा अविनाशी ब्रह्म समझता है, इसी से माया में रहते हुये भी मुक्त रहता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित माया मध्य मुक्ति का अंग ३५ समाप्तः ॥सा० १२१४॥

अथ विचार का अंग ३६

इस अंग में विचार की विशेषता आदि का वर्णन कर रहे हैं—

रज्जब सत्य विचार सौं, पारंगत ह्वै प्राण।
सो समझाया सद्गुरु, समझ्या शिष्य सुजाण ॥ १ ॥

यथार्थ विचार के बल से प्राणी विद्वान् होकर संसार से पार हो जाता है, वही विचार सद्गुरुओं ने समझाया है किन्तु कोई बुद्धिमान शिष्य ही उस रहस्यमय विचार को समझ सका है।

रज्जब इहिं संसार में, वोहित[1] बडा विवेक।
जो बैठे सो उद्धरे[2], युग युग प्राणि अनेक ॥ २ ॥

इस संसार-सागर में विवेकपूर्वक विचार ही बड़ा जहाज[1] है, प्रति युग में जो भी इस विचार रूप जहाज में बैठे हैं, वे अनेक प्राणी संसार-सागर से पार हुये[2] हैं।

काया माया मांड सौं, काढ़े अकलि[1] विचार।
रज्जब राखे जीव को, सन्मुख सिरजनहार ॥ ३ ॥

विचारपूर्वक बुद्धि[1] ही जीव को शरीर, माया और ब्रह्मांड से निकालकर सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर के सन्मुख रखती है अर्थात् ब्रह्म परायण करती है।

देखो सूक्ष्म स्थूल को, ब्यौरै बुद्धि विचार।
रज्जब रज तज काढहिं, नमो अकलि व्यवहार ॥ ४ ॥

देखो, विचारयुक्त बुद्धि स्थूल-सूक्ष्म शरीर को आत्मा से अलग करती है तथा अविद्या रूप रज का त्याग करके जन्मादि प्रवाह से निकालती है, अतः विचारयुक्त बुद्धि के व्यवहार को हम नमस्कार करते हैं ।

सप्त धातु धरती में सानी, त्यों आतम आकार ।
रज्जब अष्टों रज रली[1], काढण को सु विचार ॥ ५ ॥

लोह आदि सात धातु पृथ्वी में मिली हुई हैं ऐसे ही जीवात्मा अविद्या रूप रज में मिली हैं, इस प्रकार आठों रज में मिली[1] हैं, इनको निकालने के लिये एक विचार ही सुन्दर साधन है, धातुओं को निकालने की युक्ति रूप विचार से धातु रेते से निकलती है और ब्रह्म-विचार से जीवात्मा अविद्या रूप आकार-रज से निकलती है ।

रज्जब रिधि[1] विधि त्यागिये, शक्ति[2] समझ सुलझंत ।
बल विभूति[3] विहरी[4] सुकिन, पूछो साधू पंत[5] ॥ ६ ॥

साधक को चाहिये कि मायिक[1] विधि विधान को त्याग दे, विचार द्वारा माया[2] से बुद्धि को अलग करले, यह बात परमार्थ पथ[5] के पथिक संतों से भी चाहे पूछलो वे भी यही कहेंगे, माया[3] के बल से किनकी बुद्धि ब्रह्म में विहार[4] कर सकी है ? अर्थात् नहीं, विचार बल से ही बुद्धि ब्रह्म में लगती है ।

काया काठ दधि दरिया धन, ब्रह्म अग्नि घृत काढ रतन ।
बंध मुक्त सो युक्ति हि होय, रज्जब बल छूटे नहिं कोय ॥ ७ ॥

शरीर में ब्रह्म, काष्ठ में अग्नि, दही में घृत और समुद्र में रत्न रूप धन है किन्तु जैसे अग्नि, घृत और रत्न युक्ति से ही निकाले जाते हैं, तन-बल से नहीं, वैसे ही विचार रूप युक्ति द्वारा शरीरस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार करके साधक मुक्त होता है, तन-बल से कोई भी संसार-बन्धन से नहीं छुटता ।

समझ बिना सुरझैं नहीं, सुरति सूत उरझान ।
चैन न उपजे सुरझि बिन, रज्जब समझ[1] सुजान ॥ ८ ॥

उलझा हुआ सूत और वृत्ति दोनों ही विचार बिना नहीं सुलझते और बिना सुलझे हृदय में सुख नहीं उत्पन्न होता, अतः हे बुद्धिमान् अपने आत्मस्वरूप को भली प्रकार विचार द्वारा जान[1] ।

जीव पड़्या यूं गुणहुं में, ज्यों गोरख धंधा ।
जन रज्जब कोउ कोटि में, सुरझावे फंदा ॥ ९ ॥

जैसे गोरख धंधा (तारों, कड़ियों वा काष्ठ खंडों से बना हुआ, जिसे विशेष युक्ति से सुलझाते हैं) उलझा होता है, वैसे ही जीव गुणों में उलझा पड़ा है, गोरख धंधे को कोई बुद्धिमान् ही सुलझाता है, वैसे ही गुणों के फंदे में फँसे हुये जीवात्मा को कोई कोटिन में विरला साधक ही ब्रह्म-विचार-युक्ति से सुलझाता है।

रज्जब सेरी[1] समझ[2] की, सदा सुरति में होय।

तो मुक्ता तिहुं लोक में, बन्धन नाँहीं कोय ॥१०॥

जिसकी वृत्ति ब्रह्म-विचार[2] रूप मार्ग[1] में सदा बनी रहती है अर्थात् ब्रह्म-विचार करती है, वह मुक्त ही है, उसे तीनों लोकों में कोई बन्धन नहीं है।

समझ[1] सुखों की राशि है, सब संतन आधार।

रज्जब ज्वाला जल करे, शीतल बड़ा विचार ॥११॥

विचार[1] सुखों का समूह है, सब संतों का आधार है, विचार बड़ा ही शीतल है, क्रोध रूप अग्नि की ज्वाला को जल के समान कर देता है।

रज्जब विमल विचार सौं, विष अमृत ह्वै जाय।

सदा सुखी आनन्द में, हिरिदै दुख न समाय ॥१२॥

पवित्र विचार से विष के समान कटु वचन भी अमृत के समान हो जाते हैं, विचारवान् ब्रह्मानन्द में निमग्न रहकर सदा सुखी रहता है उसके हृदय में दुख प्रवेश नहीं करता।

काया माया मांड[1] सौं, मुक्ता करे विवेक।

ताले तीनों लोक को, रज्जब कूँची एक ॥१३॥

देहाध्यास, माया की आसक्ति, और ब्रह्माण्ड[1] की सीमा से विवेक-पूर्वक विचार ही मुक्त करता है, त्रिलोक रूप ताले को खोलने के लिये भी एक विचार ही ताली है अर्थात् विचार ही त्रिलोक की आसक्ति से मुक्त करता है।

रज्जब वाइक[1] वाजि[2] पर, जानराइ[3] असवार।

ताके वश वसुधा सभी, ता में फेर न सार ॥१४॥

वचन[1] रूप अश्व[2] पर विचारवान्[3] रूप असवार बैठा है, सभी पृथ्वी के प्राणी उस विचारवान् के अधीन हैं किन्तु उसके सार सिद्धान्त में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता।

चित चेतन छाजा अगम[1], बैठे ज्ञान विचार।

रज्जब रामति राम का, सो देखे दीदार ॥१५॥

मन इन्द्रियों के अविषय[1] चेतन-महल के चित्त रूप छाजे पर ज्ञान-विचार स्थित हैं, वह प्राणी राम की विहार स्थली सृष्टि को तथा राम के स्वरूप को भी संशय विपर्य्यय रहित देखता है ।

रज्जब ज्ञान विचार गृह, जाप जिकर ठहराय ।
जैसे भोढल के भुवन, दीवा बुझ नहिं जाय ॥१६॥

जैसे भोढल के घर में दीपक ठहरता है, वायु से नहीं बुझता, वैसे ही ज्ञान-विचार का घर जो हृदय है वा ज्ञान-विचार ही घर है उस घर में ब्रह्म-चिन्तन तथा ब्रह्म-चर्चा ठहरती है, अश्रद्धा से नष्ट नहीं होती ।

समझ समावे शब्द में, परिखे[1] प्राणि प्रवीन ।
जानर[2] पैठे ज्योति में, रज्जब ह्वै लै लीन ॥१७॥

चतुर साधक प्राणी ही शब्दों की परीक्षा[1] करते हैं और समझकर उनके विचार में प्रविष्ट रहते हैं । इस प्रकार ब्रह्म-ज्योति को जानकर उसी में वृत्ति द्वारा मिले रहते हैं ।

रज्जब अकलि[2] इनायत[3] अकल[1] की, प्राणी जो पावे ।
सो काया माया मांड सौं, गंज्या[4] नहिं जावे ॥१८॥

यदि प्राणी को निरंजन राम[1] की ज्ञान[2]रूप कृपा[3] प्राप्त हो जाय, तो वह शरीराध्यास, माया की आसक्ति और ब्रह्माण्ड के भोगों के राग से कभी नष्ट[4] नहीं हो सकता, ब्रह्म को प्राप्त होकर अमर हो जाता है ।

विचार बगहरी[1] टालिये, तो टले कुबाइक[2] चोट ।
रज्जब उबरे[3] आतमा, बैठ अकलि[4] की ओट ॥१९।

विचार के द्वारा कुमति[1] को दूर करोगे तो कुवचनों[2] की चोट तुम-पर नहीं पड़ेगी, इस प्रकार ज्ञान[4] की ओट में स्थित रहने से जीवात्मा अनेक दुःखों से बच[3] जाता है ।

पाषाण बाण वाइक[1] बुरे, ज्ञान सु गैंडे ढाल ।
रज्जब बाँह विवेक मिल, चेतन[2] चोटैं टाल ॥२०॥

बुरे वचन,[1] पत्थर तथा बाण के समान होते हैं, पत्थर और बाणों से देह को हाथ और गैंडे की ढाल मिलकर बचाते हैं, वैसे ही बुरे वचनों की चोट सावधान[2] साधक विवेक और ज्ञान के द्वारा बचाते हैं ।

वपु[1] वसुधा[2] में विघ्न बहु, टाले एक विचार ।
रज्जब पड़े न प्राणि पर, इस माया की मार ॥२१॥

जीवन काल में पृथ्वी[2] पर शत्रु आदि द्वारा और शरीर[1] में रोगादि द्वारा बहुत विघ्न आते हैं, उन सबसे बचाने में एक विचार ही समर्थ है। विचारशील प्राणी पर इस माया की आसक्ति आदि से होने वाली मार नहीं पड़ती।

जन रज्जब नट साधु के, साधन सुमति बात।
द्वै निकसे बहु अण्यों[1] में, चोट न लागे गात ॥२२॥

नट तथा संत इन दो के साधन और सुबुद्धि की ही विशेष बात होती है, नट अपने शरीर को इस प्रकार साध लेता है कि बहुत-से शस्त्रों की नोकों[1] में से सर्प के समान बल खाता हुआ निकल जाता है किन्तु उसके किसी भी शस्त्र की नोक की चोट नहीं लगती, वैसे ही संत भी सुमति के बल से अनेक आसुर गुणों से निकल जाता है किन्तु उनका आघात संत पर नहीं लगता।

ज्यों नट निकसे अण्यु हुं में, अंगहि लावे नाँहि।
त्यों रज्जब कहिबा कठिन, महन्त मसंदौं[1] माँहि ॥२३॥

जैसे नट शस्त्रों की नोकों में से निकल जाता है, कहीं भी शरीर को नहीं लगने देता, वैसे ही बड़े तकियों[1] का सहारा लिये गद्दी[1] पर बैठने वाले महन्त भोग सामग्री द्वारा आसुरी गुणों से उनकी चोट बिना खाये निकल जावें यह कहना कठिन है।

शब्द बोलना सभा में, सतरंज का सा खेल।
रज्जब कीया मात[1] मत, दुर्लभ दुर्जन पेल[2] ॥२४॥

सभा में श्रेष्ठ संत के समान आसुर गुण-सेना सहित मोह महाराज को विजय करने के शब्द बोलना तो सतरंज के खेल के समान है, जैसे सतरंज की विजय से कोई देश हाथ नहीं लगता, वैसे ही बातों से ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता किन्तु जिसने दुर्जन मत तथा दुर्गुणों को अपनी विचार शक्ति तथा दैवी गुण-सेना से हरा[1] कर हटा[2] दिया है, वह संत दुर्लभ है।

शब्द गहैं शमशेर[3], प्राणी पायक[1] की कला[2]।
टाले घाले हेर, सकल खिलारों में भला ॥२५॥

सतरंज के खेल में पादाति[1] की शक्ति[2] खेलने वाला प्राणी है, वही अपनी विजय के विचार द्वारा देखकर किसी को तो टाल देता है और किसी को मार देता है, इस प्रकार जो विजय प्राप्त करता है, वही सब खिलाड़ियों में अच्छा माना जाता है, वैसे ही साधक शब्द रूप तलवार[3] को ग्रहण करके विचारपूर्वक देखता हुआ अपने सहायक दैवी

गुणों को बचाकर आसुर गुणों को मारता हुआ मोह-नृप को विजय करता है, वही साधक श्रेष्ठ है ।

रज्जब बाइक[1] वाजि[2] पर, चढे सु बावन वीर[3] ।
संसार समुद्र ऊपरि चले, ले पहुंचावे तीर ।।२६।।

वचन[1] रूप अश्व[2] पर बड़ा शूरवीर[3] रूप साधक चढ़ता है अर्थात् वचनों को विचारता है, तब वह साधक को लेकर संसार-समुद्र के ऊपरि से चलता हुआ ब्रह्म प्राप्ति रूप तीर पर पहुंचा देता है ।

मनसा[1] नटनी बैन बरत[2] चढ, खेले कला अनूप ।
रज्जब चलतों धरणि गगन बिच, रीझहिं वेत्ता भूप ।।२७।।

नटनी रस्से[2] पर चढ़कर अनुपम कला के द्वारा खेल खेलती है, उसे आकाश और पृथ्वी के बीच चलते देखकर राजा भी प्रसन्न होते हैं, वैसे ही बुद्धि[1] शब्द पर जाकर अनुपम विचार करती है, उसे माया और ब्रह्म के बीच गमन करते देखकर ज्ञानी भी प्रसन्न होते हैं ।

अविती[1] सविती[2] केलवणि[3], साधु वेद[4] संसार ।
सौंधी सौं महँगी करी, नमो केलवणहार[5] ।।२८।।

संसार में संतजन ज्ञान[4] के उपदेश द्वारा विचार-धन-रहित[1] बुद्धि[3] को विचार-धन सहित[2] कर देते हैं, उक्त प्रकार जिन संतों ने साधकों की सौंघी बुद्धि को महँगी करी है, उन विचारवान्[5] संतों को हम नमस्कार करते हैं ।

शब्द केलवणि[1] कलि[2] कलै[3], गिरा गुप्त गति जाणी ।
रज्जब मोहे रामजी, सुन वेत्तों[4] की वाणी ।।२९।।

बुद्धि[1] शब्दों के विचार द्वारा कलियुग[2] में भी ऐसी कलाबाजी[3] करती है कि जिन ज्ञानी[4] जनों की वाणी को सुनकर राम जी भी मोहित होते हैं, उनकी वाणी की गुप्त अर्थ रूप गति को भी जान जाती है ।

छोटे मोटे शब्द सुन, समझ्या वह नहिं जाय ।
शब्द शोर[1] ज्यों श्रवण लग, अर्थ विचार समाय ।।३०।।

विचारवान् सन्तों के छोटे मोटे शब्द अर्थात् थोड़े बहुत शब्द सुनकर समझ लेता है, वह भी विषयों की ओर रागपूर्वक नहीं जाता और जिसके कानों के कोलाहल[1] के समान संतों के शब्द लगते ही रहते हैं, वह तो उनका अर्थ विचार के ब्रह्म में ही समा जाता है ।

भली बुरी संसार की, साधू दिल न समाय ।
पारीछे[1] के नीर ज्यों, जन रज्जब चलि जाय ।।३१।।

जैसे कूप से जल निकालने का चरस जिस शिला पर पड़ता है, उस शिला[1] में चरस का जल नहीं घुसता पड़ते ही बह जाता है, वैसे ही संसार की भली-बुरी बातें संत के हृदय में विचार के कारण नहीं घुसतीं, आती हैं वैसे ही चली जाती हैं ।

जब गाफिल[1] गुफतार[2] ह्वै, तब हाजो[3] तइयार ।
और कहाव[4] न कीजिये, रज्जब इहै विचार ॥३२॥

निन्दक[3] जब असावधान[1] अवस्था से सावधान होकर बात करने वाला[2] होता है तब निन्दा करने को तैयार रहता है, अन्य कहने[4] की बात नहीं कहता, उसका ऐसा ही विचार होता है, वैसे ही संत बे-परवा[1] स्थिति से उतरकर बात करने वाले[2] होते हैं तब ब्रह्म सम्बन्धी बात करने को तैयार रहते हैं, अन्य कुछ नहीं कहते, उनका विचार इस स्थिति का ही होता है ।

चंचल बाणी श्रवण सुन, मुनिजन पकडैं मौन ।
साधू छाँह सुमेरु की, रज्जब डिगे न पौन ॥३३॥

संत सुमेरु की छाया के समान हैं, जैसे सुमेरु की छाया वायु से नहीं हिलती, वैसे ही संतजन चंचल करने वाली वाणी सुनकर मौन धारण करते हैं, चंचल नहीं होते ।

जाण पणे का जीव[1] है, जे छूटे बकबाद ।
समझ समावे शून्य[2] में, सु गुरु ज्ञान परसाद ॥३४॥

यदि वाद विवाद छूट जाय तो समझो कि इसे जानपने (ज्ञातत्त्व) का सार[1] प्राप्त हुआ है, ऐसा व्यक्ति श्रेष्ठ गुरु के ज्ञान-प्रसाद को विचार द्वारा समझकर ब्रह्म[2] में समा जाता है ।

यथा नगारा चोट सुन, हिम गिरि करे उपाधि ।
जन रज्जब यूं जानियँहि, तहां मौन व्रत साधि ॥३५॥

नगारे पर डंका की चोट पड़ने पर उसकी मंगल रूप ध्वनि से भी हिमालय पर्वत बर्फ के शिखर गिराना रूप उपाधि करने लगता है, वैसे ही यदि कोई हितकर शब्द बोलने पर भी उपाधि करने लगे तो वहां यही जानना चाहिए कि यहां मौन व्रत धारण करना ही अच्छा है ।

जहां बोलैं वीर रु दैत्य दहाडैं[1], खेल खवीसौं माँडचा ।
जन रज्जब तिनमें जब बादै, तब बालक वपु छाडचा ॥३६॥

जहां हाथ में शस्त्र लिये वीर मारने के लिये हाँक दे रहे हों, दैत्य गर्जना[1] कर रहे हों, खवीस (भूत-प्रेत, दुष्ट, कृपण) अपना खेल रच रहे हों, उक्त

स्थानों में जब विवाद करता है तब वह अज्ञानी उसका फल अपने शरीर का त्याग रूप परिणाम ही देखता है ।

सबै दिशावर उठ गया, जबै दृष्टि उठ जाँहि ।
ज्यों रज्जब पलकों मिल्यों, दिन दीसै कुछ नाँहि ॥३७॥

नेत्र की दोनों पलक मिल जाती हैं तब दिन में भी कुछ नहीं दीखता, वैसे ही जब भेद दृष्टि उठ जाती है तब सभी देशान्तर आदि भेद उठ जाते हैं, संपूर्ण विश्व अपना स्वरूप ब्रह्म रूप ही भासता है ।

भला न आवै भलै हि तज, बुरा बुरों बस जात ।
जन रज्जब जग जीव सौं, आय कहै क्यों बात ॥३८॥

भला मानव भले लोकों को छोड़कर नहीं आता और बुरा मानव बुरे लोकों में ही बसा रहता है, ऐसी दशा में जगत् के जीवों के पास आकर उन्हें भलाई तथा बुराई के परिणाम की बात कोई क्यों कहेगा ?

साधु चोर भाई उभय, छाड एक घर जाँहि ।
रज्जब सुख दुख वश पडैं, सो फिर आवें नाँहि ॥३९॥

साधु और चोर दो भाई हों, दोनों एक दिन ही घर छोड़कर चले जावें, फिर साधुता के सुख भोग के लिये साधु और चोरी के दंड रूप दुःख भोगने के लिये राज पुरुषों के वश पड़ा चोर घर पर कहां आते हैं, ऐसा ही विचार परलोक में जाने वाले भले तथा बुरों का है ।

अज्ञान उदर माँहीं पड़्या, लहै न ज्ञान निकास ।
रज्जब अरभख[1] अवधि की, कहु क्या कीजे आस ॥४०॥

अज्ञान रूप पेट में पड़ा हुआ अज्ञानी रूप बच्चा[1] जब तक आत्मज्ञान रूप निकलने के मार्ग को न प्राप्त करे तब तक कहो ? उसके निकलने के समय की अवधि की क्या आशा करें ?

पंखि अंखि पावे नहीं, तो जीवन पद नास ।
रज्जब बिना विवेक यूं, ता की कैसी आस ॥४१॥

पक्षी को आँखें नहीं प्राप्त हो तो उसका जीवन नष्ट प्रायः ही है, वैसे ही मानव को विवेक-विचार-नेत्र नहीं मिलते तब तक नित्य जीवन ब्रह्म पद के प्राप्त होने की क्या आशा है ?

तन मन सूने समझ बिन, सांई साधु न एक ।
रज्जब उजड़ अकलि बिन, वस्ती नहीं विवेक ॥४२॥

जिसके मन में न प्रभु का चिन्तन और न तन से संत सेवा होती है, ऐसे प्राणी के तन-मन विचार बिना खाली ही रहते हैं, विचार बिना का हृदय उजड़ है, कारण, उसमें विवेक रूप वस्ती नहीं होती ।

शक्ति[1] रूप संसार सब, समझ्या कोई एक ।
रज्जब भूत[2] विभूति[3] में, विरलों भिन्न विवेक ।।४३।।

यह सब संसार माया[1] रूप ही है, सब प्राणी[2] माया[3] में ही आसक्त हैं, कोई विरले मनुष्यों का ही विवेक द्वारा माया से भिन्न विचार होता है, उनमें भी अपने स्वरूप को यथार्थ रूप से समझने वाला कोई एक ही होता है ।

जन रज्जब मन शून्य को, अज्ञान सु आभों[1] घेर ।
तो आतम आदित्य सह, वपु ब्रह्माण्ड अंधेर ।।४४।।

आकाश को बादल[1] घेर लेते हैं तब सूर्य भी नहीं दीखता और सभी ब्रह्माण्ड में अंधेरा हो जाता है, वैसे ही मन को अज्ञान घेर लेता है तब आत्म साक्षात्कार भी नहीं होता और शरीर में अविचार रूप अंधेरा ही रहता है ।

तहां औषधी अकलि[1] है, समझ[2] समीर[3] सु हेर[4] ।
मनसा वाचा कर्मना, और न छूटन फेर ।।४५।।

देख[4], बादलों से आच्छादित आकाश को साफ करने के लिये वायु[3] ही उचित उपाय है, वायु सभी बादलों को छिन्न-भिन्न कर देता है, वैसे ही मन का अज्ञान रूप रोग दूर करने के लिये बुद्धि[1] से आत्म-विचार[2] करना रूप ही औषधि है, यदि वह नहीं है तो फिर छूटने का अन्य उपाय कोई भी नहीं है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विचार का अंग ३६ समाप्त: ।।सा०१२५६।।

अथ पृथ्वी पुस्तक का अंग ३७

इस अंग में यह पृथ्वी ही पुस्तक रूप है ऐसा विचार कह रहे हैं—

रज्जब वसुधा वेद सब, कुल आलम सु कुरान ।
पंडित काजी वै[1] बड़े, दफ्तर दुनिया जान ।। १ ।।

यह सब पृथ्वी ही वेद है, और संपूर्ण संसार ही कुरान है, बड़े २ पंडित तथा काजी ही इनको बेचने[1] वाले हैं, यह दुनिया ही उनका दफ्तर समझो ।

सृष्टि शास्त्र हैं सही, वेत्ता करैं बखान ।

रज्जब कागद क्या पढे, पृथ्वी पुस्तक जान ।। २ ।।

जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, यह चार प्रकार की सृष्टि ही यथार्थ शास्त्र हैं, ज्ञानीजन इनके गुण धर्मादि का व्याख्यान करते हैं। हे साधक ! कागजों को क्या पढ़ता है ? कागजों में तो पृथ्वी में स्थित प्राणियों की ही बातें आई हैं, अतः पृथ्वी के उक्त चार प्रकार के प्राणियों को ही पुस्तक के पेज समझकर पढ और उनकी श्रेष्ठता को धारण कर तथा हीनता को त्याग ।

ब्रह्म वेद ब्रह्माण्ड यहु, कीया सकल कुरान ।

रज्जब मांड मुसाफ[1] को, बाँचैं जान सुजान ।। ३ ।।

ब्रह्म ने यह ब्रह्माण्ड ही वेद तथा कुरान रचा है किन्तु ब्रह्माण्ड-वेद के संत रूप पेज को सर्व मित्र[1] जानकर बुद्धिमान ही पढ़ते हैं अर्थात् शिक्षा ग्रहण करते हैं ।

रज्जब कागद कुंभिनी[1], आतम अक्षर रूप ।

ब्रह्म वेद वेत्ता[2] पढैं, अकलि[3] सु अजब अनूप ।। ४ ।।

पृथ्वी[1] ही जिसका काग़ज है और जिसमें जीवात्मा रूप अक्षर लिखे हैं, ऐसे ब्रह्माण्ड रूप ब्रह्म के वेद को, जिनकी बुद्धि[3] अद्भुत और अनुपम है, वे ज्ञानी[2] ही पढ़ते हैं अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु वा जीवात्मा से शिक्षा ग्रहण करते हैं ।

चतुर[1] खानि की काया कागद, आतम अक्षर माँहि ।

यह पुस्तक कोउ विरला बाँचे, घट घट समझ सु नाँहि ।। ५ ।।

जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, इन चार[1] खानि के जो शरीर हैं, वे हो काग़ज हैं, उनमें जीवात्मा हैं, वे ही अक्षर हैं, यह जो ऐसी पुस्तक है, इसे कोई दत्तात्रेय के समान विरला पुरुष ही पढ़ता है । इसको पढ़ सके ऐसी सुन्दर बुद्धि प्रत्येक शरीर में नहीं होती । दत्तात्रेय जी ने २४ सांसारिक प्राणियों से ही शिक्षा ली थी यह पुराण में प्रसिद्ध है ।

कागद काया कुंभिनी[1], दपतर दुनी[2] दिवान[3] ।

रज्जब आलम[4] इल्म[5] यहु, समझे सोउ सुजान ।। ६ ।।

पृथ्वी[1] के शरीर ही कागज हैं, दुनिया[2] ही दफ्तर है, ईश्वर ही मंत्री[3] है, संसार की विविध अवस्था[4] ही ज्ञान[5] है, इस पुस्तक को समझता है वही ज्ञानी है ।

प्राण[1] पिंड ब्रह्माण्ड तैं, उपजे च्यारयों वेद ।

ये रज्जब मुर[2] मूल हैं, भेदी[3] पावे भेद[4] ।। ७ ।।

जीवात्मा,[1] शरीर और ब्राह्मण्ड इनसे ही चारों वेदों की उत्पत्ति हुई है अर्थात् वेदों में उक्त तीन की उत्पत्ति, रक्षा, विनाश, गुण-धर्म और मुक्ति आदि का ही वर्णन है, अतः ये तीन[2] ही वेदों के मूल कारण हैं। रहस्य को जानने वाले[3] ज्ञानी ही इस रहस्य[4] को जान पाते हैं।

पंच तत्त्व पुस्तक मई,[1] जिनमें नाना भेद।
रज्जब पंडित प्राणि सो, जो बाँचे यहु वेद ॥ ८ ॥

जिनमें कार्य रूप इन्द्रियादि नाना भेद दिखाई देते हैं, वे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पांचों तत्त्व वेद की पुस्तक रूप[4] हैं, इस पुस्तक को जो पढ़ता है अर्थात् उक्त पंच तत्त्व और उनके कार्य तथा उनमें व्यापक चेतन को यथार्थ रूप से समझता है वही प्राणी पडित है।

कारण पंचों तत्त्व हैं, कारज चारों वेद।
जन रज्जब जग जाणि[1] सो, जो पावे यहु भेद ॥ ९ ॥

आकाशादि पंच तत्त्व कारण हैं और चारों वेद कार्य हैं, जो यह रहस्य जान पाता है, वही जगत् में ज्ञानी[1] है।

वपु में बारह स्कंध वेद, प्राण पवन मधि पाया भेद।
पंच पचीस सिपारे शाह[1], काया ऐन[2] कला मुल्लाह ॥१०॥

शरीर में ही भक्ति रूप बारह स्कंधों वाला भागवत् है, और ज्ञान रूप वेद है, प्राणी ने प्राण वायु को ब्रह्मरंध्र में रोक के यह रहस्य प्राप्त किया है। वैसे ही शरीर में पंच ज्ञानेन्द्रिय और पच्चीस प्रकृति सिपारे (कुरान का हर एक तीसवां हिस्सा अर्थात् ३० आयत) हैं। काया में ईश्वर[1] की इस कला को ठीक[2] समझता है, वही मुल्ला है।

ऋग रुचि चलै यजुर चखि जावै,साम श्रवण सुन भाषा भेद।
उदर अथर्वण सब कोउ जाने, रज्जब वपु सु चतुर्वेद ॥११॥

किसी पर रुचि चलना ही ऋग्वेद है, नेत्रों से देखना ही यजुर्वेद है, श्रवणों से भाषा भेद सुनना ही सामवेद है, पेट का अनुकूल प्रतिकूल ज्ञान ही अथर्ववेद है, इस प्रकार शरीर में चार प्रकार के ज्ञान ही चार वेद हैं।

अठार भार औषधि सभी, वेत्ता वैद्य लहंत।
त्यों पृथ्वी पुस्तक मई, मुखि मुखि वदति महन्त ॥१२॥

अठारह भार वनौषधियाँ सभी गुणों से युक्त हैं किन्तु ज्ञानी वैद्य ही उनके गुणों को जान पाते हैं, अन्य नहीं, वैसे ही मुख्य २ महान् संत

ही पृथ्वी पुस्तक रूप है यह रहस्य जानकर पृथ्वी को पुस्तक रूप कहते हैं, अन्य नहीं।

विष अमृत आकार आतमा, उभय उभय सु मंझार।
रज्जब वसुधा वेद सु वैद्यक, वेत्ता वैद्य विचार ॥१३॥

पृथ्वी रूप वेद तथा पृथ्वी रूप वैद्यक दोनों में ही जीवात्मा के लिये अमृत का स्वरूप तथा विष का स्वरूप है, वेद में आत्म-ज्ञान रूप अमृत है और भेद ज्ञान रूप विष है। वैद्यक में मारक औषधियाँ विष हैं और रक्षक अमृत है किन्तु पृथ्वी रूप वेद में स्थित अमृत तथा विष को विचार द्वारा ज्ञानी जानते हैं और वैद्यक स्थित अमृत तथा विष को विचार द्वारा वैद्य जानते हैं।

पाने पुस्तक एक के, हिन्दू मुसलमान।
सब में विद्या एक ही, पढै सु पण्डित प्रान ॥१४॥

हिन्दू और मुसलमान पृथ्वी रूप एक ही पुस्तक के पाने हैं, सभी में देखने-सुनने आदि की विद्या एक ही है अर्थात् सभी आँखों से देखते हैं कानों से सुनते हैं इत्यादि, किन्तु इस प्रकार के विचार से पृथ्वी पुस्तक को कोई ज्ञानी प्राणी ही पढ़ता है अर्थात् समझता है, अज्ञानी नहीं।

तन मन मथ ज्योतिष कथा, गर्ग सु गहरे ज्ञान।
गहण सहित गैणाग गम, रज्जब किया निदान ॥१५॥

तन को संयम द्वारा स्थिर करके तथा मन से विचार रूप मन्थन करके गर्गाचार्य ने ज्योतिष शास्त्र रूप गहरा ज्ञान कथन किया है, उसमें ग्रह गति से ही ग्रहण के सहित भविष्य बातों को जानने की गम प्राप्त होने का कारण कहा है, इससे भी पृथ्वी अर्थात् ब्रह्माण्ड पुस्तक सिद्ध होता है। गैणाग=गैन=गमन, आग=आगम=भविष्य।

कागद मसि के अक्षरों, पाठक प्राणि अनेक।
रज्जब पुस्तक पिंड का, कोइ पढेगा एक ॥१६॥

कागज और स्याही के अक्षरों की पुस्तक पढ़ने वाले प्राणी तो अनेक हैं किन्तु ब्रह्माण्ड और पिंड का पुस्तक कोई विरला संत ही पढ़ेगा।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पृथ्वी पुस्तक का अंग ३७

समाप्तः ॥सा०१२७५॥

अथ सद्गति सेझे का अङ्ग ३८

इस अंग में मुक्ति देने वाले ज्ञान के उमगने का स्थान संत हैं, यह कह रहे हैं—

शरीर सरोवर बुद्धि जल, शब्द मीन ह्वै माँहि ।
रज्जब पहले थे नहीं, पीछे मेले[1] नाँहि ॥ १ ॥

संतों का शरीर तालाब है, उसमें श्रेष्ठ बुद्धि रूप जल है, जल में मच्छियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही बुद्धि में ज्ञान पूर्ण शब्द उत्पन्न होते हैं, अज्ञान अवस्था में ऐसे शब्द बुद्धि में नहीं थे और पीछे ब्रह्म में लय होने पर भी नहीं मिलेंगे[1], कारण-शब्द उत्पत्ति के साधन नहीं रहेंगे। इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति प्रदाता ज्ञान के उद्गम स्थान संत ही हैं ।

बहुते सर सरिता भरैं, बादल बारंबार ।
तैसे रज्जब साधु गति[1], वेद[2] भेद[3] तिनलार ॥ २ ॥

बादल बारंबार बहुत से तालाब और नदियों को जल से भरते हैं, वैसे ही संतों की चेष्टा[1] है, वे भी ज्ञान[2] के रहस्य[3] को साधकों के हृदय में बारंबार भरते रहते हैं । अत: वेद के रहस्य उनके पीछे रहते हैं अर्थात् उनके द्वारा ही खुलते हैं ।

जल अनन्त आकाश में, पृथ्वी पर परिमाण[1] ।
साधु वेद यों अंतरा[2], जन रज्जब पहचान ॥ ३ ॥

आकाश में अनन्त जल रहता है किन्तु पृथ्वी पर सीमित[1] ही रहता है, वैसे ही साधु और वेद में जो भेद[2] है उसे पहचानो, अर्थात् साधु में अनन्त ज्ञान है और वेद में जो लिखित है वही है ।

साधू सेझे कूप जल, निगम[1] कलश हैं चार ।
जन रज्जब ता नीर की, कुल[2] पण्डित पणिहार ॥ ४ ॥

संत सेझे के (नीचे से जल उमगने वाले) कूप के समान हैं, जैसे सेझे के कूप में जल उमगता है, उसको कलशों में भरा जाता है फिर पनिहारियाँ सबके घरों में पहुंचाती हैं, वैसे ही संतों के हृदय में ज्ञान उमगता है, वह चार वेदों[1] में भरा जाता है, उनके द्वारा सब[2] पंडित-जन सबको देते हैं ।

आशिक शैर समुद्र है, मश्क कुरान कतेब ।
कुल काजी सक्के भये, रज्जब समझ हसेब ॥ ५ ॥

भगवत् प्रेमी संतों का ज्ञान समुद्र है, कुरान की किताब मश्क के समान है, और सभी काजी भिस्ती के समान हैं, जैसे भिस्ती समुद्र का जल मश्क से सबके पहुंचाता है, वैसे ही संतों के ज्ञान को कुरान द्वारा सब काजी सबके पहुँचाते हैं।

साधू सागर शब्द के, बुद्धि विवेक की खानि।
जन रज्जब वाणी विविध, सब संतन सौं जानि ॥ ६ ॥

संत शब्दों के समुद्र हैं उनकी बुद्धि विवेक-ज्ञान की खानि है, अतः नाना प्रकार की वाणियों के सभी रहस्यों को संतों से समझो।

साधु भूमि निज[1] ज्ञान की, पुराण अठारह भार।
रज्जब ज्यों थी त्यों कही, ता में फेर[2] न सार ॥ ७ ॥

संत स्वस्वरूप[1] आत्म-ज्ञान की भूमि हैं, भूमि पर जैसे अठारह भार वनस्पति हैं, वैसे ही संतों से अठारह पुराण प्रकट हुये हैं, हमने यह जैसी बात है वैसी ही कही है, इसमें परिवर्तन[2] की कोई बात नहीं है, यह सार रूप बात है।

चित चेतन[1] की बात है, चारों वेद कुरान।
जन रज्जब सो मानिय, तजिये तिन का थान ॥ ८ ॥

संतों के सावधान[1] चित्त की बातें वेद तथा कुरान हैं, वे अवश्य माननी चाहिये, किन्तु उन संतों के उत्पत्ति स्थान कुलों को त्याग देना चाहिये अर्थात् उनकी जाति को मान्यता देने की आवश्यकता नहीं।

वारि[1] बुद्धि माँही उदय, सफरी[2] शब्द समान।
ईहि प्रकार वाणी विविध, समझैं साधु सुजान ॥ ९ ॥

जैसे जल[1] से नाना प्रकार की मच्छियाँ[2] उत्पन्न होती हैं, वैसे ही बुद्धि से नाना प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विविध भांति की वाणी उत्पन्न होती है, उसे बुद्धिमान् संत ही समझते हैं।

पर्वत प्राणि हुं सौं चलैं, सलिता[1] शास्त्र सु सब्ब।
अंबु[2] अकलि[4] अद्यापियों, यूं[3] ही रज्जब अब्ब ॥१०॥

आज तक सभी नदियाँ[1] पर्वतों के जल[2] से भरकर चली हैं और अब भी पूर्ववत[3] ही पर्वतों के जल से परिपूर्ण होकर चलती हैं, वैसे ही आज तक सभी शास्त्र बुद्धिमान् प्राणियों की बुद्धि[4] से ही बने हैं और अब भी पूर्ववत ही बुद्धिमानों की बुद्धि से ही शास्त्र बनते हैं।

शैल[1] हुं सौं सलिता[2] चली, गुरु पीर[3] हु सौं प्रान।
उदधि[4] अविगत[5] को मिलहिं, दशा[6] दरशन निदान[7] ॥११॥

पर्वतों[1] से चलने वाली नदियों[2] में जल पड़कर समुद्र[4] में मिल जाता है, वैसे ही सिद्ध[3] संतों से प्रकट होने वाले ज्ञान में मिलकर प्राणी मन इन्द्रियों के अविषय ब्रह्म[5] में मिल जाते हैं। अतः संतों के ज्ञान में स्थित होना रूप अवस्था[6] ही ब्रह्म दर्शन की हेतु[7] है।

वाइक[1] बादल ज्यों उडहिं, आतम[2] शून्य[3] मँझार।

वेद कुरान घटा मिलहिं, अर्थ सु अंबु[4] अपार ॥१२॥

आकाश[3] में बादल उड़ते हैं, उनके मिलने से घटा बन जाती है, उस घटा में अपार जल[4] होता है, वैसे ही संतों की बुद्धि[2] में वचन[1] उड़ते हैं, उनके मिलने से वेद तथा कुरान बन जाते हैं, उनमें अपार सुन्दर अर्थ रहता है।

ज्यों दीपक राग रज्जब करै, त्यों तन सेझे ज्ञान।

तहां बहु वह्नी बैन लेहिं, हौं हि न एक समान ॥१३॥

दीपक राग गाया जाता है वहां भी श्रोता अग्नि[1] और वचन बहुत लेते हैं, वैसे ही संत शरीर से ज्ञान का सेझा निकलता है, वहां भी श्रोता ज्ञानाग्नि और वचन बहुत लेते हैं किन्तु दोनों एक जैसे नहीं होते, दीपक राग का अग्नि दाहक होता है और वचन मुक्तिदाता नहीं होते। ज्ञानाग्नि शांतिप्रद होता है, वचन मुक्ति-प्रदाता होते हैं, यह भेद रह जाता है।

गैलै गोला ना चले, गोले गैला होय।

रज्जब ढाहे बुरज को, फिर मुहरा[1] दे[2] सोय ॥१४॥

तोप का गोला मार्ग से नहीं चलता, गोले से मार्ग बन जाता है, वह किले की बुरज को गिरा देता है, फिर सामने[1] होकर आगे पैर देता[2] है वही वीर राज्य पाता है, वैसे ही ज्ञान कर्म-मार्ग से नहीं चलता, जहां ज्ञान का उपदेश होता है, वहीं परमार्थ मार्ग खुल जाता है, उस मार्ग से आगे बढ़कर साधक अज्ञान को जय करके ब्रह्म को प्राप्त करता है। इस साखी का उत्तरार्ध इस प्रकार भी मिलता है—"जन रज्जब साँची कही, देखो रे सब कोय। अर्थ स्पष्ट है।

तुरकी तेग[1] कुरान है, श्रुति[2] हिन्दू हथियार।

जन रज्जब अनुभव गुरज, जा के दह[3] दिशि धार ॥१५॥

मुसलमानों की तलवार[1] कुरान है हिन्दुओं का हथियार वेद[2] है और ज्ञानियों का शस्त्र अनुभव रूप गुर्ज (गदा) है जो दशों[3] दिशाओं में अर्थात् सभी ओर मार करता है।

रज्जब वेद कुरान गहि, जूझन[1] आये शूर।

ज्ञानी अनुभव गजा[3] गहि, मार किये चकचूर[2] ॥१६॥

परमार्थ मार्ग में हिन्दू वेद रूप शस्त्र और मुसलमान कुरान रूप शस्त्र लेकर युद्ध[1] करने आये हैं किन्तु ज्ञानी संतों ने तो अनुभव रूप महान् शिला[3] ग्रहण करके उसकी मार से अज्ञान तथा आसुर गुणों का चूर्ण[2] कर डाला है ।

रज्जब तुरकी तीर है, वेद बाण की धार ।
अनुभव वाणी गैब[1] गजु[2], त्यों त्यों करै सुमार ॥१७॥

मुसलमानों की कुरान बाण है, वेद उसकी धार के समान है और ज्ञानी संतों की अनुभव वाणी महान् गुप्त[1] शिला[2] के समान है, वह जिधर से पड़े उधर से ही मारती है और ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों भली प्रकार अज्ञानादि पर आघात करती है, भाव यह है–वेद तथा कुरान से अनुभव अधिक है ।

रज्जब रहता गढपति, बहतों माँड्या घेर ।
उक्ति अलेखै गिज[1] चलै, बहुत मुये इस फेर[2] ॥१८॥

गढ़पति पर बाहर के शत्रु घेरा डालते हैं तब गढ़पति की मार से बहुत मरते हैं, वैसे ही ब्रह्म में स्थित ज्ञानी को चंचल स्वभाव अज्ञानी पंडित शास्त्र चर्चा से घेर लेते हैं तब ज्ञानी की लेखबद्ध न होने वाले निरंजन ब्रह्म विषयक युक्ति और उक्तियों रूप महान् शिलाएँ[1] चलती हैं और इस ब्रह्म विचार रूप भावना[2] में आकर बहुत अज्ञानी पंडित जीवन्मुक्त हुये हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सद्गति सेझे का अंग ३८
समाप्तः ॥सा० १२६३॥

अथ साधु मिलाप मङ्गल उत्साह का अङ्ग ३९

इस अंग में संत मिलन से जो कल्याणप्रद उत्साह होता है उसका परिचय दे रहे हैं—

राम सनेही जब मिलैं, तब ही आनंद होय ।
जन रज्जब सो दिन भला, ता सम और न कोय ॥ १ ॥

राम के प्यारे संत जब मिलते हैं तब ही परमानन्द का अनुभव होता है, जिस दिन संत मिलते हैं वह दिन बहुत ही अच्छा होता है, उसके समान जीवन का और कोई भी दिन नहीं हो सकता ।

साधु समागम होत ही, जीव जलन सब जाय ।
जन रज्जब युग युग सुखी, दुख नहिं लागे आय ॥ २ ॥

संतों का समागम होते ही जीव के हृदय की चिन्तादिजन्य जलन दूर हो जाती है और प्राणी प्रति युग में ब्रह्म रूप होकर सुखी रहता है, फिर उसे जन्मादि दुःख स्पर्श नहीं करते ।

सलिल[1] शैल[2] जड़हूं उड़े, पाये इन्द्र अवाज ।
तो सन्मुख किन चालिये, आवत सुन शिरताज ॥ ३ ॥

इन्द्र गर्जन की आवाज सुनकर पर्वत[2] की जड़ों से जड़ जल[1] भी स्वागतार्थ उड़ता है अर्थात् पृथ्वी से उमगकर ऊपर आता है, तब मानव को अपने शिरोमणि संतों के आगमन को सुनकर उनके स्वागतार्थ अवश्य सामने जाना चाहिये ।

अति उछाह आनन्द अति, मन मंगल सु कल्यान ।
रज्जब मिलतों संतजन, सुख सागर दर्शान ॥ ४ ॥

संतजनों के मिलने पर अति उत्साह होता है, महान् आनन्द मिलता है, कल्याणप्रद मंगल कार्य होने लगते हैं और सुख-सागर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।

साधू सदन[1] पधारतैं[2], सकल होंहि कल्यान ।
रज्जब अघ[3] उडु[4] गण दुरहिं[5], पुण्य प्रकटे ज्यों भान ॥ ५ ॥

संतो के आश्रम[1] पर जाने से[2] जैसे सूर्य उदय होने पर तारा[4] गण छिप[5] जाता है, वैसे ही पुण्य उदय होकर पापों[3] का अभाव हो जाता है और सभी प्रकार से कल्याण होता है ।

भाग्य भूमि अस्थल उदय, आवहिं साधू[1] संत ।
जन रज्जब जग उद्धरे, जप जीवन भगवंत ॥ ६ ॥

उस भूमि, स्थल और वहां के निवासी जीवों का भाग्योदय होता है तभी श्रेष्ठ[1] संत आते हैं, उनके उपदेश से प्राणी अपने जीवन रूप भगवान् का नाम जपकर संसार से पार होके ब्रह्मस्वरूप में लय होते हैं ।

जिन देखे दुख दूर ह्वै, मिलतों मंगलचार ।
रज्जब रहिये संग तिन, विविध बहानों लार[1] ॥ ७ ॥

जिनको दूर से देखने पर भी दुःख दूर हो जाते हैं और मिलन सत्संग से तो मंगलाचार होने लगते हैं, उन सन्तों के संग नाना बहानों को साथ[1] रखकर भी रहना चाहिये ।

आँख्या आनंद श्रवण सुख, मन मंगल सु अगाध ।
जन रज्जब रस रंग ह्वै, मिलतों साधू[1] साध ॥ ८ ॥

श्रेष्ठ[1] सन्तों के मिलन से नेत्रों को दर्शनानन्द, श्रवणों को शब्दानन्द, मन को अपार मंगल का अनुभवानन्द और रस स्वरूप ब्रह्म का प्रेम, प्राप्त होता है।

साधु दर्श नैना ठरै[1], शब्द परस[2] सुन कान।
रज्जब मेला[3] मन मिल्यूं, सब ठाहर सुख सान[4]॥ ९ ॥

सन्तों के दर्शन से नेत्र शीतल[1] अर्थात् सुखी होते हैं, उनके शब्द सुनने को मिल जायँ[2] तो कान सुखी होते हैं और मिलने[3] पर उनके विचारों में मन मिल जाय तो सभी स्थानों को सुख मिलता[4] है।

रज्जब आँख कान अड़बी[1] मिटी, सुन्या सु देख्या नैन।
उभय ठौर आनन्द भया, चारचों पाया चैन॥१०॥

कान सुयश सुनकर प्रसंशा करता है तब आँख कहती है क्या पता है? ऐसे हैं या नहीं, यह आँख-कान का विवाद[1] मिट गया कारण—सन्त सुयश जैसा सुना था वैसा नेत्रों ने देख लिया। सन्त का दर्शन होते ही साधक तथा सन्त दोनों के हृदय स्थान में आनन्द होता है तथा दोनों के चारों नेत्र प्रसन्न होते हैं।

मंगल शक्ति[1] समान सब, शिव[2] मंगल सु अगाध।
रज्जब सो तब पाइये, जब घर आवैं साध॥११॥

सांसारिक सभी आनन्द मायिक बल[1] के समान सीमित ही होते हैं किन्तु ब्रह्म[2] प्राप्ति का आनन्द अपार है, जब सन्त घर आते हैं तबही वह ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।

और सकल सुख सुगम हैं, यहु सुख अगम अगाध।
रज्जब रसन[1] न कहि सके, जो सुख मिलतों साध॥१२॥

अन्य मायिक सुख तो सभी सुगम और सीमित हैं किन्तु जो सन्तों के मिलन से ब्रह्म सुख होता है वह अगम और अगाध है, उस सुख को कोई भी रसना[1] से अर्थात् वाक्य इन्द्रिय से नहीं कह सकता।

साधु समागम सु सुख को, कहिबे को समरत्थ।
रज्जब सब उनमान[1] की, जो कहिये कवि कत्थ॥१३॥

सन्त समागम के सुन्दर सुख को कथन करने में कौन समर्थ है? अर्थात् कोई भी नहीं, कविजन जो भी कथा कहते हैं, वे तो सभी सीमित[1] ही होती हैं।

जब दीवै दीवा द्रसे[1], तब तल के तम नाँहि।
यूं साधू साधू मिलत, अगम अशंका जाँहि॥१४॥

जब एक दीपक के समाने दूसरा दीपक रक्खा जाता है तब उन दोनों के नीचे के अँधेरे नहीं दिखाई[1] देते, वैसे ही सन्त से सन्त मिलता है तब अगम ब्रह्म सम्बन्धी दोनों की आशंकायें हृदय से चली जाती हैं।

यार[1] यार सोहै सही, ज्यों हाथ हिं धोवे हाथ।
मुख मोहन परसन[2] चलैं, साफ होय करि साथ ॥१५॥

एक हाथ से दूसरा हाथ मिलता है तब दोनों साथ ही धोये जाते हैं, वैसे ही साधु[1] से साधु मिलता है तब मुख से विश्व विमोहन परमात्मा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर[2] चलते हैं, जिससे दोनों के हृदय साफ होकर यथार्थ रूप से सुशोभित होते हैं। १४-१५ की साखी साधु के अंग ३२ में २८-२६ में आ गई थी यहां पुनः आई हैं।

परम पुरुष[1] पारस परसि, मन लोहे ह्वै फेर।
रैन दिवस वेला[2] न बल, रज्जब राचों[3] हेर[4] ॥१६॥

नेत्रों से[3] देख[4], पारस से मिलते ही लोहे में सुवर्ण रूप परिवर्तन हो जाता है सो रात्रि-दिन रूप समय[2] का बल नहीं मिलन का ही है, वैसे ही संत[1] से मिलने से जोव के हृदय में संतत्व रूप परिवर्तन होता है वह समय विशेष के बल से नहीं होता संत संगति से ही होता है।

जन रज्जब अज्जब दशा,[1] राजा परजा रुख[2]।
आनन्द पर आवहिं सभी, परवनि[3] पात्र[4] पुरुख ॥१७॥

जलाशय[4] में कमल[3] खिले होते हैं तब उनके दर्शन तथा सुगंधजन्य आनन्द लेने की इच्छा[2] से सभी पुरुष आनन्दप्रद समय पर ही आते हैं, वैसे ही संतों के पास ब्रह्मानन्द प्राप्त करने की इच्छा से राजा तथा प्रजागण आते हैं और संतों के सत्संग से अद्भुत आनन्दमय अवस्था[1] को प्राप्त होते हैं।

अदभू[1] मय आदम[2] उडैं, देखि औदशा[3] देश।
रज्जब परवनि[4] पर[5] पुरुष[6], शुभ ठाहर परवेश ॥१८॥

जैसे सूर्य किरण के मिलन से कमल[4] खिलकर उसकी राग वृत्ति सूर्य के स्वरूप में प्रवेश करती है, वैसे ही देखो, श्रेष्ठ[5] संत[6] पुरुषों के मिलन से वृक्ष[1] मय (जड़) मनुष्य[2] भी दुदर्शा[3] रूप पृथ्वी के प्रदेश से वृत्ति द्वारा उड़कर ब्रह्मरूप शुभ स्थान में प्रवेश करते हैं, अतः संत मिलन का महत्त्व महान् है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साधु मिलाप मंगल उत्साह का अंग ३६ समाप्तः ॥सा० १३११॥

अथ चरणोदक प्रसाद का अङ्ग ४०

इस अंग में चरण धोये हुये जल और प्रसाद का माहात्म्य कह रहे हैं—

चरणोदक रु प्रसाद कण, मुख न पड़े मति मंद ।
तो रज्जब अंतर रहा, कहिये गुरु गोविन्द ।। १ ।।

यदि गुरुदेव का चरण जल और प्रसाद का कण मुख में नहीं पड़ता है तो समझो वह शिष्य मति-मंद है तथा गुरु की कृपा और गोविन्द की प्राप्ति में उसकी यह अश्रद्धा ही विघ्न हो रहा है ऐसा ही कहना चाहिये ।

चरणोदक रु प्रसाद यूं, जे कोउ ले सत भाय ।
ज्यों रज्जब मुख मेल[1] तों, दुख दारू[2] तैं जाय ।। २ ।।

गुरु तथा गोविन्द का चरण-जल और प्रसाद कल्याण प्रदाता है ऐसा समझकर सच्चे भाव से कोई लेता है तो जैसे औषधि[2] मुख में रखने[1] से रोग-जन्य दुख जाता है वैसे ही गुरु-गोविन्द का चरण-जल और प्रसाद मुख में रखने से पाप नष्ट होते हैं ।

परसादी गुरुदेव दे, पस-खुरदा[1] पुनि पीर[2] ।
तो रज्जब सु कृपा कर्म, सुखी सौख[3] ईहि[4] सीर[5] ।। ३ ।।

गुरुदेव और सिद्ध[2] महात्मा जूठा प्रसाद[1] दे तो समझना चाहिये, यह काम उनकी सुकृपा होने का चिह्न है । शिष्य को प्रसाद प्राप्त करने की उत्कंठा[3] होती है तभी इस[4] प्रसाद में उसका साजा[5] होता है और वह प्रसाद पाकर परम सुखी होता है ।

कुमति काट[1] ऊपरि फिरे, भये अवनि[2] औलाद[3] ।
सो रज्जब पलटे नहीं, पारस मय सु प्रसाद ।।४ ।।

जो लोहा बहुत काई[1] आजाने से पृथ्वी[2] की संतान[3] वृक्ष के समान हो गया है वह पारस के स्पर्श से सुवर्ण रूप में नहीं बदलता, वैसे ही जो कुमति के प्रभाव से वृक्ष समान जड़ हो गये हैं वे ही बदलने वाले पारस रूप सुप्रसाद से संतरूप में नहीं बदलते, बाकी शुद्ध शिष्य तो बदलते ही हैं ।

उर्डाहि जु बात हि बात, सो मनिख[1] माँटी निकण[2] ।
ता में धर्म न धात[3], विषय वायु वश ह्वै बहैं[4] ।। ५ ।।

जो मिट्टी के सूक्ष्मकण[2] वायु से उड़ते हैं, उनमें कोई धातु[3] नहीं होती, वे तो वायु के वश होकर उड़ते[4] रहते हैं, वैसे ही जो मनुष्य[1] बातों ही बातों से उड़ते हैं अर्थात् दूसरे के बहकाने में आकर अपनी निष्ठा को

त्यागते हैं उनमें धर्म नहीं होता, वे तो विषयों के वश हुये जहां तहां घूमते रहते हैं। भाव यह है—अश्रद्धालुओं की बातों से प्रसाद सम्बन्धी श्रद्धा छोड़ देते हैं।

ज्यों न्यारचा[1] नर धोवतैं, कंचन किरची[2] मेल।
तैसे रज्जब साध के, चरणोदक में खेल ॥ ६ ॥

मार्ग की रेत छानने वाला[1] नर सुनार की राख धोता है तब उसे सुवर्ण का नुकीला छोटा टुकड़ा[2] मिलता है, वैसे ही सन्तों के चरण धोकर लेने वाले को पुण्य मिलता है।

कंचन किरचो[1] पाइये, नर न्यारे को धोय।
रज्जब पुणे[2] पहाड़ के, वित्त[3] न लाभै कोय ॥ ७ ॥

सुनारों की राख धोने से न्यारे नर को सुवर्ण के नुकीले टुकड़े[1] मिल जाते हैं किन्तु पहाड़ को धोने[2] से धन[3] का लाभ नहीं होता, वैसे ही संतों के चरण धोकर लेने से तो पुण्य मिलता है किन्तु लौकिक दृष्टि से बड़ों के चरण धोने से पुण्य नहीं मिलता।

स्रवी सु सोवन शैल तैं, तिन सलितों रज हेम।
रज्जब लहै न और नदी, मनसा वाचा नेम ॥ ८ ॥

जो सुवर्ण के पर्वत से चली हैं उन्हीं नदियों की रज में सुवर्ण है, हम मन वचन से नियम कर के कहते हैं, अन्य नदियों की रज में सुवर्ण नहीं मिलता, वैसे ही संत चरण-जल से पुण्य लाभ होता है अन्य से नहीं।

वेत्ता[1] वैरागर[2] मई[3], निकसे लाल अनूप।
रज्जब मुग्ध[4] मुरशिद[5] थली[6], क्या पावे खणि[7] कूप ॥ ९ ॥

ज्ञानी[1] संत तो हीरों[2] की खानि रूप[3] हैं, उनमें उपमा रहित भक्ति, वैराग्य, ज्ञानादि रूप अनेक लाल निकलते हैं किन्तु मूर्ख[4] गुरु[5] तो रेगिस्तान[6] की भूमि के समान है उसमें कूप खोद[7] कर क्या प्राप्त करे अर्थात् उस में लाल कहां ? कंकर भी नहीं निकलते, वैसे ही ज्ञानी सन्तों के चरण-जल तथा प्रसाद से पुण्य मिलता है मूर्ख भेष धारी के से नहीं।

सद्‌गुरु के सु प्रसाद में, भाव भक्ति करतार।
रज्जब वामा[1] बिन्दु[2] ले, बालक होत न बार[3] ॥१०॥

नारी[1] पुरुष से वीर्य[2] लेती है तब उसके बालक होने में देर[3] नहीं लगती समय पर हो ही जाता है, वैसे ही सद्‌गुरु के सुन्दर प्रसाद में भगवद् भाव और भक्ति रहती है अर्थात् प्रसाद से भक्ति प्रकट होकर

उसकी परिपाकावस्था के समय अवश्य ज्ञान होकर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

सद्गुरु के सु प्रसाद में, रज्जब दोष न कोय।
यथा कामिनी बाँझ के, बालक कदे न होय ॥११॥

यदि नारी बंध्या हो तो निर्दोष वीर्य होने पर भी बालक नहीं होता, वैसे ही सद्गुरु के प्रसाद में तो कोई दोष नहीं है किन्तु शिष्य में श्रद्धा नहीं हो तो प्रसाद से भक्ति ज्ञानादि नहीं होते फिर ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हो सकता है !

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित चरणोदक प्रसादका अंग ४०
समाप्त: ॥सा० १३२२॥

अथ दास दीर्घ का अंग ४१

इस अंग में भक्त का बड़प्पन बता रहे हैं—

रज्जब चारी[3] सुर सुरह[1], सुरतरु सींचणहार[2]।
पूजै साधु प्रसिद्ध को, दातारों दातार ॥ १ ॥

देवता, कामधेनु[1], कल्पवृक्ष और बादल[2] ये चारों[3] ही प्रसिद्ध संत को पूजते हैं कारण-उक्त चारों सांसारिक पदार्थ देते हैं और संत दानियों को भी मुक्ति देने से दातारों के भी दातार हैं।

साधु पारस पौरषा, चिन्तामणि दातार।
तहां रज्जब भृत भीख बिन, सो गति अगम अपार ॥ २ ॥

संत पारस, पौरषा (मनुष्याकार सुवर्ण का पुतला, इसकी पूजा करके इसी के हाथ पैर काटने से वे प्रतिदित पुन:पूर्ववत ही आ जाते हैं) चिन्तामणि (हाथ में लेकर जो इच्छा करे वही देने वाली मणि) के समान दातार हैं किन्तु वहां भी भिक्षा माँगने का दोष है, और संतों की सेवा करने वाले गृहस्थ भक्त भिक्षा माँगने के दोष से रहित हैं, उनकी संत सेवा रूप चेष्टा का फल अगम अपार ब्रह्म की प्राप्ति है, अत: दास बड़े हैं।

सती[1] यती[2] सौं है बड़ा, सुखदाई सब जंत[3]।
रज्जब सींचे इन्द्र ज्यों, निष्कामी निज मंत[4] ॥ ३ ॥

सद् गृहस्थ[1] संन्यासी[2] से भी बड़ा है, जैसे इन्द्र सबको जल प्रदान करता है, वैसे ही वह निष्काम भाव में स्थित अपने प्रयत्न[4] द्वारा सब जीवों[3] के लिये सुख दायक होता है।

सेवक सांई सारिखा, आश बिना जो दास ।
वैरागर[1] वैराग वश[2], रज्जब रहै निराश ॥ ४ ॥

वैराग्य के कारण[2] विषयाशा से रहित रहने वाला साधु तो हीरे[1] के समान है किन्तु जो विषयाशा से रहित होकर भी संतों की सेवा कर रहा है वह गृहस्थ भक्त तो परमात्मा के समान ही है ।

सृष्टि सहित सांई लिया, साधू ने उर माँहि ।
उभय समाने दास दिल, तो सेवक सम कोउ नाँहि ॥ ५ ॥

सन्त ने अपने हृदय में भगवान् की लीला रूप सृष्टि के सहित भगवान् को अभेद चिन्तन द्वारा धारण कर रक्खा है, अतः दास के हृदय में दोनों समाये हुये हैं इससे सेवक के समान अन्य कोई भी नहीं हो सकता ।

जन रज्जब जल दल[1] निमित्त, यती[2] सती[3] के जाय ।
भगवंत सहित भोजन किया, बड भागी भृत[4] भाय[5] ॥ ६ ॥

साधु[2] गृहस्थ[3] के घर अन्न[1]-जल के निमित्त जाता है और हृदयस्थ भगवान् के भोग लगा कर भोजन करता है, तब वहां भक्त और भगवान् दोनों ही जीमते हैं, अतः गृहस्थ भक्त[4] भाव[5] द्वारा बड भागी माना जाता है ।

भले बुरे भूले नहीं, आतम दृष्टी दास ।
रज्जब नाते नाम के, सब को देता ग्रास ॥ ७ ॥

चाहे भला भिक्षु आवे वा बुरा, आत्मा पर ही जिसकी दृष्टि जाती हैं ऐसा भक्त तो उनके भगवत् नाम उच्चारण के सम्बन्ध से सभी को भोजन देता है । किसी को भी नहीं भूलता ।

रज्जब उपजै दया दिल, मन में साधु न चोर ।
ज्यों इन्द्र उदार न देख ही, सर[1] ऊसर[2] की ठौर ॥ ८ ॥

जैसे उदार इन्द्र तालाब[1] वा अनुपजाऊ भूमि[2] आदि स्थानों के भेद को न देखकर सभी स्थानों में जल वर्षाता, है, वैसे ही आत्म दृष्टि भक्त के हृदय में तो दीनों को देख कर दया उत्पन्न होती है, उस के मन में साधु-चोर का भेद उत्पन्न नहीं होता, अतः वह सभी को देता है ।

सरवर तरुवर, सती[1] के, मुर[2] ठाहर मत एक ।
रज्जब जल दल[3] सम दृष्टि, यो[4] ही बडा विवेक ॥ ९ ॥

सरोवर, वृक्ष और सद्गृहस्थ[1], इन तीनों[2] का एक ही मत है, सरोवर जल देने में, वृक्ष फलादि देने में और सद्गृहस्थ अन्न[3]-जल देने में सम रहता है, यह[5] समता ही महान् विवेक-विचार माना जाता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दास दीर्घ का अंग ४१ समाप्तः ।सा.१३३१॥

अथ लघुता का अंग ४२

इस अंग में लघुता की विशेषता बता रहे हैं—

वित्त[1] बडाई में नहीं, बडा न हूज्यो कोय।
छाप[2] लई लघु आँगुली, रज्जब देखो जोय॥ १॥

बड़ाई में धन[1] नहीं मिलता है, धन प्राप्ति के लिये कोई भी बड़ा न बने, देखो, जो छोटी अँगुली है, उसी ने अँगूठी[2] प्राप्त की है बड़ी ने नहीं।

लघु[1] को बंदै लोग सब, लघु को लेंहि सु गोद।
जन रज्जब जोया[2] नजरि[3], देखो शशि सु कोद[4]॥ २॥

हमने दृष्टि[3] से देखा[2] है, तुम भी देखो, द्वितीया के छोटे[1] चन्द्रमा को सब प्रणाम करते हैं तथा छोटे बच्चे[4] को सभी गोद में लेते हैं, अतः लघुता अच्छी है।

अनल पंखि पावे नहीं, सो मधु मांखी लेंहि।
रज्जब रज गज ना लहै, सो मीठा मसिय[1] हिं देंहि॥ ३॥

पुष्पों से शहद को महान् अनल पक्षी नहीं निकाल सकता, किन्तु छोटी-सी शहद की मक्खी निकाल लेती है। रेते में मिली हुई शक्कर को महान् हाथी नहीं निकाल सकता किन्तु छोटी-सी मक्खी[1] वा चींटी[1] निकाल लेती है, यह लघुता की ही विशेषता है।

मात हिं मुश्किल मेघ जल, पूत करत पय पान।
रज्जब यूं लघुता लई, देख दई का दान॥ ४॥

माता को तो बादल का जल मिलना भी कठिन होता है और छोटा बच्चा दूध पीता है, इस प्रकार लघुता की विशेषता देख कर के ही हमने लघुता अपनाई है, देखो, लघुता तो ईश्वर का दिया हुआ दान है अर्थात् ईश्वर कृपा से ही हृदय में लघुता का भाव रहता है।

लघु के वश दीरघ सदा, देखो पणिच[1] पिनाक[2]।
रज्जब अज्जब साखि यहु, मन वच कर्म उर राख॥ ५॥

सदा ही बड़े छोटों के वश में रहते हैं, देखो, बड़ा धनुष[2] छोटी प्रत्यञ्चा[1] के वश रहता है, उसके खैंचे बिना नहीं चलता, यह अद्भुत साक्षी है, अतः मन वचन और कर्म से लघुता हृदय में रखना चाहिये।

शक्ति समुद्र उलंघि कर, दीरघ गया न कोय।
पवन पुत्र पहुँच्या तहां, जन रज्जब लघु होय॥ ६॥

कोई भी बड़ा अपनी शक्ति से समुद्र को उलंघन करके लंका में नहीं जा सका तब पवन पुत्र हनुमान् लघु बन कर के ही गये थे, इससे भी लघुता श्रेष्ठ सिद्ध होती है ।

मोटा मूल न जाव ही, राम राज दर जोय ।
रज्जब पैठे लघु तहां, तिस हि न बरजै कोय ।। ७ ।।

देखो, राज दरबार में वृक्ष का मोटा मूल नही जाता किन्तु छोटा पुष्प ही प्रवेश करता है, उसे कोई भी नहीं रोकता, वैसे ही राम के दरबार में अभिमान रहित लघुता संपन्न भक्त ही जाता है ।

मोटे डल फूटैं सही, मान मैज[1] तल आय ।
रज्जब रज का क्या करैं, ऊपरि ह्वै फिर जाय ।। ८ ।।

खेत जोतने से उखड़े हुये मिट्टी के बड़े २ डले तो बैलों द्वारा फेरे जाने वाले लम्बे लकड़े[1] से फूट जाते हैं किन्तु वह लकड़ा लघु रज का क्या कर सकता है ? अर्थात् रज के ऊपर फिर तो जाता है किन्तु उसे तोड़ नहीं सकता, यही लघुता की विशेषता है ।

सु गुरु बीज बड़ सारिखा, शिष शाखा विस्तार ।
रज्जब अज्जब देखिया, लघु दीरघ व्यवहार ।। ६ ।।

श्रेष्ठ गुरु तो वट बीज के समान है और शिष्य वट की शाखा-विस्तार के समान है, बीज तो लघु होने पर भी बना रहता है और उस से अनेक शाखायें निकलती हैं, वैसे ही गुरु निष्ठा में स्थित रहता है उस से अनेक शिष्य तैयार होते हैं । शाखा महान् होने पर भी नष्ट होती है । इस प्रकार छोटे और बड़ों का व्यवहार अद्भुत देखा गया है और लघुता में ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है ।

वारि बूंद रूपी सु गुरु, शिष समुद्र उनहार ।
रज्जब रचना राम की, लघु दीरघ सु विचार ।।१०।।

गुरु तो आकाश के जल की बिन्दु के समान हैं, शिष्य समुद्र के समान[1] है, जैसे आकाश के जल की बिन्दु छोटी होने पर भी मधुर है समुद्र विशाल होने पर भी खारा है, वैसे ही गुरु धनादि की दृष्टि से छोटे होने पर भी सर्व प्रिय हैं और शिष्य धन जनादि से बड़े होने पर भी सर्वप्रिय नहीं होते, इस प्रकार राम की लघु-दीर्घ रचना का भली-भांति विचार करने से लघुता ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है ।

गुरु बृहस्पति शुक्र से, शिष सब देव दयंत ।
ज्यों मंदिर पर कलश लघु, अति सुन्दर शोभंत ।।११।।

मंदिर तो महान् है और उसके उपर कलश लघु है तो भी अत्यन्त सुन्दर शोभा देता है वैसे ही गुरु तो बृहस्पति तथा शुक्राचार्य के समान हैं और शिष्य देवता तथा दैत्यों के समान हैं गुरु लघु होने पर भी सुशोभित हो रहे हैं, यह लघुता की विशेषता प्रकट दीख रही है ।

सब अवतारों के सु गुरु, देखो आदि अतीत[1] ।
रज्जब पाई प्राणि ने, लघु दीरघ सु प्रतीत[2] ॥१२॥

देखो, आदि काल में भी सभी अवतारों के गुरु संत[1] हुये हैं, इस प्रकार विचारशील प्राणियों ने बड़ों में भी लघुओं की प्रसिद्धि[2] देखी है ।

रज्जब चेले चक्कवै, गुरु गरीब ही तास ।
उनको उस दरबार की, उन माँही करि आस ॥१३॥

चेले तो चक्रवर्ती राजा हुये हैं और उनके गुरु गरीब धन रहित विरक्त हुये हैं किन्तु उन बड़े २ चक्रवर्तियों की उस परमात्मा के दरबार में जाने की आशा उन विरक्तों के द्वारा ही पूर्ण हुई है । यह लघुता की विशेषता है ।

मुरीद[1] मुलुक[2] सलूक[3] के, देखो राह[4] रसूल[5] ।
रज्जब अज्जब सखुन[6] यहु, सुन सब करो कबूल ॥१४॥

देखो, पैगम्बरों[5] का मार्ग[4] अर्थात् सिद्धान्त और देश[2] के शिष्यों[1] का व्यवहार[3] उससे यह लघुता को अद्भुत बात[6] मिलती है, इसे ध्यान से सुनकर सभी को स्वीकार करना चाहिये अर्थात् हृदय में लघुता का भाव रखना चाहिये ।

सत जत सुमिरन किये का, जे बल होयन माँहि ।
सो रज्जब राम हि मिले, संशय कोई नाँहि ॥१५॥

यदि मन में सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य, हरि स्मरण आदि साधन करने का अभिमान रूप बल नहीं हो अर्थात् बड़ा पन नहीं हो तो वह साधक अवश्य राम को प्राप्त होगा, इसमें किसी प्रकार का भी संशय नहीं है ।

गर्व न गिरवर[1] ठाहरैं, आतम अंभ[2] समान ।
रज्जब आवहिं उभय चल, नम्रीभूत[3] निवान[4] ॥१६॥

पर्वत[1] शिखर पर जल[2] नहीं ठहरता, वैसे ही गर्व पर जीवात्मा नहीं ठहरता, जल और जीवात्मा दोनों ही पर्वत और गर्व से चलकर तालाब[4] तथा नम्रता में आते हैं । अतः अन्त में प्राणी नम्ररूप[3] हो जाता है ।

नरहरि[1] आव हि नीर ज्यों, नम्री[2] भूत निवान ।
रज्जब अज्जब दीनता, छह[3] दर्शन कहि छान[4] ॥१७॥

जैसे जल तालाब में आता है, वैसे ही भगवान्[1] नम्रता[2]युक्त भक्त के आते हैं, छः[3] शास्त्र तथा योगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्सासी और शेष, ये ६ प्रकार के भेषधारी भी अनुसंधान[4] करके कहते हैं कि—दीनता अद्‌भुत गुण है।

गरीब निवाज गुसांइयाँ, विसर जु विरुद[1] न होय।
निरख नीच कुल पद्मनी, साखि भरैं सब कोय ॥१८॥

देखो, पद्मनी जाति की नारी नीच कुल में उत्पन्न हो जाती है, इस की साक्षी सभी देते हैं, वैसे ही ईश्वर भी विश्व में फैले हुये अपने यश[1] को नहीं भूलते नीच कुल में उत्पन्न नम्र भक्त को भी दर्शन देते हैं।

मिंहदी चंदन चाहि कर, काजल सुरमा जोय।
पग छाती नैंन हुं चढ़े, रज्जब नान्हे होय ॥१९॥

मेंहदी, चन्दन, काजल और सुरमा पीस कर महीन बनाये जाते हैं तब ही, मेंहदी माता बहिनों के चरणों में लगती है, चन्दन घिसने से ही छाती के लगाया जाता है, काजल तथा सुरमा महीन होने से ही नेत्रों में लगाया जाता है, वैसे ही भगवत् प्राप्ति की इच्छा द्वारा लघुता आती है तब ही भगवत् को प्राप्त होता है।

साधू केशर अंग[1], कसत[2] घसत उपमा बढ़ै।
रज्जब रचना रंग[3], तिलक छंट[4] मस्तक चढ़ै ॥२०॥

साधक संत का अन्तःकरण[1] केशर के समान है, केशर को घिसते हैं तब ही उस की रंग रूप उपमा बढ़ती है और उसकी बिन्दु[4] मस्तक पर लगाई जाती है, वैसे ही संत का अन्तःकरण कष्ट[2] देने पर लघुता से युक्त होता है, उस लघुता की उत्पत्ति से भगवत् प्रेम[3] जमता है और उस प्रेम से भगवान् को मिलता है।

नान्हों सौं नान्हैं हुये, बारीक हुं बारीक।
सो रज्जब राम हिं मिले, जो चाले लघु लीक ॥२१॥

जो अपने को लघु से भी लघु मानते हैं, और जिनकी वृत्ति विषय स्थूलता को त्याग कर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो गई है, इस प्रकार जो लघुता की लकीर पर चले हैं अर्थात् लघु बने हैं, वे राम को प्राप्त हुये हैं।

महा मिहो[1] मन को मिलै, सूक्षम सांई आय।
जन रज्जब पति परसिये, आपा सकल उठाय ॥२२॥

जो महान् सूक्ष्म[1] हो जाता है उसी मन को सूक्ष्म परमात्मा मिलते हैं, अतः संपूर्ण बड़प्पन के अहंकार को हृदय से हटा करके अपने स्वामी परमात्मा से मिलना चाहिये ।

बारीक मिही झीणहुं परे, शून्य समान न कोय ।
जन रज्जब तासौं मिलन, तब तैसा ही होय ॥२३॥

बारीक से भी बारीक उस से भी अति सूक्ष्म ब्रह्म के समान कोई नहीं है, उस ब्रह्म से मिलना है तो, उस ब्रह्म जैसा ही सूक्ष्म बन ।

निशा रूप नर देखिये, सांई सूर सुभाय ।
उभय सु आवे आप सौं, जे रज्जब रजनी जाय ॥२४॥

नर में बडप्पन रात्रि के समान है और परमात्मा सूर्य के समान है, जब पृथ्वी से रात्रि चली जाती है और नर से बड़प्पन चला जाता है, तब पृथ्वी पर सूर्य और नर के हृदय में परमात्मा दोनों अपने आप ही आ जाते हैं ।

अकल[1] कलै[2] आपा उठे, दीन हुं दीन दयाल ।
रज्जब परिचय प्राण पति, होता है इस हाल ॥२५॥

जब हृदय से बड़प्पन का अहंकार हट जाता है तब उन दीन जनों का दीन दयालु निराकार[1] परमात्मा के साथ सम्बन्ध[2] हो जाता है, इस निरहंकार स्थिति में ही प्राण पति प्रभु का साक्षात्कार होता है ।

रज्जब अपने लाभ को, ढीकू[1] ढिग डंडौत ।
जग जगदीश्वर पाइये, मही महंत निनौत[2] ॥२६॥

अपने लाभ के लिये पानी निकालने वाली ढीकली[1] के पास भी नीचा झुकना पड़ता है तभी उस से जल मिलता है वैसे ही पृथ्वी में प्रधान संतों के पास नम्रता[2] पूर्वक दंडवत आदि करने से ही जगत् में जगदीश्वर प्राप्त होते हैं ।

रज्जब रज ऊंची चढी, तो तामें क्या वित[1] वीर[2] ।
सांई सौंपी शक्ति सब, नीचा चलतों नीर ॥२७॥

हे भाई[2] ! रज ऊंची चढती हो तो उसमें क्या धातु रूप धन[2] रहता है ? अर्थात् नहीं, वैसे ही जो बड़ा बनता है उसमें कुछ विशेषता नहीं होती । जल आकाश से नीचे आता है इसी से उसे परमात्मा ने उत्पत्ति, पोषण आदि की सब शक्ति दी है, वैसे ही जो नम्र होता है उसी को प्रभु विशेष शक्ति प्रदान करते हैं ।

रज्जब ताक तराजू हिं, पुनि पलड़ा निरताय ।
भारी नीचे को धुके[1], हलके ऊंचे जाय ॥२८॥

तुला को देख, फिर उसके पलड़ों को देख, भारी नीचे को झुका[1] होगा और हल्का ऊंचे जाता दिखाई देगा, वैसे ही मनुष्यों का विचार कर जो बड़ा होगा वह नम्र होगा और जो छोटा होगा वह अपने को बड़ा बतायेगा ।

तरुवर सफल सजल अति आभे[1], मानस सुगुण नमैं[2] निज दास ।
जन रज्जब फल जल गुण छूटें, तीन्यों ऊंचे जाँय अकाश ॥२९॥

फलों से युक्त वृक्ष, अधिक जल से युक्त बादल[1] और जिस के मन में श्रेष्ठ गुण हों ऐसा भगवान् का निज भक्त ये नीचे ही नमते[2] हैं और फल, जल, सुगुण से रहित तीनों ऊंचे आकाश में ही जाते हैं अर्थात् जिन वृक्षों में फल नहीं हों उनकी टहनी आकाश की ओर ऊंची जाती हैं, जल रहित बादल ऊंचे जाते हैं और सुगुण हीन मनुष्य बड़े बनते हैं ।

रज्जब झरते[1] धुकि[2] धरनी मिलहिं, अझर सु ऊंचे जाँहि ।
उभय अंग[3] आभे लियों, कृपण कृपालु हुं माँहि ॥३०॥

वर्षने[1] वाले बादल झुक[2] कर पृथ्वी से मिलने के लिये नीचे की ओर आते हैं, और न वर्षने वाले ऊंचे जाते हैं, वैसे ही बादलों के दोनों लक्षण[3] कृपण और कृपालु जन लिये रहते हैं अर्थात् कृपण तो बड़े बनते हैं और कृपालु नम्र होते हैं ।

जड़ नीचहुं ऊंचे गये, रज्जब नर तरु साखि ।
मनसा वाचा कर्मना, तातें लघुता राखि ॥३१॥

भारी होने से वृक्ष की जड़ नीचे ही रहती है और हलके होने से पत्र, फूल, फल ऊंचे रहते हैं, वैसे ही जो नर अपने को बड़ा मानते हैं वे नीचे रहते हैं और जो अपने को लघु मानते हैं वे मन वचन कर्म से ऊंचे अर्थात् श्रेष्ठ होते हैं, इससे हृदय में लघुता ही रखनी चाहिये ।

आपै[1] चढ नीचा गया, उतरचों ऊंचा जाय ।
ज्यों रज्जब कर बेणु परि, निरख नाद निरताय ॥३२॥

वंशी पर हाथ को देखो, वंशी को बजाते समय हाथ ऊंचा जाता है तब तो उसे नीचे आना पड़ता है और नीचे जाता है तब ऊंचे आता है, वैसे ही विचार करके देखो, जो अभिमान[1] से बड़ा बनता है, उसे छोटा होना पड़ता है और जो छोटा बनता है वह बड़ा बन जाता है ।

परमारथी पन्नग[1] पति, सृष्टि भार शिर लीन ।
तो रज्जब प्रभु पुहमि[2] पर, नाम तिन्हों के कीन ।।३३।।

शेषजी[1] ने जैसे सृष्टि का भार अपने शिर पर ले रक्खा है, वैसे ही परोपकारी सज्जन दीन दुखियों के दुःख दूर करने का भार अपने पर लेते हैं तब परमात्मा पृथ्वी[2] पर उनका नाम अमर कर देते हैं ।

गुण डोरी नीचे खिचत, ज्ञान दीप आकाश ।
रज्जब उलटे पेच[1] को, समझै समझ्या दास ।।३४।।

घरों पर आकाश दीपक जलाया जाता है तब ज्यों २ उसकी डोरी नीचे खैंची जाती है त्यों २ वह ऊंचा जाता है, वैसे ही ज्यों २ गुण नीचे खैंचे जाते हैं अर्थात् कम किये जाते हैं त्यों २ ज्ञान ऊंचा अर्थात् बढ़ता जाता है किन्तु इस उलटी समस्या[1] को विचार शील भक्त ही समझ पाता है ।

नीचे ऊंचे थान पर, बैठत भारी भोल ।
फूस फेण सो समुद्र शिर, पग तल नग निरमोल ।।३५।।

नीचे-ऊंचे स्थान पर बैठने से नीचा-ऊंचा मानना महान् भूल है देखो, फूस और झाग समुद्र के शिर पर रहते हैं और बहुमूल्य नग नीचे रहते हैं किन्तु फूस तथा झाग ऊपर रहने से बड़े तो नहीं होते नीचे रहने वाले नग ही बड़े माने जाते हैं, वैसे ही अभिमान द्वारा बड़ा नहीं होता नम्रता से ही नर बड़ा होता है ।

मीठी मही महंत मति, कण जण निपजे माँहि ।
फोकट[1] फूले खारछे[2], रज्जब नेपै[3] नाँहि ।।३६।।

मीठी पृथ्वी में अन्न उत्पन्न होता है, व्यर्थ[1] फूले हुये खारड़े[2] में खेती[3] नहीं होती, वैसे ही महान् संतों की बुद्धि के आश्रय से जन श्रेष्ठ होते हैं दुर्जनों की बुद्धि के आश्रय से नहीं ।

सकुचि कली हरि तरु लगै, अलग सु फूलण फूल ।
तो रज्जब सिमटचा रही, ज्यों छूटे नहिं मूल ।।३७।।

फूल की संकुचित कली तो वृक्ष के लगी रहती है और फूलकर फूल होते ही अलग हो जाता है, वैसे ही साधक को सिकुड़ा अर्थात् लघु ही रहना चाहिये, जिससे अपने मूल प्रभु से अलग न हो सके ।

मातंग[1] महोदधि[2] नीपजैं, मुक्ता उभय मँझार ।
रैणायर[3] गरबै नहीं, गरबै गजसु गँवार ।।३८।।

हाथी[1] और समुद्र[2] दोनों में मोती उत्पन्न होते हैं समुद्र[3] में अधिक मोती होते हैं तो भी वह गर्व नहीं करता और हाथी में थोड़े होने पर भी वह गर्व करता है, वैसे ही संतों में बहुत गुण होने पर भी वे गर्व नहीं करते और दुर्जनों में थोड़ा-सा गुण हो तो भी वे गर्व करते हैं।

साधू मति[1] दीपक बुझे, बह्यों[2] बड़ाई बाव[3]।
रज्जब राखहु ज्योति को, तो लघुता जतन उपाव ॥३९॥

वायु[3] चलकर[2] लगने से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही बड़ाई की भावना उत्पन्न होने से साधु का ज्ञान[1]-दीपक बुझ जाता है। उसकी ज्योति की रक्षा के लिये नम्रता रूप साधन ही उपाय है अतः नम्र रहना चाहिये।

अधिपति[2] आभे[1] अवनि अतीत[3], झुकि झुकि मिलहिं अज्जब रस रीत।
गरीब गर्द ज्यों जाय अकाश, तो रज्जब नाम धरैं सुन तास ॥४०॥

जैसे सजल बादल[1] पृथ्वी की ओर झुकते हैं वैसे ही नृप[2] गण ब्रह्मरूप अद्‌भुत रस प्राप्ति की रीति जानने के लिये संतों[3] की ओर झुकते हैं, और जैसे सूक्ष्म रज आकाश में चढ़ती है, तब प्रियकर नहीं होती, वैसे ही गरीब नम्रता को त्याग के अभिमान करता है तो उसका नाम जो रखते हैं उसे सुन अर्थात् उसे अभिमानी नाम से पुकारते हैं।

रज्जब राम उमँग कर, आप सहित दे सर्व।
तऊ दास दिल दीन मत, ज्ञाता होय न गर्व ॥४१॥

राम प्रसन्न होकर अपने सहित सर्वस्व दें तो भी ज्ञानी भक्त के हृदय में दीनता का सिद्धांत ही रहता है, ज्ञानी को गर्व नहीं होता।

सलिल संठ[1] रस गुड़ गटी[2], खांड तरी भइ ताहि।
मिश्री ह्वै मुख तृण लिया, रज्जब कही न जाहि ॥४२॥

गन्ना[1] का जल राब बना, गुड़ के टुकड़े[2] रूप में आया, खाँड, बूरा, इस प्रकार जब पूर्ण उन्नति पर आकर मिश्री रूप हुआ तो उस मिश्री ने नम्रता का सूचक मुख में अर्थात् अपने बीच में तृण रक्खा (पहले बांस की सींकों पर मिश्री बनाई जाती थी) नम्रता की महिमा महान् है कही भी नहीं जाती। श्रेष्ठ पुरुषों की जितनी उन्नति होती है उतने ही वे नम्र बनते जाते हैं।

रज्जब लहुड़हुं[1] आदरहिं, तिन सम बड़ा न कोय।
बूंदहुं उठे समुद्र जी, देखि बुद बुदा होय ॥४३॥

बड़े भी छोटों[1] का आदर करते हैं, छोटों के समान बड़ा कोई नहीं है, देखो, आकाश से जल बिन्दु समुद्र में पड़ती है, तब समुद्र भी उसका आदर करने को बुद्‌बुदा के रूप में उठता है ।

नीचे ऊंचे आवहिं, दाल भात दिशि जोय ।
जन रज्जब अज्जब कही, तलैं सु ऊपरि होय ।।४४।।

थाली में नीचे दाल और ऊपर चाँवल परोसे जाते हैं किन्तु जीमते समय चाँवल नीचे और दाल ऊपर हो जाती है, वैसे ही परमार्थ मार्ग में प्रभु प्राप्ति के समय अभिमानी नीचे और नम्र ऊंचे हो जाते हैं ।

गरीब निवाज गुसाइयाँ, पुनि निवाज[1] नर पत्ति ।
रज्जब सीप गजेन्द्र को, मुक्ता देय सु सत्ति ।।४५।।

परमात्मा गरीब तथा राजा दोनों पर ही कृपा[1] करने वाले हैं, देखो, सीप तथा गजेन्द्र दोनों को ही मोती देते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित लघुता का अंग ४२ समाप्तः ।।सा. १३७६।।

अथ गर्व गंजन का अंग ४३

इस अंग में गर्व करना उचित नहीं यह तथा गर्व को भगवान् नष्ट करते हैं यह बता रहे हैं ।

आदित्य अग्नि इन्दु अरु उडगण, दामिनि दमक सु मूंदि[1] ।
रज्जब जगत ज्योति बल भागे, लाई जींगन पूंदि[2] ।। १ ।।

सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, तारे और बिजली की चमक, ये जो जगत् में ज्योतियाँ हैं, उनके बढ़ते गर्व की रोक[1] करने के लिये ईश्वर ने जुगुनू की गुदा[2] में ज्योति रख दी है ।

रे रे केशर अगर तू, मतकर मान गुमान ।
गहरी बास सु गुदा में, मैल मँजारी जान ।। २ ।।

अरी केशर तू अपनी सुगन्ध का अभिमान मत कर तथा अरी अगर तू भी अपनी सुगन्ध का गर्व मत कर, बिल्ली के गुदा में होने वाले फोड़े के पीव में भी बहुत गहरी सुगन्ध होती है ।

ब्रह्मा शारद अखिर[1] धर, मान न करियो कोय ।
मूये श्वान के पूंद[2] में, चारि वेद ध्वनि होय ।। ३ ।।

ब्रह्मा और सरस्वती आदि वेदादि के अक्षर[1] समूह को धारण करके गर्व न करें, मरे हुये कुत्ते की गुदा[2] में भी चारों वेदों की ध्वनि होती है, दृष्टांत कथा—

तत्त्वा जीवा नामक ब्राह्मण कबीर के शिष्य हो गये थे इससे ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र कहा था, तत्त्वा जीवा ने कहा–ब्राह्मण किसे कहते हैं ब्राह्मण बोले "वेद वेत्ता को।" तब वहाँ एक मरा हुआ कुत्ता पड़ा था तत्त्वा जीवा ने अपनी योग शक्ति से उसकी गुदा से–चारों वेदों के मन्त्र उच्चारण करा कर ब्राह्मणों को चुप कर दिया था। ब्राह्मणों के विवाद करने पर गोरखनाथ ने भी ऐसा किया था।

गिरिवर गर्व न कीजिये, सप्त धातु धन जोर।
ताँबा निकसे पंख में, लागी पूंदन[1] मोर ॥ ४ ॥

हे पर्वत ! तू अपने में होने वाली सप्त धातु रूप धन की शक्ति का गर्व न कर, देखो, मोर की गुदा[1] के लगी हुई मोर की पंखों से भी ताम्र निकलता है।

विष हरै निर्विष करै, अति गति मोल बिकांहि।
बड़े पहाड़ की धातु सब, मोर धातु सम नाँहि ॥ ५ ॥

मोर की पंखों से निकला हुआ ताम्र विष दूर करता है, अधिक मूल्य में बिकता है अतः बड़े पहाड़ की सभी धातुयें मोर पंख के ताम्र के समान नहीं हैं।

गांडर जड़हु सुगंध मिठाई, तो बावन[1] बल छाड़ि।
लघु को दीरघ दीन दत, पद यूं पदई बाढ़ि ॥ ६ ॥

जब गांडर की जड़ में भी सुगंध और मिठाई है तब हे बावन चन्दन[1]! तू अपने अभिमान का बल छोड़ दे भगवान् ने लघुओं को भी महान् योग्यता रूप दान दिया है, और उनकी पदवी विविध पद वालों से भी बढ़ा दी है।

लघु तिणु के मध्य नाज किया, दीरघ द्रुमहुं सु और।
गर्व गंजन गोविन्द जी, काल दवन किस ठौर ॥ ७ ॥

छोटे तृणों में अन्न उत्पन्न किया है, बड़े वृक्षों में अन्न से अन्य फल उत्पन्न किये हैं जिनके बिना काम चल सकता है, गर्व को नष्ट करने वाले गोविन्द ने ऐसा करके वृक्षों के गर्व को दूर किया है और देखो, काल का दमन करने वाले भगवान् भी किस स्थान पर रहते हैं ? अर्थात् गर्व रहित हृदय में ही विशेष रूप से रहते हैं।

इन्द्र धनुष रँग काढ न गर्वो, जस काढे किरकांट[1]।
रज्जब राम रूप दिय सरभर[2], बधी कौन की आंट[3] ॥ ८ ॥

इन्द्र धनुष को रंग निकालने का गर्व न हो सके, इसीलिये ईश्वर ने वैसे ही रंग निकालने की योग्यता गिरगट[1] को दी है, उन दोनों के रंग-रूप समान[2] हैं, अतः किसका अभिमान[3] बढ़ा ? अर्थात् किसी का भी नहीं।

परिवार पूरि तारे अनन्त, चंद रहै तिन माँहि ।
रज्जब पकड़्या राहु जब, सगों[1] सर्या कुछ नाँहि ॥२०॥

अनन्त तारों के समूह रूप परिवार में चन्द्रमा रहता है, उसको भी जब राहु पकड़ता है, तब उन तारे रूप सम्बन्धियों[1] से चन्द्रमा की सहायता रूप कुछ भी काम नहीं होता ।

गरीब निवाज गर्व गंजन सांई, उभय बिड़द[1] परि बाँधी बांई[2] ।
राव हि रंक रंक को राजा, सब विधि समर्थ पूरण काजा ॥२१॥

गरीब निवाज और गर्व गंजन ये दो प्रकार का यश[1] भगवान् का फैला हुआ है इसकी रक्षा के लिये भगवान् ने तलवार[2] बाँध रक्खी है, वे प्रभु राजा को रंक और रंक को राजा करने में सर्व प्रकार समर्थ हैं और भक्तों के कार्य पूर्ण करते ही रहते हैं ।

गर्व गंजन गोविन्दजी, सदा गरीब निवाज ।
उभय अंग अविगत कनें, बहै बिड़द की लाज ॥२२॥

गोविन्द गर्व नष्ट करते हैं और गरीब पर कृपा करते हैं, मन इन्द्रियों के अविषय प्रभु के पास उक्त दोनों बातों के साधन रहते हैं, वे अपने विरुद की लज्जा अवश्य रखते हैं ।

ब्रह्मा विष्णु महेश सूर शशि, इन्द्र गणेश्वर गौरी देव ।
ये असवार अजहुं नहिं उतरें, सावधान सांई की सेव ॥२३॥

ब्रह्मा हंस पर, विष्णु गरुड़ पर, महादेव बैल पर, सूर्य अश्व पर, चन्द्रमा मृग पर, इन्द्र हाथी पर, गणेश चूहा पर, गौरी सिंह पर चढ़ते हैं, ये उक्त देवता रूप सवार अपने वाहनों से कभी भी नहीं उतरते अर्थात् चढ़े ही रहते हैं किन्तु भगवान् की भक्ति में सावधान हैं, अतः उन्हें कोई हानि नहीं, गर्व पर चढ़ने से ही हानि होती है ।

ब्रह्मा विष्णु महेश सूर शशि, इन्द्र लगै असवार ।
रज्जब रथ पर सुरहु न शंकट, गर्व चढे भये स्वार ॥२४॥

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र तक के सभी सवार अपने २ वाहन रूप रथों पर चढ़ते हैं तब तो उन्हें कोई भी संकट नहीं होता किन्तु गर्व पर चढ़े कि खराब हुये ।

हंस गरुड़ वृषभ वाजि मृग मद[1], ये रथ सुर असवार ।
रज्जब तिनको विघ्न न व्याप्या, गर्व गादह[2] पर मार ॥२५॥

हंस, गरुड़, बैल, अश्व, मृग, इन वाहनों रूप रथों पर चढ़ने से तो देवताओं को कोई विघ्न नहीं हुआ किन्तु गर्व[1] रूप गधे[2] पर चढ़ते ही मार पड़ने लगी अर्थात् गर्व से पतन हुआ।

पिंड चढ़े प्राणहु चढ़े, चढ़े सु दिल दीवान।
रज्जब पाले पीटिये, चढ़े जु गर्व गुमान ॥२६॥

शरीर पर चढ़े, प्राणियों पर चढे, प्रधान मानवों के दिल पर चढ़े, इन सबकी तो ईश्वर ने रक्षा की किन्तु जो गर्व-गुमान पर चढ़े उनको पीटा गया।

चौरासी किस पर चढ़ी, पशु पाले दिन रात।
रज्जब रामहिं ना मिली, हम रीझे इस बात ॥२७॥

चौरासी लक्ष योनियों के जीव किस पर चढ़ते हैं तथा दिन रात बकरी भेड़ रूप पशुओं के पालने वाले किस पर चढ़ते हैं ? किन्तु फिर भी उन योनियों में जीवात्मा राम से नहीं मिल सकी, हम भगवान की इस बात पर प्रसन्न हैं कि वे वाहनादि पर चढ़ने वा न चढ़ने से प्रसन्न नहीं होते, निरभिमान होने से ही प्रसन्न होते हैं।

न्याय नीति सब ठौर सु प्यारी, रज्जब दीसे तीनों भौन।
प्यादे[1] चढ़े चाकरी पूरे, तिनके पटे उतारे कौन ॥२८॥

न्याय तथा नीति तीनों लोकों के सभी स्थानों में प्रिय दिखाई देती है, जो अपनी नौकरी में पूरे होते हैं वे पदाति[1] भी स्वामी के अश्वादि पर चढ़ जाते हैं, तब उनके पट्टे कौन उतारता है ? इसी प्रकार पूर्ण रूप से भक्ति कर लेता है तब अभिमान से रहित उस संत का मुक्ति रूप पट्टा कौन छीन सकता है।

बैठे रथों देवता सारे, सो सब कहो कहां थे डारे।
रज्जब सेवक सेवा मांहि, तिन के पटे उतारे नाँहि ॥२९॥

सभी देवता रथों पर बैठे हैं, उन सब को नीचे कहाँ डाले थे ? उसी प्रकार जो सेवक सेवा में स्थित हैं उनके पट्टे नहीं उतारे जाते अर्थात् अभिमान रहितों का पतन नहीं होता।

छप्पैया—ब्रह्मा वाहन हंस, विष्णु के वाहन खगपति।
शंकर वाहन बैल, मूस पर मंडे सु गणपति ॥
कार्तिक स्वामी मोर, शक्ति सत सिंह विराजे।
हय गज सूरज इन्द्र, शशि रथ सारंग साजे ॥

सुर सबहि न प्यारे पहुंण, तिनके काज न बीगड़े ।
जे रज्जब आपे चढ़े, ते परलै विमुख सु पड़े ॥३०॥

ब्रह्मा का वाहन हंस है, विष्णु का गरुड़, शंकर का बैल, गणपति, का चूहा, स्वामी कार्तिकेय का मोर, देवी का सिंह, सूर्य का अश्व, इन्द्र का हाथी, चन्द्रमा का मृग है, सभी देवताओं को अपने २ वाहन प्रिय हैं और उन पर चढने से उन देवताओं के कार्य नहीं बिगड़े किन्तु जो गर्व पर चढे हैं अर्थात् गर्व से ऊंचे चढे हैं वे प्रभु से बिमुख प्राणी विनाश को ही प्राप्त हुये हैं यह सत्य है ।

रज्जब रीतो बंदगी, जब लग आपा माँहि ।
मनसा वाचा कर्मना, साहिब माने नाँहि ॥३१॥

जब तक मन में गर्व है तब तक उपासना रीती है अर्थात् सार रहित है, हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं, उस उपासना को प्रभु अच्छी नहीं मानते ।

वपु हांडी बा[1] राह[2] की, करहुं न गर्ब गुमान ।
रे रज्जब यूं जान ले, जे तू चतुर सुजान ॥३२॥

यह शरीर रूप हँडिया उस[1] विनाश रूप मार्ग[2] में जाने वाली है अर्थात् नष्ट होने वाली है, इसका गर्व गुमान नहीं करना चाहिये । यदि तू चतुर सुजान है तो ऐसा ही जान कर भगवद् भजन कर ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गर्व गंजन का अंग ४३ समाप्तः ॥सा १४०८॥

अथ करुणा का अङ्ग ४४

इस अंग में दुखपूर्वक भगवान् से दया करने की प्रार्थना कर रहे हैं ।

आदि अन्त मधि हम बुरे, हम सों भला न होय ।
रज्जब ज्यों साहिब खुशी, सो लक्षण नहिं कोय ॥१॥

हम अपने जीवन के आदिकाल, मध्यकाल और अन्तकाल में भी बुरे ही रहे, हमसे भला कार्य हो ही नहीं रहा है, भगवान् जिनसे प्रसन्न होते हैं, उनमें से तो हमारे में एक भी लक्षण नहीं है ।

रज्जब हम सौं हम दुखी, तो राम सुखी क्यों होय ।
अजा[1] अजुगत[2] सु कंठ कुच, खसम न पीवे चोय ॥२॥

बकरी के गले के अनुपयुक्त कुचों से उसे भी सुख नहीं मिलता, बच्चों के खेंचने आदि से दुःख ही मिलता है और न उसके स्वामी को उनसे दूध

का सुख मिलता, वैसे ही अपने कार्यों से हम भी दुखी हैं तब राम सुखी कैसे हो सकते हैं।

बंदे में सो बंदगी, जा में सुख नहिं लेश।
रज्जब शिर की ठौर थी, तहां दीजिये केश ॥३॥

जैसे शिर देने के स्थान में केश दिया जाय, ऐसी ही भक्ति भक्त में है, जिसमें लेश भी सुख नहीं मिलता तब राम कृपा कैसे करेंगे ?

रज्जब सम अधम सु नहीं, तुम प्रभु अधम उधार।
उभय अंग[1] में फेर[2] क्या, कीजे कृपा विचार ॥४॥

मेरे समान कोई अधम नहीं है, और आपके समान अधमोद्धारक नहीं हैं, अतः मुझमें अधमता और आपमें अधमोद्धारकता इन दोनों लक्षणों[1] में क्या कमी[2] है ? अर्थात् नहीं है, इस उक्त बात का विचार करके आप मुझ पर कृपा करें।

रज्जब पापी पुहमि[1] पर, रोम रोम रुचि पाप।
कृपा करो तो उद्धरे, सेवग सुत हरि बाप ॥५॥

इस पृथ्वी[1] पर हम पापी हैं, हमारे रोम २ में पाप की ही रुचि रहती है, हे हरे ! आप हमारे स्वामी हैं, हम आपके सेवक हैं, आप हमारे पिता हैं, हम आपके पुत्र हैं, आपही कृपा करो तो हमारा उद्धार हो सकता है।

साधु साधु सबको कहैं, मैं साध्या कछु नाँहि।
पंच पचीसौं त्रिगुण तन, मन रु मनोरथ माँहि ॥६॥

मुझे सभी साधु-साधु कहते हैं किन्तु मैंने तो कुछ भी साधना नहीं की। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पच्चीस प्रकृतियें, तीन गुण, शरीर, मन और मन के मनोरथ ये सभी संसार दशा के समान ही मुझमें हैं।

तुम्हैं योग्य सेवक नहीं, मैं मंद भागि करतार।
रज्जब गुण नहिं बापजी, बहुत किये व्यभिचार ॥७॥

हे सृष्टिकर्त्ता ! मैं आपके योग्य सेवक नहीं हूँ, मुझमें आपके सेवक के से गुण नहीं हैं, हे बापजी ! मैंने आपसे अलग रहने के ही बहुत कार्य किये हैं, अतः मैं मंद भाग्य वाला हूं।

गुण हूंमाँ हीं गल रह्या, गाफिल हुआ गँवार।
रज्जब शठ[1] समझे नहीं, साहिब सुनहु पुकार ॥८॥

यह मेरा मूर्ख मन गुणों में ही गल रहा है, यह दुष्ट[1] कुछ भी नहीं समझता। हे प्रभो ! मेरी यह प्रार्थना सुनकर, इसे सुधारने की कृपा करें।

तन मन सेझा[1] पाप का, अरि[2] इन्द्री अघ खान ।
रज्जब पूछे राम को, सजा सु कौन समान ॥९॥

मेरा शरीर और मन पापों का उद्गम[1] स्थान है और अजित इन्द्रिय रूप शत्रु[2] पापों की खानि है, अतः हे रामजी मैं आपसे पूछता हूं कि मुझे किस पापी के समान दंड मिलेगा ?

राम कसौटी सर्वस्वल्प, रजज्ब पाप अपार ।
सजा न सूझे साँइयाँ, मो सम तो दरबार ॥१०॥

मेरे पाप तो अपार हैं और राम के सभी दंड विधान उनसे कम हैं, हे प्रभो ! मेरे को देने योग्य दंड तो आपके दरबार में दिखाई नहीं देता फिर मैं शुद्ध कैसे हूँगा ?

उदर उदर ऊंधे रहे, सहि[1] संकट सब भौन[2] ।
रज्जब जग जामे मुये, सजा देहुगे कौन ॥११॥

पेट-पेट में ऊंधे लटकते रहे और सभी भुवनों[2] में दुःख सहन किये, इस प्रकार कष्ट सहते हुये जगत में अनेक बार जन्म कर मृत्यु को प्राप्त हुये, हे प्रभो ! बताइये अब कौनसा दंड देंगे ?

विपति नहीं प्रभु विमुख सम, सो सिरजी मम शीश ।
अब रज्जब पर रोस कर, करस्यो क्या जगदीश ॥१२॥

भगवान् से विमुख रहने के समान संसार में कोई भी दुःख नहीं है और वह मुझे मिल रहा है, हे जगदीश्वर ! अब आप मुझ पर रुष्ट होकर मेरा क्या करेंगे ?

बद[1] अमली[2] क्या वदन[3] दिखावे, बंदे का मुँह काला ।
प्रभुजी दर्शन उज्वल दीजे, क्या बैठे दे ताला ॥१३॥

बुरे[1] काम करने वाला[2] दास स्वामी को अपना मुख[3] कैसे दिखायेगा ? इसका मुख तो काला हो चुकता है किन्तु फिर भी हे प्रभुजी आप तो अपना उज्वल दर्शन दीजिये, आप ताला देकर कहाँ बैठे हैं ।

करुणामय करुणा करो, देखहु दीनदयाल ।
रज्जब रीता रहम बिन, तुम पूरण प्रतिपाल ॥१४॥

हे दयामय प्रभो ! दया करो, हे दीनदयालो ! देखो, मैं आपकी कृपा बिना खाली हूँ और आप परिपूर्ण हैं तथा मेरे जैसे जनों के रक्षक हैं, अतः रक्षा करें ।

सुठि[1] सेवक विनती करे, चोर हु चवै[2] पुकार ।
रज्जब दुहु[3] में एक है, समर्थ सिरजनहार ॥१५॥

श्रेष्ठ[1] सेवक विनय करता है और चोर भी प्रार्थना करता[2] है किन्तु सर्वसमर्थ सृष्टिकर्त्ता प्रभु तो दोनों[3] में एक है अर्थात् दोनों की ही सुनता है ।

चोर जार बटपार ह्वै, पापी करै पुकार ।
रज्जब राम दयालु है, सो अघ[2] मेटण हार ॥१६॥

चोर, जार, लुटेरा[1] आदि पापियों के प्रार्थना करने पर भी वे दयालु रामजी दया करके पाप[2] को मिटाने वाले ही सिद्ध होते हैं ।

एक मार पर मौज[1] ह्वै, इक मार महर सौं जाय ।
रज्जब सौं कर रोस रस, भगवत् आओ भाय ॥१७॥

दया पूर्वक उन्नति के लिये दंड दिया जाता है, उस एक प्रकार की मार से आगे चलकर आनन्द[1] ही होता है, एक प्रकार की मार दया से रहित होती है, हे प्रभो ! चाहे आप क्रोध करके वा राग करके आओ, मेरा ऐसा ही भाव है ।

कायर शूर पटा[1] लहै, न्यारी निपट[2] निवाज ।
पै रिजक[3] न मेटैं रामजी, कीये की है लाज ॥१८॥

राजा का सेवक चाहे कायर हो वा शूरवीर हो दोनों को राजा जीविका[1] देता है किन्तु उन पर राजा की जो कृपा होनी है, वह सर्वथा[2] अलग ही होती है, कायर पर कम और वीर पर अधिक होती है, वैसे ही भगवान् जीविका[3] तो किसी की भी नहीं रोकते सबको देते हैं, कारण— उनको अपने रचित संसार का पोषण न करने से लज्जा आती है ।

रज्जब सन्मुख विमुख को, बरा[1] विश्वंभर देय ।
कीये की लज्जा वहै[2], गुण अवगुण नहिं लेय ॥१९॥

विश्व का भरण-पोषण करने वाले ईश्वर भजन करने वालों को तथा न करने वालों को जीविका[1] देते ही हैं वे गुण अवगुण न लेकर अपने बनाये हुओं की लज्जा का रक्षारूप निर्वाह[2] करते ही हैं ।

शुक्ति मुक्त[1] अनि[2] सीप सांखुले[3], जल जलनिधि इक भाव ।
महँगे सौंहँगे रज्जबा, ह्वै अंकूर स्वभाव ॥२०॥

मोती[1] की सीप तथा अन्य[2] सीप, छोटे शंख[3] ये जल तथा समुद्र की दृष्टि से तो एक से ही हैं किन्तु अपने मोती आदि अंकुर से महंगे-सोंहगे हो जाते हैं, वैसे साधक अपने सब भाव से महंगे-सोंहगे हो जाते हैं ।

गुनहीं को मारो धणी, अपणें हाथ सु आय ।
अंत काल आनन्द ह्वै, दर्श सु देख्या जाय ॥२१॥

हे हरे ! आप स्वयं आकर अपने हाथों से मुझ दोषी को मारिये जिससे आपका दर्शन होकर अंत काल में परमानन्द प्राप्त हो जाय ।

विड़द[1] विहारी बाहुड़ौ, बाहुड़[2] बहिये लाज ।
रज्जब के रिपु मारिये, ए[3] सांई सिरताज ॥२२॥

यश[1] की रक्षा के लिये विहार करने वाले हे[3] शिरोमणि स्वामिन् ! हमारी ओर लौटिये और लौट[2] के हमारे काम क्रोधादि शत्रुओं को मार कर हमारी लाज रख लीजिये ।

गर्व गंजन गोविन्द जी, सुन अनाथ के नाथ ।
रज्जब के रिपु अंठिये[1], ए[2] व्यापक भर बाथ ॥२३॥

हे[2] अनाथों के नाथ, गर्व गंजन, सर्व व्यापक, गोविन्दजी ! मेरी प्रार्थना सुनिये, वह यह है कि मेरे शत्रुओं को बाथ भरकर दबा[1] दीजिये ।

तन मन पंचों चोर हैं, वश आवहिं नहिं बाज[1] ।
इनके गुण हनि[2] मारिये, ए सांई शिरताज ॥२४॥

हे शिरोमणि स्वामिन् ! शरीर में मन और पंच ज्ञानेन्द्रिय ये चोर हैं, हमारे वश में नहीं आते, आपका चिन्तन त्याग[1] कर संसार में भटकते हैं, अतः इनके गुणों को नष्ट[2] करके इन्हें भी मारिये ।

दीन दयालु दया मयी, सदा दीन के पास ।
रज्जब की फरियाद सुन, मेटहु मेरी त्रास ॥२५॥

हे दीनदयालु दयामय परमात्मा ! आप सदा दीन के साथ रहते हैं अतः मेरी प्रार्थना सुनकर मेरा दुःख मिटा दीजिये ।

कला अनन्त अनन्त कन[1], आत्म कनें[2] नहिं एक ।
रज्जब राम रिझावना, लहिये नहिं विवेक ॥२६॥

अनन्त परमात्मा के पास[1] अनन्त कला हैं, जीवात्मा के पास[2] एक भी नहीं है और राम को प्रसन्न कर सके ऐसा विवेक ज्ञान भी नहीं है ।

रज्जब अज्जब राम हैं, कहे सुने में नाँहि ।
यहु अशुद्ध अन्तःकरण, वह देखै दिल माँहि ॥२७॥

राम का स्वरूप अद्भुत है, कहने सुनने में नहीं आता, यह अन्तःकरण अशुद्ध है, इससे उसे नहीं देख सकता किन्तु वह मन में जो भी भावना होती है उसे देखता है ।

गरीब निवाज गुसांइयाँ, सु गुरु गरीबों दास ।
रज्जब चूक जु हमहु में, नहिं गरीब गुण पास ॥२८॥

परमात्मा गरीबों पर कृपा करने वाले हैं, श्रेष्ठ गुरुजन भी गरीबों के दास हैं किन्तु हमारे पास गरीबता रूप गुण नहीं है, यह भूल हमारी ही है ।

रज्जब विनती पर वरं भू[1] ब्रह्म, करुणामय सु विरुद्द[3] ।
पुकार सुन्यों प्रभु बाहरू[2], पै मैं मुर[4] थोकों रद्द[5] ॥२९॥

परमात्मा का सुयश[3] ऐसा फैला हुआ है कि–वे दयामय हैं अर्थात् दीनों पर दया करने वाले हैं, विनय करने पर वर देने वाले[1] हैं, आरत पुकार सुनकर सहायता[2] करने वाले हैं किन्तु मैं तो दीनता, विनय और आरत पुकार, इन तीनों[4] गुणरूप थोकों से रहित[5] हूँ ।

घर में पारस लोह था, परि लै[1] लाया नाँहि ।
मनसा वाचा कर्मना, चूक पड़ी मुझ माँहि ॥३०॥

जैसे घर में लोहा और पारस दोनों हों किन्तु लोहे को पारस से स्पर्श कराये बिना वह सोना नहीं बनता, वैसे ही शरीर में जीवात्मा और ज्ञान दोनों हैं किन्तु अन्तर्मुखवृत्ति[1] द्वारा जीवात्मा ज्ञान से स्पर्श नहीं करता अर्थात् ज्ञान का विचार नहीं करता तब तक ब्रह्मरूप नहीं होता । वृत्ति द्वारा स्पर्श न कराना रूप भूल मन, वचन कर्म से मुझ में पड़ी ही रही इसी से ब्रह्म साक्षात्कार न हो सका ।

निश्चय आया नाम का, परि नाम न आया ।
रज्जब रज तज काढतों, प्राणी पछितायां ॥३१॥

शास्त्र-संतों के उपदेश द्वारा नाम मोक्ष का साधन है यह निश्चय तो हृदय में आ गया किन्तु नाम का निरंतर स्मरण नहीं हो पाया, इस अवस्था में रजोगुण रूप विक्षेप को त्यागकर मन को दोषों से निकालते ही निर्दोष स्थिति की शांति अनुभव करके प्राणी पश्चात्ताप करता है कि मैंने पूर्व की आयु व्यर्थ ही विक्षेप में खो दी ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित करुणा का अंग ४४ समाप्तः ॥सा १४३९॥

अथ विनती का अङ्ग ४५

इस अंग में भगवान् से विनय कर रहे हैं—

सकल पतित पावन किये, अधम उद्धारनहार ।
विरुद[1] विचारो बापजी, जन रज्जब की बार ॥१॥

हे बापजी ! आपने सभी पतितों को पवित्र किया है, अधमों का भी आप उद्धार करने वाले हैं, मेरे उद्धार के समय भी आप अपने उक्त यश[1] का ही विचार करो, तभी मेरा उद्धार हो सकेगा ।

रज्जब ऊपर रहम[1] कर, हरिजी दीजे हाथ ।
नाता[2] राखो नाम का, नरक निवारण नाथ ।।२।।

नरक-क्लेश को नष्ट करने वाले मेरे नाथ हरिजी ! दया[1] करके मेरे शिर पर अपना कर-कमल दो और अपने नाम का जो आपसे सम्बन्ध[2] है उसे स्थिर रक्खो अर्थात् नाम स्मरण करने वालों को आप अपनाते आये हैं, वैसे ही मुझे अपनाइये ।

लाखों मांहीं सो लखै, जाका लीजे नांउ ।
तो रज्जब मुख्य नाम है, देखो ने बलि जांउ ।।३।।

देखो ने लाखों को संख्या में स्थित जिसका भी नाम लेंगे, वह नाम लेने वाले की ओर देखता है, अतः सिद्ध होता है कि नाम साधना मुख्य है । हे प्रभो ! आप मेरी ओर देखते क्यों नहीं, मैं आपकी बलिहारी जाता हूं ।

रज्जब टेरै रैन दिन, क्यों बोलैं नहिं कंत[1] ।
कै[2] तुम अब मौनी भये, कै[3] तुम चाहो अंत ।।४।।

हे स्वामिन्[1] ! मैं रात-दिन पुकार रहा हूं फिर भी आप क्यों नहीं बोलते, क्या[2] आप अब मौनी हो गये हैं अथवा[3] आप मेरा अन्त चाहते हैं ?

जे तुम राम बुलाय ल्यो, तो रज्जब मिलसी आय ।
यथा पवन प्रसंग ह्वै, गुडी[1] गगन को जाय ।।५।।

जैसे वायु के प्रसंग से पतंग[1] आकाश में ऊंचा चढ़ जाता है, वैसे ही हे राम ! यदि आप मुझे बुला लें तो मैं आकर आपसे मिल सकता हूँ ।

बिन आधार अकाश को, कहो बेलि क्यों जाय ।
त्यों रज्जब निराधार है, साहिब करो सहाय ।।६।।

कहो ? वृक्षादि के आश्रय बिना बेलि आकाश में कैसे जायगी ? वैसे ही मैं आश्रय रहित हूँ आपके पास कैसे आ सकूंगा ? अतः आप मुझे अपना आश्रय देकर मेरी सहायता करें ।

देहि दुस्तर मन अतिर, मौज मनोरथ माँहि ।
विषम वारि निधि राम बिन, रज्जब तिरिये नाँहि ।।७।।

देहाध्यास को तैरना कठिन है, जिसमें मनोरथ रूप तरंगें हैं वह मन तथा भयंकर संसार-समुद्र भी राम-कृपा बिना नहीं तैरा जा सकता ।

इन्द्री अनंग अँगार है, काया कपड़े माँहि ।
वपु वस्त्र बावै[1] बचे, नहीं तो उबरे नाँहि ॥ ८ ॥

काया रूप कपड़े में इन्द्रिय और काम अग्नि के अंगारों के समान हैं, इस शरीर रूप वस्त्र को भगवान्[1] अपने कृपा-जल से बचावें तो ही यह बच सकता है अन्यथा नहीं ।

साहिब राखे माँड[1] में, साहिब पिंड मँझार ।
साहिब राखे आप में, और न राखनहार ॥ ६ ॥

ईश्वर ही ब्रह्माण्ड[1] में बाह्य शत्रुओं से रक्षा करते हैं, ईश्वर ही शरीर में कामादि आंतर रिपुओं से रक्षा करते हैं और ईश्वर ही अपने वास्तव स्वरूप ब्रह्म में लय करके जन्मादि संसार से रक्षा करते हैं, अन्य कोई भी रक्षक नहीं है, अतः हे ईश्वर ! हमारी रक्षा करें ।

सूते सुतहिं खुलावहिं, माता पिता जगाय ।
त्यों रज्जब सौं कीजिये, भगवत आओ भाय ॥१०॥

जैसे माता पिता सोते हुये बच्चे को जगाकर खिलाते-पिलाते हैं, हे प्रभो ! वैसे ही भाव से आकर मुझे मोह-निद्रा से जगाकर दर्शन दीजिये ।

बाहर कहिये कौन सौं, माँहीं मुश्किल काम ।
अंतरि अंतर मेटिये, अंतर जामी राम ॥११॥

भीतर बड़ा ही कठिन कार्य हो रहा है, बाहर किसको कहें, हे अन्तर्यामी राम ! उस भीतर के विघ्न को कृपा करके आपही मिटावें ।

रज्जब कीड़ा नरक का, ब्रह्म कमल क्यों जाय ।
भगवत भृंगी रूप ह्वै, जे नहिं लेहिं उठाय ॥१२॥

नरक का कीड़ा भृंगी के उठाये बिना कमल पर नहीं जा सकता, वैसे ही भगवान् न उठायें तो जीव ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता, अतः हे भगवन् ! कृपा करके हमें उठाइये ।

भृंगी ने भृंगी करी, कीट कृत्य कछु नाँहि ।
त्यों रज्जब सौं कीजिये, क्या देखो हम माँहि ॥१३॥

कीट भृंगी का कुछ भी उपकार रूप कार्य नहीं करता तो भी भृंगी उसे भृंगी बना देता है, हे प्रभो ! वैसे ही आप हमारे से कीजिये, हमारे में आप क्या साधन बल देख रहे हैं ? हमारा उद्धार तो आपकी कृपा से ही होगा ।

बालक विष्टा में पड़्या, आप न उज्वल होय ।
जन रज्जब माता पिता, जे सुत लेहि न धोय ॥१४॥

बच्चा मल में पड़ जाय तब जब तक उसे माता पिता नहीं धोते तब तक वह अपने आप पवित्र नहीं हो सकता, वैसे ही हे प्रभो ! जब तक आप हमें निष्पाप न करें तब तक हम आपको प्राप्त होने योग्य नहीं बन सकते ।

जंगम जी[1] जोड़े बंधे, स्थावर मही सु माँहि ।
बाबा के बंध बाबो खोले, आप खुले सो नाँहि ॥१५॥

स्थिर पृथ्वी में चलने वाले जीव[1] जोड़े रूप में बंधे हैं अर्थात् नारी-पुरुष परस्पर की आसक्ति से बंधे हैं, वह ईश्वर की माया रूप बन्धन ईश्वर ही कृपा करके ज्ञान द्वारा खोल सकते हैं, अपने आप नहीं खुल सकता, अतः हे ईश्वर ! कृपा करके हमारा बन्धन खोल दीजिये ।

बालक के बल रोज का, पड़ि लुड़ि[1] करे पुकार ।
रज्जब सुत में शक्ति यहु, समर्थ सिरजन हार ॥१६॥

बालक के रोने का ही बल होता है, वह पड़ गुड़[1] के पुकार ही करता है, वैसे ही मुझ आपके पुत्र में तो यह विनय करने की ही शक्ति है, हे सृष्टिकर्त्ता ! मेरे उद्धार करने में तो आप ही समर्थ हैं ।

बाबा मानहुं बीनती, बेला वरं भू[1] होह ।
जो मिरतक माता पिता, सो सुत धर्रांहि न द्रोह ॥१७॥

हे प्रभो ! हमारी विनय मानिये और समय पर वरदाता[1] होइये, यदि माता-पिता मर जायं तब तो पुत्र को उन पर द्रोह नहीं होता किन्तु जीवित रहते सुत की रक्षा न करें तब पुत्र का द्रोह होता है, आप तो सदा जीवित रहने वाले माता-पिता हैं फिर हमारी सहाय क्यों नहीं करते ? करनी चाहिये ।

जब तब तुम तैं होहिगा, जान राय जीव काज ।
रज्जब ज्यूं थी त्यों कही, सुनि श्रवणों सिरताज ॥१८॥

जानने वालों में शिरोमणि तथा सुनने वालों में श्रेष्ठ प्रभो ! सुनिये, जीव का मुक्ति रूप कार्य जब होगा तब आपकी कृपा से ही होगा, मैंने यह जैसी थी वैसी ही यथार्थ बात कही है ।

रैनाइर[1] रिधि[2] मध्य परे, वोहिथ[3] वेत्ता[4] साध ।
रज्जब पहुंचे पार तो, जे खेवहिं अनिल[5] अगाध[6] ॥१९॥

जहाज[3] समुद्र[1] में पड़ता है तब वायु[5] द्वारा शीघ्र पार होता है, वैसे ही माया[2] में पड़े ज्ञानी[4] साधु को परमात्मा[6] कृपा करके पार करते हैं।

मो मन अघ सागर सही, तुम प्रभु होहु अगस्त।

रज्जब के अपराध अति, मिटे न बिन हरि हस्त ॥२०॥

मेरा मन पाप का समुद्र है, हे प्रभो! उसके लिये आप अगस्त्य बनिये, मेरे दोष अत्यधिक हैं, हे हरे! उनके नाश के लिये जब तक आप हाथ न बढ़ायेंगे तब तक उनका नाश नहीं हो सकेगा।

तन मन को धोओ धणी, मति के विविध विकार।

रज्जब की रज ऊतरे, तुम तैं सिरजनहार ॥२१॥

हे स्वामिन्! मेरे तन मन को धोकर उज्जवल कीजिये, बुद्धि के नाना प्रकार के विकारों को नष्ट कीजिये, हे सृष्टिकर्त्ता! मेरी अविद्यारूप रज आपकी कृपा से ही उतरेगी, कृपा कीजिये।

प्रीतम प्रकटो ताप ज्यों, पिंड तैं प्राण छुडाय।

मार मिलाओ आप में, जन रज्जब बलि जाय ॥२२॥

हे प्रियतम! जैसे शरीर में ज्वर प्रकट होकर शरीर से प्राणों को छुड़ा देता है, वैसे ही आप हृदय में प्रकट होकर मेरे जीवत्व भाव को मारके मुझे अपने में मिला लीजिये, मैं आपकी बलिहारी जाता हूं।

संत हु आतम राम बिच, माया पुट[1] भर पूरि।

रज्जब टाले कौन विधि, जे हरि कर हित दूरि ॥२३॥

संत और आत्माराम के मध्य माया रूप दृढ़ पड़दा[1] लगा है, यदि हरि का प्रेमरूप हाथ दूर है तो उसे किस प्रकार हटाया जा सकता है? अतः हे हरे! आप मुझे अपना प्रेम प्रदान करने की कृपा करें।

जो दिन कर अरु दृष्टि बिच, आभा आडा होय।

रज्जब कीजे दूर क्यों, हिकमत चले न कोय ॥२४॥

यदि सूर्य और दृष्टि के मध्य बादल आड़े आजावें तो उनको दूर कैसे किया जाय, वहां मानव का कला-कौशल काम नहीं देता किन्तु वायु तो उन्हें शीघ्र ही दूर कर देता है, वैसे ही ब्रह्म और जीव के बीच अविद्या पड़ी है, वह जीव के कला-कौशल से नहीं हटती, ब्रह्म ज्ञान से ही हटती है। अतः प्रभो! ब्रह्म ज्ञान दें।

हरि हजाम मो मन मुकर, माया म्यान कर मांहि।

मुख सुख देखहिं काढिकर, नहीं तो काढे नांहि ॥२५॥

म्यान में बंध दर्पण नाई के हाथ में होता है, मुख देखना हो तो वह काढकर देता है, नहीं तो नहीं देता, वैसे ही माया-म्यान में बंध मेरा मन रूप दर्पण भगवान् के हाथ में है, जब ब्रह्मानन्द के अनुभव की अभिलाषा होती है तब तो भगवान् मन को माया से निकाल देते हैं नहीं तो नहीं निकालते। प्रभो ! मेरा मन सदा के लिये माया से निकालने की कृपा करें।

जे तुम राखो तो रहै, सेवक सदा समीप।
रज्जब त्यागे सांइयाँ, तो बहुत पड़े बिच दीप ॥२६॥

हे प्रभो ! आप रक्खो तो सेवक सदा आपके पास रह सकता है और आप त्याग दें तो आप और सेवक के बीच अनेक द्वीपों का अन्तर पड़ सकता है।

दास हि द्वारे राखिये, हरि हित आँख्यों हेर।
बंदे की यहु बीनती, घर घर बार न फेर ॥२७॥

हे हरे ! दास को अपने द्वार पर रखिये, मेरे नेत्र स्नेह पूर्वक आपको देखते रहें दास की यही विनय है, अब मुझे घर-घर द्वार अर्थात् चौरासी में न घुमावें।

जीव कृत जगदीश कने, जाया कदे न जाय।
रज्जब जब लग रामजी, आप न करे सहाय ॥२८॥

जब तक रामजी स्वयं सहायता न करें तब तक जीव अपने किये हुये कर्मों के बल से गमन करके कभी भी राम के पास नहीं जा सकता, अतः हे राम ! सहायता कीजिये।

कुल[1] कसणी[2] करतूति[3] कर, कर्म कंद[4] नहिं जाय।
रज्जब निबड़े[5] रहम[6] सौं, भगवत् आये भाय[7] ॥२९॥

संपूर्ण[1] कष्ट[2] और कला[3]ओं से कर्म की जड़[4] नष्ट नहीं होती किन्तु भगवान् का प्रेम[7] हृदय में आये तब भगवान् की दया[6] से उसकी समाप्ति[5] होती है।

रज्जब ब्रह्म विहंग के, आतम अंड समान।
पै बाबा सेओ नहीं, तो क्यों निपजे तन जान ॥३०॥

पक्षी के जैसे अंडा होता है, वैसे ही ब्रह्म के आत्मा है, यदि पक्षी अपनी पंख द्वारा उसे वायु न दे तो अंडे से पक्षी कैसे उत्पन्न होगा ? वह तो गल जायगा, वैसे ही ब्रह्म की कृपा न हो तो जीवात्मा ब्रह्म रूप कैसे होगा ?

चौतीस गढहु माँही जड़या, जन रज्जब जड़ प्रान ।

बंदि तुम्हारी तुम थैं छूटे, सांई सुनहुं सुजान ॥३१॥

दश इन्द्रिय, दश वायु, पंच भूत, चतुष्टय अन्तःकरण, त्रिविधि कर्म, काम और वासना इन चौंतीस गढों में अज्ञानी प्राणी बँधा है, हे सुजान स्वामिन् ! आपके द्वारा बँधी हुई यह जीवात्मा आपकी कृपा से ही मुक्त हो सकती है । अतः मेरी विनय सुनकर मुझे मुक्त कीजिये ।

सदा जीव जल की वृत्ति[1], देखत नीचा जाय ।

रज्जब सांई सूर सम, ऊंचा लेंहि उठाय ॥३२॥

जीव और जल का स्वभाव[1] सदा नीचे को जाने का ही है किन्तु सूर्य जल को और ईश्वर जीव को ऊंचा उठा लेते हैं, अतः प्रभो ! मुझे ऊंचा उठाइये ।

अजाजील[1] दिल माँहीं बैठा, भलो न उपजण पावै ।

साहिब अपणाँ कौल[2] विचारो, तो जीव तुम पै आवै ॥३३॥

शैतान[1] मन में बैठा रहता है, इससे जीव के मन में अच्छी बात उत्पन्न नहीं हो पाती, हे प्रभो ! यदि आप अपनी जन रक्षण रूप प्रतिज्ञा[2] का विचार करके शैतान से जीव की रक्षा करो तो ही जीव आपके पास आ सकता है, आशा है आप अवश्य मेरी रक्षा करेंगे ।

शब्द न सांई सारिखा, पै हरि हिरदै की लेहि ।

टोटी कहतों मात पितु, बालहिं रोटी देहि ॥३४॥

हमारा शब्द तो भगवान् को सुनाने के शब्दों के समान शुद्ध नहीं है किन्तु भगवान् तो शब्द-अशुद्धि को न ग्रहण करके जैसे बच्चे के टोटी शब्द को सुनकर माता पिता रोटी देते हैं वैसे ही हृदय की भावना को ही ग्रहण करते हैं, प्रभो ! मुझ पर भी उक्त विधि से कृपा करिये ।

रज्जब बंदे बाल विधि, बोलहिं मति उनहार ।

पै अन्तर्यामी मात पितु, मन की लेंहि विचार ॥३५॥

भक्त तो बालक के समान अपनी बुद्धि के अनुसार बोलता है किन्तु जैसे बालक के मन की बात को माता पिता अपने विचार से समझ लेते हैं, वैसे ही भक्त के मन की बात अन्तर्यामी परमात्मा जान लेते हैं, प्रभो ! उक्त प्रकार ही मेरा उद्धार कीजिये ।

रज्जब खीरा खीर मध्य, मुंहडे खारा स्वाद ।

यूं बोल न जाने बिच बिमल, ताका तज अपराध ॥३६॥

खीरा ककड़ी के नाकू के पास का दूध कटु होता है किन्तु भीतर ककड़ी मीठी होती है उसके कटु भाग को निकाल के उसे खाते हैं, वैसे ही जो भक्त मुख से ठीक नहीं बोल जानता किन्तु हृदय पवित्र है तो उसकी वाणी का दोष त्यागकर भगवान् उस पर कृपा करते हैं, प्रभो ! मुझ पर उक्त प्रकार कृपा कीजिये ।

अनन्त अन्त लेते अघों, तो न उद्धरते संत ।
जन रज्जब की बीनती, मानहु अपणा मंत ॥३७॥

अनन्त परमात्मा पापों का फल देने के लिये संतों को व्याकुल करते तो संतों का उद्धार कैसे होता ? मेरी भी यही विनय है कि मेरे उद्धार के समय भी आप अपना संतों के उद्धार के सम्बन्धी परामर्श को मान करके ही मेरा उद्धार करें अर्थात् कृपा करके ही मेरा उद्धार करें ।

भूल चूक भगवंत की, भृतहु सु मंगलचार ।
रज्जब रज तज काढतौं, ह्वै सेवक शिरमार ॥३८॥

भगवान् की तो भूल चूक भी भक्त के लिये मंगलाचार रूप ही होती है अर्थात् भूल में भी भगवान् भक्त का अनिष्ट नहीं करते किन्तु भक्त रजो-गुण को त्याग कर अपने मन को माया से निकालता है तब उसके शिर पर अवश्य मायिक संसार की मार पड़ती है अर्थात् अनेक विघ्न आते हैं । हे प्रभो ! विघ्नों से बचाइये ।

नाम अलेख अलेख कहावे, लेखा[1] लेत नहीं बन आवे ।
बाप विरुद[2] की बहिये लाज, रज्जब के सीझे[3] सब काज ॥३९॥

हे परमपिता ! आप का नाम अलेख है, आप किसी प्रकार हिसाब[1] द्वारा लेखबद्ध नहीं हो सकते इसी से अलख कहलाते हैं, आप अपने यश[2] की लज्जा रखिये तभी मेरे सब कार्य सिद्ध[3] होंगे ।

बंदे की जो बंदगी, लेखे[1] बदी[2] सु सोय ।
अर्ज बीनती ब्रह्म सौं, रज्जब किहि विधि होय ॥४०॥

भक्त की भक्ति है सो तो हिसाब[1] में बुराई[2] सिद्ध होती है फिर ब्रह्म से विनय-प्रार्थना किस प्रकार हो सकती है, अतः ईश्वर को अपने यश के अनुसार दया ही करना चाहिये ।

नाहीं सौं नाहीं उदय, है सो है सा होय ।
रज्जब की यहु बीनती, साहिब देखो जोय ॥४१॥

जो संसार सत्य नहीं उसका उदय हृदय में सत्यरूप से नहीं होना चाहिये और जो आपका सत्यरूप है वह हृदय में सदा सत्य-सा भासित

होना चाहिये, मेरी यही विनय है, हे प्रभो ! इस मेरे हृदय को देखिये और जो उक्त विनय है उसे पूर्ण करिये ।

रज्जब आँख आतमा एक गति, फूटे सारे गोत ।
पै प्रभु पालहिं पलक परि, ढंकत दुविधि न होत ॥४२॥

आँख और आत्मा की एक ही गति है, आँख फूटी हो वा साबित हो पलक तो उसपर पड़कर सदा ही उसकी रक्षा करती है, पलक के ढँकने में दुविधा नहीं होती, वैसे ही जीवात्मा का गोत्र अच्छा हो वा बुरा हो उसकी रक्षा प्रभु सदा ही करते हैं रक्षा में दुविधा नहीं करते, प्रभो ! मेरे साथ भी उक्त प्रकार ही करेंगे ।

जोगी जट हि लगाइ ले, टूटा सारा केश ।
त्यों रज्जब सौं राम कर, यहां नहीं लव लेश ॥४३॥

केश टूटा हो वा साबित हो जटा वाला जोगी तो दोनों को ही जटा में लगा लेता है, हे राम ! वैसे ही आप मेरे साथ करें, मैं आपके चिन्तन में साबित हूं वा टूट जाऊं तो भी आप मुझे अपने स्वरूप में मिलावें क्योंकि मुझमें तो आपमें मिलने का साधन लव का लेश भाग भी नहीं है ।

भले बुरे छूटे न प्रभु, जे लागे निज अंग ।
घट धारी हु ले चले, लूली लंगड़ी टंग ॥४४॥

शरीरधारी की टाँग लूली लंगड़ी कैसी भी हो वह उसे साथ लेकर ही चलता है, वैसे ही जो प्रभु के स्वरूप में लगे हैं, वे भले हों वा बुरे हों छुट नहीं सकते, तो फिर मैं कैसे छुटूंगा ।

सुरही[1] सुत[2] मिरतक तुचा, ता पर स्रवे[3] सु खीर ।
तो त्यागहुगे कौन विधि, भक्त बछल विरुद भीर ॥४५॥

गाय[1] का बच्छा[2] मर जाता है तब उसकी चमड़ी में घास भर के दूध निकालते समय गाय के आगे खड़ा कर देते हैं तब गाय भी दूध दे देती[3] है, तब हे प्रभो ! दुःख के समय आप अपना भक्त वत्सलता रूप विरुद किस प्रकार त्यागोगे ?

ब्रह्म गाय बंदा सु बच्छ, मूरा[1] मूरति गोर[2] ।
शक्ति[3] सीर[4] स्रव[5] हीं सदा, घटी कृपा नहिं कोर ॥४६॥

ब्रह्म गाय के समान है और भक्त बच्छे के समान है, जैसे गाय बच्छा मर जाय तो भी उसकी चमड़ी में घास भरे पुतले[1] को देखकर भी दूध[4] देती[5] है, वैसे ही भक्त के मरने पर भी उसकी मूर्ति तथा कब्र[2] को ईश्वर

माया[3] देते हैं अर्थात् मूर्ति तथा कब्र की पूजा होती है, अतः भगवान् की कृपा भक्त के मरने पर थोड़ी भी कम नहीं होती।

भाव[1] भोज[2] की दामिनी[3], काया[4] खँडेले ख्याल[5]।
बाबा[6] बागड़[7] सौं धस्या[8], रज्जब किये निहाल[9] ॥४७॥

भोजराज कंस[2] ने देवकी की कन्या को शिला पर पटका था तब वह बिजली[3] के समान चमकती हुई खंडेले की ओर गई थी। उसी को इसमें भोज की बिजली कहा है। खंडेले पर बिजली चकमती है तब मेघ बाबा शेखावाटी[7] से राजस्थान में प्रवेश[8] करके वर्षा द्वारा राजस्थान की जनता का मनोरथ पूर्ण करता है। वैसे ही परमेश्वर[6] ने विनती करने से, प्रेम[1], विचार[5] और वैराग्य[7] द्वारा शरीर[4] के हृदय देश में प्रवेश[8] करके भक्त-जनों को कृतार्थ[9] किया है।

रज्जब गुनहिं[1] आदि का, अंत लगे हू सोय।
मध्य मधिम कृत्य करतहूं, कहु छूटण क्यों होय ॥४८॥

मैं प्रथम का ही दोषी[1] हूं, मध्य में भी कुकर्म ही कर रहा हूँ और ज्ञात होता है कि अन्त तक वही स्वभाव रहेगा, तो फिर कहिये मेरे कर्मों से मेरा छुटकारा कैसे होगा ? हे प्रभो ! आप ही कृपा करके मुझे मुक्त करें।

मैं मेरा पाया मुदा[1], मन कर्म विश्वा बीस।
रज्जब खोटा तू सही, तो त्यागहिं जगदीश ॥४९॥

मैंने मन वचन कर्म से मेरे उद्धार का अभिप्राय[1] जान लिया है कि वास्तव में तू बुरा है तो तुझे जगदीश्वर त्याग ही देंगे।

गैरी[1] पाड़े[2] के चलहिं, विकैं वित्त के साथ।
रज्जब तू खोटा सही, हरि पकड़े नहिं हाथ ॥५०॥

अन्य[1] देश[2] के सिक्के अन्य देश में चलते तो हैं किन्तु जिस धातु के होते हैं उसके मूल्य में बिकते हैं, वहां के सिक्के के साथ नहीं चलते, वैसे ही यदि तू वास्तव में खोटा सिद्ध होगा अर्थात् मायिक देश का होकर भक्त देश में जायगा तो हरि तुझे नहीं अपनायेंगे, तेरे कर्मों के अनुसार ही फल देंगे।

रज्जब गुनहीं जीव जड़, अपराधी सु अपार।
महर तुम्हारी ऊबरे, सांचा सिरजनहार ॥५१॥

हे सत्य स्वरूप सृष्टिकर्ता प्रभो ! यह जड़ जीव दोषी है और अपार अपराधों से युक्त है, आपकी दया से ही इसका उद्धार हो सकता है अन्यथा नहीं।

मीरां मुझमें क्या खता[1], जे तुम विसरे बाप ।
अब रज्जब पर रहम कर, दें अघ मोचन जाप ॥५२॥

हे मेरे सरदार ! मुझमें क्या अपराध[1] है, जो आप मुझे भूल रहे हैं, हे बाप ! अब मेरे पर कृपा करके अपने पापनाशक नाम का निरंतर जाप करने की योग्यता मुझे दें ।

बदी[1] बिसाही[2] बहुत ही, नेकी नेक न लीन ।
जन रज्जब जग आयकर, कहो कहा हम कीन ॥५३॥

बुराई[1] तो बहुत ही मोल[2] ली है किन्तु भलाई किंचित् मात्र भी नहीं ली है, कहो इस संसार में आकर हमने अपने कल्याण का क्या काम किया है ? कुछ नहीं ।

जब का जीव जुदा किया, तब का चढ्या कलंक ।
अब रज्जब सौं राम मिल, मेटी जे अघ अंक ॥५४॥

हे राम ! जबसे आपने जीव को अपने से अलग किया है, तबसे इस पर पाप का कलंक चढ़ रहा है, अब आप मुझसे मिलकर मेरे पर लगा पाप का दाग मिटा दीजिये ।

युग अनन्त का रूठना, भान[1]हु आतम राम ।
रज्जब लम्बा रोष अति, नहीं भलों का काम ॥५५॥

हे राम ! आप जीवात्मा से अनन्त युगों से रुष्ट हैं, उस रूठने को नष्ट[1] कीजिये, अत्यधिक लम्बा रूठना श्रेष्ठों का काम नहीं है, अतः दया करिये ।

रज्जब आया चूकता, सदा चूक ही माँहि ।
पै प्रभु तुम चुकहु सु क्यों, मुझहि उद्धारो नाँहि ॥५६॥

मैं तो गलती करता ही आया हूँ तथा सदा भूल में ही रहा हूँ, किन्तु हे प्रभो ! आप अपने विरुद को क्यों भूल रहे हो, जो मेरा उद्धार नहीं करते ।

कै तुम काढ्या गुनहुं[1] पर, कै हूनर[2] परकाश ।
पग परसाओ परम गुरु, दूर दुखी यहु दास ॥५७॥

हे परम गुरो ! परमेश्वर ! आपने मेरे दोषों[1] पर रुष्ट होकर मुझे स्वरूप से अलग निकाला है वा कला[2] विकास के लिये निकाला है ? किन्तु मैं दास आपसे दूर रहने में दुखी रहता हूं अतः आप अपने चरण-कमलों का स्पर्श प्रदान कीजिये ।

भला बुरा जैसा किया, तैसा निपज्या जीव ।
यहु तुमरो तुमको मिले, तुम क्यों मिलो न पीव ॥५८॥

हे प्रियतम ! भला या बुरा जैसा भी आपने उत्पन्न किया है, वैसा ही यह जीव पैदा हुआ है, यह आपका है और आपसे मिलना चाहता है फिर आप क्यों नहीं मिलते ?

जान लिया खोटा खरा, सो अब फिरे न सांई ।
तो रज्जब है पुत्र तुम्हारा, करस्यो कहा गुसांई ॥५९॥

हे स्वामिन् ! मैं बुरा हूँ या अच्छा हूँ सो तो आपने जान ही लिया है, जैसा भी मेरा पूर्व का स्वभाव है वह तो बदलता नहीं फिर भी मैं हूं तो आपका ही पुत्र, अब मेरे लिये आप क्या व्यवस्था करेंगे सो तो आप ही जानें किन्तु मैं विनय करता हूं कि मुझ पर दया ही करें ।

तू साहिब सन्मुख सदा, बंदा विमुख कदीम[1] ।
तो रज्जब सौं रोस क्या, कीजे फहम[2] फहीम[3] ॥६०॥

हे ईश्वर ! आप तो भरण-पोषणादि द्वारा सदा ही जीव के सन्मुख हैं और प्राणी अनादि[1] काल से ही आप से विमुख है, तो फिर मुझ पर ही क्यों रोष करते हैं ? आप समझदार[3] हैं इस रहस्य को समझ[2] कर मुझ पर कृपा ही कीजिये ।

मम कुकृत्य हैरान हरि, हूं हैरान हरि हेत ।
रज्जब से पापिष्ट को, रिजक रहम कर देत ॥६१॥

मेरे अत्यधिक कुकर्मों को देखकर हरि आश्चर्य करते हैं और मैं हरि के अत्यधिक स्नेह को देखकर आश्चर्य करता हूं, उनका मुझ पर अत्यधिक स्नेह है तभी तो मेरे जैसे पापी को भी वे जीविका देते हैं ।

हम समान गुनहीं नहीं, तुम सम बख्शनहार ।
उभय अंग में फेर क्या, कीजे कृपा विचार ॥६२॥

हे प्रभो ! हमारे समान तो कोई दोषी नहीं है और आपके समान कोई क्षमा करने वाला नहीं है, दोनों के दोनों लक्षणों में कुछ भी कमी नहीं है, ऐसा विचार करके मुझ पर अवश्य कृपा करें ।

रज्जब रूठा राम सौं, मिल रामत के रंग ।
गुण ग्राही गोपालजी, तऊ गये नहिं भंग ॥६३॥

विषयों में वृत्ति भ्रमण के कारण विषय-राग में फँसकर जीव भगवान् से विमुख हो जाता है तो भी भगवान् तो गुण ग्राहक हैं, शरण में जाने से जीव को काल के द्वारा नष्ट नहीं होने देते ।

पीड़ा पंचों तत्त्व को, रोगी रवि राकेश[1] ।
तो आदम[2] को ऐब[3] क्या, रज्जब किया अंदेश[4] ॥६४॥

जब पांचों तत्त्वों को भी विकृति और नाश रूप पीड़ा होती है, सूर्य को ग्रहण तथा चन्द्रमा[1] को ग्रहण और क्षय रूप रोग होने से वे भी दोनों रोगी हैं तब मनुष्य[2] में विकार रूप रोग होना क्या बड़ा दोष[3] है, यह समझकर भगवान् अवश्य कृपा करेंगे, ऐसा ही मैंने अनुमान[4] किया है ।

सब सुखदाई सुधा स्रवे[1], सोई कलंकी चंद ।
तो आदम[2] में ऐब क्या, अचरज क्या गोविन्द ॥६५॥

सब को सुखदाता अमृत वर्षाने[1] वाला चन्द्रमा भी कालिमा रूप कलंक से युक्त है, तब मनुष्य[2] में दोष होना क्या बड़ी बात है ? हे गोविन्द ! फिर मेरे दोषों का क्या आश्चर्य है, उनकी ओर न देखकर दया ही करिये ।

ऐबदार[1] आकार सब, वजूद[2] सहित अरवाहिं[3] ।
शशि सूरज अवगुण भरे, इन्द्र उदधि दिशि[4] चाहि[5] ॥६६॥

शरीर[2] सहित आकारवान् सभी जीवात्मायें[3] दोषयुक्त[1] हैं, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, समुद्र, इनकी ओर[4] देखने की इच्छा[5] करोगे तो ये भी अवगुणों से भरे मिलेंगे ।

त्रिविध भांति तरणी[1] तपै, दिवस जन्म निश नाश ।
रज्जब रवि रारचों निरखि, इक रस भये निराश ॥६७॥

सूर्य[1] प्रातः, मध्यदिन और सायंकाल इन तीनों समयों में अधिक न्यून ताप होने से तीन प्रकार तपते हैं, प्रातः सूर्य का जन्म होता है, रात्रि में अभाव रूप नाश होता है, इस प्रकार सूर्य को नेत्रों से देखकर हम अपने साधन से एक रस रहने से तो निराश हो गये हैं, हे प्रभो ! आपकी कृपा से ही हम में एक रसता आ सकती है ।

पन्द्रह तिथी सोलह कला, वर्तें शशि सु शरीर ।
तो रज्जब आदम[1] एक रंग, रहै कौन विधि वीर ॥६८॥

सतत प्रवाहशील काल में १५ तिथि का तथा चन्द्रमा में भी १६ कलाओं का भेद व्यवहार होता है तब दुष्टों के नाश तथा सज्जनों की रक्षा करने में वीर प्रभो ! मनुष्य[1] किस प्रकार एक रंग में रह सकता है ? अतः हमारे परिवर्तन को न देखते हुये दया ही करिये ।

रज्जब सब दिन एक से, कदे न आवे कोय ।
त्रिविधि भांति तरणी[1] तपै, लघु दीरघ शशि होय ॥६९॥

सूर्य[1] दिन में वा वर्ष में तीन प्रकार से तपता है, चन्द्रमा छोटा-बड़ा होता है, कभी भी जीवन के सम्पूर्ण दिन समान रूप से किसी के भी नहीं आते, अतः प्रभो ! चर्याभेद से रुष्ट न होकर मुझ पर दया ही करें ।

तुम पूरण प्रतिपाल जी, अवगुण दिशा न देख ।
रज्जब बूडे रामजी, लीजे काढि अलेख ।।७०।।

हे परिपूर्ण प्रतिपालक प्रभो ! मेरे अवगुणों की ओर न देखिये, मैं संसार-सिन्धु में डूब रहा हूं, हे अलेख मुझे निकाल लीजिये ।

सुत में शत[1] अपराध ह्वैं, पर पिता न पूछे बात ।
त्यों रज्जब अवगुण भरचा, क्यों त्यागहुगे तात ।।७१।।

यदि पुत्र में सौ[1] दोष हों तो भी पिता पुत्र से रुष्ट होकर उनके विषय में नहीं पूछता प्रत्युत प्रेम से उसके दोष दूर करने की ही बात कहता है, वैसे ही हे पिता ! मुझ में भी अवगुण भरे हैं किन्तु मुझे आप त्यागेंगे कैसे ? उनको दूर करके अपनायेंगे ही ।

सलिता साधू सिन्धु हरि, उभय उभय दिशि जांहि ।
रज्जब रिधि रहिता सहित, इष्ट सु विरचैं नाँहि ।।७२।।

नदी और साधु दोनों समुद्र और हरि इन दोनों की ओर ही जाते हैं, नदी कम जल होने पर भी समुद्र में ही जाती है, वैसे ही संत धन रहित हो वा सहित हो अपने इष्ट देव हरि से उपराम नहीं होते ।

नदियाँ नर मैले बहैं, भर जोबन मैमंत ।
रज्जब रज देखे नहीं, देखो उदधि अनन्त ।।७३।।

नदियाँ रेते से मैली बहती हैं और नर यौवन में काम-मदमत्तता रूप मैल से मैले होकर चलते हैं किन्तु समुद्र नदियों की रज को न देखकर उन्हें अपने में स्थान देता हैं, वैसे ही अनन्त प्रभु नर के विकारों को न देखकर उन्हें अपनाते ही हैं, प्रभो ! उक्त रीति से ही मुझे अपनाना ।

नदी बहत नर नीकसे, तिणा गह्यों बह लाज ।
तो रज्जब क्यों बूडसी, जो बैठा नाम जहाज ।।७४।।

नदी में बहता हुआ मनुष्य दूबका तृण पकड़ कर भी बाहर निकल जाता है, तब जो नाम रूप जहाज पर बैठा है वह कैसे डूब सकता है ? उसकी तो लज्जा प्रभु रखते ही हैं, हे प्रभो ! वैसे ही मेरी लज्जा भी रखिये ।

नाम बिना नग नीपजे, हीरा मोती लाल ।
तो रज्जब सुमिरण सहित, सो किन होत निहाल ।।७५।।

बिना नाम स्मरण के भी पृथ्वी में हीरा, मोती और लाल उत्पन्न होते हैं फिर जो प्रभु का नाम-स्मरण करता है वह क्यों नहीं कृतार्थ होगा ? प्रभो ! मुझे भी नाम-स्मरण से ही कृतार्थ करने की कृपा कीजिये ।

नाव छेद नख भर पड़े, पाणी भरि है आय ।
तो रज्जब तन क्यों रहै, जाके दह[1] दिशि राय[2] ॥७६॥

नाव में यदि नख जितना भी छिद्र हो जाय तो पानी भर आता है तो फिर जिसके दशों[1] दिशाओं में ही रोम कूपादि रूप दरार[2] हैं, वह शरीर विकार भरे बिना कैसे रह सकता है ? अतः हे प्रभो ! मेरे शरीर को आप ही वैराग्य प्रदान द्वारा निर्विकार रखने की कृपा करें ।

यथा कटोरी घड़ी की, बूड जाय तुच्छ छेक ।
तो रज्जब तन क्यों रहे, दह दिशि भरे विशेष ॥७७॥

जब घड़ी की कटोरी एक सूक्ष्म छिद्र से भरकर डूब जाती है (घड़ी की कटोरी के तल में इतना छिद्र होता कि वह एक घंटे में जल से भर जाय उसे जल से भरे डोल में डाल देते हैं और वह भरकर डूब जाती है) तब जिसके दशों दिशाओं में ही छिद्र हैं वह शरीर विकारों से भरकर संसार-सागर में डूब जाय, इसमें क्या विशेष बात है ? यह हमारे उपायों से खाली कैसे रह सकता है ? प्रभो ! आपही कृपा करके विकारों से बचाइये ।

जत सत सुमिरन करन का, हरि दाता दे दान ।
रज्जब की यहु बीनती, मुश्किल करण आसान ॥७८॥

हे परमदातार हरे ! आपको मेरी यही विनय है कि मुझे ब्रह्मचर्य,सत्य भाषण और आपका स्मरण करने की योग्यता का दान दीजिये, मेरे लिये तो उक्त बातें कठिन हैं किन्तु आप तो कठिन को भी सुगम करने वाले हैं ।

प्रभु परिपूरण मौजतैं[1], सत जत सुमिरन होय ।
रज्जब पावे रहम सौं, और न दाता कोय ॥७९॥

प्रभु की परिपूर्ण कृपा[1] से ही सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य और ब्रह्म चिन्तन होता है, उक्त साधन भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होते हैं, इनके करने की शक्ति देने वाला अन्य कोई भी नहीं है ।

रोय धोय उज्वल किये, द्दग देखन हरि हेत ।
अब रज्जब को रहम करि, काहेन दर्शन देत ॥८०॥

हे हरे ! आपके दर्शनों के लिये वियोग-व्यथा से रो-रो कर अश्रु जल द्वारा धोकर नेत्र निर्मल कर लिये हैं, अब आप कृपा करके मुझे दर्शन क्यों नहीं देते ?

जैसे मनषा[1] देह दी, त्यों प्रभु दे दीदार।
यहु रज्जब की बीनती, कीजे फेर न सार ॥८१॥

प्रभो ! जैसे आपने मनुष्य[1] शरीर दिया है, वैसे ही कृपा करके अपना दर्शन भी दीजिये। मेरी यही सार रूप विनय है, इसे बदलिये नहीं।

मनिषा[1] देही मौजदी[2], महर मिलाये साध।
अब रज्जब को दर्शदे, दीरघ दत्त[3] अगाध ॥८२॥

प्रभो ! आपने मनुष्य[1] शरीर का आनन्द[2] दिया और कृपा करके संतों का संग भी दिया, वैसे ही अब अपना साक्षात्कार रूप अगाध दान[3] भी दीजिये।

तुम्हें योग्य तुम क्या करी, हम हुं बतावहु पीव[1]।
सेवक ल्यावे शोध[2] कर, भेंट तुम्हारी जीव ॥८३॥

हे प्रियतम[1] ! आपने अपने योग्य भेंट क्या उत्पन्न करी है ? कृपा करके वह हमें बाताइये जिससे यह सेवक जीव उसे खोज[2] कर लावे और आपके आगे भेंट धरे।

तुम लायक तुम ना करी, हममें वस्तु अनूप।
तो भेंट भली ल्यावै सु क्या, जग मोहन जग भूप ॥८४॥

हे विश्व विमोहन ! विश्व भूप ! आपने अपने योग्य भेंट की अनुपम वस्तु हममें उत्पन्न ही नहीं करी, तब हम आपके लिये क्या सुन्दर भेंट लावें ?

छाया भूत खवीस[1] की, आतम भूत समान।
तो तुम्हें भजन भगवंत जी, जीव रहै की आन[2] ॥८५॥

जिस जीवात्मा में भूत-प्रेत[1] की छाया आती है तब वह भूत के समान ही हो जाता है, फिर हे भगवन् ? आपका भजन करने से जीव आपसे अन्य[2] कैसे रह सकता है ? अतः आप मुझे भी अपने स्वरूप में ही लय करिये।

पड़त अधौड़ी[1] झाड़ जड़, काढे कुचल[2] सु अंग[3]।
तो रज्जब किन पलटिहै, लागत राम सुरंग ॥८६॥

कोरे चमड़े[1] में झड़ बेर की जड़ की छाल का रंग देते हैं तब वह रंग उसके सभी मैल[2] को निकाल कर उसका स्वरूप[3] सुन्दर कर देता है, तो फिर हे राम ! आपका प्रेम रूप रंग लगने से जीवात्मा की भावना क्यों नहीं बदलेगी ? अतः अपना प्रेम-प्रदान करने की कृपा कीजिये।

मन की चाही मत करो, सुन आतम अरदास ।

सब तुम को मालूम है, जो है जाके पास ॥८७॥

प्रभो ! जो मन चाहता है, वह न करिये, यही जीवात्मा की प्रार्थना है, अच्छाई वा बुराई जो भी जिसके पास है, सो सब आपको ज्ञात है, अतः जैसे कल्याण हो वैसा ही कीजिये ।

जीव को भावै जगत गुरु, तन मन विषय विकार ।

यहु अड़वी[1] आठों पहर, मेटहु सिरजन हार ॥८८॥

जीव को तो जगद्गुरु प्रिय लगते हैं, और इन्द्रिय रूप तन तथा मन को विषय-विकार प्रिय लगते हैं, आठों पहर ही इनमें यह हठ[1] पड़ा रहता है, हे सृष्टिकर्त्ता प्रभो कृपा करके उक्त हठ को मिटा दीजिये ।

कै मन की दुर्मति हरो, कै मन को प्रभु मार ।

जन रज्जब की बीनती, हरि हमको निस्तार ॥८९॥

हे प्रभो ! या तो मन की दुर्बुद्धि नष्ट करो या मन को मारो, हे हरे ! मेरी यही विनय है, मेरा उद्धार करो ।

तन मन को दीजे सजा[1], रहै रजा[2] में नाँहि ।

रज्जब रोके कौन विधि, आप आपको जाँहि ॥९०॥

प्रभो ! इन्द्रिय रूप तन तथा मन आपकी आज्ञा[2] में नहीं रहते, अपनी २ इच्छानुसार दौड़ जाते हैं, मैं इनको किस प्रकार रोक सकता हूं, आप ही इन्हें दंड[1] देकर रोकें ।

जे तुम राखो तो रहै, सांई सुनहु सुजान ।

आतम आभे[1] में रहै, मनवा बीज[2] समान ॥९१॥

अच्छी प्रकार सब कुछ जानने वाले प्रभो ! सुनिये यदि आप रक्खें तो जैसे बादल[1] में बिजली[2] रहती है, वैसे ही आत्मा में मन रह सकता है ।

दरिद्र सदा दिल में रहै, बहुत युगों का बास ।

रज्जब मौज[1] महन्त बिन, ह्वै न रोर[2] का नाश ॥९२॥

विषयाशा रूप दरिद्र सदा हृदय में रहता है, बहुत युगों से हृदय इसका निवास स्थान बन रहा है, महान् संतों की वा महान् प्रभु की कृपा[1] बिना उक्त दरिद्र का रोना[2] पीटना नाश नहीं हो सकता । अतः प्रभो ! संतों की वा आपकी कृपा प्राप्त करने की योग्यता दीजिये ।

सर्वंगी[1] सब अंगदे[2], तो सुख सब विधि होय ।

रज्जब मौज[3] महन्त को, विरला पावे कोय ॥९३॥

संपूर्ण विश्व जिसका अंग है वह प्रभु[1] वा संपूर्ण शुभ लक्षण[2] जिसमें हैं वह महान् संत शुभ लक्षण[1] दे तो सभी प्रकार सर्व सुख प्राप्त हो सकते हैं। महान् ब्रह्म साक्षात्कार से वा महान् संतों के उपदेश से होने वाले आनन्द[3] को कोई विरला ही प्राप्त करता है। अतः हे प्रभो ! ब्रह्मानन्द देने की कृपा कीजिये।

अन माँग्येहि उदर दिया, त्यों प्रभु देहु अहार।
रज्जब पड़ें न द्वन्द्व में, कीये की कर सार[1] ॥६४॥

प्रभो ! आपने बिना माँगे ही पेट दिया है वैसे बिना माँगे ही भोजन दीजिये, जिससे मैं भोजनार्थ नाना झगड़ों में पड़कर भजन से वंचित न हो सकूं, आपने मुझे उत्पन्न किया है, अतः मेरी पालन-पोषण रूप सहायता[1] भी कीजिये।

बाबा कब की बीनती, हमको करि करतार।
भूत उपाया भूख दे, तो किये की कर सार ॥६५॥

हे सृष्टिकर्त्ता बाबा ! आपने हमको उत्पन्न करके प्रकट किया है तभी से हम विनय कर रहे हैं कि भूख देकर प्राणी को उत्पन्न किया है तो अपने उत्पन्न किये हुये की पालन-पोषण रूप सहायता भी करिये।

कीये पर करुणा सबै, या[1] परवरती साज[2]।
भूत भये भगवंत सौं, तो भूखों की लाज ॥६६॥

उत्पन्न किये हुये पर सभी करुणा करते हैं, इस[1] सृष्टि रूप प्रवृत्ति में यह मुख्य काम[2] है। अतः जो भूत प्राणी भगवान् से उत्पन्न हुये हैं, वे यदि भूखे रहें तो भगवान् को ही लज्जा लगती है। प्रभो ! उक्त प्रकार विचार करके भरण-पोषण द्वारा हमारी रक्षा कीजिये।

पल पल अंतर होत है, पग पग पड़िये दूर।
वचन वचन बीचै पड़ै, रज्जब कहां हजूर ॥६७॥

प्रभो ! आपके साक्षात्कार के साधनों में प्रतिक्षण मन की चपलता रूप विघ्न होता रहता है, विषयराग द्वारा पद-पद में आपसे दूर होता जा रहा हूं, आपसे भिन्न जो भी वचन बोलता-सुनता हूं उस प्रति-वचन से भी आप और मेरे बीच में व्यवधान पड़ता जाता है, मैं आपके सन्मुख कैसे रह सकता हूं ? आप ही कृपा करें तो रह सकता हूं।

सज्जन जन इच्छा सु यूं, रहिये सदा हजूर।
पै कठिन कर्म पिछले प्रबल, पग पग पाड़त[1] दूर ॥६८॥

सज्जनों की इच्छा तो ऐसी ही रहती है कि सदा प्रभु के सन्मुख रहें किन्तु पूर्व के कठोर कर्म प्रबल हैं, वे प्रतिपद भगवान् से दूर ही पटक[1] रहे हैं। प्रभो ! आप कृपा करके उन कर्मों का नाश करें।

अन्तर[1] ही अंतर[2] घणा, आडे लोक अनन्त।

रज्जब आवे कौन विधि, प्रभु पाँवन लग जन्त ॥९९॥

भीतर[1] ही वासनामय अनन्त लोक आडे आकर भगवत् प्राप्ति में विघ्न[2] हो रहे हैं, इस स्थिति में जीव प्रभु के पद-कमल तक किस प्रकार आ सकता है ? प्रभो ! आप ही कृपा करें तो ही आ सकता है।

अन्तःकरण अनन्त रिपु, वैरी बहु बलवंत।

रज्जब छूटे कौन विधि, बिन सहाय भगवंत ॥१००॥

अन्तःकरण में कामादिक अनन्त शत्रु हैं और वे वैरी बहुत बली हैं, भगवान् की सहायता बिना जीव उनके फंदे से कैसे छुट सकता है ? अतः प्रभो ! सहायता करिये।

आरति[1] हर हरि नाम तव, रज्जब हरन[2] हिराय[3]।

कै विरुद[4] विसारचा बापजी, कै हरि कह्या न जाय ॥१०१॥

हे हरे ! आपका नाम दुःख[1] हरन है, फिर मेरा दुःख[3] हरो न[2] अर्थात् क्यों नहीं हरते ? क्या बात है बापजी ! क्या आप अपना यश[4] भूल गये वा आपका नाम अब हरि नहीं कहा जाता ?

रज्जब रोग सु ना कटे, बिन दारू[1] दीदार[2]।

मुख दिखलाओ महर कर, ज्यों जीव होय करार[3] ॥१०२॥

प्रभो ! मेरा भव-रोग आपके दर्शन[2] रूप औषधि[1] के बिना नष्ट नहीं होगा, अतः जैसे जीव को संतोष[3] हो वैसे ही कृपा करके अपना मुख दिखलाइये।

सारंग[1] बूंद समुद्र है, शून्य[2] सलिल तुछ छंट।

रज्जब टेरै हे हरी, येते पर क्या अंट ॥१०३॥

आकाश[2] से पड़ने वाली जो छोटी-सी स्वाति जल की बिन्दु है, चातक[1] पक्षी के लिये तो वह बिन्दु ही समुद्र है, हे हरे ! वैसे ही मैं भी पुकार रहा हूँ कि किंचित दर्शन दे दीजिये मेरे लिये तो वही बहुत है किन्तु इतने पर भी आपको क्या आँट पड़ गई है जो दर्शन नहीं देते ?

मनिषा[1] देही देत ही, पय[2] पर आणी[3] सार[4]।

अब दाव[5] भाव करि नाम दे, रज्जब उतरे पार ॥१०४॥

मनुष्य[1] देह देकर आपने दूध[2] पर रख[3] के सहायता[4] की, अब एक बार[5] प्रेमपूर्वक अपना नाम देने की भी कृपा करें, जिससे मैं संसार-सागर से पार उतर जाऊं।

मंदिर मनिषा[1] देह दी, तो कलश कमल दिखलाय।
प्रभु परिपूरण मौज पर, जन रज्जब बलि जाय ॥१०५॥

प्रभो ! आपने मनुष्य[1] देह रूप मंदिर दिया है तब अपना मुख-कमल दिखलाना रूप कलश भी इस पर रखिये, मैं आपके दर्शन से होने वाले परिपूर्ण आनन्द पर बलिहारी जाता हूं।

सब संतन के काम को, साहिब सदा सकज्ज[1]।
तो रज्जब पर रहम कर, राखो जन पद लज्ज ॥१०६॥

प्रभो ! आप सभी संतों के काम करने में सदा समर्थ[1] ही रहते हैं, तब मुझ पर भी कृपा करके जन शब्द की लज्जा रखिये, मुझे भी दर्शन दीजिये।

पंच तत्त्व को पेट दे, प्रभु पूरी सब आश।
रज्जब रुचि[1] दे मिलन की, क्यों कीजे सु निराश ॥१०७॥

प्रभो ! आपने पंच तत्त्व मय शरीर को पेट देकर उसके भरणे की सभी आशायें पूर्ण की हैं, फिर अपने मिलने की प्रीति[1] देकर मुझे निराश क्यों कर रहे हैं ? शीघ्र ही मिलने की कृपा कीजिये।

रज्जब को दीजे रजा[1], तेरा नाम लिवाय।
मौज[2] मया[3] परि कीजिये, बंदा बलि बलि जाय ॥१०८॥

मुझे आपका नाम चिन्तन करने की आज्ञा[1] देकर मुझसे अपना नाम चिन्तन कराइये और आपकी दया[3] पर ही आनन्द[2] कर सकूं ऐसी कृपा कीजिये, मैं आपकी बारंबार बलिहारी जाता हूं।

करतों याद अनन्त को, अनन्तहि आवे याद।
सांई करी सहाय यहु, जन्म न जाई बाद ॥१०९॥

सदा अनन्त प्रभु का स्मरण करने से अन्त समय में अनन्त प्रभु ही याद आते हैं। पूर्व काल में भी अंत समय में याद आकर संतों की सहायता की है, अन्त समय में प्रभु याद आने पर मनुष्य जन्म व्यर्थ नहीं जाता, सफल हो जाता है।

रज्जब रंक निवाजिये[2], पूरण करो पसाव[1]।
और कछू मांगूं नहीं, तेरा दर्श दिखाव ॥११०॥

मुझ रंक पर दया कीजिये[२], पूर्ण कृपा[१] करके अपना साक्षात्कार कराइये, मैं और कुछ भी नहीं माँगता ।

रज्जब की अरदास यहु, और कहै कछु नाँहि ।
मो मन लीजे हेरि हरि, मिले न माया माँहि ॥१११॥

हे हरे ! मैं और कुछ नहीं कहता, मेरी तो यही प्रार्थना है कि मेरे मन को विषयों से खोजकर आप ले लें, फिर वह माया में न मिल सके ।

नाम बिना जो और है, सो माँग्या मत देहु ।
रज्जब चरणों राखिये, हरि अपना कर लेहु ॥११२॥

हे हरे ! मुझे अपना बनाकर अपने चरणों में रखिये और आपके नाम बिना जो कुछ भी है, सो माँगने पर भी नहीं दीजिये ।

रुचि माँहीं रहता रहो, जाता जीवतें जाव ।
आदि अंत मधि यूं सदा, यहु रज्जब के भाव ॥११३॥

भगवत् प्रीति में रहता है तब तो चाहे चिरकाल रहो और भगवत् प्रीति को त्याग कर संसार में जाता है तब चाहे अभी नष्ट हो जाय, जीवन काल के आदि, मध्य और अंत में सदा हमारा ऐसा ही भाव रहता है ।

चिदानन्द चित में रहो, मन मोहन मन माँहि ।
रज्जब ऊपरि रहम कर, अरि उर आवे नाँहि ॥११४॥

हे चेतन आनन्द स्वरूप प्रभो ! मेरे चित्त में सदा रहिये, हे मन मोहन ! मेरे मन में निरंतर बसिये, यह मुझ पर दया करिये, जिससे कामादि शत्रु मेरे हृदय में न आ सकें ।

भाव यही उर में बसो, परम पुरुष श्री मोर ।
रज्जब के सुख ऊपजे, शत्रु न पावहि ठोर ॥११५॥

मेरा भाव यही रहता है कि श्री परम पुरुष मेरे हृदय में सदा बसें, प्रभु हृदय में बसते हैं तब मुझे आनन्द मिलता है और कामादि शत्रुओं को रहने के लिये हृदय में स्थान नहीं मिलता ।

सुरति माँहि सांई रहो, शक्ति सु आवहु जाय ।
मनसा वाचा कर्मना, यहु रज्जब के भाय ॥११६॥

मैं मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही कहता हूं, मेरे हृदय में सदा यही भाव रहता है कि मेरी वृत्ति में निरंतर ब्रह्म का स्मरण रहना चाहिये, फिर माया आवे या जाय उसकी मुझे चिन्ता नहीं ।

रज्जब की यहु बीनती, सांई[1] सुन दे दाद[3]।
दिल बैठो दीवान[2] जी, और न आवे याद ॥११७॥

हे स्वामिन्[1] ! मेरी यह प्रार्थना सुनकर आप उसकी प्रशंसा[3] अर्थात् आदर ही करेंगे, हे विश्व के महाराजा[2] सदा मेरे हृदय में ही विराजिये, जिससे मुझे आपसे भिन्न और कुछ भी याद न आवे ।

अबला[1] याद न आव ही, अविगत कीजे सोय ।
रज्जब की यहु बीनती, तुम तैं सब कुछ होय ॥११८॥

हे मन इन्द्रियों के अविषय प्रभो ! मेरी यह विनय है कि वही कृपा करें जिससे मुझ नारी[1] या माया[1] याद न आवे, आप सर्व समर्थ हैं आपसे सभी कुछ होता है ।

आदि[1] याद आवे नहीं, अंतरि रहै अनादि[2]।
रज्जब सौं यहु कीजिये, जन्म न जाई बादि ॥११९॥

प्रभो ! मुझे संसार का मूल कारण माया[1] याद न आवे और भीतर हृदय में निरंतर आपके अनादि ब्रह्म[2] स्वरूप का चिन्तन होता रहे, मुझ पर यही कृपा कीजिये जिससे मेरा मनुष्य जीवन व्यर्थ न जाय ।

साहिब सों यहु बीनती, पड़दा सकल उठाय ।
तो रज्जब तुमको मिले, बल आया नहिं जाय ॥१२०॥

हे प्रभो ! मैं आपसे यही विनय कर रहा हूं कि आप मेरे बीच में जो पड़दे हैं वे सभी हटा दीजिये तब ही मैं आपसे मिल सकता हूँ, मेरे बल से तो मुझसे आपके पास नहीं आया जायगा ।

रज्जब को दीजे रजा[1], तेरा नाम लिवाय ।
बाबा मानो बीनती, बंदा बलि बलि जाय ॥१२१॥

हे बाबा ! मुझे आपका नाम-स्मरण करने की आज्ञा[1] देकर मुझ से अपना नाम-स्मरण कराइये, मेरी यह विनय मानिये, मैं दास आपकी बारंबार बलिहारी जाता हूँ ।

सद्गुरु सांई साधु बिच, पड़दा करैं न पीव[1]।
रज्जब सहसी और सब, यहु दुख सहै न जीव ॥१२२॥

हे प्रियतम[1] ! सद्गुरु, साधु और अपने स्वरूप के बीच कोई प्रकार का पड़दा न करें, मेरा जीवात्मा अन्य सब तो सहन कर लेगा किन्तु उक्त पड़दे का दुःख न सह सकेगा ।

रोम रोम में रम रह्या, रमता राम विचारि ।
सीप सुरति संतोष दो, कहां पुरुष कहँ नारि ॥१२३॥

हे राम ! शास्त्र-संत कहते हैं कि आप रोम-रोम में रम रहे हैं और पुरुष तथा नारी की समता भी नहीं हो सकती, जैसे सीप समुद्र में रहती है, वह चातक पक्षी के समान आकाश में जाकर स्वाति बिन्दु नहीं ग्रहण कर सकती, केवल समुद्र के ऊपर आ सकती है, उसे आप ही स्वाति बिन्दु द्वारा मोती देते हैं । वैसे ही विचारिये, मेरी वृत्ति संसार में है, यह आपके पास आने में समर्थ नहीं है केवल अज्ञान हटा सकती है । अतः इसे भी अपना साक्षात्कार कराकर संतोष देने की कृपा कीजिये ।

मो मन मोर सु मींडका, चाहै मोहन मेह[1] ।
रज्जब रटिये मुग्ध मति, इन उन को न सनेह ॥१२४॥

मेरा मन मोर तथा मींडक के समान है, जैसे मोर और मींडक वर्षा[1] चाहते हैं, वैसे ही मेरा मन विश्व विमोहन भगवान् को चाहता है किन्तु यह मूढ़ बुद्धि रटता तो रहता है, पर इसमें उन प्रभु को प्राप्त करने योग्य प्रेम नहीं है । प्रभो ! अपना प्रेम दें ।

जन रज्जब के जीव कन, सो न कराई नाथ ।
जा ऊपरि तुम रोष करि, छाडहु सेवक हाथ ॥१२५॥

हे नाथ ! मेरे मन से वह कभी न कराना जिस पर आप रुष्ट होकर सेवक का हाथ छोड़ते हैं ।

जे तुम को भावहि भली, जे तुम जानहु जान[1] ।
रज्जब पावे रहम सौं, दया करहु दीवान[2] ॥१२६॥

हे विश्व के राजन्[2] ! प्रभो ! यदि आपको भलाई ही प्रिय है और आप अपने ज्ञान[1] द्वारा सभी कुछ जानते हैं, तो मुझ पर दया करिये, मैं आपकी कृपा से ही आपको प्राप्त कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विनती का अंग ४५ समाप्तः ॥सा० १५६५॥

अथ संत सहाय रक्षा का अंग ४६

इस अंग में गुरु और गोविन्द संतों की रक्षा करते हैं यह बता रहे हैं—

सब ठाहर रक्षा करैं, गुरु गोविन्द सहाय ।
जन रज्जब जोख्यूं[1] नहीं, विघ्न विलय हो जाय ॥ १ ॥

साधक संतों की रक्षा उपदेश द्वारा सद्गुरु करते हैं और योग-क्षेम करना रूप सहायता गोविन्द करते हैं, इससे उनके जीवन में आने वाले विघ्न नष्ट हो जाते हैं, उन्हें दुःख[१] नहीं होता।

शब्द सुरति आतम अगम, घर दर उर अस्थान।
रज्जब की रक्षा करो, सब ठाहर रहमान ॥२॥

हे दयामय प्रभो ! घर और घर-द्वार में भूत प्राणियों से शरीर की, हृदय स्थान में कामादि से मन की, शब्द जाल में अविचार से वृत्ति की रक्षा करें तथा इसी प्रकार सब स्थानों में रक्षा करते हुए मेरे आत्मा को मन इन्द्रियों के अविषय अपने वास्तव स्वरूप में लय करें।

रज्जब की रक्षा करो, कदे न होय अकाज।
जो तैं राखे सो रहे, ए सांई शिरताज ॥३॥

हे स्वामिन् ! आप मेरी रक्षा करें तो फिर कभी भी मेरा मुक्ति रूप कार्य नहीं बिगड़ेगा। हे सर्व शिरोमणि प्रभो ! जिनकी आपने रक्षा की है वे ही ब्रह्मरूप होकर निर्भय रहे हैं।

पंच भूत मन दैत्य का, धक्का टाल दयाल।
रज्जब ऊपर रहम कर, राख लेहु रछपाल ॥४॥

हे दयालो ! ज्ञानेन्द्रिय रूप पंच भूत तथा मनरूप दैत्य के चंचलता रूप धक्के से बचाइये। हे रक्षपाल प्रभो ! मुझ पर दया करके मेरी रक्षा कीजिये।

तन मन मतैं मनोरथों, भूत भंजन[१] ये भानि[२]।
रज्जब की अरदास यहु, हरिजी हरिये हानि ॥५॥

इन्द्रिय रूप तन विषयों में विचरने रूप अपने मतों से, मन अपने मनोरथों से, मुझ दास की भक्ति को नष्ट[१] करते हैं, अतः इनकी चंचलता को आप नष्ट[२] करें, हे हरिजी ! मेरी यही प्रार्थना है कि-मेरे को आपकी प्राप्ति रूप कार्य में हानि पहुंचाने वालों को आप नष्ट करें।

जन रज्जब जग जीव की, रक्षा ह्वै गुरु बैन।
विविध भाँति टालै विघन, सदा सु पावैं चैन ॥६॥

इस जगत् में सद्गुरु के वचनों से ही जीव की रक्षा होती है, सद्गुरु वचन नाना प्रकार के विघ्नों से बचाते हैं और उनके विचार से प्राणी सदा ही आनन्द का अनुभव करता है।

रज्जब की रक्षा करो, नाम निरख उर माँहि।
वायस राखी बाल की, चांदी[१] चूंथे नाँहि ॥७॥

पशु के घाव[1] को उसके बाल ढंक कर काक से उसकी रक्षा करते हैं, न दीखने से काक उसे नहीं छेड़ता, वैसे ही हे प्रभो ! मेरे हृदय में अपना नाम देखकर दुर्गुणों से मेरी रक्षा करें।

मनिष[1] मौज[2] देंहि मंगतहुं, केवल कीरति काज।
तो रज्जब जगदीश कर, उन हि न इन सम लाज ॥ ८ ॥

यदि आप माँगने वालों को केवल यश वृद्धि के लिये ही मनुष्य[1] शरीर का आनन्द[2] देते हैं, तब मोक्ष देकर साधक संतों की भीं रक्षा करिये, आपको इनके समान लज्जा उनसे नहीं मिलेगी, कारण–मनुष्य शरीर तो कर्म से भी मिलता है और मोक्ष तो आप की कृपा से ही मिलता है।

प्रभु पाके सब ठौर हैं, काचे सेवक भाय।
जन रज्जब जानर कही, साधु वेद निरताय ॥ ९ ॥

प्रभु तो सभी ठौर संत रक्षा के काम में पक्के रहते हैं, सेवक ही अपने भाव में कच्चा रहता है, मैंने ये बात वेद तथा संत चरित्रों के विचार द्वारा जान करके ही कही है।

मारुत[1] मोड़ महाबली, काढ्या औरंहि माग[2]।
रज्जब ऊपर रहम कर, अविगत टाली आग ॥१०॥

मन इन्द्रियों के अविषय प्रभु ने मुझ पर दया करके मुझे जठराग्नि से बचाया और उस महाबली प्रभु ने अपान वायु[1] को बदलकर उसके मार्ग[2] से भिन्न योनि मार्ग से मुझे बाहर निकाल कर मेरी रक्षा की।

विषम[1] बार बाहर[2] चढे, धाये आये धाम।
झल[3] माँही जल रूप ह्वै, रज्जब राखे राम ॥११॥

राम कठिन[1] समय में संतों की सहायता[2] करने के लिये चढ़ाई करते रहे हैं और दौड़ कर संतों के घर पर आते रहे हैं, अग्नि की ज्वालाओं[3] में भी जल रूप होकर प्रह्लाद आदि की रक्षा करते रहे हैं।

अंतक[1] के उर माँहि सौं, काढे अब की बार।
रज्जब सौं अज्जब करी, काल हरन करतार ॥१२॥

अब की इस शरीर के समय में तो काल को नष्ट करने वाले विश्वकर्त्ता प्रभु ने मेरे पर बड़ी अद्भुत कृपा की है, जो काल[1] के हृदय से मुझे निकाल लिया अर्थात् अपना साक्षात्कार करा कर अपने स्वरूप में लय होने योग्य बना दिया।

ब्रह्म बाहरू[1] देख कर, मीच गई मुख मोड़ ।
रज्जब तंतू[2] आयु का, कोई सके न तोड़ ॥१३॥

ब्रह्म को हमारा सहायक[1] देखकर मृत्यु हमारे से मुख मोड़ कर चली गई है, अब हमारी आयु रूप तागा[2] कोई भी नहीं तोड़ सकता ।

रज्जब वपु वन खंड में, वैरी उठे अपार ।
तहां राम रक्षा करी, मुये सु मारण हार ॥१४॥

शरीर रूप वन खंड में कामादि अपार शत्रु खड़े हुये थे, वहां उनसे राम ने ही रक्षा की है, राम की कृपा से ही वे मारने वाले मरे हैं ।

अरि उर में पौरुष पिशुन, विघ्न रहे उरझाय ।
ब्रह्म बाहरू रूप आवतां, वैरी गये विलाय ॥१५॥

हृदय में कामादि दुष्ट शत्रुओं का बल बढ़ रहा था, उनके द्वारा होने वाले विघ्नों में हम फँस रहे थे किन्तु ब्रह्मरूप सहायक के हृदय में आते ही वे शत्रु नष्ट हो गये हैं ।

गुरु गोविन्द ने करी सहाय, अब यहु जीव न मारचा जाय ।
दोय दया देखी दिल माँहीं, रे रज्जब कोई डर नाँही ॥१६॥

गुरु ने उपदेश देने की और गोविन्द ने दर्शन देने की सहायता की है, अब यह जीव काल से नहीं मारा जा सकता, ब्रह्म में ही लीन होगा । अरे जब हृदय में गुरु और गोविन्द दोनों की दया दिखाई दे रही है तब अब कोई भय नहीं रहा है ।

पारब्रह्म पूरी करी, हितकर पकड़चा हाथ ।
रज्जब राख्या रहम कर, मीच मिटाई नाथ ॥१७॥

स्नेह द्वारा हमारा हाथ पकड़ कर परब्रह्म ने हमारी पूर्ण रूप से सहायता की है, उस जगन्नाथ ने दया करके हमारी मृत्यु नष्ट की है और हमें अपने स्वरूप में रक्खा है ।

जो तैं राखे सो रहे, युग युग साधू संत ।
सोई रज्जब से करी, मालिक[1] मौज[2] महंत[3] ॥१८॥

हे स्वामिन्[1] ! जिनकी आपने रक्षा की है वे ही साधु-संत प्रतियुग में आपके स्वरूप में रहे हैं, हे महान्[3] ! उसी प्रकार आपने मेरी रक्षा करके मुझे ब्रह्मानन्द[2] दिया है ।

महा पुरुष की मौज[1] का, कहिये कहा बखान ।
रज्जब दत[2] की मिति नहीं, जो दे पिंड रु प्रान ॥१९॥

जो शरीर देकर उसे प्राण प्रदान करते हैं उन प्रभु के दान[२] की सीमा नहीं है। वे महापुरुष परमात्मा संतों की सहायता करके जो आनन्द[१] देते हैं, कहिये ? उसका कथन किया जा सकता है क्या ? अर्थात् नहीं किया जा सकता।

षोडश दिवस कर्ण ने पाये, सो रज्जब को बहुत बधाये।
रोम रोम उपज्या अति औज, लघु सेवा पर दीरघ मौज ॥२०॥

अपने कल्याणार्थ कर्ण को सोलह दिन मिले थे किन्तु मेरे लिये तो वे बहुत बढ़ा दिये हैं, मेरी छोटी-सी सेवा पर प्रभु ने मुझे महान् आनन्द दिया है, इससे मेरे रोम-रोम का तेज बढ़ रहा है।

दया महर[१] कृपा करम[२], वरं भू भये दयाल।
बंदे कन बंदगि कराई, मेटे मेरे साल ॥२१॥

उन दयालु प्रभु ने मनुष्य शरीर देने की दया की, संत संग देने का अनुग्रह[१] किया, भक्ति देने की कृपा की फिर दर्शन देने की उदारता[२] दिखाते हुये वर माँगने को कहा, उक्त प्रकार मुझ दास से भक्ति कराकर मेरे जन्मादि दुःख नष्ट किये हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित संत सहाय रक्षा का अंग ४६
समाप्तः ॥ सा० १५८६ ॥

अथ पीव पिछाण का अंग ४७

इस अंग में प्रभु की पहचान सम्बन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—

रज्जब सांई शून्य में, आभा है ओंकार।
सो माया उपजे खपे, पाया भेद विचार ॥ १ ॥

जैसे आकाश में बादल उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं वैसे ही ब्रह्म में ॐ उत्पन्न होकर नष्ट होता है, कारण-ॐ शब्द रूप होने से आकाश का गुण है, आकाश माया का कार्य है, कार्य कारण रूप ही होता है अतः ॐ भी माया रूप है और वह सृष्टि के आदि काल में आकाश के साथ उत्पन्न होता है तथा महाप्रलय में आकाश के साथ नष्ट हो जाता है, यह रहस्यमय विचार हमने अपने गुरु दादूजी द्वारा प्राप्त कर लिया है।

औतार आभों की कला, सह गुण निर्गुण माँहि।
आदि नारायण शून्य सम, लिपै छिपै सो नाँहि ॥ २ ॥

निर्गुण परमात्मा में सगुण कला अवतार आकाश में बादलों के समान प्रकट होते हैं और छिप जाते हैं किन्तु सबके आदि नारायण आकाश के समान हैं, वे न किसी में लिपायमान होते हैं और न अवतारों के समान छिपते ही हैं।

आदि निरंजन सत्य है, अंत निरंजन सोय।
बिच अंजन वपु बध विलय, रज्जब धीज न कोय॥ ३॥

आदि में सत्य निरंजन ब्रह्म ही रहता है, अंत में भी वही निरंजन रहता है, बीच में माया रूप शरीर बढ़ता है, वह नष्ट हो जाता है, उसे सत्य रूप से स्वीकार नहीं करना चाहिये।

औतारों अटकै नहीं, जे ह्वै स्याणा दास।
ज्यों रज्जब आकाश बिच, आभों[1] का आकाश॥ ४॥

जैसे बादलों[1] का आकाश बादलों में न रुक कर महाकाश में ही मिलता है, वैसे ही जो ज्ञानी भक्त होता है, वह अवतारों में नहीं रुक कर ब्रह्म चिन्तन द्वारा ब्रह्म में ही मिलता है।

चातक चित अटकैं उरैं, तकि आभे[1] आकार।
अवलोकहिं शशि आदि नारायण, जिनहिं पियूष से प्यार॥ ५॥

जल के इच्छुक चातक पक्षी बादलों[1] की ओर देखते हैं, वैसे ही साँसारिक सुखों के इच्छुक आकारवान् अवतारों को ओर देखते हैं किन्तु जिन चकोरों को अमृत से प्रेम है वे तो चन्द्रमा को ही देखते हैं, वैसे ही जिन संतों को ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा है, वे तो आदि नारायण ब्रह्म की ओर ही देखते हैं।

जे शशि कीया सेवड़ों, राख्या ऊंची ओर।
तो वारिज विकसे नहीं, चाह न मिटी चकोर॥ ६॥

यदि सेवड़ों ने चन्द्रमा बनाकर आकाश में चढ़ा दिया तो भी कमल तो नहीं खिले और चकोरों की इच्छा भी पूरी नहीं हुई, वैसे ही यदि लोकों ने किसी को भगवान् मान लिया तो भी उससे अज्ञान निवृत्त होकर अन्तःकरण तो नहीं खिलता और भक्तों की मुक्ति की इच्छा भी पूर्ण नहीं होती। प्रसंग कथा—एक राजा ने भंग के नशे में मस्त अपने पुरोहित को अमावस्या के दिन पूछा आज कौन तिथि है? उसने कहा—पूर्णिमा। राजा ने कहा—फिर आज चन्द्रमा भी उदय होगा? पुरोहित ने कहा—क्यों नहीं होगा। पुरोहित घर गया नशा उतरने पर उसके साथी ने राजा को कहा सो बताया, तब उसने अपनी बात रखने के लिये बनावटी चन्द्रमा

आकाश में चढ़ाया था। राजा ने चारों दिशाओं में अश्व दौड़ा कर उसकी जाँच की। १२ कोस तक उसका प्रकाश था, वही दृष्टाँत ६ की साखी में दिया है।

सप्त अष्ट आगे मँडे,[1], रज्जब समझै साध।

सगुण निगुण नेह न न्यारे, पूरण बुद्धि अगाध ॥ ७ ॥

समझे हुये साधु सप्त धातुमय मूर्तियों से तथा प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, पंचभूत वा पंच तत्त्व और तीन गुण इन अष्ट से बने हुये शरीरों से आगे निर्गुण ब्रह्म की उपासना में लगे[1] हैं, प्रेमपूर्वक निर्गुण की उपासना करने से सगुण जीव निर्गुण से अलग नहीं रहते, जो ऐसा समझते हैं उनकी ही बुद्धि पूर्ण तथा अगाध है।

देखो सीप सरोज दिशि, कौन भाँति की भूख[1]।

वह नदीनाथ[2] तज नीर ले, वह पीवे पीयूख ॥ ८ ॥

देखो, सीप तथा कमल की ओर, उनमें किस प्रकार की इच्छा[1] रहती है। सीप समुद्र[2] का खारा जल तो त्याग देती है किन्तु फिर स्वाति बिन्दु का जल ग्रहण करती है और कमल जल में रहते हुए भी चन्द्रामृत पान करता है, वैसे ही कुछ साधक तो तुच्छ सुख को त्यागकर सगुण उपासना द्वारा पुन: वैकुण्ठादि का सुख ही चाहते हैं किन्तु प्रभु को पहचानने वाले निर्गुण उपासक कमल के समान संसार में रहते हुए भी ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं।

एक ब्रह्म दूसरी माया, ताहि परे गुरु तत्त्व बताया।

स्याणे[1] शिष्यों तहँ मन लाया, ज्ञान अकलि[2] का अंत सु आया ॥९॥

एक ध्येय ब्रह्म और दूसरी माया है, इनसे परे गुरुदेव ने ज्ञेय ब्रह्मरूप तत्त्व बताया है, विचारवान्[1] शिष्यों ने ज्ञेय ब्रह्म में ही अपना मन लय किया है, वहाँ ही बुद्धि[2] तथा ज्ञान का अंत आता है अर्थात् ज्ञेय ब्रह्म में बुद्धि रूप ज्ञाता और ज्ञान का भेद नहीं रहता, एक मात्र अद्वैत स्थिति ही रहती है।

सबका कारण आदि नारायण, कारज में औतार।

रज्जब कही विचार कर, ता में फेर न सार ॥१०॥

विश्व के आदि में रहने वाले नारायण ही सबके कारण हैं, अवतार तो कार्य की गणना में हैं, मैंने यह विचारपूर्वक ही कहा है और जो कुछ कहा है, वह सार रूप ही है उसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है।

उदय[1] अस्त[2] नहि कारण कहिये, कारज आवे जाय।

यहु थी अगम सुगम सद्गुरु की, ज्यों थी त्यों समझाय ॥११॥

जन्म[1]ने मरणे[2] वाले कारणब्रह्म नहीं कहलाते, आने जाने वाले होने से कार्य ही कहलाते हैं, यह विचारधारा प्रथम हमसे अगम थी किन्तु सद्गुरु ने कृपा करके जैसी स्थिति थी वैसी ही समझाकर हमारे लिये सुगम कर दी है ।

कारण अमर कारज मरही, ताथैं वेत्ता अंतर करही ।
प्राण पिंड नाँहि एक समान, सत्य असत्य उभय पहचान ॥१२॥

कारणब्रह्म अमर है और कार्य का नाश होता है, इसीलिये ज्ञानी जन उनका भेद कथन करते हैं । जैसे प्राण और शरीर समान नहीं हैं, वैसे ही सत्य कारणब्रह्म और असत्य कार्य दोनों को पहचानो अर्थात् ये दोनों भी सम नहीं हैं ।

जाती[1] माँहि सफाती[2] न्यारे, सिजदे[3] सौं पहचानें ।
ज्यों हूनर[4] राग जीव में जो लै, करत अलापत जानैं ॥१३॥

असली[1] निर्गुण ब्रह्म में रहते हुये भी गुणों[2] वाले निर्गुण से अलग ही रहते हैं, यह रहस्य सद्गुरु को दंडवत[3] प्रणामादि करके पहचानो, जो गायक जीव में राग रूप गुण[4]-कला छिपी रहती है, जब उसकी आलाप लगाता है तभी उसे अन्य जन जान पाते हैं, वैसे ही प्रणामादि से प्रसन्न हुये सद्गुरु कहेंगे तब ही तुम उक्त रहस्य जान सकोगे ।

निर्गुण सहगुण सौं परे, ज्योति अज्योत्यों दूरि ।
जान अजान न जान हीं, सकल रह्या भरपूरि ॥१४॥

निर्गुण ब्रह्म सगुण कार्यों से परे है, ज्योति रूप सूर्यादि से तथा अज्योति रूप पृथ्वी आदि से भी दूर है किन्तु उक्त सब में परिपूर्ण रूप से स्थित भी है, इस प्रकार जानकर भी अज्ञानी उसे नहीं जान पाते ।

ज्यों द्वै[1] दर्पण दश मुख दीसैं, त्यों दुविधा दश राम ।
जन रज्जब दश में नाँहि दोस्त, एक सरैं सब काम ॥१५॥

जैसे द्वैत[1] भाव से दश दर्पणों में एक मुख के दश मुख दीखते हैं किन्तु होता एक ही मुख है, वैसे ही द्वैत भाव से दश अवतारों के द्वारा राम दश दीखते हैं किन्तु उन दश में प्रियतम राम नहीं हैं, वह तो दश दर्पणों में दश मुख के समान भास ही रहा है वास्तव में एक ही है और उस एक की सत्ता से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं ।

परशुराम अरु रामचन्द्र, हुये सु एक हि बार ।
तो रज्जब द्वै देखकर, को कहिये करतार ॥१६॥

अवतारों को ही वास्तव में परमात्मा मानें तो परशुराम और रामचन्द्र दोनों समकाल में हुये हैं, उन दोनों को एक साथ देखकर कहिये ? किसको परमात्मा कहेंगे ? दो तो परमात्मा हो नहीं सकते, अत: परमात्मा का वास्तविक स्वरूप सगुण अवतारों से भिन्न निर्गुण ही होता है ।

नाम अनन्त अनन्त के, वस्तु एक उर जानि ।
रज्जब दश दूणे चतुर, उर बैठैं नहिं आनि ॥१७॥

जैसे एक वस्तु के अनेक नाम होते हैं, वैसे ही अनन्त ब्रह्म के अनन्त नाम हैं किन्तु वह एक ही है, ऐसा ही हृदय में जानो, दश के दूने बीस और चार चोबीस अवतार हृदय में आकर नहीं बैठते, हृदय में तो साक्षी रूप से निर्गुण ब्रह्म ही रहता है ।

कर लकुटी फेरतों कुंडाला, नर नरसिंह भये इक काला ।
रज्जब भोले[1] भरम हि नेता, चुक[2] हि चकही[3] नहीं तत्त्ववेता[4] ॥१८॥

हाथ से लकड़ी फिराने पर भूमि में गोल चक्र बन जाता है, वैसे ही परब्रह्म की सत्ता से एक समय भक्त नर प्रहलाद के लिये नृसिंह अवतार हुआ तब उसे देखकर असमझ[1] जगत् के नेता देवता तो भ्रम में पड़कर डर गये किन्तु ज्ञानी प्रहलाद तो भूल[2] से भ्रम[3] में नहीं पड़ा, वैसे ही अवतारों की विशेषता से अज्ञानी ही भ्रम में पड़ते हैं, ज्ञानी[4] नहीं पड़ते ।

अनेक जुगल[1] मन ने किये, पैठर[2] नींद निवास ।
पै तिहुं[3] ठौर न प्राणपति, सुनहु विवेकी दास ॥१९॥

मोह-निद्रा रूप निवास स्थान में प्रवेश[2] करके मन ने अनेक नारी पुरुष रूप जोड़ियों[1] को परमात्मा रूप से स्वीकार किया है, कारण-मन की दौड़ तीन[3] गुण रूप तीन स्थानों तक ही है, किन्तु हे विवेकी भक्त ! कुछ ध्यान देकर सुन, तीन गुणों में परमात्मा नहीं हैं, वे तो त्रिगुणातीत निरंजन हैं, ऐसा ही वेदादि शास्त्र तथा संत कहते हैं ।

पंच तत्त्व सब ठौर हैं, सब घट सब ही माँहि ।
रज्जब माया विस्तरी, ब्रह्म सु कहिये नाँहि ॥२०॥

विश्व के सभी स्थानों में पंच तत्त्व ही हैं, सभी शरीरों के सभी अंगों में पंच तत्त्व ही हैं, सर्वत्र पंच तत्त्व रूप से माया ही फैली हुई है, इसको ब्रह्म नहीं कहा जा सकता ।

यह सब बाजी नट्ट की, कर खेल्या षट् अंग ।
रज्जब मानी जगत जड़, सुनत कहै पित भंग[1] ॥२१॥

यह सब संसार ईश्वर रूप नट का खेल है, वह अपने चन्द्र, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश इन ६ अंगों से खेल रहा है। जो कहते हैं कि परमात्मा पिता बनता है और नष्ट[१] होता है, उस बात को सुनकर जगत् के अज्ञानी प्राणियों ने ही माना है, ज्ञानी नहीं मानते, कारण—न वह किसी का पिता बनता और न नाश होता।

रज्जब षट् अंग खलक[१] कन[२], परि खालिक[३] कह्या न जाय।
चंद सूर पाणी पवन, धर[४] अम्बर[६] निरताय[५] ॥२२॥

ईश्वर के ६ अंग चन्द्र, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी[४] और आकाश[६], संसार[१] के पास[२] हैं अर्थात् संसार में ही हैं किन्तु विचार[५] पूर्वक उन्हें ईश्वर[३] नहीं कहा जाता।

रज्जब जीव ज्योति मधि औतरै, जीवे माया माँहि।
बैठै ऊठै आतमा, हिले चले सो नाँहि ॥२३॥

जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल पात्र में उतरता है और जल है तब तक जल के हिलने से हिलता दिखाई देता है किन्तु बिम्ब सूर्य नहीं हिलता, वैसे ही जीव चेतन, ब्रह्म ज्योति से आता है और मायिक शरीर में जीवित रहता है, शरीर बैठता उठता है तब वह भी बैठता उठता दिखाई देता है किन्तु बिम्ब ब्रह्म तो कभी भी हिलता चलता नहीं, एक रस रहता है।

रज्जब माया ब्रह्म में, आतम ले अवतार।
भूत भेद जानें नहीं, शिरदे सिरजन हार ॥२४॥

२३ की साखी के अनुसार जल के कारण प्रतिबिम्ब आता है, वैसे ही माया के कारण ब्रह्म से चेतन उतर कर जीवात्मा का जन्म होता है, इस रहस्य को अज्ञानी प्राणी नहीं जानते, इससे जीव के जन्मादि ईश्वर के शिर मढते हैं।

सहगुण सब कुछ देखिये, निर्गुण शून्य स्थान।
रज्जब उभय अगम तत्त्व, समझो संत सुजान ॥२५॥

जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सभी ईश्वर का सगुण रूप है और निर्गुण तो आकाश के समान रूप रहित होने से दीखता नहीं, हे बुद्धिमान् संतों! तुम यथार्थ ही समझो अज्ञानी प्राणियों से ईश्वर के उक्त दोनों ही रूप अगम हैं।

ज्योति उदय तम नाश ह्वै, त्यों तम आये ज्योति।
तो रज्जब क्यों वर्णिये, अकल सु इनके पोति[१] ॥२६॥

ज्योति के उदय होने पर अंधेरा नष्ट हो जाता है और अंधेरा आने पर ज्योति नहीं रहती, तब उस कला-विभाग से रहित ब्रह्म का वर्णन इनके ढंग[1] से कैसे करा जा सकता है।

तिमिर उजाले से परे, है कछु कह्या न जाय।
रज्जब रीझ्या वस्तु तिहिं, जो नहिं शब्द समाय ॥२७॥

वह ब्रह्म रात्रि के अंधकार तथा सूर्यादि के प्रकाश से परे है, उसके विषय में कुछ भी कहना नहीं बनता, जो शब्दों में नहीं समाता उस निर्गुण ब्रह्म रूप वस्तु में ही हम अनुरक्त हैं।

ओंकार यह आतमा, ब्रह्मांड रु पिंड प्रवेश।
रज्जब चलि चहुं ठौर सौं, आगे अविगत देश ॥२८॥

यह ओंकार ईश्वर रूप से ब्रह्मांड में और जीवात्मा रूप से शरीर में प्रविष्ट है, ॐ के-अ, उ, म्, अमात्रिक। ईश्वर के-विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर ब्रह्म। आत्मा के-विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय। इन चार पादरूप चारों स्थानों से आगे जाने पर मन इन्द्रियों का अविषय शुद्ध ब्रह्म रूप देश ज्ञात होता है।

दीपक होय न घर धणी, बासण ह्वै न कुम्हार।
शशि सूरज साहिब नहीं, यूं आतम ब्रह्म विचार ॥२९॥

दीपक घर का स्वामी नहीं हो सकता, मिट्टी का बर्तन कुम्हार नहीं हो सकता, चन्द्र-सूर्य ईश्वर नहीं हो सकते, वैसे ही सगुण और कार्य होने से अवतार आत्मा ब्रह्म नहीं हो सकते, ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण निराकार ही है।

सोना सोनी होय कब, लोहा ह्वै न लुहार।
चित्र चितेर हिं देख अब, त्यों आतम करतार ॥३०॥

सुवर्ण सुनार कब होता है? लोहा लुहार नहीं हो सकता, देखो अब भी प्रसिद्ध है चित्र चित्रकार कब बनता है, वैसे ही सगुण जीवात्मा ब्रह्म नहीं बन सकता, गुणातीत ही ब्रह्म होता है।

घट घट मांहीं पंच हैं, पंच पंच में प्राण।
पै इनको ब्रह्म न बोलिये, गुरु गोविन्द की आण ॥३१॥

प्रत्येक शरीर में पंच ज्ञानेन्द्रियें हैं और उन पंचों के सार रूप पंच प्राण हैं किन्तु हम गुरु तथा गोविन्द की शपथ दिलाकर कहते हैं, इनको कभी भी ब्रह्म नहीं कहना, ये तो मायिक हैं।

सब अवतार आकार तज, भये निरंजन रूप।
सो हम सेवें पंडितहु, निर्गुण तत्त्व अनूप ॥३२॥

सभी अवतार अपने आकारों को त्याग कर निरंजन रूप हुये हैं, हे पंडित ! हम उसी अनुपम तत्त्व निर्गुण निरंजन ब्रह्म की उपासना करते हैं।

सगुण निर्गुण एक है, तो झगड़ा कछु नाँहि।
पै हथलेवा कर दाहिने, देखो ब्याह सु माँहि ॥३३॥

सगुण और निर्गुण दोनों एक हैं तब विवाद भी कुछ नहीं रहता किन्तु दोनों हाथ एक से होने पर भी विवाह के समय हथलेवा का संस्कार तो दाहिने हाथ से ही होता है, वैसे ही मुक्ति के समय तो निर्गुण को ही अपनाना पड़ता है।

आदि नारायण सत्य है, निगम[1] पुकारहिं चार।
तो साधों को क्या कहो, पंडित पढ सु विचार ॥३४॥

आदि नारायण ब्रह्म ही सत्य है, ये चारों ही वेद[1] पुकार करके कहते हैं, हे पंडित ! तुम संतों को ही क्या कहते हो कि—ये सगुण उपासना नहीं करते, उन चारों वेदों को पढ़कर भली प्रकार क्यों नहीं विचारते, वे भी तो निर्गुण उपासना बताते हैं। ३२-३४ में पंडित को संबोधन किया है इससे ज्ञात होता है कि इस अंग के बहुत से पद्य किसी पंडित से चर्चा करते समय कहे हैं।

काया कुंभ जीव जल दर्शे, शशि सूरज प्रतिबिम्ब।
घट फूटे दिन कर गये, आभासत[1] अरु अंब[2] ॥३५॥

जैसे घड़े में जल दीखता है तब तो उसमें चन्द्र-सूर्य का प्रतिबिम्ब भी दिखाई देता है और घट फूटते ही उसमें से चन्द्र-सूर्य के प्रतिबिम्ब भी चले जाते हैं और जल[2] भी नहीं भासता[1] वैसे ही शरीर में सूक्ष्म शरीर रूप जीव होता है तब तो ब्रह्म चेतन का प्रतिबिम्ब रूप आत्मा भी भासता है और शरीर नष्ट होने पर न तो आत्मा भासता और न सूक्ष्म शरीर भासता, अतः ब्रह्म ही सत्य है।

अर्क[1] आरसी उर उदय, अग्नि अपरबल[2] अंग[3]।
रवि रेजे[4] रवि ही मिले, जन रज्जब जब भंग[5] ॥३६॥

दर्पण में सूर्य[1] का प्रतिबिम्ब उदय होकर भास रहा हो उसी समय प्रचंड[2] अग्नि से दर्पण टूट[5] जाय तब प्रतिबिम्ब रूप सूर्य के टुकड़े होकर नष्ट होता-सा दिखाई देता है किन्तु वे टुकड़े[4] नष्ट न होकर सूर्य से ही

मिल जाते हैं, वैसे ही अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिविम्ब आत्मा भास रहा है किन्तु प्रचंड ज्वर से शरीर[3] छिन्न-भिन्न होने के समय आत्मा भी छिन्न-भिन्न होता-सा ज्ञात होता है परन्तु वह छिन्न-भिन्न नहीं होता व्यापक ब्रह्म में ही मिलता है। अतः ब्रह्म का भासने वाला प्रतिविम्ब भी अखंड है तब ब्रह्म अखंड है इसमें तो कहना ही क्या है ? इससे नष्ट होने वाले सगुण शरीर ब्रह्म सिद्ध नहीं होते।

व्यापक वह्नी[1] व्योम[2] की, अंघ्रिप[3] अग्नि औतार।
मिल हिं सु अंतर्द्धान ह्वै, तो है नांहि उर धार ॥३७॥

आकाश[2] में रहने वाले व्यापक अग्नि[1] का अंश वृक्ष[3] के काष्ट में प्रकट होता है और काष्ट को जलाकर व्यापक अग्नि में ही मिल जाता है, वैसे ही अवतार व्यापक ब्रह्म की विभूति हैं प्रकट होती हैं और अपना कार्य करके पुनः अंतर्द्धान होकर व्यापक ब्रह्म में ही मिल जाती हैं, अतः सगुण अवतार ब्रह्म नहीं ऐसा ही हृदय में धारण करो।

उष्ण[1] सु काढै अंभ[2] को, ऊन्हि[3] सु काढै प्रान।
त्यों अवतार सु आँटे[4] कढै, मन वच कर्म कर मान ॥३८॥

उष्णता[1] समुद्र से जल[2] निकालती है, ज्वर[3] शरीर से प्राण निकालता है, वैसे ही कोई राक्षसादि के द्वारा जगत् के व्यवहार में उलझन[4] पड़ती है तब वह उलझन ही अवतार होने में निमित्त बनती है, यही मन, वचन, कर्म से सत्य मानो।

राक्षस रोग जीवहुं लगे, तहँ औषधि अवतार।
ब्रह्म वैद्य न्यारा रहै, व्यथा विध्वंसनहार ॥३९॥

वैद्य रोगी के रोग को औषधि देकर नष्ट करता है किन्तु रोग नष्ट करने वाला होकर भी वैद्य औषधि से अलग ही रहता है। वैसे ही राक्षस जीवों को दुखी करते हैं तब ब्रह्म राक्षसों को मार कर जगत् के जीवों को सुखी करने के लिये अवतार भेजते हैं और राक्षसों को मार कर जीवों का दुःख दूर करने वाले होकर भी ब्रह्म अवतारों से अलग ही रहते हैं, सगुण नहीं होते।

अनेक रोग कर मृत्यु उपावे, अनेक औषधि सारा[1]।
व्यथा सु बूँटी के शिर दीजे, हरै[2] करै[3] सो न्यारा ॥४०॥

अनेक रोग उत्पन्न करके मृत्यु करता है और अनेक औषधि उत्पन्न करके निरोग[1] करता है, मृत्यु को रोगों के शिर मढ देता है और निरोगता औषधियों के शिर मढ देता है और उत्पन्न[3] करने वाला तथा मारने[2] वाला है, वह परमात्मा अलग ही रह जाता है, वह किसी से भी लिपायमान नहीं होता।

काम उसीले[1] सौं करै, अलख लखावै नाँहि ।
पड़दे सौं प्रभुजी कहैं, जीव न समझै माँहि ।।४१।।

परमात्मा सभी कार्य, कर्म के संबन्ध[1] से करते हैं किन्तु उनका नाम अलख है इससे वे करते हुये दिखाई नहीं देते, वे प्रभु पड़दे से अर्थात् आन्तर आत्मा द्वारा कहते हैं कि अमुक काम का फल अमुक होगा, जैसे चोरी करने वाले को अपने भीतर से आवाज आती है चोरी करने से पकड़ा जाऊंगा किन्तु अज्ञानी जीव भीतर की उक्त बात को जानकर भी समझता नहीं अतः कैद भोगता है ।

पंच तत्त्व आडे दिये, काम करैं सु कृपाल ।
अलख उसीला[1] लख्या न जाय, लोक[2] लोइणों[3] पड़े न लाल[4] ।।४२।।

कृपालु परमात्मा पंच तत्त्वों की आड़ में रहकर सबके काम करते हैं, उस अलख की सहायता[1] देखने में नहीं आती, कारण—वह प्रियतम[4] लोगों[2] के नेत्रों[3] से नहीं दीख पड़ता ।

चेतन ने जड़ जीव जगाया, लोग कहैं परमेश्वर आया ।
रज्जब देखि कला यहु उरै[1], अकल पुरुष या[2] हूतैं परै ।।४३।।

जिस शक्ति-शाली सावधान व्यक्ति ने जड़ जीवों को जगाया है, उसे ही लोग कहने लगे हैं कि ये परमेश्वर आये हैं, किन्तु देखो, उन अवतारों की यह कलामयी शक्ति तो इधर[1] माया में ही है अर्थात् कला विभाग माया में ही होता है, और वह अकल पुरुष निर्गुण परमात्मा तो इस माया[2] से भी परे हैं ।

गऊ[1] गराब[2] के जीव जगाये, जगत कहै जगदीश्वर आये ।
अगम अगाध साधु कोउ जाणें, सो रज्जब उर इहां न आणें ।।४४।।

जैसे सूर्य उदय होकर अपनी विलक्षण[2] किरणों[1] से जीवों को जगाते हैं, वैसे ही शक्तिशाली महान् अवतारों ने अपनी विलक्षणता के कारण जीवों को जगाया है, अतः जगत् के जीव उन्हें कहते हैं कि यह जगदीश्वर ही आये हैं किन्तु उन अगम अगाध परमात्मा को तो कोई संत ही अपने हृदय में जानते हैं, फिर भी उसे यहां नेत्रों के सामने नहीं ला सकते ।

पियूष[1] न पावक पाव ही, शशि सूरज प्रतिविम्ब ।
आँख आरसी ना लहै, अवलोकत मधि अंब[2] ।।४५।।

अग्नि में अमृत[1] नहीं मिलता, वैसे ही अवतारों में परब्रह्म नहीं मिलता दर्पण को देखने से जो उसके पानी[2] में चन्द्र, सूर्य और आँखों का प्रति-

विम्ब पड़ता है, वह दर्पण में दर्पण के समान पकड़ा नहीं जाता, वैसे ही अवतारों से परब्रह्म की शक्ति का ज्ञान होता है किन्तु अवतारों के समान वह इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता ।

अवतार आतमा आरसी, आदि नारायण दीप ।
रज्जब एक अनेक मध्य, पै दीपक दीप उदीप[1] ।।४६।।

अवतार आत्माएँ दर्पणों के समान हैं और आदि नारायण ब्रह्म दीपक के समान हैं, जैसे एक ही दीपक अनेक दर्पणों को प्रकाशित[1] करता हुआ उन सबमें प्रतिविम्ब रूप से भासता है फिर भी सबसे अलग है, वैसे ही अनेक अवतारों को शक्ति देता हुआ सब में वह एक ही ब्रह्म प्रतिविम्ब रूप से भासता है फिर भी उन सबसे अलग ही है ।

आतम दीपक ज्योति हरि, भाव तेल तहँ पूरि ।
रज्जब पूजि[1] प्रकाश को, भूल न पड़िये दूरि ।।४७।।

आत्मा दीपक के समान है, परमात्मा उसकी ज्योति के समान हैं और प्रभु-प्रेम तेल के समान है, जैसे दीप में तेल रहे तब तक ज्योति दीखती है, वैसे ही जीवात्मा में प्रभु-प्रेम हो तब तक ही हरि का दर्शन होता है, प्रेम न हो तो नहीं होता, अतः भाव को पूर्ण करते हुये प्रभु-प्रकाश को स्थिर रखते हुये उपासना[1] कर, प्रेम को भूलकर प्रभु से दूर मत पड़ ।

प्रतिविम्ब परब्रह्म सुजाना, दर्पण अंबु[1] आत्म अस्थाना ।
तवे ठीकरी देखे देशा, रज्जब लहै न सो लवलेशा[2] ।।४८।।

हे सुजान ! परब्रह्म प्रतिविम्ब के समान है और अन्तःकरण दर्पण के पानी[1] के समान है, जैसे तवे की ठीकरी में वह प्रतिविम्ब किंचित्[2] मात्र भी नहीं दीखता, वैसे ही मलीन अन्तःकरण में ब्रह्म नहीं दीखता ।

जड़ जाइगहैं[1] चेतन नहीं, समझे समझो वीर[2] ।
ज्यों सुरही[3] थणहुं बिना, सब ठाहर नहि क्षीर[4] ।।४६।।

जैसे गो[3] के स्तनों को छोड़कर सब अंगों में दूध[4] नहीं होता, हे समझे हुये भाई[2] ! वैसे ही समझो जड़ स्थान[1] में चेतन नहीं होता अर्थात् इन्द्रिय अन्तःकरणादि जड़ पदार्थ चेतन नहीं हैं ।

देखो अविगत[1] उदधि तैं, अवतार सु नाले नीर ।
रज्जब रत्न न पाइये, मुक्ति न मुक्ता वीर[2] ।।५०।।

हे भाई[2] परब्रह्म[1] समुद्र के समान है, अवतार नदी नालों के जल के समान हैं, जैसे नदी नालों के जल में मोती नहीं मिलते, वैसे ही अवतारों के ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती ।

सांई सोवन[1] मेरु सौं, अवतार नापिगा[2] धार।
सिद्धि स्वभूकी[3] तिनहुं में, रज धोवे संसार ॥५१॥

सुवर्ण[1] के पर्वत सुमेरु से नदियों[2] की धाराएं चली हैं उनकी रज धोकर सांसारिक प्राणी सुवर्ण निकालते हैं, वैसे ही परब्रह्म से अवतार होते हैं, उन अवतारों में जो भी सिद्धि शक्ति है वह परब्रह्म[3] की ही है, उनकी उपासना करके साँसारिक प्राणी अपनी पाप रूप रज धोते हैं।

एक अविगत ने किये, पैदा प्राण अनेक।
रज्जब जीवहु जोर घट[1], सब तैं होय न एक ॥५२॥

परमात्मा और जीव का भेद बता रहे हैं—एक परमात्मा ने अनेक प्राणी उत्पन्न किये हैं किन्तु जीव की शक्ति कम[1] है, सब जीवों की शक्ति से भी एक परमात्मा उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः परमात्मा सर्व शक्ति संपन्न है और जीव अल्प शक्ति वाला है।

अविगत[1] अरु औंकार बिच, अंतर है सो जोय।
रज्जब जीवहु जवाब बहु, जवाब हुं जीवन होय ॥५३॥

परमात्मा और ओंकार में जो भेद है, वह देख—जीव से अनेक प्रश्नों के अनेक उत्तर उत्पन्न होते हैं किन्तु अनेक उत्तर जीव को उत्पन्न नहीं कर सकते, वैसे ही परमात्मा से ओंकारादि अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं किन्तु वे सब परमात्मा को उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः परमात्मा कारण है और ओंकार कार्य है।

शब्द न समझै आतमही, आतम राम अगम्म।
रज्जब कही विचार कर, नेतिहु कही निगम्म[1] ॥५४॥

अज्ञानी जीव शब्दों के रहस्य को नहीं समझता, आत्माराम तो शब्दों से परे ही हैं, यह मैंने विचार करके ही कहा है, और स्वयं शब्द रूप वेद[1] भी नेति नेति ही कहता है।

शब्द समाना एक गुण, आतम कला अनेक।
वचन न पूजे[1] बोल से, रज्जब समझ विवेक ॥५५॥

शब्द में तो श्रोत्र इन्द्रिय को ज्ञान कराना रूप एक ही गुण है, आत्माराम में तो अनेक शक्ति हैं, वचन बोलने से ही आत्माराम के समान पूर्ण[1] नहीं होता, अतः आत्माराम के स्वरूप को विवेकपूर्वक समझना चाहिये।

जन्म अजन्मा के कहैं, अपने जानैं नांहि।
रज्जब समझ न शब्द की, बके विकल बुधि[1] मांहि ॥५६॥

अज्ञानी प्राणियों को अपने जन्मों का तो ज्ञान है ही नहीं और अजन्मा परमात्मा के जन्मों का कथन करते हैं । उनकी बुद्धि[1] में विकलता रहती है, इससे शब्दों को समझे बिना ही बकते रहते हैं ।

जीव ब्रह्म कर बोलिये, गुण लक्षण सो नांहि ।
रज्जब बाइक[1] बादि[2] यहु, समझ देख मन मांहि ।।५७।।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जीव को ब्रह्म कहकर बोलते हैं किन्तु जब तक ब्रह्म-प्राप्ति के लक्षण रूप गुण जो शास्त्र संतों ने कहे हैं, वे नहीं हैं तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' यह शब्द[1] बोलना व्यर्थ[2] है, अतः अपने मन में विचार द्वारा देखो, ज्ञानी के लक्षण तुममें हैं या नहीं, नहीं हैं तो उक्त शब्द मत बोलो ।

रज्जब देख्या अमर मर, अचरज एकहि अंग ।
विनशे बोलत बुदबुदे, साहिब समुंद अभंग ।।५८।।

बड़ा आश्चर्य है जिसका नाम अमर चन्द था, उसको उसी शरीर में हमने मरते देखा है, वैसे ही जो ज्ञानी के लक्षणों के बिना ही अपने को ब्रह्म कहते हैं, वे तो मृत्यु के मुख में ही जाते हैं । देखो, बोलने वाले बुदबुदे तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु समुद्र तो नष्ट नहीं होता, वैसे ही केवल 'अहं ब्रह्म' बोलने वाले तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु ब्रह्म तो अविनाशी है ।

है नांहीं के मांहि है, देखो अचरज अंग[1] ।
जन रज्जब हैरान[2] यूं, भेले[3] भंग अभंग ।।५९।।

देखो आश्चर्य रूप ब्रह्म का स्वरूप[1] "है" "नहीं है" इन दोनों स्थितियों में अस्तिरूप से भास रहा है, इस प्रकार नाशी और अविनाशी दोनों में ब्रह्म को मिला[3] हुआ देखकर हम तो आश्चर्य-चकित[2] हैं ।

शब्द सु सारा[1] प्यारा लगै, पै जलप्या[2] जीव न होय ।
तैसैं आतम राम अभ्यासै, फेर सार नहिं कोय ।।६०।।

'अहं ब्रह्म" यह पूर्णता[1] का बोधक शब्द तो प्रिय ही लगता है किन्तु कथन[2] करने मात्र से जीव ब्रह्म नहीं हो जाता, कथन के समान आत्मा और ब्रह्म की एकता का अभ्यास हो तब तो उक्त कथन श्रेष्ठ ही है, इसमें कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता ।

दिनकर[1] दर्पण द्रुमन[2] में, अग्नि सु नांहीं एक ।
इक निरहार अहार इक, इक वपु बंद विवेक ।।६१।।

सूर्य[1] का दर्पण का और वृक्षों[2] का अग्नि एक-सा नहीं होता, सूर्य का तो काष्टादि आहार के बिना ही प्रज्वलित रहता है, दर्पण में सूर्य की

किरण पड़ने से उत्पन्न होने वाला दर्पण का अग्नि दर्पण के नीचे कुछ तूल तृणादि आहार हो तो प्रकट होकर तृणादि की समाप्ति तक रहता है और वृक्षों का काष्ट में बन्द है। ऐसा ही विवेक ब्रह्म, अवतार और जीव का है। सूर्य के अग्नि के समान ब्रह्म है, दर्पण के अग्नि के समान अवतार हैं, और वृक्षों के अग्नि के समान जीव है।

सांई सूरज की अगनि, सब प्राणहु प्रतिपाल।
दिल दर्पण अवतार बासदेव, तिन तन तिनुका जाल।
जीव ज्वाला वपु वन बँधे, इहिं ठाहर यहु हाल ।।६२।।

६२ में ६१ का अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं—सूर्य का अग्नि रूप परमात्मा सभी प्राणियों का पालन-पोषण करता है, दर्पण के अग्नि के समान अवतार हैं, उनका काम दुष्टों के हृदय तथा शरीर रूप तृण जलाना है और वृक्षों के अग्नि के समान जीवात्मा रूप अग्नि शरीर-वन में बँधा रहता है, इस ब्रह्म, अवतार और जीव के स्वरूप के विचार रूप स्थान का यही विवरण है।

सांई सूर चिराक है, पै कर्म काजर नाँहिं।
रज्जब जीव ज्वाला मई, मल मसि निकसे माँहिं ।।६३।।

परमात्मा सूर्य की चिराग़ के समान हैं, सूर्य की चिराग़ से काजल नहीं निकलता, वैसे ही उनसे कर्म नहीं होता वे निष्कर्म हैं, जीव अन्य अग्नि ज्वाला के समान हैं उनसे पाप रूप कालिमा निकलती है अर्थात् उनसे पाप होते हैं।

आदि नारायण आदित्य रूप, दीपक देवी देव।
अंतक[1] आंधी मुखतैं विनशैं, रज्जब पाया भेव[2] ।।६४।।

आदि नारायण ब्रह्म तो सूर्य रूप हैं और देवी देवता दीपक रूप हैं, दीपक तो आंधी से बुझ जाते हैं किन्तु सूर्य नहीं बुझते, वैसे ही देवी देवता तो काल[1] के मुख में जाकर नष्ट हो जाते हैं किन्तु ब्रह्म नष्ट नहीं होते, यह रहस्य[2] हमने गुरु कृपा द्वारा जान लिया है।

अवतार अग्नि वजूद[1] अहार, संयोग[2] सहित सोकर हि विहार[3]।
अशन[4] उठे[5] अंतक[6] वश होय, ताकी कला न दीसे कोय ।।६५।।

अवतार रूप अग्नि का आहार दुष्टों के शरीर[1] हैं, जब तक दुष्ट मिलते[2] रहते हैं तब तक वे अवतार पृथ्वी पर विचरते हैं[3], जब उनका दुष्ट शरीर रूप आहार[4] समाप्त[5] हो जाता है तब वे भी काल[6] के वश हो जाते हैं, फिर उनकी शरीर रूप कला वा शक्ति रूप कला नहीं दिखाई देती।

संयोग सहित भानें घड़ैं, तेता सब अवतार ।
रज्जब रचे वियोग वपु, वह कहियें निराकार ॥६६॥

जो मायिक शरीर के संयोग से नष्ट करते हैं और उत्पन्न करते हैं वे सभी अवतार तथा साकार हैं और जो मायिक शरीर से अलग रह कर सत्तामात्र से सृष्टि रचते हैं वे निराकार ब्रह्म कहलाते हैं ।

आदि नारायण अकल है, कला रूप अवतार ।
आदम[1] आतम बंदि[2] विधि, वेत्ता करो विचार ॥६७॥

आदि नारायण ब्रह्म-कला विभाग से रहित हैं, अवतार कलारूप हैं और मनुष्य[1] का आत्मा तो शरीर रूप कैद में कैदी[2] के समान है, हे ज्ञानीजनो ! हमारा तो ब्रह्म, अवतार और जीव विषयक यही विचार है, आप भी विचार करो ।

अकल कला कारज सु ह्वै, सो श्री सिरजनहार ।
रज्जब जीव घट धरि करे, सो कछु भिन्न विचार ॥६८॥

उस कला विभाग से रहित श्री सृजनहार से ही कला रूप कार्य होते हैं और जो जीव शरीर धारण करके करते हैं वह विचार कुछ भिन्न ही है अर्थात् जीव कर्मानुसार करते भोगते हैं ।

देवल[1] मूरति गाय जल, फेरि पाइ जीव सेज ।
रज्जब रज[2] तज काढतों[3], निरख सु निर्गुण हेज[4] ॥६९॥

माया[2] रूप रज से मन को निकालते[3] ही नामदेव का निर्गुण में प्रेम[4] हुआ, उस निर्गुण प्रेम का प्रताप देख, मंदिर[1] और मूर्ति फिर गई, मरी गाय जीवित हो गई, और उस नामदेव जीवने जल प्रवाह को बदल कर शय्या प्राप्त की, उक्त कथायें भक्त मालों में विस्तार से हैं, जिन्हें देखना हो वहां देखें ।

सूखी शूली सौं हरि, बीज धना के खेत ।
रज्जब दिब[1] में देखिये, निपट[2] निरंजन हेत ॥७०॥

केवल[2] निरंजन राम के प्रेम के प्रताप से भर्तृहरि के शूली हरी हो गई (चोर समझकर भर्तृहरि को शूली पर चढ़ाया था किन्तु शूली में कोंपलें निकल आईं और वे बच गये थे) धना भक्त का खेत बिना बीज के ही उत्पन्न हो गया था यह कथा प्रसिद्ध है और उष्ण लोह का गोला[1] सच्चे मनुष्य के हाथ को नहीं जलाता ।

गुरु सुत मारि जिलाइये, नर सुत होंहि पषान ।
रज्जब अवतारों रहित, गोरख गिरा[1] बखान ॥७१॥

श्री कृष्ण अवतार ने गुरु पुत्रों को मार कर जीवित किया था, (यह कथा प्रसिद्ध है), किन्तु अवतार बिना भी गोरक्षनाथ ने गोदावरी के कुँभ मेले में "ऊभे सिद्ध बैठे पाषान" यह वाणी[1] कही तब अनेक नाथ पत्थर हो गये थे। अतः अवतारों बिना अन्य में भी निर्गुण प्रेम से शक्ति आजाती है। गोरक्षनाथ की गिरा से पाषान होने की कथा छप्पया कवित्त ग्रंथ के आज्ञा भंग अंग की टीका में देखो।

योगेश्वर मुनि के सहित, सकल निरंजन दास।
रज्जब परिचय प्राण पति, अवतारों सु निराश ॥७२॥

९ योगेश्वर और ७ मुनियों के सहित जिनका भी प्राण पति प्रभु से परिचय हुआ है, वे सभी अवतारों की आशा त्यागकर निरंजन परमात्मा के ही भक्त हैं।

पुकार लगे प्रकटे प्रभु, रजू[1] भये तज रूठ[2]।
सो समसरि[3] सब ठौर थे, आवण जाणाँ झूठ ॥७३॥

देवता तथा भक्तों के प्रार्थना करने पर रोष[2] को त्याग, प्रसन्न[1] होकर प्रकट हुये वे प्रभु पहले ही सभी स्थानों में समान[3] रूप से थे, उनका आना-जाना कथन करना मिथ्या ही है।

बाँध्या बाँधे को भजे, मुक्त होन की आश।
सो रज्जब कैसे खुले, इहि झूठे विश्वास ॥७४॥

बँधा हुआ व्यक्ति किसी अन्य बँधे हुये से आशा करे कि यह मुझे खोल देगा, तो वह इस मिथ्या विश्वास से कैसे खुलेगा ? वैसे ही अविद्या तथा कर्म जाल में बँधा जीव माया से बँधे हुये अवतार की उपासना से मुक्त नहीं हो सकता, माया से मुक्त ब्रह्म की उपासना से ही होगा।

रज्जब जो जामे[1] मरे, ताका तजिये वास।
हम हि अमर सो क्यों करे, आप फिरे गर्भवास ॥७५॥

जो जन्मता[1]-मरता है, उस सगुण के निवास स्थान की आशा छोड़ देनी चाहिये, वह स्वयं गर्भवास में आता है, तब हमें अमर कैसे करेगा।

उधरया कहिये जीव सो, जिहि जामण मृत नाँहि।
तो रज्जब आवे ब्रह्म क्यों, उत्पत्ति परले माँहि ॥७६॥

जिसका जन्म नहीं होता और जो मरता नहीं, उस जीव का उद्धार हुआ कहा जाता है, उद्धार होने पर जीव का भी जन्म-मरण मिट जाता है, तब ब्रह्म उत्पत्ति-प्रलय में कैसे आयगा ? अर्थात् जो जन्मता-मरता है वह ब्रह्म नहीं है।

एक कहैं अवतार दश, एक कहैं चौबीस ।
रज्जब सुमिरे सो धणी[1], जो सब ही के शीश ॥ ७७॥

एक दश अवतार कहता है तो दूसरा चौबीस कहता है किन्तु हम तो उसी निरंजन स्वामी[1] का स्मरण करते हैं, जो सभी का शिरोमणि है ।

अविचल अमर अलेख गति[1], सकल लोक शिरताज ।
जन रज्जब सो शिर धरया, जा शिर और न राज[2] ॥७८॥

जिसका स्वरूप[1] अविचल, अमर और लेखबद्ध नहीं हो सकता, जो सभी लोकों का शिरोमुकुट है और जिसके शिर पर कोई शासक[2] नहीं है, हमने तो उसी ब्रह्म को शिर पर धरा है ।

चंद सूर पानी पवन, धरती अरु आकाश ।
जिन साहिब सब कुछ किया, रज्जब ताका दास ॥७९॥

जिन प्रभु ने आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्यादि सब कुछ उत्पन्न किया है, मैं उन प्रभु का ही दास हूँ ।

जा घर मांहि असंख्य घर, अजों सु मुकती[1] ठौर ।
रज्जब सेवक तिहिं सदन[2], जा समसरि[3] नहिं और ॥८०॥

जिस ब्रह्म रूप घर में अनेक लोक रूप घर हैं और अब भी बहुत[1] स्थान है, मैं उसी ब्रह्म रूप घर[2] का सेवक हूँ, जिसके बराबर[3] और कोई भी नहीं है ।

रज्जब उदय अस्त त्रिगुणी भक्ति, इनका यही स्वभाय ।
निर्गुण निश्चल एक रस, नर देखो निरताय ॥८१॥

त्रिगुणात्मिका शक्ति रूप अवतार प्रकट होकर छिपते हैं, उनका यही स्वभाव है, उनकी भक्ति से उनका मायिक स्वरूप ही प्राप्त होगा, और निर्गुण ब्रह्म तो निश्चल एक रस है, इससे निर्गुण का उपासक भी उसी रूप को प्राप्त होगा । हे विचारशील नरो ! तुम भी विचार करके देखो कि किसकी उपासना श्रेष्ठ है ।

त्रिगुण रहित त्योरी[1] चढ्या[2], निर्गुण निरख्या नैन ।
रज्जब राता ठौर तिहिं, कदे[3] न होय अचैन ॥८२॥

हमारी ज्ञान दृष्टि[1] में त्रिगुण रहित ब्रह्म ही आया[2] है, हमने निर्गुण को ज्ञान नेत्रों से देखा है, इससे हम उसी निर्गुण ब्रह्मरूप स्थान में अनुरक्त हैं, अब हमें जन्मादि संसार दुःख कभी[3] भी नहीं होगा ।

आकार इष्ट जिन आतमहुं, पै निश्चय निराकार।
कहतों कर ऊंचे करहिं, नीचे सेवन हार ॥८३॥

जिन आत्माओं का इष्ट साकार है, उनके भी निश्चय में तो निराकार ही है, कारण–वे उपासक भी नीचे खड़े होकर अपने ईश्वर की सहायता आदि का कथन करते समय निराकार आकाश की ओर ऊंचा हाथ करके कहते हैं—"वह सहायता करेगा", "वह देखेगा" इत्यादि।

निराकार सौं नरहुं के, मन वच कर्म सनेह।
सबको देखैं शून्य[1] दिशि, रज्जब गये सु मेह[2] ॥८४॥

वर्षा करके साकार बादल[2] चला जाता है तब सभी लोग निराकार आकाश[1] की ओर देखते हैं, अतः सभी मनुष्यों के हृदय में मन, वचन, कर्म द्वारा निराकार से ही प्रेम है।

रज्जब जाण अजाण का, निराकार सौं हेत।
प्राण चलै पिंडहिं तजत, देखा डार सु देत ॥८५॥

देखो, निराकार प्राण शरीर को छोड़कर चले जाते हैं तब शरीर को अग्नि आदि में डाल देते हैं, इससे भी ज्ञानी अज्ञानी सभी का निराकार से प्रेम ज्ञात होता है।

निराकार ऊपरि धरचा, पंच तत्त्व आकार।
उडगण[1] इन्दु[2] आकाश तल, पाया भेद[3] विचार ॥८६॥

पंच तत्त्वों से रचित आकार निराकार के ही आश्रय हैं, सूक्ष्म भूत तथा उनके कारण अहंकार, महतत्त्व, माया और ब्रह्म निराकार ही हैं, देखो, साकार तारा[1] मंडल और चन्द्रमा[2] आदि नक्षत्र निराकार आकाश के नीचे ही रहते हैं, अतः हमने यह रहस्य[3] विचार द्वारा जान लिया है कि साकार से निराकार की उपासना ही श्रेष्ठ है।

शून्य[1] स्वाति सद[2] जलहि सौं, निपजहिं मोती मन्न।
बासी वारि न दोय ह्वै, समझो साधू जन्न ॥८७॥

स्वाति नक्ष के ताजा[2] जल से ही सीप में मोती उत्पन्न होता है, समुद्र नदी आदि के पड़े हुये बासी जल से नहीं, वैसे ही निर्गुण ब्रह्म[1] की उपासना द्वारा ही मन में ज्ञान उत्पन्न होता है, सगुण की भेद-युक्त उपासना से नहीं, साधुजन यह यथार्थ ही समझें, मोती तथा मन में ज्ञान ये दोनों उक्त प्रकार ही उत्पन्न होते हैं।

शंख शांखुले सीप सु कौडी, काया कुंभिनी[1] नीर।
मन मुक्ता बिन शून्य[2] स्वातिजल, रज्जब होय न वीर ॥८८॥

शंख, शाँखुले, सीप, कौड़ी ये तो पृथ्वी[1] में पड़े हुये जल से भी हो जाते हैं किन्तु मोती तो आकाश[2] के स्वाति जल के बिना नहीं होता, वैसे ही हे भाई ! अन्य शक्तियाँ तो सगुण अवतार शरीरों की भेद उपासना से भी मिल जाती हैं किन्तु मन में ब्रह्मज्ञान तो निर्गुण ब्रह्म[2] की उपासना बिना नहीं होता।

अधर[1] अंभ[2] ले मोरड़ी, होय सपूछा मोर।
सोइ मदन[3] ले मही[4] सौं, सो सुत होय लंडोर[5] ॥८९॥

यदि मोरड़ी नृत्य करते हुये मोर की आँख का अश्रुजल[2] अपनी चोंच में अधर ही झेल लेती है तब तो उससे पूछ वाला मोर जन्मता है और वह बिन्दु[3] पृथ्वी[4] पर पड़ने के पीछे उठाती है तब उससे अपूछा[5] मोर जन्मता है, वैसे ही यदि जीवात्मा माया रहित ब्रह्म[1] की उपासना करता है तब तो उसको मुक्तिप्रद अभेद ज्ञान प्राप्त होता है और माया सहित सगुण की उपासना करता है तब दुःखप्रद भेद ज्ञान प्राप्त होता है, अतः निर्गुण की ही उपासना करनी चाहिये।

अधर[4] अंभ[1] सारंग[2] ले, सारे साल संतोष।
अन्य पंखि पीवहि पुहमि[3], तृषा न भागे दोष ॥९०॥

अधर आकाश में स्वाति जल[1]-बिन्दु को चातक[2] पक्षी ग्रहण करता है, उससे उसे वर्ष भर प्यास नहीं लगती, अन्य पक्षी पृथ्वी[3] पर पड़ा जल पीते हैं, उनको बारंबार प्यास लगती है चातक के समान नहीं मिटती, वैसे ही माया रहित निर्गुण ब्रह्म[4] की उपासना से प्राणी को सदा के लिये संतोष हो जाता है और माया सहित सगुण की उपासना से तृष्णा रूप दोष नहीं मिटता अन्य नहीं तो वैकुण्ठादि लोकों की ही इच्छा रहती है।

धरचा[1] उपज्या धरे[2] सौं, धरे[3] सु पावे पोष।
आतम उपजी अधर[4] सौं, अधर[5] हिं मिले संतोष ॥९१॥

माया[1] के कार्य अन्तःकरण इन्द्रियादि माया[2] से उत्पन्न हुये हैं, अतः मायिक[3] सगुण अवतारों से तथा मायिक पदार्थों से ही अपना पोषण समझकर उनसे ही प्रेम करते हैं किन्तु आत्मा तो माया रहित ब्रह्म[4] से प्रतिबिम्ब के समान उत्पन्न हुआ है, अतः उसे माया रहित ब्रह्म[5] प्राप्ति पर ही संतोष होता है।

चौरासी में वपु विविध, ओंकार जीव एक।
सन्या[1] शरीरों मिल चल्या, जगपति जुदा विवेक ॥९२॥

अन्य शब्द तो नाना हैं किन्तु ओंकार एक ही है और अकार, उकार, मकार रूप से सब शब्दों से मिला[1] हुआ शब्द संसार में विचरता

है, वैसे ही चौरासी लाख योनियों में शरीर तो विविध प्रकार के हैं किन्तु उनमें जीवात्मा एक ही है और वह शरीरों में मिलकर जगत् में विचर रहा है, विवेक करके देखने से जगत्पति ब्रह्म उक्त दोनों से भिन्न निर्लेप अशरीरी ही सिद्ध होता है।

सींगी[1] पूंगी बाँसुली[2], बार्जाहि कुंभ सु भौन[3]।
सहनाई शंख भेरि नफीरी[4], नाद जु बाइक पौन ॥६३॥

मृग सींग[1], सपरे की पूंगी वंशी[2] घर[3] में वायु से बजने वाला खाली घड़ा, शहनाई, शंख, भेरी, तुरही[4], इन सबकी आवाज तथा मुख की वर्णात्मक-ध्वन्यात्म आवाज, रूप रहित वायु द्वारा ही निकलती है और सींगी आदि की सहायता से रूप रहित स्वर पहचाना जाता है तथा उस स्वर के सुनने में ही सबका प्रेम होता है, वैसे ही रूप रहित निर्गुण ब्रह्म ही सबका कारण है, सब कार्य के द्वारा उस निर्गुण को जाना जाता है और जानने पर उसी में सबका प्रेम होता है। अतः निर्गुण ब्रह्म ही उपास्य है।

विहंग बांग घड़ियाल सु नोबत, सहनाई सुन बात।
शरीर स्वभाव शृंगारों समझे, सप्त भांति परभात ॥६४॥

पक्षियों की, मुल्ला के बांग की, मंदिरों के घड़ियालों की, नौबत की, शहनाई की आवाज तथा मनुष्यों की बातें और शरीर के स्वभाव शृंगार इन सातों प्रकार से समझा जाता है कि प्रभात होने वाला है, वैसे ही षट् प्रमाणों से और अनुभव से समझा जाता है कि ब्रह्म साक्षात्कार होने वाला है।

षट् दर्शन षट् पंथ शास्त्र, गैवी माग सु मांहि।
सप्तों चलता देखिये, सांई शहर सु जांहि ॥६५॥

जैमिनी कृत पूर्व मीमांसा १, गौतम कृत न्याय २, कणाद कृत वैशेषिक ३, पतंजलि कृत योग ४, कपिल कृत सांख्य ५ व्यास कृत वेदांत ६. ये षट् दर्शन शास्त्र तथा १ नाथ, २ जंगम ३ सेवड़े, ४ बौद्ध, ५ संन्यासी, ६ शेष, ये षट् पंथ और अनुभव सातों मार्ग पर ब्रह्मरूप शहर में ही जाते हैं अर्थात ब्रह्म का ही कथन करते हैं।

कोई आया कूद कर, कोउ बांध कर पाज।
रे रज्जब लंका लई, कीया अपना राज ॥६६॥

हनुमानजी कूद कर लंका में गये और रामचन्द्रादि समुद्र पर सेतु बाँध कर गये किन्तु पहुँचे सब लंका में, सभी ने लंका को प्राप्त करके

अपना राज्य स्थापन किया, वैसे ही अनुभवी हनुमानजी समान और षट् दर्शन तथा षट् पंथ अपने २ विचार रूप मार्गों से ब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं ।

स्वयं सिद्ध तत्त्व पंच हैं, ब्रह्म बिना ब्रह्मंड ।
तो रज्जब यहु को करे, बंध मुक्त जिव पिंड ॥९७॥

यदि ब्रह्म बिना ही पंच तत्त्वमय ब्रह्मांड अपने आप ही होता है, तब यह जीव शरीर में बद्ध है और यह मुक्त है यह बद्ध-मुक्त करने वाला कौन है ? वह ब्रह्म ही तो है, वही उपास्य है ।

नीचौ नीचा है धणी, ऊंचौ ऊंचा सोय ।
जन रज्जब बिच सब धरचा, उस बाहर नहिं कोय ॥९८॥

वह विश्व का स्वामी ब्रह्म व्यापक होने से नीचे रसातलादि से भी नीचा है और सत्य लोकादि से भी ऊंचा है, सभी ब्रह्मांड उसके मध्य रक्खा हुआ है उसके बाहर कुछ भी नहीं है ।

सर्वंगी सब गुण लिये, अन अंग अंग अनेक ।
जन रज्जब जीवहु रच्या, अपने काज न एक ॥९९॥

संसार के व्यक्ति-वस्तु आदि सब उस ब्रह्म के अंग उपांग हैं इसीलिये उसके विराट् रूप को सर्वंगी कहते हैं, वह वास्तव में तो शरीर रहित है फिर भी उसके सगुण रूप अनेक शरीर हैं । उसने जो कुछ रचा है वह सब जीव के उपकारार्थ ही रचा है अपने लिये एक वस्तु भी नहीं रची है, वह पूर्णकाम है ।

सोवन[1] मृग वन में रच्या, तो क्यों मारण जाँहि ।
तेते[2] में सीता हरी, खबर नहीं यहु माँहि ॥१००॥

यदि सगुण अवतार ही विश्व का रचयिता हो तो राम ने वन में सुवर्ण[1] के रंग का मृग रचा था, तो फिर उसे मारने क्यों गये, फिर उतने[2] में ही उधर सीता हरी गई तब भी उनको अपने भीतर पता नहीं लगा कि रावण हर ले गया है, इससे ज्ञात होता है सगुण अवतार सृष्टि रचयिता नहीं होते ।

सीता शील सुला[1] किया, दिब[2] दे आनी जब्ब ।
रज्जब जानी राम की, सकलाई[3] तब सब्ब ॥१०१॥

जब सीता के शील व्रत के दोष[1] का अन्वेषण किया और उसे दिव्य-[2] अग्नि परीक्षा द्वारा अपनाई तब ही राम की सब शक्ति[3] जानी गई थी,

उन्होंने अपनी सर्वज्ञता का परिचय न देकर अपनी कमी ही बताई थी, अतः सगुण अवतार ब्रह्म नहीं निर्गुण ही ब्रह्म है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पीव पिछाण का अंग ४७
समाप्तः ।सा० १६८७।।

अथ बल विवेक का अंग ४८

इस अंग में अधिक बलवान् व्यक्ति परमात्मा माना जा सकता है या नहीं इसका विवेक करा रहे हैं—

बे अकलों बल देख करि, जीव किया जगदीश।
जो रज्जब जामे मरे, सो हम धरैं न शीश ।।१।।

बुद्धिहीन प्राणियों ने अधिक बल देखकर जीव को ही जगदीश्वर बना लिया है, किन्तु हम तो जो जन्मता-मरता है उसे जगदीश्वर रूप से शिर पर नहीं धरेंगे अर्थात् नहीं मानेंगे।

सौंपि[1] सिद्धि कारज करै, शोभा शिर अवतार।
रज्जब भूले भेद[2] बिन, ताहि कहत करतार ।।२।।

अवतार शरीर परमात्मा की प्रदान[1] करी हुई शक्ति रूप सिद्धि से कार्य करता है, उस कार्य के होने की शोभा अवतार को मिल जाती है, इस रहस्य[2] को न जानकर भूले हुये प्राणी उस अवतार को ही परमात्मा कहते हैं।

शक्ति सिद्धि अरु ऋद्धि का, जोर मिले जिव माँहि।
बल विलोकि कहिये सु ब्रह्म, परम तत्त्व ये नाँहि ।।३।।

शक्ति, सिद्धि और ऋद्धि का बल तो जीव में ही मिलता है, अधिक बल देखकर ब्रह्म कहने से ये बली परम तत्त्व रूप ब्रह्म नहीं हो सकते।

एक हु को बल बहु दिया, एक किया बलहीन।
रज्जब दोनों जीव हैं, जगपति के आधीन ।।४।।

एक को बहुत बल दे दिया है और एक को बलहीन बना दिया है किन्तु वे दोनों ही जगदीश्वर के अधीन होने से जीव ही हैं।

गोवर्द्धन धारचा सु कृष्ण, द्रोणागिरि हनुमंत।
शेष सृष्टि शिर पर धरी, को कहिये भगवंत ।।५।।

यदि अधिक बलवान् ही भगवान् माना जाय तो कृष्ण ने तो छोटा-सा गोवर्द्धन पर्वत उठाया था, हनुमान् ने उससे बड़ा द्रोणाचल उठाया था और शेष ने सभी पर्वतों के सहित पृथ्वी शिर पर धर रक्खी है, अब कहिये ? कौन भगवान् है ? लोक में तो छोटे-से गोवर्द्धन गिरि को उठाने वाले कृष्ण भगवान् कहलाते हैं और पृथ्वी को उठाने वाले शेषजी भक्त कहलाते हैं, अतः अधिक बली ही भगवान् नहीं हो सकता ।

पृथ्वी भार अपार अति, सदा शेष के शीश ।
रज्जब कहता ना सुन्या, नर नाग हि जगदीश ।।६।।

शेष के शिर पर पृथ्वी का अपार भार है तो भी उस नाग राज को किसी नर के द्वारा भगवान् कहते हुये नहीं सुना जाता, अत: अति बली को ही भगवान् नहीं कहा जा सकता ।

सप्त सिंधुरे[1] ले उडे, अनल पंखि आकाश ।
रज्जब सो भी जीव है, वेत्ता[2] करो विमास[3] ।।७।।

सात हाथियों[1] को लेकर आकाश में उड़ने वाला अनल पक्षी है, वह भी जीव ही है, अत: हे ज्ञानी[2] ! इस विषय पर तुम ही विचार[3] करो वह अति बली पक्षी भगवान् हो सकता है क्या ?

देखहु बली विभूति[1] बल, गढ गोलै सु उड़ाव ।
तो माया जहँ जीविती, जोरहि कहा कहाव ।।८।।

देखो, माया[1] बल से बली बने हुये राजा लोग तोपों के गोलों द्वारा गढ़ों को उड़ा देते हैं, तो भी जहां माया की भक्ति जीवित है, उस बल का क्या कहना है अर्थात् वह कुछ नहीं है, यथार्थ बल तो भगवान् का ही कहा जाता है ।

जीव जोर जड़ है न कछु, ले चाले आकार ।
बल हि देखि बहके जगत, ताहि कहै करतार ।।९।।

अधिक बल देखकर जगत् के लोग बहक गये हैं और अधिक बल वाले जीव को ही परमात्मा कहते हैं किन्तु जीव का बल जड़ है वह ब्रह्म बल के आगे कुछ भी नहीं है, केवल आकार का भार ही ढोता है ।

चौरासी लख थान उथेलै[1], बंद[2]हु विपुल[3] सु बल्ल ।
रज्जब रज मल ना लग्या, धन्य धूंधली मल्ल[4] ।।१०।।

चौरासी लाख योनियों के रहने के स्थान अनेक ग्रामों को उलट[1] देते हैं, ऐसा महान्[3] बल मनुष्यों[2] में भी देखा जाता है, देखो धूंधलीनाथ रूप पहलवान[4] ने अनेक पट्टण नगर उलट दिये थे किन्तु फिर भी उन्हें

पाप रूप रज स्पर्श नहीं कर सकी थी। धूंधलीनाथ के नगर उलटने की कथा छप्पै कवित्त ग्रन्थ के स्वांग-साधु निर्णय अंग कवित्त एक की टीका में देखो।

मनसा[1] मुई जिवाव हीं, प्राणहु देहि पय[2] पान।
दिल द्वारहु को फेर ही, सबलों सबल सुजान ॥११॥

नामदेव ने मृतक गो जीवित की, मूर्ति को दूध पान कराया और मंदिर का द्वारा फेर दिया सो ठीक ही था किन्तु जो परमार्थ दृष्टि से मृतक बुद्धि[1] को जीवित करते हैं, अज्ञानी जड़ प्राणियों को ज्ञान रूप दूध[2] पिलाते हैं और उनके हृदय द्वार को प्रभु की ओर फेरते हैं, वे संत बलवानों से भी बलवान् कहे जाते हैं।

समीर[1] शेष मनसा[2] मही, मनुवा मेरु सु माँहि।
साधु उठावें ये सकल, और हु यह बल नाँहि ॥१२॥

संत शरीर के भीतर प्राण वायु[1] रूप शेष को प्राणायम द्वारा धारण करते हैं, बुद्धिवृत्ति[2] रूप पृथ्वी को और मन रूप पर्वत को सहस्रार चक्र में स्थित ब्रह्म रूप शिर पर धारण करते हैं अर्थात् ब्रह्म में लय करते हैं। उक्त सबको संत ही संसार दशा से उठाते हैं, अन्य में इन्हें संसार दशा से उठाने का बल नहीं है, अतः संत अति बली हैं।

पृथ्वी अप[1] तेज[2] वायु आकाश, पंचों तत्त्व उथेल[3] हिं दास[4]।
मांड[5] तले सौं ऊपरि आवहिं, तिन केवल वर[6] काहि बतावहिं ॥१३॥

संत[4] अपने साधन द्वारा शरीर के भीतर ही पृथ्वी, जल[1], अग्नि[2], वायु और आकाश इन पांचों तत्त्वों को बदलते[3] रहते हैं, फिर भी जो ब्रह्माण्ड[5] के तल से ऊपर आ जाते हैं उनको ही केवल श्रेष्ठ[6] क्यों बताया जाता है? संत भी उन बलवानों से कम नहीं हैं किन्तु श्रेष्ठ ही हैं।

रज्जब माँही बल सु महाबली, बाहर बल बलवंत।
बाहर देखैं बाहिले[1], भीतरि साधू संत ॥१४॥

शरीर धनादि बाहर के बल वाले बलवान् कहलाते हैं और जिनमें आंतर ब्रह्म-बल ह, वे महाबली कहलाते हैं। बहिर्मुखी[1] प्राणी बाहर के बल को ही देख पाते हैं, आन्तर ब्रह्म-बल को तो कोई साधु-संत ही देखते हैं।

सकल सिद्धि मान हुं ध्वजा, अवतार आतमा शीश।
रज्जब अज्जब देखिये, जहां धरे[1] जगदीश ॥१५॥

अवतार आत्माओं के शिर पर मानों संपूर्ण सिद्धियाँ ध्वजा रूप से फहरा रही हैं अर्थात् उनमें संपूर्ण शक्तियाँ हैं, किन्तु संतों के हृदय प्रदेश में देखो, संपूर्ण सिद्धियों के स्वामी अद्भुत स्वरूप जगदीश्वर स्वयं विराजे[1] हुये हैं ।

नाहर[1] नेत[2] भुजंग मणि, हीरा जींगन जोय ।
रज्जब रैणी जगमगै, सो बल दिवस न होय ॥१६॥

सिंह[1] के नेत्र[2], सर्प की मणि, हीरा, जुगनू के पंख रात्रि में ही चमकते हैं, दिन में वह रात्रि वाला प्रकाश रूप बल उनमें नहीं होता, वैसे ही अवतारों का बल अज्ञान दशा में ही महान् भासता है, ब्रह्मज्ञान होने पर नहीं भासता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित बल विवेक का अंग ४८ समाप्त ॥सा. १७०३॥

अथ अवतार अतीत माहात्म्य का अंग ४९

इस अंग में अवतारों से पृथक संतों का माहात्म्य बता रहे हैं—

अवतार कुंभ प्रतिबिम्ब पर, आदि नारायण भान ।
रज्जब दर्पण दास दिल, अग्नि उदय पहचान ॥१॥

आदि नारायण ब्रह्म सूर्य के समान हैं, अवतार जल-घट में सूर्य प्रतिबिम्ब के समान हैं, संतों का हृदय दर्पण के समान है, ऐसा जानो। प्रतिब्रिम्ब जैसे चमकता है वैसे ही अवतार भी अपने बल द्वारा दुर्जन विनाश और सज्जन रक्षा करते हुये प्रख्यात होता है । दर्पण में सूर्य की किरण पड़ने से अग्नि उत्पन्न होता है वैसे ही संत के हृदय में ब्रह्म की कृपा द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्रकट होता है, उस ज्ञान से संत दुर्जन तथा सज्जन दोनों में समभाव रखते हुये विचरते हैं, यह उनमें विशेषता है ।

अवतार इन्दु उज्वल उभय, आपा ऐब सु होय ।
रज्जब उडगण अनन्य जन, कष्ट कलंक न कोय ॥२॥

अवतार और चन्द्रमा दोनों उज्वल हैं किन्तु चन्द्र को ग्रहण तथा क्षय रोग का कष्ट है और उसमें कालापन रूप कलंक भी है, वैसे ही अवतारों में अपने बलादि का अभिमान रूप दोष रहता है, प्रभु के अनन्य भक्त संत तारागण के समान हैं जैसे तारागण में ग्रहण तथा क्षय का कष्ट और कालिमा कलंक नहीं है, वैसे संतों में भेदजन्य कष्ट, अज्ञान रूप कालिमा-कलंक, देहाभिमानरूप दोष ये कुछ नहीं होते, अतः अवतारों से इत्यादिक विशेषता संतों में अधिक है ।

अर्क[1] इन्दु[2] अवतार विधि, शोषे पोषे प्राण।
रज्जब उडग अतीत विधि, साक्षी भूत सुजान ॥३॥

हे सुजान ! अवतार सूर्य[1] और चन्द्रमा[2] के समान शोषक पोषक हैं और संत तारों के समान साक्षी रूप हैं, यह संतों में विशेषता है।

अर्क[1] इन्दु[2] अवतार तले[3], ऊपरि उडग[4] अतीत[5]।
रज्जब लघु दीरघ लखे, पदवियों पर प्रतीत[6] ॥४॥

बड़ी पदवियों वालों के ऊपर भी लघु देखे जाते हैं यह विश्वास[6] करो, देखो, सूर्य[1] चन्द्र[2] नीचे[3] रहते हैं और तारे[4] ऊपर, वैसे ही अवतार नीचे हैं और संत[5] ऊंचे हैं।

रज्जब सुख्या[1] न सूर शशि, अचया[2] सो जु अगस्त।
यूं अवतार अतीत का, लह्या भेद[3] बल वस्त[4] ॥५॥

समुद्र को सूर्य तथा चन्द्रमा न सुखा[1] सके उसे अगस्त्य पान[2] कर गये थे, वैसे ही अवतार जिसे न कर सकें उसे संत कर देते हैं, इस प्रकार हमने ब्रह्म-वस्तु[4] बल का रहस्य[3] जाना है।

रज्जब वन्द हिं वृहस्पति, शशि सूरज सुर और।
यूं अवतार अतीत बिच, लख दीरघ लघु ठौर ॥६॥

बड़े स्थान पर स्थित चन्द्र, सूर्य और अन्य देवता छोटे स्थान पर स्थित बृहस्पति को प्रणाम करते हैं, वैसे ही देखो बड़े स्थान पर स्थित अवतार छोटे स्थान पर स्थित संतों को प्रणाम करते हैं।

रज्जब माया ब्रह्म बिच, बलवत ठौर अतीत।
ताके वश दोनों सदा, रह्या सकल तत[1] जीत ॥७॥

माया और ब्रह्म के बीच संत का स्थान बलवान् है, माया और ब्रह्म दोनों सदा संत के अधीन रहते हैं, संत सभी तत्त्वों[1] को जय करके ब्रह्म में स्थित होकर रहता है।

दत्त गोरख हनुमत प्रहलाद, शस्त्रों पड़े न सुनिये साध।
मारे मरहि न सिद्ध शरीर, कृष्ण काल वश एकहि तीर ॥८॥

सुनिये दत्तात्रेय, गोरक्षनाथ, हनुमान्, प्रहलाद आदि संतों के शरीर शस्त्रों से धरातल पर नहीं गिरे थे, सिद्धों के शरीर मारने पर भी नहीं मरते और कृष्ण एक तीर से ही काल के वश हो गये थे, इससे सूचित होता है कि अवतारों से संतों में विशेषता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अवतार अतीत माहात्म्य का अंग ४६ समाप्तः ।सा० १७११॥

अथ साक्षी भूत का अङ्ग ५०

इस अंग में साक्षी के स्वरूप का विचार कर रहे हैं—

माया में माया मुकत, साक्षी भूत[1] सुजान ।
है नाँहीं माँही रहत, रज्जब पद निर्बान ॥१॥

निर्वाण पद रूप[1] साक्षी ब्रह्म व्यापक होने से माया में है फिर भी उसके विकारों से मुक्त है, अज्ञानियों की दृष्टि में वह नहीं होने के समान है किन्तु उनमें तथा सभी में वह साक्षी रूप से सदा रहता है । ऐसा ही सम्यक् प्रकार जान ।

अठारह भार मिश्रित अगनि, स्वादहु परसे नाँहिं ।
ऐसे आतम राम है, मिल्या अमिल सब माँहिं ॥२॥

अठारह भार वनस्पतियों में अग्नि मिला हुआ है किन्तु फिर भी उनके कटु कषायादि स्वाद से युक्त नहीं होता, वैसे ही साक्षी रूप आत्माराम सबमें मिला हुआ है फिर भी सबके गुण विकार से रहित होने के कारण बिना मिले के समान ही है ।

अठारह भार अग्नि अलिप्त, सदा सु स्वादों माँहिं ।
परम तत्त्व पंच तत्त्व मध्य, पूरण परसे नाँहिं ॥३॥

अठारह भार वनस्पतियों में सदा रहकर भी अग्नि उनके स्वादों से अलिप्त रहता है, वैसे ही परम तत्त्व रूप साक्षी आकाशादि पाँचों तत्त्वों में परिपूर्ण रूप से रहते हुये भी उनके गुणों से अलिप्त ही रहते हैं, उन्हें गुण स्पर्श नहीं करते ।

अमिल मिल्या सब ठौर है, अकल सकल[3] सब माँहि ।
रज्जब अज्जब अगह[1] गति[2], काहू न्यारा नाँहिं ॥४॥

वह साक्षी ब्रह्म सबसे अलग होकर भी सभी स्थानों के सभी पदार्थों में तथा सभी व्यक्तियों में मिला हुआ है, वह कला विभाग से रहित साक्षी ब्रह्म संपूर्ण कलायुक्तों[3] में है, वह किसी से भी अलग नहीं है, उसका स्वरूप[2] अद्भुत और मन इन्द्रियों से अग्राह्य[1] है ।

सर्वंगी सब विधि लिये, सर्व प्रसंगहुँ पूरि ।
रज्जब सांई[1] सकल में, अरु सबहि न तैं दूरि ॥५॥

सर्व विश्व उसका शरीर है इससे उसे सर्वंगी भी कहते हैं, संपूर्ण विधि विधानों को वह धारण करता है, सभी प्रसंग उसमें पूर्ण रूप से रहते हैं, वह साक्षी रूप स्वामी[1] सब में है और सबसे दूर भी है ।

शून्य[४] तरोवर[१] उडग[२] फल, डाल ब्यंट[३] तिंहि नाँहि ।
अलग सलग[६] यूं आत्मा, रज्जब अति गति[४] माँहि ॥६॥

आकाश[४] रूप वृक्ष[१] के तारा[२] रूप फल तो भासते हैं किन्तु डालों का विभाग[३] तो उसमें नहीं दीखता, वह शाखाओं से रहित है; वैसे ही ब्रह्म में यह संसार है किन्तु उस चेतन ब्रह्म का और जड़ संसार का सम्बन्ध तो विचार द्वारा उस ब्रह्म में नहीं भासता, इस प्रकार वह साक्षी सबसे अलग और सबसे मिला[६] हुआ भी है, उसका उत्तम स्वरूप[४] साक्षी रूप से भीतर ही स्थित है ।

एक अनेकों से मुकत, अनेक एक मधि आन ।
जन रज्जब इस पेच को, हेरि हुये हैरान ॥७॥

वह अद्वैत रूप साक्षी अनेकों में रहकर भी उनके गुण धर्मों से मुक्त है, अनेक प्रकार का संसार उस अद्वैत साक्षी में समाया हुआ है, इस रहस्यमय उलझन रूप सम्बन्ध को खोजते हुये अनेक विद्वान्, संत तथा हम भी आश्चर्य में ही पड़े हुये हैं ।

शून्य[१] समानी पंच में, पुनि पंचों सौं मुक्त ।
रज्जब आतम राम यूं, अलग सलग्ग[२] सु मत्त[३] ॥८॥

पोल[१] आकाशादि पांचों भूतों में समाई हुई है और पांचों से मुक्त भी है, वैसे ही साक्षी रूप आत्माराम सबसे अलग होते हुये भी सबमें है[२], ऐसा ही श्रेष्ठ विचारशीलों का मत[३] है ।

ज्यों शून्य[१] सकल माँही जुदी, त्यों सांई साक्षी भूत[२] ।
यूं रज्जब मिश्रित[३] मुकत, सो समझ्या अवधूत ॥९॥

जैसे पोल[१] सबमें रहते हुये भी सबसे अलग है, वैसे ही साक्षी रूप[२] परमात्मा सबमें मिले[३] हुये रहकर भी सब के गुण धर्मों से मुक्त हैं, इस प्रकार जिसने साक्षी ब्रह्म का स्वरूप समझा है वही अवधूत है वा वह स्वरूप अवधूत दत्तात्रेय ने समझा है ।

रज्जब सांई शून्य[१] में, आतम आभहु[२] रंग ।
पंच भांति दर्शे इनहुं, निर्मल निगुन निहंग[३] ॥१०॥

आकाश[१] में जैसे बादलों[२] के पंच रंग दिखाई देते हैं किन्तु वे आकाश में न होकर बादलों में ही होते हैं, वैसे ही जीवात्माओं के पंच प्रकार के स्वभाव साक्षी में भासते हैं, वे साक्षी के न होकर अन्तःकरण के ही होते हैं, साक्षी तो निर्मल निर्गुण और निःसंग[३] है ।

रमता राम जु रम रह्या, सकल आत्महुं माँहिं ।
अरस परस न्यारा रहै, कोउ गुण व्यापे नाँहिं ।।११।।

सबमें रमने वाला राम सभी जीवात्माओं में अरस-परस मिलकर भी अलग रहता है, उस पर जीवात्माओं के कामादि कोई भी गुण का प्रभाव नहीं पड़ता ।

अठारह भार बहु भांति की, ता मधि स्वाद अनेक ।
रज्जब अज्जबता बनी, हरि हरियाली एक ।।१२।।

अठारह भार वनस्पति नाना प्रकार की हैं और उनमें स्वाद भी नाना प्रकार के हैं किन्तु उनमें एक बात अद्भुत बनी हुई है कि—सबमें हरियाली एक ही है, वैसे ही विविध प्रकार के संसार में साक्षी रूप हरि एक ही हैं ।

सब नाँहीं सब पाइये, दर्पण हरि दीदार ।
रज्जब ऐसा अंग निज, ता में फेर न सार ।।१३।।

जैसे दर्पण में सभी नहीं होते और सभी दिखाई देते हैं, वैसे ही साक्षी स्वरूप हरि में सभी नहीं हैं, फिर भी सभी दिखाई देते हैं, उन साक्षी ब्रह्म का निजी स्वरूप ऐसा ही अद्भुत है, उसमें परिवर्तन नहीं होता, वही विश्व का सार है ।

प्रतिबिम्ब गडे न उखड़े, देखो दर्पण माँहिं ।
त्यों रज्जब माया रु ब्रह्म, है सु जीव में नाँहिं ।।१४।।

देखो, दर्पण में प्रतिबिम्ब न तो गड़ता है और न उखड़ता ही है, केवल भासता है, वैसे ही साक्षी ब्रह्म में न माया है और न जीव-भाव ही है अथवा जीव साक्षी में माया नहीं है और वह ब्रह्म स्वरूप ही है ।

दर्पण रूपी राम है, निर्दोषी निरधार[1] ।
सकल मांड बिच देखिये, रज्जब रती न भार ।।१५।।

राम दपण रूप हैं, जैसे दर्पण में किसी का भी प्रतिबिम्ब पड़े वह बिम्ब के समान भास जाता है, उसके भले बुरे भासने में दर्पण गुणी या दोषी नहीं होता और न उसमें भासने वालों का बोझ उसे लगता, वैसे ही राम में सर्व ब्रह्माण्ड देखा जाता है, वे सर्वथा निर्दोषी हैं और ब्रह्माण्ड का रती भर भी बोझ उन्हें नहीं लगता ऐसा ही राम का स्वरूप निश्चय[1] करो ।

अकल अंग[1] उर आरसी, तहं भासे भाव सु मुःख ।
रज्जब देखि सु आपको, दिल पावे दुख सुःख ॥१६॥

कला विभाग से रहित साक्षी का स्वरूप[1] दर्पण के समान है, जैसे दर्पण द्वारा अपने मुख की असुन्दरता और सुन्दरता देखकर दुःख सुख होता है, वैसे ही साक्षी द्वारा मन का बुरा भला भाव देखकर दुःख सुख होता है ।

मजलिस[1] का मोती सु ब्रह्म, मुक्ता मांड[2] सु माँहि ।
रज्जब दीसे दिल सकल, लिपै छिपै सो नाँहि ॥१७॥

प्रदर्शनार्थ काच की आलमारी में रक्खे हुये महफिल[1] के मोती के समान ब्रह्म है, जैसे वह मोती सबके बीच रक्खा रहता है, सबको दीखता है, किसी के द्वारा सदोष नहीं होता और न किसी से छिपता, वैसे ही ब्रह्म ब्रह्माण्ड[2] में रहते हुए सबके गुण दोषों से मुक्त है किसी से लिपायमान नहीं होता, और सबके अन्तःकरण में साक्षी रूप से भासता रहता है ।

दर्पण मय दरिया प्रभू, देव[1] दृष्टि पणिहार ।
रज्जब रुचि कलशौं भरैं, मुख सुख सलिल विचार ॥१८॥

साक्षी ब्रह्म दर्पण और दरियाव रूप हैं, दृष्टि तथा ब्रह्म-विचार-दृष्टि पणिहारी रूप हैं, जैसे पणिहारी दरिया से कलशों में जल भरती है, वैसे ही दृष्टि दर्पण में मुख देखने का सुख अपनी वृत्ति में भरती है और ब्रह्म-विचार-दृष्टि साक्षी रूप प्रभु का सुख अपनी प्रीति में भरती है अर्थात् साक्षी रूप प्रभु-प्रेम से सुखी रहती हैं ।

सकल मांड[1] सो दूध गति, गुटके[4] गति गोपाल ।
रज्जब पी भारी नहीं, उगल[2] न हलका लाल[3] ॥१९॥

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड[1] दूध के समान है, साक्षी ब्रह्म पारा की गोली[4] वा पाचक औषधि की गोली के समान है, जैसे दूध में पारा की गोली डाल कर वा औषधि की गोली खाकर दूध पीने से वह दूध भारी नहीं पड़ता, हलका हो जाता है, उसकी वमन[2] होने का कष्ट नहीं होता, वैसे ही साक्षी ब्रह्म[3] के चिन्तन करने से संसार दुःखप्रद नहीं होता, ब्रह्मरूप भासने से सुखद ही होता है ।

रुचि नाँही अरु सब भखै, रुचि है कछू न खाय ।
रज्जब ऐसा राम है, जैसा अग्नि स्वभाय ॥२०॥

अग्नि की रुचि जलाने की न होने पर जो भी डाल दोगे वह सब भस्म कर देगा और रुचि होने पर भी उस पर न डालने से वह कुछ भी नहीं जलाता, जैसा अग्नि का स्वभाव है, वैसा ही साक्षी रूप राम का है, वह रुचि न होने पर भी भक्तों का दिया हुआ सब खा जाता है और रुचि होने पर भी अभक्तों का नहीं खाता।

काठहिं तोड़े काठ पर[1], अग्नि चोट में नाँहिं।
रज्जब गुण सौं गुण विलय, निर्गुण न्यारा माँहिं ।।२१।।

काष्ठ को काष्ठ तोड़ता है परन्तु[1] अग्नि उन चोटों के आघात में नहीं आता अर्थात् अग्नि के चोट नहीं लगती, वैसे ही गुण से गुण लय होता है, निर्गुण तो गुणों में रहकर भी उन से अलग ही रहता है।

आतम लोहा कूटिये, गुण देही घण मार।
रज्जब रमता अग्नि में, ता को दुख न लगार[1] ।।२२।।

लोह को घण की चोटों से कूटते हैं तब उसमें रहने वाले अग्नि पर उन चोटों की मार कहां पड़ती है ? अर्थात् नहीं पड़ती, वैसे ही देह के गुणों से देह में रमने वाले आत्मा को किंचित भी दुःख नहीं होता।

पिंड प्राण दोनों तपहिं, यथा कड़ाही तेल।
रज्जब हरि शशि ज्यों रहै, अग्नि मध्य नहिं मेल ।।२३।।

जैसे अग्नि से कड़ाही और तेल दोनों तपते हैं किन्तु गर्म तेल में दीखने वाले चन्द्र प्रतिबिम्ब का तेल द्वारा अग्नि से मेल होने पर भी वह नहीं तपता, वैसे ही शरीर और प्राण दोनों दुःखों से व्यथित होते हैं किन्तु साक्षी रूप हरि तो शरीर तथा प्राणों में रहते हुये भी दुःखों से दुखित नहीं होते।

रज्जब आतम आभ[1] के, पिशुन[2] सु अंतक पौन[3]।
पर शून्य[4] स्वरूपी सांइयाँ, तिसहिं धकावे कौन ।।२४।।

बादलों[1] के लिये वायु[3] दुष्ट[2] है, उन्हें छिन्न-भिन्न कर देता है। जीवात्माओं के लिये यमराज दुष्ट है, उन्हें मार देता है, किन्तु साक्षी रूप प्रभु तो आकाश[4] के समान हैं, उन्हें कौन धक्का लगा सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साक्षी भूत का अंग ५०
समाप्तः ।। सा० १७३५ ।।

अथ समर्थता का अंग ५१

इस अंग में ईश्वर की शक्ति का विचार कर रहे हैं—

सूरज रूपी सांइयां, साधू सूरज कांति[१] ।
उभय अकर्त्ता करैं भी, जन रज्जब बिन तांति[२] ।।१।।

परमात्मा सूर्य रूप हैं और संत सूर्य की किरण रूप हैं, जैसे सूर्य और उसकी किरण[१] दोनों प्रकाश करते भी हैं किन्तु उनके प्रकाश में जो कुछ किया जाता है उसका फल उन्हें नहीं मिलता, वैसे ही परमात्मा और ज्ञानी संत आसक्ति डोरी[२] में न बँधकर करते हैं, अतः अकर्त्ता ही हैं, उन्हें कर्म का फल नहीं मिलता, कर्त्तापन होने से ही कर्म का फल मिलता है, उनमें कर्त्तापन की भावना नहीं रहती ।

बावन बदले वनीय[१] वपु[२], नरपति छांह हुमाय ।
रज्जब कृत्रिम[3] कलायें भासें, यूं अकर करै गति लखी न जाय ।।२।।

वामन चन्दन वन[१] के वृक्षों के शरीर[२] को बदल देता है, हुमा पक्षी की छाया नर को नरपति रूप में बदल देती है किन्तु वामन चन्दन तथा हुमा की छाया में कर्त्तापन की भावना नहीं होती, मायाकृत[3] पदार्थों में भी जब ये कलायें हैं तब परमात्मा करता हुआ अकर्त्ता हो इसमें तो कहना ही क्या है ? उसका स्वरूप मन इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जाता फिर उसकी शक्ति का क्या पता लग सकता है ?

शशि मंडल सूरज परे[१], पोषे भार अठार ।
कृत्रिम[२] कन ऐसी कला[3], कर्त्ता घटि[४] न विचार ।।३।।

चन्द्र मंडल तथा सूर्य मंडल दूर[१] रहते हुये भी अठारह भार वनस्पति का सर्दी-गरमी द्वारा पोषण करते हैं , जब भगवान् के बनाये[२] हुयों में भी ऐसी शक्ति[3] है तब विचारो सृष्टिकर्त्ता प्रभु में कम[४] नहीं हो सकती ।

त्रिक[१] सविता[२] सु अलाहिदे, पलटे अदभू[3] आंख ।
रज्जब नर नरपति भये, छाँह हुमाई पांख ।।४।।

चन्दन[१] वृक्षों[3] को बदलकर, सूर्य[२] आँखों को बदलकर और हुमा पक्षी की छाया नर को नरपतिरूप में बदलकर भी उनसे अलग ही रहते हैं, वैसे ही सृष्टिकर्त्ता ईश्वर सृष्टि रचना करके भी उससे अलग ही रहते हैं ।

तन मन बाइक हूं बिना, माया करे सु काम ।
रज्जब सिरजी सृष्टि यूं, सब गुण रहित सु राम ।।५।।

जैसे तन, मन और वचन के बिना भी उक्त प्रकार माया कार्य करती है, वैसे ही सब गुणों से रहित रहकर भी निर्गुण राम ने सृष्टि रचना की है।

शशि सूरज हुमा संदलहिं, सत्य समर्थ गति दीन।
तो रज्जब दातार न टोटे, कौन कला सो हीन ॥६॥

चन्द्रमा, सूर्य, हुमा पक्षी और चन्दन को उस सत्य समर्थ प्रभु ने शक्ति दी है तो वह दातार टोटे में नहीं है, बताओ वह कौन सी कला से रहित है ? वह तो सर्व-शक्तिमान् है।

महल मसाले बिना उपाये, ब्रह्माण्ड पिंड ठाहर उभै।
याही तैं समर्थ गति[1] जानी, साहिब सेती[2] ह्वै सबै ॥७॥

उस प्रभु ने विश्व और शरीर रूप दोनों ही महल बिना ही मसाले इच्छा मात्र से बनाये हैं, इससे ही हमने उस समर्थ की शक्ति[1] जानली है, उस प्रभु से[2] सभी कुछ हो सकता है।

काया सौं छाया भयी, पर काया का क्या अंस।
तैसे रज्जब देखिये, पार ब्रह्म सौं हंस ॥८॥

शरीर से ही छाया होती है किन्तु उस छाया में शरीर का क्या अंश है ? अर्थात् कुछ नहीं है, वैसे ही परब्रह्म से जीवात्मा होता है।

प्रभाकर[1] प्रतिबिम्ब परि, ब्रह्म जीव पहचान।
कहां सु झरि झाँई भई, समझो संत सुजान ॥९॥

सूर्य[1] से प्रतिबिम्ब पड़ता है तब क्या वह परछाईं झड़कर पड़ती है ? अर्थात् नहीं, हे सुजान संतो ! वैसे ही ब्रह्म से जीव को पहचानो।

सब पृथ्वी प्रतिबिम्ब परि, प्रभू प्रभाकर जानि।
तो रज्जब हरि हंस[1] में, हेरि हुई कछु हानि ॥१०॥

सभी पृथ्वी पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, फिर भी सूर्य[1] की कुछ हानि नहीं हुई है, वैसे ही अनेक शरीरों में प्रभु का जीव रूप से प्रतिबिम्ब पड़ने से हरि की कुछ भी हानि नहीं होती, उनकी ऐसी ही अद्भुत सामर्थ्य है।

अचल चलावै सबन को, आप न चंचल होय।
रज्जब खपै न खेवटा, वोहिथ विचरै जोय ॥११॥

जहाज जीर्ण होकर टूट जाय तो भी केवट नष्ट नहीं होता है, वैसे ही परमात्मा आप अचल हैं और सब संसार को चलाते हैं किन्तु आप चंचल नहीं होते ।

करता हरता दुहुन का, अरु दोन्यों तैं दूरि ।
निरालम्ब[1] न्यारा रहै, सब ठाहर भरपूरि ।।१२।।

ईश्वर स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के संसार को उत्पन्न तथा नष्ट करने वाला है, और दोनों से दूर, सबसे अलग, निराश्रय[1] और सबमें परिपूर्ण रूप से रहता है ।

पिंड सरोवर प्राण जल, सांई सूर शरीर ।
रज्जब काढै कैद किरण, बिच वित्त[1] राखे वीर[2] ।।१३।।

जैसे सरोवर में कैद हुये जल को सूर्य अपनी किरणों द्वारा निकाल लेता है और सरोवर में पड़े हुये अन्य धन[1] को नहीं निकालता, वैसे ही हे भाई[2] ! शरीर में कैद हुये प्राणों को ईश्वर अपनी शक्ति से निकाल लेते हैं किन्तु शरीर की अन्य धातुओं को नहीं निकालते, यह उनकी शक्ति की अद्भुतता है ।

निराकार न्यारा रखै, निज अंग[1] माँहि न मेलै ।
अगम अगाध अविगत आपै, अकल अगोचर खेलै ।।१४।।

निराकार प्रभु अपने स्वरूप[1] को माया से अलग ही रखते हैं, माया में नहीं मिलने देते। अगम, अगाध, मन इन्द्रियों के अविषय, कला विभाग से रहित, प्रभु इन्द्रियों की गति से आगे रहकर के ही विश्व में क्रीड़ा करते हैं ।

काया कृमि काष्ट में घुण, जल हीं जलचर जोय[1] ।
करता किये सु कौन विधि, सो समझै नहीं कोय ।।१५।।

देख[1], शरीर में कृमि, काष्ठ में घुण और जल में जलचर, उस सृष्टि-कर्त्ता प्रभु ने किस प्रकार रचे हैं उस प्रकार को कोई भी नहीं समझता, अतः उसकी शक्ति विलक्षण है ।

जड़ तत्त्वों में जीव जड़, तन मन साज्या[3] श्वास ।
यहु विद्या बाबा[1] कनैं[2], आवे न आतम पास ।।१६।।

जड़ तत्त्वों में जीव तथा जड़ तन मन और श्वासों को कैसे अद्भुत ढंग से सजाया[3] है, यह विद्या उन प्रभु[1] के पास[2] ही है, जीवात्मा के हाथ नहीं लगती ।

नर नारायण में रहै, सदा सुकाल दुकाल ।
कब हीं सृष्टि उपाव हीं, कब हूं सब के काल ॥१७॥

नर तथा नारायण दोनों में ही सदा सुकाल और दुष्काल रहता है, जैसे नर मनोराज्य रूप सृष्टि उत्पन्न करता है और नष्ट करता है, वैसे ही नारायण कभी तो सृष्टि उत्पन्न करते हैं और कभी नष्ट कर देते हैं ।

रज्जब राम रसायणी, सेवक सरवस[1] लेय ।
पै श्री[2] सिरज संहारिनी, विद्या किस हि न देय ॥१८॥

राम रसायन वाले पुरुष के समान हैं, वह अपना सब धन[1] तो दे देता है किन्तु धन को उत्पन्न करने की रसायन विद्या नहीं देता, वैसे ही राम भक्त को अपना सर्वस्व दे देते हैं किन्तु सृष्टि उत्पन्न करने की तथा नाश करने की शक्ति[2] किसी को भी नहीं देते ।

जन रज्जब जामण मरण, घर घर आथि[1] अनाथि[2] ।
आदम[3] को सौंपी न ये, राखी अपणे हाथि ॥१९॥

प्रति घर की जन्म-मरण रूप पूंजी का जमा[1]-खर्च[2] भगवान् ने मनुष्य[3] को नहीं सौंपा है, अपने हाथ में ही रक्खा है अर्थात् उक्त शक्ति प्रभु में ही है, मनुष्य में नहीं आ सकती ।

पंच तत्त्व में वाहि[1] कर, बांधे आतम राम ।
रज्जब दिया न और को, घट[2] घड़ने का काम ॥२०॥

राम ने पंच तत्त्वों का शरीर बना के उसमें आत्मा को डाल[1] कर बाँध दिया है, यह शरीर[2] बनाने का काम किसी अन्य को न देकर अपने हाथ में ही रक्खा है ।

घड़ै विनाशै सकल में, अनन्त लोकि अविगत्त[1] ।
थापि[2] उथापै[3] सांइयाँ, जन रज्जब सब सत्त ॥२१॥

वह परमात्मा[1] अनन्त लोकों में व्यापक रहकर सबको बनाते हैं तथा नष्ट करते हैं, बैठाते[2] हैं तथा उठाते[3] हैं, उनके लिये यह सब करना सत्य ही है ।

ब्रह्माण्ड पिंड बादल मयी, करि न विनाशत बेर ।
रज्जब हूनर[1] हद[2] हुई, करन हरन दिशि हेर[3] ॥२२॥

ब्रह्माण्ड तथा शरीर बादल के समान हैं, वा ब्रह्माण्ड के शरीर बादल के समान हैं, जैसे बादल को बनते-बिगड़ते कुछ भी देर नहीं लगती,

वैसे ही उन प्रभु को ब्रह्माण्ड तथा शरीरों को बनाकर नष्ट करते कुछ भी देर नहीं लगती। देख[3], उनकी उत्पन्न करने और नष्ट करने की कला को, इस कला[1] की अन्तिम सीमा[2] उन्हीं में हुई है अर्थात् यह कला अन्य में ऐसी नहीं है।

अकल[1] अकलि[2] परि सब धरचा, ओंकार आकार।
रज्जब रचना अगह[3] गति[4], नमो निपावनहार[5] ॥२३॥

कला-विभाग-रहित[1] उन प्रभु ने महतत्त्व रूप अपनी बुद्धि[2] पर सबको धर रक्खा है, ओंकार से आदि जो भी आकारों की रचना उनने की है, उसकी वास्तविक स्थिति[4] जानना मानव की बुद्धि से अग्राह्य[3] है, जिनकी ऐसी अद्भुत शक्ति है, उन सृष्टिकर्त्ता[5] प्रभु को हम नमस्कार करते हैं।

हिकमत[1] की घड़ियाल[2] घट, दीवा धरीसु देह।
तीनों आतम की अकलि[3], रज्जब अचरज येह ॥२४॥

समय मापने का यंत्र[2], घट और दीपक बनाना कला-कौशल[1] की ही बात है, उक्त तीनों जीवात्मा की बुद्धि[3] से ही बने हैं किन्तु जीवात्मा ने जो देह धारण किया है, उस देह को बनाना यह उन प्रभु की निर्माण-बुद्धि आश्चर्य रूप है।

ढोल दमामे[1] जंत्र[2] साज[3], नालि[4] चलावहि आतम बाज[6]।
जड़ चेतन हुं बुलाय चलाये, त्यों आदम[5] अल्लाह बनाये ॥२५॥

ढोल, नगाड़ा[1], सितार[2] आदि बाजों[3] को जीवात्मा बजाता[6] है और बन्दूक[4] चलाता है, बन्दूक को चलाने पर, जड़ बन्दूक की ध्वनि चेतन मोरादि प्राणियों को बुला देती है यह मानव की कला है, वैसे ही ईश्वर ने मनुष्य[5] को बनाया है किन्तु मानव की कला से ईश्वर की कला अद्भुत है।

विषधर[1] में विष रूप है, मुख अमृत मणि नाम।
रज्जब रचना बलि गया, कौन वस्तु कहि ठाम ॥२६॥

सर्प[1] में विष ही प्रधान है किन्तु मुख में अमृत के समान मणि भी रख दी है, वैसे ही प्राणी में विषयाशारूप विष की ही अधिकता रहती है किन्तु मुख में अमृत रूप प्रभु नाम भी रहता है। देखो, किस वस्तु को वे प्रभु किस स्थान में रख देते हैं, उन प्रभु की रचना चातुर्य पर हम बलिहारी जाते हैं।

देखो शोणित[1] क्षीर[2] ह्वै, क्षीर पलट शोणित्ति[3]।
रज्जब रीझ्या देखकर, नमो नियंता[4] मत्ति[5] ॥२७॥

देखो, रक्त[1] से दूध[2] बनता है और दूध से रक्त[3] बनता है। संसार के व्यवस्थापक[4] प्रभु की बुद्धि[5] को देख के हम उनमें अनुरक्त होकर उन्हें नमस्कार करते हैं।

तृण में कण[1] कण में सुतृण, करता कुदरत धन्न।
रज्जब रचना अगह गति[2], कहि को समझे मन्न ॥२८॥

धन्य है उस सृष्टिकर्त्ता प्रभु की शक्ति, तृणों में अन्न के दाने[1] निकलते हैं और दानों से तृण निकलते हैं। उसकी रचना रूप लीला[2] इन्द्रियों से अग्राह्य है केवल मन से समझ में आती है, अतः उसे कौन कह सकता है ?

अंड सौं पंखी ऊपजे, पुनि पंखी मधि अंड।
ब्रह्म बुद्धि वेत्ता विथक[1], क्यों जोड़े जिव पिंड ॥२९॥

अंडे से पक्षी उत्पन्न होता है और पुनः पक्षी से अंडा उत्पन्न होता है, ब्रह्म की बुद्धि को देखकर ज्ञानी जन भी चकित[1] होते हैं कि—जीव और शरीर को वे कैसे जोड़ते हैं ?

पाणी माँहि अग्नि राखिये, अग्नि मध्य सो पानी।
रज्जब रचना अगह[1] की, वारि[2] बीजुरी[3] सानी ॥३०॥

समुद्र के जल में बड़वानल अग्नि को रखते हैं और उस अग्नि की गरमी से ही वह जल वर्षता है, मन आदि से अग्राह्य[1] ब्रह्म की रचना विचित्र ही है, देखो जल[2] और बिजली[3] को मिलाकर रखते हैं।

श्रावण मास करै ऊन्हालो, ऊन्हाले वर्षालो।
रज्जब कहै सुनो रे जीवो, अकरन करन संभालो ॥३१॥

जो वर्षा ऋतु के श्रावण मास में तो ग्रीष्म ऋतु और ग्रीष्म ऋतु में वर्षा ऋतु कर देते हैं, हे जीवो ! उस न करने वाले काम को भी करने वाले प्रभु का स्मरण करो।

पाणी मैं तें पावक निकसे, पावक मैं तें पाणी।
रज्जब रचना अगह[1] गति[2], काहू जाय न जाणी ॥३२॥

जल में से बिजली रूप अग्नि निकलता है और गरमी पड़ने से ही पानी वर्षता है, इन्द्रियों से अग्राह्य[1] प्रभु की रचना रूप लीला[2] किसी से भी नहीं जानी जाती।

ज्यों दिनकर[1] शशि[2] दीप करि, सकल सृष्टि आधार।
तैसे रज्जब राम बिन, तन मन घोर अंधार ॥३३॥

जैसे सूर्य[1], चन्द्रमा[2] और दीपक-प्रकाश के आश्रय सब सृष्टि के प्राणियों का कार्य चलता है, उक्त तीनों के बिना अँधेरा रहता है, वैसे ही राम के ज्ञान-प्रकाश बिना तन मन में अज्ञान रूप घोर अंधकार भरा रहता है।

रज्जब गुडी[1] अनन्त के, एक पवन आधार।
त्यों तन मन आतम राम बल, हिले चले संसार ॥३४॥

जैसे आकाश में अनन्त पतंग[1] एक वायु के आधार उड़ते हैं, वैसे ही तन मन जीवात्मा आदि सकल संसार एक राम के बल से ही हिलता चलता है।

ज्यों जल के बल मीन सब, मगन मुदित ता[1] माँहि।
तैसे रज्जब प्राण पति, न्यारे जीवें नाँहि ॥३५॥

जैसे सब मच्छियाँ जल के बल से जल[1] में निमग्न रहकर प्रसन्न रहती हैं, जल के बाहर जीवित नहीं रह सकतीं, वैसे ही प्राण-पति प्रभु की रक्षा में ही संपूर्ण प्राणी प्रसन्न रहते हैं, प्रभु से अलग होकर जीवित नहीं रह सकते।

परमतत्त्व प्राण में बैठ्या, पंचों तत्त्व चलावे।
असमझहिं अगम सुगम समझे को, गुरु प्रसाद सौं पावे ॥३६॥

वह परमतत्त्व रूप ब्रह्म साक्षी रूप से प्राणी में स्थित है, ईश्वर रूप से पांचों तत्त्वों का संचालन करता है, गुरु कृपा द्वारा समझे हुए के लिये उस का स्वरूप जानना सुगम है और अज्ञानियों के लिये अगम है।

आदि किया सो भी भया, मध्य करे सो होय।
अंत करे सो होयगा, रज्जब समर्थ सोय ॥३७॥

उस समर्थ प्रभु ने आदि में जो कुछ किया था वह हो गया है, मध्य में जो किया है वह भी हो रहा है और अंत में जो भी करेंगे वह भी होगा, कारण वह सर्व समर्थ है।

रज्जब रच्या सो ना भया, राम रचैं सो होय।
यूं अविगत पहचानिये, करता औरहि कोय ॥३८॥

जीव ने रचा वह कार्य तो सिद्ध नहीं हुआ और राम रचते हैं वह होकर ही रहता है, अतः सृष्टिकर्त्ता जीव से कोई भिन्न ही है, उस प्रभु को उक्त प्रकार की अद्भुत शक्ति द्वारा ही पहचानो।

सांई समर्थ सब करैं, श्याम श्वेत सब होय।
जन रज्जब दृष्टांत को, वृद्ध बाल ले जोय ॥३९॥

वे समर्थ प्रभु सब कुछ करते हैं, उनके द्वारा ही श्याम केश श्वेत होते हैं, दृष्टांत के लिये बालक और वृद्ध को देखो, बालक के केश काले होते हैं वह जब वृद्ध होता है तो वे काले केश ही श्वेत हो जाते हैं, अतः उन प्रभु की शक्ति अद्भुत और अपार है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित समर्थता का अंग ५१ समाप्तः ।।सा.१७७४।।

अथ मूलारंभ का अङ्ग ५२

इस अंग में मूल कारण से ही संसार रूप कार्य उत्पन्न होता हैं, यह विचार कर रहे हैं ।

ज्यों जल बीरज[1] जलचरहुं, अवनि अठारह भार ।

पीछें बीरज[2] बीज तैं, यहु मत मूल विचार ।।१।।

जैसे प्रथम तो जलचरों का कारण[1] जल ही है, पीछे माता-पिता के रज वीर्य[2] से उत्पन्न होते रहते हैं । अठारह भार वनस्पतियों का प्रथम कारण तो पृथ्वी ही है पीछे अपने २ बीज से उत्पन्न होती रहती हैं, यही मूल कारण के सिद्धान्त का विचार है, उक्त प्रकार ही प्रथम सब सृष्टि सृष्टि-कर्त्ता प्रभु से ही होती है, पीछे विभिन्न कारणों की कल्पना होती है ।

ज्यों ओले[1] सब अंभ[2] तैं, त्यों पाणी करि पिंड ।

रज्जब उपजे आप[4] सौं, अजों सु तिन[3] के अंड ।।२।।

जैसे जल[2] से बर्फ के कंकर[1] होते हैं वैसे ही वीर्य रूप जल[4] से शरीर अपने आप ही उत्पन्न हो जाते हैं. अभी भी उन[3] शरीरों के कारण पक्षियों के अंडों में देख सकते हो पहले जल ही रहता है, पीछे शरीर बनता है ।

जन रज्जब आतमा अवलि[1], यहु वित[2] अविगत[3] दीन ।

और तत्त्व तत्त्वों भये, करनहार यूं कीन ।।३।।

प्रथम[1] यह आत्मा रूप धन[2] तो परमात्मा[3] ने दिया है, पीछे अन्य बुद्धि आदि तत्त्व आकाशादि पाँचों तत्त्वों से उत्पन्न हुये हैं और पंच तत्त्व माया से हुये हैं, इस प्रकार उस सृष्टिकर्त्ता प्रभु ने संसार की रचना की है ।

ओंकार सौं आतमा, पंच तत्त्व कर पिंड ।

यहु भ्रामक भागा सु यूं, ईहिं विधि सब ब्रह्मंड ।।४।।

ओंकार से आत्मा और आत्मा से आकाशादि पंच तत्त्व उत्पन्न होते हैं पीछे पंच तत्त्वों से स्थूल शरीर होते हैं, इस प्रकार सब ब्रह्माण्ड होता है, यह भ्रम में डालने वाला सिद्धान्त हमारे मन से भाग गया है, सृष्टि तो उक्त तीन की साखी के अनुसार ही होती है ।

ब्रह्म मूल बाइक का, बाइक परिये तत्त ।
तत्त्वों करि अस्थूल अंग, यहु बाबे का मत्त ॥५॥

ओंकार रूप शब्द का मूल कारण ब्रह्म है, शब्द से ये आकाशादि तत्त्व होते हैं और तत्त्वों से स्थूल शरीर होते हैं, यही प्रभु का सृष्टि रचना संबन्धी सिद्धान्त है । रज्जबजी के गुरु दादूजी को परमात्मा ने वृद्ध के रूप में दर्शन दिया था, अतः रज्जबजी बाबा शब्द से परमात्मा का ही निर्देश करते हैं ।

आकाश अविगत[1] तैं उरैं[2], आत्मा अरु ओंकार ।
पंच तत्त्व वर्षा विपुल[3], शक्ति[4] समुद्र तन धार ॥६॥

बादल आकाश से नीचे[2] होते हैं, उनसे भारी[3] वर्षा होती है, फिर उस जल की धारा बन कर समुद्र की ओर जाती है, वैसे ही ब्रह्म[1] से नीचे आत्मा और ओंकार हैं, आत्मा और ओंकार से पंच तत्त्व होते हैं, पंच तत्त्वों से शरीर होते हैं फिर शरीर माया[4] की ओर जाता है ।

वपु बुद्‌बुदा ता[1] में बहुत, उत्पत्ति अनन्त अपार ।
अकल[2] अकलि[3] आदित्य किरण, आतम विधि व्यवहार ॥७॥

उक्त ६ की साखी के साथ इसका संबन्ध है—उस[1] समुद्र में बहुत बुद्‌बुदों की उत्पत्ति होती है, जिनकी गणना करने पर भी अंत नहीं आता, उन बुद्‌बुदों में सूर्य की किरण पड़कर वे चमकते हैं, और नष्ट हो जाते हैं किन्तु किरण नष्ट नहीं होती, वह सिमटकर सूर्य में ही चली जाती है, वैसे ही कला विभाग से रहित अपार ब्रह्म[2] की बुद्धि[3] से माया[1] में अनन्त शरीर बनते हैं, उनमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप आत्मा आता है तब वे सब व्यवहार करते हैं, और नष्ट होते हैं तब आत्मा रूप प्रतिबिम्ब ब्रह्मरूप में ही जा मिलता है नष्ट नहीं होता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मूलारंभ का अंग ५२ समाप्तः ॥सा. १७८१॥

अथ चौरासी निदान निर्णय का अङ्ग ५३

इस अंग में चौरासी लाख योनियों के कारण के निर्णय का विचार कर रहे हैं—

वृक्ष बीज फिर आव ही, पत्र पिंड सो जाय ।
तो चौरासी क्यों मिटे, नर देखो निरताय ॥१॥

वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष इस प्रकार बीज और वृक्ष बारंबार आते ही हैं, पत्ते नष्ट होते हैं, वैसे ही स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाते हैं

किन्तु सूक्ष्म शरीर तो बारंबार आता ही है, तब हे नर ! विचार करके देख चौरासी का चक्कर कैसे मिटेगा ।

तन सु तूतडा[1] जीव कण, फिर ऊगे धर[2] माँहि ।
तो चौरासी रज्जबा, मिटती दीसे नाँहि ॥२॥

अन्न का दाना तुष में रहता है, उसका तुष[1] तो नष्ट हो जाता है और दाना फिर पृथ्वी[2] में उग जाता है, वैसे ही स्थूल शरीर में जीव रहता है, उसका स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है और जीव फिर जन्म जाता है, ऐसा है तब चौरासी का चक्कर तो मिटता हुआ नहीं दीखता ।

पंख जाय अंडा फिर आवे, तो चौरासी कौन मिटावे ।
एक चंद माँही गुण दोन्यों, प्रत्यक्ष पेख अमावस पून्यों ॥३॥

पक्षी की पंख तो नष्ट हो जाती है किन्तु पक्षी अंडे के रूप में फिर आजाता है, वैसे ही स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है किन्तु जीव फिर जन्म जाता है । एक चन्द्रमा में ही महान् अंधकार और महान् प्रकाश दोनों गुण हैं, सो देख अमावस्या और पूर्णिमा को प्रत्यक्ष होते ही हैं, वैसे हो एक जीव में ही जाना और आना दोनों गुण हैं ।

वारि[1] जाय बीरज[2] फिर आवे, मूंत मदन[3] के मध्य लखावे ।
पिंड सु पाणी प्राण अनंग[4], आवण जाणा भंग अभंग ॥४॥

वीर्य[3] के मध्य मूत्र दिखाई देता है, उसका जल[1] भाग तो नष्ट हो जाता है और वीर्य[2] पुनः संतान के रूप में आजाता है, अतः शरीर और पानी नष्ट होते हैं और प्राणी तथा वीर्य[4] आते जाते हैं, नष्ट नहीं होते ।

दोजख़[1] माँहि बुरों का वासा, भले बहिश्त[2] को जाँहि ।
नरक स्वर्ग साबित हुये, सब चौरासी माँहि ॥५॥

बुरे प्राणी नरक[1] में बसते हैं, भले लोगों का निवास स्वर्ग[2] में होता है, वे नरक-स्वर्गादि सब चौरासी लाख योनियों में ही सिद्ध होते हैं अर्थात् दुःखप्रद योनियाँ ही नरक हैं और सुखप्रद योनियाँ स्वर्ग हैं ।

काचा कण उगले इला[1], पाका पृथ्वी खाय ।
त्यों ही आतम राम रुचि, नर देखो निरताय ॥६॥

कच्चा दाना पृथ्वी[1] से उगता है, अग्नि से पके हुये को पृथ्वी खा जाती है, वैसे ही राम की रुचि देखी जाती है. राम का अंश जीवात्मा कच्चा रहता है तब तक तो जन्मता रहता है और ब्रह्म ज्ञानाग्नि से पक जाता है तब ब्रह्म में लय हो जाता है, हे नरो ! तुम भी विचार करके देखो, ऐसा ही है ।

सूरज हू जामें मरे, उदय अस्त दुख दोय ।
जग चखि[1] से चौरासी भुगतैं, रज्जब रारयों जोय ।।७।।

सूर्य भी जन्मते-मरते है, उन्हें भी उदय-अस्त होना रूप दो दुःख होते हैं, इस प्रकार जगत् के प्राणियों की दृष्टि[1] से तो वे भी चौरासी भोगते हैं, अपने नेत्रों से देखो, प्रतिदिन आते जाते हैं यही चौरासी भोगना है ।

चंद सूर तारे फिरैं, तो आतम क्यों न फिराँहि ।
इनको भंवते[1] देखिकर, रज्जब खरे डराँहि ।।८।।

जब तारे, चन्द्रमा और सूर्य भी फिरते हैं, तब जीवात्मा क्यों न चौरासी में फिरेगा, सूर्यादि को भ्रमण[1] करते देखकर, हम भी डरते हैं, सच्ची बात तो यही है ।

तारहुं की गति देखिये, कुल[1] आतम अरवाँहि[2] ।
सांई फेरे ये फिरैं, रजज्ब डरपे चाँहि[3] ।।९।।

देखो, तारों की गति के समान ही सम्पूर्ण[1] जीवात्माओं के समूह[2] की गति है, परमात्मा फेरते हैं और ये सब फिरते हैं, मैं भी इन्हें फिरते देखकर[3] डरता हूँ ।

बादल बिजली पाणी पौन[1], निशि वासर[2] इनहूं को गौन[3] ।
पल-पल माँहि सु जामें मरैं, ये चौरासी चारयों फिरैं ।।१०।।

बादल, बिजली, जल और वायु[1] इनका रात्रि दिन[2] गमन[3] होता ही रहता है, ये चारों चौरासी में फिरते हैं, क्षण-क्षण में जन्मते-मरते हैं, प्रकट होना और छिपना ही इनका जन्म-मरण है ।

आवण जाणाँ किसी न भावे, परि साहिब को कहि को समझावे ।
अर्ज दीन की सुनिये सांई, जीव जगत में फेरो नाँहीं ।।११।।

चौरासी में आना जाना किसी को भी अच्छा नहीं लगता, परन्तु उन प्रभु को यह बात कह कर कौन समझावे ? हे प्रभो ! मुझ दीन की प्रार्थना सुनिये, कृपा करके अब जीव को जगत् में नहीं फेरिये ।

पै[1] मरदी[2] सु पराये सारै[3], खुद मरदी कुछ नाँहि ।
बंदा बंदीवान[4] है, हाजिर हुकम सु माँहि ।।१२।।

परन्तु[1] हम तो पराई शक्ति[2] के सहारे[3] हैं, अपनी शक्ति तो हम में कुछ भी नहीं है, मैं दास तो आपका ही कैदी[4] हूं, आपकी आज्ञा में ही व्यवस्थित रहता हूँ ।

जे कुछ खुसी[1] खुदाय की, बंदों करी कबूल[2] ।
गाफिल[3] और विचार हीं, सो रज्जब सब भूल ।।१३।।

जिस बात में प्रभु को प्रसन्नता[1] है, वही हम दासों ने स्वीकार[2] की है, जो अचेत[3] प्राणी अन्य कुछ करने का विचार करते हैं, सो सब उनकी भूल है ।

भेज्या जाय बुलाया आवे, सो सेवक साहिब मन भावे ।
अपणी खुशी पड़ेगा दूर, हुकम माँहि हाजिर सु हुजूर ।।१४।।

भेजने से जाय और बुलाने से आवे, वही सेवक स्वामी के मन को प्रिय लगता है, अपनी प्रसन्नता के लिये काम करता है, वह स्वामी से दूर पड़ जाता है और जो आज्ञा में उपस्थित रहता है, वह स्वामी के पास रहता है ।

एक परगनों भेजिये, एक राखिये पास ।
रज्जब बंदे हुकम में, कहां जाहि सो नास ।।१५।।

एक सेवक को तहसील के ग्रामों में भेज दें और एक को पास रक्खें तो दोनों को ही आज्ञा-पालन करना चाहिये । जो आज्ञा-पालन नहीं करता कहीं भी चला जाता है, वह आज्ञा का नाश करने वाला होने से स्वामी को प्रिय नहीं लगता ।

भेज्या जाय बुलाया आवे, चाकर चकरी चित्त सु भावे ।
गल में डोरि पराये सारैं, जीव जड़ काठ सु कहा विचारैं ।।१६।।

भेजने पर जाय और बुलाने पर आ जाय वही चक्री के समान आज्ञा में फिरने वाला सेवक स्वामी के चित्त को प्रिय लगता है, उसके गले में तो स्वामी की आज्ञा रूप डोरी पड़ी है, वह पराये आश्रय है, सेवक रूप जीव जड़ काष्ठ के समान है, काष्ठ को जिधर फेरो उधर ही फिर जाता है, वैसे ही सेवक है, वह स्वामी की इच्छा के बिना स्वतंत्र अपने लिये क्या विचार करेगा ? अर्थात् कुछ नहीं प्रभु चौरासी में फेरो वा उद्धार करो उसकी इच्छा है कुछ भी करे ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित चौरासी निदान निर्णय का अंग ५३ समाप्तः ।।सा. १७६७।।

अथ आज्ञा साहिबी का अङ्ग ५४

इस अंग में भगवान् की आज्ञा विषयक विचार कर रहे हैं—

आप खुशी[1] आया नहीं, अपणी खुशी न जाय ।
तो सब सारै[2] और के, रज्जब रजू[3] रजाय[4] ॥१॥

जीव अपनी प्रसन्नता[1] से नहीं आया है और न अपनी प्रसन्नता से जाता है, तब आना-जाना आदि सभी व्यवहार अन्य के अर्थात् भगवान् के आश्रय[2] ही होता है, उन भगवान् की प्रसन्नता[4] में ही हम प्रसन्न[3] रहते हैं ।

फेरचा चौरासी फिरै, राख्या कहीं न जाय ।
यहु इनके सारे[1] नहीं, जे कछु खुशी[2] खुदाय ॥२॥

जीव फेरने से चौरासी में फिरता है, रखने पर कहीं भी नहीं जाता, यह अपने बल[1] पर नहीं है, जो कुछ ईश्वर की इच्छा[1] होती है, उसी के अनुसार सब कुछ करता है ।

गीद[1] न गोई[2] चपल मति, परवश दुहुं[3] दिशि जाय ।
त्यों रज्जब मन गोइ[4] हैं, जे कछु राम रजाय ॥३॥

जैसे निर्लज्ज[1] मनुष्य अपनी बुद्धि को चपलता से नहीं बचा[2] सकता वह विहित तथा निषिद्ध दोनों[3] प्रकार के भोगों की ओर जाती है, वैसे ही मैं अपने मन को चपलता से नहीं बचा सका । अब जो कुछ राम की आज्ञा होगी वैसे ही यह बच[4] कर रहेगा ।

रज्जब राखे रामजी, सु[1] मन रहे ठहराय ।
चिदानन्द बिन चित्त की, चंचलता नहिं जाय ॥४॥

जिस मन की रक्षा रामजी करते हैं, वह[1] मन स्थिर होकर रहता है, चेतन आनन्द स्वरूप ब्रह्म की कृपा बिना चित्त की चंचलता नहीं मिटती ।

शक्ति[1] शीत जीव जल बंधे, मुक्त सु आदित्य देख ।
बंध मुक्त हम दिशि[2] नहीं, उभय सु हस्त अलेख[3] ॥५॥

जैसे शीत से जल बर्फ बनकर बंधता है और सूर्य-किरण द्वारा शीत से मुक्त होकर पुनः जल बन जाता है, वैसे ही माया[1] से जीव शरीरादि में बँधता है और ब्रह्म ज्ञान से मुक्त होकर पुनः ब्रह्म में मिलता है । अतः बंध और मुक्ति हमारी ओर[2] की शक्ति से नहीं होती, ये दोनों तो लेखबद्ध न होने वाले निरंजन राम[3] के ही हाथ में है ।

चतुर खानि घोड़े सु घट[2], जीव अमर असवार ।
बारगीर[3] वाजि[4] हुं चढे, हुकम सु हरि व्यवहार ॥६॥

जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, इन चार[1] खानियों के विनाशी शरीर[2] घोड़े हैं और अमर जीव सवार है, जैसे घोड़ों[4] पर स्वामी की आज्ञा से सईस[3] सवार चढ़ता है, वैसे ही हरि की आज्ञा से जीव शरीरों में आकर व्यवहार करता है ।

पवंग[1] पतन[2] पुनि पार्वाहि, बारगीर[3] असवार ।
उतरे चढे सु हरि हुकम, घोड़े मरहु हजार ॥७॥

घोड़ा[1] मर[2] जाय तो सईस[3]-सवार को पुनः घोड़ा मिल जाता है, वैसे ही हरि की आज्ञा से जीव रूप सवार तो शरीर रूप घोड़ों पर उतरता-चढ़ता रहता है, चाहे हजार शरीर नष्ट हों, जीव को तो शरीर मिलता ही रहता है ।

साहिब के घर वस्तु बहु, बासण का वश नाँहि ।
रज्जब बाहे[1] घर धणी, पड़े सु पात्र हिमाँहि ॥८॥

जिसके घर में बहुत सी वस्तुयें हों तब वह घर का स्वामी जिस बर्तन में जिसे डाले[1] उसमें ही वह पड़ती है, बर्तन की क्या शक्ति है जो अपने आप वस्तु अपने में रख ले ? वैसे ही प्रभु के अधिकार में बहुत-सी शक्तिरूप वस्तु हैं, उनमें से जिसको जिस शरीर में रखते हैं उसी में वह रहती है, शरीर की क्या शक्ति है जो वह चाहे उसी शक्ति को अपने में रख ले ?

पंच खानि के प्राण सु[1] पात्र, बाही[2] वस्तु करै प्रकास ।
भीतर होय सु बाहर आवे, फेर सार नाँहीं नर आस ॥९॥

जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, नादज, इन पांच खानियों के प्राणी हैं, सो[1] ही पात्र हैं, उनमें जो भी शक्ति रूप वस्तु प्रभु डालते[2] हैं, वही उनमें प्रकाशित होती है, जो भीतर होगी वही बाहर आयेगी, नर की आशा से उस में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता ।

हय[1] गय[2] राशि विचित्र ये, पुनि प्यादे असवार ।
रज्जब मन न मनोरथों, सारे सिरजनहार ॥१०॥

विचित्र हाथी[2] घोड़ों[1] का समूह, उनके सवार और पैदल सेना ये सब होते हुये भी मन के मनोरथों के समान नहीं होता, ईश्वर आज्ञा में रहने से ईश्वर के बल से ही सब कुछ होता है ।

इन्द्रिय आभे[1] अवनि आकार[2], आतमा अंभ[3] सु इनहुं मंझार ।
राखे रहैं बुलाये आवहिं, ज्यों अविगत[4] आदित्य मन भावहिं ।।११।।

इन्द्रिय बादल[1] हैं, स्थूल[2] शरीर पृथ्वी है और आत्मा जल[3] है। बादल और पृथ्वी में जल रहता है, सूर्य के मन को अच्छा लगे वैसे ही वे बादलों से वर्षाते हैं और पृथ्वी से खेंच लेते हैं, वैसे ही प्रभु[4] शरीर तथा इन्द्रियों में आत्मा को रखते हैं तब तक रहता है और बुलाते हैं तब उनके पास आकर उसमें ही मिल जाता है ।

आज्ञा आतम में धरचा, पंच तत्त्व आकार ।
सांई सौंप न सेवक छाडे, छोडावे करतार ।।१२।।

आज्ञा रूप आत्मा के आश्रय पंच तत्त्व जन्य स्थूल शरीर रक्खे हैं, प्रभु अपनी आज्ञा द्वारा ही शरीर देते हैं, पीछे सेवक नहीं छोड़ता तब भगवान् अपनी आज्ञा द्वारा ही छुड़ाते हैं ।

होतब[1] आज्ञा भावी भव[2] चित, सोई होती जाय ।
ता ऊपरि कहणा न कछु, नर देखो निरताय[3] ।।१३।।

प्रभु की आज्ञा के अनुसार भविष्य में जो होनहार[1] होता है, उसी का चित्त में जन्म[2] होकर वही बात होती जाती है, उससे अधिक कुछ कहना नहीं बनता, हे नरो ! तुम भी विचार[3] करके देखो, उस प्रभु की आज्ञानुसार ही सब कुछ होता है ।

पत्थर में पैदा किये, पारस हीरा लाल ।
त्यों आदम सौं औलिया, साहिब किये निहाल ।।१४।।

परमात्मा ने जैसे पत्थरों में पारस, हीरा और लाल उत्पन्न किये हैं, वैसे ही मनुष्यों में संत उत्पन्न करके हम जिज्ञासुओं को पूर्ण काम कर दिया है ।

संपत्ति विपति आयु लघु दीरघ, रज्जब रहैं हुकम हरि माँहि ।
दाता देय सु माँगत पावे, यहु इसका सारा[1] कुछ नाँहि ।।१५।।

सम्पत्ति-विपत्ति छोटी-बड़ी आयु ये प्रभु की आज्ञा में ही रहती हैं, दाता देते हैं तो माँगने वालों को मिलती हैं, यह इनका देना रूप कार्य जीव के अधिकार[1] में कुछ भी नहीं है ।

सिरज्या सिरजनहार का, सोई जीव को होय ।
सुख संपति दुख विपति को, मेट न सकही कोय ।।१६।।

सुख-सम्पत्ति दुःख-विपत्ति जो भी सृष्टिकर्त्ता ने जीव के भोगार्थ उत्पन्न कर दिये हैं वे ही उसे प्राप्त होते हैं, उनको कोई भी नहीं मिटा सकता ।

हुक्म[1] हुआ सो होयगा, तुम भी करो कबूल[2] ।
तेरा किया न होय कुछ, भोला भरम न भूल ॥१७॥

जो प्रभु की आज्ञा[1] हुई है वही होगा, तुम भी उसी को स्वीकार[2] करो, हे भोले भाई ! भ्रमवश भूल में मत पड़ तेरा किया हुआ कुछ भी नहीं होता ।

आज्ञा अलख अलेख की, आतम लखे न कोय ।
जीव जाण्या यूं ही रहै, साहिब करे सो होय ॥१८॥

मन इन्द्रियों के अविषय, लेखबद्ध न होने वाले प्रभु की आज्ञा को कोई भी जीवात्मा नहीं जानता जीव तो समझता है, जैसे वर्तमान में है वैसा ही रहेगा किन्तु ऐसा नहीं है, जो प्रभु करते हैं वही होता है ।

सब घट घटा समान है, ब्रह्म बिज्जुली माँहि ।
रज्जब चमके कौन में, सो समझे कोउ नाँहि ॥१९॥

सब शरीर बादलों की घटा के समान हैं, ब्रह्म बिजली के समान है, बिजली किस बादल में चमकेगी यह प्रथम कोई नहीं जानता, वैसे ही ब्रह्म का विशेष ज्ञान-प्रकाश किस शरीर में चमकेगा यह पहले कोई भी नहीं समझता ।

अकल[1] गाय दह[2] दिशि अनंत, सहगुण निर्गुण थान[3] ।
दया दुहावे और की, दुहै न जान अजान ॥२०॥

कला-विभाग से रहित[1], अनन्त ब्रह्मरूप गाय दशों[2] दिशाओं में ही है, उसके सगुण निर्गुण उपासना रूप दो स्तन[3] हैं, जैसे गो बच्छड़े की दया से दूध देती है, वैसे ही गुरु की कृपा से ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, बिना गुरु कृपा चाहे पंडित हो वा मूर्ख उसको ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त हो सकता ।

शक्ति[1] सलिल रहै शून्य[2] में, जाण अजाण न लेय ।
जग दाता देणे मते, तब जल माँही करि देय ॥२१॥

जल आकाश[2] में रहता है, उसे रहता है यह जानने वाला वा अनजान दोनों ही नहीं ले सकते और जगत् को देने वाले सूर्य का मत देने का हो तब भीतर से ही पसीना रूप जल दे देता है, वैसे ही ब्रह्म में ज्ञान[1]-

शक्ति रहती है, उसको शास्त्र द्वारा जानने वाला वा न जानने वाला नहीं ले सकता. जब भक्ति से प्रसन्न होने से उनका देने का मत होता है तब अन्तःकरण के भीतर ही ज्ञान प्रकट कर देते हैं ।

जा जीव सौं, जगपति खुशी, ता सौं जगत दयाल ।
रज्जब रुचे न राम को, तासौं सब ही काल ॥२२॥

जिस जीव पर जगपति प्रभु प्रसन्न होते हैं, उस पर सभी जगत के प्राणी दया करते हैं और जो राम का प्रिय नहीं होता उसके लिये सभी काल रूप हैं ।

आकार सभी औषधि मयी, जे बाबा[1] ह्वै वैद[2] ।
रज्जब नहिं तो विषहि विष, करन मते ना-पैद[3] ॥२३॥

जैसे वैद्य[2] की दृष्टि में सभी आकार औषधि रूप हैं और वैद्य बिना अनजान् की दृष्टि में सभी विष हैं वैसे ही यदि प्रभु[1] रक्षक हों तो सभी अनुकूल रहते हैं, नहीं तो सभी बरबाद[3] करने का मत अपनाते हैं ।

सकल सिद्धि [illegible]नधि सहित, मिली अमिल ह्वै जांहि ।
काजिल[1] सभी अकाज की, जे प्रभु आज्ञा नाँहि ॥२४॥

यदि प्रभु की आज्ञा न हो तो संपूर्ण सिद्धियाँ और नौ निधियाँ मिलने पर भी बिना मिली-सी हो जाती हैं और काम[1] की वस्तुयें सभी बे काम हो जाती हैं ।

शब्द गहै अर्थहु लहै, करणी करत अभूल ।
पै रज्जब रस[1] तो पड़े, जे हरि करैं कबूल[2] ॥२५॥

शास्त्र तथा संतों के शब्दों को ग्रहण करे, अर्थ भी समझे और प्रमाद-रहित कर्तव्य कर्म भी करे परन्तु इन सबको यदि हरि स्वीकार[2] करे तभी ब्रह्मानन्द[1] पल्ले पड़ता है ।

राम रिजक[1] इक ठौर दें, मिल इक ठौरे खाँहि ।
रज्जब संबल[2] ह्वै जुदा, आप आपको जाँहि ॥२६॥

राम यदि अनेक प्राणियों को एक स्थान में जीविका[1] देते हैं, तो वे सब मिलकर एक स्थान में खाते हैं और यदि उनको भिन्न करते हैं तो वे अपने २ मार्ग का भोजन[2] लेकर अपने २ मार्ग को जाते हैं ।

गात गोटिके[1] रूप हैं, बाजीगर निज नाथ ।
बिखेरि[2] मेलतों बेर क्या, ये सब उनके हाथ ॥२७॥

शरीर बाजीगर के गोलों[1] के समान हैं और अपने भगवान् बाजीगर के समान हैं, जैसे—बाजीगर को गोलों को फैला[2] कर मिलाने में क्या देर लगती है ? अर्थात् कुछ नहीं, वैसे ही भगवान् को शरीरों को जहाँ तहाँ भेजकर पुनः मिलाने में क्या देर लगती है ? यह सब करना उनके हाथ में ही है ।

किन नक्षत्र शशि संग किये, किन किया सूरज एक ।
यहु रज्जब सब रजा[1] पर, समझो बड़ा विवेक ।।२८।।

किसने चन्द्रमा के साथ तारा मंडल किया है ? और किसने सूर्य को अकेला किया है ? ये सब भगवान् की आज्ञा[1] से ही होता है, यही महान् विवेक-विचार है, तुम भी अच्छी प्रकार समझने का प्रयत्न करो ।

आज्ञा थी त्यौं ही हुआ, आज्ञा होता जाय ।
ज्यों आज्ञा त्यों होयगा, जो कछु खुशी खुदाय ।।२९।।

जो प्रभु की आज्ञा थी वैसा ही हुआ है, जो आज्ञा है वही वर्तमान में हो रहा है और जैसी आज्ञा होगी वैसे ही भविष्य में होगा, जो भी भगवान् की इच्छा हो उसी में प्रसन्न रहना चाहिये ।

नेति[1] नेति निगमों[2] कहैं, अगम अग्राह्य वस्त[3] ।
कृपा उन्हों की वे मिलैं, छल बल चढै न हस्त[4] ।।३०।।

जिसके विषय में वेद[2] "यह नहीं[1], यह नहीं" कहते हैं, वह ब्रह्म वस्तु[3] मन से अगम और इन्द्रियों से अग्राह्य है, वे प्रभु उनकी कृपा से ही मिलते हैं, छल-कपट वा बल से हाथ[4] में नहीं आते अर्थात् नहीं मिलते ।

पिंड प्राणों के गुण न गहिये, अगम अगोचर वस्त ।
केवल दया हि दर्शन पइये, छल बल चढै न हस्त ।।३१।।

वह मन से अगम, इन्द्रियों से परे, निर्गुण ब्रह्मरूप वस्तु, शरीर के बलरूप गुण से तथा प्राणों के गमन रूप गुण से नहीं मिलती, केवल उन प्रभु की दया से ही उनका दर्शन प्राप्त होता है, छल तथा बल से वे हाथ नहीं आते ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आज्ञा साहिबी का अंग ५४
समाप्तः ।सा०१८२८।।

अथ गैबी का अंग ५५

इस अंग में अनजान में अकस्मात् होनहार का परिचय दे रहे हैं—

गहरी[1] बात सु गैब[2] में, गुरु शिष टोटा लाभ।
रज्जब अलख अलेख फल[3], देखहुगा भर आभ[4] ॥१॥

जैसे मरजीवा के लिये मोती का लाभ तथा हानि परोक्ष है, वैसे ही गुरु और शिष्यों को प्रभु प्राप्ति का लाभ और अप्राप्ति रूप हानि की गंभीर[1] बात परोक्ष[2] है प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु जल[4] भरे समुद्र में गोता लगा कर खोजता है, तब कभी अकस्मात् मरजीवे को मुक्ताफल[3] मिल भी जाता है, वैसे ही समाधि द्वारा खोजने से गुरु शिष्य अलख-अलेख प्रभु की छवि[4] को भी इच्छा भर कर अकस्मात् देख ही लेंगे।

क्या पारस परमारथी, क्या लोहे में लोभ।
अमिल मिलाये रामजी, इनको आई शोभ ॥२॥

पारस में क्या लोहे की उन्नति करना रूप परमार्थ की इच्छा है ? और लोहे में क्या अपनी उन्नति का लोभ है ? दोनों में उक्त बातें नहीं हैं किन्तु रामजी ने अपने पुरुषार्थ से न मिलने वाले उक्त दोनों को उनकी अनजान में ही मिला दिया तब पारस को सोना बनाने की और लोह को सुवर्ण बनने की शोभा प्राप्त हो गई, वैसे ही प्रभु अकस्मात् अनजान में ही गुरु-शिष्यों को मिलाकर उनकी शोभा बढ़ाते हैं।

मानुष के मन में नहीं, नाँही हाथ हुमाय।
गैब[1] माँहि छाया पड़े, नर नरपति ह्वै जाय ॥३॥

मनुष्य के मन में नहीं है कि मेरे पर हुमा पक्षी की छाया पड़ेगी और न हुमा पक्षी के हाथ है कि वह मनुष्य को अपनी छाया के नीचे बैठने की शिक्षा दे किन्तु दोनों के अनजान में छाया पड़ जाती है, जिस पर पड़ती है वह राजा बन जाता है, वैसे ही अनजान[1] में गुरु शिष्यों का संयोग होकर शिष्य की उन्नति हो जाती है।

जीव दरिद्री जुगहु का, धनपति बाप न आप।
माल मिल्या बहु गैब[1] में, भागे शक्ति संताप ॥४॥

जीव अनेक युगों में धनहीन था न तो पिता धनी था न आपके पास धन हुआ, अनजान[1] में भाग्यवश अकस्मात् धन मिल गया तब दरिद्रता से होने वाला दुःख भाग गया, वैसे ही जीव अनेक युगों से ब्रह्म-ज्ञान से

हीन था अनजान में ही गुरु द्वारा ब्रह्म-ज्ञान मिल गया तब माया जन्य दु:ख सब भाग गया, माया को मिथ्या समझ कर ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगा है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गैबी का अंग ५५ समाप्तः। सा० १८३२॥

अथ अनुभव अगोचर का अंग ५६

इस अंग में अनुभव इन्द्रियों का विषय नहीं है इससे संसारिक लोक उसका समाचार नहीं जान पाते यह कहते हैं—

पक्षी उपना पंखतैं, पेड प्रकट परि पान।
रज्जब गिरि तरु शिर वस्या, किरण उदय भयो भान॥१॥

साधन रूप पक्षों से ब्रह्म रूप आकाश में उड़ने योग्य साधक रूप पक्षी उत्पन्न होता है। प्रथम साधक-वृक्ष के शिर पर देहाभिमान रूप पर्वत रहता है, इससे वह छिपा रहता है, जब साधक-वृक्ष के विषयाशादि रूप पत्ते पड़ जाते हैं तब साधक वृक्ष के शिर का देहाभिमान-पर्वत विवेक द्वारा गिर जाता है और वह वैराग्य के प्रभाव से संसार में प्रकट हो जाता है। उक्त साधनों से परोक्ष ब्रह्म-ज्ञान रूप किरण उत्पन्न होती हैं उन किरणों से अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान रूप सूर्य उदय होकर साधक ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है, उक्त अनुभव इन्द्रियों का अविषय है।

वसुधा[1] बीज बीज सौं वसुधा, ईंहि विधि कृषि[2] सु होय।
रज्जब खलक खबर नहिं पावे, बूझे विरला कोय॥२॥

पृथ्वी[1] से बीज उत्पन्न होता है और बीज से खाद होकर खेती[2] होती है, इसी प्रकार प्रभु से जीव उत्पन्न होता है और जीव से विराट् रूप प्रभु की उन्नति होकर संसार की परंपरा चलती है अथवा बुद्धि से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से बुद्धि सुन्दर बनकर ब्रह्म साक्षात्कार का हेतु अनुभव ज्ञान होता है, इस अनुभव का वृत्तान्त सांसारिक प्राणी नहीं जान पाते कारण यह इन्द्रियों से परे का विषय है, कोई विरला ज्ञानी संत ही इसे समझता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अनुभव अगोचर का अंग ५६ समाप्तः। सा० १८३४॥

अथ मध्य मार्ग निजस्थान निर्णय का अङ्ग ५७

इस अंग में सद्गरु के बताये हुये शरीर के भीतर के मार्ग तथा निजस्थान ब्रह्म के निर्णय विषयक विचार कर रहे हैं—

तन मन में मारग मिल्या, सद्गुरु दिया दिखाय ।
जन रज्जब रमि राह उस, परम पुरुष कने जाय ॥१॥

शरीर के भीतर मन में ही प्रभु प्राप्ति का लय-साधन रूप मार्ग सद्गुरु के बताने से मिल गया है, हम साधक जन उस मार्ग से चलकर परप पुरुष प्रभु के पास जाते हैं ।

रज्जब अज्जब घाट है, मिनषा[1] देही माँहि ।
सुरति[2] निरति[3] मधि ऊतरै, पछितावे सो नाँहि ॥२॥

मनुष्य[1] देह में परब्रह्म-सरोवर में स्नान करने का अद्भुत साधन रूप घाट मध्य मार्ग ही है, जिसके अन्तःकरण की वृत्ति[2] विचार[3] द्वारा मध्य मार्ग में उतरती है अर्थात् चलती है, वह साधक साधन-सफलता के अभाव का पश्चात्ताप नहीं करता, उसे परब्रह्म का साक्षात्कार हो ही जाता है ।

सुरति[1] श्वास मधि ऊतरै, नजर[2] खुले नभ[3] थान ।
सो आत्मा देखे सु ब्रह्म, परिचय पहुंच्या प्रान ॥३॥

वृत्ति[1] श्वास के मध्य उतरकर अर्थात् श्वास के साथ लगकर षट् चक्रों को भेदन करती हुई मेरु दंड द्वारा सहस्रार चक्र रूप आकाश[3] स्थल में जाती है तब ज्ञान-दृष्टि[2] खुलती है, जिसकी ज्ञान-दृष्टि खुलती है वह साधक आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, इस प्रकार भीतर के मार्ग द्वारा सहस्रार में पहुंचे हुये साधक आत्मा का ब्रह्म से परिचय होता है ।

बाट[1] बहैं[1.2] ब्रह्माण्ड की, बटाऊ[3] सु अनेक ।
रज्जब प्राणी पिंड में, पंथ चले कोउ एक ॥४॥

विश्व के तीर्थ, व्रत, दान-पुण्यादि रूप वाह्य मार्ग[1] में तो अनेक पथिक[3] चलते[2] हैं किन्तु ३ की साखी में कथित शरीर के भीतर के मार्ग में कोई विरला साधक ही चलता है ।

पंथ पीव[1] का पिंड में, प्राण पृथ्वी पथ जाँहि ।
रज्जब राम हिं क्यों मिलै, ढूंढे वन वित[2] माँहि ॥५॥

प्रभु[1] को प्राप्त करने का अंतरंग साधन रूप मार्ग तो शरीर में ही है, उसमें न चलकर अर्थात् अंतरंग साधन न करके, प्राणी पृथ्वी के मार्ग में चलकर तीर्थादि में प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं, राम रूप धन[2] तो भीतर है फिर वन में खोजने से कैसे मिलेगा ?

बाहर ढूंढै बावरे[1], भीतर भेदी[2] प्रान ।
रज्जब आतम राम कन[3], समझो संत सुजान ॥६॥

अज्ञानी[1] प्राणी ही बाहर खोजते हैं किन्तु भीतर के मार्ग का रहस्य जानने[2] वाले प्राणी भीतर ही खोजते हैं, राम तो आत्मा के पास[3] ही है, हे सुजान साधक संतो ! तुम उक्त प्रकार राम को भीतर ही समझो ।

अंतर्यामी उर बसै, साधुन दिया दिखाय ।
रज्जब ढूंढण[1] माँहिले[3], बाहर कींघै[2] जाय ॥७॥

अंतर्यामी राम तो हृदय में ही बसते हैं, संतों ने हृदय में ही साधकों को दिखाया है, तब भीतर[3] के साधन-मार्ग में चलने वाले उन राम को खोज[1] ने बाहर किधर[2] जाँयगे ? अर्थात् नहीं जाँयगे, भीतर के साधन में ही रत रहेंगे ।

माँही सोधो[1] मांहिले, आतम अंतर जोय[2] ।
रज्जब तन मन ले रमे, सु भीतर कहिये सोय ॥८॥

भीतर के साधन में रत साधको ! उस प्रभु को भीतर ही खोजो[1], देखो[2], वह आत्मा के भीतर ही है अर्थात् आत्मा से भिन्न नहीं है, जो अपने इन्द्रिय रूप तन तथा मन को साथ लेकर उस प्रभु से रमण करता है, वही साधक भीतरी साधना में रत कहलाता है ।

इक अठसठ[1] तीरथ फिरहिं, इक दहणारथ[2] देत ।
रज्जब भ्रमि भ्रमि भुवैं[3] पड़ी, समझानहिं संकेत[4] ॥९॥

एक प्रकार के व्यक्ति तो ६८[1] तीर्थों में फिरते रहते हैं और एक प्रकार के पृथ्वी की प्रदक्षिणा[2] देते रहते हैं, उक्त प्रकार के लोगों की देह फिरते २ पृथ्वी[3] पर पड़ जाती है, किन्तु फिर भी ये संतों के भीतरी साधन के इशारे[4] को नहीं समझ पाते ।

उनचास कोटि अहनिशि फिरहिं,चतुर पहर शशि भान[1] ।
रज्जब उभय चलाक[2] अति, अविगत नाथ न जान ॥१०॥

यदि तीर्थों में फिरने से और पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने से ही प्रभु मिल जाँय तब तो सूर्य[1]-चन्द्र उनचास कोटि पृथ्वी में दिन-रात चारों पहर फिरते ही रहते हैं, ये दोनों अत्यधिक चलने[2] वाले हैं, तो भी मन इन्द्रियों के अविषय विश्व स्वामी को पूर्णरूप से नहीं जान पाते ।

अहूंट[1] हाथ रमिबा[2] अगम[3], सुगम रमण उनचास ।
रज्जब भीतर भर[4] लहै, बाहर ह्वै बुधि नाश ॥११॥

उनचास कोटि पृथ्वी में भ्रमण करना तो सुगम है और साढे तीन[1] हाथ शरीर के आंतर साधन रूप मार्ग में चलना[2] कठिन[3] है, भीतरी साधन बल[4] से ही साधक प्रभु को प्राप्त करता है, बाहर पृथ्वी के मार्ग में अत्यधिक भ्रमण करने से तो उलटा बुद्धि का नाश होता है ।

जन रज्जब उनचास फिर, अंत रहै उरवार[1] ।
नाभि नासिका हाथ इक, निरखि नैन नर पार ॥१२॥

उनचास कोटि पृथ्वी में फिरके भी प्राणी अंत में संसार के इस पार[1] में ही रह जाता है पर पार नहीं जा सकता और नाभि तथा नासिका तक के एक हाथ स्थान में आंतर साधन द्वारा ज्ञान-नेत्रों से प्रभु को देख कर नर संसार से पार हो जाता है ।

सप्त द्वीप नौ खंड फिर, हाथ चढै कछु नाँहिं ।
रज्जब रजमाँ[1] पाइये, आये उर घर माँहिं ॥१३॥

सात द्वीप और नौ खंड पृथ्वी में फिर आवे तो भी परमार्थ तत्त्व तो कुछ भी हाथ नहीं लगता, हृदय में आने पर ही राम[1] प्राप्त होता है ।

अस्थल उर अछ्या अगम[1], नाभि निराली[2] ठौर ।
यहु इकाँत रज्जब रहो, ताक[3]हु गुफा न और ॥१४॥

नेत्रों का अविषय[1] हृदय-स्थान आंतर साधन के लिये उत्तम है, नाभि स्थान भी विलक्षण[2] है, उक्त दोनों स्थानों को ही एकान्त समझकर वहाँ ही आंतर साधन करो अन्य गिरि गुहा को आंतर साधन के लिये मत देखो[3] ।

रज्जब रस एकान्त का, एकांती को होय ।
प्राण पसारे में पड्या, सो सुख लहै न कोय ॥१५॥

एकान्त का आनन्द उक्त प्रकार एकान्त साधना करने वाले को ही होता है, जो प्राणी बाहर के मायिक विस्तार में पड़ा है, उसे एकान्त का आनन्द नहीं मिलता ।

नाभि नासिका बीच ब्रह्म, मेला मनिषा देंह ।
सब तीरथ मक्के सहित, रज्जब रमि कर लेह ॥१६॥

मनुष्य शरीर के नाभि और नासिका के बीच के स्थल में ब्रह्म का मिलन होता है, वहां हृदय में चिन्तन रूप भ्रमण करके मक्का के सहित सभी तीर्थों के फल ब्रह्म को प्राप्त करले ।

नभ अस्थानिक नाभि है, पंखी प्राण सु जाँहि ।
अनल आतमा ठाहरे, शून्य सु मंडल माँहि ॥१७॥

आकाश में पक्षी जाते तो हैं किन्तु आकाश मण्डल में अनल पक्षी ही ठहर पाता है वैसे ही नाभि स्थान में साधनार्थ जाते तो अनेक प्राणी हैं किन्तु नाभि रूप शून्य मण्डल की साधना का केन्द्र बनाकर कोई बिरला ही आत्मा वहाँ ठहरता है ।

अनल[1] अतीत[2] चले अति आतुर, ता सम गमन न होय ।
जन रज्जब यूं जगत उलंघे, बूझे विरला कोय ॥१८॥

अनल पक्षी[1] आकाश में अति शीघ्र चलता है, उसके समान अन्य पक्षियों से नहीं चला जाता, वैसे ही संत[2] आन्तर साधना-मार्ग में अतिशीघ्र चलते हैं, इस प्रकार के गमन से ही मायिक जगत् को लांघ कर ब्रह्म में मिलते हैं, उस आन्तर साधन को कोई बिरला ही समझ पाता है ।

अंतरि लांघै लोक सब, अंतरि औघट घाट ।
अंतर्यामो को मिले, जन रज्जब उर बाट ॥१६॥

भीतर ही वासना मय संपूर्ण लोकों को लाँघता है, काम क्रोधादि रूप विकट घाटियों को पार करता है, इस प्रकार हृदय के चिन्तन रूप मार्ग से अंतर्यामी प्रभु को प्राप्त होता है ।

रज्जब रहणां शून्य में, शब्द सदन[1] में आय ।
मनसा वाचा कर्मना, नर देखो निरताय ॥२०॥

शब्द रूप घर में[1] आकर उसके लक्ष्यार्थ ब्रह्म रूप शून्य में अभेद होकर रहना चाहिये, हे नरो ! मन, वचन और कर्म से साधन करके सम्यक ब्रह्म विचार से ब्रह्म को देखो ।

आतम शून्य समान है, देही दरिया मांहि ।
मुख मोहन मुक्ता तहां, मन मरजीवै जांहि ॥२१॥

देह रूप समुद्र में आत्मा तो ब्रह्मरूप होने से आकाश के समान सर्वत्र है और ध्येय ब्रह्म के मुख का दर्शन मोती के समान है. जैसे मरजीवा समुद्र में गोता लगाकर मोती लाने जाता है, वैसे ही मन विश्व विमोहन भगवान् के मुख का दर्शन करने ध्यान रूप गोता लगाकर सविकल्प समाधि में जाता है और दर्शन करके कृतकृत्य हो जाता है ।

रज्जब वपु वसुधा[1] विरचि[2], निकसे नाभि निहंग[3] ।
आगे अविगत नाथ है, सदा सुरति सुख संग ॥२२॥

पृथ्वी[1] से विरक्त[2] होकर निकले तब अनल पक्षी ऊंचा आकाश[3] में जाता है वैसे ही शरीर से विरक्त[2] होकर उसके अध्यास से निकले तब नाभि स्थान में ब्रह्म[3] प्राप्ति की साधना होती है, वहां साधन पूर्ण होने पर आगे तो मन इन्द्रियों के अविषय प्रभु ही प्राप्त होते हैं फिर तो वृत्ति सदा सुख स्वरूप ब्रह्म के ही संग रहती है, अन्य मायिक संसार में नहीं जाती ।

मन तुरंग चेतन[1] चढै, पवन पंथ सो जाय ।
रज्जब बैठे शून्य में, माँहीं मिले खुदाय ॥२३॥

प्रमाद रहित सावधान[1] साधक मन रूप अश्व पर चढे अर्थात् उसको अपने अधीन करे, फिर वह प्राण वायु के मार्ग से जाय अर्थात् मेरुदंड होकर प्राण मन के सहित शून्य चक्र ब्रह्मरंध्र में स्थित होवे, फिर उसी स्थान में भीतर परमात्मा मिल जाते हैं ।

सुरति समावे पिंड में, पीछे मन में जाय ।
आतम अंतरि ह्वै रमै[1], आगे मिलें खुदाय ॥२४॥

प्रथम वृत्ति बाह्य विषयों से प्रत्याहार द्वारा शरीर में आकर स्थिर होती है, फिर आन्तर साधन के अभ्यास की अधिकता से मन में ही स्थिर रहती है फिर आत्म-विचार से आत्मा में स्थिर होकर विचरती[1] है अर्थात् कहीं भी जाय आत्माकार ही रहती है, सभी को आत्मरूप में देखती है, इस अभ्यास से आगे परब्रह्म प्राप्त हो जाते हैं ।

आतम थान[1] मुकाम[2] सौं, मक्का मदीना माबूद[3] परे ।
जिकर[4] जहाज बैठ तिर जग जल, रज्जब हाजी[5] हज्ज[6] करे ॥२५॥

भारत-निवासी मुसलमान के घर[2] से मक्का मदीना तीर्थ दूर है, वहां जाने के लिये जहाज पर बैठता है तब समुद्र जल को पार करके वह यात्री[5] मक्का मदीना की यात्रा[6] पूर्ण करता है, वैसे ही जीवात्मा के देहाध्यास रूप स्थान[1] से ईश्वर[3] दूर है, जीवात्मा ब्रह्म-विचार[4] करके संसार से पार जाकर प्रभु को प्राप्त करता है तब उसकी संसार यात्रा समाप्त होती है, इससे प्रथम संसार में ही भ्रमण करता रहता है ।

रज्जब राह[1] रसूल[2] का, पैंडा[7] पंजर[3] माँहि ।
उलटे चलि औजूद[4] में, मरद[5] मुसाफिर[6] जाँहि ॥२६॥

पैगम्बर[2] वा मोहम्मद का प्रभु प्राप्ति का मार्ग[1] शरीर[3] के भीतर ही है, शरीर[4] में उलटे अर्थात् मेरु दंड होकर चलना चाहिये, जो वीर[5] यात्री[6] होता है वही इस मार्ग[7] से प्रभु के पास जाता है ।

बेजबाँ[1] जिकर[2] करि जान जमीर[3] में,
पीर[4] की पंदयति[5] पाइये माँहिं ।
रज्जब बखाइ[6] बातिन[7] यहु बंदगी[8],
तरीकत[9] राह[10] तज रीत कोई जाँहिं ॥२७॥

बिनाही जिह्वा[1] से चर्चा[2] करके दिल[3] में जान, सिद्ध[4] संतों की सु-शिक्षा[5] भीतर ही प्राप्त होती है, अतः अन्तःकरण[7] में ही यह आन्तर भक्ति[8] करके[6] शरीर की सेवा[9] तथा कर्मकाण्ड[9] का मार्ग[10] त्याग कर उक्त रीति से प्रभु के पास कोई विरला साधक ही जाता है ।

बिन रसना राम हिं रटै, आतम अंतरि आय ।
रज्जब पैंडे पीव के, चित चेतन कोउ जाय ॥२८॥

वृत्ति द्वारा अन्तःकरण में आकर स्थिरतापूर्वक बिना ही जिह्वा से राम का चिन्तन करते हुये प्रभु प्राप्ति के मार्ग से कोई सावधान चित्त वाला साधक ही प्रभु के पास जाता है ।

किस मक्के महमुद गया, महादेव किस थान ।
रज्जब चलिये पंथ उस, पंथी प्राण सु जान ॥२६॥

मोहम्मद किस मक्का में गये हैं ? और महादेव किस तीर्थ स्थान में गये हैं ? वे तो आन्तर साधना द्वारा ही प्रभु को प्राप्त हुये हैं । अतः हे सुजान प्राणी रूप पथिक उसी आन्तर साधन-मार्ग से प्रभु के पास चलना चाहिये ।

पंथी माहीं पंथ सो, बाट बटाऊ माँहिं ।
जन रज्जब मग माँहिले, विरले कोई जाँहिं ॥३०॥

वह प्रभु को प्राप्त करने का आन्तर साधन रूप मार्ग साधक रूप पथिक के भीतर ही है, अतः साधन रूप मार्ग और साधक की वृत्ति रूप पथिक दोनों शरीर के भीतर ही हैं किन्तु उस मेरुदंड होकर जाने के भीतरी मार्ग से प्रभु के पास कोई विरले साधक ही जाते हैं ।

रज्जब वेद बतावे बाहिली[1], सिद्ध शरीरों माँहिं ।
द्वै विधि सेवा एक की, यूं दासौं बणती नाँहिं ॥३१॥

वेद त्रिगुणात्मिका बाहरी[1] भक्ति बताता है और सिद्ध संत शरीर के भीतर ही निर्गुण भक्ति करना बताते हैं, इस प्रकार एक ही प्रभु की द्विविध भक्ति का विधान होने से दोनों प्रकार की भक्ति एक साथ भक्तों से नहीं हो सकती, अतः बहिर्मुखी बाहरी सगुण भक्ति करते हैं और अन्तर्मुखी संत आन्तर निर्गुण भक्ति करते हैं ।

रज्जब साधू सेव शरीर में, संसारी बारैं[1] ।
अंतर वसुधा व्योम सम, यहु भेद विचारैं ।।३२।।

संत शरीर के भीतर ही निर्गुण भक्ति करते हैं और सांसारिक प्राणी बाहर[1] गुणात्मिका भक्ति करते हैं, इन दोनों भक्तियों में पृथ्वी आकाश के समान भेद है, अर्थात् पृथ्वी साकार है, सगुण भक्ति भी साकार की ही होती है और आकाश निराकार है, निर्गुण भक्ति भी निराकार की हो होती है, विचार से यह भेद इनमें सिद्ध होता है ।

ज्यों शिश्न स्वाद नाके[1] नव[2] हु, त्यों सर्व स्वाद नभ थान ।
रज्जब रस विष कोश घर, समझो संत सुजान ।।३३।।

जैसे शिश्न इन्द्रिय के सुख के नौ[2] मार्ग[1] हैं अर्थात् शिश्न के सुख से अन्य नौ इन्द्रियों को भी सुख होता है वा अन्य नौ इन्द्रियों का सुख शिश्न से ही प्राप्त हो जाता है, सब इन्द्रियों के सुख में वही मुख्य है, वैसे ही सहस्रार चक्र रूप आकाश स्थान में सभी सुख मिल जाते हैं, किन्तु हे सुजान साधक संतो ! यह भी साथ ही समझ लो कि–सहस्रार का सुख आनन्द-रूप अमृत का कोश है, अमर करता है और शिश्न का सुख विष का घर होने से मारक है ।

रज्जब मन पवन शशि सूर सम, आतम बसहि अकाश ।
तन तोयं प्रतिविम्ब परि, बीच नहीं अभ्यास ।।३४।।

मन चन्द्र के समान है, प्राण वायु सूर्य के समान है, आत्मा आकाश के समान है, जल में चन्द्र, सूर्य और आकाश का प्रतिविम्ब पड़ता है, तब चन्द्र-सूर्य का प्रतिविम्ब तो हिलता दिखता है किन्तु आकाश के प्रतिविम्ब में चन्द्र-सूर्य के प्रतिविम्ब के समान हिलने का अभ्यास कहाँ है ? वैसे ही मन और प्राणों में तो विकार है किन्तु आत्मा निर्विकार है ।

साधू खग[1] मग[2] शून्य[3] में, दौरे दिशि गोपाल ।
जन रज्जब देखे जगत, चले कौन यहु चाल ।।३५।।

पक्षी[1] का मार्ग[2] आकाश[3] में होता है, उसे सभी देखते हैं किन्तु पक्षी के समान आकाश में कौन चलता है ? वैसे ही संत का मार्ग नाभिस्थ आकाश[3] में है, वह वहाँ से मेरुदंड होकर सहस्रार में स्थित भगवान् की ओर दौड़ लगाता है, जगत के प्राणी उसकी साधनजन्य योग्यता को देखते भी हैं, किन्तु उसके समान आंतर साधन रूप चाल से कौन चलता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मध्य मार्ग निजस्थान निर्णय का अंग ५७ समाप्तः ।।सा. १८६६।।

अथ आत्म निर्णय का अंग ५८

इस अंग में आत्म निर्णय विषयक विचार कर रहे हैं ।

रूई तार तत्त्व पंच है, विगत[1] विनौला प्रान ।
जन रज्जब यहु जुगल यूं, अंकुर आतम सान ॥१॥

रूई के पाँच तारों के समान पंच तत्त्व तथा स्थूल शरीर है, विनौला के समान प्राण अर्थात् सूक्ष्म शरीर है, ये दोनों तो इस प्रकार ज्ञात[1] हैं और विनौला में अंकुर मिला हुआ रहता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में आत्मा मिला हुआ रहता है ।

पंच पचीसों सुई जड़, चेतन चुम्बक प्रान ।
जन रज्जब जानी जुगति, समझै संत सुजान ॥२॥

पंच तत्त्व और उनकी पच्चीस प्रकृति जड़ सुई के समान हैं, चेतन आत्मा चुम्बक पत्थर के समान है, जैसे चुम्बक की समीपता से जड़ सुई नृत्य करती है, वैसे ही चेतन आत्मा की सत्ता से पंच तत्त्व तथा पच्चीस प्रकृति कार्य करने में समर्थ होती हैं, यह युक्ति हमने संतों से जानी है, इसको ज्ञानी संत ही समझते हैं ।

बिभौ[1] वारि[2] वह्नी[3] सहित, वायु व्योम[4] जड़ अंग[5] ।
जन रज्जब जाणी जुदा, आतम अकल सुरंग[6] ॥३॥

पृथ्वी[1], जल[2], अग्नि[3], वायु, आकाश[4], इनका स्वरूप[5] जड़ है, इनसे भिन्न ही कला-विभाग से रहित आत्मा के स्वरूप की शोभा[6] हमने जानी है ।

जैसे आभै[1] अंभ[2] है, अक्षर शब्द समान ।
तैसे रज्जब शोध[3] तैं, लहिये पिंड हि प्रान ॥४॥

जैसे बादलों[1] में जल[2] है तथा शब्दों में अक्षर हैं, वैसे ही विचार[3] से शरीर में आत्मा ज्ञात होता है ।

आतम परखी अकलि[1] मध्य, पंच पचीस हु जान ।
ब्रह्म विचार न माव[2] ही, वेत्ता[3] वेद बखान ॥५॥

बुद्धि[1] में पंच तत्त्व तथा पच्चीस प्रकृतियों को जड़ जानकर आत्मा की चेतन रूप से पहचान रूप परीक्षा की है किन्तु विचार द्वारा परीक्षा करने पर ब्रह्म तो पंच तत्त्व तथा पच्चीस प्रकृतियों में नहीं समाता[2], वह तो पंच तत्त्वों से बाहर भी है, ऐसा ही वेद तथा ज्ञानी[3] जन कथन करते हैं ।

अवनि अशन[1] आप[2] अंभ[3] चाहै, तेज[4] हि तेज अहार ।
वायु हि वायु गगन हित[5] गगर्नाहि, आतम अकल अधार ।।६।।

निर्वाण स्थिति दिखा रहे हैं—मुक्ति के समय शरीर के पृथ्वी के भाग का भोजन[1] पृथ्वी कर जाती है, जल[2] के भाग को जल[3] चाहता है, अग्नि[4] के भाग का आहार अग्नि कर जाता है, वायु का भाग वायु ग्रहण करता है और आकाश के भाग को ग्रहण करने के लिये[5] आकाश तैयार रहता है, आत्मा कला विभाग रहित अपने आधार ब्रह्म में लय हो जाता है । इस प्रकार अपने २ कारण में सब कार्यों का मिल जाना ही जीवात्मा की मुक्ति है ।

तत्त्व तत्त्व मिल जीवहि, तत्त्व तत्त्व बिन नाश ।
रज्जब आतम राम यूं, योग वियोग विमाश[1] ।।७।।

शरीर के व्यष्टि तत्त्व समष्टि तत्त्वों में मिलकर ही जीवित रहते हैं, समष्टि तत्त्वों में न मिलने से व्यष्टि तत्त्व नष्ट हो सकते हैं, विचार-विमर्श[1] करने पर इसी प्रकार आत्मा तथा राम का संयोग वियोग सिद्ध होता है अर्थात् व्यष्टि आत्म चेतन समष्टि परमात्मा चेतन का प्रतिविम्ब ही सूक्ष्म शरीर में रहता है, ब्रह्म-ज्ञान होने पर सूक्ष्म शरीर नष्ट होता है तब उक्त प्रकार व्यष्टि आत्म चेतन भी समष्टि ब्रह्म चेतन में मिल जाता है अतः आत्मा अमर है, स्थूल शरीर बारंबार नष्ट होता है और सूक्ष्म शरीर एक बार मरता है आत्मा नहीं मरता ।

रज्जब पिंड[1] पलै[2] ब्रह्माण्ड में, तत्त्वहि तत्त्व अहार ।
प्राणि पोषिये भजन ज्ञान सौं, विरला पोषणहार ।।८।।

शरीर के भीतर के पृथ्वी आदि पंच तत्त्व बाहर के पृथ्वी आदि पंच तत्त्वों से आहार लेते हैं तब ही ब्रह्माण्ड में शरीर[1] का पालन[2] होता है और जीवात्मा का पोषण भजन ज्ञानादि से होता है किन्तु जोवात्मा का पोषण करने वाला संसार में कोई विरला ही होता है ।

रज्जब रचना अगह गति[1], अद्भुत बात अगम ।
परि दीसे वर्षा बंदगी[2], इन्द्र धनुष आतम ।।९।।

सृष्टि रचना की लीला[1] मन से अगम, इन्द्रियों से अग्राह्य और अद्भुत बात है, परन्तु जैसे वर्षा ऋतु में इन्द्र धनुष दीख पड़ता है, वैसे ही भक्ति[2] करने से आत्मा का साक्षात्कार तो हो ही जाता है ।

राहु केतु रारचों[1] पर[2] हि, रवि राकेश[3] प्रकाश ।
त्यों रज्जब बिच बंदगी, आतम राम अभ्यास ।।१०।।

राहु और केतु से होने वाला ग्रहण चन्द्रमा[3] तथा सूर्य के प्रकाश से ही नेत्रों[1] को दीख पड़ता[2] है, वैसे ही भक्ति के अभ्यास से प्राप्त ज्ञान द्वारा आत्मा तथा राम के स्वरूप का भी साक्षात्कार होता है ।

मन वच कर्म रज्जब कहै, सुनहु विवेकी दास ।
शक्ति[1] सूर जब आँथवे[2], तब आतम उडग[3] प्रकाश ॥११॥

हे विवेकीदास तुम सुनो ! हम मन वचन और कर्म से यथार्थ ही कहते हैं, जब सूर्य छिपता[2] है तब ही तारे[3] का प्रकाश होता है, वैसे ही जब माया[1] की भक्ति नहीं होती है तब ही हृदय में आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है ।

पिंड न पृथ्वी पेखिये, प्रभू प्रभाकर[1] अंग ।
रज्जब उभय अभ्यास हीं, आतम अंभ[2] सु संग ॥१२॥

शरीर में प्रभु का अंग आत्मा और पृथ्वी में सूर्य[1] का अंग जल नहीं दीखता किन्तु दोनों के देखने का अभ्यास करते हैं वे पास ही अपने अन्तःकरण में देख लेते हैं अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार का अभ्यास करते हैं वे शरीर में आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं और जल देखने का अभ्यास करते हैं वे पृथ्वी में जल[2] देख लेते हैं, सूंघे लोग पृथ्वी में जल बताते ही हैं यह प्रसिद्ध है ।

छः दर्शन मत छिद्र हैं. माया मंदिर माँहि ।
तहां सूक्ष्म गुण कण दर्शहि, नहीं तो दीसे नाँहि ॥१३॥

घर की जाली से घर में आने वाले सूर्य प्रकाश में जैसे अणुरूप सूक्ष्म कण दीखते हैं, यदि जाली से प्रकाश न आवे तो नहीं दीखते, वैसे ही माया रूप घर में ६ दर्शनों (नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष । वा पूर्वमीमांसा, योग वैशेषिक, न्याय, सांख्य, वेदांत) के मत ही छिद्र हैं, उनसे ही माया-घर में विवेकादि सूक्ष्म गुण दिखाई देते हैं, उक्त ६ दर्शन न हों तो माया में सूक्ष्मगुण नहीं दीखते ।

हरि[5] मारग मन में अलह[1], ज्यों निशि धनु[2] हरि[3] आकाश ।
यहु दर्शे साधू शब्द, वह दामिनी[4] प्रकाश ॥१४॥

रात्रि को इन्द्र[3] धनुष[2] आकाश में नहीं दीखता, वैसे ही अज्ञान युक्त मन में परमात्मा[5] को प्राप्त करने का मार्ग नहीं मिलता[1], किन्तु बिजली[4] के प्रकाश से इन्द्र धनुष दीख जाता है और संतों के शब्द विचारने से ब्रह्म प्राप्ति का ज्ञान मार्ग दीख जाता है ।

आदित्य[1] अग्नि आरसी[2] लहिये, सुधा सु चन्द्र चकोर ।
यूं अलख लखावे आप सौं, रज्जब लीन हु ओर ॥१५॥

सूर्य[1] की अग्नि को आतिशी शीशा[2] ग्रहण करता है, चन्द्रामृत को चकोर ग्रहण करता है, आतिशी शीशा और चकोर के समान उन प्रभु की ओर प्रीति पूर्वक उनके स्वरूप में वृत्ति लीन होवे तो वे अलख प्रभु अपने आप ही आत्मस्वरूप से अपना दर्शन करा देते हैं।

सिकलीगर अरु हंस साध कन[1], देख्या ब्यौर[2] न बंग[3]।
सार[4] सुनीर[5] शरीर मध्य, काढै सूक्ष्म अङ्ग[6] ॥१६॥

सिकलीगर, हंस और संत इनका विवरण[2] देखा है, इनके पास[1] दोष[3] नहीं रहता, ये सूक्ष्म दोषरूप लक्षणों[6] को भी निकाल देते हैं, सिकलीगर लोह[4] के शस्त्रों की धार का दोष निकाल देता है, हंस जल[5] से दूध को निकाल लेता है और संत शरीर से कामादि दोष निकाल देते हैं।

जर्रे[1] जीव जुदे रहैं, शून्य[2] सु सांई माँहि।
सविता[3] सद्गुरु सौं द्रशै[4], लिपै छिपै सो नाँहि ॥१७॥

आकाश[2] में अणु[1] अलग २ रहते हैं, वैसे ही प्रभु से जीव अलग २ रहते हैं, अणुओं के अलग २ रहने का ज्ञान घर में जाली से सूर्य[3] का प्रकाश आने से होता है, उस प्रकाश में वे अलग २ दिखाई[4] देते हैं, उन अणुओं से आकाश लिपायमान नहीं होता और न छिपता ही है, वैसे ही सद्गुरु द्वारा जीवों के अलग २ रहने का ज्ञान होता है, जीवों से ब्रह्म न तो लिपायमान होता और न छिपता ही है।

पंच तत्त्व के पंच रंग, प्राण[1] रूप कछु और।
रज्जब कहसी[2] एक को, जा का पहुच्या त्यौर[3] ॥१८॥

पंच तत्त्वों के पंच रंग हैं, आत्मा[1] का स्वरूप इन रंगों से कुछ और ही है, उसको तो जिसकी ज्ञान-दृष्टि[3] आत्मा के स्वरूप तक पहुंची है, वह कोई विरला संत ही कहेगा[2]।

श्याम गगन वायू[1] हरी, तेज[2] रक्त सो अंग।
जल उज्वल[3] पृथ्वी जरद[4], आतम और हि रंग ॥१९॥

आकाश का काला, वायु[1] का हरा, अग्नि[2] का लाल-सा, जल का श्वेत[3], पृथ्वी का पीला[4] और आत्मा का इन सबसे अन्य ही रंग है।

रज्जब आतम राम का, वर्णत बने न रंग।
वे अविनाशी और गति[1], कहिये सो सब भंग ॥२०॥

आत्मा तथा राम के रंग का वर्णन करना नहीं बनता, वे तो दोनों ही अविनाशी हैं और जिनके रंग[1] कहे जाते हैं वे सब नष्ट होने वाले हैं।

पंच तत्त्व आकार है, परम तत्त्व निराकार ।
रज्जब ऊभा उभय बिच, आतमा ओंकार ।।२१।।

पंच तत्त्व तो साकार हैं और परम तत्त्व ब्रह्म निराकार है, आत्मा ओंकार के समान साकार निराकार दोनों के बीच में स्थित है अर्थात् ओंकार साकार भी नहीं है और ध्वनि रूप होने से आकार के समान इन्द्रिय का विषय भी है, वैसे ही आत्मा साकार न होकर भी शरीर के संबन्ध से साकार-निराकार के बीच अनुभव में आता है ।

आतमा ओंकार में, सह गुण निर्गुण अंग[1] ।
रज्जब प्रकटे पिंड ह्वै, गुप्त गात सो भंग ।।२२।।

आत्मा और ओंकार में सगुणता तथा निर्गुणता दोनों के ही लक्षण[1] मिलते हैं, ओंकार ध्वनि से तो सगुण प्रतीत होता है और मौन में निर्गुण, वैसे ही आत्मा शरीर में प्रकट होने पर तो सगुण ज्ञात होता है और शरीर के नष्ट होने पर वह सगुणता गुप्त हो जाती है ।

काया केलि[1] मति[2] जुगति मिल, निराकार आकार ।
आतम ऐन[3] कपूर गति, ता में फेर[4] न सार ।।२३।।

केले[1] में तथा काली मिर्च आदि डाल कर डब्बी में रखना रूप युक्ति से निराकार कपूर भी साकार बना रहता है, अन्यथा वह उड़कर निराकार ही हो जाता है, वैसे ही स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर रूप बुद्धि[2] से मिलकर आत्मा साकार-सा भासता है और इनके न होने से तो आत्मा पूर्ण[3] रूप से निराकार ही है, यह बात सार रूप है इसमें परिवर्तन[4] का अवकाश नहीं है ।

अक्षर आभै[1] चढि रमैं[2], आतम अंभ[3] अकाश ।
और इकंग[4] आकार[5] में, गम्य न गगन निवास ।।२४।।

बादल[1] में स्थित होकर जल[3] आकाश में जा के घूमता[2] है, वैसे ही अक्षर समूह शब्द में स्थित होकर जीवात्मा की वृत्ति ब्रह्म में जाकर ब्रह्माकार रहती है, अन्यथा एकाकी[4] जल का निवास आकाश में नहीं होता और आत्मा का भी अकारादि[5] अक्षरों के बिना ब्रह्म गम्य नहीं होता ।

गोली गोलै तीर के, बल लागै कहिं ठांउ ।
तैसे रज्जब प्राण पिंड संग, हरि हिकमत बलि जांउ ।।२५।।

गोली, गोला और तीर की चोट उनके बल से किस स्थान पर लगती है ? उनका बन्दूक, तोप और धनुष से संयोग होता है तभी लक्ष्य पर जाके आघात करते हैं, वैसे ही अकेले शरीर से वा जीवात्मा से कुछ नहीं होता दोनों का संयोग होता है तभी सब कार्य होते हैं, भगवान् की इस संयोग कला पर हम बलिहारी जाते हैं ।

प्राणहिं पवन[1] मीन को पाणी, रज्जब जीवन बहिज[2] पिछाणी ।
समझ्या समझे सुलझी बात, जड़ जीव कन[3] जाणी न जात ।।२६।।

जैसे मच्छी का जीवन जल है, वैसे ही अन्य प्राणियों का जीवन वायु[1] है, यही बाह्य[2] जीवन की पहचान है, समझा हुआ व्यक्ति इस बात को समझ लेता है तब इसमें कोई उलझन नहीं रहती किन्तु जड़ जीव से[3] यह भी नहीं जानी जाती ।

काया कपूर रु इन्द्री आभे[1], प्राणी[3] पवन निर्गुण गुण लाभे[2] ।
रज्जब रचना अगह अपार, विरला बूझे बूझणहार ।।२७।।

कपूर में गंध-गुण वायु द्वारा ही ज्ञात होता है, वायु बिना गंध नासिका तक नहीं आती, बादल[1] में गमन करना आदि गुण भी वायु द्वारा ही मिलते[2] हैं, वायु बिना कपूर तथा बादल के गुणों का लाभ नहीं होता गुण रहित ही भासते हैं, वैसे ही शरीर में सुन्दरता रूप गुण और इन्द्रियों में विषय ग्रहण करना रूप गुण जीवात्मा[3] द्वारा ही मिलते हैं, बिना जीवात्मा काया तथा इन्द्रिय उक्त गुणों से रहित ही रहती हैं, अपार परमात्मा की यह सृष्टि रचना इन्द्रियों से अग्राह्य और अपार है, समझने की शक्ति रखने वाला कोई विरला संत ही इसे समझता है ।

निर्गुण सगुण होत हैं, पंच तत्त्व अरु प्राण[1] ।
जन रज्जब इस पेच[2] को, समझै साधु सुजान ।।२८।।

पंच तत्त्व और जीवात्मा[1] निर्गुण तथा सगुण होते रहते हैं, इस रहस्य[2] को सुजान संत ही समझते हैं । जैसे वैद्य के बिना बूटी गुण रहित-सी ही है, वैद्य के द्वारा वही बहु गुणवती भासती है, वैसे ही गुणों के ज्ञाता बिना पंच तत्त्व गुण रहित-से ही हैं, ज्ञाता होने से सगुण हैं । जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप तो निर्गुण ही है, शरीर तथा इन्द्रियों से युक्त होने पर सगुण-सा भासता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आत्म निर्णय का अंग ५८ समाप्तः ।सा. १८९७।।

अथ ज्ञान परिचय का अङ्ग ५९

इस अंग में ज्ञान द्वारा प्रभु से परिचय होने का विचार कर रहे हैं—

नैनों अंजन ज्ञान निज[1], सब भाग संधि[2] साल[3] ।
ज्यों रज्जब शिर लाल धरि, सब दिशि देखे लाल ।।१।।

शिर पर लाल रखने से सब ओर लाली दीखती है, वैसे ही बुद्धि नेत्रों में आत्म[1]-ज्ञान रूप अंजन डालने से चिज्जड आदि सभी ग्रंथियाँ[2] तथा संशय-जन्य सभी दुःख[3] नष्ट होकर सब ओर ब्रह्म ही भासने लगता है।

पीत-वायु जब दृष्टि ह्वै, तब पीला संसार।
त्यों रज्जब राम हिं मिल्यों, सब दिशि सिरजनहार ॥२॥

दृष्टि में पीत-वायु रोग हो जाता है तब संसार की सभी वस्तुयें पीली दीखने लगती हैं, वैसे जब राम का साक्षात्कार हो जाता है तब सब ओर राम ही दीखता है।

जे पाइन[1] पैंजार[2] ह्वै, तो वसुधा[3] भरि चाम[4]।
त्यों रज्जब रामहिं मिल्यों, बाहर भीतर राम ॥३॥

यदि पैरों[1] में चर्म का जूता[2] है तो पृथ्वी[3] भर में चर्म[4] ही बिछा हैं, वैसे ही राम का साक्षात्कार होने पर बाहर भीतर राम ही ज्ञात होता है।

ज्यों शैल[1] सुदामा[2] गत[3] भये, द्वै दामिनि[4] के माँहि।
त्यों रज्जब रामहिं मिल्यों, देही दीसे नाँहि ॥४॥

पर्वत[1] के एक पत्थर[2] पर दोनों ओर से दो बिजली[4] पड़ने पर वह पत्थर नष्ट[3] हो जाता है, वैसे ही राम का साक्षात्कार होने से सब ओर राम ही दिखता है देह दृष्टि नहीं रहने से देह नहीं दीखता।

नाम निहंग[1] चढै नहिं दीसै, प्राण सु पंखी जोय[2]।
रज्जब सांई सूर समाई, काया छाया दोय ॥५॥

पक्षी जब बहुत ऊंचा आकाश[1] में चढ़ जाता है तब देखने[2] से भी नहीं दीखता, उसका शरीर तथा शरीर की छाया दोनों सूर्य में समा जाते हैं अर्थात् पृथ्वी पर नहीं दीखते, वैसे ही नाम चिन्तन द्वारा प्राणी ब्रह्म[1] को प्राप्त कर लेता है तब वह ब्रह्म में ही समा जाता है, फिर उसका जन्म नहीं होने से काया और उसकी छाया दीखने का प्रसंग ही कहां रह जाता है?

अरिल—ज्यों लोहा ह्वै लाल सु पावक परशतैं[1]।
त्यों रज्जब मिल राम सु साँचे[2] दरशतैं॥
उभय[3] एक उनहार[4] नहीं कछु भेद रे।
परि हाँ मिलै वस्तु बल होय सु किया न खेदरे ॥६॥

अग्नि स्पर्श[1] से अर्थात् अग्नि में रहने से लोहा काला होने पर भी बिना क्लेश उठाये ही लाल हो जाता है, अग्नि और लोहा दोनों[3] एक समान[4] हो जाते हैं उनमें कुछ भी भेद नहीं दीखता, वैसे ही राम का वास्तविक[2] दर्शन होने से बिना क्लेश उठाये ही आत्मा और राम एक समान हो जाते हैं, उनमें कुछ भी भेद नहीं रहता, परन्तु राम मिलते हैं तभी जब साधन रूप वस्तु बल होता है ।

परिचय दीपक राग बसि[1], तिमिर हंत[2] जीव ज्योति ।
रज्जब प्रकटे वस्तु बल, सेवक स्वामी योति[3] ॥७॥

दीपक राग में अंधेरे को नाश[2] करने वाली ज्योति रहती[1] है किन्तु दीपक राग के यथार्थ गायन रूप वस्तु बल से ही वह प्रकट होती है, वैसे ही प्रभु-परिचय में अज्ञान को नष्ट करने वाली ज्ञान ज्योति रहती है किन्तु वह केवल बातों से नहीं परिचय का साधन रूप वस्तु बल होने से ही प्रकट होकर सेवक-स्वामी का मिलन[3] कराती है ।

परिचय आतम राग गति[1], मिलै वस्तु बल होय ।
रज्जब पाई[2] पारिखा[3], फेर सार नहिं कोय ॥८॥

परिचय का साधन रूप वस्तु बल होने से आत्मा को राम का स्वरूप[1] प्राप्त होता है, यह सार बात है, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, इसकी हमने परीक्षा[3] करली[2] है ।

ब्रह्म मिल्या तब जानिये, जब तन मन लक्षण नाँहि ।
रज्जब आतम राम बिच, और न भासे माँहि ॥९॥

जब शरीर के पर-पीड़नादि दोष रूप लक्षण और मन के क्रोधादि दोष रूप लक्षण नहीं रहैं तथा आत्मा और राम के बीच अन्य कुछ भी न भासे सब ब्रह्म रूप ही भासे तब समझना चाहिये कि इसे ब्रह्म प्राप्त हो गया है ।

मनसा वाचा कर्मना, जे जीव पीव[1] सौं होय ।
रज्जब आतम राम गति[2], दृष्टि न दीसे कोय ॥१०॥

यदि जीव मन, वचन, कर्म से प्रभु[1] में ही लीन रहे तो आत्म स्वरूप[2] राम के बिना उसकी दृष्टि से अन्य कोई भी नहीं दीखता, सब रामस्वरूप ही दीखने लगते हैं ।

लोभ मोह त्यागे नहीं, क्रोध न जागै काम ।
रज्जब नहीं सु जीव गति, प्राणी प्रत्यक्ष राम ॥११॥

जिसके अन्तःकरण में लोभ-मोह नहीं चिपकते और काम-क्रोध नहीं जागते तथा अन्य भी जीव की लीलायें नहीं रहें तब वह प्राणी प्रत्यक्ष में राम ही है ।

पारिख[1] पूरी ऊतरै, सो परिचय सु प्रमाण ।
गुण गति[2] गात न पाइये, बादि बक्या सो जाण ॥१२॥

जो परीक्षा[1] में पूरा उतरे वही परिचय श्रेष्ठ तथा प्रमाण रूप माना जाता है, जब ज्ञानी के लक्षण रूप[2] गुण अन्तःकरण में मिलता ही नहीं तब समझना चाहिये वह व्यर्थ ही बकता है ।

पंच पचीस न त्रिगुण मन, लच्छी[1] गुण गत दोय[2] ।
सो रज्जब माया मुकत, ब्रह्म समाना सोय ॥१३॥

पंच ज्ञानेन्द्रियों की चपलता, पच्चीस प्रकृतियों का प्रभाव, तीनों गुण, मन की विषयासक्ति, माया[1] का राग, क्रोधादि अन्तःकरण के गुण और द्वैत[2] भाव ये सब जिसमें नहीं हैं, वह माया से मुक्त होकर ब्रह्म के समान ही है अर्थात् ब्रह्म रूप ही है ।

कलि कुटुम्ब काया महैं[1], मुर[2] माया अस्थान ।
त्रिगुण तजै तत्त्वै रहै, यहु परिचय सु प्रमान ॥१४॥

कलियुगी भावना, कुटुम्ब की आसक्ति और माया का राग, इन तीनों[2] का स्थान काया में[1] अन्तःकरण ही है, कलियुगी भावना रूप तमोगुण कुटुम्ब की आसक्ति रूप रजोगुण, माया का राग रूप सतोगुण, इन तीनों गुणों को त्याग कर निर्गुण ब्रह्म तत्त्व के विचार में ही रहे यही परिचय होने का सुन्दर प्रमाण है ।

हंस[2] लोह पारस प्रभू, मिलत महात्म्य जोय[1] ।
रज्जब पलटैं परसतैं, सौंघा महँगा होय ॥१५॥

लोहा के पारस से मिलन का जो[1] महात्म्य है सो देखो, स्पर्श होते ही बदल कर सुवर्ण हो जाता है तथा सौंघे से महँगा होकर बिकता है, वैसे ही जीव[2] प्रभु से मिलता है तब बदल कर जीव से ब्रह्म बन जाता है ।

प्राणि प्रीति जाग्या रहै, हरि हित हिरदै माँहि ।
कलित[1] अंध कंतहि मिली, यद्यपि देख्या नाँहि ॥१६॥

अंधी नारी[1] ने यद्यपि पति को देखा तो नहीं किन्तु उससे मिल तो गई, वैसे ही यद्यपि प्राणी प्रीति द्वारा हरि के लिये हृदय में जगा रहे तो बिना देखे भी हरि से मिला हुआ है ।

विद्या विविध विदेश बहु, वचन न ब्यौरा[1] लेश ।
रज्जब पावे प्राणि तब, जब ही करे प्रवेश ॥१७॥

नाना प्रकार की विद्या हैं और नाना देश हैं, जिनका वचन से भी लेश मात्र भी पता[1] नहीं है, उनमें से जिस विद्या का अध्ययन करता है उसको प्राप्त करता है और जिस देश में जाता है उसको देखता है, वैसे ही प्रभु प्राप्ति के साधन करके प्रभु का परिचय प्राप्त करता है तथा साक्षात्कार करता है ।

श्रवण सुखी साँचे शबद, रारि[1] रूप सत जोय ।
रज्जब परिचय प्राणपति, मिलत वस्तु बल होय ॥१८॥

यदि साधन रूप वस्तु बल होता है तो प्राणपति प्रभु से परिचय होता है फिर उस सत्य प्रभु के सत्य शब्द सुनकर श्रवण तथा सत्य स्वरूप का रूप देखकर नेत्र[1] प्रसन्न होते हैं ।

कीट भृंग भृंगी परसि, दीये दीया जोय ।
तो रज्जब रामहिं मिलत, क्यों न वस्तु बल होय ॥१९॥

कीट भृंगी के स्पर्श तथा शब्द सुनने से भृंग बन जाता है, दीपक से दीपक जल जाता है, तब साधन रूप वस्तु बल हो तो राम के मिलने से राम क्यों न होगा ?

प्रथम हि पवन प्रकाश ही, दूजे देखै बैन ।
तीजे मन मनसा द्रसै, चौथे आतम ऐन ॥
ठौर पांचमी प्राणपति, विरला देखै नैन ॥२०॥

ब्रह्म साक्षात्कार की पद्धति बता रहे हैं—शिष्य जब गुरु से ब्रह्म साक्षात्कार संबन्धी प्रश्न करता है तब गुरु की नाभि से प्रथम प्राण वायु का उत्थान-रूप प्रकाश होता है । फिर दूसरे गुरु की विचारधारा को शिष्य गुरु के वचनों द्वारा श्रवण इन्द्रिय से देखता है अर्थात् सुनता है । तीसरे वह विचारधारा शिष्य के मन में पहुंचती है तब उसे बुद्धि द्वारा विचार से देखता है । चतुर्थ दशा में निदिध्यासन द्वारा देहादि से भिन्न आत्मा के वास्तविक स्वरूप को यथार्थ रूप से पहचानता है और निदिध्यासन की परिपाकावस्था पंचम दशा में जाकर ब्रह्मात्मा के अभेद ज्ञान रूप नेत्रों से कोई बिरला साधक ही परब्रह्म को देखता है ।

बिन परिचय सब वार हैं, परिचय[1] प्राणी पार ।
जन रज्जब साँची कही, ता में फेर न सार ॥२१॥

उक्त २० की साखी के अनुसार ब्रह्म का परिचय नहीं होने से सब संसार-सागर के इस ओर ही हैं और जिनने उक्त प्रकार ब्रह्म को पहचान[1] लिया है, वे संसार-सागर से पार जाकर तथा ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्मस्वरूप ही हो गये हैं. यह बात हमने यथार्थ ही कही है, साररूप होने से इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है ।

लोह काट काष्ठ को घुण हु, आरोगे[1] बिच आग ।

त्यों रज्जब ग्रास्या गुण हु, ज्वाला ज्योति न जाग ॥२२॥

प्रज्वलित अग्नि ज्वाला में न पड़े तब तक ही लोह को काट और काष्ठ को घुण खाते हैं, अग्नि में पड़ने पर तो काट और घुणों को अग्नि खा जाता[1] है, वैसे ही जब तक ब्रह्मज्ञान रूप ज्योति नहीं जगती तब तक ही जीव को कामादि गुण व्यथित करते हैं, ज्ञान होने पर तो गुण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् व्यथित नहीं कर पाते ।

रज्जब रहै न शून्य[1] थल, चेतन चेतन जाय ।

शब्द शोर[2] ज्यों श्रवण लग, अर्थ विचार समाय ॥२३॥

आकाश[1] घट-मठादि स्थल में बद्ध नहीं रहता वह तो घट-मठादि की दृष्टि से बद्ध-सा भासता है । घट-मठादि के नष्ट होते ही महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही चेतन आत्मा गुणों में बद्ध नहीं रहता वह तो देह द्वय के अभाव में ब्रह्म चेतन में ही जा मिलता है, जैसे शब्द रूप गुण का कोलाहल[2] श्रवण इन्द्रिय तक ही रहता है, आगे तो अर्थ विचार कर वृत्ति उसके लक्ष्यार्थ ब्रह्म में ही लय होती है, वैसे ही ब्रह्म-ज्ञान होने पर आत्मा ब्रह्म में ही मिल जाता है ।

सौदा[1] करणा शून्य में, तहँ कछु सूझे नाँहि ।

रज्जब वित[2] बिन जैत[3] हो, बड व्यौपारचों[4] माँहि ॥२४॥

जिस विकार शून्य ब्रह्म में अन्य कुछ भी नहीं दीखता उस अद्वैत स्थिति के लिये ही हमें अपने को समर्पण करके ब्रह्म साक्षात्कार करना रूप व्यापार[1] करना है, इस व्यापार में सुवर्णादि धन[2] के बिना जय[3] होती है और जीतने वाला ज्ञानी व्यापारियों[4] में महान् माना जाता है ।

रज्जब निकसे मात मही[1], सुत कीड़ी कण काज ।

सो पाये[2] पैठे पुहमि[3], सफल भये सब साज[4] ॥२५॥

पृथ्वी[1] से चींटी अन्न के दाने के लिये निकलती है और उसके मिलने[2] पर पुनः पृथ्वी[3] में प्रवेश कर जाती है, वैसे ही पुत्र माता द्वारा ब्रह्म प्राप्ति रूप कार्य के लिये जन्मता है, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तो उसके साधन[4] सफल हो जाते हैं, और वह पुनः ब्रह्म में ही मिल जाता है ।

रज्जब बूंद समुद्र की, कित[1] सरकै कहँ जाय।
साझा सकल समुद्र सौं, त्यों आतम राम समाय ॥२६॥

समुद्र से उछल कर जल विन्दु किधर[1] सरकेगी ? और कहां जायगी ? उसका तो सब प्रकार से समुद्र में ही साझा है, वैसे ही जीवात्मा राम से किधर सरकेगा और कहां जायगा ? वह तो परिचय होने पर राम में ही समायेगा।

रज्जब रैनि अचेत[1] में, दीपक ज्ञान प्रकाश।
पै आदित्य अविगत[2] उदय, इनका कहा उजास[3] ॥२७॥

रात्रि में दीपक का प्रकाश रहता है किन्तु सूर्य उदय होने पर दीपक के प्रकाश[3] का क्या महत्त्व रह जाता है ? वह तो सूर्य प्रकाश में ही विलीन हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी[1] के हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है किन्तु ब्रह्म[2] साक्षात्कार होने पर ज्ञान का क्या महत्त्व रह जाता है ? वह तो ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, अद्वैत स्थिति में वृत्ति का अभाव होने से वृत्ति ज्ञान भी नहीं रहता।

उर[1] आँगण अच्छा किया, ज्ञान बुहारी फेर।
रज्जब प्रभु आँवन समय, यहो[2] इकंति अयेर[3] ॥२८॥

बुहारी लगा कर घर का आँगण साफ किया जाता है किन्तु स्वामी के आने के समय उसे[2] उठा[3] कर एकान्त स्थान में रख दिया जाता है, वैसे ही ज्ञान के द्वारा अन्तःकरण[1] श्रेष्ठ बनाया जाता है अर्थात् संशय-विपर्य्यय हटाये जाते हैं किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार के समय वह वहां नहीं रहता, कारण—ब्रह्म किसी ज्ञाता का ज्ञेय नहीं होता, तब ज्ञान उस समय कैसे रहेगा ? ब्रह्म तो आत्मस्वरूप होकर प्राप्त होता है।

बुद्धि विचार की चालनी, त्रिगुण सर्व तुस छाने।
आटा अन्तःकरण भया शुचि, करी चालनी काने[1] ॥२९॥

चालनी से तुष छानने पर आटा शुद्ध हो जाता है तब चालनी अलग[1] रख देते हैं, वैसे ही बुद्धि द्वारा विचार करके अन्तःकरण से तीनों गुण निकाल देते हैं, तब अन्तःकरण शुद्ध, स्थिर और भेद ज्ञान से रहित होने पर विचार को एक ओर रख कर ज्ञानी अद्वैत-निष्ठ ही रहते हैं।

अविगत[1] अंब[2] आतम फल लागै, नीच ऊंच अंतर[3] भ्रम भागै।
मुख भुज पेट पाँइ[4] गति[5] एकै, पारस पिंड न भिन्न विवेकै ॥३०॥

आम्र[2] वृक्ष के फल लगते हैं, वे छोटे-बड़े सभी आम कहलाते हैं, वैसे ही परमात्मा[1] से आत्मा होते हैं उनमें नीच-ऊंच भेद[3] का भ्रम विचार

द्वारा भाग जाता है, पारस से स्पर्श होने पर लोह के छोटे-बड़े सभी खंड सुवर्ण बन जाते हैं, वैसे ही मुख से ब्राह्मण, भुज से क्षत्रिय, पेट से वैश्य और पैरों[४] से शूद्र उत्पन्न होते हैं, उन सबके शरीरों की भिन्नता का विवेक परमात्मा के यहां नहीं रहता उनकी प्राप्ति का साधन करने पर उनसे परिचय होते ही सबको एक ही स्वरूप[५] की प्राप्ति होती है ।

सब ठाहर समसर[१] प्रभु, ज्यों मिश्री का गात ।
ता माँहीं दुविधा कहै, सो सब झूठी बात ।।३१।।

मिश्री के बने हुये शरीर में सर्वत्र मिठास समान[१] होता है, वैसे ही विश्व के सब शरीर रूप स्थलों में परमात्मा समान हैं, उनके स्वरूप में जो किसी में अधिक, किसी में न्यून रहना रूप दुविधा का कथन करते हैं सो सब बातें मिथ्या हैं ।

स्रक[१] सुगंध शीतल सब ठाहर, विपिन[२] विभेदन काया कोय ।
तो रज्जब जो सदा एक रस, चतुर भाँति कैसे तन होय ।।३२।।

वन[२] को चंदन बनाने वाला कोई चंदन[१] होता है तब उसकी सुगंध तथा शीतलता सभी वृक्षों में समान रूप से आती है फिर जो सदा एक रस रहने वाला ब्रह्म है उससे चार प्रकार के शरीर कैसे हो सकते हैं ? उससे तो यह मानव एक प्रकार ही होता है फिर कर्मानुसार ब्राह्मणादि नाना नाम रख लिये जाते हैं फिर प्रभु से परिचय होने पर वह काल्पनिक भेद दूर होकर सभी एक ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त होते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित ज्ञान परिचय का अंग ५९
समाप्तः ।।सा० १६२६।।

अथ परिचय भोले भाव का अङ्ग ६०

इस अंग में भोले भक्तों के परिचय संबन्धी विचार कर रहे हैं—

भोले सौं भोले प्रभु, स्याणे सौं स्याणे ।
जन रज्जब साधों सिधों, इहि भांति वखाणे ।।१।।

भगवान् भोले भक्तों के साथ भोले बन जाते हैं और चतुरों के साथ चतुर बन जाते हैं, सिद्ध संतों ने इस प्रकार ही कहा है ।

स्याणों[१] हु सौं स्याणे प्रभु, भोलों सौं भोले ।
बालक बुधि[२] बिन बाल हैं, अंतर पट खोले ।।२।।

भगवान् चतुरों[1] के पास चतुर हो जाते हैं और भोलों के साथ भोले बन जाते हैं, बालक बुद्धि[2] के बिना भी वे बालक के साथ बालक बन जाते हैं और बालक भक्त के भी भीतर के अज्ञान रूप परदे को खोल देते हैं।

स्याणे[1] याणे[2] होत हैं, बाप पूत की लार।
बाणी बोलै तोतरी, उस बालक के प्यार ॥३॥

बुद्धिमान्[1] पिता भी पुत्र के साथ अनजान[2] से बन जाते हैं और उस बालक के प्रेम से उसके समान तोतली वाणी बोलते हैं, वैसे ही बाल भक्तों के लिये भगवान् भी करते हैं।

प्रचंड प्रीति बुधि बाल के, पितहिं नचावे नांच।
जन रज्जब ज्यों जीव को, खेल खिलावैं पांच ॥४॥

जैसे जीव को पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ नाँच नचाती हैं और बालक-पुत्र पिता को नाँच नचाता है, वैसे ही बाल बुद्धि भक्त प्रचंड प्रीति से परमात्मा को नाँच नचाते हैं।

देखो ध्रुव नामा प्रह्लाद, बाल समय पाई तिन दाद[1]।
भोले नाम लिया सब नाखी[2], वेद भेद[3] में नजर न राखी ॥५॥

देखो, ध्रुव, नामदेव और प्रह्लाद ने बालकपन में ही प्रसंशा[1] प्राप्त करली थी उन भोले भक्तों ने सब कुछ त्याग कर[2] नाम चिन्तन ही किया था, वेद के रहस्य[3] में अपनी रुचि नहीं रक्खी थी।

परिचय भोले भाव का, परिचय[1] करैं सहाय।
परिचय परस बिना दरस, परिचय रहै समाय ॥६॥

भोले भाव वाले भक्त का भगवान् से परिचय हो जाता है तब भगवान् प्रत्यक्ष[1] होकर उसकी सहायता करते हैं, परिचय होने पर बिना स्पर्श के ही आत्मरूप से दर्शन होते रहते हैं और परिचय होने पर भक्त प्रभु में ही समा जाता है, अलग नहीं रहता।

कौण गुणहुं सौं नाम संवारे[1], किंहि विधि भई मिठाई।
सो समझे बिन शक्ति घटी[2] कछु, जिन प्राणिहु ले खाई ॥७॥

कौन से गुणों से इस मिठाई का अमुक नाम रक्खा[1] गया है और किस रीति से यह बनाई गई है, सो सब बात समझे बिना भी जिस प्राणी ने खाई है, उसके लिये उसकी स्वादु शक्ति कुछ कम[2] हो जाती है क्या ? अर्थात् नहीं होती, वैसे ही दर्शन पद्धति से परब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करे बिना भी भजन द्वारा ज्ञान होकर ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसके आनन्द में कुछ कमी रहती है क्या ? अर्थात् नहीं रहती।

नाम भेद गुण कछू न जाणे, भोले भाव सु लीन ।
तिन सौं बावे बेर न लाई, जो माँग्या सो दीन ॥८॥

जिन भोले भक्तों ने प्रभु के नाम भेद वा गुण कुछ भी नहीं समझे केवल प्रेम से ही उसके चिन्तन में लीन रहे, उनको दर्शन देने में प्रभु ने देर नहीं लगाई और जो भी मांगा वही उन्हें दिया है, यह इतिहास पुराणों में तथा भक्तमालों में प्रसिद्ध है ।

पात्रों में पाणी जम्या, पात्रों के उनहार ।
तैसे रज्जब प्राणपति, भाव भजन वपु धार ॥९॥

जल पात्रों में शीत से जल जमता है तब पात्रों के अनुसार ही चौड़ा-लम्बा जमता है, वैसे ही प्राणपति प्रभु भोले भक्तों के भाव और भजन के अनुसार ही शरीर धारण करके उन्हें संतुष्ट करते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित परिचय भोले भाव का अंग ६०
समाप्तः ।सा० १९३८॥

अथ हैरान का अंग ६१

इस अंग में परमात्मा के स्वरूपादि संबन्धी आश्चर्यता का वर्णन कर रहे हैं—

नींव सींव[1] बिन शून्य[2] घर, शिव रु शक्ति[3] अस्थान ।
रज्जब मुकता[4] मिति[5] बिना, हेरि हुये हैरान[6] ॥१॥

ब्रह्म रूप और माया[3] रूप दोनों स्थान आकाश[2] के समान नींव और सीमा[1] से रहित हैं अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्म की लीला रूप माया अपार है । इन दोनों का अन्वेषण करते २ शास्त्र-संतादि आश्चर्य से निश्चेष्ट[6] होकर सीमा[5] न आने से अपार[4] है इतना ही कहकर मौन हो गये हैं ।

शून्य[1] स्वरूपी सांइयाँ, रज्जब आभा[2] माँहि ।
प्रकट गुप्त दह[3] दिशि फिरचा, पार सु पावै नाँहि ॥२॥

आकाश[1] में बादल[2] प्रकट वा गुप्त रूप से दशों[3] दिशाओं में ही घूमता है किन्तु आकाश का पार नहीं पाता, वैसे ही जीव प्रकट वा गुप्त रूप से ब्रह्म में ही फिरता है परन्तु ब्रह्म का पार नहीं पा सकता ।

इक सांई अरु शून्य[1] के, आदि अंत मधि नाँहि ।
खोजणहारे सब थके, जन रज्जब ता[2] माँहि ॥३॥

आकाश[1] और ब्रह्म के स्वरूप का आदि, मध्य और अंत नहीं है, उन दोनों के आदि, मध्य, अंत को खोजने वाले सभी थक गये हैं किन्तु उनका वार-पार नहीं देख सके, उनके[2] मध्य ही रहे हैं।

प्रथम शून्य को संग्रहै, को शोधै ता माँहि ।
को पावै वा वस्तु को, जो रज्जब है नाँहि ॥४॥

पहले तो आकाश को पकड़ ही कौन सकता है ? फिर उसमें खोजे भी क्या ? वैसे ही जो ब्रह्मरूप वस्तु पकड़ने योग्य है ही नहीं, उसे कौन पकड़ पावेगा, वह तो आत्मा स्वरूप से ही प्राप्त होता है।

अकल न आवै अकलि[1] में, सकल[2] न शब्द समाय ।
ज्यों रज्जब कुंभ कुम्हार के, शून्य[3] जल लिया न जाय ॥५॥

कुम्हार के घड़े में आकाश[3] का संपूर्ण जल नहीं लिया जाता, वैसे ही वर्ण रूप कलाओं से युक्त[2] शब्द में ब्रह्म नहीं समाता फिर जो ब्रह्माण्ड में और ब्रह्माण्ड के बाहिर व्यापक रूप से स्थित है वह कला विभाग से रहित ब्रह्म बुद्धि[1] में कैसे आ सकता है ?

अंत न लहै अनन्त का, आतम आवैं जाँहि ।
ज्यों रज्जब मुख मुकुर[1] में, प्राणी पावै नाँहि ॥६॥

दर्पण[1] में मुख दीखता है, दृष्टि आती जाती है फिर भी प्राणी दर्पण गत मुख को पकड़ नहीं पाता, वैसे ही आत्मा ब्रह्म में आता जाता है फिर भी उस अनन्त का अंत नहीं जान पाता।

पंच तत्त्व सौं पिंड कर, प्राण[2] बणाया माँहि ।
रज्जब रचना अगह[1] गति[3], समझे समझैं नाँहि ॥७॥

जिसने पंच तत्त्वों से शरीर बनाकर उसके भीतर प्राणी[2] की रचना की है, उसकी वह रचना रूप लीला[3] मन इन्द्रियों से अग्राह्य[1] है, समझे हुये महानुभाव भी उसको नहीं समझ पाते अन्यों की तो बात ही क्या ?

पंच तत्त्व सौं पिंडकर, माँहि समोया[1] प्रान[2] ।
रज्जब रचना राम की, सिध[3] साधक हैरान ॥८॥

पंच तत्त्वों से शरीर बनाकर उसमें प्राणी[2] को मिला[1] दिया है, इस राम के रचना चातुर्य को देखकर साधक तथा सिद्ध[3] सभी आश्चर्य चकित हैं।

रज्जब रचना राम की, रामति[1] अनन्त अपार ।
जाण अजाण जाणें नहीं, मन मति ह्वै न विचार ॥९॥

राम की सृष्टि रचना रूप लीला अपार है और उसमें भ्रमण[1] का भी अन्त नहीं आता, इस रचना को जानकर भी अजान ही रहते हैं पूर्णरूप से जान नहीं पाते. इसका मन से मनन और बुद्धि से विचार भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाता है ।

किहीं भांति यहु कछु किया, सो कोई न जाने जान[1] ।
रज्जब रहिगये देखकर, हरि हिकमत[2] हैरान[3] ॥१०॥

यह जो कुछ किया है, सो किस प्रकार किया है, यह कोई भी नहीं जानता, ऐसा ही समझो[1], सभी हरि की रचना कला[2] को देखकर आश्चर्य[3] से स्तब्ध रह गये हैं ।

अनजाने जाने कहैं, जान सु कहै अजान ।
रज्जब साधू वेद सब, हेरि हुये हैरान ॥११॥

जो अनजान हैं वे तो कहते हैं हमने जान लिया है और जिसने सम्यक् प्रकार जाना है वह कहता है नहीं जान सका तथा संत और वेद भी उसका अन्वेषण करते २ परेशान हो गये हैं किन्तु पार नहीं पाया ।

असंख्य काव्य वाणी बहुत, निगम[1] कहत मम[2] भोल[3] ।
तो रज्जब को कहेगा, ब्रह्म सरीखा बोल ॥१२॥

असंख्य काव्य, बहुत-सी वाणियाँ और वेद[1] भी नेति-नेति कह कर कहता है, ब्रह्म विषयक कथन में मेरी[2] भी भूल[3] ही सिद्ध होती है, तब ब्रह्म के समान वचन कौन कहेगा ?

ब्रह्म न मावे[1] बुद्धि में, वर्ण्या[2] बैन न जाय ।
ज्ञान गिरा गहले[3] हुये, ठग के लाडू खाय ॥१३॥

ब्रह्म बुद्धि में नहीं समाता[1], वाणी से कहा[2] नहीं जाता, ज्ञानी ब्रह्म-ज्ञान संबन्धी वाणी से नशीली वस्तु युक्त ठग के लड्डू खाये हुये व्यक्ति के समान पागल[3]-से हो जाते हैं ।

जिन-जिन जाण्या जगतपति, सो जाणर भये अजान ।
रज्जब दीप उदीप[1] क्या, जब प्रकट्या निज भान[2] ॥१४॥

जब सूर्य उदय होता है तब दीपक का प्रकाश[1] क्या सूर्य[2] प्रकाश से भिन्न रहता है ? वैसे जिन-जिन ने ज्ञान के द्वारा निज स्वरूप परब्रह्म को जाना वे जानकर अजान हो गये हैं अर्थात् ज्ञाता नहीं रहे, वह ज्ञान ब्रह्म से भिन्न नहीं रहता ।

काया उपजी कर्म कर, बुध वेद बखानें।
आत्मा की उत्पत्ति का, जीव ज्वाब[1] न जानें ॥१५॥

शरीर की उत्पत्ति कर्म से होती है, यह तो वेद तथा विद्वान् कहते हैं किन्तु आत्मा की उत्पत्ति कैसे हुई है, इसका उत्तर[1] जीव नहीं जानते।

जीव किया किस वस्तु का, सो जीव न जानें।
सब समझे समझें नहीं, करतारहि जानें ॥१६॥

जीव किस वस्तु से बना है, उसे जीव नहीं जानते, सब कुछ समझे हुये भी यह बात नहीं समझते, इसको केवल परमात्मा ही जानते हैं।

जीव जड़ भाँडा[1] भेद न जाने, काहे का कीन्हां आकार।
रज्जब अगम[2] आतम हु आगे, यहु जाने करतार कुम्हार ॥१७॥

जड़ मिट्टी का बर्तन[1] नहीं जानता कि मेरा आकार किससे बनाया है किन्तु कुम्हार जानता है, वैसे ही अज्ञानी जीव नहीं जानता कि मेरा स्वरूप किससे बनाया है, यह बात जीवात्माओं की बुद्धि से आगे[2] की है, इसे परमात्मा ही जानते हैं।

जीवन जाने जीव को, काहे काहूं कीन्ह।
तो रज्जब इस बुद्धि सौं, ब्रह्म कौन विधि चीन्ह ॥१८॥

जीव जीव को भी नहीं जानता कि किस जीव को किससे किया है, तो फिर इस बुद्धि से ब्रह्म को किस प्रकार जान सकता है।

जीव हिं पूछे ब्रह्म गति, यहु अचरज हैरान।
जो आप हिं जानें नहीं, तिन अविगत क्यों जान ॥१९॥

जीव को ब्रह्म का स्वरूप पूछते हैं यह आश्चर्य से भी आश्चर्य है, जो अपने को भी नहीं जानते उन जीवों से मन इन्द्रियों का अविषय ब्रह्म कैसे जाना जायगा ?

जब लग जीव जाण्या कहै, तब लग कछू न जान।
जन रज्जब जाण्या तबै, जाणर भये अजान ॥२०॥

जब तक जीव कहता है कि-मैंने ब्रह्म को जान लिया, तब तक उसने कुछ भी नहीं जाना है और जब जान लेता है तब तो जानकर अनजान-सा हो जाता है अर्थात् पूर्ववत मैंने जान लिया ऐसा नहीं कहता।

जेतहु[1] जान्या जगत गुरु, ते सब भये अजान।
रज्जब देखहु देखतों, वेद हु नेति बखान ॥२१॥

जिन्होंने[1] भी जगत् गुरु ब्रह्म को जाना है, वे सभी अनजान-से ही हो गये हैं, देखो, देखते हुये भी वेद ने "यह नहीं, यह नहीं" कथन किया है ।

रज्जब तब सब जाणिया, जाणर[1] भये अजान ।
मनसा वाचा कर्मना, गुरु गोविन्द की आन[2] ॥२२॥

हम मन, वचन, कर्म से गुरु-गोविन्द की शपथ[2] खाकर कहते हैं कि—जब जानकर[1] अजान हुये हैं तभी सब जाना है अर्थात् ब्रह्म जानने पर ही सब जाना जाता है और ब्रह्म जानने पर ज्ञाता पना नहीं रहता, वह यह नहीं कहता कि मैंने जाना है, कारण उससे भिन्न तो कुछ होता ही नहीं, जाने किसे ?

अकलि[1] अनन्त रहे ह्वै भोला[2], तासम सृष्टि नहीं निर्मोला[3] ।
रज्जब अज्जब कहिये वाहि[4], साधु वेद बोलै अवगाहि[5] ॥२३॥

ब्रह्म वेता में बुद्धि[1] तो बहुत होती है किन्तु वह अनजान[2] होकर रहता है, उसके समान इस सृष्टि में कोई भी उत्तम[3] नहीं है, संत तथा वेद भी सृष्टि का अन्वेषण[5] करके यही बोलते हैं कि उस[4] ब्रह्म वेत्ता को ही सृष्टि में अद्भुत कहना चाहिये ।

कृत्रिम[1] करत[2] हि क्या कहैं, आतम राम अगम्म[3] ।
रज्जब वाण्यों[4] बल घटया[5], नेतहु कहै निगम्म[6] ॥२४॥

आत्म स्वरूप राम तो इन्द्रियों से अगम्य[3] हैं, उन सृष्टिकर्त्ता[2] के विषय में नक़ली[1] ज्ञानी क्या कह सकते हैं, जब वेद[6] ने भी नेति २ कह दिया है तब मानवों की वाणियों[4] का बल तो वेद वाणी से कम[5] है, वे तो कथन ही क्या कर सकते हैं ।

वेत्ता[1] थकहि विचार कर, दाने[2] ह्वै नादान[3] ।
वेद कुरान न कीमत पावहिं, रज्जब है हैरान[4] ॥२५॥

ज्ञानी[1] विचार करके ही उस ब्रह्म को अपार कहते हैं, बुद्धिमान्[2] भी ब्रह्मस्वरूप के कथन में अनजान[3] हो जाते हैं, वेद तथा कुरान भी उसकी महिमा रूप कीमत को नहीं जान पाते, उसे सभी आश्चर्य[4]-युक्त होकर देखते हैं ।

अकलहि कला कलै[1] नहि कोई, निर्गुण गुण न गहावै ।
रज्जब जीव कृत्य[2] सब थाके, महर[3] आपणी आवै ॥२६॥

कला रहित ब्रह्म की उत्पत्ति[1] कलाओं से नहीं होती, निर्गुण को इन्द्रिय रूप गुण नहीं ग्रहण कर सकते, जीव के सभी कर्त्तव्य कर्म[2] उसका साक्षात्कार कराने में हार जाते हैं, वह तो अपनी कृपा[3] से ही संतों के हृदय में आता है ।

करतार अलख करणी[1] अलख, अलख आतमा देव ।
रज्जब अलखों में पड्या, क्यों लख कीजे सेव ॥२७॥

सृष्टिकर्त्ता उसका कार्य[1] और आत्मा देव, ये सभी इन्द्रियों के अविषय होने से अलख हैं, इस प्रकार हम अलखों में पड़े हुये हैं, उन प्रभु की भक्ति बिना लखे कैसे करें ?

अलख अलख सब को कहै, सो लहिये क्यों पीव ।
पै रज्जब यहु पुण्य अगम, कौन तत्त्व है जीव ॥२८॥

परब्रह्म को सब कोई अलख है-अलख है ही कहते हैं, तब उस प्रभु को कैसे प्राप्त किया जाय ? परन्तु यह भी तो पुण्य से अगम्य ही है कि जीव क्या तत्त्व है ?

अविगत[1] ने अविगत किया, जे देख्या निरताय[2] ।
रज्जब अकिया को कहै, किया न समझा जाय ॥२९॥

यदि विचार[2] करके देखा जाय तब तो उस मन इन्द्रियों के अविषय[1] ब्रह्म ने जीवात्मा को भी मन इन्द्रियों का अविषय ही बनाया है, जब बनाये हुये जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप को भी नहीं समझ पाते तब बिना किसी के बनाये हुये ब्रह्म को मन इन्द्रियों से समझने की बात तो कौन कह सकता है ?

आतम आतम की अकलि[1] अवलोकी[2] नहिं जाय ।
तो रज्जब यहु विषम[3] है, करणी खबर खुदाय ॥३०॥

जब जीवात्मा की बुद्धि[1] से जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप को भी अवलोकन[2] नहीं किया जाता तब परमात्मा को जानना तो और भी कठिन[3] है ।

जीव न जाने जीव को, तो जगपति जाणे कौन ।
अकह ठौर कहना न कछु, रज्जब पकरहु मौन ॥३१॥

जीव तो अन्य सब जीवों को भी नहीं जानता तब विश्व स्वामी प्रभु को कौन जानेगा ? न कहने के स्थान में कुछ भी कहना नहीं बनता, वहाँ तो मौन ही करना श्रेष्ठ है ।

ज्यों घुण काष्ठ रु नाज में, तरुवर में फल जोय ।
रज्जब कीट पाषान में, कुदरत लखे न कोय ॥३२॥

जैसे काष्ठ और नाज में घुण, वृक्ष में फल और पत्थर में कीट होते हैं, इनको नहीं देखा जाता कि ये कैसे होते हैं, वैसे ही उस प्रभु की माया को भी कोई नहीं देख सकता ।

अण देख्या तो क्या कहूं, देख्यूं कहा न जाय ।
रज्जब हरि हैरान है, नाहीं शब्द समाय ।।३३।।

उन प्रभु के स्वरूप को बिना देखे तो क्या कह सकते हैं ? देखने पर भी नहीं कहा जाता, उन हरि का स्वरूप ऐसा आश्चर्यमय है कि शब्द में तो समाता भी नहीं और कहना शब्द द्वारा ही होता है, अतः अकथनीय है ।

रज्जब रसना रहत रस, पिंड परे की बात ।
सो सुख कहै न प्राणपति, जीभ किती इक मात[1] ।।३४।।

जो रस जिह्वा पर रहता है, उस रस से होने वाले सुख को भी जिह्वा नहीं कह सकती तब प्रभु दर्शन-जन्य आनन्द तो शरीर के परे की बात है. उसे जिह्वा कह सके उसकी क्या शक्ति[1] है ? उसके कथन में तो वह हार ही मानती है ।

जीव ब्रह्म के खेल की, मुख रुख[1] बरनहि बैन ।
जन रज्जब जु जथा जुगति, सु आनन[2] उदय[3] न ऐन[4] ।।३५।।

ब्रह्म के सृष्टि आदि खेल की बात जीव मुख द्वारा मन की इच्छा[1] के अनुसार यथा युक्ति से वर्णन करता है, वह बात उसके मुख[2] में अर्थात् वाणी में साक्षात्[4] प्रकट[3] नहीं होती, वाणी से क्रिया होती है भावना प्रकट नहीं होती, अतः अकथनीय है ।

अकल न कलिये आतमा, मन मत[1] मध्य समाय ।
रज्जब मुख रुख[2] बोलिये, सो नहिं शब्द समाय ।।३६।।

कला रहित आत्मा कलाओं में नहीं लाया जाता, मन में नहीं[1] समाता, मन की इच्छा[2] के अनुसार बोला जाता है, किन्तु शब्द में भी नहीं समाता ।

रज्जब श्री[1] सहिनाण[2] के, शिशु शशि दिया दिखाय ।
तैसे साँई शब्द में, मुख रुख[3] वरणी जाय ।।३७।।

जैसे नारी[1] पहचान[2] के लिये बच्चे को चन्द्रमा और दीपक शब्द द्वारा दिखाती है, वैसे ही मन की इच्छा[3] के अनुसार मुख से शब्दों द्वारा परमात्मा का वर्णन किया जाता है ।

आतम जे कछु उच्चरै, सब अपणा उनमान[1] ।
रज्जब अज्जब अकल गति, सो किन हूं नहिं जान ।।३८।।

ब्रह्म के विषय में जीवात्मायें जो कुछ कहते हैं, वे सब अपना २ अंदाजा[1] लगाते हैं, कला रहित अद्भुत ब्रह्म का स्वरूप तो इन्द्रियों से कोई भी नहीं जानता।

रज्जब आदम[1] सुत शब्द, ह्वै आदम उनहार[2]।
अकल कहे में आनिये, निपट[3] न होय करार[4] ॥३६॥

मानव[1] से उत्पन्न होने वाला शब्द रूप पुत्र मानव के समान[2] ही होगा, उससे कला रहित ब्रह्म कहने में आजाय यह प्रतिज्ञा[4] पूरी[3] नहीं होती।

बंदै[1] उपजै बंदगी[2], बालक वामा[3] माँहि।
रज्जब भाग अभाग को, रारचों[4] चीन्हैं नाँहि ॥४०॥

नारी[3] से बालक होता है, उसको तो वह देखती है किन्तु उसके भाग्य तथा अभाग्य को वह आँखों[4] से नहीं देखती, वैसे ही भक्त[1] से भक्ति[2] होती है उसको तो भक्त देखता है किन्तु उसके फल कला रहित ब्रह्म को नेत्रों[4] से नहीं देख सकता।

रज्जब मति मृत्तिका अनन्त है, बहुते कवि कुम्हार।
शब्द पात्र बहु घड़िगये, घड़सी और अपार ॥४१॥

मिट्टी अनन्त है और कुम्हार भी बहुत हैं, बहुत-से बर्तन घड़े गये हैं और अपार घड़े जायँगे, वैसे ही अनन्त विचार हैं और बहुत कवि हैं, अनन्त ग्रन्थरूप शब्द रचे गये हैं और अपार रचे जायंगे किन्तु आश्चर्य रूप ब्रह्म का स्वरूप शब्दों द्वारा नहीं कहा जाता, वह तो अनुभव वेद्य है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित हैरान का अंग ६१ समाप्तः ॥सा॰१६७६॥

अथ पार अपार का अंग ६२

इस अंग में ब्रह्म की पार अपारता का परिचय दे रहे हैं—

फटक[1] शिल हुं मुख बिन महल, ता माँही बहु वस्त।
आँखों को आसान है, मुश्किल चढतों हस्त ॥१॥

बिल्लौर[1] पत्थर की शिलाओं से बना हुआ बिना मुख का महल है उसमें बहुत वस्तु हैं, वे सब नेत्रों से देखने में तो सुगम हैं किन्तु हाथ में उठाने में कठिन हैं, वैसे ही शरीर में ब्रह्म को ज्ञान नेत्रों से देखना रूप सुगमता तो पारता है और हाथ से ग्रहण करना रूप कठिनता अपारता है।

रज्जब वपु बिल्लोर पाषान घर, मुख मुंदित मधि राम ।
ज्ञान दृष्टि दर्शन सुलभ, दुर्लभ[1] परसन[2] काम ।।२।।

मुख बंद किये हुये बिल्लौर पत्थर के घर में वस्तु हैं वे दृष्टि से देखने में तो सुगम हैं, किन्तु उन्हें छूना[2] कठिन[1] है, वैसे ही शरीर में राम हैं ज्ञान दृष्टि से तो उनका दर्शन सुगम है यही पारता है किन्तु उन्हें हाथ से छूने का काम कठिन है यही अपारता है ।

खालिक[1] क्षीर समुद्र है, पीकर होय न पार ।
रज्जब रंचक चाखतों, सेवक रह्या न वार ।।३।।

सृष्टिकर्त्ता परमात्मा[1] क्षीर समुद्र के समान है, क्षीर समुद्र को पान करके तो उसके पार कोई नहीं जा सकता किन्तु उसे किंचित मात्र चाखने पर भी उससे दूर नहीं रहता, वैसे ही परमात्मा का पार तो कोई नहीं पाता किन्तु भक्त ज्ञान द्वारा दर्शन करने पर उससे दूर भी नहीं कहा जाता, उसी का रूप हो जाता है, यही उसकी पारता अपारता है ।

रज्जब वपु बिलोर में प्राणपति, ज्ञान दृष्टि दरशाय ।
सेवक को संतोष दे, ब्रह्म न वश ह्वै जाय ।।४।।

शरीर रूप बिल्लौर पत्थर में प्राणपति परमात्मा हैं, ज्ञान-दृष्टि से दीखते हैं, दर्शन देकर भक्त को संतोष देते हैं यही पारता है किन्तु ब्रह्म किसी के वश नहीं होते, यही अपारता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पार अपार का अंग ६२
समाप्तः ।सा० १९८३।।

अथ थकित निश्चल का अङ्ग ६३

इस अंग में संसार भ्रमण से थक कर निश्चल हुये का तथा चंचल का विचार कर रहे हैं—

रज्जब निश्चल बंदिये, देखो ध्रुव दिशि जोय ।
मूवे[1] हिन्दू तुरक का, माथा वहि[2] दिशि होय ।।१।।

संसार भ्रमण से थककर निश्चल हुये को ही प्रणाम किया जाता है, देखो ध्रुव की ओर दृष्टि करके, हिन्दू हो वा मुसलमान हो मरने[1] पर चिता तथा कब्र में मस्तक ध्रुव[2] की ओर ही किया जाता है, कारण-ध्रुव संसार भ्रमण से थक कर निश्चल हुआ है ।

ध्रुव को देय प्रदक्षिणा, उडग[1] इन्दु[2] अरु भान[3] ।
रज्जब निश्चल बंदिये, अर्थ इता ही जान ।।२।।

तारे[1], चन्द्रमा[2] और सूर्य[3], ध्रुव की प्रदक्षिणा करते हैं, इसका अर्थ इतना ही समझो कि संसार भ्रमण से थक कर परमात्मा के स्वरूप में स्थिर हुये को प्रणाम करना चाहिये ।

जन रज्जब चंचल सभी, उडग आतमा जोय ।
नौ लख नक्षत्र नौ खंड मधि, ध्रुव ज्यों निश्चल कोय ।।३।।

सभी तारे चंचल हैं, नौ खंड के नौ लाख नक्षत्रों से ध्रुव के समान निश्चल कौन है ? वैसे ही सभी जीवात्मायें चंचल हैं ध्रुव भक्त के समान प्रभु में निश्चल कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ।

नौ लख नक्षत्र चंचल सभी, शशि सूरज तिन माँहि ।
रज्जब ध्रुव निश्चल किया, और किये यूं नाँहि ।।४।।

नौ लाख नक्षत्र तथा उन्हीं में चन्द्र-सूर्य को भी मिलाकर देखो सभी चंचल हैं, एक ध्रुव को ही निश्चल किया है, अन्यों को ऐसा निश्चल नहीं किया, कारण अन्यों की वृत्ति संसार-भ्रमण से थककर प्रभु में स्थिर नहीं हुई ।

रज्जब मैली चपलता[1], निश्चल निर्मल प्रान[2] ।
हल चल जल दीसे न मुख, स्थिर में सब दरसान ।।५।।

जल में जब हल-चल अर्थात् चंचलता[1] होती है तब मुख नहीं दीखता और स्थिर में मुख तथा मुख के गुणदोष सभी दीख जाते हैं, वैसे ही प्राणी[2] की चंचलता मलीन होती है और निश्चलता निर्मल होती है, चंचल हृदय में प्रभु का दर्शन नहीं होता और निश्चल में हो जाता है, यही निश्चल की विशेषता है ।

अस्थिर[1] अमल चपलता मैली, आतम अंभ[2] समान ।
रज्जब जोये[3] जीव जल, नीके किया निदान[4] ।।६।।

हमने भली प्रकार जल और जीव के मलीन तथा निर्मल होने का कारण[4] खोजकर देख[3] लिया है, चंचल जल[2] मैला होता है और निश्चल[1] निर्मल होता है, वैसे ही चंचल जीवात्मा मलीन होता है और निश्चल निर्मल होता है ।

जब लग इन्द्रियों चपलता, तब लग मैला प्रान[1] ।
रज्जब पंचों स्थिर रहैं, निर्मल संत सुजान ।।७।।

जब तक इन्द्रियों में चंचलता रहती है तब तक ही प्राणी[1] मलीन रहता है, जब पांचों इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तब तो प्राणी निर्मल और बुद्धिमान् संत कहा जाता है ।

निश्चल निज[1] सौं निकट है, चंचल चरणों दूर ।
जन रज्जब जाता[2] जुदा, रहता[3] राम हजूर ॥८॥

निश्चल जीवात्मा निज स्वरूप ब्रह्म[1] के निकट ही रहता है और चंचल प्रभु के चरणों से दूर रहता है, चंचल[2] राम से अलग ही रहता है, और स्थिर[3] के तो राम पास ही रहते हैं ।

अघ[1] उतरत हैं स्थिर भये, आतम रामहिं लीन[2] ।
रज्जब रहता[3] राम में, वहता[4] वस्तु सु भीन[5] ॥९॥

स्थिर होने से पाप[1] हृदय से हट जाते हैं और जीवात्मा की वृत्ति राम में ही लगी[2] रहती है, स्थिर[3] राम में मिल जाता है और चंचल[4] ब्रह्म-वस्तु से भिन्न[5] ही रहता है ।

निश्चल में निश्चल रहै, चंचल चंचल माँहि ।
जन रज्जब जाणी जुगत[1], या में मिथ्या नाँहि ॥१०॥

जिस की वृत्ति ब्रह्म में निश्चल हो जाती है, वह निश्चल ब्रह्म में ही मिल कर रहता है, जिसकी वृत्ति चंचल है, वह चंचल संसार में ही रहता है, यह हमने युक्ति[1] द्वारा जान लिया है, इसमें मिथ्या कुछ भी नहीं है ।

स्थिर माँहीं स्थित स्थिर रहै, चंचल होय तो जाय ।
रज्जब दरिया देह की, एक हि गति निरताय ॥११॥

विचार करके देखो, दरिया और देह की गति एक समान ही ज्ञात होती है, दरिया तालाब रूप हो तो उसमें जल स्थिर रहता है और नदी रूप हो तो चला जाता है, वैसे ही मन-इन्द्रियादि देह स्थिर हो तो उसमें स्थित जीवात्मा भी ब्रह्म में स्थिर रहता है और मन-इन्द्रियादि चंचल हो तो जीवात्मा भी संसार में ही जाता है ।

आरंभ करताँ अघ चढै, चंचलता फल चीन्ह[1] ।
थकित[2] होत थाकहिं[3] करम, यही कमाई कीन्ह ॥१२॥

चंचलतापूर्वक कार्य का आरंभ करने से पाप लगता है, यही चंचलता का फल पहचानो,[1] निश्चल[2] होने से पाप कर्म रुक[3] जाते हैं, निश्चल व्यक्ति यही कमाई करता है ।

बिन सेवा[1] सेवा करी, जब जीव निश्चल होय।
जन रज्जब इस पेच[2] को, बूझे विरला कोय ॥१३॥

जब जीव की वृति ब्रह्म स्वरूप में स्थिर हो जाती है तब बिना भक्ति[1] करे भी उसकी भक्ति हो जाती है, कारण भक्ति का फल ब्रह्म में स्थिर होना है सो उसको हो जाता है किन्तु इस रहस्य[2] को कोई विरले संत ही समझते हैं।

चुंबक चित्र[1] न चपल ह्वै, उभय थकित[2] ईहि विद्ध[3]।
सुई सुरति सरके[4] नहीं, मिल पारस सुप्रसिद्ध ॥१४॥

लोह की सुई पारस से मिलने पर चुंबक पत्थर से चंचल नहीं होती, परमात्मा से मिलने पर जीवात्मा की वृत्ति किसी अद्भुत[1] दृश्य पर जाने के लिये परमात्मा से नहीं हटती[4], इस प्रकार[3] सुई और वृत्ति दोनों निश्चल[2] हो जाती हैं, यह सुप्रसिद्ध है।

लोहा पारस औषधि सार, सो सरके नहिं चुंबक प्यार।
त्यों रज्जब आतम रामहि मेल, शक्ति थकित भागा भ्रम खेल ॥१५॥

लोहा, पारस तथा औषधि द्वारा सुवर्ण और सार-भस्म होने पर चुंबक पत्थर के प्यार से अपने स्थान से नहीं सरकता, वैसे ही जीवात्मा का राम से मिलन होने पर वह माया से चंचल होकर प्रभु के स्वरूप से माया की ओर नहीं सरकता स्थिर रहता है उसका भ्रम रूप खेल हृदय से भाग जाता है।

रज्जब राम समुद्र मध्य, फिरहिं सु रीते कुंभ।
बोल चाल वायू[1] विथक[2], भरे सु अविगत[3] अंभ[4] ॥१६॥

समुद्र में घड़े खाली रहते हैं, तब तक वायु[1] से फिरते हैं और बोलते हैं, जल[4] भरने पर स्थिर और चुप[2] हो जाते हैं, वैसे ही जीवात्मायें जब तक राम[1] को आत्मस्वरूप से नहीं जानते तब तक ही राम के लिये तीर्थादि में भ्रमण करते हैं तथा रामस्वरूप संबन्धी विवाद करते हैं, जब जान लेते हैं भ्रमण को त्याग देते हैं और विवाद करना छोड़ के चुप[2] हो जाते हैं।

धर गिरि तरु निश्चल बहुत, निश्चल कोई नांउ।
जन रज्जब ता संत की, मैं बलिहारी जांउ ॥१७॥

पृथ्वी, पर्वत और वृक्ष बहुत-से निश्चल हैं किन्तु राम-नाम में निश्चल कोई विरला ही होगा, जिसकी वृत्ति नाम में निश्चल है, उस संत की मैं बलिहारी जाता हूँ।

माया में निश्चल सभी, चौरासी लख जोय।
रज्जब अस्थिर ब्रह्म में, सो जन विरला कोय ॥१८॥

माया में तो सभी चौरासी लाख जीव स्थिर हैं, किन्तु ब्रह्म में स्थिर हो वह कोई बिरला ही जन है।

नाम रहै हरि नाम में, जीव जगतपति मांहि।
रज्जब दो ठाहर सुथिर, तीजी दीसे नांहि ॥१९॥

हरि नाम-चिन्तन में लगे रहने से व्यक्ति का नाम स्थिर रहता है और ब्रह्म में मिलकर स्थिर रहता है, ये दो ही स्थान स्थिर रहने के हैं तीसरा कोई नहीं दीखता।

वायस[1] बैठ जहाज शिर, वारिनिधी[2] मधि जाय।
रे रज्जब तहां तैं उडै, बैठेगा कहं आय ॥२०॥

काक[1] पक्षी जहाज पर बैठ कर समुद्र[2] के बीच चला जाय फिर जहाज से उड़े तो कहाँ बैठेगा? समुद्र में बैठने के लिये दूसरा स्थान ही नहीं, वैसे ही जीवात्मा साधन द्वारा ब्रह्म में लीन होता है, फिर वहाँ से जाना चाहे तो कहाँ जायगा? फिर तो ब्रह्म से भिन्न कुछ रहता ही नहीं।

रज्जब वायस[1] बोध बिन, वोहिथ[2] बैठे आय।
सो जहाज निधि[3] मधि चला, काग कहां उड जाय ॥२१॥

काक[1] पक्षी ज्ञान बिना भी जहाज[2] पर बैठ जाय और वह जहाज जलनिधि[3] के बीच जाय तब काक उड़कर कहां जा सकता है? वैसे ही शास्त्र ज्ञान से शून्य जीवात्मा भी साधन में लग जाय तो वह ब्रह्म में जा मिलेगा, मिलने के पश्चात् वह कहाँ जा सकता है? फिर तो उसे अपने सहित सभी विश्व ब्रह्ममय भासता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित थकित निश्चल का अंग ६३ समाप्तः ॥सा० २००४॥

अथ आसै आसरा का अंग ६४

इस अंग में जिसमें जिसको प्राप्त करने की इच्छा होगी, वह उसी को प्राप्त होगा, यह कह रहे हैं—

जहां प्रीति तहँ जाय जिव, भंग भये अस्थूल।
जन रज्जब दृष्टांत को, कली कढै ज्यों फूल ॥१॥

जीव की प्रीति जिसमें होती है, शरीर छोड़कर वह वहाँ ही चला जाता है, दृष्टांत के लिये देखो, वृक्ष से कली निकलती है किन्तु उसमें फूलने की वासना रहती है, अतः वह फूल ही बन जाती है।

नीर न रहे सुमेरु शिर, नीचे निकसे आय।
त्यों रज्जब इस जीव की, जहां प्रीति तहं जाय ॥२॥

पर्वत के शिखर पर जल नहीं रहता, नीचे आकर झरणे के रूप में निकल आता है, वैसे ही जीव भी जिसमें उसकी प्रीति होती है, वहाँ ही चला जाता है।

प्रीति प्राणि को लेगई, काल काया ले जाय।
जन रज्जब गति आगली, अब देखी निरताय[१] ॥३॥

प्रीति प्राणी को ले जाती है और काल शरीर को ले जाता है, इस विचार[१] द्वारा अगली गति अभी देखी जाती है, जिसमें जिसकी प्रीति होती है, वह उसी को प्राप्त होता है।

साधु शरीर हिं छोड ही, जीवन छोडे जाप।
रज्जब रट ऐसे रही, ज्यों मृतक तन ताप ॥४॥

साधु शरीर को छोड़ देते हैं किन्तु उनका जीवात्मा राम-नाम का जप नहीं छोड़ता, उसमें नाम की रट ऐसे रह जाती है, जैसे मृतक शरीर में गर्मी, मरने पर कुछ देर गर्मी रहती है।

मन मोती नर की कला, विगसि[१] बंधै निरसंध[२]।
गलि निकसैं कल[३] कष्ट मुख, भक्ति भामिनी[४] बंध ॥५॥

मन, मोती और नर की देह रूप कला, ये फूट[१]कर पुनः संधि-रहित[२] बँध जाते हैं, कांच का मोती गलकर पुनः मोती ढालने के यंत्र[३] से निकलता है तब पूर्ववत ही उसका बनाव रूप बंधान भासता है। साधक मन दुख से छिन्न-भिन्न होकर पुनः भक्ति विचारादि के द्वारा पूर्ववत ही प्रभु स्वरूप में बँध जाता है। नर शरीर मृत्यु से नष्ट होकर पुनः नारी[४] के गर्भ में पूर्ववत ही बंधानयुक्त योनि मुख से निकलता है। ऐसे ही सब अपनी २ वासना, प्रीति और इच्छा के अनुसार ही स्थान शरीरादि को प्राप्त होते हैं।

मन पारा मोती नर अंग[१], निकसत होंहि सदा मुर[२] भंग[३]।
पुनि सारे[४] साबित हों सोय, तीनों माँहि न विनस्या कोय ॥६॥

मन, पारा का मोती और नर का शरीर[1] ये तीनों[2] निकलने से सदा ही छिन्न-भिन्न[3] होते हैं, मन भगवत् चिन्तन वा अपने प्रिय पदार्थ व्यक्ति आदि से निकलता है तब दुखी होकर छिन्न-भिन्न होता है और प्रिय के मिलने पर पुनः पूर्ववत ही प्रसन्न हो जाता है। पारे को थाली में डालने से उसके मोती बन जाते हैं किन्तु थाली से निकल कर शीशी में डालने पर मोती नष्ट हो जाते हैं और पुनः थाली में डालने पर फिर बन जाते हैं। मनुष्य शरीर प्राण निकलने से नष्ट हो जाता है और फिर बन जाता है। उक्त तीनों में कोई भी नष्ट नहीं होता, पुनः सभी[4] साबुत हो जाते हैं। वैसे ही अपनी वासना अनुसार सब बनते रहते हैं।

पेश[1] खाना[2] पावक का, धूम व्योम दिशि जाय।
ऐसे मन उन्मनी लगै, तो जीव रहै तहँ आय ॥७॥

अग्नि के घर[2] चूल्हे आदि के अग्रभाग[1] से धुआँ निकलकर आकाश की ओर जाता है, ऐसे ही यदि मन स्वाभाविक समाधि में लगता रहे तो जीव भी वहां समाधि में परमात्मा के पास ही आकर रहेगा।

जहां मुहब्बत[1] मन्न की, पिंड प्राण तहँ जाँहि।
रज्जब तीन्यों एकठे, कबहुं बिछुटैं नाँहि ॥८॥

जहां मन का प्रेम[1] होता है, वहां ही शरीर और प्राणी चले जाते हैं, ये तीनों साथ ही रहते हैं कभी भी अलग नहीं रहते।

आसै[1] आसण होत है, जहां रचै[2] हित भाय[3]।
देखो दीपक राग की, अग्नि सु दीवै जाय ॥९॥

देखो, दीपक राग गाने से उत्पन्न होने वाला अग्नि दीपक बत्ती में ही प्रकट होता है, बीच में रुई के पहल पड़े हों तो भी उनमें नहीं प्रकट होता, वैसे ही प्राणी जिसमें प्रेम-भाव[3] से अनुरक्त[2] होता है, उस प्रेम[1]-पात्र के पास ही जा बसता है।

रज्जब मत[1] को मत मिले, ज्यों जड़ टूटी आल[2]।
दिन्हों[3] पडै दूजे नहीं, जे बीतैं बहु काल ॥१०॥

जैसे आल[2] वृक्ष की जड़ टूट जाय वा आली[2] भूमि में किसी वृक्ष की जड़ टूट कर रह जाय तो कुछ दिनों[3] का अन्तर पड़ने पर भी वह दूसरी नहीं बनती, उससे उसी वृक्ष के पत्ते निकलते हैं जिसकी जड़ वह होती है, वैसे ही प्राणी किसी कारण से अपने सिद्धान्त से हट भी जाय तो भी अपना सिद्धान्त[1] मिले तभी उस सिद्धान्त में मिलता है, नहीं तो चाहे बहुत सा समय व्यतीत हो जाय वह बिना प्रीति अन्य में नहीं मिलता।

शरीरहीं सूघे नहीं, औषधि रोग हिं जाय ।
त्यों आसै[1] आसण होत है, नर देखो निरताय[2] ॥११॥

हे नरो ! विचार[2] करके देखो, औषधि शरीर को नहीं सूंघती, वह तो सीधी रोग पर जाती है, वैसे ही जहाँ वासना[1] होती है वहाँ ही प्राणी जा बसता है ।

ब्रह्म सुमिरतों माया लहिये, माया खर्चंत राम ।
रज्जब समझा ज्ञान में, भाव भेद का काम ॥१२॥

एक तो ब्रह्म का स्मरण करते हुए भी माया में प्रेम होने से माया को ही प्राप्त करता है और एक का राम में प्रेम होने से माया को खर्च करके राम को प्राप्त करता है, हम समझ गये उनके ज्ञान को, उनका भाव भिन्न-भिन्न होने से ऐसा काम होता है ।

माया मांहीं ब्रह्म पाइये, ब्रह्म मध्यतैं माया ।
फलै सु मन की कामना, रज्जब भेद सु पाया ॥१३॥

ब्रह्म प्राप्ति की कामना हो तो माया ब्रह्मार्पण करने से माया में रहते हुये भी ब्रह्म प्राप्त होता है और माया प्राप्त करने की कामना हो तो ब्रह्म के स्मरण में लीन रहने पर भी माया ही मिलती है, प्राणी के मन की कामना के अनुसार ही फल मिलता है यह रहस्य हमने जान लिया है ।

सब जीव माया ब्रह्म मध्य, उभय आतमा पूरि[1] ।
रज्जब दूर जु[2] दिल नहीं, हिरदै हित[3] सु हजूरि[4] ॥१४॥

सभी जीव माया तथा ब्रह्म के बीच में हैं, और माया तथा ब्रह्म दोनों सभी जीवात्माओं में परिपूर्ण[1] रूप से भरे हुये हैं, जो[2] दिल में नहीं है, वह उससे दूर है और जिसका प्रेम[3] हृदय में है वह पास ही स्थित[4] है ।

माया मिल माया भये, ब्रह्म मांहि तैं जंत[५] ।
यूं जीव शिव[1] सब शक्ति[2] मधि, प्राण पलटणा[3] मंत[4] ॥१५॥

सब जीव[5] ब्रह्म में थे किन्तु ब्रह्म से निकल कर माया में मिलने से माया रूप हो गये हैं, माया[2] के मध्य जीव हैं, वे उक्त प्रकार माया से निकल कर ब्रह्म[1] से मिलने पर ब्रह्मरूप हो जाते हैं, यही प्राणी के बदलने[3] का सिद्धान्त[4] है, जिसमें प्रीति होगी उसी में जा मिलेगा ।

शिव[1] को मिलै तु शक्ति[2] मध्य, शक्ति मिलत शिव मांहि ।
आसै[3] आसण[4] जीव का, जुगल सु बिछुटै नांहि ॥१५॥

मैं ब्रह्म[1] को प्राप्त हो गया ऐसा कहने पर भी यदि जीव की प्रीति माया[2] में हो तो वह माया में ही है और माया मिलने पर भी जीव की प्रीति ब्रह्म में हो तो वह ब्रह्म में ही है, जहाँ जीव की प्रीति[3] होती है, वह वहाँ ही रहता[4] है, किन्तु माया और ब्रह्म दोनों जीव से अलग नहीं होते।

भावहि भूत[1] विभूति[2] ह्वै, भाव भूत भगवान।
रज्जब समझी जीव गति, आसै[3] आसण[4] जान ॥१७॥

भाव से ही प्राणी[1] माया[2] हो जाता है और भाव से ही भगवान् हो जाता है, और जीव की गति हमने समझ ली है, इसका जिसमें प्रेम[3] होता है वहाँ ही इसका निवास[4] होता है।

हरि हरिसिद्धि[1] होत जिव[2], मेला हित[3] चित माग[4]।
उभय एक संदेह बिन, रज्जब जासौं राग ॥१८॥

चित्त के प्रेम[3]रूप मार्ग[4] से मिलकर जीव[2] हरि और माया[1] रूप हो जाता है, जीव, माया और ब्रह्म इन दोनों में से एक को जिसमें प्रेम होता है उसे संशय रहित प्राप्त करता है।

इत विभूति[1] अनभूत[2] उत, भूत[3] भाव बिच भेद[4]।
रज्जब मेला आश दिशि, नीके किया न खेद ॥१९॥

इधर संसार में तो माया[1] है, उधर संसार से परे भूतों से रहित ब्रह्म[2] है, बीच में प्राणी[3] का भाव है वह रहस्यमय[4] साधन है, जिसमें प्राणी का वासनामय भाव होता है उसीसे क्लेश रहित भली प्रकार मिलता है।

ब्रह्माण्ड पिंड वाणी विविध, उदय अस्त ह्वै नाश।
रज्जब रहसी प्राण पहिं[1], भाव भेद संग दास ॥२०॥

ब्रह्माण्ड के शरीरों के भाव-भेद के अनुसार विविध प्रकार की वाणी प्रकट होती हैं, अस्त होती हैं और नाश हो जाती हैं, प्राणी के पास[1] वही दास के समान संग रहती है जिसमें उसका भाव होता है।

रज्जब अज्जब भावना, करतों दीपक राग।
तिन तनु चीर न चाख[1] ही, सो दीपक हीं लाग ॥२१॥

भावना बड़ी अद्भुत है देखो, जो दीपक राग गाता है उसके शरीर के वस्त्र को तो नहीं जलाता[1] और उससे प्रकट होने वाला अग्नि दीपक की बत्ती में ही जाकर लगता है।

मांगे मिलहि न शिव[1] रु शक्ति[2], मोल न लिये जाँहि ।
रज्जब राखो लालसा[3], आसण आसै[4] माँहि ॥२२॥

माया[2] और ब्रह्म[1] दोनों ही माँगने पर नहीं मिलते, मोल भी नहीं लिये जा सकते, मन में तीव्र इच्छा[3] रखो, जिसको प्राप्त करने की तीव्र इच्छा[4] होगी वही मिल जायगा ।

जो मति सो गति होयगी, साधु वेद सब साखि[1] ।
मनसा वाचा कर्मना, जन रज्जब रुचि[2] राखि ॥२३॥

संत तथा सब वेद इस बात की साक्षी[1] देते हैं कि–जैसी बुद्धि होती है, वैसी ही गति होती है, अतः जिसे प्राप्त करना चाहो, उसमें मन, वचन, कर्म से प्रीति[2] रक्खो ।

शब्द शून्य[1] सब ठौर, शक्ति[2] सहित सांई[3] रहै ।
रज्जब रुचि[4] शिर मौर, गाहन[5] करि गाहक गहै ॥२४॥

आकाश[1] में सभी ठौर शब्द रहता है, वैसे ही माया[2] और ब्रह्म[3] सब ठौर रहते हैं, उनको प्राप्त करने के लिये प्रीति[4] ही शिरोमणि साधन है, जिसमें जिसकी प्रीति होती है वह उसका ग्राहक उसे खोज[5] कर ग्रहण करता है ।

कमठ[1] कौडिला आडि अहि[2], मरजीवा रु मराल[3] ।
रज्जब जल निधि डूबि दें[4], लेंहि जिनहिं जो ख्याल[5] ॥२५॥

कछुवा[1], कौडिला, आडि, सर्प[2], हंस[3] आदि जल के जीव और मर-जीवा सभी समुद्र में डुबकी लगाते[4] हैं किन्तु लाते वही वस्तु हैं जिसको जिसका ध्यान[5] होता है, वैसे ही सभी साधन करते हैं किन्तु मिलता वही है जिसकी जो इच्छा होती है ।

अहार औषधि, आस[1] रम[2], आवै भार अठार ।
मधु[3] मडचर[4] मेला मनहु, रज्जब रुचि व्यवहार ॥२६॥

भोजन मुख से चलकर पक्वाशय से जा मिलता है, औषधि भी मुख से चल कर रोग से जा मिलती है, अठारह भार वनस्पतियों का शहद[3] सब वृक्ष में रमता हुआ[2] फूल से जा मिलता है, मक्खन[4] दूध दही में रमता हुआ फेन से जा मिलता है, मन सब ठौर रमता हुआ जिसकी आशा[1] होती है वहाँ ही जा मिलता है, वैसे ही सबका मिलन रूप व्यवहार रुचि अनुसार ही होता है ।

पहुप पत्र समदी[1] सहद, औषधि फल अरु आग ।
गूंद दूध गुठली छाया, भाव भूख[2] तिंहि लाग ॥२७॥

पुष्प, पत्ता, प्रेमी[1], शहद, औषधि, फल, अग्नि, गूंद, गुठली, छाया ये सब जहाँ इनके लगने का भाव होता है और जहां इच्छा होती है वहां ही लगते हैं। पत्ते, पुष्प, शहद, फल, गूंद, गुठली, वृक्ष में वहाँ ही लगते हैं जहाँ लगते आये हैं, औषधि रोग पर ही लगती हैं, दूध कुचों में ही आता है, देवादि की छाया जिसमें आती है उसी में आती है। दीपक राग का अग्नि दीपक की बत्ती में ही लगता है समदी भी वहाँ ही जाता है जहाँ उसका भाव हो, वैसे ही जीवात्मा की जिसमें प्रीति और इच्छा होती है, देह छोड़कर उसी के पास जाता है।

अपनी अपनी चूणि[1] को, चौरासी चेतन्न।
रज्जब ले सो मांड में, जो है जा के मन्न ॥२८॥

ब्रह्माण्ड में रहने वाले चौरासी लाख योनियों के सभी जीव अपने २ चुगे[1] के लिये सावधान हैं और जो जिसके मन में बसा है, उसी को वह ग्रहण करता है, वैसे ही प्राणी देह छोड़कर उसी को ग्रहण करता है जिसमें उसका प्रेम है।

इस ब्रह्मांड बजार में, बहुती वस्तु बणाव[1]।
जन रज्जब ले जीव सो, जाके जा सौं भाव ॥२९॥

इस ब्रह्माण्डरूप बाजार में बहुत सी वस्तुऐं सजाई[1] हुई हैं किन्तु जिस जीव का जिसमें प्रेम है, वह उसी वस्तु को लेता है, वैसे ही देह को छोड़कर उसी को प्राप्त होता है जिसमें प्रेम है।

रज्जब रामति[1] राममें, बहुते भरे भंडार।
पै आसै[2] आसण अणसरै[3], ता में फेर न सार ॥३०॥

राम जिसमें रम रहा है उस संसार[1] में वस्तुओं के बहुत भण्डार भरे हैं किन्तु जीव अपनी वासना[2] के अनुसार[3] ही वस्तु को प्राप्त करता है, अन्य को नहीं। यही सार बात है, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है।

आसै[1] आसण[2] होयगा, जाका जहां करार[3]।
जन रज्जब जाणी जुगत[4], ता में फेर न सार ॥३१॥

जिसमें जहाँ जाने की वासना[1] रूप प्रतिज्ञा[3] है उसका वहाँ ही निवास[2] होगा, हमने यह युक्ति[4] द्वारा जान लिया है, यही सार बात है यह बदल नहीं सकती।

रज्जब बुरी न वैद्य कन[1], औषधि अकलि[2] मंझार।
पै रोगी राखै काम की, जा सौं ह्वै उपकार ॥३२॥

वैद्य के पास[1] अनेक औषधियाँ रहती हैं, वे वैद्य की बुद्धि[2] में कभी भी बुरी ज्ञात नहीं होती किन्तु रोगी तो जिससे उसका उपकार होता है वह अपने काम की औषधि ही रखता है, वैसे ही भगवान् के विश्व रूप भण्डार में अनेक व्यक्ति तथा वस्तु हैं किन्तु प्राणी तो उसी को प्राप्त करता है, जिसमें उसका प्रेम है।

मनवा निकस्या धूम ज्यों, सांई शून्य समान[1]।
अंश अंश कन जायगा, प्राणी पावक जान ।।३३।।

धुआँ अग्नि से निकल कर आकाश में लय[1] होता है और अग्नि का अंश अग्नि अपने अंशी व्यापक अग्नि में समा[1] जाता है, वैसे ही मन निकल कर ईश्वर के माया भाग में समायेगा और आत्मा चेतन में समायेगा।

रत्न ऋद्धि निधि सिद्धि पदारथ, मुक्ति भक्ति हरि राज।
रज्जब रुचे सु लेहु भज, जाके जासौं काज ।।३४।।

रत्न, ऋद्धि, निधि, सिद्धि, अन्यान्य पदार्थ, राज्य, भक्ति, मुक्ति और हरि इनमें से जो प्रिय लगे और जिसका जिससे कार्य हो वह उसका चिन्तन करके उसे ही प्राप्त करता है।

ब्रह्म जीव काया करम, लिखे जु लच्छी[1] माँहि।
रज्जब रुचे[2] सु लेहि जिव, दात हिं दूषण नाँहि ।।३५।।

ब्रह्म, जीव, शरीर, कर्म, लक्ष्मी[1], इनमें जिसकी इच्छा करे, उसके प्राप्ति का साधनकर के उसे ही प्राप्त कर सकता है ऐसा प्राणी के भीतर अंकित है किन्तु प्राणी को जो प्रिय[2] लगता है, उसे ही प्राप्त करता है, इसमें देने वाले ईश्वर को दोष नहीं दिया जा सकता।

विविधि भाँति की बंदगी, दीसै मांड[1] मंझार।
गाहक गौ[2] की लेयगा, रज्जब रुचि व्यवहार ।।३६।।

ब्रह्माण्ड[1] में नाना प्रकार की सेवाएँ दीखती हैं किन्तु ग्राहक तो अपने मतलब[2] की सेवा ही ग्रहण करेगा, सभी का रुचि के अनुसार ही व्यवहार होता है।

देव सेव बहु मांड[1] में, मंडी[2] न मेटी जाँहि।
रज्जब रुच सी प्राणीहिं, जाके जो मन माँहि ।।३७।।

ब्रह्माण्ड[1] में बहुत देवों की सेवा-भक्ति चलती है, और जो बनी[2] हुई है, वह मिटाई भी नहीं जा सकती किन्तु जिसके मन में जो देव बसा है, उसी की सेवा उसे रुचिकर होती है।

- जो दिल में सौदागरी[1], दुनी[4] सु सौदा[2] होय ।
रज्जब बिच व्यापार बिन, बाहर विणज[3] न कोय ॥३८॥

जो मन में व्यापार[1] होता है, वही व्यापार[2] बाहर संसार[4] में होता है, यदि मन में व्यापार नहीं हो तो बाहर भी व्यापार[3] नहीं हो सकता ।

लक्षण लोक असंख्य कुल[1], घटि घटि नगर बसंत ।
उभय एक अंग मिल रमहिं, जन रज्जब जग मंत[2] ॥३९॥

शुभाशुभ लक्षण रूप असंख्य लोक हैं, उनमें मनोरथ रूप वंशों[1] के नगर घड़ी २ में बसते हैं, जगत् के प्राणियों का यही उद्योग[2] है कि- लक्षण और मनोरथ दोनों को एक ही शरीर में मिलाकर इच्छानुसार विचरते हैं ।

जाति पांति सब को करै, सगों[1] सगाई[2] होय ।
त्यों सुकृत सुकृत मिलै, कुकृत कुकृत जोय ॥४०॥

अपनी २ जाति पांति से सभी मेल करते हैं, संबन्धियों[1] से ही संबन्ध[2] होता है, वैसे ही सुकृत से सुकृत मिलते हैं और कुकृत से कुकृत मिलते हैं ।

मैलों मैले मिल रसरंगा[1], मैले उज्वल बने न संगा ।
कन्ह[2] गाय के कनै[3] न आवै, पशुहु पेख माँहिली पावै ॥४१॥

मलीनों से मलीन मिलते हैं तब ही उनकी प्रेम-क्रीडा[1] होती है, मैलों का और उज्वलों का संग नहीं बनता, देखो, पशु भी भीतर की भावना को जान लेते हैं, ब्रह्मचारिणी[2] गाय के पास[3] साँड नहीं जाता । वैसे ही प्राणी जहां वासना पूर्ण हो वहां ही जाता है ।

वक्त्र[1] बार[2] ह्वै नीकसै, पैठे श्रवण सु द्वार ।
रज्जब मिलिये हि सगों से, बाकी फिर हुं हजार ॥४२॥

वचन मुख[1] द्वार[2] से निकलते हैं और श्रवण द्वार से प्रवेश करते हैं और अपने सम्बन्धी शब्दों से मिलते हैं, शेष चाहे हजार शब्दों की ध्वनि होती रहे उस से नहीं मिलते, वैसे ही प्राणी प्रेम के सम्बन्ध से ही मिलते हैं ।

तीरथ प्रीति सु मीन ह्वै, मूरति कीट पषान ।
हेतु हुताशन समंद[1] जीव[2], आसै[3] आसण[4] जान ॥४३॥

प्राणी की तीर्थ में प्रीति होती है तो मच्छी बनता है, पत्थर की मूर्ति में प्रीति होती है तो पत्थर का कीट बनता है, अग्नि में प्रीति होती है तो अग्नि[1] कीट[2] बनता है, इसी प्रकार जिसमें प्रीति[3] होती है उसी में निवास[4] होता है ।

बगला हुदहुदमोर[1] तन, साका[2] शुक्ल सु स्वाँग[3] ।
रज्जब पाई प्राणि ने, मन वच कर्म जो माँग ॥४४॥

जिनकी श्वेत भेष[3] में इच्छा[2] रहती है, वे बक, मुर्ग-सुलेमान[1] (राज कुकुट) का शरीर पाते हैं, मन, वचन, कर्म से जो भी प्राणी की माँग रही है वही उसने प्राप्त की है ।

बोक[1] वक्त्र[2] डाढी बडी, रींछ सु डाढी रूप ।
रज्जब रट[3] बिन रोम बल, परस[4] न तत्त्व अनूप ॥४५॥

बकरे[1] के मुख[2] पर भी बड़ी डाढी होती है, रींछ तो डाढी रूप ही होता है, बिना नाम की रटन[3] लगाये डाढी के केशों के बल से अनुपम तत्त्व ब्रह्म से मिलन[4] नहीं होता ।

निर्गुण सहगुण बीज द्वै, अवनि आतमा माँहि ।
नाम नीर सौं पुष्ट ह्वै, आसै आसण जाँहि ॥४६॥

पृथ्वी में बीज रहते हैं, वे जल से पुष्ट होकर जैसी उनमें वासना है वैसे ही अंकुर निकल आते हैं, वैसे ही जीवात्माओं में निर्गुण-सगुण भावना है, वे नाम चिन्तन से पुष्ट होकर अपनी २ प्रीति के अनुसार निर्गुण तथा सगुण को प्राप्त होते हैं ।

नाद नीर वर्षा विपुल, प्राण पुहमि भरपूर ।
रज्जब काढहि जाति के, प्रकृति प्राण अंकूर ॥४७॥

जल की वर्षा बहुत हो, पृथ्वी के लिये परिपूर्ण हो जाय तो भी बीजों से अंकुर तो अपनी-अपनी जाति के ही निकलेंगे. वैसे ही उपदेश रूप शब्द बहुत सुनने को मिलें तो भी प्राणियों से विचार तो अपनी २ प्रकृति के अनुसार ही प्रकट होंगे ।

लिखे फटकड़ी फहम[1] सौं, कागद कमल सु माँहि ।
नीर नाद[2] सौं भीजतै, अक्षर उघड़ सु जाँहि ॥४८॥

कागज पर फिटकरी से लिखे हुये अक्षर जल में भीगते ही उघड जाते हैं, वैसे ही गुरु के हृदय-कमल में ज्ञान[1] द्वारा अंकित विचार शिष्य के प्रश्न रूप शब्द[2] से निकल आते हैं ।

फहम फटकड़ी सौं लिखे, काया कागद माँहि ।
रज्जब भीगें जुक्ति जल, अक्षर देखे जाँहि ॥४९॥

कागज में फिटकरी से लिखे हुये अक्षर जल से भीगते ही दीखने लगते हैं, वैसे ही ज्ञान द्वारा अंतःकरण में अंकित विचार युक्ति पूर्वक प्रश्न करने से वाणी द्वारा बाहर आकर दीखने लगते हैं ।

रज्जब दर्श[1] दिसंतर[2] सौं चले, मत[3] मागहु[4] पड़ प्रान[5]।
नगर नाम आये सभी, मेला[7], रुचि घर[6] जान ।।५०।।

नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन षड् दर्शन[1] रूप प्रदेश[2] से इनके सिद्धान्त[3] रूप मार्ग[4] में आकर प्राणी[5] चलते हैं और सभी ईश्वर नाम-चिन्तन रूप नगर में आ जाते हैं फिर उनमें परमधाम[6] जाकर निज स्वरूप ब्रह्म में मिलन[7] की रुचि उत्पन्न होती है ।

रज्जब मनिषा[1] देही, मुक्ति मुख[2], आसै[3] बासा होय ।
चौरासी विष बंद सब, सरकि सकै नहिं कोय ।।५१।।

चौरासी लाख योनियों के जीव विषय-विष की पाश में बंधे हुये हैं, प्रभु की ओर किंचित भी नहीं चल सकते, मनुष्य[1] देह मुक्ति-महल का द्वार[2] है किन्तु इसमें से भी जहाँ की वासना[3] होती है वहाँ ही बस जाता है, ऐसा ही शास्त्र-संतों से सुनते हैं और अनुभव में आता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आसै आसण का अंग ६४
समाप्त: ।।सा० २०५५।।

अथ अन्तकाल अन्तराय ब्यौरा का अङ्ग ६५

इस अंग में अन्त समय में काल क्या विघ्न करता है, इसका विवरण कर रहे हैं—

कृष्ण दुर्वासा के शबद, जल जमुना दी बाट ।
त्यों अंतर अंतक समय, पुनि निरसंध सु ठाट ।।१।।

कृष्ण और दुर्वासा के वचन से यमुना जल ने फटकर मार्ग दिया था किन्तु पुनः वह पूर्ववत ही संधि रहित मिल गया था, वैसे ही काल आने के समय काल जीवात्मा और स्थूल शरीर को अलग २ कर देता है किन्तु पुनः उनका पूर्ववत ही मिलनरूप ठाट हो जाता है, बस इतना ही काल विघ्न करता है और आत्मा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, दृष्टांत कथा—गोपियाँ यमुना पार दुर्वासा के दर्शनार्थ जाना चाहती थीं किन्तु यमुना के अथाह जल से निकलना कठिन जानकर श्री कृष्ण से प्रार्थना की, श्री कृष्ण ने कहा—यमुना तट जाकर कहो—"कृष्ण ब्रह्मचारी हैं तो मार्ग दे दो" गोपियों ने जाकर कहा, यह सुनकर यमुना जल फट गया, गोपियाँ निकल कर दुर्वासा के पास गईं दर्शन करके भारी मात्रा में खाद्य सामग्री ले गईं थीं सो सब भेंट रक्खी दुर्वासा उस सब सामग्री को उसी समय खा गये, गोपियाँ लौटने लगीं तब प्रार्थना की—हम यमुना पार

कैसे जाँय, दुर्वासा—"आयीं कैसे थीं ?" गोपियों ने उक्त श्रीकृष्ण का वचन सुना दिया। दुर्वासा बोले--तट पर जाकर कहो—दुर्वासा अल्पाहारी हैं तो मार्ग दे दो, गोपियों ने वैसा ही किया यमुना जल ने मार्ग दे दिया, यही कथा इस साखी में दृष्टांत रूप में कही है।

भाव भूमि हलचल सु ह्वै, काल कष्ट भूचाल।
धर्म धातु धक्का नहीं, जन रज्जब थिर माल ॥२॥

भूचाल के समय पृथ्वी हिलती है किन्तु उसमें रहने वाली धातुओं की कुछ भी हानि नहीं होती, वह माल पृथ्वी में ही स्थिर रहता है वैसे ही काल का कष्ट आने पर अन्त:करण के भाव में ही हल-चल होती है, उसके धर्म की हानि नहीं होती, धर्म-धन ज्यों का त्यों स्थिर रहता है, इतना ही काल से विघ्न होता है।

रज्जब राहु केतु रवि रूप लिये, जल[1] चल[2] लिई न जाय।
त्यों अंतक[3] वश वपु दरसै, आतम भाव समाय ॥३॥

राहु-केतु ने चन्द्र-सूर्य का रूप तो बना लिया किन्तु उनका तेज[1] तथा चाल[2] तो नहीं ले सके, वैसे ही काल[3] के वश स्थूल शरीर ही देखा जाता है, जीवात्मा तो अपने भावानुसार ही जाता है तथा समाजाता है।

रुई बनौला खोसिये[1], ज्यों चरखी तल आय।
त्यों पिंड प्राण यम करि जुदे, बिच वित लिया न जाय ॥४॥

चरखी रूई से बिनौला छीन[1] कर नीचे डाल देती है, किन्तु रख नहीं सकती, वैसे ही यम शरीर और प्राण को अलग कर देता है किन्तु आत्म-धन को नहीं ले सकता।

बासे[1] अणबासे[2] पिलहिं, तिल तन कोल्हू काल।
खल हल[3] खुसी न खसबुई[4], तेल तुचा[5] खुलि खाल[6] ॥५॥

तिल पुराणे[1] हों वा नये[2] हों दोनों ही कोल्हू में पिलते हैं किन्तु कोल्हू उनका छिलका[5] उतार कर केवल खल ही छीन सकता है, गंध[4] तथा तेल नहीं, वैसे ही शरीर पुराणे हों वा नये हों काल उनकी चमड़ी[6] में से जीवात्मा को खोल देता है किन्तु जीव की गति[3] को नहीं रोक सकता।

नाम नाज आवे नहीं, अंतक समय रु काल।
जन रज्जब जोख्यूं[1] नहीं, जप कोठे होय सुकाल ॥६॥

नाज कोठे में हो तो सुकाल ही रहता है, दुष्काल का भय नहीं रहता और वैसे ही नाम-जप हृदय में हो तो यम के आने के समय हानि[1] की संभावना नहीं रहती।

सदा अमावस ना रहै, सदा न राहु हि ग्रास ।
तैसे संकट काल मुनि, पुनि रज्जब सु प्रकाश ।।७।।

न तो सदा अमावस रहती और न सदा चन्द्रमा को राहु ग्रसता है, चन्द्रमा में पुनः वही प्रकाश आ जाता है, वैसे ही मुनिजन को काल का संकट आता है, पुनः पूर्ववत ही आनन्द हो जाता है ।

महन्त[1] महोदधि[2] माँहि थिर, चंचलता तन तीर ।
रज्जब रीझ्या देखिकर, दोय स्वभाव शरीर ।।८।।

समुद्र[2] मध्य में तो स्थिर रहता है और तट पर चंचल रहता है, वैसे ही महान् संत[1] भीतर तो स्थिर रहते हैं और शरीर क्रिया शील होने से चंचल रहता है, ये दोनों स्वभाव एक शरीर में देखकर के ही हम संतों में अनुरक्त हुये हैं ।

रज्जब साधू ध्रुव मते[1], आसण अधर[2] अकाश ।
तन तोयं[3] की लहर में, तेउ चपल अभ्यास ।।६।।

संत ध्रुव के समान मतवाले[1] हैं, जैसे ध्रुव का आसन तो आकाश में अचल है किन्तु जल[3] की लहर में वे भी चंचल दीखते हैं, वैसे ही संत तो आत्म स्वरूप से ब्रह्म[2] में स्थिर हैं किन्तु शरीर की क्रिया रूप लहर में चंचलता का अभ्यास भी है ।

पिंड पान ज्यों हाल ही, विपति वात[1] की घात ।
महा पुरुष मन मूल मत, सो सुस्थिर दरसात ।।१०।।

वायु[1] के आघात से वृक्ष के पत्ते तो हिलते हैं किन्तु मूल नहीं हिलता, वैसे ही महा पुरुष का शरीर तो विपत्ति से हिल जाता है किन्तु मन तो मूल के समान स्थिर ही दीखता है ।

खंड खंड पिंड हिं करे, प्राण हि परे न राय[1] ।
त्यों विघ्न समय वाणी विकल, हेत हत्या नहिं जाय ।।११।।

काल शरीर के तो टुकड़े २ कर सकता है किन्तु प्राण में तो दरार[1] भी नहीं पड़ती, वैसे ही विघ्न के समय संत की वाणी तो विकल हो सकती है किन्तु उसका भगवत् प्रेम नष्ट नहीं हो सकता ।

काल नींद काया गहै, पै मन पवन वश नाँहि ।
यूं अंतर अंतक समय, रज्जब समझ्या माँहि ।।१२।।

काल और निद्रा शरीर को ही पकड़ते हैं, मन और प्राण काल के वश नहीं होते ऐसा ही विघ्न काल आने के समय होता है, यह हमने भगवत् कृपा से भीतर ही समझा है ।

शून्य[1] समीर[2] न फटि रहै, गोली गोलै गौन[3] ।
तैसे रज्जब प्राण पति, तो अंतक[4] अंतर कौन ।।१३।।

आकाश[1] में स्थित वायु[2] बंदूक की गोली और तोप के गोले के गमन[3] से फटकर आकाश से अलग नहीं रहता, वैसे ही प्राण पति में स्थित संत काल[4] के विघ्न से फटकर प्रभु से अलग नहीं रहता ।

अंतक[1] पड़े न अंतरा[2], जा सौं जीव की प्रीति ।
मीन माग जल चोट तकि, मिल जाणी रस[3] रीति ।।१४।।

जिससे जीव की प्रीति होती है, उससे मिलने में काल[1] से विघ्न[2] नहीं पड़ता, देखो, जल में चोट पड़ने से मच्छी के मार्ग में कहां विघ्न पड़ता है ? यह प्रेम[3] की रीति प्रेमियों ने प्रेम-पात्र में मिलकर ही जानी है ।

देही द्वारा[1] दहम[2] ह्वै, अंतक[3] लागै आग ।
प्राण पंखि सो ना जलै, देखि जाय उड भाग ।।१५।।

अग्नि लगने से धाम[1] तो जलजाता[2] है किन्तु पक्षी तो अग्नि को देखकर उड़ भागता है, वैसे ही देह तो काल[3] से नष्ट हो जाता है किन्तु जीवात्मा नष्ट नहीं होता, वह तो जिसमें प्रीति होती है उसी के पास भाग जाता है ।

अंतक[1] मनहुं पाहुणी[2] आग, प्राण लोह सौं रहै न लाग ।
आरंभ उठै उदंगल[3] आय, रज्जब रहै नहीं ठहराय ।।१६।।

काल[1] मानों अतिथि[2] रूप अग्नि के समान है, जैसे लोह में आने वाला अग्नि अतिथि के समान आकर आरंभ में तो उपद्रव[3] करता है, लोह को अग्नि वर्ण तथा अति उष्ण करके मैल जला देता है किन्तु लोह में ठहरता नहीं पुन: लोह पूर्ववत शीतल हो जाता है, वैसे ही काल आता है तब तो उपद्रव करता है किन्तु फिर प्राणी के साथ लगकर नहीं रहता शरीर नष्ट करके चला जाता है ।

रज्जब फिरत फिरत त्यौरी[1] फिरी, यथा तनय[2] तुछ[3] सुद्धि[4] ।
सो धर गिरि देखै भ्रमत, भोला भोली बुद्धि ।।१७।।

जैसे फिरते[२] बालक[२] की दृष्टि[१] फिर जाती है और किंचित[३] सुधि[४] रहती है तब वह घर, पर्वत आदि को भी फिरते देखता है, वैसे ही भोली बुद्धि के भोले प्राणी जिनको किंचित् ज्ञान होता है वे जीवात्मा को भी काल द्वारा नष्ट होता देखते हैं यह उनका भ्रम है, काल द्वारा स्थूल शरीर ही नष्ट होता है जीवात्मा नहीं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अंत काल अंतराय ब्यौरा का अंग ६५ समाप्त ।सा० २०७२।।

अथ पतिव्रत का अङ्ग ६६

इस अंग में पतिव्रत संबन्धी विचार कर रहे हैं—

पतिव्रता के पीव बिन, पुरुष न जन्म्या कोय।
त्यों रज्जब रामहिं रचै, तिनके दिल नहीं दोय ।।१।।

पतिव्रता के लिये अपने पति से अन्य कोई भी पुरुष नहीं जन्मता, वह अपने पति को ही पुरुष समझती है, वैसे ही जो संत राम में अनुरक्त है, उसके मन में दूसरे के लिये स्थान नहीं रहता।

आन पुरुष परसै नहीं, दोष न दे भरतार।
तो रज्जब राम हि भजो, तेत्तीसौं तिरस्कार ।।२।।

पतिव्रता अन्य पुरुष का स्पर्श नहीं करती और अपने पति को कोई प्रकार का दोष नहीं देती, तब हे साधको ! तुमको भी ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ अश्विनी कुमार इन तेतीस देवताओं की उपासना त्याग कर एक राम का ही भजन करना चाहिये।

सुर नर देवी देवता, सब जग देख्या जोय।
रज्जब नाहीं राम सा, सगा सनेही कोय ।।३।।

स्वर्ग के देवता, मनुष्य, ग्राम्य देवी-देवता आदि सब जगत् को दृष्टि फैलाकर देख लिया है, राम के समान प्रेमी-संबन्धी कोई भी नहीं है।

नक्षत्र रूप निरजर[१] सभी, पै तम न नैन नर नाश।
रज्जब रवि रमता द्रसै, जे नहिं करै प्रकाश ।।४।।

आकाश में सभी नक्षत्र हैं किन्तु जब तक सूर्य प्रकाश नहीं करते तब तक मनुष्य के नेत्रों के आगे का अंधकार नष्ट नहीं होता, वैसे ही सभी देवता[१] हैं परन्तु रमता राम के दर्शन बिना हृदय का अज्ञान नष्ट नहीं होता।

यथा नापिगा[1] नीर ले, सिन्धु समापत[2] जांहि ।
त्यों रज्जब सर्वस्व ले, सौंपै साहिब माँहि ॥५॥

जैसे सभी नदियाँ[1] अपना सब जल समुद्र को देकर तथा समुद्र में मिलकर समाप्त[2] हो जाती हैं, वैसे ही अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पण करके भक्त प्रभु में ही मिल जाते हैं ।

रज्जब रमता राम तज, जाय कहां किस ठौर ।
सकल लोक एक हि धरणि, नहिं साहिब कोउ और ॥६॥

सभी लोकों में एक ही तो पृथ्वी है, और स्वामी भी राम के बिना अन्य कोई नहीं है, तब रमता राम को त्याग कर कोई जाये तो कहाँ और किस स्थान पर जाये ?

रज्जब राजी एक सौं, दूजा दिल न समाय ।
देखो देही एक में, द्वै जीव रहै न आय ॥७॥

हम तो एक परमात्मा में ही अनुरक्त हैं, देखो, एक शरीर में दो जीव आकर नहीं रहते, वैसे ही हमारे मन में प्रभु से भिन्न दूसरा नहीं समाता ।

एक आतमा राम इक, एक हि हित चित होय ।
दूजा दोस्त क्यों करै, दिल दीन्हे नहिं दोय ॥८॥

एक ही आत्मा है, एक ही राम है, एक ही में चित्त का प्रेम होता है, अब दूसरा मित्र कैसे बनावे, प्रभु ने दो दिल दिये ही नहीं, अतः हमारा मित्र तो एक राम ही है ।

पन्नग[1] रहै पाताल में, अनल पंखि आकाश ।
त्यों बंदे[2] वस्तु हि लगे, दासातन[3] में दास ॥९॥

सर्प[1] पाताल में रहते हैं, अनल पक्षी आकाश में रहते हैं, दास सेवा[3] में लगे रहते हैं, वैसे ही भक्त[2] भगवान् रूप वस्तु के चिन्तन में लगे रहते हैं ।

दुनियाँ दिल दर्पण मई, सर्वरूप सम भाय ।
मो मन भया मुदाज शिल, मित्र मोर दरसाय ॥१०॥

सांसारिक प्राणियों के मन तो दर्पण रूप हैं, जैसे दर्पण के सामने आने पर सभी वस्तु अपने आकार के समान ही दर्पण में भासती हैं, वैसे ही सांसारिक प्राणियों के मन के सामने आने पर शत्रु-शत्रु रूप से और मित्र-मित्र रूप से भासते हैं इसी प्रकार सर्व भिन्न २ भासते हैं, किन्तु

मेरा मन तो मुदाज शिला (दर्पण के समान प्रतिविम्ब पड़ने वाले पत्थर) के समान हो गया है, जैसे मुदाज शिला के सामने कोई भी आवे उसमें तो उसके मित्र मोर का ही प्रतिविम्ब पड़ता है, वैसे ही मेरे मन के सामने कोई भी आवे इसमें तो मेरा मित्र ब्रह्म ही दीखता है। विशेष विवरण—मुदाज के सामने मोर आजाय तो वह पत्थर पानी हो जाता है और मोर उसे पान कर जाता है, वैसे ही संत को ब्रह्म साक्षात्कार होता है तब उसका जीवत्व भाव नष्ट हो जाता है और संत ब्रह्म में मिल जाता है।

रज्जब माया ब्रह्म मध्य, ठिक पावै है ठौर।
निश्चय बिन नर हरि निकट, बैठण लहै न और ॥११॥

पतिव्रत से तो माया तथा ब्रह्म में ठीक स्थान मिलता है, पतिव्रत रूप निश्चय बिना अन्य प्रकार से तो भगवान् अत्यन्त निकट होने पर भी उनमें स्थित होने को स्थान नहीं मिलता।

एक मिल्यूं सारे मिलै, सब मिल मिल्या न एक।
तातैं रज्जब जगत तज, बूझो[1] बडा विवेक ॥१२॥

एक परमात्मा मिल जाते हैं तो सभी मिल जाते हैं और परमात्मा नहीं मिलते तो सब मिलने पर भी एक भी नहीं मिलता, इसलिये जगत् के राग को छोड़कर महान् विवेक द्वारा परमात्मा को मिलने का ही यथार्थ साधन समझो[1]।

दोजख[1] विहिश्त[2] हि क्या करैं, जो अलह के यार[3]।
रज्जब राजी एक सौं, कामिल[4] इहै करार[5] ॥१३॥

जो ईश्वर के मित्र[3] हैं वे नरक[1]-स्वर्ग[2] का क्या करें, वे तो एक ईश्वर मिलन से ही प्रसन्न होते हैं, उनके योग्य[4] यही पण[5] है।

विहिश्त[1] न भावै आशिकूं[2], दीन[3] दुनी[4] रुचि नाँहि।
रज्जब राते रब्ब[5] सौं, एक बस्या मन माँहि ॥१४॥

ईश्वर के प्रेमियों[2] को स्वर्ग[1] अच्छा नहीं लगता, न दुनियाँ[4] के मजहबों[3] में ही उनकी रुचि होती, वे तो ईश्वर[5] में अनुरक्त रहते हैं, उनके मन में तो एक प्रभु ही बसे रहते हैं।

वैकुंठहि बींदैं[1] नहीं, सो विषया क्यों लेहि।
रज्जब राते राम सौं, और हिं उर[2] क्यों देहि ॥१५॥

जो वैकुण्ठ-सुख के राग में भी नहीं फँसते[1] वे साधारण विषय सुख को क्यों ग्रहण करेंगे ? वे तो राम में ही अनुरक्त रहते हैं, और को अपना हृदय[2] क्यों देंगे ?

सिंह न सूंघै घास को, बहुत होंहि उपवास ।
त्यों रज्जब दीदार[1] बिन, कछू न चाहै दास ॥१६॥

सिंह के बहुत-से उपवास हो जायँ तो भी वह खाने के लिये घास को नहीं सूंघता वैसे ही परमात्मा के दर्शन[1] बिना भक्त कुछ भी नहीं चाहता ।

दरस बिना जो दीजिये, सो ले मूरख दास ।
वैकुण्ठ सहित वसुधा मिल्यूं, रज्जब रहा उदास ॥१७॥

परमात्मा के दर्शन बिना जो दिया जाय उसे मूर्ख भक्त ही लेता है, विचारशील भक्त तो वैकुण्ठ के सहित सब पृथ्वी मिलने पर भी उदास ही रहा है प्रसन्न नहीं हुआ ।

रज्जब रिधि सिधि निधि सभी, लह्यूं लह्या कुछ नाँहि ।
जब लग आतम राम सौं, मेला नाँहीं माँहि ॥१८॥

ऋद्धि, सिद्धि, निधि आदि सब कुछ प्राप्त कर लिया हो और भीतर आत्मा तथा राम का मिलन नहीं हुआ हो तो कुछ भी प्राप्त नहीं किया है, यही यथार्थ दृष्टि है ।

असंख्य लोक रिधि सिधि सहित, जीवहिं दे जगदीश ।
रज्जब रीति राम बिन, आतम विसवाबीस[1] ॥१९॥

ऋद्धि-सिद्धि के सहित असंख्य लोक जीव को जगदीश्वर दें तो भी वह जीवात्मा ब्रह्म के साक्षात्कार बिना निश्चय[1] पूर्वक खाली ही रहेगा ।

रीती[1] रामत[2] राम बिन, खलक[3] सु खाली खेल ।
सुरपुर[4] नरपुर[5] नागपुर[6], कदरज[7] क्रीड़ा[8]-केल[9] ॥२०॥

राम की प्राप्ति बिना संसार भ्रमण[2] खाली[1] है अर्थात् व्यर्थ है, सब संसार[3] खाली खेल के समान है, स्वर्ग[4] मर्त्यलोक[5], और भोगवती[6] कंजूस[7] के आगे खेल[8] करने के समान हैं, जैसे कंजूस के आगे खेल[9] करने पर कुछ भी नहीं मिलता, वैसे ही उक्त लोकों में कुछ भी शान्ति नहीं मिलती, शान्ति तो राम की प्राप्ति होने पर मिलती है, अन्यथा नहीं मिलती ।

रज्जब जंहि खड़ जड़ घणी, सो सूखे तत्काल ।
डाभ[1] उन्हाले[2] में हरया, एकहि मूल पताल ॥२१॥

जिस खड़ के पौधा के बहुत-सी जड़ें होती हैं, वह तो शीघ्र ही सूख जाता है और कुशा[1] की एक ही जड़ पृथ्वी में गहरी चली जाती है इससे

जल के सम्पर्क से नहीं सूखती, ग्रीष्म[2] ऋतु में भी कुशा हरी रहती है, वैसे ही पतिव्रत शून्य तो शीघ्र नष्ट होते हैं और जिसकी वृत्ति पतिव्रतयुक्त राम में गहरी प्रवेश कर जाती है वह ब्रह्म को प्राप्त होकर सदा आनन्दित रहता है।

रज्जब वर्षत वन हरचा, तृण तरुवर गति दोय।
इक सूखे इक सजल अति, उभय[1] उन्हाले[1] जोय[3] ॥२२॥

वर्षने पर सब वन हरा हो जाता है किन्तु आगे तृण और बड़े वृक्षों की दो गति होती है, उन दोनों[1] को ग्रीष्म[2] ऋतु में देखो[3], तृण तो सूख जाते हैं और बड़े वृक्षों की जड़ सजल भूमि में गहरी रहने से नहीं सूखते, वैसे ही जिनकी वृत्ति पतिव्रतयुक्त राम में गहरी रहती है, वे सदा आनन्द में ही रहते हैं।

अठार भार विधि आदमी, मही सु मनसा[4] बंधि[1]।
शब्द सलिल[2] जड़ जाणिबा, हेरि लहै सो संधि[3] ॥२३॥

अठारह भार वनस्पति पृथ्वी में बंधी[1] रहती हैं, तब ही उनकी जड़ जल[2] मिलने[3] के स्थान को खोजकर जल को प्राप्त करती है, वैसे ही जो मानव विचार[4] में बंधा रहता है अर्थात् लगा रहता है वह महावाक्य रूप शब्द के द्वारा ब्रह्म को जानकर उससे मिलता है।

रवि शशि गहिये गगन में, पन्नग[1] गह्या पाताल।
रज्जब रहिये शरण कहीं, भू धूजें भूचाल ॥२४॥

आकाश में चन्द्र-सूर्य को राहु-केतु ग्रहण करते हैं, पाताल में सर्प[1] पकड़े जाते हैं और पृथ्वी भी भूचाल आने से कंपायमान होती है, तब किसकी शरण में रहें? एक परमात्मा का पतिव्रत रखने से ही रक्षा हो सकती है।

ब्रह्मा विष्णु महेश के, शरणे कुशल[1] न कोय।
तो रज्जब तेतीस तज, राखण हार सु जोय ॥२५॥

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव की शरण में कोई आनन्द-मंगल[1] नहीं है तब ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ अश्विनीकुमार इन ३३ देवताओं को भी त्याग कर रक्षक परमात्मा को ही देखने के लिये पतिव्रत पूर्वक सम्यक् साधन कर।

शिव शिर गह्या सु चन्द्रमा, ब्रह्मा रह्या न वेद।
राम कृष्ण रमणी गमी, रज्जब पाया भेद ॥२६॥

शिव के शिर में रहने पर भी चन्द्रमा राहु द्वारा पकड़ा जाता है, ब्रह्मा से भी वेद की रक्षा नहीं हो सकी दैत्य हर ले गये, राम की पत्नी रावण द्वारा हरी गई कृष्ण की पत्नियों को आभीरों ने हर लिया, अतः यह रहस्य हमें मिल गया कि निर्गुण परमात्मा में पतिव्रत रखने से ही रक्षा हो सकती है।

गोपी लूटी कृष्ण की, रावण ले गयो सीत।
रज्जब रहिये शरण किहि, सुन जु भये भयभीत ॥२७॥

कृष्ण की गोपियों को आभीरों ने लूटा, सीता को रावण ले गया, यह सुनकर भय से डर गये हैं, अब किस की शरण रहैं ?

सीता शील सुला[1] किया, दिब[2] दे आनी जब्ब।
रज्जब जानी राम की, सकलाई[3] तब सब्ब ॥२८॥

जब सीता के शीलव्रत के दोष[1] का अन्वेषण किया और उसे दिव्य[2]-अग्नि परीक्षा द्वारा अपनाई तब ही राम की सब शक्ति[3] का पता लग गया था, यदि सर्वज्ञ थे तो परीक्षा क्यों करते ? अतः निर्गुण राम में ही पतिव्रत रखना चाहिये। यह साखी अंग ४७-१०१ में आ भी चुकी है।

शिव शिर पर शशि संग्रह्या, राहु केतु ने आय।
तो शरणे तेतीस में, रज्जब किसके जाय ॥२९॥

शिव के शिर में स्थित चन्द्रमा को राहु ने और आकाश में स्थित सूर्य को केतु ने जा पकड़ा तब ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ अश्विनी कुमार इनमें से प्राणी किस की शरण में जाय ?

रइयत[1] रमता राम की, तेतीसहुं शिरताज।
बास बसे बलवंत के, जा शिर और न राज ॥३०॥

जो चौरासी लाख योनियों में शिरोमणि दीखते हैं, वे ३३ देवता भी रमता राम की प्रजा[1] हैं, जिसके शिर पर और राजा नहीं उसी परमात्मा रूप बलवान् के धाम में ही पतिव्रत-युक्त भजन द्वारा प्राणी को बसना चाहिये।

चाकर राम रहीम के, अविनाशी का दास।
सुर नर शोधे शेष लग, उर न और की आश ॥३१॥

जिसके सभी देवता नौकर हैं और जिसको राम तथा रहीम कहते हैं, उस अविनाशी ब्रह्म का ही मैं दास हूं, देवता, नर और शेष नाग तक खोज लिये हैं किन्तु हमारे हृदय में प्रभु से भिन्न अन्य की आशा नहीं है।

पैगम्बर सब परिहरे, मालिक[1] सौं मो[2] हीत[3] ।
रज्जब फारिग[4] कुल्ल[5] सौं, मकसूदी[6] रस[7] रीत ॥३२॥

मैंने सब पैगम्बरों को त्याग दिया है, मेरा[2] प्रेम[3] तो एक परमात्मा[1] में ही है, कुटुम्ब[5] से भी निश्चित[4] हूँ, यही प्रेमियों के मतलब[6] के प्रेम[7] की रीति है ।

साहिब सौं पैदा भये, साहिब सौं नापैद[1] ।
रज्जब तिस की बंदगी, दूजे की क्या कैद ॥३३॥

परमात्मा से उत्पन्न हुये हैं और परमात्मा से ही नष्ट[1] होंगे, तब उसी की भक्ति करना चाहिये, दूसरे की कैद में क्यों पड़ना है ?

फरद[1] खुदा की बंदगी[2], सुन्नत[3] किसकी होय ।
रज्जब यूं हैरान है, कछु साहिब है दोय ॥३४॥

अद्वितीय[1] परमात्मा की भक्ति[2] करना है, चाहे भक्ति करने की रीति[3] किसी की भी हो, जो कुछ लोग अपनी २ रीति का आग्रह करते हैं कि ऐसे ही करो, उसे देखकर हमें आश्चर्य होता है, क्या परमात्मा दो हैं ? किसी भी रीति से भक्ति करो भक्त उसी एक को ही प्राप्त होगा ।

कहैं नमाज[1] खुदाय की, नमैं सु मक्कै ओर ।
रज्जब यूं[2] हैरान है, कछू अलह पैठा[3] गौर ॥३५॥

कहते तो हैं खुदा की उपासना[1] करते हैं और मस्तक नमाते हैं मक्का की ओर, ऐसा[2] देखकर हमें आश्चर्य होता है, क्या अल्लाह कब्र में घुसा[3] हुआ है ?

रज्जब साँई सुमिरतों, सिध साधक सब हस्त ।
जैसे सलिता समुद सौं, अचई[1] आनि[2] अगस्त ॥३६॥

जैसे अगस्त्य समुद्र को पान करते २ उसमें आने वाली अन्य[2] नदियों का जल भी पान[1] कर गये थे, वैसे ही परमात्मा का स्मरण करते २ साधक सिद्ध हो जाते हैं और उनके हाथ में सब सिद्धियाँ भी आजाती हैं ।

डाल पान फल फूलके, जड़ सींचे संतोष ।
त्यों रज्जब राम हिं भज्यों, सुर नर धर हिं न दोष ॥३७॥

वृक्ष की जड़ में जल सींचने से डाल, पत्ते, फूल, फल, इन सबको ही पोष मिलकर संतोष होता है, वैसे ही राम का भजन करने से सुर, नर आदि सभी को संतोष होता है. कोई भी भक्त को दोष नहीं लगाते ।

सब संतन की राशि हरि, सोइ पुंज[1] उर धारि ।
यूं रज्जब सब सेइये, गुरु मुख ज्ञान विचारि ।।३८।।

सभी संतों की धन-राशि हरि हैं, उसी राशि[1] को हृदय में धारण कर । इस प्रकार सभी संतों के उपास्य की सेवा होने से सभी की सेवा हो जाती है, किन्तु गुरु-मुख ज्ञान-विचार द्वारा ही ऐसा होता है ।

जैसी विधि पय[1] पान कर, घीव दधि तक्र पीन[2] ।
तैसी विध हरि सौं मिले, सो रज्जब सब लीन[3] ।।३९।।

जिसप्रकार दूध[1] पीने से धृत, दही, छाछ, सभी पी[2] लिये जाते हैं, उसी प्रकार जो हरि से मिल जाता है, वह सभी को प्राप्त कर लेता[3] है ।

सांई में जो आइया, साधू दिल सु[1] समाय ।
ज्यों रज्जब अक्षर पढे, लग[2] भी बाँची जाय ।।४०।।

जैसे अक्षर पढ़ने के साथ मात्रा[2] भी पढी जाती है, वैसे ही संत हृदय में प्रभु का ध्यान करते हैं तब जो प्रभु में आया हुआ है सो[1] साधु के हृदय में भी आ जाता है, अतः पतिव्रतपूर्वक भजन करने से संत ब्रह्मरूप हो जाता है ।

पुहमि[1] पड्या पाणी पिवहिं, पक्षी प्राण[2] अनेक ।
रज्जब अंभ[3] अकाश का, सो सारंग[4] ले एक ।।४१।।

पृथ्वी[1] पर पड़ा जल तो अनेक पक्षी पीते हैं किन्तु जो आकाश का जल[3] स्वाति बिन्दु है उसे तो एक चातक[4] पक्षी ही पीता है, वैसे ही सगुण को तो अनेक प्राणी[2] पतिव्रतपूर्वक भजते हैं किन्तु निर्गुण को पतिव्रत-पूर्वक कोई विरला ही भजता है ।

जतन[1] सीप सुत[2] का गहै, यूं मन राखै साध ।
सलिल शक्ति[3] परसे[4] नहीं, पूरण बुद्धि अगाध ।।४२।।

जैसे सीप मोती[2] की रक्षा का साधन[1] रखती है, समुद्र के जल को मोती से स्पर्श नहीं होने देती, वैसे ही पूर्ण तथा अगाध बुद्धि वाले सन्त मन को माया से बचाने का साधन ग्रहण करते हैं, जिससे उनके मन को माया[3] नहीं छू[4] सकती ।

चातक का पतिव्रत गहैं, सीर[1] स्वाति ही माँहि ।
रज्जब सर सलिता भरे, ता को भावे नाँहि ।।४३।।

संत चातक पक्षी का-सा पतिव्रत ग्रहण करते हैं, जैसे चातक का साझा[1] आकाश के स्वाति जल में ही होता है, पृथ्वी पर चाहे कितने ही तालाब, नदी, नद भरे हों उसे उनका जल अच्छा नहीं लगता, वैसे ही निर्गुण उपासक सन्त का साझा तो निर्गुण राम के भजन में ही होता है, सगुण चाहे कितना ही सुन्दर हो उसे प्रिय नहीं लगता ।

पानी सौं पतिव्रत गहै, मीन रहै मन लाय ।
रज्जब खेलै बहुत विधि, बाहर कदे न जाय ।।४४।।

मच्छी जल के साथ पतिव्रत ग्रहण करती है, सदा मन लगाकर जल में ही रहती है, जल के भीतर बहुत प्रकार से खेलती है, किन्तु जल के बाहर कभी भी नहीं जाती, वैसे ही संत प्रभु से पतिव्रत रखते हैं, उसी के चिन्तन में मन लगाकर रहते हैं, नाना सत्कर्म भी करते हैं किन्तु प्रभु का भजन नहीं छोड़ते ।

गहि पतिव्रत पाषाण का, आगि रह्या उर लाय ।
रज्जब युग जल में भये, पाणी मिल्या न जाय ।।४५।।

अग्नि पत्थर का पतिव्रत ग्रहण करके उसमें रहता है, पत्थर को जल में रहते हुये युग व्यतीत हो गये किन्तु अग्नि जल से नहीं मिला पत्थर में ही रहा, वैसे ही संत राम का पतिव्रत ग्रहण करके संसार में रहते हैं किन्तु संसार में नहीं मिलते निरंतर हृदय में राम का ही चिन्तन करते रहते हैं ।

छाया रूपी व्रत गही, रही तु चेतन लागि ।
रज्जब दुख सुख संग सो, कदे न जाई भागि ।।४६।।

छाया के समान पतिव्रत ग्रहण करना चाहिये, जैसे छाया दुःख सुख में सदा साथ रहती है, कभी भी छाया वाले को नहीं त्यागती, वैसे ही चेतन परमात्मा का चिन्तन सुख दुःख आदि सभी समय में करना चाहिये, चिन्तन द्वारा प्रभु के संग रहना चाहिये, कभी भी चिन्तन छोड़कर वृत्ति विषयों में नहीं भागनी चाहिये ।

ज्यों जल मीन भुजंग मणि, दोऊ पतिव्रत माँहि ।
मीन मुदित औरे जलै, सर्प और मणि नाँहि ।।४७।।

मच्छी और सर्प दोनों जल और मणि का पतिव्रत रखते हैं, मच्छी तो घट-जल में डालकर दूसरे तालाब में डालने से भी प्रसन्न रहती है किन्तु सर्प दूसरी मणि से प्रसन्न नहीं होता, सर्प के समान ही संत निर्गुण राम से पतिव्रत रखते हैं ।

रज्जब ताकहु[1] तोर[2] ही, पहुप प्रीति पर जोय[3] ।
शशि सज्जन संग जीवते, सूर समय शिर खोय ॥४८॥

जो[3] पुष्प की प्रीति है उस पर अपने नेत्रों[2] से देखो[1], चन्द्रमुखी कमल के पुष्प अपने सज्जन चन्द्रमा के साथ तो जीवित रहते हैं अर्थात् खिले रहते हैं और सूर्य उदय होने पर उनके सिरे की शोभा नष्ट हो जाती है, वैसे ही संतों का चित्त निर्गुण राम के चिन्तन से तो प्रसन्न रहता है और सांसारिक चिन्तन से विक्षिप्त होता है ।

सूरज वंशी कमलनी, शशि देखे कुमिलाय ।
त्यूं रज्जब बरतै राम सौं, दूजा दिल न समाय ॥४९॥

सूर्य बंशी कमलिनी जैसे चन्द्रमा को देखकर कुम्हला जाती है, वैसे ही हमारा राम से बरताव है, राम के बिना हमारे हृदय में भी दूसरा नहीं समाता ।

सीप समुद्र हि पीठदे, मुख कीन्हा दिशि मेह[1] ।
रज्जब विरची[2] वारि निधि, स्वाति बूंद के नेह ॥५०॥

सीप समुद्र को पीठ देकर बादल[1] की ओर मुख करती है, समुद्र जल से विरक्त[2] होकर स्वाति विन्दु से प्रेम करती है, वैसे ही संत संसार को पीठ देकर भगवान् की ओर वृत्ति लगाते हैं, विषयों से विरक्त होकर भजन-वैराग्य द्वारा भगवान् में प्रेम करते हैं ।

रज्जब केलि सीप सारँग के, स्वाति बूंद आधार ।
छंट छंट में छानिले[1], धन्य पतिव्रत व्यवहार ॥५१॥

केला (एक जाति के केले में स्वाति विन्दु से कपूर बनता है अन्य विन्दु से नहीं बनता) सीप और चातक पक्षी, इनके स्वाति विन्दु का ही आधार है, ये विन्दु-विन्दु की परीक्षा[1] करके लेते हैं, स्वाति से भिन्न विन्दु को नहीं लेते, पतिव्रत व्यवहार को धन्यवाद है, वैसे ही संत राम से भिन्न को उपास्य रूप से ग्रहण नहीं करते ।

सीप विभीषण का वरत, वरतहुं पाल्या अंक[1] ।
स्वाति मुकत उनको दिये, उनहिं समर्पी लंक ॥५२॥

सीप और विभीषण का पतिव्रत देखो, उन्होंने पूर्ण रूप से पालन किया तभी स्वाति और राम के समीप[1] गये, स्वाति ने सीप को मोती दिया और राम ने विभीषण को लंका का राज्य दिया, वैसे ही जो प्रभु से पतिव्रत रखते हैं उनकी भी इच्छा पूर्ण होती है ।

सारँग[1] सीप सरोज[2] के, पतिव्रत देखहु दीठ[3] ।
त्यों रज्जब रहि राम सौं, ब्रह्माण्ड पिंड दे पीठ ।।५३।।

चातक[1] पक्षी, सीप और कमल[2] के पतिव्रत को अपनी दृष्टि[3] से देखो. चातक तथा सीप स्वाति बिन्दु बिना अन्य जल नहीं पीते, चन्द्रमुखी तथा सूर्य मुखी कमल चन्द्र और सूर्य के अभाव में नहीं खिलते, वैसे ही ब्रह्माण्ड तथा शरीर को पीठ देकर अर्थात् ब्रह्माण्ड के विषयों के राग को और शरीराध्यास को त्यागकर राम से पतिव्रत रक्खो ।

रज्जब दोस्त दीप का, शशि संतोष न भान ।
जा सौं रत तासौं रजू[1], लघु दीरघ नहिं जान ।।५४।।

दीपक के मित्र पतंग को चन्द्र-सूर्य से सन्तोष नहीं होता, अत: यह निश्चय जानो, जिसकी जिसमें प्रीति होती है वह उसी से प्रसन्न[1] होता है अन्य से नहीं, वह चाहे छोटा हो वा बड़ा ।

लघु दीरघ समझै नहीं, प्राण प्रीति तहँ जाय ।
देख दिवाकर[1] को तजै, दीप पतंग समाय ।।५५।।

प्राणी की जहाँ प्रीति होती है, वहां ही जाता है, वह छोटे-बड़े का विचार नहीं करता, देखो, पतंग सूर्य[1] को छोड़कर दीपक में ही पड़ता है ।

सुहागै सोना मिलै, कंचन अमिल कपूर ।
देखो किहि ठाहर निकट, किहि ठाहर सों दूर ।।५६।।

सोना सुहागा में मिलता है किन्तु वही सोना कपूर में नहीं मिलता, वैसे ही देखो, प्राणी किसी के तो पास रहता है और किसी से दूर रहता है ।

आँखिन सिदक[1] निश्चय निसंध[2],
अडिग अडोल[3] अबिहड़[4] दृढ़ बंध ।
ठीक पतिव्रत अखंडित प्रीति,
नाम अनन्त एक रस[5] रीति ।।५७।।

ज्ञान-नेत्रों से सत्य[1] का निश्चय करके, सन्धि[2] रहित, अडिग, अचंचल[3], व्यापक[4] ब्रह्म में अखंडित प्रीति द्वारा अच्छी प्रकार दृढ़ पतिव्रत बाँधना चाहिये, उसके नाम तो अनन्त हैं किन्तु उनसे मिलने वाला आनन्द[5] एक ही है ।

जिन बातों साहिब खुशी, रज्जब राजी होय ।
पतिव्रता सो जानिये, जाके एक न दोय ।।५८।।

जिन बातों से प्रभु प्रसन्न होते हैं, हम भी उन्हीं से राजी हैं, पतिव्रता उसी को समझना चाहिये, जिसके हृदय में एक ही रहे, दूसरा नहीं आवे।

तन मन की मेटै खुशी, आतम आज्ञा माँहि।
सो रज्जब रामहि मिले, उर में और सु नाँहि ।।५६।।

जो जीवात्मा इन्द्रियरूप तन और मन की प्रसन्नता के हेतु विषय राग को मिटाकर प्रभु की आज्ञा में रहता है, उसके हृदय में दूसरा नहीं आता, अतः वह राम को ही प्राप्त होता है।

संतति आभों शून्य की, तोयं[1] तरुण[2] विवेक।
त्यों रज्जब रम रजा में, अपणी दोय न एक ।।६०।।

आकाश की संतान बादल जलयुक्त[1] होना रूप युवावस्था[2] को प्राप्त होने पर भी आकाश से अलग नहीं होते, वैसे ही पूर्ण विवेक होने पर भी अपनी दूसरी इच्छा न प्रकट करके एक प्रभु की आज्ञा में ही चलना चाहिये।

साधू चलें सु राम रुचि, अगम अगोचर भाय।
रज्जब रत सौं रत्त ह्वै, विरतों निकट न जाय ।।६१।।

संत राम की इच्छा से चलते हैं, वे अगम अगोचर राम का प्रेम हृदय में रखते हुये प्रेम करने वाले से प्रेम करते हैं और उनसे जो उपराम रहता है उसके पास नहीं जाते, उदासीन रहते हैं।

रज्जब मिलते सौं मिलै, अन मिलते न मिलाय।
सांई साधू एक गति[1], नर देखो निरताय[2] ।।६३।।

हे नरो ! विचार[2] करके देखो, परमात्मा और संतों की एक-सी ही चेष्टा[1] होती है, दोनों मिलना चाहता है उससे तो मिलते हैं, नहीं मिलना चाहता उससे नहीं मिलते।

अण मिलतों सौं अण मिलै, मिलतों सेती मेल।
यूं रज्जब जन की दशा, पतिव्रता का खेल ।।६४।।

परमात्मा नहीं मिलना चाहते उन से नहीं मिलते, मिलना चाहते हैं उनसे मिलते हैं, ऐसी ही परमात्मा के भक्त की दशा होती है और पतिव्रता का चर्यारूप खेल भी ऐसा ही होता है, वह भी पति के अनुकूल ही चर्या रखती है।

रज्जब एकों एक है, अनेकों सु अनेक।
सांई सेवक एक मत, यहु पतिव्रत सु विवेक ।।६४।।

एक पतिव्रत वाले के लिये तो एक प्रभु ही उपास्य हैं, और जिनके हृदय में अनेकों का राग है, उनके लिये अनेक हैं, प्रभु और सेवक का एक मत होना अर्थात् प्रभु की इच्छा में सेवक की इच्छा होना, यही पतिव्रत का सुन्दर विवेक है।

एक सौं एक दूजे सौं दूजा, रज्जब राम खुशी इहिं पूजा ॥६५॥

अद्वैत ब्रह्म की पूजा उससे एक होकर करना और दूसरे की पूजा दूसरा होकर करना, इस प्रकार की पूजा से ही राम प्रसन्न होते हैं।

रोजा राखै द्वार दश, वरत करै वश पंच।
जन रज्जब नित नियम यहु, लगे नहीं यम अंच[1] ॥६६॥

दश द्वारों को ठीक संयम से रखना यही रोजा करना है, पाँच ज्ञानेन्द्रियों को वश में करना ही व्रत करना है, यह नित नियम करने वाले के यम की चोट[1] नहीं लगती।

व्रत नहिं छाडे राम को, व्रत नहिं भुगतै काम।
व्रत न मद्य मांसहि भखे, नमे न निर्जर धाम ॥६७॥

राम का भजन न छोड़ना व्रत है, नारी को कामुकता से न भोगना व्रत है, मद्य न पीना व्रत है, मांस न खाना व्रत है, देवताओं को उपास्य मानकर नमस्कार न करना व्रत है, यही पांच व्रत श्रेष्ठ हैं।

गंठ जोड़ा गुरु ज्ञान कर, हथलेवा हरि हेत।
रज्जब भामिनि[1] भाम[2] ने, भाँवरि भरि भरि लेत ॥६८॥

जैसे नारी[1] पति को विवाह संस्कार द्वारा प्राप्त करती है, वैसे ही संतों की वृत्ति भामिनी गुरु-ज्ञान का गंठ जोड़ा और हरि-प्रेम का हथलेवा करके अपने प्रियतम[2] परमेश्वर के स्वरूपाकार होना रूप भाँवरि भर-भर के उन्हें प्राप्त करती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पतिव्रत का अंग ६६
समाप्तः ॥सा०२१४०॥

अथ सर्वंगी पतिव्रत का अंग ६७

इस अंग में मर्यादानुसार सब कुछ करते हुये भी पतिव्रत रखना सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

सूरज देखे सकल दिशि, चलिबे को दिशि एक।
त्यों रज्जब रहि राम सौं, यहु गहि वरत विवेक ॥१॥

सूर्य सभी दिशाओं को देखते हैं किन्तु चलते एक ही दिशा को हैं, वैसे ही सभी कर्तव्य कर्म करते हुये विवेक पूर्वक राम का पतिव्रत ग्रहण करके रहना चाहिये।

गिरद[1] फिरै इक दिशि गमन, चितव[2] चक्र की चाल।
त्यों रज्जब सब दिशि समझ, पाया पंथ निराल[3] ॥२॥

चक्र की चाल को देखो[2], चारों[1] ओर फिरता है किन्तु चलता एक ही दिशा में है, वैसे ही संतों ने सभी दिशाओं में परमात्मा को समझकर कर्तव्य कर्म करते हुये सर्वंगी पतिव्रत रूप विलक्षण[3] मार्ग पकड़ा है।

प्राण[1] पवन सब दिशि फिरैं गमन गगन को होय।
जन रज्जब चलि ओर यहु, विगति[2] बघूला जोय ॥३॥

वायु सब ओर फिरता है किन्तु चलता आकाश की ओर ही है, वैसे ही भक्त प्राणी[1] फिरता तो सभी ओर है किन्तु गमन उसका प्रभु की ओर ही होता है, वायु के बघूले की विशेष गति[2] को देख, वह सब ओर फिरता है किन्तु चलता एक ही ओर है, वैसे ही सभी कर्तव्य कर्म करते हुये यह सर्वंगी पतिव्रत धारण करके प्रभु की ओर ही चल।

ढोल बोल सब दिशि परस[1], करी सैन[2] दिशि सैल[3]।
जन रज्जब सर्वंग[4] मिलि, गही गिरा गुरु गैल[5] ॥४॥

ढोल की ध्वनि सभी दिशाओं को स्पर्श[1] करती हुई जिधर वायु की गति रूप संकेत[2] होता है उधर ही गमन[3] करती है, वैसे ही साधक की वृत्ति साधनों में भ्रमण करती हुई गुरु की वाणी का संकेत होता है उसी मार्ग[5] से जाकर सर्वङ्गी पतिव्रत द्वारा सभी विश्व जिसका अंग है उन प्रभु[4] से मिलती है।

रज्जब बुद्धि बूटि[1] ब्रह्माण्ड पिंड, रम रग-रग सब अंग।
यहु सर्वंगी पति वरत, हरि बिछोह दुख भंग[2] ॥५॥

जैसे औषधि[1] शरीर के सभी अंगों की रग-रग में रमती है, वैसे ही बुद्धि ब्रह्माण्ड में रमती है, किन्तु हरि के वियोग का दुःख तो यह सर्वंगी पतिव्रत ही नष्ट[2] करता है।

रज्जब निज जन नापिगा[1], सब दिशि फिरतीं जाँहि।
वेत्ता[2] बंक न बींद[3] हीं, फिर घर[4] दरिया माँहि ॥६॥

भगवान् के निजी जन नदियों[1] के समान हैं, जैसे नदियाँ सभी दिशाओं में फिरती हुई समुद्र में चली जाती हैं अपनी वक्र गति से बीच

में नहीं रुकतीं, वैसे ही ज्ञानी[2] जन कर्त्तव्य कर्म करना रूप वक्रता से विद्ध[3] होकर बीच में नहीं रुकते, कर्मों में विचरते हुये भी सर्वंगी पतिव्रत द्वारा ही परम धाम[4] को जाते हैं ।

त्रिविधि भांति जिव रँग धरे, धनु[1] हरि[2] देख अकाश ।
एकै ठाहर एक[3] सों, अविगत[4] आभों[5] पास ।।७।।

देखो, आकाश में इन्द्र[2] धनुष[1] तीन प्रकार का रंग धारण करता है किन्तु रहता बादलों[5] के पास एक स्थान में ही है, वैसे ही सर्वंगी पतिव्रत-युक्त जीव-कर्म, भक्ति, ज्ञान रूप तीन रंग धारण करता है किन्तु अद्वैत[3] निष्ठा द्वारा रहता परब्रह्म[4] में ही है ।

पोसत पहुपों बहु वरण[1], अमल[2] अकारों[3] एक ।
तो भेषों भोला[4] न कछु, वेत्ता[5] करो विवेक ।।८।।

पोस्त के पुष्प तो बहुत रंग[1] के होते हैं किन्तु उसके डोडों से निकलने वाला अफीम[2] तो एक ही रंग[3] का होता है, वैसे ही हे अनसमझ[4] ! सर्वंगी पतिव्रत वाले साधकों के भेष चाहे विभिन्न हों, उनसे कुछ हानि नहीं होती, ज्ञानी[5] जनों से विवेक प्राप्त करो फिर तुम्हें यह रहस्य ज्ञात होगा ।

जन रज्जब वपु बहु वरण, जल चर देखो जोय ।
नीर नेह अरु तिरण गति, सब को एक हि होय ।।९।।

जो जलचर हैं उनको देखो. उनके शरीर बहुत रंगों के होते हैं किन्तु जल से प्रेम और तिरने का प्रयत्न सबका एक ही होता है, वैसे ही सर्वंगी पतिव्रत वालों के शरीर किसी वर्ण के हों, उनका प्रभु में प्रेम और प्रभु की ओर गमन एक ही होता है ।

देखो सुरही[1] संत जन, तिन तनु[2] रूप अनेक ।
पुनि पय[3] प्यार असंख्य के, रज्जब दरशै एक ।।१०।।

देखो, गायों[1] के शरीरों के श्वेत, श्याम आदि अनेक रंग रूप होते हैं किन्तु दूध[3] सब का एक ही रंग का होता है, वैसे ही संतजनों के शरीरों[2] के रूप भी अनेक प्रकार के होते हैं किन्तु असंख्य संतों में प्रभु का प्रेम एक ही होता है, वैसे ही सर्वंगी पतिव्रत सबसे होता है ।

षट् दर्शन[3] पक्षै सु पर, बहु वरणै बहु वीर[1] ।
रज्जब अज्जब यहु मता[2], सुमिरन एक शरीर ।।११।।

नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन ६ भेषधारियों[3] के पक्ष में पड़कर बहुत-से भाई[1] बहुत रंगों के भेष धारण करते हैं किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त[2] बड़ा अद्भुत है कि उनके सब शरीरों में प्रभु का स्मरण एक ही रहता है, वैसे ही सर्वंगी पतिव्रत सब में एक ही होता है ।

अधिपति[1] लावै अरगजा, सकल सुगंधों सान[2] ।
त्यों षट् दर्शन[3] सौं खुशी, भेद[4] भजन की मान ॥१२॥

केशर, चंदन, कपूर आदि सभी सुगंधित द्रव्यों को मिला[2]कर अरगजा बनाते हैं और उसे राजा[1] लोग सुगंधि के लिये शरीर पर लगाकर हर्षित होते हैं, वैसे ही नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष इन ६ भेषधारियों[3] के भजन के रहस्य[4] की युक्ति मानकर संतजन हर्षित ही होते हैं, उससे सर्वंगी पतिव्रत में बाधा नहीं पड़ती ।

छप्पन भोग न संपजै[1], बिना छत्रपति[2] थाल ।
त्यों षट् दर्शन[3] खलक[4] सब, भावहिं[5] भावित[6] माल ॥१३॥

राजा[2] के थाल बिना छप्पन भोग संपन्न[1] नहीं होते, वैसे ही नाथ, जंगमादि षट् भेषधारियों[3] के पास ही विचारित[6] साधन रूप माल मिलता है और जगत्[4] के प्राणियों को वही प्रिय[5] लगता है ।

सोई चकवै नरपति, ज्ञान चक्र हृद हाथ ।
शस्त्रहु सब दिशि गम गमन, सर्वंगी सब नाथ ॥१४॥

वही चक्रवर्ती राजा है, जिसके हृदय-हाथ में ज्ञान-चक्र है, जैसे चक्र रूप शस्त्र सब दिशा में गति करता हुआ लक्ष्य पर जाता है, वैसे ही सर्वंगी पतिव्रत वाला ज्ञानी सबमें गम रखते हुये अपने स्वामी ब्रह्म को हीं प्राप्त होता है ।

पतिव्रता परमारथी, जो नर तरु सम रूप ।
सबको सुख दे शब्द फल, सदा सुदृढ़ भुवि[2] भूप[1] ॥१५॥

पतिव्रता और जो परमार्थी नर होते हैं वे वृक्ष के समान होते हैं, वृक्ष सदा पृथ्वी[2] में दृढ़ रहकर फल देता है, पतिव्रता अपने पति की सेवा में दृढ़ रह कर सब घर वालों को अपने व्यवहार से सुख देती है, वैसे ही नरों में शिरोमणि[1] परमार्थी नर भी सर्वंगी पतिव्रत में स्थित रहकर शब्दों द्वारा सबको आनन्द देता है ।

रज्जब आतम बेली सुरति जड़, ब्रह्म भूमि रस लेय ।
सकल तत्त्व बेले[1] बधैं, सोऊ भृश[2] फल देय ॥१६॥

वेली की जड़ भूमि में रहकर पृथ्वी के जल रूप रस को लेती है तब उसके सभी अंग समय[1] पर बढ़ते हैं और वह अधिक[2] फल देती है, वैसे ही जीवात्मा की वृत्ति ब्रह्म चिन्तन में स्थिर रहकर ब्रह्मानन्द रूप रस लेती है तब उसके ज्ञान निष्ठा आदि सभी तत्त्व समय[1] पर बढ़ते हैं और वह साधकों को ब्रह्मानन्द रूप महान्[2] फल देती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सर्वंगी पतिव्रत का अंग १७ समाप्तः ॥सा० २१५६॥

अथ व्यभिचार का अंग ६८

इस अंग में व्यभिचार विषयक विचार कर रहे हैं—

व्यभिचारी जीव बंध बिन, घट में नहीं विवेक।
जन रज्जब पति छाडिकर, धक्के खाँहि अनेक ॥१॥

व्यभिचारी जीव में संयम रूप बंधन नहीं होता, उसके अन्तःकरण में विवेक नहीं होने से वह अपने स्वामी को छोड़कर अनेक धक्के खाता है।

जैसे कीला कीच का, खैंच्या दह[1] दिशि जाय।
रज्जब रामहि क्यों मिले, इहि व्यभिचारी भाय ॥२॥

जैसे कीचड़ में गाड़ा हुआ कीला खेंचने पर दशों[1] दिशाओं में ही खिच जाता है, वैसे ही इस व्यभिचारी प्राणी का भाव होता है, यह भी सभी ओर खिच जाता है, ऐसी स्थिति में राम कैसे मिल सकते हैं।

मकरी चकरी तार पर, अह[1] निशि आवे जाँहि।
मन मनसा[2] ऐसे फिरहिं, कैसे पति पतियाँहि[3] ॥३॥

जैसे मकड़ी चकरी के समान दिन[1] रात तार पर फिरती है, वैसे ही मन-बुद्धि[2] संसार में फिरते हैं, तब स्वामी कैसे विश्वास[3] कर सकते हैं कि यह मेरा भक्त है।

नैनहुं बैनहुं श्रवण कर, जे कतहुं चलि जाय।
रज्जब नारी नाह बिन, मार सरोतर[1] खाय ॥४॥

यदि नारी पति के बिना नेत्र, वचन और श्रवण से किसी अन्य में जाती है तो कान[1] खेंचने की मार खाती है।

निश्चय छाडे नाम का, आन[1] धर्म उरधार ।
सीप स्वाति मधि सिन्धु जल, मन मुक्ता ह्वै ख्वार ।।५।।

सीप यदि स्वाति जल के मध्य समुद्र जल को लेती है तो उसका मोती खराब हो जाता है, वैसे ही राम नाम का निश्चय छोड़कर अन्य[1] धर्म को हृदय में धारण करने से मन खराब हो जाता है ।

मुख माने मनमें अमन, दिल दुविधा नहि जाय ।
रज्जब सीझे कौन विधि, इहि व्यभिचारी भाय ।।६।।

जो मुख से तो भगवान् को मानने का वचन कहते हैं और मन में नहीं मानते, हृदय की दुविधा नहीं जाती, इस व्यभिचारी भाव से प्राणी का भगवत् प्राप्ति रूप कार्य कैसे सिद्ध होगा ।

रज्जब रही न मीत बिन, पीहर अरु सुसराड़ि ।
सो सुकलो[1] माने नहीं, बचन बडों की बाडि ।।७।।

अच्छी[1] बलवान् गो बाड़ की आड़ को नहीं मानती कूद कर खेत में चली जाती है, वैसे ही व्यभिचारिणी नारी बड़े पुरुषों के पतिव्रत पालन रूप वचनों को नहीं मानती, वह पीहर तथा ससुराल दोनों ही स्थानों में जार मित्र बिना नहीं रहती ।

नारी पुरुष न नेह, दुख दुहाग निश दिन भरे ।
रज्जब कौन सनेह, सती भई शठ भाव ले ।।८।।

नारी-पुरुष का परस्पर स्नेह तो नहीं रहा, अपने जीवन के दिन रात्रि में दुहाग का दुःख ही भोगती रही, व्यभिचारिणियों के हृदय में पति के लिये कौन-सा प्रेम है ? वे तो दुष्ट भाव से ही लोगों को दिखाने के लिये सती हुई हैं ।

तन पतिव्रता मन मूर्खी, लखे न पिव[1] प्रस्ताव[2] ।
रज्जब रूठे से रहैं, उभय सु सारो आव[3] ।।९।।

शरीर से पतिव्रता बनी रहे किन्तु मन में मूर्खा ही रहे, समय पर कही पति[1] की बात[2] न समझे और दोनों सभी आयु[3] में रुष्ट-से ही रहें, ऐसा पतिव्रत भी शोभन नहीं होता, वैसे ही साधक की वृत्ति भी यदि प्रभु में न लगकर अन्य में लगती है तो वह व्यभिचार ही है, निरंतर प्रभु में लगना ही सहचार है वही पतिव्रत है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित व्यभिचार का अंग ६८ समाप्त:

।। सा० २१६५ ।।

अथ रस का अंग ६९

इस अंग में राम-भजन-रस विषयक विचार कर रहे हैं—

रज्जब रमि[1] रमि राम सौं, पीवै प्रेम अघाय[2] ।
रसिया रसमय[3] ह्वै रह्या, सो सुख कह्या न जाय ॥१॥

वृत्ति द्वारा बारंबार राम में स्थिर[1] हो प्रेम पूर्वक तृप्त[2] होकर राम भजन रस का पान करता है, इस प्रकार रस पान करने वाला रसिया रस रूप अर्थात् राम रूप[3] ही हो जाता है, उस समय जो उसे सुख होता है वह वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता ।

निर्मल पीवै राम रस, पल पल पोषै प्रान ।
जन रज्जब छाक्या रहै, साधू संत सुजान ॥२॥

श्रेष्ठ बुद्धिमान् संत प्रतिपल निर्मल राम-रस का पान करते हुये तृप्त रहते हैं और अन्य प्राणियों का भी शिक्षा तथा शुभ भावना द्वारा पोषण करते रहते हैं ।

परम पुरुष में पैठि[1] कर, पीवै प्राण[2] पियूख[3] ।
रसिया रसमय[4] ह्वै रह्या, अरु रस ही की भूख ॥३॥

संत प्राणी[2] वृत्ति द्वारा परम पुरुष परमात्मा में प्रवेश[1] करके ब्रह्मानन्द रूप अमृत[3] का पान करता है, इस प्रकार रस पान करने वाला रसिया राम रूप[4] ही होकर रहता है, फिर भी उसमें राम-रस पान करने की अभिलाषा बनी ही रहती है ।

रसना लागी राम रस, हिली मिली[1] ता माँहि ।
जन रज्जब सो स्वाद सौं, कबहूं छूटे नाँहि ॥४॥

जो जिह्वा राम-रस में लग गई है और उस रस में जल में मिश्री के समान घुलमिल[1] गई है, वह रसना उस स्वाद से कभी भी अलग नहीं हो सकती ।

अविगत[1] अलख अनन्त रस, पीवै प्राणि प्रवीन ।
जन रज्जब रसमय[2] हुआ, निकल न जाई भीन ॥५॥

जो चतुर प्राणी मन इन्द्रियों के अविषय, अलख, अनन्त ब्रह्म[1]-रस का पान करता है, वह ब्रह्मरूप[2] ही हो जाता है, ब्रह्म से निकल कर भिन्न लोकादि को नहीं जाता ।

हरि दरिया में मीन मन, पीवैं प्रेम अगाध[1] ।
महा मगन[2] रस में रहै, जन रज्जब सो साध ॥६॥

अथाह[1] दरिया में मच्छी रोम २ से जल पान करती हुई आनन्द मग्न[3] रहती है, वैसे ही जो संत चिन्तन द्वारा अगाध हरि में रहकर, हरि-प्रेम, को पान करता है, वह उस हरि-रसमें अत्यन्त मग्न रहता है ।

रज्जब रहै न देह में, मगन मुदित ह्वै जाय ।
लूंण गूण[1] ज्यों नीर में, ता में क्या ठहराय ॥७॥

जैसे लौंण की बोरी[1] जल में डालने पर सब लौंण जल में निमग्न हो जाता है, बोरी में क्या रहता है ? वैसे ही भजन-रस का रसिया देह की भक्ति में नहीं रहता, वह तो प्रभु में ही निमग्न होकर आनन्दित रहता है ।

अमल[1] अमोलिक[2] नाम का, साधु सदा पीवंत ।
मस्त वस्तु में हो रह्या, युग युग सो जीवंत ॥८॥

जो साधु राम-नाम-चिन्तन रूप अमूल्य[2] नशा[1] पीता है और ब्रह्म-वस्तु में मस्त हुआ रहता है, वह ब्रह्मरूप होकर प्रति युग में जीवित रहता है ।

रज्जब अज्जब राम रस, पाया गुरु परसाद ।
पोष्या[1] प्राण पियूष[2] सौं, छूटे वाद विवाद ॥९॥

गुरु के कृपा प्रसाद से हमने अद्भुत राम-रस प्राप्त किया है, उस अमृत[2]-रस से हमारे जीवात्मा को संतोष[1] हो गया है और वाद-विवाद छुट गये हैं ।

रज्जब दुनिया हद्द[1] में, साधू जन बे हद्द ।
जाति पांति देखै नहीं, पीया हरि रस मद्द[2] ॥१०॥

सांसारिक प्राणी वर्ण, आश्रम आदि को सीमा[1] में बंधे हुये हैं, संत उक्त सीमा से बाहर हैं, वे तो जैसे मद्य[2]पान से मस्त जाति पांति भेद को नहीं देखता, वैसे ही सदा हरि-रस में मस्त हुये रहते हैं, अतः जाति पांति भेद दृष्टि रहित सम रहते हैं ।

गुण औषधि मिश्री सु मन, सेवा सलिल मिलाय ।
रज्जब प्याले प्रीतिकर, आतम राम पिलाय ॥११॥

सद्गुण रूप औषधि, शुद्ध और स्थिर मन रूप मिश्री, भक्ति रूप जल मिलाकर प्रीति रूप प्याले से आत्माराम को पिलाओ, ऐसा करने से आत्मस्वरूप राम प्राप्त होंगे ।

मति मिश्री जीव[3] जल घुली, प्राण पियूष[1] समान ।
अमृत पीवहिं आतमा, कोई ल्यौ तहँ आन[2] ॥१२॥

ब्रह्म ज्ञान रूप मिश्री संतों के अन्तःकरण[3] रूप जल में घुली हुई है, अर्थात् संतों में ब्रह्म ज्ञान रहता है और वह प्राणियों के लिये अमृत[1] के समान है, जिज्ञासु आत्मा सत्संग द्वारा पान करते हैं, वहां सत्संग में आकर[2] कोई भी उसे ग्रहण कर सकता है ।

काया कुंडा भरि लिया, भाव[1] हि भंग समान ।
कुतक[2] कुंदन[3] ज्ञान का, रज्जब रुचि रस पान ॥१३॥

कुँडे में भंग डालकर शुद्ध[3] मोटा डंडा[2] लेकर घोटते हैं, फिर रुचि अनुसार पान करके मस्त हो जाते हैं, वैसे ही शरीर के भीतर अन्तःकरण में प्रभु-प्रेम[1] उत्पन्न करके पीछे संशय विपर्य्यय रहित शुद्ध ज्ञान द्वारा निदिध्यासन करके ब्रह्म साक्षात्कार से मस्त हो जाओ ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित रस का अंग ६९ समाप्तः
॥ सा० २१७८ ॥

अथ प्रेम का अङ्ग ७०

इस अंग में प्रेम विषयक विचार कर रहे हैं—

नौ लक्ष नक्षत्र नौधा भक्ति, रज्जब रजनी माँहिं ।
प्रेम प्रभाकर[1] उगत ही, दृष्टि सु दीसै नाँहिं ॥१॥

नौ लाख नक्षत्र रात्रि में तो दीखते हैं किन्तु सूर्य[1] के उदय होने पर नहीं दीखते, वेसे ही अन्तःकरण में प्रेम उत्पन्न होने पर नवधा भक्ति का विधि विधान नहीं रहता ।

विविधि बंदगी वपस्[1] विधि, प्रेम प्राण[2] की ठौर ।
जन रज्जब तिस जीव बिन, सब गुण मृतक हि और ॥२॥

नवधा आदि नाना सेवा-भक्ति तो शरीर[1] के समान हैं और प्रेम प्राणों[2] के समान है, जैसे जीव के बिना शरीर मृतक होता है, वैसे ही प्रेम के बिना अन्य सभी सेवा आदि गुण मृतक ही हैं ।

नवों खंड नौधा भगति, दशवों दशवें द्वार ।
प्रेम लक्षनै प्रभुजी, तिलक दिया संसार ॥३॥

शरीर के अन्य नव भागों के समान तो नवधा भक्ति है और दशवीं प्रेम लक्षणा भक्ति दशम द्वार के समान शिरोमणि है, संसार में प्रभु ने प्रेम लक्षणा भक्ति को ही श्रेष्ठ पद दिया है ।

रज्जब पावक प्रेम है, कंचन आतम राम ।
गाल मिलावे दुहिन[1] को, प्रेम करे यह काम ॥४॥

प्रेम अग्नि के समान है, और आत्मा तथा राम सुवर्ण के समान हैं, जैसे सोना के दो खंडों को अग्नि गलाकर मिला देता है, वैसे ही प्रेम आत्मा और राम दोनों[1] को मिला देता है यह काम प्रेम ही करता है ।

प्रेम प्रीति हित नेह के, रज्जब दुविधा नाँहि ।
सेवक स्वामी एक ह्वै, आये इस घर माँहि ॥५॥

प्रेम, प्रीति, हित, स्नेह, इन शब्दों का अर्थ जिसमें हो, उसके हृदय में दुविधा नहीं रहती, इस प्रेम रूप घर में आने पर तो सेवक-स्वामी दोनों एक ही हो जाते हैं ।

प्रेम प्रीति हित नेह की, रज्जब ऊबट[1] बाट ।
सेवक को स्वामी करहि, स्वामी सेवक ठाट[2] ॥६॥

प्रेम, प्रीति, हित, स्नेह, इनका मार्ग बड़ा अटपटा[1] है, सेवक को स्वामी बना देता है और स्वामी को सेवक बना[2] देता है ।

अम्मलबेत सु औषधि प्रेम, मो मन सार[1] सूई सत[2] नेम ।
पैठे माँहि सु जाँहि विलाय, गुण हैं गात[3] नहीं निरताय[4] ॥७॥

प्रेम अम्मलबेत औषधि के समान है और मेरा मन लोह[1] की सुई के समान है, अम्मलबेत में सुई प्रवेश कर जाय तो गलकर उसमें लय हो जाती है, उसका आकार[3] नहीं रहता किन्तु गुण रह जाता है, वैसे ही यदि सच्चे[2] नियम से मेरा मन प्रेम में प्रवेश कर जाय तो लय हो जायगा, विचार[4] करके देखो, उसका भी स्वरूप संकल्प विकल्प तो उस समय नहीं दीखता किन्तु सूक्ष्म गुण रहता है ।

दाख बंदगी[1] सब भली, बेदाना है प्रेम ।
रज्जब देख्या बीज बिन, जैसे ओला हेम[2] ॥८॥

दाख सभी अच्छे होते हैं किन्तु बिना बीज जैसे बर्फ[2] का ओला होता है वैसे तो बेदाना ही होता है, वैसे ही सेवा[1]-भक्ति तो सभी अच्छी हैं किन्तु अहंकार रूप बीज बिना तो प्रेमा-भक्ति ही होती है ।

प्यार प्रीति हित स्नेह मुहब्बत, पंच नाम इक प्रेम ।
उभय अंग एकठ करहिं, मनसा वाचा नेम ॥६॥

जिस प्रेम के प्यार, प्रीति, हित, स्नेह और प्रेम ये पाँच नाम हैं, वह प्रेम, प्रेमी और प्रेम पात्र दोनों के स्वरूप को नियम से एक कर देता है, यह हम मन वचन से यथार्थ ही कहते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित प्रेम का अंग ७०
समाप्त ॥सा० २१८७॥

अथ शूरातन का अङ्ग ७१

इस अंग में शूर तथा संत शूर के शौर्य संबन्धी विचार कर रहे हैं–

सांई सींत न पाइये, बातों मिल्या न कोय ।
रज्जब सौदा राम सौं, शिर बिन कदे न होय ॥१॥

परमात्मा मुफ्त नहीं प्राप्त होता, केवल बातों से किसी को भी नहीं मिला है, राम के साथ मिलन रूप व्यापार तो अपना जीवत्त्व अहंकार रूप शिर दिये बिना कभी भी नहीं होता ।

जब लग शिर डारै नहीं, तजे न तन की आस ।
तब लग राम न पाइये, जन रज्जब सुन दास ॥२॥

हे दास ! यथार्थ बात सुन, जब लग अहंकार रूप शिर नहीं काट डालता और शरीर संबन्धी सुख की वा देवादि सुन्दर शरीर प्राप्ति की आशा नहीं छोड़ता तब तक राम नहीं प्राप्त होते ।

जन रज्जब रज रेख, राखे सो रण में रहै ।
जुध करता जग देख, सु यश साखि सारे कहैं ॥३॥

जो धूलि की रेखा को धारण करता है अर्थात् हाथी, अश्व, वीरों की पाद धूलि से नहीं घबराता वही रणमें स्थिर रहता है, उसे युद्ध करते देखकर जगत् के सभी लोग उसका यश कहते हैं, और उसकी वीरता की साक्षी देते हैं, वैसे ही संत शूर कामादि से युद्ध करता है तब उसका भी यशोगान होता है ।

जो साधू रण में रहै, खंड खंड कर गात[१] ।
सो रज्जब रामहिं मिले, सुर नर आयें जात[२] ॥४॥

जो साधु देहाध्यास[1] का टुकड़ा २ करके योग संग्राम में कामादि शत्रुओं से युद्ध करता है वह विजयी होकर राम से मिलता है, उसके धाम की यात्रा[2] करने नर गण तथा देवता भी आते हैं।

साहिब सन्मुख पाँव दे, ता सम कोई नाँहि।
जन रज्जब जग पति मिलै, शिर साटै[1] जग माँहि ॥५॥

परमात्मा के सन्मुख पैर रखता है, उसके समान संसार में कोई भी नहीं है, कारण-जगत् में जगत् पति अहंकार रूप शिर के बदले[1] में ही मिलते हैं और अहंकार रहित महान् ही होता है।

जैसे शूरा शीश ले, कोटचों माँहीं जाय।
त्यों रज्जब हरि नाम में, शिर दे शूर समाय ॥६॥

जैसे वीर अपने शिर को अपने हाथ से उतार कर कोटिन वीरों के दल में घुस जाता है, वैसे ही जो साधक शूर अपने अहंकार रूप शिर को नष्ट करके हरि नाम जपता है वह हरि में ही समा जाता है।

महाशूर सुमिरण करै, शिर की आश उतारि।
जन रज्जब ता संत को, प्रत्यक्ष मिलैं मुरारि ॥७॥

जो अपने मान प्रतिष्ठा रूप शिर की आशा हृदय से हटाकर हरि स्मरण करता है, वह महाशूर है और उस संत को भगवान् प्रत्यक्ष रूप से मिलते हैं।

हरि मारग मस्तक धरै, कोइ इक पूरा दास।
सो रज्जब रामहिं मिले, कदे न जाय निराश ॥८॥

हरि प्राप्ति के साधन मार्ग में कोई विरला ही अपने अहंकार रूप मस्तक को दूर धरता है, जो अहंकार को नष्ट करता है वही पूरा भक्त होता है तथा वह अवश्य राम से मिलता है, कभी भी राम के मिलन में निराश नहीं होता।

सती सिंधौरा[1] हाथ ले, काटचा मोह अराय[2]।
जन रज्जब पिव को मिली, देखो देह जराय ॥९॥

देखो, सती जब घर, संतान आदि का मोह जड़[2] से काट डालती है, तब ही सुहाग बिन्दु लगाने के लिये हाथ में सिन्दूर का पात्र[1] लेती है, वा श्मशान में जाने के लिये नारियल[1] लेती है, और पति के शव के साथ अपना शरीर जलाकर पति से मिलती है, वैसे ही संत मोह को नष्ट करके अज्ञान को जला डालता है तब ब्रह्म को प्राप्त होता है।

जहिं रचना[1] में शीश दे, सोई काम अडोल[2]।
जन रज्जब युग युग रहै, शूर सती सत बोल ॥१०॥

जिस कार्य के करने[1] में शिर दिया जाता है, वह कार्य निश्चय[2] ही सिद्ध होता है, शूर और सती के कार्य पूर्णता के यथार्थ वचन प्रति युग में ही सुने जाते हैं।

साधु सराहैं सो सती, जती जो युवत्यों जान।
रज्जब साधू शूर का, वैरी करे बखान ॥११॥

जिसकी संत श्लाघा करें वही सती नारी है वा सद्‌गृहस्थ है, जिसकी युवतियाँ यति कहकर श्लाघा करें वह यति है, ऐसे ही साधू और शूर का यशोगान शत्रु भी करते हैं।

माया काया जाति लग, धर्म न छाडैंहि धीर।
रज्जब शूरे साहसी, वेत्ता[1] बावनवीर[2] ॥१२॥

जैसे धीर पुरुष माया, शरीर और जाति के संग लग धर्म नहीं छोड़ते, वैसे ही साहसी शूर रण नहीं छोड़ते तथा महावीर[2] ज्ञानी[1] योग संग्राम में कामादि को पीठ नहीं देते।

हरि के मारग चलन का, जे कछु है चित चाव[1]।
तो रज्जब त्यागो जगत, दे तन मन शिर पाँव ॥१३॥

यदि हरि प्राप्ति के साधन-मार्ग में चलने का चित्त में कुछ उत्साह[1] है तो शरीर के अध्यास और मन के मनोरथों के शिर पर पैर रखकर अर्थात् इन्हें नष्ट करके जगत् के राग को त्यागो।

ज्ञान खड्ग तेतीस हत, होई चकवै[1] प्रान[2]।
जन रज्जब नौ खंड परि, बाजैं तबल निशान[3] ॥१४॥

ज्ञान रूप तलवार द्वारा ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ अश्विनी-कुमार इन ३३ देवताओं की दासता को नष्ट करके ब्रह्म प्राप्ति द्वारा प्राणी[2] चक्रवर्ती[1] अर्थात् सर्व शिरोमणि बन जाता है फिर शरीर के नौ खंडों के ऊपर दशम द्वार में उसकी विजय के तबला नगाड़ा[3] आदि बाजे बजने लगते हैं।

निरति नालि दारू दरद, गोला बाइक ज्ञान।
कुमति कपाट रु कर्म गढ़, जन रज्जब सूं भान ॥१५॥

संत शूर विचार सक्ति रूप तोप की नालि में विरह का दर्द रूप बारूद भरते हैं, ज्ञान पूर्ण शब्द रूप गोला डालते हैं फिर अपरोक्ष ज्ञान रूप बत्ती लगाकर, कुमति रूप कपटों वाले कर्म रूप किले को तोड़ते हैं, ऐसे ब्रह्म प्राप्ति रूप विजय प्राप्त करते हैं ।

साधू लड़ैं कबंध ह्वै, पहले शीश उतार ।
जन रज्जब मारै मुवा, करै मार ही मार ॥१६॥

अपना शिर उतार के युद्ध करने वाला कबन्ध आप मर कर अन्यों को मारता है और साथी योद्धाओं को भी कहता है मारो मारो, वैसे ही संत भी पहले अपना अहंकार रूप शीश उतार कर कामादि से युद्ध करता है, आप मरके कामादि को मारता है और साधकों को भी कामादि को मारो मारो उपदेश करता है ।

लड़ै पड़ै बहुरयों[1] चढै, शूर करै संग्राम ।
जन रज्जब जोधार[2] जीव, महा अड़ीले[3] ठाम[4] ॥१७॥

शूर संग्राम में युद्ध करता है, शत्रु के आघात से रण भूमि में पड़ता है और जीवित रहता है तो फिर[1] शत्रु पर चढ़ाई करता है, वैसे ही जीवों में संत योद्धा[2] अपने योग संग्राम[4] में महान् हठ पूर्वक अड़ा[3] रहने वाला होता है, कामादि से हटता नहीं, उन्हें जीतकर ही संतोष लेता है ।

दिन प्रति केसौं काटिये, बैठ रहै सो नाँहि ।
रज्जब साँचा सूरमा, यहु लक्षण जा माँहि ॥१८॥

प्रति दिन केशों को काटा जाय तो भी वे बढ़ने से नहीं रुकते, वैसे ही प्रतिदिन विद्ध किया जाय तो भी युद्ध से डरकर नहीं बैठता, यह लक्षण जिसमें हो वही सच्चा शूर वीर है ।

शरीर[1] सफर[2] तब का किया, जब गाजी[3] असवार ।
सो रज्जब कैसे फिरै, खिल[4] खाने[5] बेजार[6] ॥१९॥

जब वीर[3] अश्व पर सवार होता है तब दुष्ट[1] तो भाग[2] जाते हैं और वीर लौट आता है किन्तु वह संत शूर कामादि को मारकर भी संसार की ओर कैसे लौट सकता है ? उसे तो वैराग्य के कारण संपूर्ण[4] वैभव[5] दुखी[6] करने वाला हो जाता है, अतः वह तो ब्रह्म में ही मिलता है संसार में नहीं आता ।

पिंड प्राण संकल्प कर, शूर चढै संग्राम ।
जन रज्जब जग को तजै, गृह दारा धन धाम ॥२०॥

शरीर और प्राणों की रक्षा करने का संकल्प छोड़कर तथा घर की नारी, धन और घर इत्यादिक जगत् को छोड़कर शूर संग्राम के लिये चढ़ाई करता है, वैसे ही संत सब का राग त्यागकर योग संग्राम में उतरता है ।

सती सरोतरि[1] राम कहि, मरण उरै[2] मर जाय ।
जन रज्जब जग देखतों, ज्वाला माँहि समाय ॥२१॥

सती पति के कान[1] में राम-राम कहकर सती होने का संकल्प करके मरने से पहले[2] ही मर जाती है और जगत के लोगों के देखते २ ही चिता की ज्वालाओं में समा जाती है, वैसे ही संत अज्ञान नाश द्वारा मरने से पहले ही मर जाते हैं और ब्रह्म में समा जाते हैं ।

साहिब सन्मुख पाँव दे, पीछा पलक न देख ।
रज्जब मुड़तों मारिये, भीयहु[1] लाजै भेख ॥२२॥

हे साधक ! प्रभु के सन्मुख ही अपना वृत्ति रूप पैर बढ़ा, पीछे संसार की ओर एक क्षण भी मत देख, संसार की ओर मुड़ने से कामादि द्वारा मारा जायगा और कामादि से डरने[1] से भेष को भी लाज लगेगी ।

घर आँगण बाजार में, बांका सबको होय ।
रज्जब रण में बांकड़ा, सो जन विरला कोय ॥२३॥

घर के चौक में और बाजार में तो सभी वीर बनते हैं किन्तु रण स्थल में वीर बने वह जन कोई विरला ही होता है ।

रज्जब अतिगति[1] सूधा देखिये, शूर शहर के माँहि ।
काम पड्यों ह्वै केशरी[2], रण में मावे नाँहि ॥२४॥

शूर वीर शहर में तो अत्यधिक[1] सीधा देखा जाता है और युद्ध का काम पड़ने पर सिंह[2] हो जाता है, वीरता के कारण रण स्थल में अपनी सीमा में नहीं समाता निकलकर शत्रु दल में आ घुसता है और मार भगाता है, वैसे ही संत घंटा-दो घंटा की सीमा का भजन नहीं करता, निरंतर भजन द्वारा कामादि पर विजय प्राप्त करता है ।

सिन्धू स्वर श्रवणों सुनत, शूर सनाह[1] न माय[2] ।
रज्जब भागे जतन सब, ह्वै गया और हि भाय[3] ॥२५॥

सिन्धु राग के स्वरों को श्रवणों से सुनते ही वीर अपने कवच[1] में नहीं समाता[2], उसे रण से रोकने के सभी यत्न बेकार हो जाते हैं, उस समय उसका भाव[3] और ही प्रकार का हो जाता है ।

रामरी[1] आंण[2] छे राम मेल्हूं[3] नहीं, बले[4] बीजो[5] कासौं कहीजे ।
रज्जब रामनौं[6] छाडिनै[7] वेगला[8], कहौ नै बले[9] कै[10] काल जीजे ॥२६॥

मैं राम की[1] शपथ[2] करके कहता हूं, राम का भजन नहीं त्यागोंगा[3], राम का यश कथन करना त्याग के फिर[4] अन्य[5] किसका यश कहना है ? राम को[6] छोड़ के[7] राम से अलग[8] रहकर फिर[9] कहो ने कितना[10] समय जीना है ?

सेवक[1] शूरा सिह मन, विरच्यों[2] करे विहंड[3] ।
जन रज्जब डरपै नहीं, पड़तों अपणा पिंड ॥२७॥

शूर और सिंह का मन बिगड़ने[2] पर वे नाश[3] ही करते हैं फिर तो अपना शरीर गिरने की स्थिति में भी नहीं डरते, वैसे ही संत[1] का मन विरक्त[2] होने पर वह भी भोग राग को नाश कर देते हैं तथा साधन में शरीर गिरने की स्थिति आजाय तो भी नहीं डरते ।

मरबे मांझी[1] ऊतरघा, पूरा पाइक[2] होय ।
रज्जब रावत[3] क्यों टलै, आडा आवो कोय ॥२८॥

जो पूरा भक्त[2] बनकर मरने के मध्य[1] उतर गया है अर्थात् जिसे मरने की परवाह नहीं है, वह संत शूर[3] कामादि योद्धाओं के सामने से कैसे हट सकता है ? उसके सामने काम, क्रोध, लोभ मोहादि में से कोई भी आवे वह सभी से युद्ध करता है ।

सुभट[1] शूर जेती तजै, तेती बहुड़ि[2] न लेय ।
जन रज्जब पूरा पुरुष, पाछा पग क्यों देय ॥२९॥

वीर[1] और संत शूर जितनी संपत्ति छोड़कर रण और योग संग्राम में उतरने लगते हैं, तब लौट[2] कर उसे नहीं उठाते, वीर तो युद्ध में विजय प्राप्त करके आता है तब पुनः उसे ग्रहण करता है किन्तु पूरा संत पुरुष तो पुनः पीछे घर की ओर पैर कैसे रख सकता है ? वह तो देह त्याग कर ब्रह्म में ही लय होता है ।

आसंघ[1] बिन न कवाल[2] परि, शूरा खैंचै नाक[3] ।
जन रज्जब जब आसंघै[4], तब छिन-छिन होय निसांक[5] ॥३०॥

शूर वीर मन लगे[1] बिना वा शक्ति[1] बिना केवल तलवार[2] के बल पर ही अपनी टेक[3] की रेखा नहीं खैंचता और जब मन लगता[4] है वा शक्ति[4] होती है तब प्रतिक्षण निशंक[5] होकर रण विजय की प्रतिज्ञा करता है ।

रोटी पोवत कर जलै, सुन्दरि फूंके हाथ ।
जन रज्जब जब आसंघै[1], भरै सले सौं बाथ[2] ॥३१॥

रोटी बनाते समय तो नारी का हाथ जलने पर उसे शीतल करने के लिये फूंक लगाती है और जब उसका मन जलने[1] का होता है वा सत चढ़ना रूप शक्ति[1] आती है तब चिता से गोद[2] भरती है अर्थात् चित्ता में बैठ जाती है ।

ज्ञान खड्ग तले शीश दे, ब्रह्म अग्नि में सत्त[1] ।
लरिबा जरिबा आयु भर, कौन गहै यहु मत्त[2] ॥३२॥

ज्ञान रूप तलवार के नीचे वीरता पूर्वक शीश दे और सत[1] पूर्वक ब्रह्म रूप अग्नि में जले, ऐसे आयु भर लड़ने और जलने का यह सिद्धान्त[2] कौन ग्रहण कर सकता है ? अर्थात् इसका ग्रहण करने वाला कोई विरला ही होता है ।

शूर सती साहस स्वलप[1], निमड़[2] जाँहि पल माँहि ।
साधू युद्ध सु आयु भर, भारत[3] छूटे नाँहि ॥३३॥

शूरवीर और सती की वीरता स्वल्प[1] ही होती है, थोड़ी देर में दोनों अपने काम से मुक्त[2] हो जाते हैं किन्तु संत शूर का युद्ध[3] कामादि से आयु भर होता है, संत इस युद्ध से मुक्त नहीं होता ।

शूर सती संग्राम एक पल, साधु लड़ै भरि आव[1] ।
रज्जब मन मनमथ[2] शिरहिं, घालै[3] निशि दिन घाव ॥३४॥

वीर और सती का युद्ध थोड़ी देर का ही होता है, साधु का युद्ध आयु[1] भर का होता है, साधु रात्रि दिन मन के चपलता रूप शिर पर संयमता रूप घाव और काम[2] के अधिकता रूप शिर पर वस्तु विचार रूप घाव करता[3] रहता है ।

संग्राम सदा मन जीव को, अह[1] निशि होय अखंड ।
रज्जब जाणें जोध जन, पूरा प्राण प्रचंड[2] ॥३५॥

सदा दिन[1] रात मन और जीव का अखंड युद्ध होता है किन्तु उस उग्र[2] युद्ध को पूरे संत प्राणी योद्धा ही जानते हैं ।

जगत युद्ध जरिबा सुगम, पल में पिंड प्रहार ।
योग संग्राम रु ब्रह्म अग्नि सत, रज्जब अगम अपार ॥३६॥

साँसारिक युद्ध करना तथा चिता की अग्नि में जलना सुगम है, क्षण भर के प्रहार से नाश होता है किन्तु योग संग्राम और सत्य ब्रह्म अग्नि से तो प्राणी नष्ट न होकर अगम अपार ब्रह्म रूप हो जाता है ।

सब शूरों शिर शूरमा, जे जीते गुण जोध[1] ।
जन रज्जब झूझार[2] सो, ता का उत्तम बोध ॥३७॥

जो योद्धाओं[1] को जीतता है, वही शिरोमणि वीर है और जो कामादि गुणों को जीतता है वही संत शूर[2] है, उसका ज्ञान उत्तम है ।

बहुत शूर बहु भाँति के, जोध[1] बडे जग माँहि ।
जो रज्जब मारे मदन[2], ता सम कोई नाँहि ॥३८॥

जगत् में बहुत वीर हैं, तथा कर्म वीर, धर्म वीर आदि बहुत प्रकार के योद्धा[1] हैं किन्तु जो काम[2] को मारता है, उसके समान कोई भी नहीं है ।

मन इन्द्री जिन वश करी, मार्या मदन भुवंग ।
सो रज्जब सहजे मिलै, परम पुरुष के संग ॥३९॥

जिसने मन इन्द्रियों को अपने वश किया है और काम रूप सर्प को मारा है, वह अनायास ही परम पुरुष परमात्मा से मिलता है अर्थात् परमात्मा रूप ही हो जाता है ।

माँही मारै गुणहुं को, बाहर जग सौं युद्ध ।
जन रज्जब सो शूरमा, रोपि रह्या कुल शुद्ध ॥४०॥

भीतर कामादि गुणों को मारता है, बाहर भ्रष्टाचार को रोक कर शिष्टाचार स्थापन के लिये जगत् से युद्ध कर रहा है, दोनों प्रकार के युद्धों में अपने पैर रोप कर स्थिर है, वही शुद्ध कुल में उत्पन्न शूर वीर है ।

बहु विधि मारै बहुत गुण, तोड़े तीनों साल ।
जन रज्जब सो अमर ह्वै, जीत्या अपना काल ॥४१॥

ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि नाना प्रकार के उपायों से काम क्रोधादि नाना गुणों को मारता है, कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों दुःखों को नष्ट करता है, वह अपने काल को जीतकर अमर हो जाता है ।

पंच अपूठे[1] फेरि कर, घर आणे सो शूर ।
साहिब सौं साँचा भया, रहसी सदा हजूर ॥४२॥

पंच ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से उलटी[1] फेरि कर परमात्मा रूप घर में लाता है वही शूर है, प्रभु के भजन द्वारा गर्भ की प्रतिज्ञा पूर्ण करके प्रभु के आगे सच्चा होता है, वह सदा प्रभु के निकट ही रहता है ।

पंचों इन्द्री निर्दली, तिन खाया संसार ।
जन रज्जब सो शूरमा, प्राण उद्धारण हार ।।४३।।

जिनने सब संसार को खा लिया है, उन पांचों ज्ञानेन्द्रियों को जिसने जीता है, वही प्राणियों का उद्धार करने वाला वीर है ।

पंच पचीसों त्रिगुण मन, मेवासा[1] भर पूर ।
ये अरि दल जोई दले, सो प्राणी सत शूर ।।४४।।

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पच्चीस प्रकृति, तीन गुण और मन ये शत्रु शरीर रूप किले[1] में पूर्ण रूप से भरे हैं, इन वैरियों के दल की हानिप्रद शक्ति को जो नष्ट करता है, वही प्राणी सच्चा शूर है ।

रुप्यों बिना रिपु क्यों टलै, शूर सत्य करि जोय ।
रज्जब योद्धा जीतणा, हाँसी खेल न होय ।।४५।।

हे वीर ! रण में पैर रोप कर रहे बिना शत्रु नहीं हटता, यह उक्ति सत्य ही समझ, योद्धाओं को जीतना हाँसी खेल तो नहीं है ।

शूरा ह्वै संग्राम चढि[1], अरि इन्द्री अड़ि मार ।
जन रज्जब युध जीतिये, ज्ञान खड्ग कर धार ।।४६।।

शूरवीर होकर योग संग्राम के लिये चढ़ाई[1] कर, युद्ध में रुककर ज्ञानेन्द्रिय रूप शत्रुओं को मार, ब्रह्मज्ञान रूप तलवार अन्तःकरण-हाथ में धारण करके युद्ध में विजय प्राप्त कर ।

ज्ञान खडग जब कर धरै, तब अरि मरै अज्ञान ।
जन रज्जब संसार सौं, यूं पग माँडै[1] प्रान[2] ।।४७।।

जब ज्ञान-तलवार अन्तःकरण-हाथ में धारण करता है तब अज्ञान रूप शत्रु मरता है, इस प्रकार ज्ञान खड्ग के बल से ही प्राणी[2] जन्मादि संसार को नष्ट करने के लिये वृत्ति रूप पैर ब्रह्म-भूमि में रोपता[1] है ।

सद्गुरु के साँचे शबद, ज्ञान खड्ग कर साहि[1] ।
रज्जब रहै सनाह[2] क्यों, प्रेम पाण[3] दे बाहि[4] ।।४८।।

हे साधक रूप नृपति[1] ! सद्गुरु के सच्चे शब्द रूप म्यान में स्थित ज्ञान-तलवार के प्रेम रूप धार[3] लगाकर चला[4] फिर अज्ञान-शत्रु का कुबुद्धि कवच[2] नहीं रहेगा कट ही जायगा ।

भेष पक्ष भावै नहीं, भरम भुजागल[1] भान[2] ।
रज्जब रुप भागै नहीं, मर्द मँडै[3] मैदान ।।४९।।

भेष की पक्ष अच्छी नहीं लगती, भ्रम रूप शिला[1] को तोड़[2] के योग-संग्राम में रुप कर भागता नहीं, मैदान में डटा[3] रहता है, वही मर्द है ।

रज्जब मर्द[1] मंडै[2] मैदान में, शिर की आश उतार ।
अंग उघाड़ै अगम गति, बानाँ बख्तर डार ॥५०॥

वीर[1] शिर की रक्षा की आशा अन्तःकरण से हटाकर युद्ध के मैदान में डटता[2] है, अगम ब्रह्म में जाने के लिये भेष रूप कवच को उतार कर शरीर को नंगा करता है ।

टीका[1] साधू शूर का, साँच वाच मुख घाव ।
चर्चा चोट चतुर्दिशा, आगे भाव सु पाँव ॥५१॥

शूर की श्रेष्ठता का चिह्न[1]—मुख पर घाव, शरीर के चारों ओर चोटें लगी होने पर भी युद्ध में आगे पैर बढ़ाना है, संत की श्रेष्ठता का चिह्न—सत्य वचन भगवान् संबन्धी वार्तालाप, और प्रभु की ओर आगे बढ़ने का भाव है ।

जेर[1] शूर संग्राम शिर, साहिब सौं दे पीठ ।
तो रज्जब सर्वस गया, पीछे भला अदीठ[2] ॥५२॥

यदि[1] युद्ध शिर पर आने के समय शूर स्वामी को पीठ देता है अर्थात् युद्ध में नहीं जाता, तब उसका सर्वस्व ही नष्ट हो जाता है, पीछे तो स्वामी को मुख न-दिखाना[2] ही अच्छा है ।

रज्जब सती समाय सल[1], जीवहिं ले भाजे ।
तो हाँसी तिहुं लोक में, दोऊ कुल लाजे ॥५३॥

सती चिता[1] पर बैठने के पीछे अग्नि से डर कर प्राण रक्षा के लिये उठ भागे तो तीनों लोकों में उसकी हंसी होती है और पीहर तथा ससुराल दोनों कुल लज्जित होते हैं, वैसे ही साधक योग संग्राम में उतर कर कामादि से हार भागे, तो पितृ कुल और गुरु कुल दोनों लज्जित होते हैं ।

सूर डिगे[1] संग्राम शिर, सती चलै सल[2] छाड ।
तो भट चारण विरुद[3] तज, तबहिं उठें मन भांड[4] ॥५४॥

युद्ध शिर पर आने के समय शूर युद्ध से भाग[1] जाय और सती चिता[2] को छोड़ भागे तो उसी समय भाट, चारण लोग उनका यश[3] गाना छोड़ देते हैं और उनके मन में उक्त शूर सती की निन्दा[4] की भावनाऐं उठती हैं वा चारण-भाट उनके मन की निन्दा करते हुये उठ जाते हैं ।

कायर को ब्रह्मा इये[1], बहुरि[2] लडै सो नांहि ।
रज्जब बिचले[3] देखतां[4], किरका[5] नांहीं मांहि ॥५५॥

कायर को ब्रह्मा भी यहाँ[1] आकर युद्ध का उपदेश करे फिर[2] भी वह नहीं लड़ सकता उसके शरीर के मध्य[3] के हृदय में देखने[4] पर उसमें शौर्य का करण[5] भी नहीं ज्ञात होता ।

शूर सती अर संत के, मरणै मंगल मांड[1] ।
रज्जब मुर[2] मुख मोड़तों, भूत[3] भक्त करे भांड[4] ॥५६॥

शूर, सती और संत अपने कार्य में प्राण देते हैं तभी ब्रह्माण्ड[1] में उनके मंगल-गीत गाये जाते हैं और उक्त तीनों[2] अपने कार्य से मुख मोड़ते हैं तो भक्त तथा सभी प्राणी[3] उनकी निन्दा[4] करते हैं ।

रज्जब कायर शूर ने, प्रकट गुप्त की खोड़[1] ।
एकै[1] कर करि हाहड़े[3], दूजे मूंछ मरोड़ ॥५७॥

कायर और शूर को प्रकट-गुप्त करने का चिह्न उनके शरीर[1] में ही रहता है, एक[2] तो अर्थात् कायर तो युद्ध को देखकर भय के मारे हायरे[3] करके भागता है, इससे संसार में गुप्त रहता है और दूसरा शूर युद्ध को देखकर निर्भयता के साथ युद्ध में प्रवेश करने के लिये मूछों के बल देता है, इससे संसार में प्रकट हो जाता है ।

शूर बिना संसार सौं, विरच्या[1] कदे न जाय ।
रज्जब कायर कोटि मिल, बाहर धरैं न पाय ॥५८॥

संत शूर हुये बिना संसार से विरक्त[1] कभी नहीं हुआ जाता, विषयी-कायर कोटिन मिलकर प्रयत्न करें तो भी संसार से बाहर पैर नहीं रख सकते, कारण-विषयी विषयाशा रहित नहीं होते, विषयाशा रहते ब्रह्म प्राप्त होना संभव नहीं, संसार में ही भ्रमण करते हैं ।

शब्द सुरति पंचों मिल्यों, रज्जब कटै विकार ।
यथा जेवड़ो कूप शिल, विहरै[1] बारंबार ॥५९॥

जैसे बारंबार कूप की शिला पर जेवड़ी आती[1] है तब वह कठोर शिला भी कट जाती है, वैसे ही सद्गुरु शब्द से मनोवृत्ति और पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ बारंबार मिलती हैं अर्थात् शब्दार्थ के अनुसार चलती हैं, तब सभी विकार नष्ट हो जाते हैं ।

जे मन पवन[1] मिल लीन ह्वै, तो प्राण[2] पिशुन[3] प्रहार ।
ज्यों कणजा[4] रेतहिं मिल्यों, रज्जब काटै[5] सार ॥६०॥

जैसे लाख[४] और रेत मिलाकर घिसने से लोह का मैल नष्ट[५] हो जाता है, वैसे ही मन और प्राण[१] मिलकर समाधि में लीन होने से प्राणी[२] के दुष्ट[३] गुण कामादि पर आघात पहुँच कर वे नष्ट प्रायः हो जाते हैं।

रे रज्जब हरि संग, हार जीत दोन्यों भली।
तातैं खेल अघाय[१], करि उछाय आणंद[२] रली[३] ॥६१॥

हरि के साथ खेलने से हार और जीत दोनों ही अच्छी हैं, इसलिये तृप्त[१] होकर खेल और आनन्द[२] उत्साह के साथ विहार[३] कर।

धीरज धरणा कठिन है, विषम[१] दुहेली[२] बार।
रज्जब रण में रुप[३] रहै, सब आसंघ[४] मर मार ॥६२॥

भयंकर[१] युद्ध के समय धैर्य रखना कठिन है किन्तु रण में पैर रोप[३] कर सब कष्ट स्वीकार[४] करते हुये शत्रुओं को मारना तथा मरना चाहिये, वैसे ही संत शूर को काम क्रोधादि के आघात के कठिन[२] समय में धैर्य रखना कठिन है किन्तु वृति ब्रह्म में स्थिर करके सभी परिस्थितियों को स्वीकार करते हुये कामादि को मार कर जीवित मृतक होना चाहिये अर्थात् जीवन्मुक्त होना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शूरातन का अंग ७१ समाप्तः ॥सा० २२४६॥

अथ शिकार का अंग ७२

इस अंग में शिकार संबन्धी विचार कर रहे हैं—

चेतन चीता हाथ ले, मूंठी मन पर डार।
रज्जब शैल[१] शिकार करि, मन मृग को तकि[२] मार ॥१॥

मन पर संयम रूप मुट्ठी का आघात डालकर चेतन रूप चीता को हृदय-हाथ में पकड़ अर्थात् निरन्तर ब्रह्म चिन्तन कर, शरीर-पर्वत[१] में स्थित मन-मृग को ध्यान-धनुष पर ज्ञान-शर संधान[२] करके मार, यही शिकार कर, अन्य नहीं।

पंच पचीसौं मारिये, मन मनसा[२] पुनि मार।
रज्जब वपु वन खंड में, खेलहु शैल[१] शिकार ॥२॥

संसार वन के मानव योनि खंड के शरीर-पर्वत[१] में शिकार खेलते हुये पंच ज्ञानेन्द्रिय, पच्चीस प्रकृति, चंचल मन और कुबुद्धि[२] को मारो, यही श्रेष्ठ शिकार करना है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शिकार का अंग ७२ समाप्त। सा० २२५१॥

अथ शब्द परीक्षा का अङ्ग ७३

इस अंग में शब्द-परीक्षा सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

एक शब्द माया मई[1], एक ब्रह्म उनहार[2]।
रज्जब उभय[3] पिछाणि उर, करहु बैन व्यवहार[4] ॥१॥

एक शब्द तो माया में फँसाकर तद्रूप[1] करने वाला होता है और एक ब्रह्म के समान[2] बनाने वाला होता है, इसलिये दोनों[3] को हृदय में पहचान-कर वचन बोलना[4] चाहिये।

कौडी लाल सु शब्द हैं, सौंघे महँगे बोल।
मधि मणि गण सम बैन बहु, पावहिं वित्त[1] सु मोल ॥२॥

कौड़ी और लाल के समान शब्द हैं, जो संसार सम्बन्धी वचन हैं वे तो कौड़ी के समान सोंघे हैं और जो पारमार्थिक वचन हैं वे लाल के समान महँगे हैं, दोनों प्रकार के वचनों में वचनों के मध्य ही बहुत-से वचन मणि गण के समान मिलते हैं, वे धन[1] के समान ही कीमत पाते हैं।

मुख मन्दिर टकसाल में, नाँणे[1] शब्द सुजान।
दमड़ी खुड़दे[2] मुहर लौं, विकसी वित[3] उनमान ॥३॥

हे सुजान ! टकसाल में दमड़ी, रेजगारी[2], मुहर तक बहुत सिक्के[1] होते हैं, वे उनमें जितना धन[3] होता है उसके अनुमान से ही बिकते हैं, वैसे ही मुखरूप मन्दिर में बहुत शब्द होते हैं, वे भी अर्थ रूप धन के अनुसार ही कीमत पाते हैं अर्थात् अच्छे बुरे समझे जाते हैं।

कौडी तांबा रूपा[1] कंचन, नग नाँणे[2] लग लाल।
त्यों रज्जब बाइक[3] विविध, फेर मोल अरु माल ॥४॥

कौड़ी, तांबा, चांदी[1], सोना के सिक्के[2], नग और लाल तक जो भी माल है, उस माल के अनुसार ही उक्त वस्तुओं की कीमत अधिक कम होती है, वैसे ही वचन[3] भी नाना प्रकार के हैं, उनका भी उनके अर्थ के अनुसार ही मूल्य होता है।

पिंड प्राण[1] पुहमी[2] पर्वै[3], तहां सप्त ये खानि।
रज्जब कंचन लोह लग[4], शब्द सु वित्त[5] हि जानि ॥५॥

जैसे पृथ्वी[2] के पर्वतों[3] में सुवर्ण, चांदी, ताम्र, वंग, नाग, अभ्रक, लोह तक[4] की सप्त धातुओं की खानियाँ होती हैं, वैसे ही स्थूल शरीर रूप पृथ्वी के सूक्ष्म[1]-शरीर रूप पर्वत में नाना शब्द रूप धन[5] होता है ऐसा जानना चाहिये।

एक शब्द राजेन्द्र मय, एक प्रजा उनहार[1] ।
बैनहुं में ब्यौरा[2] बहुत, परखै परखन हार ॥६॥

एक शब्द राजा रूप होता है और एक प्रजा के समान[1] होता है, इस प्रकार वचनों में बहुत भेद[2] रहता है, परीक्षक ही उनकी परीक्षा कर सकता है, अन्य नहीं ।

रज्जब काया कुंभ को, परखै प्राण प्रवीन ।
सारे[1] का सारा शबद, फूटा वाणी[2] हीन ॥७॥

शरीर और घड़े की चतुर प्राणी ही परीक्षा करता है, जैसे साबुत[1] घड़े का और फूटे घड़े का शब्द भिन्न-भिन्न होता है, वैसे ही श्रेष्ठ[1] प्राणी की काया से श्रेष्ठ शब्द और हीन प्राणी की काया से हीन शब्द[2] प्रकट होता है ।

वेत्ता[1] बीज[2] समान है, वाणी बोध प्रकाश ।
रज्जब बोलि बिगास[3] तों, श्रवण नैन तम नाश ॥८॥

ज्ञानी[1] बिजली[2] के समान है, बिजली में प्रकाश है, वैसे ही ज्ञानी की वाणी में ज्ञान-प्रकाश है, बिजली के प्रकाश से नेत्रों का अंधेरा दूर होता है, वैसे ही ज्ञानी की वाणी प्रकट[3] होते ही श्रवणों द्वारा जाकर अपने ज्ञान-प्रकाश द्वारा हृदय के अज्ञान को नाश करती है ।

इन्द्र गाज बोली बडी, वाणी बीज[1] विशेष ।
एकहिं तिमिर न दूर ह्वै, एकहिं सब कछु देख ॥९॥

इन्द्र की गर्जना महान् होती है, किन्तु बिजली[1] की ध्वनि उससे विशेष होती है, इन्द्र गर्जना से तो अंधेरा दूर नहीं होता और बिजली से सब कुछ दीख जाता है, वैसे ही आत्म श्लाघादि बड़ी २ वाणी से अज्ञान दूर नहीं होता किन्तु ब्रह्मज्ञान संपन्न वाणी से दूर हो जाता है ।

जगत जाणि[1] जीगण[2] जुगति[3], वेत्ता[4] बीज[5] समान ।
जन रज्जब चमकहि उभय, बल पौरुष[6] न समान ॥१०॥

जुगनू[2] और बिजली[5] दोनों चमकते हैं किन्तु उनका प्रकाश रूप बल समान नहीं होता, वैसे ही सांसारिक जीवों की और ज्ञानी[4] की बुद्धि[1] युक्ति[3] रूप बल[6] समान नहीं हो सकता ।

दामिनि[1] दमक दिशावर दीसै, जैंगन[2] चमक सु ग्वाड़ि[3] ।
तैसे वाणी वद[4] हि सु बंदे, जैसी जिनमें बाडि[5] ॥११॥

बिजली[1] की चमक तो देशान्तरों में भी दीखती है, जुगनू[2] की चमक केवल घर के चौक[3] में ही दीखती है, वैसे ही मनुष्य वैसी ही वाणी बोलते[4] हैं जैसी शिक्षकों द्वारा उनमें प्रवेश[5] हुई है ।

चिड़ी चील कूंजी कुरल[1], सम न होंहि स्वर जोख[2] ।
इक नीड[3] हि इक नगर में, इक शत योजन पोख ॥१२॥

चिड़िया, चील और कूंजी, इनकी आवाज समान नहीं होती, जाँचने[2] से ज्ञात होगा, चिड़िया की आवाज[1] उसके घोंसले के पास ही रहती है, चील की ग्राम में सुन जाती है और कूंज की तो सौ योजन जाकर हिमालय में उसके अंडे का पोषण करती है (कूंजी अंडे के पोषण का खुलासा अंग ३–६३ में देखो) इसी प्रकार मनुष्यों के शब्द–रहस्य में भेद रह जाता है ।

ग्वाड़ी[1] गम[2] सींगी शबद, शंख शब्द अति शोर ।
अधिक अति करनाल[3] का, त्यों कवि काव्यों फोर[4] ॥१३॥

सींगी के शब्द की गति[2] घर के चौक[1] तक ही होती है, शंख की आवाज का हल्ला अधिक होता है और तोप[3] की ध्वनि अत्यधिक होती है, वैसे ही कवियों की काव्य के शब्दों[4] की गति भी न्यून-अधिक होती है ।

आतम आभा[1] जल शबद, निकसै निर्मल नीर ।
पृथ्वी पड़्या पिछाणिये, रज्जब रज[2] सौं सीर[3] ॥१४॥

आत्मा बादल[1] के समान है, शब्द जल के समान है, जैसे बादल से निर्मल जल निकलता है और पृथ्वी पर पड़ने से उसमें रज का मेल[3] हो जाता है, वैसे ही संतात्माओं से निर्मल शब्द निकलते हैं किन्तु सांसारिक प्राणियों में आने पर पहचान करो तो उनमें रजोगुण[2] का मेल ज्ञात होगा ।

पंच तत्त्व परस्या[1] शबद, पृथ्वी पड़्या सु नीर ।
रज्जब तबही जाणिये, सघण[2] स्वादों[4] सीर[3] ॥१५॥

पृथ्वी पर जल पड़ता है तब उसमें बहुत[2] स्वादों का मेल[3] हो जाता है, वैसे ही जब शब्द पंच तत्त्वों से मिलता[1] है तब उसमें भी निश्चय-पूर्वक जानो बहुत आनन्दों[4] का मेल हो जाता है ।

बहते[1] रहते[2] शब्द का, रज्जब इहै[3] विचार ।
बहता[4] बोलै गुण हुं में, रहता[5] निर्गुण सार ॥१६॥

सांसारिक[1] प्राणियों के और ज्ञानियों[2] के शब्दों की पहचान का यही[3] विचार है कि सांसारिक[4] प्राणी तो तीन गुणों में स्थित देवताओं के विषय में ही बोलते हैं और ज्ञानी[5] संसार के सार निर्गुण ब्रह्म-विषयक ही बोलते हैं।

रज्जब साह दिवालिये, आघ[1] कहै मुख एक ।
उनके वस्तु सु पाइये, उनके बात अनेक ॥१७॥

साहुकार और दिवालिये दोनों मनुष्यों का सत्कार[1] मुख से किया जाता है किन्तु साहुकार के तो अनेक वस्तु मिलती हैं और दिवालिये के केवल अनेक बातें मिलती हैं, वैसे ही मुख से ज्ञानियों के और अज्ञानियों के दोनों ही शब्द बोले जाते हैं, ज्ञानियों के शब्द में तो भक्ति ज्ञानादि वस्तु मिलती हैं और अज्ञानियों के शब्दों में केवल लौकिक चातुर्य ही होता है।

वचन बराबर के कहैं, तो भी धीजन कोय ।
रज्जब रथहु सु भार भिन्न, खोज एकसा होय ॥१८॥

भार से भरा हुआ रथ और भार से भिन्न खाली रथ दोनों की लीक एक-सी ही होती है, वैसे ही संत और संत भेष धारी असंत दोनों समान ही वचन कहते हैं तो भी असंत पर विश्वास कोई न करे, विश्वास करने से आगे शांति के बदले अशांति ही मिलती है।

बादल बाइक[1] जल अरथ, वर्षा शून्य[2] मन माँहि ।
रज्जब गर्द[3] गुमान रज, उभय ठौर धुप जाँहि ॥१९॥

बादल में जल और वचन[1] में अर्थ रहता है, बादल से जल वर्षता है तब आकाश[2] की धूलि[3] धुलकर आकाश निर्मल हो जाता है, वैसे ही गुरु के मुख से शब्द सुनता है तब प्राणी के मन की अभिमान रूप रज धुल जाता है, ऐसे ही दोनों की रज धुलती है।

रज्जब शब्द समीर[1] सम, बोध वारिनिधि[2] जान ।
तहां बैन वायू चलै, उठै न गर्द गुमान ॥२०॥

शब्द वायु[1] के समान है और ज्ञान समुद्र[2] के समान है, समुद्र में वायु से गर्द नहीं उठती, वैसे ही वचनों द्वारा विवाद चलने पर ज्ञानी के ज्ञान में अभिमान नहीं उठता।

दोष न उपजै किसी के, सुनत शब्द निर्दोष ।
वक्ता के बंधन खुलै, अरु श्रोता ह्वै मोष[1] ॥२१॥

निर्दोष शब्द सुनने से किसी के भी हृदय में काम-क्रोधादि दोष नहीं उत्पन्न होते और बोलने वाले के भी रागादि रूप बन्धन खुल जाते हैं तथा सुनने वाला भी मुक्त[1] हो जाता है।

काया केलि शुक्ति हि मुक्त, शब्द स्वाति जल पोष ।
मुर मानो यूं उपजै, वहाँ दखल नहि दोष ।।२२।।

कैलि को स्वाति जल से पोष मिलता है तब कपूर उत्पन्न होता है, सीप को स्वाति जल से पोष मिलता है तब मोती उत्पन्न होता है, शरीर को गुरु के शब्दों से पोष मिलता है तब ज्ञान उत्पन्न होता है, निश्चय करके मानो ये तीनों इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं, ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् उस हृदय में कोई भी दोष अपना अधिकार नहीं जमा सकता ।

गवन गांव ने बात[1] बल, विषय वायु की आँधी ।
रज्जब रज तज काढ तों, मारुत की गति लाधी ।।२३।।

शब्दों द्वारा समाधि रूप ग्राम को जान कर शब्द[1] बल वा प्राण वायु के प्राणायाम रूप बल से गमन किया जाता है, किन्तु विषय-वायु की राग रूप आँधी आ जाय तो गति रुक जाती है, फिर गुरु के शब्दों द्वारा ही रजोगुण रूप रज को त्यागकर वृत्ति को विषय राग से निकाली जाती है तब सुषुम्ना में प्राण वायु जाने की रीति मिलती है, अतः समाधि में भी शब्द-सहायता से ही पहुंचा जाता है, इसलिये सम्यक् रीति से शब्द परीक्षा करना चाहिये ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शब्द परीक्षा का अंग ७३
समाप्तः ।।सा० २२७४।।

अथ ज्ञान परीक्षा का अंग ७४

इस अंग में ज्ञान की परीक्षा संबन्धी विचार कर रहे हैं—

साँचे झूठे ज्ञान का, पाया पारिख माग ।
रज्जब राग अनंत हैं, पर दीवा दीपक जाग ।।१।।

राग तो अनन्त हैं किन्तु दीपक तो दीपक राग से ही जगता है वैसे ही ज्ञान तो अनन्त हैं किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार तो यथार्थ ब्रह्म-ज्ञान से होता है, इस प्रकार सच्चे ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान का मार्ग परीक्षकों ने परीक्षा द्वारा जान लिया है, जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो वही सच्चा ज्ञान मार्ग है शेष मिथ्या है ।

रज्जब पन्नग[1] पतंग नर, पंख ज्ञान परकाश ।
एक सु रिधि[2] दीपक पतन, इक स्रक[3] साँई पास ।।२।।

पंख पतंग तथा सर्प[१] दोनों को आते हैं, उनमें पतंग तो दीपक प्रकाश में जलकर मर जाता है और सर्प चन्दन[३] वृक्ष पर जाकर उसके लिपट जाता है उसकी शीतलता से सर्प की विषाग्नि शान्त होकर उसे शान्ति मिलती है. वैसे ही नरों का दो प्रकार का ज्ञान होता है मिथ्या और यथार्थ, धारणा रहित मिथ्या ज्ञान वाला नर माया[२] में फंसकर नष्ट होता है, और धारणा सहित यथार्थ ज्ञान वाला नर ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म रूप ही हो जाता है ।

रज्जब रसना[१] कर गहे, ज्ञान खड्ग षट् खान[२] ।

प्राण[३] पईसा[४] ले उठै, सो कोउ और हि पान[५] ॥३॥

जैसे ६ सरदार[२] तलवार हाथों में लेकर खड़े हो जाँय किन्तु उनमें मरना स्वीकार करके धन को ले जाय ऐसा तलवार चलाने वाला हाथ[५] कोई और ही होता है, ऐसा होता है वही वीर कहलाता है, वैसे ही ६ सिद्धान्त वादी षड् दर्शन रूप तलवारें जिह्वा[१] रूप हाथों में लिये हैं अर्थात् मुख से ज्ञान सुनाते रहते हैं, किन्तु अपने जीवात्मा[३] रूप धन[४] को सांसारिक भोग-वासना रूप स्थान से लेकर संसार से उठ जाय अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाय ऐसा जिह्वा रूप हाथ कोई और ही होता है अर्थात् जैसा वाणी से कथन करे वैसी धारणा युक्त ज्ञान वाला कोई विरला ही होता है और वही ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसी का ज्ञान यथार्थ है, बाकी ज्ञान मिथ्या हैं ।

जो मति काढै मांड सौं, ले राखै हरि थान ।

रज्जब बिच उलझै नहीं, सोई उत्तम ज्ञान ॥४॥

जो बुद्धि को ब्रह्माण्ड की भोग-वासनाओं से निकाल कर ब्रह्मरूप स्थान में रखता है, बीच के सिद्धि आदि चमत्कारों में नहीं फँसने देता वही उत्तम ज्ञान है ।

रज्जब रिधि[१] रज में पड़े, हंस[२] अंश सुत[३] सार[४] ।

सो मति[५] चुंबक नीकसै, ज्ञान गराब[६] सुधार ॥५॥

जैसे लोह[४] के कण[३] रज में पड़े होते हैं वे चुंबक पत्थर से निकलते हैं, वैसे ही ब्रह्म[२] का अंश जीव चेतन माया[१] में पड़ा है, वह ज्ञान[५] से निकलता है, जैसे गराव (पाल बाँधने के तीन ऊंचे शहतीर जिसमें लगे हों उस जहाज[६]) में बैठकर दरिया की धार से पार होते हैं, वैसे ही महान् ब्रह्म-ज्ञान को धारण करके संसार से पार हो ।

सप्त धातु का ज्ञान तज, अगम अष्टवाँ लेह[१] ।

रज्जब राखै राम में, तोडै त्रिगुण सनेह ॥६॥

सप्त धातु मय शरीर का ज्ञान वा सुवर्ण, चांदी आदि सात धातु रूप माया का ज्ञान त्यागकर मन इन्द्रियों से अगम अष्टम ब्रह्म ज्ञान ग्रहण[1] करे, यह ब्रह्म ज्ञान ही त्रिगुणात्म संसार का राग नष्ट करके वृत्ति को निर्गुण राम में स्थिर रखता है।

जन रज्जब उर अष्टमा, बोध बस्या मन माँहि ।
सप्त धातु के ज्ञान को, कर्ण कबूलैं नाँहि ।।७।।

जिसके हृदय में अष्टम ब्रह्म ज्ञान बसा है, उसके कान सप्त धातु मय मायिक ज्ञान सुनने से आत्म कल्याण होना स्वीकार नहीं करते।

पन्नग पतंग पिपीलिका, तीनों पंख प्रकाश ।
इक स्त्रक शीतल को मिले, एक भये तन नाश ।।८।।

सर्प, पतंग और चींटी इन तीनों के ही पंख प्रकट होते हैं, उनमें सर्प तो शीतल चंदन को प्राप्त होकर शांति लाभ करता है, पतंग और चींटी दीपकादि में गिरकर नष्ट होते हैं, वैसे ही सज्जन और दुर्जन दोनों ही शास्त्र द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं उनमें सज्जन तो मुक्त होते हैं और दुर्जन मायिक प्रपंच में पड़कर नष्ट होता है।

बाइक[1] बादल ज्यों उठहिं, सप्त रंग शिर पाग[2] ।
रज्जब परखै पारखू, मस्तक मोटे भाग ।।९।।

बादल उठते हैं तब उनके शिर पर सात रंग की पगड़ी[2] रहती है अर्थात् उनमें सात रंग रहते हैं, उनके परीक्षक उनकी—यह बादल वर्षने वाला है या नहीं इत्यादि परीक्षा करते हैं, वैसे ही मुख से वचन[1] निकलते हैं उनमें भी सात धातु मय ज्ञान रहते हैं, उनके जो परीक्षक हैं, वे उनको त्याग कर अष्टम ब्रह्म ज्ञान को ही ग्रहण करते हैं, अतः उनके भाग्य विशाल हैं।

सृष्टि दृष्टि आवै नहीं, परम ज्ञान परकाश ।
ज्यों रज्जब रवि के उदय, तम तारे गुण नाश ।।१०।।

जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधेरा और तारे नहीं दीखते, वैसे ही हृदय में ब्रह्म ज्ञान प्रकट होने पर सृष्टि और गुण दृष्टि में नहीं आते, निर्गुण ब्रह्म ही भासता है।

निर्मल ज्ञान उदय भये, नर नारी हित नाँहि ।
रज्जब रत रंकार सौं, मिलें न माया माँहि ।।११।।

हृदय में निर्मल ब्रह्म ज्ञान उदय होने पर नर नारियों का भोगों में प्रेम नहीं रहता वे राम के बीज मंत्र "राँ" के जप में ही अनुरक्त रहते हैं, माया में नहीं मिलते।

ज्ञान गुमान[1] हिं काढ दे, काम क्रोध का काल।
रज्जब काटै सकल गुण, आत्मा करै निसाल[2] ॥१२॥

ज्ञान अभिमान[1] को हृदय से निकाल देता है, काम क्रोध के लिये काल रूप है और सभी गुणों को नष्ट करके जीवात्मा को दुःख[2] रहित करता हैं।

रज्जब गंगा ज्ञान की, कर्म रेति न रुकाय।
पाप पहाड़ों फोड़ती, हरि समुद्र को जाय ॥१३॥

गंगा धूलि से न रुक कर पर्वतों को तोड़ती हुई समुद्र में जा मिलती है, वैसे ही ज्ञान कर्म से नहीं रुक कर पापों को नष्ट करता हुआ आत्मा के साथ ही ब्रह्म में लय हो जाता है।

ज्ञान वायु सँग उड़ गये, कर्म कपूर अपार।
रज्जब जिव हलका भया, उतरचा अमित सु भार ॥१४॥

वायु के साथ अपार कपूर का भार उड़ जाता है, वैसे ही ज्ञान से अपार कर्म नष्ट हो जाते हैं, कर्म रूप अमित भार उतर कर जीव हलका हो जाता है।

रज्जब शक्ति सलिल आकाश तैं, काया केलि में आय।
वस्तु एक गुण तीन ह्वै, कथा कपूर कहाय ॥१५॥

आकाश से स्वाति जल केले में आता है तब वह कपूर कहाता है, कपूर वस्तु तो एक है किन्तु उसमें श्वेतता, सुगंध और उड़ना रूप तीन गुण रहते हैं, वैसे ही ब्रह्म से शरीर में ज्ञान-शक्ति आती है, वह वस्तु तो एक कथा ही कहलाती है किन्तु उसमें भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद हो जाते हैं, तामस से पतन, राजस से उच्च लोक और सात्त्विक से निर्गुण स्थिति द्वारा मोक्ष होता है।

मुख फानूस[1] रसन है बाती, वह्नी बैन ज्योति तहँ राती।
काजर कपट उजास विचार, चतुर्भांति दीपक व्यवहार ॥१६॥

मुख तो झाड़[1] है, जिह्वा बत्ती है, वचन ही अग्नि-ज्योति है, कपट ही काजल है, दीपक में ये चार प्रकार का व्यवहार निर्दोष हो तब ही ज्ञान-दीपक का विचार रूप प्रकाश प्रकट होता है उस प्रकाश से ब्रह्म साक्षात्कार होता है यही ब्रह्म ज्ञान की परीक्षा है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित ज्ञान परीक्षा का अंग ७४ समाप्तः
॥ सा० २२९० ॥

अथ प्राणी परीक्षा का अङ्ग ७५

इस अंग में प्राणी की परीक्षा संबन्धी विचार कर रहे हैं—

ज्यों आभों आदित्य की, करी मंद गति ज्योति ।
त्यों रज्जब आतम भयी, मिल माया के गोति ॥१॥

जैसे बादलों के द्वारा सूर्य की ज्योति की गति मंद हो जाती है, वैसे ही आत्मा की ज्ञान ज्योति मायिक पदार्थों के समूह से घिरने से मंद हो जाती है ।

जो प्राणी माया मिलै, सो माया का रूप ।
रज्जब राता राम सौं, सो निज तत्त्व अनूप ॥२॥

जो प्राणी माया से अनुराग करता है, वह माया का रूप प्राप्त करता है और जो राम में अनुरक्त है, वह उपमा रहित निज स्वरूप ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करता है ।

ईख अफीम हिं दोय गुण, पाणी एकहि आथि[1] ।
रज्जब गुण गति ह्वै गया, मिल तोयं[2] तिन साथि ॥३॥

ईख और अफीम इन दोनों में स्थिर पूंजी[1] रूप जल एक रूप में ही आया था किन्तु ईख-अफीम के साथ मिला तब जल[2] में उनके गुण प्रवेश कर गये और वह मधुर तथा कटु इन दो गुणों वाला बन गया, वैसे ही जीव जिस योनि में जाता है उसके गुण जीव में प्रवेश कर जाते हैं और वह वैसा ही भासने लगता है, वास्तव में वे गुण उसके नहीं होते हैं ।

मन चंचल माया मिलै, निश्चल लागैं नाँहि ।
जन रज्जब पाया[1] परखि[2], देख्या दोनों ठाँहि[3] ॥४॥

चंचलता और निश्चलता रूप दोनों स्थानों[3] में मन को देखकर हमने प्राणी की परीक्षा[2] का रहस्य प्राप्त[1] कर लिया है, चंचल मन वाले माया में मिलते हैं, निश्चल मन वाले माया के साथ नहीं लगते, ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।

माया अग्नि समुद्र हरि, आतम बिन्दु विचार ।
रज्जब रिधि[1] पड़तों पचन, हरि संग आयु अपार ॥५॥

माया अग्नि के समान है, ब्रह्म समुद्र के समान है, जीवात्मा जल बिन्दु के समान है, अब विचार करो जल बिन्दु अग्नि में पड़ता है तब

जलकर नष्ट हो जाता है और समुद्र में पड़ता है तब समुद्र बनकर अपार आयु वाला हो जाता है, वैसे ही माया[1] में पड़ने से जीव जन्मता-मरता है और ब्रह्म चिन्तन द्वारा ब्रह्म में मिलने से ब्रह्मरूप होकर जन्म-मरण से रहित हो जाता है ।

मन मैला मंदिर सु तन, तब लग है अपराध ।
आतम अस्थल आवतैं, निर्मल सुरति सु साध ॥६॥

शरीर रूप मंदिर तो सुन्दर है किन्तु मन मैला है तब तक दोष हैं, आत्म-चिन्तन रूप स्थान में आने से ही श्रेष्ठ संतों की वृत्ति निर्मल होती है ।

रज्जब वसुधा[1] विष विड़ो[2], अविगत[3] ईख समान ।
देखो गुण गति[4] होत है, जीव जल जा मधि सान[5] ॥७॥

पृथ्वी[1] पर अन्य सब विष-वृक्ष-समूह[2] के समान है और परमात्मा[3] ईख वृक्ष के समान हैं , जल विष-वृक्ष में जाकर विष हो जाता है और ईख मे जाकर मधुर तथा पोषक हो जाता है, वैसे ही देखो, जीव का स्वरूप[4] भी जिसमें मिलता[5] है उसके समान गुण वाला हो जाता है ।

आदि पुरुष आदित्य सौं, जीव जल आवैं जोय[1] ।
रज्जब पैठे[2] वपु[3] वनी, स्वाद सीर[4] सम होय ॥८॥

देख[1], सूर्य से जल वर्षता है, वह वन के जिस वृक्ष में प्रवेश[2] करता है उसी के स्वाद से मिलकर[4] उसके समान ही हो जाता है, वैसे ही आदि पुरुष परमात्मा से जीव आता है और जिस शरीर[3] में प्रवेश करता है उसी के समान बन जाता है ।

तिमिर उजाला शून्य में, जैसे निशि दिन होय ।
त्यों आत्मा अचेत चेतना, रज्जब देखहु जोय ॥९॥

आकाश में रात्रि को अंधेरा और दिन को प्रकाश होता है, वैसे ही विचार दृष्टि से देखो, आत्मा में अज्ञानियों के संग से अज्ञान और ज्ञानियों के संग से ज्ञान होता है । वास्तव में आकाश तथा आत्मा, अंधकार-प्रकाश, ज्ञान-अज्ञान से रहित है ।

पंच तत्त्व सौं मिश्रित[1] माया, छाणै[2] ब्रह्म समान ।
ओंकार जीव आतमा, बंध मुक्ति गति[3] जान ॥१०॥

पंच तत्त्वों से रचित मायिक शरीर में आत्म-अध्यास करके मिलना[1] ही जीवात्मा के बन्धन का स्वरूप[3] है, और ओंकार के अर्थ-मनन द्वारा उक्त मायिक शरीर से आत्मा को भिन्न[2] करता है, वह ब्रह्म समान ही हो जाता है, यही जीवात्मा की मुक्ति का स्वरूप है ।

देख्या सुण्या सु बीज है, मनसा मही मझार ।
रज्जब ऊगै नींद जल, फूले फलै अपार ॥११॥

पृथ्वी में बीज हैं, यह सुना तथा देखा भी किन्तु वह जल पड़ने से ही उग कर अपार फूल फल देता है, वैसे ही बुद्धि में संस्कार रूप बीज हैं, यह संत शास्त्रों से सुना तथा विचार द्वारा देखा भी, किन्तु वह निद्रा आने पर स्वप्न में अपार वृद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् संस्कार के अनुसार ही विशाल स्वप्न दीखता है । वैसे ही मोह निद्रा से संसार बढ़ता है । जल, निद्रा और मोह, नष्ट होने पर वृक्ष, स्वप्न और संसार नहीं दीखता ।

शृङ्गार सुण्या जागै मदन[1], सुन्दरि आवै चित्त ।
रज्जब सूतों दिन पड़ै, पीछे ह्वै विपरीत ॥१२॥

नारी का शृङ्गार सुनने से काम जागकर संस्कार रूप से नारी चित्त में आ जाती है फिर कई दिन बीच में पड़ने के पश्चात् भी सोते समय स्वप्न दोष रूप विपरीतता हो जाती है, वह संस्कार रूप बीज निद्रा-जल से ही विकसित होकर फलप्रद होता है, इसमें ११ की साखी का अर्थ स्पष्ट किया है ।

रज्जब मन फूलै फलै, सुन सुन सगुण सु बात ।
निर्गुण सुन तों झड़ पड़ै, डाल फूल फल पात ॥१३॥

सगुण की बातें सुन सुन कर मन फूलता फलता है अर्थात् बढ़ता है और निर्गुण ब्रह्म संबन्धी बात सुनने से उसकी संकल्प रूप डालियाँ, विकल्प रूप पत्ते, मनोरथ रूप फूल और प्राप्त वस्तु की आसक्ति रूप फल झड़ पड़ते हैं ।

जिहिं घट सगुण सु बीज[1] ह्वै, तिहिं निर्गुण न सुहाय ।
रज्जब वर्ष्यों वन बधै, जोय जवासा जाय ॥१४॥

देख, वर्षने से वन बढ़ता है किन्तु जवासा तो जल जाता है, वैसे ही जिसके मन में सगुण के संस्कार[1] हैं, उसे निर्गुण प्रिय नहीं लगता ।

धरै[1] अधर[2] द्वै बातैं ठाणी, जिन ज्यों सुनी सु बैठ बखाणी ।
रज्जब पशु भखैगा जोय[3], देखो बैठ उगालै सोय ॥१५॥

देख[3], पशु जो खाता है, बैठ कर उसी की उगाली करता है, वैसे ही संसार में मायिक[1] गुण मयी तथा निर्गुण ब्रह्म[2] सम्बन्धी ये दो बातें कही जाती हैं, उनमें जिसने जैसी सुनी वैसे ही समूह में बैठकर कही तथा कहता है ।

सद् गुरु शब्द सु नीम्बुवा, प्राण[2] पटी[1] तरवार ।
जन रज्जब कसि[3] लीजिये, अंगहु[4] अंग[5] विचार ॥१६॥

सद् गुरु का शब्द तो नीम्बू के समान है, प्राणी[2] तलवार के समान[1] है, जैसे तलवार नीम्बू से साफ करते हैं वैसे ही सद् गुरु के शब्दों से प्रत्येक अंग[4] को उसकी शुद्धि के उपाय[5] द्वारा विचार पूर्वक जाँचकर[3] शुद्ध करना चाहिये ।

रज्जब आभै[1] अकलि[2] के, बैन बूंद बुधि बंत ।
अंकुर उदय आतम अवनि, परखि रु पोषैं संत ॥१७॥

बुद्धि[2] रूप बादल[1] है, विद्वानों के वचन ही बून्द है, जैसे बादल से बिन्दुओं की वर्षा होती है तब पृथ्वी से अंकुर निकलते हैं, वैसे ही विद्वानों की बुद्धि से ज्ञान पूर्ण वचन निकल कर जीवात्माओं के अन्तःकरण में पड़ते हैं, तब उनसे संस्कार के अनुसार विचार निकलते हैं उन विचारों से प्राणियों की परीक्षा करके संत जैसे जिसका उद्धार हो सके वैसे ही उपदेश द्वारा उनका पोषण करते हैं, क्रोधी को क्षमा का, कामी को वस्तु विचार का इत्यादि ।

साँच माँहि सतयुग बसै, कलियुग कपट मझार ।
मनसा वाचा कर्मना, रज्जब कही विचार ॥१८॥

सत्य में सतयुग और कपट में कलियुग का निवास रहता है अर्थात् जिसमें सत्य है उसके लिय सभी समय सतयुग है और जिसमें कपट है उसके लिये सभी समय कलियुग है, यह मैंने विचार पूर्वक मन वचन कर्म से यथार्थ ही कहा है ।

जब लग भूख न नाम की, तब लग रोगी जान ।
जन रज्जब या[1] जीव की, यहु पारिख पहचान ॥१९॥

इस[1] जीव की यही परीक्षा पूर्वक पहचान है, जब तक जीव में निर्गुण राम के नाम चिन्तन की इच्छा नहीं होती तब तक उसे रोगी ही जानना चाहिये ।

ज्यों जहमत[1] में जीव को, जल दल[2] रुचै न माँहि ।
त्यों रज्जब रोगी जुदा, सत संगति रुचि नाँहि ॥२०॥

जैसे दुःख[1] में जीव की अन्न[2]-जल में रुचि नहीं होती, वैसे ही सत्संग में रुचि न होने से नाम चिन्तन की इच्छा रहित रोगी जीव ब्रह्म से अलग ही रहता है ।

नर नारायण नाम में, सुमिरण समय श्वास ।
भूलै भूत[1] विभूति[2] में, रज्जब किया विमास[3] ॥२१॥

हमने विचार[3] कर लिया है कि नर प्राणियों[1] के तथा माया[2] के अनुराग में फंसकर नारायण के नाम स्मरण में समय तथा श्वास लगाना भूल जाता है ।

तिती[1]बार[2] माया मुकत, नरहरि[3] नाम समाय ।
रज्जब छूटै लै[4] लकस[5], लच्छी[6] मय ह्वै जाय ॥२२॥

जितने समय प्राणी राम[3] के नाम स्मरण में लीन रहता है उतने[1] समय[2] माया से मुक्त रहता है और जब प्रभु स्मरण रूप लक्ष्य[5] से वृत्ति[4] छूट जाती है तब माया[6] मय ही हो जाता है ।

रज्जब जाप जिकर[1] करै, तितीबार जीव जाग ।
सुमिरण भूलै श्वास जिहि, तब सूता पल लाग ॥२३॥

जिस समय राम-नाम-जप तथा राम संबन्धी चर्चा[1] करता है, उस समय जीव जागता है और जिस श्वास में राम-नाम स्मरण भूल जाता है तब उसी समय उसकी वृत्ति रूप पलक माया में लग जाती है और वह मोह निद्रा में सो जाता है ।

नाम विसारण नींद निज, जप जागण जगदीश ।
मन वच कर्म रज्जब कहै, खैंचत वेद हदीश ॥२४॥

जगदीश्वर का नाम भूलना ही अपनी निद्रा है, जप करना ही जागना है, यह मैं मन वचन कर्म से कहता हूं तथा वेद और हदीस (मुसलमानों का धर्म ग्रथ) भी रेखा खैंच कर कहते हैं ।

रज्जब रैणी[1] आयु लग, सुमिरण लागै श्वास ।
नींद न भूला नाम हरि, जो जाग्या निज दास ॥२५॥

अपनी आयु रात्रि[1] के समाप्ति तक जिसके श्वास स्मरण में लगे हैं, जो नींद में भी हरि का नाम नहीं भूला है, वही प्रभु का निज भक्त जगा हुआ माना जाता है ।

नाम बिसारे नींद है, गृह वैराग्य सु हानि ।
रज्जब रटै सु रैन दिन, सोई जाग्या जानि ॥२६॥

प्रभु नाम का भूलना ही निद्रा है, नाम भूलने से गृहस्थ तथा विरक्त दोनों की ही हानि होती है, जो रात्रि-दिन हरिनाम रटता है, उसी को जगा हुआ जानना चाहिये ।

सब सूते सुमिरण विमुख, जागे की कहैं बात ।
रज्जब घोरहि रैनि में, कै[1] सुपने बरड़ात[2] ॥२७॥

हरिनाम-स्मरण से विमुख सभी प्रसुप्त हैं, केवल जगे हुये की-सी बातें कहते हैं उनका कहना ऐसा है, जैसे घोर रात्रि में कितने[1] ही मनुष्य स्वप्न में बकते[2] हैं।

साधु हिं शंकट ना दिया, परख्या पूरा प्राण ।
ज्यों ताव तोल सुलाक[1] न लाग्या, खरा रुपैया जाण ॥२८॥

जैसे परीक्षा करने पर रुपया खरा उतरता है तब उसे न तपाया जाता न तोला जाता और न उसमें छिद्र[1] किया जाता, वैसे ही परीक्षा करने पर जो प्राणी पूरा उतरा है, उस साधु को यमादि किसी ने भी दुःख नहीं दिया है। अतः पूरा होने का ही प्रयत्न करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित प्राणी परीक्षा का अंग ७५
समाप्तः ॥सा० २३१८॥

अथ गुप्त गोप्य जीव प्रकट परीक्षा का अङ्ग ७६

इस अंग में गुप्त जीव में गुप्त बातों की प्रकट रूप में परीक्षा का विचार कर रहे हैं—

वारि बूंद मधि विभौ[1] धरी, नख शिख रोम रु छेद ।
नुक्स न लहिये नीर में, पिंड पूर्ण सब भेद ॥१॥

वीर्य रूप जल बिन्दु में नख से शिखा पर्य्यन्त रोमों के छिद्र आदि शरीर रचने की सम्पत्ति[1] गुप्त रूप से धरी है, उस वीर्य रूप जल में अन्तःकरण के क्रोधादि दोष नहीं प्राप्त होते किन्तु शरीर में सब गुप्त रूप से रहते हैं और समय २ पर उनका भेद खुलकर परीक्षा होती है।

अंड मनोरथ बात विहंग, नारि नपुंसक निरख नर अंग ।
जैसे बीती मूंठि न मही, गोप्य जन जाणी प्रकट सही ॥२॥

जैसे अण्डे में पक्षी गुप्त रहता है, वैसे ही देख नारी, नपुंसक और नरों के शरीरों में बातें मनोरथ रूप से गुप्त रहती हैं, जैसे पृथ्वी मूठी भर भर के उठाने से तो व्यतीत नहीं होती गोप्य ही रहती है अर्थात् माप नहीं हो पाता किन्तु फिर भी सर्वज्ञ जनों ने जानकर प्रकट रूप से सही बता ही दी है, वैसे ही जीव की गुप्त बातों की भी प्रकट रूप में परीक्षा हो ही जाती है।

उडग[1] आतम हुं कौन पिछाणें, जे सखान[2] सुरति सनेह ।
रज्जब प्रकट्यों पृथ्वी जाणें, तब न दुरे[3] ते[4] देह ॥३॥

छिपे हुये तारों[1] तथा उनके प्रकाश को कौन जानता है ? और प्रकट होने पर सभी पृथ्वी के प्राणी जान जाते हैं, फिर उनका आकार छिपा नहीं रहता, वैसे ही जो छिपे हुये मित्र[2] आत्मा हैं उन्हें और उनकी वृत्ति में जो स्नेह है उसको कौन जानता है ? किन्तु जब वे प्रकट हो जाते हैं तब सभी जानने लग जाते हैं, फिर उन[4] का शरीर छिपा[3] नहीं रहता, वैसे ही जीव की गुप्त से गुप्त बात प्रकट होकर उसकी परीक्षा हो ही जाती है ।

परा जु प्राणहुं सौं परै, परसि पश्यंती होय ।
बीच विचारो मध्यमा, बोलि वैखरी सोय ॥४॥

परा वाणी प्राणी के ज्ञान से परे मूलाधार में छिपी हुई रहती है, वही नाभि में आकर सप्त स्वरों से मिलकर तथा पुरुष के साथ स्पर्श होने से पश्यंती कहलाती है, हृदय और कंठ तक बीच के स्थान में स्थित वाणी मध्यमा कही जाती है और अक्षर भेदों से मिलकर मुख से बोली जाने वाली वाणी वैखरी कहलाती है, परा जीव से भी गुप्त थी ऊपर आने पर जीव के ज्ञान की विषय हुई मुख द्वारा बोली जाने पर प्रकट रूप से सबके ज्ञान की विषय होकर उसकी परीक्षा हो जाती है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुप्त गोप्य जीव प्रकट परीक्षा का अंग ७६ समाप्त: ॥ सा० २३२२ ॥

अथ मत प्रकाश परीक्षा का अंग ७७

इस अंग में विचारों का प्रकट होना और उनकी परीक्षा विषयक विचार कर रहे हैं—

दशों द्वार दह[1] सिर[2] सु मत[3], एक बात सब ठौर ।
जीव की उपजी[4] जीभ में, वक्त्र[5] वदै[6] न और ॥१॥

दशों द्वार ही विचार[3] के दश[1] छोर[2] हैं, जो बात विचार में आती है, वही दशों द्वारों तक जाती है और जीव की उपज ही जिह्वा पर आकर प्रकट[4] होती है, मुख[5] और कुछ भी नहीं बोल[6] सकता, इस प्रकार विचार प्रकट होता है, यही विचार प्रकट होने की परीक्षा है ।

उर उपज्यूं अहरयों[1] उदय, समझो साखी शेष ।
यूं ही माया ब्रह्म रत, सो कृत केशहि केश ॥२॥

हृदय में उत्पन्न होती है, वही होठों[1] से प्रकट होती है, यह शेषजी की साक्षी द्वारा समझो अर्थात् जो शेषजी की बुद्धि में उत्पन्न होती है, वही हजार मुखों के होठों द्वारा प्रकट होती है, किसी भी होठ से अन्य नहीं निकलती, ऐसे ही यदि बुद्धि माया में रत होगी तो रोम २ में माया के कार्य बसे रहेंगे और ब्रह्मरत होगी तो रोम २ में ब्रह्म बसा हुआ भासेगा ।

पंच तार जंतर[1] चढैं, सोलह स्वर मृदंग ।
स्वरमंडल स्वर बहुत हैं, बाजत एक हि अंग[2] ॥३॥

तंदूरे[1] पर २ षडज के, २ पंचम के और १ मध्यम का, ये पांच तार चढ़ते हैं, मृदंग के १६ बोल ही १६ स्वर होते हैं। स्वर मंडल (एक तार-वाद्य) से बहुत स्वर निकलते हैं किन्तु हे प्रिय[2] ! उक्त सब बाजे मिलकर एक ही राग में बजते हैं। वैसे ही पंच तत्त्वों के कार्य शरीर के मन इन्द्रियादि भिन्न २ अंग होने पर भी उनका सिद्धान्त एक ही होता है। मृदंग के १६ स्वर अंग १७८।३, में देखो ।

स्वर मंडल सु शरीर है, सब रग तार सु साज ।
रज्जब राग सु एक ह्वै, जो जाणे सुनि बाज ॥४॥

शरीर ही स्वर मंडल है, सब रगें ही तार सामग्री हैं, सभी से एक विचार रूप राग ही निकलता है, जो जानता है सो उक्त शरीर रूप बाजे से सुनता है अर्थात् प्रकट हुये विचारों की परीक्षा करता है ।

पग रु पाणि पल्लव चलहिं, जिव जिह्वा इक राग ।
रज्जब निरखहु निरति में, निरति कारी का माग ॥५॥

देखो, नृत्य के समय में नृत्य करने वाले का मार्ग, पैर, हाथ और अँगुलियाँ चलती हैं किन्तु उसकी जिह्वा पर राग एक ही रहता है, वैसे ही सब अंगों की क्रिया चलते हुये भी जीव का विचार एक समय एक ही रहता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मत प्रकाश परीक्षा का अंग ७७
समाप्तः ॥ सा० २३२७ ॥

अथ अपारिख का अंग ७८

इस अंग में अपरीक्षक विषयक विचार कर रहे हैं—

परख विहूणा[1] पर हरै, परम पदारथ मन्न ।
जन रज्जब रीते रहे, त्याग अमोलक धन्न ॥१॥

परीक्षा के बिना[1] प्राणी अमूल्य रत्न रूप धन को कंकर समझकर त्याग देता है, वैसे ही ज्ञान न होने से अज्ञानी का मन परम पदार्थ रूप परमात्मा को भी त्यागकर खाली ही रहता है ।

बिन पारिख आघै नहीं, कंचन काच समान ।
रज्जब रोटी को रतन, लखै सु लाभ न हान ॥२॥

बिना परीक्षा कुछ भी मूल्य नहीं होता, सुवर्ण और काच को समान ही समझता है, मूर्ख प्राणी रोटी को ही रत्न समझता है, अपने लाभ तथा हानि को भी नहीं समझता ।

महँगी सौं सौंघी करी, सौंघी महँगी होय ।
रज्जब रोस न कीजिये, पारिख नाहीं कोय ॥३॥

अपरीक्षक महँगी वस्तु को सौंघी और सौंघी को महँगी कर देता है किन्तु उस पर क्रोध नहीं करना चाहिये, कारण-उसे परीक्षा नहीं आती है ।

जे नग नाख्या मूरखों, तो कुछ घटचा न मोल ।
तैसे रज्जब साधु गति[1], कहा खुसै जग बोल ॥४॥

यदि मूर्खों ने नग को पटक दिया तो उसका कुछ मूल्य नहीं घटा है, वैसे ही संत की दशा[1] है जगत् के अज्ञानी प्राणी संत को कुछ कटु वचन कहकर त्याग दें तो संत का कुछ छिन तो नहीं जाता, वह तो संत ही रहता है ।

थापै उथपै परख बिन, खोटा खरा सु नाँहि ।
जन रज्जब ऐसे बणिज, हानि हुई घर माँहि ॥५॥

जिसको खोटे-खरे की परीक्षा नहीं आती वह खोटी वस्तु को रखता है और खरी को त्यागता है, ऐसे व्यापार करने वालों के घर में ही हानि हुई है ।

खोटा खरा न जानिये, पारिख नाँहीं माँहि ।
ज्यों सुपने संपति विपति, उभय सत्य सो नाँहि ॥६॥

जैसे स्वप्न की संपत्ति और विपत्ति दोनों मिथ्या हैं, सत्य नहीं हैं किन्तु उनमें विपत्ति को बुरी और संपत्ति को अच्छी मानता है, वैसे ही मन में परीक्षा करने की शक्ति नहीं होने से अच्छे-बुरे को नहीं जान सकता।

क्या कहणा सुन कीर[1] लिये, भोलै[2] भूल सु भाख।
रज्जब बूडे[3] परख बिन, देखो देखत लाख ॥७॥

तोते[1] के लिये क्या कहा जाय, वह तो अनजान[2] होने से भूल से "हाँ" कहता था किन्तु देखो, देखते २ ही परीक्षा के बिना सेठ के लाख रुपये डूब[3] गये। प्रसंग कथा—एक ठग एक तोते को "हाँ" करना पढ़ाकर एक सेठ के पास जाकर बोला—"यह तो बड़ा विद्वान् है, इसे खरीद लो, धन कमाने में आपको बड़ी सहायता मिलेगी, इसकी कीमत एक लाख रुपये है ?" सेठ ने तोते से पूछा—"तू विद्वान् है ?" तोता हाँ ! सेठ—धन कमाने की विद्या जानता है ? तोता हाँ ! जो भी सेठ ने पूछा उसके लिये हाँ कहता गया, सेठ ने एक लाख रुपये देकर उसे खरीद लिया। पीछे उससे जो भी पूछे उसका उत्तर "हाँ" छोड़कर आगे कुछ नहीं, तब सेठ ने कहा—"हाँ" करना ही जानता है क्या ? मेरे लाख रुपये तो डूब ही गये। यही कथा इस साखी में कही है, परीक्षा बिना ऐसा ही होता है।

प्राण पचन[1] ह्वै परख बिन, करै अनीति अनन्त।
रज्जब दुख दे सकल को, गिणै न संत असंत ॥८॥

परीक्षा के बिना प्राणी बहुत परिश्रम करके हैरान[1] होता है, अनन्त अनीति करता है, संत असंत को भी नहीं समझता, सभी को दुःख देता है।

मूरख हर्ष्या हंस हत, पर कीरत हती न जाय।
त्यों रज्जब साधू सुयश, रह्या सकल जग छाय ॥९॥

मूर्ख यदि हंस को मार कर प्रसन्न हो तो क्या है ? हंस की कीर्ति नाश नहीं कर सकता, वैसे ही परीक्षा बिना संत के शरीर को नष्ट करने से क्या है ? संत का सुयश तो सब जगत् में फैला ही रहता है।

कनक थाल, हनि[1] शैल[2] सुत[3], कीजे कहा बखान[4]।
मिसरि[5] न उतरचो मोल तैं, चढचा न अर्घ[6] पखान ॥१०॥

यदि पर्वत[2] के पत्थर[3] ने सुवर्ण के थाल को तोड़[1] दिया, तो क्या उसकी प्रशंसा[4] की जायगी ? सुवर्ण[5] की कीमत नहीं घटती और पत्थर

पर कोई जल[६] नहीं चढ़ाता, वैसे ही परीक्षा बिना किसी संत को कष्ट देने से कष्टदाता की बड़ाई नहीं होती और संत का कुछ घटता नहीं।

परख[१] बिना प्राणी दुःखी, ज्यों अंधा बिन नैन।
रज्जब धक्के दशों दिशि, पग पग नाँहीं चैन[२] ॥११॥

जैसे अंधा बिना नेत्रों दशों दिशाओं में धक्के खाता है, वैसे ही परीक्षा[१] बिना प्राणी पद-पद पर दुःखी रहता है, कहीं भी उसे सुख[२] नहीं मिलता।

ज्यों गोरख गोदावरी, पुरुषों परख्या नाँहिं।
जन रज्जब जाने बिना, कौन हुई उन माँहि ॥१२॥

जैसे गोदावरी के कुंभ मेले में पुरुषों ने गोरक्षनाथ को नहीं पहचान कर उन्हें कष्ट दिया, तब न जानने से उनमें क्या बीती थी अर्थात् सब पत्थर हो गये थे, वैसे ही जो बिना परीक्षा संतों को कष्ट देते हैं उनकी भी वैसे ही दशा होती है। पत्थर होने की कथा छप्पय ग्रंथ के आज्ञा भंग अंग १५ की टीका में देखो।

तन मन स्वर[१] गुरु गोविन्दा, पायूं पाये नाँहिं।
रज्जब जिव[२] न्यारा निकट, पारिख नाँहीं माँहिं ॥१३॥

तन मन में गुरु के शब्द[१] और गोविन्द प्राप्त होने पर भी नहीं प्राप्त हुये, गुरु के शब्दों की परीक्षा के बिना जीव[२] गोविन्द के निकट होने पर भी अलग ही रहता है।

कौडी कोडे[१] बहुत न पार्वाहि, जे मुहरों में बैठी।
मुहर न उतरी मोल से, कौड्याँ मांही पैठी ॥१४॥

कौड़ी यदि मोहरों में जा बैठी हो तो मोहर के समान अपनी कीमत के बहुत रुपये[१] नहीं प्राप्त करती और मोहर कौड़ियों में पड़ जाय तो उसकी कीमत कम नहीं होती, वैसे ही परीक्षक मनुष्यों की भी परीक्षा कर लेते हैं, अपरीक्षक नहीं कर पाता।

जाचंध[१] न जाने रंग की, कोटि भांति समझाय।
काला पीला ऊजला[२], उन देख्या नहि आय ॥१५॥

जन्मांध[१] को चाहे कोटि भांति से समझावें, वह काले, पीले, श्वेत[२] आदि रंगों को परीक्षा नहीं जानता, कारण उसने शरीर में आकर देखा ही नहीं।

रज्जब जाने रंग को, जो देखि हुआ है अंध ।
सो क्या बूझे वर्ण[1] को, जो जन्म्या जाचंध ॥१६॥

रंग की परीक्षा वही जानता है जो देखकर अंधा हुआ है, जो जन्मांध ही जन्मा है वह रंग[1] की परीक्षा में क्या समझेगा ?

पहुप[1] पगों तल दाबिये, माथै महँदी मेल ।
रज्जब यहु गति[2] जीव की, बिन पारिख का खेल ॥१७॥

पुष्प[1] तो पैरों तले दाबा जाय और महँदी मस्तक पर लगाई जाय, बिना परीक्षा जीव की चेष्टा[2] से ऐसा ही खेल होता है ।

तरु हरि हर नर शीश पर, पहुप विराजै दास ।
सो कैसे पग चांपिये, रज्जब परम सु वास ॥१८॥

वृक्ष, विष्णु, शंकर और मनुष्यों के शिर पर विराजने वाले पुष्प को पैरों तले कैसे दाबा जाय उसमें तो सुन्दर सुगंध होती है, वैसे ही भक्त को कैसे दाबा जाय उसमें तो परम प्रभु विराजते हैं और दाबता है तो परीक्षक नहीं है ।

जलचर जाणें जल चरा, शशि देख्या जल माँहि ।
तैसे रज्जब साधु गति[1], मूरख समझै नाँहि ॥१९॥

जलचर जीव जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे भी जलचर ही समझते हैं, वैसे ही परीक्षा बिना मूर्ख साधु के स्वरूप[1] को न समझकर उसे अपने समान ही समझते हैं ।

प्रतिबिम्ब पिंड सूरज परि साधू, सलिल शक्ति के माँहि ।
रज्जब बंधै सु जाल जलचर, त्यों गहिये ते नाँहि ॥२०॥

सूर्यपिंड का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है और जल चर उसे भी जल चर ही जानते हैं किन्तु जाल में जलचर ही बँधते हैं सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं बँधता, वैसे ही संतों के शरीर माया में रहते हैं किन्तु जैसे अज्ञानी यम-जाल में पकड़े जाते हैं, वैसे वे संत नहीं पकड़े जाते ।

नर पंखी पंखी कहैं, साधू सूरज जोय ।
तो रज्जब तिस भाण[1] में, पंखी की गति कोय ॥२१॥

पक्षी सूर्य को पक्षी कहते हैं किन्तु उस सूर्य[1] में पक्षी की-सी कोई चेष्टा नहीं होती, वैसे ही सांसारिक नर संत को भी नर ही कहते हैं किन्तु संत के मन में सांसारिक नरों की-सी कोई चेष्टा नहीं होती ।

साधु शब्द प्रतिविम्ब सम, सूनों[1] शून्य[2] न सूझ[3] ।
अकल[4] अकाश अभ्यास ही, कै[5] व[6] वारि जहाँ बूझ[7] ॥२२॥

संतों का शब्द प्रतिविम्ब के समान है, जैसे आकाश[2] में प्रतिविम्ब नहीं दीखता[3] अथवा[5] दीखता है तो जहाँ जल होता है वहां जलाकाश में ही दीखता है, वैसे ही विचार से खाली[1] हृदय वालों को संत शब्द का ज्ञान नहीं होता वा[6] होता है तो जिस हृदयाकाश में कला रहित[4] ब्रह्म चिन्तन का अभ्यास होता है उसी में होता है। ऐसा ही समझना[7] चाहिये।

परख बिना पाषाण को, पूजैं पामर प्राण[1] ।
रज्जब खोटा माँहिं सो, जो उर अंध अजाण ॥२३॥

जो अनजान हृदय के अंधे पामर प्राणी[1] हैं वे परीक्षा बिना पत्थरों को पूजते हैं किन्तु भीतर से खोटे होते हैं।

दृष्टि बिना गोविन्द दश, परख बिना पति कोड़ि[1] ।
बिन जान्यूं जार ही भजै, रज्जब मोटी[2] खोड़ि[3] ॥२४॥

विचार दृष्टि बिना दश अवतार रूप दश गोविन्द कहे जाते हैं, वैसे ही परीक्षा बिना कोटि[1] पति मान लिये जाते हैं, बिना जाने तो जार ही भजते हैं, यह न जानना महान्[2] दोष[3] है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अपारिख का अंग ७८ समाप्त:
॥सा० २३५१॥

अथ अज्ञान कसौटी का अंग ७९

इस अंग में अज्ञान जन्य कष्टादि का विचार कर रहे हैं—

अति गति[1] आतुर[2] देखिये, नाम विमुख बहु दौर ।
रज्जब भरम्या चाक ज्यों, अंत ठौर की ठौर ॥१॥

एक नाम चिन्तन से विमुख प्राणी विशेष[1] रूप से व्याकुल[2] ही देखे जाते हैं और जैसे कुम्हार का चाक भ्रमण करके भी अंत में उसी स्थान में रहता है, वैसे ही जहाँ तहाँ तीर्थ तथा कर्मादि के करने में बहुत दौड़ लगाकर भी अंत में पूर्व की स्थिति में ही रहते हैं।

रज्जब दौरे नाम बिन, चल्यूं चल्या सो नाँहिं ।
मनसा वाचा कर्मना, रह्या भुवन गति माँहिं ॥२॥

घर में चलता है वह घर में ही रहता है, उसका चलना न चलने के समान ही है, वैसे ही हम मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही कहते हैं, जो नाम चिन्तन बिना अन्य साधनों में दौड़ लगाता है, वह पूर्ववत प्रभु से दूर ही रहता है।

नाम निरंजन छाडि कर, गहै कसौटी[1] रूप।
जन रज्जब अह निशि चलै, अंत रहट[2] बिच कूप ॥३॥

निरंजन राम का नाम चिन्तन छोड कर अन्य साधन रूप कष्ट[1] ग्रहण करता है, वह जैसे कूप का अहरट[2] दिन रात चलकर भी कूप में ही रहता है, वैसे ही अपनी पूर्व स्थिति में ही रहता है भगवान् की ओर आगे नहीं बढ़ता।

बहुते चलैं विचार बिन, ज्यों घाणी का बैल।
जन रज्जब चारों पहर, कटी कोस नहिं गैल ॥४॥

बिना विचार बहुत से साधन-मार्ग में चलते हैं किन्तु जैसे घाणी का बैल चारों पहर चलता है तो भी एक कोस भी नहीं चलता वहाँ ही रहता है, वैसे ही वे संसार में ही रहते हैं।

कोटि कष्ट केवल सु जल, नाम सुधा रस नीर।
हंस अंश[1] ले क्षीर[2] का, समझ करहु सो सीर[3] ॥५॥

केवल कोटिन साधन-कष्ट तो जल के समान हैं और नाम चिन्तन के सहित सुधा रस मिश्रित जल के समान हैं, जैसे हंस जल को छोड़कर दूध[2] का भाग[1] ही लेता है, वैसे ही समझकर वह नाम-सुधा-रस धारा[3] ही लो अर्थात् कष्टों को छोड़कर निरंतर नाम चिन्तन ही करो।

अज्ञान कष्ट सब शक्ति[1] में, शिव[2] सेवा हरि नाम।
ज्यों भृत[3] भामिनि[4] राज घर, सुत संपति द्वै ठाम ॥६॥

जैसे दास[3] की नारी[4] राजा के घर रहती है किन्तु उसकी भूषणादि संपत्ति और संतान राजा के घर तथा पति के घर दोनों स्थानों में रहती है, वैसे ही अज्ञान के कारण व्रतादि कष्ट उठाते हुये नाम चिन्तन करता है, उसके कष्ट तो माया[1] में ही रहते हैं अर्थात् मायिक पदार्थ ही देते हैं और हरि-नाम-चिन्तन ब्रह्म[2] की सेवा है, उसे ब्रह्म अपनाते हैं।

कूकस[1] कष्ट अज्ञान अन्य, नाम नाज कण ऐन।
रज्जब भोजन भजन बिन, तुसहु सु तृप्ति न चैन ॥७॥

नाम से अन्य अज्ञान जन्य कष्ट भूसे[1] के समान हैं, और नाम नाज के समान है, जैसे नाज से बने भोजन के बिना तुसों से तृप्ति नहीं होती वैसे ही नाम के भजन बिना ब्रह्मानन्द नहीं मिलता ।

अज्ञान कष्ट खोजे मिलै, आत्मा अबलहिं आय ।
रज्जब भजन भरतार बिन, हरि सुत जण्या न जाय ॥८॥

नारी से अनेक नपुंसक मिलें तो भी वीर्यवान् पति के मिले बिना वह पुत्र नहीं जन सकती, वैसे ही जीवात्मा अज्ञान से अनेक कष्ट उठावे तो भी भजन बिना हरि नहीं मिलते ।

षट्कर्मी साधन करम, कर्म गलित[1] नहिं होय ।
रज्जब सहज समाधि बिन, सीझ्या सुण्या न कोय ॥९॥

वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान लेना और देना इन षट्कर्मों को करने वालों के भी कर्म कर्म-रूप साधन से नष्ट[1] नहीं होते, सहज समाधि के बिना कोई भी मुक्ति रूप सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ नहीं सुना जाता ।

हठ अज्ञान न हरि मिलैं, ज्ञान गलित[1] जे नाँहि ।
रज्जब कही विचार कर, समझे समझो माँहि ॥१०॥

जिनके देहाध्यासादि विकार ज्ञान से नष्ट[1] नहीं हुये हैं, उनको अज्ञान पूर्वक हठ योगादि क्रियाओं के करने से हरि नहीं मिलते, यह हमने विचार पूर्वक ही कहा है, समझे हुये साधक इसे अपने अन्तःकरण में विचार करके समझने का यत्न करें ।

गुरु गोविन्द रु गऊ लग, नाम अराधे जाँहि ।
रज्जब साधन संकटै, सो न मिलै महि[1] माँहि ॥११॥

निरंजन राम के नाम का चिन्तन करने से गुरु गोविन्द और गाय तक सभी की उपासना हो जाती है, वह नाम चिन्तन करने वाला संत पृथ्वी[1] में होने वाले अन्य साधन रूप कष्टों से नहीं मिलता अर्थात् जो कष्ट-प्रद हैं उन्हें नहीं करता ।

समुद[1] न सलितों[2] पूछ[3] ही, सीप स्वाति दिश जात ।
त्यों शरीर नाड्यों निकस, सुमिरन सुरति[4] करात[5] ॥१२॥

सीप समुद्र[1] और नदियों[2] का आदर[3] न करके स्वाति बिन्दु की ओर ही जाती है, वैसे ही संत की वृत्ति[4] शरीर की नाड़ियों से निकलकर प्रभु नाम स्मरण ही करती[5] है ।

पशू पिंड सूई सुरति[1], चरिगया चेजै[2] संग।
चुंबक नाम शरीर श्रवण धर, फोड़ि सु निकसै अंग[3] ॥१३॥

पशु चारे[2] वा बांटे[2] के साथ अनजान में सुई खाजाता है तब उसके शरीर पर चुम्बक पत्थर धरके फेरने से वह शरीर के मांस चमड़ी आदि को छेकती हुई चुम्बक के आलगती है, वैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति[1] प्राणी के शरीर में अज्ञान से लीन हो रही है, जब निरंजन राम का नाम कानों से सुना जाता है तब वह शरीर[3] से निकलती है अर्थात् अन्तःकरण में प्रकट होती है।

वसुधा[1] बंबई[2] वारितैं, व्याल[3]हि काढ़े नाद।
त्यों तन तैं सुरति सुमिरन निकसै, और झूठ बकवाद ॥१४॥

पृथ्वी[1] की बाँबी[2] से और जल से पूंगी बजाना रूप नाद सर्प[3] को निकालता है वैसे ही प्रभु-नाम-स्मरण वृत्ति को देहाध्यास से निकालता है, और सब बकवाद करना मिथ्या है।

अज्ञान कष्ट सूने सदन[1], नहिं नर हरि[2] निरताय[3]।
नाम धाम बसता सदा, सुमरचों करी सहाय ॥१५॥

विचार[3] करके देखो, जो नाम चिन्तन को छोड़कर अज्ञान द्वारा नाना कष्ट उठाते हैं, उनके अन्तःकरण रूप घरों[1] में भगवान्[2] नहीं हैं अतः वे शून्य हैं और जिसके अन्तःकरण रूप घर में प्रभु का नाम चिन्तन रहा है, उसमें प्रभु सदा बसते रहे हैं और दुःख के समय स्मरण करते ही सहायता की है।

सांई पैठा[1] सांकडै[2], सुमरचों करी सहाय।
रज्जब रत रंकार यूं, विग[3] हु न बंधी वाय[4] ॥१६॥

नाम-स्मरण करने से प्रभु अति समीप[2] अन्तःकरण में ही प्रविष्ट[1] हुये रहते हैं, दुःख के समय याद करने से नाम-स्मरण करने वालों की सहायता की है, इस प्रकार विचार करके विज्ञ[3]जन राम नाम के बीज "राँ" के चिन्तन में ही रत रहे हैं कुंभक प्राणायाम द्वारा प्राण वायु[4] को नहीं बाँधा।

रज्जब भेरा[1] नाम का, नर हु निबंध्या[2] मूल।
ता बिन करहिं सु और कछु, भोंदू[3] पड़े सु भूल ॥१७॥

संसार-सागर को पार करके अपने मूल ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये नाम चिन्तन-बेड़ा[1] प्रभु ने बाँधा[2] है, उस नाम चिन्तन को छोड़कर और जो कुछ करते हैं वे मूर्ख[3] भूल में पड़े हुये हैं।

बीरज[1] ब्रह्म विचार है, योग युक्ति प्रतिपाल ।
रज्जब थिर चंचल पवन, नाम नीर बिन काल ॥१८॥

योग युक्ति से वीर्य[1] की रक्षा की और चंचल प्राण रूप वायु को स्थिर भी किया किन्तु सोमचक्र से गिरने वाला जल न मिले तो मृत्यु ही होगी, वैसे ही ब्रह्म विचार तो ग्रंथों द्वारा किया किन्तु नाम चिन्तन रूप निदिध्यासन नहीं किया तो कालाधीन होगा ही ।

तन मारै मन ना मुवा, देखो भूत मसाण ।
अज्ञान कष्ट आतम[1] सु यूं, जन रज्जब पहचाण ॥१९॥

शरीर को काल मारता है किन्तु मन नहीं मरता, देखो, श्मशान में भूत होकर प्रकट होता है, वैसे ही अज्ञान से प्राणी[1] शरीर को कष्ट देते हैं किन्तु उनका मन नहीं मरता यह निश्चय जानो ।

भूखों मारि भुवंग[1] तन, लीया अनिल[2] अहार ।
रज्जब योगी ईहि जुगति, बध्या सु विष अहंकार ॥२०॥

सर्प[1] को भूखों मारने पर भी वह वायु[2] अहार करता है और उसमें विष बढ़ता ही है, वैसे ही योगी योग-युक्ति से अनाहार रहकर प्राण निरोध करता है अर्थात् समाधि लगाता है तब उसमें भी अहंकार बढ़ता ही है ।

अरिल--अज्ञानी कसि[1] देह न मन को मार है ।
ज्यों संकट मधि सर्प विष हि अधिकार[2] है ॥
तैसे शठ हठ देखि न कबहूं कीजिये ।
परिहां रज्जब परखो प्राण प्रपंच न धीजिये[3] ॥२१॥

अज्ञानी शरीर को कष्ट[1] देता है, मन को नहीं मारता, जैसे संकट में सर्प का विष अधिक[2] हो जाता है, वैसे ही शरीर को कष्ट देने से मन अधिक विक्षिप्त हो जाता है, इस प्रकार का मूर्खों का हठ देखकर उनके समान कभी नहीं करना चाहिये, प्राणी के हृदय की परीक्षा करो वह कैसा है, केवल ढोंग पर विश्वास[3] मत करो ।

ग्यारस रोजे जैन व्रत, कण कण तिन को काल ।
सो रज्जब क्यों करहिगे, प्राणहुं की प्रति पाल ॥२२॥

एकादशी व्रत तथा रोजा और जैन व्रत करने वालों को व्रत के दिनों में अन्न के कण-कण में काल प्रतीत होता है, यदि यह बात सत्य है तो उन दिनों में वे अन्न कण अन्य प्राणियों की रक्षा कैसे करेंगे ? और करते हैं, अतः उक्त बात कल्पना मात्र है ।

जंत्र[1] तार तत्त्व पंच तन, रचि[2] जंत्रक[3] स्वर भौन ।
रज्जब तंति[4] उतार कर, राग बजावे कौन ॥२३॥

बाजे बनाने वाला[3] तंदूरा[1] बना कर उस पर २ षडज के २ पंचम के और १ मध्यम का ये पांच तार चढ़ाता है । स्वर भौन (स्वर मंडल-तार-वाद्य) बनाता[2] है । बकरे की तांतें[4] लगाकर रबाब बनाता है । किन्तु तंदूरे और स्वर मंडल के तार तथा रबाब की तांतें उतार कर उनसे राग कौन बजा सकता है ? अर्थात् उक्त तार और तांतों को उतारना अज्ञान पूर्वक कष्ट ही उठाना है, वैसे ही पंच तत्त्व से रचित शरीर से प्राण को निकाल कर उसे कौन बुला सकता है ? प्राण निकालना अज्ञान पूर्वक कष्ट ही देना है । रबाब का प्राचीन नाम "रुद्वीणा" था मुसलमानों ने रबाब नाम रखा है । फारस, अफगानिस्तान और काश्मीर में यह अधिक प्रचलित है ।

वायु बिना बोहित[1] थकित[2], त्यों सुमिरन बिन श्वास ।
रज्जब रचना राम की, समझ विवेकी दास ॥२४॥

जैसे वायु के बिना बड़ी नाव[1] थक[2] जाती है, अधिक नहीं चल सकती, वैसे ही नाम-स्मरण बिना श्वास समाधि की ओर जाने से थक जाते हैं अर्थात् नाम-स्मरण बिना अन्तर्मुखता नहीं बढ़ती और अन्त-र्मुखता बिना बहिर्मुख की समाधि नहीं लगती । राम की रचना ऐसी ही है, हे विवेकी भक्त ! इसको समझने का प्रयत्न करके गुरु द्वारा समझ ।

पवन[1] पिंड पौरुष गया, गिरडी[2] चाटे वीर[3] ।
चाकी चून न पीसिये, रज्जब रोकें नीर ॥२५॥

चक्की की मानी[2] ढीली हो जाती है तब आटा नहीं पिसता, इसे ही गिरडी चाटना कहते हैं फिर उस पर जल से भिगो कर कपड़ा रखते हैं तब वह फूलकर संकुचित हो जाती है और आटा पिसने लगता है, जैसे गिरडी ढीली होने से चक्की की शक्ति क्षीण हो जाती है आटा नहीं पिसता, वैसे ही ब्रह्मचर्य नहीं रखने से शरीर तथा प्राणों[1] की शक्ति क्षीण हो जाती है, अतः हे भाई[3] ! वीर्य रूप जल को रोको जिससे ज्ञान शक्ति बढ़कर अज्ञानजन्य कष्ट दूर हों ।

जल दल[1] निगलै पौन[2] सौं, बाहर काढै पौन ।
रज्जब पैंडा[3] पौन का, प्राणी बंधे[4] कौन ॥२६॥

प्राण वायु[2] से ही अन्न[1]-जल निगले जाते हैं और मल को बाहर भी वायु ही निकालता है, तब कौन विचारशील प्राणी वायु के मार्ग[3] को रोकेगा[4] ? अर्थात् आत्म-ज्ञान से शून्य प्राणी ही रोकेगा ।

गोरख ज्ञान अनन्त अपार, मारुत[1] बिना क्यों करे विचार ।
प्राण[2] प्रमोधे[3] वायु[4] तोड़ी, निरख नरेश निनाणवे कोड़ी[5] ॥२७॥

यदि कहो गोरक्ष नाथ ने वायु का मार्ग रोका था, तो उनका ज्ञान तो अनन्त अपार था वे श्वासों[1] के चले बिना विचार कैसे करते, देख उन्होंने तो प्राणायाम[4] को भंग करके निनानवे प्रकार[5] के नरेशों को तथा अनेक प्राणियों[2] को उपदेश[3] दिया था, इससे ज्ञात होता है वे तो ज्ञानी थे, उनका साधन अज्ञान-पूर्ण न था ।

मोटी[1] वायु सु बंधिये, यथा मसक में पौन[2] ।
गुनहगार छूटे फिरै, कारज सरै सो कौन ॥२८॥

जैसे लुहार की मसक में वायु[2] बँध जाता है, वैसे ही महान्[1] वायु को तो बाँध लेते हैं किन्तु जो दोषी हैं वे मन इन्द्रिय तो खुले विषयों में भ्रमण करते हैं, वह कार्य कौन-सा है जो ऐसा करने से सिद्ध होगा ? अर्थात् मुक्ति रूप कार्य ऐसे नहीं होता ।

वायू बंधहि बे गुनहिं, उलटि करै विकटंग[1] ।
गुनहगार छूटे फिरै, यूं लागै यम डंग[2] ॥२९॥

बिना दोष ही वायु को बाँधते हैं तब वह उलटकर अंग[1] को विकट करता है अर्थात् रोगी बना देता है । दोषी मन इन्द्रिय खुले विषयों में भ्रमण करते हैं इस प्रकार करने से यम की चोट[2] ही लगती है ।

रज्जब अविगत नाथ को, मिले न वायू बंध ।
आँटा पडै तो मीच ह्वै, कै कुष्टी ह्वै अंध ॥३०॥

केवल वायु को बाँधने से जगन्नाथ परमात्मा से नहीं मिल सकता और वायु का आँटा पड़ जाय तो अर्थात् विधि में गड़बड़ हो जाय तो मृत्यु हो जाती है, कोढ़ी हो जाता है, अंधा हो जाता है ।

पौन[1] साध प्राणी उड़हिं, तो पंखी पर[2] पेख ।
वायू बंध विहंग[3] का, व्योम[4] न मिल्या अलेख[5] ॥३१॥

वायु[1] साधने से प्राणी उड़ने लगता है, तो देख पक्षी पंखों[2] से ही उड़ जाता है, वायु बाँधने से पक्षी[3] को आकाश[4] नहीं मिलता और मनुष्य को परमात्मा[5] नहीं मिलता, पक्षी पंखों से आकाश में जाता है, वैसे ही नर भजन-विचार से प्रभु को प्राप्त करता है ।

करी पवन की साधना, नट भांडहुं भरपूर ।
रज्जब रीते राम बिन, वस्तु रही सो दूर ॥३२॥

नट और भांडों ने भी वायु रोकने की साधना पूर्ण रूप से की है किन्तु वे राम-नाम के चिन्तन बिना खाली ही रहे, उनसे वह ब्रह्म रूप वस्तु दूर ही रही ।

रज्जब अज्जब[1] नाम तज, साधे शुक्र[2] रु श्वास ।
परम तत्त्व पावे नहीं, प्राणी जाय निराश ।।३३।।

परब्रह्म की प्राप्ति के अद्भुत[1] साधन नाम चिन्तन को छोड़कर केवल वीर्य[2] और श्वासों को रोकता है, वह प्राणी परम तत्त्व ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता, निराश होकर अन्य शरीर में ही जाता है ।

साधु न पूजै साधना, साधु कहैं समझाय ।
जन रज्जब निज[1]-नाम बिन, नर निष्फल सो जाय ।।३४।।

सिद्ध संत समझाकर कहते हैं, साधक संत प्राणायामादि हठ योग साधना का आदर न करें, जो स्वरूप भूत ब्रह्म नाम का चिन्तन छोड़कर हठ योगादि साधना करता है, वह अपने नर जन्म को निष्फल करके अन्य शरीर में ही जाता है, ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता, नाम तीन प्रकार के होते हैं—गुणज–दयालु आदि । कर्मज–मधुसूदन आदि और निज[1]स्वरूप भूत-ब्रह्म, ॐ, सत्य, चित्, आनन्द आदि ये स्वरूप में सदा रहते हैं इस लिये निजनाम कहलाते हैं ।

रज्जब पौन मौन के साधिबै, मूंसे की सी गोर[1] ।
श्वास शब्द संकट पड़ै, नहीं ज्ञान की कौर[2] ।।३५।।

ज्ञान का अंश[2] न हो और केवल वायु तथा मौन ही साधा हो तो जैसे मूसे को जहाँ गया वहाँ ही कब्र[1] मिली, वैसे ही श्वास लेते तथा शब्द बोलते भी मृत्यु का दुःख आ पड़ता है । मूसा साहब की गोर की कथा—मूसा साहब को ज्ञात हो गया कि काल दूत मारने को आ रहे हैं, तब वे अपने स्थान से भाग निकले किन्तु जहाँ जायें वहाँ ही कब्र खोदते हुये मनुष्य मिलें और पूछने पर कहें–"मूसा के लिये खोद रहे हैं ।" एक स्थान में कब्र छोटी देखकर मूसा ने कहा-"कब्र छोटी है मूसा बड़ा है इसमें नहीं आयेगा ।" खोदने वाले बोले-"आ जायगा ।" मूसा उसे मापने भीतर गये कि काल ने मार दिया और उसी में दबा दिया ।

चंद सूर पाणी पवन, धरती अरु आकाश ।
रज्जब अस्थिर देखिये, कहु किन साध्या श्वास ।।३६।।

यदि दीर्घायु के लिये प्राणायाम-साधना करते हो तो, चन्द्र, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश दीर्घ काल तक स्थिर देखे जाते हैं, इनमें से किसने श्वासों को रोकने की साधना की है ? भगवद्-भजन से ही ऐसे हुये हैं ।

सुमिरण जाकी सुरति में, सो साधन सूंघे नाँहि ।
परम तत्त्व मन में बस्या, पचहि न पंचों माँहि ॥३७॥

जिसकी वृत्ति में निरंतर परब्रह्म का स्मरण रहता है, वह प्राणायामादि हठयोग के साधनों को करे तो क्या-सूंघता भी नहीं, उसके मन में तो परमतत्त्व परब्रह्म 'बसा रहता है, वह पांच प्राणों को वश में करने के लिये परिश्रम नहीं करता ।

शुक्र[1] श्वास के बंधतैं, सुरति बँधी ता माँहि ।
ज्यों रज्जब जल हेम[2] करि, शीत सु न्यारा नाँहि ॥३८॥

वीर्य[1] और श्वासों के बाँधने का साधन करने से वृत्ति भी उन्हीं में बँधी रहती है, जैसे जल और बर्फ[2] से शीत अलग नहीं रहता, वैसे ही वृत्ति वीर्य और श्वासों से अलग न होने से परब्रह्म में नहीं जाती ।

जीव जवारे की अणी, वस्तु बूंद वपु एक ।
सुरति तिणे नहीं दोय शिर, रज्जब समझ विवेक ॥३९॥

जौ गेहूं के पीले अँकुर की अणी पर जल की एक विन्दु ही रहती है, उस तृण के दो सिर तो होते नहीं जो दो विन्दु रह जायें, वैसे ही विवेक से समझ शरीरधारी जीव की वृत्ति में एक वस्तु ही रहेगी, वृत्ति के दो भाग तो हैं नहीं जो एक भाग में वीर्य और श्वास निरोध की भावना और दूसरे में ब्रह्म भावना बनी रहे, अतः वृत्ति में निरंतर ब्रह्म भावना ही रखना उत्तम है ।

अनल अंड ओले[1] उडग[2], अर्क[3] इन्दु[4] त्यों मन्न ।
रज्जब रहै सु ज्ञान गुरु, अनिल[5] न अटकहि जन्न ॥४०॥

अनल पक्षी का अंडा पृथ्वी पर आकर बच्चा उत्पन्न होने पर आकाश में जाकर ही रहता है पानी के कंकर[1] आकाश में ही रहते हैं पृथ्वी पर वर्षने पर पानी हो जाते हैं, तारे[2], चन्द्रमा[4] और सूर्य[3] भी अकाश में ही रहते हैं, वैसे ही साधकजन का मन गुरु के ज्ञान में ही रहता है वायु[5] निरोध के साधन में नहीं अटकता ।

रज्जब ओंकार के आसरे, तन मन पंचों तत्त[1] ।
काचे पाके शब्द में, आदि अंत यहु मत्त[2] ॥४१॥

जैसे तन मन और आकाशादि पंच तत्त्व[1] आत्मा रूप ओंकार के आश्रय में रहते हैं, वैसे ही ब्रह्मरूप ओंकार शब्द के चिन्तन में लगकर कच्चे से पक्के बन जाते हैं, सृष्टि के आदि से अंत तक यही सिद्धान्त[2] माननीय रहा है ।

रज्जब प्रथम पंच का पेड़[1] है, ओंकार ही आदि ।
अजों[2] सु सीझै सुर शबद, पौन साधिये बादि ॥४२॥

सृष्टि के आदि में प्रथम आकाशादि पंच तत्त्वों का मूल[1] ओंकार ही है, अभी[2] भी मंत्र रूप शब्द से देवता सिद्ध होते हैं, अतः वायु को व्यर्थ ही सिद्ध करना है, नाम चिन्तन से ही प्रभु प्राप्त हो जाते हैं ।

सकल पसारा शब्द का, रहैं शब्द ही माँहिं ।
जन रज्जब इस पेच[1] बिन, तन मन बंधन नाँहिं ॥४३॥

सभी शब्द का फैलाव है, शब्द में ही सब रहते हैं, इस शब्द के फँदे[1] बिना वायु बाँधने से तन मनादि नहीं बँध सकते अर्थात् नाम चिन्तन करने से ही तन, मन और इन्द्रिय संयम से रहती हैं ।

ओंकार आतमा शबद, कथा नीति निर्वृत्ति[1] ।
रज्जब पंचों पीठ दें, पहुंतै[2] जीव प्रवृत्ति ॥४४॥

ओंकार चिन्तन, आत्मा विचार, गुरु शब्द, नीति कथा, मुक्ति[1] संबन्धी कथा, इन पाँचों को पीठ देता है तब जीव संसार-प्रवृत्ति में प्रविष्ट[2] होता है ।

रज्जब अटके पंच में, सोउ प्रवृत्ति ज्ञान ।
निवृत्ति सु न्यारा करै, सो जाय शून्य स्थान ॥४५॥

पंच विषयों में तथा पंच प्राणों के निरोध में अटकना है, वह प्रवृत्ति अर्थात् बंधन में डालने वाला ज्ञान है और निवृत्ति अर्थात् मुक्तिदाता ज्ञान तो पंच विषयादि से अलग करके ब्रह्मरूप स्थान में ले जाता है ।

वपु वायू बल जीव के, आये न अब ये जाँहिं ।
तो रज्जब तज भजन को, उलझन साधन माँहिं ॥४६॥

शरीर की वायु के बल से ४५ में कहे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ज्ञान न तो आते हैं और न जाते हैं, इसलिये भगवद् भजन को छोड़कर वायु निरोध के साधन में मत फंसो ।

वपु वायू बल जीव के, बंधे न खुलसी मूल ।
तो रज्जब हित आयु के, साधन करहिं सो भूल ॥४७॥

वायु के बल से मूल अविद्या के द्वारा बंधे हुये मनादि नहीं खुलेंगे, तब आयु वृद्धि के लिये भी जो वायु निरोध का साधन करना है सो भूल है अर्थात् आयु वृद्धि से दुःख ही बढ़ेंगे, शांति तो भजन द्वारा ज्ञान होने पर ही प्राप्त होती है ।

आज्ञा वश वायू बहै, ब्रह्माण्ड पिंड के पौन[1] ।
रज्जब राखै राम जब, तब सु चलावै कौन ॥४८॥

परमात्मा की आज्ञा के अधीन रहकर ही प्राण वायु तथा ब्रह्माण्ड के सभी भागों का वायु[1] चलता है, जब राम वायु को स्थिर रखना चाहें तो चला भी कौन सकता है ?

रज्जब शून्य[1] रूप जीव में जड़्या, पवन रूप गुरुदेव ।
यहु गुप्त गांठ दे खोलिबा, भूत[2] न जाने भेव[3] ॥४९॥

जैसे आकाश[1] में वायु है, वैसे ही जीव में प्राण वायु है, यह जड़ प्राण और चेतन जीव की चिज्जड ग्रन्थि पड़ी है, इस गुप्त गाँठ को खोलने के लिये गुरुदेव ज्ञानोपदेश दे तो यह खुल सकती है, अन्यथा प्राणी[2] इसके खोलने के रहस्य[3] को नहीं जानता ।

रज्जब मारुत रोकिबा, अब प्रपंच उपाय ।
बाबा[1] खोलै वायु वपु, तब सु न बंधी जाय ॥५०॥

अब हमारे लिये वायु रोकने का उपाय प्रपंच रूप हो गया है अर्थात् उसमें हमारी रुचि नहीं है, जब परमात्मा[1] वायु को खोलते हैं, तब वह शरीर में सम्यक् नहीं बाँधा जा सकता ।

नाद न छोडै नाभि को, बिन्दु[1] सकल वपु माँहि ।
कौन चढ़ावै कहाँ को, रज्जब समझै नाँहि ॥५१॥

ओंकार ध्वनि रूप नाद नाभि को नहीं त्यागता और वीर्य[1] सब शरीर में रहता है, उन दोनों को कौन चढ़ायेगा ? और कहाँ चढ़ायेगा ? इस रहस्य को नहीं समझते केवल बातें ही करते रहते हैं ।

नाद विन्दु नख शिख भरचा, ज्यों काष्ट में आग ।
कौन चढावै कहाँ को, शोध्या शीश रु पाग ॥५२॥

हमने शिर से लेकर पैरों तक खोज लिया है, धमनी ध्वनि रूप नाद और वीर्य नख से शिखा तक सब शरीर में काष्ट में अग्नि के समान व्यापक हैं फिर उनको कौन चढ़ायेगा ? और कहां चढ़ायेगा ?

मदन बीज मस्तक रहै, कहीं न ठाहर और ।
तो रज्जब सुत अंग में, क्यों निपजै सब ठौर ॥५३॥

काम और वीर्य अन्य किसी स्थान में न रहकर मस्तक में ही रहते हैं तो शरीर में पुत्र क्यों उत्पन्न होता है ? अर्थात् गर्भाशय में वीर्य जाता है तभी पुत्र होता है, अतः काम और वीर्य शरीर में सभी जगह रहते हैं ।

वीरज[1] बीबा[2] चित्र का, अर्भक[3] अंबर[4] भांति।
रज्जब उनमें नुक्स[5] है, प्रकटे सो ही कांति[6] ।।५४।।

चित्र छापने का ब्लाक[2] जैसा होता है, वही छवि[6] वस्त्र[4] पर प्रकट होती है, ब्लाक में दोष[5] हो तो चित्र में दोष आता है, वैसे ही जैसा वीर्य[1] होता है वैसे ही गुण-दोष बालक[3] में आते हैं, वह वीर्य सभी शरीर में रहता है।

किस नाड़ी में बसत है, किस नाड़ी में नाँहि।
रोम रोम में रम रह्या, रज्जब नख शिख माँहि ।।५५।।

वीर्य किस नाड़ी में बसता है और किसमें नहीं बसता, यह नहीं कहा जा सकता, वह तो नख से लेकर शिखा तक सब शरीर के रोम-रोम में रमा रहता है।

स्वरमंडल[1] सु शरीर यहु, रज्जब रग सब तार।
उभय[2] राग में एक ह्वै, माया ब्रह्म विचार ।।५६।।

यह शरीर ही तार-वाद्य[1] है। इसकी सब रग ही तार हैं। जैसे स्वर मंडल से राग निकलती है, वैसे ही शरीर से राग निकलती है। स्वर मंडल और शरीर दोनों[2] की रागों में एक ही विचार होता है। अज्ञानी की राग में माया का और ज्ञानी की राग में ब्रह्म का। अज्ञानी मायिक विचार से कष्ट उठाता है। ज्ञानी ब्रह्म विचार से ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है।

काया तरुवर नीम का, जीव जल युक्ति सु माँहि।
रज्जब रग डालों फिर्यों, निर्मल मीठे नाँहि ।।५७।।

नीम के वृक्ष में जल रहता है, वह उसकी डालियों में फिर २ के देखने से भी मीठा नहीं मिलेगा, उसी युक्ति से शरीर में जीव रहता है, शरीर की रग २ में देखने से भी निर्मल नहीं मिलेगा, जैसा है वैसा ही मिलेगा।

वपु वसुधा[1] वनराइ[2] तैं, आतम अंभ[3] नि कास।
रज्जब सुमिरण सूर सौं, स्वाद रूप गुण नाश ।।५८।।

पृथ्वी[1] की वन-पंक्तियों[2] से सूर्य द्वारा जल[3] निकलता है तब स्वाद और रंग-रूप नाश हो जाते हैं, वैसे ही शरीर में स्थित आत्मा प्रभु नाम-स्मरण द्वारा शरीर से निकलता है तब गुण नाश हो जाते हैं।

सरवर सौं सूखै कमल, उलझन भौंरा मन्न।
साधन परै बताइया, नाम निरंतर धन्न ।।५९।।

हे मन रूप भ्रमर ! शरीर रूप सरोवर से प्राण निरोधादि हठ योग की क्रिया रूप साधन-कमल सूख जाता है अर्थात् रोगी होने पर साधन छुट जाता है, अतः उस में मत फँस, किन्तु उस साधन से परे नाम रूप धन बताया है, वह निरंतर रहता है, रोगी होने पर भी मन से होता रहता है अतः निरंतर नाम स्मरण कर ।

नाड़ी चक्र सु पिंड में, प्राण[1] मध्य नहिं शोध ।
रज्जब जाणा जीव परै, यह गहि उत्तम बोध ॥६०॥

नाड़ी और चक्र शरीर में हैं, प्राणी[1] में तो नहीं हैं, हमने खोज करके जीव को नाड़ी चक्रादि से परे ही जाना है, यह उत्तम ज्ञान ग्रहण कर, अज्ञान पूर्ण साधन में समय मत खो ।

दारु[1] देह में चक्र रग[2], पावक प्राण[3] सु नाँहिं ।
रज्जब राह[4] तिनहुं परै, साधू सुरति सु जाँहिं ॥६१॥

काष्ट[1] में जो गोल चिन्ह और लम्बी लकीरें होती हैं वे सब काष्ट में रहने वाले अग्नि में नहीं होते, वैसे ही चक्र और नाड़ियाँ[2] देह में हैं, प्राणी[3] में नहीं हैं, परब्रह्म प्राप्ति का मार्ग[4] उन नाड़ी-चक्रों से परे है, संत-जन वृत्ति द्वारा ब्रह्म चिन्तन करके ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।

चक्रहु चित अटकै नहीं, खोड़ि[1] सहित षट् स्थान ।
रज्जब रज[2] ह्वै जाहिंगे, मन उनमन[3] लै[4] सान[5] ॥६२॥

शरीर[1] के सहित षट् चक्रों के स्थानों में मन नहीं अटकना चाहिये, ये सब तो धूलि[2] हो जायँगे, इसलिये मन को लय योग[4] द्वारा समाधि[3] में ले जाकर अपने को ब्रह्म में मिला[5] ।

आँख्यों अंजन बाहिया[1], सद्गरु शोधि विचार ।
भरम न भासै साधना, सूझ्या नाम अधार ॥६३॥

सद्गुरु ने खोज करके विचार रूप अंजन हमारे मति-नेत्रों में डाल[1] दिया है, अब हमें दीख गया है कि विश्व के आधार ब्रह्म का नाम चिन्तन ही मुक्ति का हेतु है, इससे भ्रमरूप साधना हमें कल्याण की हेतु नहीं भासती ।

धोखे धुन[1] मुनि छोड़ कर, शोधैं नाड़ी चक्र ।
रज्जब भूले नाम निधि, टलतों खाई टक्र ॥६४॥

मुनिजन धोखा से नाम की रट[1] को छोड़कर नाड़ी चक्रों का शोधन करते हैं, जो नाम निधि को भूलकर भगवान् से टले हैं, उन्होंने तो संसार में टक्करें ही खाई हैं ।

चक्र भँवर जीव जल पड़हिं, देही सलिता[1] थान ।
रज्जब उभय न भास हीं, पैठें[2] भजन सु भान[3] ॥६५॥

नदी[1] के भँवर स्थल में जल पड़ जाता है किन्तु भँवर स्थान का जल सूर्य[3] में प्रवेश[2] कर जाता है, तब वह भँवर भी नहीं दीखता, वैसे ही जो चक्रों में पड़ जाते हैं, वे भी जब सद्गुरु उपदेश से भजन में लग जाते हैं तब देह में वे चक्र भी नहीं भासते अतः चक्रों में न पड़कर भजन में ही लगना चाहिये ।

काया कोठे[1] कमल रग, चक्र शोध मन मान ।
रज्जब रहसी क्यों तहाँ, जहाँ न ये अस्थान ॥६६॥

शरीर के कोष्ट[1] रूप कमलों में तथा नाड़ियों में मन से चक्र मान कर शोध रहा है, किन्तु जहां ये उक्त स्थान नहीं है, वहाँ नाड़ी चक्र कहां रहेंगे ।

नाड़ी चक्र न श्वास मन, ब्रह्माण्ड पिंड नहिं ठौर ।
जन रज्जब युग युग रहै, सो ठाहर कोउ और ॥६७॥

जहाँ नाड़ी, चक्र, श्वास, मन, ब्रह्माण्ड तथा पिंड रूप स्थान नहीं हैं और जो युग युग में स्थिर रहता है, वह स्थान उक्त स्थानों से कोई और ही है, उसी को ब्रह्म कहते हैं, विचार द्वारा शोधन करके उसी ब्रह्म में अपने को लय करना चाहिये ।

अह[1] निशि मन उनमन[2] में राखी,
नाड़ी चक्र साखि[3] सुन नाखी[4] ।
साधु वेद सुमिरण कहै सार[5],
रज्जब रटै सो उतरै पार ॥६८॥

संतों की साक्षी[3] सुनकर नाड़ी-चक्र शोधन रूप साधन छोड़ो[4] और दिन[1] रात मन को सहज समाधि[2] में रक्खो, संत तथा वेद स्मरण रूप साधन को ही श्रेष्ठ[5] कहते हैं जो निरंतर नाम-चिन्तन करता है, वह संसार-सागर से पार जाकर ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

साधन सूने[1] साधना, आतम ह्वै अनि[2] आश ।
जन रज्जब ता जीव के, नाम नहीं विश्वास ॥६९॥

नाम चिन्तन से शून्य[1] साधन की साधना करने वाले जीव का नाम पर विश्वास नहीं होता, इसलिये वह प्रभु परायण तो होता नहीं, उस जीवात्मा के हृदय में अन्य[2] की ही आशा होती है ।

निश्चै[1] नाहीं नाम परि, जे कष्ट आदरहिं और ।
सूने[2] साधन में परचा, लहै न ठाँवी[3] ठौर[4] ॥७०॥

जो अन्य कष्टों का आदर करता है, उसका प्रभु नाम में विश्वास[1] नहीं होता, इसी से शान्ति-शून्य[2] साधन में पड़ जाता है और अपने घर[3] के स्थान[4] रूप ब्रह्म को नहीं प्राप्त होता ।

देही देशों में पड़्या, कर्म कु लक्षण काल ।
नाम नाज नर घर नहीं, प्राणहुं की प्रतिपाल ॥७१॥

देश में काल पड़ जाता है तब घर में नाज नहीं होने से प्राणों की रक्षा होना कठिन हो जाता है, वैसे ही देह में कुकर्म और कुलक्षण आ जाते हैं तब नर के अन्तःकरण में प्रभु का नाम चिन्तन नहीं हो तो काल से प्राणी की रक्षा करना कठिन हो जाता है ।

कपट कसौटी ठग विद्या, आपै[1] भरी उपाधि ।
कायर शूरा सूम ठग, भत्रि भ्रमि काया साधि ॥७२॥

कपट से कष्ट उठाना ठग विद्या है, अहंकार[1] से यह कपट रूप उपाधि उनके मन में भरी रहती है, ऐसे नर कायर होकर भी शूर से बने रहते हैं, कृपण और ठग होकर भी उदार-से रहते हैं और शरीर साधने के लिये भ्रम-भ्रमकर कष्ट उठाते हैं ।

अज्ञान कसौटी[1] कोटि विधि, काया कसहिं[2] अनेक ।
रज्जब निपजै[3] साधु मन, सो समझै कोउ एक ॥७३॥

अज्ञानजन्य कष्ट[1] कोटि प्रकार के हैं, अनेक प्राणी उनके द्वारा शरीर को कष्ट[2] देते हैं, किन्तु संतों का मन किस साधन से श्रेष्ठ होता[3] है, वह साधन कोई विरला ही समझ पाता है ।

कष्ट करामात पाइये, संकट उपजै सिद्धि ।
तप तैं राजा होत है, नरक जाण की विद्धि ॥७४॥

कष्ट पाने से करामात प्राप्त होती है, संकट सहन करने से ही सिद्धि मिलती है, तप का कष्ट भोगने से ही राजा बनता है किन्तु करामात, सिद्धि और राज-पद ये नरक में जाने की रीति ही सिखाते हैं ।

रज्जब शठ[1] हठ छाडिदे, कर न कामना कष्ट ।
न्याय नीति मग पाँव दे, नष्ट मती[2] तज नष्ट ॥७५॥

हे मूर्ख[1] ! हठ योग की क्रियाओं को छोडदे, कामना पूर्ति के लिये कष्ट मत उठा, न्याय-नीति के मार्ग में पैर रख, हे नष्ट बुद्धि[2] वाले प्राणी ! नष्ट करने वाले कामों को छोड़ ।

हठ करि माँगें हरि कनें[1], दाता दुष्ट हि देय ।
स्वाद न उपजै वाद पर, क्या लीये में लेय ॥७६॥

सकामी प्राणी हरि से[1] भी हठ करके माँगते हैं, हरि तो दाता हैं दुष्ट को भी देते हैं किन्तु हठ रूप वाद करके लेने से आनन्द नहीं होता, उसके लेने में क्या लेना है अर्थात् कुछ नहीं, लेना तो वही है जो अपने आप दे उसी में आनन्द आता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अज्ञान कसौटी का अंग ७९
समाप्तः ॥ सा० २४२७ ॥

अथ सेवा निष्फल का अङ्ग ८०

इस अंग में सेवा निष्फल होने विषयक विचार कर रहे हैं—

शक्ति[1] सलिल बहु विधि खरच, सांई सूर सु लेय ।
नाम अर्थ औरै लगे, सो पलटा नहिं देय ॥१॥

जल को किसी भी काम में खर्च करो, उसे सूर्य ही लेते हैं किन्तु किसी अन्य के नाम से दिया जाय तब उसका पीछा फल सूर्य नहीं देते, सूर्य के नाम से ही चढ़ाया जाय तब सूर्य फल देते हैं, वैसे ही धन[1] किसी भी काम में खर्चो, उसे भगवान् ही लेते हैं किन्तु अन्य के नाम से धन खर्चने पर उसका फल भगवान् नहीं देते भगवान् के नाम पर खर्चने से ही भगवान् फल देते हैं। इस प्रकार भगवद् विमुख की सेवा निष्फल जाती है।

सप्तवार अठसठ सहित, पुन्य पर्व देवी देव ।
सब पूजा प्रभु को चढै, सेवक निष्फल सेव ॥२॥

सात वार में और ६८ तीर्थों में पर्व के समय जो पुन्य किया जाता है तथा देवी-देवताओं की पूजा की जाती है, वह सब पूजा प्रभु को ही चढ़ती है किन्तु प्रभु के नाम न होने से प्रभु से मिलने वाला फल नहीं मिलता अतः उक्त प्रकार सेवा करने वाले की सेवा निष्फल हो जाती है ।

रज्जब भाव न भूमि सौं, पै धन धरती खाय ।
यूं अनहित थिति[1] लेय प्रभु, जीव जड़ निष्फल जाय ॥३॥

पृथ्वी से प्रेम तो नहीं होता किन्तु फिर भी पृथ्वी में रक्खे हुये अन्नादि धन को पृथ्वी खा जाती है अर्थात् गलकर पृथ्वी में ही मिल जाते हैं, वैसे ही बिना प्रेम की स्थिति[1] में भी अर्थात् प्रेमपूर्वक न देने पर भी प्रभु तो ले ही लेते हैं, किन्तु ऐसे जड़ जीव की सेवा निष्फल जाती है ।

जड़ पात्रों में परसिये, देखो चेतन खाय ।
त्यों बासन ब्रह्माण्ड के, बाबा[1] लेय उठाय ॥४॥

देखो, थाली आदि जड़ बर्तनों में भोजन परसा जाता है किन्तु खाता चेतन है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के देवी-देवतादि रूप बर्तनों में जो रक्खा जाता है अर्थात् उनके चढ़ाया जाता है, उस सबको चेतन रूप परमात्मा[1] ही उठा लेते हैं ।

भाव अभाव ग्राही गोविन्द, आगै मुर[1] विधि छान[2] ।
समझ भोल भूल हरि भासें, दाता दे त्यों दान ॥५॥

गोविन्द भाव तथा अभाव से दोनों प्रकार ही ग्रहण करते हैं किन्तु आगे अनुसंधान[2] करने से ग्रहण करने वाले हरि तीन[1] प्रकार से भासते हैं, दाता समझ से, भोलेपन से और भूल से जैसे भी दान देता है वैसे ही लेते हैं ।

रज्जब सन्मुख[1] विमुख[2] की, शक्ति[3] सृष्टि धर लेंहि ।
विलोक विभीषण रावणहिं, देखो क्या क्या देंहि ॥६॥

सृष्टि को धारण करने वाले प्रभु भक्त[1] और अभक्त[2] दोनों का ही धन[3] लेते हैं, देखो, विभीषण और रावण को, राम ने धन दोनों का ही लिया किन्तु भक्त विभीषण को क्या दिया ? लंका, और अभक्त रावण को क्या दिया, कुल सहित नष्ट कर दिया ।

नीर पड़हि नौ खंड परि, जाहि सु सूर[1] समंद ।
सगुण सेय निर्गुण मिलहि, अइया[2] मुहकम[3] बंध ॥७॥

पृथ्वी के नौ खंड में जल वर्षता है, वह सूर्य[1] तथा समुद्र में जाता है, वैसे ही जीव सगुण की सेवा करके निर्गुण से मिलता है, यही[2] दृढ़[3] बँधान बंधा हुआ है ।

सब दिशि शीश नवाइये, मस्तक मांटी मेल ।
त्यों धोक धरे[1] की अधरहि[2] लागे, रज्जब अज्जब खेल ॥८॥

सभी दिशाओं में पृथ्वी पर शिर नमा कर देखो, मिट्टी से ही मिलेगा, वैसे ही देवी[1] देवता आदि किसी को भी नमस्कार करो ब्रह्म[2] को ही होगा, यह अद्भुत खेल है ।

तुपक[1] तीर दश दिशि चलहिं, पड़हि सु पृथ्वी जाय ।
त्यों रज्जब ध्यावहिं धरे[3], पूजा अधर[2] समाय ॥९॥

बन्दूक[1] से गोली और धनुष से बाण दशों दिशाओं में चलाये जाते हैं किन्तु पड़ते पृथ्वी पर हैं, वैसे ही मायिक[3] देवी देवादि की उपासना करने पर भी वह पूजा ब्रह्म[2] में ही समाती है, अतः ब्रह्म की उपासना करना ही उचित है।

रज्जब भाव बिना भगवंत में, चौरासी लख जंत।
सर्वस[1] ले सब से जुदा, अलग सलग[2] सु अनन्त ॥१०॥

चौरासी लाख योनियों के जीव भगवान् में ही रहते हैं, उनके प्रेम बिना उनका सर्वस्व[1] लेते हैं, और सबसे अलग रहते हैं, इस प्रकार वे अनन्त प्रभु सबसे अलग और सबके साथ[2] हैं।

रज्जब कोई ना करै, धूम व्योम[1] के भाय।
अग्नि तेज आकाश को, सहज आपही जाय ॥११॥

जैसे धुआँ आकाश[1] को जाती है, वैसे ही प्रेम पूर्वक भगवान् को अपनी सेवा समर्पण न करे तो भी जैसे अग्नि की ज्वाला आकाश को ही जाती है, वैसे ही वह तो भगवान् में ही जायगी किन्तु भगवान् में प्रेम न होने से वह निष्फल हो जायगी, कारण फलदाता तो भगवान् ही हैं। इस प्रकार जीव की सेवा निष्फल हो जाती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सेवा निष्फल का अंग ८०
समाप्तः ॥सा० २४३८॥

अथ भ्रम सिद्धान्त का अङ्ग ८१

इस अंग में भ्रम पूर्ण सिद्धान्त विषयक विचार कर रहे हैं—

अहर[1] ओड[2] आकार के, भोजन भजन अहार।
पुष्ट प्रीति पग पति लगैं, ता में फेर न सार ॥१॥

होठों[1] की आड़[2] को हटाकर भोजन किया जाय तो उस आहार से शरीर पुष्ट होता है, वैसे ही ब्रह्म के आकार की आड़ है, उसको हटाकर भजन किया जाय अर्थात् निराकार का भजन किया जाय तो प्रीति की वृद्धि होकर अपने स्वामी परब्रह्म के स्वरूपमय चरण में जा लगता है अर्थात् ब्रह्मरूप ही हो जाता है, फिर उसमें परिवर्तन नहीं होता यह साररूप सिद्धान्त है और आकार में ही अटकना यह भ्रम पूर्ण सिद्धान्त है।

रज्जब लगै पन्नग[1] पग, नख शिख पीड़ा प्राण।
तो सुमिरण की सांइयाँ, समझै क्यों न सुजाण ॥२॥

पैर में सर्प[1] काटता है तब नख से शिखा तक विष की पीड़ा होती है, यह समझ में आजाता है, फिर हे सुजान ! स्मरण करने वाले की प्रेमा-भक्ति को प्रभु क्यों न समझेंगे ? आकार की उपासना करने से ही भगवान् भक्त समझते हैं, यह सिद्धान्त भ्रम पूर्ण है।

आतम कमल कमोदिनी, शशि सूरज करतार।
बिच बादल सौं ना बंधै, प्रीति प्रीतमहु पार ॥३॥

सूर्य मुखी कमल और कुमुदिनी की प्रीति बीच के बादलों में नहीं बँधती उनको पार करके सूर्य और चन्द्रमा में ही जाती है, वैसे ही निराकार के भक्त जीवात्माओं की प्रीति बीच के आकारों में नहीं रुकती, उनको पार करके अपने प्रियतम निराकार ब्रह्म में ही जाती है।

सप्त खणों[1] मधि शून्य[2] इक, त्यों ब्रह्माण्ड इक्कीस।
खंड हु खंड[3] न शून्य के, रज्जब बिसवा बीस ॥४॥

आकाश के सातों भागों[1] में और वैसे ही इक्कीस ब्रह्माण्डों में आकाश[2] एक ही है, खंड-खंड में आकाश के टुकड़े[3] नहीं होते, आकाश बीसों विसवा सब स्थानों में एक ही होता है, वैसे ही सातों आकाशों में और इक्कीस ब्रह्माण्डों में ब्रह्म एक रस व्यापक है, सप्तम आकाश में मानने का तथा किसी ब्रह्माण्ड वा लोक विशेष में ही प्रभु को मानने का सिद्धान्त भ्रम पूर्ण है।

जब लग जीव देखै नहीं, चेतन ब्रह्म वदन्न[1]।
तो रज्जब क्या कीजिये, सूने[2] शून्य सदन्न[3] ॥५॥

जब तक जीव, चेतन ब्रह्म का मुख[1] नहीं देखते अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करते तब तक वे शून्य घर[3] के समान, ब्रह्म प्राप्ति विषयक सिद्धान्त ज्ञान से खाली[2] ही रहते हैं, उनके कथन पर क्या विचार करें, वे तो भ्रम पूर्ण बातें ही कहते हैं।

तली[1] हथेली केश घर, सूने[2] सदन[3] अपार।
विलोकि[4] बाल देखे सु किन, त्यों बहु शून्य विचार ॥६॥

पगतली[1] और हथेली में केश नहीं होते, वैसे ही हृदय रूप घर होते हैं उनमें विचार नहीं होता और ऐसे शून्य[2] हृदय-घर[3] अपार हैं, देखो[4], पगतली-हथेली में बाल किसने देखे हैं ? वैसे ही बहुत से शून्य हृदयों में किसने विचार देखा है ? उनसे तो भ्रम पूर्ण बातें ही निकलती हैं।

रज्जब करुणा[1] कूंज के, अलग सलग[2] भये अंड।
संत सुरति सांई बिना, अटके किस ब्रह्माण्ड ॥७॥

कूंज पक्षी के हृदय में वियोगजन्य दु:ख[1] होने से अंड अलग हिमालय में होने पर भी साथ[2] हो रहा है। जैसे कूंज की वृत्ति बीच में नहीं अटकती अंडे में ही जाती है, वैसे ही वियोग-व्यथा से युक्त संत की वृत्ति ब्रह्म बिना किस ब्रह्माण्ड में अटकेगी ? वह तो ब्रह्म में ही जायगी।

शून्य शरीर न सुरति में, पंच तत्त्व सौं पीठ।

लोकहुं अवलोकै नहीं, परम तत्त्व पर दीठ ॥८॥

संत की वृत्ति में न तो सप्तम आकाश रहता न शरीराध्यास रहता, न वह नाना लोकों की ओर देखता, वह तो पंचतत्त्व मय संसार को पीठ देकर परमतत्त्व परब्रह्म पर ही अपनी दृष्टि रखता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भ्रम सिद्धान्त का अंग ८१ समाप्तः ॥ सा० २४४६ ॥

अथ उपदेश चेतावनी का अंग ८२

इस अंग में उपदेश द्वारा सचेत कर रहे हैं—

रज्जब कीजे बंदगी, जेती जीव सौं होय।

जो साहिब सौंपी नहीं, ता सौं बल नहिं कोय ॥१॥

जितनी जीव से हो सके उतनी प्रभु की सेवा-भक्ति अवश्य करना चाहिये और जो जीव से नहीं होती, उसके करने की शक्ति तो ईश्वर ने दी ही नहीं, अत: उसके करने के लिये शास्त्र-संत भी कोई जोर नहीं देते।

मिनखा[1] देही दिन उदय, जन रज्जब भज तात।

चौरासी लख जीव की, देही दीरघ रात ॥२॥

चौरासी लाख जीवों के शरीर तो महान् रात्रि के समान हैं और मनुष्य देह सूर्योदय के समान है, अत: मनुष्य[1] देह प्राप्त करके परमपिता प्रभु का भजन अवश्य करना चाहिये।

वित[2] ऊपर बीती[1] पड़ी, नर नारायण देह।

जन रज्जब जगदीश भज, जन्म सफल कर लेह ॥३॥

नारायण को प्राप्त करने के साधन रूप धन[2] की सीमा[1] नर देह पर आपड़ी है अर्थात् प्रभु प्राप्ति के साधन करने के लिये नर देह से श्रेष्ठ और कोई देह नहीं है, अत: जगदीश्वर का भजन करके जन्म सफल करो।

रे प्राणी पासा पड़्या, मिनखा देही माँहि ।
जन रज्जब जगदीश भज, यहु अवसर भी नाँहि ॥४॥

जैसे जुआ के खेल में अनुकूल पासा पड़ता है, वैसे ही हे प्राणी ! मनुष्य शरीर में तुझे प्रभु-भजन की अनुकूलता मिली है, अत: शीघ्र जगदीश्वर का भजन कर, देर करने से यह मनुष्य देह का समय भी नहीं रहेगा, समाप्त हो जायगा ।

आदम[1] सेती[2] औलिया[3], नर नारायण होय ।
मुक्ति द्वार मिनखा जनम, रज्जब बाद[4] न खोय ॥५॥

मनुष्य देह प्राप्त करके मनुष्य[1] से[2] सिद्ध संत[3] हो जाता है, नर से नारायण हो जाता है, यह मनुष्य जन्म मुक्ति महल का द्वार है, इसे व्यर्थ[4] मत खो ।

हरि सुमिरन की ठौर यहु, मनिखा देही माँहि ।
सो ठाहर सौंपी तुझे, रज्जब समझे नाँहि ॥६॥

मनुष्य शरीर रूप स्थान ही हरि भजन के लिये उचित है, इसी में ही हरि भजन होता है, वही मनुष्य शरीर रूप स्थान प्रभु ने तुझे दिया है किन्तु तू समझता नहीं इसलिये इसे विषय उपभोग में ही व्यर्थ खो रहा है ।

इन्द्रिय दमि[1] सुमिरण करै, यहु शम दम शुध[2] माग[3] ।
जन रज्जब जो जीव चलै, ताके मोटे भाग[4] ॥७॥

इन्द्रियों को जीत[1] करके हरि स्मरण करना चाहिये, यह मन निरोध रूप शम और इन्द्रिय निग्रह रूप दम, प्रभु प्राप्ति के लिये शुद्ध[2] मार्ग[3] है, जो जीव इस मार्ग में चलता है, उसका भाग्य[4] विशाल ही है ।

शरीर सु साँचा मैण[1] मति[2], ब्रह्म अग्नि औटावहु धात[3] ।
जारहु गारौ गाभा[4] ज्ञान, मूरति उपजै पद निर्बान ॥८॥

शरीर साँचा है, ज्ञान[2] मोम[1] हैं, ब्रह्म अग्नि है, जैसे मोम अग्नि से तप कर साँचे के समान हो जाता है, वैसे ही ज्ञान इन्द्रियादि शरीर के समान ही बना रहता है । अग्नि जला के धातु[3] को तपा-गला कर और उसका दोष जलाकर, उसकी मूर्ति बना देते हैं, वैसे ही ब्रह्म चिन्तन से देहाध्यास को गलाओ और काम क्रोधादि वृत्ति रूप अंकुरों[4] को जलाओ, इस प्रकार शरीर शुद्ध होगा तब निर्वाण पद को देने वाला शुद्ध ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होगा ।

दया न दीसै दृष्टि में, देह दया का मूल ।
रज्जब सुमिरण सारिखा[1], अज्जब[2] बण्या अस्थूल ॥९॥

जीवों की दृष्टि में प्रभु की दया नहीं दीखती किन्तु यह मनुष्य उनकी दया का ही मूल है अर्थात् मनुष्य शरीर देकर प्रभु ने दया की ही जड़ रोपी है, उनकी दया से ही तो हरि-स्मरण करने के समान[1] अर्थात् योग्य अद्भुत[2] स्थूल शरीर बना है ।

सकल भजन का मूल है, मिनखा देही माँहि ।
रज्जब जीव जाणें नहीं, कहैं दया कुछ नाँहि ॥१०॥

सर्व प्रकार भजन करने का मूल साधन अनुकूलता मनुष्य शरीर में हैं और वही प्रभु ने दे दिया किन्तु जीव उसे नहीं जानते, इसलिये कहते हैं, हमारे पर प्रभु की कुछ भी दया नहीं है ।

मिनखा देही मौज[1] दी, सत जत[2] सुमिरण काज ।
रज्जब मारि[3] न मांजरै[4], सौंज[5] दई[6] सिरताज ॥११॥

मनुष्य शरीर का आनन्द[1] ब्रह्मचर्य[2] पूर्वक सत्य प्रभु का स्मरण करने के लिये दिया है, इसको विषयों में आसक्त हो पंजर[4] करके नष्ट[3] मत कर, प्रभु ने तुझे यह मुक्ति की शिरोमणि साधन सामग्री[5] दी[6] है ।

चौरासी सौं काढि कर, जब दी मिनखा देह ।
राम कछु राख्या नहीं, रज्जब समझ सनेह ॥१२॥

चौरासी लाख योनियों से निकाल कर जब मनुष्य देह दे दिया है तब राम ने देने योग्य कुछ भी नहीं रक्खा है, राम ने जो तेरे ऊपर स्नेह किया है उसे समझकर राम का भजन कर ।

देणा था सो सब दिया, जब दी मिनखा देह ।
सब सुकृत की सौंज[1] यहु, हरि सुमिरण कर लेह ॥१३॥

जब मनुष्य शरीर दे दिया तब जो देना था सो सब दे दिया है, यह मनुष्य शरीर सभी पुण्य कर्मों के करने की साधन सामग्री[1] है, इसमें हरि-स्मरण करके हरि को प्राप्त कर ।

सत जत सुमिरण को दई, मिनखा देही जानि ।
जन रज्जब जग योनि बहु, इन तिहुं थोकों हानि ॥१४॥

सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य, हरि-स्मरण, इन तीन साधनों के करने के लिये ही मनुष्य शरीर दिया है । जगत् में ज्ञानी तो बहुत हैं किन्तु इन सत, जत, और हरि-स्मरण रूप तीन थोकों से रहित हैं ।

रज्जब नर हरि मिलण को, मिनखा देही ठौर ।
चौरासी तन चाहतों, ऐसो मिले न और ॥१५॥

मनुष्य देह ही भगवान् से मिलने योग्य स्थान है, चौरासी लाख योनियों में तो चाहने पर भी ऐसी देह अन्य नहीं मिल सकती ।

सांई अपणी सौंज[1] को, कीन्हा आदम[2] ठाट[3] ।
रज्जब जीव जाणे नहीं, भूला निपट[4] निराट[5] ॥१६॥

प्रभु ने अपने स्वरूप को प्राप्त करने की साधन सामग्री[1] संपादन करने के लिये ही मनुष्य[2] शरीर[3] उत्पन्न किया है किन्तु जीव इस बात को नहीं जानता, प्रभु के संपूर्ण[5] उपकार को बिलकुल[4] भूल गया है ।

इक नेकी[1] अरु नाम को, नर नारायण कीन ।
सो हरि हित समझे नहीं, तो रज्जब मति हीन ॥१७॥

भलाई[1] और नाम-स्मरण के लिये ही नारायण ने नर देह उत्पन्न किया है, हरि ने जो प्राणी का हित किया है, उसे न समझे तो वह जीव बुद्धिहीन ही है ।

जन रज्जब जग जाय जिव[1], लहि[2] आदम[3] औलाद[4] ।
सत जत सुमिरण भूल तों, जन्म गमाया बाद[5] ॥१८॥

जीव[1] ने जगत् में आकर मनुष्य[3] जाति[4] में जन्म लिया[2] और सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य, हरिनाम-स्मरण को भूला रहा तो उसने मनुष्य जन्म व्यर्थ[5] ही खो दिया ।

मिनखा देह अलभ्य[1] धन, जा में भजन भंडार ।
सो सु दृष्टि समझै नहीं, मानुष मुग्ध[2] गंवार ॥१९॥

मनुष्य देह दुर्लभ[1] धन है, जिसमें भजन रूप भंडार प्राप्त होता है, उसको विषयों से मोहित[2] मूर्ख प्राणी सु विचार दृष्टि से समझ नहीं पाता ।

एक[1] अलिफ[2] को यहु किया, आदम[3] का औजूद[4] ।
रज्जब समझो यहु सुखन[5], मालिक है मौजूद ॥२०॥

आदि[2] अद्वैत[1] ब्रह्म की प्राप्ति के लिये वा एक नाम[2] स्मरण के लिये ही यह मनुष्य[3] शरीर[4] उत्पन्न किया है, यह संतों से विचार[5] करके समझो फिर तो प्रभु तुम्हें अपने में ही उपस्थित भासेगा ।

रज्जब इस औजूद[1] में, सैर[2] सुलग[3] है सौख[4] ।
सब सूरत[5] सुबहान[6] की, तहाँ नहीं यहु जौख[7] ॥२१॥

इस शरीर[1] दशा में स्थित है तब तक ही घूमना[2]-फिरना सुन्दर बात[3] करने वा सुन्दर कंठ[3] आदि को देखने की चाह[4] रहती है, उस प्रभु का स्वरूप समझने के पश्चात् तो सभी रूप[5] पवित्र[6] प्रभु रूप[5] ही भासेंगे, उस अवस्था में उक्त सुन्दरता आदि के माप-तोल[7] का विचार नहीं रहता वा समूह[7] में नाना भेद नहीं भासते सभी एक प्रभु रूप ही भासते हैं।

रज्जब इस औजूद[1] में, इश्क[2] इलम[3] मासूर[4]।
आशिक[5] सौं असना[6] वहै[7], फासिक[8] सों सब दूर ॥२२॥

इस शरीर[1] में प्रेम[2] और ज्ञान[3] ही अज्ञानादि के शत्रु हैं वा प्रेम और ज्ञान से प्रभु[4] प्राप्त होते हैं, प्रेमी[5] के प्रेम से वह[7] प्रभु सबके बीच[6] भासता है और व्यभिचारी[8] वा पापी[8] से तो वह सभी स्थलों से दूर ही रहता है।

रज्जब रीता तू नहीं, गुरु गोविन्द सु माँहि।
अक्षय अभय भंडार को, काहे विलसै नाँहि ॥२३॥

हे प्राणी! तू खाली नहीं है, तेरे भीतर ज्ञानरूप गुरु और साक्षी रूप गोविन्द हैं, उस अक्षय ज्ञान निधि और निर्भय स्वरूप प्रभु के साक्षात्कार-जन्य सुख का उपभोग क्यों नहीं करता?

मिनख देह माया रु ब्रह्म, जे कोउ लेय कमाय।
यहु दीक्षा उपदेश यहु, आगे कह्या न जाय ॥२४॥

यदि कोई साधन द्वारा कमाये तो मनुष्य देह में माया और ब्रह्म दोनों ही मिलते हैं, यही गुरु दीक्षा है और यही संत शास्त्रों का उपदेश है, इससे आगे कुछ भी नहीं कहा जाता।

विरचै[1] वसुधा[2] बंदि[3] तैं, मुक्ति मध्य परवेश।
यहु दीक्षा दुस्तर तिरण, यहु उत्तम उपदेश ॥२५॥

पृथ्वी[2] के विषयाशक्ति रूप बंदीगृह के कैदीपने[3] से विरक्त[1] होकर मुक्ति-महल में प्रवेश करें, यही दुस्तर संसार से तिरणे के लिये गुरु-दीक्षा है और यही संत तथा शास्त्रों का उत्तम उपदेश है, इसे धारण करना चाहिये।

तन धन ल्याया जन्म तैं, मरत गया सो खोय।
सुकृत माल न मध्य किया, जो आगे को होय ॥२६॥

जन्मते समय शरीर रूप धन लाया था, सो मरते समय खो दिया, अपनी आयु के बीच के समय में पुण्य कर्म रूप माल संग्रह नहीं किया, जो आगे के लिये सुखद होता, ऐसे प्राणी का नर जन्म सफल नहीं माना जाता।

प्राण[1] पाणि[2] पूंजी सु पिंड, मूल सु मिनखा देय ।
रज्जब सौदा राम सौं, इहि अवसर करि लेह ॥२७॥

हे प्राणी[1] ! शरीर रूप धन तेरे हाथ[2] लगा है, मनुष्य देह मूल धन है, इस मनुष्य देह के समय में ही राम से अपने को उनके समर्पण करना और उनका दर्शन लेना रूप व्यापार कर ले, अन्य शरीरों में यह संभव नहीं है ।

आदम[1] देह अलभ्य[2] धन, पाई पूरण भाग ।
तो रज्जब भगवंत भज, हरि सुमिरण लौ लाग ॥२८॥

पूर्ण भाग्य से ही दुर्लभ[2] मनुष्य[1] देह रूप धन प्राप्त हुआ है, तब हरि-स्मरण में ही अपनी वृत्ति लगाकर भगवान् का भजन कर ।

रज्जब रतनों सौं भरी, मानहुं मनिखा देह ।
रे नर निर्धन हो गया, चौरासी के गेह ॥२९॥

हे नर ! हमारी बात मान, यह मनुष्य देह दैवी गुण रूप रत्नों से भरी हुई है, इसे हरि भजन द्वारा सफल कर, नहीं तो आगे लख चौरासी योनियों के स्थान में उक्त रत्नरूप धन से रहित निर्धन ही होगा ।

मनिखा जन्म राम बिन हारा,
मानहुं पारस पीस पहुमि[1] पर डारा ।
सेवा सोना तिनहुं न होय,
या सम हानि नहीं कलि कोय ॥३०॥

राम-भजन बिना मनुष्य जन्म को खो देना मानो पारस को पीसकर पृथ्वी[1] पर डालना है, जैसे पीसे हुये पारस से सोना नहीं होता, वैसे ही लख चौरासी योनियों में जाने पर भक्ति नहीं होती । कलियुग में इसके समान महान् हानि और कोई भी नहीं है ।

हीरा लाल मिनख तन येहा[1],
पिशुन[2] पीस कर डारै खेहा[3] ।
वह माँटी नाहीं वहिं[4] मौला[5],
रज्जब चेत न देखै भोला[6] ॥३१॥

यह[1] मनुष्य तन हीरा, लाल के समान है, जैसे दुष्ट[2] हीरा और लाल को पीस कर धूलि[3] में डाल दे तब वे मिट्टी हो जाते हैं फिर उनसे धन नहीं मिलता, वैसे ही मनुष्य शरीर को विषयों में ही लगा दिया जाय तो उससे[4] ईश्वर[5] नहीं मिलते, अतः हे अनजान[6] ! सावधान होकर मनुष्य देह द्वारा प्रभु को क्यों नहीं देखता ?

काम धेनु कल्पतरु जाना, मिनखा देह नाँहि सन्माना ।
सब साबित[1] सबहीं सब पावै, रज्जब बिनसै सो न लखावै ॥३२॥

मनुष्य देह को कामधेनु और कल्पवृक्ष जानकर उसका सन्मान नहीं किया, मनुष्य देह ठीक[1] मार्ग पर होने से सभी को सब कुछ प्राप्त होता है और मनुष्य देह भोगों में व्यर्थ ही नष्ट हो जाय तो वह प्रभु भी नहीं देखा जाता ।

पारस पौरस कल्पतर, कामद धेनु कहात ।
मनुष्य देह माधव मिलत, महिमा कही न जात ॥३३॥

मनुष्य देह पारस, पौरसा (सोना देने वाला मनुष्याकार सुवर्ण का पुतला) कल्पवृक्ष और कामधेनु कहलाता है किन्तु पारसादि से भी यह अधिक है, उनसे तो भगवान् नहीं मिलते और इससे भगवान् भी प्राप्त होते हैं । अतः इसकी महिमा पूर्ण रूप से नहीं कही जा सकती ।

मनुष्य देह माया मई, धरचा[1] अधर[2] बिच धन्न ।
ईहि छूटचों छूटै उभय, समझैं समझे जन्न ॥३४॥

मनुष्य देह मायामय तो है ही, इसके बीच में साक्षी ब्रह्मरूप[2] धन भी धरा[1] है, इसके छूटने से माया और ब्रह्म दोनों छूट जाते हैं, इस रहस्य-मय बात को समझे हुये महानुभाव संतजन ही समझते हैं, अन्य नहीं ।

काया कागद पर लिखे, ब्रह्म विलायत[1] माँहि ।
रज्जब पिंड पटे[2] पड़चूं, दर्श दिशावर[3] नाँहि ॥३५॥

जैसे कागज पर देश[1] प्रदान रूप वार्ता लिखी होती है, वैसे ही मनुष्य शरीर में ब्रह्म प्राप्त होना लिखा है । अधिकार-पत्र[2] खोया जाय तो देश[3] नहीं मिलता, वैसे ही प्रमादवश विषयों में मनुष्य देह खो दिया जाय तो ब्रह्म नहीं मिलता ।

हानि न मिनखा देह सम, जब जीव कनें[1] सौं जाय ।
भजन विमुख भंजन[2] मिलहिं, चौरासी निरताय[3] ॥३६॥

विचार[3] करो, यदि जीव के पास[1] से मनुष्य देह चला जाय तो इसके समान कोई हानि नहीं है यही सबसे बड़ी हानि है । भगवद् भजन से विमुख प्राणी मनुष्य देह को नष्ट[2] करके चौरासी लाख योनियों में ही मिलता है ।

दरिद्र दिवाला जीव अनन्त, मिनखा देही जात ।
चौरासी जामण मरण, चहुं दिशि चोटें खात ॥३७॥

मनुष्य शरीर के जाते ही जीव ज्ञान-धन की कमी से दिवालिया होकर दरिद्री हो जाता है, चौरासी लाख योनियों में जन्मता-मरता है और जहां तहां चारों ओर दुःख रूप चोटें खाता है।

रज्जब अज्जब[1] साज[2] यहु, अज्जब[3] सेती[4] लाय।
मिनख देह यहु मौज[5] महा निधि, नर देखो निरताय[6] ॥३८॥

यह मनुष्य देह रूप सामग्री[2] अद्भुत[1] है, इसे अद्भुत[3] प्रभु के साथ[4] ही लगाओ अर्थात् प्रभु का भजन करो। हे मानवो ! विचार[6] करके देखो, यह मनुष्य देह महान् आनन्द[5] की निधि है।

तन मन ज्वाब[1] रु जीव की, शक्ति न सकता खोय।
जिसकी तिस को दीजिये, पल्ला साबित होय ॥३९॥

जो तन, मन, वचन[1] और जीव की शक्तियों को नहीं खो सकता अर्थात् विषयों में नष्ट नहीं करता, जिस प्रभु की हैं उसी को देता है, तब ही उसके जीवन का पलड़ा परमार्थ दृष्टि से ठीक हो सकता है, अन्यथा नीचा ही रहता है।

मनिखा देह महरी[1] तज्या, कायर जीव निरताय।
श्याम[2] काम आया नहीं, हूं न मिलों तोहि आय ॥४०॥

जीव को कायर विचार करके मनुष्य देह रूप नारी[1] ने त्याग दिया और कहा तू प्रभु[2] प्राप्ति के कार्य रूप मार्ग में नहीं आया, इससे मैं अब आकर तुझसे नहीं मिलूंगी।

रज्जब तज ब्रह्माण्ड को, पिंडहिं दीजे पीठ।
मन मनसा सौं काढिकर, आगे धरिये दीठ ॥४१॥

ब्रह्माण्ड के भोगों को त्याग, शरीर की आसक्ति से मुख मोड़ और मन को मनोरथों से निकालकर, इन सबके आगे प्रभु में अपनी दृष्टि रख।

रज्जब छाडहु स्वाद सुख, तनकी यारी त्याग।
मनहु मनोरथ मेटि कर, परम पुरुष सौं लाग ॥४२॥

इन्द्रिय स्वादजन्य सुख को छोड़, शरीर की मित्रता त्याग और मन के मनोरथों को मिटाकर परम पुरुष प्रभु के भजन में लग।

रज्जब विरच[1]हु रूप रंग, रच[2]हु न वपू[3] शरीर।
मन की मेट हु कामना, पहुँचो पैली[4] तीर ॥४३॥

रूप-रंगादि से विरक्त[1] हो, स्थूल देह[3] और सूक्ष्म शरीर में अनुरक्त[2] मत हो तथा मन के मनोरथों को मिटाकर संसार-सागर के अगले[4] तट पर प्रभु के पास पहुंच जा।

रज्जब त्यागहु त्रिगुण यूं, तिहुं ठौर सौं शोध[1]।
माया काया कल्पना, निकसै प्राण[2] प्रमोध[3] ॥४४॥

हे प्राणी[2]! इस प्रकार तीनों गुणों को त्याग कर माया, शरीर और कल्पना इन तीनों स्थानों से विचार[1] द्वारा तू निकल जाय, यही तुझे उपदेश[3] है।

तन तैं त्यागहु त्रिगुणता, मन हु मनोरथ मेटि।
रज्जब जीव व्रत[1] छाडिकर, परम पुरुष सौं भेंटि ॥४५॥

शरीर से त्रिगुणात्म संसार की भावना हटा, मन के मनोरथों को मिटा और जीवपने के दृढ़ संकल्प[1] को छोड़कर परम पुरुष परमात्मा से मिल।

ब्रह्माण्ड पिंड मन माँझ तैं[1], काढण सुरति विषम्म[2]।
आतम परै अलाह[3] है, मेलि तहाँ नहिं जम्म[4] ॥४६॥

ब्रह्माण्ड, शरीर और मन के मनोरथों में से[1] वृत्ति को निकालना बड़ा कठिन[2] है, इनसे वृत्ति निकल जाने पर तो आत्मा के आगे पास ही परमात्मा[3] हैं, उनसे मेल हो जाने पर वहाँ यम[4] नहीं जा सकता।

ब्रह्माण्ड पिंड उलझे नहीं, रहै न सूक्ष्म देश।
रज्जब नर निर्गुण भया, निर्गुण में हि प्रवेश ॥४७॥

ब्रह्माण्ड, शरीर और वासनामय सूक्ष्म देश में नहीं फंसता तब नर निर्गुण स्थिति को प्राप्त हो जाता है, और निर्गुण में ही प्रवेश कर जाता है।

जब निज वपु बांई[1] दई[2], तब रिधि[3] रस नहिं मीठ[4]।
जन रज्जब मन वच करम, प्राणी प्रत्यक्ष दीठ ॥४८॥

जब अपने शरीर को बाँयें[1] ओर देता[2] है अर्थात् शरीर से विरक्त होता है तब उसे माया[3] का रस मधुर[4] नहीं लगता, ऐसा प्राणी मन वचन कर्म से प्रभु को प्रत्यक्ष देखता है।

पड़दे बिच पड़दा करै, तिसहि न पड़दा कोय।
जन रज्जब जगदीश का, दर्शन देखै सोय ॥४९॥

भगवान् को छिपाने वाले माया रूप परदे से जो परदा करता है अर्थात् माया से विरक्त रहता है, उसके और भगवान् के बीच में कोई भी परदा नहीं रहता, वह जगदीश्वर का दर्शन करता है ।

हरिसिद्धि[1] हर[2] ना करै, सोई प्राणि प्रसिद्ध ।
रज्जब मुक्ता नीपजै, जे सीप रहित जलनिद्ध[3] ॥५०॥

सीप समुद्र[3] का जल नहीं लेती तभी उसमें मोती उत्पन्न होकर वह प्रसिद्ध होती है, वैसे ही जो माया[1] की इच्छा[2] नहीं करता, वही ज्ञान-वैराग्य द्वारा प्रसिद्ध होता है ।

ब्रह्माण्ड पिंड टलि[1] नीकसै, मन इन्द्रिय तज जाय ।
तो रज्जब ता जीव को, आगे मिलैं खुदाय ॥५१॥

ब्रह्माण्ड के भोगों से और शरीर की आसक्ति से बच[1]कर निकल जाता है और मन इन्द्रियों की चंचलता को भी तजकर आगे स्थिरता की ओर जाता है तब उस जीव को आगे परमात्मा ही मिलते हैं ।

पिंड प्राण आगे धरै, भाव सु पाँव अगम्म ।
रज्जब सुरति समाय सुख, जहां न जोरा जम्म ॥५२॥

प्राणी यदि अपना भाव रूप पैर शरीरासक्ति से आगे अगम ब्रह्म में रक्खे तो जहां यम की जबरदस्ती नहीं चलती उस ब्रह्म में उसकी वृत्ति समा जाती है और वह ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है ।

ब्रह्माण्ड पिंड प्राणी तज हु, अगम अगोचर खेल ।
रज्जब पैठे शून्य घर, सुरति सु सांई मेल ॥५३॥

हे प्राणी ! ब्रह्माण्ड के भोगों की आशा और देहाध्यास को त्यागकर मन से अगम इन्द्रियों से परे परब्रह्म से क्रीड़ा कर किन्तु सर्वविकार-शून्य स्थिति रूप घर में वृत्ति प्रवेश करेगी तभी प्रभु से मिलन होगा ।

वपु सौं विरक्त होत हैं, तब त्यागै ब्रह्मण्ड ।
रज्जब इसहिं उलंघतैं, लांघी माया मंड[1] ॥५४॥

शरीर से विरक्त होता है तभी ब्रह्माण्ड के भोगों की आशा त्यागता है, साधकों ने इस शरीर के अनुराग को उलंघन करके ही माया मंडलों[1] का उलंघन किया है ।

तन त्यागहु प्रकृति हु तज, मनहु मनोरथ मेटि ।
रज्जब जीवन जीव बुधि, आगै अविगत भेंटि ॥५५॥

शरीराध्यास तथा माया को त्याग और मन के मनोरथों को मिटाकर जीवों के जीवन रूप प्रभु में बुद्धि लगा, प्रभु में बुद्धि स्थिरता की आगे की दशा में ब्रह्म से मिलन होगा ।

तन मन आतम सौं अगम, सेवा सुरति सु जाय ।
भक्ति बंदगी कर तहां, सुख में रहै समाय ॥५६॥

स्थूल शरीर, मन और जीवात्मा से अगम ब्रह्म की सेवा वृत्ति से जाकर ही की जाती है, अतः उक्त तीनों से आगे की स्थिति में ही सेवा-भक्ति कर, उससे अवश्य सुख स्वरूप परब्रह्म में ही समाकर रहेगा ।

संसार शरीर सूक्ष्म तजो, चौथे त्यागौ जीव ।
चतुर्थान तज आगे रम ही, सुरति सु पावै पीव ॥५७॥

कुटुम्बादि रूप संसार का राग, स्थूल शरीर की आसक्ति, सूक्ष्म शरीर का प्रेम और चौथा जीवत्त्व भाव, इन चारों को त्याग कर आगे वृत्ति स्थिर होती है, तभी प्रभु प्राप्त होते हैं ।

तन मन इन्द्रियऊ ग्रहै, आतम आगै जाय ।
जन रज्जब सोई सुरति, सुख में रहै समाय ॥५८॥

तन, मन और इन्द्रियों को निग्रह करके जो जीवात्मा परमात्मा की ओर आगे जाता है वही ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा सुख स्वरूप ब्रह्म में समाकर रहता है ।

मिले नहीं मंडाण[१] सौं, तन मन न्यारा होय ।
जन रज्जब इस पेच को, बूझे विरला कोय ॥५९॥

माया की सजावट[१] से प्रेम न करे, शरीर के राग और मन के मनोरथों से अलग होकर प्रभु से मिल सके, इस रहस्यमय साधन को कोई विरला संत ही जानता है ।

ब्रह्माण्ड पिंड न्यारा रहै, पंच तत्त्व सौं पीठ ।
रज्जब पाया पंथ प्राण ने, परम तत्त्व पर दीठ[१] ॥६०॥

जो ब्रह्माण्ड के भोगों की आशा से तथा शरीर के अध्यास से अलग रहता है, इस प्रकार पंच तत्त्वमय संसार को पीठ देकर परम तत्त्व रूप ब्रह्म पर ही अपनी दृष्टि[१] रखता है, उस प्राणी ने परब्रह्म प्राप्ति का मार्ग प्राप्त कर लिया है ।

रज्जब हस्ती मन चढ़ो, चलहु ब्रह्म दरबार ।
मुजरै[१] ढील न कीजिये, समया समझ विचार ॥६१॥

इस मनुष्य देह के समय में विचार द्वारा समझकर शीघ्र ही मन रूप हाथी पर चढ़ो और ब्रह्म के दरबार में जाकर प्रभु को प्रणाम[1] करने में देर मत करो ।

रज्जब दिल के तखत[1] सौं, और उतारो आन[2] ।
मनसा वाचा कर्मना, ज्यों पैठें[3] दीवान[4] ॥६२॥

हृदय रूप सिंहासन[1] से मन, वच, कर्म द्वारा सबको उतार दो, जिससे प्रभु आकर[2] इस अन्तःकरण रूप राज-सभा[4] में प्रवेश[3] करें ।

एक न पावै एक बिन, तू ह्वै रह्या अनेक ।
जग त्यागे जगपति मिलैं, रज्जब समझ विवेक ॥६३॥

अद्वैत ब्रह्म अद्वैत स्थिति बिना नहीं प्राप्त होता और तू अनेक भावनाओं द्वारा अनेक बन रहा है, जगत् की भावना छोड़ने से ही जगत्-पति मिलते हैं, यही यथार्थ विवेक है, इसे सम्यक् समझ ।

अनेकों एक हि कही, वेत्ता[1] बारंबार ।
रज्जब चाहै लच्छि[2] वर[3], तो लच्छी[4] तिरस्कार ॥६४॥

अनेक ज्ञानियों[1] ने बारंबार यह एक ही बात कही है कि लक्ष्मी[2] पति[3] को चाहते हो तो लक्ष्मी[4] का अनादर करो ।

एक हि मिले सु एक ह्वै, त्यों मिल सात हु सात ।
अजों[1] पंच द्वै छाड दे, ज्यों रस[2] आवै बात ॥६५॥

जैसे जीव अद्वैत ब्रह्म से मिलकर अद्वैत हो जाता है, वैसे ही पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन और शरीर इन सात से मिलकर सात बन रहा है । हे प्राणी ! अब[1] भी पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों की आसक्ति, मन के मनोरथ और शरीर का अध्यास छोड़ दे तथा जैसे ब्रह्म रस प्राप्त हो वैसी ही बात कर वा इनके छोड़ने से तेरी बात ठीक[2] बैठ जायगी ।

ब्रह्म ब्रह्मंडों दोष दें, बंदों सों करे राग ।
यहु तन तजै न तृण कुटी, आदम बड़े अभाग ॥६६॥

ब्रह्म और ब्रह्माण्डों में दोष देखें, अपने भक्तों से प्रेम करें, शरीर का अध्यास तथा तृण कुटीर भी नहीं त्याग सकें, ऐसे मनुष्य बड़े ही दुर्भाग्य-शील होते हैं ।

निकसे काया काठ सौं, बंदे बादल होय ।
रज्जब पाया तो तिनहुं, शून्य सुधा रस सोय ॥६७॥

जो धूम काष्ठ से निकल जाता है, वह बादल बनकर आकाश को प्राप्त करता है, वैसे ही जो भक्त देहाध्यास से निकल जाते हैं, वे ब्रह्म साक्षात्कार रूप सुधा-रस प्राप्त करते हैं।

रज्जब रचिये राम सौं, तो तजिये संसार।
देखो तरु फल ना लहैं, बिना भये पतझार ॥६८॥

राम से प्रेम करना चाहते हो तो प्रथम संसार का राग त्यागो, देखो, बिना पतझड़ हुये वृक्ष को फल नहीं मिलता, वैसे ही संसार का राग त्यागे बिना राम नहीं मिलते।

जगत जमीं[1] जन[2] कन उदय, इनमें इनकी ओध[3]।
जन रज्जब सीझण समय, कुल काढिये सु शोध[4] ॥६९॥

जैसे पृथ्वी[1] से अन्नकण उदय होते हैं, वैसे ही जगत् से भक्त[2] उदय होते हैं। इन पृथ्वी और जगत् में ही अन्नकण और भक्तों की स्थितिरूप अवधि[3] है किन्तु जब अन्न अग्नि से सीझ जाते हैं तब उनकी उगने की शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म विचार[4]-भक्तों को संसार रूप कुल से निकाल लेता है, वे फिर नहीं जन्मते, यही उनकी सिद्धावस्था कहलाती है।

रज्जब तन मन मांड[1] के, तज कुसंग भज राम।
यहु दीक्षा उपदेश यहु, सरे[2] सु आतम काम ॥७०॥

तन तथा मन के दोष रूप कुसंग को और ब्रह्माण्ड[1] के दुर्जन प्राणियों के बुरे संग को त्याग के राम का भजन कर, यही गुरु दीक्षा है और यही संत-शास्त्रों का उपदेश है, इससे जीव का मुक्ति रूप कार्य सिद्ध[2] हो जाता है।

रज्जब अज्जब यहु मता[1], तज विषया भज राम।
यहु दीक्षा उपदेश यहु, सरे[2] सु आतम काम ॥७१॥

विषयों को त्यागकर राम का भजन करना यही अद्भुत सिद्धान्त[1] है, यही सिद्ध गुरुओं की दीक्षा है और सद्ग्रंथों का उपदेश है, इससे आत्मा का ब्रह्म प्राप्ति रूप कार्य बन[2] जाता है।

रज्जब निर्विष सुरति कर, सांई सन्मुख राखि।
सीझण[1] में संशय नहीं, सदगुरु साधू साखि[2] ॥७२॥

वृत्ति को विषय-विष से रहित करके परमात्मा के सम्मुख रख, ऐसा करने पर मुक्ति[1] होने में कोई संशय नहीं है, यह सद्गुरु और संतों की साक्षी[2] है।

अंबु[1] अवनि[2] आकाश तैं, निकस्यों करे सुकाल ।
यूं आतम अस्थूल निकस, सब प्राणहु प्रतिपाल ।।७३।।

जैसे जल[1] पृथ्वी[2] से कूपादि द्वारा और आकाश में स्थित बादल द्वारा निकलकर सुकाल करता है, वैसे ही जीवात्मा स्थूल शरीर के अध्यास से निकल कर ज्ञानोपदेश द्वारा सभी प्राणियों की रक्षा करता है ।

आत्म अन्न तन तृण से निकसे, तब ही होय सु काल ।
ये दोनों तत्त्व माँहि मरहिं जब, रज्जब प्रत्यक्ष काल ।।७४।।

अन्न तृण से निकले और आत्मा देहाध्यास से निकले तभी सुकाल होता है, अन्न और आत्मा दोनों माँहि मर जायँ अर्थात् अन्न का वृक्ष फल दिये बिना ही हिमपातादि द्वारा नष्ट हो जाय तो प्रत्यक्ष ही दुष्काल होता है, वैसे ही देहाध्यास रहते हुये शरीर नष्ट हो जाय तो ब्रह्म प्राप्ति रूप सुकाल न होकर जन्मादि दुःख रूप दुष्काल ही होता है ।

शरीर शैल[1] अरु समुद्र तल, जीव धातु नग अंग[2] ।
काढि कैद[3] करि धन पति, नहिं तो दालिद संग ।।७५।।

हे प्रिय[2] साधक ! जैसे समुद्र तल में नग और पर्वत[1] के नीचे सुवर्ण आदि धातु रहती हैं, वैसे ही देहाध्यास के नीचे जीव रहता है नग और धातुओं को निकाल कर घर में बंध[3] रखने से मनुष्य धन पति होकर सुखी रहता है और नहीं रखने से उसके साथ दरिद्र रहता है, वैसे ही जीवात्मा को देहाध्यास से निकाल कर ब्रह्म में रखने से आनन्द रहता है और ब्रह्म में न रखने से दुःख ही साथ लगा रहता है ।

व्योम वृक्ष अहरन असम, आतम अग्नि अधार ।
रज्जब पंचनि प्रकटै, तब ही ह्वै उजियार ।।७६।।

आकाश, वृक्ष, निहाई, पत्थर और आत्मा ये अग्नि के आश्रय हैं, इन पांचों से अग्नि प्रकट होता है तभी प्रकाश होता है । आकाश में बिजली चमकती है, बांस की शाखाओं से अग्नि प्रकट होता है, अहरन पर हथौड़ा पड़ता है तब अग्नि चमकता है, पत्थर टकराते हैं तब अग्नि प्रकट होता है, इस प्रकार प्रकट होकर अंधेरा दूर करता है, वैसे ही गुरु शब्द सुनने से जीवात्मा से ज्ञानाग्नि प्रकट होता है, उसका प्रकाश भी अज्ञानांधकार को दूर करके ब्रह्मानन्द प्रदान करता है ।

घट घडियाल रु झालर मुरगे, शंख शब्द सहनाय ।
षट् बाजे षट् दर्शन हु, पति प्रभात बताय ।।७७।।

घट, घड़ियाल, झालर, शंख, शहनाई इन बाजों की ध्वनि और मुरगे का शब्द ये ६ प्रातःकाल को बताते हैं, वैसे ही नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष ये ६ भेषधारी वा पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, वेदांत ये ६ दर्शन शास्त्र परमात्मा को बताते हैं।

पैड़ी पंच तीन पर पैड़ी, सप्तै अष्ट सिवान[1]।
रज्जब चढ़ै सु कोटि में, ऊंचा अगम दिवान[2] ॥७८॥

परमात्मा का स्वरूप मय दरबार मन इन्द्रियों का अविषय होने से अगम और मायिक प्रपंच से श्रेष्ठ होने से ऊंचा है उसमें जाने के लिये १ अन्नमय, २ प्राणमय, ३ मनोमय, ४ विज्ञानमय, ५ आनन्दमय, इन पंच कोश रूप पांच पैड़ी और १ तमोगुण, २ रजोगुण, ३ सतोगुण इन तीन गुण रूप तीन पैडियों से ऊपर जाना होता है और १ शुभेच्छा, २ सुविचारणा, ३ तनुमानसा, ४ सत्त्वापत्ति, ५ असंसक्ति, ६ पदार्थाभाविनी, ७ तुरीयगा, इन सात भूमिकाओं को पार करना होता है, अष्टम स्थिति उसके प्राप्ति के मार्ग का सीमान्त[1] है वा १ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान, ८ सविकल्प समाधि उसके प्राप्ति-मार्ग का सीमान्त[1] है। कोटि साधकों में कोई विरला ही उक्त सबसे ऊपर चढ़कर परब्रह्म के स्वरूपमय दरबार[2] में जाता है।

जन रज्जब पंचों ध्वजा, चढ सुमेरु शिर बंध।
सिद्ध साधक देखै सभी, को साधू आया रंध्र[1] ॥७९॥

ज्ञानेन्द्रिय रूप पंचध्वजा माया रूप सुमेरु के शिर पर जा बंधती हैं अर्थात् इन्द्रियां प्रभु परायण हो जाती हैं, तब सिद्ध संत तथा साधक संत सभी देखते हैं कि कोई संत ज्ञान प्रकाश रूप छिद्र[1] के द्वारा प्रभु के पास आया है।

तन मन ऊपर अमल[1] कर, वैरी पंच भजाय।
रज्जब शक्ति[2] सुमेरु शिर, नाम निसान[3] बजाय ॥८०॥

अपने शरीर और मन पर अधिकार[1] कर, १ काम, २ क्रोध, ३ लोभ, ४ मोह, ५ दंभ रूप पंच शत्रुओं को हृदय से भगा और माया[2] रूप सुमेरु के शिर पर चढ़कर अर्थात् माया को त्याग कर, नाम रूप नगाड़ा[3] बजा अर्थात् नाम का जप कर।

रज्जब सद्गुरु शैल[1] तैं, शब्द शिला आवंत[2]।
मन समुद्र शिर पाजकर[3], रोस रावणहिं हंत ॥८१॥

सद्गुरु रूप पर्वत[1] से शब्द रूप शिलायें आती[2] हैं, उनसे मनरूप समुद्र पर सेतु[3] बांध करके क्रोध रूप रावण को मार।

शब्द शिला रंकार जटि, मन समुद्र शिर पाज ।
रज्जब रावण रोस हत, काया कंचनी[1] राज ॥८२॥

शब्द रूप शिलाओं में राम मंत्र का बीज "राँ" जटित करके मन रूप समुद्र पर सेतु बाँध तथा क्रोध रूप रावण को मार कर कायारूप सुवर्णपुरी[1] लंका का राज कर ।

आतम रथ है राम का, आतम का रथ देह ।
ये रथ देखहु सागड़ी[1], परम सयानप येह ॥८३॥

राम का रथ आत्मा है, आत्मा का रथ शरीर है, हे रथी[1] ! इन रथों को देखो, इनको ठीक रखना है, यही परम चतुरता है ।

जैसी संतति[1] शक्ति[2] सौं, तैसी शिव[3] सौं होय ।
तो रज्जब रामहिं मिलै, कदै न दीसै दोय ॥८४॥

जैसी प्रीति संतान[1] और माया[2] से होती है, वैसी परमात्मा[3] से हो तो राम को ही प्राप्त होगा, उसे कभी भी द्वैत नहीं भासेगा ।

जैसे मन माया मिलै, जीव ब्रह्म यूं मेल ।
रज्जब बहुरि न पाइये, यहु अवसर यूं खेल ॥८५॥

जैसे मन माया में मिलता है, वैसे ही जीव को ब्रह्म में मिला, यह मनुष्य शरीर का समय फिर सहज ही नहीं मिलेगा, अतः उक्त प्रकार ब्रह्म मिलनरूप खेल शीघ्र ही खेल ले ।

रज्जब मन रु मनोरथों, मेला अचल अभंग ।
ऐसे आतम राम हित, सदा सु सांई संग ॥८६॥

जैसे मन मनोरथों से मिलन के लिये निरंतर रुचि रखता है, वैसे ही जीव राम से मिलने के लिये अचल प्रेम रखे तो प्रभु सदा साथ ही भासेंगे ।

रज्जब आभे अंबु का, देखो शून्य सनेह ।
ऐसे आतम राम सौं, शिक्षा दीक्षा येह ॥८७॥

जैसे बादल और जल का आकाश से स्नेह होता है, वैसे ही आत्मा को राम से होना चाहिये, यही शास्त्रों की शिक्षा है और यही गुरुजनों की दीक्षा है ।

ज्यों जल-दल सौं जीव का, अतिगति मित्राचार ।
त्यों रज्जब कर राम सौं, सरै[1] सीख निज सार ॥८८॥

जैसे जीव का अन्न-जल से अति प्रेम है, वैसे ही राम से करना चाहिये, यही निज कल्याण के लिये श्रेष्ठ[1] और सार रूप शिक्षा है ।

ज्यों कामी कामिनि भजै, त्यों निष्कामी राम ।
मन बाँच्छित फल नीपजै, जन रज्जब इहि धाम ॥८९॥

जैसे कामी नारी को भजता है, वैसे ही निष्कामी राम को भजे तो इस वर्तमान शरीर रूप धाम में ही इच्छा के अनुसार फल उत्पन्न होकर प्राप्त हो जाता है ।

मन पवन शशि सूर को, राहु केतु ह्वै लाग ।
रज्जब पकड़न पेच यहु, सुन ले सीख सभाग ॥९०॥

जैसे चन्द्र-सूर्य के राहु-केतु लगकर उनको तेजहीन कर देते हैं, वैसे ही मन और प्राणों के पीछे लगकर संयम द्वारा दोनों की गति कम कर । हे भाग्यशालिन् ! ध्यान देकर शिक्षा सुनले, मन और प्राणों को अपने अधीन करने की यही युक्ति है ।

रज्जब राहु रु केतु ह्वै, रवि राकेश[1] हिं लाग ।
आतम उडग[2] सु उग्र[3] है, मस्तक आया भाग ॥९१॥

जैसे राहु-केतु लगकर चन्द्र[1]सूर्य को तेजहीन करते हैं तब तारे[2] प्रचंड[3] बन जाते हैं, वैसे ही तू मन निरोध रूप राहु और प्राणायाम रूप केतु होकर मन-प्राण के पीछे लग अर्थात् उक्त साधनों द्वारा मन-प्राण की चंचलता कम कर फिर जीवात्मा का भाग्य खुल जायगा, वह ज्ञान-तेज द्वारा प्रचंड बन जायगा ।

रज्जब चलिये राह उस, जिहिं पथ पहुँचे साध ।
निज मत[1] मग[2] उठि गमन कर, जे है बुद्धि अगाध ॥९२॥

जिस साधन मार्ग से संतजन प्रभु के पास पहुंचे हैं, उसी मार्ग से चलना चाहिये । यदि तेरी बुद्धि अगाध है तो शीघ्र ही उठकर निज स्वरूप प्राप्ति के सिद्धान्त[1]-मार्ग[2] में गमन कर ।

रज्जब रीझ्या ठौर किहिं, जहां जगत को मीच ।
चेत चमक लागे नहीं, बैठ रह्या क्यों नीच ॥९३॥

जहां जगत् के प्राणियों की मृत्यु होती है, वहां संसार में ही तू किस विषय रूप स्थान पर रीझ रहा है ? हे नीच ! क्यों बैठा हुआ है, सावधान हो जिससे दुःख रूप चोट न लगे ।

रज्जब मरणा मुंह आगे खड़ा, बूढे को तु विशेख ।
अब तासौं कहु क्या कहूं, रे अंधा कछु देख ॥९४॥

मृत्यु मुँह आगे खड़ा है और वृद्ध को तो विशेष रूप से आ घेरा है, अरे अंधे ! कुछ देख तो सही, और कह अब इससे अधिक तेरे को क्या कहा जाय ?

काया कुंभ जल सौं भरचा, ज्ञान तेल परिपूर ।
मारुत बाती शब्द उजाला, अचेत तिमिर ह्वै दूर ॥९५॥

काया रूप घड़े में विषय-वासना रूप जल भरा है, उसे निकाल कर उसमें विवेक ज्ञान रूप तेल परिपूर्ण रूप से भरो, तब श्वास रूप बत्ती से शब्द प्रकाश होगा अर्थात् नाभि में ओंकार ध्वनि प्रकट होगी, उससे एकाग्रता की वृद्धि होकर आत्म-ज्ञान द्वारा अज्ञान रूप अंधकार दूर हो जायेगा ।

दशों दिशा मन फेर करि, जहां उठै तहँ राखि ।
जन रज्जब जगपति मिलैं, सद् गुरु साधू साखि ॥९६॥

दशों दिशाओं से मन को लौटा कर जहां से उठता है वहां ही रक्खो, इस साधन से जगदीश्वर मिल जायँगे, इसमें सद्गुरु और संतों की साक्षी है ।

जिहिं जायगह[1] सौं मन उदय, तहां अस्त करि बंध ।
रज्जब रहिये राम सौं, मन उनमनि[2] लै[3] संध[4] ॥९७॥

जिस नाभि स्थान[1] से मन उदय होता है, वहां ही छिपाकर बंध करो, फिर उस निग्रह किये हुये मन को लय योग[3] द्वारा समाधि[2] में ले जाकर राम के स्वरूप से जोड़[4] दो ।

जैसे छाया कूप की, फिरि घिरि निकसै नाँहिं ।
जन रज्जब यूँ राखिये, मन मनसा[1] हरि माँहिं ॥९८॥

जैसे कूप की छाया इधर-उधर फिर कर भी बाहर नहीं निकलती, वैसे ही मन बुद्धि[1] को हरि के स्वरूप में रक्खो बाहर मत जाने दो ।

रज्जब सब गुण सीखिया, जे मन राख्या ठौर[3] ।
मन वच कर्म सीझ्या[1] सही[2], जे उर उठे न और ॥९९॥

यदि मन को ठिकाने[3] रख लिया तो सभी कुछ सुन लिया तथा सीख लिया, यदि हृदय में प्रभु को छोडकर अन्य भावना नहीं उठती तो मन, वचन, कर्म से सिद्ध[1] हो गया, यह बात यथार्थ[2] ही है ।

मनसा चकमक चिनग ज्यों, उठत बुझावै सुःख ।
जन रज्जब प्रकट्यों पछै, बहुत दिखावै दुःख ॥१००॥

कामना चकमक से उत्पन्न अग्नि की चिनगारी के समान थोड़ी-सी उठती है, अग्नि को उठते ही बुझा दे और कामना को उठते ही मिटा दे तब तो सुख रहता है, प्रकट होकर बढ़ जाने के पीछे तो जैसे चकमक की अग्नि घरादि को जलाकर दुःख देती है, वैसे ही कामना भी बहुत दुःख देती है ।

पावक पाहि[1] प्रचंड है, वैरी वन वपु माँहि ।
सो रज्जब सूते भले, जागे कुशल सु नाँहि ॥१०१॥

वन में अग्नि प्रचंड शत्रु है और शरीर में कामना[1] प्रचंड शत्रु है, ये दोनों सोते रहें तब तक ही अच्छा है, जगने पर तो वन तथा शरीर के लिये कुशल नहीं रहता ।

सुमिरण कर सु संबाहि[1] मन, तन हि न सरकण देंय ।
रज्जब अज्जब काम यहु, जन्म सफल कर लेय ॥१०२॥

हरि स्मरण करके मन को रोक[1], शरीर को मर्यादा से बाहर के कामों में मत जाने दे, यही अद्भुत कार्य है, इसको करके नर जन्म को सफल कर ले ।

श्रवण नयन नासिक कर पाई, पंच दूण मत एक समाई ।
मिल चलणे का होय सनेह, तो यह सीख इनहु कन लेह ॥१०३॥

श्रवण, नेत्र, नासिका, हाथ और पैर ये पांचों दो दो हैं किन्तु एक ही मत में रहते हैं । तुझे भी मिलकर चलने का प्रेम है तो यह शिक्षा इनसे ग्रहण कर ।

अंधों कन उपदेश ले, पंथ पीव के आव ।
रज्जब डग मग शोधकर, पीछे धरै सु पाँव ॥१०४॥

अंधों से उपदेश लेकर प्रभु प्राप्ति के साधन-मार्ग में आओ, जैसे अंधे एक डग भरकर मार्ग को लकड़ी से देखकर पीछे आगे पैर रखते हैं, वैसे ही प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में विचार करके ही आगे बढ़ना चाहिये ।

साधु सबूरी श्वान की, लीजे कर सु विवेक ।
वह घर बैठा एक के, तू घर-घर फिर हि अनेक ॥१०५॥

हे साधो ! विवेक पूर्वक कुत्ते के समान संतोष धारण करो, देखो, कुत्ता एक स्वामी के घर पर बैठा रहता है और तुम घर-घर फिरते हुये अनेकों के पास जाते हो यह उचित नहीं है ।

श्वान सबूरी[1] अति भली, आदम[2] घर अखत्यार[3] ।
मानुष तज मालिक महल, माँगै मुलक[4] अपार ॥१०६॥

कुत्ते का संतोष[1] बहुत अच्छा है, वह अपने स्वामी मनुष्य[2] के घर पर ही अधिकार[3] किये बैठा रहता है और मनुष्य अपने प्रभु का महल छोड़कर देश[4] में अपार मनुष्यों के पास जा जाकर माँगता रहता है ।

रज्जब अहिं अहरचों[1] उभय, देखो दे उपदेश ।
मो मति गति[2] गहि करि करो, गुरु गृह शिष्य प्रवेश ॥१०७॥

देखो, यही संतोषपूर्वक रहने का उपदेश दोनों होंठ[1] भी करते हैं— जैसे हम दाँतों के लगे रहते हैं अलग नहीं होते, इस हमारी बुद्धि की चेष्टा[2] को ग्रहण करके गुरु के घर में जाओ और संतोषपूर्वक उनकी आज्ञा में ही रहो विपरीत कुछ भी न करो।

देख्या मुँह मुँहडे की लार, रज्जब दुमुँहीं सर्प विचार ।
त्यों सद्गुरु शिष एक शरीर, पै चेतन[1] जड ब्यौरा[2] बहु वीर[3] ॥१०८॥

देखा जाता है—मुख और मुख की लार नाम दो हैं किन्तु लार मुख से अलग नहीं, दो मुँह के सर्प के मुख दो होते हैं किन्तु सर्प एक ही होता है, वैसे ही गुरु और शिष्यों के शरीर एक विचार होने से एक ही हैं परन्तु हे भाई[3] ! सावधान[1] गुरु शिष्यों और जड़ गुरु शिष्यों का विवरण[2] करें तो बहुत भेद हो जाते हैं ।

मुरीद[1] मुरदा पीर[2] गस्साल[3],
गुफतम[4] बुजर्ग[5] अजब[6] मिसाल[7] ॥१०९॥

शिष्य[1] मुरदे के समान है और गुरु[2] मुरदे को स्नान कराने वाले[3] के समान है, यह मैंने बड़ा[5] अद्भुत[6] दृष्टांत[7] कहा[4] है, अर्थात् जैसे मुरदा स्नान से शुद्ध होता है, वैसे ही गुरु के उपदेश से शिष्य शुद्ध होता है ।

रज्जब काढो शून्य[1] सत, पीवै प्राणि प्रवीन ।
ईहि औषधि आरोग्य ह्वै, नख शिख रोग सु भीन[2] ॥११०॥

जैसे वैद्य औषधि का सत निकालते हैं, उसे चतुर प्राणी पान करते हैं, उससे उनके नख से शिखा तक के रोग शरीर से अलग[2] होकर वे निरोग हो जाते हैं, वैसे ही हे उपदेशको ! संसार वा शास्त्र के सत ब्रह्म[1] विचार को निकालकर उसका उपदेश करो, इस ब्रह्म-विचार रूप औषधि से सब विकार नष्ट होकर निर्द्वन्द्वावस्था रूप आरोग्यता प्राप्त होती है ।

श्रवणों वाणी रसन रट, नैनों निज अंग[1] शोध[2] ।
नास[3] बास हरि पद कमल, रज्जब निजी प्रमोध[4] ॥१११॥

श्रवणों से भगवान् और संतों की वाणी सुन, जिह्वा से प्रभु का नाम रट, नेत्रों से अपने प्रियतम[1] प्रभु को खोज[2] कर देख, नासिका[3] से हरि के चरण-कमलों की सुगन्ध ले यह हमारा निजी उपदेश[4] है ।

साबुन सुमिरण जल सत संग,
शुक्ल[1] कृत्य[2] कर निर्मल अंग[3] ।
रज्जब रज उतरै ईहि रूप,
आतम अम्बर[4] होय अनूप ॥११२॥

हरि-स्मरण रूप साबुन, सत्संग रूप जल और वेद विहित शुद्ध कर्म[2] रूप स्नान की क्रिया से अपने स्थूल सूक्ष्म शरीर[3] को निर्मल कर, इसी उक्त रूप से धोने पर पाप रूप रज उतरकर जीवात्मा रूप वस्त्र[4] भी अनुपम हो जायगा ।

अघ[1] सागरहिं अनीति अंभ[2] में, आतम अम्बर[3] भीन[4] ।
सो सुखाय सविता[5] सुमिरण सौं, पानी पाप सुछीन[6] ॥११३॥

पाप[1] रूप समुद्र के अनीति रूप जल[2] से जीवात्मा रूप वस्त्र[3] भीग[4] गया है, सो इसे हरि-स्मरण रूप सूर्य[5] की ताप से सुखा, इस का पाप रूप जल क्षीण[6] हो जायगा ।

प्राण पिंड तत्त्व पंच का, मन मनसा[1] मल धोय ।
नाम नीर जल ज्ञान के, गृह[2] सब पावन होय ॥११४॥

हे प्राणी ! पंच तत्त्वों से रचित शरीर और मन का मैल हरि-नाम चिन्तन रूप जल से धो और बुद्धि[1] का मैल ब्रह्म ज्ञान रूप जल से धो, इस प्रकार धोने से तू तथा तेरा सभी घर[2] पवित्र हो जायगा ।

पहिले तन करि बंदगी[1] पीछैं मन गहि मूल ।
रज्जब राचौ राम सौं, जैसे सूरज फूल ॥११५॥

पहले शरीर से संत सेवा[1] आदि करो पीछे मन से अपने मूल कारण प्रभु का भजन करना पकड़ो और राम में ऐसे अनुरक्त हो जैसे सूर्यमुखी का पुष्प वा सूर्य-कमल पुष्प सूर्य से अनुरक्त होता है ।

सप्त समुद्रौं जो तिरै, सो तेरू संसार ।
रज्जब अज्जब काम यहु, प्राण पुरुष ह्वै पार ॥११६॥

सातों समुद्रों वाले संसार को तैर जाय, वही संसार में तैराक कहलाता है, प्राणधारी पुरुष का संसार से पार होना ही अद्भुत कार्य है।

रज्जब को अज्जब[1] कह्या, मेरे नाम सु लाग।
सकल पसारा[2] झूठ है, मन वच कर्म तज भाग ॥११७॥

मुझे अद्भुत[1] स्वरूप प्रभु ने कहा कि संपूर्ण संसार-विस्तार[2] मिथ्या है, इसे मन, वचन, कर्म से तज कर दूर भाग और मेरे नाम चिन्तन में लग।

रज्जब अज्जब यहु मता[1], सब तज भजिये राम।
मनसा वाचा कर्मना, ईहि काया यहु काम ॥११८॥

सबको त्याग कर मन, वचन, कर्म से राम का भजन करना, यही अद्भुत सिद्धान्त[1] है और यही इस मनुष्य शरीर का मुख्य कार्य है।

रज्जब रसना राम कह, राख निरन्तर नाद।
श्वास लगाओ साँई हि, छाड देहु बकवाद ॥११९॥

निरंतर नाभि स्थान के शब्द पर ध्यान रखते हुये जिह्वा से राम-राम कहो, अपने श्वासों को प्रभु के भजन में लगाओ, व्यर्थ बकवाद करना छोड़ दो।

रज्जब अज्जब यहु मता[1], तज विषया भज राम।
सिध[2] साधक संसार में, सब सीझे[3] इस काम ॥१२०॥

विषयों को त्याग कर राम का भजना, यही अद्भुत सिद्धान्त[1] है। संसार में सभी सिद्ध[2]–साधक इस कार्य के द्वारा ही मुक्ति रूप सिद्धा-वस्था[3] को प्राप्त हुये हैं।

रज्जब रटिये रैन दिन, राम नाम इकतार।
फिर पीछे पछिताहुगे, यहु अवसर यहु बार ॥१२१॥

दिन-रात निरंतर राम का नाम रटना चाहिये, इस समय इस कार्य के लिये यह अच्छा अवसर है, राम नाम न रटने से पीछे पश्चात्ताप करना होगा।

रज्जब अज्जब काम है, शिर सांई को देहु।
मिनखा[1] जन्म सु मौज[2] निज, बहुरि न अवसर येहु ॥१२२॥

प्रभु को अपना अहंकार रूप शिर देना अद्भुत कार्य है, अतः दो। मनुष्य[1] जन्म में ही निज स्वरूप के साक्षात्कार का आनन्द[2] मिलता है, फिर चौरासी लाख योनियों में इसके प्राप्त होने का अवसर नहीं मिलता।

ईहि अवसर[1] अवसाण[2] यहु, सत जत सुमिरण होय ।
सो रज्जब युग युग सुखी, ता सम और न कोय ॥१२३॥

इस मनुष्य शरीर के समय[1] में सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य और हरि-स्मरण का अवसर[2] है, जो इस समय उक्त तीनों साधन कर लेता है, वह प्रति युग में सुखी रहता है, उसके समान संसार में और कोई भी नहीं है ।

अब के जीते जीत है, अब के हारे हार ।
तो रज्जब राम हि भजो, अल्प आयु दिन चार ॥१२४॥

अब के इस मनुष्य शरीर में जीत गये तो जीत है और हार गये तो हार है । अतः इस चार दिन की अति अल्पायु में राम का ही भजन करो ।

अल्प आयु बहु विघ्न बिच, अतिगति[1] अहमक[2] मन्न[3] ।
रज्जब अज्जब समय में, करै न सुकृत धन्न ॥१२५॥

आयु बहुत कम है, उसमें भी बहुत विघ्न आते रहते हैं और मन[3] भी अत्यन्त[1] मूर्ख[2] है, फिर भी इस मनुष्य शरीर के अद्भुत समय में पुण्य कर्म रूप धन क्यों नहीं संग्रह करता ?

आदम[1] के शिर कर[2] धरचा, अविगत[3] करना याद[4] ।
इस काया यहु काम जी[6], नहिं तो निष्फल बाद[5] ॥१२६॥

मनुष्य[1] के शिर पर परमात्मा[3] का स्मरण[4] करना रूप दंड[2] रक्खा गया है, इस शरीर में जीव[6] का यही मुख्य कार्य है, इसको न करे तो पीछे[5] यह शरीर निष्फल ही माना जाता है ।

रज्जब रोवहु रैन दिन, कीजे तोबा[1] त्राहि[2] ।
राम विसारण रोग को, औषधि यो ही आहि ॥१२७॥

राम को भूलना रूप रोग की औषधि यही है कि रात दिन रोते हुये रक्षा[2] करने की प्रार्थना करो और आगे राम को न भूलने का प्रण[1] करो ।

राम विसारण रोग जीव, औषधि करना याद ।
रज्जब वैद्य बताय दी, देख रु दीज्यो दाद ॥१२८॥

हे जीव ! राम को भूलना रूप रोग की औषधि राम का स्मरण करना ही है, यह गुरु रूप वैद्य ने बता दी है, इसे देखकर गुरु की तथा औषधि की प्रसंशा ही करना, अनादर नहीं करना ।

रज्जब कुदरत[1] देखि खुदाय की, खालिक[2] कीजे याद ।
श्वास शब्द लागै अरथ, जन्म न जाई बाद[3] ॥१२९॥

ईश्वर की शक्ति[1] देखकर सृष्टिकर्त्ता ईश्वर[2] का स्मरण कर, जिससे तेरे श्वास और शब्द भगवान् के अर्थ लग जायँ और तेरा जन्म व्यर्थ[3] न जाकर सफल हो जाय ।

रज्जब अज्जब अकलि यहु, साहिब कीजे याद ।
सो साहिब हि विसार तों, विविध बुद्धि सो बाद ॥१३०॥

प्रभु के स्मरण करने की बुद्धि होने से ही यह मनुष्य अद्भुत बुद्धि वाला कहलाता है, उस प्रभु को भूलने पर तो विविध प्रकार की बुद्धि हो तो भी वह मनुष्य अपना जन्म व्यर्थ ही खोता है ।

माया तज ब्रह्महिं भजे, येते को सब ज्ञान ।
रज्जब मूरख चतुर ह्वै, मन उनमनि लै सान ॥१३१॥

माया को त्यागकर ब्रह्म का भजन करे, इतने कार्य के लिये ही सब प्रकार के ज्ञान हैं । मनको लय योग द्वारा समाधि में ले जाकर प्रभु स्वरूप में मिलाने से मूर्ख भी परमार्थ में प्रवीण हो जाता है ।

मन वच कर्म त्रिशुद्ध ह्वै, माया तज भज राम ।
जन रज्जब संसार में, एता ही है काम ॥१३२॥

संसार में तेरे लिये इतना ही काम है कि माया को त्याग कर राम का भजन कर इससे तेरे तन, वचन और कर्म शुद्ध हो जायंगे और तू शुद्ध ब्रह्म में मिल जायगा ।

रज्जब भजिये राम को, तजिये काम रु क्रोध ।
निर्मल को निर्मल मिलै, योही निज परमोध ॥१३३॥

राम का भजन करो और काम क्रोधादि विकारों को त्यागो, इस प्रकार जीवात्मा निर्मल होकर निर्मल ब्रह्म में मिल जायगा, यही निजी उपदेश है ।

औषधि अविगत[1] नाम ले, पछ[2] परिहरै[3] विकार ।
रज्जब योगी युगति सौं, काटै रोग अपार ॥१३४॥

परमात्मा[1] का नाम चिन्तन रूप औषधि सेवन करते हैं और विकारों का त्यागना[3] रूप पथ्य[2] पालन करते हैं, इस युक्ति से ही योगीजन जन्मादि रूप अपार रोग को नष्ट करते हैं ।

रज्जब भजिये राम को, तजिये यहु संसार।
ऐसी विधि कारज सरै[1], भेटैं सिरजन हार ॥१३५॥

इस संसार के राग को छोड़कर राम का भजन करो, इस प्रकार भजन करने से परमात्मा मिलकर तुम्हारा मुक्ति रूप कार्य बन[1] जायगा।

चिति[1] चेतन[2] ह्वै देखि मन, मिनखा जन्म न हार।
जन रज्जब जगदीश भज, उलटा अनल विचार ॥१३६॥

हे मन ! चित्त में[1] सावधान[2] होकर देख, मनुष्य जन्म व्यर्थ मत खो, जगदीश्वर का भजन करके जैसे अनल पक्षी बदलकर आकाश को जाता है, वैसे ही संसार को पीठ देकर परब्रह्म के स्वरूप में जा।

कपट करहु सौं डारिदे, नेकी निर्मल साहि[1]।
रज्जब दुविधा दूर कर, हाथ हरी को बाहि[2] ॥१३७॥

कपट को हाथों से पटक दे, निर्मल भलाई का साहुकार[1] बन, दुविधा को दूर करके वृत्ति रूप हाथ हरि की ओर बढ़ा[2]।

भांति भांति का गर्व तज, गुरु मुख होहु गरीब।
रज्जब पावै पीर[1] को, निर्मल नेक[2] नसीब[3] ॥१३८॥

जाति, गुण, धन, रूप आदि नाना भांति का गर्व त्याग दे, गरीब बनकर गुरुमुख हो। निर्मल और अच्छे[2] भाग्य[3] वाला ही सिद्ध[1] गुरु को प्राप्त होता है।

तन त्रिभुवन मन में भरचा, सो काढै सब छान[1]।
रज्जब राखै राम तहाँ, काम किया तिहिं प्रान[2] ॥१३९॥

शरीर की आसक्ति और त्रिभुवन के भोगों का राग मन में भरा है, उस सबको विवेक द्वारा मन से अलग[1] करके निकाले और मन को जहाँ राम का साक्षात्कार होता है वहां समाधि में रक्खे तो जानना चाहिये, उस प्राणी[2] ने अपने करने योग्य कार्य किया है।

भजने को भगवंत है, तजने को पर ताति[1]।
करणे को उपकार कछू, ईहिं अवसर ईहिं गाति[2] ॥१४०॥

इस मनुष्य शरीर[2] के इस समय में भजन करने योग्य भगवान् हैं, त्यागने योग्य दूसरों की बुराई[1] है, करने योग्य कुछ है तो परोपकार करना है, सो ये तीन काम अवश्य करने चाहिये।

मनुष्य देह माया सहित, पाई पूरण भाग।
तो रज्जब गुरु साधु की, सेवा दृढ़ करि लाग ॥१४१॥

पूर्ण भाग्यवश धन के सहित मनुष्य देह प्राप्त हुआ है तो सद्गुरु और संतों की सेवा में दृढ़ प्रेम करके लग ।

सेवक कन[1] सेवा शक्ति[2], घर आये गुरु साध ।
सु समय सुकृति लेहु करि, जे है बुद्धि अगाध ॥१४२॥

गुरु और संत घर पर आवें तो गृहस्थ सेवक के पास[1] धन[2] रूप ही सेवा है अर्थात् धन के द्वारा वह गुरु और संतों की सेवा करे । यदि तू अपार बुद्धिमान् है, तो यह मनुष्य शरीर का समय सबसे अच्छा है, इसमें पुण्य कार्य करले ।

रज्जब दोस्त जीव के, सांई सद्गुरु साध ।
यहु शिक्षा सुन सेय[1] सो[2], जे है बुद्धि अगाध ॥१४३॥

जीव के सच्चे मित्र परमात्मा, सद्गुरु और संत हैं, यदि तू अगाध बुद्धि वाला है तो यह शिक्षा सुनकर उक्त तीनों[2] की सेवा[1] कर ।

हरि भज तौं[1] तज तौं विषय, करतौं साधू सेव ।
रज्जब ईहि रह[2] चालतौं, मानुष सौं ह्वै देव[3] ॥१४४॥

तूं[1] विषयों के राग को त्याग के संतों की सेवा करते हुये हरि-भजन कर, इस परमार्थ मार्ग[2] में चलने से तू मनुष्य से ब्रह्म[3] बन जायगा ।

गुरु गोविन्द रु साधु की, होय चरण रज रैन[1] ।
मन वच कर्म कारज सरैं[2], सुन रज्जब निज बैन ॥१४५॥

अरे ! हमारे निजी वचन सुन ! यदि प्राणी मन, वचन, कर्म से गुरु, गोविन्द और संतों की चरण-रज का कण[1] होकर रहे तो उसके सभी कार्य सिद्ध[2] हो जाते हैं ।

रज्जब रज हो संत की, जा मुख निकसै राम ।
साधू सेती मिल रहो, तो सरसीं सब काम ॥१४६॥

जिसके मुख से निरंतर राम का नाम उच्चारण होता है, उस संत के चरणों की रज हो, संतों के विचारों से मिलकर रहोगे तो सभी कार्य सिद्ध हो जाँयगे ।

रज्जब रहिये रजा में, साधु शब्द शिर धार ।
मन वच कर्म कारज सरैं, कदे न आवै हार ॥१४७॥

संतों की आज्ञा में रहो, उनके शब्दों को मन वचन कर्म से स्वीकार करोगे तो तुम्हारे सभी कार्य सिद्ध हो जायंगे, और कभी भी कार्य की अपूर्णता रूप हार का अवसर नहीं आयगा ।

दास दमामे[1] देव[2] के, वाणी बंब[3] सु होय।
रज्जब बाजै[4] हरि हुकम, भूल पड़ो मत कोय ॥१४८॥

भक्त-संत ब्रह्म[2] के नगाड़े[1] हैं, उनकी वाणी ही नगाड़े की ध्वनि[3] है, ये हरि की आज्ञा से ही बजते[4] हैं अर्थात् बोलते हैं। अतः इनके उपदेश को छोड़कर भूल से कोई भी कुमार्ग में मत पड़ो।

मन उनमनी लागा रहै, माया मध्य न जाय।
ब्रह्म अग्नि में जारै बीज हिं, बहुरि उगै नहिं आय ॥१४९॥

मन सहज समाधि में लगा रहे, माया में नहीं जाय, ब्रह्म ज्ञानाग्नि में अज्ञान रूप बीज को जला दें, जिससे पुनः नहीं उगे अर्थात् जन्म लेकर संसार में न आवे।

रज्जब राखै मीच मन, हरि को भूलै नाँहि।
यहु दीक्षा उपदेश यहु, साधों के मत माँहि ॥१५०॥

मृत्यु को मन में याद रक्खे, हरि का स्मरण न भूले, संतों के सिद्धान्त में यही गुरु दीक्षा है और यही संत-शास्त्रों का उपदेश है।

राग करोहु रंकार[1] से, अलिफ[2] अराधो[3] मन्न[4]।
रे रज्जब संसार में, और न ऐसा धन्न[5] ॥१५१॥

राम मंत्र के बीज "राँ"[1] से प्रेम कर, संसार के आदि[2] स्वरूप राम की मन[4] से उपासना[3] कर, हे प्राणी ! संसार में ऐसा धन[5] अन्य कोई भी नहीं है।

बहु विद्या रु विभूति[1] बहु, बहु सुन्दर सुकुलीन।
रज्जब चहुं[2] में चूक[3] यहु, सुमिरण सुकृत हीन ॥१५२॥

विद्या वाले विद्वान् बहुत हैं, ऐश्वर्य[1] वाले धनी बहुत हैं, सुन्दर बहुत हैं और सुकुलीन भी बहुत हैं किन्तु हरि-स्मरण और पुर्ण्य कर्म से हीन हैं वा हरि-स्मरण रूप सुकृत से हीन हैं तो उक्त चारों[2] में ही यह भूल[3] है।

विभूति[1] भूत[2] बहु विधि बध्या, चकहु[3] चक्कवै[4] राज।
भजन विमुख विद्या सभी, सो रज्जब किहिं काज ॥१५३॥

ऐश्वर्य[1] के द्वारा प्राणी[2] बहुत प्रकार से बढ़ता है तो पृथ्वी[3] का चक्रवर्ती[4] राजा हो जाता है किन्तु प्रभु के भजन बिना वह राज्य तथा सभी प्रकार की विद्यायें किस काम की हैं ?

बुद्धि विद्या रु विभूति[1] बहु, हय[2] गय[3] हेम[4] अपार ।
जन रज्जब वे काम के, जे भजै न सिरजन हार ॥१५४॥

बुद्धि, विद्या, ऐश्वर्य[1], अश्व[2], हाथी[3], सुवर्ण[4] ये सब अपार हों तो भी व्यर्थ हैं यदि हरि भजन नहीं करे तो ।

रज्जब रिधि[1] जीव को दई[2], राम रहम[3] कर राग[4] ।
पटा लहे परि पीठ दे, मस्तक बडे अभाग ॥१५५॥

राम ने दया[3] और प्रेम[4] करके जीव को संपत्ति दी[2] है, यह संपत्ति[1] का पटा प्रभु से लेकर प्रभु को पीठ देता है, भजन नहीं करता तो समझो इसके मस्तक पर दुर्भाग्य ही आ बैठा है ।

रज्जब उल्लू आदमी, रारि[1] मयी रिधि[2] जाण ।
प्रकट प्रभाकर पुण्य दिशि, जे पलक न खोलै प्राण[3] ॥१५६॥

मनुष्य उल्लू है, संपत्ति[2] उसके नेत्र[1] हैं, ऐसा जानो । सूर्य के उदय होने पर उल्लू सूर्य की ओर अपने नेत्रों की पलक नहीं खोलता, वैसे ही कृपण प्राणी[3] पुण्य की ओर अपनी संपत्ति को नहीं लगाता ।

रोग रहित मिनखा जनम, हरिसिद्धि[1] घर ठाट ।
ता पर राम न सुमरिये, तो रज्जब भूल निराट[2] ।१५७॥

मनुष्य शरीर रोग रहित है, घर में लक्ष्मी[1] का ठाट है, इतना होने पर भी राम का स्मरण नहीं करता तो बड़ी[2] ही भूल करता है ।

चित्राम[1] सकल बाजी चिहर[2], भोला देख न भूल ।
बिच बाजीगर सत्य है, सो पकड़ी मन मूल ॥१५८॥

ईश्वर रूप बाजीगर की संसार रूप बाजी की रोनक[2] चित्र[1] के समान है, हे भोले जीव ! इसे देखकर भुलावे में मत पड़, इसके बीच में ईश्वर रूप बाजीगर सत्य है, उसी अपने मूल कारण को पकड़ अर्थात् उसका भजन कर ।

यह ठग बाजी ठग्ग की, ठग्या सकल संसार ।
तू रज्जब देखै हि जनि, जे न ठगावण हार ॥१५९॥

यह माया ठग की ठगबाजी है, इसने सब संसार को ठगा है, यदि तू ठगाने वाला नहीं है तो इसकी ओर देख ही मत ।

रज्जब अज्जब काम यहु, हरि सुमरो हित[1] लाय ।
उलझ न अलि[2] अल[3] आसिरै, जो दीसै सो जाय ॥१६०॥

हरि से प्रेम[1] लगाकर हरि का भजन कर, यही अद्‌भुत कार्य है। हे जीव रूप भ्रमर[2]! माया[3] के आश्रय मत फँस, जो भी मायिक संसार दीखता है सो सब नष्ट हो जायगा।

सब जग जाता देखिये, रहता कोई नाँहि।
जन रज्जब जगदीश भज, समझ देखि मन माँहि ॥१६१॥

तू विचार करके मनमें देख, संपूर्ण जगत् चलता हुआ देखा जाता है, स्थिर कोई भी नहीं है, अतः जगदीश्वर का भजन कर।

जल तरंग के जीवने, गाफिल[1] कहा[4] गंवार[2]।
पीछे ही पछिताहुगे, रज्जब राम संभार[3] ॥१६२॥

हे मूर्ख[2]! जल तरंग के समान क्षणिक जीवन में भी तू असावधान[1] क्यों[4] हो रहा है? शीघ्र राम का भजन[3] कर, नहीं तो पीछे पश्चाताप ही करना होगा।

प्राण[1] पचन[2] ह्वै पलक में, छिन माँहीं चलि जाय।
रज्जब सू[5] समयू[3] समझ, बहिला[4] बार न लाय ॥१६३॥

प्राणी[1] पलक में व्यथित[2] होता है, क्षण भर में चला जाता है, मनुष्य देह का समय[3] बड़ा सुन्दर[5] है, यह समझ कर हे वहिर्मुख[4]! वा हे बहिरा[4]! प्रभु के भजन करने में देर मत लगा।

पाणी पाणि[1] न ठाहरै, प्राण पिंड यूं जाणि।
तो परमारथ पाय जल, बात कही निज छाणि[2] ॥१६४॥

हाथों[1] की अंजली में जल नहीं ठहरता, वैसे ही प्राणी शरीर में नहीं ठहरता। अंजलि में जल भरते रहें तो जल ठहरता रहेगा, वैसे ही परमार्थ-जल पिलाते रहने से ब्रह्मरूप होकर स्थिर रहेगा। मैंने विचार[2] करके यह निजी बात कही हैं।

मनुष्य देह दामिनि[1] दमक, वेगावेगि[2] सु जाय।
रज्जब देखो हरि दरश, ढीला[3] ढील[4] न लाय ॥१६५॥

मनुष्य देह बिजली[1] की चमक के समान शीघ्रातिशीघ्र[2] जाने वाला है। अतः शीघ्र ही हरि-दर्शन करने का साधन कर, हे आलसी[3]! देर[4] मत लगा।

तन धन गृह गाफिल[1] असत्य, ज्यों सु सलिल[2] के झाग।
दल[3] बादल सब झूठ है, रज्जब परिहर[4] राग ॥१६६॥

अरे असावधान[1] ! शरीर, धन घर ये सब जल[2] के झागों के समान असत्य हैं और बादलों की घटा के समान भारी सेना[3] भी मिथ्या है, इन सबका राग त्याग[4] कर प्रभु से प्रेम कर ।

रज्जब मृग जल माँड[1] सब, मानहु मिथ्या जग्ग[2] ।
देखन को दरियाव है, तहां न पाणी नग्ग[3] ॥१६७॥

यह ब्रह्माण्ड[1] मय सब जगत्[2] मृग तृष्णा के जल के समान मिथ्या है, देखने में तो मृग तृष्णा का दरियाव दीखता है किन्तु वहाँ की भूमि सर्वथा नंगी[3] होती है, जल की बिन्दु भी नहीं होती, वैसे ही संसार दीखने मात्र का है ।

राम बिना सब झूठ है, ज्यों स्वप्ने सुख होय ।
रज्जब जागे चलि गया, कछू न देखे जोय ॥१६८॥

राम को छोड़ कर जैसे स्वप्न सुख मिथ्या होता है, वैसे ही सब मिथ्या है । देख स्वप्न का सुख जगने पर चला जाता है, कुछ भी नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्म ज्ञान रूप जाग्रत आते ही, यह संसार राम रूप ही भासता है, राम से भिन्न कुछ भी नहीं भासता ।

राम बिना सब झूठ है, मृग तृष्णा का रूप ।
रज्जब धावै नीर को, जहाँ जाय तहं धूप ॥१६९॥

राम को छोड़कर सब मृग तृष्णा के जल के समान मिथ्या हैं, जैसे मृग, मृगतृष्णा के जल को पान करने के लिये दौड़ते हैं किन्तु जहाँ जाते हैं, वहां ही सूर्य की धूप मिलती है जल नहीं. वैसे ही प्राणी सुख के लिये दौड़ते हैं किन्तु सुख न मिलकर दुःख ही मिलता है ।

शीतकोट[1] अरु भडलिका[2], तीजे स्वप्ना सैन[3] ।
रज्जब यूं संसार है, नहीं सुदीसै ऐन[4] ॥१७०॥

गंधर्व नगर[1], भोडल में चाँदी[2] और तीसरा स्वप्न ये तीनों प्रत्यक्ष[4] दीखते तो हैं किन्तु होते नहीं, वैसे ही संतों ने संसार के विषय में संकेत[3] किया है कि-संसार प्रत्यक्ष दीखता है किन्तु है नहीं ।

रज्जब बादल बुदबुदे, तीजे जल के झाग ।
चतुर्खानि चखि[1] देखिये, है नाँहीं भ्रम भाग ॥१७१॥

बादल, बुद्बुदे और जल के झाग ये तीनों अल्प समय ही दीखते हैं स्थायी नहीं हैं, वैसे ही जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज, यह चार खानिरूप संसार भी अज्ञान काल में ही नेत्रों[1] से भासता है, सत्य नहीं है, ज्ञान होते ही हमारा भ्रम दूर हो गया है । वैसे ही ज्ञान होने पर सबका भ्रम भाग जाता है ।

रज्जब स्वप्ना शक्ति[1] सैन[2], मन मिथ्या देखै सु मैन[3] ।
जाग देखि दीसै सो नाँहीं, रे मन मूरख समझो माँहीं ॥१७२॥

अरे मूर्ख मन ! तू संत-शास्त्रों के संकेत[2] को अपने भीतर समझ । यह मायिक[1] सुख स्वप्न में दीखने वाले काम[3]-सुख के समान मिथ्या है । जैसे जगकर देखने पर स्वप्न-सुख सत्य नहीं दीखता, वैसे ही ब्रह्म-ज्ञान होने पर जाग्रत का मायिक सुख भी सत्य नहीं भासता ।

सुर नर देवी देवता, सूता स्वप्ने माँहि ।
जो रज्जब रामति[1] रचै[2], सो जागै कोउ नाँहि ॥१७३॥

देवता, नर, ग्राम देवी-देवता आदि सभी मोह निद्रा में सोये हुये स्वप्न देख रहे हैं । जो संसार भ्रमण[1] वा क्रीड़ा[1] में अनुरक्त[2] हैं, उनमें कोई भी नहीं जाग सकता ।

गुदड़ी ज्यों गृह[1] के मिले, तिन विछुरत क्या बेर ।
रज्जब संतति[2] शक्ति[3] की, हटवारे दिशि हेर[4] ॥१७४॥

गुदड़ी के बाजार के समान घर[1] वालों का मिलन है, जैसे वह बाजार सायंकाल बिखर जाता है, वैसे ही घर वालों को बिखरते क्या देर लगेगी । हटवाड़े के बाजार की ओर देखो[4], जैसे वहां की मायिक[3] वस्तुयें इधर-उधर हो जाती हैं, वैसे ही संतान[2] इधर-उधर हो जाती हैं, सदा साथ नहीं रहती ।

रज्जब रज घर वास तन, शिशु रामति[1] संसार ।
सो मंदिर[2] रचि मेटतों, कहो कितीइक बार ॥१७५॥

जैसे रजकणों के बने हुये घर में अस्थायी निवास होता है, वैसे ही इस शरीर में अस्थायी निवास है । यह संसार बच्चों के बनाये हुये क्रीड़ा[1] गृहों के समान है । उन खेलने के लिये बनाये हुये घरों[2] को बनाते और बिगाड़ते, कहो–कितनीक देर लगती है ? वैसे ही तुम्हारे संसार को बिगड़ते क्या देर लगेगी ?

जन रज्जब रजु सर्प जग, यूं जाणों संसार ।
तिनहि न शंका विष चढै, औषधि परम विचार ॥१७६॥

जगत् रज्जु सर्प के समान मिथ्या है, रस्सी के सर्प का विष नहीं चढ़ता, वैसे ही संसार को मिथ्या जानते हैं, उन्हें संसार के विषय-विष चढ़ने की शंका नहीं होती, उनके पास ब्रह्म विचार रूप परम औषधि होती है ।

जन रज्जब स्वप्ना जगत, सूता देखै सत्त[1] ।
जाग्यूं मिथ्या भूत[2] सब, नींद सु न्यारी मत्त[3] ॥१७७॥

जगत् स्वप्न है, मोह निद्रा में सूता है, तब तक इसे सत्य[1] देखता है, ब्रह्म ज्ञान[3] से मोह निद्रा अलग होकर जगने पर सब मिथ्या रूप[2] ही भासेगा ।

रज्जब शीशे का सलिल, तैसा यहु संसार ।
स्वर्ग नरक फिरता रहै, युग युग बारंबार ॥१७८॥

जैसे दर्पण का पानी प्रतीति मात्र होता है, वैसे ही यह संसार है । जैसे दर्पण के पानी में आकृति ऊंची-नीची होती दीखती है, वैसे ही प्राणी प्रति युग में संसार के स्वर्ग नरकादि में फिरता है ।

ब्रह्म विछोह[1] वियोग न उपजै, मींच न आवै याद ।
रज्जब रीता प्राण सो, जन्म गमाया बाद ॥१७९॥

ब्रह्म का वियोग[1] अनुभव में आने पर भी वियोग-व्यथा नहीं उत्पन्न हो, मृत्यु याद नहीं आवे तो वह प्राणी कल्याण के साधन से खाली ही रहा और मानव जन्म व्यर्थ ही खो दिया ।

मिथ्या तन मन वाणी प्राणी, रज्जब भजै न राम ।
सौंज[1] शिरोमणि मिनखा देही, बाद[2] गमी वे काम ॥१८०॥

हे प्राणी ! यह सुन्दर शरीर, मन और मधुर वाणी मिथ्या है, राम का भजन क्यों नहीं करता ? राम की प्राप्ति के लिये मनुष्य देह रूप सामग्री[1] सर्व शिरोमणि मानी गई है, वह व्यर्थ[2] बिना काम खोई जा रही है सावधान हो ।

कौल[1] चूक[2] जीव आदि का, भूला भोंदू[3] वाच[4] ।
रज्जब झूठा राम सौं, सो क्यों बोलै साच ॥१८१॥

जीव पहले का ही प्रतिज्ञा[1] भूलने[2] वाला है, गर्भ में प्रभु से कहा था कि "आपका भजन करूंगा मुझे गर्भ गुहा से बाहर निकालो" उस अपने वचन[4] को भी मूर्ख[3] भूल गया, जो राम से भी झूठा पड़ गया है, भजन नहीं करता, वह सत्य कैसे बोलेगा ?

जगपति जीव जुदे किये, तब के झूठे जाणि ।
अबहिं साच बोलहिं सु क्यों, पड़ी झूठ की बाणि ॥१८२॥

जगत्पति प्रभु ने जब से जीवों को अपने से अलग कर दिया तब से इनको झूठा ही जानना चाहिये । अब तो ये सत्य कैसे बोल सकते हैं ? इनका तो झूठ बोलने का स्वभाव ही पड़ गया है ।

प्राण पिण्ड की सन्तति झूठी, तो साच कौण सौं होय।
रज्जब मिथ्या माया मेला, जिनि[1] रु पतीजे[2] कोय ॥१८३॥

झूठे प्राणी के शरीर की सन्तान भी झूठी ही है, तब सत्य का व्यवहार किससे होगा ? यह मिथ्या माया का ही मेला लगा है, इसके सत्य होने का विश्वास[2] कोई क्यों[1] करे !

साचे ने झूठी करी, सो साची क्यों होय।
रज्जब देखो दिव्य दृष्टि, मनसा वाचा जोय ॥१८४॥

सत्य प्रभु ने माया को मिथ्या ही रचा है, तब यह सत्य कैसे होगी ? उसका मिथ्यात्व दिव्य दृष्टि से तथा मन से यथार्थ वचनों को विचार करके देखो।

रोम न टूटा नट्ट[1] का, करि दिखलाये खण्ड।
यूं मिथ्या रामति[2] राम सत्य, ब्रह्म रचे ब्रह्मण्ड ॥१८५॥

नट[1] अपने टुकड़े २ करके दिखा देता है किन्तु उसका एक रोम भी नहीं टूटता इसी प्रकार ब्रह्म ने ब्रह्माण्ड रचे हैं, राम की सृष्टि रूप क्रीड़ा[2] मिथ्या है और राम सत्य है।

चतुर्खानि बाजी चिहर,[1] सकल पसारा झूठ।
रज्जब ज्यों थी त्यों कही, रजू[2] होहु भावे रूठ[3] ॥१८६॥

जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, इन चार खानि रूप संसार बाजी की चहल[1]-पहल का विस्तार मिथ्या है, यह बात जैसे थी वैसी ही मैंने कही है, अब चाहे इससे कोई प्रसन्न[2] हो वा रुष्ट[3] हो।

चावल किये धूलि के, पंख परेवा[1] कीन्ह[2]।
झूठ दिखाया साच करि, विरले पुरुषाँ चीन्ह[3] ॥१८७॥

जैसे बाजीगर धूलि के चावल और पंख का कबूतर[1] बना[2] कर मिथ्या होने पर भी सत्य-सा दिखा देता है, वैसे ही ईश्वर ने मिथ्या संसार रचकर सत्य-सा दिखा दिया है, इस बात को विरले ज्ञानी संत पुरुषों ने ही पहचाना[3] है।

स्वप्ना को साचा नहीं, नहीं मृछन[2] मधि नीर।
शीतकोट[1] कोट हु नहीं, त्यों वसुधा[3] सब वीर ॥१८८॥

स्वप्न कोई सत्य नहीं होता, मृगतृष्णा[2] में जल नहीं होता, गंधर्व[1]-नगर रूप किला नहीं होता, हे भाई ! वैसे ही पृथ्वी[3] पर स्थित संसार सत्य नहीं है।

वन कैंवछ[1] काया कुमति, मरकट मन हिं सु मींच ।
रज्जब सो न उपाड़ ही, बैठे मूरख सींच ॥१८६॥

कौंछ[1] के वन में वानर जाय तो उसको खुजाने का क्लेश ही है वा मृत्यु ही है, वैसे ही शरीर में कुमति है, उसमें मन जाता है तो उसकी भी हानि ही है। किन्तु फिर भी जैसे वह मूर्ख वानर कौंछ के वृक्ष से छू जाने पर उस पर जल फेंकता है, उसे उखाड़ता नहीं, वैसे ही वह मूर्ख नर कुमति को कुसंग में बैठकर सींचता है, सत्संग द्वारा उखाड़ता नहीं।

मोह मूंज के जेवड़हु[1], गांठ दई है घोलि[2] ।
रज्जब छांटै प्रेम जल, निकस्या चाहै खोलि ॥१६०॥

जैसे कोई अपने को मूंज के रस्से[1] से खूब खेंच[2] कर गांठ देकर बांधले और ऊपर से जल छिड़कले, फिर उसे खोलकर निकलना चाहे तो कठिन है; वैसे ही जीव मोह से बंधा है, मायिक संसार से ही प्रेम करता है और मुक्त भी होना चाहता है, तो इस स्थिति में मुक्त कैसे हो सकता है ?

कुल कुटुम्ब थूहर बिड़ा[1], नख शिख कांटे वीर ।
शोणित[2] सीर[3] पर सत[4] पड़ै, स्वारथ वहत समीर[5] ॥१६१॥

हे भाई ! सब कुटुम्ब थूहर के वृक्ष[1] के समान है जैसे थूहर में नीचे से ऊपर तक कांटे होते हैं, वैसे ही सब-कुटुम्ब के लोगों में रागादि कांटे हैं। रक्त[2] के साझे[3] के बल[4] का असर पड़ता ही है, प्राण-वायु[5] अर्थात् प्राण धारी जीव स्वार्थ की ओर ही जाता है। अतः यती को कुटुम्ब से दूर ही रहना चाहिये।

जग थोथा थूहर बिड़ा, कुमति सु कांट हुं पूर ।
बुद्धि वस्त्र फाटैं निकट, रज्जब निकसहु दूर ।१६२॥

जगत् खाली थूहर वृक्ष के समान है, कुबुद्धि रूप कांटों से भरा है, सुबुद्धि रूप वस्त्रों को फाड़ डालता है, अतः इससे दूर होकर ही निकलो अर्थात् प्रभु के पास जाओ।

कुल[1] कुटुम्ब कैंवछ[2] वनी, मन मरकट[3] तहँ जाय ।
साधु शब्द मानें नहीं, मरसी मूढ खुजाय ॥१६३॥

संपूर्ण[1] कुटुम्ब कौंछ[2] का वन है, मन रूप वानर[3] वहां जाता है अर्थात् कुटुम्ब में आसक्त होता है, संतों के वैराग्य पूर्ण शब्द नहीं मानता, अतः जैसे वानर कौंछवन में जाने पर खुजा २ कर मरता है, वैसे ही कुटुम्ब की आसक्ति से मन दुखी होगा ही।

कुल[1] कुटुम्ब कलियुग सही, कलि कलणे[2] की ठांउ ।
रज्जब विरच्या[3] यूं समझ, तार्थे तहां न जांउ ।।१९४।।

संपूर्ण[1] कुटुम्ब निश्चय ही कलियुग रूप है और कलियुग दलदल भूमि के स्थान के समान गिलने[2] वाला है, ऐसा समझकर मैं कुटुम्ब से विरक्त[3] हुआ हूं, इसलिये वहां नहीं जाता ।

छाजन भोजन विषय रस, जीव लहै जग वास ।
रज्जब पाये पान मुर[1], पृथ्वी वृक्ष पलास ।।१९५।।

पृथ्वी पर पलाश का वृक्ष तीन[1] पत्ते प्राप्त करता है, वैसे ही संसार में रहने पर जीव को वस्त्र, भोजन और विषय-रस ये तीन मिलते हैं ।

उद्यम[1] उभय[2] न कीजिये, मन मूंसा सुन येह ।
बाति चुरावत करंड काटतों, कुशल सु नाँहीं देह ।।१९६।।

हे मन ! सुनले, ऐसे उद्योग[1] मत कर जैसे चूहा दो[2] उद्योग करता है-एक तो चूहा तेल के दीपक की बत्ती चुराकर छप्पर में जा घुसता है, जिससे अपने कुटुम्ब के सहित जल मरता है । दूसरा-चूहा सर्प के करंड को काटकर उसमें घुसता है तब उसे सर्प खा जाता है । उक्त प्रकार उद्योग करने से देह का कुशल नहीं होता ।

मन मरकट माया चिरम, तृष्णा शीत न जाय ।
या परि वानर वृन्द[1] मिल, सगा सगे को खाय ।।१९७।।

वन में वानर गुञ्जाओं की राशि संग्रह करके उसे अग्नि समझकर, उसके चारों ओर बैठ जाते हैं, उससे उनका शीत नहीं जाता किन्तु समूह[1] की गरमी से शीत कम लगता है, वे उससे शीत कम होना समझ लेते हैं, फिर कोई अन्य वानर आकर किसी वानर को हटाकर बीच में बैठना चाहता है तो एक दूसरे को काटने लगते हैं, वैसे ही मन माया को संग्रह करता है, उससे उसकी तृष्णा भी नहीं जाती किन्तु फिर भी सम्बन्धी सम्बन्धी से लड़ते हैं ।

मांड[1] माधुरी[2] को धवै[3], खलक[4] खलावर[5] पिंड[6] ।
राम विमुख बाई[7] बलै[8], रज्जब इहिं ब्रह्माण्ड ।।१९८।।

ब्रह्माण्ड[1] के प्राणी माया[2] के लिये ही दौड़ते[3] हैं, साँसारिक[4] दुष्ट[5] जीव शरीर[6] को खिलाने वाले ही बन रहे हैं । इसलिये इस ब्रह्माण्ड में जैसे वायु[7] के रोग का रोगी संतप्त होता है, वैसे राम से विमुख प्राणी चिन्ता में जलते[8] रहते हैं ।

कारे[1] केशों कृष्ण पख[2], मैन[3] रैन मधि चोर ।
रोम श्वेत रजनी सुकल[4], तज तस्करता[5] भोर[6] ॥१९९॥

कृष्ण पक्ष[2] की काली रात्रि में पृथ्वी पर चोर फिरते हैं, वैसे ही युवावस्था के काले[1] केशों के समय काम[3] हृदय में विचरता है । शुक्ल[4] पक्ष की चाँदनी रात में तथा प्रातःकाल[6] चोर चोरी[5] करना छोड़ देते हैं, वैसे ही वृद्धावस्था में रोम श्वेत हो गये हैं अब तो काम को छोड़ दे ।

रज्जब रजक[1] बुढापने, हेरि[2] दिखाया हेत[3] ।
चीर चिहुर[4] की श्यामता, धोय करी सब श्वेत ॥२००॥

जैसे धोबी[1] वस्त्र को धोकै कालापन निकालकर उसे श्वेत कर देता है, वैसे ही देख[2] बुढापे ने प्रेम[3] दिखाया है, केशों[4] की कालिमा धोकर सबको श्वेत कर दिया है ।

सत सुकृत सुमिरन करत, विलम्बन कीजे वीर[1] ।
गुरु[2] गिरिवर गहरे[3] तिरत, रज्जब गहिये धीर ॥२०१॥

हे भाई[1] ! सत्यपालन, पुण्य कर्म और राम नाम का स्मरण करने मैं देर मत कर, सेतु बाँधने के समय राम नाम से बहुत[3] से महान्[2] पर्वत तिर गये थे और प्राणी तिरते ही हैं, यह समझकर धैर्य ग्रहण करके निरंतर नाम-स्मरण करता रह ।

रज्जब महंत[1] महीपति नर सु तरु, जड़ सेवक संसार ।
माली सम मुंह आगले, मूलहुं सींचण हार ॥२०२॥

जैसे वृक्ष की जड़ में पानी सींचने वाला माली पानी सींचता है । राजा की सेवा सामने रहने वाले करते हैं । सु नर अर्थात् संत की सेवा भक्तजन करते हैं, वैसे ही संसार के प्राणियों को महान्[1] प्रभु की भक्ति करना चाहिये तभी ठीक रहेगा वा जैसे माली जड़ का सेवक है, वैसे ही संत, राजा, नर सभी अपने मूल के सेवक हैं ।

सद्‌गुरु सांई साधु शब्द, बंदनीक चारचों ये हद[1] ।
रज्जब समझे समझो मांहीं, इन ऊपर थापण को नाँहीं ॥२०३॥

सद्‌गुरु, परमात्मा, संत और संतों के शब्द, ये चारों ही पूजनीयों में सीमा[1] के हैं अर्थात् सबसे बड़े हैं । समझे हुये साधक इस बात को हृदय में ही समझें, इनके ऊपर स्थापन करने योग्य कोई भी नहीं ।

रिण न उतारचा राम का, पिंड प्राण जिन दीन ।
रज्जब तिनहिं उधार दे, मन वच कर्म सो छीन ॥२०४॥

जिनने प्राणी को शरीर दिया है, उन राम का ऋण नहीं उतारा अर्थात् अपने को उनके समर्पण नहीं किया और उलटा उन्हें उधार देता है अर्थात् जो कुछ उनके निमित्त करता है वह पीछा लेने के लिये फलाशा रखकर करता है । हम मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही कहते हैं, वह प्राणी संसार में ही क्षीण होगा ।

पंच पचीसों त्रिगुण मन, कीड़े काया माँहि ।
रज्जब राखै साधु ये, ज्यों वह खुलावै नाँहि ॥२०५॥

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पच्चीस प्रकृति, तीन गुण और मन ये शरीर में कीड़ों के समान हैं किन्तु संत इनको वैसे ही रखते हैं जैसे ये उनको न खा सकें ।

सफरी[1] शिश्न सलिल सुमिरन मधि, वास कुबुद्धि वपु विलयन होय ।
सोई जात रज्जब जल जप सौं, मारि पकावै विरला कोय ॥२०६॥

जल में निवास करने पर भी मच्छी[1] के शरीर की दुर्गंध दूर नहीं होती किन्तु उसे मार कर जल से धोवे और पकावे तभी वह जाती है, वैसे ही शिश्नेन्द्रिय की चंचलता अर्थात् काम-वासना रूप कुबुद्धि विषय स्मरण से नहीं जाती किन्तु नाम जप से मार कर उसे जलावे तभी वह जाती है । ऐसा साधक कोई विरला ही होता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित उपदेश चेतावनी का अंग ८२
समाप्तः ॥सा० २६५२॥

अथ शरण का अङ्ग ८३

इस अंग में शरणागति विषयक विचार कर रहे हैं—

शरणा सांई साधु का, पकड़ रहो रे प्राण ।
तो रज्जब लागे नहीं, जम जालिम का बाण ॥१॥

हे प्राणी ! परमात्मा और संतों की शरण पकड़ कर रहेगा तो क्रूर कर्मा यम का बाण तेरे नहीं लग सकेगा ।

सद्गुरु सांई साधु के, शरणे धक्का नाँहि ।
काल चोट को ओट यहु, समझ देख मन माँहि ॥२॥

सद्गुरु, परमात्मा और संतों की शरण में रहने से संताप नहीं होता, काल की चोट से बचने के लिये यह सद्गुरु आदि की शरण आड है, तू भी मन में समझ कर देखले ।

शरणा लीजे साधु का, शरणा गहि गुरु पीर ।
रज्जब खांडा लाख का, रहै म्यान में वीर ॥३॥

हे भाई ! लाख रुपये की कीमत का खांडा भी म्यान की शरण में रहता है, अतः संतों की तथा सिद्ध गुरु की शरण ग्रहण कर ।

सांचे के शरणे बचै, सूत पान दिव[1] देत ।
तो रज्जब सुन साध का, शरणा क्यों नहीं लेत ॥४॥

सच्चे मनुष्य की शरण में कच्चा सूत और पीपल का पत्ता गर्म लोह के गोला[1] से बच जाता है, तब हमारी बात सुनकर सच्चे संत की शरण क्यों नहीं लेता ? पूर्वकाल में सत्य–झूठ का न्याय करने के लिये हाथ पर कच्चा सूत लपेट कर वा पीपल का पत्ता रखकर गर्म लोहा का गोला हाथ पर रखते थे, सच्चे मनुष्य के हाथ पर वे नहीं जलते थे और झूठे के हाथ पर वे जल कर हाथ भी जल जाता था, वही उदाहरण इसमें दिया है ।

शार्दूल[1] सिंह सिंधुर[2] सहित, रहैं शैल[3] शरणाय ।
तो रज्जब शरणा बडा, नर देखो निरताय ॥५॥

चीता[1] वा शरभ[1] जंतु, सिंह और हाथी[2] के सहित अन्य वन के पशु भी पर्वत[3] की शरण में रहते हैं, तब हे नर ! विचार करके देख शरण ही बड़ा तत्त्व है ।

जलनिधि में जल चर बड़े, तो[1] सौ योजन देह ।
सो भी शरणे सलिल[2] के, मन मत[3] मानी[4] येह[5] ॥६॥

समुद्र में सौ-सौ योजन बड़े शरीर के जलचर जीव हैं, वे भी जल[2] की शरण में रहते हैं, तब[1] हे मन ! यह[5] शरणागति का सिद्धान्त[3] तुझे भी मानना[4] ही चाहिये ।

अरिल–वृक्ष हिं जाय विहंग[1] अशन[2] के आवतैं[3] ।
तूं तकि[4] आतम राम डरी जमराव तैं ॥
ओले[5] होय उबार सु शरणा चाहिये ।
परि हां रज्जब कही विचार पठंगा[6] साहिये[7] ॥७॥

भोजन[2] की आशा से पक्षी[1] वृक्ष की शरण आता[3] है, वैसे ही यम-राज से डर कर आत्मस्वरूप राम की शरण देखना[4] चाहिये । घासादि की शरण से बर्फ के कंकरों[5] की भी रक्षा होती है । अतः हमने विचार करके ही कहा है, यह शरणागत होने का संबन्ध[6] सहायक[7] है ।

प्राण सु शरणे पिंड के, पिंड सु शरणे प्राण ।
शरणे का शरणे सुखी, रज्जब समझ सुजाण ॥८॥

प्राण शरीर की शरण में हैं और शरीर प्राणों की शरण में है, हे बुद्धिमान् ! तुम निश्चय समझो शरण में रहने वाला शरण में सुखी रहता है ।

उदर आसरे ऊपज्या, प्राण पठंगे[1] माँहि ।
सो शरणा क्यों छाड़ ही, मूरख समझै नाँहि ॥९॥

पेट के आश्रय रहकर ही उत्पन्न हुआ है, अतः प्राणी शरण रूप संबन्ध[1] वाला ही है, वह शरण को कैसे छोड़ेगा ? छोड़ते हैं वे मूर्ख समझते नहीं ।

अग्नि आश्रय काष्ट के, काष्ट सु शरणे आग ।
जुदे होत जीवसौं गये, रहैं एकठे लाग ॥१०॥

अग्नि काष्ट के आश्रय रहता है और काष्ट अग्नि के आश्रय रहता है । जब तक एकत्र रहते हैं तब तक जीवित रहते हैं, जब अग्नि प्रकट होकर अलग होता है तब दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, अतः शरण में रहना जीवन है ।

अठारह भार अंधियार को, देखो दीपक खाय ।
सो रज्जब शरणे बिना, वायु लागि बुझ जाय ॥११॥

अठारह भार वनस्पतियों के अंधेरे को उनमें रहने वाला अग्नि नष्ट नहीं करता किन्तु दीपक कर देता है, तो भी वह शरण के बिना उन्हीं वृक्षों की वायु लगते ही बुझ जाता है ।

तिहूँ काल ताकैं शरण, तन मन काचे जानि ।
आश्रम बिन अंतक उदय, प्राण पिण्ड ह्वै हानि ॥१२॥

बाल, युवा, वृद्धा तीनों अवस्था के समय में तन मन को काचे समझकर सन्तों की शरण देखना चाहिये । सन्तों के आश्रम की शरण लिये बिना काल का उदय होकर प्राणी के शरीर की बारम्बार हानि होती है, मुक्ति नहीं होती ।

देवी देव दरखत[1] रहैं, यूं ल्हीलहरिया पीर ।
रज्जब ओले[2] झाड़ के, घास बधै है वीर[3] ॥१३॥

जैसे ल्हीलहरिया पीर (वृक्ष के कपड़े की लीरियाँ बांधते रहते है उसे ही ल्हीलहरिया पीर कहते हैं) वृक्ष[1] की शरण रहता है, वैसे ही

अन्य देवी देवता भी वृक्ष की शरण रहते हैं, । हे भाई[3] ? झाड़ की ओट[2] में घास भी बढ़ जाता है, फिर शरण में रहने से मनुष्य की वृद्धि हो इसमें तो कहना ही क्या है ?

अनल पंख पंख्यों बड़ी, पै शरण रहै आकाश ।

सो अहार उड़ती करै, डर पै धरती वास ।।१४।।

अनल पक्षी पक्षियों में बड़ा है, तो भी आकाश की शरण रहता है, वह आहार भी उड़ते २ ही करता है. पृथ्वी पर बसने से डरता है ।

तकै[1] दिशा[2] को आसिरा[3], शरणा छोड़ै साध ।

ताको क्या परमोधिये[4], मूरख बुद्धि अगाध ।।१५।।

सन्तों की शरण को छोड़कर अन्य के आश्रय[3] की ओर[2] देखता[1] है, उसको क्या उपदेश[4] करिये, वह तो अगाध मूर्ख बुद्धि का है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शरण का अंग ८३ समाप्त ।।सा०२६६७।।

अथ काल का अङ्ग ८४

इस अंग में काल संबन्धी विचार कर रहे हैं—

काल किसी छोडै नहीं, सुर नर सब ब्रह्मण्ड ।

जन रज्जब दृष्टांत को, यथा अग्नि वन खंड ।। १ ।।

जैसे अग्नि संपूर्ण वन को भस्म कर डालता है. वैसे ही काल, देवता, नर और संपूर्ण ब्रह्माण्ड में किसी को भी नहीं छोड़ता, सब को नष्ट कर देता है ।

काल न छोडै ज्ञान गुण, वेद पढै जो चार ।

जन रज्जब मंजार ज्यों, पढ्या अपढ शुक मार ।। २ ।।

जैसे बिल्ला पढ़े हुये, अनपढ़ सुकुमार आदि सभी तोतों को मार डालता है, वैसे ही काल, ज्ञान तथा गुण संग्रह करने पर और चारों वेद पढ़ने पर भी नहीं छोड़ता, सभी को मार देता है ।

रज्जब रहै न राज बल, छूटै रंक न होय ।

जम ज्वाला नर तरु सुतृण, क्यों करि बंचै कोय ।। ३ ।।

राज्य के बल से राजा जीवित नहीं रह सकता, रंक भी काल से नहीं छुट सकता, अग्नि की ज्वाला से सुन्दर तृण और वृक्ष कैसे बच सकते हैं ? वैसे हो यम से नरादि में कोई भी नहीं बच सकता ।

साहिब बिन साहिब किया, सो रज्जब सब जाय ।
काल[1] सहित सब काल मुख, जे देखा निरताय[2] ॥४॥

परमात्मा के बिना जो भी परमात्मा ने रचा है वह सभी नष्ट हो जायगा, विचार[2] करके देखा जाय तो यम[1] के सहित सभी काल के मुख में जाने वाले हैं ।

रज्जब रहै न कोय, सब को मरना है सही[5] ।
काल कवल[1] जग जोय, भूख[2] भख[3] मेल्है[4] नहीं ॥५॥

सब को मरना है, कोई भी जीवित नहीं रहेगा यह सत्य[5] है । देख, काल का ग्रास[1] है, काल[2] अपने भक्ष्य[3] को नहीं छोड़ेगा[4] ।

रज्जब कोल्हू काल के, सब तन तिली समान ।
सो उबरै[1] कहि कौन विधि, जो आये विच घान ॥६॥

काल कोल्हू के समान है, सब शरीर तिलों के समान हैं, जो कोल्हू के घान में आ गये हैं वे तिल कहो किस प्रकार बच[1] सकते हैं ? वैसे ही काल से कोई नहीं बचता ।

निशि दिन जामण मरण में, चंद सूर आकाश ।
त्यों जीव सहित सब सानि[1] कर, काल करै इक ग्रास ॥७॥

जैसे आकाश में रात्रि-दिन में चंद्र सूर्य का उदय-अस्त रूप जन्म-मरण होता है, वैसे ही काल जीव के सहित सबको मिलाकर[1] एक ही ग्रास कर जायगा अर्थात् प्रलय काल में एक साथ ही नष्ट कर देगा ।

जैसे शशि कें सकल दिशि, मंडल मँडै अकाश ।
त्यों रज्जब रहसी नहीं, पिंड प्राण[1] के पास ॥८॥

जैसे आकाश में चन्द्रमा के सब ओर मंडल मँडता है, वह नहीं रहता, वैसे ही प्राणी[1] के पास शरीर नहीं रहेगा ।

ज्यों आभा[1] आतुर[2] उठैं, विलय होत नहि बार ।
त्यों रज्जब तन काल वश, छिन में होसी[3] छार ॥९॥

जैसे बादल[1] अतिशीघ्र[2] उठते हैं किन्तु उन्हें लय होते भी देर नहीं लगती, वैसे ही शरीर काल के अधीन है, क्षण भर में भस्म हो जायगा[3] ।

जैसे श्रावण के समय, धनुष उदय आकाश ।
रज्जब पलटै पलक में, त्यों तन छिन में नाश ॥१०॥

जैसे श्रावण मास में इन्द्र धनुष आकाश में उदय होकर पलक में पीछा छिप जाता है, वैसे ही शरीर क्षण भर में नष्ट हो जायगा।

दामिनी दमकहिं देखले, केतक[1] बेर उजास[2]।
त्यों रज्जब संसार में, अस्थिर[3] नाँहीं वास ॥११॥

हे प्राणी ! देखले, बिजली की चमक का प्रकाश[2] कितनी[1] देर रहता है, जैसे वह स्थिर नहीं रहता, वैसे ही संसार में स्थिर[3] निवास नहीं रहेगा।

जैसे अहरणि[1] उष्ण परि[2], बूंद विलय ह्वै जाय।
त्यों रज्जब देही दशा, हरि भज बार न लाय ॥१२॥

जैसे गर्म अहरन[1] पर जल बिन्दु पड़कर[1] तत्काल सूख जाती है, वैसी ही शरीर की दशा है, क्षण भर में नष्ट हो जायगा, अतः हरि का भजन कर, देर मत लगा।

यहु तन जल का बुदबुदा, अल्प अधूरी आव[2]।
रज्जब रती[1] न ठाहरै, तो परि कहा चवाव ॥१३॥

यह शरीर जल के बुद्‌बुदे के समान है, जैसे जल के बुद्‌बुदे की आयु[2] अल्प है, वैसे ही इसकी आयु अधूरी है। यह क्षण[1] भर भी नहीं ठहरेगा, ऐसे की स्थिर रहने की क्या चर्चा करनी है ?

जन रज्जब संसार में, रहसी रंक न राव।
सब घट[1] नाता[2] देखिये, ओलों[3] की सी आव[4] ॥१४॥

इस संसार में राजा और रंक दोनों ही नहीं रहेंगे, सभी शरीरों[1] के संबन्ध[2] बर्फ के कंकरों[3] की आयु[4] के समान क्षणिक हैं।

कर ही कर क्या कीजिये, अतिगति[1] ओछी[2] आव[3]।
जन रज्जब जोख्यों[4] घणी[5], जरा विपति जमराव ॥१५॥

यह कर यह कर ही क्या करते हो, आयु[3] बहुत[1] ही कम[2] है, इसमें भी बुढापा, रोग, और यमराज से भारी[5] हानि[4] होने की शंका है। अतः शीघ्र प्रभु का आश्रय लो।

आभों[1] पर अस्थल नहीं, विहंग न बैठा जाय।
तो रज्जब संसार मध्य, आतम क्यों ठहराय ॥१६॥

संसार बादलों के समान है, जब बादलों[1] पर स्थल नहीं है कोई भी पक्षी जाकर नहीं बैठा है, तब संसार में जीवात्मा कैसे स्थिरतापूर्वक रह सकेगा ?

आदित्य अंतक[1] देखतों, ओले[2] ज्यों अभिलाख।
अठारह भार आगि[3] हिं मिलत, पान फूल फल राख ॥१७॥

सूर्य को देखते ही बर्फ के कंकर[2] नष्ट हो जाते हैं, अग्नि[3] लगने पर अठारह भार वनस्पति के पत्र, फूल, फलों की भस्म हो जाती है, वैसे ही काल[1] के आते ही संपूर्ण अभिलाषाओं के सहित शरीर नष्ट हो जाता है।

कहा[1] इन्द्रासन इन्द्र को, कहा पहुमि[2] पुनि राज।
जे रज्जब जीजे नहीं, तो जग त्रय किहिं काज ॥१८॥

यदि जीवित नहीं रहें तो इन्द्र के इन्द्रासन से तथा पृथ्वी[2] के राज्य से क्या[1] लाभ है? और तीनों लोक रूप जगत् भी किस काम का है?

रजधानी सब लोक की, पावै बिसवा बीस।
सो रज्जब झूठी सभी, जे जम आमिर[1] शीश ॥१९॥

यदि शिर पर काल बस[1] रहा है, तो बीसों बिसवा सम्पूर्ण लोकों की राजधानी प्राप्त करने पर भी वह मिथ्या ही है।

लघु दीरघ आयु सु अल्प, जे शिर ऊपर मीच।
रज्जब राम संभालिये, ढील न कीजे नीच ॥२०॥

यदि शिर पर मृत्यु खड़ी है तो लघु वा दीर्घ आयु भी अति अल्प है, अतः हे नीच! राम का स्मरण कर ढील मत कर।

चंद्र सूर पाणी पवन, धरती अरु आकाश।
ये रज्जब जोख्यों[1] भरे, खलक[2] सहित षट नाश ॥२१॥

चन्द्रमा, सूर्य जल, वायु, पृथ्वी और आकाश ये भी काल के भय रूप दुःख[1] से पूर्ण हैं और संसार[2] के सहित छओं ही नाश होंगे।

आवख्या[1] तरुवर कटै, अह निशि बहै कुहाड़।
जन रज्जब सो क्यों रहै, जो आया बिच दाड़ ॥२२॥

आयु[1] रूप वृक्ष कट रहा है, उस पर रात्रि-दिन रूप कुल्हाड़े पड़ रहे हैं, वह कैसे बचेगा जो काल की दाढ़ों के बीच में आ गया है।

आवख्या[1] सरवर घटै, माने मिनख न मीन।
जो रज्जब माता जगत, माया मोह मद पीन ॥२३॥

तालाब का जल प्रति दिन कम हो रहा है किन्तु मच्छी उसमें मग्न है, वह इस बात को नहीं मानती, वैसे ही आयु[1] प्रति दिन घट रही है किन्तु जो नर जगत् में माया-मोह रूप मद्य पीकर मतवाला हो रहा है, वह इस बात को नहीं मानता।

कड़ी जड़ी तल[1] जाल की, मीन मुदित[2] जल माँहि ।
त्यों रज्जब जीत्या जरा, जीवहिं सूझे नाँहि ॥२४॥

नीचे[1] जाल की कड़ी लगी हुई है और मच्छी जल में प्रसन्न[2] हो रही है, वैसे ही बुढ़ापे ने जीव को जीत लिया है किन्तु जीव को वह दीखता ही नहीं है ।

रज्जब काया कूप में, आयु आखिरै[1] नीर ।
रहट[2] रैणि दिन घड़ि[3] घड़ी[4], भरिये सलिल[5] समीर[6] ॥२५॥

जैसे कूप में से अहरट[2] जल की घड़ियां[3] भर २ कर निकालने से जल[5] का अंत[1] आजाता है, वैसे ही रात्रि-दिन और घटिकाओं[4] के द्वारा श्वास[6] कम होते २ आयु का अन्त[1] आ गया है ।

रज्जब तन तरकस[1] तें जात है, श्वास स्वरूपी तीर ।
माँगे मिलै न मोल सो, अरु ये निघटे[2] वीर[3] ॥२६॥

हे भाई[3] ! शरीर रूप तूणीर[1] से श्वास रूप बाण निकल २ कर जा रहे हैं, ये श्वास न माँगे हुये मिलते हैं, न मोल मिलते हैं और समाप्त[2] होते जा रहे हैं ।

घड़ी[1] घड़ी करती रहै, पट[2] प्राणी की आव[3] ।
रज्जब रेजा[4] कछु रह्या, सो तूं ध्वजा चढाव[5] ॥२७॥

दिन-रात्रि की घड़ियां[1] प्राणी की आयु[3] रूप वस्त्र[2] की घड़ी करती रहती हैं, हे प्राणी ! अब तो आयु वस्त्र का थान[4] घड़ी करने से कुछ ही बच रहा है अर्थात् बुढ़ापा आ गया है, इस बचे हुये की तो तू भगवान् के ध्वजा चढादे[5] अर्थात् बची आयु को तो प्रभु के भजन में लगा दे ।

रज्जब धवणि[1] लुहार की, त्यों स्वर नासिक दोय ।
भजन विमुख पावक पवन, देखो दहन[2] सु होय ॥२८॥

जैसे लुहार की धौंकनी[1] होती है, वैसे ही नासिका के दोनों स्वर हैं, जैसे लुहार की धौंकनी अग्नि जलाकर[2] कोयला आदि को भस्म कर देती है, वैसे ही देखो, नासिका की वायु भी भगवद् भजन से विमुख प्राणियों की आयु समाप्त करके उन्हें नष्ट करती है ।

जीवी[1] ऊपर जतन बहु, टूटी[2] टूटे[3] सब्ब ।
कहना था सो यह कहा, मन वच कर्म रज्जब ॥२९॥

आयु[1] शेष रहने पर तो यत्न भी बहुत हैं, आयु समाप्त[2] होने पर वे यत्न भी सब समाप्त[3] हो जाते हैं। हमको जो कहना था सो मन, वचन, कर्म से यह कह दिया है।

जीवी[1] ऊपर यत्न बहु, आवहिं अनन्त उपाव।
रज्जब राम सु काढिले, तब थाके सब डाव[2] ॥३०॥

आयु[1] शेष रहने पर तो बहुत-से साधन हैं, अनन्त उपाय याद आते हैं और जब रामजी श्वास को शरीर से निकाल लेते हैं तब सब दाँव[2] थक जाते हैं, कुछ भी काम नहीं देते।

होती आयु उपाव बहु, औषधि यत्न अनेक।
सो सरकावैं[1] साँइयाँ, तब तिहिं कामन एक ॥३१॥

आयु शेष होती है तब तो उपाय भी बहुत याद आते हैं, औषधि आदि अनेक यत्न किये जाते हैं, और उस आयु रूप श्वास को प्रभु शरीर से हटादे[1] तब उसकी जीवन रक्षा के लिये एक भी उपाय काम नहीं देता।

जीव जतन बहुते करैं, क्यों ही मरिये नाँहिं।
रज्जब रोकैं बाहली[1], मारणहारा माँहिं ॥३२॥

किसी प्रकार हम न मरें, इसके लिये जीव बहुत-से साधन करते हैं और बाहर[1] के आघात को रोक भी देते हैं किन्तु मारने वाला तो भीतर ही है उसे कैसे रोकें।

जुगति जतन सारे रहे, जब जम पकड़्या शीश।
रज्जब धन धणियों[1] लिया, कहा करैं तेतीस ॥३३॥

जब यम आकर शिर पकड़ता है तब युक्ति और साधन सब धरे ही रह जाते हैं, कोई भी काम नहीं देते, कार्य रूप धन को कारण रूप स्वामी[1] ले जाते हैं अर्थात् व्यष्टि स्थूल आकाशादि समष्टि स्थूल आकाशादि में मिल जाते हैं और जीव कर्म के अनुसार चला जाता है। अब यहाँ मनाने पर भी तेतीस देवता क्या करेंगे।

शक्ति[1] शक्ति सौं नीकसी, कहैं और की और।
रज्जब काढ्या धन धण्योंहु, उठी[2] आतमा ठौर ॥३४॥

स्थूल शरीर रूप माया[1] से सूक्ष्म शरीर रूप माया निकली है किन्तु लोग और की और ही कहते हैं अर्थात् आत्मा चला गया ऐसा कहते हैं। आकाशादि पंच तत्त्व रूप स्वामी अपना कार्य रूप धन निकाल लेते हैं तब आत्मा की अभिव्यक्ति का स्थान स्थूल शरीर नष्ट[2] हो जाता है, इसी का नाम काल आना है।

छसै सहस इक बीस बरियाँ[1], मारुत माग गहंत।
रज्जब अहनिशि उठि चलै, कहु कैसे सु रहंत ॥३५॥

रात्रि-दिन में इक्कीस हजार छ सौ बार[1] श्वास रूप वायु जाने के मार्ग को पकड़ता है अर्थात् ऊपर आता है। इस प्रकार जो रात्रि-दिन उठ २ कर चलता ही रहे वह कहो कैसे रहेगा।

अहुंठ[1] कोड़[2] इकई[3] उभय[4], इते[5] माग मधि[6] एक।
रज्जब जीव जल क्यों रहै, काया कुंभ ये छेक ॥३६॥

साढे तीन[1] कोटि[2] रोम कूप और साढे तीन का दो[4] गुना सात, एक[3] का दो गुना दो, सात और दो नौ, इस प्रकार साढे तीन कोटि और नौ ये छिद्र जिस घड़े में हों उसमें जल कैसे रुक सकता है ? वैसे ही शरीर के साढे तीन कोटि रोमकूप और नौ द्वार हैं इतने[5] मार्गों वाले शरीर में[6] एक जीव कैसे रह सकेगा ?

रज्जब रज मारुत लगी, वपु सु बघूला हेर[1]।
गात बात[2] गत[3] गाँठ को, कहु छूटत[4] क्या बेर ॥३७॥

देखो[1] वायु के रज लगने से बघूला बन जाता है, वैसे ही कर्म से शरीर बन जाता है किन्तु कहो, उस बघूले रूप वायु[2] की गांठ को खुलते[4] क्या देर लगेगी ? वैसे ही शरीर को नष्ट[3] होते क्या देर लगेगी।

रज्जब रुकसी[1] घाट[2] सब, काल कष्ट तन भौन[3]।
श्वास शब्द संकट परै[4], तब सुमिरेगा कौन ॥३८॥

जब काल का कष्ट आयेगा तब शरीर रूप भवन[3] के सभी मार्ग[2] रुक जायेंगे[1] अर्थात् इन्द्रियादि काम न देंगे, श्वास लेने में तथा शब्द बोलने में भी कष्ट पड़ता[4] ज्ञात होगा, तब भगवान् का स्मरण कौन कर सकेगा ?

रज्जब राम न सुमिरिये, मिले सकल संयोग।
तब सुमिरोगे कौन विधि, जब वपु वायु वियोग ॥३९॥

इस समय सभी संयोग अनुकूलता के मिले हुये हैं तो भी राम का स्मरण नहीं करते हो फिर जब प्राण वायु और शरीर का वियोग रूप मरण होगा तब किस प्रकार स्मरण कर सकोगे ?

विषम[1] व्याधि क्यों टालिये, कठिन[2] काल की चोट।
रज्जब केशरि[3] काढसी[4], धाय गही हरि ओट[5] ॥४०॥

कठोर[2] काल की चोट रूप भयंकर[1] व्याधि कैसे हटाई जायगी ? वह काल रूप सिंह[3] शरीर से प्राणों को निकाल लेगा[4], अतः भजन रूप दौड़ लगाकर प्रभु का आश्रय[5] लो।

काया माया मांड[1] सब, सकल जीव को काल ।
रज्जब काढै कौन विधि, यहु अंतर गत साल ।।४१।।

शरीर, माया और सभी ब्रह्माण्ड[1] में सभी जीवों को काल खाता है, यह भीतर का दुःख कैसे निकाला जाय ?

चिन्ता चिता कु काल है, मनहु[1] मनोरथ मीच[2] ।
रज्जब जाने राम बिन, यहु जौरा[3] मन नीच ।।४२।।

निरंजन राम के स्वरूप को जाने बिना, यह नीच मन ही यमदूत[3] है, चिन्ता ही चिता और काल है, मन[1] के मनोरथ ही मृत्यु[2] है । अतः राम को जानना चाहिये ।

काम कल्पना कोटि विधि, मींच मारि[1] मन मौज[2] ।
जन रज्जब जीव क्यों रहै, देखि दहों[3] दिशि फौज ।।४३।।

कामना से होने वाली कोटि प्रकार की कल्पना ही मृत्यु है, अतः हे साधक ? मन की तरंगों[2] को नष्ट[1] कर, कारण दशों[3] दिशाओं में मन की तरंग रूप सेना देखकर जीव शांति से कैसे रह सकेगा ?

मन कुरंग[1] कित[2] जाय चलि, चेतन[3] चीता काल ।
रज्जब पटकै पलक में, काटै करि करछाल[4] ।।४४।।

चीता सावधान[3] हो तो मृग[1] कहां[2] जा सकता है ? मृग को चीता उछाल[4] मार कर काटता है और क्षण भर में पटक लेता है, वैसे ही सावधान काल के आगे से मन कहां जा सकता है ?

जैसे शशा[1] शिकार में, बचै न कान हु ओट ।
त्यों रज्जब हम होय कर, क्यों टालै जम चोट ।।४५।।

जैसे शिकार के समय में खरगोश[1] अपने कानों की आड़ से नहीं बच सकता, हम भी खरगोश के समान होकर काल की चोट कैसे बचा सकेंगे ?

अंतक[1] आतम राम बिच, अंतर[2] नाँहीं कोय ।
जोख्यों[3] की जायगह[4] वही, जतन[5] वहीं तैं होय ।।४६।।

काल[1] और आत्म स्वरूप राम के बीच में कोई भेद[2] नहीं है, काल राम से अलग नहीं है, राम का भजन न करने से तो वही स्थान[4] दुःख[3] का है और भजन करने से वहां से ही काल के बचाव का उपाय[5] होता है । अतः राम का भजन करना चाहिये ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित, काल का अंग ८४ समाप्तः ।। सा० २७१३।।

अथ सजीवन का अङ्ग ८५

इस अंग में काल से छूटने विषयक विचार कर रहे हैं—

अमर मिलै आतम अमर, विछुरत विनसै[1] सोय ।
रज्जब रहे सु यूं रहे, सब सन्तन दिशि जोय ॥ १ ॥

अमर ब्रह्म से मिलने पर आत्मा अमर होता है और ब्रह्म से बिछुड़ने पर वह बारम्बार जन्मता मरता[1] है । सब सन्तों की ओर देख लो, जो भी काल से बच कर रहे हैं, वे उक्त प्रकार ही रहे हैं ।

जग जीवन जीवै सदा, ता में ताका दास ।
जन रज्जब जोख्यों गई, कदे न होय विनाश ॥ २ ॥

जगत् के जीवन रूप ब्रह्म सदा जीवित रहते हैं, उनमें मिलने पर उनके भक्त की भी बारम्बार मरना रूप विपत्ति हट जाती है, उसका कभी भी नाश नहीं होता ।

ज्यों पावक झल[1] शून्य में, त्यों परमात्म में प्रान[3] ।
रज्जब मारै काल क्यों, जो निकस न हो आन[4] ॥ ३ ॥

जैसे अग्नि की ज्वाला[1] आकाश[2] में जाती है, वैसे ही परमात्मा में प्राणी[3] जाता है, जो शरीर से निकल कर ब्रह्म से अन्य[4] नहीं बनता, ब्रह्मरूप ही हो जाता है, उसे काल कैसे मार सकता है ?

रज्जब शून्य ठाहरे शून्य में, तब ही आनन्द होय ।
चेतन चेतन को मिलै, काल न लागे कोय ॥ ४ ॥

आकाश, आकाश में ही मिलता है, वैसे ही चेतन, चेतन में ही मिले और काल उसके पीछे न लगे, तभी आनन्द होता है ।

सब सौं सुरति[1] उठाय[2] कर, जो पैसै प्रभु माँहि ।
जन रज्जब सो काल कर[3], क्यों ही आवै नाँहि ॥ ५ ॥

जो सबसे अपनी वृत्ति[1] को हटा[2]कर, ब्रह्म में प्रवेश करता है, वह किसी प्रकार भी काल के हाथ[3] में नहीं आ सकता ।

रज्जब साधू शून्य[1] ह्वै, शीश सब हुं तल देय ।
अन्तक[2] भय उसको नहीं, अकल आप में लेय ॥ ६ ॥

जो सन्त सर्व विकारों से रहित होकर आकाश[1] के समान सम हो जाता है और अपना अहंकार रूप शिर सबके नीचे रख देता है अर्थात्

सबसे छोटा बन जाता है, तब उसे कला विभाग से रहित ब्रह्म अपने स्वरूप में मिला लेते हैं, इससे उसे काल[२] का भय नहीं रहता।

शून्य[१] सजीवन[२] उर अमर, रसना रहते माँहि।
जन रज्जब आँख्यों अखिल[३], प्राणी मरै सु नाँहि ॥ ७ ॥

जिसके हृदय में सदा जीवित[२] रहने वाले ब्रह्म[१] का ध्यान रहता है, जिह्वा पर अमर ब्रह्म का नाम रहता है, नेत्रों से सर्व[३] रूप ब्रह्म ही दीखता है, वह प्राणी नहीं मरता, ब्रह्मरूप होकर अमर हो जाता है।

अडिग[१] सुरति आठों पहर, अस्थिर[२] संग अडोल[३]।
सो रज्जब रहसी सदा, साखी[४] साधू बोल[५] ॥ ८ ॥

जिस की स्थिर[१] वृत्ति अष्ट पहर स्थिर[२] ब्रह्म के संग स्थिर[३] रहती है अर्थात् निरन्तर ब्रह्माकार रहती है, वह ब्रह्म रूप होकर सदा जीवित रहेगा, इसमें सन्तों के वचन[५] साक्षी[४] देते हैं।

अरि इन्द्री आपा गये, अंतक उठ्या अनंग।
रज्जब जीवै जीव सो, काट्या कर्म कुसंग ॥ ९ ॥

इन्द्रिय रूप शत्रुओं की चंचलता और अहंकार चले जाने पर काम रूप काल भी उठ जाता है। जो कुसंग में नहीं बैठता तथा ज्ञान द्वारा कर्मों को काट डालता है, वह जीव ब्रह्मरूप होकर जीवित रहता है।

रज्जब मुये जु मारते, विनशे वैरी पंच।
तब ताको लागै नहीं, जरा मरण जम अंच ॥१०॥

जो मारते थे वे काम क्रोधादि मर गये और पंच ज्ञानेन्द्रिय रूप शत्रुओं के चंचलादि दोष भी नष्ट हो गये, तब उस व्यक्ति को वृद्धावस्था, मरण और यम का दंड रूप दुःख नहीं होता, वह तो ब्रह्मरूप हो जाता है।

सुरति माँहि सांई सदा, याद अखंडित होय।
सो रज्जब आतम अमर, विघ्न न व्यापै कोय ॥११॥

जिसकी वृत्ति में सदा अखंडित ब्रह्म का स्मरण होता है, उस पर कोई भी विघ्न का प्रभाव नहीं पड़ता, वह आत्मा ब्रह्म रूप होकर अमर हो जाता है।

मन उनमनि[१] ले राखिये, परम शून्य अस्थान।
तो रज्जब लागै नहीं, जम जालिम[२] का बान ॥१२॥

मन को समाधि[1] में ले जाकर, परमशून्य ब्रह्मरूप स्थान में रखना चाहिये। ऐसा करोगे तो तुम्हारे क्रूर[2] यम का बाण नहीं लग सकेगा।

नाम ठाम[1] निर्भय सदा, सुमिर सजीवन संत।
जन रज्जब लागै नहीं, तहां जोर जम जंत[2] ॥१३॥

निरंजन राम का नाम रूप स्थान[1] सदा निर्भय है, संत जन नाम स्मरण करके ही सजीवन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, नाम स्मरण करने वाले के वहां यम के दूत रूप जीवों[2] का बल नहीं चलता।

प्राण पिंड ब्रह्माण्ड मध्य, नाम निर्भय दुरंग[1]।
रज्जब चढ चबि[2] वास करि, जम जीतै नहिं जंग[3] ॥१४॥

हे प्राणी! शरीर तथा ब्रह्माण्ड में प्रभु का नाम रूप किला[1] निर्भय स्थान है, उसके उच्चारण[2] द्वारा उस पर चढकर वहां ही निवास कर अर्थात् निरंतर स्मरण कर, ऐसा करने से यम युद्ध[3] में तुझे नहीं जीत सकेगा।

नर निर्भय हरि नाम में, यहु गढ अगम अगाध।
रज्जब रिपु लागै नहीं, सदा सुखी तहँ साध ॥१५॥

हरि नाम रूप किले में नर निर्भय रह सकता है, यह गढ अगम अगाध है, इसमें काल रूप शत्रु का दाँव नहीं लगता, वहां बसने वाले अर्थात् नाम स्मरण करने वाले संत सदा सुखी रहते हैं।

नाम ठाम[1] निज जीव को, सदा सजीवन वास।
रज्जब रहिये ठौर तिहिं, षट् ऋतु बारह मास ॥१६॥

नाम रूप स्थान[1] जीव का निजी है, वहाँ सदा निवास करने से अर्थात् निरंतर नाम का चिन्तन करने से प्राणी सदा जीवित रहने वाले ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, अतः बारह मास की छओं ऋतुओं में वहाँ रहो अर्थात् नाम स्मरण करो।

बसै निनामा[1] नाम में, ताथैं लीजे नाँउ[2]।
जन रज्जब ता[3] रंध्र[4] की, मैं बलिहारी जाँउ ॥१७॥

नाम रहित[1] ब्रह्म भी नाम में बसते हैं, इसलिये नाम[2] का चिन्तन अवश्य करना चाहिये। मैं तो उस[3] नाम रूप गुफा[4] की बलिहारी जात हूं।

रज्जब अज्जब ठौर है, सुमिरण में ठहराय।
अमर सु आदम आतमा, सुख में सुरति समाय ॥१८॥

प्रभु का नाम स्मरण रूप स्थान अद्भुत है, उसमें मन स्थिर करने से वृत्ति ब्रह्मरूप सुख में समायी रहती है और मानव[1] का आत्मा अमर हो जाता है ।

रज्जब मन पंचों पिशुन[1], लूटैं देही देश ।
इन बलवंतों पास[2] छुडावै, बलवंत प्राणि नरेश ॥१९॥

दुष्ट[1] देश को लूटते हैं, तब उन बलवान् डाकुओं की फाँसी[2] से बलवान् राजा ही प्राणी को छुड़ाता है, वैसे ही पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये जीवात्मा के ब्रह्मानन्द रूप धन को लूटते हैं अर्थात् इनकी चपलता से ब्रह्मानन्द नहीं मिलता । इन छओं की विषय राग रूप पाश[2] से ज्ञान बल युक्त सजीवन संत ही प्राणी को छुड़ा सकता है ।

इन्द्रियों हाथ न आवही, अंतक[1] गह्या न जाय ।
रज्जब आतम राम सम, नर देखो निरताय[2] ॥२०॥

हे नरो ! विचार[2] करके देखो, जो मन इन्द्रियों के अधीन नहीं होता और काल[1] से नहीं पकड़ा जाता, वह संतात्मा राम के समान ही है ।

प्रबल पिंड पति[1] शाह[2] परि[3], पंच पिशुन[4] लिये साथ ।
रज्जब पैठै ज्ञान गढ़, सो प्राणी चढ़ै न हाथ ॥२१॥

बादशाह[2] दुष्टों[4] को किले में कैद करने पर[3], आप भी किले में प्रवेश करता है, तब दुष्टों के अधीन नहीं हो सकता, वैसे ही जो साधन बल से प्रबल शरीर का स्वामी[1] जीवात्मा पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने अधीन करके ज्ञान धारण करता है, वह काल के अधीन नहीं होता ।

गुण[1] इन्द्रिय प्रकृति[2] के, प्राणि पड़े न बंदि[3] ।
जो रज्जब रामहि भजे, बैठ्या ज्ञान गिरंदि[4] ॥२२॥

जो राम का भजन करके ज्ञान रूप पर्वत[4] पर बैठा है, वह प्राणी इन्द्रियों के अधीन हो, विषय[1] रूप वा क्रोधादि गुण[1] रूप कैद में पड़कर माया[2] का कैदी[3] नहीं होता ।

काल कटक[1] देखत रहे, और सकल दुख द्वन्द्व ।
जन रज्जब देखत गया, चढि गिरिवर[2] गोविन्द ॥२३॥

काल की यमदूत रूप सेना[1] और दुखप्रद संपूर्ण काम-क्रोधादि द्वन्द्वों के देखते देखते ही उन सब को जीतते हुये गोविन्द-भजन रूप पर्वत[2] पर चढ़कर संत सजीवन ब्रह्म को प्राप्त होकर सजीवन हो जाते हैं ।

गुरु गिरिवर विहड़े[1] नहीं, प्राणी पग[2] हु सयाण[3] ।
मिले न स्वारथ शाह को, आतम अन[4] मीराण[5] ॥२४॥

हे चतुर[3] साधक ! गुरु रूप पर्वत में अनुरक्त[2] हो, कभी भी वृत्ति उनके उपदेश से अलग[1] नहीं होनी चाहिये । यदि उक्त प्रकार रहते हुये तेरी वृत्ति स्वार्थ-शाह से न मिलेगी अर्थात् स्वार्थी न बनेगी तो तेरा आत्मा मृत्यु[5] रहित[4] होकर सजीवन ब्रह्म को ही प्राप्त होगा ।

मिले न स्वारथ शाह को, त्याग दिई पख दोय ।
ज्ञान गिरंदों[1] में रहै, रज्जब राणा होय ॥२५॥

महाराणा प्रताप बादशाह से नहीं मिले और न किसी अन्य का आश्रय लिया, स्वतंत्र राणा होकर पर्वतों[1] में रहे, तब अन्त में विजयी हुये, वैसे ही जिसने स्वार्थ और हिन्दू-मुसलमानादि उभय पक्ष को त्याग दिया है और ज्ञान में रत्त रहता है वह सजीवन ब्रह्म को प्राप्त होकर ही रहेगा ।

रज्जब उदधि[1] ज्ञान में मीन मन, सूर शक्ति तप अंग[4] ।
उभय[5] न दग्ध[6] हिं उभय तन, पाया शीतल संग ॥२६॥

समुद्र[1] में मच्छी के शरीर[4] पर सूर्य[2] का ताप नहीं लगता और ज्ञान में रहने पर मन को माया[3] से होने वाला दुःख नहीं होता । समुद्र और ज्ञान में रहने से सूर्य और माया इन दोनों[5] की ताप और चिन्ता से मच्छी और ज्ञानी इन दोनों का शरीर नहीं जलता[6], कारण मच्छी और ज्ञानी ने शीतल समुद्र और ज्ञान का संग प्राप्त कर लिया है ।

रज्जब सूर[1] शरीर विधि, आतम अकलि[2] सु अंभ[3] ।
सो सोखे देखत सबै, सीझै[4] सीर[5] सु थंभ[6] ॥२७॥

जैसे तालाब के जल[3] को सूर्य[1] सबके देखते २ शोषण करते हैं, वैसे ही काल जीवात्मा का शोषण करता है, किन्तु जो जल शीत[5] के द्वारा स्थंभित[6] रहता है, उसे सूर्य नहीं सुखाते, गलने पर ही सुखाते हैं, वैसे ही जो जीवात्मा ज्ञान[2] के द्वारा सिद्धावस्था[4] को प्राप्त हो जाता है उसका शोषण काल नहीं कर सकता ।

पादशाह पहरे भया, तब देशहु डर नाँहि ।
रज्जब चोर कहा करै, जे राजा चेतन माँहि ॥२८॥

बादशाह पहरे द्वारा रक्षा करता है, तब देश को डर नहीं रहता । देश में राजा सावधान रहेगा तब चोर क्या कर सकेगा ? वैसे ही भगवान् रक्षा करें तब काल क्या कर सकता है ?

श्रवण द्वार ह्वै दुर्ग[1] दिल, चढै शब्द सामन्त[2] ।
रज्जब रिपु मारे सु मध्य, बाहर विघ्न न जंत[3] ॥२९॥

श्रवण रूप द्वार से हृदय रूप किले[1] पर गुरु-शब्द रूप योद्धा[2] चढ़ाई करता है और हृदय के मध्य ही कामादि शत्रुओं को मार डालता है फिर साधक जीव[3] को बाहर से कोई भी विघ्न नहीं सताता ।

रज्जब साधू जोध[1] मत[2], जे बैठैं[3] जीव माँहिं ।
सो निर्भय नौ खंड में, पिशुन[4] सु गंजै[5] नाँहिं ॥३०॥

संतों का सिद्धान्त[2] रूप योद्धा[1] जिस जीव के हृदय में स्थित[3] हो जाता है, वह जीव नौओं खण्ड में निर्भय रहता है, उसे काल रूप दुष्ट[4] नष्ट[5] नहीं कर सकता ।

साधु शब्द अमृत अचै[1], अमर होत आतम्म ।
पीवै प्राणि पीयूष यहु, जीव न लागै जम्म ॥३१॥

जो जीवात्मा संत के ज्ञान पूर्ण शब्द रूप अमृत का श्रवण रूप पान[1] करता है, वह अमर हो जाता है । जो प्राणी इस अमृत का पान करता है उस जीव के पीछे यम नहीं लगता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सजीवन का अंग ८५
समाप्तः ॥सा० २७४४॥

अथ जीव ब्रह्म अंतराय निर्णय का अंग ८६

इस अंग में जीव ब्रह्म के भेदाभेद संबन्धी विचार का निर्णय कर रहे हैं—

रज्जब जीव ब्रह्म अंतर इता, जिता जिता अज्ञान ।
है नाँहीं निर्णय भया, परदे का परमान[1] ॥१॥

जिन जीवों में जितना २ अज्ञान है उतना २ ही ब्रह्म उनसे दूर है, वास्तव में कोई भेद नहीं है । यह शास्त्र-संतों द्वारा भली प्रकार निर्णय हो चुका है, केवल अज्ञान रूप परदे से ही भेद भासता है, यही प्रामाणिक[1] सिद्धान्त है ।

जान जगत गुरु सजग है, अलग अजान अचेत ।
रज्जब नेड़े दूर का, समझ कह्या संकेत ॥२॥

ज्ञान द्वारा तो जगत्-गुरु ब्रह्म जीव के साथ ही हैं और अज्ञान के द्वारा असावधान प्राणियों से अलग हैं, जो यह जीव से ब्रह्म के समीप और दूर होने का संकेत कथन किया है सो हमने सम्यक् समझ करके ही कहा है।

पून्यों पूरा चांदणा, अमावस अंधियार।
रज्जब समझ असमझ का, बाकी बिच व्यवहार ॥३॥

पूर्णिमा को चन्द्रमा का प्रकाश रात्रि भर पूर्ण रूप से रहता है और अमावस्या को अंधेरा सारी रात रहता है, शेष अन्य दिनों में न्यूनाधिक रहता है, वैसे ही आत्मज्ञानी में ब्रह्म का पूर्ण प्रकाश रहता है और अज्ञानी में सर्वथा नहीं रहता, शेष बीच के लोगों में उनकी बुद्धि के अनुसार ब्रह्म के ज्ञान अज्ञान का व्यवहार होता है, वे अपनी बुद्धि के अनुसार ही कथन करते रहते हैं।

शब्द न समझै आत्मांहि, त्यों आतमराम अगम्म।
रज्जब कही विचार कर, नेति[1] हि कहै निगम्म ॥४॥

शब्द जड़ होने से आतमा को नहीं समझता, वैसे ही आत्माराम ब्रह्म में भी शब्द की गति नहीं होती, यह हमने विचार करके ही कहा है, स्वयं वेद भी "यह नहीं,[1] यह नहीं" कह कर उक्त प्रकार ही निर्णय करता है।

प्राण[2] सु पेई[1] लोह की, पति पारस ता माँहि।
रज्जब तन सुख सौं मढ़े, कंचन होत सु नाँहि ॥५॥

लोह की पेटी[1] में पारस रखा हो किन्तु पेटी वस्त्रादि से मढी हो तो पारस से सुवर्ण नहीं बन सकती, वैसे ही प्राणी[2] में ब्रह्म है किन्तु प्राणी शरीर के सुख की आसक्ति से मढ़ा है, इसी से ब्रह्म नहीं होता है।

रज्जब राम बड़हु बड़ा, कोई न सारिख[1] जोट[2]।
सो सुमेरु सांई छिप्या, तन तिणके की ओट ॥६॥

राम बड़ों से भी बड़ा है, उसके समान[1] जोड़ो[2] वाला अन्य कोई भी नहीं है। जैसे सुमेरु पर्वत बहुत बड़ा होने पर भी दृष्टि के आगे तृण लगा देने से छिप जाता है, वैसे ही देहाध्यास की ओट से अति विशाल ब्रह्म भी छिप रहा है।

रज्जब चाकर पिंड के, चौरासी लख प्राण।
सब आतम उलझी यहां, आगे लहै न जाण ॥७॥

चौरासी लाख योनियों के जीव सभी शरीर के सेवक बन रहे है, सभी जीवात्मायें शरीर की सेवा में फँस गई हैं, इसी से प्राणी प्रभु की ओर आगे जाने का साधन नहीं जान पाते ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जीव ब्रह्म अंतराय निर्णय का अंग ८६ समाप्त: ॥ सा० २७५१ ॥

अथ उनमानी का अंग ८७

इस अंग में शक्ति अनुसार ही भक्ति आदि कार्य करने की प्रेरणा कर रहे हैं—

रज्जब कीजे बंदगी, जेती जीवतें होय ।
जो साहिब सौंपी नहीं, तासौं बल नहिं कोय ॥१॥

जीव से जितनी भक्ति हो सके उतनी अवश्य करनी चाहिये, उससे अधिक करने की जो शक्ति है, वह प्रभु ने नहीं दी है, तब उसके करने के लिये जीव पर कोई प्रकार भी बल का प्रयोग नहीं किया जाता ।

रज्जब राखहु बंदगी, जे लघु दीरघ होय ।
ज्यों कर अंगुली हालतां, दाग[1] न देवै कोय ॥२॥

लघु वा दीर्घ जो भी हो सके वह प्रभु की भक्ति हृदय में अवश्य रखनी चाहिये । जैसे हाथ की अँगुली भी हिलती हो तो भी शरीर को नहीं जलाया[1] जाता, वैसे ही किंचित भगवद् भक्ति हो तो भी प्राणी कष्ट से मुक्त हो जाता है ।

सौ कोसां सांतल[1] चलै, लहै मौज[2] साबास[3] ।
लरिकहुं लौन उतारिये, ऊभौ[4] होत उल्लास[5] ॥३॥

बड़ा मनुष्य अपनी जंघाओं[1] से सौ कोस चले तो भी प्रशंसा[3] का आनन्द[2] प्राप्त करता है, और गोद का शिशु हर्ष[5] की उमंग में खड़ा[4] हो जाय तो भी उस पर दृष्टि दोष दूर करने के लिये लौन उतारते हैं । कारण बड़े की तो सौ कोस चलने की शक्ति है और शिशु की खड़े होने की भी नहीं है, अत: शक्ति के अनुसार ही साधन करना चाहिये ।

रज्जब अजरी[1] अनल का, एक उडाण न होय ।
त्यों सुकृत सुमिरण सबै[2], वित[3] उनमान सु जोय ॥४॥

मक्खी[1] और अनल पक्षी की उड़ान एक-सी नहीं होती, वैसे ही देख प्राणियों में हरि-स्मरण आदि सभी[2] पुण्य कर्म अपनी धन[3] आदि शक्ति के समान ही होते हैं ।

कीड़ी कुंजर[1] अनल का, एक नहीं उनमान[2] ।
बोझ उठावै बल यथा, समझो संत सुजान ॥५॥

चींटी, हाथी[1] और अनल पक्षी के बल का अंदाज[2] एक-सा नहीं है, इन तीनों में से जिसमें जैसा बल है, वह उतना ही बोझ उठाता है, वैसे ही हे सुजान ! संतों को समझो, वे भी अपनी शक्ति के अनुसार ही भजन करते हैं ।

एको जानी गहन गति, एकौ मिलै सु आय ।
इक राहु केतु ज्यों मिल गये, शशि सूरज निरताय ॥६॥

योग्यता का विचार करो तो ज्ञात होगा, योग्यता सबमें समान नहीं होती, एक तो ग्रहण होने की चेष्टा को वा गंभीर गति को पहले ही जान लेते हैं, एक हीरा जड़ होने पर भी हीरी को अन्य स्थान ले जाने पर अपने आप ही हीरी से जा मिलता है । एक राहु-केतु जैसे चन्द्र-सूर्य को निगल जाते हैं, वैसे ही दूसरों को खा जाते हैं, जैसे मच्छरादि को मेंडक आदि खाते हैं ।

कीड़ी कण[1] अवनि[2] अहि[3] माथे,
बल उनमान उठावहिं बोझ ।
त्यों ही भाव भक्ति भगता जन,
जन रज्जब पाया निज सोझ[4] ॥७॥

चींटी तो एक दाना[1] उठाती है और शेषजी[3] ने पृथ्वी[2] को शिर पर उठा रक्खा है, सभी अपने बल के समान बोझा उठाते हैं, वैसे ही भक्तजन अपनी शक्ति के अनुसार ही भाव-भक्ति करते हैं । यही निज प्रभु को प्राप्त करने के लिये संतों का सुझाव[4] है कि शक्ति के अनुसार साधन करते रहो, सो हमने जान लिया है ।

उनमान चल्यों दीसै भला, बिन उनमान खराब ।
रज्जब कही विचार कर, बहुरि बडहुं का ज्वाब[1] ॥८॥

अपनी शक्ति के अनुसार चलने से तो भला ही होता दिखाई देता है और अपने अधिकार से बाहर का कार्य करने से खराबी ही होती है । हमने यह विचार करके ही कहा है और बड़े पुरुषों का भी यही उत्तर[1] है कि शक्ति के अनुसार ही काम करो ।

रज्जब रद्द[1] न कीजिये, जो कुछ रजमा[2] होय ।
इक सांई अरु संत जन, बुरा न मानै दोय ॥९॥

अपने में जो भी साधन करने का बल[२] है, उसे निकम्मा[१] मत समझो, उसके अनुसार ही भगवत् प्राप्ति का साधन करो, कमी रहने पर संत और प्रभु दोनों ही बुरा नहीं मानते हैं।

कौन भाँति साहिब खुशी, सो जीव न जाने।
पै रज्जब कीजे बंदगी[१], अपने उनमाने[२] ॥१०॥

प्रभु किस प्रकार प्रसन्न होते हैं, वह प्रकार तो जीव नहीं जानता किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार[२] भक्ति[१] करते रहना चाहिये।

जिते अंग[१] उनमान[२] के, तेते [३]जीव हु पास।
जो साहिब सौंपी नहीं, सो पावे क्यों दास ॥११॥

जितने भी योग्यता[२] के लक्षण[१] होते हैं, वे[३] जीव के पास ही रहते हैं, जो शक्ति प्रभु ने नहीं दी उसको तो दास कैसे प्राप्त कर सकता है ?

सब ठाहर सब कहि गये, साच वाच कवि राव।
ऊंट न गरजे इन्द्र सम, अपना करे स्वभाव ॥१२॥

सभी स्थानों के सभी कवि-राज यथार्थ वचन कह गये हैं कि जैसे ऊंट इन्द्र के समान तो गर्जना नहीं कर सकता किन्तु अपने बल तथा स्वभाव के अनुसार गर्जता ही है, वैसे ही सब साधक अपनी शक्ति के अनुसार भगवत् प्राप्ति का साधन करते हैं।

हणवंत[१] डाण[२] कहु कौण दे, को दे बावन बीख[३]।
पै जीव जलणि छाडै नहीं, रज्जब देखहु लीख[४] ॥१३॥

कहो, हनुमान्जी[१] के समान छलांग[२] कौन लगा सकता है ? और वामन भगवान् के समान डग[३] कौन भर सकता है ? किन्तु फिर भी देखो, सांसारिक प्राणियों की रीति[४], जीव दूसरों की समता करने की भावना से होने वाली हृदय की जलन को नहीं छोड़ता।

फलहिं सु फौरी[१] आवलणि, बधि बहिलाइत[२] बाँस।
तो अफल अठारह भार कुछ, निर्फल रहे न कांस ॥१४॥

यदि आमलनि कम[१] फलती है और बांस बहुत[२] बढ जाता है, तो क्या अठारह भार वनस्पति फल रहित हो जाती है ? और कांस क्या निष्फल रहता है ? अपने स्वभाव-शक्ति के अनुसार सभी फलते हैं, वैसे ही अधिक न्यूनता की कोई बात नहीं, अपनी शक्ति के अनुसार सभी को कल्याण का साधन करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित उनमानी का अंग ८७
समाप्तः ॥ सा० २७६५ ॥

अथ निष्पक्ष मध्य का अंग ८८

इस अंग में पक्ष रहित मध्य मार्ग विषयक विचार कर रहे हैं—

रज्जब तामा लोह पख, पारस है प्रभु नाम।
परसे से कंचन भये, यहु निर्पख निज ठाम ॥१॥

पक्ष वाले तामा और लोह के समान हैं, प्रभु का नाम पक्ष रहित पारस के समान है, जैसे पारस का स्पर्श करने पर तामा और लोह दोनों को ही पारस सोना बना देता है, वैसे ही प्रभु का नाम चिन्तन करने से नाम सबको पवित्र करता है।

फक्कर जाति खुदाय की, उभय न रीति रु वेश।
रज्जब अलह ज्यों रहै, सो सच्चा दरवेश ॥२॥

संत ईश्वर की जाति का होता है, उसमें पक्ष-विपक्ष रूप दोनों रीति तथा भेष का आग्रह नहीं होता। जो ईश्वर के समान निष्पक्ष रहता है, वही सच्चा संत है।

ब्रह्म जाणे सो ब्राह्मण, सौदै[1] सैयद होय।
रज्जब राखी बडहुने, फेर सार नहिं कोय ॥३॥

ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण होता है और ब्रह्म से प्रेम[1] करता है, वह सैयद होता है। बड़े पुरुषों ने दोनों संज्ञा उक्त अर्थ को ध्यान में रख कर के ही रक्खी हैं, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार बात है।

ब्रह्म वणिज[1] जिव ब्राह्मण, सौदै[2] सैयद होत।
वेद कुराणों में कही, छूटै[3] गाफिल[4] गोत[5] ॥४॥

ब्रह्म चिन्तन रूप व्यापार[1] करता है, वही जीव ब्राह्मण होता है और ब्रह्म से प्रेम[2] करता है, वही सैयद होता है। यही वेद तथा कुरान में कहा है, जो ब्रह्म के अभेद चिन्तन और प्रेम से अलग[3] रहता है वह जाति-गोत्र[5] अचेत[4] है।

ओंकार सांटी[1] शकति[2], कलम अंट कुल दोय।
रज्जब अलिफ[3] अतीत[4] यूं, सो बंदै सब कोय ॥५॥

माया[2] रूप कलम है, ओंकार कलम के पीछे के भाग की लकड़ी[1] है, उसके पक्ष-विपक्ष रूप दो अंट ही दो कुल हैं, जैसे उन दोनों अंटों से अलग होते ही स्याही का अक्षर[3] बन जाता है, वैसे ही जो जाति और

भेष रूप दोनों कुलों के पक्ष को छोड़ता है, वही संत[४] होता है, उसको सभी वन्दना करते हैं ।

द्वै पख बीरज[१] दाल है, बिच अंकूर अतीत[२] ।
सो रज्जब ऊंचा चल्या, यहु तीजी रस रीत ॥६॥

बीज[१] की दो दाल के समान जाति और भेष रूप दो पक्ष हैं, उन दोनों के बीच से निकलने वाले अंकुर के समान संत[२] है, जैसे अंकुर दोनों दालों को छोड़कर ऊंचा जाता है, वैसे ही संत जाति-भेष को त्याग कर दोनों के बीच से प्रभु की ओर ऊंचा जाता है । रस रूप ब्रह्म को प्राप्त करने की यह तीसरी मध्य मार्ग रूप पद्धति है ।

संसार समुद्र पख[१] सीप द्वै, मधि मुक्ता सु महंत[२] ।
सो रज्जब उर शिर धरै, ब्रह्म आदि पर्यन्त ॥७॥

समुद्र की सीप के दो पक्ष[१] होते हैं, जो स्वाति बिन्दु उन दोनों के बीच में पड़ती है उसी का मोती अच्छा बनता है और उसे ही भूषण रूप से शिर तथा छाती पर धारण करते हैं, वैसे ही संसार में जाति और भेष दो पक्ष हैं, इन दोनों को त्याग कर मध्य मार्ग का आश्रय लेता है, उस महान् संत[२] को ब्रह्मादि पर्यन्त सभी शिरोमणि समझकर उसका उपदेश हृदय में धारण करते हैं ।

संसार सर्प मंडाण[१] मुख, पख जाड़्यों[२] विष होय ।
तहां मुनी मणि नीपजे, निर्पख निर्विष सोय ॥८॥

सर्प के मुख में ऊपर नीचे की दोनों दाढ़ों[२] में विष होता है, उनके बीच में मणि उत्पन्न होकर रहते हुये भी विष रहित रहती है, वैसे ही संसार की सजावट[१] में जाति-भेद की पक्ष वा स्वपक्ष-परपक्ष इन दोनों पक्षों के बीच में रहता है, किसी एक के आग्रह में नहीं पड़ता, वही संत बनता है और विषय-विष से रहित रहता है ।

जैन कसाई की छुरी, पारस परसी आय ।
रज्जब देखो देखतां, कुल कर्म कुल[१] कट जाय ॥९॥

देखो, लोह की छुरी जैन की हो वा कसाई की हो पारस से स्पर्श होने पर देखते २ ही सुवर्ण बन जाती है, वैसे ही मानव कोई भी जाति का हो निष्पक्ष संत का उपदेश सुनकर धारण करने से उसके कुल परंपरा के दोष और संपूर्ण[१] कर्म कट कर वह ब्रह्म बन जाता है ।

हिन्दू तुरक हसेब[१] करि, दोनों देखो जोय ।
जन रज्जब रहती[२] रती, पावे विरला कोय ॥१०॥

हिन्दू और मुसलमान दोनों का ही ढंग[1] विचार द्वारा देखलो, जो स्थिर[2] ब्रह्म रूप रती है, उसे तो कोई विरला निष्पक्ष संत ही प्राप्त करता है ।

हिन्दू पावेगा वही, वोही[1] मुसलमान ।
रज्जब रजमा[2] रहम[3] का, जिसको दे रहमान[4] ॥११॥

जिस निष्पक्ष व्यक्ति को दयालु[4] परमात्मा दया[3] का बल[2] देगा, वह हिन्दू हो वा मुसलमान हो, उसी[1] प्रभु को प्राप्त होगा ।

चंद सूर पाणी पवन, आभे[1] उडग[2] मझार[3] ।
मध्य वासि प्रतिपाल मही,[4] धर अम्बर सु नियार ॥१२॥

चन्द्रमा, सूर्य, जल, वायु, बादल[1] और तारे[2] ये सभी पक्ष से रहित पृथ्वी और आकाश से अलग दोनों के बीच[3] अंतरिक्ष में रहते हैं, इसी से पृथ्वी[4] के जीवों का पोषण करते हैं, वैसे ही जो संत जाति भेषादि की पक्ष से रहित है, वही सांसारिक प्राणियों का ज्ञानोपदेश द्वारा रक्षक होता है ।

चंद सूर पाणी पवन, आभे[1] उडग[2] अतीत[3] ।
धर[4] अम्बर[5] परसैं नहीं, यहु तीजी रस रीत ॥१३॥

चन्द्रमा, सूर्य, जल, वायु, बादल[1] और तारे[2] ये सब पृथ्वी[4] वा आकाश[5] की पक्ष नहीं पकड़ते, वैसे ही संत[3] किसी की पक्ष नहीं करते । यह तीसरी मध्यमार्ग की पद्धति ही रस रूप ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली है ।

पग पृथ्वी मस्तक गगन, जीव रहै नभि[1] थान ।
पख पोखै निर्पख रहै, आतम संत सुजान ॥१४॥

बुद्धिमान् संतात्मा के पैर पृथ्वी पर रहते हैं, शिर आकाश में रहता है और जीव नाभि[1] स्थान में प्रभु के पास रहता है । इस प्रकार संतात्मा पृथ्वी-आकाश रूप पक्षों का भी पैर-शिर द्वारा पोषण करते हुये निष्पक्ष रहता है ।

जड़ मत छाड़ सु जमीं[1] घर, तज अभिमान अकाश ।
रज्जब रहिये बीच बस, षट् ऋतु बारह मास ॥१५॥

जड़ बुद्धिरूप पृथ्वी[1] का घर छोड़ो, और अभिमान रूप आकाश छोड़ो, इन दोनों के बीच मध्य मार्ग में ही छः ऋतु और बारह मास सदा ही निवास करते रहो ।

आकाश रूप अविगत[1] तरु, बइये बंद[2] हु ठाम ।
पंच तिणे रज्जब रचे, मध्य मनोहर धाम ॥१६॥

जैसे बइया पक्षी वृक्ष की शाखा में तृणों द्वारा मनोहर घर बनाकर आकाश में रहता है, वैसे ही संत[2] ब्रह्म[1] रूप आकाश के बीच में पंच ज्ञानेन्द्रियों को निग्रह करना रूप धाम बनाता है और उस एकाग्रता रूप स्थान में निष्पक्ष होकर सदा रहता है ।

माया बिन मर जाइये, माया पायों मीच ।
जन रज्जब जीवन मतै[1], विदु[2] जन बैठे बीच ॥१७॥

माया बिना भी प्राणी मरते हैं और माया प्राप्त करने पर भी मृत्यु होती ही है, इसलिये विद्वान्[2] संत जन माया संग्रह और त्याग इन दोनों पक्षों के बीच में स्थित रहने के सिद्धान्त[1] द्वारा जीवन धारण करते हैं ।

देही दीपक ज्योति जप, युक्ति मध्य ठहराय ।
शक्ति समीर सु बहु बिना, जन रज्जब बुझ जाय ॥१८॥

दीपक को युक्ति से ऐसे स्थान में रक्खा जाता है, जहाँ वायु अधिक भी न हो और सर्वथा बंद भी न हो, अधिक होने से तथा डब्बे में बंद करने से दीपक ज्योति बुझ जाती है, वैसे ही देह में जप को युक्ति से रखना चाहिये । बहुत माया होने से उसकी रक्षा की चिन्ता द्वारा और सर्वथा न होने से खान-पानादि के अभाव की चिन्ता द्वारा जप छूट जायगा, अतः साधक को मध्य की स्थिति में ही रहना चाहिये ।

शक्ति सुता तो बहिन हैं, श्रीपति पत्नी मात ।
तासौं रंग न रूठना, रिधि[1] सौं कैसी घात[2] ॥१९॥

माया की पुत्री रूप नारियाँ तो सभी बहिन हैं और भगवान् की पत्नी लक्ष्मी माता हैं, अतः उससे न प्रेम करना है और न रुष्ट होना है, तब माया[1] की बुराई[2] कैसे की जा सकती है ? संत तो निष्पक्ष ही रहते हैं ।

रज्जब साबुन सलिल का, सुनहु सनेही हेत ।
देखहु हिन्दू तुरक के, वसतर करहिं सु सेत ॥२०॥

प्रभु-प्रेमीजनो ! साबुन और जल का निष्पक्ष प्रेम सुनो और देखो, ये दोनों ही हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही वस्त्रों का मैल निकाल कर उन्हें श्वेत कर देते हैं, वैसे ही संत निष्पक्ष रहते हुये उपदेश द्वारा सभी को निष्पाप करते रहते हैं ।

अनन्त नाम प्रभु पहुप हैं, प्राणि पाणि पख दोय ।
रज्जब करहि सुगंध सों, हिये हाथ ले जोय ॥२१॥

जैसे पुष्प हाथ में लेने पर दोनों ही हाथों को सुगंध प्रदान करते हैं, वैसे ही देखो, प्रभु के अनन्त नाम हिन्दु-मुसलमान दोनों पक्ष वाले प्राणियों को ही हृदय में चिन्तन करने से शान्ति देते हैं ।

रज्जब महादेव को आदम कहिये, गोरख तन सु हाजी ।
इष्ट एक द्वै द्वै पखहुं, किस रूठैं किस राजी ॥२२॥

मुसलमान महादेव को आदम कहते हैं और गोरक्षनाथ के शरीर-को हाजी कहते हैं, हिन्दु-मुसलमान दोनों पक्षों के लोग उक्त दोनों को इष्ट मानते हैं, तब किस से रुष्ट हों और किससे राजी हों, अतः निष्पक्ष मध्य मार्ग में ही रहना चाहिये ।

रच[1] हि न हिन्दू तुरक सौं, विदुजन[2] विरचैं[3] नाँहि ।
नारायण रूपी सुनर, निरपख[4] न्यारे माँहि ॥२३॥

निष्पक्ष विद्वान्[2]-जन न तो हिन्दु-मुसलमानों से प्रेम[1] करते और न विरक्त[3] होते । नारायण स्वरूप श्रेष्ठ नर सब में रहते हुये भी निष्पक्ष[4] भाव द्वारा सब से अलग ही रहते हैं ।

रज्जब साधू शूर का, मरणा ह्वै मैदान ।
पशु पक्षी पिंड हि भखै, नाँहीं गोर समान ॥२४॥

निष्पक्ष मध्यमार्ग के संत तथा शूर वीरों की मृत्यु मैदान में ही होती है और उनके शरीर को पशु पक्षी भक्षण करते हैं, वे मुसल्मानी पक्ष से कब्र में नहीं दबाये जाते और हिन्दू पक्ष से श्मशान में नहीं जलाये जाते ।

गोर मसाण न तिनहुं को, जेरु पड़े संग्राम ।
रज्जब शोभा सब रही, सर्वस आया काम ॥२५॥

जो वीर संग्राम में पड़ कर मरते हैं उनको कब्र वा श्मशान नहीं मिलता, उनका संपूर्ण शरीर पशु-पक्षियों के काम आजाता है अतः उनकी संसार में शोभा रह जाती है । वैसी ही दशा योग संग्राम में उतरे हुये निष्पक्ष संतों की होती है ।

रज्जब हिन्दू तुरक की, रण नाँहीं रस रीत ।
कृत काया मुख मुख चढैं, भोले ह्वै भयभीत ॥२६॥

हिन्दु -मुसल्मानों की रीति रण में नहीं होती । वीरता से मरने पर तो वीर-रस की रीति के अनुसार उसकी काया से हुआ कार्य प्रत्येक मुख पर चढ़ता है अर्थात् सभी उसका यश कथन करते हैं । ऐसा होने पर भी भोले कायर लोग तो रण से भयभीत ही होते हैं । योग संग्राम स्थित निष्पक्ष संतों का उक्त प्रकार ही यश कथन किया जाता है किन्तु फिर भी भोले लोग साधन में नहीं लगते ।

पहुमि[1] पवन मिल एक ह्वै, अग्नि उदक[2] ता माँहि ।
रज्जब तुरक न पाइये, हिन्दू कोई नाँहि ॥२७॥

पृथ्वी[1], वायु, जल[2] और अग्नि उन हिन्दू-मुसलमानों में मिलकर एक हुये रहते हैं किन्तु फिर भी पृथ्वी आदि में कोई मुसलमान नहीं मिलता और न कोई हिन्दू है, वे तो निष्पक्ष रहकर सब का हित करते रहते हैं, वैसे ही निष्पक्ष रहकर सबका हित करना चाहिये ।

कै[1] परम तत्त्व सौं प्राण है, कै[2] पंच तत्त्व के माँहि ।
रज्जब शोधे[3] उभय घर, हिन्दू तुरक सु नाँहि ॥२८॥

कितने[1] ही तो परम तत्त्व ब्रह्म से प्राणियों की उत्पत्ति मानते हैं वा[2] पंचतत्त्वों के भीतर से शरीर होते हैं । ब्रह्म और पंचतत्त्व रूप दोनों ही उत्पत्ति के स्थानों को हमने खोज[3] लिया है, उनमें हिन्दू वा मुसल्मान-पना कुछ भी नहीं है, वे तो निष्पक्ष हैं ।

सुन्नत सेती[1] बाप था, मा के बींधे कान ।
दोनों बिच बालक भया, तहां नहीं नुकसान ॥२९॥

पिता सुन्नत के सहित[1] था और माता के कानों में छिद्र थे, दोनों से बालक उत्पन्न हुआ उसमें सुन्नत तथा कान बींधना रूप दोनों ही हानि नहीं होती । अतः सुन्नत आदि संस्कार पीछे किये जाते हैं, प्रकृति निष्पक्ष है वह मुसल्मान तथा हिन्दूपना नहीं बनाती ।

सुन्नत सेती बाप था, बेटा हिन्दू होय ।
रज्जब कहिये तुरक क्यों, कटचा न आवे कोय ॥३०॥

पिता सुन्नत के सहित था, उसके पुत्र हिन्दू ही जन्मता है, वह कटा हुआ तो आता नहीं, तब उसे मुसलमान कैसे कहा जाय ?

हिन्दू गति[1] हिरदै नहीं, तुरक तमा[2] कछु नाँहि ।
रज्जब बंदे[3] वस्तु के, कहाँ घुसै इन माँहि ॥३१॥

निष्पक्ष के हृदय में हिन्दुओं की चेष्टा[1] भी नहीं होती और मुसल्मान-पने की इच्छा[2] भी नहीं होती, जो ब्रह्मरूप वस्तु के भक्त[3] हैं, वे इनमें कहाँ घुसते हैं ? वे तो निष्पक्ष ही रहते हैं ।

हिन्दू गति हिन्दू खुशी, तुरक जु तुरकी माँहि ।
रज्जब आशिक एक के, तिनके दोन्यों नाँहि ॥३२॥

हिन्दुओं की चेष्टा से हिन्दू प्रसन्न होते हैं और मुसल्मानों की चेष्टा से मुसल्मान प्रसन्न होते हैं, किन्तु जो एक अद्वैत ब्रह्म के प्रेमी संत हैं, उनके हृदय में उक्त दोनों की ही पक्ष नहीं होती ।

हेत न कर हिन्दू धरम, तज तुरकी रस[1] रीति ।
रज्जब जिन पैदा किया, ता ही सौं कर प्रीति ।।३३।।

मुसलमानी धर्म के प्रेम[1] की रीति को त्याग और हिन्दू धर्म से भी प्रेम मत कर जिन प्रभु ने उत्पन्न किया है, उन्हीं से प्रेम कर ।

रज्जब हिन्दू तुरक तज, सुमिरहु सिरजन हार ।
पखा पखी सौं प्रीति कर, कौन पहुंचा पार ।।३४।।

हिन्दू-मुसलमानों की पक्ष को त्यागकर के सृष्टिकर्त्ता प्रभु का स्मरण कर, किसी एक पक्ष की पक्ष करने वाला कौन संसार के पार प्रभु के पास पहुंचा है ?

द्वै पख दारा[1] त्याग कर, प्राणी ले वैराग ।
जन रज्जब सो नीपजे[2], ता शिर मोटे भाग ।।३५।।

हिन्दू मुसलमान दोनों की पक्ष रूप नारी[1] को त्यागकर वैराग्य धारण करता है, वही सिद्ध[2] संत होता है और उसी का विशाल भाग्य कहा जाता है ।

दोन्यों पख सोकणि[1] रहीं, जब जीव जोगी होय ।
जन रज्जब किलकिल[2] मिटी, नाम न लेवे कोय ।।३६।।

जब जीव निष्पक्ष योगी हो जाता है तब हिन्दू-मुसलमान दोनों पक्ष रूप सौत[1] पीछा करने से रह जाती है और वाद-विवाद[2] मिट जाता है, फिर कोई भी पक्ष वाला हमारी पक्ष में आओ ऐसा नाम भी नहीं लेता ।

एक हि तज्यों एक बल बाँधै, घर में होय उपाधि ।
जन रज्जब परिहर पख दोन्यों, सहजै होय समाधि ।।३७।।

दो नारी वाला एक से प्रेम करे तो वह उसे राग के बल से बाँध लेती है और दूसरी द्वेष करती है, इससे घर में झगड़ा होने लगता है, वैसे ही एक पक्ष को त्यागने से एक बलपूर्वक बाँधती है और उपाधि बढ़ती है । अतः हिन्दू-मुसल्मान दोनों ही पक्षों को छोड़े तभी सहज समाधि होती है ।

खैंचा तांण द्वै द्वै मिटी, तब घर में आनन्द
ज्यों रज्जब काढ्यां[1] रई[2], सहज गये दधि द्वन्द ।।३८।।

जैसे दही में से मथानी[2] निकाल[1] लेने पर दही की हलचल मिट जाती है, वैसे ही हिन्दू-मुसल्मान दोनों की दोनों पक्ष मिट जाती है तब अनायास द्वन्द्वों की खेंचातान मिटकर अन्तःकरण में आनन्द हो जाता है ।

पहुमि[1] पवन मिल एक ह्वै, अग्नि उदक[2] ता माँहि ।
रज्जब तुरक न पाइये, हिन्दू कोई नाँहि ॥२७॥

पृथ्वी[1], वायु, जल[2] और अग्नि उन हिन्दू-मुसलमानों में मिलकर एक हुये रहते हैं किन्तु फिर भी पृथ्वी आदि में कोई मुसलमान नहीं मिलता और न कोई हिन्दू है, वे तो निष्पक्ष रहकर सब का हित करते रहते हैं, वैसे ही निष्पक्ष रहकर सबका हित करना चाहिये ।

कै[1] परम तत्त्व सौं प्राण है, कै[2] पंच तत्त्व के माँहि ।
रज्जब शोधे[3] उभय घर, हिन्दू तुरक सु नाँहि ॥२८॥

कितने[1] ही तो परम तत्त्व ब्रह्म से प्राणियों की उत्पत्ति मानते हैं वा[2] पंचतत्त्वों के भीतर से शरीर होते हैं । ब्रह्म और पंचतत्त्व रूप दोनों ही उत्पत्ति के स्थानों को हमने खोज[3] लिया है, उनमें हिन्दू वा मुसलमान-पना कुछ भी नहीं है, वे तो निष्पक्ष हैं ।

सुन्नत सेती[1] बाप था, मा के बींधे कान ।
दोनों बिच बालक भया, तहां नहीं नुकसान ॥२९॥

पिता सुन्नत के सहित[1] था और माता के कानों में छिद्र थे, दोनों से बालक उत्पन्न हुआ उसमें सुन्नत तथा कान बींधना रूप दोनों ही हानि नहीं होती । अतः सुन्नत आदि संस्कार पीछे किये जाते हैं, प्रकृति निष्पक्ष है वह मुसल्मान तथा हिन्दूपना नहीं बनाती ।

सुन्नत सेती बाप था, बेटा हिन्दू होय ।
रज्जब कहिये तुरक क्यों, कटचा न आवे कोय ॥३०॥

पिता सुन्नत के सहित था, उसके पुत्र हिन्दू ही जन्मता है, वह कटा हुआ तो आता नहीं, तब उसे मुसलमान कैसे कहा जाय ?

हिन्दू गति[1] हिरदै नहीं, तुरक तमा[2] कछु नाँहि ।
रज्जब बंदे[3] वस्तु के, कहाँ घुसै इन माँहि ॥३१॥

निष्पक्ष के हृदय में हिन्दुओं की चेष्टा[1] भी नहीं होती और मुसल्मान-पने की इच्छा[2] भी नहीं होती, जो ब्रह्मरूप वस्तु के भक्त[3] हैं, वे इनमें कहाँ घुसते हैं ? वे तो निष्पक्ष ही रहते हैं ।

हिन्दू गति हिन्दू खुशी, तुरक जु तुरकी माँहि ।
रज्जब आशिक एक के, तिनके दोन्यों नाँहि ॥३२॥

हिन्दुओं की चेष्टा से हिन्दू प्रसन्न होते हैं और मुसल्मानों की चेष्टा से मुसल्मान प्रसन्न होते हैं, किन्तु जो एक अद्वैत ब्रह्म के प्रेमी संत हैं, उनके हृदय में उक्त दोनों की ही पक्ष नहीं होती ।

हेत न कर हिन्दू धरम, तज तुरकी रस[1] रीति ।
रज्जब जिन पैदा किया, ता ही सौं कर प्रीति ॥३३॥

मुसलमानी धर्म के प्रेम[1] की रीति को त्याग और हिन्दू धर्म से भी प्रेम मत कर जिन प्रभु ने उत्पन्न किया है, उन्हीं से प्रेम कर ।

रज्जब हिन्दू तुरक तज, सुमिरहु सिरजन हार ।
पखा पखी सौं प्रीति कर, कौन पहुंचा पार ॥३४॥

हिन्दू-मुसल्मानों की पक्ष को त्यागकर के सृष्टिकर्त्ता प्रभु का स्मरण कर, किसी एक पक्ष की पक्ष करने वाला कौन संसार के पार प्रभु के पास पहुंचा है ?

द्वै पख दारा[1] त्याग कर, प्राणी ले वैराग ।
जन रज्जब सो नीपजे[2], ता शिर मोटे भाग ॥३५॥

हिन्दू मुसलमान दोनों की पक्ष रूप नारी[1] को त्यागकर वैराग्य धारण करता है, वही सिद्ध[2] संत होता है और उसी का विशाल भाग्य कहा जाता है ।

दोन्यों पख सोकणि[1] रहीं, जब जीव जोगी होय ।
जन रज्जब किलकिल[2] मिटी, नाम न लेवे कोय ॥३६॥

जब जीव निष्पक्ष योगी हो जाता है तब हिन्दू-मुसलमान दोनों पक्ष रूप सौत[1] पीछा करने से रह जाती है और वाद-विवाद[2] मिट जाता है, फिर कोई भी पक्ष वाला हमारी पक्ष में आओ ऐसा नाम भी नहीं लेता ।

एक हि तज्यों एक बल बाँधै, घर में होय उपाधि ।
जन रज्जब परिहर पख दोन्यों, सहजै होय समाधि ॥३७॥

दो नारी वाला एक से प्रेम करे तो वह उसे राग के बल से बाँध लेती है और दूसरी द्वेष करती है, इससे घर में झगड़ा होने लगता है, वैसे ही एक पक्ष को त्यागने से एक बलपूर्वक बाँधती है और उपाधि बढ़ती है । अतः हिन्दू-मुसल्मान दोनों ही पक्षों को छोड़े तभी सहज समाधि होती है ।

खैंचा तांण द्वै द्वै मिटी, तब घर में आनन्द
ज्यों रज्जब काढ्यां[1] रई[2], सहज गये दधि द्वन्द ॥३८॥

जैसे दही में से मथानी[2] निकाल[1] लेने पर दही की हलचल मिट जाती है, वैसे ही हिन्दू-मुसल्मान दोनों की दोनों पक्ष मिट जाती है तब अनायास द्वन्द्वों की खेंचातान मिटकर अन्तःकरण में आनन्द हो जाता है ।

लोह जलि[1] पावक परसि[2], शीत सलिल पाषाण ।
रज्जब उभय अलाहिदा[3], समझ्या सत्य वखाण[4] ॥३९॥

अग्नि के स्पर्श[2] से लोहा जलने[1] लगता है और शीत से जल पत्थर हो जाता है, इसलिये समझे हुये निष्पक्ष संत का कथन[4] सत्य ही है कि शीत-उष्ण दोनों से ही अलग[3] रहना चाहिये ।

रज्जब चलै महन्त मुनि, मध्य मते[1] के मागि[2] ।
शीत उष्ण मन वन दहैं, दोन्यों दीसैं आगि[3] ॥४०॥

अति उष्णता और अति शीत दोनों ही वन को जला देते हैं, वैसे ही प्रिय पक्ष और द्वेषी पक्ष दोनों ही मन को जलाती हैं, इससे दोनों ही अग्नि[3] रूप भासती हैं । इस कारण ही निष्पक्ष महन्त-मुनिजन मध्य मार्ग[2] के सिद्धान्त[1] में ही चलते हैं ।

जन रज्जब पख[1] पैठतों[2], पड़ै पिशुनता[3] प्राण[4] ।
निरपख मिल निर्दोष ह्वै, साधू संत सुजाण ॥४१॥

किसी भी पक्ष[1] में प्रवेश[2] करते ही प्राणी[4] दुष्टता[3] में आ पड़ता है और निष्पक्ष ज्ञानी संत से मिलकर प्राणी निर्दोष साधु हो जाता है ।

पखापखी मधि[1] पिशुनता[2], प्राणि हु दुविधा द्वन्द ।
जन रज्जब निरपक्ष नर, निर्वैरी निर्द्वन्द ॥४२॥

पक्षापक्षी में[1] दुष्टता[2] आजाती है और प्राणी दुविधा द्वारा द्वन्द्वों में पड़ जाता है । निष्पक्ष नर निर्वैरी तथा निर्द्वन्द्व बना रहता है ।

पखापखी में पिशुनता[1], निरपख मन निर्वैर ।
मनसा वाचा कर्मना, रज्जब कही न गैर[2] ॥४३॥

पक्षापक्षी में दुष्टता[1] आजाती है, निष्पक्ष मन वाला नर मन, वचन, कर्म से निर्वैर रहता है । यह बात मैंने अनुचित[2] नहीं कही है ।

पाप पुण्य मूरख चतुर, झूठी जाति कुजाति ।
जन रज्जब सोवैं[1] सबै[2], जो न अंधेरी राति ॥४४॥

यदि पक्ष-विपक्ष रूप अंधेरी रात्रि नहीं हो तो अपने २ स्थान पर-पाप, पुण्य, मूर्ख, चतुर, मिथ्या, जाति, कुजाति आदि सभी[2] शोभा[1] देते हैं किन्तु पक्ष-विपक्ष होने से एक दूसरे की शोभा बिगाड़ देते हैं ।

हिन्दू सेवैं मूर्ति हीं, मुसलमान सु गोर ।
रज्जब मुरदे मानिये, जग जिंदा किस ओर ॥४५॥

हिन्दू मूर्ति की सेवा करते हैं और मुसलमान कब्र की सेवा करते हैं, दोनों ही मुरदों को मानते हैं। जगत में जीवित को किस ओर के मानते हैं? अर्थात् निष्पक्ष मध्यमार्ग के संत ही सदा सजीवन ब्रह्म की उपासना करते हैं।

जे देवल[1] मिलै दयालु जी, अरु मालिक मिलै मसीत[2]।
तो रज्जब अण[3] मिलन को, यहु सब के रस[4] रीत ॥४६॥

यदि मंदिर[1] में दयालु प्रभु मिलते हैं और मसजिद[2] में मालिक मिलते हैं तब तो यह मंदिर-मसजिद में जाने के प्रेम[4] की रीति तो सभी के हृदय में है, फिर उससे बिना[3] मिला कौन है?

द्वै पख थापैं[1] दोय दिशि, करैं अष्ट दिशि निंदि[2]।
रज्जब सांई सकल दिशि, देखि दशों दिशि वंदि[3] ॥४७॥

हिन्दू-मुसलमान दोनों पक्षों वाले प्रभु को पूर्व और पश्चिम दो दिशाओं में ही स्थापन[1] करते हैं और अन्य अष्ट दिशाओं की निन्दा[2] करते हैं किन्तु प्रभु तो सभी दिशाओं में हैं, उन्हें दशों दिशाओं में ही व्यापक देखकर दशों दिशाओं में ही वन्दना[3] करनी चाहिये।

देवल[1] पास मसीत ह्वै, दोय न ढाहैं दोय।
रज्जब राम रहीम कहि, बोले विघ्न न कोय ॥४८॥

मंदिर[1] के पास मसजिद हो तो हिन्दू-मुसलमान दोनों ही दोनों को न गिरावे मंदिर में राम कहें और मसजिद में रहीम कहें। इन नामों के बोलने में दोनों को ही विघ्न नहीं होता, दोनों ही एक प्रभु के नाम हैं।

पीपल बड़ बाढ[1] हि नहीं, हिन्दू तुरक फहीम[2]।
तो रज्जब क्यों मारिये, कहतों[3] राम रहीम ॥४९॥

समझदार[2] हिन्दू-मुसलमान पीपल और बड़ को नहीं काटते[1] तब राम-रहीम कहने[3] से एक दूसरे को क्यों मारते हैं? अर्थात् अनसमझ ही मारते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित निष्पक्ष मध्य का अंग ८८

समाप्तः ॥सा० २८१४॥

अथ विवेक समता का अंग ८९

इस अंग में विवेकपूर्वक समता का विचार कर रहे हैं—

घर घर दीपक देखिये, पावक परस्यों एक।
यूं समझे एकहि हुये, रज्जब संत अनेक ॥१॥

घर-घर में दीपक जलते हुये देखे जाते हैं किन्तु उनका स्पर्श करने पर सब में अग्नि एक ही ज्ञात होता है, इसी प्रकार अनेक ज्ञानी संत भी ज्ञान द्वारा एक ही होकर रहते हैं। यही विवेक समता है।

एक सरोवर सब भरैं, भाव भिन्न घर जाँहि।
रज्जब सब मिल एक ह्वै, उलटे सरवर माँहि ॥२॥

सभी जाति के जन एक सरोवर से अपने २ पात्रों में जल भरते हैं, पीछे ब्राह्मण क्षत्रियादि भिन्न २ भावों को लेकर घर जाते हैं यदि उन पात्रों का जल पीछा सरोवर में डाल दें तो सब मिलकर एक ही हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा शरीरों में आकर भिन्न २ तथा भिन्न जाति का भासता है, पुनः ब्रह्म में मिलकर एक ही हो जाता है। इस प्रकार विवेक द्वारा समता ही भासती है।

एक हिं कंचन काटि कर, बहु भूषण करि जाँहि।
रज्जब भान्यो[1] मिल गये, ताके[2] ताही[3] माँहि ॥३॥

एक ही सुवर्ण की डली को काट कर उससे बहुत से भूषण बनाये जाते हैं, फिर उन सबको तोड़[1] कर गलाने से वे सभी उस सुवर्ण[2] के सुवर्ण[3] में ही मिल जाते हैं, वैसे ही आत्मा कर्मों द्वारा ब्रह्म से भिन्न भासता है। ज्ञान द्वारा सर्व कर्म नष्ट होने से ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है।

सांई सबका एक है, सब समझे ता माँहि।
जन रज्जब रामहि भजे, तिनके दूजा नाँहि ॥४॥

प्रभु सबका एक ही है, सभी ज्ञानी भी उसमें रत्त हैं, जो राम का भजन करते हैं उनकी दृष्टि में कुछ भी द्वैत नहीं है।

सब संतन का एक मत[1], जैसा अग्नि स्वभाय[2]।
जन रज्जब जग एकसा, दह[3] दिशि देखो जाय ॥५॥

दशों[3] दिशाओं में कहीं भी जाकर देखो, अग्नि का एक ही स्वभाव[2] मिलेगा, वैसे ही जगत् में सभी संतों का एक ही सिद्धान्त[1] मिलेगा।

षट् दर्शन सरिता बहैं, देखत दह[1] दिशि जाँहि ।
रज्जब रहसी राम में, फिर घिरि दरिया माँहि ॥६॥

जैसे नदियाँ देखते २ दशों[1] दिशाओं में फिर-घिर कर समुद्र में ही जाकर रहती हैं, वैसे ही नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी और शेष ये छः भेषधारी वा पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये षड् दर्शन नाना मत भेद दिखाते हुये अन्त में निर्गुण राम में आकर स्थिर होते हैं ।

काष्ठ लोह पाषाण की, अग्नि उजागर[1] एक ।
त्यों रज्जब राम हिं भजे, सो नहिं भिन्न विवेक ॥७॥

काष्ठ, लोहा और पत्थर का अग्नि प्रकट[1] होने पर एक-सा ही भासता है, वैसे ही जो राम का भजन करते हैं, वे भेद-ज्ञान वाले नहीं होते, उनमें समता होती है ।

रज्जब रहते जगत सौं, सुलझे[1] एक हि जान ।
बहु काष्ठों के धूम ज्यों, मिलै शून्य में आन ॥८॥

जैसे बहुत प्रकार के काष्ठों की धुआँ आकाश में आकर एक हो ही जाती है, वैसे ही जगत् से अलग[1] हुये संत एक ब्रह्म को जान कर विवेक-पूर्वक समता द्वारा एक होकर ही रहते हैं ।

यथा आठारह भार की, विनश्यों सब की खेह ।
त्यों रज्जब रामहिं भजे, सो सब एकै देह ॥६॥

जैसे अठारह भार वनस्पतियों के जल कर नष्ट होने पर सभी की भस्म हो जाती है, वैसे ही जो राम का भजन करते हैं, वे सभी देहधारी एक ही हो जाते हैं ।

माया माँटी सौं घड़े, वपु बासण[1] सु अनेक ।
रज्जब रिधि[2] रज[3] नाम बहु, अर्थ शोधतां[4] एक ॥१०॥

मिट्टी से अनेक बर्तन[1] बनाये जाते हैं, उनके नाम तो बहुत हैं किन्तु अर्थ की खोज[4] करने पर सबमें एक ही धूलि[3] मिलती है, वैसे ही माया से अनेक शरीर बनते हैं, उनके भी नाम तो अनेक होते हैं, किन्तु अर्थ शोधन करने पर एक माया[2] ही मिलती है ।

कृत्रिम[1] कुंभ मत[2] छिद्र बहु, माँहि ज्योति जगमौर[3] ।
रज्जब प्राण पतंग परि, आय परैं इक[4] ठौर ॥११॥

जैसे घड़े में बहुत-से छिद्र होते हैं किन्तु उन सब में ज्योति एक ही होती है, पतंग किसी भी छिद्र द्वारा घड़े में पड़े, आकर पड़ेगा तो एक ज्योति में ही, वैसे ही माया के बनाए[1] हुये संसार में बहुत-से सिद्धान्त[2] हैं किन्तु उन सबके भीतर सार तो एक जगत् के स्वामी[3] ब्रह्म ही हैं, प्राणी किसी भी सिद्धान्त के द्वारा आये अन्त में आयेगा तो अद्वैत[4] ब्रह्म रूप स्थान में ही।

रज्जब समता आवतें, मिनख[1] देव सन्मान।
धरणि गगन पाणी पवन, साक्षी शशिहर[2] भान[3] ॥१२॥

समता आते ही मनुष्य[1] का देवता के समान सन्मान होता है। समता से महान् होने की साक्षी पृथ्वी. आकाश, जल, वायु, चन्द्रमा[2] और सूर्य[3] देते ही हैं। ये सबमें समभाव रखते हैं, इसीसे इनको महान् माना जाता है।

चंद सूर पाणी पवन, धरती अरु आकाश।
देव दृष्टि दुविधा नहीं, सब आतम इखलास[1] ॥१३॥

चन्द्रमा, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, इन देवताओं की दृष्टि में दुविधा नहीं है, इनका सभी आत्माओं से प्रेम[1] है। इनके समान ही सबसे समभावपूर्वक प्रेम होना चाहिये।

जगन्नाथ की हांडी समता, भोजन भेद सु नाँहि।
नींच ऊंच अंतर सु उठाया, दृष्टि आतमा माँहि ॥१४॥

पुरी में जगन्नाथजी की हँडिया में समता है, भोजन का भेद नहीं है। वहां पर नीच-ऊंच का भेद उठा दिया गया है, केवल आत्मा पर ही दृष्टि रक्खी गई है।

षट् दर्शन में खान का, पतरि[1] भेद ना कोय।
रज्जब जन्में तिनहुं में, सो न्यारा क्यों होय ॥१५॥

नाथ, जंगम, सेवड़े बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन छः प्रकार के भेष धारियों में खाने के समय पत्तल[1] भेद नहीं होता, विभिन्न जाति के एक पंक्ति में ही बैठते हैं, फिर उनमें जन्मता है अर्थात् नया साधु बनता है वह अलग कैसे रहेगा? नहीं रहता, वैसे ही भक्त भी समता से हीन नहीं रहता वह ज्ञानी हो ही जाता है।

रज्जब अज्जब काम यहु, जे[1] किसही कन[2] होय।
समता घर बैठे सुरति, कदे[3] न देखे दोय[4] ॥१६॥

किसी से[२] भी हो यह समता का धारण करना अद्भुत काम है। यदि[१] समता रूप घर में वृत्ति स्थित हो जाय, तो वह प्राणी कभी[३] भी द्वैत[४] नहीं देख सकेगा।

षट् दर्शन सरिता बहै, देखत दह[१] दिशि जाँहि।

सांई समुद्र सन्मुखी, उभय उभय अंग[२] माँहि ॥१७॥

जैसे नदियां देखते २ दशों[१] दिशाओं में घूमती हुई समुद्र के सम्मुख जाती हैं, वैसे ही नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, ये छः प्रकार के भेषधारी भी अपने २ मतों का प्रदर्शन करते हुये निर्गुण राम के सम्मुख ही जाते हैं। इस प्रकार नदियाँ और षट् दर्शन दोनों ही समुद्र और निर्गुण राम दोनों के स्वरूप[२] में समाकर सम हो जाते हैं।

नारायण अरु नगर को, रज्जब पंथ अनेक।

कोई आओ कहीं दिशि, आगे अस्थल एक ॥१८॥

नगर को जाने के अनेक मार्ग होते हैं, कोई किसी भी दिशा से आये आगे सभी मार्ग एक नगर रूप स्थान को हो जाँयगे, वैसे ही नारायण को प्राप्त करने के अनेक साधन हैं, कोई किसी भी साधन का आश्रय ले वही नारायण को मिला देगा।

हय[१] गय[२] प्याद[३]हुं पथ बहु, रथ बैठयों मग एक।

रज्जब नरहरि[४] नगर निज, पहुंचे प्राणि अनेक ॥१९॥

हाथी[२], घोड़े[१], और पैदल[३] चलने वालों के मार्ग तो बहुत हैं किन्तु रथ पर बैठने से तो एक ही मार्ग रहेगा, उक्त सब भी रथ के मार्ग में ही आजायंगे। इस प्रकार अपने नगर को अनेक प्राणी पहुंचते है, वैसे ही अपने प्रभु[४] को प्राप्त करने के लिये अनेक साधक अनेक साधनों का आश्रय लेते हैं किन्तु विवेक समता रूप मार्ग तो एक ही रहेगा, अन्य सब इसी में आ मिलेंगे।

व्यापक वैसी[१] बोलता, पाणी वैसी[२] पिंड।

रज्जब बैस[३] पिछाणिये, इन बैसों[४] ब्रह्मंड ॥२०॥

विवेक समतापूर्वक बोलने वाले संतों जैसा[१] व्यापक वाणी बोलने से सुनने वालों को जल में शरीर निमग्न होने जैसी[२] शीतल लगती है। संतों के पास बैठकर[३] विवेक समता को पहचानो और इन संतों के कथनानुसार ब्रह्माण्ड में निर्द्वन्द्वतापूर्वक स्थित[४] रहो।

हिन्दू तुरक उदय जल बूंदा, कासौं कहिये ब्राह्मण शूदा।

रज्जब समता ज्ञान विचारा, पंचतत्त्व का सकल पसारा ॥२१॥

हिन्दू-मुसल्मान दोनों ही वीर्य रूप जल की बिन्दु से उत्पन्न हुये हैं, तब किसको ब्राह्मण और किसको शूद्र कहा जाय। समतापूर्वक ज्ञान वा

विचार करें तब तो यह सभी विस्तार पच-तत्त्वों का है, अतः सभी समान हैं ।

चौरासी लख संप्रदा, सानी सकल शरीर ।

जन रज्जब घट घट इती, तू पूछै कै वीर ॥२२॥

चौरासी लक्ष योनियाँ ही अनादिकाल से चली आने से चौरासी लाख संप्रदाय हैं और वे गुण तथा स्वभाव रूप से सभी शरीरों में मिली हुई हैं । प्रति अन्तःकरण में इतनी तो हैं और हे भाई ! तू कितनी पूछ रहा है ?

चौरासी लख संप्रदा, करी विश्वंभर लोय[1] ।

रज्जब रची बखानिये, औरों करे सो होय ॥२३॥

हे भोलेजन[1] ! विश्वंभर भगवान् ने चौरासी लाख योनियाँ ही चौरासी लाख संप्रदाय रूप से स्थापन करी हैं, जो उनने रची हैं सो तो कही जाती हैं, यदि वे और भी रचना करें तो हो सकती है, वे उन प्रभु की रची हुई होने से सभी सम हैं । २२-२३ की साखी किसी के संप्रदाय विषयक प्रश्न करने पर कह कर समता दिखाई है ।

जो सन्या[1] ब्रह्माण्ड में, सोइ पिंड पहचान ।

रज्जब निकसे शब्द मग, पंथ पड़्या यूं जान ॥२४॥

जो ब्रह्माण्ड के भोगों में सना[1] हुआ है अर्थात् आसक्त है, वही शरीर में आसक्त है, ऐसा ही पहचानो । जो विवेक समता के शब्दों रूप मार्ग द्वारा भोग और शरीर की आसक्ति से निकला है तो ऐसा जानना चाहिये कि यह प्रभु प्राप्ति के मार्ग में प्रविष्ट हुआ है ।

महन्त[1] दीपक हीर में, सब दिशि सम परकाश ।

रज्जब धुक[2] हि न एक रुख, सुनहु सनेही दास ॥२५॥

हे प्रेमी भक्त । सुनो, हीरे का दीपक एक ओर ही नहीं जलता[2], सब ओर ही समान प्रकाश करता है, वैसे ही महान्[1] संतों की रुख एक ओर ही नहीं होती, वे सबको समान ही ज्ञान देते हैं ।

षट् दर्शन में सब मिलै, पौणि छत्तीसों आय ।

जैसे सप्त समुद्र में, नौसै नीर समाय ॥२६॥

जैसे सातों समुद्रों में नौ सौ नदियों का जल मिलता है, वैसे ही नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन छः प्रकार के भेषधारियों

के सिद्धान्तों में छत्तीसों ही जाति मिलती हैं। अतः विवेकपूर्वक समता का सिद्धान्त ही श्रेष्ठ है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विवेक समता का अंग ८९

समाप्तः ॥ सा० २८४० ॥

अथ मेलग का अंग ९०

इस अंग में मिलकर चलने की विशेषता बता रहे हैं--

ग्रासों गहिये पंच मिल, त्यों पंचों मिल राम।
जन रज्जब मेला भला, मेलै सरै सु काम ॥१॥

पंच अंगुली मिलकर ग्रासों को ग्रहण करती हैं, वैसे ही पांचों ज्ञानेन्द्रिय मिलकर राम परायण होती हैं तब राम का दर्शन होता है। मिलकर काम करना बहुत अच्छा है, मिलकर करने से कार्य सिद्ध होता ही है।

श्रवण नैन मुख नासिका, अधर दंत कर पाय।
रज्जब निरखत नौ जुगल[1], मोह्या मतै[2] मिलाय ॥ ॥२॥

दोनों कान, दोनों नेत्र, मुख के दोनों भाग, ऊपर के दाँतों की जोड़ी, नीचे के दाँतों की जोड़ी, दोनों नासिका, दोनों होठ, दोनों हाथ, दोनों पैर, इन नौ की जोड़ी[1] को देखते हुये मिलकर काम करने के सिद्धान्त[2] से हम तो मोहित हैं। अतः उक्त नौ के समान मिलकर कार्य करना चाहिये।

अंट सु लेखनि दोय शिर, कारज काले एक।
त्यों रज्जब द्वै मिल चलै, यो ही बड़ा विवेक ॥३॥

कलम के दो अंट रूप दो शिर होते हैं, किन्तु लिखना रूप काम के समय दोनों एक हो जाते हैं, वैसे ही काम के समय दो को मिलकर ही चलना चाहिये, यही महान् ज्ञान है।

पंच तत्त्व करि घट भया, प्राणि करै तहं राज।
रज्जब बिखरैं बहु विघन, आतम होय अकाज ॥४॥

पंच तत्त्वों से शरीर बनता है, प्राणी उसका शासन करता है। यदि वे पंच तत्त्व अलग-अलग होने लगें तो बहुत-से विघ्न होंगे, और जीवात्मा की हानि होगी। मिलकर चलने से ही ठीक रहता है।

पंच मिले मधु ऊपजै, पंच मिले मद होय।
रज्जब पंचे पंच में, विगता विगत सु जोय ॥५॥

पांच वस्तुओं के मिलने पर पंचामृत होता है वा पाँच मधु मक्षिकायें मिलती हैं तब शहद होता है। गुड़ादि पंच मिलने से ही मदिरा बनती है। पंचों में भी पाँच ही होते हैं, यदि वे अलग हो जाँय तो पंचायत नहीं रहती।

रज्जब इक अजरी[1] बजरी[2] मिलहिं, इक मधुरिख[3] मधु ठौर।
मेला देखन मुग्ध मिल, मेल मेल रस और ॥६॥

एक मक्खी[1] तो मल[2] से मिलती है और एक मधुमक्षिका[3] शहद से मिलती है, मिलना तो दोनों का एक ही है किन्तु मिलने-मिलने में रसकी भिन्नता रह जाती है। अतः केवल मिलाप को देखकर ही मोहित होकर मत मिल, जिनके मिलने से शान्ति मिले उन संतों से मिल।

इक पाक पलट ह्वै पय[1] मयो[2], एक पाक पुनि पीब[3]।
रज्जब पाक हुं फेर[4] बहु, नर निरखो सु नसीब[5] ॥७॥

एक रस का पकना तो दूध[1] रूप[2] होता है और एक फोड़े का पकना मवाद[3] रूप होता है। अतः पकने २ में बहुत भेद[4] रहता है, हे नर! अपने प्रारब्ध[5] कर्म का परिपाक देखकर के ही मिलने योग्य से मिल।

पंचतार जंतर[1] चढै, सोलह स्वर सु मृदंग।
स्वर मंडल स्वर बहुत हैं, बाजत एक हि अंग[2] ॥८॥

तंदूरे[1] पर २ षडज के, २ पंचम के और १ मध्यम का ये पंच तार चढ़ते हैं। मृदंग के सोलह बोल ही १६ स्वर होते हैं। स्वर मंडल (१ तार-वाद्य) से बहुत स्वर निकलते हैं किन्तु हे प्रिय[2]! सब मिलकर एक ही राग में बजते हैं, बिना मिले राग भंग हो जाता है। यह मेल की ही विशेषता है। मृदंग के सोलह स्वर अंग १७८ की साखी ३ की टीका में देखो। यह साखी अंग ७७ में तीसरी आ चुकी है किन्तु यह अंग दूसरा होने से किंचित् अर्थ का भेद हुआ है।

रज्जब घणों[1] घणें[2] नहीं, जे मन एक हि रंग।
ज्यों सोलह स्वर तूर[3] के, मिल बाजैं इक संग ॥९॥

जैसे नगारे[3] के १६ स्वर होते हैं किन्तु सब मिलकर एक साथ ही बजते हैं। वैसे ही यदि मन एक रंग में रंगे हों तो बहुत[1] मनुष्य होने पर भी मिलकर रह सकते हैं, उनके बहुत[2] विचार न होकर एक ही विचार रहता है। मृदंग के १६ स्वर ही नगारे के १६ स्वर होते हैं। वे १६ स्वर अंग १७८ की ३ की साखी की टीका में देखो।

तूम्बी सम जो आतमा, तिर्हि सु एक अनेक ।
सो संगति क्यों छोडिये, रज्जब समझ विवेक ।।१०।।

जो तूम्बी के समान तारने वाला सन्तात्मा होता है, उसके आश्रय से अनेक प्राणी संसार से पार होते हैं। उस महात्मा की संगति क्यों छोड़ते हो ? उनसे मिलकर उनके ज्ञान को समझो।

एक हु माँहि अनेक हैं, है अनेकों में एक ।
रज्जब पाया संग का, पूरण परम विवेक ।।११।।

एक सांसारिक मनुष्य में अनेक विचार होते हैं और अनेक सन्तों में एक ब्रह्म का ही विचार होता है। यह सांसारिक प्राणियों तथा सन्तों के संग का परम विवेक हमने पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया है। अतः सन्तों से ही मिलना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मेलग का अंग ९० समाप्तः ।।सा० २८५१।।

अथ दया निर्वैरता का अङ्ग ९१

इस अंग में दया और निर्वैरता सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

मुख्य दया निर्वैर ह्वै, सब जीव हुं प्रतिपाल ।
तो रज्जब तिस प्राणि ने, मेल्या मंगल माल ।।१।।

निर्वैर होना ही मुख्य दया है, जो सभी जीवों की रक्षा करता है तो उसी प्राणी ने जगत् के लिये मंगल रूप माल संचय करके रक्खा है।

निर्वैर होत वैरी नहीं, चौरासी में कोय ।
रज्जब राखत और को, अपनी रक्षा होय ।।२।।

निर्वैर होते ही चौरासी में कोई भी वैरी नहीं होता, अन्य की रक्षा करने से अपनी ही रक्षा होती है, अतः निर्वैर ही रहना चाहिए।

चोट[१] न काहू को करै, तो चोट न इसको होय ।
जन रज्जब निर्वैर सौं, वैर करै नहिं कोय ।।३।।

किसी को भी आघात[१] न पहुँचावे तो इस प्राणी पर भी आघात नहीं आता, निर्वैर प्राणी से कोई भी वैर नहीं करता।

विघ्न जु टालत और के, अपने विघ्न सु जाँहि ।
नेकी सौं नेकी बधै, समझ देख मन माँहि ।।४।।

दूसरों के विघ्न टालने से अपने विघ्न टल जाते हैं। विचार द्वारा मन में देख, भलाई से भलाई ही बढ़ती है।

नर निर्वैरी होत ही, सब जग वा[1]का दास।
रज्जब दुविधा दूर गई, उर आये इखलास[2] ॥५॥

नर के निर्वैरी होते ही सब जगत् उस[1]का दास बन जाता है, हृदय में प्रेम[2] आते ही दुविधा दूर चली जाती है।

निर्वैरी नौ खण्ड में, साधु सुहृद् ही होय।
तो रज्जब तिहुं लोक में, वैरी नाँहीं कोय ॥६॥

पृथ्वी के नौओं खण्डों में निर्वैरी सुहृद् साधु ही हों तो तीनों लोकों में वैरी कोई भी न दिखाई दे।

चौरासी लख जीव परि, साधू होय दयाल।
रज्जब सुखदे सबन को, तन मन कर प्रतिपाल ॥७॥

सन्त चौरासी लक्ष योनियों के सभी जीवों पर दयालु रहते हैं, उनके तन-मन का पोषण करके सभी को सुख प्रदान करते हैं।

इस के मारण की नहीं, तो इस हि न मारे कोय।
कुशल वांछतां[1] और की, अपणे कुशल सु होय ॥८॥

यदि इस प्राणी के हृदय में दूसरे को मारने की इच्छा नहीं होती तो इसे कोई नहीं मार सकता, अन्य के कुशल की इच्छा[1] करने से अपने लिये ही कुशल-मंगल होता है।

दया तरुवर धर्म फल, मनसा[1] मही[2] सु माँहि।
महर मेघ हरि नीपजे, रखवारे फल खाँहि ॥९॥

बुद्धि[1] रूप पृथ्वी[2] में दया रूप वृक्ष उगता है, परमात्मा रूप मेघ कृपा रूप जल की वृष्टि करता है, तब उसके धर्म रूप फल लगता है। उस फलको वे ही खाते हैं जो दया की रक्षा करते हैं अर्थात् दया का फल दयालु को ही मिलता है।

राग द्वेष कासौं कर हिं, सब में साहिब जाण।
रज्जब बुरा न वांछिये, छाड़ देहु गत[1] बाण[2] ॥१०॥

राग-द्वेष किससे करता है? सभी में प्रभु विराजमान हैं, ऐसा जानकर किसी के भी बुरा होने की इच्छा मतकर, बुरे[1] स्वभाव[2] को छोड़ दे।

विभूति[1] बकरी तन लगे, थन[2] सु गलथने चार ।
यूं साधु असाधु इक ठौर है, नर निर्वैर निहार ॥११॥

बकरी के शरीर में दूध के स्तन[2] और गले के स्तन ऐसे चार स्तन लगे हैं, वैसे ही माया[1] में संत असंत दोनों एक ही स्थान में हैं। हे नर ! उन सभी को निर्वैर दृष्टि से ही देख ।

रज्जब ह्वै निर्वैरता, तो वैरी कोउ नाँहिं ।
मनसा वाचा कर्मना, यूं समझो मन माँहिं ॥१२॥

यदि हृदय में निर्वैरता उत्पन्न हो जाय तो कोई भी वैरी नहीं रहता, मन, वचन, कर्म से अपने मन में ऐसा ही सत्य समझो ।

नाम सगौतो बोलिये, कहिये ते मा अंश ।
सो रज्जब क्यों खाइये, प्रत्यक्ष अपना वंश ॥१३॥

जिसका नाम तो सगौती (एक गोत्र का) बोलते हो तथा माँस कह-कर मा का अंश सूचित करते हो, तब वह प्रत्यक्ष ही अपना वंश हुआ फिर उसे क्यों खाते हो ?

गोस्फंद[1] गो[2] मेष[3] माजूर[4], हमशीर[5] सब भाई ।
रज्जब ऐन[6] अजीज[7] बोलिये, गाफिल[8] गोश्त[9] खाई ॥१४॥

बकरी[1], गाय[2], भेंडा[3], ये सभी असमर्थ[4] जीव हमारे हकीकी[5] (सहोदर) भाई हैं। इनको ठीक[6] प्रिय[7] समझकर ही बोलना चाहिये। असावधान[8] मानव ही इनका मांस[9] खाते हैं।

षट्[1] दर्शन[2] अर खलक[3] को, खोड़ि[4] खात मद[5] मांस ।
रज्जब सोच न दिल दया, ह्वै आपा पर नाश ॥१५॥

नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन छ[1] प्रकार के भेष[2]-धारियों तथा सभी संसार[3] के मानवों में यह महान् दोष[4] है जो मांस मदिरा[5] खाते-पीते हैं। उनके हृदय में न तो विचार है और न दया है, इसलिये दूसरे का नाश करके आप भी नष्ट होते हैं।

पंच वक्त[1] जो बांग[2] दे, वह तो दीनो[3] यार[4] ।
सो मुरगा क्यों मारिये, काजी करो विचार ॥१६॥

पांच समय[1] जो आवाज[2] लगाता है, वह मुरगा तो मजहबी[3] मित्र[4] है, हे काजी ! कुछ विचार तो करो, उसे भी क्यों मारते हो ?

मुसलमान को मारना, मुरगा माफिक[1] नाँहि ।
पंचों बरियाँ[2] बांग[3] दे, मुल्ला समझो माँहि ॥१७॥

मुसल्मान को मुरगा मारना योग्य[1] नहीं है, वह तो पांचों समय[2] आवाज[3] देता है, हे मुल्ला ! कुछ विचार तो करो अपने दीनी भाई को भी क्यों मारते हो ?

वन्दनीक[1] वाराह सु बधिये[2], मुल्ला मुरगा मारे ।
दोन्यों दृष्टि विहूणे[3] दीसैं, इष्टों कौन विचारे ॥१८॥

हिन्दू पूजनीय[1] वाराह को मारते[2] हैं और मुल्ला दीनी मित्र मुरगा को मारता है, दोनों ही विचार दृष्टि से रहित[3] दिखाई देते हैं, इष्ट का विचार कौन करे ?

कुल[1] में मोहित[2] मालिक है, सब हूं में सुबहान[3] ।
रज्जब्ब यूं जाण जाहिर[4], रहम[5] में रहमान[6] ॥१६॥

हे भ्रम[2] में पड़े हुये मानव ! वह प्रभु सब[1] में है, उस पवित्र[3] प्रभु को सब में जान, वह दयालु[6] दया[5] में वृत्ति स्थित रहने से ही प्रकट[4] होता है, ऐसा समझकर दया निर्वैरता धारण कर ।

मुल्ला मन बिस्मिल[1] करो, तजहु स्वाद का घाट[2] ।
सब सूरत[3] सुबहान[4] की, गाफिल[5] गला न काट ॥२०॥

हे असावधान[5] मुल्ला ! किसी भी जीव का गला मत काट, अपने मन को घायल[1] कर, जिह्वा के स्वाद का रंग ढंग[2] छोड़, सभी रूप[3] पवित्र[4] प्रभु के हैं ।

घात[1] घट[2] को करैं जाहिर[3], कहैं हक्क[4] हलाल[5] ।
रज्जब्बा यहु पंद[6] पकड़े, जाँहि पचि[7] पामाल[8] ॥२१॥

प्रत्यक्ष[3] में शरीर[2] को नष्ट[1] करते हैं और कहते हैं—हम तो सत्य[4] और शास्त्रानुकूल[5] ही करते हैं, यह उक्त उपदेश[6] पकड़ते हैं, वे तो अनुचित परिश्रम[7] करके नष्ट[8] ही होते हैं ।

सब में सांई मांस सु खाँही, तो निज रूप नजर में नाँही ।
जाहि भजे ता ही सौं वैर, रज्जब नाँहि कही कछु गैर[1] ॥२२॥

सब में प्रभु बसते हैं, ऐसा कहते हैं और मांस भी खाते हैं, तो समझना चाहिये, अपना स्वरूप ब्रह्म उनको दृष्टि में नहीं आया है । ये तो जिसका भजन करते हैं उसीसे वैर करते हैं, यह बात मैंने कुछ भी विरुद्ध[1] नहीं कही है, ठीक ही कही है ।

तन मंदिर मूरति मधि[1] आतम, फोड़े फूटे दोय ।
उभय उजाड़ एक के कीजे, खसम[2] खुशी क्यों होय ॥२३॥

मंदिर में[1] मूर्ति होती है, वैसे ही शरीर में आत्मा है । मंदिर को तोड़ने से मूर्ति और मंदिर दोनों टूटते हैं, वैसे ही शरीर को नष्ट करने से जीवात्मा को भी कष्ट होता है । एक को हानि पहुंचाने से दोनों की ही हानि होती है, फिर प्रभु[2] कैसे प्रसन्न होंगे ?

वक्त्र[1] तिणा[2] ले नीकसे, खून[3] खता[4] क्षति[5] क्षोभ[6] ।
घास गास जिन मुख सदा, तिन मारयों क्या शोभ[7] ॥२४॥

मुख[1] में तृण[2] लेकर निकसने से खूनी[3] अपराध[4] से उत्पन्न क्रोध[6] भी नष्ट[5] हो जाता है, फिर जिनके मुख में सदा ही घास का ग्रास रहता है, उन गरीब पशुओं को मारने से क्या शोभा[7] होती है ?

घुण हांडी में घुल गया, माँखी सहनक[1] माँहि ।
रज्जब खाय कबूल[2] कर, मैं मुरदारी[3] नाँहि ॥२५॥

हांडी में घुण घुल जाता है, प्रत्यक्ष[1] में मक्खी पड़कर मर जाती है, उस अन्न को खा जाता है और स्वीकार[2] भी करता है, फिर भी कहता है कि मैं मुरदा[3] खाने वाला नहीं हूं, यह कैसी बात है ?

मच्छली किन तकबीर की, घुण किन किये हलाल[1] ।
अंडे किन विस्मल किये, सब खाने का ख्याल ॥२६॥

मच्छी को किसने तकबीर की । (मारते समय कौन अल्ला हो अकबर बोलता) है ? घुणों को कौन ठीक[1] करके खाता है ? अंडों को कौन बिस्मल (बलि विधान) करके खाता है ? सब खाने का ध्यान रखते हैं ।

अजाजील[1] अरु आदम[2] ही, देख अदावत आदि ।
द्वेष लागि द्वै दिशि विमुख, जन्म गमाया बादि ॥२७॥

देखो, शैतान[1] और मानव[2] का वैर प्रथम से ही चला आ रहा है, शैतान मानव को प्रभु की ओर नहीं जाने देता बहकाकर संसार में ही फँसाता है, इस द्वेष में पड़कर परमार्थ तथा व्यवहार दोनों से ही विमुख रहकर शैतान ने अपना जन्म व्यर्थ ही खो दिया है । अतः निर्वैर ही रहना चाहिये ।

रामचन्द्र रामानन्द हीं, वैर बाण भई मींच ।
तो रज्जब द्वेष न राखिये, समझी मनवा नींच ॥२८॥

रामचन्द्र ने बाली के बाण मारा था, उसी वैर से बाली ने व्याध रूप में जन्म लेकर राम के अवतार कृष्ण के बाण मारा था, उसी से कृष्ण परम धाम को गये थे। लक्ष्मण ने मेघनाद को मारा था, उसी वैर से लक्ष्मण के अवतार रामानन्द को मेघनाद ने पठाण के रूप में जन्म के मारा था। अतः हे नीच मन ! समझ ले किसी से भी वैर नहीं रखना।

रज्जब कोड़ी कुंजर सबन सौं, मेट वैरता मंत।
पीड़ा देत पषाण को, देखहु हजरत दंत ॥२६॥

चींटी से हाथी तक सभी प्राणियों से वैरपने का विचार मिटाकर प्रेमकर, देख, पत्थर को दुःख देने से हजरत मुहम्मद के दांत टूट गये थे। मुहम्मद ने पत्थर को गर्म करके अपना पैर तपाया था, उसी पत्थर को युद्ध में किसी ने फेंका था, उसी से दाँत टूटे थे। पत्थर ने भी वैर लिया था।

कृष्णदेव की बहिन लघु, हती कंस करि खीज[1]।
रज्जब दामिनि[2] द्वेष तिहिं, कासों पडै सु बीज[3] ॥३०॥

कृष्णदेव की छोटी बहिन को कंस ने क्रोध[1] करके मारा था, उसी वैर से वह बिजली[2] होकर आकाश में रहती है और अब भी कंस के नाम राशि कांसों के ऊपर वह बिजली[3] पड़ती है।

हिरणकशिपु अरु होलड़ी[1], भये पिशुन[2] प्रहलाद।
साधू मारत ते मुये, तज हु वैरता बाद[3] ॥३१॥

हिरण्यकशिपु और होलिका[1] प्रहलाद के लिये दुष्ट[2] हुये, साधु प्रहलाद को मारने के लिये कटिबद्ध हुये तब वे ही मारे गये। अतः व्यर्थ[3] वैर को वा वैर-विवाद[3] को छोड़ दो।

राहु केतु शशि सूर का, देखहु वैर विरोध।
इहै जान निर्वैर रहु, रज्जब निज परमोध ॥३२॥

राहु-चन्द्रमा और केतु-सूर्य का वैर के कारण जो विरोध है, उसे देखो, अब भी ग्रहण होता रहता है। यह जानकर निर्वैर रहना चाहिये, यही निजी उपदेश है।

द्वेष द्वेष सौं ऊपजे, नर देखो निरताय[1]।
राहु केतु शशि रवि ग्रहैं, सप्त नक्षत्र स्वभाय ॥३३॥

हे नरो ! विचार[1] करके देखो, वैर से ही वैर उत्पन्न होता है, राहु-केतु ही चन्द्र-सूर्य को ग्रहण करते हैं, अन्य सप्त नक्षत्र तो स्वभाव से ही रहते हैं, वैर नहीं करते।

रज्जब अज्जब काम है, जे हूजे[1] निर्दोष।
पड़े न बंधन वैरता, मानहु हूजे[2] मोष[3] ॥३४॥

यदि कोई द्वेष रूप दोष से रहित हो सके[1] तो यह अद्भुत काम है, वह वैरपने के बन्धन में नहीं पड़ता। अतः यह शिक्षा मानकर द्वेष से मुक्त[3] होना[2] ही चाहिये।

रज्जब अज्जब काम है, जो दिल न दुखाया जाय।
यहां खलक[1] उस पर खुशी, आगे खुशी खुदाय ॥३५॥

यदि द्वेष के द्वारा किसी का हृदय व्यथित नहीं किया जाय तो यह अद्भुत काम है, यहां संसार[1] के प्राणी उस पर प्रसन्न रहते हैं और आगे ईश्वर प्रसन्न होते हैं।

हंस[6] हते हत्या सही[1], परि आदम[2] अघ अधिकाय।
रज्जब निरखहु नर हि डसि[3], पन्नग[4] पूंछ गरि[5] जाय ॥३६॥

वैसे तो किसी भी जीव[6] को मारो हत्या निश्चित[1] ही होती है किन्तु मनुष्य[2] को मारने की अधिक होती है। देखो सर्प[4] नर को डसता[3] है तब उसकी पूंछ गल[5] जाती है, अन्य को डसने से नहीं गलती।

राग द्वेष दीरघ उदधि, पंच होय लघु लार।
जन रज्जब उतरत उभय, सप्त सुगम नर पार ॥३७॥

राग-द्वेष रूप दो बड़े समुद्र और साथ में पंच ज्ञानेन्द्रियों की चपलतारूप पांच छोटे समुद्र हैं, इन बड़े-छोटे दोनों समुद्रों को पार करने पर पंचभूत, अहंकार और माया इन सात को पार करना नर के लिये सुगम हो जाता है वा पृथ्वी के सप्त समुद्रों को पार करना सुगम हो जाता है।

रज्जब अज्जब यहु मता[1], सब सौं रह निर्वैर।
उदधि[2] उपाधि न डरपिये, जोख्यों[3] जल जीव पैर ॥३८॥

यह सब से निर्वैर रहना रूप सिद्धान्त[1] अद्भुत है, समुद्र[2] की उपाधि से न डरो, हानि[3] होने की शंका तो जीव के राग-द्वेष रूप जल को तैरने में ही है।

अवगुण ढांके और के, अपने अवगुण नाँहि।
रज्जब अज्जब आतमा, निर्वैरी जग माँहि ॥३९॥

निर्वैरी जीवात्मा संसार में अद्भुत ही माना जाता है, वह दूसरों के अवगुणों को ढँकता है और अपने अवगुणों को नहीं ढँकता, प्रत्युत प्रकट करता है।

मारचा जाय तो मारिये, मनवा वैरी माँहि।
जन रज्जब सो छाडि कर, मारण को कछु नाँहि ॥४०॥

यदि तुझ से मारा जाय, तो तेरे भीतर मन रूप शत्रु है उसे मार, उसको छोड़कर तेरे मारने योग्य अन्य कुछ भी नहीं है।

मारणहारा मारिये, कीजे नहीं उपाधि।
जन रज्जब यूं जीतिये, घट[1] का वैरी साधि[2] ॥४१॥

जो अपने को मारने वाला है, उस मन को ही मारो, अन्य जीवों को मारने की उपाधि मत करो। इस प्रकार अपने शरीर[1] के भीतर के शत्रु को साधना[2] करके जीतना चाहिये।

काहू परि चढिये नहीं, मन कर्म बिसवा बीस।
रज्जब रथ तल[1] कृष्ण के, सोउ पंखि पर शीश ॥४२॥

मन, वचन, कर्म से बीसों बिसवा किसी के भी ऊपर नहीं चढना चाहिये। देखो, कृष्ण के नीचे[1] रथ रूप से रहता है, वही गरूड़ पक्षी कृष्ण के शिर पर ध्वजा में रहता है। भाव यह है जिस पर तुम चढ़ोगे वह तुम्हारे पर चढ़ेगा।

पग[1] पहुण[2] प्रभुजी दिये, अतिगति[3] होय कृपालु।
रज्जब तिनहुं चढचा फिरै, निर्वैरी सु दयालु ॥४३॥

अत्यधिक[3] कृपालु होकर प्रभु ने चढने के लिये पैर[1] रूप पशु[2] दिये हैं। निर्वैरी दयालु नर उन्हीं पर चढकर विचरता है। अन्य पर नहीं चढ़ता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दया निर्वैरता का अंग ६१
समाप्तः। सा० २८६४ ॥

अथ दया अदया मिश्रित दोष का अंग ६२

इस अंग में दया और अदया मिलना रूप दोष का विचार कर रहे हैं—

समरथ मारि जिलावणे, द्वेष दया में जाण।
अमर सजीवन राखतों,[1] वेत्ता[2] करो बखाण[3] ॥१॥

जो समर्थ पुरुष मार कर जीवित कर देता है, उसकी दया में द्वेष रूप दोष जानना चाहिये, द्वेष बिना मारना संभव नहीं हो सकता। हे ज्ञानी[२]जनो ! उसी की श्रेष्ठता का कथन[३] करो जो सजीवन ब्रह्म में स्थिर[१] करके अर्थात् ब्रह्म को मिलाकर अमर कर देता है।

पुण्य सु पाणी स्वातिका, सुरति[१] सु सीप मझार।
पाप पणिगा[२] खार जल, मति मुक्ता मिल ख्वार[३] ॥२॥

सीप में स्वाति नक्षत्र का जल-विन्दु पड़ता है तब मोती बनता है किन्तु उसमें एक विन्दु[२] भी समुद्र के खारे जल की पड़ जाय तो मोती खराब हो जाता है, वैसे ही वृत्ति[१] में दयारूप पुण्य होता है किन्तु उसमें थोड़ा भी अदयारूप पाप आजाय तो उस दोष से बुद्धि खराब[३] हो जाती है।

खैर[१] कहर[२] सौं मिलतही, खल[३] हल[४] होय सुखाश[५]।
बेकीमत[६] सु बदी[७] बधै, नेकी होत सु नाश ॥३॥

दया रूप भलाई[१] में अदया रूप क्रोध[२] मिल जाता है तब दुष्ट[३] के सुख की आशा[५] पूर्ण[४] होने में सुगमता होजाती है, फिर तो बेहद[६] बुराई[७] बढ़ जाती है और भलाई नष्ट हो जाती है।

चौपाई—ज्यों मिश्री माँहि घोल विष पीजे,
त्यों सुकृत में कुकृत कीजे।
दया मध्य दुष्टता ऐसी,
ज्यों घर माँहि सु डायणि बैसी ॥४॥

जैसे मिश्री में मिलाकर विष का पीना हानिकारक है, वैसे ही अच्छे कार्य में बुरा कार्य करना हानिकारक है। जैसे घर में डाकिनिका प्रवेश अच्छा नहीं होता, वैसे ही दया में दुष्टता का प्रवेश अच्छा नहीं होता।

पुण्य पिशुनता एकठे, तब लग धर्म न कोय।
भाई हत भाई को पोषे, समझे बहु दुख होय ॥५॥

पुण्य कार्य और दुष्टता एकत्र हैं तब तक धर्म नहीं हो सकता। पुण्य और दुष्टता का एकत्र होना ऐसा है जैसे भाई को मारकर भाई का पोषण करना। ऐसा किये समझने पर दुख ही होता है।

महर[१] कहर[२] माँहीं मिली, तो खैर[३] खैरि में नाँहि।
यहु रज्जब अज्जब कही, समझ देख मन माँहि ॥६॥

यदि दया[1] क्रोध[2] में मिली हुई है तो भलाई[3] में भलाई नहीं है । यह बात अद्भुत कही गई है किन्तु मन में विचार करके देखने से अद्भुत नहीं सिद्ध होती ।

पुण्य प्रभाकर[1] उदय को, पाप प्रचंड सु राह[2] ।
अंग[3] उजास[4] सु गिलत[5] हैं, चखि[6] त्रिभुवन तम बाह[7] ॥७॥

धन्य[7] है जो त्रिभुवन के अंधेरे को खा जाता है, उस सूर्य[1] के उदय होने पर केतु[2] सूर्य के प्रकाश[4] रूप भाग[3] को खा जाता[5] है, वैसे ही पुण्य को प्रचंड पाप निगल[6] जाता है ।

सुत सुकृत को गिलत है, साँपिनि सुधि[1] बिन दास ।
पुण्य मध्य पापहि करत, प्राणी जाय निराश ॥८॥

जैसे साँपिन अपने ही पुत्र को निगल जाती है, वैसे ही दास भक्त बिना ज्ञान[1] दया में दुष्टता करके पुण्य को नष्ट कर देता है । पुण्य में पाप करने से प्राणी की आशा पूर्ण नहीं होती ।

सुकृत में कुकृत कुचिल[1], ज्यों शशि मध्य कलंक ।
पुण्य पियूष[2] सों प्राण पोषिये, वपु हु बुराई बंक ॥९॥

जैसे चन्द्र में कालापन रूप कलंक खराब है, वैसे ही पुण्य में पाप खराब[1] होता है । चन्द्रमा अमृत[2] से प्राणियों का पोषण करता है फिर भी उसके शरीर में कालापन और वक्रता अच्छी नहीं लगती, वैसे ही पुण्य से भला होता है किन्तु उसमें पाप अच्छा नहीं लगता ।

धर्म अस्थानक कर्म न शोभै, यथा नैन मधि[1] फूला ।
आतम आँखि अंधियारा भइला[2], कहिये कहा सु सूला[3] ॥१०॥

जैसे नेत्र में[1] फूला शोभा नहीं देता, वैसे ही धर्म के स्थान में कुकर्म शोभा नहीं देता । फूले से आँख में अंधेरा हो[2] जाता है और कुकर्म से जीवात्मा में जो कष्ट[3] होता है उसे तो क्या कहें, वह तो अत्यधिक भयंकर है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दया अदया मिश्रित दोष का अंग ९२ समाप्त: ॥ सा० २९०४ ॥

अथ दुष्ट दया का अंग ६३

इस अंग में दुष्टता में भी दया रहती है यह विचार बता रहे हैं—

देखहु दुष्ट दयालु गति[1], ज्यों बालक पितु मात ।
रज्जब काढै मारि मुख, मूरख माटी खात ॥१॥

जैसे मूर्ख बालक मिट्टी खाता है तब माता-पिता उसके मुख पर थप्पड़ मार कर मुख से मिट्टी निकाल देते हैं, यह दुष्टता में दया है, वैसे ही दयालु सज्जन मूर्ख की भलाई के लिये ही मूर्ख को दंड देते हैं, वह उनकी दुष्टता में दया की चेष्टा[1] होती है ।

सकल प्राणि प्रीतम किये, परिहर कुमति कुसंग ।
रज्जब कै[1] रस[2] रोस[3] यहु, दुष्ट दया का अंग ॥२॥

सभी प्राणियों को प्रियतम प्रभु ने ही उत्पन्न किया है किन्तु उनकी कुबुद्धि और कुसंग को छोड़ दे । उनसे प्रेम[2] वा[1] क्रोध[3] को तो उनकी भलाई के लिये ही करे यही दुष्ट दया के अंग का अभिप्राय है ।

कुल[1] अरवाह[2] सौं रहम[3] कर, बद[4] अमलों[5] सौं वैर ।
महर[6] गुस्सा मकसूद[7] का, रज्जब के नहिं गैर[8] ॥३॥

सभी[1] जीवात्मा[2]ओं पर दया[3] कर किन्तु बुरे[4] काम[5] करने वालों से उनका बुरा काम छुड़ाने के लिये वैर कर, हमारी दया[6] और क्रोध दोनों सब के हित के अभिप्राय[7] से होते हैं, हमारे पराया[8] तो कोई है ही नहीं ।

मन दयालु मुख दुष्ट गति[1], यथा नीम संयोग ।
रज्जब कड़वा पीवतां, पीछे काटे रोग ॥४॥

जैसे नीम का मुख से संयोग होता है तब पीते समय तो कटु लगता है किन्तु पीछे रोग को नष्ट कर देता है, वैसे ही सज्जन के मन में तो दया रहती है और मुख से सुधार के लिये कठोर वचन कहना दुष्ट की-सी चेष्टा[1] ज्ञात होती है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दुष्ट दया का अंग ६३
समाप्तः ॥सा० २६०८॥

अथ कमला काढ का अङ्ग ९४

इस अंग में मन से माया निकालने विषयक विचार कर रहे हैं—

रज्जब रिधि रतनों मयी, मन समुद्र के माँहि ।
कोउ जन काढै कमठ ह्वै, नहीं तो निकसे नाँहि ॥१॥

समुद्र में चौदह रत्न रूप माया थी, उसे कच्छपावतार ने निकाला था, वैसे ही मन में स्थित गुणमयी माया को कोई संत मानव ही निकालता है, नहीं तो वह नहीं निकलती ।

कमला[२] काली[१] एक है, सो देही दह माँहि ।
कोउ इक काढै कृष्ण ह्वै, नहीं तो निकसे नाँहि ॥२॥

माया[२] और कालीय[१] नाग दोनों एक जैसे हैं, कालीय को श्रीकृष्ण ने ही दह से निकाला था वह अन्य से तो नहीं निकलता था, वैसे ही शरीर में माया है, उसे भी कोई श्रीकृष्ण के समान समर्थ संत ही निकाल सकता है, अन्य साधारण से तो वह नहीं निकलती ।

माया मणि मन मकर[१] मुख, दुर्लभ[२] लेणी दोय ।
रज्जब ठौर सु विषम[३] है, वेत्ता[४] काढै कोय ॥३॥

मगर[१] के मुख से मणि और मन से माया निकालना ये दोनों काम कठिन[२] हैं, इन दोनों के ही स्थान बड़े विकट[३] हैं । कोई विशेष ज्ञानवान[४] ही उक्त दोनों को निकाल सकता है ।

वित[१] वीरज[२] पारा मयी, काया कूप मधि वास ।
साधु सुन्दरी परसतों, बाहर ह्वै परकाश[३] ॥४॥

माया[१], वीर्य[२] और पारा के समान है, शरीर में स्थित वीर्य नारी के स्पर्श से शरीर के बाहर आ जाता है । पारे के कूप में नारी देखती है तब नारी की छाया पारे के स्पर्श होते ही पारा कूप से बाहर आ जाता[३] है । वैसे ही संत के संग से माया मन से बाहर आ जाती है ।

आकाश[१] अवनि[२] अरु उदधि[३] अष्टकुल[४], माया राखी माँहि ।
हुकम[५] हिकम[६] त्यों कर चढै, नहिं तो लहिये नाँहि ॥५॥

चित्ताकाश[१], पृथ्वी[२], समुद्र[३] और अष्टकुल पर्वतों[४] में माया रक्खी है । ज्ञानियों की उपदेश रूप आज्ञा[५] से चित्ताकाश की माया निकलती है और नाना प्रकार की विद्या[६]ओं से पृथ्वी आदि की माया हाथ लगती है । उक्त उपाय नहीं हो तो माया को प्राप्त नहीं कर सकते ।

जन रज्जब जल जीव में, श्रिया[1] सु क्षीर समान ।
विषम वारितैं काढि कर, हंस करै कोउ पान ।।६।।

जैसे जल में दूध मिला रहता है, वैसे ही जीव में माया[1] मिल रही है । हंस दूध को जल से अलग करके पान करता है, वैसे ही संत कठिन माया को जीव से निकाल कर जीव को माया रहित कर देते हैं ।

मन तैं माया काढणी, ज्यों ब[1] दही तैं घीव ।
जन रज्जब बल बुद्धि उस, महा विवेकी जीव ।।७।।

जैसे दही को मथकर घृत निकाला जाता है, वैसे[1] ही विचार द्वारा मन से माया निकाली जाती है । जो महान् विवेकी जीव उक्त प्रकार मन से माया को निकालता है, उसका बुद्धि-बल श्रेष्ठ माना जाता है ।

कंचन किरची चुण ले रज में, पारे पूरि विवेक ।
तैसे मनतैं माया काढै, साधू कोई एक ।।८।।

जैसे सुनार सुवर्ण के कणों को रज में पारा की गोली डालकर चुन लेता है, वैसे ही विवेक द्वारा कोई विरला संत माया को निकालता है ।

माया मधु[1] विधि काढ हीं, मति-सागर मधुरीख[2] ।
तिनकी सरभरि[3] करन को, रज्जब विरला पीख[4] ।।९।।

जिस प्रकार मधुमक्षिका[2] पुष्पों से मधु को निकाल लाती है, उसी प्रकार ज्ञान सागर संत मन से माया को निकाल लेते हैं, शहद[1] की मक्खी[2] की और उक्त संत की समता[3] कौन कर सकता है, किन्तु ऐसा संत विरला ही देखा[4] जाता है ।

मन माया मिश्रित सदा, यथा अकलि[1] में राग ।
रज्जब रागी एक को, दत[2] दीपक ध्वनि जाग ।।१०।।

जैसे बुद्धि[1] में राग मिला रहता है, वैसे ही मन में माया मिली रहती है । ऐसा राग का गाने वाला कोई एक विरला ही होता है जिसकी गायन ध्वनि से दीपक जग जाय । वैसे ही ऐसा संत भी कोई विरला ही होता है जो मनसे माया[2] को निकाल दे ।

काया कुंभनी[1] में रहै, शक्ति[2] सर्प अवतार[3] ।
साधू ज्ञाता गारुड़ी, इनके काढणहार ।।११।।

जीव सर्प का जन्म[3] धारण करके पृथ्वी[1] में रहता है, उसको निकालने वाला गारुड़ मन्त्र का ज्ञाता गारुड़ी ही होता है, वैसे ही माया[2] शरीर में रहती है, उसको निकालने वाला ज्ञानी संत ही होता है ।

मनवा रावणि[1] रिधि[2] सु पराण[3], आसै[4] आदित्य[5] माहि धराण[6] ।
कब कोई जीव लक्ष्मण होय, माया मारि उतारै सोय ॥१२॥

जैसे मेघनाथ[1] माया[2] के द्वारा सूर्य मंडल[5] में जा बैठा[6] था, तब लक्ष्मण ने उसकी माया नष्ट करके उसे नीचे उतारा था, वैसे ही माया परायण[3] मन भोगाशा[4] में जा बैठा है, अब जब कोई लक्ष्मण के समान विरक्त जीव हो तो माया को नष्ट करके इस मन को भोगाशा से उतारे अर्थात् भोगाशा नष्ट करे ।

शक्ति[1] सजीवनि जड़ी ज्यों, दुर्लभ लही न जाय ।
को ल्यावै हनुमंत ज्यों, उर[2] गिरि सहित उठाय ॥१३॥

माया[1] सजीवनी बूंटी के समान दुर्लभ है, सहज ही प्राप्त नहीं की जाती, जैसे हनुमान पर्वत के सहित सजीवनी बूंटी ले आये थे, वैसे ही कोई समर्थ संत हृदय[2] सहित माया को उठा लाते हैं, अर्थात् प्राणी का हृदय भी उनकी ओर खिंच जाता है और हृदय से माया की आसक्ति भी निकल जाती है ।

मन सु मरुस्थल[1] देश सम, शक्ति[2] सलिल[3] अति दूर ।
साधु सगर से काढ हीं, औरों कढे न मूर[4] ॥१४॥

मारवाड़[1] में जल[3] पृथ्वी में बहुत दूर नीचे है, उसे सगर नरेश के पुत्रों ने ही निकाला था, अन्य से वह अपने मूल-स्थान[4] से बाहर नहीं निकलता, वैसे ही मन में माया[2] बहुत गहरी बैठी हुई है, उसे सगर-पुत्रों के समान परमार्थ में पुरुषार्थ करने वाला संत ही निकाल सकता है अन्य से मूलाज्ञान[4] के सहित नहीं निकलती ।

मन समुद्र माया मुकत[1], सुरति[3] सीप के माँहि ।
साधू मरजीवों बिना, रज्जब निकसे नाँहि ॥१५॥

समुद्र की सीप में मोती[1] होता है, वह मरजीवों बिना नहीं निकल सकता, वैसे ही मन की वृत्ति[2] में माया है, वह संत बिना नहीं निकल सकती ।

ज्यों अपसरा आकाश में, त्यों हरिसिद्धि हिय आनि ।
रज्जब शूर सु संत परि, उभय ऊतरैं आनि ॥१६॥

आकाश में स्वर्ग की अप्सरा होती हैं, वैसे ही हृदय में माया है । अप्सरा शूरवीर के लिये नीचे उतरती है, वैसे ही श्रेष्ठ संत के उपदेश से हृदय से माया उतरती है ।

नर उर[1] हिम गिरि ज्यों झरै, साधू सूरज देख ।
जन रज्जब तप ताप में, विगता[2] विगत[3] विशेख ॥१७॥

सूर्य को देखकर जैसे हिमालय पर्वत झरने लगता है, वैसे ही संत को देखकर नर का हृदय[1] माया का त्याग करना रूप झरने लगता है किन्तु संत उपदेश रूप ताप में और सूर्य के ताप में विशेष भेद रह जाता है, जिसको ज्ञानी[2] ही जानते[3] हैं अर्थात् सूर्य का ताप तपाता है और संत का उपदेश रूप ताप शीतल करके मुक्ति प्रदान करता है ।

संसार सुई ज्यों उठ मिलै, साधू चुम्बक चाहि[1] ।
सारा[2] किसही का नहीं, बावै[3] वस्तु सु बाहि[4] ॥१८॥

जैसे सुई अपने आप उठकर चुम्बक पत्थर से मिलती है, वैसे ही संसारी प्राणी अपनी इच्छा[1] से ही संतों से मिलते हैं । इसमें किसी का भी बल[2] नहीं है, यह तो भगवान्[3] ने ही संतों में वस्तु बल रक्खा[4] है ।

माया मन मिश्रित[1] सदा, नख शिख सानी[2] राम ।
रज्जब रिधि[3] काढण कठिन, महा सु मुश्किल काम ॥१९॥

माया और मन सदा मिले[1] ही रहते हैं, राम ने ही प्राणी में नख से शिखा तक माया मिला[2] रक्खी है । मन से माया[3] निकालना कठिन ही क्या महा कठिन काम है ।

जन रज्जब नर नाज में, उभय ठौर भरपूर[1] ।
बाणी पाणी भेइये, निकसै शक्ति[2] अंकूर ॥२०॥

नर और नाज दोनों ही स्थानों में माया और अंकुर परिपूर्ण[1] हैं । संतों की वाणी द्वारा नर से माया[2] निकलती है और जल से भिगोने पर नाज से अंकुर निकलते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कमला काढ का अंग ६४
समाप्तः ॥सा० २९२८॥

अथ सुकृत का अङ्ग ९५

इस अंग में पुण्य कर्मों की विशेषता और करने की प्रेरणादि विषयक विचार दिखा रहे हैं—

सकल जोग[1] जीव को मिलै, कहु सुकृत किन होय ।
रज्जब पहरे[2] पुण्य के, न करि नींद कछु जोय ॥१॥

संपूर्ण योग्यता[1] जीव को मिलने पर भी कहो पुण्य कर्म क्यों नहीं होते ? इस मनुष्य शरीर रूप पुण्य के समय[2] में निद्रा में ही मत पड़ा रह कुछ विचार करके देख किसमें तेरा भला है ।

माया काया कारवी,[1] प्राणहिं परिहर जाय ।
ताथैं रज्जब समयसिरि,[2] सुकृत लीजे लाय ।।२।।

माया और काया शुभ कर्म करने[1] के लिये ही प्राप्त हुई हैं और सदा रहने वाली नहीं हैं, ये दोनों ही प्राणी को त्यागकर चली जातीं हैं । अतः इन दोनों को इस प्राप्त अवसर[2] में ही पुण्यकर्मों में लगा कर सफल कर लो ।

रज्जब पावक प्राणि का, अंत निरंतर बास ।
तो धन काढो धूम ज्यों, पहले धरो अकाश ।।३।।

काष्ठ में अग्नि के निरंतर निवास का अंत होता है तब धुआं को पहले ही आकाश में पहुंचा कर आप व्यापक अग्नि में मिलता है, वैसे ही शरीर में प्राणी के निरंतर निवास का अंत होगा, इसलिये धन को पहले ही पुण्यकर्मों में लगाकर प्रभु के पास पहुँचा देना चाहिये ।

जेता सुकृत कर लिया, तेता प्राणि अधार ।
जन रज्जब धन धाम में, पीछे चले न लार ।।४।।

जितना धन पुण्य कर्मों में लगाया जाता है, वही प्राणी के सुख का आधार होता है, और जो घर में पड़ा रहता है, वह फिर साथ नहीं जाता ।

सुकृत संबल[1] कीजिये, ईहिं अवसर ईहिं देह ।
जन रज्जब यहु सीख सुन, परमारथ कर लेह ।।५।।

इस मनुष्य शरीर के इसी समय में परलोक के मार्ग के लिये पुण्यरूप पाथेय[1] संग्रह करो, यह शिक्षा सुनकर अवश्य परमार्थ कर लेना चाहिये ।

गृह दारा सुत वित्त[1] की, यह सब झूठी आथि[2] ।
जन रज्जब रहसी इता, सुमिरण सुकृत साथि ।।६।।

घर, नारी, पुत्र और धन[1] की धरोहर[2] ये सभी मिथ्या हैं, प्राणी के साथ तो उसका किया हुआ हरि-स्मरण और पुण्य इतना ही जायगा ।

शरीर सहित सब जायगा, कहूं कहां लग और ।
जन रज्जब जगदीश भज, कुछ सुकृत को दौर[1] ।।७।।

और कहाँ तक कहें, शरीर के सहित सभी नष्ट हो जायँगे, इसलिये जगदीश्वर का भजन करते हुये कुछ सुकृत करने के लिये भी दौड़[1] धूप करना चाहिये ।

सकल पसारा[1] झूठ का, झूठी जगकी आथि[2] ।
रज्जब रहसी जीव के, सुमिरण सुकृत साथि ॥८॥

यह संपूर्ण फैलाव[1] मिथ्या माया का ही है, जगत् की पूंजी[2] भी मिथ्या ही है, जीव का किया हुआ हरि-स्मरण और पुण्य ही जीव के साथ रहेगा ।

सुकृतसिंह हिं देखतों, कुकृत जाहीं कुरंग[1] ।
ज्यों रज्जब रवि की किरण, तम तुंगनि[2] ह्वै भंग ॥९॥

सिंह को देखकर मृग[1] भाग जाता है, वैसे ही शुभ कर्मों को देखकर कुकर्म भाग जाते हैं । सूर्य की किरणों को देखकर महान् अंधेरा-वाली रात्रि[2] नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्य से पाप नष्ट हो जाते हैं ।

पुण्य प्रभाकर[1] के उदय, पाप पुल[2]हिं ज्यों तार[3] ।
मन वच कर्म रज्जब कही, तामें फेर न सार ॥१०॥

जैसे सूर्य[1] के उदय होने पर तारे[3] छिप जाते हैं, वैसे ही पुण्य के उदय होने पर पाप भाग[2] जाते हैं । यह हमने मन, वचन, कर्म से सार रूप बात कही है, इसमें बदलने का अवकाश नहीं है ।

धर्म सु काती[1] कर्म की, पुण्य पिशुन है पाप ।
एक सु अंतक एक का, रज्जब रचे सु आप ॥११॥

धर्म कुकर्मों को काटने की कैंची[1] है और पुण्य के लिये पाप दुष्ट है; परस्पर दोनों एक-एक के काल हैं । स्वयं प्रभु ने इनको ऐसा ही रचा है ।

रज्जब ताला पाप का, पुण्य कूंची कर राखि ।
जीव जड़या ऐसे खुले, साधु बेद की साखि ॥१२॥

पाप रूप ताला में जीव बंद है, उसमें पुण्य रूप कूंची रखकर फेरो ऐसा करने से वह खुल जायगा । इसमें संत तथा वेद भी साक्षी देता है ।

मनसा[1] मैली पाप करि, पुण्य पाणी करि धोय ।
सुमिरण साबुन लावतां, रज्जब ऊजल होय ॥१३॥

बुद्धि[1] पाप करने से मैली हो गई है तो उसे पुण्य रूप जल और हरि-स्मरण रूप साबुन लगाकर धोओ उज्वल हो जायगी ।

अघ[1] अनन्त आतम कने[2], युग अनन्त नहिं जाँहिं ।
धर्म राय देखत चलें, पाप पिंड पल माँहिं ॥१४॥

जीवात्मा के पास[2] अनन्त पाप[1] हैं, अनन्त युगों तक भी नष्ट नहीं हो सकते किन्तु धर्म रूप राजा को तो देखते ही शरीर से सब पाप एक पल में ही भाग जाते हैं ।

तुपक[2] तीर बरछी[3] बहैं, कठिन[1] काल की चोट ।
रज्जब कछु लागे नहीं, सत्य सिपर[4] की ओट ॥१५॥

बन्दूक[2], बाण और भाला[3] आदि शस्त्र चलते हैं किन्तु ढाल[4] की ओट हो तो योद्धा के कुछ भी चोट नहीं लगती, वैसे ही सत्य-सुकृत की ओट होने पर काल की भंयंकर[1] चोट भी नहीं लगती ।

सतियों का सत रहत है, विघ्न न विघ्नों माँहिं ।
प्रत्यक्ष पेखि पटूलिका[1], पावक परसे नाँहिं ॥१६॥

सत्य को धारण करने वाले सती पुरुषों का सत रहता ही है, विघ्नों में भी उनके काम में विघ्न नहीं होता, देखो प्रत्यक्ष में ही धर्मात्मा प्रह्लाद के वस्त्र[1] को भी अग्नि नहीं जलाता और होलिका शीतल चीर धारण करने पर भी जल गई । इसी भाव की एक यह कथा भी है--एक धर्मात्मा सेठ का मुनीम कपड़े लाने गया था, उसने आकर सेठ से झूठ ही कहा कि--आपका माल अमुक ग्राम में अग्नि लगने से जल गया, यह ग्राम पंचायत का पत्र है । सेठ ने कहा--मेरे माल को अग्नि नहीं जलाता, माल तुमने ही गुम किया होगा । फिर अपने विश्वास पात्र मुनीम को एक रेशमी थान देकर उनके साथ भेजा और कहा अग्नि लगा वहां इस थान को अग्नि लगाना यदि जल जाय तो समझेंगे कि हमारे माल को अग्नि ने जलाया है । मुनीम ने वहां जाकर वैसा ही किया थान नहीं जला ।

आतम जननी ऊपजै, सुकृत सुत मणिमथ्थ[1] ।
जम ज्वाला मात हुटली, राज काज समरथ्थ[2] ॥१७॥

जैसे माता से राज-कार्य करने में समर्थ[2] पुत्र होता है तब माता लौकिक कष्टों से मुक्त हो जाती है, वैसे ही आत्मा रूप जननी सुकृत रूप शिरोमणि[1] पुत्र उत्पन्न करती है तब यम की यातना रूप ज्वाला से बच जाती है ।

खैर[1] खैर[2] माँही रहै, या परि और न खूब[3] ।
रज्जब कर रंजिश[4] नहीं, महरवान[5] महबूब[6] ॥१८॥

भलाई[1] करने में अच्छा[2] ही रहता है, इससे अधिक और कोई भी श्रेष्ठ[3] नहीं है। किसी से भी वैर[4] मतकर सब पर कृपालु[5] और सबका प्रेमी[6] होकर निवास कर।

पापी की पीड़ा टलै, लेत पुण्य का नाम।
सो सुकृत किन कीजिये, रज्जब अज्जब काम ॥१६॥

पुण्य का नाम लेने से भी पापी का दुःख हट जाता है, सुकृत ऐसा अद्भुत काम है, वह सुकृत क्यों न किया जाय ? अवश्य करना चाहिये।

चंद सूर गगन हिं गहैं[1], दान पुन्य महि[2] थान।
रज्जब देणा अति भला, जेंहि छूटे शशि भान[3] ॥२०॥

चन्द्र-सूर्य का ग्रहण[1] आकाश में होता है और दान-पुण्य पृथ्वी[2] स्थल में किये जाते हैं, उनसे चन्द्र-सूर्य[3] कष्ट से छुटते हैं। अतः दान देना अति भला है।

सुकृत सुत जीवै सदा, द्वै उपकार सहेत।
पिता सुयश राखै यहां, उहाँ[1] सु रुचि फल देत ॥२१॥

सुकृत रूप पुत्र दो उपकारों के सहित सदा जीवित रहता है, इस लोक में अपने करने वाले पिता का सुयश रखता है और वहां[1] परलोक में रुचि अनुसार फल देता है।

पुण्य पारस है कल्पतरु, कामधेनु धर्म धन्न[1]।
रज्जब पलट[2] हि प्राणपति, माँग्या मिले जु मन्न[3] ॥२२॥

पुण्य पारस तथा कल्पतरु रूप है, धर्म रूप धन[1] कामधेनु रूप है। पुण्य ईश्वर को अनुकूल[2] कर देता है, फिर ईश्वर से जो मन[3] में इच्छा हो वही माँगने से मिल जाता है।

सांई सुकृत सन्मुखा, साधु वेद की साखि।
सत संतोष जु प्राणपति, सती पुरुष उर राखि ॥२३॥

ईश्वर सुकृत करने वाले के सम्मुख ही रहते हैं, ऐसी ही संत तथा वेद की साक्षी है, अतः सत्य, संतोष, ईश्वर और सत्य को धारण करने वाले सती पुरुषों को हृदय में रख।

सोच[1] रहित सुकृत कर हिं, सो सुख लहैं अचित्य[2]।
रज्जब माया ब्रह्म की, फलै कामना मत्य[3] ॥२४॥

जो सब प्रकार की चिन्ता[1] को त्यागकर सुकृत करता है, वह कल्पनातीत[2] सुख को प्राप्त करता है। सुकृत से माया वा ब्रह्म सम्बन्धी जो भी कामना बुद्धि[3] में होती है, वही फलीभूत हो जाती है।

सुकृत सुख सुस्रवै[1] सदा, कुकृत दुख दातार।
अब आगे आतमकनें[2], कदे न छाड़ै लार[3] ॥२५॥

सुकृत सदा ही सुख देता[1] है और कुकृत दुख देता है, सुकृत-कुकृत अब और आगे भी आत्मा के साथ[2] ही रहते हैं, कभी भी साथ[3] नहीं छोड़ते।

फिरि[1] आवे तो खैर[2] खजाना, प्रभु कन[3] रहत पुण्य उपकार।
संकट में सुकृत सगा, मित्र स्नेही दोस्त यार ॥२६॥

सुकृत[2] का फल लौट[1] कर मिलता है तो धन का कोश प्राप्त होता है और पुण्य प्रभु के पास[3] रहता है तो भी उपकार ही होता है। दुःख के समय सुकृत ही सम्बन्धी, मित्र, स्नेही, दोस्त, यार होता है, अन्य सब छोड़ देते हैं।

हरिश्चन्द्र हेरि गहिये धरम, मनन डुलाओ कोय।
रज्जब रहतों सत्य कै, शक्ति सकल फिरि होय ॥२७॥

सती हरिश्चन्द्र की धर्म-दृढ़ता और उसके परिणाम को देखकर सत्य-धर्म से मन को कोई भी न डुलावें, सत्य धर्म के रहने से माया तो सभी पुनः वैसी ही हो जायगी।

अहुंठे[1] हाथ हरि हेत दे, तो पावे उणचास।
जन रज्जब जीव की फलै, सांई दासों दास ॥२८॥

साढे-तीन[1] हाथ शरीर को हरि के लिये समर्पण कर देता है तो उसे उनचास कोटि पृथ्वी मिल जाती है अर्थात् प्रभु प्राप्ति पर प्रभु का सब कुछ भक्त का हो जाता है। जीव की आशा फलीभूत हो जाती है, प्रभु तो दासों के दास हैं ही।

परमारथ में पिंड दे, सो पृथ्वी पति होय।
तिन रोमहुं राजा मिल हिं, नांही अचरज कोय ॥२९॥

जो परमार्थ के लिये अपने शरीर को देता है, वह पृथ्वी का स्वामी होता है, उसके जितने रोम हों उतनी बार भी उसे राजा का पद प्राप्त हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

रज्जब रज[1] मुख मेलिये, सोउ सहस गुण होय ।
तो छाजन[2] भोजन साधु को, देत न शंको कोय ॥३०॥

धूलि[1] में बीज डालते हैं, वह भी हजार गुणा हो जाता है, तब साधु को वस्त्र[2] भोजन देते हुये शंका मत करो, वह अवश्य बढ़ेगा ।

खैर[1] कहैं सतरह गुणी, दत्त[2] सहस गुण लाह[3] ।
रज्जब बोलै चूकि[4] चकि,[5] जे चहुं[6] रोटचों पतिशाह ॥३१॥

मुसल्मान कहते हैं खैरात[1] अर्थात् दान की हुई वस्तु सत्तरह गुणी होकर मिलती[3] है और हिन्दू कहते हैं दान[2] की हुई वस्तु हजार गुणी होकर मिलती है किन्तु दोनों ही भूल[4] से गलत[5] कहते हैं, कारण—तिमंगल को तो चार[6] रोटी देने से ही सात जन्म तक बादशाह होना प्राप्त हो गया था । तिमंगल की कथा विस्तार से दृष्टांत सुधा सिन्धु तरंग ७-६२ में देखो ।

जे आप उतर रथ देत हैं, परमारथ के प्यार ।
तो विविध भाँति वाहन मिलहिं, हय[1] गय[2] नर असवार ॥३२॥

जो आप रथ से उतर कर रथ को परमार्थ के लिये प्रेमपूर्वक देते हैं, तब उनको नाना प्रकार के वाहन मिलते हैं, वे अश्व,[1] हाथी[2] और मनुष्यों की पालकी आदि पर सवार होकर चलते हैं ।

सकल करहु परि कर्ण के, कनक देन का राग ।
तो रज्जब पाया तिनहुं, हाथों ऊपरि दाग ॥३३॥

कर्ण को सभी के हाथों पर सुवर्ण देने का प्रेम था तभी उसने युद्धस्थल में अंत समय दाँतों का सुवर्ण देकर भगवान् से बिना दागी हुई पृथ्वी पर दाग का वर माँगा था जब बिना दागी पृथ्वी नहीं मिली तब भगवान् ने अपने हाथ पर उसको दाग दिया था । यह कथा प्रसिद्ध है ।

परमारथी पन्नगपति,[1] सृष्टि भार शिर लीन ।
तो रज्जब प्रभु पहुमि[2] पर, नाम तिनहुं के कीन ॥३४॥

परमार्थी शेषजी[1] ने सृष्टि का भार शिर पर धारण कर रक्खा है तभी भगवान् ने उनका नाम पृथ्वी[2] पर प्रसिद्ध किया है ।

ब्रह्माण्ड बड़ा परमारथी, तो आयु बड़ी दी रब्ब[1] ।
ये पिंड प्राण सब स्वारथी, बेगि मरै सो अब्ब ॥३५॥

ब्रह्माण्ड महान् परमार्थी है इसीलिये ईश्वर[१] ने इसको बड़ी आयु दी है और ये प्राणधारी शरीर सब स्वार्थी हैं, सो अब भी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

अरिल–नेकी[१] ऊपरि धन्य, बदी[२] धृक्कार सु बोलिये।
घट घट ब्रह्म बसंत, तिनहुं मुख पाट सु खोलिये॥
पुण्य पाप का फेर, सु पलटा आइया।
परि हां देखो वक्त्र[३] वदंति[४] सु श्रवण सुनाइया॥३६॥

प्रति शरीर में साक्षी रूप से ब्रह्म बसते हैं, वे ही उन शरीरों के मुख कपाट को खोलकर भलाई[१] पर धन्यवाद और बुराई[२] पर धिक्कार बुलाते हैं। पुण्य का बदला धन्यवाद और पाप का बदला धिक्कार आता है, देखो, लोग मुख[३] से बोलते[४] हैं सो श्रवण से सुनने में आता ही है।

रज्जब अवनि[१] अकाश बिच, सत जत[२] थंभ सु दोय।
या[३] मंदिर आधार अहिं[४], बिरला बूझै[५] कोय॥३७॥

पृथ्वी[१] और आकाश के बीच सत्य और ब्रह्मचर्य[२] ये दो स्थम्भ हैं, इस[३] विश्व मंदिर के ये ही आधार हैं[४]। इस बात को कोई बिरला ही समझता[५] है।

षट् दर्शन अर खलक की, लेणी दुवा[१] दुलंभ[२]।
रज्जब रहै असंख्य युग, रोप्या कीरति थंभ॥३८॥

नाथ, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन ६ प्रकार के भेषधारियों तथा संसार का आशीर्वाद[१] लेना बड़ा दुर्लभ[२] है, जो उक्त सबका आशीर्वाद प्राप्त करता है, उसका कीर्ति स्थम्भ असंख्य युगों तक रुपा हुआ रहता है।

परमारथ पृथ्वी बुवै, विभूति बीज हरि हेत।
रज्जब रुचि भरि नीपजै, सती पुरुष का खेत॥३९॥

परमार्थ रूप पृथ्वी में हरि के लिये माया रूप बीज बोये तो उस सत्य-धर्म को धारण करने वाले पुरुष का उक्त खेत रुचि भर कर फल देता है।

अतीत[१] अवनि[२] हाली सती[३], बाहो सुकृत बीज।
भूखा भोजन करि खड़ो[४], सम न होय द्यौ धीज[५]॥४०॥

संत[१] रूप पृथ्वी[२] में सद्गृहस्थ[३] रूप हाली को सुकृत रूप बीज बोना चाहिये, भूखे को भोजन देना रूप खेत जोतो[४], इसके समान और कोई भी पुण्य नहीं है, इस वचन पर विश्वास[५] करके दो।

रज्जब धरती धर्म की, बाहो बीज विभूति ।
मेघ महर मीरा[1] करै, आवै साख सु सूति ॥४१॥

धर्म रूप पृथ्वी में संपति रूप बीज बाहो, फिर विश्व के नेता[1] भगवान् रूप मेघ दया करेंगे तब परमार्थ रूप खेती अच्छी उपजेगी ।

षट् दर्शन दल दुआ[1] के, सती पुरुष के संग ।
रज्जब विघ्न न व्यापही, आडा सुकृत अंग[2] ॥४२॥

योगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष इन छः प्रकार के तथा अन्य साधुओं के दल का आशीर्वाद[1] और सतीपुरुष के संग से विघ्न नहीं सताते । कारण—ये विघ्नों को रोकने के लिये सुकृत के स्वरूप[2] को आडा लगा देते हैं ।

रज्जब पावक पाप की, जालै पिंडरु प्राण ।
परम पुण्य पाणी परसि, शीतल साधु सुजान ॥४३॥

पाप रूप अग्नि शरीर और प्राणी दोनों को जलाता है । परम पुण्य रूप जल के स्पर्श से बुद्धिमान् साधु ही शीतल रहते हैं ।

कुकृत कर्म कु आगि में, सब जग जलि मठ[1] होय ।
रज्जब सुकृत समुद्र मधि, तिसे नहीं डर कोय ॥४४॥

किये हुये कुकर्म रूप अग्नि में जल कर सब जगत् काला[1] हो रहा है किन्तु जो सुकृत रूप समुद्र में स्थित है उसे उक्त अग्नि का कोई डर नहीं है ।

रज्जब सुकृत शुक्ल पख[1], आत्म अन्न कन पोष ।
कुकृत अंध[2] अँधार निशि, भागे भ्रामक दोष ॥४५॥

कुकर्म अंधेरी रात्रि के समान अज्ञानी[2] ही रखते हैं और सुकृत शुक्ल पक्ष[1] की रात्रि के समान है, जीवात्मा रूप अन्न कणों का पोषण करता है और भ्रम में डालने वाले दोष जैसे चाँदनी रात्रि में नहीं रहते, वैसे ही सुकृत से भी भाग जाते हैं ।

रज्जब कुकृत काल तज, सुकृत समै[1] सु आव ।
मनसा वाचा कर्मना, जे जीवण का भाव ॥४६॥

यदि जीवित रहने का भाव है तो मन, वचन, कर्म से कुकर्म रूप दुष्काल को छोड़कर सुकर्म रूप सुकाल[1] में आ ।

खैर खजाना जीव कन[1], पिंड पड़त पुण्य साथ ।
सो रज्जब किन कीजिये, धर्म आपणे हाथ ॥४७॥

खैरात किये हुये धन का खजाना जीव के पास[1] ही रहता है, शरीर के गिरने पर भी पुण्य साथ ही रहता है, वह धर्म अपने हाथ से क्यों नहीं करते ?

पिंड पड़े पुण्य ना पड़े, प्रलय पचन[1] नहिं होय ।
रज्जब संगी जीव का, सुकृत सिवा[2] न कोय ।।४८।।

शरीर गिरता है पुण्य नहीं गिरता, पुण्य प्रलय में भी नष्ट[1] नहीं होता, जीव का साथी सुकृत के बिना[2] अन्य कोई भी नहीं है ।

माल मुलक सब जायगा, सगे शरीर सहेत ।
जन रज्जब रहसी धरम, जो सु दिया हरि हेत ।।४९।।

शरीर के सहित सब माल, देश और सम्बन्धी सभी नष्ट हो जायँगे, जो हरि के लिये प्रेमपूर्वक दिया गया है, वह धर्म ही प्राणी के साथ रहेगा ।

सौदा[1] इहिं संसार में, सुकृत सम नहिं कोय ।
रज्जब सो किन[2] कीजिये, जो आगे को होय ।।५०।।

इस संसार में सुकृत के समान कोई भी व्यापार[1] नहीं है । जो भविष्य के लिये सहायक होता है, वह सुकृत क्यों[2] नहीं करते ? अवश्य करना चाहिये ।

रज्जब करतां धर्म को, धुकपुक[1] चित्त न आन ।
आगे को संबल[2] इहै[3], रे प्राणी सु प्रमान ।।५१।।

हे प्राणी ! धर्म कार्य करते समय संशयादि द्वारा चित्त में चंचलता[1] मत आने दे, धैर्यपूर्वक यहाँ[3] करेगा वही आगे के मार्ग का खर्च[2] होगा, इसमें शास्त्र-संतों के सुवचन प्रमाण हैं ।

रज्जब ढील[1] न कीजिये, दासातन[2] कर दास ।
सो सुकृत दीसै सबल, शिवरु[3] शक्ति[4] वश जास[5] ।।५२।।

हे प्राणी ! देर[1] मत कर दास्य[2] भक्ति करके भगवान् का दास बन, वह दास्य भक्ति रूप सुकृत इतना सबल है कि ब्रह्म[3] और माया[4] दोनों ही जिसके[5] वश में रहते हैं ।

संबल[1] सुकृत तौशा[2] खैर[3], रज्जब कह्या सु नाहीं गैर[4] ।
खर्च खजाना पुण्य कर हाथ, जो वित चलै जीव के साथ ।।५३।।

हिन्दू कहते हैं—सुकृत परलोक के मार्ग का भोजनादि खर्च[1] है, मुसल्मान कहते हैं—खैरात[3] आगे के रास्ते के लिये खाना[2] है । इसलिये

अपने धन का कोश अपने हाथ से ही पुण्य करने में खर्च कर, जो धन धर्म में खर्च करेगा वही जीव के साथ चलेगा । यह बात हमने परायी[४] नहीं कही है, हिन्दू-मुसल्मानों के धर्म की ही है ।

तंदुल कोपी[१] दोवटी[२], रोटी पैसा पोट ।
जन रज्जब सुकृत बंध्या, समसरि[३] का नांहि जोट[४] ॥५४॥

चाँवल सुदामा भक्त ने श्रीकृष्ण भगवान् को दिया था । कौपीन[१] द्रोपदी ने दुर्वासा ऋषि को दी थी । खादी[२] कबीर ने एक गरीब को दी थी । रोटी तिमंगल ने एक संत को दी थी । पैसा दादू ने अहमदाबाद के कांकरिया तालाब पर वृद्ध रूप भगवान् को दिया था । बीज की पोट धना भक्त ने संतों को खिलाई थी, जिससे उसका खेत बिना बीज बोने पर भी अच्छा उत्पन्न हुआ था, यह प्रसिद्ध है । उक्त तथा अन्य जो भी सुकृत के साथ बंध गया, उसके समान[३] जोड़ी[४] का कोई नहीं हो सकता । धना की कथा को छोड़कर अन्य सब कथायें दृ० सु० सि० त० ७-९३ में देखो ।

रज्जब सांई लग सुकृत सदा, सुखी सुकृति होय ।
पलटा[१] पूरे पुरष का, मेट न सकई कोय ॥५५॥

प्रभु की सेवा में लगकर सदा ही सुकृत करना चाहिये, सुकृति मनुष्य सुखी रहता है । सुकृत करने वाले पूर्ण पुरुष के सुकृत का बदला[१] कोई भी नहीं मेट सकता, उसके सुकृत का फल उसे मिलता ही है ।

द्रौपदी सुदामा क्या दिया, तिमरलंग क्या दादू ।
भले भाव पात्रहुं पड़्या, खानि उघाड़ी आदू ॥५६॥

द्रौपदी, सुदामा, तिमरलंग और दादू ने क्या दिया था ? उनके हाथों से कौपीन, चावल, रोटी, और पैसा भले भाव से पात्रों में पड़ा था, उनसे सबके आदि स्वरूप परब्रह्म रूप आनन्द की खानि उघड़ गई अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया ।

द्रौपदी सुदामा दादू दत्तवी[१], तिमरलिंग का त्याग ।
रज्जब पात्र जु पूजते, भृत[२] हुं भूरि[३] सभाग[४] ॥५७॥

द्रौपदी, सुदामा और दादू का दान[१] क्या था ? कौपीन, चाँवल और एक पैसा ही तो था । तिमरलिंग का त्याग क्या था ? चार रोटी ही तो दी थी किन्तु उन्होंने सुपात्रों को दिया था, इससे पूजे जाते हैं । जो बहुत[३] भाग्यशाली[४] होते हैं उन्हीं भक्तों[२] को सुपात्र मिलते हैं ।

पंच भरतारी[1] पुण्य का, कहा सुदामा दीन ।
जन रज्जब लघु दान पर, बड़हु[2] बड़ी पर[3] कीन[4] ।।५८।।

द्रौपदी[1] का पुण्य क्या था ? और सुदामा ने क्या दिया था ? किन्तु छोटे-से दान पर भी बड़ों[2] ने तो बड़ी श्रेष्ठ[3] सहायता करी[4] थी ।

देखि सुदामा द्रौपदी, दान तनिक[1] तुछ[2] कीन ।
ता परि ता के कनक घर, वाहि[3] अमित पट दीन ।।५९।।

देखो, सुदामा ने थोड़े-से[1] चाँवल दिये थे, उस पर उसके लिये सुवर्ण का महल बना दिया था । द्रौपदी ने तुच्छ[2] कौपीन का वस्त्र दिया था उस पर उसका[3] वस्त्र अपार कर दिया था ।

देना सब ठाहर भला, जे कुछ दिया जु जाय ।
ताही माँहि विशेष यहु, जु खर्चे भगवत भाय[1] ।।६०।।

यदि कुछ दिया जाय तो देना सभी जगह अच्छा है किन्तु उन सब में वह विशेष है जो भगवान् के उद्देश्य[1] से खर्च किया जाय ।

हरि हित दशवंध[1] खर्च तों, आवे दशा सु द्वारि ।
रज्जब राजा चोर यम, ले[2] हर[3] सके न मारि[4] ।।६१।।

ईश्वर के लिये दशोंन[1] (कमाई के सौ में से दश) खर्च करने पर द्वार पर सुन्दर दशा ही रहती है अर्थात् सुख ही रहता है । उसके धन को राजा नहीं लेता[2], चोर नहीं हरते[3] और उसे यम भी दंड[4] नहीं दे सकता ।

सर्वस्व दीजे तो भला, नहिं तो दशवंध काढि ।
रज्जब अज्जब बात यहु, बहुत कहैं क्या बाढि ।।६२।।

अपना सब कुछ प्रभु के लिये दे तब तो अच्छा ही है, नहीं तो दशोंन तो अवश्य निकालना चाहिये । बहुत बढ़ाकर क्या कहें, यह भगवत् अर्थ देना रूप बात अद्भुत है ।

अतीत[1] अवनि[2] हाली सती[3], बीज विभूति[4] सँभालि ।
कर मुकतों[5] मुकतो[6] किरखि[7], मूठि मूंद तहँ ठालि[8] ।।६३।।

संत[1] रूप पृथ्वी[2] है, सद्गृहस्थ[3] हाली है और ऐश्वर्य[4] बीज है, जैसे हाली हाथ की मुट्ठी को खुली[5] रखकर बीज डालता है वहां तो खेती[7] बहुत[6] होती है और मुट्ठी बंद कर लेता है वहां खेत खाली[8] रह जाता है, वैसे ही सद्गृहस्थ संतों की सेवा करता है तब तो उसका सुकृत बढ़ता है और नहीं करता तो सुकृत से रहित रहता है ।

कृपण सु गल थन[1] दानि थन, अजा[2] सु उकरी[3] माँहि ।
जन रज्जब स्रवते[4] सफल, नीझर[5] निरफल जाँहि ॥६४॥

माया[2] रूप बकरी[3] के कृपण तो गले के स्तन[1] हैं और दानी दूध के स्तन हैं, इनमें जो दान रूप दूध देते[4] हैं वे दानी तो सफल हैं और नहीं[5] देने वाले कृपण निष्फल हैं ।

रज्जब दुआ[1] फकीर की, राजेश्वर को दान ।
उभय ठौर अघ उतरै, मन वच कर्म करि मान ॥६५॥

साधु का दान आशीर्वाद[1] है, राजा आदि धनियों को धन का दान देना चाहिये । ऐसा करने से दोनों के ही पाप नष्ट होते हैं, यह मन, वचन, कर्म से सत्य ही मानो ।

रज्जब अशन[1] वसन[2] अधिपति[3] उदक[4], साधू दान असीस ।
सती[5] यती[6] बांछै भला, भला करैं जगदीश ॥६६॥

भोजन[1]-वस्त्र[2] देना राजा[3] आदि धनियों का दान[4] है और आशीर्वाद देना साधु का दान है । इस प्रकार सद्गृहस्थ[5] और साधु[6] एक दूसरे से अपना भला चाहते हैं । उक्त प्रकार दान करते रहने से जगदीश्वर दोनों का ही भला करते हैं ।

जे आशिक[1] अल्लाह के, सोइ अतीतों यार[2] ।
ज्यों रज्जब हित बींद के, होत बरात्यों प्यार ॥६७॥

जैसे बींद के लिये बरातियों से भी प्रेम करते हैं, वैसे ही ईश्वर के प्रेमी[1] संतों के भी प्रेमी[2] होते हैं ।

खाणे की सब खलक[1] कने,[2] खुलावण की जु नाँहि ।
खालिक[3] सब हुं खुलाव ही, कै[4] खालिक कामहि माँहि ॥६८॥

सभी संसार[1] के पास[2] खाने की विद्या है, खिलाने की नहीं है । कितने[4] ही ईश्वर के भजन रूप कार्य में संलग्न हैं उनको और सब को ईश्वर[3] ही खिलाता है ।

सुख दीन्हे सुख पाइये, दुख दीन्हे दुख होय ।
उभय अंग[1] नाके[2] अनन्त, जन रज्जब करि जोय[3] ॥६९॥

अन्य को सुख देने से सुख मिलता है और दुःख देने से दुःख मिलता है । सुख-दुःख दोनों के स्वरूप[1] को देने-लेने के अनेक प्रसंग[2] आते हैं, उन को विचार करके देखते[3] रहना चाहिये ।

आतम संबल[1] शोभ[2] जग, तीजे सुख दायक।
जन रज्जब मुर[3] काम ह्वै, कर सुकृत लायक ॥७०॥

सुकृत जीवात्मा के लिये परलोक के मार्ग का खर्च[1] है, सुकृत करने से जगत् में शोभा[2] होती है, तीसरे सुख दाता है। सुकृत से उक्त तीन[3] काम होते हैं अतः सुकृत करने लायक है करना चाहिये।

पेट भरचा बहु पुण्य कर, धाये धरम सु धन्न[1]।
रज्जब भूख न भास ही, युग युग तिन के मन्न[1] ॥७१॥

जिन ने बहुत पुण्य करके पेट भर लिया है, जो धर्म रूप धन[1] से तृप्त हो गये हैं, उनके मन[1] में अनेक युगों तक भी आशा रूप भूख नहीं दिखाई देगी।

रज्जब रट रोटी भली, सुकृत सालण[1] लाय।
आरति[2] अहर[3] सु लीजिये, भूख युगन की जाय ॥७२॥

राम नाम की रट रूप रोटी, सुकृत रूप शाक[1], विरह व्यथा[2] रूप होठों[3] से ग्रहण करो, इस प्रकार भोजन करने से अनेक युगों की आशा रूप भूख भाग जायगी।

रज्जब पोषे पुण्य के, सदा सुखी दरशंत।
दुख पावे नहिं दिल दया, सुख दाई मन मंत[1] ॥७३॥

पुण्य का पोषण करने से पोषक सदा सुखी रहता है ऐसा ही दिखाई देता है, वह दुःख नहीं पाता, उसके दिल में दया होती है और मन के विचार[1] भी सुख प्रद ही होते हैं।

चार पहर संतोष ह्वै, पेट भरे निज अंग[1]।
परमारथ पर[2] को दिये, भूख सदा की भंग ॥७४॥

हे प्रिय[1] साधक ! अपना पेट भरने से चार पहर के लिये संतोष होता है किन्तु दूसरे[2] को देने से जो परमार्थ होता है, उससे सदा की भूख भाग जाती है अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध होकर भोगाशा नष्ट हो जाती है।

परमार्थ पुण्य पोरसा, पाया प्राण पसाव[1]।
रज्जब सावित[2] भाव शिर, घटै न खरचो खाव[3] ॥७५॥

परमार्थ से उत्पन्न पुण्य पौरषा (मनुष्याकार सुवर्ण की मूर्ति) की कृपा[1] के समान है। जैसे पौरषा को प्राप्त करके प्राणी प्रतिदिन उसकी पूजा के पश्चात् हाथ पैर काटता रहे और शिर न काटे तो हाथ-पैर

प्रतिदिन नये आने से खूब खर्चे और खाये[3] तो भी उसके धन की कमी नहीं आती, वैसे ही परमार्थ में भाव पूरा[2] रहे तो कोई कमी नहीं आती।

जीव दया जगदीश दत, तब सुकृत सुत होय।
तो रज्जब पुण्य पूत को, पावे बिरला कोय ॥७६॥

जीव दया जगदीश्वर का दान है, वह प्राप्त हो तब उसके सुकृत रूप पुत्र होता है और सुकृत पुत्र हो जाय तो भी उस सुकृत के पुण्य रूप पुत्र होता है, उसको कोई अभिमान रहित बिरला पुरुष ही प्राप्त करता है। अभिमान से सुकर्म का पुण्य नष्ट होता है।

रज्जब जीवन जड़ी न जीव कन[1], राखी राम जु गोय[2]।
दई[3] देवे तो पाइये, सुमिरण सुकृत दोय ॥७७॥

जीव के पास[1] हरि-स्मरण और सुकृत रूप जीवन जड़ी नहीं है, रामजी ने इसे गुप्त[2] ही रक्खा है। हरि-स्मरण और सुकृत ये दोनों राम[3] दे तो ही प्राप्त होते हैं।

परमारथ परलोक धन, स्वारथ है संसार।
जन रज्जब जाणिर[1] कही, तामें फेर न सार ॥७८॥

परमार्थ के लिये खर्चा हुआ धन परलोक में काम देता है और स्वार्थ के लिये खर्चा हुआ यहां संसार में ही भोग सुख देता है। यह हमने जानकर[1] के ही कहा है, यही सार बात है, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है।

मनिषा[1] देही मौज[2] में, द्वै करि लीजे मन्न[3]।
रे रज्जब परलोक को, सुमिरण सुकृत धन्न[4] ॥७९॥

हे मन[3]! मनुष्य[1] शरीर रूप लहर[2] में परलोक के लिये हरि-स्मरण और सुकृत ये दो प्रकार का धन[4] तो अवश्य ही संग्रह करले।

सत की चेरी लक्ष्मी, आदि कहैं सब कोय।
जे दरिद्र तो सत नहीं, सत तो लक्ष्मी होय ॥८०॥

लक्ष्मी सत्य की दासी है, यह आदि काल से ही सब कहते आये हैं। यदि दरिद्र है तो समझना चाहिये वहाँ सत्य नहीं है। सत्य है तो लक्ष्मी अवश्य होगी।

रज्जब रिधि[1] चंचल सदा, जैसे वर बिन वाम।
पुण्य पुरुष सुन्दरि शकति[2], नित निश्चल तिहिं धाम ॥८१॥

जैसे पति बिना नारी चंचल रहती है, वैसे ही पुण्य बिना माया[1] सदा चंचल रहती है और जैसे पुरुष के पास नारी स्थिर रहती है, वैसे ही जिस घर पर पुण्य रहता है उस घर पर माया[2] नित्य स्थिर रहती है।

रज्जब सदन सरोवर शक्ति जल, सुकृत मोरी राखि।
विभूति वारि ज्यों ठाहरै, सब सन्तन की साखि ॥८२॥

जल के सरोवर में मोरी रखना चाहिये और माया वाले घर में सुकृत होते रहना चाहिये, जिससे जल और माया ठहर सके। मोरी बिना सरोवर फूट कर सब जल चला जाता है, वैसे ही पुण्य बिना सब माया नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार सब संतों की साक्षी है।

सूम[1] हुं सौं रिधि[2] रूठिकर, हेरि[3] छुडाया हाथ।
रज्जब राती[4] सखी[5] संग, मूवाँ न छोडे साथ ॥८३॥

देखो[3], लक्ष्मी[2] ने रुष्ट होकर कृपण[1] से अपना हाथ छुड़ा लिया है और दानी[5] के संग अनुरक्त[4] हुई है, दानी के मरने पर भी उसका साथ नहीं छोड़ती अर्थात् दान से अगले जन्म में भी वह धनी होता है।

रज्जब रिधि[1] लोहू भरचा, तो सुकृत सीर[2] छुडाव[3]।
ईहि कारी[4] कर ऊबरै, नाहीं तो मर जाय ॥८४॥

यदि शरीर में अधिक रक्त भर गया है तो फस्द[2] खुलाकर[3] रक्त निकालना चाहिये। इस उपाय[4] से ही बचेगा, नहीं तो मर ही जायगा, वैसे ही माया[1] अधिक बढ़ गई हो तो पुण्य कार्य करना चाहिये, इस उपाय से माया ठहर सकेगी, नहीं तो नष्ट हो जायगी।

आरंभ भार अपार ले, तो रिधि रुधिर भराय।
ताको जीवन युक्ति यहु, सुकृत संगी लाय ॥८५॥

यदि अधिक भार उठाना चाहे तो शरीर में रक्त वृद्धि कर किन्तु अधिक बढ़ने पर उपद्रव करने लगे तो जीवन रक्षा के लिये यही युक्ति है कि सींगी लगाकर रक्त निकालदे, वैसे ही अधिक कार्यों का आरंभ करना चाहे तो माया संग्रह कर किन्तु उसको सदा रखने की युक्ति यही है कि पुण्य कर्म करते रहना चाहिये।

रज्जब कमला[1] सही[2] कपूर गति[3], मन वच कर्म है नाँहि।
मोहन हित मिरचों रहै, नाँहीं तो उडि जाँहि ॥८६॥

हम मन, वचन, कर्म, से निश्चित[2] ही कहते हैं, लक्ष्मी[1] की चेष्टा[3] कपूर की-सी है, वह रहती भी है और नहीं भी रहती। जैसे कपूर काली

मिरचों के साथ तो ठहर जाता है नहीं तो उड़ जाता है, वैसे ही लक्ष्मी विश्वविमोहन भगवान् के लिये खर्चो तब तो ठहरती है, नहीं तो चली जाती है ।

शक्ति[1] सुमति अपणे घर आवै, कुमति जु पर घर जाय ।
मंगलगोटा[2] कैथ फल, नर देखो निरताय[3] ॥८७॥

हे नरो ! विचार[3] करके देखो, नारियल[2] और कैथ के फल को साबित हाथी निगल जाता है, तब उनके भीतर की गिरी तो हाथी में रह जाती है और वे सारे के सारे मल द्वार से बाहर आ जाते हैं, वैसे ही माया[1] और सुमति तो अपने घर अर्थात् प्रभु के पास ही आती हैं और कुमति विषयों में जाती है, वा सुमति से माया सुकृत द्वारा प्रभु के पास जाती है और कुमति से कुकृत द्वारा नष्ट हो जाती है ।

सुमति सत्य सुकृत में, शक्ति[1] रहै ठहराय ।
कुमति कुसंग कुलक्षणहुं, देखत लक्ष्मी जाय ॥८८॥

सुबुद्धि, सत्य और सुकृत में लक्ष्मी[1] स्थिर रहती है और कुबुद्धि, कुसंग और कुलक्षणों से देखते देखते ही लक्ष्मी चली जाती है ।

धरे[1] माँहि कर अधर[2]हि पहुंचे, जो वित जीव चढावै ।
काया माया छाजन[3] भोजन, भाव सु भगवत भावै ॥८९॥

जीव जो भी धन सुकृत के द्वारा भगवान् के चढ़ाता है, वह मायिक[1] शरीरों के द्वारा ही माया-रहित ब्रह्म[2] के पास पहुंचता है । शरीर, माया, वस्त्र[3], भोजन जो भी हो भगवान् को भाव से ही प्रिय लगता है ।

रज्जब राखो ऋद्धि[1] को, भाव भक्ति भंडार ।
भण्डारी भगवंत भल[2], कोई सके न टार[3] ॥९०॥

माया[1] को भाव भक्ति के भंडार में रक्खो, भगवान् रूप भंडारी बहुत अच्छे[2] हैं, वहां से कोई भी न लेजा[3] सकेगा, अर्थात् भाव भक्ति द्वारा भगवान् के लिये खर्च करोगे वह धन तुम्हारा ही रहेगा ।

रज्जब राखो माल को, खैर[1] खजाना माँहि ।
खालिक[2] तहां खजानची, खामति[3] खल[4] हल[5] नाँहि ॥९१॥

अपने माल को दान[1] रूप खजाने में रक्खो, वहां ईश्वर[2] खजाञ्ची है, अतः दुष्टों[4] की हल-चल[5] से होने वाली हानि[3] की शंका नहीं है ।

रज्जब रिधि[1] बहती[2] सबै, रहता[3] सुकृत धन्न[5] ।
मनसा वाचा कर्मना, सो कुछ कीजे मन्न[4] ॥९२॥

अन्य धन[1] तो सब जाने वाला[2] है, किन्तु सुकृत रूप धन[5] रहने[3] वाला है। अतः हे मन[4] ! वह सुकृत ही कुछ करना चाहिये।

माल धणी अरु माल को, मालिक मिलतों एक।
जैसे पावक परसतैं, कण कूकस न विवेक ॥९३॥

जैसे अग्नि से मिलने पर अन्नकण और भूसा का भिन्न ज्ञान नहीं रहता दोनों भस्म होकर एक हो जाते हैं, वैसे ही माल के स्वामी और माल दोनों को प्रभु प्राप्त होते हैं तब दोनों एक हो जाते हैं।

धन धणी[1] धणी[2]हुं चढै, हुये सु होते आदि।
कण कूकस व्योरा नहीं, पावक परसै मादि ॥९४॥

जैसे अन्न कण और भूसा की राशि से अग्नि का स्पर्श हो जाय तब अन्न कण और भूसा का भिन्न २ विवरण नहीं हो सकता, वे तो दोनों भस्म होकर एक हो जाते हैं, वैसे ही धन और धन का स्वामी[1] भगवान्[2] के समर्पण हो जाते हैं तब वे भी दोनों एक ही हो जाते हैं। पूर्व काल में भी एक होते रहे है और अब एक ही होते हैं।

कै हरि सुमिरे उद्धरै, कै सेयें[1] कोउ संत।
जन रज्जब द्वै काम की, बाकी और अनन्त ॥९५॥

या तो हरि-स्मरण करने से प्राणी का उद्धार होता है या किसी श्रेष्ठ संत की सेवा[1] करने से उद्धार होता है। ये दो साधना तो मुक्ति रूप कार्य को सिद्ध करने वाली हैं, बाकी हैं तो और भी अनन्त किन्तु उक्त दो के समान नहीं हैं।

साधू घट ह्वै आदरै[1], अशन[2] वसन[3] को राम।
रज्जब रिधि[4] आई अरथ, और गई बेकाम ॥९६॥

संतों के शरीर द्वारा ही राम भोजन[2]-वस्त्र[3] लेते[1] हैं। जो संतों की सेवा में धन[4] खर्च हो जाता है, वह तो भगवान् के अर्थ लग जाता है। बाकी और व्यर्थ ही जाता है।

अंतर्यामी गर्भ गति[1], साधू सुन्दरि माँहि।
रज्जब जायें एक के, दोन्यों पोषे जाँहि ॥९७॥

नारी के गर्भ में स्थित बालक एक नारी को जिमाने से जिमाया जाता है, उसके लिये कोई और ढंग नहीं करना पड़ता, वैसे ही संत के हृदय में अन्तर्यामी राम प्रवेश[1] किये हुये रहते हैं, इसलिये एक संत को जिमाने से संत और राम दोनों का ही पोषण हो जाता है।

ब्रह्म वृक्ष धरती धरचा, जड़ सु जती[1] उणहार[2] ।
सेव[3] सलिल माली सती[4], सींचत फल दीदार ॥९८॥

ब्रह्म रूप वृक्ष माया रूप पृथ्वी में स्थिर है, संत[1] उसकी जड़ के समान[2] हैं, संतों की सेवा[3] जल है और सद्गृहस्थ[4] सींचने वाला माली है, सींचता है तब ब्रह्म का साक्षात्कार रूप फल प्राप्त करता है ।

रज्जब साधू पूजिये, साहिब कीजे यादि ।
दुनिया में द्वै काम की, बाकी की सब बादि ॥९९॥

संतों की सेवा करना चाहिये और प्रभु का स्मरण करना चाहिये । संसार में ये दो ही साधना जीव के मुक्ति रूप कार्य सिद्धि की हेतु हैं, इनके बिना मुक्ति साधन नहीं होने से बाकी की सभी व्यर्थ हैं ।

दत गोरख महमुद चौबीस,बुद्धहु बोध धरे गुरु शीश ।
दर्शन दुनी अतीत अराध, रज्जब साधू माँहि अगाध ॥१००॥

संतों में विशेष रूप से अगाध ब्रह्म स्थित है इसीलिये दत्तात्रेय, गोरक्ष नाथ, मुहम्मद, बुद्ध आदि सभी ने अपने २ गुरुओं का ज्ञान शिर पर धारण किया था और सभी संसार के मानव भेषधारी साधुओं की आराधना करते हैं ।

षड् दर्शन चहुं वेद मध्य, पूजा साधु प्रसिद्ध ।
इन सेयों[1] सेया धणी[2], बोध[3] बताई विद्ध[4] ॥१०१॥

ऋग्, यजु, साम, अथर्व इन चारों वेदों में तथा पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, वेदांत, इन छः दर्शनों में साधु पूजा से कल्याण होना प्रसिद्ध है । इन संतों की सेवा[1] से भगवान्[2] की सेवा होती है, यही सब ज्ञानियों ने अपने ज्ञान[3] द्वारा भगवत् सेवा की विधि[4] बताई है ।

अंघ्रिप[1] रूपी आतमा, परमारथ सब ठाट[2] ।
रज्जब रिधि[3] सुकृत लगी, सत पुरुषों की बाट[4] ॥१०२॥

परमार्थी जीवात्मा वृक्ष[1] रूप है, जैसे वृक्ष का जो कुछ भी बनाव[2] है, वह सब परमार्थ में ही लगता है, वैसे ही उसका धन[3] सुकृत में ही लगता है, यही सत्पुरुषों का मार्ग[4] है ।

वैरागर परमारथी, मुक्ता देय समंद[1] ।
त्यों सत पुरुषों की शकति[2], परमारथी जु इंद[3] ॥१०३॥

जैसे वैरागर जाति का हीरा दूसरों को सुख देता है, समुद्र[1] मोती देता है, मेघ[3] जल देता है, वैसे ही सत्पुरुषों की माया[2] भी परमार्थ में ही लगती है ।

विविधि घटा सुकृत स्रव[1]हिं, धर्म सु धरती आय ।
रज्जब नौखंड नीपजै[2], दुख दारिद्र सु जाय ॥१०४॥

नाना प्रकार की घटायें पृथ्वी पर वर्षती[1] हैं तब पृथ्वी के नौओं खंडों में खेती उत्पन्न[2] होती है. वैसे ही धर्म में मन लगाकर सुकृत करते हैं तभी प्राणियों का दु:ख और दारिद्र नष्ट होता है ।

माया वर्षै मेघ ज्यों, महंत मही पर आय ।
अतीत अठारह भार लें, परमारथ में जाय ॥१०५॥

मेघ पृथ्वी पर जल वर्षाता है तब अठारह भार वनस्पतियाँ लेती हैं, वैसे ही महन्त धन को बाँटते हैं तब अतीत संत लेते हैं और वही परमार्थ में जाता है ।

ऋद्धि[1] रहट[2] ज्यों बहत है, पुरुष पारिछै[3] पूरि[4] ।
खलक[5] खिता[6] षट् खेत मधि, पीव हिं तन[7] तृण दूरि ॥१०६॥

कूप के अरहट[2] का जल पाड़छे[3] में भरकर[4] बहता है, यद्यपि पृथ्वी[6] के छ: खेत वहां से दूर हैं तो भी उनमें की क्यारी के तृण उस जल को पीकर पुष्ट होते हैं, वैसे ही सत्पुरुष धन[1] का वितरण करते हैं, उसको संसार[5] के योगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन छ: के भेषधारी प्राणी[7] उसका उपभोग करके प्रसन्न रहते हैं ।

मक्के मदीने द्वारिका, जीव गया जगनाथ ।
पगहुं न पहुंचे प्राणियाँ, जो लौं चले न हाथ ॥१०७॥

जो जीव जगन्नाथ. द्वारिका, मक्का, मदीना गया है, वह प्राणी यदि हाथ नहीं चलें तो केवल पैरों से ही चलकर नहीं पहुंच सकता अर्थात् हाथों की क्रिया देना-लेना आदि भी यात्रा में सहायक होती हैं । वैसे ही परमार्थ बिना केवल व्यवहार से ही प्राणी प्रभु के पास नहीं पहुँच सकता ।

पग चलाय पृथ्वी चढ्या, हस्त चाल हृद्[1] जीव ।
रज्जब चरणहु चकहु[2] परि, कर कृत[3] पहुंचै पीव[4] ॥१०८॥

जीव पैरों को चलाकर तो पृथ्वी पर चढ़ता है और हाथों को चलाकर अर्थात् हाथों से पुण्य करके प्राणियों के हृदय[1] में चढ़ जाता है, उसे याद करते रहते हैं । तथा चरणों से चलना रूप कार्य करके तो पृथ्वी[2] के स्थान विशेष पर ही पहुंचता है और हाथों से किये हुये[3] पुण्य से प्रियतम[4] प्रभु के पास पहुंचता है ।

परमारथ पथ ले गये, शक्ति[1] मिलाई सीव[2] ।
रज्जब करतां श्याम[3] धर्म, द्वै दत[4] पाया जीव ॥१०९॥

जिन जीवों ने अपनी माया[1] को परमार्थ मार्ग में लेजाकर ब्रह्म[2] से मिला दी अर्थात् ब्रह्मार्पण कर दी, उनने उक्त दान[4] करके दो फल प्राप्त किये हैं, एक तो धर्म और दूसरा ब्रह्म[3] साक्षात्कार ।

रज्जब पावैं प्राण इहिं[1], साधों के घर माँहि ।
सुकृत नसीनी[2] स्वर्ग की, सती[3] पुरुष चढि जाँहि ॥११०॥

इस[1] सुकृत रूप सीढी को प्राणी संतों के घर में प्राप्त करते हैं अर्थात् सुकृत की शिक्षा संतों से ही मिलती है, सुकृत स्वर्ग में जाने की सीढी[2] है, सद्गृहस्थ[3] ही चढ़कर जाते हैं अर्थात् पुण्य करके स्वर्ग में जाते हैं ।

पुण्य पंथ वैकुण्ठ का, पुण्यात्मा हीं जाँहि ।
भागों[1] भाग्य सु[2] पाइये, साधू मंडल माँहि ॥१११॥

वैकुण्ठ का मार्ग पुण्य ही है, पुण्यात्मा ही वैकुण्ठ में जाते हैं । भाग्यशालियों[1] को ही भाग्य से[2] साधु मडल में पुण्य करने की पद्धति मिलती है ।

शीलवंत सुमिरण करैं, अरु सुकृत की बाणि[1] ।
रज्जब मनिषा[2] जन्म का, फल पाया तिन प्राणि ॥११२॥

जो शीलवान् हैं, हरि-स्मरण करते हैं और जिनका सुकृत करने का स्वभाव[1] है, उन प्राणियों ने मनुष्य[2] जन्म का फल प्राप्त कर लिया है ।

रज्जब रिधि में एक फल, जे परमारथ होय ।
नहीं तो निरफल निरखिये, बिन सुकृत सहुं[1] लोय ॥११३॥

माया का संचय करने में एक परमार्थ करना ही फल है, यदि परमार्थ नहीं किया जाय, तो, हे लोगो ! बिना सुकृत के सम्मुख[1] हुये अर्थात् बिना पुण्य कर्म किये तो देखलो माया का संग्रह निष्फल ही है ।

रज्जब कुकृत गिरि गिजा[1], कर टोलण[2] सु सुगम्म[3] ।
सुकृत नाल सु शैल[4] शिर, ले जाणी सु अगम्म[5] ॥११४॥

कुकर्म तो पर्वत के शिखर के भारी पत्थर[1] के समान है, जैसे उस पत्थर को पर्वत पर से हाथ से गुड़ा देना[2] सुगम[3] है, वैसे ही कुकर्म करना सुगम है, और सुकृत नाल (पहलवानों के कसरत करने के गोलाकार भारी पत्थर) के समान है, नाल को पर्वत[4] शिखर पर ले जाना कठिन है, वैसे ही पुण्य कर्म करना कठिन[5] है ।

रज्जब राम कहै दे रोटी, या परि बात और नहिं मोटी ।
जती[1] सती[2] सीझै[3] इहिं[4] ठौर, बाकी बहु बेकामी और ॥११५॥

राम-राम करना और रोटी देना, इससे बढ़कर और कोई भी बात नहीं है। उक्त इन[४] दो साधन रूप स्थान में ही साधु[१] और सद्गृहस्थ[२] मुक्तिरूप सिद्धावस्था[३] को प्राप्त हुये हैं, बाकी मुक्तिरूप काम को न करने वाली बातें तो बहुत हैं।

बच्छ[१] जती[२] सुरही[३] सती[४], पय[५] रूप पुण्य होय।
जन रज्जब निर्दयों के, दूध न दत्तवि[६] कोय ॥११६॥

बछड़े[१] के समान साधु[२] है, गाय[३] के समान सद्गृहस्थ[४] है, दूध[५] के समान पुण्य है। गाय निर्दयी हो तो बछड़े को दूध नहीं पीने देती। वैसे ही गृहस्थ निर्दय हो तो साधु को दान[६] नहीं देता।

सती[१] उद्धरै धर्म सत, जती[२] नाम जत[३] राखि।
रज्जब ये दोन्यों भली, सब संतन को साखि[४] ॥११७॥

सद् गृहस्थों[१] का उद्धार धर्म तथा सत्य पालन से होता है और साधुओं[२] का उद्धार हरि नाम चिन्तन तथा ब्रह्मचर्य[३] से होता है। ये दोनों साधना ही अच्छी हैं, ऐसी ही सब संतों की साक्षी[४] मिलती है।

भाव[१] भक्ति वैराग मधि[२], शक्ति[३] भक्ति सु गृहस्थ।
रज्जब कही विचार कर, शोधर[४] साधू मत्त[५] ॥११८॥

वैरागयुक्त साधुओं में[२] विचार[१] तथा भगवद् भक्ति रूप साधन होना चाहिये और गृहस्थों में धन[३] से संतों की सेवा तथा ईश्वर भक्ति रूप साधन होना चाहिये। यह हमने संतों का सिद्धान्त[५] खोजकर[४] और उसे विचार के ही कहा है।

सतीयें[१] सुकृत चाहिये, जती[२] अजब[३] सन्तोष।
रज्जब द्वै[४] बिन दोय के, दीसै दीरघ[५] दोष ॥११९॥

सद् गृहस्थों[१] को सुकृत अवश्य करना चाहिये, साधुओं[२] को महान्[३] संतोष रखना चाहिये। सुकृत और संतोष इन दो[४] के बिना, गृहस्थ और साधु इन दो में महान्[५] दोष दिखाई देता है।

यति[१] तृष्णा सति[१] सूम गति[३], द्वै ठाहर द्वै मार[४]।
जन रज्जब साँची कही, ता में फेर न सार ॥१२०॥

साधु[१] में तृष्णा और सद्गृहस्थ[२] में कृपणता, ये दोनों चेष्टा[३] रूप स्थान दोनों के लिये दंड[४] प्रद हैं। यह हमने सत्य और सार रूप ही कहा है, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है।

रज्जब रीतो[1] माला रहट[2] को, पाणी पुण्य न कोय ।
सत[3] जत[4] घड़ि[5] बाँधे बिना, कहु नेपै[6] क्या होय ॥१२१॥

अरहट[2] की माला कूप में खाली[1] फिरती रहे उसमें घड़ियां[5] बाँधे बिना पानी नहीं आवे तब कहो खेती[6] होगी क्या ? अर्थात् नहीं, वैसे ही सद्गृहस्थों में सत्य[3] पालन तथा पुण्य और साधुओं में सत्य ब्रह्म की उपासना तथा ब्रह्मचर्य[4] पालन न हो तो क्या मुक्ति होगी ? अर्थात् नहीं ।

दान पुण्य गेही[1] धरम, वैरागी[2] जत[3] जाप ।
जन रज्जब द्वै काम की, बाकी सकल कलाप[4] ॥१२२॥

दान-पुण्य करना गृहस्थी[1] का धर्म है, हरि नाम जप करना, ब्रह्मचर्य[3] से रहना विरक्त[2] का धर्म है । ये उक्त साधनायें दोनों के काम की हैं । बाकी सब समूह[4] विशेष काम का नहीं है ।

सरवर[1] तरुवर सती[2] के, मुर[3] ठाहर मत[4] एक ।
रज्जब जल दल[5] सम दृष्टि, यो ही बड़ा विवेक ॥१२३॥

तालाब[1], वृक्ष और सद्गृहस्थ[2], इन तीनों[3] स्थानों में एकता का ही सिद्धान्त[4] रहता है । तालाब सबको जल देता है, वृक्ष सबको पत्रादि[5] देता है और सद्गृहस्थ सबका समदृष्टि से पोषण करता है, गृहस्थ के लिये यही महान् ज्ञान है ।

अरिल–वैरागी[1] रु विहंग[2] दास[3] द्रुम[4] आव हीं,
माया छाया ठौर सबै सब पाव हीं ।
उभय न राखहि अंग[5] भंग[6] नहि जाहि रे,
परि हां रज्जब रोपे[7] राम जुगल जग माँहि रे ॥१२४॥

पक्षी[2] वृक्ष[4] पर आते हैं, तब वृक्ष से सभी छाया, बैठने का स्थान, पत्र, पुष्प, फल प्राप्त करते हैं, वैसे ही विरक्त[1] गृहस्थ सेवक[3] के आते हैं, तब गृहस्थ से सभी को धन, ठहरने का स्थान, भोजन, वस्त्रादि प्राप्त होते हैं । वृक्ष और गृहस्थ दोनों ही अपने शरीर[5] के लिये नहीं रखते , उनके यहाँ आने वाले निराश[6] होकर नहीं जाते । इन दोनों को राम ने जगत् में ऐसे ही स्थापित[7] किये हैं ।

सती[1] सु तरुवर जती[2] खग, बैठे आय विहंग[3] ।
रज्जब अज्जब यहु मता, सब सौं एक हि रंग[4] ॥१२५॥

सद् गृहस्थ[1] वृक्ष के समान है, साधु[2] पक्षी के समान है । वृक्ष पर पक्षी[3] आकर बैठते हैं उन सबसे वह सम रहता है, यही अद्भुत सिद्धान्त

सद् गृहस्थ रखता है, जितने साधु आते हैं उन सबसे एकसा ही प्रेम[४] करता है।

पंच दोय पूजे[१] परमारथ, आतम राम सगाई[२]।
शिश्न सनेह स्वारथ सौदा, मन वच कर्म ठगाई ॥१२५॥

पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन-बुद्धि ये सातों परमार्थ का सत्कार[१] करते हैं तब तो आत्म स्वरूप राम से संबन्ध[२] होता है और उक्त सातों शिश्नेन्द्रिय के प्रेम में फँस जाते हैं तो वह स्वार्थ का व्यापार है, उसमें मन, वचन, कर्म से ठगाई ही दीखती है।

षट् दर्शन देखैं खुशी, जग जीवन भावन[१] मोचनं[२]।
रज्जब पौखै[३] पंच द्वै, सतो[४] सप्त ये लोचनं ॥१२७॥

जग जीवन प्रभु को प्रिय[१] और मुक्त[२] करने वाले-योगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष इन छः से आदि भेषधारियों को प्रसन्नता से देखें और सद्गृहस्थों[४] को चाहिये, अपनी पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सात से संतों का पोषण[३] करें, ये संत प्रभु को दिखाने के लिये नेत्र रूप हैं।

खलक[१] खिता[२] षट[३] खेत मधि, बाहो सुकृत बीज।
रज्जब निपजै भाव[४] भरि, जे न होय यूं धीज ॥१२८॥

संसार[१] रूप पृथ्वी[२] में योगी जंगमादि छः[३] खेत हैं, उनमें पुण्य रूप बीज बोना चाहिये। बोने पर रुचि[४] भर उत्पन्न होगा। यदि पुण्य करने के लिये नहीं हो तो भी इस प्रकार विश्वास रखना चाहिये।

षट् दर्शन षट् खेत भल, जगतजिमी मधि जान।
ग्यारस बारस बाहिये, निपजे एक समान ॥१२९॥

जगत् रूप पृथ्वी में योगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, ये छः खेत अच्छे हैं ऐसा जान, इनमें ग्यारस को वा बारस को बाहो दोनों दिन बोया हुआ का फल बराबर ही उत्पन्न होगा।

धारा तीरथ धार तलि, देश दिसंतर नाँहि[१]।
त्यों रज्जब सुकृत भजन, समझ देख मन माँहि ॥१३०॥

आकाश की जल धारा तीर्थ की धार के नीचे देश देशान्तरों में कहीं भी स्नान[१] कर सकते हो, वैसे ही मन में समझ कर देखो, पुण्य और भजन कहीं भी कर सकते हो।

जीव जिमी सौं जात है, जप जल उभय अकाश।
रज्जब चढत न चखि चढै[१], उतरत प्रकट प्रकाश[२] ॥१३१॥

जीव का जप और पृथ्वी का जल ये दोनों प्रभु और आकाश में चढ़ते हैं तब तो नेत्रों से नहीं दीखते[1] किन्तु उतरते हैं तब प्रकट रूप से दीखते हैं अर्थात् जल वर्षता हुआ दीखता है और जप का फल मिलता है तब वह भी प्रत्यक्ष दीखता[2] है ।

अवनि[1] भेंट आकाश को, अंभ[2] अलोप[3] सु जाय ।
तापरि वरं[4] भू[5] व्योम ह्वै, विपुल[6] सु वर्षै आय ॥१३२॥

पृथ्वी[1] की जल[2] रूप भेंट आकाश को छिपी[3] हुई जाती है, उस पर आकाश वरदाता[4] होता[5] है तब बहुत[6] जल वर्ष कर पृथ्वी पर आता है, वैसे ही जीव की सुकृत रूप भेंट प्रभु के पास छिपी हुई जाती है, उस पर प्रभु वर दाता होकर उसका फल बहुत देते हैं ।

रज्जब दे ले एक को, परमेश्वर के भाय ।
मन मुख माया खर्चतों, सब का सरबस जाय ॥१३३॥

परमेश्वर के प्रेम के लिये तो कोई एक विरला ही धन देकर गरीबों का दुःख हरण करता है बाकी मन की इच्छानुसार माया खर्च करने से तो सभी का सर्वस्व नष्ट हो जाता है ।

जन रज्जब रिधि[1] राम बिन, स्वारथ खरच्यों हानि ।
सुकृत सेवा साधु की, यहु परमारथ जानि ॥१३४॥

राम के निमित्त बिना, स्वार्थ में ही धन[1] खर्चने से हानि होती है । संतों की सेवा करना सुकृत है, यही परमार्थ है, ऐसा जान ।

रज्जब रिधि[1] स्वारथ गई, सो ठग चोर हु लीन ।
भगवंत भोग क्यों नींबड़ै[2], हरि हित कदे न दीन ॥१३५॥

जो धन[1] स्वार्थ में ही खर्चा गया है, वह ठग चोरों के लेजाने के समान व्यर्थ ही गया है । भगवान् के लिये संतों को जिमाने से तो कैसे समाप्त[2] हो सकता है ? किन्तु हरि के लिये तो कभी भी कुछ नहिं दिया, वह तो समाप्त होगा ही ।

हाली भोले भोग[1] भरि, क्यों छूटे जिव[2] जानि ।
त्यों रज्जब रिधि[3] राम बिन, स्वारथ खरच्यों हानि ॥१३६॥

हे भोले हाली ! हासिल[1] भर, अपने मन[2] में समझ वह कैसे छूटेगा ? नहीं भरने से हानि ही होगी, वैसे ही राम के निमित्त दिये बिना स्वार्थ में ही धन[3] खर्चने से हानि ही होगी । अतः सुकृत अवश्य करना चाहिये ।

हाली छूटै भोग[1] भरि, क्षत्री सह शिर धार ।
जती[2] सती[3] सोझै[4] सु यूं, रज्जब समझ विचार ॥१३७॥

हाली हासिल[1] देकर छूटता है, क्षत्रिय तलवार की धार शिर पर सहन करके छूटता है, वैसे ही गृहस्थ[3] पुण्य करके मुक्त होता है और साधु[2] भजन करके मुक्त[4] होता है। यह विचार द्वारा तुम स्वयं समझ सकते हो।

करसा[1] सती[2] जती[3] रजपूत[4], उभय राम राज आगे भय भूत[5]।
गृही जु भोग[6] भरै भंडार, वैरागी[7] खाय शीश उतार ॥१३८॥

किसान[1] और राजपूत[4] दोनों राजा के आगे भयभीत[5] रहते हैं। इससे किसान हासिल[6] देकर राजा का भंडार भरता है और राजपूत शिर उतार कर अर्थात् युद्ध करके खाता है, वैसे ही सद्गृहस्थ[2] और साधु[3] दोनों राम के आगे भयभीत[5] रहते हैं, सद् गृहस्थ भोग संग्रह करके पुण्य करता है और विरक्त[7] भजन द्वारा अभिमान नष्ट करके खाता है। भय-भीत के स्थान में भय भूत, रजपूत के साथ अनुप्रास के लिये दिया है।

गाडी गांठि गिली[1] गई, गाफिल[2] काया साथ।
रज्जब रिधि[3] तेती रही, जु हरि हित खरची हाथ ॥१३९॥

जो माया[3] पृथ्वी में गाड़ी जाती है और गांठ बाँध कर रक्खी जाती है, वह तो हे असावधान[2]! तेरे शरीर के छूटने के साथ ही यहां रह जाती है और उसे दूसरे ही खाते[1] हैं। तेरे लिये तो वही आगे तैयार रहती है जो हरि के लिये तूने अपने हाथ से खर्च करी है।

रज्जब आतम अवनि पर, वाणी वर्षा होय।
उभय अँकूर न भास ही, तो बीज विघ्न है कोय ॥१४०॥

यदि पृथ्वी पर वर्षा होती है और अंकुर नहीं निकलता तो समझना चाहिये, बीज में ही कोई खराबी रूप विघ्न है, वैसे ही जीवात्मा को संतों की वाणी सुनने को मिलती है, फिर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो समझना चाहिए अन्तःकरण मलीन है।

साधू दर्शन देख तैं, दृग[1] जु दुरै[2] दिल माँहि।
बीज बल्या सो जाणिये, जो वर्ष्यों ऊगे नाँहि ॥१४१॥

यदि जल वर्षने से भी नहीं ऊगता तो समझना चाहिये जो बीज बोया था वह जल गया है, वैसे ही संत के दर्शन होने पर नेत्र[1] देखने से हटते[2] हैं और हृदय के भीतर प्रसन्नता न आये तो समझना चाहिये, उसमें सात्त्विकी श्रद्धा नहीं है।

दरशन दाहा[1] देखि कर, मुखाँ कमल कुमिलाय।
तो रज्जब तिहिं दास द्रुम, सेवा फल को खाय ॥१४२॥

जो किसी को देखकर ही जल-जाता[1] है तब उस वृक्ष का फल कौन खायेगा ? वैसे ही संत के दर्शन करके जिसका मुख-कमल कुम्हला जाता है तब उस सेवक की सेवा कौन ले सकेगा ? वह करेगा ही नहीं ।

रज्जब सेवा संत की, मन मैले करि कीज ।
सो कृषि कैसे नीपजे, भून जु बाह्या बीज ॥१४३॥

जिसमें बीज भूनकर बोया गया है, वह खेती कैसे उत्पन्न होगी ? वैसे ही मैले मन से संत की सेवा की जायगी तो उसका फल कैसे मिलेगा ?

दया धर्म जो दिल में नाँही, गहला[1] ज्ञान अज्ञान्यों माँहीं ।
यूं आगे को होय न सामा[2], रज्जब आय गया बेकामा ॥१४४॥

यदि हृदय में दया-धर्म नहीं हो तो ऐसे अज्ञानियों का ज्ञान अज्ञान[1] ही है । इस प्रकार के ज्ञान से आगे के लिये सामान[2] तैयार नहीं होता और प्राणी मानव शरीर में आकर अपने कल्याण का काम किये बिना ही चला जाता है ।

स्वारथ की गांठैं खुली, सुन सद्गुरु की साखि[1] ।
परमारथ पच्ची[2] हुआ, साधु वेद कहैं साखि[3] ॥१४५॥

सद्गुरु की वाणी[1] सुनकर जिनकी स्वार्थमय ग्रंथियां खुल गई हैं अर्थात् निस्स्वार्थ हो गये हैं । उनका मन परमार्थ में पूर्ण रूप से लीन[2] हो गया है, इसकी यथार्थता में संत और वेद भी साक्षी[3] देते हैं ।

सुमिरण सेवा शब्द मधि, सुकृत का अस्थान ।
मुर[1] मंदिर शोधैं[2] चलैं, रज्जब संत सुजान ॥१४६॥

हरि-स्मरण, सेवा और शास्त्र-संतों के शब्द ये तीन ही सुकृत के स्थान हैं । इन तीनों[1] मंदिरों को खोजते[2] हुये अर्थात् हरि-स्मरण तथा सिद्ध संतों की सेवा करते हुये और शब्दों को विचारते हुये ही बुद्धिमान् साधक संत संसार में विचरते हैं ।

रज्जब सत सुकृत बिना, सूने शहर शरीर ।
अशन अतीत न पाइये, भूखा जाय फकीर ॥१४७॥

जिस शहर में अतिथियों को भोजन नहीं मिलता, साधु भूखे ही जाते हैं, वह सुकृत बिना शून्य ही माना जाता है, वैसे ही सत्य के बिना शरीर शून्य है ।

सती[1] बिना सूने शहर, सत्य सगाई[2] नाश ।
रज्जब ऊजड़[3] वोदर[4] हुं, अशन[5] अतीत[6] निराश ॥१४८॥

सद् गृहस्थों[1] के बिना शहर शून्य ही होते हैं, वहां सत्य का संबन्ध[2] नष्ट हो जाता है, वहां से साधु[6] भोजन[5] से निराश होकर खाली[3] पेट[4] ही जाते हैं।

जती[1] सती[2] को पूछ हीं, सब को देय बताय।
बस्ती में बस्ती उहै[3], नर देखो निरताय[4] ॥१४६॥

साधु[1] सद्गृहस्थ[2] का घर पूछते हैं तब जहां सभी कोई भक्त का घर बता दें तो उसे[3] ही बस्ती में बस्ती समझना चाहिये। हे नरो ! तुम भी विचार[4] करके देखो, जहां सत्य-धर्म का पालन करने वाला सद्गृहस्थ नहीं वह कोई बस्ती है ?

बस्ती बंदे[1] ऊजड़[2] और, आये गये न पाव हिं ठौर।
सफल वृक्ष खग सेन्या[3] वास, निरफल तरुवर जाँहि निराश ॥१५०॥

जैसे फलों के सहित वृक्ष पर तो पक्षी समूह[3] निवास करता है और फल रहित वृक्ष से निराश होकर उड़ जाते हैं, वैसे ही जहां अपने ग्राम को छोड़कर आने वाले अतिथियों को स्थान-भोजन नहीं मिलता, वह बस्ती खाली[2] है और वहां के मानव[1] सत्य-धर्म से रहित हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सुकृत का अंग ६५ समाप्तः ।सा० ३०७८॥

अथ दान निदान पुण्य प्रवीण का अंग ६६

इस अंग में पुण्य वृद्धि के हेतु और पुण्य करने की चतुरता का विचार कर रहे हैं—

रज्जब धरिये[1] धर्म[2] को, सारे[3] बासण[4] माँहि।
फूटे[5] में जोख्यों[6] घणी[7], हरिपुर पहुंचे नाँहि ॥१॥

दान[2] सु[3] पात्र[4] को देना[1] चाहिये, कुपात्र[5] को देने से बहुत[7] हानि[6] होती है, वह दान प्रभु के पास नहीं पहुँच कर ऊषर भूमि में डाले बीज के समान नष्ट हो जाता है।

जन रज्जब जिहिं पात्र में, दह[1] दिशि दीसे राय[2]।
पाणी पुण्य न मेल्हिये,[3] तब ही नीकस जाय ॥२॥

जिस बर्तन में दशों[1] दिशा में अर्थात् सब ओर ही दरारें[2] हों उसमें जल नहीं भरना[3] चाहिये। भरने से उसी समय निकल जायगा, वैसे ही जिसकी दशों इन्द्रियाँ ही सदोष हों, उसे दान नहीं देना चाहिये, देने से वह उस समय ही नष्ट हो जायगा, उसका फल कुछ भी नहीं मिलेगा।

राम विमुख ऊषर सभी, साधु शिरोमणि[1] खेत ।
जन रज्जब तहँ बीजिये, राम राय[2] कण हेत ॥३॥

राम से विमुख प्राणी सभी ऊषर भूमि के खेत के समान अपात्र हैं । राम का भजन करने वाले संत श्रेष्ठ[1] खेत के समान सुपात्र हैं । राम के दर्शन रूप अन्नकण की उत्पत्ति के लिये वहां अर्थात् संत रूप खेत में ही दान रूप बीज बोओ वा राम रूप राजा[2] को हासिल देने के लिये ।

रज्जब सुरही[1] सर्प सम, पात्र कुपात्र हिं जोय ।
वह तृण चरि अमृत स्रवै[2], वहिं[3] अमृत विष होय ॥४॥

पात्र को गाय[1] के समान और कुपात्र को सर्प के समान समझना चाहिये, देख, वह गाय तो घास चरकर दूध रूप अमृत देती[2] है और उस[3] सर्प में दूध रूप अमृत का विष हो जाता है ।

ठौर कुठौर न देख ही, इन्द्र उदार सु जोय ।
पै रज्जब निपजे भुवि भली, त्यों ऊषर नहिं होय ॥५॥

देख, इन्द्र ठौर-कुठौर को नहीं देखता, सभी स्थानों में वर्षाता है किन्तु अच्छी भूमि में अन्न उत्पन्न होता है, वैसा ऊषर में तो नहीं होता, वैसे ही उदार पात्र कुपात्र को नहीं देखता किन्तु सुपात्र को देने से जो फल होता है, वैसा कुपात्र को देने से तो नहीं होता ।

क्षार समुद्र मुक्ता शुक्ति, कदली केशर खेत ।
रज्जब निपजे ठौर जल, त्यों पात्र पुण्य हेत ॥६॥

एक ही स्वाति नक्षत्र का जल विभिन्न स्थानों में पड़ कर भिन्न २ वस्तु उत्पन्न करता है जैसे—क्षार समुद्र में क्षार, शुक्ति में मोती, केले में कपूर, केशर के खेत में केशर, वैसे ही पात्र-कुपात्र पुण्य-पाप की उत्पत्ति में हेतु हैं ।

सेवे को साँचा गुरू, भजबे को भगवंत ।
जल दल को ये जीव सब, यहु रज्जब निज मंत ॥७॥

सेवा करने योग्य सद्गुरु हैं, भजन करने योग्य भगवान् हैं, अन्न-जल देने योग्य ये सभी जीव हैं, यही हमारा निजी सिद्धान्त है ।

रज्जब जल दल[1] सम दृष्टि, सेवा समझे होय ।
बुद्धि बेटि गुरु बींद को, जान्यों देय न कोय ॥८॥

नदियों[1] का जल[4] सूर्य[2] से आता है, बीच में सूर्य से अलग[3] दीखता है, फिर अंत में सूर्य में ही समा जाता है, वैसे ही निर्वैरी नरों का जीव हरि से आता है, बीच में जीवात्मा अलग दीखता है, फिर अंत में प्रभु में ही समा जाता है।

तन तरकस[1] के तीर थे, दह[2] दिशा चलाये।
सो फिर बहुर न मिल सके, कछु रोस[3] कसाये[4] ॥५॥

तूणीर[1] में बाण भरे थे, उनको दशों[2] दिशाओं में चला दिया गया वे फिर पुनः न मिल सकें तो कुछ क्रोध[3] करना चाहिये ? नहीं, वैसे ही निर्वैरी शरीर न मिलें तो दोष[4] मानना चाहिये ? अर्थात् नहीं।

विविध भांति की बंदग्यों[1], बहु सेवक लाये।
साहिब सब में पैसिकर[2], सब ठौर रजाये[3] ॥६॥

प्रभु ने आंतर प्रेरणा द्वारा निर्वैरता पूर्वक नाना प्रकार की सेवाओं[1] में बहुत सेवक लगाये हैं और उनमें आप स्वयं प्रवेश[2] करके सभी स्थानों में उन सबको तृप्त[3] किया है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित निर्वैरी निर्मिलाप का अंग ९८ समाप्तः। सा० ३०९६ ॥

अथ पात्र कुपात्र का अङ्ग ९९

इस अंग में पात्र कुपात्र संबन्धी विचार कर रहे हैं—

पात्र कुपात्र पिछानिये, जे सिरजे करतार।
रज्जब उनमें राम जी, उनमें विषय विकार ॥१॥

यदि ईश्वर ने पात्र कुपात्र उत्पन्न किये हैं तो उनको पहचानना भी चाहिये, सुपात्रों के मन में तो राम जी का चिन्तन होता है और कुपात्रों के मन में विषय-विकार का चिन्तन होता है, यही उनकी पहचान है।

विषय विरचि[1] रामहिं रचे, सारा[2] साधू पात्र।
जन रज्जब सो पूजिये[3], सेवा सफल सु जात्र[4] ॥२॥

विषयों से विरक्त[1] सभी[2] संतों को राम ने पात्र रूप से उत्पन्न किया है। उन संतों का सत्कार[3] करना चाहिये, उनकी सेवा से संसार यात्रा[4] सफल होती है।

जन रज्जब ज्यों ईख विष, त्यों पात्र कुपात्र विशेष।
पाणी पुण्य[1] सौं सींचिये[2], क्या क्या निपजे देख ॥३॥

जैसे ईख और विष का वृक्ष होता है वैसे ही पात्र-कुपात्र में न्यूनता-विशेषता होती है। दोनों को एक जल से सींचने पर भी ईख में पोषक रस उत्पन्न होता है और विष-वृक्ष में मारक विष उत्पन्न होता है। वैसे ही पात्र-कुपात्र को दान[1] देने[2] से पात्र में पुण्य उत्पन्न होता है और कुपात्र में पाप उत्पन्न होता है।

खलक[1] खबर[2] बिन खारछा[3], बैन[4] बीज बल धूर।
रज्जब बुधि[5] वसुधा मधुर, उपजै अर्थ[6] अंकूर ॥४॥

संसार[1] के प्राणी बुद्धि[2] बिना खारे[3] खेत के समान हैं, जैसे खारे खेत में बीज बोने पर वह जल जाता है, वैसे ही बुद्धिहीन को सुनाये हुये उपदेश रूप वचन[4] नष्ट हो जाते हैं और जैसे मीठी भूमि में बीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही बुद्धिमान्[5] सुपात्र को उपदेशमय वचन सुनाने से उसमें ज्ञान[6] उत्पन्न होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पात्र कुपात्र का अंग ९९
समाप्तः ॥ सा० ३१०० ॥

अथ सेवा का अंग १००

इस अंग में सेवा सम्बन्धी विचार व्यक्त कर रहे हैं—

सेवा सोना सोलहां[1], निपजै तन मन माँहि।
यहु प्राणी खित[2] खानि यहु, तिहि घर टोटा[3] नाँहि ॥१॥

सेवा श्रेष्ठ[1] सोने के समान श्रेष्ठ है, जैसे सोना पृथ्वी[2] की खानि में उत्पन्न होता है, वैसे ही सेवा तन मन से उत्पन्न होती है जिसके घर सोना होता है उसके कमी[3] नहीं रहती, वैसे ही जिसमें सेवा भाव है जो बड़ों की सेवा करता है उसके भी कमी नहीं रहती।

खालिक[1] खिदमति[2] खूब[3] खित[4], वैरागर[5] की खानि।
राम रतन तहं निकसैं, सो ठाहर उर आनि ॥२॥

ईश्वर[1] की सेवा[2] हीरों[5] की खानि वाली श्रेष्ठ[3] पृथ्वी[4] के समान है, हीरों की खानि से हीरे निकलते हैं, वैसे ही सेवा से राम रूप रत्न का साक्षात्कार होता है। अतः वह सेवारूप स्थान हृदय में ला अर्थात् ईश्वर की भक्ति कर।

परमारथ पारस परसि, हंस[1] लोह ह्वै हेम[2]।
जन रज्जब जाणर[3] कही, मनसा[4] वाचा नेम ॥३॥

जैसे पारस के स्पर्श से लोह सुवर्ण[२] बन जाता है यह नियम ही है, वैसे ही सेवा द्वारा परमार्थ रूप ब्रह्म का साक्षात्कार करके जीव[१] ब्रह्म ही हो जाता है। यह बात हमने बुद्धि[४] से जानकर[३] के ही वाणी द्वारा कही है।

विविध भाँति वित[१] बंदगी, कठिन करी नहिं जात।
सेवा के वश सांइयाँ, सुर नर किति इक बात ॥४॥

जैसे नाना भाँति का धन[१] होता है किन्तु उसका कमाना कठिन है, वैसे ही नाना प्रकार की सेवा हैं किन्तु करी नहीं जाती। यदि सेवा की जाय तब तो सेवा के वश स्वयं प्रभु भी हो जाते हैं, मनुष्य और देवताओं की तो कितनीक बात है ? ये तो शीघ्र ही वश में हो जाते हैं।

रज्जब सेवा बंदगी, दिल दासा तन होय।
सद्गुरु सांई साधु सुर, ताके वश सब कोय ॥५॥

जिसके हृदय में सेवा भाव, भक्ति और दासपना होता है, उसके सद्गुरु, ईश्वर, संत, देवता आदि सब कोई वश हो जाते हैं।

रज्जब अज्जब काम है, मन वच बंदा[१] होय।
तो बंदों बंदा धणी[२], छान्या[३] छावै सोय ॥६॥

मन, वचन, कर्म से भक्त[१] होना बड़ा अद्भुत काम है। जो हो जाते हैं, उन भक्तों के स्वयं भगवान्[२] भक्त बन जाते हैं और वे उनके घर जाकर उनकी छान छाने के काम में भी लग जाते हैं। नामदेव का छप्पर[३] प्रभु ने छाया था, यह प्रसिद्ध है।

बंदों[१] बंदा[२] है धणी[३], हरि दासों का दास।
सेवक घर सेवक सुन्या, रज्जब विरुद[४] प्रहास[५] ॥७॥

विश्व स्वामी[३] राम भक्तों[१] के भक्त[२] हैं, हरि दासों के दास हैं, वे प्रभु सेवक के घर पर सेवक बने रहते हैं, ऐसा उन का यश[४] सुना है, जिसके स्मरण होते ही प्रसन्नता से हँसी[५] आने लगती है।

भक्त बछल[१] भगवंत जी, सुनिये दासों दास।
बहु बलवंती बंदगी[२], विरले बंदों[३] पास ॥८॥

भगवान् भक्तों के प्रेमी[१] और दासों के दास सुने जाते हैं किन्तु वह बहुत बलवती भक्ति[२] कोई विरले भक्तों[३] के पास ही होती है।

माया ब्रह्म महन्त महीपति, मुलक[१] मशक्कत[२] मान[३]।
रज्जब बाल्हो[४] बंदगी[५], मन वच कर्म करि जान ॥९॥

जगत् में माया के लिये, महन्त पद, देश[1] के राज पद और सम्मान[3] के लिये ब्रह्म की भक्ति रूप परिश्रम[2] किया जाता है, वह भक्ति[5] बहिर्मुखी-पन[4] की है, ऐसा ही मन, वचन कर्म से जान ।

एक मना दृढ़ एक सौं, तो क्यों न निवाजे[1] देव ।
अंडों सौं बच्चे भये, रज्जब साँची सेव ॥१०॥

एकाग्र मन दृढ़ता से एक के चिन्तन में लगा रहे तो देव क्यों न कृपा[1] करेगा ? देख पक्षी अंडों की सेवा करता है तब उस सच्ची सेवा से अंडों से बच्चे हो जाते हैं, न करे तो खराब हो जाते हैं ।

खलक[1] मुलक[2] सब को मिले, माया मशक्कत[3] माँहिं ।
तथा बंदगी[4] ब्रह्म प्राप्त हो, कुल कारण कोइ नाँहिं ॥११॥

संसार[1] के सभी देशों[2] के सभी मानवों को परिश्रम[3] से माया मिलती है, वैसे ही भक्ति[4] से ब्रह्म प्राप्त होता है । माया तथा ब्रह्म प्राप्ति में जाति कुल हेतु नहीं है ।

विविध बंदग्यों[1] ब्रह्म पाइये, कृत्य[2] अनेकों कौंला[3] ।
अन समझे को उलटी लागे, समझे को सब सौंला[4] ॥१२॥

नाना प्रकार के कर्तव्य-कर्म[2] करने से लक्ष्मी[3] मिलती है, वैसे ही नाना प्रकार की भक्ति[1] करने से ब्रह्म मिलता है । बिना समझे को यह उलटी लगती है, किन्तु समझे हुये के लिये सब सीधी[4] है ।

महा मोहनी बंदगी[1], मोहे सांई साध ।
रज्जब महिमा क्या कहै, सेवा सदन अगाध ॥१३॥

सेवा[1] महा मोहिनी विद्या है, इसने प्रभु और संतों को भी मोहित किया है । इसकी महिमा क्या कहैं, सेवा की महिमा का घर तो अथाह है ।

रज्जब सेव पियारी साँइयाँ, सेवा के वश साध ।
जीव सीव[1] सेवा रचे[2], सेवा महल अगाध ॥१४॥

परमात्मा को सेवा प्यारी है, साधु सेवा के वश हैं. जीव और ब्रह्म[1] दोनों ही सेवा से प्रसन्न[2] होते हैं । सेवा रूप महल असीम है ।

मन वच कर्म त्रय[1] शुद्ध ह्वै, मिलै प्राण पति[2] दोय ।
सेवा कर हाजर हुआ, सेवा हाजर होय ॥१५॥

सेवा से मन, वचन और कर्म तीनों[1] ही शुद्ध होते हैं । सेवा से प्राणी और स्वामी[2] राम दोनों ही आ मिलते हैं । सेवा करके प्राणी प्रभु

के पास उपस्थित होता है और सेवा करने से प्रभु भी आकर भक्त के पास उपस्थित हो जाते हैं ।

सेवा करि अकल[1] हि कलै[2], सेवा अबंध बँधाय ।
रज्जब सुर नर सेव वश, सेवा बडी खुदाय ॥१६॥

सेवा करने से कला रहित[1] परमात्मा भी कलायुक्त[2] होता है । सेवा से बन्धन रहित ईश्वर भी भक्त के वचन रूप बन्धन में आता है । नर और देवता भी सेवा के वश हैं । सेवा तो ईश्वर से भी बड़ी है ।

बड़ां बड़ी सो बंदगी, जापरि रीझै राम ।
तो सेवा सम कौन है, संत सुधारण काम ॥१७॥

जिस पर राम भी प्रसन्न होते हैं, वह सेवा बड़ों से भी बड़ी है, तब संतों का कार्य सुधारने वाली सेवा के समान कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है ।

सेवक भाव सो सुरति में, सदा रहै ठहराय ।
यहु बंदे की बंदगी, आगे खुशी खुदाय ॥१८॥

सेवक को वह सेवाभाव सदा वृत्ति में स्थिर रखना चाहिये, यही भक्त की भक्ति है । आगे तो जैसी भगवान् की इच्छा होती है, वैसे ही वे अपनाते हैं ।

सेवक मिले न बीछुड़े[1], जब दिल सेवा माँहि ।
रज्जब रच्या[2] सु बंदगी[3], एक दूसरा नाँहि ॥१९॥

जब मन सेवा में रहता है, तब सेवक स्वामी से मिले नहीं तो भी अलग[1] तो नहीं होता । वह एक स्वामी की भक्ति[3] में ही अनुरक्त[2] रहता है, उसके हृदय में दूसरा नहीं आता ।

ब्रह्म बंदगी[1] में सदा, सेवा में सब सिद्ध ।
खिदमत[2] में अजमत[3] रहै, रज्जब पाई विद्धि[4] ॥२०॥

सदा भक्ति[1] में मन रहने से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । भक्ति में स्थिर रहने से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है । सेवा[2] में लगा रहने से ही बड़ाई[3] पाता है । भक्ति से ही हमने प्रभु प्राप्ति की विधि[4] प्राप्त की है ।

रज्जब बैठी बंदगी, बंदे के दिल माँहि ।
सेवक सेवा में गरक, सो फल चाहै नाँहि ॥२१॥

जिस भक्त के मन में भगवान् की भक्ति स्थित है, वह सेवक सेवा में ही निमग्न रहता है, उसका सांसारिक फल नहीं चाहता, प्रभु को ही चाहता है ।

सांई[1] पद सब त्यागकर, सेवक सेवा लेय ।
रज्जब महँगी राम सौं, सो सेवा नहिं देय ।।२२।।

प्रभु[1] भी सब पदों को त्यागकर सेवक की सेवा ही को लेते हैं, सेवा राम से भी मँहगी है । इसी लिये राम सहसा भक्ति न देकर अन्य ही देना चाहते हैं वा भक्तजन भी वह सेवा किसी फल के वदले में नहीं देते ।

साँई सेवा शोधली, सो किस ही नहिं देय ।
जग प्रतिपालत युग गये, अरु न अघाने[1] सेय ।।२३।।

प्रभु ने संसार के भरण-पोषण की सेवा अन्वेषण करके ही ली है, वह सेवा किसी को भी नहीं देते और संसार की पालना करते हुये अनेक युग व्यतीय हो गये हैं किन्तु अब तक सेवा करते हुये तृप्त[1] नहीं हुये हैं ।

बाबा[1] देय न बंदगी[2], बंदे[3] करहिं विलाप ।
तो सेवा सम को नहीं, जापरि झगड़ै आप ।।२४।।

भक्त[3] जन लेने के लिये विलाप करते हैं तो भी भगवान्[1] संसार की पोषणरूप सेवा[2] नहीं देते । जिसको रखने के लिये स्वयं भगवान भी आग्रह रूप झगड़ा करते हैं, तब उस सेवा के समान अन्य कोई भी नहीं है ।

रज्जब जीवन जड़ी न जीव कन,[1] राखी राम जु गोय[2] ।
दई[3] देवे तो पाइये, सुमिरण सुकृत दोय ।।२५।।

जीव के पास[1] हरि-स्मरण और सुकृत रूप जीवन जड़ी नहीं है, रामजी ने इसे गुप्त[2] ही रक्खा है । हरि-स्मरण और सुकृत ये दोनों राम[3] दे तो ही प्राप्त होते हैं । यह साखी "सुकृत के अंग ६५ में ७७ की है यहाँ पुनः आई है ।

खिदमत खूबहुं खूब है, सेवा सब सुख रासि ।
बड़ों बड़ा हो बंदगी, जन रज्जब जिस पासि ।।२६।।

सेवा श्रेष्ठ[1] से भी श्रेष्ठ है, सेवा सब सुखों की राशि है, जिसके पास सेवा-भक्ति होती है, वह बड़ों से भी बड़ा होता है ।

सांई सेवै सबन को, सांई को कोउ नाँहिं ।
मनसा वाचा कर्मना, मैं देख्या मन माँहि ।।२७।।

प्रभु सबकी सेवा करते हैं किन्तु मन, वचन, कर्म से प्रभु की कोई नहीं करता, मैंने अपने मन में ऐसा ही विचार द्वारा देखा है। जो करते दिखाई देते हैं, वे स्वार्थ की ही करते हैं।

रज्जब बेटी राम की, भक्ति सु सेवा अंग।
रिधि सिधि निधि लौंडी[1] सभी, आवै तिनके[2] संग ॥२८॥

भक्ति राम की पुत्री है, यदि वह भक्त में आ जाती है तो उसके स्वरूप की सेवा के लिये ऋद्धि, अष्ट सिद्धि और नव निधि सभी दासी[1] उसके[2] संग आप आ जाती हैं।

रज्जब बेटी बंदगी[1], जाई[2] सिरजनहार।
जा जीव को सो[3] दीजिये, रिधि सिधि बाँदी लार ॥२९॥

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ने भक्ति[1] रूप पुत्री उत्पन्न[2] की है, जिस जीव को भक्ति[3] देते हैं तब ऋद्धि-सिद्धि दासी भी उसके साथ ही देते हैं।

साँची सेवा बंदगी[1], जापरि रीझै राम।
दर्श परस दासों मिलै, सेवक सीझै[2] काम ॥३०॥

जिसके करने पर राम भी प्रसन्न होते हैं, वह भक्ति[1] ही सच्ची सेवा है। भक्ति से भक्तों को भगवान् के दर्शन तथा चरण स्पर्श दोनों ही प्राप्त होते हैं और भक्तों का मुक्ति रूप कार्य भी सिद्ध[2] हो जाता है।

भगवंतहि भावे भक्ति सो, साँई मानी[1] सेव।
ब्रह्म कबूली[2] बंदगी[3], रज्जब पाया भेव[4] ॥३१॥

वह भक्ति भगवान् को प्रिय लगती है, ईश्वर ने भक्ति को मान्यता[1] दी है, निर्गुण ब्रह्म ने भी भक्ति[3] को स्वीकार[2] किया है। भक्ति का उक्त रहस्य[4] हमें गुरु कृपा से प्राप्त होगया है।

भावग्राही बंदगी, परि किसके सो भाव।
जापरि[1] अन्न खान हुं रुचे, खैबे[2] का ह्वै चाव[3] ॥३२॥

भगवान् प्रेम युक्त भक्ति को ग्रहण करते हैं, किन्तु वह प्रेम किस के हृदय में है ? जिसको[1] अन्न खाना रुचिकर होता है, उसी के मन में खाने[2] का उत्साह[3] होता है, वैसे ही जिसको भगवान् का दर्शन करना रुचिकर हो, उसी में प्रेम होता है।

नाम ठाम निज थाल है, भाव भक्ति भोजन्न।
यूं प्रसाद लेहिं प्राणपति, देहि सु साधू जन्न ॥३३॥

राम-नाम रूप स्थान में निज मन को स्थित करना ही थाल हो और प्रेमा-भक्ति रूप भोजन हो, इस प्रकार का भोजन-प्रसाद प्राणपति भगवान् ग्रहण करते हैं और संतजन ऐसा ही प्रसाद भगवान् के समर्पण करते हैं।

प्याले नाम नौ बात[1] के, क्षीर[2] सनेह पिलाय।
रज्जब इहि सेवा करत, सांई बलि बलि जाय ॥३४॥

राम-नाम युक्त नौधा भक्ति की कथा[1] रूप प्याले में प्रेम रूप दूध[2] पिलावे। इस प्रकार की सेवा करते हुये बारंबार प्रभु की बलिहारी जावे।

सेवा संकट बंदगी, दासातन दुख होय।
रज्जब भृत[1] भयभीत गति[2], आसंघ[3] सके न कोय ॥३५॥

जो सेवा-भक्ति करने में संकट माने और जिसको दासपने में दुःख हो, उस दास[1] की भयभीत की-सी चेष्टा[2] रहती है, वह भक्ति को स्वीकार[3] नहीं कर सकता।

रज्जब भंजन भाव के, सदा रहैं भगवंत।
ज्यों पंच तत्त्व के पिंड में, युक्ति सु जोड़्या जंत ॥३६॥

भगवान् सदा भावरूप पात्र में रहते हैं। जैसे पंचतत्त्व के शरीर में युक्ति से जीव को जोड़ रक्खा है, वैसे ही भक्त भाव से भगवान् को अपने हृदय में जोड़ा रखते हैं।

भाव भक्ति के भवन में, गुरु गोविन्द ह्वै साध।
जन रज्जब बड भाग भृत[1], यहु मन महल अगाध ॥३७॥

भाव-भक्ति रूप घर में रहने से साधु, गुरु होकर गोविन्द हो जाते हैं। उस दास[1] का बड़ा भाग्य है, जिसका यह चंचल मन भाव-भक्ति का अगाध महल बन जाता है।

माया मनिष[1] उपावही, हूनर[2] करि सु हजार।
त्यों रज्जब हरि दर्श को, सेवा भाँति अपार ॥३८॥

मनुष्य[1] हजारों कलाओं[2] के द्वारा धन कमाते हैं, वैसे ही हरि के दर्शन के लिये अनन्त प्रकार की सेवायें हैं।

अनेक भाँति की चाकरी[1], चाकर चतुर अनेक।
रज्जब पावै राज कन[2], माया मुद्रा एक ॥३९॥

अनेक प्रकार की नौकरी[1] होती है और अनेक चतुर नौकर होते हैं किन्तु राजा से[2] तो सभी को एक प्रकार का रुपया रूप माया मिलती है,

वैसे ही विविध प्रकार की निष्काम भक्ति का फल सब भक्तों को एक भगवान् का दर्शन ही मिलता है ।

बहुत टांगरे[1] बहुत अंग[2], बणिजै[3] बणियाँ जीव ।
रज्जब आरंभ इहिं अरथ[4], लाभ सु लच्छी[5] पीव[6] ॥४०॥

बणिये के पास बहुत पशु[1] हैं, वह उनको बेचने[3] का आरंभ इसलिये[4] करता है कि लक्ष्मी[5] का लाभ हो, वैसे ही जीव के पास बहुत से शुभ लक्षण[2] हैं, वह उनका व्यवहार इसलिये करता है कि प्रभु[6] प्राप्त हों ।

जीव महाजन अंग[1] टांगरे[2], करि आये बणिये का साज ।
रज्जब बणिज करै व्यापारी, केवल साँई संपत्ति काज ।४१॥

जीव रूप महाजन उपाय[1] रूप पशुओं[2] को लेकर बणियों का-सा साज सजाकर आये हैं और जैसे व्यापारी केवल संपत्ति के लिये व्यापार करता है, वैसे ही केवल प्रभु प्राप्ति के लिये साधनों का व्यवहार करते हैं ।

विविध भाँति के बहुत अंग[1], जीव सौदागर भाय[2] ।
एक वणिज वित[3] टूट[4] ही, एक बणिज बध जाय ॥४२॥

जीवरूप व्यापारी को नाना प्रकार की नाना वस्तुयें[1] प्रिय[2] लगती हैं किन्तु उनमें विषय वृत्ति रूप वस्तुओं के व्यापार से परमार्थ रूप धन[3] कम[4] हो जाता है और भक्ति वृत्ति रूप वस्तुओं के व्यापार से परमार्थ-धन बढ़ जाता है ।

विविध शस्त्र सेना विविध, विविध सु आयुध[1] राज ।
एक भंग[2] इक भाग ही, एक सु आवहि काज ॥४३॥

राजा के पास नाना प्रकार के श्रेष्ठ शस्त्र[1] होते हैं । नाना प्रकार की सेना होती है, उस सेना के पास भी नाना प्रकार के शस्त्र होते हैं, उनमें कोई शस्त्र टूट[2] जाता है और कोई सैनिक भाग जाता है, कोई शस्त्र और कोई सैनिक काम आता है, वैसे ही जीव के पास प्रभु प्राप्ति के लिये कई उपाय होते हैं किन्तु उन सब में सेवा-भक्ति ही काम आती है ।

नौधा करि नर निस्तरहिं, एक एक गुण राखि ।
रज्जब सो सीझे[1] सुने, वेद बोध की साखि ॥४४॥

नवधा भक्ति करके नर संसार-सिन्धु से पार हो जाते हैं तथा नवधा में भी एक-एक भक्ति रूप गुण को धारण करके मुक्त[1] हुये सुने जाते हैं, इसमें वेद ज्ञान की साक्षी भी है ।

सकल गुणहुं संयुक्त जन, सो तो आपै आप ।
पै एक सु लक्षण होय मन, ताहि न तीन्यों ताप ॥४५॥

भक्ति के सब गुणों से युक्त जो मानव है वह तो स्वयं प्रभु स्वरूप ही हो जाता है किन्तु भक्ति का एक शुभ लक्षण भी जिस मन में होता है उसे भी तीनों ताप नहीं होते।

बारह सोलह दुरत हैं, राहु केतु की छांहि।
रज्जब ग्रह उग्रह[1] समय, सकल कला खुल जांहि ॥४६॥

राहु की छाया पड़ती है तब चन्द्रमा की सोलह कला और केतु की छाया पड़ती है तब सूर्य की बारह कला छिप जाती है और जब उक्त ग्रहों से चन्द्र-सूर्य मुक्त[1] होते हैं तब उनकी कलायें भी सब मुक्त हो जातीं हैं, वैसे ही अज्ञान ने पकड़ रक्खा है तब तक जीव का वास्तव स्वरूप छिप रहा है। भक्ति द्वारा ज्ञान होकर अज्ञान नष्ट होने पर पुनः प्रकाशित होता है।

रज्जब राखो बंदगी, जे लघु दीरघ होय।
ज्यों कर अँगुली हालतां, दाग न देवैं कोय ॥४७॥

छोटी हो वा बड़ी भक्ति हृदय में अवश्य रखना चाहिये। हाथ की अंगुली हिले तो भी शरीर को दाग नहीं देते, वैसे ही थोड़ी भक्ति होने पर भी यम दंड नहीं देता।

रज्जब रद्द[1] न कीजिये, जे नुकता[2] निज[3] होय।
साच ठेलतों[4] सत्र[5] हरि[6], बुरा कहै सब कोय ॥४८॥

यदि अपनी[3] सेवा-भक्ति किंचित[2] भी हो तो भी बदली[1] नहीं जा सकती। सत्य को त्याग[4] कर धन[5] हरा[6] जाता है तब सभी बुरा कहते हैं, वैसे भक्ति को बदलने से बुरा कहेंगे।

केसरि[1] कर कांटा चुभ्या, काढ्या किस ही प्राणि।
सेवा मानी सिंह ने, तो भृत[2] गति[3] सत जाणि ॥४६॥

किसी सिंह[1] के पैर में काँटा चुभ गया था, किसी निर्भय और दयालु मनुष्य ने उसका पैर अधर देखकर उस काँटे को निकाल दिया। इस सेवा को सिंह ने भी मान्यता दी और अपनी गुफा से भूषण लाकर उसे दिया। तब सेवक[2] की सेवा रूप चेष्टा[3] श्रेष्ठ है यह सत्य ही जान।

रज्जब कुरड़ी[1] खोरैं[2] कूकड़ी[3], केवल कण हीं काज।
चुगै चुगावै चीटंलुहुं, काढ सु रोड़ी नाज ॥५०॥

मुर्गी[3] केवल अन्न-कणों के लिये कूड़े की राशि[1] को अपने पैरों से खोदती[2] है, फिर निकल आवे तो आप भी चुगती है और उस कुरड़ी

का नाज निकाल कर चींटी-चींटों को भी चुगाती है, जब कुक्कुटी भी यह सेवा करती है तब मनुष्य को तो सेवा अवश्य करनी चाहिये ।

गुरु मत[2] नाई[1] नाम धर, भाव[3] बीज बहु बाहि ।
रज्जब हरि भरि देहिंगे, हाली[4] जीव की चाहि ॥५१॥

जैसे किसान हल पर बीज डालने की बाँस की नाली[1] बाँधकर उसमें बीज डालकर ध्यान[3] से बोता है तब जल वर्षने पर उस हल[4] चलाने वाले की इच्छानुसार खेती होती है, वैसे ही जीव[4] गुरु के सिद्धान्त[2] के अनुसार प्रेम पूर्वक नाम चिन्तन करता है तब हरि उसकी इच्छा के अनुसार फल देकर उसकी इच्छा भर देते हैं । यह सेवा का ही फल है ।

नाम नाज निज[1] बाहिये, ऊगै सेवा घास ।
रज्जब सो क्यों काटिये, सहस गुणी कण[2] आस ॥५२॥

किसान अपने[1] खेत में नाज बोता है, तब उसमें प्रथम घास उगता है, उसे वह कैसे काटेगा ? उसीसे किसान को हजार गुणे अन्न[2] की आशा है । वैसे ही प्राणी अपने मन में नाम चिन्तन करता है तब उसमें हरि, गुरु, संतों की सेवा की भावना उत्पन्न होती है, उसे वह कैसे हटायेगा ? उसे उनकी सेवा से अपने साधन का फल हजार गुणा होने की आशा रहती है ।

गुरु सेवा शिष प्राण[1] की, शिष सेवा गुरु गात[2] ।
रज्जब दोन्यों दास हैं, नहिं स्वामी की बात ॥५३॥

गुरु शिष्य के मन[1] की अबोध निवृत्ति रूप सेवा करता है और शिष्य गुरु के शरीर[2] की सेवा करता है, परस्पर एक दूसरे के सेवक होने से दोनों ही दास हैं, सेवा करने में स्वामी होने की बात नहीं है ।

अन्तर्यामी गर्भ गति[1], साधु सुन्दरी माँहि ।
रज्जब जाये एक के, दोन्यों पोखे जाँहि ॥५४॥

जैसे नारी में गर्भ होता है, वैसे ही संत में अन्तर्यामी राम का प्रवेश[1] है । नारी को जिमाने से गर्भ और नारी दोनों ही जिमाये जाते हैं, वैसे ही संत को जिमाने से राम और संत दोनों ही जिमाये जाते हैं । अतः संत की सेवा-भक्ति से राम की भी सेवा-भक्ति हो जाती है ।

पाँचों पोषें पोषिये, देखौ घट घट प्राण ।
तैसे रज्जब राम जी, दीवानों दीवान[1] ॥५५॥

देखो, प्रत्येक शरीर के पाँचों प्राणों का पोषण करने से अर्थात् अन्न-जल खाने-पीने से सभी शरीर का पोषण हो जाता है, वैसे ही संतों का

पोषण करने से प्रधानों के भी प्रधान[1] राम जी का भी पोषण हो जाता है।

साधू निर्मल आरसी[1], हरि आभों[2] बिन भान[3]।

रज्जब भोजन भाव बिच, अन खानों सो खान ॥५६॥

संत निर्मल दर्पण[1] के समान हैं और हरि बिना बादलों[2] के सूर्य[3] के समान हैं। जैसे बिना बादलों का सूर्य दर्पण में दीखता है, वैसे ही निर्मल संत में हरि दीखते हैं। हरि और संत इन दोनों के बीच उक्त प्रकार भाव रखने से संत को खिलाने पर खाते हुये नहीं दीखने पर भी वे हरि खा लेते हैं अर्थात् संत और हरि एक ही हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सेवा का अंग १०० समाप्तः। सा० ३१५६॥

अथ सेवा सुमिरण का अङ्ग १०१

इस अंग में सेवा और स्मरण संबन्धी विचार कर रहे हैं—

आरंभ[1] करत न हरत है, अबला[2] का आधान[3]।

तो सेवा सुमिरण क्यों घटै, समझो संत सुजान ॥१॥

हे बुद्धिमान् संतो ! कुछ समझ कर देखो, जब काम[1] करने से नारी[2] का गर्भ[3] नहीं गिरता तब सेवा करने से स्मरण कैसे घटेगा ?

संकट नाहीं शेष को, यद्यपि शिर पर सृष्टि।

रज्जब भंग न भजन मध्य, परमारथ में दृष्टि ॥२॥

यद्यपि शेष के शिर पर सब सृष्टि है, तो भी उन्हें कोई दुःख नहीं है, वैसे ही सेवा रूप परमार्थ में दृष्टि रखने से भजन में भंग नहीं पड़ता है।

वृक्ष बधोतर[1] ना घटै, मिट हि न फल हि सु पोष।

तो रज्जब भृत कृत करत, भजन न उपजै दोष ॥३॥

छाया देकर सेवा करने से वृक्ष की वृद्धि[1] घटती नहीं तथा फल के द्वारा दूसरों का पोषण करने से भी वृद्धि होना नहीं मिटता तब सेवक का काम सेवा करने से भजन करने में भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

बादल विद्याधर फिर हिं, परि वारि न विद्या छीन।

तो टहल करत टहलै नहीं, जे उर हरि सौं लीन ॥४॥

बादल और विद्याधर घूमते हैं किन्तु घूमने से जल और विद्या कम नहीं होती, वैसे ही जो हृदय हरि के स्वरूप में लीन है, वह सेवा करने से हरि से नहीं हटता।

गुरु सेवा गोविन्द भजन, उभय[1] बात वित[2] एक ।
रज्जब बीरज[3] दाल द्वै[4], अंबु[5] अंघ्रिपा[6] एक ।।५।।

बीज[3] की दाल दो[4] होती हैं किन्तु जल[5] डालने पर वृक्ष[6] तो एक ही निकलता है, वैसे ही गुरु की सेवा और गोविन्द का भजन ये बात ही दो[1] हैं किन्तु इनका लाभ रूप धन[2] प्रभु तो एक ही हैं ।

गुली बंध द्वै दाल के, बीज्यों वृक्ष सु एक ।
त्यों सुमिरण सेवा धणी[1], रज्जब समझ विवेक ।।६।।

बीज की गुली में दो दाल बंधी हुई होती हैं किन्तु बीजने पर वृक्ष तो एक ही निकलता है, वैसे ही विवेक द्वारा समझ, हरि-स्मरण और गुरु सेवा का फल एक स्वामी[1] राम की प्राप्ति रूप ही होता है ।

सुमिरण सुकृत सौं भला, सब काहू का होय ।
रज्जब अज्जब उभय गुण, करत न शंकहु कोय ।।७।।

हरि-स्मरण और सेवा रूप सुकृत से सभी का भला होता है, ये दोनों गुण बड़े अद्भुत हैं, इनके संग्रह करने में कोई भी हानि की शंका न करे ।

जन रज्जब गढ ज्ञान के, दीसै द्वै दरबार ।
एकै सुमिरण संचरै, एक पुण्य व्यवहार ।।८।।

ज्ञान रूप किले के दो द्वार हैं, एक हरि-स्मरण, दूसरा पुण्य । निवृत्ति परायण साधु स्मरण रूप द्वार से ज्ञान-गढ़ में प्रवेश करते हैं और सद् गृहस्थ पुण्य का व्यवहार करके प्रवेश करते हैं ।

जहँ सुमिरण सुत ऊपजै, पय परमारथ होय ।
रज्जब देखो दृष्टि सौं, सदा समीप हि दोय ।।९।।

जहां पुत्र उत्पन्न होगा, वहां दूध भी उत्पन्न होगा । ये दोनों सदा साथ ही रहते हैं, वैसे ही जहां हरि-स्मरण होगा, वहां परमार्थ भी होगा । ये दोनों भी सदा साथ ही रहते हैं । इनकी समीपता ज्ञान दृष्टि से तुम भी देख सकते हो ।

जहँ सुमिरण सुत ऊपजै, तहँ दासातन[2] दुद्ध[1] ।
मन वच कर्म रज्जब कही, बात विमल त्रय शुद्ध ।।१०।।

जहां पुत्र उत्पन्न होता है, वहाँ दूध[1] भी उत्पन्न होता है । वैसे ही जहां हरि स्मरण होता है, वहां गुरु और संतों की सेवा का भाव दास-पना[2] भी होता है, यह विमल बात हमने मन, वचन कर्म, तीनों को शुद्ध करने वाली कही है ।

सुत[1] सुमिरण जीवन जुगति[2], पय[3] परमारथ पोष।
रज्जब देखो देखिये, द्वै के द्वै बिन दोष ॥११॥

शिशु[1] को जीवित रखने की युक्ति[2] दूध[3] से उसका पोषण करते रहना है और हरि-स्मरण को जीवित रखने की युक्ति परमार्थ करते रहना है। देखो, देखा गया है, शिशु और हरि-स्मरण इन दो के जीवन में दूध और परमार्थ इन दो के बिना दोष आजाते हैं।

औषधि बिन पछ क्या करे, पछ बिन औषधि बादि।
यूं सुमिरण सुकृत अमिल, उभय न पावहिं दादि[1] ॥१२॥

औषधि के बिना पथ्य क्या करेगा ? और पथ्य बिना औषधि क्या करेगी ? दोनों साथ रहकर ही रोग नाश करते हैं। वैसे ही हरि-स्मरण और सेवा रूप सुकृत दोनों अलग २ रहने पर प्रशंसा[1] के पात्र नहीं होते, साथ रहने से ही होते हैं।

जीव जगतगुरु नाम निज, यूं सुकृत रूप शरीर।
उभय मिलत आनन्द अमर, मृतक अमिल सो वीर ॥१३॥

जीव और जगत्गुरु ब्रह्म इन दो के मिलन से जीव अमर हो जाता है और वैसे ही निज नाम का स्मरण तथा सेवा रूप सुकृत इन दो के मिलने से शरीर में आनन्द आता है। हे भाई ! ब्रह्म के न मिलने से जीव मरता है और सेवा रूप सुकृत न मिलने से स्मरण में अधूरापन रहता है।

ब्रह्म आतमा सुमिरण सेवा, जगपति जोड़ा साज[1]।
इनहिं मिलत शून्य[2] सुख उपजै, अमिल तहां दुख राज ॥१४॥

जगत्पति प्रभु ने ब्रह्म आत्मा, स्मरण सेवा, इनका जोड़ा ही बनाया[1] है। ब्रह्म-आत्मा, इन दोनों के मिलने से आत्मा ब्रह्म[2] रूप ही हो जाता है। स्मरण-सेवा, इन दोनों के मिलने से सुख उत्पन्न होता है। ब्रह्म-आत्मा, स्मरण-सेवा, न मिलें तब तक दुःख का साम्राज्य ही रहता है।

सेवा सुमिरण पाँव प्राणि के, हरि के मारग योग[1]।
इन चरणों चलि जाय ब्रह्म पुरि, बिच बल विरह वियोग ॥१५॥

प्राणी के हरि-मार्ग में जाने योग्य[1] पैर सेवा और स्मरण ही हैं। इन चरणों से चलकर ही जीव निर्विकल्प समाधि रूप ब्रह्मपुरी को जाता है किन्तु बीच में विरह वियोग रूप बल भी होना चाहिये।

सब लग मात्रा काम की, देखहु अक्षर संग।
जन रज्जब रामहिं लगे, सकल सुकृती अंग[1] ॥१६॥

देखो, अक्षरों के साथ लगी हुई लग मात्रा (स्वरों की सूक्ष्म आकृति) सभी शब्द उच्चारण रूप कार्य की सहायक होने से काम की हैं, अन्यथा नहीं। वैसे ही राम के भजन के साथ लगे हुये सभी सुकृतीजन राम को प्रिय[1] होते हैं।

राम काज को देखि इहिं, चतुरंग सेना संग।

तैसे रज्जब नाम कन, सकल सुकृतो अंग ॥१७॥

देखा, इस पृथ्वी पर राज-कार्य के लिये राजा के पास चतुरंगणी सेना रहती है. वैसे ही नाम के पास सभी सुकृतयों के शरीर रहते हैं।

श्री मण्डल को तार बहु, सो स्वर साधन साज।

त्यों रज्जब सुकृत सभी, नाम निरूपन काज ॥१८॥

श्री मंडल नामक तार वाद्य में बहुत-से तार होते हैं, वे सभी स्वर साधना की ही सामग्री होते हैं। वैसे ही सेवादि बहुत-से पुण्य कर्म हैं, वे सभी नाम का निरूपण करने के लिये हैं अर्थात् सेवादि सुकृत करने पर ही अन्तःकरण शुद्ध होकर नाम की महिमादि कथन करने की योग्यता प्राप्त होती है।

सुकृत सेनि[1] सुगंध सब, मिले अरगजा होत।

रज्जब लायक लाव हीं, नाम नर पती गोत[2] ॥१९॥

जैसे सब सुगंध द्रव्यों के मिलाने से बना अरगजा नामक सुगंध राजा अपने गात्र[2] पर लगाता है, वैसे ही सब सुकृतों की पंक्ति[1] नाम के साथ लगने लायक है अर्थात् नाम-स्मरण के साथ-साथ सुकृत भी करना चाहिये।

रज्जब पंखी नाम परि, पंख सभी सुकृत्त[1]।

उभय अंग एकै भये, अगम अकाशहि जत्त[2] ॥२०॥

नाम रूप पक्षी पर सभी सुकृत[1] रूप पंख हैं। पक्षी और पंख दोनों के स्वरूप एक हो जाते हैं तब अगम ब्रह्म रूप आकाश में जाता[2] है।

सकल प्राण पति सांइयाँ, त्यों सुकृत पति नाँउ[1]।

उभय अंग लागे इनहुं, जन रज्जब बलि जांउ ॥२१॥

सकल प्राणियों के स्वामी प्रभु हैं, वैसे ही सकल सुकृतों का स्वामी नाम[1] है। प्राण और सुकृत दोनों के ही स्वरूप इन ईश्वर और नाम के लगते हैं। अतः ईश्वर और नाम की हम बलिहारी जाते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सेवा सुमिरण का अंग १०१

समाप्तः ॥सा० ३१७७॥

अथ सत जत सुमिरण मिश्रित का अंग १०२

इस अंग में सत्य, ब्रह्मचर्य और स्मरण आदि के मिश्रण संबन्धी विचार कर रहे हैं—

सत[1] जत[2] सुमिरण सारिखा[3], जीव के सगा[4] न और ।
वह सुख दायी प्रवृत्ति है, वह पहुंचावे ठौर ॥१॥

सत्य,[1] ब्रह्मचर्य[2] और हरि स्मरण के समान[3] जीव के सम्बन्धी[4] अन्य कोई भी नहीं हैं । वह सत्य और ब्रह्मचर्य की प्रवृत्ति सुखप्रद है और वह हरि-स्मरण अपने आदि स्थान ब्रह्म को पहुँचाता है ।

सत सुख दायी जत[1] जतन[2], नाम लगे निस्तार ।
जन रज्जब जग जीव को, तीन सगे[3] संसार ॥२॥

सत्य सुखदाता है, ब्रह्मचर्य[1] शरीर की आरोग्यता का साधन[2] है और हरि-नाम-चिन्तन में लगने से संसार से उद्धार होता है । इस संसार में जगत् निवासी जीव के उक्त तीन ही संबन्धी[3] हैं ।

नर निस्तारा[1] नाम लग, पुनि राखे सत जत्त[2] ।
रज्जब कही विचार कर, शोधरु साध् मत्त[3] ॥३॥

हरिनाम के चिन्तन में लगे और सत्य तथा ब्रह्मचर्य[2] रक्खे तो नर का उद्धार[1] हो जाता है । यह हमने संतों का सिद्धान्त[3] खोजकर तथा विचार करके ही कहा है ।

सीझे सीझे सीझसी, सत जत सुमिरण माँहि ।
मनसा वाचा कर्मना, चौथी ठाहर नाँहि ॥४॥

सत्य, ब्रह्मचर्य और हरि-स्मरण में लगकर पूर्वकाल में मुक्त हुये हैं, वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं और आगे मुक्त होंगे । हम मन वचन कर्म से यथार्थ ही कहते हैं–मुक्त होने के लिये उक्त तीन से भिन्न चौथा स्थान नहीं है ।

रहति[1] सहित सुमिरण करै, सतवादी अरु शूर ।
रज्जब तिन सौं रामजी, कहो कितीइक दूर ॥५॥

जो ब्रह्मचर्य[1] के सहित हरि-स्मरण करते हैं, सत्य बोलते हैं और कामादि शत्रुओं को जीतने में वीर हैं, कहो उनसे रामजी कितनीक दूर हैं ?

सुमिरण सुकृत शीलव्रत[1], जिनको दें करतार ।
रज्जब पाई मौज[2] मुर[3], धन्य जन्म अवतार ॥६॥

हरि-स्मरण, सुकृत और ब्रह्मचर्यव्रत[1] जिनको ईश्वर ने दिया है, उनने ही उक्त तीनों[3] से मिलने वाला आनन्द[2] प्राप्त किया है, उनका जन्म अवतार के समान धन्य है।

रज्जब जत[1] में योग सब, धर्म दया अस्थान[2]।
नाम ठाम[3] निर्गुण रहै, मन वच कर्म करि मान ॥७॥

ब्रह्मचर्य[1] में सब योग हैं, दया के स्थान[2] में सब धर्म हैं और नाम रूप धाम[3] में निर्गुण ब्रह्म है। यह मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही मानो।

सत जत[1] सुमिरण में रहै, साँई साधू दोय।
जाति न जोवै[3] जगत गुरु, ठाहर डेरा[2] होय ॥८॥

सत्य, ब्रह्मचर्य[1] और हरि-स्मरण में ही ईश्वर तथा संत दोनों रहते हैं, जगत्गुरु परमात्मा जाति को नहीं देखते[3], उनका तो सत्य, ब्रह्मचर्य और हरि-स्मरण के स्थान में ही पड़ाव[2] होता है।

धन्य शरीर सुकृत कर हिं, जप तप के प्रतिपाल।
रज्जब पाई मौज[1] मुर[2], भाग भले तिहिं भाल[3] ॥९॥

जो हरि नाम का जप करते हैं, संयम द्वारा तप की रक्षा करते हैं और पुण्य कर्म करते हैं, वे शरीर धन्य हैं। जप, तप और सुकृत इन तीन[2] से मिलने वाले आनन्द[1] को जिसने प्राप्त किया है, उसके मस्तक[3] का भाग्य अच्छा है।

रज्जब सुमिरै राम जी, सत जत सुमिरण साज[1]।
मन वच कर्म तारैं तिरहिं, जग जलनिधि, सु जहाज ॥१०॥

सत्य, ब्रह्मचर्य और नाम स्मरण रूप साधन[1] द्वारा राम जी का चिन्तन करते हैं, वे संसार में सुन्दर जहाज हैं। मन, वचन, कर्म से आप तिरते हैं और अन्यों को तारते हैं।

शील रहै सुमिरण गहै, सत संतोषण नेह।
रज्जब प्रत्यक्ष राम जी, प्रकट भये तिहिं देह ॥११॥

जो शीलव्रत से रहता है, हरि-नाम-स्मरण रूप साधन को ग्रहण करता है, मन, वचन, कर्म से सत्य का व्यवहार करता है और जिसका प्रेम संतुष्ट करने वाला होता है, उस शरीर से प्रत्यक्ष रूप में राम जी ही प्रकट हुये हैं ऐसा समझना चाहिये।

एक रहत[1] ररंकार रत, तीजे सत्य सु होय।
रज्जब पाई मौज[2] मुर[3], ता सम और न कोय ॥१२॥

एक ब्रह्मचर्य[1] से रहना, दूसरे राम मंत्र के बीज "राँ" के चिन्तन में अनुरक्त रहना, तीसरे सत्य का पालन करना, इन तीनों[3] साधनों से मिलने वाला आनन्द[2] जिसने प्राप्त किया है, उसके समान और कोई भी नहीं है।

हरि हृदय न विसारिये, इन्द्रियों राखि जतन्न।
रज्जब सत जत[1] माँहिले, पाये प्राण रतन्न ॥१३॥

हरि को हृदय से मत भूलो, इन्द्रियों को भगवत् परायण रखने का साधन रक्खो, ऐसा करने से ही पूर्वकाल में साधक प्राणियों ने "सत्य यतित्व[1]" आदि भीतर के रत्न प्राप्त किये थे।

इन्द्रियों जत[1] हाथों सती[2], मुख मीठा उर नाँउ[3]।
जन रज्जब ता संत की, मैं बलिहारी जाँउ ॥१४॥

जो इन्द्रियों से यति[1] रहता है अर्थात् इन्द्रियों को विषय परायण नहीं होने देता, हाथों से उदार दाता[2] बना रहता है, मुख से मधुर वचन बोलता है और हृदय में हरि नाम[3] का चिन्तन करता है, उस संत की मैं बलिहारी जाता हूं।

दृग दर्शन साधू सुखी, रसना रट ररंकार।
रज्जब आतम राम रुचि, ते विरले संसार ॥१५॥

संत को नेत्रों से देखकर प्रसन्न हों, जिह्वा पर राम मंत्र के बीज "राँ" की निरंतर रटन लगी रहे, आत्मस्वरूप राम में प्रेम हो, ऐसे मानव संसार में विरले ही होते हैं।

साच वाच[1] माँही सदा, शील[2] शिश्न ठहराय।
रज्जब रत ररंकार जन, महिमा कही न जाय ॥१६॥

जिस की वाणी[1] में सदा सत्य रहता है, शिश्नेन्द्रिय ब्रह्मचर्य[2] में स्थित रहती है, मन राम मंत्र के बीज "राँ" के चिन्तन में अनुरक्त रहता है, उस जन की महिमा अपार है, वाणी से नहीं कही जा सकती।

साच सहित सुमिरण करै, सतवादी जिव जंत[1]।
रज्जब रीझा[2] देखिकर, नमो नमो निज[3] मंत[4] ॥१७॥

सांसारिक जीवों[1] में जो सत्यवादी जीव-सत्य-पालन के सहित हरि-स्मरण करता है, उसे देखकर मैं अति प्रसन्न[2] हूं और अपने[3] सिद्धान्त[4] के अनुसार उसे पुनः २ नमस्कार करता हूं।

जत[1] मत[2] माँही पाँव दृढ़, सुमिरे सांई नांउ[3]।
रज्जब सत सुकृत लिये, ताकी मैं बलि जांउ ॥१८॥

जो ब्रह्मचर्य[1] और अपने सिद्धान्त[2] में दृढ़ पैर रखता है अर्थात् दोनों को त्यागता नहीं, ईश्वर के नाम[3] का स्मरण करता है, सत्य का पालन करता है और पुण्य कर्म करता है, उसकी मैं बलिहारी जाता हूं।

सुमिरण सुकृत साच वाच गुरु, प्राणि सनेही पंच।
रज्जब रहिये सगों[1] में, तो न लगे यम अंच[2] ॥१६॥

हरि-स्मरण, पुण्य कर्म, सत्य पालन, शास्त्र-संतों के वचन और गुरु ये पांच ही प्राणी के प्रेमी हैं। इन प्रेमी संबन्धियों[1] में ही रहना चाहिये। इनमें रहने से यम की ताप[2] तुम्हारे नहीं लगेगी।

सुमिरण सुकृत शील[1] साच सौं, साहिब हासिल होय।
चारि युगों चारों सगे, रज्जब देखो जोय ॥२०॥

हरि-स्मरण, पुण्य कर्म, ब्रह्मचर्य,[1] और सत्य पालन से ईश्वर प्राप्त होते हैं। चारों युगों में ही उक्त चारों, प्राणी के प्रेमी संबन्धी ज्ञात होते हैं। यह तुम भी विचार द्वारा देख सकते हो।

सुमिरण सुकृत श्रवण धरि, साच रु शील प्रवेश।
चार पदारथ प्राणि गहि, यहु उत्तम उपदेश ॥२१॥

हरि-स्मरण और सुकृत की महिमा श्रवणों द्वारा सुनकर दोनों को हृदय में धारण कर, सत्य और ब्रह्मचर्य में प्रविष्ट हो। हे प्राणी ! इन चारों पदार्थों को ग्रहण कर यही उत्तम उपदेश है।

भाव भक्ति सुकृत लिये, सत जत[1] सुमिरण होय।
मनिषा[2] देही चतुर्फल, पावे विरला कोय ॥२२॥

श्रद्धा-भक्ति के सहित सुकृत, सत्य पालन, ब्रह्मचर्य[1] और हरि-स्मरण ये चार ही मनुष्य[2] देह प्राप्ति के फल हैं, इनको कोई विरला मनुष्य ही प्राप्त करता है।

आदम[1] की ओलाद[2] को, बड़े चार ये काम।
साच सहित सत जत[3] लिये, रज्जब सुमिरे राम ॥२३॥

सत्य-भाषण के सहित, सत्यव्यवहार अर्थात् पुण्य कर्म, ब्रह्मचर्य[3], और हरि-स्मरण आदि मानव[1] की संतान[2] के लिये उक्त चार ही बड़े काम हैं।

मनिषा देही चतुर्फल, भाव भक्ति जत जाप।
रज्जब दीये रामजी, आदम को ये आप ॥२४॥

श्रद्धा, भक्ति, ब्रह्मचर्य और जप ये चार ही मनुष्य देह के फल हैं और रामजी ने ही ये मानव को दिये हैं।

भाव[1] भक्ति भामा[2] रहित, पुनि लै[3] सत संतोष।
पंच पदारथ पाइये, रज्जब लहिये मोष[4] ॥२५॥

श्रद्धा[1], नारी[2] रहित भक्ति, लय योग[3], सत्य पालन और संतोष, ये पांच पदार्थ मिलने पर मोक्ष[4] प्राप्त होता है।

दया धर्म निर्वैरता, साच रु सुमिरण माँहि।
पंच पदारथ कर चढै, रज्जब टोटा[1] नाँहि ॥२६॥

भीतर दया, धर्म, निर्वैरता, सत्य और हरि-स्मरण होना चाहिये, उक्त पांच पदार्थ अन्तःकरण-हाथ में आ जायें तो किसी प्रकार की भी कमी[1] नहीं रहती।

रिधि सिधि निधि मुक्त्यों सहित, रतन पदारथ सब्ब।
रज्जब पावै राम सौं, जीव जु सुमिरे अब्ब ॥२७॥

यदि जीव अब भी राम का स्मरण करता है तो ऋद्धि, अष्ट सिद्धि, नवनिधि. सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, विदेह और कैवल्य मुक्ति सहित सभी रत्न तथा पदार्थ राम से प्राप्त करता है।

भाव भक्ति जत सत संतोष, ज्ञान ध्यान धीरज ध्वनि मोष।
क्षमा दया दासातन लीन, रत्न सु राम चौदह दीन ॥२८॥

१ श्रद्धा २ भक्ति ३ ब्रह्मचर्य ४ सत्य पालन ५ संतोष ६ ज्ञान ७ ध्यान ८ धीरज ९ नाद ध्वनि १० मोक्ष ११ क्षमा १२ दया १३ दास भाव १४ मनोलय, ये चौदह रत्न राम ने जीव को दिये हैं।

भाव भक्ति गुण ज्ञान गरीबी, साच शील संतोष।
दया धर्म पतिव्रत क्षमा नित, है पारिख प्रभु पोष ॥२९॥

जिसमें श्रद्धा, भक्ति, दैवीगुण, ज्ञान, गरीबी, सत्य, शीलव्रत, संतोष, दया, धर्म, पतिव्रत, क्षमा ये नित्य रहते हैं वही परीक्षक अर्थात् ज्ञानी संत है, उसका पोषण प्रभु स्वयं करते हैं।

वपु बल विद्या बुद्धि बल, वक्त[1] बली बल राम।
रज्जब पाये पंच बल, क्यों न सरै[2] जिव[3] काम ॥३०॥

शरीर बल, विद्या बल, बुद्धि बल, समय[1] पर बली होना रूप बल और राम का बल, ये पांच बल प्राप्त होने पर जीव[3] का काम क्यों न सिद्ध[2] होगा ?

पिंड उपाना[1] राज कुल, प्राण गुरू मत[2] मध्य ।
रज्जब पाई मौज[3] मुर[4], या पर क्या दें बध्य[5] ॥३१॥

मनुष्य शरीर, राजकुल में उत्पत्ति[1] और मन की गुरु के सिद्धान्त[2] में स्थिति, इन तीन[4] का सुख[3] प्राप्त है फिर राम इसके परे अधिक क्या देंगे ?

रज्जब अज्जब वस्तु ली, साहिब जी का नाम ।
मनिष[1] देह का फल मिल्या, ईहि अवसर ईहि ठाम ॥३२॥

यदि भगवान् का नाम चिन्तन कर लिया तो यह अद्भुत वस्तु लेली है, इस समय इसी स्थान में मनुष्य[1] देह का फल मिल चुका है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सत जत सुमिरण मिश्रित
का अंग १०२ समाप्तः ।सा० ३२०६॥

अथ रत्त विरक्त का अंग १०३

इस अंग में माया में अनुरक्त और विरक्त के विषय में विचार कर रहे हैं—

जा माया में जग खुशी, साधू के दुख सोय ।
रज्जब रजनी एक में, घूघू[1] चकवा जोय ॥१॥

जैसे एक ही रात्रि उल्लू[1] के लिये सुखप्रद और चकवा के लिये दुःखप्रद होती है, वैसे ही जिस माया के संपर्क में सांसारिक मानव प्रसन्न रहते हैं, वही माया विरक्त संत के लिये दुःखप्रद होती है ।

जा जल सौं वन वृक्ष ह्वै, सोहि जवासे हानि ।
रज्जब रिधि जीवन सबों, साधु मृत्यु करि जानि ॥२॥

जिस जल से वन के वृक्षों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, वही जल जवासे के लिये हानि करने वाला होता है, वैसे ही जो माया सबकी जीवन रूप है, वही साधु की मृत्यु करने वाली है, ऐसा ही जानो ।

रज्जब सुख संसार का, साधू के दुख हानि ।
जीव हु जीवन मीच मुनि, रत[1] विरक्त गति[2] जानि ॥३॥

संसार का सुख साधु के लिये दुःखद होने से हानिकर है । माया में अनुरक्त[1] जीवों के लिये तो माया जीवन रूप है और विरक्त मुनियों के लिये मृत्युरूप है । माया के संबन्ध से अनुरक्त और विरक्त की चेष्टा[2] ऐसी ही जानी गई है ।

साधु असाधु यूं शक्ति मधि, ज्यों मराल जल मीन ।
रज्जब दीसै भिन्न गति, होत अंभ से भीन ॥४॥

जैसे जल में हंस और मच्छी रहती हैं, वैसे ही माया में साधु असाधु रहते हैं, किन्तु जल से अलग होते ही दोनों की चेष्टा भिन्न २ देखी जाती है, मच्छी तो मर जाती है, हंस को कोई कष्ट नहीं होता, वैसे असाधु का तो माया से अलग होते ही मरण-सा हो जाता है और साधु को कोई प्रकार भी कष्ट नहीं होता उलटी प्रसन्नता होती है ।

रज्जब एक पूत मार्तांहि भखे, एक मात सुत खाय ।
विभूति बिच्छुनि व्यालनी, नर देखो निरताय ॥५॥

एक बिच्छू पुत्र तो अपनी माता को खाता है । (बिच्छुनि की संतान उसका पेट फाड़ कर जन्मती है और उसे ही खा जाती है) और एक सर्पणी माता अपने पुत्र को खा जाती है । (सर्पणी १०१ अंडे देती है और उनके चारों ओर लकीर खेंच देती है । उस लकीर से जो अंडा बाहर निकल जाता है उसे खा जाती है) बिच्छुनी और सर्पणी के समान ही माया है, अनुरक्त और विरक्त दो उसकी संतान हैं । अनुरक्त पुत्र तो माया को खाता है और विरक्त को माया खाती है अर्थात् व्यथित करती है । हे नरो ! यह तुम भी विचार करके देख सकते हो ।

जो तत्त्व चौरासी चरै[1], ताको चुगै चकोर ।
ऐसे माया मनिष[2] मुनि[3], देख्या द्वै दिशि ठौर ॥६॥

जो अग्नि तत्त्व चौरासी लाख योनियों को भक्षण[1] कर जाता है, उसको चकोर पक्षी खा जाता है । ऐसे ही माया सांसारिक मनुष्यों[2] को अपने में अनुरक्त करती है किन्तु मनन-शील[3] विरक्त संत उसे मिथ्या कहकर त्याग देते हैं, ऐसा ही रक्त-विरक्त रूप दोनों दिशाओं के मानव रूप स्थान में देखा गया है ।

अरिल–चौरासी लख जंत सुसंत चकोर है,
वह्नि[1] प्रकट विभूति[2] बहुत आतम दहै ।
एक हु ऐन[3] अहार एक संघारिये,
परिहां एकहु जीवन जड़ी, एक पुनि मारिये ॥७॥

चौरासी लाख योनियों को अग्नि[1] भस्म कर देता है किन्तु चकोर पक्षी तो उसे भी खा जाता है । अग्नि चकोर का तो ठीक[3] भोजन है, औरों को नष्ट कर देता है । वैसे ही माया[2] बहुत-से जीवात्माओं के अन्तःकरणों को चिन्तादि से जलाती है किन्तु विरक्त संत तो उसे मिथ्या

कहकर उसका संकल्प करना भी त्याग देते हैं। माया सांसारिक प्राणियों के लिये तो जीवन जड़ी रूप है किन्तु विरक्त संत को तो व्यथित ही करती है।

बरतणि[1] बरतैं साधु सिद्ध, सोइ शक्ति[2] संसार।
रज्जब रिधि[3] जीवन तनहु, मन मुनि[4] भिन्न विचार ॥८॥

सिद्ध संत जिस माया[2] को व्यवहार[1] में वर्तते हैं, उसी को सांसारिक मानव वर्तते हैं, माया[3] दोनों के शरीरों की जीवन रूप है किन्तु मन में सांसारिक प्राणियों के और मननशील[4] संत के विचार भिन्न रहते हैं, सांसारिक मानव माया में आसक्त होते हैं. संत नहीं होते।

माया के त्यागे मनिष[1], आपद वंत अपार।
रज्जब चल हिं विभूति[2] तज, ते विरले संसार ॥९॥

माया को त्यागने से मनुष्य[1] अपार दुखी हो जाते हैं, माया[2] को त्यागकर संसार में विचरते हैं, वे पुरुष विरले ही होते हैं।

रज्जब रूठा[1] ऋद्धि[2] सौं, कोउ कोटि मधि एक।
मन माया सौं मिल चलैं, ऐसे प्राणि अनेक ॥१०॥

माया[2] से रुष्ट[1] अर्थात् सच्चा विरक्त कोटिन में कोई एक ही मिलता है। ऊपर से त्याग और मन माया से मिलकर चले अर्थात् मायिक पदार्थों की इच्छा निरंतर बनी रहे, ऐसे त्यागी प्राणी तो अनेक मिलते हैं।

शक्ति[1] सूर[2] सम देखिये, नर नैना सु अनेक।
उभय उभय अँग मिल चलैं, तहँ घूघू कोउ एक ॥११॥

माया[1] सूर्य[2] के समान एक ही देखी जाती है किन्तु उन माया और सूर्य पर जाने वाले नर और नेत्र अनेक हैं। नेत्र और सूर्य दोनों के अंग दृष्टि और प्रकाश दोनों का उपयोग साथ चलने से ही होता है अतः साथ ही चलते हैं किन्तु एक उल्लू के नेत्र सूर्य से संबन्ध नहीं रखते। वैसे ही सब नर और माया दोनों के अंग, मन और पदार्थ साथ ही रहते हैं किन्तु एक विरक्त का मन माया को त्यागकर प्रभु में रहता है।

चौरासी चेतन सु ह्वै, माया मेघ की पोष।
जन रु जवासा जग जुदे, दोन्यों उपजैं दोष ॥१२॥

माया और मेघ के पोषण से सभी चौरासी लाख योनियों के जीवों में चेतनता आती है किन्तु भक्त और जवासा जगत् के सभी प्राणियों के स्वभाव से भिन्न स्वभाव के हैं उन दोनों में माया और मेघ के जल से दोष ही उत्पन्न होते हैं। जवासा जल जाता है और विरक्त संत को भी माया से विक्षेप ही होता है।

रज्जब मन माया बँधे, ज्यों अहि कठिन करंड ।
त्यागी ताखा क्यों बँधे, जा में अग्नि प्रचंड ॥१३॥

जैसे सर्प करंड में बँधते हैं, वैसे ही सबके मन माया में बँधे हैं किन्तु विरक्त संत का मन तो तक्षक सर्प के समान है। जैसे प्रचंड विषाग्नि होने से तक्षक करंड में नहीं बँधता, वैसे ही प्रचंड वैराग्य होने से विरक्त का मन माया में नहीं बँधता ।

माया दीपक देखकर, नैन नरों ह्वै पोष ।
तहँ ऊंदरे पतंग जीव, तिनको उपजे दोष ॥१४॥

दीपक को देखकर मनुष्यों के नेत्रों का तो पोषण होता है किन्तु उस दीपक से चूहों और पतंगों के लिये दोष ही उत्पन्न होता है, चूहों को प्रकाश में स्वतंत्रता नहीं रहती, पतंग दीपक ज्योति में पड़कर मर जाते हैं। वैसे ही माया से नरों का पोषण होता है किन्तु विरक्त संतों को तो विक्षेप ही होता है ।

काया काष्ठ प्राणी पावक, सांई शून्य समान ।
इन दोन्यों पलटे सो पावै, तीजे पद निर्बान ॥१५॥

शरीर काष्ट के समान है और प्राणी अग्नि के समान है, इन काष्ठ और काया दोनों को बदले अर्थात् त्यागे तब अग्नि तीसरे स्थान व्यापक अग्नि को प्राप्त हो और प्राणी तीसरे निर्बाण पद ब्रह्म को प्राप्त हो ।

अरवाह[1] तले औजूद[2] के, तब लग माया रूप ।
प्राणि पुरुष[3] जब पिंड पर, तब निज तत्त्व अनूप ॥१६॥

जीवात्मायें[1] जब तक शरीराध्यास[2] के नीचे हैं तब तक माया का रूप ही भासता है, और जब प्राणी का जीवात्मा[3] शरीराध्यास के ऊपर आ जाता है तब निज स्वरूप अनुपम तत्त्व ब्रह्म ही भासता है ।

ओंकार ऊपरि शक्ति, बूडे प्राण सु वार ।
रज्जब रिधि आतम तलै, ते तिर लंघे पार ॥१७॥

ओंकार रूप माया प्राणी के ऊपर रहती है तब वा जीवात्मा रूप ओंकार के ऊपर माया रहती है तब प्राणी संसार-सिन्धु के विषय जल में डूबता है, और जिनका आत्मा माया से ऊपर उठ जाता है, माया नीचे रह जाती है तब वे उक्त जल से पार होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं ।

काया मशक विषय जल भरिया, यहु जल जल में भारं ।
सो रीती[1] कर भरो ज्ञान दम[2], रज्जब उतरो पारं ॥१८॥

शरीर रूप मशक में विषय रूप जल भरा हुआ है, यह विषय-जल ही संसार-सिन्धु के माया-जल में भार रूप है। जैसे मशक को खाली[1] कर के उसमें वायु[2] भर दिया जाय, तो उस पर बैठकर व्यक्ति सरिता पार कर सकता है। वैसे ही शरीर से विषय-वासना निकाल कर उसमें ज्ञान भरो, तो संसार से पार उतर जाओगे।

काया शिर धर बूडिये, तन तल दे तिर जाय।
जन रज्जब यूं जानले, जीवन मरण उपाय ॥१६॥

शरीराध्यास को अन्तःकरण रूप शिर पर धरा रखने से प्राणी संसार-सिन्धु में डूबता है और तनाध्यास को ज्ञान के नीचे दबाने से तैर जाता है। इस प्रकार ही संतों ने नित्य जीवन और मरण का साधन बताया है सो समझ लेना चाहिये।

रज्जब बूडे आतमा, शिर पर शिला शरीर।
सो वपु बोहिथ[1] पाँव तलि, तिरिये जल गंभीर ॥२०॥

जीवात्मा अन्तःकरण के अहं भाव रूप शिर पर शरीराध्यास रूप शिला रखकर संसार सिन्धु में डूबता है और उसी शरीराध्यास को जहाज[1] के समान ज्ञानरूप पैरों के नीचे रखे, तो जैसे जहाज से गहरा जल भी तैरा जाता है, वैसे ही शरीराध्यास ज्ञान के नीचे रहने से अपार संसार तैरा जाता है।

हंस[1] अंश देही[2] रले[3], मिले सु माया मंड[4]।
पिंड प्राण न्यारे भये, सहज तजे ब्रह्मण्ड ॥२१॥

परमात्मा[1] के अंश जीव शरीर[2] में मिलकर[3] माया रचित ब्रह्माण्ड[4] में रुक रहे हैं, जब ज्ञान द्वारा पिंड-प्राण से अलग हो जाते हैं तब अनायास ही ब्रह्माण्ड को त्याग कर अपने स्वरूप ब्रह्म में मिल जाते हैं।

प्राण-पिंड पहराइये, तब ही सकल उपाधि।
न्यारे नारायण कला[1], सहजैं होय समाधि ॥२२॥

आत्मा को प्राण-पिंड का चोला पहनाया जाता है तभी सांसारिक सब उपाधियें होती हैं। प्राण-पिंड से अलग तो ये जीव नारायण के अंश[1] हैं ही। इस निर्विकार स्थिति में आने पर तो अनायास ही समाधि हो जाती है।

गुड़ महुवा अरु बेर जड़, अग्नि उदक[1] मिल मद्द[2]।
ये रज्जब न्यारे अमल, संगति ही सौं रद्द[3] ॥२३॥

गुड़, महुवा, बेर जड़, अग्नि और जल[1] इनके मिलने से ही मद्य[2] बनता है, ये सभी अलग २ रहने से निर्मल हैं, मिलने पर ही मादकतारूप मल से युक्त खराब[3] हो जाते हैं, वैसे ही प्राण पिंड की संगति से आत्मा विकार युक्त होता है, अन्यथा निर्विकार है।

नर नारी का बंध दृढ़, मुक्ता मदन खुलान।
रज्जब समझे उभय घर, संकट मुक्त सुजान ॥२४॥

नर-नारी के रज-वीर्य का दृढ़ बंध संयमरूप जेल से काम के मुक्त होने पर दोनों के मिलन से खुल जाता है। वैसे ही प्राण पिंड के मिलने पर आत्मा का निर्विकारता रूप दृढ़ बंध खुल जाता है, वह विकारी हो जाता है, नर-नारी के मिलन रूप घर और आत्मा के सविकार रूप घर दोनों ही दुःखरूप हैं यह समझने पर बुद्धिमान् दोनों से होने वाले दुःख से मुक्त हो जाते हैं।

एक गया निज काम कर, एक गया बेकाम।
रज्जब इक विमुखे वस्तु, एक सन्मुखे राम ॥२५॥

एक विरक्त अपना काम करके राम के सन्मुख जाता है और एक माया में अनुरक्त अपने कल्याण का कार्य बिना किये ही शरीर छोड़कर चौरासी में जाता है और रामरूप वस्तु से विमुख ही रहता है। यही रत्त-विरक्त के जीवन का अन्तिम परिणाम है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित रत्त-विरक्त का अंग १०३
समाप्तः ॥सा० ३२३४॥

अथ सुमति कुमति का अङ्ग १०४

इस अंग में सुबुद्धि और कुबुद्धि संबन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब मन माया सब ठौर है, सुमति कुमति का फेर।
वह पहुंचावे स्वर्ग को, वहि नरक न जातां बेर ॥१॥

मन और माया तो सभी स्थानों में हैं किन्तु सुबुद्धि और कुबुद्धि का ही भेद है। सुबुद्धि स्वर्ग में पहुंचाती है और उस कुबुद्धि से नरक में जाते कोई देर नही लगती।

सुमति पंथ सो स्वर्ग का, उत्तम ऊंचे जाँहि।
दुर्मति मारग दुर्मती, रज्जब नरक समाँहि ॥२॥

सुमति है सो तो स्वर्ग का मार्ग है, उत्तम पुरुष ही उस मार्ग से ऊंचे लोकों को जाते हैं और दुर्बुद्धि प्राणी दुर्मति रूप मार्ग से नरक में पड़ते हैं।

दुर्मति दिल दीरघ दुखी, सुमति सदा सुख राशि।
जन रज्जब जोयर[1] कही, देखो सकल विमाशि[2] ॥३॥

दुर्बुद्धि मानव का हृदय बड़ा दुखी रहता है और सुबुद्धि वाले का हृदय सदा सुख राशि में निमग्न रहता है। यह मैंने देख[1] करके ही कहा है। तुम सब भी विमर्शन[2] (विचार) करके देख सकते हो।

कुमति कुकर्म हुं कंद[1] है, सुमति सुकृत हुं मूल[2]।
जन रज्जब जानी जड़ी[3], उभय एक अस्थूल[4] ॥४॥

कुबुद्धि कुकर्मों की जड़[1] है और सुबुद्धि शुभ कर्मों की जड़[2] है। यह हमने जान लिया है कि कुमति-सुमति दोनों एक ही स्थूल[4] शरीर में भूषण में नग के समान जटित[3] हैं।

रज्जब बंटा[1] भाव का, गुण अवगुण सु खिलार[2]।
एकहुं जीत्यों स्वर्ग है, एकहुं नरक विहार[3] ॥५॥

जैसे खेल की भूमि का विभाग करके खिलाड़ी खेलते हैं, वैसे ही सुभाव-कुभाव का विभाग[1] करके गुण और अवगुण रूप खिलाड़ी[2] खेल रहे हैं, एक गुण पक्ष के जीतने से तो स्वर्ग मिलता है और अवगुण पक्ष के जीतने से नरक निवास[3] मिलता है।

आदम[1] ईदम[2] औलिया[6], आदम ईदम होय।
सूरो श्वान मनिष[3] सही[4], रज्जब लक्षण जोय[5] ॥६॥

यदि लक्षणों का विचार करके देखें[5] तो यह[2] मानव[1] ही संत[6] होता है और यह संत ही मानव होता है, शूरवीर, श्वान, आदि भी निश्चय[4] मनुष्य[3] ही होता है अर्थात् जिस समय जिसका लक्षण मनुष्य में दिखाई दे उस समय वह उसी का रूप होता है।

रज्जब दास भाव सुत सुमतिका, मोहे आतम राम।
कुमति कूखि[1] अभिमान ह्वै, मा बेटे बेकाम ॥७॥

दास भाव सुमति का पुत्र है, इसने आत्म स्वरूप राम को भी मोहित किया है। कुमति के पेट[1] से अभिमान उत्पन्न होता है और ये दोनों मा बेटे निकम्मे हैं, इनसे मानव कल्याण का काम नहीं होता, उलटे बंधन में डालते हैं।

पंच तत्त्व सौं धर्म ह्वै, पंच तत्त्व सौं कर्म ।
बरतणि[1] ज्ञान अज्ञान की, रज्जब लह्या मर्म[2] ॥८॥

पंच तत्त्वों से रचित शरीर अन्तःकरणादि से ही सुकर्म रूप धर्म होता है और उन्हीं से कुकर्म होता है । धर्म रूप व्यवहार[1] सुमति रूप ज्ञान का है । कुकर्म रूप व्यवहार कुमति रूप अज्ञान का है । यह रहस्य[2] हमने जान लिया है ।

इन्द्रिय आभे[1] ऊनवन[2], तब लग खिवणि[3] खिवांहि[4] ।
समझ[5] शून्य[6] सुत के फिरे, ममसा बीज[7] विलांहि ॥९॥

बादल[1] घिरे[2] रहते हैं तब तक ही बिजली[3] चमकती[4] है और आकाश[6] के पुत्र बादल आकाश में लय हो जाते हैं तब बिजली[7] भी लय हो जाती है, नहीं चमकती, वैसे ही इन्द्रियाँ विषयों पर मँडराई हुई रहती हैं तब तक ही विषयाशा उठती है और ब्रह्म-ज्ञान[5] के उदय होने पर इन्द्रियां विषयों से लौटकर ब्रह्म परायण हो जाती हैं तब विषयाशा भी नष्ट हो जाती है ।

आतम अंभ[1] अकार में, तब लग नीचे जांहि ।
जन रज्जब तन त्यागते, उभय अकाश समांहि ॥१०॥

जल[1] तब तक ही नीचे जाता है जब तक आकारवान् है, जब आकार को त्यागकर भाप बन जाता है तब आकाश में समा जाता है । वैसे ही आत्मा आकार में स्थित है तब तक ही नीचे जाता है जब शरीर को त्याग देगा तब ब्रह्म में समा जायगा ।

अनल अंड अज्ञान गति[1], जब लग नीचे जांहि ।
रज्जब पाये ज्ञान पर[2], उलटे शून्य[3] समांहि ॥११॥

अनल पक्षी का अंडा जब तक पंख नहीं आते तब तक ही नीचे जाता[1] है, पंख[2] आते ही उलटा आकाश[3] को चला जाता है । वैसे ही प्राणी में अज्ञान है तब तक नीचे को जाता[1] है ज्ञान होने पर वह भी ब्रह्म[3] में समा जाता है ।

अंडा अवनि न छाड ही, बिना पंख परकास[1] ।
रज्जब रहसी रज पड़्या, गम[2] नहिं गगन[3] निवास ॥१२॥

अंडा पंख प्रकट[1] हुये बिना पृथ्वी को नहीं छोड़ता धूलि में ही पड़ा रहेगा, उसमें आकाश[3] में पहुंचने[2] की शक्ति नहीं होती । वैसे ही ब्रह्म ज्ञान बिना जीव का ब्रह्म[3] में निवास नहीं हो सकता, संसार में ही रहेगा ।

तेरू[1] तोयं[2] तिर चलै, अतेरू जल बूड[3] ।
कुट[4] पंखी पृथ्वी पड़्या, सपंखां जाय ऊड[5] ॥१३॥

तैराक[1] जल[2] से तैर जाता है और तैराक न हो वह डूब[3] जाता है, वैसे ही ज्ञान रूप सुमति वाला संसार से पार हो जाता है और अज्ञानी संसार में ही रहता है । पंख कटा[4] हुआ पक्षी पृथ्वी पर पड़ा रहता है और पंखों सहित उड़[5] जाता है, वैसे ही अज्ञानी संसार में रहता है और ज्ञानी ज्ञान द्वारा ब्रह्म में मिल जाता है ।

अचेत[1] अंग[2] लोहा मई, छित[3] छाडै नहिं अंग[4] ।
रज्जब सो रज त्याग दे, चेतन[5] चुंबक संग ॥१४॥

अज्ञानी[1] लोह खंड[2] के समान है, जैसे लोह का टुकड़ा पृथ्वी[3] को नहीं त्यागता, वैसे ही अज्ञानी शरीराध्यास को नहीं त्यागता किन्तु जैसे चुंबक पत्थर के संग से लोह खंड धूलि को त्याग देता है, वैसे ही ज्ञानी[5] के संग से अज्ञानी शरीर[4] के अध्यास को त्याग देता है ।

रज्जब नरक नहीं निष्काम को, ता पर करहु न वाद ।
देखा दुर्मति धी[1] बिना, दोजख[2] नहीं दमाद[3] ॥१५॥

निष्कामी को नरक नहीं मिलता, उसके विषय में यह विवाद न करो कि—उसे नरक मिलेगा । जैसे लड़की[1] के बिना जँवाई[3] नहीं मिलता, वैसे ही दुर्बुद्धि के बिना नरक[2] नहीं मिलता ।

स्वर्ग स्थाने सुख नहीं, दुख नहिं दोजख[2] माँहिं ।
रज्जब शीतल तपति जीव, आप दशा[1] ले जाँहिं ॥१६॥

स्वर्ग के स्थान में सुख नहीं है और नरक[2] में दुःख नहीं है, जीव आप ही अपनी स्थिति[1] शीतल और तप्त बनाकर ले जाते हैं अर्थात् प्राणियों के कर्मानुसार ही स्वर्ग में सुख और नरक में दुःख मिलता है ।

अग्नि अज्ञानी देखिये, ज्ञानी शीतल नीर ।
रज्जब दोन्यों ठौर का, ब्योरा[1] पाया वीर[2] ॥१७॥

अज्ञानी अग्नि के समान तप्त और ज्ञानी जल के समान शीतल देखा जाता है । हे भाई[2] ! अज्ञानी-और ज्ञानी रूप दोनों स्थानों का विवरण[1] हमने उक्त प्रकार से प्राप्त किया है ।

दुर्मति दारू[1] सौं भरे, वपु सु बाण विधि माँहिं ।
रज्जब त्रिगुणी जरे[2] बिन, निश्चल उभय सु नाँहिं ॥१८॥

जैसे अग्नि बाण में बारूद[1] भरी जाती है, वैसे ही शरीर में दुर्बुद्धि भरी है, बारूद और त्रिगुणात्मिका दुर्बुद्धि जले[2] बिना बाण और शरीर दोनों ही निश्चल नहीं होते ।

कठिन कुमति की गांठ है, दई[1] मुग्ध[2] मन घोल[3] ।
जन रज्जब सो सुमति बिन, कोई सके न खोल ॥१६॥

कुमति रूप ग्रंथि बड़ी कठिन है, मूर्ख[2] मन ने खूब खेंचकर[3] लगादी[1] है, उसको सुमति बिना कोई भी नहीं खोल सकता ।

मूंज जेवड़ा मुग्ध मति, गांठ गर्व की देय ।
जन रज्जब खोलन मतै[1], तामस तोयं भेय ॥२०॥

किसी ने मूंज की रस्सी की गांठ खूब खेंचकर लगादी और खोलने का विचार[1] किया तब उसे जल से भिगो दिया । ऐसा करने से खुलना कठिन होता है, वैसे ही मूर्ख प्राणी ने गर्व की गांठ लगादी है और उसे खोलने का विचार किया तब तमोगुण बढ़ाया है,[1] ऐसा करने से गर्व दूर होना अति कठिन है ।

कूवे कच्छप कोल घरि, त्यों कुमति सु काया माँहि ।
जन रज्जब तीन्यों ढहै, कबहूं उबरै नाँहि ॥२१॥

कूप में कछुवा और घर में सुवर रहता है, वैसे ही शरीर में कुमति रहती है, कूप, घर और शरीर तीनों नष्ट होंगे तब कछुवा, सुवर और कुमति भी कभी नहीं बच सकेंगे ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सुमति कुमति का अंग १०४
समाप्त. । सा० ३२५५ ॥

अथ शक्ति उभय गुणी का अङ्ग १०५

इस अंग में माया दो गुण वाली है, यह विचार प्रकट कर रहे हैं—

माया बेड़ी बेड़ी[1] माया, हरिसिद्धि[2] का भेद[3] सु पाया ।
नरक नसीनी[4] स्वर्ग विमान, रज्जब रिधि[5] के दोय बखान ॥१॥

माया बाँधने की बेड़ी है और तारने की नौका[1] भी है, माया[2] का रहस्य[3] हमने जान लिया है, यह नरक की सीढी[4] है और स्वर्ग का विमान भी है । इस प्रकार माया[5] के दो गुण कहे जाते हैं ।

स्वारथ परमारथ शकति, तो धिक् माया धन्न ।
रज्जब रुचे सु काढिल्यो, जो है जाके मन्न ॥२॥

माया का उपयोग स्वार्थ और परमार्थ दोनों में ही होता है। जिसके मन में स्वार्थ रुचिकर हो वह माया से स्वार्थ का काम निकाल ले और जिसके मन में परमार्थ रुचिकर हो वह परमार्थ का काम निकाल ले किन्तु माया का उपयोग स्वार्थ में होता है तब तो धिक्कार और परमार्थ होता है तब धन्यवाद मिलता है।

परमारथ पहुपै[1] मिलै, स्वारथ पड़ै अहार।
रज्जब त्रिगुणी[2] तिली में, समझ करो व्यवहार ॥३॥

माया[2] को परमार्थ में लगाना तो तिलों को पुष्पों[1] में पटकने के समान है। तिल पुष्पों में पड़ने से उनका तेल सुगन्धित हो जाता है, वैसे ही माया परमार्थ में लगाने से सुकीर्ति होती है। माया को स्वार्थ में लगाना तिलों को भोजन में डालने के समान है। भोजन में पटके हुये तिल मल बनकर दुर्गन्ध देते हैं, वैसे ही स्वार्थ में माया का उपयोग करने से अपकीर्ति होती है, अतः समझ करके ही माया का व्यवहार करो।

घोड़ा थोड़ा[1] कौन दिशि, चढ चौगान खिलाय।
यूं स्वारथ परमार्थ हिं, शक्ति[2] चलै सम भाय ॥४॥

घोड़े पर चढ़कर उसे मैदान में खिलाने से वह कौनसी दिशा में कम[1] दौड़ेगा ? वह तो सब दिशाओं में समान ही दौड़ता है। वैसे ही माया[2] स्वार्थ-परमार्थ में समान भाव से ही चलती है।

माया ब्रह्म ब्रह्म सोइ माया, काया काष्ठ भेद भल पाया।
जागे ज्योति सोवते कट्ठे, समझै नहिं सो मूरख शट्ठे ॥५॥

माया ही ब्रह्म है, और ब्रह्म ही माया है। शरीर और काष्ठ के द्वारा यह रहस्य हमने भली प्रकार प्राप्त कर लिया है। काष्ठ की अग्नि की ज्योति नहीं जगती तब तक काष्ठ और अग्नि इकट्ठे ही रहते हैं। ज्योति जगने पर काष्ठ भस्म हो जाता है। वैसे ही शरीर में ब्रह्म ज्ञान रूप ज्योति नहीं जगती तब तक माया और ब्रह्म इकट्ठे ही रहते हैं। ज्ञान ज्योति जगने पर माया का अभाव हो जाता है जो इस रहस्य को नहीं समझता वह मूर्ख और दुष्ट है।

अठारह भार उभयगुणी, हरिसिद्धि[1] गुण दोय।
याही में जीवन जड़ी, याहि में मृत्यु होय ॥६॥

अठारह भार वनस्पति का अग्नि दो गुण वाला है, वैसे ही माया[1] दो गुण वाली है। वनस्पतियों का अग्नि उनमें अंतर्लीन होता है तब तो उनका जीवन है और प्रकट होता है तब उनको भस्म कर डालता है वैसे ही इस माया में जीवों के लिये जीवन बूंटी है अर्थात् माया का उपयोग परमार्थ में करने से ब्रह्म प्राप्ति रूप नित्य जीवन प्राप्त होत

है और स्वार्थ में उपयोग करने से इसी माया के सम्बन्ध से बारम्बार मृत्यु होती है।

इक वह्नि रु विभूति में, दो दो गुण इन दोय।
एक बधैं इक बालिये, वन वपु देखो जोय ॥७॥

एक अग्नि और माया इन दोनों में दो-दो गुण हैं, अग्नि एक गर्मी देना रूप गुण से तो वन को बढ़ाता है और दूसरे प्रकट होकर वन को जला देता है। वैसे ही विचार करके देखो, माया का परमार्थ में उपयोग करने से तो शरीर की उन्नति करती है और स्वार्थ से नष्ट कर देती है।

रज्जब माया चित्त सम, वैरी मीत न कोय।
कुकृत उपजे इनहुं सौं, इनसौं सुकृत होय ॥८॥

माया और मन के समान शत्रु-मित्र कोई नहीं है। इनसे ही कुकर्म होते हैं और इनसे ही पुण्य कर्म होते हैं।

जिह्वा रूपी जीव है, दाँत मयी है शक्ति[1]।
ये ही शस्त्र सनाह[2] ये, समझ्या साधू मत्ति[3] ॥९॥

जीव जिह्वा के समान है और माया[1] दांतों के समान है। जैसे जिह्वा को काटने के शस्त्र दांत हैं और रक्षक कवच[2] भी दांत ही हैं। वैसे ही जीव की नाशक भी माया है और रक्षक भी माया ही है। यह रहस्य हमने संतों की बुद्धि[3] द्वारा समझा है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शक्ति उभय गुणी का अंग १०५ समाप्तः ॥ सा० ३२६४ ॥

अथ माया जड़ चेतन का अंग १०६

इस अंग में माया की जड़ता और चेतनता संबन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब जड चेतन दर्शे, गुरु ज्ञात[1]हुं के संग।
लोहा पारस मृतक जीवते, परसत पलटे अंग ॥१॥

मृतकवत लोहा पारस के स्पर्श होते ही जीवित के समान अपना आकार बदल लेता है, वैसे ही ज्ञानी[1] गुरुजनों के संग से जड़ माया भी चेतनवत दीखती है।

नर नग मादा स्थावर जंगम, विधुरे बहुरि मिलांहि।
यूं माया मूई जीवती देखहिं, मुनिवर नैनों माँहि ॥२॥

हीरा जाति के नग हीरा-हीरी स्थावर होने पर भी जंगम दिखाई देते हैं, बिछुड़ने पर पुनः अपने आप मिल जाते हैं। हीरा-हीरी जौहरी के पास हो और उनमें से एक खरीद लिया जाय तो हीरा जहाँ हीरी होगी वहाँ चला जाता है। ऐसे ही मरी हुई माया भी पुनः जीवित हो जाती है, यह मुनिवरों के नेत्रों में देखते हैं अर्थात् उनके मन की माया मर जाने पर भी नेत्रों से माया का व्यक्त रूप देखने से पुनः जीवित हो जाती है, वा विचार नेत्रों से ये उसे जीवित ही देखते हैं।

हाथा जोड़ी मूसल मेलै, चुंबक सूई चलावै।
जन रज्जब जड़ चेतन दीस हिं, जे सद्गुरु दिखलावै ॥३॥

मूसल हाथों की जोड़ी मिला देता है अर्थात् मूसल से कूटने का काम करते समय दोनों हाथ आकर मिल जाते हैं। चुंबक पत्थर सुई को चंचल कर देता है, वैसे ही यदि सद्गुरु दिखावें तो जड़ भी चेतन रूप दीखते हैं।

रज्जब वसुधा[1] बीज जड़, मिलतों चेतन होय।
तो दीसें सब जीवते, मूवा नांहीं कोय ॥४॥

पृथ्वी[1] और बीज दोनों जड़ हैं किन्तु मिलने पर दोनों ही चेतन हो जाते हैं। पृथ्वी बीज को निकलने के लिये अवकाश देती है और बीज से अंकुर निकलता है ये काम चेतन बिना कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार सभी जीवित दिखाई देते हैं, कोई भी मरा हुआ नहीं है।

काचा ऊगै कुंभनी[1], पाका काया माँहि।
जल दल[2] दीसे जीवते, कहो कौन विधि खाँहि ॥५॥

कच्चा बीज पृथ्वी[1] से उगता है और जल निकलता है। पक जाने पर रज-वीर्य बनकर शरीर से संतान रूप में उगते हैं। अतः अन्न[2]-जल तो जीवित ही भासते हैं, फिर कहो इनको किस प्रकार खाया जाय? अर्थात् ये नष्ट नहीं होते चेतन ही हैं।

माया अमर मरे नहीं, बालो[1] बल न घटांहि।
रज्जब रिधि[2] दारू[3] दशा, दग्धी दुर्ग[4] उडांहि ॥६॥

माया अमर है, मरती नहीं, जलाने[1] पर भी इसका बल नहीं घटता। जैसे बारूद[3] जलाने पर भी किले[4] को उखाड़ देती है, वैसे ही माया[2] जली हुई भी मन को प्रभु से हटा देती है।

सितिया[1] शक्ति[2] समान है, संकट स्वाद सु पुष्टि।
माया मिश्री मर्दत दिप[3] हि, देखै को दिव्य दृष्टि ॥७॥

मिश्री[1] और माया[2] दोनों बराबर हैं, दोनों ही दुःख में स्वाद और पुष्टि देती हैं तथा दोनों ही मर्दन करने पर प्रदीप्त[3] होती हैं। इनकी इस चेष्टा को कोई दिव्य दृष्टि वाला ही देखता है।

रज्जब औषधि रोग लड़ाई, जड़ों माँहिं चेतन गति[1] पाई।
तो मूवै मूवा सो कोइ नाँहीं, जीवन गति[2] दीसे सब मांहीं ॥८॥

औषधि और रोग का युद्ध होता है, यह देखो जड़ों में भी चेतन की चेष्टा[1] मिलती है, तब मरने पर भी वह मरने वाला कोई नहीं मरता कारण—सभी में जीवित रहने की-सी चेष्टा[2] भासती है।

पंच तत्त्व जीवहिं सदा, आतम अमर अनादि।
जन रज्जब बिछुरहिं मिलहिं, मूये कहैं सो बादि[1] ॥९॥

आकाशादि पंच तत्त्व सदा जीवित रहते ही हैं, आत्मा अमर और अनादि है ही, ये बिछुड़ते हैं और मिलते हैं। जो मरने की बात कहते हैं, सो व्यर्थ[1] है।

ब्रह्म काम ब्रह्माण्ड सु चेतन, रज्जब रजा[1] सु होय।
मूई जीवती मांड[2] को, बूझे विरला कोय ॥१०॥

ब्रह्म की आज्ञा[1] होने पर ब्रह्म के काम के लिये ब्रह्माण्ड सम्यक् चेतन है किन्तु इस ब्रह्माण्ड[2] के मरने तथा जीवित रहने के रहस्य को कोई विरला ही समझता है।

माया मनसा मरे न कबहूं, जाल्यों[1] भूत होत है अबहूं।
जड़ चेतन देखी हरिसिद्धि[2], मूई जीवतों खाय सु गिद्धि ॥११॥

माया और मनकी आशा कभी नहीं मरती, अब भी जलाने[1] पर भूत हो जाती है। इसी प्रकार माया[2] जड़ और चेतन दोनों ही गुणों वाली देखी गई है। जैसे गिद्धिनी रण में घायल जीवित और मरे वीरों को खाती है, वैसे ही यह माया भी जीवितजनों को खाती है।

गुड़ महुवा अरु बेरि जड़, जल ज्वाला मिल मद्द[1]।
यूं पंच तत्त्व मिल माया पाकी, जीव करन को रद्द[2] ॥१२॥

गुड़, महुवा, बेरजड़, जल और अग्नि ये पांचों मिलकर मानव को खराब करने के लिये मद्य[1] पकता है, वैसे ही आकाशादि पांच तत्त्व मिलकर जीव को खराब[2] करने के लिये माया पकी है।

रज्जब मूई न मृत्तिका, अदभू[1] ऊगै माँहिं।
अंतक[2] मुख अबला[3] भये, तनै[4] तनैया[5] नाँहिं ॥१३॥

मृत्तिका मरी नहीं है कारण—उससे वृक्ष[1] उत्पन्न होते हैं, नारी[3] काल[2] के मुख में चली जाय तो उसके शरीर[4] से पुत्र[5] उत्पन्न नहीं हो सकता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित माया जड़ चेतन का अंग १०६
समाप्तः ॥ सा० ३२७७ ॥

अथ माया का अंग १०७

इस अंग में माया सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब आतम राम बिच, कनक कामिनी कोट[1] ।
यहु आडा अंतर[2] इहै[3], यहु पड़दा यहु ओट[4] ॥१॥

जीवात्मा और राम के मध्य कनक-कामिनी रूप परकोटा[1] है । यहां[3] यही बीच[2] में आडा लगा है । यही पड़दा है और यही आड[4] है ।

माया बांध्यों मन बंधै, खोल्यों खुलता जाय ।
रज्जब ग्रह[1] उग्रह[2] कह्या, नर देखो निरताय[3] ॥२॥

माया को बाँधकर रखने से मन भी उसमें बँध जाता है और उसे खोलकर परमार्थ में लगाने से मन भी उससे मुक्त हो जाता है । यह हमने ग्रहण[1] लगने तथा मुक्त[2] होने के समान कहा है अर्थात् ग्रहण लगने से प्रकाश रुक जाता है और मुक्त होने से प्रकाश खुल जाता है, वैसे ही उक्त माया-मन का संबन्ध है । हे नरो ! तुम भी विचार[3] करके देख सकते हो, यह कथन उचित ही ज्ञात होगा ।

ब्रह्माण्ड छिप्या फूल हु तले, केतक[1] बडे सु जोय ।
त्यों लघु माया दीर्घ ब्रह्म, पर जीव सु आडी होय ॥३॥

नेत्र का फूला और वृक्ष का फूल ये दोनों कितनेक[1] बड़े हैं ? छोटे २ तो हैं, तो भी दृष्टि के आडे आने पर विशाल ब्रह्माण्ड को छिपा देते हैं, वैसे ही माया छोटी-सी है और ब्रह्म बड़ा है किन्तु जीव की ज्ञान-दृष्टि के आडी आजाती है, तब ब्रह्म नहीं भासता ।

मन माया सौं बंधि करि, निश्चल कदे न होय ।
रज्जब पिंडा चाक पर, अस्थिर[1] सुन्या न कोय ॥४॥

जैसे कुम्हार के चाक पर स्थित मिट्टी का पिंडा घूमते हुये चाक पर घूमता ही है, निश्चल[1] रहता हुआ किसी से भी नहीं सुना, वैसे ही चंचल माया की आसक्ति से बंधा हुआ मन भी कभी निश्चल नहीं हो सकता ।

रज्जब माया मिलत दुख, बिछुरत बिहरै प्राण[1] ।
करवत रेती सांण के, आवण जाणे जाण ॥५॥

जैसे करवत, रेती और शाण के आने जाने पर वस्तु कटती है वैसे ही माया के आकर मिलने से भी दुःख होता है और बिछुड़ते समय भी प्राणी[1] के हृदय को विदीर्ण करती है, ऐसा ही जानो ।

बणि अनार वित आये फाटैं, नीर गये पर फाटे ताल ।
त्यों रज्जब संपत्ति विपत्ति, मन को करे विहाल ॥६॥

कपास तथा अनार फल रूप धन आने से फटते हैं और जल के सूखने से तालाब फटता है, वैसे ही माया का आना रूप संपत्ति और जाना रूप विपत्ति दोनों ही मन को व्यथित करती हैं ।

रज्जब ऋद्धि[1] बाहिली[2] रमत[3] ही, जीव[4] मांहिला जाय ।
तो मन माया मीन जल, नर देखो निरताय[5] ॥७॥

बाहर[2] की माया[1] जाते[3] ही भीतर का मन[4] भी जाता है, तब हे नरो ! विचार[5] करके देखो, जैसे जल बिना मच्छी नहीं रह सकती, वैसे ही माया बिना मन नहीं रह सकता ।

रज्जब राचै[1] हि ऋद्धि[2] सौं, मिल हिं मानवी[3] आय ।
विरचै[4] सोइ विभूति[5] बिन, जब शक्ति[5] सदन[6] सौं जाय ॥८॥

माया[2] होने से मनुष्य[3] आकर मिलता है और प्रेम[1] करता है । फिर जब माया[5] घर[6] से चली जाती है तब वही माया[5] के बिना विरक्त[4] हो जाता है अर्थात् पूर्ववत प्रेम नहीं करता ।

धर[1] धामन[2] यहु पुरुष गति, सोवन[3] सुत उनहार[4] ।
रज्जब जातक[5] जार के, भरमि भूलि भरतार ॥९॥

पृथ्वी[1] तथा घर[2] आदि पुरुष के समान हैं और सुवर्ण[3] पुत्र के समान[4] है, जीवात्मा रूप नारी उस जार पुत्र[5] के मोह-वश भ्रम में पड़कर अपने स्वामी परब्रह्म को भूल गई है ।

माया मारै मीच[1] ह्वै, बिन बांछी[2] ही आय ।
रज्जब सिध साधक डसे, सो टाली नहिं जाय ॥१०॥

माया बिना इच्छा[2] भी आती है और मृत्यु[1] होकर मारती है । साधक तथा सिद्धों को भी सर्पणी के समान डसती है, वह किसी प्रकार टाली नहीं जाती ।

जो माया मुनिवर गिलै[1], सिध साधक से खाय ।
ता माया सौं हेत करि, रज्जब क्यों पतियाय[2] ॥११॥

जो मुनियों में श्रेष्ठ हैं, उनको भी माया निगल[1] जाती है, सिद्ध-साधकों को भी खा जाती है, उस माया से प्रेम करके सुखी होने का विश्वास[2] क्यों करता है ?

एक गये नट नाचि करि, एक कछे[1] अब आय ।
जन रज्जब इक आयसी, बाजी रची खुदाय ॥१२॥

जैसे नाट्यशाला में एक नट नाच कर जाता है, एक स्वांग[1] बनाकर अब आया है और एक आगे आयेगा, वैसे ही ईश्वर रूप बाजीगर ने यह संसार-माया रूप बाजी रची है, इसमें एक जन्म कर मर रहा है, एक जन्म रहा है और एक आगे जन्मेगा ।

माया तरुवर पत्र घट[1], इक उपजै इक जांहि ।
रज्जब पूरण दशों दिशि, रीती कबहूं नाँहि ॥१३॥

जैसे वृक्ष में पत्ता एक उत्पन्न होता है और एक गिर जाता है, वैसे ही इस माया रूप संसार में एक शरीर[1] जन्मता है और एक मरता है किन्तु दशों दिशाओं में यह संसार-रूप माया मनुष्यादि से परिपूर्ण है, खाली कभी भी नहीं होती ।

ज्यों सूरज दीसे समुद्र में, मीन मरे नहिं कोय ।
त्यों रज्जब माया मगन, हरि गुण लिप्त[1] न होय ॥१४॥

जैसे सूर्य का प्रतिविम्ब समुद्र में मच्छियों को दीखता है किन्तु उसके ताप से मच्छी नहीं मरती, वैसे ही जो माया में निमग्न है वह हरि-गुण-गान में अनुरक्त[1] नहीं होता ।

पड़दा परवत पलक का, उभय एक करि जानि ।
जन रज्जब जोख्यों[1] इहै, हरि देखन की हानि ॥१५॥

पर्वत तथा पलक दोनों ही पड़दे एक जैसे जानो, दोनों ही से दृष्टि रुकती है, वैसे ही माया थोड़ी हो वा अधिक दोनों ही ब्रह्म के साक्षात्कार करने में हानि[1] कारक हैं ।

ना मरदों भुगती नहीं, मरद गये करि त्याग ।
रज्जब रिधि[1] क्वारी[2] रही, पुरुष पाणि[3] नहिं लाग ॥१६॥

नामर्द तो भोग नहिं सके और मर्द त्यागकर विरक्त होगये, पुरुष का हाथ[3] न लगने से माया[1] कुमारी[2] ही रही ।

चेरी के चेरे किये, चौरासी लख जंत।
तो रज्जब कहि कौन है, शक्ति समान महंत ॥१७॥

ईश्वर ने चौरासी लाख जीवों को ही अपनी दासी माया के दास बना दिये तब कहो माया के समान महन्त कौन है।

रज्जब शक्ति सुमेरु सम, चरण चकहु[1] दृढ बास।
सो ठाहर छोडै नहीं, छाया निश नर नाश ॥१८॥

माया सुमेरु के समान है, जैसे सुमेरु के पैर पृथ्वी[1] पर दृढ़ता से बसते हैं, पृथ्वी को छोड़ते नहीं किन्तु सुमेरु की छाया तो रात्रि को नष्ट हो जाती है। वैसे ही माया नर के मन रूप स्थान को नहीं छोड़ती, उसमें दृढ़ता से बसती है किन्तु माया की छाया कनकादि का तो अभाव दुर्भाग्य रूप रात्रि में देखा जाता है।

भौन[1] गदी परि होत है, चाकर मनिखा खानि।
सो सब एक समान हैं, रज्जब फेर[2] न जानि ॥१९॥

भुवन[1] की गद्दी पर बैठने वाले सेठ और उनके नौकर मनुष्य खानि अर्थात् मनुष्यता में तो वे सब एक जैसे ही हैं, उनमें कोई भेद[2] नहीं है, जो भेद है वह माया का ही है, सेठों के पास माया है और नौकर के पास नहीं है।

माया मुख बोले नहीं, सदा लिये चुपचार।
रज्जब बकते सब फिरैं, इस मौनणि की लार ॥२०॥

माया मुख से नहीं बोलती सदा मौन लिये चुप-चाप रहती है, इस मौननि के पीछे सब नाना प्रकार से बकवाद करते फिरते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित माया का अंग १०७ समाप्त ॥सा: ३२९७॥

अथ शक्ति शिव शोध का अङ्ग १०८

इस अंग में माया और ब्रह्म के शोध सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

ब्रह्माण्ड पिंड प्राणी सहित, यहु सब ऋद्धि शरीर।
रज्जब पावै कौन विधि, शक्ति समुद्र सु तीर ॥१॥

जीव के देह सहित यह सभी ब्रह्माण्ड माया का शरीर है, उस माया रूप समुद्र का अगला तट सहज ही किस प्रकार मिल सकता है ?

ब्रह्माण्ड पिंड जीव ज्योति लग, मधि माया मुर[1] रूप ।
रज्जब निकसै कौन विधि, रिधि छायां हरि कूप ॥२॥

ब्रह्माण्ड, शरीर, जीव और ज्ञान-ज्योति तक में माया तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण इन तीन[1] रूप में स्थित है। जैसे कूप से छाया नहीं निकल सकती, वैसे ही हरि से माया नहीं निकल सकती।

ओंकार आतम सहित, तन मन शक्ति शरीर ।
रज्जब न्यारा ऋद्धि सौं, कौन कौन विधि वीर ॥३॥

ओंकार और जीवात्मा के सहित तन मनादि सब माया का ही शरीर है। हे भाई ! माया से कौन किस प्रकार अलग हो सकता है ?

ब्रह्माण्ड पिंड माँहीं रहै, पुनि मन मनसा माँहि ।
रज्जब रमहिं सु ऋद्धि में, बाहर कहिये नाँहि ॥४॥

ब्रह्माण्ड, शरीर, मन और बुद्धि आदि सब में माया है और सभी माया में विचरते हैं, माया से बाहर कोई भी नहीं जा सकता।

लागी सो त्यागी तबहिं, मोहि कहो समझाय ।
एक ब्रह्म दूसरी माया, यहु संशय नहिं जाय ॥५॥

जो माया लगी है, उसे उसी समय त्याग दिया, यह मुझे समझाकर कहो कि कैसे त्यागी ? एक तो ब्रह्म है. उससे भिन्न दूसरी जो भी वस्तु है, सो माया है। अतः यह माया त्यागने सम्बन्धी संशय इस परिस्थिति में दूर नहीं हो सकता।

जन रज्जब मन शून्य सम, बादल मय सु विभूति ।
सगुण निर्गुण संग सो, क्यों काढिये सु सूति ॥६॥

मन आकाश के समान है और माया बादल के समान है, जैसे बादल आकाश को नहीं छोड़ते, वैसे ही माया मन को नहीं छोड़ती। माया तो सगुण-निर्गुण दोनों के ही साथ रहती है, उसे मनसे सुगमता से कैसे निकाला जा सकता है ?

माया बादल वारि[1] गति, आतम शून्य[2] समान ।
सगुण रु निर्गुण शक्ति ह्वै, रज्जब रिधि[3] विधि सान[4] ॥७॥

माया बादलों के जल[1] के समान है और आत्मा आकाश[2] के समान है, जैसे बादलों का जल स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों अवस्थाओं में आकाश में ही रहता है, वैसे ही माया[3] सगुण और निर्गुण शक्ति रूप होकर आत्मा के साथ मिली[4] रहती है।

ज्यों कूकस[1] कण में रहै, त्यों माया मधि[2] प्राण ।
जन रज्जब यहु युगल[3] यूं, करै कौन विधि छाण[4] ॥८॥

जैसे अन्न-कण में तुस[1] रहते हैं, वैसे ही प्राणी में[2] माया रहती है, ये दोनों[3] ऐसे ही रहते हैं, इनको किस प्रकार अलग[4] किया जा सकता है ?

ज्यों काय हिं छाया लगी, क्यों ही छूटे नाँहिं ।
त्यों रत विरक्त रज्जबा, दीसैं माया माँहिं ॥९॥

जैसे शरीर के साथ छाया लगी रहती है, उसका साथ शरीर से किसी प्रकार भी नहीं छुटता, वैसे ही माया में अनुरक्त तथा विरक्त दोनों के ही पीछे माया लगी है, दोनों ही माया में निमग्न हुये भासते हैं ।

पाणी में प्रतिविम्ब देखिये, नहीं तो दीसे नाँहिं ।
रज्जब जीव जीवे सु यूं, माया काया माँहिं ॥१०॥

जल में प्रतिविम्ब देखा जाता है, जल नहीं हो तो नहीं दीखता, इसी प्रकार माया के कार्य काया में ही जीव जीवित भासता है, शरीर बिना नहीं भासता ।

शक्ति[1] सलिल[2] मांही दर्शे, प्रतिविम्ब हि परि प्राण ।
जल लग[3] ह्वै नाँहीं नहीं, समझो संत सुजाण ॥११॥

जल[2] में ही प्रतिविम्ब दीखता है, वैसे ही माया[1] में पड़कर ही जीव भासता है, जल का संवन्ध[3] नहीं हो तो प्रतिविम्व नहीं भासता, वैसे ही माया का सम्बन्ध नहीं हो तो जीव नहीं भासता । हे बुद्धिमान् संतो ! ऐसा ही समझो ।

शरीर सुखी ह्वै शक्ति मधि, औरै देय गरास ।
बिन माया घरि घरि फिरै, छाजन भोजन आस ॥१२॥

माया में रहने से शरीर सुखी रहता है और विना माया-वस्त्र-भोजन की आशा से घर घर फिरना पड़ता है ।

पिंड प्राण में माया सानी, ज्यों आटे में लौण ।
सुमिरण सितिया[1] स्वाद ढांकिये, मिली सु काढै कौण ॥१३॥

शरीर में और प्राणी में माया ऐसे मिली है, जैसे आटे में लौण मिला होता है, आटे के लौण को निकाल तो कौन सकता है किन्तु उसमें मिश्री[1] डालकर लौण का स्वाद दबाया जाता है, वैसे ही माया को शरीर तथा प्राणी से निकाल तो कौन सकता है ? किन्तु हरि-स्मरण करके उसका प्रभाव दबा देना चाहिये ।

रज्जब बाल विभूति के, मूल सु तन मन माँहि ।
कोटि बार काटचों अकट, जड़ निकसे सो नाँहि ॥१४॥

केशों की जड़ शरीर में होती है, उनको कोटि वार काटने पर भी वे बिना कटे ही रहते हैं, उनकी जड़ नहीं निकलती, वैसे ही माया की जड़ मन में रहती है, अनेक वार माया का खण्डन करने पर भी वह माया मन से नहीं निकलती ।

शून्य[1] स्वरूपी सांइयां[2], बादल मय सु विभूति[3] ।
रज्जब प्रकटै गुप्त ह्वै, सदा रहे ईहिं[4] सूति[5] ॥१५॥

परमात्मा[2] आकाश[1] के समान हैं और माया[3] बादल के समान है, जैसे बादल आकाश में प्रकट-गुप्त होता रहता है, इसी[4] प्रकार[5] माया परमात्मा में सदा रहती है ।

सलिल सूर में सगुण सु निर्गुण, पुनः पेख तों पाणी ।
जीव ब्रह्म में ऐसे दीसै, प्रकट गुप्त गति जाणी ॥१६॥

जल सूर्य में सगुण से निर्गुण हो जाता है और पुनः वर्षते समय पानी हो जाता है, वैसे ही जीव ब्रह्म में दीखता है, जीव के प्रकट-गुप्त होने की चेष्टा हमने जान ली है ।

जीव ब्रह्म में सगुण निर्गुण, तब लग माया मान ।
रज्जब रज तज काढतों, एकमेक भिन्न जान ॥१७॥

जब तक जीव में सगुणता और ब्रह्म में निर्गुणता रूप भेद भासता है तब तक हृदय में माया की ही प्रधानता माननी चाहिये । जब संतजन ज्ञानोपदेश द्वारा उक्त भेदरूप रज हृदय से निकालते हैं, तब माया रहित जीव-ब्रह्म एकमेक भासते हैं ।

जीव ब्रह्म में तब लग माया, एकमेक भिन्न भेद सु पाया ।
ज्यों शून्य मांहीं आभे नीर, सगुण रु निर्गुण होंहि शरीर ॥१८॥

जैसे आकाश में बादल और जल के स्थूल-सूक्ष्म दो रूप भासते हैं, वैसे ही ब्रह्म में जीव के सगुण शरीर और निर्गुण रूप ये दो भेद भासते हैं तब तक माया ही है, माया के अभाव में भेद नहीं भासता । यह रहस्य हमने गुरु कृपा से जान लिया है ।

पान फूल फल सब गये, तरु नर सूखे अंग ।
रज्जब गत जामण मरण, छाया माया संग ॥१९॥

वृक्ष सूखने पर उसकी छाया नहीं रहती तब पत्ते, पुष्प और फलादि अंग भी सब नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जीव के जन्म-मरण माया के

साथ हैं, जब ज्ञान द्वारा अज्ञान रूप माया नष्ट हो जाती है तब जन्म-मरण भी नष्ट हो जाते हैं ।

दीसे बाहर भीतर बैठी, जामण मरण सु आगे पैठी[1] ।
माया जीव जीव सोइ माया, रज्जब छुटे न छूटे काया ॥२०॥

माया बाहर कनकादि रूप से और भीतर कल्पनारूप से स्थित है । जन्म-मरण से प्रथम ही वासना रूप से जीव में प्रविष्ट[1] हुई रहती है । माया है वही जीव है, जीव है वही माया है । शरीर तो छुट जाता है किन्तु माया नहीं छुटती ।

काल काया सौं काढ ही, पै माया कढै न मन्न[1] ।
सो विरक्त ह्वै कौन विधि, समझो साधू जन्न ॥२१॥

काल जीव को शरीर से तो निकाल लेता है किन्तु उसके मन[1] से माया को नहीं निकाल सकता । हे संतजनो ! जरा विचार करो, जिसके मन से माया नहीं निकली, वह विरक्त कैसे हो सकता है ?

स्वप्ने तजे शरीर को, तो तन गया न त्याग ।
त्योंहि विरक्त विभूति[1] मधि, जे देखहि जिव जाग ॥२२॥

यदि स्वप्न में अपने शरीर को छोड़ दे तो भी शरीर तो नहीं छुटता, वैसे ही यदि जीव मोहनिद्रा को त्याग कर देखे तो माया को त्यागने वाला विरक्त भी माया[1] में ही ज्ञात होगा ।

एक ब्रह्म दूसरी माया, जीव सीव[1] का भेद सु पाया ।
शक्ति[2] समुद्र जीव जल चरा, भरम पुकारै बाहर परा ॥२३॥

एक ब्रह्म है और उससे भिन्न जो है सो सब माया है, यही जीव, ब्रह्म[1] का रहस्य है अर्थात् जीवपना माया में ही है । यह रहस्य हमने जान लिया है । माया[2] समुद्र के समान है, जीव जलचरों के समान हैं । यदि मच्छी कहे कि मैं जल से बाहर पड़ी हूं तो यह उसका भ्रम है, वह तो जल विना जीवित रह नहीं सकती । वैसे ही जीव माया से बाहर नहीं रह सकता, यदि कोई अपने को माया से बाहर पड़ा बताता है तो उसे भ्रम है ।

तन मन मनसा[1] जीव लग[2], यहु माया मर्याद ।
रज्जब सुरति न ये तजै, त्यागी कहैं सु बाद[3] ॥२४॥

शरीर, मन, मनोरथ[1] और जीव भाव तक[2] माया की सीमा है । यदि वृत्ति इनको त्यागकर ब्रह्म चिन्तन में नहीं लगे तो त्यागी कहना व्यर्थ[3] है ।

शक्ति[1] सौंज[2] सब देखिये, ब्रह्माण्ड पिंड लग प्राण[3] ।
रज्जब रट बिन षट् दरश, माया में सब जाण ॥२५॥

ब्रह्माण्ड, शरीर और जीव[3] भाव तक सब माया[1] की ही सामग्री[2] है, प्रभु नाम की रट लगाये बिना योगी जंगमादि छः प्रकार के भेषधारी भी सब माया में ही हैं, ऐसा ही जान ।

षट् दर्शन अरु खलक[1] सब, माया के मुख माँहि ।
रज्जब निर्गुण मिले बिन, न्यारा कोई नाँहि ॥२६॥

योगी जंगमादि छः प्रकार के भेषधारी और सब संसार[1] माया के मुख में हैं, निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति बिना माया से अलग कोई भी नहीं हो सकता ।

रज्जब गुण इन्द्रिय सब दंत हैं, माया के मुख माँहि ।
सुर नर चाबै नाज ज्यों, कोई छूटे नाँहि ॥२७॥

कामादि गुण और इन्द्रिय ये सब माया के मुख में दाँत हैं, इन दाँतों से देवता, नर आदि को नाज के समान चबाती है । इस माया से कोई भी नहीं छुट सकता ।

नग्न रहो वस्तर पहरि, माया मीच ज्यों खाय ।
भजन विमुख छूटे नहीं, रज्जब उभय उपाय ॥२८॥

नंगा रहो वा वस्त्र पहनो मृत्यु दोनों को ही खा जाती है, वैसे ही भजन-विमुख प्राणी माया से कोई भी नहीं छुट सकता । माया और मृत्यु दोनों से छुटने का उपाय भगवान् का भजन ही है ।

सिंहनी शक्ति सिंह यम, चौरासी चुनि खाँहि ।
नाँगहु बागहु ना डर हिं, गूदड़ि गुदर[1] न जाँहि ॥२९॥

माया सिंहनी है और यम सिंह है, दोनों चौरासी लाख योनियों के जीवों को चुन २ कर खाते हैं, वे नंगों से वा वस्त्र वालों से नहीं डरते, गुदड़ी वालों से भी वे हट[1] कर नहीं जाते, उनको भी मार ही डालते हैं ।

शक्ति सिंहनी सिंह यम, सुमिरण मंत्र किलाँहि ।
रज्जब दशा छतीस धरि, बलवंतै वैरी खाँहि ॥३०॥

जैसे वीर छत्तीस प्रकार के शस्त्र धारण करने की दशा में बलवान् वैरियों को भी मारता है वा योगिनी की छत्तीस वर्ष की दशा के २० से २७ वर्ष की दशा बलवान् शत्रुओं को भी मारती है । वैसे ही माया रूप

सिहनी और यम रूप सिंह बलवानों को भी खाजाते हैं किन्तु हरि-नाम-स्मरण रूप मंत्र से दोनों ही कीले जाते हैं। स्मरण कर्ता पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते।

रज्जब खाये व्याल[1] विष, उघड़े ढंके न ओत[2]।
तैसे माया मींच मुनि, जे जाप जड़ी नहिं होत ॥३१॥

सर्प[1] काटने पर विष चढ़ जाता है तब नंगे रहने से वा सुन्दर वस्त्र पहनने से आराम[2] नहीं मिलता, विष नाशक बूंटी से विष उतरता है तब ही आराम मिलता है। वैसे ही यदि हरिनाम-जप न हो तो मुनिजनों की भी माया से मृत्यु ही होती है।

काया माया सारिखी[1], आतम आपा[2] ऐन[3]।
रज्जब जीव जीव[4] में रहै, तब लग परे न चैन[5] ॥३२॥

यह काया माया के समान[1] ही है और जीवात्मा में जो अभिमान[2] है वह भी साक्षात्[3] माया ही है, जब तक जीव का मन[4] माया में रहता है तब तक शांति[5] नहीं मिलती।

स्थूल छलावे[1] का गया, भूत रह्या मन माँहि।
तब लग जीव जीवै नहीं, रज्जब कुशल[2] सु नाँहि ॥३३॥

दिखाई देकर अदृश्य होने वाली भूत-प्रेतादि की छाया[1] तो चली जाती है किन्तु मन में भूत रहता है, जब तक मन में भूत रहता है तब तक जीव शांति से नहीं जीता, वैसे ही बाहरी माया तो चली जाती है किन्तु मन से नहीं जाती। जब तक मन में माया रहती है तब तक ब्रह्मानन्द[2] नहीं मिलता।

मान[1] वायु संग यूं गये, मन कपूर कृत[2] कीन।
ज्यों खग[3] खोजन पाइये, लहै न को मग[4] मीन ॥३४॥

वायु के संग से कपूर उड़ जाता है, वैसे ही काम[2] माया का अभिमान[1] करता है, अपने संग से मन को उड़ा देता है फिर जैसे आकाश में पक्षी[3] का खोज नहीं मिलता तथा जल में मच्छी का मार्ग[4] नहीं मिलता, वैसे ही मन का भी कुछ पता नहीं लगता।

खानि मान नीचे दबे, सो नर निकसे नाँहि।
जन रज्जब जिव मूढ गति, मिलै मींच के माँहि ॥३५॥

जो नग खानि के नीचे दबे हैं, वे खोदे विना कैसे निकल सकते हैं ? वैसे ही जो अभिमान के नीचे दबे हैं, वे गुरु ज्ञान के बिना कैसे निकल

सकते हैं ? जीवों की चेष्टा मूर्खों की सी है, वे मृत्यु प्रदाता प्रसंगों में ही मिलते हैं, सत्संग में नहीं ।

मान मेरु नीचे फिरहिं, मन पवन शशि सूर ।
रज्जब सो ब[1] उलंघने, दोन्यों दोन्यों दूर ॥३६॥

सुमेरु पर्वत के नीचे चन्द्र-सूर्य फिरते हैं, वैसे ही अभिमान के नीचे मन-प्राण फिरते हैं, सुमेरु और अभिमान इन दोनों को उलंघन करने से चन्द्र-सूर्य और मन-प्राण अब[1] तक भी दूर ही हैं अर्थात उलंघन नहीं कर पाते ।

निश वासर नीर हिं गहै, आदित्य रूप अरूप ।
त्यों रज्जब रुचि रिद्धि सौं, भेष भिखारी भूप ॥३७॥

सूर्य जल को रात्रि-दिन ग्रहण करते हैं, वैसे ही भेषधारी, भिक्षुक और राजा रुचिपूर्वक माया को कनकादि रूप वा अरूप से अर्थात् चिन्तन द्वारा सदा ग्रहण करते हैं ।

मान[1] गुप्त जल शून्य[2] का, माया प्रकटै नीर ।
तृष्णा अरण्य[3] के तपे, तिन की मेट न पीर ॥३८॥

अभिमान[1] आकाश[2] के गुप्त जल के समान है और माया प्रकट जल के समान है, जैसे आकाश का गुप्त जल वन[3] के तपने की पीड़ा नहीं मिटा सकता, वैसे ही प्रकट रूप माया जल भी तृष्णा रूप प्यास को नहीं मिटा सकता ।

भांति भांति की भूख बहु, रिधि सिधि पूजा मानि ।
कोटि कष्ट तापर करहिं, हरि दर्शन की हानि ॥३९॥

प्राणी को ऋद्धि, सिद्धि, पूजा, सम्मान आदि की इच्छायें होती हैं और उनके लिये वह कोटिन कष्ट उठाता है किन्तु इन सब से हरि-दर्शन की हानि होती है अर्थात् उक्त सभी आशायें हरि दर्शन में बाधक हैं ।

जो मत[1] मुख में माया मँडाण[2], सो बाहर कौन धरै जीव जाण ।
सब सुरत्यों[3] मधि शक्ति[4] समाणी, बाणनहार[5] इसी विधि बाणी[6] ॥४०॥

जो माया की सजावट[2] मुख के भीतर बुद्धि[1] में है, उसे जानकर कौन जीव बाहर धरता है ? बुद्धि की सभी वृत्तियों[3] में माया[4] समायी हुई है, बनानेवाले[5] प्रभु ने इस माया को इस प्रकार की ही बनायी[6] है ।

शून्य[1] शरीर सु ब्रह्म का, लागी अंग विभूति[2] ।
रज्जब रिधि[3] विधि सौं बनी, क्या कहिये जू स्तूति ॥४१॥

ब्रह्म का शरीर आकाश[1] के समान है, जैसे आकाश के भस्म[2] लगती है वैसे ही ब्रह्म के माया[2] लगी है। भस्म आकाश को विकारी नहीं करती, वैसे ही माया ब्रह्म को विकारी नहीं कर सकती। माया[3] इसी विधि से बनी हुई है, उसकी क्या स्तुति करे?

मन पवन शशि सूर सम, मनसा[1] लच्छी[2] मेर[3]।
रज्जब देहि सु रैन-दिन, प्रदक्षिणा चहुँ फेर ॥४२॥

मन-प्राण चन्द्र-सूर्य के समान हैं और मनोरथ[1] रूप लक्ष्मी[2] सुमेरु[3] के समान है। जैसे रात्रि-दिन चन्द्र-सूर्य सुमेरु के प्रदक्षिणा देते हैं, वैसे ही मन-प्राण रात्रि-दिन मनोरथ रूप लक्ष्मी के चारों ओर फिरते रहते हैं।

माया मेरु अधः ही फिर ही, मन पवन शशि सूर।
तो रज्जब कहि को चढै, शक्ति शैल शिर दूर ॥४३॥

चन्द्र-सूर्य भी सुमेरु के शिखर से नीचे २ ही फिरते हैं फिर कहो उस अति दूर सुमेरु के शिखर पर कौन चढ़ सकता है? वैसे ही मन-प्राण भी माया के नीचे २ ही फिरते हैं, कहो फिर माया के शिर पर कौन चढ़ सकता है? अर्थात् उसे कौन त्याग सकता है?

अंघ्रिप[1] नहीं अलाहिदी[2], अमर वेलि जड़ हीन।
त्यों रज्जब माया मुकत[3], जैसे जल बिन मीन ॥४४॥

यद्यपि अमर वेलि जड़ रहित होती है तो भी वृक्ष[1] से अलग[2] नहीं रह सकती, वैसे ही प्राणी माया को त्यागता[3] है तब उसकी स्थिति बिना जल की मच्छी के समान हो जाती है।

कंचन किरची[1] सोधिये,[2] पारा राख[3] मँझार।
तो जीवित जीव कैसे तजै, रज्जब देख विचार ॥४५॥

भस्म[3] में स्थित सुवर्ण के कणों[1] को भी पारा खोज[2] लेता है, तब विचार करके देखो, माया जीवित जीवों को कैसे त्याग सकती है?

रज्जब गृही राखै गृह मध्य, वैरागी वपु माँहि।
धातु सु प्यारी सबहु को, कोई त्यागे नाँहि ॥४६॥

गृहस्थ माया को सुवर्णादि के रूप में घर में रखता है और विरक्त चिन्तन रूप से शरीर में रखता है। इस प्रकार सुवर्णादि धातु रूप माया सभी को प्यारी लगती है, इसे कोई भी नहीं त्याग सकता।

शून्य सलिल मधि शैल तल, सांई धरी शकत्ति।
रज्जब रिधि राखी जतन, नमो नारायण मत्ति ॥४७॥

प्रभु ने जल को आकाश के तो मध्य में रक्खा है और पर्वत के नीचे रक्खा है, वैसे ही माया को गृहस्थ के घर में और विरक्त के मन में रखकर यतन से रक्खा है, उन नारायण की बुद्धि को हम नमस्कार करते हैं।

एक ब्रह्म दूसरी माया, जीव सीव[1] का भेद[2] सु पाया।
भजत कमला अभज बलाय, रज्जब ऋद्धि[3] न निकसी जाय ॥४८॥

ब्रह्म अद्वैत है, उससे भिन्न द्वैत ही माया है, यह जीव-ब्रह्म[1] का रहस्य[2] हमने प्राप्त कर लिया है। ब्रह्म का भजन करने से तो माया कमला रूप है और भजन न करने से बलाय रूप है। माया[3] किसी प्रकार हृदय से निकाली नहीं जाती।

चरण कमल प्रभु के सुमिर, आतम कमला होय।
रज्जब प्रकटे वस्तु बल, परि लोहा अग्नि सु दोय ॥४९॥

प्रभु के चरण-कमलों का स्मरण करने से बलायरूप माया भी जीवात्मा में कमला रूप हो जाती है। जैसे अग्नि में डालने से लोहा में भी प्रकाश प्रकट हो जाता है किन्तु लोहा और अग्नि हैं दो ही, वैसे ही भजन से ज्ञानरूप वस्तु बल प्रकट हो जाता है किन्तु आत्मा और कमला दोनों अलग ही भासते हैं।

परम ज्योति वश ज्योति बहु, सो सब शक्ति[1] स्वरूप।
रज्जब रीझ्या देखकर, एक मेक भिन्न भूप[2] ॥५०॥

परमात्मा-रूप परम ज्योति के वश सूर्य-चन्द्रादि रूप बहुत-सी ज्योतियाँ हैं, वे सब माया[1] रूप ही हैं। उन सब ज्योतियों के एकमेक होने पर भी सब में श्रेष्ठ[2] परमात्मा-रूप ज्योति को अलग देखकर ही मैं परमात्म-रूप ज्योति पर अनुरक्त हुआ हूं।

माया सौं माया विरचि, प्रभु पावन दिशि जाय।
चरण कमल कमला रहै, सो आडी बैठी आय ॥५१॥

कनक-कामिनी रूप माया से विरक्त होकर जीव रूप माया प्रभु के चरणों में जाती है तब आगे वहां कमला रूप माया रहती है, वही आकर आडी बैठ जाती है, जीव को प्रभु के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होने देती।

माया छाया ब्रह्म तरु, रही पेड़ पग पूरि।
रज्जब वर बनिता बनी, करे कौन सो दूरि ॥५२॥

माया ब्रह्म रूप वृक्ष की छाया है, वह ब्रह्म-वृक्ष में परिपूर्ण रूप से लगी है तथा वह तो ब्रह्म रूप वर की नारी बनी हुई है, उसको कौन दूर कर सकता है ?

चरणहु संग सदा रहै, कमला कलित[1] कदीम[2] ।
सो रज्जब रिधि[3] क्यों रहै, हरि पद भजत फहीम[4] ॥५३॥

यद्यपि माया प्रभु के चरणों के संग आदि[2]-काल से सदा ही रहती है, यह लोक में प्रख्यात[1] है, किन्तु जब समझदार[4] व्यक्ति हरि के चरणों का भजन करते हैं तब उनको विघ्न करने के लिये हरि चरणों में माया[3] नहीं रहती ।

चरण कमल कमला[1] रहै, तहां मुनीश्वर जांहि ।
नेति[2] नेति[3] सारे कहैं, मति गति माया माँहि ॥५४॥

प्रभु के चरण-कमलों में लक्ष्मी[1] रहती है, वहां ही मुनीश्वर लोग जाते हैं और सभी "यह नहीं[2], यह नहीं[3]" कहते हैं किन्तु सभी की बुद्धि की चेष्टा माया में ही होती है ।

काची पाकी शक्ति कन, अकल कल्या नहिं जाय ।
तो रज्जब रिधि मध्य सब, नर देखो निरताय ॥५५॥

कार्य रूप कच्ची माया और कारण रूप पक्की माया सबके पास है, तब हे नरो ! विचार करके देखो, सभी माया है । एक कला रहित ब्रह्म ही माया की कलना में नहीं आता ।

कमला[1] कला असंख्य है, लखैं जौहरी संत ।
जन रज्जब पारिख[2] बिना, भामा[3] ह्वै भगवंत ॥५६॥

माया[1] की असंख्य कलायें हैं, जैसे हीरा आदि बाहर की माया की परीक्षा जौहरी करता है, वैसे ही मनमें स्थित आंतर माया की परीक्षा संत करता है । बिना परीक्षा[2] के तो यह नारी[3] रूप माया भगवान् बन जाती है ।

ब्रह्मा विष्णु महेश लों, माया के अवतार ।
रज्जब कमला[1] अगम[2] है, जा में कला अपार ॥५७॥

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव तक जो भी विशेष विभूति हैं, सो सब माया के अवतार हैं । जिसमें अपार कला है, वह माया[1] मानव की बुद्धि से परे[2] है ।

ओंकार करि प्रकट ह्वै, अंतक[1] अंतरधान ।
रज्जब रिधि[2] आभा[3] मयी, सांई शून्य समान[4] ॥५८॥

आकाश में बादल[3] प्रकट होते हैं और लय होते हैं, वैसे ही माया[2] परमात्मा से ओंकार द्वारा प्रकट होती है और काल[1] के द्वारा अन्तर्धान होकर प्रभु में समा[4] जाती है ।

अलच्छ कला लच्छी रहै, जीव जड़ जाणे नाँहि ।
ब्रह्म वदै जिस ठौर को, सो सब माया माँहि ॥५६॥

माया की कलायें अदृश्य रहती हैं, जड़ जीव उनको नहीं जानते, वे तो जिन व्यक्ति आदि स्थलों को ब्रह्म कहते हैं, वे सब माया में ही हैं ।

त्यागन हारे त्याग कर, भागि भजन दिशि जाँहि ।
रज्जब यूं छूटे शकति[1], शिव[2] मुख सुरति समाँहि ॥६०॥

त्यागने वाले माया को त्यागकर हरि भजन रूप दिशा में प्रवेश करते हैं, तब उनके मुख में ब्रह्म[2] नाम रहता है तथा वृत्ति ब्रह्म में समाई रहती है । इस प्रकार वे माया[1] से मुक्त होते हैं ।

चरण कमल कमला रहै, हम हूं सुमिरे सोय ।
रज्जब फलसी भाव की, पै रिधि दूर न होय ॥६१॥

प्रभु के चरण कमलों में माया रहती है और हम भी उन चरण कमलों का ही स्मरण करते हैं, हमारा भाव तो फल देगा ही किन्तु माया दूर नहीं होगी ।

भोले भिन्न भिली सब ठाहर, विभूति भूत में सानी ।
पंच तत्त्व मन मनसा मिश्रित, विचार चालनी छानी ॥६२॥

भोले जन ही कहते हैं कि हम माया से अलग हैं, माया तो सब स्थलों तथा भूतों में मिली हुई है, आकाशादि पंचतत्त्व, मन, बुद्धि आदि में मिली हुई है, संतों ने विचार रूप चलणी से छानकर ही माया को अपने हृदय से अलग किया है ।

रज्जब स्याही शक्ति[1] मधि, अम्बु[2] आतमा सानी[3] ।
सो सूरज सांई छन[4] हिं, मन वच कर्म करि मानी ॥६३॥

जैसे स्याही में जल[2] मिला[3] रहता है वैसे ही माया[1] में आत्मा मिला रहता है । सूर्य किरण द्वारा स्याही से जल निकलता[4] है, वैसे ही परमात्मा की कृपा द्वारा आत्मा माया से निकलता है । यही मन, वचन, कर्म से यथार्थ मानो ।

सब अंगहु सब अंग[1] मिल, सेवक स्वामी एक ।
रज्जब रिधि[2] लांघै सोइ, बंदा ब्रह्म विवेक ॥६४॥

अपने मन, बुद्धि आदि सभी अंगों से सर्व रूप[1] ब्रह्म में मिले तब सेवक-स्वामी एक होते हैं और जो एक होता है वही जन ब्रह्म ज्ञान द्वारा माया[2] को लांघता है।

रे रज्जब रिधि[1] रैन रवि, चलहिं कौन विधि टालि।
तिमिर उजाले सौं परे, को निकसे निरबालि[2] ॥६५॥

माया[1] रात्रि और सूर्य के समान है, रात्रि-दिन से टलकर कोई कैसे चल सकता है? वैसे ही माया से टलकर नहीं चला जाता। अंधरे-उजाले से परे कौन निकल सकता है? वैसे ही माया का निवारण[2] करके आगे कौन निकल सकता है?

शक्ति[1] सीव[2] विरकत निकट, रत[3] को कहुं वे[4] नाँहिं।
रज्जब कही विचार कर, समझ देख मन माँहिं ॥६६॥

विरक्त के तो माया[1] और ब्रह्म[2] दोनों ही पास हैं और माया में अनुरक्त[3] को ब्रह्म[4] कहीं भी नहीं मिलते, यह हमने विचार करके ही कहा है। तुम भी मनमें समझकर देखो।

माया सौं करणा ब्रह्म, समझो साधू साखि।
रज्जब रिधि आतम सहित, क्या राखहिं क्या नाखि ॥६७॥

माया की सहायता से ही ब्रह्म का ज्ञान वा ब्रह्म प्राप्त करना होता है। यह बात संतों की साक्षी द्वारा समझो अर्थात् गुरु का शरीर माया-मय ही होता है और उसी से ब्रह्म ज्ञान होता है। अतः माया आत्मा के साथ ही रहती है, किसको रक्खें और किसको त्यागें।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शक्ति शिव शोध का अंग १०८

समाप्त : ॥सा० ३३६४॥

अथ स्वार्थ का अंग १०९

इस अंग में स्वार्थ सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

जूं डारैं जोख्यों नहीं, पूत मरत हो पीर।
जन रज्जब बालक उभय, पर स्वार्थ रोवै वीर ॥१॥

हे भाई! जूं को कपड़े आदि से निकालकर पटकने से तो हानि नहीं होती किन्तु पुत्र मरने पर तो पीड़ा होती है, यद्यपि जूं और पुत्र दोनों ही बालक हैं किन्तु प्राणी स्वार्थ को ही रोते हैं।

रज्जब स्वारथ सबल है, ईहि सारे संसार ।
लोभ सु लांबे जेवड़ों[1], बांध लिये सब लार ।।२।।

इस संसार में स्वार्थ की सबलता देखी जाती है, यह लोभ रूप लम्बे रस्से[1] से सबको बांधकर अपने साथ घसीट रहा है ।

रज्जब स्वारथ ठग ठगे, चौरासी लख प्राण ।
तन मन धन सब का लिया, कहिये कहा बखाण ।।३।।

स्वार्थ रूप ठग ने चौरासी लाख प्राणियों को ही ठगा है, सभी के तन, मन, धन को अपहरण किया है, उसकी ठगी का क्या कथन करें बड़ी ही विचित्र है ।

स्वारथ वश संकट सभी, स्वाद[1] सहावै मार ।
रज्जब रोटी दोवटी[2], दुख दाई संसार ।।४।।

स्वार्थ के वश होने से सभी दुःखी होते हैं, इन्द्रिय सुखों[1] के लिये ही मार सहन करता है, स्वार्थ के वश होने से केवल रोटी कपड़े[2] के लिये भी संसार दुःख दाता हो जाता है ।

स्वाद सनेही जीव का, जीव न छोडै स्वाद ।
तब लग सहसी मार सब, कहा किये बकवाद ।।५।।

इन्द्रिय सुखों से ही जीव का प्रेम है । जब तक जीव इन्द्रिय सुखों को नहीं छोड़ता तब तक सभी प्रकार की मार सहन करेगा, अन्य बकवाद करने से क्या लाभ है, बकवाद से दुःख नहीं मिटते ।

रज्जब स्वारथ सांण संग, परमारथ मणि नाश ।
मिश्री मधि विष पीजिये, ताकी कैसी आश ।।६।।

जैसे साण पर घिसने से मणि नष्ट हो जाती है, वैसे ही स्वार्थ से परमार्थ नष्ट हो जाता है । जो मिश्री में मिले हुये विष का पान करता है, उसके जीवित रहने की क्या आशा है ? वैसे ही जो परमार्थ में स्वार्थ मिलाता है, उसके उद्धार की क्या आशा है ?

दिन दीपक कर लीजिये, खानि सु पैठण[1] काज[2] ।
सो बाहर किस काम का, जहँ रज्जब रवि राज ।।७।।

खानि में प्रवेश[1] करने के लिये[2] दिन को दीपक जलाया जाता है किन्तु वह दीपक बाहर जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहाँ किस काम का है ? वैसे ही स्वार्थ संसार में ही शोभा देता है, परमार्थ में नहीं ।

रज्जब रवि राकेश[1] बिन, रारचों[2] हु तम हर[3] आश ।
सप्त दोष दीपहि बसे, पै तुंगनि[4] तोरा[5] ताश[6] ॥८॥

यद्यपि दीपक में बुझना, काजल देना, हिलना, दुर्गन्ध देना आदि सात दोष रहते हैं, तो भी सूर्य-चन्द्र[1] आदि नहीं हों तब नेत्र[2] का अंधकार दूर[3] करने की आशा दीपक से करते हैं कारण–रात्रि[4] में तो उसके[6] प्रकाश का जोर[5] रहता ही है । वैसे ही परमार्थ नहीं होने पर स्वार्थ की भावना होती है और संसार में तो स्वार्थ की प्रबलता है ही ।

आप स्वार्थ मन वेग ह्वै, परमारथ पग पंग[1] ।
रज्जब पहुंचे ठौर क्यों, भाव भक्ति का भंग ॥९॥

अपने स्वार्थ के काम को करने के लिये तो मन में बड़ा वेग रहता है और परमार्थ के काम में वह पैरों से पंगु[1] के समान हो जाता है, उसमें भाव-भक्ति का अभाव रहता है, अतः वह परमधाम को कैसे पहुंच सकेगा ?

गुरु सेवा सेती विमुख, स्वारथ शब्दों लेत ।
रज्जब नर निपजे नहीं, जैसे कालर खेत ॥१०॥

जो स्वार्थ सिद्धि के लिये गुरु के शब्दों को तो याद कर लेता है किन्तु गुरु सेवा रूप परमार्थ से विमुख रहता है, तो जैसे ऊषर भूमि में अन्न उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही उसमें अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ।

जन रज्जब संसार में, स्वारथ वश सब कोय ।
ज्यों सुरही[1] सुत[2] क्षीर[3] बिन, माता निकट न होय ॥११॥

जैसे दूध[3] के बिना गाय[1] का बछड़ा[2] अपनी माता गाय के कुचों के पास नहीं जाता, वैसे ही स्वार्थ बिना कोई भी पास नहीं आता ।

स्वारथ की सरकार में, यहु सारा संसार ।
मनसा वाचा कर्मना, ता में फेर न सार ॥१२॥

यह सभी संसार स्वार्थ रूप सरकार की कैद में है, हम मन, वचन, कर्म से यह यथार्थ ही कह रहे हैं, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है ।

षट् दर्शन[1] अरु खलक[2] का, जल दल[3] मेला मुख्य ।
रज्जब भजन रु भोग को, पीछे आवे रुख्य[4] ॥१३॥

योगी जंगमादि छः प्रकार के भेष[1] धारियों तथा सभी संसार[2] के प्राणियों का मुख्य मिलन अन्न[3]-जल के लिये ही होता है । भोजन के पश्चात् ही भोग व भजन की ओर रुख[4] होता है । वैसे ही प्राणी प्रथम

स्वार्थ परायण होता है, पीछे सत्संगादि से ही परमार्थ की ओर रुख होती है ।

जल दल[1] मेला मुख्य ह्वै, और सभी तिन पृष्टि[2] ।
षट् दर्शन[3] अरु खलक[4] की, खायें खुलहि सु दृष्टि ॥१४॥

अन्न[1]-जल का मिलना ही मुख्य है और सब काम तो अन्न-जल के पीछे[2] हैं, योगी जंगमादि छः प्रकार के भेष[3]धारियों तथा सभी संसार[4] के प्राणियों की अन्न-जल खाने पीने से ही आंखें खुलती हैं अर्थात् चेष्टा होती है, अन्न-जल बिना कुछ भी नहीं होता, वैसे ही प्राणियों से स्वार्थ विना कुछ भी नहीं होता ।

अशन[1] वसन[2] के आसिरै[3], आदम[4] की औलाद[5] ।
राम काम[6] पावन लहण[7], जोग भोग की दाद[8] ॥१५॥

मनुष्य[4] की संतान[5] भोजन[1]-वस्त्र[2] की प्राप्ति रूप स्वार्थ के ही आश्रय[3] है, स्वर्गादि के उत्तम भोगों की प्राप्ति[7] के लिये शुभ कर्म[6] करने की तथा राम को प्राप्त करने के लिये भजन रूप परमार्थ करने की रुचि जिसमें है उसकी प्रसंशा[8] करनी ही चाहिये ।

शब्द सुखी ह्वै आतमा, अशन[1] वसन[2] आकार[3] ।
रज्जब पावै प्राण[4] द्वै, तो जन्म न छाडै लार ॥१६॥

परमार्थ रूप मधुर शब्द श्रवण से जीवात्मा प्रसन्न होता है और भोजन[1]-वस्त्र[2] रूप स्वार्थ से शरीर[3] ठीक रहता है । जिससे प्राणी[4] को भोजन-वस्त्र ये दोनों मिलते रहें, तो प्राणी उसका पीछा जन्म भर नहीं छोड़ता, अतः संसार में स्वार्थ की ही प्रबलता देखी जाती है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित स्वार्थ का अंग १०९

समाप्तः । सा० ३३८० ॥

अथ अविश्वास तृष्णा का अङ्ग ११०

इस अंग में अविश्वास और तृष्णा सम्बन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—

तीन लोक मन को मिलै, तृष्णा तृप्ति न होय ।
रज्जब भूखे देखिये, सुरपति नरपति जोय ॥१॥

मन को तीनों लोकों का राज्य मिल जाय, तो भी तृष्णा की तृप्ति नहीं होती । जो पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा हुये वे तथा इन्द्र भी भूखे दिखाई देते हैं ।

जे जीव लोक असंख्य ले, भरै न भूख भंडार ।
जन रज्जब क्षुधा[1] घणी[2], नांहीं धापण[3]हार ॥२॥

यदि जीव को असंख्य लोकों का राज्य प्राप्त हो जाय तो भी उसका भूख रूप भंडार नहीं भरता । प्राणी में तृष्णारूप भूख[1] बहुत[2] है, यह तृप्त[3] होने वाली नहीं है ।

कर धर पात्र सु पाहि[1] का, भरचा न भरसी कोय ।
रज्जब रीता देखिये, सो पूरण नहिं होय ॥३॥

अन्तःकरण रूप हाथ में तृष्णा[1] का पात्र धारण करके आज तक न तो किसी ने भरा है और न आगे कोई भर सकेगा । वह तो खाली ही देखा जाता है, भरता नहीं है ।

तृष्णा तृषित[1] ही मरै, माया मुकती खाय ।
जन रज्जब उरकी अगनि, मुंहडे कही न जाय ॥४॥

तृष्णा रूप अग्नि युक्त प्राणी बहुत-सी माया खा भी जाय अर्थात् उसे बहुत सी माया मिल भी जाय तो भी वह अभिलाषा[1] करता करता ही मरता है । इस हृदय की तृष्णा रूप अग्नि की प्रबलता मुख से कही भी नहीं जाती ।

जन रज्जब तन ताल में, माया मेघ जल जाँहि ।
सो दीसै सूखा सदा, तृष्णा बाँबी[1] माँहि ॥५॥

तालाब में मेघों से वर्षा हुआ जल आता है किन्तु उसमें कोई गहरा बिल[1] हो तो वह तालाब सदा सूखा ही दीखता है । वैसे ही अन्तःकरण में तृष्णा होने पर माया कितनी ही आवे वह तो भूखा ही दिखाई देता है ।

बडवानल तृष्णा रहै, मन समुद्र के सीर ।
रज्जब सोखे मांड के, माया रूपी नीर ॥६॥

समुद्र से मिला हुआ बडवाग्नि रहता है और ब्रह्माण्ड के जल का शोषण करता है, वैसे ही तृष्णा मन में मिली हुई रहती है और ब्रह्माण्ड की माया को खाती है ।

बडवानल वनि[1] वपु व्यापती, रावण चिता चित मन माँहिं ।
ज्वालामुखी जगमगे मनसा, रज्जब क्योंहि बुझाई जाँहिं ॥७॥

जैसे समुद्र में बडवाग्नि, वन[1] में दावाग्नि व्याप्त रहती है, वैसे ही शरीर में तृष्णाग्नि व्याप्त है । रावण की चिता के समान मन में

चिन्ताग्नि जलती ही रहती है। ज्वालामुखी की अग्नि के समान मन की आशाग्नि जगमगाती रहती है। ये अग्नियाँ कैसे बुझाई जायं। सहज ही नहीं बुझती हैं। सुनते हैं रावण की चिता जलती ही रहती है, वैसे भी प्रति वर्ष दशहरे को जलाते ही हैं।

असंख्य लोक अहार करि, काल सु धापै[1] नाँहिं।
बडे घट हुं क्षुधा बड़ी, बडवानल वपु माँहिं ॥८॥

बड़े शरीरों की भूख भी बड़ी होती है, देखो, असंख्य लोकों का आहार करके भी काल तृप्त[1] नहीं होता, समुद्र का बडवाग्नि असंख्य जल राशि को खाकर भी तृप्त नहीं होता, वैसे ही शरीर की तृष्णाग्नि है असंख्य माया मिलने पर भी तृप्त नहीं होती।

तन की क्षुधा तनक[1] तुच्छ, खाये सेर अघाय[2]।
रज्जब रोटी जमी सम, मन की भूख न जाय ॥९॥

शरीर की भूख तो बहुत थोड़ी[1] होती है, एक सेर अन्न खाने से तृप्त[2] हो जाता है किन्तु मन की भूख तो पृथ्वी के समान रोटी खाने से भी नहीं मिटती।

आवख्या[1] पूरी हुवै, पूरा होय न मन्न।
भूख न भागै भूत की, रज्जब बिछुरे तन्न ॥१०॥

आयु[1] समाप्त हो जाती है किन्तु मन का लोभ समाप्त नहीं होता, प्राणी की भूख तो नहीं मिटती, शरीर ही नष्ट हो जाता है।

रज्जब रुचि[1] दिन दिन बधै, रहै न रिधि[2] सौं थाकि।
भूत प्राणि भूखे सभी, भखतों[3] लगी भड़ाकि[4] ॥११॥

माया प्राप्ति की इच्छा[1] प्रति दिन बढ़ती है, माया[2] संग्रह करने से प्राणी कभी भी थकते नहीं, अतः सभी भूत प्राणी भूखे हैं, जैसे खाते[3] २ भी भूख भड़कती[4] है, वैसे ही माया की वृद्धि की तृष्णा भी लगी ही रहती है।

तृष्णा अग्नि बुझाइये, दुनिया दारू[1] आन[2]।
जन रज्जब जीव यूं जलै, मति मूरख सब जान ॥१२॥

अग्नि को बुझाने के लिये उसमें बारूद[1] लाकर[2] डाले तब वह मूर्ख बुद्धि आप भी जलेहीगा, वैसे ही तृष्णा को मिटाने के लिये संसार के पदार्थों को संग्रह करके सभी चिन्ता के द्वारा जलते हैं, यह निश्चय जानो।

आदि अंत मधि मांड रही, तृष्णा तन मन पूरि ।
रज्जब यूं संतोष सुख, जीव सौं रह्या सु दूरि ॥१३॥

इस ब्रह्माण्ड में आदि, मध्य और अंत तीनों ही समय के शरीरों के मन में तृष्णा परिपूर्ण रही है, इस प्रकार ही संतोषजन्य सुख प्राणी से दूर रहा है ।

उदक[1] उदधि[2] काष्ठ अग्नि, जीव सकल जम खात ।
शिश्न संतोष न विषय रस, तृष्णा तृप्ति न जात ॥१४॥

जल[1] को समुद्र[2] और काष्ठ को अग्नि खा जाता है, वैसे ही सब जीवों को यम खा जाता है । जैसे विषय रस से शिश्नेन्द्रिय को संतोष नहीं होता, वैसे ही तृष्णा तृप्त नहीं होती है ।

तृष्णा स्वार्थ लोभ अरु लालच[1], माँगण माया जाँहि ।
रज्जब चारों लाज बिन, भूखे भांड हु माँहि ॥१५॥

तृष्णा, स्वार्थ, लोभ और किसी वस्तु को प्राप्त करने की बुरी तरह की इच्छा[1], इन चारों से युक्त मन लज्जा रहित हो माया की याचना करने जाते हैं । अतः इनकी गणना भूखे भांड में ही होनी चाहिये ।

तृष्णा त्रिगुण कुनारि द्वै, मिल्यों न मंगल होय ।
रज्जब राम भरतार बिन, भूख न भागे कोय ॥१६॥

दो कुनारियों के मिलने से आनन्द-मंगल नहीं रहता और पति बिना उनकी इच्छा पूर्ण नहीं होती, वैसे ही तृष्णा और त्रिगुण के मिलने से आनन्द-मंगल नहीं रहता और राम के साक्षात्कार बिना तृष्णा भी सर्वथा नष्ट नहीं होती ।

चौदह विद्या विविध कृत[1], एक उदर के काज ।
रज्जब भर हि सु राम यौं[2], वे करहिं किये[3] की लाज ॥१७॥

चौदह विद्या तथा अन्य भी नाना प्रकार के काम[1] एक उदर पूर्ति के लिये ही बनाये गये हैं, ऐसे[2] इसको राम ही भरते हैं, वे अपने रचे[3] हुये की लज्जा करते ही हैं ।

तन मन घटतों ये बधै, नख रु केश तृष्णाय ।
जन रज्जब हैरान है, महिमा कही न जाय ॥१८॥

तन और मन के घटने पर भी नख, केश और तृष्णा ये तो बढ़ते ही हैं, तृष्णा की वृद्धि को देखकर हम आश्चर्य से चकित हैं, इसकी वृद्धि की महिमा मुख से नहीं कही जा सकती ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अविश्वास तृष्णा का अंग ११०
समाप्त : ॥सा० ३३६८॥

अथ तृष्णा विश्वास का अंग १११

इस अंग में तृष्णा विश्वास सम्बन्धी विचार कह रहे हैं—

तृष्णा तरल तरंगिनी, जहां बहै जग जेर[1]।
जन रज्जब निर्भय भये, चढ संतोष सुमेर ॥१॥

तृष्णा रूप चंचल नदी में व्याकुल[1] होकर जगत् के प्राणी बह रहे हैं किन्तु जो संतोष रूप सुमेरु पर्वत पर चढ़ गये हैं, वे इससे निर्भय हो गये हैं।

बहुतहि जक[1] विश्वास बिच, अजक[2] तहाँ जहँ पाहि[3]।
रज्जब सुख संतोष में, दुख दीरघ तहँ चाहि ॥२॥

विश्वास में बहुत ही शांति[1] है और जहां तृष्णा[3] है वहां अशांति[2] है। संतोष में सुख है और जहां अभिलाषा है वहां महान् दुःख है।

माँगत मासा ना मिलै, त्यागत आवै हाथ।
विभूति[1] भूत[2] ऐसें बणी, रज्जब बाणी[3] नाथ ॥३॥

मांगने से एक मासा भी माया नहीं मिलती है, दान रूप त्याग करने से सहस्र गुणी होकर हाथ में आती है। प्राणियों[2] के लिये माया[1] प्राप्ति की पद्धति ऐसी ही बनी हुई है कारण--प्रभु ने ऐसी ही बनाई[3] है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित तृष्णा विश्वास का अंग १११
समाप्तः ॥सा० ३४०१॥

अथ विश्वास संतोष का अङ्ग ११२

इस अंग में विश्वास तथा संतोष सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

सब ही वश विश्वास के, माया ब्रह्म सहेत।
सो रज्जब सौं गहगहो[1], सद्गुरु कह्या सचेत ॥१॥

माया और ब्रह्म के सहित सभी विश्वास के वश हैं, सद्गुरु ने प्रसन्नता[1] से उस विश्वास को धारण करने के लिये हमें सचेत करते हुये कहा है।

जन रज्जब विश्वास गहि, सब साहिब परि राखि।
विश्वासी वस्तु हिं मिले, यूं सद्गुरु की साखि ॥२॥

परमात्मा सर्व शिरोमणि है, ऐसा विश्वास ग्रहण करके सब कुछ प्रभु पर छोड़कर हृदय में परमात्मा का चिन्तन रख, विश्वासी भक्त को ब्रह्मरूप वस्तु मिलती है, इसी प्रकार सद्गुरु की साक्षी है ।

ज्यों आज्ञा त्यों होयगा, यहु बरतणि[1] व्यवहार ।
तातैं रज्जब राम को, तू जनि छाडै लार[2] ॥३॥

यह लौकिक व्यवहार का बर्ताव[1] जैसे प्रभु की आज्ञा होगी वैसे ही होगा, इसलिये तू राम का पीछा[2] मत छोड़ अर्थात् निरंतर राम का भजन कर ।

रे रज्जब विश्वास गहि, तकि[1] तरुवर की बाण[2] ।
सिदक[3] सबूरी[4] ऊपरै, ज्यों जल वर्षै आण[5] ॥४॥

वृक्ष के स्वभाव[2] को देखकर[1] भगवान् का विश्वास ग्रहण कर, जैसे उसके लिये जल ऊपर आकाश में आकर[5] वर्षता है, वैसे ही सचाई[3] और संतोष[4] को धारण करने से प्रभु का साक्षात्कार अवश्य होगा ।

चौरासी लख जीव का, राम रिजक[1] भरि देय ।
जन रज्जब विश्वास गहि, सो सांई सुन सेय ॥५॥

राम ही चौरासी लाख जीवों को जीविका[1] देकर उनका भरण-पोषण करते हैं, तू हमारी बात सुनकर उस प्रभु का विश्वास ग्रहण कर और उनकी उपासना कर ।

स्वामी सेवक हो रह्या, इहिं सारे संसार ।
रे रज्जब विश्वास गहि, मूरख हिया[1] न हार ॥६॥

परमात्मा इस सभी संसार के सेवक बन रहे हैं, उनका विश्वास ग्रहण कर, हे मूर्ख ! अपने हृदय[1] में हार मत मान ।

चौरासी को चूणि[1] दे, प्रभु प्राणहुं प्रतिपाल ।
रज्जब सो न विसारिये, जो सबकी करै संभाल ॥७॥

प्रभु चौरासी लाख योनियों को भोजन[1] देकर सभी प्राणियों की पालना करते हैं, जो प्रभु सब की संभाल करते हैं, उनको नहीं भूलना चाहिये ।

रज्जब रोटी दौवटी[1], दे हैं दीन दयाल ।
तो आशा तज और की, वेत्ता ब्रह्म संभाल ॥८॥

जब रोटी कपड़ा[1] दीन दयालु प्रभु देते हैं, तब हे ज्ञानी ! अन्य की आशा छोड़कर ब्रह्म का ही स्मरण कर ।

जिन जननी के उदर में, तेरी की प्रतिपाल ।
सो अब क्यों भूले तुझे, तू भी तिसे सँभाल ॥९॥

जिन प्रभु ने माता के पेट में तेरी पालना की है, वे अब तुझे कैसे भूलेंगे ? किन्तु तू भी उनका स्मरण कर ।

आरंभ[1] बिना आहार दे, उदर माँहि अविगत्त[2] ।
यही समझ संतोष कर, रज्जब अज्जब मत्त[3] ॥१०॥

मन वाणी आदि के अविषय प्रभु[2] बिना किसी उद्योग[1] के ही पेट में आहार देते हैं, यही समझकर संतोष करना चाहिये । यह संतोष का सिद्धान्त[3] अद्‌भुत है ।

उदर माँहि उदरहि भरै, पावै अरभक[1] पोष ।
सो दाता शिर पर खड़ा, रज्जब गहि संतोष ॥११॥

माता के पेट में स्थित बालक का भी पेट भरते हैं, उनसे गर्भस्थ बालक[1] भी पोष प्राप्त करता है, वे दाता रूप परमेश्वर शिर पर खड़े हैं, ऐसा समझकर संतोष ग्रहण कर ।

उद्यम नांहीं उदर में, तहां करी प्रतिपाल ।
सो अब क्यों भूलै तुझे, रज्जब दीन दयाल ॥१२॥

पेट में कोई भी प्रकार का उद्योग नहीं कर सकता था, वहां भी प्रभु ने तेरा पालन किया है, वे दीन दयालु प्रभु अब तुझको कैसे भूल सकते हैं ?

बल बाहस[1] नहिं बंदि[2] में, विभै[3] बिना वित[4] नास ।
बुद्धि रहित वपु में सु वपु, तब तोहि दिया जु ग्रास[5] ॥१३॥

गर्भ रूप कैद[2] में भुजाओं[1] का बल नहीं था, कोई प्रकार का ऐश्वर्य[3] नहीं था, धन[4] का तो नाश ही था, उस समय माता के शरीर में तेरा शरीर बुद्धि रहित था, तभी तुझे उस प्रभु ने भोजन[5] दिया था ।

शैल[1] शिला में देत है, आरंभ[2] बिना आहार ।
तो रज्जब विश्वास का, छोडे मत व्यवहार ॥१४॥

भगवान् बिना उद्योग[2] भी शिला-कीट को पर्वत[1] की शिला में भोजन देते हैं, तब प्रभु-विश्वास का व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिये ।

अगम ठौर सु आहार दे, संकट सारे काज ।
जन रज्जब विश्वास इस, उस हि किये की लाज ॥१५॥

गर्भ रूप अगम स्थान में भी जो भोजन देते हैं, दुःख में भी कार्य सिद्ध करते हैं, इस विश्वास के रखने से उस प्रभु को अपने रचित की लाज रखनी ही पड़ती है।

आरंभ[1] बिना आहार दे, गय[2] अनलहिं गोविन्द।
तो रज्जब रोवै पेट को, हरि अराध[3] मति मंद ॥१६॥

भगवान् ठाण पर बंधे हुए हाथी[2] को और अनल पक्षी को बिना उद्योग[1] ही भोजन देते हैं, तब हे मतिमंद ! पेट भरने की चिन्ता में क्यों रोता है ? हरि की उपासना[3] कर।

रज्जब मोटे मच्छ अति, सौ योजन सु शरीर।
तेउ पेट पूरण भरै, तो गह विश्वास मन वीर[1] ॥१७॥

जिनके सौ सौ योजन शरीर हैं, ऐसे अति विशालकाय मच्छ हैं, उनके भी पेट प्रभु पूरण रूप से भरते हैं तब हे भाई[1] मन ! उन प्रभु का विश्वास ग्रहण कर।

भजन विमुख भोजन लहै, चौरासी लख जूणि[1]।
तो रज्जब सुमिरण सहित, तिनको कैसे ऊंणि[2] ॥१८॥

चौरासी लाख योनियों[1] के जीव हरि भजन से विमुख रहकर भी भोजन प्राप्त करते हैं ? तब जो प्रभु का स्मरण करते हैं, उनको क्या कमी[2] रह सकती है।

अशन[1] अकाशि असंख्य को, पाताली पूरि प्रसाद।
मही सु मुकता करि धरचा, सु तुझे न करसी याद ॥१९॥

आकाश में रहने वाले असंख्य अनल पक्षियों को और पाताल में रहने वाले सर्पादि को परिपूर्ण से प्रभु प्रसाद देते हैं, पृथ्वी के प्राणियों के लिये भी उसने बहुत सा भोजन[1] तैयार कर के धरा है, वह तुझे याद न करेगा क्या ?

असंख्य लोक ब्रह्माण्ड के, उदर उदधि[1] नीवाण[2]।
रज्जब पूरै[3] ठौर सब, तुझे न देई खाण[4] ॥२०॥

ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों के भी समुद्रादि[1] जलाशय[2] रूप पेट हैं, वे प्रभु सब ठौर सभी को भोजन[4] देते[3] हैं फिर तेरे को भोजन नहीं देंगे क्या ?

असंख्य लोक प्रतिपाल हरि, सकल किए की चिन्त।
तो रज्जब भूखा सु क्यों, जो सांई करि मित ॥२१॥

हरि असंख्य लोकों के पालक हैं, उन्हें उत्पन्न किये हुये सभी प्राणियों की चिन्ता है, तब जो प्रभु का भक्त है वह भूखा कैसे रहेगा ?

साहिब सबको रिजक[1] दे, बंदे[2] को तु विशेख।
रज्जब रहु विश्वास बिच, करणहार दिशि देख ॥२२॥

परमात्मा सभी प्राणियों को जीविका[1] देते हैं और भक्त[2] को तो विशेष रूप से देते हैं, विश्वकर्त्ता की ओर देखकर उसी के विश्वास में रहना चाहिये ।

जरा विपति अरु मीचसी, मिलै अबांछी[1] आय।
तो रज्जब विश्वास गहि, रिजक[2] कौन पे जाय ॥२३॥

वृद्धावस्था, विपत्ति और मृत्यु जैसी स्थिति ये बिना-इच्छा[1] ही आ मिलती हैं, तब तेरी जीविका[2] किसके पास जायेगी ? अर्थात् तेरे ही पास आयेगी । तब तुझे विश्वास ग्रहण करना ही चाहिये ।

रज्जब राग[2] न रोग सौं, मींच[1] मुहब्बत[2] नाँहिं।
यूं ही माया मुनि रहै, पै सिरजी आवै माँहिं ॥२४॥

जैसे किसी का भी रोग और मृत्यु[1] से प्रेम[2] नहीं होता, वैसे ही माया से मुनिजन उदासीन रहते हैं किन्तु उनके प्रारब्ध से उत्पन्न हुई है सो तो उनके जीवन में आ ही जाती है ।

रज्जब रोग न छाड ही, मूकै[1] मनिख[2] न मीच।
तो ब[3] रिजक[4] कहँ जायगा, समझी मनवा नीच ॥२५॥

जब मनुष्य[2] को रोग नहीं छोड़ता और मृत्यु नहीं त्यागता[1] तब प्राणी की जीविका[4] अब[3] कहां जायगी ? हे नीच मन ! इसको भली प्रकार समझकर संतोष धारण कर ।

अन[1] बाँछी[2] ही आवसी, जरा विपति अरु मीच।
त्यों माया मिलसी तुझे, मन मत कल्पे नीच ॥२६॥

वृद्धावस्था, विपत्ति और मृत्यु विना[1] इच्छा[2] ही आती हैं, वैसे ही माया भी तुझे आ मिलेगी । अतः हे नीच मन कल्पना मत कर ।

ज्यों अहि[1] कठिन करंड में, मूंसा पैसा[2] काट।
जन रज्जब भोजन बन्या, अरु निकस्या बहि[3] बाट ॥२७॥

संतोषी सर्प[1] करंड में बैठा रहता है तृष्णा युक्त चूहा करंड को काट कर उस में घुसता[2] है तब सर्प उसे खाजाता है और उसके[3] काटे हुये मार्ग

से निकल जाता है। वैसे ही संतोषी को तो मुक्ति होनी है और तृष्णा-युक्त का नाश होता है।

सिरज्या आवहि स्वर्ग सौं, जल थल करै सुकाल।
रज्जब रहै न बिन रच्या, खाया होय उखाल[1] ॥२८॥

यदि अपने लिये उत्पन्न हुआ होगा तो जैसे समुद्र से जल आकर स्थल में सुकाल करता है, वैसे ही स्वर्ग से भी अपने पास आजायगा और जो अपने लिये नहीं रचा गया है, उसकी तो खाने पर भी वमन[1] हो जाती है।

अनल अंड ज्यों ठौर बिन, नहीं पोष पंख पाव[1]।
जन रज्जब सो नीपजे, तो पूरण पूरा गाव[2] ॥२९॥

अनल पक्षी के अंडे के लिये न तो ठहरने का स्थान होता, न पोषण का प्रबन्ध होता, न पंख होते किन्तु संतोष होने से अंत में पृथ्वी रूप स्थान, खाने को हाथी और उड़ने को पंख प्राप्त[1] हो ही जाते हैं। तब निश्चय ही संतोष पूर्णता को प्राप्त कराने का पूरा साधन है। ऐसा ही संतोष का यशोगान[2] करना चाहिये।

कूंजी कूरम[1] अनल के, अंडे देखो जोय।
रज्जब राखै सो कहां, तो क्यों विश्वास न होय ॥३०॥

कूंजी, कूर्मी, अनल पक्षी के अंडों की ओर देखो, वे कहां रखे जाते हैं—कूंजी हिमालय पर्वत के बर्फ पर अंडा रखती है। कच्छपी[1] जल के तीर स्थल में अंडा रखती है। अनल पक्षी आकाश में ही रखता है, उक्त तीनों की ही भगवान् रक्षा करते हैं, तब उन प्रभु पर विश्वास क्यों न होगा?

उदर दिया सो आहार देयगा, गला बनाया गाले[1] काज।
रज्जब चंचु चूणि[2] को सिरजी, किये २ की सब को लाज ॥३१॥

जिस प्रभु ने पेट दिया है, वही भोजन देगा, गला निगलने[1] के लिये ही बनाया गया है। चूंच चुगने[2] के लिये ही उत्पन्न की है, अपने उत्पन्न किये हुये की तो लज्जा सभी को रखनी पड़ती है अर्थात् उनका पालन करना ही पड़ता है।

असंख्य लोक अंतक[1] सहित, भोजन दें भगवंत।
ता पूरण सौं प्रीतिकर, शोच करै क्यों संत ॥३२॥

भगवान् काल[1] के सहित असंख्य लोकों को भोजन देते हैं, उन पूर्ण ब्रह्म से प्रेम करके भोजन संबन्धी चिन्ता संत क्यों करेंगे?

असमान[1] जमीं अम्बर[2] अर्पि, आभे[3] भार अठार[4] ।
बागे[5] दे ब्रह्माण्ड को, पिर्डहिं कहा विचार ॥३३॥

भगवान् आकाश[1] को बादल[3] रूप वस्त्र[5] देते हैं, पृथ्वी को अठारह[4] भार वनस्पति रूप वस्त्र[2] देते हैं, प्रभु जब सभी ब्रह्माण्ड को वस्त्र देते हैं तब मनुष्य देह को देंगे या नहीं देंगे ? इसका विचार ही क्या करना है ।

नौ निधि जाके नाम में, सब संतन की साखि[1] ।
जन रज्जब सो सुमिरिये, कहा करै वित[2] राखि ॥३४॥

जिस प्रभु के नाम में नव निधि हैं, उन प्रभु का स्मरण करना चाहिये, यही सब संतों की साक्षी[1] है, केवल धन[2] का संग्रह करके ही क्या करेगा ?

दह[1] दिशि देबे को खड़ा, दीनानाथ दयाल ।
रज्जब यूं जाण्यां कटे, वित बंधन के साल ॥३५॥

दीनानाथ दयालु परमात्मा अन्न-वस्त्रादि देने के लिये दशों[1] दिशाओं में खड़े हैं, ऐसा जानने से ही धन में आसक्ति रूप बन्धन का दुःख कटता है ।

वैरागी वित क्या करै, जो विश्वासी होय ।
रज्जब मच्छी मसक सौं, जलहिं न जोया[1] कोय ॥३६ ।

विशाल मच्छ को मशक के जल से अनुरक्त होता कोई नहीं देखता[1], वैसे ही यदि ईश्वर विश्वासी विरक्त हो तो वह धन का क्या करेगा ?

ब्रह्म व्योम दिशि देख हीं, साधू सारंग दोय ।
जन रज्जब विश्वास यहु, नजरि निवाण न कोय ॥३७॥

चातक पक्षी स्वाति बिन्दु के लिये आकाश की ओर देखता है, उसी के विश्वास पर रहता है पृथ्वी के कोई भी जलाशय की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती । वैसे ही संत विश्वास पूर्वक ब्रह्म की ओर देखते हैं, माया की ओर नहीं देखते ।

रोटी मोटी[1] करि धरि, बाबै[2] वसुधा[3] मांहिं ।
रज्जब दीशै दशों दिशि, कहो कितियक खाँहिं ॥३८॥

प्रभु[2] ने पृथ्वी[3] में प्रारब्ध रूप विशाल[1] रोटी बनाकर धरदी है, प्रारब्ध के अनुसार दशों दिशाओं में ही प्राणी के सामने भोजन आता है, कहो वह कितनाक खायगा ? अर्थात् वह तो अपनी प्रारब्ध जितना ही खा सकेगा, उससे खाद्य की समाप्ति नहीं हो सकती ।

करतार कमाऊ जिन्हों के, तिनके क्या परवाह ।
सदा सुखी आनन्द में, युग युग वे अरवाह[1] ॥३९॥

जिनके ईश्वर ही कमाता है, उनको क्या परवाह है, वे आत्माएँ[1] तो आनन्द में निमग्न होकर प्रति युग में सुखी रहते हैं ।

करतार कमाऊ जिन घरहुं, तिनके कैसी हानि ।
यूं बैठे विश्वास में, सब कुछ दे सो आनि ॥४०॥

जिन भक्तों के घरों में ईश्वर ही कमाता है, उनको हानि कैसे हो सकती है ? ऐसा समझकर ईश्वर विश्वास द्वारा स्थित हैं, उनको भगवान् सभी कुछ ला देते हैं ।

नहीं तहाँ तैं सब किया, रज्जब पिंड रु प्राण ।
सो अब भूलै क्यों तुझे, करि संतोष सुजाण ॥४१॥

प्रभु ने मिथ्या माया से शरीर प्राणादि सब संसार की रचना की है, वे तुझे कैसे भूल सकते हैं ? अतः हे बुद्धिमान् तुझे संतोष करना चाहिये ।

पूत पांगुला पेट में, आरंभ[1] अशन[2] न आश ।
पुष्टि पराये पगनि पर, विघ्न नहीं विश्वास ॥४२॥

माता के पेट में पुत्र पंगु के समान है, वह अपने उद्योग[1] द्वारा भोजन[2] की आशा नहीं करता, उसकी पुष्टि दूसरों के पैरों पर ही निर्भर है । वैसे ही ईश्वर विश्वासी का जीवन निर्विघ्न रहता है ।

असंख्य लोक आतम भरी, सबकी करै संभाल ।
गुण अवगुण देखै नहीं, कीये के प्रतिपाल ॥४३॥

असंख्य लोकों में असंख्य ही जीवात्माएं परिपूर्ण हैं किन्तु प्रभु सभी की संभाल करते हैं । वे गुण अवगुण को न देखकर अपने उत्पन्न किये हुये के प्रतिपालक अवश्य हैं ।

जड़ वासण जड़ का घड़्या, रीता रहै न सोय ।
कुंभ कुम्हार कमाऊ दोन्यों, सो पूरण किन होय ॥४४॥

मूर्ख कुम्हार का घड़ा हुआ मिट्टी का बर्तन जड़ होता है वह भी खाली नहीं रहता फिर जिस शरीर रूप कुंभ को बनाने वाला ईश्वर रूप कुम्हार और शरीर रूप कुंभ दोनों ही कमाने वाले हैं, वह कैसे नहीं भरेगा ?

मात पिता माया ब्रह्म, बालक बंदा[1] कंध।
मोह मिहरी[2] में ये सदा, यूं विश्वास निसंध[3] ॥४५॥

नारी[2] के पेट में बच्चा होता है, तब भी उसका पोषण होता है और जन्मने पर माता पिता बालक को कंधे पर रखकर पालते हैं, वैसे ही ये प्राणी मोह में रहते हैं तो भी इनका पालन होता है और ज्ञान होने पर तो भक्त[1] ब्रह्म में मिल ही जाता है, इस प्रकार विश्वास रूप साधन निर्दोष[3] है।

साधू सुखिया समय में, दुखी न होंहि दुकाल।
रज्जब जिनकी रामजी, सदा करै प्रतिपाल ॥४६॥

जिनकी रामजी सदा पालना करते हैं, वे संत सुकाल में सुखी रहते हैं और दुष्काल में दुखी नहीं होते।

रज्जब रहै विश्वास में, बांदी[1] तहां विभूति[2]।
सदा सुखी सुमिरन करहिं, सब विधि आई सूति[3] ॥४७॥

जिनका मन ईश्वर विश्वास में रहता है उनके यहाँ माया[2] दासी[1] होकर रहती है, वे हरि स्मरण करते हुये सदा सुखी रहते हैं, माया उनके सब प्रकार अनुकूलता[3] से ही आती है।

राम काज जिनके करै, तिनके कारज सिद्ध।
जन रज्जब विश्वास परि, बन आई सब विद्ध[1] ॥४८॥

जिनके कार्य राम करते हैं, उनके काम सिद्ध हो ही जाते हैं, राम के विश्वास पर रहने से सभी विधि[1] ठीक बैठ जाती है।

जन रज्जब अज्जब कही, सुनहु सनेही दास।
बिन परिचय परिचय भया, जब आया विश्वास ॥४९॥

हे प्रेमी भक्त ! सुन, हमने यह विश्वास की बात अद्भुत ही कही है, जब प्राणी में ईश्वर विश्वास आ जाता है तब बिना परिचय भी ईश्वर से परिचय हो जाता है।

धरे अधर का मूल है, नाम निरंजन पास।
जन रज्जब विश्वास इस, करै कौन की आस ॥५०॥

सगुण और निर्गुण की प्राप्ति का मूल कारण निरंजन का नाम तेरे पास है, जिसे इस नाम का विश्वास है, वह अन्य किसकी आशा करेगा ?

मनिख[1] मनिख को सेवतों, सुख संपति इहिं भौन।
जो रज्जब राम हिं भजे, तिन के टोटा[2] कौन ॥५१॥

इस लोक में मनुष्य[1] को मनुष्य की सेवा करने पर भी सुख संपत्ति प्राप्त होती है फिर जो राम का भजन करते हैं, उनको तो कमी[2] ही क्या रहती है।

चिंता अणचिंता भरै, उदर को सु अविगत्त[1]।
तो रज्जब विश्वास गहि, शोधर[2] साधू मत्त[3] ॥५२॥

पेट भरने की चिन्ता करो या मत करो, परमात्मा[1] तो पेट भर ही देते हैं, तब संतों के सिद्धान्त[3] को खोज[2] करके विश्वास को ही ग्रहण कर।

माँग्या अण माँग्या मिलै, जो जीव को जगपति कीन।
बंदे बे परवाह यूं, भूल न भाखै दीन ॥५३॥

जगत्पति प्रभु ने जीव के लिये जो रच दिया है, वह तो माँगने वा बिना माँगे भी मिलेहीगा, ऐसा समझ करके ही संतजन बे परवाह रहते हैं, भूल से भी दीन वचन नहीं बोलते।

चाकर अण चाकर लहैं, बरा[1] विश्वंभर देय।
पूरण पूरै[2] सकल को, सो पलटा नहिं लेय ॥५४॥

सेवा करने वाले और न करने वाले दोनों को ही विश्वंभर भगवान् जीविका[1] देते हैं, वे पूर्ण ब्रह्म सभी का पोषण[2] करते हैं और बदले में कुछ भी नहीं लेते।

साधु सबूरी[1] में रहै, निष्कामी रु निराश।
तो रज्जब ता दास घर, सांई होय सु दास ॥५५॥

जो साधु निष्कामी, आशा रहित और संतोष[1] में निमग्न रहता है तब उस दास के घर पर प्रभु भी दास होकर रहते हैं अर्थात् उसका योग-क्षेम करते हैं।

निश्चल में निश्चल रहै, निज जन नाम निवास।
तो रज्जब माया ब्रह्म, होंहि दास घर दास ॥५६॥

प्रभु के निजी भक्तों का मन जब नाम चिन्तन में स्थिर रह कर निश्चल होता है तब निश्चल ब्रह्म में स्थिर रहता है, यह अवस्था आने पर माया और ब्रह्म दोनों ही उस भक्त के घर दास बने रहते हैं।

मात पिता माया ब्रह्म, चौरासी प्रतिपाल।
परि संतोषी सुत ऊपरै, दोन्यों सदा दयाल ॥५७॥

माया-ब्रह्म रूप माता-पिता चौरासी लाख योनियों के सभी जीवों की पालना करते हैं किन्तु संतोषी पुत्र के ऊपर दोनों सदा ही दयालु रहते हैं।

आश उलटि तृष्णा तजै, संतोषी हरि साथ।
रज्जब सो विश्वास में, सर्वस्व आया हाथ ॥५८॥

सांसारिक आशा को बदलकर ब्रह्म साक्षात्कार की ही रक्खे, विषयों की तृष्णा को त्यागे ऐसे संतोषी के साथ हरि रहते हैं, जो हरि विश्वास में दृढ़ रहता है, उसके हाथ में सभी कुछ आ जाता है।

जे बंदे[1] बिच सिदक[2] ह्वै, तो भेजें बिसियार[3]।
जन रज्जब राजिक[4] मिलै, रिजक[5] सबै तिहिं लार ॥५६॥

यदि मनुष्य[1] में सच्चा[2] संतोष हो तो भगवान् उसके लिये योग-क्षेम का साधन अत्यधिक[3] भेज देते हैं और स्वयं प्रभु[4] मिलते हैं तब जीविका[5] तो सभी उनके साथ आ जाती है।

सहज[1] सबूरी[2] साच लै, सुमिरै निर्मल अंग[3]।
सो रज्जब रामहिं मिले, सब संपति तिहिं संग ॥६०॥

जिसकी वृत्ति में स्वाभाविक[1] संतोष[2] और सत्य है और जो निर्मल ब्रह्म स्वरूप[3] का स्मरण करता है, वह राम को प्राप्त करता है और राम के साक्षात्कार के साथ ही सभी संपत्ति भी मिल जाती है।

जे जीव बैठे सिदक[1] घरि, साहिब के दरबार।
तो रज्जब बाकी कहा, पीछे पले हजार ॥६१॥

यदि जीव सच्चे[1] संतोष रूप घर में रहते हुये प्रभु के दरबार में उपस्थित हो तो बाकी क्या रह जाता है? फिर तो उसके पीछे भी हजारों की पालना होती है।

विश्वासी बैठ्या रहै, हरि भेजे सो खाय।
रज्जब अजगर की दशा, चलि कतहूं नांहि जाय ॥६२॥

विश्वासी भक्त भजन में ही बैठा रहता है, जो भी हरि भेज देते हैं उसे ही खाकर निर्वाह करता है, जैसे अजगर कहीं नहीं जाता, वैसे ही वह भी भजन को छोड़कर कहीं भी नहीं जाता।

भावै कुंभहिं कूप भरि, भावै भरो समुंद।
जन रज्जब परवान परि, अधिकी चढै न बुंद ॥६३॥

घड़े को चाहे कूप पर भरो और चाहे समुद्र में भरो, उसके माप से अधिक एक बिन्दु भी उसमें नहीं आयेगी। वैसे ही कहीं भी जाओ अपने प्रारब्ध के अनुसार ही मिलेगा, अधिक कुछ भी नहीं मिलेगा।

अन विश्वासी आतमा, करै अनेक उपाय ।
रज्जब आवै हाथ सो, जो कछु राम रजाय ॥६४॥

ईश्वर विश्वास रहित प्राणी अनेक उपाय करता है किन्तु जो राम की इच्छा होती है वही उसे मिलता है ।

लिखी[1] लक्षमी पाइये, अरपी[2] आयु सु होय ।
रज्जब गृह वैराग में, घटै बधै नहिं दोय ॥६५॥

प्रारब्ध[1] अनुसार धन मिलता है और जो कर्मानुसार भगवान् ने दी[2] है वही आयु होती है । चाहे गृहस्थ हो वा विरक्त हो धन और आयु ये दोनों घढ़ते-बढ़ते नहीं ।

रज्जब नर तरु शीश पर, माया मधु[1] विधि होय ।
आवत जात अचिन्त में, दोष न दीजे कोय ॥६६॥

जैसे वृक्ष के शिर पर पुष्प में शहद[1] आता है और मक्खी द्वारा चला जाता है, वृक्ष को उसकी कोई चिन्ता नहीं होती, वैसे ही यदि माया के चिन्तन से रहित नर के पास माया आवे और चली जावे तो उसे कोई प्रकार का दोष नहीं देना चाहिये ।

आवे अजाची बरतणि[1] लेय, खाय सु पहिरै और हिं देय ।
यहु रज्जब संतोष स्वरूप, चल हि मुनीश्वर चाल अनूप ॥६७॥

मुनीश्वरों के पास माया बिना माँगी आती है तब वे उसे बर्तने[1] के लिये ग्रहण करते हैं, आप खाते-पहनते हैं और अन्यों को भी खिलाते-पहनाते हैं, यही संतोष का स्वरूप है, इस अनुपम चाल से ही मुनीश्वर चलते हैं ।

रज्जब माया छाया में सदा, लघु दीरघ व्यवहार ।
अचिग[1] आश अस्थूल विधि, यहु साधू मत सार ॥६८॥

छाया में ही सदा छोटी-बड़ी होने का व्यवहार होता है, छाया वाला स्थूल तो अडिग[1] रहता है । वैसे ही माया में कम अधिक होने का व्यवहार होता है, संत आशा द्वारा डिगते नहीं अडिग ही रहते हैं । यही संतों का सार सिद्धान्त है ।

चीरी[1] चिन्तन घट बंधी, लघु दीरघ भया लेख ।
तो रज्जब कहु दोष क्या, करणहार दिशि देख ॥६९॥

कर्म रूप पत्र[1] शरीर के साथ बंधा है, उसका सुख-दुख भोग-चिन्तन रूप लेख तो ज्ञान-अज्ञान से छोटा-बड़ा हो जाता है अर्थात् ज्ञान से दुख कम और सुख अधिक हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से सुख छोटा और

दुःख बड़ा हो जाता है किन्तु कर्म रूप पत्र तो बना ही रहता है। तब उसके विषय में क्या दोष कहा जाय ? उसके बनाने वाले ईश्वर की ओर देखना चाहिये।

रज्जब जब लग यहु मता, करै कहै मन चाहि।
तब लग नहिं विश्वास गति, तीनों विधि यहु पाहि ॥७०॥

माया के लिये नाना कुकर्म करता है, मिथ्या बोलता है और मन में आशा करता है। जब तक प्राणी का यह सिद्धान्त है, तब तक विश्वास की चेष्टा नहीं है। उक्त तीनों ही तृष्णा के प्रकार हैं।

जन रज्जब करिबे रह्या, कहिबे थकित निराश।
तब तृष्णा तन मन गई, पूरा पुष्ट विश्वास ॥७१॥

जब माया के लिये अनर्थ करना रुक जाता है, मिथ्या बोलना बंद हो जाता है और मन में से आशा भी हट जाती है, तब समझना चाहिये कि तन-मन से तृष्णा निकल गई है और हरि विश्वास पूर्ण रूप से पुष्ट होगया है।

मन अबंछ मुहडे अजच[1], पुनि काया कृत नाश।
यूं पर कोटि कौड़ी होय, वह विश्वासी दास ॥७२॥

जिसके मन में माया की इच्छा नहीं है, मुख से माँगता-भी-नहीं[1] है और शरीर से माया प्राप्ति के लिये कर्म भी नहीं करता है, इस प्रकार जिसकी दृष्टि में दूसरे के कोटि रुपये भी कौड़ी के समान हैं, वही विश्वासी भक्त है।

रज्जब रहु विश्वास में, मन वच कर्म त्रय शुद्ध।
ता ऊपर तोहि राम दे, सो माता का दुद्ध[1] ॥७३॥

मन, वचन और कर्म तीनों को शुद्ध रखकर हरि विश्वास पर अडिग रह, इस स्थिति में जो भी राम जी तुझे देंगे वह तेरे लिये माता के दूध[1] के समान हितकर होगा।

त्रिभुवन तन तृष्णा परै, शून्य संतोष सुथान।
रज्जब पहुँचे मीच मग, कोउ विश्वासी प्रान ॥७४॥

मायिक त्रिभुवन और शरीर से परे शून्य रूप ब्रह्म है, वैसे ही तृष्णा के परे संतोष रूप स्थान है। जो विश्वासी प्राणी संतोष रूप स्थान में रहता है, वही जीवित मृतक (जीवन्मुक्त) रूप अवस्था के मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होता है।

तृष्णा तिरै तरङ्गिनी[1], स्वारथ स्वाद समंद[2]।
सो पहुंचे संतोषपुर, जन रज्जब निर्द्वन्द्व ॥७५॥

जो तृष्णा रूप नदी[1] को और स्वार्थ पूर्ण इन्द्रिय स्वाद रूप समुद्र[2] को तैरता है, वही संतोष रूप पुर में पहुँच कर निर्द्वन्द्व होता है।

शक्ति[1] समुद्रहु के परै, शून्य[2] संतोष सु थान।
मन वच कर्म तृष्णा रहित, सो पहुंचे कोइ प्रान ॥७६॥

माया[1] से परे ब्रह्म[2] है और तृष्णा रूप समुद्र से परे संतोष रूप स्थान है। जो माया से रहित होता है, वह कोई बिरला प्राणी ही ब्रह्म के पास पहुंचता है, वैसे ही जो तृष्णा से रहित होता है, वही संतोष रूप स्थान को प्राप्त होता है।

संतोष सदन[1] तब पाइये, जब तृष्णा तन नाश।
ब्रह्माण्ड पिंड सेती[2] जुदा, जन रज्जब विश्वास ॥७७॥

जब सूक्ष्म शरीर में स्थित तृष्णा नष्ट हो जाती है तब संतोष रूप घर[1] प्राप्त होता है। ईश्वर विश्वास प्राणी को ब्रह्माण्ड और शरीर से[2] अलग कर देता है।

संतोष सबूरी[1] अगम घर, गुरु पीर[2] हुं अस्थान।
विश्वास तवक्कुल[3] में रहै, निश्चै दुरुस्त[4] ईमान[5] ॥७८॥

संतोष और संयम[1] अगम ब्रह्म रूप घर में पहुंचाने वाले हैं, गुरु और सिद्ध[2] संतों में संतोषादि का निवास है वा गुरु और सिद्ध संत संतोषादि में रहते हैं। विश्वास और ईश्वर भरोसे[3] में ही धर्म[5] का ठीक[4] निश्चय रहता है।

बेदाना बंदे[1] मिले, बीज रहित बिन चाहि[2]।
रज्जब फिर ऊगे नहीं, गये सु जन्म निभाहि ॥७९॥

बेदाना बीज रहित होने से फिर नहीं उगता, वैसे ही संत[1] तृष्णा[2] रहित होने से पुनः नहीं जन्मते। भूतकाल में संत इस प्रकार ही अपने जन्म के समय में संयम से निर्वाह करके ब्रह्म को प्राप्त हुये हैं।

रज्जब ध्याये[1] ध्यान हरि, भूत[2] भूख[3] भई भंग।
भूरि भाग भै[4] भै[6] सुखी, उठै सु उन्नति अंग[7] ॥८०॥

ध्यान द्वारा हरि की उपासना[1] करने से प्राणियों[2] की तृष्णा[3] रूप भूख नष्ट होती रही है, हरि ध्यान से प्राणी विशाल[4] भाग्य वाला होता[5] है और सुखी होता[6] है। उसके शरीर में उन्नति के लक्षण[7] प्रकट होते हैं।

जन रज्जब जीव सब तज्या, जब मनसा धरी धोय ।
भूति भार भासै नहीं, करता करै सु होय ॥८१॥

जब बुद्धि के विकार धोकर उसे ब्रह्म के स्वरूप में स्थिर कर दिया, तब जीव ने सर्व त्याग कर दिया, ऐसा ही समझना चाहिये । सर्व त्याग के पश्चात् उसके हृदय पर माया का बोझा नहीं दीखता और उसका जीवन निर्वाह जैसे ईश्वर करता है वैसे ही होता है ।

रज्जब आशा मैल मन, निर्मल सदा निराश ।
आगे खुशी खुदाय की, यहु वेत्ता[1] विश्वास ॥८२॥

आशा से मन मलीन रहता है, आशा रहित का मन सदा निर्मल रहता है, मन को निर्मल बनाने के पश्चात् ईश्वर की जैसी इच्छा होती है उसी ढंग से वह अपना साक्षात्कार कराता है । यही ज्ञानियों[1] का विश्वास है ।

जे कोई धूरि उठाइले, धरती धोखा[1] नाँहि ।
जानै कित[2] ले जायगा, मेरी मुझ ही माँहि ॥८३॥

यदि कोई धूलि उठाले तो पृथ्वी को उससे कोई भ्रम[1] नहीं होता, वह जानती है कि इसे यह कहां[2] ले जायगा ? जहां पटकेगा वहां मेरी मेरे में ही मिलेगी ।

रज्जब रिधि[1] रज एक है, वसुधा[2] में विश्वास ।
विभूति[3] भूत को ले चलै, धरचा[4] धरे[5] के पास ॥८४॥

माया[1], रज और विश्वास एक समान ही हैं, जैसे माया प्राणी को मायिक संसार में लेजाती है और रज के साथ उड़े हुये भूसा के कणों को रज पृथ्वी[2] पर ही ले जाती है, वैसे ही मायिक[3] विश्वास प्राणी को माया[4] के पास ले जाता है अर्थात् सगुण[5] के पास ले जाता है । निर्गुण ब्रह्म का विश्वास निर्गुण ब्रह्म में मिलाता है ।

वस्तु न मिले विश्वास बिन, बहु विधि करो उपाय ।
रज्जब रती[1] न पाइये, भावै[2] दह[3] दिशि जाय ॥८५॥

बहुत प्रकार के उपाय करने पर भी विश्वास के बिना ब्रह्म-वस्तु नहीं मिलती, चाहे[2] दशों[3] दिशाओं में जाय तो भी विश्वास के बिना ब्रह्म का किंचित्[1] भी ज्ञान नहीं होता ।

जे हिरदै विश्वास ह्वै, तो हरि हिरदा माँहि ।
जन रज्जब विश्वास बिन, बाहर भीतर नाँहि ॥८६॥

यदि हृदय में हरि का विश्वास है तो हरि हृदय में ही स्थित हैं और विश्वास नहीं हो तो बाहर-भीतर दोनों स्थानों में ही नहीं भासते ।

पेट भरैं बहु पाप करि, पापी प्राणि अनेक ।
अशन[1] वसन[2] आरंभ[3] बिन, आतम लहै सु एक ॥८७॥

अनेक पापी प्राणी बहुत से पाप करके पेट भरते हैं, कोई एक विश्वास युक्त जीवात्मा ही बिना किसी उद्योग[3] के भोजन[1]-वस्त्र[2] प्राप्त करता है ।

अविश्वास आरम्भ करि, मग[1] मग लेहि अहार ।
अशन वसन विश्वास बिच, निष्कामी व्यवहार ॥८८॥

बिना विश्वास के कार्यारम्भ करके विविध उपाय रूप मार्गों[1] में जाकर भी भोजन ही प्राप्त करते हैं और निष्कामी के भोजन-वस्त्रादि व्यवहार विश्वास में वृत्ति रहने से ही होजाता है ।

आश निराशी अशन[1] का, सुन हु विवेकी बोल[2] ।
पड़ै पंचमुख[3] पिंजरै, पन्नग[4] पिटारे खोल ॥८९॥

सिंह[3] को पिंजरे में ही भोजन[1] डाला जाता है, सर्प[4] को पिटारा खोल के दूध पिलाते हैं, वैसे ही विवेकियों के वचन[2] सुनो, उनसे तुम भी भोजन की आशा से रहित यथा लाभ में सन्तुष्ट हो जाओगे ।

षट् दर्शन अरु खलक[1] सब, दीरघ[2] स्वामी दास ।
जन रजब विश्वास बिन, जत[3] सत माँहि निराश ॥९०॥

जोगी, जंगमादि छः प्रकार के भेषधारी, गुण कलादि में बडे[2], स्वामी, दास आदि सब संसार[1] के प्राणी विश्वास बिना शील[3] और सत्य में निराश ही रहते हैं ।

वैराग्यों की बरात ऊतरी, सेवक सतियों[1] शीश ।
जैसे तरु फल पंखी पावहिं, विधि बानी[2] जगदीश ॥९१॥

बरात आकर जिस स्थान में उतरती है, उसका पूरा ध्यान रक्खा जाता है, वैसे ही विरक्त संत सद्गृहस्थ[1] सेवकों के शिर पर होते हैं । जैसे वृक्ष से पक्षियों को फल मिलता है, वैसे ही विरक्तों को सद्गृहस्थों से भोजन मिलता है । जगदीश्वर ने विरक्तों के निर्वाह की विधि ऐसी ही बनाई[2] है ।

बरात उतरो ठौर जिंहि, बरा[1] तहां सौं लेह ।
बिन आज्ञा देसी न कोउ, दोष किसी मत देह ॥९२॥

जिस स्थान पर बरात उतरती है, वहाँ ही से भोजन[1] लेती है, वैसे ही जीव जिन प्रभु के आश्रय हैं उन प्रभु से ही उनको भोजनादि प्राप्त होते हैं, प्रभु की आज्ञा बिना कोई भी नहीं देगा, देने न देने का दोष किसी को भी नहीं देना चाहिये ।

हाथ सभी हरि हाथ में, कृपण कृपाल हु एक ।
दोष देय कहु कौन को, पाया परम विवेक ॥९३॥

चाहे कृपण हो वा कृपालु हो सभी के हाथ एक हरि के हाथ में हैं, ऐसा परम विवेक प्राप्त हो गया तब देने, न देने का दोष किसको दिया जाय ।

जा दिन ज्यों राखे प्रभू, ता दिन त्यों रहिये ।
रज्जब दुख सुख आपणाँ, काहू नहिं कहिये ॥९४॥

प्रभु जिस दिन जैसे रक्खें उस दिन वैसे ही रहना चाहिये । अपना दुःख सुख किसी को भी नहीं कहना चाहिये, प्रभु तो अन्तर्यामी होने से जानते ही हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विश्वास संतोष का
अंग ११२ समाप्तः ॥सा० ३४९५॥

अथ अचिंत विश्वास का अंग ११३

इस अंग में चिन्ता रहित विश्वास का विचार कर रहे हैं—

वैराग[1] विश्वंभर परि मंड्या[2] करि चिंता चित नाश ।
विहंग[3] बोझ न विहंग शिर, देखे उड़त अकाश ॥१॥

खान-पानादि की चिन्ता को चित्त से हटाकर विरक्त[1] जन विश्व का भरण-पोषण करने वाले प्रभु के स्वरूप में ही अनुरक्त[2] रहते हैं । जैसे आकाश में उड़ते हुये पक्षी[3] का बोझा दूसरे पक्षी के शिर नहीं होता, वैसे ही एक जीव का भार दूसरे जीव पर नहीं पड़ता ।

उडग[1] अतीत[2] अकाश आश बिन, भार न काहू देहि ।
रज्जब मिले असंख्य एकठे, रिजक[3] राम पहिं लेहि ॥२॥

आकाश में असंख्य तारे[1] हैं किन्तु किसी पर भी उनका भार नहीं है, वैसे ही आशा रहित गुणातीत[2] संत का बोझा किसी पर भी नहीं होता । ऐसे असंख्य संत इकट्ठे हो जायें तो भी राम से ही जीविका[3] लेते हैं ।

वैराग[2] सु बादल सम सदा, सकल अधर[1] व्यवहार ।
लागे सांई शून्य सौं, भूत[3] हि देहि न भार ।।३।।

विरक्त[2] सदा बादल के समान अधर रहते हैं, उनका सभी व्यवहार ब्रह्म[1] प्राप्ति के लिये ही होता है। वे निर्विकार ब्रह्म के चिन्तन में ही लगे रहते हैं। किसी भी प्राणी[3] के लिये भाररूप नहीं होते।

अठार[1] भार इक अवनि पर, त्यों आतम अविगत्ति[2] ।
यूं रज्जब चिन्ता उठी, जब आई यहु मत्ति[3] ।।४।।

अठारह[1] भार वनस्पति एक ही पृथ्वी पर है, वैसे ही सभी जीवात्मायें एक ही ब्रह्म[2] में हैं, इस प्रकार की बुद्धि[3] जब आई है तब हृदय से चिन्ता उठ गई है।

जल निधि में जलचर विविध, पै का[1] शिर का[2] का बोझ ।
त्यों रज्जब सब राम परि, समझै नहीं सु रोझ ।।५।।

समुद्र में नाना प्रकार के जल जन्तु हैं किन्तु किसके[1] शिर पर किसका[2] भार है, वैसे ही सब जीवों के भरण-पोषण का भार राम पर है, यह रहस्य नहीं समझते वे वन के रोझ पशु के तुल्य हैं।

रे रज्जब राकेश[1] कन,[2] सदा सु मण्डल तार ।
किसकी चिन्ता कौन को, किसका किस पर भार ।।६।।

चन्द्रमा[1] के पास[2] सदा तारा मण्डल रहता है किन्तु किसकी किसको चिन्ता है? और किसका किस पर बोझा है? वैसे ही किसी का भी किसी पर भार नहीं है, जीवों के प्रारब्धानुसार भगवान् सबका भरण-पोषण करते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अचिंत विश्वास का अंग ११३ समाप्तः ।। सा. ३५०१ ।।

अथ निरीहाई निर्वाण का अंग ११४

इस अंग में इच्छा रहित व्यक्ति ही मुक्ति को प्राप्त होता है यह कह रहे हैं—

रज्जब पाई प्राण ने, नाम निरन्तर लूटि ।
पाप पुण्य की ताखड़ी, गई हाथ सौं छूटि ।।१।।

प्राणी ने निरन्तर नाम चिन्तन रूप नाम की लूट की तब इच्छा रहित स्थिति प्राप्त हुई है, जब इच्छा रहित स्थिति परिपाकावस्था को प्राप्त हुई तब पाप पुण्य का तुला अर्थात् पाप-पुण्य का भेद अन्तःकरण रूप हाथ से गिर गया है ।

पुण्य किये पुण्य पाव ही, देणे लेणा होय ।
रज्जब इहि सौदे[1] रहे,[2] शून्य समाने सोय ॥२॥

पुण्य करने से ही पुण्य प्राप्त होता है, दुःख सुखादि देने से ही दुःख सुखादि लेने पड़ते हैं किन्तु जो इच्छा रहित व्यक्ति उक्त व्यापार[1] से रहित[2] हो जाते हैं, वे सर्व विकार शून्य ब्रह्म में समा जाते हैं ।

लेबे का लालच नहीं, नहिं देबे करतार[1] ।
रज्जब अज्जब मुक्त मत,[2] जीव ब्रह्म उणहार[3] ॥३॥

जिनमें ईश्वर[1] से लेने का भी लोभ नहीं है और देने का भी विचार नहीं है, उन मुक्त पुरुषों का सिद्धान्त[2] बड़ा अद्भुत है, इस अवस्था में जीव ब्रह्म के समान[3] ही हो जाता है ।

भली बुरी भावै नहीं, परसे पाप न पुण्य ।
सो रज्जब राम हिं मिले, सहज समाने शून्य ॥४॥

जिसको भली और बुरी दोनों ही व्यक्ति, वस्तु आदि प्रिय नहीं होतीं और जिसके अन्तःकरण को पाप-पुण्य दोनों ही स्पर्श नहीं करते वह इच्छा रहित व्यक्ति राम को प्राप्त होकर सहज शून्य ब्रह्म में ही समा जाता है, यही निर्वाण है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित निरीहाई निर्वाण का अंग ११४
समाप्तः ॥सां० ३५०५॥

अथ विवेक विश्वास मधुकरी का अंग ११५

इस अंग में विवेक-विश्वास पूर्वक भिक्षा सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब मीठी मधुकरी मेरे मन भाई ।
सिध साधक जोगी जती, जग माँग सु खाई ॥१॥

मेरे मन को मधुकरी (भंवरा पुष्प की किंचित २ सुगंध लेकर चल देता है, पुष्प वा लतादि के दोष नहीं देखता, वैसे ही संत गृहस्थों से अन्न मांग कर अपना निर्वाह करते हैं, उसे मधुकरी कहते हैं) बहुत प्रिय लगती है, सिद्ध, साधक, योगी, यति आदि ने जगत् में माँग कर खाई है ।

भूप भूत[1] मिल भीख को, तब सु वहिश्त[2] को जाय।
तो न मेहणाँ[3] मधुकरी, नर देखो निरताय[4] ॥२॥

प्राणियों[1] के राजा भी भिक्षान्न खाने वाले सन्तों से मिल कर ही स्वर्ग[2] को जाते हैं, तब भिक्षान्न में कोई दोष[3] नहीं है. हे नरो ! तुम भी विचार[4] करके देखो और विश्वास करो।

एक हुं कोपी[1] एक हुं पैसा, एक हुं तंदुल रोटी।
महा[2] मसंदौ[3] भीख आदरी, मान मधुकरी मोटी ॥३॥

दुर्वासा ने द्रोपदी से कौपीन[1] की भिक्षा ली थी, दादूजी से भगवान् ने एक पैसा लिया था, सुदामा से श्री कृष्ण ने चांवल लिये थे, तिमंगल से एक संत ने रोटी ली थी उससे तिमंगल सात बार राजा बना था। इस प्रकार महान्[2] गद्दीधारियों[3] ने भी भिक्षा का आदर किया है। अत: भिक्षा को महान् ही मानना चाहिये। इस साखी में कथित कथाओं को दृष्टांत सुधा-सिन्धु तरंग ७।१९२ में देखो।

जे अवसर[1] शिर सिलक[2] को, भूपति मांडै हाथ।
तो रज्जब कछु रंक गति, राजा दारिद्र साथ ॥४॥

यदि समय[1] पर राजा भी राज कर[2] लेने के लिये हाथ नीचे करता है, तब कंगाल की-सी ही चेष्टा है, अत: राजा के साथ भी दारिद्र है।

छाजन[1] भोजन देह लग, सिध[2] साधक सब लेंहि।
जन रज्जब परवान[3] परि, मन मनसा नहिं देंहि ॥५॥

शरीर के रहने तक सिद्ध[2], साधक, आदि सभी वस्त्र[1]-भोजन लेते हैं किन्तु उनकी श्रेष्ठतादि[3] पर मन, बुद्धि को नहीं लगाते।

छाजन भोजन देह लग, जा बिन रह्यो न जाय।
रज्जब अधिक उपाधि है, ता सौं मन न लगाय ॥६॥

जिनके बिना शरीर से रहा नहीं जाता, वे वस्त्र-भोजन तो शरीर के रहने तक ग्रहण करने ही चाहिये। उनसे अधिक उपाधि है। अत: उपाधि में मन मत लगाओ।

जन रज्जब रथ रहटिया[1], पुन: पखावज[2] जोय।
काष्ठ हूं वांगे[3] से चलैं, तो बिन बरतनि नहिं कोय ॥७॥

देखो, रथ, सूत कातने का चर्खा[1], मृदंग[2], आदि काष्ठ के यंत्र भी तेल[3] लगाने से चलते हैं, तब अन्न-जल के बरते बिना कोई भी शरीर नहीं रह सकता।

छाजन[1] भोजन दे भगवंत, अधिक न चाहै साधू संत ।
रज्जब यहु संतोषी चाल, माँगे नाँहि मुलक[2] अरु माल ॥८॥

संतों को वस्त्र[1]-भोजन तो भगवान् देते हैं, अधिक वे चाहते नहीं, यही संतोषियों का व्यवहार है, वे माल और देश[2] नहीं माँगते ।

मन बिन माया संग रहे, मन बिन मिहरी[1] जाय ।
यहु रज्जब मुनिवर मता, नर देखो निरताय ॥९॥

श्रेष्ठ संतों की माया में आसक्ति नहीं होती, बिना मन माया साथ रहे तो कोई हानि नहीं और बिना मन नारी[1] तो आप ही चली जाती है, हे नरो ! विचार करके देखो, मुनिवरों का यही सिद्धान्त है, वे आसक्ति रहित ही बर्ताव करते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विवेक-विश्वास मधुकरी का अंग ११५ समाप्तः ॥सा० ३५१४॥

अथ संयम कसौटी का अंग ११६

इस अंग में संयम रूप कष्ट विषयक विचार कर रहे हैं—

काया कुंदन[1] सारखो[2], हरि सोनी कसि लेय ।
जन रज्जब ताये[3] बिना, दर्शन द्रव्य[4] न देय ॥१॥

देह शुद्ध सुवर्ण[1] के समान[2] है, जैसे सुवर्ण को सुनार कसौटी द्वारा कस लेता है तब ही उसका दाम[4] देता है, वैसे ही हरि परीक्षा द्वारा देह को खूब तपाये[3] बिना दर्शन नहीं देते ।

कसि[1] कसि लिये काम के, नर निर्मल निरताय[2] ।
जन रज्जब जगमग रहे, महिमा कही न जाय ॥२॥

प्रभु ने बारंबार परीक्षा[1] करके विचार[2] द्वारा निर्मल और अपने काम के नरों को ही ग्रहण किया है, वे नर संसार में जगमगा रहे हैं, उनकी महिमा मुख से कही नहीं जा सकती ।

नर तरु नीलों[1] में रहै, ब्रह्म वासदेव[2] माँहि ।
बिन सूखे सोख्यंत[3] बिन, रज्जब प्रकटे नाँहि ॥३॥

हरे[1] वृक्षों में अग्नि[2] रहता है, वैसे ही शरीरों में ब्रह्म रहता है, बिना सूखे वृक्ष से अग्नि नहीं निकलता और बिना कसौटी[3] दिये शरीर में प्रभु प्रकट नहीं होते ।

तन तूंबा सोख्यंत[1] बिन, ध्वनि मुनि मांहि न होय ।
रज्जब गूंगा गूद भरि, बाजत सुन्या न कोय ॥४॥

तूम्बा सूखे[1] बिना उसमें ध्वनि नहीं होती, भीतर गूदा भरने से गूंगा रहता है बाजता हुआ किसी ने भी नहीं सुना, वैसे ही साधन कष्ट[1] के बिना मुनि के देह में नाभि स्थान पर ओंकार रूप ध्वनि नहीं होती ।

जंतर[1] मांहीं निकस करि, जंतर[2] चढै सु जाय ।
रज्जब पाई नाद निधि, लोहा कसनी[3] आय ॥५॥

लोहा तार बढाने के यंत्र[1] में आकर उससे निकलता है और भली प्रकार सितार[2] पर चढता है, इतना कष्ट[3] सहता है तब नाद अर्थात् स्वर रूप निधि प्राप्त करता है ।

रसना निकसी पाठ में, जंतरि[1] निकसे तार ।
रज्जब मुख जंतर[2] चढे, स्रव[3] हीं सुधा अपार ॥६॥

तार यन्त्र[1] में से निकलते हैं, तब सितार[2] पर चढ़कर स्वर रूप अपार अमृत वर्षाते[3] हैं । वैसे ही जिह्वा पाठ में से निकलती है तब मुख से अपार वचनामृत वर्षाती है ।

कंघा करवत शीश सहि, तब साहों[1] शिर जाय ।
तो रज्जब जाणी जुगति, तन मन कसि[2] हरि भाय[3] ॥७॥

कंघा का काष्ठ शिर पर करवत सहन करता है तब सेठों[1] के शिर पर जाता है । हमने भी यह युक्ति जान ली है कि तन-मन साधन कष्ट[2] सहन करते हैं तब हरि को प्रिय[3] होते हैं ।

शिर कटाय लेखिनि चढ़ी, कर कागद अरु कान ।
रज्जब इहिं विधि पाइये, परम पुरुष निज थान ॥८॥

लेखिनी अपना शिर कटा कर के ही हाथ, कागज और कान पर चढ़ती है, इसी प्रकार जीवपने के अहंकार को नष्ट करके ही निजस्थान परम पुरुष ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है ।

देख हु कुंभ कुम्हार घर, निपज्या कसणी[1] खाय ।
रज्जब रज पगतलि सदा, सो शिर पर बैठी आय ॥९॥

देखो, घड़ा कुम्हार के घर पर कष्ट[1] सहन करके उत्पन्न हुआ है, इस कष्ट सहन के कारण ही जो रज सदा पैर तले आती थी वही घट रूप से शिर पर आकर बैठी है ।

कागद कूंदी[1] कांगही[2], कोल्हू निरखि कुम्हार।
त्यों रज्जब कसणी[3] गुरू, लख सु लुहार सुनार ॥१०॥

देखो, कागज बनाने वाले का दिया हुआ कष्ट सहन करके कचरा का कागज बनता है। लुहार का दिया हुआ कष्ट सहन करके लोह का कूंडा-कूंडी[1] बनते हैं। खाती का दिया हुआ कष्ट सहन करके कंघी[2] बनती है। कोल्हू का दिया हुआ कष्ट सहन करने से ही तेल निकलता है। सुनार का दिया हुआ कष्ट सहन करने से सुवर्ण भूषण बनता है। वैसे ही गुरु के दिये हुए साधन कष्ट[3] सहन करके जीव ब्रह्म बनता है।

दुख भंजन[1] दुख पाइये, यद्यपि है दिल माँहि।
ज्यों काष्ठ कष्ट[2] बिना, पावक प्रकटे नाँहि ॥११॥

यद्यपि मन में दुःख है तो दुःख को नष्ट[1] करने के लिये भी दुःख पाना पड़ता है, जैसे काष्ठ को कष्ट[2] हुये बिना अग्नि प्रकट नहीं होता, वैसे ही दुःख बिना सुख नहीं होता।

दाख छुहारे रस रह्या, जे सकुचे[1] सु शरीर[2]।
यूं रज्जब सर्वस्व रहै, तन मन सिमट्यों[3] वीर ॥१२॥

जिन दाख-छुहारों के आकार[2] सिकुड़[1] जाते हैं, उनमें रस रह जाता है, वैसे ही हे भाई ! जिनके शरीर और मन सांसारिक विषयों से सिकुड़[3] कर ब्रह्म परायण हो जाते हैं, उनका सब कुछ ही रह जाता है।

संत हि शोभा सिमट तों, जत[1] को जतन[2] सु ज्योति।
रज्जब रस[3] रँग[4] रहित में, यथा सीप मधि मोति ॥१३॥

वैराग्य द्वारा विषयों से सिकुड़ने से ही संत की शोभा होती है। यतित्व[1] के लिये मोक्ष के साधन[2] ही प्रकाश प्रद होने से ज्योति है, जैसे सीप समुद्र जल को त्यागती है तब ही उसमें श्रेष्ठ मोती बनता है। वैसे ही विषयासक्ति से रहित रहने पर ही प्रभु-प्रेम[4] और ब्रह्मानन्द[3] की रक्षा होती है।

रज्जब रेशम चित्त का, संकट सूधा तार।
ये दोन्यों बांधे भले, खुल्यों होय सु ख्वार[1] ॥१४॥

रेशम और मन का तार संकट में ही सीधा रहता है, ये दोनों बंधे रहने से ही अच्छे रहते हैं। खुलने से रेशम का तार और मनोवृत्ति दोनों ही खराब[1] हो जाते हैं।

पसरचों[1] पग पग मार है, सिमटचों[2] सौं नहि सोय ।
जन रज्जब दृष्टांत को, मन कच्छप दिशि जोय ॥१५॥

मन विषयों में फैलता[1] है तब पद-पद पर राग द्वेष रूप मार पड़ती है और विषयों से विरक्त[2] होने से वह मार नहीं पड़ती । दृष्टान्त के लिये कच्छप की ओर देखो, वह ढाल के नीचे सिमिटा हुआ रहता है तब उसे भय नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म चिन्तन में लगे रहने से मन को भय नहीं होता ।

स्थूल उदधि ज्यों पीजिये, आतम होय अगस्त ।
जन रज्जब ऐसी कला, खेलि गहै कोउ वस्त ॥१६॥

आत्मा अगस्त्य रूप होकर अगस्त्य के जैसे स्थूल शरीर की आसक्ति रूप समुद्र को पान कर जाय, ऐसी कला को खेल करके ही कोई विरला सन्त ब्रह्म रूप वस्तु को आत्मरूप से ग्रहण करता है ।

पाप ताप लंघनि घटहिं, तो रोजे व्रत राखि ।
रज्जब रोग विषम[1] ह्वै, वैद्य रु वेत्ता[2] साखि ॥१७॥

यदि लंघन करने से पाप-ताप घटते हैं तब तो रोजे और व्रत रखनें चाहिये, किन्तु अधिक लंघन करने से तो अभिमानादिक, मानसिक और शारीरिक दोनों ही भयंकर[1] रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इसमें वैद्य और ज्ञानी[2] दोनों की ही साक्षी है ।

जल दल खैंचे तन मरै, मन मारै गुरु ज्ञान ।
रज्जब ये यूं जीविते, साधू कहैं सुजान ॥१८॥

अन्न-जल नहीं लेने से शरीर मरता है, गुरु ज्ञान धारण करने से मन मरता है । इसी प्रकार शरीर और मन ये दोनों अन्न-जल तथा विषय मनोरथों से जीवित रहते हैं । बुद्धिमान संत ऐसा ही कहते हैं ।

काया मारै स्वाद तज, मन मारै भज नाथ ।
रज्जब गढ घेरे बिना, गढपति चढ़ै न हाथ ॥१९॥

शरीर को विषयास्वादन त्याग कर मारैं, मन को प्रभु का भजन करके मारैं । जैसे गढ को घेरे बिना गढ का स्वामी नहीं पकड़ा जाता, वैसे ही शरीर को संयम में रक्खे बिना मन नहीं जीता जाता ।

नींद सु बेटी नाज[1] की, नाज[2] नींद का पूत ।
रज्जब साधो जोग को, जुगल[3] साधि[4] अवधूत ॥२०॥

अन्न खाने से निद्रा आती है, अतः निद्रा अन्न[1] की पुत्री है, और अभिमान[2] मोह निद्रा अर्थात् अविद्या का पुत्र है। अतः उक्त निद्रा और अभिमान दोनों[3] को जीत[4] करके ही अवधूत को योग साधना करनी चाहिये।

रज्जब निकसे धातु धर,[1] महा मशकती[2] द्वार।
तो कष्ट बिना क्यों उद्धरै, आतम ईहिं आकार[3] ॥२१॥

महान् परिश्रम[2] के द्वारा पृथ्वी[1] से सुवर्ण आदि धातु निकलती हैं, तब बिना कष्ट के आत्मा का इस स्थूल[3] शरीर से कैसे उद्धार हो सकता है।

तन कसणी[1] निष्काम मन, द्वै घट द्वै कौपीन।
जन रज्जब यहु रहति[2] गति[3], आतम राम हि लीन ॥२२॥

स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों शरीरों के दो कौपीन हैं, स्थूल शरीर के संयम कष्ट[1] रूप कौपीन है और सूक्ष्म शरीर रूप मन के निष्कामता रूप कौपीन है, यह इस प्रकार के ब्रह्मचर्य[2] की चेष्टा[3] आत्मस्वरूप राम में लीन करती है।

उनमनि[1] लागे मन सधै[2], शब्द सधै[4] सु विचार।
रज्जब तन तामस[3] सधै, विरला साधनहार ॥२३॥

समाधि[1] में लगने से मनोनिग्रह सिद्ध[2] होता है, सुविचार से शब्द प्रयोग ठीक[4] होता है, शरीर के संयम से तमोगुण[3] जय रूप कार्य सिद्ध होता है, उक्त तीनों साधना करने वाला विरला ही होता है।

शंख शुक्ति मुक्ता[1] सहित, सदा महौदधि[2] दानि[3]।
पै रज्जब चौदह रतन, सो संकट दे आनि[4] ॥२४॥

मोती[1] के सहित शंख और सीप तो समुद्र[2] सदा ही देता[3] है किन्तु उसमें जो चौदह रत्न हैं उनको तो संकट आने[4] पर ही देता है।

मन मयंक[1] मोटे[2] भये, मैले मुलिक[3] न मान[4]।
कर्म कलंक कसतों[5] कटै, सब जग बंदै[6] जान ॥२५॥

चन्द्रमा[1] पूर्णिमा को बड़ा[2] हो जाता है किन्तु मैला होने से देश[3] उसका सम्मान[4] नहीं करता फिर क्षय रूप कष्ट[5] से उसका कलंक नष्ट होता है तब द्वितीया को सभी जगत के प्राणी उसे प्रणाम[6] करते हैं। वैसे ही मन विषय सम्पर्क से मोटा होता है किन्तु विकार युक्त होने से उसका सम्मान नहीं होता फिर जब गुरु ज्ञान द्वारा कर्म नष्ट हो जाते हैं तब सभी जगत के प्राणी उस शुद्ध मन मानव को प्रणाम करते हैं।

काया काच निर्मल करै, चश्मे सरीखा होय ।
जन रज्जब पड़दा उठ्या, पिव को देखै सोय ॥२६॥

साधन द्वारा शरीर रूप काच को निर्मल करे तब वह चश्मे के समान हो जाता है, उसका पड़दा हट जाता है और वह अपने प्रियतम प्रभु को देखता है ।

कुमति कटै कर्मंहु घटै[1], काम क्रोध का नाश ।
जन रज्जब वा जीव के, प्रत्यक्ष ह्वै सु प्रकाश ॥२७॥

साधन द्वारा जिसकी कुबुद्धि नष्ट हो जाती है, कर्मारंभ कम[1] हो जाता है, काम क्रोधादि का नाश हो जाता है, उस जीव के हृदय में प्रभु का सुन्दर प्रकाश प्रत्यक्ष रूप से भासता है ।

अरिल— **अज्ञानो अरु भेष मोह मन अंतरा ।**
इन चतुर्कर्म कर जाय नरक नहिं पंतरा ॥
क्षुधा नाम अरु गोत आयु ठिक देत रे ।
परिहां रज्जब रटि जटि राम सु चहूं समेत रे ॥२८॥

अज्ञानी—भेष का आग्रह, मोह, मन की चपलता और विकार रूप विघ्न इन चार प्रकार के कर्मों को करके ही नरक में जाते हैं, ये चार नहीं हों तो नरक में नहीं पड़ते । भूख लगने पर सात्विक भोजन करना, हरि नाम का चिन्तन करना, गोत्र के समान आचरण करना, आयु को सम्यक् सत्कर्म में देना, इन चारों के सहित राम का भजन करके राम को भूषण में नग के समान हृदय में जटित कर लेना चाहिये ।

आतम उग्रहै[1] चंद ज्यों, काया कलंक न जाय ।
जन रज्जब यूं आयु लग, निर्मल नाम कहाय ॥२९॥

चन्द्रमा ग्रहण से मुक्त[1] हो जाता है किन्तु उसका कलंक नहीं जाता, वैसे ही जीवात्मा दुःख से मुक्त हो जाता है किन्तु उसके शरीर का दोष नष्ट नहीं होता । इस प्रकार विचार करके आयु समाप्ति तक निर्मल नाम का चिन्तन करते रहना चाहिये ।

दुख करि दुनियां देखिये, दुख करि मिले सुदीन[1] ।
जन रज्जब सुख दुख परे, ताकि[2] तपा[3] वश कीन ॥३०॥

भ्रमण—प्रतिकूलतादि दुःखों को सहन करने से ही संसार के स्थान विशेषादि, देखे जाते हैं । सुधर्म[1] की प्राप्ति भी संयमादि दुःख सहन करने से ही होती है । देखो[2], संसारिक सुख-दुःख से परे प्रभु को भी तपस्वी[3] तप रूप कष्ट से ही अपने अनुकूल करते हैं ।

दुख करि माया पाइये, दुख करि ब्रह्म दयाल।
तो रज्जब दोन्यों दशा, दुख दीसे प्रतिपाल ॥३१॥

व्यापारादि के कष्ट उठाने से ही माया मिलती है। साधन रूप कष्ट भोगने पर ही ब्रह्म दयालु होते हैं। तब तक दोनों ही अवस्थाओं में दुःख ही प्रतिपालक भासता है।

मेला माया ब्रह्म का, दुख दीसे निज दास।
तो रज्जब सुणि सुःख की, मन हि न कीजे आश ॥३२॥

माया और ब्रह्म के मिलाने में दुःख ही निजी सेवक दीखता है, तब यह सुन कर सुख की आशा मन से भी नहीं करनी चाहिये।

कमला[1] कंत[2] रु केतकी, कंटक कमल सु बास।
आदम[3] अलि[4] आवै तहां, तज ब[5] शीश की आश ॥३२॥

केतकी और कमल में सुन्दर सुगंध होती है किन्तु साथ ही कांटे भी होते हैं, भंवरा[4] उन पर जाता है तब अपने शिर की आशा छोड़ करके ही जाता है। वैसे ही माया[1] के स्वामी[2] भगवान् के पास भी मनुष्य[3] अपने अहंकार रूप शिर की आशा छोड़ता है तब[5] ही जाता है।

मकर सीप मैमंत[1] शिर, मुश्किल मुक्ता[2] लेत।
त्यों रज्जब माया ब्रह्म, दुख दर्शन सो देत ॥३४॥

मगर, सीप और हाथी[1] के शिर में मोती[2] होते हैं किन्तु कठिनता से मिलते हैं। माया व्यापारादि कष्ट से मिलती है। वैसे ही अपना निज स्वरूप जो ब्रह्म है वह भी साधन-कष्ट सहन करने पर ही दर्शन देता है।

अरिल—मुख सुख माँहि न मार, अंग[1] दिखलाव हीं।
चाकी उर गुरु पैठि सु आप पिसाव हीं॥
मैदा मन हि छनाय, विविध व्है व्यंजना[2]।
परिहां रज्जब राम रसोई, मुनि मन रंजना[3] ॥३५॥

मुख से कथन करने के सुख में तो कष्ट नहीं है, केवल लक्षण[1] बता दिये जाते हैं। किन्तु जैसे गेहूं चक्की में प्रवेश करके अपने को पिसा डालता है फिर मैदा छानकर उसके विविध प्रकार के व्यंजन[2] बनते हैं। वैसे ही जो गुरु के हृदयस्थ विचारों में प्रवेश करके अपने अहंकार को नष्ट कर देता है फिर मन को सत्यासत्य के विवेक द्वारा छान करके

नाना शुद्ध विचार रूप व्यंजन बनते हैं, यही मुनियों के मन को प्रसन्न[3] करने वाली रसोई राम के योग्य है।

महर[1] मारि मंदिर रहै, सुख समूह दुख द्वार।
कृपा कसौटी के परै, ता[2] में फेर न सार ॥३६॥

इन्द्रियों पर दया[1] करना रूप वृत्ति को मार के संयम कष्ट रूप मंदिर में रहना चाहिये, संयम पालन रूप दुःख द्वारा ही सुख का समूह प्राप्त होता है। वास्तविक ब्रह्मानन्द तो कृपा और संयम कष्ट दोनों से ही परे हैं, सार रूप है, उस[2] में परिवर्तन नहीं होता।

रज्जब संकट मधि संतोष व्है, विपति बीच विश्वास।
दुख बिन सुख लहिये नहीं, समझ सनेही दास ॥३७॥

दुःख होने के पश्चात् ही संतोष होता है, विपत्ति आने पर ही विश्वास होता है। हे प्रेमी भक्त ! यह भली प्रकार समझ ले दुःख बिना सुख मिलता ही नहीं।

फाके शेख फरीद के, करसी कौन फकीर।
रज्जब रजमा[1] यों[2] लिया, जाहिर[3] होय जहीर[4] ॥३८॥

माता के उपदेश से प्रभु प्राप्ति के लिये शेख फरीद ने उपवास किये थे, वैसे अब कौन फकीर करेगा ? इस[2] प्रकार साधन बल[1] प्राप्त किया तभी प्यारे[4] प्रभु उनके लिये प्रकट[3] हुये थे। फरीद की कथा-दृष्टान्त सुधासिन्धु तरंग १/८ की टीका में देखो।

प्रह्लाद कसौटी[1] पूरि[2] ली, देत हुं भानी[3] भोल[4]।
रज्जब अडिग सु अग्नि में, निकस्या नाम अडोल[5] ॥३९॥

प्रह्लाद ने पूर्ण[2] रूप से कष्ट[1] सहन किया, फूस की अग्नि[4] देते ही भगवान् ने उसकी जलाने की शक्ति नष्ट[3] कर दी। प्रह्लाद अग्नि में भी अडिग रहे और नाम चिंतन में भी स्थिर[5] निकले, क्षण भर के लिये भी नाम को नहीं छोड़ा।

रज्जब अज्जब[1] काम में, मोत लही मनसूर।
यूं[2] अल्लह आशिक[3] हुआ, जाहिर[4] जगत जहूर[5] ॥४०॥

सूफी संत मंसूर ने अभेद निष्ठा रूप अद्भुत[1] काम में मृत्यु को स्वीकार किया, मृत्यु के भय से अपनी निष्ठा को नहीं छोड़ा, इस[2] प्रकार ईश्वर का प्रेमी[3] हुआ और जगत् में प्रकट[4] रूप से विजय[5] प्राप्त की।

सरबस[1] दे सरबस लिया, साधू सांई अंग[2]।
रज्जब अज्जब काम में, बंदों[3] बदल्या नंग ॥४१॥

सन्तों ने ईश्वर को सर्वस्व[1] देकर ईश्वर से सर्वस्व लिया है, इस प्रकार सन्त ब्रह्म स्वरूप[2] ही हो गये हैं। इस अद्भुत काम में सन्तों[3] ने नंग (न अंग) शरीर नहीं बदला है, जो शरीर अज्ञानावस्था में था, वही ज्ञानावस्था में रहा है।

रज्जब अवसर काम सिर[1], मरने मुलक[2] बखान[3]।
ज्यों नक्षत्र[4] निशि टूट तो, देखे सकल जहान[5] ॥४२॥

समय पर किसी विशेष कार्य के लिये[1] मरने से देश[2] में उसकी ऐसी ख्याति होती है, जैसी रात्रि में टूटने वाले तारे[4] की, उसको सभी जगत्[5] देखता है, वैसे ही उस व्यक्ति की कीर्ति सब में कही[3] सुनी जाती है।

अवसर बिन की मींच गत, ज्यों दिन टूटा तार।
रज्जब उभय अलोप लोप ह्वै, दीसैं नहीं लगार[1] ॥४३॥

बिना समय की मृत्यु दिन में टूटे हुये तारे के समान होती है, मरने वाला, जीव और तारा दोनों अलोप होने पर भी लोप हो जाते हैं किंचित्[1] मात्र भी नहीं दीखते।

सेवक सेवा संकटचा, सुन्दरि सुत जावंत।
रज्जब पीड़ा परम सुख, भृत[1] भामनि[2] भावंत[3] ॥४४॥

सेवक सेवा रूप कष्ट सहन करता है, सुन्दरी पुत्र उत्पन्न करने रूप संकट सहन करती है, तब उक्त दोनों की पीड़ा परम सुख रूप हो जाती है, उक्त प्रकार का सेवक[1] और नारी[2] प्रिय[3] ही लगते हैं।

रज्जब मुक्त्यों[1] मूल है, बंदि बंदिगी[2] मांहि।
यूं सेवा संकट सहै साधू सरकं[3] हिं नांहि ॥४५॥

मन को संयम कष्ट द्वारा भीतर बन्द रखना ही—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य तथा विदेह-कैवल्य इन सभी मुक्तियों[1] का मूल है, संत जन इस प्रकार ही सेवा[2] का संकट सहन करते हैं, दुख के भय से सेवा करने से हटते[3] नहीं।

कठिन कसौटी[1] नींपज्या[2] चित भया चूनै भाय।
सो मत[3] मंदिर छाडै नहीं, गुरू सिलावट लाय ॥४६॥

चूना महान् कष्ट[1] पाकर तैयार[2] होता है, फिर वह सिलावट के द्वारा लगाने से मंदिर की दीवाल को नहीं छोड़ता, वैसे ही साधनजन्य

महान् कष्ट सहन करके उच्च स्थिति को प्राप्त मन गुरु द्वारा सिद्धान्त में लगने के पश्चात सिद्धान्त[3] का त्याग नहीं करता।

सेवा संकट सब सहैं, सेवक अपने शीश।
शोभा यह भगवंत को, रज्जब बिसवा बीस ॥४७॥

यदि सेवक सेवा जन्य सभी दुःख अपने शिर पर सहन कर लेता है तो, यह सहन शक्ति की शोभा बीसों बिसवा भगवान को ही मिलती है।

दिब[1] माँहीं दिब[2] होत है, भोलहुं भोला भाग।
रज्जब रज मल ऊतरै, दिल हूं धुपि गये दाग ॥४८॥

सत्यासत्य निर्णयार्थ तप्त लोह गोला[1] में दिव्यता[2] होती है, उसमें भोले मानवों का भी भोलापन हट जाता है। दोषी व्यक्ति के हाथ पर पीपल का पत्ता रखके उक्त तप्त लोह गोला रखते थे, तब सच्चे का हाथ तो नहीं जलता था और दोषी का जलता था। वैसे ही आन्तर सत्य रूप दिव्य से पाप रूप रज उतर जाती है और हृदय का संशय-विपर्य्यय रूप दाग धुल जाता है।

तन मन इन्द्रिय आल[1] है, कूटचों[2] रंगिये प्राण।
बिन कूटचों कोरे[3] रहैं जन रज्जब जिव जाण ॥४९॥

हरताल[1] को कूटने से ही रंग देती है, कूटे[2] बिना नहीं, वैसे ही हे जीव! निश्चय जान, तन मन और इन्द्रियों को साधन द्वारा मारने[2] से ही प्राणी पर भगवत् रंग चढ़ता है, नहीं मारने से प्राणी हरि प्रेम से वंचित[3] ही रहते हैं।

तन मन तापड़ कूटिये, कूटचों कागज होय।
बिन कूटचों कोरे रहैं, जन रज्जब जग जोय ॥५०॥

जगत् में देखो, तापड़ों को कूटा जाता है तब ही कागज बनता है, नहीं कूटने से नहीं बनता। वैसे ही तन मनादि को साधन द्वारा मारा जाता है तब ही भगवत तत्त्व की प्राप्ति होती है, बिना मारे प्रभु के साक्षात्कार से वंचित ही रहते हैं।

तन मन लोहा कूटिये, ताये[1] व्है तरवार[2]।
जन रज्जब ताये बिना, खडग न होय विचार ॥५१॥

लोहा को तपा[1] कर कूटने से तलवार[2] बनती है, बिना तपाये नहीं बनती। वैसे ही साधन द्वारा तन मनादि को तपाये बिना विचार रूप तलवार नहीं बनता।

तन मन मांटी पीट कर, कोई घड़े कुम्भार ।
जन रज्जब कूटे बिना, कुम्भ न होय गंवार ॥५२॥

मिट्टी को पीट कूट कर कुम्हार कुम्भ बनाता है, कूटे बिना कुम्भ नहीं बनता, वैसे ही तन मनादि को साधन द्वारा कूटे बिना कोई की भी मुक्ति नहीं होती ।

कूटचों चित चावल भये, बिन कूटचों सब शाल[1] ।
रज्जब रज सबकी गई, इस कूटण के ख्याल ॥५३॥

कूटने से ही चावल होते हैं, बिना कूटे तो सब शालि[1] ही रहते हैं । वैसे ही प्राणियों के चित्त साधन द्वारा मारने से ही श्रेष्ठ होते हैं । साधन द्वारा मारने का ध्यान रखने से सभी की पाप रूप रज चली गयी है ।

बाजीगर सौं क्यों मिलै, मन मरकट[1] बिन मार ।
जन रज्जब खेले तबै, जब मारैं बारम्बार ॥५४॥

बिना मार वानर[1] बाजीगर को कब मिलता है ? जब बारम्बार बाजीगर मारता है तब वह खेल खेलता है । वैसे ही मन को साधन द्वारा बारम्बार मारा जाता है तब वह भगवत् स्वरूप में लय होता है ।

मन मैंगल[1] मारे बिना, कहो मररि[2] क्यों जाय ।
रज्जब मिले महावर्तहि, जब हि मार बहु खाय ॥५५॥

कहो ! मन रूप मस्त हाथी[1] को मारे बिना उसकी बुरी टेव[2] कैसे जायेगी ? जब गुरु रूप महावत मिलता है तब बहुत-सी साधन रूप मार खाकर ठीक होता है ।

रज्जब सूता पांव पल[1], पीटे निद्रा नाश ।
तो मन सूता युगन का, सो क्यों जागे बिन त्रास ॥५६॥

थोड़ी[1] देर सोने वाला पैर भी पीटे बिना नहीं जागता, तब मन तो अनेक युगों का अज्ञान निद्रा में सूता है सो बिना त्रास दिये कैसे जगेगा ?

रज्जब रोग असाध्य को, औषधि कसणी देत ।
जैसे पृष्ठ[1] सु पवंग[2] के, केश कृष्ण[3] व्है श्वेत ॥५७॥

जैसे घोड़े[2] की पीठ[1] के काले[3] केश जीन की रगड़ रूप कष्ट से श्वेत हो जाते हैं, वैसे ही जन्मादिक असाध्य रोग को मिटाने के लिये गुरु जन साधन रूप कष्ट देते हैं ।

पंच रँग रोम पवंग परि, संकट श्वेत अनूप ।
रज्जब पलटै प्राण यूं, पीड़ा पारस रूप ।।५८।।

घोड़े पर पांच रंग के केश होते हैं किन्तु जीन की रगड़ रूप संकट से पीठ के केश अनुपम श्वेत हो जाते हैं । इसी प्रकार साधन संकट से प्राणी का मन बदलता है, अतः साधन संकट पारस रूप है ।

संकट स्वल्प[1] शरीर लग, दुर्मति दग्धै देह ।
मन उनमन[2] ले राखिबा, कठिन कसौटी येह ।।५६।।

स्थूल शरीर तक के दुःख तो बहुत थोड़े[1] हैं, किन्तु दुर्बुद्धि तो सूक्ष्म देह तक को जलाती है । अतः मन को विषयों से उठा कर समाधि[2] में रखना चाहिये यही कठिन कसौटी है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित संयम कसौटी का अंग ११६
समाप्तः ।। सा. ३५७३ ।।

अथ मृतक का अंग ११७

इस अंग में मृतक सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

भो[1] जल बूडै जीवतां, ममता मेरु उठाय ।
रज्जब मृतक मैं बिना, हलका तिरता जाय ।।१।।

संसार[1] सागर के जल में ममता रूप मेरु उठा कर जीवित ही डूबता है और जो 'मैं' रहित हो जाता है वह हलका होने से तैरता हुआ प्रभु के पास जाता है ।

मैं आये माया भयी, मैं नाहीं तब नांहि ।
रज्जब मुक्ता मैं बिना, बंधन मैं ही मांहि ।।२।।

मैं रूप अहंकार आने से ही माया खड़ी हो जाती है, मैं नहीं रहती तब माया भी नहीं रहती । बंधन तो 'मैं' में ही होता है, मैं रूप अहंकार से रहित प्राणी मुक्त ही है ।

अस[1] गयंद[2] वोहित[3] चढै, मूरख ले शिर भार ।
त्यों रज्जब सब राम पर, मैं तलि[4] मरै गंवार ।।३।।

अश्व,[1] हाथी[2] और जहाज[3] पर चढ कर मूर्ख प्राणी ही अश्वादिक को बोझ से बचाने के लिये अपने शिर पर बोझा उठा कर व्यर्थ ही कष्ट पाता है, वह बोझ तो अश्वादिक पर ही रहता है । वैसे ही सबका सब भार राम पर ही है किन्तु मूर्ख "मैं" के नीचे[4] व्यर्थ ही मरता है ।

मरजीवा मिलि मांहि जल, शिर समुद्र नहिं भार ।
जे रज्जब शिर कुम्भ ले, तो दुख होय अपार ॥४॥

मरजीवा को जल में मिलने पर तो शिर पर समुद्र का भार भी नहीं लगता और बाहर शिर पर घड़ा लेने पर भी दुःख होता है । वैसे ही ब्रह्म में मिले हुये जीवित-मृतक को तो संसार का भी भार नहीं लगता और अज्ञानी को एक घर के भार से भी अपार दुख होता है ।

जे आँखि न देखै आपको, तो दीसे सब ठौर ।
त्यों रज्जब आपा उठे, परम तत्त्व में त्यौर ॥५॥

जब आँखें अपने को नहीं देखतीं तब ही उसे सब स्थान दीखते हैं, वैसे ही यदि हृदय से अहंकार उठ जाय तो उसकी दृष्टि परम तत्त्व ब्रह्म में ही रहेगी ।

जन रज्जब जिव[1] के परे, जगपति मिलसी आय ।
कहणा था सो सब कह्या, अब कछु कह्या न जाय ॥६॥

अहंकार युक्त जीवन[1] के परे अर्थात् जीवित-मृतक होने की अवस्था में जगत् के स्वामी ब्रह्म आत्मरूपसे आ मिलते हैं । जो ब्रह्म प्राप्ति विषयक कहना था सो सब कह दिया है, अब आगे कुछ भी नहीं कहा जाता, आगे की स्थिति अनुभव से ही जानी जाती है ।

जब लग जिव में जीवणा, तब लग जिवे न कोय ।
रज्जब मरणे मिल गयों, तब कछु होय तो होय ॥७॥

जब तक जीव में अहंकार जीवित रहना रूप जीवना है तब तक उसे नित्य जीवन नहीं मिल सकता, जब मरणे से अर्थात् अहंकार को मार कर ब्रह्म में मिल जायगा तब कुछ जीवन हो तो हो अन्यथा नहीं ।

जब लग तुझ में तू रहै, तब लग ते[1] रस नांहि ।
रज्जब आपा[2] आप दे, तो आवे हरि मांहि ॥८॥

जब तक तुझ में "तू" ऐसा भेद व्यवहार होता है तब तक तेरे[1] को अद्वैत आनन्द रूप रस नहीं मिल सकेगा । जब अपने अहंकार[2] को स्वयं भगवान् के समर्पण कर देगा तब हरि भीतर ही आत्म रूप से ज्ञान दृष्टि में आयेंगे ।

अपना पड़दा आपही[1], मूरख समझै नांहि ।
रज्जब रामहि क्यों मिले, यहु अन्तर इस मांहि ॥९॥

प्रभु के और अपने बीच में अपना अहंकार[1] ही पड़दा है, मूर्ख प्राणी इस बात को समझते नहीं, यह अहंकार रूप विघ्न इसमें रहेगा, तब तक राम कैसे मिल सकेंगे ?

मरणे मांहीं जीवणा, जीवण में मर जाय ।
रज्जब जीवण त्याग कर, मरणे में मन लाय ॥१०॥

जीवित-मृतक होने में ही जीवन है और संसार दशा के जीवन से तो मर कर अन्य शरीर को जायेगा ही । अतः संसार दशा का जीवन त्याग करके जीवित-मृतक होने में ही मन को लगाओ ।

मरणे मांहीं मिल रही, जीवन में जनि[1] जाय ।
रज्जब जीवन त्याग कर, मरणे में मन लाय ॥११॥

जीवित-मृतक रूप अवस्था में मिल कर ही रहना चाहिये, संसार दशा के जीवन की अवस्था में नहीं[1] जाना चाहिये, उसे तो त्याग कर जीवित-मृतक होने में ही मन लगाना चाहिये ।

मरिबा[1] मुंहडे[2] कहण को, जीवन मूरि[3] निधान[4] ।
रज्बज रहे सु मरि रहे,[5] ऐसे समझ सयान ॥१२॥

जीवित-मृतक अवस्था में मरना[1] तो मुख[2] से कहना मात्र ही है, वह तो जीवन जड़ी[3] का कोश[4] है । जो भी जन्म-मरण से बचे[5] हैं वे जीवित-मृतक होकर ही बचे हैं, हे बुद्धिमान् ऐसा ही समझ ।

ज्यों ज्यों तन मन मारिये, त्यों त्यों जीवै जीव ।
इस कसणी[1] कल्याण है, रज्जब रंजे[2] पीव[3] ॥१३॥

जैसे २ तन मन को साधन द्वारा मारा जाता है वैसे २ ही जीव को सुखमय जीवन प्राप्त होता है । इस साधन कष्ट[1] से प्राणी का कल्याण ही होता है और प्रभु[3] भी प्रसन्न[2] होते हैं ।

जो जीवित-मृतक भये, तिन हिं काल भय नांहि ।
रज्जब रहे सु राम व्है, सदा सजीवन माँहि ॥१४॥

जो जीवितावस्था में ही मृतक के समान निर्द्वन्द्व हो गये हैं, उनको काल का भय नहीं रहता, वे तो सदा सजीवन रूप राम में मिलकर राम रूप होकर ही रहे हैं ।

जे साधू मृतक भये, तिनके बल नहिं कोय ।
जन रज्जब दृष्टान्त को, जली जेवड़ी जोय ॥१५॥

जो संत जीवित-मृतक हो गये हैं उनके इन्द्रियादि में विषय रागादि रूप पतन की ओर ले जाने वाला कोई प्रकार का भी बल नहीं रहता। जैसे जली हुई रस्सी दीखती है किन्तु उससे बांधने का काम नहीं होता, वैसे ही उनके मनादि से बन्धन का काम नहीं होता।

रज्जब दीसै एक से, जीवित मृत्तक दास।
बिन दीपक दीपक यथा, हीरे का सु प्रकाश ॥१६॥

जैसे हीरे का प्रकाश बिना दीपक वा दीपक होते हुये एक-सा ही रहता है, वैसे ही जीवित-मृतक (जीवन्मुक्त) सदा एक-से ही भासते हैं।

जैसे मारे[1] सार[2] सौं, महा कटै तन रोग।
त्यों रज्जब मृतक मिल्यों, लहै अमर जिव जोग ॥१७॥

जैसे लोह[2] भस्म[1] से शरीर का महान् रोग भी कट जाता है, वैसे ही जीवित-मृतक संत का संग मिलने पर जीव योग साधना द्वारा ब्रह्म प्राप्ति रूप अमर जीवन प्राप्त करता है।

मारे[1] पारे परसतां,[2] ताम्बा कंचन होय।
त्यों रज्जब नर नीपजै, मिल मृत्तक जग जोय ॥१८॥

जगत् में देखो, पारे की भस्म[1] के स्पर्श[2] से ताम्बा सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही जीवित-मृतक संत के संग से नर में संतत्व उत्पन्न हो जाता है।

मर जीव हिं माने जगत्, वसुधा[1] में यहु बंद[2]।
तामें फेर न सार कछु, देख दूज का चंद ॥१९॥

मर के जीवित होने वाले को जगत् मानता है, पृथ्वी[1] में यह मर्यादा बंधी[2] हुई है, देखो दूज के चन्द्रमा को प्रणाम करते हैं, यह यथार्थ है, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है। वैसे जीवित-मृतक सन्त को मानते हैं।

पाणि[1] पिंड मुख में मिसर[2], वपु वस्त्र तिहिं ताज।
जन रज्जब चहुं चढि चल्या, मृत्तक पाया राज ॥२०॥

मृतक को स्नानार्थ जल, हाथ[1] में अन्न पिंड, मुख में सुवर्ण[2] का कण, शरीर के लिये वस्त्र, उस वस्त्र की टोपी मिलती है और चार पर चढ़ कर चलता है, देखो, इस प्रकार मृतक ने राज्य प्राप्त कर लिया है। वैसे ही जीवित-मृतक राजाओं के राजा होते हैं।

जमी[1] सु जड़ मत आप अनंग[2], तामस तेज वायु बक अंग[3]।
रज्जब गगन डिभ[4] अभिमान, ये गुण मेटे ब्रह्म समान ॥२१॥

शरीर[3] में पृथ्वी[1] की जड़ता, जल का काम[2], अग्नि की तामसता, वायु का बहुत बोलना, आकाश का दंभ[4]-अभिमान ये गुण हैं, ये उक्त गुण मिट जाने पर प्राणी ब्रह्म के समान ही माना जाता है ।

अवनि[1] मांहि अंकूर बहु, आप[2] मध्य उत्पत्ति ।
तेज[3] सु तन ताखे[4] भरचा, मारुत[5] है मुर[6] मत्ति[7] ॥२२॥

शरीर के मध्य जड़ता रूप पृथ्वी[1] में बहुत-से जीवरूप अंकुर रहते हैं, जल[2] रूप काम से उनकी उत्पत्ति होती है, तामस रूप अग्नि[3] सूक्ष्म शरीर रूप तक्षक[4] में भरा है, सात्विकी, राजसी, तामसी तीन[6] प्रकार की बुद्धि[7] रूप वायु[5] है ।

व्योम[1] बडाई बादल हुं, वर्षा बीज[2] सु वास ।
ब्रह्माण्ड पिंड की एक गति, आनन्द आतम नाश ॥२३॥

बडाई रूप आकाश[1] है, उसमें दंभ रूप बादल है, विषय प्राप्ति रूप वर्षा है, आशा रूप बिजली[2] का निवास है । इस प्रकार ब्रह्माण्ड और शरीर की एक-सी चेष्टा है और आत्मानन्द का नाश करती है किन्तु जीवित-मृतक अवस्था आने पर आत्मानन्द की अनुभूति द्वारा उक्त सब प्रपंच का बाध रूप नाश हो जाता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मृतक का
अंग ११७ समाप्तः ॥सा० ३५६६॥

अथ साँच निर्भय का अंग ११८

इस अंग में सत्य से निर्भयता आती है यह कह रहे हैं—

साँचे को संकट नहीं, सब भागे दुख द्वन्द्व ।
रज्जब जन जगदीश में, जहां तहां आनन्द ॥१॥

सच्चे को संकट नहीं होता, उसके सभी दुःख द्वन्द्व भाग जाते हैं, जगत् में वा जगदीश के स्वरूप में जहाँ तहाँ आनन्द ही रहता है ।

साँचा दिब[1] दाझे नहीं, जल जोख्यों[2] नहिं कोय ।
जन रज्जब जगदीश लग, साच सरखरू[3] होय ॥२॥

सच्चे को परीक्षार्थ हाथ पर रक्खा हुआ तप्त लोह का गोला[1] नहीं जलाता, जल में उसे कोई हानि[2] नहीं होती, जगदीश्वर के स्वरूप प्राप्ति तक सत्य सहायक[3] होता है ।

बहुत भांति के झूठ बहु, काम पड़चों कुल[1] काच ।
रज्जब राखो सो रतो, कंचन किरची[2] साच ॥३॥

बहुत प्रकार के बहुत से झूठ हैं, सत्यासत्य का निर्णय रूप काम पड़ने पर आत्म-भिन्न सभी[1] काच अर्थात् असत्य सिद्ध होते हैं। अतः सुवर्ण के टुकड़े[2] के समान वह सत्य रूप रती ही रखना चाहिये।

रज्जब सीझे[1] सांच में, हिन्दू मुसलमान।
दोऊ दिब[2] दाझै[3] नहीं, यूं आया ईमान[4] ॥४॥

सत्य में निष्ठा रखकर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही मुक्ति रूप सिद्धावस्था[1] को प्राप्त होते हैं, देखो सत्य के बल से हिन्दू-मुसलमान दोनों ही परीक्षार्थ हाथ पर रक्खे हुये तप्त लोह गोला[2] से नहीं जलते[3] इस प्रकार सत्य पर विश्वास[4] आता है।

सांई समसरि सांच है, देखो जा दिल मांहि।
विघ्न न व्यापै तिन वपु हुं, जल ज्वाला डर नांहि ॥५॥

सत्य प्रभु के समान हैं। देखो, जिनके हृदय में सत्य होता है उनके शरीरों को कोई भी विघ्न नहीं सताते, जल और अग्नि की ज्वाला में भी उन्हें डर नहीं लगता।

कौल[1] चूक जीव ना भया, सतवादी संसार।
कहि आया त्यों करत है, तो दोष न दे करतार ॥६॥

जैसे गर्भ में कह आया था कि—"मुझे गर्भ गुहा से निकालो आपका भजन करूंगा" वह जीव अपनी प्रतिज्ञा[1] को नहीं भूला, अतः संसार में सत्यवादी है, उस सत्यवादी को ईश्वर कोई दोष नहीं देते।

झूठ बधै बन खंड ज्यों, दीसै बहु विस्तार।
रज्जब सांचा अग्निमय, करै परस[1] परि[2] छार[3] ॥७॥

जैसे वन-खंड प्रति क्षण बढता है, वैसे ही झूठ बढता है, झूठ का बहुत सा विस्तार दीख रहा है किन्तु सच्चा पुरुष अग्नि रूप होता है, स्पर्श[1] करते ही सर्व प्रकार[2] से भस्म[3] कर डालता है।

झूठ दिखावे बहुत ह्वै, ज्यों जाडे[1] का कोट[2]।
रज्जब रति न रहि सके, साच सूर की चोट ॥८॥

जैसे शीत[1] का बना हुआ किला[2] दीखने में तो बहुत आता है किन्तु सूर्य की किरण रूप चोट लगने पर एक रती भी नहीं रह सकता, वैसे ही झूठ दीखने में तो बहुत आता है किन्तु सत्य के आने पर वह रती भर भी नहीं रह सकता।

रज्जब रहे न रोपि[1], झूठ चल्या सुन साच भय।
ज्यों उडगण[2] गये गोपि[3], उदय होत आदित्य के ॥९॥

जैसे सूर्य के उदय होते ही तारे[2] छिप[3] जाते हैं वैसे ही झूठ सत्य का नाम सुनकर भय से चल पड़ता है जम[1] कर नहीं रह सकता ।

रज्जब एकल[1] सूर[2] सत्य, झूठे नव लख तार ।
पलक माँहि पैमाल[3] ह्वै, दीसै नहीं लगार[4] ॥१०॥

सत्य एक[1] सूर्य[2] के समान है और झूठ नव लाख तारों के समान है, जैसे सूर्य के उदय होते ही तारे छिप जाते हैं, किंचित्[4] मात्र भी नहीं दीखते, वैसे ही सत्य के आने पर मिथ्या नष्ट[3] हो जाता है ।

सास सजादे[1] झूठ को, युग युग बारम्बार ।
रज्जब रोस[2] न कीजिये, ता में फेर न सार ॥११॥

प्रति युग में बारंबार सत्य ही मिथ्या को दंड[1] देता है, इस बात पर क्रोध[2] न करै यह सार बात है, इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता ।

प्रत्यक्ष पैकै[1] सम नहीं, सुन स्वप्ने की कोड़ि[2] ।
रज्जब सत्य असत्य यूं, देखि जीव में जोड़ि ॥१२॥

हे प्राणी ! सुन प्रत्यक्ष के एक पैसे[1] के समान भी स्वप्ने के कोटि[2] रुपये नहीं हो सकते, ऐसे ही सत्य असत्य की जोड़ी है, असत्य सत्य के समान नहीं हो सकता, तू स्वयं भी अपने मन में देख सकता है ।

तार हु तोरा[1] तब लगै, जब लग रवि न प्रकाश ।
रज्जब रती[2] न रहि सके, देखि दिवाकर[3] त्रास[4] ॥१३॥

तारों के प्रकाश का जोर[1] तब तक ही होता है, जब तक सूर्य का प्रकाश नहीं होता, सूर्य[3] को देखकर तो उनका प्रकाश भय[4] से मंद पड़ जाता है, किंचित्[2] मात्र भी नहीं रहता, वैसे ही सत्य के आने पर असत्य का भय नहीं रहता ।

साँच सूत सो काणि कट, साधू जन सुत धार ।
रज्जब काढैं बंक बल, ता में फेर न सार ॥१४॥

सत्य तो सूत के समान है और वह झूठ काण काट के समान है, साधु सूत्र को धारण करने वाला है । जैसे सूत को सुधारने वाला उसका बाँकापन, बल, कंटक और कांण आदि सभी दोष निकाल देता है, वैसे ही सत्य के कांण आदि दोष संत निकाल देते हैं, यह यथार्थ है, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है ।

साँच आरसी[1] देव गति,[2] करै कौन की कान[3] ।
कहि दिखलावे होय ज्यों, आपा पर सम जान ॥१५॥

सत्य दर्पण[1] के समान देवताओं की-सी चेष्टा[2] वाला है, जैसे दर्पण किसी की भी कान-मर्यादा[3] नहीं करता, अपने पराये को समान जान कर जैसा कोई होता है, वैसा ही दिखा देता है वैसे ही सत्य सबमें सम है, जैसा हो वैसा ही कह देता है।

साधू शशिहर[1] सूर के, आपा पर सम भाय।
रज्जब रंग[2] परकट करैं, अपगुण[3] देहिं दिखाय ॥१६॥

सच्चे संत, चन्द्रमा[1] और सूर्य ये अपने पराये को समान भाव से ही देखते हैं, जैसे सूर्य-चन्द्र प्रकाश देकर दोषों को दिखा देते हैं, वैसे ही सच्चे संत हरि प्रेम[2] प्रकट करके अवगुणों[3] को दिखा देते हैं और निर्भय रहते हैं।

दीपक दोष जु तिमर[1] तल,[2] हीरे के सो नाँहिं।
रज्जब सत्य असत्य के, उभय अंग[3] ये माँहिं ॥१७॥

दीपक के नीचे[2] अंधेरा[1] रहता है, यह उसमें दोष है, हीरे में यह नहीं है, उसका प्रकाश सर्वत्र सम रहता है, वैसे ही सत्य असत्य में भी ये दो लक्षण[3] हैं अर्थात् असत्य में दोष है, सत्य में नहीं है।

सांच शब्द खांडे घटा[1], जाके द्वै दिशि धार।
रज्जब वक्ता के बहै, श्रोता होय सु मार ॥१८॥

सत्य शब्द दोनों ओर धार वाले खाँडे के समान[1] है, जैसे वह खांडा दोनों ओर बहता है वैसे ही सत्य-शब्द वक्ता और श्रोता दोनों की ओर ही चलता है अर्थात् दोनों को ही लाभप्रद है।

साधू वक्ता वंशगति, सत्य शब्द बिच आगि।
जन रज्जब श्रोता वनी, कर्म जले तिहिं लागि ॥१९॥

सच्चा उपदेशक संत बाँस के वृक्ष के समान है और श्रोता वन के समान है, जैसे बाँस से अग्नि निकल कर वन में लगता है और वन को जला देता है, वैसे ही संत से सत्य शब्द निकलते हैं, उनसे श्रोता के कर्म जल जाते हैं।

रज्जब दारु[1] दर्शणी[2] पत्थर पंडित, साधु सार[3] हरि हंस[4]।
चतुर[5] ठौर वह्नी[6] वचन, किहिं विधि बरतै वंश ॥२०॥

काष्ठ[1], पत्थर, लोह[3] और सूर्य[4] इन चारों[5] में अग्नि[6] है किन्तु बाँस अपनी अग्नि को किस प्रकार वर्तता है? अर्थात् वन को भस्म कर डालता है। वैसे ही भेषधारी[2], पंडित, साधक-साधु और हरि इन चारों में से ही वचन निकलते हैं किन्तु ज्ञानी वक्ता संत अपने वचनों को किस प्रकार वर्तता है? अर्थात् श्रोताओं के कर्मों को नष्ट करता है।

साँचा बोलै इन्द्र ज्यों, सब वाणी शिरताज ।

रज्जब छल बल शब्द का, ता[1] शिर करै न राज ॥२१॥

सत्य वचन इन्द्र की गर्जना के समान बोला जाता है, वह सभी वाणियों का शिरोमणि होता है, और जिसका छल ही बल है, वह मिथ्या शब्द उस[1] सत्य शब्द पर राज नहीं कर सकता अर्थात् शोभा नहीं पाता ।

सत्य शब्द के शीश पर, झूठ न पावै ठौर ।

रज्जब शशि सोलह कला, ता पर चढै न और ॥२२॥

चन्द्रमा सोलह कला का होता है, उस पर और कला नहीं चढ़ सकती, वैसे ही सत्य शब्द के शिर पर मिथ्या शब्द स्थान नहीं प्राप्त कर सकता ।

अधिक अठारह सौं नहीं, पासौं मांहीं डाव ।

तैसे रज्जब साँच शिर, झूठ न चढ़ै चढ़ाव ॥२३॥

पासों में अठारह से अधिक दांव की संख्या नहीं होती, वैसे ही सत्य-शब्द के ऊपर झूठ चढ़ाने से भी नहीं चढ़ता, अर्थात् झूठ सत्य पर विजय नहीं पाता ।

जन रज्जब नाणाँ[1] खरा,[2] मानें नौ खण्ड माँहि ।

खोटे को डालै खलक,[3] या में निन्दा नाँहि ॥२४॥

सच्चे[2] सिक्के[1] को पृथ्वी के नौओं खण्डों में ही मानते हैं और खोटे को संसार[3] के प्राणी पटक देते हैं । इसमें निन्दा की बात नहीं है, यह तो सत्य का समादर है ।

नर नाणे[1] पाड़ै[2] भरे, मोल न पाव हिं मूल[3] ।

ज्यों रज्जब तुलि[4] कांण की, सदा बहावै[5] धूल ॥२५॥

सिक्का[1] दोष[2] से भरा हो तो किंचित्[3] भी मूल्य नहीं पाता, वैसे ही नर मिथ्या दोष से भरा हो तो उसका भी आदर नहीं होता । जैसे कांण वाला तुला[4] सदा ही धूलि बहन[5] करता है, वैसे ही मिथ्या दोष संयुक्त नर सदा धिक्कार का ही पात्र होता है ।

साँच चलैगा एक को, परि सत्य न बोला जाय ।

रज्जब रसना घाट[1] में, झूठ रह्या सब छाय ॥२६॥

सत्य के मार्ग पर कोई एक ही चलेगा, परन्तु उससे भी सर्वथा सत्य न बोला जायगा, कारण-जिह्वा रूप स्थान[1] में सब प्रकार से झूठ ही छाया हुआ है ।

मुख झूठा भाखै नहीं, बोलण लागा साच ।
आमदनी[2] अविगत्त[1] की, रज्जब पलटी वाच ॥२७॥

मुख से मिथ्या नहीं बोलता, सत्य बोलने लगता है तब ईश्वर[1] की रची हुई मिथ्या बोलना रूप आय[2] को यह प्राणी सत्य वचन द्वारा बदल देता है, मिथ्या के स्थान में सत्य ही बोलता है ।

साँच हि सुन्यों सुखी व्है साँचा, झूठे दिल दुख होय ।
रज्जब साँचा साँच बखाणे, फेर सार नहि कोय ॥२८॥

सच्चा मानव सत्य को सुनकर ही प्रसन्न होता है, झूठे मनुष्य के हृदय में सत्य से दुःख होता है किन्तु सच्चा तो सत्य ही बोलता है, यही यथार्थ है, इसमें बदलने का अवकाश नहीं है ।

चोरी की तहं चोर है, नांहीं की तहं नांहि ।
रज्जब पकड़े झूठ परि, दहै न सो दिब[1] मांहि ॥२९॥

चोरी करी तब चोर कहलाता है नहीं करे तो नहीं कहलाता, यदि झूठ बोलने पर पकड़ भी ले तो परीक्षार्थ हाथ पर धरा जाने वाला तप्त लोह का गोला[1] नहीं जलाता ।

देही[1] दखल[2] न दिब[3] का, जे एक साँच लघु होय ।
तो रज्जब क्या भूत भय, जिहिं सत सुमिरण दोय ॥३०॥

यदि एक छोटा-सा भी सत्य हो तो शरीर[1] के हाथ पर परीक्षार्थ रखे हुये तप्त लोह के गोले[3] का अधिकार[2] नहीं होता अर्थात् वह नहीं जलाता, तब जिसमें सत्य और हरि-स्मरण दो हैं, उसे तो भूतों का भय ही क्या है ?

भजन विमुख घटि[1] साँच व्है, ताहि न दिब[2] दुख देत ।
तो रज्जब तिन को न डर, जहं सुमिरण साँच सहेत ॥३१॥

भगवद् भजन से विमुख शरीर[1] में भी यदि सत्य हो तो परीक्षार्थ हाथ में रक्खा जाने वाला लोह का गोला[2] जलाना रूप दुःख नहीं देता, फिर जिनके हृदय में सत्य के सहित हरि-स्मरण है उनको कोई भी डर नहीं है । इस प्रकार प्राणी सत्य से निर्भय होता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साँच निर्भय का अंग ११८
समाप्तः ॥सा० ३६२७॥

अथ परम साँच का अंग ११६

इस अंग में परम साँच सम्बन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—

माया रूपी साँच बहु, आतम ठग हि अनेक ।
रज्जब सो न ठगाव ही, जिनके परम विवेक ॥१॥

माया रूपी अर्थात् दंभ पूर्ण सत्य तो बहुत हैं, जिससे अनेक जीवात्माओं को ठगा जाता है किन्तु उससे वे नहीं ठगाते जिनके हृदय में परम सत्य का विवेक उदय हो गया है ।

एक साँच अंजन[1] मयी, नहीं निरंजन मेल ।
रज्जब रले[2] सु झूठ में, ताथैं संत हु ठेल[3] ॥२॥

एक सत्य तो माया[1] रूप है, उसमें परम सत्य निरंजन ब्रह्म का मेल नहीं है वा उससे निरंजन नहीं मिलते । मिथ्या माया में मिले[2] हुये होने से ऐसे सत्य को संत त्याग[3] देते हैं ।

साँच साँच मधि छांण तों, तत[1] वित[2] कर चढ जाय ।
रे रज्जब जन जौहरी, कहु क्यों खोटा खाय ॥३॥

माया रूप सत्य को परम सत्य रूप चलणी से छाणने पर अर्थात् विचारने पर परम तत्त्व[1] रूप धन[2] हाथ लग जाता है, जैसे परीक्षक जौहरी खोटा धन नहीं लेता, वैसे ही कहो संत जन माया रूप मिथ्या सत्य से धोखा कैसे खायेंगे ?

रज्जब साँच स्वरूपी झूठ व्है, पैठ[1] हि प्राण हुं माँहि ।
आख्यूं[2] अनत[3] सु नीकसे, नहीं तो निकसे नाँहि ॥४॥

झूठ सत्य का स्वरूप धारण करके प्राणी में प्रवेश[1] करती है, वह कहने[2] से ही निकलकर अन्यत्र[3] जाती है वा सद्गुरु के कहने[2] से पहचानने पर ही वह निकलकर अन्यत्र[3] जाती है, सद्गुरु उपदेश नहीं प्राप्त हो तो नहीं निकलती ।

साँच साँच तैं अगम है, विरला बूझे कोय ।
रज्जब परम विवेक बिन, घट घट समझ न होय ॥५॥

मायिक सत्य से परम सत्य अगम है, उसे कोई बिरला मानव ही समझ पाता है । परम-विवेक बिना, प्रति शरीर में उसे जानने की बुद्धि नहीं होती ।

साँच हि मिलै सु साँच व्है, झूठ हि मिलै सु झूठ ।
जन रज्जब साँची कही, भावे रीझ भावे रूठ ॥६॥

सत्य ब्रह्म से मिलने पर सत्य ब्रह्म ही हो जाता है, झूठी माया से मिलने पर झूठ ही बना रहता है। यह बात हमने सत्य ही कही है, अब चाहे तुम प्रसन्न हो वा रुष्ट हो।

दिब[1] दाझै[2] नहिं साँच है, मिलैं न अविगत[3] नाथ ।
सीझा[4] सीझा सब कहैं, रज्जब देख सु हाथ ॥७॥

सत्य है तो परीक्षार्थ तप्त लोह गोला[1] न जलायेगा,[2] सभी जन हाथ देखकर कहते हैं, यह सिद्धावस्था[4] को प्राप्त हो गया किन्तु उसे परम सत्य बिना प्रभु[3] की प्राप्ति नहीं होती।

कामधेनु तरु[1] सुर सहित, पारस पोरस साच ।
रज्जब रिधि-सिधि निधि सभी, भजन विमुख कुल[2] काच ॥८॥

काम धेनु, देवताओं के सहित कल्पवृक्ष[1], पारस, पोरसा (सुवर्ण प्रदाता सुवर्ण का मनुष्याकार पुतला) ऋद्धि, सिद्धि, निधि सभी[2] हरि भजन से विमुख होने पर काच तुल्य हैं परम सत्य नहीं हैं।

करामात कर्म कामना, बंदे बंद हि सु नाँहि ।
रज्जब रज तज शोध तों, मैल सु जत मत माँहि ॥६॥

चमत्कार, विलक्षण कर्म, और कामना को संत वंदना नहीं करते अर्थात् इन्हें महत्त्व नहीं देते, रजोगुण को त्याग कर विचार द्वारा खोजने से उक्त चमत्कारादि यतित्व और संत सिद्धांत में मैल है ऐसा निश्चय होता है।

दश अवतार रु देवी देवा, देखि दुनी[1] रँग[2] राच[3] ।
रज्जब रीझ[4] न तू इहां,[5] इनतैं परे सु साच ॥१०॥

दश अवतार और देवी-देवताओं को देख कर जगत्[1] के प्राणी उनके प्रेम[2] में अनुरक्त[3] होते हैं, किन्तु हे साधक ! तू इन[5] अवतारादि में अनुरक्त[4] नहीं होना, परम सत्य इनसे परे है।

साँचा साहिब मरे न जामै, झूठा आवै जाय ।
रज्जब सद्गुरु सत्य सु लागै, साधू सु ले निरताय[1] ॥११॥

सत्य ब्रह्म मरता-जन्मता नहीं है, झूठे जन्म कर आते हैं और मर कर जाते हैं, सद्गुरु तो सत्य ब्रह्म के चिन्तन में ही लगे हैं, साधक-साधु को भी चाहिये विचार[1] करके सत्य ब्रह्म का चिन्तन ही धारण करे।

पंचों करि परसे[1] नहीं, परमेश्वर बिन आन[2] ।
रज्जब रोजा वरत[3] सत, संकट और समान ॥१२॥

पंच ज्ञानेन्द्रियों से परमेश्वर के बिना अन्य[2] को स्पर्श[1] न करे, यही सच्चा रोजा और व्रत[3] है, और तो सब दुःख के समान ही हैं ।

रज्जब दीजे दान शिर, सत जत सुमिरण पैठि ।
या सम तुलहि न धर्म पुण्य, तोले तुला सु बैठि ॥१३॥

सत्य और ब्रह्मचर्य रूप साधन में प्रवेश करके अपने अहंकार रूप शिर का दान दे, इसके समान धर्म-पुण्यादि नहीं तुलते, चाहे विचार-तुला में स्थित होकर तोल लें । अर्थात् विचार कर लें, अतः परम सत्य ही धारण करने योग्य है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित परम साँच का अंग ११९
समाप्तः ॥सा० ३६४०॥

अथ कृपण का अंग १२०

इस अंग में कृपण सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

जे सूरन व्है सूंठि, सप्त धातु गाड्यों बढ़ै ।
तो सुकृत धरि[1] मूंठि, ज्यों रज्जब राम हि चढ़ै ॥१॥

यदि सात धातु सूरण कन्द और सूंठ के समान होती तो पृथ्वी[1] में गाडने से बढ़ती सो तो है नहीं । अतः अपनी मुट्ठी में लेकर जैसे राम के समर्पण हो वैसे सुकृत करो तो उनकी वृद्धि होगी ।

रज्जब धन घर गाड़तों, मन गाड़्या महि[1] माँहि ।
जीवित पैठै[2] गोर[3] में, सो प्राणी निकसै नाँहि ॥२॥

यदि धन को घर में गाड दिया है तो मन को भी पृथ्वी[1] में गाड दिया, मन धन के पास ही रहेगा । इस प्रकार जो प्राणी जीवित ही कब्र[3] में प्रवेश[2] करता है वह नहीं निकल सकता ।

कमला[1] कमल[2] सु गाड तों, सुकृत वास[3] न होय ।
सूम[4] सखी[5] अरु पहुप[6] परि, गुप्त प्रकट करि जोय ॥३॥

कमल पुष्प[2] को पृथ्वी में गाड़ने से सुगंध[3] का लाभ नहीं मिलता, वैसे ही लक्ष्मी[1] को पृथ्वी में गाड़ने से सुकृत नहीं होता, देखो, कृपण[4] का धन तो गड़े हुये पुष्प[6] की सुगन्ध के समान गुप्त रहता है और दानी[5] का प्रकट पुष्प के समान सबको लाभप्रद होता है, धन को सुकृत में लगाना चाहिये ।

मौनणि[1] मधि माया रही, गुप चुप किन हु न जाण ।
आतम राम हि सौंपतां, घट घट होय बखाण ॥४॥

तिजूरी[1] वा पृथ्वी[1] में माया पड़ी रही तब तक गुप्त रीति से ही रही, किसी ने भी नहीं जानी और जब सुकृत के निमित्त आत्माराम को दी तो प्रत्येक शरीर धारी से उसकी प्रसंशा के वचन कहे जाने लगे ।

पहु[1] पहुमी[2] अंतक[3] अगनि, विघ्न चोर ठग लेत ।
सूम[4] भण्डारी सप्त का, धणियो गिण गिण देत ॥५॥

कृपण[4]–राजा[1], पृथ्वी[2], यमराज[3], अग्नि, विघ्न, चोर और ठग इन सात का भंडारी है, इनको गिण-गिण कर देता है और ये लेते हैं ।

रज्जब सूम[1] सनेही सप्त का, क्षिति[2] क्षितिभुज[3] यम चोर ।
जल ज्वाला[4] बेली[5] विघन, पग न पुण्य की ओर ॥६॥

कृपण[1]–पृथ्वी[2], राजा[3], यम, चोर, जल, अग्नि[4] और विघ्न करने वाला मित्र[5], इन सात का प्रेमी होता है, उसके पैर पुण्य की ओर नहीं उठते ।

पहु[1] पहुमी[2] यम चोर को, कृपण कमावै आथि[3] ।
रज्जब धुकै[4] न धर्म दिशि, जो संबल[5] ह्वै साथि ॥७॥

कृपण–राजा[1], पृथ्वी[2], यम और चोर के लिये कमा कर धन जमा[3] रखता है, कृपण धर्म की ओर तो झुकता[4] नहीं, जिससे उसके साथ परलोक के मार्ग का खर्च[5] हो ।

सूम[1] सदा संयम रहै, इन्द्रियों परसे[2] नांहि ।
तन डिग तों धन को धका, मत कौडे[3] कछु जांहि ॥८॥

कृपण[1] सदा संयम से रहता है, इन्द्रियों से विषयों का स्पर्श[2] नहीं करता, विषयों की ओर शरीर के डिगने से धन को धक्का लगता है, न कहीं कुछ दाम[3] खर्च हो जायं, ऐसी शंका रहती है ।

सूम सगा[1] नहिं जीव का, आपा पर न सनेह ।
रज्जब दुख दे देह को, सुकृत करै न गेह ॥९॥

कृपण अपने जीव का भी संबन्धी[1] नहीं होता अर्थात् हित नहीं चाहता । अपने पराये दोनों से ही प्रेम नहीं रखता, अपने शरीर को भी दुःख देता है, घर में कभी सुकृत तो करता ही नहीं ।

सूम समाया सांकड़ै[1], सदा जतन[2] सब ओड़ि[3] ।
रज्जब रोक्या ऋद्धि[4] का, रह्या सु तन मन मोड़ि ॥१०॥

कृपण संकुचित[1] स्थान में समाया हुआ रहता है, सदा सब ओर[3] से धन का यत्न[2] रखता है, वह माया[4] की आसक्ति से रुका हुआ अपने तन मन को माया की ओर मोड़ करके ही रहता है ।

सूम समाई[1] का धणी,[2] बहु जरणा[3] घट[4] मांहि ।
जन रज्जब रिधि[5] के यतन,[6] लड़ै सु बोले नांहि ॥११॥

कृपण सहनशक्ति[1] का स्वामी[2] होता है, उसके अन्तःकरण[4] में बहुत क्षमा[3] रहती है, माया[5] कमाने के साधनों[6] के लिये लड़ता है किन्तु माया खर्चने के लिये बोलता भी नहीं ।

रज्जब शुक्र[1] सु सूम व्है, बैठा झारी मांहि ।
नरपति फोड़्या नैन गुरु, पै[2] पुण्य छोड़्या नांहि ॥१२॥

शुक्राचार्य[1] कृपण बनकर जल की झारी में जा बैठे, राजा बलि ने तृण से गुरु का नेत्र भी फोड़ डाला किन्तु[2] उन्होंने पुण्य के संकल्प के लिये जल को नहीं छोड़ा कृपण वृत्ति ऐसी ही होती है ।

सुमिरण सुकृत दिशि चलत, वैरी विघ्न अपार ।
आड़ी सलिता[1] सूम गति,[2] प्राणि पुण्य कोउ पार ॥१३॥

हरि-स्मरण और सुकृत की ओर चलने पर अनन्त वैरी विघ्न करने वाले आते हैं । कृपण-चेष्टा[2] रूप नदी[1] आती है, कोई पुण्यवान् प्राणी ही उससे पार होता है ।

सुमिरण सुकृत वर्जं ही, सो वैरी बटपार[1] ।
शब्द न सुणिये सूम का, रज्जब माथै मार[2] ॥१४॥

जो हरि-स्मरण और सुकृत करने से रोकता है, वह शत्रु है तथा मार्ग में लूटने[1] वाला है, उस कृपण का शब्द भी नहीं सुनना चाहिये, उसे दूर से ही त्याग[2] देना चाहिये ।

रज्जब सुकृत करै न करण दे, यहु सूम हु का सूल[1] ।
पैंडा[2] मारै[3] पुण्य का, परम[4] पाप का मूल[5] ॥१५॥

न तो आप सुकृत करे और न अन्य को करने दे, कृपण का ऐसा ही सिद्धान्त[1] होता है, वह पुण्य के मार्ग[2] को नष्ट[3] करता है और महान्[4] पाप का हेतु[5] होता है ।

पच्यासी का पूत है, सूम सु ईहिं संसार।
गाड़ी छाड़ी में रह्या, निकसे कौन विचार ॥१६॥

कृपण इस संसार में पच्यासिया काल का जन्मा हुआ पुत्र है, पृथ्वी में गाडी हुई उसकी निधि उदारता बिना कौन विचार से निकल सकती है ? अर्थात् नहीं निकलती। और वह गाड़ा हुआ धन, छोड़ने की स्थिति में रह जाता है, साथ नहीं जाता।

सूम मते[1] के सूत सौं, बांधे माया पंख।
ब्रह्म व्योम[2] क्यों जांहिं उड़ि, पंखी प्राणि असंख[3] ॥१७॥

कृपण के सिद्धान्त[1] रूप सूत से माया रूप पंख बांध लिये तो भी क्या हो ? जैसे असंख्य[3] पक्षी आकाश में जाते हैं, वैसे बंधे हुए पंखों वाला प्राणी उड़कर आकाश[2] में कैसे जायेगा ? वैसे ही माया संग्रह करने मात्र से ही कृपण ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता।

स्वर्ग धाम धर्मिष्ट[1] का, पापी नरक समाय।
जन रज्जब जति[2] ज्योति दिशि, सूम[3] सर्प कहं जाय ॥१८॥

धर्मात्मा[1] को स्वर्ग धाम प्राप्त होता है, पापी नरक में जाता है। सर्प ज्योति की ओर कहां जाता है। वैसे ही कृपण[3] यतियों[2] की सेवा द्वारा ब्रह्म की ओर कहां जाता है।

स्वर्ग सदन[1] सुकृत रहै, कुकृत नरक निवास।
रज्जब संशय सूम[2] का, कहां करेगा वास ॥१६॥

सुकर्म करने वाले तो स्वर्ग रूप घर[1] में रहते हैं और कुकर्म करने वालों का निवास नरक में होता है किन्तु कृपण[2] कहां निवास करेगा ? यह संशय है अर्थात् धन के पास सर्प वा भूत होकर रहेगा।

जन रज्जब श्रम[1] सूम करि, कृपण कमाई कोड़ि[2]।
स्वारथ परमारथ नहीं, गये माल मन ओडि[3] ॥२०॥

कृपणों ने अत्यधिक परिश्रम[1] करके कृपणता से कोटिन[2] की संपत्ति कमाली किन्तु उसे न तो स्वार्थ में खर्च की और न परमार्थ में ही लगाई, अंत[3] में कृपणों के मन धन की ओर ही गये हैं और वे उस पर सर्प वा भूत बन कर रहे हैं।

आलम[1] अंघ्रिप[2] में द्रसै[3], सूम सु सूखी डाल।
परमारथ शोभा न तरु, सो यम चूल्है बाल[4] ॥२१॥

वृक्ष[2] में सूखी डाली दीखती[3] है, उससे वृक्ष की शोभा नहीं होती, उसे चूल्हे में ही जलाया[4] जाता है, वैसे ही संसार[1] में कृपण है, उससे परमार्थ की शोभा नहीं होती, वह यम के द्वारा मारा जाता है ।

रज्जब माया के फल सूम के, कदे न आवै हाथ ।
स्वारथ परमारथ नहीं, तीजे चले न साथ ।।२२।।

कृपण की माया, माया से रचित बाजीगर के फलों के समान है, जैसे वे फल कभी भी हाथ नहीं आते, वैसे ही कृपण का धन न तो स्वार्थ वा परमार्थ में ही लगता और न तीसरे साथ ही चलता है ।

सूम हि यहां न वहाँ कछु, बात जु बिणठी[1] मूल[2] ।
रज्जब धन धर[3] गाड़ तों, तुरत किया तन धूल ।।२३।।

कृपण को न तो यहां सुख है और न वहां परलोक में कुछ सुख है । उसके सुख के साधन की बात जड़[2] से ही नष्ट[1] हो जाती है । वह तो धन को पृथ्वी[3] में गाड़ते ही तुरन्त अपने मानव तन को धूल कर डालता है अर्थात् व्यर्थ खो देता है ।

ज्यों गतराड़ा पय[1] पुत्रबिन, त्यों सूम हि सुकृत नाश ।
रज्जब रीते उभय दिशि, निश्चय जाय निराश ।।२४।।

जैसे गतराड़ा नारी का दूध[1] पुत्र बिना नष्ट हो जाता है, वैसे ही सुकृत बिना कृपण का धन नष्ट हो जाता है । कृपण स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों ही ओर से खाली रह जाते हैं और निश्चय पूर्वक निराश होकर अन्य शरीर को जाते हैं ।

देखहु कृपण कूप मध्य, माया छाया होय ।
जन रज्जब बेकाम बहु, व्योसावे नहिं कोय ।।२५।।

देखो कृपण की माया, कूप के मध्य की छाया के समान है, कूप की छाया और कृपण की माया दोनों ही व्यर्थ हैं, उनसे कोई भी लाभ नहीं उठा सकता ।

रे रज्जब रिधि[1] सूम की, व्यभिचारी आधान[2] ।
धणियों[3] काम न आव ही, मन वच कर्म करि मान ।।२६।।

कृपण का धन[1] और व्यभिचारी के गर्भाधान[2] की संतान उनके स्वामी[3] कृपण और व्यभिचारी के काम में नहीं आती, यह बात मन वचन कर्म से सत्य समझ करके ही मानना चाहिये ।

शक्ति[1] सदन[2] में बाढतों, हर्षे संचक[3] हेर[4] ।
ज्यों जहाज जल सौं भरै, तब बूड़त क्या बेर ।।२७।।

धन[1] घर[2] में बढ़ता देख[4] कर धन का संग्रहकर्त्ता[3] हर्षित होता है जैसे जहाज में जल बढ़ता है तब उसे डूबते क्या देर लगती है, वैसे ही धन संचक को नष्ट होते क्या देर लगती है।

शक्ति[1] शीत के कोट को, संचक[2] देखि सिहाय[3]।
रविसुत[4] किरणि न सूझ ही, सुन हि नहीं करि जाय ॥२८॥

जैसे कोई शीत से बने हुये किले को देखकर प्रसन्न[3] होता है किन्तु उस किले को नष्ट करने वाली सूर्य किरण उसे नहीं दीखती, उनको सुन कर भी नहीं सुनी के समान कर जाता है। वैसे ही धन[1] का संग्रहकर्त्ता कृपण धन को देखकर प्रसन्न होता है किन्तु उसे नष्ट करने वाला सूर्य का पुत्र यमराज[4] नहीं दीखता, दूसरों की मृत्यु सुन कर भी नहीं सुनी के समान कर जाता है।

कोड़ि[1] जोड़ि[2] स्वप्ने पड़्या, जागि देखि कछु नाँहि।
तैसे रज्जब सूम गति[3] यूं समझो मन माँहि ॥२९॥

स्वप्न में पड़े २ ने कोटि[1] रुपये जोड़[2] लिये किन्तु जाग कर देखे कुछ भी नहीं मिलता वैसे ही कृपण की चेष्टा[3] है, मन में ऐसा ही समझना चाहिये।

गज मोती रु भुजंग मणि, तीजे सूम सु आथि[1]।
रज्जब मुर[2] मारे बिना, माया चढ़ै न हाथि ॥३०॥

हाथी का मोती, सर्प की मणि और तीसरे कृपण की सम्पत्ति[1], उक्त तीनों[2] को मारे बिना इनकी—मोती, मणि, सम्पत्ति रूप माया हाथ नहीं लगती।

दुमई के दुम[1] सारिखी, कृपण की कौपीन।
रज्जब रिधि[2] चीरचों कढैं, पुण्य पाणि[3] सो हीन ॥३१॥

जैसे दुमई मेढ़ा की पूंछ[1] उसके कौपीन के समान होती है, वैसे ही धन के कृपण रूप कौपीन होती है, दुमई की दुम काटने से ही उसके नीचे का स्थान निकलता है, वैसे ही कृपण को मारने से ही उसका धन[2] निकलता है। पुण्य करने के हाथों[3] से तो वह रहित ही रहता है।

सूम सु चेरा लक्षिम का, हस्त न सकई लाय।
पुण्य पुरुष श्री[1] मौर[2] है, खर्चै सदा सु खाय ॥३२॥

कृपण लक्ष्मी का सेवक है, वह लक्ष्मी के हाथ नहीं लगा सकता। पुण्यात्मा पुरुष लक्ष्मी[1] का स्वामी[2] है, वह पुण्य कर्मों में खर्चता है और खाता है।

रज्जब माया बेलड़ी, सीच्यों दो फल देत।
मूवाँ पीछे जीव को, सर्प करे कै[1] प्रेत ॥३३॥

जैसे बेलि सींचने से फल देती है, वैसे ही माया भी केवल संग्रह करने से कृपण जीव को दो फल देती है। मरे पीछे सर्प और[1] प्रेत बनाती है।

कृपण कंचन धन धरचा, हस्त न लावे हेर[1]।
तो रज्जब सुन सखी[2] ने, संच्या[3] सोवन मेर ॥३४॥

देख[1] कृपण ने सुवर्ण आदि धन संग्रह करके धरा है खर्चने के लिये उसके हाथ भी नहीं लगाता किन्तु सुन दानी[2] कर्ण ने तो सुवर्ण का पर्वत संग्रह[3] कर लिया था, अतः संग्रह करने में भी दानी ही श्रेष्ठ है।

रज्जब आये काल, सुकृत सामे[1] बिन चले।
सूम सदा बेहाल[2], भूखे चौरासी डुले[3] ॥३५॥

काल आने पर कृपण सुकृत रूप सामान[1] के बिना ही जाता है। अतः उसका बुरा[2] हाल होता है और वह भूख के मारे चौरासी लाख योनियों में भ्रमण[3] करता है।

रज्जब काढे[1] कूप जल, घटे न निर्मल नीर।
बिन काढ्याँ[2] पाणी सिड़ै[3], पीवे न कोई वीर[4] ॥३६॥

हे भाई[4]! कूप से जल निकालने[1] पर जल कम नहीं होता, निर्मल रहता है, नहीं काढ़ने[2] से जल गंदा[3] हो जाता है, उसे कोई भी नहीं पीता। वैसे ही धन धर्म में खर्चते रहने से अच्छा रहता है, नहीं खर्चने से खराब हो जाता है।

सूम[1] विछोह[2] शिव रु शक्ति, ईहि दुख को सहि दोय।
रज्जब सिद्धि[3] सराप जिहि, सो ब सर्प किन होय ॥३७॥

कृपण[1] माया को सुकृत द्वारा ईश्वर के समर्पण नहीं करता, अतः शिव और शक्ति को अलग[2] २ रखता है, इस दुःख को शिव और शक्ति दोनों ही सहन करते हैं, उससे माया[3] रुष्ट होकर कृपण को शाप देती है, जिसे माया शाप दे, वह क्यों नहीं सर्प होगा ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कृपण का अंग १२० समाप्तः ॥ सा. ३६७७ ॥

अथ साँच चाणक का अंग १२१

इस अंग में सत्य और चुभने वाले विचार प्रकट कर रहे हैं—

शब्द सलूझे बहुत हैं, तन मन सुलझ्या एक।
रज्जब जीव जंजाल में, जिह्वा बहुत विवेक ॥१॥

शब्दों से सुलझे हुये अर्थात् कथन मात्र के ज्ञानी तो बहुत हैं किन्तु जिसका तन मन माया जाल से निकल गया हो ऐसा कोई एक ही हो सकता है। वैसे तो जीव यम जाल में पड़ा है किन्तु वाणी में बहुत ज्ञान रखता है।

मुख मुक्ते मन में बंधे, ऐसे कपटी कोड़ि।
रज्जब विरक्त बक्त्र[1] सौं, रहे विषय वपु जोड़ि[2] ॥२॥

मुख के शब्दों से मुक्त और मन में विषयासक्ति से बँधे हुये ऐसे कपटी ज्ञानी कोटिन हैं, वे मुख[1] से तो अपने को विरक्त बताते हैं किन्तु शरीर को विषयों के साथ ही लगाया[2] रखते हैं।

ब्रह्माण्ड पिंड माँहीं बँधे, छाजन[1] भोजन बंध।
रज्जब मन मनसा[2] जड़े[3], मुहड़ै[4] कहैं अबंध[5] ॥३॥

ब्रह्माण्ड के विषयों की आसक्ति से बँधे हुये हैं, शरीर के उपकारक भोजन, वस्त्रादि[1] में बँधे हुये हैं, मन बुद्धि[2] भूषण में नगों के समान माया में जटित[3] हैं और मुख[4] से अपने को बंधन रहित मुक्त[5] कहते हैं।

बात हु मुक्ते गात[1] बंध, मुहकम[2] माया माँहि।
सफरी[3] सूवा[4] जाल पिंजरे, शिर निकसे धड़ निकसै नाँहि ॥४॥

मच्छी[3] जाल में और शुक[4] पक्षी पिंजरे में हैं, उनका शिर तो जाल तथा पिंजरे से निकल सकता है किन्तु धड़ तो नहीं निकलता वैसे ही बातों से तो मुक्त हो जाते हैं किन्तु शरीर[1] की आसक्ति में तथा माया में दृढ़ता[2] से बँधे रहते हैं।

शरीर चलै संसार गति, शब्द सु ज्ञाता रूप।
रज्जब बातें व्योम[1] की, बसे विचारा[2] कूप ॥५॥

शरीर तो संसार की गति के अनुसार चल रहा है और शब्द से अपने को ज्ञानी सिद्ध करता है, बेचारा[2] रहता तो कूप में है और बातें करता है आकाश[1] की।

रज्जब वित्त[1] वारि[2] वैली[3] तरफ, बातों परे प्रकाश ।
शक्ति[4] सूर का एक मत, सुनहु विवेकी दास ॥६॥

हे विवेकी भक्त ! सुनो, सूर्य और माया[4] का एक-सा ही मत है, जैसे संसार में जल[2] तो सूर्य से इस[3] ओर होता है और प्रकाश दूर सूर्य में ही होता है । वैसे ही मायिक धन[1] तो इस[3] ओर दंभी विरक्त के मन में बसा रहता है और ज्ञान मन से परे बातों में होता है ।

शब्द माँहि और हि कहै, सुरति माँहि कछु और ।
रज्जब मैली आतमा, लहै न निर्मल ठौर ॥७॥

जो वाणी से अन्य ही कहता है और चित्त वृत्ति में अन्य ही कुछ रखता है, ऐसा जीवात्मा मलीन हृदय है, उसे मल रहित ब्रह्म रूप स्थान नहीं मिलता ।

तन तुपक[1] जिव तोबची[2], शब्द सकल दिशि शोर[3] ।
जन रज्जब गोली सु मन, गमन करै कहिं और ॥८॥

शरीर तोप[1] है, जीव तोप चलाने वाला तोपची[2] है और मन उसमें डाला जाने वाला गोला है, जैसे तोप के शब्द की आवाज[3] तो सब ओर जाती है किन्तु गोला तो किसी और ही दिशा को जाता है, अर्थात् लक्ष पर ही जाता है वैसे ही दंभी, ज्ञानी के शब्द तो सब प्रकार के होते हैं किन्तु मन तो जिसमें राग है उसी में जाता है।

मन भुवंग[1] शिर शब्द मणि, विषय सु विष नहिं जाहि ।
रज्जब देखि उजास[2] वहिं[3], मारि मारि जिव खाहि ॥९॥

सर्प[1] के मस्तक में मणि रहती है किन्तु उस सर्प का विष दूर नहीं होता, उस[3] मणि के प्रकाश[2] से ही वह मच्छरों को मार मारकर खाता है । वैसे ही मन में ज्ञान पूर्ण शब्द रहते हैं किन्तु मन विषयों को नहीं त्यागता और उक्त शब्दों के ज्ञान से ही इन्द्रियों को विषयों से तृप्त करने में लगा रहता है ।

देही,[1] दर्शण[2] बंध वपु[3], ज्ञानी अकलि[4] अगाध ।
रज्जब रस रीति हि लिये, मुश्किल हूणा[5] साध ॥१०॥

शरीराध्यास[3] में बँधा हुआ है, विषय-रस रीति को भी मन में लिये रहता है तो भी शरीर[1] पर साधु भेष[2] धारण करके अगाध बुद्धि[4] के द्वारा ज्ञानी बन रहा है किन्तु इस प्रकार साधु होना[5] कठिन है अर्थात् यथार्थ ज्ञान वैराग्य बिना साधु नहीं हो सकता ।

रज्जब नग[1] नव खंड किये, धरि सु अष्ट विधि ध्यान।
मन मुक्ता गत[2] मोल ह्वै, कहो कौन यहु ज्ञान ॥११॥

मोती[1] के नौ टुकड़े करने से वह हीन[2] मूल्य का हो जाता है, इसी प्रकार मन से—१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपूरक, ४ अनाहत, ५ विशुद्ध, ६ आज्ञा, ७ सोम, ८ गुरु इन अष्ट चक्रों के अष्ट विधि ध्यान करने से मन भी अद्वैत ब्रह्म चिन्तन के समान मूल्य वाला नहीं रहता, तब कहो यह कौन-सा ज्ञान है ? अर्थात् विभिन्न चिन्तन ज्ञान नहीं होता, एक ब्रह्म चिन्तन ही ज्ञान है। यह हठ योगियों को चेतावनी है।

मन अस्थिर[1] करणाँ कठिन, रोकि दशों दिशि मुख्ख।
अष्ट ध्यान धरि अष्ट मधि, इहै[2] भंग[3] इह[4] रुख्ख[5] ॥१२॥

दश इन्द्रियें रूप दशों दिशाओं के मन के मुखों को रोक कर मन को स्थिर[1] करना कठिन है, अष्ट चक्रों में अष्ट प्रकार का ध्यान करना यहाँ[2] शरीर में ही मन को ब्रह्म चिन्तन से वंचित[3] करना है, इस ध्यान की यही[4] चेष्टा[5] है।

प्राणी पातर[1] लोह के, काव्य सु कली चढ़ाय।
कसत[2] घसत सो ऊघड़ै,[3] गत[4] वित[5] दृग दर्शाय ॥१३॥

लोह पात्र[1] पर कली चढ़ाई जाती है, वह घिसते २ उतर कर लोहा निकल[3] आता है, जिसका धन[5] चला[4] जाता है, उसके चिन्ह नेत्रों में दीख जाते हैं, वैसे ही प्राणी पर सुन्दर काव्य का जो प्रभाव होता है अर्थात् अच्छे वचन बोलता है, अच्छा दीखता है, वह भी कुछ कष्ट[2] देने पर जैसा होता है वैसा प्रकट हो जाता है।

रज्जब नाम सु पानों मुख रँग्या, पै मन लाल न होय।
तब लग रत्त[1] अरत्त है, समझा समझै कोय ॥१४॥

पान से मुख तो रंगा जाता है किन्तु मन तो लाल नहीं होता, वैसे ही मुख से नाम तो उच्चारण होता है किन्तु मन में तो नाम नहीं रहता, जब तक मन में प्रेम[1] नहीं है तब तक वह प्रेम रहित ही है, इस रहस्य को समझा हुआ संत ही समझता है।

वाणी रँग[1] बेचैं बहुत, पै प्राण[2] रँग्या नहिं जाय।
तब लग रहते रंग में, रज्जब कहां समाय[3] ॥१५॥

वाणी के प्रेम[1] को तो बहुत बेचते हैं अर्थात् प्रेम का उपदेश तो बहुत करते हैं किन्तु उससे मन[2] तो नहीं रँगा जाता, जब तक वाणी द्वारा उपदेश करते हैं, तब तक प्रेम में रहते हैं फिर उनमें भी प्रेम कहां रहता[3] है ?

इक वक्ता है सुई सम, इक श्रोता सम ताग।
रज्जब बागा[1] बंदगी, लागि रहै तिहिं भाग ॥१६॥

वक्ता तो सुई के समान है और श्रोता धागे के समान है किंतु जो सुई-धागा अंगरखा[1] (वस्त्र) में लगता है वही श्रेष्ठ है, वैसे ही जो वक्ता-श्रोता भक्ति में लगा रहता है उसी का विशाल भाग्य माना जाता है।

बादल ज्यों वाइक[1] मिले, गर्जि सु मारे गाल।
रज्जब चमकै बीज बल,[2] वर्षा वित[3] बिन काल ॥१७॥

बादल जब मिलते हैं तब गर्जना करते हैं और बिजली चमकती है किंतु वर्षा रूप धन[3] बिना तो दुष्काल ही रहता है। वैसे ही वचन[1] मिलते हैं तब गालों पर आघात पहुँच कर आवाज होती है, तर्क शक्ति[2] रूप बिजली चमकती है किंतु अर्थ धारण करे बिना तो काल का कष्ट रहता ही है।

अरिल–बिक्त[1] ज्योति ज्यों रैनि, अग्नि सी देखिये।
त्यों करणी[2] बिन काव्य सु वीर[3] विशेखिये[4] ॥
देख्या सुन्या सु नांहि, दोउ घर शोध तैं।
परिहां रज्जब उभय असत्य, सुण्या सत बोधतैं ॥१८॥

जुगनू[1] की ज्योति रात्रि में अग्नि सी चमकती हुई देखी जाती है किन्तु उससे कोई कार्य नहीं होता, वैसे ही हे भाई[3]! कर्तव्य[2] बिना के काव्य में देखने मात्र की ही विशेषता[4] है, वह मुक्ति प्रद नहीं होता। काव्य के वक्ता और श्रोता दोनों के ही घर खोजने पर यथार्थ स्थायी ज्ञान न तो देखा है और न सुना ही है किन्तु दोनों ही असत्य व्यवहार में संलग्न रहते हैं, यह यथार्थ ज्ञान वाले ज्ञानियों से ही सुना है।

बिक्त[1] ज्योति कृत हीन कवि, दृष्टि देखि सुन झूठ।
रज्जब उभय असत्य है, रजू[2] होहु भावे रूठ[3] ॥१९॥

जुगनू[1] की ज्योति दृष्टि से देखने पर भी कार्य की साधक न होने से मिथ्या ही सिद्ध होती है, वैसे ही कर्तव्य हीन कवि का काव्य, आत्म-ज्ञान प्रद न होने से सफल नहीं होता, उक्त दोनों ही असत्य हैं, इस पर चाहे कोई प्रसन्न[2] हो वा रुष्ट[3] हो यह बात सत्य है।

रज्जब कथिये ज्ञान गृह[1], सो सुन मरे न कोय।
जैसे बादल बीजली, चमके विघ्न न होय ॥२०॥

बादल में बिजली चमकती है तब बादल को भय रूप विघ्न नहीं होता, वैसे ही घर[1] में ज्ञान कथन करे तब उसे सुन कर कोई का भी मन नहीं मरता।

गृह[1] उठावै गिरा[2] कर[3], तन मन का नहीं जोर।
तो रज्जब कहु क्या सरै शब्द किये बहु शोर[4] ॥२१॥

घर[1] में रहते हुये वाणी[2] तो कंठ रूप हाथ[3] में उठाले अर्थात् कंठस्थ करले किन्तु तन और मन का कर्तव्य रूप बल न हो तो शब्दों से हल्ला[4] मचाने मात्र से ही कहो क्या कार्य सिद्ध होगा ?

शब्द संग्रह काव्य कथ, सब स्वप्ने की आथि[1]।
करणी[2] तत[3] वित[4] जागतों, रज्जब चलै जु साथि ॥२२॥

शब्दों का संग्रह करके काव्य का कथन करना, स्वप्न की संपत्ति[1] के समान है, साधनरूप कर्तव्य[2] के द्वारा तत्व[3] ज्ञान होता है, यह जाग्रत अवस्था के धन[4] के समान है और वही प्राणी के साथ भी चलता है।

मत[1] मंडल मांहि मँडे, मन मयंक[2] नभ थान।
खांडि[3] कलंक न तिन मिटै, मन वच कर्म करि मान ॥२३॥

आकाश में चन्द्रमा[2] के चारों ओर सुन्दर मंडल अंकित है किन्तु उससे चंद्रमा का खण्डित[3] होना और कलंक नहीं मिटता, वैसे ही अंतः-करण में सुंदर सिद्धाँत[1] तो है किंतु साधन करे बिना उससे मन के दोष नहीं मिटते। यह बात मन वचन कर्म से यथार्थ समझ करके मानो।

आतम आदित्य एक गति[1], वाणी पाणी मांहि।
रज्जब अज्जब आगि है, बुझती दीसै नांहि ॥२४॥

जीवात्मा और सूर्य की एक-सी चेष्टा[1] है, जैसे सूर्य की अद्भुत अग्नि जल में नहीं बुझती वैसे ही जीवात्मा की विषयाशा रूप अग्नि साधन बिना वाणी बोलने मात्र से बुझती हुई नहीं दीखती।

मुख मीठे जल[1] मुकर[2] ज्यों, पै ज्वाला मय अंग[3]।
रज्जब कदे[4] न कीजिये, तिन कपटयों का संग ॥२५॥

जैसे आतशी शीशे के दर्पण[2] की तेजी[1] ऊपर से तो सुन्दर लगती है किंतु उसका सभी आकार[3] अग्नि मय ही होता है, वैसे ही जो मुख से तो बड़े मधुर बोलते हैं और भीतर अग्नि मय हैं, उन कपटी जनों का संग कभी[4] भी नहीं करना चाहिये।

मुख साधु मन में असाधु, परिहर कपटी मंत[1] ।
रज्जब देखें द्विप[2] दरश, दोय मत हु चौदंत ॥२६॥

जैसे हाथी[2] के देखने में तो दो ही दांत आते हैं किंतु उसके खाने के भीतर चार दांत और होते हैं, वैसे ही जो मुख से तो साधु है और मन से असाधु है, उस दो मत वाले कपटी का परामर्श[1] त्याग ही देना चाहिये ।

कह्या सुन्या कड़बी न कछु, जे करणी कण नांहि ।
रज्जब तब लग काल है, समझ देखि मन मांहि ॥२७॥

यदि अन्न कण निकाल लिये जायें तो फिर कड़बी में सार कुछ नहीं रहता, वैसे ही यदि धारणा रूप कर्तव्य नहीं है तो कहना सुनना कुछ महत्त्व नहीं रखता, जब तक धारणा नहीं होती तब तक काल भय अवश्य है, यह स्वयं भी मन में समझ कर देख लो ।

करणी[1] कण कूकस[2] कथ कव,[3] साधू संत कहैं सो सब ।
ज्यों बातहि बात दाम के गेहूं,इहां कथा क्यों सुणी न केहू ॥२८॥

कर्त्तव्य[1] रहित कवि[3] का कथन भूसे[2] के समान है, सब श्रेष्ठ संत करने को कहते हैं, वह कर्तव्य अन्नकण के समान है । जैसे बातों की तो बात ही होती है, गेहूं तो दाम होने पर ही मिलते हैं, वैसे ही यहां कथा प्रसंग की बात है, क्योंकि किसने नहीं सुनी है ? सब सुनते हैं किंतु कर्त्तव्य करे बिना कहां मुक्ति का लाभ होता है ?

कहे सुणे कछु व्है नहीं, जे कछु किया न जाय ।
रज्जब करणी[1] सत्य है, नर देखो निरताय[2] ॥२९॥

यदि कुछ नहीं किया जाय तो केवल कहने-सुनने से कुछ नहीं होता, हे नरो ! तुम भी विचार[2] करके देखो तो ज्ञात होगा कि कर्तव्य[1] ही सत्य है ।

वक्त हुं विद्या[2] वक्त्र लग, श्रोत हुं श्रवणों द्वार ।
न्यान[1] नगर पैठा नहीं, उर न किया व्यवहार ॥३०॥

खेत से उखाड़े हुये मोठ खेत में संग्रहित[1] हैं, उनका नगर में प्रवेश नहीं हो तब तक बिक्री भक्षणादि व्यवहार नहीं होता, वैसे ही ज्ञान[2] वक्ताओं के मुख तक है और श्रोताओं के श्रवणों तक है, यदि उसे हृदय में ले जाकर उसके अनुसार व्यवहार नहीं किया है तब उससे क्या लाभ है ?

शब्द सलिल[1] समूह सौं, वपु[2] बादल भरि पूर ।
बोध वारि परसे नहीं, मनसा[3] दामिनि दूर ॥३१॥

जल[1] समूह से बादल परिपूर्ण भरा है किंतु जल बिजली को तो स्पर्श नहीं करता, बिजली से दूर ही रहता है। वैसे ही शब्द समूह से शरीर[2] परिपूर्ण रूप से भरा है किंतु उसका ज्ञान बुद्धि[3] का स्पर्श नहीं करता, बुद्धि से दूर ही रहता है।

रज्जब रहीत[1] सु घर रही, पर घर गई कहत्ति[2]।
मूरख मूल्य न जान ही, समझ्या समझै सत्ति[3] ॥३२॥

धारणा[1] तो अंतःकरण रूप घर में रहती है और कही[2] जाय वह बात दूसरे के अंतःकरण रूप घर में चली जाती है। मूर्ख मानव भीतर रखने का मूल्य नहीं जानता अतः वक्ता ही रहता है, इसका यथार्थ[3] रहस्य समझा हुआ संत ही समझता है।

महा कवीश्वर पण्डिता, बातैं जान प्रवीण[1]।
रज्जब नांहीं काम के, जे साधू अंग[2] हीन ॥३३॥

महा कवीश्वर और पण्डित जन बहुत प्रकार की बातें जान कर चतुर[1] हो रहे हैं किंतु जो साधुता के लक्षणों[2] से रहित हैं, वे मुक्ति रूप कार्य को करने वाले नहीं हैं।

अर्थ किये बहु भांति के, परि अर्थ न किया वीर[1]।
रज्जब बातैं परे की, आपण[2] वैलो[3] तीर ॥३४॥

एक वचन के बहुत प्रकार के अर्थ किये है किंतु हे भाई[1]! धारणा रूप यथार्थ अर्थ नहीं किया, तेरी बातें तो संसार-सिंधु के परे की हैं किंतु तू स्वयं[2] इस[3] तीर पर ही स्थित है।

पढ़ैं पढ़ावैं और को, पण्डित प्राण अनेक।
मन समझावैं आपणां[1], सो रज्जब कोउ एक ॥३५॥

पण्डित जन शास्त्रों को पढ़ते हैं और अनेक प्राणियों को पढ़ाते हैं किंतु निरंतर अपने[1] मन को समझाता है, वह कोई एक ही अर्थात् विरला ही होता है।

सत[1] जत[2] सुमिरण करण को, मन वच कर्म नहिं आश।
जन रज्जब जग आय कर, सो जिव गये निराश ॥३६॥

सत्य-पालन,[1] ब्रह्मचर्य,[2] हरि-स्मरण, इनको करने की आशा, जिनके मन, वचन, कर्म में नहीं रही है, वे जीव जगत् में आकर निराश होकर ही गये हैं, उनकी आशा पूर्ण नहीं हुई।

मन लागे नहिं नाम सौं, बातैं ब्रह्म सु होय।
रज्जब मन की लगन बिन, सीझ्या[1] सुण्या न कोय ॥३७॥

हरि-नाम चिंतन में तो मन नहीं लगता किंतु बातें तो ब्रह्म की ही करी जाती हैं परंतु मन की लग्न बिना कोई को भी सिद्धावस्था[1] रूप मुक्ति को प्राप्त हुआ नहीं सुना है।

जन रज्जब चित चोरटे,[1] बोलें साधू बैन।
देह दशा उर और दशा, यहु ठग विद्या ऐन ॥३८॥

जो चित्त में चोर[1] बने हुये हैं और वचन साधु के-से बोलते हैं, शरीर की दशा से हृदय की अवस्था और ही है, यही साक्षात् ठग विद्या है।

रज्जब पद हु न पहुंचे परम पद, साखी भर हि न साखि।
इसलोकहु[1] इस लोक में, जे मन सक्या न राखि ॥३९॥

यदि मन को ब्रह्म-चिंतन में स्थिर करके नहीं रख सका तो, पद बनाने वा बोलने से परम पद ब्रह्म के पास नहीं पहुँचता, साखी बनाने बोलने वाले की साक्षी, साखी नहीं भरती, श्लोक[1] बनाने बोलने वाला भी इसी लोक में रहेगा।

गुण गालन[2] को एक को, गुण गायन सु अनेक।
रज्जब कही विचार कर, समझो वीर[1] विवेक ॥४०॥

विषय रूप गुणों का गायन करने वाले तो अनेक हैं किंतु क्रोधादि गुणों को नष्ट[2] करने वाला कोई एक विरला ही होता है। यह हमने विचार करके ही कहा है, हे भाई[1]! तुम विवेक द्वारा इसे समझने का प्रयत्न करो।

कवि कथ कागद नाव परि, पढ गुण बैठे जांणि।
पै करणी कष्ट जहाज बिन, रिधि निधि तिरहि न प्राणि ॥४१॥

कागज की नाव पर बैठ कर कोई भी प्राणी समुद्र को नहीं तैर सकता, काष्ठ के जहाज पर बैठ करके ही तैर सकता है। वैसे ही कवि कथन करके और पण्डित पढ-गुण करके माया को नहीं तैर सकते यह निश्चय जानो किंतु साधन रूप कर्तव्य का कष्ट सहन करके तैर सकते हैं।

सत जत सुमिरण ना गह्या, विद्या वेत्ता[1] वीर[2]।
पाठों पार न पाइये, रज्जब वैली[3] तीर ॥४२॥

हे विद्या के ज्ञाता[1] भाई[2]! तूने सत्य, ब्रह्मचर्य, हरि-स्मरण रूप साधन तो ग्रहण किया नहीं, केवल शास्त्र के पठन-पाठन में रहा है किंतु पाठों से संसार का पार नहीं पायेगा, इस[3] तीर ही रहेगा।

करणी[1] कठिन सु बंदगी,[2] कहणी[3] सब आसान[4] ।
जन रज्जब रहणी[5] बिना, कहां मिलै रहमान[6] ॥४३॥

कहना[3] तो सभी सुगम[4] है किंतु भक्ति[2] रूप कर्तव्य[1] करना कठिन है। संतों के ढंग से रहना[5] सीखे बिना दयालु[6] परमेश्वर भी कहां प्राप्त होते हैं ?

तन मन आतम राम सौं, ये जोड़े नहिं जांहिं ।
तो रज्जब क्या पाइये, शब्दों जोड़े मांहिं ॥४४॥

शरीर, मन और आतमा इनको राम से नहीं जोड़ा तब शब्दों के जोड़ने से भीतर क्या मिलता है ? अर्थात् काव्य रचना से ही ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता ।

करणी[1] सौं कांठै[2] रह्या, कथणी को हुशियार[3] ।
रज्जब राम हि क्यों मिलै, सकल बक्या व्यभिचार ॥४५॥

कर्तव्य[1] पालन से तो अलग[2] रहा और कथन करने में बड़ा चतुर[3] रहा, केवल बकना तो व्यभिचार के समान है, उससे राम को कैसे मिलेगा ?

समझ न अपणे कहे को, बके विकल बुधि मांहिं ।
रज्जब सूते के शबद, जागे की गति नांहिं ॥४६॥

सूते हुये मनुष्य के स्वप्न के शब्दों को जानने की चेष्टा जागते हुये मनुष्य में नहीं होती, वैसे ही जिसे अपने कथन को समझने की भी शक्ति नहीं होती उसकी बुद्धि में विकलता है, इससे बकता रहता है ।

कथणी[1] कथ्यों[2] न मन मरै, नवै[3] न नौ की कोर ।
ज्यों रज्जब बरड़ात[4] सुन, वित्त[5] न छोड़ै चोर ॥४७॥

बातों[1] के कहने[2] से ही मन नहीं मरता, पंच ज्ञानेन्द्रिय और चार अंत:करण ये नौ किंचित् भी ब्रह्म की ओर नहीं झुकते[3] । जैसे स्वप्न में बकते[4] हुए मनुष्य के शब्द को सुनकर चोर धन[5] को नहीं छोड़ते, वैसे ही कहने मात्र से इन्द्रिय अंत:करण विषयों को नहीं छोड़ते ।

शीत भरम[1] गुण गुदड़ी दाब्या, बोलै घर घट[2] मांहिं ।
रज्जब रोरी[3] रार[4] न खोले, चोर डरै यूं नांहिं ॥४८॥

शीत के कारण गुदड़ी से दबा हुआ घर में बोल रहा है किंतु नेत्र[4] नहीं खोलता ऐसा करने से चोर नहीं डरते, वैसे ही अज्ञान[1] के कारण गुणों से दबा हुआ, शरीराध्यास[2] में स्थित उपदेश करता है किंतु ज्ञान-

नेत्र[४] खुले नहीं तब तक कथन रूप हल्ला[३] से काम क्रोधादि चोर नहीं डरते, ज्ञान रत्नों को ले ही जाते हैं।

रज्जब कथ्यों न मन मरै, अरि[१] गुण डरपहिं नांहि।

जैसे सिंह पाषाण[२] के, पंखि बसे मुख मांहि ॥४६॥

जैसे पत्थर[२] के सिंह से पक्षी न डरके उसके मुख में निवास करते हैं, वैसे ही केवल कथन से मन नहीं मरता और शत्रु[१] रूप गुण काम-क्रोधादि भी नहीं डरते।

करणी बिन कथणी निबल, नहीं ज्ञान मन गंठ[१]।

जन रज्जब ज्यों सिंह नख, बाँध्या बालक कंठ ॥५०॥

जैसे सिंह का नख बालक के कंठ में बँधता है तब निर्बल हो जाता है उससे कोई नहीं डरता वैसे ही कर्तव्य बिना कथन निर्बल होता है, मन में ज्ञान की गाँठ[१] नहीं रहती।

पहुप[१] पान गति[२] ज्ञान है, ऊगै पहुमि[३] न प्राण।

रज्जब ज्ञाता गहन[४] को, तजै नहीं गत[५] बाण[६] ॥५१॥

ज्ञान होने पर प्राणी की चेष्टा[२] पुष्प[१] और पत्ते के समान हो जाती है, जैसे पुष्प-पत्ते पृथ्वी[३] में नहीं उगते, वैसे ही ज्ञानी भी नहीं जन्मता किन्तु ब्रह्म निष्ठा रहित शास्त्र के गहरे[४] ज्ञाता को भी बुरा[५] स्वभाव[६] नहीं छोड़ता।

पढ़ि पढ़ि हुये सेह से, शूलों भरचा शरीर।

रज्जब मारै और को, आप न बेधे वीर ॥५२॥

पढ़-पढ़ कर सेही जंतु के समान हो जाते हैं, जैसे सेही का सब शरीर शूलों से भरा रहता है, उन शूलों से वह दूसरों को ही बिद्ध करती है, आप बिद्ध नहीं होती। वैसे ही पंडितों का अन्तःकरण तर्क वितर्कों से भरा रहता है, उनसे वे दूसरों को हराने में वीर होते हैं, अपने अन्तःकरण को नहीं जीतते।

उर अनर्थ मुंहडे[१] अरथ, कह्यों कहा सो होय।

जन रज्जब रीते रहे, काजी पंडित जोय[२] ॥५३॥

जिनके हृदय में तो अनर्थ रहता है और कहते समय मुख[१] में अर्थ रहता है, उस कथन से क्या होगा ? इस प्रकार काजी कुरान को, और पंडित शास्त्र को देख[२] कर भी साधन रूप कर्तव्य के बिना खाली ही रहे हैं।

दश पद साखी सीख करि, फिर फिर मांडै सींग।

रज्जब साधों सौं अड़ै, देखो बिगड़े धींग[१] ॥५४॥

दश पद तथा साखियाँ याद करके दो मेंढ़ों के समान बारम्बार विवाद द्वारा लड़ते हैं, वे बिगड़े हुये पापी[1] संतों से भी विवाद करते हुये अड़ते हैं ।

ज्यों नृत्य कारी[1] नाच तों, काढै रूप अनेक ।
त्यों रज्जब सब कहण को, करिबे को नंहि एक ॥५५॥

जैसे नृत्य करने[1] वाले नाचने के समय दिखाने के लिये अनेक रूप निकालते हैं, वैसे ही वक्ताओं के नाना वचन कहने के लिये ही होते हैं करने के लिये एक भी नहीं होता ।

बात मांहि जो देखिये, गात[1] मांहि सो नांहि ।
तो रज्जब सो शब्द सुन, श्रोता क्यों ठहरांहि[2] ॥५६॥

वक्ता की बातों में जो है सो धारणा उसके शरीर[1] में तो है नहीं, तब उसके वे शब्द सुन कर श्रोता उसके कथित साधन तथा सिद्धान्त में कैसे स्थित[2] हो सकते हैं ?

रज्जब विद्याधर[1] बहुत, लिये अविद्या साथ ।
तम में चलै चिरागची[2], गहै चिराग हि हाथ ॥५७॥

जैसे चिराग वाला[2] चिराग हाथ में लिये रह कर भी अंधेरे में चलता है, वैसे ही विद्या को धारण[1] करने वाले तो बहुत हैं किन्तु अविद्या को साथ लिये रहते हैं ।

रज्जब पुस्तक पट[1] हि शिर धरैं, पण्डित प्यादे[2] जोय[3] ।
पाठ पन्थ तन पेट लग, दर्श[4] देश अन्य[5] होय ॥५८॥

जैसे कोई मजदूर[2] वस्त्रों[1] का बण्डल शिर पर धर कर मार्ग में चलता है, वह पेट के लिये ही चलता है, जाने योग्य देश को जाने वाला तो दूसरा[5] ही होता है, वैसे ही देखो,[3] पण्डित पुस्तक को धारण करते हैं, उनका पाठ करना पेट भरने के लिये ही होता है, ईश्वर दर्शन[4] करने वाला तो कोई और ही होता है ।

साख्यों[1] सांसा[2] ना चुकै,[3] पदों न पद में जाय ।
रज्जब कहि सुणि देखिया, नर देखो निरताय[4] ॥५९॥

साखियों[1] के कहने सुनने से संशय[2] नष्ट[3] नहीं होता, पदों के गाने से कोई परम पद में नहीं जा सकता, हमने कह कर तथा सुन कर देख लिया है, हे नरो ! तुम भी विचार[4] करके देखो ।

अकल[1] अकलि[2] सौं जानिये, पै जीव सीव[3] नंहि होय ।
सत जत सुमिरण[4] बाहिरा,[5] सीझ्या[6] सुण्या न कोय ॥६०॥

कला रहित ब्रह्म[1] बुद्धि[2] से जाना जाता है किंतु जीव ब्रह्म[3] नहीं बनता, सत्य-पालन, ब्रह्मचर्य, निदिध्यासन[4] से रहित[5] कोई भी मुक्ति रूप सिद्धावस्था[6] को प्राप्त हुआ नहीं सुना जाता ।

रज्जब वरणै बैन[1] वपु, जप जीवन नहिं जान ।
मानहु ग्राहज[2] गहन[3] गति,[4] गहै न शशिहर[5] भान[6] ॥६१॥

शरीर के द्वारा वचनों[1] का वर्णन ही करता है किंतु जीवन रूप ब्रह्म चिन्तन करना नहीं जानता, उसे ऐसा मानना चाहिये जैसे ज्योतिषी ग्रहण से उत्पन्न[2] ग्रहण[3] की चेष्टा[4] को तो जान लेता किंतु चंद्र[5]-सूर्य[6] को नहीं पकड़ सकता ।

ब्रह्माण्ड पिंड को व्यौर[1] हो, बातों करि सुविशेख ।
रज्जब बोले बोध बल, विरला कहसी देख[2] ॥६२॥

बहुत-सी विशेष २ बातें करके ब्रह्माण्ड और शरीर का वर्णन[1] करते हैं, शास्त्र-ज्ञान के बल से बोलते हैं किंतु अनुभव[2] करके तो कोई विरला ही कहेगा ।

रज्जब आई बात में, हाथ माँहि निधि[1] नाँहि ।
सो रीता[2] सुन ऋद्धि बिन, समझ देख मन माँहि ॥६३॥

जैसे किसी के बातों में तो खजाना[1] आ गया है किंतु हाथ में नहीं आया, जब तक हाथ में न आये तब तक वह खाली[2] ही है, वैसे ही मन में समझ कर देखो, यदि ज्ञान बातों में ही आया है और अंतःकरण में ज्ञान के अनुसार धारणा नहीं है तो वह ज्ञान से खाली ही है ।

रज्जब पारस चित्र का, मांड्या[1] सोवन[2] मेर[3] ।
त्यों कथणी करणी बिना हाथ चढ़े क्या हेर[4] ॥६४॥

देखो,[4] चित्र में लिखा[1] हुआ पारस और सुवर्ण[2] का पर्वत[3] देखने मात्र का ही होता है, हाथ क्या आता है ? वैसा ही कर्तव्य बिना का कथन है, उससे पारमार्थिक लाभ कुछ नहीं होता ।

पद पावक मय[1] लिख लिया, तो घर तिमिर न जाय ।
रज्जब दीपक राग को, जे न सुनावे गाय ॥६५॥

अग्नि पद और अग्नि का आकार[1] चित्र में लिख लिया जाय तो भी यदि दीपक राग को गाकर न सुनाये तो घर का अंधेरा नहीं जाता । वैसे ही धारणा बिना कथन मात्र से अज्ञान नहीं जाता ।

भगवत भजन बिन झूठ सब, पिंड ब्रह्माण्ड बखान ।
रज्जब दत[1] बाजी चिहर[2], वे ले मिथ्या जान ॥६६॥

भगवान् के भजन बिना शरीर और ब्रह्माण्ड संबन्धी व्याख्यान मिथ्या है, देना[1] भी बाजीगर की बाजी के समान हल्ला[2] ही है, अतः देने-लेने का फल भी मिथ्या जान कर भगवद् भजन ही करना चाहिये।

पाठों दरशै नाम सब, परि ठाँव[1] न परसै[2] प्राण[3]।
तब लग तत[4] वित्त[5] दूर है, समझै संत सुजाण[6] ॥६७॥

पुस्तकों के पाठों में सभी को प्रभु के नामों का दर्शन होता है किन्तु प्राणी[3] प्रभु धाम[1] को नहीं प्राप्त[2] होता, जब तक वृत्ति पुस्तकों के पाठों में ही लीन है तब तक परम तत्त्व[4] रूप धन[5] दूर ही रहता है, इस रहस्य को बुद्धिमान्[6] संत ही समझते हैं।

राग माल लिख राग न आवे, भोगल[1] लिख ले राज न पावै।
पिंगल लिखैं न पिंगल उपजै, यूं शब्द सीख कहि साधु न निपजै[2]॥६८॥

रागों की नाम माला लिखने से राग गाना नहीं आता, भूगोल[1] लिखने से राज्य नहीं मिलता, पिंगल का पुस्तक लिखने से हृदय में कविता करने का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही शब्दों को सीख कर कहने से साधु नहीं हो सकता[2]।

शालि[1] सहस मण कूटिये, ऊखल मूसल माँहि।
रज्जब दोन्यों बरतिये, तातपरज[2] कछु नाँहि ॥६९॥

ऊखल में मूसल से हजारों मण चाँवल[1] कूटे जाते हैं, इस काम के लिये ऊखल-मूसल दोनों ही वर्ते जाते हैं किंतु ऊखल-मूसल को कूटने में कुछ भी अभिप्राय[2] नहीं है, चांवल साफ करने में अभिप्राय है। वैसे ही पाठ करने में भी कुछ अभिप्राय नहीं है, आत्म स्वरूप को जानने में ही अभिप्राय है।

पकवान पकाये बहुत विधि, कड़छि[1] कड़ाही माँहि।
रज्जब दुख दोन्यों सहैं, स्वाद सीर[2] कछु नाँहि ॥७०॥

बड़ा चमचा[1] और कड़ाही में बहुत प्रकार के पकवान्न पकाये जाते हैं किंतु चमचा और कड़ाही दोनों दुख ही सहन करते हैं, पकवान्न के स्वाद में उनका साझा[2] कुछ नहीं होता अर्थात् उन्हें स्वाद नहीं मिलता। वैसे ही केवल पाठ करने वालों को ब्रह्मानंद नहीं मिलता।

लाख कोटि लेखणि[1] लिखै, लहै न लक्ष्मी लेश[2]।
कलम कमावे और को, देख हु यहु उपदेश ॥७१॥

देखो, लेखनी[1] लाखों-कोटिन का हिसाब लिखती है किंतु उसे लक्ष्मी किंचित्[2] भी नहीं मिलती, वह कलम औरों के लिये ही कमाती है। वैसे

ही यह उपदेशक हैं, दूसरों को तो शिक्षा देते हैं किंतु स्वयं धारण करके कुछ भी लाभ नहीं उठाते ।

वैद्य वंदिये वपु विमल, बूंटी बीच विलाय ।

एक दलाली यहु नफा[1], नर देखो निरताय[2] ॥७२॥

आरोग्यता देने वाली बूंटी तो शरीर में विलीन हो जाती है किन्तु शरीर रोग रहित होने पर वैद्य की पूजा की जाती है । वैसे ही हे नरो ! विचार[2] करके देखो, कल्याण तो अपने कर्तव्य से ही होता है, ज्ञान होने पर उपदेशक को दलाली का पूजा रूप एक लाभ[1] मिलता है ।

मन गोलो पहुंचे पहल, पीछे, शब्द अवाज ।

यूं करणी सौं कथणी लगी, तिनके सीझे काज ॥७३॥

बन्दूक की गोली लक्ष पर पहले पहुंचती है और आवाज पीछे पहुंचती है । वैसे ही जिनके कर्तव्य के साथ कथन लगा है अर्थात् जो प्रथम मन से कर्तव्य करते हैं पीछे शब्दों द्वारा उपदेश करते हैं उनके मुक्ति आदि कार्य सिद्ध[1] ही होते हैं ।

ज्यों कथणी मुख सौं कथै, त्यों करणी ह्वै मांहि ।

तो रज्जब सांची कथा, कहे भिन्न जो नांहि ॥७४॥

जैसे मुख से कथन करता है, वैसे ही यदि अन्तःकरण के भीतर धारणा है, धारणा से भिन्न बात नहीं कहता, तब उसका कथन सत्य है ।

एक कह्या साही[1] मतै, कहै किया नहि जाय ।

तबल-बाज नीके कहै, रज्जब कहि करि जाय ॥७५॥

एक तो बादशाही[1] आज्ञा के समान कहा हो तब यह कहा ही जाता है किया नहीं जाता और एक तबले बजाने वाला अच्छी प्रकार बोल उच्चारण करता है और जैसे कहता है, वैसे ही बजाना रूप कार्य भी कर जाता है ।

श्वान शब्द सुन श्वान का, बिन देखे भुसि देय ।

त्यों रज्जब साखी शबद जें, देखि निरखि[1] नहि लेय ॥७६॥

कुत्ते की आवाज सुनकर कुत्ता बिना देखे ही भूसने लगता है, वैसे ही वे नर हैं जो साखी शब्दों को विचार[1] द्वारा देखे बिना हीं याद कर लेते हैं जौर बोलते रहते हैं ।

पखिर[1] बोल्या पाहरू[2], सो बोल्या परवाणि[3] ।

रज्जब सुनहैं[4] सुणि सहस, भूके मिथ्या जाणि ॥७७॥

पहरेदार[२] परीक्षा[१] करके बोलता है, इसी से उसका वह बोलना प्रमाण[३] रूप माना जाता है और एक कुत्ते[४] की आवाज सुनकर हजारों कुत्ते भूकने लगते हैं, वह मिथ्या ही है, प्रमाण रूप नहीं। वैसे ही जो संत ब्रह्म साक्षात्कार करके उपदेश देता है, उसका उपदेश प्रमाण रूप होता है और जो एक की बात सुनकर वैसे ही हजारों बोलते रहते हैं, उन्हें मिथ्या ही समझो, उनसे प्राणी का मुक्ति रूप कार्य सिद्ध नहीं होता।

रज्जब बोले वेष[१] धरि[२], यथा श्वान[३] खड[४] खाय।
वहिं[५] आशंका ना उठै, वहिं[६] नहिं उदर भराय ॥७८॥

जैसे कुत्ता[३] सूखे हाड[४] को खाता है तब उसका[५] पेट नहीं भरता, वैसे ही प्राणी साधु भेष[१] को स्वीकार[२] करके बोलता है तब उसकी[६] भी बोलने मात्र से मन की शंका दूर नहीं होती।

रज्जब टूंट हु की पहुंचा छड़ी[१], कोई गह्या न जाय।
त्यों भाव भक्ति उपजै नहीं, अज्ञानी बक वाय[२] ॥७९॥

जैसे टूंटे मनुष्य का पहुँचा और लकड़ी[१] दोनों में से कोई भी नहीं पकड़ा जाता, वैसे ही जिनके वचनों से भगवान् में श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न नहीं होती उनके वचन नहीं ग्रहण किये जाते, वे अज्ञानी वायु[१] द्वारा बकने वाले मनुष्य के समान व्यर्थ ही बकते रहते हैं।

हीरे जींगण[१] सर्प मणि, आगि[२] नहिं रँग आगि।
यूं ज्ञान बिना गति[३] ज्ञान की तृण गुण जल हि न जागि[४] ॥८०॥

हीरा, जुगनू,[१] सर्पमणि ये अग्नि[२] नहीं होते, इनमें अग्नि का रंग ही होता है, इनके जगमगाने[४] पर तृण नहीं जलते। वैसे ही ज्ञान के बिना ज्ञान की बातें करना रूप चेष्टा[३] से गुण नष्ट नहीं होते।

मान हुं मृतक पूत जणि, क्या हर्षे पितु मात।
त्यों रज्जब कछु वे नहीं, ज्ञान हीन गत[१] बात ॥८१॥

मृतक पुत्र को उत्पन्न करके क्या माता-पिता हर्षित होते हैं ? वैसे ही मानो, वे ज्ञान हीन व्यर्थ[१] की बातें करने वाले कुछ भी ब्रह्मानन्द प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

सीखे शब्द कबीर के, दिल बाँध्या कहिं नाहिं।
मनसा वाचा कर्मना, वह निगुरा मन माँहि ॥८२॥

कबीर के शब्द तो सीख लिये किन्तु उन शब्दों के अनुसार मन को किसी भी साधन में नहीं बाँधा है तो हम मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही

कहते हैं, वह प्राणी अपने मन में निगुरा ही है अर्थात् उसने मनमें गुरु धारण नहीं किया है।

गुरु बिन सीखी बहु गिरा,[1] ज्यों कारण[2] बिन कंत[3]।
कलित[4] हु माँहि कलंक यहु, निकसे लेत हु अन्त ॥८३॥

जैसे बिना स्वामी[3] की नारी का गर्भ[2] नारी[4] में कलंक रूप होता है और निकलने तक उसका अंत ले लेता है अर्थात् बहुत दुखी करता है, वैसे ही बिना गुरु से सीखी हुई बहुत-सी वाणी[1] होती है, वह शाँति की हेतु न होकर अपने को तथा दूसरों को विक्षेप प्रद ही होती है।

जन रज्जब गुरु बिन गिरा, सीखें अनंत अपार।
बहु पुरुषों पुरुष[1] नहीं, गणिका का अवतार[2] ॥८४॥

बहुत पुरुष होने पर भी वैश्या शरीर[2] का पुरुष[1] नहीं होता, वैसे ही गुरु बिना सीखी हुई अनन्त आपर वाणी भी मुक्तिप्रद नहीं होती है।

शब्द सकल के संग्रहै, गुरु एक हु नाँहि शीश।
रज्जब यहु वेश्या मता, मन वच विसवा बीस ॥८५॥

शब्द तो सबके संग्रह करके साथ रखता है किन्तु शिर पर गुरु एक को भी नहीं मानता, यह मन, वचन, कर्म से बीसों विसवा वेश्या के मत के समान ही है, जैसे वेश्या के पुरुष तो बहुत हैं किन्तु पति एक को भी नहीं मानती।

बहु बापों बाप हु नहीं, वेश्या बाल हि जोय।
त्यों निगुरे वैराग के, ठिक ठाहर नाँहि कोय ॥८६॥

देखो, बहुत-से पिता होने पर भी वेश्या के बालक का कोई पिता नहीं होता, वैसे ही गुरु रहित वैराग्य धारण करने वाले हैं, उनका भी कोई ठीक ठिकाना नहीं होता।

नीति नियम पति वरत की, नर निगुरे उर नाश।
रज्जब वेश्या बाल विधि, पिता पूत नाँहि आश ॥८७॥

जैसे वेश्या के बालक को पिता की आशा नहीं होती और उसके पिता को पुत्र की आशा नहीं होती, वैसे ही गुरु रहित नर के हृदय में गुरु से पति व्रत रखने की नीति और शिष्य के नियम नहीं होते।

उभय[1] अर्थ जाणें नहीं, कहत सुनत भई सांझ।
सो रज्जब निष्फल गये, ज्यों नर नारी बांझ ॥८८॥

कहते-सुनते संध्या हो जाती है किन्तु वक्ता और श्रोता दोनों[१] ही अर्थ को नहीं समझते, वे, जैसे बांझ नारी-नर संतान बिना ही चले जाते हैं, वैसे ही ज्ञान रूप फल प्राप्ति के बिना ही मर कर संसार में चले जाते हैं।

निगुरी वाणी खुदरू[१] लौण, ताहि[२] न मोल विसाहै[३] कौण।
गुरु मुख शब्द सर्व रस स्वाद, मोल बिकावे मुलक[४] सु आद[५]॥८९॥

गुरु बिना संग्रह की हुई वाणी क्षुद्र[१] लौंण के समान है, उस[२] क्षार को खाने के लिये कौन खरीदता[३] है, वैसे ही उस वाणी को कौन अपनाता है। गुरु मुख के शब्दों में सभी रसों के स्वाद होते हैं, जैसे देश[४] में सर्व रसों को आदि[५] काल से ही ग्राहक खरीदते आ रहे हैं, वैसे ही गुरु के मुख की वाणी को सब अपनाते आ रहे हैं।

नर नक्षत्र दीस हिं अनन्त, उदित अमावस रैन।
पहुंचै पून्यों प्रकट तुछ[५], अभ्यासै[६] नहिं सैन[७]॥९०॥

अमावस्या की रात्रि को अनन्त नक्षत्र उदय हुए भासते हैं किन्तु पूर्णिमा की रात्रि को वे सब नहीं भासते, थोड़े[५] से ही भासते हैं। इसी प्रकार संतों का संकेत[७] है कि अज्ञानावस्था में बहुत-से नर ज्ञानी भासते हैं किन्तु साधन के अभ्यास[६] द्वारा वास्तविक ज्ञान-दशा में पहुँचने पर वे सब ज्ञानी नहीं भासते, कोई विरला ही भासता है।

वैराग बघूले ज्यों उठै, अल्प अधूरी आव[६]।
रज्जब रहै न उस मतै[७], मत[८] मारुत नहिं पाव[९]॥९१॥

प्राणी का वैराग्य बघूले के समान उठता है किन्तु जैसे बघूले की आयु[६] थोड़ी-सी होती है, कारण-जब वायु नहीं मिलता तब बघूला भी नहीं रहता, वैसे ही जिस सिद्धान्त[७] को लेकर वैराग्य उठता है, उसमें मन स्थिर नहीं रहता और वह विचार[८] धारा मनमें न रहने[९] से वैराग्य भी अधूरी आयु में ही समाप्त हो जाता है।

च्यारि खानि चौरासी भरम्या, रज्जब रह्या न मांहि।
पै खानि पंचमी पग न ठाहरै, निगुरा निश्चल नांहि॥९२॥

जरायुज, अण्डज, स्वदेज, उद्भिज इन चार खानि और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहा किन्तु हृदयस्थ आत्मा राम के स्वरूप में स्थिर नहीं रहा और संत-शरण रूप पंचमी खानि में आने पर भी इसके पैर नहीं ठहरते। अतः निगुरा प्राणी निश्चल नहीं होता।

तन फेरे[५] चहु[६] खानि फिरि, पंचम में गुरु देव।
मूरख मरम[७] न जान ही, पड़ी फेरणी[८] टेव[९]॥९३॥

जरायुजादि चार[६] खानियों में शरीर को घुमाता[१] है और साधु बनना रूप पंचम खानि में गुरु देव की प्राप्ति होने पर भी स्त्रियों में चित्त को फिराने[८] का स्वभाव[६] पड़ जाने से मूर्ख प्राणी गुरु के शब्दों का रहस्य[७] नहीं जानता ।

काग रखे सुर पाख[७] इक, भोला पूजे लोय ।
भी[८] रज्जब मारैं सभी, करणी[६] नाहीं कोय ॥६४॥

काक पक्षी को श्राद्ध के एक पक्ष[७] में देवता मान कर उस पर श्रद्धा रखते हैं और भोले जन उसे पूजते हैं, फिर-भी[८] पक्ष समाप्ति पर उसे सभी मारने लगते हैं कारण-उसमें पूजने योग्य कोई कर्तव्य[६] नहीं होता । वैसे ही अज्ञानावस्था में प्राणी ज्ञान की बातें कहने वाले अज्ञानी को भी ज्ञानी मान कर पूजते हैं किन्तु साधन द्वारा वास्तविक ज्ञान होने पर उसको कोई भी ज्ञानी नहीं मानता कारण-उसमें ज्ञानी के समान धारणा नहीं होती ।

दशराहे[१] देखै दुनी,[२] नीलटांस[३] को नैन ।
तो कहा खलक[४] लें बाहुड़ी,[५] का खग[६] पाया चैन[७] ॥६५॥

विजय-दशमी[१] को नीलकण्ठ[३] नामक पक्षी को गरुड़ मान कर संसार[२] के मनुष्य नेत्रों से देखलें तो वे सांसारिक[४] जन क्या लेकर लौटते[५] हैं ? और उस पक्षी[६] को भी क्या सुख[७] मिलता है ? कारण वह माना हुआ ही गरुड़ है, वास्तव में तो गरुड़ है नहीं । वैसे ही जो अज्ञानी को ज्ञानी मान लेते हैं तब न तो उनको मुक्ति लाभ होता है और न उस अज्ञानी को ब्रह्म सुख मिलता है ।

गढवी[७] चारण राजा भाट, ढोली राणा उलटा ठाट[८] ।
रज्जब स्वामी सुध न सार, ज्यों भिषित[६] भ्रमि कह्या दातार ॥६६॥

जैसे भ्रम वश चारण को गढपति[७], भाट को राजा, ढोली को राणा सार सुधि रहित को स्वामी, और भिक्षुक[६] को दातार कहा जाता है, वैसे ही प्राणी अज्ञानी को ज्ञानी, असंत को संत कहते हैं, संसार में इसी प्रकार उलटा व्यवहार रूप आडम्बर[८] चलता है ।

ज्यों देखा देखी पंथ शिर,[६] पाथर कीजे ढेर ।
त्यों रज्जब संसार शठ[७], रती[८] न समझे फेर[६] ॥६७॥

जैसे मार्ग पर[६] बिना समझे ही देखा देखी यात्री जन पत्थर एकत्र करते रहते हैं, ५-७ पत्थरों का घर-सा बनाते रहते हैं । वैसे ही संसार के प्राणी मूर्ख हैं, साधु भेष धारी धूर्त्तों[७] के छल[६] को किंचित्[८] भी नहीं समझते और उनके जाल में फँस जाते हैं ।

ज्यों देखा देखी वृक्ष को चींधी[१] बाँधैं लोग ।
त्यों रज्जब समझैं नहीं, झूठा जग का जोग ।।९८।।

जैसे गाँव के लोग बिना समझे ही देखा देखी एक वृक्ष के कपड़े की लीरियां[१] बाँधते रहते हैं और उसे लीलरिया भैंरू कहते हैं । वैसे ही धूर्त द्वारा प्रतिष्ठा और जगत् के भोगों के लिये किये जाने वाले झूठे योग को न समझ कर प्राणी उसके फँद में फँस जाते हैं और रोगी होकर विक्षिप्त होते हैं ।

हुये गुदड़िये जाट ज्यों, जोग न आया हाथ ।
जन रज्जब फूलें फलें, जड़ युवती धर साथ ।।९९।।

कोई जाट साधु हो गया और गुदड़ी रखने लगा किन्तु योग युक्ति उसके हाथ न लगी, तब जड़ बुद्धि ने एक नारी अपनाली और उसके साथ रहने लगा । उसके संतान हो गई और उसका वंश अब गुदड़िये जाट फलते फूलते हैं अर्थात् बढ़ रहे हैं । वैसे ही सच्चे वैराग्य बिना अनेक भेष धारियों का पतन होता है, अतः भेष में कोई विशेषता नहीं है ।

दशा[६] औदशा[७] दूरि करि, दिल पर साहिब राखि ।
रज्जब रजमा[८] नाम में, साधु वेद की साखि[९] ।।१००।।

सु भेष रूप अवस्था[६] और बुरे भेष रूप दुर्दशा[७] का ध्यान तो मन से दूर कर और निरंतर हृदय में प्रभु का नाम-चिन्तन रख, नाम-चिन्तन में ही मुक्ति प्रदाता बल[८] है, इसमें वेद तथा संत भी साक्षी[९] देते हैं ।

जन रज्जब रीतो[६] रहति,[७] नाम बिना क्या होय ।
सिंहल द्वीप जती[८] घणे, सीझ्या[९] सुण्या न कोय ।।१०१।।

प्रभु नाम-चिन्तन बिना खाली[६] ब्रह्मचर्य[७] से क्या मुक्ति होती है ? सिंहल द्वीप में हनुमानजी की हाँक से बने हुए हिंजड़े[८] बहुत हैं किन्तु मुक्त[९] हुआ तो कोई भी नहीं सुना ।

सिंहल द्वीप में समय समय पर हनुमानजी हाँक लगाते हैं, जिस पुरुष के कान में उनकी आवाज पड़ जाती है, वह नपुंसक हो जाता है । हाँक का समय जानकर नारियाँ पुरुषों के कान बंद करके उनको तहखानों में उतार कर द्वारों पर नौबतें बजाती हैं इस प्रकार हाँक सुनने से पुरुष बचते हैं ।

त्यागी को लागी घणी[५], माया मेलन[६] मन्न[७] ।
यहु भी हूनर[८] देखिये, समझे समझो जन्न[९] ।।१०२।।

त्यागी को बहुत[५] सी माया लगी रहती है, वह शरीर को तो माया से अलग रखता है किन्तु मन[७] को माया से मिलाने[६] वाला होता है अर्थात् माया वाले अपने सेवकों का और माया का चिन्तन मन से करता रहता है, यह त्यागी होना भी लोकों को फँसाने की विद्या[८] है, समझे हुये लोगो[९] ! इसको विचार द्वारा ठीक समझो और कपटी त्यागियों के जाल से बचो ।

माया मृग उलटे चढहिं[५], विरक्त बधिक[६] सुभाय[७] ।
विभूति[८] उडावहिं[९] सन्मुखी, जड़ चेतन ठग खाय ॥१०३॥

माया का स्वभाव मृग के समान उलटे बढ़ने का है और विरक्त का स्वभाव[७] व्याध[६] जैसा है । व्याध बीणा बजाता है तब मृग उलटा व्याध की ओर बढता[५] है, व्याध उसे बीणा द्वारा सुख प्रदान करते हुये विश्वास दिलाकर मार देता है । वैसे ही विरक्त वैराग्य दिखाता है तब भक्तों द्वारा माया उलटी उसके पास आती है, उस ऐश्वर्य[८] को भक्तों के सन्मुख ही खर्च[९] कर देता है वा भक्तों को ही लौटा देता है । इस प्रकार अपने में अधिक श्रद्धा करा कर, जड़ बुद्धि मानवों को ठगने में सावधान विरक्त उन्हें ठग खाता है ।

उदार अहेड़ी[५] बधिक विधि, साधु शुद्ध सो नांहि ।
भूत[६] विभूति[७] उडावहीं[८] मृग माया फँद मांहि ॥१०४॥

जो साधु, शिकारी[५] व्याध के समान उदार है, वह शुद्ध साधु नहीं है, जैसे शिकारी वीणा बजाना रूप और जाल में मृगों के खाने योग्य वस्तु डालना रूप उदारता करता है, वह मृगों को अपने फंदे में फँसाने के लिये ही करता है । वैसे ही जो साधु अपना ऐश्वर्य[७] सेवकों[६] की सेवा में खर्च[८] करता है तो समझो वह अपने खर्च किये से अधिक उनसे लेना चाहता है, यही माया को फंदे में लाना है ।

आतम[५] ओढे लोक सब, ऊपरि नग्न शरीर ।
रज्जब रचना कपट की, संत न मानें वीर[६] ॥१०५॥

अन्त:करण[५] ने तो सब लोक ओढ रक्खे हैं अर्थात् अन्त:करण पर निरंतर संसार के संकल्प विकल्प रहते हैं और ऊपर से शरीर को नग्न कर रक्खा है, हे भाई[६] इस कपट की रचना को संत कल्याण प्रद नहीं मानते ।

रज्जब वसुधा व्योम बिच, सूर दिगम्बर रूप ।
सर सलिता ग्रासे सभी, सोखे वापी कूप ॥१०६॥

पृथ्वी और आकाश के मध्य सूर्य दिगम्बर रूप भासते हैं, किन्तु संपूर्ण तालाब तथा नदियों के जल को पी जाते हैं और बावड़ी कुओं को

भी सुखा देते हैं, वैसे ही दिगम्बर साधु वस्त्र ग्रहण न करने पर भी बहुत कुछ ग्रहण करता है, अतः दिगम्बरता सार हीन है।

रज्जब अंड अवस्था नग्न नर, नागेहु नागे नाँहि।
इमहुं दिगम्बर देखिये, बहुत पंख पट माँहि ॥१०७॥

अंडे की नग्नावस्था के समान नर भी नंगे देखे जाते हैं किन्तु वे नंगे होने पर भी नंगे नहीं हैं। अंडे के भीतर बहुत से पंख रूप वस्त्र हैं। वैसे ही दिगम्बर के अन्तःकरण में नाना भावना रूप वस्त्र हैं।

रे रज्जब मन नाम सौं, लागे शुद्ध न होय।
तो दिग अम्बर पहरि कर, सीझ्या सुण्या न कोय ॥१०८॥

मन शुद्धि के परम कारण नाम चिन्तन में लगने से यदि मन शुद्ध नहीं होता तब दिशा रूप वस्त्र से अर्थात् नग्न रहने से तो कोई भी मुक्ति रूप सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ नहीं सुना जाता।

तन नागा बहुतै करैं, मन नागा नँहि होय।
रज्जब मन नागे बिना, कारज सरे[७] न कोय ॥१०९॥

शरीर को तो नंगा बहुत लोग कर लेते हैं किन्तु मन नग्न नहीं होता। भोग-वासना रूप वस्त्र त्याग कर मन को नग्न किये बिना किसी प्रकार भी मुक्ति रूप कार्य सिद्ध[७] नहीं होता।

सकल दिगम्बर देखिये, चौरासी लख जीव।
बागे[८] गठि बँधण नहीं, कहु किन पाया पीव ॥११०॥

विचार करके देखें सभी चौरासी लाख जीव दिगम्बर हैं। वर के वस्त्र के वधू का वस्त्र बाँधना रूप गठबंधन के बिना किस नारी ने पति प्राप्त किया है? वैसे ही वस्त्र[८] रहित रहकर किसने प्रभु को प्राप्त किया है? यदि वस्त्र रहित को प्रभु मिलते तब तो सभी पशु पक्षियों को प्राप्त हो जाते। अतः दिगम्बरता प्रभु प्राप्ति का साधन नहीं है।

मानहु कपड़े काँचली, तज सु नग्न नर नाग।
रज्जब नख शिख विष भरे, ठाहर[८] उभय अभाग ॥१११॥

मानलो कि-जैसे सर्प अपनी कांचली त्याग देता है, वैसे ही मनुष्य ने भी अपने कपड़े त्याग दिये किन्तु काँचली त्याग कर भी सर्प विष से भरा रहता है, वैसे ही मनुष्य कपड़े त्याग कर भी नख से शिखा तक विकारों से भरा रहता है, अतः दोनों ही शरीर रूप स्थानों[८] का त्याग अभाग्य-पूर्ण है।

नागे पग नाहर[1] फिरै, पिशुन[2] पशू हत खाय।
महर[3] माँहि मौजे पहरि, मुगलों छोड़ी गाय ॥११२॥

सिंह[1] नंगे पैरों फिरता है किन्तु वह दुष्ट[2] पशुओं को मारकर खाता रहता है और मुगलों ने जूते के भीतर और एक मौजा पहन कर भी हृदय में दया[3] होने से गाय मारना छोड़ दिया था, अतः जूता त्यागने से परमार्थ में कोई लाभ नहीं है।

रज्जब चुपड़े अशन[5] अति, वसन[6] सु रूखे रंग।
मन वच कर्म कपटी कला, केशू[7] के से अंग[8] ॥११३॥

भोजन[5] तो खूब घी से चुपड़ कर खाते हैं और वस्त्र[6] रूखे रंग के पहनते हैं, इन कपटी जनों के मन, वचन, कर्म में कपट पूर्ण कलायें ही रहती हैं, जैसे केशूला[7] का फूल दूर से तो सुन्दर दीखता है किन्तु होता निर्गंध है, वैसे ही ये दीखते तो विरक्त हैं किन्तु शुभ लक्षणों[8] से हीन ही होते हैं।

रज्जब नाम विमुख विरकत बहुत, कोई सीझे[9] नाँहि।
चौरासी सब चीर बिन, कनक न गांठ्यों[7] माँहि ॥११४॥

प्रभुके नाम चिन्तन से विमुख विरक्त बहुत हैं किन्तु कोई भी मुक्त[9] नहीं होता। वस्त्र और सुवर्ण त्याने से ही मुक्ति हो जाय तब तो चौरासी लाख योनियों में प्रायः सभी वस्त्र रहित हैं और सुवर्ण भी उनके पास[7] नहीं है, उनकी मुक्ति हो जानी चाहिये।

वपु बागहु[1] बिरच्या[2] सही,[3] ज्यों सलिल उतार हि झाग।
तो रज्जब मन मच्छतैं, शवित[4] सलिल[5] भए त्याग ॥११५॥

जैसे जल झागों को उतार देता है तब मच्छ से जल[5] का त्याग होता है क्या? वैसे ही वस्त्रों[1] से तो निश्चय[3] ही विरक्त[2] होकर शरीर से उतार देता है किन्तु मन से माया[4] का त्याग होता है क्या?

बागे[6] त्यागे नरों ने, ज्यों तरुवर पतझार।
दिन दश नागे देखिये, पुनि ढाँके व्यवहार ॥११६॥

जैसे वृक्ष पतझर के समय पत्ते त्याग देता है किन्तु दश दिन में पुनः पत्तों से ढँक जाता है, वैसे ही बहुत नरों ने भी वस्त्र[6] त्यागे हैं और कुछ दिन सबल रहे तब तक नंगे देखे गये हैं किन्तु पुनः वस्त्र से शरीर ढाँकने का व्यवहार उनका देखा गया है।

उघड्यों[1] ढक्यों[2] न ढूलि[3] मिलैं, प्राणि पारखू[4] साध।
त्रय[5] सूधों[6] त्रय शुद्ध है, रज्जब बुद्धि अगाध ॥११७॥

प्राणी के परीक्षक[४] संत वस्त्र रहित[१] होने से वा वस्त्र पहने[२] रहने से प्रसन्न[३] होकर नहीं मिलते किन्तु वे अगाध बुद्धि वाले संत तो मन, वचन और शरीर तीनों[५] का व्यवहार सरल[६] होकर मन, वचन और शरीर तीनों शुद्ध होते हैं तभी प्रसन्न होकर मिलते हैं।

निशि नागे नर कन रहैं, दिन देखे त्यों देव।
भोजन समय सु गुरु नगन, धिक् सु दिगम्बर सेव ॥११८॥

दिन को देवता के समान देखे गये वे ही नर रात्रि को नग्न होकर पास ही रहते हैं, भोजन के समय वर्णों के गुरु ब्राह्मण वा बड़े लोग वस्त्र उतारते ही हैं, फिर भी दिगम्बर के पास जाकर उसकी सेवा करना धिक्कार ही है।

दाम[१] भाम[२] मांहीं रहति,[३] आदम[४] अदभू[५] ठाट[६]।
रज्जब राम न पाव ही, भूले भजन सु बाट[७] ॥११९॥

जैसे वृक्षों[५] के झुण्ड[६] पृथ्वी से ऊपर दीखते हैं किन्तु उनकी जड़ पृथ्वी में ही रहती है। वैसे ही जो ऊपर से विरक्त दीखते हैं उन मनुष्यों[४] की वृत्ति धन[१] और नारी[२] में ही रहती[३] है। ऐसे जन भजन रूप मार्ग[७] को तो भूले हुये रहते हैं, अतः उन्हें राम का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

काया सौं कामिनि तजी, मन भुगतै रणि[१] वास[२]।
रज्जब वपु वन खंड में, चाहै कनक अवास[३] ॥१२०॥

शरीर से तो नारी का त्याग कर दिया है किन्तु मन तो राणियों[१] के निवास[१] स्थान में जाकर उनका उपभोग करता है। शरीर तो वन-खण्ड में है और मन सुवर्ण का भवन[३] चाहता है। ऐसे वैराग्य से पारमार्थिक लाभ कुछ भी नहीं होता।

बाहर बंध विराग के, भीतर गृही जु लोग।
रज्जब राम हि क्यों मिल हि, इहि पाखंडी जोग ॥१२१॥

लोगों ने बाहर तो विरक्त के समान भेष-भूषादि का बन्धन लगा रक्खा है किन्तु भीतर गृहस्थी बने हुये रहते हैं, ऐसे प्राणी इस पाखंड के योग से प्रभु को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

काम कलणि[४] मांही कले,[५] गाफिल[६] गल ज्यों गात[७]।
रज्जब बीधे[८] व्याधि में, मुख सु राम की बात ॥१२२॥

जैसे किसी का शरीर[७] दलदल में गले तक डूब[५] जाय तब वह व्याकुलता पूर्वक बोलता है, वैसे ही काम रूप व्याधि से विद्ध[८] प्राणी

असावधानी[६] द्वारा ही मुख से राम की बात कहते हैं, मन में तो काम की ही लहर उठती रहती है।

दिये दाम नहिं कर चढ़ै, बिना उपासि[१] उपाधि[२]।
अन दीये सु अतीत[३] लै, कपट कसौटी[४] साधि[५] ॥१२३॥

हाथ से दिये हुये दाम भी पास[१] बैठकर समझाये बिना, वा कोई उपद्रव[२] करे बिना हाथ में नहीं आते, किन्तु कपटी साधु[३] बिना दिये भी कपट पूर्ण साधना करने के कष्ट[४] को सहन-करके[५] ले लेता है।

कपट कसौटी[५] ठग विद्या, आसन अधर कराय।
रज्जब लोभी लालची, सकल धरे[६] के भाय ॥१२४॥

अधर आसन करना आदि कपट पूर्ण साधन-कष्ट[५] सहन करना ठग विद्या है, ये सब मायिक[६] पदार्थों के लिये ही लोभी लालची प्राणी करते हैं।

पर[५] मन माया लेण को, विविध कसौटी[६] कीन[७]।
रज्जब जीव रीता रह्या, महा मुग्ध[८] मति हीन ॥१२५॥

महा मूर्ख[८] बुद्धिहीन जीव दूसरों[५] के मन और माया को हरने के लिये नाना कष्ट[६] सहन करता[७] है किन्तु फिर भी खाली ही रह जाता है।

मन तन मर्दा[५] मान[६] को, करी मीच[७] लग[८] नीच।
रज्जब आतम राम का, तऊ[६] न भागा बीच[४] ॥१२६॥

नीच प्राणी मान-प्रतिष्ठा[६] के लिये तन-मन को भी कुचल[५] डालता है, मृत्यु[७] तक[८] सभी विपत्तियाँ सहन करता है, तो[६] भी उसके आत्मा और राम का भेद[४] दूर नहीं होता।

रज्जब कौड़ी ना गहै, करि दासों में वास।
ज्यों जल मीन न मुख पिवै, बिन तोयं[५] तन नाश ॥१२७॥

मच्छी मुख से तो जल नहीं पान करती किन्तु जल[५] बिना उसका शरीर नष्ट हो जाता है, रह नहीं सकता। वैसे ही कपटी विरक्त कोड़ी पैसों को तो हाथ में नहीं लेता किन्तु मायिक भोगों के उपभोगार्थ श्रीमान् सेवकों में निवास करता है, भोगों बिना नहीं रह सकता।

मीन मुनीश्वर होय कर, रहे दास दह कोस।
रज्जब पंखी प्राण को, जल निधि लेत सु रोस ॥१२८॥

मच्छी मुख से जल न पीने पर भी जल के दह में रहती है। वैसे ही कपटी मुनीश्वर पैसा नहीं छूने पर भी सेवकों के खजाने के पास रहता है और जैसे समुद्र में स्थित राक्षस प्रकट रूप से तो किसी को नहीं पकड़ता किन्तु उसके ऊपर जाने पर पक्षियों को कोप पूर्वक पकड़ लेता है, वैसे ही कपटी विरक्त ऊपर से तो विरक्तता दिखाता है किन्तु मन से सेवक को दृढ़ता से पकड़े रहता है।

रज्जब दासौं माँहीं वास करि, स्वामी श्वान विशेख।
अयाचक गृह गहि रह्या, भुसै अतीतों देख ॥१२६॥

जैसे विशेष रूप से पालतू कुत्ता घर पर रहकर दूसरे के कुत्तों को भुसता है घर में नहीं जाने देता। वैसे ही स्वामी अयाचक हो सेवकों के घर का आश्रय पकड़ कर वहां ही निवास करता है और भिक्षार्थ आये हुये साधुओं को देखकर विक्षिप्त होते हुये कहता है घरों में क्यों फिरते हो ? बैठ कर भजन करो।

आदम[५] ईदम[६] सारिखा, देखर भुसे फकीर[७]।
चौरासी माँही नहीं, दूजा वहि[८] सम वीर[९] ॥१३०॥

ब्रह्म ज्ञानी मनुष्य[५] ब्रह्म[६] रूप होता है किन्तु साधारण भेषधारी साधु[७] अपने सेवक के घर आने पर उसे जैसे, कुत्ता अपने मालिक के घर आने पर अच्छे मनुष्य को भी भुसता है वैसे ही वह भेषधारी उसे यहाँ क्यों आया है ? इत्यादि वचनों से उसका अनादर करता है। किन्तु हे भाई[९] ! उसे यह भेषधारी जानता नहीं है। उसके[८] समान तो चौरासी लाख योनियों में पूजनीय दूसरा है ही नहीं। वह ब्रह्म रूप होने से सर्व श्रेष्ठ है।

दास देश दिल में गहे, देह दिगम्बर होय।
माँड[५] रिझाई भांड मत[६], मुझ मानें सब कोय ॥१३१॥

सेवक और सेवक के देश को मन से पकड़े रहता है और शरीर से दिगम्बर रहता है, भांड के समान[६] चेष्टा करके ब्रह्माण्ड[५] के प्राणियों को प्रसन्न करता रहता है और मन में यही अभिलाषा बनी रहती है कि सब कोई मुझे महान् मान कर पूजें।

औंधे कर पाणी घड़े, सूधी कीन्ही आस।
त्याग दिखावै जगत को, करैं ताल पर वास ॥१३२॥

जैसे कोई जल के घडों को तो खाली करके औंधे रख दे और तालाब पर निवास करे, वैसे ही जगत् के लोकों को त्याग दिखाते हैं और मनोवृत्ति को सीधी विषयाशा में लगाये रहते हैं, यह दंभ है।

गहै सगरथी[५] गूदड़ी, तजै निगरथा[६] नीर।
रज्जब रचना कपट की, पाखंड मांड्या[७] वीर[८] ॥१३३॥

ढूंढिये साधु बहुमूल्य[५] गुदड़ी अर्थात् शीत काल में मल मल आदि के थानों को ओढते हैं और बिना-मूल्य[६] मिलने वाला शुद्ध जल त्यागते हैं, धोवन आदि का जल पान करते हैं। हे भाई[८]! इनकी यह रचना कपट पूर्ण है और पाखंड ही करना[७] है।

अमर बेलि सम ओलिया, जगत जमी निर्मूल।
रज्जब पलहि सु नर तरु हु, छूटण का नहिं मूल[५] ॥१३४॥

संत अमर बेलि के समान है, जैसे अमर बेलि की जड़ पृथ्वी में तो नहीं होती किन्तु वह वृक्ष के आश्रय पलती है, वृक्ष से अलग नहीं रह सकती। वैसे ही संत जगत् में निर्मूल अर्थात् आसक्ति रहित होते हैं तो भी जगत् के मनुष्यों से शरीर निर्वाह करते हैं, अतः यह शरीर निर्वाह का मूल हेतु[५] नरों का सम्बन्ध संत के शरीर से भी छूटने वाला नहीं तब कपटी से तो छूटेगा ही कैसे?

जड़ विहूंण[५] जल-मंडली[६], जीवै पाणी मांहि।
त्यों अतीत[७] आशा रहित, परि आलम[८] न्यारे मांहि ॥१३५॥

जैसे काई[६] जड़ रहित[५] होती है किन्तु जल बिना जीवित नहीं रह सकती, वैसे ही संत[७] आशा रहित होते हैं किन्तु संसार[८] से अलग नहीं रह सकते।

तीन दाम को चूकणी[५], मुहरहिं चूकण[६] जाय।
त्यों रज्जब साधु हि असध[७], शब्द चुभोवै आय ॥१३६॥

जैसे किसी से तीन दाम (एक दमड़ी) तो लेना[५] हो और मुहर लेने[६] जाय तब झगड़ा ही होगा। वैसे ही असाधु[७] अर्थात् कपटी लोग साधुओं के पास आकर तर्क वितर्क करना रूप शब्द चुभोते हैं तब विक्षेप ही होता है।

लोहै सोना छेड़िये, लोहै कंचन तोल।
पै रज्जब रज[६] तज काढतों, सरभरि[५] लहै न मोल ॥१३७॥

लोहा से सुवर्ण पीटा जाता है, काटा जाता है और लोहा से सुवर्ण तोला जाता है किन्तु रेत[६] से निकाल कर मैल निकालने पर भी लोहा सुवर्ण के बराबर[५] मूल्य नहीं प्राप्त करता। वैसे ही असाधुओं द्वारा साधु पीटा जाता है, बाहर के भेष से बराबर माना जाता किंतु परीक्षक के पास असाधु साधु के बराबर नहीं हो सकता।

साधु असाधों सौं संकै[1], भूल न छूज्यो भेंटि ।
कोड़ी सौं कुंजर डरै, सोवै सूंडि समेटि ॥१३८॥

जैसे चींटी से हाथी डरता है, मेरी सूंड में चींटी न घुस जाय। ऐसी शंका से सूंड को समेट कर सोता है। वैसे ही साधु असाधुओं से डरते[1] हैं और सोचते हैं–हमें भूल से भी असाधु नहीं मिलना चाहिये।

मयंद[1] सु डरपै माछर हुं, देखो कदरज[2] खांहि ।
एक पूंछ के झाट[3] के, केते मारे जांहि ॥१३९॥

देखो, सिंह[1] की पूंछ के एक झपेटे[3] से कितने ही मारे जाते हैं, उन कायर[2] मच्छरों से सिंह डरता है। वैसे ही समर्थ होने पर भी साधु असाधुओं से डरते हैं।

सो[1] धी[2] बिन सिध[3] देखिये, सांई पावै नांहि ।
सुरति बँधी रिधि-सिद्धि सों, फिरि आये कलि[4] मांहि ॥१४०॥

उस[1] ब्रह्म ज्ञान युक्त बुद्धि[2] बिना जो सिद्ध[3] दिखाई देते हैं, वे प्रभु को नहीं प्राप्त होते। जिनकी वृत्ति ऋद्धि-सिद्धि में बँधी रहती है अर्थात् आसक्त रहती है, वे पुनः जन्मादि दुःखों[4] में ही आते हैं।

माया मांहि मिल्या मन खेलै, कहिबे को मुख केवल राम ।
सांई नांहि मिले इन बातें, रज्जब सरचा न एकै काम ॥१४१॥

मन तो मायिक पदार्थों से मिल कर क्रीड़ा करता है और केवल कहने के लिये मुख में राम रहता है, इन बातों से प्रभु प्राप्त नहीं होते। ऐसे मनुष्यों का व्यवहार और परमार्थ रूप दोनों कामों में से एक काम भी सिद्ध नहीं होता।

मांही माया चाहिये, ऊपर भये उदास[1] ।
रज्जब राम हि क्यों मिलैं, ध्यान धरे[2] के पास ॥१४२॥

भीतर तो माया की अभिलाषा लगी हुई है और ऊपर से विरक्त[1] हो रहे हैं, वे राम से कैसे मिल सकेंगे ? कारण–ध्यान तो सदा मायिक[2] पदार्थों के पास ही रहता है।

बाहर सौं विरक्त भये, भीतर भूख[1] अनन्त ।
जन रज्जब जग यूं ठगहिं, बहुरि कहावैं संत ॥१४३॥

बाहर से तो माया से विरक्त हो रहे हैं और मन में माया की बहुत इच्छा[1] लगी है। इस प्रकार पाखंड से जगत् के प्राणियों को ठगते हैं, फिर भी संत कहलाते हैं।

ब्रह्म मिल्या भी चाहिये, अरु माया सौं काम ।
जन रज्जब कहु क्यों मिलै, अन्तरयामी राम ।।१४४।।

ब्रह्म से मिलना भी चाहते हैं और माया में भी आसक्त रहना चाहते हैं, कहो ? ऐसे मनुष्यों से अन्तर्यामी राम कैसे मिल सकते हैं, वे तो उनके भीतर की बात जानते हैं।

रज्जब काया कूप में,, करंक[1] कामना माँहि ।
जब लग सो निकसे नहीं, तो जल काढैं कछु नाँहि ।।१४५।।

कूप में अस्थि-पञ्जर[1] पड़ जाता है तब, जब तक वह कंकाल नहीं निकाला जाता तब तक उसका जल पीने के लिये कुछ भी नहीं निकाला जाता। वैसे ही अंतःकरण में कामना रहती है तब तक उसका ज्ञान कोई भी धारण नहीं कर पाता।

सूते स्वपना विलसिये, जागे व्है योगीन्द्र ।
रज्जब सीझै[1] कौन विधि, मनवा मैले[2] मन्द्र[3] ।।१४६।।

सोने पर स्वप्न में तो भोग विलास करता है और जगने पर योगीन्द्र हो जाता है, जब तक मन मलीन[2] विषयों में प्रसन्न[3] होता है तब तक किस प्रकार मुक्त[1] हो सकता है ?

घर वन पशु माणस[1] रहै, उभय[2] न पलट हि अंग ।
यहु रज्जब भागा भरम, फिर हि न नाणे नंग ।।१४७।।

मनुष्य[1] और पशु घर तथा वन दोनों[2] स्थानों में ही रहते हैं किंतु स्थान परिवर्तन से उन दोनों के ही शरीर में कोई परिवर्तन नहीं होता। स्थान परिवर्तन से परिवर्तन होने का जो यह भ्रम है, वह हमारा तो भाग गया है। जैसे सिक्के और नगों में परिवर्तन नहीं होता वैसे ही नंगे और ढँके रहने से भी मनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

पशु प्राणी पलट हि नहीं, घर वन वासा झूठ ।
रज्जब रीते राम बिन, रजु[1] होहु भावे[2] रूठ[3] ।।१४८।।

घर वा वन में रहने से बदलने की बात मिथ्या है, पशु तुल्य प्राणी कहीं भी नहीं बदलते, राम के भजन बिना खाली ही रहते हैं, यही यथार्थ बात है, इससे चाहे[2] कोई प्रसन्न[1] हो वा रुष्ट[3] हो।

बणिजारे बिचर हिं सदा, बनिये बैठैं हाट ।
रज्जब चंचल अचल गति, सुरति शक्ति[1] की बाट ।।१४९।।

बणजारे सदा विचरते रहते हैं और बनिये सदा हाट पर बैठे रहते हैं, चंचल बणजारों की तथा स्थिर बणियों की वृत्ति का गमन तो माया[१] के मार्ग में ही होता है। अतः विचरने में वा एक स्थान में रहने से परमार्थ सम्बंधी हानि लाभ नहीं होता, वृत्ति ब्रह्म में रखने से ही ब्रह्म प्राप्ति रूप लाभ होता है।

कर हि कीरतन प्रेम सौं, माया देखि मजदूर।
जन रज्जब ऐसी भगति, हरि सौं नहीं हजूर ॥१५०॥

धन मिलने की संभावना देख कर प्रेम से कीर्तन करते हैं, वे मजदूर हैं, ऐसी भक्ति प्रभु के पास उपस्थित नहीं कर सकती।

रज्जब भाड़े की भगति, कर हि कलंकी जीव।
भजन बेच पेट हि भरैं, कदे न मानें पीव ॥१५१॥

अपराधी जीव ही भाड़े की भक्ति करते हैं, भजन को बेचकर केवल पेट ही भरते हैं, ऐसे प्राणी प्रभु को कभी भी नहीं प्राप्त कर सकते।

हरि यश बेचैं पेट को, मंद भागि वे जानि।
जन रज्जब निर्मोल का, मोल कराया आनि ॥१५२॥

जो पेट भरने के लिये हरि यश को बेचते हैं, वे मंद भागी हैं, ऐसा ही जानो। वे मूल्य से रहित हरि यश का मूल्य कराते हैं अर्थात् पहले रुपये निश्चित करा लेते हैं फिर कथा करते हैं।

रिधि सिधि तज वैकुण्ठ लग, भक्ति हि बांछै साध।
जन रज्जब सो बेचिये, मोटा व्है अपराध ॥१५३॥

ऋद्धि सिद्धि और वैकुण्ठ तक के सुखों को त्याग कर संत प्रभु की भक्ति ही चाहते हैं, लोभी प्राणी उसी को बेच देते हैं, उनसे यह महान् अपराध होता है।

नाम हि बेचत विकत है, नाम लिहारी[१] प्राण[२]।
अन बेचे सु गुलाम है, नाम धनी[३] सब जाण ॥१५४॥

नाम को बेचने से अर्थात् पैसे लेकर माला फेरने से नाम को लेने[१]-वाला अर्थात् माला फेरने वाला प्राणी[२] ही बिकता है, नहीं बेचता वह दास है। नाम का स्वामी[३] नामी सब बात जानता है, अतः उसके पास नाम को बेचकर भक्त बनने की चतुराई नहीं चलती।

नीर नेह नग नाम में, मोल तोल तिन नेत[१]।
देणहार भूखे सु देंहि, भाग सभागे लेत ॥१५५॥

नग में उसका पानी (तेजी) और नाम में नाम जप करने वाले का प्रेम, ये दोनों ही नग और नाम का मूल्य-माप नियत[1] कराते हैं। भूखे लोग ही नग तथा नाम चिंतन को बेचते हैं और भाग्यवान् ही नग तथा नाम को लेते हैं।

व्याल[1] बन्दरों तुल्य ताइफे,[2] बाजीगर सु महंत।
रज्जब लोभी लालची, मिले सु माया मंत[3] ॥१५६॥

साधुओं की मण्डली[2] तो सर्प[1] तथा वानरों के समान है और महंत बाजीगर के समान है, जैसे लोभी बाजीगर सर्प और वानरों को लिये फिरता है, वैसे ही लालची महंत साधुओं को लिये फिरता है, ये माया के लिये उद्योग[3] करते हैं, अतः माया में ही मिलते हैं।

कलि[1] रीझे[2] कपि की कला, वित[3] बाजीगर खाय।
रज्जब इस पाखण्ड की, महिमा कही न जाय ॥१५७॥

वानर अपनी कला दिखाता है तब उससे प्रसन्न होकर जो पैसे लोग देते हैं, उन्हें बाजीगर खा जाता है। वैसे ही मण्डलियों के व्यवहार से प्रसन्न[2] होकर कलियुग[1] के लोग धन[3] देते हैं, उसे महंत खा जाता है। इस पाखण्ड की महिमा हम से कही भी नहीं जाती अर्थात् उनके व्यवहार को कहने में भी लज्जा आती है।

जीव बाजीगर डाँक[1] मुख, आसण कला अपार।
रज्जब आया भूखले,[2] मंगिण[3] इहिं संसार ॥१५८॥

जैसे बाजीगर छोटा नगाड़ा[1] बजाकर आसनादि कलायें दिखाता है और इच्छा लेकर ग्राम में माँगने आता है। वैसे ही जीव मुख से बोलकर अपार कलायें दिखाता है और विषयाशा[2] लेकर इस संसार में मांगने[3] आया है।

तन हिं नचाव हिं जीव बहु, मन हुं मुनीश्वर प्राण[1]।
रज्जब मन के नृत्य बिन, मौज[2] दर्श नहिं दान[3] ॥१५९॥

शरीर को तो बहुत जीव नचाते हैं किंतु मन को मुनीश्वर प्राणी[1] ही नचाते हैं भगवद् भजन रूप मन के नृत्य बिना भगवान् दर्शन का आनन्द[2] प्रदान[3] नहीं करते।

बाजे गाजे[1] ऊपरं, मन मगनी[2] हो जाँहिं।
रज्जब रीझे[3] गाय सुन, शब्द भेद[4] नहिं माँहिं ॥१६०॥

बजते हुए बाजों के समूह की ध्वनि[1] के ऊपर मन मग्न[2] हो जाता है और गाकर तथा सुन कर प्रसन्न[3] होता है किंतु शब्द के रहस्य[4] को नहीं जानता।

रज्जब रागी राग के, उरग मिरग मन माँहि।
स्वर साटे शिर देत हैं, सीझे सुने सु नाँहि ॥१६१॥

सर्प और मृग दोनों के ही मन में राग का प्रेम है, वे स्वर के बदले में अपने शिर देते हैं, किंतु उनमें कोई भी मुक्त हुआ नहीं सुना गया। वैसे ही जो केवल राग के ही प्रेमी होते हैं शब्दों में स्थित रहस्यमय ज्ञान को नहीं जानते, वे मुक्त नहीं हो सकते।

खुड़के[1] खाई में पड़ै, शठ[2] सूवर मति हीन।
त्यों ही आवहि जाल में, डल[3] डभके[4] सुण मीन ॥१६२॥
त्यूं ही कलियुग करण वश, करषि[6] कुलाहल[5] लीन।
रज्जब सूने[7] शोर[8] यूं, संसारी वश कीन ॥१६३॥

जैसे सूवर को पकड़ने की खाई में खाने की वस्तु का अनुमान[1] करके बुद्धि हीन मूर्ख[2] सूअर खाई में पड़ जाता है। इसी प्रकार माँस वा अन्न के टुकड़े[3] का जल में पड़ने का शब्द[4] सुन कर मच्छी जाल में आ जाती है ॥१६२॥ वैसे ही कलियुग में प्राणियों को वश करने के लिये लोग गाने-बजाने के कोलाहल[5] रूप आकर्षण[6] में लीन होते हैं। इस प्रकार ज्ञान-शून्य[7] कोलाहल[8] से सांसारिक प्राणियों को वश करते हैं।

ज्यों हांडी अदहण[1] सु जल, त्यों बाजे सब राग।
नाज नाम बिन झूठ सब, भूख हुं मरहि अभाग ॥१६४॥

जैसे हँडिया में दालादि के लिये गर्म[1] रक्खा हुआ जल बोलता है, वैसे ही सब राग बजती हैं, उक्त जल में दालादि अन्न न डाले तो वह अभागा भूखों ही मरेगा। वैसे ही प्रभु नाम चिन्तन बिना सब मिथ्या है। नाम चिंतन को छोड़कर अन्य क्रियाओं में संलग्न रहता है वह अभागा आशा के द्वारा बारंबार मृत्यु को ही प्राप्त होता है।

सूवा[1] सारो[2] संग्रहें[3], सुणि सुठि[4] मीठा बोल।
रज्जब वाणी वश पड़े, घरि घरि बेचै मोल ॥१६५॥

शुक[1] पक्षी और मैना[2] पक्षी की सुंदर[4]-मधुर बोली सुन कर के ही पकड़ने वाले उन्हें पकड़ते[3] हैं। देखो, वे अपनी वाणी से ही दूसरों के वश में पड़ते हैं और घर-घर पर मोल बेचे जाते हैं। वैसे ही साधनहीन उपदेशक सुन्दर-मधुर वाणी से ही मुक्त नहीं होते, उलटे बंधन में भी पड़ जाते हैं।

डूम न डरपै माँगता, संसारी अरु साध।
रज्जब भाने[1] चाहि[2] चख[3], भीतर भूख अगाध ॥१६६।

डूम, सांसारिक वा साधु दोनों से ही माँगने में भय नहीं करता, उसकी अभिलाषा[2] उसके नेत्रों[3] को फोड़[1] डालती है। वैसे ही माँगने वालों के भीतर अपार आशा रहती है, वे सभी से माँगते ही रहते हैं फिर भी उनकी आशा पूर्ण नहीं होती।

रज्जब डरिये डूम सौं अतिगति[2] खोटा खूम[1]।
भिश्त[3] छाडि दोजख[4] चल्या, देखि सु धुकता[5] धूम[6] ॥१६७॥

याचक रूप डूम से डरना ही चाहिये, वह मदिरा-घट[1] के समान अत्यन्त[2] खराब होता है। जैसे जलते[5] हुए अग्नि में धुआँ[6] होता है, वैसे ही अच्छाई में दोष होता है। वह स्वर्ग[3] को छोड़ कर नरक[4] को जा रहा है।

मंगित[1] मन ठाहर नहीं, नित तृष्णा मग[2] पग्ग[3]।
सब दिशि[4] चगता[5] देखिये, तो कहिये जाचग्ग[6] ॥१६८॥

माँगने[1] वाले का मन स्थिर नहीं होता, नित्य तृष्णा रूप मार्ग[2] में ही लगा[3] रहता है। सब ओर[4] डूलता[5] ही देखा जाता है, इसीलिए याचक[6] कहते हैं।

मंगित[1] गति[2] मांही नहीं, मंगिण[3] गिण्या न जाय।
रज्जब राखै कौन विधि, नर देखो निरताय[4] ॥१६९॥

यदि मांगने[1] की चेष्टा[2] भीतर न हो तो, उदर पूर्ति के लिए मांगने वाला संत मंगता[3] नहीं गिना जाता। हे नरो ! तुम भी विचार[4] करके देखो, वह किस प्रकार संग्रह करके रख सकता है ?

नाम भिखारी[1] आरति[2] आर,[3] रसणि[4] पुराणी[5] रोप्या सार[6]।
रज्जब सती[7] सु धौरी[8] डरै, जाचत छेद[10] पुडै[9] मति करै ॥१७०॥

जैसे किसान बैल को चलाने के दण्डे[5] के अग्र भाग में लोहे[6] की कील[3] रोप कर बैल के चूतड़[9] पर चुभोता[10] है तब उससे डर कर बैल[8] चलता है। वैसे ही नाम चिन्तन करने वाला भिक्षु[1] निवृत्ति[2] को जिह्वा[4] में रोपता है अर्थात् वैराग्य पूर्ण वचन बोलते हुए सद्गृहस्थ[7] की बुद्धि याचना द्वारा वेधता[10] है, तब सद्गृहस्थ डर कर भिक्षा देते हुए परमार्थ मार्ग में चलता है। इस प्रकार संत रूप भिक्षु से परोपकार ही होता है।

लालच लक्ष्मी को चलै, लाज पछमना[1] लेय[2]।
मंगित[3] चढ्या हिंडोल ने, पग न धीर धर देय ॥१७१॥

लालचवश लक्ष्मी को संग्रह करने के लिये मांगने जाते हैं किंतु पीछे[1] लज्जा को ही प्राप्त[2] होते हैं। मांगने[3] वाला हिंडोले पर चढ़े हुए के समान है, जैसे हिंडोले पर चढ़ा हुआ धैर्य से पृथ्वी पर पैर नहीं रख सकता, वैसे ही याचक धैर्य पूर्वक पृथ्वी पर पैर नहीं रख सकता उसका पैर लज्जा से डगमगाता है।

रज्जब दीन देह आधीन वाइक,[1] भूत[2] भीत[3] प्रस्वेद[4]।
मांगते व्है मींच समयो, भिन्न नांहि न भेद[5] ॥१७२॥

माँगने वाले का देह दीन हो जाता है, वाणी[1] पराधीन हो जाती है, स्वतंत्रता से नहीं बोल सकता, वह प्राणियों[2] से डरा[3] हुआ-सा रहता है। उसके शरीर में पसीना[4] आता रहता है, मांगते समय मृत्यु का-सा समय हो जाता है, मृत्यु से भिन्नता नहीं रहती और न रहस्य[5] का ज्ञान रहता है।

एक बोलते अति भले, इक अन बोले कछु नांहि।
रज्जब नर नारेल ज्यों, मौनी चिकटे माँहि ॥१७३॥

नर नारेल के समान है, जैसे नारेल बोलता हुआ अच्छा माना जाता है, वैसे ही एक नर तो बोलते हुए अच्छा लगता है, कारण-उचित और मधुर बोलता है और जैसे एक नारेल भीतर से तो चिकटा है किंतु बोलता नहीं, वैसे ही एक नर मौनी होता है किंतु भीतर प्रभु-प्रेम से संपन्न है। अतः बोलने तथा मौन में कोई विशेषता नहीं, मानव में शुद्ध भाव की ही विशेषता मानी जाती है वा मौनी हो तो भी कुछ विशेषता नहीं।

मौनी मुख माँगे नहीं, सैनों[1] चाहे सोय।
परि रज्जब परपंच को, साधु न मानें कोय ॥१७४॥

मौनी मुख से तो नहीं माँगता किंतु संकेतों[1] से चाहता है, परंतु इस प्रपंच को भी संत जन तो अच्छा नहीं मानते।

शंख शब्द फरयाद[1] है, सींगी नाद पुकार।
रज्जब रोव हिं पेट को, मति[2] कोई करे संभार ॥१७५॥

शंख बजाना मांगने के लिए ही कोलाहल[1] करना है, सींगी-नाद बजाना भी माँगने के लिये पुकार करना है। शंखादि बजाने वाले पेट के लिये ही रोते हैं, कोई आकर हमारी संभाल करे यही विचार उनकी बुद्धि[2] में रहता है।

केते[1] मुरगे बांग दे हिं, रासभ[2] पूरें शंख।
किन[3] उनको पूरा दिया, रे मन मूढ मझंख[4] ॥१७६॥

कितने[1] ही मुर्गे बाँग देते हैं और कितने ही गधे[2] शंख पूरते हैं, उनको उनके मन के अनुसार पूरा खाना किसने[3] दिया है ? रे मूर्ख मन ! कुछ विचार[4] तो कर।

मद[1] पीवत माया गमै[2], मतवाले मति खोय।
कालेपाणी[3] घर गया, सकल पुकारै लोय[4] ॥१७७॥

मदिरा[1] पान से धन खोया[2] जाता है, मतवाले होकर बुद्धि भी खो देते हैं। सभी लोग[4] पुकारते हैं कि–मदिरा[3] पान से घर नष्ट हो गया।

दारू[1] धक्का दैत्य का, पी परसे[2] मन नाश।
तो रज्जब इहिं जुगल[3] मिल, जीबे की क्या आश ॥१७८॥

मदिरा[1] दैत्य के धक्के के समान है, दैत्य के स्पर्श[2] से मन का ज्ञान नष्ट हो जाता है, वैसे ही मदीरा पान से मन का ज्ञान नष्ट हो जाता है। तब इन दोनों[3] के मिलन से सुख पूर्वक जीवित रहने की क्या आशा है ?

नाम भंग भंगै[1] करे, पोसत[2] पापी नेह।
रज्जब राच्यों[3] वश करै, विरच्यों[4] पाड़ै[5] देह ॥१७९॥

जिसका नाम ही भंग है. वह तो नष्ट[1] ही करेगी, पोस्त[2] का प्रेम भी पापी ही बनायेगा, उक्त दोनों में प्रेम[3] करने से तो ये वश में कर लेते हैं फिर विरक्त[4] होकर छोड़ने से शरीर का स्वास्थ्य गिरा[5] देते हैं।

अमल[1] अमल[2] अपणा करै, मनसा[3] मही मँझार।
रज्जब प्राणी परज[4] परि, पीड़ा दुःख अपार ॥१८०॥

अफीम[1] बुद्धि[3] रूप पृथ्वी में अपना अधिकार[2] करता है और जैसे अनजान[4] के वश में पड़कर प्राणी अपार दुःख पाता है, वैसे ही अफीम से कष्ट पाता है।

अमली अमली कहत हैं, सो क्यों मिलसी आय।
रज्जब भाषा भेद[1] को, नर देखो निरताय[2] ॥१८१॥

जिसे अमली-अमली कहकर पुकारते हैं, वह साधन मार्ग में आकर भगवान् से कैसे मिलेगा ? हे नरो ! भाषा के रहस्य[1] को भी तो विचार[2] करके देखो, अमली शब्द का अर्थ तो न मिलने वाला ही है।

सोफी नाम बुलाइये, अमल[1] न छूटे कोय।
रज्जब विरुद[2] विसारि करि, बैठे रतन सु खोय ॥१८२॥

सोफी (नशा न करने वाला) नाम से पुकारते हैं किन्तु नशा[1] उससे कोई भी नहीं छुटता। सोफी शब्द का यश[2] भूल कर अपने मानव-जन्म रूप रत्न को खो बैठे हैं।

नाम परोहित हित परे, चूक बड़ी चित माँहि।
रज्जब नाम प्रताप की, महिमा जाणें नाँहि॥१८३॥

नाम तो पुरोहित (दूसरों का हित करने वाला) रक्खा है, किन्तु पर हित से तो दूर ही रहते हैं। यह उनके मन में बडी भूल है। वे नाम की शक्ति की भी महिमा नहीं जानते।

नाम ज्योतिषी सब कहैं, सूझे ठीक[1] न ठाँव[2]।
ज्यों अंध संतोषे अंध मन, नीड़ा[3] आया गाँव॥१८४॥

नाम तो सभी ज्योतिषी बोलते हैं किंतु दीखता नहीं भली[1] प्रकार अपना घर[2] भी, जैसे अंधा अंधे के मन को यह कहकर कि—"ग्राम समीप[3] ही आ गया है" संतुष्ट करता है, वैसे ही ज्योतिषी भी लोगों को उनके मनोनुकूल बात कह कर संतुष्ट करता है।

एक[1] रतूंधा[2] ज्योतिषी, देखैं दिशि[3] आकाश।
धरती धन सूझे नहीं, रज्जब तत[4] वित[5] पास॥१८५॥

प्रथम[1] तो ज्योतिषी के रात्रि[2] में न दीखने का रोग लगा हो फिर वह नक्षत्र-मंडल को देखने के लिये आकाश की ओर[3] देखे तो क्या दीखेगा? उसे तो पृथ्वी में स्थित पास का धन[5] और अन्त:करण में स्थित तत्त्व[4] ज्ञान रूप धन भी नहीं दीखता।

गुरु गोविन्द दरबार[4], गरद[5] मरद[6] लागी न अंग[7]।
सो रज गज लेहि अपार, अहि[8] अवनी[9] छाड़े न संग॥१८६॥

जिस पुरुष[6] के शरीर[7] में गुरु-गोविन्द के द्वार[4] की रज[5] नहीं लगी, वह पुरुष हाथी होकर रज को अपने ऊपर डालता है और सर्प[8] बन कर पृथ्वी[9] में रहता है, रज का संग छोड़ता भी नहीं।

गुरु गोविन्द दरबार[5], रज्जब रज लागी न उर[6]।
सो छिन छिन लोट हिं छार[7], खित[8] खालिक[9] सिरजे सु खर॥१८७॥

गुरु-गोविन्द के द्वार[5] की रज दंडवत करते समय जिसके हृदय[6] पर नहीं लगी उसको ईश्वर[9] पृथ्वी[8] पर गधा की योनि में उत्पन्न करते हैं, फिर वह क्षण-क्षण में भस्म[7] तथा धूलि[7] में लोटता रहता है।

साधू पद रज परस तैं, बहुत लाभ सुनि बैठि ।
रज्जब एक अनेक ह्वै, धान धूलि में पैठि ॥१८८॥

जैसे एक धान का दाना धूलि में प्रवेश करता है तब एक से अनेक हो जाता है, वैसे ही संतों की चरण-रज स्पर्श से बहुत लाभ होता है, यह बात सुन कर संतों की चरण रज में बैठा कर ।

मन माया की बंदि[1] में, बीती उमरि[2] अनेक ।
रज्जब गुरु गोविन्द को, जन्म दिया नहिं एक ॥१८९॥

मन और माया की कैद[1] में अनेक जन्मों की आयु[2] व्यतीत हो गई है, गुरु-गोविन्द को तो एक भी जन्म नहीं दिया गया है ।

अनेक जन्म यों ही गये, दात[1] हि दिया न एक ।
तो रज्जब जड़ जीव का, समझ्या सकल सँकेत[2] ॥१९०॥

अनेक जन्म विषयों में व्यर्थ ही चले गये हैं, भजन द्वारा ईश्वर[1] को एक भी जन्म नहीं दिया, तब इस जड़ जीव की सैन[2] समझ ली गई कि यह प्रभु को प्राप्त करना चाहता ही नहीं ।

वस्तु बिकी अरु बाट रहे घर, सो संपति कछु नाँहिं ।
जन रज्जब एको बिन ऐसे, समझ देख मन माँहिं ॥१९१॥

वस्तु तो बिक जाय और बाँट घर पर रह जाँय तब वह धन कुछ भी नहीं है, वैसे ही मन में समझ कर देख एक प्रभु बिना कुछ भी सार नहीं है ।

रज्जब काया कीच की, सजल सरोवर एक ।
वारि गये सु बिराय बहु, डल ह्वै गये अनेक ॥१९२॥

यह काया कीचड़ के समान है, जैसे कीचड़ जल युक्त सरोवर में तो एक ही होता है, जल सूख जाने पर उसमें बहुत सी दरारें पड़ जाती हैं और अनेक डले हो जाते हैं । वैसे ही शरीर प्राण रहने तक तो एक रहता है, उसके जाने पर शरीर के भी अनेक खंड हो जाते हैं ।

सद्गुरु बूंटा आल का, शिख जड़ टूटे मीच ।
पुनि ऐसे आये मिलै, तंतू वसुधा बीच ॥१९३॥

आल का बूंटा जड़ से टूट जाने पर नष्ट हो जाता है किंतु पृथ्वी में जड़ रहने से पुनः उसके वैसे ही तंतु आ जाते हैं । वैसे ही बनावटी सद्गुरु की शिष्यों के अलग हो जाने पर मृत्यु के समान दशा हो जाती है, फिर शिष्य आ मिलते हैं तब पुनः प्रसन्नता आ जाती है ।

दुनियाँ सौं कर दोसती, रज्जब विसरचा पीव ।
सूख वृक्ष में फल तकैं, अइया मूढ मति जीव ॥१६४॥

जगत् के प्राणियों से मित्रता करके प्रभु को भूल गया, इस मूर्ख जीव की ऐसी बुद्धि है, जैसे सूखे वृक्ष में फल देखने वाले की होती है ।

आतम राम हिं ना बणी[1], ऋद्धि[2] न मिलहिं अभाग ।
रज्जब दीसहि प्राण पहिं[3], महा विपति वैराग ॥१६५॥

आत्म स्वरूप राम के साक्षात्कार की साधना तो हो[1] नहीं सकी और न इस अभागे को धन[2] ही मिलेगा, इस प्राणी के पास[3] जो वैराग्य है, वह महा विपत्ति रूप ही दीखता है ।

जीव सीव[1] परिचय नहीं, शक्ति[2] सु दीन्ही पीठि ।
रज्जब रह्या दरिद्र घर, दह[3] दिशि दीसे दीठि[4] ॥१६६॥

जीव को ब्रह्म[1] की पहचान तो हुई नहीं और धन[2] को भी त्याग दिया, विचार दृष्टि[4] से देखने पर दशों[3] दिशाओं में वह कहीं भी रहो, उसके घर दरिद्र ही रहता है ।

रज्जब लक्षण जीव के, बातों ब्रह्म सु होय ।
मनसा वाचा कर्मना, कारज सरे[1] न कोय ॥१६७॥

अंतःकरण में राग-द्वेषादि लक्षण तो सब जीव के हैं और बातों से ब्रह्म बनता है, ऐसी स्थिति में हम तो मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही कहते है, उसका मुक्ति रूप कार्य तो किसी प्रकार भी सिद्ध[1] नहीं हो सकता ।

जन रज्जब तन रंक गति[1], सब बातों सु सकज्ज[2] ।
मन वच राजा ह्वै रहे, बहिं[3] बोलैं सु निलज्ज ॥१६८॥

शरीर की चेष्टा[1] तो दरिद्री की-सी है और बातों से तो अपने को सभी कार्य[2] करने में समर्थ, सूचित करता है, मन वचन से राजा बना रहता है और निलज्ज, राजा[3] के समान ही बोलता है, वैसे ही ज्ञान का तो दरिद्री है और बातों से अपने को मुक्ति रूप कार्य किया[2] हुआ, सूचित करता है, ऐसे दंभी और लज्जा रहित की मुक्ति कभी नहीं होती ।

कूरम[1] ग्रीवा[2] गत[3] गिरा, प्रकट गुप्त ह्वै जंत[4] ।
साधु शब्द निकसे सु यूं, ज्यों रज्जब गज दंत ॥१६९॥

असाधु की वाणी कछुआ[1] की गर्दन[2] के समान प्रकट होकर गुप्त हो जाती[4] है अर्थात् वह बदल जाता है । इसलिए उसकी वाणी हीन[3] है । साधु के शब्द तो ऐसे निकलते हैं, जैसे हाथी के दाँत अर्थात् सदा बने रहते हैं, वे बदलते नहीं ।

साधु शब्द संत शैल[1] सम, सो सरके नहिं कोय ।
आनन[2] उदय[3] असंत के, गिरा सु गति[4] गत[5] होय ॥२००॥

संत के शब्द सच्चे पर्वत[1] के समान हैं, जैसे पर्वत वायु वेग से किंचित् भी नहीं सरकता, वैसे ही संत के शब्द नहीं बदलते और असंत के मुख[2] से निकली[3] हुई वाणी का रूप[4] तो नष्ट[5] हो जाता है अर्थात् वह बदल जाता है ।

मनसा के दत मिति नहीं, कीजे दान अनेक ।
रज्जब दुर्लभ हाथ सौं, करिबे को नहिं एक ॥२०१॥

मन के द्वारा दान करने की कोई सीमा नहीं है, अनेक दान किये जा सकते हैं किंतु हाथ से करने के लिए तो एक भी दुर्लभ है, सुगमता से नहीं होता ।

शठ श्रोता हूये[1] रहैं, देत न समझ्यों ठौर[2] ।
पै[3] गत[4] मत[5] कैसे छिपै, आगे पीछे और ॥२०२॥

मूर्ख लोग श्रोता तो बने[1] रहते हैं किंतु समझे हुए संतों के विचारों को हृदय में स्थान[2] नहीं देते, परन्तु[3] ऐसा करने से उनके हीन[4] भाव[5] कैसे छिप सकते हैं, क्योंकि उनके वचन आगे-पीछे भिन्नता लिये रहते हैं ।

बाँध्या बाँधे को भजै, मुक्त हूण की आस ।
सौ रज्जब कैसे खुलै, ईहिं झूठे विश्वास ॥२०३॥

यदि रस्से से वृक्ष के बँधा हुआ मनुष्य दूसरे बँधे हुये की आशा करे कि-यह मुझे खोल देगा तो वह कैसे खुल सकेगा ? वैसे ही यदि कर्म-बंधन से बँधा हुआ प्राणी मुक्त होने की आशा से माया बंधन और कर्म बंधन से बँधे हुये का भजन करे तो वह इस मिथ्या विश्वास से कैसे मुक्त हो सकेगा ?

चेतन[1] कन[2] सुन सीख ले, सेवे जड़ हि सु जाय ।
सो रज्जब कैसे बणे, नर देखो निरताय ॥२०४॥

सावधान[1] ज्ञानी से[2] सुनकर ज्ञान की बातें तो सीख लेता है किंतु वहां से जाकर सेवा-पूजा जड़ की ही करता है, तब हे नरो ! विचार करके देखो, वह कैसे तत्त्ववेत्ता बन सकता है ?

तन पाका ज्यों तोरई, मन पाका ज्यों बीज ।
रज्जब रस बाकस[1] भया, अमृत विष मय चीज ॥२०५॥

जैसे तोरू पकती है तब उसका बीज भी पक जाता है और उसका जो रस होता है वह गूदा में सूख जाता है। वैसे ही शरीर वृद्ध हो जाता है तब मन भी ज्ञान युक्त हो जाता है और विषय रस फीका[1] तथा बुरा हो जाता है। विषमय भावना रूप वस्तु अमृत मय हो जाती है अर्थात् भावना शुद्ध हो जाती है।

सेवक सिट्टा मक्कई, काचा सेके स्वाद।
पाकि सूखि जड़[5] ज्वारि[1] गत,[2] बाकस[3] व्है गये बाद[4] ॥२०६॥

मक्का का सिट्टा कच्चा सेक कर खाने से ही स्वादिष्ट लगता है, पक कर सूख जाने पर उसके दानों[1] का स्वाद चला[2] जाता है और वे बेस्वाद[3] हो जाते हैं। वैसे ही सेवक ज्ञान की बातों में कच्चे रहते हैं तब तक तो अच्छे रहते हैं और ज्ञान की बातों में पक जाते हैं तब शुष्क और जड़ बनकर विवादादि द्वारा व्यर्थ समय खोने वाले हो जाते हैं वा मूर्ख[5] सेवक ज्ञान में कच्चे रहते हैं तब तक तो उनमें विषय रस रहता है और ज्ञान से पक जाने के पीछे[4] विषय रस फीका पड़ जाता है।

तन तरुवर जब बड़े व्हैं, तब फूल फलों सौं जांहि।
सूखों सेवक साणि[1] के, क्या स[2] बड़ाई मांहि ॥२०७॥

वृक्ष बहुत आयु के हो जाते हैं तब फूल फल देने से रुक जाते हैं, वृक्ष के सूखने पर भी किसान उनकी सेवा करे तो वह उस सेवा करने में क्या बड़ाई पाता है। वैसे ही सेवक का शरीर बहुत आयु का हो जाने पर सेवा करने में समर्थ नहीं रहता फिर भी उसे सेवा के लिये उत्तेजित[1] करता है, वह[2] साधु उस उत्तेजना के करने से क्या बड़ाई पाता है।

रज्जब रावण मुख सभा, पै बड़ा बदन[1] रासभ[2]।
नर आनन[3] नीके[4] कहैं, वहि[5] बोल बिगाड़ै सब ॥२०८॥

रावण के मुखों की सभा में बड़ा मुख[1] गधे[2] का है, नर-मुख[3] अच्छी[4] बातें कहते हैं, उन[5] सबको वह बोल कर बिगाड़ देता है। वैसे ही सभा में अच्छी बात को बिगाड़ना अनुचित है।

घट घोड़ा आतम असवार, ऊजू[1] किसहि करावै यार[2]।
पांच बार पौहण[3] को धोवै, यूं ऊजल असवार न होवै ॥२०९॥

शरीर अश्व के समान है, आत्मा सवार के समान है। हे मित्र[2] वजू[1] (नमाज के समय पहले हाथ मुखादि धोना) किसको कराता है! दिन में पांच समय शरीर रूप घोड़े[3] को धोने से, आत्मा रूप सवार उज्ज्वल नहीं होता।

अस[1] अस्पों[2] को संयम ऊजू,[3] असवार सु पतित पलीत[4]।
तो उजल क्यों पाक[5] व्है, चलि ऐसी रस रीत ॥२१०॥

ऐसे[1] घोड़े[2] की वजू[3] करना और सवार को मैला[4]-कुचैला रखना तब सवार कैसे उज्वल होगा ? वैसे ही शरीर को तो संयम से रखना और जीवात्मा को दुर्भावनादि द्वारा पतित रखना ऐसी विषय-रस की रीति से चलने पर जीवात्मा कैसे पवित्र[5] होगा ?

सदा पिंड पाणी सौं धोवें, ऐसे प्राण न उज्वल होवें।
जल चर देखि रहैं जल मांहीं, रज्जब मैल न उनके जाँहीं॥२११॥

सदा शरीर को जल से धोते रहते हैं, ऐसा करने से मन उज्वल नहीं होता, यदि जल से धोने से पाप दूर होते हों तो देखो, जलचर तो जल में ही रहते हैं किन्तु उनके पाप नहीं जाते।

बोक[1] वक्त्र[2] डाढी बड़ी, पै तिस की करे न लाज।
रींछ रीश[3] रूपी सु तन, कहो सरचा[4] क्या काज ॥२१२॥

यदि डाढी रखने में विशेषता हो तो बकरे[1] के मुख[2] पर भी बड़ी डाढ़ी होती है परन्तु उसकी लाज कौन करता है और रींछ का तो सभी शरीर डाढ़ी[3] रूप ही होता है किन्तु कहो ? उससे उसका क्या कार्य सिद्ध[4] होता है ?

स्वप्ने संपति संचिये,[1] स्वप्ने गुरु शिष रत्त[2]।
रज्जब दोन्यों झूठ हैं, जागे माल न मत्त[3] ॥२१३॥

स्वप्न में धन संग्रह[1] किया हो और स्वप्न में ही गुरु में शिष्य अनुरक्त[2] हुआ हो तो जागने पर ये दोनों ही झूठ सिद्ध होते हैं, न तो माल मिलता और न गुरु में अनुरक्त होने की प्रसन्नता[3] मिलती है।

स्वप्ने नर नार्यों मिलैं, स्वप्ने गुरु शिष गत्त[1]।
रज्जब उभय असत्य हैं, जागे सुत न मृत्त[2] ॥२१४॥

स्वप्न में नर नारी के मिलने पर तथा स्वप्न में गुरु-शिष्य के मरने[1] पर, जागते ही दोनों असत्य हो जाते हैं। न तो नर-नारी को पुत्र की आशा रहती और न गुरु-शिष्य की मृत्यु[2] सत्य सिद्ध होती है।

क्या शिष स्वप्ने सेव की, क्या गुरु व्रभू[1] होय।
रज्जब सगपण[2] झूठ है, जनि[3] रु पतीजे[4] कोय ॥२१५॥

स्वप्न में शिष्य ने क्या सेवा की और गुरु क्या वर-दाता[1] हुये। इस संसार स्वप्न के सभी सम्बन्ध[2] मिथ्या हैं, इनमें सत्य होने का विश्वास[4] कोई न[3] करे।

रंक सगाई राज घर, जे स्वप्ने में होय।
रज्जब नाता ना गिर्णाहि, जागे जगपति कोय ॥२१६॥

यदि स्वप्न में रंक की सगाई राजा के घर हो जाय तो जागने पर उस सम्बंध को राजा सत्य नहीं गिनता। वैसे ही स्वप्न में प्रभु से सम्बंध हुये को जगत् पति प्रभु सत्य नहीं गिनते।

मूए गुरु माथै धरे, निगुरु हु ने निरताय[1]।
जीवतों सौं जोख्यों[2] घणी[3], सेवाकरी न जाय ॥२१७॥

गुरु आज्ञा में न रहने वाले निगुरे लोगों ने कुछ विचार[1] करके मरे पीछे गुरुओं को शिर पर धारण किया है अर्थात् माना है, जीवित गुरुओं से इनको बड़ा[3] दुख[2] होता था कारण-इनसे सेवा नहीं करी जाती थी और जीवित की सेवा करनी पड़ती है।

गुण रु ज्ञान जीवतों कन लिया, मूए किये गुरु पीर[1]।
मन वच कर्म वे कृतघ्नी, संत न माने वीर[2] ॥२१८॥

गुण और ज्ञान तो जीवित मानवों से लिया है और सिद्ध[1] गुरु मरे हुये को मानते हैं, वे मनुष्य मन, वचन, कर्म से किये हुये उपकार को न मानने वाले कृतघ्नी हैं, संत उन्हें साधक-शूर[2] नहीं मानते।

तृण तोयं[6] ले तेल नीपजै, घास चरै पशु घीव।
तो रज्जब रूखा क्यों कहिये, अन्न अनील[7] सु जीव ॥२१९॥

तृण जल[6] लेते हैं तब उनसे बीजों द्वारा तेल उत्पन्न होता है, पशु घास चरते हैं तब उनसे घृत उत्पन्न होता है। तब अन्न को रूखा कैसे कहा जा सकता है ? जो जीव अन्न को रूखा कहता है वह सफेद[7] झूट बोलता है।

तिर जाणें नहिं हरि विमुख, शिर ले पाप पषान।
बिसवा बीस सु बूड[1] ही, रज्जब कह्या बखान[2] ॥२२०॥

एक तो तैर नहीं जानता और दूसरे शिर पर भारी पत्थर रख लेता है तब वह बीसों बिसवा डूबे[1] हीगा। वैसे ही एक तो हरि से विमुख है और दूसरे पाप करता है, ऐसा नर बीसों बिसवा संसार-सागर में ही डूबेगा, यह हमने संतों के कथनानुसार[2] ही कहा है।

सुनही[1] सूरी[2], मुरगी मीन,
बहु जातग[3] जणि[4] कडूंबा[5] कीन।
पै परमारथ उपज्या क्या मांही,
रज्जब रावण देखो मांहीं ॥२२१॥

कुत्ती[1], सूरड़ी[2], मुर्गी और मच्छी बहुत से पुत्र[3] उत्पन्न[4] करके कुटुम्ब[5] बना लेती हैं, वैसे ही विशेष कुटुम्ब से तथा संतान होने से क्या परमार्थ सिद्ध होता है ? बहुत कुटुम्ब वाले रावण को देखो न, कुटुम्ब से उसका क्या परमार्थ सिद्ध हुआ था ?

मति हीणा मन जब धाप[1] हीं, तब मारग चले न जोय[2] ।
ज्यों मुख मूतै आपणे, बोक[3] मस्त जब होय ॥२२२॥

जैसे बकरा[3] जब मस्त होता है तब अपने ही मुख पर मूत्र त्यागता है, वैसे ही देखो[2],बुद्धिहीन का मन जब तृप्त[1] होता है अर्थात् इच्छानुसार संपत्ति प्राप्त हो जाती है, तब वह सुमार्ग में नहीं चलता ।

शारदूल[1] तलफै मरै, सुन सु इन्द्र की गाज ।
सो सुरपति समझै नहीं, यहु पचन[2] होत बेकाज[3] ॥२२३॥

शरभ-जंतु[1] इन्द्र की गर्जना सुनकर गर्जने वाले को मारने के लिये तड़फ तड़फ कर मरता है किंतु इन्द्र उसे कुछ भी नहीं समझता, वह व्यर्थ[3] ही दुखी[2] होता है । वैसे ही प्राणी बलादि के अभिमान से व्यर्थ दुखी होते हैं । यह अज्ञान है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साँच चाणक का अंग १२१
समाप्तः ॥सा० ॥३६००॥

अथ वक्त ब्योरा का अंग १२२

इस अंग में समय संबंधी विवरण दे रहे हैं--

नर उर[1] हिम-गिरि ज्यों झरै, साधू सूरज देख ।
जन रज्जब तप ताप में, विगता[2] विगत[3] विशेष ॥१॥

सूर्य को देख कर हिमालय पर्वत सूर्य की ताप से तप कर झरने लगता है । वैसे ही साधु को देखकर नर का हृदय[1] ज्ञान से तप कर झरने लगता है अर्थात् पूर्व आयु में अनाचार द्वारा व्यर्थ खोये समय का पश्चाताप करके अश्रु बहाता है । इस समय के विशेष रहस्य को ज्ञानी[2] ही जानते[3] हैं ।

त्रिविधि भाँति का लोग है, त्रिविधि भाँति का जोग ।
जन रज्जब सेवा समझ, सभी लगावें भोग ॥२॥

सात्विक, राजस, तामस तीन प्रकार के मनुष्य हैं, वैसे ही सात्विक, राजस, तामस तीन प्रकार का ही योग है । सभी प्राणी अपनी साधन-सेवा को समझ कर समयानुसार प्रभु के भोग लगाते हैं ।

दीप मशाल एक नहिं बाती, जैसा देव सु तैसी पाती ।
रज्जब रोस न कीजे वीर[1], भाग भिन्न काहू नहिं सीर[2] ॥३॥

दीपक और मशाल की बत्ती एक सी नहीं होती, वैसे ही जैसा देवता होता है, वैसी ही उसकी पूजा-पाती होती है। हे भाई[1]! इसमें क्रोध नहीं करना चाहिये। सभी के भाग्य भिन्न भिन्न होते हैं, किसी का किसी के भाग्य में साझा[2] नहीं होता, अतः समयानुसार प्राप्त परिस्थिति में प्रसन्न रहना चाहिये।

सबको समसरि[1] ना किया, अन्न धन्न[2] अरु आव[3] ।
रज्जब वक्त[4] विचारिये, कीजे नहीं चबाव[5] ॥४॥

अन्न, धन[2] आयु[3] सबको बराबर[1] नहीं दिये हैं, दूसरे के अधिक देखकर ईर्ष्या से बातें[5] नहीं करना चाहिये। सबको अपने कर्मानुसार ही मिलते हैं, अपने समय[4] का विचार करके संतुष्ट रहना चाहिये।

त्रिविधि भांति त्रिगुणी[1] करी, सो समसरि[2] क्यों होय ।
आव[3] अलूपै[4] अकलि[5] में, मन वच कर्म करि जोय[6] ॥५॥

माया[1] सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप से तीन प्रकार की ही रची हुई है, वह समान[2] कैसे होगी? मन, वचन, कर्म से विचार करके देखो[6] तो बुद्धि[5] में माया की आयु[3] अलुप्त[4] ही ज्ञात होगी अर्थात् माया अपार ही ज्ञात होगी अथवा त्रिगुण रूपा माया[1] ने प्राणियों की आयु[3] उत्तम मध्य, कनिष्ट तीन प्रकार की रची है वह बराबर[2] कैसे हो सकती है? मन, वचन, कर्म से देखो[6] तो बुद्धि[5] में यह माया की रचना रूप आयु की व्यवस्था अलुप्त[4] ही ज्ञात होगी अतः समयानुसार आयु समाप्ति पर ही शरीर का नाश होता है, उसमें शोक से रहित ही रहना चाहिये।

सिरज्या सिरजन हार का, मेट न सकई कोय ।
रज्जब दुरमति दोष धरि, बादि[1] बकैं क्या होय ॥६॥

सृष्टिकर्त्ता प्रभु ने जिसके लिये जो धनादि रच दिये हैं, उनको कोई भी नष्ट नहीं कर सकता, दुर्बुद्धि वाले लोग उनमें दोषारोपण करके बकते हैं सो व्यर्थ[1] है, उनके बकने से क्या होगा?

रज्जब रिधि सिधि भाग्य की, पाई पूरव दत्ति[5] ।
ताहि देखि तप[6] तपि उठैं, अइया[7] मूरख मत्ति[8] ॥७॥

पहले दिये हुये दान[5] से भाग्यवश ही ऋद्धि सिद्धि प्राप्त होती है, उसे देखकर दुःख[6] से तप उठते हैं, यह[7] मूर्ख बुद्धि[8] का परिचय है।

दुख सुख साँई का दिया, जीवों पाया सोय।
तो देखि दरिद्री ईश्वर हिं, क्यों सरतंखा[६] होय ॥८॥

ईश्वर का दिया हुआ सुख-दुःख जीवों को मिला है, तब हे दरिद्री ! उपासना द्वारा ईश्वर को ही देख, क्यों दुखी[६] हो रहा है। ईश्वर दर्शन से तेरा अच्छा समय आयेगा तब तुझे भी सभी सुख प्राप्त होंगे।

देखि पराये भाग को, रोवहि सदा अभाग।
रज्जब वह आनन्द में, उनके दिल दुख दाग[६] ॥९॥

दूसरे के भाग्य को देखकर अभागे मनुष्य ही "इसको इतना क्यों दे दिया" ? ऐसा सोचते हुये रोते हैं, वह भाग्यशाली तो आनन्द में रहता है और उन अभागों के हृदय दुःख से जलते[६] रहते हैं।

शठ[५] शुनहा[६] निश दिन भुसै, आँख्यों देखि अतीत[७]।
रज्जब रिजक[८] न घटि बध्या, वह बकि विकल व्यतीत[९] ॥१०॥

जैसे कुत्ता[६] साधु[७] को आँखों से देखकर भूकता है, वैसे ही मूर्ख[५] बकते हैं किन्तु उनके बकने से किसी की जीविका[८] न घटती है और न बढती है, वह भी बक कर व्याकुल होता हुआ एक दिन समाप्त[९] हो जाता है।

भौंक हिं गोरख दत्त को, कुत्तों की यहु बाणि[१]।
पै सिरज्या सरके नहीं, हासिल होय न हाणि ॥११॥

जैसे कुत्तों का यह स्वभाव[१] ही है कि वे गोरक्षनाथ और दत्तात्रेय को भी भूकते ही हैं, वैसे ही दुष्टों का भी बकने का स्वभाव है, वे सभी को बकते हैं किंतु उनके बकने से प्रभु ने जिसके लिये जो रच दिया है, वह उससे हटता नहीं और प्राप्त हुये की हानि नहीं होती।

विभूति[१] बंदगी[२] हरि हुकम, नरहुं प्राप्त जो होय
जन रज्जब थोड़ी बहुत, दोष न दीजे कोय ॥१२॥

हरि की आज्ञा से संपत्ति[१] और भक्ति[२] नर को जो प्राप्त हो, वह कम हो वा अधिक हो उसके लिये उसे दोष न दें।

रज्जब दुख सुख देखिकर, कीजे नहीं उचाट[१]।
एक हु के पाइन पदम[२], एक हु नहीं ललाट ॥१३॥

दुख-सुख को देखकर मन को उदास[१] न होने दो, यह तो कर्म की बात है, देखो, एक के चरण में कमल[२]-चिन्ह होता है वा पैरों में कमल चढ़ाया जाता है वा पैर कमल-पुष्पों पर रहते हैं और एक के ललाट में भी चिन्ह नहीं होता और न चढ़ाया जाता।

मारों लायक मार पाव हीं, मौजों लायक मौज ।
एक हु के पग कूकर काट हि, एक हु गैल सु फौज ॥१४॥

मार खाने के योग्य होते हैं, उन्हें मार मिलती है, आनन्द पाने के योग्य होते हैं उन्हें आनन्द मिलता है। देखो, एक के तो परों को कुत्ते काटते हैं और एक के साथ सेना चलती है। यह सब अपने कर्मानुसार प्राप्त समय की बात है।

रज्जब सत जत सौं दीसे बड़ी, रती[१] जु मस्तक माँहि ।
रूप राग गुण सब थके. कोई पूर्जाहि[७] नाँहि ॥१५॥

सत्य पालन, ब्रह्मचर्य से मस्तक में महान शोभा[१] भासती है, इस शोभा के आगे रूप, राग और गुण आदि की शोभा थक जाती है, उसे कोई भी नहीं पहुंचती[७] अर्थात् उसके समान नहीं हो सकती।

रतो न पावै रती बिन, सती[६] जती[७] व्है जोय ।
सप्त द्वीप नौ खण्ड फिर, बिन रचना क्या होय ॥१६॥

सद्-गृहस्थ[६] हो वा संन्यासी[७] हो अपने पुरुषार्थ रूप रती के बिना एक रती भी वस्तु वा सुख नहीं मिलता। जम्बु द्वीप के नौ खण्डों में तथा सातों द्वीपों में भी घूम फिर आवे तो भी अपने पुरुषार्थ द्वारा पुण्य रचना बिना सुख कैसे होगा ?

रचना बिन नांहीं रती, वक्तों घटि न विराट ।
रज्जब पावैं प्राण सों, ठाकुर ठया[७] जु ठाट[८] ॥१७॥

ईश्वर की रचना बिना एक रती भी सृष्टि नहीं हो सकती और उसकी विनाश रूप रचना के बिना यह विराट् रूप संसार घटता भी नहीं। अतः प्राणी को समय पर वही मिलता है जो प्रभु ने बनाकर[८] स्थिर[७] किया है।

भगवंत भाग्य मांहीं लिख्या, सोई मिलसी आय ।
ता[६] ऊपरि[७] ओछा[८] अधिक, रज्जब लिया न जाय ॥१८॥

भगवान् ने जो भाग्य में लिखा है, वही आ मिलेगा, उसकी[६] आज्ञा के उपरान्त[७] अर्थात् बिना आज्ञा अधिक वा कम[८] नहीं लिया जा सकता।

रती सहित राजेन्द्र व्है, रती विहूणा रंक ।
रज्जब भाग अभाग बिच, एक रती का बंक ॥१९॥

प्रारब्ध रूप रती से युक्त महान् राजा होता है और प्रारब्ध रहित कंगाल होता है, भाग्य और दुर्भाग्य के मध्य में जो वक्रता है, वह एक प्रारब्ध की ही है।

रज्जब रूठे[1] तूठे[2] किसी के, घटै बधै कछु नांहि ।
राम रच्या सो होयगा, लिखा जु मस्तक मांहि ।।२०।।

किसी के रुष्ट[1] और संतुष्ट[2] होने से घटता बढ़ता कुछ नहीं है, जो राम ने रचकर मस्तक में लिख दिया है, वही होगा ।

भावी[1] भाल[2] न ऊतरे, भूत[3] न भाजी भाग ।
रज्जब रचना क्यों टलै, भावै[4] सो[5] भावै जाग ।।२१।।

होनहार[1] मस्तक[2] से नहीं उतरता अर्थात् होकर ही रहता है, प्राणी[3] से होनहार नहीं भागता । चाहे[4] शयन[5] कर, चाहे जाग, होनहार रूप ईश्वर की रचना नहीं टलती ।

भगवंत भाग्य मोटा[1] दिया, छोटा किस कन[2] होय ।
प्रभु पसाव[3] सो क्यों घटै, काहे कलपै[4] कोय ।।२२।।

यदि भगवान् ने भाग्य महान्[1] बना दिया है तो वह छोटा किस से[2] हो सकता है ? प्रभु का जो अनुग्रह[3] है सो कम कैसे हो सकता है ? अतः उसके कम करने के लिये कोई क्यों दुखी[4] हो ।

पैठहि[1] शैल[2] समुद्र मधि, रिधि[3] मुक्ता[4] के भाय[5] ।
भाग्य बिना खान्यों दबै, वाहि मगर मच्छ खाय ।।२३।।

धन[3] के लिये[5] पर्वत[2] की खानियों में प्रवेश[1] करता हैं तब धन मिलने का भाग्य न हो तो खानियों में ही दब जाता है और मोती[4] के लिये समुद्र में प्रवेश करे तो भाग्य बिना मोती न मिल कर मगर मच्छ खा जाता है ।

वारि[1] लोक[2] बड़वानल लहिये, यह उग्रह[3] सु अभाग[4] ।
परबत पर पाणी मिलै, रज्जब अज्जब[5] भाग[6] ।।२४।।

जल[1] के स्थान[2] समुद्र में प्रवेश करने पर भी बड़वानल नामक अग्नि मिल जाय, यह अभाग्य[4] ही खुलता[3] है और शुष्क पर्वत पर भी जल मिल जाय यह अद्भुत[5] भाग्य[6] ही है ।

सारंग[1] चाहै स्वाति को, दामिनि[2] दग्ध्या गात ।
रज्जब कहिये कौन को, इन वक्तों[3] की बात ।।२५।।

चातक[1] पक्षी स्वाति बिन्दु को चाहता है और उसका शरीर बिजली[2] से जल जाता है, कहो ? इस समय[3]-कुसमय की बात किसको कहैं ?

आभा[1] तल[2] वोडे[3] अहर,[4] सारंग[5] स्वातिहि जानि ।
असणि[6] अभागों वोसरे,[7] तहां सु तन की हानि ।।२६।।

नीचे[२] से बादल[१] रूप होठों[४] से रुके[३] हुये स्वाति जल को जानकर चातक[५] पक्षी उधर जाता है किन्तु दुर्भाग्य वश जल न वर्षं कर बिजली[६] वर्ष[७] जाती है अर्थात् गिर जाती है और वहां उसका शरीर नष्ट हो जाता है, यह समय की ही बात है ।

हांडी सौं भाँडी[७] भई, छूंकत लागी आग ।
जीवन करतों जलि मुये, अइया[८] भूंडे[९] भाग ॥२७॥

हांडी में शाक छूंकते समय अग्नि की ज्वाला निकल कर छप्पर में अग्नि लग गई, समय अच्छा नहीं होता तब भलाई से भी बुराई[७] हो जाती है । देखो, जीवन का उपाय करते समय भी जलकर मर गये, यही[८] बुरे[९] भाग्य की पहचान है ।

अइया[५] अभागी ऊँदरा[६], करंड काटने जाय ।
कै बखत[७] बली बाती गहै, जासौं लागै लाय ॥२८॥

यह[५] दुर्भाग्य चूहा[६], सर्प का करंड काटने जाता है तब सर्प का भोजन बनता है और दुर्भाग्य पूर्ण समय[७] की प्रबलता से जलते हुये दीपक की बत्ती लेकर छप्पर में जाता है, जिससे अग्नि लगकर अपने कुटुम्ब के सहित आप भी मर जाता है ।

गोला छूटा और दिशि, पंखी आया बीच ।
रज्जब कहिये कौन सौं, भागों[९] ह्वै गई मीच ॥२९॥

गोला तो दूसरी दिशा को छोड़ा था किन्तु पक्षी उड़कर उसके मार्ग के बीच में आ गया, अब कहिये ? किसको क्या कहैं, उसके दुर्भाग्य[९] से ही मृत्यु हो गई ।

अनल पंख आदित्य जरी, बड़वानल सौं मीन ।
जीवनि ठौर सु जम[६] भई, काहि कहै मिसकीन[७] ॥३०॥

अनल पक्षी सूर्य की किरणों और मच्छी बड़वानल से जल जाते हैं, आकाश और जल दोनों को ही जीवन रूप स्थान मृत्यु[६] बन जाँय तब वे गरीब[७] किसको दोषी कहैं ?

नर तरु तारे सम नहीं, जो सिरजे करतार ।
रज्जब घटि बध बीच के, बाबै[१] हाथ विचार ॥३१॥

जो ईश्वर के रचित-मनुष्य, वृक्ष और तारे हैं सो सम नहीं हैं, कम, अधिक और मध्य के उत्पन्न करने का विचार परमेश्वर[१] के ही हाथ में है ।

चतुर[४] खानि के जीव जग, नांहीं एक समान ।
त्यों रज्जब सुन हेत[५] रज[६] ये भी यूं ही जान ॥३२॥

जगत् में जरायुज, अंडज, उद्भिज और स्वेदज इन चार[४] खानियों के जीव एक समान नहीं हैं, वैसे ही स्नेह,[५] पाप[६] ये भी इसी प्रकार ही जान अर्थात् समान नहीं हैं।

अठार भार अरु अष्ट कुल, उडग[७] सु एक न होय।
रज्जब लघु दीरघ रचे, आदम[८] अंगुरी जोय[९] ॥३३॥

अठारह भार वनस्पति, अष्ट कुल पर्वत और तारे[७] एक-से नहीं हैं इन सबको ईश्वर ने छोटे-बड़े ही बनाये हैं, देखो,[९] मनुष्य[८] की अंगुलियां भी छोटी-बड़ी ही हैं।

प्रभु पारस महँगा किया, सौंघे अश्म सु आन।
रज्जब लघु दीरघ हु कम, समझो संत सुजान ॥३४॥

प्रभु ने पारस पत्थर को बहुमूल्य बनाया है, और पत्थर कम मूल्य के बनाये हैं, इसी प्रकार हे सुजान संतो ! लघु-दीर्घ, अधिक-कम का विचार भी समझो।

रज्जब राजा किन[१] किये, कोने[२] किये सु रंक।
ये अक्षर अविगत[३] लिखे, निरखि ललाट हु अंक ॥३५॥

राजा किसने[१] रचे हैं और रंक किसने[२] बनाये हैं ? ये प्रारब्ध रूप अक्षर ईश्वर[३] ने ही लिखे हैं, ललाट के अंक देख, उनसे ही विभिन्नता है।

बड़ पीपल अरु लांप तिण, उदय अंकूर स्वभाय[१]।
लघु दीरघ सु दयाल दत्त[२], दोष न दीया जाय ॥३६॥

बड़, पीपल और लांप नामक तृण, इनके अंकुर स्वभाव[१] से ही निकलते हैं, लांप घास छोटा और बड़-पीपल बड़े होने ये तो दयालु प्रभु का ही दिया हुआ दान[२] है, छोटे-बड़े होने का दोष लांप आदि को नहीं दिया जाता।

कीड़ी कुंजर किन किये, लघु दीरघ दी देह।
रज्जब दोष न दीजिये, देखि तमाशा[९] येह ॥३७॥

चींटी और हाथी किसने रचे हैं ? एक का शरीर लघु और एक का बड़ा बनाया है। ये सब ईश्वर के ही रचे हुये हैं, उसे दोष न दो। जीव की बुद्धि ईश्वर रचना की समालोचना करने योग्य नहीं है। उसका रचित यह अनोखा दृश्य[९] देखकर उसी का स्मरण करो।

सांई समसरि[८] ना किये, पंच खानि के प्राण।
लघु दीरघ घटि वधि पटा, रज्जब रचे दिवाण[९] ॥३८॥

ईश्वर ने जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज, नादज इन पंच खानियों के प्राणियों को समान[८] नहीं रचा है, किसी को छोटा, किसी को बड़ा बनाया है तथा उस प्रधान[६] प्रभु ने जीविका के लिये पेट भी अधिक-कम ही दिये हैं सम नहीं दिये यह प्रकट है।

रज्जब दुबिधा[५] दूरि लग, स्वर्ग नरक व्है वास।
एकों को देवल फिरै, इक जिव जाहि निराश ॥३९॥

यह भिन्नता[५] दूर तक है, एक को स्वर्ग मिलता है, एक का नरक में वास होता है, एक (नामदेव वा भीखजन) के मंदिर फिरता है और एक जीव अपूर्ण आशा ही जाता है।

किन फराश निष्फल किये, किन किये अंब सफल्ल[५]।
एक हि करता उभय का, कौन करै हलचल्ल[६] ॥४०॥

फराश वृक्ष को फल रहित और आम को फल-सहित[५] किसने बनाया है ? दोनों का रचने वाला एक ही ईश्वर है, उसके रचना कार्य में उपद्रव[६] कौन कर सकता है ?

रज्जब निष्फल जाय[५] जग, सफल सु दाड्यों[६] दाख।
दोन्यों को दत[७] दई[८] का, लोग कहो कोउ लाख ॥४१॥

चमेली[५] को फल रहित, अनार[६] और दाख को फल सहित बनाना दोनों को ईश्वर[८] का ही दान[७] है, चाहे लोग लाखों बातें क्यों न कहैं, जो ईश्वर ने रच दिया वही रहेगा।

देखहु शिर धर कटि पगहुं, अंतरि[५] अंतर[६] जोय[७]।
जन रज्जब सब ठौर की, बागहुं[८] विगति[६] सु होय ॥४२॥

देखो, शिर, धड़ और पैर इनमें[५] भेद[६] देखा[७] ही जाता है, शरीर के सभी स्थानों की वस्त्रों[८] के द्वारा भी विशेष चेष्टा[६] होती है।

भाग्य भलाई ऊपजै, भाग्य बुराई भंग[५]।
उभय अंग[६] आतम लहै, जे हरि देहि उमंग ॥४३॥

भाग्य से ही भलाई उत्पन्न होती है, भाग्य से ही बुराई नष्ट[५] होती है। यदि हरि हर्ष की उमंग से दें तो ही प्राणी को भलाई उत्पन्न होने के और बुराई नष्ट करने के लक्षण[६] प्राप्त होते हैं।

भाग्य भले गुरु ज्ञान पाइये, भाग्य भले सत संगा।
भाग्य भले सौं भक्ति उपजै, भेटै अविगत[५] अंगा[६] ॥४४॥

अच्छे भाग्य से ही गुरु ज्ञान प्राप्त होता है, अच्छे भाग्य से ही सत्संग मिलता है, अच्छे भाग्य से ही हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है और अच्छे भाग्य से प्रिय[६] प्रभु[५] मिलते हैं ।

वक्त[५] विभूति[६] सु पाइये, भाग्य मिलै भगवंत ।
उभय अभाग्य न आव ही, शोधि[७] कह्या सब संत ।।४५।।

समय[५] पर भाग्य से ही सम्पत्ति[६] प्राप्त होती है, भाग्य से ही भगवान् मिलते हैं, सम्पत्ति और भगवान् दोनों ही अभाग्य से नहीं आते अर्थात् अभागा को नहीं मिलते । यह सभी सन्तों ने विचार[७] करके कहा है ।

रज्जब सुखी सभागिये,[५] दुख दीरघ सु अभाग[६] ।
कहीं ठौर जाइगह[७] कहीं, सुख दुख दोन्यों लाग ।।४६।।

भाग्यशाली[५] ही सुखी होता है, दुर्भाग्य[६] को बड़ा दुःख रहता है, किसी भी स्थान में जाय भाग्यशाली को सुख ही मिलेगा और किसी भी जगह[७] जाय दुर्भाग्य को दुःख ही मिलेगा । दोनों के दोनों साथ ही लगे रहते हैं ।

आकाश मध्य आभा[५] अनन्त, जगत धोम[६] तहँ जांहि ।
रज्जब पूरे पूरिय हिं, नर निरखो क्यों नाँहि ।।४७।।

आकाश में अनन्त बादल[५] हैं, उनको भी जगत् की धुआँ[६] प्राप्त होती है, वैसे ही भगवान् सबका भरण-पोषण कर रहे हैं और करेंगे । हे नरो ! ईश्वर की समयानुसार पोषण नीति को तुम क्यों नहीं देखते हो ?

नदीनाथ[५] आवहिं नदी, बहु वर्षा तहँ वारि ।
जन रज्जब भरिये भरे, नर निरखो सु[६] निहारि[७] ।।४८।।

समुद्र[५] में नदियाँ आती हैं, और वहाँ नदियों में बहुत वर्षा होकर जल आता है, वैसे ही कर्म और समयानुसार भगवान् ने प्राणियों का भरण-पोषण किया है और कर रहे हैं । हे नरो ! सम्यक्[६] विचार[७] द्वारा देखोगे तो भगवान् की पोषण नीति का तुम्हें ज्ञान होगा ।

भाग्य राज-घर औतरे[५], भाग्य गुरू गृह दास ।
धरचा[६] अधर[७] अभाग्य हि मिलै, भाग्य भरै[८] उर आस ।।४९।।

भाग्य से ही राज-घर में जन्म[५] होता है, भाग्यवश ही सेवक गुरु के घर में पहुँचता है, माया[६] और ब्रह्म[७] दोनों भाग्य से ही मिलते हैं, भाग्य से ही हृदय की आशा पूर्ण[८] होती है ।

बखतों ही बीती पड़ै[५], पर धन अपना होय ।
रज्जब भागी भोल[६] सब, भाग हुं सिवा[७] न कोय ॥५०॥

भाग्यवश किसी समय ऐसी स्थिति भी आ-पड़ती[५] है कि-पर धन भी अपना हो जाता है, अब हमारा तो सभी भोलापन[६] भाग गया है और निश्चय हो गया है कि–भाग्य बिना[७] सुखादि का कारण और कोई भी नहीं है ।

इक कौड़ी कौड़ी को फिर ही, इक बैठे कोड़ि[५] न लेही ।
रज्जब भूत हुं भाग्य भिन्न, कहो पटतर[६] क्यों देही ॥५१॥

एक तो कौड़ी कौड़ी के लिये माँगता फिरता है और एक अपने आसन पर स्थित रह कर भी कोटि[५] रुपये भी नहीं लेता । अत: प्राणियों का भाग भिन्न भिन्न ही होता है, कहो, एक को दूसरे के सम[६] होने का परिचय कैसे दिया जा सकता है ?

लोह कनक पारस परसि, छत्रपति छाँह हमाय[५] ।
हनुमंत हांक गुरु गिरा सुनि, रज्जब बखत[६] कमाय ॥५२॥

पारस से स्पर्श होते ही लोह सुवर्ण हो जाता है, हुमा[५] पक्षी की छाया पड़ने पर नर राजा हो जाता है, सिंहल दीप में हनुमानजी की हाँक सुन कर नर नपुंसक हो जाता है, वैसे ही गुरु की वाणी सुन कर जीव ब्रह्म हो जाता है, यह सब समय[६] से ही कमाये जाते हैं अर्थात् कर्म फल प्राप्त होने का समय आता है तब ही ऐसा होता है । हनुमत हाँक की कथा–अंग १२१–१०१ में देखो ।

रज्जब बाजी वक्त[५] की, माँगे मिल हि सु डाव[६] ।
रंक राव व्है पलक में, सब सिध[७] प्रभू पसाव[८] ॥५३॥

समय[५] की बाजी में मुंह माँगा सुन्दर दाँव[६] प्राप्त होता है और कंगाल एक क्षण में हुमा पक्षी की छाया पड़ने पर राजा हो जाता है, वैसे ही प्रभु के अनुग्रह[८] से सब कुछ ही सिद्ध[७] हो जाता है ।

भाग्य भले भगवंतहि गावैं, वक्त[४] बड़े जे ब्रह्म सुहावैं ।
रति[५] सु उति[६] महरि[७] रत होय, ता[८] सम[६] तुल्य और नहिं कोय ।५४।

जो भगवान के नाम और यश का गान करता है उसके अच्छे भाग्य हैं, जिसको ब्रह्म प्रिय लगता है वही अपने समय[४] में महान् है । प्रीति[५] उतनी[६] ही अच्छी है, जिससे नारी[७] अनुरक्त रहे, नारी में आसक्त होना अच्छा नहीं । उक्त तीनों लक्षण जिसमें हैं, उसके[८] समान[६] वही है, उसके बराबर अन्य कोई भी नहीं हो सकता ।

सद्गुरु साधू घट[७] घटा, शिष सारंग[८] पुकार।
बैन बूंद वर्षा विपुल[९], पै भाग्य परैं मुख धार ॥५५॥

चातक[८] पक्षी की पुकार से बादलों की घटा से बहुत[९] विन्दु वर्षती हैं किंतु जो उसके भाग्य में होती हैं उन विन्दुओं की ही धारा चातक के मुख में पड़ती है, वैसे ही शिष्य के प्रश्न पर श्रेष्ठ गुरु वा सद्गुरु और संतों के शरीर[७] के मुख से बहुत वचन निकलते हैं किंतु शिष्य के अंत:करण में तो उसके भाग्य के अनुसार ही ठहर पाते हैं।

श्वान[६] सुखासन[७] चढि चलैं, सही[८] सु सीरा खांहि।
रज्जब ओढैं सावटू[९], लिख्या सु भाग हु मांहि ॥५६॥

कुत्ते[६] पालकी[७] पर बैठ कर चलते हैं, यह भी सत्य[८] है, सीरा खाते हैं और सुन्दर वस्त्र[९] ओढते हैं, कारण—उनके भाग्य में लिखा है।

तल कहार कसकत[६] चलैं, श्वान सुखासन[७] थान।
रज्जब किया रोस[८] क्या, भावी[९] भिन्न सुजान ॥५७॥

नीचे तो कहार बोझ के कारण होने वाले दुःख से दुखित[६] हुये चलते हैं और ऊपर पालकी[७] में बैठा हुआ कुत्ता अपने स्थान को जा रहा है। तो क्या कहारों पर ईश्वर ने क्रोध[८] किया है? हे सुजान! ईश्वर ने क्रोध नहीं किया है कुत्ते का और कहारों का होनहार[९] भिन्न-भिन्न है।

रज्जब कंघी पावड़्यों, काष्ठहु लागा एक।
भाग[७] भिन्न ठाहर मिलहिं, ब्योरा[८] किया विवेक ॥५८॥

कंघी और खड़ाओं में एक ही काष्ठ लगा होता है किंतु कंघी शिर पर जाती है और खड़ाओं को चरण-तल-स्थान प्राप्त होता है। वैसे ही एक ही माता पिता से दो पुत्र होते हैं किंतु उनका भाग्य[७] भिन्न भिन्न होने से स्थान भी ऊंच नीच भिन्न भिन्न ही मिलता है, विवेक के द्वारा भाग्य और वक्त का यही विवरण[८] किया गया है।

रज्जब महन्त मयंक[५] कन[६], सभा सु मंडल होय।
आतम उडग[७] अनेक हैं, तहाँ न घाघ्रट[८] होय ॥५९॥

चन्द्रमा[५] के पास[६] तारा मंडल रहता है, उसमें अनेक तारे[७] हैं किंतु वहाँ किसी दिशा में भी लड़ाई[८] नहीं होती। वैसे ही महान् संत के पास सभा रहती है, उसमें अनेक जीवात्मायें रहती हैं किंतु किसी ओर भी कोई शब्द नहीं होता सब शांत भाव से संत का उपदेश सुनते हैं, यह भी वक्त की ही बात है, वह समय वैसा ही होता है।

रज्जब भावी[५] भाल[६] में, सभा सु तिन के पास ।
रवि शशि बिन मंडल नहीं, अवलोकहु[७] आकाश ॥६०॥

जैसे सूर्य चन्द्र बिना मंण्डल (सूर्य-चन्द्र के चारों ओर का प्रकाशमय गोला) नहीं हैं, यह आकाश में देख[७] सकते हो, और महान् संत के पास सभा रहती है । वैसे ही सबके मस्तक[६] में होनहार[५] अंकित है अर्थात् होनहार साथ ही रहता है ।

दाता दिल दरियाव, भाव भला सब त्याग[५] का ।
में मंगित[६] कर आव, जेतक[७] भंजन[८] भाग[९] का ॥६१॥

समुद्र में देने का भाव अच्छा है चाहे कोई कितना ही जल ले सकता है किन्तु लेने वाले के पास जितना[७] बड़ा बर्तन[८] है उतना ही वह ले सकेगा । वैसे ही प्रभु रूप दाता तो बहुत उदार हैं, उनमें सभी कुछ देने[५] का भाव बहुत अच्छा है किंतु माँगने[६] वाले के हाथ तो उतना ही आयेगा जितना उसका भाग्य[९] है ।

उदार अधिक नदीनाथ[५] से जिन माँही बहु वस्त ।
पै रज्जब बासण[६] बखत का, तेता आवे हस्त ॥६२॥

जिसमें बहुत वस्तुयें हैं, उस समुद्र[५] से भी उदार व्यक्ति अधिक होता है किंतु वक्त का बर्तन[६] होगा अर्थात् भाग्य जितना होगा, उतना ही हाथ में आयेगा ।

वाव[५] सरै[६] तो तन सुखी, सूंघण हार हुं दुःख ।
तथा संपदा देखिकर, आपद मौड़े मुख ॥६३॥

जिसका अपान वायु[५] निकलता[६] है उसे तो सुख होता है किंतु उसकी दुर्गंध का सम्बंध जिसके नाक से होता है उसे दुःख होता है, वह दुःख से मुख मोड़ता है, वैसे ही सम्पत्ति को देखकर आपद मुख मोड़ती है, यह सब समय से होते हैं, यही समय का विवरण है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित वक्त ब्योरा का अंग १२२
समाप्तः ॥ सा० ३६६३ ॥

अथ निन्दा का अंग १२३

इस, अंग में निन्दा और निन्दक सम्बंधी विचार प्रकट कर रहे हैं—

निज तीरथ निन्दक सही, निन्दा नीर सु माँहि ।
रज्जब रज मल ऊतरै, घट गम्भीर सुन्हाँहि ॥१॥

निश्चय ही निंदक निजी तीर्थ है, उसमें निंदा रूप जल भरा है, गम्भीर अंतःकरण वाले संत जन ही इसमें स्नान करते हैं अर्थात् निंदा से व्यथित नहीं होते। जैसे जल से रज-मैल उतरते हैं वैसे ही निंदा तीर्थ के स्नान से पाप उतरते हैं।

निन्दक नाम समान हैं, जिनसौं प्राणि पवित्र।
मन वच कर्म रज्जब कहै, ऐसे और न मित्र ॥२॥

निंदा द्वारा जिनसे प्राणी पवित्र होते हैं, वे निंदक ईश्वर नाम के समान हैं वा जिन भगवान् के नामों से प्राणी पवित्र होते हैं उन नामों के समान ही निंदक हैं। हम मन वचन कर्म से कहते हैं ऐसे मित्र अन्य नहीं हैं।

निन्दक निज जन सारिखो,[५] मन मल-मंजनहार[६]।
सदा सनेही संग है, कदे[७] न छोड़ै लार[८] ॥३॥

निंदक निजी सेवक के समान[५] है, जैसे सेवक वस्त्र तथा शरीर के मैल को साफ करता है, वैसे ही निंदक मन के पाप को साफ[६] करने वाला है और निंदक प्रेमी के समान सदा साथ रहता है अर्थात् निंदा करता रहता है कभी[७] भी पीछा[८] नहीं छोड़ता।

निन्दक औषधि अन्न गति,[५] मित्र मई[६] गुरु देव।
एक हि ठाहर एक है, शोधे भिन्न सु भेव[७] ॥४॥

निंदक की चेष्टा[५] औषधि और अन्न के समान है, जैसे औषधि रोग मिटाती है और अन्न भूख मिटाता है, वैसे ही निंदक पाप मिटाता है। पुनः निंदक मित्र तथा गुरुदेव स्वरूप[६] हैं, मित्र दुःख निवृत्ति द्वारा और गुरु अज्ञान निवृत्ति द्वारा सुख देते हैं, वैसे ही निंदक भी पाप निवृत्ति द्वारा सुख देते हैं। इस प्रकार सारग्राहकता रूप एक स्थान में तो निंदक और सज्जन एक ही हो जाते हैं किंतु विचार करने पर दोनों का रहस्य[७] भिन्न ही होता है।

नाम नाज उर[५] धर[६] बहैं, बाहै प्राणि किसान।
रज्जब रिधि[७] बीये बिना, निंदक करे निदान[८] ॥५॥

किसान पृथ्वी[६] में नाज बोता है फिर उसके उगने पर पैसे देकर उसका निनाण कराता है, वैसे ही हृदय[५] में नाम चिंतन किया जाता है फिर उसकी योग्यता बढ़ने पर निंदक बिना धन[७] दिये भी निंदा द्वारा उसके दोष दूर[८] करता है।

निंदक हू नर निस्तरै,[५] कुमित[६] सुमित[७] हूं याद।
कहीं[८] भाँति जाणे न जड़, जन्म जात जो बाद[६] ॥६॥

निंदक कुमित्र[६] हो वा सुमित्र[७] दोनों प्रकार के नरों को ही निन्दा द्वारा याद करके उनका उद्धार[५] करता है। शिक्षा देने पर भी वह मूर्ख निंदा के दोषों को किसी[८] भांति भी नहीं जानता, अतः उसके नर जन्म का जो समय जाता है वह व्यर्थ[९] ही जाता है।

निंदक निंदा निस्तरै, दिल सु दूर व्है दोस।

महा पुरुष पारस मई, लोह लगौं रस रोस॥७॥

पारस पर लोहा की चोट क्रोध से लगती है तो भी वह रस रूप हो जाती है अर्थात् लोहा सुवर्ण बन जाता है, वैसे ही महापुरुष भी पारस रूप ही हैं, निंदक उनकी निंदा करता है तब उसके हृदय के दोष दूर होकर उसका उद्धार हो जाता है।

निंदा विद्या नरक मघि,[५] घटि बधि कहतों व्याधि।

रज्जब राम न मान ही, लागा रोग असाधि[६]॥८॥

निंदा के द्वारा विद्या भी नरक का मार्ग[५] बन जाती है। वास्तविक बात से कम और अधिक कहना महान् व्याधि है। जिसके निंदा रूप असाध्य[६] रोग लग जाता है, उस विद्वान् की विद्या को भी राम श्रेष्ठ नहीं मानते।

निंदक के अगतो[५] नहीं, खल[६] मल[७] धोवहि नित्त।

रज्जब गिने न रैन दिन, उज्वल करे सुमित्त[८]॥९॥

निंदक अपने निंदा रूप कार्य की छुट्टी[५] अमावस्या आदि को भी नहीं करता, वह दुष्ट[६] प्रति दिन ही पाप[७] धोता रहता है। किंतु सारग्राहक दृष्टि से वह सबका श्रेष्ठ–मित्र[८] है कारण-रात्रि-दिन को भी कुछ नहीं गिनता, रात-दिन निरंतर दूसरों को उज्वल करता ही रहता है।

निन्दक के नित नियम यहु, अह[५] निश[६] करै अनीति।

रज्जब साँच न सूंघ ही, सब झूठी रस रीति॥१०॥

निंदक का यह नित्य का नियम है कि रात[६]-दिन[५] निंदा रूप अनीति करता ही रहता है, सत्य को तो वह सूंघता भी नहीं, उसको तो मिथ्या निंदा करने की रीति में ही रस आता है।

नारायण सुर नर सहित, निंदक निंदै मांड।

रज्जब रुचे न राम को, जगत न भावै भांड॥११॥

निंदक विष्णु, देवता और नरों के सहित सभी ब्रह्माण्ड की निन्दा करता है, उसका यह कार्य न तो राम को रुचिकर होता है और न यह भांड जगत् को अच्छा लगता है।

सुर पुर नरपुर नागपुर, निंदक को नहिं ठौर ।
रज्जब राम न राख ही, कहै और की और ॥१२॥

निंदक को रहने के लिये देवता, नर और नागों के नगरों में स्थान नहीं है. राम भी उसे नहीं रखते कारण—वह तो और की और अर्थात् सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य कह देता है ।

निंदक दुःख दोषों भरचा, कहै अजुगती[५] बात ।
रज्जब रोग अपार[६] मन, घेरि रही घट[७] घात[८] ॥१३॥

निंदक दुःख और दोषों से भरा हुआ है, अयुक्त[५] बात कहता है, उसके मनमें निंदा रूप असाध्य[६] रोग है और उसके अंतःकरण[७] को बुराई[८] घेरे रहती है ।

सारंग[५] सरोवर स्वप्न सुख, तीजे निंदक बैन[६] ।
जन रज्जब मिथ्या सु मुर,[७] कहु किन पाया चैन[८] ॥१४॥

मृग[५] तृष्णा का सरोवर, स्वप्न का सुख और तीसरा निंदक वचन[६] ये तीनों[७] मिथ्या ही हैं, कहो इनसे किसने सुख[८] प्राप्त किया है ?

निंदक नरक[५] समान है, वाणी विविध कुवास[६] ।
रज्जब सुन सूंघै नहीं, कुमित[७] कान की नास ॥१५॥

निंदक मल[५] के समान है और नाना प्रकार की वाणी ही उसकी दुर्गंध[६] है, कुमित्र[७] रूप कान की नाशिका से सुनकर उसे कभी नहीं सूंघना चाहिये अर्थात् कुमित्र से सुनकर उसे धारण नहीं करना चाहिये मिथ्या समझ त्याग देना चाहिये ।

रज्जब दिल दोष हुं भरचा, आतम[५] अवगुण पूरि ।
सेज्ञा[६] अंग[७] अज्ञान का, करैं कौन विधि दूरि ॥१६॥

निंदक का हृदय दोषों से भरा रहता है, उसके अंतःकरण[५] में अवगुण परिपूर्ण रूप से भरे रहते हैं, उसका शरीर[७] अज्ञान का उद्गम[६] स्थान है, उक्त तीनों को उससे किस प्रकार दूर करें ?

तूटे तूटा रूप दिखावहिं, नर नक्षत्र निरताय[५] ।
रज्जब वह्नी[६] वक्त्र[७] वपु, जुगल[८] सु जलता जाय ॥१७॥

निंदक नर और नक्षत्र टूटते हैं तब टूटा रूप तो दिखाते हैं किंतु हे नर ! विचार[५] कर, निन्दक नर के मुख[७] में और नक्षत्र के शरीर में अग्नि[६] है तभी तो दोनों[८] जलते हुये जाते हैं, अर्थात् निंदक नर स्थान से गिरता है तब भी कटु वचन ही कहता जाता है और तारा टूटता है तब भी जलता हुआ ही जाता है ।

लोहा वैरी कनक का, मुक्त[५] हिं पिशुन[६] पषाण ।
यूं असाधु साधु को निंदहि, तुल्य न वक्त[७] बखाण[८] ॥१८॥

लोहा सुवर्ण कूटता है इससे सुवर्ण का शत्रु है, मोती[५] को पत्थर तोड़ देता है इससे मोती के लिये पत्थर दुष्ट[६] है, ऐसे ही असाधु साधु की निंदा करता है किंतु समय[७] पर उनका, कथन[८] समान नहीं होता सुवर्ण, मोती और साधु ही श्रेष्ठ माने जाते हैं ।

मुख रसना प्रभुजी दिये, अपने सुमिरण काज ।
सुर नर निन्दा में खरच[१], रज्जब खोई लाज ॥१९॥

प्रभु ने मुख और जिह्वा अपने स्मरण रूप कार्य को करने के लिये दिये हैं किन्तु प्राणी नर और देवताओं की निन्दा में उसका उपयोग[१] करके अपनी लज्जा खो देता है ।

दोष दोष कन[१] आव हीं, काया नगरी माँहि ।
शरीर शहर दुरमति कढै[२], अवगुण आवहिं नाँहि ॥२०॥

काया नगरी में दोष के पास[१] ही दोष आते हैं, शरीर रूप शहर से दुर्बुद्धि निकल[२] जाय तो शरीर में अवगुण नहीं आयेंगे ।

याद न आवे तो भली, बुरी वस्तु मन माँहि ।
पर की बुरी विचार तों, आप बुरे ह्वै जाँहि ॥२१॥

बुरी वस्तु का मन में स्मरण न आये तो ही अच्छा है, कारण-दूसरे का बुरा सोचने से सोचने वाले भी बुरे ही हो जाते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित निन्दा का अंग १२३
समाप्तः ॥सा० ३९८४॥

अथ कृतघ्नी निगुरा का अंग १२४

इस अंग में कृतघ्नी और गुण न मानने वाले निगुरे नरों संबन्धी विचार कर रहे हैं—

जन रज्जब गुण चोर का, कबहुं भला न होय ।
सद्गुरु का कृत हन्तकरि, सीझ्या[१] सुण्या न कोय ॥१॥

गुण को चुराने वाले का कभी भी भला नहीं होता, सद्गुरु के किये हुये उपकार को हत कर अर्थात् न मान कर कोई भी मुक्त[१] हुआ नहीं सुना जाता ।

साधौं के गुण चोर को, कहो कहाँ है ठोर ।
माया में भी मारिये, रज्जब चोरी चोर ॥२॥

संतों के ज्ञानादि गुणों को चुराने अर्थात् ज्ञान सीख कर उपकार न मानने वाले के लिये तुम ही कहो कहाँ स्थान है ? अर्थात् ब्रह्म स्वरूप में तो है नहीं । मायिक संसार में भी चोरी करने वाले चोर को पीटा ही जाता है ।

जैसे अंध उलूक गति, रवि गुण मानैं नाँहि ।
रज्जब रजनी ह्वै गई, विद्यमान दिन माँहि ॥३॥

जैसे अंधा उल्लू सूर्य के प्रकाश गुण को नहीं मानता तब उसके लिये दिन के होते हुए भी रात्रि हो जाती है, वैसे ही कृतघ्नी उपकार नहीं मानता तब उसकी भी वही गति होती है अर्थात् ज्ञान की बातें जानते हुये भी उसमें अज्ञान ही रहता है ।

विद्या लेय विहंग[1] की, वक्त्र[2] सु बरछी[3] झेल ।
रज्जब नटतों नाम नट, अरि[4] उर बैठा सेल[5] ॥४॥

मुख[2] पर भाला[3] झेलने की विद्या पक्षी[1] से लेकर नट को उसका नाम नहीं बता कर नट गया तब उस नट के शत्रु[4] के हृदय में भाला[5] घुस गया । दृष्टांत कथा–एक पशु चराने वाले लड़के ने तालाब पर एक दिन देखा कि–बगला मच्छी पकड़ कर आकाश में उछालता है और फिर उसे चूंच में पकड़ लेता है । लड़के ने भी उसकी देखा देखी अपनी लकड़ी दाँतों पर झेलने का अभ्यास कर लिया । एक दिन उसके ग्राम में एक नट आया और उसने भाले को आकाश में उछालकर दाँतो पर झेलने का खेल दिखाया, उसे देख कर उक्त लड़के ने कहा–"इसमें क्या बड़ी बात है ? यह तो मैं भी झेल सकता हूँ" नट ने कहा–"झेल" उसने झेल लिया । नट ने पूछा–"तेरा गुरु कौन है ?" वह बोला–"कोई नहीं मैंने तो अपने आप ही सीखा है ," नट ने कहा–"तब एक बार फिर झेल ।" अबकी बार सेल दाँतों पर न पड़कर हृदय में जा घुसा । यदि वह बता देता कि–बगले से सीखा है तो ऐसा नहीं होता ।

भस्मासुर भस्मी हुआ, महादेव गुण मेटि ।
तो रज्जब गुण चोर का, भला न होई नेटि[1] ॥५॥

गुण चोर का भला नहीं होता, अन्त[1] में वह नष्ट ही होता है । देखो, भस्मासुर ने महादेवजी का उपकार रूप गुण न मानकर उलटा महादेवजी को ही भस्म करना चाहा तब आप ही भस्म हो गया । यह कथा प्रसिद्ध है ।

रज्जब सांई सूर सम, सद्गुरु सलिल सु अंग[1] ।
शिष सफरी[2] जन जल जुदे, दादों पोते भंग ।।६।।

ईश्वर सूर्य के समान है और सद्गुरु जल रूप[1] हैं शिष्य मच्छी[2] के समान है । सूर्य से जल बरसता है, उसमें मच्छी जन्मती हैं किंतु मच्छी जल से जुदा हो जाय तो अपने दादा सूर्य से ही मीन रूप पोते नष्ट हो जाते हैं । वैसे ही ईश्वर से सद्गुरु होते हैं और सद्गुरु के आश्रय शिष्य रहते हैं किंतु शिष्य जन सद्गुरु से अलग हो जायं अर्थात् गुरुदेव का उपकार नहीं माने तब वे पोते अपने दादा ईश्वर के द्वारा नष्ट होते हैं ।

देखो मुकर[1] मसंद[2] मुनि, मुख सुख पावक पीठि ।
रज्जब रवि रमता रची, दया दुष्ट विधि दीठि[3] ।।७।।

देखो, आतशी शीशा[1] और मसनद[2] का आश्रय लेकर बैठने वाले मुनि का मुख तो सुखद है अर्थात् दोनों देखने में अच्छे लगते हैं किंतु दोनों के पीठ में अग्नि है । सूर्य ने अपनी किरण से शीशे में और रमता राम ने संत में दया और दुष्टता दो प्रकार रचा है यह देखने[3] में आता है अर्थात् सूर्य के प्रकाश से ही शीशा अच्छा लगता है और सूर्य की किरण से ही शीशा से अग्नि निकलता है, वैसे ही ईश्वर भजन से संतों का दर्शन प्रिय होता है और पीठ अर्थात् उनका दूर गमन विरहानल से जलाने वाला होता है वा शब्द उनके सुखद होते हैं परन्तु उनके अनुसार साधन करना दुखद होता है किन्तु कृतघ्न उनके प्रत्यक्ष उपकार को भी नहीं मानता ।

दीये बिना सु देत है, लीये बिना सु लीन ।
यूं गुरु शिष सन्मुख-विमुख, ज्यों आँख्यों आदित्य कीन ।।८।।

जैसे सूर्य नेत्रों के कुछ दिये बिना भी नेत्रों को प्रकाश देते हुये नेत्रों के सन्मुख रहते हैं किंतु नेत्र सूर्य से विमुख ही रहते हैं सामने भी नहीं देखते, वैसे ही शिष्य से कुछ लिये बिना भी गुरु उसके हित में लीन रहते हैं किंतु कृतघ्न शिष्य गुरु के सन्मुख नहीं रहता न गुरु की आज्ञा मानता और न सेवा करता है । जैसे नेत्र सूर्य के साथ व्यवहार करते हैं वैसे ही कृतघ्न शिष्य गुरु के साथ करता है ।

अविगत[1] आदित्य की सता, आतम आँखों माँहि ।
पै कृतघ्नी सारी उमर, इष्टों देखै नाँहि ।।९।।

नेत्रों में सूर्य की ही सत्ता[2] है, नेत्र उसी से देखते हैं किंतु जीवन भर भी सूर्य के सामने नहीं देखते । वैसे ही जीवात्मा में ब्रह्म[1] की सत्ता[2] है, उसी से जीव सब कुछ करता है फिर भी कृतघ्न जीव अपनी संपूर्ण आयु में भी अपने इष्ट ब्रह्म का उपकार नहीं देखता ।

मूंस[1] पलटि मंजार[2] किये, पुनःश्वान सिंह साज ।
तो कहा[5] सेवड़े सुख लह्या,[6] गत[3] गुण चोर निवाज[4] ॥१०॥

किसी सेवड़े के पास एक चूहा[1] पर बिलाई ने हमला किया, उसे देख कर सेवड़े को दया आ गई, उसने बिलाई को रोक कर चूहे को भी बिलाव[2] बना दिया और वह सेवड़े के पास ही रहने लगा। एक दिन बिलाव पर कुत्तो ने हमला किया, सेवड़े ने उससे बचा कर बिलाव को कुत्ता बना दिया, फिर एक दिन सिंह को देख कर कुत्ता डरा तब सेवड़े ने कुत्ते को सिंह बना दिया, फिर सिंह सेवड़े को ही खाने लगा, तब सेवड़े ने उसे पुनः चूहा ही बना दिया। देखो, उस शुभ गुण रहित[3] गुण चोर कृतघ्न पर कृपा[4] करके सेवड़े ने क्या[5] सुख प्राप्त[6] किया ? अतः कृतघ्न पर कृपा करना भी दुःख मोल लेना है ।

रज्जब खोटे जीव सौं, कछु गुण[1] किया न जाय ।
केशरि[2] काढयो कूपतैं, काढणहार हिं खाय ॥११॥

कृतघ्न बुरे प्राणी से भला[1] तो कुछ भी नहीं किया जाता। देखो, किसी दयालु ने कूप में पड़े हुये सिंह[2] को निकाल दिया तो वह निकालने वाले को ही खा गया।

जन रज्जब जग जीव जो, दे सद्गुरु को पीठि ।
तो शक्ति[1] सेन सांई सहित, धर हि दुष्टता दीठि[2] ॥१२॥

जगत् में जो कृतघ्न जीव सद्गुरु को पीठ देता है तब माया[1] रूप सेना के सहित ईश्वर भी उसमें दुष्टता की दृष्टि[2] रखते हैं अर्थात् उसमें दुष्टता आ जाती है।

रज्जब रजनी पति की, सदा सुधा मय दीठि[1] ।
जगत सुखी जंगम[2] दुखी, जाके चाँदी[3] पीठि ॥१३॥

चन्द्रमा की किरण रूप दृष्टि[1] सदा अमृत मय ही होती है और जगत् के प्राणी उससे सुखी होते हैं किंतु जिसकी पीठ में घाव[3] हो वह चलने[2] वाला घोड़ा तो दुःखी ही होता है। सरद पूर्णिमा की रात को घोड़े के पीठ के घाव में चन्द्र-किरण पड़ जाय तो वह मर जाता है, वैसे ही निगुणा भलाई करने पर भी दुःखी ही होता है।

रज्जब जखमी[1] जंगम[2] मृत्यु जवासै, चन्द्र इन्द्र सौं होय ।
उभय उभय में अंब[3] कहि,[4] बूझे विरला कोय ॥१४॥

पीठ पर घाव-वाले[1] घोड़े[2] की मृत्यु चन्द्र किरण से और जवासे की इन्द्र द्वारा वर्षाये हुये जल से होती है। चन्द्र-इन्द्र इन दोनों में और घोड़ा-

जवासा इन दोनों में कहो[4] क्या दोष[3] है ? इन दोषों को कोई विरला ही समझता है । चन्द्र-इन्द्र में अमृत और जल का समान भाव से वितरण करना रूप दोष है, अधिकारी को नहीं देखते और घोड़ा-जवासा में चन्द्र-इन्द्र का उपकार न मानना रूप दोष है, इसी से नष्ट हो जाते हैं । उपकार न मानने वाले नष्ट ही होते हैं ।

हरि सौं हुई हराम खोर, होली हठ राँडी[1] ।
वर्षा-वर्ष[2] सु बालिये,[3] रज्जब जग भाँडी[4] ॥१५॥

रांड[1] होलिका हरि से हराम खोर हुई अर्थात् हरि का उपकार न मानकर भक्त प्रहलाद को जलाने का हठ किया इसीलिए प्रतिवर्ष[2] जलाई[3] जाती है और सब जगत् उसे बुरी[4] बताता है ।

गुरु गोविन्द सम्मुख विमुख, नर निरखै नहिं नींक ।
ज्यों आदित्य आकाश दिशि, देखत आवै छींक ॥१६॥

जैसे आकाश में स्थित सूर्य की ओर देखने से छींक आती है भली प्रकार नहीं देखा जाता, वैसे ही गुरु-गोविन्द से विमुख नर, गुरु-गोविन्द के सन्मुख भली प्रकार नहीं देख सकते ।

साँई सूरज की सता,[1] नर नैन हुं को होय ।
रज्जब वरतै और दिशि, उनको सके न जोय ॥१७॥

सूर्य की सत्ता[1] नेत्रों को प्राप्त है किंतु नेत्र दूसरी ओर तो भली प्रकार देखते हैं, सूर्य की ओर भली प्रकार नहीं देख सकते, वैसे ही ब्रह्म की सत्ता नरों को प्राप्त है पर नर भी अन्य ओर ही वर्तते हैं, ब्रह्म चिंतन में प्रवृत्त नहीं होते ।

पिंड प्राण जगदीश का, ताकी छाड़ी सेव ।
जन रज्जब गुण चोरटे, पूजहिं देवी देव ॥१८॥

शरीर और प्राण जगदीश्वर के हैं किंतु गुण चोर कृतघ्न प्राणियों ने उनकी भक्ति तो छोड़ दी और देवी-देवताओं को पूजते हैं ।

सुत वीरज[1] ले और को, शोभा दे शिर हीज[2] ।
तो रज्जब गुण चोर की, साखि भरै[4] नहिं धीज[3] ॥१९॥

अन्य का वीर्य[1] लेकर पुत्र उत्पन्न करे और उसका पिता होने की शोभा अपने नपुंसक[2] पति को दे । वैसे ही भरण-पोषण तो ईश्वर करता है और शोभा देवी-देवताओं को दे तब ऐसे गुण चोर देवादि की विशेषता की साक्षी दे[4] तो भी उन पर विश्वास[3] नहीं करना चाहिये ।

राज[1] बीज[2] को ले गई, कोउ इक कामिनि और।
रज्जब सुत पावै नहीं, सो टीके[3] की ठौर[4] ॥२०॥

कोई अन्य नारी राजा[1] के वीर्य[2] को ले गई हो तो उसका पुत्र युवराज[3] पद[4] को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही कोई गुरु माने बिना ही ज्ञान सीख ले तो उस गुण चोर का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान का पद नहीं प्राप्त कर सकता।

साखि शब्द ले और का, गुरु करि थापै[1] और।
रज्जब निगुरा मन मुखो, जाके ठीक न ठौर ॥२१॥

साखी तथा शब्द तो दूसरों के लेता है और गुरु रूप में किसी और की ही प्रतिष्ठा[1] करता है अर्थात् गुरु और को मानता है। इस प्रकार जिसका ठीक ठिकाना नहीं है वह निगुरा मन मुखी ही कहलायेगा।

चेतन कन[1] सुण सीख ले, सेवे जड़ ही जाय।
सो रज्जब कैसे बणे, नर देखो निरताय[2] ॥२२॥

ज्ञानी से[1] सुन कर वा चेतन प्राणी से सुनकर, ज्ञान वा उपासना पद्धति सीख लेता है किंतु अपने घर जाकर उपासना जड़ की ही करता है, तब हे नरो ! विचार[2] करके देखो, वह ज्ञानी वा भक्त कैसे बन सकेगा ?

पुत्र जणाया आन मिल, कहै पुरुष पुनि आन।
रज्जब सो व्यभिचारणी, पतिव्रता नहिं जान ॥२३॥

पुत्र तो दूसरे से मिलकर उत्पन्न कराया हो और पति दूसरे को कहती हो वह व्यभिचारिणी होती है, उसे पतिव्रता मत जानो, वैसे ही ज्ञान तो हृदय में अन्य ने उत्पन्न किया हो और गुरु अन्य को माने वह कृतघ्न भी व्यभिचारी ही कहलाता है।

रज्जब पीवै और गुरु, बधै और गुरु माँहि।
ज्यों पीपल पर खेजड़ा, डाल पान सो नाँहि ॥२४॥

जैसे पीपल के वृक्ष पर खेजड़ा उग जाता है, वह पीपल के द्वारा जल पीता है और बढ़ता है खेजड़े के रूप में है, उसके डाली–पत्ते पीपल के समान नहीं होते। वैसे ही ज्ञान तो दूसरे गुरु से ले और अपनी वृद्धि का श्रेय दूसरे गुरु को दे वह निगुरा कृतघ्न है।

जैसे अंडा मोर का, मुरगी काढै सेय।
रज्जब गुण माने नहीं, अंत उहै[1] गुण लेय ॥२५॥

मोर के अंडे को मुर्गी सेवन करके निकाले तब वह मुर्गी का गुण नहीं मानता अंत में मोर[1] वाला गुण ही लेता है। वैसे ही कृतघ्न को उपदेश करके सुधारने का यत्न करे तब वह भी उपकार का गुण नहीं मानकर अपनी पूर्व स्थिति में ही रहता है।

दिल दर्पण गुरु सूर[1] सम, सन्मुख इष्ट[2] प्रकाश।
शब्द सता[3] सब दिशि सुभग[4], फुर[5] हि न ते[6] गुण नाश ॥२६॥

हृदय दर्पण के समान है, गुरु सूर्य[1] के समान है। सूर्य का अनुकूल[2] प्रकाश दर्पण के सामने है, फिर भी अग्नि नहीं निकलता तो यह सत्य[5] है कि–अग्नि निकालने वाला गुण उसमें नष्ट हो गया है। वैसे ही गुरु के सुन्दर[4] शब्दों की सत्ता[3] सभी दिशा में है फिर भी हृदय में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो यह सत्य[5] ही समझना चाहिये कि–जो ज्ञान के साधन रूप गुण हैं, वे[6] कृतघ्न के हृदय में नहीं हैं, नष्ट हो गये हैं।

विषय विघ्न बेटी गई, सो न सगारथ[1] होय।
त्यूं रज्जब गुरु बिन गिरा, सीझ्या[2] सुण्या न कोय ॥२७॥

जैसे किसी की पुत्री के हृदय में भोग-वासना रूप विघ्न उपस्थित हो जाने से वह किसी जार के साथ भाग गई हो तो फिर संबन्धियों[1] के अर्थ की नहीं रहती। वैसे ही गुरु बिना वाणी मुक्ति के योग्य नहीं होती, उससे कोई मुक्त[2] हुआ नहीं सुना गया है।

रिण न उतार्‌या राम का, मनुज देह जिन दीन[1]।
रज्जब तिनहिं उधार दे, मन वच कर्म सो छीन[2] ॥२८॥

जिन राम ने मनुष्य शरीर दिया[1] है, उनका भजन द्वारा ऋण नहीं उतारा, प्रत्युत उन्हें उधार देता है अर्थात् जो कुछ करता है वह पीछा लेने के लिये करता है, हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं ऐसा कृतघ्न नष्ट[2] ही होगा अर्थात् बारंबार जन्मे मरेगा।

गुरु बाहैं मानुष मही, सब की पूरण आश।
कृतघ्नी उठ कातरे, वैरी करैं विनाश ॥२९॥

गुरु सबकी आशा पूर्ण करने के लिये मनुष्य रूप पृथ्वी में ज्ञान रूप नाज बोते हैं किंतु वैरी कृतघ्न रूप कातरा उठकर उसको नष्ट कर देता है।

जीव सु खेती ज्वार की, गुरु बाहैं मन माल।
गुण चोर उठे गंडार[1] ह्वै, किया सु काल दुकाल[2] ॥३०॥

मन लगा कर बोई हुई ज्वार की खेती को तोते[1] वा काबर पक्षी नष्ट कर सुकाल में भी दुष्काल[2] कर देते हैं, वैसे ही मन लगाकर जीव में गुरु ज्ञान रूप माल बोते हैं किन्तु गुण चोर कृतघ्नी उसे नष्ट करके शांति के स्थान में विक्षेप खड़ा कर देते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कृतघ्नी निगुणा का अंग १२४ समाप्तः ॥ सा० ४०१४ ॥

अथ कलियुगी अंग १२५

इस अंग में कलियुग और कलियुगी मानवों के सम्बंधी विचार प्रकट कर रहे हैं—

झूठ साँच को मार ही, पैठि[1] जोर पर पंच।
यहु रज्जब कलियुग कला, कपट कर्म की आँच ॥१॥

कलियुग में पंच लोग अपने बल में आकर[1] झूठ के द्वारा सत्य को नष्ट करते हैं, यही कलियुग की विशेष कला है, कपट से कर्म करके उनके फल दुखाग्नि की आँच से जलते हैं।

जन रज्जब कलियुग तहाँ, जहाँ कपट का साज।
मुख औरै माँहीं अवर[1], सो कुसंग तज भाज ॥२॥

जहाँ कपट की साधन-सामग्री है, वहाँ ही कलियुग है। मुख से अन्य बोलना और हृदय में अन्य[1] रखना, वह कुसंग है, उसे त्याग कर उससे दूर दौड़ जाना चाहिये।

रज्जब गज्जब[1] सौं डरै, मत[2] अजगैबी[3] होय।
कलि केवल कपटी कला, आय पड़ै मत कोय ॥३॥

हम अन्याय[1] से डरते हैं, कहीं बिना-देखी,[3] बिना-सुनी[3] बात हमसे उच्चारण न[2] हो जाय, कलियुग केवल कपट की कला वाला है, वह कपट कोई प्रकार से हमारे हृदय में न आ पड़े।

अपना अवगुण आवरै,[1] पर के ऐब[2] प्रकाश।
जन रज्जब जिव कलियुगी, कपटी कंध[3] विनाश ॥४॥

कलियुग के कपटी जीव अपने अवगुण तो ढँकते[1] हैं और दूसरों के दोष[2] प्रकट करते हैं, ऐसे प्राणियों का शरीर[3] अपने कपट के द्वारा ही नष्ट होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कलियुगी अंग १२५ समाप्तः ॥ सा. ४०१८ ॥

अथ कुसंगति का अंग १२६

इस अंग में कुसंग सम्बन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—

सकल बुरे का मूल है, एक कुसंगति माँहि।
ज्यों रज्जब समुद्र हि मिल्यों, तीरथ दीसै नाँहि ॥१॥

सम्पूर्ण बुरे पन का मूल एक कुसंग में ही रहता है अर्थात् कुसंग से सभी बुराई हो जाती है। जैसे समुद्र में मिलकर तीर्थ नहीं दीखते, वैसे ही कुसंग में पड़ने पर भलाई नहीं दीखती।

रज्जब गंगा ज्ञान की, देही दरिया मेल।
स्वाद समुद्र शरीर संग, व्है गया और हि खेल ॥२॥

जैसे गंगा समुद्र में मिली तब उसका स्वाद रूप खेल पूर्व से अन्य ही हो गया, वैसे ही ज्ञान देह से मिलकर देह के साथ रहता है अर्थात् देहाध्यास से युक्त हो जाता है तब उसका भी और ही खेल हो जाता है अर्थात् स्थिर रहकर ब्रह्मानन्द नहीं देता।

सांई[1] शून्य[7] गुरु आभ[2] गिर, रसन रसातल गंग।
रज्जब पैठे[3] उर उदधि,[4] खारूं[5] खै[6] गुण भंग ॥३॥

जल आकाश[7] के बादलों[2] से पृथ्वी पर पड़ कर गंगा में आता है फिर गंगा समुद्र[4] में प्रवेश[3] करती है तब उसके जल के मधुरता आदि गुण क्षीण[6] होकर वह खारा[5] हो जाता है, वैसे ही ज्ञान ब्रह्म[1] से गुरु में आता है और गुरु से शिष्य की रसना पर जाकर अनधिकारी के हृदय में जाता है, तब उसके शुभ गुण नष्ट होकर भेद रूप क्षारता वाला हो जाता है।

रज्जब समझ कुसंगतैं, कदे[1] न होई ओत[2]।
राहु केतु की छाँह तैं, शशि सूरज क्या होत ॥४॥

राहु-केतु की छाया से चन्द्र-सूर्य को क्या प्राप्त होता है ? दुःख ही तो मिलता है, तब अच्छी प्रकार समझ लो कुसंग से कभी[1] भी सुख[2] नहीं मिलेगा।

रज्जब बड़े विवेक बिन, तिनहिं त्याग मन शट्ठ।
कोहतूर जाहिर जल्या, मूंसे के मन हट्ठ ॥५॥

अरे मूर्ख मन ! विवेक रहित बड़े हों तो उनको भी त्याग देना चाहिये, देख, मूसा के मन के हठ से तूर पर्वत भस्म हो गया, यह प्रसिद्ध है। कोहतूर-मूसा की कथा छप्पया ग्रन्थ के आज्ञा भंग अंग १५ की टीका में देखो।

बेली वरण[1] चुराव ही, मारीजे[2] घड़याल।
तो रज्जब सुण देखतों,[3] तजो कुसंगति काल ॥६॥

नदी के पाट में के खेत की बेलियों को तो जल[1] उखाड़ कर चुरा ले जाता है और उसके बदले में जल प्रवाह के साथ खेत में आया हुआ ग्राह मारा[2] जाता है, तब कुसंग को सुन कर वा देखते[3] ही छोड़ देना चाहिये, कुसंगति काल रूप है।

लंकापति सीता हरै, बांधी जे सु उदद्धि[1]।
तो कुसंग किन त्यागिये, सुन महिमा सु प्रसिद्धि[2] ॥७॥

सीता को तो लंकापति रावण ने हरा था किंतु रावण के संग से समुद्र[1] के शिर पर भी सेतु बाँधा गाया तब कुसंग की ऐसी प्रसिद्ध[2] महिमा सुनकर भी कुसंग को क्यों नहीं त्यागते ?

गंगोदक[1] मद[2] में मिल्यों, सकल महातम जाय।
यूं तन उत्तम मन नीच गति,[3] रज्जब नरक समाय ॥८॥

गंगा-जल[1] मदिरा[2] में मिल जाता है तब उसका सभी महातम चला जाता है, वैसे ही शरीर तो उत्तम हो किंतु मन की चेष्टा[3] नीच हो तो वह नरक में ही जायेगा।

रज्जब रहे कुसंग में, कुमति उदय[1] व्है आय।
ज्यों सुरा[2] पान के कुंभ में, खीर ख्वार[3] व्है जाय ॥९॥

जैसे मदिरा[2]-पान के घड़े में दूध वा दूध-चाँवल से बनी हुई खीर खराब[3] हो जाती है, वैसे ही कुसंग से सुमति नष्ट होकर कुमति जन्म[1] जाती है।

चूल्हे के घर में रहै, चिड़िया काली होय।
जन रज्जब यहु देख के, कुसंग करो मत[1] कोय ॥१०॥

चूल्हे वाले घर में रहने वाली चिड़िया काली हो जाती है, वैसे ही कुसंग में रहने वाले की भी बुद्धि मलीन हो जाती है, यह देख कर कोई भी कुसंग न[1] करे।

एकै[1] बूंटै[2] बाँस के, डरै अठारह भार।
जन रज्जब जल जालसी, पापी को परिवार ॥११॥

एक[1] ही बांस के वृक्ष[2] से अठारह भार वनस्पति डरती हैं कारण-उसमें अग्नि लगने से वह जल कर सबको जला डालता है। वैसे ही पापी के परिवार से सब डरते हैं क्योंकि वह अपने पाप से दुःखी होकर औरों को भी दुःखी ही करता है।

एक हि शर करगस[1] परै, सब तरकस[2] को खोड़ि[3] ।
तो रज्जब तिस तीर को, काढिन[4] डारहु तोड़ि ॥१२॥

उल्लू की पंख लगे हुये बाणों से भरे हुये तूणीर में एक भी काक पक्षी की पंख लगा हुआ बाण[1] पड़ जाय तो सभी तूणीर[2] के बाणों के पंख खराब होकर बाण खराब[3] हो जाते हैं, तब उस काक पंख वाले बाण को निकाल[4] कर तोड़ डालना ही चाहिये। वैसे कुसंग से सबको हानि ही होती है अतः कुसंग छोड़ना ही चाहिये।

रज्जब नाणा[1] गांठि का, खोटा चले न हाटि ।
ता सौं मोह न कीजिये, डारि देहु किन[2] काटि ॥१३॥

अपनी गांठ का सिक्का[1] हाट पर नहीं चलता तब वह खोटा है, उससे मोह न करो, उसे काट कर पटक क्यों[2] नहीं देते ? वैसे ही बुरे मनुष्य से मोह न करके उसे त्याग ही देना चाहिये।

रज्जब अहि[1] अंगुरी लगै, तंत[2] मंत[3] करि काटि ।
तनक[4] तजै तन ऊबरै, तो ब[5] बधाई बाँटि ॥१४॥

यदि अंगुली को सर्प[1] काट ले तो उसे निश्चय[3] ही तत्काल[2] काट डालना चाहिये। छोटी[4] सी अंगुली त्यागने से जब शरीर बच जाता है, तब[5] बधाई ही बांटना चाहिये। वैसे ही कुसंग के बुरे परिणाम से बचने के लिये थोड़ा त्याग करना पड़े तो तत्काल त्याग देना चाहिये।

रज्जब काल कुसंग है, काचे को तु विशेख ।
जीया चाहे परहरी[1], मरण मतै[2] करि देख ॥१५॥

कुसंग काल रूप है और कच्चे विचार वाले को तो विशेष हानिकर है, यदि ब्रह्म प्राप्ति रूप जीवन चाहता है तब तो त्याग[1] दे और बारंबार मरण का ही सिद्धान्त[2] प्रिय है तो करके देखले।

पांवर परसै[1] पांव दे, बाइल[2] मिलतों बाव ।
रज्जब देखो दृष्टि ये, कुसंगति सु स्वभाव ॥१६॥

पांवर पुरुष छूता[1] भी है तो पैर की देता है, और वायु[2] वाला पदार्थ खाने को मिलता है तो वायु ही बढ़ाता है, तुम स्वयं अपनी विचार दृष्टि से कुसंगति का स्वभाव देख सकते हो।

विष मिश्री सानी[1] सहत, खाये होय सु मींच ।
त्यों तन उत्तम करणी[2] कुचल[3], रज्जब परिहरि[4] नींच ॥१७॥

मिश्री तथा शहद् में विष मिला[1] कर खाने से मृत्यु ही होती है, वैसे ही जिसका शरीर तो उत्तम है किंतु कर्म[2] मलीन[3] हैं उस नीच को त्याग[4] ही देना चाहिये, उसके संग से हानि ही होगी ।

ज्ञान हीन गत[1] गात[2], ज्यों कड़वी नीरस समय ।

लगी लोभ लू[3] वात[4], प्राण पशू चरतों मरै ॥१८॥

ग्रीष्म ऋतु में पशुओं के लिये वोई जाने वाली ज्वार की कड़बी गर्म[3] वायु[4] लगने से रस हीन हो जाती है, उस समय उसे पशु खा जाय तो मर जाता है, वैसे ही जिनके शरीर[2] ज्ञानहीन होने से गये[1] बीते हैं और जिनके हृदय में अति लोभ लगा है उनका संग करने से प्राणी नष्ट ही होते हैं ।

काल हि बाहि करंड में, धरै कमंकल[1] कंध ।

रज्जब त्यों व[2] कुसंग सँग, करै अज्ञानी अंध ॥१९॥

जैसे सर्प को कीलने, विष उतारने आदि के मंत्र न जान कर भी कोई कम-अकल[1]-मूर्ख भयंकर काले सर्प को करंड में डाल कर कंधे पर रखता है, वैसे ही जो विचार नेत्रों से हीन अज्ञानी होता है वही[2] कुसंग और कुसंगियों का संग करता है ।

पर दारा रत पारधी, जूवारी अरु चोर ।

मद्य माँस वेश्या गमन, सातों नरक अघोर[1] ॥२०॥

१ परनारी में अनुरक्त, २ व्याध, ३ जुआरी, ४ चोर, ५ मद्य पीने वाला, ६ मांस भक्षण करने वाला, ७ वेश्या-सेवन करने वाला, ये सातों ही आघोर[1] (अति घोर) नरक में जाते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कुसंगति का अंग १२६

समाप्तः ॥ सा. ४०३८ ॥

अथ कुसंग सुसंग का अंग १२७

इस अंग में कुसंग सुसंग संबंधी विचार प्रकट कर रहे हैं—

विमल वारि बादल सौं बर्षै, परै नगर पर आय ।

शहर विकार परसै[1] जल मैला, पानी पिया न जाय ॥१॥

निर्मल जल बादल से वर्षे और नगर पर आ पड़े तब शहर के विकारों से मिल[1] कर वह जल मलीन हो जाता है, पीने योग्य नहीं रहता । वैसे ही कुसंग से अच्छा नर भी बुरा बन जाता है संग के योग्य नहीं रहता ।

पुनि वह सलिल जाय सरिता में, निर्मल नाम कहाई ।
त्यों रज्जब वपु वाइक मेला, अस्थल संग बिकाई ॥२॥

शहर के विकारों से मलीन हुआ जल भी नदी में चला जाता है तब "बहता पानी निर्मल।" इस उक्ति के अनुसार उसका नाम पुन: निर्मल कहा जाता है, वैसे ही शरीर और वचनों का मिलन है, वे भी स्थान के संग बिकते हैं अर्थात् अच्छे शरीर में अच्छे वचन मिलते हैं और बुरे शरीर में बुरे वचन मिलते हैं वा अच्छे स्थान में अच्छे वचन और अच्छे शरीर मिलते हैं और बुरे स्थान में दोनों बुरे मिलते हैं ।

पुरुषों उपजे शील व्रत, सिंहल द्वीप सु थान ।
त्यों मथुरा जागै मदन, मन वच कर्म करि मान ॥३॥

सिंहल द्वीप में पुरुषों में ब्रह्मचर्य व्रत उत्पन्न होता है और मथुरा में काम जगता है, यह बात मन, वचन, कर्म से सत्य ही मानो ।

अगिलों[1] की पिछलों लहई, तन मन सोई ताक ।
कृष्ण कथा सुन मर्द ह्वै, हींज सु हनुमत हांक ॥४॥

पहले[1] होने वालों की जो चर्या थी उसी को देखकर पीछे होने वालों ने तन मन से अपनाई है, देखो, कृष्ण की कथा सुनकर तो मर्द हो जाते हैं और हनुमान की हाँक सुन कर हिजड़े हो जाते हैं। हिजड़े होने की कथा–अंग १२१–१०१ में देखो ।

रज्जब कुसंग सुसंग का, केवल गहण[1] विचार ।
आतम उर[2] अर्भक[3] उपजि, पेखि पलट व्यवहार ॥५॥

कुसंग और सुसंग के केवल विचार ग्रहण[1] करने से ही उसका प्रभाव पड़ता है, न ग्रहण करे तो कुछ नहीं, देखो, मातारूप जीवात्मा के पेट[2] से बच्चा[3] होता है किंतु बच्चे का व्यवहार माता से बदला हुआ भी देखा जाता है, वह माता के दोष-गुणों को न ग्रहण करे तब उस पर माता के कुसंग सुसंग का क्या प्रभाव पड़ सकता है ।

देखो नारी नीम नर, गहण हमाइ[6] अतीत[7] ।
नाग सु भोजन शिशु मनिष, छांह छांनि[8] परतीत[9] ॥६॥

देखो, कुसंग का प्रभाव–रजस्वला नारी की छाया पड़ने से काला सर्प अंधा हो जाता है । नीम के नीचे चिर तक खुला भोजन रखा रहने से उसमें कड़वापन आ जाता है । नर की छाया पड़ने से शिशु डर जाता है । राहु केतु की छाया से चन्द्र-सूर्य का ग्रहण होता है और देखो, सुसंग का प्रभाव–हमा[6] पक्षी की छाया पड़ने से मनुष्य राजा हो जाता है ।

गुणातीत[७] संत की सत्संग रूप छाया पड़ने से जीव ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार छाया का विचार[८] करके अर्थात् किसके संग से क्या होता है, इसे जान करके ही किसी पर विश्वास[९] करना चाहिये।

उपकंठ[१] उदधि उत्तम जनहुं, सुख श्रीकण[२] सु लहंत[३]।
रज्जब मध्यम नापिगा,[४] धर[५] नर तट सु बहंत ॥७॥

उत्तम जन सुमद्र तट के पास[१] के स्थान के समान हैं, जैसे सुमद्र तट पर रत्नादि[२] मिल[३] जाते हैं, वैसे ही उत्तम जनों के पास ब्रह्मानन्द मिलता है और बीच के नर पृथ्वी[५] की नदी[४] के समान हैं जैसे नदी, तट से बहा ले जाती है, वैसे ही बीच के नर अपने कुसंग से संसार में बहाते हैं।

एक मिलाय सु अमी में, एक हलाहल ऐन[५]।
रज्जब संगति कीजिये, देखि सु चैन[६] अचैन[७] ॥८॥

एक तो ब्रह्म रूप अमृत में मिलाता है और एक साक्षात्[५] विषयरूप महा विष में मिलाता है, अतः किससे सुख[६] मिलता है और किससे दुःख[७] मिलता है, यह देख कर के ही संग करना चाहिये।

इक औषधि मय आतमा, इक पीड़ा मय प्राण।
रज्जब संगति कीजिये, सुख दुख शौधि[५] सुजाण ॥९॥

एक प्राणी तो जीवात्मा के जन्मादि रोग को मिटाने वाला औषध रूप है और एक प्राणी जन्मादि दुःख रूप ही है! हे सुजान! सुख दुःख का विचार[५] करके सुखप्रद की संगति ही करना चाहिये।

सज्जन शशि संदल[५] सही, संगति सुखी शरीर।
दुर्जन कैवच[६] कष्ट विष, परसत पिंड हु पीर ॥१०॥

सज्जन की संगति निश्चय ही चन्द्रमा और चंदन[५] के समान शरीर को सुखी करने वाली है और दुर्जन की संगति कष्टप्रद कौंछ[६] के विष के समान है, कौंछ का शरीर से स्पर्श होते ही पीड़ा होती है, वैसे ही दुर्जन के संग से दुःख होता है।

सज्जन सुधा सु संपती[५], सकल सुखों की राशि।
दुर्जन दुख दारुण[६] दुसह, पीड़ा प्राण हुं पासि ॥११॥

सज्जन अमृत मय संपत्ति[५] है, संपूर्ण सुखों की राशि है। दुर्जन भयंकर[६] न सहन करने योग्य दुःख रूप है, यदि प्राणी उसके पास जाता है तो उसे दुःख ही होता है।

साधु सजीवन शब्द है, संसारी बिष बात।
रज्जब सुनिये समझ सौं, को औषधि को घात[६] ॥१२॥

संत का शब्द संजीवन ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला होता है, सांसारिक प्राणियों की बात विषय-विष रूप ही होती है, कौन औषधि रूप है और कौन मारक[६] है यह सब जानकर विचार पूर्वक सुनना चाहिये।

संसारी श्रावण घटा, साधु स्वाति नक्षत्र।
बैन बूंद बहु अंतरा[५], नेपै[६] निरखो मित्र ॥१३॥

हे मित्र ! सांसारिक प्राणी श्रावण की घटा के समान हैं, साधु स्वाति नक्षत्र के समान है, श्रावण की घटा की बूंदों में और स्वाति नक्षत्र की बूंदों में भी भेद[५] रहता है सो उनसे उत्पन्न होने वाली खेती[६] से देखो, श्रावण की वर्षा से तो अन्न उत्पन्न होता है और स्वाती नक्षत्र की वर्षा से मोती उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सांसारिक प्राणियों के वचनों से तो संसार का व्यवहार ही चलता है और संत वचनों से परमार्थ सिद्ध होता है, यह कुसंग-सुसंग का परिणाम है।

साधू घट अमृत मई[५], संसारी[६] विष वेलि।
जन रज्जब गुण समझ कर, पीछे मुख में मेलि ॥१४॥

साधु का शरीर अमृत मय[५] है और सांसारिक प्राणी विषय की वेलि रूप हैं। जैसे अमृत और विष का गुण समझने के पश्चात् ही उन्हें मुख में रक्खा जाता है, वैसे ही संत और असंत[६] के संग से होने वाले लाभ-हानि को समझकर ही उनका संग करो। कहीं संत के भरोसे असंत का संग करोगे तो हानि होगी।

सु संगति सूर उजास[१] मय, कुसंगति तम ऐन[२]।
रज्जब कही विचार कर, सो निरखो निज नैन ॥१५॥

सुसंग सूर्य-प्रकाश[१] मय है, कुसंग प्रत्यक्ष[२] ही अंधकार मय है। यह बात हमने विचार करके ही कही है, सो तुम भी अपने विचार नेत्रों से देखो।

लघु दीरघ सु दिखाव ही, चश्मे चित सब ईठि[१]।
दर्पण रूपी दुष्ट दिल, तहाँ दीर्घ लघु दीठि[२] ॥१६॥

सज्जन का चित्त चश्मे के समान है, जैसे चश्मा छोटे को बड़ा दिखाता है वैसे ही सज्जन के चित्त की भी चेष्टा[१] छोटे को बड़ा करने की होती है। दुष्ट का दिल दर्पण रूप होता है, जैसे दर्पण बड़े को छोटा करके दिखाता है, वैसे ही दुष्ट का मन बड़े को छोटी दृष्टि[२] से देखता-दिखाता है।

दर्पण में द्विप[१] छोटा दीसै, मोटा[२] फटक[३] पषाण।
ऐसे निगुण[४] सगुण सौं मिलतों, लघु दीरघ सु बखाण[५] ॥१७॥

दर्पण में हाथी[1] छोटा दीखता है और बिल्लौर[3] पत्थर में बड़ा[2] दीखता है। वैसे ही निगुणे[4] (कृतघ्न) से मिलने पर प्राणी छोटा कहा[5] जाता है और गुणवान् से मिलने पर बड़ा कहा जाता है।

गंधी हाथ विसालवा,[1] सींगी हाथ हजाम[2]।
वहि[3] सुगंध संगति सदा, वहि[4] शोणित सब ठाम ॥१८॥

इत्र-फूलेल बेचने वाले गंधी के हाथ में इत्र मापने की नलिका[1] होती है, वह[3] सदा सुगंध की संगति में रहती है और हजामत बनाने वाले नाई[2] के हाथ में सींगी रहती है, उसमें[4] सब स्थानों में रक्त ही भरा जाता है। वैसे ही सुसंग से अच्छाई आती है और कुसंग से बुराई आती है।

श्रवण सोत[1] व्है शब्द जल, काया कूप में आय।
कपट कामना करंक[2] पड़ै, रज्जब पिया न जाय ॥१९॥

स्रोत[1] से कूप में जल आता है किंतु जल कूप में शरीर-पंजर[2] पड़ जाय तो उसका जल नहीं पान किया जाता, वैसे ही श्रवणों से शरीर में शब्द आते हैं किंतु हृदय में कपट और कामना आ जाय तो उस शरीर के शब्द ग्राह्य नहीं होते।

इक निवान[1] नीर खित[2] खार मय, एक अंभ[3] खित[4] ख्वार[5]।
इक पियूष[6] प्राणी पहम,[7] परिहरि[8] पियौ[9] विचार ॥२०॥

एक खारे जल के जलाशय[1] के जल से पृथ्वी[2] खार मय हो जाती है, एक जल[3] पृथ्वी[4] से खराब[5] हो जाता है, एक पृथ्वी[7] स्थल का जल अमृत[6] तुल्य है, अतः अयोग्य को त्याग कर पीने योग्य को ही पीना चाहिये। वैसे ही प्राणियों का विचार है, एक कु मानव से बहुत-से मानव खराब हो जाते हैं, एक सु मानव समूह से खराब हो जाता है, एक अपनी अमृत मय स्थिति में रहते हुए दूसरों को भी ज्ञानामृत का पान कराता है। अतः अन्य को त्याग[8] कर विचार पूर्वक ज्ञानामृत का ही पान[9] करो।

आतम अंघ्रिप[1] खोडि[2] खित,[3] तहाँ चढै बल वारि।
तर[4] धरि[5] मिल सम[6] जोर[7] जल, रज्जब समझ विचारि ॥२१॥

पृथ्वी[3] में स्थित वृक्ष[1] पर जल चढ़ जाय तो वृक्ष की हानि होती है और वही जल नीचे[4] पृथ्वी[5] से मिलकर जड़ द्वारा प्राप्त होता है तब वृक्ष के सभी भागों को समान[6] बल[7] देता है और अन्यों को भी छाया आदि का लाभ होता है। वैसे ही समझो यदि शरीर[2] में स्थित जीवात्मा पर बल का घमण्ड चढ़ जाता है तो उसकी हानि ही होती है और वही बल विचार द्वारा प्राप्त होता है तो मन इन्द्रियादि सभी शरीर को तथा अन्यों को भी समान भाव से सात्त्विक बल प्रदान करता है। अतः एक ही वस्तु एक पद्धति से कुसंग रूप और एक से सुसंग रूप हो जाती है।

रज्जब काचे काठ को, देखो कीड़े खांहि ।
पाके में पैठे[1] नहीं, वक्त्र[2] सु वेधै[3] नांहि ॥२२॥

देखो, कच्चे काष्ठ को ही कीड़े खाते हैं, पक्के में प्रवेश[1] नहीं कर पाते । वैसे ही कच्चे विचारों के मानव पर ही कुसंग का प्रभाव पड़ता है, पक्के विचारों के मानव के हृदय को कुमानव के मुख[2] के वचन विद्ध[3] नहीं कर सकते ।

भला न आदम[1] सारिखा,[2] बुरा न ऐसा और ।
रज्जब देखा गुरु दृष्टि, सुकृत कुकृत ठौर ॥२३॥

सुकर्म और कुकर्म रूप दोनों स्थानों में ही हमने गुरु द्वारा प्राप्त विचार दृष्टि से देखा है तो ज्ञात हुआ कि मनुष्य[1] के समान[2] कोई भला भी नहीं है और बुरा भी नहीं है ।

रज्जब अज्जब आदमी, जो हरि सेती होय ।
परमेश्वर सौं पीठ दे, तो या सम बुरा न कोय ॥२४॥

यदि मनुष्य का भजन द्वारा हरि से सम्बंध होता है तब तो मनुष्य बड़ा ही अद्भुत है और परमेश्वर को पीठ देता है अर्थात् भजन नहीं करता तब इसके समान कोई बुरा भी नहीं है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कुसंग-सुसंग का अंग १२७ समाप्तः ॥ सा० ४०६२ ॥

अथ अपलच्छण अपराध का अंग १२८

इस अंग में अपने ही कुलक्षण रूप अपराध सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

हिरन[1] हिराना[2] आप सौं, सुण्या वधिक का नाद ।
रज्जब तन मन यूं गम्या,[3] का शिर दे अपराध ॥१॥

मृग[1] जब व्याध की बीणा का शब्द सुनता है तब आप ही अपने को भूल[2] जाता है, इस प्रकार अपने शरीर को खो देता है, तब दोष किसे दे । वैसे ही मानव नारी आदि के शब्द सुनकर अपने मन को खो[3] देता है तब दोष किसके शिर पर लगावे ? पहले तो अपना ही अपराध है ।

यथा मीन मिल स्वाद को, स्वारथ काल हि खाय ।
तैसे रज्जब हम भये, दोष किसे दें जाय ॥२॥

जैसे मच्छी स्वाद के वश होकर मच्छी पकड़ने के कांटे पर लगे आटे आदि को निगलती है तब मारी जाती है। वैसे ही हम मानव हैं, स्वार्थ के वश होने से हमें काल खाता है, यह हमारा ही अपराध है, दोष किसे दें !

ज्यों भौंरा[५] भिलि[६] वास[७] को, कमल बँधाणा आणि[८] ।

त्यों रज्जब हम होय कर, हम हि हमारी हाणि ॥३॥

जैसे भ्रमर[५] सुगंध[७] में मिल[६] कर अर्थात् सुगंध की आसक्ति द्वारा आकर[८] कमल में बँध जाता है, वैसे ही हम मानव लोग नासिका इन्द्रिय के अधीन होकर हम ही हमारी हानि कर रहे हैं।

ज्यों दीपक को देखि करि, पड़ि पतंग जरि जाय ।

तैसे रज्जब हम भये, जे[५] देख्या निरताय[६] ॥४॥

जैसे दीपक को देखकर पतंग उसमें पड़ कर जल जाता है, यदि[५] विचार[६] करके देखा जाय तो वैसे ही हम मानव लोग रूप के अधीन होकर उसकी चिन्तन रूप ज्वाला में जल रहे हैं।

ज्यों कामी गज काम वश, पड़्या विघ्न बिच आय ।

त्यों रज्जब हम होय करि, बैठे वपू बंधाय ॥५॥

जैसे कामी हाथी तृणों से छाये हुये खड्डे पर कागज की हथिनी को देखकर काम वश हो उस पर पड़ता है तब उसके जीवन में विघ्न आ जाता है और वह अपने शरीर को बँधाकर एक स्थान में बैठा रहता है। वैसे ही हम मानव लोग काम वश हो नारी द्वारा बाँधे जाकर उसी के पास बैठे रहते हैं, उसका त्याग नहीं कर सकते, यह हमारा ही अपराध है।

ज्यों मरकट मूंठी भरी, बैठ स्वाद की नोक[५] ।

यूं रज्जब घर घर फिरे, का शिर देंहि अलोक[६] ॥६॥

जैसे वानर स्वाद के अग्र[५] भाग पर स्थित होकर अर्थात् स्वाद की तीव्र[५] इच्छा में स्थित होकर पृथ्वी में गड़ी हुई सकड़े मुख की चणों की हंडिया में से दोनों मुट्ठी एक साथ निकालना चाहता है और निकलती नहीं, इतने में पकड़ने वाला पकड़ लेता है, फिर वह वानर घर-घर पर फिरता है किन्तु इसका दोष[६] किसको दें, यह तो उसी का अपराध है, वह आगे पीछे दोनों मुट्ठी निकाल लेता तो नहीं बँधा जाता, वैसे ही मानव जिह्वा के वश में होकर घर-घर फिरता है।

ज्यों पटछल[५] के पिंजरे, स्वारथ सिंह समान[६] ।

त्यों रज्जब हम होय कर, आपै आप बँधान ॥७॥

जैसे सिंह पड़कने के पिंजरे[५] में बकरे को बँधा देख कर खाने के लिये सिंह अपने आप पिंजरे में घुस[६] कर बँध जाता है, वैसे ही हम मानव लोग स्वार्थ-वश होकर अपने आप घर में बँध रहे हैं ।

यहु मन बगुला विगति[१] बिन, माया का नालेर[२] ।
रज्जब चहुंटै[३] चूंखतां, छूटण का नहिं फेर[४] ॥८॥

जैसे बगला वृक्ष के लगे कच्चे नारियल[२] के चूंसने की विशेष उपाय[१] न जानकर चूंसने लगता है तब उसकी चूंच नारियल[२] में चिपक[३] जाती है फिर[४] छूटने का साधन न होने से नहीं छूटता, उसी के लटकता हुआ मर जाता है । वैसे ही मन माया से छूटने का उपाय न जानकर माया के चिपकता है तब छूट नहीं सकता, माया में ही आसक्त रहता है ।

बईयर[१] बाती नारियल, बनसी[२] जिन जिन लीन ।
जन रज्जब तेते[३] मूये, नर मूंसा बग मीन ॥९॥

जिन २ नरों ने आसक्ति पूर्वक नारी[१] को ग्रहण किया, जिन-जिन चूहों ने जलते हुये दीपक की बत्ती उठाई, जिन २ बगलों ने नारियल को चूंसने के लिये उसमें चूंच डाली और जिन २ मीनों ने मच्छी पकड़ने के काँटे[२] को पकड़ कर निगला, वे वे[३] सब मृत्यु को ही प्राप्त हुये, यही कुसंग का फल है ।

ज्यों जीव काटे जीभ को, स्वारथ मुख हि चलाय ।
त्यों रज्जब हममें भई, का शिर देहिं बलाय[१] ॥१०॥

जैसे जीव अपने मुख को हिला कर अपने दाँतों से अपनी ही जिह्वा को काट डाले तब किसको दोष दे, यह तो उसी का अपराध है । वैसे ही हम सब मानवों में हुई है, हम सब स्वार्थ में वृत्ति लगाकर जन्मादि क्लेश भोग रहे हैं, इसका दोष[१] किसके शिर लगायें, यह तो हमारा ही अपराध है ।

जाण बूझ जे जहर को, यथा जीव जो खाय ।
रज्जब कहिये कौन सौं, अपलक्षण[१] मरि जाय ॥११॥

जैसे जो जीव यदि जान-बूझ कर विष को खा जाय तो मरे ही गा, उसके लिये किससे कहा जाय कि-क्यों मार दिया । वैसे ही सब प्राणी जान-बूझकर विषय-विष खाकर मर रहे हैं । यह उनका अपना ही अपराध[१] है, किसी अन्य का नहीं ।

प्राणी परलै[१] मन मुखी, स्वाद लागि जिव[२] जाय ।
रज्जब दीन दयालु को, उलटा[३] दोष न लाय ॥१२॥

इन्द्रियों के विषयों के स्वाद में लग कर मन[२] विषयों में ही जाता है और मन के संकल्पों को मुख्यता देने वाले प्राणी विनाश[१] को ही प्राप्त होते हैं, अतः विनाश का दोष दीन दयालु प्रभु को लगाना विपरीत[३] है, नहीं लगाना चाहिये।

मकड़ी की गति माँहि मिल, माड्या माया जाल।
रज्जब रूंधै सकल दिशि, माँहि मरै इस ख्याल ॥१३॥

जैसे मकड़ी अपनी भीतरी चेष्टा से ही तन्तु निकाल कर और उन्हें मिलाकर जाल बना लेती है और उसको सब ओर से बंध करके भीतर ही मर जाती है। वैसे ही प्राणी अपनी मनोवृत्ति के संकल्पों से भीतर ही माया का जाल रच लेता है और सब दिशाओं से रुक कर इस माया के ध्यान में ही मर जाता है।

ज्यों सूवा[१] शठ ज्ञान बिन, नलनी[२] लटकै आप।
त्यों रज्जब हम लटक कर, देंहि कौन शिर पाप ॥१४॥

जैसे मूर्ख शुक[१] पक्षी उसे पकड़ने की नलिका[२] पर नलिका घूम जाने से लटकता तो आप ही है और बिना ज्ञान मान लेता है कि मुझे किसी ने बाँध लिया, वैसे ही हम मानव गण माया को स्वयं ही पकड़ कर लटक रहे हैं, इसका दोष किसके शिर लगावें, यह तो अपना ही अपराध है।

मरकट[१] मानी आग करि, चिरमि देख चुट[२] लाल।
त्यों रज्जब माया मनहिं, भूलि पर्‌या भ्रम ख्याल[३] ॥१५॥

अति[२] लाल चिरमी को देखकर वानरगण[१] ने उसे अग्नि मानकर संग्रह किया किंतु उससे शीत कहां जा सकता है ? वह तो उनका भ्रम ही है। उनके शरीर समूह के एकत्र होने से उन्हें शीत कम लगता है। वैसे ही भ्रम में पड़कर मन ने माया को सुखद मान लिया है और उसी के चिन्तन[३] में लगा रहता है किंतु उसमें सुख कहाँ है ? सुख तो मन की एकाग्रता में है, माया में एकाग्र रहने से उस एकाग्रता के द्वारा आत्म सुख ही भासता है किन्तु प्रमाद वश यह नहीं जानता अतः यह अपना ही अपराध है।

ज्यों गज मूवा ज्ञान बिन, देखि फटक[१] में आप।
त्यों रज्जब हम मरत हैं, देंहि कौन शिर पाप[२] ॥१६॥

जैसे बिल्लोर[१] पत्थर की शिला में हाथी अपना प्रतिविम्ब देख के, उसे दूसरा हाथी मान कर ज्ञान न होने से शिला के दाँत मस्तक की

चोटें मार मार कर मर जाता है, वैसे ही भ्रम वश हम मानव गण मरते हैं फिर मरने का दोष[२] किसके शिर पर लगावें, यह तो अपना ही अपराध है।

यहु मन पशु पवंग[१] परि[२], पिशुन[३] न पेखै[४] नीच।
परसै[६] पावक पंचमुख[७], रज्जब राता[८] मीच[५] ॥१७॥

जैसे नीच अश्व[१] पशु अपने घातक अग्नि और सिंह[७] को नहीं देखता[४] मृत्यु[५] से प्रेम करके उनके पास जाकर उनको छूता[६] है तब अग्नि में पड़कर[२] जलमरता है और सिंह द्वारा खाया जाता है। वैसे ही दुष्ट[३] मन अपनी हानि करने वालों में ही अनुरक्त[८] होता है।

यथा काच के महल में, कूकर की हो मीच।
त्यों रज्जब हम में भई, भ्रम भूला मन नीच ॥१८॥

जैसे काच के महल में जाने से कुत्ता अपने प्रतिविम्बों को अपने से भिन्न कुत्ते मान कर भूँक भूँक कर मर जाता है, वैसी ही दशा हम मानवों की हो गई है। यह नीच मन भ्रम से एकात्म सिद्धान्त को भूलकर भिन्न भिन्न मान कर दुःखी होता है।

कुमति काच के महल में, यहु मन श्वान समान।
रज्जब एक अनेक ह्वै, निकस्या एक हिं जान ॥१९॥

कुबुद्धि रूप काच महल में यह मन कुत्ते के समान एक से अनेक हो जाता है और उससे निकलने से तो एक ही जानने में आता है।

बिना भार भारी भये, बिन ही दुख दुख पूरि।
जन रज्जब ज्यों नींद में, ल्यिा[१] अथारैं[२] चूरि[३] ॥२०॥

जैसे निद्रा में निमग्न[३] अवस्था में छाती पर हाथ[२] ले[१] आवे तब बिना बोझ ही भारी बोझ और बिना दुःख ही दुःख पूर्ण स्थिति ज्ञात होती है। वैसी ही मानव की स्थिति है, यह भ्रम वश दुःखी हो रहा है।

सब दिल दर्पण सारिखे, आतम ब्रह्म विशेख[२]।
रज्जब सन्मुख विमुखतों, प्रतिविम्ब परि[१] देख ॥२१॥

सब हृदय दर्पण के समान हैं, जीवात्मा के शरीर को दर्पण में और ब्रह्म को हृदय में विशेष[२] रूप से देखें तो देखा जाता है–दर्पण के सम्मुख मुख देखता है और प्रतिविम्ब पड़ने पर प्रतिविम्ब रूप मुख दर्पण से विमुख पीठ देकर देखता है, वैसे ही हृदय में विचार द्वारा ब्रह्म को देखते हैं तब वृत्ति हृदय को पीठ देकर विषयों की ओर देखती है, यह अपना ही अपराध है, अन्य का नहीं।

अपना आप बुरा करै ता ऊपरि क्या रोष ।
घर के दीवै घर जल्या, देहि कौन को दोष ॥२२॥

घर के दीपक से घर जल जाय तब किसको दोष दे ? वैसे ही अपना आप ही बुरा करे तब उस बुराई के लिये दूसरे पर क्या क्रोध करेगा ? वह तो अपना ही अपराध है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अपलक्षण अपराध का अंग १२८ समाप्तः ॥ सा. ४०८४ ॥

अथ सानी का अंग १२६

इस अंग में मन में मिली हुई बुरी भावना का परिचय देते हुए कहते हैं उसे निकाले बिना श्रेय नहीं होता—

गुरु मुख साँचो ना गहै, मन-मुख बैठी आनि ।
जन रज्जब सुलझै सु क्यों, हृदय हलाहल[1] सानि[2] ॥१॥

गुरु के मुख से निकली हुई सत्य बात भी नहीं ग्रहण करता, कारण-उसके मन में मन की इच्छानुकूल बात बैठी हुई है । ऐसा मनुष्य भ्रम-फंदे से कैसे सुलझ सकेगा ? उसके हृदय में तो विपरीत भावना रूप महा-विष[1] मिला[2] हुआ है ।

रज्जब सानि[1] शरीर में, कहै और की और ।
पड़्या पुकारे धाम में, ले चालैं गृह ठौर ॥२॥

जैसे कोई अपने घर में पड़ा हुआ जोर २ से कहे मुझे मेरे घर के स्थान में ले चलें वैसे ही मन में तो और बात मिली[1] रहती है और कहता कुछ और ही है उसका श्रेय कैसे हो ?

रज्जब डाली बैठि कर, मूरख काटै मूल ।
सो शठ[2] गहिला[1] ज्ञान बिन, भीतर भारी भूल ॥३॥

जैसे कोई मूर्ख डाली पर बैठ कर उस डाल का मूल काटे तो वह अनसमझ[1] है, इस क्रिया से नीचे ही पड़ेगा । वैसे ही जो दुष्ट[2] जिन गुरुजनों के आश्रय रहता है, उनका ही निन्दादि द्वारा छेदन करता है तो उसके भीतर भारी भूल मिली हुई है, वह ज्ञानहीन है अंत में उसका पतन ही होगा ।

रज्जब साधू शेष गति[1], दोष धरै बहु भूल ।
यथा सानियाँ डाल चढ, मूरख काटै मूल ॥४॥

संत शेष के समान चेष्टा[1] वाले हैं अर्थात् शेषजी जैसे सबके आधार हैं वैसे ही संत भी सबके हितैषी हैं उनमें दोषारोपण करता है तो बहुत भूल है। किन्तु जैसे मूर्ख डाल पर चढ़ कर उसका मूल काटता है, वैसे ही सानियाँ (जिसके मन में बुरे विचार मिले हुये हैं सो) भी संतों के आश्रय रह कर उनकी ही निन्दा करता है, अतः गिरे ही गा।

ज्यों बालक भौंरी[1] लई[2], सहज खेल को ख्याल[3]।
रज्जब त्योरी[4] त्यों फिरी[5], सब देखै चकचाल[6] ॥५॥

सहज स्वभाव खेलने का विचार[3] करके ज्योंही बालक फिरने[1] लगता[2] है त्यों ही उसकी दृष्टि[4] फिर[5] जाती है, तब वह सबको भ्रमण[6] करते हुये देखता है, यह उसी के भ्रमण का दोष है। वैसे ही अपने दोष से सब दोषी दिखाई देते हैं, दोष देखना अपना ही अपराध है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सानी का अंग १२९

समाप्तः ॥ सा० ४०८९ ॥

अथ मूढ कर्मी असाध्य रोग का अंग १३०

इस अंग में मूर्खता पूर्वक कर्म करने वाले के असाध्य रोग का परिचय दे रहे हैं—

सूता शब्द जगाइये, जागत पुनि सो जाय।
रज्जब मन ऐसी गही, तासौं कछु न बसाय ॥१॥

सोते हुये मानव को आवाज से जगाया जाता है किन्तु जागता हो और न बोलने की इच्छा हो तो शब्द सुनकर पुनः सो जाता है। ऐसी बात जिसने मनमें ग्रहण कर रक्खी हो उससे कुछ भी वश नहीं चलता अर्थात् उसका जन्मादि रोग असाध्य है, मिट नहीं सकता।

सद्गुरु की समझै नहीं, अपणे उपजै नाँहि।
तो रज्जब क्या कीजिये, बुरी व्यथा मन माँहि ॥२॥

सद्गुरु की वाणी तो समझता नहीं और अपने हृदय में हितकर विचार उत्पन्न होते नहीं तब क्या किया जाय, उसके मन में तो बड़ा बुरा असाध्य रोग लगा है।

सद्गुरु शब्द न मान ही, चलै मन मुखी भाय[1]।
औषधि गई अहार पड़ि[2], व्यथा[3] बीच[4] मरि जाय ॥३॥

जैसे किसी व्यक्ति की औषधि भोजन रूप[2] हो जाय, रोग को नष्ट न करे तब वह रुग्णावस्था[3] में[4] ही मर जाता है। वैसे ही जो सद्गुरु के

शब्द तो मानता नहीं और अपने मन मुखी स्वभाव[1] से ही चलता है, उसका संसार-रोग नष्ट नहीं होता वह उसी स्थिति में मर कर कर्मानुसार पुनः जन्मता है।

मींच विसारी नीच ने, ताहि कौन उपदेश।
रज्जब रोग असाध्य को, लगे न औषधि लेश ॥४॥

जैसे असाध्य रोग के औषधि किंचित् मात्र भी नहीं लगती, वैसे ही जो नीच मानव मृत्यु को भूल जाता है उसके कौन-सा उपदेश लगता है? अर्थात् कोई भी नहीं लगता।

असाध्य रोग मन ऊपजै, सो गुरु शब्द न जाय।
जन रज्जब ज्यों शंख पर, रंग न चढ़ै चढ़ाय ॥५॥

जैसे शंख पर रंग चढ़ाने पर भी नहीं चढ़ता, वैसे ही मन में जब मनमुखता दुराग्रह आदि असाध्य रोग उत्पन्न हो जाता है तब वह गुरु के शब्दों से नष्ट नहीं होता।

यहु मन पींडा गारिका, भ्रमता चक्र सु थान।
रज्जब छेदै कौन विधि, लगे न वायक[1] बान[2] ॥६॥

कुम्हार के चक्र रूप स्थान पर मिट्टी का पिण्ड भ्रमण कर रहा है, वह बाण से किस प्रकार छेदा जा सकता है? भ्रमण के वेग से उसके बाण[2] लगता ही नहीं, वैसे ही इस मनमें भ्रमण का वेग है अतः यह किस प्रकार विद्ध हो सकता है? इसके वचन[1] तो लगता ही नहीं।

नख शिख पाखर[1] पहरि करि, भया वज्र व्यवहार।
रज्जब मारै कौन विधि, कहा करै हथियार ॥७॥

हाथी नख से शिखा तक लोहे की झूल[1] पहन कर वज्र के समान हो जाता है, तब उसे किस प्रकार मारैं, हथियार उसका क्या करैं? वे तो उसके लगते ही नहीं। वैसे ही मन अपने व्यवहार से वज्र के समान कठोर हो रहा है, इसको किस प्रकार मारैं वचन तो इसके लगते ही नहीं, तब वे क्या करैं?

रज्जब यहु मन काछिबा, काठा[1] अती कठोर।
बाहर शिर काढ़ै नहीं, तो मारैं किहि ओर ॥८॥

कछुवा अति कठोर होता है, वह अपनी ढाल से बाहर शिर न निकाले तो उसके किस ओर मारैं? वैसे ही मन अति कठोर[1] है, यह व्यवहार से वृत्ति न निकाले तो इसके शब्द किस ओर मारैं अर्थात् व्यवहार में आसक्त मन को उपदेश नहीं लगता।

यहु मन काठा[3] कुलिश[1] गति,[2] बहुत खेचरी[4] ठाणि[6] ।
रज्जब गैंडा व्है रह्या, मरे न बाइक[5] बाणि ॥९॥

यह मन वज्र[1] के समान[2] कठोर[3] है और बहुत दुर्जनता[4] करता[6] है, यह गैंडा बन रहा है, जैसे गैंडा बाण से नहीं मरता, वैसे ही यह भी वचनों[5] से नहीं मरता ।

संगति में सीझैं[1] सभी, खेचर[2] सीझे नाँहि ।
जन रज्जब ज्यों करड़कू, गले[3] न हांडी माँहि ॥१०॥

अग्नि पर चढ़ी हुई हँडिया में सब मूंग सीझ जाते हैं किन्तु करड़कू मूंग नहीं सीझता[3] वैसे ही सत्संग में बैठकर सभी मुक्त[1] हो जाते हैं किन्तु दुर्जन[2] मुक्त नहीं होता ।

श्रेष्ठ जु समझै आप सौं, सुध[1] बुध[2] शब्द सुनाय ।
जन रज्जब खेचर[3] विमुख, क्यों ही गह्या न जाय ॥११॥

शुद्ध[1] बुद्धि[2] वाला व्यक्ति जब शब्द सुनाता है तब जो श्रेष्ठ होते हैं वे तो अपने आप ही उसे समझ जाते हैं किन्तु हरि से विमुख दुर्जन[3] की बुद्धि से वह शब्द किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं किया जाता ।

जैसे गोली गुमट[1] परि, गहि डाल्यों गिर जाय ।
त्यों रज्जब बहरी[2] सुरति, शब्द कहाँ ठहराय ॥१२॥

जैसे गोली हाथ में ग्रहण करके गुम्बद[1] पर डालने से गिर जाती है, ठहरती नहीं, वैसे ही वहमुंखी[2] वा वधिर वृत्ति में शब्द कहाँ ठहरता है ?

जे सुई सुरति के छिद्र व्है, तो तागा शब्द समाय ।
जन रज्जब नाके[1] बिना, कहाँ परोवै[2] जाय ॥१३॥

यदि सुई में छेद हो तो तागा उसमें जाता है, प्रवेश के मार्ग[1] बिना तागा किसमें पिरोया[2] जाय ? वैसे ही वृत्ति में जिज्ञासा हो तो शब्द उसमें जाता है, जिज्ञासा बिना शब्द किसमें रक्खा जाय ? ठहरता ही नहीं ।

ज्ञानी गाफिल[1] व्है चलै, पग मग[2] बाहिर देय ।
तो रज्जब जानत जड़[3] हिं, कहि[4] धौं[5] कहि[6] क्या लेय ॥१४॥

परमार्थ मार्ग[2] से बाहर व्यवहार पथ में पैर रख कर चलता है तब ज्ञानी भी बेसुध[1] हो जाता है अर्थात् वृत्ति ब्रह्माकार नहीं रहती, तो फिर जानते ही हो मूर्ख[3] को कह[4] करके निश्चय[5] पूर्वक कहो[6] उससे क्या यश लोगे ?

ऊषर वैरि[1] असंख्य मण, कण निपजै कछु नाँहिं ।
त्यों रज्जब शठ शिषों सौं, हानि हुई गुरु माँहिं ॥१५॥

अन्न कण की वैरिणी[1] ऊषर भूमि में असंख्य मण अन्न-कण बोने पर भी कुछ नहीं होता, बीज ही नष्ट होता है । वैसे ही दुर्जन शिष्यों को उपदेश देने से गुरु के भीतरी ज्ञान की हानि ही होती है, उन्हें ज्ञान नहीं होता ।

साँभर के सर सारिखा,[1] शठ श्रोता का भाग ।
रज्जब तहाँ न नीपजै, भाव भक्ति का बाग ॥१६॥

दुर्जन श्रोता का भाग्य साँभर के सरोवर के समान[1] है, जैसे साँभर के सरोवर में बाग नहीं लगता, वैसे ही दुर्जन के हृदय में भाव-भक्ति उत्पन्न नहीं होती ॥१६॥

हिम गिरि पर तरु तरल[1] व्है, बध्या न सुणिये कोय ।
तो रज्जब जड़ जीव में, कहु सुकृत क्यों होय ॥१७॥

हिमालय पर वृक्ष द्रव[1] होकर नष्ट हो जाते हैं कोई भी बढ़ा हुआ नहीं सुना जाता, तब कहो, जड़ जीव में सुकर्म के विचार दृढ़ कैसे होंगे ? वे तो क्षणभंगुर ही होंगे ।

हिम गिरि पर पाषाण का, कोट[1] हुआ नहिं होय ।
यूं आज्ञा भंग अचेत[2] उर, क्यों करै ज्ञान गढ़ कोय ॥१८॥

हिमालय पर्वत पर पत्थर का किला[1] न तो आज तक बना और न बने ही गा, वैसे ही गुरु जनों की आज्ञा न मानने वाले मूर्ख[2] के हृदय में कोई ज्ञान रूप किला कैसे तैयार करेगा ?

शिल[1] दिल पर जामै नहीं, भाव भक्ति का बीज ।
रज्जब फल क्यों पाइये, जे अन्तरिगत[2] हीज ॥१९॥

जैसे शिला[1] पर वृक्ष का बीज नहीं जमता, वैसे ही दुर्जन के हृदय में भाव-भक्ति नहीं जमती, जो हिंजड़ा है उसे पुत्र कैसे प्राप्त होगा ? वैसे ही जिसके हृदय के भीतर[2] साधन-शक्ति नहीं है, उसे ज्ञान रूप फल कैसे मिलेगा ?

आतम अबला[1] बाँझड़ी[2]; सुकृत सुत नहिं वास ।
रज्जब ऊजड़[3] उदर हूं, गुरु दाई कृत नाश[4] ॥२०॥

वंध्या[2] नारी[1] के पेट में पुत्र का निवास नहीं होता । तब उसके शून्य[3] पेट में दाई के कार्य का अभाव[4] ही है, वहां दाई क्या करेगी ? वैसे ही

जिस जीवात्मा के हृदय में सुकृत करने की भावना ही नहीं है तब वहां गुरु के कार्य का अभाव ही है, गुरु वहाँ क्या करेगा ?

रज्जब गुरु वर[1] बहु मिलै, वेश्या विधि भई साँझ ।
साँई[3] सुत उपजै नहीं, जे बुधि[4] वामा[5] बाँझ ॥२१॥

सायंकाल होने के बाद वेश्या को बहुत पुरुष[1] मिलते हैं किन्तु वह नारी[5] वंध्या हो तो उसके पुत्र उत्पन्न नहीं होता । वैसे ही अज्ञानावस्था में बहुत से गुरु मिलते हैं किन्तु यदि बुद्धि[4] साधन शून्य हो तो उसमें ब्रह्म[3] का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ।

मीन माग[1] जल में करै, सलिल[2] हि रहै न संधि ।
त्यों रज्जब शठ शब्द सुन, पीछे रहै न बंधि ॥२२॥

मच्छी जल में मार्ग[1] कर देती है किन्तु जल[2] में तो उसकी संधि भी नहीं रहती, वैसे ही गुरु के शब्द सुनने पर भी दुर्जन में वे शब्द पीछे बंध नहीं रहते अर्थात् वह उन्हें याद रख कर उनके अनुसार व्यवहार नहीं बनाता ।

रज्जब पावन कथा सुन, पामर बेधै नाँहि ।
शोधे संधि न पाइये, ज्यों सर्प गया थल माँहि ॥२३॥

पृथ्वी में घुसने वाला सर्प जब पृथ्वी में घुस जाता है तब खोजने पर भी उसकी संधि पृथ्वी में नहीं मिलती, वैसे ही पवित्र कथा सुनने पर भी पामर नर का हृदय विद्ध नहीं होता ।

नींब हि सींचै दूध सौं, नाग हि दे पय[1] पान ।
रज्जब विष परि विष भरचा, नींबही कड़वा जान ॥२४॥

नीम को दूध से सींचे तो वह दूध उसका कड़वापन ही बढ़ायेगा । सर्प को दूध[1] पिलाया जाय तो उसके विष पर विष ही भरा जायगा अर्थात् दूध विष ही बढायेगा । वैसे ही दुर्जन को जान, उसे ज्ञान देने से वह ज्ञान भी उसकी दुर्जनता ही बढायेगा ।

क्वैला[1] काजल दूध सौं, धोये श्वेत न होय ।
त्यों रज्जब जो प्राणि है, ता परि रंग[2] न खोय ॥२५॥

कोयले[1] का काजल दूध से धोने पर भी श्वेत नहीं होता, वैसे ही जो मूर्ख प्राणी है उसे शुद्ध करने के लिये उस पर प्रेम करके प्रेम[2] तथा उपदेश को व्यर्थ नहीं खोना चाहिये । वह शुद्ध नहीं होता उसके तो असाध्य रोग लगा है ।

श्वेत ऊन श्रद्धा सहित, रँग्यौं रँगी सो जाय।
रज्जब कालो क्यों रँगे, बहु विधि करो उपाय ॥२६॥

श्वेत ऊन तो रंगने से रंगी जाती है किन्तु काली ऊन बहुत प्रकार के उपाय करने पर भी कैसे रँगी जा सकती है ? वैसे ही शुद्ध अंतःकरण वाले श्रद्धालु के तो उपदेश लग जाता है किंतु दुर्जन प्राणी के बहुत उपाय करने पर भी कहाँ लगता है ?

रज्जब कुमति कूंज का अंड है, मो मन विसवा बीस।
है[1] है[2] हिम गिरि ज्ञान तल, गले नहीं जगदीश ॥२७॥

कूंज पक्षी का अंडा हिमालय पर्वत के बर्फ के नीचे है[1] किंतु गलता नहीं है, वैसे ही हे जगदीश्वर ! मेरा मन बीसों विसवा कुबुद्धि रूप कूंज का अंडा है, यह ज्ञान के नीचे है[2] किंतु गलता नहीं है।

ब्रह्म अग्नि मन ना बलै[1], तो समुद्रकीट[2] सौं बाधि[3]।
वैद्य वैद्यगी[4] क्या करै, रज्जब रोग असाधि[5] ॥२८॥

यदि मन ब्रह्म ज्ञानाग्नि में भी नहीं जलता[1] तब तो अग्नि-कीट[2] से भी अधिक[3] है। जब रोग असाध्य हो तब वैद्य और उसकी चिकित्सा[4] भी क्या करेगी ? वैसे ही जिसके मन में मूढता वा दुर्जनता रूप असाध्य[5] रोग लगा है उसका गुरु और ज्ञान भी क्या करेगा ?

शब्द सींदरी[1] क्यों बंधै, जे काया कुंभ नहिं कान।
रे रज्जब रारचो[2] बिना, कहा दिखावै भान[3] ॥२९॥

यदि घड़े के बाँधने योग्य मुख न हो तो रस्सी[1] कैसे बाँधी जाय ? वैसे ही यदि शरीर में कान नहीं हो अर्थात् न सुने तब शब्द कैसे सुनाया जाय ? जिसके नेत्र[2] न हो तो उसे सूर्य[3] क्या दिखावे, वैसे ही जिसमें बुद्धि न हो तो गुरु उसे क्या दिखावे ?

बावन वास न वेधिया, मिश्री मिल्या न बंस।
यूं न्यारा निज मंत[5] में, मूढा वर्ष सहंस[6] ॥३०॥

बावने चंदन की सुगंध से विद्ध होकर चंदन भी नहीं हुआ और मिश्री में भी नहीं मिला अर्थात् बाँस की सींकों पर मिश्री जमाई गई तब वे सींकें भी मिश्री में नहीं मिलीं, इस प्रकार बांस अपने आकार में सबसे अलग ही रहा। ऐसे ही मूढ अपने विचार[5] में सहस्रों[6] वर्षों तक सबसे अलग ही रहता है।

रज्जब पुरुष पवंग[5] को, कीजे शुद्ध उपाय।
एक त्रिया रितु रंगिनी[6], इनकी चिकटि[7] न जाय ॥३१॥

पुरुष और घोड़े[५] को अंडकोश निकालने आदि उपाय से शुद्ध अर्थात् काम रहित किया जा सकता है किंतु एक तो ऋतु धर्म के पश्चात् प्रेमयुक्त[६] नारी और दूसरी घोड़ी इनकी कामुक वृत्ति रूप चिकनापन[७] नहीं जाता ।

हनुमंत हाँक नर हीज[५] ह्वै, परि नारि न ह्वै निष्काम ।
रज्जब पुरुष प्रमोधिये[६], परि बोध न दीजे वाम[७] ॥३२॥

सिंहल द्वीप में हनुमान की हाँक से नर तो नपुंसक[५] हो जाते हैं किंतु नारी काम रहित नहीं होती । अतः पुरुष को ही उपदेश[६] देना चाहिये किंतु नारी[७] को ज्ञान नहीं दो ।

हनुमंत हाँक सुणि ना भया, जत[५] जुवतिनि[६] के डील[७] ।
जन रज्जब धन्य साधु सो, जो उन्हें उपावें[८] शील[९] ॥३३॥

हनुमान की हाँक सुनकर भी नारियों[६] के शरीर[७] में काम रहित होने का साधन[५] उत्पन्न नहीं हुआ, उन नारियों में जो शीलव्रत[९] उत्पन्न[८] करदे वह साधु धन्यवाद के योग्य है ।

हीरा मिश्री मोती बाइक[१], फटक[२] बंस तग[३] धूत[४] ।
रज्जब रँग[५] रस मुक्त मन, जड पोला तुच[६] पूत[७] ॥३४॥

हीरा का रंग[५] वा हीरी के पास जाने का प्रेम,[५] मिश्री का मधुर-रस, मोती का मुक्त पना, वचन[१] का मन से सम्बंध, बिल्लौर[२] पत्थर की जड़ता, बांस का पोलापन और तागे[३] की तुच्छता[६] ये सब दूर नहीं होते, वैसे ही मूढ़ धूर्त[४] की धूर्तता रूप (पूति) दुर्गंधि[७] दूर नहीं होती, उसका यह असाध्य रोग है ।

मनिष[१] मीन जगदीश जल, मुख पीवहि नहिं माँहिं ।
सो रज्जब जाणे सु क्यों, सुकृत शोणित[२] नाँहिं ।३५॥

मच्छी जल में रहती है किंतु मुख से जल पीना नहीं जानती कारण उसमें रक्त[२] ही नहीं है तब मुख से पीना कैसे जाने ? वैसे ही मनुष्य[१] जगदीश्वर व्यापक ब्रह्म में ही रहते हैं किंतु जिसमें सुकृत नहीं होता वह उसे कैसे जाने, उस मूढ़ के तो कुकर्म रूप असाध्य रोग लगा है ।

जप तप कसण्यों[१] माँहीं कोरा[२] थाके विविधि विवेक ।
रज्जब रहे वेद विधि बाइक, मन मनमानी नहिं एक ॥३६॥

जप तपादि के कष्टों[१] में संलग्न रह कर भी मूढ़ प्राणी ब्रह्म तत्त्व से वंचित[२] ही रह जाता है उसके नाना प्रकार के विवेक ज्ञान थक जाते हैं ब्रह्म तत्त्व का बोध नहीं करा पाते, वेद के विधि-विधान और वचन भी

ब्रह्म साक्षात्कार रूप कार्य में अधूरे ही रह जाते हैं कारण-उसके मनमें न मानना रूप असाध्य रोग लगा रहता है, इससे उसका मन एक भी नहीं मानता अर्थात् धारण नहीं करता, केवल बोल कर अन्यों को ही सुनाता है।

मींच विसारी मुग्ध मन, भूला आतम राम।
रज्जब मूढ़ करमी यहु, सरै कौन विधि काम ॥३७॥

मूर्ख, मन से मृत्यु को तथा आत्म स्वरूप राम को भूल गया है, इसी लिये यह मूढ़कर्मी है, ऐसे मूढ़ कर्मी का मुक्ति रूप कार्य किस प्रकार सिद्ध होगा ?

ब्रह्म विछोह वियोग न उपजै, चौरासी आवे नहिं चित्त।
तो रज्जब तासौं क्या कहिये, महामूढ़ मंद भागी मित्त[1] ॥३८॥

ब्रह्म के विछोह से जिसके चित्त में वियोग व्यथा नहीं उत्पन्न होती और न चौरासी में भ्रमण का क्लेश ही जिसके चित्त में आता है, हे मित्र[1] ! तब उससे क्या कहैं वह तो महा मूढ़ और मन्द भागी है।

ऊषर खित[1] वपु बाँझ के, बीज नहीं परकाश[2]।
त्यों रज्जब शिष शठों में, शब्द शुद्ध का नाश ॥३९॥

ऊषर पृथ्वी[1] में बीज नहीं उगता और बाँझ के शरीर में वीर्य पुत्र रूप से प्रकट[2] नहीं होता, वैसे ही मूर्ख शिष्यों में शुद्ध शब्द भी नष्ट हो जाते हैं, उनसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

शुद्ध शब्द शत[1] खण्ड[2] व्है, शठ श्रोता में आय।
रज्जब मद[3] भाजन परसि,[4] खीर[5] ख्वार[6] व्है जाय ॥४०॥

जैसे मद्य[3] के वर्तन में डालने[4] से दूध[5] फट[6] कर उसके टुकड़े हो जाते हैं, वैसे ही मूर्ख श्रोता के अन्तःकरण में आकर शुद्ध शब्दों के भी सैंकड़ों[1] टुकड़े[2] हो जाते हैं।

गरक ज्ञान गहरै सु जल, आवख्या[1] भरि न्हाय।
पै रज्जब मन मीन की, दुरमति वास न जाय ॥४१॥

आयु[1] भर गहरे जल में डूबी रहती है तो भी मच्छी की दुर्गंध नष्ट नहीं होती, वैसे ही मूढ़ मन मानव आयु भर गहरे तीर्थ जल में स्नान करे तो भी उसकी दुर्बुद्धि नष्ट नहीं होती है।

आतम उर अज्ञान रत,[1] सुनै न सद्गुरु बात।
पारस पोरस[2] क्या करे, धरती खाई धात[3] ॥४२॥

यदि लोह धातु[3] को पृथ्वी खाजाय अर्थात् काट लग कर खराब हो जाय तब पारस का सुवर्ण बनाने वाला पुरुषार्थ[2] क्या करेगा ? वैसे ही मूढ़ जीवात्मा का अन्त:करण अज्ञान में अनुरक्त[1] रहता है, सद्गुरु के वचन भी नहीं सुनता तब गुरु का पुरुषार्थ क्या करेगा ?

हरि सा[1] हितू[2] विसारि करि, मुग्ध[3] सु भूला मींच[4] ।
रज्जब रोग असाध्य अति, क्यों नीका[5] व्है नींच ।।४३।।

भगवान् जैसे[1] हितैषी[2] को भूलकर मूर्ख[3] मृत्यु[4] को भी भूल गया है, ठीक है जिसे अज्ञान रूप असाध्य रोग लगा है, वह नींच प्राणी प्रभु प्राप्ति रूप आरोग्यता[5] को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

रज्जब रोग असाध्य है, राग द्वेष जिव मांहि ।
निकसे गुरु गोविन्द सौं, नहिं तो निकसे नांहि ।।४४।।

जीव के अन्त:करण में राग-द्वेष रूप असाध्य रोग लगा है, गुरु और गोविन्द कृपा करैं तो अन्त:करण से राग-द्वेष निकल सकते हैं, नहीं कृपा करैं तो नहीं निकल सकते ।

मुख माने मनमें अमन,[1] क्यों व[2] फलै मत[3] जत्त[4] ।
बालक बंझ न ऊपजै, विषय विगूचै[5] नित्त ।।४५।।

चाहे नित्य संग[5] करे तो भी बांझ के तो बालक नहीं होगा, वैसे ही चाहे मुख से नित्य ज्ञानोपदेश मानने की बात कहे किन्तु मनमें अमान्य[1] हो तो उसका वह[2] साधन[4] और सिद्धान्त[3] कैसे फल देगा ?

दिनकर[1] दई[2] न दीस ही, तो घूघू बागल बीसु[3] ।
रज्जब ज्यों थी त्यों कही, कोई करो न रीसु ।।४६।।

यदि परमात्मा[2] रूप सूर्य[1] नहीं दीखता तो वह मानव बीसों[3] विसवा घूघू और बागल के समान है । जैसी बात थी वैसी कही है कोई क्रोध न करें ।।४६।।

अविगत[1] वर्षै इन्द्र ज्यों, अकलि[2] अम्बु[3] जल आय ।
रज्जब बन्दे[4] वन बधैं, जगत जवासा जाय ।।४७।।

जैसे इन्द्र जल[3] वर्षा करता है तब जल आने से वन तो बढ़ता है किन्तु जवासा जल जाता है । वैसे ही प्रभु[1] संतों द्वारा ज्ञान[2] वर्षाते हैं तब भक्त[4] जन तो उससे परमार्थ पथ में आगे बढ़ते हैं किंतु जगत् के प्राणी ईर्ष्या से जलते हैं, इसी से उनका रोग असाध्य है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मूढ़ कर्मी असाध्य रोग का अंग १३०
समाप्तः ।। सा० ४१३६ ।।

अथ शिष्य सुत प्रस्ताव का अंग १३१

इस अंग में शिष्य और पुत्र सम्बंधी प्रसंग कह रहे हैं—

तात गुरु अरु काष्ट में, शिष सुत उपजै आगि।
तो रज्जब तिहिं ठौर को, भाग्य भले नहिं भागि ॥१॥

जैसे काष्ठ से अग्नि उत्पन्न हो कर काष्ठ को जलाता है वैसे ही यदि पिता से पुत्र उत्पन्न होकर पिता को और गुरु का शिष्य बनकर गुरु को दुखी करता है तो तीनों का ही भाग्य अच्छा नहीं है, ऐसे पुत्र शिष्यों से तो दूर ही भागना चाहिये।

आँखि आरसी[1] ऊपजै, सुत फूला अरु दाग।
रज्जब तथा कपूत शिष, ठाहर उभय अभाग ॥२॥

आँख के फूला रूप पुत्र और दर्पण[1] के दाग रूप पुत्र उत्पन्न होते हैं तब आँख और दर्पण को खराब ही करते हैं। वैसे ही कुपुत्र और कुशिष्य हों तो दोनों स्थानों को ही अभाग्य रूप होते हैं।

मेद गूमड़ी न्हारुवा, बालक विपति[1] सु जानि।
रज्जब जायें जक[2] नहीं, सो शिष सुत दई न आनि ॥३॥

शरीर में मेद, गूमड़ी और न्हारुवा रूप पुत्र होते हैं, उनको दुःख[1] रूप ही जानो। वैसे ही जिस पुत्र और शिष्य के होने पर पिता और गुरु को शांति[2] नहीं मिलती तब हे ईश्वर! वह शिष्य और पुत्र गुरु और पिता न मिलाइये।

रज्जब शिष सुत पहल के, भये कपूत अयान[5]।
तो तिनको क्या कीजिये, मूली[6] मूल गयान[7] ॥४॥

यदि पहले का पुत्र कपूत हो और पहले का शिष्य अज्ञानी[5] हो तो उनका क्या किया जाय? मूल[6] नक्षत्र में जन्मा हुआ पुत्र और अपने पहले मूल ज्ञान[7] वाला अर्थात् पहले के विचारों को न बदलने वाला शिष्य, ये दोनों पिता और गुरु को दुखद ही होते हैं।

मणि भुजंग माँखी सु मधु, कीट पट वणी सूत।
रज्जब रज सौं सकल नग, कहाँ बाप कहँ पूत ॥५॥

मणि सर्प से, शहद मक्खी से, रेशम कीड़ों से, सूत बणी से और सभी खनिज नग रेत से ही होते हैं, तब सोचो कहाँ भुजंगादि पिता और कहां मणि आदि पुत्र! उक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि—पिता से पुत्र श्रेष्ठ हो जाते हैं।

शीसे सुत रूपा[५] जण्यां, क्षीर समुद्र सुत शंख।
रज्जब बेटे बाप का, मन हु न कीजे मंख[६] ॥६॥

शीसा धातु का पुत्र चाँदी[५] है और क्षीर समुद्र का पुत्र शंख है, यह देख कर पुत्र तथा पिता मन में कोप[६] न करें कारण कर्मानुसार हीन पिता के श्रेष्ठ पुत्र और श्रेष्ठ पिता के हीन पुत्र भी होते हैं।

दीप ज्योति काजर जनम, श्याम घटा मधि बीज[५]।
रज्जब ऊजल मैल व्है, मैले ऊजल कीज[६] ॥७॥

जैसे उज्वल दीपक ज्योति से काजल जन्मता है और काली घटा से उज्वल बिजली[५] चमकती है। वैसे ही उज्वल के मैले और मैले के भी उज्वल पुत्र तथा शिष्य हो जाते[६] हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शिष्य सुत प्रस्ताव का अंग १३१
समाप्तः ॥सा० ४१४३॥

अथ स्वांग का अंग १३२

इस अंग में साधु भेष पर विचार करते हैं—

रज्जब स्वांग[५] न शेष के, शुकदेव स्वांग न कीन।
वह वोदर[६] वह अवनि[७] में, उभय भये लै[८] लीन[९] ॥१॥

शेष के भेष[५] नहीं है, शुकदेव ने भी भेष नहीं किया है। शुकदेव माता के उदर[६] में और शेष पृथ्वी[७] के नीचे रहकर दोनों ही प्रभु में वृत्ति[८] लगा[९] रहे हैं।

दत[५] मत ले चौबीस का, चल्या ब्रह्म की बाट।
रज्जब देखो गुरु शिषों, कौन भेष ठिक[६] ठाट[७] ॥२॥

दत्तात्रेय[५] चौबीस गुरुओं के मत का आश्रय लेकर ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में चले थे अर्थात् साधन करके ब्रह्म को प्राप्त हुये थे, उनकी ओर देखो, गुरु और शिष्य दोनों में ही किसके शरीर[६] पर अच्छा[७] भेष है?

गोरख के मुद्रा नहीं, कौन भेष हनुमंत।
जन रज्जब जग उद्धरे, भजन किया भगवंत ॥२॥

गोरखनाथ के मुद्रा नहीं है, हनुमान के भी कौनसा भेष है? किंतु दोनों ने भगवान् का भजन किया था, अतः उनका जगत् से उद्धार हो गया।

सुर असुरन के गुरु हु कन[४], भेष न भासे कोय।
रज्जब देखो वृहस्पति, पुनि शुक्र हिं दिशि जोय ॥४॥

देवता और राक्षसों के गुरुओं के पास[४] भी कोई साधु भेष नहीं दीखता, देखो, वृहस्पति को और शुक्राचार्य को भी देखो।

षट् दर्शन[५] दर्शन[६] बिना, देखो अवनि अकाश।
चन्द्र सूर पानी पवन, कोन भेष उन पास ॥५॥

जोगी, जंगम, सेवड़े बौद्ध, संन्यासी, शेष इन छः प्रकार के भेषधारियों के आचार्यों ने अपने सिद्धांत पृथ्वी आदि छः के आश्रय स्थापन किये हैं- नाथों ने पृथ्वी की सहन शक्ति, जंगमों ने आकाश की निर्विकारता, सेवड़ों ने चन्द्र की सौम्यता, बौद्धों ने सूर्य के समान सबको ज्ञान प्रकाश प्रदान करना, संन्यासियों ने जल के समान सबका हित करना, और शेषों ने वायु के समान सबको पवित्र करना लिया था। अतः उक्त पृथ्वी आदि छः, जोगी आदि छः प्रकार के भेषधारियों[५] के आचार्य हैं, देखो, उनके पास भी कौनसा साधु भेष[६] है।

एक वृहस्पति वारण[५], शुक्र शेष शुकदेव।
रज्जब ते तन उद्धरे, बिन बाने[६] रट सेव ॥६॥

एक वृहस्पति, गजराज[५], शुक्राचार्य, शेष, शुकदेव और भी जितने बिना भेष[६] के ही नाम रटना रूप भक्ति की है, उन शरीर धारियों का उद्धार हो गया है।

दत गोरख दर्शन[५] बिना, स्वांग[६] न शुकदेव शेष।
रज्जब उद्धरे राम कहि, वारण[७] बरण[८] न लेश ॥७॥

दत्तात्रेय और गोरक्ष नाथ के कान बिना मुद्रा[५] पहने ही हैं, शुकदेव और शेष के भी भेष[६] नहीं है और हाथी[७] के तो लेशमात्र भी रंगा[८] हुआ भेष नहीं है किन्तु ये सब राम-नाम का उच्चारण करके ही उद्धार को प्राप्त हुये हैं।

रज्जब रसना स्वांग बिन, जिन जाया गुरु देव।
तहाँ श्रवण शिष सबनिके, लहैं सु अविगत[५] भेव[६] ॥८॥

जिसने शब्द रूप गुरुदेव को जन्म दिया है, वह जिह्वा भी भेष बिना ही है और वहाँ ही सबके श्रवण रूप शिष्य ब्रह्म[५] का रहस्य[६] मय ज्ञान प्राप्त करते हैं।

तिलक रहित दे तिलक तन, देखो कर सु कपाल।
रज्जब साकत[५] भक्त का, वेत्ता[६] करो विचार ॥९॥

देखो, श्रेष्ठता से रहित शरीर होने पर भी हाथ से कपाल पर तिलक लगाते हैं, अतः हे ज्ञानी[१] जनो ! अभक्त[२] और भक्त का विचार करो कि—कौन अभक्त है और कौन भक्त है अर्थात् जिसमें भक्ति रूप श्रेष्ठता है, वही भक्त है, केवल तिलक मात्र लगाने वाला तो अभक्त ही है ।

टीकायत सारे नवें, बिन टीके को जाय ।

रज्जब यहु पतिशाह दिशि, नर देखो निरताय ।।१०।।

टीकायत उपाधि वाले राजा आदि बिना टीका वालों के पास जाकर उन्हें प्रणाम करते हैं, हे नरो ! विचार करके देखो, बादशाह की ओर उसके कहां टीका है, उसे टीकायत नरेश प्रणाम करते हैं यह प्रसिद्ध है । अतः तिलक में विशेषता नहीं कर्तव्य में ही है ।

नर नाणे[५] जो घट रचे, दर्श अंक देहि छाप ।

रज्जब सब सिक्के बिना, जोउ नगन[६] मधि आप[७] ।।११।।

जो नर , सिक्के[५], और घट रचे जाते हैं उनमें भेष, अंक और छाप देते हैं किंतु जो रत्नों[६] में पानी[७] (कान्ति) है वह तो सब सिक्के आदि के चिन्हो से रहित ही है, और नग सिक्कों से अधिक मूल्य पाते हैं । अतः भेष में विशेषता नहीं कर्तव्य में ही है ।

छः दर्शन की छाप का, विकरा[५] वसुधा माँहि ।

आगे लीजे सांच को, भेष हु भूलै नांहि ।।१२।।

जोगी जंगमादि छः प्रकार के भेष धारियों के भेष की विक्री[५] पृथ्वी पर के अज्ञानी मनुष्यों में ही होती है अर्थात् वेप को वे ही संत मानते हैं, आगे प्रभु तो सत्य साधन को ही ग्रहण करते हैं, भेष से नहीं भूलते अर्थात् भेष से किसी को भक्त-संत नहीं मानते ।

दर्शन[५] दे देवे[६] किया, लाल हि दर्शन[७] नांहि ।

पै तिमर[८] हरे जे तुंगनी[९], सो मोल महंगे जाँहि ।।१३।।

देवता का भेष[५] बनाकर देव[६] कर लिया है और लाल के भेष[७] कुछ नहीं है किन्तु इन दोनों में जो रात्रि[९] का अंधेरा[८] दूर करेगा वही महँगे मूल्य में जायगा अर्थात् लाल ही कीमत पायेगा, वैसे ही केवल भेष की महत्ता नहीं है, जो अज्ञान को दूर करेगा वह संत माना जायगा ।

सप्त धातु नाणे[५] सु घट[६] दर्श[७] अंक दे थाप[८] ।

नाम नीर नग दास में, सो घण[९] मोल बिन छाप ।।१४।।

सात धातु के सिक्के[५] और शरीर[६] हैं, उनमें शरीरों पर भेष[७] हैं और सिक्कों पर अंक छपे[८] हैं किंतु जिस नग में पानी (तेज) होता है,

वह बिना छाप भी अधिक[६] मूल्य पाता है। वैसे ही जिस भक्त में नाम चिन्तन रूप साधन है, वह बिना भेष भी प्रभु के पास सत्कार पायेगा।

नख शिख दर्शन[५] देह का, कर दीया करतार।
रज्जब ऊपर और करि, बिडंबै[६] कहा गँवार ॥१५॥

नख से शिखा तक शरीर का भेष[५] सृष्टि कर्त्ता ईश्वर ने बना दिया है। हे मूर्ख ! उसके ऊपर दूसरा करके क्यों आडम्बर[६] करता है।

बांने[१] परि बांना करै, बीच नहीं विश्वास।
रज्जब रचना राम की, रचे[२] न मूरख दास ॥१६॥

भगवान् के बनाये हुये भेष[१] पर भेष बनाता है तो समझना चाहिये, उसके हृदय में प्रभु का विश्वास नहीं है। मूर्ख सेवक राम की रचना में अनुरक्त[२] नहीं होते, भेष में अनुरक्त होते हैं।

पीव[१] जीव बांने[२] दिये, देही[३] दर्शन[४] देख।
रज्जब भीड़ी[५] किये के, राखे किसकी रेख[६] ॥१७॥

देख, प्रभु[१] ने जीव को दर्शनीय[४] शरीर[३] रूप भेष[२] दिया है और अपने बनाये हुए जीवों के साथी[५] हैं, फिर तू किसका भेष रूप चिन्ह[६] रखता है ?

पट्टा पाया प्राणि तब, जब वपु बांना[१] नाँहि।
अब विडंब[२] का परि करै, समझ रह्या मन माँहि ॥१८॥

प्राणी ने जीविका रूप पट्टा तो तब ही प्राप्त कर लिया था जब शरीर पर भेष[१] नहीं था, अतः हमारा मन तो रहस्य को समझ कर भीतर प्रभु-चिन्तन में ही स्थिर रहता है, अब ढोंग[२] किस लिये करेगा ?

सर्प स्वाँग[१] स्रक[२] को गया, बिन पंखों परकाश[३]।
त्यों रज्जब राम रटे[४] बिना, बाँने[५] के विश्वास ॥१९॥

पंख प्रकट[३] हुए बिना कौन सर्प अपने रंग रूप भेष[१] से चंदन[२] पर गया है ? अर्थात् कोई नहीं गया। वैसे ही राम का चिन्तन[४] करे बिना भेष[५] के विश्वास से राम के पास कोई नहीं जा सकता।

रज्जब जीव जल बूंद सम, षट् दर्शन रंग सान[१]।
ब्रह्म व्योम पहुंचे नहीं, बिना भजन बिन भान[२] ॥२०॥

जीव जल बिन्दु के समान है, जैसे जल बिंदु में रंग मिला[१] देने से वह बिना सूर्य[२] के आकाश में नहीं जा सकती, वैसे ही जीव-जोगी, जंगमादि-षट् भेष धारियों के भेषों में मिलने पर भी ब्रह्म चिंतन बिना ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता।

रज्जब देखैं देखते, दृग दोयज[1] हरि चन्द ।
भेष भरम भासैं नहीं, जे नैना मधि मन्द ॥२१॥

हम देखते हैं द्वितीया[1] के दिन सुन्दर भेष वालों को चन्द्रमा नहीं दीखता, जिनके नेत्र अच्छे होते हैं, वे ही चंद्रमा को देखते हैं । वैसे ही यदि ज्ञान नेत्र मंद हैं तो उनको भेष से हरि का दर्शन नहीं होता, भेष तो भ्रम रूप है ।

मन मयंक[1] की गहन[2] गति, जुगति ज्योतिग[3] हु जान ।
देह दशा[4] देखै नहीं, छाड़ हु खैंचा तान ॥२२॥

चन्द्रमा[1] की चाल वा ग्रहण[2] की अवस्था को ज्योतिषी[3] विद्या बल रूप युक्ति से ही जानता है, ज्योतिषी का भेष बनाने से नहीं जान सकता । वैसे ही मन की चाल शरीर की अवस्था[4] विशेष से अर्थात् भेष से कोई भी नहीं जान सकता । अतः भेष सम्बंधी खैंचातान छोड़ कर भजन करो ।

आंखों अन्ध अज्ञान गति,[2] काजल तिलक बनाय ।
रज्जब रामति[1] राम का, दर्शन किया न जाय ॥२३॥

आंखों से अंधा मानव काजल लगाने से ईश्वर लीला[1] रूप सृष्टि के पदार्थ नहीं देख सकता, वैसे ही अज्ञानी मानव तिलक लगाना रूप चेष्टा[2] से राम का दर्शन नहीं कर सकता ।

भगवंत भजन बिन कुछ नहीं भेष भरम दे नाँखि[1] ।
रज्जब लखे न गहन[2] गति,[3] अंजन के बल आंखि ॥२४॥

भगवान् के भजन बिना भेष कुछ महत्त्व की वस्तु नहीं है, भ्रम रूप है अतः भेष का आग्रह छोड़[1] देना चाहिये । जैसे आंखें अंजन के बल से दुर्गम[2] वस्तु को देखने की चेष्टा[3] में सफल नहीं होती, वैसे ही भेष से भगवान् को नहीं देख सकते ।

बुधि[1] विद्या[2] के बल बली, निरखहु नटनी साध ।
रज्जब शक्ति न स्वांग[3] की, खेलहिं खेल अगाध[4] ॥२५॥

देखो, बुद्धि[1] के बल से बलवती नटनी दुर्बोध[4] खेल खेलती है, भेष[3] की शक्ति से नहीं, वैसे ही ज्ञान[2] के बल से बली संत अगाध ब्रह्म[4] का साक्षात्कार रूप खेल खेलते हैं, भेष[3] की शक्ति से नहीं ।

षट् दर्शन[1] में हंस[3] कन,[4] भेष न भासै कोय ।
क्षीर नीर न्यारा करै, सो न्यारी गति[2] जोय ॥२६॥

हंस पक्षी के पास[४] कोई भेष नहीं दीखता किन्तु मिले हुए दूध और जल को अलग कर देता है, वह उसकी चेष्टा[२] विलक्षण ही है। वैसे ही जोगी, जंगमादि छः प्रकार के भेष[१] धारियों में जो माया से निर्लिप्त संत[३] है उसके पास[४] भेष का आग्रह नहीं भासता, वह विवेक द्वारा सत्यासत्य को अलग कर देता है, उसकी वह चेष्टा[२] सांसारिक प्राणियों से अलग ही है अर्थात् सांसारिक जीवों से ऐसा नहीं होता।

हूनर[१] होय न हंस का, बहुत जीव जल गोट[२]।
क्षीर नीर न्यारा किया, कौन गूदड़ी वोट[३] ॥२७॥

जल जीवों के यूथ[२] तो बहुत हैं किन्तु अन्य किसी से भी दूध-जल को अलग करना रूप हंस की कला[१] का प्रदर्शन नहीं होता, हंस ने कौन-सी गुदड़ी ओढ[३] रक्खी है ? अपनी कला से ही दूध-जल को अलग करता है। वैसे बिना भेष भी ज्ञानी संत सत्यासत्य को अलग करते हैं। उसमें भेष का उपयोग नहीं होता।

मन पय[१] निज वपु वारिसौं, काढैं साधू हंस।
बाँने[२] बल छाने[३] नहिं कोय, सब खग वाइस[४] वंस ॥२८॥

हंस ही जल से दूध[१] को निकालता है, अन्य सब पक्षी तो काक[४] वंश के समान हैं अर्थात् मैल ही खाने वाले हैं। वैसे ही मन को शरीराध्यास से सत ही निकालता है, भेष[२] के बल से कोई भी नहीं निकाल[३] सकता।

कै दुहाग कै सेज पर, कै न्हावत[१] पतिमार।
जन रज्जब युवती तजैं, च्यारूं समय शृंगार ॥२९॥

दुहाग के समय, शय्या पर, स्नान[१] के समय और पति के मरने पर इन चारों समयों में नारी शृंगार का त्याग करती है, वैसे ही साधक को दुःख, सुख, शुचिता और वियोग इन चारों अवस्थाओं में ही समान रहना चाहिये, भेष तो नारी के शृंगार के समान है, निजी वस्तु नहीं है, निरा दंभ है।

ज्यों सुन्दरि शिर न्हावतां[१], आभरण[२] धरै उतारि।
त्यूं रज्जब रमि[३] राम जल, स्वाँग[४] शरीर हि डारि ॥३०॥

जैसे नारी शिर को धोने[१] के समय शिर का भूषण[२] उतार कर अलग रख देती है वैसे ही शरीर के भेष[४] का आग्रह पटक कर राम रूप जल में क्रीड़ा[३] कर अर्थात् एक रूप होकर भजन कर।

सदा सुहाग[१] सुलक्षणों, कुलक्षण दुःख दुहाग[२]।
रज्जब नौसत[३] क्या करै, न्यारे भाग अभाग ॥३१॥

सुलक्षण होने से सदा सौभाग्य[1] रहता है, कुलक्षण होने में दुर्भाग्य[2] द्वारा दुख रहता है। सोलह[3] शृंगार क्या करेंगे ? भाग्य अभाग्य तो शृंगार से अलग ही है अर्थात् सुख-दुःख तो भाग्य अभाग्य से होते हैं। वैसे ही भेष क्या करेगा ? प्रभु तो भजन से प्राप्त होते हैं।

रज्जब साधू स्वांग[1] का, समझ्या संग विचार।
जो जल नलिनी[2] पत्र परि, सोई सीप मँझार ॥३२॥

जो जल कमलिनी[2] के पत्र पर है वही सीप में है, दोनों मोती दीखते हैं किन्तु कमलिनी का क्षणिक है वायु से पत्र हिलते ही नष्ट हो जाता है और सीप का जौहरी के पास जाता है। वैसे ही साधु और भेष[1] का विचार सच्चे साधुओं और भेष धारियों के संग से समझा जाता है, भेषधारी तो यहाँ ही रह जाता है और सच्चा संत प्रभु के पास जाता है।

तागे[1] छाप न पलट हो, तन मन तांबा लोह।
प्रभु पारस जु परापरी[2], जब लग मिले न वोह[3] ॥३३॥

कोई भी प्रकार की छाप लगाने में तांबा और लोह तब तक नहीं बदलता जब तक वह[3] पारस से न मिले। वैसे ही प्राणी का तन-मन जनेऊ[1] से तब तक नहीं बदलता जब तक वह[3] परात्पर[2] प्रभु से नहीं मिलता।

साधू पारस लोह मन, परसै कंचन होय।
रज्जब स्वाँग सुमेरु मिल, मन नहिं पलटे कोय ॥३४॥

लोहा पारस से स्पर्श होते ही सुवर्ण हो जाता है किंतु सुमेरु से मिलने पर नहीं बदलता। वैसे ही संत के मिलने से मन बदल जाता है किन्तु भेष धारी के मिलने से नहीं बदलता, पूर्ववत दुर्भावना युक्त ही रहता है।

देखे सुन्दर स्वांग, सुई सुरति सरके[1] नहीं।
चिदानन्द कन[2] मांग, रज्जब चुम्बक चेतना[3] ॥३५॥

सुन्दर भेष को देखने से सुई भेष की ओर तथा वृत्ति प्रभु की ओर नहीं सरकती किंतु चुंबक को देखकर सुई चुंबक की ओर चलती[1] है वैसे ही वृत्ति को प्रभु की ओर चलाने के लिये चिदानन्द ब्रह्म से[2] ज्ञानात्मक बुद्धि[3] की याचना करो।

बाँने पलटे नांहि, रज्जब वपु वनराय विधि।
समझ देख मन मांहि, चंदन चित चंदन किये ॥३६॥

जैसे वन पंक्ति के वृक्षों को सजाने से वे नहीं बदलते किंतु चंदन की सुगंध उनको चंदन कर देती है। वैसे ही भेष से शरीर नहीं बदलते किंतु मन में समझ कर देख, संत का ज्ञान चित्त को बदल देता है।

तन मन तांबा लोह, षट् दर्शन[1] षट् छाप दी।
रज्जब फिरै न वोह, बिना प्राण[2] पारस मिले ॥३७॥

तन-मन तांबा लोहा के समान हैं, जैसे ताँबा लोहा के छाप लगाने से वे नहीं बदलते पारस मिलने पर ही बदलते हैं, वैसे ही जोगी, जंगमादि छः प्रकार के भेषधारियों के भेषों[1] से तन-मन नहीं बदलते, ज्ञानी प्राणी[2] के मिलने पर ही बदलते हैं।

रज्जब सीझै[1] साँच, स्वांग[2] न को सीझै[3] नहीं।
कहँ कंचन कहँ काच, दिब[4] दरशन[5] देखै नहीं ॥३८॥

सत्य साधना से ही मुक्तिरूप सिद्धावस्था[1] प्राप्त होती है, भेषों[2] से कोई भी मुक्त[3] नहीं होता। कहां सत्य साधना रूप सुवर्ण और कहाँ भेष रूप काच, दोनों समान तो नहीं हो सकते। सत्य निर्णयार्थ हाथ पर रक्खा जाने वाला तप्त लोह का गोला[4] भेष[5] को नहीं देखता, सत्य को ही देखता है, चाहे साधु भेष क्यों न हो, झूठा होगा जला ही देगा, और साधु भेष न होने पर भी सच्चे को नहीं जलायेगा।

सुरति सुई ज्यों सीं[1] फिरी, काया कंथा भेख।
अंबलबेत अगाध बिन, रज्जब गलै न देख ॥३९॥

जैसे सुई सींती[1] हुई सारी कंथा में फिर आती है किन्तु अम्बलवेत की खटाई में गये बिना गलती नहीं। वैसे ही देख, वृत्ति शरीर के सभी भेषों में फिर आती है किन्तु अगाध ब्रह्म के चिन्तन बिना ब्रह्म में लय नहीं होती।

मन कर्म भँवर[1] न भेष धरि, शब्द डंक भो[2] भृंग।
रज्जब पहुँचे हरि कमल, पीवै परिमल[3] अंग[4] ॥४०॥

मन तथा कर्म से भृंग[1] ने भेष नहीं धारण किया है किन्तु अपने डंक के आघात से ही कीट को भृंग बना[2] देना है और वह कमल पर जाकर सुगंध[3] का पान करता है, वैसे ही साधक भेष न धारण करके केवल सद्गुरु शब्दों से ही हरि के पास पहुंचता है और अपने प्रिय[4] प्रभु का दर्शन करता है।

जन रज्जब भिड़ि[1] भाजणे, भेष सु भीड़ी[2] नांहि।
लक्षण सौं लक्षण लड़ै, समझ देख मन मांहि ॥४१॥

युद्ध में जुट[1] कर भागने से भेष साथी[2] नहीं होता, वैसे ही मन में समझ करके देख, योग संग्राम में भी दैवी गुण रूप लक्षण से आसुर गुण रूप लक्षण लड़ता है, भेष नहीं।

रज्जब कायर शूर की, स्वांग न करै सहाय।
भावे लोटौ भावे लड़ मरौ, नर देखो निरताय ॥४२॥

युद्ध में कायर तथा शूरवीर की सहायता भेष नहीं करता, चाहे वह लौट आवे और चाहे लड़ मरे। वैसे ही हे नरो ! विचार करके देखो, साधन-संग्राम में भी भेष सहायक नहीं होता।

सदा हंस सादा रहै, नहीं स्वांग कोउ संग।
जन रज्जब जगपति किया, तैसा ही है अंग[1] ॥४३॥

हंस सदा सादा ही अर्थात् भेष रहित ही रहता है, उसके साथ कोई भी भेष नहीं है, उसका शरीर[1] जैसा जगत् स्वामी ईश्वर ने रचा है, वैसा ही है किन्तु उसकी कला से ही उसकी महिमा है, वैसे ही कर्तव्य से महिमा होती है भेष से नहीं होती।

रज्जब माला तिलक न हंसके, बंसहि देखो जोय।
ये अब तब सादे सदा, बादि बके क्या होय ॥४४॥

देखो, हंस के माला तिलक नहीं हैं, हंस का सभी वंश क्यों न देख लो, मालादि से रहित ही है। ये हंस और सच्चे संत अब तथा तब अर्थात् पूर्व काल में सदा सादे ही रहे हैं। व्यर्थ ही भेष की महिमा बकने से क्या होता है ?

स्वांगी[1] राखै स्वांग की, परि सादा[2] राखै नांहि।
तो बधिक[3] हंस की क्यों बणी, समझ देखि मन माँहि ॥४५॥

भेष-धारी[1] सदा भेष की पक्ष रखता है किन्तु भेष की सजावट से रहित साधारण[2] ढंग से रहने वाले संत भेष की पक्ष नहीं रखते। तब मन में विचार करके देख, भेष द्वारा फँसाने वाले व्याध[3] की और सार-ग्राहक संत रूप हंस की एकता कैसे बनेगी ?

श्याम घटा स्वांगी[1] सभी, साधु श्वेत सुध[2] धार।
रज्जब रीते[3] रूप रंग, सादे वर्षण हार ॥४६॥

सभी भेषधारी,[1] काली घटा के समान हैं और सच्चे संत श्वेत घटा के समान हैं, जल धारा वर्षाने वाले श्वेत बादल होते हैं, वैसे ही शुद्ध ज्ञान देने वाले संत सादे ही होते हैं और रूप-रंग वाले बादल खाली होते हैं, वैसे ही भेषधारी खाली ही होते हैं।

षट् दर्शन मुख ऊपरै, कोइ न पीवै धोय ।
रज्जब सादे सुपथ पग, तहँ चरणोदक होय ॥४७॥

जोगी, जंगमादि छः भेषधारी मुख के समान सुन्दर और ऊंचे हैं किन्तु मुख को धोकर कोई भी नहीं पीता, वैसे ही साधन रहित केवल भेष का कोई महत्त्व नहीं है किन्तु सुपंथ में चलने वाले सादे चरणों का चरणोदक पीते हैं, वैसे ही सुमार्ग में गमन करने वाले सच्चे संत सादे रहें तो भी उनका सन्मान होता है ।

जे जल रहै तो कुँभ बलि, चित्र चंप्या[1] कछु नांहिं ।
त्यों रज्जब हरि साँच में, शंभु[2] न स्वांग हु मांहिं ॥४८॥

यदि घड़े में जल हो तब तो उसकी बलिहारी है और केवल सुन्दर चित्र उस पर खींचे[1] हुये हों तो कुछ नहीं । वैसे ही हृदय में सत्य हो तो हरि प्राप्त होते हैं, वे आनन्ददाता[2] प्रभु भेष से नही प्राप्त होते ।

मंदिर थंभ कटाव करि, मांड्या[1] स्वांग सिंगार ।
रज्जब रती न ले सकै, चित्र थंभ का भार ॥४९॥

मंदिर के स्थंभों को काट कर उनमें पुष्प लतादि शृंगार की सामग्री लिख[1] दी गई किन्तु वह शृंगार स्थंभों का बोझा तो एक रती भर भी नहीं ले सकता । वैसे ही शरीर पर भेष बना लिया किन्तु वह साधन तो नहीं कर सकता, साधन तो मन से ही होगा ।

नकश[1] नराजी[2] पर घणें[3], भावै कोई नांहिं ।
रज्जब बहसी[4] वित्त[5] निज, चकहु[6] न चित्र हुं मांहिं ॥५०॥

अप्रसन्न[2] होने पर चाहे बहुत[3]-से चित्र[1] खेंचो और उन चित्रों में कहीं भूले[6] भी नहीं तो भी कोई प्रिय नहीं होता । वैसे ही भेष से प्रभु प्रसन्न नहीं होते, साधक तो अपने कर्त्तव्य रूप धन[5] से ही प्रभु के पास जायगा[4] भेष से नहीं ।

चित्री[1] सांठी[2] तोर की, बकतर[3] पड़ै न बेह[4] ।
रज्जब भलकें[5] भाव बिन, झूठा स्वांग सनेह ॥५१॥

बाण की लकड़ी[2] रंगीन चित्रयुक्त[1] हो और आगे भाला[5] नहीं हो तो कवच[3] में छेद[4] नहीं कर सकती । वैसे ही सच्चे भाव बिना झूठे भेष का प्रेम कुछ नहीं कर सकता ।

बाण हिं बाना[1] पंख रंग, गोली गोले नांहिं ।
चाल चोट में चूक[2] क्या, समझ देख मन मांहिं ॥५२॥

बाण के पंखों के और गोली-गोला के रंग रूप भेष[1] नहीं होने पर भी उनकी चाल और चोट में क्या भूल[2] रहती है ? वैसे ही मन में समझकर के देख, भेष न होने पर भी भजन द्वारा ज्ञान होकर अज्ञान नष्ट होता है।

मल[1] मंडे[2] मैंगल[3] मँडे, शृंगारे सु शरीर।
जन रज्जब जुध जीत है, जो बलबँत ह्वै वीर ॥५३॥

चाहे पहलवान[1] और हाथी[3] का शरीर चित्रित[2] और शृंगार किया हुआ हो, युद्ध में तो वही जीतेगा जो बलवान् वीर होगा। वैसे ही भेष चाहे कितना ही सुन्दर हो योग संग्राम में तो वही जीतेगा जिसमें साधन का बल होगा।

हय[1] गय[2] वृष[3] मींढा मरद, मांडे[4] सकल शरीर।
रज्जब बरियां[5] काम की, अंत वधै बलवीर ॥५४॥

अश्व[1], हाथी[2], बैल[3], मींढा और पुरुष, इन सबके शरीर चाहे चित्रित[4] हों किंतु युद्ध रूप कार्य के समय[5] तो अंत में जो बलवान् वीर होगा वही मारेगा। वैसे ही भेष चाहे सुन्दर हो अज्ञान को तो साधन बल वाला ही नष्ट करेगा।

मातंग[1] मोर नर नारियल, केश अकेशों एक।
जन रज्जब वित[2] लीजिये, शोभा भिन्न विवेक ॥५५॥

हाथी[1], मोर, नर और नारियल, केशों युक्त हों वा रहित हों, हैं तो एक ही, वैसे ही भेष की शोभा भेद ज्ञान वाली होती है। साधन-बल रूप धन[2] तो भेष वालों और बिना भेष वालों में एक ही होता है और उसी से उद्धार होता है।

चिणगी[1] चकमक चित्त की, बुझै न चौड़े[2] चीर।
रज्जब बूंटी बुद्धि बिन, अग्नि उभय उर सीर ॥५६॥

चकमक से निकला हुआ अग्नि-कण[1] वस्त्र में पड़कर नलिका से बाहर[2] रहे तब तक नहीं बुझता वैसे ही चित्त का विषय तृष्णा रूप अग्नि बाहर विषयों में रहे तब तक नहीं बुझता किंतु चकमक का अग्नि-कण नलिका में जाकर और चित्त की विषय तृष्णाग्नि हृदयस्थ साक्षी ब्रह्म में जाकर बिना बूंटी और बिना बुद्धि ही दोनों ठंडे हो जाते हैं।

यथा मुहर की छाप को, ले पीतल पर देय।
तो रज्जब क्या स्वांग[1] को, सोवन[2] सरभरि[3] लेय ॥५७॥

जैसे सुवर्ण-मोहर की छाप पीतल पर लगा दें तो क्या वह सुवर्ण[२] के समान[३] मूल्य पायेगा ? वैसे ही असाधु साधु का भेष[१] बना ले तो क्या वह परीक्षकों के पास सत्कार पायेगा ?

स्वांग[१] सिंह का कीजिये, भेड़ प्राणि परि आण।
रज्जब शक्ति न सिंह की, गाडर[२] गति[३] हि प्रमाण ॥५८॥

भेड़ को लाकर उस पर सिंह का भेष[१] बना दे तो उसमें सिंह की शक्ति तो नहीं आयेगी ? भेड़[२] की चेष्टा[३] ही प्रमाणित होगी। वैसे ही असाधु प्राणी को साधु का भेष पहनाने पर उसमें साधुता तो नहीं आयेगी, असाधुता ही सिद्ध होगी।

काग हिं केशर का तिलक, कंठ पहुप[१] की माल।
सकल गात पंडर[२] किया, रज्जब चुको[३] न चाल ॥५९॥

काक के केशर का तिलक लगा दिया, कण्ठ में पुष्प[१] माला पहना दी तथा सारा शरीर ही पीला[२] कर दिया किंतु वह अपनी चाल तो नहीं भूलता[३]: वैसे ही दुर्जन साधु का भेष बना कर भी दुर्जनता नहीं भूल सकता।

तन मन काला भौंर[१] ज्यों, किया काठ में धाम।
केशर चरच्या[२] स्वांग शिर, रज्जब सरचा न काम ॥६०॥

जैसे भ्रमर[१] का शरीर काला है, शिर पर केशरियाँ रंग लगा है और काष्ट में रहता है, वैसे ही मन तो पाप से काला होता है, शिर पर केशर का तिलक लगा[२] रक्खा है, साधु का भेष धारण करके काष्ट की कुटिया में रहता है किंतु साधुता बिना इस भेष से किसी का भी मुक्ति रूप कार्य सिद्ध नहीं हुआ है। अतः भेष का भरोसा त्याग के भजन करो।

काग कपट का भेष धरि, कबहूं हंस न होय।
जन रज्जब स्वांगी[४] सभी, जनिरु[५] पतीजे[६] कोय ॥६१॥

काक कपट से हंस का भेष बना ले तो भी वह हंस कभी नहीं हो सकता। असाधु भी कपट का साधु भेष बना लेते हैं। अतः सभी भेषधारियों[४] का विश्वास[६] कोई न[५] करें।

वपु सारे बनराय[४] विधि, भद्र भये पतझार।
जन रज्जब सु सुभाव[५] कसि[६], ता में फेर न सार ॥६२॥

सभी शरीर वन-पंक्ति[४] के समान हैं, जैसे वन के वृक्षों का पतझार होता है, वैसे ही मनुष्यों का दाढी मूंछ मुँडाना रूप भद्र होना है। परीक्षा[६]

करने पर तो सुन्दर स्वभाव[४] वाला ही साधु कहा जा सकता है, यही सार रूप बात है इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है।

शिर मूंड्या अस्थूल[४] का, काम जड़्या[५] मन मांहि।
रज्जब मन मूंडे बिना, शिर मूंडे कछु नांहि ॥६३॥

स्थूल[४] शरीर का शिर तो मुंडवा लिया किन्तु मन में तो काम अच्छी तरह जटित[५] है, मन के काम रूप केश मूंडे बिना शिर मुंडाने से परमार्थ में कुछ भी लाभ नहीं मिलता।

काया धोली[४] कुष्ठ कर, मन काला ता मांहि।
त्यों रज्जब ऊजल दरशै, प्राण[५] पतीजै[६] नांहि ॥६४॥

शरीर तो श्वेत कोढ होने से श्वेत[४] है किन्तु भीतर मन काला है। ऐसे जो बाहर से उज्वल दीखते हैं किन्तु भीतर मन पाप से काला है, उन पर हमारा मन[५] विश्वास[६] नहीं करता।

तन ऊजल मन मैल मय, कपटी का सा जोय।
जन रज्जब चित चीर ज्यों, कुसंग सु काला होय ॥६५॥

देख, जिसका शरीर तो उज्वल है और मन मैल रूप ही है, उनका संग कपटी का सा होता है। जैसे वस्त्र कालिमा के संग से काला हो जाता है, वैसे ही उनके कुसंग से चित्त काला हो जाता है।

बांना[४] देखि न बहसिये[५], ऊपर ऊजल जोय।
रज्जब खूंभी का गवा, अंतरि काला होय ॥६६॥

भेषधारी के भेष[४] को देखकर बहना[५] नहीं चाहिये, जैसे खूंभी की सुपारी ऊपर से तो श्वेत होती है किन्तु सूखने पर भीतर से काली निकलती है, वैसे ही भेषधारी का भेष ऊपर से तो अच्छा दीखता है किन्तु भीतर मन काला होता है।

ऊजल राता तेजसो[१], तो भी धीज न कोय।
रज्जब दीपक ज्योति में, कारा काजर होय ॥६७॥

भेष चाहे श्वेत, लाल और अग्नि[१] के रंग का भी क्यों न हो, तो भी कोई विश्वास नहीं करे, कारण—दीपक की ज्योति से भी काला काजल निकलता है, वैसे ही अच्छे भेष में भी पापी मनुष्य होते हैं।

रज्जब मांडे मोर प्रभु, तन पर चित्र अपार।
मुख वाणी मीठी मधुर, भोजन भ्रष्ट सुखार ॥६८॥

प्रभु ने मोर के शरीर पर अपार चित्र लिखे हैं, मुख की वाणी भी मधुर है किन्तु उसका भोजन खराब है, सर्प को भी खाजाता है। वैसे ही भेष सुन्दर, वाणी मीठी किंतु भोजन तथा आचरण-भ्रष्ट हों तो वे भेषधारी त्याज्य ही हैं।

कली कपट को चाहिये, कंचन कली न होय।
रज्जब स्वांगी साधका, इहै[४] पटंतर[५] जोय[६] ॥६९॥

कलई तो कपट के लिये ही चाहिये, सत्य के लिये नहीं। ताँबा को सुवर्ण दिखाते हैं तब सुवर्ण की कलई करते हैं, सुवर्ण पर तो कलई नहीं होती। यहाँ[४] स्वांगी-साधु को भी कंचन-कलई के समान[५] ही देख[६], असाधु को साधु दिखाने के लिये ही साधु का भेष बनाया जाता है, सच्चे साधु के लिये भेष की आवश्यकता नहीं।

जन रज्जब शुध[४] गाय के, कंठ न बाँधै काठ।
डींगर[५] तिस के मेलिये, जो ताके[६] बारह[७] बाट ॥७०॥

शुद्ध[४] अर्थात् खेतों में न जाने वाली गाय के कंठ में काष्ठ नहीं बाँधते। चलने पर पैरों के लगने वाला काष्ठ[५] उसी गाय के बाँधते हैं, जो खेतों में जाने के लिये इधर-उधर[७] देखती[६] है।

बहुत स्वांग गणिका करै, जाके पुरुष अनेक।
पतिव्रता सादी भली, रज्जब समझ विवेक ॥७१॥

जिसके अनेक पुरुष होते हैं वह वेश्या ही बहुत-से भेष बनाती है, पतिव्रता तो सादे भेष वाली भी अच्छी है, वैसे ही विवेक द्वारा समझ, जो असंत है वही, नाना भेष रूप ढोंग करता है, सच्चे संत तो सादे भेष में ही रहते हैं।

जन रज्जब देही दरश[४], मनोवृत्ति नहिं जाय।
देखि दिवाली चित्रिये. अतिगति[५] गोधे[६] गाय ॥७२॥

देखो, दिवाली के अवसर पर गाय बैलों[६] को अत्यधिक[५] चित्रित किया जाता है उससे उनके व्यवहार में अन्तर आता है क्या ? वैसे ही शरीर पर भेष[४] बनाने से मन की वृत्ति प्रभु की ओर नहीं जाती।

बाँनै[५] बानी[६] सौं रंगे, काचा काया कुंभ।
रज्जब रती न ठाहरै, परसत अबला[७] अंभ[८] ॥७३॥

कच्चे घड़े को भस्म[६] से रंग दिया जायगा तो वह जल[८] से स्पर्श होने पर क्षण भर भी नहीं ठहर सकेगा, वैसे ही असाधु शरीर को भेष[५] द्वारा

साधु बना दिया जायगा तो नारी[७] स्पर्श से उसकी साधुता क्षण भर भी नहीं ठहर सकेगी ।

मंझे[१] मावो[२] नहिं किया, उतैं[३] तन जरपोसि[४] ।
रज्जब रचि सु मतिन्ह[५] के, गुझी[६] गाल्हि[७] सुण्योसि[८] ॥७४॥

भीतर[१] मन को तो प्रभु[२] प्राप्ति के योग्य नहीं बनाया किन्तु ऊपर[३] शरीर को जरीके[४]-वस्त्र पहन कर खूब सजाया है और बुद्धि[५] के द्वारा रची हुई गूढ[६] बातें[७] भी सुनते[८] हैं किंतु जब तक मन ठीक न हो तब तक क्या मुक्ति हो सकती है ?

चाम दाम सम स्वांग सब, ता में फेर न सार ।
रज्जब तजे सु जौहरयों, लेसे[५] मुग्ध[६] गँवार[७] ॥७५॥

सभी भेष चमड़े के दामों के समान हैं, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं यह सार बात है । जैसे परीक्षक जौहरी तो चमड़े के रुपयों को नहीं लेते त्याग देते हैं किंतु मूर्ख[६] ले लेते हैं, वैसे ही साधु के परीक्षक साधक तो भेषधारी को संत मानकर ग्रहण नहीं करते किंतु अनजान[७] लोग भेष से ही संत मान कर संत रूप से ग्रहण कर लेते[५] हैं ।

दर्शन[१] दिल बैठै नहीं, पाखंड पड़ै न प्राण ।
रज्जब राता राम सौं, समझ्या संत सुजाण ॥७६॥

जिस प्राणी का मन भेष[१] में संतोष मान कर नहीं बैठता, पाखंड में नहीं पड़ता, निरंतर राम में अनुरक्त रहता है वही रहस्य को समझा हुआ बुद्धिमान् संत है ।

बाने[५] को बींदे[६] नहीं, सब संतन की साखि[७] ।
रज्जब राखै कौन विधि, पूज्य पुकारे नाखि[८] ॥७७॥

भेष[५] के आग्रह में कोई न फँसे[६], यही सब संतों की साक्षी[७] है, जब पूज्य संत भेष का आग्रह त्यागने[८] के लिये पुकार कर कह रहे हैं तब हम किस प्रकार रख सकते हैं ।

मन मयंक[३] सम नीकसै, अबला[४] आदित्य छाँहि ।
जन रज्जब वंदहिं[५] सु क्यों[६], बाने[७] बादल माँहि ॥७८॥

मन चन्द्रमा[३] के समान है, चन्द्रमा जब सूर्य की छाया में अर्थात् सूर्य के होते हुये द्वितीया को निकलता है और बादल में होता है तब उसे कैसे प्रणाम[५] करें ? अर्थात् उसकी कला देखकर ही तो प्रणाम करते हैं, वह दीखती नहीं । वैसे ही मन नारी[४] की छाया में निकलता अर्थात् नारी के अधीन रहता है और भेष[७] के आग्रह में भी दबा रहता है, तब वह कैसे[६] वंदनीय[५] होगा ? उसकी साधन शक्ति तो भासती ही नहीं ।

रज्जब रहै न स्वाँग[५] में, बाने[६] वंद[७] हि नाँहि ।
आतम राम न सूझ ही, भेष भाकसी[८] माँहि ॥७९॥

हम भेष[५] के आग्रह में नहीं रहते, न भेष[६] को वंदना[७] करते । भेष के आग्रह रूप कैद[८] में घुसने पर तो अपना आत्म स्वरूप राम भी नहीं दीखता ।

षट् दर्शन[५] के दृग नहीं; भेषों भाने[६] नैन ।
आतम राम न सूझ ही, रज्जब परे न चैन[७] ॥८०॥

जोगी, जंगमादि छः प्रकार के भेषधारियों[५] के विचार रूप नेत्र नहीं हैं, भेषों के आग्रह ने फोड़[६] डाले हैं । इसी से उन्हें आत्मस्वरूप राम नहीं दीखता और न शांति-सुख[७] मिलता ।

ज्यों साँभर के सर[१] पड़्यो, पशू पचन[२] ह्वै जाय ।
तैसे रज्जब स्वाँग मैं, आतम तत्त्व विलाय ॥८१॥

जैसे साँभर के नमक के सरोवर[१] में पड़ने पर पशु गल[२] जाते हैं, वैसे ही भेष के आग्रह से आत्म तत्त्व विलीन हो जाता है ।

दर्शण[५] चाहै दरशणी[६], पाखंडी पाखंड ।
रज्जब चाहै राम को, सो लिपे न प्रपंच मंड[७] ॥८२॥

भेषधारी[६] भेष[५] को चाहता है, पाखंडी पाखंड को चाहता है, किंतु जो राम को चाहता है, वह ब्रह्माण्ड[७] के प्रपंच में लिपायमान नहीं होता ।

स्वांग[५] सनेही दर्शनी[६], साँच सनेही साध ।
रज्जब खोट हुँ खर[७] हुँ का, अर्थ अगोचर[८] लाध[९] ॥८३॥

भेषधारी[६] तो भेष[५] के प्रेमी हैं और संत सत्य के प्रेमी हैं इस प्रकार इन्द्रियों का अविषय[८] खोटे भेष धारियों और सच्चे[७] संतों का लक्षण रूप अर्थ हमें मिल[९] गया है ।

मन हि जान दे मनिये फेरै, यहु उर बात न आवै मेरै ।
छापे दे अरु राशि लुटावै, सो रज्जब कैसे करि भावै ॥८४॥

जैसे कोई रक्षक धान की राशि पर छापे देता है और घूस खाकर राशि भी लुटाता है, तो वह कैसे अच्छा लगेगा ? वैसे ही माला के मनिये फेरता है और मन को विषयों में भी जाने देता है, यह बात हमारे हृदय में उचित रूप से नहीं आती अर्थात् हमें अच्छी नहीं लगती ।

संग चलै सो सांच है, यहां रहै सो झूठ।
तो क्या पण[1] स्वांग शरीर का, रजू[2] होहु भावे रूठ ॥८५॥

जो साथ चलता है, वह साधन ही सत्य है और जो यहां ही रह जाता है वह भेष मिथ्या है। तब शरीर के भेष का क्या बल[1] है ? कुछ नहीं। इस पर चाहे तुम प्रसन्न[2] हो वा रुष्ट हो बात तो सत्य है।

स्वाँग[1] सँगाती[2] देह लग, सो देही भी नाश।
तो रज्जब तिस झूठ की, कहु क्या कीजे आश ॥८६॥

भेष[1] तो देह तक साथी[2] है, वह देह भी नष्ट हो जाता है। तब कहो उस मिथ्या भेष से उद्धार की क्या आशा की जाय ?

प्राणी आया पिंड ले, भेष दिया भरमाय।
रज्जब वपु बाने रहै, हंस अकेला जाय ॥८७॥

प्राणी शरीर को लेकर आया था। किन्तु भेष धारियों ने भ्रम में डालकर उसे भेष दे दिया तो क्या ? वह शरीर और भेष यहाँ ही रह जाते हैं जीव तो अकेला ही कर्मानुसार जाता है।

रज्जब बाने[1] वंद्या[2] रासिभा,[3] बिन बाने भये काल।
पांडौ[4] परिहर करैंगे, जिव के कौन हवाल ॥८८॥

किसी ने गधे[3] पर गैरिवाँ रँग का वस्त्र[1] देखकर उसे प्रणाम[2] कर लिया तो क्या ? उस वस्त्र के उतारते ही पुनः वह प्रणाम करने वाला ही उसके लिये काल रूप हो जाता है, अतः रंग[4] का भरोसा त्याग कर भजन कर, भेष के भरोसे पर रहने से यमदूत जीव की क्या दशा करेंगे उसका तुझे पता भी नहीं है।

षट् दर्शन[1] अरु खलक[2] सब, पाले[3] पर चित्राम।
रज्जब रविसुत परसतैं, घट पट[4] भागे घाम ॥८९॥

जोगी जंगमादि छः प्रकार के भेषधारी[1] और सब संसार[2] बर्फ[3] राशि पर लिखित चित्राम के समान हैं। जैसे बर्फ राशि पर का चित्राम सूर्य की तेज घाम के स्पर्श होते ही नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही सूर्य पुत्र यम-राज के आते ही शरीर तथा भेष[4] भाग जाते हैं अर्थात् काल के आगे भेष का कोई महत्त्व नहीं रहता, भजन साधन का ही रहता है।

परम[1] स्वांग[2] ले सांच का, आदि अन्त जो होय।
जन रज्जब क्या कीजिये, जो दीसै दिन दोय ॥९०॥

जो आदि, मध्य और अन्त सर्वकाल में रहता है वह सत्य ही श्रेष्ठ[1] भेष[2] है, उसे ग्रहण कर, जो केवल दो दिन दिखाई देता है, उस भेष का क्या करेगा ?

बिन शशिहर[1] शशिहर किया, जैनहु ने जग माँहि ।
तैसे शशिहर स्वाँग का, सो रज्जब माने नाँहि ।।६१।।

जैन यति ने जगत् में बिना चन्द्रमा[1] ही चन्द्रमा दिखा दिया किन्तु वह बनावटी चन्द्रमा सत्य तो नहीं माना गया । वैसे ही स्वांग के साधु को हम सच्चा संत नहीं मानते । दृष्टाँत कथा–किसी नरेश की सभा में एक जैन यति था, राजा ने उससे पूछा–'आज कौन तिथि है ।' यति ने भंग के नशे में अमावस्या को पूर्णिमा बता दिया । नरेश ने कहा–"पूर्णिमा है तो चन्द्रोदय भी होगा ?" यति ने कहा–"अवश्य होगा ।" यति अपने आश्रम पर गया, नशा उतरने पर साथी ने राजा के पास हुई बात सुनाई तब यति ने अपनी बात सत्य करने के लिये बनावटी चन्द्रमा आकाश में चढ़ाया, उसे देखकर नरेश ने चारों ओर घुड़ सवार भेजकर पता लगाया, उसका प्रकाश चारों ओर १२-१२ कोस तक था ।

साँचा शशिहर साँच का, सकल हिं लोक प्रकाश ।
रज्जब शशिहर स्वाँग का, द्वादश कोस उजास ।।६२।।

बनावटी चन्द्रमा का प्रकाश तो १२-१२ कोस में ही था किंतु सच्चे चन्द्रमा का सच्चा प्रकाश तो सभी लोकों में होता है । वैसे ही भेष के साधु की पोल खुलती है और सच्चा साधु सब स्थानों में एक रस रहता है ।

मृतक घोड़ी स्वाँग की, तिहिं चढ़ गर्वे जीव ।
पवंग[1] पलाणा[2] काठ का, क्यों पहुंचेंगे पीव ।।६३।।

जैसे कोई मरी हुई घोड़ी पर चढ़ कर घुड़ सवार होने का गर्व करे, वैसे ही भेष बना कर साधुता का गर्व करना है । जिसका घोड़ा[1] और जीन[2] दोनों काष्ठ के ही हों वह जाने योग्य स्थान को कैसे पहुँचेगा ? वैसे ही भेष से प्रभु के पास कैसे पहुँचेगा ?

बाना[1] बकतर[2] पहिर कर, लड़ै सकल संसार ।
जन रज्जब सो सूरमा, जो झूझे निरधार[3] ।।६४।।

कवच[2] पहन कर तो सभी संसार के योद्धा लड़ते हैं किंतु सच्चा शूर तो वही है जो कवच का आधार न लेकर लड़ता है । वैसे ही भेष[1] से तो सभी साधु बनते हैं किन्तु भेष बिना निराधार[3] ही जो मन से युद्ध करते हैं वे ही सच्चे संत हैं ।

श्रृंगार सहित होली जली, रह्यो प्रीति प्रहलाद ।
सो रज्जब जाने जगत, कहा स्वाँग परि वाद ॥६५॥

होली श्रृंगार से युक्त थी तो भी जल गई और बिना श्रृंगार के केवल प्रभु-प्रेम होने से प्रहलाद जलने से बच गया, सो बात सभी जगत् जानता है, तब भेष की श्रेष्ठता पर विवाद करना क्या शेष रह जाता है ? अर्थात् भेष से साधन श्रेष्ठ है ।

हरि बिन होली थम्भ ज्यों, माला मेलि हजार ।
रज्जब रहै[२] न इस मतै,[१] जल बल होसी छार ॥६६॥

हरि-चिन्तन बिना गले में होली स्थम्भ के समान हजारों माला पहनाई जायं तो भी क्या ? इस विचार[१] से तो काल से नहीं बच[२] सकता, जैसे हजारों माला पहन कर भी होली का स्थंभ जल कर भस्म हो जाता है, वैसे ही अन्त में काल के मुख में जायगा, प्रभु को प्राप्त नहीं हो सकता ।

काया छापी काठ करि, माल मेलि दश बीस ।
झाड़ विलाई होय करि, किन पाया जगदीश ॥६७॥

काष्ठ की छाप लगा कर शरीर को छाप लिया और दश-बीस माला गले में पहन ली, इस प्रकार झाड़ विलाई (शूलों से आच्छादित जंतु) होकर किसने जगदीश्वर को प्राप्त किया है ? जगदीश्वर तो भजन ज्ञानादि साधनों से ही मिलते हैं, भेष से नहीं ।

स्वाँगी[५] सब घुण सारिखे, पैठे[६] काठहु माँहि ।
जन रज्जब जलसी सभी, इहि घर छूटे नाँहि ॥६८॥

सभी भेषधारी[५] घुण के समान हैं जैसे घुण काष्ठ में घुसे रहते हैं, वैसे ही भेषधारी माला रूप काष्ठ में घुसे[६] रहते हैं । काष्ठ में रहने वाले सभी घुण एक दिन अग्नि में जलते हैं, वैसे ही भेषधारी भी कालाग्नि में जलेंगे । इस भेषरूप घर में रहने से कालाग्नि से छुटकारा नहीं हो सकता ।

ज्यों कुंदे[५] में दीजिये, रज्जब चोर हिं लेय[६] ।
त्यों स्वांगी[७] संकट पड़े, कंठ काठ में देय ॥६९॥

जैसे चोर को पकड़[६] कर उसका पैर काठ[५] में देते हैं तब वह संकट में पड़ जाता है, वैसे ही भेषधारी[७] अपने कंठ को काठ में देकर दुःख में पड़ रहे हैं ।

बंदि[५] पड़्या संसार सब, षट् दर्शन[६] वश होय ।
रज्जब मुक्ता स्वांग[७] सौं, सो जन विरला कोय ।।१००।।

जोगी आदि छः प्रकार के भेष[६] धारियों के वश होकर सब संसार के प्राणी निज २ भेषपक्ष रूप कैद[५] में पड़े हैं, वह मानव कोई बिरला ही मिलता है जो भेष[७] के आग्रह से मुक्त हो ।

षट् दर्शन[५] मन रंजना, दुख भंजन गोविन्द ।
जन रज्जब राम हि भजो, स्वांग[६] सभी जग फंद ।।१०१।।

छः प्रकार के भेष[५] तथा भेषधारी तो मन को ही प्रसन्न करते हैं, दुःख को दूर करने वाले तो गोविन्द ही हैं । भेष[६] तो सभी जगत् के फंदे में फंसाने वाले हैं, उनका आग्रह छोड़कर राम का भजन करो तब ही मुक्त हो सकोगे ।

माया बेड़ी तोड़ कर, कोइ कोइ निकसे प्राण ।
रज्जब जड़िये[७] स्वाँग सौं, आगे लहै न जाण ।।१०२।।

माया रूप बेड़ी को तोड़ कर कोई कोई प्राणी ही भेष के आग्रहरूप कैद से निकलते हैं, बाकी तो सब भेष के आग्रहरूप कैद में बंद[७] हैं, प्रभु की ओर आगे जा ही नहीं सकते ।

बांधे सांकल स्वांगसौं, बिनहीं ज्ञान विचार ।
ज्यों रज्जब पशु बंदि[७] में, बहुते राज दुवार ।।१०३।।

जैसे राजा के द्वार पर बहुत-से पशु साँकल से बंधे[७] रहते हैं, वैसे ही भेषधारी बिना ज्ञान-विचार के ही प्राणियों को भेष में बाँध कर अपनी कैद[७] में पटक लेते हैं ।

भोला पहरै भेष को, पीछैं पण पड़ि जाय ।
जन रज्जब जग यूं बंधे, कौन छुडावै आय ।।१०४।।

पहले भोला मानव ही भेष को पहनता है, पीछे हठ पड़ जाता है, इस प्रकार जगत् के प्राणी बंधे हैं, कौन आकर इन्हें इस आग्रह से छुड़ावे, ये अपना हठ छोड़ते ही नहीं ।

जो जीव जिहि जायगह जड़्या[५], तहीं जड़ै[६] ले और ।
ज्यों रज्जब मेघा मृग हि, मुक्तहि राखे ठौर ।।१०५।।

जो जीव जिस स्थान पर स्थिर[५] रहता है, वहाँ ही अन्य को भी स्थिर[६] कर लेता है । जैसे मेघा नामक सुगंधित घास खुले हुये मृग को भी अपने स्थान पर ही खड़ा कर लेता है (मृग सुगंध के कारण खड़ा रह

जाता है) वैसे ही भेषधारी भेष से रहित को भी भेष से बाँधकर अपने स्थान में ही रख लेते हैं। वा मेघामृग काला-मृग जैसे खुले हुये मृगों को भी अपने पास ही रखता है, वैसे ही भेषधारी भेष रहित को भी अपने पास रखते हैं, फिर भेष सहित कर देते हैं।

ऊँट रेत रासभ राख, पुनि गरद गयंदै।
खाणे को कछु नाँहि, दरशणी दरशण बँदै ॥१०६॥

जैसे ऊँट रेत में लौटता है, गधा भस्म में लौटता है और हाथी सूंड से धूलि अपने ऊपर डाल लेता है। वैसे ही खाने के लिये कुछ नहीं होने पर भी भेषधारी अपने भस्म रमाने रूप भेष में बांध ही देते हैं। यदि भस्म से मुक्ति हो तो ऊंटादि की भी होनी चाहिये।

शील[1] सांच सुमिरण बिना, ज्ञान खडग कर नाँहि।
सीझ मूये रवि रोस लगि, बाने बकतर[2] माँहि ॥१०७॥

हाथ में तलवार भी नहीं हो और केवल कवच पहनले तब युद्ध करने में तो समर्थ हो नहीं सकता, सूर्य की तेज धूप से कवच[2] में दुःखी ही होता है। वैसे ही ब्रह्मचर्य[1], सत्य, हरि-स्मरण और ज्ञान तो कुछ भी नहीं है केवल भेष बना लिया है, तब अपने क्रोधादि दोषों से आप ही दुःखी होकर मरता है।

गृही ओढै गूदड़ी, तो उतरै तन ताप।
रज्जब ज्वर यति[1] यहि चढै, गूदड़ के सु प्रताप ॥१०८॥

गृहस्थी गुदड़ी ओढ़ता है तब उसका तो पसीना आकर ज्वर उतर जाता है किन्तु उसी गुदड़ी के प्रताप से साधु[1] को वैराग्य का अभिमान रूप ज्वर चढ़ जाता है।

जा ज्वर उतरै जगत की, जती[1] चढ़ै तिहि ताप।
रज्जब ऐसी गूदड़ी, ओढ़त मरिये बाप ॥१०९॥

जिस गुदड़ी से जगत् के मानवों का ज्वर उतरता है, उसी से साधु[1] के ज्वर चढ़ जाता है, यह गुदड़ी ऐसी है, बापरे बाप ! इसके तो ओढ़ने से भी साधु अभिमान का मारा मर जाता है।

आरोही[1] सम दीखती, तज कठोर मत काम।
काठौं चढ़ त्यागी गहैं, मिथ्या कहै सु राम ॥११०॥

यह गुदड़ी त्यागी के ऊपर चढ़ी[1] हुई-सी भासती है, इस कठोर मत के काम को छोड़ दे। ये लोग खड़ाऊ रूप काष्ठ पर चढ़ कर अपने को त्यागी कहते हैं किन्तु मन प्रतिष्ठा बढ़ाने के उपाय में लगा रहता है, इनका मुख से राम कहना तो दंभ मात्र होने से मिथ्या ही है।

रज[1] छंट[2] हु छीते[3] भये, हेर[4] हु होली लोय[5]।
तो रज्जब बहु बरन[6] कर, क्यों न बावला[7] होय ॥१११॥

देखो,[4] होली के दिनों में रेत[1] और रंग की बिन्दुओं[2] से भी लोग[5] तितर[3]-बितर हो जाते हैं, तब बहुत-सा रंग[6] लगा कर तो मनुष्य क्यों न पागल[7] होगा।

नाम लिये नर निस्तरहिं, ताथैं लीजे नाम।
जन रज्जब जाणें नहीं, स्वांग सरे क्या काम ॥११२॥

हरि-नाम-चिन्तन से ही नर का उद्धार होता है, इसलिए नाम का ही चिन्तन करो, लोग इस रहस्य को जानते नहीं हैं, इससे भेष बनाते हैं किन्तु भेष से क्या मुक्ति रूप कार्य सिद्ध होता है ?

सांई लहिये साँच में, ता में फेर न सार।
तो रज्जब क्या धारिये, इन भेषों का भार ॥११३॥

प्रभु तो सत्य-साधन में लगे रहने से ही मिलते हैं, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार बात है, तब इन भेषों के बोझ को क्यों धारण किया जाय ?

जे तत्त्व प्राप्ति तिलक में, माला पहरचों मेल।
तो रज्जब परसे पीव सब, सहज भया यहु खेल ॥११४॥

यदि तिलक लगाने से ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो जाय और माला पहनने से ही प्रभु मिल जायं, तब तो सभी प्रभु से मिल सकते हैं, इस प्रकार तो यह प्रभु प्राप्ति रूप खेल बहुत सहज हो जाता है।

जे भेष धरे भव पार ह्वै, दरशण[1] दे दीदार[2]।
यूं रज्जब सांई मिले, तो सभी पहुंचे पार ॥११५॥

यदि भेष धारण करने से ही संसार से पार हो जाय और भेष[1] से ही प्रभु दर्शन[2] दे दें इस प्रकार प्रभु प्राप्त हों तब तो सभी संसार के पार पहुँच सकते हैं।

शिर मुंडाय साधू भये, माला मेल रु संत।
रज्जब स्वांगी स्वांग धरि, माटी लाय महंत ॥११६॥

शिर मुंडवा कर साधु हो रहे हैं, माला गले में डाल कर संत बन रहे हैं और गोपी तलाई की मिट्टी का तिलक लगाकर महन्त बन रहे हैं। इस प्रकार भेषधारी भेष बनाकर ही अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं किन्तु भजनादि साधन बिना भेष से भगवान् कहां मिलते हैं ?

पछुणे[1] का परताप शिर, मांथे मांटी मांडि[2] ।
रज्जब राम न पाइये, नाना विधि तन भाँडि[3] ॥११७॥

नाई के पाछने[1] का प्रताप शिर पर है अर्थात् शिर मुंडाया हुआ है और ललाट पर गोपी तलाई की मिट्टी का तिलक लगा[2] रक्खा है किंतु नाना प्रकार से शरीर को मिट्टी आदि से लिप्त[3] करने से राम नहीं मिलते, मन को भजन में लगाने से ही मिलते हैं ।

भेषों भीड़[1] न भाग ही, स्वाँग न सीझै[2] काम ।
जन रज्जब पाखंड तज, जब लग भजै न राम ॥११८॥

भेष से दुःख[1] दूर नहीं होता और जब तक पाखंड को छोड़कर राम का भजन नहीं करता तब तक भेष से मुक्ति रूप कार्य भी सिद्ध[2] नहीं होता ।

भेषों भला न जीव का, स्वांग हु शांति न होय ।
जन रज्जब पाखंड परि[1], जनि[2] रु पतीजे[3] कोय ॥११९॥

भेष से जीव का भला नहीं होता, भेष से शांति नहीं मिलती, पाखंड पर[1] कल्याण होने का विश्वास[3] कोई भी न[2] करे ।

स्वाँग[1] सरोवर मिरग[2] जल, दरश[3] एक उनमान[4] ।
रज्जब तृष्णा तृप्ति ह्वै, सो ठाहर परवान[5] ॥१२०॥

मृग[2] तृष्णा के जल का सरोवर और भेष[1] दोनों एक जैसे अर्थात् समान[4] दीखते[3] हैं, जहां प्यास निवृत्त होकर तृप्ति आ जाय वही सरोवर स्थल-प्रमाण[5] रूप है और जहां तृष्णा निवृत्त होकर संतोष आ जाय वही स्थान प्रमाण रूप है । मृग तृष्णा से प्यास और भेष से आशा नहीं मिटती ।

भेष भाडली[1] देख कर, मृग माला[2] मन जाँहि ।
रज्जब रीते[3] स्वाँग सर, नाम नीर तहं नाँहि ॥१२१॥

मृग-तृष्णा[1] के सरोवर को देखकर मृग यूथ[2] उस पर जाता है किंतु वहां जाने पर वह खाली[3] मिलता है, मृगों को जाने आने का कष्ट ही मिलता है, जल नहीं मिलता । वैसे ही सुन्दर भेष देखकर मन जाता है किंतु वे नाम चिन्तन रहित खाली ही मिलते हैं ।

अंब चित्र ज्यों अंब कहावे,
तरु फल बिना कौन सचु[1] पावै ।
रज्जब दरश दशा यूं जान,
निष्फल बिना मिले भगवान ॥१२२॥

जैसे आम का चित्र आम कहलाता है किंतु उस वृक्ष के फल लगे बिना उसके फल का सुख[1] कौन पायेगा ? वैसे ही भेष की दशा जानो अर्थात् भेषधारी साधु कहलाता है किन्तु भेष से भगवान् तो मिलते नहीं तब भेष निष्फल ही है ।

स्वाँग सिंघाडी निफल है, जे जप जड़ सु न लाग ।
अफल सफल से देखिये, रज्जब बडे अभाग ॥१२३॥

सिंघाड़े की बेल यदि जड़ से नहीं लगी है तो निष्फल है, वैसे ही भेषधारी हरि-नाम जप में नहीं लगा है तो उसका भेष निष्फल है, भेषधारियों को प्रभु प्राप्ति रूप फल के बिना भी सफल-से देखते हैं वे बडे अभागे हैं ।

भेष भरोसे बूड़िये, जे नाम नाव कन[1] नाँहि ।
रज्जब कही सु[2] मानिस्यौ[3], पैठे[4] भव जल माँहि ॥१२४॥

यदि नाम-चिन्तन रूप नौका पास[1] नहीं है तब भेष के भरोसे तो डूबोगे ही, हे मनुष्यो[3] ! मैंने यह ठीक ही कहा है, जो नाम चिन्तन से रहित भेष के भरोसे रहा है सो[2] तो संसार के विषय जल में ही प्रविष्ट[4] हुआ है ।

वदन[1] सदन[2] चित्रे चितवि[3], डरै न इन्द्री चोर ।
रज्जब सूते स्वाँग बल, शक्ति न संपति भोर[4] ॥१२५॥

मकान[2] पर वीरों के चित्र देख[3] कर चोर नहीं डरते, चित्र के वीरों के भरोसे सूते रहने से प्रातः[4] संपत्ति नहीं मिलती । वैसे ही मुख[1] पर तिलक का चित्र और शरीर पर भेष देख कर इन्द्रियाँ नहीं डरतीं, भेष के भरोसे रहने से सब शक्ति इन्द्रियों द्वारा विषयों में क्षीण हो जाती है ।

भजन भरोसे छूटिये, भेष भरोसा झूठ ।
रज्जब ज्यों थी त्यों कही, रजू[1] होहु भावे रूठ[2] ॥१२६॥

भेष का भरोसा तो मिथ्या है, भजन के भरोसे ही संसार से मुक्त हो सकते हैं, जैसी बात थी वैसी ही हमने कही है, इसमें चाहे तुम प्रसन्न[1] हो वा रुष्ट[2] हो ।

आशा बहु आसण करै, भूख[5] बणावै भेख ।
रज्जब सादे साँच बिन, कबहु न मिले अलेख ॥१२७॥

आशा होने से ही बहुत से आसन करते हैं और इच्छा[5] होने से ही भेष बनाते हैं किन्तु सादगी और सच्चाई के बिना लेखबद्ध नहीं होने वाले ब्रह्म की प्राप्ति कभी नहीं होती ।

रज्जब भूख[1] भेष बहुते करै, तामें फेर न सार।
वपु बदल्या बावन बली, बलि माँगण की वार ॥१२८॥

इच्छा[1] से बहुत-से भेष करते हैं, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं यह सार बात है। देखो, बलि से माँगने के समय बलवान् वामन ने भी शरीर तथा शरीर का भेष बदला था।

भाँड[2] भूत[3] बहुते करैं, भूखे भेष अपार।
रज्जब छलणे का मता[4], ता में फेर न सार ॥१२९॥

भूखे होने से बहुत से निर्लज्ज[2] प्राणी[3] अनन्त प्रकार के भेष बनाते हैं। दूसरों को छलने के विचार[4] से ही भेष बनाये जाते हैं। इस उक्त वचन को बदलने की आवश्यकता नहीं है, यह सार वचन है।

भेषों भक्ति न ऊपजै, बाने[1] वश नहिं पंच।
जन रज्जब इस स्वांग[2] में, खैबे ही की लंच ॥१३०॥

भेष से भक्ति उत्पन्न नहीं होती, भेष[1] से पंच ज्ञानेन्द्रिय अधीन नहीं होती, उलटी इस भेष[2] में आने से खाने की आदत पड़ जाती है अर्थात् जीमने की लालसा बढ़ जाती है।

स्वांगों[1] स्वारथ खाण का, भेषों भुगति[2] अनंत।
रज्जब यूं[3] बाने बँधे, कदे न छोड़ै जंत[4] ॥१३१॥

भेष-धारियों[1] में खाने का ही स्वार्थ होता है तथा भेष धारियों में अनन्त भोगाशा[2] रहती है, इसीलिये[3] भेष में बंधे रहते हैं, स्वार्थी जीव[4] भेष को कभी नहीं छोड़ते।

पड़े पठंगै[1] भेष के, पामर पालै पेट।
जन रज्जब इस वित्त[2] पै, नहीं राम सौं भेंट ॥१३२॥

भेष की शरण[1] में पड़कर पामर लोग ही पेट पालते हैं, इस भेष रूप धन[2] पर निर्भर रहने से राम से नहीं मिल सकता।

स्वांग दिखावा जगत का, कीया उदर उपाव[1]।
जन रज्जब जग को ठगै, करि करि भेष बणाव[2] ॥१३३॥

भेष लोगों को दिखाने के लिये है तथा पेट भरने का उपाय[1] किया गया है, स्वार्थी लोग भेष बना[2] बना कर जगत् के भोले लोगों को ठगते हैं।

ज्यों घुण काष्ठ में खुशी, गज बाहैं[1] शिर धूरि।
त्यों रज्जब माला तिलक, पशू करै नहिं दूरि ॥१३४॥

जैसे घुण काष्ठ में प्रसन्न रहता है, हाथी अपने शिर पर धूल डाल[1] कर प्रसन्न होता है, वैसे ही पशु तुल्य भेषधारी माला तिलकादि भेष को दूर नहीं करते, उसी में प्रसन्न रहते हैं।

माँणस[1] माँडे[2] मोर से, दीसैं दुनी[3] अनेक।
रज्जब रत[4] रंकार सौं, सो कोउ विरला एक ॥१३५॥

मोर के समान चित्रित[2] मनुष्य[1] तो संसार[3] में बहुत दिखाई देते हैं किन्तु राम मन्त्र के बीज "राँ" के निरन्तर चिन्तन में अनुरक्त[4] हो वह कोई विरला एक ही मिलेगा।

स्वांग[1] स्वांग सारे कहैं, यथा कजलिये[2] राति।
रज्जब कढ हि रूप बहु, आप डूम की जाति ॥१३६॥

जैसे स्वांग बनाने वाले तथा बहुरूपिये[2] तथा रात्रि में स्वांग निकालने वाले बहुत से स्वांग निकालते हैं, वैसे ही सब लोग नाना स्वांग बनाकर स्वयं डूम की जाति के समान बन जाते हैं और दूसरों को भी कहते हैं—भेष[1] धारण करो।

स्वांग स्वांग सारे कहैं, नहीं नाम की चीत।
जन रज्जब भूला जगत, यहु देखो विपरीत ॥१३७॥

सब कहते हैं-भेष धारण करो, भेष धारण करो, किन्तु हरि-नाम चिन्तन की बात नहीं कहते, जगत् के लोग प्रभु को भूल रहे हैं तभी तो देखो, यह विपरीत बात कहते हैं।

मुख मुख उकटे[1] खार से, शहर सियाला[2] देखि।
महंत ही ऊषर भये, बानौं करैं विशेखि ॥१३८॥

जैसे शीत[2] काल में स्थान २ पर पृथ्वी से खार निकलता[1] है और ऊषर भूमि से तो विशेष निकलता है, वैसे ही शहर में देखो, तिलक करने वालों के प्रत्येक मुख पर तिलक खार उकटने के समान लगता है और महन्तों के तो तिलक रूप बाना विशेष किया जाता है, वे तो ऊषर भूमि के समान ही प्रतीत होते हैं।

देही दर्शन[1] फेरिये,[2] दिन देखत सौ बार।
रज्जब मन फेरत कठिन, जो युग जाँहि अपार ॥१३९॥

शरीर का भेष[1] तो एक दिन में देखते २ सौ बार बदला[2] जा सकता है किन्तु मन को बदलने का उपाय करते २ यदि अपार युग व्यतीत हो जायं तो भी उसका बदलना कठिन है।

स्वांग[५] किया सहिनाण[६] को, जीवहिं पावे जीव ।
जन रज्जब इस मामले,[७] कहु किन[८] पाया पीव ॥१४०॥

भेष[५] तो पहचान[६] के लिये बनाया है, जिससे जीव को जीव पहचान सके, बाकी कहो, इस भेष के व्यवहार[७] से किसने[८] प्रभु को प्राप्त किया है ?

षट् दर्शन सहिनाण करि, गुरु खेचर गहि लेहि ।
जन रज्जब ज्यों श्वान शिशु, बधिक बांधणे देहि ॥१४१॥

जैसे कुत्ती के बच्चों के गले में व्याध पटिया बांध देता है, वैसे ही स्वार्थी गुरु छः प्रकार के भेष का चिन्ह करके प्राणियों को पकड़ते हैं ।

तन मन पतिव्रत चाहिये, रहित सहित शृंगार ।
कंत न छाड़ै कामिनी, रज्जब बिन व्यभिचार ॥१४२॥

तन मन में पतिव्रत चाहिये, फिर चाहे शृंगार से रहित हो वा सहित हो, बिना व्यभिचार नारी को उसका पति नहीं त्यागता, वैसे ही भेष हो वा नहीं हो भगवान् का भजन निरन्तर होना चाहिये फिर भगवान् भक्त को नहीं त्यागते ।

शृंगार सहित अथवा रहित, पति परसे सुत होय ।
रज्जब भामिनी भेषबल, फल पावै नहिं कोय ॥१४३॥

जैसे नारी शृंगार से युक्त हो वा रहित हो पुत्र तो पति मिलन से ही होगा, वैसे ही भेष सहित हो वा रहित हो मुक्ति रूप फल तो भेष-बल से नहीं होता, प्रभु के दर्शन से ही होगा, सो भजन से होता है ।

जन्त्र ठाट सब चाहिये, नाल हिं रंग न रंग ।
रज्जब धोखै रंग के, नहीं राग में भंग ॥१४४॥

सितार के पड़दे, खूंटी आदि सब ठाट चाहिये, नाल के रंग हो वा बिना रंग हो, रंग की भूल से राग बजाने में कोई विघ्न नहीं पड़ता । वैसे ही भेष हो वा नहीं हो प्रभु प्राप्ति के साधन भजनादि होने चाहिये फिर प्रभु दर्शन में कोई विघ्न नहीं पड़ता ।

जन्त्र[५] गवौं[६] रागै बजै, सोई राग सरबेनि[७] ।
तो रज्जब सारि[८] शृंगार का, कंध भार अधकेनि[९] ॥१४५॥

बाजे[५] और गायकों[६] द्वारा राग बजता है, वही राग श्रेष्ठ[७] है । तब पीतल के पड़दे[८] आदि शृंगार का भार कन्धे पर अधिक[९] ही लादा जाता है । अर्थात् बिना पड़दे के बाजों से भी राग बजाये जाते हैं । वैसे ही सच्चे सन्त भेष बिना भी भजन करते हैं, तब भेष का भार क्यों लादा जाय ?

सारि न रची रबाब के, गवैं तंदूरै धारि ।
रज्जब राग सु एक से, बधि[१] बंदौं बेगारि ॥१४६॥

रबाब नामक बाजे के पीतल के पड़दे नहीं होते और तंदूरे के होते हैं । गायक रबाब और तंदूरा दोनों को ही धारण करके एक समान राग गाते हैं । तब पड़दों के बांधने का परिश्रम रूप बेगार व्यर्थ[१] ही की जाती है । वैसे ही भेष तथा बिना भेष भी भजन द्वारा प्रभु प्राप्त हो जाते हैं, तब भेष बनाना व्यर्थ ही है ।

गऊ दंत दर्शन[५] दशा[६], दूजी दिशि सो नाँहि ।
यूं स्वाँगी सादे सदा, उभय माँड मुख माँहि ॥१४७॥

गाय के मुख में आगे के दाँत देखने[५] के ही हैं, ऊपर के दाँत न होने से चबाने के नहीं हैं । वैसे ही भेषधारी ब्रह्माण्ड में दर्शन की अवस्था[६] में ही हैं, प्रभु प्राप्ति के उपाय साधन करने की अवस्था में नहीं है ।

बिन सुन्नत ह्वै तुरकनी, ब्राह्मणि तागे[५] नाश ।
ऐसे माला तिलक बिन, रज्जब भक्त सु दास ॥१४८॥

जैसे बिना सुन्नत नारी मुसलमानी हो जाती है और बिना जनेऊ[५] नारी ब्राह्मणी हो जाती है । वैसे ही जो भजनानन्दी होता है वह दास बिना माला तिलक के भी भक्त हो जाता है, भक्त के लिये माला तिलकादि आवश्यक नहीं, भजन ही आवश्यक है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित स्वाँग का अंग १३२
समाप्तः ॥सा० ४२८४॥

अथ स्वांग साँच निर्णय का अंग १३३

इस अंग में भेष और सत्य-साधना संबन्धी विचार कर रहे हैं—

दत्त दशा लीयू[५] फिरैं, देखि दिगम्बर कोड़ि[६] ।
पर सो सकलाई[७] कौन में, अवलोको इहि वोड़ि[८] ॥१॥

भेष के द्वारा तो दत्तात्रेय की-सी अवस्था लिये[५] हुये कोटिन[६] दिगंबर फिरते हैं परन्तु वह दत्तात्रेय की शक्ति[७] किसमें है, इस शक्ति की ओर[८] भी देखो तो ज्ञात होगा कि वैसी शक्ति अन्य में नहीं ।

ज्यों गोरख गोदावरी, मनिख[५] किये पाषाण ।
त्यों रज्जब औरों करैं, सरभरि[६] सोई साण[७] ॥२॥

गोरक्ष नाथ का-सा भेष तो बहुत बना लेते हैं किन्तु जैसे गोरक्ष नाथ ने गोदावरी पर मनुष्यों[४] को पत्थर बनाया था वैसे कोई और करे तो वह उनके समान[६] जाना[७] जा सकता है। मनुष्यों के पत्थर बनाने की कथा-छप्पया ग्रन्थ के आज्ञा भंग के अंग की टीका में देखो।

भरम[१] भेष धरि भरथरी, शूली हरी न होय।
तो रज्जब माने सु क्यों, क्यों पति पावै कोय ।।३।।

भर्तृहरि का-सा भेष बनाकर भ्रमण[१] करता है किन्तु भर्तृहरि के लिए शूली हरी हुई थी, वैसे इसके लिये तो नहीं होती, तब भेष मात्र से कैसे कोई भर्तृहरि मानेगा ? अतः कोई भर्तृहरि का-सा भेष बना कर प्रभु को भी कैसे प्राप्त कर सकता है ? शूली हरी होने की कथा-छप्पया ग्रन्थ के भजन प्रताप अंग के पंचम छप्पये की टीका में देखो।

मन्दिर फिरै न मूरति पावै,[१] गऊ न जीवे जान।
तो नामदेव सम होय क्यों, पद साखी सु बखान ।।४।।

जागरण में नाचते समय कमर से खुलकर जूते सभा में गिरने से अपमानित नामदेव मन्दिर के पीछे जाकर बैठा तब मन्दिर का मुख नामदेव की ओर फिरा। नामदेव ने हाथ से मूर्ति को दूध पिलाया[१]। दुर्जनों के द्वारा मार कर डाली हुई गाय नामदेव के संकीर्तन से जीवित हुई। जिनसे उक्त कार्य तो हो सकते नहीं तब निश्चय जान केवल पद और साखी कहने मात्र से कोई नामदेव के समान कैसे हो सकता है ? नामदेव की उक्त कथायें भक्तमाल में विस्तार से हैं, वहां देखें।

करनी[१] करि सरभरि[२] नहीं, कथा कबीर कहाय।
रज्जब माने कौन विधि, बालद उतरी आय ।।५।।

कथा तो कबीर के समान[२] कहता है किन्तु कर्तव्य[१] में तो कबीर के समान नहीं है, तब कबीर के समान कैसे माना जायगा ? कबीर के घर पर तो भगवान् ने बालद उतारी थी। कबीर ने खादी का सभी थान एक साधु के मांगने पर उसे दे दिया था, फिर पास कुछ न होने से वन में जा बैठे थे तब पीछे से भगवान् बालद लाये थे और कबीर की माता के देहान्त के समय भी उसके भण्डारे के लिये बालद का आना सुना जाता है।

इक सांभर अरु शाहपुर, दादू देखें दोय।
दरस दशा सरभरि घणें, परि कला कौन पै होय ।।६।।

सांभर में बिलन्दखान ने बंदीगृह में बंद किये तब दादूजी का एक शरीर बंदीगृह में और एक बाहर सबने देखा था। शाहपुरा के तिलोक-

शाह के यहां एक तखत पर और एक मार्ग में दो शरीर दादूजी के तिलोक शाह ने देखे थे। दादूजी के भेष की समानता तो बहुत कर लेते हैं परन्तु उक्त कार्य रूप कला किससे हो सकती है ? सांभर और शाहपुरे दो दो शरीर दर्शन की कथायें-छप्पया ग्रन्थ के स्वांग साधु निर्णय अंग के पांचवें छप्पया की टीका में देखो।

जहाज कढचा[1] चीरी[2] फिरी,[3] गज सु रहे मुँह मोड़ि।
दादू दीन दयालु के, रज्जब परचे[4] कोड़ि ॥७॥

एक जहाज समुद्र में डूब रहा था, हिंगोल और कपिल नामक दो सन्तों के कहने से उसके यात्रियों ने रक्षार्थ दादूजी से प्रार्थना की तब दादूजी ने उस जहाज को तारा[1] था। सांभर में सांभर की सरकार और प्रजा ने एक पत्र[2] लिखा था–"जो दादू के जायेगा उसे प्रतिशत पांच रुपये दण्ड देना होगा।" उसके अक्षर बदल[3] गये थे–"जो दादू के न जायेगा उसे प्रतिशत पांच रुपये दण्ड देना होगा ?" सांभर में काजियों ने और खाटू ग्राम में बीकानेर के भरोंटिये राव ने दादूजी पर मतवाले हाथी छोड़े थे, दोनों ही स्थानों के हाथी दादूजी के चरण छू कर शाँति-पूर्वक लौट गये थे। इस प्रकार दीन-दायालु दादूजी की शक्ति के कोटिन परिचय[4] हैं। जहाज, पत्र और गज, की कथायें छप्पया ग्रन्थ के स्वांग साधु निर्णय अंग के छप्पये पांच की टीका में देखें।

बांछे[1] अण[2] बांछे करी, सांई सन्त सहाय।
रज्जब देख्या वस्तु बल, मिथ्या कही न जाय ॥८॥

सहायता की इच्छा[1] करने पर तथा न[2] करने पर भी प्रभु ने संतों की सहायता की है। संतों में जो वस्तु बल देखा गया है, उसकी कथा मिथ्या नहीं कही जा सकती।

दशा[1] औदशा[2] बहण[3] बिय,[4] सदा जीव के साथ।
जन रज्जब इन सौं परै, सो वित[5] वेत्ता[6] हाथ ॥९॥

सुअवस्था[1] और बुरी-अवस्था[2] ये दो[4] बहिनें[3] हैं और सदा जीव के साथ रहती हैं, इनसे परे जो ब्रह्म रूप धन[5] है, सो तो ज्ञानी[6] के वृत्ति रूप हाथ में है अर्थात् ज्ञानी की ही वृत्ति ब्रह्माकार रहती है, अन्य सबकी सांसारिक सुख-दुःखाकार रहती है।

दुख दोजख[1] सुख स्वर्ग है, दोन्यों मांड[2] मंझार।
जन रज्जब इन सौं परे, सो जन उतरै पार ॥१०॥

दुःख तो नरक[1] है और सुख स्वर्ग है, दोनों ही ब्रह्माण्ड[2] में हैं। इन विषय जात सुख-दुख से जो परे है, वही प्राणी संसार के पार जाता है।

प्रतिविम्ब पाणी ना गहै, किरण अकरखैं[1] नीर।
स्वांग सांच निर्णय भया, नहंग[2] चढै कहिं सीर[3] ॥११॥

सूर्य का प्रतिविम्ब जल को नहीं ग्रहण करता, किरण ही जल को खैंचती[1] है। नख लाल तो दीखता है किन्तु कहीं नख[2] में भी रक्त[3] चढ़ता है क्या ? यह मिथ्या भेष और सत्य साधन का निर्णय हो गया है अर्थात् भेष से भगवान् नहीं मिलते, भजनादि साधन से ही मिलते हैं।

रज्जब करणी[1] किरण सु ले चढै, जिव जल को आकाश।
स्वांग शब्द प्रतिविम्ब परि, यहु कृत होइ न तास[2] ॥१२॥

किरण जल को लेकर आकाश में चढ़ जाती है, उस[2] प्रतिविम्ब से यह काम नहीं होता। वैसे ही साधन रूप कर्तव्य[1] जीव को ब्रह्म स्वरूप में ले जाता है, उन[2] भेषधारियों के शब्द से यह काम नहीं हो सकता अर्थात् शब्द सुनने मात्र से ही कुछ नहीं होता, शब्दों के अनुसार जीवन बनाने से ही तत्त्व साक्षात्कार होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित स्वांग साँच निर्णय का अंग १३३
समाप्तः ॥सा० ४२९६॥

अथ तीर्थ तिरस्कार का अंग १३४

इस अंग में भजनादि साधन के आगे तीर्थों की विशेषता कुछ नहीं है यह कह रहे हैं—

अज्ञान रूप अड़सठ फिर हिं, धोखे[1] धोवैं देह।
रज्जब मैले नाम बिन, यहु साँचीं सुणि लेह ॥१॥

अज्ञान रूप अर्थात् अज्ञानी प्राणी अड़सठ तीर्थों में भ्रमण करते हैं, हम निर्मल हो जायेंगे इस भूल[1] से उनके जल से शरीर को धोते हैं, किन्तु सच्ची बात तो यह सुन लो, प्रभु के नाम-चिन्तन बिना मैले ही रहोगे।

तन धोया फिर तीरथों, मैल रह्या मन मांहि।
रज्जब पातक प्राण में, क्यों उर के अघ जांहि ॥२॥

तीर्थों में भ्रमण करके शरीर धोते रहे, पाप मन में रह गया, प्राणी में अधर्म प्रवृत्ति है और उसके हृदय में जो पाप है वह तीर्थ स्नान से कैसे जा सकता है ?

जल अचवैं[1] आठों पहर, अड़सठ तीरथ न्हांहिं[2]।
रज्जब रज[3] नहिं ऊतरै, मैली मनशा[4] मांहि ॥३॥

अड़सठ तीर्थों में स्नान[2] करते हैं, आठों पहर तीर्थ जल पान[1] करते हैं फिर भी मन का रजोगुण[3] नहीं उतरता भीतर बुद्धि[4] मलीन ही रहती है।

अड़सठ न्हाई तुम्बिका, मीठी भई न मांहि।
जन रज्जब सो साखि[1] सुणि, कहु[2] किंहि[3] तीरथ न्हांहि ॥४॥

कड़वी तूम्बी अड़सठ तीर्थों में स्नान कर आई किन्तु भीतर से मीठी नहीं हुई अर्थात् कटु स्वभाव की जीवात्मा सब तीर्थों में स्नान करके भी पूर्ववत् ही रहती है, उसकी वह साक्षी[1] रूप कथा सुनकर कहो,[2] किस[3] तीर्थ में स्नान करें ?

रज्जब इक आकाश का, अम्बु[1] सु अड़सठ मांहि।
सकल निवाणों[2] नीर सो, किंहि[3] जल पातक[4] जांहि ॥५॥

एक ही आकाश का जल[1] अड़सठ तीर्थों में है, वही जल सभी जलाशयों[2] में है, फिर किसके[3] जल से पाप[4] नष्ट होता है ? अर्थात् किसी के से भी नहीं नष्ट होता।

अड़सठ के जल बूड़िये, ऊंडे[2] देखा जाय।
रज्जब यूं तीरथ तजे, मांहि मगर मछ खाय ॥६॥

६८ तीर्थों के गहरे[2] जल में जाकर देखो, डूब जाओगे या भीतर मगरमच्छ खा जायेगा, ऐसा देख कर के ही हमने तीर्थ करना छोड़ा है।

नाम बिना निर्मल नहीं, बहु विधि करै उपाय।
रज्जब रज[1] किस की गई, दह[2] दिशि तीरथ न्हाय ॥७॥

बहुत प्रकार के उपाय करने पर भी प्राणी ईश्वर नाम चिन्तन के बिना निर्मल नहीं होता, दशों[2] दिशाओं के तीर्थों के स्नान करने से किसका पाप[1] गया है ?

सूती सुत उरलाय करि, स्वप्ने भरमी मात।
यूं रज्जब पीव[1] जीव कन[2], भूले दह[3] दिशि जात ॥८॥

अपने पुत्र को हृदय के लगाकर सोई हुई माता स्वप्न में भ्रम में पड़कर पुत्र को खोज रही हो, वैसे ही प्रभु[1] जीव के पास[2] हृदय में ही हैं किन्तु जीव भ्रमवश भूले हुए होने से उसके लिए दशों[3] दिशा के तीर्थों में जाते हैं।

दह[1] दिशि दौड़ै दूरि को, भ्रम भ्रम तीरथ न्हांहि।
रज्जब राम न सूझ ही, जो इस काया मांहि ॥९॥

दौड़ २ कर दूर के दशों[1] दिशा के तीर्थ स्थानों में जाते हैं और बारं-बार भ्रमण करके स्नान करते हैं किन्तु जो इस शरीर में ही है वह आत्माराम उन अज्ञानियों को नहीं दीखता ।

पण्डित कहैं सु पावनी, गंगा गोविन्द भांति ।
ता में न्हाये नीच कुल, तो क्यों न करैं द्विज पांति[1] ॥१०॥

पण्डित गंगा को गोविन्द के समान पवित्र करने वाली कहते हैं, तब उसमें स्नान करने पर नीच कुल के साथ एक पंक्ति[1] में बैठ कर ब्राह्मण भोजन क्यों नहीं करते ?

ढेढा डूमी नांचुकी,[1] अड़सठ तीरथ न्हाय ।
तो रज्जब सुणि साँच यहु, नाम निरंजन गाय ॥११॥

ढेढ, डूम और नाचने[1] वाले नट आदि ६८ तीर्थों में स्नान करने का परिश्रम करते हैं, तब हमारी यह सत्य बात सुनकर जिसमें कुछ श्रम नहीं है वह निरंजन राम का नाम गान करो, अवश्य कल्याण होगा ।

मनिष[1] मीन सम व्है रहे, अड़सठ तीरथ न्हाय ।
पै रज्जब रज[3] नहिं ऊतरै, दुरमति वास न जाय ॥१२॥

मनुष्य[1] मच्छी के समान हो रहे हैं, जैसे मच्छी जल में रहती है, वैसे ही मनुष्य ६८ तीर्थों के जल में स्नान करते रहते हैं किन्तु निरन्तर जल में रहने पर भी मच्छी की दुर्गंध नहीं जाती, वैसे ही निरन्तर तीर्थ स्नान करते रहने पर भी मनुष्य का पाप[3] नहीं उतरता और दुर्बुद्धि नष्ट नहीं होती ।

जन रज्जब तन तूंबड़ी, नर देखो निरताय ।
कुचिल न कड़वा पण गया, अड़सठ तीरथ न्हाय ॥१३॥

हे नरो ! विचार करके देखो, यह शरीर कड़वी तूम्बी के समान है, अड़सठ तीर्थों का स्नान करने पर भी तूम्बी का कड़वा पन नहीं जाता वैसे ही ६८ तीर्थों के स्नान से देह का मैला पन नहीं जाता ।

जाहर[1] नई न जान हीं, पुरुष तज्या सु प्रवीन ।
रज्जब राम न आदरी, यों[2] सौंपि समुद्र हिं दीन[3] ॥१४॥

यह बात प्रकट[1] है, नई नहीं है, सभी बुद्धिमान् जानते हैं, जब गंगा ने सब प्रकार निपुण पुरुष विष्णु को छोड़ा तब राम ने उसका आदर नहीं किया, ऐसे[2] संमुद्र को सौंप दिया[3] ।

गंगा गोविंद चरण तज, खार समुद[4] को जाय ।
रज्जब उघली[1] के उदक[2], अघ[3] उतरै क्यों न्हाय ॥१५॥

गंगा गोविन्द के चरणों को छोड़ कर क्षार समुद्र[४] को जाती है, पति को छोड़ कर भागने[१] वाली के जल[२] में स्नान करने से पाप[३] कैसे उतरेंगे ?

हरि सौं हुई हरामखोरि, हाड डलाये माँहि ।
रज्जब जिव जाणें नहीं, गाफिल गंगा जाँहि ॥१६॥

हरि से हरामखोर होकर अर्थात् सेवा छोड़कर समुद्र में चली गई, इसी से उसमें हाड डालने का आदेश दिया है । असावधान अर्थात् अज्ञानी जीव इस रहस्य को नहीं जानते, इसलिये ही गंगा स्नान को जाते हैं ।

धारा[१] तीरथ धार तल[२], त्यों सत जत सुमिरण राम ।
रज्जब कारज शीश परि, खित[३] क्षेत्रहुं नहिं काम ॥१७॥

तलवार की धार[१] के नीचे[२] आना धारा तीर्थ है । वैसे-ही सत्य, ब्रह्मचर्य और राम का स्मरण रूप तीर्थ है । धारा तीर्थ वा साधन तीर्थ में कार्य भार अपने शिर के ऊपर ही होता है । पृथ्वी[३] के क्षेत्र से कोई काम नहीं होता ।

तन को तीरथ बहुत है, मन को तीरथ तीन ।
सत जत सुमिरण सलिल शुध, रज्जब काढे बीन ॥१८॥

शरीर के लिये शुद्ध जल के तीर्थ बहुत हैं । मन के लिये तीन तीर्थ हैं । सत्य पालन, ब्रह्मचर्य, हरि स्मरण ये हमने चुनकर निकाले हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित तीर्थ तिरस्कार का अंग १३४ समाप्तः ॥ सा० ४३१४ ॥

अथ भ्रम विध्वंस का अंग १३५

इस अंग में भ्रम नष्ट करने वाले विचार कह रहे हैं—

हाथ घड़े को पूजिये, मोल लिये की मान[१] ।
रज्जब अघड़ अमोल की, खलक खबर नहिं जान ॥१॥

अज्ञान वश लोग हाथ से घड़े हुये देव को पूजते हैं और मूल्य देकर लाई हुई धातु मूर्ति को मानते[१] हैं । सांसारिक प्राणी बिना घड़े हुये और अमूल्य परब्रह्म के वृत्ताँत को नहीं जानते ।

मूये वच्छ सम प्रतिमा, पशु प्राणी सब भोल ।
रज्जब ब्रह्म न बैल का, मूल न पावै मोल ॥२॥

मूर्ति मरे हुये बछड़े के समान है, सब प्राणी गाय पशु के समान भोले हैं । जैसे गाय मरे हुये बछड़े को देखकर दूध दे देती है, वैसे ही भोले प्राणी मूर्ति से संतुष्ट हो जाते हैं किंतु वह मरा हुआ बछड़ा बैल के मूल्य को नहीं पाता, वैसे ही मूर्ति किंचित् भी ब्रह्म की समता नहीं कर सकती ।

क्वारी कन्या सब रम[1] हिं, गुदड़[2] गुडी अज्ञान ।
त्यों रज्जब भोले भगत, भूले जल पाषान ॥३॥

कुमारी कन्या अज्ञान है तब तक कपड़े की गूंथी[2] हुई गुड्डी से खेलती[1] है, वैसे ही भोले भक्त जल-पाषाण में भूले हुये हैं ।

पाणी पाहण[1] पूजतों, कौण हूंपच्या पार ।
रज्जब बूडे धार में, ईहि खोटे व्यवहार ॥४॥

जल और पत्थर[1] को पूजने से संसार के पार कौन गया है ? इस सदोष व्यवहार से तो संसार सरिता के विषय जल की धार में ही डूबते हैं ।

पाहन[1] सौं घड़ि पूतला, सभी समाने सेव ।
रज्जब शंभु[2] सबनि में, ता का लखे न भेव[3] ॥५॥

पत्थर[1] की मूर्ति घड़ के सब उसी की सेवा में लगे हुये हैं, आनन्ददाता[2] प्रभु सबमें स्थित हैं, उनका स्वरूप नहीं देखते ।

रज्जब सेवा शैल[1] सुत[2], ज्यों स्वप्ने की आथि[3] ।
सोवत सब कुछ देखिये, जागत कछु न हाथि ॥६॥

पर्वत[1] के पत्थर[2] की सेवा स्वप्न की संपत्ति[3] के समान है। जैसे स्वप्न संपत्ति निद्रा में तो सब कुछ दीखती है किन्तु जगने पर हाथ में कुछ नहीं रहती। वैसे ही अज्ञानावस्था में तो पत्थर पूजने में कल्याण मान रहे हैं किन्तु ज्ञान होने पर कुछ नहीं मानेंगे ।

जड सेवा जड़ की करैं, शठ हठ समझै नाँहि ।
रज्जब कूटे रोस चढ, कण नाँहि तुस माँहि ॥७॥

जड प्राणी पत्थर की सेवा करते हैं और मूर्ख हठ वश समझाने पर भी नहीं समझते, उनका यह कर्म ऐसा है—जैसे कोई क्रोध चढ जाने पर भूसे को कूटे किंतु उससे अन्न कण तो नहीं निकलते ।

रज्जब करहिं पूतला मनिष का, सो मनिषौं रीसाय ।
तो अमूरति मूरति किये, कैसे खुशी खुदाय ॥८॥

मनुष्य का पुतला बनाता है, वह मनुष्यों को कुपित करता है अर्थात् उस पर मनुष्य नाराज होते हैं, तब मूर्ति रहित परमात्मा की मूर्ति बनाने से प्रभु कैसे प्रसन्न होंगे ?

रज्जब चेतन जड गढ्या[1], सुधि[2] बिन लागे सेव ।
येती[3] अकलि[4] न ऊपजै, अश्म[5] भया क्यों देव ॥९॥

चेतन मनुष्यों ने जड़ पत्थर का देवता घड़[1] लिया है और ज्ञान[2] बिना उसकी सेवा में लगे हैं, उनमें इतनी[3] भी बुद्धि[4] नहीं उत्पन्न होती कि पत्थर[5] देवता कैसे हो गया ?

रज्जब जड़ लागे जड़ ठौर[1] सौं, चेतन चेतन ठाय[2] ।
श्वान भंभोडें[3] शैलसुत[4], सिंह संधणी[5] जाय ।।१०।।

जड प्राणी जड़ स्वरूप[1] में लगे हैं और चेतन जन चेतन स्वरूप[2] में लगे हैं । कुत्ते के समान तुच्छ प्राणी ही पत्थर[4] को पपोलते[3] हैं अर्थात् पूजते हैं । सिंह के समान श्रेष्ठ जन तो साक्षात् अपने स्वामी[5] ब्रह्म की ही उपासना करके उसी के स्वरूप में जाते हैं ।

अमर आतमा अमर की, ता की कीजे आश ।
मिरतक तन मिरतक घड़ी, ता परि का विश्वास ।।११।।

अमर आत्मा को अमर ब्रह्म ने रचा है, उस अमर ब्रह्म की ही आशा करनी चाहिये । मरने वाले शरीर ने मृतक मूर्ति घड़ी है, उस पर क्या विश्वास किया जाय ?

माता पिता पूत अरु पोता, इन उपरांति सगा नहिं होता ।
तेउ मूवा सु दीजे डारी, तो मृतक मूर्ति हो क्यों प्यारी ।।१२।।

माता, पिता, पुत्र और पौत्र इनसे अधिक प्रिय कोई संबन्धी नहीं होता, ये भी मर जाते हैं तो उनको भी छोड दिया जाता है, तब मरी हुई मूर्ति कैसे प्यारी होगी ?

रज्जब निपजै धातु धर, गिरि तरुवर वनराय[1] ।
ठग विद्या के ठाकुर हुं, चाकर चित न पत्याय[3] ।।१३।।

धातु पृथ्वी से उत्पन्न होती है, पत्थर पर्वत से निकलते हैं । काष्ठ वन-पंक्ति[1] के वृक्षों का है, इन तीन वस्तुओं से मूर्ति बनती हैं, अतः ठगविद्या के ठाकुरों पर सच्चे सेवक का मन विश्वास[2] नहीं करता वा सेवक इन पर मन से विश्वास न करे कि ये साक्षात् भगवान् हैं ।

केश मांस अस्थि[5] गूद[6] धर[7], तिन ते प्रतिमा तन्न[8] ।
रजपूतों की रज्जबा, सेवा करे न मन्न ।।१४।।

केश, मांस, हड्डी[5], मंजा,[6] ये पृथ्वी[7] के हैं, इनसे ही मूर्ति का शरीर[8] बनता है, रज (धूलि) से उत्पन्न होने से मूर्ति रजपूत है, उन रजपूतों की सेवा हमारा मन तो नहीं करता ।

अवनि[2] अस्थि[1] सौं देव घड़ि, जीवों मांडी[7] सेव ।
रज्जब वह कछु और है, अविगत[8] अलख अभेव[6] ।।१५।।

पृथ्वी[५] की हड्डी[६] अर्थात् पत्थर से मूर्ति घड़ कर उसकी सेवा में जीव लग[७] रहे हैं किंतु मन इन्द्रियों का अविषय[८] अलख अद्वैत[९] ब्रह्म तो मूर्ति से भिन्न कुछ और ही है ?

सप्त धातु सागर सपत[५], शक्ति[६] सू सलिल अपार।
तहाँ शैलमुत[७] नाव चढि, सुरति न पहुंचें पार ॥१६॥

जैसे सप्त[५] समुद्रों के अपार जल को पत्थर[७] की नाव पर चढ कर पार नहीं जाता, वैसे ही पत्थर की पूजा करने से वृत्ति सप्त धातु मय शरीर के अध्यास रूप माया[६] के पार नहीं जा सकती।

अतिर जीव आश्रम अतिर, पारंगत[५] क्यों होय।
गिरिसुत[६] ग्रीवा[७] बाँधिकर, तिरता सुण्या न कोय ॥१७॥

जीव तैरने में असमर्थ है और उसकी वृत्ति का आश्रय रूप आश्रम भी पत्थर की मूर्ति है, वह भी तैरने में समर्थ नहीं है तब संसार सागर से पार[५] कैसे होगा ? भारी पत्थर[६] को गले[७] में बाँधकर तैरता हो, ऐसा तो कोई सुनने में नहीं आया।

पान पान पुरुषोत्तमा, तोड़ै जीव असाध[५]।
रज्जब पूजि पषाण को, सदा करै अपराध ॥१८॥

पत्ते-पत्ते में पुरुषोत्तम प्रभु हैं, उनको दुर्जन[५] जीव ही तोड़कर पत्थर को पूजते हैं। पत्थरों के लिये वृक्षों को सताना अपराध है, उसे सदा करते हैं।

पान फूल फल दीप सौं, प्रतिमा पूजें लोग।
रज्जब राम न मान ही, प्राण संहारण जोग ॥१९॥

लोक पत्ते, फूल, फल और दीपक से मूर्ति की पूजा करते हैं किंतु इन प्राणियों के संहारक योग को राम अच्छा नही मानते, कारण— पत्ते आदि तोड़ने से वृक्षों को कष्ट होता है और दीपक की ज्योति में जीव मरते हैं।

जे हृदय हरि सेइये, मनशा निर्मल होय।
तो रज्जब इस बँदगी, जीव मरे नहिं कोय ॥२०॥

यदि हृदय से हरि की पूजा करे तो बुद्धि निर्मल हो जाती है। इस मानस पूजा से कोई जीव भी नहीं मरता। अतः मानस पूजा ही करनी चाहिये।

हरि घर मांहीं छाड करि, परदेश जाय प्राण।
जन रज्जब सो धी[४] बिना, पूज हि जल पाषाण ॥२१॥

हरि तो अपने शरीर रूप घर के हृदय स्थल में ही हैं किंतु हरि के लिये प्राणी परदेश को जाते हैं और उस हृदयस्थ हरि का ज्ञान[४] न होने से मानस-पूजा छोड़कर जल तथा पत्थर को पूजते हैं।

एक हि बाँधे कंठ सौं, दूजे पूजण जाँहि।
जन रज्जब विश्वास बिन, सो[४] धी[५] नांहीं माँहि ॥२२॥

एक तो मूर्ति को कंठ के बाँधते हैं, दूसरे पूजने के लिये जाते हैं, संत और शास्त्र के यथार्थ वचनों पर विश्वास नहीं होने से प्राणियों में वह[४] प्रभु को पहचानने की बुद्धि[५] आती ही नहीं।

सालिगराम[४] सकल संत हु कनें[५], जन[६] जावैं जगनाथ।
रज्जब रीझ्या देखि कर, गुरु ज्ञाता[७] तिन साथ ॥२३॥

प्रभु[४] तो सभी संतों के पास[५] हैं फिर भी लोग[६] जगन्नाथपुरी को जाते हैं। मैं तो ज्ञानी[७] गुरु के साथ उन प्रभु को देख कर उनमें ही अनुरक्त हो रहा हूँ।

भूख भाकसी[४] में दिये, गल गिज[५] हिये पषाण।
रज्जब गुरु शिष्य यूं दंडे, कहिये कहा बखाण ॥२४॥

जैसे कैद[४] में डाल कर गले में शिला[५] पहनादे और हृदय पर पत्थर लटका दे, वैसे ही सांसारिक सुख की इच्छा होने से झूठे गुरु शिष्यों को पत्थर पूजना रूप दंड दिया गया है, अब उसका विशेष रूप से क्या कथन करें?

खांडे संग फेरे लिये, खुशी खसम[४] सँग होय।
त्यों प्राणि पाणि[५] प्रतिमा लगी, हेति[६] और सब कोय ॥२५॥

जैसे नारी खाँडे के साथ फेरा लेती है किंतु प्रसन्न तो स्वामी[४] के मिलने पर ही होती है वैसे ही प्राणियों के हाथ[५] मूर्ति लगी है किंतु प्रेमी[६] तो सभी का मूर्ति से अन्य प्रभु ही है।

व्याहे खाँडे तीर सँग, त्यों प्रतिमा व्यवहार।
सब समझैं संदेह बिन, आगे हैं भरतार[४] ॥२६॥

जैसे खांडे और बाण के संग विवाह का व्यवहार होता है तब सब संशय रहित समझते हैं कि—स्वामी[४] तो खांडे तथा बाण से अलग है। वैसे ही मूर्ति पूजा का व्यवहार है, मूर्ति से आगे ही प्रभु हैं, मूर्ति तो उनके प्राप्ति का साधन बनती है।

गोहों[५] परि गुम्मट[६] रच्या, सदा रहै सो नांहि।
त्यों मूरति पर मन महल, सुरति अमूरति मांहि ॥२७॥

कंडों[५] पर जो मिट्टी का गुम्बद[६] बनाया जाता है, वह सदा नहीं रहता, उसके ऊपर चूने का बनता है वही रहता है। वैसे मूर्ति पर जो मन संकल्पादि महल बनाता है, वह भी सदा नहीं रहता, कुछ काल में वृत्ति मूर्ति रहित प्रभु में ही जाने लगती है।

कालबूत[५] करि काढणा[६], पहले ही यहु भाव।
रज्जब तब लग राखिये, जब लग होय लदाव ॥२८॥

मकान बनाने का साँचा[५] जिस पर लदाव करते हैं, उसके निकालने[६] का भाव पहले से ही रहता है। वह तब तक रक्खा जाता है जब तक लदाव होकर सूख जाय। वैसे ही मूर्ति तब तक ही साधन रूप से मानी जाती है जब तक भगवान् के वास्तविक रूप का ज्ञान न हो।

मूरति एक पषाण की, मात पिता के नांहि।
रज्जब रसना उनदई, दूध पिया उस ठांहि ॥२९॥

पत्थर की मूर्ति तो एक माता पिता के समान भी नहीं हैं, उन भगवान ने तो जिह्वा दी है और उस गर्भ के स्थान में भी पोषण किया है, उनकी कृपा से ही दूध पान किया है। उन प्रभु की समता मूर्ति कैसे कर सकती है?

कहो कौन को पीठ दे, कहो कौन दिशि जांहि।
निकट सु न्यारा सबनि सौं, सो शोध्या हम मांहि ॥३०॥

कहो, किसको पीठ दें और किस की ओर जायं? जो सबके पास और सबसे अलग है, उस प्रभु को हमने विचार द्वारा अपने भीतर ही खोज लिया है।

रज्जब प्रतिमा के सु प्रताप सौं, प्राणि न पलटे कोय।
तो पारस पत्थर भला, लोहा कंचन होय ॥३१॥

जब मूर्ति के प्रताप से कोई भी प्राणी नहीं बदलता तब तो उससे पारस पत्थर ही अच्छा है, जिससे लोहा भी सुवर्ण बन जाता है।

चुम्बक चले रु पारस पलटे, त्यों भी प्रतिमा नांहि।
रज्जब सेवा शक्ति परि, समझ देखि मन मांहि ॥३२॥

चुम्बक से लोहा चलायमान होता है और पारस से बदल कर सुवर्ण बन जाता है, वैसी भी मूर्ति तो नहीं है, मनमें समझ करके तो देख, सेवा भी शक्ति होने पर ही की जाती है, मूर्ति में तो कोई शक्ति ही नहीं है तब उसकी कैसी सेवा की जाय?

हमाय छांह ह्वै छत्रपति, चंदन पलटे काठ।
प्रतिमा इतो न पाइये, गहण दिखावै पाठ ॥३३॥

हमा पक्षी के छाया करने पर मनुष्य राजा हो जाता है। चंदन काष्ठ को बदल कर चंदन कर देता है। ज्योतिष का पाठ ग्रहण का ज्ञान करा देता है। मूर्ति में तो इतना भी बल नहीं मिलता है।

पिंड प्राणि पलटै नहीं, प्रतिमा पूजे लोय[1]।
दास देव देखैं दुनी[2], रज्जब रजू[3] न होय ॥३४॥

जो प्राणी के शरीर को नहीं बदल सकती, लोग[1] उसी मूर्ति की पूजा करते हैं। सांसारिक[2] प्राणी दास को ही देव अर्थात् ईश्वर रूप से देखते हैं, इसी से वह प्रभु प्रसन्न[3] नहीं होता।

सुमेरु सहित डूंगर सभी, तिन पर वर्षे मेह।
रज्जब रुचि इस बात की, तो सब चरणोदक लेह ॥३५॥

यदि इस बात की रुचि है कि-पत्थर भगवान् हैं, तो सुमेरु सहित सभी पर्वतों पर बादल वर्षते हैं, उनका जल चरणोदक है और सभी चरणोदक लेते हैं फिर मूर्ति के चरणोदक में ही क्या विशेषता है ?

श्रावण में सब जीव का, जल चरणोदक होय।
सो रज्जब पीवै सभी, सीझ्या[1] सुण्या न कोय ॥३६॥

श्रावण में जल सभी जीवों के चरण स्पर्श से चरणोदक हो जाता है, उसी को सब पान करते हैं किन्तु उससे मुक्त[1] हुआ तो कोई भी नहीं सुना जाता।

माला तिलक न मान ही, तीरथ मूरति त्याग।
सो दिल दादू पंथ में, परम पुरुष सौं लाग ॥३७॥

जो माला तिलक को मान्यता नहीं देता, तीर्थ भ्रमण तथा मूर्ति पूजा का भी त्याग ही रखता है, वह हृदय ही दादूजी के साधन-मार्ग द्वारा परम पुरुष परब्रह्म में लगता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भ्रम विध्वंस का अंग १३५
समाप्तः ॥ सा. ४३५१ ॥

अथ जूठणि का अंग १३६

इस अंग में सभी कुछ जूठे हैं यह कह रहे हैं—

रज्जब रिधि[1] जूठी सभी, सब जग देख्या जोय[2]।
इल[3] न अभोगति पाइये, कहु सेवा क्यों होय ॥१॥

दृष्टि[2] फैला कर सब जगत् को देखा है, तब ज्ञात हुआ है सभी माया[1] जूठी है, पृथ्वी[3] बिना भोगी हुई नहीं मिलती तब कहो, बिना शुद्ध वस्तु के प्रभु की सेवा कैसे हो ?

जीव जुठाली[1] लक्ष्मी, लच्छी श्रौंट्या[2] जीव ।
इहां अभोगति कुछ नहीं, कहा समरपै पीव[3] ॥२॥

जीव ने लक्ष्मी को भोग कर जूंठी[1] कर दिया है और लक्ष्मी ने जीव को भोग कर जूठा[2] कर दिया है। यहां बिना भोगा हुआ कोई भी पदार्थ नहीं है, तब प्रभु[3] को क्या समर्पण करें ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जूठरिण का अंग १३६
समाप्त: ॥ सा० ४३५३ ॥

अथ आचार उथेल का अंग १३७

इस अंग में आचार से विपरीत विचारों का प्रदर्शन कर रहे हैं—

चाकी चूल्है लीपतां, दीपक पाणी पात[1] ।
जन रज्जब जीवै मरे, ये षट् कर्म षट् घात[2] ॥१॥

चक्की में, चूल्हा में, लीपते समय, दीपक पर, जल के स्थान में, ऊंखल में मूसल के पड़ने[1] से, इन छ: स्थानों में जीव मरते हैं, ये छ: कर्म ही छ: प्रकार के प्रहार[2] हैं।

एक कर्म सौं भाजिये, ये दीसै षट् कर्म ।
रज्जब करै सु कौन विधि[1], लह्या धर्म का मर्म[2] ॥२॥

एक कर्म से तो दूर भागा जा सकता है किन्तु ये तो छ: कर्म दीख रहे हैं। इनसे दूर भागने के लिये क्या युक्ति[1] करें ? आचार-धर्म का रहस्य[2] हमने जान लिया है, इसमें रहते पाप से मुक्त होना कठिन है।

चींटी दश चौके मरैं, घुण दश हांडी मांहि ।
जन रज्जब इस शुची[1] में, बरकत[2] दीसै नांहि ॥३॥

दश चींटी चौका लगाते मर जाती हैं और दश घुण हँडिया में सीझ जाते हैं, इस शुद्धि[1] में, तो अधिकता[2] कुछ नहीं दीखती।

करै आचार विचार बिन, सिल[1] दिल बैठी आय ।
रज्जब उपजै कर्म षट्, करम करम घर जाय ॥४॥

बिना विचार के आचार करने वाले के मन में तो क्षय[1] रोग आ बैठता है, उससे उक्त छ: कर्मों द्वारा पाप कर्म होते ही रहते हैं फिर जैसे क्षय रोगी क्रम २ से क्षीण होकर मृत्यु के मुख में जाता है, वैसे ही आचार वाला क्रम-क्रम से पाप रूप घर में जाता है।

चम दृष्टी चौके चढै, छांटि सु खित[1] गज दोय ।
रज्जब सो समझै नहीं, जिन श्रावण भेई गोय[2] ॥५॥

चर्म दृष्टि चौके में पड़ती है तब दो गज पृथ्वी[1] पर जल छिड़क देते हैं किंतु उन प्रभु के स्वरूप को नहीं समझते जिनने श्रावण मास में सभी पृथ्वी[2] को भिगोया था।

रज्जब चौंके चकहुं[1] के, जीव हुं च्यारचौं खानि।
सु लखे बिना लीपत फिरें, तुछ ते सीद्या[2] आनि[3] ॥६॥

पृथ्वी[1] के चौके में जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज इन चारों ही खानि के जीव हैं, उनको ठीक देखे बिना जो लीपते फिरते हैं, वास्तव में वे तुच्छ प्राणी हैं जो अन्य[3] को दुःख[2] देते हैं।

भांति भाँति भोजन भरे, भुवि[1] भाणे[2] भगवंत।
रज्जब एक हि थाल में, जीव हिं जीव अनंत ॥७॥

भगवान् ने पृथ्वी[1] रूप वर्तन[2] में नाना प्रकार के भोजन भर रक्खे हैं। एक पृथ्वी रूप थाल में ही जीम कर अनन्त जीव जीवन धारण करते हैं।

अजरी[1] आये उठि गया, इल[2] ऊपर आचार।
रज्जब शुचिता[3] ना रही, वेत्ता[4] करो विचार ॥८॥

हे ज्ञानी[4] जनो ! विचार करो, आचार तो मक्खी[1] आते ही पृथ्वी[2] पर से उठ गया है, पवित्रता[3] नहीं रही है वह मलीन वस्तु से उड़कर भोजन पर आ बैठती है।

अजरी[1] बजरी[2] परसि करि, पाक पूर[3] पर जाय।
कहो आचार कहाँ रह्या, जे पंडित सो खाय ॥९॥

मक्खी[1] मल[2] को स्पर्श करके पकवान्न से पूर्ण[3] वर्तन पर आ बैठती है, तब कहो आचार कहाँ रह जाता है। जो पंडित है वह भी उसे खाता है।

जीवित गाडे जोगि यहिं,[1] त्यों पूजा षट् कर्म।
रज्जब आये पाप शिर, धोखे[3] कहिये धर्म ॥१०॥

जैसे जीवित नाथ योगी को[1] गाडते हैं और पूजते हैं, वैसे ही उक्त छः कर्मों का सत्कार है, इनसे शिर पर पाप ही आते हैं, इनको धर्म तो भूल[3] से ही कहते हैं।

रज्जब उपजै पाप पुण्य, एक पुण्य ह्वै पाप।
अश्वमेध यज्ञ करत ज्यों, हय[1] होमे रे बाप ॥११॥

पाप से भी पुण्य उत्पन्न होता है, जैसे आततायी के वध से पुण्य होता है और एक पुण्य से भी पाप होता है जैसे—अश्वमेध यज्ञ करते समय बाप रे बाप निर्दयतापूर्वक घोड़े[1] को भी होम देते हैं।

अरिल—कहैं गृही का धर्म पाप का मूल है।
मरैं उभय पचिप्राण कहो क्या शूल[1] है॥
मारै पंच पुनीत धर्म की ठौर[2] रे।
परिहाँ रज्जब पाप रु पुण्य ज्ञान करि व्यौर[3] रे॥१२॥

जिस आचार को गृहस्थ का धर्म कहते हैं, यह पाप का मूल है, उसके लिये नर नारी दोनों ही प्राणी पच पच कर मर जाते हैं, कहो तो सही यह क्या पीड़ा[1] अपनाई है ? पंचज्ञानेन्द्रियों को मारना यह पवित्र धर्म का स्वरूप[2] है, इसमें पाप नहीं होता, अत: पाप और पुण्य का विवरण[3] ज्ञान के द्वारा भली प्रकार समझ लेना चाहिये।

रसोई रस सब पड़े, राक्षस रूप अहार।
रज्जब रूतें[5] खाय करि, यो[6] ही पाक[7] अधार॥१३॥

रसोई में सब रस पड़े हुये हैं, भोजन राक्षस रूप है अर्थात् राक्षसों का-सा है ऐसे चुभने[5] वाले अर्थात् प्राणियों को दु:ख देने वाले भोजन को खा कर ही तुम पवित्र होने का अभिमान करते हो, यही[6] तुम्हारे पवित्र[7] होने का आधार है ?

पाक[1] पूर[2] परहा[3] रह्या, ताकी सुधि[4] ना सार।
रज्जब सो स्वप्ने नहीं, फूले फिरैं गँवार॥१४॥

पवित्रता[1] की पूर्णता[2] तो परे[3] रही, उसका ज्ञान[4] भी नहीं है और उसकी सार-संभाल तो स्वप्न में भी नहीं रखते फिर भी वे मूर्ख हम पाक हैं इस अभिमान में फूले फिरते हैं।

पाक[1] अधारी[2] एक को, जाके पाक[3] अधार।
रज्जब नर नापाक[4] सब, नाम बिना संसार॥१५॥

जिसके पवित्र[3] प्रभु का आधार है, वह कोई एक ही पवित्रता[1] का आश्रय[2] लेने वाला होता है अर्थात् पवित्र होता है, पवित्र प्रभु के नाम चिन्तन बिना संसार के सभी नर अपवित्र[4] हैं।

रज्जब ऋद्धि[1] रक्त ज्यों काढिये, ब्रह्माण्ड पिंड को पाछि[2]।
सो अहार सारे करैं, कहा पूछिये आछि[3]॥१६॥

जैसे शरीर के चीरा[2] लगा कर रक्त निकाला जाता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के चीरा लगाकर अन्नादि संपत्ति[1] निकाली जाती है अर्थात् प्राणियों का रक्त चूंस कर धन संग्रह किया जाता है, उसको सभी खाते हैं, फिर पवित्रता[3] की बात क्या पूछ रहे हैं।

पय[1] प्राणी पशु तें लिया, घृत कूपै सु अहार।
तातैं छागल[2] जल पिया, रज्जब करि सु विचार ॥१७॥

प्राणी, दूध[1] पशु से लेते ही हैं, ऊंट के चमड़े से बने हुये कूपे में भरा हुआ घृत खाते ही हैं, बकरे की चर्म से बनी मसक[2] का जल पान किया ही जाता है, इससे भली प्रकार विचार करना चाहिये, आचार के आग्रह में ही पड़ा रहना उचित नहीं है।

रज्जब ऊंधा थाल न कूटिये, सूधाकर संत पोष[1]।
टीडी नहीं उडावणी, कपट न लहिये मोष[2] ॥१८॥

ऊंधा थाल बजाकर टीडी मत उड़ाओ, सूधा करके संत को भोजन[1] कराओ, कपट से कभी भी मोक्ष[2] नहीं मिलती, आचार का आग्रह छोड़कर प्रभु का भजन करो।

ताल[1] पखावज[2] झालर शंख, ढोल दमामा[3] भेरि[4] असंख[5]।
बाहर शोर सरै क्या काम, माँही मौनी कहै न राम ॥१९॥

करताल[1], मृदंग[2], झालर, शंख, ढोल, नगाड़ा[3], नौबत[4], आदि असंख्य[5] बाजे बजा कर बाहर कोलाहल करने से क्या कार्य सिद्ध होता है ? मौनी होकर भीतर राम राम क्यों नहीं करता ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आचार उथेल का अंग १३७
समाप्तः ॥सा० ४३७२॥

अथ वेद विकार का अंग १३८

इस अंग में वेदादि के वचन-भेद रूप विकार का विचार कर रहे हैं—

रज्जब चहु दिशि चूक है, छहों ठौर छल छेद।
नौ नाराज लीयें खड़े, अष्टादश अरि भेद ॥१॥

चारों वेदों में कहीं कुछ कहना और कहीं कुछ कहना रूप भूल है। षट् दर्शनों के सिद्धान्तों में भी एक दूसरे का खंडन करना रूप छल है। नौ व्याकरण एक दूसरे से मतभेद रूप नाराजी लिये हुये स्थित हैं। अठारह पुराण भी एक दूसरे को न्यून बताकर शत्रु का सा भेद खड़ा करते हैं।

रज्जब चित[1] चौबीस दिशि, वेद बोध की साखि।
वस्तु एक मत माग[2] बहु, कहा करै सो राखि ॥२॥

वेद-ज्ञान की साक्षी लेकर मानवों का चित्त[1] चौबीस अवतारों की ओर जाता है किन्तु ब्रह्म रूप वस्तु तो एक ही है। चौबीस अवतार रूप

विभूति उपासना के कारण सिद्धान्त रूप मार्ग[२] बहुत हो गये हैं, सो उन सिद्धान्त रूप मार्गों को हृदय में रखकर क्या करना है ? एक ब्रह्म चिन्तन ही उचित है ।

एक नवहिं ऊगूण[१] दिशि, एक नवहिं आथूंण[२] ।
रज्जब बातें वेद की, सुन भूले मुर[३] भौण[४] ।।३।।

एक सूर्य-उदय[१] होने की दिशा की ओर प्रणाम करते हैं और एक सूर्य-अस्त[२] होने की ओर नमस्कार करते हैं । इस प्रकार वेदादि की बातें सुन कर तीनों[३] भुवनों[४] के लोग भूल कर भ्रम में पड़ रहे हैं, प्रभु तो सर्व ओर ही हैं, चाहे किसी ओर भी प्रणाम करो ।

वेद बतावै अड़सठ्यों, पूजो जल पाषाण ।
रज्जब रंजहि न संतजन, जिन हुं निरंजन जाण ।।४।।

वेदादि अड़सठ तीर्थों को बताते हुये जल तथा पत्थर पूजने की प्रेरणा करते हैं किन्तु जिन संतों ने निरंजन ब्रह्म का स्वरूप जान लिया है वे जल-पाषाण पूजा से संतुष्ट नहीं होते ।

विष अमृत सब वेद मध्य, निर्णय करैं सु नाँहिं ।
जन रज्जब जग जुगल[१] रस, पी प्राणी मरि जाँहिं ।।५।।

वेद में बारम्बार जन्म-मृत्यु देने वाला कर्म कांड रूप विष और मुक्ति देने वाला ज्ञानामृत आदि सभी कुछ हैं किन्तु जगत् के प्राणी उनका निर्णय करके उपयोग में नहीं लेते अर्थात् सकाम कर्म बन्धन का हेतु है और अपरोक्ष ज्ञान मुक्ति का हेतु है, यह निश्चय करके कर्त्तापन रहित कर्म करते हुये अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्म चिन्तन नहीं करते और उक्त विष-अमृत दोनों[१] रसों को मिला कर पान करते हैं, इसीलिए बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

रज्जब वेद हु सौं रह्या, परचा भेद में जाय ।
दूरि न दौरैं दह[१] दिशा, निकट लिया निरताय ।।६।।

जो वेदों से कथित कर्म कांड में ही रह जाता है, वह भेद मार्ग में ही पड़ जाता है, किन्तु वेद के ज्ञान कांड और संतों ने कहा है—ब्रह्म साक्षात्कार के लिये दशों[१] दिशाओं में दूर नहीं दौड़ो, जिनने भी ब्रह्म का साक्षात्कार किया है, उन्होंने विचार के द्वारा अति निकट हृदय स्थान में ही किया है ।

वेद बतावै सबनि को, क्रीड़ा गोपी कान्ह[१] ।
रज्जब नर नार्यों रचे,[२] गति[३] मति[४] गही सु नान्ह[५] ।।७।।

वेदादि का आश्रय लेकर सभी को गोपी-कृष्ण[1] की लीला बताते हैं, उससे नर, नारियों में अनुरक्त[2] होते हैं और उन की बुद्धि[4] तुच्छ[5] चेष्टा[3] को ग्रहण करती है।

भागवत कहै भारत की, लड़ मूये दाना देव।
रज्जब रुचि उपजै नहीं, काकी कीजे सेव ॥ ८ ॥

भागवत भी युद्धों की कथायें कहती हैं, जिनमें दानव और देवता लड़ २ कर मरते रहे हैं, उन युद्धों की कथाओं से भगवान् में तो प्रीति उत्पन्न होती नहीं तब किसकी उपासना करें ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित वेद विकार का
अंग १३८ समाप्तः ॥सा. ४३८०॥

अथ नीतिज्ञ का अंग १३९

इस अंग में नीति जानने वालों के संबन्ध में विचार कर रहे हैं–

रज्जब देखो दिब[5] दृष्टि, दिवस माँहि देदीप[6]।
साँच झूठ निर्णय भया, पावक परस समीप ॥१॥

सत्यासत्य निर्णय करने के तप्त लोह के गोले[5] में दिन में भी चमकता[6] हुआ सत्य नीति की दृष्टि से देखो, पास में ही अग्नि स्पर्श से सत्य-झूठ का निर्णय हो जाता है, सत्य-झूठ का निर्णय कर देने से तप्त लोह गोला नीतिज्ञ है।

रज्जब निरखहु नीर-निधि[5], अतिगति[6] नीतिज्ञ अंग[7]।
साँचा राख्या संचि[8] उर[9], नहिं झूंठे सौं संग ॥२॥

देखो, समुद्र[5] में अत्यधिक[6] नीतिज्ञ के लक्षण[7] हैं, सच्चे मोती आदि को तो संग्रह[8] करके भीतर[9] रखता है और झूठे कूड़े आदि का संग नहीं करता, नदियों द्वारा आने पर बाहर फैंक देता है।

मही[5] मध्य माणस मरैं, जीवैं जलंध्री नाद[6]।
पुहमि[7] सु पीड़ा ना करी, देखो दिशि प्रहलाद ॥३॥

पृथ्वी[5] में दब जाने पर मनुष्य मर जाते हैं किंतु जलंधर नाथ नीतिज्ञ होने से शब्द[6] ब्रह्म के चिन्तन बल से जीवित रहे। देखो, नीतिज्ञ प्रहलाद की ओर, उसके शरीर में भी पृथ्वी[7] ने व्यथा उत्पन्न नहीं करी। प्रहलाद की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। जलंधरनाथ की कथा– छप्पया ग्रन्थ के स्वाँग-साधु निर्णय अंग के छप्पये १ की टीका में देखो।

प्रहलाद प्रतिज्ञा पूरिये, हिरनाकुश हत[5] डार[6]।
रज्जब रोस[7] न रीस[8] यहु, निर्मल नीति विचार ॥४॥

प्रह्लाद की "राम नाम नहीं छोड़ूंगा" यह प्रतिज्ञा पूर्ण की और हिरण्यकशिपु को मार[५] डाला[६] किंतु उसे मारने का क्रोध[७] क्रोध[८] नहीं था, वह तो निर्मल नीति का ही विचार था। प्रह्लाद की नीति निर्मल थी। इससे नीतिज्ञ प्रभु ने उसकी रक्षा की थी। हिरण्यकशिपु की नीति दूषित थी इससे उसका वध किया था।

प्रहलाद बच्या होली जली, रही उभय रस[५] रीति।
रज्जब पेखि प्रवीणता, अग्नि न करी अनीति॥५॥

प्रह्लाद बच गया, होलिका जल गई दोनों की नीति प्रेम[५] और अनीति प्रेम की रीति स्थिर रह गई अर्थात् नीति प्रेम से रक्षा और अनीति प्रेम से नाश होता है सो हो गया। देखो, अग्नि की नीति निपुणता, उसने अनीति नहीं की, बचाने योग्य प्रह्लाद को बचा दिया और जलाने योग्य होलिका को जला दिया।

रामचन्द्र रावण सु रिपु, विभीषण सो भाई।
शत्रु मित्र शोधे[५] करी, हये[६] न एक हि घाई[७]॥६॥

रामचन्द्र रावण के शत्रु थे, विभीषण रावण का भाई था किन्तु नीतिज्ञ होने से उसने विचार[५] करके नीतिज्ञ राम से मित्रता करी, राम ने भी उसके एक आघात[७] भी नहीं मारा[६]।

रज्जब दुविधा दूरि लग, स्वर्ग नरक ह्वै वास।
एकाँ[४] को देवल[५] फिरै, इक जिव जाय निरास॥७॥

नीति अनीति की दुविधा दूर तक है, नीति से स्वर्ग में निवास होता है, अनीति से नरक में वास होता है। यहाँ भी नीति से एक[४] नामदेव के लिये तो मंदिर[५] फिर जाता है और एक अनीति से हताश होकर जाता है।

अठारह भार आदम[१] घरउं[२], ग्रास[३] हि अग्नि अतीत[४]।
कगरि[५] कुमाणस टल चलहि, यहु आदू रस[६] रीति॥८॥

अग्नि अठारह भार वनस्पति को खाता[३] है किन्तु नदी के किनारे[५] से टल कर चलता है, वैसे ही साधु[४] मनुष्यों[१] के घरों[२] से भोजन खाता[३] है किन्तु कुमानवों से बचकर ही चलता है, यही नीति प्रेम[६] की आदि काल की रीति है।

जड तरुवर तोयं[१] गहै, रंगहुं रस रुचि नांहि।
तो अन[२] पाणी बिन आदमी, और गहै क्यों मांहि॥९॥

जड़ वृक्ष भी जल[१] को ही ग्रहण करता है, उसमें मिले हुये रंग और कटु मधुरादि रस को ग्रहण करने की रुचि नहीं रखता, तब नीतिज्ञ मनुष्य अन्न[२]-जल के बिना अन्य मांस-सुरादि को ग्रहण करने की रुचि मन में कैसे रक्खेगा?

करता[1] करै कि कर्म गति[2], बुरा बुरे का होय।
नर नराधिपति नीति बिन, सुखी न देख्या कोय ॥१०॥

ईश्वर[1] करे अथवा कर्म की चेष्टा[2] करे बुरे मानव का तो बुरा ही होता है, नर हो या नरपति हो नीति के बिना तो कोई भी सुखी नहीं देखा गया है।

बागे[1] दे रु निवाज[2] हीं, बागों[3] करिनि सतान[4]।
रज्जब बागों[5] विगति बहु, बागों सुख दुख सान ॥११॥

विवाह के समय तो जामा[1] देकर कृपा[2] करते हैं और फांसी के समय अंगरखा[3] पहना कर सताते[4] हैं। अतः नीतिज्ञ मनुष्यों के वस्त्र[5] देने में भी बहुत प्रकार के विचार होते हैं, वस्त्रों के देने में सुख-दुःख दोनों मिले रहते हैं।

वपु बागे[1] अमृत विष सानि[2] रु, साधु असाधु पहराये।
सन्मुख चलें निवाजे दीसैं, विमुखे जीव मराये ॥१२॥

नीतिज्ञ ईश्वर ने भी ज्ञानामृत मिला[2] कर शरीर रूप वस्त्र[1] साधु को पहनाया है और विषयाशा रूप विष मिलाकर शरीर रूप वस्त्र असाधु को पहनाया है। संत प्रभु के सन्मुख चलते हैं तब प्रभु द्वारा कृपा किये हुये दीखते हैं, असाधु जीव ईश्वर से विमुख चलते हैं, अतः उनको बारंबार मृत्यु से मराया जाता है।

शत्रु हुं शोधिर[1] मार ही, करहि मित्र प्रतिपाल।
जन रज्जब यहु नीति मध्य, सत पुरुषों की चाल[2] ॥१३॥

शत्रु को खोज[1] करके मारते हैं और मित्र की पालना करते हैं, नीति में स्थित नीतिज्ञ सत्पुरुषों का यही व्यवहार[2] है।

दुष्टों सेती[1] दुष्टता, मिलतों सेती मेल।
रज्जब दोन्यों काम का, खबरदार[2] का खेल[3] ॥१४॥

दुष्टों के साथ[1] दुष्टता और मिलने वाले मित्रों के साथ मित्रता करना यह दोनों प्रकार का व्यवहार ही काम का है किन्तु ऐसा व्यवहार[3] साव-धान[2] नीतिज्ञ पुरुषों का ही होता है।

बदी[1] बधि[2] न मारिये, नेकी पर न निवाज[3]।
तो रज्जब न्याय न नीति कछु, धुंध[4] मार का राज ॥१५॥

अधिक[2] बुराई[1] करने पर अपने अनुकूल व्यक्ति को नहीं मारा जाता और भलाई करने पर भी साधारण व्यक्ति पर कृपा[3] नहीं की जाती. तब वहां न्याय-नीति कुछ नहीं है, अंधेर[4] और मार काट का ही राज्य है वा

धुन्धु राक्षस के राज्य के समान मार काट का राज्य है, अनीति के कारण ही कुवलाश्व ने इसे मारा था, इसी से कुवलाश्व धुन्धुमार कहलाये थे ।

रज्जब रोष अनीति परि, नीति माँहि रस[1] रंग[2] ।
आदि अन्त मध्य इस मतै,[3] सत पुरुषों का अंग[4] ॥१६॥

अनीति पर क्रोध करते हैं, नीति में आनन्द[1] मानते हैं । और प्रेम[2] करते हैं, जीवन के आदि, मध्य और अन्त से इसी विचार[3] में रहते हैं, यही सत्पुरुषों का लक्षण[4] है ।

अंतक[1] सदा अनीति के, नीति मीत[2] प्रतिपाल ।
रज्जब महंत मही[3] पत्यों,[4] चार हु युग यहु चाल ॥१७॥

सदा अनीति के नाशक[1] होते हैं, नीति के मित्र[2] और रक्षक होते हैं, महन्त और पृथ्वी[3] के स्वामी[4] राजाओं का चारों युगों में यही व्यवहार होता है ।

रज्जब जीवहिं जीव दे, सो सब छोटा[1] साज[2] ।
जिसहिं निवाजै[3] सांइयाँ, सो सब ही सिरताज[4] ॥१८॥

यदि जीव को जीव देता है तो वह सामान[2] बहुत होने पर भी थोड़ा[1] ही होता है किन्तु जिसको कृपा[3] करके ईश्वर देता है तो वह सभी से श्रेष्ठ[4] कहा जाता है ।

पांचों थापी रोटियां, सो तो पांचों खाय ।
पै पंचों थापी थापड़ी, सो चूल्हे में जाय ॥१६॥

पाँचों अंगुलियों से रोटी बनाई जाती है, उनको पाँचों अंगुलियों द्वारा ही खाया जाता है किन्तु वे ही पाँचों अंगुलियाँ थापड़ी थापती हैं वह चूल्हे में जाकर जलतीं हैं । ऐसी ही नीति देखने में आती है, खाने योग्य को ही खाया जाता है ।

शब्द शरीरों ऊपज हिं, सो वंद[1] हिं सब लोय[2] ।
वायु रु विष्टा पेट की, मनिष[3] न माने कोय ॥२०॥

शरीर से शब्द उत्पन्न होते हैं, उनको तो सभी लोग[2] प्रणाम[1] करते हैं और उसी शरीर के पेट का अपान वायु और मल होता है उसे कोई भी मनुष्य[3] अच्छा नहीं मानता ऐसी ही नीति है ।

बंदर हूं बाहर[1] चढ़े,[2] रज्जब नीति विचार ।
अनुज[3] हु तज्या अनीति में, रावण सा शिर मार ॥२१॥

रामचन्द्र की नीति का विचार करके बानरों ने राम की सहायतार्थ[1] रावण पर हमला[2] किया था और अनीति में स्थित रावण जैसे भाई को भी उसके छोटे[3] भाई विभीषण ने त्याग दिया था, अतः अनीति में स्थित को तो शिर मारना अर्थात् त्याग ही देना चाहिये।

सरिता मिलहिं समुद्र को, चोट चिन्ह कछु नाँहि।
रज्जब सूझ[1]हि बूंद निधि,[2] उदय[3] बुद बुदा मांहि ॥२२॥

नदी समुद्र में मिलती है तब समुद्र में नदी के आघात का चिन्ह कुछ भी नहीं दीखता किन्तु देखने[1] में आता है विन्दु समुद्र[2] से मिलती है तब समुद्र में से बुदबुदे उठते[3] हैं, यह लघु का आदर करना समुद्र की नीतिज्ञता है।

शत[1] पथरी[2] शस्त्रों सहे, करीन तोवह[3] त्राहि[4]।
कुसुम चोट कसके[5] तेउ, आनन[6] उचरी आहि ॥२३॥

मनसूर ने अनीतिज्ञों के सैंकड़ों[1] पत्थर[2] और शस्त्रों के आघात सहे थे किंतु पुनः अनलहक न कहने की प्रतिज्ञा[3] न करी और मेरी रक्षा[4] करो यह भी नहीं कहा, वे भी नीतिज्ञा अपनी बहिन के पुष्प की चोट की हलकी-सी पीड़ा[5] से मुख[6] से आहि बोल उठे थे, कारण—नीतिज्ञ का अनाचार सहन नहीं होता। मनसूर को "अनलहक" बोलने पर मुसलमान शासकों ने दंड दिया था, यह कथा प्रसिद्ध है।

अव्याप्यों[1] को व्याप[2] ही, करतों देखि अनीति।
रज्जब सांई साधु घर, आदि अदलि[3] रस[4] रीति ॥२४॥

अनीति करते देख कर जिनको दुःख नहीं हो[1], उनको भी होने[2] लगता है। प्रभु के और संतों के घर में आदि काल से ही न्याय[3] से प्रेम[4] करने की ही रीति रही है।

सौ गासौं संशय नहीं, बाट चलै वपु मांहि।
एक हि कण उबटे[1] चलै, जन रज्जब जक[2] नांहि ॥२५॥

यदि मुख के मार्ग से जाय तो सौ ग्रास[4] जाने पर भी व्यथा का संशय खड़ा नहीं होता किंतु कुमार्ग[1] से अर्थात् आँख से एक कण भी जाय तो शाँति[2] नहीं मिलती, भारी कष्ट होता है। वैसे ही अनीति के मार्ग में चलने से कष्ट होता है।

घीड़ी[1] पाटा घाव परि, गुल[2] गद[3] शोधि[4] पहार।
जन रज्जब वैद्यक यहु, करे न सर्व संहार ॥२६॥

घाव पर घी[1] का पाटा चढा कर घाव ठीक करे, विचार[4] करके पहाड़ से रोग[3] नाशक फूल[2] लाकर रोग को दूर करे यही वैद्यक की नीति है किसी का सर्वनाश न करे।

दिव[1] न दुखावै दोष बिन, न्याय नीति निरताय[2]।
तो आदम[3] अपराध बिन, कहु क्यों मारा जाय ॥२७॥

न्याय-नीति का विचार[2] करके देखो, सत्यासत्य का निर्णय करने वाला तप्त लोहे का गोला[1] भी दोष बिना जलना रूप दुःख नहीं देता, तब कहो, मनुष्य[3] से बिना दोष प्राणी क्यों मारा जाता है? नीति के त्याग से ही मारा जाता है।

धरम स्थानिक[1] बंदिये,[2] कर्म स्थानिक[3] दंड।
जन रज्जब यहु जग जुगति, नीति मार्ग नौखंड ॥२८॥

धर्म रूप स्थान-वाला[1] है अर्थात् धर्म में स्थित रहता है, उसे नमस्कार[2] करना चाहिये, और कुकर्म रूप स्थान-वाला[3] है अर्थात् कुकर्म करता है उसे दंड देना चाहिये। यही जगत् में रहने की युक्ति है, नीति वाले के लिये नौओं खंडों के मार्ग खुले हैं।

कर्म स्थानिक कर लगे, धर्म स्थानिक धोक।
जन रज्जब रस[1] रीति यहु, हर्ष हसेबो[2] थोक[3] ॥२९॥

कुकर्म रूप स्थान में स्थित रहने वाले के कर लगाते हैं, धर्म रूप स्थान में रहने वाले को प्रणाम करते हैं, नीति में प्रेम[1] रखने वालों की यही रीति है, नीति रूप हिसाब[2] से रहने वाला समूह[3] आनन्द में ही रहता है।

एक ठौर है दंड की, एक ठौर डंडौत।
मार महर[1] दोउ नीति में, नर हु निपातण[2] नौत[3] ॥३०॥

एक अर्थात् कुकर्म रूप स्थान तो दंड प्राप्त होने का है और एक अर्थात् धर्म रूप स्थान प्रणाम करने का है। नीति में मार और दया[1] दोनों हैं। नीतिज्ञ अपराधी-नर को मारते[2] हैं और धर्मात्मा को नमस्कार[3] करते हैं?

रज्जब रचना राम की, चौरासी लख जोय।
एक एक ने ना करी, अब सु एक क्यों होय ॥३१॥

नीतिज्ञ राम की रचना चौरासी लाख योनियाँ हैं, उस एक ईश्वर ने एक योनि की रचना नहीं की तब अब एक कैसे हो सकती है?

खंड[1] खंड क्षितिभुज[2] घने,[3] घट[4] घट घाट[5] अनेक ।
रज्जब वसुधा[6] बहुमती,[7] सु अविगत[8] करी न एक ॥३२॥

पृथ्वी के प्रत्येक भू भाग[1] में राजा[2] बहुत[3] हैं, प्रत्येक शरीर[4] के रंग-ढंग[5] भिन्न २ होने से अनेक हैं, इस प्रकार पृथ्वी[6] बहुत-मतों[7] वाली है, नीतिज्ञ प्रभु[8] ने इसे एक मत वाली बनाई ही नहीं है । मायिक कार्य की भिन्नता से ही शोभा होती है ।

देशराज[1] राजा कर हिं, दिल हु राज गुरु पीर[2] ।
रज्जब साझा शक्ति[3] में, परि मतै[4] न मैला वीर[5] ॥३३॥

हे भाई[5] ! देश का शासन[1] राजा लोग करते हैं और मन का शासन सिद्ध[2] गुरु करते हैं, जैसे राजा का देश की धन[3] राशि में तो साझा है किन्तु जनता के विचारों[4] में मेल नहीं होता, प्रत्येक व्यक्ति के विचारों में भिन्नता रहती है । वैसे ही शिष्यों की अन्य शक्तियों में तो गुरु का साझा है किन्तु रुचि विचित्रता के कारण विचारों[4] में सर्वथा मेल नहीं होता ।

गुरु अनन्त ज्ञान हु घणे,[1] बहु गोविन्द घण सेव[2] ।
रज्जब मांड[3] न एक मत, घर घर देई[4] देव ॥३४॥

गुरु भी अनन्त हैं, उनके ज्ञान भी बहुत[1] प्रकार के हैं । रुचि विचित्रता के कारण गोविन्द के रूप भी बहुत हैं, भक्ति[2] भी बहुत प्रकार की है, इस ब्रह्माण्ड[3] में एक मत नहीं है, प्रत्येक घर में भिन्न २ देवी[4]-देवता मिलते हैं । इस भेद से नीतिज्ञ ही निकलता है ।

साधु सुलक्षण[1] सेइये, लछि[2] लालच नर पत्ति[3] ।
सो धन धाम हु ना मिले, तो भाजै[4] भल भृत्ति[5] ॥३५॥

लक्ष्मी[2] के लोभ से राजा[3] की सेवा की जाती है, वैसे ही ज्ञान[1] के लिये साधु की सेवा की जाती है । राजा के घर धन न मिले तब नीतिज्ञ सेवक[5] वहां से भाग[4]-जाता है, वैसे ही साधु के पास ज्ञान नहीं मिले तो नीतिज्ञ जिज्ञासु उसे छोड देता है ।

रज्जब रमता राम का, बहुत भांति मंडाण[1] ।
मिल हि न आदम[2] एक मत, जीव जीव जुवा[3] जाण ॥३६॥

सबमें रमने वाले राम का ठाट[1]-बाट बहुत प्रकार का है, सब मनुष्यों[2] का एक मत नहीं मिलता, जीव-जीव के विचार भिन्न[3] भिन्न ही जानने में आते हैं ।

रज्जब एक न कीया एक ने, प्राण रु पंचों तत्त ।
तो द्वै घट क्यों एक ह्वै, भानि[1] अविगत[2] मत्त[3] ॥३७॥

उस एक प्रभु ने एक रचा ही नहीं, पांच तत्त्व और पांच ही प्राण रचे हैं तब उस प्रभु[2] के मत[3] को तोड़[1] कर दो शरीर एक कैसे हो सकते हैं ?

साधू इन्द्री नासिका, च्यारों इन्द्री चोर ।
रज्जब कटै कुसंग मिल, नहीं न्याय की ठोर ।।३८।।

साधु नासिका इन्द्री के समान है, अन्य चारों इन्द्रिय चोर के समान हैं, गडबड़ चारों इन्द्रिय करती हैं किन्तु कुसंग से काटी जाती है नासिका, वैसे ही गड़बड़ तो चोर करते है और दंड साधु को दिया जाता है, तब समझना चाहिये वह स्थान न्याय का नहीं है ।

जेती[1] उपजै आप में, तेती[2] अपने शीश ।
जन रज्जब ह्वै गैब की, सो सिरजी जगदीश ।।३९।।

जितनी[1] बात अपने अन्तःकरण में उत्पन्न हुई है, उतनी[2] का भला-बुरा परिणाम अपने शिर पर ही आता है और जो घटना अकस्मात् घट जाती है वह ईश्वर की उत्पन्न करी हुई है, ऐसा ही मानना चाहिये ।

रज्जब भाव भूख भय करि भखै,[1] भोजन मुर[2] मरजाद ।
दोन्यों में तीन्यों नहीं, क्यों करि ह्वै सु प्रसाद ।।४०।।

भाव, भूख और भय, इन तीन[2] से भोजन खाया[1] जाता है, ऐसी ही नीतिज्ञों की मर्यादा है । खिलाने वाले और खाने वाले इन दोनों में ही यदि भाव, भूख, भय ये तीनों नहीं हों तो फिर भोजन कैसे हो सकता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित नीतिज्ञ का अंग १३९

समाप्तः ।। सा० ४४२० ।।

अथ दिलवर[1] दिल सौदे[2] सौदा का अंग १४०

इस अंग में प्रिय[1] प्रभु को अपना हृदय देना रूप व्यापार[2] करने से प्रभु भी अपना हृदय देना रूप व्यापार भक्त से करते हैं यह कह रहे हैं—

दिल दीये[1] दिल पाइये, दिल ही सौं दिल लेय ।
ज्यों व[2] जमी जड़ मेल ही, त्यों धर[3] तरु रस[4] लेय ।। १ ।।

वृक्ष की जड़ ज्यों २ पृथ्वी में घुसती है त्यों २ ही वह[2] पृथ्वी[3] का जल[4] लेती है वैसे ही प्रभु को हृदय देने[1] से प्रभु भी भक्त को अपना हृदय देते हैं । लोक में भी दिल से ही दिल प्राप्त कर सकता है ।

वनराय[1] बीज पैठे विभौ,[2] गात गर्द[3] में देय ।
तो रज्जब तरु नीपजै, रस[4] सु रसातल लेय ।। २ ।।

वन-पंक्ति[1] के वृक्षों का बीज पृथ्वी[2] में प्रवेश करता है, अपना शरीर धूलि[3] में मिलाता है तब वृक्ष उत्पन्न होकर पृथ्वी का जल[4] लेता है। वैसे ही वृत्ति प्रभु में मिलती है तब ब्रह्मानन्द[4] प्राप्त करता है।

रज्जब हरिहित वित[1] खरच्यों बधै, वप[2] दें वसुधा सब्ब।

आतम अर्प मिले परमातम, नीति रीति है अब्ब॥ ३॥

जैसे पृथ्वी में बीज बोने[2] से पृथ्वी बढा कर देती है, वैसे ही हरि के लिये धन[1] खर्चने से सब अधिक होकर पुनः मिलता है और आत्मा को प्रभु के समर्पण करने से परमात्मा मिलते हैं यह नीति रीति अब भी है।

त्रिविधि भांति जिव भेंट दे, त्यूं प्रभु करै पसाव[1]।

जूवे का सा खेल है, लाया पावै डाव॥ ४॥

जीव तन, मन, धन ये तीन प्रकार की भेंट प्रभु को देते हैं, जो जिस भाँति की भेंट देता है वैसी ही प्रभु उस पर कृपा[1] करते हैं। यह जूआ का सा खेल है, स्वयं भेंट देना रूप दाँव लाया जाता है तब प्रभु से प्राप्त करने का दाँव मिलता है।

बांकों[1] सौं बांका धणी,[2] सूधों सेती[3] सूध[4]।

जन रज्जब साँची कही, जो जाणे सो रूंध[5]॥ ५॥

विश्व स्वामी[2] प्रभु टेढों[1] से टेढा है और सूधों के साथ[3] सूधा[4] रहता है। यह हमने सत्य ही कहा है। जो हित कर समझे सो ही रोक-ले[5] अर्थात् अपनाले किन्तु हित सरलता से ही होता है।

हरि दासों का दास है, बंदों बंदा सोय।

सेवक घर सेवक सुण्या, सौदै सौदा होय॥ ६॥

हरि दासों के दास हैं। भक्तों के भक्त हैं, सेवक के घर सेवक बन जाते हैं, ऐसा ही सुनते हैं भक्त जन जैसा भाव रूप व्यापार प्रभु से करते हैं, वैसा ही व्यापार प्रभु से हो जाता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दिलवर दिल सौदै सौदा का अंग १४०

समाप्तः॥सा० ४४२६॥

अथ गुरु गत[1] मत[2] सत्य का अंग १४१

इस अंग में गुरु का व्यवहार हीन[1] हो और सिद्धान्त[2] सत्य हो तो सुनने में हानि नहीं लाभ ही है यह कह रहे हैं—

गुरु पीर जीवते सीप सम, शिष मुक्ता[1] सु मुरीद[2]।

जिंदों ने मुरदे जने, रज्जब चशम[3] ब[4]दीद[5]॥ १॥

गुरु और पीर तो सीप के समान जीवित हैं, तो भी जैसे जीवित सीप मृतक मोती[1] को जन्म देती है, वैसे ही जीवित अर्थात् संसार दशा में हैं उन गुरु-पीरों से भी जीवित मृतक अर्थात् जीवन्मुक्त शिष्य[2] और मुरीद उत्पन्न होते हैं। यह अब[4] भी विचार नेत्रों[3] की दृष्टि[5] से देखा जाता है।

शशि खंडित मण्डल अखंड, मात अंध सुत नैन।
त्यों रज्जब गुरु गति बिना, शिष निपजै सत बैन[1] ॥ २ ॥

चन्द्रमा खंडित होता है किंतु चन्द्रमण्डल अखंड ही रहता है, माता अंधी होती है किंतु उसके पुत्र नेत्रों वाला हो जाता है वैसे ही गुरु की वृत्ति का गमन तो ब्रह्म में नहीं होता किंतु उसके सत्य वचनों[1] से शिष्य में ब्रह्म भावना उत्पन्न हो जाती है।

नर गुरु नाग[1] समान है, शब्द सु मणि मुख भौन[2]।
सो रज्जब किन[3] लीजिये, जो दारू[4] दुख दौन[5] ॥ ३ ॥

यदि गुरु नर सर्प[1] के समान तामस है तो भी जैसे सर्प के मुख की मणि ली जाती है, वैसे ही जो जन्मादि दुःखों को दमन[5] करने वाली शब्द रूप औषधि[4] गुरु के मुख रूप भवन[2] में है तो वह क्यों[3] नहीं ली जाय ? अवश्य लेना चाहिये, लेने वाले को तो लाभ ही होगा।

अजरी[1] आदम[2] गात गत,[5] शहत स[3] वित्ता[4] बोल।
रज्जब अज्जब औषधि, नर निपजै निर्मोल ॥४॥

मक्खी[1] का शरीर तो हीन[5] है किंतु उसका शहद तो योगवाही होने से अद्भुत औषधि है। वैसे ही गुरु मनुष्य[2] का शरीर तो हीन[5] हो किंतु उसके वचन ज्ञान-धन[4] के सहित[3] हों तो उनके श्रवण, मनन, धारण, करने से मनुष्य में ब्रह्म-भावना उत्पन्न हो जाती है। अतः सुनना चाहिये।

देख हु दीपक ज्ञान का, साधु असाधु कर होय।
तिमर हरै उर[1] धाम में, जन रज्जब कर[2] जोय[3] ॥५॥

देखो, दीपक साधु के हाथ में हो या असाधु के हाथ में हो घर का अंधेरा तो दूर करे ही गा। वैसे ही ज्ञान-दीपक साधु के अन्तःकरण हाथ में हो वा असाधु के अन्तःकरण हाथ में हो, वह हृदय[1] का अज्ञान तो हरे ही गा। अतः उसे अपने अन्तःकरण-हाथ[2] में भी जला[3] लेना चाहिये।

गुरु खोखरा खेजड़ा, शिष शाखों नहिं दोष।
रज्जब मत जल पाव ही, पत्र फूल फल पोष ॥६॥

खेजड़े के वृक्ष का पेड़ पोला होता है किंतु उसकी शाखाओं में वह दोष नहीं होता, पेड़ पोला होने पर भी ऊपर के शाखा, पत्र, फूल, फलों

को जल पिला कर उनका पोषण करता है। वैसे ही गुरु में दोष हो और शिष्यों में नहीं हो तो भी सत्य सिद्धान्त का उपदेशामृत पान करा कर उनका पोषण करता है।

परम मता[४] पीपल सुफल, कु गुरु काग उर लीन।
पर हि सु चेले चकहुं[५] परि, सो निपजै कुल भीन[६] ॥७॥

पीपल के फल को काक पक्षी ले जाता है फिर उसका बीज पृथ्वी[५] पर पड़ता है तब उगते समय वह बीज अपने कुल से मिलकर[६] पीपल ही उत्पन्न होता है, काक पक्षी का असर उस में नहीं आता है। वैसे ही परम सिद्धान्त[४] यदि कुगुरु के हृदय में है तो वह शब्दों द्वारा सु शिष्य के हृदय में जायगा तब परम सिद्धान्त रूप से ही उत्पन्न होगा, कुगुरु का असर उसमें कुछ भी नहीं होगा।

रज्जब मा व्यभिचारिणी, बेटी पतिव्रत होय।
त्यों गुरु गृही शिष्य जती, नाहीं अचरज कोय ॥८॥

माता व्यभिचारिणी होती है और उसकी पुत्री पतिव्रता हो जाती है। वैसे ही गुरु गृहस्थ हो और शिष्य संन्यासी हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

सप्त धातु धरती उदय, निधि[४] नग हीरे लाल।
रज्जब आतम काम के, अशन[५] वसन[६] इल[७] बाल[८] ॥९॥

सुवर्ण, लोहादि सात धातु, धन का खजाना[४], नग, हीरे, लाल, आदि सभी पृथ्वी से निकलते हैं और बहुमूल्य होते हैं किन्तु जीवात्मा के कार्य में आने वाले तो पृथ्वी[७] के पुत्र[८] अल्प मूल्य वाले-भोजन[५], वस्त्र[६] ही हैं। वैसे ही प्राणी को शांति प्रदाता ज्ञान चाहे छोटे से ही मिले, वही उसके काम का है, व्यर्थ की बड़ी २ बातों से क्या लाभ है ?

दारू दुष्ट दयाल दे, रज्जब हरिये रोग।
उधरण हारा उद्धरे, मिले अजुगता जोग ॥१०॥

औषधि चाहे दुष्ट मानव दे वा दयालु दे, वह रोग को हरे ही गी, वैसे ही अयोग्य गुरु का योग भी मिल जाय तो उसके सत्य उपदेश से भी उद्धार होने वाले सु शिष्य का उद्धार तो हो ही जायगा, गुरु की अयोग्यता गुरु को ही रोकेगी शिष्य को नहीं।

शोधि[४] सार उपदेश दे, गुरु गति रहित न नेम।
पारस साधु असाधु का, करत लोह तैं हेम[५] ॥११॥

पारस साधु का हो वा असाधु का हो वह तो स्पर्श से लोह को सुवर्ण[५] बना ही देगा, वैसे ही गुरु की वृत्ति की गति ब्रह्म से रहित अन्य में

हो वा अन्य में न होकर ब्रह्म में ही हो यह नियम नहीं, विचार[४] करके सार उपदेश देना चाहिये उसी से सु शिष्य की मुक्ति हो जायगी। गुरु की हो वा न हो।

रज्जब कवि रु किराड़[४] के, किरिया[५] ऊरा[६] ठाट।
तो भी तिन का लीजिये, वाइक पूरा बाट ॥१२॥

कवि और वैश्य[४] के कर्मों[५] में अधूरापन[६] है अर्थात् उनके कर्म अच्छे नहीं हैं किन्तु कवि के वचन सत्य हों और वैश्य के बाट पूरे हों तो अवश्य लेकर अपना काम कर लेना चाहिये। वैसे गुरु का व्यवहार ठीक न हो और उपदेश अच्छा करता हो तो उपदेश अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

अबला[४] बली जु बंध ही, मन समुद्र से अंग[५]।
रज्जब कूखि[६] अबंध ये, निपजै शब्द सु नंग[७] ॥१३॥

अपार अथाह समुद्र भी मर्यादा से बँध जाता है, आगे नहीं बढता किन्तु उसकी कुक्षि[६] तो नहीं बँधती उसमें तो नग[७] उत्पन्न होते ही हैं। वैसे ही जो बलियों का समुद्र के समान अपार अथाह लक्षणों[५] वाला मन है उसे भी नारी[४] बांध लेती है किन्तु उस मन के भीतर जो ज्ञानमय शब्द उत्पन्न होते हैं, वे तो उससे नहीं बँधते, उन शब्दों से साधक अपना काम पूरा कर सकता है।

द्रव्य[४] हीण दिठि[५] पारखों[६], नर नग कर हिं सुमोल।
घण[७] मोले धनपति गहैं, रज्जब तिनके बोल ॥१४॥

धन[४] हीन परीक्षक[६] नर दृष्टि[५] से ही नगों की परीक्षा कर के मूल्य निश्चित कर देते हैं और उनके वचन मानकर अधिक[७] मूल्य वाले नगों को धन देकर धनपति ग्रहण करते हैं। वैसे ही धारणा रहित ज्ञानियों के वचन भी जिज्ञासु जन ग्रहण करते हैं।

गुरु सविता[४] सारंग[५] शिष्य, समझे समझो साध।
जन रज्जब कहु क्या गया, अकलि[६] अबुं[७] जहँ लाध ॥१५॥

जल रूप धन[४]-सहित बादल में जहां चातक[५] पक्षी को जल[७] मिलता है, वैसे ही गुरु में ज्ञान[६] मिलता है, तब समझे हुये साधु समझो और कहो कि-बादल और गुरु का क्या गया है ?

रज्जब महन्त मयंक[४] का, बंक कलंक न जोय।
श्रवण सुधा रस पीजिये, नैन उजाला होय ॥१६॥

चन्द्रमा[४] के टेढेपन और कलंक को मत देखो, उसकी अमृत मय किरणों से नेत्रों को प्रकाश मिलता है, उससे अपना काम करो। वैसे ही

महन्त का टेढापन और कलंक को मत देखो उसके वचनों को श्रवणों द्वारा पान करके अपना मुक्तिरूप कार्य सिद्ध करो ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरु गत मत सत्य का अंग १४१ समाप्तः ॥ सा. ४४४२ ॥

अथ सार ग्राही का अंग १४२

इस अंग में सार ग्राहक सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

हंस अंशले क्षीर का, नीर निकासे नांहि ।
जन रज्जब यूं ज्ञान गहि, ले अमृत विष मांहि ॥१॥

जैसे हंस, दूध और जल मिले रहने पर दूध का भाग ही लेता है, जल को नहीं निकालता, ऐसे ही सार ग्रहण करो और जहाँ विष-अमृत दोनों मिले हों वहां अमृत को ही लो विष को नहीं लो ।

ज्यों सविता[४] तोयं[५] तिमिर, शीत सहित ले ताणि[६] ।
तैसे रज्जब त्रिगुण तैं, तत्त्व[७] लीजिये छाणि ॥२॥

जैसे सूर्य[४] शीत के सहित जल[५] और अंधकार को खैंच[६] लेता है, वैसे ही तीनों गुणों में से सार[७] को निकालकर ग्रहण करना चाहिये ।

ज्यों मांखी मधु काढिले, शोधि[४] अठारह भार ।
त्यों रज्जब तत्त्व हि गहो, तीनों लोक मँझार ॥३॥

जैसे मधु मक्खी अठारह भार वनस्पति में से खोज[४] कर शहद निकाल लेती हैं, वैसे ही तीनों लोकों में से खोजकर सार ही ग्रहण करो ।

जैसे चुम्बक रेत में, चुणिले कंचन[४] सार[५] ।
त्यों रज्जब गुण काढिले, केवल हंस विचार ॥४॥

जैसे चुम्बक रेत से लोह[५] के कण निकाल लेता है और पारे की गोली राख से सुवर्ण[४] के कण निकाल लेती है, वैसे ही सार ग्राहक हंस के केवल सार ग्रहण रूप विचार से अवगुणों में से भी सार रूप गुण निकाल लेना चाहिये ।

चेतन[१] चुम्बक रूप, गहै सु गुण कण सार[२] के ।
रज्जब युक्ति अनूप, छाड हिं अवगुण छार[३] के ॥५॥

सावधान[१] मानव चुम्बक के समान होता है । जैसे चुम्बक रेत[३] के कण छोड़कर लोह[२] के कण ग्रहण करता है । वैसे ही सावधान मानव सार ग्रहण रूप अनुपम युक्ति से अवगुणों को छोड़कर गुणों को ही ग्रहण करता है ।

जे कांटा तो रूख[1] में, छाँह माँहि कछु नांहि ।
रज्जब मिलिये सब हुँ सौं, गहि निर्गुण[2] गुण मांहि ॥६॥

यदि काँटे हैं तो वृक्ष[1] में हैं, छाया में तो कुछ नहीं हैं । ऐसी ही गुण दृष्टि द्वारा सबसे मिलना चाहिये और गुण[2]-रहित में से भी गुण ग्रहण करना चाहिये ।

रज्जब साधू गुण गहै, अवगुण दिशा न जाय ।
ज्यों अलि[1] तिल तज पहुप[2] को, परिमल[3] लेय उठाय ॥७॥

जैसे भ्रमर[1] पुष्प[2] के दाग़ रूप तिल को छोड़ कर सुगंध[3] उठा लेता है वैसे ही साधु गुण को ग्रहण करते हैं अवगुणों की ओर नहीं जाते ।

परिहरि कंटक केवडौं, कुसुम[1]हिं ले अलि[2] आय ।
त्यों रज्जब गुण को गहो, अवगुण में निरताय[3] ॥८॥

जैसे केवड़ा के कांटों को छोड़ कर भ्रमर[2] पुष्प[1] पर ही आता है, वैसे ही विचार[3] द्वारा अवगुणों में से भी गुण को ही ग्रहण करो ।

ज्यों बच्छ गऊ को चूखतों, मन में बच्छ न गाय ।
त्यों रज्जब रस पीजिये, आपा पर विसराय ॥६॥

जैसे गाय को चूखते समय बछड़े के मन में बछड़ा और गाय दोनों ही नहीं रहते वह दूध पान में ही लीन रहता है, वैसे ही अपना पराया भूल कर विश्व के सार प्रभु का भजन रूप रस पान करो ।

बैन बूंद बहु वर्ष ही, जल चर होंहि निहाल[1] ।
सीप स्वाति जल को गहै, उपजै मुक्त[2] सु माल[3] ॥१०॥

जल विन्दु बहुत वर्षती हैं, उनसे जल चर प्रसन्न[1] भी होते हैं किंतु सीप स्वाति जल विन्दु को ग्रहण करती है, तब ही उसमें मोती[2] रूप श्रेष्ठ धन[3] उत्पन्न होता है । वैसे ही वचन तो वक्ताओं द्वारा बहुत सुनने में आते हैं और उनसे लोग प्रसन्न भी होते हैं किन्तु जिज्ञासु तो तत्त्ववेत्ता के ही वचन सुनता है, उन वचनों से ही उसमें ज्ञान-निधि उत्पन्न होती है ।

द्विप[1] दुनियाँ मृतक में लहिये, मुक्ता[2] सुकृत दति[3] वदंत[4] ।
रज्जब लहि सो दोय जन, एक महीपति पुनः महंत ॥११॥

मरे हुये हाथी[1] से मोती[2] मिलते हैं और मरे हुये संसार के कृपण मनुष्य का धन[3] मिलता है, वैसे ही जीवन्मुक्त का सुकृत मिलता है । इनकी ये सार रूप उक्त वस्तुयें एक तो राजा और दूसरा महान् पुरुष, ये दो जने ही लेते हैं, ऐसा सुजन कहते[4] हैं ।

माया पाणी दूध हरि, साधू हंस समान ।
पय[1] पाणी पीवैं जे रुचि, जन रज्जब मुख छान ॥१२॥

माया जल के समान है, हरि दूध के समान है, साधु हंस के समान है । जैसे हंस अपनी चूंच से जल दूध को अलग करके जितनी रुचि होती है उतना दूध[1] पीता है । वैसे ही संत माया और हरि को विचार द्वारा अलग करके रुचि के अनुसार हरि चिंतन रूप रस को पान करता है ।

चंचु नीर में गाडि करि, क्षीर[1] हि पीवै हंस ।
त्यों रज्जब रिधि मधि सुजन, लेय राम का अंश[2] ॥१३॥

हंस जल में अपनी चूंच गाड कर उसमें मिले हुये दूध[1] को ही ग्रहण करता है, वैसे ही श्रेष्ठ जन माया में अपनी वृति लगा कर भी व्यापक राम का स्वरूप[2] ही अपनाते हैं ।

रज्जब तरु धर[1] मांहि सु देखिये, नीर लेंहि निरबाल[2] ।
त्यों साधू सब शक्ति मधि, शिव[3] रस पीव हिं टाल[4] ॥१४॥

देखो पृथ्वी[1] में स्थित जल को वृक्ष रज से अलग[2] करके लेते हैं, वैसे ही सब संत माया में स्थित व्यापक ब्रह्म[3] को विचार द्वारा माया से अलग[4] करके ब्रह्म का साक्षात्कार रूप रस पीते हैं ।

साधू सीप सरोज[1] गति,[2] शक्ति[3] सलिल में वास ।
पिंड पुष्ट ह्वै और दिशि,[4] प्राण[5] और दिशि[6] आस ॥१५॥

साधु की चेष्टा[2] सीप और कमल[1] की-सी होती है । जैसे सीप और कमल जल में बसते हैं, उनका शरीर तो अन्य ओर[4] से अर्थात् जल से पुष्ट होता है किन्तु उनकी आशा अन्य ओर अर्थात् स्वाति में और सूर्य में रहती है । वैसे ही साधु बसता तो माया[3] में है उसका शरीर अन्य ओर[4] अर्थात् माया से पुष्ट होता है और उसके मन[5] की आशा अन्य ओर[6] अर्थात् परमात्मा में रहती है । प्रभु ही विश्व के सार हैं उन सार को ही साधु वृत्ति ग्रहण करती है ।

साधु असाधु सुकृत अपराध, चतुर्भांति माया फल लाध ।
ज्यों मसि[1] अक्षर गोविंद गाली, रज्जब लेहि एक इक टाली ॥१६॥

साधु, असाधु, पुण्य और पाप, ये चार प्रकार का ही फल माया-वृक्ष से मिलता है । जैसे स्याही[1] के अक्षरों से गोविन्द भी लिखा जाता है और गाली भी लिखी जाती है, गुण ग्राहक इक अर्थात् गाली को छोड़ कर एक गोविन्द को ही ग्रहण करते हैं । वैसे ही माया से भी गुण ग्राहक साधु पुण्य रूप सार को ही ग्रहण करते हैं ।

जैसे वस्त्र बनाने वाला जुलाहा, वस्त्र तैयार हो जाने पर, वस्त्र[३] को उतार कर वस्त्र लपटने के काष्ठ[२] को त्याग देता है। वैसे ही जोगी, जंगमादि छः प्रकार के भेषधारियों[१] में विचार पूर्वक खोजकर के सच्चा शब्द ही लेना चाहिये।

पारा कंचन काढिले, राख[४] रहित रलि[५] राखि।
त्यों रज्जब अज्जब[६] मतै,[७] शोधि[८] गहै सत साखि[९] ॥२८॥

भस्म में मिले[५] हुये सुवर्ण के कणों को, पारा निकाल कर भस्म[४] रहित कर देता है। वैसे ही सार ग्राहकता रूप अद्भुत[६] सिद्धान्त[७] से खोज[८] कर जिनको सत्य होने की साक्षी[९] प्राप्त हो उन्हें ही ग्रहण करें।

सब काहू[१] का लीजिये, साँचे शब्द न दोष।
ज्यौं रज्जब बहु धेनु के, पय पीये ह्वै पोष ॥२९॥

जैसे जीवन में बहुत-सी गायों का दूध पीने पर भी पोषण ही होता है हानि नहीं। वैसे ही सत्य-शब्द किसी[१] का भी हो सभी का ले सकते हैं, उसमें कोई दोष नहीं।

मिठाई[४] की मूरतैं[५], सूरति[६] भांति अनेक।
त्यौं रज्जब जो शब्द है, सो रसरूपी एक ॥३०॥

जैसे खांड[४] की मूर्तियाँ[५] अनेक भांति की आकृति[६] की होती हैं किन्तु उनमें मधुर-रस तो एक ही होता है। वैसे ही शब्द चाहे अनेक प्रकार के व्यक्तियों से प्राप्त हों किन्तु उनमें वह ज्ञान-रस एक ही होना चाहिये।

नभ नीझर रु निवान[४] घट, साखी शब्द सु नीर।
रज्जब उभय अंकूर ह्वैं, कोई सींच हु वीर[५] ॥३१॥

हे भाई[५]! आकाश का जल हो वा भरणा, तालाब[४], घट का हो दोनों में से कोई भी जल सींचों अंकुर निकलते हैं, वैसे ही साखी-शब्द-ज्ञानी के हों वा अज्ञानी के, दोनों से ही बुद्धि में विचार उत्पन्न होते हैं।

सकल कुल हुं की आतमा, सीझयों[१] हरि में जांहि।
तो रज्जब साँचा शबद, कहु क्यों लीजे नांहि ॥३२॥

सभी जाति-कुल की जीवात्मायें ज्ञान द्वारा सिद्धावस्था[१] को प्राप्त होने पर हरि के स्वरूप में ही जाती हैं। तब कहो, सत्य शब्द को क्यों न लिया जाय ?

अवनि[४] मांहि अन[५] नीपजै, सो आदम[६] उर धारि[७]।
त्यौं साधू संसार तैं, रज्जब लेहु विचारि ॥३३॥

जैसे पृथ्वी[४] से अन्न[५] उत्पन्न होता है, उसे खाने-रखने का विचार मनुष्य[६] अपने हृदय में रखता[७] है। वैसे ही संसार में साधु उत्पन्न होते हैं, उनके शब्द भी विचार पूर्वक ग्रहण करने चाहिये।

ज्यों उभय[४] खलावर[५] के पवन, अग्नि उदय शुध[६] सार[७]।
त्यों बैन विमल दुहुं[८] ओर को, रज्जब कटे विकार ।।३४।।

जैसे लोहार की दो[४] धौंकनी[५] के वायु से अग्नि प्रकट होकर लोहा[७] तपता है तब मल रहित शुद्ध[६] हो जाता है। वैसे ही दोनों[८] ओर के वचन अर्थात् शिष्य के प्रश्न रूप वचन और गुरु के उत्तर रूप वचन दोनों निर्मल होते हैं तब विकार नष्ट हो जाते हैं।

तन मन शक्ति समुद्र मधि, काढ्या भाव रतन्न।
सारग्राही औतरे, शोधण साधू धन्न ।।३५।।

जैसे समुद्र में से रत्न निकालते हैं, वैसे ही तन मन की शक्ति से भाव निकाला जाता है, सार ग्राहकों का जन्म संतों का ज्ञान-धन खोजने के लिये ही होता है।

द्वै सरवर बिच पाल[१] ह्वै, ता[२] पर तरुवर होय।
जन रज्जब ता पोष में, टोटा[३] नांहीं कोय ।।३६।।

दो तालाबों के बीच में बाँध[१] हो, उस[२] पर वृक्ष हो तब उसके पोषण में कोई कमी[३] नहीं रहती, वैसे ही सार ग्राहक के कोई कमी नहीं रहती।

द्वै सरवर बिच पाल[१] पर, तरुवर तोयं[२] लेय।
रज्जब तजी सु दुष्टता, जीव हुं दुख नहिं देय ।।३७।।

दो सरोवरों के बीच के बाँध[१] पर लगा हुआ वृक्ष दोनों का जल[२]-पान करता है, वैसे ही सार ग्राहक दुष्टता को त्याग कर सबसे सार ग्रहण करता है और जीवों को दुःख नहीं देता।

बहुत भांति के घीव हैं, बहुत भांति के तेल।
जन रज्जब पावक प्रबल, होय हुताशन[१] मेल ।।३८।।

बहुत प्रकार के घृत होते हैं और बहुत प्रकार के तेल होते हैं किन्तु पेट का वा बाहर का अग्नि प्रबल हो तो उन सबका मेल उस अग्नि[१] में हो जाता है अर्थात् वह सबको ग्रहण कर लेता है, वैसे ही सार ग्राहक सभी प्रकार के प्राणियों से सार ग्रहण कर लेता है।

चन्दन सब ही काम का, सभी सुगंधित होय।
त्यों रज्जब निज दास हैं, क्या छाणेगा कोय ।।३९।।

चन्दन का वृक्ष सभी काम का होता है, क्योंकि उसके सभी भाग सुगंधित होते हैं वैसे ही भगवान् के निजी भक्त होते हैं, उनमें कोई क्या सार निकालेगा ? वे तो सार रूप ही होते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सार ग्राही का अंग १४२
समाप्तः ॥ सा० ४४८१ ॥

अथ असार ग्राही का अंग १४३

इस अंग में असार ग्राहक संबन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब साधु समुद्र गति,[1] मोती मानिक साथ।
तहां शंख सांखो[2] गहैं, चतुराई करि हाथ ॥१॥

साधु समुद्र के समान[1] हैं, समुद्र में मोती माणिक्य होते हैं किंतु वहां भी असार ग्राहक चतुराई करके शंख और सांखुले[2] (शंभुक) ही हाथ में लेता है। वैसे ही साधु में भक्ति वैराग्य, ज्ञानादि रूप मोती माणिक्य होते हैं किंतु असार ग्राहक उसके साथ रह कर भी चतुराई द्वारा उनके शारीरिक दोष ही ग्रहण करता है।

रज्जब साधू गंज[1] गति, मांहि रतन पति[2] राय[3]।
मंद भागि मूंठी भरै, तो कर[4] कंकर चढि जाय ॥२॥

साधु कोश[1] के समान है, कोश में रत्न होते हैं किंतु मंदभागी वहां भी मुट्ठी भरे तो उसके हाथ[4] में कंकर ही आते हैं। वैसे ही साधु में लोक स्वामी[2] इन्द्रादि के भी राजा[3] प्रभु हैं किन्तु असार ग्राहक के वहाँ भी दोष ही हाथ लगते हैं।

रज्जब साधू आरसी,[1] मैल[2] मोरचा[3] नांहि।
मूढ जीव मुख दोष को, देखै दर्पण मांहि ॥३॥

साधु साफ दर्पण[1] के समान हैं, दर्पण में मैल[3] न होने पर भी मूर्ख प्राणी अपने मुख के दोष को दर्पण में देखता है। वैसे ही शुद्ध संत में असार ग्राहक मूर्ख जीव अपने मन के दोष[2] देखते हैं।

आप अपराध उतंग अष्ट कुल, नैन मूंद नहिं हेर।
अन्य अवगुण रज रेणु सम, सोई किया सुमेर ॥४॥

असार ग्राहक अपना दोष अष्ट कुल पर्वतों के समान बहुत ऊंचा होने पर भी नेत्र बंद कर लेता है उसे नहीं देखता और अन्य का अवगुण धूलि के कण समान होने पर भी उसको सुमेरु पर्वत के समान बड़ा करके देखता है।

यथा व्यथा को ढूंढले,[1] बूंटी वपु सु मंझार[2] ।
रज्जब यूं अज्ञान गति,[3] अवगुण गहै विचार ॥५॥

जैसे औषधि मुख द्वारा शरीर में[2] जाकर रोग-जन्य दुःख को खोज[1] लेती है, वैसे ही अज्ञान युक्त असार ग्राहक की चेष्टा[3] होती है, उसमें भी अवगुण खोजने का ही विचार रहता है ।

ज्यों चींचड़ तज दूध को, लागि रु लोहू पीन ।
त्यों रज्जब गुण छाडि कर, अंध हु अवगुण लीन ॥६॥

जैसे चींचड़ गाय के दूध को छोड़कर रक्त ही पीने लगता है, वैसे ही ज्ञान-नेत्र हीन अंधा असार ग्राहक गुण को छोड़कर अवगुण ही लेता है ।

रज्जब सकल सुगंध तज, मैल हि चाहै मीन ।
त्यों गुण तज अवगुण गहै, शठ श्रोता मति हीन ॥७॥

मच्छी संपूर्ण सुगंधों को छोड़कर मैल ही चाहती है, वैसे ही मति हीन मूर्ख श्रोता सत्संग में भी गुण को छोडकर अवगुण ही ग्रहण करता है ।

गुण छाडै अवगुण गहै, जन रज्जब जग लंठ ।
बाजीगर के धाम में, मानो मुस्या करंठ ॥८॥

जैसे बाजीगर के घर में जाकर चोर अन्य वस्तुयें छोडकर सर्प का करंड चोरता है, वैसे ही जगत् में मूर्ख असार ग्राहक गुण को छोड़कर अवगुण ही ग्रहण करता है ।

संत सभा में शब्द सुधा रस, पीवै पिलावै साध ।
तहां वाद[1] वैरी करै, अमृत विष मेलें[2] अपराध[3] ॥९॥

संत सभा सत्संग में संत शब्दामृत-रस पीते हैं और पिलाते हैं किन्तु असार ग्राहक शत्रु वहां भी जाकर पाप[3] करता है, अमृत रूप सत्संग में विवाद[1] रूप विष मिला[2] देता है ।

रज्जब उर[1] अवगुण भरे, नहीं ज्ञान गुण मांहि ।
दाहै[2] मारे बौल ज्यों, संग शूल[3] रहि जांहि ॥१०॥

जिनके हृदय[1] में ज्ञान-गुण नहीं है, अवगुण ही भरे हैं, वे असार ग्राहक जैसे जलाता[2] हो, वैसे कठोर वचन मारते हैं, उनकी पीड़ा[3] चिर-काल तक साथ रहती है ।

रज्जब निन्दक अवगुणी[1], सब श्रवणों दुख पूरि[2] ।
भय भीत भांड मुख देखिये, ज्यों झलक[3] हुं भरपूरि[4] ॥११॥

अवगुण-युक्त[1] असार ग्राहक निन्दक, श्रवणों द्वारा सबमें दुःख भर[2] देता है, उस का मुख दीखता तो भयभीत भांड के समान है किन्तु दुर्वचन रूप भालों[3] से परिपूर्ण[4] रूप से भरा है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित असार ग्राहक का अंग १४३ समाप्तः ॥ सा. ४४६२ ॥

अथ शब्द उदय अस्त का अंग १४४

इस अंग में शब्द के उदय होने और छिपने सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

संयोग खड़ी[1] बाइक[2] अखिर,[3] हूंतां[4] सेती[5] होय।
रज्जब मैल[7] न मिरतगा,[6] तब सुणे न देखे कोय ॥१॥

जैसे खड़िया[1] मिट्टी[6], हाथ और पट्टी का संयोग हो-तो[4] शब्द[2] के अक्षर[3] उदय होते हैं, उक्त सबका संयोग[7] न हो तो उनकी आकृति कौन देखेगा? वैसे ही कंठ, तालु आदि स्थानों से वायु का संयोग होने से[5] ही शब्द का उदय होता है और संयोग का अभाव होना ही शब्द का अस्त होना है।

रज्जब शब्द शरीर बिन, कान हुं सुण्या न कोय।
यथा बूंद बादल बिना, दृष्टि न दीसे जोय ॥२॥

जैसे बादल बिना जल विन्दुयें आकाश से वर्षती हुई दृष्टि से नहीं दीखती, वैसे ही देख, शरीर के बिना शब्द को किसी ने भी कान से नहीं सुना है। अतः शरीर से शब्द उदय होता है और शरीर के अभाव में अस्त होता है।

ज्यों स्वप्ना नांहीं नींद बिन, त्यों शब्द न बाज[1] शरीर।
रज्जब समझ्या ज्ञान में, ज्ञानी समझो वीर[2] ॥३॥

जैसे निद्रा के बिना स्वप्न नहीं आता, वैसे ही शरीर के बिना[1] वर्णात्मक शब्द का उदय नहीं होता, हे भाई[2]! यह हमने ज्ञान में वृत्ति स्थिर करके समझा है, ऐसे ही और भी ज्ञानी जन समझें।

रज्जब पाले[1] पिंड करि, बूंद बैन परकास[2]।
दोय न दीसै दोय बिन, देख्या सुण्या न दास[3] ॥४॥

जैसे बर्फ[1] के पत्थर के बिना, पर्वत के पत्थर से जल विन्दु नहीं प्रकट[2] होती, वैसे ही शरीर के बिना शब्द प्रकट नहीं होता। हे सेवक[3]! बर्फ

और शरीर इन दोनों के बिना। जल-विन्दु और शब्द ये दोय देखने में और सुनने में नहीं आते। अतः शरीर से शब्द उदय होता है और शरीर के अभाव में अस्त होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शब्द उदय अस्त का अंग १४४ समाप्तः ॥सा० ४४९६॥

अथ शब्द का अंग १४५

इस अंग में शब्द सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

सकल पसारा शब्द का, शब्द सकल घट माँहि।
रज्जब रचना राम की, शब्द सु न्यारी नाँहि ॥१॥

सभी विस्तार शब्द का है, शब्द सभी शरीरों में है। राम की रचना रूप सृष्टि शब्द से अलग नहीं है।

शब्दैं बंध्या शब्द गहि,[1] शब्दैं शब्द खुलाण[2]।
जन रज्जब इस पेच[3] को, समझै संत सुजाण ॥२॥

प्राणी शब्दों को ग्रहण[1] करके शब्दों से ही बंध जाता है और शब्दों द्वारा बंधा हुआ शब्दों से ही खुलता[2] है। इस शब्द की उलझन[3] को बुद्धिमान संत ही समझते हैं।

आज्ञा इक ओंकार परि, पंच तत्त्व आकार।
उदय[1] अस्त[2] सब शब्द मधि, ता में फेर न सार ॥३॥

एक शब्द ब्रह्म ओंकार की आज्ञा पर ही पंच तत्त्व मय आकार स्थित है, उसी ओंकार शब्द से उक्त आकार प्रकट[1] होता है और उसी में लय[2] होता है। इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार रूप बात है।

शब्दैं ही सुलझै सभी, शब्द सरैं[1] सब काम।
रज्जब सद्गुरु शब्द मय[2], शब्द गहैं निज ठाम[3] ॥४॥

शब्दों से ही सभी संसार-जाल से सुलझते हैं, शब्दों से ही सब काम सिद्ध[1] होते हैं, सद्गुरु भी शब्द रूप[2] ही हैं, और शब्दों के द्वारा ही निज रूप ब्रह्म-धाम[3] ग्रहण किया जाता है।

गुरु बाइक में सीझिये[1], बाहर सीझै नाँहि।
रज्जब सीझे संत सब, जो बैठे बाइक माँहि ॥५॥

गुरु के शब्दों के विचार में स्थिर होने से ही सिद्धावस्था[1] प्राप्त होती है, गुरु शब्दों के विचार से रहित बहिर्मुखी मुक्त नहीं होते, जो सद्गुरु

शब्दों के विचार में स्थित हुये हैं, वे सभी संत सिद्धावस्था रूप मुक्ति को प्राप्त हुये हैं ।

जो सद्गुरु के शब्द में, सो सीझै[1] संसार ।
शब्द बिना सीझै नहीं, रज्जब कही विचार ॥६॥

जो सद्गुरु शब्दों के विचार में स्थित रहता है, वही इस संसार बन्धन से मुक्त[1] होता है, सद्गुरु शब्दों के विचार बिना मुक्त नहीं हो सकता, यह हमने विचार पूर्वक ही कहा है ।

मत[1] मारग परलोक के, शब्द मुनारे ठाट[2] ।
जन रज्जब जग जीवड़े,[3] भूल पड़ैं मत[4] बाट[5] ।७॥

लोक के सिद्धान्त[1]-मार्ग पर शब्द-मुनारे बने[2] हुये हैं, जिससे जगत् के जीव[3] मार्ग[5] को भूलकर कुमार्ग में नहीं[4] पड़ सकें ।

रज्जब रज[1] तलि नीर निधि, गुरू गगन[2] जल सोय ।
बैन बूँद वर्षा बिना, नाम नाज नहिं होय ॥८॥

पृथ्वी की धूलि[1] के नीचे जल-राशि है, वही जल आकाश[2] में भी है किन्तु बिन्दुओं की वर्षा बिना नाज नहीं होता । वैसे ही साधक के हृदय में रजोगुण[1] के नीचे ज्ञान-राशि दबी है और वही ज्ञान गुरु में भी है किन्तु गुरुमुख से वचन सुने बिना प्रभु के नाम के वास्तविक महत्त्व का ज्ञान नहीं होता वा ज्ञानी नाम नहीं होता ।

करी[1] मिमाई[2] मत्त[3] की, ब्रह्म अग्नि सु पकाय ।
शब्द पुडी सब ठौर की, घाव अशंका[4] लाय ॥६॥

ब्रह्म विचार-अग्नि से पका कर सिद्धान्त[3] का सार[2] निकाल[1] लिया गया है और वह शब्द रूप पुड़िया में स्थित है, भक्ति, योग ज्ञानादि रूप सभी स्थानों की शंका[4] रूप घावों पर लगाने से उक्त सार तत्त्व उन्हें दूर करता है ।

असक[1] अशंका[2] बहुत हैं, त्यों औषधि शब्द अपार ।
रज्जब सो तहँ लाइये, रोग न रहै लगार[3] ॥१०॥

रोग[1] बहुत हैं तो उनको दूर करने वाली औषधियाँ भी बहुत हैं, जहाँ रोग हो वहां ही लगाने से रोग किंचित्[3] मात्र भी नहीं रहता । वैसे ही शंका[2] बहुत हैं तो उन को दूर करने के लिये शब्द भी अपार हैं, जिस विषय की शंका हो उस विषय के शब्दों के विचार से वह शंका लेश[3] मात्र भी नहीं रहती ।

रज्जब विविध भांति बूंटी व्यथा, वैद्य सु जाण हि भेव ।
यूं आशंका अनन्त विधि, समझावै गुरु देव ॥११॥

रोग और औषधि दोनों ही नाना भांति के हैं, उनके भेदों को वैद्य भली प्रकार जानते हैं, वैसे ही अनन्त प्रकार की शंका होती हैं उनको गुरुदेव समझा कर मिटाते हैं।

शब्द मांहि करि पाइये, तन मन जिव का भेद।
रज्जब माया ब्रह्म का, बाइक[1] बीच न खेद ॥१२॥

शब्दों द्वारा ही जीव के स्थूल शरीर और मन का भेद प्राप्त होता है, माया और ब्रह्म का ऐसा विचार जिस में स्थित रहने से दुःख न हो वह भी शब्दों[1] के मध्य ही प्राप्त होता है।

रज्जब रसना राह[4] में, बैन बटाऊ[5] जानि[6]।
तन मन आतम राम की, देय खबर सो आनि[7] ॥१३॥

जिह्वा रूप मार्ग[4] में वचन रूप पथिक[5] है, ऐसा जानो[6], शरीर, मन, आत्मा और राम के समाचार शब्द रूप पथिक ही आकर[7] देता है अर्थात् शब्दों से ही उक्त सभी जाने जाते हैं।

साधु शब्द सो तुम्बिका, तिरै तिरावै प्राण।
रज्जब राखै[4] जीव को, बाइक[5] बंधू[6] जाण ॥१४॥

जो साधु-शब्द हैं सो तूंबी के समान हैं, जैसे तूंबी तिरती है और दूसरे प्राणी को भी तारती है। वैसे ही साधु-शब्द जीव की रक्षा[4] करते हैं। अतः साधु-शब्द[5] जीव के बाँधव[6] हैं, ऐसा ही जानना चाहिये।

साधू शब्द सु तुम्बिका, कटि जटि[4] राखै प्राण।
सो रज्जब बूडे नहीं, भव जल संत सुजाण ॥१५॥

तूंबी को कमर में बाँधे[4] रखने से प्राणी जल में नहीं डूबता, वैसे ही जो साधु-शब्दों का विचार बुद्धि में रखता है, वह बुद्धिमान संत संसार में नहीं डूबता अर्थात् जन्म-मरण में नहीं आता।

शब्द तुम्बिका भार[4], भव जल काढै भार धर।
रज्जब शून्य सहार, जैसे पंखी पंख पर ॥१६॥

तूंबी का बोझा[4] अपने ऊपर दूसरा बोझा लाद कर उसे जल से पार कर देता है और जैसे पक्षी पंखों का आश्रय लेकर आकाश में जाता है। वैसे ही शब्द के सहारे ब्रह्म में पहुँचता है।

प्राण सु पंखी पाठ पर[4], करै गवण[5] गैणाग[6]।
राहु केतु शशि सूर तरु, लहे फहम[7] फल बाग ॥१७॥

पक्षी प्राणी पक्ष[४] के बल पर गमन[५] करता है तब वृक्ष पर पहुँच कर बाग का फल प्राप्त करता है। वैसे ही ज्योतिषी[६] प्राणी शब्द पाठ का विचार रूप गमन करता है, तब राहु, चन्द्र, सूर्य केतु से आगे होने वाले ग्रहण का ज्ञान[७] प्राप्त करता है।

बोहिथ[४] बैनों[५] पर चढ्यों, विषम[६] वारि शिर गौन[७]।
रज्जब पहुंचे पार पद, भलों भला सो भौन[८] ॥१८॥

जहाज[४] पर चढ़ने से दुस्तर[६] जलराशि समुद्र के शिर पर गमन[७] करके उसके पार पहुंच जाता है। वैसे ही संत वचनों[५] के विचार से पार होकर परम पद को प्राप्त होता है। वह परम पद रूप भवन[८] अच्छों से भी अच्छा है।

अहि[१] आदम[२] जब पाव हीं, पंख प्रवीण[३] जु शब्द।
सो बावन[४] ब्रह्म मिल हिं, देखा कारज हद्द[५] ॥१९॥

सर्प[१] को जब पंख प्राप्त होते हैं तब वह उड़कर बावन-चन्दन[४] से जा मिलता है, वैसे ही मनुष्य[२] को जब ज्ञानी[३] संत के शब्द प्राप्त होते हैं तब वह भी ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। देखो, पंख द्वारा सर्प का कार्य और शब्द द्वारा मनुष्य का कार्य अंतिम सीमा[५] तक का है।

रज्जब यथा माह[४] के कुंभ में, शीतल होय सु नीर।
तथा शब्द सु मुहूरतो, सुनत होत गुण वीर[५] ॥२०॥

जैसे माघ[४] के बने हुये घड़े में जल शीतल होता है, वैसे ही हे भाई[५]! शुभ मुहूर्त्त का संतों का शब्द सुनते ही हृदय में शुभ गुण शांति आदि उत्पन्न होते हैं।

सिरजनहारे शब्द के, सदा सु शब्दों माँहि।
रज्जब गुरु गोविन्द जिव, वचनों बाहर नाँहि ॥२१॥

शब्द की सृष्टि करने वाले सदा शब्द में ही रहते हैं, गुरु, गोविन्द और जीव शब्दों से बाहर नहीं हैं।

षट् दर्शन[१] खालिक[२] खलक,[३] सत्य शब्द के माँहि।
जन रज्जब श्रीपति सहित, बाहर दीसै नाँहि ॥२२॥

यह सत्य है—छः प्रकार के भेषधारी[१] वा षड् दर्शन शास्त्र, संसार,[३] संसार-रचियता,[२] लक्ष्मीपति के सहित सब शब्दों में ही हैं, शब्दों से बाहर कोई नहीं दीखता।

शब्द सिद्ध सु सदा रहै, सदन[१] सप्त स्वर जाँहि।
रज्जब कही विचार कर, देखि दृष्टि दिल माँहि ॥२३॥

शब्द के घर[1] सप्त स्वर तो चले जाते हैं अर्थात् बदलते रहते हैं किंतु सिद्ध शब्द सदा रहता है। यह हमने विचार पूर्वक ही कहा है, तुम भी विचार दृष्टि से हृदय में देखो।

शब्द सिद्धि घट ऊपजी, परकाया परवेश।
रज्जब एक अनेक व्है, रवि रारचों[1] दिशि देश ॥२४॥

जैसे परकाय प्रवेश सिद्धि होती है, वैसे ही शब्द-सिद्धि शरीर में उत्पन्न होती है। सूर्य एक होने पर भी नेत्र[1]-दिशा रूप देश में अनेक हो जाते हैं, वैसे ही शब्द सिद्धि वाला व्यक्ति अपने विचार शब्दों द्वारा दूसरों में भरकर एक से अनेक हो जाता है।

शब्द अमर फल नीपजै, अकलि[1] अंघ्रिपा[2] माँहि।
अर्थ सुधा रस पाव ही, तिन सम प्रीतम नाँहि ॥२५॥

जैसे वृक्ष[2] में फल लगता है, वैसे ही बुद्धि[1] में शब्द रूप अमर फल उत्पन्न होता है, फिर जो उसका अर्थ रूप अमृत-रस पान कराते हैं, उनके समान प्रियतम कोई नहीं है।

काचे तन सांचा शबद, ज्यों वृक्ष बीज स्वभाय[1]।
गात गत हुं सत देखिये, एक रहे इक जाय ॥२६॥

नष्ट होने वाले कच्चे शरीर में शब्द सत्य है। शरीर-शब्द का स्वभाव[1] वृक्ष-बीज के समान है। वृक्ष नष्ट हो जाता है और बीज रह जाता है। वैसे ही एक अर्थात् शरीर तो चला जाता है और एक अर्थात् शब्द सत्य होने से रह जाता है, ऐसा ही देखा जाता है।

बैण[1] डांण[2] हनुमंतगति, उदधि[3] अशंका[4] पार।
रज्जब सो साबित[5] सही,[6] और कूद कब वार[7] ॥२७॥

वचन[1] की छलांग[2] हनुमान की छलाँग के समान है। जैसे हनुमान छलांग से समुद्र[3] के पार चले गये थे और ठीक रहे थे, अन्य कोई इतना समुद्र से इस ओर[7] कूद कर भी कब ठीक[5] रह सकता है? चोट आ ही जायेगी। वैसे ही शब्दों द्वारा प्राणी शंकाओं[4] के पार जाकर सत्य[6] पद को प्राप्त होता है।

एक शब्द सन्देह[1] कट, ज्यों बावन की भीख[2]।
कोटि साखि सुणि सोच उर, रज्जब चली सु लीख[3] ॥२८॥

जैसे वामन भगवान् के एक डग[2] से ही सब मार्ग कट गया था, वैसे एक शब्द से ही संशय[1] कट जाता है। कोटिन साखी सुन कर हृदय में बिचारना तो लीक[3] पर चलना है।

रज्जब चेतन[४] चक्कवै,[१] चरचा चक्र समान।
देखि अशंका[२] अरि हने, वाणी बल सु प्रवान[३] ॥२९॥

सावधान[४] ज्ञानी चक्रवर्ती[१] राजा के समान है और उसकी ज्ञान चर्चा चक्र के समान है देख, जैसे राजा चक्र से शत्रुओं को मारता है, वैसे ही ज्ञानी शंकाओं[२] को वाणी के बल से नष्ट करता है, यह बात प्रमाण[३] रूप है।

साधु शब्द भंडार है, अर्थ[१] द्रव्य ता मांहि।
रज्जब कूंची दृष्टि बिन, ताला खुले जु नांहि ॥३०॥

साधु शब्द के भंडार होते हैं, उनमें शब्दार्थ[१] रूप द्रव्य रहता है किन्तु उनकी कृपा दृष्टि बिना उस भंडार का उपदेश देना रूप ताला नहीं खुलता अर्थात् उपदेश नहीं करते।

साधु शब्द डूंगर[१] भये, भाव गुप्त बिच धात[२]।
रज्जब टाँकी ज्ञान बिन, कोई तहां न जात ॥३१॥

साधु शब्द पर्वत[१] के समान हो रहे हैं। जैसे पर्वत में धातु[२] गुप्त रहती हैं, उनके पास टांकी से खोदे बिना कोई भी नहीं जा सकता। वैसे ही साधु शब्दों में भाव गुप्त रहता है शब्दों को समझने के ज्ञान बिना उस भाव के पास कोई नहीं पहुँच सकता।

शब्द शैल[१] मांही धरचा, सब संतों का माल[२]।
सो वित[३] वेत्ता[४] काढि कर, कर हिं दुकाल[५] सुकाल ॥३२॥

शब्द रूप पर्वत[१] में सब संतों का ज्ञान-धन[२] रक्खा है, उस धन[३] को ज्ञानी[४] जन निकाल कर ज्ञान के अभाव रूप दुष्काल[५] में जिज्ञासुओं के लिये ज्ञान की बाहुल्यता रूप सुकाल कर देते हैं।

काया खानि तन्मय[१] सही,[२] तहाँ विधाता[३] धात।
शब्द दीप बिन को लहै, रज्जब समझो बात ॥३३॥

खानि में धातु निश्चय[२] रूप से है किंतु वहां खानि में वह खानि-रूप[१] ही हुई रहती है, दीपक बिना खानि में धातु को कोई नहीं प्राप्त कर सकता। वैसी ही बात काया में प्रभु की समझो, काया में प्रभु[३] निश्चय रूप से हैं किंतु वहाँ काया में शब्द की सहायता बिना प्रभु को कोई नहीं प्राप्त कर सकता।

भव[१] जल बूडे[२] भार सौं, शब्द तुम्बिका हाथ।
रज्जब पैंदे पिंड सो, तूंबी रहै न साथ ॥३४॥

यदि तुम्बिका हाथ में हो तो भार से शरीर तुम्बिका तक डूबेगा[२] और यदि तूम्बी साथ नहीं रहे तो वह शरीर डूब कर जलाशय के पींदे

में नीचे चला जायगा। वैसे ही यदि अन्तःकरण में शब्द विचार रहे तब तो संसार[1] के विषय जल में डूबा हुआ भी सर्वथा नहीं डूबेगा और शब्द विचार न रहे तब सर्वथा डूब जायगा अर्थात् चौरासी में जायगा।

साधु शब्द सीखे सुनें, उर[1] अंतर[2] ले राखि।
रज्जब विगते[3] बीच ही, काठ हुताशन[4] साखि[5] ॥३५॥

संतों के शब्द सुनकर याद करले फिर उनका विचार हृदय[1] में[2] रक्खे तो संत अग्नि और काष्ठ की साक्षी[5] देकर कहते हैं कि–जैसे अग्नि[4] काष्ठ में रहकर भी काष्ठ से अलग[3] ही रहता है, काष्ठ के दोष अग्नि में नहीं आते। वैसे ही वह संसार में रह कर भी संसार से अलग[3] ही रहता है, संसार के दोष उसमें नहीं आते।

बाइक[1] बादल अर्थ जल, स्रवै[2] होय सुकाल।
पै रज्जब वर्षा बिना, आतम अवनि[3] हु काल[4] ॥३६॥

बादल से जल वर्षता[2] है तब तो सुकाल होता है और नहीं वर्षे तो पृथ्वी[3] पर दुष्काल[4] होता है। वैसे ही शब्दों[1] का अर्थ ज्ञात हो जाय तब तो जिज्ञासु आत्मा के लिये ज्ञानरूप सुकाल हो जाता है और अर्थ ज्ञात न हो तो अज्ञान रूप दुष्काल ही रहता है।

शब्द शूर सांवत[1] मिल्या, बणी फहम[2] की फौज।
जन रज्जब रँग अँग[3] अनन्त, ज्यों मखमल में मौज[4] ॥३७॥

जैसे शूरवीर मिलकर सेना बनती है, वैसे ही शब्द रूप योद्धा[1] मिलकर ज्ञान[2] की सेना बनी है और जैसे मखमल में अनन्त रगों के दर्शन का सुख[4] मिलता है, वैसे ही इन शब्दों के स्वरूप[3] में अनन्त अर्थ ज्ञान जन्य आनन्द मिलता है।

कान रान मैंवास[1] परि, चढ हि फहम[2] की फौज।
उतारैं सु अज्ञान अष्टकुल,[3] शब्द सु पावै मौज[4] ॥३८॥

राणा के किले[1] पर सेना लेकर चढ़ाई करते हैं, तब सेना उतारे अर्थात् उस सेना के बल से पर्वत[3] माला को पार करके राणा को जीत कर आनन्दित[4] होते हैं। वैसे ही कान पर ज्ञान[2] की सेना लेकर चढ़ते हैं अर्थात् ज्ञान श्रवण करते हैं, तब अज्ञान से पार उतर कर अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान द्वारा महामोह को जीत कर ब्रह्मानन्द[4] प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शब्दों से आनन्द मिलता है।

तन तरकस[1] सींगणि[2] सुमति, बैन बाण करि जाण।
काहू का बैठा मरम, जन रज्जब सु प्रमाण ॥३९॥

शरीर रूप तूणीर[1] है, बुद्धि रूप धनुष[2] है, शब्द रूप बाण है, ऐसा समझो किन्तु कोई का ही उक्त बाण मर्मस्थान में प्रवेश करता है और जिसका मर्म स्थान में लगता है, वही प्रमाण रूप माना जाता है।

वायु अकेली वन हलै, देख हु विश्वाबीस[1]।

सो समीर[2] सँग शब्द के, तो क्यों न डुलावै[3] शीश ॥४०॥

देखो, अकेले वायु से सम्पूर्ण[1] वन हिल जाता है, फिर वह वायु[2] शब्द के संग हो तब क्यों नहीं आश्चर्य आदि से श्रोता का मस्तक हिलेगा,[3] विचित्र अर्थ वाले शब्द सुनने से प्रायः मस्तक हिल ही जाता है।

सुई शब्द पशु प्राणी खाये, दिन दिन होत व्यथा रे।

देखो चरते पीवते, रज्जब रोग सु मारे ॥४१॥

यदि कोई पशु सुई खा जाता है तो प्रति दिन उसके शरीर में व्यथा होती रहती है, वह घास चरते तथा जल पीते हुए उस रोग से मारा जाता है। वैसे ही जिस प्राणी के शब्द चुभ जाता है, उसकी व्यथा प्रति दिन बढ़ती जाती है और वह खाते-पीते हुए भी उस रोग से मारा जाता है। सांसारिक शब्द हो तो मारा जाता है परमार्थिक हो तो जीवन्मुक्त हो जाता है।

रज्जब बनसी[1] बैनको, मीन मनिष[2] जो खाँहि।

देखो वारि विभूति[3] में, सो ठहरावे नाँहि ॥४२॥

यदि मच्छी पकड़ने के कांटे[1] को मच्छी निगल जाती है तो वह जल में नहीं ठहर सकती, वैसे ही देखो, जो मनुष्य[2] संतों के शब्द ग्रहण करता है, वह मायिक[3] प्रपंच में नहीं रह सकता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शब्द का अंग १४५ समाप्तः ॥सा० ४५३८॥

अथ वाणी विचार का अंग १४६

इस अंग में वाणी सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब प्राकृत ओंकार है, प्राकृत ही रटि राम।

प्राकृत ही टीका भया, संस्कृत के शिर ठाम ॥१॥

जिसका संस्कार करके संस्कृत बनाई गई उस प्राकृत वाणी का ही ओंकार है, जिसका जप किया जाता है, वह राम मंत्र भी प्राकृत का ही है और संस्कृत के शिर स्थान पर टीका भी साधारण बोलचाल की प्राकृत भाषा में ही किया जाता है। अतः प्राकृत भाषा विशेष महत्त्व रखती है।

आदि जु प्राकृत मूल है, अंत सु प्राकृत पान[1] ।
रज्जब बिच वृक्ष संस्कृत, फ[3]लार्थ[6] कौने[2] थान ॥२॥

पहले वृक्ष की जड़ हैं, बीच में वृक्ष है और अन्त में पत्ते[1] होते हैं, अब कहो फल[3] किस[2] स्थान पर मिलता है ? पत्तों के पास ही तो मिलता है । वैसे ही आदि में प्राकृत भाषा थी, बीच में प्राकृत का संस्कार करके संस्कृत बनी, अन्त में फिर बोल चाल की भाषा प्राकृत हो गई और सँस्कृत का अर्थ[4] भी बोल चाल की प्राकृत भाषा से ही प्राप्त होता है । अतः प्राकृत अधिक उपयोगी है ।

प्राकृत मध्य हि ऊपजे, संस्कृत सब ही वेद ।
अब समझावे कौन करि, पाया भाषा भेद[1] ॥३॥

प्राकृत भाषा में से ही संस्कृत और सब वेद उत्पन्न होते हैं । अब उन वेदों और संस्कृत को किससे समझाया जाता है ? बोल चाल की प्राकृत भाषा से ही समझाया जाता है । इस प्रकार हमने भाषा का रहस्य[1] जान लिया है कि–प्राकृत भाषा ही सर्वोपयोगी है ।

प्राकृत पृथ्वी पवन है, संस्कृत है घट श्वास ।
एक[1] सजीवन एक[2] मिल, एक[3] एक[4] बिन नाश ॥४॥

प्राकृत भाषा तो पृथ्वी की वायु के समान है और संस्कृत शरीर के श्वास के समान है । जैसे शरीर का श्वास[1] पृथ्वी[2] के वायु से मिलकर जीवित रहता है शरीर का प्राण[3] बाहर पृथ्वी के वायु[4] बिना नष्ट हो जाता है अर्थात् शरीर में नहीं रहता । वैसे ही प्राकृत[2] से मिलकर संस्कृत[1] जीवित है, प्राकृत[3] बिना संस्कृत[4] नष्ट प्रायः है अर्थात् समझ में नहीं आती ।

प्रकट सु प्राकृत सूर[4] सम, निगम[5] नैन उनहार[6] ।
जन रज्जब जग एक बिन, चहुंघा[7] घोर अँधार ॥५॥

प्राकृत वाणी सूर्य[4] के समान प्रकट है और वेद[5] वाणी संस्कृत नेत्रों के समान[6] है, जैसे एक सूर्य के बिना जगत् में चारों[7] ओर घोर अंधकार रहता है नेत्रों से कुछ भी नहीं दीखता । वैसे ही प्राकृत बिना वेद वाणी से कुछ भी ज्ञान नहीं होता अज्ञानांधकार ही रहता है ।

पिंड प्राण बिन कुछ नहीं, शब्द न साबित[4] होय ।
तैसे हि रज्जब संस्कृत, बिना जु प्राकृत जोय[5] ॥६॥

जैसे प्राण के बिना शरीर कुछ नहीं, वैसे ही देखो[5] प्राकृत के बिना संस्कृत का शब्द भी सिद्ध[4] नहीं होता, कारण–प्राकृत से ही संस्कृत बनी है ।

रज्जब प्राकृत पेट में, संस्कृत सुत हैं कोड़ि ।
ज्यों बिच बाड़ी बाग बहु, चकहुं[१] बडी चहुं ओड़ि ॥७॥

जैसे चारों ओर विशाल पृथ्वी[१] के बीच में बहुत से बाग और बाड़ियां हैं, वैसे ही प्राकृत के पेट में संस्कृत-शब्द रूप कोटिन पुत्र हैं अर्थात् प्राकृत से कोटिन संस्कृत शब्द बने हैं ।

बीज रूप कछु और था, वृक्ष रूप भया और ।
त्यों प्राकृत तें संसकृत[४], रज्जब समझ्या व्यौर[५] ॥८॥

बीज का रूप कुछ अन्य प्रकार का होता है और उससे उत्पन्न वृक्ष का रूप अन्य ही होता है । वैसे ही बीज रूप प्राकृत का स्वरूप अन्य प्रकार का है और कार्य रूप संस्कृत[४] का स्वरूप अन्य प्रकार का हो जाता है । यह हमने सम्यक् विवरण[५] से समझा है ।

प्राकृत[४] पूंजी प्राण पहिं[५], संस्कृत सौदे[६] लेत ।
रज्जब बांदी बीवियहिं, फिरि मुडिहाई देत ॥९॥

साधारण[४] बोलचाल की भाषा रूप धन तो प्राणी के पास[५] रहता ही है और संस्कृत भाषा अध्ययन रूप व्यापार[६] से प्राप्त की जाती है, फिर भी बीबियों को बांदी मुडिहाई (मात्रा तथा लकीर से रहित लिपि) में ही पत्रादि देती हैं ।

वेद सु वाणी कूप जल, दुख से प्राप्त सु होय ।
शब्द साखि सरवर सलिल, सुख पीवै सब कोय ॥१०॥

वेद-वाणी कूप जल के समान है, जैसे कूप जल परिश्रम से मिलता है, वैसे ही वेद वाणी अध्ययन के कष्ट से मिलती है और संत वचन साखी-शब्द सरोवर के जल के समान है । जैसे सरोवर जल सुख पूर्वक प्राप्त होता है, वैसे ही संत-वचन प्राकृत मातृ भाषा में होने से समझने में सुगम होते हैं ।

विद्या वश वेत्ता बहुत, वाणी वंदि अनेक ।
रज्जब शारद शिर चढै, बावन वर कोइ एक ॥११॥

विद्या के वश रहने वाले अर्थात् विद्या में ही संलग्न रहने वाले ज्ञानी बहुत हैं, वाणी को नमस्कार करने वाले भी बहुत हैं किन्तु वाणी के शिर चढे अर्थात् वाणी के बन्धन से मुक्त हो ऐसा वामन के समान श्रेष्ठ जन कोई एक ही होता है ।

वाणी विविध विहार[४] करि, सांच वाच[५] सौं काम ।
रज्जब राचै[६] ताहि गुण, जा में जूना[७] राम ॥१२॥

चाहे नाना वाणियों में विचरो[४], कार्य तो सत्य वचन[५] से ही होगा, अतः जिस वाणी में पुरातन[७] राम का यश हो, उसी के गुणों में अनुरक्त[६] होना चाहिये ।

रज्जब वाणी सत्य सो, जा मांहीं निज[४] नाम ।
कहा प्राकृत अरु संस्कृत, राम बिना बेकाम[५] ॥१३॥

वही वाणी सत्य है, जिसमें निज नाम हो, क्या प्राकृत और क्या संस्कृत राम के बिना तो व्यर्थ[५] ही हैं । विशेष विवरण—नाम तीन प्रकार के होते हैं—१ गुणज, जैसे दयालु । २ कर्मज, जैसे-मधुसूदन । ३—निज, जो स्वरूप-मय[४] हों, जैसे ब्रह्म, राम आदि । जिस वाणी में निज नामों द्वारा प्रभु का वर्णन हो, उसे संत श्रेष्ठ मानते हैं ।

उज्वल मैले भाव द्वै, बहु वाणी चित्राम ।
रज्जब सन्मुख शब्द ले, विमुख बात बेकाम ॥१४॥

बहुत से चित्राम होते हैं, उनमें श्वेत और काला दो रंग होते हैं । वैसे ही बहुत-सी वाणियां होती हैं, उनमें भी उज्वल और मलीन दो भाव रहते हैं । जो वाणी प्रभु के सन्मुख करे वही उज्वल है, उसे ग्रहण करना चाहिये और जो वाणी प्रभु से विमुख करे, उस वाणी की बात मलीन और व्यर्थ है, उसे त्याग देना चाहिये ।

त्रय-योजन[१] बोली पलट, बहु वसुधा[२] बहु वाणि[३] ।
रज्जब लीजे शब्द सत, राम नाम निज[४] छाणि[५] ॥१५॥

बारह[१] कोस पर वाणी बदल जाती हैं और पृथ्वी[२] बहुत है, अतः भाषा[३] भी बहुत हैं । जिसमें सत्य शब्द हों, राम के नाम हों, उस भाषा को निजी[४] समझ, अन्यों से अलग[५] करके ग्रहण करें ।

राम विमुख वाणी बुरी, कहैं साधु सब वेद ।
जन रज्जब तिन को तजै, पाया भाषा भेद ॥१६॥

साधु और वेद कहते हैं कि—जिस वाणी में राम का यश न हो वह वाणी राम से विमुख होने से खराब है । ऐसी वाणियों को त्याग देना चाहिए । हमने भाषा के रहस्य ज्ञान द्वारा ऐसा ही जान पाया है ।

रज्जब वपु वाणी विधि एक है, जीव जगत गुरु नाम ।
सदा सजीवन लीजिये, तजिये मृतक सु ठाम[१] ॥१७॥

शरीर और वाणी की विधि एक ही है अर्थात् जैसे वाणी नाना हैं, वैसे ही शरीर भी नाना हैं जगत् में उनके नाम भी, जीव, गुरु आदि प्रसिद्ध हैं । उनमें जो ज्ञान रूप जीवन से युक्त हो उसे ही अपना कर

उसकी वाणी धारण करो और मृतक तुल्य अज्ञानी का देह रूप धाम[1] छोड़ो अर्थात् उसका संग न करो।

वैद्यक[1] ज्योतिष जैन मत, मन्त्र सु माला नाँउ[2]।
व्याह[3] कारटों[4] संस्कृत, तातैं मैं न पत्यांउ[5] ॥१८॥

आयुर्वेद,[1] ज्योतिष, जैन मत, मंत्र-तंत्रों की माला आदि जिनके नाम[2] हैं, यह संस्कृत के भेद सब विवाह[3] के समय काकों[4] के समान हैं। इसलिये मैं इन पर अपने उद्धार का विश्वास[5] नहीं करता। भाव यह है—जैसे विवाह होते समय काक पक्षी का आदर नहीं किया जाता, वैसे ही मुक्ति का इच्छुक उक्त सबका आदर नहीं करता।

संसकृत सांई विमुख, भाषा भगवत भाय[1]।
सोने के जल सौं लिखी, गाली विविध बनाय ॥१९॥

प्रभु यश से रहित संस्कृत ऐसी है, जैसे नाना प्रकार की गालियाँ बना कर सोने के जल से लिखी हों, वे सुन्दर दीखने पर भी प्रिय नहीं लगतीं किन्तु भगवान् के भाव[1] से युक्त साधारण भाषा भी संतों को प्रिय होती है।

सगुण रु निर्गुण ठौर की, वाणी बीच दलाल।
रज्जब गाहक जीव के, खैंचे द्वै दिशि चाल ॥२०॥

सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपों की प्राप्ति के लिये वाणी ही बीच में दलाल है, दोनों पक्ष वाले जीव के ग्राहक हैं और दोनों प्रकार की चाल से जीव को वाणी द्वारा अपनी २ ओर खेंचते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित वाणी विचार का अंग १४६
समाप्तः ॥ सा० ४५५८ ॥

अथ विद्या माहात्म्य का अंग १४७

इस अंग में विद्या माहात्म्य सम्बन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—

विद्या करि माया मिलै, विद्या ब्रह्म गियान[1]।
रज्जब विद्या वस्तु है, शोध[2] हु विद्या थान[3] ॥१॥

विद्या से माया मिलती है और ब्रह्म ज्ञान[1] भी मिलता है, विद्या ब्रह्म-वस्तु की प्राप्ति का साधन है। विद्या के द्वारा अपने परम धाम[3] रूप ब्रह्म को खोजो[2]।

विद्या मोहैं विदुजन[1] हुं, विद्या वश सुलतान।
रज्जब विद्या परम धन, सीख हु चतुर सुजान ॥२॥

विद्या विद्वानों[1] को भी मोहित करती है, बादशाह भी विद्या के वश होते हैं, विद्या परम धन है, हे सुजान ! विद्या पढकर चतुर बनो ।

चौदह विद्या में चलै, आदम[1] की औलाद[2] ।
जन रज्जब विद्या बिना, पशू जन्म सो बाद[3] ॥३॥

मनुष्य[1] की संतान[2]–चार वेद, छः वेद के अंग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमाँसा और तर्क शास्त्र इन चौदह विद्याओं में चलती है अर्थात् किसी न किसी विद्या से युक्त होती है और जो विद्या से रहित है, वह तो पशु जन्म के समान व्यर्थ[3] ही है ।

बुधि[1] विद्या बलवंत जग, पूजा ता की मान[2] ।
रज्जब गर्जे गोइ[3] गुण, सब इल[4] आदर जान ॥४॥

जिसकी बुद्धि[1] विद्या युक्त होती है, वही जगत् में बलवान् होता है, उसकी सन्मान[2] पूर्वक पूजा होती है, इस विद्या रूप गुप्त[3] गुण वाला गर्जता है अर्थात् प्रवचन देता है तब सब पृथ्वी[4] पर उसका आदर होता है, यह सत्य ही जानो ।

गुण गणेश को मानिये, गुण पूजा गुरु पीर ।
रज्जब विद्या धर बड़े, विद्या बावन[1] वीर ॥५॥

विद्या-गुण से ही गणेशजी को माना जाता है, गुण से ही गुरु-पीरों की पूजा होती है, विद्या गुण से विद्याधर बड़े माने जाते हैं और विद्या से ही महान्[1] वीर होता है ।

विद्या शारद[1] वंदिये, गुण लुकमान हकीम ।
रज्जब पावै मान[2] महि,[3] विद्या में जु फहीम[4] ॥६॥

विद्या से ही सरस्वती[1] को प्रणाम किया जाता है, गुण से ही लुकमान हकीम की प्रतिष्ठा है, विद्या में संलग्न रहने से ही समझदार[4] पृथ्वी[3] में सन्मान[2] पाता है ।

विद्या संगी जीव की, सदा रहै सो साथ ।
जन रज्जब परधान[1] परि,[2] लिये खजाना हाथ ॥७॥

विद्या जीव की संगिनी है, वह सदा साथ रहती है, विद्वान् प्रधान[1] से भी श्रेष्ठ[2] होता है, अपना विद्या रूप खजाना बुद्धि रूप हाथ में लिये ही रहता है ।

विद्या में हूनर[1] सभी, विद्या में मंत्रादि ।
विद्या वश परवरति[2] है, विद्या हरि आराधि[3] ॥८॥

विद्या में सभी कलायें[1] हैं, विद्या में ही मंत्र-तंत्रादि हैं, प्रवृत्ति[2] भी विद्या के अधीन ही है, विद्या से हरि की उपासना[3] होती है।

विद्या बंधू जीव की, अविद्या को काल।
धरे[1] अधर[2] बिच देखिये, प्राण हु की प्रतिपाल ॥९॥

विद्या जीव के लिये बान्धव के समान है, अविद्या के लिये काल रूप है, मायिक संसार[1] और ब्रह्म[2] दोनों के बीच में रह कर प्राणियों की रक्षक है।

विद्या लघु दीरघ सबै, विद्या पावै ठौर।
रज्जब विद्या जीव को, करै और से और ॥१०॥

लघु होने पर भी विद्या से सब बड़े हो जाते हैं, विद्या से उत्तम स्थान प्राप्त होता है, विद्या जीव को और से और बना देती है।

नर निगलैं निरमोल[1] नग, त्यों लें विद्या मांहि।
रज्जब आनँद उगलतां, दुख दालिद सब जांहि ॥११॥

जैसे कोई नर अमूल्य[1] नग निगल जाय, फिर उसे उगल दे तो धनी हो जाता है, वैसे ही विद्या को भीतर धारण करना चाहिए, फिर दूसरों को देते समय बड़ा आनन्द आयेगा, दुःख दारिद्र सब चले जाँयगे।

विद्या कर वेत्ता भये, विद्या कर सु प्रवीन।
विद्या कर नागर निपुण, रज्जब विद्या लीन ॥१२॥

विद्या अभ्यास से मनुष्य ज्ञानी हुये हैं। विद्या से प्रवीण हो जाते हैं, विद्या से सभ्य और निपुण हो जाते हैं। अतः विद्या पढ़ने में तत्पर होना चाहिये।

विद्या जीवै जीव लग[1], मुवौ मरै सो नांहि।
रज्जब रहती देखिये, गुरु गति[2] मति शिष मांहि ॥१३॥

विद्या जीव के साथ जीवन पर्यन्त[1] लगी रहती है, मरने पर वह मरती नहीं, गुरु की बुद्धि की चेष्टा[2] शिष्य में आकर रहती हुई देखी जाती है।

विद्यों[1] परि[2] विद्या भजन, काज करै परलोक।
और जगत के काम की, रज्जब पावै धोक[3] ॥१४॥

अन्य विद्याओं[1] से भजन रूप विद्या श्रेष्ठ[2] है, कारण-भजन परलोक का कार्य करता है, अन्य सब विद्या तो जगत् के काम की हैं, फिर भी विद्या वाले को सर्व साधारण प्रणाम[3] ही करते हैं।

विद्या चौदह रतन है, वपु सु वारि निधि माँहि ।
को इक काढे कमठ ह्वै, नहिं तो निकसे नाँहि ॥१५॥

जैसे समुद्र में चौदह रत्न थे, वैसे ही शरीर में चौदह विद्या रूप रत्न हैं, समुद्र के रत्नों को कच्छप ने निकाला था, वैसे ही विद्या को कोई कच्छप के समान हो वही निकाल सकता है, नहीं हो तो नहीं निकलती ।

कहै सुनै बूझै[1] वचन, विद्या दे वरदान ।
रज्जब तीन्यों तन नहीं, तो क्यों परसै[2] गुरु ज्ञान ॥१६॥

वचन कहने से, सुनने से, प्रश्न[1] करने से विद्या वरदान देती है अर्थात् आती है, जिसमें ये तीनों नहीं हो तो गुरु ज्ञान कैसे मिल[2] सकता है ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विद्या माहात्म्य का अंग १४७
समाप्तः ॥सा० ४५७४॥

अथ सर्व ठौर सावधान का अंग १४८

इस अंग में सब स्थानों में सचेत प्रभु को समझ कर सदा सावधान रहना चाहिए यह कहते हैं—

मोटे छोटे जीव सब, प्रकट गुप्त कलि माँहि ।
जन रज्जब जगदीश सौं, कोई छाना नाँहि ॥१॥

छोटे-मोटे जो भी जीव प्रकट या गुप्त इस कलियुग में हैं, वे सर्व ठौर सावधान जगदीश्वर से कोई भी छिपे हुये नहीं हैं ।

परा पश्यंती प्रकट बिन,[1] गोविन्द गोप्य[2] सु नाँहि ।
यहु जाणें[3] जाणें[4] नहीं, वाँहि[5] सौं छाना नाँहि ॥२॥

परा और पश्यंती वाणी प्रकट नहीं[1] है किन्तु गोविन्द से गुप्त[2] भी नहीं है, यह जीव तो जानता[3] है कि—गोविन्द मेरी चालाकी आदि को नहीं जानते[4] होंगे किन्तु उन सर्व ठौर सावधान प्रभु[5] से कुछ भी छिपा हुआ नहीं है ।

ब्रह्माण्ड पिण्ड के जीव जे, शून्य[1] रु साहिब[2] माँहि ।
नमो निरत[3] परि रज्जबा, काहू[4] भूलै नाँहि ॥३॥

आकाश[1] और व्यापक ब्रह्म[2] में जो भी ब्रह्माण्ड और पिंड के जीव हैं, उनमें किसी[4] को भी नहीं भूलते, सबका भरण-पोषण करते हैं, उन सर्व ठौर सावधान ईश्वर की कार्य तत्परता[3] को नमस्कार है ।

सब ठाहर चेतन्न[5] है, रज्जब रमता राम ।
इसे समझे का फल इहै,[1] बुरा न कीजे काम ॥४॥

सबमें रमने वाले राम सब स्थानों में सावधान[५] रहते हैं, इस बात को समझने का फल यही है कि—समझने वाले से इस[६] संसार में बुरा काम नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य के देखते भी लोग बुरा काम नहीं करते तब प्रभु के देखते कैसे कर सकते हैं?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सर्व ठौर सावधान का अंग
१४८ समाप्तः ॥ सा. ४५७८ ॥

अथ अकलि चेतन का अंग १४९

इस अंग में सावधान बुद्धि, चेतन, ज्ञान और ज्ञानी विषयक विचार कर रहे हैं—

अकलि[५] अखण्डित माल[६] है, बहु विद्या वित[७] माँहि।
सदा सु धन आतम कनैं,[८] कब हूं बिछुटै नाँहि ॥१॥

बुद्धि[५] अखंडित धन[६] वाला कोश है, इसमें बहुत प्रकार का विद्या रूप धन[७] रहता है और यह विद्यारूप धन जीवात्मा के पास[८] सदा रहता है, कभी भी बिछुड़ता नहीं है।

रज्जब गैबी माल को, ज्ञान खानि सम जानि।
बहुत हि खरचै खाय बहु, कदे न होई हानि ॥२॥

ब्रह्म रूप गुप्त-धन के लिये ज्ञान को ही खानि के समान जानो अर्थात् जैसे खानि से हीरा आदि धन मिलता है, वैसे ही ज्ञान से ब्रह्म प्राप्त होता है। बहुत खर्चने और खाने पर भी अर्थात् ब्रह्म का उपदेश देने पर भी, वह कभी भी कम नहीं होता।

अकलि[५] कहै गुरु पीर है, अकलि[६] अलह[७] पहचान।
रज्जब अकलि अभंग[८] उर, अकलि अमोलक जान ॥३॥

गुरु और पीर ज्ञान[५] का ही उपदेश करते हैं, ब्रह्म[७] की पहचान भी ज्ञान[६] से ही होती है, ज्ञान हृदय में अखंड[८] रह सकता है, ज्ञान को ही अमूल्य रत्न जानो।

अकलि[५] इनायत[६] अकल[७] की, जासौं व्है गुरु पीर।
वपु वैरागर[८] खानि तै, खणि[९] काढैं हरि हीर[१०] ॥४॥

ज्ञान[५] कला रहित ब्रह्म[७] की कृपा[६] है, जिससे साधारण प्राणी भी गुरु और पीर बन जाते हैं। जैसे हीरों[८] की खानि से खोदकर[९] हीरा[१०] निकाला जाता है, वैसे ही विचार द्वारा शरीर में ही हरि का साक्षात्कार करते हैं।

अकलि[५] इनायत[६] अकल[७] की, आतम कन[८] आवै ।
काया माया मांड में, दिल दुख नहिं पावै ॥५॥

ज्ञान[५] कला रहित ब्रह्म[७] की कृपा[६] से ही जीवात्मा के पास[८] हृदय में आता है, फिर शरीर के दुःखों से और ब्रह्माण्ड में मायिक पदार्थों के संयोग-वियोग से हृदय दुःखी नहीं होता ।

धरे[१] अधर[२] बिच अजब[३] है, अकलि[४] अमोलक अंग[५] ।
रज्जब लहिये रहम[६] सौं, अविगत[७] देय उमंग[८] ॥६॥

मायिक[१] संसार और ब्रह्म[२] इन दोनों के बीच में ज्ञान[४] का स्वरूप[५] अद्भुत[३] और अमूल्य वस्तु है । आनन्द की लहर[८] में आकर परमात्मा[७] देते हैं तब उनकी दया[६] से ही यह प्राप्त होता है ।

रज्जब इस आकार में, अकलि[१] अगम[२] आधार ।
जिहिं विलंब[३] वेत्ता[४] चढै, शिर सारे[५] संसार ॥७॥

इस आकारवान् संसार में ज्ञान[१] ही महान्[२] आधार है, जिसका आश्रय[३] लेकर ज्ञानी[४] जन संपूर्ण[५] संसार के शिर पर चढ़ते हैं अर्थात् सांसारिक भावनाओं से ऊपर उठकर ब्रह्म में लय होते हैं ।

आदम[५] मांहीं अकलि[६] का, अजब[७] अनूपम ठाट[८] ।
गहण सहित चौदह विद्या, लहै सबनि की बाट ॥८॥

मनुष्य[५] में बुद्धि[६] रूप सजावट[८] अद्भुत[७] और अनुपम है, जिसके द्वारा मनुष्य ग्रहण के सहित चौदह विद्याओं तथा अन्य सभी जानने का मार्ग प्राप्त करता है अर्थात् सभी बुद्धि से ही जाने जाते हैं ।

सब अंगहु[५] आगे खड़ी, अकलि[६] अकल[७] पहचान ।
रज्जब खबर[८] अगम की, आतम को दे आन ॥९॥

कला रहित ब्रह्म[७] को पहचानने के सभी साधनों[५] से आगे ज्ञान[६] स्थित है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है, ज्ञान ही अन्तःकरण में आकर जीवात्मा को अगम ब्रह्म का समाचार[८] देता है ।

अकलि[५] विहूंणा[६] अकल[७] को, यहां पिछाणे कौन ।
रज्जब बुद्धि विचार बिन, रीते[८] आतम भौन ॥१०॥

ज्ञान[५] हीन[६] कौन प्राणी यहां कला रहित ब्रह्म[७] को पहचान सकता है ? यदि बुद्धि विचार हीन है तो समझना चाहिये कि—जीवात्मा रूप भवन खाली[८] ही है ।

रज्जब आतम राम बिच, दीसै अकलि[५] दलाल ।
कूंची कुमति कपाट की, खोलै, ताला साल[६] ॥११॥

आत्मा और राम के बीच में ज्ञान[५] दलाल रूप भासता है तथा कुबुद्धि रूप कपाट के दुःख[६] रूप ताले को खोलने के लिये ज्ञान ही कूंची है अर्थात् ज्ञान से ही कुबुद्धि नष्ट होकर दुःख सर्वथा नष्ट होता है अन्यथा नहीं ।

अकल[५] अकलि[६] माँहीं धरचा, सब विद्या अरु वेद ।
परापरो[७] पर ब्रह्म का, भूत सु पावै भेद[८] ॥१२॥

कला रहित ब्रह्म,[५] संपूर्ण विद्या और वेद, सब ज्ञान[६] में ही स्थित हैं । परात्पर[७] परब्रह्म का रहस्यमय[८] स्वरूप प्राणी ज्ञान से ही प्राप्त करता है ।

अकलि[५] सु अग्नि अनन्त मुख, सब दिशि करहिं प्रकाश ।
रज्जब अज्जब तत्त्व ये, चरहिं[६] अशंका[७] घास ॥१३॥

ज्ञान[५] अग्नि के समान अनन्त मुख वाला है, जैसे अग्नि सब ओर प्रकाश करता है, वैसे ही ज्ञान भी सबके हृदयों में प्रकाश करता है । अग्नि और ज्ञान दोनों ही अद्भुत तत्त्व हैं, जैसे अग्नि घास को खा-जाता[६] है अर्थात् जला देता है, वैसे ही ज्ञान शंकाओं[७] को नष्ट कर देता है ।

एक अकलि[५] के उदर में, अकल[६] सकल[७] सब साज[८] ।
रज्जब तामें पाइये, श्री सहित सु शिरताज[९] ॥१४॥

एक बुद्धि[५] के पेट में ही कला रहित ब्रह्म[६] और कला सहित मायिक संसार[७] के सब ठाट[८]-बाट हैं, उसी में लक्ष्मी के सहित लक्ष्मी के स्वामी[९] प्रभु हैं ।

रज्जब उदर सु अकलि[५] के, अरभक[६] है ओंकार ।
चतुर वेद बालक सु लघु, ता पीछे संसार ॥१५॥

बुद्धि[५] के पेट में ओंकार रूप बच्चा[६] है और चार वेद लघु बालक हैं, उसके पीछे सब संसार है अर्थात् जो कुछ है सो सब बुद्धि में ही है ।

सहस[५] नाम सुत अकलि के, सो सुमिरै संसार ।
जन रज्जब हैरान[६] है, मति मधि उदर अपार ॥१६॥

प्रभु के हजार[५] नाम बुद्धि के ही पुत्र हैं, सभी संसार के लोग उनका स्मरण करते हैं, हम बुद्धि के मध्य अपार पेट को देख कर आश्चर्य[६] चकित हैं ।

प्राण पुरुष अबला[५] अकलि, मिल सुत जाया नाँउ[६] ।
लघु लरिका[७] माता बड़ी, परि टीका व्है किस ठांउ[८] ॥१७॥

प्राणी रूप पुरुष और बुद्धि रूप नारी[५] ने मिलकर प्रभु का नाम[६] रूप पुत्र उत्पन्न किया है, लड़का[७] छोटा है और माता बड़ी है किन्तु टीका किस ठौर[८] होता है ? बेटे के मस्तक पर ही होता है। अतः बुद्धि से भी नाम महान् है ।

राग रूप अरु शब्द सुख, पावे कोई एक ।
रज्जब बुद्धि विलास[५] का, घट[६] घट नहीं विवेक ॥१८॥

राग का स्वरूप और शब्द का आनन्द कोई विरला बुद्धिमान् ही पाता है, वैसे ही बुद्धि से मिलने वाले आनन्द[५] का विवेक प्रति शरीर[६] में नहीं होता ।

चेतन[५] चूरै[६] सकल गुण, तन मन राखै हाथ ।
रज्जब काम उभय करे, तज पृथ्वी पति साथ ॥१९॥

सावधान[५] बुद्धिमान् कामक्रोधादिसंपूर्ण गुणों का चूर्ण[६] करता है अर्थात् नष्ट करता है, तन-मन को संयम रूप हाथ में रखता है, ये दोनों काम पृथ्वीपति राजाओं का साथ छोड़कर ही करता है, कारण-राजा आदि भोग-परायण जनों के साथ उक्त दोनों काम होना कठिन है ।

सूक्षम स्थूल न सूझ[१] ही, आतम अंध अज्ञान ।
ज्ञान नैंन देखै सभी, जगपति सहित जहान ॥२०॥

अज्ञान द्वारा अंध जीवात्मा को सूक्ष्म वा स्थूल भी नहीं दीखता[१] वा जैसे अंधे को स्थूल पदार्थ नहीं दीखता वैसे ही अज्ञानी को सूक्ष्म नहीं दीखता और ज्ञान-नेत्र वाला तो जगत्पति प्रभु के सहित सभी जगत् को देखता है ।

पून्यों[१] पूरे[२] पाव हीं, प्राण पियूष[३] प्रकाश ।
त्यों रज्जब रस[४] दृष्टि[५] के, दान दुरस[६] निजदास ॥२१॥

जैसे पूर्णिमा[१] को पूर्ण[२] चन्द्रमा से प्राणी अमृत[३] और प्रकाश प्राप्त करते हैं, वैसे ही भगवान् के निजी भक्त सहोदर भ्राता[६] के समान सबको प्रभु-प्रेम[४] और ज्ञान[५] दृष्टि प्रदान करते हैं ।

अकलि उक्ति अनुभव उपज, मति बुधि ज्ञान विचार ।
समझ बूझ सुरति जाणिबा, रज्जब राखणहार ॥२२॥

अक्ल, उक्ति, अनुभव, उपज, मति, बुद्धि, ज्ञान, विचार, समझ, बूझ, सुरति और जानना इन सबको भगवान् के निजी भक्त ही रखने वाले होते हैं । इसमें बुद्धि, ज्ञान और वृत्ति के पर्याय ही संग्रह किये गये हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अकलि चेतन का अंग १४६

समाप्तः ॥ सा० ४६०० ॥

अथ अज्ञान अचेत का अंग १५०

इस अंग में अज्ञान द्वारा अचेत जन विषयक विचार कर रहे हैं—

अचेत न जाने आपको, पर हि पिछाणे नांहि ।
रज्जब रुचे न राम को, जीवत मूवों मांहि ॥१॥

अज्ञान से असावधा हुआ प्राणी अपने स्वरूप को भी नहीं जानता और प्रभु को भी नहीं पहचानता, ऐसा प्राणी राम को प्रिय नहीं होता, वह जीवित भी मुरदों की संख्या में ही है ।

सो धी[1] बिन सूते सबै, मेलि[2] सु निर्णय नैन ।
रज्जब राम न सूझ[3] ही, जीवित मूये ऐन[4] ॥२॥

उस ब्रह्म ज्ञान युक्त बुद्धि[1] के बिना सब निर्णय रूप नेत्रों को मींच[2]-कर सो रहे हैं, इससे उन्हें राम नहीं दीखते[3], वे जीवित भी सर्वथा[4] मुरदों की गणना में ही हैं ।

अचेत[1] आतमा अंध गति[2], तन मन तम भरपूर ।
रज्जब राम न सूझ ही, बाहिर भीतर सूर ॥३॥

अज्ञानी[1] प्राणी अंधे के समान[2] है, उसके तन-मन में अज्ञान रूप अंधेरा पूर्ण रूप से भरा है । जैसे अंधे को बाहर सूर्य नहीं दीखता वैसे ही उसे भीतर स्थित राम नहीं दीखता ।

रज्जब अंड अचेत[1] गति[2], कहु आरंभ[3] क्या होय ।
भजन भोग दोन्यों नहीं, देखो दृष्टि सु जोय[4] ॥४॥

अज्ञानी[1] अंडे के समान[2] हैं, कहो अंडे से क्या कार्य[3] होता है ? वैसे ही जो[4] अज्ञानी है उसे भी दृष्टि से देखो, उससे भजन तथा भोग दोनों ही नहीं होते ।

रज्जब अंध अचेत[1] मन, मूढा मुग्ध[2] गँवार[3] ।
शठ[4] सूता समझै नहीं, कहै न सिरजनहार ॥५॥

अज्ञानी[1], ज्ञान नेत्रों से हीन, मूर्ख मन, नारी आदि में मोहित[2], धूर्त[4], मोह निद्रा में सोता ही रहता है, अनजान[3] होने से न तो प्रभु के स्वरूप को समझता और न सृष्टि कर्त्ता ईश्वर का नाम ही उच्चारण करता है ।

उर[1] घर चारों वर्ण के, रज्जब रजनी मांहि ।
ज्ञान दीप बिन तिमिर में, सदनों[2] सूझै नांहि ॥६॥

चारों वर्णों के हृदय[1] रूप घर अज्ञान-रात्रि के अंधेरे में हैं, जैसे दीपक बिना अंधेरी रात्रि में घरों[2] में कुछ नहीं दीखता, वैसे ही ज्ञान बिना हृदय में कुछ भी नहीं दीखता।

काया खानि षट् दर्श[1] परि, अचेत[2] अंधेरा मांहि।
रज्जब लै[3] दीपक बिना, उभय उदीपै[4] नांहि ॥७॥

जैसे खानि में अंधेरा होता है, वैसे ही छः प्रकार के भेषधारियों[1] के शरीरों में अज्ञान[2] अंधेरा है। दीपक और ब्रह्म चिन्तन[3] रूप लय वृत्ति बिना खानि और हृदय में प्रकाश[4] नहीं होता।

रज्जब सूते रैनि के, प्राणी उठहिं प्रभात।
नर निद्रा हरि सौं विमुख, सो जागे दिवस न रात ॥८॥

रात्रि को सोये हुये प्राणी प्रातःकाल उठ जाते हैं किंतु जो नर हरि से विमुखता रूप निद्रा में सो रहे हैं, वे रात्रि-दिन में कभी भी नहीं जगते।

झूठ सांच सा देखिये, ज्ञान नैन जब नांहि।
ज्यों बिन दीसै विघ्न गति, रज्जब रजनी मांहि ॥९॥

जैसे रात्रि में बिना दीखे विघ्न पूर्वक गमन होता है अर्थात् खड्डा समतल-सा भास जाता है, वैसे ही जब ज्ञान-नेत्र नहीं होते तब मिथ्या संसार और उसके पदार्थ भी सत्य से दिखाई देते हैं।

रज्जब भोल[1] भयानकी[2], तन त्रिभुवन तम पूरि।
छल बल पकड़े सो तहाँ, बहु विधि विघ्न हजूरि[3] ॥१०॥

भूल[1] बडी डरावनी[2] है, उसके कारण त्रिभुवन के शरीरों में अज्ञान रूप अंधेरा भरा है, उस अँधेरे में प्राणी को आसुर गुण और धूर्त जन छल-बल से पकड़ते हैं और नाना प्रकार के विघ्न उसके सामने उपस्थित[3] होते हैं।

रज्जब रैनि अचेत मति, विषय बीज विस्तार।
पाया सोवत स्वप्न में, अकलि[1] अशंका पार ॥११॥

अज्ञानी की बुद्धि रूप रात्रि में विषय रूप बीज का विस्तार होता है। जैसे किसी की बुद्धि[1] सोते समय स्वप्न में शंकाओं से पार होती है, वह मिथ्या है, वैसे ही अज्ञानी की बुद्धि का शंकाओं से पार होना मिथ्या है।

नर नारी हिरदै रहै, नारी नर मंझार।
पैठि कामना कांवरू[1], मुग्ध[2] मैन[3] मंत्र धार ॥१२॥

जैसे कामरूप[1] देश में जाकर प्राणी मंत्र से मोहित[2] हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी कामना को धारण करके काम[3] से मोहित हो जाते हैं फिर नर नारी के हृदय में रहता है और नारी नर के हृदय में रहती है।

रज्जब रैनि अचेत[1] में, उडगण[2] इन्द्री तेज।
तिमिर[3] नींद करि पुष्ट[4] ह्वै, हूं हैरान[5] इहि हेज[6] ॥१३॥

रात्रि में तारा[2] गण का तेज अंधेरे से बढता है। वैसे ही अज्ञानी[1] में इन्द्रियों का बल मोह नींद से बढ़ता[4] है। इस अंधेरे[3]-तारागण और इन्द्रिय-नींद का प्रेम[6] देख कर हम आश्चर्य[5] युक्त होते हैं।

इन्द्री घूघू[1] नेत[2], अचेत[3] रैनि करि पोखिये।
सही[4] उभय अंग[5] प्रेत[6], रज्जब रजनी मोखिये[7] ॥१४॥

रात्रि से उल्लू[1] के नेत्रों[2] का पोषण होता है, वैसे ही अज्ञान से अज्ञानी[3] की इन्द्रियों का पोषण होता है। जब रात्रि और अज्ञान चले[7] जाते हैं तब निश्चय[4] ही उल्लू के नेत्र और अज्ञानी की इन्द्रियों के आकार[5] दोनों मुर्दे[6] के समान हो जाते हैं।

चोर जार वट पार विधु, वन वैरी त्रिय हाथ।
रज्जब रजनी ज्ञान बिन, बलवन्त इन्द्री नाथ ॥१५॥

चोर, जार, बटपार, चन्द्रमा, अग्नि, और नारी का हाथ, ये रात्रि में बलवान् होते हैं, वैसे ही इन्द्रिय और इन्द्रिय नाथ मन ज्ञान बिना अज्ञान में बलवान् होते हैं।

अरिल–अस्थल[1] अशुध[2] अचेत[3], प्रेत परिवार तन।
अरि इन्द्री अघ ठौर, ममत[4] मति हीन मन॥
भोलि[5] भूल चक[6] चूक[7], विघ्न विस्तार रे।
परि हाँ रज्जब रैनि अचेत, पग पग मार रे ॥१६॥

अशुद्ध[2] स्थान[1] में प्रेत का परिवार रहता है, वहां रात्रि को पद-पद पर भय रहता है। वैसे ही अज्ञानी[3] का शरीर पाप का स्थान है। उसमें अजीत इन्द्रिय रूप शत्रु, ममता[4], बुद्धि हीनता, हीन मन, भोलापन,[5] भूल, भ्रान्ति[6], कपट[7] और विघ्नों का विस्तार रहता है, इसलिये पद-पद में अज्ञानी पर मार पड़ती है।

सूने भवन अचेत[1] उर, भूत वसैं के सान[2]।
जन रज्जब तिहिं जीव को, जीवन जुगति न जान ॥१७॥

जैसे सूने भवन में भूत बसते हैं, वैसे ही अज्ञानी[1] के हृदय में काम, क्रोधादि मिले[2] रहते हैं, उस अज्ञानी जीव के लिये सुख पूर्वक जीवन धारण करने की युक्ति नहीं जानने में आती।

रज्जब काया कांवरू[1], आया जीव अचेत[2]।
मनसा[3] नारी मंत्र में, प्राणी पशु करि लेत ॥१८॥

कामरूप[1] (आसाम) देश में जाने से नारी अपनी मंत्र शक्ति में फंसा कर नर को पशु बना लेती थी, वैसे ही अज्ञानी[2] जीव काया में आया है तब से ही कामना[3] के अधीन हो रहा है।

तन ठग मन ठग स्वाद ठग, ठग पंचों हि प्रसिद्ध।
रज्जब भोली आतमा, कण[1] राखै किहि विद्ध[2] ॥१९॥

यह प्रसिद्ध है कि-तन, मन, स्वाद और पांचों ज्ञानेन्द्रियें, ये सब ज्ञान धन को ठगते हैं अतः ठग हैं। अज्ञानी जीवात्मा भोला है, तब यह तत्त्व[1] ज्ञान की रक्षा किस विधि[2] से कर सकेगा ?

पिंड सु पिशुनों[1] सौं भरचा, वैरचों सौं ब्रह्मण्ड।
रज्जब रजमा क्यों रहै, खल छाये नौ खण्ड ॥२०॥

शरीर काम क्रोधादि दुष्टों[1] से भरा है, सारा ब्रह्माण्ड शत्रुओं से परिपूर्ण है, जम्बू द्वीप की पृथ्वी के नौ ओं खंडों में ही दुर्जन छाये हुये हैं तब अज्ञानी के हृदय में ज्ञान-धन का अंश कैसे रह सकेगा ?

देव गुरु सब दिन कहैं, मन माया सौं तोड़ि[1]।
रज्जब निद्रा निमष में, सहज गई सो जोड़ि ॥२१॥

गुरुदेव सब दिन ही कहते हैं—मन को माया से हटाओ[1], अज्ञानी प्राणी प्रयत्न भी करते हैं किन्तु वह तो निद्रा के समय एक निमेष में अनायास ही मन को अपने में जोड़ जाती है।

रज्जब जोगी भोगी होत है, नर निद्रा में सोय।
मींच नीच दीरघ खड़ी, तिहिं धक्के क्या होय ॥२२॥

निद्रा में सोकर एक क्षण में ही योगी नर भोगी हो जाते हैं, तब नीच मृत्यु तो दीर्घ काल से सामने खड़ी है, पता नहीं उसके धक्के से क्या होगा ?

रज्जब एक अचेत[1] अंग[2], अरि अनन्त उनमान[3]।
चेतन[4] सज्जन से निजीव[5], केतक[6] कहूं बखान ॥२३॥

अज्ञानी[1] के एक शरीर[2] के अनन्त शत्रु हैं, ऐसा अनुमान[3] होता है और ज्ञानी[4] सज्जन तो निर्जीव[5]-से हो जाते हैं अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाते हैं, उनके शत्रु मित्र कोई नहीं होता, उनकी विशेषता व्याख्यान द्वारा कितनीक[6] कहूँ अर्थात् अपार है कही नहीं जा सकती।

आतम उरहुं अचेत[1] अँधारा. चेतन[2] मनहुं चिराग।
रज्जब उर में कछू न सूझै, तिहिं सब सूझण लाग ॥२४॥

अज्ञानी[1] जीवात्मा के हृदय में अज्ञान रूप अंधेरा रहता है उसके हृदय में कुछ भी नहीं दीखता, ज्ञानी[2] के मन में ज्ञान रूप चिराग जलता है उसे सब कुछ दीखता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अज्ञान अचेत का अंग १५०
समाप्तः ॥सा० ४६२४॥

अथ दरिद्रता का अंग १५१

इस अंग में दरिद्रता और उसके हेतु आलस्य का विचार कर रहे हैं–

अबला[1] बली सु आलकस[2], सब वैरिन शिरताज[3] ।
रज्जब तन मन सकल के, करे न चिंता राज ॥१॥

नारी[1] से भी आलस्य[2] अधिक बलवान् है और सब शत्रुओं से भी बड़ा[3] शत्रु है । आलस्य आने पर सभी प्राणियों के शरीर में कार्य करने के लिये स्फूर्ति नहीं रहती और सभी के मन में धन कमाने आदि की चिन्ता का राज्य नहीं होता अर्थात् चिन्ता नहीं रहती, इससे दरिद्रता ही रहती है ।

शब्द शरीर रु जीव मधि[1], आलस है सुलतान[2] ।
रज्जब रोके मुर[3] भवन, वाइक[4] वपु अरु प्रान[5] ॥२॥

शब्द, शरीर और जीव में[1] आलस्य ही बादशाह[2] है, यह स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल तीनों[3] ही लोकों में बोलने से वचन[4] को, कार्य करने से शरीर को और विचार करने से जीव[5] को रोकता है, इसी से दरिद्रता आती है ।

रज्जब चंपे[1] दरिद्र के, किया न जाई काम ।
अलजूदी[2] अति आलसू[3], कहै कौन विधि राम ॥३॥

दरिद्रता के हेतु आलस्य के नीचे दबने[1] से घर के काम भी नहीं किये जा सकते फिर निर्लज्ज[2] आलसी[3] राम का नाम किस प्रकार कह सकते हैं ।

दरिद्र माँहि दोन्यों गई, माया ब्रह्म सहेत ।
स्वारथ परमारथ नहीं, खोया काया खेत ॥४॥

दरिद्रता के हेतु आलस्य के आने पर माया और ब्रह्म के चिन्तन सहित व्यवहार तथा परमार्थ दोनों की ही भावना हृदय से चली जाती है । इससे स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों ही सिद्ध नहीं होते और स्वार्थ-परमार्थ रूप खेती को उत्पन्न करने वाले शरीर रूप खेत को आलसी व्यर्थ ही खो देता है ।

गुरु गोविन्द गृह द्वार के, आलस खोये सुःख।
रज्जब देखैं प्राणियें, तब दरिद्र का मुःख ॥५॥

आलस्य से प्राणी गुरु, गोविन्द और घर द्वारा मिलने वाले सुख को खो देता है, आलस्य करते हैं तभी प्राणी दरिद्रता का मुख देखते हैं अर्थात् दरिद्री होते हैं।

रज्जब प्रभु के पंथ में, नहिं दरिद्र का खोज[1]।
सेवा सुमिरण देखतों, बैठ रु माँडहिं[2] रोज[3] ॥६॥

प्रभु प्राप्ति के मार्ग में तो दरिद्र का चिन्ह[1] भी नहीं है किन्तु प्रभु की सेवा और स्मरण को तो देखते ही प्राणी बैठ कर रोना[3] आरंभ[2] कर देते हैं।

काम सु मरदहु मरद का, काहिल[4] कन[5] क्यों होय।
देखि दरिद्री आलसू[6], रज्जब रहे सु रोय ॥७॥

प्रभु के मार्ग में चलना रूप काम तो वीरों में भी महान् वीर का काम है, यह आलसी[4] से[5] कैसे हो सकता है ? देखो, आलस्य द्वारा दरिद्री होने वाले आलसी[6] लोग तो सदा रोते ही रहे हैं।

पांचों तत्त्व मयंक[4] सौं[5], अन्नहि काज मजूर[6]।
रज्जब सो[7] दारिद्र में, आवे क्यों सु हजूर[8] ॥८॥

चन्द्रमा[4] के सहित[5] आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पांचों ही तत्त्व अन्न उत्पन्न करने के लिये मजदूर[6] बन रहे हैं। वह[7] अन्न आलस्य द्वारा दरिद्रता से युक्त प्राणी के पास[8] सुगमता से कैसे आ सकता है ?

उदर[4] बिना आरंभ[5] करैं, देखो अवनि अकाश।
तो रज्जब सूता सु क्यों, पेट लिये रे[6] पास ॥९॥

देखो, जिनके पेट[4] नहीं है, वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश भी अन्न उत्पन्न करने के काम[5] को करते हैं। अरे[6] ! तब तू पेट को पास लेकर भी आलस्य में क्यों सूता पड़ा है ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दरिद्रता का अंग १५१
समाप्तः ॥ सा. ४६३३ ॥

अथ मन का अंग १५२

इस अंग में मन विषयक विचार कर रहे हैं—

मन हस्ती मैला भया, आप बाहि[1] शिर धूरि।
रज्जब रज क्यों ऊतरै, हरि सागर जल दूरि ॥१॥

जैसे हाथी स्वयं ही अपने ऊपर धूलि डाल[1] कर मैला हो जाता है फिर उसकी वह रज सरोवर से दूर रहने पर कैसे उतर सकती है ? वैसे ही पाप कर्मों में लग कर मन स्वयं ही मलीन हो गया है, अब हरि स्मरण से दूर है तब तक इसका पाप कैसे उतर सकता है ?

मन माया त्यागै गहै, निपट टूटि नहिं जाय ।
जन रज्जब पशु की विरति, उगलि उगलि अरु खाय ॥२॥

जैसे पशु का स्वभाव है कि—वह बारंबार उगल-उगल कर पुनः खाता है, वैसे ही मन की वृत्ति है, मन माया को त्यागता है और पुनः ग्रहण कर लेता है । मन की प्रीति माया से सर्वथा नहीं टूटती ।

मन मरकट[1] मूके[2] नहीं, माया मूंठी मांहि ।
रज्जब केते उठि गये, इन यहु त्यागी नांहि ॥३॥

जैसे वानर[1] पृथ्वी में गडी हुई संकडे मुख की हँडिया में चणों की मुट्ठी भरके नहीं छोडता[2], वैसे ही मन ने शरीर के भीतर माया को पकड़ रक्खा है । इस स्थिति में कितने ही शरीर नष्ट हो गये हैं वा कितने ही उपदेशक उपदेश करके चले गये हैं किन्तु इस मन ने अब तक भी इस माया को नहीं छोड़ा है ।

जे मन को माया मिले, तो मन चढै अकाश ।
रज्जब माया चलि गई, तब दुर्बल ह्वै दास ॥४॥

यदि मन को माया मिल जाती है तो यह आकाश में चढ जाता है अर्थात् अपने को बहुत बड़ा मानने लगता है और माया चली जाती है तब अति कमजोर और सबका सेवक बन जाता है ।

जब मन को माया मिले, तब मन आंधा होय ।
रज्जब माया चलि गई, तब कुछ देखे सोय ॥५॥

जब मन को माया मिलती है तब वह ज्ञान नेत्रों से हीन अंधा हो जाता है और माया चली जाती है तब वह कुछ देखने लगता है अर्थात् विचार करने लगता है ।

जब मन को माया मिले, तब मन का छः रंग ।
रज्जब माया चलि गई, सहज भये रंग भंग ॥६॥

जब मन को माया मिलती है तब मन पर-पांच विषय तथा छठा अहंकार, ये ६ रंग चढ जाते हैं और माया चली जाती है तब अनायास ही उक्त रंग नष्ट हो जाते हैं ।

जब मन को माया मिले, तब बहुत नचावे नाँच।
रज्जब माया चलि गई, तब निश्चल बैठे पाँच ॥७॥

जब मन को माया मिलती है तब अभिमान और चंचलता द्वारा प्राणी को बहुत नाच नचाता है और माया चली जाती है तब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सहित निश्चल होकर बैठ जाता है।

जब मन को माया मिले, तब जिव चाहै भोग।
रज्जब माया चलि गई, तब जीव उपज्या जोग ॥८॥

जब मन को माया मिलती है तब जीव भोगों की इच्छा करता है और माया चली जाती है तब जीव के अन्तःकरण में योग साधन करने का विचार उत्पन्न होता है।

चढतों मन शशि चांदणा, उतरत उभय अंधार।
आदि अंत अवलोकि[1] कर, रज्जब किया विचार ॥९॥

चन्द्रमा आकाश में चढता है वा शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की कलायें बढती जाती हैं तव प्रकाश बढता जाता है और नीचे उतरता है वा कृष्ण पक्ष में कलायें घटती जाती हैं तब अंत में अमावस्या को अंधेरा हो जाता है। वैसे ही मन साधन द्वारा प्रभु की ओर ऊँचा चढता है तब तो ज्ञान प्रकाश बढ़ता जाता है और माया की ओर उतरता है तब अज्ञान रूप अंधेरा बढ़ता जाता है। इस प्रकार चन्द्रमा और मन इन दोनों की आदि तथा अन्त की स्थिति देख[1] करके ही यह विचार प्रकट किया है।

मन मोत्या[1] घर घर फिरै, सु स्थिर बैठे नाँहि।
रज्जब राम हिं क्यों मिले, कूकर[2] की मति माँहि ॥१०॥

जैसे कुत्ता[1] घर घर फिरता है स्थिर होकर नहीं बैठता, वैसे ही मन विषयों में फिरता है, प्रभु के नाम तथा स्वरूप में स्थिर नहीं रहता। तब इस भ्रमण करना रूप कुत्ते[2] की बुद्धि में संलग्न रहने से राम कैसे मिलेंगे ?

गादह[1] चंदन चरचिये[2], ख्याल[3] खोलि[4] सौं नाँहि।
रज्जब छूटयों छार[5] में, यहु स्वभाव मन माँहि ॥११॥

गधे[1] के चन्दन लगाया[2] जाय तो भी उसे उस चन्दन लेप[4] से क्या लाभ है ? उसे उसका कुछ भी ध्यान[3] नहीं रहता। वह तो चन्दन लगाने वाले के हाथ से छूटते ही भस्म[5] में लौटने लगता है। यही स्वभाव मन का है, इसे वैराग्य का उपदेश देने पर भी यह विषयों में ही जाता है।

कूकर काक करंक[3] परि, पाक[1] पूरि[2] तजि जाँहि।
त्यों रज्जब मन की विरति, तजि अमृत विष खाँहि ॥१२॥

कुत्ता और काक पक्षी ये पकवान्न[1]से भरे[2] पात्र को छोड़कर अस्थि-पंजर[3] पर ही जाते हैं। वैसे ही मन की वृत्ति है, यह मन भी भगवद् भजनामृत को छोड़कर विषय-विष ही खाता है।

रज्जब परिहर राम रस, मन भुगते निज काम।
सूवर सूंर्धाहि[1] क्या करे, विष्टा में विश्राम ॥१३॥

मन राम भक्ति-रस को त्याग कर निजी कामना के अनुसार भोगों को ही भोगता है। जैसे शूकर सुगंध-द्रव्य[1] का क्या करे ? उसे तो मल में रहने से ही सुख मिलता है। वैसे ही मन भक्ति-ज्ञानादि का क्या करे उसे तो विषयों में ही सुख मिलता है।

मन अमली इस मांड का, उनमनि कनें न जाय।
रज्जब तजि जीवन जुगति, मरणै रह्या समाय ॥१४॥

मन इस ब्रह्माण्ड में रहने का ही व्यसनी है। समाधि के तो समीप भी नहीं जाता, यह नित्य जीवन प्राप्त करने की युक्ति भक्ति-ज्ञान को छोड़ कर मृत्यु प्रदाता विषयों में ही लग रहा है।

रज्जब गृह वैराग्य मधि, मन में खरा न खोट।
मुगल चले ज्यों और दिशि, करै और दिशि चोट ॥१५॥

घर में रहने से तथा विरक्त होने से मन में श्रेष्ठता नहीं आती। जैसे खांडे पट्टे के खेल में काट करते समय मुगल चलता तो दूसरी दिशा में है और चोट दूसरी दिशा में मारता है। वैसे ही मन वैराग्य के मार्ग में चलते २ विषयों में घुस जाता है।

रज्जब मनवा भूत है, सदा सु उलटे पाँव।
देखा गृह वैराग्य में, खेले अपना दाँव ॥१६॥

यह मन भूत के समान है, जैसे भूत सदा उलटे पैर चलता है, वैसे ही मन भी उलटा ही चलता है। देखो, गृहस्थ तथा विरक्त दोनों ही आश्रमों में अपने चंचलता रूप दाँव खेलता रहता है।

मन न होय भगवंत का, परमोधत[1] गइ आव[2]।
रज्जब रामति[3] रमण की, ले ले आवै भाव ॥१७॥

उपदेश[1] करते २ संपूर्ण आयु[2] चली गई किन्तु मन भगवान् का नहीं बनता, संसार में विचरते[3] हुये विषय में रमण करने के भावों को ही ले ले कर आगे आता है अर्थात् विषय भोगने के मनोरथ ही करता रहता है।

मन बेगारी शिर धरचा, नाम निजरंन बोझ ।
सो रज्जब डारचों खुशी, ऐसा जंगली रोझ ॥१८॥

जैसे बेगारी के शिर पर बेगार का बोझ होता है, उसको डालने से ही उसे प्रसन्नता होती है । वैसे ही मन को निरंजन राम के नाम का बोझ लगता है , उसे छोड़कर विषयों में जाता है, तब ही प्रसन्न होता है । यह मन ऐसा जंगली रोझ पशु के समान मूर्ख है ।

मन कच्छप तन कूप गति, जब तब करै विनाश ।
रज्जब एक हि ढाहि[1] करि, दूजे में परकाश[2] ॥१९॥

जैसे कूप में कछुवा रहता है, वैसे ही मन शरीर में रहता है । कछुवा जब तब किसी जल जंतु को नष्ट[1] करता है तो और जल जंतु प्रकट हो जाता है । वैसे ही मन एक विषय को पटक कर दूसरे में प्रकट[2] हो जाता है अर्थात् दूसरे विषय को भोगने लगता है ।

सकल विकारों में खुशी, यहु मन को रस रीति ।
जन रज्जब कहि कहि मुवा[1], हरि सौं करे न प्रीति ॥२०॥

मन को रस आने की रीति यही है कि—इसे विकारों में रक्खा जाय[1] यह सभी विकारों में प्रसन्न रहता है । हम मन को कह कह कर थक, गये हैं किन्तु यह हरि से प्रीति नहीं करता ।

बहुत ज्ञान गुण सीख ले, जीव न जाने साध ।
रज्जब रहै न उस मतै, बहुरि करै अपराध ॥२१॥

मन बहुत गुण और ज्ञान सीख लेता है किन्तु इससे इस मन को कोई साधु न समझ लें, यह सीखे हुये सिद्धान्त में स्थिर नहीं रहता, सीख कर के फिर भी पाप करता रहता है ।

यहु मन चंचल चोरटा, ठिक ठाहर कोउ नाँहि ।
रज्जब बात भली कहै, बहुत बुराई माँहि ॥२२॥

यह मन बड़ा चंचल और चोर है, इसका ठीक ठिकाना कोई नहीं है । यह बातें तो अच्छी २ कहता है किन्तु इसके भीतर बहुत बुराइयाँ रहती हैं ।

मा बेटी मन के नहीं, बाई बहन न कोय ।
जन रज्जब पशु की विरति, सब करि देखै जोय[1] ॥२३॥

मन के भीतर माता, पुत्री, बाई, बहिन का संबन्ध नहीं रहता, उसकी पशु जैसी वृत्ति होती है । यह सभी को स्त्री[1] करके देखता है ।

आँख्यों ऐन[1] अनंग[2] मग[3], मुँहड़े[4] बाई मात।
माँहीं मिहरी[5] करि गया, रज्जब मन की घात[6] ॥२४॥

मन मुख[4] से तो माता-बहिन बोलता है किन्तु भीतरसे सबको नारी[5] कर लेता है और आँखों से ठीक[1] काम[2] का ही मार्ग[3] ग्रहण करता है अर्थात् कामुक दृष्टि से ही देखता है। यह मन ऐसा ही दांव[6] खेलता रहता है।

काया कामी कुटिल[1] मति, अँग अँग ऐन[2] अनंग[3]।
रज्जब बात खरी[4] कहै, मन में खोटा नंग[5] ॥२५॥

शरीर के भीतर यह दुष्ट[1] बुद्धि कामी ही बना रहता है, इसके प्रत्येक अंग में ठीक[2] काम[3] ही बसा रहता है और बातें श्रेष्ठ[4] २ कहता है किन्तु यह मन भीतर तो श्रेष्ठता से रहित[5] बुरा ही बना रहता है।

यहु मन ऐसा धूत[1] है, मुंहडे कह्या न जाय।
रज्जब मारै जीव को, बहु विधि घात[2] बणाय[3] ॥२६॥

यह मन ऐसा धूर्त[1] है कि—इसकी धूर्तता मुख से कही भी नहीं जा सकती, यह बहुत प्रकार दाँव[2] रच[3] कर जीवों को मारता है।

रज्जब मन के पेच को, लखे न मुनिवर प्राण[1]।
तो क्या जाने जीव जड, सदा अचेत अयाण[2] ॥२७॥

मुनिवर प्राणी[1] भी मन के दांव-पेंचों को नहीं जान पाते तब सदा असावधान रहने वाले अज्ञानी[2] जड़ जीव क्या जान सकते हैं।

जोड़ अकोड़[1] देय मन छूटे, सुमिरण करै न संकट आय।
महंत मते[2] को मूल[3] न माने, कवि कथण्यों जीवहिं ठग जाय ॥२८॥

असंख्य[1] जोड़ लगाने पर भी मन छुट जाता है, हरि स्मरण नहीं करता, तब दुःख ही आते हैं। महान् पुरुषों के सिद्धान्त[2] को तो किंचित[3] भी नहीं मानता और कवियों के शृंगारपूर्ण कथनों से जीव ठगा जाता है।

मन शैतान सूता भला, जाग्यों जग में जाय।
रज्जब बीधे व्याधि में, सुमिरण करै न आय ॥२९॥

बहकाने वाला मन रूप शैतान तो सूता रहने से ही अच्छा है, जागने से तो जगत् में ही जाता है और भव-व्याधि से बीधता है, संसार भावना से लौट कर हरि स्मरण नहीं करता।

रज्जब दुख दाई सूता भला, सूते सौं भल मींच।
जो जाग्यों जौहर करै, दई न जगाई नींच ॥३०॥

दु:ख दाता तो सूता ही अच्छा है, सोने से भी उसकी मृत्यु होना अच्छा है। जो जागने से झगड़ा करे, हे ईश्वर ! उस नीच को न जगाना।

ब्रह्म विछोह न व्याप ही, भूला भोंदू मींच।
रज्जब राता झूंठ सौं, कहत सुनत मन नींच ॥३१॥

इस मन को ब्रह्म के वियोग की व्यथा नहीं होती, यह मूर्ख मृत्यु को भी भूल गया है और मिथ्या भोगों में ही अनुरक्त हो रहा है, तथा यह नीच मिथ्या भोगों की ही बातें कहता है तथा सुनता है।

यहु मन बूंटा बाँस का, माया मेघ समान।
लघु दीरघ ह्वै गरज सुणि, जन रज्जब हैरान[1] ॥३२॥

यह मन बांस के वृक्ष के समान है और माया मेघ के समान है। जैसे बादल की गर्जना सुनकर बांस की जड़ों का छोटा अंकुर बड़ा हो जाता है वैसे ही बडा आश्चर्य[1] है कि माया संबन्धी शब्द सुन कर मन भी बढ़ जाता है।

यहु मन मृतक देखि कर, धीज न कीजे नेह।
रज्जब जीवे पलक में, ज्यों मीडक जल मेह ॥३३॥

इस मन को मरा हुआ देख कर अपने वश होने का विश्वास करके विषयों से प्रेम नहीं करना चाहिये। जैसे मरा हुआ मेढक वर्षा के जल से जीवित हो जाता है, वैसे ही यह मन भी क्षण मात्र के विषय संबन्ध से जीवित हो जाता है।

मुर[1] मरि जीवित बेर क्या, दामिनि मनसा[2] मन्न[3]।
धर धीरज में राखिये, जन रज्जब सो धन्न[4] ॥३४॥

बिजली, मनोरथ[2] और मन[3] इन तीन[1] को मरकर जीवित होते क्या देर लगती है ? अत: मन और मनोरथों को साधन द्वारा ग्रहण करके धैर्य पूर्वक रखना चाहिये। जो इनको वश में रखता है वही धन्य[4] है।

खंड खंड करि काटिये, मन केशों डर नांहि।
जन रज्जब जड़ जीवती, अमर न डरपै मांहि ॥३५॥

मन और केशों को काट कर टुकड़े २ कर डालें तो भी उनको कोई डर नहीं है, कारण—केशों की जड़ त्वचा के भीतर जीवित है, वैसे ही मन भी भीतर अमर है, अत: नहीं डरता।

रज्जब राखैं कौन विधि, मन में मौज[1] अपार।
एक मौज जे मारिये, तो उर[2] उठैं हजार ॥३६॥

मन में भावना मय अपार लहरि[1] उठती हैं। इसे किस प्रकार स्थिर रक्खा जाय ? यदि मन[2] की एक लहरि को मारते हैं तो इसमें हजार लहरि उठती हैं।

जल तरंग तट पौन[1] थिर, ऋतु गत[2] आभे[3] अंत।
रज्जब इनके ओर[4] ये, मन में मौज[5] अनन्त ॥३७॥

जल की तरंग तट पर आकर रुक जाती है और वायु[1] के स्थिर होने पर मिट जाती है। वर्षा ऋतु के चले[2] जाने पर बादलों[3] का अंत आ जाता है। जल तरंग और बादलों के तो अंत[4] के ये उक्त समय हैं किन्तु मन में तो अनन्त तरंग[5] हैं, उनका अंत किसी विशेष उपाय के करे बिना नहीं आता।

यहु मन रावण मंडली, मन कर्म विसवा बीस।
रज्जब काटै एक शिर, तो निपजैं दश शीश ॥३८॥

यह मन, मन, वचन, कर्म से बीसों बिसवा रावण के शिर मंडल के समान है। जैसे रावण का एक शिर कटने पर पुनः दश हो जाते थे, वैसे ही मन का एक मनोरथ नष्ट करने पर दश और उत्पन्न हो जाते हैं।

मन केशरि[1] के पंच मुख, गहि बंध्या मुख एक।
चारयों मुख चहुं दिशि भखैं, रज्जब समझ विवेक ॥३९॥

मन रूप सिंह[1] के पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप पाँच मुख हैं, यदि उसे ग्रहण करके उसका एक रसना रूप मुख बाँध दिया जाय तो भी वह अन्य चार मुखों से चारों दिशा में खाता है अर्थात् विषयों का उपभोग करता है। यह बात विवेक द्वारा समझने का प्रयत्न करो।

भूख मारि मारहि मनहिं, विरह अग्नि दे दाग[1]।
जाल्यों पीछे जीविता, भूत होय जिव जाग[2] ॥४०॥

संत लोग भूख मार कर अर्थात् निर्विषय करके मन को मारते हैं और विरहाग्नि द्वारा जला[1] देते हैं किन्तु जैसे प्राणी के शरीर को जला देने पर भी वह भूत हो जाता है, वैसे ही यह मन विरहाग्नि से जला देने पर भी जीवित होकर विषय भोगार्थ सचेत[2] हो जाता है।

मनवा नर नग माया मादी, मुक्त किये मिल जांहीं।
जीव जुदे कहि विधि करैं, रज्जब संशय मांहीं ॥४१॥

जैसे हीरा और हीरी को अलग-अलग कर देने पर भी हीरा हीरी के पास चला जाता है, ऐसे ही मन और माया को अलग-अलग करने पर

भी मन माया से जा मिलता है। अतः जीव किस प्रकार मन को माया से अलग करे यह बुद्धि में संशय बना ही रहता है।

तन में मन चंचल सदा, ज्यों मोती मधि थाल।
जन रज्जब क्यों राखिये, यहु अंतर गत साल ॥४२॥

जैसे थाल में मोती चंचल रहता है, वैसे ही शरीर में मन चंचल रहता है। अब इस मन को किस प्रकार स्थिर रक्खा जाय यह दुःख भीतर बना ही रहता है।

जन रज्जब मन बीजली, चमकै दह दिशि जाय।
यहु चंचल कैसे रहै, क्यों ही गह्या न जाय ॥४३॥

जैसे बिजली दशों दिशाओं में जा चमकती है, वैसे ही यह मन भी दश इन्द्रिय रूप दशों दिशाओं में जाता है। यह बड़ा चंचल है, कैसे स्थिर रह सकता है ? यह किसी प्रकार पकड़ा भी नहीं जाता।

मन धन की चंचल विरति, गाड़्या रहै न ठौर।
जन रज्जब हैरान है, देखि दशों दिशि दौर ॥४४॥

धन और मन की वृत्ति चंचल ही रहती है। जैसे धन पृथ्वी में गाड़ने पर भी उस स्थान में स्थिर नहीं रहता, वैसे ही मन दशों दिशाओं में दौड़ता है। इसकी दौड़ को देख कर हमें तो आश्चर्य हो रहा है।

मांड[1] मथाणी काढली, मन समुद्र में जोय।
जन रज्जब चंचल अजों,[2] पेच[3] पड़्या है कोय ॥४५॥

समुद्र में से मंदराचल रूप मथनी निकालने पर भी वह अब[2] तक चंचल ही है। वैसे ही मन में से ब्रह्माण्ड[1] की भावना रूप मथानी निकालने पर भी यह अभी तक चंचल ही है। इसमें ऐसा ही कोई फंद[3] पड़ा हुआ है जिससे इसकी चंचलता नहीं मिटती।

मन मनसा जोड़ा चपल, राख्या रहै न ठौर।
बांधे बंधै सु ब्रह्म के, आन उपाय न और ॥४६॥

मन और मन के मनोरथ ये दोनों ही चंचल हैं, रखने पर भी एक स्थान पर नहीं रहते। ये दोनों ब्रह्म के बाँधने पर ही बंध सकते हैं और कोई दूसरा उपाय इनके बांधने का नहीं है।

काष्ठ करी पावक प्रकट, सो जल जुगति बुझान।
रज्जब जल में जलि उठे, मनवा बीज समान ॥४७॥

काष्ठ से अग्नि प्रकट होता है, वह तो जल डालने रूप युक्ति से बुझ जाता है किन्तु मन तो जल में से जल उठने वाली बिजली के समान है।

बिजली जल से नहीं बुझती, वैसे ही मन साधारण उपायों से नहीं जीता जाता।

नागदवनि मृग सींग मन, इन के बंक[1] न जांहि।
रज्जब सांई साल[2] सुध,[3] सो क्यों मांहि समांहि ॥४८॥

नाग दमनी के वृक्ष की लकड़ी, मृग का सींग और मन, इनकी बक्रता[1] दूर नहीं होती। सीधे[3] छिद्र[2] में नागदमनी की लकड़ी और मृग का सींग प्रवेश नहीं कर सकता, वैसे ही शुद्ध[3] स्वरूप प्रभु में मन नहीं समा सकता।

जन रज्जब मन शून्य[1] के, कठिन काढने गाभ[2]।
या[3] में इन्द्रिय अति विषम, वा[4] मांहीं तै आभ[5] ॥४९॥

आकाश[1] में निकलने वाले बादल[5] रूप कोंपलों[2] को आकाश[4] से और मन से निकलने वाली इन्द्रियों की विषयाकार वृत्ति रूप कोंपलों को मन[3] से सर्वथा निकालना कठिन ही है।

क्रोध लहरि मिल क्रोध मन, काम लहरि मिल काम।
जन रज्जब मन लहरि मय[1], राम लहरि मिल राम ॥५०॥

क्रोध की तरंग में आकर मन क्रोध रूप हो जाता है, काम की तरंग में आकर काम रूप हो जाता है और राम की ध्यानरूप तरंग में आकर रामरूप हो जाता है। अतः मन तरंग रूप[1] ही है।

यहु मन भांड भण्डार में, राखै रंग अनेक।
रज्जब काढै समयसिरि जुदी जुदी रँग रेख ॥५१॥

जैसे भांड अपनी बुद्धि रूप भण्डार में अनेक प्रकार की बातें रूप रंग रखता है और समयानुसार[1] भिन्न २ रंगों के चिन्ह निकालता है, वैसे ही मन अनेक भावना रूप रंग रखता है और समयानुसार भिन्न २ प्रकट करता है।

रज्जब भलके[1] भाँड मुख, ज्यों अंग[2] अनन्त मन माँहि।
यहु विद्या उदर निमित्त, आतम कारज नाँहि ॥५२॥

जैसे भाँड के मुख से अनन्त भांति[2] की बातें चमकती[1] हैं, वैसे ही मन से अनेक सांसारिक भावनायें निकलती हैं किन्तु यह विद्यायें पेट के निमित्त हैं, जीवात्मा के मुक्तिरूप कार्य की साधक नहीं हैं।

मन माँही मंडाण[1] सब, भाव हिं प्रकटे सोय।
रज्जब शून्य समान को, बूझे बिरला कोय ॥५३॥

जैसे आकाश में नाना भाँति के बादल रहते हैं, वैसे ही मन में सब प्रकार की बातों की सजावट[1] रहती है और भाव के अनुसार वे प्रकट होती हैं। इस आकाश के समान मन को कोई बिरला ही समझ पाता है।

पिंड ब्रह्मण्ड असंख्य मन, शून्य मई भण्डार।
शिव रु शक्ति भासे तहाँ, मन मधि उदर अपार ॥५४॥

मन में असंख्य शरीर और असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। मन का भण्डार आकाश रूप है अर्थात् आकाश के समान विशाल है। मन के मध्य अर्थात् मन का पेट असीम है। वहाँ शिव और शक्ति दोनों ही भासते हैं अर्थात् मन द्वारा ही साधन करके माया तथा ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है।

चिहर[1] बाजी चित्राम चौरासी, मन बाजीगर माँहि अभ्यासी।
स्वप्ने निशा दिखावै खेल, जागे दिवस सु धरै सकेल[2] ॥५५॥

चौरासी लाख जीव ही जिसमें चित्र हैं, ऐसी इस संसार रूप बाजी की चहल[1]-पहल को दिखाने का मन बड़ा अभ्यासी है। यह रात्रि में स्वप्न के समय नाना खेल दिखाता है और दिन में जगता है तब सबको समेट[2] कर धर देता है।

रज्जब रहै न एक रंग, मन में मोटी[1] आंट[2]।
पल पल में पलटै मते,[3] जैसी विधि किरकांट[4] ॥५६॥

मन में महान्[1] गांठ[2] रहती है, यह एक रंग में नहीं रहता। जैसे गिरगिट[4] अनेक रंग बदलता है, वैसे ही यह भी क्षण-क्षण में अपने विचार[3] बदलता रहता है।

जन रज्जब मन जींगणा, चमकै अरु छिप जाय।
पल में ज्ञाता[1] पल गतै[2], जे देख्या निरताय[3] ॥५७॥

विचार[3] करके देखा जाय तो यह मन जुगनू के समान है। जैसे जुगनू चमक कर छिप जाता है, वैसे ही यह भी क्षण में ज्ञानी[1] हो जाता है और क्षण भर में अति हीन[2] हो जाता है।

मन मयंक[1] की एक गति[2], बधै घटै छिप जाँहि।
जन रज्जब हैरान[3] है, सदा सु यहु मति माँहि ॥५८॥

मन की और चन्द्रमा[1] की एक सी चेष्टा[2] होती है। जैसे चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में बढ़ता है, कृष्ण पक्ष में घटता है और अमावस्या को छिप जाता है। वैसे ही मन विषय प्राप्ति, हास्य, मनोरथ और बातों से बढ़ता

और इनके अभाव में घटता है तथा सुषुप्ति में छिप जाता है। हमारी बुद्धि में मन का यह आश्चर्य[3] सदा ही बना रहता है।

मन मयंक[1] की एक गति[2], सदा कलंकी दोय।
ऐब[3] उठै[4] इष्टों[5] उठ्यों[6], और उपाय न कोय ॥५९॥

मन और चन्द्रमा[1] की एक-सी ही चेष्टा[2] है। दोनों सदा ही कलंक युक्त रहते हैं। इस मन के दोष[3], इसके प्रिय[5] विषय की वासना इससे निकल[6] जाय तब वा मोह निद्रा से जग[6] कर इष्ट-देव[5] प्रभु के भजन में लग जाय तब ही हट[4] सकते हैं। इसके दोष हटाने का और कोई उपाय नहीं है।

रज्जब सप्त धातु के सकल मन, गाड़े गोविंद गोय[1]।
कुमति काट खाये सु षट्, सोने सप्त न सोय ॥६०॥

सबके मन सप्त धातु के समान हैं। जैसे सप्त धातु पृथ्वी[1] में गाड़ने पर छः को तो काट खाता है किन्तु सुवर्ण को नहीं खाता। वैसे ही सबके मन गोविन्द में लगने पर भी कुबुद्धि से नष्ट होते हैं किन्तु ज्ञानी भक्त का नहीं होता।

रज्जब काचा चपल मन, विचरै बारह बाट।
पाका पग रोपे रहै, भागे सकल उचाट ॥६१॥

कच्चा मन चंचल रहता है तथा दश इन्द्रिय, अहंकार और आशा रूप बारह मार्गों में फिरता है। ज्ञानाग्नि में पका हुआ मन अपने संकल्प विकल्प रूप पैरों को ब्रह्म में रोप कर अर्थात् स्थिर होकर रहता है और उसकी सब व्यग्रता हट जाती है।

यहु मन पेड़ बंबूल का, काचा कांटहु पूरि।
रज्जब पाका जाणिये, कुल कांटे जब दूरि ॥६२॥

यह मन बंबूल के वृक्ष के समान है। जैसे बंबूल का वृक्ष कच्चा रहता है तब तक उसमें कांटे परिपूर्ण रूप से रहते हैं। बंबूल को पका हुआ तब ही माना जाता है जब उसके सब कांटे दूर हो जाँय। वैसे ही कच्चे मन में दोष भरे रहते हैं, उसे पका हुआ तब ही जानना चाहिये जब उसके सब दोष दूर हो जाँय।

यहु मन बांका[1] जब लगै, तब लग ज्ञान न कोय।
रज्जब पोस्ताहु[2] पहुप[3], विगसत[4] सूधा होय ॥६३॥

यह मन जब तक वक्र[1] रहता है तब तक इसमें ज्ञान नहीं होता। जैसे अफीम[2] के पौधे का फूल[3] खिलते[4] ही सीधा हो जाता है, वैसे ही ज्ञान होते ही मन भी सीधा हो जाता है।

रज्जब मन मुक्ता काचे गलैं, संसार समुद्र जल दोष ।
निपज्यो निर्भय सो तहां, सद्गुरु सीख सु पोष ॥६४॥

मोती कच्चा होता है तब तक ही समुद्र जल के स्पर्श रूप दोष से गलता है, पक जाने पर तो वह समुद्र जल में ही रहता है । वैसे ही मन जब तक कच्चा है तब तक संसार में व्यथित रहता है और जब सद्गुरु के ज्ञानोपदेश द्वारा पोषित होकर ज्ञानाग्नि से पक जाता है तब संसार में निर्भय होकर रहता है ।

चौरासी चौपड़ फिरैं, सुरति[1] सारि सु विशेष ।
रज्जब रती[2] न सरक ही, उभय सु पाके पेख ॥६५॥

देखो, सारि चौपड़ में और मन की वृत्ति[1] चौरासी में दोनों विशेष करके कच्चे रहते हैं तब तक ही फिरते हैं और दोनों पक जाते हैं तब किंचित्[2] भी नहीं सरकते ।

थकित[1] होत पाका सु मन, ज्यों कण हांडी मांहि ।
काचा कूदै ऊछलै, निश्चल बैठे नांहि ॥६६॥

हाँडी में अन्न-कण कच्चा रहता है तब तक निश्चल नहीं बैठता उछलता रहता है और पक जाने पर निश्चल हो जाता है । वैसे ही कच्चा मन विषयों पर कूदता रहता है, ज्ञानग्नि से पक जाने पर स्थिर[1] हो जाता है ।

पाका पिंड सु पोरसा, काची काया कीच ।
रज्जब कही विचार करि, यहु अंतर यहु बीच ॥६७॥

जिस शरीर का मन पक जाता है, वह शरीर पोरसा (सुवर्ण प्रदाता सुवर्ण का मनुष्याकार पुतला) के समान ज्ञान द्वारा सुख दाता हो जाता है और जिस शरीर का मन नहीं पकता वह शरीर कीच के समान कच्चा होता है । यह हमने विचार करके ही कहा है । कच्चे-पक्के मन के बीच यही भेद रहता है ।

काचा तुर्श[1] पुखत[2] है मीठा, आत्म बोध अंब[3] गति दीठा ॥६८॥

जैसे आम[3] का कच्चा फल खट्टा[1] होता है और पक्का[2] मीठा होता है । वैसे ही कच्चे (परोक्ष) आत्म ज्ञान युक्त मन विवाद द्वारा अन्यों को विक्षेप प्रद होने से खट्टा होता है और पक्के (अपरोक्ष) आत्मज्ञान से युक्त मन सर्व प्रिय होने से मधुर होता है । ऐसा ही देखा जाता है ।

मन पवंग[1] तन तोय[2] गति, ता पर करहि जु मघ[3] ।
रज्जब अस असवार है, इल[4] ऊपरि सु अनघ ॥६९॥

मन तो घोड़े[1] के समान है और शरीराध्यास जल[2] के समान है। जो घोड़े पर चढ कर जल पर मार्ग[3] करता है अर्थात् चलता है वही सवार पृथ्वी[4] लोक में श्रेष्ठ माना जाता है। वैसे ही जो मन पर चढ कर देहाध्यास के ऊपर चलता है अर्थात् देहाध्यास से मन को ऊंचा उठाता है वही साधक भूलोक में निष्पाप माना जाता है।

जन रज्जब मन के तले[1], चौरासी लख जीव।
इस ऊपरि असवार ह्वै, सो कोउ पावे पीव ॥७०॥

चौरासी लाख जीव सभी मन के नीचे[1] हैं अर्थात् अधीन हैं। इस मन पर सवार होता है अर्थात् इसे जीतता है, वह कोई विरला संत ही प्रभु को प्राप्त करता है।

जिन प्राणी मन वश किया, ताके वश सब मांड[1]।
जन रज्जब मन वश बिना, देखि दुनी[2] ह्वै भांड[3] ॥७१॥

जिस प्राणी ने मन को अपने वश में कर लिया है, उसके वश में सभी ब्रह्माण्ड[1] है और देखो, मन को वश किये बिना संसार[2] के प्राणी व्यर्थ ही बरबाद[3] हो रहे हैं।

रज्जब राक्षस मन्न[1] का, चारा[2] चारचों खानि।
हंस[3] बचै कोउ हेत[4] रज[5], हुआ अमर सो जानि ॥७२॥

जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, इन चारों खानि के जीव मन[1] रूप राक्षस का भोजन[2] है। कोई परमहंस-संत[3] ही प्रभु प्रेम[4] और ज्ञान-प्रकाश[5] के द्वारा इससे बचता है। जो बचता है, उसे अमर हुआ अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हुआ ही जानना चाहिये।

मन बंटा[4] चौगान का, जाको दह[5] दिशि चोट।
जन रज्जब जोख्यूं[6] टले, हूह[7] भये हरि ओट[8] ॥७३॥

जिसके दशों[5] दिशाओं से चोटें पड़ती रहती हैं, उस मैदान के गेंद[4] के समान ही मन है, इसको भी सब ओर से विक्षेप होता ही रहता है। उस गेंद को जीतने का हल्ला[7] हो जाय तो वह चोटों[6] से बच जाता है। वैसे ही मन भी डंके[7] की चोट हरि की शरण[8] हो जाय तो इसका भी भय[6] हट सकता है।

जन रज्जब रन[4] रोझ मन, गहि लाद्या गृह भार।
सो लूटें सापुरुष[5] विचि, तो ताके मंगलाचार ॥७४॥

यह मन वन[4] के रोझ पशु के समान है, जैसे रोझ को पकड़ कर उस पर बोझ लाद दें वैसे ही इस मन पर घर का भार लाद दिया है। वह

भार यदि इस जीवन के बीच ही में श्रेष्ठ पुरुष[५] अर्थात् ज्ञानी संत लूट लें अर्थात् ज्ञान द्वारा हटा दें तब तो इसके लिये आनन्द मंगल हो जाय।

मन फूटे[४] तन फूट ही, मन सारे[५] तन सार[६]।
मनसा वाचा कर्मना, ता में फेर न सार ॥७५॥

मन बिगड़ने[४] से शरीर भी बिगड़ता है और मन ठीक[५] रहने से शरीर भी ठीक[६] रहता है। हम मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही कहते हैं, उक्त बात में परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार बात है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मन का अंग १५२ समाप्तः ॥सा० ४७०८॥

अथ सूक्ष्म जन्म का अंग १५३

इस अंग में सूक्ष्म जन्म संबन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब मन में मौज उठि, मन की काया होय।
यूं शरीर पल पल धरै, बूझै बिरला कोय ॥१॥

मन में लहरि उठकर मन का ही शरीर बन जाता है, इस प्रकार मन क्षण-क्षण में शरीर धारण करता है। इस सूक्ष्म जन्म को कोई बिरला संत ही समझ पाता है।

काया में काया धरै, मन सूक्ष्म अस्थूल[१]।
रज्जब यह जामण मरण, चौरासी का मूल ॥२॥

मन सूक्ष्म होने पर भी शरीर के भीतर ही स्थूल[१] शरीर धारण करता है, अर्थात् अन्य स्थूल शरीर के आकार बन जाता है। यह मन का जन्म-मरण ही चौरासी लाख योनियों का कारण है अर्थात् मन के संस्कार से ही चौरासी में जाता है।

प्राण अग्नि तन काष्ठ मिल, प्रकटे धूआँ मन्न।
जन रज्जब इस जन्म को, जाणे कोउक जन्न ॥३॥

जैसे अग्नि और काष्ठ से धुआँ प्रकट होता है, वैसे ही प्राण और शरीर से मन प्रकट होता है। इस मन के जन्म को कोई बिरले संत जन ही जानते हैं।

मन मनसा अरु कल्पना, काया कमल की बास।
रज्जब पसरै दशों दिशि, देही गुण परकास ॥४॥

मन मनोरथ और कल्पना ये शरीर रूप कमल की गंध है, दशों दिशाओं में फल कर शरीर के गुणों को प्रकट करती है।

स्वाद वाद अरु विषय रस, चौथे निद्रा नेह ।
चौरासी के चलने का, जन रज्जब पग येह ।।५।।

स्वाद, विवाद, विषय-रस और निद्रा में प्रेम ये चार ही चौरासी में जाने के लिये चरण हैं ।

चौरासी जामण मरण, मन सु मनोरथ होय ।
बीज बिना ऊगै नहीं, जानत हैं सब कोय ।।६।।

चौरासी में जन्मना-मरना मन के मनोरथों से ही होता है । जैसे बीज के बिना वृक्ष नहीं उगता, यह सभी जानते हैं, वैसे ही मनोरथों के बिना चोरासी में नहीं जा सकता ।

काया काष्ठ अग्नि आतम, परसत[1] धूआं मन्न[2] ।
रज्जब इस उत्पत्ति को, समझै साधू जन्न[3] ।।७।।

जैसे काष्ठ से अग्नि का स्पर्श[1] होने पर धुआँ प्रकट होता है, वैसे ही शरीर से आत्मा का स्पर्श होने पर मन[2] प्रकट होता है । इस मन की सूक्ष्म उत्पत्ति को संत जन ही समझ पाते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सूक्ष्म जन्म का अंग १५३
समाप्तः ।।सा० ४७१५।।

अथ विषय का अंग १५४

इस अंग में विषय संबन्धी विचार कर रहे हैं—

गुण गण ग्रह गरजैं सबै, जब गृह आई नार ।
जन रज्जब हारचा जनम, हरि मेल्या[1] शिर मार[2] ।।१।।

जब घर में नारी आती है तब प्राणी पर कामादि गुणों का समूह रूप ग्रह कोप रूप गर्जना करता है और प्राणी हरि को हृदय से दूर रख[1] कर शिर पर काम[2] को धारण करके अपने मानव जन्म को खो देता है ।

सरिता संशय सोच की, गृह सागर में पूरि ।
जन रज्जब बूड़ा तहां, कहां होय दुख दूरि ।।२।।

जैसे वर्षा ऋतु में नदी समुद्र में जाकर मिलती है, वैसे ही नारी के आने पर संशय- शोकादि घर में आकर भर जाते हैं, वहां संशय-शोकादि में प्राणी निमग्न रहता है तब उसके दुःख दूर कहाँ हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं दूर होते ।

सुख भागै दुख पूरि ह्वै, भाव भक्ति की हानि ।
जन रज्जब इस जगत में, दारा दोजख[1] जानि ।।३।।

नारी आने पर सुख तो भाग जाते हैं और घर में दुःख ही भर जाते हैं। भाव-भक्ति की हानि होती है। इस लिये इस जगत् में नारी को नरक[1] ही जानना चाहिये।

सुन्दरि शिल तलि[1] हाथ नर, क्यों करि निकसै दस्त[2]।
गौरी[3] गिरि कर कंत[4] पर, तो कहिये गिरहस्त[5] ॥४॥

शिला के नीचे[1] आया हुआ, हाथ[2] और नारी के नीचे आया हुआ नर सहज ही नहीं निकल सकता। नारी[3] रूप पर्वत स्वामी[4] के हाथ पर आता है तब ही वह गिरिहस्त अर्थात् गृहस्थ[5] कहलाता है।

जन्म भूमि छाडे नहीं, तब लग आवे जाय।
रज्जब विषिया वारि में, फिरि फिरि गोते खाय ॥५॥

नारी रूप जन्म-भूमि को जब तक नहीं छोड़ता तब तक संसार में जन्म-मरण रूप आना जाना बना ही रहता है और बारंबार विषय-जल में डुबकियां लगाता ही रहता है।

ब्रह्माण्ड पिंड गति एक है, काम लहरि तप होय।
रज्जब नख शिख बलि उठै, वर्षण लागे सोय ॥६॥

ब्रह्माण्ड और शरीर की एक-सी ही चेष्टा होती है। जैसे ब्रह्माण्ड में खूब ताप बढ़ता है तब वर्षा होने लगती है। वैसे ही शरीर में काम लहरि रूप ताप द्वारा नख से शिखा तक शरीर जल उठता है तब विन्दु की वर्षा होने लगती है।

रज्जब विषय विलोकतैं[1] वपु वह्नी[2] परकास[3]।
काया कुंभ चीकट चुवहि, सेज हेज[4] तप त्रास ॥७॥

विषय दृष्टि से देखने[1] पर शरीर में कामाग्नि[2] प्रकट[3] होता है फिर जैसे अग्नि की ताप रूप त्रास द्वारा तेल घृत से चिकने घड़े से तेल-घृत टपकने लगता है, वैसे ही शय्या पर नारी प्रेम[4] से विन्दु टपकने लगता है।

संग सुहागा सुन्दरी, नर कंचन गलि जाय।
रज्जब रती न ऊबरै, पावक प्रीति समाय ॥८॥

अग्नि पर सुहागा के साथ सुवर्ण गल जाता है, रत्ती भर भी बिना गले नहीं बचता। वैसे ही नारी प्रेम में आकर नारी के संग नर गल जाता है।

प्राण पुरुष[1] की सुरति[2] जड़, काया की जड़ काम[3]।
रज्जब करवत कामिनी, विहरै[4] दोन्यों ठाम ॥९॥

प्राण धारी जीव[1] की जड़ वृत्ति[2] है और शरीर की जड़ वीर्य[3] है। नारी करवत रूप होकर भगवताकार वृत्ति और वीर्य दोनों को काटती[4] है।

सुन्दरि संग संकट सदा, दिन दिन दीरघ[1] दु:ख।
जन रज्जब नारी निकट, कहु किन पाया सु:ख ॥१०॥

नारी के संग से सदा दु:ख ही होता है और वह दु:ख दिन-दिन बढता[1] ही है। तुम ही कहो, निरंतर नारी के पास रहकर किसने ब्रह्मानन्द प्राप्त किया है?

चाकी चरखा घिस गये, भ्रमि-भ्रमि भामिनी हाथ।
तो रज्जब क्यों होंहि गे, नर निश्चल[1] तिंहि साथ ॥११॥

नारी के हाथ में फिरते २ चक्की और चरखा भी घिस जाता है फिर उसके साथ रह कर नर निश्चल ब्रह्म में स्थिर[1] कैसे हो सकेंगे?

कुल[1] काया कागद भयी, विषय रूप सब वारि[2]।
पिंड पुस्तक क्यों बोरिये, रज्जब नैन निहारि ॥१२॥

सब[1] शरीर तो कागज रूप हैं और सब विषय जल[2] रूप हैं। अत: नेत्रों से देख करके भी शरीर रूप पुस्तक को विषय- जल में क्यों डुबो रहे हो?

पुरुष पचन[1] नारी भुगत, सुन्दरि सुतहि पिलाय।
रज्जब जिव जाणे नहीं, काल तिहूं को खाय ॥१३॥

पुरुष तो नारी को भोग कर कमजोर हो रहा है और नारी पुत्र को पय पान कराकर कमजोर[1] हो रही है। अज्ञानी जीव यह नहीं जानते कि—तीनों को ही काल खा जायगा।

रज्जब मोड़े[1] लागे मन्न[2] को, बहै जु वीरज आंव।
खोड़ि[3] खाट ज्यों काट दी, रमा[4] ठीकरा ठांव[5] ॥१४॥

जैसे मनुष्य के मरोड़े (पेचस) का रोग लग जाता है, तब आंव गिरते हैं। रोगी जब कमजोर हो जाता है तब उसकी खटिया काट कर नीचे स्थल[5] में मिट्टी का ठीकरा रख देते हैं। वैसे मन[2] के मरोड़े[1] लगते हैं तब वीर्य रूप आँव गिरता है और शरीर[3] रूप खटिया काट दी जाती है अर्थात् शरीर कमजोर हो जाता है और नारी[4] रूप ठीकरा में वीर्य रूप आँव डाला जाता है।

इन्द्री अरिये[1] घाय, सूजे[2] दारा[3] दु:ख करि।
रज्जब रुधिर रँधाय[4], निकसे वीरज पीव झरि ॥१५॥

शिश्नेन्द्रिय काम रूप शत्रु[1] का लगाया हुआ घाव है, नारी[3] स्पर्श रूप दुःख से इस पर शोथ[2] आ जाता है फिर रक्त सीझ[4] कर वीर्य रूप पीप झर २ कर निकलता है।

मीच मार सूजै[1] सड़ै[2], तीजें दिन बेहाल[3]।
रज्जब रामा[4] दरश तैं, सो गति ह्वै तत्काल ॥१६॥

मृत्यु के मारने पर तीसरे दिन मुरदे में शोथ[1] और दुर्गंध[2] होकर वह खराब[3] होता है किन्तु नारी[4] को तो कामुक दृष्टि से देखते ही शोथ और दुर्गन्ध होकर तत्काल ही मुरदे की तीसरे दिन वाली गति हो जाती है।

अरिल–नर नारी चढि चित्त बहुत दुख पाव हीं।
सूजै[1] शुद्ध शरीर तपति तन ताव[2] हीं॥
चोट बिना अहि चोट सु भीतर पाक हीं।
परि हाँ रज्जब राधि[3] झराहिं, बहत को राख हीं ॥१७॥

जिस नर के चित्त में नारी बस जाती है, वह बहुत दुःख पाता है उसके शुद्ध शरीर पर शोथ[1] आ जाता है और नारी चिन्तन रूप ताप से शरीर तप[2] जाता है। शस्त्रादि की चोट के बिना भी इस काम की चोट से भीतर पक जाता है और वीर्य रूप पीप[3] झरती रहती है, उसे बहते हुये कौन रोक सकता है।

सप्त धातु धंधाह[1], धामनि[2] धमगर[3] रूप धरि।
तत्त्व गहै करि गाह[4], काया छाडै कीट[5] करि ॥१८॥

जैसे सप्त धातु को अग्नि ज्वाला[1] में तपा कर उनका सार ग्रहण करके मैल[4] को छोड़ देते हैं, वैसे ही नारी[2] जलाने-वाले[3] का रूप धारण करके तथा भली प्रकार खोज[4] करके वीर्य रूप तत्त्व को ग्रहण कर लेती है और निस्सार[5] शरीर को छोड़ देती है।

अबला[1] सूखी अस्थि[2] सम, मन शठ सुनहां[3] सुःख।
रज्जब रसना रुधिर रुचि[4], फोड़ आपणा मुःख ॥१९॥

नारी[1] सूखी हड्डी[2] के समान है और मूर्ख मन कुत्ते[3] के समान है। जैसे मूर्ख कुत्ता सूखी हड्डी से अपना मुख फोड़कर अपने ही रक्त का स्वाद[4] जिह्वा से लेता है वैसे ही मूर्ख मन अपने विन्दु चपलता से होने वाले सुख को नारी में मान कर विन्दु नाश द्वारा अपनी ही हानि करता है।

विष का अमृत नाम धरि, पीवहिं हित[1] चित लाय।
ईहि रस रसिया रसत[2] हीं, रसिक रसातल जाय ॥२०॥

विषय–विष का अमृत (अधरामृत आदि) नाम रख के सस्नेह[1] मन लगाकर पान करते हैं किन्तु जब रसिक इस विषय-रस में निमग्न[2] होता है तब वह रसिक रसातल को ही जाता है अर्थात् उसका पतन ही होता है ।

एक विषय में सब विषय, पड़ैं जीव में आय ।
रज्जब ईहि रस का रस्या[1], चौरासी में जाय ॥२१॥

एक शिश्नेन्द्रिय के विषय में आसक्त होने वाले जीव में सभी विषय आ पड़ते हैं । इस रस में आसक्त[1] होने वाला चौरासी में जाता है

सुन्दरि सब शूली चढी, पुरुष पड़े सब कूप ।
जन रज्जब जग जुगल[1] दुख, एकल[2] आनन्द रूप ॥२२॥

नारी सब शिश्नेन्द्रिय रूप शूली पर चढी हैं और पुरुष सब योनि रूप कूप में पड़े हैं । यह नर नारी का जोड़ा[1] जगत् में दुःख रूप ही है । जो अकेला[2] रह कर हरि भजन करता है वही आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर आनन्द रूप हो जाता है ।

सुन्दरि तरु सेबर[1] सही[2], नौसत[3] पहुप[4] शरीर ।
रज्जब फल बरकति[5] रहित, तहँ फूले मन कीर[6] ॥२३॥

नारी तन निश्चय[2] सेमल[1] वृक्ष के समान है, सोलह[3] शृंगार ही उसके फूल[4] हैं । जैसे सेमल वृक्ष के फूल देखने मात्र ही होते हैं, फल में भी कुछ अधिकता[5] नहीं होती फिर भी उन पर शुक[6] पक्षी प्रसन्न होता है तब अंत में निराश ही होता है । वैसे ही नारी देह और उसका शृंगार देखने मात्र ही है तथा उसके संपर्क रूप फल में भी कुछ अधिकता नहीं है । अंत में हानि ही होती है । तो भी मन उसे देखकर प्रसन्न होता है । यह इसका अज्ञान ही है ।

जन रज्जब युवती जहर, पागि[1] सकल शृंगार ।
आरोगहिं[2] अज्ञान नर, सूझै मौंच न मार ॥२४॥

सर्व शृंगार में अनुरक्त[1] अर्थात् सजी हुई नारी विष रूप है । जिनको मृत्यु की मार नहीं दीखती वे अज्ञानी नर ही उसे भोगते[2] हैं ।

जन रज्जब युवती जहर, विष वामा अवतार ।
मूरख मन खँवे[1] हिले[2], तिनहिं मरत क्या बार ॥२५॥

नारी जहर रूप ही है तथा स्त्री विष का अवतार ही है । मूर्ख मन वाले प्राणी उसके भोग[1] में स्थिर[2] हो रहे हैं अर्थात् लगे हैं, उनको मरते क्या देर लगेगी ।

दारा[1] द्रै[2] दूखै[3] सही[4], ज्ञान हीन नर जांहि।
रज्जब त्यों बूडै[5] तहां, सो क्यों ही निकसे नांहि ॥२६॥

नारी[1] से गमन[2] करता है वह निश्चय[4] ही दुःखी[3] होता है। ब्रह्म ज्ञान से रहित नर ही उक्त स्थिति में जाते हैं। उक्त प्रकार जो नारी में निमग्न[5] होता है, वह संसार-सागर से किसी प्रकार भी नहीं निकल सकता।

सुत वित[1] काढण को बड़े[2], सुन्दरि शैल[3] सु खानि।
रज्जब ते तिन तल दबे, बहुरि न निकसैं आनि ॥२७॥

जैसे पर्वत[3] की खानि में धन[1] निकालने को घुसते[2] हैं और खानि के नीचे दब जाते हैं, वे पुन: निकल के नहीं आते। वैसे ही जो संतानार्थ नारी में अनुरक्त होते हैं वे नारी में ही आसक्त हो जाते हैं, फिर उसकी आसक्ति से निकल कर प्रभु की ओर नहीं आते।

रज्जब चिंता राम बिन, साधु कहैं सो नींद।
सकल चिंत सुन्दरि लगी, सुन बैयर[2] के बींद[1] ॥२८॥

राम के बिना जो चिन्ता होती है, उसे संत निद्रा कहते हैं किन्तु हे नारी के पति[1]! सुन, नारी[2] के साथ रहने पर तो सभी चिन्तायें आ लगती हैं।

पैठि कामना काँवरू[1], चिन्ता डायण[2] लेय।
रज्जब प्राणी पशू ह्वै, रिण रैणी भरि[3] देय ॥२९॥

पूर्व काल में कामरूप[1] (आसाम) में विदेशी मनुष्य के जाने पर उसे डाकिनी[2] नारी पकड़ लेती थी और पशु बनाकर रात्रि में उससे काम लेकर उसका पोषण रूप ऋण चुक[3] लेती थी। वैसे ही नर नारी की कामना करता है तब उसे चिन्ता पकड़ लेती है और वह नारी का क्रीड़ा पशु बन जाता है, फिर रात्रि में नारी उसके संयोग सुखरूप ऋण को चुक लेती है।

मन मधुकर[1] मिहरी[2] कमल, बँधे वास के ख्याल[3]।
रज्जब ता में बल इता, फोड़ मांड[4] मयाल[5] ॥३०॥

छप्पर के आधार रूप काष्ट के स्थम्भ[5] को काटने की शक्ति रखने वाला भ्रमर[1] सुगंध लेने के विचार[3] से कमल में बँध जाता है। वैसे ही मन में इतना बल है कि वह ब्रह्माण्ड[4] को फोड़ कर प्रभु को प्राप्त कर सकता है किन्तु विषय सुख प्राप्ति के विचार[3] से नारी[2] में बँध जाता है।

कलित[1] केतकी मांहि मिल, मन मधुकर[2] ह्वै नाश।
रज्जब रस विष है सही, मरै विषय लगि वास ॥३१॥

जैसे भ्रमर[२] केतकी के वृक्ष में जाकर उसकी तीव्र सुगंध में अनुरक्त होकर मर जाता है। वैसे ही मन सुन्दर[१]-नारी रूप विषय सुख में आसक्त होकर भ्रष्ट होता है। यह रस निश्चय[३] ही विष रूप है।

ज्यों छाया नर नींब की, भोजन विष हो जाय।
त्यों रज्जब नारी निकट, बिन परसे कड़वाय ॥३२॥

जैसे नर जाति के नीम वृक्ष की छाया के नीचे भोजन खुला रख दें तो कुछ समय में वह कड़वा हो जाता है। वैसे ही नारी स्पर्श के बिना उसकी समीपता भी विषवत होती है, चित्त को चंचल कर देती है।

नारी निगलै नैन मग[४], बैयर[५] वचनों खाय।
रज्जब पीवण सर्प ज्यों, बिन परसे पी जाय ॥३३॥

नारी नेत्रों के मार्ग[४] से खाती है अर्थात् तिरछी चितवन से नर को अपने अधीन कर लेती है। तथा नारी[५] वचनों से खाती है अर्थात् मधुर वचनों से नर को अधीन कर लेती है। जैसे पीवन सर्प बिना काटे ही श्वास पान द्वारा मार देता है, वैसे ही नारी बिना स्पर्श किये भी नर को पी जाती है अर्थात् उसकी शक्ति क्षीण कर देती है।

नर सु नींब नारी की छाया, भोजन भाव[४] न राखि।
मीठा कड़वा होगया, सब संतन की साखि[५] ॥३४॥

नर जाति के निम्ब की छाया में खुला भोजन नहीं रक्खो, रखने से कड़वा हो जायगा, वैसे ही नारी परायण विचार[४] मत रक्खो, रखने से विचार दूषित हो जायगा। यह सभी संतों की साक्षी[५] है।

विषय रहित परि बंदि[४] में, नर[५] मादा[६] नग अंग[७]।
तो मुकते[८] नर नारि क्यों, मुकल[९] सगाई[३] संग ॥३५॥

विषय संबन्ध से रहित भी हीरा[५]-हीरी[६] नगों के आकार[७] स्नेह की कैद[४] में पड़े हैं, हीरी के पास हीरा चला जाता है। तब जो काम[९] के संबन्ध[३] से साथ रहते हैं, वे नर नारी विषयासक्ति रूप कैद से कैसे मुक्त[८] हो सकते हैं।

निराकार ह्वै नीकसै, पुनि सो होय अकार[४]।
नर मादा[६] नग निरख तैं, विरला छूटणहार ॥३६॥

हीरा हीरी के पास जाने के लिये निराकार होकर डब्बे से निकलता है और हीरी के पास जाकर वह पुनः साकार[४] हो जाता है। इन नग नरनारी[६] को देखते हुये तो नारी की प्रेम-पाश से कोई बिरला ही मुक्त होने वाला हो सकता है।

मनवा नर नग माया मादी[४], मुक्त[५] किये मिल जाँहि ।
जीव जुदे कहिं विधि करैं, रज्जब संशय माँहि ॥३७॥

मन तो नर नग के समान है, माया नारी[४] नग के समान है । जैसे हीरा-हीरी नग अलग अलग[५] करने पर भी मिल जाते हैं वैसे ही मन और माया को अलग-अलग कर देने पर भी ये मिल जाते हैं । बेचारा जीव इनको अलग २ किस प्रकार करे यह संशय उसमें बना ही रहता है ।

अमर बेलि मनसा[४] मरद[५], अंघ्रिप[६] अबला[७] अंग ।
जन रज्जब जड़ बिन हरी, डरी[८] सु ईहि परसंग ॥३८॥

नर[५] की मनोवृत्ति[४] अमर बेलि के समान है और नारी[७] का शरीर वृक्ष[६] के समान है । जैसे अमर बेलि बिना जड़ भी वृक्ष पर हरी रहती है, वैसे ही विषय प्रसंग के कारण नर की मनोवृत्ति नारी के शरीर में पड़ी[८] रहती है अर्थात् लगी रहती है ।

मृतक नर लोहा मयी, नारी चुंबक भाय[४] ।
रज्जब डरिये निकट घट[५], मूये लेय जिलाय ॥३९॥

मृतक वत (निद्रावश) नर लोहे के समान है, और नारी चुंबक के समान[४] है । जैसे चुंबक लोहे को चंचल कर देता है, वैसे ही मृतक वत नर को नारी चंचल कर देती है । मृतक को भी जीवित करने वाले नारी के शरीर[५] के पास तो डरते हुये ही रहना चाहिये ।

सूता मूवों मांहि है, परि स्वप्ने सुन्दरि खाय ।
तो रज्जब जागत जीवता, तिन आगे क्यों जाय ॥४०॥

सूता हुआ नर मुर्दों में ही माना जाता है किन्तु उसको भी नारी स्वप्न में खा जाती है अर्थात् स्वप्न में नारी को भोगता है । तब जागे हुये जीवित नर को उसके आगे कामुक दृष्टि से नहीं जाना चाहिये ।

मद पीवत माचै मनिष; सुन्दरि सुणि मत वाल ।
यूं रज्जब माता जगत, हरि दिशि सके न चाल ॥४१॥

मनुष्य मद्य को तो पान करके मतवाला होता है और नारी के वचन सुन कर ही मतवाला हो जाता है । इसी प्रकार सब जगत् के प्राणी विषय मद्य से मतवाले हो रहे हैं । इस कारण हरि की ओर किंचित् भी नहीं चल सकते ।

रज्जब हेम[४] हुताशन[५] हस्ति हत[६], वारि बीज[७] विष झाल ।
गिरि करवत मरबा भला, तज कामिनी का ख्याल[८] ॥४२॥

बर्फ[४] में गल कर, अग्नि[५] में जल कर, हाथी के आघात[६] से, जल में डूब कर, बिजली[७] पड़कर, विष खाकर, समुद्र की झाल में आकर, पर्वत

से गिर कर और करवत से कट कर मरना अच्छा है किंतु कामनी-संग करने का विचार[८] बुरा है। अतः उस विचार को त्याग दें।

संग्राम सिंह शूली सहित, चढ गिरड़ी[४] झप[५] लेह।
भूख भाकसी[६] पैठि नर, रज्जब करी न गेह[७] ॥४३॥

संग्राम में, सिंह से, शूली पर चढ कर, फांसी[४] के तख्ते पर चढ़ कर, भैंरू-झाँप[५] लेकर अर्थात् पर्वत की चट्टान से गिर कर, भूखों मर कर और कैद[६] में पड़े रह कर मर जाना चाहिये किंतु घर[७] अर्थात् नारी नहीं ग्रहण करना चाहिये।

नारी गिरिवर नीर के, तहां न नाद बजाय।
जोगी राखै जीव[१] को, तो मुख मौन सजाय ॥४४॥

नारी जल के बर्फ का पर्वत है, वहाँ नाद नहीं बजाना चाहिये। जैसे बर्फ के पर्वत के नीचे नाद बजाने से बर्फ गिर जाता है, वैसे ही नारी से संभाषण करने से उसका प्रभाव पड़ जाता है। अतः हे योगी ! यदि अपने मन[१] की रक्षा चाहता है तो नारी के पास अपने मुख को मौन से ही सजा अर्थात् मौन ही रह।

जिन कसण्यों[४] काया पड़ै, सो सब थोड़ी जानि।
रज्जब रामा[५] मिल मुये, उभय सुरति[६] की हानि ॥४५॥

जिन कष्टों[४] से शरीर पड़ता है, उन कष्टों को नारी[५] संयोग से होने वाले कष्ट से कम ही जानो। नारी से मिलकर मरने से व्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों ही वृत्तियों[६] की हानि होती है।

संकट स्वल्प[४] शरीर लग, दुखी नहीं इंहि द्वंदि[५]।
रज्जब नर नारी मिले, सदा सुरति विष बंदि[६] ॥४६॥

शरीर के अंत तक जितने दुःख आते हैं वे सभी नर नारी के मिलन से बहुत कम[४] हैं। द्वन्द्वों[५] से भी नर ऐसा दुखी नहीं होता, जैसा नर नारी के मिलन से होता है। नारी मिलन पर तो वृत्ति सदा विषय विष की कैद[६] में ही रहती है अर्थात् विषयाकार ही रहती है।

माता सब बाबों बंधी, बाबा मात हुं मांहि।
जन रज्जब जग यूं जड़्या, कोई छूटै नांहि ॥४७॥

नारी सब नरों के प्रेम में बँधी हैं और नर सब नारी प्रेम में बँधे हैं। इस प्रकार जगत् के जीव एक दूसरे के स्नेह में जटित हैं। कोई भी छूट नहीं सकता।

रज्जब जग जोड़े जड़े, चौरासी लख जंत।
एका एकी एक सूं, सो कोइ विरला संत ॥४८॥

जगत् के सभी चौरासी लाख जीव जोड़े में जटित हैं अर्थात् जोड़े से ही रहते हैं। कोई विरला संत ही अकेला रहता हुआ एक प्रभु में अनुरक्त रहता है।

विषय बारकस[4] अति सुदृढ़, बाँधी चारचों खानि।

रज्जब इहिं ठाहर मुकत, कोइ विरला गुरु ज्ञानि[5] ॥४९॥

विषयरूप भारवाही[4] ने जरायुज, अंडज, उद्भिज, स्वेदज, इन चार खानि रूप भार को अति सुदृढ़ता से बाँधा है। इस विषय रूप कारागृह स्थान मे कोई विरला ही गुरु ज्ञान[5] द्वारा मुक्त होता है।

विषय विगूचनि[1] तीन हय[2], नर देखो निरताय।

तन छीजे तत्त्व हि तजै, मन सुमिरण सौं जाय ॥५०॥

हे नरो ! विचार करके देखो, विषय-भोग[1] से तीन हानि[2] होती है— शरीर क्षीण होता है, वीर्य का त्याग होता है, मन हरि-स्मरण से हटता है।

दुर्मति दारू घर भरे, अबला पैठी आगि।

जन रज्जब जग यूं जल्या, तूं दोऊ दे त्यागि ॥५१॥

दुर्बुद्धि रूप बारूद से अंतः करण रूप घर भरे हुये है, उनमें नारी राग रूप अग्नि प्रवेश कर गया है। इस प्रकार सब जगत् जल गया है। हे साधक ! तू दुर्बुद्धि और नारी दोनों को ही त्याग दे।

विषय बंध[4] वसुधा[5] सु दृढ़, जीव जड़्या ता माँहि।

बल बंधण छूटे नहीं, जे प्रभु छोड हिं नाँहि ॥५२॥

पृथ्वी[5] में विषय रूप बंधन[4] बड़ा दृढ़ है। सभी जीव उसमें बंधे हैं। इस बन्धन को यदि प्रभु नहीं खोले तो यह जीव के बल से नहीं खुल सकता।

रज्जब जिव जोड़े बंधे, गांठ दई गुरु[1] घोलि[2]।

सुर नर पेच न पावही, क्यों निकसे जिव खोलि ॥५३॥

सभी जीव जोड़े के राग में बंधे हैं, उसकी संबन्ध रूप गांठ को बड़ी[1] दृढ़[2] कर दी है। सुर और श्रेष्ठ नर भी इस पेच को नहीं खोल सकते, तब साधारण जीव उसे खोल कर कैसे निकल सकता है।

नाद[1] बिन्दु[2] की गांठि को, दई[3] सु खोलणहार।

बाँध्यों बांध्या ना खुलै, मिल्यों सु कोटि हजार ॥५४॥

नारी के मधुर शब्द[1] से वीर्य[2] चंचल होने के संबन्ध रूप गांठ को ईश्वर[3] ही खोल सकते हैं अर्थात् काम-जय ईश्वर कृपा से ही हो सकता

है। जो उक्त संबन्ध रूप गांठ में बंधे हैं, वे यदि हजार कोटि मिल जाँय तो भी नाद-विन्दु की ग्रंथि में बंधे हुये को नहीं खोल सकते।

मन जंगम[1] तन धाम में, चांदी[2] चाह सहेत।
तहां शक्ति[3] शशि सुधा संग, छानि[4] छिद्र ह्वै देत ॥५५॥

घर पर पीठ में घाव[2] वाला घोड़ा[1] हो, उस घाव में चन्द्र किरण द्वारा चन्द्रामृत पड़ जाय तो वह मर जाता है किन्तु उसके घाव के छिद्र पर पट्टी छा[4] दें अर्थात् लगा दें तो नहीं मरता। वैसे ही शरीर में मन है, विषय सुख की चाह ही घाव है, उसमें यदि मायिक[3] विषय सुख पड़ता है अर्थात् चाहता है तो परमार्थ दृष्टि से मर जाता है किन्तु उसकी चाह वैराग्य द्वारा ही हटा दी जाय तो यह भी नहीं मरता।

नौ घाटचों मंहि[1] मारिये, नर नारी निरताय[2]।
जीया चाहै जीव जो, सो इनके निकट न जाय ॥५६॥

विचार[2] करके देखो, नारी नर को नेत्र, मुख, दाँत, गला, कुच, उदर, कमर, योनि, जंघा, इन नौ अंग रूप नौ घाटियों में[1] मारती है अर्थात् इनको कामुक दृष्टि द्वारा देखने से नारी नर को अपने अधीन करती है। अतः जो जीव ब्रह्म प्राप्ति रूप नित्य जीवन चाहै सो कामुक दृष्टि द्वारा इनके पास न जाय।

अण[1] खायूं[2] खाई गई, खायूं खाये[3] जाय।
रज्जब रामा[4] अरुचि रुचि, फल देखो निरताय[5] ॥५७॥

नारी बिना[1] भोगे[2] भी संकल्प मात्र से भोगी जाती है और भोगने पर तो स्वयं नर ही नारी द्वारा भोगे[3] जाते हैं। विचार[5] करके देखो, यह नारी[4] रूप फल अरुचिकर होने पर भी रुचिकर भासता है।

माया सकल विषरूप है, आँख्यों खाये जांहि।
जन रज्जब जाणे न जिव, मिले मींच को मांहि ॥५८॥

माया रूप नारी सभी विषरूप हैं फिर भी इसकी आंखों द्वारा ही नर खाये जाते हैं अर्थात् अधीन होते हैं। अज्ञानी जीवों को ज्ञान नहीं है इसी से अपने भीतर ही संकल्प द्वारा नारी रूप मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

मन यहु माया खांहि[4] हम, माया हमको खाय[5]।
रज्जब रिधि[6] उलटी कला[7] सिद्धों लखी न जाय ॥५९॥

मन में यह बात है कि—हम माया को भोग[4] रहे हैं किन्तु उसके विपरीत माया हमको भोग[5] रही है। माया[6] का कौशल[7] ऐसा उलटा है कि—सिद्धों से भी यथार्थ रूप में नहीं जाना जाता।

वाम[४] विचारै विषय हित, शील शीश गिर जाय ।
यथा चक्कवै[५] चूक[६] धरि, चक्र सु लागै आय ॥९०॥

जैसे अदृष्ट चक्र चलने वाले राजा[५] अजयपाल की शपथ न मानना रूप भूल[६] करने वाले के गले में चक्र की चोट लग कर उसका शिर कट कर पृथ्वी पर गिर जाता था, वैसे ही नारी[४] से विषय करने का विचार रूप भूल करता है तब उसका शीलव्रत गिर जाता है ।

चाखी[४] चित हि न बीसरै, अण[५] चाखी की चाह ।
जन रज्जब दोन्यों असह[६], दिल दिल नारी नाह ॥९१॥

भोगी[४] हुई को चित्त से भूलता नहीं और बिना[५] भोगी की चाह बनी रहती है अतः दिल को प्रिय लगने वाली दोनों नारियों का वियोग पति के दिल को असह्य[६] रहता है ।

रज्जब भागे भोग तज, जोग जुगति में आय ।
परि विलस्या[४] मन न बीसरै, तब लग नरक समाय ॥९२॥

भोगों को त्याग कर जो घर से भाग कर योग युक्ति में आये हैं किन्तु वे भी यदि भोगे[४] हुये भोगों को मन से नहीं भूलते, उनका चिन्तन करते रहते हैं तब तक नरक में ही जाँयगे ।

तन त्यागी लागी मनहिं, तब लग मिहरी[४] मांहि ।
रज्जब रोये संग इहिं, छोड़ी छूटे नांहि ॥९३॥

शरीर से तो छोड़ दी किन्तु मन के लग रही है अर्थात् मन से नारी का चिन्तन होता है, तब तक नारी[४] भीतर ही है । इस नारी के साथ होकर बहुत रोये हैं, यह छोड़ने पर भी छुटती नहीं है ।

तन तैं विषिया त्यागिये, पर मन त्यागै नहिं मीत ।
तोलौं कछु छुटै नहीं, जोलौं विषै सुख चीत ॥९४॥

शरीर से तो विषय छोड़ देते हैं किन्तु हे मित्र ! मन विषयों को नहीं त्यागता । जब तक विषय सुख चित्त में बसे हैं तब तक कुछ भी नहीं छूटता ।

छूटी धन[४] पन[५] ध्यान न छूटा, है मिहरी[६] मन मांहि ।
रहतों रहति न दीसै रज्जब, निरखो जतमत[७] मांहि ॥९५॥

नारी[४] तो छुट जाती है परन्तु[५] उसका ध्यान नहीं छुटता तब तक नारी[६] मन में ही है । देखो, ब्रह्मचर्य[७] के सिद्धान्त से रहने वालों के मन में भी रहती है किन्तु रहती हुई दीखती नहीं ।

विषय बंदि[४] सब आतमा[५], नर नारी सहकाम।
रज्जब मुकता ठौर ईहिं, मुक्त किये सो राम ॥६६॥

सकामी सभी नर नारियों के मन[५] विषय-भूप की कैद[४] में हैं, जो विषय से मुक्त हो गये हैं, उनको राम ने संसार बन्धन से मुक्त कर दिये हैं।

मनसा[१] नारी नित निकट, मन नर को सो खाय।
रज्जब छूटै एक को, सूक्षम विषय बलाय ॥६७॥

नारी-भोग की आशा[१] रूप नारी सदा पास ही रहती है, और मन रूप नर को भोगती रहती है, इस सूक्ष्म विषय रूप बलाय से कोई एक बिरला ही संत छुट सकता है।

वीरज तैं बालक उदय, कर्म धर्म तिन होय।
तिन साझौं[१] साझा सबल, नहिं तो नाहीं कोय ॥६८॥

वीर्य से बालक उत्पन्न होते हैं, उन बालकों के सहयोग से धार्मिक कर्म होते हैं। धार्मिक कर्मो के करने में भाग[१] लेने से पर ।र्थ में प्रबल साझेदार हो जाता है। वीर्य नहीं तो उक्त काम नहीं होता। अतः वीर्य का संरक्षण करना चाहिये।

कूकर कागों काछ दृढ़, धनि रासभ[१] रस रीति।
रज्जब धृक् धृक् मानवी[२], बहुत विषय विपरीत ॥६९॥

कुत्ते और काक भी अपनी काछ को दृढ़ रखते हैं अर्थात् अधिक समय तक ब्रह्मचर्य से रहते हैं। गधे[१] की भी विषय भोग की रीति धन्यवाद के योग्य है, कारण– वह भी नियत समय पर ही भोग करता है किन्तु इस मानव[२] को बार बार धिक्कार है जो अधिक नारी संग इसके लिये विपरीत है तो भी उसमें प्रवृत्त होता है।

श्वान सिंह रासभ है काग, पशु उपदेश मनिष नहिं लाग।
वर्ष विषै दीसे ऋतु दाना, यहु नर नीच रहे विष साना[१] ॥७०॥

कुत्ता, सिंह, गधा, काक ये पशु पक्षी तो वर्ष भर में एक बार ऋतु दान देते हैं और यह नीच नर सदा ही विषय सुख में लगा[१] रहता है। इसके उक्त पशु पक्षियों का उपदेश भी तो नहीं लगता।

काग ऋषीश्वर रासभ देव, श्वान जती तीनों इक टेव[१]।
ऋतु के दान निशाचर निरजर[२], रज्जब रहति[३] पूज्य[४] पृथ्वी पर ॥७१

ब्रह्मचर्य में काक पक्षी ऋषीश्वर के समान है, गधा देवता के समान है और कुत्ता यति के समान है। तीनों का एक ही स्वभाव[१] है। देवता[२]

और राक्षस दोनों ही ऋतु धर्म आने पर ही विन्दु प्रदान करते हैं। इस कारण पृथ्वी पर भी ब्रह्मचर्य[3] श्रेष्ठ[4] ही माना जाता है।

कूकर कच्छा कौण ह्वै, मानुष मूरख हेरि[1]।

वर्ष दिवस ऊपरि विषय, तहां रह्या मुंह फेरि ॥७२॥

हे मूर्ख मनुष्य देख[1], कुत्ते के समान काछ को दृढ़ रखने वाला कौन होगा ? कुत्ता एक वर्ष के दिन व्यतीत होने पर विषय करता है और उस समय भी कुत्ती से मुख फेर लेता है।

मांस मसूड़ूं मांहिला, नाहर चिड़ा सु खाय।

मासा[1] हँस कहता मुगध[2], क्यों मुख मांहीं जाय ॥७३॥

सिंह के मसोडों के भीतर का माँस नाहर चिड़ा पक्षी सिंह के मुख में चूंच डाल कर चुग २ के खाता है, वह सिंह तो विजातीय है किन्तु जिसे हँस कर मासाह[1] कहता है, उस नारी के मुख में मूर्ख[2] नर का मुख क्यों जाता है अर्थात् चुंबन क्यों करता है ?

अबला आदि उपाधि है, भूले भाग्य सु होय।

जन रज्जब जत[1] की जुगति, बूझे[2] विरला कोय ॥७४॥

नारी, आदि काल की ही उपाधि लगी हुई है, किसी के अच्छे भाग्य हों तो ही इसे भूल सकता है। ब्रह्मचर्य[1] की युक्ति को तो कोई विरला ही समझ[2] सकता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विषय का अंग १५४ समाप्तः ॥सा० ४७८९॥

अथ काम का अंग १५५

इस अंग में काम संबन्धी विचार कर रहे हैं—

काम हिं देखत ही भये, ज्ञान ध्यान मति भंग।

जन रज्जब जोगै[1] गयो[2], जागै अपत[4] अनंग[5] ॥१॥

कामुक दृष्टि से कामिनी को देखते ही—ज्ञान, ध्यान और सुमति आदि नष्ट हो जाते हैं। योग[1] भी समाप्त[2] हो जाता है और प्रसुप्त काम[5] रूप पुत्र[4] जग जाता है।

मदन वदन देखे नहीं सुर नर शंक सु नांहि।

जन रज्जब रिपु रिंद[1] है, मोटा वैरी मांहि ॥२॥

काम, देवता और नरादि के मुख को देखकर शंका-संकोच नहीं करता, यह स्वच्छन्द[1] शत्रु है तथा हृदय के भीतर रहने वाला महान् वैरी है।

सिध[1] साधक हारे सबै, सुर नर किये निमाम[2] ।
जन रज्जब जोधार[3] गुण, कह्या न माने काम ॥३॥

काम के आगे सभी सिद्ध[1]-साधक हार गये हैं । देवता तथा नरों को काम ने अहंकार[2] रहित कर दिया है अर्थात् जीत लिया है । इस काम में योद्धा[3] का गुण शौर्य है यह किसी का भी कहा नहीं मानता, इच्छानुसार ही करता है ।

काम काल गरजै सदा, काया नगरी माँहि ।
जन रज्जब हारचा जगत, सुर नर छूटे नाँहि ॥४॥

काया नगरी में काम रूप काल सदा गर्जता रहता है । इससे देवता नर आदि कोई भी नहीं बचे हैं, सभी जगत् हार गया है ।

रज्जब रंचक काम रस, करे राम रस भंग ।
यहु बैरी वैराग्य मधि, सो साथी है संग ॥५॥

किंचित मात्र काम-रस भी राम-रस को नष्ट कर देता है । यह काम-रस तो वैराग्य की स्थिति में शत्रु है और वह राम तो सहायक रूप से संग रहता है ।

अनंग दिशा अवलोकतैं, आगि उठत उर माँहि ।
वपु बासण ताये बिना, चोपड़ निकसै नाँहि ॥६॥

कामुक दृष्टि से नारी की ओर देखते ही हृदय में कामाग्नि प्रकट हो जाता है । जैसे मिट्टी के चिकने वर्तन को तपाये बिना उससे चिकनाई नहीं निकलती वैसे ही शरीर के तपे बिना उससे बिन्दु नहीं निकलता ।

एक हि कूंदे[1] काम के, जड़चा[2] जगत जगदीश ।
रज्जब देई देव सब, उमा सहित सु ईश ॥७॥

जगदीश्वर ने देवी, देवता, पार्वती और महादेवजी के सहित सर्व जगत् को एक कामरूप काठ[1] के फँदे में बंद[2] कर रक्खा है ।

महादेव मधिना रह्या, मदन महा बलवंत ।
रज्जब राखै कौन विधि, कीट कलियुगी जंत ॥८॥

महा बलवान् काम जब महादेवजी के मध्य भी नहीं रहा तब कीट के समान कलियुगी जीव उसे किस प्रकार रख सकते हैं ?

पारा शोधे कनक कामिनी, देख्या राखिर कूवँ ।
जन रज्जब क्यों रहै जीवता, ये लक्षण जिंहि मूवँ ॥९॥

पारे को कूप में रख कर भी देखा है, वह कनक और कामिनी को खोजकर अपनी ओर खैंचता है । जिसमें मरने पर भी यह लक्षण है, वह

जीवित कामिनी को खोजे बिना कैसे रहेगा। विशेष विवरण—पारा महादेवजी का वीर्य माना जाता है। इस साखी में वीर्य को ही काम मान कर कहा है। सुनते हैं पारे के कूप पर नारी जाकर पारे को देखती है तो पारा नारी की ओर ऊंचा बढ़ता है, उस समय नारी को तत्काल हटा देते हैं और कूप से निकले पारे को अपने अधिकार में कर लेते हैं। पूर्व काल में ऐसे पारा निकालते थे। भस्म में पड़े हुये स्वर्ण कणों को स्वर्णकार पारे की गोली से निकालते हैं।

बैजनाथ[1] सौं बिरचि[2] करि, करै अनीति अनंग।
रज्जब धावै कूपतैं, पारा नारी संग ॥१०॥

महादेवजी[1] से अलग[2] होकर भी काम अनीति करता है। देखो, पारा कूप से नारी के पीछे दौड़ता है। नारी कूप में पारा को देखती है तब पारा दूध के उफान के समान उफन कर नारी के पीछे दौड़ता है।

काम राम रावण डसे, इन्द्र आदि दै[1] ईश[2]।
और कचर[3] कीचक किये, रज्जब विसवाबीस[4] ॥११॥

काम ने राम, रावण, इन्द्रादि देवता, दैत्य[1] और शंकर[2] को भी डसा। कीचकों को मार कर तो सर्वथा[4] कचरा[3] कर डाला।

अबला[1] बली अनंग अरि, मारन को भुर[2] भौन।
रज्जब दलिये देव दल, आतम उबरै कौन ॥१२॥

काम रूप शत्रु नारी[1] की सहायता से स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल इन तीनों[2] भुवनों को मारने के लिये महाबली हो जाता है। वह नारी की सहायता से देवताओं के दल को भी जीतता है, फिर साधारण जीवात्माओं में इससे कौन बच सकता है।

अबला[1] बली अनंग अति, गो[2] गंजन[3] अवतार[4]।
रज्जब रज[5] बल ना रह्या, हारे हद झूझार[6] ॥१३॥

नारी[1] की सहायता से काम अति बली हो जाता है। पृथ्वी[2] पर इसका जन्म[4] मारने[3] के लिये ही हुआ है। इसके आगे ज्ञान-प्रकाश[5] का बल भी नहीं रहता अर्थात् इसने ज्ञानियों को भी पछाड़ा है, इससे सब हारे हैं। इसमें योद्धा[6] की हद हो गई है अर्थात् इससे अधिक बली योद्धा कोई भी नहीं है।

ब्रह्मा विष्णु महेश के मिहरचों[1] सेती[2] मेल।
तो रज्जब तेतीस में, कौन तजै यहु खेल[3] ॥१४॥

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के हृदय में भी नारियों[1] से[2] मिलने की भावना रहती है। तब तेतीस देवताओं में से कौन देवता इस काम क्रीड़ा[3] को त्याग सकता है।

भामा[1] मिल भूले सबै, सुर नर नाग सु भौन[2] ।
रज्जब अनंग असाध्य[3] को, कहो सु साधे[4] कौन ॥१५॥

देवता स्वर्ग में, मनुष्य पृथ्वी में, नाग नागलोक[2] में, नारी[1] से मिल कर काम के वश हुये प्रभु को भूल रहे हैं, तब इस कठिन[3] शत्रु काम को कौन जीत[4] सकता है ।

रज्जब मदन महन्त है, मथुरा मक्के मांहि ।
ठाहर उभय अनंग बल, जत[1] ठहरावहि नांहि ॥१६॥

मथुरा और मक्का में काम ही महन्त है । दोनों स्थानों में ही काम का बल अधिक है । वहाँ ब्रह्मचर्य[1] नहीं रह सकता ।

कीचक रावण इन्द्र-से, भस्मासुर सु विचार ।
जन रज्जब बीतो बुरी, तकत पराई नार ॥१७॥

कीचक, रावण, इन्द्र और भस्मासुर की स्थिति का विचार करो, द्रौपदी, सीता, अहल्या और पार्वती इन पराई नारियों को कामुक दृष्टि से देखने पर उनकी कैसी बुरी दशा हुई । कीचक, रावण और भस्मासुर तो भीम, राम और मोहनी द्वारा मारे ही गये । इन्द्र के शरीर में गौतम के शाप से सहस्र भग हो गये । यह प्रसिद्ध है !

रज्जब मदन भुवंग[1] गति[2], चितवनि[3] चंपे खाय ।
मनसा वाचा कर्मना, नर देखो निरताय ॥१८॥

हे नरो ! काम और सर्प[1] की चेष्टा[2] को विचार करके देखो । सर्प तो दबने[4] से खाता है और काम तो नारी को देखने[3] मात्र से ही खा जाता है ।

श्रवण नैन मुख नासिका, इन्द्री[1] बहै अनंग ।
रज्जब जाय सु जतन[2] में, बिन वामा[3] परसंग ॥१९॥

यत्न[2] से रहने पर भी बिना नारी[3] प्रसंग के ही–कान से मैल रूप में, नेत्र से गीड़ रूप में, मुख और नासिका से कफ रूप में, शिश्नेन्द्रिय[1] से वीर्य रूप में काम बहता ही रहता है ।

मदन मेरु मधि ना रह्या, व्योम बीज[1] जल धार ।
रज्जब अजर अनंग को, कौन सु जारनहार ॥२०॥

काम पर्वत में भी नहीं रह सका, जल के झरणे की जल धारा के रूप में निकलता है । आकाश में बिजली[1] रूप से चमकता है । इस न हजम होने वाले काम को कौन हजम[2] करने वाला है अर्थात् कोई भी नहीं है ।

केश केश मग[1] काम को, सो निकसे सब संधि ।
रज्जब लहिये लहरि में, वपु ह्वै जाय विगंधि[2] ।।२१।।

केश-केश प्रति काम के जाने के मार्ग[1] हैं। वह सभी संधियों से निकलता है। देखा जाता है कि–काम की लहरि में आते ही शरीर दुर्गन्ध[2] से युक्त हो जाता है।

मैन माग तन में इते, व्यौरे समझ विवेक ।
अहुठ[1] कोड़ि इकई उभय, जन रज्जब पुनि एक ।।२२।।

सम्यक् विवरण और विवेक से समझ शरीर में काम (वीर्य) के जाने के इतने मार्ग हैं-साढे-तीन[1] कोटि तो रोम कूप हैं और २ नेत्र, २ कान, २ नाक, १ मुख, १ गुदा, १ लिंग, १ ब्रह्मरंध्र दश ये हैं। तब उसे कोई कैसे रोक सकता है।

उड हि जु बातहुं[1] वात[2], इक आतम अरु अवनि अंश ।
फिर आवहिं धरि[3] धात[4], रज्जब लावहिं वारि वंश ।।२३।।

जैसे वायु[2] से पृथ्वी का अंश रज उड़ जाती है किन्तु वह पुनः पृथ्वी[3] पर आ जाती है। उसे जल की वर्षा ले आती है। वैसे ही वैराग्य की बातों[1] से आत्मा वीर्य धातु[4] अर्थात् काम से उड़ जाता है अर्थात् विवाह नहीं करना चाहता किन्तु पुनः उसके वंश वाले उसका विवाह करा ही देते हैं।

रज्जब करड़ा काल सौं, काम सु काया मांहि ।
वह मारेगा एक दिन, यहु अह निशि छोडै नांहि ।।२४।।

काम शरीर में काल से भी अधिक कठोर शत्रु है। वह काल तो एक ही दिन मारेगा किन्तु यह काम तो रात-दिन छोड़ता ही नहीं, मारता ही रहता है।

अरड़ा[1] सबल अनंग का, ऐन[2] अतीती[3] मांहि ।
जन रज्जब वपु विघ्न बहु, या सम कोई नांहि ।।२५।।

बलवान् काम का अड्डा[1] विरक्तता[3] में भी प्रत्यक्ष[2] भासता है। यद्यपि प्रभु प्राप्ति के मार्ग में जाने से रोकने वाले शरीर में बहुत से विघ्न हैं किंतु इस काम के समान कोई भी नहीं है।

काम कसाई काल है, पशु प्राणी सब पिंड ।
जन रज्जब छल की छुरी, वैरी करै विहंड[1] ।।२६।।

काम कसाई और काल के समान है। जैसे कसाई छुरी से पशुओं को मारता है और काल सभी प्राणियों के शरीरों को नष्ट करता है, वैसे ही कामरूप शत्रु छलरूप छुरी से सबको नष्ट[1] करता है।

काम कसाई कर्म करि, बींधे तन मन प्राण ।
रज्जब मारे मुर[1] भवन, रोये चतुर सुजान ॥२७॥

काम रूप कसाई ने अपने कर्म से प्राणियों के तन मन बेध डाले हैं। स्वर्ग, पृथ्वी पाताल तीनों[1] ही लोकों को काम ने मारा है। इस काम से व्यथित होकर चतुर ज्ञानी भी रोने लगते हैं।

मदन[1] महावत देह द्विप[2], गृह सागर ले जाय ।
तहां ग्राह गृहणी गहै, कौन छुड़ावे आय ॥२८॥

जैसे हाथी[2] को महावत सागर में ले जाय और वहाँ उसे ग्राह पकड़ ले तब कौन आकर छुड़ावे। वैसे ही काम[1] शरीर को घर में ले जाता है, वहाँ उसे नारी पकड़ लेती है तब कौन आकर छुड़ावे ? अर्थात् कोई नहीं छुड़ाता।

काम दंड नौ खंड परि, पिंड बिहंडण[1]-हार ।
जन रज्जब जोख्यों[2] घणी, सदा कुसंगी लार ॥२९॥

यों तो शरीर को नष्ट[1] करने वाला काम दंड नौ ओं खंडों पर ही चलता है किन्तु कुसंगियों के साथ रहने पर काम से और भी अधिक हानि[2] होती है।

काम काल कलि को कलै[2], हाथ शिश्न समशेर[1] ।
रज्जब मारै मुवों को, छूटण का नहिं फेर ॥३०॥

जिसके हाथ में शिश्नेन्द्रिय रूप तलवार[1] है उस काम रूप काल को इस कलियुग में कौन नष्ट[2] कर सकता है ? वह तो जीवित-मृतक को भी ऐसा मारता है कि–पुनः इससे छुट भी न सके।

काम कमंध काटे कमल, करे कामना चोट ।
रज्जब उबरे कौन विधि, जो न लहै लय ओट ॥३१॥

बिना शिर का कामरूप शत्रु हृदय कमल को काटता है, उस पर कामना रूप कुल्हाड़े के आघात करता है। जो साधक वृत्ति को ब्रह्म में लय करना रूप ओट को ग्रहण नहीं करता वह काम के आघात से कैसे बच सकता है ?

तन थाके मन ना थके, बहै[1] विषय की बाट ।
रज्जब भासी भूत गति[2], देख्या दैत्य निराट[3] ॥३२॥

शरीर तो थक जाता है किन्तु मन नहीं थकता, विषय के मार्ग में ही दौड़ता[1] है। मन की चेष्टा[2] तो भूत के समान ही भासती है। यह तो निरा[3] दैत्य ही देखने में आता है।

रज्जब काया कैंथ फल, खाये कुंजर काम ।
निकस्यों सारे देखिये, भीतर रीती ठाम ॥३३॥

कैंथ के फल को हाथी बिना फोड़े ही निगल जाता है, फिर वह मल द्वार से निकलता है तब ऊपर तो ज्यों का त्यों भासता है किन्तु तोड़के देखो तो उसमें गिरी किंचित् भी नहीं रहती । हाथी की अग्नि उस गिरी को पानी बना कर रोम कूपों द्वारा खेंच लेती है । वैसे ही काम का खाया हुआ शरीर उपर से तो ज्यों का त्यों भासता है किन्तु भीतर सार कुछ नहीं रहता ।

काया कण रिपु काम घुण, उभय सु उपजै मांहि ।
रज्जब रीता करि गये, उरमें आटा नांहि ॥३४॥

शरीर में काम और अन्न-कण में घुण दोनों भीतर ही उत्पन्न होते हैं । काम शरीर को वस्तु विचार से रीता कर देता है और घुण अन्न-कण को आटे से रहित कर देता है ।

रज्जब खिसतैं[1] विन्दु के, नाद[2] निपट[3] घटि जाय ।
अंग अंग बल भंग ह्वै, नर देखो निरताय[4] ॥३५॥

हे नरो ! विचार[4] करके देखो, विन्दु के पात[1] होने पर आवाज[2] बहुत[3] कम हो जाती है । शरीर के प्रत्येक अंग की शक्ति भी नष्ट अर्थात् बहुत कम हो जाती है ।

मदन मेरु को खिसत[1] हिं, वपु वसुधा चक चाल ।
ज्यों रज्जब राजा पड़्यों, परजा कौण हवाल ॥३६॥

सुमेरु के सरकने[1] से पृथ्वी घूमने लगती है । वैसे ही वीर्य के खिसकने से शरीर को भी चक्कर आने लगते हैं । राजा रणभूमि में पड़ता है तब प्रजा का क्या हाल होता है । दुःख ही होता है । वैसे ही वीर्य गिरने से शरीर भी ठीक नहीं रहता ।

सकल मेदिनी[1] मदन वश, रोके घट घट प्राण[2] ।
जन रज्जब आड़ा अनंग[3], आगे लहै न जाण ॥३७॥

संपूर्ण पृथ्वी[1] के प्राणी काम के वश हैं । प्रति शरीर के प्राणी[2] को काम ने रोक रक्खा है, काम[3] आड़ा रहता है इसी से राम की ओर आगे कोई भी नहीं जाने पाता ।

सकल मेदिनी मदन वश, दह[1] दिशि काम कपाट ।
वंदी खाने विन्दु[2] के, रज्जब लहै[3] न बाट ॥३८॥

संपूर्ण पृथ्वी के प्राणी काम के वश में हैं, दशों[1] दिशाओं में काम रूप किवाड़ लग रहे हैं। काम[2] के कैद खाने में पड़े रहने से प्रभु प्राप्ति के साधन मार्ग को नहीं पकड़[3] पाते।

रज्जब मारे काम के, विसरे आतम राम।
कौन प्राण पति को मिलै, रोकि रही बिच वाम ॥३९॥

प्राणी काम के मारे आत्म स्वरूप राम को भी भूल रहे हैं। कभी कोई याद भी करे तो बीच में नारी रोक रही है। अतः प्राणपति प्रभु को कौन प्राप्त हो सकता है।

एकहि सांकल सुकल[4] की, चौरासी का बंध।
मानिष[5] को माया मदन[6], पड़्या दुबागा[7] कंध ॥४०॥

चौरासी को एक काम[4] रूप साँकल ही बाँधती है किन्तु मनुष्य[5] के कंधे में तो माया और काम[6] दोनों की बनी हुई सरक[7]-फाँसी पड़ी हुई है और दोनों ओर से गला घोंटती है।

काम कामना के वश कलियुग, नर देखो निरताय[8]।
रज्जब उभय सु आँथयूं, आतम ब्रह्म समाय ॥४१॥

विचार[8] करके देखो, तो ज्ञात होगा, कलियुगी नर काम और कामना के वश में हैं। काम और कामना दोनों छिप जाँय अर्थात् हृदय से हठ जाँय, तब आत्मा ब्रह्म में समा सकता है।

काम कामना कांवरूं, प्राणी पलटण ठौर।
रज्जब अज्जब जायगह, करै और तैं और ॥४२॥

जैसे कामरूप देश (आसाम) प्राणी को बदलने का स्थान था वहाँ की नारियाँ विदेशी नर को दिन में पशु बना लेती थीं और रात्रि में नर कर लेती थीं। वैसे ही काम और कामना प्राणी को बदलने का अद्भुत स्थान है। ये काम और कामना प्राणी को और से और कर देते हैं।

रज्जब शक्ति स्वरूपी सर्पणी, जग जातक जणि खाय।
इन आगे उबरे सोई, जो अगम अगोचर जाय ॥४३॥

जैसे सर्पणी बच्चे उत्पन्न करके उनको खा जाती है, उससे वही बच पाता है जो उसकी निकाली हुई कार से बाहर निकल जाता है। वैसे ही माया जगत् रूप बच्चे उत्पन्न करती है और खा जाती है। इससे वही बचता है जो अगम-अगोचर ब्रह्म में जा मिलता है।

आठ पहर आड़ा रहै, काम राम बिच आय।
जन रज्जब कोउ कोटि में, सुकल[1] सिह चढि जाय ॥४४॥

काम प्राणी के हृदय में आकर राम की प्राप्ति के साधन मार्ग के बीच में आठों पहर आडा खड़ा रहता है अर्थात् साधन नहीं करने देता। कोई कोटि में एक ही काम[1] रूप सिंह पर चढ़ कर अर्थात् काम को जीत कर प्रभु के पास जाता है।

सुकल[1] सिंह तन कूप में, काढे कुशल[2] न होय।
रज्जब मरहि सु धर्म धर[3], पुण्य न कीजे सोय ॥४५॥

कूप में से सिंह को निकालने से मंगल[2] नहीं है, सिंह पृथ्वी[3] पर आते ही तुझे मार देगा, अतः वह सिंह को निकालना रूप पुण्य नहीं करना चाहिये। वैसे ही वीर्य[1] को शरीर से निकालने में मंगल नहीं है, मारा जायगा। इसके धारण[3] करने में ही धर्म है।

राम काम भेले[1] भजहिं, इन्द्रा दिक सु अनेक।
रज्जब कंदर्प[2] दर्प[3] दलि[4], हरि सुमिरे सो एक ॥४६॥

इन्द्रादिक अनेक राम और काम को साथ[1] ही भजते हैं। काम[2] का गर्व[3] नष्ट[4] करके हरि का स्मरण करता है सो तो कोई एक बिरला ही संत होगा।

रज्जब अनंग अतीत अड़, यति युवती जग जंग।
और लड़ाई, लघु सबै, यहु दीरघ रण रंग ॥४७॥

काम और संत का युद्ध तथा यति और नारी का संग्राम सदा चलता है। यह रण स्थल ही महान् है और युद्ध तो सभी छोटे हैं।

मैन[1] मदन[2] सौं युद्ध नित, योगेश्वर का काम।
रज्जब इस मारे बिना, कह्या न जावे राम ॥४८॥

काम[1] से नित्य युद्ध करना योगेश्वर का काम है। इस काम[2] को मारे बिना राम का स्मरण-कीर्तन नहीं किया जा सकता।

त्रिया चरित्र चित ना चलै[1], लगे न पांचों बान।
रज्जब रहिता सिद्ध सो, जग जोगेश्वर जान ॥४९॥

जिसका मन नारी चरित्र से चंचल[1] नहीं हो और जिसके आकर्षण, वशीकरण, उद्‌मादन, द्रव और शोषण ये काम के पंच बाण न लग सकें वही काम रहित सिद्ध है, उसे ही जगत् में योगेश्वर जानना चाहिये।

और लड़ाई लघु सबै, यहु दीरघ जुध[1] काम।
रज्जब मारे मदन को, सो बलवंत वरियाम[2] ॥५०॥

काम से लड़ना ही महान् युद्ध[1] है। अन्य युद्ध सब छोटे हैं। जो काम को मारता है, वही बलवानों में श्रेष्ठ[2] बलवान् है।

काम लहरि जब ऊपजे, तब देही दौं[1] देय ।

कोई बुझावे जाप जल, नाम नीर सौं भेय ॥५१॥

जब मन में काम की लहरि उत्पन्न होती है तब कामाग्नि शरीर में वनाग्नि[1] के समान जलन उत्पन्न कर देती है । वनाग्नि को कोई बादल ही जल वर्षा करके बुझाता है । वैसे ही कोई संत ही नाम रूप जल के जप से भिगो कर कामाग्नि को बुझाता है ।

आकर्षण अरु वशीकरण, उदमादन द्रव शोख ।

रज्जब लगें न मदन शर, सो जन नारी मोख ॥५२॥

आकर्षण (नारी की ओर खींचना), वशीकरण (नारी के वश होना), उदमादन (उन्मत्त करना), द्रव (द्रवित होना) और शोषण (सुखाना) काम के ये पंच बाण जिसके नहीं लगें वही जन नारी से मुक्त हो सकता है ।

रज्जब मारे मदन शर, नागे नारी नाह[1] ।

ओट चोट लागे नहीं, जहिं तन शील सनाह[2] ॥५३॥

नंगे नारी-पुरुष[1] को देख कर काम अपने बाण शीघ्र मारता है, आड़ में होने से काम बाण की चोट नहीं लगती । वैसे ही जिसका शरीर शीलव्रत रूप कवच[2] की ओट में है, उसके कामबाण नहीं लगता ।

मदन भुवंगम सब डसे, नारी अरु भरतार ।

रज्जब रहसी एक को, जो राख्या करतार ॥५४॥

काम रूप सर्प ने सभी नारी-पुरुषों को खाया है । जिसकी रक्षा विश्वकर्त्ता प्रभु करते हैं वह कोई एक ही काम से बचा रहेगा ।

रज्जब सांकल सुकल[1] की, बांध्या सब संसार ।

मनसा वाचा कर्मना, विरला छूटणहार ॥५५॥

ईश्वर ने काम[1] रूप साँकल से सब संसार को बांध रक्खा है । हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं, काम से छुटकारा पाने वाला कोई बिरला ही होता है ।

रज्जब सांकल सुकल की, बांध्या जंगम[1] जंत[2] ।

थावर[3] थिर धरती जड़े, नमो निरंजन मंत ॥५६॥

जितने चलने[1]-वाले जीव[2] हैं, उनको तो काम की साँकल से बाँध दिया है और स्थिर[3] रहने वाले वृक्षादि पृथ्वी में स्थिरता से भूषण में नगों के समान जड़े हुये हैं । उस निरंजन ब्रह्म के विचार को नमस्कार है ।

वीरज[1] विधु[2] वपु व्योम बस, पिंड ब्रह्मंड उजास ।
रज्जब सुन्दरि सूर तल, तन त्रिभुवन तम बास ।।५७।।

चन्द्रमा[2] आकाश में रहकर ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है किन्तु अमावस्या को सूर्य के नीचे रहता है अर्थात् सूर्य के साथ रहता है तब तीनों लोकों में संपूर्ण रात्रि में अंधेरा ही बसता है । वैसे ही शरीर में वीर्य[1] रहता है तब तक तो शरीर तेजस्वी भासता है और वीर्य नारी के द्वारा नष्ट हो जाता है तब शरीर में तेजस्विता नहीं रहती ।

रज्जब सरिता सुकल[1] की, मीन बहे मन जांहि ।
उदधि[2] रु अंतक[3] खार में, मिलत मरै ता मांहि ।।५८।।

नदी में बह कर मच्छियाँ क्षार समुद्र[2] में जाती हैं और समुद्र के खारे जल में मिल कर मगरादि द्वारा मारी जाती हैं । वैसे ही काम[1] से चंचल होकर मन मृत्यु[3] की ओर जाता है और नारी से मिलकर उसी में आसक्त हो कर मरता है ।

सुकल[1] दूध थोहर[2] सही, देही दहूं[3] सु डारि ।
जल रज्जब मन मीन में, काल कीर[4] कुल[5] मारि ।।५९।।

थूहर[2] का दूध जल के दह[3] में बहुत मात्रा में डाल दिया जाय तो मच्छियों में विपत्ति आ जाती है और उसकी सब[5] मच्छियों को व्याध[4] मार डालता है । वैसे ही शरीर में काम[1] की अधिकता होने पर मन भी प्रमाद रूप काल के द्वारा मारा जाता है अर्थात् धर्म भ्रष्ट हो जाता है ।

मदन[1] मीन सम जान, रज्जब उदधि अज्ञान मधि[2] ।
जत जहाज जिहिं भान[3], कैसें होय सु काज सिधि ।।६०।।

काम[1] को समुद्र के मगरमच्छ के समान जानो । जैसे समुद्र में[2] मगरमच्छ जहाज को तोड़[3] देता है । वैसे ही अज्ञानावस्था में काम ब्रह्मचर्य व्रत को नष्ट कर देता है, तब भगवद् प्राप्ति रूप कार्य कैसे सिद्ध हो सके ।

काम लहरि जब ऊपजै, तब राम लहरि का नाश ।
तहाँ[1] बूंद बालक उदय, तिहि भलपण क्या आश ।।६१।।

मन-समुद्र में काम की भावना रूप लहरि उत्पन्न होती है, तब राम की भक्ति रूप लहरि नष्ट होती है । उसी[1] काम लहरि में बहने से ही वीर्य विन्दु से बालक उत्पन्न होता है, तब उस बालक से भलाई की क्या आशा है ।

इतिश्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित काम का अंग १५५ समाप्तः ।।सा० ४८५०।।

अथ इन्द्रियों का अंग १५६

इस अंग में इन्द्रियों संबन्धी विचार कर रहे हैं—

श्रवणों सदा कुरंग[1] मत, नैनों नित्य पतंग ।
रसना रस को मीन मन, सघन[2] स्वाद के संग ॥१॥

जैसे मृग[1] बरवे राग में मस्त हो जाता है, वैसे ही श्रवण भी सदा अनुकूल शब्दों के सुनने में मस्त रहते हैं । पतंग दीपक ज्योति में पड़ता है, वैसे ही नेत्र नित्य सुन्दर रूप पर जाते हैं । मच्छी रस के लिये लालायित रहती है, वैसे ही जिह्वा रस के लिये लालायित रहती है । मन भी निरंतर[2] स्वाद के साथ ही रहता है ।

भँवर भाव मिल नासिका, आठों पहर अभंग ।
इन्द्री अह निशि गज मतै, जामें काम अनंग ॥२॥

जैसे भ्रमर प्रेम से सुगंध में अनुरक्त रहता है । वैसे ही नासिका अष्ट-पहर निरंतर सुगंध से प्रेम करती है । जिस हाथी में काम की अधिकता रहती है, उस हाथी के मतानुसार उपस्थ इन्द्रिय दिन-रात काम परायण रहती है ।

जन रज्जब जिव क्यों रहे, इन पंच न परसंग[3] ।
खोटे साथी पंच हैं, वृत्ति करत हैं भंग ॥३॥

इन पाँच इन्द्रियों के संग[3] में जीव कल्याण के साधन में स्थिर कैसे रह सकता है ? ये पांचों ही साथी भगवताकार वृत्ति को तोड़ने वाले होने से बड़े बुरे हैं ।

खोटे संगी पंच है, सदा जीव के पास ।
जन रज्जब जोख्यों[1] घणी[2], बहु विधि करैं विनाश ॥४॥

जीव के पास सदा से पंच ज्ञानेन्द्रिय रूप खोटे साथी रहते हैं । इनके पास रहने से जीव की बड़ी[2] हानि[1] होती है । ये जीव को नाना प्रकार से नष्ट करते रहते हैं ।

पंच पसारे पड़ि गये, कनक कामिनी माँहि ।
रज्जब बीधे व्याधि में, क्यों ही निकसे नाँहि ॥५॥

पंच तत्वों के गुण पंच विषयों के विस्तार में पड़ गये हैं, इससे कनक कामिनी की कामना रूप घुण भीतर लग गया है और उससे बीध गये हैं । अब इस रोग में से किसी प्रकार भी नहीं निकल पाते ।

जब पंचों पावन मते, तब ऊजल उर आब ।
रज्जब पंचों पंच दिशि, तब ही काम खराब ॥६॥

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पवित्र विचार मार्ग में रहती हैं, तब हृदय की शोभा सुन्दर रहती है और जब पाँचों पंच विषयों की ओर दोड़ती हैं तब भगवत् प्राप्ति रूप कार्य के करने में खराबी आ जाती है ।

गुण[1] गयंद[2] गजराज घड़ि, पड़े भाव[3] दह आय ।
जन रज्जब गुण[4] ऊठि करि, जल मैला ह्वै जाय ॥७॥

जिस घड़ी जल के दह में गजराज आकर पड़ता है, तब उसमें कीचड़ उठ कर जल मैला हो जाता है । वैसे ही इन्द्रिय[1] रूप हाथियों[2] की चंचलता मन[3] में आती है तब विषय[4]-भावना उठकर विचार मलीन हो जाता है ।

जब लग गरजै देह गुण, तब लग भक्ति न होय ।
रज्जब राम न पाइये, कोटि करै जे कोय ॥८॥

जब तक शरीर के गुण (इन्द्रिय) विषयों को प्राप्त करने के लिये गर्जते हैं और काम क्रोधादि गुणों की प्रबलता है, तब तक प्रभु की भक्ति नहीं होती और भक्ति बिना यदि कोई कोटि उपाय करे तो भी राम की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

रज्जब मन पंचों पिशुन[1], लूटैं देही देश ।
इन बलवंतों पासि छुडावे, बलवत प्राणि नरेश ॥६॥

जैसे देश को दुष्ट लुटेरे[1] लूटते हैं तब उनसे बलवान राजा ही छुड़ाता है । वैसे ही मन इन्द्रिय जीवात्मा को लूटते हैं तब भक्ति ज्ञानादि बल से युक्त संत ही युक्ति द्वारा मन-इन्द्रियों को प्रभु में लगाकर प्राणी को इनकी फाँसी से मुक्त करते हैं ।

पंच पचीसों त्रिगुण मन, अजाजील से माँहि ।
शैतानों के देश में, साधू निपजे नाँहि ॥१०॥

पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पचीस प्रकृति, तीन गुण और मन, ये भीतर अजा-जिल शैतान के समान प्रभु से विमुख करते रहते हैं । इन प्रभु से विमुख करने वाले शैतानों के देश में रह कर कोई संत नहीं बन सकता ।

मनस[1] भूत शैतान अजाजिल, द्वै द्वंदर[2] बैठें दिल माँहि ।
रज्जब रवाह[3] रही यूं रीती, सुमिरण सुकृत उपजे नाँहि ॥११॥

मन[1] रूप भूत और अजाजिल शैतान ये दोनों द्वन्द्व[2] हृदय में बैठे हैं, इसी कारण अरवाह[3] (जीवात्मा) खाली रह गई, हृदय में हरि-स्मरण और पुण्य कर्म करने की भावना उत्पन्न नहीं हो सकी ।

दैत्य दिशावर[1] देह निज, जीव जमपुरी बास ।
रज्जब रहिये कौन विधि, जीवन झूठी आश ॥१२॥

अपना देह काम-क्रोधादि दैत्यों का प्रदेश[1] बन रहा है और जीव मानो यमपुरी में बस रहा है ऐसा क्लेश है। तब सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है ? सुख पूर्वक जीवन की आशा मिथ्या है।

राहु केतु छेदे छिके, पै बेला हाजिर होत।
त्यों रज्जब डरता रही, इन्द्री दैत्य सु गोत ॥१३॥

राहु और केतु अमृत दान के समय काटने से कट तो गये थे परन्तु ग्रहण के समय[1] चन्द्र-सूर्य के पास आकर उपस्थित हो जाते हैं। वैसे ही इन्द्रियां भी उक्त दैत्यों के गोत्र की ही हैं अर्थात् साधन द्वारा जीती तो जाती हैं किन्तु विषय संबंध के समय पूर्ववत ही चंचल हो जाती हैं। अतः इनसे डरते ही रहना चाहिये।

पंचों के घर प्राणियाँ, पड़्या ठगों में आय।
रज्जब रासभ[1] कर लिया, सु निज घर जीव न जाय ॥१४॥

पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषय रूप घर में आकर प्राणी पंचेन्द्रिय रूप ठगों के वश में हो रहा है। इन ठगों ने इसे भारवाही गधे[1] के समान कर रक्खा है, इसी कारण जीव परब्रह्म रूप अपने घर में नहीं जा सकता।

गुड़ धरती महुआ गगन, बेर जडी बिच वाय।
जन रज्जब तोय तेज मिल, मद रूपी ह्वै जाय ॥१५॥

जैसे गुड़, महुवा, बेरजड़, जल और अग्नि मिल कर मद्य बन जाता है। वैसे ही पृथ्वी, आकाश, वायु, जल और अग्नि, इनके गुण रूप पंच विषय मिल जाने पर भी मद्य रूप हो जाते हैं। उनका उपभोग करने वाला मतवाला हो जाता है।

पंच तत्त्व विगसे[1] विमल, मिलते मद्य समान।
जन रज्जब रस पान करि, घट घट माते[2] प्रान ॥१६॥

पंच तत्त्व रूप पंच विषय अलग[1] २ रहने से तो पवित्र रहते हैं मिलने से मद्य के समान हो जाते हैं। इनके विषय रसका पान करके प्रति शरीर के प्राणी मतवाले[2] हो जाते हैं।

इन्द्री[1] प्रसन्न जीभ रस, नास बास चखि[2] रंग।
रज्जब श्रवणों शब्द सुन, विषय पंच वपु भंग ॥१७॥

त्वचा[1]-इन्द्रिय स्पर्श करने से, जिव्हा रस लेने से, नासिका सुगंध लेने से, नेत्र[3] रूप-रंग देखने से, और श्रवण शब्द सुनने से प्रसन्न होती हैं किन्तु इन पांचों विषयों का अति मात्रा में उपयोग करने से शरीर नष्ट होता है।

चहुं[1] इन्द्रियों के चारि गुण, जिह्वा दोय स्वभाव।
रज्जब खैबे[2] को खुशी, अरु बकिबे[3] का चाव[4] ॥१८॥

श्रवण, नेत्र, नासिका, त्वचा, इन चार[1] इन्द्रियों के शब्द, रूप, गंध, स्पर्श ये चार गुण हैं किन्तु जिव्हा के स्वाभाविक दो गुण हैं। यह खाने[2] से भी प्रसन्न होती है और इसे बोलने[3] का भी उत्साह[4] रहता है।

रज्जब इन्द्री[1] दोय गुण, रसना लक्षण बीस।
गंध दुर्गंध सु नासिका, पंच रँग नैनों दीस॥
सप्त स्वर हु श्रवणा सुनहिं, ये पूरे छत्तीस ॥१९॥

त्वचा[1] इन्द्रिय के दो गुण हैं—अनुकूल स्पर्श और प्रतिकूल स्पर्श, जैसे कोमल-कठोर, शीत-उष्ण। रसना के बीस गुणरूप लक्षण हैं—६ भोजन के रस, ९ काव्य के रस, १ अनरस, १ सत्य, १ असत्य, १ कठोर, १ बहुत बोलना। नासिका के दो-सुगंध दुर्गन्ध। नेत्र के पांच—१ श्वेत, २ पीत, ३ रक्त, ४ श्याम, ५ हरित। श्रवण के सप्त स्वर हैं—१ षड़ज, २ ऋषभ, ३ गान्धार, ४ मध्यम, ५ पंचम, ६ धैवत, ७ निषाध। इस प्रकार पंच ज्ञानेन्द्रियों के गुण पूरे छत्तीस हैं।

साँच शब्द रसना कहै, स्वाद वाद वश नाँहि।
तो रज्जब सुन चतुर गुण, क्यों चालै मत माँहि ॥२०॥

रसना सत्य शब्द तो कहती है किन्तु स्वाद और विवाद उसके वश नहीं हैं अर्थात् स्वाद और विवाद में प्रवृत्त होती है। तब सुनो अन्य चार इन्द्रिय रूप गुण कैसे सत्य सिद्धान्त में चल सकते हैं?

जल ज्वाला जिह्वा रहै, सुख दुख शब्द सु माँहि।
रज्जब रस विष रसन मधि, वक्त्र सु बाहर नाँहि ॥२१॥

सुखप्रद शब्द और दुःखप्रद शब्द रूप जल और अग्नि ज्वाला दोनों जिव्हा में ही हैं। इस लिये रस और विष दोनों रसना में ही हैं, मुख के बाहर नहीं हैं।

विष अमृत अरु असत सत, रज्जब रसना माँहि।
नरक स्वर्ग जिह्वा जड़ी, बाहर दीसे नाँहि। २२॥

कटु वचन रूप विष, मधुर वचन रूप अमृत, असत्य, सत्य, ये सब रसना में ही हैं। नरक और स्वर्ग भी दोनों भूषण में नगों के समान जिव्हा में जड़े हुये हैं अर्थात् जिव्हा से ही नरक-स्वर्ग प्रद वचन निकलते हैं। अतः उक्त सब जिव्हा से बाहर नहीं हैं।

श्रवण नैन मुख नासिका, साटि[1] वणावणहार ।
रज्जब पीछे पंचमा, प्राण[2] पिंड व्यवहार ॥२३॥

श्रवण अन्य का शब्द सुनकर, नेत्र अन्य का रूप देखकर, मुख की रसना बोलकर, नासिका सुगंध लेकर अन्य से सम्बन्ध जुड़ाने[1] वाले हैं, और पंचम-त्वचा तो प्राणी[2] के शरीर से सम्बन्ध होने पर अपना स्पर्श ज्ञान रूप व्यवहार करती है ।

रज्जब चहुं[1] मौन्यों आगै खड़ी, वकती[2] वक्त्र[3] मंझार ।
दूती[4] दश दरबार की; ता परि कहा करार ॥२४॥

मुख[3] में बोलने[2] वाली जिव्हा—श्रवण, नेत्र, नासिका, त्वचा, इन चार[1] मौनियों के आगे स्थित रहती है और दश इन्द्रिय रूप दश दरबार के समाचारादि वहन करने वाली प्रतिहारी[4] है । उस पर स्थिरता का क्या विश्वास किया जाय ?

रज्जब रसना साटणी, करै पंच की साटि ।
पर बेचत आपन बिकी, बैठि स्वाद की पाटि ॥२५॥

जिव्हा जोड़ने वाली है । श्रवण, नेत्र, नासिका, रसना, त्वचा, इन पांचों को वचन द्वारा अपने अपने विषय में जोड़ती है किन्तु अन्य को विषयों के हाथ बेचते २ स्वयं भी स्वाद की पटिया पर बैठ कर बिक गई है ।

रज्जब रसना रीति यहु, स्वाद वाद में पाव[1] ।
तिहिं समय अंतक[2] असध[3], करै आतमा घाव[4] ॥२६॥

रसना की रीति यह कि—यह ईश्वर नाम उच्चारण को छोड़कर स्वाद में और कथन में अपना आसक्ति रूप पैर[1] रखती है । उस समय इसको काल[2] व्यर्थ[3] करके जीवात्मा पर आघात[4] करता है ।

जन रज्जब जम जीव बिच, जिह्वा दूती जाणि ।
स्वाद वाद में बैठि करि, मींच बणावै आणि[4] ॥२७॥

यमराज और जीव के बीच में जिह्वा ही यमराज की दूती है ऐसा ही जानना चाहिये । अर्थात् जिह्वा द्वारा ही जीव यमराज के पास जाने के काम करता है । स्वाद के वश हो हिंसा करता है । मिथ्या बोलता है । अतः स्वाद और वाद में स्थित होकर जिह्वा मृत्यु के आने[4] का साधन बनाती है ।

रज्जब रसना तूत[4] तरु, पंच झाड़ का मूल ।
या सींच्यों सारे सिंचें, जुदे जुदे फल फूल ॥२८॥

जैसे सतूत[४] वृक्ष के ऊपर चार अन्य वृक्षों की कलम लगा देने पर पांच वृक्षों की जड़ तो एक ही रहती है और फल फूल अलग अलग पांच वृक्षों के आते हैं और एक मूल को सींचने से पाँचों वृक्ष सींचे जाते हैं। वैसे ही जिह्वा पांचों ज्ञानेन्द्रियों का मूल हैं, इसे भोजन-रस देने से पांचों इन्द्रियों का ही पोषण हो जाता है और उनके ज्ञान अलग अलग ही होते हैं।

रज्जब बालक बंस लग, बसि घसि पाड़हि आगि।
पान पेड़ वनराय सब, जलहिं जु ज्वाला लागि ॥२६॥

बांस के बालक रूप उसकी शाखायें उसके लगी रह कर, आपस में घिस कर अग्नि उत्पन्न करती हैं और उसके पत्ते, पेड़ तथा सब वन पंक्ति उस अग्नि की ज्वाला लग कर जल जाते हैं। वैसे ही इन्द्रियों द्वारा जीवात्मा त्रिताप से जलता है।

इन्द्रियों करि आतम बलै[१], पंच प्रपंच न भूल।
रज्जब बंस विलोकियें, डालौं जाल्या मूल ॥३०॥

पंच इन्द्रियों के द्वारा प्रपंच में पड़ जाता है, इस कारण प्रभु को भूल कर जीवात्मा त्रिताप से जलता[१] है। देखो, बांस को उसकी डालियाँ उसके मूल को जला देती हैं। वैसे ही पंच ज्ञानेन्द्रियां जीवात्मा के आश्रय रहकर जीवात्मा को व्यथित करती हैं।

शील समुद्र न ठाहरै, इन्द्री पंच अगस्त।
रज्जब रीता सिन्धु सो, जहां परैं दश हस्त ॥३१॥

अगस्त के आगे समुद्र नहीं ठहर सका अर्थात् सूख गया। वैसे ही पंच ज्ञानेन्द्रियों के आगे शील व्रत नहीं ठहरता। जब दो हाथ से ही समुद्र सूख गया, तब जहां पंचेन्द्रिय रूप पांच व्यक्तियों के दश हस्त पड़ते हैं वह शील-सिन्धु तो खाली ही रहेगा।

रज्जब लहुड़े[४] बहु बुरे, देखि बड़हु घर घाल[५]।
लघु टीड्यों दीरघ डस्या, किया सुकाल दुकाल[६] ॥३२॥

छोटे[४] बहुत बुरे होते हैं, बड़ों के घर भी नष्ट[५] कर डालते हैं। देखो, छोटी छोटी टीडियाँ बड़े बड़े बाजरा आदि को खाकर सुकाल का दुष्काल[६] कर देती हैं। वैसे ही इन्द्रियां जीवात्मा को व्यथित करती हैं।

रज्जब घण जीते सदा, लघु दीरघ न विशेख।
पेखै पन्नग पिपीलकों, प्रत्यक्ष खाया देख ॥३३॥

सदा समूह ही जीतता है, छोटे-बड़े की विशेषता नहीं देखते। देख बड़े सर्प को चींटियाँ प्रकट रूप में ही खा जाती हैं। अधमरे वा मरे को खाती हैं, वैसे ही अज्ञानी जीवात्मा को इन्द्रियाँ व्यथित करती हैं।

देखो जीव जगदीश सम, सो गुण इन्द्रिय खाँहि[४] ।
रज्जब हारा देख तों, एक अनेकों माँहि ॥३४॥

देखो, जीव जगदीश के समान ही है, उसे कामादि गुण और इन्द्रियाँ व्यथित[४] करती हैं । एक जीव अनेक गुण और इन्द्रियों से देखते देखते हार जाता है ।

सीहगोस[४] शिश्न हुं हता, सिंह आतमा एक ।
चणा चुकावै[५] कौन विधि, ताते रवे अनेक ॥३५॥

सिहाय-गोश[४] नामक जीव अकेला ही सिंह को मार देता है । वैसे ही अकेली शिश्नेन्द्रिय ही जीवात्मा को व्यथित करती है । चणा किस प्रकार अनेक ताते रजकणों को समाप्त[५] कर सकता है ? वैसे ही अकेला जीवात्मा अनेक गुण इन्द्रियों को कैसे जीत सकता है ?

दीमक ग्रासै दारु को, घुण काष्ठ को खाँहि ।
यू इन्द्रियों आतम गिली, समझ देखि मन माँहि ॥३६॥

जैसे अनेक दीमक जंतु मिलकर विशाल लकड़ी को खा जाते हैं और अनेक घुण मिलकर काष्ठ को खा जाते हैं, वैसे ही बुद्धि में विचार करके देखो अनेक इन्द्रियां जीवात्मा को निगल जाती हैं अर्थात् प्रभु की ओर नहीं बढ़ने देती ।

एक अनेक हुं सौं डरहिं, मन वच कर्म विचारि ।
कोमल कोयलों ने किया, वज्रसार[१] विधि[२] वारि ॥३७॥

विचार करो, एक सदा ही मन, वचन, कर्म द्वारा अनेक से डरता ही है । देखो कोमल कोयले हीरे[१] के समान[२] कठोर लोहे को गला कर पानी बना देते हैं ।

तन मन पंचों पिशुन[१] परि, प्राणि एक ये सात ।
रज्जब क्यौं करि मारिये, क्यों रसि[२] आवै बात ॥३८॥

शरीर, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप दुष्टों[१] के फंदे में प्राणी पड़ गया है । प्राणी एक है और ये सात हैं । प्राणी इनको कैसे मारे और यह बात कैसे सुधरे[२] ।

इन्द्रियों वश आतम भई, मिटा माहात्म्य आघ[१] ।
नाहर[२] त्योड़ा[३] निरखिये, बकरयों बाँध्या बाघ[४] ॥३९॥

जीवात्मा इन्द्रियों के वश हो गया है, तब से इसका माहात्म्य और मूल्य[१] घट गया है । यह बात ऐसी हुई है कि जैसे सिंह[२] की क्रूर दृष्टि[३] को देखते हुये बकरियों ने सिंह[४] को बाँध दिया हो ।

रज्जब राम रिसाय[1] करि, दिया पेट तलि[2] प्राण[3] ।
ओदर[4] वश आतम भई, लहै न बाहर जाण ॥४०॥

राम ने क्रोध[1] करके प्राणी[3] को पेट की सेवा के नीचे[2] दबा दिया है । जीवात्मा पेट[4] के वश हो गया है । पेट के फंदे से बाहर नहीं जा सकता ।

रज्जब भागै कौन दिशि, करै कहां की सैल[1] ।
जहां जाय तहँ संग ही, पेट पड़ा है गैल[2] ॥४१॥

प्राणी किस दिशा में भागे और कहां सैर[1] करे ? यह पेट तो ऐसा पीछे[2] पड़ा है कि–जहाँ जाय वहाँ साथ ही रहता है ।

प्राणी परले पेट तलि, अह निशि जाकी चीति ।
जन रज्जब जिव यूं विमुख, हरि सौं करै न प्रीति ॥४२॥

दिन-रात जिसकी चिन्ता करता है, उस पेट के नीचे, जीवात्मा दब गया है । इस प्रकार जीव प्रभु से विमुख हो गया है । हरि से प्रीति नहीं करता ।

अस[1] आतम ऊपर चढा, अरि वोदर[2] असवार ।
नचावे त्यों नाचि है, रज्जब फेर न सार ॥४३॥

आत्मा रूप अश्व[1] पर शत्रु पेट[2] रूप सवार चढ़ा है और जैसे नचाता है वैसे ही आत्मा नाचता है । इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार बात है ।

रज्जब पिशुन[1] न पेट सम, मन वच कर्म कहि साँच ।
अखज[2] खाय अनकी[3] करै, बहुत नचावै नाच ॥४४॥

पेट के समान कोई दुष्ट[1] नहीं है, यह मन, वचन, कर्म से सत्य ही कहा है, अखाद्य[2] को खिलाकर डंके[3] की चोट करते हुये अर्थात् प्रत्यक्ष में ही बहुत नाच नचाता है ।

पिंड धरे सो पेट तल[1], सुर नर पृथ्वी प्राण ।
रज्जब किये कैद सब, फिरी उदर की आण[2] ॥४५॥

पृथ्वी पर जो भी प्राणी नर वा देवता शरीर धारण करता है, वह पेट के नीचे[1] ही रहता है, पेट ने सबको कैद कर रक्खा है, सब संसार में पेट-भूप की दुहाई[2] फिरी हुई है ।

पिशुन[1] न कोई पेट सम, अरि न उदर सो और ।
चौरासी चेरे भये, चाहि चून[1] की ठौर ॥४६॥

पेट के समान कोई दुष्ट[१] नहीं है। न पेट के समान कोई शत्रु है। आटे[२] की इच्छा करने वाले पेट रूप स्थान के चौरासी लाख सभी जीव दास हो रहे हैं।

अरि नहिं औदर सारिखा[१], पिशुन न पेट समान।
जा कारण अनरथ करैं, घट घट आतम जान ॥४७॥

पेट के समान[१] कोई शत्रु नहीं है, न पेट के समान कोई दुष्ट है। जिसके लिये प्रति शरीर का जीवात्मा जान बूझ कर भी अनर्थ करता है, उसके समान कौन दुष्ट होगा ?

काया तरुवर जीभ जड़, पोष्यों[१] बधै कुरूंख।
जन रज्जब शोष्यों[२] सुखी, ज्यों ज्यों मारै भूख ॥४८॥

शरीर रूप वृक्ष की जिव्हा रूप जड़ है। यह बुरा वृक्ष पोषण[१] करने से अनर्थ की ओर बढता हुआ दुखी करता है और इसे भूखों मार कर शोषण[२] करते हैं अर्थात् इच्छित विषय नहीं देते तब यह सुखी करता है।

जे जिह्वा को बंध दे, तो सब गुण[४] बंधे माँहि।
जन रज्जब जिह्वा खुल्यों, सारे गुण खुल जाँहि ॥४९॥

यदि जिव्हा को संयम द्वारा बाँध दें तो भीतर के सभी इन्द्रिय[४] संयम में बंध जाते हैं और जिव्हा को संयम रूप बंधन से खोल दें अर्थात् शास्त्र मर्यादा से रहित इच्छानुसार खान-पानादि करें तो सभी इन्द्रियां संयम के बंधन से खुल कर चंचल हो जाती हैं।

रज्जब विरचै चहुन[४] तैं, दे दश द्वार न पीठ।
रसना लागी राम रस, तो आतम की ईठ[५] ॥५०॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, इन चारों[४] से उपराम होकर अर्थात् इन्हें त्याग कर तथा दश इन्द्रियों के दश विषयों की आसक्ति रूप द्वारों को पीठ देकर अर्थात् आसक्ति त्याग कर जिव्हा राम-चिन्तन रूप रस में लग जाय तो आत्मा के इष्ट[५] परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है।

पांचों इन्द्रिय पांडु हैं, देह द्रौपदी जान।
ये रज्जब तो ऊधरैं, जे गलै हि हिमालय ज्ञान ॥५१॥

पांचों इन्द्रियां पांडुओं के समान हैं और देह द्रौपदी के समान है। जैसे पांचों पाण्डव और द्रौपदी हिमालय में गले तब ही स्वर्ग में गये थे। वैसे ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियां और शरीर यदि ज्ञान में गलतान हो जायं तो इनका भी उद्धार हो सकता है।

इन्द्रिय मारै इन्द्र से, देव तीन तेतीस।
जो साधु साधे इनहिं, सो सब ही के शीश ॥५२॥

इन्द्रियां इन्द्र के समान देवराज, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव इन तीन देव तथा १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, २ अश्विनीकुमार इन तेतीस देवता आदि को मारती हैं। जो साधु इन्हें जीतता है सो सबका ही शिरोमणि है।

रज्जब पावक पंच की, पिंड प्राण को दोष।
अदग[४] सु काया कुंभनि[५], आत्म अन्न कण पोष ॥५३॥

पंच ज्ञानेन्द्रियों की अग्नि शरीर तथा प्राणी को दोष रूप है। इससे काया रूप पृथ्वी[५] बिना-जले[४] रहती है तब ही आत्मारूप अन्न कण को पोषण मिलता है अर्थात् जैसे अग्नि से दग्ध पृथ्वी में पडे हुये अन्न कण की उगकर वृद्धि नहीं होती, वैसे ही इन्द्रियों की चंचलता से जीवात्मा की पारमार्थिक उन्नति नहीं होती, पतन ही होता है।

पंचों के घर में रहै, चलै पंच के ज्ञान।
सो रज्जब क्यों परिहरै, पंचों थाप्या थान ॥५४॥

पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय रूप शरीर-घर में रहता है और पांचों के ज्ञान के अनुसार ही चलता है, वह जीवात्मा पंचों इन्द्रियों का स्थापन किया हुआ विषय रूप घर कैसे छोड़ सकता है।

प्रथम पंच तत[४] के तजे, मन की माने नांहि।
रज्जब थापी पंच की, सो उथपै जग मांहि ॥५५॥

पहले पांच तत्त्व[४] के गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की आसक्ति को तजे और मन की बात न माने वही जगत् में पंच भूतों की स्थापन करी हुई सृष्टि को अपने हृदय से निकाल कर ब्रह्म चिन्तन करता है।

अरि अनन्त आतम कनें, जोध बडे जिव मांहि।
सो रज्जब छूटै नहीं, तो घर छोड़े कछु नांहि ॥५६॥

जीवात्मा के पास अजित इन्द्रिय और कामादि अनन्त शत्रु हैं और जीव में अहंकारादि बड़े २ योद्धा हैं। यदि वे नहीं छूट सके तब घर छोड़ने से कुछ भी लाभ नहीं है।

सकल कुसंगी कांख[४] में, क्या छोड़े घर बार।
रज्जब जिव जीवै नहीं, मांहीं मारनहार ॥५७॥

जिनका संग बहुत बुरा है, वे कामादि तो बगल[४] में हैं अर्थात् भीतर हैं, तब घर बार छोड़ने से क्या लाभ है? जीव के भीतर मारने वाले अजित इन्द्रिय रूप शत्रु हैं तब जीव कैसे जीवित रह सकता है।

रज्जब बंटा[४] भाव का, गुण अवगुण सु खिलार[५]।
एक हि जीत्यों स्वर्ग ह्वै, एक हु नरक व्यवहार ॥५८॥

भाव रूप गेंद[४] है, गुण और अवगुण खेलने-वाले[५] हैं। गुणों के जीतने से अर्थात् दैवी गुणों की वृद्धि से तो स्वर्ग मिलता है और अवगुणों के जीतने से अर्थात् आसुर गुणों की वृद्धि होने से नरक मिलता है।

मन पंचों दश द्वार ले, नौसत बीती बात।

मूंध[६] पड़े ते हारिये, सन्मुख जीते जात ॥५९॥

मन, पंच ज्ञानेन्द्रियां और दश द्वार इन १६ पर ही बात समाप्त हो जाती है। ये यदि विषयों की ओर ऊंधे[६] पड़ते हैं तब तो प्राणी हार जाते हैं और यदि ये प्रभु की ओर सन्मुख जाते हैं तब जीत जाते हैं।

पंच तत्त्व सम मित्र न वैरी, प्रीतम पिशुन न और।

रज्जब ये सन्मुख विमुख, देखे दोन्यों ठौर ॥६०॥

पंच तत्त्वों से रचित इन्द्रियों के समान न तो कोई मित्र है और न कोई वैरी है तथा न प्रियतम और न दुष्ट है। प्रभु की सम्मुखतारूप स्थान पर स्थित ये मित्र तथा प्रियतम हैं और प्रभु की विमुखता रूप स्थान पर स्थित ये वैरी और दुष्ट हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित इन्द्रियों का अंग १५६ समाप्तः ॥सा० ४६१०॥

अथ रहति का अंग १५७

इस अंग में ब्रह्मचर्य संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—

रहता गुरु गोविन्द है, बहता शिष संसार।

रज्जब बोले आदि यूं, तामें फेर न सार ॥१॥

गुरु और गोविन्द शीलव्रत में रहते हैं। शिष्य और संसार इन्द्रिय प्रवाह में बहने वाले हैं। आदि ग्रंथ वेद तथा आदि काल के संत ऐसा ही कहते हैं, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार बात है।

रज्जब रहता संत जन, अति गति महँगा होय।

ईख पान दृष्टान्त को, चंदन की दिशि जोय ॥२॥

शील व्रत में रहने वाला संत अत्यन्त मूल्यवान होता है अर्थात् अधिक आदर का पात्र होता है। दृष्टाँत के लिये—ईख, नागर पान और चन्दन की ओर देखो, उनके फूल फल रूप संतान नहीं होती, इसी से ईख और चन्दन की लकड़ी तथा नागर बेल के पत्ते भी अधिक मूल्य के होते हैं।

रज्जब रहती धातु को, बहती पूजैं आय।

आदि अंत मधि मांड[४] में, नर देखो निरताय[५] ॥३॥

जिनकी वीर्य-धातु स्थिर रहती है अर्थात् जो ब्रह्मचर्य से रहते हैं, उनकी बहती धातु वाले अर्थात् संतान उत्पन्न करने वाले पूजा करते हैं। हे नरो ! विचार[५] पूर्वक देखोगे तो ब्रह्माण्ड[४] में सृष्टि के आदि मध्य और अंत तक ऐसा ही ज्ञात होगा।

मोर पंख मस्तक धर्या, जु अधिकारी सुर भौन।
तो रज्जब जत जगत में, कहसि न वंदै कौन ॥४॥

जो स्वर्ग लोक के अधिकारी हैं उनने भी वीर्य धातु की स्थिरता से ही मोर पंख को मस्तक पर धारण किया है। भगवान् श्री कृष्ण ने भी इसी कारण मोर पंख शिर पर रक्खा था। तब तुम्हीं कहो न जगत् में ब्रह्मचर्य व्रत वाले को कौन प्रणाम नहीं करेगा ?

ब्रह्मा विष्णु महेश मिल, जतियहिं वंदै[१] वीर[२]।
रज्जब रहता जगत् गुरु, धनि धनि सिद्ध शरीर ॥५॥

हे भाई[२] ! ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भी यतियों से मिलकर उन्हें प्रणाम[१] करते हैं, जो ब्रह्मचर्य से रहता है वह सर्व जगत् का गुरु है। ब्रह्मचर्य से रहने वाला शरीर ही सिद्ध है। उसे बार बार धन्यवाद है।

रज्जब वपु वैरी बहुत, ता में मदन महंत।
मारै सेन सेनाधिपति, सो आतम अरि हंत[१] ॥६॥

शरीर के क्रोधादिक बहुत-से शत्रु हैं किन्तु उन सबमें महन्त काम ही है। जो नारी, शीतल मंद सुगंध वायु, चन्द्र, चन्द्रिका आदि काम सेना और सेना के अधिपति काम को जीतता है, वही आत्मा अपने शत्रुओं को नाश[१] करने वाला है।

रहति बडी संसार में, जे रहि देखे कोय।
रहतैं रहतैं रज्जबा, रहते सरिखा होय ॥७॥

यदि कोई ब्रह्मचर्य से रह कर देखे तो ज्ञात होगा कि-संसार में ब्रह्मचर्य ही सबसे बड़ा व्रत है। ब्रह्मचर्य से रहते २ सदा स्थिर रहने वाले प्रभु के समान ही हो जाता है।

रज्जब रहते[१] पुरुष का, सेवक सब संसार।
जहां जाय तहँ जगत गुरु, महिमा अनन्त अपार ॥८॥

ब्रह्मचर्य से रहने[१] वाले पुरुष का सब संसार ही सेवक होता है। जहाँ भी वह जाय वहाँ जगत् गुरु कहलाता है उसकी महिमा अनन्त अपार है।

मन वच टीका[१] रहति को, सब बहते नर देहि।
रज्जब रन्ध्र जती जुगल, जग मस्तक पर लेहि ॥९॥

काम के प्रवाह में बहने वाले सभी नर मन, वचन से ब्रह्मचर्य व्रत वाले को शिरोमणि[1] मानते हैं। जो योनि छिद्र से जती रहने वाले हैं, उन नारी-पुरुष दोनों को ही जगत् के प्राणी मस्तक पर धारण करते अर्थात् पूज्य मानते हैं।

निरखि निशाचर शिर धरैं, शुक्र जती को जाणि।
रज्जब रहते पुरुष दिशि, पग पर[1] ठत[2] कलि काणि ॥१०॥

देख, राक्षस, शुक्राचार्य को जती जान करके ही गुरु मानते हैं। ब्रह्मचर्य से रहने वाले पुरुष शुक्राचार्य अर्थात् शुक्र के तारे की ओर अन्य[1] स्थान को जाने से नारी के पैर इस कलियुग में भी उसकी काण मानकर रुक[2] जाते हैं। सामे तारे नारी सुसरालादि स्थानों को नहीं जाती यह प्रसिद्ध है।

रज्जब जिव आया जगत में, इन्द्री सौदे काज।
सो संहारि सुमिरण करै, महा संत शिरताज ॥११॥

यह जीव जगत् में इन्द्रियों के विषयों का व्यापार रूप कार्य करने को आया है अर्थात् विषय भोगों के लिये ही शरीर धारण करता है किन्तु महान् संत उस व्यापार को नष्ट करके अर्थात् इन्द्रियों को जीत करके हरि स्मरण करते हैं।

रज्जब पूजा रहति[1] की, तीन लोक तेतीस।
मनसा वाचा कर्मना, जती जगत के शीश ॥१२॥

ब्रह्मचर्य[1] युक्त की पूजा तीनों लोक तथा तेतीस देवता भी करते हैं। हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं जती तो जगत् के शिर पर ही रहता है अर्थात् सबसे बड़ा ही है।

रहता[1] गुरु गोविन्द सम, जे देख्या निरताय[2]।
रज्जब सुरही[3] शील में, कहै कन्ह[4] सो गाय ॥१३॥

यदि विचार[2] करके देखा जाय तो, शील[1]-व्रत से युक्त रहता है वह व्यक्ति गुरु और गोविन्द के समान है। देखो, जो गाय[3] शील व्रत से युक्त होती है, उसे सब कृष्ण[4] गाय कहते हैं।

काम धेनु काम हि रहित, और सबै पशु पन्न[1]।
पै एक हि गुण गोविन्द तिहिं, नाम धराया कन्ह ॥१४॥

काम धेनु गाय एक काम से ही रहित है और तो सभी पशु पना[1] उसमें है। परन्तु उस एक ही गुण से गोविन्द ने उसका नाम कन्ह धरा दिया है। अतः शीलव्रत महान् गुण है।

फल फूल विर्वाजित बावना, रहति रही तन छाय ।
रज्जब जत परिमल परसैं, वेध गई वनराय ॥१५॥

बावने चन्दन का वृक्ष फूल फलों से रहित रहता है, उसके वृक्ष पर शीलव्रत छाया हुआ रहता है । इसी से उसकी सुगंध से वन पंक्ति विद्ध होकर चन्दन हो जाती है । वैसे ही जिसके शरीर पर शील व्रत छाया हुआ है, उस संत की ज्ञान-सुगंध से जिज्ञासु जन बदल जाते हैं ।

तन ताँबा कंचन भया, पाके पारे मेल ।
रज्जब अज्जब रसायणी, देखो अद्भुत खेल ॥१६॥

देखो, अद्भुत रसायणी व्यक्ति का अद्भुत् खेल, उसके द्वारा पके हुये पारे को ताम्र में मिलाने पर ताम्र सुवर्ण बन जाता है । वैसे ही शील-व्रत में पूरे संत के संग से जीव ब्रह्म बन जाता है ।

पारा मारहि पिंड मँहि, सोई वेत्ता[1] वैद[2] ।
रज्जब हद्द हकीम वह, काम करै जो कैद ॥१७॥

पारा को मार दे वही श्रेष्ठ वैद्य[2] है और जो शरीर में काम को जीत ले वही ज्ञानी[1] है । वही हकीम हद का है, जो पारा को मार दे और वही संत श्रेष्ठ है जो काम को कैद कर ले ।

यूसुफ को अवलोकिये, इन्द्रचों पसरचा नाँहि ।
तो महलों में मारग हुआ, जे धर्म रह्या दिल माँहि ॥१८॥

पैगम्बर यूसुफ को देखो, जिस पर मिस्र देश की जुलेखा आसक्त भी थी किन्तु वह इन्द्रियों के द्वारा विषय-भोगों की ओर नहीं फैला । जब उसके दिल में धर्म रहा तब ही उसके लिये महलों में जाने का मार्ग सदा के लिये खुल्ला हो गया था ।

गंदी[1] गये सु गंदा हुजे, गंदी रहे सु देव ।
जन रज्जब जल बूंद का, बिरला जाणे भेव ॥१९॥

गंदी वीर्य[1] की विन्दु चले जाने से प्राणी गंदा हो जाता है । गंदी वीर्य की विन्दु स्थिर रहती है तो वह देवता हैं । इस जल बून्द के समान वीर्य की विन्दु का रहस्य कोई बिरला ही जान पाता है, सब नहीं जान पाते ।

पाणी[1] राखि रहै ज्यूं पाणी[2], आब[3] उतरचो उतरै आब ।
जन रज्जब जत जोध जुगत यहु, उभय ठौर का लह्या जुवाब ॥२०॥

वीर्य[1] रूप पानी की रक्षा कर जिससे तेरे शरीर में तेजी[2] रहे । यदि बीर्य रूप जल[3] उतर जायगा तो तेरे शरीर की शोभा भी नष्ट हो

जायगी। शील-व्रत को रखने वाले योद्धा युक्ति पूर्वक यतित्व ही तो रखते हैं। वीर्य जाने और स्थिर रहने रूप दोनों स्थानों का परिणाम रूप उत्तर संत शास्त्रों से यही प्राप्त होना है।

साधू महँगे साधि जल, नाहीं तो कछु नाँहि।
जन रज्जब ज्यों सकल नग, महंगे पाणी माँहि ॥२१॥

जैसे सभी नगों में तेजी होती है, तो ही बहुमूल्य होते हैं। वैसे ही साधना द्वारा वीर्य को रखने से ही साधु महान् मूल्यवान होते हैं। यदि वीर्य की रक्षा नहीं की तो कुछ भी महानता नहीं मानी जाती।

रहते बहते फेर बहु, बिरला बूझे कोय।
ज्यों रज्जब पाछे[1] अपछ[2], एक मोल नहिं होय ॥२२॥

जैसे चीरे[1] हुये फल का और बिना-चीरे[2] हुये फल का एक मूल्य नहीं होता। वैसे ही शीलव्रत से रहने वाला और विषय प्रवाह में बहने वाला समान नहीं हो सकता, उनमें भेद रहता है किंतु उस भेद को कोई बिरला ही समझ पाता है।

रज्जब रहता पूजिये, जत में ज्योति स्थान।
बहते को वंदै[1] न कोउ, अवलोको[2] जग आन[3] ॥२३॥

जो शीलव्रत से रहता है, उसे सभी पूजते हैं। ब्रह्मचर्य से रहने पर शरीर रूप स्थान में ज्योति के समान कान्ति रहती है। विषय प्रवाह में बहने वाले को कोई भी वन्दना[1] नहीं करता, यह जगत् में आकर[3] देख[2] सकते हो।

शक्ति सुन्दरी शिर रह्या, जती जवाहिर नीर।
रज्जब रामा चूसि ले, दाड्यों दाणें वीर ॥२४॥

हे भाई ! बहुमूल्य नग पानी से ही स्वर्णादि माया के शिर पर रहता है अर्थात् अधिक मूल्य पाता है। वैसे ही जती नारी के शिर पर रहता है अर्थात् नारी के अधीन नहीं होता। अन्यों को तो नारी अनार के दाणे के समान चूस लेती है।

रहता दीपक रतन का, नारी नाग न मंद।
विषय वायु जो ना बुझे, कलि अजरावर[1] कंद[2] ॥२५॥

जैसे रत्न दीपक नाग-नागिनी की फूंकार वा वायु से नहीं बुझता। वैसे ही शीलव्रत से युक्त व्यक्ति विषयासक्ति द्वारा नारी के अधीन नहीं होता। ऐसा व्यक्ति कलियुग में भी देवताओं से श्रेष्ठ[1] विश्व के मूल[2] ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

कुलिस[1] कमठ[2] गैंडा कठिन, साऊ[3] शील[4] सु मत्त[5] ।

बामा[6] बाण न लाग ही, सो रज्जब जत रत्त[7] ॥२६॥

श्रेष्ठ[3] शीलव्रत[4] युक्त पुरुष का मत[5], वज्र[1], कछुआ[2] की पीठ और गैंडे के समान कठोर होता है। जैसे वज्र, कच्छप पृष्ट और गैंडा को बाण नहीं वेध सकता वैसे ही जिसको नारी[6] नहीं जीत सके वही ब्रह्मचर्य में अनुरक्त[7] माना जाता है।

रज्जब रहित[1] अचाह के, शिव शक्ती सु गुलाम[3] ।

मनसा वाचा कर्मना, सुन्दरि करे सलाम[4] ॥२७॥

शीलव्रत[1] युक्त तथा सांसारिक इच्छाओं से रहित व्यक्ति के शिव तथा शक्ति भी मन, वचन, कर्म से दास[3] दासी के समान बने रहते हैं और नारी भी प्रणाम[4] करती है।

अहि[1] अबला[2] देखत बुझै, अग्नि दीप आदम्म[3] ।

तहां हीरा हरिजन अबुझ, नैनो देखैं हम्म ॥२८॥

सर्प[1] के देखते ही अर्थात् सर्प की फूंकार से अग्नि-दीपक बुझ जाता है वैसे ही नारी[2] को कामुक दृष्टि से देखते ही मनुष्य[3] तेज हीन हो जाता है किन्तु सर्प की फूंकार के सामने हीरा हो तो नहीं बुझता। वैसे ही हरिभक्त का तेज नारी से क्षीण नहीं होता यह हम नेत्रों से देखते हैं।

युवती ज्वाला में पड़ै, जती जवाहिर[1] आय ।

रज्जब राख सु ह्वै गये, मान मोल उठ[2] जाय ॥२९॥

यदि मणि रत्नादि नग[1] अग्नि ज्वाला में आ पडें तो भस्म हो जाते हैं फिर उनका मूल्य चला[2] जाता है, पूर्ववत नही रहता। वैसे ही जती नारी पर आ पड़े तो उसका सम्मान चला जाता है, पूर्ववत नहीं रहता।

रहत काम[1] हि देव है, बहत काम ही भूत ।

रज्जब उभय अनंग[2] अंग[3], कहैं सकल अवधूत ॥३०॥

जिसका वीर्य[1] ब्रह्मचर्य द्वारा शरीर में ही रहता है, वह देवता है और जिसका वीर्य नारी प्रसंग से वहता है, वह भूत है। सर्व अवधूत संत काम[2] के रहने और न रहने के ये दो ही लक्षण[3] कहते हैं।

मदन[1] भुवंग[2] अंगार है, मोर चकोर अहार ।

अन्य पंखि सुन आदरहिं, देखो कोटि हजार ॥३१॥

काम[1], सर्प[2] और अग्नि के अंगारों के समान है। जती, मोर तथा चकोर पक्षी के समान है। जसे सर्प मोर का और अंगार चकोर का भोजन है, वे उन्हें खा जाते हैं। तब यह सुन कर अन्य हजार कोटि पक्षी भी उनका

आदर करते हैं। वैसे ही काम को जती जीत लेता है तब यह सुनकर असंख्य नर उसका आदर करते हैं।

तेतीस कोटि त्रियहुं बँधे, और सबै जिव जंत।
येतहु में मुकता जती, नमो नमो निज मंत ॥३२॥

तेतीस कोटि देवता और अन्य सब जीव जंतु नारियों की आसक्ति से बंधे हुय हैं। इन सब में एक जती ही नारी के रागरूप बंधन से मुक्त है। अतः हम अपने विचार से जती को बार बार नमस्कार करते हैं।

सकल कलों ऊपरि कला, जो जीव जीतै काम।
बांई[1] बांधै वाम[2] परि, सो वरियामों[3] वरियाम[4] ॥३३॥

यदि जीव काम को जीत ले तो यह उसकी कला सभी कलाओं से श्रेष्ठ मानी जाती है। जो नारी[2] पर तलवार[1] बाँधता है अर्थात् जती बनकर रहता है, वह श्रेष्ठों[3]-से भी श्रेष्ठ[4] माना जाता है।

जन रज्जब बहते बहुत, रहता कोई एक।
तरुणी नदि बिरले तिरहिं, बूडणहार अनेक ॥३४॥

काम प्रवाह में बहने वाले तो बहुत हैं किन्तु ब्रह्मचर्य से कोई एक ही रहता है। नारी रूप नदी को कोई विरले ही तैर कर पार जाते हैं, डूबने वाले तो अनेक हैं।

गुण इन्द्री प्रकृति रु तन, वैतरणी व्यवहार।
रज्जब बूडे जीव सब, बिरला पहुँचे पार ॥३५॥

कामादि गुण, इन्द्रिय, माया और शरीर इनका व्यवहार वैतरणी नदी के समान है। जैसे वैतरणी नदी में उतरने वाले जीव सब डूबते ही हैं, कोई विरला ही पार पहुँचता है। वैसे ही उक्त कामादि में पड़ते हैं वे जीव भी संसार-सागर में डूबते ही हैं, कोई विरला ही संत इनसे पार पहुंचकर प्रभु को प्राप्त होता है।

वैतरणी सु तरंगिनी, विषय वारि ता माँहि।
रज्जब तारू[1] त्रय भवन, इँहि जल बूडे नाँहि ॥३६॥

नारी रूप वैतरणी नदी है, उसमें विषय रूप जल है। जो इस विषय-जल में नहीं डूबता, वह तीनों लोकों में तैराक[1] कहलाता है।

रज्जब विरचै[1] विषय सौं, महाबली वरियाम[2]।
सोई शूरा सो सुभट, जो कलिये[3] नहिं काम ॥३७॥

जो विषय से विरक्त[1] होता है, वह महाबलियों से भी श्रेष्ठ[2] है। वही शूरवीर है, वही श्रेष्ठ भट है, जो काम से नहीं जीता[3] जाता।

वामा[1] वपु बाँई दई, सोई बाँई[2] बंध।
रज्जब रहता जगत गुरु, कलि अजरावर[3] कंध[4] ॥३८॥

जो अपने शरीर से नारी[1] को बाँई देता है अर्थात् त्याग देता है, वही तलवार[2] बाँधने वाला वीर है। जो शीलव्रत से रहता है, वह जगत् गुरु है और इस कलियुग में भी देवताओं[3] में श्रेष्ठ प्रभु के स्वरूप[4] को प्राप्त करता है।

सकल मेदिनी[1] मारना, मदन[2] महा बलवंत।
रज्जब साधै[3] साधु सो, बलवंतों बलवंत ॥३९॥

महा बलवान् काम[2] संपूर्ण पृथ्वी[1] के प्राणियों को मारने वाला है। जो साधु इसे जीतता[3] है, वह बलवानों से भी बलवान् माना जाता है।

रज्जब अबला[1] बली नवाय[2] सब, जोध किये वश जोय[3]।
कंत[4] कलित[5] कलिये[6] नहीं, अकल कहावै सोय ॥४०॥

नारी[1] ने सभी बलियों को नीचे झुकाया[2] है, योद्धाओं को नारी[3] ने अपने वश किया है। जो स्वामी[4] नारी[5] से नहीं जीता[6] गया, वह कला रहित ब्रह्म ही कहलाता है।

पंच तत्त्व मन सौं रहित, प्रकृति न परसै प्राण।
रज्जब रहता पुरुष सो, साधू संत सुजाण ॥४१॥

पंच तत्त्व के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन गुण रूप विषयों से, मन की चंचलता से, रहित रहता है और माया को नहिं छूता अर्थात् इनसे परे रहता है वही पुरुष शीलव्रत में रहता है और वही सुजान तथा श्रेष्ठ संत है।

देखो अनल अतीत[1] के, अंडे अरु अभिलाष।
सो धर[2] धामिनि[3] ना परे, रज्जब जत[4] मत[5] भाष[6] ॥४२॥

देखो अनल पक्षी के अंडे से निकला हुआ बच्चा पृथ्वी[2] पर नहीं पड़ा रहता आकाश में ही जाता है, वैसे ही काम रहित[1] की अभिलाषा नारी[3] में नहीं पड़ती अर्थात् उसे नारी की इच्छा नहीं होती, प्रभु प्राप्ति की ही होती है। यही शीलव्रत[4] वाले के सिद्धाँत[5] का परिचय कराने वाला भाषण[6] है।

अगस्त आतमा ग्रास ही, सरिता सहित समुंद।
रज्जब रहति[1] विशेष है, उगलि न डाले बुंद ॥४३॥

अगस्त्य ऋषि ने नदियों के सहित समुद्र का पान किया था किंतु निकाला भी। जती आतमा बिन्दु को खा जाता है और एक विन्दु भी

उगल कर नहीं डालता। अतः शीलव्रत[1] अगस्त्य ऋषि के कार्य से विशेष महत्त्व का है।

बहुत राज[1] रिधि[2] छाडि करि, जीव गये जत[3] बोड़ि[4]।
तो रज्जब रहति[5] हि बड़ी, निरख निनाणवे कोड़ि ॥४४॥

बहुत से प्राणी राज्य[1] और ऐश्वर्य[2] को छोड़कर शीलव्रत[3] की ओर[4] गये हैं। देखो निनाणवे कोटि (प्रकार के) राजाओं ने गोरक्षनाथजी के उपदेश से शीलव्रत धारण किया था, तब शीलव्रत[5] महान् ही है।

सब सुकृत व्है शक्ति सौं, जतमत[4] चाहै जीव।
यूं जतियहिं[5] पूजै सती[6], रहति[7] पियारी पीव ॥४५॥

सभी पुण्य कर्म शक्ति से होते हैं। शक्ति शीलव्रत से आती है और प्रभु को भी शीलव्रत[7] प्यारा है। इसीलिये जीव शीलव्रत[4] को चाहता है। इसी कारण गृहस्थ[6] यतियों[5] की पूजा करते हैं।

रज्जब रंचक[4] रहति[5] की, बात न वरणी जाय।
यहां खलक खिदमत[6] करैं, आगे खुशी खुदाय ॥४६॥

शीलव्रत[5] की महिमा की बात किंचित्[4] भी नहीं कही जा सकती, सब तो कहां। यहां तो संसार के प्राणी सेवा[6] करते हैं और आगे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

जोग मांहि जत[4] जीव है, सब अंग और शरीर।
जन रज्जब जग सब कहै, रहते को गुरु पीर ॥४७॥

योग के अन्य सब अंग तो योग का शरीर है और ब्रह्मचर्य[4] उसका जीव है। जो ब्रह्मचर्य से रहता है उसी को सभी जगत् के प्राणी गुरु तथा पीर कहते हैं।

तन ताजा[4] मन मुक्त गनि[5], कह्या शब्द सति आथि[6]।
जन रज्जब जग जती के, रहति[7] रूख फल हाथि ॥४८॥

शरीर हृष्ट-पुष्ट[4] रहता है, मन में मुक्त की-सी चेष्टा[5] रहती है। ऐसा ही सत्य शब्दों की पूंजी[6] रखने वाले संतों ने कहा है। जगत् में ब्रह्मचर्य[7] रूप वृक्ष के उक्त फल ही जती के हाथ लगते हैं।

रज्जब जत[4] युवती ज्वाला टले, जत जामण मृत्यु नास।
जत में जोबन जोर नित, जत निर्द्वन्द्व निवास ॥४९॥

ब्रह्मचर्य[4] द्वारा नारी रूप ज्वाला से बच जाता है। ब्रह्मचर्य पूर्वक भजनादि साधनों से ज्ञान होकर जन्म-मृत्यु का नाश हो जाता है। ब्रह्मचर्य

से युवावस्था की-सी शक्ति सदा बनी रहती है। ब्रह्मचर्य से निर्द्वन्द्व होकर संसार में निवास करता है।

रज्जब रहतों काछ दृढ, वाचा साँची होय।
सो बाइक[४] बहु गुण भरचा, सुन मानें सब कोय ॥५०॥

दृढ काछ से अर्थात् ब्रह्मचर्य से रहने वालों की वाणी सत्य होती है उनके वचनों[४] में बहुत गुण भरे रहते हैं। उनको सुनकर सभी कोई मानते हैं।

कहणहार सब कहि गये, रहति बडी जग माँहि।
रज्जब प्राणी पशु परै, जो जिव मानें नाँहि ॥५१॥

कहने वाले सभी कह गये हैं कि—ब्रह्मचर्य जगत् में बहुत बड़ी साधना है। जो जीव इस बात को नहीं मानते, वे प्राणी पशु से भी परे हैं।

चंद सूर पाणी पवन, धरती अरु आकाश।
ये रज्जब बहते सबै, पै रहते हरि के दास ॥५२॥

चन्द्र, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश, ये सब चलने वाले हैं वा इन सबके अभिमानी देव काम प्रवाह में बहने वाले हैं किन्तु हरि के भक्त संत काम रहित होकर ब्रह्मस्वरूप में ही स्थिर रहते हैं।

रत्न न रहे समुद्र में, मरजीवों लिये काढि।
यूं नर नारचों ना ठगे, सो साधु समुद्र सौं बाढि ॥५३॥

समुद्र में रत्न नहीं रहे, कारण—मरजीवों ने निकाल लिये। ऐसे ही जिन नरों को नारियों ने नहीं ठगा है वे साधु समुद्र से भी श्रेष्ठ हैं।

तन सारे त्रिभुवन कितक[१], मन सारे कोइ एक।
रज्जब राखण वपु बली, धनि[२] मन राखण एक ॥५४॥

शरीर से सारे अर्थात् शरीर को नारी से बचाने वाले तो कितने[१] ही मिल सकते हैं किन्तु मन सारे अर्थात् मन को नारी से बचाने वाला कोई एक ही मिलेगा। शरीर को अलग रखने वाला भी बलवान् होता है किंतु धन्यवाद[२] तो मन को अलग रखने वाले को ही है।

रज्जब कोई कोटि में, धन्य तन राखण हार।
पै मन बारै[१] विषय सौं, ते बिरला संसार ॥५५॥

कोटि में भी कोई शरीर को नारी से अलग रखने वाला मिल जाय तो उसे भी धन्यवाद है परन्तु मन को विषय से अलग[१] रख सकें वे तो संसार में बिरले ही हैं।

तार हुं शुक्र गरुड़ खग, चकहुं[1] चतुर[2] नर और ।
कत्रस्याम[4] गोरख हणू[5], जति लक्षमण षट ठौर ॥५६॥

तारों में शुक्र जती हैं, पक्षियों में गरुड़ जती हैं, पृथ्वी[1] में चार[2] नर और हैं–स्वामि[4]-कार्तिकेय, गोरक्षनाथ, हनुमान[5] और लक्ष्मण ये छः जती छः स्थानों में हुये हैं ।

शुक्र ज्योति पति रथ गूरुड़, कत्रस्याम शुध सेत ।
गुर गोरख जत हणू हद, लक्षमण खरा सु खेत ॥५७॥

शुक्र ज्योतिरूप हैं, गरुड़ विश्वपति प्रभु के रथ (वाहन) हैं । स्वामि कार्तिकेय शुद्ध हैं । गुरु गोरक्षनाथ भी श्वेत अर्थात् काम मल से रहित है । हनुमान तो सीमा के जती हैं । लक्ष्मण ने भी रणक्षेत्र में यतित्त्व का श्रेष्ठ परिचय दिया था । इसमें षट् यतियों के विशेष कार्य का प्रतिपादन किया है ।

शक्ति शूर मन भंवर विधि, तन लंकापति भूप ।
रज्जब मारै रहति शर, प्राणि लक्षमन रूप ॥५८॥

जैसे लंका पति राजा रावण के पास वीर तथा शक्ति थी और बीच में समुद्र का भँवर पड़ता था किन्तु फिर भी लक्ष्मण ने रावण के बाण मारे थे । वैसे ही माया, मन और शरीर के रहते हुये भी जती प्राणी ब्रह्मचर्य रूप बाण मार कर उक्त सबको जीतता है ।

इन्द्री आभों[1] में रहे, नीर नराजी[2] रूप ।
जन रज्जब मारे सबै, सुख सुकाल अरि भूप ॥५९॥

जैसे बादलों[1] में खेती को नष्ट करने वाला जल होता है, उसके वर्षने से प्रजा नाराज[2] होती है । वैसे ही इन्द्री में वीर्य रूप जल है, उसके गिरने से शरीर अप्रसन्न ही होता है और उसको मारे अर्थात् जीत ले तब शरीर में शत्रु राजा को मारने के समान प्रसन्नता होती है तथा सुकाल होता है ।

मैन[1] सेन सब संग्रही[2], फिरी दुर्ग दिल आन[3] ।
रज्जब गर्ज्या रहति[4] मत[5], शील चढ्या सुलतान ॥६०॥

जब जिसमें ब्रह्मचर्य[4] का विचार[5] गर्जता है अर्थात् बढता है तब शील व्रत रूप बादशाह चढाई करता है और काम[1] की सेना को पकड़[2] कर कैद कर लेता है अर्थात् नारी आदि में आसक्त नहीं होता और हृदय रूप किले पर शीलव्रत रूप बादशाह की दुहाई[3] फिर जाती है ।

रज्जब साधू रहै सु ज्ञान गढ, शूरा तन शारदूल[1] ।
काम कटक[2] लागै नहीं, यही रहति[3] का मूल ॥६१॥

साधु ज्ञान रूप किले में रहता है, उसका शरीर सिंह[1] के समान शूरवीर होता है। इसी से उसके पीछे काम-सेना[2] नहीं लगती। यह उक्त साधन ही ब्रह्मचर्य[3] का मूल कारण है।

लिया अहार अचिन्त में, पीछे पड़ गई चिन्त।
रज्जब नींद निहंग[1] मणि[2], उभय न उपजै मिन्त[3] ॥६२॥

भोजन तो चिन्ता रहित स्थिति में ही लिया जाता है किन्तु पीछे भजनादि साधन की चिन्ता हो जाती है। इससे हे मित्र[3]! निःसंग[1] साधु में नींद और काम[2] दोनों नहीं उत्पन्न होते।

अरिल—शारदूल[1] अरु संत, जती जग जोर[2] हैं।
जारे अजर[3] अहार, अनंग[4] अरि मोर[5] हैं॥
और परेवे[6] प्राण, सु दारा[7] दास रे।
परिहां रज्जब रज[8] न जखाँहि[9] विषय वसि बासरे ॥६३॥

सिंह[1] और जती संत की शक्ति[2] जगत् में प्रसिद्ध है। सिंह अन्य से न-पचने[3] वाले आहार को पचा जाता है और शत्रु को पीछा[5] भगा देता है। वैसे ही जती संत वीर्य को पचा जाते हैं और काम[4] रूप शत्रु को भगा देते हैं। अन्य प्राणी कबूतर[6] के समान नारी[7] के दास बने रहते हैं। ज्ञान-प्रकाश[8] की ओर नहीं देखते[9], विषय के वश होकर ही निवास करते हैं।

गय[1] ग्रासै त्रासै मदन[2], शारदूल[3] बलवंत।
त्यों रज्जब सु आहार ले, सुकल[4] संहारै संत ॥६४॥

जैसे बलवान् सिंह[3] हाथी[1] को खाता है और काम[2] को जीतता है। वैसे ही संत सुन्दर भोजन लेकर भी काम[4] को नष्ट करते हैं।

जन रज्जब रवि शशि पले, डांडी लग नभ नास[1]।
जिह्वा जोती[2] बात विन्दु, तोल नाम निज दास ॥६५॥

सूर्य-चन्द्र पलड़े हैं, आकाश रूप डंडी के जिह्वा रूप डोरी[2] से डंडी के छिद्र[1] में बँधे हैं, और वीर्य रूप बाट हैं, हे भगवान् के निजी भक्त! ऐसे तुला में हरि-नाम रूप वस्तु को तोल कर ग्रहण कर अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक नाम चिन्तन कर।

ज्यों नैनों आंधा नीर[1] बिन, त्यों उर आंधा तजि[2] काम[4]।
रज्जब घोर अंधार है, कदे[3] न सूझै राम ॥६६॥

जैसे वीर्य[1] बिना नेत्र ज्योति कम हो जाती है। वैसे ही वीर्य[4] बिना[2] हृदय अंधा हो जाता है। इस लोलुपता रूप अंधकार में राम कभी[3] भी नहीं दीखते।

काया सौं काया मिले[1], सुकल[2] सगाई[3] सीर[4]।
रज्जब मेला ब्रह्म जिव, बीज[5] विर्वाजित वीर[6] ॥६७॥

काम[2] के संबंध[3] से ही शरीर से शरीर का मेल[4] मिलाप[1] होता है किंतु हे भाई[6] ! ब्रह्म और जीव का मिलान तो काम[5] रहित होने पर ही होता है।

रज्जब रहति[1] विषम[2] है, आसंधि[3] सकै न जंत[4]।
रचना मेटै राम की, तब उपजै जत[5] मंत[6] ॥६८॥

ब्रह्मचर्य-व्रत[1] रखना बड़ा कठिन[2] है, जीव[4] स्वीकार[3] नहीं कर सकता। जब राम की संतान उत्पन्न करना रूप रचना को मिटाता है तब ब्रह्मचर्य[5] का विचार[6] उत्पन्न होता है।

भावी भानी भूतनें[1], जब जिव त्याग्या भोग।
तो रज्जब सुन राम सौं, जोरावर[2] जत जोग ॥६९॥

जैसे जीव भोग को त्याग देता है तब समझना चाहिये, उस प्राणी-ने[1] भविष्य में भोग भोगना रूप भावी को नष्ट कर दिया है। तब सुनो ब्रह्मचर्यरूप योग राम से भी बलवान्[2] है।

काची आज्ञा मेटि करि, पाकी सौं लै[1] लीन।
रज्जब स्याणा[2] साधु सो, पाका प्राण प्रवीन[3] ॥७०॥

संतान उत्पत्ति द्वारा सृष्टि बढाना रूप प्रभु की कच्ची आज्ञा मिटाकर ब्रह्मचर्य पूर्वक भगवद् भक्ति करना रूप प्रभु की पक्की आज्ञा में वृत्ति[1] द्वारा जीव रहता है, वह साधु बुद्धिमान्[2], चतुर[3] और ज्ञान द्वारा पका हुआ प्राणी है।

आज्ञा कारी बंधियहि[1], आज्ञा भंगी मुक्त।
रज्जब रज[2] तज छांणतों[3], समझ्या सांई मंत[4] ॥७१॥

संतान उत्पत्ति की आज्ञा को करने वाले तो बंधन[1] में पड़ते हैं और उक्त आज्ञा को न मानकर भजन करने वाले मुक्त होते हैं। ब्रह्मचर्य पूर्वक रजोगुण[2] को त्यागकर विचार[3] करते २ प्रभु का यह रहस्यमय सिद्धांत[4] संतों ने समझा है।

पिंड प्राण नारी पुरुष, जगपति राखै जोड़ि।
सोई हुकम हति हरि मिले, निरखि निनाणवें कोड़ि ॥७२॥

नारी-पुरुष के शरीर तथा प्राणों को जोड़कर रखने की आज्ञा जगत्पति प्रभु की है। इस आज्ञा को भंग करके नारी से अलग होते हैं,

वे ही हरि को प्राप्त होते हैं। देखो, निनाणवे कोटि (प्रकार) के राजा गोरक्षनाथजी के उपदेश से नारी को त्यागकर प्रभु को प्राप्त हुए हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित रहति का अंग १५७
समाप्तः ॥ सा. ४९८२ ॥

अथ जतन का अंग १५८

इस अंग में यत्न बिना कोई की भी रक्षा नहीं हो सकती, यह कहते हैं---

जन रज्जब राखे बिना, नाम न राख्या जाय।
जैसे दीपक जतन बिन, विसवाबीस[1] बुझाय ॥१॥

जैसे दीपक यत्न के बिना निश्चय[1] बुझ ही जाता है। वैसे ही यत्न पूर्वक हृदय में रक्खे बिना हरि-नाम भी नहीं रहता, चिन्तन छुट जाता है।

रज्जब भोडल भवन मधि, दीप नाम ठहराय।
जतन बिना जोख्यूं[1] घणी[2], ज्योति जाप बुझ जाय ॥२॥

जैसे यत्न बिना वायु से दीपक ज्योति बुझ जाती है और भोडल के घर में रखना रूप यत्न से दीपक ज्योति ठहर जाती है। वैसे ही यत्न से हृदय में नाम ठहरता है और यत्न बिना महान्[2] क्षति[1] होती है।

जतन बिना जोख्यूं घणी, बोहित[1] विघ्न अनन्त।
ज्यों रज्जब राखे बिना, उदधि न उतरै संत ॥३॥

यत्न बिना महान् हानि होती है। जैसे जहाज[1] के आगे अनन्त विघ्न आते हैं उनसे बचाये बिना समुद्र से पार नहीं उतर सकते। वैसे ही संत के आगे अनन्त विघ्न आते हैं उनसे मन को बचाये बिना संत संसार सागर से पार नहीं जा सकता।

ज्यों चाकी चौड़ै धरचों, सब पीस्या उड़ि जाय।
त्यों रज्जब सुन जतन बिन, कहो सुकृत को खाय ॥४॥

जैसे चक्की मैदान में रख कर पीसने से पीसा हुआ सभी उड़ जाता है। वैसे ही सुनो तुम भी कहो, यत्न के बिना पुण्य कर्म के फल को कौन भोग सकता है।

करणी[4] करि कांठै[5] हुआ, रहणी[6] रहता[7] होय।
जन रज्जब सुन जतन बिन, बहुत भये धन खोय ॥५॥

जो कर्त्तव्य[४] करके एक ओर[५] हो गया है और जिसका व्यवहार[६] ब्रह्मचर्य[७] पूर्वक होता है वही उक्त यत्न से अपने को ठीक रख सकता है। सुनो, यत्न बिना बहुत से अपना मायिक धन तथा ज्ञान धन भी खो गये हैं। अतः यत्न से रहना चाहिये।

रज्जब रतन हुं का जतन, करै जोहरी प्रान।
बारं वार न कर चढैं, मन वच कर्म करि मान ॥६॥

जैसे जोहरी रत्नों का यत्न रखता है, बारंबार उन्हें हाथ में नहीं लेता, वैसे ही प्राणी को श्वासों का यत्न करना चाहिये, ये बारंबार हाथ नहीं लगते हैं। यह बात मन, वचन, कर्म से सत्य ही माननी चाहिये।

कनक कटोरे[४] बाहिरा[५], रहै न बाघणि खीर[६]।
त्यों रज्जब साधू शबद, राखै, घट[७] गंभीर ॥७॥

सुवर्ण के पात्र[४] बिना[५] सिंहनी का दूध[६] नहीं ठहरता, मिट्टी के बर्तनों से जैसे घृत-तेल झर जाते हैं वैसे ही झर जाता है। वैसे ही उपासना द्वारा जिसका अन्तःकरण[७] गंभीर हो गया है, वही संतों के ज्ञान मय शब्दों को रख सकता है अन्य में नहीं ठहर सकते।

साधू शब्द कपूर हैं, जुगति जतन ठहरांहि।
रे रज्जब राखे बिना, उभय अंग[४] उड़ जांहि ॥८॥

साधु शब्द और कपूर युक्ति तथा यत्न से ही ठहरते हैं। युक्ति-यत्न बिना दोनों के ही स्वरूप[४] उड़ जाते हैं। कपूर काली मिरच रूप युक्ति और डिबिया रूप यत्न से ठहरता है। संत शब्द निराशा रूप युक्ति और शुद्ध अन्तःकरण रूप डिबिया में ठहरते हैं।

स्वाति बूंद राखै शकति, साधु शब्द यूं राखि।
रज्जब निपजहिं मुक्त मन, सब समझ्यों की साखि ॥९॥

जैसे स्वाति विन्दु को शुक्ति यत्न से रखती है, समुद्र में रहने पर भी समुद्र का जल अपने में नहीं आने देती। तब ही मोती श्रेष्ठ बनता है। वैसे ही संतों के शब्दों को रखना चाहिये। साँसारिक वासना मन में नहीं आने देनी चाहिये। तब ही मन ज्ञान युक्त होता है। समझे हुये सभी संतों की यही साक्षी है।

देही अरु दरियाव का, पाणी परसै नांहि।
तो मन मोती नीपजै, सुरति[४] सीप के मांहि ॥१०॥

जब समुद्रका जल मोतीको स्पर्श नहीं करे, तब ही सीप में मोती अच्छा बनता है। वैसे ही शरीर का पानी वीर्य अर्थात् काम वासना मन को स्पर्श नहीं करे तब ही ब्रह्माकार वृत्ति[४] द्वारा मन श्रेष्ठ बनता है।

रे रज्जब आधान के, अबला[४] चलै जत्न ।
तो सुत साबत नीपजे, आदम अजब रत्न ॥११॥

गर्भाधान की रक्षा के लिये नारी[४] यत्न से चलती है। सब व्यवहार सावधानी से करती है, तब ही पुत्र ठीक तरह उत्पन्न होता है। वैसे ही जो सावधानता पूर्वक साधन से रहता है, वही मनुष्य अद्‌भुत रत्न अर्थात् ज्ञानी होता है।

रंचक[४] रंचक ऋद्धि[५] करि, राजा भरहिं भंडार ।
रज्जब बूंद हिं बूंद मिल, होत समुद्र अपार ॥१२॥

विन्दु-विन्दु मिलकर अपार समुद्र बन जाता है। किंचित्[४]-किंचित् ऐश्वर्य[५] से राजा अपना भंडार भर लेता है। वैसे ही थोड़े-थोड़े साधन से व्यक्ति को महान् ज्ञान हो जाता है।

रज्जब जोड्या पवैन[४] जुडै खजानूं, नीर रहै तुछ[५] तेणि[६] नडौ[७] ।
शब्द हि शब्द साधु बड़ कहिये, ज्यों बूंद हि बूंद समुद्र बडौ ॥१३॥

पैसा[४]-पैसा जोड़ने से खजाना जुड़ जाता है। थोड़ा[५] २ जल संग्रह होने पर उससे[६] नाडा[७] (छोटी तलिया) बन जाता है। बिन्दु २ करके ही विशाल समुद्र बनता है। वैसे ही शब्दों ही शब्दों के विचार से संत महान् कहलाता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जतन का अंग १५८
समाप्तः ॥सा० ४६६५॥

अथ सकाम निष्काम का अंग १५९

इस अंग में सकाम और निष्काम संबन्धी विचार कर रहे हैं—

सहकामी सौंघे सदा, निष्कामी निरमोल ।
जन रज्जब पाये परखि, समझे साधू बोल ॥१॥

सकामी सदा ही सस्ते रहते हैं, निष्कामी सदा ही अनमोल रहते हैं। समझे हुये संतों के वचनों से हम सकामी-निष्कामी जनों की परीक्षा कर पाये हैं।

सहकामी संकट सदा, निष्कामी निबंध ।
रज्जब आशा नाश ह्वै, अमर अनाशा कंध[४] ॥२॥

सकाम को सदा दुःख ही रहता है। निष्काम बंधन रहित रहता है। जब आशा नष्ट हो जाती है, तब आशा रहित शरीर[४] धारी ब्रह्म को प्राप्त होकर अमर हो जाता है।

आशा उलझी[४] आसिरै[५], निर आशा निरधार ।

रज्जब वह रामति[६] रली[७], वह रमता की लार[८] ॥३॥

आशा युक्त जीवात्मा जन, धन, धामादि का आश्रय[५] लेकर उन्हीं में फंस[४] जाती है । निराश जीवात्मा निराधार प्रभु परायण होती है । वह आशा युक्त तो संसार-भ्रमण[६] करने वाले प्राणियों में मिल[७] जाती है और वह आशा रहित सबमें रमने वाले राम की साथ[८] हो जाती है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाती है ।

सहकामी संसार बस, गुड़ी[४] रूप उनहार[५] ।

जन रज्जब निष्काम के आभे[६] का औतार[७] ॥४॥

सकाम पतंग[४] के समान[५] है, जैसे पतंग उड़ाने पर आकाश में जाकर भी पृथ्वी पर ही बसता है, वैसे ही सकामी ऊंचा स्वर्गादि में जाकर भी पुन: पृथ्वी पर ही बसता है । निष्काम बादल[६] के जन्म[७] के समान है, जैसे बादल आकाश में उत्पन्न होकर आकाश में ही लय हो जाते हैं । वैसे ही निष्कामी ब्रह्म में लय होता है ।

सहकामी दीपक दशा, पाये तेल उजास ।

रज्जब हीरा संतजन, सहज सदा परकाश ॥५॥

सकामी की अवस्था दीपक के समान है । जैसे दीपक तेल को प्राप्त करके ही प्रकाश करता है, वैसे ही सकामी प्राणी कामना प्राप्त होने से ही प्रसन्न होता है, निष्कामी संत जन हीरा के समान हैं । जैसे हीरा स्वाभाविक सदा प्रकाश देता है, वैसे ही संत जन सदा ज्ञान प्रकाश प्रदान करते ही रहते हैं ।

सहकामी फल ले फिरै, मिलै न सांई मांहि ।

रज्जब रीझे राम बिन, सो सेवक कछु नांहि ॥६॥

सकामी फलाशा लेकर संसार में ही भ्रमण करते हैं । ब्रह्म में नहीं मिल सकते । जो राम के बिना अन्य में अनुरक्त होता है, वह सेवक कुछ नहीं है ।

चौरासी लख जीव की, चरण शरण तल चाहि[४] ।

रज्जब अधर[५] अकाश[६] रुख[७], ऊंची अगम अचाहि[८] ॥७॥

आशा[४] वाले की स्थिति चौरासी लाख जीवों के चरण-तल की शरण में रहती है अर्थात् वह सबके पैरों के नीचे रहता है । आशा रहित[८] की इच्छा[७] सबसे ऊंची उठकर माया रहित[५] अगम ब्रह्म[६] को प्राप्त करने की होती हैं ।

तब लग चेरा[1] लच्छि का, चाह तले ह्वै चित्त ।
रज्जब रही गुलाम[2] गति[3], होत अचाही नित्त ॥८॥

जब तक चित्त भोगाशा के नीचे है, तब तक लक्ष्मी का ही दास[1] है और जब सदा के लिये भोगाशा रहित हो जाता है तब गुलाम की चेष्टा[3] पीछे रह जाती है अर्थात् फिर वह माया का दास[2] नहीं हो सकता ।

संतोष सु साहिब[1] लूंडा[2] लोभ, जैसे थे तैसी कहि शोभ ।
साँच कहत मान हुं मत रोस, दुवा[3] देहु भावों[4] दिन-दिन कोस[5] ॥९॥

संतोष तो स्वामी[1] हैं और लोभ दास[2] है । जैसे थे वैसी ही इनकी शोभा कही है । सत्य कहने पर रोस नहीं मानना चाहिये, फिर तुम्हारी इच्छा है, चाहे[4] आशीर्वाद[3] दो वा प्रतिदिन शाप[5] देते हुये गालियां दो ।

तमा[1] कनीज कि चेरी चाहि, उभय नाम लौंडी[2] है आहि ।
सबै जीव बांदी[3] के बांदा[4], रज्जब कहत न राख्या छांदा[5] ॥१०॥

चाह[1] ही कनीज है और चाह ही चेरी है । कनीज और चेरी दोनों ही नाम दासी[2] के हैं । सभी जीव चाह रूप दासी[3] के दास[4] हैं । यह हमने ठीक ही कहा है, कपट[5] नहीं रक्खा है ।

आशा बंधण आतमा, मुक्त निराशा नित्त ।
रज्जब कही विचार करि, शोधर[1] साधू मत्त[2] ॥११॥

जीवात्मा को आशा से ही बन्धन है, आशा रहित तो नित्य मुक्त ही होता है । यह हमने संतों के सिद्धान्त[2] की खोज[1] करके तथा स्वयं विचार करके ही कहा है ।

सहकामी कंचन किया, तिनको जब तब फेर[1] ।
निष्कामी पलटै नहीं, साखी सोवन[2] मेर[3] ॥१२॥

सकामी पारस द्वारा बनाये हुये सोने के समान है । जैसे वह सोना जब तब बदलता ही है, वैसे ही सकामी अपने को कचन के समान स्वच्छ बना लेते हैं किन्तु उनको जब तब बदलकर[1] पूर्वावस्था में आना ही पड़ता है और निष्कामी वास्तविक सोने के समान है वह कभी नहीं बदलता । इसकी साक्षी सुवर्ण[2] का पर्वत सुमेरु[3] देता है ।

कामी क्वैलों[4] की कला, बुझ्यों बुझी सो नांहि ।
रज्जब अबला आगि मिल, एक मेक ह्वै जांहि ॥१३॥

कामी कोयलों[4] की अग्नि की कला के समान है । जैसे कोयलों की अग्नि बुझने पर भी नहीं बुझी के समान है । अग्नि से मिलते ही कोयले अग्नि

रूप ही हो जाते हैं। वैसे ही कामी नारी से मिलते ही उसमें आसक्त हो जाता है.

दुर्मति दारू[४] सौं भरे, वपु सु बाण विधि मांहि।
रज्जब त्रिगुणी[५] जरे बिन, निश्चल उभय सु नांहि ॥१४॥

जैसे अग्नि बाण में बारूद[४] भरी रहती है, वैसे ही सकामी में दुर्बुद्धि भरी रहती है। बाण की बारूद जले बिना बाण पृथ्वी पर निश्चल नहीं होता। वैसे ही त्रिगुणात्मिका[५] माया के जले बिना अर्थात् हृदय से मायिक भावना निकाले बिना सकामी ब्रह्म में स्थिर नहीं हो सकता।

मुक्ति निराशा बंधन आस, घर वन मांहि कहीं करि बास।
एक ज्ञान घर एक अज्ञान, रज्जब समझे सुख दुख थान[४] ॥१५॥

घर में तथा वन में कहीं भी रहो, निराशा से मुक्ति होती है, और आशा से बंधन होता है। एक ज्ञान रूप घर है और एक अज्ञान रूप घर है। समझे हुये ज्ञानी को ज्ञान रूप घर में सुख रहता है। अज्ञानी को अज्ञान दुःख का घर[४] बना रहता है।

रज्जब खुले न व्योम बँध, मही न मुक्ता होय।
पाताल सु फाँसी ना कटै, आशा वश सब कोय ॥१६॥

आशा का बंधन आकाश में अर्थात् स्वर्ग में भी नहीं खुलता, पृथ्वी में भी आशा से मुक्त नहीं होता, पाताल में भी आशा की फाँसी नहीं कटती। सुर, नर, नागादि सभी आशा के वश में हैं।

सकल प्राणि स्वारथ वशी, उलझे[४] आशा फंद।
रज्जब रट[५] रज[६] काटि कर्म, मुक्ता सोइ स्वच्छंद[७] ॥१७॥

सभी प्राणी स्वार्थ के वश में होकर आशा रूप फंदे में फंसे[४] हैं। जो प्रतिक्षण प्रभु नाम का उच्चारण[५] और चिंतन करता है, वही ज्ञान-प्रकाश[६] द्वारा अपने कर्मों को नष्ट करके मुक्त तथा स्वतंत्र[७] होता है।

काम कंद[४] पसरै[५] नहीं, सुरति सुन्दरी भूल।
जन रज्जब रंकार[६] रत, सो आतमा अमूल ॥१८॥

जिसकी वृत्ति रूप बेलि काम रूप जड़[४] से निकल कर नारी रूप वृक्ष पर भूल से भी नहीं फैलती[५], अर्थात् नारी के आकार नहीं होती और राम मंत्र के बीज "रां[६]" के चिंतन में निरंतर अनुरक्त रहती है वही जीवात्मा अमूल्य अर्थात् महान् माना जाता है।

एक मनारत एक सौं, काढि कामना कंद[४]।
उर[५] अंजन[६] उलझै नहीं, वह आतमा अबंद ॥१९॥

जिसका एकाग्र मन सांसारिक कामनाओं की जड़[४] काट कर एक ब्रह्म में ही अनुरक्त रहता है और हृदय[५] माया[६] में नहीं फंसता, वह जीवात्मा बंधन से रहित मुक्त ही माना जाता है।

उर[४] औरै[५] आशा नहीं, मिले न माया मन्न[६] ।

रज्जब मुक्ता मांड[७] में, सुलझ्या साधू जन्न[८] ॥२०॥

जिसके हृदय[४] में ब्रह्म विचार से भिन्न और[५] कोई भी आशा नहीं है। मन[६] माया से कभी भी नहीं मिलता अर्थात् माया में अनुरक्त नहीं होता, विचार द्वारा संसार बंधन से निकला हुआ हरि भक्त[८] ब्रह्माण्ड[७] में मुक्त ही माना जाता है।

ब्रह्म भजै माया तजै, मन माँही निष्काम ।

जन रज्जब ता संत सौं, प्रत्यक्ष रीझैं राम ॥२१॥

जो मन से माया को त्याग कर तथा मन में निष्काम भाव रखकर निरंतर ब्रह्म का भजन करता है, उस संत से रामजी प्रसन्न होकर उसके हृदय में प्रकट होते हैं।

निष्कामी सेवा करैं, ज्यौं धरती आकाश ।

चंद सूर पाणी पवन, त्यों रज्जब निज दास[४] ॥२२॥

जैसे पृथ्वी, आकाश, चन्द्र, सूर्य, जल, वायु ये निष्कामी होकर विश्व रूप प्रभु की सेवा करते हैं, वैसे ही भगवान् के निज भक्त[४] निष्काम भाव से ही भक्ति करते हैं।

नारायण जाचैं[४] नहीं, सुरपति माँगै कब्ब[५] ।

रज्जब राते[६] इस मतै[७], निरिहाई[८] सो सब्ब[९] ॥२३॥

जब नारायण भगवान् से ही नहीं मांगते[४] तब इन्द्र से तो कब[५] माँग सकते हैं ? जो इच्छारहित[८] हैं सो सभी[९] इस निष्कामता के सिद्धान्त[७] में ही अनुरक्त[६] हैं।

रज्जब रिधि सिधि ना रुचै, जा जिव में जगदीश ।

निरिहाई[४] निष्काम सो, मन वच विसवाबीस[५] ॥२४॥

जिस जीव के हृदय में निरंतर जगदीश्वर का चिन्तन होता है, उसे ऋद्धि-सिद्धि रुचिकर नहीं होती। वह इच्छा-रहित[४] व्यक्ति ही मन, वचन, कर्म से निश्चय[५] ही निष्कामी होता है।

ह्वै फकीर अरु माँगै नांहीं, गृही रहित रहै गृह मांहीं ।

तिन समान नांहीं संसारा, मन वच कर्म सु कीन्ह विचारा ॥२५॥

फकीर तो हैं किन्तु याचना नहीं करते, गृही रहित हैं अर्थात् संतान उत्पन्न नहीं करते और घर में रहते हैं हमने मन, वचन, कर्म से विचार किया है, उनके समान संसार में कोई भी नहीं है ।

रज्जब काँटा चाह का, विष रूपी सु विषेल[४] ।
सो व[५] चुभ्या चित चरण में, रही[६] सु गोविंद[७] गैल[८] ॥२६॥

जैसे कोई जहरीला[४] काँटा चरण में चुभ जाता है तब मार्ग चलना छुट जाता है । वैसे ही आशा का कांटा भी विषरूप है, सो वह[५] चित्त में चुभ जाता है अर्थात् सांसारिक आशा मन में आ जाती है तब प्रभु[७] प्राप्ति का साधन-मार्ग[८] छुट[६] जाता है ।

बंदा[४] गंदा होत है, जब मांगै कछु और ।
चरण छुड़ाया चाह ने, किया आपना[५] चोर ॥२७॥

जब भगवत् साक्षात्कार से भिन्न कुछ और मांगता है तब दास[४] गंदा हो जाता है । इस आशा ने ही भगवान् के चरण-कमल छुड़ाये हैं और निज[५] स्वरूप प्रभु का ही चोर बना दिया है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सकाम निष्काम का अंग १५९
समाप्त : ॥ सा० ५०२२ ॥

अथ प्रवृति निवृत्ति का अंग १६०

इस अंग में प्रवृति निवृत्ति संबन्धी विचार कर रहे हैं—

रज्जब वसुधा[१] व्योम[२] बिच, बीज वृक्ष विस्तार ।
त्यों प्रवृत्ति निवृत्ति मध्य, आतम वो[३] ओंकार ॥१॥

पृथ्वी[१] और आकाश[२] के मध्य जैसे बीज और वृक्ष का विस्तार है । वैसे ही प्रवृत्ति और निवृत्ति में आत्मा और[३] ओंकार का विस्तार है ।

कौण दशा[१] फूलै फलै, कौण दशा निरधार[२] ।
रज्जब जन[३] कण[४] गाहकों, किंहि दिशि करैं विहार ॥२॥

कौनसी अवस्था[१] फूलती फलती है ? प्रवृत्ति की अवस्था फूलती फलती है । कौनसी अवस्था निराधार[२] है ? निवृत्ति की अवस्था निराधार है । संतान[३] और अन्न[४] कण के ग्राहक कौनसी दिशा में विचरते हैं ? प्रवृत्ति दिशा की ओर ही विचरते हैं ।

एक वृक्ष ऊपरि फलै, एक फलै धर[१] मांहि ।
एक दुहूं[२] दिशि सुफल है, एक उभय दिशि नांहि ॥३॥

एक प्रकार के वृक्ष ऐसे होते हैं। जो उपरि शाखा में फल प्राप्त करते हैं। जैसे आम आदि। वैसे ही निवृत्ति प्रधान व्यक्ति संसार दशा से ऊपर जाकर ही ब्रह्मज्ञान रूप फल प्राप्त करते हैं। एक प्रकार के वृक्ष ऐसे होते हैं जो पृथ्वी[1] में फल प्राप्त करते हैं। जैसे आलू आदि। वैसे ही प्रवृत्ति परायण व्यक्ति माया में रह कर मायिक फल ही प्राप्त करते हैं। एक प्रकार के वृक्ष ऐसे होते हैं, जो दोनों[2] ओर फल प्राप्त करते हैं नीचे कंद भी प्राप्त करते हैं और ऊपर फल भी प्राप्त करते हैं, जैसे मूली आदि। वैसे ही प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों में शास्त्र के कथनानुसार चलते हैं वे मायिक सुख तथा ब्रह्मानन्द दोनों ही फलों को प्राप्त करते हैं। एक प्रकार के वृक्ष ऐसे होते हैं जो ऊपर तथा नीचे दोनों ओर ही फल नहीं प्राप्त करते। जैसे वैत आदि। वैसे ही आलसी पुरुष न मायिक सुख प्राप्त कर सकते हैं और न ब्रह्मानन्द।

सत[1] जत[2] शोधी[3] साधु मत[4], चतुर[5] दशा चहुं आंखि।
रज्जब सुफल सु लीजिये, निष्फल निरख सु नांखि ॥४॥

संतों के सिद्धान्त[4] को खोज[3] करके अर्थात् विचार करके गृहस्थी[1] और साधु[2] वा ब्रह्मचर्य[2] पूर्वक सत्य[1] स्वरूप ब्रह्म का चिन्तन करते हुये, उक्त तीन की साखी में कही हुई १ प्रवृत्ति, २ निवृत्ति, ३ प्रवृत्ति-निवृत्ति, ४ प्रवृत्ति-निवृत्ति से हीन, इन चारों[5] अवस्थाओं को दो भीतर के विवेक, विचार, दो बाहर के इन चार नेत्रों से देखकर, सुन्दर फल प्रदान करने वाली को ग्रहण करो और निष्फल को त्यागो, यही प्रवृत्ति-निवृत्ति संबन्धी श्रेष्ठ परामर्श है।

सुकृत[1] फल है प्रवृत्ति मध्य, निवृत्ति नाम निरधार।
सत[2] जत[3] को यहु आसिरा[4], रज्जब समझ विचार ॥५॥

प्रवृत्ति में पुण्य[1] कर्म रूप फल प्राप्त होता है और निवृत्ति नाम चिन्तन द्वारा निराधार प्रभु की प्राप्ति रूप फल मिलता है। सद्गृहस्थ[2] और साधु[3] को यह सुकृत और नामचिन्तन रूप साधन का ही आश्रय[4] है। यह विचार द्वारा तुम भी समझ सकते हो।

सुकृत फल सु प्रवृत्ति मध्य, निवृत्ति नाम निराट[1]।
नर नारायण मुख चढें, आये एक[2] हि बाट[3] ॥६॥

प्रवृत्ति में सुकृत फल प्राप्त होता है, निवृत्ति में एकमात्र[1] नामचिंतन द्वारा प्रभु प्राप्ति रूप फल मिलता है। जिन प्रवृत्ति परायण नरों के पदार्थ यदि नारायण के मुख रूप संतों के समर्पण हुये हैं वे भी एकता[2] रूप मार्ग[3] में ही आये हैं, अर्थात् अंत में दोनों ही अद्वैतावस्था[4] में आ जाते हैं।

शिव तरुवर छाया शकति[1] जुगल माहात्म्य जान ।
रज्जब जानी पंखि जन, फल पावै किस थान ॥७॥

वृक्ष और छाया दोनों का महात्म्य पक्षी जानते हैं । उन्हें ज्ञान रहता है कि फल किस स्थान पर मिलता है अर्थात् वृक्ष में मिलता है छाया में नहीं, छाया में तो आतप ही शांत होता है । वैसे ही ब्रह्म और माया[1] का माहात्म्य भक्त जानते हैं उन्हें ज्ञात रहता है । अक्षय सुख रूप फल कहां मिलता है, ब्रह्म चिन्तन द्वारा ही मिलता है । माया से तो नष्ट होने वाला सुख ही मिलता है । यही प्रवृत्ति और निवृत्ति के फल का भेद है ।

धरणी धरै सो वित्त[1] ले, तरु नर धरहिं अकाश ।
सो परमारथ में पड़ै[2], जन रज्जब निज दास ॥८॥

जो पृथ्वी में धन रखते हैं वे तो वह रक्खा हुआ धन[1] ही प्राप्त करते हैं, किन्तु जैसे वृक्ष अपने फल रूप धन को आकाश में रखता है, तो वह परमार्थ में लग[2] जाता है । वैसे ही भगवान् के निजी भक्त-नर ब्रह्म के समर्पण कर देते हैं, वह परमार्थ में लगता है ।

प्रवृत्ति धोरा रेत[1] का, निवृत्त है गचगीर[2] ।
मन जल किहिं मग मेलिये, ब्रह्म विडै[4] जाय नीर ॥९॥

प्रवृत्ति मिट्टी[1] की नाली के समान है और निवृत्ति पक्कीनाली[2] के समान है । जैसे जल को मिट्ठी की नाली से चलाओ वा पक्की नाली से चलाओ दोनो में से किसी भी मार्ग[3] से चलाओ वह तो वृक्ष[4] की जड़ में ही जायगा किन्तु कच्ची से देर में और पक्की से शीघ्र जायगा इतना ही अंतर है, वैसे ही मन को पुण्य कर्म रूप प्रवृत्ति से ले जाओ वा भजन-विचार रूप निवृत्ति से ले जाओ वह तो ब्रह्म में ही जायगा किन्तु प्रवृत्ति से देर में और निवृत्ति से शीघ्र जायगा, इतना ही अंतर है ।

निवृत्ति प्रवृत्ति द्वै कथा, वो[1] ओंकार सु शब्द ।
निर्गुणी निर्गुण आदरी, सह गुण करि सु रद्द[2] ॥१०॥

निवृत्ति संबन्धी तथा प्रवृत्ति संबन्धी दो प्रकार की कथायें हैं । एक तो ओंकार अर्थात् निर्गुण ब्रह्म के नाम चिन्तन संबन्धी है और[1] दूसरी अनेक शब्द मय सगुण संबन्धी है । निर्गुणी साधकों ने निवृत्ति मय निर्गुण कथा का आदर किया है और प्रवृत्ति मय सगुण कथा को त्याग[2] दिया है ।

वटक[1] बोल[2] तो द्वै द्वै चाल, स्वारथ जड़ परमारथ डाल ।
इहिं[3] दिशि निरफल[4] वहिं[5] फल फूल, नीचे ऊंचे एकै मूल ॥११॥

जैसे बड़ का[1] वृक्ष ऊंचे और नीचे दोनों ओर चलता है। ऊंचे डालें चलती हैं और नीचे जड़ें चलती हैं। जड़ें फलरहित[4] होती हैं और डालों के फल फूल लगते हैं किन्तु दोनों का मूल एक ही है। वैसे ही वचन[2] दो प्रकार के निकलते हैं एक तो स्वार्थ मय और दूसरे परमार्थ मय। इस[3] संसार की ओर के वचन स्वार्थ मय होते हैं, अतः ज्ञान भक्ति रूप फल फूल से रहित होते हैं। उस[5] प्रभु की ओर के वचन परमार्थ मय होते हैं, वे ज्ञान-भक्ति रूप फल फूल से युक्त होते हैं किन्तु दोनों प्रकार के वचनों का मूल एक ही हृदय है। स्वार्थ मय वचन प्रवृत्ति रूप हैं और परमार्थ मय वचन निवृत्ति रूप हैं।

सांच झूठ द्वै चरण हैं, जीव चलै इन[4] मग्ग[5]।
इक टंग्यों[6] की और है, जहां न दूजा पग्ग[7] ।।१२।।

सत्य और मिथ्या ये दो चरण हैं, जीव इन दो[4] से ही मार्ग[5] चलते हैं। सत्य चरण की जिनमें प्रधानता होती है वे सन्मार्ग में और असत चरण की जिनमें प्रधानता होती है वे असन्मार्ग में चलते हैं किंतु जिनके प्रवृत्ति रूप दूसरा चरण[7] नहीं होता उन अद्वैत स्थिति रूप एक चरण[6] वालों की गति और ही प्रकार की होती है अर्थात् वे तो ब्रह्म में ही लय होते हैं। अतः प्रवृत्ति का फल संसार है और निवृत्ति का फल ब्रह्म प्राप्ति है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित प्रवृत्ति निवृत्ति का अंग १६०
समाप्तः ॥ सा० ५०३४ ॥

अथ पाप-पुण्य निर्णय का अङ्ग १६१

इस अंग में पाप पुण्य के निर्णय संबंधी विचार कर रहे हैं—

पाप पुण्य का मूल[1] है, ता में फेर न सार।
धर्म कर्म करि ऊपजै, रज्जब समझ विचार ।।१।।

पुण्य की जड़[1] पाप है। इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार बात है। धर्म कर्म के द्वारा ही उत्पन्न होता है। यह तुम भी विचार द्वारा समझ सकते हो।

जे जड़ पैठै जमी में, अँकुर जाय अकाश।
त्यों पाप पुण्य का मूल है, सुनहु विवेकीदास ।।२।।

यदि जड़ पृथ्वी में नीचे प्रवेश करती है किन्तु अंकुर तो आकाश को ही जाता है हे विवेकी दास सुन! वैसे ही पाप नीचा होने पर भी उससे उत्पन्न पुण्य उत्ताम ही है इस प्रकार पाप पुण्य की जड़ है।

प्रथम पाप के पेड़ परि, स्वारथ सुकृत डाल।
रज्जब शाखा तो रहै, किये पेड़ प्रतिपाल ।।३।।

पहले पाप रूप वृक्ष के ऊपर स्वार्थ और सुकृत रूप दो डाल आती हैं। फिर वृक्ष की प्रतिपालना करने पर ही शाखा रहती हैं। अतः पाप बिना पुण्य नहीं रह सकता।

जड़ सींचत तरुवर बधै, पुण्य पुष्ट[४] त्यों पाप।
रज्जब कही विचार करि, विकट बनाई बाप ॥४॥

जड़ को सींचने से ही वृक्ष बढता है, वैसे ही पाप द्वारा ही पुण्य बढता[४] है। यह हमने विचार करके ही कहा है—भजन विचारादि अंतरंग साधन बिना कोई भी पुण्य कार्य करो उसमें पाप होता ही है। परम पिता प्रभु ने पुण्य उत्पन्न करने की रीति विकट ही बनाई है।

कुकृत करि सुकृत सबै, आदि अंत मधि होय।
जन रज्जब जग देखिये, जे करि जाणें कोय ॥५॥

इस जगत् के आदि, मध्य, अंत में देखा जाता है कि—जो भी सुकृत कर जानते हैं उनसे सभी सुकृत कुकृत द्वारा ही होते हैं अर्थात् बिना पाप पुण्य होते ही नहीं।

प्राणि हते सेवा शकति[४], पंच हते शिव सेव।
पूजे जाय न पाप बिन, रज्जब देई[५] देव ॥६॥

प्राणी को मारकर बलि चढाने से शक्ति[४] की सेवा होती है और पंच ज्ञानेन्द्रियों को मारने से शिव की सेवा होती है। अतः पाप बिना तो देवी[५]-देव भी नहीं पूजे जा सकते।

इक पापी पर लै गये, इक पापी सु प्रसिद्धि।
रज्जब समझ रु कीजिये, पाप पुण्य की विद्धि ॥७॥

एक प्रकार का पापी अर्थात् प्राणियों को मारने वाला तो नष्ट हो जाता है और एक प्रकार के पापी की अर्थात् पंचेन्द्रियों को मारने वाले की संत रूप से प्रसिद्धि हो जाती है। अतः पाप-पुण्य की विधि को समझ करके ही पाप-पुण्य करना चाहिये।

एक कर्म कर्म ऊपजै, एक कर्म कर्म जाय।
रज्जब कर्महि कर्म को, नर देखो निरताय[१] ॥८॥

एक पाप कर्म से अनेक पाप कर्म होते हैं और एक पुण्य कर्म से पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार एक पुण्य कर्म से अनेक पुण्य कर्म होते हैं और एक पाप कर्म से पुण्य नष्ट हो जाते हैं। अतः हे नरो! कर्म ही कर्म को अर्थात् प्रत्येक कर्म को विचार[१] करके देखो और जो हित कर हो उसे ही करो।

रज्जब आरंभ अघ[1] चढैं, आरम्भ हि अघ जांहि ।
तो आरंभ आरंभ फेर[2] है, समझ देखि मन मांहि ॥९॥

एक कर्म के आरंभ से तो पाप[1] चढते हैं और एक के आरंभ से पाप नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार आरंभ आरंभ में भेद[2] रहता है । अतः मनमें विचार द्वारा देख करके ही कार्य आरंभ करना चाहिये ।

कुकृत बेड़ी लोह की, सुकृत छीणी तास ।
एक कृत्य कर्म उदय ह्वै, एक कृत्य कर्म नाश ॥१०॥

कुकर्म लोहे की बेड़ी है और पुण्य कर्म उसे काटने वाली छीणी है । अतः एक कार्य से तो कर्म उत्पन्न होता है और एक से नाश हो जाता है, जैसे एक क्रिया बेड़ी बनी थी और दूसरी क्रिया से कट गई ।

आरम्भ सब ही निर्दयी, तिनकरि सुकृत होय ।
यूं चलतों सीझे सबै, काज न विनश्या कोय ॥११॥

कार्यारंभ तो सभी दयाहीन होते हैं अर्थात् सभी में कुछ न कुछ हिंसा होती है किन्तु उन कार्यारंभों से ही पुण्य होता है । इस प्रकार पुण्य कार्य करने वालों के सभी कार्य सिद्ध हुये हैं, कोई भी कार्य नष्ट नहीं हुआ वा इस प्रकार चलने से सिद्धावस्था रूप मुक्ति को प्राप्त हुये हैं । किसी का भी मुक्ति रूप काम नष्ट नहीं हुआ है ।

खच्चर बीछणी केलि गर्भ, पाप पुण्य परकाश[1] ।
रज्जब निपजै चतुर फल, मूल माहात्म्य नाश ॥१२॥

खच्चरी और बीछनि के गर्भ मां के पेट को फाड़कर निकलते हैं जिससे खच्चरी और बीछनी मर जाती हैं । केले के फल आजाने पर केले को काट देते हैं । पुण्य कार्यारंभ से जो पाप प्रकट[1] होता है वह उसी कर्म के पुण्य से नष्ट हो जाता है । इस प्रकार उक्त—खच्चर, बीछू, फल और पुण्य, इन चार फलों के उत्पन्न होने पर इनके मूल कारणों का महत्त्व नष्ट हो जाता है ।

पाप करत पातक चढै, पुण्य प्रकटत घट जांहि ।
रज्जब मैले कूप खणि, तिंहि निर्मल जल न्हांहि ॥१३॥

जैसे कूप खोदने से तो खोदने वाला मैला हो जाता है, किंतु उसी के जल से स्नान करने पर निर्मल हो जाता है । वैसे ही पाप कर्म करने से तो पाप चढ़ते हैं और पुण्य कर्म करने से पुण्य प्रकट होने पर पाप कम हो जाते हैं ।

चोरी की तब चोर है, धर्म करत ह्वै साध ।
भाव फिरत भावी फिरी, तिन हुं मुक्ति फल लाध ॥१४॥

चोरी की तब चोर है ऐसा बोलते थे फिर वही धर्म करता है तब साधु कहलाता है। देखो, भाव बदलते ही होनहार भी बदल जाता है और पूर्व जो चोर था उसी को मुक्ति रूप फल प्राप्त होता है।

कुकृत[1] करि सुकृत करै, तो कुकृत लागै नांहि।
चोर हु छूटे पुण्य बल, समझ देखि मन मांहि ॥१५॥

कुकर्म[1] करके पुण्य कर्म करता है तब कुकृत का फल पाप उसे नहीं लगता, पुण्य कर्म से नष्ट हो जाता है। पुण्य के बल से चोर भी मुक्त हो गये हैं, यह तुम भी विचार द्वारा मन में देख सकते हो।

गुरु गोविन्द रु देव ऋषि, सेवा सबै दयाल।
पूजा करि पापी तिरे, सब हुं करी प्रतिपाल ॥१६॥

गुरु, गोविन्द, देव, ऋषि, सेवा से सभी दयालु होकर दया करते हैं। गुरु आदि की पूजा करके पापी भी तिर गये हैं। सभी ने अपने सेवकों की रक्षा की है।

रज्जब सुकृत सेवा चोर ठग, पापी तिर्राहि अपार।
ज्यों बूड़्यो बूड़े नहीं, नाव काठ के भार ॥१७॥

पुण्य कर्म और भक्ति के बल से अपार–चोर, ठग और पापी तिर गये हैं, जैसे नाव काष्ठ के भार से डूबने पर भी नहीं डूबती। वैसे ही पुण्य और भक्ति बल से उक्त चोरादि डूबे हुये होने पर भी तिर जाते हैं।

रज्जब पाप पषाण सम, पुण्य काष्ठ की नाव।
जग जल तिरिये बैठि कहि[1], तिहिं[2] प्राणी चढि जाव ॥१८॥

पाप पाषाण के समान है और पुण्य काष्ठ की नौका के समान है। जैसे पत्थर काष्ठ की नौका पर बैठ कर[1] जल से तिर जाता है। वैसे ही जिसे जगत से तिरना हो वह प्राणी उस[2] पुण्य की नौका पर चढ जाय अर्थात् पुण्य करे।

कर्राहि जीव कृत[1] पेट को, लार्वाहि पर उपकार।
सो रज्जब सीझै[2] सही[3], ता में फेर न सार ॥१९॥

जीव पेट भरने के लिये काम[1] करता है किन्तु पेट भरने से बचे धन को परोपकार में लगा देता है, वह निश्चय[3] ही सिद्धावस्था[2] रूप मुक्ति को प्राप्त होता है। इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है। यह सार रूप बात है।

मात पिता मेले मिले, सुत निपजा बिच साध।
कुकृत में कीर्ति भई, रज्जब खेल अगाध ॥२०॥

माता-पिता पापी होते हैं और उनके निष्पाप संत पुत्र उत्पन्न हो जाता है। वैसे ही पाप से पुण्य उत्पन्न होकर जगत् में सुकीर्ति हुई है अर्थात् यज्ञ में किंचित पाप होता है किंतु पुण्य अधिक होकर यज्ञ कर्त्ता का सुयश फैल जाता है, इसका थाह साधारण मनुष्य नहीं पा सकता।

इन्द्र अवनि[1] अपराध[2] बिन, पिंड पड़ैं ह्वै पाप।

परि[3] उनकी विषय सु[4] बंदगी[5], जग जीवन जड़[6] जाप ।।२१।।

अति वृष्टि रूप इन्द्र के दोष[2] बिना और भू चाल रूप पृथ्वी[1] के दोष बिना ही अन्य निमित्त से जो शरीर गिरते हैं, वह निमित्त उन्हीं के पाप से बनता है। अतः वह पाप है। परन्तु[3] उन मूर्ख[6] जीवों को श्रेष्ठ विषय सुख की प्राप्ति होती है, वह उनका पुण्य ही है और संत सेवा[5] तथा जगजीवन प्रभु के नाम का जप करना यह महा पुण्य है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पाप पुण्य निर्णय का अंग १६१ समाप्तः ।।सा० ५०५५।।

अथ झूठ साँच निर्णय का अंग १६२

इस अंग में झूठ और सत्य के निर्णय संबन्धी विचार कर रहे हैं—

झूठ भूमि है खारछा[1], सत कण ऊगै नाँहि।

उभय ठौर निष्फल सदा, समझ देखि मन माँहि ।।१।।

खारडा[1] अर्थात् क्षार युक्त भूमि में अन्न कण नहीं उगते, वैसे ही मिथ्या से सत्य नहीं पनपता। मन में विचार करके देख, खारडा और झूठ दोनों ही स्थान अन्न कण और सत्य रूप फल से सदा रहित ही रहते हैं।

साँच झूठ जोड़ा सदा, ज्यों तरुवर संग छाँहि[1]।

एक सुफल इक अफल है, समझे समझो माँहि ।।२।।

जैसे वृक्ष और उसकी छाया[1] का जोड़ा होता है, सदा दोनों साथ रहते हैं किंतु वृक्ष में फल मिलता है, छाया में नहीं, वैसे ही सत्य और मिथ्या का जोड़ा है किंतु सत्य से सुन्दर फल मिलता है और मिथ्या से सुंदर फल नहीं मिलता। हे समझे हुये जनो! यह रहस्य विचार द्वारा अपने भीतर समझो।

वपु वाइक मन में सदा, झूठ रहै तिहुं ठौर।

तिनका वासा नरक में, अस्थल नाहीं और ।।३।।

जिनके शरीर, वचन और मन इन तीनों स्थानों में झूठ रहता है। उनका निवास नरक में ही होता है। उनके लिये अन्य स्थान नहीं है।

झूठ रहै यूं साँच कन,[1] ज्यों तिमिर दीप तल आय ।
रज्जब बुझतों ज्योति को, अंधियारा भरि जाय ।।४।।

जैसे दीपक के नीचे अंधेरा रहता है, वैसे ही सत्य के पास[1] झूठ रहता है और जब ज्योति बुझ जाती है तब सारे घर में अँधेरा ही भर जाता है। वैसे ही सत्य के अभाव से मन, वचन, कर्म में झूठ ही भर जाता है ।

झूठ मरै सुन साँच में, साँच मरै सुन झूठ ।
रज्जब ज्यों थी त्यों कही, रजू[1] होहु भावे रूठ ।।५।।

सत्य बात सुनकर उसमें स्थित होने पर झूठ नष्ट हो जाती है और झूठ सुनने पर सत्य नष्ट हो जाता है, इस बात पर प्रसन्न[1] हो चाहे रुष्ट हो, जैसी स्थिति थी वैसी ही बात कही है ।

जब लग प्राणी पिंड में, कण कूकस[1] मधि होय ।
झूठ साँच दो मिल चलैं, तहां न दीसैं दोय ।।६।।

जब तक जीव शरीर में है तब तक जैसे अन्नकण भूसा[1] में होता है वैसे ही झूठ में साँच होता है, दोनों मिलकर ही चलते हैं, उस स्थिति में दोनों भिन्न नहीं दीख पड़ते ।

झूठो साँच समान है, समय सु समसरि[1] होय ।
जन रज्जब इस पेच[2] को, बूझै[3] बिरला कोय ।।७।।

किसी समय झूठा भी सच्चे के समान है, ऐसी समानता[1] हो जाती है। तब इस चक्कर[2] को कोई बिरला ज्ञानी ही समझ[3] पाता है। इसको अगली साखी में स्पष्ट कर रहे हैं ।

तन मन आतम[1] झूठ थे, लगे साँच को जाय ।
सो रज्जब साँचे भये, नर देखो निरताय[2] ।।८।।

शरीर, मन, बुद्धि[1], ये झूठे ही थे किन्तु जिनके सत्य ब्रह्म के परायण हो गये वे सच्चे होगये। हे नर ! यह बात तू भी विचार[2] द्वारा देख सकता है ।

साँच आतमा झूठ तन लागिर झूठी होय ।
रज्जब कही विचार करि, देखत हैं सब कोय ।।९।।

आत्मा सत्य है, शरीर मिथ्या है किन्तु मिथ्या शरीर के साथ लग कर सत्य आत्मा भी झूठी हो रही है। यह हमने विचार पूर्वक ही कहा है और सब देखते भी हैं ।

झूठ बोलिये धर्म हित, सो मिलै साँच को जाय ।

यहु रज्जब अज्जब[1] कही, नर देखो निरताय[2] ॥१०॥

धर्म के लिये जो झूठ बोला जाता है, वह तो सत्य को ही जा मिलता है अर्थात् सत्य के ही समान हो जाता है । हमने यह अद्भुत[1] बात कही है । हे नर ! तुम भी विचार[2] करके देख लो, यह ऐसी ही बात है ।

झूठ पाप का मूल है, समय सु मिथ्या साच ।

मार मुहम्मद की शरण, क्या बोलै सो बाच ॥११॥

झूठ पाप का मूल कारण है किन्तु किसी समय मिथ्या भी सत्य के समान सुन्दर हो जाता है । मार के भय से मुहम्मद गौरी तथा मुहम्मद गजनी की शरण होने वाले क्या वचन सत्य बोलते ? उन्होंने मिथ्या बोलकर के ही अपने प्राण बचाये थे और वह मिथ्या सत्य के समान ही हुआ था ।

रज्जब राख्या[1] मारत हु, झूठ बोल कर प्राण ।

सो मिथ्या मानी सब हु, सांई सहित सुजाण ॥१२॥

जिन लोगों ने मुहम्मद गौरी आदि के मारते समय झूठ बोलकर अपने प्राणों की रक्षा[1] की, उस झूठ को प्रभु के सहित सभी बुद्धिमानों ने सत्य समान श्रेष्ठ ही माना था ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित झूठ-साँच निर्णय का अंग १६२

समाप्तः ॥ सा. ५०६७ ॥

अथ करणी बिना ज्ञान का अंग १६३

इस अंग में कर्तव्य रहित ज्ञान सम्बन्धी विचार कर रहे हैं—

दीपक ज्ञान बताय दे, ज्योति सु कर तन माँहि ।

रज्जब पकड़ै प्राणि उठि, दीवा पकड़ै नाँहि ॥१॥

जैसे दीपक अपनी ज्योति की सुन्दर किरणों द्वारा वस्तु को दिखा देता है किन्तु उस वस्तु को प्राणी ही उठकर ग्रहण करता है, दीपक तो नहीं पकड़ता । वैसे ही ज्ञान तो ब्रह्म के स्वरूप को शरीर में बता देता है किन्तु निदिध्यासन रूप कर्तव्य करे बिना ब्रह्मानन्द साधक को कब मिलता है ।

दीपक दोन्यों एकसा, चोर शाह चित नाँहि ।

तैसे रज्जब ज्ञान गति[1], मन प्राणी के माँहि ॥२॥

दीपक चोर और साहूकार दोनों को सम प्रकाश देता हुआ समान रहता है । वैसे ही जिस प्राणी के मन में ज्ञान है, उसकी भी दीपक

के समान ही चेष्टा[1] होती है। ज्ञानी के चित्त में भी भेद दृष्टि का अभाव और ब्रह्मदर्शन रूप कर्तव्य रहता है।

हीरा हरसी[1] तिमिर को, पर शीत हरचा नहिं जाय।
त्यों रज्जब दीपक ज्ञान का, जो देख्या निरताय ॥३॥

हीरा अंधेरे को तो हर-लेगा[1] परन्तु शीत तो उससे नहीं हरा जाता। यदि विचार करके देखा जाय तो वैसा ही ज्ञान दीपक है। ज्ञान, अज्ञान को तो हर लेता है किन्तु देह-दुःखों को तो नहीं हरता, वे तो संयम, उपचार तथा धारणा रूप कर्तव्य से दूर किये जाते हैं, या सहन किये जाते हैं।

रज्जब दीपक ज्ञान का, तिमिर हरै दे नेत[1]।
परि भजन बिना भाजै नहीं, इन्द्री अरि दल खेत ॥४॥

ज्ञान का दीपक विचार रूप नेत्र[1] देकर अज्ञानांधकार को तो हर लेता है परन्तु भजन रूप कर्तव्य बिना योगरूप युद्ध क्षेत्र से इन्द्रिय और कामादि शत्रु दल नहीं भागता।

जे आतम उर अंधगति, ज्ञान दीप कर धारि।
रज्जब पड़सी कूप में, दीप न सकई टारि ॥५॥

जो प्राणी अंधा हो, वह अपने हाथ में दीपक धारण करले तो क्या होगा? वह तो कूप में पड़ेगा, ही बिना नेत्र दीपक उसे कूप से नहीं बचा सकता। वैसे ही ज्ञान के अनुसार धारणा रूप कर्तव्य नहीं हो तो उस हृदय के अंध को ज्ञान संसार- कूप से नहीं बचा सकता, वह संसार में ही भ्रमण करेगा।

रजनी माया मोह की, इन्द्री आभे[1] माहिं।
रज्जब रती[2] न सूझ ही, ज्ञान दृष्टि कछु नांहि ॥६॥

अंधेरी रात्रि हो और आकाश में गहरे बादल[1] छाये हों तब दृष्टि कुछ नहीं काम देती, उससे किंचित्[2] भी नहीं दीखता। वैसे ही माया-मोह रूप रात्रि में, इन्द्रियों की चंचलता रूप बादल हृदय में छाये हुये हों तब ज्ञानदृष्टि कुछ नहीं काम देती, उससे किंचित् मात्र भी ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता।

रज्जब ज्ञान दीप नहिं दूरि ह्वै, तिमिर पिंड ब्रह्मंड।
जब लग मिल हि न राम रवि, जिनकी ज्योति प्रचंड ॥७॥

जब तक जिनका प्रचंड प्रकाश है वे सूर्य उदय नहीं होते तब तक दीपक से ब्रह्माण्ड का अंधेरा दूर नहीं होता। वैसे ही जब तक राम

नहीं मिलते तब तक परोक्ष ज्ञान से हृदय का अज्ञानांधकार दूर नहीं होता ।

रज्जब प्राणि पिपीलिका[1], ज्ञान पंख परकाश[2] ।
वह नहिं मिलै अविगति[3] को, वह न जाय आकाश ॥८॥

चींटी[1] के पंख प्रकट[2] होते हैं तब वह उनसे आकाश में अधिक ऊंची नहीं जा सकती । वैसे प्राणी को धारणा रूप कर्तव्य रहित परोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है तब वह ब्रह्म[3] को प्राप्त नहीं होता, कुछ मनुष्यों के पास ही ज्ञानी कहला सकता है ।

रज्जब जोबन भादवा, इन्द्री आभे[1] माँहि ।
विषय वारि[2] वर्षा विपुल[3], ज्ञान भानु[4] दुरि[5] जाँहि ॥९॥

जैसे भादवे के महिने में बादल[1] भारी[3] जल[2] की वर्षा करते हैं तब सूर्य[4] बादलों से छिप जाते हैं । वैसे ही युवावस्था में इन्द्रियों की चंचलता बढ़ जाती है और विषय भोग का अत्यधिक[3] अवसर आता है तब भक्ति आदि साधनों से रहित परोक्ष ज्ञान छिप[5] जाता है अर्थात् हृदय में नहीं रहता ।

रज्जब रैन[1] अचेत[2] मत[3], वन मन जरि नहिं जाय ।
भानु ज्ञान उगत हि दहै[4], उतर इन्द्रियाँ वाय[5] ॥१०॥

ग्रीष्म ऋतु की रात्रि[1] में वन के तृण, वृक्षादि नहीं जलते अर्थात् सूखते तथा तपते नहीं किंतु सूर्य उदय होने पर जब वायु[5] भी उतर जाता है अर्थात् बंद हो जाता है तब सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से वन जलता[4] है । वैसे ही अज्ञानावस्था में मूर्ख[2] प्राणी के विचारों[3] से मन के विकार नहीं जलते किंतु अपरोक्ष ज्ञान होते ही इन्द्रियों की चंचलता कम होकर मन के विकार जल जाते हैं ।

इन्द्रिय आभा[1] ऊनवण[2], ज्ञान उन्हालू[3] होय ।
तो रामा[4] रोली[5] चढै, रज्जब साख[6] न कोय ॥११॥

ग्रीष्म[3] ऋतु की खेती जौ, गेहूं होने के समय यदि बादल[1] चढ़े[2] रहते हैं और वर्षते नहीं तब खेती में रोली नामक रोग[5] लग जाता है । उससे खेती[6] नहीं हो पाती । वैसे ही ज्ञान के समय भी इन्द्रियों की चंचलता बढ़ी रहे तो उसके हृदय पर नारी[4] का राग चढ जायगा और मुक्ति नहीं मिल सकेगी ।

आभे[1] इन्द्री रैनि अचेत[2], सूझै नांहि सबन के नेत[3] ।
भानु ज्ञान आये न अंधार, आंखि मूंदि किया अंधियार ॥१२॥

अंधेरी रात्रि में गहरे बादल[1] छाये हों तब तो सबके नेत्र[3] होने पर भी नहीं दीखता परन्तु सूर्य आने पर तो अंधेरा नहीं रहता, किंतु कोई अपनी

आँखें बंद करके अंधेरा कर ले तो दूसरी बात है। वैसे ही अज्ञान[२] के समय इन्द्रियों की चंचलता बढी रहती है तब तो किसी को भी ब्रह्म दर्शन नहीं होता किंतु ज्ञान होने पर तो अज्ञान चला जाता है, फिर तो अपनें प्रमाद वश निदिध्यासन नहीं करे तो दूसरी बात है।

इतिश्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित करणी बिना ज्ञान का अंग १६३ समाप्त: ॥सा० ५०७६॥

अथ ज्ञान बिना करणी का अंग १६४

इस अंग में ज्ञान रहित कर्तव्य कर्म का विचार कर रहे हैं—

करणी करै विचार बिन, तबै बंधै ता माँहि।
रज्जब उलझ[१] अज्ञान में, कबहूं सुलझै[२] नाँहि ॥१॥

बिना ज्ञान जब कर्म करता है तब ही उनमें करने वाला बंधता है और अज्ञानावस्था में बंधा[१] हुआ ज्ञान बिना कभी भी नहीं खुलता[२]।

भक्ति भेद[१] बिन कछु नहीं, ज्यों स्वप्ने बरड़ाय[२]।
रज्जब रस नहिं पाइये, पड़्या रैनि दिन गाय ॥२॥

भक्ति का रहस्य[१] जाने बिना भक्ति कुछ नहीं होती। जैसे स्वप्न में पड़ा हुआ मनुष्य बोलता[२] है, वैसे ही रात्रि-दिन पद गाता रहता है किन्तु भक्ति रस नहीं मिलता।

नाम हिं भजै विचार बिन, यथा अकलि[४] बिन राज।
रज्जब रहै न एक पल, तब ही होय अकाज[५] ॥३॥

ज्ञान विचार के बिना नाम भजन, बिना बुद्धि[४] के राज्य शासन के समान है। बिना बुद्धि से राज्य शासन नहीं हो सकता शीघ्र ही कार्य की हानि[५] होती है, वैसे ही बिना विचार एक क्षण भी नाम पर मन नहीं ठहरता, उसी क्षण विषयों में भाग जाता है।

गज गुमान[४] बहुते करैं, जोर[५] न जाया[६] जाय।
रज्जब बुद्धि विचार बिन, बेड़ी खुलै न पाय[७] ॥४॥

जैसे हाथी अपने बल का गर्व[४] करता है किन्तु बुद्धि बिना उसके बल[५] से पैर[७] की बेड़ी नहीं खुलती। वैसे ही बहुत से नर अपने तपादि का अभिमान करते हैं किन्तु ज्ञान-विचार बिना तपादि बल से उनके हृदय से नारी[६] का राग नहीं जाता।

करणी[४] आंधी जोर वर[५], ज्ञान पांगुलै नैन।
जन रज्जब दोन्यों जुरहिं[१], जुदे न पावै चैन ॥५॥

कर्तव्य[४] में बल तो श्रेष्ठ[५] है किन्तु अंधा है। ज्ञान पंगु है किन्तु उसके नेत्र हैं, ये दोनों जिस साधक में आ मिलते[६] हैं तब तो वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है और अलग अलग रहते हैं अर्थात् कर्तव्य है और ज्ञान नहीं है तथा परोक्ष ज्ञान है और धारणा रूप कर्तव्य नहीं है तब ऐसे साधक को ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त होता।

करणी[१] कण चावल सही[२], ज्ञान छौंत[३] के मांहि।
रज्जब ऊगै एकठै[४] जुदे जुदे सो नांहि ॥६॥

जैसे चावल निश्चय[२] ही उसके छिलके[३] के भीतर ही रहता है और वे दोनों इकट्ठे-ही[४] उगते हैं, अलग २ नहीं उगते। वैसे ही ज्ञान साधन रूप कर्तव्य[१] करने से ही उत्पन्न होता है और समतादि उसके साथ ही उत्पन्न होते हैं अलग २ नहीं होते।

राम बिना रीती[१] रहति[२], रहति बिना त्यों राम।
पछ[३] औषधि संयोग सुख, वियोग वे[४] हु बेकाम[५] ॥७॥

राम के स्वरूप ज्ञान के बिना ब्रह्मचर्य[२] पालन रूप कर्तव्य महत्त्व शून्य[१] है और वैसे ही ब्रह्मचर्य बिना विषयी का राम स्वरूप संबन्धी ज्ञान भी महत्त्व शून्य है। जैसे पथ्य[३] पालन और औषधि सेवन रूप संयोग सुखद होता है और उनका वियोग अर्थात् पथ्य पालन बिना वे[४] औषधियां खाने पर भी आरोग्यता देने में व्यर्थ[५] हो जाती हैं, निरोग नहीं बना सकतीं। वैसे ही ज्ञान विना कर्तव्य कर्म मुक्ति देने में व्यर्थ हो जाते हैं, मुक्ति नहीं दे सकते।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित ज्ञान बिना करणी का अंग १६४ समाप्त : ॥ सा० ५०८६ ॥

अथ नाम विवेक का अंग १६५

इस अंग में नाम और विवेक संबन्धी विचार कर रहे हैं—

नाम हिं भजे विचार सौं, सो भूलै नहिं संत।
रज्जब नाम निरूप रटि,[१] पहुँचे प्राणि अनन्त ॥१॥

जो संत विचार पूर्वक नाम चिन्तन करता है, वह मायिक चमत्कारों से प्रभु को नहीं भूलता। रूप रहित नाम का चिंतन[१] करके अनन्त प्राणी सांसारिक भावनाओं से पार होकर प्रभु के पास पहुंचे हैं।

राम नाम निज नाव गति, केवट ज्ञान विचार।
जन रज्जब दोन्यों मिलै, तबै पहुँचे पार ॥२॥

राम का निज नाम नौका के समान है और ज्ञान-विचार उसे चलाने वाले केवट के समान है। जैसे नौका और केवट दोनों मिलते हैं तब ही महानद के पार पहुँचा जाता है। वैसे ही नाम और ज्ञान दोनों मिलते हैं तब ही संसार के पार प्रभु के पास पहुँचा जाता है।

औषधि हरि का नाम ले, पछ[1] पंचों वश राखि।

रज्जब जीव निरोग व्है, सद्गुरु साधू साखि ॥३॥

जैसे पथ्य[1] रखते हुये औषधि सेवन करता है वह रोग रहित हो जाता है। वैसे ही हरि नाम चिन्तन करते हुये पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में रखता है वह जीव संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। यह सद्गुरु और संतों की साक्षी है।

औषधि अविगत[1] नाम ले, पछ[2] पंचों वश जोग[3]।

रज्जब रहतों इहि जुगति, आतम होय निरोग ॥४॥

जो जीवात्मा परब्रह्म[1] के नाम चिंतन रूप औषधि सेवन के साथ, पंच ज्ञानेन्द्रियों को वश में रखना रूप यथा योग्य[3] पथ्य[2] सेवन करते हुये रहता है, तब वह इस युक्ति द्वारा जन्मादि संसार-रोग से रहित हो जाता है।

सब सुकृत[1] ले ज्ञान सौं, करहु नाम सौं सीर[2]।

ज्यों घृत शक्कर कणक[3] सौं, लाडू बाँधहि वीर[4] ॥५॥

जैसे घृत, शक्कर, और गेहूं[3] से लड्डू बाँधते हैं। वैसे ही हे भाई[4]! ज्ञान द्वारा सभी पुण्य[1] कर्मों को अपनाते हुये नाम चिंतन में साझा[2] करो अर्थात् ज्ञान पूर्वक पुण्य कर्म करते हुये प्रभु के नाम का चिंतन करो।

सफल गवें[1] शोध्यों[2] बँधे, यथा अकलि में राग।

त्यों रज्जब सुकृत सबै, विधि विचार लै लाग ॥६॥

जैसे गायक[1] के सब स्वर विचार[2] पूर्वक पहचान लिये जाते हैं तब बुद्धि में राग बँध जाती है अर्थात् ज्ञात हो जाता है कि—अमुक राग गा रहा है वैसे ही वेदादि शास्त्र की विधि के विचार में वृत्ति लगती है तब सभी पुण्यकर्म बुद्धि में ठीक ज्ञात होने लगते हैं। अतः उनके साथ ही विचार पूर्वक प्रभु का नाम चिन्तन करते रहना चाहिये।

गहरे ज्ञान समुद्र में, चलै नाम की नाव।

रज्जब रज[1] लागै नहीं, मिटै तपति के ताव[2] ॥७॥

जैसे गहरे समुद्र में नौका चलती है, तब नीचे रेत[1] नहीं लगती और ऊपर सूर्य की तप्त भी नहीं लगती, वैसे ही पूर्ण ज्ञान में नाम चिंतन चलता है वहाँ नाम चिंतन से भेद होता है, यह शंका रूप रेत नहीं लगती

और भेद से होने वाला दुःख[१] भी नहीं होता। उक्त बातें अधूरे ज्ञान वालों में ही होती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित नाम विवेक का अंग १६५
समाप्तः ॥ सा० ५०६३ ॥

अथ उपजणि का अंग १६६

इस अंग में अनुभव उत्पन्न होने संबन्धी विचार कर रहे हैं--

रज्जब अज्जब[१] ऊपजी,[२] सबको करै बखाण।
ब्रह्म भजै माया तजै, सो प्राणी सु प्रमाण ॥१॥

उसको अद्‌भुत[१] अनुभव[२] ज्ञान हुआ है, ऐसा सभी कथन करते हैं। किंतु जो प्राणी माया को त्याग कर ब्रह्म का भजन करता है, वही सु प्रमाणित अनुभवी होता है।

भाव[१] भक्ति की ऊपजी, भली कहैं सब कोय।
जन रज्जब जगपति खुशी, जन्म सफल यूं होय ॥२॥

जिसके हृदय में प्रेमा[१]-भक्ति संबंधी अनुभूति हो जाती है, उसे सब ही भली कहते हैं और विश्वपति प्रभु भी प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार मानव सफल बन जाता है।

उपजी[१] आतम राम की, सो छानी क्यों होय।
रज्जब दीसै सकल शिर, प्राणी प्रकट सु जोय[२] ॥३॥

आत्म स्वरूप राम के संबंधी अनुभूति[१] होती है, वह छिपी हुई कैसे रह सकती है ? देख[२], वह अनुभव युक्त प्राणी लोक में प्रकट होकर सबका शिरोमणि भासता हैं।

रज्जब उपजी[१] आप सौं, सब तैं न्यारा[२] होय।
अंतरि[३] परिचय[४] एक सौं, क्या समझावै कोय ॥४॥

साधन द्वारा जिसके हृदय में अपने आप स्वरूपानुभूति[१] हुई है, वह विचार द्वारा सब से अलग[२] होकर भीतर[३] एक अद्वैत ब्रह्म का ही साक्षात्कार[४] करता है। उसे कोई क्या ज्ञान समझायेगा ? वह तो समझा हुआ ही है।

शूर हिं क्या भरमाइये, सती न मानै सीख।
रज्जब उपजणि आपसे, भरैं विघ्न दिशि बीख[१] ॥५॥

युद्ध में जाते हुये शूरवीर को मृत्यु भय द्वारा भ्रम में डाल कर घर लौटा सकते हैं क्या ? सती भी तो घर पर लौटने की शिक्षा नहीं

मानती। क्योंकि उनमें शौर्य और सतीत्त्व अपने से ही उत्पन्न हुये हैं किसी की शिक्षा से नहीं। इसी लिये मृत्यु रूप विघ्न की ओर आगे ही पैर[1] बढाते हैं। पीछे नहीं लौटते। वैसे ही आत्मानुभवी की वृत्ति विषयों की ओर नहीं लौटती, ब्रह्माकार ही रहती है।

मनिखा[1] देही पायकर, लही ज्ञान गति[2] माँहि।
जन रज्जब जिव जाप की, अह निशि या[3] परि नाँहि ॥६॥

मनुष्य[1] शरीर प्राप्त करके जब भीतर ज्ञान की अवस्था[2] प्राप्त करली जाती है तब उस जीवात्मा के जप की क्रिया दिन या रात्रि के समय करना चाहिये, इस[3] नियम पर नहीं रहती। उसकी तो वृत्ति प्रतिक्षण ब्रह्माकार ही रहती है।

जन रज्जब आतम उपज, शिशु शक्ति[1] तिरै नीर।
ज्यों बतक बच्चा मुर[2] दिवस, पानी पैरै[3] वीर ॥७॥

पशु-पक्षियों के बच्चे जल में अपनी उपज से ही तैरते हैं। जैसे बतक का बच्चा तीन[2] दिन का ही जल पर तैरने[3] लगता है। वैसे ही हे भाई ! जीवात्मा भी अपनी उपज से ही माया[1] को तैर जाता है।

रज्जब देखो मीन सुत, तिरन सिखावै कौन।
ऐसे उपजण आपसौं, गहै ज्ञान मग[1] गौन[2] ॥८॥

देखो, मच्छी के बच्चे को कौन तैरना सिखाता है ? वैसे ही जीवात्मा अपनी उपज से ही ज्ञान-मार्ग[1] को ग्रहण करके उसमें गमन[2] करता है।

रज्जब अर्भक[1] आड़ि का, ताहि[2] तिरावै कौन।
जन्मत ही जलनिधि तिरै, करै नीर पर गौन[3] ॥९॥

आड़ि नामक जल-पक्षी के बच्चा[1] होता है तब उसे[2] कौन तिराता है ? वह जन्मते ही समुद्र पर तैरने लगता है तथा जल पर गमन[3] करता है। वैसे ही बहुत-से शुकदेवादि जन्मते ही अपनी उपज रूप ज्ञान द्वारा संसार से तिर जाते हैं।

बत्तक बच्चे मीन सुत, अर्भक[1] आडि तिरंत।
कौन सिखावै कौन को, जब उपजै यहु मंत ॥१०॥

बतक, मच्छी और आडि के बच्चे[1] अपनी उपज से ही तैरते हैं। वैसे ही जब बुद्धि में यह आतम-विचार उत्पन्न हो जाता है तब कौन किस को सिखाता है ? अर्थात् सिखाने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

अनल अंड जब उग्रहै[1], तब अर्भक[2] ऊंचा जाय।
त्यों रज्जब उपजणि जुगति, आतम ब्रह्म समाय ॥११॥

अनल पक्षी का अंडा फूट कर जब बच्चा[2] निकलता[1] है, तब ऊंचे आकाश में ही जाता है। वैसे ही ज्ञान उत्पन्न होने रूप मुक्ति से अज्ञान को नष्ट करके आत्मा ब्रह्म में ही समाता है।

जा जिव में यह ऊपजो, साहिब कीजे यादि।
रज्जब रोक्यों क्यों रहै, वसुधा[1] बके सु बादि ॥१२॥

जिस जीव में यह बात उत्पन्न हो गई है कि–निरंतर भगवान् का स्मरण करना चाहिये, वह किसी के रोकने से कैसे रुक सकता है? वह तो रोकने वालों को समझता है कि––ये पृथ्वी[1] के प्राणी व्यर्थ ही बकते हैं।

राम उपाई[1] काम की, अविहड़[2] अविनाशी।
जन रज्जब जिव की उपज, सब तिस[3] की दासी ॥१३॥

राम ने भक्तों की बुद्धि में ज्ञान की उपज मुक्ति रूप कार्य को सिद्ध करने की युक्ति उत्पन्न[1] की है, जो अविनाशी ब्रह्म से अभेद[2] करती है। ब्रह्मज्ञान से बिना जो भी जीव की उपज हैं, वे सब ब्रह्मज्ञान[3] रूप उपज की दासी हैं।

एक उपजनी इन्द्र में, सकल उपज आधार।
रज्जब उभय पिछानिये, एक एक की लार[1] ॥१४॥

इन्द्र में वर्षा करके अन्न उत्पन्न करके की उपज है, वह सभी उपजों की आधार है। बिना भोजन अन्य सभी उपजों का होना असंभव है। अतः इन दोनों उपजों को भली भांति पहचानना चाहिये। एक अर्थात् अन्य सब प्राणियों की उपज एक इन्द्र की उपज के पीछे[1] है।

एक धरे[1] की उपजणी, लीये प्राणि अनेक।
रज्जब उलटा[2] एक सौं, इहि[3] उपजणि कोइ एक ॥१५॥

एक तो मायिक[1] संसार संबन्धी उपज होती है, उससे युक्त तो अनेक प्राणी होते हैं किन्तु दूसरी संसार से अपनी वृत्ति को बदल[2] कर एक अद्वैत ब्रह्म से लगाने की उपज है, सो इस[3] संसार में कोई एक अर्थात् किसी विरले व्यक्ति में ही होती है।

बुरी ऊपज्यों बूड़ि[1] है, भली ऊपज्यों भाग[2]।
रज्जब इक[3] आनन्दमय, दूजी[4] दिल दुख दाग[5] ॥१६॥

बुरी उपज होती है तब तो संसार-सागर में डूबता[1] है और ब्रह्म संबन्धी अच्छी उपज होती है तब भाग्य[2] खुल जाता है। ब्रह्म[3] संबन्धी उपज आनन्द रूप होती है और बुरी[4] उपज हृदय को दुःख से जलाती[5] रहती है।

एक उपज उज्वल करै, एक उपज मल[1] मूल[2] ।
जन रज्जब उपजी उभय, उपजी देखि न भूल[3] ।।१७।।

एक अर्थात् अच्छी उपज तो प्राणी को पवित्र बनाती है और एक अर्थात् बुरी उपज पाप[1] का कारण[2] होती है । दोनों ही बुद्धि से उत्पन्न हुई हैं । अत: बुद्धि की उपज को देखकर के ही गलती[3] मत कर, भली-बुरी उपज का विचार करके भली के अनुसार ही व्यवहार कर ।

रज्जब उपजी सौं निपजी सही, कृषि[1] करणी[2] दत[3] माल ।
उपजी आशा बंध है, निपज्यों सकल सुकाल ।।१८।।

उपज से निपजना श्रेष्ठ होता है । खेती[1] का उगना तो उपजना है और पक कर माल घर आना निपजना है । खेती उगती है तब तो आशा ही बँधती है कि–अच्छी होगी, किन्तु पक कर माल घर पर आता है तब सब के लिये सुकाल हो जाता है । वैसे ही कर्तव्य[2] कर्म और दान[3] किया जाता है तब आशा ही बँधती है कि–इनका फल मुझे मिलेगा और फल मिलता है तब आनन्द होता है ।

अनुभव मेहँदी खेत खित[1], उपजत विषम[2] उपाय ।
पै रज्जब उपज्यों पिछै, वेगावेगि[3] न जाय ।।१९।।

अनुभव पृथ्वी[1] में मेहँदी के खेत के समान है । मेहँदी का खेत लगता तो कठिन[2] उपाय करने से है किन्तु लग जाने के पीछे जल्दी[3] नष्ट नहीं होता । वैसे ही अनुभव भी होता तो कठिन साधन करना रूप परिश्रम से है किन्तु होने के पीछे नष्ट नहीं होता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित उपजणि का अंग १६६
समाप्त: । सा० ५११२ ।।

अथ गुप्त पाप का अङ्ग १६७

इस अंग में गुप्त पाप संबन्धी विचार कर रहे हैं—

मन में विषिया बिलसिये, पानी में पेशाब ।
रज्जब जाणें जगत गुरु, जगत न बूझै[1] ज्वाब[2] ।।१।।

मन में जो विषय–भोग किये जाते हैं, वे कटि पयर्न्त जल में खड़े रहकर पेशाब करने के समान हैं । जैसे उक्त प्रकार जल में पेशाब करने का उत्तर[2] कोई नहीं पूछता[1] कि–तूने जल में पेशाब क्यों किया ? वैसे ही जगत् के प्राणी तो मन में विषय-भोग का उत्तर नहीं पूछते किन्तु जगत् गुरु प्रभु तो जानते हैं, वे तो अनुचित का दंड अवश्य देंगे ही ।

मन चोरी चिन्ता सजा, गात गुनह तन मार ।
रज्जब रचना राम की, नर शिर नीति विचार ॥२॥

मन में चोरी का संकल्प करना ही मन की चोरी है और उसका दंड मन में चिंता होना है । शरीर से होने वाले पाप का दंड शरीर पर मार पड़ना है । इस राम की रचना रूप संसार में मनुष्य के शिर पर ही नीति का विचार रहता है । अन्य प्राणी तो मनुष्य शरीर में किये हुये कर्मों के फल ही भोगते हैं ।

गुप्त पाप गुप्त हि सजा, मार होय मन मांहि ।
रज्जब समझैं समझणा[1], सो शठ समझैं नांहि ॥३॥

गुप्त पाप का दंड गुप्त ही होता है । मन में ही चिंता रूप मार पड़ती है । इस बात को समझने[1] वाले ही समझते हैं, जो मूर्ख हैं वे नहीं समझते ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुप्त पाप का अंग १६७
समाप्तः ॥ सा० ५११५ ॥

अथ लोक लज्जा का अंग १६८

इस अंग में लोक लज्जा संबंधी विचार कर रहे हैं—

निगुरा नाकी को मरै, मत नाकी[1] घट जाय ।
रज्जब नर कुंजर किये, नाक बधी लग पाय ॥१॥

जिस को गुरु का उपदेश नहीं प्राप्त होता है, ऐसा नर ही लोक लाज रूप नाक के लिये परिश्रम करता है कि–किसी प्रकार मेरी लज्जा[1] न घट सके । ऐसे नर को उसकी वह भावना अगले जन्म में हाथी बनाती है जिससे उसकी नाक पैर तक बढ़ जाती है ।

कर्म स्थानिक सब निल्लज, धर्म स्थानिक लाज ।
जन रज्जब यहु जीव गति, क्यों करि सीझे काज ॥२॥

अपने स्वार्थ के काम रूप स्थान में तो लज्जा को त्याग देते हैं अर्थात् अनर्थ करते हैं. और धर्म के कार्य करने के स्थान में लज्जा करते हैं । प्रायः जीवों की यह चेष्टा रहती है, तब मुक्ति रूप कार्य कैसे सिद्ध हो सकता है ।

लोक लाज लोई[1] लिये, शंका सांकल घालि ।
रज्जब तोड़ै प्राणि पग, हरि दिशि सके न चालि ॥३॥

प्राणियों ने लोक लाज रूप कम्बली[४] ओढ़ ली है और शंका रूप सांकल, भावना रूप पैरों में डाल कर हरि की ओर जाने के भावना रूप पैर तोड़ डाले हैं इसलिये हरि की ओर नहीं चल सकते ।

सुख सौं काणे[४] काणि[५] कुल, उघड़े[६] उघड़ी[७] ठौड़[८] ।
जन रज्जब सब जगत का, लज्जा कीया चौड़[९] ॥४॥

कुल की लज्जा[५] के कारण प्राणी सुख से वंचित[४] रहे हैं, फिर भी लज्जा खुलने[७] के स्थान[८] पर निर्लज्ज[६] होना ही पड़ा है । इस लोक लाज ने सब जगत् का नाश[९] कर दिया है ।

रज्जब रीते[४] राखै लोक लज, बहती[५] बूझै[६] नांहि ।
सर्वस्व सौंपे सगहुं[७] को, अरु उनकी आज्ञा मांहि ॥५॥

लोक लाज प्राणियों को परमार्थ से खाली[४] रखती है अर्थात् परमार्थ नहीं करने देती । वे माया[५] में मस्त होने के कारण इस बात को नहीं समझते[६] और अपना सर्वस्व अपने सम्बन्धियों[७] को सौंप कर उनकी आज्ञा में ही रहते हैं । ईश्वर की आज्ञा मान कर परमार्थ नहीं करते ।

पति[४] राखै परिवार[५] की, परमेश्वर पति[६] खोय ।
रज्जब शठ[७] शंकट पड़े, मुक्ति कहांतें होय ॥६॥

मूर्ख[७] प्राणी परमेश्वर की आज्ञा रूप लाज[६] को खोकर कुटुम्ब[५] की लज्जा[४] रखते हैं । इसी से दुःखों में पड़ते हैं । उनकी मुक्ति कहां से होगी ? अर्थात् नहीं हो सकेगी ।

लोक लाज शूरा सती, लोक लाज दत[४] शीश ।
जन रज्जब रोटी न दे, नर सु निमित जगदीश ॥७॥

लोक लाज से शूरवीर बनकर रण में मर जाता है । लोक लाज से नारी सती बनकर जल जाती है । लोक लाज से प्राणी प्रसन्नता के साथ शिर का दान[४] कर देता है किन्तु जगदीश्वर के निमित्त एक रोटी भी नहीं देता ।

भरम[४] धर्म करि जो भले, साधू श्रवण न धार ।
रज्जब उज्वल रैनि के, सु दिवस न दीसैं रार ॥८॥

जैसे रात्रि के उज्वल तारे भी दिन में नहीं दीखते, वैसे ही अज्ञानावस्था[४] में लोक लाज से धर्म करके जो भले भासते हैं, उनके वचन को संतों के श्रवण धारण नहीं करते अर्थात् उनको सन्त धार्मिक पुरुषों के वचनों के समान नहीं सुनते ।

कुल पीहर कुल सासरो, गुरु कीया कुलवंत ।
रज्जब अकुल न उर बस्या, अकुल हि शोध्या संत ॥९॥

सांसारिक प्राणी लोक लाज से पितृकुल और श्वशुरकुल में ही रहते हैं तथा गुरु भी कुल वाले को अर्थात् गृहस्थ को ही बनाते हैं। इनके मन में परिवार रहित शुद्ध ब्रह्म कभी भी नहीं बस पाता। परिवार रहित शुद्ध ब्रह्म की खोज तो लोक लाज को त्यागने वाले सन्त ही विचार द्वारा करते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित लोक लाज का अंग १६८ समाप्तः ॥ सा० ५१२४ ॥

अथ मनमुखी का अंग १६९

इस अंग में मन की इच्छानुसार चलने वाले का विचार कर रहे हैं–

अपनी अपनी खुशी[४] में, चलै सबै कोइ चाल ।
जन रज्जब ज्यों हरि खुशी, त्यों कोइ सके न झाल[५] ॥१॥

सभी मनमुखी अपनी २ इच्छा[४] के अनुसार चाल चलते हैं अर्थात् व्यवहार करते हैं। जैसी हरि की इच्छा है वैसे व्यवहार की लहर[५] में कोई भी मनमुखी नहीं चलता।

मन माने सौदा करै, मन नाहीं तो नांहि ।
रज्जब मानैं राम जी, सो कुछ नाहीं मांहि ॥२॥

जो अपने मन को अच्छा लगता है, वही व्यापार मनमुख प्राणी करता है। जिसको मन अच्छा नहीं मानता, उसे नहीं करता। रामजी जिसको अच्छा मानते हैं, उसके करने की भावना तो मनमुखी में कुछ भी नहीं होती।

षट् दर्शन[४] अपणी खुशी,[५] खेलै सब संसार ।
जन रज्जब रुचि[६] राम की, बिरला खेलणहार ॥३॥

जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी और शेष, यह षट् प्रकार के भेष[४] धारी तथा सभी सांसारिक प्राणी अपनी २ इच्छा[५] के अनुसार ही व्यवहार करना रूप खेल खेलते हैं। राम की इच्छा[६] के अनुसार व्यवहार करना रूप खेल तो कोई बिरला संत ही खेलता है।

मन की भावड़ि[१] सब चलै, चौरासी लख जीव ।
तो रज्जब इस चाल में, कहो किन[२] पाया पीव[३] ॥४॥

चौरासी लाख योनियों के सभी जीव मन की इच्छा[1] के अनुसार चलते हैं। तब तुम ही कहो, इस मन की इच्छा के अनुसार चाल में अर्थात् व्यवहार में स्थित रहकर किस[2] ने प्रभु[3] को प्राप्त किया है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मनमुखी का अंग १६९
समाप्तः ॥ सा० ५१२८ ॥

अथ मेवासी का अंग १७०

इस अंग में मन रूप गढपति के विषय-राग का परिचय दे रहे हैं—

मेवासा[1] भागै नहीं, सेवा भांति सहंस[2]।
जन रज्जब जिव जब लगै, सौंपे नहिं सर्वस[3] ॥१॥

प्रबल[1] डाकू की चाहे सहस्र[2] प्रकार की सेवा करे किंतु जब तक मनुष्य उसे अपना सर्वस्व[3] नहीं सौंपता तब तक वह नहीं भागता। वैसे ही हजारों प्रकार की सेवा पूजा करें किन्तु प्रबल मन तब तक विषयाशक्ति रूप घर को नहीं त्यागता जब तक जीव अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पण नहीं करता।

दुर्मति दुर्ग[1] न ऊतरै, तजै न बैग्रट[2] वन्न[3]।
मेवासा[4] मेटै नहीं, मरण कबूलै[5] मन्न[6] ॥२॥

जैसे प्रबल गढपति डाकू किले[1] से नहीं उतरते और बाहर हों तो अपनी रक्षा के लिये पर्वतादि वन[3] का त्याग नहीं करते, मरण स्वीकार[5] कर लेते हैं किंतु अपनी प्रबलता[4] नहीं मिटाते। वैसे ही मन[6] दुर्बुद्धि रूप किले से नीचे नहीं उतरता अर्थात् दुर्बुद्धि का त्याग नहीं करता और विग्रह[2] रूप वन को नहीं छोड़ता। मरण स्वीकार[5] कर लेता है किंतु अपनी चंचलता रूप प्रबलता नहीं त्यागता।

मन मेवासा[1] देही दास, सेवक स्वामी गत[2] विश्वास।
बाहर रूपा[3] भीतर लोह, नर नाणें[4] बंधै नहिं मोह ॥३॥

मन प्रबल गढपति[1] है, इन्द्रियादि शरीर उसका दास है। मन रूप स्वामी और इन्द्रियादि शरीर रूप दास दोनों ही प्रभु के विश्वास को खोकर[2] विषय रूप धन लूटते फिरते हैं। जैसे बाहर तो चाँदी[3] हो और भीतर लोहा हो, ऐसा रुपया[4] और उक्त प्रकार के मन इन्द्रियादि के विषय समान हैं। इनके मोह में नर को न बंधना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मेवासा का अंग १७०
समाप्तः ॥सा० ५१३१॥

अथ दुर्जन का अंग १७१

इस अंग में दुर्जन संबन्धी विचार कर रहे हैं—

दुर्जन[1] दिल दर्पण सही,[2] नहीं दिखावै मांहि ।
रज्जब मैला देख तौं, पल[3] इत उत सो नांहि ॥१॥

दुष्ट[1] का हृदय ठीक[2] दर्पण के समान होता है । जैसे दर्पण दूसरों के दोष दिखाता है, अपनी पीठ पर लगे मैल को नहीं दिखाता किंतु देखने से पीछे मैल मिलेगा । वैसे ही दुष्ट अपने दोष छिपाता है और दूसरों के कहता है किन्तु स्वयं मलीन हृदय होता है । वह क्षण[3] भर भी दुष्टता से इधर-उधर नहीं होता ।

मुखपर[1] मीठा बोलणा,[2] पस[3] गीवत[4] पर[5] पिष्टि[6] ।
रज्जब दुर्जन दोजखी,[7] दई[8] न दिखाई दृष्टि[9] ॥२॥

दुष्ट सन्मुख[1] तो मधुर बोलता[2] है परन्तु[5] पीठ[6] पीछे[3] दुष्टता[4] करता है अर्थात् निन्दा करता है । वास्तव में दुष्ट नारकी[7] होता है । ईश्वर[8] उसे हमारी आँखों[9] के आगे न दिखावें ।

रज्जब सर्प सिंह अजरी[1] कमंध, जीवत मूवौं[2] मार ।
कंट केश जीमण सु जुध, दुर्जन दैत्य विचार ॥३॥

सर्प, सिंह, मक्खी[1] और कमंध मरने[2] पर भी जीवितों को मारते हैं । मरे हुये सर्प की हड्डी का कांटा, मरे हुये सिंह के केश, मरी हुई मक्खी खाने से मारते हैं वा व्यथित करते हैं । कमध भी शिर कट जाने से मरा हुआ ही है किन्तु युद्ध में सामने आने वालों को मारता है । विचार करने पर वैसा ही दुर्जन है, वह भी मरता है तब दैत्य होकर मारता है ।

रज्जब करगस[1] रूप है, दुर्जन को औलादि[2] ।
पंखौं पूतों[3] रह गई, आदत[4] बड हुं सु आदि[5] ॥४॥

दुर्जन की संतान[2] उल्लू[1] रूप होती है । काक के पंखों से युक्त बाणों के तूणीर में एक भी उल्लू की पंखवाला बाण रख दिया जाय तो तूणीर के सब बाणों की पंखें बेकार हो जाती हैं । उल्लू की काकों से नहीं बनती, वही स्वभाव[4] उल्लू के पंखों में रह जाता है । वैसे ही दुर्जन का स्वभाव उसके पुत्रों[3] में रह जाता है. वे भी दुर्जन के समान ही अन्यों को दुःख देते रहते हैं ? इस प्रकार दुर्जनों की संतानों में अपने से पूर्व[5] के अपने बड़ों का स्वभाव रह जाता है ।

सज्जन समै[1] समान हैं, आवत करैं निहाल[2]।
दुर्जन दुसह[3] दुकाल[4] मय,[5] जब दीसै तब काल ॥५॥

सज्जन सुकाल[1] के समान हैं। सुकाल आता है तब अन्नादि द्वारा सब को प्रसन्न[2] करता है। वैसे ही सज्जन आते हैं तब सब को संतुष्ट ही करते हैं। दुर्जन असह्य[3] दुष्काल[4] रूप[5] है। जब दुष्काल आता है, तब अन्नादि के अभाव से प्राणी काल के वश होते हैं। वैसे ही दुर्जन दिखाई देता है तब भी दुःख ही देता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दुर्जन का अंग १७१ समाप्तः ॥ सा. ५१३६ ॥

अथ खेचर का अंग १७२

इस अंग में कपट आदि से युक्त व्यक्ति का परिचय दे रहे हैं—

उष्ण तेल अरु आरसी, तोजे खर का मांस।
रज्जब सुधरे राख से, त्यों खेचर[1] का गांस[2] ॥१॥

गर्म तेल में राख डालने से वह उफनता रहकर ठीक हो जाता है। दर्पण राख से मांजने पर सुधर जाता है। गधे का मांस राख से अच्छा बन जाता है। उक्त तीनों भस्म से सुधर जाते हैं। वैसे ही कपटी[1] मनुष्य का कपट[2] भी उसके मुख पर राख डालनेसे ही सुधरता है अर्थात् धिक्कार-ने से ही ठीक होता है।

रज्जब आपै ऊंट ने, तोड़ी नीति नकेल।
तेउ[1] नोक नुकते[2] रहैं, कैब[3] कसौटी[4] बेल[5] ॥२॥

ऊंट स्वयं ही अपने नाक में बंधी हुई नकेल की रस्सी को तोड़ दे, तो-भी[1] उस के नाक में काष्ठके टुकड़े[2] की नोक तो रह ही जाती है, जिससे उसके नाक में कितनी[3] ही बार नकेल डाली जाती है। वैसे ही खेचर मनुष्य नीति की मर्यादा को तोड़ देता है, तो-भी[1] उसके दोष[2] तो उसमें बने ही रहते हैं, जिनसे उसके ऊपर कितनी[3] ही बार अर्थात् बारंबार दुःख[4] आते ही रहते है, दुःखों की परम्परा[5] नष्ट नहीं होती।

सुध[4] बुध[5] सीले[6] डरपि तूं, ठग ठंढे[7] सौं भागि।
ज्यों चूने का कांकरा, रज्जब जल मिल आगि[8] ॥३॥

यदि तू शुद्ध[4] बुद्धि[5] और शीतल[6] स्वभाव का है, तो भी शीतल[7] स्वभाव ठग से डरकर दूर ही भाग अर्थात् दूर ही रह। कारण—जैसे चूने का कंकर शीतल होता है किन्तु शीतल जल से मिलते ही, वह अग्नि[8] के समान गर्म हो जाता है। वैसे ही वह ठग भी शुद्ध बुद्धि शीतल स्वभाव मनुष्य से मिल कर पूरी ठगी करता है।

डरिये खोटी खिमा[४] सौं, पर घर घालण[५] हार ।
रज्जब जाहे युद्ध में, किया सर्प संहार ॥४॥

बुरे मनुष्य की कपट पूर्ण क्षमा[४] से भी डरते ही रहना चाहिये । यह कपट की क्षमा वाला कपटी मनुष्य दूसरों के घरों को नष्ट[५] करने वाला ही होता है । जैसे कोई युद्ध में जाता हो और मार्ग में उसे सर्प काट ले, तब वह सर्प युद्ध से तो रोक लेता है किंतु मार भी देता है । वैसे ही खेचर की क्षमा लड़ाई से तो बचा देती है किंतु समय पाकर शीघ्र ही मार भी देती है ।

मुख मोठे जल मुकुर[४] जिमि, पै ज्वाला मय[५] अंग[६] ।
रज्जब कदे न कोजिये, तिन कपट्यों का संग ॥५॥

कपटी मनुष्य मुख से तो आतशी शीशे[४] के पानी के समान प्यारे लगते हैं किंतु जैसे आतशी शीशे के भीतर अग्नि होता है, वैसे ही उनके शरीर[६] में भी अग्नि ज्वाला रूप[५] ही होता है । अतः उन कपटी जनों का संग कभी भी नहीं करना चाहिये ।

रज्जब दीसै सो नहीं, अण[४] देखी भरपूरि ।
मुकुर सरभरी[५] मानवी[६], तिन तैं रहिये दूरि ॥६॥

जैसे आतशी शीशे में दीखता तो पानी है और भीतर होता है अग्नि । वैसे जिन मनुष्यों के वचनादि में मधुरतादि गुण दीखते हैं, वे भीतर नहीं हैं और जो नहीं[४] दीखते वे दुर्गुण भीतर भरे हों, उन आतशी शीशे के समान[५] मनुष्यों[६] से सदा दूर ही रहना चाहिये ।

आरीसे[४] के अंभ[५] का, सब को करै बखाण[६] ।
जन रज्जब सो अग्नि मय, विरलों वह्नी[७] जान ॥७॥

आतशी[४] शीशे के पानी[५] की उत्तमता का कथन[६] सभी करते हैं किंतु वह अग्नि रूप है उसकी अग्नि[७] को कोई विरला ही जानता है । वैसे ही कपटी मनुष्य के कपट पूर्ण व्यवहार की सब बडाई करते हैं किन्तु वह कपट रूप ही होता है । उसके कपट को कोई विरले ही जान पाते हैं ।

मुख साधू मन में असध,[४] परिहर[५] कपटी मंत[६] ।
रज्जब देखे द्विपि[७] दरश,[८] दोय मत[९] हु चौदंत ॥८॥

मुख से तो साधु की सी बातें करके साधु बने हुये रहते हैं और मनमें पूरे असाधु[४] बने हुये रहते हैं । ऐसे कपटी जनों के विचार[६] त्याग[५] देने चाहिये । हमने देखा है जैसे हाथी[७] के दाँत दिखाने[८] के तो दो ही होते हैं किंतु भीतर चार और होते हैं । वैसे ही कपटी की सुनाने की बात तो और होती है और भीतर विचार[९] दूसरा होता है ।

दुर्जन दिल दरपण सही,[४] मुख पाणी मधि आगि[५] ।
तिन का संग न कोजिये, भोला भोंदू[६] भागि ॥९॥

दुष्ट निश्चय[४] ही आतशी शीशे के समान होता है। जैसे आतशी शीशे के ऊपर तो उसकी उज्वलता रूप पानी होता है और भीतर अग्नि[५] रहता है। वैसे ही दुर्जन मुख से तो जल के समान शीतल वचन बोलता है और भीतर के विचार अग्नि के समान दूसरों को तपाने वाले रखता है। अतः हे भोले मूर्ख[६] उन दुष्टों का संग नहीं करके उनसे दूर ही भाग अर्थात् दूर ही रह।

मुख मोठे कड़वे कमल, दुरस दिनाई ऐन ।
रज्जब मिल मुख मेलतों, कहु क्या पावै चैन ॥१०॥

दुष्ट ठीक शीघ्र मृत्युकारी दिनाई नामक विष के समान है। जैसे वह विष मुख में तो मीठा लगता है किंतु फिर शीघ्र ही मार देता है। उसे मुख में रख कर कहो कोई क्या सुख पायेगा ? वैसे ही दुष्ट मुख से तो मधुर बातें करता है किंतु हृदय में कड़वा होता है। उससे मिलकर कहो कोई क्या सुख पायेगा ?

ऊपर अमृत बीच विष, देहु दिनाई डारि ।
सो खाये खंमान[१] ह्वै, विरचौ[२] वीर[३] विचारि ॥११॥

ऊपर तो अमृत के समान मधुर वस्तु हो और उसके बीच में दिनाई विष डाल दें तो उसके खाने से मरे[१] ही गा। वैसे ही दुष्ट के मुख में तो अमृत के समान मधुर वचन होते हैं और भीतर बुराई रहती है। उसके संग से तो हानि ही होगी। हे भाई[३] ! यह विचार करके उससे उपराम[२] ही रहना चाहिये।

दुष्ट दिनाई दानि है, मुख मिश्री मे पागि[४] ।
यहु विष अमृत देखिये, भाग्य बली तो भागि ॥१२॥

दुष्ट मुख रूप मिश्री में मिलाकर दिनाई विष को देने वाला है। जैसे दिनाई विष को मिश्री में मिला[४] कर देने से वह अमृत के समान मधुर दीखता है किंतु मार देता है। वैसे ही यह दुष्ट मधुर वचन बोलने से प्रिय लगता है किन्तु अंत में दुःख ही देता है। अतः तेरा भाग्य बली हो तो दुष्ट जनों से दूर ही भाग अर्थात् दूर ही रह।

जीव मरायण[१] बीज सम, जिह्वा छूत[२] समान ।
तिन के ऊपर लीजिये, तजियें उर[३] अस्थान ॥१३॥

जिसका बीज तो मारनेवाला[१] हो और छिलका[२] हितकर हो तब उसके ऊपर का छिलका ही लेना चाहिये। वैसे ही दुष्ट की जिह्वा के

वचन तो प्रिय होते हैं, उनको सुनने से तो कोई हानि नहीं किन्तु उस जीव के हृदय[3] स्थान के विचार त्याग देने चाहिये अर्थात् उसकी बात सत्य नहीं माननी चाहिये, सत्य मानने से ही नाशक होती है ।

अमित[1] अज्ञान[6] उरगनी,[2] जो जातक[3] जणि[4] खाय ।
रज्जब छूटै एक को, जो मोह मरद[5] तज जाय ।।१४।।

जैसे सर्पणी[2] जो भी बच्चे[3] उत्पन्न[4] करती है उन सबको खा जाती है । उससे कोई एक बिरला ही बचता है जो उसकी लकीर से बाहर चला जाता है । (सर्पणी १०१ अंडे देती है और उनके चारों ओर गोल लकीर निकाल देती है, जो मुड़ कर उस लकीर से बाहर निकल जाता है उसे नहीं खाती बाकी सभी को खा जाती है) वैसे ही अपार[1] अज्ञानी[6] पुत्र उत्पन्न होते हैं, उन सबको दुष्टनी माया खा जाती है । जो कोई मोह को जीतने वाले वीर[5] होते हैं, वे माया को त्याग कर घर से चले जाते हैं, उनमें से कोई एक बिरला ही माया से छुट पाता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित खेचर का अंग १७२ समाप्तः ।। सा. ५१५० ।।

अथ क्रोध का अंग १७३

इस अंग में क्रोध संबन्धी विचार कर रहे हैं–

क्रोध काल कहिये सदा, अंतक[1] है अहंकार ।
जन रज्जब जोरै[2] जुलम[3], पाया भेद[4] विचार ।।१।।

क्रोध को सदा काल रूप ही कहा जाता है, अहंकार भी काल[1] रूप ही है । दोनों ही जोर[2] का अर्थात् बडा अन्याय[3] करने वाले हैं । हमने इनका रहस्य[4] विचार द्वारा जान लिया है ।

रज्जब अंतर[1] आतमा, अंतक[2] है अहंकार ।
प्राणी परलै[3] पिशुनता[4], होत न लागै बार[5] ।।२।।

अहंकार आंतर[1] आत्मा के लिये काल[2]रूप ही है । अहंकार से प्राणी में दुष्टता[4] आती है और दुष्टता से नाश[3] होने में कुछ समय[5] नहीं लगता, शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

क्रोधी डरै न कलंक तैं, मारै माता बाप ।
बहिन विहरि[1] बंधू बधै, पिशुन[2] न पेखै[3] पाप ।।३।।

क्रोधी मनुष्य कलंक से नहीं डरता, माता-पिता को भी मार देता है, बहिन को विदीर्ण[1] करता है, बन्धुओं का बध करता है, वह दुष्ट[2] पाप को नहीं देखता[3] ।

गुरु शिष राजा चाकर[1] हु, तामस[2] तन तिन काल ।
रज्जब रीति न रोस में, कहिये क्रोध चण्डाल ॥४॥

गुरु, शिष्य, राजा, नौकर,[1] कोई भी हो, यदि शरीर में क्रोध[2] है तो उनका काल ही है वा क्रोधी शिष्य और क्रोधी नौकर गुरु और राजा के काल हैं वैसे ही क्रोधी गुरु और क्रोधी राजा शिष्य और नौकर के काल हैं। क्रोध के समय गुरु शिष्यादि की रीति-नीति नहीं रहती। इसीलिये क्रोध को चाण्डाल कहते हैं।

क्रोध न माने बोध को, जैसे बीज[1] सु वारि ।
रज्जब देखो घट[2] घटा, उभय सु एक विचारि ॥५॥

जैसे बिजली[1] जल से नहीं बुझती, वैसे ही क्रोध ज्ञान से नहीं मिटता। देखो, जल पूर्ण बादलों की घटा में बिजली चमकती रहती है और ज्ञानी के शरीर[2] में क्रोध चमकता रहता है। अतः ये दोनों एक-से ही विचार में आते हैं।

बडवानल सो वारिनिधि[1], सजल घटा मधि बीज[2] ।
त्यों रज्जब जति[3] जोर[4] है, न करि धकाधकि[5] धीज[6] ॥६॥

जो बडवानल कहलाता है वह अग्नि समुद्र[1] में रहता है और जल-युक्त बादलों की घटा में बिजली[2] रहती है, वैसे ही सन्यासियों[3] में क्रोध का बल[4] रहता है। इस बात से अपने हृदय में भय[5] मतकर, यह बात सत्य ही है ऐसा विश्वास[6] कर।

धातु स्थानिक[1] सौं जल निकसै, सो उन्हा[2] अंभ[3] आवे ।
त्यों रज्जब बल बीज रहति[4] में, गात बात सु लखावे ॥७॥

गर्म धातुओं के स्थान[1] से जल निकलता है वह जल[3] गर्म[2] ही आता है। वैसे ही ब्रह्मचर्य[4] युक्त संन्यासियों के शरीर में भी क्रोध का बल बीज रूप से रहता है और वह उनकी बातों से दिखाई देता है।

जीवत मृतक[1] मसाण विधि, मूवों मानसी[2] रोस[3] ।
रज्जब क्रोध न बोध कोइ, भूत देव करैं दोस ॥८॥

जैसे मरकर श्मशान मे पहुंचे हुये प्राणी भी भूत तथा देवता होकर दोष रूप रोस करते हैं। वैसे ही जीवित ही मुरदे के समान रहने वाले जीवन्मुक्त[1] पुरुषों में भी मानस[2] क्रोध[3] रहता है। क्रोधी के कोई प्रकार भी ज्ञान नहीं लगता।

धन्वन्तरि रूप धुनि[1] धारि है, अहि[2] इन्द्री व्यवहार ।
ताखे[3] तामस[4] सौं डरी, वैध विध्वंसनहार ॥९॥

ज्ञान के शब्द[1] धारण करने वाला ज्ञानी धन्वन्तरि रूप है। जैसे धन्वन्तरि वैद्य अपनी औषधियों से सर्पों[2] को जीतता है, वैसे ही ज्ञानी अपने श्रेष्ठ व्यवहार से इन्द्रियों को जीतता है किन्तु धन्वन्तरि वैद्य को भी तक्षक[3] सर्प से डरते रहना चाहिये। वह वैद्यों को भी नष्ट करने वाला है। वैसे ही ज्ञानी को भी क्रोध[2] से डरते रहना चाहिये। वह ज्ञानियों को भी अपने अधीन करने वाला है।

साधु शब्द स्रक्[1] काठ, सो शीतल ताप हि हरै।
परि घसे उभय अंग[2] पाठ, जन रज्जब तेऊ[3] जरै ।।१०।।

चंदन[1] का काष्ठ शीलत होता है और दूसरे की जलन हर लेता है किन्तु दो चन्दन काष्ठों को निरंतर घिसा जाय तो वे भी गर्म हो जाते हैं। वैमे ही जो संतों के शब्द होते हैं, वे भी शांति प्रद होते हैं किन्तु दो शरीरों[2] के द्वारा उनका विवाद रूप से पाठ होता है तब उन[3] दोनों शरीरों में क्रोधाग्नि जलने लगता है।

मान महंतन में रहै, क्रोध कलंकी नेम।
ज्यों पारस पावक बसे, जा लगि लोहा हेम ।।११।।

जैसे जिस पारस के स्पर्श से लोहा सुवर्ण हो जाता है, उस पारस में भी अग्नि नियम से रहता है। वैसे ही निश्चय मान जिनके सत्सग से जीव ब्रह्म होजाता है उन माननीय महन्तों में भी कलंकी क्रोध नियम पूर्वक रहता है।

रज्जब साधू शेष गति,[1] मणि मुख नाम उचार।
शब्दन महणारंभ[2] करि, बुधि[3] विष हो तन बार[4] ।।१२।।

संत शेष अर्थात् मणिधारी सर्प के समान[1] है। जैसे उस सर्प के मुख में विष नाशक मणि होने पर भी विष उत्पन्न होता रहता है, वैसे ही संत के मुख में भगवान् का नाम रहने पर भी शब्दों का मन्थन[2] रूप शास्त्रार्थ आरम्भ करने पर बुद्धि[3] में क्रोध उत्पन्न होते देर[4] नहीं लगती।

गोष्ठी[1] गोरख दत्त की, जन रज्जब जग जोय।
तिन हुँ चमकि चक्कर चले, तो क्षमा करेगा कोय ।।१३।।

गोरक्षनाथ और दत्तात्रेय जैसे महापुरुषों की वार्तालाप[1] में भी क्रोध द्वारा चमक कर एक दूसरे के विपरीत चक्कर चले हैं तब कहो, क्षमा कौन करेगा ?

अवतार हुं अहंकार की, हुई सबन बिच बात।
रज्जब देखो दशों दिशि, कहु किन छोड़ी घात ।।१४।।

अहंकार पूर्वक क्रोध की बात सब अवतारों के जीवन में भी आई हुई ज्ञात होती है। दश अवतारों की ओर देखो और कहो, किसने मारना तथा अन्यों का अहित करना छोड़ा है।

रावणि[1] मारद्या लक्षमण, लंक दही हनुमंत।
रज्जब उभय अनंग[2] जित, कहिये साधु[3] संत ॥१५॥

लक्ष्मण ने मेघनाद[1] को मारा था और हनुमान ने लंका को जलाया था। दोनों ही संतों द्वारा काम[2] को जीतने वालों में श्रेष्ठ[3] कहे जाते हैं किंतु क्रोध तो उनमें भी था ही। अतः क्रोध जतियों को भी नहीं छोड़ता।

जीवित ज्वाला में रह्या, मुवै मसाणहु आगि।
जन रज्जब अति क्रोध फल, रावण तरुवर लागि ॥१६॥

रावण जीवित तो क्रोध की ज्वाला में रहा अर्थात् मार काट करता रहा और मरने पर भी श्मशान में अग्नि से जलता ही रहता है। प्रतिवर्ष दशहरे को उसे जलाते ही हैं वा ऐसा भी सुनते हैं कि—रावण के श्मशान के स्थान में सदा अग्नि जलता रहता है। रावण रूप वृक्ष के अति क्रोध का यही फल लगा है कि—सदा जलता रहता है।

रज्जब पाके क्रोध की, महिमा सुनो सु कान।
मिल[1] तामस[2] ताखा[3] हुआ, अग्नि अखंडित ठान[4] ॥१७॥

पके हुये क्रोध की महिमा भी अपने कानों से सम्यक् सुनो, पके हुये क्रोध[2] से मिला[1] है अर्थात् धारण किया है, वह प्राणी तक्षक[3] जाति का सर्प हुआ है और सदा विषाग्नि अपने में स्थिर रखता[4] हुआ जलता रहा है।

रज्जब राग रु द्वेष का, सकल सुर हुं मधि खोट[1]।
इन्द्र धनुष धोखे[2] बिना, सुभिक्ष[3] दुर्भिक्ष[4] चोट ॥१८॥

सब देवताओं में भी राग द्वेष का दोष[1] है। देखो, इन्द्रधनुष की पूजा[2] करे बिना सुकाल[3] पर अकाल[4] की चोट लग जाती है अर्थात् इन्द्र की पूजा करे बिना वह अतिवृष्टि करके सुकाल को नष्ट कर देता है।

वायु कुंडाला जलहरि, सुकाल दुकाल[1] हि चोट।
राग द्वेष रवि शशि भरे, नहिं पड़दा नहिं ओट ॥१९॥

सूर्य-चन्द्र में भी राग-द्वेष भरे हैं। देखो, उनके वायु कुंडाला होता है, वह उनके क्रोध का सूचक है, उससे सुकाल पर दुष्काल[1] की चोट लगती है, वर्षा नहीं आती और उनके जलहरि होती है, वह उनकी प्रसन्नता की सूचक होती है। उससे दुष्काल पर चोट लगती है अर्थात्

वर्षा आती है। यह बात प्रत्यक्ष है, नहीं कोई पड़दा है और नहीं कोई ओट है।

वेत्ता[1] बावन[2] के निकट, भोला[3] भूत[4] बबूल।
सोहबति[5] सोंधा[6] होत है, पै[7] गात[8] बात[9] गत[10] शूल ॥२०॥

बावना चन्दन[2] के पास बबूल का वृक्ष उग जाय तब चन्दन की वायु[5] से वह सुगन्धित[6] तो हो जाता है किन्तु उसके वृक्ष की शूलें तो नष्ट[10] नहीं होती। वैसे ही ज्ञानी[1] के पास अज्ञानी[3] प्राणी[4] रहता है तब उसके संग[5] से ज्ञानी तो हो जाता है परन्तु[7] इसके शरीर[8] का क्रोध तो नहीं जाता।

सूखे तरु सोख्यंत[1] नर, अग्नि उदय अहंकार।
रज्जब मथिबा[2] गोष्टि[3] तज, वह्नी[4] बैन[5] निवार[6] ॥२१॥

सूखे अरणि वृक्ष के काष्ठों को घिसने से अग्नि निकल आता है किंतु थोड़ा सा गर्म होते ही घिसना[2] छोड़ दें तो अग्नि[4] नहीं निकलता। वैसे ही दुर्बल[1] नर से वार्तालाप[3] करने से अहंकार द्वारा क्रोध प्रकट हो जाता है, तब उससे बात[5] करना छोड़[6] कर उसका क्रोध शांत करना चाहिये। मौन होने पर उसका क्रोध शाँत हो जायगा।

काया काठ सूखे उठै, गोष्टि[1] मथ तैं आगि।
रज्जब सरसे[2] ज्ञान जल, जलै नहीं सो जागि[3] ॥२२॥

मन्थन करने से सूखे काष्ठ में अग्नि उठ कर उसे जलाता है किन्तु जल से गीले[2] काष्ठ में अग्नि नहीं उठता और वह काष्ठ नहीं जलता। वैसे ही दुर्बल शरीर से विवाद[1] करने पर उसमें क्रोध उठता है किन्तु आत्म ज्ञान से युक्त हो तो उसमें क्रोध नहीं जगता[3] और वह उससे नहीं जलता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित क्रोध का अंग १७३
समाप्तः ॥सा० ५१७२॥

अथ हिंसा दोष का अङ्ग १७४

इस अंग में हिंसा-दोष संबन्धी विचार कर रहे हैं—

तेज तेज को नाखवै,[1] त्रिगुणी[2] में जु विशेष।
उडग[3] अभ्यासै[4] तुंगनी,[5] दिन दीसै नहि देख ॥१॥

एक तेज दूसरे तेज का नाश[1] करता है और वह माया[2] रचित संसार विशेष रूप से भासता है। देखो, रात्रि[5] में तारे[3] चमकते हुये भासते[4] हैं किंतु दिन में तो नहीं दीखते। उनके तेज को सूर्य का तेज नष्ट कर देता है। यह तेज में हिंसा दोष है।

मच्छगलागल मेदिनी,[1] सबला निबल हि खाय ।

रज्जब यहु मंडाण[2] मत, नर देखो निरताय[3] ॥२॥

मच्छ-गलागल अर्थात् जैसे बड़ा मच्छ छोटी मच्छी को अपने गले से निगल जाता है, वैसे ही पृथ्वी[1] में हो रहा है । सबल निबल को खा जाते हैं । हे नर ! विचार[3] करके देखोगे तो इस माया रचित संसार[2] में यही मत मिलेगा ।

द्वै मुख उपजै दोष, लागै एक हि पिंड सौं ।

तिन हुं न सुख संतोष, तो द्वै घट क्यों मिल चलहि ॥३॥

कुरंड पक्षी के एक शरीर में लगे हुये दो मुखों में भी हिंसा दोष उत्पन्न हो जाता है । एक चोंच दूसरे चोंच के आगे चुगती है तब परस्पर दोनों में झगड़ा हो जाता है । दोनों का चुगा हुआ एक ही पेट में जाता है तो भी उन्हें एक दूसरे का दाणा चुगने में सुख संतोष नहीं मिलता । तब दो शरीर कैसे मिल कर चल सकते हैं ।

उभय[1] वक्त्र[2] बिच वैरता, काया एक कुरंड ।

तो रज्जब क्यों मिल चलै, जे दीसै द्वै पिंड ॥४॥

जब कुरंड के एक शरीर के दो[1] मुखों[2] के बीच में भी वैर की भावना आ जाती है तब जो दो शरीर भिन्न भिन्न भासते हैं, वे कैसे मिल कर चल सकते हैं ।

एक पिंड मांही रहै, पंचै[1] पंचों बाट[2] ।

तो रज्जब क्यों होयगा, द्वै घट[3] का इक ठाट[4] ॥५॥

एक शरीर में पंच[1] ज्ञानेन्द्रियाँ रहती हैं, वे पांच विषय रूप पाँच मार्गों[2] में जाती हैं, तब दो भिन्न भिन्न शरीरों[3] का एक ढंग[4] कैसे हो सकता है ?

पय[1] पाणी की प्रीति को, वदन[2] न वरणी जाय ।

पै[3] हेरि[4] हंस हिंसा भरे, मित्र विछोहै आय ॥६॥

दूध[1] और जल की इतनी गाढ़ प्रीति है कि—मुख[2] से वर्णन भी नहीं की जा सकती परन्तु[3] देख[4], हंस भी हिंसा दोष से भरे हुये हैं । दोनों मित्रों का विछोह कर देते हैं अर्थात् जल और दूध को अलग अलग कर देते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित हिंसा दोष का अंग १७४

समाप्तः ॥ सा० ५१७८ ॥

अथ सात्त्विक तामस निदान का अङ्ग १७५

इस अंग में सात्त्विक और तामसता की कारणता का परिचय दे रहे हैं—

मन मोती ज्यों नीपजै, स्वाति शब्द के पोष।
रज्जब उदधि[१] उपाधि में, मन मोती को दोष ॥१॥

जैसे स्वाति नक्षत्र के जल से मोती उत्पन्न होकर पुष्ट होता है और समुद्र[१] जल के स्पर्श से उसमें दोष आजाता है, वैसे ही मन सात्त्विक शब्दों से उत्तम ज्ञान दशा को प्राप्त होकर प्रसन्न होता है और तामस शब्द रूप उपाधि से उसमें दोष आजाते हैं।

दीन दशा दिन कर उदय, चकवै चित्त मिलांहि।
रज्जब रजनी रोसकी, आप आपको जांहि ॥२॥

सूर्य उदय होने पर चकवा चकवी मिल जाते हैं और रात्रि होने पर अलग अलग चले जाते हैं। वैसे ही सात्त्विक गुण नम्रता आने पर तो मनुष्यों के चित्त मिल जाते हैं और तामस गुण क्रोध आने पर मनुष्य अलग अलग चले जाते हैं।

वायु बैन[४] एकै दशा, बहि[५] बोलत द्वै अंग[६]।
एक हि मिलै सु घटाघट, एक हि होय सु भंग[७] ॥३॥

वायु और वचन[४] की एक ही अवस्था है। बाहर[५] की वायु के और बोलने पर वचन के दो भाग[६] हो जाते हैं। जैसे एक प्रकार की वायु से बादल मिल कर घटा बन जाती है और एक प्रकार की वायु से घटा नष्ट[७] हो जाती है, वैसे ही सात्त्विक शब्दों से मनुष्य शरीर मिल जाते हैं और तामस शब्दों से उनका संघठन टूट जाता है।

सात्त्विक रूपी साधु है, तहां राजसी दास।
ज्यों रज्जब रवि ऊपरै, सदा सु शशिहर[१] वास ॥४॥

साधु सात्त्विक रूप हैं और सेवक राजस रूप हैं। जैसे तपाने वाले सूर्य से शांतिप्रद चन्द्रमा[१] सदा ऊपर ही रहता है, वैसे ही दुःखप्रद तामस और राजस लोगों के स्वभाव से सुखप्रद संत का स्वभाव सदा श्रेष्ठ ही रहता है।

तामस रूप मिल्या मन फाटे, सात्त्विक फट मिल जाय।
कांजी छाछ दूध को जैसे, जन रज्जब देखो निरताय[१] ॥५॥

जैसे कांजी से दूध फट जाता है और छाछ से जम जाता है, वैसे ही विचार[१] करके देखो, तामस रूप व्यक्ति के मिलने से तो मन फट जाता है और सात्त्विक व्यक्ति के मिलने से फटा हुआ भी मिल जाता है।

दुख में दोय न ठाहरं, घर सुख शीतल माँहि ।
रज्जब रहैं न ताप तप,[१] मन पारा उड़ि जाँहि ॥६॥

जैसे अग्नि की तप्त[१] से पारा स्थिर नहीं रहता, उड़ जाता है और ताप से मन स्थिर नहीं रहता विक्षिप्त हो जाता है, वैसे ही दु:ख में घर का सुख और हृदय के भीतर की शांति रूप शीतलता ये दोनों नहीं रहते ।

दुष्ट वचन अरु दुणिद[४] तप, मन तन तिन जरि जाँहि ।
रज्जब सु शब्द शरद शशि, सब ठाहर सु सिराँहि[५] ॥७॥

ग्रीष्म ऋतु के सूर्य[४] की ताप में जो बैठते हैं, उनका शरीर धूप से जलता है । वैसे ही दुष्ट के वचन सुनते हैं उनका मन चिन्ता से जलता है और शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी में बैठते है तब उनका शरीर शीतल[५] होता है । वैसे ही जो श्रेष्ठ शब्द सुनते हैं वे सभी स्थानों में शाँत[५] रहते हैं ।

रज्जब कुवचन काल है, सु शब्द सब हुं सुकाल ।
वह अंतक[४] है आतम हुं, वह प्राण हुं प्रतिपाल ॥८॥

कुवचन सभी के लिये दुष्काल रूप है और सुवचन सभी के लिये सुकाल रूप है । वह कुवचन जीवात्मा के लिये यमराज[४] है अर्थात् नाशक है और वह सुवचन प्राणियों का रक्षक है ।

सुख ठाहर आवैं सबै, रज्जब समझो वीर[४] ।
पारा उतरै ठंढि परि, त्यों ही ताकि[५] शरीर ॥९॥

सभी सुख के स्थान पर आते हैं । हे भाई[४] ! यह बात नीचे के दृष्टान्त से समझो । पारा-ठंडी पर ही उतरता है वैसे ही शरीरों को देखो[५], वे भी शाँति के स्थान पर ही आते हैं ।

सूरज शोषैं[४] सृष्टि को, जे माथे हो न मयंक[५] ।
ज्यों ईश शीश शशि राखतौं, तब समिटी[६] विष धंख[७] ॥१०॥

यदि मस्तक पर चन्द्रमा[५] न हो तो सूर्य सृष्टि को सुखा[४] देते । जैसे ईश्वर ने शिर पर चन्द्रमा को रक्खा है तब सूर्य की ताप कम[६] हुई है । वैसे ही ईश्वर को शिर पर रखने से अर्थात् भजन करने से विषय-विष की जलन[७] कम होती है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सात्विक तामस निदान का अंग १७५ समाप्तः ॥ सा० ५१८८ ॥

अथ जरणा का अंग १७६

इस अंग में क्षमा संबंधी विचार कर रहे हैं—

रज्जब साधु अगाध सो, शब्द जरै यूं मांहि ।
ज्यों पावक झल शून्य में, पैठी निकसै नांहि ॥१॥

जैसे अग्नि की ज्वाला आकाश में प्रवेश करके निकलती नहीं है, वैसे ही जो शब्दों को पचा जाता है, वही अगाध बुद्धि का संत है ।

ताते[४] शीले[५] शब्द सब, मिलैं शून्य के मांहि ।
जन रज्जब गंभीर गति,[६] सुखी दुखी सो नांहि ॥२॥

कटु[४] और मधुर[५] सभी शब्द आकाश में समा जाते हैं । वैसे ही वे संत के हृदयाकाश में समा जाते हैं, जो सुवचन से सुखी और कुवचन से दुखी नहीं होता, वही गंभीर चेष्टा[६] वाला संत है ।

साधू श्रवण समुद्र गति,[४] शब्द सु सरिता जांहि ।
जन रज्जब गंभीर गति,[५] सो भरि फूटे नांहि ॥३॥

साधु के श्रवण समुद्र के समान[४] हैं, जैसे अनंत नदियाँ समुद्र में जाती हैं किंतु वह भर कर फूटता नहीं है, वैसे ही अनंत शब्द संत के श्रवणों में जाते हैं किंतु वह गंभीर चेष्टा[५] वाला संत सबको पचा जाता है ।

रज्जब चले न क्रोध बल, रहै क्षमा जहँ साध ।
ज्यों दामिनी[४] दरियाव पड़ि, करसी[५] कौन उपाध[६] ॥४॥

जैसे समुद्र में बिजली[४] पड़कर क्या उपाधि[६] करेगी[५] ? स्वयं ही शीतल हो जायगी । वैसे ही जिस संत में क्षमा है, उस पर क्रोध का बल नहीं चल सकता ।

रोस रंक का क्या चलै, क्रोध तहां कंगाल ।
जन रज्जब जब जीवने, जरणा जोध संभाल ॥५॥

जीव जब क्षमा रूप योद्धा की संभाल रखता है अर्थात् महा बलवान् क्षमा को धारण करता है तब बलरूप धन से रहित रोस का वहां क्या बल चलेगा ? वहां तो क्रोध बल का कंगाल ही सिद्ध होगा ।

रज्जब सबलों[४] सबल है, आकिल[५] अव्वल[६] अतीत[७] ।
अपणा वैरी मार करि, बैठा त्रिभुवन जीत ॥६॥

जो अपने शत्रु क्रोध को मार कर तीनों लोकों को जीत बैठा है, वह क्षमायुक्त संत[७] बलवानों[४] से भी बलवान् है और एक[६] नम्बर का ज्ञानी[५] है।

बुद्धि[१] वारि[२] बहु उर उदधि,[३] तहां बैन हनि[४] ढेम[५]।
रज्जब रज[६] उकटै[७] नहीं, मनसा वाचा नेम[८] ॥७॥

गहरे जल[२] के समुद्र[३] में पत्थर[५] मारने[४] से कीचड़[६] नहीं उठता[७]। वैसे ही जिस हृदय में गहरा ज्ञान[१] है, उसके कटु वचन मारने से वह मन तथा वचन से नहीं उखड़ता,[७] यह नियम[८] ही है।

पाणी पत्थर मारिये, ओछे[४] उपजे कीच।
गहरे गार[५]न ऊकटै,[६] शैल[७] समुद्र द्यो बीच ॥८॥

जल में पत्थर मारने से थोड़े[४] जल में तो कीचड़ उत्पन्न हो जाता है किंतु गहरे जल में कीचड़[५] नहीं उठता[६]। समुद्र के बीच में चाहे पर्वत[७] भी डाल दें तो भी कीचड़ नहीं उठेगा। वैसे ही क्षमाशील गहरे ज्ञान वाले संत को क्रोध नहीं आयेगा।

रोष[४] हि रोष रिसाइण[५] उपजै, काल हि[६] काट कल्याण।
जरणा[७] जड़ी चाबि[८] जगजीवन, रज्जब जान सुजाण ॥९॥

जोश[४] ही जोश में क्रोध[५] उत्पन्न हो जाता है और क्रोध निश्चय[६] ही कल्याण को काटने वाला काल है। अतः हे सुजान ! क्षमा[७] रूप बूंटी को खाकर[८] जग-जीवन प्रभु को जानने का प्रयत्न कर।

जरणा जारै[४] जगत को, क्षमा खलक को खाय।
सात्त्विक सुख दे संगतैं, नर देखो निरताय[५] ॥१०॥

हे नर ! तुम भी विचार[५] करके देखो, जरणा जगत् की सभी बातों को पचा[४] जाती है। क्षमा सभी संसार के आक्षेपों को खा जाती है अर्थात् सहन कर लेती है और साथ रहने से अर्थात् हृदय में रहने से सात्त्विक सुख प्रदान करती है।

वामा[१] विप्र[२] सु व्याध सौं, क्षमा करी खल जानि।
जरणा अति महँगी करी, अवतार हुं उर आनि ॥११॥

नर नारायण का तप भंग करने के लिये इन्द्र ने अप्सरायें[१] भेजी थीं, तब नर नारायण उनसे नहीं डिगे थे और उनके अपराध को क्षमा करके उन्हें उपहार में उर्वशी अप्सरा दी थी, जो नर नारायण की जंघा से उत्पन्न हुई थी। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, इन तीनों देवों में कौन बड़ा है ? इस प्रश्न को हल करने के लिये भृगु ऋषि ने विष्णु की छाती

पर लात मारी थी तब विष्णु ने भृगु ब्राह्मण[२] को क्षमा किया था। यादव विनाश के अनन्तर श्री कृष्ण पीपल वृक्ष के नीचे वाम चरण को दाहिनी जंघा पर धरे हुये बैठे थे, उसी समय जरा नामक व्याध ने उनके चरण में बाण मारा था तब श्रीकृष्ण ने उसे क्षमा किया था। नर, नारायण, विष्णु और श्रीकृष्ण ने अपने को सताने वालों से क्षुब्ध न होकर तथा उनको दुर्जन जान कर क्षमा की थी। अतः अवतारों ने भी क्षमा को हृदय में रखकर महा मूल्यवान् कर दी थी।

सुकृत सरिता सब जरै,[४] सोई साधु समुंद।
जन रज्जब गंभीर गति,[५] उझल[६] न डालो बुंद[७] ।।१२।।

सम्पूर्ण नदियों को पचा[४] जाता है, उमड़[६] कर एक विंदु[७] भी बाहर नहीं डालता वही समुद्र है। वैसे ही जो अपने सम्पूर्ण सुकृतों को पचा जाता है, अपने मुख से एक को भी नहीं कहता वही गंभीर चेष्टा[५] वाला संत है।

गुण इन्द्री जारै[४] अजर,[५] जारैं जगपति दान[६] ।
सो रज्जब गंभीर घट,[७] आतम राम समान ।।१३।।

जो अपच[५] है उन आसुर गुण और इन्द्रियों को पचा[४] जाता है अर्थात् जीत लेता है और जगत्पति प्रभु का दिया[६] हुआ अध्यात्मबल भी पचा जाता है अर्थात् अपनी शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करता, यह गंभीर अन्तःकरण[७] वाला राम के समान ही है।

अजरी[४] जारै[५] एक को, माया मांखी खाय।
जन रज्जब जोधार[६] जन, महिमा कही न जाय ।।१४।।

न पचने वाली मक्खी[४] को कोई बिरला ही पचाता[५] है। वैसे ही माया को कोई बिरला ही पचाता है, उसका अभिमान हो ही जाता है। जो पचा जाता है वही महान् योद्धा[६] है। उसकी महिमा नहीं कही जा सकती।

रज्जब उतरै मंत्र विष, शीत अग्नि सौं जाय।
त्यों पूर[४] हु पातक[५] कटै, फिर लाग हि कहि[६] आय ।।१५।।

जैसे मंत्र से विष उतर जाता है और अग्नि से शीत चला जाता है। वैसे ही पूरे[४] क्षमाशील ज्ञानी के उपदेश से पाप[५] कट जाते हैं तब पुनः कब[६] लगते हैं।

मोर चकोर खात विष वह्नि, पेट पचत पुनि पुष्ट।
तैसे साधु असध गुण ग्रासै, दीन दलत है दुष्ट ।।१६।।

मोर विषधर सर्प को खा जाता है और चकोर अग्नि को खा जाता है। उनके पेट में वे पच जाते हैं और उनका शरीर पुष्ट भी होता है, वैसे ही साधु बुरे गुणों को खा जाता है अर्थात् नष्ट कर देता है और दुष्ट दीन गरीबों को नष्ट भ्रष्ट करता है अर्थात् क्षमा नहीं करके दंड देता है और संत शरीरों को दुःख न देकर उनके बुरे गुणों को सहन कर जाता है यह क्षमा की विशेषता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जरणा का अंग १७६
समाप्त : ॥ सा० ५२०४ ॥

अथ परम जरणा दुष्ट दातार का अंग १७७

इस अंग में परम क्षमा और दुष्टों को भी सुखादि देने वालों का विचार कर रहे हैं—

सहन शील सुकृत लिये, शैल[४] सीप हद हेत[५]।
रज्जब अरि उर वेरही[६], माया मुक्ता देत ॥१॥

जैसे पर्वत[४] और सीप की सहन शीलता हद की है, पर्वत में खानि खोदने पर भी वह माया देता है और सीप को मारने पर भी वह मोती देती है। वैसे ही जो क्षमाशील सुकृत लिये रहते हैं उनका सहन शीलता में हद का स्नेह[५] होता है। शत्रु कटु वचनों से उनका हृदय चीरते[६] हैं, तो भी वे उन्हें शाँति ही देते हैं।

अश्म[४] घालि[५] उर उदधि[६] के, कठिन कसौटी[७] कीन।
रज्जब अवगुण गुण गया, रतन चवदह दीन ॥२॥

समुद्र[६] के हृदय में पर्वत[४] डाल[५] कर कठिन दुःख[७] दिया था किन्तु वह अवगुण गुणरूप में परिणित हो गया था, समुद्र ने पर्वत डालने वालों को चौदह रत्न दिये थे। वैसे ही परम क्षमाशील भी अवगुण का फल गुण देते हैं।

घन सौं पारस फोडतों, लोहा कंचन होत।
वैरी पर अंभू[४] भये, नमों बड़ों का गोत ॥३॥

लोहे के घन से पारस को तोड़ने पर घन का लोहा सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही परम क्षमाशील पुरुष शत्रु को भी वर[४]-देने-वाले हुये हैं। अतः बड़ों का वंश नमस्कार करने योग्य है।

रज्जब रई[४] सु काठ की, दीन्ही दधि मधि आणि।
मारे परि माखण[५] दिया, देखि भलों की बाणि ॥४॥

देखो, भलों का स्वभाव कितना सुन्दर है—काष्ठ की मथानी[४] दही के बीच में डाल कर मन्थन किया है तब मन्थन रूप मार पर भी उसने मारने वाले को मक्खन[५] दिया है वैसे ही परम क्षमा शील पुरुष व्यथित करने वाले को भी शाँति ही देते हैं।

पूरे प्राणि रु पोरसा, परमारथ सब हेत[४]।
रज्जब काटे परि कृपा, बुधि[५] वित[६] बधि[७] बधि देत ॥५॥

पूरे क्षमा-शील प्राणी और पोरसा सबके लिये[४] परमार्थ रूप ही होते हैं। जैसे पोरसा (मनुष्याकार सुवर्ण का पुतला) पूजा करके प्रतिदिन हाथ पैर काटने से धन[६] देता है, वैसे ही पूरे क्षमा शील पुरुष व्यथित करने पर भी कृपा करके प्रतिदिन अधिक[७] अधिक ज्ञान[५] देते हैं।

कुठार करोती शीश शिल, संदल[४] किये सुगंध।
वास लगाई विघ्न परि, देखि बडों का बंध ॥६॥

कुल्हाड़ा, करोती और शिला का टुकड़ा चन्दन पर मारने से चन्दन[४] उन्हें सुगंधित कर देता है। जैसे चन्दन ने दुःख देने पर भी उनके सुगंध लगा दी, वैसे ही देखो, परम क्षमा शील बड़ों की नीति का बंधान कितना सुन्दर हैं जो विघ्न करने वालों को भी सुख शाँति ही देते हैं।

माता मेहँदी पीसतों, कर[४] हर[५] लावै काल।
ऐसे परि कैसी करी, पिशुन[६] पाणि[७] पग लाल ॥७॥

माता जिन हाथों[४] से मेहँदी को तोड़कर[५] लाती है और पीसती है, उन अपने कालरूप हाथों वाली दुष्टा[६] माता के ऐसा करने पर भी मेहँदी ने उसके ऊपर कैसी कृपा करी जो अपने काल रूप उसके हाथ[७] और पैरों को उसकी इच्छानुसार लाल कर दिया।

पापी मारै पाथर[४] हुं, धर्मी तरु फल दान।
रज्जब दुष्ट दयालु का, कहिये[५] कहा[६] बखान ॥८॥

पापी तो पत्थरों[४] से मारता है और धर्मात्मा वृक्ष उसे फल दान करता है। दुष्टों पर दया करने वाले धर्मात्मा पुरुष ऐसे ही होते हैं। उनके यश कथन के विषय में क्या[६] कहैं[५] उनका यश बड़ा ही विचित्र है।

उत्तम उर[४] अवनि[५] सु सम, गुण किसान नहिं लेत।
रज्जब बैरी बीज को, सहस गुणा करि देत ॥९॥

उत्तम पुरुषों के हृदय[४] पृथ्वी[५] के समान होते हैं। जैसे पृथ्वी किसान के फाड़ना रूप गुण को नहीं ग्रहण करती और अपने शत्रु किसान के बीज को हजार गुणा कर देती है वैसे ही दुष्टों पर भी दया करने वाले

परम क्षमाशील पुरुष शत्रु के दोषों को न देख कर उसका भला ही करते हैं।

पूरो पृथ्वी रूप, ऊरो[4] दुख दे ओड ज्यों।

रज्जब खनै[5] सु कूप, नेह नीर अधिक हु बढै ॥१०॥

पूरा क्षमा-शील पुरुष पृथ्वी के समान होता है और अधूरा[4] ओड के समान होता है। जैसे ओड पृथ्वी में कूप खोदता[5] है तब पृथ्वी उसमें अधिक जल बढ़ा देती है, वैसे ही अधूरा प्राणी पूरे पुरुष को दुःख देता है तो भी पूरे पुरुष के हृदय में दुःख दाता के कल्याण संबन्धी स्नेह बढ़ता है।

रज्जब कमंद[4] कपास को, कठिन कसौटी[5] कोड़ि[6]।

दुख दात हु परि सुख स्रव[7] हिं, रहै नहीं मुख मोड़ि ॥११॥

कपास को अनन्त[6] दुःख[5] देकर उसकी फंदेदार-रस्सी[4] बनाई जाती है, फिर भी वह दुःख दाताओं को सुख ही देती है। उनको सुख देने से मुख नहीं मोड़ती। वैसे ही परम क्षमा-शील दुःख देने वालों को भी सुख ही देते[7] हैं। उन्हें सुख देने से मुख मोड़ कर नहीं रहते।

दुष्ट सु दंत समान है, रसना रूपी साध।

अवगुण ऊपर गुण करहिं, रज्जब अकलि अगाध ॥१२॥

दुष्ट दाँतों के समान हैं और संत जिह्वा के समान हैं। दाँत जिह्वा को काट लेते हैं तो भी जिह्वा उनकी जड़ को दृढ़ करती है और विपरीत कुछ नहीं कहती। वैसे ही संत अवगुण का प्रतिकार भी गुण से ही करते हैं।

दुख दाता द्वन्द्व रु दुष्ट है, साधू सुख संजोग।

औषधि आप उठाय[4] करि, रोग हि करै निरोग ॥१३॥

रोग का संयोग दुःख दाता है और औषधि मिलती है तब स्वयं रोग को शरीर से हटा[4] कर निरोग करके सुख देती है। वैसे ही दुष्ट और काम क्रोधादि द्वंद्वों का संयोग दुःख दाता है और साधु का संयोग सुख दाता है।

सब दुख दायों[4] सुख दिया, नहीं अन्न सम आन[5]।

रज्जब रीझ्या[6] देख करि, कहिये[7] कहा[8] बखान ॥१४॥

भूमि में दबाने, कूटने, पीसने, सेकने आदि सभी दुःख दाताओं[4] को अन्न ने सुख दिया है। अतः अन्न के समान अन्य[5] कोई भी नहीं है। अन्न और अन्न के समान परम क्षमाशील दुष्ट को भी सुखादि देने वाले संतों को देखकर हम प्रसन्न[6] हुये हैं। उनके यश कथन के विषय में क्या[8] कहें[7], वे तो अत्यन्त ही महान् हैं।

वक्त्र[४] सु बीथी[५] तन शहर, वाणी वक्त्र सु नीर ।
ज्ञान गंग को मिलत ही, उभय अमल ह्वै वीर[६] ॥१५॥

मुख[४] तो गली[५] है और शरीर शहर है । वाणी मुख रूप गली का जल है । जैसे शहर की गली का गंदा जल गंगा में मिलते ही पवित्र हो जाता है वैसे ही शरीर के मुख की वाणी परम क्षमा-शील संतों के ज्ञान से मिलते ही पवित्र हो जाती है । हे भाई[६] ! इस प्रकार दोनों मल रहित हो जाते हैं ।

वैरागर[४] की खानि सम, विमल प्राणि बुधिवंत[५] ।
कुदाल कसौटी[६] खोदिये नग अंग[७] देहि अनन्त ॥१६॥

बुद्धिवान्[५] पवित्र संत प्राणी हीरे[४] की खानि के समान होते हैं । जैसे हीरे की खानि को कुदाल से खोदते हैं तब वह अनंत नग देती है, वैसे ही संतों को दुःख[६] देने पर भी वे सुंदर शिक्षा द्वारा अनंत शुभ लक्षण[७] देते हैं ।

पारस पिशुन[४] परसत तन पलटै, लगैं लोह के राछ ।
रज्जब जम गुण जन[५] भये, बदले काछ[६] रु वाच[७] ॥१७॥

यदि दूसरों को काटने वाले नाई के उस्तरा आदि राछ भी पारस से छू जाँय तो वे बदल कर सुवर्ण हो जाते हैं । वैसे ही परम क्षमाशील संतों के संग से दुष्ट[४] भी बदल जाते हैं जिनमें मारना रूप यम का गुण था ऐसे अनेक दुष्ट संतों के संग से विषयी से ब्रह्मचारी[६] और असत्य वक्ता से सत्य वक्ता[७] के रूप में बदल कर प्रभु के भक्त[५] हो गये हैं ।

अवगुण ऊपरि गुण करहिं, यही बड़ों की रीति ।
रज्जब जारहिं[४] विषय विष, गये जगत सो जीति ॥१८॥

बड़ों की यही रीति है कि—वे अपराध करने पर भी भलाई ही करते हैं । इस पर भी जो विषय रूप विष को पचा[४] जाते हैं अर्थात् जिन पर विषयों का प्रभाव नहीं पड़ता है वे तो इस जगत् को जीत कर प्रभु के स्वरूप में जा मिले हैं ।

करै भलाई बुरे परि, ता सम और न कोय ।
रज्जब रीझै रामजी, घट[४] घट सुयश सु होय ॥१९॥

जो बुरा करने पर भी भलाई करता है, उसके समान और कोई भी नहीं है । उस पर रामजी भी प्रसन्न होते हैं और प्रत्येक शरीर धारी के अंतःकरण[४] में उसका सुयश छा जाता है ।

परमारथ पीड़ा सहै, भले बुरहुं के मीत ।
रज्जब पर दुख काटहिं, भये विक्रमाजीत ॥२०॥

जो परमार्थ के लिये दुःख सहते हैं, भले और बुरों के मित्र हैं, दूसरों के दुःख को दूर करते हैं वे तो मानो विक्रमादित्य ही प्रकट हुये हैं ।

अति उदार पर दुख दवन[४], साहस[५] शील अपार ।

चतुर अंग[६] रज्जब रचे[७], यहु विक्रम व्यवहार ॥२१॥

विक्रम अति उदार, परदुख नाशक[४], उत्साही[५] और शीलवान् थे । इन चार लक्षणों[६] में अनुरक्त[७] रहते थे । यही विक्रम का व्यवहार था । ऐसा जिसका व्यवहार हो, वह भी विक्रम के समान होता है ।

बुरे बुराई ना तजैं, भले भलाई माँहि ।

प्राणि हुं के पाने[४] पड़ी, सु रज्जब छोड़ हि नाँहि ॥२२॥

बुरे मनुष्य बुराई को नहीं छोड़ते, भले मनुष्य भलाई में रत रहते हैं, वे भलाई को नहीं छोड़ते । बुराई- भलाई दोनों, दोनों प्रकार के प्राणियों के पल्ले[४] पड़ी हैं अतः वे दोनों ही नहीं छोड़ते ।

अमृत मांहीं विष नहीं, विष में अमृत नाँहि ।

रज्जब कसिये कोटि विधि, निकसे सो जो माँहि ॥२३॥

अमृत में विष नहीं होता और विष में अमृत नहीं होता । चाहे कोटि प्रकार कष्ट दो निकलेगा तो वही, जो जिसमें है अर्थात् दुर्जन में दुर्जनता और सुजन में सज्जनता ही मिलेगी ।

सहन शील सुकृत लिये, सांई साधू दोय ।

रज्जब आतम अवगुणी, पारंगत क्यों होय ॥२४॥

प्रभु और संत तो सहनशीलता तथा सुकृत लिये रहते हैं और अवगुणी जीवात्मा अपने अवगुणों में ही रत रहता है, तब वह संसार से पार कैसे हो सकता है ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित परम जरणा दुष्ट दातार का अंग १७७ समाप्तः । सा० ५२२८ ॥

अथ सर्व गुण अर्थी का अङ्ग १७८

इस अंग में सभी गुण काम के हैं यह विचार दिखा रहे हैं—

रज्जब दीन[१] ऊरमी[२] काम की, उपजै[३] अर्थ[४] विवेक[५] ।

ज्यों नीचे ऊंचे कर चलत, डोरी में बल एक ॥१॥

जैसे नीचे और ऊंचे दोनों और हाथ चलते हैं तब डोरी में एक ही बल आता है । वैसे ही विचार[५] द्वारा देखें तो दीनता[१] और अभिमान[२] दोनों ही वस्तु काम की हैं । दोनों से ही प्रयोजन[४] सिद्ध[३] होते हैं ।

रज्जब दुष्ट दीनता काम की, जे हरि मारग होय ।
ज्यों वर्षा बादल मिलें, आँम्हें[1] साँम्हें[2] जोय[3] ॥२॥

देखो[3], जैसे आमने[1]-सामने[2] दो विरोधी बादल मिलते हैं तब वर्षा होती ही है । वैसे ही यदि हरि मार्ग में दुष्टता और दीनता दोनों विरोधी गुण मिल जांय तो भी काम के ही होते हैं अर्थात् संतों से दीनता और मनादि को मारने की दुष्टता मुक्तिरूप कार्य को सिद्ध करने वाली ही होती है ।

रज्जब प्राणि पखावजी, पिंड पखावज साज ।
द्वै दिशि नौ सत मारिये, सो सेवा स्वर काज ॥३॥

प्राणी तो मृदंग बजाने वाला है और शरीर मृदंग नामक बाजा है । जैसे मृदंग के दोनों ओर नौसत अर्थात् सोलह बोल—जिनमें ८ तो दाहिने हाथ से और पांच बायें हाथ से तथा ३ दोनों हाथों से मारे जाते हैं, वे स्वर की सेवा के लिये मारे जाते हैं अर्थात् उनसे स्वर ठीक बांधा जाता है, वे प्राचीन काल के १६ स्वर या अक्षर ये हैं—८ दक्षिण कर से— त[1], द[2], धी[3], थु[4], टे[5], हं[6], न[7], दी[8] । वामकर से पांच—तट[9], ल[10], हा[11], दध[12], ला[13] । दोनों करों से तीन—धा[14], फड़ान[15], धत[16] । वर्तमान में बजाये जाने वाले मृदंग के १६ स्वर और अक्षर ये हैं—दक्षिण कर से आठ—का[1], के[2], दिन[3], दिन[4], टे[5], ना[6], डी[7], ठू[8] । वाम कर से चार-तत[9], थू[10], इ[11], कू[12] । दोनों करों से चार–धा[13], कड़ान[14], धे[15], धेत[16] ।

जैसे उक्त सोलह से स्वर की सेवा होती है, वैसे ही प्राणी दश इन्द्रिय, पाँच प्राण, एक मन इन सोलह को संयम से रखता है या दश इन्द्रिय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, द्वेष इन १६ को मारता है तब प्रभु की सेवा होती है । अतः मन इन्द्रियादि सभी काम के हैं ।

रज्जब जीव जंत्री[1] तन जंत्र[2] है, पंच मोरने लाग ।
उलटे सूधे फेरिये, हरि मेलन को राग ॥४॥

जीव तंदूरा-बजानेवाला[1] है और शरीर तंदूरा[2] है । जैसे तंदूरे पर पाँच तार होते हैं और उनको तेज या मंद करने के लिये उस पर पाँच मोरने होते हैं । राग को मिलाने के लिये उन पाँचों मोरनों को उल्टा-सीधा फेरा जाता है और वे पाँचों ही काम के हैं वैसे ही जीव के शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । हरि से मिलने के लिये उन्हें भी उलटी-सीधी जैसी आवश्यकता हो फेरी जाती हैं । अतः वे सभी काम की हैं ।

रज्जब त्रिगुण चलावैं गींद[4] ज्यों, निज जन[5] नट ...
भामा[1] भूमि परै नहीं, तो रीझै ... ॥५॥

जैसे नट खेल के समय हाथ में गेंद[४] के समान तीन लट्टू चलाता है वे भूमि पर नहीं पड़ें तब तो देखने वाले नर प्रसन्न होते हैं, वैसे ही भगवान् अपने भक्त[४] के हाथ से तीनों गुणों के काम कराते हैं। यदि तीनों गुणों के कार्य करते हुये भी वह नारी[१] पर नहीं पड़े तब भगवान् उस पर प्रसन्न होते हैं।

रोस रहम आवहिं सु काम, जे गुण हुं गालि[४] सुमिरे सु राम।
ज्यों कर द्वै दिशि खैंचे सु कमान, बल एकठ होइ मधि बान ॥६॥

दोनों हाथ धनुष को दोनों ओर खेंचते हैं किंतु दोनों का बल बाण में आकर इकट्ठा हो जाता है। वैसे ही यदि अपने आसुर गुणों को नष्ट[४] करके राम का स्मरण करे तब रोष और दया दोनों ही काम आ जाते हैं। आसुर गुणों को नष्ट करने में रोष और दीनों की सेवा करने में दया काम आ जाती है।

रज्जब राजस उपजै बंदगी[१], सात्त्विक सेवा पोख[२]।
तामस तन मन मारिये, आतम पावहि मोख[३] ॥७॥

रजोगुण से हृदय में सेवा[१] करने की इच्छा उत्पन्न होती है। सतोगुण से उसकी पुष्टि[२] होती है और तमोगुण से तन मन को मारा जाता है। तब जीवात्मा मोक्ष[३] प्राप्त करता है, अतः तीनों ही गुण काम के हैं।

लागी अक्षर[१] के अरथ, लग मात्रा सु अभंग।
तो रज्जब सब काम के, जे गुण निर्गुण संग ॥८॥

जो अक्षर[१] के लग मात्रा लग जाती है वह नष्ट नहीं होती, अक्षर के साथ ही बोली जाती है। वैसे ही जो गुण निर्गुण ब्रह्म[१] की प्राप्ति में सहायक होते हैं वे सभी काम के हैं और परंपरा से सभी सहायक हो जाते हैं जैसे इन्द्रियादि को जीतने के लिये तमोगुण, तमोगुण को जीतने के लिये रजोगुण, रजोगुण को जीतने के लिये सतोगुण काम आता है। ऐसे ही सब काम आ जाते हैं।

अठारह भार अमृत स्रवै, मधुरिख ल्यावहिं शोध।
तैसे शिश्न सुधा भई, रज्जब पैठें बोध ॥९॥

अठारह भार वनस्पति शहदरूप अमृत देती है। उसे मधुमक्खी खोज कर लाती है उससे लोक लाभ उठाते हैं। वैसे ही संत ज्ञान देते हैं। उसे जिज्ञासु की बुद्धि खोज कर ग्रहण करती है तब उसकी शिश्नेन्द्रिय भी अमृत मय बन जाती है अर्थात् काम नष्ट हो जाता है फिर उसके ज्ञान से लोक लाभ उठाते हैं।

रज्जब ज्ञाता[1] गारुड़ी, इन्द्री अहि[2] वश जास।

देखो जग जीवन जड़ी, दुष्ट दशन[3] भये नाश ॥१०॥

सर्प[2] गारुड़ मंत्र जानने वाले गारुड़ी के वश में रहता है। देखो, जो सर्प काल रूप था वही दाँत[3] तोड़ने के पीछे जगत् में जीवन जड़ी रूप हो जाता है। उसका प्रदर्शन करके अपना निर्वाह करते हैं। वैसे ही इन्द्रियाँ ज्ञानी[1] के वश में रहती हैं। उनकी दुष्टता नाश हो जाने के पीछे, वे ही प्रभु प्राप्ति में सहायक होने के कारण जगत् में जीवन जड़ी रूप हो जाती हैं।

रज्जब अहि[1] इन्द्री निर्विष करै, दुष्ट दशन[2] कर भंग।

वेत्ता[3] बादी[4] बालक हु, विघ्न न व्याल[5] हु संग ॥११॥

जो सर्प[1] के दुष्ट दाँतों[2] को तोड़ देता है, उस बाजीगर[4] के बालक को सर्प[5] के संग से कोई विघ्न नहीं होता। वैसे ही जो ज्ञानी[3] इन्द्रियों की दुष्टता को नष्ट कर देता है, तब उसके शिष्यों को इन्द्रियों से कोई विघ्न नहीं होता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सर्व गुण अर्थी का अंग १७८
समाप्तः ॥ सा० ५२३६ ॥

अथ साँख्य योग मत का अंग १७९

इस अंग में साँख्य योग का सार सिद्धान्त बता रहे हैं—

जन रज्जब यहु सांख्य मत; जीव सीव[1] न विभाग[2]।

जैसे माला सूत की, सोइ मणिया सोइ ताग ॥१॥

प्राचीन काल में वेदाँत को भी साँख्य कहते थे। अतः वेदाँत रूप साँख्य का ही सार मत बता रहे हैं। सांख्य योग का यही सार सिद्धान्त है–उसमें जीव ब्रह्म[1] का भेद[2] नहीं है। जैसे सूत की माला होती है। उसमें सूत के ही मणिये होते हैं और सूत का ही धागा होता है। वैसे ही जीव भी चेतन रूप है और ब्रह्म भी चेतन रूप है। दोनों में कोई भेद नहीं है।

सांख्य योग तौहीद में, एकै जाण्या जाय।

ज्यों रज्जब इक टंग अंग[1], दूजा नांहीं पाय ॥२॥

साँख्य योग और मुसलमानों के तौहीद (अभेदवाद) से एक अद्वैतब्रह्म हीं सत्य जानने में आता है। जैसे एक पैर वाले शरीर[1] के दूसरा पैर नही होता वैसे ही अद्वैत ब्रह्म में कोई भेद नहीं होता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साँख्य योग मत का अंग १७६
समाप्तः ॥ सा. ५२४१ ॥

अथ व्यभिचार वरदाई[1] का अंग १८०

इस अंग में बता रहे हैं कि–व्यभिचार भी वरदाता[1] के समान हो जाता है—

गोपी कुबरी शुक्ति विभीषण, देखो द्रौपदी चीर ।
व्यभिचारों इनको बनिआई, त्यों आतमा शरीर ॥१॥

गोपियां कृष्ण में अनुरक्त हुई, कंस की दासी कूबरी ने कृष्ण की सेवा की । यह व्यभिचार उनके लिये वरदाता के समान ही हुआ । सीप ने समुद्र का जल छोड़ कर स्वाति विन्दु ग्रहण की तब उसे मोती मिला । विभीषण ने भाई को छोड़कर राम की शरण ली तब उसे लंका का राज्य मिला । जैसे उक्त सब की बात व्यभिचार से अच्छी ही बनी, वैसे ही जीवात्मा शरीराध्यास को छोड़कर प्रभु का भजन करता है तब वह भी मुक्त हो जाता है ।

शरीर सौंज[1] संसार मिलन की, बाबै[2] दई बनाय ।
जन रज्जब यूं आज्ञा मेटै, जीव ब्रह्म हो जाय ॥२॥

ईश्वर[2] ने शरीर रूप सामग्री[1] संसार में मिलने की बनादी है किंतु उक्त प्रकार प्रभु की आज्ञा को मेट कर अर्थात् संसार में न मिलकर प्रभु का भजन करे तो जीव ब्रह्म हो जाता है ।

पट्टा[1] डाल्या पंच ने, विरचे[2] स्वारथ साह[3] ।
सो चाकर किन राखिये, पतिशाहू पतिशाह ॥३॥

जिसकी पंच ज्ञानेन्द्रियों ने विषय-भोग का अधिकार-पत्र[1] डाल दिया है अर्थात् विषयों से उपराम होकर प्रभु परायण हो गई हैं और जो स्वार्थ रूप साहूकार[3] से विरक्त[2] हो गया है, उस सेवक को बादशाहों के भी बादशाह भगवान् क्यों न रक्खेंगे ? अवश्य अपनायेंगे । पंच विषय और स्वार्थ का त्याग व्यभिचार है किन्तु देखो वरदाता के समान ही कल्याण-प्रद सिद्ध होता है ।

घर वर छाड्या घण[1] दिहां[2], उर्मांहि[3] मीत संभाल[4] ।
हूं बलिहारी सापुरुष[5], अब अपणे घर घाल[6] ॥४॥

हमारी बुद्धि वृत्ति ने घर और शरीर रूप वर का राग बहुत[1] दिनों[2] से छोड़ दिया है और ब्रह्म-विद्या[3] के द्वारा अपने मित्र ब्रह्म के विचार तथा चिंतन[4] में संलग्न है । हे श्रेष्ठ-पुरुष[5] संत ! हम आप की बलिहारी जाते हैं हमारा व्यभिचार सिद्ध हो गया है । अब आप हमें अपने आदि घर ब्रह्म स्वरूप में पहुँचाने[6] की कृपा करें अर्थात् ब्रह्मरूप बना दें ।

विमुख[1] भये संसार तैं, साँचा सांई जानि ।
चरण लगाओ बापजी, कीजे दोय[2] न हानि ॥५॥

हे सत्य स्वरूप परमात्मा ! आपको पहचान कर हम संसार से विरक्त[1] हो गये हैं । बापजी ! अब आप हमें अपने सत्य स्वरूप चरण में लीन कीजिये । आप और हम को भिन्न[2] भिन्न रख कर हमारी महान् हानि न कीजिये ।

रज्जब नारी आतमा, पिंड पुरुष भरतार ।
उधरी[1] माधव[2] मित्र मिल, जबै[3] किया व्यभिचार ॥६॥

आत्म रूप नारी ने जब[3] शरीर रूप भर्त्ता पुरुष को त्याग कर लक्ष्मीपति[2] प्रभु रूप मित्र से मिलना रूप व्यभिचार किया, तभी उसका संसार से उद्धार[1] हुआ है ।

विषय बंदि[1] वसुधा सबै, नर नारी घट[2] दोय ।
रज्जब रजा[3] रजानिकर[4], कोउ इक मुक्ता होय ॥७॥

सभी पृथ्वी के नर-नारी दोनों शरीर[2] ही विषय रूप जेल में बंद[1] हैं । "सृष्टि बढाओ" इस प्रभु की आज्ञा[3] को मिटा[4]-कर कोई एक बिरला ही विषय जेल से मुक्त होता है ।

गोली[1] गात[2] न खाई भाई, बागा[3] वपु पहरा पुनि नाँहि ।
रज्जब रजा[4] रजानी[5] प्रभु की, पंच रात जिये जप माँहि ॥८॥

हे भाई ! जिसने शरीर[2] की रक्षा के लिये औषधि की गुटिका[1] नहीं खाई, विवाह के लिए शरीर पर जामा[3] नहीं पहना और ईश्वर की "सृष्टि बढाओ" इस आज्ञा[4] को मिटा[5] कर हरि नाम जप में तल्लीन रहते हुये जगत् में पंच दिन अर्थात् कुछ दिन जीवन धारण किया वे धन्य हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित व्यभिचार वरदाई का अंग १८०
समाप्तः ॥ सा० ५२४६ ॥

अथ प्रस्ताविक का अंग १८१

इस अंग में यह बता रहे हैं कि–समयानुसार ही सब शोभा देते हैं—

रज्जब समय विष अमी[1], कुसमय अमृत विष्ष[2] ।
यथा मधुरै[3] मक्षिका, मिश्री मरता पिष्ष[4] ॥१॥

समय पर तो विष भी अमृत[1] हो जाता है और कुसमय अमृत भी विष[2] बन जाता है । जैसे मक्खी का जीवन भी मधुर[3] मिश्री है और

देखो[४], मिश्री बनाते समय वही मीठा मृत्यु हो जाता है। चासनी में पड़कर मक्खी मर जाती है।

रज्जब शोभै[१] समय सब, क्षमा क्रोध कहु[२] मौन।
अवसर हाँसी रोवणा, अवसर बैठक गौन[३] ॥२॥

क्षमा के समय क्षमा, क्रोध के समय क्रोध, कथन के समय कथन[२], मौन के समय मौन, हँसने के समय हँसना, रोने के समय रोना, बैठने के समय बैठना, चलने के समय चलना[३], इस प्रकार समय पर सभी शोभा[१] पाते है। असमय नहीं।

दरजी कवि बागा[१] विरुद[२], वपु बणता[३] सु बणाव[४]।
रज्जब घट[५] बध[६] ना करहिं, चिहरा[७] ह्वै न चवाव[८] ॥३॥

जैसे दरजी वस्त्र[१] शरीर पर बैठता[३] हुआ ही बनाता[४] है, अधिक वा कम नहीं बनाता। वैसे ही कवि जिस शरीर को जैसा शोभा देता है वैसा ही यश[२] कथन करता है, कम[५] तथा अधिक[६] नहीं करता। मिथ्या बात कहने वाला निन्दक[८] कवि अच्छा[७] नहीं होता।

तरु नर छाया महरि[१] निज, ये ह्वै सहज स्वभाव।
पै रज्जब फल दल[२] वसन[३], सो लहिये ऋतु पाव[४] ॥४॥

वृक्ष की निजी छाया और नर की निजी दया[१] ये दो तो सहज स्वभाव से ही वृक्ष और नर से प्राप्त हो जाती हैं किंतु जैसे वृक्ष के फल और नवीन पत्ते[२] ये ऋतु आने[४] पर ही प्राप्त होते हैं, वैसे ही मनुष्य से वस्त्र[३] समय पर ही मिलते हैं।

समय समुद्र रत्न दिये, समय सु इन्द्र उदार।
समय शुक्ति मुक्त[१] हु फलै, समय सु भार अठार ॥५॥

समय पर समुद्र ने चौदह रत्न दिये थे। समय पर इन्द्र उदार होकर वर्षा करते हैं। समय पर सीप को मोती[१] रूप फल प्राप्त होता है। समय पर ही अठारह भार वनस्पति फूलती फलती हैं।

नारायण निर्जर[१] सहित, गुरु नराधिपति[२] जोय[७]।
मुकतै[३] रीझे रज्जबा, भृत[४] कृत[५] परि दत[६] होय ॥६॥

देखो,[७] देवताओं[१] के सहित भगवान् नारायण, गुरु, राजा[२], समय पर दास[४] के किंचित्[३] कार्य[५] पर ही प्रसन्न होकर वर दाता[६] हो जाते हैं।

पारवती पूछ्या नहीं, महादेव मुख मौन।
आरति[१] बिन उघड़्या[२] नहीं, आदम[३] अहर[४] सु भौन[५] ॥७॥

पार्वती ने पहले अमर मन्त्र सम्बन्धी प्रश्न किया नहीं। अतः इस विषय में महादेव मुख से मौन ही रहे। व्याकुलता[1] के बिना महादेव[3] का होठ[4] रूप भवन[5] खुला[2] ही नहीं। शुकदेव को प्राप्त होने का समय आया तब अमरनाथ में अमर मन्त्र कहा गया। अतः समय पर ही सब होता है।

रज्जब हँसना रोवना, चुप बोलना विचार।
चारचों नग समय भले, बिन अवसर सु निवार ॥८॥

हँसना, रोना, मौन, बोलना, ये चारों नग विचार पूर्वक समय पर ही अच्छे लगते हैं। बिना समय इनका व्यवहार करना छोड़ दो।

समय मीठा[1] बोलना, समय सु मीठा चुप्प[2]।
उन्हाले[3] छाया भली, ज्यों ब[4] सियाले[5] धुप्प[6] ॥९॥

जैसे ग्रीष्म[3] ऋतु में छाया अच्छी लगती है और शीत[5] ऋतु में धूप[6] अच्छी लगती है, वैसे[4] ही समय पर बोलना प्रिय[1] लगता है और समय पर मौन[2] प्रिय लगता है।

तरुवर सम त्यागी नहीं, त्रिविधि भाँति सो होय।
कब हूं छाया कब हुं फल, कब हूं पतझड़ जोय[1] ॥१०॥

वृक्ष के समान त्यागी कोई नहीं है। वह तीन प्रकार के समय में तीन भांति का त्याग करता है। देखो[1], कभी छाया देता है, कभी फल देता है और कभी पतझड़ द्वारा सब पत्ते दे देता है। अतः उक्त सब काम समय पर ही होते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित प्रस्ताविक का अंग १८१

समाप्तः ॥ सा० ५२५६ ॥

अथ खेल का अंग १८२

इस अंग में संसार रूप खेल का परिचय दे रहे हैं—

रज्जब अरवाह्यों[1] रमण रुचि, जोय[2] जुगल[3] जग मेल।
प्राण[4] पिंड ब्रह्माण्ड मधि, खलक[5] सु खालिक[6] खेल ॥१॥

जगत् के प्राणियों[4] के शरीर में और ब्रह्माण्ड में जीवात्माओं[1] की दो[3] मिलकर रमण की जो[2] रुचि है, वही इस संसार[5] में सृष्टिकर्त्ता प्रभु[6] का खेल है।

खेल हि मेला खलक[1] सौं, खेल हि खालिक[2] मेल।
रज्जब रीझ्या[3] देख करि, विविध भांति का खेल ॥२॥

जगत्[1] के प्राणियों से मिलना भी खेल है और प्रभु[2] से मिलना भी खेल है। अतः नाना प्रकार का खेल देखकर उस खेल रचने वाले प्रभु में हम अनुरक्त[3] हुये हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित खेल का अंग १८२
समाप्तः ॥सा० ५२६१॥

अथ मुर प्रसंगी का अङ्ग १८३

इस अंग में मुर (तीन) प्रसंग एक पद्य में बता रहे हैं—

रज्जब द्वै द्वन्द्वर[1] मिलत, उपजै विघ्न रु वाद।
नर नारी संयोग सुख, वक्ता श्रोतै[2] स्वाद[3] ॥१॥

जब दो झगड़ालु[1] मिलते हैं तब विवाद द्वारा विघ्न उत्पन्न होता है। नर नारी का संयोग होता है तब विषय सुख मिलता है। वक्ता श्रोता[2] मिलते हैं तब हरि कथा का आनन्द[3] मिलता है।

रज्जब राज हुं ऋद्धि[1] बल, सिद्धों के बल सिद्धि।
साधू के बल सांइयाँ, ये ही तेज त्रिविद्धि[2] ॥२॥

राजाओं का बल ऐश्वर्य[1] है। सिद्धों का बल सिद्धि है। संतों का बल परमात्मा है। ये ही तीन-प्रकार[2] का तेज रूप बल है।

रज्जब जत में जोग बस, धर्म दया अस्थान।
नाम ठाम निर्गुण रहै, मन वच कर्म करि मान ॥३॥

ब्रह्मचर्य सब योग का स्थान है, दया सब धर्म का स्थान है। नाम रूप स्थान निर्गुण ब्रह्म का है। यह बात मन वचन कर्म से सत्य ही मानो।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मुर प्रसंगी का अंग १८३
समाप्तः ॥ सा० ५२६४ ॥

अथ चतुर जवाबी का अंग १८४

इस अंग के पद्यों में चतुर पुरुषों के उत्तर तथा चार २ बातें दिखा रहे हैं—

रज्जब धर्म शास्त्र दिल दया, वैद्यक अल्प अहार।
कोक शास्त्र कामिनि कथा, लेखा यहु सुलझार[1] ॥१॥

धर्म शास्त्र में दया मुख्य है। आयुर्वेद में अल्पाहार करने की बात मुख्य है। कोकशास्त्र में नारी कथा मुख्य है। गणित में हिसाब सुलझाना[1] मुख्य है। यह चार उत्तर हैं।

दर्द बिना दरवेश[४] क्या, पीर[५] बिना क्या पीर ।
धर्म बिना धर्मी नहीं, अपढ न बावनवीर[६] ।।२।।

प्रभु की वियोग व्यथा के बिना संत[४] में संतता क्या है ? साधन की पीड़ा के बिना सिद्ध[५] क्या है, धर्म विना धर्मात्मा नहीं होता । शस्त्र कला और युद्ध नीति पढ़े बिना महान्-शूरवीर[६] नहीं होता ।

गुरु गोविन्द साधू शबद, गुण गंजन गुण एक ।
जन रज्जब देखे सुने, पातक कटैं अनेक ।।३।।

गुरु, गोविन्द, संत और इनका शब्द, इन चारों में दुर्गुणों को नष्ट करने वाला एक महान् सद्गुण रहता है । गुरु गोविन्द तथा संतों के दर्शन से और इनके शब्द सुनने से अनेक पाप कटते हैं ।

रज्जब नीति नराधिपति, जतिहिं जत[४] मत[५] जाप ।
पुनि सुकृत सु प्रजा करै, सौ सुख पावहिं आप ।।४।।

राजनीति में निपुण राजा, ब्रह्मचर्य[४] और विचार[५] से युक्त यति, हरि नाम जप में संलग्न भक्त और सुकृत करने वाले प्रजाजन होते हैं, वे अपने कर्मानुसार स्वयं ही सुख प्राप्त करते हैं ।

काया करि सुकृत करै, शब्द सकल सुलझार[४] ।
रज्जब आतम सौं उभय, ब्रह्म तिहुं आधार ।।५।।

जो शरीर से पुण्य कर्म करता है, तथा जो संपूर्ण प्रपंच से संत शब्दों के विचार द्वारा सुलझने[४] का अर्थात् मुक्त होने का यत्न करता है, और जिस जीवात्मा से सुकृत और विचार दोनों होते हैं, उन तीनों ही का आश्रय ब्रह्म है ।

चौरासी आदम[४] बड़ा, अदभू[५] बड़ा सु अन्न ।
धन सु बडा धर्म हिं लगे, उनमनि[६] लागे मन्न[७] ।।६।।

चौरासी लाख योनियों के जीवों में मनुष्य[४] बड़ा है । उद्भिज[५] वृक्षादि में अन्न बड़ा है । धर्म में लगे वह धन बड़ा है । समाधि[६] में लगे वह मन[७] बड़ा है ।

उत्तम आदम[४] देह है, उत्तम संगति साध[५] ।
उत्तम संगति कीजिये, उत्तम हरि आराध[६] ।।७।।

मनुष्य[४] शरीर श्रेष्ठ है । संतों[५] की संगति श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ संग ही करना चाहिये । हरि की उपासना[६] श्रेष्ठ है ।

च्यारि दाग चहुं जुगों में, च्यारि वेद की साखि[४] ।
जारि गाडि परवाह[५] जल, भावै[६] छाया राखि ॥८॥

चारों ही युगों में शव के—अग्नि में जला देना, पृथ्वी में गाड़ देना, नदी जल के प्रवाह[५] में बहा देना और चाहे[६] वृक्ष की छाया में वृक्ष के बाँध देना, ये चार संस्कार रूप दाग हैं। यह चारों ही वेदों की साक्षी[४] है।

सीता कुन्ती द्रौपदी, चौथी गौतम नार[४] ।
तारा लोच[५] मंदोदरी, सती सु ये संसार ॥९॥

सीता, कुन्ती, द्रौपदी, चौथी गौतम की पत्नी[४] अहल्या, बाली की पत्नी तारा, मेघनाद की पत्नी सुलोचना[५], रावण की पत्नी मंदोदरी, ये संसार में सती हैं ऐसा चतुर पुरुष कहते हैं।

जती भ्रष्ट जत[४] के गये, सती[५] सु सुकृत नाश ।
रज्जब राजा नीति गत[६], तीनों जाँय निराश ॥१०॥

ब्रह्मचर्य[४] नष्ट होने से जती भ्रष्ट होता है। पुण्य कर्म न करने से सद्गृहस्थ[५] भ्रष्ट होता है। राजनीति नष्ट[६] होने से राजा भ्रष्ट होता हैं। ये तीनों ही अपनी आशा पूरी किये बिना ही मर जाते हैं।

तन औषधि आकार की, मन औषधि सु शब्द ।
आतम औषधि नाम निज, सीखी साखी पद्द[४] ॥११॥

शरीर के रोगों की औषधि हरड़े आदि आकार वाली होती है। मन को ठीक करने की औषधि संतों के श्रेष्ठ शब्द हैं। जीव-ब्रह्म के वियोग व्यथा को मिटाने वाली औषधि निज नाम (जीव-ब्रह्म के अभेद के बोधक महावाक्य) तथा याद किये हुये साखी और पद[४] अर्थात् जीव-ब्रह्म एक हैं, ऐसी साक्षी देने वाले संतों के पद्य हैं।

ओंकार अविगत[४] नग[५], वपु बीरज[६] वपु होय ।
गुरु शब्द निज ज्ञान है, सत[७] जत[८] निपज हि दोय ॥१२॥

ओंकार के चिन्तन से मन इन्द्रियों का अविषय[४] अचल[५] ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। शरीर के वीर्य[६] से शरीर उत्पन्न होता है। गुरु के शब्दों से गृहस्थ[७] तथा यति[८] दोनों के ही हृदय में निजात्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है।

पिंड प्राणि[१] पालक इसैं[२], नीर नाज निज नांउ[३] ।
ज्ञान गुरु सो[४] गढन[५] को, चतुर्वस्तु बलि जांउ ॥१३॥

जैसे जल और अन्न शरीर के पोषक हैं, ऐसे[२] ही निज नाम[३] और गुरु का ज्ञान जीव[१] को उस[४] ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य बनाने[५] में सहायक हैं। अतः उक्त चारों ही वस्तुओं की हम बलिहारी जाते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित चतुर जवाबी का अंग १८४
समाप्तः ॥ सा. ५२७७ ॥

अथ निन्दा स्तुति का अंग १८५

इस अंग में ईश्वर की निन्दा और स्तुति संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं--

सखो[१] न सांई सारिखा[२], सूम[३] न ऐसा और।
रज्जब देख्या निरति[४] करि, समै[५] सु दुरभिख[६] ठौर[७] ॥१॥

ईश्वर के समान[२] कोई दानी[१] नहीं है, और न ईश्वर के समान कोई कृपण[३] ही है। यह हमने सुभिक्ष[५] और दुर्भिक्ष[६] के समय पृथ्वी स्थल[७] पर विचार[४] करके देखा है।

रवि[१] में[२] रावण मारिये, अण्डों के प्रति पाल।
रज्जब नाहीं राम सा[३], दूजा दुष्ट दयाल ॥२॥

वर्णों में शिरोमणि[१] (ब्राह्मण) रूप[२] रावण को तो मारा और महाभारत के युद्ध में टिटहरी के अंडों की रक्षा की। इससे ज्ञात होता है राम के समान[३] दुष्ट तथा दयालु दूसरा कोई नहीं है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित निन्दा स्तुति का अंग १८५
समाप्तः ॥सा० ५२७९॥

अथ अमर अपराध का अंग १८६

इस अंग में अमर अपराध संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं--

तन तुछ जाता देखिये, रहता मन अपराध।
रज्जब नाहीं काल वश, अघ अरि अमर अगाध ॥१॥

यह तुच्छ शरीर तो नष्ट होता देखा जाता है किन्तु मन का पाप रहता ही है यह काल के आधीन भी नहीं होता। अतः पाप रूप शत्रु अमर और अथाह है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अमर अपराध का अंग १८६
समाप्तः ॥ सा. ५२८० ॥

अथ भोले भाव का अंग १८७

इस अंग में भोले भाव का परिचय दे रहे हैं—

भोले भाव मिले भगवंत, थाप न उथपै[1] हि साधू संत।
अश्म[2] हि सेवैं अविगत[3] हेत[4], टोटी कहत सु रोटी देत ॥१॥

भोले भाव वाले भक्त भगवान् को ही प्राप्त होते हैं। भोले भाव वाले साधू संत भाव का स्थापन करके उसे उखाड़ते[1] नहीं और परब्रह्म[3] के प्रेम[4] से पत्थर[2] की भी सेवा करते हैं। जैसे बालक टोटी-टोटी कहता है तब माता उसके शब्द का विचार न करके भाव को समझ कर उसे रोटी देती है, वैसे ही भगवान् भोले भाव के भक्तों की क्रिया को न देख कर उनके भाव के अनुसार उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं।

शत्रु मित्र का सीर[1] है, भोले भाव सु मांहि।
रज्जब रंचक[2] भेद परि, तीन मिलै त्यों नांहि ॥२॥

भोले भक्त के भाव में शत्रु-मित्र दोनों का ही साझा[1] है। उसमें शत्रु-मित्र भाव न होकर भगवत् भाव ही होता है। यदि किंचित्[2] भी भेद हो तो जैसे उससे शत्रु, मित्र और विरक्त तीनों प्रेम से मिलते हैं, वैसे नहीं मिल सकते।

भोले को भोजन मिलै, जे मुख मेल हि रेत।
डाहे[1] को डगलों[2] गिलत[3], रज्जब राखा[4] देत ॥३॥

यदि भोला मुख में रेता रखता है तो उसे देख कर लोग भोजन देते हैं और चतुर[1] यदि जमी हुई मिट्टी के टुकड़े[2] खाता[3] है, तो उसे उलाहना[4] देते हैं।

भगवत् भोला भाव ले, सेवा सफल सु[1] जाण।
रज्जब बिचके बादि[2] सब, खेचर[3] खोटे प्राण ॥४॥

भगवान् भोले भक्त के भाव को ग्रहण करते हैं। उस की सेवा-भक्ति सम्यक्[1] सफल होती है, ऐसा जानो। बीच के दुर्गुणी[3] बुरे प्राणियों की सब चतुराई व्यर्थ[2] ही है।

चोर पवांरहु ने लिया, वपु बंधण सो खोलि।
मूवा आया मुलक फिर, रज्जब लहणी भोलि ॥५॥

देखो चोर तथा पँवार क्षत्रियों ने भोले भाव से अपने शरीर के बन्धन खुला लिये थे। कोई चोर भोला-सा बन गया था तब उसको

बाँधने वालों ने उसका बन्धन खोल दिया था फिर वह अपने देश को आ गया था। वैसे ही किसी स्थान में पँवार क्षत्रियों की हार हो गई थी तब वे भोले से बनकर मुरदे के समान हो गये थे। इस से शत्रुओं ने उनके बन्धन खोल दिये थे। फिर उन्होंने आक्रमण करके अपना देश ले लिया था। भोले भाव से प्राप्ति ही होती है, हानि नहीं होती। जो-जो भोले भक्त हुये हैं उन्हें प्रभु का साक्षात्कार अवश्य ही हुआ है। अतः भोलापन बुरा नहीं है। उससे अन्तःकरण शुद्ध होता है, भगवान् भी हृदयकी भावना को ही देखते हैं, क्रिया को नहीं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भोले भाव का अंग १८७

समाप्तः ॥ सा० ५२८५ ॥

अथ रतनमाला का अङ्ग १८८

इस अंग में अध्यात्म-रत्न-माला दिखा रहे हैं—

सतयुग साण समान है, ब्रह्म अग्नि ले छाणि[1]।

रज्जब निपजै मिसर[2] मन, हूं हिं सोलहे जाणि ॥१॥

जैसे सतयुग में सोलह अग्नि देकर साफ[1] करते थे तब सुवर्ण[2] सोलहा अर्थात् श्रेष्ठ हो जाता था वा सोलह अग्नि देकर साफ करने पर सतयुगी श्रेष्ठ सोना हो जाता है वैसे ही ब्रह्म ज्ञान रूप अग्नि से मन रूप सोने को तपाया जाय तब श्रेष्ठ हो जाता है ऐसा जानो, फिर उसका संयमता द्वारा मणिया बनावे अर्थात् संयम से रखे और इन्द्रिय रूप रत्नों को वैराग्य रूप साण पर चढाकर मणियाँ बनावे अर्थात् विषय से हटावे।

पवन हु मांही पवन सत, सुमिरण भरचा समीर[1]।

तिहिं[2] चढि[3] आवहि शब्द सत, फरमावै[4] गुरु पीर[5] ॥२॥

जो हरि स्मरण में परिपूर्ण रूप से लगा हुआ प्राण वायु[1] है, वही दश प्रकार के वायु में श्रेष्ठ है। उसी का सच्चा धागा बनाकर, उस[2] में उक्त एक की साखी में कहे हुये रत्न पिरो[3] कर माला बनाओ। फिर इस माला से संख्या करते हुये सत्य ब्रह्म के नाम रूप शब्दों का चिन्तन करो। सिद्ध[5] गुरु ऐसी माला फेरने की ही आज्ञा[4] देते हैं। यही अध्यात्म-रत्न माला है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित रतनमाला का अंग १८८

समाप्तः। सा० ५२८७ ॥

अथ लांबी का अङ्ग १८६

इस अंग में कह रहे हैं कि—हरि भजन से तृप्त नहीं होना चाहिये, दीर्घ भाव रखना चाहिये—

भगवंत भक्ति मांहि सदा, सोई सद्गति साध ।
रज्जब आतम राम लग, सुमिरै अंग अगाध ।।१।।

जो आत्म स्वरूप राम की प्राप्ति तक अगाध ब्रह्म के स्वरूप का स्मरण करते हुये सदा भगवद् भक्ति में लगा रहता है, वही साधु मोक्ष रूप सद्गति को प्राप्त होता है ।

रज्जब आतम राम सौं, सदा सु सेवक भाय[1] ।
मिल्या अमिल मिलता रही, यहु मत[2] मन ठहराय[3] ।।२।।

जैसे हिमालय की नदी समुद्र से मिलकर भी बिना मिली के समान मिलती ही रहती हैं । वैसे ही सदा सेवक भाव[1] रखते हुये आत्म स्वरूप राम से मिला हुआ भी बिना मिले के समान मिलते ही रहना चाहिये । मन को ब्रह्म में स्थिर[3] करने का यही विचार[2] है ।

दई[1] सु देता ना थके, लेता थके न दास ।
रज्जब रस रसिया अमित, जुग जुग पूरे प्यास ।।३।।

परमात्मा[1] तो भक्त को प्रेम-रस देते नहीं थकते और भक्त लेते हुये नहीं थकता । इस प्रकार प्रभु-प्रेम रस के रसिया को प्रति युग में अमित ब्रह्म के प्रेम रस की पूरी प्यास रहती है ।

रज्जब राम रुचै[1] सदा, अंतरि ह्वै न अरूख[2] ।
भगवंत भोजन भावता[3], मेरे भीतर भूख ।।४।।

राम सदा प्रिय[1] लगते हैं, हृदय में राम से अरुचि[2] नहीं होती । मेरे भीतर भूख है । अतः भगवान् रूप भोजन बहुत अच्छा[3] लगता है ।

बेहद[1] भजि बेहद मतै[2], हद का हेत[3] उठाय ।
रज्जब रमियें[4] राम सौं, अतिगति[5] लांबे भाय[6] ।।५।।

असीम[1] ब्रह्म का भजन असीम विचार[2] द्वारा ही करना चाहिये, अर्थात् निरंतर करना चाहिये । ससीम का प्रेम[3] हृदय से हटाकर अत्यधिक[5] दीर्घ[6] भाव[7] द्वारा राम में अनुरक्त[4] होना चाहिये ।

आतम इल[1] आरति[2] अगनि, महर[3] मेघ घिव[4] धार ।
जन रज्जब दोऊ अथक, जुग जुग यज्ञ अपार ।।६।।

जैसे पृथ्वी[1] पर बादल जल वर्षाते हैं। वैसे ही भक्तात्मा रूप वेदी की हरि-वियोग-व्यथा की व्याकुलता[2] रूप अग्नि में प्रभु की दया[3] रूप मेघ प्रेमरूप घृत[4] की धारा वर्षाता है। प्रभु और भक्तात्मा दोनों ही वर्षाते और ग्रहण करते नहीं थकते। अतः यह अपार यज्ञ प्रति युग में होता ही रहता है।

रज्जब उदधि[1] अगाध में, सरिता आतम जांहि।
एकमेक[2] चलती रहैं, डेरे[3] डेरा[4] नांहि ॥७॥

जैसे अपार समुद्र[1] में नदियां जाती हैं और समुद्र में मिलकर[2] भी चलती ही रहती हैं। किसी स्थान[3] विशेष पर पड़ाव[4] नहीं डालतीं। वैसे ही अगाध ब्रह्म में भक्तात्मा जाते हैं और ब्रह्म में मिलकर भी किसी अवस्था विशेष रूप स्थान पर अपना भजन रूप पड़ाव नहीं डालते अर्थात् निरंतर भजन करते ही रहते हैं।

सेवक शितिया[1] ज्योति जल, मिल गिल एक सु होय।
रज्जब अज्जब रूप में, सेवा स्वाद सु दोय ॥८॥

जैसे मिश्री[1] जल में मिल के गलकर एक हो जाती है किन्तु स्वाद से ज्ञात हो जाता है कि-इस जल में मिश्री है। वैसे ही भक्तात्मा अद्भुत ज्योति स्वरूप ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है किन्तु उसकी भक्ति से ज्ञात हो जाता है कि यह भक्त है।

सर्वंगी सांई सहित, रस रूपी रस एक।
रज्जब शोधे पाइये, शक्ति रु स्वाद अनेक ॥९॥

जैसे अनेक वस्तुओं को मिलाकर रस निकालने पर रस का रूप तो एक ही भासता है किन्तु खोज करने पर उसमें अनेक स्वाद मिलते हैं। वैसे ही संपूर्ण लक्षणों से युक्त प्रभु के सहित रस रूप आत्मा रस रूप ब्रह्म में एक हो जाता है किन्तु विचार करने पर उसमें अनेक शक्तियाँ ज्ञात होती हैं। अतः उनके साथ भक्ति भी निरंतर रहती है।

ज्यों द्रष्टा[1] में दृष्टि बहु, बुधि विद्या अरु वेद।
त्यों रज्जब जिव ज्योति में, एकमेक भिन[2] भेद ॥१०॥

जैसे देखने[1]-वाले एक व्यक्ति में बहुत-सी दृष्टि, बुद्धि, विद्या और वेद विचार होते हैं, वैसे ही जीव, ब्रह्म ज्योति में एक होने पर भी उसमें भक्ति आदि भिन्न-भिन्न[2] भेद भासते हैं।

बादल बिजली सलिल[1] समीर[2], निर्गुण सहगुण[3] धरैं शरीर।
शून्य[4] मई[5] सेवा को दूजे, इहि विधि साधू सांई पूजे[6] ॥११॥

बादल, बिजली, जल[1] और वायु[2], ये सूक्ष्म भी होते हैं और स्थूल[3] शरीर भी धारण कर लेते हैं। नेत्र तथा त्वचा से प्रत्यक्ष होने वाली अवस्था ही इन का स्थूल शरीर है। वैसे ही प्रभु के पास पहुंचे हुए पूरे[4] संत निराकर[4] रूप[5] की सेवा के लिए प्रत्यक्ष स्थूल शरीर से दूसरे ही बन जाते हैं अर्थात् सुरति रूप सूक्ष्म शरीर से निराकार की उपासना करते हैं। कहा भी है "सुरति रूप शरीर का पिव के परशे होय।"

हीरे हीरा बेधिये, कै[1] पिंड[2] कै[3] परकाश[4]।
यूं ही मन उनमनि[5] मिले, रज्जब किया विमाश[6] ॥१२॥

हीरे से हीरा बेधा जाता है या[1] तो उसके आकार[2] को बेधो, या[3] उसके प्रकाश[4] को बेधो। जैसे हीरों के आकार से आकार और प्रकाश से प्रकाश मिल जाते हैं, वैसे ही दीर्घ भाव वाले संत का मन समाधि[5] में जाकर समष्टि मन में अर्थात प्रभु के स्वरूप में मिलता है। यह विमर्श[6] (विचार) द्वारा हमने निर्णय कर लिया है।

नाम नाज सुमिरहिं बवहिं[1], थोड़ा बहुत सु होय।
रज्जब साधु किसाण के, भाव न दूजा कोय ॥१३॥

किसान नाज बीजता[1] है तब थोड़ा नाज हो या बहुत हो, दोनों ही अवस्थाओं में उसका नाज बीजने का भाव बदलता नहीं अर्थात् वह नाज बीजने से तृप्त नहीं होता, बीजता ही रहता है वैसे ही संत स्मरण करता है तब कम हो या अधिक हो, वह करने से तृप्त नहीं होता, करता ही रहता है।

मन माया धापै[1] नहीं, क्षुधा सु बधती[2] जाय।
यूं ही रज्जब राम को, भजिये लांबे भाय[3] ॥१४॥

जैसे मन माया से तृप्त[1] नहीं होता, उसकी भूख बढ़ती[2] ही जाती है। वैसे ही लम्बे भाव[3] से राम का भजन करना चाहिये। भजन करने की इच्छा समाप्त नहीं होनी चाहिये।

सरितों समुद्र न धाप ही, इन्द्री तृप्त न काम।
तैसे भूख न भाग ही, रज्जब रटतों राम ॥१५॥

जैसे नदियों से समुद्र नहीं भरता। इन्द्री काम से तृप्त नहीं होती। वैसे ही राम का भजन करते हुये संतों की इच्छा नहीं भरती।

अग्नि न काष्ठों तृप्त हो, लोचन तृप्त न रूप।
तैसे रज्जब राम सौं, रुचि है तत्त्व अनूप ॥१६॥

काष्ठ को जलाने से अग्नि तृप्त नहीं होता। रूप को देखने से नेत्र तृप्त नहीं होते। वैसे ही अनुपम तत्त्व राम के भजन करने में संतों की रुचि रहती है। तृप्ति नहीं होती।

मारू[४] के थल[५] जल पडै, पै[६] पानी प्रकट न भास।
तैसे रज्जब साधु को, राम भजन की प्यास ॥१७॥

मारवाड़[४] के रेतीले स्थान[५] में जल वर्षता है परन्तु[६] प्रकट रूप से भरा हुआ नहीं भासता। भूमि को प्यास ही रहती है। वैसे ही संत में राम भजन की इच्छा बनी रहती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित लांबी का अंग १८९
समाप्तः ॥ सा० ५३०४ ॥

अथ धीरज सहज शांति का अंग १९०

इस अंग में कह रहे हैं कि—धैर्य पूर्वक शनैः २ साधन करने से अंत में प्रभु प्राप्ति रूप शाँति प्राप्त होती है।

शनैः कंथा शनैः पंथा, शनैः शनैः गिरि पर्वता।
शनैः गुरु शनैः चेला, शनैः ज्ञान सु प्राप्तः ॥१॥

शनैः शनैः गुदड़ी तैयार होती है। शनैः शनैः मार्ग कटता है। शनैः शनैः छोटे बड़े पर्वतों पर चढ़ा जाता है। शनैः शनैः गुरु तथा शिष्य के लक्षण आते हैं। और शनैः शनैः साधन द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है।

दादू निबहै[४] त्यों चलै, धीरे धीरज मांहि।
परसेगा[५] पिव[६] एक दिन, दादू थाके नांहि ॥२॥

धैर्य पूर्वक धीरे २ जैसे साधन मार्ग में निभ[४]-सके वैसे चलता रहेगा, थक कर साधन न छोड़ेगा तो एक दिन अवश्य प्रभु[६] को प्राप्त[५] कर लेगा।

दादू सहजैं सहजैं होयगा, जे कछु रचिया राम।
काहे को कलपैं[४] मरै, दुखी होत बेकाम ॥३॥

राम ने जो कुछ तेरा प्रारब्ध बना दिया है, शनैः शनैः वही होगा। फिर व्यर्थ ही क्यों दुःखी होता है और किस लिये बारंबार विलाप[४] करके मरता है। अपनी पहली साखी को प्रमाणित करने के लिये, अपने गुरुदेव की ये दो साखी यहाँ रक्खी हैं।

रज्जब वेगावेग[४] न पाइये, वेत्ता[५] करो विमाश[६]।
श्रावण हू में आव ही, स्वाति सु चौथे मास ॥४॥

हे ज्ञानी[५] जनो! विमर्श[६] (विचार) करो, शीघ्रातिशीघ्र[४] कुछ भी प्राप्त नहीं होता, देखो, वर्षा तो श्रावण में भी बहुत आ जाती है किंतु

स्वाति नक्षत्र तो चौथे आश्विन मास में ही आता है। वैसे ही ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान तो श्रवण से ही हो जाता है किन्तु साक्षात्कार तो शनैः शनैः निदिध्यासन द्वारा तुरीयावस्था में ही होता है।

तीन मास वर्षा विपुल[४], वाणी वन सु प्रकाश[५]।
पै मन मुक्ता जहिं[१] नीपजे, स्वाति सु चौथे मास ॥५॥

आषाढ, श्रावण, भादों इन तीन मास में वर्षा तो बहुत[४] हो जाती है और वन में वृक्षादि भी खूब प्रकट[५] हो जाते हैं किंतु जिसमें[१] मोती उत्पन्न होते हैं, वह स्वाति नक्षत्र तो चौथे आश्विन् मास में ही आता है। वैसे ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन के समय ज्ञान संबन्धी वाणी तो बहुत प्रकट[५] होती हैं किन्तु जहां[१] मन अपरोक्ष ज्ञान दशा को प्राप्त होकर ब्रह्म में लय होता है। वह स्थिति तो तुरीयावस्था में ही आती है।

ब्रह्माण्ड पिंड वर्षा विपुल[४], पै स्वाति नौरतों पिष्टि।
मुक्ता मन फल समहुं[५] के, दुर्भिक्ष[६] न दीसै दृष्टि ॥६॥

ब्रह्माण्ड में वर्षा तो बहुत[४] होती है परन्तु स्वाति नक्षत्र की वर्षा तो नौरतों के पीछे ही होती है। उसके होने पर मोती और समय[५] के फल उत्पन्न होते हैं। उस समय दृष्टि से दुष्काल[६] नहीं दीखता। वैसे ही शरीर में वाणी की वर्षा तो बहुत होती है अर्थात् बहुत सुनता है किन्तु मन को अपरोक्ष ज्ञान रूप फल तो निदिध्यासन के पीछे ही प्राप्त होता है। फिर जीवत्व भाव रूप दुर्भिक्ष दृष्टि में नहीं आता।

नीर निर्मल नभ निर्मला, तृण[४] कण[५] सुधा सु आश।
शशि हूं स्रवै[६] शरद ऋतु, फल पति[७] चौथे मास ॥७॥

वर्षा काल के चौथे मास आश्विन् में ही जल निर्मल होता है। आकाश निर्मल होता है। घास[४], अन्न[५] और चन्द्रामृत के प्राप्त होने की आशा होती है, वह भी आश्विन् में ही पूर्ण होती है। शरद् ऋतु में ही चन्द्रमा सम्यक् अमृत गिराता[६] है। वर्षाती शाखों के फल भी आश्विन् में ही पककर प्राप्त होते हैं। वैसे ही ब्रह्म[७] का साक्षात्कार तुरीयावस्था में होता हैं, तभी परमशांति रूप मुक्ति प्राप्त होती है।

धीरै धर्म सु ऊपजे, धीरै ज्ञान विचार।
धीरै बन्धन सब खुलै, धीरै हरि दीदार ॥८॥

धीरे २ धर्म उत्पन्न होता है। धीरे २ विचार द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है। धीरे २ ही सब बन्धन खुलते हैं। इस प्रकार धीरे २ हरि का दर्शन होकर परमशांति प्राप्त होती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित धीरज सहज शांति का अंग १९०
समाप्तः। सा० ५९१२॥

अथ निक्वारिज नपुंसक का अंग १९१

इस अंग में नपुंसक के समान मन का निकम्मा[१] पन बता रहे हैं—

ब्रह्म व्योम[४] मांहीं रहै, तत्त्व वेता तन तार[५]।
रज्जब गिरचों[६] न गोय[७] परि, कोइ न पावन हार ॥१॥

आकाश[४] में तारा[५] रहता है और गिरने[६] पर पृथ्वी[७] पर भी नहीं आता, उसे प्राप्त करने वाला कोई नहीं है। वह पुनः प्रकाश देने योग्य नहीं रहता। वसे ही तत्त्व वेत्ता का सूक्ष्म शरीर ब्रह्म में अर्थात् ब्रह्म परायण रहता है और गिरने पर पृथ्वी पर नहीं रहता। जैसे आत्मा ब्रह्म में लय होता है, वैसे ही उसका विघटन होकर, जो जिसका कार्य होता है वह अपने कारण में मिल जाता है। अतः उस को प्राप्त करने वाला कोई नहीं है। वह पुनः संसार के काम का नहीं रहता।

रहै न कमला[४] केलि[५] मधि, शब्द सु मिरचों मांहि।
मन कपूर के दोय घर, बिछुटचों लहिये नांहि ॥२॥

कपूर के केला[५] और काली मिरच ये दो ही घर हैं, इनमें ही कपूर रहता है, इनसे अलग होने पर न तो मिलता है और न काम आता है। वैसे ही मन के माया[४] और शब्द ये दो ही घर हैं, इनमें ही मन रहता है। इनसे अलग होने पर नहीं मिलता है और न काम आता है।

उतरै उडग अकाश तैं, करतैं जाय कपूर।
त्यों मन टूटा द्वै दशा, लहिये निकट न दूर ॥३॥

जैसे आकाश से उतरा हुआ तारा और हाथ से उड़ा हुआ कपूर, पास या दूर कहीं भी नहीं मिलता। वैसे ही माया और शब्द इन दोनों स्थितियों से गया हुआ मन समीप या दूर कहीं भी नहीं मिलता।

अमलबेत सु आतमा, सुई सुरति[१] तहँ जांहि।
जन रज्जब सो यूं गल हि, शोधे लहिये नांहि ॥४॥

जैसे अमलबेत में सुई रखने से वह गल जाती है, खोजने पर भी नहीं मिलती, वैसे ही आत्मा में वृत्ति[१] लग जाने से आत्मा रूप ही हो जाती है खोजने पर भी अलग नहीं मिलती।

आतम टूटै राम सौं, जैसे उडग अकाश।
तो तिन की आयुस कहा, केतक बेर उजास ॥५॥

जैसे आकाश से तारा टूटता है तब उसकी आयु क्या रहती है? कितनीक देर उसका प्रकाश रहता है? वह थोड़ी ही देर में अदृश्य हो जाता

है, वैसे ही राम से जीवात्मा टूटता अर्थात् विमुख होता है तब उसका क्या अस्तित्व रहता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं रहता ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित निक्वारिज नपुंसक का अंग १६१ समाप्त : ॥ सा० ५३१७ ॥

अथ खालसे का अंग १६२

इस अंग में उस स्थिति का विचार कर रहे हैं जिस पर किसी अन्य का अधिकार न हो ।

देवल[1] गुमट[2] देह सब, लिखी लिखाई साखि ।
तहां पढ़े पढ़ि सीखली, गुरु क्यों रखै सु राखि[3] ॥१॥

सब देह देवमंदिर[1] के गुंबज[2] के समान हैं । जैसे गुंबज पर दूसरों की लिखाई हुई साखी लिखी देखकर पढे हुये लोग पढकर सीख लेते हैं, वैसे ही कोई किस मनुष्य से और कोई किस मनुष्य से सुनकर साखियाँ सीख कर अपने आप ही ज्ञानी बन जाता है, गुरु के अधिकार में नहीं रहता उसको गुरु अपनी सुरक्षा[3] में कैसे रक्खेंगे ?

अचेत[1] आतमा अवनि गति[2], पड़्या वचन वित[3] लाध ।
रज्जब पाया पारखू[4], किस का करै अराध ॥२॥

अज्ञानी[1] जीवात्मा पृथ्वी में पड़ा धन[3] मिलने वाले मनुष्य के समान[2] है । जैसे वह किसीकी नौकरी नहीं करता, वैसे ही जिस अज्ञानीको पुस्तक में वचन मिल जाते हैं तब वह किसका आराधन करे, वह गुरुकी तथा ईश्वर की आराधना करके उनके अधिकारमें नहीं रहता किन्तु परीक्षक[4] ज्ञानियों द्वारा वह व्यवहार आदि से पाया जाता है अर्थात् उसे ज्ञानी जन जान लेते हैं कि–यह अज्ञानी है ।

अपने अपने रंग में, राते माते प्राण ।
रज्जब को मूरख नहीं, समझे सबै सयाण ॥३॥

सभी प्राणी अपने २ रंग-ढंग में रत्त मत्त हैं, कोई भी मूर्ख नहीं है सभी समझे हुये और चतुर हैं ।

करि कटाक्ष[1] मस्तक धरहिं, सोई होय अनूप ।
बारंबार सु बेणि[2] परि, तो क्यों न होय रस[3] रूप ॥४॥

तिरछी[1]-चितवन से जिसका मस्तक पकड़ती है, उसके लिये वही अनुपम सुन्दरी हो जाती है । जिसका हाथ बारम्बार नारी की चोटी[2] पर जाएगा तब उस पुरुष में काम[3]-क्रीड़ा का रूप क्यों न प्रकट होगा ? और उस पर किस का अधिकार रहेगा ?

दादू दरिया रामा[1] नदी, वह[2] दिशि आय मिलैं बहि[3] बँदी[4] ।
गाजै[5] घोरै जब लग दूरी, मिलत सु मुख बोलैं नहिं मूरी[6] ॥५॥

जैसे समुद्र में दशों[2] दिशाओं से बहती[3] हुई नदियाँ आकर मिलती हैं, वे जब तक समुद्र से दूर रहती हैं तब तक तो घोर गर्जना[5] करती हैं किन्तु समुद्र में मिलती हैं तब कुछ भी ध्वनि नहीं करतीं । वैसे ही दादू जी के पास दर्शनार्थ दशों दिशाओं से सुन्दर नारियाँ[1] आती हैं, वे दूर रहती हैं तब तक तो अपने हावभाव पूर्ण वचनों का व्यवहार करती हैं किन्तु दादू जी के पास आते ही वे नारियाँ[4] किंचित्[6] भी मुख से नहीं बोलतीं । अतः दादूजी पर किसी का भी अधिकार नहीं होता ।

मथुरा में माला खुली, तिलक ऊतरे मंथ[1] ।
रज्जब छूटे रामजन[2], पड़ि दादू के पंथ[3] ॥६॥

एक समय मथुरा के एक मुसलमान शासक ने, यह आज्ञा दी थी कि–"जो माला तिलक रक्खेगा उसे प्राणान्त दंड दिया जायेगा ।" तब वहां के सभी राम-भक्त[2] "माला तिलक बिना ही भजन करना चाहिये ।" इस दादू जी के सिद्धान्त[3] रूप पंथ में आकर ही अर्थात् माला तथा मस्तक[1] से तिलक त्याग कर ही प्राणान्त दण्ड से मुक्त हुये थे । अतः दादू जी का मत शुद्ध है ।

वपु विगंध जो जीवत हुं, मूये क्यों न गंधाय ।
रज्जब देखो दीप दिशि, बुझत न सूंघा जाय ॥७॥

शरीर में जीवित रहते भी दुर्गंध आती है तब मरने पर दुर्गंध कैसे नहीं आयेगी ? दीपक की ओर देखो, जब बुझता है तब उसमें इतनी दुर्गंध आती है कि सूंघा भी नहीं जाता । अतः शरीर में यह खास बात है कि– वह दुर्गंध को नहीं छोड़ता ।

कुम्हार कुम्हारी मातु पितु, खाना[1] मई[2] सु खोड़ि[3] ।
रज्जब बालक बाल वपु, वस्तु सके नहिं जोड़ि[4] ॥८॥

जिसके माता-पिता कुम्हार-कुम्हारी हैं, शरीर[3] खानि[1] की मिट्टी रूप[2] है, उस खिलौना रूप बालक का वह बालक शरीर दीखता तो है किन्तु किसी की आज्ञा से वस्तुओं को एक दूसरी से मिला[4] तो नहीं सकता । उस पर किसी की आज्ञा नहीं चलती ।

स्रक्[1] चंदन सर्पंहु जड़्या[2], मनिख[3] तहां नहिं जाय ।
अहि सु आदम्यों[4] ना बनै[5], पास गये सो खाय ॥६॥

चन्दन की शाखा-माला[1] सर्पों से घिरी[2] रहती है । मनुष्य[3] वहां नहीं जाते । सर्प और मनुष्यों[4] की एकता नहीं होती[5] । पास जाने से वे मनुष्य

को काटते हैं। अतः उनमें काटना खास बात है, वह चंदन पर जाने से भी नहीं छुटती।

भक्त बछल सुरही[१] प्रभु, सुमिरयाँ करहिं संभाल।
गोदा[२] ज्ञान सनेह गत[३], काट हु केशरि[४] काल ॥१०॥

भक्त वत्सल कामधेनु[१] रूप प्रभो! आप स्मरण करने पर अपने भक्तों की संभाल अवश्य करते हैं। यह आपकी खास बात है। अतः मेरे माया[२] संबन्धी ज्ञान और प्रेम को नष्ट करके काल रूप सिंह[४] को काट कर नष्ट करें।

काया कुंभनी[१] निकसहिं, नारू[२] नाग सु और।
एक सु चरि[४] चुग बाहुड़हि[५], एक हु की नहिं ठौर ॥११॥

शरीर में नहरुआ[२] निकलता है और पृथ्वी[१] से सर्प[३] निकलता है। उनमें एक सर्प तो इधर-उधर भ्रमण[४] करते हुये चुगा करके पुनः लौट[५] कर पृथ्वी में प्रवेश करता है और दूसरे नहरुआ को तो कोई स्थान नहीं रहता। वैसे ही एक प्रकार के नर तो संसार में आते जाते हैं और दूसरे ज्ञानी को संसार में स्थान नहीं प्राप्त होता, वह तो ब्रह्म में मिल जाता है, उस पर किसी का भी अधिकार नहीं रहता।

नींद न आव हि ठौर तिहुं[१], विषम बंदगी[२] वैर।
ज्ञानी देखो ज्ञान[३] करि, रज्जब कही न गैर[४] ॥१२॥

विषय, भक्ति[२] और बैर इन तीन[१] स्थितियों में निद्रा नहीं आती है। हे ज्ञानी जनो! बुद्धि[३] द्वारा विचार करके देख सकते हो, मैंने यह ठीक ही बात कही है, विरुद्ध[४] अर्थ देने वाली नहीं कही है।

गुरु नरिंद[१] तैं गत[२] नर जांहीं, तिनका सोच न उपजै मांहीं।
तरुवर पत्र शीश तैं केशा, तुछ तूटों का कौन अंदेशा[३] ॥१३॥

वृक्ष के पत्ते और शिर के केश, इन तुच्छ वस्तु के टूटने में कौन सोच[३] करता है वैसे ही गुरु और नरेन्द्र[१] (राजा) से जो नर नष्ट[२] होते हैं, उनकी चिन्ता मनमें नहीं होती। कारण, वे दोषी होते हैं।

भार सहित भार धर हलका, भार ऊतरयों भारी।
विकट[१] कला[२] विकट[३] गति[४] वपु में, वेत्ता[५] लेहु विचारी ॥१४॥

रक्त माँसादि के भार के सहित होता है तब कुटुम्ब के पोषण का भार शिर पर धर के भी शरीर हलका रहता है और बुढापे में रक्त माँसादि का बोझ उतर कर कृश्य हो जाता है तब शरीर भारी लगने लगता है, उठा भी नहीं जाता। शरीर में युवावस्था की विशाल[१] शक्ति[२]

और बुढ़ापे की भयानक[3] चेष्टा[4] देखी जाती है। सो ज्ञानी[5] जन विचार लें यह शरीर ऐसा है।

एक जानपण[1] चपलता[2], मेटी मत को लीक[3]।
भूख न भासै भर्तृहरि, पाणि[4] लगाई पीक ॥१५॥

एक तो बुद्धिमत्ता[1] अर्थात् लाल का जानना और दूसरी चित्त की चंचलता[2], इन दोनों ने भर्तृहरि के विचार की रेखा[3] को मिटा दिया। भर्तृहरि में धन की इच्छा नहीं भासती, फिर भी हाथ[4] के पीक लगा ही ली। इस साखी में यह कथा है—एक दिन चाँदनी रात में भर्तृहरि एक नगर की सड़क से जा रहे थे। सड़क पर किसी ने पान का पीक डाला था, वह चन्द्र किरण पड़ने से लाल के समान चमक रहा था। उसे देखकर भर्तृहरि ने सोचा, यह लाल पड़ा है अपने तो काम का नहीं है, किसी रथ आदि के नीचे आकर टूट जायगा। अतः उठालें, किसी गरीब को दे देंगे। फिर उस पर हाथ डाला तब हाथ पर पीक लग गया। कहा भी है—"रत्न जटित मंदिर तजे, बहु सखियन का साथ। धृक् मन धोके लाल के पड़ा पीक पर हाथ।"

बालै बूढे एक गति[1], प्रत्यक्ष देखो जोय[2]।
दूज अमावस के निकट, शशि शिशु रूपी होय ॥१६॥

बालक और बूढे की चेष्टा[1] एक-सी ही होती है। उसे तुम प्रत्यक्ष देख[2] सकते हो। देखो, अमावस्या के निकट की दूज को चन्द्रमा बालक होता है और चतुर्दशी को बूढ़ा होता है किन्तु दोनों ही दिन की प्रकाशादि चेष्टा समान होती हैं।

दृष्टि रु मुख मनबुद्धि ह्वै मांहीं, तो लिखत[1] में संचर नांही।
चतुर्वस्तु में विछुटे कोई, रज्जब पाठ शुद्ध नहिं होही ॥१७॥

लेखक की दृष्टि, मुख, मन और बुद्धि, ये चारों यदि लेखनी के स्थान में होंगे तो लेख[1] में अशुद्धि[2] नहीं रहेगी। उक्त चारों वस्तुओं में से कोई एक अलग हो जाय तो लेख का पाठ शुद्ध नहीं होगा। अशुद्धि रह ही जायगी।

पाहुणे की न करी पहुंनाई, घर के भक्ति भूल गये भाई।
तब मेहमान करी मेहमानी, उलटी कला न जाय बखानी ॥१८॥

ज्ञान रूप पाहुना आया तब मन इन्द्रियों ने उसकी पहुनाई नहीं की। विषयों में ही तल्लीन रहे। हे भाई? करते भी कैसे, शरीर रूप पुर के हृदय-घर में रहने वाले मन बुद्धि चित्तादि सभी भगवान् की भक्ति को भूल गये हैं, फिर भक्ति बिना ज्ञान का स्वागत कैसे होता किन्तु ज्ञान रूप

मेहमान ने ही उक्त मनादि के विकारों की निवृत्ति और सद्गुणों की प्राप्ति द्वारा मेहमानी की। इस ज्ञान रूप उलटी कला अर्थात् ब्रह्म की ओर उलटने वाली शक्ति की महिमा इतनी है कि–मुख से कही भी नहीं जा सकती।

अठारह भार छः ऋतु लिये, उदय अस्त व्यवहार।
उन्हालू स्यालू दो दिपैं, ता में फेर न सार ॥१९॥

अठारह भार वनस्पती के लिये छः ऋतु विभाग को धारण करके उदय अस्त का व्यवहार करते हुये ग्रीष्म और शीतकाल में सूर्य-चन्द्र दोनों ही चमकते हैं। अपने उस व्यवहार में परिवर्तन को अवकाश नहीं देते। यह उनमें सार रूप खास बात है।

काया कुंभ जल सौं भरे, ज्ञान तेल भरपूरि[1]।
मारुत[2] बाती शब्द उजाला, अचेत[3] तिमिर[4] ह्वै दूरि ॥२०॥

कुंभ में जल भरा हो, उसे निकाल कर उसमें तेल परिपूर्ण[1] रूप से भर के बत्ती लगा कर जला दे तब घर का अन्धेरा[4] दूर होकर प्रकाश हो जाता है। वैसे ही शरीर विषयासक्ति से भरा है, उसे हटा कर उसमें ज्ञान भर दे और प्राण[2]-संयम करे तब हृदय से ज्ञान मय शब्द प्रकट हो कर अज्ञान[3] दूर करता है।

अग्नि जीवतों जीवते, अग्नि मुवों मरि जाय।
दोन्यों दिपहिं[1] दुणिद[2] शिर, नर देखो निरताय[3] ॥२१॥

पेट की अग्नि और शरीर की गर्मी रूप अग्नि जीवित है तब तक शरीर जीवित रहते हैं। पेट की अग्नि नष्ट हो जाय और शरीर में शीत आ जाय तब शरीर नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही कामाग्नि और चिन्ताग्नि दोनों जीवित हैं, तब तक ही सांसारिक जीवन है। दोनों के नष्ट होने पर तो जीवित मृतक (जीवन्मुक्त) हो जाते हैं और उक्त कामाग्नि-चिन्ताग्नि पर ज्ञान रूप सूर्य[2] प्रकाशित[1] हो जाता है। हे नर ! विचार[3] कर के तुम भी इस स्थिति को देख सकते हो।

देखी समै[4] दुकाल[5] में, साहिब की द्वै दीठि[6]।
रज्जब सन्मुख कौन सौं, कहो काहि दे पीठि ॥२२॥

ईश्वर की दया दृष्टि[6] और क्रूर दृष्टि सुभिक्ष[4] और दुर्भिक्ष[5] में देखी जाती है। सुकाल में ईश्वर किसको पीठ देते हैं ? अर्थात् सभी के लिये अन्नादि उत्पन्न करते हैं और दुष्काल में किसके सन्मुख होते हैं ? अर्थात् किसका अन्न उत्पन्न कर देते हैं ? वे तो सबसे सम ही हैं। उनकी दुष्काल में सब पर क्रूर दृष्टि और सुकाल में सब पर दया दृष्टि ही

भासती है। उन पर किसी का अधिकार नहीं है। अतः उनके व्यवहार में परिवर्तन नहीं होता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित खालसे का अंग १९२
समाप्तः ॥ सा० ५३३९ ॥

अथ पुस्तक नामा का अंग १९३

इस अंग में पूर्व लिखित पुस्तक का नाम और विशेषतायें दिखा रहे हैं—

संदेह सत्र[४] सत्य शास्त्र, आशंका[५] अभिनाश ।
जगत गुरु जग योग मत, परम तत्त्व प्रकाश[७] ॥१॥

इस पुस्तक में–यज्ञ[४], गृह[४], धन[४], संबन्धी संशय और हृदय की शंका[५] को नाश[६] करने वाली सामग्री है तथा जगत् गुरु परमेश्वर संबन्धी विचार हैं। जगत् संबन्धी विचार हैं। योग मत और परम तत्त्व की प्रकटता[७] के विचार हैं अतः इसका नाम सत्य शास्त्र है।

खानि पंचमी अमर फल, आतम ब्रह्म दलाल ।
अंतक इन्द्री अघनि के, प्राण हु के प्रतिपाल ॥२॥

यह पंचम-खानि संतों से प्राप्त हुआ है-मुक्ति रूप अमरता को देने वाला अमर फल है। जीवात्मा और ब्रह्म के बीच में दलाल है। इन्द्रियों की चपलता और पापों का नाशक है तथा शिक्षा द्वारा प्राणियों का रक्षक है।

तलब[१] तसल्ली[२] तालिबां[३], चि[४] गुफतम[५] औसाफ[६] ।
रज्जब सैर[७] समुद्र है, मसल[८] सि[११] खुरद[९] मुसाफ[१०] ॥३॥

यह जिज्ञासुओं[३] की आवश्यकता[१] को पूर्ण करके उन्हें संतोष[२] देने वाला है। इसमें कल्याण प्रद बात-चीत[५] रूप रत्न[६] लोकोक्ति[८] आदि बहुत[४] हैं[११]। यह आनन्द[७] का समुद्र है तथा साधक मित्रों[१०] के संसार प्रपंच को छोटा[९] करने वाला है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पुस्तक नामा का अंग १९३
समाप्तः। सा० ५३४२ ॥

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत
श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित रज्जब वाणी साखी भाग समाप्तः।

ॐ

अथ रज्जब वाणी पद भाग २

अथ राग राम गिरी (कली) १

गायन समय प्रात: ३ से ५

१ गुरु निस्पृहता । एक ताल

सद्गुरु सो जो चाह बिन, चेला बिन कीया ।
यूं परि दोष न दीजिये, मिल अमृत पीया ।।टेक।।
ज्यों शशि के श्रद्धा नहीं, कोउ कमल विगासै[४] ।
मुदित कुमोदिनी आप सौं, बाँधी उस आसै ।।१।।
ज्यों दीपक के दिल नहीं, कोउ पड़े पतंगा ।
तन मन होमे आप सौं, मोड़े नहिं अंगा ।।२।।
ज्यों कमल कोश आपै खुले, मन मधुकर नांहीं ।
भवँर भुलाना आप सौं, बींधा[५] यूं मांहीं ।।३।।
ज्यों चंदन चाहै नहीं, कोउ विषधर[६] आवै ।
जन रज्जब अहि आप सौं, सो शोधर[७] पावै ।।४।।१।।

गुरु इच्छा रहित हैं यह कह रहे हैं—सद्गुरु वही है, जिसे शिष्यादि की इच्छा नहीं होती और शिष्य वही है जो बिना शिखा छेदनादि के ही भाव से होता है । इस प्रकार के गुरु-शिष्य होने पर उन्हें शिष्य बनाने और गुरु बनाने का दोष नहीं देना चाहिये । ऐसे गुरु-शिष्य तो मिलकर ज्ञानामृत का पान करते हैं । जैसे चन्द्रमा में यह भाव नहीं होता कि-कोई कमल खिले किन्तु कुमोदिनी अपने आप ही उस चन्द्रमा की आशा से बंधी हुई प्रसन्नता से खिलती[४] है । जैसे दीपक के मन में नहीं होता कि-कोई पतंग आकर मेरे में पड़े किन्तु पतंग आप ही आकर अपने तन मन को दीपक में होम देता है । अपने को जलते देखकर भी शरीर को दीपक से पीछे नहीं हटाता, उसी में जल मरता है ।

जैसे कमल कोश अपने आप ही खिलता है, उसके मन में यह नहीं है कि-मेरे पर भ्रमर आवे किन्तु भ्रमर आप ही आकर कमल की सुगंध में ऐसे फँस[५] जाता है कि अपने को भी भूल जाता है । जैसे चन्दन नहीं चाहता कि-कोई सर्प[६] मेरे पर आवे किन्तु सर्प अपने आप ही उस चन्दन को खोजकर[७] प्राप्त करते हैं । वैसे ही गुरु नहीं चाहते कि-मेरे पास शिष्य आवें किन्तु शिष्य स्वयं ही अपने कल्याणार्थ गुरु के पास आते हैं ।

२ गुरु-गोविंद से प्रीति-प्रेरणा । एकताल

प्रीति गुरु गोविन्द सौं, ऐसी विधि कीजे ।
आदि अंत मधि एक रस, जुग जुग सुख लीजे ।।टेक।।
पिंड प्राण न्यारा भये, सो नेह न नाशै ।
बेलि कली ज्यों जाय की, टूटचों परकाशै[1] ।।१।।
ज्यों हनुमत हित[2] जत[3] सौं, जड़्या[4] सई[5] सो साचा ।
हाक सुनत नर हींज[6] ह्वै, अज हूं फुर[7] वाचा ।।२।।
ज्यों दृढ़ डोरी गुण आतमा, जीवित मृत पासा ।
गुरु गोविन्द सौं सूत्र यूं, सुन रज्जब दासा ।।३।।२।।

गुरु-गोविन्द से प्रीति करने की प्रेरणा कर रहे हैं—गुरु और गोविन्द से इस प्रकार प्रीति करना चाहिये कि-जीवन वा सृष्टि के आदि, मध्य और अंत तक प्रति युग में ब्रह्मानन्द ले सके। शरीर और प्राण के वियोग होने पर भी वह प्रेम नष्ट न हो। जैसे जाय वेलिकी कली टूटने पर खिलती[1] है वैसे शरीर नष्ट होने पर प्रेम अधिक खिले। हनुमान् ब्रह्मचर्य[3] के प्रेम[2] में दृढ़ जटित[4] हैं और सदा[5] ही सच्चे रहते हैं, तब ही सिंहल द्वीप में उनकी हांक सुनकर नर नपुंसक[6] होते हैं अभी तक भी यह वचन सत्य[7] हो रहा है जैसे हनुमानजी का ब्रह्मचर्य में दृढ़ प्रेम है, वैसे गुरु गोविन्द में होना चाहिये। हे दास ! सुन जैसे डोरी में सूत और जीवात्मा में पापपुण्य रूप गुण रहते हैं, वैसे ही जीवित तथा मरने पर भी स्नेह सूत्र से गुरु-गोविन्द के पास रहना चाहिये।

३ ज्ञान मार्ग । त्रिताल

संतो बाट[1] बटाऊ[2] मांहीं, सो आपन समझै नांहीं ।
बिरला गुरु मुख पावे, सो फिर बहुरि न आवे ।।टेक।।
मति मारग में गवना, तहं नाहीं तीनों भवना ।
है ऊँकार अकेला, सो आप आप में खेला ।।१।।
सेरी[3] समझ सयाना, यहु आतम अगम पयाना ।
यूं चलि चौथे आवे, सो परम पुरुष को पावे ।।२।।
तहँ पंथ पथिक पति एकै, ईहिं[4] रमिबे[5] रंग विवेकै[6] ।
जन रज्जब रह[7] पाई, सो आसन करे न भाई ।।३।।३।।

ज्ञान मार्ग का परिचय दे रहे हैं—हे संतो ! प्रभु प्राप्ति का ज्ञान रूप पथ[1] पथिक[2] के भीतर ही है किंतु उसे जीव अपने आप नहीं समझ पाता,

कोई बिरला साधक ही गुरु के मुख से श्रवण करके समझ पाता है। समझने के पश्चात् वह पुन: जन्म लेकर संसार में नहीं आता। उस ज्ञान-मार्ग में बुद्धि से ही गमन होता है और उस मार्ग में स्वर्ग, मर्त्य, पाताल ये तीनों भुवन नहीं आते। उसमें अद्वैत ब्रह्म के नाम ओंकार का चिन्तन ही सहायक होता है और ब्रह्म प्राप्ति पर वह साधक स्वयं ही अपने स्वरूप ब्रह्म में आनन्द अनुभव रूप खेल खेलता है। इस ज्ञान-मार्ग[३] को समझ कर यह आत्मा अगम ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये प्रस्थान करता है। इस प्रकार चलकर तुरीयावस्था रूप चतुर्थ स्थान पर आता है तब वह परम पुरुष ब्रह्म को प्राप्त करता है। उस ब्रह्म प्राप्ति रूप अवस्था में ज्ञान रूप पथ, साधक रूप पथिक और स्वामी ब्रह्म तीनों एक रूप हो जाते हैं। इस[४] ब्रह्म में रमण[५] करने के रंग-ढंग का यही विचार[६] है। जो इस ज्ञान मार्ग[७] को प्राप्त कर लेता है, वह भाई शरीर को व्यथित करने वाले आसन नहीं करता, वृत्ति को ही ब्रह्माकार रखता है।

४ ब्रह्म वृक्ष । त्रिताल

संतो वसुधा[१] वृक्ष समाई,
अद्भुत बात कही को माने, कोण पतीजे[२] भाई ।।टेक।।
मूल न डाल सो अधर अंघ्रिपा[३], बेलि कहां बिलमावे[४] ।
तरुवर त्वचा विहूणा[५] देखा, विहंग[६] न बैठण पावे ।।१।।
रहता[७] रूंख फूल फल नांहीं, त्रिगुण न गूंद प्रकाशे[८] ।
दीरघ[९] द्रुम देखेगा कोई, छाया तिमिर[१०] न भासे ।।२।।
अकल वृक्ष कंटक कर्म नांहीं, पारिजात[११] पद[१२] पूरा ।
जन रज्जब जुग जुग सो निश्चल, सबको जीवन मूरा[१३] ।।३।।४।।

ब्रह्म का वृक्ष रूप से परिचय दे रहे हैं–हे संतो ! यह अखिल पृथ्वी[१] वृक्ष (ब्रह्म) में समाई हुई है। यह बात हमने आश्चर्य रूप कही है। इसे कौन भाई मानेगा और कौन विश्वास[२] करेगा ? उस वृक्ष के जड़ और शाखा नहीं है अर्थात् उसका कारण और कार्य कोई नहीं है। यह आश्रय रहित अधर वृक्ष[३] है, फिर उस पर माया रूप बेलि कैसे ठहर[४] सकती है ? यह वृक्ष तत्त्व रूप त्वचा (छाल) से रहित[५] है। इस अचल[७] वृक्ष पर भोगाशा रूप पक्ष वाला जीव रूप पक्षी[६] नहीं बैठ पाता कारण उसमें इन्द्रिय विषय रूप फूल फल नहीं हैं। त्रिगुण रूप गूंद इससे प्रकट[८] नहीं होता। इस विशाल[९] ब्रह्म वृक्षको कोई बिरला ज्ञानी ही देख सकेगा। इसकी ब्रह्म-विचार रूप छाया में अज्ञान रूप अंधेरा[१०] नहीं भासता। इस कला विभाग रहित ब्रह्म वृक्ष में कर्म रूप काँटे नहीं होते। यह वृक्ष[११] पूर्ण स्वरूप[१२] है। प्रति युग में निश्चल रहता है और सबके जीवन का मूल[१३] हेतु है।

५ अद्भुत खेल । कहरवा

संतो अद्भुत खेल अगाधा, सो खेले कोई इक साधा ।।टेक।।
जो गगन गांठ को शोधै[1], सो पंचन को परमोधै[2] ।।१।।
जो वायु बैल गहि लादै, सो वित[3] बाप न दादै ।।२।।
जो तेज[4] माँहि तृण राखै, सो महिमा कौन सु भाखै ।।३।।
जो पाणी में घृत काढ़ै, सो मति सब तैं बाढ़ै[5] ।।४।।
धर[6] पृथ्वी[7] पुड़[8] दूझै[9], सो रज्जब रामति[10] बूझै[11] ।।५।।५।।

अध्यात्म अद्भुत् खेल बता रहे हैं—संतो ! आँतर साधन रूप खेल अथाह है । उसको कोई एक बिरला संत ही खेलता है अर्थात् करता है । जो आकाश रूप शब्द की ग्रन्थि अर्थात् रहस्य को खोजता[1] है वही अपनी पंच ज्ञानेन्द्रियों को समझाता[2] है । जो प्राण वायु रूप बैल को संयम द्वारा पकड़ के उस पर नाम चिन्तन रूप भार लादता है अर्थात् श्वास द्वारा प्रति श्वास नाम चिंतन करता है, उस व्यापार से मिलने वाला रूप धन[3] बाप दादा से नहीं मिल सकता । जो ब्रह्मज्ञान रूप अग्नि[4] में मन रूप तृण को रखता है अर्थात् ब्रह्म विचार से भिन्न में मन को नहीं जाने देता, उसकी वह महिमा कौन कह सकता है ? अर्थात् अकथनीय है । जो इन्द्रिय-विषय रूप जल में भी ब्रह्म दर्शन रूप घृत निकालता है अर्थात् विषयों में भी ब्रह्म को ही देखता है, उसकी वह बुद्धि सबसे महान्[5] है । जो क्षमा[7] की पीठ[8] पकड़[6] कर अर्थात् क्षमा धारण करके संत सेवा करता[9] है, वह इस खेल[10] को समझ पाता है ।

६ विनय । कहरवा

अब मोहि नाचत राख[1] हु नाथ,
चार प्रहर च्यारों जुग नाच्यो, परि[2] परवश पर हाथ ।।टेक।।
तृष्णा ताल पखावज पाखँड, स्वर स्वारथ सब बाजे ।
क्यों नर कुमति उपंगई राखा, रागरु द्वेष निवाजे[3] ।।१।।
नाना नेह पहरि पग नूपुर, चंचल चरण चलाये ।
चौरासी घट भेख[4] रेख[5] सोइ, सब संगीत खिलाये ।।२।।
फोरी[6] फिरचो मान मनमानी, हुरमी हेत[7] सु[8] डारी[9] ।
स्वर्ग भूमि पाताल परे[10] पग, भीख न लही भिखारी ।।३।।
रज्जब रम्यो[11] रजा[12] कि[13] कर्मगति, कौन लुकंजन पावे[14] लाल[15] ।
रीझै राम दर्श दत[16] दीजे, पूरो तो कीजे प्रतिपाल ।।४।।६।।

संसार से मुक्त होने के लिये विनय कर रहे हैं—हे नाथ ! अब मुझे नाचते हुये को रोक[१] दीजिये। मैं चारों युगों के प्रति दिन में चार पहर ही परवश हो अर्थात् मन इन्द्रियों के अधीन होकर, पर हाथ अर्थात् कुटुम्बादि के हाथ पड़ा[२] हुआ व्यवहार रूप नृत्य करता रहा हूँ। तृष्णा रूप कर ताल, पाखंड रूप मृदंग आदि मेरे सब बाजे स्वार्थ रूप स्वर निकालते रहे हैं अर्थात् स्वार्थ के वश पाखंडादि करता रहा हूँ। प्रभो ! आपने मुझ नर में कुमतिरूप उपंग नामक बाजा क्यों रक्खा है ? और मुझ में रागद्वेष रखने की दया[३] क्यों की है ? मैंने राग के कारण नाना विषयों में स्नेह करना रूप नूपुर पैरों में पहन कर चंचलता से उन विषयों की ओर ही चरण चलाये हैं। चौरासी लाख योनियों के शरीर धारण करना ही स्वांग[४] चिन्ह[५] बनाकर सब को इस संगीत के अखाड़े में खिलाया है। मन मानी हलकी[६] बातों को श्रेष्ठ मान कर तथा हुरुमयी नामक नृत्य के प्रेम[७] में फंसकर श्रेष्ठता[८] को डाल[९] दिया है अर्थात् मर्यादा को छोड़ दिया है। इस नृत्य के समय मेरे पैर स्वर्ग, भूमि, पाताल, तक पड़े[१०] किन्तु फिर भी मुझ भिक्षु को अक्षय सुख रूप भिक्षा नहीं मिली अर्थात् तीनों लोकों के भोग सुख अक्षय नहीं हैं, अतः तीनों लोकों में जाने पर भी मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। मैं आप की आज्ञा[१२] वा[१३] कर्म गति किसी भी कारण से यह संसार भ्रमण[११] रूप नृत्य करता रहा, उसके कारण को लकुंजन (छिपाने वाला अंजन) डाल[१४] कर आप से कौन छिपा सकता है ? आप तो सर्वज्ञ हैं अतः आपको सब ज्ञात है। प्रियतम[१५] राम ! मेरे इस नृत्य से आप प्रसन्न हैं तो मुझे अपना दर्शन रूप दान[१६] दीजिये। अप्रसन्न हैं तो मेरा नृत्य बंद कर दीजिये और मेरा नृत्य पूरा हो गया है तो मुझे अपने स्वरूप में लीन करके संसार भ्रमण से मेरी रक्षा कीजिये।

७ बुद्धि-वेलि। दादरा

बुद्धि वेलि[१] लो[२] बुद्धि वेलि लो[२], निपजै[३] भाग[४] सु भेलोलो[५]।
वाइक[६] बीज भाव भुवि बाह्या, अंकुर आदि उदय लीलो[७] ॥टेक॥

जल सोइ जुगति माहिला[८] माली, निरति[९] किया निदर्णं[१०] लीलो[११]।
पान प्रकाश ताक[१२] तत्त्व तन्तू, रूख[१३] रटणि[१४] बिलमै[१५] लीलो[१६] ॥१॥

अह निशि बेलि बधै विधि लागी, वायु न विषय बहै लीलो[१७]।
फहम[१८] फूल फूली फल कारण, मन मधुकर मिल आवहिलो ॥२॥

बाड़ी विहर विघ्न कछु नाहीं, मृग मांहीं नहिं आवहिलो।
बागवान पुनि रहै बधिक विधि, बैरी बेलि न भावहिलो ॥३॥
फल हरि दर्श लता तिहिं लागे, रखवारे व्योसावहिलो[१९]।
जन रज्जब जुग जुग सो जीवै, ऐन[२०] अमर फल खावहिलो ॥४॥७॥

वेलि रूप से बुद्धि का परिचय दे रहे हैं—संतों की बुद्धि रूप लता[१] को मन वचन से ग्रहण-करो[२], उससे मिललोगे[५] अर्थात् उसके अनुसार साधन करोगे, तब तुम्हारा भाग्य[४] उदय[३] होगा। इतनी प्रेरणा करके अब बुद्धि वेलि का परिचय दे रहे हैं—वचन[६] रूप बीज भाव रूप पृथ्वी में बोया जाता है, तब उसमें शुभ इच्छा रूप पहला अंकुर निकल कर हरा[७] होता है। अन्तरात्मा[८] रूप माली जिस प्रकार की युक्ति से उसकी वृद्धि होती हैं वही युक्ति रूप जल उसमें डालता है। फिर कुछ बढने पर उसके साथ बढ़ने वाले अभिमानादि हरे[११] घास को विचार[६] रूप कस्सी से खोद कर निकाला[१०] जाता है। फिर उसमें ज्ञान-प्रकाश रूप पत्ते खूब आते हैं तथा तत्त्व की ओर देखना[१२] रूप तन्तु आते हैं। फिर वह हरि नाम चिन्तन[१४] रूप हरे[१६] वृक्ष[१३] का आश्रय[१५] लेती है। उक्त विधि से लगी हुई यह लता दिन-रात बढ़ती रहती है। इसके पास विषयी पुरुषों को प्रसन्न[१७] करने वाला विषय-राग रूप वायु नहीं चलता। यह फल देने के लिये समझ[१८] रूप फूलों से फूलेगी तब जिज्ञासु का मन रूप भ्रमर इससे आ मिलेगा। विरह रूप बाटिका में होने से, इसके पालन में कुछ भी विघ्न नहीं हो पाता है। काम रूप मृग इसमें नहीं आयेगा, फिर भी आन्तरात्मा रूप बागवान् व्याध के समान इसकी रक्षा के लिये कटि बद्ध रहता है। उसे वेलि के शत्रु अच्छे नहीं लगते। इसके हरि दर्शन रूप फल लगता है। रक्षक ही उससे लाभ[१६] उठायेगा। इसके ब्रह्म साक्षात्कार[२०] रूप अमर फल को जो खायेगा, वह ब्रह्म रूप होकर प्रति युग में जीवित रहेगा।

८ सूक्ष्म सेवा पूजा। कहरवा

सूक्ष्म सेव शरीर में, कोई गुरु मुख जाने।
मन मृतक[१] तन पैठि[२] करि, पति[३] पूजा ठाने[४] ॥टेक॥

पछिम[५] पाट[६] कहु को रचे[७], सत सेवा साजे[८]।
विविध भाँति बहु बंदगी, बिच ब्रह्म विराजे ॥१॥

साँच शील जल सांपड़े[६], शुचि संयम साँचा।
व्रत उनमनी[१०] अह निशा, मन मनसा वाचा ॥२॥

पाती पंच चढाइले, सत सुकृत सुगंधा।
धूप ध्यान ज्ञान हि दिया, यहु आरंभ धंधा[१७] ॥३॥

घंटा घट रट राम की, तालि तत्त्व ताला।
बाणी वेण मृदंग मत,[११] सब शब्द रसाला ॥४॥

सर्वस्व ले आगे धरे, भजि भोग सु लागे।
युग युग जगपति आरती, जीव जूठणि[१२] मांगे ॥५॥
दीन लीन सांचे मतै,[१३] डरके डंडोता।
भय भीत भयानक भक्त सो, निज निर्गुण नौता[१४] ॥६॥
सारी[१५] सेव शरीर में, सब करै बखाना।
रज्जब राम रंजाय[१६] यूं, जन ज्योति समाना ॥७॥८॥

आन्तर सूक्ष्म सेवा-पूजा की विधि तथा सामग्री बता रहे हैं—शरीर के भीतर जो सूक्ष्म सेवा-पूजा होती है, उसे कोई गुरु की आज्ञा में रहने वाला साधक ही गुरु के मुख से जान पाता है। इसको करने वाला साधक मन को मार[१] कर शरीर के हृदय स्थान में प्रवेश[२] करके प्रभु[३] की पूजा करता[४] है। सुषुम्ना के पच्छिम[५] मार्ग को खोल[६] कर मेरु दंड की ग्रंथियों को भेदन[६] करते हुये इस सत्य-सेवा को कहो कौन सजाकर[८] करता[७] है? अर्थात् ऐसी सेवा-पूजा तो कोई बिरला ही करता है। शरीर के भीतर साक्षी रूप से जो ब्रह्म विराजते हैं, उनकी सेवा-पूजा बहुत प्रकार से और विविध भांति की सामग्री से होती है। प्रथम पूजक सच्चे शीलरूप जल से स्नान[६] करे अर्थात् ब्रह्मचर्य से रहे। सत्य रूप संयम से पवित्र होवे, दिन रात मन, बुद्धि और वाणी से समाधि[१०] रूप व्रत करे अर्थात् मन आदि को ब्रह्म परायण रखे फिर पंच ज्ञानेन्द्रियों का तुलसी पत्र प्रभु के चढावे अर्थात् उन्हें विषयों से हटाकर प्रभु परायण करे। सच्चा सुकृत रूप सुगंध लगावे अर्थात् दंभ रहित सुकृत करे ध्यान का धूप जलावे अर्थात् ध्यान करे। ज्ञान का दीपक प्रज्वलित करे, यही पूजा करने रूप कार्य[१०] के उपक्रम हैं। शरीर में अनाहत् नाद रूप घंटा बजावे। राम नाम की रट रूप ताली से तत्त्व रूप ताला खोले अर्थात् नाम और जप ध्वनि कर के तत्त्व ज्ञान पूर्ण स्तुति करे। वाणी रूप वंशी, विचार[११] रूप मृदंग बजाते हुये रस पूर्ण शब्दों का गान करे अर्थात् विचार पूर्वक वाणी से शब्द बोले। फिर अपना सर्वस्व प्रभु के आगे समर्पण करे। भजन रूप भोग लगावे अर्थात् भजन करे। इस प्रकार की आरती प्रति युग में संतों ने की है। अतः साधक जीव उक्त प्रकार की आरती करके कृपा प्रसाद[१२] की याचना करे। नम्र भाव से, सच्चे विचार[१३] द्वारा अपनी बुद्धि को प्रभु में लीन करके भय रूप दंडवत करे अर्थात् प्रभु से डरता रहे। दुर्जनों के लिये भयानक प्रभु के भय से जो भक्त डरता रहता है, वह निज स्वरूप निर्गुण ब्रह्म की ओर नित्य नूतन[१४] ढंग से बढ़ता रहता है। प्रभु की संपूर्ण[१५] सेवा पूजा उक्त प्रकार शरीर से ही करना चाहिये। सब संत ऐसा कथन करते हैं। इस प्रकार की सेवा पूजा से भक्त प्रभु को तृप्त[१६] करके ज्ञान ज्योति स्वरूप ब्रह्म में ही समा जाता है। पुनः जन्मादि संसार को प्राप्त नहीं होता।

९ नाम द्वारा मनोलय । दादरा

संतो मन मोहन मिलि नावै[1],
ज्यों विलय बघूला आंधी मांहीं, निकस न भरमण पावै ॥टेक॥
ज्यों वृक्ष बाज परसि वपु[2] वह्नि,[3] वसुधा मांहि समावै ।
उदय अंकूर कौन विधि ताको, कैसे अंग[4] दिखावै ॥१॥
स्वाति बूंद जो सीप समानी, सो फिर गगन न आवै ।
अलि[5] चलि कमल केतकी बींधे, अन्य पहुप नहिं धावै ॥२॥
अमलवेत सूई जो पैठी, सो बागै[6] न सिवावै ।
रज्जब रहै राम में मन यूं, समरथ ठौर सु भावै[7] ॥३॥९॥

नाम चिन्तन द्वारा प्रभु में मन का लय होना बता रहे हैं—संतो ! नाम[1] चिंतन द्वारा मन विश्व विमोहन प्रभु में ऐसे मिल जाता है, जैसे बघूला आँधी में मिल जाने पर उससे निकल कर अलग भ्रमण नहीं कर पाता। जैसे वृक्ष के बीज का आकार[2] अग्नि[3] से मिलकर अर्थात् भुनकर पृथ्वी में मिलता है तब उसका अंकुर किस प्रकार निकलेगा, और वह पुन: पूर्ववत अपना आकार[4] कैसे दिखायेगा ?, जो स्वाति बिन्दु सीप में प्रवेश कर जाती है, वह पुन: आकाश में नहीं जाती । भ्रमर[5] कमल से चलकर केतकी की सुगंध से विद्ध होता है तब पुन: दौड़कर दूसरे पुष्प पर नहीं जाता । जो सुई अमलवेत औषधि में प्रवेश करती है, वह वस्त्र[6] सिलाई के काम में नहीं आती उसी में गलकर लय हो जाती है । ऐसे ही नाम चिंतन द्वारा मन राम में लय हो जाता है । उसे सर्व समर्थ प्रभु रूप स्थान प्रिय-लगता[7] है । प्रभु को छोड़कर वह पुन: साँसारिक विषयों में नहीं आता ।

१० मृतक मन दुखद नहीं । त्रिताल

यूं मन मृतक ह्वै रहै, तो मारे[1] नांहीं ।
माया में न्यारा रहै, जिव जग पति मांहीं ॥टेक॥
ज्यों मुरदा अरथी पड़्या, बरतणि[2] बहु बानी ।
औरों की भांवरी[3] भई, उन कछू न जानी ॥१॥
निष्कामी न्यारा रहै, प्रतिमा परि खेलै[4] ।
बरतणि[5] बरतै विगत[6] सौं उर आप न मेलै[7] ॥२॥
बाजीगर की पूतली, बाजीगर हाथै ।
रज्जब राखै त्यों रहै नहिं अवगुण साथै ॥३॥१०॥

मन मर जानें पर पूर्ववत दुखः नहीं देता यह कह रहे हैं—उक्त ६ के पद के समान मन मर जाता है तब फिर साधक को दुःख[1] नहीं देता। मृतक मन जीव माया में रहकर भी उससे अलग जगत् पति प्रभु में ही रहता है। जैसे अरथी पर मुरदा पड़ा रहता है तब लोग बहुत प्रकार की वाणी बोलते हुये व्यवहार[2] करते हैं, कुछ लोगों की परिक्रमा[3] भी होती है, किन्तु वह कुछ नहीं जानता, वैसे ही निष्कामी जित मन संत मूर्ति पूजा से वा शरीर से परे का आनन्द[4] लेता है। सब व्यवहार[5] ज्ञान[6] पूर्वक करता है। अपने हृदय में ब्रह्म चिन्तन के बिना अन्य कुछ भी नहीं रखता[7]। जैसे बाजीगर की पुतली बाजीगर के हाथ में रहती है, वह जैसे रखता है वैसे ही रहती है इससे उसके साथ अवगुण नहीं रहते। वैसे ही जित मन निष्कामी की जीवन डोरी प्रभु के हाथ में रहती है। प्रभु रखते हैं वैसे ही रहता है इस कारण उसके हृदय में अवगुण नहीं रहते।

११ संत-शिकारी। त्रिताल

वधिक[1] विवेकी प्राणि है, सत साधु शिकारी।
ज्ञान बाण कर कमल में, ध्वनि धनुष हि धारी ॥टेक॥
आखेट[2] वृत्ति आतम लई, दिल दया सु लोपी।
वपु वसुधा नौ खंड परि, बुधि बावरी[3] रोपी[4] ॥१॥
बैठे मूल सु मारने, पारधि परि[5] प्राणा।
पंच पचीसौं मृगला, लाये लुक[6] बाणा ॥२॥
अंग अहेड़ी आकरे[7], उर अवनि चढ़ाई।
मार हि स्यावज[8] शोधि सब, कुल[9] कर्म कसाई ॥३॥
ऐसे दुष्ट सु उद्धरे, तन मन गुण द्रोही।
जन रज्जब कहै रामजी, सो पावे मोही ॥४॥११॥

संत व्याध के समान शिकारी हैं यह बता रहे हैं—विवेकी प्राणी सच्चे संत व्याध[1] के समान शिकारी हैं। उनने ज्ञान रूप बाण और नाम ध्वनि रूप धनुष मनोवृत्ति रूप करकमलों में धारण कर रक्खे हैं। आत्माकार वृत्ति रूप शिकार[2] वृत्ति अपना कर हृदय की दया को नष्ट करदी है। शरीर रूप पृथ्वी के नौ द्वार रूप नौ खडों पर साधु रूप व्याध[3] ने शिकार खोजने के लिये अपनी बुद्धि लगाई[4] है और यह शिकार के कार्य में परिपूर्ण[5] प्राणी अपने मूल अज्ञान को भली भांति नष्ट करने के लिये बैठा है। पंचज्ञानेन्द्रिय और पचीस प्रकृति रूप मृगों के छिप[6] कर अर्थात् प्रभु का आश्रय लेकर बाण लगाये जा रहा है। इस तेजस्वी[7]

शरीर वाले व्याधने हृदय रूप पृथ्वी पर भी चढाई की है और काम-क्रोधादि सभी शिकार[८] को खोज कर के मार रहा है। संपूर्ण[९] कर्मों को भी नष्ट करने के लिये कसाई के समान कटिबद्ध है। ऐसे दुष्टों का ही भली भांति उद्धार होता है। रामजी कहते हैं—"जो तन और मन के दुर्गणों से वैर करता है वही मुझे प्राप्त करता है।"

१२ करने योग्य शिकार। कहरवा

रे प्राणी यहु खेल शिकार रे, वन वपु ढूंढि स्यावज[१] हु मार रे ॥टेक
मन मृग माँहि तीस तिंहि लार रे, चेतन चीता त्यांह[२] परि डार रे ॥१॥
गुण गज हस्ती[३] अनल अहार रे, तृष्णा तीतर बाज विचार रे ॥२॥
केसरि काम अधिक अधिकार रे, शारदूल सुमिरण मुख जार रे ॥३॥
ये आयुध[४] सुन समझि खिलार रे, जन रज्जब उठ हो हुशियार रे ४।१२

करने योग्य शिकार और उसके लिये शस्त्र बता रहे हैं—हे प्राणी! यह हम जो बता रहे हैं सो शिकार खेल, शरीर रूप वन में खोज कर शिकार[१] को मार। शरीर के भीतर ही मन रूप मृग है और उसके साथ पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा पचीस प्रकृति ये तीस मृगी हैं, इन[२] पर चेतन रूप चीता छोड़ अर्थात् चेतन आत्मा का चिन्तन करके इनको मार। त्रिगुण रूप हाथियों को अस्तित्व[३] रूप अनल पक्षी का भोजन बना अर्थात् आत्मा सत्य और सदा रहने वाला है इस भाव से असत्य गुणों को दबा। तृष्णा रूप तीतर को विचार रूप बाज से मार। जिसका शरीर पर अधिक अधिकार हो रहा है, उस काम रूप सिंह को हरि स्मरण रूप शार्दूल के मुख से जला। हे शिकार के खिलारी! ये शस्त्र[४] हैं इन्हें सम्यक् सुनकर समझ और सावधान होकर उठ खड़ा हो।

१३ संत शूर। कहरवा

रे मन शूर संत क्यों भाजै,
मुहि मिल भयू[१] मरण जे डरपै, तो दुहुं[२] पवाड़ा[३] लाजै ॥टेक॥
उलट्यू[४] उजह[५] कहो क्यों पावै, जब लग दल हि न गाजै।
मरतों मान जीवतों जाहिर, जनम मरण अघ माँजै[७] ॥१॥
जे सेवक संकट सौं डरपै, तबै स्वांग कहाँ छाजै[८]।
देह उठाय फौज में आपै[९], तब सब वीर विराजै[१०] ॥२॥
अरि दल जीत सकल शिर ऊपर, शूर सरोतरि[११] गाजै।
रज्जब रोपि रह्यो रण माँहीं, नाम नगारा बाजै ॥३॥१३

संत शूर का परिचय दे रहे हैं—अरे मन ! संत-शूर योग-संग्राम से कैसे भाग सकता है ? यदि वीर दोनों सेनाओं के मुख मिल जाने[१] पर मरण से डर के भागता है तो शत्रुदल और निजदल दोनों[२] ही ओर[३] लज्जित होता है। वैसे ही संत शूर आसुर गुणदल और दैवी गुण-दल के मुख मिलने पर डर के भागता है अर्थात् साधन छोड़ देता है तो व्यवहार और परमार्थ दोनों पक्षों में लज्जित होता है। शूर युद्ध और संत योग संग्राम में जब तक गर्जना न करे और लौट[४] आवे तो कहो वे दोनों उज्वल[५] यश कैसे प्राप्त कर सकेंगे ? जैसे शूर का मरण पर अप्सरा सम्मान करती है और जीवित रहने से लोक में ख्याति[६] होती है, वैसे ही संत पापको हटा[७] कर जन्म मरणादि को नष्ट करता है तब प्रभु द्वारा सम्मानित होता है और लोक में ख्याति होती है। यदि संत-सेवक साधन-कष्ट से डरेगा तब उसका भेष कहां शोभा[८] देगा ? वीर शरीर को सेना के समर्पण[९] कर देता है तब सभी स्थानों में विशेष रूप से शोभा[१०]- पाता है। वैसे ही संत कामादि शत्रु दल को जीत कर सबका शिरोमणि बनता है और उसके यश की गर्जना सबके कानों[११] में पहुँचती है। वह योग-संग्राम में अपने निष्ठा रूप पैरों को दृढ कर के स्थित रहता है। उसके यश को बढ़ाने वाला हरि नाम रूप नगाड़ा बजता रहता है अर्थात् वह निरंतर नाम चिन्तन करता रहता है।

१४ निःशंक संतशूर। कहरवा

रे मन शूर शंक क्यों माने[१],

मरणे माँहि एक पग ऊभा, जीवन जुगति न जाने ॥टेक॥

तन मन जाका ताको सौंपे, सोच पोच[२] नहिं आने।

छिन[३] छिन होय जाय हरि आगे, तो भी फेरि न बाने[४] ॥१॥

जैसे सती मरे पति पीछे, जलतों जीव न जाने।

तिल में त्याग देय जग सारा, पुरुष नेह पहचाने ॥२॥

नख शिख सकल सौंज[५] शिर सहता, हरि कारज परवाने[६]।

जन रज्जब जग पति सोइ पावे, उर अंतरि यूं ठाने[७] ॥३॥१४

संत शूर की निःशंकता दिखा रहे हैं—अरे मन ! संत शूर किसी की भी शंका मन में नहीं करता[१]। वह जीवित मृतक होने के लिये एक निष्ठा रूप पैर से स्थिर खड़ा रहता है। विषय परायण जीवन की युक्ति को तो जानता भी नहीं। जिस प्रभु के तन-मन हैं उसी के समर्पण करता है। मन में चिन्ता तथा कायरता[२] नहीं आने देता। खंड[३] २ होकर भी हरि के आगे जाता है। इतना कष्ट होने पर भी अपना भेष[४] वा स्वभाव[४] को नहीं बदलता। जैसे सती पति के पीछे मर जाती है—अपने जीवित शरीर

को जलते हुये भी नहीं जान पाती, अपने पति पुरुष के प्रेम को पहचान कर एक क्षण भर में सब जगत् को त्याग देती है वैसे ही संत नख से शिखा तक संपूर्ण शरीर के अंगों रूप सामग्री[५] पर आने वाले कष्टों को शिर पर सहता है अर्थात् स्वीकार करता है किन्तु हरि प्राप्ति के साधन रूप कार्य को सप्रमाण[६] करता है उसमें त्रुटि नहीं रहने देता। जो अपने हृदय में उक्त प्रकार निश्चय करता[७] है, वही जगत् पति प्रभु को प्राप्त करता है।

१५ संत-शूर टेक। कहरवा

रे मन शूर समै[१] क्यों भागे, तायैं मरण मांडि[२] हरि आगे ।।टेक।।
शूरा शिर पर खेलै, तब राव रंक कर पेलै[३]।
जब दूजा दिल नांहीं, तब डाकि पड़्या दल मांहीं ।।१।।
स्थिर काल न कोई जीवे, तायैं सार सुधा रस पीवे।
ते चाकर चित मांहीं, जे चोट मुंह मुंह खांहीं ।।२।।
जब उतरि उतारै[४] झूझे[५], तब व्यापक सब ही बूझे[६]।
जब शूरा शिर डारै, तब रज्जब राम सुधारै ।।३।।१५

संत शूर अपनी बात को नहीं छोड़ता यह कह रहे हैं—अरे मन ! संत-शूर साधन-संग्राम से समय[१] पर कैसे भाग सकता है। इसलिये वह मृत्यु को स्वीकार[२] करके हरि के आगे जाता है। संतशूर जब अहंकार रूप शिर पर खेलता है अर्थात् निरभिमान स्थिति का आनन्द लेता है, तब राजा को भी रंक के समान दूर हटाता[३] है। जब प्रभु को छोड़कर दूसरा हृदय में नहीं रहता तब वह कामादि शत्रुओं को नाश करने के लिये उनके दल में कूद पड़ता है। अर्थात् उनको नष्ट करने का यत्न करता है। चिर काल तक कोई नहीं जीवित रहता इससे वह विश्व के सार रूप प्रभु के चिन्तन-सुधा रस का ही पान करता है। जो आसुर गुण रूप शत्रुओं की चोट अपनी निष्ठा रूप मुख ही मुख पर खाते हुये उन्हें मार भगाते हैं, वे ही भक्त प्रभु के चित्त में बसते हैं। जब योग-संग्राम में उतर कर वह प्रभु पर न्योछावर[४] होता हुआ मुक्ति के प्रतिबन्धकों से युद्ध[५] करता है तब सब में व्यापक ब्रह्म को समझने[६] लगता है। इस प्रकार जब संत-शूर अपने देहाभिमान को डाल देता है, तब उसके सभी काम राम सुधारते हैं।

१६ स्मरण विधि। त्रिताल

रे मन ऐसे राम कही जे, मरण उरै[१] मर प्राण पतीजे[२] ।।टेक।।
जैसे सती सकल तज बोलै, निश्चल राम कहूं नहिं डोलै ।।१।।

जो पहले शिर त्यागे, सो रण संग्राम न भागे ॥२॥
मरजीवा मरि समुद्र समाई, सो रज्जब नग निरखै जाई ॥३॥१६

राम-स्मरण की विधि बता रहे हैं–अरे मन ! इस प्रकार राम का स्मरण करना चाहिये। मरणे से पहले[1] ही मर कर अर्थात् सबमें सम होकर स्मरण कर तब ही प्राणी तेरे स्मरण पर विश्वास[2] करेंगे। जैसे सती सबको त्याग कर जलने का ही वचन बोलती है। वैसे ही राम के स्वरूप में निश्चल होकर स्मरण करना चाहिये, राम से अन्य में कहीं भी वृत्ति न जानी चाहिये। जो वीर पहले ही शिर त्याग कर युद्ध करता है, वह रण-भूमि से नहीं भागता। वैसे ही जो साधक पहले ही देहाभिमान छोड़ देता है, वह साधन-संग्राम से नहीं भागता। जैसे मरजीवा अपने को मरा हुआ समझ कर समुद्र में घुसता है, तब नीचे जाकर नग देखता है। वैसे ही जो पहले ही जीवित मृतक होकर स्मरण करता है वह अपने प्रभु का दर्शन करता है।

१७ जीवित मृतक-परिणाम। एकताल

संतो मरणे मंगल मीठा, सो गुरु मुख विरले दीठा[1] ॥टेक॥
जो प्रथम मांडते[2] मूये, सो राम कहण को हूये[3] ॥१॥
दूजे देह जु त्यागी, सो आतम राम हि लागी ॥२॥
तीजे आतम भूले, तिन सुरति सु पाया मूलै ॥३॥
चौथे चिन्तन कोई, तहाँ रज्जब एक न दोई ॥४॥१७

जीवित मृतक होने का उत्तरोत्तर फल दिखा रहे हैं—संतो ! जीवित मृतक होने का फल अति मधुर मंगल मय होता है। उसे किसी गुरु मुख बिरले साधक ने ही देखा[1] है। जो मरणे से पहले ही संसार[2] से मर जाता है अर्थात् शव के समान हर्ष-शोकादि से रहित हो जाता है, वही राम भजन करने के लिये कटिबद्ध होता[3] है और उसकी दूसरी अवस्था में जब देहाध्यास त्याग देता है, तब वह जीवात्मा राम के स्वरूप में जुड़ जाता है। तीसरे जो अपने को भी भूल जाता है तब उसकी वृत्ति अपने मूल ब्रह्म को प्राप्त कर लेती है। चौथे जब कोई ब्रह्मात्मा का अभेद चिन्तन करने लगता है तब उस अवस्था में एक और दो यह भेद नहीं रहता।

१८ दुःख से सुख। एकताल

पहले दुख पीछे सुख होई, ताको सहज कहैं जन जोई ॥टेक॥
ज्यों जीभहिं पढ़ावे पाठ[1], अह निशि दुख अंतर गति गाढ।
पढ़ै पाठ पीछे सुख आणि, सहजैं पढ़ै जीभ को बाणि ॥१॥

ज्यों कुरंग[1] कसणी[2] में आणी[3], दगध्यों[4] तजे बाहिली[5] बाणी[6] ।
संकट पड़ि मृग मनुष्य मेल, पीछे भया सहज का खेल ॥२॥
जैसी विपत्ति बाज शिर होय, तिल[7] तिल त्रास रहे मति सोय ।
पहले कठिन कसौटी[8] खाय[9], पीछे मुकता[10] आवै जाय ॥३॥
मन इन्द्री ऐसी विधि साधि[11], सब सौं तोरि नाम विच बाँधि ।
रज्जब संत असहज समाई, पीछे मिलै सहज को जाई ॥४॥१८

पहले दुःख सहन किया जाता है, तब पीछे सुख होता है, यह कह रहे हैं–पहले साधन का दुःख होता है, पीछे उसका फल प्रभु प्राप्ति रूप सुख होता है, उसे ही जो संतजन हैं सो सहज सुख कहते हैं। जैसे जिह्वा को पाठ[12] पढाया जाता है तब उसे हृदय के भीतर लेजा कर दृढ़ करने के लिये दिन-रात रटने का दुःख उठाया जाता है। पीछे पाठ कंठस्थ हो जाता है तब सुख ज्ञात होता है। फिर तो जिह्वा की आदत पड़ने पर अनायास ही उच्चारण होने लगता है। जैसे मृग[1] को वन से लाकर[3] पढ़ाने का कष्ट[2] देते हैं तब दुःख[4] देने से वन में रहने की बाहरी[5] आदत[6] छोड़ देता है। दुःख में पड़ने से मृग का मनुष्य से मेल हो जाता है। पीछे तो मृग के लिये सब खेल सुगम हो जाते हैं। जैसे बाज को पकड़ते हैं तब पहले तो उसके शिर पर विपत्ति ही आती है। प्रतिक्षण[7] पकड़ने का कष्ट उसकी बुद्धि में रहता है किंतु पहले पढ़ने का कठिन कष्ट[8] सहन[9] कर लेता है तब पीछे बन्धन-रहित[10] आता जाता है। उक्त प्रकार ही मन इन्द्रियों को साधन कष्ट से अधीन[11] करके तथा सबसे उनका संबन्ध तोड़कर प्रभु के नाम में बाँध, अर्थात् नाम परायण कर। पहले संत असहज अर्थात् साधन कष्ट में रहते हैं तब पीछे सहज स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।

१६ अज्ञान । त्रिताल

जीव जुदा जगदीश में, सो जानि न जाना ।
अंतर ही अंतर रह्या, माया मन माना ॥टेक॥
ज्यों अक्षर परिचय आँखि ह्वै, पै अर्थ न आवै ।
त्यों प्राणी पिंड हि रचे[1], पति[2] परख[3] न पावै ॥१॥
शून्य स्वरूपी राम है, ॐ कार सु आभा[4] ।
चित्त चातक अटके तहाँ, वित[5] बूंद सु लाभा ॥२॥
प्राण पिंड रस पोखिया, पीया पंचों भाया ।
रज्जब कोड़े कड़ब के, कण स्वाद न पाया ॥३॥१६॥

जीव के अज्ञान को दिखा रहे हैं—जो जीव जगदीश्वर में रह कर भी उससे अपने को अलग ही जानता है, वह जानकर भी नहीं जानता अर्थात् उक्त प्रकार जानना जानना नहीं है। भीतर रहने पर भी भेद रह गया, कारण मन ने माया को ही सुख रूप मान लिया। जैसे नेत्र अक्षर के आकार को तो पहचान जाते हैं किन्तु अर्थ तो उनके समझ में नहीं आता। वैसे ही प्राणी शरीर में अनुरक्त[1] हो रहे हैं, प्रभु[2] को नहीं पहचान[3] पाते। राम आकाश के समान है, ॐकार बादल[4] के समान है। जैसे चातक पक्षी स्वाति बिन्दु के लाभार्थ बादलों में अटकता है वैसे ही प्राणियों का चित्त धन[5] के लिये ओंकार के सकाम जप में ही अटक जाता है। प्राणी ने मायिक विषय-रस पान करके शरीर का पोषण किया है और पंच ज्ञानेन्द्रियों को भी वही प्रिय लगा है जैसे ज्वार आदि की कड़बी के कीड़े को अन्न कण में स्वाद नहीं आता, वैसे विषयों के कीट प्राणी को ब्रह्मानन्द नहीं मिलता।

२० मन चरित। कहरवा

संतो मन न्यारा मत[1] माँहीं,

साखी शब्द सीख सद्गुरु की, पापी परसै[2] नाहीं ।।टेक।।

साधू ज्ञान महा मिश्री मत[3], बंश खाप[4] षट् कीन्हे।

मीठे संग सु मोल विकाणे, अंत काढ़ि सो दीन्हे ।।१।।

बैण[5] विश्वंभर मोती माणिक, मन के सूत पिरोये।

अरस परस अरु बेगर[6] दीसे, प्राण प्रवीण सु रोये ।।२।।

मो मन फटक[7] हरी यश हीरा, सन्मुख सोई रंगा।

जन रज्जब पड़दे सो पल के, काढै कपटी अंगा ।।३।।२०

मन का चरित्र बता रहे हैं—संतो! मन विचार[1] में रहकर भी अलग ही रहता है। सद्गुरु के साखी शब्दों को सीख कर भी यह पापी मन उनके अर्थ को छूता[2] तक नहीं है। संतों का महान् ज्ञान मिश्री के समान[3] है, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये छः बांस की सींकों[4] के समान हैं। (पूर्व काल में मिश्री बाँस की सींकों पर जमाई जाती थी) जैसे मधुर मिश्री के साथ बांस की सींकें भी मोल बिकती हैं किन्तु अंत में जब मिश्री को काम में लेते हैं तब बाँस की सींकें निकाल कर फेंक देते हैं, वैसे ही महान् ज्ञान में निपुण भी मनादि छः विषय संबन्ध के समय ज्ञान से अलग ही हो जाते हैं अर्थात् विषय राग में फँस जाते हैं। विश्वंभर प्रभु के संबन्धी वचन[5] मोती और माणिक्य के समान हैं। मन सूत के समान है। जैसे सूत में पिरोये हुये मणिये सूत के साथ परस्पर मिले हुये होकर भी अलग[6] ही दीखते हैं, वैसे ही मन प्रभु सम्बन्धी वचनों में रहकर भी अलग ही

रहता है। इस मन के चरित्र से व्यथित होकर चतुर प्राणी भी रो पड़ते हैं। मेरा मन बिल्लौर[१] पत्थर के समान है और हरि का यश हीरे के समान है। हीरे के सामने बिल्लौर पत्थर का बनावटी हीरा रख देने से उसका भी वही हीरे जैसा रंग भासता है किन्तु वह पड़दा एक क्षण भर का ही है। जौहरी उसे तत्काल हीरों से निकाल देता है। वैसे ही कपटी मन सर्व साधारण के सामने तो हरि यश से मिल कर, संत-सा दिखाई देता है किन्तु परीक्षक संत उसके शरीर को संतत्त्व से अलग निकाल देगा अर्थात् उसे संत नहीं मानेगा।

२१ मन निग्रहार्थ विनय। एकताल

राम राय[१] अइया[२] मन अपराधी;
जोय जोय बात जीव छिटकावे, सोइ उलटि इण[३] नाधी[४] ॥टेक॥
जासौं कहूँ पलक मत परसे, सोइ फेरि इण खाधी[५]।
निशि दिन निकट रहत निज निरखत, मन की घात[६] न लाधी[७] ॥१॥
यहु मन जोध जीव पर बैठा, पंच बाण शर साँधी।
माने नाँहि शब्द सुन तेरा, काढि रह्या यूं काँधी[८] ॥२॥
छल बल बहुत ज्ञान गुन उर में, और महा मन स्वादी[९]।
रज्जब कहै राम सुन चुगली[१०], कृपा करैं मन बाँधो ॥३॥२१॥

मन को प्रभु स्वरूप में स्थिर करने के लिये प्रभु से विनय कर रहे हैं- हे विश्व के राजा[१] राम! यह[२] मन बड़ा अपराधी है। जिस जिस बात को जीव छोड़ता है, यह[३] लौटकर उसी से सम्बन्ध[४] करता है। मैं जिसके लिये कहता हूं कि—इसे एक क्षण भी मत छू किन्तु यह उसी को खाता[५] है। रात्रि-दिन पास रहकर नित्य देखते हुए भी मन की चालाकी[६] को मैं नहीं पा सका[७] हूं। यह मन रूप योद्धा पंच ज्ञानेन्द्रिय रूप बाणों को जीव पर साँध कर बैठा है। आपके शब्द सुन कर भी नहीं मानता, मारने के लिये कंधा[८] निकाल रहा है। इसमें बहुत-से छल-बल हैं। हृदय में ज्ञान और दैवीगुण रखने पर भी यह महा रसिक[९] बना रहता है। मैं आपके आगे मन की निन्दा[१०] कर रहा हूँ। आप कृपा करके मन को अपने स्वरूप के चिन्तन में बाँध दीजिये।

२२ माया। कहरवा

राम राय[१] महा कठिन[२] यहु माया, जिन माँहि सकल जग खाया ॥टेक
इन माया ब्रह्मा से मोहें, शंकर-सा अटकाया।
महा बली सिध साधक मारे, तिनका मान गिराया[३] ॥१॥

इन माया षट् दर्शन खाये, बातनि जग बौराया[४] ।
छल बल सहित चतुर जन चक्रित,[५] तिनका कछु न बसाया ॥२॥
मारे बहुत नाम सौं न्यारे, जिन यासौं मन लाया ।
रज्जब मुक्त भये माया सौं, जो गहि राम छुड़ाया ॥३॥२२॥

माया की कठोरता दिखा रहे हैं—हे राजा[१] राम ! यह माया महान् कठोर[२] है । इसने सब जगत् को मोहित करके खा लिया है । इस माया ने ब्रह्मा जैसों को मोहित किया है । शंकर जैसों को भी फँसाया है । महान् योग शक्ति रखने वाले सिद्धों को और साधकों को भी मार कर उनका मान नष्ट[३] किया है । इस माया ने-जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, सन्यासी, शेष, इन छः प्रकार के भेषधारियों को भी खाया है और अपनी बातों से सब जगत् को पागल[४] किया है । जो छल-बल के सहित चतुर जन थे, उनको भी इसने चकित[५] किया है । उनका इसके आगे कुछ भी वश नहीं चला है । जिनने अपने को आपके नाम चिन्तन से अलग रख कर इस माया से मन लगाया है, ऐसे बहुत से इसने मारे हैं । माया से तो वे ही मुक्त हुये हैं जिनको आप राम ने पकड़ के छुड़ाया है ।

२३ विनय । चौताल

राम राय[१] राखि लेहु जन तेरा, कोइ नांहिं बुद्धि बल मेरा ।
मन मैमंत[२] फिरे माया संग, घर आवे नहिं घेरा ॥टेक॥
पंच प्रचंड[३] प्राण महिं[४] पैठे, घर ही में घर घेरा ।
निशि दिन निमष होत नहिं न्यारे, देय रहे दिल डेरा ॥१॥
बाहर विघ्न बहुत विधि बैठे, प्रकीरति[५] बिच पेरा[६] ।
सुनहुं पुकार सुरति करि सांई, दुख दीरघ बहुतेरा ॥२॥
ये सब मार महर सौं भागे, तब जाय होय निबेरा[७] ।
आन उपाय वोत[८] नहिं जिव को, जन रज्जब सब हेरा ॥३॥२३

मनादि को ठीक करने के लिये प्रभु से विनय कर रहे हैं—हे राजा[१] राम ! मैं आपका जन हूं, मेरी रक्षा करो । मेरा ऐसा कोई बुद्धि बल नहीं है कि–उससे मैं अपनी रक्षा कर सकूं । मन मदोन्मत्त[२] हुआ माया के साथ फिर रहा है, घेर कर लाने पर भी आत्मारूप घर में नहीं आता । विषयों को प्राप्त करने के लिये भयानक[३] रूप बना कर पंच ज्ञानेन्द्रिय प्राणी में[४] प्रवेश किये हुये हैं, शरीर रूप घर में रहकर भी इनने अपनी चपलता से शरीर रूप घर को घेर रखा है अर्थात् अपने अधीन कर रक्खा है । रात-दिन में एक निमेष मात्र भी अलग नहीं होतीं, हृदय में अपना डेरा दे रक्खा है अर्थात् विषय-वासना भर रक्खी है । उक्त प्रकार भीतर

तो मनादि के स्वभाव[५] के बीच पड़ा[६] हूं, और बाहर भी बहुत प्रकार के विघ्न बठे हुये हैं । अतः हे प्रभो ! ध्यान देकर मेरी पुकार सुनो, मुझे बहुत बड़ा दुःख है । ये उक्त सभी दुःख आपकी कृपा रूप मार से भागेंगे । जब आपकी कृपा होगी तब इनसे छुटकारा[७] हो जायगा । मैंने सब प्रकार खोज लिया है, अन्य उपाय से जीव को शाँति[८] नहीं मिलेगी ।

२४ भक्ति याचना । कहरवा

भक्ति भावे राम भक्ति भावे, होहि कृपालु तो प्राणि पावे ।
स्वर्ग पाताल मध्य लोक मांगू नहीं,
और दत्त[१] दान नहिं अंग आवे ॥टेक॥
भक्ति भव हरण भगवान वश भक्ति के,
सिद्धि नव निधि ऋद्धि भक्ति मांहीं ।
सो देहु दाता करतार करुणा मई,
दास के आश उर और नांहीं ॥१॥
भक्ति में मुक्ति पदारथ सब सहित,
भक्ति भगवंत नहिं भेद भीना[२] ।
परम उदार पसाव[३] सो कीजिये, दान दीर्घ पावे सो दीना[४] ॥२॥
भक्ति भंडार भीतर भरी सकल निधि,
तुम बिना कौन यहु मौज[४] होई ।
रज्जब रंक को रहम[५] करि कीजिये, और ऐसा न दातार कोई ॥३॥

भगवान् से भक्ति मांग रहे हैं—हे राम ! मैं मन वचन से कहता हूं, मुझे भक्ति ही प्रिय लगती है । आप कृपा करें तो ही प्राणी भक्ति प्राप्त कर सकता है । मैं आपसे स्वर्ग, पाताल और मध्य के लोक नहीं माँगता और यदि कोई दिया[१] हुआ दान हो तो मेरे शरीर के लिये उसका फल प्राप्त करने की इच्छा भी मेरे हृदय में नहीं आती है अर्थात् नहीं प्रकट होती है । भक्ति-जन्मादि संसार को हरने वाली है, भगवान् स्वयं भी भक्ति के वश हैं । सिद्धि, ऋद्धि, नवनिधि भक्ति में ही हैं । हे करुणा मय करतार दाता ! वह ही मुझे दें, मुझ दास के हृदय में और कोई आशा नहीं है । भक्ति में सब पदार्थों के सहित मुक्ति है । भक्ति और भगवान् में भेद भिन्नता[२] नहीं है । परम उदार प्रभो ! उसी भक्ति के देने की कृपा[३] कीजिये । वह महा दान मुझ दीन[४] को प्राप्त हो । भक्ति रूप भंडार में सब निधि हैं किन्तु आपके बिना वह आनन्द[४] अन्य किससे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं । मुझ रंक को कृपा[५] करके भक्ति दीजिये । आपके बिना ऐसा दातार और कोई भी नहीं है । अतः आप ही दया करें ।

२५ भेष से हानि । कहरवा

संतो स्वांग मारिये लेखै[1],
झूठा रोष करै मत कोई, काम उजड़ता[2] देखै ।।टेक।।
दाढ़ी मूछ केश करि कानें[3], कामिनी रूप बनावैं ।
नारी ह्वै नारी को भुगतै, यूं अपराध[4] कमावैं ।।१।।
काया रासि[5] राखिबे कारण, गुरु सहना[6] दे छाये[7] ।
सो देखत दश बाट लुटाई, सबल[8] सजा इस पाये ।।२।।
काठों चढि माटी के लिये, कहु किन विषय कमाई[9] ।
मृतक स्वांग भांडि[10] इन भक्तों, रज्जब भक्ति गँवाई ।।३।।२५

सच्चाई बिना भेष से हानि होती है, यह कह रहे हैं—संतो ! भेष तो नाश करने के लिये[1] ही है । यह सुन कर कोई झूठा रोष न करे, भेष से काम बिगड़ता[2] ही देखा है । दाढ़ी, मूछ के केश दूर[3] करा करके नारी का रूप बनाते हैं, नारी बनकर नारी को भोगते हैं । इस प्रकार पाप[4] कमाते हैं । शरीर को ठीक[5] संयम से रखने के लिये गुरु ने कामादि के वेग को सहन[6] करने का उपदेश देकर इन पर भेष सजाये[7] थे । सो उस शरीर को देखते २ दश इन्द्रिय रूप दश मार्गों से लुटा देते हैं । इस व्यवहार से ये महान्[8] दंड पायेंगे । काष्ठ पर चढ़ कर अर्थात् खड़ाऊ पहनकर और मिट्टी के पात्र लेकर भी कहो, कौन विषय भोगता[9] है ? मुरदा काष्ठ की अरथी पर चढ़ता है और उसके पात्र मिट्टी के ही होते हैं । इन भक्तों ने तो मुरदे के भेष को बदनाम[10] करके भक्ति को खो दिया है ।

२६ भेष से काम नहीं होता । कहरवा

संतो स्वांग सरै क्या काम;
सौंज[1] सफल सांचे मग चलतां, निस्तारे निज नाम ।।टेक।।
शील[2] रहै संयम ह्वै प्राणी, भक्ति किये भव पारा ।
ज्ञान गहै तन मन को मारे, बानें[3] क्या उपकारा ।।१।।
दीन हुये द्वन्द्वर[4] मति नाशै, सेवा सब सुखदाई ।
प्रेम प्रीति परमेश्वर मानें, भेषों में क्या भाई ।।२।।
छाजन[5] भोजन सिरज्या लहिये, बिन रचना कछु नाहीं ।
तो ये बरण[6] करें किस ऊपर[7] क्या है दर्शन[8] मांहीं ।।३।।

नामहि तिरै त्रिगुणी माया, नाम निरंजन पावै ।
जन रज्जब जिव नाम विहूंणा[६], झूठा झूठ बणावै ॥४॥२६

भेष से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता यह कह रहे हैं—संतो ! भेष से क्या कार्य सिद्ध होता है ? शरीर रूप सामग्री[१] तो सच्चे मार्ग में चलने से सफल होती है और निज नाम का चिन्तन ही उद्धार करता है । ब्रह्मचर्य[२] से रहें, सब इन्द्रियों का संयम हो, गुरु ज्ञान ग्रहण करके तन-मन को मारे, इस प्रकार भक्ति करता है तब संसार से पार होता है, इसमें भेष[३] का क्या उपकार है ? नम्र होने से बुद्धि के द्वन्द्व[४] नष्ट होते हैं, सेवा सभी प्रकार का सुख देती है । परमेश्वर हृदय के प्रेम और प्रीति पूर्वक व्यवहार को ही अच्छा मानते हैं, फिर कहो भाई ! भेषों में क्या है ? वस्त्र[५]-भोजन भी जो प्रारब्ध में रचा है वही मिलेगा, बिना रचे कुछ नहीं मिलता, तब ये रंग[६]-विरंगे भेष किस आधार[७] पर करें, इन भेषों[८] में क्या है ? नाम चिन्तन से त्रिगुणात्मिका माया को तैरी जाती है, नाम से ही निरंजन ब्रह्म प्राप्त होते हैं । जो नाम चिन्तन से रहित[९] है, वह झूठा प्राणी ही झूठा भेष बनाता है ।

२७ नाम बिना भेष से मुक्ति नहीं । एकताल

संतो स्वांग करै क्या जानि,
नाम बिना नांहीं निस्तारा, और सकल विधि हानि ॥टेक॥
शिव विरंचि मुनि नाम दृढ़ावै, नाम हि नारद शेषा ।
उनकी समझ नाम मन लागा, कौन करे भ्रम भेषा ॥१॥
वेद कुरान दृढ़ावैं नाम हिं, नाम हि साधु सयाना ।
सोइ नाम निरताय[१] लिया निज, कहा करै कहु बाना[२] ॥२॥
नाम लिये हि सरै[३] सब कारज, नाम निरंजन रीझै[४] ।
जन रज्जब जिव नाम विहूना[५], कोटि स्वांग नहीं सीझै[६] ॥३॥२७

प्रभु नाम चिन्तन बिना भेष से मुक्ति नहीं होती, यह कह रहे हैं—संतो ! भेष क्या करता है ? सो जानो । नाम चिन्तन बिना उद्धार नहीं होता, अन्य सब विधियों से मुक्ति रूप कार्य की हानि ही होती है अर्थात् मुक्ति नहीं होती । शिव, ब्रह्मा, मुनिजन, प्रभु नाम को ही दृढ़ कराते हैं । नारद और शेष भी नाम ही बताते हैं । उनके विचारानुकूल हमारा मन भी नाम में ही लगा है, तब भ्रम मय भेष कौन बनायेगा ? वेद और कुरान भी नाम को ही दृढ़ कराते हैं । ज्ञानी संत भी नाम ही बताते हैं । उसी निज नाम को विचार[१] पूर्वक हमने भी अपना लिया है, फिर कहो भेष[२] क्या करेगा ?, नाम चिन्तन करने से ही सब कार्य सिद्ध[३] होते हैं,

नाम चिन्तन से ही निरंजन राम प्रसन्न[४] होते हैं। नाम चिन्तन से रहित[५] जीव कोटि भाँति के भेष बनाने पर भी मुक्ति रूप सिद्धावस्था[६] को प्राप्त नहीं होता।

२८ भेष भ्रम मय। कहरवा

संतो भेष भरम कछु नांहीं,
छः दर्शन छ्यानवें पाखंड, भूले प्रपंच मांहीं ॥टेक॥
स्वांग सलिल[१] संपूरण दीसै, मृग तृष्णा मन धावै।
नाम नीर ता में कछु नांहीं, दौड़ि दौड़ि दुख पावै ॥१॥
शीतकोट[२] मांहीं छिप बैठे, कहो वोत[३] क्या होई।
तैसे विधि दर्शन[४] में पैठें, काल न छोड़्या कोई ॥२॥
सकल चित्र[५] चिरमी की पावक, मन मरकट सब सेवैं।
जन रज्जब जाड़ा[१] नहिं उतरै उर आंधे जिव[०] देवैं ॥३॥२८

भेष तो भ्रम रूप ही है, यह कह रहे हैं–संतो ! भेष तो भ्रम रूप ही है, इसमें सत्यता कुछ नहीं है। जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, ये छः भेषधारी और अठारह बौद्ध, अठारह जंगम, चौबीस जैन, दश संन्यासी, बारह जोगी, चौदह शेख, ये छयानवे पाखंड, आदि सभी भेष धारी प्रपंच में भूले हुये हैं, अर्थात् फँस रहे हैं। सभी भेष मृग तृष्णा के जल[१] के समान दिखते हैं, मृग तृष्णा में जल कुछ भी नहीं होता फिर भी मृग दौड़ २ कर दुःख पाते हैं। वैसे ही भेष से नाम चिंतन कुछ भी नहीं होता फिर भी लोगों का मन भेष की ओर दौड़ता है। गंधर्व-नगर[२] (भ्रम नगर) में छिप कर बैठने से कहो, क्या शाँति[३] मिलेगी ? वह सूर्य के कुछ ही चढ़ने पर नष्ट हो जायगा। वैसे ही भेष[४] धारियों में प्रवेश करने से काल ने किसी को भी नहीं छोडा है। सब भेष चिन्ह[५] चिरमी की अग्नि के समान हैं, जसे चिरमी की राशि एकत्र करके वानर उससे तपते हैं, तब उससे शीत[६] दूर नहीं होता, फिर भी वानर मन के भ्रम से उसे घेर कर बैठे रहते हैं। वसे ही भेष चिन्हों से कुछ भी भला नहीं होता, फिर भी हृदय के अंधे प्राणी भेषों में मन[७] लगाते हैं।

२९ भेष पाखंड। कहरवा

दर्शन सांच जु सांई दीया, आदू[१] आप उदर में कीया।
पिछला सब पाखंड पसारा, ऐसे सद्गुरु कहै हमारा ॥टेक॥
सुन्नत झूठ जु बाहर काटी, कपट जनेऊ हाथैं बांटी।
मन मुख मुद्रा मिथ्या सींगी, भरम भगोहा[२] धींगाधींगी[३] ॥१॥

कपट कला जैनहु जुग ठाटी,[४] फाड़ि कान फोकट[५] मुख पाटी ।
प्रपंच माला तिलक जु बानै[६], यहां ही आय देह पर ठानै[७] ॥२॥
षट् दर्शन[८] खोटे कलि कीन्हे, अलियल[९] आय इला[१०] पर लीन्हे ।
जन रज्जब सो माने नांहीं, पहली छाप नहीं इन मांहीं ॥३॥२९

भेष केवल पाखंड है, यह कह रहे हैं—सच्चा भेष तो प्रभु ने दिया है, जो पेट में पहले[१] स्वयं ने ही बना दिया है, वही सच्चा है। पीछे जो बनाया जाता है वह तो पाखंड का ही विस्तार है। हमारे गुरु ऐसा ही कहते हैं। बाहर आने पर जो काट कर की जाती है वह सुन्नत झूठी है। हाथों से बांट कर पहनी जाती है, वह जनेऊ भी कपट रूप ही है। मुद्रा भी मनमुखता का चिन्ह है। सींगी भी मिथ्या ही है। कान फाड़ना भी व्यर्थ[५] ही है। ये भेष के उपद्रव[३] कायरता[२] है। जैनों ने भी कपट की कला रची[४] है जो मुख पर पाटी बाँधी है। जो भी माला, तिलकादि भेष[६] चिन्ह हैं, वे सब प्रपंच रूप ही हैं। यहाँ पृथ्वी पर आकर ही शरीर पर बनाते[७] हैं। कलियुग में ये छः प्रकार के भेष[८] बुरे ही बनाये हैं। पृथ्वी[१०] पर आकर अड़ियल[९] (हठी) लोग भी इन्हें धारण करते हैं। मैं तो इन हठी भेष धारियों को नहीं मानता, कारण—इनमें प्रभु की दी हुई पहली छाप अर्थात् भेष नहीं है। इनने उसे बदल दिया है।

३० निर्विकार ब्रह्म । कहरवा

संतो आवे जाय सु माया,
आदि न अंत मरै नहीं जीवै, सो किन हुं नहिं जाया ॥टेक॥
लोक असंख्य भये जा मांहीं, सो किहि गर्भ समाया ।
बाजीगर की बाजी ऊपर, यहु सब जगत भुलाया ॥१॥
शून्य स्वरूप अकल अविनाशी, पंच तत्त्व नहिं काया ।
अवतार अपार भये आभों[१] ज्यों, देखत दृष्टि विलाया ॥२॥
ज्यों मुख एक देखि द्वै दर्पण, भोलों दश कर गाया ।
जन रज्जब ऐसो विधि जाने, ज्यों था त्यों ठहराया[२] ॥३॥३०

ब्रह्म की निर्विकारता का परिचय दे रहे हैं—संतो ! जो आते जाते हैं वे सब तो माया के ही रूप हैं, जिसका आदि अंत नहीं है, जो मरता नहीं है और जीवित नहीं होता, उस निर्विकार ब्रह्म को किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। जिसकी सत्ता से असंख्य लोक उत्पन्न होते हैं, वह किसके गर्भ में आता है ? ईश्वर रूप बाजीगरकी संसार रूप बाजी पर ही सब जगत् के प्राणी अनुरक्त होकर उसे भूल रहे हैं। उसका स्वरूप सर्व विकार

शून्य, कला विभाग रहित अविनाशी है। वह पंच तत्व रचित शरीर वाला नहीं है। उस निर्विकार ब्रह्म में आकाश में बादलों[1] के समान अपार अवतार हुये हैं और जैसे बादल देखते २ आकाश में लय हो जाते हैं, वैसे ही वे अवतार उस ब्रह्म में लय हो गये हैं। जैसे दर्पण में एक मुख के दो मुख दीख जाते हैं, वैसे ही एक ब्रह्म को ही भोले लोगों ने दश रूप में देखा है। वह तो एक ही है, हम तो इसी प्रकार उसे जानते हैं और जैसा वह था वैसा ही उसे हृदय में धारण[2] किया है।

३१ भेषधारियों का कपट। त्रिताल

अवधू[1] कपट कला इक भारी, यूं सद्गुरु साखि विचारी।
षट् दर्शन[2] दीरघ ठग बैठे, काल रूप व्यापारी ॥टेक॥
स्वांगी सबै स्वांग दे लीन्हे, वय[3] बिच नेजाधारी[4]।
ऐसी शाठि[5] भई सब ऊपरि, सौंज[6] शिरोमणि हारी[7] ॥१॥
बांध किये वश बैल बिचारे[13], तप तीरथ ववैलारी।
ऐसे धरया काल ह्वै बैठया, लांबी पाश पसारी ॥२॥
कुल बांधे कृत्रिम[8] सौं कसि कसि, मन वच कर्म विचारी।
स्वर्ग नर्क अरु मध्य मही पर, यूं ठग करी ठगारी[9] ॥३॥
सुर नर नाथ दिये गूण्यूं[10] तलि, पीठ्यों छुई[11] सहारी[12]।
जन रज्जब जो इनसे मुकते, तिन ऊपरि बलिहारी ॥४॥३१

भेषधारियों की कपट कला को दिखा रहे हैं—साधो[1]! भेष धारियों में दूसरों को फँसाने की एक महान् कपट कला है। ऐसा ही सद्गुरु की साक्षी से हमने विचार किया है। जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, ये छः प्रकार के भेषधारी[2] पृथ्वी पर महा ठग बैठे हुये हैं और काल रूप होकर ही व्यवहार करते हैं। भेषधारियों ने सबको अपने कंठी आदि भेष चिन्ह देकर ग्रहण कर रक्खा है और इस मानव जीवन की अवस्था[3] में भाला[4]-धारण करके आने वाले शत्रु के समान हैं। जो इनके अधीन हुये हैं, उन सब पर ऐसी शठता[5] का व्यवहार हुआ है कि—उनने सर्व-श्रेष्ठ मनुष्य शरीर रूप सामग्री[6] को इनके दुराग्रह में आकर हाथ से खो[7] दिया है। जैसे किसान बैल के गले में ववैलारी (काष्ट खंड) बाँध कर उसे अपने अधीन करता है, वैसे ही बेचारे[13] भोले लोगों को व्रतादि रूप तप और तीर्थों में बाँधकर ऐसे पकड़ रक्खा है, मानो लम्बी पाश फैलाकर काल ही बैठा हो। मन, वचन, कर्म और विचार से सबको अपने बनावटी[8] कंठी आदि तथा प्रथा आदि बन्धनों से खूब खेंच खेंच कर बाँध रक्खा है। स्वर्ग, नरक और मध्य के लोक पृथ्वी पर इस प्रकार ठगों

ने ठगी[६] करी है। पीठ पर सहायता[८] की भावना छाकर[९] अर्थात् सहायता की स्वीकृति देकर नरनाथ, सुरनाथ और गुणियों[१०] तक को अपने कपट गुणों के नीचे दबाया है। जो इनसे मुक्त होकर प्रभु परायण हुये हैं, उन पर तो हम बलिहारी जाते हैं।

३२ आचार। त्रिताल

संतो ऐसा यहु आचार,

पाप अनेक करै पूजा में, हिरदै नहीं विचार ॥टेक॥

चींटी दश चौके में मारै, घुण दश हांडी मांहीं।

चाकी चूल्है जीव मरै जो, सो समझै कछु नांहीं ॥१॥

पाती फूल सदा ही तोड़ै पूजन को पाषाण।

पचन[१] पतंगे होंहि आरती, हिरदै नहीं बिनाण[२] ॥२॥

सारे जन्म जीव संघारै, इहि खोटे षट् कर्मा।

पाप प्रचंड[३] चढै शिर ऊपर, नाम कहावै धर्मा ॥३॥

आप दुखी औरों[४] दुखदायक, अंतरि राम न जाना।

जन रज्जब दुख करै दृष्टि बिन, बाहर पाखंड ठाना[५] ॥४॥३२

आचार पर अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—संतो! यह आचार ऐसा है—आचारवान् व्यक्ति पूजा के समय भी अनेक पाप करता है, हृदय में विचार नहीं रखता। चौका लगाते समय दशों चींटियाँ मार देता है। दालादि बनाते समय हँडिया में दशों घुण पका लेता है। चक्की-चूल्हे में जो जीव मरते हैं, उनको कुछ भी नहीं समझता। पत्थर की पूजा करने के लिये सदा ही फूल पत्ते तोड़ता रहता है। आरती में पतंग जल मरते[१] हैं, फिर भी हृदय में विशेष विचार[२] नहीं आता।। उक्त हिंसा पूर्ण इन बुरे छः कर्मों में सारे जन्म जीवों का संहार करता है। इनसे शिर पर उग्र[३] पाप चढता है और उनका नाम धर्म कहलाता है। इनका करने वाला आप दुःखी रहता है और दूसरों[४] को भी दुःख देता है। अपने भीतर स्थित साक्षी रूप राम को नहीं जान पाता। ज्ञान दृष्टि बिना बाहर पाखंड करके[५] दुःखों का साधन तैयार करता है।

३३ प्रतिमा। त्रिताल

संतो प्राण[१] पषाण न माने,

परम पुरुष बिन पाखंड सारा, तहां न आसति[२] जाने ॥टेक॥

सरिता शैल[३] सगे सुत बंधू[४], सेये[५] मुक्ति न द्यावै[६]।

सो स्वामी संपुट[७] में बांधे, घर घर मोल बिकावै ॥१॥

जाका इष्ट अवनि नहिं छाड़ै, सेवक स्वर्ग न जाई ।
या में फेर सार कछु नांहीं, भरम न भूलो भाई ॥२॥
कांधे कंठ हमारे चालै, जोख्यू[८] पावक पाणी ।
रज्जब घड़े सुनार सिलावट, सो सकलाई[९] जाणी ॥३॥३३

पत्थर आदि की मूर्तियों पर अपना विचार प्रकट कर रहे हैं–संतो ! हमारा जीवात्मा[१] पाषण पूजा में संतोष नहीं मानता, परम पुरुष प्रभु के बिना सभी पाखंड हैं । उस पाखंड से हम मुक्ति[२] होती हुई नहीं जानते । हे भाई[४] ? नर्मदा और गंडकी नदी के सम्बन्धी अर्थात् उन नदियों से निकले हुये पर्वत[३] के पुत्र पत्थरों की सेवा[५] करने से वे मुक्ति नहीं देते[६] । वह पत्थरादि का बनाया हुआ स्वामी तो डिब्बा[७] में रखकर घर-घर मोल बेचा जाता है । जिसका इष्ट देव पृथ्वी के एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता, तब उसका सेवक भी स्वर्ग में नहीं जा सकता । इसमें परिवर्तन करने की कुछ भी बात नहीं है, यह सार रूप विचार है । हे भाई ? इस भ्रम जाल में भूल कर भी मत पड़ो । जो हमारे कंध और कंठ में बैठ कर चलता है । (छोटी धातु मूर्ति कंठ में पहनते हैं, सवारी निकालते हैं तब बड़ी मूर्ति को कंधे पर रखते हैं) और जिसकी अग्नि तथा जल में पड़ने से हानि[८] होने की शंका रहती है, जो सुनार और सिलावट का घड़ा हुआ है, यही उसकी शक्ति[९] है, सो हमने जान ली है, अतः हमारा मन प्रतिमा को प्रभु नहीं मानता ।

३४ वाचिक ज्ञानी । त्रिताल

संतो कहे सुने कछु नांहीं,
जब लग जीव जंजाल[१] न छूटै, विकल विषय सुख मांहीं ॥टेक॥
करै अनीति मगन माया में, कहै अगम की वाणी ।
सो विपरीत संत नहिं मानैं, झूठ माहिली जाणी ॥१॥
बातैं सीख ब्रह्म ह्वै बैठा, निर्भय विषय कमावै[२] ।
पूछे से परपंची प्राणी, साखि आगम की ल्यावै ॥२॥
पद साखिन सिध साधक दीसै, इन्द्रियन है अपराधी[३] ।
तिहिं घट[४] नाम नहीं निज निर्मल, देह दशा नहिं साधी[५] ॥३॥
जो कछु करै अजान अज्ञानी, सो ही समझ सयाना[६] ।
जन रज्जब तासौं क्या कहिये, देखत दिवस भुलाना[७] ॥४॥३४

कहने मात्र के ज्ञानी का व्यवहार बता रहे हैं—संतो ! कहने सुनने मात्र से ही कुछ नहीं होता। जब तक जीव की जम[1]-जाल से मुक्ति नहीं होती तब तक वह विषय-सुख में निमग्न होकर व्याकुल होता रहता है। माया में निमग्न होकर अनीति करता है और वचन अगम ब्रह्म संबंधी बोलता है। सो यह बात उसकी विपरीत है—इसे संत श्रेष्ठ नहीं मानते, उसकी भीतर की मिथ्या बात को वे जान जाते हैं। ब्रह्म ज्ञान की बात सीखकर ब्रह्म बन बैठता है और निर्भय होकर विषयों को भोगता[2] है। उससे उसके विपरीत व्यवहार संबन्धी प्रश्न पूछें तो वह प्रपंची प्राणी अगम ब्रह्म संबन्धी साक्षी शास्त्रों से लाकर सुनाता है। पद साखियों के उच्चारण से तो सिद्ध तथा साधक दीखता है किन्तु इन्द्रियों की दृष्टि से पापी[3] होता है। उसके अन्तःकरण[4] में निर्मल निज नाम भी नहीं होता। वह अपने शरीर की चंचलतादि अवस्था को भी साधन द्वारा ठीक[5] नहीं करता। जो कुछ अनजान में अज्ञानी करता है, वही वह समझदार ज्ञानी[6] करता है। उसे क्या कहैं, वह तो देखते २ कुछ ही दिनों में दूसरे को भी भ्रम[7] में डाल देता है।

३५ हरि हृदय देखें। झपताल

हेरि[1] हेरि हेरै हरी, हिरदै की हेरै[2]।
राखण की राखै प्रभु, फेरण की फेरै ॥टेक॥
ताकि[3] ताकि ताकै मन हुं, त्रिगुणी[4] में न्यारा।
उरझे सेती[5] अहित भाव, सुरझे सौं प्यारा ॥१॥
देखि देखि देखे दिल हुं, दूजे नहिं धीजे[6]।
मन वचन कर्म त्रिशुद्ध ह्वै, सोई सुन लीजे ॥२॥
परखि परखि परखे तहां, पति[7] पारिख[8] पूरा।
रज्जब रज[10] तज काढ़ ही, हरि हेरि हजूरा[11] ॥३॥३५

हरि क्रिया और वचन व्यवहार को न देखकर हृदय की भावना ही ग्रहण करते हैं यह कह रहे हैं—हरि स्थूल शरीर की क्रिया और वचन व्यवहार को देख[1] कर हृदय की ओर देखते हुये हृदय की ही परीक्षा[2] करते हैं। यदि हृदय की भावना रखने योग्य होती है तो उसे प्रभु रखते हैं और लौटाने की होती है तो उसे लौटा देते हैं। चित्त-बुद्धि को देखते[3] हुये मन को देखते हैं कि—वह त्रिगुणात्मिका माया[4] में फंसा है या माया से अलग है। जो माया में फंसा है उसके साथ[5] अहित भाव रखते हैं अर्थात् उससे प्रेम नहीं करते और जो माया से अलग हो गया है उससे प्रेम करते हैं। क्रिया और वचनों को देखते हुये विशेष रूप से हृदय को ही देखते हैं। दूसरे क्रिया आदि पर विश्वास[6] नहीं करते। मन वचन, कर्म तीनों

द्वारा जो शुद्ध होता है, उसी की प्रार्थना सुन कर उसे अपनाते हैं। परीक्षा करने में पूर्ण परीक्षक[८] प्रभु[९] क्रिया वचनादि की परीक्षा करते हुये विशेष रूप से वहाँ हृदय स्थल में ही परीक्षा करते हैं। जो हृदय से रजोगुण[१०] त्याग देता है, उसके हृदय को हरि देख करके उसे संसार से निकाल कर अपने पास[११] रखते हैं।

३६ प्रभु को मत भूल। चौताल

सुन संसारी सीख को, मत भूले भाई।
जिहि पंथ प्रीतम पाइये, तिहि मारग जाई ॥टेक॥
विषयों से विगता[१] रही, मत करै सगाई[२]।
मूसा मीनी[३] को मिल्यों, मेल्हे गटकाई[४] ॥१॥
सुरही[५] सिंह हि क्यों बने, सो शोधर खाई।
अइया[६] मूढ अज्ञान मन, घर बैठा जाई ॥२॥
जो जंजाल[७] जीव सौं कट्या, सो फेरि न लाई।
जन रज्जब गत[८] ऊपरै, वित[९] भूल न जाई ॥३॥३६

कुसंग द्वारा प्रभु को मत भूल यह कह रहे हैं—हे भाई ! सांसारिक प्राणियों की सीख को सुनकर प्रभु को मत भूल। जिस साधन मार्ग में प्रभु प्राप्त होते हैं उसी मार्ग में चल अर्थात् भजनादि साधन कर। विषय से अलग[१] रह, उनसे संबन्ध[२] मत कर। चूहा मिलते ही बिल्ली[३] उसे निगल[४] कर पेट में रख लेती है। गाय[५] के और सिंह के प्रेम कैसे हो सकता है ? वह तो गाय को खोज कर खा जाता है। अरे[६] मूर्ख अज्ञानी मन ! विषयों से मिलने पर यही दशा तेरी होगी। तू अब तो प्रभु रूप घर में जा बैठा है। जो जम[७]-जाल जीव का कट गया है, उसको पुनः नहीं लगा। हीन[८] विषयों पर मोहित हो अपने प्रभु रूप हृदय धन[९] को भूल कर संसार में मत जा।

३७ कुसंग। कहरवा

करि न कुसंगति आतमा, गुरु ज्ञान विचारी।
सकल बुरे का मूल है, सुन सीख सु सारी ॥टेक॥
चोर जार बटपार[१] ह्वै, बहु करै बुराई।
संगति करि संकट सबै, नीके निरताई[२] ॥१॥
काया संगति कपट में, मन मनसा[३] मैली।
प्राणि पाप पूरण करै, पंचन की सैली[४] ॥२॥

माया मिल मैले सबै, सब लोक मंझारा।
जन रज्जब रज[५] ऊतरै, रटि राम पियारा ।।३।।३७

कुसंग से हानि होती हैं, यह कह रहे हैं–हे जीवात्मा ? कुसंग नहीं करके गुरु के ज्ञान का विचार कर । कुसंग संपूर्ण बुराइयों का मूल कारण है, उसे छोड़ देना चाहिये । यही संपूर्ण शिक्षा का सार है सुन ले। कुसंग से प्राणी चोर, व्यभिचारी, लुटेरा[१] बन जाता है और बहुत-सी बुराइयां करने लगता है। हमने अच्छी प्रकार विचार[२] कर लिया है, कुसंगति से सभी दुःख आते हैं । कुसंग से शरीर में कपट आ जाता है, मन, बुद्धि[३] मलीन हो जाते हैं । पंच ज्ञानेन्द्रियों की विषय भोग की रीति[४] में पड़कर प्राणी पूर्ण रूप से पाप करने लगता है। कपट रूप माया से मिलने पर सभी मलीन हो जाते हैं । सभी लोकों में ऐसा ही है । कुसंगति से लगे पाप[५] प्यारे राम नाम का चिन्तन करने से ही उतरते हैं ।

३८ हिंसा त्याज्य । त्रिताल

हिन्दू तुरक सुनो रे भाई, काहू से मत होहु दुख दाई ।
बीज्या होहि उधारा देणा, किया न कांठे[१] जाई ।।टेक।।
मार हि जीव सोच बिन सौदा, मन मुख मांस गरासै[२] ।
लेखा लियूं लखोगे प्राणी, यहु न टलैगी हांसै ।।१।।
पग की पीड़ अश्म[३] करि उन्हा[४], दुख ऊपरि सु लगाया ।
संग[५] पुकार सुनी सांई ने, हजरत दांत तुड़ाया ।।२।।
जौ की रोटी भाजी सेती[६], मुहमद उमर गुजारी ।
आगे ज्वाब जबह[७] का मांगै, यूंकर करद[८] न धारी ।।३।।
ऋषि रहते जंगल जाय बैठे, झड़े पड़े फल खाये ।
जठर अग्नि जुगति सौं टाली, जीव न जगत सताये ।।४।।
हुये हमाय[९] ओलिया[१०] साधू, बेंअजार[११] सुखदाई ।
जन रज्जब उनकी छाया[१२] में, महर दया तिन पाई ।।५।।३८

हिंसा नहीं करनी चाहिये यह कह रहे हैं–हिन्दू और मुसलमान भाइयो ! हमारी बात सुनो–तुम किसी को भी दुःख दाता मत बनो । जैसे बीजा हुआ उगता है, उधार दिया जाता है वह आता है, वैसे ही अपने किये कर्म का फल अपने पास ही आता है, दूर[१] नहीं जाता । मनमुखी प्राणी जीवों को मार कर मांस खाते[२] हैं, यह व्यापार उनका बिना विचार का है । हे हिंसक प्राणियो ! जब तुमसे हिसाब लिया जायगा,

तब तुम देखोगे कि—तुम्हारे हिंसा-कर्म का फल तुम्हें कितना दुःख देगा। यह सजा हँसी से नहीं टलेगी, रोते हुये तुम्हें भोगनी ही पड़ेगी। हजरत मुहम्मद ने अपने पैर की पीड़ा पर पत्थर[३] को गर्म[४] करके लगाया था। उस पत्थर[५] की पुकार प्रभु ने सुनी और उसी पत्थर से हजरत के दांत तुड़ाये थे। मुहम्मद ने जौ की रोटी शाक से[६] खाकर अपनी आयु व्यतीत की थी। वे जानते थे कि—जीव हिंसा[७] का जवाब आगे माँगा जायगा, इसी कारण जीवों को मार कर खाने के लिये उनने अपने हाथ में तलवार[८] नहीं धारण की थी। ऋषि जन वन में जा बैठे थे और हिंसा से रहित रहते थे। अपने आप झड़ कर पड़े हुये फल खाते थे। वे अपनी जठराग्नि को युक्ति से शांत करते थे, उन्होंने जगत् के जीवों को नहीं सताया था। साधु-संत[१०] तो हमा[९]-पक्षी के समान परोपकारी, हिंसारूप रोग[११]-से-रहित सबको सुख दाता ही हुये हैं। साधु-संतों की शरण[१२] जाकर तो जीवों ने उनकी दया कृपा ही प्राप्त की है।

३९ विरह व्यथा। दादरा

म्हारो मंदिर सूनों राम बिन, बिरहनि नींद न आवे रे।
परोपकारी ना मिलै, कोइ गोविन्द आन मिलावे रे ॥टेक॥

चेती विरहनि चिन्तन[१] भाजै, अविनाशी नहिं पावे रे।
इहिं वियोग जागे निशि वासर, विरहा बहुत सतावे रे ॥१॥

विरह वियोग विरहनी बेधी, घर वन कछु न सुहावे रे।
दह दिशि देखि भयो चित चक्रित[२], कौन दशा दरशावे रे ॥२॥

ऐसा सोच पड़ा मन मांहीं, समझ समझ धूंधावे[३] रे।
विरह बाण घट अंदर लागे, घायल ज्यों घूमावे रे ॥३॥

विरह लाय[४] तन पिंजर छीना, पिव को कौन सुनावे रे।
जन रज्जब जगदीश मिले बिन, पल पल वज्र बिहावे[५] रे ॥४॥ ३९

प्रभु वियोग जन्य दुख को बता रहे हैं—मेरा हृदय मंदिर राम के साक्षात्कार बिना शून्य हो रहा है, मुझ वियोगिनी को निद्रा भी नहीं आती। कोई ऐसा परोपकारी संत भी नहीं मिलता, जो गोविन्द को लाकर मिला दे। जब से वियोगिनी बुद्धि प्रभु दर्शन के लिये अचेत हुई है तब से उसके अन्य विचार[१] तो सब भाग गये हैं और इधर अविनाशी राम का साक्षात्कार भी नहीं हो रहा है। इस वियोग-व्यथा के जागने के बाद तो विरह रात्रि-दिन बहुत दुःख देता है, विरह-वियोग-व्यथा से विरहनी विद्ध हो गई है, घर-वन कुछ भी तो अच्छा नहीं लगता। दशों दिशाओं को देखकर चित्त चकित[२] हो रहा है। पता नहीं यह कौनसी अवस्था देखने में आ रही है। मन में ऐसा विचार आ पड़ा है कि—उसको समझकर

भीतर से धुंआँ[3] निकल रहा है अर्थात् गर्म निश्वास आ रहा है। विरह रूप बाण अंतःकरण के भीतर लगे हैं, उनकी पीड़ा शरीर को घायल के समान घुमा रही है। विरह अग्नि[4] ने शरीर रूप पिंजरे को क्षीण कर दिया है। यह बात प्रियतम प्रभु को कौन सुनावे। उन जगदीश्वर के मिले बिना एक-एक क्षण वज्र के समान कठोर अर्थात् दुःख से निकल[5] रहा है।

४० बुद्धि गो। त्रिताल

अवधू[1] सुरही[2] शक्ति संभाली[3],
दह[4] दिशि विघ्न बाघ वसुधा में, मौंच मया[5] करि टालो ॥टेक॥
नौखंड मांहि फिरै चरणों ही, सात समुद्र जल पाना।
तब लग गाय गरज[6] नहिं सारै[7], समझी ग्वाल सयाना ॥१॥
स्वार्थ सांड समागम होतां, आधीन उदर आधाना[8]।
व्याये वच्छ सु पांच पचीसों, राग द्वेष सब ठाना[9] ॥२॥
ल्यो[10] की लाठी हेत[11] हाथ ले, चेतन पग[12] रखवारी।
ऐसे तंबा[13] त्रासि पासि कर, कारज सारै[14] भारी ॥३॥
अगम उछेरी[15] उलटि अकाश हि, नाम नाज सु चराई।
वायक[16] वृक्ष छांह सुन शीतल, संतोष सरोवर पाई ॥४॥
कामधेनु के काम न व्यापै, दूध दर्श निज थाना[17]।
जन रज्जब धनि धेनु धणी[18] सो, पीवै अमृत पाना ॥५॥४०

बुद्धि रूप गाय का परिचय दे रहे हैं—हे साधक[1] ! बुद्धि रूप गाय[2] की शक्ति को स्मरण[3] कर, उसमें महान् शक्ति है। दशों[4] दिशाओं में जो विघ्न रूप बाघ हैं, उनसे होने वाली बुद्धि रूप गाय की भ्रष्ट होना रूप मृत्यु को भगवान् की कृपा[5] प्राप्त करके हटा। यह बुद्धि-गाय पृथ्वी के नौओं खंडों में अपने वासना रूप चरणों से ही घूमती है अर्थात् वासनानुसार सबका विचार करती है और अपने आशा रूप मुख से सप्त समुद्रों का जल भी पान कर जाती है किन्तु हे चतुर साधक रूप ग्वाल ! तब तक यह तेरी आवश्यकता[6] नहीं पूरी[7] करेगी जब तक स्वार्थ रूप सांड का समागम इससे होता रहेगा। कारण-उसके अधीन होकर यह अपने आशयरूप पेट में गर्भधारण[8] करके, पंच विषयों की आशा और पचीस प्रकृति रूप वत्सों को जन्म देगी तथा रागद्वेष करेगी[9]। अतः नाम चिन्तन वृत्ति[10] रूप दंडा प्रभु-प्रेम[11] रूप हाथ में लेकर चेतन स्वरूप[12] में स्थिर करना रूप रखवाली इसकी निरंतर रख, ऐसे इस बुद्धि-गाय[13] के गले में त्रास रूप पाश डाल कर रक्खेगा तो यह मुक्ति रूप महान् कार्य

को सिद्ध[14] कर देगी। दुर्गम ज्ञान मार्ग द्वारा इसे संसार से बदल कर ब्रह्मरूप आकाश की ओर घेर[15] और भली भांति नाम चिन्तन रूप नाज चरा, संत वचन[16] रूप वृक्ष की छाया की श्रवण करना रूप शीतलता में बैठा, संतोष रूप सरोवर का शांति रूप जल पिला। ऐसे रखने से मुक्ति रूप कामना को भी पूर्ण करने वाली बुद्धि रूप कामधेनु पर काम अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा और यह अपने विचार रूप स्तनों[17] से ब्रह्म साक्षात्कार रूप दूध देगी। इस प्रकार जो बुद्धि-गाय का स्वामी[18] उसका ब्रह्म साक्षात्कार रूप दुग्धामृत पान करता है वह धन्य है।

४१ काल चेतावनी। धीमाताल

काम कर्म[1] वश को नहीं, कहु काहि बताऊं।
जे आये ते सब गये, खुर खोज न पाऊं॥टेक॥

ब्रह्मा विष्णु महेश से, सब मींच मँझारा[2]।
केई चाले केई चालसी, यहु एक विचारा॥१॥

चन्द्र सूर्य पानी पवन, धरती आकाशा।
षट् दर्शन अरु खलक सौं, सब सुनिये नाशा॥२॥

अंतक मुख आकार सब, यहु भोला नाहीं।
जन रज्जब जगदीश भज, जग जाते मांहीं॥३४१॥

काल की करतूति से सचेत कर रहे हैं—कहो, काल की करतूति[1] के वश में कौन नहीं है? सभी हैं, फिर हम किसको बतायें। जो जन्म लेकर आये थे, वे सभी काल के गाल में चले गये हैं। हमें उनका खुर खोज अर्थात् नाम-निशान भी नहीं मिलता। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, जैसे भी मृत्यु के मुख में[2] जाने वाले हैं। कितने ही तो मृत्यु के मुख में जाने के लिये चल रहे हैं और कितने ही जायेंगे। सभी के लिये यह एक ही विचार है कि—सभी नष्ट होंगे। चन्द्र, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, षट् प्रकार के भेष धारियों से लेकर सभी संसार नष्ट होगा। सुनो! सभी आकार काल के मुख में जायेंगे। यह काल भोला नहीं है जो किसी को छोड़ दे। इस काल के मुख में जाते हुए जगत् में रहकर जगदीश्वर का भजन ही करो यही सार है।

४२ ज्ञान-आंधी। चौताल

आई आंधी अकलि[1] की, अभि अंतरि देशा।
बरण बाड़ि सब उडि गई, लहिये नहिं लेशा॥टेक॥

वृक्ष बड़ाई के पड़े, रज राजस ऊड़ी।
परकीरति पक्षी मुये, खै[2] मान सु खूड़ी[3]॥१॥

कर्म कजोड़ा उड़ गया, बुधि वायर[४] आये।
छानि मान्य[५] सारी चली, भाये अन भाये ॥२॥
सुमति समीर[६] समूह तैं, पट पड़दे भागे।
बादल विरह विगासिये[७], नयनों झर लागे ॥३॥
अनल अनिल[८] सु ऊलटे, उर अवनि सु धाई।
रज्जब नेपै[९] नाम की, आतमा अघाई[१०] ॥४॥४२

ज्ञान रूप प्रचंड वायु का प्रभाव दिखा रहे हैं—भीतर अन्तःकरण प्रदेश में ज्ञान[१] रूप आंधी आई है, जिससे वर्ण व्यवस्था की मर्यादा रूप बाड़ उड़ गई है, उसका आग्रह लेश मात्र भी नहीं रहा है। बड़ाई रूप वृक्ष उखड़ पड़े हैं। रजोगुण रूप रज उड़ गई है। प्रभु से भिन्न की कीर्ति कथन करना रूप वा दुष्ट स्वभाव रूप पक्षी मर गये हैं। अभिमान रूप खड्डा[३] नष्ट[२] हो गया है। इस ज्ञान रूप वायु[४] के आते ही कर्म रूप कूड़ा उड़ गया है। सब प्रकार की प्रतिष्ठा[५] रूप छप्पर उड़ चला है। प्रिय अप्रिय भाव भी नष्ट होकर समता आ गई है। सुबुद्धि रूप वायु[६] से अज्ञान रूप वस्त्र के पड़दे उड़ गये हैं। विरह रूप बादल प्रकट[७] हो गये हैं। नेत्र-अश्रु पड़ना रूप झड़ लग गया है। अनल पक्षी रूप प्राण वायु[८] उलट कर हृदय रूप पृथ्वी की ओर दौड़ रहा है अर्थात् प्राण का संयम हो रहा है। नाम चिन्तन रूप सुन्दर खेती[९] उत्पन्न हो गई है अर्थात् निरंतर नाम चिन्तन होता है। इस प्रकार इस आँधी से प्रभु को प्राप्त करके जीवात्मा तृप्त[१०] हो गया है।

४३ संत-बोध वरद। त्रिताल

संत हु बोध विमल वरदाई[१],
जाति पांति जिव की नहिं जाने, परसत[२] होत सहाई ॥टेक॥
दृग अनन्त ज्यों देखि दिवाकर[३], तम[४] तारो[५] खुल जाई।
ऐसे ज्ञान अज्ञान उठावत, उर आँखिन रुसनाई[६] ॥१॥
इन्द्र अकलि[७] धर ऊपरि वर्षत, घट बध करत न घाई[८]।
नीर ज्ञान के गति मति एकै, नर तरु तन निरताई[९] ॥२॥
देव[१०] दृष्टि नांहीं तहँ दुविधा, पंच तत्त्व परि पाई।
रज्जब रही तहां लघु दीरघ, समता सुरति[११] समाई ॥३॥४३

संत पवित्र ज्ञान-वर के दाता होते हैं, यह कह रहे हैं—संत पवित्र बोध रूप वर-के-दाता[१] हैं, वे जीव की जाति पांति नहीं जानना चाहते,

उनके पास जाकर मिलते[2] ही वे शिक्षा द्वारा सहायक होते हैं। जैसे सूर्य[3] के दर्शन से अनन्त नेत्रों का अंधकार[4] रूप ताला[5] खुल जाता है और आँखों को पूर्ण प्रकाश[6] प्राप्त होता है, वैसे ही संतों का ज्ञान हृदय से अज्ञान को हटा कर उसमें ज्ञान-प्रकाश कर देता है। इन्द्र पृथ्वी पर जल वर्षाता है तब कम या अधिक वर्षाने का छल[8] नहीं करता सब वृक्षों को समान ही देता है। वैसे ही संत सब को समान ही ज्ञानोपदेश[9] करते हैं। जल द्वारा वृक्षों की गति अर्थात् वृद्धि और ज्ञान द्वारा नर शरीरों की बुद्धि की वृद्धि एक-सी ही होती है। यह हमने विचार लिया[9] है। उनकी ज्ञान-दृष्टि पूज्य[10] होती है उसमें द्विविधा नहीं होती और पंच तत्त्व के गुण पंच विषयों के ऊपर उठ जाने पर प्राप्त होती है। छोटे-बड़े की भावना उस स्थिति से पीछे ही रह जाती है। उस स्थिति में तो वृत्ति[11] समता में समाई रहती है।

४४ सद्गुरु बिना मुक्ति नहीं। कहरवा

सुन-सुन बातैं वेद की, चखि[1] चौंधि[2] सयाने।
दह[3] दिशि दौड़े दूर को, उर अठसठ ठाने[4] ॥टेक॥
भागवत कहै भगवंत दश, भोले सुन भूले।
स्वर्ग नरक मधि लोक में, मतिमान सु डूले[5] ॥१॥
सगुण निर्गुण एक है, नित निगम बतावे।
यूं आतम उरझी उरै[6], सो सुलझ न आवे ॥२॥
संशय सबल न भाग ही, व्याकरण विचारा।
जन रज्जब सद्गुरु बिना, जीव होय न पारा ॥३॥४४

सद्गुरु बिना मुक्ति नहीं होती, यह कह रहे हैं—वेद की नाना भांति की बातें सुनकर चतुर मानवों के बुद्धि-नेत्र[1] भी तिलमिला[2] जाते हैं। दशों[3] दिशाओं में दूर-दूर दौड़कर जाते हैं, हृदय में अड़सठ तीर्थों में जाने का विचार करते[4] हैं। भागवत दश भगवान् कहती है, भोले लोग सुनकर भ्रम में पड़ जाते हैं, स्वर्ग नरक और मध्य के पृथ्वी लोक में बुद्धिमान भी उक्त प्रकार की बातों से चलायमान[5] हो जाते हैं। सगुण और निर्गुण एक ही है, यह सदा से वेद बताता है, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार की बातों से जो जीवात्मा निर्गुण ब्रह्म से दूर[6] सगुण में ही उलझा रहता है, सुलझकर निर्गुण ब्रह्म तक नहीं आपाता। उक्त सबल संशय व्याकरण के विचार से दूर नहीं होता। अतः सद्गुरु के बिना जीव संसार से पार नहीं हो पाता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित राम गिरी राग १ समाप्तः।

अथ रागमाली गौड़ २

(गायन समय संध्या ५ से ९ रात्रि)

४५ दोष मुक्ति हित पुकार । त्रिताल

जालिम[1] दिवान[2] तेरा, कोई नाँहि बदी[3] नेरा ।
सब रोज गुनहगार[4] बंदा[5], क्या हवाल[6] मेरा ।।टेक।।
चंद जाहिर[8] गुनाह[9], नेकी[10] नहिं नेरा ।
नाम नेस्त[11] दिगर[12] पेश[13], पुर[14] दरोग[15] देरा[16] ।।१।।
तालिब[17] खुद ख्वाब[18] करद[19], गाफिल बहुतेरा ।
बदी[20] बिसियार[21] फैल, होय क्यों निबेरा[22] ।।२।।
तरस[23] पुरसिश[24] दोस, जाहिर जब घेरा ।
रज्जब विचार करि पुकार, और रह न नेरा ।।३।।१

दोषों से मुक्त होने के लिये पुकार कर प्रार्थना कर रहे हैं—हे मालिक[2] मैं आपका क्रूर[1] दास[5] हूँ, मेरे समान बुराई[3] के पास रहने वाला आपका सेवक कोई भी नहीं होगा । मैं तो प्रतिदिन अपराधी[4] ही रहा हूं, मेरा क्या हाल[6] होगा । मेरे कुछ[7] दोष[9] तो प्रकट[8] ही हैं और भलाई[10] तो मेरे समीप भी नहीं है । नाम चिन्तन रूप साधन भी मुझसे नहीं[11] होता, दूसरे[12] विकार ही सामने[13] आते हैं । मेरा हृदय-मंदिर[16] असत्य[15] से भरा[14] हुआ है । मैं आपको खोजनेवाला[17] स्वयं ही स्वप्न[18] के-से विचार करके[19] बहुत असावधान हो रहा हूं । बहुत अधिक[21] बुराई[20] करके भी भलाई के फैल करता रहा हूं, मेरी मुक्ति[22] कैसे होगी ? जब दोषों ने मुझे प्रकट रूप से आ घेरा है, तब भय[23] से मैंने आपसे पूछा[24] है । मैं विचार पूर्वक आप से पुकार कर प्रार्थना कर रहा हूं, अब आप ऐसी कृपा करें कि—आपके बिना अन्य कोई भी मेरे समीप न रहै अर्थात् सर्वत्र आपका ही दर्शन होता रहे ।

४६ ज्ञानाग्नि । चौताल

सद्गुरु घर जारा हो सद्गुरु घर जारा ।
प्राण[1] पोष धाम दोष, अग्नि के आहारा ।।टेक।।
ज्वाला जल माँहि डारि, सब समुद्र चारा ।
मीन मगन अग्नि मध्य, अचरज व्यवहारा ।।१।।
दौं[2] प्रसंग दग्ध होत, धरनी[3] नीर सारा ।
हूं है हैरान[4] है, हरी अठार[5] भारा ।।२।।

रज्जब यहु कहै काहि, कौन सुनन हारा।
देखे कोई कोटि मध्य, अग्नि का पसारा ॥३॥२

सद्गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान रूप अग्नि का प्रभाव बता रहे हैं—सद्गुरु ने हमारे हृदय-घर में ज्ञानाग्नि जला दिया है, खूब जला दिया है। जीवात्मा[1] का इससे बड़ा पोषण हुआ है और हृदय-धाम के सब दोष ज्ञानाग्नि के भोजन बन गये हैं अर्थात् नष्ट हो गये हैं। भगवत्-प्रेम रूप पानी में ज्ञानाग्नि की ज्वाला डाल दी है, उसने विषय रूप समुद्र को अपना भोजन बना लिया है अर्थात् विषयाशा नष्ट करदी है। बुद्धि रूप मच्छी इस ज्ञानाग्नि में अति हर्षित हो रही है। इस ज्ञान रूप दावाग्नि[2] के प्रसंग से मायिक[3] राग रूप संपूर्ण पानी जल गया है किन्तु मन, वचन, कर्म से बड़ा ही आश्चर्य[4] देखने में आता है कि—अठारह[5] भार वनस्पति इस अग्नि से हरी हो रही हैं अर्थात् शरीर के रोम हर्ष से खड़े हो रहे हैं। यह बात हम किसको कहैं, कौन सुनने वाला है? इस ज्ञानाग्नि के विस्तार को तो कोटि संख्या में भी कोई एक व्यक्ति ही देख पाता है।

४७ निज साधन परिचय। त्रिताल

राम हि नाम मन लीनों,
गुरु प्रसाद परम रस पूरण, प्राणि[1] पीयूष[2] सु पीनों ॥टेक॥
सहज समाधि सुरति नित साबित, भाव भक्ति करि भीनों[3]।
अंतरि गगन मगन मद मातो, यहु आरंभ उर कीन्हों ॥१॥
आदि अंकूर गुरु मुख गरज्यो, कठिन कर्म कृत[4] छीन्हों[5]।
रज्जब राम रटै निशि बासर, आप उचित दत[6] दीन्हों ॥२॥३

अपने साधन का परिचय दे रहे हैं—हमारा मन रामनाम में ही लीन हो रहा है। गुरुदेव के कृपा प्रसाद से पूर्ण ब्रह्म का चिन्तन रूप परम-रस हमें प्राप्त हुआ है। उसी अमृत[2] को हमारा जीवात्मा[1] भली भाँति पान कर रहा है। वृत्ति सदा पूर्ण रूप से सहज समाधि में रहती है। हृदय भाव-भक्ति रस से भीगा[3] रहता है। मन आंतर हृदयाकाश में भक्ति-रूप मद्य से मत्त होकर हर्षित रहता है। हमने हृदय में यही कार्यारंभ कर रक्खा है। गुरु-मुख द्वारा हमारे आदि स्वरूप बीज से ज्ञान-रूप अंकुर फूट निकला है। उसने पूर्व किये[4] हुये कठिन कर्मों को क्षीण[5] कर दिया है। हम रात्रि-दिन राम का ही चिन्तन करते रहते हैं। स्वयं प्रभु ने ही हमें यह उचित दान[6] दिया है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित माली गौड़ राग २ समाप्तः ॥

अथ राग गौड़ी ३

(गायन समय २ से ६ दिन)

४८ सद्गुरु प्रभाव । कहरवा

गुरु प्रसाद अगम गति पावै, पलटे जीव ब्रह्म ह्वै आवै ।।टेक।।
हरि भृंगी गुरु डंक समान, मारत तन्मय[1] भये जु प्रान ।।१।।
चंदन राम सु गुरु गति वास, भेदै[2] भेद नहीं वन दास ।।२।।
ब्रह्म सूर गुरु किरण प्रकाश, रज्जब जिव जल परसि[3] अकाश ।।३।।१

सद्गुरु का प्रभाव बता रहे हैं—गुरु के कृपा प्रसाद से जीव अगम ब्रह्म में जाने की योग्यता प्राप्त करता है। जीव भाव से बदल कर ब्रह्म हो जाता है। हरि भृंगी के समान हैं, गुरु भृंगी के डंक के समान हैं। जैसे भृंगी का डंक लगने से कीट बदल कर भृंगी बन जाता है, वैसे ही गुरु के उपदेश से जीव हरि रूप[1] ही हो जाता है। राम-चन्दन के समान हैं, सुगुरु चंदन की सुगंध के समान हैं। जैसे चंदन की सुगंध से विद्ध होकर वन के वृक्ष चंदन हो जाते हैं, वैसे ही गुरु के उपदेश से विद्ध[2] होकर दास राम रूप ही हो जाता है, राम से उसका भेद नहीं रहता। ब्रह्म सूर्य के समान हैं, गुरु उसकी किरण के समान हैं। जैसे सूर्य किरण के स्पर्श[3] से जल आकाश को जाता है, वैसे ही गुरु के ज्ञान प्रकाश से मुक्त होकर जीव ब्रह्म स्वरूप में लय हो जाता है।

४९ निरंजन पद-पद्धति । त्रिताल

गुरु मुख शिष्य गोविंद में जाई,
ऐसे धरचा[1] अधर[2] ह्वै भाई ।।टेक।।
सूर्य सत्ता[3] चढै नभ नीर, त्यों शब्द समाहि शून्य[4] में सीर[5] ।।१।।
दीप ज्योति मिल तेल अकाश,
त्यों वचन प्रसंग[6] निरन्तर बास ।।२।।
धोम गगन मति[7] मारुत माग,
त्यों जीव सीव[8] ह्वै उनमनि[9] लाग ।।३।।
शब्द सुरति सँग आतम थान,
त्यों प्राण ज्ञान गलि पद निर्बान ।।४।।
यूं अंजन[10] पलटि निरंजन होई,
रज्जब वास वायु संग जोई ।।५।।२

निरंजन पद प्राप्त होने की रीति बता रहे हैं—गुरु मुख अर्थात् गुरु के उपदेश को मानने वाला शिष्य गोविन्द के स्वरूप में जाता है, अर्थात् गोविन्द रूप ही हो जाता है। हे भाई! इस प्रकार मायिक[1] संसार का जीव ब्रह्म[2] हो जाता है। जैसे सूर्य की किरण रूप शक्ति[3] से जल आकाश में चढ जाता है, वैसे ही ज्ञान मय शब्द में समाकर वृत्ति ब्रह्म[4] में मिल[5] जाती है। जैसे दीप की ज्योति से मिलकर तेल आकाश रूप हो जाता है, वैसे ही संत वचनों के संबन्ध[6] से ब्रह्म में वृत्ति का निरंतर निवास होने लगता है। जैसे वायु के मार्ग अर्थात् वायु के संग धुआँ आकाश को जाती है, वैसे ही ज्ञान[7]-मार्ग द्वारा सहज समाधि[8] में लग कर जीव ब्रह्म[9] हो जाता है। जैसे आत्म बोधक शब्द के संग से वृत्ति को आत्म-रूप स्थान प्राप्त होता है, वैसे ही ज्ञान द्वारा प्राणी का जीवत्व भाव गल कर निर्वाण पद प्राप्त होता है। देखो, जैसे वायु के संग से गंध वायु रूप हो जाता है, वैसे ही निरंजन के विचार रूप संग से माया[10] में फँसा हुआ जीव भी जीवत्व भाव से बदल कर निरंजन पद को प्राप्त हो जाता है।

५० आन्तर साधना। धीमा ताल

ईहि परदे परदे सब जाँहि, गुरु प्रसाद परम पद माँहि ॥टेक॥
चाहि चखिन[1] चश्मा गुरु दीजे, तब दयालु का दर्शन कीजे ॥१॥
शब्द सलिल[2] में नैन निहारै, ईहि लक्षण रावण मन मारै ॥२॥
अधिक अहार अजीर्ण होय, बूंटो बैन[3] जरै पुनि सोय ॥३॥
रज्जब जलन जरे की जाई, ज्ञान अग्नि जे सेकै आई। ४॥३

आन्तर साधना का लाभ बता रहे हैं—सर्व अज्ञानी प्राणी इस अज्ञान के पड़दे ही पड़दे में रहने से संसार में भ्रमण करने को जा रहे हैं। कोई विरले ही गुरु के कृपा प्रसाद से परमपद में प्रवेश करते हैं अथवा इस आन्तर साधना रूप पड़दे ही पड़दे में जो गमन करते हैं अर्थात् बाहर आडम्बर नहीं करके भीतर हृदय में ही प्रभु प्राप्ति का साधन करते हैं, वे सभी गुरु के कृपा प्रसाद से परम पद में प्रवेश करते हैं अर्थात् परम पद को प्राप्त करते हैं। अपनी इच्छा रूप नेत्रों[1] पर गुरु का ज्ञान रूप ऐनक लगाओगे तब ही दयालु प्रभु का दर्शन कर सकोगे। जैसे जल[2] के भीतर नेत्र खोलकर देखा जाता है, तब जल ही जल दीखता है वैसे ही ब्रह्म बोधक शब्दों का विचार करने से सर्वत्र ब्रह्म ही दीखता है। इस सर्वत्र ब्रह्म दर्शन रूप लक्षण से ही मन रूप रावण मारा जाता है। जैसे अधिक भोजन करने से अजीर्ण हो जाता है, तब पाचक बूंटी से वह पच जाता है, वैसे ही किसी भी प्रकार की अधिकता का अभिमान जो होता है, वह भी संत वचनों[3] के विचार से नष्ट हो जाता है। जो काम क्रोधादि की

जलन हृदय में होती है, वह गुरु के पास आकर ज्ञानाग्नि से सेकने से मिट जाती है ।

५१ गुरु लक्षण । त्रिताल

ऐसा सद्गुरु शोधर कीजे, जाकी संगति युग युग जीजे ॥टेक॥
धर्म कर्म धोका धुर[1] तोड़ै, तीरथ व्रत रहित ल्यौ[2] जोड़ै ॥१॥
निष्कामी नौखंड नियारा[3], सुमिरण व्रत निवाहन हारा ॥२॥
निर्पख रहै राम गुण गावै, भरम भेष पख[4] प्रीति न लावै ॥३॥
दश अवतार देखि दिल नाखै, अविनाशी उर अंतरि राखै ॥४॥
नख शिख नाम निरंजन राता, प्रेम मगन पीवे रस माता ॥५॥
विश्वासी वश पंच सु प्राना, सब विधि समर्थ साधु सुजाना[5] ॥६॥
जन रज्जब ता गुरु की शरना, जिव का मेटे जामन मरना ॥७॥४

नीचे लिखे लक्षणों से युक्त गुरु करने की प्रेरणा कर रहे हैं–विचार पूर्वक खोज करके ऐसा सद्गुरु बनाओ, जिसकी संगति से ब्रह्म रूप होकर प्रति युग में जीवित रह सको । जो धर्म कर्म संबन्धी धोखे को जीवन के अन्त[1] तक तोड़ डाले अर्थात् जीवन भर धोखे में नहीं पड़े, तीर्थ व्रतादि से रहित आन्तर साधना द्वारा वृत्ति[2] को ब्रह्म में जोड सके, निष्कामी हो, पृथ्वी के नौखंड रूप प्रदेश के राग से अलग[3] हो अर्थात् स्थान विशेष का आग्रह जिसमें नहीं हो । प्रभु स्मरण के व्रत को निभाने वाला हो अर्थात् निरंतर स्मरण करता हो, निर्पक्ष रह कर राम के गुण गाता हो, भ्रम मय भेषों की पक्ष[4] नहीं करता हो और न उनमें प्रेम करता हो, दश अवतारों को विचार द्वारा देखकर उन्हें हृदय में उपास्य भाव से न रखता हो, निरंतर हृदय में अविनाशी ब्रह्म का चिन्तन करता हो, नख से शिखा तक के सभी अंग और रोम निरंजन ब्रह्म में अनुरक्त हों, प्रभु प्रेम में निमग्न होकर ब्रह्म चिन्तन रस को पान करते हुये मस्त रहता हो, प्रभु में पूर्ण विश्वास रखता हो, पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच प्राणों को अपने वश में रखता हो, जो सर्व प्रकार समर्थ ज्ञानी[5] संत हो, उस गुरु की शरण जीव के जन्म-मरणादि संसार दुःख को मिटा देती है ।

५२ सर्व हितैषी संत । दादरा

आज्ञाकारी बोल हि साध,
आदि अंकूर गुरु मुख गरजैं[1], सुन सुन शब्द कटैं अपराध ॥टेक॥
शाही[1] संत चढ़े गिरि गोविन्द, पृथ्वी हेतु पुकारैं ।
भाजि भजो भय भंजन सांई, ज्यों यम दूत न मारैं ॥१॥

वाणी बंब[1] बजावै बंधू[3], जागण हार जगाये।
जो सुन चले सु पार पहुँचे, रहतों वित्त लुटाये ॥२॥
परम पुरुष पर ब्रह्म बुलाये, नर निस्तारण हारा।
जन रज्जब जड़ सुनकर सूते, चेत्या[4] चेतन हारा ॥३॥५

संतों की सर्व हितैषिता बता रहे हैं—प्रभु की आज्ञानुसार चलने वाले संत बोलते हैं तब उनके शब्दों को बारंबार सुनने से पाप कट कर गुरु मुख अर्थात् गुरु की आज्ञा में चलने वाले साधकों के आदि आत्म स्वरूप बीज का ज्ञान रूप अंकुर फूट[5] निकलता है। महान्[1] संत गोविन्द रूप पर्वत पर चढ़ कर अर्थात् प्रभु को प्राप्त करके पृथ्वी के जीवों के हितार्थ पुकारते रहते हैं—हे भाइयो ! विषय राग से दूर भाग कर भय को नष्ट करने वाले प्रभु का भजन ऐसे करो कि जैसे तुम्हें यमदूत न मार सकें। वे सबके मित्र[3] संत वाणी रूप नगाड़ा[2] बजाते हैं अर्थात् उपदेश करते हैं और जो जागने वाले होते हैं, उन्हें जगाते रहते हैं। जो उनका उपदेश सुनकर उनके अनुसार चलते हैं, वे संसार से पार प्रभु के पास पहुँचते हैं। जो नहीं चलते उनने अपना आयुरूप धन विषय रूप लुटेरों के हाथ लुटा दिया है। परम पुरुष संतों को संसार में नरों का उद्धार करने के लिये, परब्रह्म ने ही बुलाया है किन्तु फिर भी जड़ प्राणी तो उनकी वाणी सुनकर भी मोह निद्रा में ही सो रहे हैं। और जागने वाले जिज्ञासु जन जाग[4] गये हैं।

५३ राम-रसपान - प्रेरणा। दीपचन्दी

राम रस पीजिये रे, पीये सब सुख होय।
पीवत ही पातक कटैं, सब संतन दिशि जोय ॥टेक॥
निशि दिन सुमिरण कीजिये, तन मन प्राण समोय[1]।
जन्म सफल सांई मिलै, जिव जपि साध[2] हु दोय ॥१॥
सकल पतित पावन किये, जे लागे लै[3] लोय[4]।
अति उज्वल अघ ऊतरैं, किलविष[5] राले[1] धोय ॥२॥
ईंहि रस रसिया सब सुखी, दुखी न सुनिये कोय।
जन रज्जब रस पीजिये, संतों पीया सोय ॥३॥६॥

राम-भक्ति-रस पीने की प्रेरणा कर रहे हैं—राम-भक्ति-रस का पान करो, इसके पीने से सब प्रकार आनन्द ही होता है। पीते ही पाप कट जाते हैं। सब संतों की ओर देखकर भी अपने तन, मन, प्राण को प्रभु में लगाकर[1] रात्रि-दिन स्मरण ही करना चाहिये। प्रभु स्मरण से एक तो जन्म सफल हो जाता है, दूसरे प्रभु प्राप्त हो जाते हैं। अतः

भगवान् का नाम जप करके दोनों काम सिद्ध[१] करो। जो पापी लोग[२] अपनी वृत्ति[३] लगाकर प्रभु-स्मरण में लगे हैं, उन सभी को प्रभु ने पवित्र किया है। राम भक्ति से पाप हटकर प्राणी का हृदय अति उज्वल हो जाता है। यह स्मरण सभी दोषों[४] को धो डालता[५] है। इस रस के रसिया सभी सुखी हैं, कोई भी दुःखी नहीं सुना जाता। जिस राम-भक्ति रस को संतों ने पान किया है, उसी रस का पान करो। अन्य विषय-रस अंत में दुखद होंगे।

५४ राम-रस-स्नेह। कहरवा

संतो मगन भया मन मेरा,
अह निशि सदा एक रस लागा, दिया दरीबे[१] डेरा ॥टेक॥
कुल मर्याद मेंड[२] सब भागी, बैठा भाठी[३] नेरा[४]।
जाति पांति कछु समझै नांहीं, किसको करै परेरा[५] ॥१॥
रस की प्यास आस नहिं औरै, इहिं मत किया बसेरा[६]।
ल्याव ल्याव याही लय लागी, पीवै फूल[७] घनेरा[८] ॥२॥
सो रस मांँग्या मिलै न काहू, शिर साटै बहुतेरा।
जन रज्जब तन मन दे लीया, होय धणी[९] का चेरा[१०] ॥३॥७

राम-रस में निज प्रेम का परिचय दे रहे हैं—संतो! मेरा मन राम-रस में निमग्न हो रहा है। दिन-रात सदा एक रस उसमें लग रहा है। ब्रह्म विचार रूप बाजार[१] में ही डेरा लगा दिया है। कुल की मर्यादा और जाति वर्ण की हद[२] सब हृदय से भाग गई है। निदिध्यासन द्वारा समाधि रूप भट्टी[३] के पास[४] जा बैठा है। जाति-पांति का भेद कुछ भी नहीं समझता, किसको अपनी पंक्ति से दूर[५] करे? एक मात्र राम-रस की ही इच्छा है और कोई भी आशा नहीं रही है। इस राम-रस प्राप्ति के विचार में ही मन ने निवास[६] कर रक्खा है। बारं बार स्थिर होकर रस की याचना करता है और प्रभु से अभेद होना रूप बहुत[८]-से प्याले[७] पीता है अर्थात् अनेक बार प्रभु में लय हो जाता है। वह राम-रस मांगने से किसी को भी नहीं मिलता किन्तु अहंकार रूप शिर देने से तो बहुत मिल जाता है। हमने अपने प्रभु रूप स्वामी[९] के दास[१०] बन कर तथा अपना तन मन उनके समर्पण कर के प्राप्त किया है।

५५ भजन याचना। चौताल

नाम लिवाय निरंजन स्वामी, अंतर मेटो अंतरि यामी ॥टेक॥
तुम सब ही के हो प्रतिपाला, तव सुमिरण दे दीन दयाला ॥१॥

तुम कहियो मनसा के दाता, तो मन माँगे नाम विधाता ॥२॥
रज्जब याचक हरि दातारा, भजन पसाव[१] करो करतारा ॥३॥८

भजन करने की योग्यता माँग रहे हैं—हे अन्तर्यामी निरंजन स्वामी ! मुझ से अपना नाम चिन्तन करा कर आप और मेरा भेद मिटा दीजिये। आप सभी के रक्षक हैं। दीन दयालो ! आपके नाम स्मरण की योग्यता दें। आप मन की इच्छा के अनुसार देने वाले कहलाते हैं, तो हे विधाता ! मेरा मन निरंतर आपके नाम चिन्तन करने की शक्ति माँगता है। मैं याचक हूं, आप हरि दाता हैं। अतः हे करतार ! आपका भजन करने की योग्यता प्रदान करने की कृपा[१] करो।

५६ विनय। त्रिताल

विरुद[१] विराजे उपमा लायक[२], सेवक की सुनिये सुखदायक ॥टेक॥
अधम उधार पतित के पावन; ऐसी सुन लागे गुण गावन ॥१॥
कर्म कटा अघ मोचन स्वामी, अंतर[३] मेटो अंतरयामी ॥२॥
तुम गर्व गंजन होहु कि नांहीं, ये द्वन्द्वर[४] गजैं घट[५] माहीं ॥३॥
अशरण शरण अनाथ हु नाथा, तो निरधार[६] हि दीजे हाथा ॥४॥
दीन दयालु गरीब निवाजे, सदा सुयश के सुनियें बाजे ॥५॥
विरुद तुम्हारा तुम शिर भारा, जन रज्जब की सुनहु पुकारा ॥६॥९

प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं—प्रभो ! आपकी उपमा के योग्य[२] ही आपका यश[१] शोभा दे रहा है। अतः हे सुख दाता मुझ सेवक की भी प्रार्थना सुनें। आप अधमोद्धारक, पतित पावन हैं। ऐसी आपकी कीर्ति सुनकर ही मैं आपके गुण गाने लगा हूं। कर्मों को काटने वाले अन्तर्यामी स्वामिन् ! आप और मेरे बीच के पड़दे[३] को मिटा दीजिये। ये काम क्रोधादि द्वंद्व[४] मेरे अन्तःकरण[५] में गर्जना कर रहे हैं। आप तो गर्व गंजन हैं ही फिर इनका गर्व क्यों नहीं नाश करते ? अर्थात् मेरे अन्तःकरण के द्वन्द्वों को नष्ट कर दें। आप अशरण शरण और अनाथ के नाथ कहलाते हैं, तो मैं भी निश्चय[६] ही अनाथ हूं, मेरे शिर पर हाथ दीजिये। आप दयालु और गरीब निवाज हैं। ऐसे आपके सुयश के बाजे सदा ही सुने जाते हैं। आपके विरुद को निभाने का भार आपके ही शिर पर है। अतः मुझ दास की पुकार अवश्य सुनें।

५७ विरह व्यथा। झपताल

प्राण पति आइये हो, विरहनि अति बेहाल[१]।
बिन देखे जिव जात है, अब विलम्ब न कीजे लाल[२] ॥टेक॥

विरहनि व्याकुल केशवा, निशि दिन दुखो विहाय[३] ।
जैसे चन्द्र कुमोदिनो, बिन देखे कुम्हलाय ।।१।।
अतिगति[४] दुखिया दग्धियें[५], विरह व्यथा तन पीर ।
घरी पलक में विनशि हं, ज्यों मछली बिन नीर ।।२।।
पीय[६] पीय टेरूं पिक[७] भई, स्वाति स्वरूपी आव[८] ।
सागर सरिता सब भरे, पर चातक के नहिं चाव[९] ।।३।।
दीन दुखी दीदार बिन, रज्जब धन[१०] बेहाल ।
दर्श दया करि दीजिये, तो निकसै सब साल[११] ।।४।।१०

अपना विरह-दुःख बता रहे हैं—हे प्राणपति प्रभो ! मेरे हृदय-मंदिर में पधारिये, आपके बिना मुझ विरहिनी का अत्यन्त बुरा[१]-हाल हो रहा है । आपके दर्शन बिना जीव शरीर का त्याग करके जाने को तैयार हो रहा हैं । प्रिय[२] ! अब देर न करें । केशव ! मैं विरहिनी आपके बिना व्याकुल हूं, मेरे रात्रि-दिन दुःखी रहते ही व्यतीत[३] होते हैं । जैसे कुमोदिनी चन्द्रमा के बिना देखे कुम्हला जाती है, वैसी ही आपके दर्शन बिना मेरी दशा है । मैं अत्यन्त[४] दुखिया हूं, विरह व्यथा की पीड़ा शरीर को जला[५] रही है । जैसे मच्छी बिना जल के मर जाती है, वैसे ही आपके दर्शन बिना इसी घड़ी की किसी क्षण में मेरा यह शरीर भी नष्ट होने वाला ही है । मैं प्रिय[६] ! प्रिय ! पुकारते २ कोयल[७] के समान काली पड़ गई हूं । जैसे समुद्र, नदियाँ आदि सब जलाशय जल[८] से भरे रहने पर भी चातक पक्षी के मन में स्वाति विन्दु बिना उत्साह[९] नहीं होता, वैसे ही आपके स्वरूप को देखे बिना मुझे उत्साह नहीं है । मैं आपकी सखी[१०] आपके दर्शन बिना दीन-दुःखी होकर बेहाल हो रही हूं । आप दया करके दर्शन दीजिये, दर्शन होते ही तो मेरे हृदय से सब दुःख[११] निकल जायेंगे ।

५८ संतनिर्लिप्त । कहरवा

भाई रे संत जुदा जग ऐसे,
जैसे कमल नीर में न्यारा, राम सनेही तैसे ।।टेक।।
ज्यों दधि विलोय माखन मथि काढ़ै, उलटि मिले तक्र[१] कैसे ।
तैसे साधु सकल गुण न्यारा, बहुरि सबन बिच वैसे[२] ।।१।।
ज्यों पाषाण पानी नहिं परसै[३], कल्प गये जल पैसे[४] ।
त्यों रज्जब जन माँहि निरंतर, मणि भुजंग मुख जैसे ।।२।।११

संतों की निर्दोषता बता रहे हैं—हे भाई ! संत जगत् में रहते हुये भी ऐसे रहते हैं, मानो जगत् से अलग ही हैं। जैसे कमल जल में रहकर भी जल से ऊपर रहता है, वैसे ही राम के प्यारे संत जगत् में रहकर भी जगत् से ऊपर ही रहते हैं अर्थात् सांसारिक भावना अपने हृदय में नहीं आने देते। जैसे दही का मन्थन करके मक्खन निकाल लेने पर वह छाछ में पड़ा रहता है किन्तु पीछा छाछ[१] में नहीं मिलता, वैसे ही विचार रूप मन्थन द्वारा संत चित्त सांसारिक भावनाओं से निकलने पर पुनः संसार में नहीं मिलता। वे सब गुणों से अलग रहते हैं फिर भी सब के बीच में बैठे[२] हुये से भासते हैं। जैसे जल में प्रवेश[४] किये कल्प व्यतीत हो जाय तो भी पत्थर पानी के स्पर्श[३] से अपनी कठोरता नहीं छोड़ता, वैसे ही संत जगत् में रहने पर भी अपनी निष्ठा नहीं छोड़ते। जैसे मणि सर्प के मुख में विष युक्त दाँतों के बीच में रहकर भी विष नहीं ग्रहण करती, वैसे ही संत निरंतर जगत् में रहकर भी विषय-विष तथा जगत् के दोष नहीं ग्रहण करते।

५९ संत निष्पक्षता हेतु। त्रिताल

यूं निर्पख निज दास कहावै, निर्पख नाम निरंजन गावै ॥टेक॥

भाव भक्ति षट् दर्शन[१] न्यारी,
निर्पख ज्ञान ध्यान ध्वनिधारी ॥१॥

सत जत सुमिरण जुदे जहांनै[२],
प्रेम प्रीति काके[३] पख पानै[४] ॥२॥

दया धर्म काकी[५] दिशि कहिये,
रज्जब क्षमा गरीबी गहिये ॥३॥१२

संतों की निष्पक्षता का हेतु बता रहे हैं—भगवान् के निजी दास संत नीचे लिखे कारणों से निष्पक्ष कहलाते हैं—वे निष्पक्ष निरंजन का नाम गायन करते हैं। उनकी श्रद्धा भक्ति छः प्रकार के भेष[१] धारियों की पक्ष से रहित ही होती है। निष्पक्ष ज्ञान, ध्यान और शब्द ध्वनि को धारण करते हैं। उनका सत्य व्यवहार, ब्रह्मचर्य, हरि-स्मरण, ये संसार[२] के पक्ष से भिन्न ही होते हैं। साधन-प्रेम और भगवत् प्रीति ये किसका[३] पक्ष प्राप्त[४] करते हैं? अर्थात् निष्पक्ष हैं। दया-धर्म भी किसकी[५] पक्ष में कहे जाते हैं? ये भी निष्पक्ष ही हैं। क्षमा और गरीबी भी निष्पक्ष हैं। उक्त निष्पक्ष साधनों को ग्रहण करते हैं, इसी से वे निष्पक्ष हो जाते हैं।

६० रक्षक राम। दादरा

राखे[१] राम रहै जन सोई, बल वैरयों का चलै न कोई ॥टेक॥

जैसे जतन जननि में कीया,

त्यों करि निज तन जीव सु जोया ॥१॥

संकट सकल मांहि सौं खोलै[२],

निज सौं हरि कृपा करि बोलै ॥२॥

विविध प्रकार विघ्न सब टालै,

जे सांई करि सुरति संभालै[३] ॥३॥

पिंड ब्रह्मण्ड पिशुन[४] पचिहारे,

जन रज्जब जग पति रखवारे ॥४॥१३

जिसकी राम रक्षा[१] करते हैं, वही संसार दुःख से मुक्त होता है, यह कह रहे हैं—जिसकी रक्षा राम करते हैं, वही जन संसार दुःख से अलग रह सकता है। उस पर बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के शत्रुओं का बल नहीं चलता। जैसे प्रभु ने माता के पेट में रक्षा का यत्न किया है उसी प्रकार की प्रभु की रक्षा से जीव अपने शरीर में भी जीवित रहता है। हरि सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त[२] करते हैं और अपने भक्त से तो कृपा करके बोलते भी हैं। जो अपनी वृत्ति से प्रभु का स्मरण[३] करता है, उसे प्रभु नाना प्रकार के विघ्नों से बचाते रहते हैं। यदि जगत्पति प्रभु रक्षक हों तो शरीर में स्थित कामादि दुष्ट[४] और बाहर ब्रह्माण्ड के दुष्ट पच पच कर हार जाते हैं किन्तु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।

६१ साधु पुष्टता हेतु। शूल ताल

साधू प्राणि पुष्ट[१] यूं भाई, भजि भगवंत काल को खाई ॥टेक॥

मोर मस्त अहि[२] बीछू ग्रासि,

आतम उदय भखै गुण राशि ॥१॥

अग्नि अहार ज्यों चैन[३] चकोर,

त्यों जीव जौरा[४] जीत्या जोर[५] ॥२॥

यूं मन इन्द्रिय भुगतै प्राण, सो वृद्ध ह्वै संत सुजाण ॥३॥

अजर[६] हि जारै[७] मेटै दोय[८], रज्जब सदा सजीवन होय ॥४॥१४

साधु के सबल होने का कारण बता रहे हैं—हे भाई! साधु प्राणी इस प्रकार बलवान्[१] होता है—वह भगवान् का भजन करके काल कोखा जाता है—अर्थात् अपने स्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं समझता। जैसे मोर सर्प[२] और बिच्छू को खाकर मस्त हो जाता है, वैसे ही साधु आत्म ज्ञान उदय होने पर आसुर गुण समूह को नष्ट कर देता है। जैसे अग्नि का भोजन

करने से चकोर को सुख[३] होता है, वैसे ही यमदूतों[४] को अपनी शक्ति[५] से जीतने पर साधु को आनन्द होता है। इसी प्रकार जो प्राणी मन इन्द्रियों को भोगता है अर्थात् जीत कर प्रभु परायण करता है, वही वृद्ध और ज्ञानी संत हैं। न-पचने[१] वाले मायादि के अहंकार तथा आत्मानुभव को पचाकर[७] द्वैत[८] भाव को मिटाता है, वह सदा सजीवन ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

६२ वही शूर । एकताल

सोई शूरा सो बलवंत, इन्द्रिय अरि दल जीते संत ॥टेक॥
जीते काम क्रोध अहंकार, आशा तृष्णा गर्दन मार ॥१॥
गुण गयंद[१] काया को मारि, प्रकृति पैदल करै जारि[२] ॥२॥
पंचों जोध हु जीते शूर, आपा[३] आगी काढ़ै दूर ॥३॥
मन मेवासो[४] मारै जाय, रज्जब शूर सोइ सत भाय[५] ॥४॥१५

सच्चे शूर-वीर का परिचय दे रहे हैं—जो इन्द्रिय रूप शत्रु दल को जीतता है, वही संत बलवान् शूर है। काम, क्रोध, अहंकार को जीतता है, आशा-तृष्णा की गर्दन पर संतोष रूप तलवार मारता है, त्रिगुण रूप हाथी[१] को मारता है, शरीर को संयम में रखता है, पचीस प्रकृति रूप पैदल सेना को अपने ज्ञान रूप अग्नि बाण से जलाता[२] है, पंच प्राण रूप योद्धाओं को अपने अधीन करता है, अभिमान[३] रूप अग्नि को हृदय से दूर निकालता है, मन रूप गढ़पति[४] को जा मारता है, हम सच्चे भाव[५] से कहते हैं वही शूर-वीर है।

६३ प्रभु करे सो हो । त्रिताल

सिरजनहार करै त्यों होय, जीव विचारे बल नहिं कोय ॥टेक॥
इक राणा इक रंक उपाये[१] भले बुरे ज्यों भगवत भाये[२] ॥१॥
एकों पाये छत्र सिंहासन, एक हुं हाथ न फूटा बासन[३] ॥२॥
एकों पीछे पलैं हजार, एकों पाय[४] नहीं पैजार[५] ॥३॥
इक ईश्वर[१] विलसै सुखराशी, एक दरिद्री दुख की पाशी ॥४॥
आज्ञा अंक समझि सुख पावै, जन रज्जब सबके मन भावै ॥५॥१६

जैसे सृष्टि कर्त्ता ईश्वर करते हैं, वैसा ही होता है, यह कह रहे हैं—संसार को रचने वाले प्रभु जैसा करते हैं वैसा ही होता है, उनसे विपरीत बेचारे जीव का कोई भी बल नहीं चलता। उनने एक को महाराणा और एक को कंगाल उत्पन्न[१] किया है। जैसा भी भगवान् को प्रिय[२] लगता है, वैसे ही भले-बुरे वे रच देते हैं। एक को तो शिर पर

श्वेत छत्र और नीचे सिंहासन मिलता है और एक के हाथ में फूटा बर्तन भी नहीं आता। एक के पीछे हजार व्यक्तियों का पालन होता है और एक के पैरों[4] में जूता[5] भी नहीं होता। एक अनेकों का मालिक[6] बनकर सुख राशि को भोगता है और एक दरिद्री दुःख रूप पाश में फँसा है। जो प्रभु आज्ञा और प्रारब्ध के अंकों को समझकर अर्थात् जो कुछ होता है, वह हरि आज्ञा और प्रारब्धानुसार ही होता है, ऐसा समझ कर प्रत्येक परिस्थिति में सुखी रहता है, वही जन सबको प्रिय लगता है।

६४ विषय दुखद। कहरवा

संतो विषय विगूचन[1] होई,

पंचों तत्त्व पोषि माया रस, सीझ्या[2] सुण्या न कोई ॥टेक॥

एकै प्राणि सुरति जड़ एकै, एक भूमि अनुरागै।

सद्गुरु संत कहैं सब साधू, द्वै द्वै ठौड़ न लागै ॥१॥

यहु मन दूध दही क्यों जामै, कामिनि कांजी बाहैं[3]।

बात बनाय कहो को कामी, जीव न धीजै[4] मांहैं ॥२॥

विषय विलास[5] सदा दुख दाता, देखो भुगतन हारे।

जन रज्जब युग युग जग मांहीं, साधक सिद्ध विगारे ॥३॥१७

विषय दुःख दाता हैं, यह कह रहे हैं—संतो! विषयों से दुःख[1] ही होता है। पंच तत्त्व रूप पंच ज्ञानेन्द्रियों को मायिक विषय-रस से पोषने से कोई भी मुक्त-हुआ[2] नहीं सुना है। जैसे एक वृक्ष की जड़ एक स्थल की भूमि में रहती है तब ही ठीक रहता है, दो स्थानों में वह नहीं लग सकती, वैसे ही एक प्राणी की वृत्ति एक प्रभु में ही अनुराग करती है तभी ठीक रहती है। सद्गुरु और साधु-संत कहते हैं कि-वृत्ति विषय तथा ब्रह्म इन दो स्थानों में एक समय नहीं लगती। विषय दुखद हैं, ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, अतः ब्रह्म में ही वृत्ति लगाना चाहिये। जैसे दूध में कांजी डालने[3] से उसका दही नहीं जमता, खराब हो जाता है, वैसे ही मन नारी में लगने से ठीक नहीं रहता है। कोई कामी बात बनाकर कहे कि—हमारा मन ठीक रहता है तो उसकी बात का विश्वास[4] जीव अपने मन में नहीं कर सकता। विषय भोग[5] तो सदा दुःख दाता ही हैं, भोगने वालों को ही देख लो, वे मन में दुःखी ही रहते हैं। प्रतियुग में ही विषय-प्रसंग ने साधक तथा सिद्धों को भी बिगाड़ा है।

६५ तृष्णा तृप्त न हो। त्रिताल

मन की प्यास प्रचंड[1] न जाई,

माया बहुत बहुत विधि विलसै[2], तृप्ति नहीं निरताई[3] ॥टेक॥

ज्यों जलधार असंख्य अवनि थल, परत न सो ठहराई ।
तैसे यहु मन भरचा भूख सौं, देखि परखि सुधि पाई ॥१॥
अशन[४] वशन[५] बहु होमि अग्नि मुख, नहिं संतोष शिलाई[६] ।
ऐसी विधि मनकी सु क्षुधा है, बुझती नांहि बुझाई ॥२॥
भूख प्यास संग ले सूता, सो स्वप्ने न अघाई[७] ।
इहैं[८] स्वभाव रहै मन मांहीं, तृष्णा तरुण बधाई[९] ॥३॥
मन माया सौं कदे न धापै[१०], सद्गुरु साखि सुनाई ।
जन रज्जब याकी यहु औषधि, राम भजन कर भाई ॥४॥१८

मन की तृष्णा तृप्त नहीं होती, यह कह रहे हैं—मन की तृष्णा बड़ी तीव्र[१] है, नष्ट नहीं होती । बहुत सी माया मिलने पर बहुत प्रकार भोगने[२] से भी मन की तृप्ति नहीं होती, यह हमने विचार[३] करके ही कहा है । जैसे पृथ्वी पर असंख्य जल धाराएं पड़ती हैं किन्तु वह जल ठहरता नहीं है, सब पृथ्वी में लीन हो जाता है, वैसे ही यह मन भूख से भरा पड़ा है, यह हमने परीक्षा करके देखा है, तब ही ज्ञात हुआ है । जैसे अग्नि के मुख में बहुत आहुतियें देने पर भी वह संतुष्ट होकर शीतल[६] नहीं होता, वैसे ही मन को बहुत भोजन[४] वस्त्र[५] देकर इसकी क्षुधा बुझाने से भी नहीं बुझती । जैसे कोई भूख-प्यास को साथ लेकर सोता है तब वह स्वप्न में तृप्त[७] नहीं होता । ऐसा[८] ही स्वभाव मन का है । इसकी तृष्णा भी बढती[९] हुई तरुण ही होती जाती है । यह मन माया से कभी भी तृप्त[१०] नहीं होता । मैंने यह बात सद्गुरु की साक्षी सुन करके ही सुनाई है । हे भाई ! मन के इस तृष्णा रूप रोग की एक यही औषधि है—"राम का भजन कर ।"

६६ बुद्धि बिना गर्व । झपताल

अकलि[१] बिना आपा[२] अति होई,
बुधि बिन बल सु करै सब कोई ॥टेक॥
ज्ञान बिना गर्व मन भारी, गोविन्द कहियें गर्व परिहारी[३] ॥१॥
मति बिन ममत मांहि मन भीने[४],
दीन दयालु मिले मन दीनै[५] ॥२॥
जुगति न जाने तो जिय जोरा[६],
आयो नहीं अतीत निबोरा[७] ॥३॥
ऊरा उरमी[९] काढो काणी[१०],
रज्जब गुरु गोविन्द हि जाणी ॥४॥१९

बुद्धि बिना गर्व अधिक होता है, यह कह रहे हैं—आत्म ज्ञान संबन्धी बुद्धि[1] बिना गर्व[2] अत्यधिक होता है। सभी कोई बिना बुद्धि के ही बल दिखाने के गर्व की बातें करते हैं या बल दिखाते हैं किन्तु गोविन्द तो गर्व को खंडन[3] करने वाले कहलाते हैं। बुद्धि के बिना ही मन ममता में निमग्न[4] होता है। दीन दयालु प्रभु तो ममता त्याग कर उनके भजन में मन दिये[5] से मिलते हैं। भजन की युक्ति बिना जाने तो मन के बल[6] से कोई भी गुणातीत होकर मुक्ति[7] की अवस्था में नहीं आया है। अतः गुरु के उपदेश द्वारा गोविन्द को जानकर अधूरे[8] पनके दुःख[9] को दूर[10] निकालो अर्थात् जीवब्रह्म के भेद जन्य दुःख को नष्ट करो।

६७ मन दुराग्रह। रूपकताल

हूं[1] तो हठ रातो रे, मानत नांहि गुरु उर[2] वाइक[3]।
भांति भांति मन को समझावत,
समझत नांहि मांहि मन मूरख,
सुतो[4] सुध[8] हीन विषय रस खायक ॥टेक॥
च्यार पहर पशु की गति[5] बीते,
सांची सुनत नांहि दुख दायक।
माया मगन फिरत निशि बासर,
काम करत दोजख[6] के लायक ॥१॥
शठ हठ चाल चलत दश हूं दिशि,
राख्यो रहत नांहि धन धायक[7]।
जन रज्जब जंजाल जट्यो मन,
छाड़्यो सकल सृष्टि को नायक ॥२॥२०

मन का दुराग्रह बता रहे हैं—मैं[1] तो मन को विषयों से रोक कर प्रभु में लगाने के हठ में अनुरक्त हूँ किन्तु यह तो गुरु के हृदय[2] से निकले हुए वचनों[3] को भी नहीं मानता, नाना भांति से मन को समझाता हूँ किन्तु यह मेरे भीतर स्थित मूर्ख मन समझता ही नहीं है। यह विषय-रस का भक्षक मन प्रभु स्मरण[8] से रहित मोह निद्रा में सोया[4] हुआ है। इसका चार पहर दिन पशु के समान[5] ही व्यतीत होता है। यह दुःख दाता मन सत्य बात तो सुनता ही नहीं है। रात्रि-दिन माया में निमग्न हुआ फिरता है और नरक[6] में जाने के योग्य काम करता है। यह मूर्ख मन दश इन्द्रिय रूप दशदिशाओं में वा बाहर की दशदिशाओं में अपने हठ की चाल से ही चलता है। यह धन की ओर दौड़नेवाला[7] प्रभु के स्वरूप में रखने पर भी नहीं रहता है। यह मन संपूर्ण सृष्टि के

स्वामी प्रभु का भजन छोड़कर भूषण में नग के समान जगत् जाल में ही जटित है ।

६८ हरिनाम बिना उद्धार नहीं । त्रिताल

नाम बिना नाहीं निस्तारा, और सबै पाखंड पसारा ।।टेक।।

भरम भेष तीरथ व्रत आशा, दान पुण्य सब गल के पाशा ।।१।।

जप तप साधन संकट सूना[1], लै[2] बिन लगते सबै अलूना[3] ।।२।।

पान फूल फल दूधाधारी, मन मनसा बिगरे बहु ख्वारी[4] ।।३।।

काशी करवत गिरितें गिरना,
हेम[5] हुताशन[6] मूरख मरना ।।४।।

नाना विधि धारे बहु धरमा,
हरि सुमिरण बिन कटत न करमा ।।५।।

जन रज्जब रत[7] मति रंकारा[8],
प्राणि प्रवीण सु उतरत पारा ।।६।।२१

प्रभु के नाम चिन्तन बिना उद्धार नहीं होता यह कह रहे हैं—भगवान् के नाम का चिन्तन करे बिना कल्याण नहीं हो सकता, नाम बिना अन्य सब तो पाखंड का ही विस्तार है । भेष, तीर्थ और व्रत से उद्धार की आशा करना भ्रम है । सकाम, दान-पुण्यादि भी फल भोग रूप पाश गले में डालने वाले हैं, उनका फल भोगने के लिये जन्म लेना ही पड़ता है । सकाम जप, तपादि साधन का कष्ट भी ब्रह्मानन्द से शून्य[1] है । ब्रह्माकार वृत्ति[2] बिना सभी फीके[3] हैं । पत्ते, फूल, फल और दूध के आधार रहते हैं, अन्न नहीं खाते, उनके भी मन, बुद्धि बिगड़ कर बहुत खराबी[4] कर देते हैं । मूर्ख लोग काशी करवत लेते हैं, पर्वत से गिरते हैं, हिमालय[5] में गलते हैं, अग्नि[6] में जल कर मरते हैं, और नाना प्रकार के बहुत-से धर्म धारण करते हैं किंतु हरि-स्मरण बिना उनके कर्म नहीं कटते । जो चतुर प्राणी बुद्धि द्वारा राम मंत्र के बीज "रां[8]" के जप में निरंतर अनुरक्त[7] होते हैं, वे संसार के पार जाकर प्रभु को प्राप्त होते हैं ।

६९ निर्गुण सगुण । त्रिताल

निर्गुण राम न आवै जाई, सह गुण फिर फिर कर्म कमाई[1] ।।टेक।।

निर्गुण राम न जामे मर ही, सहगुण संकट जो तन धर ही ।।१।।

निर्गुण राम अवतरे नांहीं, सहगुण जीव फिरै जग मांहीं ।।२।।

निर्गुण स्वामी सहगुण दासा, साधू संत कहैं गुण तासा[2] ।।३।।

सहगुण रूप विलय ह्वै जाई, जन रज्जब निर्गुण दिशि धाई[3] ।।४।।२२

निर्गुण-सगुण का स्वरूप बता रहे हैं–निर्गुण राम आता जाता नहीं है। सगुण पुनः कर्म[1] करता है। निर्गुण राम जन्मता मरता नहीं है। जो शरीर धारण करता है वह सगुण है और संकट में पड़ता है। निर्गुण अवतार नहीं लेता। सगुण जीव है और जगत् में भ्रमण करता है। निर्गुण स्वामी है और सगुण दास है। उस[2] दास के गुण साधु-संत बताते हैं। सगुण रूप माया में लय होता है। अतः मैं तो निर्गुण की ओर ही दौड़ता[3] हूं अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की ही उपासना करता हूं।

७० ईश्वर जाति न देखे। कहरवा

जाति जगतगुरु देखे नांहीं,

मिलहि प्राण पति प्रीति हि मांहीं ॥टेक॥

नाम कबीर दादुजन तारे, नाम नेह नौ खंड उजियारे[1] ॥१॥

सदना सेन रु कीता थोरी, हरि हित[2] सीझे[3] हैं कुल कोरी ॥२॥

आदि जैदेव अंत रैदासा, भाव भक्ति काटे कर्म फासा ॥३॥

जन रज्जब करुणामय केशो, प्रेम नेम[4] भजि भानि[5] अंदेशो[6] ॥४॥२३

ईश्वर भक्त की जाति नहीं देखते भक्ति ही देखते हैं, यह कह रहे हैं– जगत् गुरु परमात्मा जाति नहीं देखते, वे प्राण पति प्रभु उनकी प्रीति में स्थित को ही प्राप्त होते हैं। नामदेव, कबीर, दादू ये प्रभु के नाम में प्रेम करके ही पृथ्वी के नौओं खंडों में प्रकाशित[1] हैं अर्थात् प्रकट हैं। सदना, सेन, कीता थोरी और कुल के कोली तक भी हरि में प्रेम[2] करके मुक्त[3] हुये हैं। वर्णों में आदि ब्राह्मण, जैदेव और अंत में रैदास दोनों ने भाव-भक्ति द्वारा अपने कर्मों की पाश काट डाली थी। केशव भगवान् तो दयामय हैं। संशय[6] को नष्ट[5] करके नियम[4] पूर्वक प्रेम से भजन कर, प्रभु अवश्य दया करेंगे।

७१ सद्गुरु बिना समता नहीं। त्रिताल

सद्गुरु बिन समता नहि आवै,

नीच ऊंच निगुरा सु दृढ़ावै ॥टेक॥

एक हि पवन एक ही पानी,

बुधि[1] बिन बीच वैरता ठानी[2] ॥१॥

एक हि आतम एक शरीरा,

समझ बिना बहु अंतर[3] वीरा[4] ॥२॥

सौंज[5] सबै विधि एक बनाई,

दुविधा दुर्मति है रे भाई ॥३॥

सब के नख-शिख एक विचारा,
एक हि सब का सिरजन हारा ॥४॥
गुरु के ज्ञान माँहि सब एकै,
रज्जब अंध अज्ञान अनेकै ॥५॥२४

सद्गुरु के उपदेश बिना प्राणी के हृदय में समता नहीं आती यह कह रहे हैं–सद्गुरु के उपदेश बिना हृदय में समता नहीं आती। जिसको सद्गुरु का उपदेश नहीं मिला, वह निगुरा प्राणी तो ऊंच नोचपने के भाव ही दृढ़ कराता है। सबके यहाँ एक ही वायु है एक ही जल है वा जलवायु में भी एकता है, वे सबके काम समान ही करते हैं किंतु बुद्धि[1] में विचार न होने के कारण परस्पर वैर करते[2] हैं। आत्मा सब में एक ही है, शरीर भी सब एक से ही हैं किन्तु हे भाई[4]! विचार के बिना बहुत-सा भेद[3] आ घेरता है। प्रभु ने सबके शरीरों की सामग्री[5] एक रीति से ही बनाई है। हे भाई! दुविधा दुर्बुद्धि से ही ज्ञात होती है। विचार द्वारा तो नख से शिखा तक सबके शरीरों की रचना एक जैसी ही ज्ञात होती है। रचने वाला भी सबका एक ही है। गुरु के ज्ञान में स्थित रहने वाले के लिये तो सब एक ही हैं और ज्ञान-नेत्रों से हीन अज्ञानी के हृदय में अनेकता के भाव ही रहते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गौड़ी राग ३ समाप्तः।

अथ राग आसावरी ४

(गायन समय प्रातः ६ से ९)

७२ विनय। धीमा ताल

गुरु का कह्या करावहु सांई, ये बातें मेरे मन भाई ॥टेक॥
गुरु की आज्ञा में मन राखो, दीन दयालु दूर मत नाखो[1] ॥१॥
गुरु की सीख सन्मुखा कीजे, समर्थ साहिब यहु दत[2] दीजे ॥२॥
गुरु का ज्ञान चलावहु[3] मोसौं, यहु अरदास करूं प्रभु तो सौं ॥३॥
गुरु की गति[4] मति मांहीं मारी, रज्जब मांगे भीख भिखारी ॥४॥१

सद्गुरु परायण रहने के लिये प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं—हे प्रभो! जो गुरुदेव ने करने के लिये कहा हो, वही कार्य मुझ से कराइये। ये नीचे लिखी बातें मेरे मन को प्यारी लगती हैं—मेरे मन को गुरु की आज्ञा में रखिये। दीन दयालु प्रभो! गुरु की आज्ञा से दूर मुझे न पटकिये[1]। गुरु की शिक्षा के सन्मुख मेरे मन को कर दीजिये अर्थात् उसके मनन करने में लगा दीजिये। हे समर्थ प्रभो! यही दान[2] मुझे दीजिये। मुझ से गुरु

के ज्ञान का प्रचार[3]-कराइये । आपसे मैं यही प्रार्थना कर रहा हूं । गुरु के अनुकूल चेष्टा[4] और उनकी बुद्धि के विचारों में रखकर ही मुझे मारना, मैं भिक्षु आपसे यही भिक्षा माँगता हूं ।

७३ अद्भुत खेल । कहरवा

संतो देख्या अद्भुत खेला,
मच्छी मध्य समुद्र समाना, अजा[1] सिंह सौं मेला ॥टेक॥
आदित्य माँहि आकाश उदीप्या[2], सीप समानी मोती ।
ऐसी हुई कही को समझै, दीसै सो अणहोती ॥१॥
आभों[3] बूंद अश्म[4] सो वर्षे, तीर कमान चलावै ।
चींटी मांहि चकहु[5] सब पैठी, ढूंढ्यों हाथ न आवै ॥२॥
पर्वत उडे पंखि थिर बैठी, राहु केतु शशि खाये ।
जन रज्जब जगपति के मारग, पंगुल पर चढि धाये ॥३॥२

अपने देखे हुये अद्भुत् खेल को बता रहे हैं—साधक संतो ! अद्भुत खेल देखने में आया है–विषय-जल में रहने वाली बुद्धि रूप मच्छी में ब्रह्म विद्या रूप समुद्र समा गया है । कुंडलिनी शक्ति रूप बकरी[1] शिव रूप सिंह से जा मिली है । ज्ञान रूप सूर्य में ब्रह्मरूप आकाश प्रकाशित[2] हुआ है । चिन्तन वृत्ति रूप सीप राम नाम रूप मोती में मिल गई है अर्थात् नामाकार हो गई है । ऐसी बात इस खेल में हुई है कि कही जाने पर भी कौन अज्ञानी समझ सकता है ? कारण-अज्ञानियों को तो ये सब अनहोनी दिखाई देती है । कठोर हृदय रूप पत्थर[4] था सो भी बादल[3]-बिन्दु-वर्षा के समान सर्व हित कर वचन-विन्दुओं की वर्षा करने लगा है । अन्तःकरण रूप कमान को संत वचन रूप बाण चलाने लगा है अर्थात् अन्तःकरण संत वचनों के अनुसार चलने लगा है । निर्गुण वृत्ति रूप चींटी में गुणों का आश्रय माया रूप पृथ्वी[5] समा गई है अर्थात् अभाव हो गया है. अब खोजने पर भी नहीं मिलती है । नाना भांति के अभिमान रूप पर्वत हृदय धरणी से उड़ गये हैं । विविध विषयों की आशा रूप पक्षी पंक्ति स्थिर होकर बैठ गई है । अर्थात् विषय-राग नष्ट हो गया है । काम-क्रोध रूप राहु-केतु को मन रूप चन्द्रमा खा गया है । जगत्पति ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग में गुण रूप पैरों से रहित पंगुल ज्ञान पर चढ़कर ही अर्थात् निर्गुण ब्रह्मज्ञान का आश्रय लेकर चला जाता है ।

७४ उलटी रचना । त्रिताल

संतो मीन[1] गगन में गाज्यो[2],
निर्मल ठौर निशान बजायो, सो जल निधि सौं भाज्यो ॥टेक॥

चकवा चकवी रैन मिले हैं, चातक चिता समाना।
मांखी सौं मकड़ी मिल बैठी, पीवे अमृत पाना[3] ॥१॥
पर्वत ऊपर पहुप[4] प्रकाश्यो[5], श्रोला अवनि जमाया।
आभों[6] ऊपरि तिणका ऊग्या, गुरु मुख सो निरताया[7] ॥२॥
दादुर[8] खियो[9] दामिनी सूती, सुन सद्गुरु की वाणी।
जन रज्जब यहु उलटी रचना, विरले पुरुषों जाणी ॥३॥३

उलटी रचना का परिचय दे रहे हैं—संतो ! मन रूप मच्छ[1] ब्रह्म रूप आकाश में जाकर अति हर्षित[2] हुआ है, उसने विषय-जल से परिपूर्ण संसार-समुद्र से दौड़ कर तथा पवित्र अवस्था रूप स्थान में जाकर प्रभु नाम रूप नगाड़ा बजाया है अर्थात् नाम परायण हो रहा है। ज्ञान दशा रूप रात्रि में बुद्धि वृत्ति रूप चकवी और साक्षी आत्मा रूप चकवा दोनों मिल गये हैं अर्थात् वृत्ति आत्माकार ही रहती है। चित्त रूप चातक पक्षी ज्ञान रूप चिता में समा गया है। ईर्ष्या वृत्ति रूप मकड़ी समता रूप मक्खी से मिल कर बैठ गई है अर्थात् समता से ईर्ष्या मिट गई है। इस समता की अवस्था में प्राणी[3] प्रभु चिन्तन रूप अमृत को पीता है। अनात्म अहंकार रूप पर्वत के उपर हृदय कमल रूप पुष्प[4] खिला[5] है अर्थात् अहंकार से ऊपर उठने पर ही हृदय प्रसन्न रहने लगा है। क्षमा रूप पृथ्वी ने शाँति रूप ओला जमाया है अर्थात् क्षमाशील होने पर ही शाँति रहने लगी है। साधन रूप बादलों[6] पर ज्ञानरूप तृण उगा है अर्थात् साधनों से ही तृप्ति का हेतु ज्ञान उत्पन्न हुआ है। वह ज्ञान गुरुमुख साधकों ने ही विचारा[7] है। सद्गुरु की वाणी सुनकर भोगाशा रूप बिजली सो गई है अर्थात् नष्ट हो गई है और संतोष रूप मेंढक[8]-चमक[9]-उठा है। यह उलटी रचना है। इसे विरले ज्ञानी पुरुषों ने ही जाना है। अन्य नहीं जान सकते।

७५ उलटी गति। कहरवा

संतो यहु गति उलटी जाणी,
मूरति मांहि देहुरा[1] आया, सुन सद्गुरु की वाणी ॥टेक॥
बीरज[2] मांही वृक्ष समाना, हाँडी कण में पाकी।
कुआँ भरै कुंभ में पानी, कहत न आवै ताकी[3] ॥१॥
ब्रह्म बूंद में घटा समानी, वायु बीजली सेती[4]।
अवनि आकाश गये ताही में, चपल चातक ही लेती[5] ॥२॥
अक्षर मांहीं पोथी पैठी, बाचक[6] बीच विलाना।
जन रज्जब यहु अगम अगोचर, गुरु मुख मारग जाना ॥३॥४

उलटी चेष्टा का परिचय दे रहे हैं—संतो ! यह चेष्टा उलटी ही जानने में आई है—सद्गुरु की वाणी सुनने पर शरीर रूप मूर्ति में ही विश्व का निवास स्थान प्रभु रूप मंदिर[1] आ गया है अर्थात् शरीर में ही प्रभु का साक्षात्कार हुआ है। माया रूप बीज[2] में संसार रूप वृक्ष समा गया है अर्थात् संसार माया मय ही भासने लगा है। बुद्धि रूप हंडिया विचार रूप अन्तकरण से पक गई है। विषय-वासना रूप जल से परिपूर्ण मन रूप कूप समाधि रूप कुंभ से ब्रह्मानन्द रूप जल भरता है अर्थात् प्राप्त करता है। उस[3] ब्रह्मानन्द की बात वाणी से नहीं कही जाती। ब्रह्मानन्द रस की एक विन्दु में ही, वासना रूप वायु, आशा रूप बिजली, विषय-सुखरूप स्वाति विन्दु को ग्रहण[4] करती हुई चंचल वृत्ति रूप चातकी के सहित[5] विषय-राग रूप घटा समा गई है अर्थात् ब्रह्मानन्द की एक विन्दु प्राप्त होते ही उक्त सबका अभाव हो गया है और इनके आश्रय अहंकार रूप आकाश तथा अविद्या रूप पृथ्वी भी उसी विन्दु में समा गये हैं अर्थात् नष्ट हो गये हैं। अविनाशी ब्रह्म रूप अक्षर में आत्म ज्ञान रूप पुस्तक प्रवेश कर गई है और उसको बांचने[6]-वाला ज्ञानी भी ब्रह्म में ही लय हो गया है। ज्ञान और ज्ञानी दोनों ब्रह्म में लय होते हैं। यह स्थिति मन से अगम और इन्द्रियों से परे की है। गुरु मुख से ज्ञान रूप मार्ग द्वारा ही हमने इसे जाना है।

७६ अद्भुत बात। धीमाताल

संतो कण चाकी को पीसै,

ता में फेर सार कछु नाहीं गुरु प्रसाद सौं दीसै ।।टेक।।

दीपक जले पतंगे मांहीं, मूसे मीनो[1] खाई।

कीड़ी कुंजर मार गरास्यो[2], हिली[3] सु हाथ्यों जाई ।।१।।

लाकड़ि पकड़ कुल्हाड़ा काटचा, तिणके तंबा[4] चाबी।

दीन दादुरो[5] अहि[6] आरोगे[7], बाछी बाघिनि दाबी ।।२।।

अद्भुत बात उर हु क्यों आवे, यहु सब उलटी सारी।

जन रज्जब सो प्रत्यक्ष देखी, कुही[8] कबूतरि मारी ।।३।।५

अद्भुत बात बता रहे हैं—संतो ! ज्ञानी जीव रूप अन्न कण काल रूप चक्की को पीस रहा है अर्थात् ब्रह्म रूप होकर काल का अभाव कर रहा है। इस बात में परिवर्तन करने का कुछ भी अवकाश नहीं है। यह हमें गुरु की कृपा से यथार्थ दीख रही है। विषय ज्ञान रूप दीपक मन रूप पतंग में जल गये हैं अर्थात् सब विषय ब्रह्म रूप ही भासने लगे हैं। ब्रह्म विचार रूप चूहे ने अविद्या रूप बिल्ली[1] को खा लिया है अर्थात् नष्ट कर दिया है। वस्तु विचार रूप कीड़ी ने काम रूप हाथी को मारकर

खा-लिया[१] है और अब कामना रूप हाथियों पर हमला करने में अनुरक्त[३] होकर उन पर धावा करती ही रहती है अर्थात् कामनाओं को नष्ट करने में लगी है। ब्रह्माकार वृत्ति रूप लकड़ी ने कषाय रूप कुल्हाडे को काट दिया है अर्थात रागादि दोष नष्ट कर दिये हैं। वैराग्य रूप तृण ने इन्द्रिय रूप गायों[४] को चबा लिया है अर्थात् उनकी विषय लोलुपता नष्ट कर दी है। सतोगुण रूप दीन मेंढक[५] तामस रूप सर्प[६] को खा[७]-रहा है। शांतिरूप बाछी ने अशांतिरूप सिंहनी को दबा दिया है। ब्रह्म विद्या रूप कबूतरी ने अज्ञान रूप बाज[८] को मार दिया है। यह बात आश्चर्य रूप है, अज्ञानी के हृदय में कैसे उतर सकती है? कारण—यह सब प्रकार से सबकी सब उलटी ही भासती है किन्तु हमने तो जो उलटी दिखाई देती है सो सभी प्रत्यक्ष देखी है।

७७ आश्चर्य । त्रिताल

संतो यहु गति[१] विरला बूझै[२]
गुरु प्रसाद होय यहु जाके, ताही को यहु सूझै[३] ॥टेक॥
आंधी अनन्त दीप ने दाबी, दीवा बुझ नहिं जाई।
जाके द्वार दीप था ऐसा, तिन यहु कीरति गाई ॥१॥
सरिता सकल समुद्र सौं पैठी, कमल कोश में आई।
ऐसा एक अचंभा[४] देख्या, नदी कमल में न्हाई ॥२॥
पृथ्वी सकल प्रजा पुनि सारो, ले आकाश बसाई।
जन रज्जब जगपति की कृपा, घर घर होंहि बधाई ॥३॥६

आश्चर्य रूप बात बना रहे हैं—संतो! यह चेष्टा[१] कोई विरला ज्ञानी ही समझता[२] है। जिसको गुरु का कृपा-प्रसाद प्राप्त होता है, उसी को यह सब दीखता[३] है। ज्ञान रूप-दीपक ने अनन्त विषय-वासना रूप आंधी को दबा दिया है, उससे ज्ञान-दीपक बुझता नहीं है। जिन ज्ञानियों के हृदय-द्वार में ऐसा ज्ञानदीपक था उनने ही इसकी यह कीर्ति कथन करी है। विविध वृत्ति रूप सब नदियां विषय-समुद्र से उलट कर हृदय कमल-कोश में प्रवेश कर गई हैं अर्थात् वहिर्मुख वृत्तियों का अभाव होगया है। एक ऐसा आश्चर्य[४] देखा है कि—भावना रूप नदी निष्काम हृदय-कमल के ज्ञान जल में स्नान करके पवित्र हो गई है अर्थात् ब्रह्म भावना हो गई है। उसने सम्पूर्ण पृथ्वी और सभी प्रजा को लेकर ब्रह्मरूप आकाश में बसाया है अर्थात् सबको ब्रह्म रूप देखने लगे हैं। अब जगत्-पति प्रभु की कृपा से घर-घर में वृद्धि के गीत गाये जाने लगे हैं अर्थात् ज्ञानी का सत्कार सभी करते हैं।

७८ ब्रह्म परिचय । दादरा

अवधू[1] अकल अनूप अकेला[2],
महा पुरुष मांहीं अरु बाहर, माया मध्य न मेला ।।टेक।।
सब गुण रहित रमे घट भीतर, नाद विन्दु में न्यारा ।
परम पवित्र परम गति[3] खेलै[4], पूरण ब्रह्म पियारा ।।१।।
अंजन मांहि निरंजन निर्मल, गुणातीत गुण मांहीं ।
सदा समीप सकल विधि समरथ, मिले सु मिल नहिं जाहीं ।।२।।
सर्वंगी समसरि[5] सब ठाहर, काहू लिप्त न होई ।
जन रज्जब जगपति की लीला[6], बूझैं[7] विरला कोई ।।३।।७

ब्रह्म का परिचय करा रहे हैं—हे साधक[1] ! ब्रह्म कला विभाग से रहित होने से अकल हैं, उपमा रहित हैं, अद्वैत[2] हैं, जीव रूप पुरुषों से अति महान् हैं, सब के भीतर और बाहर स्थित हैं । माया के बीच रहते हुये भी माया से नहीं मिलते । सब गुणों से रहित होकर भी गुण मय शरीरों में व्यापक रूप से रम रहे हैं । ओंकार पर स्थित अर्ध चन्द्र रूप नाद और विन्दु में रहते हुये भी उनसे अलग हैं । परम पवित्र हैं, परम चेष्टा[3] से क्रीड़ा[4] करने वाले हैं । संतों के प्यारे वे पूर्ण ब्रह्म माया रूप अंजन में रहते हुये भी निरंजन और निर्मल हैं । गुणों में रहकर भी गुणातीत हैं, सदा सबके समीप हैं, सर्व प्रकार समर्थ हैं । वे सब में मिले हुये रहने पर भी किसी में भी नहीं मिलते । सर्व विश्व ही उनका शरीर है इसी कारण वे सर्वंगी कहलाते हैं । वे सब स्थानों में समान[5] रूप से रहते हैं किंतु किसी से भी लिपायमान नहीं होते । उन जगत्पति की चेष्टा[6] को कोई विरला ज्ञानी ही समझ[7] पाता है ।

७९ उपदेश । त्रिताल

अवधू[1] इहिं विधि जुग जुग जीजे,
दहु[2] दिशि उलटि आव घर अपने, अमी महा रस पीजे ।।टेक।।
देही मांहि देह से न्यारा, नाम निरंजन लीजे ।
आरंभ[3] यही रटो निशि वासर, कारज और न कीजे ।।१।।
आतम मांहि अनन्त सुधा रस, आपा[4] रहित रमीजे ।
जे कुछ आप मांहि कण[5] सारा[6], सो सब ता मांहि[7] दीजे ।।२।।
आपा[8] भूल मूल मन लागे, रहते[9] रहता[10] रीझे ।
ऐसे अमर होय जन रज्जब, लांबा कारज सीझे ।।३।।८

अमर होने का उपदेश कर रहे हैं—हे साधक[1] ! इस नीचे लिखी विधि के अनुसार साधन करने से जीव ब्रह्म रूप होकर प्रतियुग में जीवित रहता है—दश इन्द्रिय रूप दश दिशाओं से वा बाहर की दश[2] दिशाओं के विषयों से लौटकर अपने आदि घर ब्रह्म के स्वरूप में आकर ब्रह्म चिन्तन रूप महान् अमृत-रस का पान कर। देह में रहते हुये देहाध्यास से रहित होकर निरंजन ब्रह्म का नाम उच्चारण कर, रात्रि-दिन नाम रटना रूप अनुष्ठान[3] ही कर, अन्य कार्य मत कर। अन्त:करण के भीतर ही साक्षी रूप अनन्त-सुधा रस है, अनात्म अहंकार[4] से रहित होकर उस आत्मा में ही रमण कर, जो कुछ भी अपने में सार[6] रूप बल[5] है, सो सब उस आत्म स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि में[7] हो दे। इस प्रकार जब अनात्म अहंकार[8] को भूल कर मन विश्व के मूल कारण ब्रह्म में लगकर स्थिर होगा तब उस अचल[9] मन से अचल[10] ब्रह्म प्रसन्न होंगे। इस प्रकार बहुत लम्बे समय से सिद्ध होने वाला ब्रह्म की प्रसन्नता रूप कार्य सिद्ध होकर दास अमर हो जाता है अर्थात् ब्रह्म रूप हो जाता है।

८० संतोष रख। त्रिताल

मन रे करि संतोष सनेही,

तृष्णा तप्त मिटै जुग जुग की, दुख पावे नहिं देही[1] ।।टेक।।

त्याग्यों तजै नांहि सो सिरज्या, गह्यों अधिक नहिं आवे।

ता में फेर सार कछु नांहीं, राम रच्या सो पावे ।।१।।

बांछै[2] स्वर्ग स्वर्ग नहिं पहुँचे, प्रीति पताल न जाई।

ऐसे जान मनोरथ मेट हु, समझ सुखी रहु भाई ।।२।।

रे मन मान सीख सद्गुरु की, हृदय धरि विश्वासा।

जन रज्जब यों जान भजनकर, गोविन्द है घरदासा ।।३।।८०

संतोष रखने की प्रेरणा कर रहे हैं—अरे मन ! संतोष को प्रेमी बना, संतोष से प्रेम करने पर अनेक युगों की तृष्णा से उत्पन्न ताप मिट जायगी और जीवात्मा[1] दुःख नहीं पायेगा। जो तेरे लिये उत्पन्न किया गया है वह तेरे त्यागने पर भी तुझे नहीं त्यागेगा और ग्रहण करने पर भी उससे अधिक तेरे पास नहीं आयेगा। जो राम ने तेरे लिये रचा है वही पायेगा। उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता, यह सार बात है। स्वर्ग की इच्छा[2] करने पर कोई स्वर्ग में नहीं पहुँच सकता और पाताल की प्रीति होने से पाताल में नहीं जा सकता। हे भाई ! ऐसा जान कर अपने मनोरथ को मिटा और विचार द्वारा सुखी हो। अरे मन! उक्त सद्गुरु की शिक्षा को मान कर हृदय में विश्वास रख और ऐसा जामकर भजन कर कि गोविन्द दास के घर पर ही रहते हैं।

८१ विनय । त्रिताल

मालिक[1] महर[2] करि भरपूर,
काफिरां[3] करि कतल[4] केशव, द्वन्द्वरां[5] दिल दूर ॥टेक॥
रहम[6] मय रिपु खस्त[7] खालिक[8], गर्व गजन शूर।
इह[9] तलब[10] तालिब[11] पुकारै, राखि नाम हजूर[12] ॥१॥
जान राय जाहिर[13] तुम्ही तैं, नहीं कोई दूर।
बीच ही बटपार[14] कैसे, रहे मारग पूर[15] ॥२॥
फरजंद[16] की फरियाद[17] फारिक[18], नफसरां[19] करि चूर।
रज्जबा अरवाहि[20] आतुर[21], रहो मिल मासूर[22] ॥३॥१०

प्रभु प्राप्ति में जो विघ्न हैं उनको नाश कराने के लिये प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं—हे प्रभो[1] ! परिपूर्ण दया[2] करें। केशव ! दुष्टों[3] को मार[4] कर, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों[5] को हृदय से दूर करें। दया[6] मय ! कामादि शत्रुओं से मैं व्याकुल[7] हूं, सृष्टि कर्त्ता ईश्वर[8] ! आप तो गर्व नाश करने में शूर वीर हैं ही फिर मेरे शत्रु कामादि का गर्व नष्ट क्यों नहीं करते ? मैं आपको चाहने[11]-वाला इस[9] इच्छा[10] से पुकार रहा हूं कि आप अपने नाम चिन्तन द्वारा मुझे अपने पास[12] ही रक्खें। हे जान राय ! आपको तो सब ज्ञात[13] है, आपसे कोई भी दूर नहीं है। देखिये, ये द्वन्द्व दोष रूप लुटेरे[14] आपकी प्राप्ति के मार्ग के बीच में कैसे परिपूर्ण रूप से भरे[15] हैं। हे स्वतंत्र[18] ईश्वर ! मुझ पुत्र[16] की पुकार[17] सुन कर मेरी विषय-वासनाओं[19] को नष्ट करें। मैं आत्मा[20] आपके मिलने के लिये अत्यन्त व्याकुल[21] हूं। हे प्रेम[22]-पात्र मुझ से मिलकर ही रहो, अलग न रहो।

८२ माया मध्य भजन । कहरवा

माया मांहि भज्या हरि जाय, सकल संत देखो निरताय[1] ॥टेक॥
जैसे चंद कुमोदिनी नेह, जल बिछुरे पुनि त्यागै देह ॥१॥
जैसे सीप स्वाति रत होय, सायर[2] बिन जीवे नहिं सोय ॥२॥
ज्यों तरुवर पाणी की आश, धरती बिछुटे मूल विनाश ॥३॥
काया माया तजै न कोय, रज्जब भजे सकल सिधि[3] होय ॥४॥११

माया में रहने पर भी भजन हो सकता है, यह कह रहे हैं—माया में रह कर भी हरि भजन किया जा सकता है, इस बात को सब संत विचार[1] करके देख सकते हैं। जैसे कुमोदिनी जल में रहती है और चन्द्रमा से प्रेम रखती है, यदि जल से बिछुड़ कर चन्द्रमा से प्रेम करना चाहे तो नहीं हो सकता, कारण—उसका शरीर ही नष्ट हो जाता है अर्थात्

जल से अलग होने पर वह सूख जाती है । जैसे सीप स्वाति बिन्दु में अनुरक्त रह कर भी समुद्र[2] में रहे बिना जीवित नहीं रह सकती । जैसे वृक्ष को जल की आशा रहती है किन्तु पृथ्वी से अलग होने पर तो उसका मूल भी नष्ट हो जायगा । वैसे ही शरीर और माया वा शरीर रूप आत्मा को कोई भी नहीं तजता फिर भी प्रभु का भजन करने से सब कार्य सिद्ध[3] होते हैं ।

८३ गुरु वियोग दुःख । त्रिताल

गुरु के गमन दुखी शिष सारे,
सब सुख निधि के विलसन[1] हारे ॥टेक॥
श्रवण दुखी सुनत सत वानी, नैन दुखित डारैं बहु पानी ॥१॥
दुखी रसन मुख बातें करते, शीश दुखित गुरु चरणन धरते ॥२॥
तन मन दुखी जु फेरि सँवारे, अंतर्द्धान भये गुरु प्यारे ॥३॥
जन रज्जब रोवे दुख आदू, परम पुरुष बिछुटे गुरु दादू ॥४॥१२

गुरु वियोग जन्य दुःख को प्रकट कर रहे हैं—गुरुदेव के परम धाम गमन से सब प्रकार ब्रह्मानंद रूप निधि के उपभोग[1] करने वाले सभी शिष्य दुःखी हैं । जो गुरुमुख से सत्य वाणी सुनते थे वे हमारे श्रवण दुःखी हैं । जो गुरु-देव का दर्शन करते थे वे नेत्र दुखित होकर बहुत-सा अश्रु-जल डाल रहे हैं । गुरु-देव के सन्मुख बैठकर जिस रसना से ब्रह्म संबन्धी बातें करते थे वह रसना दुःखी है । जो गुरु-देव के चरण-कमलों में रखते थे वह शिर दुःखी है । हमारे तन-मन को संसार से बदलकर गुरुदेव ने सुधारा था वे तन-मन प्रिय गुरुदेव के अन्तर्द्धान होने से दुःखी हैं । परम पुरुष गुरु दादूजी महाराज के बिछुड़ने के आदि अर्थात् मुख्य दुःख से मैं रो रहा हूं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आसावरी राग ४ समाप्तः ॥

अथ राग टोडी

(गायन समय दिन ६ से १२)

८४ अखंड भक्ति । त्रिताल

भक्ति अखंड करैं हरि मांहीं; एक मेक अरु दूसर नांहीं ॥टेक॥
ज्यों सूक्ष्म गुण आतम मांहीं, हैं भी सही[1] दूसरे नांहीं ।
यूं जन जगपति एक हि होय, ता ऊपरि भजबे को दोय ॥१॥
जैसे राग अकलि[2] मिल एक, जब चाहै तब भिन्न विवेक ।
ऐसें जीव ब्रह्म ह्वै आथि[3], भजै भिन्न अरु सांई साथि ॥२॥

ऐसे भक्ति अखंड अपार, दादू को दीन्ही करतार।
रज्जब रटे लाभ ले माँहि, जात भये अरु भजते जाँहि ॥३॥१

संत प्रभु में मिलकर भी अलग भासते हुए अखंड भक्ति करते हैं किंतु अलग नहीं होते यह कह रहे हैं—संत हरि में अखंड भक्ति करते हैं और दूसरे होने पर भी हरि में एकमेक ही हैं, दूसरे नहीं रहते। जैसे सूक्ष्म गुण आत्मा में हैं वे आत्मा से भिन्न हैं भी यह सत्य[१] है किंतु फिर भी वे आत्मा से दूसरे नहीं हैं। वैसे ही भक्त और जगत्पति भगवान् एक ही होते हैं किंतु उस एकता के ऊपर उठकर भजन-रस पान के समय दो भी भासते हैं जैसे राग बुद्धि[२] में एक रूप हुई रहती है किंतु जब चाहें तब गाने के समय उसका बुद्धि से भिन्न ज्ञान होने लगता है। ऐसे ही जीव की ब्रह्म में एक रूप से स्थिरता[३] है और भजन करने के लिये प्रभु के साथ रह कर भी भिन्न सा भास जाता है। इस प्रकार अखंड और अपार भक्ति करने की योग्यता सृष्टिकर्त्ता प्रभु ने दादूजी को दी है, वे प्रभु के स्वरूप में पहुंच भी गये हैं और भजन भी करते जा रहे हैं। उनकी कृपा से मैं भी उक्त प्रकार ही नाम रटता हुआ भीतर ही अखंड भक्ति का लाभ ले रहा हूं।

८५ गुरु गोविन्द से साधु। कहरवा

ऐसे गुरु गोविन्द अगाध[१],
अखिल[२] अनन्त निपाव[३] हि साध[४] ॥टेक॥
ज्यों चकमक पाषाण प्रसंग,
अग्नि अपार उपाय अभंग ॥१॥
ज्यों दिनकर दर्पण दिशि देख,
प्रकटै अनल रु पूरि[५] विशेख[६] ॥२॥
सूरज कांति अश्म[७] गति[८] जानि,
बहुत हुताशन[९] होय न हानि ॥३॥
द्वै दीपक में दीपक जोय,
रज्जब ज्योति मंद नहिं होय ॥४॥२

गुरु और गोविन्द से ही साधु बनते हैं, यह कह रहे हैं—इस प्रकार गुरु और असीम[१] गोविन्द सम्पूर्ण[२] संसार में अनन्त साधु[४] उत्पन्न[३] करते हैं–जैसे चकमक और पत्थर का टकराना रूप प्रसंग अपार अग्नि उत्पन्न करता है, चकमक और पत्थर पूर्ववत ही रहते हैं, नष्ट नहीं होते। जैसे सूर्य और आतशी शीशा की ओर देखो, आतशी शीशा में सूर्य किरण

पड़ने पर अग्नि प्रकट होता है और सूर्य तथा शीशा विशेष[६] करके पूर्ववत पूर्ण[५] ही रहते हैं। सूर्य की किरण आतशी शीशा में पड़ने से और पत्थर[७]-चकमक के टकराने से बहुत अग्नि[६] हो जाता है। सूर्य तथा पत्थर की कोई हानि नहीं होती। इन दोनों की चेष्टा[८] हमने जान ली है। एक दीपक से दूसरा दीपक जलाने पर दो दीपक हो जाते हैं और प्रथम दीपक की ज्योति मंद नहीं होती। वैसे ही गुरु और गोविन्द से अनन्त संत होते रहते हैं।

८६ सत्संग लाभ। झपताल

साधु संग भक्ति रंग, गुरु प्रसाद पावै।
परम प्रीति परम रीति, परम पुरुष गावै ॥टेक॥
सद्गुरु के दर्श परश[१], दीरघ[२] दुख भागै।
कर्मकाल विघ्न व्याल[३], बहुरि नहीं लागै ॥१॥
अचल नाम अगम ठाम, आनन्द घर वासा।
सकल सिधि[४] अकल विधि, सद्गुरु संग दासा ॥२॥
अधिक भाग[५] श्री[६] सुहाग, सांई संग खेलै।
जन रज्जब गुरु प्रसाद, जीव ब्रह्म मेलै ॥३॥३

सत्संग का लाभ बता रहे हैं—गुरु के कृपा प्रसाद से संतों का संग करता है, तब भक्ति का रंग लगता है। संतों द्वारा प्राप्त प्रभु की परम प्रीति और उनकी बताई हुई साधन की परम पद्धति से परम पुरुष प्रभु का यश गाता है। सद्गुरु के दर्शन और चरण स्पर्श[१] से महान्[२] संसार दुःख हृदय से भाग जाता है। कर्म, काल और विघ्न रूप सर्प[३] पीछे नहीं लगते। नाम में अचल वृत्ति रखते हुये समाधि रूप अगम स्थान के ब्रह्म रूप आनन्द घर में निवास करता है। सेवक, सद्गुरु के संग से कला विभाग रहित अकल-ब्रह्म प्राप्ति की विधि जान कर संपूर्ण सिद्धि[४] प्राप्त करता है, फिर तो उसका महान् भाग्य[५] उदय हो जाता है, शोभा[६] और सौभाग्य प्राप्त होता है। वह प्रभु के साथ खेलता है अर्थात् परमानन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार गुरु के कृपा-प्रसाद से जीव ब्रह्म से मिल जाता है।

८७ सद्गुरु उपकार। शूल ताल

सांचा गुरु दृढावे राम, निर्लोभी खरतर[१] निष्काम ॥टेक॥
परमारथी प्रमोधै[२] प्राण, विषयों मांहि न देवै जाण।
काम प्रसिद्ध करे मन लाय, स्वारथ संग सरक[३] नहि जाय ॥१॥

दीरघ[४] दशा देय दिल आण, त्रिगुण रहित निर्गुण निज छाण[५] ।
जा मत[६] में सोझैं[७] सब और, सो ले देय नाम निज ठौर ॥२॥
नख शिख फेरि करैं निज रूप, विषय विकार काढ़ गृह कूप ।
जीव माँहि जीवनि ले देय, यूं रज्जब सद्गुरु करि लेय ॥३॥४

सद्गुरु का उपकार बता रहे हैं—निर्लोभी, यथार्थवक्ता,[१] निष्काम सच्चे गुरु ही हृदय में राम की भक्ति दृढ़ कराते है। वे परमार्थी प्राणी को उपदेश[२] द्वारा परमार्थ में लगाते हैं, विषयों में नहीं जाने देते। जीव का कल्याण रूप प्रसिद्ध कार्य मन लगा कर करते हैं, स्वार्थ का साथ करके जीवों का हित करने से हटते[३] नहीं हैं। तीनों गुणों से रहित निज स्वरूप निर्गुण ब्रह्म के विचार[५] द्वारा जीव के हृदय में महान्[४] अवस्था ला देते हैं। जिस विचार[६] में आने से अन्य सभी मुक्त[७] हो सकें, वह विचार ही ग्रहण करते हैं और प्रभु का नाम देकर जीवों को ब्रह्मरूप निजस्थान में पहुँचाने का यत्न करते हैं। विषय-विकार और घर रूप कूप से निकाल कर तथा नख से शिखा तक सभी अंगों को बदलकर निज रूप कर लेते हैं। इस प्रकार जीव में ज्ञानरूप जीवन डालकर उसे सद्गुरु कर लेते हैं।

८८ लोभी गुरु। एक ताल

लोभी गुरु कहै मुख राम, मन मांहीं सूधा सहकाम ॥टेक॥
मूठी तल आवे जो प्राण, सो जिव लहै न बाहर जाण ॥१॥
जैसी विधि वक मांडै ध्यान, अन्तर गति और हि कछु आन ।
जो मच्छी मन धीजे आय, ता ही को बैठे गटकाय ॥२॥
बीच बघेरा लुठक[१] लगाय, शिष्य श्वान सब लेय रिझाय ।
जन रज्जब जो परसै प्राण, ताही को लागा सो खाण ॥३॥५

लोभी गुरु का व्यवहार बता रहे हैं-लोभी गुरु मुख से तो राम-राम कहता है किंतु मन में सीधा सकामी बना रहता है अर्थात् उसकी मनोवृत्ति सीधी स्वार्थ पर ही जाती है। जो प्राणी उसकी मूठी तल में आता है अर्थात् हाथ में आता है, वह जीव बाहर नहीं जाने पाता। जैसे बगला ध्यान करता है किंतु उसके भीतर कुछ और ही इच्छा रहती है, जो मच्छी मन में विश्वास करके उसके पास जाती है, उसे ही खा बैठता है, वैसे ही जो लोभी गुरु का विश्वास करता है उसे ही वह लूट खाता है। जैसे मार्ग के बीच में बघेरा लौट[१] कर कुत्ते को प्रसन्न कर लेता है, फिर पास आते ही खा जाता है, वैसे ही लोभी गुरु दंभ द्वारा प्रभु संबन्धी बातें करके शिष्यों को प्रसन्न करता है, फिर जो प्राणी उसके पास अधिक आता है उसका धन लूट कर उसे खाने लगता है।

८९ मुख्य काम । त्रिताल

नाम निरंजन प्राण[1] कहै, पंच गहै दुख द्वन्द्व दहै[2] ॥टेक॥
अकर अमर ल्यो[3] लाय रहै, काल कुतक[4] शिर नांहि सहै ॥१॥
सुमिरण सरिता मांहि बहै, द्वै दिशि दुविधा ढेम[5] ढहै[6] ॥२॥
अगम अगोचर ज्योति लहै, जन रज्जब जग काम इहै[7] ॥३॥६

करने योग्य मुख्य काम बता रहे हैं–प्राणी[1] को चाहिये कि–निरंजन राम के नाम का चिन्तन करे, पच ज्ञानेन्द्रियों को अपने अधीन करे, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से होने वाले दुःख को जलाये[2] अर्थात् नष्ट करे । अकर अर्थात् जिसका कर्त्ता कोई नहीं है, उस अमर ब्रह्म में वृत्ति[3] लगा कर रहे । काल का दंडा[4] शिर पर नहीं सहना पड़े ऐसा काम करे । प्रभु स्मरण रूप नदी में बहै अर्थात् निरंतर स्मरण करे । वर्ण और आश्रम दोनों ओर की दुविधा वृत्ति रूप ढीम[5] को तोडे[6] । मन से अगम, इन्द्रियों के अविषय ज्ञान ज्योति रूप ब्रह्म को प्राप्त करे । यही[7] जगत् में करने योग्य मुख्य काम हैं ।

९० प्रभु अनन्यता । एक ताल

राम सौं रत्ता[1] राम सौं मत्ता[2], राम रसायन प्राण पीवता ॥टेक॥
राम सौं लीना[3] राम सौं भीना[4], राम रटन उर अन्तर कीना ॥१॥
राम सौं संगा राम सौं रंगा[5], राम सनेही मित्र अभंगा[6] ॥२॥
राम सु मीठा सबमें दीठा[7], अंतर्यामी आतम ईठा[8] ॥३॥
राम सु प्यारा प्राण हमारा, जन रज्जब कह फेर न सारा ॥४॥७

प्रभु में अपनी अनन्यता को प्रकट कर रहे हैं––हम राम में ही अनुरक्त[1] हैं, राम भक्ति रस से मस्त[2] हैं । हमारा मन राम रसायन को ही पीता है । चित्त राम के स्वरूप में ही लीन[3] हो रहा है । बुद्धि राम-रस में भीग[4] रही है । हृदय में राम नाम की ही रटन कर रहे हैं । राम का ही संग करते हैं, राम से ही प्रेम[5] करते हैं । प्यारे राम हमारे अविनाशी[6] मित्र हैं । राम अति मधुर हैं उनको मैंने सब में देखा[7] है । वे अन्तर्यामी ही मेरे आत्मा के इष्ट[8] हैं । वे राम ही हमारे प्राणों के समान अति प्रिय हैं । हमारे इस कथन में परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह यथार्थ सार बात है ।

९१ प्रभु प्रेम । झपताल

मेरो मन रातो[1] माई, प्राण पिया के संग ।
मौज[2] अनेक अनूपम आछी, चोल[3] चरण के रंग ॥टेक॥

महर[४] मजीठ रहम[५] की रैणी[६], मन बुधि सुरति सुरंग।
रज्जब लाल लाल[७] की ल्यौ मिल, जुग जुग अचल अभंग[८] ॥१॥८

अपना प्रभु-प्रेम बता रहे हैं—हे माई ! मेरा मन प्राणप्रिय प्रभु के संग में अति अनुरक्त[१] है। उनके संग में अनेक प्रकार के अनुपम और अच्छे आनन्द[२] हैं। मेरा शरीर रूप चोला[३] उनके चरण के प्रेम रूप रंग से रँगा गया है। उनकी कृपा[४] रूप मजीठ और दया[५] रूप हलदी[६] से मन बुद्धि और वृत्ति अच्छी रंग गई है अर्थात् उनमें अनुरक्त हो गई है। प्रिय[७] प्रभु की ल्यौ अर्थात् प्रभु के आकार वृत्ति से मैं भी लाल हो गया हूँ। यह मेरा प्रभु-प्रेम रूप रंग प्रति युग में अचल और अविनाशी[८] रहेगा।

९२ विरह-विनय। धीमा ताल

आवरे हरि आवरे,
उर अन्तरि यहु भावरे, यहु अवसर यहु दाँवरे ॥टेक॥
यहु अंदेशा[१] नांहि संदेशा[२], जीवन कैसा आवरे ॥१॥
तालावेली[३] पीव अकेली, रैन दुहेली[४] आवरे ॥२॥
अबल[५] अधीरा पंजरि पीरा, नैनन नीरा आवरे ॥३॥
रज्जब नारी विरहा जारी, तुम पर वारी आवरे ॥४॥९

विरह पूर्वक विनय कर रहे हैं—आइये प्रभो ! आइये, मेरे हृदय में शीघ्रता करने का यह भाव है कि–आपके पधारने का यही अवसर है और मेरे लिये भी यह मनुष्य शरीर ही उत्तम समय है किन्तु मुझे चिंता[१] है कि अभी तक आपके पधारने का समाचार[२] नहीं है। प्रभो ! आपके बिना यह जीवन कैसा है ? अर्थात् व्यर्थ ही है, अतः शीघ्र ही आइये। प्रियतम! आपके बिना मुझे बड़ी व्याकुलता[३] है, मुझ अकेली को यह जीवन-रात्रि व्यतीत करना कठिन[४] हो रहा है, आइये ! मैं अबला[५] शरीर-पिंजरे की विरह व्यथा से अधीर हो रही हूं, नेत्रों से अश्रु जल धारा चल रही है, पधारिये ! मैं नारी विरहाग्नि से जल रही हूं, आप पर निछावर हो रही हूं, आप शीघ्र पधार कर मेरी यह जलन मिटावें।

९३ काम से रक्षार्थ विनय। दादरा

कहर[१] काम राखि[२] राम, मैं अनाथ तेरा।
करि सहाय राम आय, अरि अनंग[३] घेरा ॥टेक॥
मदन बाण वेधे प्राण, आतम उर झेरा[४]।
विन्दु[५] व्याधि अति असाध्य, रोक्या निज सेरा[६] ॥१॥

विविध अंग[७] सदा संग, उर अंतरि नेरा।
काम काल करि बेहाल, त्यागै नहिं केरा[८] ॥२॥
विषय वास मन हि पास, राम कर निबेरा[९]।
जन रज्जब दीन लीन, नांहीं बल मेरा ॥३॥१०

काम से छुटकारा पाने के लिये प्रभु से विनय कर रहे हैं—हे राम! मैं अनाथ हूं, आपका हूं, काम के क्रोध[१] से मेरी रक्षा[२] कीजिये। काम[३] रूप शत्रु ने मुझे आ घेरा है। राम ! मेरे हृदय में आकर मेरी सहायता करें। काम के बाण ने मेरे मन को विद्ध करके मुझ जीवात्मा के हृदय में झगड़ा[४] खड़ा कर दिया है। काम[५] रूप रोग अति असाध्य है। इसने मेरे निज स्वरूप प्राप्ति का मार्ग[६] रोक रक्खा है। यह विविध प्रकार के लक्षणों[७] से सदा अति समीप हृदय के भीतर ही रहकर साथ रहता है, इस काम रूप काल ने मेरा बुरा हाल किया है। किसी[८] भी प्रकार मुझे त्यागता नहीं है। विषयों ने भी मन के पास ही निवास कर रक्खा है। मैं दीन भाव से आपके चिंतन में लीन रहता हूं किंतु काम को नष्ट कर सके ऐसा बल मेरा नहीं है। अत: आप ही इस काम रूप महा शत्रु से छुड़ावें[९]।

९४ रक्षार्थ विनय। कहरवा

तू साहिब सबल हमारा, यहु रोक्या प्राणि तुम्हारा ॥टेक॥
विरह विचार परस[१] नहिं कबहूं, द्वन्द्व[२] अधिक अपारा।
प्रकट गुप्त गुप्त हरि प्रकटे, सेवक दुखित तुम्हारा ॥१॥
संशय सबल सदा ही व्यापै[३], पलक ही पलक प्रजारा[४]।
पंच अहेड़ी चढे बधिक ह्वै, जीव जबह[५] करि मारा ॥२॥
चढ़ो पुकार सुरति[६] करि सांई, समर्थ सिरजन हारा।
जन रज्जब जिव जाय बंदि[७] में, स्वामी करहु सहारा[८] ॥३॥११

द्वन्द्वादि से रक्षार्थ विनय कर रहे हैं—प्रभो ! आप हमारे स्वामी तो महाबली हैं, फिर भी इस द्वन्द्वादि समूह ने आपके पास आने से आपके प्राणी को रोक लिया है। विरह और विचार तो हृदय को कभी स्पर्श[१] भी नहीं करते और राग-द्वेषादिक अपार द्वन्द्व[२] तो अधिकतर हृदय में भरे ही रहते हैं। यह प्रकट होते हैं और गुप्त भी हो जाते हैं। हरे ! आपके हृदय में प्रकट होते ही वे सर्वथा गुप्त हो जायंगे। आपका सेवक इन द्वंद्वों से दुखित है। परमार्थ संबंधी सबल संशय सदा ही हृदय में प्रवेश[३] किये रहते हैं और क्षण २ में हृदय को जलाते[४] रहते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रिय रूप शिकारी व्याध होकर हमला कर रहे हैं। इनने जीव को कत्ल[५] करके मारा है अर्थात् बहुत दुःखी किया है। सृष्टि कर्त्ता समर्थ स्वामिन् !

हमारी पुकार की ओर ध्यान[६] देकर सहायता के लिये चढ़िये । यह जीव द्वंद्वों की कैद[७] में जा रहा है । स्वामिन् ! सहायता[८] करके इनसे बचाइये ।

९५ विनय । सवारी ताल

तू पावन पतित उधारि,
हम अपराधो आदि अंत के, साहिब लेहु सुधारि ।।टेक।।
दीन दयालु दीन सुखदाई, सेवक शोच निवारि ।
काम क्रोध व्यापै निज अन्तर, देही द्वन्द्वर टारि ।।१।।
पंच पसारे पल पल दौरें, तिनहुं मांहि निवारि ।
लीयूं जाय बंदि[१] वश कीये, बाहुड़ि[२] विरुद्ध संभारि[३] ।।२।।
सेवक सदा संभारे स्वामी, तुम अपनी उनहारि[४] ।
जन रज्जब पर परम कृपा करि, आडा[५] अन्तरि जारि[६] ।।३।।१२

अतराय नाशार्थ विनय कर रहे हैं–प्रभो ! आप पतितों को पवित्र करके उनका उद्धार करने वाले हैं । हम भी जीवन के आदि से अंत तक के अपराधी हैं । प्रभो ! हमें सुधार लीजिये । आप दीन दयालु हैं, दीनों को सुख देने वाले हैं । अत: मुझ सेवक का शोक दूर कीजिये । मेरे हृदय में काम-क्रोध अपना प्रभाव डाल रहे हैं, मेरे शरीर से इन द्वंद्वों को हटाइये । पंच ज्ञानेन्द्रियें प्रतिक्षण दौड़ २ कर विषय विस्तार में जाती हैं, उन्हें विषयों मे हटाकर वृत्ति को अंतर्मुख कीजिये । ये इंद्रियां मुझे सांसारिक विषयों में लिये जा रही हैं । इनने मुझे कैदी[१] बना कर वश में कर लिया है, आप अपने भक्त-रक्षक विरुद को संभाल[३] कर मेरी रक्षा के लिये लौटें[२] । स्वामी सदा ही सेवक की संभाल करते हैं, आपको भी अपनी कीर्ति के समान[४] हमारी संभाल करनी चाहिये । आप मुझ पर परम कृपा करके आप और मेरे बीच में जो पड़दा[५] है, उसे शीघ्र जला[६] दें ।

९६ करुणा । झपताल

हरिनाम मैं नहिं लीन्हा,
पंच सखी पांचों दिशि खेलै, मन माया रस भीना[१] ।।टेक।।
कौन कुमति लागी मन मेरे, परम अकारज कीन्हा ।
देखो उरझि सुरझि नहिं जान्यों, विषम[२] विषय रस पीना ।।१।।
कहिये कहा विकल मति अपनी, बहु वैरिन मन धीना[३] ।
आतम राम सनेही अपनों, सो स्वप्ने नहिं चीन्हा[४] ।।२।।

आन[५] अनेक आनि[६] उर अंतरि, बहुत भांति तन छीन्हा ।

जन रज्जब क्यों मिलैं जगत गुरु, जगत् मांहि जीव दीन्हा ।।३।।१३

प्रभु-वियोग जनित दुःख प्रकट कर रहे हैं—मैंने हरि नाम चिन्तन नहीं किया है । पंच ज्ञानेन्द्रिय रूप पंच सखियां पंच विषय रूप पांच दिशाओं में क्रीड़ा कर रही हैं और मन भी माया के राग रूप रस में भीग[१] रहा है । मेरे में यह कौन कुबुद्धि लग गई है ? जो मैंने प्रभु का विस्मरण रूप महान् अकार्य किया है । देखो तो सही, मैं इस विषय–जाल में फंस कर, निकलना नहीं जान सका, भयंकर[२] विषय-रस का ही पान करता रहा । क्या कहूं मेरी बुद्धि विकल हो रही है, मन काम-क्रोधादिक बहुत से शत्रुओं के अधीन[३] हो रहा है । जो अपने प्यारे आत्म स्वरूप राम थे उन्हें तो स्वप्न में भी मैं नहीं पहचान[४] सका हूं । अन्य[५] अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प हृदय में लाकर[६] बहुत भांति से शरीर को क्षीण करता रहा हूं । इस प्रकार मैंने सदा जगत् में ही मन दिया है, तब मुझे जगत् गुरु कैसे मिलेंगे ?

९७ करुणा विनय । मत्तताल

गुनहगार[१] गुनहगार,

लेखा कछु नांहि, मेरे ऐब[२] हैं अपार ।।टेक।।

बहुत मैल बुरे फैल[३], बेहद[४] बदकार[५] ।

अव्वल[६] रोग दिल दरोग[७], बदी[८] बिसियार[९] ।।१।।

तर्क[१०] खैर[११] सूम[१२] सैर[१३], नेकी बेजार[१४] ।

बहुत ढील मन बखील[१५], पावै क्यों पार ।।२।।

बहु गुमान[१६] तज सुभान[१७], नाहीं अखत्यार[१८] ।

रज्जब रजूल[१९] गुफत[२०], सूल[२१] सांई सतार[२२] ।।३।।१४

दुःख से रक्षार्थ विनय कर रहे हैं—मैं अपराधी[१] हूं, अपराधी हूं, मेरे दोष[२] अपार हैं, उनका कुछ भी हिसाब नहीं है । मुझ में मैल भरा है, मेरे बुरे नखरे[३] हैं, असीम[४] कुकर्म[५] हैं, मेरे हृदय में एक[६] नम्बर का मिथ्या[७] राग रूप रोग है, बुराई[८] बहुत[९]-अधिक है, दान[११] का त्याग[१०] है, कृपणता[१२] में घूम[१३] रहा हूं, भलाई से दुःखी[१४] होता हूं, मन कृपण[१५] है और बहुत शिथिल रहता है, फिर यह संसार का पार कैसे पायेगा ? मुझ में बहुत अभिमान[१६] है, मैंने पवित्र[१७] प्रभु का चिन्तन भी त्याग दिया है । मेरा कोई अधिकार[१८] नहीं है, मैं पद दलित[१९] हूं, यह मैंने मेरा दुःख[२१] कहा[२०] है । प्रभो ! आप क्षमाशील[२२] हैं, मेरी रक्षा करें ।

९८ भाव-विशेषता । धीमाताल

भाव मिले भगवन्त हि आय, नेह बिना कोउ नांहि उपाय ॥टेक॥
प्रथम भाव भक्ति का मूल, सुकृत सब डाली फल फूल ॥१॥
भाव चढै भव सागर पार, जैसे नाव हि नीर विचार ॥२॥
ज्यों पंखों परि अनल अकाश,
त्यों भाव हि चढि चरण निवास ॥३॥
जन रज्जब जगपति की आण[1],
प्राण पुरुष को भाव विमाण ॥४॥१५

प्रेम की विशेषता बता रहे हैं—भाव से प्रभु हृदय में आकर मिलते हैं, प्रभु से मिलने का भाव बिना और कोई भी उपाय नहीं है। पहले भक्ति का मूल भी भाव ही है अर्थात् भाव से ही भक्ति होती है। अन्य सब सुकृत तो डाली, फूल, फल के समान हैं। जैसे जल के सागर को नाव पर चढ़ कर पार करने का विचार करते हैं, वैसे ही भाव द्वारा संसार सागर को पार किया जाता है। जैसे पंखों पर स्थित होकर अनल पक्षी आकाश में बसता है, वैसे ही भाव द्वारा प्रभु के चरणों में निवास होता है। हम जगत्पति प्रभु की शपथ[1] करके कहते हैं-प्राणधारी पुरुष को प्रभु के पास ले जाने के लिये भाव ही विमान है।

९९ साधु-संग विशेषता । रुद्रताल

सब सुख की निधि आये साध, कर्म कलेश कटे अपराध ॥टेक॥
दर्शन देख किये दंडौत, अघ[1] उतरें अंकूर उदौत[2] ॥१॥
प्रदक्षिणा देतां दुख दूरि, चरणोदक लेतां सुख पूरि ॥२॥
श्रवणों कथा सुनत सुख सार, साधु शब्द गहि उतरे पार ॥३॥
साँचे संत सजीवन मूरि, रज्जब तिन चरणन की धूरि ॥४॥१६

साधुओं के संग की विशेषता बता रहे हैं–संत सर्व सुखों की निधि रूप ही पधारे हैं। संतों के संग से कर्म, क्लेश और दोष नष्ट हो गये हैं। दर्शन करके दंडवत करने से पाप[1] नष्ट होकर पुण्य रूप अंकुर उदय[2] हुआ है। परिक्रमा देने से दुःख दूर होते हैं। चरण-जल लेने से पूर्ण सुख होता है। श्रवणों से कथा सुनने पर सार रूप सुख प्राप्त होता है। संतों के शब्दों को ग्रहण करके अनेक प्राणी संसार-सागर से पार उतर गये हैं। सच्चे संत सजीवन बूंटी रूप हैं, मैं उनके चरणों की रज हूँ।

१०० मन को शिक्षा । गजझंपा ताल

सुनले सांची सीख मनं, जप राम छिनं[1] सब पाप हनं[2] ।
जग सौं तोरि जोरि हरि सेती[3], गृह दारा सुत त्याग धनं ॥टेक॥
विगता[4] विरच[5] सकल गुण न्यारा, सूक्ष्म मोटा पाप वनं ।
कारज सरै[6] समझ मति सुन्दर, सद्गुरु साधू साखि जनं ॥१॥
विषया संग जरै जग सारा, दुख दीरघ[7] अधिकार[8] सुनं ।
निष्कामी शीतल हो बैठे, उर अंतरि ले नाम धनं ॥२॥
रहते[9] संग राखले रजमा[10], आयु अल्प यहु जाय तनं ।
जन रज्जब राम हि रट लीजे, अवसर समझ रे एक क्षनं ॥३॥१७

मन को शिक्षा दे रहे हैं—मन ! सच्ची शिक्षा ग्रहण करले, प्रति क्षण[1] राम नाम का जप करके, पाप नष्ट[2] कर । जगत् से संबन्ध तोड़कर हरि से[3] जोड़, घर, नारी, पुत्र और धन के राग को त्याग, जो काम बीत[4]-चुके हैं उनके संकल्पों से विरक्त[5] हो अर्थात् उनके संकल्प मत कर, संपूर्ण दुर्गुण और सूक्ष्म तथा स्थूल पाप रूप वन से अलग हो । सद्गुरु, साधु और भक्त जनों की साक्षी सुनकर, सुन्दर बुद्धि द्वारा समझ, तो तेरा कार्य सिद्ध[6] होगा । सब जगत विषयों के संग से जल रहा है, सांसारिक प्राणियों में महान्[7] दुःख की ही अधिकता[8] सुनी जाती है । निष्कामी संत जन हृदय में नाम रूप धन धारण करके शीतल हुये बैठे हैं । तू भी अचल[9] रहने वाले प्रभु के संग होकर अर्थात् भजन करके अपनी शक्ति[10] को रखले, अर्थात् विषयों में नष्ट करने से बचाले । क्यों कि–तेरी आयु थोड़ी ही है, यह शरीर जाने वाला ही है । अरे ! समय का महत्त्व समझ, एक क्षण का समय भी अमूल्य होता है । अतः प्रति क्षण ही राम का नाम रट कर जीवन सफल कर ले ।

१०१ कालादि भय । त्रिताल

डर है रे मुझ डर है रे,
पल पल आयु घटे तन छीजे, जम वैरी शिर पर है रे ॥टेक॥
बादल विपति बीजली मनसा[1], विविध विघन का झर[2] है रे ।
चोरासी लख जीव जवासे, तेरी केतक जर[3] है रे ॥१॥
आपा[4] अग्नि अनन्त दौं[5] लागी, पंच तत्त्व सब तरु है रे ।
महर[6] मेघ बिन कौन बुझावे, तन मन तूतिनु[7] खरु[8] है रे ॥२॥

दीरघ दुख दीखे दश हूं दिशि, मीच सु सचराचर है रे ।
काल कसाई प्राण पशू ये, सब के शिर पर कर है रे ॥३॥
त्राहि त्राहि यहु त्रास देखकर, हरि सुमिरण को हरु[९] है रे ।
जन रज्जब जोख्यू[१०] टारन को, एक राम को बरु[११] है रे ॥४॥१८

१०१-१०२ में कालादि का भय दिखा रहे हैं— मुझको भय है, भय है । क्षण २ में आयु घट रही है, शरीर क्षीण हो रहा है, शिर पर यमराज रूप शत्रु खड़ा है । विपत्ति रूप बादल में आशा[१] रूप बिजली चमक रही है, नाना भांति विघ्न रूप झड़[२] लग रहा है । उसमें चौरासी लाख योनियों के जीव रूप जवासे जल रहे हैं, फिर तेरी तो कितनीक जड़[३] है ? अर्थात् तू कैसे बचेगा ? अहंकार[४] रूप अग्नि से अनन्त दावाग्नि[५] लग गई है, पंच तत्त्व ही सब वृक्ष हैं और तेरा तन-मन तो बेकार[८] तूतना[७] घास के समान है । प्रभु कृपा[६] रूप मेघ के बिना इसे कौन बुझायेगा ? दशों दिशाओं में ही महान् दुःख दिखाई दे रहा है, सचर और अचर सबकी मृत्यु होने वाली है अर्थात् सभी नष्ट होंगे । काल रूप कसाई का संपूर्ण प्राणी रूप पशुओं के शिर पर हाथ है अर्थात् सबके शिर काल ने पकड़ रक्खे हैं । इस काल भय[१०] को हटाने में एक राम का ही बल[११] समर्थ है । अतः यह कष्ट देखकर रक्षा करो, रक्षा करो, पुकारते हुये हरि स्मरण की ही इच्छा[९] हो रही है ।

१०२ । त्रिताल

भय है रे मुझ भय है रे,
बाहर भीतर बैरी बैठे, जीव कहां ह्वै जै[१] है रे ॥टेक॥
मानुष जन्म द्योस[२], सोइ बीतो, रैन परी[३] तम[४] मैं[१७] है रे ।
जामण-मरण खांहि जिव गोते, दुस्तर[५] आडी नैं[६] है रे ॥१॥
यम सु लुहार जीव सोइ लोहा, आपा[७] अग्नि सु तैं[८] है रे ।
घट घट आरण[९] सुरति[१०] संडासी,
गुण घण मार सु दैं[११] है रे ॥२॥
चौरासी चौपड़ फिर आयो, अब देबे को पै[१२] है रे ।
करनी हीन होत सोइ काची,
चोट चहूं दिशि खै[१३] है रे ॥३॥
जुग जुग जीव काल को भक्षण,
यम धाप्यो[१४] नहि धै[१५] है रे ।
जन रज्जब यूं समझ सयाने, छूटन को हरि लै[१६] है रे ॥४॥१९

मुझे भय है, भय है, बाहर विषय रूप और भीतर कामादि रूप शत्रु आड़े बैठे हुये हैं जीव प्रभु के पास किस ओर से जाय[1] ? मनुष्य जन्म रूप दिन[2] बीत चुका है, आगे चौरासी लाख योनि रूप रात्रि पड़ी[3] है, जो गहरे अज्ञान रूप अंधकार[4] मय[17] है। जीव ससार-सागर में जन्म-मरण रूप रूप गोते खा रहा है, संसार नीति[6] रूप कठिन[5] आड़लगी है, जिससे बाहर नहीं निकल सकता। यम लुहार है, जीव है सोई लोहा है, उसे उक्त लुहार अहंकार[7] रूप अग्नि से तपा[8]-रहा है प्रति शरीर को विषय रूप अहरण[9] पर रखकर, वृत्ति[10] रूप संडासी से पकड़ कर, गुण रूप घण की मार दे[11] रहा है। तू चौरासी लाख योनि रूप चौपड़ में घूम आया हैं, अब तुझ पर चोट कौन दे पायेगा[12] ? किन्तु तेरे से जो नीच कर्म होते हैं, वही तेरी कचाई है, उससे दशों दिशाओं में दुःख रूप चोटें खाता[13] है। प्रति युग में जीव काल का भोजन होता है किन्तु यमराज अभी तक तृप्त[14] नहीं हुआ है और न तृप्त[15] होगा। हे चतुर ! ऐसा समझ कर अपने छुटकारे के लिये हरि में ही वृत्ति[16] लगा, यही छुटने का साधन है।

१०३ वार-पार। धीमा ताल

पारै पार पुकारैं लोई[1], वार पार की खबर न कोई ॥टेक॥
पार कहैं सोई सब वारा, समझ सोच कछु करो विचारा ॥१॥
भेष भरम करतूति[2] सु वारा, तीरथ वरत सु मांड[3] मंझारा ॥२॥
जप तप साधन वैली[4] ओरा, स्वर्ग पताल दुनी में दौरा[5] ॥३॥
रिधि सिधि सबै सु वैली[6] आसा,
आगम[7] निगम[8] जगत में वासा ॥४॥
पार परम गुरु सब तैं आगे, रज्जब वार पार यूं त्यागे ॥५॥२०

वार-पार संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—लोग[1] प्रायः पार ही पार पुकारते रहते हैं किंतु उन्हें वार-पार का कुछ पता नहीं होता। जो अपने को संसार से पार कहते हैं, वे सब वार अर्थात् संसार में ही हैं। कुछ समझ सोचकर विचार करोगे तो ज्ञात होगा कि—भेष भ्रम रूप है, कर्म[2] करना भी संसार में ही होता है। तीर्थ व्रत भी संसार[3] में ही हैं। जप-तप आदि साधन भी इस[4] ओर अर्थात् संसार में ही हैं। स्वर्ग और पाताल में जाना[5] भी संसार में ही है। ऋद्धि-सिद्धि आदि सब की आशा भी इधर[6] की अर्थात् संसार की वस्तु है। शास्त्र[7], वेद[8] का भी जगत् में ही निवास है। इन सब के आगे जो निकल गये हैं, वे परमगुरु ही संसार के पार हैं। ऐसा विचार करके मैंने तो वार-पार का भ्रम त्याग दिया है। परब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, उसे वार-पार नहीं कह सकते।

१०४ कारण-कार्य । कहरवा

कारण कारज समझ्या भाई, सद्गुरु ने आंटो[1] समझाई ।।टेक।।
कारण मांटी कारज भांडा, ज्ञान गुरू फूटा भ्रम आंडा[2] ।।१।।
कारण गिरिवर कारज मूरति,
ता ऊपरि भूलो श्रुति सूरति[3] ।।२।।
कारण कर्त्ता कारज देही[4],
रज्जब भ्रम भान्या[5] सु सनेही[6] ।।३।।२१

कारण कार्य संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—भाई ! सद्गुरु ने कारण-कार्य को समझने की युक्ति[1] हमें समझा दी थी, उससे हमने कारण-कार्य को समझ लिया है । कारण मिट्टी है और कार्य उसका बर्तन है किंतु गुरु के ज्ञान से वह कार्य रूप भ्रम का भांड[2] फूट गया है । अर्थात् उसमें मिट्टी ही सत्य है भांड की कल्पना भ्रम रूप है । कारण पर्वत है और कार्य मूर्ति है, उस मूर्ति पर जाकर प्राणी की वृत्ति श्रुति के बनाये हुये ब्रह्म के स्वरूप[3] को भूल गई है । कारण सृष्टि कर्त्ता परमात्मा है और कार्य जीवात्मा[4] है किंतु जीवात्मा और परमात्मा का जो भेद रूप भ्रम था सो हमारा तो प्यारे[6] गुरुदेव ने भली भांति नष्ट[5] कर दिया है ।

१०५ निष्पक्षता । त्रिताल

यूं निर्पख[1] मन भया हमारा,
इन दोनों का देख पसारा[2] ।।टेक।।
माला पहर्‌यों तसबी[3] लागे, यासी[4] हूं कछु नांहीं ।
ऐसे समझ तजे सब बंधन, क्या पहरै गल मांहीं ।।१।।
वरत कियों रोजे रिस माने, इन में कहा बड़ाई ।
ऐसे जानि तजे सब लंघन, संकट पाश छुड़ाई ।।२।।
देवल[5] जाउं मसीत मरै जलि, या में क्या सिधि पाई ।
ऐसे समझ रहे दोनों सौं, उर अन्तर ल्यौ[6] लाई ।।३।।
दाग देउ तो गोर गुमानणि[7], गाड़े मान[8] मसाणं ।
ऐसे जानि धरचा चौड़ै में, दोनों रहे डिफाणं[9] ।।४।।
एक हि तज्यों एक बल बांधे, टलै न सौकि[10] अड़ी ।
ऐसे समझ रहत जन रज्जब, दोनों त्याग खड़ी ।।५।।२२

अपनी निष्पक्षता दिखा रहे हैं—इन हिन्दू और मुसलमान दोनों का ही भ्रम विस्तार[२] देखकर हमारा मन इस प्रकार निष्पक्ष[१] हो गया है—माला पहनता हूं तो तसबीह[३] वाले ईर्ष्या करने लगते हैं, इनसे[४] कुछ भी नहीं होता, ऐसा समझकर सभी बन्धन छोड दिये हैं, इनको गले में पहनने से क्या है ? व्रत करता हूं तो रोजा करने वाले क्रोध करते हैं, इनके करने में बड़ाई भी क्या है ? ऐसा जान के सब लंघन छोडकर दुःख की फाँसी को हटाया है । मंदिर[५] में जाता हूं तो मसजिद वाले जल मरते हैं, इनमें जाने वालों को क्या सिद्धि प्राप्त हुई है ? ऐसा समझ कर मन्दिर मसजिद दोनों में जाना बन्द करके, हृदय में ही प्रभु से वृत्ति[६] लगाता हूं । मुरदे को दाग देते हैं तो कब्र वाले अपनी श्रेष्ठता का अभिमान[७] करते हैं, गाड़ने से श्मशान में जलाने वाले अपनी-श्रेष्ठता का अभिमान[८] करते हैं । ऐसा जानकर हम शव को मैदान में ही रख देते हैं । यह देख कर दोनों ही चिल्लाने[९] से रह जाते हैं । एक को त्यागने से एक पक्ष जोर पकड़ती है, हटती नहीं, सौत[१०] के समान अड़ जाती है, ऐसा समझ कर हम निष्पक्ष रहते हैं । हमारी वृत्ति हिन्दू-मुसलमान दोनों की पक्ष को छोडकर प्रभु में स्थित है ।

१०६ परीक्षा । त्रिताल

प्राण परख बिन खोटा[५] खाही,
अकलि[१] आंख दिब[२] दृष्टि सु नांहीं ॥टेक॥
प्रथम परख बिन अंध अज्ञानी,
ता परि ठगन ठगाई ठानो ॥१॥
परख बिना पति पंथ भुलाना,
परख बिना मन मूल न जाना ॥२॥
पारख बिना मनोरथ लीन्हे[३],
पारख बिना भेष बहु कीन्हे ॥३॥
पारख बिना तीरथों न्हावे,
परख बिना बहु देह दहावे[४] ॥४॥
पारख बिना सु कष्टैं काया,
परख बिना तेतीस मनाया ॥५॥
पारख बिन अवतार अराधैं,
परख बिना कांकर कँठ बांधैं ॥६॥

परख बिना वैकुंठ विश्वासा,
परख बिना रिधि सिधि की आशा ॥७॥

पारख बिन सोइ प्राण अनाथा,
रज्जब परख परम धन हाथा ॥८॥२३

परीक्षा बिना हानि होती है, यह कह रहे हैं—परीक्षा बिना प्राणी धोखा[५] खाता है। परीक्षा बिना बुद्धि[१] नेत्र और दिव्य[२] दृष्टि प्राप्त नहीं होती। पहले परीक्षा बिना अज्ञानी अंधा ही होता है। उस अज्ञानी पर ठग लोग ठगाई का व्यवहार करने लगते हैं अर्थात् उसे ठगते हैं। परीक्षा बिना प्राणी परम पति प्रभु का मार्ग भूला हुआ है। परीक्षा बिना मन अपने मूल प्रभु को नहीं जान पाता है। परीक्षा बिना व्यर्थ के मनोरथों में लीन[३] रहता है। बिना परीक्षा बहुत-से भेष बनाते हैं। परीक्षा बिना ही तीर्थों में जाकर स्नान करते हैं। परीक्षा बिना ही बहुत से धूणी तापते हुये शरीर को जलाते[४] हैं। परीक्षा बिना ही शरीर को नाना कष्ट देते हैं। परीक्षा बिना ही तैंतीस देवताओं को इष्ट रूप से मानते हैं। परीक्षा बिना ही अर्थात् प्रभु के स्वरूप को पहचाने बिना ही अवतारों की परमात्मा रूप से आराधना करते हैं। परीक्षा बिना ही शालिग्राम आदि कंकर कंठ में बांधते हैं। परीक्षा बिना ही वैकुण्ठ का विश्वास करते हैं। परीक्षा बिना ही ऋद्धि-सिद्धि की आशा करते हैं। जो परीक्षा नहीं जानता वह प्राणी अनाथ है। हमें परीक्षा से ही परमात्मा रूप परम धन प्राप्त हुआ है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित टोडी राग ५ समाप्तः ॥

अथ राग गुंड (गौंड) ६

(गायन समय-वर्षा ऋतु सब समय)

१०७ सद्गुरु उपकार। कहरवा

गुरु गरवा[१] दादू मिल्या, दीरघ दिल दरिया।
दर्शन परसन[२] होत ही, भंजन[३] भल भरिया ॥टेक॥
श्रवण कथा सांची सुनी, संगति सद्गुरु की।
दूजा दिल आवै नहीं, जब धारी धुर[४] की ॥१॥
भरम भुजागल[५] भान दी, शंका सब तोड़ी।
सांची सगाई[६] राम की, ले[७] ता सौं जोड़ी ॥२॥

सद्गुरु के सदके[८] किया, जिन जीव जिलाया ।
सहज सजीवन कर लिया, सांचे संग लाया ॥३॥
जन्म सफल तब का भया, चरणों चित लाया ।
रज्जब राम दया करी, दादू गुरु पाया ॥४॥१

सद्गुरु का उपकार दिखा रहे हैं—मुझे महान्[१] सत दादूजी गुरु मिले हैं, उनका हृदय विशाल समुद्र के समान है । उनके दर्शन और चरण स्पर्श[२] से मैंने अपने हृदय रूप पात्र[३] को भगवद् भाव से भर लिया है । सद्गुरु की संगति में श्रवणों से सच्चिदानन्द प्रभु की सच्ची कथा सुनी है । उनके संग से अचल[४] ब्रह्म की भावना धारण की है, तब से हृदय में ब्रह्म चिन्तन से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं आता । गुरुदेव ने भ्रम रूप शिला[५] को नष्ट कर दिया है, सब शंका तोड़ डाली है । गुरु ने राम का संबन्ध[६] ही सच्चा संबन्ध बताया है, इसलिये हमने अपनी वृत्ति को संसार से उठाकर[७] उन राम से ही जोड़ी है । जिनने जीव को जीवन दान दिया है, उन सद्गुरु के ऊपर हमने अपने को निछावर[८] कर दिया है । गुरु ने हमें सच्चे ब्रह्म के साथ लगाकर सहज सजीवन ब्रह्म ही बना दिया है । तब से हमारा जन्म सफल हो गया है । राम ने हमारे पर दया करी है, तभी तो दादूजी गुरु प्राप्त हुये हैं ।

१०८ ध्यान । त्रिताल

नटनी निरख[१] निहारले[२], मत[३] माँहि समाना ।
मन इन्द्रिय निज नाम सौं, ऐसी विधि ध्याना ॥टेक॥
बरत[४] चढी बहु देखतां, तन मन चित बांधी ।
सहज समानी डोरि[५] में, दह दिशि ह्वै आंधी ॥१॥
भांवरि भरि चौकसि[६] लई, चेतन चढि बांसा ।
तन मन ता में रलगया, नहिं नजर तमासा ॥२॥
ऐसे सुरति नचायले, हरि आगे खेला ।
रज्जब राम उमग कर, दे दर्शन मेला ॥३॥२

ध्यान की प्रेरणा कर रहे हैं—नटनी की दृष्टि[१] को देखलो,[२] उसकी दृष्टि कितनी एकाग्र होती है । उसी के समान अपने विचार[३] अन्तरमुख करके तथा मन इन्द्रियों को निज नाम में लगाकर, इस प्रकार ध्यान करो—जैसे नटनी अपने तन-मन और चित्त को बांधकर अर्थात् स्थिर करके बहुतों के देखते २ रस्से[४] पर चढ जाती है और उसकी नेत्र वृत्ति दशों दिशाओं से अंधी होकर अर्थात् दशों दिशाओं को न देखकर

स्वाभाविक रस्से[४] में ही समायी रहती है। वह सावधानी[१] से भांवरि लेकर बांस पर चढ़ जाती है। उसका तन-मन उस रस्से से मिल जाता है, खेल देखने वालों की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती है। वैसे ही चेतन पर वृत्ति को नचाले अर्थात् वृत्ति को अन्य से हटा कर चेतन के आकार ही रख। इस प्रकार हरि के आगे खेलकर तब राम जी प्रसन्न होकर दर्शन और मिलन का आनन्द प्रदान करेंगे।

१०९ गुरु संसार-विवेक। झपताल

ऐसे गुरु संसार यह, सुन समझ विचारा।
जे चाहै उपदेश को, तो पूछ[१] पसारा[२] ॥टेक॥
चौरासी लख जीव का, लक्षण ले मांहीं।
माया मिल मर ही गये, पर मेले[३] नांहीं ॥१॥
अचल मता[४] उर लीजिये, गिरि तरुवर ताको[५]।
जहां रोपे तहँ रह गये, सुन सद्गुरु साखी ॥२॥
चन्द्र सूर पाणी पवन, धरणी आकाशा।
रज्जब समता पूछले, षट् दर्शन पासा ॥३॥३

गुरु और संसार के विवेक पूर्वक अचल मत ग्रहण करने की प्रेरणा कर रहे हैं—यह संसार ऐसा है और गुरु ऐसा है इस विचार को संतों से सुनकर समझ और ब्रह्म प्राप्ति संबन्धी उपदेश चाहता है तो संसार विस्तार[२] को हृदय मे दूर[१] कर। जो चौरासी लाख योनियों के जीवों के स्वभाव रूप लक्षण अपने हृदय में धारण करके माया से मिले हैं, वे तो पच २ कर मर ही गये हैं किंतु प्रभु से नहीं मिल[३] सके हैं। प्रभु को प्राप्त करने के लिये पर्वत और वृक्षों की अचलता की ओर देखते[५] हुये अपने हृदय में अचल विचार[४] लाओ। जैसे पर्वत और वृक्षों को जहां रोप दिया है, वे वहां ही रह गये हैं। वहां से हटते नही हैं। वैसे ही सद्गुरु की साक्षी सुनकर जहां वे लगावें वहां ही दृढ़ता से लग जाना चाहिये। छः प्रकार के भेषों के आधार-चन्द्रमा, सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, इन छः से समता संबन्धी विचार पूछ कर अर्थात् इनकी समता देखकर समता ही धारण करनी चाहिये।

११० भजन-भेद। शूल ताल

एक नाम भजिबे[१] में भेद, कोइ इक पावै संत न खेद।
जो ज्यों भजे तिहीं त्यों होय,
महल[२] महल का हासिल[३] जोय ॥टेक॥

प्रथम नाम भजे संसार, कर माला काती[४] संग लार[५]।
मन में नहीं एक इकतार[६], तो इहँ[७] नाम मृतक व्यवहार ॥१॥
दूजे महल नाम की आश, भजबे लागा श्वासे श्वास।
अंतर[८] ऊंघ[९] उठै सब ओर, अह निशि लाग रहे निज ठौर ॥२॥
तीजे महल पंच शर पूर, पंच स्वभाव काढ दे दूर।
जब उपजे अन्तर यह मांहीं, तब पहुँचे संशय कछु नांहीं ॥३॥
चौथे महल जाय जब लेय, नौसे उलट नाम में देय।
नौ निधि निपज रहे तन मांहि, तब प्राणी के दारिद जांहि ॥४॥
पूरे महल पंच परि जाय, रोम रोम रट राम अघाय[१०]।
जन रज्जब युग युग यह ठाट[११], सद्गुरु कही नाम निज बाट[१२] ॥५॥४

नाम भजन की अवस्थायें बता रहे हैं—नाम तो एक ही है किन्तु उसके भजन[१] में अवस्थाओं का भेद रहता है, उस भेद रूप रहस्य को कोई विरला संत ही जान पाता है और जो जान जाता है, उसे संसार दुःख नहीं होता। जो जिस २ अवस्था[२] में जैसे २ भजता है, उसे उस २ अवस्था का वैसा २ ही फल प्राप्त[३] होता है। जो संसार के प्राणी हाथ में माला और साथ में उसके पीछे[५] धोखा रूप छुरी[४] रखकर नाम को भजते हैं, वह नाम भजन की प्रथमावस्था है। जब तक मन में अद्वैत ब्रह्म का चिन्तन निरंतर[६] नहीं होता, तब तक यह[७] नाम चिन्तन मृतक व्यवहार के समान है अर्थात् लाभ रहित है। भजन की दूसरी अवस्था में नाम-भजन की आशा लगी रहती है और प्रति श्वास में भजन करने लगता है। भीतर की तंद्रा[९] तथा और भी सब विघ्न[८] हृदय से उठ जाते हैं। रात्रि-दिन वृत्ति निज स्थान रूप परब्रह्म के स्वरूप में ही लगी रहती है। भजन की तीसरी अवस्था में काम के पंच बाण हृदय में पूर्ण रूप से लगने लगते हैं। जब उन पंच बाण रूप पंच स्वभावों को और उनसे मन में उत्पन्न होने वाले अन्य अन्तरायों को हृदय से निकाल कर दूर करता है, तब समझना चाहिये, यह प्रभु के पास पहुँचेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। भजन की चौथी अवस्था में जाता है तब नौ सौ नाड़ियों को उलट कर नाम में लगाने की शक्ति प्राप्त करता है अर्थात् प्रत्येक नाड़ी से नाम ध्वनि होने लगती है और शरीर के भीतर ही नवधा भक्तिरूप नौ निधि उत्पन्न हो जाती है। तब प्राणी की आशा रूप दरिद्रता नष्ट हो जाती है। पूरे साधक संत ही भजन की पंचमावस्था में जाते हैं और रोम २ से राम नाम का चिंतन करते हुये तृप्त[१०] हो जाते हैं। सद्गुरु के कहे हुये इस नाम चिन्तन रूप मार्ग[१२] में चलने से प्रति युग में आनन्द[११] ही रहता है।

१११ आद्यन्त एक । त्रिताल

ज्यों पहले पीछे त्यों होय, कारज सरं¹ सत्य कर जोय ।।टेक।।
तीन मास वर्ष्यों कुछ नांहि, साख समंगल चौथे मांहि ।।१।।
पहले सबन लेय नहिं आश, पिछले सबन पड़े विश्वास ।।२।।
मुंह मिल भये नांहि कछु नीति, रज्जब रोप रहे रण जीति ।।३।।५

आदि से अंत तक एक-सी लग्न होती है तब ही कार्य सिद्ध होता है यह कह रहे हैं—जो पहले जैसा होता है, वैसे ही पीछे भी रहता है, उसका कार्य वा वह कार्य सिद्ध¹ होता है, यह सत्य ही समझो। तीन मास वर्षने पर भी यदि चौथे महिने में साख निर्विघ्न घर में नहीं आवे तो वह तीन मास का वर्षना कुछ नहीं। पहले तीन मास मे सब लोग धान को ग्रहण नहो कर पाते, आशा ही करते हैं और पिछले चौथे मास में तो पक जाने पर सब लोगों को घर ले जाने का विश्वास हो जाता है। वैसे ही साधन के आरंभ से साधन की परिपाकावस्था तक साधन एक रस चलता है तब उसके फल प्रभु-प्राप्ति का विश्वास हो जाता है। जब वीरों की सेना के मुख मिल जाते हैं तब नीति का निर्वाह कुछ भी नहीं होता, वहां तो जो रण को जीतता है, वही पैर रोप कर खड़ा रहता है वैसे ही योग-संग्राम में कामादि शत्रुओं को जीतता है, वही खड़ा रह सकता है। अतः साधन के आरम्भ में जैसी लग्न होती है वैसी ही अंत तक रहती है तो मुक्ति रूप कार्य सिद्ध हो जाता है।

११२ मन से व्यवहार । धीमाताल

मन चाल्यों पीछे कछु नांहि, ऐसे समझ देखि मन मांहि ।।टेक।।
मन दीपक देही तैं जाय, तब ही तिमिर भरे घर आय ।।१।।
मन अक्षर देही लग¹ जाणि, मिथ्या लग अक्षर सु बुझाणि² ।।२।।
मन प्राणी त्यागै तन अंग³, तब रज्जब मृतक सु प्रसंग ।।३।।६

मन से ही व्यवहार होता है, यह कह रहे हैं—मन के चले जाने पर पीछे कुछ भी नहीं रहता, ऐसा ही है, यह मन में विचार करके देख सकते हो। जैसे घर से दीपक चला जाता है तब घर में अंधेरा आ भरता है। वैसे ही जब मन शरीर से चला जाता है तब शरीर में अंधेरा हो जाता है। मन अक्षर है और शरीर मात्रा¹ है, जैसे मात्रा अक्षर से ही समझ² में आती है। वैसे ही शरीर मनसे ही समझ में आता है, मन रूप प्राणी प्यारे³ शरीर को त्याग देता है तब शरीर के मृतक होने का प्रसंग आ जाता है।

११३ ज्ञान-जागरण । त्रिताल

चेतन[1] चित्त चोर कहां जाय, निद्रा नेह मुसे[2] घर आय ।।टेक।।
ज्यों रजनी गत रवि प्रकाश, तारे सकल भये बल नाश ।।१।।
जब मंदिर मांहीं मंजार[3], तब चूहे त्यागैं घर बार ।।२।।
तिमिर कहां जब दीपक जोय, जन रज्जब जागे यूं होय ।।३।।७

ज्ञान-जागरण की विशेषता बता रहे हैं—सावधान[1] चित्त वाले के पास चोर कहां जाता है ? जिसका निन्द्रा से प्रेम है अर्थात् जो सोता रहता है, उसके घर आकर चोर चुराता[2] है । जैसे रात्रि के चले जाने पर सूर्य का प्रकाश हो जाता है, तब सब तारों का प्रकाश रूप बल नष्ट हो जाता है अर्थात् तारे तेज हीन हो जाते हैं । जब घर में बिलाव[3] आजाता है, तब चूहे घर बार को त्याग देते हैं । जब घर में दीपक जला दिया जाता है तब अंधेरा कहां रहता है ? वैसे ही जब ज्ञान रूप जाग्रत अवस्था आती है तब अज्ञान अपने आप ही हृदय से हट जाता है ।

११४ झूठी सेवा । दादरा

नेह निरंजन सौं नहीं, सब अंजन ध्यावैं[1] ।
बंयर[2] सौं बंयर मिल्यों, सुत को नहिं पावैं ।।टेक।।
पारब्रह्म को पीठ दे, दिल देई[3] देवा ।
माया सौं माया भजे, सब झूठी सेवा ।।१।।
गुण गहि गुण को पूजिये, तेती सब झूठी ।
जल बूड़त जल को गहै, मन मूरख मूठी ।।२।।
सकल विकल[4] बाहर रहे, गुरु ज्ञान न पाया ।
जन रज्जब सोधी[5] बिना, दह[6] दिशि मन लाया ।।३।।८

सब लोग झूठी सेवा में लगे हैं, यह कह रहे हैं—सब लोग माया की ही उपासना[1] करते हैं । निरंजन ब्रह्म से प्रेम नहीं करते । जैसे नारी[2] से नारी मिलने पर पुत्र प्राप्त नहीं कर सकती, वैसे ही माया की उपासना करने से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त नहीं होता । जिसने परब्रह्म को पीठ देकर, अपना मन देवी[3]-देवताओं में लगाया है और जो अपने धन से माया रूप देवी-देवताओं की ही सेवा-पूजा रूप भजन करता है, उसकी वह सब सेवा झूठी है । विषय रूप गुणों को ग्रहण करके गुणरूप देवताओं को ही पूजते हैं, वह सब पूजा मिथ्या फल देने वाली होने से मिथ्या ही है । जैसे जल में डूबता हुआ जल को ही पकड़ता है, वह डूबता ही है, वैसे ही मूर्ख मन मायिक संसार में डूबते हुये माया को ही मुट्ठी में पकड़ता है तब डूबता ही है ।

जिनने गुरु का ज्ञान नहीं प्राप्त किया, वे सभी शांति-सदन से बाहर रहकर व्याकुल[४] हैं। ज्ञान[५] बिना सबने दश इन्द्रिय रूप दशों[६] दिशाओं में ही अपना मन लगाया है।

११५ गुरु उपकार। एक ताल

मेरे मंगल मन मांहि भये, दीरघ दुख मेटे।
अंग अंग अति उच्छाह, दादू गुरु भेंटे ॥टेक॥
पारस पग परसत[१] ही, कंचन भई काया।
फिर कलंक लागे नहीं, सद्गुरु की छाया[२] ॥१॥
शब्द डंक श्रवण लागि, कीट भृंग कीये।
जन्म फेरि दुख निबेरि[३], अपने सँग लीये ॥२॥
दादू गुरु दृष्टि भानु[४], आतम जल काढ़े।
जन रज्जब धरती सौं, ले अकाश चाढ़े ॥३॥९

गुरुदेव का उपकार दिखा रहे हैं–गुरुदेव ने मेरे काम-क्रोधादि जन्य बड़े-बड़े दुःख मिटा दिये हैं, अब मेरे हृदय में सब प्रकार मंगलाचार ही रहता है। जब से गुरु दादू जी मिले हैं, तबसे मेरे शरीर के प्रत्येक अंग में अति उत्साह रहता है। जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सुवर्ण हो जाता है, और फिर उसके मैल नहीं लगता, वैसे ही गुरुदेव के चरण स्पर्श[१] से मेरा शरीर शुद्ध हो गया है और अब सद्गुरु की शरण[२] में रहने से पुनः कोई दोष नहीं लगता। जैसे भृंग अपना डंक मार कर कीट को भृंग बना देता है, वैसे ही गुरुदेव ने शब्द सुनाकर हमारा जन्म बदल दिया है। दुःख मिटाकर[३] हमें अपने साथ ले लिया है, अर्थात् अपने समान कर लिया है। जैसे सूर्य[४] की किरण जल को पृथ्वी से निकाल कर आकाश में चढ़ा देती है, वैसे ही गुरु की ज्ञान-दृष्टि ने हमारे जीवात्मा को संसार से निकालकर ब्रह्म स्वरूप में स्थित किया है। यह गुरुदेव का महान् उपकार है।

११६ संत मिलन सुख। त्रिताल

आज हमारे भयो आनन्द, मिले संत भागे दुख द्वन्द्व ॥टेक॥
मंगलाचार मगन गुन गावैं, अमृत धार होय झर लावैं ॥१॥
सुख सागर घर संत विराजे,
महा पतित जिव आय निवाजे[१] ॥२॥
अधिक उछाह कह्यो नहिं जाय,
कितेक[२] महिमा कहूं बढ़ाय ॥३॥
आदि अंत के कारज सारे[३], जन रज्जब आये सो प्यारे ॥४॥१०

संतों के मिलन से होने वाले सुख को प्रकट कर रहे हैं—आज संतों के संमिलन से कामक्रोधादि द्वन्द्वों से उत्पन्न हमारे दुःख नष्ट हो गये हैं और आनन्द हो गया है। बड़ा मंगल का आचरण हो रहा है। संत प्रभु-प्रेम में निमग्न होकर प्रभु के गुण गान कर रहे हैं और ज्ञानामृत धारा रूप होकर ज्ञानामृत से युक्त वचन विन्दुओं का झड़ लगा रहे हैं। सुख-सागररूप संत घर पर विराज रहे हैं और संसार में आकर महान् पतित जीवों पर भी कृपा[1] कर रहे हैं। हमारे अत्यधिक उत्सव हो रहा है, उसकी महिमा कितनी[2] ही बढ़ा कर कहूं तो भी पूर्णरूप से नहीं कही जा सकती। वे प्यारे संत जब मे पधारे हैं, तभी से हमारे सृष्टि के आदि से अंत तक के कार्य सिद्ध[3] कर दिये हैं अर्थात् कर्तव्य दृष्टि का अभाव करके, हमें मुक्त कर दिया है।

११७ सत व्यवहार। दीपचन्दी

आये मेरे पारब्रह्म के प्यारे,
त्रिगुण रहित निर्गुण निज सुमिरत,
सकल स्वांग[1] गहि[2] डारे ॥टेक॥
माला तिलक करैं नहिं कब हूं, सब पाखंड पचिहारे।
साँचे साध रहत सादो गति,[3] सकल लोक में सारे ॥१॥
नाम प्रताप प्रपंच न माने, षट् दर्शन सौं न्यारे।
भज भगवन्त भेष सब त्यागे, एक साँच के गारे[4] ॥२॥
जिनके दर्श परस[5] सुख उपजे, सो आये चल द्वारे।
जन रज्जब जगपति सौं ऊंचे, प्राण उधारण हारे ॥३॥११॥

संत व्यवहार दिखा रहे हैं—परब्रह्म के प्यारे संत हमारे पधारे हैं, वे तीनों गुणों से रहित, निज स्वरूप निर्गुण का ही स्मरण करते हैं। सभी भेषों[1] को उठा[2] कर दूर डाल दिया है अर्थात् कोई प्रकार का भेष चिन्ह नहीं रखते। माला नहीं पहनते, तिलक कभी भी नहीं करते। सभी पाखड वाले पच-पच कर हार गये है किन्तु उनके फदे में नहीं आये। सच्चे संत तो सभी लोकों के सभी स्थानों में सादी चेष्टा[3] से ही रहते हैं। नाम-चिन्तन के प्रताप से प्रपंच का सन्मान नहीं करते। जोगी, जंगम, सेवड़े, बौद्ध, संन्यासी, शेष, इन छः प्रकार के भेष धारियों से अलग ही रहते हैं। भगवान् का भजन करके सब भेष त्याग दिये हैं। एक सत्य में ही गलित[4] अर्थात् निमग्न रहते हैं। जिनके दर्शन और चरण स्पर्श[5] से हृदय में सुख उत्पन्न होता है, वे संत स्वयं ही चलकर हमारे द्वार पर आये हैं। वास्तव में प्राणियों का उद्धार करने वाले संत जगत्पति प्रभु से भी श्रेष्ठ हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुंड राग ६ समाप्तः।

अथ राग मलार ७

(गायन समय वर्षा ऋतु)

११८ विरह दुःख । त्रिताल

राम बिन श्रावण सह्यो न जाय,
काली घटा काल ह्वै आई, दामिनी दग्धै माय[1] ॥टेक॥
कनक अवास[2] वास सब फीके, बिन पिय के सु प्रसंग ।
महा विपति बेहाल लाल[3] बिन, लागो विरह भुवंग[4] ॥१॥
सूनी सेज हेज[5] कहुं कासौं, अबला धरे न धीर ।
दादुर[6] मोर पपीहा बोले, ते मारत हैं तीर ॥२॥
सकल शृंगार भार ह्वै लागे, मन भावे कछु नांहिं ।
रज्जब रंग[7] कौन से कीजे, जें पिव नांहीं मांहिं ॥३॥१

११८-११६ में अपना विरह दुःख दिखा रहे हैं—राम के दर्शन बिना श्रावण मास सहा नहीं जा रहा है । हे माई[1] ! यह काली घटा काल रूप होकर दुःख देने में लगी हुई है, बिजली जला रही है । प्रियतम राम के मिलन प्रसंग बिना सुवर्ण के महलों[2] का निवास आदि सब भोग फीके लग रहे हैं । प्रियतम[3] प्रभु के बिना मुझ पर महा विपत्ति आ रही है, मैं दुःख से व्याकुल हूं, विरह-सर्प[4] खाने को पीछे लग रहा है । मेरी हृदय-शय्या आपके बिना शून्य है । मैं प्रेम[5] की बात किससे कहूँ । आपके बिना मैं अबला नारी धैर्य नहीं धारण कर सकती । मेंढक,[6] मोर और चातक पक्षी जो बोलते हैं, सो तो मानो मेरे बाण मार रहे हैं ऐसा खेद दे रहे हैं । जब प्रियतम हृदय में नहीं हैं, तब प्रेम[7] किससे किया जाय । अतः संपूर्ण साधन रूप शृंगार भार रूप होकर दुःख देने लगे हैं । मन को कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है ।

११९ । मत्त ताल

ब्रह्म बिन निशदिन विपति विहात[1],
दर्शन दूर परस[2] पिव नांहिं, नहिं संदेश[3] सुनात ॥टेक॥
पीर प्रचंड[4] खंड[5] कर नाखत, वैरी विरह विख्यात ।
सांई सुरति करो सुन्दरि दिशि, सोच न सिंह शंकात ॥१॥
नख शिख शूल मूल मन बेधत, बरणत बने न बात ।
झोनी[6] झाल[7] लाल[8] बिन लपटत, सो क्यों हूं न बुझात ॥२॥

सब सुख हीन दीन दीरघ दुख, विसरी पांच रु सात ।
रज्जब रही चित्र पुतरी ह्वै, मान हुं सतरंज मात ।।३।।२

ब्रह्म साक्षात्कार के बिना रात्रि-दिन दुःख से ही जाते[1] हैं । प्रियतम के दर्शनों से मैं दूर ही हूं, उनका चरण स्पर्श[2] मुझे नहीं मिल रहा है । न वे कुछ समाचार[3] ही सुना रहे हैं । मेरे हृदय में भयंकर[4] पीड़ा हो रही है । यह प्रसिद्ध शत्रु विरह हृदय के टुकड़े[5] २ कर देगा । प्रभो ! मुझ सुन्दरी की ओर वृत्ति कीजिये । यह चिन्ता रूप सिंह मेरे शरीर को खाने में कुछ भी शंका नहीं कर रहा है अर्थात् चिंता से शरीर सूखता जा रहा है । नख से शिखा तक शरीर में पीड़ा है । यह दुःख का मूल कारण विरह मन को विद्ध कर रहा है । मेरा दुःख इतना बढ गया है कि—उसकी वार्ता का वर्णन भी मुझ से नहीं होता । प्रियतम[8] प्रभु के बिना विरहाग्नि की सूक्ष्म[6] ज्वालायें[7] मेरे चारों ओर लग रही हैं । वह प्रभु के दर्शन बिना किसी प्रकार भी अन्य उपाय से नहीं बुझती । मैं सम्पूर्ण सुखों से रहित रह कर दीन हो रहा हूं, मेरे को बड़ा दुःख है, मैं सात और पांच १२ भूषण पहनना भूल रई हूं अर्थात् दश इन्द्रिय और मन बुद्धि इन बारह को सुधारना भी भूल गई हूं । मैं अब चित्र लिखित पुतली-सी हो रही हूं । शतरंज के शाह का मोहरा चारों ओर से घिर जाने की-सी दशा मेरी हो रही है । मुझे इस दुःख से मुक्त होने का उपाय प्रभु दर्शन के बिना अन्य कोई भी नहीं दीख रहा है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित राग मलार ७ समाप्तः ।

अथ राग केदार ८

(गायन समय संध्या ६ से ६ रात्रि)

१२० मनोपदेश । त्रिताल

मनरे सीख सद्गुरु की मानि,
ब्रह्म सुख दुख रूप माया, कही लाभ रु हानि ।।टेक।।
भज अनन्त अनन्त आनंद, खलक खलहल[1] खानि ।
सकल मत[2] सब शोधि[3] साधू, कही तो सौं छानि[4] ।।१।।
अमर अधर[5] धरचादिक[6] बिनशे, तोल तुल्य[7] करि कानि ।
सांच झूठ विचार लीजे, महर ह्वै दीवानि[8] ।।२।।
मुक्त प्राणी प्राणपति भज, शक्ति संकट जानि ।
वास वस्ती कीजिये मन, रचि न रज्जब रानि[9] ।।३।।१

१२०-१२२ में मन को उपदेश कर रहे हैं—अरे मन ! सद्गुरु की शिक्षा को मान, ब्रह्म सुख रूप है, माया दुःख रूप है। ब्रह्म चिंतन से सुख प्राप्ति रूप लाभ होता है। और माया का चिन्तन करने से दुःख प्राप्ति रूप हानि होती है। यह तुझे कह दिया है। अनन्त ब्रह्म का भजन कर तुझे अनंत आनंद मिलेगा। संसार तो उपद्रव[1] की खानि है। सम्पूर्ण सिद्धांतों[2] को खोज[3] करके तथा सब संतों के विचारों को विचार[4] करके यह बात तुझे कही है। ब्रह्म[5] तो अमर है और मायादिक[6] सब नष्ट होंगे। तू अपने विचार तुला की कांग बरावर[7] करके तोल अर्थात् समता पूर्वक विचार करके देख, सत्य और मिथ्या को विचार द्वारा समझ कर सत्य को ही ग्रहण कर तभी सर्व प्रधान[8] प्रभु की दया तुझ पर होगी। प्राण पति प्रभु का भजन करके प्राणी मुक्त होता है और माया का चिंतन करके दुःख में पड़ना है। यह निश्चय जान। अरे मन ! सदा बसने वाली ब्रह्म रूप वस्ती में ही निवास कर, मनोरथों का संसार मत बना, हृदय से मनोरथों को निकाल[9] दे।

१२१ त्रिताल।

मनरे गहो गुरु मुख बंध[1],
सकल विधि सब होत कारज, उनमनी[2] ले संध[3] ॥टेक॥
शब्द साधू शीश धर कर, रटण आतम रंध[4]।
ज्ञान मारग गमन कर तैं, अमर आतम कंध[5] ॥१॥
मत महन्त सु मान मन कर्म, पर[6] हु गोरख धंध।
एक आतम लागि एक हि, दह[6] दिशा ह्वै अंध ॥२॥
बोध बेध अबेध पंचनि, निकुल[7] नाम सु नंध[8]।
मिले रज्जब ज्योति जीव हिं, जाय तन तरु गंध ॥३॥२

अरे मन ! गुरु के मुख से निकले हुये ज्ञान को ग्रहण करके वृत्ति को विषयों से रोक[1] और उसे सब प्रकार से समाधि[2] में जोड़,[3] फिर तो तेरे सब कार्य अनायास ही हो जायेंगे। संतों के शब्दों को शिर पर धारण करके अर्थात् उन्हें श्रद्धा पूर्वक मान करके उनके विचार रूप रटन द्वारा आत्मा को सिद्धावस्था[4] में पहुँचा। ज्ञान-मार्ग से गमन करने पर ईश्वर का अंश[5] आत्मा अमर हो जाता है। महान् संत रूप महन्तों के सिद्धान्त को मन, वचन, कर्म से मान और संसार रूप गोरख धंधे से परे[6] हो। एक आत्म स्वरूप में लगकर तथा दशों[6] दिशाओं से अंधा हो कर एक अद्वैत ब्रह्म स्वरूप को ही देख। जो सर्व साधारण से नहीं बेधे जाते उन अबेध पंच ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान द्वारा विद्ध कर। कुल[7]-रहित ब्रह्म का नाम चिन्तन करके ब्रह्मानन्द[8] प्राप्त कर। जब जीव को ज्ञान ज्योति रूप ब्रह्म प्राप्त होगा

तब जैसे चन्दन की सुगन्ध से वृक्ष की प्रथम गंध चली जाती है और वह चन्दन ही हो जाता है, वैसे ही ज्ञान ज्योति रूप ब्रह्म के मिलन से शरीर की जीवत्त्व भाव रूप गंध चली जाती है और ब्रह्म भावना आ जाती है।

१२२ पंजाबी । त्रिताल

मन यहु मान मुग्ध[1] अचेत[2],
समझ शठ हठ छोड़ मूरख, कहत हूं करि हेत ॥टेक॥
देह झूठ सु परत[3] पल में, लई[4] कै[5] जम लेत।
काल कर करवाल[6] काटे, देख ले शिर सेत ॥१॥
शीतकोट[7] रु स्वप्न संपति, सुन हु यहु संकेत।
छिनक में सब छाड़ि जे है, मारि मूढ हि बेत ॥२॥
मात पितु सुत सखा बान्धव, सकल कालर[8] खेत।
कर कृषि[9] तू परचो रीतो, खोल देख हु नेत[10] ॥३॥
त्याग तन धन गेह गाफिल, सीख सद्गुरु देत।
रज्जबा जम जोर ले है, देसि[11] मुहड़े[12] रेत ॥४॥३

अरे असावधान[2] मूर्ख[1] मन ! यह शिक्षा मान और हे शठ ! विचार करके अपने मिथ्या हठ को छोड़। अरे मूर्ख ! मैं तेरे से प्रेम करके ही कहता हूं। यह शरीर मिथ्या है और एक क्षण में ही पड़[3] जाता है। इस देह को यम ने कई[5] बार[4] लिया है और अब लेगा अर्थात् मारा है और मारेगा। काल हाथ में तलवार[6] लेकर काटेगा, देख ले शिर में श्वेत बाल आ गये हैं, यह काल आने का ही संदेश है। यह तेरी धन संपत्ति गंधर्व[7]-नगर और स्वप्न की संपत्ति के समान है। यह संकेत रूप चेतावनी भली भांति सुन ले। मूर्ख ! तू एक क्षण भर में सब छोड़ जायेगा। यम दूत तेरे बेत मारते हुए तुझे ले जायेंगे। माता, पिता, पुत्र, सखा और बान्धव ये सभी ऊषर[8] भूमि के खेत के समान हैं, जैसे ऊषर खेत में खेती[9] करने पर बीज भी नष्ट हो जाता है और बोने वाला खाली ही रहता है, वैसे ही तू भी अपने नेत्र[10] खोल कर देख ले, परिवार के राग में फँसकर खाली ही रहेगा। अरे असावधान ! सद्गुरु शिक्षा देते हैं कि—शरीर, धन और घर आदि के राग को त्याग, नहीं त्यागने से यमराज के दूत तुझे बल पूर्वक पकड़ लेंगे और तेरे मुख[12]-पर धूलि डालेंगे।[11]

१२३ गुरु ज्ञान । झूमरा

संत हु अगह गहे गुरु ज्ञान,
मनसा वाचा कबहु न छूटे, बैठाये निज स्थान ॥टेक॥

चंचल अचल भये बुधि गुरु की, मनहु[1] मनोरथ भान[2] ।
सु स्थिर सदा एक रस लागे, माते[3] अमृत पान ॥१॥
बहते रहे[4] मान सद्गुरु की, समझ परी[5] उर आन[6] ।
पंच पचीस स्वाद सब छुटे, ले जाते जो तान ॥२॥
थाके अथक परे पंगुल हो, चंचलता दे दान ।
जन रज्जब जग में नहीं पसरे, गुरु वायक[7] सुन कान ॥३॥४

साधक संतों के गुरु ज्ञान ग्रहण करने संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—जो इन्द्रियादि से ग्रहण नहीं किया जाता, उस ब्रह्म का ज्ञान साधक संत गुरु जनों से इस प्रकार ग्रहण करते हैं जो मन, वचन से कभी भी अलग नहीं होता, निरंतर मन में ब्रह्म का ही मनन रहता है और ब्रह्म संबन्धी ही वाणी बोलते हैं । इस अभ्यास के कारण ही ज्ञान उनको निज स्थान ब्रह्म में स्थिर रूप से स्थित करता है । गुरु की ज्ञान रूप बुद्धि से मन[1] के मनोरथ नष्ट[2] करके चंचलता से अचल स्थिति में आ जाते हैं । ब्रह्म के स्वरूप में सम्यक् स्थिर होकर सदा एक रस ब्रह्म चिन्तन रूप अमृत पान में लग कर मस्त[3] हो जाते हैं । सद्गुरु की शिक्षा मानकर उसे हृदय में लाते[6] हैं तब वह भली भाँति समझ में आती[5] है, फिर संसार सरिता में बहने से रुक[4] जाते हैं अर्थात् जन्मादि संसार से मुक्त हो जाते हैं । जो पहले खेंचातान करके विषयों में ले जाते थे, उन पंच ज्ञानेन्द्रियों और पचीस प्रकृतियों के स्वाद और उग्र स्वभाव सब छुट जाते हैं । जो विषयों में जाने से अथक थे अर्थात् थकते नहीं थे, वे मन इन्द्रियां थक कर पंगु हो जाते हैं, मानो चंचलता को तो उन्होंने दान कर दिया हो ऐसे निश्चल हो जाते हैं । इस प्रकार गुरु के वचनों[7] को कानों से सुनकर साधक-संतों के मन इन्द्रिय जगत् में नहीं फैलते हैं ।

१२४ नाम महिमा । पंजाबी त्रिताल

ह्वै हरि नाम सौं सब काज,
आदि अंत सु प्राण तारन, विषम[1] जलधि[2] जहाज ॥टेक॥
प्राण पोषण पंच शोषण, फेरि मंडण[3] साज ।
गुन हुं गंजन पीर भंजन, देत अविचल राज ॥१॥
सुकृत जागें कुकृत भागें, सुन भजन की गाज ।
उरहु मंडन[4] अघहु खंडन, देखते दुख भाज ॥२॥
धरे[5] काढ़ण अधर[6] चाढ़ण, जीव की सब लाज ।
नाम नौका[7] धर्म टीका[8] रज्जबा शिर ताज[9] ॥३॥५

१२४-१२७ में नाम महिमा कह रहे हैं—हरि नाम चिन्तन से सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। नाम सृष्टि के आदि से अंत तक प्राणियों को तारने के लिये भयंकर[1] संसार-सागर[2] में जहाज रूप है। प्राणियों को पोषण करने वाला है, पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषय राग रूप रस को सुखाने वाला है। संसार भावना से बदल कर शरीर रूप साज को परमार्थ से सजाने[3] वाला है। आसुर गुणों को नष्ट करता है, संसार-दुःख को नाश करके ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति रूप अविचल राज पद देने वाला है। नाम भजन की गर्जना सुनकर सुकर्म जग जाते हैं अर्थात् होने लगते हैं। कुकर्म भाग जाते हैं। पापों को नष्ट करके हृदय को दैवी गुणों से सजाता[4] है। देखते २ प्राणी के दुःखों को भगा देता है। मायिक[5] संसार से निकालने वाला है, ब्रह्म[6] रूप में स्थित करने वाला है। सब प्रकार से जीव की लज्जा रखने वाला है। नाम सब साधनों से श्रेष्ठ[7] है। सर्व धर्मों का सरदार[8] है और मेरे शिर का तो मुकुट[9] ही है अर्थात् शिरोधार्य है।

१२५। धीमाताल

ऐसा तेरा नाम बहु गुणवंत,
सकल विधि प्रतिपाल प्राणन[1], जप निवाजे[2] जंत[3] ।।टेक।।
शेष शंकर विष्णु ब्रह्मा, ररंकार रटंत।
सुरन सत सुमिरण बतायो, भाग्य प्रभूत[4] करंत ।।१।।
हरि अराधसु हरत पापन, आतमा उधरंत।
गिनूं केते ज्ञानि नाम हि, सृष्टि साधू संत ।।२।।
आदि अंत रु मध्य मानुष, नाम नाव चढंत।
जाहि जल निधि उतरि आतम, नीच ऊंच अनंत ।।३।।
सकल विधि सुखराशि सुमिरण, अमित काज सरंत।
रज्जबा क्या कहै महिमा, भजन बधि[5] भगवंत ।।४।।६

प्रभो ! आपका नाम ऐसा है—बहुत गुणों से युक्त है, सब प्रकार प्राणियों[1] का रक्षक है। नाम जपने वाले जीव[3] पर आप कृपा[2] करते हैं। शेष, शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी राम के बीज मन्त्र "राँ" का जप करते हैं। देवताओं ने भी नाम-स्मरण को सच्चा साधन बताया है। नाम जप प्राणी के भाग्य को विशाल[4] बना देता है। नाम जप द्वारा हरि की आराधना करने से पाप नष्ट होकर जीवात्मा का उद्धार होता है। कितनेक ज्ञानियों के नाम गिनाऊं, इस सृष्टि में बहुत-से ज्ञानी साधु-संत तथा सृष्टि के आदि, मध्य, अंत तक मनुष्य संसार-सागर को पार करने के लिये नाम

रूप नौका पर ही चढे हैं। नाम से नीच-ऊंच अनन्त जीवात्मा संसार-सागर से पार उतर जाते हैं। नाम-स्मरण सब प्रकार सुख की राशि है। नाम-स्मरण से अनन्त कार्य सिद्ध होते हैं। मैं नाम की महिमा क्या कहूं, नाम का भजन तो भगवान् से भी बढ़कर[४] है।

१२६। दादरा

है हरि नाम नर निकलंक[१],
पतित पावन प्राणि परसत[२], राव सुमिरो रंक ॥टेक॥
नाम चंदन लागि पलटत, वपु वनी वंश[३] वंक।
होत सकल सुगंधि, संगति, वास दुर्गंध ढंक[६] ॥१॥
नाम पारस लाग लोहा, भेंटि मेटत अंक।
साधु सोना होत देखत, बिकत महँगे-टंक[४] ॥२॥
आराध[५] औषधि जीव रोगी, राखि पछ[६] नित फंक[७]।
रज्जबा यूं रहत निशि दिन, होत निमन[८] निशंक ॥३॥७

हे नर! नाम निष्कलंक[१] साधन है, नाम-स्मरण करने वाला प्राणी राजा हो वा रंक हो पतित पावन प्रभु से जा मिलता[२] है। जैसे चन्दन से वन के वृक्ष बदल जाते हैं, वैसे ही नाम जप से प्राणी का शरीर बदल जाता है। उस में कुल[३] का दोष रूप बांका पन नहीं रहता। जैसे वृक्षों की दुर्गंध चन्दन की सुगंध से ढक[६] जाती है और सुगंध हो जाती है। वैसे ही नाम जप करने वालों की संगति से दोष दब कर दिव्य गुण आ जाते हैं, पारस से स्पर्श होने पर लोहा सोना हो जाता है और चार[४]-मासे भी महँगा बिकता है, वैसे ही नाम-स्मरण साधन से मिल कर जीव देखते २ ही कर्म के अंक मिटा कर साधु हो जाता है और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। जैसे रोगी पथ्य[६] रखकर औषधि खाता[७] है तब निरोग हो जाता है, वैसे ही जीव नाम-स्मरण रूप उपासना[५] सदाचार से करता है, वह जन्मादि रोग से मुक्त हो जाता है। नाम-स्मरण का साधक इस प्रकार रात्रि-दिन मौन[८] रहकर स्मरण करता है और निःशंक रहता है।

१२७। एक ताल

ऐसा तेरा नाम निधाना[१], करे को वक्त्र[२] बखाना।
शिव विरंचि शुक आदि शेष मुख, ह्वै नहिं सके प्रमाना[३] ॥टेक॥
नेति[४] नेति कहि निगम[५] पुकारत, उससे जाय न जाना।
रज्जब कहा कहै इक रसना, सब जानत हैराना[६] ॥१॥८

प्रभो ! आपका नाम ऐसा महान् कोश[1] है कि–उसका मुख[2] से तो कौन कथन कर सकता है ? शंकर, ब्रह्मा, शुकदेव आदि मुनि और हजार मुख वाले शेषजी से भी उसकी सीमा[3] का निर्णय नहीं हो सकता। वेद[5] भी "यह नहीं,[4] यह नहीं" कह कर पुकारता है, उससे भी नाम यथार्थ रूप से नहीं जाना जाता। फिर एक जिह्वा वाला मैं तो कह ही क्या सकता हूं, सभी नाम की महानता को जानकर आश्चर्य[6] चकित हैं।

१२८ नाम बिना मन शुद्ध नहीं। त्रिताल

नाम बिन मन निर्मल नहिं होय,
आन[1] उपाय अनन्त अघ[2] लागें, बहुत भांति करि जोय[3] ॥टेक॥
योग यज्ञ जप तप व्रत संयम, करते हैं सब लोय[4] ।
धर्म नेम[5] दान पुनि[6] पूजा, सीझ्या[7] सुण्या न कोय ॥१॥
भेष पक्ष नहीं घर बाहर, ज्ञान अज्ञान समोय[8] ।
ज्ञानी गुणी शूर कवि पंडित, ये बैठे सब रोय ॥२॥
भरम न भूल समझ सुन प्राणी, यहु साबुण नहिं सोय[9] ।
जन रज्जब मन होय न निर्मल, जल पाषाण हि धोय ॥३॥६

हरि नाम बिना मन शुद्ध नहीं होता यह कह रहे हैं–हरिनाम चिंतन बिना अन्य उपाय से मन निर्मल नहीं होता है। बहुत प्रकार से विचार करके देख[3] तो ज्ञात होगा, चित्त शुद्धि के अन्य[1] उपाय यज्ञ करना, धर्मशाला बनाना आदि से अनन्त पाप[2] लगते हैं इसी कारण–योग, यज्ञ, प्रभु नाम से भिन्न मंत्र, जप, तप, व्रत, आसनादि से शरीर का संयम, वर्णाश्रमादि धर्म, नियम[5], दान, पुण्य[6], प्रतिमा पूजा आदि बाह्य साधनों को सभी लोग[4] करते हैं किंतु इनसे मुक्त[7] हुआ कोई भी नहीं सुना जाता। भेष की पक्ष तथा घर और घर बाहर रहने की पक्ष, शास्त्र ज्ञान और अज्ञान की पक्ष भी इसमें मिलाओ[8], ये पक्षें मुक्त नहीं कर सकती हैं। इसीलिये शास्त्र ज्ञानी, गुणी, शूर-वीर, कवि, पंडित ये सब अपने २ गुण की पक्ष का अभिमान करके मुक्ति के लिये बैठे २ रो रहे हैं अर्थात् मुक्त नहीं हो सके हैं। प्राणी तू भ्रम की बात से प्रभु का नाम स्मरण करना मत भूल, संतों से नाम की विशेषतायें सुनकर समझ, यह भ्रम की बात वह[9] साबुन नहीं है, जो तेरे मन को निर्मल कर सके और पत्थर पूजा से तथा जल से धोने से मन निर्मल नहीं होता है। हरि नाम चिन्तन से ही मन निर्मल होता है। अतः नाम चिन्तन करना चाहिये।

१२९ नाम बिना उद्धार नहीं। कहरवा

भजन बिन भूल पर्यो संसार,
पच्छिम काम जात पूरब दिशि, हिरदै नहीं विचार ॥टेक॥

बांछे अधर[1] धरे[2] सौं लागें, भूले मुग्ध[3] गँवार[4] ।
खाय हलाहल[5] जीयो चाहै, मरत न लागे बार ॥१॥
बैठे शिला समुद्र तिरन को, सो सब बूड़णहार ।
नाम बिना नाहीं निस्तारा, कबहुं न पहुँचे पार ॥२॥
सुख के काज धसे[6] दीरघ[7] दुख, ताकी सुधि नहिं सार ।
जन रज्जब यूं जगत विगूचे[8], इस माया की लार ॥३॥१०

नाम चिन्तन बिना उद्धार नहीं होता यह कह रहे हैं—संसार के प्राणी नाम चिन्तन को छोड़ कर भ्रम में पड़ रहे हैं, हृदय में विचार न होने के कारण इनकी स्थिति ऐसी है कि--जैसे किसी मनुष्य का कार्य तो पच्छिम दिशा में हो और वह जाय पूर्व दिशा में, वैसे ही प्राणी चाहते तो ब्रह्म[1] को हैं और लगे हुये हैं माया[2] की सेवा में। इस प्रकार अज्ञानी[4] मूर्ख[3] भ्रम में पड़ रहे हैं। जो मनुष्य तीव्र[5]-विष खाकर जीना चाहता है, उसे मरते तो कुछ भी देर न लगेगी। वैसे ही जो नाम चिन्तन न करके मुक्त होना चाहता है, उसे संसार दुःख में पड़ते कुछ भी देर न लगेगी। समुद्र को तैरने के लिये जो शिला पर बैठ कर समुद्र में उतरते हैं, वे सब डूबने वाले ही हैं। जैसे नाव बिना समुद्र से पार कभी भी नहीं हो सकते, वैसे ही नाम चिन्तन बिना उद्धार नहीं हो सकता। सांसारिक प्राणी सुख प्राप्ति के लिये महान्[7] दुःख में घुमे[6] हुये हैं और जो सुख का सार साधन प्रभु का नाम है, उसका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस प्रकार इस माया के पीछे पड़ कर जगत् के प्राणी दुःखी[8] हैं।

१३० अनन्यता । त्रिताल

हमारे सब ही विधि करतार,
धर्म नेम[1] अरु योग यज्ञ जप, साधन सांई सार ॥टेक॥
पूजा[2] अर्चा नौधा नामहि, शोधि[3] कियो व्यवहार ।
तीरथ वरत सु नाम तुम्हारा, और नहीं अधिकार ॥१॥
वेद पुराण भेष पख[4] भूधर[8], तुझ ही शिर भर[5] भार ।
बुधि विवेक बल ज्ञान गुसांई, और नहीं आधार ॥२॥
सकल धर्म करतूत[6] कमाई, सब तुम ऊपर वार[7] ।
जन रज्जब के जीवन रामा, निशि दिन मंगल चार ॥३॥११

अपनी अनन्यता दिखा रहे हैं—सभी प्रकार से हमारे आश्रय सृष्टि कर्त्ता प्रभु ही हैं। धर्म, नियम,[1] योग, जप, सार रूप साधन, ये सब हमारे

तो एक प्रभु ही हैं। हमारी प्रतिष्ठा[२] भी प्रभु कृपा ही है। हमारी अर्चना भक्ति तथा नवधा भक्ति प्रभु का नाम ही है। यह वचन बोलना रूप व्यवहार हमने विचार[३] करके ही किया है। हमारे तीर्थ व्रत भी आपका नाम ही है। आपके बिना हम अपनत्त्व का अधिकार अन्य पर नहीं रखते अर्थात् हम आपके बिना अन्य किसी को भी अपना नहीं समझते। हे पृथ्वी[८]-को-धारण-करने-वाले प्रभो! आप ही हमारे वेद, पुराण और भेष आदि की पक्ष[४] हैं। आपके शिर पर ही हमारा पूरा[५] भार है। प्रभो! हमारे बुद्धि, विवेक, बल, ज्ञान आप ही हैं। आपके बिना हमारा आधार और कोई भी नहीं है। हम अपना संपूर्ण धर्म और कर्म[६] रूप कमाई आप पर निछावर[७] करते हैं। हे राम! आप ही हमारे जीवन रूप हैं। आप की कृपा से ही हमारे रात्रि-दिन मंगल का आचार-व्यवहार होता रहता है।

१३१ विरह व्यथा। पंजाबी त्रिताल

नाह[१] बिन निशि विघ्न की खानि,
विरहनि बहुत भांति दुख पावै, सकल सुखों की हानि ॥टेक॥
शशि नहिं शंक[२] कलंकी जातैं, काहूं की नहिं कानि[३]।
विरह भोज[४] में भामिनि बैठी, घ्यौ[५] नावत[६] है आनि ॥१॥
तारे तरुण[७] तपत शिर ऊपर, शशि बंधू[८] पहचान।
देखो दुख दायक दश हूं दिशि, नौलख वैरी जान ॥२॥
महल मसान सेज ह्वै सिहनि, मारत मीच समान।
रज्जब राम बिना रजनी दुख, केतकि[९] कहूं बखान ॥३॥१२

१३१-१३३ में विरह व्यथा दिखा रहे हैं—प्रभु[१] के बिना रात्रि विघ्नों की खानि बन रही है। विरहनी बहुत प्रकार से दुःख पा रही है, सभी सुखों की हानि हो रही है। यह चन्द्रमा भी कलंकी होने से कुछ भी भय[२] नहीं मानता, न किसी की लज्जा[३] ही करता है। मेरे ऊपर अपनी किरणें डालकर मुझे व्यथित कर रहा है। यह नारी बैठी हुई विरह रूप भोजन[४] में घृत[५] लाकर डाल[६] रही है अर्थात् जैसे भोजन में घृत डालने से वह भारी हो जाता है, वैसे ही पतियुक्त नारी को देखने से वियोग व्यथा बढ़ती है और प्रभु-प्राप्त संत को देखकर साधक की व्यथा बढ़ती है। ये नूतन[७] तारे शिर पर तप रहे हैं और मुझे चन्द्रमा के भाई[८] विष के समान मारने वाले जान पड़ रहे हैं। देखो ये नौ लाख तारे दशों दिशाओं में फैले हुये हैं और दुःख दाता होने से मुझे वैरी ज्ञात हो रहे हैं। महल श्मशान रूप दीख रहा है। शय्या सिहनी सी होकर मृत्यु के समान मार रही है। राम के बिना जो रात्रि में दुःख हो रहे हैं उनको व्याख्यान करके कितनाक[९] कहूं अर्थात् बहुत हैं कहे नहीं जा सकते।

१३२ । धीमा ताल

आज निशि न क्यों हूं घटत[1], प्राण पियारे बाझ[2] हो ।
दीर्घ[3] रैनि भई बिन दर्शन, आतम राम हि रटत ।।टेक।।
राक्षस रैनि अधिक अरिहुन ते, तारे तीरनि तकि[4] तकि जटत[5] ।
चन्द्र हि चन्द्र बाण ह्वै छूटत, मारतहु नेक[6] न हटत ।।१।।
जामनि[7] जुग प्रमाण अति बाढ़ी,
कामिनि कंत बिना क्यों कटत[8] ।
रज्जब रुदन करत करुणा मय,
विकसि[9] विकसि उर फटत ।।२।।१३

प्राण प्रिय प्रभु के बिना[2] आज रात्रि किसी प्रकार भी कम[1] नहीं हो रही है । आत्म स्वरूप राम का नाम रटते २ उनके दर्शन बिना रात्रि बहुत बड़ी[3] हो गई है । यह रात्रि रूप राक्षस शत्रुओं से भी अधिक है, देख[4] २ कर तारे रूप तीर मार[5] रहा है । चन्द्रमा रूप चन्द्राकार बाण इस रात्रि द्वारा छोड़ा जा रहा है, यह मारते हुये किंचित्[6] मात्र भी नहीं हटती है । यह रात्रि[7] युग प्रमाण से भी अत्यधिक बढ़ गई है । प्रियतम प्रभु के बिना संत सुन्दरी से कैसे पूरी[8]-होगी ? ज्यों २ विरह का विकाश[9] होता जा रहा है त्यों २ मेरा हृदय फटता जा रहा है । दयामय प्रभो ! मैं आपके दर्शनार्थ रो रहा हूं, दर्शन देने की दया शीघ्र ही कीजिये ।

१३३ । त्रिताल

वेगि न मिलें आतमराम,
जात जन्म अमोल अद्भुत, लेत हू हरि नाम ।।टेक।।
भूख भंग अभंग चिन्ता, गिणत छाँह न घाम ।
मग[1] अगम यहु भाम[2] भूली, सम सु अरण्य[3] ग्राम ।।१।।
विरह पीर सु नीर नैनों, महा विह्वल[4] वाम[5] ।
ठगी सी ठिक ठौर बिसरी, को करै गृह काम ।।२।।
दीन दुखित अनाथ अबला, गये इहि विधि जाम[1] ।
मांस गूद[7] सु विरह विलस्यो,[8] रहे अस्थि रु चाम ।।३।।
और कहत सु और आवत, नहीं मन मति धाम ।
रज्जबा रही रोज हाँसी, ज्यों सती सल[9] ठाम ।।४।।१४

आत्म स्वरूप राम शीघ्र ही नहीं मिल रहे हैं । हरिनाम लेते हुये भी यह अद्भुत अमूल्य जन्म व्यतीत हो रहा है । प्रभु के दर्शन न होने से भूख

नष्ट हो गई है और चिन्ता निरंतर बनी रहती है । छाया और धूप को भी न देख कर निरंतर प्रभु दर्शनार्थ प्रयत्नशील हैं । अगम प्रभु के साधन मार्ग[1] को यह वियोगिनी नारी[2] भूल गई है, अब इसके लिये वन[3] और ग्राम समान हो गये हैं । विरह व्यथा से नेत्रों में अश्रु जल आ रहा है और यह नारी[4] महान् व्याकुल[5] है । यह ठगी हुई-सी रहती है और अपने यथार्थ स्थान को भूल गई है, अब घर का काम कौन करे ? यह अबला अनाथ नारी दीन होकर दुःखी है । इसकी जीवन रात्रि के चार अवस्था रूप चार पहर[6] इस प्रकार दुःख से ही व्यतीत हो गये हैं । मांस-मज्जा[7] को विरह खा[8]-गया है । अब हड्डी और चमड़ा रहा है । कहते कुछ अन्य हैं और मुख से कुछ अन्य ही निकल जाता है । मन-बुद्धि ठिकाने नहीं हैं । जैसे चिता[9] स्थान में सती को रोना और हँसना दोनों ही आने से रह जाते हैं, न तो वह हँसती है और न वह रोती है, वैसी ही हमारी स्थिति है । न तो रोया जाता है और न हँसा जाता है । रोने को लोग अच्छा न मानेंगे इससे दबाते हैं और दुःख के कारण हँसी आती ही नहीं ।

१३४ ब्रह्म दर्शन प्रेरणा । चौताल

सखि सुन्दर सहज रूप, देखि ले जगत भूप ।
प्राणिन में प्राण पति, त्रिकुटी के तीरा ॥टेक॥
बैठी क्यों नवल[1] नारि, कही सो श्रवण धारि ।
निकट नाह[2] निहारि, नैननतैं नीरा ॥१॥
विधि सौं विलोकि[3] वाम[4], सेय ले साजन[5] राम ।
पूरण सकल काम, थापन[6] सो थीरा[7] ॥२॥
उठि तू आतुर धाय, पूजिले परम पाय ।
अंतरि अनन्य भाय, पीरन[8] को पीरा[9] ॥३॥
विमल ब्रह्म अंग,[10] सर्वंगी सर्व संग ।
शोधिले आतम दंग[11], हिरदै को हीरा ॥४॥
रज्जब भामिनी[12] भाग, आदि को अंकूर जाग ।
देहि जो सेज सुहाग, मीरन[13] को मीरा[14] ॥५॥१५॥

साधक रूप सखी को ब्रह्म साक्षात्कारार्थ प्रेरणा कर रहे हैं—अरि साधक सखि ! सहज सुन्दर स्वरूप जगत्पति का साक्षात्कार कर ले, वे प्राणपति प्राणियों के बीच में त्रिकुटी के ध्यान रूप तीर पर मिलते हैं अर्थात् आज्ञा चक्र में ध्यान करने से उनका दर्शन होता है । अरि ! साधन मार्ग में नवीन[1] साधक-सखि ! आलस्य में क्यों बैठी है ? जो तुझे कहा है,

उसे श्रवणों द्वारा हृदय में धारण करके नेत्रों से वियोग व्यथा का अश्रु-जल बहाते हुए उन प्रभु[२] को समीप ही देख। साधक-सुन्दरी[४] ! उक्त विधि से उन प्रियतम[५] राम को देखकर[३] उनकी सेवा करले। वे सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, स्थिर[७] रूप से स्थापन[६] करने वाले हैं। तू उठकर शीघ्रता से साधन मार्ग में दौड़ कर अर्थात् साधन करके उनके श्रेष्ठ चरणों की पूजा कर ले। वे सिद्धों[८] के भी सिद्ध[९] हैं। अनन्य भाव द्वारा भीतर ही प्राप्त होते हैं। जो अविद्या मल से रहित, सर्व विश्व जिनका अंग है, जो सबके साथ रहते हैं, उन प्यारे[१०] ब्रह्म को विचार द्वारा खोज ले। वह आश्चर्य[११] रूप ब्रह्म संतात्माओं के हृदय का हीरा है अर्थात् संतों को अति प्रिय है। साधक-सुन्दरी[१२] ! तेरे भाग्य से ही तेरे हृदय में सबके आदि स्वरूप ब्रह्म के दर्शन की इच्छा रूप अंकुर उत्पन्न हुआ है, तो जो सरदारों[१३] के सरदार[१४] प्रभु हैं, वे तेरी हृदय शय्या पर पधार करके तुझे सुहाग सुख प्रदान करेंगे।

१३५ विनय। धुमाली ताल

माधव करो क्यों न सहाय,
तुम बिना कोउ और नाहीं, कहूं तासौं जाय ॥टेक॥
कामवैरी क्रोध वैरी, मोह वैरी माँहि।
पंच मारैं सो न हारैं, क्यों हरि आओ नाँहि ॥१॥
काया वैरी माया वैरी, प्रकृति[१] भरपूर[२]।
दीन की फरियाद[३] सुनिये, करो ये सब दूर ॥२॥
पिशुन[४] सारे मैं न मारे, मोहि मारे जाँहि।
बहुरि तुम कहा आय करि हो,
जन[५] रज्जब जब नाँहि ॥३॥१६

कामादिक मे मुक्त होने के लिये प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं—माधव ! मेरी सहायता क्यों नहीं करते ? मेरा सहायक तो आपके बिना अन्य कोई है ही नहीं, जो उसे जाकर सहायता करने के लिये कहूं। मेरे हृदय में काम, क्रोध और मोह रूप वैरी घुसे हुये हैं तथा पंच ज्ञानेन्द्रिय भी मुझे मार रही हैं, वे मुझको मारने से थकती भी नहीं हैं फिर भी हरे ! आप क्यो नहीं आते ? शरीर माया और दुर्स्वभाव[१] पूरे[२] शत्रु हैं। मुझ दीन की पुकार[३] सुनकर इन सबको मेरे से दूर करें। उक्त तथा अन्य भी दुष्ट[४] गुणों को मैं नहीं मार सका हूं, वे ही मुझे निरंतर मारते जा रहे हैं, जब मुझे मार देंगे मैं आपका दास[५] जीवित नहीं रहूंगा, तब आप आकर क्या करेंगे ? अत: शीघ्र ही पधारें।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित केदार राग ८ समाप्त: ॥

अथ राग मारू ६

(गायन समय युद्ध)

१३६ विरह-व्यथा । त्रिताल

दुख अपार बिन दीदार[1], लेखा कछु नांहीं ।
विकल[2] बुद्धि नांहि सुधि[3], मृतक भई मांहीं ।।टेक।।
सुख विलास[4] सकल नाश, आतम उर भागे ।
मध्य पीर नांहि धीर, विरह बाण लागे ।।१।।
बहु वियोग परम शोक, डगमगाति डोलै ।
नांहि चैन विरह बैन, व्याकुल भइ बोलै ।।२।।
तप्त पूरि नांहि दूरि, मिलिये सुख दाई ।
रज्जब की जलन जाय, प्रकटो हरि आई ।।३।।१।।

१३६-१३८ में विरह दुःख प्रकट कर रहे हैं—प्रभु के दर्शन[1] बिना मुझे अपार दुःख है, उसका कोई हिसाब नहीं है । बुद्धि व्याकुल[2] रहती है, उसमें कुछ भी ज्ञान[3] नहीं रहता, भीतर मृतक सी-हो रही है । भोग[4] सुख सब नष्ट हो गये हैं अर्थात् भोगों से सुख नहीं मिल रहा है । मुझ जीवात्मा का हृदय भागता है अर्थात् चंचल रहता है । भीतर पीड़ा ही बनी रहती है, धैर्य नहीं रहता । हृदय में विरह बाण लग रहे हैं । अधिक वियोग रहने से महान् शोक हो रहा है । काया डगमगाती हुई फिरती है अर्थात् पैर कहीं का कहीं पड़ता है, सुख नहीं है । वाणी व्याकुल होकर विरह संबन्धी ही वचन बोलती है । दुःख द्वारा पूर्ण रूप से तप रहा हूं । यह ताप दूर नहीं हो रही है । सुख दाता हरे ! आप मेरे हृदय में प्रकट होकर मुझ से मिलिये । तभी मेरी जलन मिट सकेगी ।

१३७ । पंजाबी त्रिताल

सखि सुन मैं दुख शोध लियो,
महा निठुर[1] अपने रंग रातो, सोई कंत[2] कियो ।।टेक।।
जाके विरह बसी मन माहीं, सब जग त्यागि दियो ।
सो पुनि पिय परसे[3] नांहि अजहुं, हारी देखि हियो ।।१।।
जग पति मिले न जगत सुहावै, फाटो दिल न सियो[4] ।
द्वै दुख देखि भयो चित चक्रित[5] विषहु न बांटि पियो ।।२।।

कहिये कहा कवन मति उपजी, मन माने न बियो[६] ।
जन रज्जब रुचि रूप न पावै, धृक धृक यह सु जियो[७] ।।३।।२

संत-सखि ! मेरी बात सुन, मैंने तो महा निर्मोही[१], अपने ही रंग-ढंग में अनुरक्त रहने वाले को स्वामी[२] बनाकर दुःख ही खोज लिया है। जिसके विरह से मेरी वृत्ति सब जगत् को त्याग कर मन में ही बसी रहती है बाहर नहीं जाती, फिर भी वह प्रियतम अब तक नहीं मिलता[३] है। उनके इस व्यवहार को देख करके तो मेरा हृदय हार मान बैठा है अर्थात् उत्साह रहित हो गया है । न तो जगत्पति प्रभु मिल रहे हैं और न जगत् अच्छा लगता है, जगत् से मन फट गया है, यह पुनः सीया[४] नहीं जाता अर्थात् जगत् से नहीं मिलता । उक्त दोनों दुःखों को देखकर मन चकित[५] हो रहा है । मैंने भूल की है, विष बाँट कर भी तो नहीं पिया, पी लेती तो इस दुःख से तो मुक्त हो जाती । किन्तु क्या कहूं न जाने यह क्या बुद्धि उत्पन्न हुई है जो दूसरे[६] से तो मन संतोष मानता ही नहीं है और जिस प्रभु स्वरूप में मेरी रुचि है वह मिलता नहीं है । अतः मेरे जीवन[७] को बारंबार धिक्कार है ।

१३८ । त्रिताल

सखी सुन कैसे रहिये,
हरि वियोग बिरहत[१] तन, का सौं कहु कहिये ।।टेक।।
विरहनि वियोग शोक, रैनि दिवस दहिये[२] ।
दीरघ दुख देखि देखि, कौन भांति सहिये ।।१।।
विरह पीर नैन नीर, तामें ही बहिये ।
दीसत नहिं सो जहाज, जो बूड़त गहिये ।।२।।
देखो दुख मीन भीन,[३] जस चातक चहिये ।
जन रज्जब जीवहि क्यों, जीवन नहिं लहिये ।।३।।३।।

संत सखि ! मेरी बात सुनो, मुझ से कैसे रहा जाय ? हरि के वियोग से शरीर पीड़ित[१] है । कहो, दुःख किससे कहूं । यह प्रभु-वियोग का शोक मुझ विरहनी को रात्रि-दिन जला[२] रहा है । इस महान् दु,ख को देख २ कर व्यथित हूं, किस प्रकार सहन कर सकूंगी ? मैं विरह-पीड़ा द्वारा नेत्रों से निकलने वाले जल प्रवाह में बह जाऊंगी । मुझे वह जहाज भी नहीं दिखाई दे रहा है, जिसे डूबते समय मैं पकड़ सकूं । देखो, मेरा दुःख ऐसा है, जैसा जल से अलग[३] होने पर मच्छी को होता है । जैसे चातक पक्षी स्वाति बिन्दु को चाहता है, वैसे ही मैं प्रभु को चाहती हूं । जब मेरे जीवन रूप प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकती हूं तब जीवित क्यों रहूं, कारण–प्रभु वियोग युक्त जीवन दुःख रूप ही है ।

१३९ विरह-विनय । कहरवा

सखी हूं विरह घेरी,
लहियत नहिं मोहन मग, सुख की सेरी[1] ।।टेक।।
विपति राज बैठे आज, दीन दुखित टेरी ।
विरह की आन[2] दान[3], दोही[4] फेरी ।।१।।
विरह आगि मनहुं[5] लागि, जरत देह मेरी ।
वर्षत नहिं महर[6] मेघ, दह[7] दिशि हेरी[8] ।।२।।
जन्म जाय मिल हु आय, मैं चेरी तेरी ।
रज्जब को दर्श देहु, राख हु नेरी[9] ।।३।।४।।

विरह-दुःख पूर्वक दर्शनार्थ विनय कर रहे है—संत-सखि ! मै विरह द्वारा घिर गई हूं, जो सुख मय गली[1] है, वह विश्व विमोहन प्रभु की प्राप्ति का मार्ग मुझे नहीं मिल रहा है । आज मैं विपत्ति के राज्य में बैठी हुई दीन दुखित होकर पुकार रही हूं । इस राज्य में विरह की शपथ[2] देकर[3] दुहाई[4] फेर दी है कि—सुख नहीं मिलेगा अर्थात् विरहावस्था में सुख नहीं मिलता । मानो[5] विरहाग्नि लग कर मेरा शरीर जल रहा है । मैं दशों[7] दिशाओं को देख[8] रही हूं प्रभु की दया[6] रूप बादल नहीं वर्ष रहा है । प्रभो ! मेरा जन्म आपके बिना व्यर्थ ही जा रहा है । मैं आपकी दासी हूं, आप मेरे हृदय में आकर मुझ से मिलिये और मुझे दर्शन देकर सदा पास[9] रखिये ।

१४० प्रभु-प्रेम । चौताल

सखी हूं[1] मोहनें,[2] मोही,[3]
कन[4] कन करि काढि लीनी, ऐसे सोही[5] ।।टेक।।
भूली सब काम धाम, तन मन दोही[6] ।
अशन वसन बिसरि गई, सूखा लोही ।।१।।
श्रवण हुं वाणी अधारि, समझा वोही[7] ।
जन रज्जब जोये[8] बिन, रंग विरोही[9] ।।२।।५।।

प्रभु-प्रेम की स्थिति बता रहे हैं—सखि ! मैं[1] विश्व विमोहन[2] प्रभु से मोहित[3] हो रही हूं । वे-प्रभु[5] ऐसे हैं कि उनने मुझे किंचित्[4] २ करके संसार से निकाल लिया है । तन और मन दोनों[6] से होने वाले घर के काम और घर को भी मैं भूल गई हूं । समय पर भोजन करना, ढंग से वस्त्र पहनना भी भूल गई हूं । शरीर का रक्त सूख गया है । श्रवणों से संतों की वाणी सुनकर उसी[7] प्रभु को अपना आधार समझा है किन्तु उन प्रभु को देखे[8] बिना मेरा रंग बिगड़[9] रहा है शांति नहीं है ।

१४१ नाम परायणता । रूपकताल

नाम राती[1] हो सु तेरे नाम राती हो,
पंचों ये पीव पीव करैं, भई प्रेम की माती[2] हो ॥टेक॥
लीन भई तिस नाम सौं, जो कर्म की काती[3] हो ।
चलतां बैठत सोवतां, मुझ तेरी ताती[4] हो ॥१॥
नाम सदा ले नेह सौं, नाना विधि भाती[5] हो ।
देखो भाग्य उदय भये, पाई पूरण थाती[6] हो ॥२॥
जो भजि भजि साधू भये, ता में लई पाती[7] हो ।
जन रज्जब वलि राम के, दई दीरघ[8] दाती[9] हो ॥३॥६

१४१–१४२ में अपनी नाम परायणता बता रहे हैं—प्रभो ! मैं मन, वचन से आपके नाम में ही अनुरक्त[1] हूं । मेरी ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियें भी पीव-पीव करती हुई आपके नाम प्रेम में ही मस्त[2] हो रही हूँ । मैं चलते, बैठते, सोते आदि सभी स्थितियों में जो कर्मों को काटने के लिये छुरी[3] रूप है, उस आपके नाम में ही जीव रहता है । मुझे आपकी ही लग्न[4] है । मेरी वृत्ति तथा वाणी सदा प्रेम से नाम लेती है अर्थात् चिन्तन और उच्चारण करती हैं । नाम लेने की नाना विधि हैं सो सब मुझे प्रिय[5] लगती हैं । देखो, भाग्योदय हुआ है, तभी तो मुझे प्रभु का नाम रूप पूर्ण पूंजी[6] प्राप्त हुई है । जिस नाम को रट २ कर दुर्जन भी साधु बन गये हैं, उसी नाम चिन्तन रूप साधन में मैंने भाग[7] लिया है अर्थात् नाम चिंतन ही कर रहा हूं जिनने मुझे नाम चिन्तन की योग्यता रूप महान्[8] दान[9] दिया है, उन निरंजन राम की मैं वलिहारी जाता हूं ।

१४२ । दीपचन्दी

नाम रंगी हो सु तेरे नाम रंगी हो,
नैनों नाह[1] न देखिये, एता दुख अंगी[2] हो ॥टेक॥
पीव पीव टेरूं रैनि दिन, दीदार उमंगी[3] हो ।
सो दीदार न पाइये, यूं नारि न चंगी[4] हो ॥१॥
सुमिर सुमिर सुधि[5] बुधि[6] गई, कहि कहि सवंगी[7] हो ।
वन वन ढूंढों रोवती, पीव हैं किस दंगी[8] हो ॥२॥
नाम न छाडूं नाह[9] का, गति भई अपंगी[10] हो ।
रज्जब रजनी यूं गई, कब मिल हो संगी हो ॥३॥७

प्रभो ! मैं मन वचन से भली भांति आपके नामप्रेम में रंगी हुई हूं किन्तु अपने प्रियतम प्रभु[१] को नेत्रों से नहीं देख रही हूं, इतना ही दुःख मेरे शरीर[२] में है। दर्शन करने की इच्छा रूप लहर[३] में आकर रात्रि-दिन प्रियतम ! प्रियतम ! पुकारती रहती हूं, किन्तु उनका दर्शन नहीं मिल रहा है। इस प्रकार यह संत-सुन्दरी अच्छी[४] नहीं है, व्यथित है। बारंबार प्रभु का स्मरण करते रहने से और सर्व-विश्व-ही-जिनका-शरीर[७] है उनका नाम उच्चारण करते रहने से मेरी सांसारिक ज्ञान[५] वाली बुद्धि[६] चली गई है अर्थात् मुझे वाह्य ज्ञान नहीं रहा है। रोते हुये प्रति वन में उनको खोज रही हूं किन्तु वे नहीं मिल रहे हैं। पता नहीं वे प्रभु किस दिशा[८] में हैं ? उनको खोजते २ थक कर मेरी गति पंगु[१०] की-सी हो गई है अर्थात् भटकना बन्द हो गया है किन्तु उन स्वामी[९] का नाम तो मैं नहीं छोड़ूंगी। हे मेरे सदा के साथी प्रभो ! मेरी जीवन रात्रि इस प्रकार नाम परायण रहने में ही व्यतीत हुई है, अब बताइये कि आप कब दर्शन देंगे ?

१४३ चेतावनी । झूमरा

जागि रे जप जीवन भाई,
काहे सोवे नींद भरि[१], उठि अवधि आई ॥टेक॥
सौंज[२] शिरोमणि सब गई, कछु ठोड़[३] न लाई।
काया कुंदन[४] सारिखी, कुल[५] बादि[६] गमाई ॥१॥
कौन ठाट[७] किस काम को, यहु चित्त न आई।
अंतक[८] ऊभा दम[९] गिने, कछु नांहि भलाई ॥२॥
यहु अवसर बहुरचों नहीं, मन सुन ध्वनि लाई।
रज्जब ढील न कीजिये, उर ऊंघ[१०] उठाई[११] ॥३॥८

हरि स्मरण करने के लिये सावधान कर रहे हैं—अरे भाई ! मोह निद्रा से जागकर जीवनरूप प्रभु का नाम जप। तू गहरी[१] नींद में क्यों सो रहा है, उठ खड़ा हो, अब तेरी आयु-रात्रि की अवधि आ गई अर्थात् आयु समाप्त होने वाली ही है। तेरे मनुष्य शरीर की श्रेष्ठ सामग्री[२] सब विषय भोगों में चली गई है। तूने कुछ भी प्रभु भजन-रूप स्थान[३] में नहीं लगाई। सोने[४] के समान सुन्दर काया थी, वह सब[५] तूने व्यर्थ[६] ही खो दी। कौन सजावट[७] किस काम की होती है, यह बात तेरे चित्त में आई ही नहीं, आती तब तो अपनी आयु प्रभु-भजन में अवश्य लगाता। तूने ऐसा काम किया कि अब तेरी कुछ भी भलाई नहीं है। काल[८] खड़ा २ तेरे श्वास[९] गिन रहा है। अरे मन! यह समय पुनः नहीं आयेगा, यह बात सुन कर तो हृदय से आलस्य-तंद्रा[१०] को हटाकर[११] प्रभु के नाम की ध्वनि लगा, देर मत कर।

१४४ स्मरण-प्रेरणा । त्रिताल ।

रे मन राम रट अघाई[1],
जन्म सफल सुमिरन करि, तन मन लय[2] लाई ।।टेक।।
जागि लागि सकल त्यागि, काल कठिन[3] खाई ।
यहु विचार सुमिर सार, आयु अल्प जाई ।।१।।
विरचि[4] वीर[5] विषय सीर[6], देखो निरताई[7] ।
हरि सँभाल[8] शील पाल, ऐसो तन पाई ।।२।।
साधु साखि नाम भाखि[9], अंतर गति आई ।
रज्जब रुचि राम नाम, आतुर[10] उठि धाई[11] ।।३।।९

१४४-१४५ में प्रभु-स्मरण करने की प्रेरणा कर रहे हैं—अरे मन ! राम के नाम को रट, तू तृप्त[1] हो जायगा । तन, मन और बुद्धि वृत्ति[2] को लगा कर स्मरण कर, तेरा जन्म सफल हो जायगा । मोह निद्रा से जाग और सबका राग त्याग कर हरि-स्मरण में लग, देर करेगा तो क्रूर[3] काल तुझे खा जायगा । यह विचार करके शीघ्र ही विश्व के सार प्रभु का स्मरण कर, तेरी आयु थोड़ी-सी ही शेष रही है, देर करने से यह भी हाथ से चली जायगी । हे भाई[5] विचार[7] करके अपने जीवन की निस्सारता देख और विषय-भोग के साझा[6] से विरक्त[4] होकर अर्थात् विषयों के राग को त्याग कर हरि का स्मरण[8] कर, शील व्रत का पालन कर, ऐसा ही शरीर तुझे मिला है । नाम संबन्धी संतों की साक्षी सुनकर नाम का उच्चारण[9] कर, कुसंग से उठकर शीघ्र[10] दौड़[11] और रुचि पूर्वक राम के नाम का स्मरण करते हुये नाम भीतर हृदय में आकर स्थिर हो सके ऐसा यत्न कर ।

१४५ । पंजाबी त्रिताल

सेवक राम का रे, सद्गुरु की सुन धारि,
राम नाम उर राखिये भाई, आतम तत्त्व उबारि ।।टेक।।
दीन लीन ह्वै लीजिये, जीव की जीवन सोय ।
समय सु सुमिरण कीजिये, यहु अवसर नहिं होय ।।१।।
सांई सन्मुख राखिये, सदा सुरति इकतार ।
ऐसी विधि अघ ऊतरैं, भाई युग युग मंगलचार ।।२।।
भक्ति अखंडित कीजिये, अगम अगोचर ठौर ।
जन रज्जब जगदीश भजि, भाई अति आतुर[1] उठि दौर ।।३।।१०

अरे राम के सेवक ! सद्गुरु की बात सुनकर धारण कर । भाई ! राम नाम को हृदय में रखकर तत्त्वज्ञान द्वारा आत्मा का उद्धार कर । नम्रता पूर्वक हरि-स्मरण में लीन होकर जो जीव की जीवन रूप है, उन प्रभु का साक्षात्कार कर ले । समय रहते हुये भली भांति स्मरण करले, फिर यह अवसर नहीं प्राप्त होगा । अपनी वृत्ति को सदा एक रस प्रभु के सन्मुख रख, विषय राग में मत जाने दे । भाई ! इस प्रकार स्मरण करने से पाप उतर जाते हैं और प्रति युग में मंगल का ही आचरण होता है । सर्व साधारण जनों से अगम-अगोचर समाधि-स्थान में भगवान् की भक्ति कर । भाई ! अति शीघ्र' कुसंगादि से दूर दौड़ कर जगदीश्वर का भजन कर ।

१४६ राम-भजन कठिन । त्रिताल

कठिन काम भजन राम, करिबे को कोई ।
एक आध सुमिर साध, आपै गत होई ।।टेक।।
विकट बाट बहुत घाट, मारग मरि चलना ।
कोटि मांहि एक जाहि, अरि अनन्त दलना ।।१।।
अचल चाल नहीं ख्याल, गवन गुणन न्यारा ।
यहु विचारि आप मारि, चलै चलन हारा ।।२।।
अति अपार हरि दीदार, बीच विघ्न भारी ।
रज्जब कोइ एक जाय, देही गुण मारी ।।३।।११

राम-भजन की कठिनता बता रहे हैं—राम भजन रूप काम बड़ा कठिन है । राम का स्मरण करने में कोई एक आध अर्थात् विरला संत ही अहंकार नष्ट होने पर समर्थ होता है । यह स्मरण रूप मार्ग बड़ा कठिन है । इसमें विघ्न रूप घाटियें बहुत हैं । इस मार्ग में जीवित मृतक होकर चलना पड़ता है । कामक्रोधादि अनन्त शत्रुओं को मारकर के कोटि साधकों में कोई एक ही प्रभु के पास जाता है । अचल ब्रह्म में जाने की चाल खेल नहीं है । गुणों से अलग होकर सुरति द्वारा गमन होता है । चलने वाला उक्त बातों का विचार करके और अपने अहंकार को मारके चलता है । अति अपार हरि के दर्शन करने में भारी विघ्न हैं । कोई एक विरला संत ही सूक्ष्म शरीर के दुर्गुण को नष्ट करके प्रभु के पास जाता है । अन्य नहीं जा सकते ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मारू राग ६ समाप्तः ।

अथ राग भैरू १०

(गायन समय प्रातः काल)

१४७ गुरु-दंड हितकर । तिलवाड़ा

मार भली जो सद्गुरु देय, फेरि बदल और करि लेय ॥टेक॥
ज्यों माटी शिर करै कुंभार, त्यों सद्गुरु की मार विचार ।
भाव भिन्न कछु औरै होय, तातैं रे मन मार न जोय ॥१॥
जैसे लोहा घड़ै लुहार, कीट' काढ़ि कर लेवै सार ।
यूं जे मारि महर करि लेय, तो निपजै फिरि मार न देय ॥२॥
ज्यों सांठी' संकट में आनि, सूधी करै तीरगर जानि ।
मन तोड़न का नाहीं भाव, जे तुच्छ तूट जाय तो जाव ॥३॥
ज्यों कपड़ा दरजी के जाय, टूक टूक करि लेय बनाय ।
त्यों रज्जब सद्गुरु का खेल, तातैं समझि मार सब झेल' ॥४॥१

गुरु की ताड़ना हितकर होती है, यह कह रहे हैं—यदि सद्गुरु ताड़ना दें तो वह बहुत अच्छी है, उस ताड़ना से वे प्रथम अवस्था से बदल कर और ही कर लेते हैं अर्थात् श्रेष्ठ बना देते हैं। जैसे मिट्टी के शिर पर कुम्हार ताड़ना करता है, वैसे ही शिष्य पर सद्गुरु ताड़ना करते हैं ऐसा समझो। कुम्हार मिट्टी को ताड़ना देकर पूजने योग्य कलश बना देता है, वैसे ही गुरु शिष्य को ताड़ना देकर श्रेष्ठ बना देते हैं। ऊपर से तो वे ताड़ना देते हैं किन्तु भीतर भाव कुछ और ही होता है अर्थात् भीतर से हित चाहते हैं। इसलिये सद्गुरु की ताड़ना को ताड़ना मत समझो। जैसे लुहार लोहे को घड़ता है तब उसका मैल' निकाल कर सार लोहा ही लेता है। ऐसे गुरु की ताड़ना को दया करके समझे तो श्रेष्ठ बन जाता है, फिर गुरु ताड़ना नहीं देते। जैसे तीर बनाने वाला तीर की लकड़ी' को सीधी करने के लिये कष्ट में डालता है अर्थात् सीधी करने का यत्न करता है, तब उसके मनमें उसे तोड़ने का भाव नहीं होता किन्तु यदि वह कमजोर होने से टूट जाय तो टूट जाय, वैसे ही सद्गुरु शिष्य को सुधारने के लिये ताड़ना देते हैं किन्तु शिष्य तुच्छ हो तो ताड़ना से रुष्ट होकर गुरु को त्याग देता है। जैसे कपड़ा दरजी के जाता है तब वह उसके टूक २ करके उसे सुन्दर बना देता है। वैसे ही सद्गुरु का ताड़ना रूप खेल है। इसलिये ऐसा समझ कर गुरु की सब ताड़ना सहन' करना चाहिये।

१४८ निरोध । त्रिताल

ऐसा सद्गुरु बंध[1] बताया, आपा मेटि मिले हरि राया[2] ॥टेक॥
ज्यों अति[3] नींद मिलै मन आई, तब मनकी रामति[4] सब जाई ॥१॥
यथा बघूले आँधी मेल, तब ताका भागा भ्रम खेल ॥२॥
ज्यों पाला गलि पानी माँहि, तब रज्जब दूजा कुछ नाँहि ॥३॥२

सद्गुरु प्रदत्त निरोधरूप साधन का फल बता रहे हैं—सद् गुरु ने हमें ऐसा मन निरोध[1] करना रूप साधन बताया है, जिससे हम अपने अहंकार को मिटा कर विश्व के राजा[2] हरि से जा मिले हैं। जैसे गाढ[3]-नींद रूप सुषुप्ति में मन विषयों से आकर अपने कारण में मिल जाता है, उस समय तन और मन दोनों की ही सब क्रीड़ा[4] विलय हो जाती है। और जसे बघूला आंधी में मिल जाता है तब उसका आंधी से भिन्न होने का भ्रम हृदय से भाग जाता है तथा जैसे बर्फ गलकर जल में मिल जाता है तब जल से दूसरा कुछ भी नहीं भासता, वैसे ही हमारा हरि से अलग होने का भ्रम रूप खेल समाप्त हो गया है। अब ब्रह्म भिन्न दूसरा कुछ नहीं भासता, ब्रह्म ही भासता है।

१४९ निर्गुण भक्ति प्रेरणा । श्रद्धा

सेय[1] निरंजन दीन दयाल, पेंड परसि[2] पूजी[3] सब डाल ॥टेक॥
शिव विरंचि सब देव दयाल, जे तैं सेया श्रीगोपाल ॥१॥
नबी[4] साथ सब पीर पसारा, सेवक सह[5] का सबहु पियारा ॥२॥
सिध साधक सबहुन सुख पाया, जे तैं जीव जगतपति ध्याया[6] ॥३॥
मूल बिना डालों सचु[7] नांहीं, रज्जब समझ लागि रहु मांहीं ॥४॥३

निर्गुण भक्ति करने की प्रेरणा कर रहे हैं—दीन दयालु निरंजन राम की भक्ति[1] कर, जैसे पेड़ पकड़ने[2] पर सभी डालें पकड़ी[3] जाती हैं, वैसे ही निरंजन राम की उपासना करने पर सभी की उपासना हो जाती है। यदि तूने श्री गोपाल परमात्मा की भक्ति करली तो तेरे पर शिव, ब्रह्मा आदि सब देवता दयालु होकर रहेंगे। पैगम्बर[4] के साथ सब पीरों का विस्तार है, उस पैगम्बर[5] का सेवक सभी पीरों को प्यारा होता है। यदि जीव! तूने जगत् पति प्रभु की उपासना[6] करली तो, उससे सभी सिद्ध-साधक सुख पायेंगे अर्थात् प्रसन्न होंगे। विश्व के मूल निरंजन राम की उपासना बिना देवतादि रूप डालों की उपासना से ब्रह्मानन्द[7] नहीं मिलता, यह समझ कर अपने भीतर स्थित निरंजन राम की ही भक्ति में लगा रह।

१५० कलियुग । नकटा दादरा

कलियुग कपट कर्म का रूप, पहरो[1] पाखंडी भुवि[2] भूप ॥टेक॥
पाप प्रधान लोभ सोइ लसकर[3], अंग[4] अज्ञान अनंत उमराव[5] ।
प्रपंच पाण[6] आण[7] अनरथ की, भरम भुवन बरतै यहु भाव ॥१॥
कपटी केलि[8] करै कलि मांहीं, खोटी खलक[9] खुशी तिन संग ।
झूठ सु मीत सांच सोइ वैरी, ऐसी विधि कलियुग का रंग ॥२॥
चाम दाम चालै इहिं अवसर, कोई बणिज[10] करो संसार ।
खोटे खरे न परखे प्राणी, गुण इन्द्री गरजै सु विकार ॥३॥
लंपट चोर चौधरी दीसै, ठग ठकुराई कर हि सु आज ।
जन रज्जब कलि युग सो ऐसा, कैसे सरै[11] सु आतम काज ॥४॥४

कलियुग का परिचय दे रहे हैं—कलियुग कपट कर्म रूप है, अब पृथ्वी[2] पर इस पाखंडी राजा का ही समय[1] है। पाप ही उसका प्रधान मंत्री है अर्थात् कलियुग में पाप की ही प्रधानता है। लोभ ही इसकी सेना[3] है। अज्ञान जन्य अनन्त लक्षण[4] ही सामंत[5] हैं। प्रपंच ही इसकी शक्ति[6] है। अनर्थ ही इसकी दुहाई[7] फिरना है। भ्रमरूप भवन में स्थिर रहकर उक्त प्रकार के भावों से बर्ताव करता है। इस कलियुग में कपटी लोग ही क्रीड़ा[8] करते हैं और उनके साथ संसार[9] के बुरे प्राणी ही प्रसन्न रहते हैं। भलों को तो क्लेश रहता है। कलियुग में झूठ को मित्र और सत्य को वैरी समझते हैं। इस प्रकार कलियुग का रंग-ढंग है। इस समय संसार में कोई भी व्यापार[10] करे, उसका काम चाम और दाम से ही चलता है अर्थात् चाम और दाम को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इस समय प्राणी खोटे-खरे की परीक्षा नहीं करते। गुण, इन्द्रिय और विकार गर्जते रहते हैं, परीक्षा करने का अवकाश ही नहीं मिलता। आज विषय लंपट और चोर चौधरी बने हुये दीखते हैं और ठग ठकुराई करते हैं। यह कलियुग ऐसा है, तब आत्मा का मुक्ति रूप कार्य कैसे सिद्ध[11] हो ?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भैंरू राग १० समाप्तः।

अथ राग ललित ११

(गायन समय प्रातः ३ से ६)

१५१ गुरु उपकार । त्रिताल

गुरु गुण का कछु अंत न पार, अलप बुद्धि का करूं विचार ॥टेक॥
लांबी मींच मांहि ते काढ़े, अमर अभय पुरि अस्थल चाढ़े ॥१॥
दुख दरिया दूजो दिशि टाले, सुख के संघ[1] माहि ले डाले ॥२॥

विविध विलास विषय फँद जारे, ये कारज गुरु किये हमारे ॥३॥
भांति भांति के काटे साल[2], जन रज्जब गुरु किये निहाल[3] ॥४॥१

गुरु का उपकार दिखा रहे हैं—गुरु के गुणों का कोई पार नहीं है, वे अनन्त हैं। तब उनके पार लेने का मैं अल्प बुद्धि क्या विचार कर सकता हूं। गुरु ने दीर्घ काल से मारने वाली मृत्यु के मुख से मुझे निकाल लिया है और समाधि रूप अमर-अभयपुरी के अद्वैत निष्ठा रूप स्थान में चढ़ा दिया है। संसार रूप दुःख समुद्र से दूसरी ओर हटाकर सुख समूह[1] ब्रह्म स्वरूप में डाल दिया है अर्थात् स्थित कर दिया है। नाना भाँति विषय-भोग-वासना रूप फंद को जला दिया है। गुरु ने हमारे ये कार्य किये हैं। नाना भांति के दुःख[2] नष्ट करके गुरुदेव ने हमें कृतार्थ[3] कर दिया है।

१५२ विनय। पंजाबी त्रिताल

विनती सुनो सकल पति सांई, तो सेवक पहुँचे तुम तांई ॥टेक॥
चिंता मणि प्रभु चित निवारो,
चरण कमल चित अंतर धारो ॥१॥
कामधेनु कल्पतरु केशो, अन्तर्यामी भानि अंदेशो[1] ॥२॥
जन रज्जब को दीजे दादि[2], तुम बिन और न आवे यादि ॥३॥२

प्रभु से विनय कर रहे हैं—हे सबके स्वामी प्रभो! मेरी विनय सुनिये तब ही मैं सेवक आपके पास पहुँच सकूंगा। हे चिन्तामणि रूप प्रभो! मेरी चिन्ता दूर कीजिये, अपने चरण-कमल मेरे हृदय में रखने की कृपा कीजिये। केशव! आप भक्त के लिये काम धेनु तथा कल्पतरु रूप हैं, मेरी दुविधा[1] नष्ट कीजिये। आप कृपालु कहलाते हैं। अतः ऐसी कृपा करना रूप न्याय[2] मुझे प्रदान करें कि—आपके बिना मुझे और कोई भी याद नहीं आवे।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित ललित राग ११ समाप्तः

अथ राग विलावल १२

(गायन समय प्रातः ६ से ९)

१५३ नाम महिमा। त्रिताल

जिन जिन जन हरि नाम रट्यो,
आदि अंत मधि मुक्त भये सब,
अखिल[1] अभय धन प्राण[2] अट्यो[3] ॥टेक॥

आनन्द अधिक गये अघ[४] ऊतर,
उर अंतर यह भाव ठट्यो[५] ।
सदा सुखी सांई से सन्मुख,
प्रेम पिया सौं नांहि घट्यो ।।१।।
अद्भुत बात कहे को मुखतैं,
हरि हीरो हिय हेम[६] जट्यो ।
मंगल मुदित[७] मध्य मन मांहीं,
दुख दीरघ दिल दूरि छट्यो[८] ।।२।।
कुशल कल्याण जीव के युग युग,
जम को कागर[९] कर्म कट्यो ।
जन रज्जब जग में नहिं आवे,
जप जगदीश संसार सट्यो[१०] ।।३।।१

१५३-१५५ में प्रभु नाम की महिमा कह रहे हैं—सृष्टि के आदि मध्य अंत में जिन-जिन जनों ने हरि का नाम रटा है, वे प्राणी[२] सबसे[१] अभय करने वाले ज्ञान-धन को कमा[३] कर मुक्त हो गये हैं। नाम जपने वाले के हृदय से पाप[४] हट जाते हैं और बहुत आनन्द प्राप्त होता है। जिनके हृदय में यह नाम जप का भाव बन[५]-गया है, वे प्रभु के सन्मुख रहते हुये सदा सुखी रहते हैं। उनका प्रभु से प्रेम कम नहीं होता है, बड़ी आश्चर्य की बात है, मुख से कौन कह सकता है ? उनके हृदय में प्रभु का नाम ऐसे जटित हो जाता है, जैसे सुवर्ण[६] में हीरा। उनके भीतर मंगल का ही व्यवहार होता है, मन में प्रसन्न[७] रहते हैं। जन्मादिक रूप महान् संसार-दुःख उनके हृदय से अलग[८] हो जाता है। यमराज के पास रहने वाला जीव के कर्मों का कागज[९] फट जाता है और जीव का कल्याण होकर प्रति युग में आनन्द ही रहता है। संसार में मिला[१०]-हुआ प्राणी भी जगदीश्वर का नाम जप कर संसार से मुक्त हो जाता है। फिर जन्म लेकर संसार में नहीं आता।

१५४। एकताल

नाम निरंजन निर्मला, नर के मल धोवे ।
सकल पतित पावन किये, कोइ जाति न जोवे[१] ।।टेक।।
जैसे जल दल[२] जगत की, तिस क्षुधा सु मेटे ।
तृप्त करे तिहुँ लोक में, जा जीवहि भेंटे ।।१।।

ज्यों औषधि दुख को दवैं[3], सबहिन सुखदाई ।
व्यथा विलय वपु विमल ह्वै, पछि[7] राखि जु खाई ॥२॥
ज्यों वोहिथ[4] बूझै नहीं, कोइ वर्ण विचारा ।
जन रज्जब कुल[5] कोर[6] के, सबको करै पारा ॥३॥२

निरंजन राम का नाम निर्मल है, जप करने वाले नर के पाप को धो डालता है । नाम कोई जाति आदि को नहीं देखता,[1] जपने वालों को सभी को पवित्र करता है । जैसे अन्न[2]-जल जगत् के प्राणियों की भूख-प्यास मिटाते हैं, वैसे ही नाम चिन्तन रूप साधन तीनों लोकों में जिसको प्राप्त होता है, उसे ही तृप्त कर देता है और जैसे औषधि रोग को नष्ट[3] कर के सभी को सुख देती है । जो पथ्य[7] रखकर खाता है, उसका दुःख नष्ट होकर शरीर निर्मल हो जाता है । वैसे ही जो सदाचार से नाम लेता है उसका हृदय निर्मल होकर जन्मादि दुःख नष्ट हो जाते हैं । जैसे जहाज[4] कोई से भी जाति-वर्ण नहीं पूछता, पार होने के लिये दरिया के तट[6] पर आये हुये सभी[5] को पार कर देता है । वैसे ही नाम जाति आदि का विचार नहीं करता, जो भी जपते हैं, उन सबको संसार से पार कर देता है ।

१५५ । त्रिताल

महिमा सुनिये नाम की, साधों श्रुति भाखी ।
जहां तहां संकट पड़े, सुमिरन की राखी ॥टेक॥
प्रथम पेख प्रह्लाद को, निज निरखो नामा ।
भृत[1] भंजन[5] की भीर[2] की, भय भंजन रामा ॥१॥
नाम सु दीपक राग है, जिहिं ज्योति प्रकाशै ।
आन[6] कष्ट कुल[3] रागिनी, तिन तिमिर न नाशै ॥२॥
नाम सु नरहरि[4] जीव है, तन आतम रामा ।
रज्जब जप तप योग यज्ञ; यह होय न कामा ॥३॥३

संतों ने और वेद की श्रुतियों ने भी नाम की महिमा कही है, उसी नाम की महिमा सुनो । जहां तहां भक्तों में दुःख पड़ता है, वहां २ प्रभु ने नाम स्मरण की ही टेक रखी है अर्थात् नाम स्मरण करने वाले भक्तों की सहायता की है । प्रथम प्रहलाद को ही देखो, निजनाम को जपते देखकर प्रभु ने भक्त[1] को मारने[5] वाले की दशा दुःख[2] मय कर दी थी अर्थात् प्रहलाद के पिता को मार दिया था । राम अपने भक्त का भय नष्ट करते ही हैं । जिससे ज्योति प्रकट

होती है, उस दीपक राग के समान नाम है। दूसरे साधन-कष्ट अन्य सब रागिनियों के समान हैं। जैसे अन्य[1] ६ सब[3] रागों से अंधेरा दूर नहीं होता, वैसे ही अन्य साधनों से हृदय का अज्ञान दूर नहीं होता। भगवान्[4] का नाम तो जीव के समान है। अन्य साधन शरीर के समान हैं। जैसे जीव के बिना शरीर से कोई काम नहीं होता, वैसे ही आत्म-स्वरुप राम के नाम बिना, जप, तप, योग, यज्ञादिसे यह मुक्ति रूप कार्य सिद्ध नहीं होता।

१५६ हरि प्राप्ति पर विकार नष्ट। चौताल

हरि हिरदै आया तबै, जब और न आवै।
देख दिवाकर[1] के उदय, तम ठौर न पावै ॥टेक॥
चंदण चील न ठाहरै, जब गरुड़ गलारै[2]।
ऐसे अरि उर क्यों रहै, प्रभुजी पद धारै ॥१॥
सिंह शब्द सुन जात है, शारंग[3] सब डारा[4]।
त्यों गुण गण ग्रासै[5] सही, हरि हेरि पियारा ॥२॥
अग्नि उदय होते उठै, गुण भार अठारा।
रज्जब विलय विकार यूं, मिले राम पियारा ॥३॥४

हरि प्राप्त होने पर विकार नष्ट हो जाते हैं, यह कह रहे हैं—जब हृदय में हरि बिना अन्य कुछ भी नहीं आवे तब समझना चाहिये कि—हृदय में हरि पधार गये हैं। देखो, सूर्य[1] के उदय होने पर अंधेरे को रहने के लिये स्थान नहीं मिलता। वैसे ही हृदय में हरि आने पर अन्य विकारों को स्थान नहीं मिलता। सर्प को खाने के लिये चील चन्दन पर बैठी हो किन्तु वहां गरुड आकर बोलने[2] लगे तो चील नहीं ठहरती, उड़ जाती है। वैसे ही हृदय में हरि चरण रखते हैं तब कामादिक शत्रु कैसे रह सकते हैं? जैसे सिंह का शब्द सुनते ही मृगों[3] का सब यूथ[4] भाग जाता है। वैसे ही परम प्रिय हरि को देखकर साधक दुर्गुण समूह को नष्ट[5] कर डालता है। जैसे अग्नि के प्रकट होने से अठारह भार वनस्पति जल जाती है, वैसे ही प्यारे राम के मिलने पर गुण-विकार नष्ट हो जाते हैं।

१५७ श्लाघनीय साधु। त्रिताल

सोई साधु सराहिये, जो शक्ति[1] न राता ॥टेक॥
प्रथम पंच पावन करै, परलोक सुं साधै।
सुखदाई सब आतमा, अगाध अराधै ॥१॥

राग द्वेष राखै नहीं, गुण अगुण न्यारा ।
परम पुरुष पूरे मतै[२], परमेश्वर प्यारा ॥२॥
भेष भरम भासे नहीं, उर आतम दृष्टी ।
पख पाने[३] सु प्रपंच ले, सब डारे पिष्टी[४] ॥३॥
स्वर्ग नरक संशय नहीं, तीरथ व्रत त्यागी ।
आदि अंत सब शोधकर[५], लय[६] अविगत[७] लागी ॥४॥
रज्जब राम पहिचान ले, जो जोनि न आया ।
सारा[८] साधु सु सेइये, गुरु ज्ञान लखाया ॥५॥५

श्लाघनीय साधु का लक्षण बता रहे हैं— उसी साधु की सराहना करनी चाहिये—जो माया[१] में अनुरक्त न हो । पहले पंच ज्ञानेन्द्रियों को पवित्र करे । मुक्ति रूप परलोक का साधन करे । सब जीवात्माओं को सुख दे । अगाध ब्रह्म की उपासना करे । हृदय में राग-द्वेष नहीं रक्खे । गुण-अवगुणों से अलग रहे । परम पुरुष प्रभु के रहस्यपूर्ण सिद्धान्त[२] में स्थित रहे । प्रभु को प्यारा हो । भेषादि भ्रम का आग्रह जिसमें नहीं दिखाई दे । हृदय में आत्म दृष्टि रक्खे । पक्षपात को भली भांति प्रपंचरूप जानले[३] और सब प्रकार की पक्ष को पीस[४] डाले अर्थात् नष्ट करदे । स्वर्ग-नरक संबंधी संशय नहीं रक्खे । तीर्थ-व्रतादि का त्यागी हो अर्थात् तीर्थ-व्रतादि से मुक्ति की आशा न करे । जीवन को आदि से अंत तक निस्सार विचार[५]-कर ब्रह्म[७] में ही जिसकी वृत्ति[६] लगी हो । जो राम को पहचान कर पुनः जन्म धारण नहीं करे । गुरु-ज्ञान द्वारा वही पूरा[८] साधु देखने में आया है, उसकी सेवा करना चाहिये ।

१५८ पूरा साधु सेवनीय । धीमा त्रिताल

सारा[१] साधु सु सेइयें[२], परमेश्वर प्यारा ।
आदि अंत मधि एक रस, इन्द्रियों असवारा ॥टेक॥
फूटे[३] में सारा[४] रहै, बहते में रहता[५] ।
ऐसे अगम अतीत सौं, अंकूर सु लहता[६] ॥१॥
अंजन[७] मांहि निरंजना, निर्गुण गुण मांहीं ।
भगवंत भक्ता एक सो, भल भाग्य मिलांहीं ॥२॥
पिंड ब्रह्माण्ड परे रहै, इल[८] मांहि अकेला ।
रज्जब पुण्य सु पाइये, मन मुनिवर मेला ॥३॥६

पूरे साधु की सेवा करने की प्रेरणा कर रहे हैं—परमेश्वर के प्यारे पूरे[1] साधु की सेवा[2] करनी चाहिये। जो जीवन के आदि, मध्य और अंत तक एक रस इन्द्रियों पर सवार रहता है अर्थात् इन्द्रियों को अपने अधीन रखता है। नाशवान[3] स्थूल शरीर में रहकर भी अपने को अविनाशी[4] समझता है। प्रवाहशील संसार में रहकर भी अपने आत्मा को स्थिर[5] समझता है। ऐसे अगम ब्रह्म में वृत्ति स्थिर रखने वाले संत से प्राणी ज्ञान रूप सुन्दर अंकुर प्राप्त[6]-करता है। जो मायिक[7] संसार में रहकर भी निरंजन रूप है गुणों में रहकर भी निर्गुण है, वह भक्त और भगवान् दोनों एक ही हैं। ऐसे संत श्रेष्ठ भाग्य से ही मिलते हैं। शरीर और ब्रह्माण्ड के भोगों की आसक्ति से दूर रहता है। पृथ्वी[8] में सबके साथ रहकर भी विचार शक्ति से एकाकी रहता है। अरे मन! ऐसे मुनिवर का मिलन पुण्य से ही प्राप्त होता है। मिलने पर उनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। १५९ पतिव्रता। धीमाताल

पतिव्रता के पीव बिन, कोइ पुरुष न जाया[1]।

एक मनी उर एक सौं, मन अनत[2] न लाया ॥टेक॥

ब्रह्म विन्दु को वश करै, वामा[3] व्रत धारी।

सदा सुहागिन संग रहै, परमेश्वर प्यारी ॥१॥

प्रेम नेम न्यारा नहीं, निज निर्गुण नाहा[4]।

अगम निगम[5] सुन्दरि करै, सत शील सु लाहा[6] ॥२॥

आज्ञा कारी आतमा, अविनाशी लागै।

जन रज्जब रत[7] राम सौं, पूरण बड़ भागै ॥३॥७

पतिव्रता संत सुन्दरी का परिचय दे रहे हैं—पतिव्रता के विचार से अपने पति के विना कोई भी पुरुष नहीं उत्पन्न[1] हुआ है। वह एक पति में ही मन रखती है। उसके हृदय में एक पति ही बसता है। दूसरे[2] में मन नहीं लगाती है। पतिव्रत को धारण करने वाली संत-सुन्दरी[3] ब्रह्म-रूप विन्दु को अपने अधिकार में करती है अर्थात् भीतर रखती है। परमेश्वर की प्यारी सदा सुहागिनी संत-सुन्दरी प्रभु के साथ ही रहती है। उसका प्रेम और नियम अपने निर्गुण ब्रह्म रूप पति[4] से अलग नहीं होता अर्थात् प्रभु में ही प्रेम करती है और प्रभु प्राप्ति के साधन रूप नियमों का ही पालन करती है। वेद[5] से भी जो अगम है, उस ब्रह्म को सच्चे शील व्रत से संत-सुन्दरी प्राप्त[6] करती है। गुरु की आज्ञा का पालन करने वाली जीवात्मा ही उक्त प्रकार पतिव्रत से अविनाशी ब्रह्म के चिन्तन में लगती है। जो इस प्रकार निरंजन राम में अनुरक्त[7] होती है, वह बड़ भागिनी जीवात्मा पूर्ण ब्रह्म को ही प्राप्त होती है।

१६० विनय । त्रिताल

हेरत[1] हूं हरि नाम तुम्हारो,
दीन दयाल दया कर दीजे, संतन जीवन प्राण अधारो ।।टेक।।
जीवन बिन जिव कैसे जीवै, ज्यों पानी बिन मीन विचारो ।
चातक चिन्त[2] रही घन वर्षा, तृषावन्त[3] पीव पिव पुकारो ।।१।।
कारज कहा[4] सरै कहु कैसे, जे सीप हि नहिं स्वाति सहारो ।
मन मोती कैसे कर निपजे, घन समुद्र अति आहि[5] पसारो[6] ।।२।।
बालक दूध वेगि नहिं पावे, देही दग्ध होत सु प्रहारो[7] ।
जन रज्जब कैसे करि जीवै, नाम बिना यह हाल हमारो ।।३।।८

निरंतर निज नाम स्मरण-प्राप्ति के लिये विनय कर रहे हैं—हरे ! मैं आपके निज नाम के निरंतर स्मरण का साधन खोज[1] रहा हूं । दीन दयालो ! दया करके संतों का जीवन रूप और मेरे प्राणों का आधार रूप अपना निज नाम का निरंतर स्मरण मुझे प्रदान करें । जैसे जल बिना मच्छी जीवित नहीं रह सकती है, वैसे ही विचार करो, जीवन बिना जीव कैसे जीवित रहेगा ? चातक पक्षी के मन में बादल-वर्षा का ही चिन्तन[2] रहता है, वह प्यासा[3] पक्षी पीव-पीव पुकारता रहता है । वैसे ही मैं निज नाम के निरंतर स्मरण के लिये पुकार रहा हूँ । यदि सीप को स्वाति विन्दु का सहारा न मिले तो कहो, उसका क्या[4] कार्य सिद्ध होगा ? और कैसे होगा ?, बादल और समुद्र का जल विस्तार[6] तो बहुत अधिक है[5] किन्तु स्वाति बिना मोती किस प्रकार उत्पन्न होगा ? वैसे ही नाम तो बहुत हैं किन्तु निज नाम के निरंतर स्मरण बिना मन कैसे श्रेष्ठ होगा ? यदि माता बच्चे को समय पर शीघ्र दूध नहीं पिलावे तो, उसकी जठराग्नि उसके शरीर को जलायेगी और शरीर पर कमजोरी का भारी आघात[7] होगा । आपके निज नाम के निरंतर स्मरण बिना वैसी ही दशा हमारी है । कहिये प्रभो । हम किस प्रकार जीवित रहेंगे ?

१६१ चेतावनी । कहरवा

जागो जागो जीव जन्म जाय, कौन नींद घोली[1] ।
भजिये भगवन्त राय, तजिये माया उपाय ।
ऐसे तन ठौर लाय, देखो दृग खोली ।।टेक।।
सद्गुरु की सुनहु कानि[2], साँची जीय[3] मांहि मानि ।
होती है परम हानि, हारो निर्मोली[4] ।।१।।

ऐसो अवसर विहाय[५], करिले कछु भक्ति भाय[६] ।
कांधे पर यम रिसाय, शीश सांगि[७] रोली[८] ।।२।।
सूते हो कवन हेत, आये देखो न श्वेत ।
टूटहिंगे मूंड[९] बेंत, छाड़ हु मति भोली ।।३।।
लालच किंहि रहे लागि, दह[१०] दशि यम दीन्हो आगि ।
जन रज्जब जाग भागि, होती है होली ।।४।।९

कल्याणार्थ साधन करने के लिए सचेत कर रहे हैं—अरे जीवो ! मोह निद्रा से जागो शीघ्र जागो, तुम्हारा जन्म समाप्त होने जा रहा है । तुम्हारी आँखें किसलिये निद्रा से घुल[१] रही हैं ? विश्व के राजा भगवान् का भजन करो, माया प्राप्ति के साधनों को त्यागो । तुम्हारे ऐसे सुन्दर शरीरों को प्रभु के भजन रूप स्थान में लगाओ अर्थात् भजन करो । विचार रूप आँखें खोल कर देखो, तुम्हारे ये शरीर नष्ट होने वाले ही हैं । सद्गुरु की वाणी श्रवण[२] लगाकर सुनो और सत्यमान कर हृदय[३] में धारण करो । देखो, तुम्हारी परम हानि हो रही है, तुम अमूल्य[४] मनुष्य देह को खो रहे हो । ऐसा सुन्दर समय तुम्हारा व्यर्थ जारहा[५] है । अरे जो बचा है उसमें तो श्रद्धा[६]पूर्वक कुछ भगवान् की भक्ति करलो । यमराज रुष्ट होकर तुम्हारे कंधे पर खड़ा है और तुम्हारे शिर पर अपना भाला[७] डालने[८]-वाला ही है, किसलिये सो रहे हो ? देखते क्यों नहीं हो ? तुम्हारे केश श्वेत हो आये हैं । भगवान की भक्ति नहीं करने से तुम्हारे शिर[९] यमदूतों की बेंतों से टूटेंगे । इसलिये शीघ्र ही भोली बुद्धि का त्याग करो । तुम किस लालच में लग रहे हो ? देखो तो सही यमराज ने दशों[१०] दिशाओं में मृत्युरूप अग्नि लगा दिया है । सब ओर होली हो रही है अर्थात् मानव मरने पर जलाये जा रहे हैं । अतः मोह निन्द्रा को त्याग कर शीघ्र भगवान की शरण में जाने के लिये भागो अर्थात् भजन करो ।

१६२ भक्ति जाति न देखे । धीमा त्रिताल

भक्ति जाति को क्या करै, सुनियो रे भाई ।
बेटी सारे[१] बाप के, भेजै तहँ जाई ।।टेक।।
नाम कबीर सु कौन थें, कुण रांका बाका ।
भक्ति समानी[२] सब घर हु, तज कुल का नाका[३] ।।१।।
लघु कुल द्योग् दीप थे, कीता सु कणेरी ।
भक्ति भेद राख्या नहीं, तिन के घर चेरी ।।२।।

विदुर बांदरा[४] वंश थे, सो भक्ति न छोड़े ।
नीच ऊंच देखे नहीं, मन माने मोड़े[५] ॥३॥
आदि मिली जैदेव को, रैदास समाणी[६] ।
सो दादू घर पैठतों, क्यों रहे निमाणी[७] ॥४॥
रज्जब रोकी ना रहै, आज्ञा ले आई ।
राव रंक सम भक्ति के, भाव धार्यों पाई ॥५॥१०

भक्ति जाति को नहीं देखती, यह कह रहे हैं—हे भाइयो ! सुनो, भक्ति जाति को देखकर क्या करेगी ? वह तो जैसे बेटी पिता के आश्रय[१] होती है, पिता भेजे वहां ही जाती है, वैसे ही भक्ति भगवान् के आश्रय है, भगवान् भेजते हैं वहां ही जाती है । नामदेव कौन थे ? छींपा । कबीर कौन थे ? जुलाहा । रांका-बांका कौन थे ? कुम्हार, किन्तु भक्ति कुल को न देखकर[३] उक्त सभी के हृदय रूप घर में प्रवेश[२] करके रही है । द्योगू मीणा थे । दीपू कायस्थ थे । कीता कनेरी थे । ये सब छोटे कुल के ही थे । किन्तु भक्ति ने कुलका भेद नहीं रक्खा[३], उनके घर दासी के समान सदा स्थिर रही है । विदुर दासों[४] के वंश में थे, उनको भी भक्ति ने नहीं छोड़ा था । भक्ति ऊंच-नीच को नहीं देखती है, भक्त के द्वार[५] पर ही उसका मन संतोष मानता है । आदि ब्राह्मण जाति के जयदेव भक्त को प्राप्त हुई और अंतिम चमार जाति के रैदास के हृदय में भी प्रवेश[६] करके रही । वह दादू के हृदय घर में प्रवेश करके निम्न कैसे रह सकती है ? भक्ति भगवान् की आज्ञा लेकर आई है, वह किस के रोकन से नहीं रुकती । भक्ति के राजा-रंक दोनों समान हैं । जिनने भगवान् संबन्धी श्रद्धा-भाव हृदय में धारण किया है, उन्होंने ही भक्ति प्राप्त की है, वे चाहे कोई भी हों ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विलावल राग १२ समाप्तः ।

अथ राग सोरठ १३

(गायन समय रात्रि ९ से १२ वा वर्षा ऋतु)

१६३ मनोपदेश । त्रिताल

मन रे राम न सुमर्यो भाई, जो सब संतन सुखदाई ॥टेक॥

पल पल घड़ी पहर निशि वासर[१], लेखे में सो जाई ।
अजहुं अचेत[२] नैन नहिं खोलत, आयु अवधि सो आई ॥१॥

वार पक्ष वर्ष बहु बीते, कहि धौं[3] कहा कमाई ।
कहत हि कहत कछू नहिं समझत, गति[4] एको नहिं पाई ॥२॥
जन्म जीव हार्‌यो[5] सब हरि बिन, कहिये कहा बनाई ।
जन रज्जब जगदीश भजे बिन, दह दिशि सौंज[6] गमाई ॥३॥१

मनको उपदेश कर रहे हैं—अरे भैया मन ! जो सब संतों को सुख दाता हैं, उन राम का स्मरण तूने नहीं किया, प्रत्येक क्षण, घड़ी, पहर, रात्रि, दिन[1], तेरे व्यर्थ ही जा रहे हैं, सो सब तेरे जीवन के हिसाब में आयेंगे । तुझे पूछा जायगा कि-तूने ये व्यर्थ क्यों खोये । अरे असावधान[2] ! अब भी तू अपने विचार-नेत्र नहीं खोलता । मोह-निद्रा में सोया पड़ा है । तेरी आयु की जो अवधि है सो भी समीप आ गई है । बहुत वार, पक्ष और वर्ष व्यतीत हो गये हैं, कह तो सही[3] तूने क्या कमाया है ? बारंबार कहने पर भी तू कुछ नहीं समझता । तेरी एक भी चेष्टा[4] का ठीक पता नहीं मिला है, तू क्या करना चाहता है ? तूने हरि चिन्तन बिना मुझ जीव का मनुष्य जन्म व्यर्थ ही खो[5]-दिया है । इससे अधिक क्या बात बनाकर कहैं, तूने जगदीश्वर का भजन करे बिना ही दश इन्द्रियों के विषय रूप दश दिशाओं में मनुष्य शरीर रूप सामग्री[6] खोदी है ।

१६४ मनोपदेश । कहरवा

रे सुन कोली प्राण[1] हमारा, तू करिले काम सँवारा[2] ।
करगहि[3] बैठि गजी[4] बुणि लीजे, बढ़ता[5] भला तुम्हारा ॥टेक॥
नौ सौ पूरि[6] निरंतर ताणां, भाव भक्ति करि भेवो[7] ।
मांडी महर[8] तेल तत्त्व निर्मल, प्रेम छांट दे लेवो ॥१॥
बैठि विचार सुनि फणी[9] फहम[10] की, सर्व सूत भरि लीजे ।
मन चित लाय कृत्य[11] करि कोली, तार न टूटण दीजे ॥२॥
बाणें बाहि[12] वस्तु वित[13] ऊंचा[14], ज्यों[15] उस हाटि विकावै ।
लेऊ राम महा अति चौकसि[16], और न नीड़ै[17] आवै ॥३॥
ऐसी समझि[18] बुणी रे बुणकर, फेरि उलटि नहिं आवै ।
रज्जब रहै राम घर रेजा, दर्श दाति[19] वित[20] पावै ॥४॥२

मन को ज्ञान रूप वस्त्र बनाने का उपदेश कर रहे हैं—अरे हमारे मन[1] रूप कोली ! तू हमारी बात सुनकर अपने ज्ञान रूप वस्त्र बनाने का काम अच्छी[2] प्रकार कर । शरीर रूप करघा[3] (वस्त्र बनाने का स्थान) पर बैठकर ज्ञान रूप वस्त्र[4] बुण ले । इससे तेरे भले पन की वृद्धि[5] होगी । निरंतर नौ सौ नाड़ियों को ताणाँ में लगा[6] और भाव-भक्ति रूप

जल से भिगो[७]। हरि-गुरु दया[८] की मांडी बना और उसमें निर्मल तत्त्व विचार रूप तेल डाल कर ताणाँ के सूत में लगा तथा प्रेम रूप जल से छाँट २ कर काम में ले। विचार पूर्वक बैठ कर बुद्धि[१०] रूप नलिका[९] में साधन करने की भावना रूप बाणाँ का सूत भर ले। अरे मन रूप कोली ! सुन, पीछे चित्त लगाकर काम[११] कर, साधन-भावना रूप तार टूटने मत दे अर्थात् निरंतर साधन कर। बाणे के तारों को ताणे में डालकर[१२] ब्रह्म साक्षात्कार रूप श्रेष्ठ[१४] धन[१३] देने वाली वस्तु तैयार कर, जिससे[१५] उस ब्रह्म की निर्द्वन्द्वावस्था रूप हाट पर बिक सके। निरंजन राम ही बड़ी सावधानी[१६] से ग्रहण करें और कोई भी समीप[१७] न ही आवे। संशय विपर्य्यय रहित ऐसी बुद्धि[१८] से निर्दोष ज्ञान रूप वस्त्र बुण जिसके बुणने पर जीवात्मा पुनः लौटकर संसार में नहीं आवे। जीवात्मा को दर्शन दान[१९] रूप धन[२०] मिले अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार हो और ज्ञान रूप रेजा (थान) राम के स्वरूप-घर में ही रहे, राम से अलग नहीं रहे। मुक्तावस्था में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, तीनों एक ही हो जाते हैं।

१६५ प्रभु-सर्वज्ञता। तिलवाड़ा

मेरो नाह[१] निकुल[२] निज ज्ञानी हो,
कहा करूं कछु कहत न आवे, प्रकट गुप्त नहिं छानी[३] हो ॥टेक॥
अंतर्यामी अंदर देखे, ता सौं कहा दुरानी[४] हो।
वक्त्र[५] बनाय कहै बिच औरे, या परि अर्ज न मानी हो ॥१॥
सर्वंगी समझै सब ठाहर, जो नख शिख मन सानी[६] हो।
न्याय नीति वा[७] सम को नांहीं, छानै[८] दूध रु पानी हो ॥२॥
सूधी[९] सुरति[१०] न साँची उपजी, दिल सौं दिल न ठरानी[११] हो।
रज्जब रुचि[१२] भरि कैसे पावै, गति[१३] गोविन्द नहिं जानी हो ॥३॥३

प्रभु की सर्वज्ञता दिखा रहे हैं—हमारे प्रभु[१] किसी के वंश में नहीं हैं इससे अकुल[२] हैं। किसी दूसरे के उपदेश से ज्ञानी नहीं हुये हैं, इसलिये निज ज्ञानी हैं। उनके विषय में क्या कहूं, कुछ कहा नहीं जाता, संसार की प्रकट और गुप्त दोनों ही बातें उनसे छिपती[३] नहीं है, वे सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं। वे अंतरर्यामी हैं भीतर ही सब देख लेते हैं, उनसे क्या बात छिपाई[४] जा सकती है ? भीतर तो दूसरी बात हो और मुख[५] से दूसरी बना कर कहें, तब इस चालाकी से वे प्रार्थना करने पर भी नहीं मानते। वे तो सर्व रूप हैं, सभी उनके ही अंग हैं। वे सब स्थानों में रहते हुये जो नख से शिखा तक तथा मन में मिली[६] हैं उन सब भावनाओं को समझते हैं। उनके[७] समान न्याय-नीति में निपुण कोई भी नहीं है, वे तो दूध और पानी को भी अलग[८] २ करने वाले हैं। जिसकी वृत्ति[१०] सरल[९] नहीं है,

जिसमें सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं हुई है, जिसके हृदय की भावना से दूसरे का हृदय शीतल[११] नहीं होता है और जिसने गोविन्द की चेष्टा[१३] को नहीं जाना है, वह इच्छा[१२] भर कर प्रभु को कैसे प्राप्त कर सकता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित राग सोरठ १३ समाप्तः ॥

अथ राग वसंत १४

(गायन समय प्रभात ३ से ६ तथा वसंत ऋतु)

१६६ रस-मत्त । त्रिताल

मतवाले रे मतवाले,
निर्मल भक्ति प्रेम रस पीवै, देह गलित[१] गुण गाले[२] ॥टेक॥
विरह दरीबे[३] में जन बैठे, पल पल पीवै प्याले ।
विसरे देह गेह सुख संपति, माया ओढ़न डाले ॥१॥
भाठी[४] भाव सुधा रस निकसे, सुरति मंडी[५] तिस नाले[६] ।
मगन होय पंचों मिल बैठे, निमष सके नहिं चाले ॥२॥
अह निशि सदा एक रस लागे, बैठि इकंत निराले[७] ।
रज्जब चरण शरण तिन चेरा, जे रस रूप विचाले[८] ॥३॥१

प्रेमा-भक्ति-रस में मत्त संतों का परिचय दे रहे हैं—जिनने निर्मल प्रेमाभक्ति रूप रस-पान करते हुये देहाभिमान को नष्ट[१] करके गुणों को नष्ट[२] कर डाला है, वे मतवाले हो रहे हैं—मतवाले हो रहे हैं । विरह रूप बाजार[३] में बैठे हुये संत जन क्षण २ में प्रेमा-भक्ति रूप रस का प्याला पीते रहते हैं । रसमें मत्त होकर शरीर, घर, सांसारिक सुख, और संपत्ति को भूल जाते हैं । माया रूप ओढ़ने के वस्त्र को दूर डाल देते हैं । श्रद्धा रूप भट्टी[४] से प्रेमाभक्ति रूप रस निकलता है । उनकी वृत्ति उस श्रद्धा रूप भट्टी के पास[६] बैठ कर उक्त रस के पान में लगी[५]-रहती है । पंच ज्ञानेन्द्रिय भी रस पान में निमग्न होकर मनोवृत्ति के साथ ही बैठी रहती हैं । मन की वृत्ति के बिना वे एक निमष भी अन्यत्र नहीं जा सकतीं । इस प्रकार उनके मन इन्द्रिय विषयों से अलग[७] हो, एकान्त में बैठकर दिन-रात सदा एकरस भक्ति–रस पान में लगे रहते हैं । जो सदा उक्त प्रकार भक्ति-रस के बीच[८] में ही निमग्न रहते हैं, मैं उनका सेवक होकर उनके चरण-कमलों की शरण हूँ ।

१६७ विनय । चौताल

वसंत बन्यो खेलो गोपाल, अन्तर्यामी सुन दयाल ॥टेक॥
वपु वन मोरे रोम राय[१], रम हु राम अवसर विहाय[२] ॥१॥

पंच सखी रही[३] करि शृंगार, रमो राम लाओ न वार ॥२॥
सब अंगन सरें सकल काम, जान राय जब मिलैं राम ॥३॥
तन मन मंगल ह्वै उच्छाह, जन रज्जब पाये सु नाह[४] ॥४॥२

१६७–१६८ में दर्शनार्थ विनय कर रहे हैं—अंतर्यामी दयालु गोपाल ! मेरी विनय सुनिये । मैं वसंत रूप बनकर आपकी क्रीड़ा के लिये उपस्थित हूं, आप मुझ में आकर खेलिये । हे राम ! आप शीघ्र ही पधार कर मेरे शरीर रूप वन के रोम रूप वृक्ष-पंक्ति[१] में रमण कीजिये । आपके बिना मेरा यह सुन्दर समय व्यर्थ जा[२]-रहा है । पंचेन्द्रिय रूप पंच सखि संयम रूप शृंगार करके स्थित[३] हैं । राम ! इनसे क्रीड़ा कीजिये । देर न कीजिये। हे जानराय राम! जब आप मुझे मिलेंगे तब मेरे सभी अंगों के सब काम सिद्ध हो जायंगे अर्थात् दर्शन से नेत्र, शब्द सुनकर श्रवण । ऐसे ही सब अंगों की अभिलाषा पूर्ति रूप कार्य सिद्ध हो जायंगे । जब मेरे स्वामी[४] मुझे प्राप्त होंगे तब मेरे तन-मन में मंगलपूर्ण उत्सव होगा ।

१६८ । धीमा त्रिताल

ऋतु जाय माधव रमि वसंत,
यहु योग जानि घर आओ कंत ॥टेक॥
अवसर अजब अनूप बार,
तातें सुन्दरि ठाढी[१] करि शृंगार ।
अब अबला का राख हु मान,
यहु दर्श पियासी देहु दान ॥१॥
सुन्दरि चाहै सेज संग, अन्तर्यामी दे उमंग[२] ।
तव[३] दर्शन देखैं अघाय[६],
यहु चरण निकट लीजे लगाय ॥२॥
अतिगति[४] आतुर[५] इहाँ[६] भाय[७],
यहु आयु अल्प रजनी विहाय[१०] ।
अब नारी का निरख नेहु,
विपति जानि हरि दर्श देहु ॥३॥
दया सिन्धु दीजे निवास,
इस महा पतित की पूरि आश ।

तब तींवी[८] शिर होय भाग,
जन रज्जब पावै सुहाग ॥४॥३

माधव ! हमारी आयु रूप वसंत ऋतु जा रही है। स्वामिन् ! मेरे हृदय घर में आने का यह सुन्दर योग जानकर पधारिये। यह मनुष्य शरीर का अवसर अद्‌भुत् है तथा दर्शन अभिलाषा युक्त यह समय अनुपम है। इसलिये मैं साधक-सुन्दरी साधन रूप शृंगार करके दर्शनार्थ खड़ी[१] हूं। अब आप मुझ अबला का मान रखिये। मुझे दर्शनों की अभिलाषा है, अतः दर्शन रूप दान दीजिये। मैं साधक सुन्दरी अष्ट दल कमल रूप शय्या पर आपका संग सुख चाहती हूं। अंतर्यामी आप प्रसन्न[२] होकर दर्शन दें। आपका[३] दर्शन करते ही मैं तृप्त[६] हो जाऊंगी। यह जानकर आप मुझे अपने चरणों के पास रख लीजिये। इस[६] दर्शन की भावना[७] से मैं अत्यधिक[४] व्याकुल[५] हूं। मेरी आयुरूप रात्रि बहुत थोड़ी रही है और यह भी जा[१०]-रही है। अब हे हरे ! आप मुझ साधक-सुन्दरी का प्रेम देखकर तथा मेरी विपत्ति को जानकर मुझे दर्शन दें। दया के समुद्र प्रभो ! आपके चरण-कमलों में निवास दीजिये। इस महापतित की आशा पूर्ण कीजिये। मुझ नारी[८] का भाग्योदय तब ही होगा, जब मुझे आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होगा।

१६९ करुणा। कहरवा

सखी सुख सेज न चाहडीरे[१],
सु देही दुख दर[२] माहडीरे[३] ॥टेक॥
न देवै प्रेम पियालारे, कहावै दीन दयालारे।
करे किम[४] येतला[५] टालारे[६] ॥१॥
न देवै अंग अयानीरे[७], सु तेहना[८] जीवनी जानीरे।
सु सहुवै[९] दुःख विहानीरे[१०] ॥२॥
कहूं केन्हैं[११] दुखनी[१२] बातें रे, राखै सेंण[१३] संगातैंरे[१४]।
सु रज्जब वारणे[१५] जातैंरे[१६] ॥३॥४

प्रभु-वियोग जन्य दुःख बता रहे हैं—संत सखि ! प्रभु ने अपनी सहजावस्था रूप शय्या पर मुझे नहीं चढ़ाया[१] है। इस कारण मेरा शरीर दुःख रूप गढ़े[२] में[३] ही पड़ा है। वे कहलाते तो दीन-दयालु हैं किन्तु मुझे प्रेम-प्याला नहीं दे रहे हैं। पता नहीं मुझसे इतने[५] क्यों[४] टल[६] रहे हैं। मैं नहीं[७]-जानती कि—वे मुझे अपना अंग-संग क्यों नहीं देते हैं ?, किन्तु मैंने तो उन्हीं[८] को अपना जीवन जाना है और उनके बिना[१०] दुःख सहन कर रही हूं। मैं अपने दुःख-[१२]की बातें किससे[११] कहूं ? मेरा सज्जन[१]

मुझे साथ[१४] रक्खे तब मेरा दुःख दूर हो सकता है। प्रभो ! मैं आपकी बलिहारी[१५] जाती[१६] हूं, मुझ पर कृपा करें।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित वसंत राग १४ समाप्त।

अथ राग कान्हड़ा १५

(गायन समय रात्रि १२ से ३)

१७० प्रभु-मिलन । त्रिताल

जब राम सनेही आव हीं,
तन मन मंगल होय परम सुख, आनन्द अंग न मावहीं ॥टेक॥
अधिक उच्छाह मुदित मन मेरे, चहुं दिशि चौक पुरावहीं।
वलि वलि जाउं अघाउं[१] न कब हूं, प्रेम मगन गुण गावहीं ॥१॥
सकल सुहाग भाग सुन्दरि के, मोहन रूप दिखावहीं।
जन रज्जब जगदीश दया करि, परदा खोलि खिलाव हीं ॥२॥१

प्रभु के मिलन से होने वाले सुख को बता रहे हैं—जब मेरे प्यारे राम आयेंगे, तब मेरे शरीर में पूर्ण मंगल हो जायगा और मन में परम सुख होगा, वह आनन्द मेरे अंग में नहीं समा सकेगा। मेरे मन में अत्यधिक उत्साह होगा, मैं प्रसन्न होकर चारों ओर चौक पुराऊंगी। बारंबार बलिहारी जाऊंगी। कभी भी तृप्त[१] नहीं हूँगी। प्रेम निमग्न होकर प्रभु के गुण गाऊंगी। जब विश्व विमोहन प्रभु अपना रूप दिखायेंगे तब मुझ साधक सुन्दरी का सब प्रकार से भाग्योदय होकर सौभाग्य प्राप्त होगा। फिर तो वे जगदीश्वर दया करके अज्ञान का पड़दा हटा देंगे और मुझे अपने साथ खिलाया करेंगे।

१७१ प्रभु मिलन उत्कंठा । दादरा

कब हूं देखि हूं हरि चरण,
मन कर्म वचन जाउं बलिहारी, जो पाऊं शिर धरन[१] ॥टेक॥
सारंग[२] भई सकल तज सजनी, नाम रटन उर करन[३]।
तन मन सकल करूं नौछावर, जो आवें पति घरन[४] ॥१॥
सुरति सीप सायर[५] सब त्यागे, नाम स्वाति ता शरन।
जन रज्जब की विपति दूर करि, आय मिलो दुख हरन ॥२॥२

प्रभु के मिलन की तीव्र इच्छा प्रकट कर रहे हैं—मैं हरि के चरण-कमलों को कब देखूंगा ? यदि मैं हरि चरणों में अपना शिर धर[१]

पाऊंगी तो मन, वचन, कर्म से उनकी बलिहारी जाऊंगी। संत-सजनी! मैं तो सब कुछ त्यागकर चातक[२] बन गई हूँ, जैसे चातक पक्षी पीव २ रटता रहता है, वैसे ही मैं प्रभु के नाम का रटन हृदय में करती[३] हूं। यदि मेरे प्रभु मेरे हृदय घर[४] में पधार जाँय तो मैं उन पर अपना तन-मन और सर्वस्व नौछावर कर दूंगी। जैसे सीप समुद्र[५] को त्यागकर स्वाति को ग्रहण करती है, वैसे ही मैंने सबको त्याग दिया है और नाम चिन्तन करते हुये उन प्रभु की ही शरण हूं। हे दुःखहर्त्ता प्रभो! मेरे हृदय में आकर मुझ से मिलें और मेरी विपत्ति दूर करें।

१७२ भक्ति-प्रेरणा। एकताल

भक्ति कर लेहु प्राण पति लाल[१],
ऐसे समझि देखि उर अंतरि, और सकल तज ख्याल॥टेक॥
जिन जिन भक्ति करी केशव की, ते सब भये निहाल[२]।
मन वच कर्म मान मन ऐसे, नाम निकट गोपाल॥१॥
नाम नेह केते पति परसे[३], तोरि सकल जंजाल।
ऐसे जान वाणि रट रज्जब, संत मिलें इस चाल॥२॥३

प्रभु की भक्ति करने की प्रेरणा कर रहे हैं—प्यारे[१] प्राणपति प्रभु की भक्ति करके प्रभु को प्राप्त करले। अपने हृदय में सब संसार को खेल रूप देखकर त्याग दे और ऐसे समझ कि—भक्ति ही मुझे कर्तव्य है। जिन-जिनने भगवान् केशव की भक्ति करी है, वे सब कृतार्थ[२] हो गये हैं। हम—मन, वचन, कर्म से यथार्थ ही कहते हैं, तू अपने मन में ऐसे मानकर नाम रट, कि—नाम चिन्तन से गोपाल भगवान् अति निकट हृदय में ही प्राप्त हो जाते हैं। नाम चिन्तन में प्रेम करके कितने ही भक्त जन संपूर्ण जगत् जाल को तोड़कर प्रभु से जा मिलें[३] हैं। ऐसा जानकर वाणी से निरंतर नाम रट, संत जन इसी चाल द्वारा प्रभु से मिले हैं।

१७३ ब्रह्म-भजन पद्धति। तिलवाड़ा

निश्चल को निश्चल ह्वै भजिये,
चंचल मति चंचल सब तजिये॥टेक॥
रहते[१] सौं रहता ह्वै रमिये[२],
मानुष जन्म बादि[३] क्यों गमिये[४]॥१॥
अस्थिर[५] सौं अस्थिर[६] ह्वै रहिये,
बहते संग काहि को बहिये॥२॥

पोत[७] हि पोत[८] मेलि तब सेवा,
जन रज्जब भज अलख अभेवा[९] ॥३॥४

निश्चल ब्रह्म का भजन करने की रीति बता रहे हैं—निश्चल ब्रह्म को निश्चल होकर भज । हे चंचल बुद्धि ! सब प्रकार की चंचलता तथा माया रचित सम्पूर्ण चंचल संसार का राग त्याग कर सब में रहने[१]-वाले ब्रह्म के साथ सब में रहने वाला आत्मा होकर अर्थात् आत्म स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्मानन्द प्राप्ति रूप क्रीड़ा[२]-कर, मनुष्य जन्म को व्यर्थ[३] क्यों खो[४]-रहा है । स्थिर[५] ब्रह्म के साथ स्थिर[६] होकर रह । संसार प्रवाह में बहने वाले प्राणी के साथ रहकर संसार प्रवाह में क्यों बहता है ? आप[७] हि आप[८] में मिले अर्थात् अपने आत्म स्वरूप ब्रह्म में आत्मा मिल जाय तब पूर्ण रूप से सेवा-भक्ति सिद्ध होती है । इसलिये उक्त प्रकार अलख अद्वैत[९] ब्रह्म का भजन कर ।

१७४ मन-स्वभाव । शूल ताल

मन किन[१] तज हूं निलज विषया बट[२],
हटक्यो[३] रहत नांहि हरिहायो,
विषय खेत खूंदे[४] धरणी घट[५] ॥टेक॥
मगन मुदित मन बहत[६] दश हुं दिशि,
राख्यो रहत न नाम निकट नट ।
श्रवणों सुनत नांहि मति मेरी,
रोम रोम लागी रामा[७] रट ॥१॥
चंचल चोर चरण निज भूल्यो,
खलक[८] हि लागि किये खाली षट[९] ।
सद्गुरु साधु वेद बुध बरजत,
कहत हि कहत सु करत निघर घट[१०] ॥२॥
विविध भांति मन को समझावत,
इन न गह्यो सुन्दर सरिता तट ।
रज्जब रिंद[११] रूठि रह्यो हरि सौं,
पुकारि पुकारि प्राण तोरी लट ॥३॥५

मन का स्वभाव बता रहे हैं—अरे निर्लज्ज मन ! तू विषय रूप भोजन[२] क्यों[१] नहीं तजता ? अरे धृष्ट[५] ! तू तो रोकने[३] पर भी नहीं रुकता, जैसे हरिहाया पशु पृथ्वी के हरे-हरे खेतों में बारंबार

जाकर खेती को खाता है और पैरों से रौंद[४] कर नष्ट करता है, वैसे ही तू बारं बार विषयों में जाता है। यह मन विषय-रस में निमग्न होकर प्रसन्नता से दशों दिशाओं में जाता[६] है किन्तु यह नट प्रभु नाम के पास तो रखने पर भी नहीं रहता। मेरी बुद्धि के विचार तो श्रवणों से सुनता ही नहीं है। इसके तो रोम-रोम में सुन्दर स्त्री[७] का ही चिन्तन रहता है। यह चंचल-चोर मन निज प्रभु के चरण-कमलों को भूल गया है और संसार[८] में लगकर इसने पंच इन्द्रिय तथा हृदय इन छः[९] को भगवद् भावना से खाली कर दिया है। सद्गुरु, संत, वेद और विद्वान् इसे निषिद्ध विषयों में जाने से रोकते हैं किन्तु यह निलज्ज[१०] उनके कहते-कहते ही निषिद्ध विषयों में जाना रूप क्रिया करने लगता है। नाना प्रकार से मनको समझाते हैं किन्तु इसने भगवद् भक्ति रूप सुन्दर नदी का तट तो अभी तक ग्रहण नहीं किया है। यह निरंकुश[११] मन हरि से रुष्ट हो रहा है। इसे पुकार २ कर कहते २ हमारी श्वास रूप लट भी टूट गई है अर्थात् श्वास समाप्त होने आये हैं किन्तु इसने हमारी एक भी बात नहीं मानी है। ऐसा इस मन का स्वभाव है।

१७५ मनोपदेश। त्रिताल

अरे मन करि रे सूक्षम त्याग,

सद्गुरु शब्द समझि उर अंतरि, मेल्हि[१] मनोरथ माग ॥टेक॥

आन[३] अनेक चित तजि चेतन, परम पुरुष सौं लाग।

सकल ज्ञान गुण समझ सयाने, थांभि[४] दशों दिशि बाग[५] ॥१॥

स्वर्ग पताल जंजाल[६] छाड़ि मन, तोरि[७] जगत सौं ताग।

अकलि[८] अनंत विलोकि विचार हु, विविध वासना दाग[९] ॥२॥

स्वप्ने की संपति करि संग्रह, सब समझेगा जाग।

जन रज्जब जगदीश भजनकर, जे शिर मोटे भाग ॥३॥६

१७५-१७८ में मन को उपदेश कर रहे हैं—अरे मन! सूक्ष्म संस्कारों को त्याग दे। सद्गुरु के शब्दों को हृदय में समझकर मनोरथों का मार्ग[२] छोड़[१] दे। अन्य[३] अनेकों का चिन्तन त्यागकर परम पुरुष चेतन प्रभु के चिन्तन में लग। हे चुतर! संपूर्ण दैवी गुण और ज्ञान के प्रभाव को समझकर दशों दिशाओं में भ्रमण करने की प्रवृत्ति रूप बागडोरि[५] को रोक[४] अर्थात् भ्रमण करना छोड़। अरे मन! स्वर्ग-पाताल आदि रूप जगत्[६]-जाल को त्याग दे। जगत् से संबन्ध करना रूप धागा तोड़[७] दे। नाना प्रकार की भोगवासनाओं को जलाकर[९], बुद्धि[८] द्वारा विचार करके अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर। जैसे प्राणी स्वप्न में धन राशि संग्रह करके प्रसन्न होता है किन्तु जागने पर उसे मिथ्या समझता है, वैसे

ही ज्ञान जाग्रत में आयेगा तब तू भी सब को मिथ्या समझेगा । यदि अपने भाग्य को विशाल बनाना चाहता है, तो जगदीश्वर का भजन कर ।

१७६ । त्रिताल

अरे मन भजरे आतम राम,
कारज यही करो मन मेरे, इहिं अवसर इहिं धाम ।।टेक।।
मानुष जन्म मान मन मांहीं, कहो निरंजन नाम ।
पंचों गुण पंचों दिशि रमि हैं, करि लीजे निज काम ।।१।।
ऐसे समझि तजो मन मूरख, गृह दारा धन धाम ।
जन रज्जब जगदीश भजन कर, बीते च्यारों याम ।।२।।७

अरे मन ! आत्म स्वरूप राम का भजन कर । मेरे मन ! इस मनुष्य शरीर के अवसर में और इस मनुष्य शरीर रूप धाम में यह राम-भजन रूप कार्य ही कर । इस मनुष्य जन्म में मेरी बात मानकर निरंजन राम का नाम ही बोल । पंच इन्द्रिय रूप पंच गुण पंच विषय रूप पांच दिशा में विचर रहे हैं, उन्हें अपने वश में करके यह भजन रूप अपना काम करले । अरे मूर्ख मन ! शरीर की आयु रूप रात्रि के चारों पहर व्यर्थ ही व्यतीत हो गये हैं, अब तो सावधान हो, यह संसार नाशवान् है ऐसा समझकर घर की नारी, धन और धाम का राग छोड़कर जगदीश्वर का ही भजनकर ।

१७७ । दादरा

मन मान सीख मेरी,
त्रिगुण त्याग निर्गुण लाग, मनसा[१] गहि[२] फेरी ।।टेक।।
पंच बंधि[३] अगम संधि[४], रैन दिवस टेरी ।
सब सकेलि[५] ब्रह्म मेलि[६], परम गति नेरी[७] ।।१।।
सकल झूठ देहु पूठ, ज्ञान नैन हेरी[८] ।
रज्जब जोध मन प्रमोध[९], ऋद्धि सिद्धि चेरी ।।२।।८

अरे मन ! मेरी शिक्षा मान, त्रिगुणात्मक संसार का राग त्यागकर निर्गुण ब्रह्म के भजन में लग । बुद्धि[१] को संसार की ओर जाने से पकड़[२] कर ब्रह्म की ओर बदल, पंच ज्ञानेन्द्रियों को निग्रह[३] करके अगम ब्रह्म में जोड़[४], मैं रात्रि-दिन तुझे बारं बार पुकार कर कह रहा हूं, अपनी इन्द्रियों को सबसे समेट[५]-कर ब्रह्म से मिला[६] अर्थात् ब्रह्म परायण कर फिर तो मोक्ष रूप परमगति तेरे पास[७] ही आजायगी । सब संसार मिथ्या है, इसको पीठ देकर ज्ञान नेत्रों से ब्रह्म का साक्षात्कार[८] कर ।

अरे मन रूप योद्धा ! तेरे को यही उपदेश[६] है, यदि तू मानेगा तो ऋद्धि-सिद्धि तेरी दासी होकर रहेंगी ।

१७८ । दादरा

मन मित्त[१] चिन्त[२] कीजे,
अगम रूप तत्त्व अनूप, गोविन्द भज लीजे ॥टेक॥
जन्म जाय करि उपाय, छिन छिन छिन छीजे ।
यहु विचार सुमिर सार, अमृत रस पीजे ॥१॥
सुनहु कान तजहु आन[३], शीश ईश दीजे ।
रज्जब शूर हरि हजूर[४], जुग जुग जुग जीजे ॥२॥६

अरे मित्र[१] मन ! चिन्ता[२] रखकर, अगम स्वरूप अनुपम तत्त्व गोविन्द का भजन करले । तेरा यह मानव जन्म व्यर्थ जा रहा है, कल्याण का साधन कर । तेरी आयु प्रति क्षण क्षीण हो रही है, यह विचार करके विश्व के सार रूप प्रभु का स्मरण करते हुये भजनानन्द रूप अमृत-रस का पान कर । यह मेरी बात कान लगाकर सुन और अन्य[३] सब को छोड़कर अपना अहंकार रूप शिर ईश्वर को समर्पण कर दे । इस प्रकार शूर-वीर होकर हरि के पास उपस्थित[४] होगा तो ब्रह्म रूप होकर प्रति युग में जीवित रहेगा ।

१७९ विरह-विनय । झूमरा

पिय के भाय[१] बैठी न्हाय[२], विकसित ज्यों जाय ।
नौसत[३] साजे शृंगार, पल कपाट खोले द्वार,
देखन हरि चाय ॥टेक॥
राखी रती सेज बानि[४], नख शिख सब सौंज[५] आनि ।
प्यारे पिय को सु जानि, लागन को पाय ॥१॥
खेलन के सकल साज, कामिनी सब किये आज[६] ।
बोलन की छाड़ी लाज, वाम[७] हि राम रमाय[८] ॥२॥
दीपक मन महल जोय, बाती पति ध्यान होय ।
कब आवत कहै कोय, रायन के राय ॥३॥
विविध भांति बाजैं तूर[९], प्रीति पंथ चौक पूरि ।
रज्जब धन[१०] है हजूर, मिलिये प्रभु आय ॥४॥१०

१७९-१८१ में विरह पूर्वक दर्शनार्थ विनय कर रहे हैं—प्रियतम प्रभु के दर्शन की इच्छा[1] से मैं संत-सुन्दरी स्नान[2] करके जाय पुष्प के समान विकसित होकर बैठी हूं। साधन रूप सोलह[3] शृंगार सजकर हरि को देखने की इच्छा से नेत्र-द्वार के पलक रूप कपाट खोल कर स्थित हूं। मैंने प्रेम पूर्वक हृदय रूप शय्या ठीक बना[4] रक्खी है। नख से शिखा तक शरीर के अंग रूप सामग्री[5] को संयम से उचित स्थिति में ले आई हूं। अब प्रियतम स्वामी को सम्यक् जानकर उनके चरण-कमलों में लगने के लिये तत्पर हूं। मुझ संत-सुन्दरी ने जो इस-समय[6] प्रभु के साथ आनन्दानुभव रूप खेल खेलने की साधन-सामग्री है सो सब संपादन करली है। बोलने की लज्जा छोड़कर बारंबार प्रभु का नाम बोल रही हूं। हे राम! मुझ नारी[7] को अपने साथ खिलाइये[8]। मैंने मेरे मन-महल में ज्ञान-दीप जला लिया है, उसमें मेरे स्वामी का ध्यान रूप बत्ती रक्खी है। अब यही प्रतीक्षा कर रही हूं कि-कोई आकर कहै—वे राजाओं के राजा मेरे प्रभु कब आ रहे हैं। मेरे हृदय घर में नाना भांति के अनाहत् ध्वनि रूप बाजे[9] बज रहे हैं। मैंने प्रीति-पंथ में निष्कामता रूप चौक पूर रक्खा है अर्थात् प्रभु बिना अन्य कुछ नहीं चाहती हूं। इस प्रकार मैं संत-सुन्दरी[10] प्रभु की सेवा में उपस्थित हूं, प्रभो! अब आप शीघ्र आकर मुझ से मिलें।

१८०। त्रिताल

तन मन तप्त रहत निज नाहा[1],
निश दिन दुःखी पुकारत पिय पिय,
दर्शन देहु करत हूं धाहा[2] ॥टेक॥
नख शिख पीर धीर नहिं तुम बिन,
दीन दुखित दीरघ दुख दाहा[3]।
सकल कलेश लेश नहिं सुख को,
लाल[4] बिना नाहीं जग लाहा[5] ॥१॥
अंतर अग्नि जरावत जिव को,
विपति विछोह विघ्न मैं चाहा[6]।
रज्जब रहति एकटक[7] कामिनि,
चरण दिखाय कंत बलि हाहा[8] ॥२॥११

हे मेरे स्वामिन्[1]! आपके बिना मेरा तन-मन संतप्त रहता है। मैं रात्रि-दिन प्रियतम-प्रियतम! पुकारती हुई दुःखी रहती हूं। मैं धाड़[2] मारकर रोती हूं, आप मुझे दर्शन दें। आपके बिना मेरे नख से शिखा

तक शरीर में पीड़ा रहती है, मन में धैर्य नहीं रहता। मैं दीन और दुखित हूं, मेरे हृदय में आपके वियोग जन्य महान् दुःख से जलन[3] रहती है। सब प्रकार दुःख ही है, सुख का लेश भी नहीं है। प्रियतम[4] के बिना जगत् में जीवित रहने से कुछ भी लाभ[5] नहीं है। भीतर मेरे हृदय को विरहाग्नि जला रही है। यह वियोग रूप विपत्ति मेरे जीवन में विघ्न रूप है, इसलिये मैं बारंबार आपका साक्षात्कार ही चाहती[6] हूं। मैं संत-सुन्दरी टकटकी[7] लगाकर आपको देखती रहती हूं और इस समय बहुत[8] विनय करके पुकार रही हूं, स्वामिन्! अपने चरण-कमल दिखाइये, मैं आपकी बलिहारी जाती हूं।

१८१ । एकताल

परम प्राण सुख निधान[1], रहत सु कौन थान।
विरहनि बेहाल लाल[2], अंतर गति विरह झाल[3]।
देखे बिन अधिक साल[4], सुनहु पीव सुजान ॥टेक॥
कब की हूं दुखित राम, बीते निशि च्यार याम।
तुम पूरण सकल काम, होत है जु हरि बिहान[5] ॥
मिल हु आय परम राय, अतिगति अवसर विहाय[6]।
हिरदै नहिं दुख समाय, हारी प्रभु मान ॥१॥
पिय बिन फीके[7] श्रृंगार, सूने गृह दुख अपार।
कुसुम सेज होंहि अंगार, दीरघ दुख आन आन[8] ॥
कासौं यहु कहै नारि, बैठी सब जन्म हारि।
रज्जब को मिल मुरारि, दीजे जीय[9] दान ॥२॥१२

मेरे परम प्राण! सुख-निधि[1] आप कौन स्थान पर रहते हैं? प्रियतम[2]! आपके बिना मैं वियोगिनी व्याकुल हूं, मेरे हृदय को विरहाग्नि की ज्वाला[3] जला रही है। आपके दर्शन बिना मुझे अत्यधिक दुःख[4] है। हे सुजान प्रियतम! मेरी विनय सुनिये। राम! मैं कब की ही दुःखी हूं, मेरी जीवन रात्रि के चारों पहर बीत चले हैं, अब प्रातः[5] काल होने वाला ही है अर्थात् शरीर जाने वाला ही है। आप तो संपूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। महाराज! शीघ्र पधार कर मुझसे मिलिये, यह मेरा शेष समय भी अतिशीघ्र जा[6]-रहा है। इसका मुझे महान् दुःख है, जो हृदय में भी नहीं समा रहा है। मैं पुकारती २ हार गई हूं। प्रभो! मेरी प्रार्थना स्वीकार करिये। प्रियतम के बिना साधन-श्रृंगार अच्छे[7]-नहीं लगते। घर शून्य-से लगते हैं, मुझे अपार दुःख है। फूलों की शय्या अग्नि के अंगारों के समान हो रही है। अन्यान्य[8] सभी पदार्थ

महान् दुःख दाता हो रहे हैं। मैं नारी यह दुःख किस से कहूं। मैं तो आप पर ही अपना सब जन्म हार बैठी हूं अर्थात् आप को समर्पण कर चुकी हूं। मुरारे ! मुझ से मिलकर मुझे जीवन[६] दान दीजिये।

१८२ दोष नाशार्थ विनय। त्रिताल

महरवान[१] करि असान[२], राखो रहमान[३],
चंदी[४] बदकार[५] फैल[६], दिल दरोग[७] बहुत मैल,
कैसे ह्वै सैर[८] शैल[९], आवे क्यों जान[१०] ॥टेक॥
तुम बिन तालिब[११] सु मार, पंचों मिल करि गुजार[१२],
दरदवंद[१३] करि पुकार शिकस्त[१४] सुबहान[१५]।
कैसे करि गुजर[१६] होय, जिक्र[१७] फिक्र[१८] नांहि कोय
पहुँचें नहि कदम[१९] दोय, देखैं दिवान[२०] ॥१॥
दुशमन देखो दिल मांहि, कबहूं नहि दूरि जांहि,
बैठे वजूद[२१] मांहि, बैरी शैतान[२२]।
सांई सुनिये फरियाद[२३], बंदे[२४] को देहु दाद[२५],
रज्जब खानाजाद[२६], हाजिर[२७] हैरान[२८] ॥२॥१३

दोषों को नष्ट कराने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं—दयालो[१] ! आप अपनी प्राप्ति का मार्ग सुगम[२] कर दीजिये और दयालु[३] ईश्वर मेरी रक्षा कीजिये। मेरे हृदय में कुछ[४] बुराइयां[५], हठ[६], झूठ[७] और मैल हैं। अतः मुझ में आपके पास आने का धैर्य[१०] कैसे आवे और कैसे मैं जीवत्व अहंकार रूप पवर्त[९] के ऊपर जाकर[८] आनन्द[१०] ले सकूंगा ? आपको चाहने[११] वाले मुझ पर आपके बिना मार पड़ रही है। पाचों इन्द्रियें मिलकर विषयों से अपना निर्वाह[१२] कर रही हैं, विषयों से उपराम नहीं होतीं हैं, उनसे मैं दुखी[१३] होकर बारं बार पुकारता हुआ हार[१४] गया हूं। पवित्र[१५] प्रभो ! मेरा निर्वाह[१६] किस प्रकार होगा ? मेरे से कोई आप के स्वरूप संबन्धी चर्चा[१७] तथा आपका ध्यान[१८] भी नहीं हो रहा है। प्रधान[२०] प्रभो ! आप देख रहे हैं, मेरे दोनों चरण[१९] भी आप तक नहीं पहुँच सकते अर्थात् चरणों से आपके पास नहीं आ सकता। देखिये, ये कामादि शत्रु मेरे हृदय में घुस रहे हैं, कभी भी तो हृदय से दूर नहीं जाते, मेरे शरीर[२१] में ही बैठे रहते है। ये वैरी बड़े दुष्ट[२२] हैं, मैं इनसे व्याकुल[२८] हूं। प्रभो ! मेरी पुकार[२३] सुनकर मुझ दास[२४] की न्याय[२५] प्रदान के द्वारा सहायता कीजिये। मैं आपके घर का जन्मा[२६] हुआ दास हूं और आप की सेवा में उपस्थित[२७] हूं, मेरी रक्षा अवश्य करें।

१८३ नाम याचना । अद्धा

अहो[1] देहु नाम निरंजन तेरा, यूं प्राण[2] पियासा मेरा ॥टेक॥
पिय दीन दया करि लीजे, निज नाम निरंजन दीजे,
ऐसे प्राण पतीजे[3] ॥१॥
पिय दीन दुःखी यहु चाहै, कब नाम निरंजन बाहै[4]
यहु जन्म सफल इहि[5] लाहै[6] ॥२॥
तुम दाता सुखदाई, यहु नाम निमित्त चलि आई,
दिल देह निराश न जाई ॥३॥
पिव जन जीवन यहु पावै, तेरा नाम निरंजन गावै,
जन रज्जब बलि जावै ॥४॥१४

निरंजन से निज नाम की याचना कर रहे हैं–निरंजन देव ! आपके नाम की मेरे मन[2] को ऐसी इच्छा है कि–उसके बिना बड़ा दुःख[1] है, आपका नाम मुझे दीजिये । प्रियतम ! मुझ दीन पर दयाकर के अपना निरंजन नाम दें । ऐसा करने से ही मेरा मन विश्वास[3] करेगा । प्रियतम ! यह दीन-दुःखी होकर चाहता है कि–निरंजन राम अपना नाम कब देंगे[4] ? यह मनुष्य जन्म इस[5] नाम के लाभ[6] से ही सफल होगा । आप तो सुख दायक दाता हैं । यह मेरी मनोवृत्ति नाम के निमित्त ही विषयों से चलकर आपकी शरण आई है । आपकी शरण आकर मेरा हृदय और शरीर निराश होकर नहीं लौटना चाहिये । प्रियतम ! भक्तों का जीवन रूप यह आपका नाम प्राप्त हो जाय तो आपके निरंजन नाम का गायन करते हुये आपकी बलिहारी जाऊंगा ।

१८४ राम-प्रेम । कहरवा

राम रंगीले[1] के रंग[2] राती[3],
परम पुरुष संग प्राण[4] हमारो, मगन गलित मद[5] माती ॥टेक॥
लाग्यो नेह नाम निर्मल सौं, गिणत न शीली ताती ।
डगमग[6] नहीं अडिग उर बैठो, शिर धरि करवत काती[7] ॥१॥
सब विधि सुखी राम ज्यों राखै, यहु रस रीति सुहाती[8] ।
जन रज्जब धन[9] ध्यान तुम्हारो, बेर बेर बलि जाती ॥२॥१५

अपना राम-प्रेम बता रहे हैं—मैं प्रेमी[1] राम के प्रेम[2] में अनुरक्त[3] हूं । परम पुरुष प्रभु के साथ रहकर हमारा मन[4] उनके प्रेम में निमग्न हो रहा है । उसका गर्व[5] गल गया है, इससे मैं मस्त हूं । निर्मल नाम से

मेरा प्रेम लग गया है। अब शीत-उष्ण रोटी वा वायु को मैं कुछ नहीं गिनती हूं अर्थात् सब परिस्थितियों में मस्त रहती हूं। मेरा हृदय अब चंचल[६] नहीं है, प्रभु-प्रेम में स्थिर है। इसलिये मैं अब अपने शिर पर करवत धरकर और हाथ में कटार[७] लेकर बैठी हूं अर्थात् मरने का भय मुझे नहीं है। मैं सब प्रकार सुखी रहूंगी, जैसे भी राम मुझे रक्खेंगे, वैसे ही रहूंगी। यह प्रेम की रीति मुझे अच्छी[८] ही लगती है। मुझ नारी[९] के हृदय में तो आपका ही ध्यान है, मैं बारंबार आपकी बलिहारी जाती हूं।

१८५ नाम-प्रेम और उपकार। त्रिताल

मुझे लागे नाम पियारा,

सब संतन की जीवन मूरी[१], मेरे प्राण अधारा ॥टेक॥

नाम नाव जग जीवन तारक[२], भव सागर करे पारा।

परदा तोरि प्राणि पहुँचावे, दर्शन का दातारा ॥१॥

सब सुख राशि विलास[३] विमल रस, विपति विदारन हारा।

जन रज्जब रट नाम निरंजन, छिन छिन बारं बारा ॥२॥१६

अपना नाम-प्रेम और नाम का उपकार दिखा रहे हैं—मुझे प्रभु का नाम प्यारा लगता है। नाम सभी संतों की जीवन जड़ी[१] है और मेरा तो प्राणाधार ही है। नाम जगत् में जीवन रूप और उद्धारक[२] है। जैसे नौका समुद्र से पार करती है, वैसे ही नाम संसार से पार करता है। अज्ञान का पड़दा तोड़कर प्राणी को प्रभु के पास पहुँचाता है और प्रभु का दर्शन कराने वाला है। संपूर्ण सुखों की राशि है, निर्मल भक्ति रस का आनन्द[३] देने वाला है। विपत्ति को नाश करने वाला है। अत: ऐसे निरंजन नाम को प्रति क्षण जपना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कान्हड़ा राग १५ समाप्तः।

अथ राग काफी १६

(गायन समय रात्रि १२ से ३)

१८६ नाम श्रेष्ठता। त्रिताल

मुझे लगे नाम ही चंगा[१],

नव खंड माँहि नाम निस्तारण[२] भक्ति मुक्ति ता[३] संगा ॥टेक॥

योग यज्ञ जप तप व्रत नामहिं, और न आवै अंगा[४]।

भरम करम करतूति[५] कसोटी[६], बैठे नहिं दल[७] दंगा[८] ॥१॥

साधु वेद गुरु नाम दृढ़ावै, कहत ज्ञान की गंगा।
जन रज्जब रुचि सौं रत नाम हि,
अह निशि भजत उमंगा[९] ॥२॥१

नाम की श्रेष्ठता बता रहे हैं–मुझे नाम ही श्रेष्ठ[१] लगता है। पृथ्वी के नौओं खंडों में ही नाम उद्धार[२] करने वाला है। भक्ति-मुक्ति भी नाम[३] के ही संग हैं। योग, यज्ञ, जप, तप और व्रतादि भी मेरे नाम ही है, नाम के समान मुझे और कोई भी प्रिय[४] नहीं है। श्रम रूप कर्म और कर्त्तव्य[५] कर्म कष्ट[६] रूप हैं, मेरे हृदय में ठीक नहीं जँचते, सेना[७] के युद्ध[८] के समान झगड़ा-सा भासते हैं। संत, वेद और गुरु भी नाम को ज्ञान की गंगा कहकर नाम ही दृढ़ कराते हैं। मैं भी अपनी इच्छा से नाम में ही अनुरक्त हूं और आनन्द[९] से रात्रि-दिन भजता हूँ।

१८७ नाम-रस । त्रिताल

मुझे लगे नाम रस मीठा,
और सकल रस रुचे न आतम, सकल रसायन दीठा[१] ॥टेक॥
तन मन सकल सौंज[२] दे पायो, नाम निरंजन नीठा[३]।
परम पियास प्रीति सौं पीवत, प्राण[४] पीयूष[५] सु ईठा[६] ॥१॥
हरि रस रसिक पीवत शिर ऊपरि, निडर निरंकुश दीठा[७]।
रज्जब सुमिर सुधा रस लागा, देय जगत सौं पीठा ॥२॥२

नाम-रस का परिचय दे रहे हैं—मुझे नाम-चिन्तन रूप रस मधुर लगता है। अन्य सभी रस मेरे जीवात्मा को रुचिकर नहीं हैं, मैंने नाम को ही संपूर्ण रसायन रूप देखा[१] है। अपनी तन-मन आदि सब सामग्री[२] प्रभु के चरणों में समर्पण करके बड़ी कठिनता[३] से निरंजन नाम को प्राप्त किया है। प्रीति पूर्वक अत्यन्त प्यास से नामामृत का पान करता हूं, यह अमृत[५] मेरे मन[४] को अनुकूल[६] है। हरि-रस के रसिक इस रस को पीते २ सर्व शिरोमणि, निर्भय साहसी[७] और निरंकुश हो जाते हैं, ऐसा देखा है। मैं भी जगत् को पीठ देकर नाम-स्मरण रूप सुधा-रस के पान में ही लगा हूं।

१८८ प्रभु-प्रेम । दादरा

पीव हूं तेरे रंग रँगी,
परम सनेह लग्यो मन मेरे, सुन सुन गल्लां[१] चंगी[२] ॥टेक॥
तन-मन प्राण धरहुं तुम आगे, चूक न राखूं अंगी[३]।
सकल वंजाय[४] मोह माया मन, सजण[५] सांण[६] उमंगी ॥१॥

निशि दिन अंग संग सुख पाऊं, शून्य अधार सर्वंगी ।
रज्जब धन[७] तेरे रंग रंगत, दायम[८] कायम[९] संगी ॥२॥३

अपना प्रभु-प्रेम दिखा रहे हैं—प्रियतम ! मैं आपके प्रेमरूप रंग में रँगी हुई हूँ । संतों से आपके स्वरूप सम्बन्धी श्रेष्ठ[२] बातें[१] बारंबार सुनने से मेरे मन में आपका परम प्रेम लग गया है । अब तो मैं मेरे तन, मन और प्राणों को आपके आगे रखती हूं अर्थात् समर्पण करती हूं । प्रियतम[३] ! भूल कुछ भी नहीं रक्खूंगी । मैं संपूर्ण मोह-माया को मन से त्याग[४] कर मेरे सज्जन[५] आपके साथ[६] ही आनन्दित रहूंगी । विकार शून्य, सर्वाधार, सर्वंगी, प्रभो ! मैं रात्रि-दिन आपके अंग-संग का सुख प्राप्त करूंगी । मेरे सदा[८] स्थिर[९] रहने वाले साथी प्रभो ! मुझ नारी[७] को आपके प्रेम-रंग में ही रंगत आती है अर्थात् आनन्द आता है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित काफी राग १६ समाप्तः ।

अथ राग कल्याण १७

(गायन समय संध्या ६ से ६ रात्रि)

१८६ उद्धारार्थ विनय । त्रिताल

बिनती सुनिये हो निज नाथ,
सरिता शक्ति[१] बहावत आतम, इंहि अवसर गहो हाथ ॥टेक॥
जोख्यों[२] जल सफरी[३] सु शिश्न सब,
मांहि म ् मन मारन हार ।
गर्व गोह जलचर सु पचीसौं, विरुद विचार हु बार[५] ॥१॥
त्रिगुण भँवर[६] भय भीत तरंगे, संशय सोच समूह सिवार[७] ।
चिन्ता तट धन[८] ध्यान धार में, रज्जब कीजे पार ॥२॥१

१८६-१६० में अपने उद्धार के लिये विनय कर रहे हैं—मेरे नाथ ! मेरी प्रार्थना सुनिये, मेरी जीवात्मा को माया[१] रूप नदी अपने प्रवाह में बहा रही है, इसी समय मेरा हाथ पकड़िये । विषय जल में शिश्न आदि सब इन्द्रिय रूप मच्छियें[३] विचरते हुये मेरी महान् हानि[२] कर रही हैं और मारने वाला मन रूप मगर भीतर घूम रहा है । गर्व रूप गोह है, पचीस प्रकृति रूप अन्य जलचर हैं, त्रिगुण रूप आवर्त[६] है, संशय रूप तरंगें भयभीत कर रही हैं, सोच समूह रूप सिवाल[७] है, चिन्ता रूप तट है, ऐसी माया रूप नदी की ध्यान रूप धार में मैं आपकी नारी[८] बह रही हूँ । आप इसी समय[५] अपने दीनोद्धारक यश[४] का विचार करके मुझे इस नदी से पार कीजिये ।

१९० । झपताल

दीन की सुनिये अरदास[1],

प्राणि पुकार कर्ण करि केशव, काट कठिन कर्म की पाश ॥टेक॥

ब्रह्मा विष्णु ईश तेतीसों, वसों न तिनके वास ।

आदि अंत मधि मुक्ति करो तुम, यहु जीव इहिं विश्वास ॥१॥

और ठौर नांहीं ठिक ठाहर, मोचन[2] नव ग्रह राशि ।

जन रज्जब जिव जट्यो[3] जंजीरन, निरखत निकट निवासि ॥२॥२

प्रभो ! मुझ दीन की विनय[1] सुनिये, केशव ! मुझ प्राणी की पुकार पर ध्यान देकर, मेरे कठिन कर्मों की फाँसी को काटिये । ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ अश्विनीकुमार, इन तेतीस देवताओं के निवास स्थान में, मैं नहीं वसना चाहता । सृष्टि के आदि, मध्य और अंत तक आप ही मुक्ति प्रदान करते हो । यह आपका जीव इसी विश्वास से विनय कर रहा है औरों के स्थानों में मुझे ठीक स्थान नहीं मिलेगा, आप ही नवग्रह-राशि से मुक्त[2] करने वाले हैं । और मेरे अत्यन्त समीप हृदय में निवास करने वाले प्रभो ! आप तो यह देख ही रहे हैं, कि—मैं आपका जीव नाना प्रकार की वासना रूप जंजीरों से बँधा[3] हुआ हूं, कृपा करके मुझे मुक्त करिये ।

१९१ मन को उपदेश । त्रिताल

काछिरे[1] मन राम के आगै,

करि ले नृत्य निरंतर निश दिन, और सकल संसार हि त्यागै ॥टेक॥

तन मन सकल सौंज[2] शिर सहिता, ता[3] हू में विगता[4] वैरागै ।

यूं मन लेय[5] लाय[6] उनमन[7] से, ज्यों चकोर चंद हित[7] लागै ॥१॥

सब रस रहित रसिक रमि[8] ता[9] सौं,

ब्रह्म विचार विषय सन[10] भागै ।

परवनि[11] पान समान सुरति धरि, चरण कमल ऐसे अनुरागै ॥२॥

ऐसे काछ[12] निरंजन आगै, अंजन[13] नेह नींद सौं न्यागै[14] ।

जन रज्जब जगपति यूं परसे,[15] जाय मिले उस बिछुटे बागै[16] ॥३॥३

मन को उपदेश कर रहे हैं—अरे मन ! उपरामता रूप स्वांग[1] बनाकर, अन्य सब संसार को त्याग दे और राम के आगे अर्थात् राम परायण होकर रात्रि-दिन निरंतर राम का चिन्तन रूप नृत्य कर । शिर के सहित तन-मन आदि सब सामग्री[2] रूप शरीर से और उस[3] शरीर में

जो बीत[४]-गई हैं उन सब बातों से विरक्त हो और हे मन ! जैसे चकोर अपने नेत्र प्रेम[७] पूर्वक चन्द्रमा में लगाता है, वैसे ही तू अपनी वृत्ति को समाधि[६] में लेजाकर[५] प्रभु के स्वरूप में लगा। ब्रह्म विचार के द्वारा विषयों से[१०] दूर दौड़ और हे रसिक मन ! सब रसों से रहित होकर उस[६] ब्रह्म में से ही रमण[८] कर। जैसे कमलिनी[११]-पुष्प के पत्ते चन्द्रमा में अनुराग करते हैं, वैसे ही तू प्रेम पूर्वक प्रभु के चरण-कमलों में अपनी वृत्ति रख, माया[१३]-प्रेम और मोह निद्रा से अलग[१४] होकर निरंजन राम के आगे ऐसा स्वांग[१२] बना तभी तू उन विछुटे हुये स्नेही[१६] प्रभु के पास जाकर उनसे मिल[१५] सकेगा। जगत पति प्रभु इस प्रकार ही मिलते हैं।

१९२ त्रिविध अंकुर। त्रिताल

तीन रूप आज्ञा अंकूर; हरिमुख गुरुमुख मनमुख दूर ॥टेक॥
हरिमुख हिरदै हरि सौं लागै, गुरुमुख गुरु संगति से जागै,
मन-मुख मूढ महा निधि त्यागै ॥१॥
हरि-मुख हिरदै हरि का वास, गुरुमुख ज्ञान गुणे[१] परकाश,
मन-मुख जीव जन्म का नाश ॥२॥
अंकुर हरि-मुख है वर्ष[२] कालू, गुरुमुख आहि[३] अंकूर उन्हालू,[४]
मन-मुख होत महा मधि[५] कालू ॥३॥
त्रिविधि रूप अंकुर पिछाने, हरिमुख गुरुमुख मनमुख बाने,[६]
जन रज्जब साधू सो जाने ॥४॥४

त्रिविध अंकुर का परिचय दे रहे हैं—शास्त्रादि के उपदेशरूप आज्ञा-लता से तीन प्रकार के साधक रूप अंकुर उत्पन्न होते हैं–१ हरिमुख, २ गुरुमुख, ३ मनमुख। तीसरा मनमुख परमार्थ से दूर ही रहता है। भजन द्वारा हरि के सन्मुख रहने वाले हरिमुख साधक का हृदय निरंतर हरि प्रेम में ही लगा रहता है। गुरु की आज्ञा में रहने वाला गुरुमुख साधक गुरु की संगति करके मोह निद्रा से जग जाता है। मन के कहने में चलने वाला मनमुख मूर्ख होता है और ज्ञान-भक्ति रूप महा निधि का त्याग करके विवादादि में प्रवृत्त होता है। हरिमुख के हृदय में हरि का निवास रहता है। गुरुमुख ज्ञान का विचार[१] करता है, इससे उसके हृदय में ब्रह्म-प्रकाश प्रकट हो जाता है। मनमुख जीव तो अपने जन्म को व्यर्थ ही नाश कर डालता है। हरिमुख साधक रूप अंकुर वर्षाकाल[२] के समान है. जैसे वर्षाकाल में अंकुर की वृद्धि होती है, वैसे ही हरिमुख की वृद्धि होती है। गुरुमुख उष्णकाल[४] के अंकुर के समान है[३], जैसे उष्णकाल में अंकुर अपनी स्थिति में ही रहता है, बढ़ता नहीं है, वैसे ही गुरुमुख

साधक अपनी निष्ठा में ही स्थित रहता है, प्रपंच की ओर नहीं बढ़ता। और मनमुख महान् शीतकाल के मध्य[५] के अंकुर के समान है। जैसे अतिशीत से अंकुर की स्थिति होती है, वैसे ही मनमुख की होती है। वह परमार्थ से गिर ही जाता है। ये हरिमुख, गुरुमुख, मनमुख, तीन प्रकार के अंकुर हमने पहचाने हैं। जो सच्चे संत होते हैं, वे इनको इनकी भावना, वचन और भेष[६] से जान जाते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कल्याण राग १७ समाप्तः।

अथ राग नट नारायण १८

(गायन समय- रात्रि ९ से १२)

१९३ भक्त वत्सलता। त्रिताल

तुम बिन तुम सी कौन करै,
और दान दत[१] वैली[२] वोरा,[३] या[४] परि नांहि परै ॥टेक॥
कलि कुल हीन निकाजल[५] आतम, सो प्रभु आप वरै[६]।
यहु अधिकार अपार अमित अति, सुर नर पाय[७] परै ॥१॥
पाप प्रचंड प्राणि में पहले, सो हरि सकल हरैं।
महा मलिन उज्वल करि आछो, अविगति[८] अंक[९] भरै[१०] ॥२॥
नर नारायण होत नाम बल, सुमिरत एक करै।
रज्जब कहा कहै यहु महिमा, सुत पितु कंध धरै ॥३॥१

प्रभु की भक्त वत्सलता को प्रकट कर रहे हैं—प्रभो! आपके बिना आप सी कृपा कौन कर सकता है? और जितने भी दान दिये[१] हुये होते हैं उनका फल तो संसार के इस[२] ओर[३] ही रखता है। इस[४] आपकी कृपा से श्रेष्ठ और संसार से पार करने वाला कोई भी नहीं है। इस कलियुग में जो हीन कुल और निकम्मा[५] जीवात्मा होता है, भक्ति करने से उसे भी आप स्वीकार[६] करते हैं। यह आपका स्वीकार करना भक्त के अधिकार को अति अमित और अपार कर देता है, नर और देवतादि भी उसके चरणों[७] में पड़ते हैं। प्राणी में पहले प्रचंड पाप होते हैं, उन सबको हरि नष्ट कर देते हैं। महा मलिन प्राणी को भी उज्वल और अच्छा बना कर मन इन्द्रियों के अविषय पर ब्रह्म[८] उसे हृदय[९] के लगाते-हैं[१०]। प्रभु-नाम स्मरण के बल से नर नारायण हो जाता है। इस प्रकार स्मरण करने वाले को प्रभु अपने में मिलाकर एक कर लेते हैं। मैं उनकी भक्त वत्सलता की महिमा क्या कहूं, यह महिमा तो ऐसी है कि—जैसे पिता पुत्र को अपने कंधे पर रखता है, वैसे ही भगवान् अपने भक्त को रखते हैं।

१६४ विनय । धीमा त्रिताल

बिनती सुनिये सकल शिरताज
सब की आदि सकल प्रतिपालक, सदा गरीब निवाज[1] ।।टेक।।
यहु अरदास[2] पास प्रभु राखो, सारो[3] सेवक काज ।
आतम राम हिं कौन मिलावै, काहि कहैं तुम बाज[4] ।।१।।
यहु अंतर मेटो ईहिं अवसर, अन्तर्यामी आज ।
बारंबार बहुरि नहिं लहिये, नर नारायण साज[5] ।।२।।
त्राहि त्राहि कहिये किहिं आगे, पुत्र दुखी पितु राज ।
रज्जब रुदन करत करुणामय, बहो[6] विरुद[7] की लाज ।।३।।२

कल्याणार्थ विनय कर रहे हैं—सर्व शिरोमणि प्रभो ! मेरी विनय सुनिये, आप सर्व के आदि स्वरूप हैं, सबके रक्षक हैं, सदा गरीबों पर कृपा[1] करते हैं । मेरी यह प्रार्थना[2] है, प्रभो ! मेरा अज्ञान निवृत्ति रूप कार्य सिद्ध[3] करके मुझे अपने पास रखिये । आप आत्म स्वरूप राम को अन्य कौन मिलायेगा ? आपके बिना[4] मैं यह अपनी स्थिति किससे कहूं ? अन्तर्यामी प्रभो ! इस मनुष्य जन्म में यह अवसर है, इसलिये मेरा यह अन्तराय मिटा दीजिये । पुनः बारंबार यह नारायण को प्राप्त कराने वाली नर शरीर रूप सामग्री[5] नहीं प्राप्त होगी । विश्व के राजा पिताजी ! आप को छोड़कर रक्षा करो—रक्षा करो यह शब्द किसके आगे कहूं ? करुणामय प्रभो ! मैं आपके आगे रो रहा हूं, अपने यश[7] की लज्जा का निर्वाह[6] कीजिये अर्थात् अपने यश की लज्जा रखिये ।

१६५ निन्दक । त्रिताल

निन्दक नरक निवारत[1] नर को,
कहै अनीति अधिक अघ[2] लागै, पातक उतरत पर को ।।टेक।।
ज्यों सुरही[3] सुत को तन चाटत, मुख मल लेत न धरको[4] ।
यूं निंदक माता मत धारै, काज करत घर घर को ।।१।।
ज्यों शूकर सत सूग-बिहूने,[5] होत सुधार शहर को ।
त्यों रज्जब निंदक करि निर्मल, धोवत कारो छिरको[6] ।।२।।३

निन्दक का परिचय दे रहे हैं–निन्दक नर को नरक से हटाता[1] है । वह अनीति की बात करता है । इससे उसको तो अधिक पाप[2] लगता है और जिसकी निन्दा करता है, उस दूसरे मनुष्य का पाप उतरता है । जैसे गाय[3] अपने बच्चे का शरीर चाटती है, उसका मैल मुख में लेते हुये

कोई शंका[४] नहीं करती, ऐसे ही निन्दक भी माता का मत धारण करता है और निन्दा करके प्रति घर के मनुष्यों का पाप निवृत्ति रूप कार्य करता है। सत्य है जैसे ग्लानि[५]-रहित शूकर से शहर का सुधार होता है, वैसे ही निन्दक से प्राणी निर्मल होते हैं वह प्राणी के पाप रूप काले छींटे[६] को धो डालता है।

१६६ निज दोष। कहरवा

मो सो पतित न पापी और,
प्रथम देह धरि नाम विसार्यो, अरु तरुणी[१] तन त्यौर[२] ॥टेक॥
चरण विमुख चूक्यो[३] ईंहि अवसर, करत दशों दिशि दौर।
देखो हरत[४] परत दोय हारे, स्वर्ग नरक नहिं ठौर ॥१॥
अति अपराध कृतघ्न प्राणी, दे दे पार्यो कौर[५]।
सो प्रति पाल पिछान पीठ दई, ईंहि चोरी भयो चोर ॥२॥
बहुत ज्ञान गुण सीख साँच बिन, गहत झूठ झकझोर[६]।
रज्जब कहै रामजी केतक, सब गुनहन शिर मौर ॥३॥४

निज दोष दिखा रहे हैं—मेरे समान पतित और पापी दूसरा कोई भी नहीं है। पहले तो देह धारण करके मैं प्रभु का नाम भूल गया हूं, फिर युवावस्था में युवति[१] पर दृष्टि[२] डालता रहा हूं। प्रभु के चरणों से विमुख होकर इस सु अवसर को खो[३] दिया है। सांसारिक विषयों के लिये दशों दिशा में दौड़ लगा रहा हूं। देखो, विषयों का अपहरण[४] करते २ मैं इतना गिर गया हूं कि–स्वर्ग नरक दोनों को ही हार गया हूं। स्वर्ग और नरक दोनों ही में मुझे स्थान नहीं है। मैं अति अपराधी और कृतघ्न प्राणी हूं, जिनने टुकड़ा[५] दे-देकर मुझे पाला था उन मेरे रक्षक प्रभु को पहचानकर भी मैंने पीठ देदी है। इस चोरी के कारण मैं चोर हूं, सत्य के बिना बहुत-से गुण और ज्ञान सीख कर भी बड़े वेग[६] से झूठ को ही ग्रहण कर रहा हूं। हे रामजी! मैं कितनेक दोष कहूं, मैं तो सब दोषियों में शिरोमणि हूं। इस पद में अपने ऊपर लेकर दोषियों के दोष दिखाये हैं।

१६७ मन दुष्टता। पंजाबी त्रिताल

मेरे मन मति हीन न मानी,
सद्गुरु सीख विविध परि[१] दीन्ही, प्रकट कही अरु छानी ॥टेक॥
साधु वेद गुरु साखि सुनावत, सुन शठ दीन्ही कानी[२]।
अधम अज्ञान अनीति अंधगति, धर्म मैंड सब भानी[४] ॥१॥

भांति भांति मन को समझावत, मन हुं लीक लख पानी ।
सोगति[५] समझ भई या मन की, कहिये कहा बखानी ॥२॥
नमो नमो हारे मन आगै, कौन कुमति है सानी[६] ।
जन रज्जब युग युग या जिव सौं, रह्यो रिंदगी[७] ठानी[८] ॥३॥५

मन की दुष्टता बता रहे हैं—सदगुरु ने विविध प्रकार से शिक्षा दी है, प्रकट तथा गुप्त रहस्य मय दोनों ही प्रकार की बातें कहीं हैं, परन्तु[१] मेरे मतिहीन मनने तो उनमें से कुछ भी नहीं मानी है। संत, वेद और गुरुजन प्रभु संबन्धी साक्षी सुनाते हैं किन्तु इस दुष्ट ने तो सुनकर भी अनसुनी[२] कर दी है। यह नीच, अज्ञानी जैसे अंधा मार्ग छोड़कर चलने लगता है, वैसे ही अनीति में प्रवृत्त होता है। इसने धर्म की सब मर्यादा[३] तोड़[४] डाली है। मन को नाना भांति से समझाते हैं किन्तु इस को समझाना तो मानो जल की लकीर के समान है। जल की लकीर निकालते ही मिट जाती है। वैसे ही इस मन की समझ की चेष्टा[५] है। श्रुत ज्ञान को तत्काल त्याग कर कुमार्ग में जाता है। इस मन के विषय में व्याख्यान करके क्या कहैं ? इसके आगे तो बारंबार नमस्कार करते हैं। पता नहीं इसमें कौन-सी कुबुद्धि मिली[६] हुई है। यह तो प्रति युग में ही जीव के साथ दुष्टता[७] करता[८] रहा है।

१९८ ब्रह्म अगाध । अद्धा

अकल हिं कौन कलै कलि मांहीं,
आदि अंत मधि महा पुरुष सब, पार हि पावै नाहीं ॥टेक॥
ब्रह्मा आदि विचारत थाके, शंकर सोच शरीरा ।
नारद सहित सकल सिध साधक, कोउ न लहै तट तीरा ॥१॥
शेष सहस्र द्वै रसन रटत नित, परम प्रमाण न जाना ।
नेति नेति कहि निगम पुकारत, तेऊ हैं हैराना ॥२॥
ख्याल परे षड्दर्शन खोजै, कोउ खबर नहिं पावै ।
अगम अगाध गगन गति गोविंद, रज्जब खग कहां धावै ॥३॥६

ब्रह्म की अगाधता बता रहे हैं—निरावयव अखंड ब्रह्म का कलियुग में खंड कौन कर सकता है ? सृष्टि के आदि, मध्य और अंत में होने वाले सभी महा पुरुषों ने उसका पार नहीं पाया है। ब्रह्मा से आदि प्रजापति विचारते २ थक गये हैं। शंकर के शरीर के अन्तःकरण में भी निरंतर उसका विचार होता ही रहता है। नारद के सहित सभी सिद्ध-साधक विचार करते हैं किंतु कोई भी उस ब्रह्म-समुद्र के तट पर जाकर उसका

अगला तट नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् पार नहीं पा सकता। शेष दो हजार जिह्वा से नित उसका नाम रटते हैं किन्तु उस परम प्रभु के माप को वे भी नहीं जानते। वेद उसका विचार विशेष रूप से करते हैं किन्तु वे भी आश्चर्य चकित होकर नेति नेति पुकारते हुए अपार ही कहते हैं। षड् दर्शन भी उसके खोज करने के विचार में पड़े हैं किन्तु कोई उसका ठीक पता नहीं लगा पाता है। जैसे आकाश में पक्षी कहां तक उड़ सकता है? वह तो उसका पार पाये बिना ही थक जायगा। वैसे ही ब्रह्म अगम अगाध है, उसका पार कोई भी नहीं पा सकता।

१६६ प्रभु-परिचय। त्रिताल

प्रभु मेरो पूरण है सर्वंग,
सेवक के संदेह दमन[1] दुख, दिखरावत रुचि[2] रंग[3] ॥टेक॥
चरण चिततों चितव[4] चरण में, सुरति[6] किये सर्व शीश।
श्रवण नैन नासिक मुख रसना, जितहिं तितहिं जगदीश ॥१॥
भुज भाव हि भगवंत भुजा भरि, उर रूपी वह अंग[5]।
पेट पीठ पहचान सु पावत, निकट सु न्यारे नंग[6] ॥२॥
नर के नेह नखस[7] नख शिख करि, नांहि सु नजरि दिखाये।
जैसे शीतकोट शून्य[8] स्थल, रज्जब पेखिन पाये ॥३॥७

अपने प्रभु का परिचय दे रहे हैं—मेरे प्रभु सर्वत्र परिपूर्ण हैं, सब उन्हीं के अंग हैं इससे उनका नाम सर्वंग है। वे सेवक के संशय और दु:खों को नष्ट[1] करके प्रेम[3] पूर्वक दर्शन की इच्छा[2] करने वाले को अपना स्वरूप दिखाते हैं। उनके चरणों का चिन्तन करने से उनके चरणों में जाकर उन्हें देखता[4] है। उनका स्मरण[6] करने से वे सर्व शिरोमणि बना देते हैं। उन जगदीश्वर के जहाँ तहां सर्वत्र ही श्रवण, नेत्र, नासिका, मुख और रसना हैं। भाव रूप भुजा उनकी ओर बढ़ाने से वे भगवान् भुजाओं में भरके मिलते हैं अर्थात् अपना लेते हैं। वे प्रिय[5] प्रभु मेरे हृदय रूप ही हैं। उनको पहचानने पर वे पेट और पीठ अर्थात् आगे-पीछे सर्वत्र ही प्राप्त होते हैं, वे सबके निकट हैं, सबसे अलग हैं, उनका न+अंग[6] अर्थात् स्वरूप छिपा हुआ है। अज्ञानियों को नहीं भासता। नर के प्रेम से उसके नख से शिखा तक शरीर को व्याप्त करके दीवाल में चित्र[7] के समान रहते हैं किन्तु चर्म चक्षुओं से उसे नहीं दिखाई देते। जैसे गंधर्व नगर को आकाश[8]रूप स्थान में देखते हैं किन्तु उसे हाथ से नहीं पकड़ सकते, वैसे ही परब्रह्म को ज्ञानी ज्ञान-नेत्रों से देखते हैं किन्तु हाथ से नहीं पकड़ सकते।

२०० सन्त दर्शन । त्रिताल

आये मेरे प्यारे के प्यारे,

दर्शन देखि दृगन सुख पायो, नख शिख लौं ठारे ॥टेक॥

मंगल चार मुदित मन मेरे, मोहन मित्र पधारे ।

अंग अंग आनन्द अति बाढ़्यो, नेही नाह निहारे ॥१॥

परम पुनीत प्रीतम पति पेखत, पावन प्राण हमारे ।

सुख सागर सो सैंण[1] सनेही, मिलत महा दुख टारे ॥२॥

प्राण सु पीव जीव की जीवन, जोवत कारज सारे ।

श्रीपति सहित सकल वश जिनके, जन रज्जब शिर धारे ॥३॥८

संत-दर्शन जन्य आनन्द को प्रकट कर रहे हैं—मेरे प्रियतम प्रभु के प्यारे संत पधारे हैं । इनके दर्शन करके नेत्रों को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है और नख से शिखा तक सभी अंग शीतल हो गये हैं अर्थात् प्रसन्न हुये हैं । विश्व विमोहन प्रभु के मित्र संत पधारे हैं, इससे मेरे मन में प्रसन्नता है । और मंगल का व्यवहार हो रहा है । अपने स्वामी के स्नेही संतों को देखकर मेरे प्रति अंग में अति आनन्द बढ़ा है । अपने स्वामी के परम पुनीत प्रियतम संतों को देख कर हमारे प्राण पवित्र हो गये हैं । जो सुख-सागररूप हमारे सज्जन[1] हैं उन प्रभु के स्नेही संतों से मिलते ही हमारे दुःख हट गये हैं । ये संत प्राणों के स्वामी प्रभुरूप ही हैं, मेरे जीव को तो जीवनरूप ही हैं । देखते ही पाप निवृत्ति रूप कार्य सिद्ध करते हैं । लक्ष्मीपति भगवान् के सहित सब जिनके वश में हैं, उन संतों की चरण-रज हम शिर पर धारण करते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित नट नारायण राग १८ समाप्तः ।

अथ राग जैतश्री १९

(गायन समय दिन ३ से ६)

२०१ विरह-विनय । चौताल

दुखित वंत[1] कारण कंत, परम पीर[2] मन अधीर ।

नौसत[3] सब भूले चीर[4], नैनों नित स्रवत[5] नीर,

विरह वपु हंत[6] ॥टेक॥

दीरघ दुख रह्यो छाय, दुःसह अति सह्यो न जाय,

कासौं यहु कहूं माय, वैरी मैमंत[7] ।

दशवें कुल को लाग्यो नाग, देखि सखी मेरो भाग,
पिंड प्राण होत त्याग, नाहीं तंत[८] मंत[९] ॥१॥
बीचों बीच बहुत मार, तन मन शिर बहत धार,
प्यारे पिव बिन पुकार, शूल[१०] न जिये जंत[११] ।
रज्जब धन[१२] राखि लेहु, नारी को निरखि नेहु,
हरि उमंग[१३] दर्श देहु, लीजे नहिं अंत ॥२॥१

विरह पूर्वक दर्शनार्थ प्रार्थना कर रहे हैं—मैं अपने स्वामी के दर्शनार्थ अत्यन्त दुःखी प्राणी के समान[१] दुखी हूं । मेरे हृदय में महान् पीड़ा[२] है[४] मन अधीर हो रहा है । सब साधन रूप सोलह[३] शृंगार और वस्त्र, धारण करना भी भूल गई हूं । प्रति दिन नेत्रों से अश्रु टपकते[५] हैं । यह विरह शरीर को नष्ट[६] कर रहा है । मेरे सब शरीर पर महान् दुःख छाया हुआ है और यह अति दुःसह है, सहा नहीं जाता है । हे माई ! यह दुःख किससे कहूं ? विरह रूप वैरी बडा मदमत्त[७] है । देखो तो सही संत-सखि ! मेरा कैसा भाग्य है ? जो यह विरह दशवें कुल का नाग बनकर मुझे काटने लगा है । अब मेरे प्राण-पिंड का वियोग हो रहा है । इससे बचने का कोई तंत्र[८]-मंत्र[९] भी नहीं है । मेरे शरीर के मध्य हृदय-स्थान में बड़ी व्यथा है । मेरे शरीर, मन और शिर पर मानो करवत की धार चल रही हो ऐसा प्रतीत होता है । प्रियतम प्रभु के दर्शन बिना यह पीड़ा[१०] नहीं जायगी । मैं पुकार के कह रही हूं । मेरा जीव जारहा[११] है । प्रभो ! मुझ नारी का स्नेह देख कर तो अपनी नारी[१२] की रक्षा करो । हरे ! प्रसन्न[१३] होकर दर्शन दो अब मेरा अंत नहीं लो ।

२०२ अनन्यता । चौताल

पिय के प्रेम बांध्यो नेम, अवनि नीर नांहि सीर[१],
दह[२] दिशि पानी गंभीर,
पीवे नहीं ताल तीर, चित चातक जेम[३] ॥टेक॥
अंतरि गत यहु विचार, परसे[४] नहिं जग विकार,
सुमिरे हरि बारंबार, मन माने मति येम[५] ।
अंबुज[६] ज्यों अंबु[७] थान, मन मयंक रहै आन[८],
करै हो सुधा सु पान, तन मन गति तेम[९] ॥१॥
सीप ज्यों समुद्र वास, वारि बूंद सौं निराश ।
एक स्वाति सुरति प्यास, उर बोले नहिं हेम[१०] ।

रज्जब धन[11] धन्य भाव, वरत[12] बंध चित्त चाव,
मंगल मन मध्य गाव, सकल कुशल क्षेम ॥२॥२

अपनी अनन्यता प्रकट कर रहे हैं—प्रियतम प्रभु के प्रेम में मन ऐसे नियम पूर्वक बंधा है, जैसे[3] स्वाति विन्दु से चातक का चित्त बँधा रहता है। चातक पक्षी पृथ्वी पर पड़े हुये जल में साझा[1] नहीं करता, दशों[2] दिशाओं में ही गहरे जलके जलाशय भरे रहते हैं, किन्तु वह किसी तालाब के तट पर जाकर नहीं पीता। हमारे हृदय के भीतर भी यही विचार है, हमारा हृदय जगत् के विकारों को नहीं छूता[4], बारं बार हरि का स्मरण करता है, मन और बुद्धि भी ऐसे[5] ही संतोष मानते हैं। जैसे कमल[6] जल[7] के स्थान में रहता है किन्तु उसका मन चन्द्र रूप अन्य[8] स्थान में रहकर अमृत का पान करता है, ऐसे[9] ही हमारा शरीर तो संसार में रहता है किन्तु मन-बुद्धि प्रभु में रहते हैं। जैसे सीप समुद्र में रहती है किन्तु समुद्र के जल तथा अन्य जल विन्दुओं की आशा नहीं करती। उसे एक स्वाति विन्दु की ही प्यास रहती है। वैसे ही हमारी वृत्ति को हरि की ही अभिलाषा रहती है। हमारा हृदय कभी भी सुवर्ण[10] आदि सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये नहीं बोलता है। हमारी बुद्धि सुन्दरी[11] का भाव धन्यवाद के योग्य है। यह अनन्यतारूप व्रत[12] में बँधी हुई है, इस अनन्यता से चित्त में उत्साह रहता है। मन में मंगल गीतों का गायन होता रहता है। सब प्रकार आनन्द मंगल ही रहता है।

२०३ भक्ति-प्रेरणा। एक ताल

गोविन्द राखि सकल नाखि, सद्गुरु की श्रवणधारि,
वेद हु विलोकि चारि।
पंचन को पटकि मारि, सब संतन की साखि ॥टेक॥
ऐसो कछु[1] और नांहि, सेवा सम जगत मांहि,
जासों अघ दोष जांहि, निशि दिन सो भाखि।
जप ले जीव जगत मौर, अंतर गत अगम ठौर,
आतुर[2] दिन-रैन दौर, पहले ही पाखि[3] ॥१॥
चरण कमल बाँध नेह, जीवन धन सुमरि लेह,
सुत दारा त्यागि गेह, अमृत रस चाखि।
रज्जब भज भानि[4] भोल[5], भक्ति रूप आनि[6] मोल,
दीजे मन नंग[7] खोल, सौंधी शिर लागि ॥२॥३

भगवद् भक्ति करने की प्रेरणा कर रहे हैं—संपूर्ण वासनाओं को

हृदय से दूर डालकर, एक गोविन्द का चिन्तन ही रख, यह सद्गुरु की शिक्षा श्रवण करके धारण कर। चारों वेदों को भी देख, वे भी यही कहते हैं, पांचों ज्ञानेन्द्रियों को जीत कर भगवान् के स्वरूप में रख, यही सब संतों की साक्षी है। जगत् में ऐसा विलक्षण[1] साधन और नहीं है जो भक्ति के समान हो सके। जिस प्रभु के नाम के बोलने से पाप-दोष नष्ट हो जाते हैं, उसी नाम को व्याकुलता[2] से रात्रि-दिनबोल। अरे जीव! भोग-वासनाओं से दौड़ कर पहले ही पक्ष[3] अर्थात् युवावस्था में ही पुत्र, नारी और घर का प्रेम त्याग कर प्रभु के चरण-कमलों में स्नेह कर, अपने हृदय धन प्रभु का स्मरण करते हुये भजनामृत रस का आस्वादन कर, भोलेश्पन को नष्ट[4] करके भजन कर। विषय-वासना रूप गांठ से मनरूप नग[5] को खोलकर अर्थात् विषय-वासना से अलग कर और प्रभु को देकर के भक्ति का स्वरूप मोल ले[6]। अहंकार रूप शिर देने से तो भक्ति सस्ती ही मिल जाती है।

२०४ हरि मिलन। दादरा

गोविन्द पास सुख विलास[1], श्रवण सुखी सुनत बैन,
वदन[2] ज्योति[3] निरख नैन।
आतम राम मिलत चैन[4], मगन मुदित दास ॥टेक॥
परम पुंज[5] परत हाथ, विविध भांति भरत बाथ,
सर्व बोल सांई साथ, पूरण मन आश।
जीव ब्रह्म बनत खेल, रोम रोम करत केल[6],
रस रूप रेल पेल[7], पाये निधि वास ॥१॥
सकल कुशल[8] सांई संग, अति उच्छाह अंग अंग,
दर्श परस ह्वै अभंग, जन्म सफल तास।
जीवन मूरि हरि हजूरि, विमल रूप प्राण[9] पूरि,
रज्जब प्रकटे अंकूरि, आनन्द बारह मास ॥२॥४

हरि-मिलन जन्य सुख को प्रकट कर रहे हैं—गोविन्द के पास सुख और हर्ष[1] ही रहता है। उनके वचन सुनने से श्रवणों को सुख होता है। उनकी मुख[2]-कान्ति[3] को देखने से नेत्रों को सुख होता है। राम मिलन से जीवात्मा को आनन्द[4] प्राप्त होता है, दास का मन्न प्रसन्न होता है। श्रेष्ठता की राशि[5] हाथ में आ पड़ती है। विविध भांति अंक भर के प्रभु से मिलते हैं। प्रभु का साथ होते ही संत-शास्त्र के सभी वचन सार्थक होकर मन की आशा पूर्ण हो जाती है। जीव ब्रह्म के साथ रह कर निरंतर साक्षात्कार रूप

खेल खेलता है। रोम-रोम से ब्रह्म चिन्तन रूप क्रीड़ा[६] करता है। चिन्तन रूप रस की बाहुल्यता[७] हो जाती है वा आनन्द रस की अधिकता हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो रस-निधि का ही निवास मिल गया है। प्रभु के संग सब प्रकार मंगल[८] ही रहता है। अंग-अंग में अत्यधिक उत्साह होता है। अखंड दर्शन और चरण स्पर्श होता है। उस भक्त का तो जन्म सफल हो जाता है। जीवन जड़ी रूप हरि के पास उपस्थित रहने वाले प्राणी[९] को हरि का विमल स्वरूप सर्वत्र परिपूर्ण रूप से भासने लगता है। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान का अंकुर प्रकट होने पर बारह मास आनन्द ही आनन्द रहता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जैतश्री राग १९ समाप्त।

अथ राग धनाश्री २०

(गायन समय दिन ३ से ६)

२०५ आरती। त्रिताल

आरती तुम ऊपरि तेरी, मैं कछु नांहि कहा कहूं मेरी ॥टेक॥
भाव भक्ति सब तेरी दीन्ही, ताकरि सेव तुम्हारी कीन्ही ॥१॥
मन चित सुरति शब्द सब तेरा, सो तुम लेहु तुमहीं पर फेरा[१] ॥२॥
आतम उपजि सौंज[२] सब तुमसे, सेवा शक्ति नांहि कछु हमसे ॥३॥
तू अपनी आप प्राणपति पूजा, रज्जब नांहि करन को दूजा ॥४॥१

२०५-२०९ में निर्गुण ब्रह्म की आरती संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—प्रभो ! आपकी आरती आप पर ही होती है, मैं तो आप से भिन्न कुछ भी नहीं हूं, तब कैसे कह सकता हूं कि—यह मेरी बनाई हुई आरती है। श्रद्धा-भक्ति आदि सामग्री सभी आपकी ही दी हुई हैं, उसीसे मैंने आपकी सेवा की है। मन, चित्त, वृत्ति और शब्द, ये सब आपके ही हैं, सो आप ग्रहण करें, आप पर ही इनको निछावर[१] करता हूं। जीवात्मा में जो भी साधन-सामग्री[२] उत्पन्न हुई है, सो सब आपकी कृपा से हुई है। सेवा करने की शक्ति हम से तो कुछ भी उत्पन्न नहीं हुई है। प्रभो ! आप ही प्राणपति है और आप ही अपनी पूजा हैं। मैं पूजा करने वाला आपसे दूसरा नहीं हूं।

२०६। पंजाबी त्रिताल

आरती आतम राम तुम्हारी, तन मन सेवा सौंज[१] उतारी ॥टेक॥
दीपक दृष्टि गुरू की दीन्ही, घंटा घट धीरज ध्वनि कीन्ही ॥१॥
ध्यान धूप हित[२] को करि हारा, पाती पहुप अठारह भारा ॥२॥

नख शिख चंदन नान्हां[3] बांटै, केशर करनी[4] सौं हरि छांटै[5] ॥३॥
ऐसी विधि उर अंतर सेवा, जन रज्जब क्या जाने भेवा[6] ॥४॥२

आत्मस्वरूप राम आपकी आरती संतों ने तन, मन और सेवा-भक्ति रूप सामग्री[1] से उतारी है। गुरु की प्रदान की हुई ज्ञान दृष्टि ही उस सामग्री में दीपक है। शरीर रूप घंटा है, उसमें धैर्य रूप ध्वनि करी है, ध्यानरूप धूप जलाया है, प्रेम[2] रूप हार हरि को पहनाया है। अठारह भार वनस्पति रूप तुलसी पत्र और पुष्प चढ़ाये हैं। नख से शिखा तक शरीर का व्यवहार संयम द्वारा सूक्ष्म[3] बनाना ही चन्दन घिसा है और उसमें कर्तव्य[4] कर्म रूप केशर डाल के हरि के लगाते[5] हैं। इस प्रकार हृदय के भीतर ही संतों की सेवा-पूजा होती है। मैं उसका रहस्य[6] क्या जान सकता हूं।

२०७। त्रिताल

आरती अविगत[1] नाथ तुम्हारी,
कर कहा जाने सुरति हमारी ॥टेक॥
अपने पाट[2] प्रभु आप विराजैं,
सेवक उर आसन कहा साजैं ॥१॥
पहुप पान अंग[3] अंग[4] न मावैं[5],
हम कहा पाती प्रीति चढावैं ॥२॥
ज्योति प्रकाश सकल उजियारा,
ज्ञान अग्नि का दीपक जारा ॥३॥
शून्य[6] सरोवर सलिल अनंता,
काया कुंभ कहा भरे संता ॥४॥
अह निशि अनहद गोप्य[7] सु गाजै,
घंटा चामोधर[8] कहा बाजै ॥५॥
सकल सौंज[9] सांई कन[10] सांची,
रज्जब आरती कर हि सु काची ॥६॥३

मन इन्द्रियों के अविषय[1] प्रभो! हमारी वृत्ति आपकी आरती क्या कर जानती है? अर्थात् नहीं कर जानती। प्रभो! आप तो अपनी महिमा रूप सिंहासन[2] पर विराजते हैं, फिर सेवक अपने हृदय में क्या आसन सजायेगा? हे प्रिय[3]! पुष्प और तुलसी पत्र भी आपके स्वरूप[4] में स्थूल होने से नहीं समाते[5], तब हम प्रेम से क्या तुलसी पत्र चढ़ावें?

आपकी ज्ञान ज्योति के प्रकाश से सब विश्व में प्रकाश हो रहा है। इससे हमने भी ज्ञानाग्नि का ही दीपक हृदय में जलाया है, घृत-दीपक आपके योग्य कहां है ? ब्रह्मरन्ध्र[६] के पास सोम चक्र में अमृत-सरोवर है उससे अनन्त जल नीचे शरीर में आता ही रहता है। इसलिये संत जल का कलश आपकी सेवा के लिये क्या भरेंगे ?, दिन-रात अनाहत ध्वनिरूप गुप्त[७] बाजे बजते ही रहते हैं, तब घंटा और नगारा[८] क्या बजायेंगे ? प्रभु के पास[१०] सेवाकी सभी सामग्री[९] सच्ची है। हम जो आरती करते हैं वह तो कच्ची है।

२०८ । पंजाबी त्रिताल

आरती कहु कैसी विधि होई, सौंज[१] शिरोमणि सारी खोई ।।टेक।।
प्रथम पाट[२] उर बैठें औरै, परम पुरुष को नांही ठौरे ।।१।।
बामा[३] वायु बही बिच आई, ज्ञान दीप दिल दिया बुझाई ।।२।।
स्वाद शिला पर घण्टा फूटी, पवन[४] चंवर डांडी सुरति[५] छुटी ।।३।।
पाती प्रीति पहम[६] परिडारी, फहम[७] फूल की माल विसारी ।।४।।
चिंता चोर लिया चित चंदन, क्यों कीजे अरचा[८] प्रभु वन्दन[९] ।।५।।
ठाकुर खड़े खोड़ि[१०] को खड़िया,खोस्यो खल षट् पेड़ा पड़िया[११] ।।६।।
रज्जब मांगे सौंज सु दीजे, अन्तर्यामी आरती कीजे ।।७।।४

कहो ? प्रभु की आरती किस प्रकार करें ? आरती करने की श्रेष्ठ सामग्री[१] तो सब खो दी है। पहले तो हृदय रूप सिंहासन[२] पर कामादिक और ही अनेक बैठे हुये हैं, परम पुरुष प्रभो को बैठने के लिये स्थान ही नहीं है। नारी[३] आसक्ति रूप वायु हृदय के मध्य आकर जोर से चली है, उसने हृदय का ज्ञान-दीपक बुझा दिया है। स्वादरूप शिला पर घंटा फूट गया है। प्राण वायु[४]रूप चंवर की वृत्ति[५]रूप डंडी हाथ से छुट गई है अर्थात् श्वास के साथ वृत्ति नहीं है। प्रीतिरूप तुलसी-पत्र पृथ्वी[६] पर डाल दिया है अर्थात् पृथ्वी के पदार्थों और व्यक्तियों में प्रीति करली है। ज्ञान[७] रूप फूलों की माला भूल गये हैं अर्थात् ज्ञान-विचार नहीं रहा है। चिन्ता ने चित्तरूप चंदन चुरा लिया है। तब प्रभु की पूजा[८] और नमस्कार[९] कैसे करें। जैसे मूर्तिरूप[१०] ठाकुर खड़िया मिट्टीरूप चन्दन का तिलक लगाये खड़े हैं और उनके आगे पड़ा[११] हुआ पेड़ा अन्य लोग ही उठा लेते हैं, वैसे ही अजित-मन और पंच ज्ञानेन्द्रिय इन छः दुष्टों ने हमारी पूजा सामग्री छीन ली है। अन्तर्यामी प्रभो ! मैं मांग रहा हूं, मुझे आप अपनी पूजा की सामग्री प्रदान करें, जिससे मैं आपकी आरती कर सकूं।

२०६ । श्रद्धा

यूं आरती गुरु ऊपर कीजे, जामें आतम राम लहीजे ।।टेक।।
ज्ञान ध्यान गुरु मांहीं पाया, विषम[1] विषय सौं प्राण छुडाया ।।१।।
दुख दरिया मांहीं तैं काढे, नाम जहाज जीव ले चाढे ।।२।।
माया मोह काढि मन धोवैं, परम पवित्र गुरु तैं होवैं ।।३।।
जिन अंगों[2] प्राणपति सेवैं, ते सब अंग[3] गुरू दिल देवैं ।।४।।
गुरुप्रसाद परम पद पावैं, जन रज्जब जुग जुग बलि जावैं ।।५।।५

जिस गुरु के ज्ञान में स्थित होने से आत्मस्वरूप राम की प्राप्ति होती है, उन गुरुदेव की आरती इस प्रकार करनी चाहिए। गुरु के द्वारा ही ज्ञान-ध्यान प्राप्त हुआ है, गुरु ने कठिन[1] विषय-पाश से प्राणियों को छुड़ाया है। संसाररूप दुःख समुद्र से निकाल कर जीवों को प्रभु के नाम रूप जहाज में चढ़ाया है। मनको माया के मोह से निकाल कर उसका पापरूप मैल धोते हैं। गुरु के द्वारा प्राणी परम पवित्र हो जाते हैं। जिन लक्षणों[2] से प्राणपति प्रभु की सेवा की जाती है, वे सब लक्षण[3] गुरु देकर हृदय में स्थित करते हैं। गुरु की कृपा से ही प्राणी परम पद स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, उन गुरु की मैं प्रतियुग में बलिहारी जाता हूं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित धनाश्री राग २० समाप्तः ।।

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत
श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पद भाग समाप्तः ।।

अथ सवैया ग्रन्थ भाग ३

अथ श्री स्वामी दादू दयाल जी के भेंट के सवैये १

मनहर--भगवां जु भावै नांहि, विभूति लगावे नांहि,
पाखंड सुहावे नांहि, ऐसी कछु[1] चाल है।
टीका माला मानैं नांहि, जैन स्वांग जानैं नांहि,
प्रपंच प्रमानैं नांहि, ऐसा कछु हाल[2] है॥
सींगी मुद्रा सेवे नांहि, बौद्ध विधि लेवे नांहि,
भ्रम दिल देवे नांहि, ऐसा कछु ख्याल[3] है।
तुरकी तो खोदि गाड़ी, हिंदुन की हद छाड़ी,
अंतर अजर[4] मांडी[5], ऐसे दादू लाल[6] है॥१॥

अपने गुरुदेव दादूजी का व्यवहार बता रहे हैं—भगवां वस्त्र नहीं पहनते, भस्म नहीं लगाते, पाखंड उन्हें अच्छा नहीं लगता, उनकी ऐसी विलक्षण[1] रीति है। तिलक और माला से कल्याण नहीं मानते, जैनों के भेष को भी अच्छा नहीं जानते, प्रपंच का सम्मान नहीं करते, उनकी ऐसी विलक्षण दशा[2] है। सींगी-मुद्रा नहीं रखते, बौद्धों की विधि को ग्रहण नहीं करते, भ्रम में मन नहीं लगाते उनका ऐसा विलक्षण विचार[3] है। मुसलमानों की मर्यादा खोद गाड़ी अर्थात् छोड़ दी और हिन्दुओं की मर्यादा भी छोड़ दी है। हृदय के भीतर सदा स्थित एक-रस[4] ब्रह्म से ही वृत्ति लगाई[5] है। हमारे प्यारे[6] गुरुदेव दादूजी ऐसे रहे हैं।

निरपख निज अंग, मिले न काहू के संग,
रंग्यो जु हरी के रंग, हृदै हंस ज्ञान है।
चाल मांहि चाल काढ़ी, दोउ पक्ष रही ठाढ़ी[1],
लांबी ले अधिक बाढ़ी, प्रवीन विनान[2] है॥
नीच ऊंच छाड़ी दोय, आतमा लई जो जोय,
ऐसी विधि रमे सोय, अधिक समान है।
कबीर जैसे पंथ धायो, कीट भृंग होय गायो,
ऐसी विधि पति पायो, दादू जो सुजान है॥२॥

दादूजी की निष्पक्षता बता रहे हैं—दादूजी ने अपने शरीर में निष्पक्षता रखी है, वे किसी के संग नहीं मिले हैं, हरि-प्रेम रूप रंग में रँगे

हुये रहे हैं। उनके हृदय में सदा हंस के समान सार ग्रहण रूप ज्ञान रहा है, हिन्दू-मुसलमानों की पक्ष रूप चाल से ही उन्होंने निष्पक्ष चाल निकाली हैं। हिन्दू-मुसलमानों की दोनों पक्ष तो अपनी मर्यादा मैं ही स्थित[1] रही हैं और दादूजी ने तो निष्पक्षता रूप लम्बी चाल पकड़ी है और उसे अधिक बढाया है। वे आत्म विज्ञान[2] में बडे प्रवीण हैं, नीच-ऊंच दोनों ही भावना छोड़ दी है, आत्मा के वास्तव स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है। इस प्रकार निष्पक्ष संसार में विचरे हैं, परमार्थ पथ में अधिक चतुर हैं, कबीर के समान साधन-मार्ग में चले हैं। भृंग के शब्द से कीट भृंग हो जाता है, वैसे ही गुरु के शब्द मे जीव ब्रह्म हो जाता है। इस सिद्धान्त को निज मुख से कथन किया है। इस प्रकार बुद्धिमान् दादूजी ने प्रभु को प्राप्त किया है।

सवैया—बांईय[1] बंदन रिंद[2] निकंदन[3],
एकल[4] मल्ल अमिट्ट[5] करारो[6]।
रजा[7] पतिशाह गये युध[8] वाह[9],
अटै[10] न मिट्यो कहु खेत जुझारो[11]॥
चली सब हद्द सु आये बेहद्द में,
फोरि कियो दुहुं बीच दरारो।
रही रज[12] रेख सुनी शशि शेष,
हो[13] ऐसो भयो कलि दादु पियारो॥३॥

जिनने ज्ञान रूप तलवार[1] बांधी है, कामादि दुष्टों[2] का नाश[3] करने में अद्वितीय[4], अटल[5] और दृढ[6] पहलवान् हैं। प्रभुरूप बादशाह की आज्ञा[7] से योग-संग्राम[8] में जाकर धन्यवाद[9] ही प्राप्त किया है। ये महान् योद्धा[11] रणक्षेत्र में निर्भय घूमते[10] हैं, कहीं भी नहीं अटकते, कामादि से इनका ज्ञान नष्ट नहीं होता। इनसे सब प्रकार की जाति मर्यादा दूर चली गई हैं, बेहद स्थिति में आगये हैं। हिन्दू-मुसलमानों की जो जाति प्रथायें हैं उन दोनों की प्रथाओं को तोड़कर उन दोनों के बीच से दरार करके निष्पक्ष मध्य मार्ग से आगे निकल गये हैं। उनके ज्ञान-प्रकाश[12] की रेखा स्थिर रही है और जिनकी कीर्ति चन्द्रमा तथा शेष तक पहुँच जाने से उन दोनों ने भी श्रवण की है। हे[13] सज्जनो! वे हमारे प्यारे गुरुदेव दादूजी कलियुग में भी ऐसे महान् हुए हैं।

हिलै न चलै[1] न पिलै[2] न ठिलै[2],
ऐसो रोपि रह्यो बलबंड[3] विहारी।
अटै[4] न मिट्यो न बट्यो[5] न लुट्यो,
अजु[6] माया रु मान गये पचिहारी॥

हिलायो चलायो डुलायो न डोल ही,
देख हु साधु सुमेरु तें भारी ।
हो दादू व साधू व आदि अनादि शिरोमणि,
रज्जब देखि भयो बलिहारी ।।४।।

कामादि से हिलते नहीं, आशा से चंचल[1] नहीं होते, कर्म के धक्के से तथा दुर्जन के ढकेलने[2] से अपनी निष्ठा से हटते[2] नहीं हैं । ज्ञान बल के बली[3] हैं, पृथ्वी पर विचरते हैं किन्तु इस समय तो चौकी को पृथ्वी में रोपकर ऐसे स्थित हैं कि–हिलाने से हिलते नहीं, चलाने से चलते नहीं, और डुलाने से डुलते नहीं, संत जनो ! देखो तो सही ये गुरुदेव दादूजी तो आज सुमेरु से भी भारी हो गये हैं । ये जन्मादि संसार में भ्रमण[4] नहीं करते, काल के द्वारा मिटते नहीं । इनका मन विषयों में वितरित[5] नहीं होता । इनके ज्ञान-धन को कामादि नहीं लूट सके हैं । अजी[6] देखो, इनको जीतने के लिये माया और अभिमान पचकर इनसे हार गये हैं । हे संतजनो ! ये दादूजी तो सबके आदि अनादि सबके शिरोमणि ब्रह्मरूप ही हैं । मैं इस समय इनकी महान् शक्ति देखकर इन पर बलिहारी जाता हूं । प्रसंग कथा—नरेना ग्राम में एक दिन दादूजी चौकी पर स्नान कर के रज्जबजी से बोले–"रज्जब ! मेरी खड़ाऊ ले आओ जिससे पैर धूलि में नहीं हों ।" रज्जब बोले ! "आप चौकी पर ही विराजे रहैं, मैं चौकी सहित ही आपको आसन पर ले चलूंगा ।" दादूजी ने कहा–"नहीं खड़ाऊ ही ले आओ ।" किन्तु रज्जबजी ने अधिक आग्रह किया । तब दादूजी ने सोचा इसे बल का घमंड है और उसे तोड़ना मेरा कर्तव्य है, फिर वे मौन होकर चौकी पर ही बैठ गये । रज्जबजी ने अपना सब बल लगा दिया किन्तु चौकी उठना तो दूर रहा एक तिल भर भी नहीं हिली, तब उक्त सवैया बोलकर चरणों में पड़ गये और क्षमा मांगते हुये खड़ाऊ लाकर चरणों में पहना दी ।

दियो हरि आज गरीब को राज,
मिल्यो सब साज हो, छत्र छबीले[1] शीश विराजे[2] ।
जहां लग भानु तहां लग आन[3],
अगम्महुं जान शबद निशान[4], प्रकट हि बाजें ।।
उठे सब साल[5] दयूं[6] अरि काल,
रह्यो बिच लाल[7] हो ज्ञान गयंद[8] चढ्यो शिर गाजे ।
हो दादू को राज गरीब निवाज[9],
अनाथ की लाज हो रज्जब रंक के पूरण काजे ।।५।।

परम नम्र दादूजी को हरि ने इस समय हम साधक जनों का शासन रूप राज्य दिया है । इसमें हमें साधन रूप सभी साज मिल गये हैं ।

महान् शोभा-युक्त[1] दादूजी महाराज के शिर पर विवेकरूप छत्र सुशोभित[2] है, जहां तक सूर्य की गति है वहां तक दादूजी की विचार रूप दुहाई[3] फिरी हुई है, अर्थात् उनके निष्पक्ष विचार सर्वत्र व्यापक हैं। वे अगम ब्रह्म को जानते हैं। उनका शब्दरूप नगारा[4] प्रकट रूप से बज रहा है। उनके सब दुःख[5] हट गये हैं। उनने कालरूप शत्रु का दमन[6] कर दिया है। वे निरंतर प्रियतम[7] प्रभु के चिन्तन में ही लगे रहते हैं और ज्ञानरूप हाथी[8] पर चढ़े हुये साधक समूह में उपदेश रूप गर्जना करते हैं। हे सज्जनो! दादूजी का राज्य गरीबों पर कृपा[9] करने वाला है। अनाथों की लज्जा रखने वाला है। दादूजी के राज्य में मुझ रंक के तो सब कार्य पूर्ण हो गये हैं।

नौ लख तारों को तेज गयो चलि,
एक हि सूर की ताबहिं[1] देखत।
कोटिक गाय गई जु दशों दिशि,
एक हि सिंह की आँखिहु पेखत[2]॥
बाजे अनेक गये सुन वे सौं जु,
एक हि इन्द्र की घोर[3] हि लेखत[4]।
यूं लोक अनेक अकेले हैं दादूजी,
हो एक हि अंट घने खत[5] छेकत[6]॥६॥

जैसे एक ही सूर्य के प्रकाश[1] से नौ लाख तारों का प्रकाश छिप जाता है। एक ही सिंह की आंखें देखकर[2] कोटिन गाय दशों-दिशाओं में भाग जाती हैं। एक ही इन्द्र की गर्जना[3] से देखते[4] २ अनेक बाजे सुनने से रह जाते हैं। एक ही लेखनी का अंट अनेक पत्र[5] लिख[6] डालता है। वैसे ही दादूजी की विशेषता से अनेक लोकों की विशेषता छिप जाती है।

मन से मयमंत[1] उछोर[2] आकाश को,
फेरि परे नहिं ऐसे ते नाखे[3]।
नौ कुली नाग ज्यों कीलि करंड में,
ऐसे प्रकार इन्द्री अहि[4] राखे॥
शरीर सरोवर सूर ज्यों शोखे,
मनो दरियाव अगस्त ज्यों चाखे।
हो दादू दयाल कहूं कुन[5] ऊपम[6],
मेरे विचार बयन्न[7] में भाखे॥७॥

जिनने साधक जनों के मन रूप मस्त[1] हाथियों को ब्रह्मरूप आकाश में उछाला[2] है, वे पुनः माया रूप पृथ्वी में नहीं पड़ सकें, इस प्रकार उनको ब्रह्म में डाला[3] है। नागों के नौ कुलों में उत्पन्न सर्पों[4] को कील

कर करंड में रखते हैं, वैसे ही जिनने इन्द्रियों को अपने अधीन रक्खा है। जैसे समुद्र को अगस्त्य ने पान करके सुखा दिया था और जैसे सूर्य जल को सुखा देते हैं, वैसे ही शरीर के वासना जल को सुखा देते हैं। हे सज्जनो! उन दादू दयालु जी की मैं कौन-सी[५] उपमा[६] कहूं, मैंने मेरे विचारों के अनुसार ही वचन[७] कहे हैं।

एक[१] के एक[२] किये जु अनेक सौं,
पेखि पुरातन शोधि सगाई[३]।
अनन्त अनीति उठाय उर हु सौं जी,
आतम राम के पंथ चलाई।।
नारी पुरुष को नेह रह्यो[६] जग,
मानो हनूत[४] ने हाक सुनाई।
हो रज्जब दादू के कामन की कछु[७],
ब्योर[५] विचार कही नहिं जाई।।८।।

जीव-ब्रह्म के पुराने सम्बन्ध[३] को खोज कर अनेक जीवों को अद्वैत[१] ब्रह्म के परायण करके अद्वैत[२] ब्रह्म रूप ही कर दिया है। हृदयों से अनन्त अनीति उठाकर जीवात्माओं को राम की प्राप्ति के मार्ग में चलाया है। सिंहल द्वीप में हनुमान[४] अपनी हाक सुनाकर नरों को नपुंसक कर देते हैं तब नारी-पुरुष का कामुक प्रेम नहीं रहता किन्तु दादूजी के उपदेश से नपुंसक हुए बिना ही नारी-पुरुष का कामुक प्रेम रुक[६] जाता है। हे सज्जनो! दादूजी के अद्भुत[७] कार्यों के विचार पूर्वक विवरण[५] की बात नहीं कही जा सकती।

वेद कुरान को बोध विलोकि[१],
भरम्म करम्म में नांहि बह्यो[२] है।
भेषरु पक्ष रहे सब लखि[३] गये सब झखि[४],
निरखि निरंजन पंथ गह्यो है।।
अवतार अपार भये केई बार सु,
देखि तिन्हों दिशि नांहि चह्यो है।
हो[५] रज्जब रत्त अनन्त अनूपम,
दादू न दूजे को दण्ड सह्यो है।।९।।

वेद-कुरान के ज्ञान को देखकर[१] भ्रम मय कर्मों में प्रवृत्त[२] नहीं हुये हैं। भेष की पक्षपात वाले सब देखते[३] रह गये हैं तथा झींकते[४] रहे हैं किन्तु उनने तो उनको देख कर निरंजन ब्रह्म की प्राप्ति का ही साधन-मार्ग पकड़ा है। अनेक समयों में अनन्त अवतार हुये हैं, उनकी ओर

देखकर उन्हें भी नहीं चाहा है। हे[५] सज्जनो ! दादूजी ने दूसरे का दण्ड सहन नहीं किया है, वे तो अनन्त अनुपम ब्रह्म में ही अनुरक्त रहे हैं।

मरे हु जरे सु करे जु कटाछि में,
छाया[८] छबीले[१] की तेऊ न छीने[२] ।
नाम न ठाम[३] न गांव न ज्ञान में,
तेऊजी चुंबक ज्यों सब बीने[४] ॥
बहे जु रहे[६] जु गहे अपने कर,
काल के गाल से सो गहि लीने[५] ।
हो[६] दादू दयालु कृपालु कृपा करि,
रज्जब देख अचंभे[७] जु कीने ॥१०॥

जो आशा के मारे मरे हुये और कामादि से जरे हुये थे, उनको भी यदि अपने कृपा कटाक्ष में करे हैं अर्थात् उन पर भी कृपा की है तो वे भी उन ब्रह्म विद्या रूप शोभा से युक्त दादू[१] जी की शरण[८] में रहकर कामादि से क्षीण[२] नहीं हुये हैं। जिन अधिकारियों के नाम, धाम[३] और ग्राम ज्ञात न थे उनको भी संसार से ऐसे चुन[४] लिया है, जैसे चुंबक रेती से लोह कणों को चुन लेता है। जो संसार सरिता में बहे जा रहे थे उनको भी अपने उपदेश रूप हाथ से ग्रहण किया तब तब वे भी बहने से रुक[६] गये हैं और उनको काल के गाल से निकाल कर परमात्मा के स्वरूप के लीन[५] किया है। हे[६] सज्जनो ! देखो, दादू दयालु ने कृपा करके कैसे २ आश्चर्य[७] के काम करे हैं।

दादू सो दानि नहीं दृग देखत,
दुर्ग[१] दरिद्र को तोरनहारो ।
रंक सौं राणा भय दिशि देखत,
आपद फेरि तक्यो[२] नहिं द्वारो ॥
जासु कृपा करि ते भये ईश्वर[३],
नाम सो वित्त[४] चढ्यो[५] कर सारो[६] ।
हो रज्जब संत सुखो सब मंगत[७],
दादू मिले मन मंगल चारो[८] ॥११॥

दादू जी के समान दानी हम अपने नेत्रों से नहीं देख रहे हैं, दादू जी दरिद्रता रूप किले[१] को तोड़ने वाले हैं, जिनकी ओर दादू जी ने कृपा दृष्टि से देखा है, वे रंक होने पर भी राणा हो गये हैं, फिर तो विपत्ति ने उनके द्वार को भी नहीं देखा[२]। जिन पर भी कृपा करी है, वे समर्थ[३] हो गये हैं, जो नाम रूप धन[४] है सो सब का सब[६] उनके हाथ आगया[५] है। हे सज्जनो ! जो भी साधक-संत ज्ञानादि को मांगने[७] वाले थे वे

सब सुखी हो गये हैं। दादू जी के मिलने से मन में महान् मंगलाचार[८] हो रहा है।

नाम को ठांव[१] रु नीति को आगर[२],
ज्ञान की गंग 'बहै मुख मागं[३] ।
साँच की सींव[४] सु दृढ़ सुमेरु सो,
शील की साल[५] मंडी[६] सब आगै ॥
समाई समुद्र सुगंधि को चंदन,
पारस रूप सु मन करम लागै ।
हो[७] रज्जब राम दियो दत[८] दादु को,
अंग[९] अनन्त बड़े बड़ भागै ॥१२॥

नाम के घर[१] हैं और नीति की खानि[२] हैं, मुख-मार्ग[३] से ज्ञान-गंगा का प्रवाह बहता रहता है। सत्य की सोमा[४] हैं और सुमेरु पर्वत के समान सुदृढ़ हैं, शील रूप दुशाला[५] ओढते हैं और जिनका ब्रह्म निष्ठा रूप मंडप[६] सब से आगे है। समुद्र के समान समाई है अर्थात् गंभीर हैं। भक्ति रूप सुगंधि के तो चन्दन हो हैं। हमें तो मन कर्म से पारस रूप ही लगते हैं। हे[७] सज्जनो ! दादू जी को राम जो ने ही, यह महान् दान[८] दिया है। उनमें अनन्त शुभ लक्षण[९] हैं, वे बड़े ही बड़भागी हैं।

कवित्त--उपमा अनंत भाय[१], काहू पै कही न जाय,
कहै कहा जन[२] बनाय,
कौन अंग[३] के समान, दादूजी बखानिये ।
इन्द्र चन्द्र है समुद्र, एक एक मांहि द्वन्द,
तहां न आनन्दकंद,
मांड[४] में शोभा समान कोऊ नांहि जानिये ॥
पारस न पोरस सति, कामधेनु पशुगति[५],
तिन में न भजन मति,
सद्गुरु सम सत्यरूप, इन में क्या बानिये[६] ।
कछु[७] नांहि जगत मांहि, पटतर[८] को कहे जांहि,
ते न त्रिगुण मय[९] समांहि,
जन रज्जब गुरु गोविन्द, मन बच कर्म मानिये ॥१३॥

दादू जी के अनन्त भांति[१] की उपमा लगती हैं, जो किसी से कही भी नहीं जा सकती। मैं दास[२] बना कर कहूं भी तो क्या कहूँ ? किस शरीर[३] के समान दादू जी को कहूं ? इन्द्र, चन्द्र, समुद्र, आदि जो महान् हैं, उनमें एक न एक द्वन्द्व रूप उपद्रव रहता ही है अर्थात् ये निर्द्वन्द्व नहीं हैं।

आनन्दकन्द ब्रह्म का चिन्तन भी इनके हृदय में नहीं है। ब्रह्माण्ड[४] में दादू जी के समान शोभा युक्त कोई नहीं जानने में आता। पारस और पोरसा भी सत्य नहीं हैं, कामधेनु में पशु की-सी चेष्टा[५] है और उक्त तीनों में भजन करने की बुद्धि तो है ही नहीं। सद्गुरु के समान सत्यरूप इनमें कैसे सजाया[६] जा सकता है ? जगत में ऐसे विलक्षण[७] कोई भी नहीं हैं, जो दादू जी के समान[८] कहे जा सकें। वे दादू जी त्रिगुण रूप[९] संसार में तो समाते नहीं हैं, वे तो त्रिगुणातीत ब्रह्म में ही समायेंगे। तब त्रिगुण में समाने वालों की उपमा दादू जी को कैसे दी जाय ? अतः गुरु तो गोविन्द रूप ही हैं ऐसा ही मन, वचन, कर्म से मानना चाहिये।

सवैया—दादू गुरु के गुणों नहि अंत जु,
कौन समान सु अंग[१] बखानौं।
उर[२] उनचास सु अवनि अंकूर,
नक्षत्र न आगे नहीं नभ जानौं॥
बूंदन छेह सु वर्ष विरारत[३],
नीर हि तीर समुद्र समानौं।
हो रज्जब आभ[४] हु और ऋतु गत,
पवन को पार बहुत विलानौं॥१४॥

गुरुदेव दादू जी के गुणों का अंत नहीं है, उनका शरीर[१] किस के समान कहें ? उनचास कोटि पृथ्वी के अंकुर भी इधर[२] ही रह जाते हैं, उन से भी दादू जी के गुण अधिक हैं। निश्चय जानो आकाश में स्थित नक्षत्रों से भी दादू जी के गुण आगे हैं अर्थात् अधिक हैं। बादल वर्षा करके पृथ्वी पर डाल[३] देते हैं, तब विन्दुओं का भी अंत आ जाता है। जल भी समुद्र तट पर आकर समुद्र में समा जाता है। बादलों[४] का भी अंत वर्षा ऋतु जाने पर आ जाता है। वायु का भी जब वह चल कर विलीन हो जाता है तब अंत आ जाता है किन्तु हे सज्जनो ! दादू जी के गुणों का अंत नहीं आता।

बीनती कौन करे तुम सेती[१] जु,
कौन के भाव भयो तुम लायक[२]।
कौन कला गुरुदेव बुलाइये,
कौन के मुख बन्यो ऐसो बायक[३]॥
कौन के प्रीति प्रचंड[४] भई उर,
जा परि गौन[५] करे गछ[६] नायक[७]।
रज्जब रंक रिझावे कहा कहि,
आप सौं जानि चलो[८] सुखदायक॥१५॥

गुरुदेव ! आप से[1] कौन विनय करे, किसके हृदय में आप को प्रसन्न करने योग्य[2] भाव उत्पन्न हुआ है ? कौन-सी कला से गुरुदेव को बुलावें ? किसके मुख में ऐसा वचन[3] बना है ? जिसके सुनने से गुरुदेव पधार जाँय। किसके हृदय में तीव्र[4] प्रीति उत्पन्न हुई है ? जिससे प्रसन्न होकर चलने[6] वालों में श्रेष्ठ[7] दादूजी हमारी ओर गमन[5] कर सकें। मैं रंक आपको क्या कहकर प्रसन्न करूं ? सुखदाता गुरूदेव ! मेरे हृदय को जान कर आपके दयालु स्वभाव से ही मेरी ओर गमन[8] करैं।

मनहर—बीनती विकट[1] बात कैसे करूं गुरु तात[2],
सु कछुन मुख जीभ जाहि के बुलाइये।
तैसी नांहि भाव सेव जाहि रीझे गुरुदेव
प्रीति पानि[3] कौन आनि[4] ठौरते हिलाइये॥
सर्व अंग[5] हीन दीन चाकरी कदे न कीन्ह,
कौन भांति मान[6] तान[7] जोर के चलाइये।
कहत कह्यो न जाय रज्जब रह्यो न जाय,
दादूजी दयालु होय पयानो[8] दिलाइये॥१६॥

गुरुदेव ! आपसे विनय करना तो बड़ी[1] बात है, मैं आपका शिष्य[2] किस प्रकार विनय करूं ? मेरे मुख की जिह्वा से कुछ सुन्दर वचन भी तो नहीं निकलते, जिनके द्वारा विनय करके आपको बुलाया जाय। जिससे गुरूदेव प्रसन्न हों वैसी भावपूर्वक सेवा भी तो मेरी नहीं है। कौन प्रीतिरूप हाथ[3] से बुलाकर[4] उनको अपने स्थान से हिला सकता है ? अर्थात् ऐसी प्रीति किस में है ? सर्व शुभ लक्षण[5] से हीन मुझ दीन ने कभी भी सेवा नहीं करी हैं, तब कौन भांति सेवा का अभिमान[6] करके जोर के संभाषण[7] से उन्हें अपनी और चलाया जाय ? कहता हूं किन्तु उचित रूप से कहा नहीं जाता और बिना कहे रहा नहीं जाता। हे दादूजी ! आप ही दयालु होकर निज स्थान से गमन[8] करके मेरे यहाँ आने का वर दीजिये।

चौतीसा—दादुर पिक मोर सीप इन्द्र आशा सकल द्वीप,
चाहैं सब सुख समीप जीवन जग भावै।
तृण तरु बेल्यों विलास[1] किरण कुसुम[2] कुष्ट नाश,
चाहे जु चकोर दास कब मयंक[3] आवै॥
चकवा चकवी सुमित्त दृष्टि इष्ट[4] कमलकंत[5],
रवि प्रकाश रैन अंत जगत को जगावै।
तैसे दादू दयाल कीजो सबकी सँभाल,
दर्श परस[6] ह्वै निहाल[7] रज्जब सुख पावै॥१७॥

मेंढक, कोयल, मोर, सीप और सभी द्वीप वर्षा के लिये इन्द्र की

आशा करते हैं, सभी सुख की समीपता चाहते हैं, जगत् के प्राणियों को जीवन ही प्रिय लगता है। चन्द्रमा से तृण, वृक्ष, बेलियों को सुख[१] मिलता है, चन्द्र किरण से पुष्पों[२] का कुष्ट नाश होता है। चकोर रूप दास भी चाहता है कि कब चन्द्रमा[३] आवे। सूर्य प्रकाश से चकवा-चकवी सम्यक् मित्र बने रहते हैं, दृष्टि को रवि प्रकाश अनुकूल[४] है। कमल को स्वामी[५]वत प्रिय है, सूर्य प्रकाश रात्रि का अंत करके जगत् को जगाता है। वैसे ही हे दादू दयालो ! आप भी सबकी संभाल करें। दर्शन और चरण स्पर्श[६] से हम कृतार्थ[७] होकर सुख पावें ऐसी कृपा करें।

सेवक संतोष काज[१] परम पुरुष आये आज[२],
पूरे समस्त काज पावन मन कीन्हे।
जिन को जनों की लाज सो पधारे शीश ताज,
उपजे आनन्द राज पाप पुञ्ज[३] छीने॥
बैठाये नाम जहाज दिये हैं सकल साज[४],
पूरों की पूरी निवाज[५] राम नाम दीन्हे।
दीसे दीरघ साज[६] दादू गुरु गृह विराज[७],
संकट दुःख सकल भाज अपने करि लीन्हे॥१८॥

हम सेवकों के संतोष के लिये[१] ही इस समय[२] परम पुरुष दादूजी महाराज पधारे हैं और संपूर्ण कार्य पूर्ण करके हमारे मनों को पवित्र किया है। जो भक्तों की लज्जा रखते हैं, वे ही हमारे शिरमौर दादूजी पधारे हैं, उनके राज्य में सब प्रकार सबको आनन्द ही हुये हैं और पाप राशि[३] क्षीण हो गई है। शरणागतों को नामरूप जहाज में बैठाया है और मुक्ति के सब साधन[४] दिये हैं, पूरों की कृपा[५] भी पूरी ही होती है, इसलिये सबको राम के नाम ही प्रदान किये हैं। दादूजी के पास मुक्ति की महान् साधन-सामग्री[६] है, अतः गुरुदेव दादूजी के आश्रम पर रहने[७] से शरीर के संकट और मन के दुःख सभी भाग जाते हैं और वे गुरुदेव वहाँ रहने वालों को अपने ही बना लेते हैं, अंतराय कुछ भी नहीं रखते।

सवैया–

दादू दयालु के संग सदा दल[१], राम रंगीले[२] दशों दिशि ठाढे[३]।
जिनके सु प्रताप प्रपंच गये भजि, भेष भरम्म से मांड[४] सौं काढे॥
महा प्रचण्ड[८] निश्शंक निरंकुश, सहगुण[५] रूप सु शीश न चाढे।
रहत्ति[६] कहत्ति[७] सबै विधि समरथ, रज्जब राम भजन्न[६] सौं गाढे[१०]॥१६

दादू दयालुजी के संग सदा समूह[१] रहता है, राम के प्रेमी[२] दशों दिशाओं में खड़े[३] रहते हैं। जिनके सु प्रताप से प्रपंच भाग गये हैं और जिनने भेषादि भ्रम को ब्रह्माण्ड[४] की श्रेष्ठता से निकाल दिया है अर्थात् तुच्छ समझ लिया है। जिनका ज्ञान-तेज महान् प्रबल[८] है, जो निश्शंक

और निरंकुश हैं, सगुण[५] रूप को शिर पर नहीं चढ़ाते अर्थात् इष्ट देव नहीं मानते। रहनी[६]-कहनी[७] में सब प्रकार समर्थ हैं अर्थात् अपने व्यवहार और कथन में त्रुटि नहीं आने देते और राम भजन[९] में दृढ़[१०] रहते हैं।

दादू जी मातु बुलाय पिता हरि, बालक बाल सु[१] गोद सौं डारे।
सांई समीर[२] लियो घन दादु, चहुं दिशि चातक चित्त पुकारे॥
आदित्य आप सरोवर दादूजी, शोषत ही सफरी[३] शिष मारे।
हो[४] दादू के गमन दुखी शिष रज्जब, प्रीति प्रचंड[५] सु अंतर जारे॥२०

दादूजी रूप माता को हरि रूप पिता ने बुला लिया है, इसी से हम छोटे[१] बालकों को अपनी रक्षा रूप गोद से डाल कर चले गये हैं। प्रभु रूप वायु[२] ने दादूजी रूप बादल को खैंच लिया है अब हमारा चित्त रूप चातक चारों दिशाओं में दादू-घन के लिये पुकार रहा है। आदित्य रूप स्वयं प्रभु ने ही दादूजी रूप सरोवर को सुखा दिया है, जिससे शिष्य रूप मच्छियें[३] मारी गई हैं। सज्जनो[४]! दादूजी के गमन से हम शिष्य दुःखी हैं। उनकी तीव्र[५] प्रीति अंतर हृदय को जला रही है।

दीन दयालु दियो दुख दीनन, दादू सी दौलत हाथ सौं लीन्ही।
रोष अतीतन सौं जु कियो हरि, रोजो जु रंकन की जग छीनी॥
गरीब निवाज गरीब हते सब, संतन शूल जु अति गति दीन्ही।
हो रज्जब रोय कहै यहु काह जु, त्राहि त्राहि कहा यहु कीन्ही॥२१

दादूजी जैसी संपत्ति हमारे हाथ से लेकर दीन दयालु प्रभु ने हम दीनों को दुःख ही दिया है। हरि ने अतीतों पर कोप ही किया है। जो हम जैसे रंको की दादूजी रूप रोजी को जगत् से छीन लिया है। गरीब निवाज कहला कर भी सब गरीबों को मारा है और संतों को तो अति महान् दुःख ही दिया है। हे सज्जनो! मैं रोकर कहता हूं, यह क्या हुआ? हे प्रभो! आप हमारी रक्षा करो, रक्षा करो आपने यह क्या किया है?

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित श्री स्वामी दादूजी के भेंट के सवैये समाप्तः।

अथ श्री स्वामी गरीबदासजी के भेंट के सवैये २

दादू के पाट[१] दिपै[२] दिन हीं दिन, दास गरीब गोविन्द को प्यारो।
बाल जती रु जनम्म[३] को योगी जु, शूर सधीर महा मन सारो॥
उदार अपार सबै सुख दाता हो, संतन जीवन प्राण अधारो।
हो[४] रज्जब राम रच्यो जुग जानि के, पंथ को भार निवाहन हारो॥१

गोविन्द के प्यारे गरीबदासजी दादूजी की गद्दी[१] पर प्रतिदिन अधिक २ प्रकाशित[२] हो रहे हैं। ये बालयति हैं, जन्म[३] के योगी हैं, साधन-संग्राम में

शूर-वीर हैं, महान् धैर्य से युक्त हैं मन के पूरे हैं, अपार उदार हैं, सबको सुख दाता हैं, संतों के जीवन रूप तथा प्राणाधार हैं, हे[४] सज्जनो! इस कलियुग के समय को जानकर ही पंथ का भार निर्वाह करने वाले इन गरीबदास जी को रामजी ने उत्पन्न किया है।

दादु प्रसाद पुरातम[१] चीरी[२],
गरीब की गोय[३] गरीब के साथ है।
तीखे[४] तुरंग[५] चढ्यो मन चेतन[६],
ज्ञान चौगान सु हेत[७] को हाथ है॥
काया मैदान रु बंदगी[८] बंटो[९],
लिये सोइ जाय सु संतन आथि[१०] है।
हो[११] रज्जब पंच पचीस न पूजै[१२],
भई हरि हूंद[१३] दई दीनानाथ है॥२॥

दादूजी के कृपा प्रसाद से बहुत[१]-पहले ही विजय पत्र[२] प्राप्त है, इससे गरीबदासजी की वैराग्य रूप गेंद[३] गरीबदास के ही साथ है अर्थात् हृदय में वैराग्य बना ही रहता है। ये मन रूप प्रचंड[४] अश्व[५] पर सावधानता[६] से चढ़े हुये हैं, ज्ञान रूप चौगान में, प्रेम[७] रूप हाथ में लेकर वैराग्य रूप गेंद खेलते हैं और काया रूप मैदान के भक्ति[८] रूप भूमि भाग[९] में, उस वैराग्य रूप गेंद को जो संतों की पूंजी[१०] है, जीत कर लिये जा रहे हैं। हे[११] सज्जनो! पंच ज्ञानेन्द्रिय और पचीस प्रकृति उन्हें रोकने के लिये, उनके पास नहीं पहुँच[१२] सकतीं अर्थात् वैराग्य को शिथिल नहीं कर सकतीं। हरी की कृपा से सब द्वन्द्व रुक[१३] गये हैं और गरीबदासजी को दीनानाथ प्रभु ने विजय प्रदान करदी है अर्थात् वे हरि की कृपा से वैराग्य में पूरे रहे हैं।

मनहर–गरीब के गर्व नांहि दीन रूप दास मांहि,
आये न विमुख जांहि आनन्द को रूप है।
दादूजी के पाट[१] परि बैठाये जु आप हरि,
उपज्यो सु वीर घर भक्ति भूमि भूप है॥
यौवन में राख्यो जत पूजवान[२] पूरि मति,
राम रंग प्राण रत्त निर्मलो निकूप[३] है।
आतमा को रक्षपाल पठयो[४] जु दीन दयाल,
पंथ के तिलक भाल रज्जब अनूप है॥३॥२४

गरीबदासजी में गर्व नहीं है, दीनता रूप तथा दास भाव ही इनके भीतर हैं। इनके पास आये हुये विमुख नहीं जाते, उनकी इच्छा पूर्ण ही होती है, यह आनन्द रूप हैं। दादूजी की गद्दी[१] पर स्वयं हरि ने

ही इन्हें बैठाया है, यह दादूजी के पंथ रूप घर में साधक शूर उत्पन्न हुये हैं और भक्ति रूप भूमि के तो ये राजा ही हैं। यौवनावस्था में भी यति रहे हैं, पूर्ण बुद्धि और पूज्य[२] हैं, राम के प्रेम रूप रंग में इनके प्राण अनुरक्त हैं। निर्मलता के तो ये निरे[३]-कूप ही हैं। आत्मा के रक्षक हैं, इन्हें दीन दयालु प्रभु ने ही भेजा[४] है। यह पंथ रूप भाल के तिलक हैं और उपमा रहित हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गरीबदासजी के भेंट के सवैये समाप्तः।

अथ गुरुदेव का अंग ३

सीर[१] सु सतगुरु में सब शिष्यों को,
नीति की बात कही निरताई[२]।
साझो दियो गुरु देव सु ज्ञान में,
भाव रु भक्ति की खानि बँटाई[३]॥
दृष्टि सो ज्ञान दियो दत[४] दीरघ,
ज्योति में ज्योति लै[५] ज्योति जगाई।
हो[६] रज्जब भेल्यो[७] सुभाग में भाग तो,
छाजन[८] भोजन की कहा भाई॥१॥२५

सद्गुरु संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—सद्गुरु में सभी शिष्यों का साझा[१] है, विचार[२] करके ही यह नीति की बात कही है। गुरुदेव ने अपने ज्ञान में साझा दिया है और भाव तथा भक्ति की खानि वितरण[३] की है। अपनी ज्ञान-दृष्टि के समान ही हमें महान् ज्ञान का दान[४] दिया है। ब्रह्म ज्योति में आत्म ज्योति को लय[५] करके ब्रह्म ज्ञान रूप ज्योति जगाई है। हे[६] भाई! हमारा भाग्य तो गुरुदेव के सु भाग्य में मिल[७]-गया है, अब वस्त्र[८]-भोजन की क्या बात है? वे तो प्रारब्धानुसार आप ही मिलेंगे।

अथ विरह का अंग ४

उठी उर जागि विरह की आगि, गई मन लागि भई तन कारी[१]।
पीर[२] प्रचंड भई नव खंड जु, बीच विहंड[३] गई सुधि सारी॥
भई चकचाल[४] कहै विकराल, नहीं कछु हाल[५] सु लाज विसारी।
हो[६] रज्जब रोय कहै पिय जोय[७], दुखी अति होय वियोग की मारी।१

विरहावस्था का परिचय दे रहे हैं—हृदय में विरह रूप अग्नि जग उठा है और मन के लग गया है, जिससे शरीर काला[१] पड़ गया है। नव द्वार रूप नौ ओं खंडों में ही तीव्र पीड़ा[२] हो रही है, इस पीड़ा ने बीच ही

बीच में हनन[3] किया है, जिससे सब सुध चली गई है। मुझे चक्कर[4] आ रहा है और लोग विकराल कह रहे हैं। मेरी दशा[5] कुछ भी ठीक नहीं है, लज्जा को तो भूल ही गयी हूं। हे[6] प्रियतम ! मैं रोकर कह रही हूं मेरी ओर देखें[7] मैं वियोग की मारी अति दुःखी हो रही हूं मुझे दर्शन दें।

हो पीय वियोग तजे सब लोग, न भाव हिं भोग भई वन वासी।
भूषण भंग[1] दिगंबर अंग[2], रंगी इहिं रंग अनाथ उदासी॥
बैराग्य की रीत गई तन जीत, भई विपरीत दुखी दुख त्रासी।
हो[3] रज्जब राम मिले नहिं वाम[4], गये सब याम[5] कहो कब आसी॥२

हे सज्जनों ! प्रियतम के वियोग में व्यथित होकर मैंने सब लोगों को त्याग दिया है, भोग प्रिय नहीं लगते, वनवासी हो गई हूं। भूषण तोड़[1] डाले हैं, शरीर[2] के वस्त्र पटककर दिगम्बर हो रही हूं। इस प्रभु के प्रेम रूप रंग में रंगी हुई मैं अनाथा उदासीन होकर भटक रही हूँ। बैराग्य की रीति ने शरीर को जीत लिया, मेरी स्थिति बड़ी विपरीत हो रही है। मैं दुःखी होकर दुःख से अति व्यथित हूं। हे[3] संतो ! मुझ साधक-सुन्दरी[4] को राम तो मिले नहीं हैं और जीवन रात्रि के सब पहर[5] चले गये हैं। कहो तो सही वे प्रियतम प्रभु कब आयेंगे ?

दुखी दिन रात परी[1] विललात, कहूं किसे बात जनम्म ताती[2]।
जु मांड[3] के सुख भये सब दुःख,
बिना पिय मुःख सु विगसत[4] छाती॥
गई सब वयस[5] न आये नरेश जु, याही अंदेश[6] परी उर काती[7]।
हो[10] रज्जब कंत सु लेत है अंत जु,
हेत सु हंत[8] जरी जिय[9] जाती॥३

प्रियतम के बिना दिन रात दुःखी हूं, पड़ी[1] २ विलाप कर रही हूं, यह बात किससे कहूं मैं तो जन्म से संतप्त[2] हूं। जो ब्रह्माण्ड[3] के सुख हैं, वे सब तो मेरे लिये दुःख हो गये हैं, प्रियतम के मुख को देखे बिना छाती फट[4] रही है। मेरी सभी अवस्था[5] विलाप करते हुये चली गई है, किन्तु वे अखिल नरों के ईश्वर अभी तक नहीं आये हैं। इसी चिन्ता[6] से हृदय में कटार[7] पड़ने जैसी पीड़ा हो रही है। हे[10] संतो ! खेद[8] है प्रभु तो मेरा अंत ले रहे हैं मेरा हृदय[9] उनके प्रेम से जला जा रहा है और मैं मर रही हूं।

परी झर[1] मांहि जु निकसत नांहि,
विना वर[2] बांह[3] कहो कहा कीजे।
हो श्वास उश्वास रहैं किस पास जु,
देखि निराश नहीं घर धीजे[4]॥

पल पल पीर सु होत गंभीर,
धरैं कहँ धीर जु छिन छिन छीजे ।
हो रज्जब रट्ट[५] भई जरि मठ्ठ[६] जु,
पीय परठ्ठ[७] सु दर्शन दीजे ॥४॥

मैं विरह नदी के वेग[१] में पड़ गई हूं और निकल नहीं सकती हूँ, कहो, इस स्थिति में स्वामी[२] अपनी भुजा[३] से नहीं पकड़ें तब और क्या उपाय किया जाय ? अर्थात् प्रभु की भुजा बिना नहीं निकल सकती । हे संतो ! वे श्वास उश्वास किसके पास रहते हैं मेरे यहां नहीं आते? यह देखकर मैं निराश हो रही हूं । घर पर भी धैर्य[४] नहीं रहता है, प्रतिक्षण पीड़ा गहरी होती जा रही है । कहां धैर्य धारण किया जा सकता है ? आयु तो प्रति क्षण क्षीण हो रही है । हे प्रियतम ! मैं आपका नाम रटते[५] २ विरहाग्नि से जल कर काली[६] पड़ गई हूं, अब तो आप प्रसन्न[७] होकर दर्शन दें ।

हो ब्रह्म वियोग ब्रह्मण्ड में शोक,
लिये जिय[१] जोग सबै दिशि रोवैं ।
नहीं नभ धीर परै बहु नीर,
सही[२] उर पीर घटा तन खोवैं ॥
फिरै शशि भान[३] समीर[४] समान,
रहैं नहिं ठान[५] दशौं दिशि जोवैं[६] ।
गिरै गिर धार कहैं पतझार सु,
खोस[७] हिं बार[८] क्यों रज्जब गोवैं[९] ॥५॥

हे सज्जनो ! ब्रह्म के वियोग से सभी ब्रह्माण्ड में शोक छाया हुआ है । हृदय[१] में योग लेकर सभी दिशायें रो रही हैं । आकाश को धैर्य नहीं है, इसी से बहुत अश्रु-जल डाल रहा है, उसके हृदय में सच्ची[२] पीड़ा है, वह अपने घटा रूप शरीर को भी नष्ट कर देता है । चन्द्र-सूर्य[३] भी वायु[४] के समान प्रभु के लिये घूम रहे हैं, एक ठिकाने[५] नहीं रहते, दशों दिशाओं में प्रभु को देख[६] रहे हैं । पर्वतों से अश्रु-धारा गिर रही है । जिसे पतझर कहते हैं, वह वृक्षों का ब्रह्म वियोग जन्य दुःख ही है, दुःखी होकर ही पत्ते डालते हैं । जैन-साधक वियोग-व्यथा से अपने बाल[८] भी उखड़वाते[७] हैं । तब ऐसी दशा में वियोगी कैसे छिप[९] सकते हैं । सभी ब्रह्माण्ड ब्रह्म वियोग से व्यथित हैं ।

चौतीसा—हरि वियोग विघन मूल अंतरा[१] अनंत शूल[२],
पति परदे[३] पाप मूल[४] मन वच कर्म मानी ।
विरचि[५] बींद[६] विपत्ति हाल[७] गुपत कंत कीन्हों काल,
सन्मुख नांहि सु साल[८] सुन्दरी जिय जानी ॥

अबोलनो[९] अनीसु[१०] सार पीय पीठ बहत धार,
मन मरोर[११] मीच मार या सम नाहीं हानी ।
दीर्घ दुख दिल न ठौर तुपक[१२] तीर तरक[१३] त्यौर[१४],
बैन बाघ कहत और रज्जब धन[१५] भानी[१६] ॥६॥३१

हरि का वियोग विघ्नों का मूल हेतु है, उनका भेद[१] अनन्त दुख[२] दाता है । अपने और स्वामी के बीच में पड़दा[३] होने में पाप ही हेतु[४] है, यह बात मन, वचन और कर्म से मैंने मान ली है । स्वामी[६] ने उत्पन्न[५] करके विपत्ति की दशा[७] में डाल दिया है और गुप्त होकर स्वामी ने ही वियोग रूप काल खड़ा कर दिया है, स्वामी के सन्मुख न आने से बड़ा दुःख[८] है । यह मुझ साधक-सुन्दरी ने अपने हृदय में जान लिया है । प्रभु का न[९]-बोलना सार की अणी[१०] चुभने के समान है । प्रियतम के पीठ देते ही मानो हृदय में करवत की धार चल रही हो ऐसा दुःख होता है । मन को मरोड़[११] कर मृत्यु मार रही है । इस प्रभु-वियोगके समान अन्य हानि नहीं है, बड़ा दुःख है, हृदय को टिकाने के लिये कहीं भी स्थान नहीं है । उन प्रभु की त्याग[१३] की दृष्टि[१४] बन्दूक[१२] और बाण के आघात के समान हो रही है । दूसरे लोग जो वचन कहते हैं वे मानो बाघ बन कर खाने को आ रहे हैं । इस-प्रकार प्रभु-वियोग से मैं नारी[१५] मारी[१६] जा रही हूं ।

अथ शूरातन का अंग ५

जे परि शूर लहै सु महूरत, साहिब संग तहां शिर डारै ।
बाहर देखि खरो तिहि ठाहर शूर संग्राम मरै अरु मारै ॥
शरीर को सोच करै न डरै कछु आ रण मांहि अरयों[१] ललकारै ।
हो रज्जब राम के काम तजै तन ताहि निरंजन नाथ बधारै[२] ॥१॥

संत-शूर का परिचय दे रहे हैं—यदि संत-शूर को सु मुहूर्त्त मिल जाय अर्थात् योग संग्राम का सु अवसर मिल जाय तो स्वामी के साथ रहने के लिये वहां ही अपना अहंकार रूप शिर डाल देता है । प्रभु प्राप्ति के आन्तर साधन रूप स्थान में खड़ा रह कर बाहर कामादि दोषों को देखता है और वह संत-शूर योग-संग्राम में कामादि को मारकर, अपनी जीवत्त्व भावना से आप भी मरता है अर्थात् जीवत्त्व भावना को नष्ट करता है । शरीर की चिन्ता नहीं करता और न डरता ही है । रण में आकर शत्रु[१] समूह को ललकारता है । हे सज्जनो ! इस प्रकार राम के कार्य में शरीर त्यागता है, उसे ही निरंजन स्वामी बधाई[२] देते हैं ।

शब्द की सांगि[१] लगी जहिं अंग[२]
सु मारहुवी[३] सोइ स्वाद[४] हिं जानैं ।

ज्ञान की चोट रही नहिं ओट हो,
हाथ लही ये परचों पहचानैं ॥
सु बुद्धि को सेल गुरु गहि मेल[५] हो,
मारि लियो महा चंचल प्रानैं[६] ।
परचो सोइ घाव[६] गिरचो मन राव हो,
रज्जब पैंड[७] न छाड़ हि थानैं[८] ॥२॥

जिसके अन्तःकरण[२] में शब्द रूप शक्ति[१] लगकर उसका अच्छा आघात[३]-हुआ है, वही उसके आनन्द[४] को जानता है। ज्ञान की चोट लगने में मल विक्षेपादि कोई भी आड़ जिसके नहीं रही है, वही हृदय हाथ में झेल कर योग संग्राम में पड़ा हुआ अपने को पहचानता है। सु बुद्धि रूप सेल गुरु से ग्रहण करके अंतः करण में रक्खा[५] है जिससे महा चंचल प्राणों[६] को मार लिया है अर्थात् अपने अधीन कर लिया है। और उसी ज्ञान का आघात[६] पड़ा है जिससे मन रूप राजा भी योग-संग्राम में गिर गया है। अब यह मन ब्रह्म रूप स्थान[८] को छोड़ कर एक डग[७] भी नहीं जा सकता।

मनहर—सींगणी[१] सुमति काढि जेह[२] लें जुगति चाढि,
बैन बान धाय बाट सद्गुरु सहायई ।
कवच करम फोरि कुमति करि को तोरि,
निकस्यो है पैली[३] ओरि ऐसे कसि[४] बाहई[५] ॥
निज ठौर लाग्यो तीर लायो जी विवेकी वीर,
लागत रही न धीर पानी हु न चाहई ।
ऐसी विधि मारचो बान तन मन कियो घान[६],
अंतरि वेध्योजु प्रान[७] रज्जब अज्जब चोट रह्यो खेत[८] नाह[९]ई ॥३॥

जो[२] वीर सु बुद्धि रूप धनुष[१] को प्रमाद रूप कंधे से निकाल कर उस पर युक्ति पूर्वक वचन रूप बाण चढा लेते हैं, वह सद् गुरु रूप भुजा की सहायता से निष्काम मार्ग द्वारा दौड़ता हुआ अविवेक पर जाता है, उसके कर्म रूप कवच को तोड़ कर, कुबुद्धि रूप हाथी को मारता हुआ पर[३] पार निकल गया है। विवेकी-वीर ने ऐसे खेंच[४] कर बाण मारा[५] है, जो ठीक हृदय रूप निजस्थान पर लगा है। लगते ही भोगों को भोगने का धैर्य नहीं रहा है, उन्हें देखना रूप पानी भी नहीं चाहता है। इस प्रकार बाण मारा है कि—तन का अध्यास और मन का विषय राग तो नष्ट[६] कर ही दिया है। प्राणी[७] का आन्तर हृदय विद्ध हो गया है। इस अद्भुत चोट के लगते ही योग संग्राम[८] में एक प्रभु[९] ही रहे हैं अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार होने पर ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं भासता है।

गंभीर[1] धीर विरचि[2] वीर खेत में गलार[3] ही।
रोपि पाव युद्ध चाव[4] शूर वीर आये दाँव,
आप मरै मार ही॥
शरीर की सुरति[5] छाडि मृत[6] में अमल[7] चाढि,
पिशुन[8] जानि तेग काटि फेरि हू न बार[9] ही।
त्याग दे शरीर धाम रज्जब सु राम काम,
राख ही जु एक नाम सो कदे न हार ही॥४॥

गहरे[1] हृदय वाला धैर्य शाली वीर विषयोंसे विरक्त[2] होकर योग संग्राम में गर्ज[3] रहा है। संत-शूर-वीर युद्ध के उत्साह[4] से युद्ध स्थलमें पैर रोप कर स्थित है और दाँव आने पर कामादि को मार कर आप भी जीवत्त्व भाव से मर जाता है अर्थात् जीवत्त्व भाव को नष्ट करके ब्रह्म स्वरूप में स्थित होता है। शरीर का ध्यान[5] छोड़कर जीवित मृतक[6] (जीवन्मुक्त) स्थिति पर अधिकार[7] करता है। आसुर गुण रूप दुष्टों[8] को हृदय में जानकर पीछे नहीं हटाता[9], ज्ञान-तलवार से काट ही देता है। जो राम की प्राप्ति रूप काम के लिये शरीराध्यास और घर आदि को त्याग देता है, एक निरंजन राम का नाम ही हृदय में रखता है, वह कभी भी योग संग्राम में हारता नहीं है।

शूर सिंह छेरे[1] खाय ता सौं न कीजे उपाय[2],
देखत विहंडि[3] जाय सो न युद्ध कीजिये।
दारू[4] के भवन माँहि पावक ले संग जाँय,
तिनकी जु आश नाँहि बादि[5] ही जरीजिये॥
हिम गिरि के लागि कोट देत हैं निशान[6] चोट,
उबरहिंगे कौन ओट देखते गरीजिये।
तैसी विधि ह्वै अयान[7] साधु सौं न मांडि[8] ज्ञान,
रज्जब की सुनहु कान चिन्ता मन मध्य माग[9]
काल को न लीजिये॥५॥

सिंह को छेड़ने[1] से वह खा जाता है, इसलिये उससे किसी प्रकार की युक्ति[2] से भी छेड़-छोड़ नहीं करना चाहिये। शूर-वीर को छेड़ने से भी देखते २ ही उसके हाथ से नष्ट[3] हो जाता है, सो उससे भी युद्ध नहीं करना चाहिये। जो बारुद[4] के मकान में अग्नि साथ लेकर जाते हैं, उनके जीवित रहने की आशा नहीं रहती, वे व्यर्थ[5] ही जल जाते हैं। हिमगिरि के कोट के नजदीक लग कर रण बाजों[6] पर चोट लगाते हैं अर्थात् नगाड़ा आदि बजाते हैं तो किस की ओट उबरेंगे? वे तो देखते २ ही हिम से दब कर गल जाँयगे। उसी प्रकार अज्ञानी[7] होकर साधु

से ज्ञान का विवाद रूप युद्ध न करें[८], मेरी बात कान देकर सुनें, मन में विषयों का चिन्तन कर के काल का मार्ग[९] न पकड़ें।

भजें संसार लगै न पुकार न होई करार[१],
लहै न विचार हो नाम अपार सु एक लहैगो।
पक्षी हजार उडैं सब डार सु आवन हार,
रहै न करार[२] अकाश अनल ज्यों एक रहैगो॥
चले बहु संग सु देखन जंग न आव ही अंग[३],
ह्वै मूरति भंग सती ज्यों सलौ[४] कोई एक रहैगो।
चले बहु पूर[५] सु बाज हि तूर[६] गये भग[७] भूर[८],
रहे रण शूर हो रज्जब राम को एक कहैगो॥६॥३७॥

संसार के भोगों के लिये सभी प्राणी प्रभु को भजते हैं किन्तु उनकी पुकार प्रभु क कान के समीप नहीं लगती, न कोई उसके सुनने की शर्त[१] ही होती है कारण—वे विचार पूर्वक भजन करने की योग्यता प्राप्त नहीं करते, संसार में ही फँसे रहकर कामना पूर्ति करना चाहते हैं। विचार पूर्वक नाम का भजन करके तो उस अपार ब्रह्म को कोई एक विरला ही प्राप्त करेगा। हजारों पक्षी हैं सभी आकाश में उड़ते हुये वृक्षों की शाखाओं पर जाते हैं किन्तु उन शाखाओं पर आने वाले पक्षियों की आकाश में स्थिरता[२] का कोई नियत समय नहीं होता, आकाश में अनल पक्षी ही स्थिर रहता है। वैसे ही प्रभु में वृत्ति लगाने वाले तो बहुत होते हैं किन्तु अनल पक्षी के समान ब्रह्म स्वरूप में स्थिर कोई एक ही रहता है। युद्ध देखने को बहुत से साथ जाते हैं किन्तु जिनके शरीर[३] पीछे न आवें, मूर्ति वीरता के साथ युद्ध में ही नष्ट हो जाय, ऐसे वीर सब नहीं होते। वैसे ही प्रभु-प्राप्ति के लिये मरण से न डरें ऐसे साधक सब नहीं होते। सती के साथ श्मशान में बहुत-से जाते हैं किन्तु एक सती ही चिता[४] को ग्रहण करती है। उस सती के समान मरण स्वीकार करके कोई एक ही प्रभु को प्राप्त करने का साहस करता है। युद्ध में बहुत-सा समूह[५] जाता है किन्तु रण वाद्य[६] बजते ही बहुत[८]-से भाग[७] जाते हैं और रण-शूर रह जाते हैं। हे सज्जनो ! ऐसे ही योग-संग्राम में बहुत-से आते हैं किन्तु कोई विरला ही कामादि को जीत कर राम-नाम कहता हुआ राम को प्राप्त करता है।

अथ साधु का अंग ६

साधु की दृष्टि सौं साधु को देखिये
जे हौंहि आंखि सौं आखिन सानी।
दीप उपदीप सौं दीपक पेखिये प्राणि पतंग ने ज्योति यूं जानी॥

चन्द्र सु कांति लखै चखि चन्द्र हिं चाहि चकोर सुधा रति मानी ।
हो रज्जब सूर हिं सूर दिखावत बात सु परकट है नहिं छानी ।।१

साधु संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—साधु की दृष्टि से साधु को देखा जाता है, यदि साधु की-सी दृष्टि होती है तो आँखों से आँखें मिलते ही पहचान हो जाती है । प्रज्वलित दीपक से दीपक देखा जाता है । ऐसे ही अर्थात् प्रदीप्त होने से ही पतंग ज्योति को जानता है और प्रख्यात होने से ही प्राणी संत को जानता है । चन्द्र की सुकांति से ही चकोर अपने नेत्रों से चन्द्रमा को देखकर ही चन्द्रामृत के पान में प्रीति करना स्वीकार करता है । हे सज्जनो ! सूर्य को सूर्य का प्रकाश ही दिखाता है, यह बात सु प्रकट है, छिपी हुई नहीं है । वैसे ही संत की योग्यता ही संत को दिखाती है ।

संत प्रताप मिलै जिव संतन, पाव[1] पसाव बिना नहिं पावै ।
कमल की वास गई सु अली[2] कनै[3], संग सुगंधि तहां अलि आवै ।।
शीतल अंग महा स्रक्[4] सौरभ[5], पाय सु परिमल[6] को अहि[7] धावै ।
हो रज्जब देखि हँस्या बल चुंबक, सूती सुई सुरति अंग[8] लावै ।।२

कमल की सुगंध भ्रमर[2] के पास[3] जाती है तब उस सुगंध के साथ भ्रमर कमल पर आता है । शरीर को शीतल करने वाली चन्दन[4] की महान् सुगंध[5] को प्राप्त करके ही सुगंध[6] के लिये सर्प[7] दौड़कर चन्दन पर आता है । चुंबक की शक्ति से सूई खिचकर चुंबक के आ लगती है । वैसे ही संतों के प्रताप से ही जीव संतों से मिलता है । संतों की कृपा बिना संतों के चरणों[1] को नहीं प्राप्त कर सकता । हे सज्जनो ! संत शक्ति को देख कर मुझे हर्ष से हँसी आ रही है कि-वे मोह-निन्द्रा में प्रसुप्त वृत्ति को जगा कर स्वस्वरूप[8] ब्रह्म में लगा देते हैं ।

साधु मिले तो सुधा रस पीजिये, आतम आनँद होत अपारो ।
ज्यों शशि देखि सु मुदित कुमोदिनि,
कूंची के लागे खुले जु किवारो ।।
हो सीप को संपुट स्वाति सौं ऊघरे[1], रोजा खुले जब देखिये तारो ।
हो रज्जब रैन गई चकवा की ज्यों,
आय मिल्यो मानो सूर पियारो ।।३

संत मिल जाँय तो उनका उपदेश रूप अमृत-रस अवश्य पान करना चाहिये । उससे जीवात्मा को अपार आनन्द प्राप्त होता है । जैसे चन्द्रमा को देखकर कुमोदिनी प्रसन्न होती है । ताले में कूंची लगते ही द्वार खुल जाता है । स्वाति को देखकर सीप का संपुट खुल[1]-जाता है । तारे को देख कर रोजा खुलता है । रात्रि के जाने पर और सूर्य के आने पर

चकवा-चकवी मिल कर प्रसन्न होते हैं। वैसे ही संतों के मिलने पर मानो प्रियतम प्रभु ही मिल गये हों ऐसा आनन्द होता है।

साधु समागम होत हि पाइये, राम को नाम शिरोमणि साचो।
निर्मल ज्ञान गोविन्द को ऊपजे, कंचन होत पलट्टि के काचो॥
तार्महि फेर न सार मनः कर्म, साधु के संग कोई नर राचो।
हो रज्जब सुःख सदा सत संगति, जीव हि लागे नहीं यम आंचो[1]॥४

साधु-समागम होते ही कल्याण का सच्चा और सर्व श्रेष्ठ साधन राम का नाम प्राप्त होता है। गोविन्द के स्वरूप का निर्मल ज्ञान हृदय में उत्पन्न होता है। काच के समान प्राणी बदल कर कंचन के समान श्रेष्ठ बन जाता है। उस साधु संग की महिमा में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, हम मन, वचन, कर्म से कहते हैं वह सार रूप है। साधु-संग में कोई भी नर अनुरक्त होवे, सत्संगति में सदा सुख ही प्राप्त होता है और यम से होने वाला दुःख[1] जीव को नहीं होता है।

पाप प्रचंड कटैं सत संगति, पानी पाषाण सौं पाप न जाँहीं।
चन्दन संग सुगंध बनी सब, निम्ब सुगंध न बाग हु माँहीं॥
चुंबक चाहि सूई सब चेतन, सो बल और पाषाण हुं नांहीं।
पारस लागि सुपलटत लोह ज्यों, रज्जब त्यों न सुमेरु शिलाहीं॥५

सत्संगति से प्रचंड पाप भी नष्ट हो जाते हैं और, जल एवं पाषाण से पाप नष्ट नहीं होते। चन्दन के संग से वन सुगंधित हो जाता है किन्तु नीम की सुगंध एक बाग में भी नहीं फैलती। चुंबक पत्थर की इच्छा से सब सुई चेतन होकर चुंबक से जा मिलती हैं, वह शक्ति अन्य पत्थरों में नहीं होती है। जैसे पारस से स्पर्श होते ही लोहा बदल जाता है, वैसे सुमेरु की स्वर्ण शिला से नहीं बदलता है। ऐसे ही सत्संग से जो लाभ होता है, वह अन्य से नहीं होता।

साधु सवित्त[1] सौं काम सरै सब, नांहि अवित्त सौं कारज सीझै[2]।
सनीर सरोवर प्राणि सुखी सब, सूखे सरोवर में कहा पीजे॥
वर्षत वारि भले सोई बादर, नांहि जु नीर घटा कहा कीजे।
हो रज्जब धाह[3] सु पाथर[4] प्यारो, पै नीरस[5] धाह[6] पाषाण न लीजे॥६

ज्ञान-भक्ति आदि धन[1]-से-युक्त साधु से सब काम सिद्ध होते हैं। उक्त धन से रहित साधु से कार्य सिद्ध[2] नहीं होता। जल सहित सरोवर से तो जलपान करके सब प्राणी सुखी होते हैं सूखे सरोवर से क्या पान किया जाय? जो बादल वर्षते हैं वे ही अच्छे हैं, जिसमें जल नहीं उस घटा का क्या किया जाय? जो भोगों के लिये जोर से चिल्ला[3] कर रोते-पीटते हैं,

उन्हें ही मूर्ति रूप पत्थर[४] वा हीरा आदि पत्थर अति प्यारे लगते हैं किंतु जो विरक्त[५] संत है वह चिल्ला[६]-कर पत्थर को नहीं अपनाता ।

सुध बुध[१] आप भजै भगवंतहिं, श्रेष्ठ सु काज अनन्त के सारै[२] ।
विप्र की मींच भई अपने जियै[३], शूर संग्राम किते नर मारै ।।
पावक आप पचै[४] जु पतंगा हो, चूहे को आगि घने घर जारै ।
हो रज्जब पान तिरे अपने अंग, वोहिथ वीर बहुत वपु तारै ।७।४४

शुद्ध बुद्धि[१]-साधारण नर तो भगवद् भजन करके अपना ही मुक्ति रूप कार्य सिद्ध करता है किन्तु श्रेष्ठ संत अनेकों का मुक्ति रूप कार्य सिद्ध[२] करके मुक्त होते हैं । ब्राह्मण की तो मृत्यु अपने मन[३] से अर्थात् अपने आप ही हो जाती है किन्तु शूर-वीर तो संग्राम में बहुतों को मार कर मरता है । पतंग तो अग्नि में जाकर आप ही जल[४]-जाता है किन्तु चूहा जलते हुये दीपक की बत्ती को पीछे से पकड़ कर छप्पर में जाता है तब वह अग्नि बहुत से घर जला डालता है । पत्ता तो अपने आकार रूप शरीर से ही तैरता है किन्तु जहाज तो बहुत से शरीरों को तारता है । वैसे ही ज्ञान वीर संत बहुतों का उद्धार करते हैं ।

अथ साधु मिलाप मंगल उच्छाह का अङ्ग ७

देश दिशा धनि[१] भूमि सो अस्थल[२], जा परि जीवन संत विराजै ।
दरश रु परस[३] कटै सब पातक, काल जंजाल[४] सु निरखत भाजै ।।
प्रेम कथा सुन होंहि सुखी सब, नाम निशान[५] सु परकट बाजै ।
हो रज्जब भागउदै मिल साधु सौं, संत प्रताप सदा सब गाजै[६] ।।१

संत मिलन से होने वाले मंगल उत्साह का परिचय दे रहे हैं—वह देश, दिशा, भूमि और स्थान[२] धन्य[१] हैं, जिस पर जीवों के जीवन रूप संत विराजते हैं । संतों के दर्शन और चरण स्पर्श[३] से सब पाप नष्ट हो जाते हैं तथा संतों के दर्शन से जीव काल और जगत्[४] जाल से मुक्त हो जाता है । संतों से प्रभु-प्रेम की कथा सुनकर सभी सुखी होते हैं । संतों के स्थान पर प्रभु का नाम रूप नगाड़ा[५] प्रकट रूप से बजता ही रहता है अर्थात् नाम ध्वनि होती ही रहती है । हे प्राणी ! संत से मिलने पर भाग्योदय होता है । संतों के सत्संग में जाने वाले सदा हर्षित[६] रहते हैं ।

ज्ञान के थान विवेक के बासन[१], देश दया के दया करि आये ।
आनन्द कंद[२] विलास[३] की राशि, सुखहु के समुद्र सु भाग्य सौं पाये ।।
भक्तिकी भूमि भंडार भजन्न[४] के, प्रेम के पुंज मिले मन भाये[५] ।
प्राण के प्राण रु जीव को जीवन, रज्जब देखि सुदर्श अघाये[६] ।।२

ज्ञान के स्थान, विवेक के बरतन[1] और दया के देश रूप संत दया करके पधारे हैं। ब्रह्मानन्द के मूल[2] हेतु, हर्ष[3] की राशि, सुख के समुद्र रूप संत भाग्य से प्राप्त हुये हैं। भक्ति की भूमि, भजन[4] के भंडार, प्रेम के पुंज, मन को प्रिय[5] लगने वाले संत मिले हैं। संत प्राणों के प्राण हैं, जीव की जीवन रूप हैं। हम संतों के दर्शन करके ही तृप्त[6] हुये हैं।

उत्तम ठौर अतीत[1] को वास जु, साधु समाय[2] न मध्यम[3] के घर।
मानसरोवर सी निधि छाड़ि के, हंस रहै कत[4] आय थली[5] पर ॥
विविध प्रकारके बाग बिना अलि[6], केतक[7] बेर व्है कैर कली पर।
कोकिल कीर आंबे रचै[8] रज्जब, नांहि समागम आकहु के सर[9]।३।४७

हंस मान सरोवर जैसी निधि को छोड़कर मरुस्थल[5] में जाकर किस[4]-लिए रहेगा? नाना प्रकार के पुष्पों के बाग बिना भ्रमर[6] कैर वृक्ष के पष्पु की कली पर कितनी[7] देर स्थिर होकर ठहरेगा? कोयल और शुक पक्षी आम वृक्ष में ही अनुरक्त[8] होते हैं, आकड़े की शाखा रूप शिर[9] पर उनका समागम नहीं होता। वैसे ही विरक्त[1] संत उत्तम जनों के स्थान पर ही निवास करते हैं, हीन[3] जनों के घर में प्रवेश[2] नहीं करते।

अथ उपदेश का अंग ८

आप सौं होय सो तो कछु कीजिये, जो बन होय सु रामके सारै[1]।
सूर हि दोस न नैन मुंदे पर, जोलौं न प्राणिसु पलक उघारै[2] ॥
मेघ सु मान[3] कहो कहा कीजिये, जो खेत कि सौंज[4] किसान न धारै[5]।
हो रज्जब त्यों सुन सुकृत बाहिरै[6], साहिब साधु कहो कैसे तारै ॥१

उपदेश संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—अपने से हो सके वह तो परमार्थ कुछ करना ही चाहिये और जो बन जाय, उसे समझना चाहिये कि यह राम के अनुग्रह से ही सिद्ध[1] हुआ है। प्राणी जब तक नेत्र की पलक नहीं खोले[2], नेत्र बन्द रक्खे तब प्रकाश न मिलने का दोष सूर्य का नहीं होता। यदि किसान खेत की सामग्री[4] विचार[5] पूर्वक तैयार न करे तब कहो इसमें बादल का घमंड[3] करना क्या कहा जाय? वैसे ही उपदेश सुन कर भी सुकृत से वहिर्मुख[6] रहे अर्थात् सुकृत नहीं करे तब उसे प्रभु और संत कैसे तारेंगे?

आरन[1] काढ़े सौं सार[2] व्है शीतल,
सार की आगि सु औषधि मारिये।
बंबूर के बिछुरे बीज ह्वै चीकनो,
बीच अंकूर सु पावक जारिये ॥

सालरि बाढ्यां[3] रहो[4] बढिबे सौं जु,
ऊगिबो जाय जे छ्यूंत[5] उतारिये ।
हो[6] रज्जब सुःख कुटुम्ब के छाड़े,
कुबुद्धि के छाडे सौं कारज सारिये[7] ॥२॥

अहरन[1] से अलग हटाने से लोहा[2] शीतल हो जाता है किन्तु लोहे के भीतर की गरमी रूप अग्नि तो सु औषधियों से ही मारा जाता है। बंबूर से अलग होने पर उसका बीज चिकना तो हो जाता है किन्तु उसकी उगने की शक्ति रूप अंकुर तो अग्नि से भून कर ही जलाया जाता है। सालर वृक्ष की शाखा काट[3]-कर अलग डालने पर वढने से तो रुक[4] जाती है किन्तु उसका पुनः उगना तो छाल[5] उतारें तब ही नष्ट होता है। वैसे ही हे[6] सज्जनो! कुटुम्ब के छोड़ने से सुख तो होता है किन्तु मुक्ति रूप कार्य तो कुबुद्धि को छोड़ने से ही सिद्ध[7] होता है।

शरीर को नाश करै सु संन्यासी जु, जोगी सोई जुगति सु विचारै ।
दरवेश सोई जिहिं देह न व्यापै, बौद्ध सोई जो वपु सु विसारै ॥
भक्त सोई सब भूले बिना हरि, जैन सोई जोई जीव उधारै[1] ।
ऐसे ही ज्ञानि मिले भगवंत हिं, रज्जब राम न स्वांग[2] सौं तारै ॥३

शरीर का राग नाश करता है वही संन्यासी है। युक्ति पूर्वक प्रभु मिलन के साधन का विचार करता है वही योगी है। जिसे देहाध्यास नहीं व्यापता वही दरवेश है। जो शरीर को भूल जाता है वही बौद्ध है। हरि के बिना सबको भूल जाता है वही भक्त है। जो जीवों की रक्षा[1] करता है वही जैन है। ऐसे ही जो भगवत् स्वरूप में मिल जाता है वही ज्ञानी है। किसी प्रकार के भेष[2] को धारण करने से राम जी संसार से नहीं तारते साधन से ही तारते हैं। अतः साधन संतत करना चाहिये।

देह धरैं[1] तन में मन निश्चल, तीन प्रकार प्रकट ही पेखतु[2] ।
अतिगति[3] शीत सरोवर बेधत[4], पानी पषान सो आहि[5] विशेषतु ॥
ज्यों अश्व उभो[7] रहै जटि[8] चुंबक, चाल रु दौड़ नहीं कछु देखतु ।
मूसो[9] जु पारा पिय पग पंगुल, रज्जब राम रमैं लिये लेखतु[10] ॥४

शरीर धारण[1] करते हैं, उनका मन तन में तीन प्रकार से निश्चल होता है, यह प्रकट रूप से ही देखा[2] जाता है। एक तो जैसे अत्यधिक[3] शीत से सरोवर विद्ध[4] होता है तब पानी विशेष[5] रूप से पत्थर-सा होकर स्थित हो जाता है[5] किन्तु धूप लगने पर पुनः पानी होकर चंचल हो जाता है। वैसे ही भय से किसी पर मन स्थिर हो जाता है किन्तु भय जाते ही पुनः चंचल हो

जाता है। दूसरे जैसे चुंबक पत्थर पर लोहे की नाल लगा घोड़े का पैर पड़ जाता है तब तत्काल पत्थर पर नाल जटित[8] हो कर घोड़ा खड़ा[9] हो जाता है फिर घोड़े की चाल तथा दौड़ कुछ भी नहीं देखी जाती। वैसे ही किसी विशेष आकर्षण से मन सहसा रुक जाता है। तीसरे चूहा[6] पारा पीकर पैरों से पंगुल हो जाता है। वैसे ही मन राम-भक्ति-रस का पान करके आशा रूप पैरों से रहित हो जाता है और रमता राम के लिये ही सब कुछ करता देखा[10] जाता है।

नींद के नेह निर्मूल[1] भयो नर, श्वास उश्वास की चाल न थाकी।
पक्षी को प्राण परचो तम[2] नींद हि, पाँय सु दृढ़ रहे रुपि साखी[3] ॥
राहु रु केतु ग्रसैं शशि सूरज, चाल निसाल[4] रहे नहिं राखी।
हो रज्जब पिंड ने प्राण गह्यो यूं पै[5],
लै[6] न गही जि[7] जियो[8] जिहिं बाकी[9] ॥५

निद्रा के प्रेम से नर के वाह्य ज्ञान का तो नाश[1]-सा हो जाता है किन्तु श्वास प्रश्वास की गति तो नहीं थकती है। रात्रि के अंधेरे[2] में पक्षी का जीव निद्रा के वश होकर अचेत पड़ा रहता है किन्तु उसके पैर सुदृढ़ता से वृक्ष[3] की साखा पर रुपे रहते हैं। राहु-केतु, चन्द्र-सूर्य के तेज को ग्रास करते हैं किन्तु उनकी चाल तो ग्रासना रूप दुःख से रहित ही रहती है, उसे पकड़ कर नहीं रखते। हे सज्जनो! वैसे ही शरीर ने प्राण को तो पकड़ रक्खा है परन्तु[5] जीव[7] की वृत्ति[6] को तो नहीं पकड़ रक्खा है, जिससे जीव[8] उसके ग्रहण करने से बच[9] रहा है। अतः वृत्ति प्रभु में लगाना चाहिये।

जे पर[1] साधु के साची जु ऊपजैं, तो कहा माया रु मोह करेगो।
ज्यों शशि सूर घटा मधि उगत, तो व[2] कहा कछु आभा[3] अरेगो[4] ॥
कमल को नाल परचो पग हाथी के, तो कहा बेड़ी को काम सरेगो[5]।
जेरु सुमेरु समुद्र में डारिये, रज्जब सो धर[6] जाय परैगो ॥६

जैसे चन्द्र-सूर्य, बादलों की घटा में उदय होते हैं तब वे[2] चन्द्र-सूर्य कुछ बादलों[3] से अड़कर[4] रुक सकते हैं क्या? हाथी के पैर में कमल का नाल पड़ जाय तो क्या उससे बेड़ी का काम हो-जायगा[5]? और यदि सुमेरु पर्वत समुद्र में डाला जाय तो क्या वह जल पर रुक सकेगा? वह तो पृथ्वी[6] पर ही जाकर पड़ेगा। वैसे ही यदि साधु के ज्ञान-वैराग्य रूप सच्ची पंख[1] उत्पन्न हो जाँय तब माया और मोह उसका क्या करेंगे? वह तो माया-मोह से न रुक कर ब्रह्म को ही प्राप्त होगा।

एक को ठौर सही उर अंतर, माया रहै भावै[1] ब्रह्म विचारै।
ज्यों मुख कीरी[2] के एक कनूंको[3] जु, दूजो गहै जब दारुन[4] डारै ॥

तिने[५] परि बूंद रहै पुनि एक हि, ता परि और कहो कैसे चारै[६] ।
ज्यों की ह्वै वायु तरंग ह्वै त्यों ही की,
रज्जब सामों हिलोरो[७] न मारै[८] ॥७

जैसे चींटी[२] के मुख में एक ही दाणा[३] रहता है, जब दूसरा भी उठाती है तो कठिनता[४] पड़ती है, अतः दूसरे को डाल देती है। तृण[५] के अग्र भाग पर एक ही जल विन्दु रहती है उस पर दूसरी कैसे विचर[६] सकती है अर्थात् दूसरी नहीं रह सकती है। जिस दिशा से वायु आती है, उसी से तरंग आती हैं। वायु के सामने जल तरंगें[७] नहीं चलाता[८] है। वैसे ही सत्य है, हृदय के भीतर एक ही को स्थान मिलता है, चाहे[१] माया रहे वा ब्रह्म विचार रहे।

हीरे के दीवे सौं आगि न लागे जु,
चित्र को सिंह कहा कहो खाई ।
जरी[१] जेवरी सौं पर्य्यंक बुनै कोउ,
विभ्रम[२] नीर कहा तिस जाई ॥
मकरी के सूत सितारो[३] न नीपजे,
शीत के कोट को[४] ओट रहाई ।
हो रज्जब साधु को लोग न चाहै,
जगत्रय संत कहा करे भाई ॥८॥५५

हीरे के दीपक से अग्नि नहीं लगता और कहो, चित्र का सिंह क्या खाता है? जली[१] हुई रस्सी से कोई पलंग बुन सकता है क्या? मृग-तृष्णा[२] के जल से क्या प्यास मिट सकती है? मकड़ी के सूत से चमक-[३] दार-वस्त्र नहीं उत्पन्न होता। बर्फ वा कुहरा के किले की वा गंधर्व नगर की ओट से कौन[४] सुरक्षित रह सकता है? वैसे ही हे भाई! यदि सच्चे संत की शरण लोक नहीं चाहते तो माया रूप मिथ्या प्रपंच से उनकी रक्षा हो नहीं सकती, और संत तो त्रय लोक रूप जगत् का करें ही क्या? उन्हें उसकी आवश्यकता नहीं है। वे तो निरंतर परब्रह्म परायण ही रहते हैं।

अथ सुकृत का अंग ६

देत हि देत बयो[१] जु उगावत, भावत है भगवंत भलाई ।
कृपालु कबीर दिई द्विज दोवटी[२],
ताहि ते ताके जु बालद आई ॥
धान की पोट धन्ने दिई विप्रहिं,
बीज बिना सु कृषि निपजाई ।

हो रज्जब रंग[3] रह्यो दिये दान जु,
दादू दयालु पईसो[4] दे पाई ॥१॥५६

देने पर प्रभु देते ही हैं, देखो बोया[1] हुआ बीज प्रभु उगा देते हैं। दूसरों की भलाई करना भगवान् को प्रिय लगता है ? कृपालु कबीरजी ने ब्राह्मण को खादी[2] दी थी उसी से उनके बालद आई थी और धन्ने भक्त ने ब्राह्मण को धान की पोट दी थी, इस कारण उसके-बिना बीज के भी खेती उत्पन्न हो गई थी। दोनों कथायें प्रसिद्ध हैं। हे सज्जनो ! दान देने से दाताओं पर प्रभु का प्रेम[3] ही रहा है। देखो, दादूजी ने तो एक पैसा[4] ही प्रभु को देकर कितनी उच्च स्थिति प्राप्त की है। कथा—अहमदाबाद के कांकरिया तालाब पर ११ वर्ष की अवस्था में दादूजी बालकों के साथ खेल रहे थे, उसी समय भगवान् प्रकट होकर आये, उन्हें देखकर अन्य सब बालक भाग गये। दादूजी के पास एक पैसा था उसे ही प्रभु के भेंट किया था।

अथ समता निदान का अंग १०

जैन जोग अरु शेख संन्यासी, सु भक्त बौद्ध भगवंत हि धावैं[1]।
बोवत बीज परै धर क्यों हूं, अंकूर उदै होय ऊंचे ही आवैं॥
नौं कुली नाग परे नव खंड में, पंख लहैं सोइ चंदन जावैं।
दशों दिशि नीर बहैं सरिता सब, रज्जब सोइ समुद्र समावैं॥१

अंत में सब में समता आती है और समता से ही प्रभु प्राप्त होते हैं, यह कह रहे हैं—जैन, जोगी, शेख, संन्यासी, भक्त, बौद्ध, ये सब नाना भेद रखते हुये भी भगवत उपासना[1] में सम हैं। बीज बोते समय पृथ्वी पर कैसे भी पड़ें अंकुर तो सब का निकल कर आकाश की ओर ऊंचा ही जाता है। पृथ्वी के नौ खंडों में नव प्रकार के कुल वाले सर्प पड़े हैं किन्तु पंख प्राप्ति रूप समता को प्राप्त होते हैं वे ही चन्दन पर जाते हैं। दशो दिशाओं की सब नदियों में जल बहता है किन्तु अन्त में समुद्र में मिल कर सब सम हो जाता है। वैसे ही प्रभु प्राप्ति के मार्ग में सब सम हो जाते हैं।

काष्ठ रु लोह पाषाण की पावक, एक हि रूप रु एक सी ताती[1]।
वृक्ष अठारह भार सु बहु विधि, पान के पान मधुर मधु[2] जाती॥
मच्छ अनेक अनेक हि जाति के, जामत[3] एक जु नीर संघाती[4]।
हो रज्जब राम को नाम भजे जु,
सो आतम एक जु एक सौं राती[5] ॥२

काष्ठ, लोह और पत्थर का अग्नि एक रूप और एक-सा ही उष्ण[1] होता है। अठारह भार वनस्पति के वृक्ष बहुत प्रकार के हैं किन्तु उन सब के पत्तों के स्थान पर पत्ते ही आते हैं और सब जाति के वृक्षों का सहद[2] मीठा ही होता है। मच्छ अनेक जाति के और अनेक होते हैं किन्तु एक ही जल में जन्मते[3] हैं और एक ही साथ[4] रहते हैं। ऐसे ही जो राम का नाम भजते हैं वे जीवात्मा सब एक ही हैं और एक ही प्रभु में अनुरक्त[5] हैं।

साधु के शुद्ध भये मन पंचों तो, जाति कुजाति को बंक न कोई।
चन्दन बंक भुवंग[1] न भाग ही, चन्द्र की बंक चकोर न जोई[2]॥
बंक बुरी नहिं ईख जलेबी की, स्वाद के संग गई सब खोई।
हो रज्जब बंक विचार न बोहिथ[3], जा परि प्राणि पारंगत[4] होई॥३

चन्दन की वक्रता को देखकर सर्प[1] उस से दूर नहीं भागता। चन्द्र की वक्रता को चकोर नहीं देखता[2]। जलेबी और ईख की वक्रता बुरी नहीं लगती, उनके मधुर स्वाद के साथ सब खोई जाती है अर्थात् उस पर ध्यान ही नहीं जाता है। जिस पर चढ कर प्राणी समुद्र से पार[4] होते हैं, उस जहाज[3] की वक्रता का भी विचार हृदय पर नहीं आता। वैसे ही यदि साधु के पांचों इन्द्रिय और मन शुद्ध हो गये हैं तो कोई प्रकार की जाति कुजाति की वक्रता नहीं देखी जाती है।

जाति कुजाति भई सम सारिखी[1], नाम निरंजन में जब आये।
तांबे रु लोह को अंतर[2] भागो जी, कंचन होत है पारस लाये॥
भार अठारह जु आमल आकले[3], चन्दन संग सुगंध कहाये।
हो रज्जब आगि में आगि भये सब, काष्ठ हि के कुल[4] भेद जराये[5]॥४

पारस के लगाते ही तांबे और लोहे का भेद[2] भाग जाता है और दोनों सुवर्ण हो जाते हैं। अठारह भार वनस्पति के आमले और आकड़े[3] आदि सभी चन्दन के संग से सुगंध युक्त होकर चन्दन कहलाते हैं। संपूर्ण काष्ठ अग्नि में पड़कर अग्नि रूप ही हो जाते हैं, अग्नि काष्ठ के संपूर्ण[4] भेदों को जला[5]-डालता है। वैसे ही जब निरंजन ब्रह्म के नाम जप रूप साधना में आ जाते हैं तब समता प्राप्त हो जाने से, जाति कुजाति समान[1] ही हो जाती हैं, कोई प्रकार का भेद नहीं रहता।

जाति कुजाति रु उत्तम मध्यम,
जाति के जोर न ज्योति को ज्वै[1] है।
बेड़ी भली नहिं सोने रु लोह की,
पाँय परैं कछु पंथ न ह्वै है॥

नींद को नाश न जौंन[२] अँधरे में,
सूर बिना सुख नींद हि स्वै[३] है ।
हो रज्जब राम मिलै नहीं ऐसे जु,
जोलौं न प्रेम को बौंहडौ[४] ब्वै[५] है ।।५।।

सुजाति, कुजाति, उत्तम, मध्यम जाति के बल से प्रभु प्राप्त नहीं होते, वे तो ज्ञान-ज्योति को ही देखते[१] हैं अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान होने पर ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है । जैसे बेड़ी सुवर्ण की हो वा लोहे की हो दोनों अच्छी नहीं हैं, पैरों में पड़ने पर दोनों से ही मार्ग चलना नहीं होता, अर्थात् नहीं चला जाता । वैसे ही सुजाति और कुजाति दोनों का ही अभिमान साधक को प्रभु प्राप्ति के साधन-मार्ग में नहीं चलने देता है । जो[२] अँधेरी रात्रि होती है, उसमें भी निद्रा का नाश नहीं होता, सूर्य के अभाव में भी सुख की निद्रा में सोते[३] हैं । वैसे ही कुजाति होने पर भी प्रभु-प्राप्ति का आनन्द लेते हैं । हे सज्जनो ! जब तक हृदय भूमि में प्रेम रूप वृक्ष[४] नहीं बोते[५] हैं, तब तक ऐसे जाति आदि के अभिमान से राम नहीं मिलते हैं ।

हिन्दू की हद्द[१] न ताव[२] तुरक्क[३] की,
मुद्रा की मान्य[४] न मौन सुहावै ।
माला न मेल नहीं तसबी सब,
गेरू नहीं गति[५] भस्म न भावै ।।
गूदड़ झूठ न नग्न नहीं कछु,
मूढ मुग्ध[६] सु मूंड खुसावै[७] ।
पखापख[८] प्रीति न भूलै सु भेषों हौ,
रज्जब राम रटै सोइ पावै ।।६।।

प्रभु के भक्तों में न हिन्दुओं की मर्यादा[१] होती है, न मुसलमानों[३] की शक्ति[२] होती है । न मुद्रा की मान्यता[४] होती है, न मौन उन्हें प्रिय लगता है । माला से उनका मेल नहीं होता । न तसबीह आदि सब मुसलमानों के वाह्य चिन्ह उन्हें प्रिय लगते और न गेरू से मुक्ति[५] मानते, भस्म रमाना भी उन्हें प्रिय नहीं होता । गूदड़ी रखना भी झूठा दंभ ही मानते हैं, नग्न भी नहीं रहते । कुछ मूर्ख प्रतिष्ठा के मोह[६] में पड़कर शिर के बाल उखड़वाते[७] हैं, वह भी उन्हें प्रिय नहीं होता है । न भूल से सुन्दर भेष धारियों की पक्ष-विपक्ष से प्रीति करते, वे तो निरंतर राम का नाम ही रटते रहते हैं । जो समता पूर्वक नाम चिन्तन करते हैं वे ही नामी को प्राप्त करते हैं ।

कौन कुलीन को देवल[१] फेरयो[२] जु, कौन कुलीन के बालद आई ।
कौन कुलीन को शंख बजायो रे, कौन कुलीन के बेर सु खाई ।।

कौन कुलीन के गात जनेऊ हो, कौन कुलीन सु देखि कसाई ।
हो रज्जब राम रचैं[3] नहिं जातिन, प्रीति प्रसंग[4] मिलैं हैं रे भाई ।७।६३

किस सुकुल वाले के लिये मंदिर[1] घुमाया[2] था ? जिनके लिये घुमाया था वे नाम देव छींपा थे और भीखजन तारक थे। किस सुकुल वाले के लिये बालद आई थी ? जिनके लिये आई थी वे कबीर तो जुलाहे थे। किस सुकुल वाले के लिये पांडवों के अश्वमेध यज्ञ समाप्ति पर शंख बजाया था ? जिनके लिये बजाया था वे वाल्मीकि तो सरगरा थे। किस सुकुल वाले के बेर खाये थे ? जिसके खाये थे वह शबरी तो भीलनी थी। किस सुकुल वाले के शरीर पर बिना हुई चांदी के तारों की जनेऊ प्रभु ने दिखाई थी ? जिनके शरीर पर दिखाई थी वे रैदास तो चमार थे। देखो, सदना कसाई कौन सुकुल का था ? उसे भी भगवान् ने दर्शन दिया है। हे भाई ! राम जातियों से प्रेम[3] नहीं करते, वे तो हृदय की प्रीति के सम्बन्ध[4] से ही मिलते हैं।

अथ भजन प्रताप का अंग ११

केले को नाश भयो फल लागत, कागद नाश भयो फल पाये ।
पाप को नाश भयो पुण्य ऊगत, बीछिनि नाश भयो सुत जाये ।।
फूल को नाश भयो फल आवत, रैन को नाश भयो दिन आये ।
हो तैसे ही नाश भये जन रज्जब,
जामन मरन जगतपति ध्याये[1] ।।१।।६४

भगवद् भजन का प्रताप दिखा रहे है—फल लगने पर केले को काट दिया जाता है, इससे वह नष्ट हो जाता है। कागज में लिखित कार्य पूरा हो जाना रूप फल प्राप्त होने पर कागज फाड़ दिया जाता है, इससे वह नष्ट हो जाता है। पुण्य उदय होने पर पाप नष्ट हो जाता है। बीछिनी की संतान उसका पेट फाड़ कर जन्मती है इससे वह नष्ट हो जाती है। फल आते ही फूल नष्ट हो जाता है। दिन के आते ही रात्रि नष्ट हो जाती है। हे सज्जनो ! वैसे ही जगत्पति प्रभु का स्मरण[1] करने से जन्म-मरण नष्ट हो जाते हैं।

अथ पीव पहचान का अंग १२

धरे[1] ही को ज्ञान धरे ही को ध्यान,
धरे ही के गीत धरे[2] घर गावैं ।
धरे को विवेक धरे को विचार,
धरे ही को नाम बडो कै[3] दिखावैं[4] ।।

धरे ही की बात धरे ही की चिन्त,
धरे ही की घात[4] अनेक मिलावैं ।
धरे ही सौं लेन धरे ही सौं देन,
हो रज्जब राम धरयो ही बतावैं ॥१॥

प्रभु पहचान संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—सांसारिक प्राणियों को माया[1] का ही ज्ञान है । माया का ही ध्यान करते हैं और घर[2]-घर में माया का ही गीत गाते हैं । माया का ही विवेक है । माया का ही विचार करते हैं । माया के ही नाम को बड़ा कहते[3] हैं और माया को ही महान् बताते[4] हैं । माया की ही बात करते हैं । माया की ही चिन्ता करते हैं । माया की प्राप्ति के लिये ही अनेक युक्तियों[4] का मिलान करते हैं । माया के संबन्ध से ही लेते हैं और माया के संबन्ध से ही देते हैं तथा माया को ही राम बताते हैं किन्तु राम तो माया से परे ही हैं ।

कहैं सब हद्द[1] गहैं सब हद्द, बेहद्द[2] नहीं अनुमान में आवै ।
गुडी[3] को उडान डोरी के प्रमाण हो,
चक्री हूं डोरी के वोर[4] ह्वै आवै ॥
तीरको जान[5] जहां लग पान[6] जु, गैंद को गौन[7] पैंडे दश पावै ;
तरंग की चाल जहां लग पाल[8] हो,
रज्जब डागुल[9] दौर का धावै ॥२॥६६

पतंग[3] का उड्डान डोरी के माप जितना ही होता है । चक्री भी डोरी के छोर[4] के समान ही आगे आती है । बाण का जाना[5] भी जहां तक उसमें बल[6] होता है वहां तक ही होता है । गैंद का गमन[7] भी दश पैंड तक हो पाता है । जल तरंग की चाल भी बाँध[8] तक ही होती है । छत[9] का दौड़ना भी छत तक ही होता है, आगे क्या दौड़ेगा ? वैसे ही सांसारिक प्राणी सीमा[1] की ही बात कहते हैं । असीम[2] प्रभु इन के अनुमान में नहीं आते ।

अथ साक्षी भूत का अंग १३

लोक लिये रु लिपे नहिं लोकनि, प्राण को प्राण रु प्राणन न्यारो ।
ज्यों जल जीवन मीन जलच्चर, नीर न सीर[1] रु सैन[2] सहारो[3] ॥
मारुत मैं[4] वपु बैन रु बादर, वायु विरचि[5] रही रु अधारो ।
सूर सु दूरि रु नैनन नीरो[6] हो, रज्जब येहो[7] विवेक विचारो ॥१

साक्षी स्वरूप संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—जैसे मच्छी आदि जल चरों का जीवन जल ही है किन्तु जलचरों से कोई साझा[1] नहीं

है, संकेत[2] के समान जल चरों का आश्रय[3] है। शरीर, वचन और बादल ये वायु-मय[4] ही हैं किन्तु वायु इन से अलग[5] भी हो रहा है और इन का आधार भी है। सूर्य दूर भी है और नेत्रों के समीप[6] भी है। ऐसा[7] ही विवेक-विचार साक्षी स्वरूप ब्रह्म का है। वह संपूर्ण लोकों को धारण करता है किन्तु लोकों से लिपायमान नहीं होता। प्राणों का प्राण है फिर भी प्राणों से अलग ही है।

श्वान शिला सरिता संग सोई जु,
शूकर सिंह सु सींग लखावै।
देवल[1] स्थंभ रु मूरति के मधि,
छान छबीलो सु संत की छावै॥
गौरी[2] रु गौर[3] गयंद[4] में गोविन्द,
सेवक संत कहां कहां धावै।
हो रज्जब राम रह्यो रम सारे में,
रूप हि छाडि अरूप हि पावै॥२॥६८

वे ही श्वान होकर नामदेव की रोटी खाने आते हैं। वे ही शिला से हाथ निकाल कर नामदेव को मार्ग बताते हैं। वे ही नामदेव की इच्छा से नदी में सहस्र शय्या दिखाते हैं। वे ही सेवक के साथ हैं। वे शूकर बन कर पृथ्वी का उद्धार करते हैं। नरसिंह होकर प्रहलाद की रक्षा करते हैं। वे ही शृंग युक्त मच्छ बनकर मनु और सप्त ऋषियों को दिखाई देते हैं। वे ही नामदेव और भीखजन के लिये मंदिर[1] फिराते हैं। वे ही प्रहलाद के लिये स्तंभ से प्रकट होते हैं। वे ही मूर्ति के मध्य स्थित होकर नामदेव का दूध पीते हैं। वे ही छबीले संतनामदेव की छान छाते हैं। वे ही नारी[2] होकर भस्मासुर से महादेव की रक्षा करते हैं। और वे ही विचार[3] पूर्वक हाथी[4] में स्थित होकर दादूजी की रक्षा करते हैं। वे ही गोविन्द संतों के सेवक बन कर उनकी सेवा के लिये कहां के कहां अर्थात् अति दूर दौड़ जाते हैं तथा वे साक्षी राम सब में ही रम रहे हैं किन्तु रूप को छोड़ने से ही वे अरूप प्रभु प्रात होते हैं अर्थात् देहाध्यास छोड़ने से ही मिलते हैं।

अथ साँच चाणक का अंग १४

विरक्त रूप धर्यो वपु बाहर, भीतर भूख अनन्त विराजो[1]।
ऊपरि सौं पनहो[2] पुनि त्यागी जु,
मांहि तृषा तिहिं लोक की साजो[7]॥
कपट कला करि लोक रिझायो हो,
रोटो को ठौर करी देखो ताजो[3]।

हो रज्जब रूप रच्यो ठग को जिय[४],
साधु लखै सब लाखी[५] रु पाजी[६] ॥१

सत्य और चुभने वाली बातें कह रहे हैं—बाहर से तो विरक्त का रूप धारण कर रक्खा है और भीतर अनन्त भूख बैठी[१] है। उपर से तो जूता[२] त्याग कर तथा पैसा त्याग कर त्यागीजी बना है किन्तु हृदय में तीनों लोकों के भोगों की तृष्णा सजा[७]-रक्खी है। देखो, ऐसे त्यागी कपट रूप कला से लोकों को प्रसन्न करके रोटी के लिये नवीन[३] स्थान तैयार कर लेते हैं। हे सज्जनो ! हृदय[४] में तो ठग का रूप बना रक्खा है, किन्तु बाहर से सब लोग साधु देखते हैं और होता है वह अत्यधिक[५] दुष्ट[६]।

निराश रहै अरु नगरन[१] सौं हित[२], देखि महंतन माया जु त्यागी।
टोपी रु कोपी[३] की नाहि कछु मन, प्रीति प्रचंड बजाज हु लागी ॥
अतिगति[४] ध्यान धनाढ्य सौं कीजिये,
लोग सुनाय न कोडी हु मांगी।
हो रज्जब रिंद[५] कपट्ट छिपावत, साधन को सब दीसत नागी[६] ॥२

देखो, इन माया त्यागी महन्तों को ऊपर से तो निराशा का दंभ करते हैं और हृदय में शहरों[१] से प्रेम[२] करते हैं। टोपी और कौपीन[३] लेने की मन में कुछ भी इच्छा नहीं है फिर भी बजाजों से तीव्र प्रीति करते हैं। धनाढ्यों का अत्यधिक[४] ध्यान करते हैं और लोग सुनाते हैं कि उन्होंने एक कौड़ी भी नहीं मांगी। हे सज्जनो ! ये स्वच्छंद[५] लोग अपने कपट को छिपाते हैं किन्तु सच्चे संतों को तो इनकी ये बातें सार[६]-हीन ही भासती हैं।

निराश निरूप[१] करैं निशि वासर, दास की आश के धामन आवै।
सेवक सेव रचैं[२] तहां बैठि जु, विरक्त बात अनेक चलावै ॥
गांव द्वै चारि में चित्त अटक्यो हो, चील्ह की नाईं तहां मँडलावै[३]।
हो रज्जब और की और कहै कछु, आपन दुःख दशा[४] में दिखावै ॥३

रात्रि-दिन निराशता का निरूपण[१] करता है और अपने सेवकों की आशा लेकर उनके घरों में जाता है। जहां सेवक सेवा करते[२] हैं, वहां बैठ कर विरक्त अनेक बातें चलाता है। जिनमें अपने सेवक होते हैं उन दो-चार ग्रामों में मन अटका रहता है और जैसे चील्ह पक्षी मृतक पशु पर चक्कर[३]-लगाता है, वैसे ही उन ग्रामों में घूमता रहता है। सेवकों के पास बैठकर कुछ की कुछ बातें कहता है और अपना जो कुछ दुःख होता है वह उन बातों के समय[४] में ही सबको बता देता है।

निर्गुण[१] रूप दिखाय दुनी[२] कहुं, देख हु लोग ठगें ठग सारे।
कोपी[३] रु टोपी गरैं[४] गर[५] गूदर[६], मानो डकोत[७] बजार उतारे[८] ॥

जैसी जुगत्त[9] जगत्त[10] खुशी सब तैसी वसूल[11] के स्वांग सँवारे।
हो रज्जब दास दुनी के भये उर, बाने[12] किराने[13] के बेचनहारे ॥४

सांसारिक[2] प्राणियों को गुणातीत[1] का-सा रूप दिखा कर देखो इन ठगों ने सब लोगों को ठग लिया है। कौपीन[3] और टोपी लगा कर तथा गले[4] में गली[5] हुई गुदड़ी[6] डाल कर मानो डाकोतों[7] ने बाजार मंद[8] कर दिया हो अर्थात् डाकोत धर्मादा से प्राप्त वस्तुओं को मंदी बेचते हैं, वैसे ही भेष का भाव उतार दिया है, बिना अधिकार ही सबको देते हैं। जैसी युक्ति[9] से जगत्[10] के प्राणी प्रसन्न होते हैं, वैसे ही स्थिति प्राप्त[11] करने के लिये सब भेष बनाते हैं। हे सज्जनो! वे लोग हृदय में दुनियां के दास बनकर भेष[12] रूप मेवा मसालादि[13]-किराने को बेचने वाले हैं।

रोग के जोग सौं लोग रिझाये हो,
हीज[1] सौं फेरि इन्द्री जित कीन्हों।
घने[2] घन[3] घाम[4] सहे बिन धाम,
जगत्त[5] सुनाय कहै तप खीनों[6]।।
अभाग्य की चूर[7] गये सुख दूर,
कहै कछु जानि देही दुख दीन्हों।
हो रज्जब दुःख दशा[8] में बनाय,
कहीं को प्रसंग कहीं करि लीन्हों ॥५॥

रोग के योग से लोगों को प्रसन्न किया है। हिजड़ा[1] होने से अपने को इन्द्रियजित बना लिया है। बिना घर के बहुत[2] दिन बादल[3]-वर्षा तथा सूर्य की आतप[4] को सहन किया है और जगत्[5] के प्राणियों को सुना कर कहता है तपस्या से शरीर क्षीण[6] हो गया है। जीवन अभाग्य मय[7] होने से सुख दूर चले गये हैं और कहता है कुछ जान-बूझ कर ही देह को दुःख दिया है। दुःख को संतों की अवस्था[8] में बना कर अर्थात् दुःख के कारण संतों के समान रह कर कहीं का प्रसंग कहीं कर लिया है अर्थात् रोग की बात योग में ले आया है।

जग त्रय[1] को जोग चले जग मारग,
तासौं खलक्क[2] खुशी किन[3] होई।
संसार के सेरे[4] सबै लिये स्वामी जु,
काहे को रोष करै कहु[5] कोई ।।
तिहिं मधि[6] पाग[7] मुदित्त जु मेदिनी[8],
मांड[9] मते[10] मनसा[11] जु मिलोई[12]।
हो रज्जब प्राण पुलै[13] पृथ्वी पंथि[14],
प्रीति प्रजा परलोक सौं खोई ॥६॥

तीनों[1] लोक रूप जगत् के भोगों को प्राप्त करने का योग जगत के मार्ग से ही चलता है अर्थात् होता है। तब उस से सांसारिक[2] प्राणी प्रसन्न क्यों-नहीं[3] होंगे? संसार के भोगों को प्राप्त करने के सभी मार्ग[4] साधु ने अपना लिये हैं, तब कहो[5] उस पर कोई क्यों रोष करेगा? उसी मार्ग[6] में अनुरक्त[7] होकर तो पृथ्वी[8] के प्राणी प्रसन्न हैं और साधु ने भी संसार[9] के मत[10] में ही अपनी बुद्धि[11] मिलादी[12] है। हे सज्जनो! पृथ्वी में प्राणी के लिये सेतु[13] रूप जो प्रभु-प्रीति थी उस को इस भेष धारी पथिक[14] ने प्रभु-प्राप्ति रूप परलोक से खोदी अर्थात् प्रभु में प्रेम कर के लोगों को प्रभु-प्रेम की शिक्षा नहीं दी।

सुध बुध को काम सरै[1] सत संगति,
खेचर[2] रिंद[3] कदे[4] नहिं सीझे[5]।
नागर निम्ब को दूध सौं पोखिये[6],
देख हु जाति स्वभाव न छीजे[7]॥
क्षार समुद्र न होय सुधा रस,
पाहन[8] पानी हो[9] मांहि न भीजे।
कोयला कुटिल करै कुन[10] उज्वल,
रज्जब रंग क्यों शंख हि दीजे॥७॥

शुद्ध बुद्धि वाले का कार्य सत्संग में सिद्ध[1] हो जाता है किन्तु स्वच्छंद[3] प्रेतरूप[2] दंभी का कार्य कभी[4] नहीं सिद्ध[5] होता। देखो, नागर बेलि और नींम को दूध सींच कर पाला[6]-जाय तो भी उनका जाति स्वभाव क्षीण[7] नहीं होता। न तो नागर बेलि फल देती है और न नीम मीठा होता है। क्षार-समुद्र अमृत-रस नहीं हो सकता और हे[9] सज्जनो! न पत्थर[8] ही पानी में भीगता है। कोयला को कौन[10] उज्वल कर सकता है? शंख में रंग कैसे दिया जाय? वैसे ही कुटिल प्राणी न तो पवित्र होता है और न उसमें भक्ति का रंग ही लगता है।

तेल को कूंपो न तेल सौं कोमल, नीकी नरम्म ह्वै और अधौरी[1]।
गाय के दूध महाबलि बाछरो, गाय गई अपने बल बौरी॥
मणि सौं विष और मनुष्य को उतरे, सर्प समीप सदा इक ठौरी।
हो रज्जब सुःख सदा श्रोता वक्ता के विनाश कदे नहिं त्यौरी॥८

तेल का कुप्पा (ऊंट की चर्म से बना पात्र) तेल से कोमल नहीं होता किन्तु दूसरी चर्म[1] भली प्रकार कोमल हो जाती है। गाय के दूध से उसका बछड़ा महाबली हो जाता है किन्तु गाय अपने बल को खो देती है अर्थात् कमजोर हो जाती है। सर्प की मणि से अन्य मनुष्य का सर्प विष उतर जाता है किन्तु सर्प के पास वह सदा रहती है और विष

तथा मणि एक ही स्थान पर रहते हैं किन्तु सर्प विष नष्ट नहीं होता। वैसे ही हे सज्जनो! श्रोता को तो सुनने से सदा सुख होता है किन्तु वक्ता की वह ज्ञान दृष्टि वक्ता के दुःख को कभी नष्ट नहीं करती है।

शब्द की चोभ[1] रहै न अचेत[2] के, कोटि सुने कछु हाथ न आवै।
भुवंग[3] अनेक थलै[4] विल पैसे[5] जु, पीछे न आगे सु खोज लखावै॥
मीन अपार चलैं जल मांहिं पै[6], शोधे न संधि कहीं कोई पावै।
पक्षी अनन्त उडैं बहु वायु में, रज्जब पवन सु फाटि न जावै॥९

भूमि[4] के बिलों में अनेक सर्प[3] प्रवेश[5] करते हैं किन्तु फिर आगे उनके खोज नहीं दिखाई देते हैं। अपार मच्छी जल में चलती हैं परन्तु[6] खोजने पर भी उनके जाने की संधि कोई भी कहीं नहीं मिलती है। बहुत प्रकार के अनन्त पक्षी वायु में उड़ते हैं किन्तु उनसे वायु फटता हुआ नहीं दिखाई देता है। वैसे ही मूर्ख[2] प्राणी के हृदय रूप शुष्कभूमि में शब्द रूप पौध[1] नहीं रहती है। मूर्ख चाहे कोटि प्रकार से सुनता रहे किन्तु उसके कुछ भी हाथ नहीं लगता है।

दशा[1] करि हीन दिवानों[2] बकै कछु, सो ही कहा कछु कान धरेगो।
थोथे[3] से बाण चलावे बिना बल, ऐसे व[4] गैंडा हो क्यों ही मरेगो॥
तुपक[5] सु पूरि पलीतो[6] न पावक,
फूंक के फूंके का[7] फोर[8] करेगो।
बूंटी न वैद्य टटोरत[9] पाटी हो, रज्जब कैसे व[10] पीर हरेगो॥१०

पोले[3] बाणों को बिना बल ही चलाता रहे तो ऐसे वह[4] दृढ़ गैंडा कैसे मरेगा? बन्दूक[5] तो भरली है किन्तु अग्नि से युक्त बत्ती[6] न लगाये और फूक से फूंके तब वह लक्ष्य को तोड़ेगा[8] क्या[7]? न तो औषधि है और न वैद्य है केवल घाव की पट्टी पर अंगुलियाँ घुमाता[9] है, तब वह[10] अपनी पीड़ा कैसे हटा सकता है? वैसे ही कथन के समान अवस्था[1] से रहित पागल[2] की जैसे कुछ बकता है तो क्या उसे कोई कुछ कान लगा कर हृदय में धारण करेगा? अर्थात् कथन के समान करने वाले का ही उपदेश श्रोता धारण करता है।

चाल ले चोर की बोलिबो साधु को,
ऐसे न साधु को बोलि विकायगो।
हंस की बोली सु सीखी जु काग ने,
तो व कहा कछु हंस कहायगो॥
पोथी को पानों लह्यो जड़ पंथि ने,
तो सब शास्त्र क्यों शोध[1] में आयगो।

पक्षी को पंख धरयो नर के शिर,
रज्जब सो न अकाश को जायगो ॥११॥

यदि काक पक्षी भली भांति हंस की बोली सीखले तो क्या वह कुछ हंस कहा जायगा ? मूर्ख पथिक ने मार्ग में चलते समय पुस्तक का पाना हाथ में लेलिया तो क्या उसके विचार[1] में सब शास्त्र आ जायगा ? मनुष्य के शिर पक्षी का पंख धर दिया जाय तो भी वह उड़कर आकाश में नहीं जा सकता। वैसे ही जिसका बोलना साधु का-सा और व्यवहार चोर का-सा हो तो ऐसे नर के वचन साधु के समान नहीं बिक सकते अर्थात् आदर नहीं पाते।

का पद साखि कवित्त के जोरे[1] जे,
काया की सौंज[2] जु जोरी[3] न जाई।
रसना रस नैन निरखि दश हूं दिशि,
नासिका वास गई लपटाई ॥
इन्द्री अनंग[4] सुने श्रवणा गये,
मांहि गये मन शुद्ध न पाई।
हो रज्जब बात बहु विधि जोरी[5] पै,
आतम राम न जोरी रे भाई ॥१२॥

यदि शरीर की सामग्री[2] परमार्थ में नहीं लगाई[3] तो पद, साखी, कवित्त आदि के जोड़ने[1] से क्या लाभ है ? रसना रस में लगी है, नेत्र सांसारिक सौन्दर्य को देखने दशों दिशाओं में जाते हैं। नासिका सुगन्ध में लिपट रही है। इन्द्री काम[4] परायण हो रही है। सांसारिक शब्द सुनने के लिये श्रवण तत्पर हैं। भीतर जाने पर मन शुद्ध नहीं मिलता है। बातें बहुत प्रकार की जोड़ली[5] हैं परन्तु आत्मा को राम से नहीं जोड़ा तब क्या है ?

कहनी[1] रहनी[2] बिन काम न आव ही,
अंध क्यों दीप ले कूप टरेगो।
नरतैं सुन नाम लियो शुक सारो[3] ने,
तो व[4] कहा कछु काम जरेगो[5] ॥
विद्या धन्वंतरि की सीखी जु बादि ने,
मूये को विष न कोई हरेगो।
साधु सु शब्द असाधु ने सीखे हो,
रज्जब यूं नहिं काम सरेगो[6] ॥१३॥

कहने[1] के समान रहे[2] बिना कहना कुछ भी काम नहीं आता, अंधा

हाथ में दीपक लेकर कूप से कैसे बच सकता है ? मनुष्य से काम प्रीति के शब्द सुनकर शुक पक्षी तथा मैना[3] पक्षी वे ही शब्द रूप नाम उच्चारण करें तो वे[4] क्या कुछ काम से जलेंगे[5] ? कोई वादी धन्वंतरि की विद्या सीख ले तो क्या ? मुरदे का विष तो नहीं हर सकता । ऐसे साधु के सुन्दर शब्द असाधु ने सीख लिये तो क्या ? ऐसे मुक्ति रूप कार्य तो सिद्ध[6] नहीं हो सकता ।

कहै कछु और गहै कछु और,
लहैगो सोई जा में चित्त समायो[1] ।
कहै मुख राम गहै कर चाम हो,
माली ने अंत में चरस[2] हि पायो ।।
जर्‌यो सब ग्राम उठे गृह ठाम[3] हो,
बात कहैं कछु नाँहि सिरायो[4] ।
पेट को पाहि[5] जगावत गोरख,
रज्जब जोगी को टूक[6] हि आयो ।१४।।

कहता कुछ और है, ग्रहण कुछ और करता है किन्तु प्राप्त तो उसीं को करेगा जिसमें चित्त लगा[1] है । माली कूप चलाते समय मुख से राम कहता है और हाथ में चर्म की लाव पकड़ता है वा चर्म की पतली रस्सी जिससे भौंण शनैः चलता है, पकड़ता है । मन में चड़स पकड़ने की बात रहती है, तब अंत में उसे चड़स[2] ही मिलता है । सब ग्राम जल गया है, घर आदि स्थान[3] उठ गये हैं, ऐसी बात कहने से कुछ भी नाश[4] नहीं होता है । पेट की पूर्ति की इच्छा[5] से गोरख जगाता है उस योगी के लिये टुकड़ा[6] ही आता है ।

साखी कही सु कहा कहैं साखि[1],
कहैं जु श्लोक सु लोक न पायो ।
जोरे[2] कवित्त न वित्त जुर्‌यो तत्त्व,
गीत गयें[3] गति[4] माँहि न आयो ।।
गाथा सु ग्रथ ग्रथ्यो नाँहि गोविन्द,
पाठ पदौं पद में न समायो ।
हो रज्जब राम रटे बिन बाद[5],
सँवारि[6] सवैये सु ह्वै न सवायो[7] ।।१५।।

जिनने साखी बना कर कही है सो साखी क्या उनकी साक्षी[1] देंगी ? जिनने श्लोक बनाकर कहे हैं उनने भी प्रभु रूप लोक नहीं पाया है । कवित्त जोड़ने[2] से तत्त्व ज्ञान रूप धन नहीं जुड़ता । गीत गाने[3] से मुक्ति[4] की अवस्था में नहीं आता । गाथा तो ग्रथित की किन्तु गोविन्द से मन

को नहीं गूंथा तब क्या है ? पदों का पाठ रचने से प्रभु पद में नहीं समाता है । राम नाम के चिन्तन बिना व्यर्थ[५] ही सवैये बनाकर[६] कोई श्रेष्ठ[७] नहीं होता ।

कुंडरियो[१] सु करे[२] मन कुंडरि,[३] दुहरो[४] द्वन्द्वर सौं न दुखीनों[५]।
अरिल्ल उचारि अरचो[६] न उरंतरि[७],
आरज[८] की सु अरज[९] न कीन्हों ॥
गाहक गाहा[१०] गह्यो नहिं तन मन,
छंद कहे छलछंद[११] न छीनों[१२] ।
हो रज्जब पंथ परा[१३] पग पंगु
चबत[१४] चवपई[१५] है मति हीनों ॥१६

मन को विष्णु[३] भगवान् में लगाना है यही कुंडलिया[१] छंद बनाना[२] है । द्वंद्वों से क्षीण[५] न होना ही दोहा[४] बनाना है । आंतर[७] स्थित प्रभु में लगाते समय मन विषयों में नहीं रुकना[६] ही अरिल छंद बनाकर कहना है । प्रभु का नाम चिन्तन रूप धन कमाना[९] ही आया[८]-छंद बनाना है । गाथा[१०] बनाने का साधन तो ग्रहण किया है किंतु तन मन को संयम द्वारा नहीं ग्रहण किया । छंद तो कहे किंतु छल-कपट[११] नहीं क्षीण[१२] हुये । हे सज्जनो ! माया[१३] के मार्ग से आगे जाने में तो पैर पंगु हो रहे हैं और यह बुद्धि हीन चौपाई[१५] छंद बनाने की बातें-कर[१४] रहा है अर्थात् भगवद् भजन बिना रचना से कल्याण नहीं होता ।

बैन बेअर्थ[१] बिकैं वसुधा में जु, अंध अज्ञान कहैं गहैं लोई[२] ।
रमती[३] सु गाड़ी रु गाड़ी सौं उखरी[४], देखत दृष्टि कहै सब कोई ॥
जड़ कहैं जाय रु पंखी को वासो, सुन सुन बैन अचंभो जु होई ।
हो रज्जब दीप बुझे को बडो कहैं,
शठ[५] संसार ने बुद्धि जु खोई ॥१७

पृथ्वी में व्यर्थ[१] वचन बहुत बिकते हैं अर्थात् बोले जाते हैं । ज्ञान नेत्रों से हीन अंधे लोक कहते हैं और अज्ञानी लोग[२] ग्रहण करते हैं, जैसे चलने[३]-वाली को गाड़ी और गड़ी हुई को ऊखली,[४] अपनी दृष्टि से देखते हुये भी सब कोई कहते हैं । जड़ बेलि को जाय और उड़ने वाले पक्षी को वासो (वायस) कहते हैं । इस परंपरा से सुने हुये वचनों को सुनकर आश्चर्य होता है । देखो, बुझने पर दीपक को बड़ा कहते हैं । इस प्रकार संसार के मूर्ख[५] प्राणियों ने अपनी बुद्धि खोदी है । इसी से कुछ का कुछ कहते हैं ।

अंध अचेत[१] अज्ञान के आगर[२], आन[३] की आन कहैं मुख मांहीं ।
साधु असाधु असाधु को साधु जु, शुद्ध स्वरूप सु सुरति[४] में नांहीं ॥

सत्य असत्य असत्य को सत्य है, प्राण[५] में पंच प्रपंच की छांहीं ।
नीति अनीति अनीति सौं नीति रु, रज्जब जानिर[६] जम पुरि जाँहीं ॥१८

ज्ञान-नेत्रों से हीन अज्ञान की खानि[२] मूर्ख[१] अपने मुख से और[३] की और ही कहते हैं । साधु को असाधु और असाधु को साधु कहते हैं । उनकी वृत्ति[४] में किसी का भी शुद्ध स्वरूप नहीं आता अर्थात् यथार्थ नहीं समझ पाते । वे सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कहते हैं कारण—उनके मन[५] और पांचों ज्ञानेन्द्रियों में प्रपंच की छाया रहती है । वे नीति को अनीति और अनीति को नीति जानकर[६] यमपुरी में ही जाते हैं ।

सेवक अंध जाचंध[१] गुरु पाया, सो कहा ब्रह्म की बाट[२] बतावै ।
पानी को बूड़तो[३] पानी ही पाकरै[४], ऐसे मतै[५] कैसे पार को जावै ॥
बैयर[६] बांझ रु हींज[७] को भेटिबो, ऐसे उपाय न पुत्र ह्वै आवै ।
दीपक छाड़ि पतंग जु चूल्हे में, हो रज्जब चैन[८] कितो इक पावै ॥१९

सेवक विचार हीन होनें से अंधा है और उससे भी अधिक विचार हीन जन्मांध[१] गुरु प्राप्त हो गया तब वह ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग[२] क्या बतायेगा ? यह तो ऐसा है जैसे जल में डूबने[३] वाला बाहर निकलने के लिये जल को ही पकड़े[४], ऐसे विचार[५] से कैसे पार जा सकता है ? नारी[६] वंध्या हो और नपुंसक[७] से मिले तब ऐसे उपाय से पुत्र तो नहीं प्राप्त होगा ? यदि पतंग दीपक को छोड़कर चूल्हे में जायगा तब कितनाक सुख[८] पायगा ? ऐसे ही अपने घर को छोड़कर मठाधीश के पास जायगा तो क्या ब्रह्मानन्द मिलेगा ?

झूठे गुरु गृह[१] कौटिक त्याग के, साँचे सद्गुरु को शिर नावै ।
काठ को नीकस्यो कोठे[२] न ठाहरे, धूम को धाम जु शून्य समावै ॥
कूप को काढ्यो रहै कहीं क्यारी में, नीर निहार[३] सु सूर में जावै ।
हो रज्जब रोक्यो रहै न विवेकी जु, सेइये ताहि जु राम मिलावै ॥२०

विवेकी साधक झूठे गुरुओं के कोटिन घरों[१] को त्याग कर सच्चे श्रेष्ठ सद्गुरु के चरणों में जाकर ही शिर नमाता है । जैसे-काष्ठ से निकला हुआ धुआँ भंडार[२] में नहीं ठहरता, धुआँ का स्थान आकाश ही है, अतः वह आकाश में ही समाता है । कूप से निकला हुआ जल कहीं क्यारी में रहता है ? देख[३], वह जल तो सूर्य में ही जाता है । वैसे ही विवेकी किसी का रोका हुआ नहीं रहता और उस सद्गुरु की ही सेवा करता है जो राम से मिलाता है ।

मोटे[१] अभाग उदय भये जीव के, साधु समागम सौं लय[२] छूटी[३] ।
मनो गढ[४] गाढ[५] सौं घेरि परे अरि, दुर्गमें नीर की सोर[६] निखूटी[७] ॥

रोग अपार महा दुख संकट, ताहू में गांठि गई खुल बूंटी ।
हो राम भजन्न बिना सत संगति, रज्जब खानिमें धाह[८] सी टूटी ॥२१

यदि साधु समागम से वृत्ति[२] हटी[३] है तो अवश्य जीव के महान्[१] अभाग्य उदय हुये हैं । यह ऐसी बात है, मानो किले[४] को दृढता[५] से घेर कर शत्रु चारों ओर पड़े हों और किले के जलाशय में आने वाली जल की धार[६] भी बन्द[७] हो गई हो तथा रोग तो अपार हो, महा दुःख देता हो और उसी संकट के समय में अपने कपड़े की गांठ में बन्धी हुई दवा भी खुलकर गिर गई हो । हे सज्जनो ! राम के भजन और सत्संग के बिना जीवन की दशा ऐसी है, जेसे खानि में घुसे हुये मनुष्य पर खानि का डाहा[८] अर्थात् ऊपर का भाग टूट कर पड़ जाय ।

गुरुतें विरचै[१] शिष होय सुखी कत[२], सो कोई ठोहन[३] ठाहर सूझै ।
भूमि तें पाय उठाय धरै कत[४], काहे को वाद[५] वृथा कोई झूझै[६] ॥
मीन जे मान के जाय जल हि तज, बाहर जाय तबै सुख बूझै[७] ।
काग कुमत्तिके बोहिथ छाड़ि हो, रज्जब राड[८] न अस्थल[९] दूजै ॥२२

गुरु से विरक्त[१] होकर शिष्य कहां[२] सुखी होगा ? वह स्थान खोजने[३] पर भी कोई नहीं दीखता । पृथ्वी से पैर उठाकर कहां[४] धरे ? अतः इस बात के लिये विवाद[५] करके कोई व्यर्थ ही क्यों झगड़ा[६]-करे । मच्छी यदि जल से विक्षेप मान के उसको त्याग कर बाहर जाती है तब जल के सुख को समझती[७] है । काग को समुद्र में जहाज को छोड़कर दूसरा स्थान[९] ही कहाँ है ? वैसे ही कुबुद्धि मनुष्य गुरु को छोड़ता है तो उस नीच[८] के लिये संसार में गुरु को छोड़कर दूसरा सुखद स्थान ही कहां है ?

नहीं व्रतबंध फिरै उर अंध, उठाय जो कंध कहो कहा कीजे ।
सु गुरु कृत हंति[१] रंगे बहु भंति[२], गई गति[३] मत्ति[४] नहीं जनधीजे[५] ॥
महा गुण मेट भये वश पेट, छिपे नहिं नेटि[६] सु कौड़ी न लीजे ।
हो साधु सौं तोरि जगत्त सौं जोरि,
लगी बहु खोरि[७] सु चूल्हे में दीजे ॥२३॥६१॥

जो किसी नियम-व्रत के बन्धन में नहीं है, ऐसे ही हृदय के अंधे कंधा उठा कर जहाँ तहां फिरते हैं, कहो, उन्हें क्या कहा जाय ? सुगुरु के किये हुये उपकार को नाश[१] करके बहुत भाँति[२] के साँसारिक रंगों में रंगे हुये हैं । मुक्ति[३] को प्राप्त, करने की बुद्धि[४] तो उनके हृदय से नष्ट हो गई है, वे संतजनों का तो विश्वास[५] ही नहीं करते । संतों के महान् गुणों को मिटा कर पेट के वश हो रहे हैं । कौड़ी-पैसा तो नहीं लेते किंतु अंत[६] में इनका यह कपट छिपता भी नहीं है, खुलही जाता है । हे सज्जनो ! इनने संतों से प्रीति तोड़ ली है और जगत् से जोड़ी है । इनके यह बहुत बड़ा

दोष[७] लगा है। ऐसे मनुष्यों को चूल्हे में ही देना चाहिये अर्थात् इनकी बात ही नहीं करना चाहिये।

अथ माया मध्य मुक्ति अंग १५

कवित्त–बरतनि[१] बरते[२] अपार मन में नाहीं लगार[३],
बैठे हैं कर विचार एक[४] अंग[५] लागे।
शूरे का सुन हुं खेल संपति करत केल[६],
मन में कौड़ी न मेल पल में पटकि जाय बाहर के बागे[७]॥
देख ले सती सु अंग[८] माया समूह संग मन में लागा न रंग,
पिव प्रहार[९] होत ही देखत गृह त्यागे।
साधू यूं कमल भाय[१०] दह[११] दिशि पाणी अघाय,
रज्जब चढ न जाय मुरझावे मित[१२] ओट[१३] माया जल आगे॥१॥

माया में रहकर भी मुक्त होने संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—संत जन अपार व्यवहार[१] करते[२] हैं किंतु मन में किंचित्[३] भी नहीं रखते। ब्रह्म विचार करके स्थिर बैठे हैं और अपने प्रिय[५] अद्वैत[४] ब्रह्म के चिन्तन में ही लगे हैं। जैसे शूर-वीर का खेल होता है सो सुनो, उसके घर में बहुत सम्पत्ति क्रीड़ा[६] करती है अर्थात् सम्पत्ति से घर भरा है किंतु वीर के मन में एक कौड़ी से भी प्रेम नहीं होता, वह एक क्षण भर में युद्ध से बाहर के अर्थात् युद्ध में काम न आने वाले वस्त्र[७] आदि भी पटक कर युद्ध में चला जाता है। देखो, सती का सुन्दर शरीर[८] होता है और साथ में माया-राशि भी होती है किन्तु सती के मन में माया का रंग नहीं लगता, वह पति के देह पर काल का आघात[९] होते ही देखते २ ही घर त्याग देती है। जैसे कमल जल से तृप्त है किन्तु कमल के ऊपर जल नहीं चढ़ता, वह जल से ऊपर ही रहता है तथा अपने मित्र[१२] सूर्य और अपने बीच में अन्धकार की आड़[१३] आते ही जल रहते हुये भी कुम्हला जाता है। वैसे ही संतों का भाव[१०] है, उनके दशों[११] दिशा में माया रहती है किन्तु वे ब्रह्मानन्द में तृप्त रहते हैं, उनके मन पर माया नहीं आती; ब्रह्माकार वृत्ति बिना, माया सामने रहने पर भी वे उदास हो जाते हैं।

सवैया–दास निराश रहै दिशि[१] माया की,
आय मिले मन ताहि न लावे।
उद्धि की भांति न नेह नदियों सौं जु,
मांहि मिल्यों नहि स्वाद समावे॥
शून्य[२] की मौन ज्यों आभे[३] रु धूम सौं,
घेरैं घटा घट मैल न जावे।

हो वायु के भाव न वास रुचे कोउ,
रज्जब सो न तहां ठहरावे ॥२॥६३॥

जैसे समुद्र नदियों से प्रेम नहीं करता और आकर अपने में मिलने पर भी उनके स्वाद में नहीं मिलता, अपने स्वाद में ही रहता है और जैसे बादलों[3] तथा धुआँ से आकाश[2] की मौन रहती है। यदि बादलों की घटा तथा धुआँ आकर आकाश को घेर भी लेती है तो भी आकाश के घट में अर्थात् आकाश में उनका मैल नहीं जाता है। हे सज्जनो! वायु के मन में यह भाव नहीं होता कि सुगंध मेरे में आये न उन्हें कोई सुगंध रुचिकर होती है। जहां सुगंध का स्थान होता है वहाँ वह वायु ठहरता भी नहीं है, वैसे ही संत माया की ओर[1] से निराश रहते हैं, आ मिले तो भी उसमें मन नहीं लगाते।

अथ स्वांग का अंग १६

कवित्त-सिलक[1] सौं तिलक देय छापे सु अघाय[2] लेय,
रूप[3] सौं रूपक[4] सेय कहां को धौं[5] जायगो।
काठ मांटी मन लाय झूठे सेती झूठ गाय,
धरे[6] सौं धरचो[7] रिझाय कौन में समायगो॥
नित्य प्रति मांडि[8] न्हान[9] प्रीतिसौं पूजे पाषान,
शुचि[10] सेती[11] खाय खान कौन पति पायगो।
स्वांग[12] सौं शरीर मांडि[13] साँच सौं सनेह छाडि,
रज्जब जनम भांडि देखते ठगायगो॥१॥

भेष संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—शलाका[1] से तिलक लगाता है। सुन्दर २ छापे लेकर तृप्त[2] होता है। चाँदी[3] के पात्रों से मूर्ति[4] की सेवा करता है। न-जाने[5] किस स्थान को जायगा? काष्ठ की माला और गोपीचन्दन की मिट्टी में मन लगा कर मूर्ति रूप झूठे देव से प्रेम करता है और धारणा रहित झूठे स्तोत्रादि गायन करता है। मायिक[6] पदार्थों से मायिक[7] देव को प्रसन्न करता है, न जाने अंत में किसमें समायेगा? नित्य प्रति त्रिस्नान[9] करता[8] है। प्रीति से पत्थर पूजता है। पवित्रता[10] से[11] भोजन करता है किन्तु इन बातों से कौन प्रभु को प्राप्त करेगा? भेष[12] से शरीर सजाता[13] है, परमात्मा से प्रेम हटाता है। यह भांड के समान प्राणी देखते २ ही अपना मानव जन्म ठगा जायगा।

स्वांगी[1] सर्प फिरैं चितकाबरे[2], काहू के सैण[3] न काहू के साथी।
बानों[8] बनाय बिगूचे[6] विषै सौं जु, पुत्री न पीठ मिटे नहि माथी[4]॥
भोंदूजी[5] भेष धरैं पशु की गति[6], शूकर श्वान भरे विष बाथी[7]।
हो रज्जब चित्र किये चित्त चंचल, बैल दिवाली के ईद ज्यों हाथी॥२।

भेष[१]-धारी रंग-विरंगे[२] सर्प के समान फिरते हैं, ये न किसी के संबन्धी[३] हैं और न किसी के साथी हैं। भेष[८] बनाकर विषयों के लिये द्विविधा[६] में पड़ रहे हैं, न पुत्री को पीठ देते हैं और न मां[४]-से मिटते हैं अर्थात् जिनको पुत्री और माता कहते हैं, उन पर दूषित दृष्टि करते हैं। ये मूर्ख[५] भेष धारण करते हैं किंतु चेष्टा[६] पशु की सी करते हैं। शूकर-कूकर के समान विषय-विष के बाथ[७] भरते हैं। हे सज्जनो! जैसे दिवाली को बैल और ईद को हाथियों पर चित्र बनाते हैं तब वे भी चंचल होते हैं और दूसरों को भी चंचल करते हैं। वैसे ही भेषधारी भेष बनाकर स्वयं भी चंचल होते हैं और दूसरों को भी चंचल करते हैं।

भेष अलेख[१] मिले नहिं भाई रे, जोलौं न जीव जगत पति धावैं[२]।
गणेश गोरख के नाद न मुद्रा पै, सिद्ध प्रसिद्ध सु देश कहावैं॥
द्वादश दूण[३] गुरु दत[४] थापे[५] सु, देख सु दर्शन[६] कौन बनावैं।
हो रज्जब शेष शुकदेव सु स्वांग[७] न, अवनि वोदर[८] में ल्यौ[६] लावैं।३।६६

अरे भाई! जब तक जीव जगत् पति प्रभु का ध्यान[२] नहीं करता तब तक भेष बनाने से लेखबद्ध न होने वाले ब्रह्म[१] नहीं मिलते। गणेश और गोरख के शरीर पर नाद मुद्रा न थे परन्तु वे देश में प्रसिद्ध सिद्ध कहलाते हैं। द्वादश के दूने[३] चौबीस गुरु दत्तात्रेय[४] ने बनाये[५] थे, उनमें देखो, किसने भेष[६] बनाया था? हे सज्जनो? शेष और शुकदेव के भी तो भेष[७] नहीं है, बिना भेष ही शेष पृथ्वी के नीचे और शुकदेव माता के पेट[८] में रहकर भी प्रभु में अपनी वृत्ति[६] लगाते रहे हैं। अतः भेष बिना भी भजन से प्रभु प्राप्त होते हैं, भेष से नहीं होते हैं।

अथ अज्ञान कसौटी का अंग १७

सवैया—छाया के छेद[१] छिदे नहिं पक्षी जु,
बांबी के मारे क्यों व्याल[२] मरेगो।
काठ के काटे कटै न हुताशन[३],
पानी को पीटे क्यों मीन डरेगो॥
खोरो ह्वै ऊंट रु डाँमिये गादह[४],
ऐसे अज्ञान क्यों काम सरेगो।
काया की त्रास न त्रासिये[५] सो मन,
रज्जब, यूं न गुमान[६] गिरेगो[७]॥१॥

छाया को काटने[१] से पक्षी नहीं कटता, बांबी को मारने से सर्प[२] कैसे मरेगा? काष्ठ को काटने से उसका अग्नि[३] नहीं कटता, जल को पीटने से मच्छी कैसे डरेगी? ऊंट तो खोड़ा हो और गधे[४] के डांम लगाये तो इस

प्रकार के अज्ञान से ऊंट का रोग नष्ट होना रूप कार्य कैसे सिद्ध होगा ? वैसे ही शरीर को कष्ट देने से उस चंचल मन को दु:ख[५] नहीं होता। इस प्रकार करने से अज्ञान जन्य घमंड[६] नष्ट[७] नहीं होगा।

शठ के हठ से सु तजें पट[१] पानहिं[२],
साधु सौं द्वेष संसार सौं रागी।
दावे[३] दिखावे को होय दिगंबर,
कोपी[४] रु टोपी कुमत्ति[५] के त्यागी ।।
मान[६] मिले न चले पग नागे ह्वै,
आंटी[७] भरे सु अज्ञान अभागी।
हो रज्जब रीझचो देखें रस रोषहिं,
कौन सु कपट कसौटी[८] है लागी ।।२।।

मूर्ख प्राणी हठ करके वस्त्र[१] और खान-पान[२] छोड़ देते हैं। संतों से द्वेष करते हैं और सासारिक प्राणियों से राग करते हैं। कुबुद्धि[५] जन अपना अधिकार[३] दिखाने को कौपीन[४] और टोपी त्याग कर दिगम्बर बनते हैं। जूता त्याग कर नंगे पैर चलने से संत समाज में वा प्रभु के पास सम्मान[६] नहीं मिलता किन्तु अभागे अज्ञान से द्वेष[७] भरे हुये ऐसा करते हैं। सज्जनो ! ऐसे मूर्ख प्राणी को विषय-रस में प्रसन्न और संतों से रुष्ट ही देखते हैं। ज्ञात नहीं है कौन से कपट रूप पाप से इसके पीछे यह कष्ट[८] लगा है ?

हिमाले गरै रु हुताशन[१] पैसे[२] जु, मन को मान रती नहिं छीजे।
शीश करोत समुद्र के झंपिबे[३], गर्व गुमान सु नेक न भीजे ।।
दीवक[४] देह खुलाय खपे[५] किन[६], मन मेवासी[७] सु खेट[८] न लीजे।
हो काया के कष्ट करो कोऊ क्यों हु जु,
रज्जब राम बिना नहिं सीझे[९] ।।३।।

हिमालय में गलने से और अग्नि[१] में प्रवेश[२] करने से मन का अभिमान क्षीण नहीं होता। शिर पर करवत चलाने से बुद्धि का गर्व नहीं कटता। समुद्र में छलांग[३] मारने से देहाभिमान नहीं गलता। दीमक[४] को खिला कर शरीर को नष्ट[५] क्यों[६] न करे फिर भी शरीर गढ-के-स्वामी[७] मन की शिकार[८] करके अर्थात् मार के अपने अधिकार में नहीं ले सकता। हे सज्जनो ? शरीर के कष्ट को कोई किसी प्रकार भी क्यों न भोगे, राम-भजन द्वारा ब्रह्म ज्ञान हुये बिना मुक्त[९] नहीं हो सकता।

काचो जु तन मन आसिरे[१] ऊबरे[२], जोलों सु सुरति शरीर में सानी।
भूख की ऊख[४] आहार हि उतरे[५], त्रास तृषा की गई पिय पानी ।।

शीत की मार उबार ह्वै अम्बर, घाम[9] घने[7] को छवाइ ले छानी ।
हो रज्जब ओट[8] हि चोट[6] टरी सब,
पान[10] हि त्याग कहा ठग ठानी[11] ।४।१००।

जब तक वृत्ति शरीर में लगी[3] है तब तक ये कच्चे तन-मन, संत और प्रभु का आश्रय[1] प्राप्त करने पर ही अनर्थ से बचते[2] हैं । जैसे-क्षुधा का संताप[4] भोजन करने से ही कम[5] होता है, प्यास की व्यथा जल पीने से ही जाती है, शीत के दुःख से वस्त्र द्वारा ही बचा जाता है, अधिक[7] धूप[9] से बचने के लिये छान छवाते हैं, ऐसे सभी दुःख[6] आश्रय[8] से ही हटते हैं । तूने खान-पानादि[10] त्याग करके क्या ठगी करी[11] है ? प्रभु की शरण ग्रहण कर तभी तेरा कल्याण होगा ।

अथ असार ग्राहक का अंग १८

अवगुण लेत तजैं गुण गाफिल[1], ज्ञान विहीन हृदय के फूटे ।
ईख को कोल्हू ज्यों अमृत छाड़ि, अचेत[2] गहै दिल थोथरे बूटे ।।
चालनी चून तजै तुष पाकरे, जामें हि छिद्र सहस्रक छूटे ।
हो रज्जब भाठी में बाकस[3] ठाहरे, ऐसे अज्ञान्यों हूं अवगुण लूटे ।१।१०१

असार ग्राहक संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—असावधान[1] प्राणी ज्ञान हीन होने से तथा हृदय के नेत्र नष्ट होने से गुणों को त्याग कर अवगुण ही ग्रहण करते हैं । जैसे ईख का कोल्हू ईख के अमृत समान रस को त्याग कर रस रहित बूटे ही रखता है, वैसे ही मूर्ख[2], थोथी बातें ही रखता है । जिस चलणी में हजारों छिद्र निकले हुये होते हैं वह भी सार रूप आटे को त्याग कर निस्सार तुषों को ही पकड़ती है । आसव की भट्टी के पात्र में कूड़ा[3] ही ठहरता है । ऐसे ही अज्ञानियों ने अवगुण ही ग्रहण किये हैं ।

अथ काम का अंग १९

काम सौं राम रसे[1] रस रावण, इन्द्र अनंग[2] से ईश नवाये ।
बीरज[3] के वश बास विरंचिजु[4], नारद ने सुत साठक[5] जाये ।।
मीच मदन ने मार ली मेदिनी[6], दूब हि खात तपा[7] तेउ[8] खाये ।
हो रज्जब काया न कूप रहै ठग, ताहि ठगे सु निरंजन भाये ।।१।।

काम से राम द्रवित[1] हुये, काम-रस में रावण फंसा, इन्द्र और महादेव को भी काम[2] ने नीचे नमाया है । ब्रह्मा[4] भी काम[3] के वश में होकर रहे हैं । देवर्षि नारद ने भी काम वश होकर साठ[5] पुत्रों को जन्म दिया है । यह मृत्यु रूप काम सब पृथ्वी[6] के प्राणियों को मार कर अपने अधीन कर लेता है । दूब खाकर रहते थे उन[8] तपस्वियों[7] को भी काम ने खाया है । हे सज्जनो ! यह काम रूप ठग शरीर में नहीं रहता

और कूप में भी नहीं रहता, पारे के कूप पर नारी जाकर कूप में देखती है तो पारा कूप से दूध के समान उफन कर बाहर निकल आता है। उस काम को जो कोई ठगता है वही निरंजन ब्रह्म को प्रिय लगता है। नारद के साठ पुत्र होने की कथा छप्पय ग्रन्थ में काम के अंग २६ की टीका में देखो।

त्रिया को त्योरी[1] में देखत ही नर, सुन्दर शीश गमाय गये हैं।
नारी जु नाग भये नर दीपक, देखत दृष्टी बुझाय दिये हैं॥
ज्यों गज देखि विभ्रम[2] की हस्तिनी, संकट पाय प्रचंड[3] नये हैं।
मनो कपि काठ की पूतरि देखि, हो रज्जब वित्त[4] लुटाय भये हैं॥२

नारी को दृष्टि[1] से देखने पर भी बहुत से नर अपना सुन्दर शिर खो गये हैं अर्थात् मारे गये हैं। नारी नाग के समान है। और नर दीपक के समान है। जैसे सर्प अपनी फूंक से दीपक को बुझा देता है, वैसे ही नारी की दृष्टि से नर नष्ट हो जाते हैं। जैसे हाथी कागज से बनी भ्रम[2] की हथिनी पर जाता है तब बंधन में आकर नये २ उग्र[3] दुःख पाता है। जैसे काष्ठ की पुतली को देखकर वानर उस पर आसक्त होता है तब पकड़ा जाता हैं। ऐसे ही हे-सज्जनो ! जो नारी पर आसक्त होते हैं वे अपना बल-धन[4] लुटा कर दीन हो जाते हैं।

यूं नारी के हेत[1] हते नर सारे जु, अल्प सुखी दुख होत अपारा।
मच्छ सु मुग्ध[2] को मीच न सूझ ही, स्वाद के संग ह्वै बाहर डारा॥
ज्यों बक बुद्धि बिना वपु हारत, चूष नारेल ने जीवन हारा।
हो रज्जब मूसा मरे तुच्छ लालच, बाती चुराय कियो तन छारा॥३

इस प्रकार नारी-प्रेम[1] में सभी नर मारे गये हैं। नारी-प्रेम में सुखी तो कम होते हैं और दुःख अपार होता है। जैसे-मूर्ख[2] मच्छी को मृत्यु नहीं दीखती है, वह स्वाद के वश होती है तब वंशी के साथ जल से बाहर डाली जाती है। जैसे बगला बुद्धि बिना कच्चे नारेल को चूस कर शरीर को नष्ट करता है। नारेल में चूंच मारकर उसका रस पीता है तब चूंच उसमें चिपक जाती है फिर झटका देकर उसे निकालता है तब नारेल से पैर छुटकर लटक जाता है और मर जाता है। ऐसे ही नर नारी में आसक्त होकर जीवन नष्ट करते हैं। हे सज्जनो ! जैसे चूहा तुच्छ दीपक की बत्ती के लालच में आकर जलती हुई बत्ती को चुराकर छप्पर में जाता है और अग्नि लगने से मर कर शरीर को भस्म कर लेता है, वैसे ही नारी-वश नर कामाग्नि में जल कर नष्ट होते हैं।

नारी की छाया में नाग[1] रहै चखि[2], यद्यपि जाय समागम नाहीं।
ज्यों नर निम्ब निकट ही आवत, मीठेते खारो ह्वै छाया हि मांहीं॥
छाया में निपजे काठ ह्वै कोमल, वृक्ष पषान मिलापन जांहीं।
हो तीन प्रकार त्रिया तकि[3] त्यागिये, रज्जब रंग[4] नहीं गहे बांहीं ४।१०५

रजस्वला नारी की छाया काले सर्प[1] पर पड़ जाती है तो उसकी आंखें[2] रह जाती हैं अर्थात् अंधा हो जाता है। ऐसे ही यद्यपि जाकर नारी से समागम नहीं करे तो भी नर कामांध हो जाता है। जैसे नर जाति के नीम की छाया में मधुर पदार्थ भी रक्खा रहे तो कड़वा हो जाता है। वैसे ही नारी के निकट आने से नर में काम रूप कटुता आ जाती है। जिस वृक्ष का पत्थर से मिलाप नहीं है, वह छाया में उत्पन्न होता है तो उसका काष्ठ कोमल होता है, वैसे ही जिस नर का नारी से मिलाप नहीं होता वह संतों की शरण में कोमल हृदय होता है। हे सज्जनो ! उक्त तीन प्रकार से नारी को देखकर त्यागना चाहिये। नारी की भुजा ग्रहण करने से आनन्द[4] नहीं है।

अथ विश्वास का अंग २०

कवित्त—साधु है संतोष मांहीं बरतनि[1] की चिंत नांहि,
आवे सब सहज मांहि आश बिन हूवे[2] ।
आभे[3] ज्यों अधर अंग नांहि कछु श्रम संग,
गह गृह अग्नि उमंग[4] पोषत तेउ धूवे[5] ॥
रहते भँवर भाय[6] करते नांहि उपाय,
पावे तेऊ वास वायु वारि बिन कूवे ।
जैसे मृतक अचेत[7] नांहि कछु लेन हेतु[8],
अशन[9] वसन[10] आनि[11] देत रज्जब ज्यूं मूवे[12] ।१।१०६।

संत संतोष में स्थित रहते हैं, उन्हें शरीर के खान-पानादि व्यवहार[1] की चिन्ता नहीं होती, हृदय में आशा उत्पन्न हुये[2] बिना ही अनायास सब कुछ उनके पास आ जाता है। जैसे बादल[3] आकाश में बिना आश्रय अधर ही रहते हैं, ऐसे ही उनका शरीर बिना आश्रय ही रहता है। धन कमाने का परिश्रम वे नहीं करते न धनियों का संग ही करते हैं। घर-घर में अग्नि जलता[4] है, उसके धुआं[5] को देखकर उन घरों से भिक्षा द्वारा अपना पोषण कर लेते हैं। भ्रमर के समान[6] रहते हैं, मधुकरी ही करते हैं, थोड़ा २ अन्न लेते हैं, किसी को कष्ट नहीं देते। जैसे—भ्रमर कूप के जल से बगीचा सींचने का उपाय नहीं करता, वायु के द्वारा सुगंध को प्राप्त करके पुष्पों पर जाता है, वैसे ही संत भोजन के लिये कुछ उपाय नहीं करते भिक्षा से ही निर्वाह करते हैं। जैसे मुरदा[12] कुछ लेने के लिये[8] उपाय नहीं करता किन्तु अपने आप ही उसे पिंड-पट देते हैं। ऐसे ही संत अचेतन[7] न होने पर भी मृतक के समान रहते हैं किसी से कुछ लेने का यत्न नहीं करते किन्तु लोग अपने आप ही उन्हें वस्त्र[10]-भोजन[9] ला[11] देते हैं।

अथ तृष्णा का अंग २१

सवैया—लोभ सु पाप पाखंड प्रपंच सु, छंद[1] रु बंद[2] सु द्वन्द्व उपावे।
अनीति उपाधि अलेखे[3] उदंगल[4], स्वारथ शैल[5] समुद्र समावे ।।
चाकर चोर ठगाई बटकुट[6] भूष[7] भगल[8] सु भांड भडावे[9] ।
हो शीत न घाम गिने नहिं निशि दिन,
रज्जब चाहि चिता जु जरावे ।।१।।

तृष्णा संबन्धी विचार कर रहे हैं—प्राणी लोभ-तृष्णा के वश होकर पाप, पाखंड, प्रपंच, छल[1]-कपट करते हैं वा छंद[1]-प्रबन्ध[2] रचते हैं। नाना द्वंद्व उत्पन्न करते हैं। अनीति उपाधि, व्यर्थ[3] उपद्रव[4] करते हैं। जैसे समुद्र में पर्वत[5] समा जाता है, वैसे ही स्वार्थ में समाये रहते हैं। तृष्णा से नौकर बनते हैं, चोर बनते हैं, ठगाई करते हैं, बटमार[6] बनते हैं, भेष[7]-भूषा धारण करते हैं। जादू[8] आदि से धोखा देते हैं। भांड के समान इधर-उधर भटकते[9] हैं। हे सज्जनो ! तृष्णायुक्त प्राणी शीत-घाम को नहीं गिनते अर्थात् नहीं देखते। रात्रि-दिन चाह रूप चिता में जलते रहते हैं।

कवित्त—लोभ लगे सकल जंत[1] तिहुं लोक इहै ममंत[2],
फल को सेवें अनंत सिद्ध साधक देवा।
एक भक्ति मुक्ति आश कोई ऋद्धि सिद्धि प्यास[3],
बहुत शब्द फुरत[4] दास दीन लीन लेवा[5] ।।
तृष्णा तप कष्ट देख कामना सु पाठ भेष,
स्वारथ संगीत रेख हिरदै हरि न हेवा[6] ।
चार खानि चित्त चाह प्राण पिंड पेखि पाहि[7],
जन रज्जब त्राहि[8] त्राहि कैसी कलि सेवा ।।२।१०८

सभी प्राणी[1] लोभ में लगे हैं, तीन लोकों की इस लोभ में ही ममता[2] है। अनन्त सिद्ध साधक फल के लिये ही देवताओं की सेवा करते हैं। एक कोई बिरले को ही भक्ति द्वारा मुक्ति की आशा होती है। शेष कोई को ऋद्धि-सिद्धि की इच्छा[3] होती है। कोई बहुत शब्द हृदय में प्रकट[4] होते रहें, इस वर को लेने[5] के लिये दीन भाव से दास बनकर सेवा में लीन रहते हैं। तृष्णा से ही देखो, तप का कष्ट सहन करते हैं। कामना से पाठ करते हैं. भेष बनाते हैं। स्वार्थ से संगीत सीखते हैं किंतु इनके हृदय में निष्काम हरि-स्मरण[6] वा प्रेम[6] की रेखा भी नहीं होती। जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज, इन चारों खानि के जीवों के चित्त में चाह ही लगी है। प्राण तथा शरीर में भी देखो, इच्छा[7] ही बसी है।

कलियुग में जहां तहां रक्षा[८] करो रक्षा करो की आवाज ही आ रही है फिर निष्काम भक्ति कैसे हो सकती है ।

अथ शब्द का अंग २२

**अनादि सु अविगत[१] से ओंकार, उपाय[२] ब्रह्माण्ड रु पिंड सँवारे[३] ।
शब्द की मांड[४] रु मांड में सोई जु, गोई[५] गुरु शिष सुरति सुधारे ।।
वायक[६] बंदि[७] चलै विश्व लोय[८] जु, देव दयाल वचन्न[९] सु सारे[१०] ।
अक्षर मांहि अगम्म[११] सुगम ह्वै, रज्जब बैठ सु बैन विचारे ।१।१०६।**

शब्द संबन्धी विचार कर रहे हैं—मन, इन्द्रियों के अविषय अनादि ब्रह्म[१] से ओंकार उत्पन्न[२] होकर ओंकार से ब्रह्माण्ड और पिंड बनता[३] है । यह ब्रह्माण्ड[४] शब्द का कार्य है और वह शब्द ब्रह्माण्ड में व्यापक है । गुरुजन शब्द में ही शिष्य की वृत्ति को पिरो[५] कर सुधारते हैं । शब्द[६] से ही विश्व के लोग[८] चलते हैं और शब्द से ही रुकते[७] हैं । दयालु देव स्तुति रूप शब्द[९] के द्वारा ही कार्य सिद्ध[१०] करते हैं । ॐ अक्षर में वृत्ति लगाने से ही अगम[११] ब्रह्म की प्राप्ति सुगम होती है । अतः एकान्त में बैठ कर संतों के वचन विचारना चाहिये ।

अथ जरणा का अंग २३

**श्वान हि शठ[१] हठ रटैं[२] बहुतेरे पै[३], कुंजर के कछु कान न आवे ।
जंबुक[४] जीव पुकारैं अनेरे[५] पै, सिंह न काहू हो स्याल को धावे ।।
सूर ही सन्मुख खेह[६] उडावत, तो व[७] कहा कछु मैल समावे ।
हो रज्जब राम रटै निशि वासर, मूरख भूंक भलैं सचपावे[८] ।१।११०।**

क्षमा संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—मूर्ख[१] कुत्ते हठ पूर्वक भूंकते[२] रहते हैं परन्तु[३] हाथी उनकी ओर ध्यान नहीं देता, गीदड़[४] जीव दूर[५]-दूर व्यर्थ पुकारते रहते हैं किन्तु सिंह किसी गीदड़ पर धावा नहीं करता । सूर्य के सामने धूलि[६] उड़ाने से, क्या उसका वह[७] मैल सूर्य में समायगा ? वैसे ही संत तो रात्रि-दिन राम का नाम रटते हैं । मूर्ख लोग भले ही कुत्ते के समान व्यर्थ भूंक-भूंक कर प्रसन्न[८] होते रहें । इसमें संतों की क्या हानि है ?

अथ काल का अंग २४

**वारि सु बुदबुद ओरे[१] की आयु, तिने पर बूंद कहा ठहरावे ।
ज्यों शीत के कोट[२] सभा शशि मंडल सैन सुपन[३] शीघ्र न समावे ।।
बारू रु वरुण[४] बयार[५] मुठी भरि, मांहि मूहरत[६] में चलि जावे ।
हो तारो तुटे अरु विक्ख[७] रु बिजली, रज्जब ज्योति विलंब न लावै ।१।१११**

काल संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—जल के बुद्बुदे और बर्फ-के-कंकर[1] की आयु कितनी है ? तृण के अग्र भाग पर जल विन्दु कितनी देर ठहरती है ? वैसा ही जीवन है। जैसे गंधर्व नगर के किले[2] की सभा, चन्द्र मंडल, स्वप्न[3] की सेना, ये इतने शीघ्र लय नहीं होते, जितना शीघ्र काल खाता है। बालू, जल[4] और वायु[5] इनकी मुठ्ठी भरने पर ये अति-शीघ्र[6] मुठ्ठी से चले जाते हैं। तारा टूटने की, जूंगना[7] की और बिजली की ज्योति जाते देर नहीं लगती। वैसे ही काल को प्राण निकालते देर नहीं लगती।

अथ खालसा का अंग २५

ज्ञानी को गौन[1] दशों दिशि एक सो, पंखी उडे कहीं ओर अरेगो[2]।
जल के पग शीश सबै दिशि सारिखे[3], प्यास पीड़ा सब ओर हरेगो॥
सूर समंगल और उजागर[4], शीत अंधारे को शोधि चरेगो[5]।
लोहरि[6] घाट[7] समस्त हि धार में, रज्जब लागत घाव परेगो॥१॥

खास बातें बता रहे हैं—ज्ञानी का गमन[1] दशों दिशाओं में एक जैसा ही होता है। पक्षी आकाश में उड़ता है तब किस ओर अड़ता[2] है ? जल के पैर तथा शिर सभी ओर समान[3] होते हैं, वह प्यास जन्य व्यथा को सभी ओर पान करने पर हरता है। वैसे ही ज्ञानी के वचन सुनने पर सभी स्थानों में संशय हरते हैं। सूर्य मंगल युक्त और प्रसिद्ध[4] हैं, शीत को तथा अंधकार को खोजकर खाजाते[5] हैं। वैसे ही ज्ञानी आनन्द स्वरूप और प्रसिद्ध हैं, अज्ञान को हर लेते हैं। लुहार[6] के घड़े हुये शस्त्रों[7] की सभी धार में घाव करने की शक्ति होती है लगते ही घाव कर देगा। वैसे ही ज्ञानी के वचनों में शक्ति होती है वे अज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

पाप रु पुण्य तो ज्ञान सौं देखिये, ज्ञान को पाप न पुण्य दिखावे।
राई रु मेरु सो सूर सौं देखिये, सूर को राई न मेरु पिखावे[1]॥
धाम की सौंज[2] सु दीप सौं लेखिये[3], दीप को सौंज न कोई लखावे[4]।
हो रज्जब धातु सु परखि पिछानिये, धातु नहीं कोई परख सिखावे॥२

जो राई और पर्वत हैं सो सूर्य से देखे जाते हैं, राई और पर्वत सूर्य को नहीं दिखाते[1]। घर की सामग्री[2] दीपक से देखी[3] जाती है, कोई भी सामग्री दीपक को नहीं दिखाती[4]। सभी सुन्दर धातु परीक्षा से पहचानी जाती हैं, कोई भी धातु परीक्षा करना नहीं सिखाती। वैसे ही पाप-पुण्य ज्ञान से देखे जाते हैं, ज्ञान को पाप-पुण्य नहीं दिखा सकते।

पाथर[1] राय[2] परचों खर[3] जाम्यों जु, फाटे बिना कहा फूस को बासै।
भोडल भेद परे परि पूरण, या ही तें ता को भयो नख नाशै॥

मंदिर[४] मध्य विराय[५] बुरी गति[६], पानी प्रवेश पन्नग[७] निवासै ।
हो रज्जब रामसौं राय[८] परे दिल, देखत काम करे सु प्रकाशै[९] ॥३

पत्थर[१] में दरार[२] पड़ने से तृण[३] जमते हैं, पत्थर के फटे बिना उसमें फूस कहां रह सकता है ? अभ्रक में परिपूर्ण रूप से भेद पड़ा रहता है, इसीसे उसके नख से टुकड़े हो जाते हैं । मकान[४] में बड़ी दरार[५] पड़ने से उसकी दशा[६] खराब हो जाती है, उसमें जल प्रवेश करता है और सर्प[७] रहने लगते हैं । हे सज्जनो ! ऐसे ही दिल राम से फटता[८] है तब देखते-देखते ही उसमें काम प्रकट[९] हो जाता है ।

दुष्ट की हांसी रु हेत[१] हते नर, तामहि फेर न सार जु कोई ।
ज्यों शठ सर्प डसे पशु मानुष, पेट न खाय मरे जिव सोई ॥
करे कपि केलि बुरे दिन बइयों के, धाम विध्वंस जु ठाहर खोई ।
हो रज्जब मूस[२] मनोरथ मोद[३] के, चीर कुरट्टत[४] हानि न जोई ॥४

जैसे दुष्ट सर्प पशु तथा मनुष्य को काटता है तब उसे पेट में भी नहीं खाता और वह जीव मर जाता है । वानर तो बैया पक्षी के घर को नष्ट करके क्रीड़ा करता है और बैया का स्थान नष्ट हो जाने से उसे बड़ा दुःख हो जाता है । चूहा[२] मनोरथ के आनन्द[३] में भरकर वस्त्र काटता[४] है किन्तु मनुष्य की हानि को नहीं देखता । वैसे ही दुष्ट की हँसी और प्रेम[१] दोनों ही नर को मारते हैं । इस बात में परिवर्तन का कोई अवकाश नहीं है । यह सार रूप बात है ।

कु संग सौं भंग भयो सब ही को जु, देख हु मान[१] महातम[२] जाई ।
गंग गुमान[३] गयो सब ही जब, जाय के क्षार समुद्र समाई ॥
उदधि उपाधि करी न हरी कछु, रावण संग शिला जु बँधाई ।
हो रज्जब रंग[४] रहै न कुसंगति, सोच विचार तजो किन[५] भाई ।५।११६

कुसंग से सभी का नाश हुआ है, देखो, कुसंग से सम्मान[१] और माहात्म्य[२] चला ही जाता है । गंगा जब हिमालय से जाकर क्षार समुद्र में समाती है तब उसके जल का मधुरता रूप अभिमान[३] और माहात्म्य नष्ट हो जाता है । समुद्र ने कुछ भी उपद्रव नहीं किया था न सीता को हरा था किंतु रावण के कुसंग से ही उसके ऊपर शिलाओं का सेतु बांधा गया था । हे भाईयो ! कुसंग में पड़ने पर आनन्द[४] नहीं रहता है । अतः सोच-विचार के कुसंग को क्यों[५] नहीं त्यागते हो । अर्थात् शीघ्र त्यागो ।

इति श्री पूज्य चरण स्वामी. धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सवैया ग्रन्थ भाग ३ सामप्तः ॥सवैया सं० ११६॥

अथ श्री स्वामी रज्जबजी की भेंट के पद्य

कवित्त—गरवा[१] गंभीर धीरि बुद्धि अनन्त थंभ थीर[२],
वाणी विज्ञ[३] सुखों सीर[४] वक्त्र[५] सौं बखानिये ।
लाधो[६] है जु ब्रह्म भेद[७] कियो है नीके न खेद[८]
संशय करि सकल छेद पहुँचे प्रमानिये ॥
ऐसो सोई दृढ़ मंत[९] सुमरे सत्य मित्र कंत[१०],
निरखे निज परम तंत[११] संतन में मानिये ।
समझे हैं सकल घाट ज्ञान गम्य अगम बाट,
चैन कहै परमठाट[१२] रज्जब जग जानिये ॥१॥

रज्जबजी के शिष्य रज्जबजी की विशेषतायें बता रहे हैं—रज्जबजी महान्[१] गंभीर धैर्य शाली, अनन्त बुद्धि, स्तंभके समान स्थिर[२] विचारवान्, वाणी के ज्ञाता[३] और सुखों के उद्गम[४] स्थान, मुख[५] से कहे जाते हैं। उन्हें ब्रह्म का रहस्य[७] प्राप्त[६] हुआ है। इन्होंने अपने हृदय को ब्रह्म-विचार द्वारा भली भाँति दुख[८] रहित किया है। ये संपूर्ण संशयों को काट कर अभेद स्थिति में पहुँचे हुये प्रामाणिक संत माने जाते हैं। इनका विचार[९] ऐसा दृढ़ है कि—विश्व के स्वामी[१०] सच्चे मित्र सत्य ब्रह्म का ही स्मरण करते हैं। परम तत्त्व[११] रूप निजात्मा को ही सब में देखते हैं, संतों में माननीय हैं। संपूर्ण साधन रूप घाटों को समझते हैं और ज्ञान मार्ग द्वारा जानने योग्य अगम ब्रह्म में स्थित हैं। चैनरामजी कहते हैं कि—इस प्रकार जगत् में भी रज्जबजी परमानन्द[१२] रूप ही जाने जाते हैं।

सवैया—महा बलवंत चढ्यो गुरु ज्ञान जु,
शूर संग्राम अडोल[१] है हीयो[२] ।
केशरि सिंह ज्यों काम परे परि,
एक अनेक हुं जाय न लीयो ॥
जु स्यावज[३] स्याल[४] गये दश हुं दिशि,
देखत भाजि पयानों[५] जु दीयो ।
हो रज्जब अज्जब राम को सेवक,
आकिल[६] एक[७] अलख को कीयो ॥२॥

महान् साधन बल से युक्त, गुरु ज्ञान पर स्थित, योग संग्राम में अडिग[१] हृदय[२] शूर हैं। काम पड़ने पर केशरि सिंह के समान अकेले ही अनेक काम क्रोधादिक योद्धाओं से भी ग्रहण नहीं किये जाते। इनको देखकर आसुर गुण रूप शिकार[३] गीदड़ों[४] के समान भाग कर दशों

दिशाओं में प्रस्थान[५] कर जाती है। हे सज्जनो! ये रज्जबजी राम के अद्भुत सेवक हैं और अलख ब्रह्म के रचे हुये ये बुद्धिमान्[६] तो अद्वितीय[७] हैं।

भानु सो ज्ञान प्रकाश महा मुनि, सोम सो शीतल कुंड अमी है।
वाणी मनु विधि सिद्ध गणेश्वर, बुद्धि महा विसकर्म[१] समी[२] है॥
शील हनू[३] शुकदेव कि गोरख, ब्रह्म अग्नि में देह दमी है।
शेष भजन्न[४] तजन्न[५] परशु ज्यों, रजज्ब ऊपम राम ठमी[६] है॥३

सूर्य के समान ज्ञान-प्रकाश युक्त महामुनि हैं। चन्द्रमा के समान शीतल और सुवचन रूप अमृत के कुंड हैं। वाणी मानो ब्रह्मा के समान वा मनु जैसी है। गणेश के समान सिद्ध हैं और विश्वकर्मा[१] के समान[२] महान् बुद्धि वाले हैं। शीलव्रत हनुमान्[३], शुकदेव और गोरक्षानाथ के समान है। अपने शरीर को ब्रह्मज्ञानाग्नि में दमन करने वाले हैं। शेष के समान जिन का भजन[४] और परशुराम के समान त्याग[५] है। रज्जबजी की उपमा रामजी ने ही ऐसी निश्चित[६] करी है।

ज्ञान अनन्त रु ध्यान अनन्त है, बुद्धि अनन्त दई[१] दीनानाथै।
विवेक अनन्त विचार अनन्त है, भाग्य अनन्त लिख्यो जिहि माथै॥
सिद्धि अनन्त रु निधि सु अनन्त है, ऋद्धि अनन्त रहै नित हाथै।
सब बोल[२] अनन्त रु पाप को अन्त है, क्षेम कहै गुरु रज्जब साथै॥४

रज्जबजी का ज्ञान अनन्त है और ध्यान भी अनन्त है तथा दीनानाथ प्रभु ने इन्हें बुद्धि अनन्त ही दी[१] है। विवेक अनन्त है, विचार अनन्त है तथा जिनके मस्तक में भाग्य भी अनन्त ही लिखा है। सिद्धि अनन्त और निधि अनन्त है तथा ऋद्धि भी हाथ में अनंत ही रहती है। क्षेम दास कहते हैं—गुरु देव रज्जबजी के साथ शुभ गुण तो सब अनंत ही कहे[२] जाते हैं किन्तु पाप से आदि अशुभ गुणों का अंत ही कहा जाता है अर्थात् अशुभगुण तो हैं ही नहीं।

छप्पय—विद्यावंत विशेष जतीपण[२] जोबन बाला।
महाराज मानिये, भेंट ले मिलैं भुवाला[३]॥
अष्ट सिद्धि नव निधि सु, ऐन[४] ऊभी मुंह आगे।
भक्त राज शिरताज भयंकर द्वन्द्वर[५] भागे॥
सकल बोल शोभा लिये, एकणि[६] अंग पेख्या अजब[७]।
'खेम' हेम[८] नैणा हुवें, दर्शन देख्या गुरु रजब॥५॥

विद्यावान्, विशेष करके युवावस्था में यतित्व[२] धारण करने वाले बालब्रह्मचारी, महाराजाओं के माननीय, जिनसे भूपाल[३] भी भेंट हाथ में लेकर मिलते हैं, अष्ट सिद्धि और नव निधि साक्षात्[४] मुख के आगे

खड़ी रहती हैं। जो भक्तों में श्रेष्ठ हैं, साधकों के शिरोमणि हैं। जिनके भय से भयंकर द्वन्द्व[५] भी भागते हैं। जिनके लिये सभी वचन शोभा से युक्त कहे जाते हैं। ऐसा अद्भुत[७] शरीर यह एक[६] ही देखा है। खेमदास कहते हैं—इन गुरुदेव रज्जबजी के दर्शन करने से नेत्र शीतल[८] होते हैं।

ज्ञानवंत गंभीर, शूर सावंत[१] सुलक्षण।
पंच पचीसों पेलि[२], भरम गुण इन्द्री भक्षण[३] ॥
दुर्जन द्वै दल दमें[४], मोह मद मत्सर माया।
खल रिपु सबखें[५] शवें[६], कीध[७] इक राजी[८] काया ॥
मस्त मन गुरु ज्ञान में बोध बुद्धि ले अरि हते।
ध्यान अडिग धर धीर धू[९], जन रज्जब पूरे मते[१०] ॥६॥

जो ज्ञानवान् हैं, गंभीर हैं, साधक-शूर हैं, बड़े सामंत[१] हैं, शुभ लक्षणों से युक्त हैं, जिनने पंच ज्ञानेन्द्रिय और पचीस प्रकृतियों को जीत[२] लिया है। भ्रम और आसुर गुणों को नष्ट[३] कर दिया है। बाहर के दुर्जन और आन्तर मोह, मद, मत्सर, माया, इन दोनों दलों का दमन[४] किया है। इस प्रकार संपूर्ण दुष्ट शत्रुओं को क्षय[५] करके लाश[६] बना दिया है तथा काया नगरी में एक विवेक का ही राज्य[८] स्थापन किया[७] है। इनका मन गुरु ज्ञान में ही मस्त रहता है। इनने बुद्धि में ज्ञान धारण करके कामादि शत्रुओं को मारा है। इन गुरुदेव रज्जबजी का ध्यान निश्चल धैर्य है, अटल[९] है, और ये अपने विचार[१०] में पूरे हैं।

बुधि[१] अनन्त बहु जानि[२], वानि[३] मुख अमृत वाइक[४]।
ज्ञान अगम गम[५] किये, साधु संतन सुख दायक ॥
धीर थीर[६] धर्म ध्यान, शील समता सत संगा।
आदि अंत अह निशा, रहै रस एकणि[७] रंगा[८] ॥
विमल उवर[९] उज्जल वदन[१०]; परम[११] साधु पति परखिया[१२]।
जन रज्जब निष्कंप जल, निर्मल गंग सा निरखिया ॥७॥

रज्जबजी की बुद्धि[१] अनन्त है, इन्हें वाणी[३] विषयक ज्ञान[२] बहुत है, इनके मुख के वचन[४] अमृत रूप हैं। इनने ज्ञान के द्वारा अगम ब्रह्म में प्रवेश[५] किया है। ये साधु संतों को सुख देने वाले हैं। इनका धैर्य, धर्म, ज्ञान, ध्यान, शील, समता, सत्संग, ये सब स्थिर[६] हैं। ये जीवन के आदि से अंत तक दिन-रात प्रभु-प्रेम[८] में एक[७]-रस रहे हैं। इनका हृदय[९] निर्मल है, मुख[१०] उज्वल है। इनने विश्वपति प्रभु को पहचान[१२] लिया है। इससे ये श्रेष्ठ[११] संत हैं। संत रज्जबजी तरंग रहित निश्चल जल के समान स्थिर और गंगा के समान निर्मल ही देखे गये हैं।

वेद सु भेद बखान, कंद की कुरान तुरकी ।
अक्षर धर[1] उपमासु, मत भल गाहन[2] फोर[3] की ॥
योगेश्वर सिद्धान्त, ज्ञान सब अनुभव सारी ।
भाटंती[4] चारणी[5], भक्ति विगति[6] नौधारी[7] ॥
षट् भाषा स्वर सप्त ले, पिंड ब्रह्मांड ब्योरे[8] किये ।
सब अंग[9] राम रज्जब रता[10], दादू गुरु दतवि[11] दिये ॥८॥

वेद के रहस्य को भली भांति कथन किया है, कुरान और तुरकी भाषा को अपने अधिकार में किया है । अक्षर धारण[1] करने वाले विद्वानों की कथित सुन्दर उपमा और उनके मतों का सम्यक अवगाहन[2] करके, उनमें से दरार[3] निकालकर अपने विचार प्रकट किये हैं । नौ योगेश्वरों के सिद्धान्त सब प्रकार के ज्ञान और संपूर्ण अनुभव से युक्त हैं । भाटों[4]-की और चारणों[5] की भाषा तथा नवधा[7]-भक्ति में जिनकी विशेष रूप से गति[6] है । षट् प्रकार की भाषा और सप्त स्वरों पर अपना अधिकार करके पिंड और ब्रह्माण्ड का विशेष रूप से विवरण[8] किया है । इस प्रकार सभी शुभ लक्षणों[9] से युक्त होकर रज्जबजी राम में अनुरक्त[10] हैं । इन्हें यह सब श्री गुरुदेव दादूजी महाराज ने ही दान[11] दिये हैं ।

छप्पय निसरणी बंध—

एक ब्रह्म आधार, दोय गुण तजे त्रिगुण तन ।
चारों युग वश पंच, छहों रस छाड़ि दिये मन ॥
सातों धातु शरीर, योग आठों में आने ।
नौ नाड़ी दश द्वार, एक दश मारग जानें ॥
बारह अंगुल वायु वपु, तेरस[1] तत्त्व लागे रहैं ।
चौदह विद्यापति पंद्रह, सो रज्जब सुमिरण गहैं ॥९॥

इसमें रज्जबजी के १-१५ तक पंक्तिबद्ध साधन बता रहे हैं—रज्जबजी १—एक ब्रह्म के ही आधार हैं । २—राग और द्वेष दो गुणों को त्यागा है । ३—शरीर के कारण-सत्व, रज, तम, इन गुणों को त्यागा है । ४—शरीर की आयु से १८ वर्ष से ६६ वर्ष तक १२-१२ वर्ष के चार युग होते हैं, उन चारों युगों में ही, ५—पंच ज्ञानेन्द्रियों को वश में रक्खा है । ६—छः प्रकार के भोजन के रसों का राग इनके मन ने त्याग दिया है । ७—सप्त धातुओं से रचित शरीर को, ८—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, इस अष्टांग योग के साधनों में लगाया है । ९—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा और कुहू इन नाडियों को, १०—दशम द्वार को, ११—एकादशवें ज्ञान मार्ग को जानते हैं । १२—वे शरीर से बाहर मुख से बारह अंगुल

दूर चलने वाले वायु को जानते हैं। १३[1]–तत्त्व में लगे रहते हैं। १४–चौदह विद्या के स्वामी हैं। १५–जो प्रभु का एक रस स्मरण है सो रज्जबजी ने ग्रहण किया है।

एकल[1] शूर सु भट्ट, वियो[2] कोउ हिरदै न हरि बिन।
तीन लोक को नाथ, च्यारि सब खानि सृजी जिन।।
पंच तत्त्व तिण[3] सेव, छठा मन उनमनि[4] लागा।
सप्त धातु अठ सिद्धि, नवो निधि ठाढी आगा[5]।।
दशमी भक्ति दिल पर मंडी[6], ग्यारह रुद्र ज्यों अनंग[7] गत[8]।
बारह कला रवि रज्जब, द्रसे[9], प्रकाश प्रतापी राम रत।।१०

इसमें १-१२ तक संख्या करते हुये रज्जबजी के साधन बता रहे हैं—१–रज्जबजी एक[1] ही साधक शूर हैं और कामादि को जय करने में महान् योद्धा हैं। २–इनके हृदय में हरि के बिना दूसरा[2] कोई भी नहीं आता। ३–तीनों लोकों के जो नाथ हैं। ४–जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज, इन चार खानि के सब जीवों को जिन ने रचा है। ५–आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ये पांचों तत्त्व उन[3] प्रभु की ही सेवा में लगे हैं। ६–रज्जबजी का छटा मन भी समाधि[4] द्वारा उन्हीं प्रभु की सेवा में लगा है। इसी कारण—७–सात धातु, ८–अष्ट सिद्धि, ९–नवनिधि, रज्जबजी के आगे[5] खड़ी रहती हैं। १०–दशमी प्रभु की भक्ति भी रज्जबजी के हृदय पर अंकित[6] है। ११. उन्होंने महादेव के समान काम[7] को नष्ट[8] किया है। १२–रज्जबजी का ज्ञान-प्रकाश सूर्य के समान दिखाई[9] दे रहा है। इस प्रकार प्रतापी रज्जबजी राम में अनुरक्त हैं।

छप्पय छत्र बंद—

है कर्त्तार अति हेत[1], तवै[2] सनकादिक तिण[3] तत[4]।
छाड़ि रस रती[5] छके[6], रहै सो जोग जुगति रत[7]।।
सजे द्वार दीरघ सु, वश करि कृष्ण शुक्ल पख।
जश रतन जप जाप, रहस्य. सामंत सुरप[8] भख[9]।।
निबंध भार अदभू[10] चिहुर[11], सु.जस नख शिख सौं कहै।
'अमरदास' उपमा अनन्त, जन रज्जब शिर छत्र है।।११

रज्जबजी का परमेश्वर में अनन्त प्रेम[1] है। सनकादिक जिस तत्त्व के चिन्तन द्वारा प्रताप[2] युक्त हुये हैं, उसी[3] तत्त्व[4] का चिन्तन करके ये प्रतापयुक्त हैं। विषय-रस की प्रीति[5] त्याग कर तथा योग की युक्ति में अनुरक्त[7] होकर तृप्त[6] रहते हैं। इनका महान् द्वार सदा साधक गण से सजा रहता है। इनने आसुर गुण रूप कृष्ण पक्ष को जीत कर वश किया है और दैवी गुण रूप शुक्ल पक्ष को साधन द्वारा अर्जन करके अधीन किया

है। इनके यहां हरि यश कथन रूप और जप रूप रत्न राशि है। इनका जाप रहस्य रूप सामंत तो इन्द्र[8] को भी जीतने-वाला[9] है। निबन्ध रचना रूप राज्य भार है। इनके केश[11] रूप वृक्षों[10] के बाग हैं। अमरदास इनका सुयश नख से शिखा तक कहे तो भी इनकी उपमा अनन्त है। इस प्रकार संत रज्जबजी के शिर पर ज्ञान रूप छत्र सदा शोभा दे रहा है।

मनहर—मारुत[1] से भयो जैसे हनुमान महावीर,
जति मति जोर जोग जुगति प्रमानिये।
अत्रि ऋषि पिता हुं तैं दत्त भयो ऋषि राय,
ताकी शोभा सरभरि[2] कौन उर आनिये॥
मछंद्र तैं भयो जैसे गोरख सु ज्ञान गंग,
सिद्ध सु चौरासी नव नाथन में मानिये।
तैसे भयो दादूजी से रज्जब अज्जब रूप,
भक्ति को भूपाल भले 'कल्याण' बखानिये॥१२॥

जैसे वायु[1] से महावीर, यति, बुद्धिमान्, बलवान्, योग, युक्ति आदि में प्रामाणिक हनुमान हुये हैं। पिता अत्रि ऋषि से ऋषिराज दत्तात्रेय हुये हैं, उनकी शोभा के समान[2] हृदय में किसकी शोभा लाई जा सकती है अर्थात् उनके समान किसको कहा जा सकता है? जैसे मत्सेन्द्र नाथ से ज्ञान की गंगा रूप गोरक्ष नाथ हुये हैं, जो चौरासी सिद्ध और नौ नाथों में माननीय हैं। वैसे ही दादूजी से अद्भुत रूप रज्जबजी हुये हैं। कल्याणदासजी कहते हैं कि—भक्ति भूमि के तो रज्जबजी राजा ही हुये हैं।

जती हनुमान् किधौं[1] सती हरिचन्द्र हु से,
पर दुख काटबे को विक्रम विशेष हीं।
ध्यान जैसै ईश[2] अरु ज्ञान गति[3] गोरख से,
कथा कीरतन शुकाचार सम लेख[7] हीं॥
दत्त जैसे मुनि अरु गुणी ऋषि नारद से,
दुर्वासा से बैन सो तो ऐन[4] कर देख हीं।
दादूजी प्रताप एते रज्जब अज्जब मंत[5],
और हैं अनन्त कहि सकत न शेष[6] हीं॥१३॥

रज्जबजी हनुमानजी के समान यती हैं और[1] हरिश्चन्द्र जैसे सती हैं। पर दुःख दूर करने में तो विशेष करके विक्रमादित्य के समान हैं। महादेव[2] के समान इनका ध्यान है और गोरक्षनाथ के समान इनके ज्ञान की चेष्टा[3] है। कथा कीर्तन करने में तो शुकाचार्य अर्थात् शुकदेव मुनि के समान देखे[7] जाते हैं। दत्तात्रेय के समान मुनि हैं। नारद ऋषि के

समान गुणी हैं। दुर्वासा ऋषि के समान इनके अमोघ और सत्य[४] वचन हैं सो तो देख ही रहे हैं। दादूजी के प्रताप से रज्जबजी में इतने अद्भुत् गुण[५] हैं तथा हमारे विचार से और भी अनन्त हैं, जो सम्पूर्ण[६] कहे नहीं जा सकते।

रसना हूं मांगल्यूं सहस्र फणो शेष हु पै,
जा सौं गुरु रज्जब को सुयश बखानिये।
नैन जाय जाचूं शक्र[१] वक्त्र[२] हु विलोकबे को,
जा सौं सब शोभा उर अंतर में आनिये॥
सहस्र बाहु पै जाय गाहक ह्वै मांगूं बांह,
जा सौं सेवा सौंज[३] सु सहस्र विधि बानिये[४]।
लंकेश पै शीश लेय वन्दन करूं 'कल्याण',
तऊ[५] हैं अगाध अति साध नहीं मानिये॥१४॥

सहस्र फण वाले शेषजी से दो सहस्र जिह्वाओं की याचना कर लाऊँ जिससे गुरुदेव रज्जबजी का सुयश कथन कर सकूं और गुरुदेव का मुख[२] देखने के लिये इन्द्र[१] से सहस्र नेत्र माँग लाऊं, जिससे गुरु के शरीर की संपूर्ण शोभा हृदय में ला सकूं। भुजाओं का ग्राहक बनकर सहस्र बाहु के पास जाऊं और सहस्र भुजा मांग लाऊं जिससे सेवा की सामग्री[३] सहस्र प्रकार से बना[४] सकूं। लंका के राजा रावण से दश शिर ले आऊं जिससे गुरु को एक साथ दश प्रणाम कर सकूं। कल्याणदास कहते हैं—इतना कर सकूं तो[५] भी गुरुदेव का उपकार तो अति अगाध है, उनके उपकार के समान मेरी इस सेवा को संत नहीं मानेंगे।

पावन सो भाव[१] गुरु दिशि की सु रुचि होत,
पावन सो पाँव वहीं पंथ जब धाव हीं।
पावन सोई पै नैन देखियत ऐन[२] अंग[३],
पावन सोई पै शीश चरण में नाव हीं॥
पावन श्रवण तब सुनियत[४] मुख बैन,
होत कर पावन सु सेव को लगाव हीं।
रोम रोम पावन परसे गुरु रज्जब को,
गये सब अघ अब आगिले विलाव हीं॥१५॥

वही मन[१] पवित्र होता है, जिसमें गुरु की ओर सुरुचि होती है। वेही चरण पवित्र होते हैं, जो गुरु के स्थान के मार्ग में गमन करते हैं। वे ही नेत्र पवित्र होते हैं, जो गुरुदेव के शरीर[३] का साक्षात्[२] दर्शन करते हैं। वही शिर पवित्र होता है, जो गुरु के चरण-कमलों में झुकता है। श्रवण भी तब ही पवित्र होते हैं, जब गुरु के मुख से वचन सुनते[४] हैं। हाथ

उसी के पवित्र होते हैं जो हाथों को गुरु सेवा में लगाता है। इस प्रकार गुरुदेव रज्जबजी के स्पर्श से रोम-रोम पवित्र हो जाता है। पहले के सब पाप नष्ट हो जाते हैं और अब गुरु की शरण में आने पर आगे होते नहीं इससे आगे के भी लय हो जाते हैं।

छप्पय–अर्क[1] समान उजास[2], सुधा सु स्रवै[3] जिमि शशिहर[4]।
पावस[5] जिमि पालक सु, धरा धारत जिमि मणिधर[6]॥
स्रक[7] जिमि बास[8] सुवास, गहर नीलांभ[9] गणीजे।
आसन ध्रुव जिमि अचल, भूमि जिमि गुरु[10] सु भणीजे[11]॥
काम धेनु तरु कल्प सम, पारस पोरस पेखिया[12]।
चिन्तामणि चिन्ता हरत, रज्जब अज्जब[13] देखिया॥१६।

रज्जबजी का ज्ञान-प्रकाश[2] सूर्य[1] के समान है। जैसे चन्द्रमा[4] अमृत वर्षाता[3] है, वैसे ही ये वचनामृत वर्षाते हैं। जैसे वर्षा[5]-ऋतु प्रजा पालक है, वैसे ही ये शिष्यों के पालक हैं। जैसे पृथ्वी को शेष[6] जी धारण करते हैं, वैसे ही ये क्षमा को धारण करते हैं। चन्दन[7] में जैसे सुवास बसती[8] है, वैसे ही इनमें सुगुण बसते है। जैसे गहरा जल[9] नीलता से युक्त भासता है, वैसे ही ये धैर्य से युक्त गिने जाते हैं। इनका आसन ध्रुव के समान अचल है। ये पृथ्वी के समान भारी[10] कहे[11] जाते हैं। कामधेनु और कल्प वृक्ष के समान कामना पूर्ण करते हैं। पारस के समान जीव को बदल देते हैं। पोरसा के समान उदार देखे[12] गये हैं। चिन्तामणि के समान चिन्ता हरते हैं। इस प्रकार रज्जबजी अद्‌भुत्[13] संत देखने में आये हैं।

गिरिन[1] पति जिमि मेरु, सहू[2] सर[3] पति जिमि सायर[4]।
सुरन पति जिमि शक्र[5], ग्रहन पति जिमि सु दिवायर[6]॥
उडु गण पति जिमि इन्दु, नदी नौ सौ पति गंगा।
धातु न पति जिमि सुवर्ण, द्रुमन पति कल्पतरंगा[7]॥
सिद्ध नाथ पति गोरक्ष जिमि, मुनि पति दत्त प्रमानिये।
रज्जब अज्जब साधु पति, दादू पंथ बखानिये॥१७॥

जैसे पर्वतों[1] का स्वामी सुमेरु पर्वत है और[2] सरोवर[3] का स्वामी समुद्र[4] है। देवताओं का स्वामी इन्द्र[5] है। ग्रहों का स्वामी सूर्य[6] है। तारों का स्वामी चन्द्रमा है। नौ सौ नदियों की स्वामिनी गंगा है। धातुओं का स्वामी सुवर्ण है। वृक्षों का स्वामी कल्पतरु[7] है। सिद्धनाथों के स्वामी गोरखनाथ हैं। मुनियों के स्वामी दत्तात्रेय हैं। वैसे ही दादू पंथ के साधुओं के अद्‌भुत् स्वामी रज्जबजी हैं।

अकल[1] ध्यान आधार, अकल निज ज्ञान उचारण।
अकल प्रीति रस[2] रीति, अकल मन नियम उधारण॥

अकल[3] हि जत[4] सत अकल, अकल मति शील सुजानं[5] ।
अकल नाम विश्राम, अकल रहता[6] रहमानं[7] ।।
अकल त्याग वैराग्य अंग[8], अकल भाव लागा[9] भला[10] ।
रज्जब अज्जब[11] गति[12] अकल, अकल सिद्ध आपै[13] मला[14] ।।१८।।

रज्जबजी का आधार निराकार[1] ब्रह्म का ध्यान ही है । ये निराकार निज स्वरूप ज्ञान का ही उच्चारण करते हैं । निराकार ब्रह्म में प्रीति करने की रीत में ही इन्हें आनन्द[2] आता है । ये निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ही संसार से उद्धार करने वाले नियम मन में धारण करते हैं । इनका ब्रह्मचर्य[4] अखंड[3] है । सत्य भाषण अखंड है । बुद्धि निराकार ब्रह्म के परायण है । शील अखंड है । जानकारी[5] सुन्दर है । निराकार ब्रह्म का नाम चिन्तन ही इनका विश्राम है । ये अखंड भाव से वृत्ति द्वारा दयालु[7] प्रभु के स्वरूप में ही स्थित[6] रहते हैं। इनके त्याग वैरागादि शुभ लक्षण[8] अखंड हैं । इनका चित्त भली[10] प्रकार निराकार ब्रह्म में ही लगा[9] है । रज्जबजी अद्भुत्[11] चेष्टा[12] द्वारा शिष्यों को निराकार ब्रह्म की प्राप्ति कराते हैं । ये अखंड सिद्ध हैं । इनने अपने जीवत्व अहंकार[13] को नष्ट[14] कर डाला है ।

छप्पय छत्र बंध—

रशमि[1] सहस करि सरस, धरति[2] ताय[3] वेद भेद[4] धुनि ।
तवति[5] राग[6] सु जश भाष, छवति[7] गति[8] जोग जुगति मुनि ।।
वदति[9] नाम हरि जाम[10], जतन मारुत जी[11] जिस ही ।
अग्र[12] भुवन आतमा, वदन[13] शशिकला स्रवक[14] ही ।
जस पुराण जानन[15] जुगति, रचति[16] विसवा जोग करि ।।
वन्दै[17] शिव सनकादि सुर, रज्जब अज्जब छत्र धरि ।।१९

सूर्य सहस्र किरणों[1] से जल वर्षाकर पृथ्वी[2] को सरस करते हुये तथा तपाते[3] हुये जिन प्रभु की सेवा करते हैं और जिन प्रभु को प्राप्त करने के लिये मुनिजन नाना प्रकार[4] से वेद ध्वनि करते हैं, तपस्या[5] करते हैं, प्रेम[6]-पूर्वक वा अनेक रागों द्वारा गाकर उन प्रभु का सुयश कथन करते हैं, योग युक्ति की चेष्टा[8] द्वारा मुनियों की वृत्ति उन प्रभु पर ही छायी[7] अर्थात् लगी रहती है । वैसे ही रज्जबजी भी अष्ट पहर[10] उन हरि का नाम ही उच्चारण[9] करते हैं, जिसके द्वारा जीवन[11] स्थिर रहता है, उस प्राण वायु का संयम द्वारा यत्न रखते हैं अर्थात् श्वासों को व्यर्थ नहीं खोते । जैसे चन्द्रमा की कलाओं से अमृत वर्षता[14] है, वैसे ही जीवात्मा को सबसे आगे[12] ब्रह्म रूप भुवन में पहुँचाने के लिये रज्जबजी के मुख[13] से वचन रूप अमृत की वर्षा होती रहती है । उस पुराण पुरुष प्रभु के यश

को जानते[१५] हुये युक्ति पूर्वक यशमय पद्यों की रचना[११] करते हैं। बीसों बिसवा योग करते हैं। जिन्हें शिव, सनकादिक मुनि और देवता प्रणाम[१७] करते हैं। उन परब्रह्म का ज्ञान रूप छत्र रज्जबजी धारण करते हैं।

छप्पय कमल बंध–

श्री[१] त्री[२] संग प्रहरण, स्वाद विष वाद विदारण।
मीत[३] मांहि वश भरण, रसण[४] रंकार उचारण॥
जगत विसत[५] सह जरण[६], वपुस[७] जम ताप उबारण।
जीत प्रकीरति[८] तरण[९], हित्त अण-[१०]जीत श्रिया[११] रण॥
रज्जब गुरु मैं तव शरण, जीव हू पल न विसारण।
सर्व ताप ताहीं[१२] हरण, दान दर्श पावै करण॥२०॥

गुरुदेव ! आपने माया[१] और नारी[२] का प्रसंग तथा विषय-विष का स्वाद त्याग दिया है। विवाद को अनुभव द्वारा नष्ट कर दिया है। आन्तर स्थित प्रभु रूप मित्र[३] के वश रहकर ही अपना भरण-पोषण करते हैं अर्थात् हरि इच्छा पर ही निर्भर रहते हैं। जिह्वा[४] से राम मंत्र का बीज "राँ" ही उच्चारण करते रहते हैं। जगत् के प्राणी दुःख रूप जलन[६] सहित व्यवहार में प्रवेश[५] करते हैं, उनके भी शरीरों[७] को यम से होने वाले दुःखों से बचाते हैं। आप अपने स्वभाव[८] को जीतकर संसार को तैर[९] गये हैं। माया[११] के साथ युद्ध करने में आपका चित्त अजय[१०] है। हे गुरुदेव रज्जब जी ! मैं आपकी शरण हूं, मुझ जीव को एक क्षण भर भी न भूलें। जो सपूर्ण ताप हैं उनको[१२] हरने वाला आपका दर्शन करना रूप दान ही चाहता हूं, निरंतर दर्शन होते रहें यही मेरी इच्छा है।

कवित्त समस्यापूर्ति– रज्जब दयाल सुत ब्रह्म को बजाज है,

कुरान पुरान कहै वेद हु शास्त्र विधि,
संधि[१] सार सुत जा के पूंजी हुं को साज है।
अनुभव बनिजै[२] अंग[३] कोउ लेहु मांड[४] कान,
अरध सवाई नफो[५] एतो[६] उही[७] लाज है॥
जेउजे[८] बनिजै[९] जाय खोटो नहीं कोउ खाय,
बोलत वचन शुद्ध पुण्य ही की पाज है।
व्यास शुकदेव ब्रह्मा इहां[१०] धौं[११] अवतरे आय,
रज्जब दयाल सुत ब्रह्म को बजाज है॥२१॥

२१-२२ इन दोनों पद्यों में समस्या पूर्ति पूर्वक रज्जबजी की विशेषतायें बता रहे हैं—दादू दयालुजी के शिष्य रूप पुत्र रज्जबजी ब्रह्म के बजाज हैं अर्थात् ब्रह्म के भक्ति, ज्ञान आदि वस्त्रों की विक्री करने वाले हैं। कुरान, पुराण, वेद और भी जो नाना प्रकार के शास्त्र हैं उनकी

बातों का मिलान[1] करके उनका सार रूप ज्ञान, पुत्र इनने उत्पन्न किया है, जिसका परमार्थ विचार रूप पूंजी सजाने का ही काम है। वे अपने प्रिय[3] प्रभु संबंधी अनुभव का ही व्यापार[2] करते हैं। कोई भी कानों को इनकी ओर लगाकर[4] ले सकता है। ये आधा देते हैं तो भी लेने वाले को इतना[6] लाभ[5] मिलता है कि-उसके यहां वह सवाया हो जाता है अर्थात् इनका दिया हुआ उपदेश साधक में जाकर बढ़ता ही है, कम नहीं होता। यह इनकी लाज वे[7] प्रभु ही रखते हैं। जो[8] भी इनके पास जाकर उपदेश श्रवण रूप व्यापार[9] करते हैं, उनमें कोई भी खोटा नहीं खाता अर्थात् बुरा आचरण नहीं करता। ये सदा शुद्ध वचन बोलते हैं और पुण्य की तो सेतु ही हैं। जैसे व्यास, शुकदेव और[11] ब्रह्मा इस[10] संसार में अवतार लेकर आये हैं, वैसे ही दादू दयालु के शिष्य रूप पुत्र ब्रह्म के बजाज बनकर इस संसार में रज्जबजी आये हैं।

छप्पय समस्या पूर्ति--

दादू दयाल बधतो[1] प्रकट, जन रज्जब पारस परस,
दरश सकल दुख हरन, करन मंगल हरि रंजन[2]।
परम धरम परवान[3], आन[4] मारग सब भंजन[5]॥
करुणा सिन्धु कृतज्ञ, अखिल संपद विसतारन।
मन संकल्प विकल्प, जलपि[6] दुख द्वन्द निवारन॥
निर्लेप निरंजन गुण मगन, 'मोहन' अघ नाशन दरस[7]।
दादू दयाल बधतो प्रकट, जन रज्जब पारस परस॥२२॥

जैसे पारस से स्पर्श होने पर लोह की उन्नति होती है, वैसे ही दादू दयालुजी के मिलन से रज्जबजी की महान् वृद्धि[1] हुई है, यह प्रसिद्ध ही है। रज्जबजी का दर्शन दुःख हरने वाला है, मंगल कारक है तथा हरि को प्रसन्न[2] करने का साधन है। प्रामाणिक[3] परमार्थ रूप परम धर्म को ही इनने अपनाया है, अन्य[4] सभी मार्गों का खंडन[5] किया है। दया के सागर हैं, कृतज्ञ हैं, सब प्रकार की संपदा का विस्तार करने वाले हैं। मन के संकल्प-विकल्प, व्यर्थ-वार्तालाप[6], दुःख और द्वन्द्वों को दूर करते हैं। संसार से निर्लेप रहकर निरंजन ब्रह्म के गुण-गान में मग्न रहते हैं। मोहनदास कहते हैं—इन गुरुदेव रज्जबजी का दर्शन[7] पापनाशक है।

मनहर, समस्या पूर्ति---ऐसे जन[1] रज्जब प्रसिद्ध जग जानिये,
संतन सु कवि संत साहस सधीर वीर,
जाने पर पीर सिद्ध सभान में मानिये।
परम उदार सब जीव उपकार कर,
सिन्धु वार पार जाकी कीरति बखानिये॥

दादू दरियाव उपदेश शेष सम ज्ञान,
अकल[2] निरंजन सु यश नित गानिये ।
सुख को निवास सु विलास[3] पुरवन[4] आश,
ऐसो जन रज्जब प्रसिद्ध जग जानिये ॥२३॥

संत[1] रज्जबजी इतने प्रसिद्ध हैं कि जगत् जानता है । ये संतों में सुकवि संत हैं, योग मंग्राम में साहस और धर्य से सम्पन्न वीर हैं। परदुःख को जानने वाले सिद्ध हैं, सभाओं में माननीय हैं। परम उदार हैं, सब जीवों का उपकार करते हैं, जिनकी सुकीर्ति समुद्र के वार तथा पार भी गाई जाती है। दादूजी के उपदेश से ये ज्ञान के समुद्र ही बन गये हैं। इनका ज्ञान शेषजी के समान है। ये निराकार[2], निरंजन ब्रह्म का सुयश ही नित्य गाते रहते हैं। ये सुख के निवास स्थान हैं, साधकों को ब्रह्मानन्द[3] प्रदान करके उनकी आशा पूर्ण[4] करते हैं। ये संत रज्जब ऐसे प्रसिद्ध हैं कि जगत् जानता है।

सवैया-ज्यों वश मंत्र के आवत वीर, जहां जस[1] जोग तहां तस[2] मूंके[3] ।
ज्यों धर्म राज के काज करैं सब, दूत अनेक रहैं ढिग[4] ढूके[5] ॥
ज्यों नृप के तप तेज तैं कंपत, पास रहैं नर आय कहूं[6] के ।
ऐसी ही भाँति सबै दृष्टांत हो, आगे खड़े रहैं रज्जब जू[7] के ॥२४

जैसे मंत्र के वश होकर वीर आते हैं, फिर जो[1] वीर जहाँ के योग्य होता है उसे[2] वहाँ ही भेज[3] दिया जाता है। जैसे धर्मराज के सब कार्य करने वाले अनेक दूत धर्मराज के पास[4] स्थित[5] रहते हैं । जैसे राजा के तप तेज से काँपते हुये कहां[6]-कहाँ के नर राजा के पास जाकर रहते हैं। इसी प्रकार सब दृष्टाँत रज्जबजी[7] के आगे खड़े रहते हैं।

संझ्या[1] समै ज्यों सबै सुरहो[2], घर आवैं चली जैसे बच्छ के रागै[3] ।
भूपति को भयमान दुनी जु, अनीति विसारि सुनीति सौं लागै ॥
'मोहन' ज्यों वश मंत्र के वीर, प्रभात चटा[4] चटसार[5] को जागै ।
घन[6] ज्यों घिरि यूंही कथा के समै, दृष्टांत आये रहैं रज्जब आगै ।२५

जैसे संध्या[1] के समय सभी गायें[2] बछड़ों के प्रेम[3] से घर चली आती हैं। राजा के भय को हृदय में मानकर दुनियां के लोग अनीति को छोड़कर सुनीति में लगते हैं। जैसे मंत्र के वश होकर वीर आते हैं और जैसे प्रातःकाल ही पाठशाला[5] में जाने के लिये विद्यार्थी[4] जग जाते हैं। मोहनदास कहते हैं–वैसे ही बादलों[6] के समान घिरकर कथा करने के समय दृष्टांत रज्जबजी के आगे आकर स्थित रहते हैं।

त्याग वदूं[1] हरिचन्द्र पटंतर[2], भाग्य ज्यों इन्द्र कुबेर भण्डारी ।
रागि[3] वदूं मुनि नारद से, अनुरागी सदा शिव ज्यों धर्म धारी ॥

ज्ञान वदूं गति[४] गोरख की, पुनि ध्यान वदूं दत[५] ज्यों दृढ तारो[६] ।
रज्जब अंग[७] अनन्त अपार सु, 'मोहन' देखि भयो बलिहारी ॥२६

रज्जबजी का त्याग हरिश्चन्द्र के समान[२] कहता[१] हूं । इनका भाग्य इन्द्र और कुबेर भण्डारी के समान है । इनको नारद मुनि के समान रागी[३] अर्थात् रागों को जानने वाले कहता हूं और प्रभु-प्रेमी तो वे सदा धर्म धारण करने वाले शिव के समान हैं । इनके ज्ञान की चेष्टा[४] गोरक्ष-नाथ के समान कहता हूं और ध्यान तथा दृढ़ समाधि[६] इनकी दत्तात्रेय[५] के समान कहता हूं । इन गुरुदेव रज्जबजी में अनन्त अपार शुभ लक्षण[७] हैं, उन्हें देखकर मैं मोहनदास इन पर निछावर हो रहा हूं ।

सूर ज्यों नूर[१] दिपै[२] अंग[३] उज्वल, चंद्र ज्यों शीतलता तन भारी ।
चंदन रूप सुगंध सदा पुनि, पारस रूप पराक्रम धारी ।
सुमेरु ज्यों धीर न हीर भनै[४] घन, सीर[५] सुधा पर पीर निवारी ॥
रज्जब अंग[६] अनन्त अपार सु, मोहन देखि भयो बलिहारी ॥२७

रज्जबजी के उज्वल शरीर[३] पर सूर्य के समान तेज[१] चमक[२] रहा है । चन्द्रमा के समान इनका शरीर भारी शीतल है । ये चन्दनरूप हैं, सदा सुगुण रूप सुगंध इनसे निकलती रहती है । पारस रूप हैं, पारस लोह को बदलता है वैसे ही ये जीवों को बदल देते हैं । योग रूप पराक्रम को धारण करते हैं । सुमेरु के समान धैर्य शाली हैं । जैसे हीरे को घन नहीं तोड़[४] सकता । ऐसे ही इनकी निष्ठा को कोई भी भंग नहीं कर सकता, इनसे ज्ञान-सुधा की धार[५] निकलती ही रहती है । ये परदुःख को मिटाते ही रहते हैं । इन गुरुदेव रज्जबजी में अनन्त अपार शुभ लक्षण[६] हैं उन्हें देखकर मैं मोहनदास इन पर निछावर हो रहा हूं ।

मणि ज्यों मुख सर्प सदा संग ही रंग[१], ही न मिली अहि[२] के विषसौं ।
वडवानल वारि में न्यारि सदा, पुनि लोई[३] तैं सूत सितै[४] निकसौं[५] ॥
नीर में कौंल[६] रु सीप जुदे, न भिदे[७] जल के रंग[८] अंग[९] बसौं ।
ऐसे रज्जब अज्जब मांड[१०] मंझार[११], न 'मोहन' मेल[१२] मया[१३] शिषसौं ।२८

जैसे मणि सर्प के मुख में रह कर सदा सर्प के साथ ही रहती है किंतु धन्य[१] है उसे जो सर्प[२] के विष से नहीं मिली अर्थात् विषयुक्त नहीं हुई । बड़वानल अग्नि जल में रहकर भी सदा जल से अलग ही रहता है, अर्थात् जल से बुझता नहीं है और कम्बली[३] के रंग से सूत न रंग कर श्वेत[४] ही निकल[५] जाता है, कम्बली की ऊन रंग जाती है और उनमें जो सूत होता है वह उस रंग से नहीं रंगा जाता । जल में रह कर भी कमल[६] और सीप जल से अलग ही रहते हैं । दोनों जल के प्रेम[८] से विद्ध[७] नहीं होते । अपने प्रिय[९] सूर्य और स्वाति के प्रेम में ही स्थित रहते हैं । ऐसे

ही ब्रह्माण्ड[10] में[11] अद्‌भुत् रज्जबजी हैं। मोहनदास कहते हैं—इनका न माया[13] से संबन्ध[12] है और न शिष्यों से। ये तो अपने प्रिय परब्रह्म के स्वरूप में ही स्थित रहते हैं।

मनहर–आयो साधु शूर अंग[1] नूर भरपूर दिपै[2],
शोधि सब अरिन के अखारेउ टारे[3] हैं।
मारचो है मदन[4] सु सदन[5] की न सुधि कहूं,
क्रोध से न जोध फेरि द्वारन झंकारे[6] हैं॥
ठौर ठौर राम राज कीन्हों दादूदास के ने,
मोहन मेवासा[7] मारि पाँइ पीस डारे हैं।
रज्जब दहार[8] सौ पहार फाटि पैंडे[9] भये,
काम क्रोध लोभ मोह मूली ज्यों उखारे हैं॥२९॥

संत शूर रज्जबजी जीवों पर कृपा करके पधारे हैं। इनके शरीर[1] पर भरपूर ब्रह्म तेज चमक[2] रहा है। इनने अन्तःकरण से आसुर गुण रूप शत्रुओं के अखाड़े हटा[3] दिये हैं। काम[4] को तो ऐसा मारा है कि—उसे घर[5] की सुधि भी नहीं रही है। कहीं का कहीं चला गया है। वह योद्धा क्रोध पूर्वक पुनः मन रूप घर के वृत्तिरूप द्वार की ओर भी नहीं देखता[6] अर्थात् मन में आने की इच्छा नहीं करता। इन दादूदासजी के शिष्य रज्जबजी ने इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी स्थानों में रामराज्य स्थापन कर दिया है। इन स्थानों के जो भोग वासना आदि गढ़पति[7] थे उनको मार करके विवेक-वैराग्य रूप पैरों के नीचे पीस डाले हैं। रज्जब जी की ज्ञान पूर्ण प्रचंड ध्वनि[8] से अभिमान रूप पर्वत फटकर अनेकों के हृदयों में प्रभु प्राप्ति के मार्ग[9] बन गये हैं। काम, क्रोध, लोभ और मोह को तो इनने हृदय भूमि से मूली के समान उखाड़ डाला है।

रज्जब के चरणन छुवे को प्रताप ऐसो,
पाप के पहार मानो फाटे हैं पराकि[1] दे।
युग युग जीव जम द्वारे बंदिवान[2] हो तो,
संकल के संधि[3] साल खूटे[4] हैं खराकि[5] दे॥
गौतम की तरुनी[6] करनी[7] ज्यों कृपालु भये,
सांचे हैं सराप[8] तूटे तांति ज्यों तराकि[9] दे।
ज्ञान के गयंद[10] चढि चले हैं मोहन मन,
ऊंचे असमान जाय बैठे हैं फराकि[11] दे॥३०॥

रज्जबजी के चरण-कमलों को छूने का प्रताप ऐसा है कि—पाप के पर्वत तो मानो अति शीघ्र[1] ही फट गये हैं। प्रति युग में जीव यम द्वार का कैदी[2] होता था किन्तु रज्जबजी के चरण छूते ही यमदूतों की सांकलों

के जोड़ों[3] के साल अति शीघ्र[2] ही खुल[4] गये हैं। जिस प्रकार गौतम की नारी[6] अहल्या के कर्म[7] थे वैसे ही हमारे कर्म थे किन्तु जैसे राम के चरण छूते ही अहल्या का सच्चा शाप[8] भी टूट गया था वैसे ही रज्जबजी के चरण छूते ही हमारे भी सब कर्म तांत के समान तड़ाक[9] से टूट गये हैं। मोहनदास कहते हैं—अब हम साधकों के मन अति-शीघ्र[11] ज्ञान रूप हाथी[10] पर चढ़कर आकाश से भी ऊंचे ब्रह्म के स्वरूप में जा बैठे है।

जती हनुमान से न सती हरिचन्द्र सम,
तेजवंत सूर[1] से न रंग न सबज[2] से।
अचल सुमेर से न मेर से न धनी और,
समाई समुद्र से न नखत कबज[3] से॥
गोरख से योगी न वियोगी महादेव सम,
रूप वंत काम कनें[4] और न अजब[5] से।
'मोहन' मंडान में उडान सारूं सारे भले,
गोरख से जुड़े[6] जोगी ज्ञानी न रजब से॥३१॥

हनुमान के समान कोई जती नहीं है। हरिचन्द्र के समान कोई सती नहीं है। सूर्य[1] के समान कोई तेज युक्त नहीं है। हरे[2] रंग के समान कोई रंग नहीं है। सुमेरु के समान अचल और धनी कोई नहीं है। समाई वाला समुद्र के समान कोई नहीं है। मंगल[3] के समान नक्षत्र कोई नहीं है। गोरक्षनाथ के समान योगी कोई नहीं है। महादेव के समान वियोगी कोई नहीं है। रूपवान काम के पास[4] अन्य कोई अद्भुत[5] रूप वाला नहीं सिद्ध होता। मोहनदास कहते हैं—इस संसार रूप मंडान में अपनी-अपनी गतिरूप उड़ान के समान सभी अच्छे हैं किन्तु गोरक्षनाथ जी के समान[6] हो सकें ऐसे योगी और ज्ञानी रज्जब के समान अन्य कोई नहीं है।

गीत— तुरक सिरताज पतिशाह दिल्ली तणों,[1]
हिन्दुवां शीश सिरताज राणो।
राज सिरताज अधिपति[2] जु आंबेर रो,
यूं पंथ दादू तणें[3] रज्जब जाणों॥
अष्ट कुल पर्वत मेरु सब रे सिरै[4],
नौ कुली नाग शिर शेष हुं जान।
नौ लख तारा इण शिर शशि जु सब सिरै,
त्यूं पंथ दादू तणें रज्जब बड जान॥
हिन्दुवां हद हुई जका[5] साखि गीता कही,
तुरकवा मुसाफ[6] सुन राड़ि मूंकी[7]।

अध्यात्म अनुभव जीत भक्ति भाषातीत,
तठै[८] रज्जब रा[९] कह्यापरि आंट चूकी[१०] ॥
पांव पतिसाह रा[११] परसि[१२] चाकर थक्यो,
अलि[१३] थक्यो परसि परजात फूल जाड़[१४] ।
आनरो[१५] ज्ञान सुन थिर न आतम भई,
रज्जब री[१६] कथा सुन पड़ी आनि[१७] आड़ ॥
भूख भागी जब भेंट अन्न सौं भई,
प्यास भागी जबै नीर पीयो ।
रज्जब री रहम[१८] थैं फहम[१९] लाधो[२०] सकल,
अकल[२१] रटि मोहनूं रंक जीयो ॥३२॥

मुसलमानों में शिरोमणि दिल्ली का[१] बादशाह है, हिन्दुओं के शिर पर शिरोमणि राणा है, राजाओं का शिरोमणि आंमेर का राजा[२] है, ऐसे ही दादूजी के पंथ में[३] रज्जबजी को जानो। अष्ट कुल पर्वत हैं उन सबके बीच में शिरोमणि[४] सुमेरु है। नौ कुली नागों के शिरोमणि शेषजी को जानौ, नौ लाख तारे हैं इन सबके बीच में शिरोमणि चन्द्रमा है, वैसे ही दादूजी के पंथ में बड़े रज्जबजी को जानो। हिन्दुओं में जो[५] गीता की साक्षी से वचन कह देते हैं तब उन वचनों से हद हो जाती है अर्थात् मान लेते हैं : मुसलमानों में मित्रता[६] हो गई अर्थात् मुसलमान हो गया यह सुनकर लड़ाई छोड़[७] देते हैं। वैसे ही अध्यात्म अनुभव और भाषा से परे भक्ति की जीत संबन्धी आंट जहाँ पड़ती है, वहां[८] वह आंट रज्जबजी के[९] कहने पर समाप्त[१०] हो जाती है अर्थात् रज्जबजी कहते हैं उसको सब मान लेते हैं। बादशाह के[११] पैर छूकर[१२] नौकर रुक जाता है, भ्रमर[१३] कमल पर जाते ही उसके फूल की शीतल[१४] सुगंध से मिलकर रुक जाता है, वैसे ही अन्य[१५]-का ज्ञान सुनकर तो जीवात्मा स्थिर नहीं हुई थी किंतु रज्जबजी की[१६] कथा सुनकर तो मानो अन्य स्थान जाने के आडी शपथ[१७] ही पड़ गई हो ऐसे प्रभु स्वरूप में ही स्थिर हो गई है। जैसे अन्न मिलते ही भूख भाग जाती है और जल पीते ही प्यास भाग जाती है, वैसे ही रज्जबजी की दया[१८] से सब ज्ञान[१९] प्राप्त[२०] हो गया है, अब निराकार[२१] ब्रह्म का नाम रटकर मोहनदास रंक जी गया है।

छप्पय—नग[१] शिर शोभ सु नीर, नीर शोभा सु मृणालं[२] ।
शोभ निशाकर[३] निशा, दिवस शोभा सवितालं[४] ॥
मद करि शोभ गजेन्द्र, तुरंग शोभा सु तलाई[५] ।
अवनि सु शोभा अनिल[६], शील शोभा प्रमदाई[७] ॥
हंस निकर[८] शोभंत सर, 'मोहन' मन हुं विशेषिया ॥
दादू दयाल पंथ शोभा शिर, रज्जब अज्जब देखिया ॥३३

पर्वत[1] की शोभा शिर पर जल होने से होती है, जल की शोभा कमल-नाल[2] से होती है, रात्रि की शोभा चन्द्रमा[3] से होती है, दिन की शोभा सूर्य[4] से होती है, हाथी की शोभा मद से होती है, घोड़े की शोभा उसकी गरमी[5] अर्थात् चपलता से होती है, पृथ्वी की शोभा सुन्दर वायु[6] से होती है, नारी[7] की शोभा शीलव्रत से होती है। हंसों के समूह[8] से सरोवर की शोभा होती है। वैसे ही मोहनदास कहते हैं—मेरे मन को तो विशेष रूप से दादू पंथ में शिरोमणि अद्भुत् शोभा युक्त रज्जबजी ही दिखाई दिये हैं अर्थात् रज्जबजी से दादू पंथ की महान् शोभा है।

मनहर—पूरो ही है भागी अनुरागी वैरागी पूरो,
पूरो ही है ज्ञान अरु ध्यान जत सत सौं।
पूरो ही है साहिबी[1] में सावधानी पूरो सिद्ध,
पूरो ही है पीर[2] पायो दादू राम रत्त सौं॥
पूरो ही रहनी[3] कहनी तैसो ही पूरो पूरै,
पटै[4] परम नूर[7] निरख्यो गुरु मत[5] सौं।
'मोहन' मंगिनों[6] गावे दयाहु को दान पावै,
रज्जब रिझावे गावे गुन नित्य हित्त सौं॥३४॥

रज्जबजी पूरे भाग्यशाली हैं, पूरे प्रभु प्रेमी हैं, पूरे विरक्त हैं। ये ज्ञान, ध्यान, ब्रह्मचर्य और सत्य की दृष्टि से भी पूरे हैं। ये प्रभुता[1] और सावधानी में भी पूरे हैं, पूरे सिद्ध हैं और राम से अनुरक्त पूरे सिद्ध[2] दादूजी को इनने गुरु रूप में प्राप्त किया है। इनका कथन पूरा है, वैसे ही व्यवहार[3] भी पूरा है। पूरा अधिकार[4] प्राप्त करके गुरुदेव के विचार[5] बल से परम स्वरूप[7] का साक्षात्कार किया है। मैं मोहनदास याचना[6] के गीत गाते हुये दया का दान प्राप्त करने के लिये प्रेम से नित्य गुण-गान करते हुये रज्जबजी को प्रसन्न कर रहा हूं, वे मुझ से प्रसन्न होकर मुझ पर अपनी दया दृष्टि डालें।

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत पद्यार्थ प्रकाशिका सहित श्री स्वामी रज्जबजी की भेंट के पद्य समाप्त॥

अथ लघु ग्रंथ भाग ४

छंद त्रिभंगी-ग्रंथ १, सुमिरण का अंग १

बंदों गुरु गोविन्द नित, प्राण उधारण हार ।

जन रज्जब युग युग सुखी, किया अगम उपकार ॥१॥

छंद त्रिभंगी ग्रन्थ के आदि में मंगल कर रहे हैं–प्राणियों का उद्धार करने वाले गुरु और गोविन्द को मैं नित्य प्रणाम करता हूं, गुरु-गोविन्द ने प्राणियों का अगम उपकार किया है, जिससे प्राणी प्रति युग में सुखी हुये हैं ।

प्रथम हि पग गुरु देव के, मन मस्तक उर धार ।

जन रज्जब ताके शबद, समझ्या सिरजन हार ॥२॥

सर्व प्रथम गुरु देव के चरण मन, मस्तक और हृदय में धारण करता हूं, कारण—उन गुरुदेव के शब्दों से ही सृष्टिकर्त्ता प्रभु का स्वरूप समझ में आया है ।

तो नमो निधानं[1] प्राण सु प्राणं, करन जहानं[2] जग जानं ।

देन सुदानं और न आनं[3], खान सु खानं[4] नहीं छानं ॥

सकल सगानं[5] सब में जानं, लगे न बानं सो तत्तं ।

दादूजी दत्तं[6] दीरघ वित्तं[7], रज्जब अघ[8] आपद हत्तं ॥३॥

जो सबका आश्रय[1] है, प्राणों का प्राण है, संसार[2] का कर्त्ता है, जगत् को पूर्ण रूप से जानता है, सुन्दर दान देने वाला है, उसके समान अन्य[3] कोई नहीं है, वह सरदारों का सरदार[4] है, छिपा हुआ नहीं है, जो सबका संबंधी[5] है, जो सब में जाना जाता है, जिसके काल-कर्म का बाण नहीं लगता, वह तत्त्व दादूजी ने हमें दिया[6] है, जो महान् धन[7] है, पाप[8] और दुःख को नष्ट करने वाला है उसप्रभु को नमस्कार है ।

नमो अपारं निज निरकारं, तारणहारं जन पारं ।

सारम्[1] सारं जग जिहि लारं, मित्र हमारं सब धारं ॥

जिहि शिर धारं सब शिरदारं, मंगलचारं सेवक शूरा खै[2] नत्तं[3] ।

दादूजी दत्तं दीरघ वित्तं, रज्जब अघ आपद हत्तं ॥४॥

जो अपार, निजरूप, निराकार, उद्धारक भक्तों को संसार से पार करने वाला, सारका[1] भी सार, जगत् जिसके पीछे है, वह हमारा मित्र है । सबको धारण करता है, भक्तों का भार जिसके शिर पर है, जो सबका सरदार है, मंगलाचार रूप है, शरणागत[3] सेवकों के शत्रुओं को क्षय[2]

करने में शूर है, जो दादूजी का दिया हुआ महान् धन है, पाप और दुःखों को नष्ट करने वाला है उस प्रभु को नमस्कार है।

नमो स[1] रामं पूरण कामं, आतम ठामं[2] जग जामं[3]।
निकुल[4] निनामं[5] पुरुष न वामं[6], जीवन[7] चामं[8] पुनि पापं॥
शीत न घामं अगम सुधामं, राखण मामं[9] सो छत्तं[10]।
दादूजी दत्तं दीरघ वित्तं, रज्जब अघ आपद हत्तं॥५॥

जो पूर्ण काम हैं, आत्मा का निजी स्थान[2] हैं, जगत् को जन्म[3] देते हैं, अकुल[4] हैं, अनाम[5] हैं, न पुरुष हैं न नारी[6] हैं, जीवों[7] के और पुण्य-पाप के भेद की अंतावस्था[8] हैं अर्थात् उनमें जीवादि भेद नहीं है। शीत-उष्ण रूप नहीं हैं, वह ब्रह्म रूप धाम इन्द्रिय और मन से अगम है, भक्तों पर ममता[9] रखते हैं और भेद रूप आतप से बचने के लिये छत्र[10] रूप हैं, जो दादूजी के दिये हुये महान् धन हैं, पाप और दुःखों को नष्ट करते हैं, उन[1] राम को हमारा प्रणाम है।

नमो स पूरं[1] निर्मल नूरं[2], जगत हजूरं[3] सब शूरं।
सकल अंकूरं नाहीं दूरं, हेत[4] हजूरं नहिं ऊरं[5]॥
देण हिलूरं[6] दाता शूरं, दरिद्र चूरं[7] अहि[8] मत्तं[9]।
दादूजी दत्तं दीरघ वित्तं, रज्जब अघ आपद हत्तं॥६॥

जो सब में पूर्ण[1] रूप से स्थित हैं, जिनका स्वरूप[2] निर्मल है, जगत् के सदा समीप[3] हैं, शठों के नाश करने में सब प्रकार शूर हैं, सब अंकुर उन्हीं से निकलते हैं, वे दूर नहीं हैं, प्रेम[4] से पास ही भास जाते हैं, उनमें कोई प्रकार की कमी[5] नहीं है, आनन्द[6] देने वाले हैं, दान शूर हैं, दरिद्र को नष्ट[7] करते हैं, ऐसे जिनके विचार[9] हैं[8], जो दादूजी के दिये हुये महान् धन हैं, पाप-ताप को हरने वाले हैं, उन प्रभु को हम नमस्कार करते हैं।

नमो गंभीरं सब गुण जीरं[1], धीर सुधीरं पर पीरं[2]।
निकट सु नीरं[3] नख शिख सीरं[4], लिपे न वीरं हरि हीरं॥
मीर सु मीरं[5] थिति सु थीरं तट न तीरं तिहिं रत्तं[6]।
दादूजी दत्तं दीरघ वित्तं, रज्जब अघ आपद हत्तं॥७॥

जो गंभीर हैं, जिनके वास्तविक स्वरूप में गुण जीर्ण[1] हो जाते हैं, अर्थात् नहीं रहते, जो धीरों के धीर हैं, दुःखों[2] से परे हैं, निकट से निकट[3] हैं, नख से शिखा तक सब शरीरों में मिले[4] हुये हैं, फिर भी वे वीर किसी से लिपायमान नहीं होते, वे हरि हमारे हृदय के हीरे हैं, सरदारों के सरदार[5] हैं, उनकी स्थिति सम्यक् स्थिर है, उनके स्वरूप का तट-तीर अर्थात् वार-पार नहीं है उन्हीं में हम अनुरक्त[6] हैं। जो दादूजी के दिये हुये महान् धन हैं, पाप-ताप को नष्ट करने वाले हैं, उन प्रभु को हम नमस्कार करते हैं।

तो नमो अलाहं बेपरवाहं,
अगम अगाहं[1] निगम[2] अगाहं नह खाहं[3] ।
आव न जाहं ठौर न ठाहं, चित्त न चाहं सो डाहं[4] ॥
अतिर अथाहं नाहीं ठाहं, लोक सु लाहं[5] घर घत्तं[6] ।
दादूजी दत्तं दीरघ वित्तं, रज्जब अघ आपद हत्तं ॥८॥

जो मुसलमानों द्वारा अल्लाह कहे जाते हैं, बेपरवाह हैं, अगम और अग्राह्य[1] हैं, वेद[2] से भी अग्राह्य हैं, जो खाते[3] नहीं हैं, आते-जाते नहीं हैं, जिनका एक स्थान पर धाम नहीं है, जिनमें चिन्ता और चाह नहीं है, वे भक्तों की चिन्ता-चाह को नष्ट[4] करते हैं, उनके स्वरूप को तैरा नहीं जाता अर्थात् उसका पार नहीं आता, जो अथाह हैं, उनकी प्राप्ति किसी स्थान विशेष पर नहीं होती, लोक में उनकी प्राप्ति रूप सुन्दर लाभ[5] घर का राग नष्ट[6] करने से ही होता है। जो दादूजी के दिये हुये महान् धन हैं पाप-ताप को नष्ट करने वाले हैं, उन प्रभु को हम नमस्कार करते हैं।

तो नमो सु अंगं[1] रूप न रंगं, सब[2] सरवंगं[3] नह खंगं[4] ।
शून्य सु संगं अलख अलंगं[5], भूप अभंगं[6] सो[7] मंगं[8] ॥
रूप न हंगं[9] दीरघ दंगं[10], तुच्छ न तंगं[11] अहि[12] घत्तं[13] ।
दादूजी दत्तं दीरघ वित्तं, रज्जब अघ आपद हत्तं ॥९॥

जिनका स्वरूप[1] सुन्दर है किंतु रूप-रंग नहीं है, वे सर्व[2]-रूप हैं, सब उनके अंग[3] हैं, उनके खंड[4] नहीं होते, वे सबसे रहित हैं, और सबके संग भी हैं, नेत्रों से नहीं दीखते, अचिन्ह[5] हैं, अखंड[6] राजा हैं, उनका[7] निरंतर साक्षात्कार ही हम मांगते[8] हैं, उनके स्वरूप में कोई उपद्रव[9] नहीं होता, वे महान् आश्चर्य[10] रूप हैं, वे तुच्छ और संकुचित[11] नहीं हैं, इस[12] तुच्छता और संकुचितता को नष्ट[13] करने वाले हैं। जो दादूजी के दिये हुये महान् धन हैं, पाप-संताप को नष्ट करने वाले हैं उन प्रभु को हम प्रणाम करते हैं।

तो नमो अनंदं[1] आनन्द कंदं[2], पूरण चंदं सब छंदं[3] ।
सुनि सुरंदं[4] मति न मंदं, काटतफंदं तिहि हद्दं ॥
सब जग वंदं[5] देण सु पंदं[6], भेद निकंदं सिरि[7] खत्तं[8] ।
दादूजी दत्त दीरघ वित्त, रज्जब अघ आपद हत्तं ॥१०॥

जो आनन्द[1] स्वरूप हैं, आनन्द के मूल[2] हैं, पूर्ण चन्द्रवत प्रिय दर्शन हैं, सब प्रकार स्वतंत्र[3] हैं, उनकी आज्ञा सुनकर सुरों का भी दमन[4] होता है, उनकी बुद्धि मंद नहीं है, स्मरण करने पर जीवों का बन्धन काटते हैं, उनमें सब बातों की हद हो जाती है, सब जगत् उनको प्रणाम[5] करता है, वे उपदेश[6] देकर भेद को काटने वाले हैं, संतों के हृदय की माया[7] को

खतम[८] करने वाले हैं, जो दादूजी के दिये हुये महान् धन हैं, पाप-संताप को नष्ट करने वाले हैं, उन प्रभु को हम प्रणाम करते हैं।

छप्पय–नमो सकल शिरताज, नमो सब संत सनेही।
नमो परम गुरु देव, नमो निष्कलंक सुदेही[१]॥
नमो गरीब निवाज[२], नमो निज दीन दयाल।
नमो अनाथ हु नाथ, नमो पूरण प्रतिपालं॥
नमो विरुद[३] नहिं पार, ब्रह्म शिव कहे न जाहीं।
जन रज्जब हैरान[४], रहे तुव[५] नाम सु छाहीं॥११॥

सबके शिरोमणि प्रभु को नमस्कार है, सब संतों के प्यारे प्रभु को नमस्कार है। परम गुरु-देव प्रभु को नमस्कार है। निष्कंलक स्वरूप[१] प्रभु को नमस्कार है। गरीबों पर दया[२] करने वाले प्रभु को नमस्कार है। दीन दयालु अपने प्रभु को नमस्कार है। अनाथों के नाथ प्रभु को नमस्कार है। सर्वत्र परिपूर्ण और प्रतिपालक प्रभु को नमस्कार है। ब्रह्मा-शिव भी कथन करके आपके यश[३] का पार नहीं पाते, आश्चर्य[४] युक्त होकर आपके[५] नाम की छत्र छाया में ही रहते हैं। ऐसे आप प्रभु को नमस्कार है।

अथ गुण छेद मध्य का अंग २

रज्जब तांबा लोह पख[१], पारस है हरि नाम।
परसे सो कंचन भये, यहु निरपख[२] निज ठाम[३]॥१॥

पक्ष-विपक्ष रूप गुणों के छेदन करने वाले मध्य मार्ग संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—ताम्र और लोहा दोनों पारस से मिलने पर सुवर्ण हो जाते हैं। वैसे ही हरिनाम चिन्तन से पक्ष[१] परपक्ष दोनों के ही प्राणी श्रेष्ठ बन जाते हैं। अतः यह हरिनाम निष्पक्ष[२] है और निज धाम[३] का दाता है।

कुरान कहै पश्चिम दिशा, पूरब दिशि कह वेद।
रज्जब दिल हि दीवान[१] था, सु[२] गुरु बताया भेद[३]॥२॥

कुरान प्रभु को पश्चिम दिशा में बताता है और वेद पूर्व दिशा में बताता है किन्तु वह प्रधान[१] प्रभु तो हृदय में ही था, यह रहस्य[३] गुरुदेव ने ही सम्यक्[२] बताया है।

तो वेद कुरानं उभय अयानं बहसि[१] विलाणं[२] है ताणं[३]।
द्वै दिशि ठाणं[४] जुगति न जाणं, जगत भुलाणं यहु हाणं॥
रंक सु राणं पक्ष बखाणं, कीया छाणं[१०] निज जाणं।
अरु जोध जुवाणं[५] देव सदाणं[६], आये घाणं[७] चतुर वर्ण बांधे बख्खं[८]॥
दादू का शिख्खं प्रीति न पख्खं, मधि मारग रज्जब रख्खं[९]॥३॥

वेद और कुरान भी निष्पक्ष मार्ग को नहीं जानते, विवाद[1] में ही निमग्न[2] होकर अपनी २ तानते[3] हैं। दो दिशाओं में प्रभु का स्थान[4] बताते हैं, लोक उस प्रभु का यथार्थ स्वरूप बताने की युक्ति नहीं जानते, जगत् को भुलावे में पटकते हैं। यह महान् हानि है। रंक और राजाओं की बातें पक्ष लेकर कहते हैं। निज को जानने के लिये माया रचित संसार का ही विचार[10] करते हैं। योद्धा, जवान[5], देवता तथा दानवों[6] के सहित सभी काल की घाणी[7] में आते हैं। चारों वर्णों को ही पक्ष-विपक्ष में बांधकर काल ने अपने अधिकार[8] में रक्खा है किंतु दादूजी के शिष्य मुझ रज्जब की किसी भी पक्ष में प्रीति नहीं है। मैंने तो मेरे मन को मध्य मार्ग में ही रक्खा[9] है।

तो हिन्दू न तुरकं द्वै रह[1] थक्कं, पाईं जक्कं[2] गुरु वक्कं[3]।
शूर न सक्कं[4] डरै न धक्कं, मधि मग तक्कं[5] नह चक्कं[6]॥
उनमनि[7] छक्कं[8] प्राण सु पक्कं, हासिल हक्कं[9] अहि[10] नक्कं[11]।
द्वारिक मक्कं बाज्या डक्कं[12],
सब सुणि ढक्कं[13] ऐसी विधि साहिब अख्खं[14]॥
दादू का शिखं प्रीति न पखं, मधि मारग रज्जब रख्खं॥४॥

जिस मध्य मार्ग में जाने से हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही मार्ग[1] थक जाते हैं अर्थात् पक्ष में बंधे हुये लोग मध्य मार्ग में नहीं चल सकते हैं। हमने गुरुदेव के मुख[3] के वचनों से उसी मध्य मार्ग में शांति[2] प्राप्त की है। मध्य मार्ग में गमन करने वाले शूर को कोई प्रकार की शंका[4] नहीं रहती। वह कर्मादि के धक्कों से नहीं डरता। जो प्रभु के पास जाने का मध्य मार्ग देख[5] लेता है, वह संसार में चक्कर[6] नहीं खाता। समाधि[7] से तृप्त[8] रहता है और वह प्राणी पक जाता है। सत्य[9] ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तथा उसी में स्थिर[11] रहता है[10]। द्वारिका और मक्का को जाने वालों के बजते हुये नगाड़े[12] आदि सब सुनकर अपने मन पर निष्कामता रूप ढक्कन[13] लगा लेता है अर्थात् जाने की इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार अक्षय[14] प्रभु को जानकर मैं दादूजी का शिष्य किसी की पक्ष में प्रीति नहीं करता, अपने मन को मध्य मार्ग में ही रखता हूँ।

तो द्वै पख त्यागं माया मागं, पंथसु लागं निज पागं[1]।
सो बिच वैरागं यूं जर जागं, तोड्या तागं जग रागं॥
सब झूठ सु झागं थांभी[2] बागं[3], धोया दागं है भागं।
गहि ज्ञान सु खागं[4] निज करि नागं[5],
वैरी भागं सम कीया लख[7] खं[6]।
दादू का शिखं प्रीति न पखं, मधि मारग रज्जब रख्खं॥५॥

जिसने माया के मार्ग रूप दो पक्ष त्याग दिये हैं और मध्य मार्ग में लगकर निज प्रभु में ही लीन[1] है, वह वैराग्य में स्थित होकर इस प्रकार जगत् में मोह निद्रा से जागता है कि-जगत के रागरूप धागे को तोड़ डालता है। सब संसार जल के झाग के समान मिथ्या है, यह निश्चय कर के अपने मन रूप अश्व की वृत्ति रूप बाग[3]-डोरि को पकड़[2] लेता है अर्थात् विषयों में नहीं जाने देता। अपने हृदय के पाप रूप दाग को हरि भजन द्वारा धो डालता है, तो समझना चाहिये वह भाग्य-शाली है। ज्ञान रूप तलवार[4] को अपनी बुद्धि वृत्ति रूप हाथ में पकड़ कर धावा करता है तब मस्त गज[5] राज के समान उसे देख कर कामादि शत्रु भाग जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म[6] को देखके[7] अपने को सम करता है। ऐसे ही मैं दादूजी का शिष्य किसी की पक्ष में प्रीति नहीं करता, अपने मन को मध्य मार्ग में ही रखता हूं।

तो घर[1] व्योम निरालं[2] अद्भुत चालं, मग[3] सुमरालं[4] विगतालं[5]।
घेरे[6] घालं कोमल नालं, पैठालं[7] तहं रस आलं[8]॥
प्राण सु पालं कर्म न कालं, मति वालं[9] भाग सु भालं।
हरि सँभालं[10] टूटा सालं[11], ऐसी विधि अमृत चख्खं[12]॥
दादू का शिखं प्रीति न पखं, मधि मारग रज्जब रख्खं॥६॥

मध्य मार्ग की अद्भुत चाल पृथ्वी[1] और आकाश से अलग[2] ही होती है अर्थात् पृथ्वी-आकाश में यह मार्ग[3] नहीं है। परम हंस[4] का मार्ग है। इस में व्यतीत[5] के लिये मौन है अर्थात् बीती हुई परिस्थितियां हृदय पर नहीं आती हैं। दयालुता रूप कोमल नाल वाले हृदय कमल के ऊपर चक्कर[6] लगाती हुई वृत्ति उस कमल पर स्थित रसों के उद्गम स्थान[8] प्रभु में प्रवेश[7] कर के संतुष्ट होती है। वे प्रभु प्राणियों के पालक हैं, वहां कर्म-काल नहीं है। जो बुद्धि वाले[9] और भाग्य शाली हैं, वे ही उन हरि का स्मरण[10] करते हैं, उन हरि के स्मरण से जन्मादि दुःख[11] नष्ट हो जाते हैं। मध्य मार्ग के साधक इस प्रकार साधन करके ज्ञानामृत का आस्वादन[12] करते हैं। वैसे ही मैं दादूजी का शिष्य किसी की पक्ष में प्रीति नहीं करता हूं, अपने मन को मध्य मार्ग में ही रखता हूं।

तो उभय न रीतं पाई थीतं[1], कारज कीतं[2] जग जीतं।
सो अगम अजीतं निर्मल चित्त, इहिं[3] मत मीतं निज नीतं॥
भरम सु भीतं इहि विधि बीतं[4], लाहा लीतं[5] धुनि धीतं[6]।
करि हरि हीतं[7] दान सु दीतं[8], नाहीं ईतं[9] कहा होय काहू झख्खं[10]॥
दादू का शिखं प्रीति न पखं, मधि मारग रज्जब रख्खं॥७॥

जो हिन्दु-मुसलमान इन दोनों की रीति में नहीं चलता है, उसने ही मध्य मार्ग में चल कर स्थिरता[1] प्राप्त की है। जगत् को जीत कर अपना मुक्ति रूप कार्य सिद्ध किया[2] है। वह विषयों से अजय और निर्मल चित्त इस[3] अगम मध्य मार्ग के सिद्धान्त को मित्र बनाकर अपनी नीति में स्थित रहता है। इस प्रकार उसका भ्रम और भय समाप्त[4] हो जाता है। उस ने नाम ध्वनि कर के तथा ध्यान[6] द्वारा हरि से प्रेम[7] करके महान् लाभ लिया[5] है। हरि ने जो उसे दान दिया[8] है, उसका अन्त[9] नहीं आता। उसकी उन्नति को देख कर कोई झींके[10] तो क्या हो सकता है ? मैं दादूजी का शिष्य किसी की भी पक्ष में प्रीति नहीं करता, अपने मन को मध्य मार्ग में ही रखता हूं।

तो गुरु सद्दं[1] निरख्या नद्दं[2], चेत्या तद्दं[3] यह गद्दं[4]।
माया का मद्दं उतर्‌या तद्दं, ज्ञान गरद्दं[5] करि बद्दं[6]॥
द्वै पख हद्दं देखी रद्दं[7], बिच वे हद्दं सो पद्दं।
तो दिल न रद्दं लाहा लद्दं[8],
घटे न कद्दं[9] दीरघ गुरु दीरघ दख्खं[10]।
दादू का शिखं प्रीति न पखं, मधि मारग रज्जब रख्खं॥८॥

गुरु के घर[1] पर गुरु का शब्द[2] विचार करके देखा और सावधान हुआ हूं तब[3] यह जन्मादि रोग[4] मिटा है। माया का मद भी तब ही उतरा है। कामादि दुष्टों[6] को ज्ञान के द्वारा धूलि[5] में मिलाकर हिन्दू-मुसलमान दोनों पक्षों को बेकार[7] समझा है। दोनों के बीच मध्य मार्ग से उस बेहद पद को प्राप्त किया है, तब से हृदय बेकार नहीं रहा है। प्रभु प्राप्ति रूप लाभ मिल[8] गया है। जो घटता कभी[9] नहीं है। महान् गुरु ने महान् ब्रह्म को दिखा[10] दिया है। मैं दादूजी का शिष्य किसी की भी पक्ष में प्रेम नहीं करता हूं, अपने मन को मध्य मार्ग में ही रखता हूं।

तो सुण्या सु कन्नं[1] पख न पन्नं[2], नह मत मन्नं[3] सो जन्नं।
जग मत भन्नं[5] पकड़्या रन्नं[6], केतक गन्नं[7] है घन्नं[8]॥
गुण गण हन्नं[9] तिरे सुतन्नं[10], नाहीं छन्नं[11] सो धन्नं[12]।
देव न दन्नं[13] लहै न थन्नं[14],
सो विधि वन्नं[15] ऐसी विधि जग मग नख्खं[16]।
दादू का शिखं प्रीति न पखं, मधि मारग रज्जब रख्खं॥९॥

जिसने मध्य मार्ग को कानों[1] से सम्यक् सुना और किसी पक्ष में नहीं पड़ा[2], इस मत को मान[3] लिया, वही संत[4] है। जगत के मत को हृदय से नष्ट[5] कर दिया है, 'राँ'[6] को पकड़ लिया है, उसे कितना गिनावें[7], वह महान्[8] है। आसुर गुणों का गण नष्ट[9] कर दिया है,

शरीर[10] के राग से पार हो गया है, विषयों से छिन्न[11]-भिन्न नहीं हुआ, वह धन्य[12] है। देव-दानव[13] भी जिस स्थान[14] को नहीं प्राप्त कर सकते, उस स्थान को प्राप्त करने की विधि बनाली[15] है। इस प्रकार जगत् के मार्ग को मैंने भी त्याग[16] दिया है। मैं दादूजी का शिष्य किसी भी पक्ष में प्रीति नहीं करता हूं, अपने मन को मध्य मार्ग में ही रखता हूं।

ता सम नांहि कोई त्यागी दोई, गुरु मुख जोई कहि होई।
गोप्य सु गोई[1] आतम धोई, खल[2] मत खोई यह छोई[3]॥
मेवासा[4] मोई[5] जगमत चोई[6], ढाल सु ढोई रिपु रोई।
सब जग टोई[7] लीया सोई,
लाल[8] सु लोई[9] यूं तन मन काढी दख्खं[10]।
दादू का शिखं प्रीति न पखं, मधि मारग रज्जब रख्खं॥१०॥

जिसने हिन्दू-मुसलमान दोनों पक्षों को त्याग दिया है, उसके समान कोई भी नहीं है। जो गुरु ने मुख से कहा है, उस गोप्य रहस्य को वृत्ति में पिरो[1] कर अन्त: करण को धोया है अर्थात् निष्पाप किया है। दुष्ट[2] विचार को यह निस्सार[3] है, ऐसा समझ कर हटा दिया है। कामादि गढपतियों[4] को मारा[5] है। जगत् के सिद्धान्तों को निचोड़[6] कर उनका सार निकाला है। वैराग्य रूप ढाल का भार ढोया है अर्थात् हृदय में सदा वैराग्य रक्खा है, जिसे देखकर राग रूप शत्रु रोता है, सब जगत् को खोज-कर[7] उस प्रभु को ही अपनाया है। प्रियतम[8] में ही वृत्ति[9] लगाई है। इस प्रकार ही मैंने भी तन-मन का दुःख[10] निकाला है। मैं दादूजी का शिष्य किसी की भी पक्ष में प्रीति नहीं करता, अपना मन मध्य मार्ग में ही रखता हूं।

छप्पय—नर नारायण रूप, निरख निरपख निज न्यारा।
सो योगेश्वर जान, प्राणि परवीण सु प्यारा॥
आतम अगम अगाध, नजरि[1] गुण युगल[2] सु नाहीं।
मधि मारग चलि चाल, मिले मोहन को मांहीं॥
एक हिं सौं ह्वै उभय, उभय गुण मेटि सु एकै।
रज्जब सीझया[3] संत, काट कर्म कुल[4] सु विवेकै॥११॥२२

जिस नर ने नारायण के स्वरूप का क्षासात्कार करके निष्पक्ष होकर अपने को सबसे अलग किया है, वही प्राणी योगेश्वर प्रवीण तथा सबका प्यारा है, ऐसा जानो। जिसकी दृष्टि[1] में पक्ष-विपक्ष रूप दो[2] गुण नहीं हैं, वह आत्मा अगम अगाध है और मध्य मार्ग की चाल से चलकर भीतर ही विश्व विमोहन प्रभु से मिलता है। एक ही व्यक्ति से पक्ष-विपक्ष ये दोनों होते हैं और एक ही इन दोनों गुणों को काटता है।

अतः जो संपूर्ण[४] कर्मों को और पक्ष-विपक्ष को विवेक से सम्यक् काटता है, वही सिद्ध[३] संत कहा जाता है।

अथ शूरातन का अंग ३

मांही मारे गुण हुं को, बाहिर जग सो जुद्ध।
जन रज्जब सो शूरमा, रोप[१] रह्या कुल शुद्ध ॥१॥

साधक-शूर संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—जो अन्तःकरण के भीतर तो आसुर गुणों को मारता है और बाहर जगत् को सुमार्ग में चलाने के लिये शुद्ध व्यवहार का प्रचार रूप युद्ध करता है तथा अपनी निष्ठा को स्थिर[१] रखता है, वही शुद्ध कुल में जन्मा हुआ शूरवीर है।

सब शूरों सिर[१] शूरमा, जो जीतै गुण जोध।
जन रज्जब झूझार सो, ताका उत्तम बोध ॥२॥

जो काम-क्रोधादि गुण रूप योद्धाओं को जीतता है, वही संपूर्ण शूरवीरों से श्रेष्ठ[१] शूरवीर योद्धा है और उसका ही उत्तम ज्ञान है।

तो खत्री चारं[१] खेत बुहारं[२], काया मझारं गहि सारं।
उठे अपारं करते मारं, ढाही[३] ढारं[४] तिहिं बारं ॥
काटया कर्म कारं[५] तीरथ धारं, अंग[६] अपारं दिल ठारं[७]।
जीत्या सरदारं उतरया भारं, पाया पारं नाम न राजी यूं मेलं ॥
दादू का चेलं पंच सु पेलं[८], रज्जब रण चौरंग[९] खेलं ॥३॥

साधक शूर क्षत्रिय की चाल[१] से शरीर के भीतर अन्तःकरण रूप रण क्षेत्र को सार गहण करके साफ[२] कर देता है। इसमें अपार कामादि शत्रु उठते हैं और मार करते हैं, उनकी पंक्ति[४] को उसी समय वैराग्यादि बाणों से नष्ट[३] कर देता है। ज्ञान-तलवार की धार रूप तीर्थ से कर्म और काल[५] को भी काट देता है और अपार शुभ लक्षणों[६] को लाकर हृदय को शीतल[७] करता है। गुणों के सरदार मोह को जीत लेता है। आसुर गुण जीतने का भार उतार कर इन सबका पार पा लेता है अर्थात् कोई को भी नहीं छोड़ता किन्तु फिर भी अपना नाम होने से प्रसन्न नहीं होता। इस प्रकार विजय करके साधक-शूर प्रभु से मिलता है। दादूजी के शिष्य मुझ ने भी पंच इन्द्रियों को विषयों के राग से हटा[८] दिया है और अब काम, क्रोध, लोभ, मोह, की चतुरंगिणी[९] सेना से रण खेल रहा हूँ, अर्थात् नष्ट कर रहा हूं।

तो तज सब ओटं काया कोटं, चौड़े चोटं वे[१] ले वोटं।
काढे गुण सोटं बहु विधि वोटं राज सुधोटं[२] काढ़या सब खोटं ॥
मंगल मोटं कर्म सु छोटं, हत झोटं[३] बांधी पुनि[४] पोटं।

भान्या[५] टोट[६] तास[७] न जोट[८], ऐसी विधि आपद रेलं[९] ॥
दादू का चेलं पंच सु पेलं रज्जब रण चौरंग खेलं ॥४॥

सब प्रकार की ओट त्याग कर शरीर रूप किले में चौड़े चोट करता है। वे[१] प्रतिपक्षी आसुर गुण ही एक दूसरे की ओट लेते हैं। बहुत प्रकार ओट लेने पर भी गुणों को प्रतिपक्षी दैवी गुण रूप दंड मार कर हृदयसे निकाल देता है। इस श्रेष्ठ राजपुत्र[२]ने सब प्रकारके दोष नष्ट कर डाले हैं। अब अन्तःकरण में महान् मंगल हो गया है। अशुभ कर्मों को सत्संग रूप छोटे-से धक्के[३] से अर्थात् थोड़े से सत्संग से नष्ट कर दिया है और पुण्य[४] की पोट बांध ली है। कर्मी[६] को नष्ट[५] कर दिया है। उसकी[७] जोड़ी[८] का कोई नहीं है। इस प्रकार आपत्ति को ढकेल[९] कर मुझ दादूजी के शिष्य ने भी पंच ज्ञानेन्द्रियों को विषय राग से हटा दिया है और अब काम, क्रोध, लोभ, मोह की चतुरंगिणी सेना से रण खेल रहा हूं अर्थात् उसे नष्ट कर रहा हूं।

तो शूर सु भट्ट[१] करि खल खट्ट[२], वैरी कट्ट गहि चट्ट[३]।
दुर्जन थट्ट[४] करि दह[५] बट्ट[६], फेरि घरट्ट[७] यूं दट्ट[८]।
किये पट्ट[९] खाग[१०] सु झट्ट, सो हट्ट[११] घेरे घट्ट[१२]।
नारद[१३] नट्ट अनंत अवट्ट[१४], प्राणि पिशुन[१५] ऐसे ठेलं[१६] ॥
दादू का चेलं पंच सु पेलं, रज्जब रण चौरंग खेलं ॥५॥

साधक-शूर योद्धा[१] दुष्ट गुणों की शिकार[२] करता है। शत्रुओं को अतिशीघ्र[३] पकड़ कर काटता है। दुर्जनों के पत्थरों[६] की चोटें देकर[५] शीघ्र[४] उन पर घरट[७] फेरि कर इस प्रकार डटा[८] रहता है कि उसके सामने कोई नहीं आता। अपनी तलवार[१०] से शीघ्र ही सबको चौपट[९] कर देता है। फिर वह वहां से हट[११] कर घाटे[१२] रोकता है। चुगल[१३], नष्ट नट वृत्ति[१४] से जीवन बिताने वाले अनन्त दुष्ट[१५] प्राणियों को ऐसे ढकेलता[१६] है कि—वे पुनः पाखंड न कर सकें। मुझ दादूजी के शिष्य ने भी पंच ज्ञानेन्द्रियों को विषय-राग से हटा दिया है और अब काम, कोध, लोभ, मोह की चतुरंगिणी सेना से रण खेल रहा हूं।

तो खोये खल[१] खाहं[२] मही सु माहं[३], ठौर न ठाहं रभ[४] राहं।
गिरिवर गाहं[५] गोप्य[६] सु साहं, करे सु हाहं[७] बंदि[८] बाहं[९] ॥
काटे दुख दाहं पडै न धाहं[१०], बेपरवाहं निज नाहं[११]।
जल युद्ध अथाहं निकस्या ढाहं[१२], लीया लाहं कर कीये साचा सेलं ॥
दादू का चेलं पंच सु पेलं, रज्जब रण चौरंग खेलं ॥६॥

दुष्टों[१] को पृथ्वी की खाइयों[२] में[३] से भी भगा दिया है, उनको ठौर-ठिकाना नहीं रहा है। वे वेग[४] पूर्वक मार्ग से भाग रहे हैं। जो पर्वतों की

गुहाओं[५] में गुप्त[६] थे और जो साहूकार बने हुये थे, वे सब हाहाकार[७] कर रहे हैं, उनकी भुजायें[८] बाँध[९] दी हैं। इस प्रकार आसुर गुणों को जीत कर, दुःख दाह को नष्ट कर दिया है। अब चिल्लाना[१०] नहीं पड़ेगा, निज स्वामी[११] के पास बेपरवाह होकर जायगा। विषय जल का युद्ध भी अथाह था अर्थात् निर्विषय होना कठिन था किन्तु उससे भी निकल कर किनारे[१२] आ गया है। इस प्रकार अन्तःकरण रूप हाथ में ज्ञान रूप सच्चा सेल लेकर विजय रूप लाभ प्राप्त करता है। मैं दादूजी का शिष्य भी पंच-ज्ञानेन्द्रियों को विषय-राग से हटाकर, काम, क्रोध, लोभ, मोह की चतुरंगिणी सेना से रण खेल रहा हूं।

तो शूर संभालं गहि करवालं[१], अरि[२] घर घालं[३] अहि हालं[४]।
कर्म सु कालं मारे भालं, पड़े न रालं[५] गुण गालं॥
करि भुव[६] चालं पिशुन[७] सु पालं[८], वसुधा बालं विगतालं[९]।
सब तोड़े सालं[१०] निबह्या लालं[११],
उठे न झालं[१२] सार[१३] सन्मुख यूं झेलं॥
दादू का चेलं पंच सु पेलं, रज्जब रण चौरंग खेलं॥७॥

साधक-शूर अपने को संभाल कर तथा हाथ में तलवार[१] लेकर शत्रुओं[२] के घरों को नष्ट[३] करता है। उसकी ऐसी विलक्षण दशा[४] होती है। वह कर्म और काल के ज्ञान रूप भाला मारता है। विषयों के लिये उसकी लार[५] नहीं पड़ती अर्थात् विषयों को नहीं चाहता। वह तो गुणों को गाल देता है। वह पृथ्वी[६] को चलायमान करता हुआ दुष्टों[७] को हटा[८] देता है। पृथ्वी में बालक होने पर भी व्यतीत[९] के लिये मौन रहता है अर्थात् गई बात की चिन्ता नहीं करता। सब दुःख[१०] नष्ट कर देता है। अपने प्रियतम[११] प्रभु तक चला जाता है। उसके हृदय में साँसारिक भावना रूप तरंग[१२] नहीं उठती। वह सन्मुख होकर ऐसे लोहा[१३] झेलता है। मैं दादूजी का शिष्य भी पंच ज्ञानेन्द्रियों को विषय राग से हटाकर काम, क्रोध, लोभ, मोह की चतुरंगिणी सेना से रण खेल रहा हूं।

तो ताते तावं[१] घाले घावं, मारे रावं[२] यहु सावं[३]।
वीरा रस चावं[४] पाया डावं, आगे पावं है भावं॥
सिह सु छावं[५] करै सु धावं, मिले सु बावं[६] यश गावं।
अगम सु आवं लाधो[७] ठावं, कदे[८] न जावं जीव ब्रह्म ऐसे मेलं॥
दादू का चेलं पंच सु पेलं, रज्जब रण चौरंग खेलं॥८॥

जो निरंतर[१] साधन करता हुआ आसुर गुणों के घाव करता रहता है और मोह रूप राजा[२] को मार कर वह शाह[३] बन जाता है। उसे वीररस में उत्साह[४] रहता है। दांव आने पर आगे ही पैर रखता है, उसमें परमार्थ का

भाव रहता है । वह सिंह के बच्चे[४] के समान धावा करता है उससे जो विरोधी[५] भी मिलते हैं, वे भी उसका यश ही गाते हैं । वह अगम स्थान समाधि में आता है । वहां उसे अपना स्वरूप रूप धाम मिल[७]-जाता है । फिर उससे वह कभी[८] भी दूर नहीं जाता । इस प्रकार जीव ब्रह्म का मिलन होता है । मैं दादूजी का शिष्य भी पंच ज्ञानेन्द्रियों को विषय-राग से हटा कर, काम, क्रोध, लोभ, मोह की चतुरंगिणी सेना से रण खेल रहा हूं ।

तो भूपति आजं[१] कीये वाजं[२], राखो लाजं सिरताजं ।
सिद्ध सु काजं पाया राजं, गुण शिर गाजं सब साजं[३] ।।
नहीं अंदाजं खट्ट[४] न खाजं, बाँधी पाजं उर आजं[५] ।
माया माजं[६] ऊचा छाजं[७], अधिक अवाजंतिहूं लोक फूटा हेलं[८] ।
दादू का चेलं पंच सु पेलं, रज्जब रण चौरंग खेलं ।।६।।

वह विवेकी भूप उक्त प्रकार सबको जीत कर शोभित[१] होता है तथा अन्यों को उपदेश[२] करता है । वह अपनी लज्जा रखकर शिरोमणि बनता है । उसका कार्य सिद्ध हो जाता है । वह आत्म स्वराज्य प्राप्त करके गुणों पर गर्जता है । उसके पास सम्पूर्ण साधन-सामग्री[३] होती है । उसका अनुमान नहीं किया जा सकता कि उसकी कितनी योग्यता है । वह पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन इन छः[४] के द्वारा नहीं खाया जाता अर्थात् इनके अधीन नहीं होता । उसने इस जन्म[५] में अपने हृदय में ज्ञान रूप सेतु बाँध लिया है, इससे वह विषय जल में नहीं गिर सकता । वह माया को सफा[६] करके अर्थात् जीत कर माया से ऊंचा निर्गुण स्थिति में शोभा[७] देता है । उसकी आवाज महान् होती है । तीनों लोकों में उसकी हाँक[८] फूट जाती है । मैं दादूजी का शिष्य भी पंच ज्ञानेन्द्रियों को विषय-राग से हटाकर, काम, क्रोध, लोभ, मोह की चतुरंगिणी सेना से रण खेल रहा हूं ।

तो वैरी वासं[१] द्वन्द्वर दासं, खाई त्रासं गुण ग्रासं ।
पिशुन[२] अवासं[३] फेरचा घासं, दोषी नासं नह श्वासं ।।
युद्ध जु जासं कहिये कासं, वीर विलासं न हासं ।
प्राणी पासं क्रीलत[४] रासं, बारह मासं काटि कर्म करता केलं[५] ।।
दादू का चेलं पंच सु पेलं, रज्जब रण चौरंग खेलं ।।१०।।

विवेकी वीर वैरियों को वश[१] में कर लेता है, द्वन्द्वों को दास बना लेता है, वे सब उसका भय खाते रहते हैं, अर्थात् उससे डरते रहते हैं । गुणों को ग्रास लेता है अर्थात् जीत लेता है । दुष्टों[२] के निवास[३] स्थानों पर घास फेर देता है अर्थात् सर्वथा नष्ट कर देता है । दोषियों को नष्ट कर देता है, वे श्वास भी नहीं ले सकते अर्थात् ऊंचे नहीं उठ सकते । अब

उसका युद्ध किससे कहा जाय ? कोई शेष रहा ही नहीं है । युद्ध तो वीरों की क्रीड़ा है, हँसी तो नहीं है, जो हर कोई कर सके । यह बारहों मास प्राणियों के पास ही साधन रूप रास क्रीड़ा[४] करता है और कर्मों को काट कर आनन्द[५] लेता है । मैं दादूजी का शिष्य भी पंच-ज्ञानेन्द्रियों को विषय-राग से हटाकर काम, क्रोध, लोभ, मोह की चतुरंगिणी सेना से रण खेल रहा हूं ।

छप्पय—करि सु जोग संग्राम, खेलि[१] खट[२] खोहणि[३] खैसै[४] ।
सुभट शूर विख्यात, सु नर नव खण्ड नरेशै ॥
दुर्जन काढि सु दूरि, मारि मेवासा[४] मोई[६] ।
रण सु राख रज[७] रेख[८], करे समसरि कहु कोई ॥
राज काज सामरथ[९], वीर वीराधि विराजै[१०] ।
जन रज्जब जग जोध, लोक राखी धर्म लाजै ।११।३३।

विवेकी वीर ने संग्राम करके[१] पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन इन छः[२] अक्षोहणियों[३] को क्षय[४] कर दिया है । ये बड़े योद्धा हैं, विख्यात वीर हैं । नव खंड के नरों के राजा हैं । दुर्गुण रूप दुर्जनों को मार कर हृदय से दूर निकाल दिया है । कामादि गढपतियों[४] को मार[६] दिया है । इनने रण में रजपूती[७] की टेक[८] रक्खी है । कहो, इनकी समता कोई कैसे कर सकता है ? ये आत्म स्वराज्य के कार्य में समर्थ[९] हैं । वीरों के भी अधिपति वीर रूप से शोभा[१०] दे रहे हैं । वे जगत् में प्रसिद्ध योद्धा हैं । उनने लोक में धर्म की लाज रक्खी है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित छंद त्रिभंगी ग्रन्थ १ समाप्तः ।

अथ अरिल ग्रन्थ २

अथ गुरुदेव का अंग १

अरिल—चंद शूर आकाश अवास[१] है ज्यों दिया ।
तैसे उर घर मध्य गुरु गोविन्द किया ॥
ठौर ठौर की वस्तु न सूझै इन बिना ।
परि हां रज्जब कही सु साँच सत्य मानी मना ॥१॥

जैसे चन्द्र-सूर्य को आकाश ने निवास[१] दिया है, वैसे ही हमारे हृदय-घर में गुरु-गोविन्द ने निवास किया है । जैसे चन्द्र-सूर्य बिना स्थान-स्थान की बाह्य वस्तुयें नहीं दीखती हैं, वैसे ही इन गुरु-गोविन्द के बिना आंतर की वस्तु नहीं दीखती है । यह हमने सत्य ही कहा है और हमारे मन ने भी मान लिया है वा हे मन इसे सत्य मान ।

देखो गुरु उर पैठि कौन कारज करै ।
काढै मांड[1] मझार मिलावै सब परै ।।
दीसै बीच दलाल दुहुं दिशि का धनी ।
परिहां रज्जब राम उमंगि[2] आप सोंपी घनी[3] ।।२।।

देखो, गुरु ज्ञान रूप से हृदय में प्रवेश करके जो काम करते हैं, उसे कौन कर सकता है ? जीव को ब्रह्माण्ड[1] से निकाल कर सबसे परे प्रभु से मिला देते हैं । गुरु-गोविन्द संसार और ब्रह्म दोनों के बीच के दलाल दिखाई देते हैं । व्यवहार और परमार्थ दोनों ओर के ही धनी हैं । राम ने प्रसन्न[2] होकर के ही इन्हें अत्यधिक[3] योग्यता दी है ।

मेघ बिना ज्यों मूढ मेदिनी[1] सब मरै ।
चौरासी को चून[2] न उपजै क्या चरै[3] ।।
त्यों काया मधि काल गुरु सु मति बाहरै ।
परि हां रज्जब पिंड ब्रह्माण्ड कौन विधि ठाहरै ।।३।।

बादलों की वर्षा के विना पृथ्वी[1] के मूर्ख जीव सभी मर जाते हैं । चौरासी लाख जीवों के लिये भोजन[2] उत्पन्न नहीं हो तो क्या खायें[3],वैसे ही गुरुदेव की सुबुद्धि से बाहर रहने पर शरीर में अकाल पड़ जाता है । अकाल पड़ने पर शरीर और ब्रह्माण्ड दोनों शांति से कैसे ठहर सकते हैं ।

गुरु का काम न होय सु काहू जीव तें ।
मन वच कर्म त्रि[1] शुद्ध इहै[2] मानी सु मैं ।।
सब साधुन की साखि[3] वेद यूं भाख ही ।
परि हां रज्जब गुरु सु प्रताप शीश पर राख ही ।।४।।

गुरु का कार्य अन्य किसी भी जीव से नहीं हो सकता । गुरु मन, वचन, कर्म तीनों[1] को शुद्ध करते हैं, यह[2] बात मैंने मान ली है । सब संतों की भी यह साक्षी[3] है और वेद भी ऐसे ही कहते हैं । अतः मैं गुरुदेव का प्रताप शिर पर ही रखता हूं ।

गुरु गोविन्द समान शिष्य करि जान ही ।
मन वच कर्म त्रिशुद्ध इहैं[1] उर आन[2] ही ।।
तो कारज प्रसिद्ध होत कहा बेर रे ।
परि हां जे रज्जब इक भाव न कर ही फेर रे ।।५।।

शिष्य गुरु और गोविन्द को समान ही जानता है तथा इन्हें[1] हृदय में लाकर[2], मन, वचन, कर्म, तीनों को शुद्ध करता है और यदि दोनों के एक भाव में फेर-फार नहीं करता तब उसका मुक्ति रूप प्रसिद्ध कार्य होने में क्या देर लगती है ? अर्थात् शीघ्र ही हो जाता है ।

गुरु गोविन्द तै बाढ[1] हम हू को सूझ[2] ही ।
औरौं[3] समझो कोय अकल[4] में बूझ[5] ही ।।
मक्के बड़ा जहाज जाहि चढि जाइये ।
परि हां रज्जब पीर[6] प्रसंग खुदा इहिं[7] पाइये ।।६।।

गुरु गोविन्द से अधिक[1] हैं, यह हमें दीखता[2] है और[3] भी कोई विचार द्वारा समझो तो बुद्धि[4] में यह बात समझ[5] ही जाओगे । मक्का से वह जहाज बड़ा है, जिस पर बैठ कर मक्का को जाते हैं । उसके बिना मक्का में पहुँच नहीं सकते । वैसे ही गुरु[6] के प्रसंग से इस[7] जन्म में ही ईश्वर मिल जाता है । गुरु बिना नहीं मिलता अतः गुरु अधिक हैं ।

कहिये गुरु गोविन्द पीर मन[1] है खुदा ।
उभय उर हू में आप ऐन[2] नाहीं जुदा ।।
मार हि गुण तासीर[3] जिलावहिं जीव जो ।
परि हां रज्जब राम रहीम कही जे सत्य सो ।।७।।

अरे मन[1] ! गुरु ही पीर और गोविन्द ही खुदा कहा जाता है । हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही हृदय में आप प्रभु ही हैं यह सत्य[2] है । ईश्वर और खुदा अलग-अलग नहीं है । जो गुरु गुणों के प्रभाव[3] को नष्ट करते हैं और जीव को नित्य जीवन प्रदान करते हैं, वे गुरु ही राम और रहीम हैं, यह सत्य है ।

आतम शून्य[1] समान सु गुरु बिन को गढै ।
पीव मिले जिहिं पाठ पीर[2] ही सौं पढै ।
यहु न और तैं होय दुहाई[3] राम की ।।
परि हाँ रज्जब सोच विचार कहो निज कामकी ।।८।।

जीवात्मा आकाश[1] के समान खाली होता है । उसमें दैवीगुण भर कर उसे गुरु के बिना श्रेष्ठ कौन बना सकता है ? जिस पाठ के पढ़ने से प्रभु मिलते हैं, वह भी तो गुरु[2] से ही पढ़ा जाता है । हम राम की शपथ[3] खाकर कहते हैं, यह गुरु का कार्य अन्य से नहीं हो सकता । हमने सोच-विचार के ही यह अपने काम की बात कही है ।

पय[1] पाणी मिल जाय हंस निरवार[2] ही ।
मधु मिश्रित वनराय[3] सु मधुरिख[4] टार ही ।।
सद् गुरु शोध शरीर करे जिव को जुदा ।
परि हां यहु न और तैं होय पीर[5] परि है मुदा[6] ।।९।।

जल और दूध[1] मिल जाते हैं तब उनको हंस ही अलग[2] करता है । वन के वृक्ष पंक्ति[3] के पुष्पों में मिले हुये शहद को शहद की मक्खी[4] ही

अलग करती है। वैसे ही सद्गुरु खोज कर जीव को शरीर से अलग करते हैं अर्थात् शरीराध्यास मिटा देते हैं। यह कार्य अन्य से नहीं हो सकता। गुरु[5] के चरणों में पड़ता है, तब ही ब्रह्मानन्द[6] मिलता है।

क्वारे[1] आतम राम पीर परणाव[2] ही।
यहु इन ही का काम इन्हु के आव ही॥
नहीं तो मेला नांहि निकट न्यारे सदा।
परि हां रज्जब मेटै नांहि गुरू[3] गुरु का हुदा[4]॥१०॥

आत्मा और राम अविवाहित[1] हैं, इनका विवाह[2] गुरु ही कराते हैं। यह काम इन गुरुदेव का ही है, इनके आने पर ही होता है। नहीं आने पर तो मिलन नहीं होता। समीप रहने पर भी सदा अलग ही रहते हैं। गुरुओं के गुरु प्रभु[3] भी यह गुरु का अधिकार[4] मिटाते नहीं हैं।

अपने[1] सिरजे दूरि हजूर[2] सु गुरु गढे[3]।
अंतर[4] अवनि आकाश आघ[5] सु घट[6] बढे[7]॥
साधु वेद की साखि सु प्रत्यक्ष बोल ही।
परि हां रज्जब साखत[8] भक्त न समसरि[9] तोल[10] ही॥११॥

स्वयं[1] ईश्वर के रचे हुये जीव ईश्वर से दूर रहते हैं और गुरु के सुधारे[3] हुये ईश्वर के पास[2] आ जाते हैं। ईश्वर रचित और गुरु के सुधारे हुये जीवों में पृथ्वी आकाश का-सा भेद[4] रहता है। ईश्वर रचितों का आदर[5] कम[6] और गुरु के सुधारे हुये जीवों का आदर अधिक[7] होता है। साधु और वेदों की साक्षी भी प्रत्यक्ष रूप से यही कह रही है कि अभक्त[8] और भक्त कभी भी समान[9] नहीं होते[10]।

उभय अंग[1] बिच ऐन[2] सु गुरु गहना[3] मई[4]।
यूं आतम ले[5] राम राम आतम लई[6]॥
पीर[7] पटू[8] दरम्यान[9] देखि द्वै दिशि सुखी।
परि रज्जब सौदा[10] होय मिटै[11] नहिं गुरमुखी॥१२॥

ईश्वर और जीव दोनों शरीरों[1] के बीच में गुरु यथार्थं[2] में एक दूसरे को बांधने[3] वाले के समान[4] हैं अर्थात् मिलाने वाले हैं। इस प्रकार गुरु के द्वारा आत्मा राम को प्राप्त[5] करता है और राम आत्मा को प्राप्त[6] करता है। यदि बीच[9] में गुरु[7] चतुर[8] होता है तो जीव और ईश्वर दोनों ही सुखी होते हैं वा परमार्थ और व्यवहार दोनों ओर के ही जीव सुखी होते हैं। गुरु से ही परमार्थ रूप व्यापार[10] अच्छा होता है। गुरुमुखी प्राणी कामादि से नष्ट[11] नहीं होता।

सु गुरु बिना गोविन्द सगा[1] नहिं जीव का।
देख्या सोच विचार मता[2] हरि पीव[3] का॥

लज दल[४] कपड़ा देय किये की लाज रे।
परि हां रज्जब राम न मिलै सकल शिर ताज रे ॥१३॥

श्रेष्ठ गुरु के बिना गोविन्द जीव के निजी संबन्धी[१] नहीं बनते। हमने प्रियतम[३] हरि का मत[२] सोच-विचार के देखा है, वे अपने रचे हुये जीवों की लाज रखने के लिये, जल-अन्न[४] वस्त्र तो देते हैं किन्तु वे सर्व शिरोमणि राम गुरु के बिना जीव से मिलते नहीं हैं।

पहले बावन तीस जु अक्षर जानिये।
पीछे वेद कुरान सु बोलि बखानिये॥
तैसे गुरु मुख माग जु प्राणी पाय है।
परि हां, रज्जब पंथी सोय शून्य[१] पुर जाय है ॥१४॥

पहले बावन अक्षर जान लिये जाते हैं तब पीछे वेद को और तीस अक्षर जान लिये जाते हैं तब कुरान को, बोलकर उनका व्याख्यान किया जाता है वैसे ही गुरुमुख का ज्ञानरूप मार्ग प्राप्त करता है, तब ही वह पथिक ब्रह्म[१] रूप पुर में जाता है।

पंच तत्त्व के पंथ पंच तत्त्व आव ही।
तैसे गुरु मुख माग परम रस पाव ही॥
ताले हू की वस्तु सु कूंची कर चढै।
परि हां रज्जब ऐसे जाणि पीर[१] पंदति[२] पढै ॥१५॥

पंच तत्त्वों के मार्ग में चलने से पंच तत्त्वों में ही आते हैं। वैसे ही गुरु-मुख के ज्ञान-मार्ग में जाने से परम रस रूप प्रभु प्राप्त होते हैं। जैसे ताले में बंद वस्तु कूंची के द्वारा ही हाथ में आती है, वैसे ही गुरु ज्ञान द्वारा प्रभु प्राप्त होते हैं। ऐसा जान कर गुरु[१] के उपदेश की पद्धति[२] अवश्य पढ़ना चाहिये।

ज्यों ज्योतिष चढि[१] जीव गहन गति पेख[२] ही।
तैसे गुरु के ज्ञान परम पद देख ही॥
दूर दरशत है सिद्ध सिद्धि के आवतैं॥
परि हां रज्जब लहिये राम संतपद पावतैं ॥१६॥

जैसे ज्योतिष पर अधिकार[१] करके प्राणी ग्रहण आदि गहन गति को देख[२] लेता है, वैसे ही गुरु के ज्ञान से परम पद रूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। जैसे सिद्धि आ जाने पर सिद्ध को दूर की वस्तु दीख जाती है, वैसे ही संत-पद प्राप्त होने पर राम प्राप्त हो जाते हैं।

खोजी बिना न खोज सु काहू कन कढै।
हय गय नर असवार फौज किहिं दिशि चढै॥

वित्त बिना बाजार हाथ क्या आव ही ।
परि हां रज्जब तैसे राम न गुरु बिन पाव ही ॥१७॥

खोजी बिना खोज किसी से भी नहीं निकाले जाते और बिना खोज हाथी घोड़ों के असवार नरों की सेना किस दिशा में चढ़ाई करे ? बिना धन के बाजार में क्या हाथ आ सकता है ? वैसे ही गुरु बिना राम नहीं मिल सकते ।

बिना पुरुष परसंग न सुत कारण रहै ।
ऐसे गुरु तैं विमुख सु गोविन्द क्यों लहै ॥
ता में फेर न सार उघारी[1] बात है ।
परि हां रज्जब साधू साखि[2] वेद हू यूं कहै ॥१८॥

पुरुष प्रसंग के बिना पुत्र का कारण गर्भ नहीं रहता । वैसे ही गुरु से विमुख प्राणी गोविन्द को कैसे प्राप्त कर सकता है ? इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार रूप और प्रकट[1] बात है । संतों की साक्षी[2] भी यही है और वेद भी ऐसे ही कहते हैं ।

शक्ति सुख अरु शीत जम हि तन हेम ज्यों ।
आतम अंड सु कुंज बँधे वपु वारि यूं ॥
सद्गुरु सूरज तेज विरह वैशाख रे ।
परि हां बहै नैन नद पूरि मिलै सुत मातरे ॥१९॥

यह अरिल साखी भाग, गुरुदेव का अंग ३ में ६३ की संख्या में आ गई है, इसका अर्थ वहां देखें ।

रजक[1] रूप गुरु देव सु पंचों कप्पड़े ।
सब विधि सब संजोग मिलाव हि वप्पड़े[2] ॥
ऐसे उज्जल होय सु बागा[3] जीव का ।
परि हां रज्जब सभा समाय सु दर्शन पीव का ॥२०॥

गुरुदेव धोबी[1] रूप हैं, पंच ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण जीव के कपड़ों के समान हैं । बेचारे[2] जीव के उक्त कपड़ों को धोने का सब प्रकार से सब संयोग गुरु मिलाते हैं । इस प्रकार जीव के उक्त कपड़े[3] उज्वल होते हैं । जैसे उज्वल कपड़े वाला सभा में प्रवेश करता है, वैसे ही इन्द्रिय अन्तः-करण पवित्र होने से प्रभु का दर्शन होता है ।

नीच ऊंच पल माँहि सु गुरु प्रताप तैं ।
सो निरखे निरताय[1] सु अपने नैन तैं ॥
देखो दिशि[2] रैदास सु कीतो कौन रे ।
परि हां रज्जब धनि[3] सत्संग पुनीत सु भौन[4] रे ॥२१॥

श्रेष्ठ गुरु के प्रताप से एक क्षण में ही नीच ऊंच हो जाते हैं। सो हमने विचार[1] करके अपने नेत्रों से देखा है। देखो, रैदासकी ओर[2] वे कौन थे ? चमार थे। कीता कौन थे ? कनेरी थे किन्तु गुरु के सत्संग से वे धन्य[3] हो गये हैं और उनके घर[4] पवित्र हो गये हैं।

पीर पैगम्बर भये पीर[1] पंद[2] आवतैं।
यहु न और तैं होय सु राणा रावतैं॥
खालिक[3] खलक[4] सहेत मुरीद[5] हि देत है।
परि हां रज्जब रीती ठौर भली भरि लेत है॥२२॥

गुरु[1] के उपदेश[2] में आने से अर्थात् उपदेश मानने से साधारण जीव भी पीर-पैगम्बर हो गये हैं। यह अन्य किसी राणा-राव से भी नहीं हो सकता। गुरु, शिष्य[5] को जगत्[4] की प्रतिष्ठा आदि के सहित जगत् को रचने वाले ईश्वर[3] को भी दे देते हैं और अन्तःकरण रूप स्थान जो खाली रहता है उसे ज्ञानादि से भलो भाँति भर देते हैं।

होत मुरीद[1] निहाल[2] सु मुरशिद[3] मौज[4] तैं।
दुख दारिद्र सु जांहि सत्य मानी सु मैं॥
पीर[5] प्राण प्रतिपाल पियारे पीव[6] के।
परि हां रज्जब कृपा कटाक्ष काज ह्वै जीव के॥२३॥

शिष्य[1] गुरु[3] के विचारों[4] से कृतार्थ[2] हो जाता है। उसके दुःख दारिद्र चले जाते हैं, यह बात मैंने सत्य ही मानी है। गुरु[5] प्राणियों के प्रतिपालक हैं और प्रभु[6] के प्यारे हैं। गुरु के कृपा कटाक्ष से जीव का मुक्ति रूप महान् कार्य पूर्ण हो जाता है।

सु गुरु गरीब निवाज[1] अनाथों नाथ हैं।
निरधारों आधार अकेलों[2] साथ हैं॥
परम पठंगा[3] प्राण पीव[4] का पेखिये[5]।
परि हां या[6] सम और न ओट[7] सु रज्जब देखिये॥२४॥

श्रेष्ठ गुरु गरीबों पर कृपा[1] करते हैं, अनाथों के नाथ हैं, निराधारों के आधार हैं, एकाकी[2] के साथी हैं। प्राणी और प्रभु[4] से उनकी अत्यधिक पहचान[3] देखी[5] जाती है। इन[6] गुरुके समान संसार में अन्य आश्रय[7] नहीं देखा जाता।

नाम निरूपण[1] गुरु नर हु निस्तारना[2]।
माधव मंदिर थान सु साधू बारना[3]॥
पोर[4] पोरि[5] में पैठि[6] मंदिर में आइये।
परि हां रज्जब अज्जब ठौर न इन बिन पाइये॥२५॥

गुरु नाम का व्याख्यान[1] करके नरों का उद्धार[2] करते हैं। भगवान् के मंदिर रूप स्थान के संत ही द्वार[3] हैं। गुरु[4] रूप द्वार[5] में प्रवेश[6] करके प्रभु के मंदिर में आओ। इन गुरु के बिना प्रभु रूप अद्भुत स्थान नहीं प्राप्त होता।

गुरु की दया दयालु सु दर्शन देत हैं।
सुत संतन की बात तात सुन लेत हैं॥
पूरे पीर[1] दलाल सु इहि सौदे[2] सदा।
परि हां रज्जब साधू दूरि तिन हुं पाई बिदा[3]॥२६॥

गुरु की दया से दयालु प्रभु दर्शन देते हैं। संत रूप पुत्रों की बात प्रभु रूप पिता मान लेते हैं। पूरे गुरु[1] दलाल रूप हैं और जीव को इस प्रभु से मिलाने रूप व्यापार[2] में ही सदा लगे रहते हैं। जो संतों से दूर रहते हैं उनने तो प्रभु से दूर गमन[3] करना ही प्राप्त किया है।

मरहि अमर अरि अंग[1] मित्र दल जीव ही।
जामण मरण सु जांहि परम रस पीव ही॥
यहु सब सु गुरु प्रसाद भक्ति भगवंत लौं[2]।
परि हां रज्जब तन धन देहु लेहु जो तोहि गौं[3]॥२७॥

कुलक्षण[1] रूप अमर शत्रु मर जाते हैं, शुभ लक्षण रूप मित्र दल जीवित हो जाता है। जन्म-मरण नष्ट हो जाते हैं, भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है, ब्रह्म चिन्तन रूप परम रस पान तक[2] ये सब श्रेष्ठ गुरु का ही कृपा-प्रसाद है। यदि तुझे आवश्यकता[3] है तो गुरुदेव को अपना तन-धन देकर ये सब ले सकता है।

सुकृत के प्रतिपाल कुकृत को काल हैं।
मार हि द्वन्द्वर शोधि सु दीन दयाल हैं॥
सद् गुरु बिन ये काम जीव के को[1] करै।
परि हां रज्जब मन मंडान फेरि उलटा[2] धरै॥२८॥

गुरुदेव सुकृत के प्रतिपालक हैं, कुकर्मों के लिये कालरूप हैं, द्वन्द्वों को हृदय में से खोजकर नष्ट करते हैं, दीनों पर दया करते हैं और मन के सांसारिक संकल्प-विकल्प रूप मंडान को बदल कर मन को पुनः[2] प्रभु के स्वरूप में धरते हैं। सद्गुरुके बिना जीव के ये कार्य कौन[1] कर सकता है।

गुरु के दान समान न नौ खंड पाइये।
स्वर्ग लोक सब शोधि पातालों जाइये॥
सुर नर सब ही याच न पावे सो धना[1]।
परि हां रज्जब अज्जब मौज[2] सत्य मानी मना॥२९॥

गुरुदेव के ज्ञान-दान के समान दान जम्बू द्वीप की नौ खंड पृथ्वी में कहीं भी नहीं मिलता। स्वर्ग से आदि ऊपर के लोकों को खोज कर पातालों में जावें, देवता, नर आदि सबसे ही याचना करें, तो भी वह ज्ञान-धन[1] तो गुरु के बिना नहीं मिलता। गुरु से अद्भुत आनन्द[2] मिलता है। हे मन ! यह सत्य मान वा हमारे मन ने यह सत्य मान लिया है।

पाये गुरु घर दान दरिद्र सु ना रहैं।
देखैं सृष्टि सु दृष्टि भिखारी हु कहैं।।
एक नाम में आप[1] सकल ले रमि रह्या।
परि हां रज्जब पीर[2] पसाव[3] सोहि प्राणिहुं लह्या।।३०।।

गुरु घर का उपदेश रूप दान प्राप्त करने पर दारिद्र नहीं रहता। सृष्टि में दृष्टि से देख रहे हैं और यह बात भिक्षुक भी कहते हैं। एक प्रभु के नाम में सबको साथ लेकर स्वयं[1] प्रभु रम रहे हैं। वह नाम गुरु[2] की कृपा[3] से ही प्राणियों ने प्राप्त किया है।

गुरु गोविन्द अगाध सु महिमा क्या कहूं।
मन मति शब्द न मांहि अलह[1] गुण क्यों लहूं[2]।।
यहु अपना अनुमान जु बोल बखानिये।
परि हां रज्बब प्रभुता पीर[3] परिमाण[4] न जानिये।।३१।।

गुरु की महिमा गोविन्द से भी अधिक और अगाध है। उसे मैं कैसे कह सकता हूं ? मन, बुद्धि और शब्दों में तो वह है नहीं, जो अप्राप्य[1] हैं उन गुणों को कैसे प्राप्त[2] कर सकता हूं। जो कुछ बोलकर कहा जाता है, यह तो अपना अनुमान है। गुरु[3] की प्रभुता का माप[4] नहीं जाना जा सकता।

युग युग सु गुरु प्रताप शिष्य सांचे बढैं[1]।
पदयूं[2] परि पग धारि अगम ऊंचे चढैं।।
गुरु दादू की दाति[3] रज्जबा है सुखी।
परि हां औरौं भी आनन्द सु जेतें गुरु मुखी।।३२।।

सच्चे शिष्य गुरु के प्रताप से प्रति युग में ही उन्नति[1] को प्राप्त होते हैं। गुरु की बताई हुई पद्धति[2] पर अपना वृत्ति रूप पैर रखकर अगम ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ऊंचे चढते हैं अर्थात् उच्च अवस्था को प्राप्त होते हैं। गुरु दादूजी के ज्ञान-दान[3] से मैं सुखी हुआ हूं और भी जो गुरु मुखी हैं उनको भी आनन्द प्राप्त हुआ है।

अथ उपदेश चेतावनी का अंग २

यहु पूरा[1] उपदेश श्रवण सुन धारिये ।
सौंज[2] शिरोमणि पाय वृथा क्यों डारिये ।।
यहु अवसर यहु बेर[3] न कबहूं पाइये ।
परि हां रज्जब सोच विचार राम गुण गाइये ।।१।।

उपदेश द्वारा हरि-स्मरण के लिये सावधान कर रहे हैं—यही पूर्ण[1] उपदेश है, श्रवणों से सुन कर धारण करो । मनुष्य शरीर रूप शिरोमणि सामग्री[2] प्राप्त करके इसे व्यर्थ विषयों में क्यों पटक रहे हो ? यह मनुष्य शरीर रूप सुअवसर तथा यह आरोग्यता का समय[3] कभी भी नहीं मिलेगा । अतः सोच-विचार के राम गुण-गान करो ।

नर नारायण देह नाम की सीर[1] रे ।
तामें बारं बार कहैं गुरु पीर[2] रे ।।
त्याग अनेक अयान[3] एक उर आनिये ।
परि हां रज्जब रटिये राम समय यह जानिये ।।२।।

नारायण को प्राप्त करने का साधन रूप नर शरीर नाम का उद्गम[1] स्थान है अर्थात् इसी में नाम चिन्तन होता है, उस पर सिद्ध[2] गुरु भी बारंबार नाम-स्मरण के लिये कह रहे हैं । हे अज्ञानी[3] ! अनेकों को त्याग कर एक प्रभु का नाम ही हृदय में लाकर राम का नाम ही रट । उसके रटने का यही समय है यह भी जान ले ।

मनुष्य देह अस्थान[1] जीव कब आय है ।
चौरासी के फेर दुलभ[2] पुनि पाइ है ।।
तकि[3] अवसर तत्काल राम रस पीजिये ।
परि हां रज्जब विसवा बीस विलंब न कीजिये ।।३।।

हे जीव ! मनुष्य शरीर स्थान[1] फिर कब हाथ आयेगा ? चौरासी के चक्कर में जाने पर पुनः इसका प्राप्त करना दुर्लभ[2] है । अतः तत्काल अवसर देख[3] कर बीसों विसवा राम भक्ति रस का पान कर, देर मत कर ।

अकलि[1] सु आतम जोर[2] मनुष्य स्थान रे ।
नर नारायण होत देख दृढ मान रे ।।
चौरासी के माँहि सु बहुते वपु बली ।
परि हां रज्जब तन के तेज न मूर्ति हरि मिली ।।४।।

जीवात्मा में बुद्धि[1]-बल[2] मनुष्य शरीर रूप स्थान में ही अधिक होता है, जिससे नर नारायण को देख सकता है। यह बात दृढ़ता से मानो। चौरासीमें बहुत-से शरीर बली होते हैं किन्तु उनके शरीर के तेज से हरि मूर्ति किसी को भी नहीं मिली है।

इहि[1] काया कल्याण भजन की ठौर है।
चौरासी लख माँहि न ऐसी और है॥
ता में कीजे काम राम रट लीजिये।
परि हां रे रज्जब इहि बेर[2] विलम्ब न कीजिये॥५॥

इस[1] मनुष्य शरीर में ही कल्याण कारी भजन करने का स्थान है। चौरासी लाख योनियों में ऐसा शरीर अन्य नहीं है। इस शरीर में ही राम का नाम रट कर अपना मुक्ति रूप कार्य सिद्ध कर। रे जीव! इस समय[2] देर मत कर।

रज्जब अज्जब[1] सौंज[2] सु सुमिरन लाइये।
नर नारायण रूप सु बहुरि न पाइये॥
काया रतन हु माल रैन दिन गुरु रढै[3]।
परि हां कीजे सोउ उपाय जु यहु गोविंद चढै[4]॥६॥

यह मनुष्य शरीर रूप अद्भुत[1] सामग्री[2] हरि-स्मरण में ही लगाओ। यह नारायण को प्राप्त करने का साधन रूप नर शरीर पुनः सहज ही नहीं मिलेगा। यह काया रत्नों की माला है गुरु जन रात्रि-दिन ऐसा ही कहते[3] हैं। अतः वही साधन करो जिससे यह गोविन्द के समर्पण[4] हो जाय।

विविध भांति की देह उधारी देत हैं।
अवधि पूरि[1] सौं आप आपनी लेत हैं॥
ऐसे जानिर जीव विलम्ब न कीजिये।
परि हां रज्जब रटि जटि[2] राम सु लाहा लीजिये॥७॥

पंच तत्त्व नाना भांति के शरीर उधारे देते हैं और अवधि पूर्ण[1] होने पर आप ही अपने ले लेते हैं। हे जीव! ऐसा जान कर देर मत करे, अपने मन को राम-नाम की रटन द्वारा राम में लगा[2] कर मनुष्य शरीर का लाभ प्राप्त कर ले।

कोडी लगे न कोरि[1] सु सुमिरण राव[2] रे।
ऐसा सौंधा[3] नाम न ले ही बावरे॥
श्वास सुरति[4] का काम राम रट लीजिये।
परि हां रज्जब परम पियूष[5] प्राणि किन[6] पीजिये॥८॥

प्रभु[२] का स्मरण करने में न कोडी लगती है और न रोटी का टुकड़ा[१] लगता है। हे बावरे! ऐसा सस्ता[३] नाम भी नहीं लेता है। इसमें तो श्वास और वृत्ति[४] लगाने का ही काम है। अतः राम का नाम रट ले। अरे प्राणी! हरि-स्मरण रूप परम अमृत[५] क्यों[१] नहीं पीता है?

नाम इसहिं ले जाय उसहिं आने[१] यहीं[२]।
सुमिरण सम न दलाल कष्ट कोई कहीं॥
मेला आतम राम भजन करि होत है।
परि हां रज्जब रटिये राम परचा निज पोत[३] है॥९॥

नाम इस जीव को उन प्रभु के पास ले जाता है और उन प्रभु को इस[२] जीव के पास ले[१] आता है। अन्य तप आदि के कष्ट चाहे कोई भी करे किन्तु स्मरण के समान दलाल कोई नहीं है। भजन से ही आत्मा और राम का मिलन होता है। मनुष्य शरीर में अपना दाँव[३] भी आ पड़ा है। अतः राम का नाम रटना चाहिये।

जप तप संयम दान शीश करवत धरैं।
साधन कष्ट अनेक देह दहणारथ[१] फिरैं[२]॥
प्रकट गुप्त पुनि और नाम बिन कीजिये।
परि हां रज्जब बिन भगवंत कदे नहीं सीझिये[३]॥१०॥

देवादि के लिये जप करे, तप करे, संयम करे, दान करे, शिर पर करवत धरकर चलावे, शरीर को जलाने[१] के लिये अग्नि राशि में कूदे, पृथ्वी की परिक्रमा[२] करे, अन्य भी प्रकट-गुप्त अनेक साधन कष्ट हरि नाम को छोड़ कर सहन करे किन्तु बिना भगवान् के नाम चिन्तन के कभी भी मुक्ति रूप सिद्धावस्था[३] को प्राप्त नहीं होता।

सुकृत सब सुख मूल श्रवण सुन कीजिये।
मनुष्य जन्म की मौज[१] सफल करि लीजिये॥
यहु अवसर यहु बेर[२] बहुरि[३] नहिं पाय है।
परि हां रज्जब बिछुरे देह न हरि गुण गाय है॥११॥

सर्व सुकृतों और सुखों का मूल हरि-भजन है, श्रवणों से सुन कर करो और मनुष्य जन्म का आनन्द[१] प्राप्त करके इसे सफल करो। यह मनुष्य शरीर का अवसर और यह आरोग्यता का समय[२] पुनः[३] नहीं मिलेगा। इस शरीर के वियोग होने पर हरिगुण नहीं गाया जायगा।

इहै[१] सीख सुन लेय न भूलो बावरे।
मनुषा देही मौज[२] न लहिये दाँवरे॥
इहि अवसर इहि देह नाम निज लीजिये।
परि हां रज्जब समझ अचेत[३] विलंब न कीजिये॥१२॥

हे बावरे ! यही[1] शिक्षा है, सुन ले और भूलना नहीं। मनुष्य शरीर के आनन्द[2] प्राप्ति का दाँव फिर नहीं मिलेगा। इसी समय इसी शरीर में निज प्रभु के नाम का वा निज नाम का चिन्तन कर। हे मूर्ख[3] ! इतने में ही समझ जा देर मत कर।

सारे श्वास शरीर सु सुमिरन योग्य रे।
जब लग आये नांहि जरा तन रोग रे॥
रुकैं उभय अस्थान[1] नाम नहिं आव ही।
परि हां रज्जब ऐसे जानि अब हि किन[2] ध्याव[3] हीं॥१३॥४५

जब तक शरीर में वृद्धावस्था और रोग नहीं आवे तब तक शरीर के सभी श्वास हरि-स्मरण के योग्य हैं। जब मुख और श्रवण दोनों स्थान[1] रुक जायंगे तब नाम मुख से नहीं बोला जायगा। ऐसा जानकर अब ही क्यों[2] नहीं हरि का ध्यान[3] करता है।

अथ काल का अंग ३

विनशै पंचों तत्त्व आदमी कौन है।
एक बिना जो और सबनि को गौन[1] है॥
काल कर्म वश नांहि सु मोहि बताय रे।
परि हां रज्जब जंत[2] हु अंत काल पुनि जायरे॥१॥

काल संम्बन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँचों तत्त्व भी नष्ट होंगे फिर मनुष्य तो क्या चीज है ? एक ब्रह्म के बिना जो अन्य है उन सब को ही गमन[1] करना पड़ेगा। काल-कर्म के वश नहीं है सो जीव मुझे बता तो सही अर्थात् सभी काल-कर्म के वश हैं। कोई हो, फिर भी वह जीव[2] अंत में तो काल के मुख में जाये ही गा।

मतै[1] मेदिनी[2] मारि उपाई सृष्टि है।
तब को मृतक रूप सु देखी दृष्टि है॥
मीच हीं लागी मीच न जीवन पाइये।
परि हां रज्जब ऐसो जानि राम गुण गाइये॥२॥४७

पृथ्वी[2] पर मारने का विचार[1] करके ही सृष्टि उत्पन्न की है। सृष्टि उत्पन्न की तब की ही यह मृतक रूप है। यह विचार दृष्टि से हमने देखा है। मृत्यु ही मृत्यु पीछे लगी है, संसार में नित्य जीवन तो प्राप्त होता नहीं है। ऐसा जान कर नित्य जीवन रूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिये राम का ही गुण-गान करना चाहिये।

अथ सुमिरण का अंग ४

सुमिरन सब सुख मूल स्थूल[1] क्यों भूलिये ।
तेज पुंज के होत भजन करि धूलि ये[2] ॥
सीझै[3] हिन्दू तुरक एक निज नाम सौं ।
परि हां रज्जब रटिये राम प्राण की ठांव सौं ॥१॥

हरि स्मरण संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—हरि-स्मरण सब सुखों का मूल है, यह मोटी[1]-सी बात है, इसे क्यों भूलते हो ? जो[2] धूलि के समान तुच्छ शरीर हैं वे भी भजन करने से तेज पुंज के हो जाते हैं, एक निज नाम से ही हिन्दू-मुसलमान दोनों ही मुक्ति रूप सिद्धावस्था[3] को प्राप्त होते हैं । अतः प्राण के उद्गम स्थान से राम का चिन्तन करो ।

सब जग देख्या जोय[1] न सुमिरण सा कछू ।
अमर औषधि येह लेर[2] राखी पछू[3] ॥
रज्जब रोग अपार सु छिन में जाय है ।
परि हां भाग भले तिहि भाल जु रुचि सौं खाय है ॥२॥

सब जगत् को खोज[1] कर देखा है, हरि-स्मरण के समान कुछ भी नहीं । यह अमर करने वाली औषधि है । इसे लेकर[2] पथ्य[3] रखो । इससे जन्म-मरणादि अपार रोग क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं किन्तु जिसके भाग्य अच्छे हैं, वह ही प्रेम-पूर्वक इसे खाता है ।

एक नाम की ओट[1] चोट सारी टर हिं ।
इन्द्रिय अरिदल काल देखि दीरघ[2] डर हिं ॥
सुःख समूह अपार जुगे जुग पाइये ।
परि हां रज्जब रुचि[3] सौं राम रैन दिन गाइये ॥३॥

एक नाम के आश्रय[1] से सभी चोटें टल जाती हैं । इन्द्रिय, कामादि शत्रु दल, काल आदि बड़े[2] बड़े भी हरि-स्मरण से डरते हैं । प्रति युग में अपार सुख राशि प्राप्त होती है । इसलिये प्रेम[3] पूर्वक रात्रि-दिन राम-नाम ही गाओ ।

भय भंजन भगवंत भजे भय भान[1] ही ।
गुण इन्द्रिय कर्म काल निकट नहिं आन[2] ही ॥
टूटै जर[3] जंजाल न जिव जग में परै[4] ।
परि हां रज्जब अज्जब काम जु अब सुमिरन करै ॥४॥

भय भंजन भगवान् भजन करने पर भय को नष्ट[1] कर देते हैं । कामादि गुण, इन्द्रिय, कर्म, काल ये प्रति पक्षी रूप में पास भी नहीं

आते[२]। जगत्-जाल की जड़ टूट जाती है। जीव जगत् में नहीं पड़ता। इसलिये अब हरि-स्मरण करना ही अद्भुत काम है।

सब संतन का धाम[१] राम में देखिये।
अमर अभय पद ठाम[२] जु यही विशेषिये॥
काल कर्म की चोट न सुमिरण में सही[३]।
परि हां रज्जब साधू साखि वेद हू यूं कही॥५॥

स्मरण द्वारा ही सब संतों की वृत्ति का निवास[१] राम में देखा जाता है। अमर अभय पद रूप धाम[२] को भी स्मरण ही विशेष रूप से देता है। स्मरण-साधन में काल-कर्म का आघात तो आता ही नहीं है, यह सत्य[३] है। यही संतों की साक्षी है और वेद ने भी ऐसा ही कहा है।

सु कल्याण आनन्द सुमिर सुख होत है।
दुख दीरघ सब जांहि बहुत ही ओत[१] है॥
कीजे क्यों न अघाय[२] भजन सुन राम का।
परि हां रज्जब क्या गुण कहै सर्व ही काम का॥६॥

हरि-स्मरण कर इससे सुकल्याण, ब्रह्मानन्द और लौकिक सुख भी होता है, बड़े २ दुःख भी नष्ट हो जाते हैं, बड़ी शांति[१] मिलती है। यह सुनकर भी तृप्त[२] होकर राम का भजन क्यों नहीं करता? हरि-स्मरण के गुण मैं क्या २ कहूं सभी काम के हैं।

स्मरण सर्व श्रृंगार सुकृतों देखिये।
तामें फेर न सार सु वीर[१] विशेषिये[२]॥
भाग भले तिंहि भाल भजन भूषण किया।
परि हां रज्जब तिन हु सुहाग सत्य सांई दिया॥७॥

हरि-स्मरण सभी सुकृतों का श्रृंगार है, ऐसा देखा जाता है। हे भाई[१]! यह विशेष[२] रूपसे जान, इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है। यह सार बात है। जिसके भाग्य अच्छे हैं, उसी ने भजन को अपना भूषण बनाया है। उन भजनानन्दी जनों को ही भगवान् ने सच्चा सौभाग्य प्रदान किया है।

छः सौ सहस्र इकीस माल मनियें करै।
हृदय हेत[१] के हाथ रैन दिन सो फिरै॥
यहु योगेश्वर जाप जीव जो जान ही।
परि हां तो रज्जब निज नाह[२] कहो किन[३] मान ही॥८॥

इक्कीस हजार छः सौ श्वास रूप मणियों की माला बनाकर उसे हृदयके प्रेम[१] रूप हाथसे रात्रि-दिन फिरावे। यह योगेश्वरोंका जप है। जो जीव इसे जानकर करता है तो कहो, उसे अपने प्रभु[२] क्यों[३] नहीं मानेंगे?

बाजे नाभि स्थान सु नौबत नाम की।
सो सुनिये सब लोक अवाज[1] सुठाम[2] की॥
देखि कहां की बात कहां लौं जानिये।
परि हां रज्जब छिपे न नाम जु गोप्य[3] बखानिये[4]॥९॥

नाभि स्थान पर जो नाम ध्वनि रूप नौबत बजती है, उस स्थान[2] की वह ध्वनि[1] सभी लोकों में सुनी जाती है अर्थात् उक्त प्रकार भजन करने वाला संत सभी लोकों में प्रकट हो जाता है। देखो, कहां की अर्थात् नाभि स्थान की भजन रूप बात कहां लूं अर्थात् सब लोकों तक जानी जाती है अतः नाम-स्मरण गुप्त[3] रूप से करें तो भी नहीं छिपता है। सभी स्थानों में उसका कथन[4] होता है।

एक नाम के संग नारायण डोल[1] ही।
भजनी[2] को सो भाय[3] बुलाये बोल ही॥
यह सुन कानन[4] बात सु आनन[5] लाइया[6]।
परि हां रज्जब तिन के पास परमगुरु आइया॥१०॥

एक नाम का ही स्मरण करने वाले संत के साथ २ भगवान् फिरते[1] हैं। भजनानन्दी[2] को वे प्रभु ही प्रिय[3] लगते हैं और बुलाने पर बोलते हैं। यह बात श्रवणों[4] से सुनकर जिनने अपने मुख[5] में नाम का आसन लगाया[6] है, उनके पास परम गुरु प्रभु अवश्य आये हैं।

सुकृत रूप शरीर भजन भूषण करै।
सुन्दरि इहि शृंगार सु पिय[1] का मन हरै॥
तन मन साबत[2] राखि रिझाया राम को।
परि हां रज्जब धनि[3] धनि भाग्य करा इस काम को॥११॥

अपने सुकृत रूप शरीर पर भजन रूप भूषण सजाती है, तो वह संत-सुन्दरी इस शृंगार से अपने प्रिय[1] प्रभु का मन हर लेती है। जिसने संयम द्वारा अपने तन-मन को ठीक[2] रख कर स्मरण से राम को प्रसन्न किया है, उस काम को करने वाले संत का भाग्य धन्य[3] है धन्य है।

जिव को नाम जहाज सु करता ने करचा।
विषम[1] समुद्र शरीर सु ताके शिर धरचा॥
चढैं सु प्राणी पार शून्यपुर[2] जाय हैं।
परि हां रज्जब अज्जब दर्श जुगे जुग पाय हैं॥१२॥

जीव के लिये नाम रूप जहाज सृष्टिकर्त्ता प्रभु ने रचकर जो दुस्तर[1] शरीर रूप समुद्र है उसके शिर पर धरा है। जो प्राणी इस पर चढ़ता

है अर्थात् नाम चिन्तन करता है, वह शरीराध्यास रूप जल से पार होकर ब्रह्मपुर[२] में जाता है और ब्रह्म का अद्‌भुत् दर्शन प्रतियुग में करता है।

सुमिरण करे सु संत सही[१] सुख पाय है ।
मन वच कर्म त्रिशुद्ध जु हरि गुण गाय है ।।
यहु आनन्द अस्थान[२] सु मंगल जीव का ।
परि हां रज्जब लीजे नाम रैन दिन पीव का ।।१३।।

जो संत हरि-स्मरण करता है वह यथार्थ[१] सुख को प्राप्त करता है। मन, वचन, कर्म, तीनों को शुद्ध रखकर जो हरिगुण गाता है तो उस जीव के लिये यह हरि-स्मरण आनन्द-मंगलका स्थान[२] बन जाता है। इस लिये दिन-रात प्रभु का नाम चिन्तन करो ।

करी[१] आतमा राम देखिये कहि[२] ररं[३] ।
अलिफ[४] लागि अल्लाह सु पीर पैगम्बरं ।।
नमो नमो निज नाम सु महिमा को लहै ।
परि हां रज्जब अल्प सुबुद्धि एक मुख क्या कहै ।।१४।।

जीव के लिये राम ने राम मंत्र का बीज "रां"[३] का स्मरण[२] रूप उपाय अपने साक्षात्कार के लिये रचा[१] है। अतः स्मरण के द्वारा राम को देखो। एक[४] अल्लाह नाम के स्मरण में लग कर ही पीर पैगम्बर बने हैं। निज नाम को बारंबार नमस्कार है। उसकी महिमा का पार कौन पा सकता है ? फिर मेरी तो अल्प बुद्धि है और एक मुख है, मैं कह ही क्या सकता हूं ।

निष्फल कदे[१] न जाय सु तरु वर नाम का ।
नेह नीर सौं सींच निरंतर ठाम[२] का ।।
युक्ति यत्न करि राखि बाड़ बैन[३] हु करी ।
परि हां रज्जब फल हरि दर्श आँखि ओडी[४] भरी ।१५।।।६२

नाम रूप वृक्ष कभी[१] भी निष्फल नहीं जाता है। प्रेम-रूप जल से निरंतर इसके चिन्तन रूप आलबाल[२] को सींचते रहो। स्मरण भक्ति को बढाने वाले वचनों[३] की बाड़ करके युक्ति-यत्न से रक्खो, फिर तो हरि-दर्शन रूप फलों से अपनी नेत्र रूप टोकरी[४] भरी ही देखोगे ।

अथ दया का अंग ५

यही दया सुन सत्य[१] सु जीव न मारिये ।
मन वच कर्म त्रिशुद्ध पिशुनता[२] टारिये ।।
सब सुकृत तिन कीन्ह महर[३] मनसा[४] धरी ।
परि हां रज्जब रीझे राम रही क्या अन[५] करी ।।१।।

दया संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं–यही सच्ची[1] दया है, जीव को नहीं मारो, यह सुन कर मन, वचन, कर्म तीनों को शुद्ध करके दुष्टता[2] को हृदय से दूर हटाओ। जिनने बुद्धि[4] में दया[3] धारण कर ली है, उनने सभी सुकृत कर लिये हैं। जब राम दया से प्रसन्न हो जाते हैं तब बिना[5] किया क्या रह जाता है?

जो न जिलाया जाय सु जीव न मारिये।
शिर साटे शिर लेय सु क्यों न विचारिये॥
लेखा लेय खुदाय ज्वाब क्या दीजिये।
परि हां पीछे भारी होय सु पहल[1] न कीजिये॥२॥

यदि जीवित नहीं किया जाय तो जीव को मारो भी नहीं। जिसका शिर काटोगे, वह भी बदले में तुम्हारा शिर लेगा, यह क्यों नहीं विचारते हो? खुदा जब हिसाब लेगा तब क्या जवाब दोगे? पीछे यह बात बहुत भारी हो जायगी, इससे पहले[1] जीव-हिंसा करो ही नहीं तो अच्छा है।

ऐसी सोच विचार मांस क्यों खाइये।
हांसे[1] टले सु नांहि अंत दुख पाइये॥
रज्जब बणिज[2] विकार न कब हूं कीजिये।
परि हां आपा[3] पर[4] सम देखि दया दिल लीजिये॥३॥

ऐसी स्थिति को सोच-विचार करके भी मांस क्यों खाते हो? इस हिंसा का पाप हाँसी[1] से नहीं टलेगा, अंत में अवश्य दुःख पाओगे। माँस की बिक्री[2] भी विकार रूप है। अतः कभी नहीं करना चाहिये, दया हृदय में धारण करके अपने[3] और पराये[4] को समान देखो।

दया परै[1] नहिं धर्म न सुकृत देखिये।
महर[2] मया[3] महि[4] मांहि परम निधि पेखिये[5]॥
या सम और न अंग[6] साखि[7] सारे कहैं।
परि हां भाग भले तिहिं भाल जीव जो यहु लहैं॥४॥

दया से अधिक[1] धर्म और सुकृत नहीं देखा जाता, पृथ्वी[4] में दया[2] कृपा[3] ही परम निधि देखी[5] जाती है। इस दया के समान प्रिय[6] गुण और नहीं है। यह साक्षी[7] सभी देते हैं। जो जीव इसे प्राप्त करता है, उसके भाग्य अच्छे ही होते हैं।

सकल भले का मूल दया में देखिये।
धर्म दान पुनि[1] पेड़[2] तिहीं में पेखिये[3]॥
सुखदाई दुख दमन[4] मांड[5] में है मया[6]।
परि हां रज्जब अज्जब काम सु दिल लीजे दया॥५॥

संपूर्ण भलाई की जड़ दया में देखी जाती है। धर्म, दान, पुण्य[१] रूप वृक्ष[२] भी उसी दया में देखे[३] जाते हैं। ब्रह्माण्ड[५] में दया[६] ही दुःख नाशक[४] और सुख दाता है, यह दया धारण करना रूप कार्य अद्‌भुत् है। अतः दया धारण करो।

बड़े दिलन की दया बहुत सुख पाव हीं।
सो[१] सहस्रगुण होय तहां फिर आव[२] हीं॥
तामें फेर न सार मया मन कीजिये।
परि हां रज्जब सो[३] ब[४] न होय दोष मोहि दीजिये॥६॥

बड़े पुरुषों की दया से बहुत प्राणी सुख प्राप्त करते हैं। वह[१] उनकी दया से होने वाला सुख सहस्र गुणा होकर पुनः दयालुको प्राप्त[२] होता है। इसमें परिवर्तन को अवकाश नहीं है, यह सार बात है। अतः मन में दया धारण करो। ऊपर बताया है वह[३] लाभ यदि अब[४] नहीं हो तो मुझे मिथ्या कथन का दोष लगा सकते हो।

कोटि भांति कल्याण दया दरशाव हीं।
उनकी मया[१] मनुष्य और सुख पाव हीं॥
हुये हमा सौं ऐन[२] आतमा इहि मती[३]।
परि हां रज्जब उनकी छांह जु निपजै[४] नरपती॥७॥

जिनकी दया कोटि भाँति से प्राणियों के लिये कल्याण ही प्रदर्शित करती है, उन दयालु जनों की दया से अन्य मनुष्य सुख ही पाते हैं। इस दयालु बुद्धि[३] वाले आत्मा यथार्थ[२] में जिसकी छाया पड़ने पर भी नर नरपति बन[४] जाता है, उस हमा पक्षी से ही नर हुये हैं, ऐसा ही ज्ञान होता है।

दया धर्म की बात गात जिहि जानिये।
ता में दीन दयाल सत्य करि मानिये॥
सब सुकृत तिहि ठौर भलाई भास ही।
परि हां रज्जब महर[१] सु मांझ[२] आप[३] परकाश ही॥८॥

दया रूप धर्म की बात जिसके शरीर में जानी जाती है अर्थात् होती है, उसमें दीन दयालु प्रभु विशेष रूप से स्थित रहते हैं। यह सत्य ही मानो। सभी सुकृत और भलाई उसी के स्थान में दिखाई देती हैं। दयालु[१] के हृदय में[२] स्वयं[३] प्रभु भी प्रकट होते हैं।

दया रूप दिल होय तो ये कारज करै।
निर्वैरी सब जीव न सो मारे मरै॥
काहू धका न देय न सो फिर पाव[१] ही।
परि हां रज्जब जग जगदीश सबन को भाव[२] ही॥९॥

यदि दया का स्वरूप जिसके हृदय में होता है, तो वह ये कार्य करता है–सब जीवों से निर्वैरी रहता है। न वह मारता है, न किसी से मरता है, किसी को भी धक्का नहीं देता है न वह फिर किसी से धक्का खाता[1] है और जगत् तथा जगदीश्वर सबको ही प्रिय[2] होता है।

दया दृढावै धर्म दुष्टता दिल हरै।
उर गिरि वज्र विशेष कठिन कोमल करै॥
आपा[1] पर सम एक आतमा जान ही।
परि हां उपजै है परमार्थ पीर[2] पर भान[3] ही॥१०॥

दया धर्म को दृढ़ करती है, दुष्टता को हृदय से हटाती है, जो हृदय पर्वत के पत्थर तथा वज्र के समान विशेष कठोर होता है उसे भी कोमल बनाती है। अपने[1] और पराये को समान दिखाती है तथा सबमें एक आत्मा का ज्ञान कराती है। दयालु के हृदय में परमार्थ की ही बात उत्पन्न होती है। वह दूसरों के दुःखों[2] को नष्ट[3] करता रहता है।

वैरागर[1] की खानि महर[2] की है मही[3]।
सुकृत सुयश अनन्त सु नग निपजै सही[4]॥
यहां भरै भण्डार सु आगे संबला[5]।
परि हां रज्जब या उपरान्त[6] कहो क्या है भला[7]॥११॥७३॥

दया[2] की पृथ्वी[3] हीरों[1] की खानि है। इसमें सुकृत, सुयश आदि अनन्त नग उत्पन्न होते हैं, यह सत्य[4] है। दयालु यहाँ भी उक्त नगों से अपना भण्डार भरता है अर्थात् सुकृतादि प्राप्त करता है और आगे परमार्थ मार्ग का खर्च[5] भी तयार करता है। फिर कहो, इस दया से अधिक[6] अच्छा[7] क्या है ?

अथ विरह का अंग ६

सुखी सकल संसार विरहनी दुख भरी।
वाम[1] मिलत वर[2] वारि[3] अमिल अगनी[4] जरी॥
चौरासी चित चैन[5] सु मुंह आगे मुदा[6]।
परि हां रज्जब चाहै राम दुखी दीरघ जुदा[7]॥१॥

विरह संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं––सब संसार के प्राणी सुखी हैं, किंतु वियोगिनी दुःखों से भरी रहती है। वियोगिनी नारी[1] का स्वामी[2] मिलता है तब तो मानो प्यास से संतप्त को जल[3] मिल जाय ऐसा भान होता है और वियोग होता है तब मानो अग्नि[4] से जल रही हो ऐसा ज्ञात होता है। चौरासी लाख योनियों के प्राणियों के चित्त को प्रसन्नता[5] रहती है, कारण–उनकी प्रसन्नता[6] के साधन उनके मुख आगे रहते हैं किन्तु

वियोगिनी संत-सुन्दरी तो राम को चाहती है और वे अलग[६] हैं इससे उसे महान् दुःख रहता है।

विरह व्यथा तन पीर[१] धीर किंहि विधि धरै।
ज्यों मोती मधि[२] थाल तन हि मन यूं फिरै॥
दर्शन बिन बेहाल[३] वियोगिनी बावरी।
परि हां रज्जब कृपा कटाक्ष कब[४] हि ह्वै रावरी[५]॥२॥

विरह-व्यथा की पीड़ा[१] शरीर में रहती है, अतः धैर्य किस प्रकार किया जाय? जैसे थाल में[२] मोती फिरता रहता है वैसे ही वियोगिनी के तन-मन फिरते हैं। प्रभु दर्शन के बिना वियोगिनी की दशा[३]-बिगड़ जाती है, वह पागल-सी रहती है। किंतु फिर भी प्रतिक्षा करती रहती है कि—मेरे प्रभु[५] का कृपा कटाक्ष कभी[४] तो मुझ पर होगा ही।

शक्ति सुःख शशि सीर सुधा रस वर्ष हीं।
पीवत प्राणि पियूष सबै मन हर्ष हीं॥
मो मन बाजि विशेष विरह वपु चांदियां।
परि हां रज्जब रस विष होय उभय सुख बाँदियां॥३॥

यह अरिल, साखी भाग के विरह अंग १० में आ गई है। इसका अर्थ वहाँ देखें। यहां चतुर्थ पाद में "उभय सुख बांदियाँ" है, वहाँ सुख के स्थान में "मुख" है। इतना ही भेद है। अर्थ—दोनों को बाँधने से सुख होता है—यह है।

दुख यहु निज तन जाय दुखित मन वश नहीं।
दौरैं दिशि दीदार[१] न दीसै सो कहीं।
यह पीड़ा सु प्रचंड जीव जरता[२] रहै।
परि हां रज्जब विविध वियोग कहो का सौं कहै॥४॥

विरह का बड़ा दुःख है, इससे तो अपना शरीर चला जायगा, दुखित मन भी वश में नहीं रहता है। उन प्रभु के दर्शनों[१] के लिये दिशाओं में दौड़ते हैं, तो भी वे कहीं भी नहीं दिखाई देते। यह विरह की प्रचंड पीड़ा है, इससे जीवात्मा जलता[२] ही रहता है। वियोग जन्य नाना दुःख हैं, कहो ये किससे कहें।

विरहनि व्यथा विछोह[१] दर्श दारू[२] रटै।
मान हु रोगी रोग औषधी सौं कटै॥
ज्यों नर बूड़त[३] नीर सु नाव चढ़ाइये।
परि हां रज्जब के ये हाल हेरि[४] हरि आइये॥५॥७८॥

विरहनी वियोग[1]-व्यथा की निवृत्ति के लिये हरि-दर्शन रूप औषधि[2] को रट रही है। जैसे रोगी का रोग औषधि से कटता है, वैसे ही वियोगिनी की व्यथा दर्शन से कटती है। जैसे जल में डूबते[3] हुये नर को नाव पर चढाया जाता है, वैसे ही मेरी दशा देखकर[4] हे हरे! आप शीघ्र पधार कर मुझे दर्शन दें।

अथ चाणक का अंग ७

मुख हिं प्रकाशै[1] और मध्य मन और है।
यहु पूरण सु प्रपंच साँच किहिं ठौर है॥
दगाबाज ठग ऐन[2] सु देखि न धीजिये[3]।
परि हां रज्जब तिन का संग कदे[4] नहिं कीजिये॥१॥

सत्य और चुभते वचन कह रहे हैं—जो मुख से कुछ अन्य कहता[1] है और मन में कुछ अन्य रखता है, वह पूर्ण प्रपंची है उसमें सत्य किस स्थान पर है? ऐसा मनुष्य सच्चा[2] ठग है, ऐसे को देख कर कभी भी उस पर विश्वास[3] नहीं करना चाहिये और जो ऐसे हों उनका संग भी कभी[4] नहीं करना चाहिये।

शिष्य न होई आप शिष्य औरन करै।
यहु पूरण सु प्रपंच ठगारन सौं परै[1]॥
पूजत बहु दुख होय पुजाये सौं सुखी।
परि हां रज्जब कही विचार सु निगुरा मन मुखी॥२॥८०

आप तो शिष्य नहीं बनता और दूसरों को शिष्य बनाता है। यह पूर्ण प्रपंच है, ऐसे मनुष्य ठगों से भी अधिक[1] हैं। गुरुजनों को पूजते तो जिसे बहुत दुःख होता है और अपने को पुजाकर सुखी होता है तो ऐसा मनुष्य निगुरा और मनमुखी है। यह हमने विचार करके ही कहा है।

अथ ज्ञान कसौटी का अंग ८

अगणित कष्ट अनेक अज्ञान न कीजिये।
नाम बिना नहिं ठाम[1] छलावै[2] छीजिये[3]॥
मृग तृष्णा का नीर सु मरकट आगि रे।
परि हाँ रज्जब रीझो[4] साँच झूठ दे त्यागि रे॥१॥

अज्ञान दशा के कष्टों संबन्धी विचार कर रहे हैं—अज्ञानावस्था में अनेक प्रकार के अगणित कष्ट होते हैं, उन्हें अपने हाथों ही खड़े नहीं करना चाहिये। नाम चिन्तन बिना ब्रह्मरूप धाम[1] नहीं प्राप्त होता। अन्य सब इन्द्रजाल[2] वत हैं उनमें व्यर्थ ही नष्ट[3] होना है। यह सब संसार

मृग तृष्णा के जल तथा वानर की मानी हुई चिरमी रूप अग्नि के समान मिथ्या है। अतः मिथ्या को त्याग कर सत्य प्रभु के चिंतन से ही प्रसन्न[४] होना चाहिये।

अज्ञानी कसि[१] देह न मन को मारि हैं।
ज्यों संकट मधि सर्प विषहि अधिकार[२] हैं॥
तैसे शठ[३] हठ देखि न कब हूं लीजिये।
परि हां रज्जब परखो[४] प्राणि प्रपंच न धीजिये[५] ॥२॥८२॥

अज्ञानी प्राणी शरीर को कष्ट[१] देते हैं, मन को नहीं मारते। जैसे संकट में पड़ने पर क्रोध से सर्प में विष अधिक[२] हो जाता है, वैसे ही शरीर को कष्ट देने से मन में विक्षेपादि विकार बढ़ जाते हैं। मूर्ख[३] के हठ को देखकर वैसे ही कष्ट कभी मोल नहीं लेना चाहिये। प्राणी की परीक्षा[४] करो वह क्यों कष्ट पाता है? अवश्य उसमें कोई साँसारिक वासना होगी। अतः प्रपंच में विश्वास[५] नहीं करना चाहिये।

अथ विनती का अंग ९

धरे[१] अधर[२] का सुख सु दान दीवान[३] का।
दीया लीया[५] जाय सु पिंड हि प्राण का॥
बहु विधि विघ्न वियोग सु काया हंस[४] के।
परि हां ते सब तुम तें जाय तुम्हारे अंश के ॥१॥८३

प्रभु से विनय कर रहे हैं—मायिक[१] सुख तथा ब्रह्म[२] सुख दोनों ही आप परमेश्वर[३] का वरदान हैं, प्राण-पिंड का सुख आप ही का दिया हुआ है और आप ही प्राण-पिंड का दुःख हरते[५] हैं, जीव और काया के वियोग के हेतु बहुत प्रकार के विघ्न हैं किन्तु आपके अंश जीव[४] के वे सब आपकी कृपा से नष्ट हो जाते हैं। अतः आप मुझ पर कृपा करें।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अरिल ग्रन्थ २ समाप्तः।

अथ बावनी ग्रन्थ ३

बावन अक्षर बहु विस्तार, अक्षर सहित सु विनशन हार।
निरक्षर[१] सो इनमें नांहि, रे मन समझ तहां चलि जांहि ॥१॥

अक्षरों के व्याज से उपदेश कर रहे हैं—बावन अक्षरों का गुणादि रूप बहुत सा विस्तार है किंतु अक्षरों के सहित वह सब नाश होने वाला है। अक्षरों-से-रहित[१] ब्रह्म है सो इन अक्षरों में नहीं मिलता है। अरे मन! इन अक्षरों के द्वारा उसे समझ कर साधक उस ब्रह्म स्वरूप में जाते हैं।

ओंकार आदि दे माया, ता में तीनों लोक उपाया।
उपाये में उपज्या सोय, जिस घट[1] ध्यान धणी[2] का होय ॥२॥

ओंकार से आदि सभी माया है, उस माया में से ही तीनों लोकों की उत्पत्ति होती है। माया से उत्पन्न हुये संसार में वही श्रेष्ठ उत्पन्न हुआ माना जाता है, जिसके हृदय[1] में निरंतर प्रभु[2] का ध्यान होता रहता है।

कक्का केवल पकड़हु बाट, कर करवत ले कर्म हिं काट।
काले सौं उज्वल यूं होय, विविध विकार ध्यान सौं धोय ॥३॥

ककार शिक्षा देता है कि—केवल एक प्रभु का ही मार्ग पकड़ो, ज्ञान रूप करवत बुद्धि रूप हाथ में लेकर कर्मों को काटो, नाना प्रकार के विकारों को ध्यान-जल से धोओ। इस प्रकार ही पाप रूप कालिमा उतर कर अंत:करण उज्वल होता है।

खख्खा खाली[1] खेस[2] हु खेल[3], खलक[4] हिं छाड़ि खसम[5] सौं मेल[6]।
खैंचि खुली[7] खट[8] खोहणि[9] खाहू[10], खारे समुद्र भूल मत जाहूं ॥४॥

खकार, शिक्षा देता है—केवल[1] मोटे-वस्त्र[2] धारण करके विचर[3], संसार[4]-राग को त्याग, प्रभु[5] से प्रेम[6] कर, पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये छ:[8] स्वतंत्र[7] छ: अक्षौहणियों[9] के समान उपद्रव करते हैं। इन्हें विषयों से खेंच कर जीत[10], संसार रूप क्षार समुद्र के विषय जल में भूल कर मत जा।

गग्गा गर्व गुस्सा गुण गालि[1], गहो गरीबी[2] गुरु मुख चाल।
तो गरजै गगन गहरि[3] ध्वनि होय, मरि मैदान मारिले गोय[4] ॥५॥

गकार, शिक्षा देता है—गर्व, क्रोध और दुर्गुणों को नष्ट[1] करो, दीनता[2] को धारण करो, गुरु के बताये हुये मार्ग में चलो, ऐसा करोगे तो, जैसे आकाश में बादल गर्जते हैं वैसे ही अनाहत् रूप महान्[3] ध्वनि तुम्हारे शरीर में होने लगेगी। इस प्रकार योग संग्राम के मैदान में अपने को जीवित-मृतक करता है, वह अपनी इन्द्रियों[4] को मार लेता है।

घघ्घा घर ही में घर बात, घर के घेरि बड़ी यहु घात[1]।
घूघू[2] ह्वै घोलो[3] मत नैन, सांई सूरज ऊगा[4] ऐन[5] ॥६॥

घकार शिक्षा देता है—घर की अर्थात् मन इन्द्रियों की अनुचित भावना रूप बात घर में ही रक्खो, और इस दोष को नष्ट करने के लिये घर के अर्थात् मन इन्द्रियों को ही घेर कर मारो यही बड़ी मार[1] है। उल्लू[2] बन कर अपने ज्ञान-नेत्रों को मींचो[3] मत, सत्य[5] प्रभु रूप सूर्य साक्षात् उदय[4] हो रहे हैं उन्हें देखो।

ङङ्ङा नीड़ा[1] निर्मल नूर[2], सो निधि निरख जाहु मत दूर।
नमो नमो निज निर्मल देव, निशि वासर कर ताकी सेव ॥७॥

ङकार, शिक्षा देता है—प्रभु का निर्मल स्वरूप[1] तेरे पास[1] ही है, उस प्रभु रूप निधि को देख, उसे देखने के लिये दूर मत जा, अपने निर्मल देव को बारं बार नमस्कार करते हुये रात्रि-दिन उनकी सेवा-भक्ति कर।

चच्चा चित चिन्तामणि राख, चंचल ह्वै दीजे नहिं नाख[1]।
चंद चरण करि नैन चकोर, चेतन[2] ह्वै चाहो[3] वहिं[4] ओर ॥८॥

चकार, शिक्षा देता है—अपने चित्त में प्रभु रूप चिन्तामणि निरंतर रक्खो, चंचल होकर प्रभु-चिन्तामणि को चित्त से मत पटको[1], प्रभु के चरण रूप चन्द्रमा पर अपने नेत्रों को चकोर बनाओ अर्थात् निरंतर चरणों का ध्यान रक्खो, सावधान[2] होकर उन[4] प्रभु की ओर जाने की ही इच्छा[3] करो।

छछ्छा छोड हु छोटी[1] बाण[2], लेहु कहा सुन छार[3] हि छाण।
छडि[4] छडि छंटि[5] करहु छः छीन[6], छल बल छेदै द्वन्द्वर दीन[7] ॥९॥

छकार, शिक्षा देता है—तुच्छ[1] स्वभाव[2] को छोड़ो, राख[3] वा धूलि को छाणकर क्या लोगे? बुरे स्वभावों को छोड़[4] २ कर अपने को बुराई से अलग छांट[5] लो, फिर पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन इन छः को क्षीण[6] करो, इनके छल-बल कट जाने पर द्वंद्व भी निर्बल[7] हो जांयगे।

जज्जा जग जीवन जस गाय, ज्यों[1] जोख्यों[2] जुग जुग की जाय।
जानि बूझ[3] तज जग व्यवहार, निशि वासर जप जै जं कार ॥१०॥

जकार, शिक्षा देता है—जग जीवन प्रभु का यशगान करो, जिससे[1] प्रति युग के कर्मों का कष्ट[2] नष्ट हो जाय। जगत् के व्यवहार को दुःखद जानकर विचार[3] पूर्वक त्यागो और रात्रि-दिन प्रभु का नाम जपो, इससे तुम्हारे जै जैकार हो जायगा।

झझ्झा झटपट[1] कीजे काम, झूठ झाड़ि[2] झुकि[3] झुकि भज राम।
झांथे[4] पड़ि[5] झोले मत खाहूं, झूरि[6] झूरि पिव[7] को मिल जाहू ॥११

झकार, शिक्षा देता है—अपना मुक्ति रूप कार्य शीघ्रातिशीघ्र[1] करो, झूठ को छोडकर[2] बारं बार संतों को शिर नमाते[3] हुये राम का भजन करो, वहिर्मुखता में ही मत झोले खाओ, अन्तर[4]-मुखता में आओ,[5] प्रभु-वियोग से बारंबार दुःखी[6] होकर प्रभु[7] से मिलो।

ञञ्ञा नर नारायण अवतार, निर्गुण सुमिरण लाव हु[1] बार[2]।
नै[3] नीचा ह्वै नाखो[4] दोय[5], निरखि निरंतर न्यारा[6] होय ॥१२

ञकार, शिक्षा देता है—नर, नारायण का ही अंशावतार है, इसलिये सब समय[2] निर्गुण ब्रह्म के स्मरण में ही लगाओ[1]। नम्रता[3] से नीचे

होकर द्वैतभाव[४] को पटको[५] और निरंतर अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कात करते हुये मायिक संसार से अलग[६] हो जाओ ।

टट्टा टूटी जोड़ऊ संधि, टूक टूक ले[१] उनमनि[२] बंधि[३] ।
इकटक[४] अटल[५] रहो दरबार, टोलाटाली[६] फेर न सार ॥१३॥

टकार, शिक्षा देता है—जीव ब्रह्म की टूटी हुई संधि को जोड़ो, बुद्धि वृत्ति, मनोवृत्ति, आदि टुकड़ों को संसार से ऊंचे लेकर[१] समाधि[२]में बांधो[३], समाधि रूप दरबार में टकटकी[४] लगाकर अचल[५] ब्रह्म को देखो, टाल-टूल[६] करने से फेर पड़ता है, सार तत्त्व हाथ नहीं लगता ।

ठठ्ठा ठिक[१] ठाहर[२] ले शोधि, ठोकि[३]-ठाकि पंचों सु प्रबोधि[४] ।
ठंठणपाल[५] होय मत रहै, ठाली[६] ठोठ[७] मन मुखी बहै[८] ॥१४॥

ठकार, शिक्षा देता है—अपने यथार्थ[१] स्थान[२] को खोज ले, संयम द्वारा मार[३]-पीट करके पंचों ज्ञानेन्द्रियों को उपदेश[४] कर, ठूंठ[५] होकर मत रह, मनमुखी मूर्ख[७] ही बेकार[६] फिरते[८] हैं ।

डड्डा डिढ[१] डोरी उर राखि, डग-मग[२] डिंभ[३] डील[४] सौं नाखि[५] ।
डिगे डंड[६] दीजे दरबार, अडिग अडोल[७] सु उतरै पार ॥१५॥

डकार, शिक्षा देता है–प्रभु-प्रेम रूप डोरी हृदय में दृढ़[१] रख, इधर[२]-उधर होने वाले दंभ[३] को, शरीर[४] से पटक[५], सन्मार्ग से डिगने वाले को प्रभु के दरबार में दंड[६] दिया जाता है, सन्मार्ग में अडिग रहता है और प्रभु में वृत्ति स्थिर[७] रखता है, वह संसार से पार उतर जाता है ।

ढढ्ढा ढांढे[१] की मति त्याग, ढूकि[२] ढूकि हरि सेती[३] लाग ।
ढहि[४] ढांहै तोड़हि मत पाव, ढाढस[५] करि गोविंद गुण गाव ॥१६॥

ढकार, शिक्षा देता है—पशु[१] की बुद्धि को त्याग, सत्संग में जा[२]-जाकर हरि के चिन्तन में[३] लग, टूटने[४] वाले विषय-सरिता के संकल्प रूप ढाहों में वृत्ति रूप पैर मत तोड़, दृढ़ता[५] से गोविन्द के गुणों का गान कर ।

णण्णा रिण जूना[१] सब धोय[२], चरण रेणु[३] हरिजी की होय ।
रैणाइर[४] रस के में न्हाहु, ऐसे रंक राणा ह्वै जाहु ॥१७॥

णकार, शिक्षा देता है—प्रभु का पुराणा[१] ऋण उतार,[२] हरि की चरण-रज[३] हो, सर्व रसों के समुद्र[४] प्रभु के स्वरूप में वृत्ति द्वारा गोता लगाकर, स्नान कर, ऐसा करके तू रंक से महाराणा हो जा ।

तत्ता त्रिगुण तिरो तत्काल, तकि[१] अवसर तीखी[२] गति चाल ।
ताय[३] तत्त्व तस्कर[४] तन त्रास, त्राहि त्राहि करि तामस ग्रास ॥१८॥

तकार, शिक्षा देता है—तत्काल त्रिगुण मय संसार को पार करो, समय देख[1]-कर तीव्र[2] गति से चलो, प्रभो ! रक्षा करो, रक्षा करो, इस प्रकार प्रार्थना करके तामसता को नष्ट करो, शरीर को त्रास देने वाले कामादि चोरों[4] को तत्त्व ज्ञान रूप अग्नि से तपा[3]-कर जलाओ ।

थथ्था थिर[1] क्यों थोड़ी बेरि[2], थान थिति[3] ले[4] आतुर[5] हेरि[6] ।
थरसलि[7] थूल[8] न थोथी[9] थाप, थकित[10] होय बैठो मति बाप[11] ॥१९॥

थकार, शिक्षा देता है—तू थोड़ी देर[2] ही स्थिर[1] क्यों रहता है ? शीघ्रता[5] से स्थिरता से प्रभु रूप स्थिर[3] स्थान खोज[6] करके प्राप्त[4] करले, काँपने[7] वाले स्थूल[8] शरीर की व्यर्थ[9] स्थिरता ही स्थापन न कर, परमपिता[11] प्रभु के स्वरूप में बुद्धि को ठहराकर[10] बैठ ।

दद्दा दूजी दशा[2] न देखि, दैत्यन दग्ध राखि रज[3] रेखि[4] ।
दायम[5] दिल में देखो नूर[6], दीन दयाल रहे भरपूर[7] ॥२०॥

दकार, शिक्षा देता है—कायरता रूप दूसरी[1] अवस्था[2] की ओर मत देखो, कामादि दैत्यों को ज्ञानाग्नि से जला कर रजपूती[3] अर्थात् साधक-शूरता की टेक[4] रक्खो, सदा[5] हृदय में प्रभु के स्वरूप[6] को देखो, वे दीन दयालु हृदय में परिपूर्ण[7] रूप से रहते हैं ।

धध्धा धनि[1] धनि धरिये ध्यान, धुकि[2] धुकि लेहु सु गुरु का ज्ञान ।
धर धीरज ध्वनि धर्म हि साध[3], या[4] पर[5] और नहीं कछु बाध[6] ॥२१॥

धकार, शिक्षा देता है—बारंबार धन्यवाद[1] देने योग्य प्रभु का ध्यान करो, बारंबार गुरु के चरणों में झुक[2]-झुक कर प्रणाम करते हुये गुरु का ज्ञान प्राप्त करो, धैर्य धारण करके अनाहत् ध्वनि को सुनो, भागवत् धर्म का साधन[3] करो, इस[4] से[5] अन्य बढ़[6] कर कुछ भी नहीं है ।

नन्ना नीका[1] है निज नाउं, नित नौबत बाजै बलि जाउं ।
नाशै पातक निकसै[2] तेज, नारी[3] नाह[4] अमोलक हेज[5] ॥२२॥

नकार, शिक्षा देता है—स्मरण के लिये निज नाम श्रेष्ठ[1] है, नाभि स्थान पर निज नाम उच्चारण रूप नौबत नित्य बजती है, उसकी हम बलिहारी जाते हैं । निज नाम-साधना से पाप नष्ट होकर ब्रह्म तेज प्रकट[2] होता है तथा साधक-सुंदरी[3] और प्रभु रूप पति[4] का अमूल्य प्रेम[5] होता है ।

पप्पा पीव[1] पुरातन जान, प्रेम प्रीति पूरी उर ठान[2] ।
परमेश्वर का लहिये पास[3], पाप पुंज[4] पल में ह्वै नाश ॥२३॥

पकार, शिक्षा देता है—पुरातन प्रभु[1] को जानो, हृदय में संतों से प्रेम और प्रभु से प्रीति करो[2], परमेश्वर की समीपता[3] प्राप्त करो, ऐसा करने से तुम्हारी पाप-राशि[4] क्षण भर में नष्ट हो जायगी।

फफ्फा फहम[1] फकीरी लेहु, फिर फूटे[2] जग मन मत देहु[3]।
फोकट[4] फक्कट[5] दीजे त्याग, फारिग[6] ह्वै फारिग सौं लाग ॥२४॥

फकार, शिक्षा देता है—ज्ञान[1] की फकीरी लो और फिर विनाशी[2] जगत् में मन को मत लगाओ[3], निःसार[4] पत्थरों[5] को त्यागो, निश्चिंत[6] होकर निश्चिंत प्रभु के भजन में लगो।

बब्बा विरचहु[1] विषय विकार, बोध विमल बुधि[2] अंतर धार।
बैन विश्वंभर बारह मास, कब हूं न होवै कंध[3] विनाश ॥२५॥

बकार, शिक्षा देता है–निर्मल ज्ञान को बुद्धि[2] में धारण करके विषय-विकारों से विरक्त[1] हो जाओ, बारह मास ही विश्वंभर प्रभु संबंधी वचनों को विचारो, ऐसा करने से ईश्वर के अंश[3] जीव का कभी भी बारं-बार मृत्यु रूप नाश न होगा, वह ब्रह्म में मिल जायगा।

भम्भा भूल न भव जल जाहु, भरमि[1] भरमि गोते[2] मत खाहु।
भीतर भूख[3] काढि[4] सब देहु, भज भगवंत भलाई लेहु ॥२६॥

भकार, शिक्षा देता है—भूलकर भी सांसारिक विषय-राग रूप जल में मत जाओ, बारंबार जहां तहां भ्रमण[1] करके धोखा[2] मत खाओ, भीतर की सांसारिक सब आशायें[3] निकाल[4] दो, भगवान् का भजन कर के भलाई ले लो।

मम्मा मरना है संसार, मान मुग्ध[1] माथे पर धार।
ममता मान मैल मन धोय, मोहन सुमिरे मंगल होय ॥२७॥

मकार, शिक्षा देता है—इस संसार में अवश्य मरना होगा, हे मूर्ख[1]! यह सत्य मान कर शिर पर धारण कर, ममता-अभिमान रूप मैल धोकर विश्व विमोहन प्रभु का स्मरण कर तो तेरे लिये मंगल ही होगा।

यय्या जोड़हु आतमराम, जरा[1] जोर करि जीते जाम[2]।
जोग जाय जनकी नहिं जीत, जामण मरण जीव भयभीत ॥२८॥

यकार, शिक्षा देता है—शीघ्र आत्मा को राम से जोड़ो, फिर जरावस्था[1] जौर करेगी और यम[2] जीत लेगा। यह मनुष्य शरीर का योग हाथ से जाने पर जीव जनों की जीत नहीं होती है फिर तो जन्म-मरणादि के भय से सदा डरता ही रहता है।

ररा रोकहु मूलहिं द्वार, रोम रोम रट राम अपार।
यहु रस रीति[1] सकल शिर मौर, रीतो[2] रहै न कोई ठौर ।।२६।।

रकार, शिक्षा देता है--मूल बंध के द्वारा मूल द्वार को रोक कर रोम २ से अपार राम के नाम को रटो, यह नाम चिंतन रूप रस की पद्धति[1], प्रभु प्राप्ति के सभी साधनों में शिरोमणि है, इससे शरीर का कोई भी स्थान साधन से खाली[2] नहीं रहता।

लल्ला लालच यो[1] ही जान, व्है लै[2] लीन लाल[3] उर आन[4]।
लोक असंख्य लंघि यूं जाहु, लांबी लगन काल को खाहु ।।३०।।

लकार, शिक्षा देता है--प्रभु[3] को हृदय में लाकर[4], उसी में लय[2]-लीन होओ, यही[1] यथार्थ लालच है। ऐसा लालच करके असंख्य लोकों को लांघ कर प्रभु के पास जाओ और इस लम्बी लगन से काल को भी खा जाओ।

वव्वा वैलो[1] ओर न आव, उलटा[2] उर अंतर धरि[3] भाव।
वारि[4] वारि[5] उस ऊपर जीव, उमगि[6] उमगि उत्तम रस पीव ।।३१।।

वकार, शिक्षा देता है--प्रभु से इधर[1] संसार की ओर नहीं जाओ, अपनी वृत्ति को बदल[2] कर भाव पूर्वक हृदय में स्थिर प्रभु में रक्खो[3], उन प्रभु के ऊपर अपने जीव को बारंबार[4] निछावर[5] करो, बारंबार हर्ष[6] से प्रभु चिंतन रूप उत्तम रस का पान करो।

शश्शा सुमिरण करऊ संबाहि[1], सांच शील उर अंतर बाहि[2]।
सूधे[3] मारग में शिर देहु, सो सांई अपना करि लेहु ।।३२।।

शकार, शिक्षा देता है--अपने को संसार से ऊंचा उठाकर[1] हरि-स्मरण करो, सत्य-शील को हृदय में धारण[2] करो, जो स्मरण रूप सरल[3] मार्ग में अभिमान रूप शिर देता है, उसे प्रभु अपना बना लेते हैं।

षष्षा खिदमत[1] करि इकतार[2], खड़े रहो खालिक[3] दरबार।
खानि खजाना खीसे[4] मांहिं, जे सेवा उर खोटी नांहिं ।।३३।।

षकार, शिक्षा देता है--सृष्टिकर्त्ता प्रभु[3] के दरबार में निरंतर[2] सेवा[1] करते हुये खड़े रहो, यदि तुम्हारी सेवा हृदय में दंभादि दोषों से रहित होगी तो तुम्हारी जेब[4] में ही रत्नों की खानि और खजाना रहेगा।

सस्सा सांई शिर पर राखि, सद्गुरु साधु कहैं सब साखि।
सुमिर सनेही समझो दास[1], सुख के सिन्धु मांहि कर वास ।।३४।।

सकार, शिक्षा देता है–प्रभु को शिर पर रक्खो, सद्गुरु और सब संत भी इसकी साक्षी देते हैं। हे भक्तो[1] ! स्मरण करके अपने स्नेही प्रभु का स्वरूप समझो और उस सुख-समुद्र प्रभु के स्वरूप में ही निवास करो।

हह् हा हरि भज हरि ही होय, हंस[1] हि हंस[2] मेल[3] नहीं दोय।
हुये होंहि हैं साधू खेत[4], ह्वै हुशियार[5] करो हरि हेत[6] ॥३५॥

हकार, शिक्षा देता है—हरि का भजन करके संत हरि रूप ही हो जाते हैं, जीव[1]-ब्रह्म[2] का मिलन[3] होने पर वे दो नहीं रहते, दोनों एक हो जाते हैं। संत जन योग रूप रणक्षेत्र[4] से उतर कर ब्रह्म में एक हुये हैं और आगे भी होंगे। अतः सावधान[5] होकर हरि से प्रेम[6] करो।

बावन अक्षर ब्यौरे[1] वीर[2], निरक्षर सौं नाहीं सीर[3]।
जन रज्जब के सो मन मांहि, जो कुछ इन अंकन[4] में नांहि ॥३६॥

हे भाई[2] ! लोग बावन अक्षरों का विवरण[1] तो करते हैं किंतु अक्षरों से रहित प्रभु से मेल[3] नहीं करते। हमारे मन में तो जो इन अक्षरों[4] में कुछ भी नहीं भासते हैं, वे प्रभु ही बसते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित बावनी ग्रन्थ ३ समाप्तः।

अथ बावनी अक्षर उद्धार ग्रंथ ४

बावन अक्षर ब्रह्म भज, वेत्ता[1] बावन[2] वीर।
मन शिष मानहु मत यहु, कहैं प्राणि गुरु पीर[3] ॥१॥

बावन अक्षरों से उद्धार होता है, यह विचार इस ग्रन्थ में प्रकट कर रहे हैं—ज्ञानी[1] रूप महान्[2] वीर बावन अक्षरों का ब्रह्म रूप से भजन करते हैं और सिद्ध[3] गुरु भी प्राणियों को ऐसा ही कहते हैं। हे मन रूप शिष्य ! तू भी यही सिद्धान्त मान।

ओ अक्षर तें हो ओंकारा, ओ आराध आत्म उर धारा।
उत्तम गति अक्षर ओ मांहीं, उनमनि लागि अनन्य जन जाहीं ॥२॥

ओ, अक्षर से ओंकार बनता है, जीवात्माओं ने ओ, का ही आराधन हृदय में धारण किया है। ओ, अक्षर में वृत्ति लगाने से उत्तम गति होती है, समाधि में लग कर अनन्य जन प्रभु के पास जाते हैं।

कक्का केवल है करतारा[1], कलि कश्मल[2] सो[3] काटनहारा।
काम इहै[4] बरजो[5] मत कोई, केवल कहतां केवल होई ॥३॥

अकेला ककार ही प्रभु[1] रूप है, वह[3] कलियुग के पापों[2] को काटने वाला है, इस[4] करतार के भजन रूप काम करने वाले को कोई रोको[5] मत। केवल केवल (अद्वैत) जपने से केवल ब्रह्म रूप हो जाता है।

खख्खा खालिक[1] अक्षर खेवै[2], खिलै[3] नाँहि खसमाँहि[4] जो सेवै[5] ।
खलक[6] बंध खोहणि[7] खुल जाँहीं, खर[8] तर[9] खेल सु खख्खै माँहीं ॥४

खकार, अक्षर प्रभु[1] रूप है, संसार से पार करने के लिये जीवन नौका को चलाता[2] है । जो संसार में फैलता[3] नहीं है, प्रभु[4] की ही भक्ति[5] करता है, उसका संसार[6] व्यवहार बंद हो जाता है और भ्रमर[7]-गुफा खुल जाती है । इस खकार में बहुत बड़ा[9] तीव्र[8] खेल है ।

गग्गा गुरु गोविन्द गहि[1] ज्ञाना, गुप्त गात[2] गत[3] मत[4] सु गराना[5] ।
गरक[6] गूझ[7] गहनी[8] यं आवै, गग्गा गगनाँहि स्थान लखावै ॥५

गकार, गुरु-गोविन्द का ज्ञान रूप है, इस ज्ञान को ग्रहण[1] करो, यह गुप्त रूप से शरीर[2] में रहने वाले नाशक[3] विचारों[4] को गलाने[5] वाला है । गकार रूप गूढ[7] ज्ञान में जो निमग्न[6] होता है वह गहनावस्था[8] में अर्थात् ऊंची भूमिका में आता है । इस प्रकार गकार ब्रह्मरूप गगन स्थान को दिखाता है ।

घघ्घा घन[1] सुन्दर घन जाना, घणनामी का कर हु बखाना ।
घण[2] हु घणां[3] घण[4] लोक घणेरा[5], यूं घघ्घे अक्षर सब घेरा ॥६॥

घकार, दृढ़[1]-सुन्दर घन प्रभु रूप है, ऐसा जाना गया है । इसलिये उस घननामी प्रभु का ही यश कथन करो, घकार रूप प्रभु अधिक[2] से भी अधिक[3] है । बहुत[4] लोकों में बहुत[5] रूप से है । इस प्रकार घकार अक्षर ने सब विश्व को घेर रक्खा है ।

ङङ्ङा निराकार करि नेहा, निर्गुण सुमिर सफल निज देहा ।
नर नारायण करै सु ङङ्ङा, नीका[1] वचन मान मन चंङा[2] ॥७

ङकार, निराकार रूप है, निराकार ब्रह्म से प्रेम करने से तथा निर्गुण का स्मरण करने से अपना देह सफल हो जाता है । ङकार, नर को नारायण करता है । हे मन ! यह श्रेष्ठ[1] वचन मान, तू भी इससे श्रेष्ठ[2] हो जायगा ।

चच्चा चिदानन्द चित राखो[1], चिन्तामणि चवि[2] चंचु[3] सु भाखो[4] ।
चित्र[5] धारि चखि[6] चारों आये, चरण कमल चच्चे सु समाये ॥८

चकार, चिदानन्द ब्रह्मरूप है, इसे चित्त में रक्खो[1] । यह चिन्तामणि है, इसे मुख[3] में दबाकर[2] सम्यक् प्रकार कहो[4] । चकार, रूप चिदानन्द के स्वरूप[5] को चित्त में धारण करने से वह दो ज्ञान-नेत्र और दो बाह्य नेत्र इन चारों नेत्रों[6] में आ जाता है अर्थात् चारों नेत्रों से सब स्थानों में चिदानन्द ही भासता है । इस प्रकार के विचार से साधक चकार द्वारा प्रभु के चरण-कमलों में समाये हैं ।

छछ्छा छः दर्शन[1] प्रतिपाला, छिन छिन छत्र पती सु संभाला[2] ।
छैल छबीला[3] छाना[4] नाहीं, छती[5] वस्तु सु[6] छछ्छै मांहीं ।।९।।

छकार, जोगी, जंगमादि छः भेष धारियों का वा षड्[1]-दर्शन शास्त्रों का प्रतिपालक है। छत्रपति महाराजाओं ने भी इसका क्षण-क्षण में स्मरण[2] किया है। यह सजाधजा[3] छकार रूप प्रभु छिपा[4] नहीं है। सुन्दर[6] सत्तामय[5] प्रभु रूप वस्तु छकार में स्थित है।

जज्जा जप जगपति जगनाथा, ज्यों जिव चढै[1] नहीं जम हाथा ।
जूना[2] जोगी जस[3] पुनि ईशा[4], जज्जै मांहि सु जन जगदीशा ।।१०

जकार, जगत्पति जगन्नाथ रूप है, इसका जप करो, जिससे जीव यम के हाथ न लगे[1]। पुरातन[2] योगी, यश[3] और ईश्वर[4] जकारमय है। अतः जकार में जन और जगदीश्वर दोनों ही हैं।

झझ्झा झीण[1] हुं झीणा[2] सांई, झीणा[3] व्है झीणा[4] यश गांई ।
झिल मिल उपजै झिझ्झ[5] सु नांहीं, झाझी[6] वस्तु सु झझ्झै मांहीं ।।११

झकार, रूप प्रभु सूक्ष्म[1] से भी सूक्ष्म[2] है, मन विषय वासनादि रूप स्थूलता त्यागकर सूक्ष्म[3] होता है, तभी उन सूक्ष्म[4] प्रभु का यश गाया जाता है। सूक्ष्म प्रभु का ध्यान करने से झिलमिलाता हुआ प्रकाश हृदय में प्रकट होता है और कोई झंझट[5] नहीं रहता है। अतः झकार में प्रभु रूप महान्[6] वस्तु है।

ञञ्ञा नरहरि[1] निशि दिन गावहु, रे नर निरालंब यूं पावहु।
निर्मल नूर[2] सु निरखो नैना, अक्षर ञञ्ञै में निज ऐना[3] ।।१२

ञकार, नृसिंह[1] रूप है, इसे रात्रि-दिन गाओ। हे नरो ! इस प्रकार प्रभु का यश गाने से निरालम्ब प्रभु को प्राप्त करोगे। ञकार अक्षर में निज स्वरूप सत्य[3] ब्रह्म है, उनका निर्मल स्वरूप[2] ज्ञान नेत्रों से देखो।

टट्टा टलै नांहि सो राजा, ता सौं टिक[1] रहि सरै[2] सु काजा ।
मान हि टेक टेक जो धारी, अक्षर टट्टै वस्तु पियारी ।।१३

टकार, अटल प्रभु रूप राजा है, उसमें वृत्ति द्वारा स्थिर[1] रहोगे तो तुम्हारा मुक्ति रूप कार्य सम्यक् सिद्ध[2] हो जायगा। जो टेक भक्त धारण कर लेते हैं, उस टेक को वे प्रभु मानते हैं। इस प्रकार टकार अक्षर में प्रभु रूप प्यारी वस्तु है।

ठठ्ठा है ठाकुर हुं सु ठाकुर, मन वच कर्म तिहि ठाहर चाकर ।
ठाकुर नाम सु ठठ्ठे मांहीं, तातैं ठठ्ठा त्यागै नांहीं ।।१४

ठकार, अक्षर ठाकुरों से भी सुन्दर ठाकुर है । मन, वचन, कर्म से उस ठकार रूप ठाकुर के सेवक बनो । ठाकुर नाम ठकार में ही है, ठकार बिना ठाकुर सिद्ध नहीं होता, इससिये ठकार को नहीं त्यागो ।

डड्डा डाल मूल तिहि नांहीं, अडिग अडोल[1] बसै सब मांहीं ।
डाव[2] इहै[3] तासौं डिढ[4] रहिये, यूं डड्डा अक्षर डरि गहिये ॥१५

डकार रूप जो प्रभु हैं उनके डाल-मूल नहीं है अर्थात् उनका कारण कार्य कोई नहीं है । वे अडिग हैं, अचल[1] हैं, सब में बसते हैं । तुम्हें यह[3] मनुष्य शरीर रूप दाँव[2] मिला है, उन प्रभु के स्वरूप चिन्तन में ही दृढ़ता[4] से लगे रहो । इस प्रकार जन्मादि डर से डर कर डकार अक्षर रूप प्रभु को ग्रहण करो ।

ढढ्ढा ढाकण[1] जगत जहाना[2], सो ढिग[3] ढूंढि[4] लेहु मति-काना[5] ।
ढेर[6] अनन्त ढूंढे[7] न ढिगारा[8], माप रहित ढढ्ढै मझारा[9] ॥१६

ढकार रूप प्रभु जगत् में रहकर भी सब संसार[2] को आच्छादित[1] किये हुये हैं । हे बुद्धिहीन[5] ! वह तेरे पास[3] ही है । तू विचार द्वारा खोज[4]। वह अनन्त राशि[6] रूप है, उस राशि[8] को क्यों नहीं खोजता[7] ? वह माप रहित प्रभु ढकार में[9] स्थित है ।

णण्णा रावण होय न रहिये, राणहु[1] राणा[2] सो निज गहिये ।
लोक अनन्त जास[3] की आणा,[4] अक्षर णण्णे मांहि समाणा[5] ॥१७

णकार रूप प्रभु से विमुख हो, रावण बन कर मत रहो । राजाओं[1] के राजा[2] उन प्रभु के निज नाम को ग्रहण करो । जिसकी[3] मर्यादा[4] में अनन्त लोक स्थित हैं, वह प्रभु णकार अक्षर में समाया[5] हुआ है ।

तत्ता त्रिभुवन है निज सारा, ताहि जपे जिव का निस्तारा[1] ।
ताको नाम धरे रहु शीशै, तत्त्व माल तत्तै मैं दीसै ॥१८

तकार रूप प्रभु त्रिभुवन के तथा अपने सार हैं, उनके नाम का जप करने से जीव का उद्धार[1] होता है । उन प्रभु का नाम शिर पर धरे रहो । तत्त्व माला भी तकार में ही दिखाई देती है ।

थथ्था थापिउ[1] थापण[2] सोई, थांगै[3] थाह न आवै कोई ।
थूल[4] मूल थित[5] बाहर नाहीं, थान सु थिति थिर[6] थथ्थै मांहीं ॥१९

थकार रूप प्रभु की हृदय में स्थापना[1] करो, विश्व की स्थापना[2] करने वाले वे ही प्रभु हैं । उनका थाह खोजने[3] पर भी कोई प्रकार नहीं आता । वह विश्व का मूल स्थूल[4] नहीं है उनकी स्थिति[5] बाहर नहीं है । उनका स्थिर[6] स्थान और स्थिति थकार में है ।

दद्दा दायम[1] कायम[2] दाना[3], दीन दयाल नहीं सो छाना[4] ।
दीन बन्धु दूजा कोइ नाहीं, दीरघ दौलत[5] दद्दै माहीं ॥२०

दकार रूप प्रभु सदा[1] स्थिर[2] और बुद्धिमान्[3] अर्थात् सर्वज्ञ हैं, दीन दयालु हैं, वे छिपे[4] हुये नहीं हैं। उनके समान दीन बन्धु दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार दकार में महान् सम्पत्ति[5] है।

धध्धा ध्यान धणी[1] का कीजे, धरणीधर[2] ध्वनि अंतरि लीजे ।
धर्म धार लेखै[3] में नाहीं, धन्य धन्य धू[4] धध्धै माहीं ॥२१

धकार रूप स्वामी[1] का ध्यान करो, उन पृथ्वी[2]-को-धारण-करने-वाले प्रभु के नाम की ध्वनि भीतर लगाओ। धर्म को धारण करने वाले वे प्रभु किसी प्रकार हिसाब[3] में नहीं आते अर्थात् अपार हैं। बारंबार धन्यवाद के योग्य अचल[4] प्रभु धकार में हैं।

नन्ना निकुल निर्वंशी काया, नित निर्वाण नाथ ल्यो लाया ।
नाम अनन्त उद्धारण जी के, सहस्र नाम नन्नै में नीके ॥२२

नकार रूप प्रभु कुल रहित हैं, उनकी काया अर्थात् स्वरूप किसी के वश में नहीं है, वे नित्य-निर्वाण पद रूप हैं, उन जगन्नाथ में ही वृत्ति लगाओ। जीव का उद्धार करने वाले उनके अनन्त नाम हैं। नकार अक्षर में ही श्रेष्ठ हजार नाम स्थित हैं।

पप्पा पार ब्रह्म पद पूरा, परम तत्त्व जप जीवन मूरा[1] ।
पुरुषोत्तम पावन जिंहि नामा, परापरी[2] पप्पै में ठामा ॥२३

पकार पूर्ण परब्रह्म पद रूप है, जीवन के मूल[1] रूप तथा परम तत्त्व रूप प्रभु नाम का जप करो। जिसके नाम पुरुषोत्तम, पावन, आदि हैं। उस परात्पर[2] प्रभु का धाम पकार में है।

फफ्फा फहम[1] जु फारिग[2] ध्यावै, फल रस रूप सोउ भल पावै ।
फहम[3] इहै जु फकीरी गहिये, फूटे[4] नांहि सु फफ्फै लहिये ॥२४

निश्चिन्त[2] ज्ञानी ही ज्ञान[1] द्वारा फकार रूप प्रभु का ध्यान करता है। जो ध्यान करता है, वही भली भांति रस रूप प्रभु की प्राप्ति रूप फल प्राप्त करता है। फकार का ज्ञान[3] यही है कि—फकीरी ग्रहण करे, जो फकार का ज्ञान प्राप्त करता है, वह संसार में नहीं फैलता[4]।

बब्बा विश्वंभर वनवारी, विमल रूप व्यापक बुधि धारी ।
बेहद विपुल सु विघ्न विनाशा, वस्तु वित्त बब्बै बिच वासा ॥२५

बकार, व्यापक संपूर्ण बुद्धि धारण करने वाले अर्थात् सर्वज्ञ, निर्मल, विश्वंभर वनवारी रूप है, असीम है, बहुत विघ्नों का विनाशक है। ब्रह्म वस्तु रूप धन बकार में वसता है।

भम्भा भगवंत भाव भणीजे[1], भूरि[2] भाग्य भगवान गुणीजे[3] ।
भूधर भूत भेद कहु नाहीं, भलो वस्तु सो भम्भै मांहीं ॥२६

भकार रूप भगवान् का विविध भावों से कथन[1] करो, जो भगवान् के स्वरूप का विचार[3] करते हैं उनका भाग्य विशाल[2] है । भूधर भगवान् का और भूतों का भेद कहीं नहीं भासता, जो भगवान् रूप श्रेष्ठ वस्तु है, वह भकार में स्थित है ।

मम्मा मन मोहन मन धारी, मुख[1] माधव कहिये सु मुरारी ।
महाराज मधुसूदन बोलै, अक्षर मम्मै वस्तु अमोलै ॥२७

मकार, मन मोहन रूप है, इसे मन में धारण करो, संसार में मुख्य[1] माधव ही हैं, उनके मुरारि आदि नाम कहो, मकार से ही महाराज और मधुसूदन बोले जाते हैं । अतः मकार अक्षर में प्रभुरूप अमूल्य वस्तु है ।

यय्या जगमोहन यश गाओ, जगत ज्योति जगवन्दन[1] धाओ[2] ।
यम का यम जोरावर[3] जाना, जगत रूप यय्ये सु समाना ॥२८

यकार रूप जगमोहन प्रभु का यश गान करो, जगत् में ज्योति रूप, जगत् के पूज्य[1] प्रभु की प्राप्ति के लिये भजन रूप दौड़[2] लगाओ । वे प्रभु यम के भी यम हैं अर्थात् यम को भी दंड देने वाले हैं । बलवानों[3]-से-भी-श्रेष्ठ बलवान, जाने गये हैं । वे ही जगत् रूप हैं और यकार में समाये हुये हैं ।

रर्रा रमिये राम रहीमा, इहै जाप जप जीव फहीमा[1] ।
रसिया ले रसिया व्है रहिये, रस रूपी सु ररै में लहिये ॥२९॥

रकार रूप दयालु राम में वृत्ति द्वारा रमो, हे जीव ! इस जाप का जपना ही ज्ञान[1] है । प्रभु रूप रसिया को प्राप्त करके रसिया होकर रहो, वह रस रूप राम रकार में प्राप्त होता है ।

लल्ला लायक[1] है निज लाला[2], लच्छी[3] वर लोक हुं प्रति पाला ।
लघु सौं लघु दीरघ सु अगाधा अक्षर लल्लै में सो लाधा[4] ॥३०

लकार रूप अपने प्यारे[2] प्रभु सर्व प्रकार योग्य[1] हैं, वे लक्ष्मी[3] पति सब लोकों के प्रतिपालक हैं । वे छोटे से छोटे और बड़े से बड़े तथा अगाध हैं । वे लकार अक्षर में मिले[4] हैं ।

वव्वा वह है सिरजनहारा, वा[1] हि गहै या[2] का निस्तारा ।
उनमनि[3] लाग सु यहु[5] दिशि सो ही, वह वह कहत होय यहु[4] वोही ॥३१

वकार रूप वह प्रभु सृष्टि रचने वाला है । उस[1] प्रभु की भक्ति ग्रहण करने से ही इस[2] जीव का उद्धार होता है । समाधि[3] में लगो, इस[5] समाधि रूप दिशा में ही वह है । वह, वह, कहते-कहते यह[4] जीव उसी का रूप हो जाता है ।

शश्शा शंभू साहिब साँई, श्रीधर श्रीरंग को शिर नांई।
श्वास उश्वास सुमरिये रामा, अक्षर शश्शै करि सब कामा ॥३२

शकार रूप शंभु सब के साहिब हैं, उन श्रीधर, श्रीरंग स्वामी को शिर नमाश्रो। श्वास-प्रतिश्वास उन राम का स्मरण करो। शकार रूप प्रभु भक्तों के सब काम करते हैं।

षष्षा एक खुदा यहिं[1] ध्यावै[2], चारि खानि सो जीव न आवै।
खोटा[3] त्याग खरा[4] ले एकै, यूं षष्षै अक्षर खत छेकै ।३३।

षकार रूप एक ईश्वर का ही[1] ध्यान[2] करता है, वह जीव जरायुज, अंडज उद्भिज, स्वेदज, इन चारि खानियों में जन्म कर संसार में नहीं आता। बुरे[3] कर्म त्याग कर एक सत्य [4]प्रभु का नाम लो, इस प्रकार करने से षकार अक्षर संचित कर्मों के खत को काट[5] देता है।

सस्सा समर्थ सिरजनहारा, सुख निधान[1] श्रीपति शिरधारा[2]।
सर्वंगी सब ही शिरताजा, अक्षर सस्सै मांहि विराजा ॥३४

सकार रूप प्रभु समर्थ, सृष्टिकर्त्ता, सुख-निधि[1] लक्ष्मीपति और शिरोधार्य[2] हैं। संपूर्ण प्राणी आदि जिसके अंग हैं, वे सर्वंगी प्रभु सभी के शिरोमणि हैं और सकार अक्षर में विराजते हैं।

हह्हा निशिदिन हरिहरि कहिये, हरि हरि कहत सु हरि व्है रहिये।
हूंण[1] हद्द[2] सोई सब हूवा, हेरि[3] हंस[4] हह्है नहिं जूवा[5] ॥३५

हकार, हरि रूप है, अतः रात्रि-दिन हरि-हरि बोलो, हरि-हरि कहते २ प्राणी हरि ही होकर रहता है। होने[1] की हद[2] है सो सब हकार से हो जाती है। देखो[3] जीव[4] हकार रूप हरि से जुदा[5] नहीं रहता, हरि रूप ही हो जाता है। यही होने की हद है।

एक लागि अक्षर सब सीझै[1], सर्वंगी सब ठाहर रीझै[2]।
पावन परस[3] पाठ सब पावन, रज्जब रोग उतारा बावन ॥३६

एक प्रभु के स्वरूप में जुड़कर सभी अक्षर उद्धारक सिद्ध[1] होते हैं, प्रभु के स्वरूप में लगने पर सर्वंगी प्रभु सभी स्थानों में इन अक्षरों से प्रसन्न[2] होते हैं। पवित्र प्रभु के स्वरूप से लगने[3] पर सभी पाठ पवित्र हो जाते हैं। इस प्रकार संतों ने बावन अक्षरों का रोग हटाया है।

औषधि मय अक्षर सब लागे, जे पचास प्राण हुं थे त्यागे।
अब आतम अक्षर अक्षर प्यारे, अन अक्षर अक्षर सु उधारे ॥३७

रकार, मकार, दो को छोड़कर जो पचास अक्षर जीव ने त्याग दिये थे, वे सब अक्षर अब उक्त विचार से औषधि रूप लगने लगे हैं। अक्षर जीवात्मा को अविनाशी ब्रह्म के समान प्यारे हो गये हैं। कारण—

सभी अक्षर भगवान् के नामों में आ जाते हैं, वे नाम अक्षरों के विना नहीं बनते, अतः सब अक्षर भगवत् नामों के कारण होने से नाम रूप ही हैं। इसलिये अक्षर रहित ब्रह्म के संबन्ध से ही संतों ने उक्त प्रकार अक्षरों का उद्धार किया है, जिससे अक्षर भी उद्धारक सिद्ध हुये हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित बावनी अक्षर उद्धार ग्रंथ ४ समाप्तः।

अथ पन्द्रह तिथि ग्रंथ ५

सद् गुरु ज्ञान उदय सौं सूझी, यूं पंद्रह तिथि तन में बूझी।
अमावस उर अनंत अंधेरा, तहां सहाय भया गुरु मेरा ॥१॥

शरीर के भीतर ही पन्द्रह तिथि बता रहे हैं—सद्गुरु का ज्ञान हृदय में उदय हुआ तब हमें पन्द्रह तिथि शरीर में ही दिखाई दी हैं, इस प्रकार हमने शरीर में पन्द्रह तिथि समझ पाई हैं। हृदय में अज्ञान रूप अनन्त अंधेरा है, वही अमावस्या तिथि है। इस अज्ञान रूप अंधेरे की अवस्था में हमारे गुरुदेव ने हमारी सहायता की है, उससे मुझे निकाला है।

पड़वा[1] पीठ दई तम[2] भूला, पृथ्वी माँहि उदय करि शूला[3]।
परम अंकूर प्राणि में जागे, परम पुरुष की सेवा लागे ॥२॥

अज्ञान[2] से भूल कर प्रभु को पीठ देना ही एकम[1] तिथि है। पृथ्वी में नर शरीर के समय संत जन प्रभु वियोगमय व्यथा[3] हृदय में उत्पन्न करते हैं तब प्राणी में श्रेष्ठ विचार रूप अंकुर उत्पन्न होते हैं और प्राणी परम प्रभु की भक्ति में लगते हैं।

दोज[1] सु दम[2] दम सुमिरण कीजे, द्वंद्व[3] दोजख[4] दहन[5] तजीजे[6]।
तो दिल उगै दोज का चंदा, दिन दिन देखै अति आनन्दा ॥३॥

प्रति श्वास[2] हरि-स्मरण करना ही द्वितीया[1] तिथि है, नरक[4] में जलाने[5] वाले द्वंद्व[3] इसमें त्याग[6] दिये जाते हैं तब हृदय में विवेक रूप दूज का चन्द्रमा उदय होता है और विवेक से प्रतिदिन आनन्द का ही दर्शन होता है।

तृतीया त्रि शुद्ध होय तन तावै[1], त्रिगुण तोरि तिहिं तत्त्व समावै।
त्यागै धरणि तकै[2] आकाशा, तहां न कोई तस्कर त्रासा ॥४॥

मन, वचन, शरीर इन तीनों को शुद्ध करना ही तृतीया तिथि है। इसमें शरीर से तपस्या[1] करके त्रिगुण मय संसार से संबन्ध तोड़कर उस ब्रह्म तत्त्व में ही समाता है। माया रूप पृथ्वी को त्यागना है और ब्रह्म रूप आकाश की ओर देखता[2] है। उस ब्रह्म में कामादि चोरों में से कोई भी नहीं वसता है।

चौथ सु चेतन[1] व्है चित मांहीं, चंचल चोर सु आवै नांहीं।
चूकै[2] चकै[3] न आये दावै,[4], चरण कमल देखन का चावै[5] ॥५॥

चित्त में सावधान[1] होने का नाम चौथ तिथि है। इसमें कामादि चंचल चोर नहीं आते हैं। दांव[4] आने पर भूलता[2] नहीं है, न भ्रम[3] में पड़ता है। सदा प्रभु के चरण-कमल देखने का उत्साह[5] रखता है।

पंचमी पंचों पलटै प्राणा, पल पल पीवै प्रेम सु जाणा।
यहु पतिव्रत प्राणी के पासा, प्रीतम परसै[1] परम प्रकाशा ॥६॥

पंच प्राणों को बदलना अर्थात् समाधि में स्थित करना ही पंचमी तिथि है। इसमें बुद्धिमान साधक प्रति क्षण प्रभु-प्रेम-रस का पान करता है। प्राणी के पास यही पति व्रत है। इस प्रकार प्रियतम प्रभु से मिलने[1] पर हृदय में परम प्रकाश प्रकट होता है।

छठ सु छिन छिन छांटै छोई[1], ताहि न छलै छलावै कोई।
छाक्या[2] रहै छानि[3] रस पीवै, छत्रपति की छाया जीवै ॥७॥

क्षण-क्षण में सार तत्त्व से निःसार[1] को अलग करने का नाम छठ तिथि है। इसमें जो आता है, उसे कोई छलता छलाता नहीं है। वह तृप्त[2] रहता है, विचार[3] पूर्वक रस पान करता है। छत्रपति प्रभु की छाया में ही जीवित रहता है।

सातैं सप्त द्वीप के सागर, शोषे होय अगस्त्य उजागर[1]।
सदा सु शील रु सुमिरण सारा, सन्मुख सांई संत पियारा ॥८॥

सप्त धातु रूप सप्त द्वीपों के राग रूप समुद्रों का शोषण करके अगस्त्य के समान प्रसिद्ध[1] होने का नाम सातैं तिथि है। इसमें संत सदा सुशील रहता है, प्रभु-स्मरण को ही सार समझता है और वह प्रभु का प्यारा संत सदा प्रभु के सन्मुख रहता है।

आठैं इष्ट सु अंतर राखै, अष्ट धातु काया कुल नाखै।
अष्टांग योग में आतम लोटै, अठसिधि दासी पांव पलोटै ॥९॥

अपने इष्ट प्रभु को हृदय के भीतर रखना, सात धातु और अष्टमा धातु प्राण, इन अष्ट धातुमय शरीर के कुल आदि का राग त्यागना ही अष्टमी तिथि है। इसमें साधक संसार से लौट कर अष्टांग योग में आता है और अष्ट सिद्धि भी दासी के समान उसके पैर दबाती है।

नौमी निकुल[1] निरंजन धावै[2], नीची नजरि न नौखंड आवै।
निर्मल नाम लियां ध्वनि गाजै, नित नौबत निज ठाहर बाजै ॥१०

वंश[1]-रहित निरंजन ब्रह्म का ध्यान[2] करना ही नौमी तिथि है। इसमें जम्बु द्वीप के नौ खंडों में रहते हुये भी नीची दृष्टि नहीं आती है। प्रभु का निर्मल नाम लिया जाता है, अनाहत् ध्वनियों की गर्जना होती है और नित्य ही अपने नाभि रूप स्थान पर ओंकार उच्चारण रूप नौबत बजती रहती है।

दशमी दौलत[1] दशवें द्वारा, तहँ दृग देखै देखन हारा।
दरगह[2] बैठा दर्शन होई, दह[3] दिशि दीसै दीरघ[4] सोई ॥११॥

सर्व विश्व को देखने वाले प्रभु रूप संपत्ति[1] को अपने योग साधन रूप नेत्रों से दशम द्वार में देखना ही दशमी तिथि है। दशम द्वार रूप दरबार[2] में बैठे हुये प्रभु का दर्शन हो जाता है तब दशों[3] दिशाओं में वही प्रभु महान्[4] रूप से दीखने लगता है।

एकादशी एक दिशि जानें, एक मेक व्है रस रुचि मानें।
इक आधार एक को गावै, यूं व्है एक एक को पावै ॥१२

एक अद्वैत ब्रह्म की ओर का रहस्य जानने का यत्न करना एकादशी तिथि है। इसमें ब्रह्म से एकमेक होकर भी, ब्रह्म चिन्तन में प्रेम रखते हुये चिंतन करने में ही संतोष मानता है। एक ब्रह्म का ही आधार रखता है, एक ब्रह्म का ही यश गाता है। इस प्रकार एक ब्रह्म रूप होकर ही एक ब्रह्म को पाता है।

द्वादशी द्वादश लहरि मिलोवै[1], द्वादश अंगुल वायु सु धोवै।
द्वादश द्वारन दे दृढ ताला, द्वादश मास मगन मतवाला ॥१३

दश इन्द्रिय मन और बुद्धि इन बारह को ब्रह्मानन्द रूप लहरी में मिलाना[1] ही द्वादशी तिथि है। इसमें बारह अंगुल पर चलने वाले वायु को जानकर साफ करता है। दश इन्द्रिय आशा और तृष्णा रूप द्वादश[1] द्वारों के वैराग्य रूप दृढ़ ताला लगता है अर्थात् इनके द्वारा मन को ब्रह्म से भिन्न में नहीं जाने देता। इस प्रकार बारह मास ही ब्रह्मानन्द में निमग्न होकर मतवाला रहता है।

तेरस ते तत्त्वसार विचारै, तृष्णा त्रिगुण तजै तस्कारै[1]।
तोले तुलै संतन सम पूरा, तो त्रिभुवन पति लेहि हजूरा[2] ॥१४॥

ब्रह्म रूप सार तत्त्व को विचारना ही तेरस तिथि है। इसमें तृष्णा और त्रिगुण का तिरस्कार[1] पूर्वक त्याग करता है। विचार रूप तुला पर तोलने से संतों के समान पूरा उतरता है, तब त्रिभुवन के स्वामी प्रभु को अपने समीप[2] ही देखता है।

चौदश चिन्ता चाल चुकावै[1], फिर कबहु चम[2] दृष्टि न आवै।
चरण कमल चितवत[3] ले बाना[4], चवदह भवन भया सोई राना[5] ॥१५

चिन्ता युक्त चाल को समाप्त[1] करना ही चौदश तिथि है। इसमें पुनः कभी चर्म[2] दृष्टि नहीं आती ब्रह्म दृष्टि ही रहती है। प्रभु के चरण कमलों को देखते[3] हुये भावरूप भेष[4] धारण करके वह चौदह भुवनों का राजा[5] हो जाता है अर्थात् ब्रह्म रूप हो जाता है।

पून्यों[1] पूरा ह्वै मन चंदा, परलै[2] गये परस[3] दुख द्वन्द्वा।
पाये पास पसारा[4] नांहीं, परम पुरुष में प्राण समाहीं ॥१६॥

मन का पूर्ण चन्द्रमा के समान पूर्ण होना ही पूर्णिमा[1] तिथि है। इसमें प्रभु से मिलने[3] पर दुःख द्वंद्व नष्ट[2] हो जाते हैं। प्रभु को प्राप्त करने पर मायिक विस्तार[4] मन के पास नहीं रहता। प्राणी परम पुरुष प्रभु में समा जाता है।

सोलह कला संपूरण सारा[1], सब दिशि देखै राम पियारा।
गुरु दादू दिन रैनि दिखाये, जन रज्जब घट[2] भीतर पाये ॥१७॥

सोलह कलाओं से युक्त संपूर्ण विश्व का सार[1] प्यारा राम सब दिशाओं में देखता है। उसी प्रभु को दादूजी ने मुझे भी दिन-रात एक रस दिखाया है, इस प्रकार गुरु की कृपा से अपने अन्तःकरण[2] में ही उस प्रभु को प्राप्त किया है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पन्द्रह तिथि ग्रंथ ५ समाप्तः।

अथ सप्त वार ग्रन्थ ६

वार वार गुरु वन्दन कीजे, रैन रहित दिन दिन रस पीजे ॥टेक॥
आदित्य वार आदि[1] सौं लेहू[2], काहे को दी मानुष देहू।
सोउ शोधि करि समझ[3] विचारो, आदू रचना अंतर धारी ॥१॥

सप्त वार संबंधी विचार प्रकट कर रहे हैं–प्रति वार गुरुदेव को प्रणाम करके अज्ञान रूप रात्रि से रहित होकर प्रति दिन भगवत् भक्ति रूप रस पीना चाहिये। आदित्य वार को आरंभ[1] से ही यह विचार हृदय में लाओ[2] कि–मनुष्य देह किस लिये दिया है। आदिकाल में मनुष्य शरीर रचना की बात प्रभु ने अपने हृदय में क्यों धारण की थी? उसे खोजकर बुद्धि[3] द्वारा विचारो तो ज्ञात होगा, भजन द्वारा प्रभु प्राप्ति के लिये ही मनुष्य देह दिया है। यही आदित्यवार है।

सोमवार समता घर आनो[1], नख शिख समझ समाधि सु ठानो[2]।
सर्वस्व देय सुधा रस लीजे, सहज सुषुम्ना भरि भरि पीजे ॥२॥

सोमवार को बुद्धि-वृत्ति को समता रूप स्थान में लाकर[1] तथा नख से शिखा तक शरीर को समझ करके समाधि लगाओ[2] और अपना सर्वस्व

प्रभु के समर्पण करके प्रभु का साक्षात्कार रूप सुधा रस प्राप्त करो। सुषुम्ना द्वारा सहजावस्था में जाकर रुचि भर के उक्त रस का पान करो। यही सोमवार है।

मंगलवार मगन गुण गावै, महा पुरुष मंदिर में पावै।
मध्य[५] मुदित[६] मन मांहि उच्छाहा, माथै भाग्य मिलै निज नाहा[७] ।।३।।

मंगलवार को प्रभु-प्रेम में मग्न होकर प्रभु का गुण गावे, तब हृदय मंदिर में प्रभु रूप महापुरुष प्राप्त होते हैं। बुद्धि में[५] प्रसन्नता[६] आती है, मन में उत्साह होता है। जिसके मस्तक का सौभाग्य होता है, उसे अपने प्रभु[७] मिलते हैं। यही मंगलवार है।

बुधवार बुधि[५] ब्रह्म बखाने, विमल रूप व्यापक बिच जाने।
तन सरवर जिव पहुप प्रकाशा[६], वसली[७] वेधै[८] वस्तु सुवासा ।।४।।

बुद्धि[५] द्वारा विचार कर ब्रह्म का ही कथन करे और व्यापक ब्रह्म का निर्मल स्वरूप अपने बीच में भी जाने। शरीर रूप सरोवर में जीव रूप कमल-पुष्प खिला[६] हुआ है। उस चेतन वस्तु की चिन्तन रूप सुवास से मन रूप भ्रमर[७] विद्ध[८] हो जाय यही बुधवार है।

वृहस्पतिवार विकल बुधि[५] बारे[६], बैसि[७] बीच धन धाम बुहारै[८]।
वपु वन मांहि विश्वंभर न्यारा, वित विस्तीरण[६] करि व्यवहारा ।।५।।

बुद्धि[५] की विकलता को दूर[६] करे, वृत्ति द्वारा हृदय में स्थित[७] होकर अपने साधन रूप धन वा वाह्य धन तथा हृदय धाम को साफ[८] करे, शरीर रूप वन में विश्वंभर प्रभु रहते हुये भी शरीर से अलग ही रहते हैं, उनसे अपने धन का परमार्थ फैलाना[६] रूप व्यवहार करे, यही वृहस्पतिवार है।

शुक्रवार सब सूधा[५] कीजे, सौंज[६] सफल सुमिरन सु भरीजे।
सन्मुख सांई आव[७] अनन्ता, सदा सुखी सो साधू[८] संता ।।६।।

मन, बुद्धि आदि सब को सरल[५] करो, हरि-स्मरण से हृदय को भर के मनुष्य शरीर रूप सामग्री[६] को सफल करो, यही शुक्रवार है। जो श्रेष्ठ[८] संत उक्त प्रकार साधन द्वारा अनन्त प्रभु के सन्मुख आता[७] है वह सदा सुखी रहता है।

थावर[१] थकित[२] सु थानिक[३] आई, पाये थल[४] बाहर नहीं जाई।
थोथी[५] तज्यों चढै[६] थिति[७] हाथा, थोरा बहुत होत हरि साथा ।।७।।

सांसारिक व्यवहार से थक[२] कर प्रभु रूप सुन्दर स्थान[३] में आवे और उक्त स्थान[४] प्राप्त करके वृत्ति बाहर नहीं जाय, यही शनिवार[१]

है। व्यर्थ[४] की बातों को त्यागने से उक्त स्थिति[७] हाथ आती[१] है। साधन करने से तो थोड़ा-बहुत हरि का साथ होता ही है।

बारं बार करो यहु कामा, अनुदिन[१] सुमिरो केवल रामा।
सप्त वार सुमिरन में राखै, गुरु प्रसाद से रज्जब भाखै॥८॥

बारं बार यही काम करो-सब[१] दिन केवल राम का ही स्मरण करो। संत जन सातों ही वार उक्त प्रकार प्रभु-स्मरण में ही लगाये रखते हैं। गुरु कृपा से मैंने भी ऐसा ही कहा है।

इति श्री रज्जब निरार्थ प्रकाशिका सहित सप्तवार ग्रंथ ६ समाप्तः।

अथ गुरु उपदेश आत्म उपज ग्रंथ ७

गुरु उपदेश सरै[१] सब कमा, आतम उपज मिलै पुनि रामा।
गुरुमुख दीवै दीवा होवै, आतम उपज मथे पुनि जोवै॥१॥

गुरु उपदेश और आत्मा की उपज संबन्धी विचार कर रहे हैं—गुरु के उपदेश से सभी कार्य सिद्ध[१] होते हैं और आत्मा की उपज से राम मिलते हैं। गुरु मुख का उपदेश दीपक से दीपक जलाने के समान होता है और आत्मा की उपज मन्थन द्वारा अग्नि प्रकट करके दीपक जलाने के समान है।

गुरु मुख अग्नि आनि[४] दौं[१] लागै, आतम उपज बंस घिस जागै।
गुरु मुख माता सुत पय पानै[७], आतम उपज गऊ बछ जानै॥२॥

गुरु मुख का उपदेश अग्नि लाकर[४] वन में दावाग्नि[१] लगाना है और आत्म उपज बांस घिस कर दावाग्नि लगना है। गुरु मुख का उपदेश माता द्वारा बच्चे को दूध पिलाना[७] है और आत्म उपज गाय के बछड़े के समान अपने आप दूध पीना है।

गुरु मुख नर चन्दन को पावै, आतम उपज तहां अहि[४] धावै[१]।
गुरु मुख सीप स्वाति रत[७] होती, आतम उपज भये गज-मोती॥३॥

गुरु मुख का उपदेश नर का चन्दन को प्राप्त करने के समान है और आत्म उपज सर्प[४] का चन्दन पर जाने[१] के समान है। गुरु मुख का उपदेश सीप स्वाति से अनुरक्त[७] होने के समान है और आत्म उपज हाथी में मोती होने के समान है।

गुरु मुख नट वरछी को झेलै, आतम उपज कौडिला खेलै।
गुरुमुख कीर तिरै बहु पानी, आतम उपज मीन कन[१] जानी॥४॥

गुरु मुख उपदेश नट का भाला झेलने के समान है और आत्म उपज मच्छी खाने वाले कौडिल्ला पक्षी के समान है। वह मच्छी को उछाल

कर झेलता है । गुरु मुख उपदेश, कीर जाति का मनुष्य बहुत पानी को तैर जाता है, उसके समान है और आत्म उपज मच्छी के पास[६] जानी जाती है । वह किसी से बिना सीखे ही अपार जल को तैर जाती है ।

गुरु मुख घटा शब्द घन[५] दरसै[१], आतम उपज घटा बिन वरसै ।
गुरु मुख कूप अचै[७] जल जीजे, आतम उपज खोद पुनि पीजे ॥५॥

गुरु मुख से सुने हुये शब्दों से उपदेशामृत वर्षना बादलों[५] की घटा के जल वर्षने के समान दीखता[१] है और आत्म उपज बिना बादल ओस वर्षने के समान है । गुरु मुख उपदेश कूप का जलपान[७] करके जीने के समान है और आत्म उपज खोदकर पीने के समान है ।

गुरु मुख सूर देखि दिठ[१] पीला[२], पीत वायु उपजे सो लीला[३] ।
गुरु मुख ज्ञान गुरज[४] तरि[५] मरिये, आतम उपज आप हति[६] हरिये ॥६

गुरु मुख उपदेश सूर्य के द्वारा पीत[२] रंग दिखाने[१] के समान है और आत्म उपज वायु द्वारा पीत रंग हरा[३] होने के समान है । गुरुमुख ज्ञान गदा[४] के नीचे[५] आकर मरना है और आत्म उपज स्वयं मर[६] कर प्राण हरना है ।

गुरु मुख नेत्र कढाये[१] अंधा, मोतिया विन्दु उपज दृढ बंधा ।
गुरु मुख कान मूंदि[२] व्है बौरा[३], बहरी[४] वायु सुने नहिं शौरा[५] ॥७॥

गुरमुख उपदेश नेत्र निकाल[१] कर अंधा होने के समान है और आत्म उपज मोतिया विन्दु के द्वारा नेत्र बंद होने के समान है । गुरुमुख उपदेश कान बंद[२] करके बहरा[३] होना है और आत्म उपज बहरा[४] करने वाली वायु से बहरा होकर कोलाहल[५] नहीं सुनने के समान है ।

गुरु मुख इन्द्री काढै[५] खोजा[६], आतम उपज हीज[७] पुनि रोजा[८] ।
गुरु मुख बांझ आतमा नारी, बांझ व्यथा पुनि होय विचारी ॥८॥

गुरुमुख उपदेश इन्द्री निकाल[५] कर नपुंसक[६] करना है और आत्म उपज सदा[८] ही नपुंसक[७] होने के समान है । गुरुमुख उपदेश आत्म-नारी के बाँझ होने के समान है और आत्म उपज विचार द्वारा बाँझपने की व्यथा के समान है ।

गुरु मुख पंखा शीतल वाय[५], सहज चलै ठंढा करि जाय ।
गुरु मुख शेष[६] सकल सुनि धायल[७], आतम उपज भये जिबरायल[८] ॥९॥

गुरु मुख उपदेश पंखे से शीतल वायु[५] चलने के समान है और आत्म उपज स्वाभाविक चल कर शीतल करने वाले वायु के समान है । बाकी[६] के सभी गुरु मुख से उपदेश सुनकर प्रभु की ओर दौड़ते[७] हैं, एक आत्मा उपज से ही खुदा का उपदेश देने वाले जिब्राईल[८] फरिश्ता के समान होते हैं ।

गुरु मुख गोरख अलख समाना, आत्म उपज महादेव सु जाना ।
गुरु मुख होंहि सकल संन्यासी, आतम उपज सु दत्त उदासो[१] ।।१०

गुरु मुख उपदेश से गोरक्षनाथ अलख ब्रह्म के समान हुये हैं और आत्म उपज से महादेव ब्रह्म रूप जाने जाते हैं । गुरुमुख उपदेश से सभी संन्यासी होते हैं और आत्म उपज से दत्तात्रेय विरक्त[१] हुये हैं ।

गुरु मुख जैन तिथंकर[४] ध्यावै[६], आतम उपज नेमि[७] ल्यौ[८] लावै ।
गुरु मुख भक्त भक्ति पति[९] परसै[१०], आतम उपज गुरुन[११] गुरु दरसै ।।११

गुरु मुख उपदेश से जैन तीर्थंकरों[४] की उपासना[६] करते हैं और आत्म उपज से नेमीनाथ[७] प्रभु में वृत्ति[८] लगाते हैं । गुरुमुख उपदेश से भक्त भक्ति द्वारा प्रभु[९] से मिलते[१०] हैं और आत्म उपज से गुरुओं[११]-के भी गुरु ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं ।

गुरु मुख बोद्ध इष्ट को गावै, आतम उपज बुद्ध पति[५] ध्यावै[६] ।
गुरु मुख बहुत ज्ञान ले माते[७], आतम उपज सुगुरु पुनि राते[८] ।।१२

गुरु मुख उपदेश से बौद्ध लोग अपने इष्ट का गुण-गान करते हैं और आत्म उपज से बुद्ध प्रभु[५] की उपासना[६] करते हैं । गुरु-मुख से बहुत लोग ज्ञान लेकर मस्त[७] हुये हैं और आत्म उपज से गुरु प्रभु में अनुरक्त[८] हुये हैं ।

इन दोन्यों मति एक गति, लघु दीरघ कोइ नांहि ।
रज्जब दीन दयाल के, दोन्यों अंग[१] समांहि ।।१३।।

गुरु उपदेश और आत्म उपज इन दोनों बुद्धि वालों की गति एक ही होती है । छोटा-बड़ा कोई नहीं है । दोनों ही दीन दयालु प्रभु के स्वरूप[१] में समाते हैं ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरु उपदेश आत्म उपज ग्रंथ ७ समाप्तः ।

अथ अविगत लीला ग्रंथ ८

अविगत[५] की गति[१] उलटी भाई, सो काहू पै लखी न जाई ।
ब्रह्म अंश जीव क्यों होई, नांहीं अंश मिलै क्यों सोई ।।१।।

प्रभु की विलक्षण चेष्टा दिखा रहे हैं—हे भाई ! मन इन्द्रियों के अविषय[५] प्रभु की चेष्टा[१] उलटी है, सो यथार्थ रूप से किसी से भी नहीं देखी जाती । भला, जीव निरंश ब्रह्म का अंश कैसे होगा ? और अंश नहीं हो तो वह ब्रह्म में मिलता कैसे है ?

ज्यों प्रकट हुताशन[५] काष्ठ विनाशा, सोई पावक काष्ठ निवासा ।
अचरज एक अजब घन मांहीं, पावक बीज[१] बुझावै नांहीं ।।२।।

जैसे—अग्नि[४] काष्ठ से प्रकट होकर काष्ठ को नष्ट करता है और वही अग्नि काष्ठ में रहता है। बादल में एक अद्भुत आश्चर्य देखा जाता है, अग्नि रूप बिजली[१] उसके जल से बुझता नहीं है। यह प्रभु की विलक्षण चेष्टा है।

श्रावण भादू समुद्र घटावै, ऋतू गये पुनि ताहि बधावै।
ज्यों अधर आकाश उसन में ओलै, पाणी सौं कैसे घड़ि छोलै ॥३॥

श्रावण और भादवे में वर्षा वर्षती है तब तो समुद्र का जल कम कर देते हैं और वर्षा ऋतु चली जाती है तब उसका जल बढा देते हैं। ग्रीष्म ऋतु में भी आकाश में अधर जैसे कोई छोल-घड़ कर तैयार करे हों वैसे जल के ओले कैसे बना देते हैं।

सद्गुरु संग शिष्य शठ कीजे, बिन गुरु जीव ब्रह्म में लीजे।
बोवें जुवारि कागवा कीजें, यूं उलटी गति[४] देख पतीजे[१] ॥४॥

सदा सद्गुरु के संग रहने वाले शिष्य को तो शठ बना देते हैं और बिना गुरु के संग रहे भी जीव को अपने ब्रह्म स्वरूप में मिला लेते हैं। ज्वार बोने पर उसका काग्या कर देते हैं। इस प्रकार उलटी चेष्टा[४] देख करके ही हम विश्वास[१] करते हैं कि प्रभु की चेष्टा परम विलक्षण है।

ज्यों वर्षा ऋतु वन हि बधावै, जोय[५] जवासे को दौं[१] लावै।
हांडी में कण कोरा[७] राखै, ता अविगत[८] की उलटी साखै[६] ॥५॥

जैसे वर्षा ऋतु में वन को बढ़ाते हैं, वैसे ही देखो[५], जवासे को अग्नि[१] लगाने के समान कर देते हैं। अग्नि पर चढ़ी हुई हँडिया में करड़क्‌ कण को बिना[७]-सीझा रख देते हैं। उन मन-इन्द्रियों के अविषय[८] प्रभु की उलटी चेष्टा की ये साक्षी[६] हैं।

पाहन[५] मांहि प्राणि को पोषै, मुक्ता[६] मरै भूख के दोषै।
जा वह्नि[७] सौं जगत जरावै, सो करि चूनि[८] चकोर चुगावै ॥६॥

पत्थर[५] में रहने वाले प्राण धारी कीट का पोषण करते हैं और बाहर खुले[६] फिरने वाले भूख के दोष से मरते हैं। जिस अग्नि[७] से जगत्‌ को जलाते हैं, उसी अग्नि के छोटे टुकड़े[८] करके चकोर पक्षी को चुगाते हैं।

जैसे केश कृष्ण[१] ह्वै श्वेतै, ता[२] अविगत[३] का उलटा हेतै[४]।
सारी मांड[५] अधर धरि राखी, शशिहर[६] सूर अकाशे[७] साखी[८] ॥७॥

जैसे काले[१] केश श्वेत होते हैं, वैसे ही उन[२] प्रभु[३] का उलटा कार्य करने का ही प्रेम[४] देखा जाता है। देखो, संपूर्ण ब्रह्माण्ड[५] बिना आश्रय अधर धर रक्खा है। इसकी साक्षी[८] आकाश[७]-में स्थित चन्द्र[६], सूर्य आदि नक्षत्र देते ही हैं।

जीव रचै[५] सो होय न कामा, उलटी और करै कछु रामा।
गर्व गंजन गोविन्द विनानी[१], ढाय[७] देय अपनी पुनि ठानी[८] ॥८॥

जीव जिस कार्य को करे[५] वह तो नहीं होता, उस से उलटा राम और ही कुछ कर देते हैं। विज्ञानी[१] गोविन्द गर्व नष्ट करने वाले हैं। जीव की बात नष्ट[७] करके फिर अपनी ही करते[८] हैं।

सर्वंगी सब ठाहर न्यारा, मन वच कर्म न जाय विचारा।
अविगत[५] की गति[१] लखी न जाई, नेति[७] नेति कह वेद सुनाई ॥९॥

संपूर्ण विश्व ही उन प्रभु का अंग है, वे सब स्थानों में हैं और सब से अलग भी हैं। वे मन, वचन, कर्म और विचार से भी ठीक-ठीक नहीं जाने जाते। मन-इन्द्रियों के अविषय[५] प्रभु की चेष्टा[१] देखी नहीं जा सकती। वेद भी यह-नहीं[७], यह नहीं, कह कर ही सुनाता है।

अविगत[१] अलख अनन्त तू, चित चिन्ता नहिं जाय।
जन रज्जब सब यूं रहे, ठग के लाडू खाय ॥१०॥

हे प्रभो ! आप मन-इन्द्रियों के अविषय[१], अलख, अनन्त हैं, ऐसा आप के स्वरूप का विचार करने पर भी चित्त की चिन्ता नष्ट नहीं होती। आपके स्वरूप का विचार करने वाले भी ठग के लड्डू खाये हुये नर के समान ठगे-से रह गये हैं, आप की चेष्टा रूप लीला का पार नहीं पा सके हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अविगत लीला ग्रंथ ८ समाप्तः।

अथ अकल लीला ग्रंथ ९

सेवक पूछै साहिब रामा, कौन प्रकार किया यहु कामा।
कै मनसा[५] करि[१] मांड अधारी,[७] कै[८] गुण रहित भई यहु सारी ॥१॥

निराकार प्रभु की लीला संबन्धी विचार कर रहे हैं—हे स्वामिन् ! हम सेवक जन आप से पूछते हैं, हे राम ! यह सृष्टि रचना रूप काम किस प्रकार किया है ? क्या आप अपने मनोरथ[५] से ही ब्रह्माण्ड को बना[१] कर, इसके आधार[७] हुये हैं ? या[८] गुणों से रहित निर्गुण ब्रह्म से यह सारी सृष्टि विवर्त्त रूप हो गई है ?

इष्ट[१] बिना यहु सृष्टि न होई, झूठी बात कहो मत कोई।
बिन चिन्ता चित्राम उपाया, ज्यों तरुवर संग दीसै छाया ॥२॥

उत्तर—बिना अभीष्ट[१] के यह सृष्टि नहीं हो सकती। अपने आप होने की मिथ्या बात कोई नहीं कहो। प्रभु ने बिना ही चिन्ता के जीवों के कर्म भोग के निमित्त संसार रूप चित्र उत्पन्न किया है। जैसे वृक्ष के साथ छाया दिखाई देती है, वैसे ही प्रभु के साथ सृष्टि-लीला है।

शशि में श्रम[६] सु दीसै नाहीं, कमल क्लेश रहित खुल[६] जांहीं।
त्यों परातम से आतम सारी, समर्थ इच्छा रहित सँवारी[७] ॥३॥

जैसे चन्द्रमा में परिश्रम[५] होता हुआ नहीं दिखाई देता, कमल खेद रहित अपने आप ही खिल[६] जाते हैं, वैसे ही परमात्मा से सब आत्मायें उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार उन समर्थ प्रभु ने अपनी इच्छा के बिना ही सृष्टि उत्पन्न[७] की है।

चन्दन चाहि सु चिन्तन बंधी, भार अठारह भई सुगन्धी।
यूं क्रम[१] रहित करता कर्म कीना, ऐसी विधि यहु प्राण पतीना[२] ॥४॥

चंदन की चाह से उसके चिंतन में बंधी तब अठारह भार वनस्पति सुगंध युक्त हुई है, चंदन ने कुछ भी नहीं किया है। वैसे ही कर्म[१] रहित कर्त्ता पुरुष ने यह संसार रूप कर्म किया है। इसी प्रकार यह सृष्टि रचना संबन्धी विश्वास[२] प्राणी ने किया है।

चुम्बक कब चंचल मति[१] सांची, जाके संग सूई सब नाची।
ऐसे अचल चलाये प्राना, समझै कोई संत सुजाना ॥५॥

यह सत्य है, चुम्बक ने सुई को चंचल करने का विचार[१] कब किया है? फिर भी उसके संग से सब सुई नाचने लगती हैं। ऐसे ही अचल प्रभु ने प्राणियों को चलाया है। इस रहस्य को कोई संत ही समझ पाता है।

बादल बिजली बून्द रु वाय[१], शून्य[२] शरीर[३] सौं उपजै आय।
त्यों निर्गुण सौं सगुण हि रूपा, अकल[४] निरंजन अमल अनूपा ॥६॥

बादल, बिजली, बिन्दुयें और वायु[१] इन सबके आकार[३] आकाश[२] से उत्पन्न होकर आते हैं। वैसे ही निर्गुण से सगुणरूप उत्पन्न होते हैं। निराकार[४] निरंजन ब्रह्म सदा अमल और अनुपम ही रहते हैं।

समुद्र सुरति बिन जलचर जागे, राग द्वेष क्रीड़ा कृति[१] लागे।
पाप पुण्य पानी को नाहीं, ऐसे ब्रह्म सकल घट[२] मांहीं ॥७॥

समुद्र की जगाने की वृत्ति हुये बिना ही, जलचर जग जाते हैं और राग-द्वेष क्रीड़ा आदि कामों[१] में लग जाते हैं किंतु उनके पाप-पुण्य पानी को नहीं लगते। ऐसे ही ब्रह्म सब शरीरों[२] में रहकर भी निर्लेप रहते हैं।

आंखि अनन्त आदित्य अधारा, देखैं विविध भांति व्यवहारा।
भले बुरे में नांही भानू[१], ऐसे राम राम की आनू[२] ॥८॥

अनन्त नेत्र सूर्य के आधार से विविध भांति का व्यवहार देखते हैं किन्तु उनके भले बुरे देखने के गुण-दोष में सूर्य[१] साक्षी नहीं होते हैं। ऐसे ही राम की सत्ता से सब कुछ होता है किंतु हम राम की शपथ[२] करके कहते हैं राम को कुछ नहीं लगता, राम निर्लेप हैं।

दीपक ज्योति जुवारी[1] सारे, इक जीते एको धन हारे।
हर्ष शोक में नांहि उजासा[2], त्यों परमेश्वर प्राण हुं पासा ॥९॥

दीपक ज्योति के प्रकाश में सब जुआरी[1] जुआँ खेलते हैं, एक जीतता है और एक धन हारता है किन्तु उनके हर्ष-शोक में प्रकाश[2] नहीं पड़ता है। वैसे ही परमेश्वर प्राणियों के पास निर्लेप रहते हैं।

नींद निवास मनोरथ आये, अकर्म कर्म सु खेल समाये।
संकट मुक्ति समाधि हि दूरी, ईहिं विधि जीव ब्रह्म भरपूरी ॥१०

निद्रा के समय जीव रहते तो निवास स्थान में हैं और स्वप्न रूप मनोरथों से कहीं के कहीं चले जाते हैं, अकर्म रहकर भी नाना कर्म रूप खेल में समाते हैं, क्लेशों से मुक्त करने वाले समाधि-स्थान से दूर रहते हैं। इस प्रकार जीव अपनी भरपूर सृष्टि करते हैं, वैसे ही कर्म रहित अकर्म ब्रह्म से सृष्टि रूप लीला होती है।

वायु बन्द वपु व्यसन[1] अनेकं, मारुत मांहि न जाने एकं।
त्यों सकल गुण हुं निर्गुण आधारा, बीच वस्तु नहि लिपै विकारा ॥११

शरीर में वायु रुकता है तब अनेक कष्ट[1] होते हैं किंतु भीतर स्थित वायु एक को भी नहीं जानता। वैसे ही सभी गुण निर्गुण ब्रह्म के आधार हैं, ब्रह्म रूप वस्तु गुणों के बीच में रहकर भी उनके विकारों से लिपायमान नहीं होती।

ज्यों सफल वृक्ष खग सेन्या[1] वासा, काम क्रोध करि तन का नाशा।
रूंख[2] रहित हत्या अरु हेते[3], त्यों जगत पति जग मांहीं सेतै[4] ॥१२॥

जैसे फल वाले वृक्ष पर पक्षी-दल[1] निवास करता है, उसमें काम-क्रोध द्वारा बहुतों का नाश भी होता है किंतु वृक्ष[2] उनकी हत्या और प्रेम[3] दोनों से ही रहित रहता है। वैसे ही जगत्पति प्रभु जगत् में रहकर भी शुद्ध[4] रहते हैं।

कमल कृतघ्न देखो दीठी[1], जा में उत्पत्ति ता[2] जल पीठी[3]।
वारि विमुख मन शोक उछाहा, यूं सुख सागर में जिव दाहा ॥१३

कृतघ्न कमल को दृष्टि[1] से देखो, वह जिस जल में उत्पन्न होता है, उसी[2] जल को पीठ[3] देता है। जल से विमुख होने से ही उसके मन में सूर्य के भावाभाव में उत्साह शोक होता है। ऐसे ही सुख-सागर ब्रह्म से विमुख होने से जीव को दुःखरूप दाह होता है।

सकल प्राणि पृथ्वी पर मेला, नाना विधि के खेलहिं खेला।
धरणी न धारै तिनके रंगा, त्यों पर आतम आतम संगा ॥१४

संपूर्ण प्राणी पृथ्वी पर मिलते हैं, नाना प्रकार के कर्म करना रूप खेल खेलते हैं किंतु पृथ्वी उनके गुण-दोष रूप रंगों को धारण नहीं करती है। वैसे ही परमात्मा जीवात्माओं के संग रह कर भी उनके गुण-दोषों से लिपायमान नहीं होते।

दर्पण में दीसै सब देशा, ताको भार नहीं दुख लेशा।
यूं गुण रहित सु अंतरजामी, ता मांहीं खेलैं सब कामी ॥१५॥

दर्पण में उसके सामने का सब देश दीखता है किंतु उस देश का भार जन्य दुःख दर्पण को किंचित् मात्र भी नहीं होता। ऐसे ही गुणों से रहित अन्तर्यामी ब्रह्म हैं, उन ब्रह्म में ही संपूर्ण काम करने वाले प्राणी काम करना रूप खेल खेलते हैं फिर भी ब्रह्म निर्लेप है।

अग्नि अठारह भार समीपा, स्वाद हुं संग स्वाद नहिं छीपा[१]।
यूं अंजन[२] मांहि निरंजन आपै[३], ता को परसै[४] पुण्य न पापै ॥१६

अठारह भार वनस्पति में अग्नि रहता है, उनके स्वादों के संग रह कर भी आज तक स्वाद को नहीं छुआ[१] है। वैसे ही माया[२] और मायिक कार्य संसार में निरंजन ब्रह्म स्वयं[३] रहते हैं किंतु सांसारिक पुण्य-पाप उनको नहीं छूते[४] हैं।

मणिगण अनन्त सूत मधि एकै, अरस परस अरु भिन्न विवेकै।
ऐसो विधि दीसै जगनाथा, सब से न्यारा सबके साथा ॥१७

अनंत मणिगणों के मध्य एक सूत होता है, वह सूत और मणियां परस्पर मिले हुये भी हैं फिर भी सूत मणियों से अलग ही रहता है। इसी प्रकार विवेक द्वारा देखने से जगन्नाथ प्रभु सबके साथ रहकर भी सबसे अलग ही भासते हैं।

मणि भुजंग[१] ज्यों मांहीं रहहीं, उभय परस्पर गुण नहिं गहहीं।
त्यों तन मांहीं है तत्त्व सारा, सु गुरु प्रसाद किया सु विचारा ॥१८

जैसे मणि सर्प[१] के मुख में ही रहती है किंतु मणि और सर्प दोनों ही आपस में एक दूसरे का गुण ग्रहण नहीं करते। न मणि से सर्प विष हटता और न सर्प-विष मणि पर चढता। वैसे ही शरीर में तत्त्व-सार ब्रह्म है। यह विचार हमने श्रेष्ठ गुरु की कृपा से ही किया है।

तुम समान नाहीं अनुमाना, विषम[१] संधि[२] क्यों करूं बखाना।
अकह[३] ठौर[४] यहु तुम हुं कहाई, गुरु दादू प्रसाद सु पाई ॥१९

प्रभो! आपके समान अनुमान प्रमाण कोई भी नहीं है? जो आप से अजोड़[१] है उसे आपसे जोड़ने[२] का कथन कैसे करूं? अकथनीय[३] आपका स्वरूप-धाम[४] ही कहा जाता है। यह बात मैंने गुरुदेव दादूजी के कृपा-प्रसाद से प्राप्त की है।

सकल करै न कर्म में आवै, परम भेद[1] पूरा जन[2] पावै।
सर्वंगी समर्थ गति[4] न्यारी[3], जन रज्जब ता परि बलिहारी ॥२०

वे प्रभु सम्पूर्ण विश्व को रचते हैं किंतु कर्म तथा कर्मफल में नहीं आते। इस परम रहस्य[1] को पूरा संत[2] ही प्राप्त करता है। जो सर्वंगी हैं, समर्थ हैं, जिनकी चेष्टायें[4] सांसारिक प्राणियों से विलक्षण[3] होती हैं। मैं दास उन पर बलिहारी जाता हूं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सकल लीला ग्रन्थ ६ समाप्त:।

अथ प्राण पारिख ग्रन्थ १०

प्राण पुरुष की पारिख पाई, जा गुण मिलै ताहि सम भाई।
ज्यों जल पैठि[1] ईख गुड़ होई, पोस्त परस[2] अफीम ह्वै सोई ॥१॥

प्राणी की परीक्षा संबंधी विचार कर रहे हैं—प्राणधारी पुरुष की परीक्षा करने का उपाय प्राप्त हो गया है। प्राणी जिस गुणसे मिलता है उसके समान ही हो जाता है। जैसे ईख में जल प्रवेश[1] करके गुड़ हो जाता है और पोस्त के पौधे से मिलकर[2] वही जल अफीम हो जाता है।

अठारह भार मांहि जल पैठै, गुण समान स्वाद ह्वै बैठै।
जैसी विधि यहु रंगति[1] नीरा, श्याम श्वेत ह्वै राता[2] पीरा[3] ॥२॥

अठारह भार वनस्पति में जल प्रवेश करता है, तब उनके गुण के समान ही स्वादु होकर स्थित होता है। यह जल जिस प्रकार के रंग[1] में मिलता है वैसा ही श्याम, श्वेत, रक्त[2], पीत[3] हो जाता है।

ऐसी विधि आतमा पिछानी, ता सम तुल्य जाहि गुण सानी[1]।
शीत लाग जल हिम हूं होई, अग्नि प्रसंग उष्ण पुनि सोई ॥३॥

उक्त पद्य २ में कहा है, इसी प्रकार आत्मा को पहचानो, जीवात्मा भी जिस गुण से मिलता[1] है उसके समान ही हो जाता है। शीत लगने पर जल बर्फ हो जाता है और वही बर्फ अग्नि के संग से गर्म होकर पुन: जल हो जाता है। वैसे ही जीवात्मा भी संग के समान ही हो जाता है।

ज्ञान दृष्टि करि देखिया, आतम उदक स्वरूप।
सरगुण[2] मिल सरगुण[3] सही[4], निर्गुण मिल निज रूप ॥४॥

ज्ञान-दृष्टि के द्वारा देखा है, जीवात्मा का स्वरूप भी जल[1] के समान ही है। जीवात्मा सगुण[2] से मिलकर निश्चय[4] ही सगुण[3] हो जाता है और निर्गुण से मिलकर निजरूप निर्गुणता को प्राप्त हो जाता है।

आतम भाव एक सो ऐसा, जा गुण मिलै ताहि गुण तैसा।
एकै भाव राग बहु परसै[1], राग समान भाव बिच दरसै ॥५॥

जीवात्मा का भाव एक है और वह ऐसा है कि—जिस गुण से मिलता है, उसी गुण के जैसा हो जाता है। एक भाव बहुत से रागों से मिलता[1] है फिर राग के समान ही भाव भी बीच में भिन्न २ दीखने लगते हैं।

सोई भाव पढै बहु वानी[1], वेद कतेब भाव द्वै जानी।

नाना विधि हूनर[2] ह्वै भावै, गुण समान ह्वै बीच लखावै ॥६॥

उसी एक भाव से बहुत प्रकार की वाणी[1] पढ़ी जाती हैं। वेद से कुरान रूप किताब में जाने पर दो भाव जाने जाते हैं। नाना प्रकार की कला[2] भी भाव ही हैं। गुण के समान ही हृदय के बीच में भाव दिखाई देते हैं।

एकै भाव पंच रस भोगी, सोई भाव उलट पुनि योगी।

नाना विधि देही गुण भावै, यहु पारिख पूरा जन पावै ॥

जिन अंगों[1] प्राणी पति[2] मेला, ते सब अंग भाव के खेला ॥७॥

एक ही भाव से पंच रसों को भोगता है, वही भाव बदल कर योगी बन जाता है। नाना प्रकार के शरीर के गुण भी भाव ही हैं। यह परीक्षा पूरे संत जन ही कर पाते हैं। जिन लक्षणों[1] से प्राणी का प्रभु[2] से मिलन होता है, वे सब लक्षण भी भाव के ही खेल हैं।

आतम परखी लग्न सम, जस लागी तस अंग[1]।

जन रज्जब जिव फटक[2] गति[3], धरचा[4] अधर[5] ह्वै रंग ॥८॥

जीवात्मा की परीक्षा हो गई है, वह लग्न के समान ही हो जाता है। जैसी लग्न लगती है वैसा ही शरीर[1] हो जाता है। जीव की चेष्टा[3] बिल्लोर[2] पत्थर के समान है। वह जैसा रंग उस पर पड़ता है वैसा ही भासता है। वैसे ही जीव माया[4] के साथ रहता है तो माया से एक हो जाता है और ब्रह्म[5] के साथ होता है तो ब्रह्म से एक हो जाता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित प्राण पारिख ग्रन्थ १० समाप्तः।

अथ उत्पत्ति निर्णय ग्रंथ ११

उत्पत्ति निर्णय कीजिये, गुरु दादू के ज्ञान।

नाद विंदु यहु एक है, कै[1] कछु भिन्न विनान[2] ॥१॥

इस ग्रन्थ में उत्पत्ति संबन्धी विचार प्रकट कर रहे हैं—गुरु दादूजी के ज्ञान द्वारा हम उत्पत्ति संबन्धी निर्णय कर रहे हैं। नाद-विन्दु ये एक हैं या[1] इनका कुछ भिन्न विज्ञान[2] है?

आदू आप अलेख[1] तैं, आतम हो ॐकार ।
सो चेतन जड़ पंच करि, पैठा[2] निकसनहार ॥२॥

विश्व के आदि स्वयं परमात्मा[1] से ओंकार रूप आत्मा उत्पन्न होता है, वह चेतन है किंतु जड़ पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों में प्रवेश[2] करता है फिर भी वह उनके फंदे से निकलने वाला है ।

काया पुतरी काठ की, हिलै नहीं दश पांच ।
आतम अँगुरी और की, आय नचाया नाच ॥३॥

शरीर काष्ठ की पुतली के समान है, दश-पांच से भी नहीं हिलता किंतु आत्मा आने पर दूसरे की अंगुली के संकेत से भी शरीर से नाच नचाता है ।

टूटा सुंदरि[1] साण थल, सुकल[2] सु किरची[3] सार[4] ।
आई चुम्बक चेतना, मुये जिलावनहार ॥४॥

जैसे साण रूप स्थान पर लोह[4] से लोह कण[3] टूट जाता है फिर चुम्बक के पास आने पर वह चंचल हो जाता है । वैसे ही नारी[1] संग से शरीर का वीर्य[2] गिर जाता है किंतु मुरदे को जीवित करने वाले आत्मा के आने से उसमें पुनः चेतना आ जाती है ।

रज वीरज तन काठ कठ[1], सूने शब्द न कोय ।
हाथा जोड़ी जीव सौं, यूं मिल खेलैं दोय ॥५॥

रज-वीर्य काष्ठ के समान कठोर[1] होकर शरीर रूप हो जाते हैं और वह शरीर शून्य रहता है । उसमें कोई शब्द भी नहीं होता, फिर जीव के साथ उसकी हाथा जोड़ी होती है अर्थात् मिलते हैं तब शरीर और जीव दोनों क्रीड़ा करते हैं ।

वपु वसुधा[1] माटी मदन[2], माता चक्र निवास ।
सुत शरीर दीपक रचा, आयो और उजास[3] ॥६॥

पृथ्वी[1] की मिट्टी चक्र पर निवास करती है तब उससे दीपक बनता है और प्रकाश[3] और कहीं से ही आता है । वैसे ही शरीर का वीर्य[2] माता के गर्भाशय में निवास करता है तब पुत्र का शरीर बनता है और आत्मा और कहीं से आता है ।

काम काठ करि नीपज्या, उदर उदधि के माँहि ।
बालक बोहिथ[1] क्यों चलै, प्राण पवन जे नाँहि ॥७॥

काम रूप काष्ठ से पेट रूप समुद्र में बालक रूप जहाज[1] उत्पन्न हो गया है किन्तु प्राण रूप वायु नहीं हो तो वह कैसे चल सकेगा ?

गुड़िया[1] गंदी बूंद थी, मृत्तक माता पेट ।
वायु बोल तें बाहरी[2], उड़ै[3] न उडसी[4] नेट[5] ॥८॥

जैसे कपड़े से पुतली[1] बनती है, वैसे ही यह काया माता के पेट में रज-वीर्य रूप गंदी बिन्दु से बनी थी और मृतक वत् थी, जब प्राण वायु आकर इसमें बोलने लगा तब यह पेट से बाहर[2] आकर दौड़ने[3] लगी है । अंत[5] में जब प्राण वायु नहीं रहेगा तब यह नहीं दौड़[4] सकेगी ।

खलक[1] खलावर[2] नीपजे[3], मात पिता को मारि[4] ।
मारुत रूपी मांहिला, औरै[5] फूंक[1] विचारि ॥९॥

संसार[1] में अति-नीच[2] पुत्र उत्पन्न[3] होता है, वह माता-पिता को भी ताड़ना[4] देता है । उसके शरीर के भीतर का प्राणात्मा रूप जीव अन्यों[5] की अर्थात् दुर्जनों की शिक्षा[1] रूप विचारों में ही रत्त रहता है । स्वजनों तथा सज्जनों की शिक्षा नहीं मानता ।

सार शरीरों नीपजै, देही दर्पण पूत ।
प्राण पड़्या प्रतिबिंब ज्यूं, वह औरै अवधूत ॥१०॥

पृथ्वी के सार कणों से दर्पण उत्पन्न होता है, वैसे ही शरीरों के सार रज-वीर्य से पुत्र उत्पन्न होता है, जैसे दर्पण में प्रतिविम्ब पड़ता है, वह दर्पण से भिन्न ही होता है । वैसे ही प्राणी के शरीर में चेतन रूप प्रतिविम्ब पड़ा है, वह शरीर से भिन्न है और अवधूत वत् शरीर की आसक्ति से रहित है ।

दोति[1] कंत[2] मसि[3] मूत्र मल, कागद कामिनि ठौर[4] ।
लेखनी लिंग शरीर की, शब्द समाना और[5] ॥११॥

जैसे दवात[1] की स्याही[3] से कागज पर लेखनी द्वारा शब्द लिखा जाता है किंतु शब्द के अक्षरों में समाया हुआ अर्थ अक्षरों से भिन्न ही होता है । वैसे ही पति[2] मल-मूत्र अर्थात् वीर्य को लिंग द्वारा नारी के गर्भाशय रूप स्थान[4] में पहुंचाता है, उससे शरीर की उत्पत्ति होती है किंतु उस शरीर में समाया हुआ आत्मा शरीर से भिन्न[5] ही होता है ।

बाबा[1] बादल मां[2] मही, बीज[5] हि बूंद प्रवेश ।
किरण समानी सूर[3] तें, वह कछु औरै[4] देश ॥१२॥

जैसे बादल का जल विन्दु रूप से पृथ्वी में प्रवेश करता है और किरणें सूर्य[3] से पृथ्वी पर पड़कर भी पृथ्वी से अलग ही रहती हैं । वैसे ही पिता[1] का विंदु[5] माता[2] के गर्भाशयमें प्रवेश करता है और आत्मा गर्भस्थ शरीर में रहते हुये भी उससे भिन्न ही रहती है । जिसमें आत्मा समाता है, वह ब्रह्मरूप देश गर्भस्थ शरीर से भिन्न[4] ही है ।

जैसे सुमिरण सुरति[1] में, त्यों देही[2] में हंस[3] ।
मृत्तक[4] जीवै देख[5] तैं, गुरु गोविंद के अंश ॥१३॥

जैसे मनोवृत्ति[1] में प्रियतम का स्मरण रहता है, वैसे ही शरीर[2] में आत्मा[3] रहता है । गोविंद के अंश जीव अपने को मरण[4]-धर्मा मानने पर भी गुरु के दर्शन[5]-सत्संग से ब्रह्म रूप सजीवन दशा को प्राप्त होते हैं ।

अनपढ़ आंखि अनंग[1] गति[2], एक रूप उनहार[3] ।
पाठ रूप पड़ि[4] प्राणियां, विविध भांति व्यवहार ॥१४॥

प्रथम काम[1] (वीर्य) की चेष्टा[2] बिना पढ़े हुये नेत्रों के समान[3] होती है जैसे बिना पढ़े हुये नेत्र सब अक्षरों को समान ही देखते हैं, वैसे ही काम सबको एक रूप ही देखता है और जैसे पढ़े हुये नेत्र पाठ पर पड़कर[4] अक्षरों के नाना भाँति के रूप, नाम और अर्थों को देखते हैं, वैसे ही प्राणियों का काम (वीर्य) गर्भाशय में पड़ कर संतान रूप से उत्पन्न होता है तब विविध भांति का व्यवहार करता है ।

ऐसे तन[1] अरवाहि[2] द्वै[3], ज्यों श्वास शब्द में राग ।
उभय[4] अनामति[5] देखिये, जैसे मस्तक भाग[6] ॥१५॥

जसे श्वास और शब्दमें परस्पर प्रेम है, वैसे ही शरीर[1] और आत्मा[2] दोनों[3] में परस्पर प्रेम है । जैसा भी जिसका भाग्य[6] होता है वैसे ही उसके शरीर और आत्मा दोनों[4] अन्य[5] बुद्धि से देखे जाते हैं अर्थात् शरीर के साथ ही आत्मा भी उत्पन्न होता हुआ सा और शरीर जैसा ही भासता है किंतु ज्ञानी जन शरीर को जन्मने वाला और आत्मा को अजन्मा इस प्रकार की भिन्न बुद्धि से ही देखते हैं ।

पाणी रूपी पिंड है, शीत शक्ति जिव[1] जान ।
द्वै मिल जा मैं कुंभ थल, समझै संत सुजान ॥१६॥

जैसे घड़ा और शीत दोनों के संयोग से जल जमकर घड़े में पिंडरूप हो जाता है, वैसे ही शरीर और माया दोनों के मिलने से जीव[1] शरीर में जड़ सा हो जाता है । ऐसा ही जानो । जीव की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, इस बात को ज्ञानी संत ही जानते हैं अर्थात् वास्तव में जीव उत्पन्न नहीं होता शरीर ही उत्पन्न होता है ।

समुद्र सुन्दरी नीपजहिं, सूने[1] सीप शरीर ।
आतम बूंद आकाश की, स्वाति स्वरूपी नीर ॥१७॥

समुद्र से मोती शून्य[1] सीप ही उत्पन्न होती है, स्वाति बिंदु रूप जल आकाश से प्राप्त होता है तब ही उसमें मोती उत्पन्न होता है वैसे ही नारी में चेतन आत्मा से शून्य शरीर ही उत्पन्त होता है फिर शरीर

अंतःकरण में ब्रह्म का प्रतिविम्ब रूप चेतन आत्मा आता है तब ही शरीर में चेतना आती है। इस प्रकार शरीर में चेतना की उत्पत्ति होती है।

बूरी[1] पिता पहाड़ को, मातु माधुरी[2] मेल।
पलटै पारस प्राण[3] मिल, वह कछु और हि खेल[4] ॥१८॥

पर्वत की रेती[1] में लोहकरण हों और उसमें मिश्री की मधुरता[2] मिलादें तो वह सुन्दर हो जाती है किंतु वे ही लोहकरण पारस से मिलने पर बदल कर स्वर्ण-करण हो जाते हैं तब विशेष अद्भुतता आती है। वैसे ही पिता का वीर्य और माता का रज मिल कर सुन्दर शरीर तो बन जाता है किंतु वह शरीर जड़ से चेतन तो प्रणात्मा[3] के मिलने से ही होता है। वह प्राणात्मा का मिलन रूप काम[4] रज-वीर्य के मिलन से कुछ और ही है अर्थात् अति अद्भुत है।

वृक्ष बीज माता पिता, अरभक[1] उदर[2] अंकूर।
पलटै चंदन चेतना[3], और वास[4] बलि[5] नूर[6] ॥१९॥

माता-पिता वृक्ष के बीज के समान हैं, बीज के भीतरसे अंकुर निकलकर वृक्ष तो बन जाता है किंतु सुगंधयुक्त[4] चंदन तो चंदन के द्वारा ही होता है। वैसे ही पिता का वीर्य माता के गर्भाशय में जाने पर माता के पेट[2] में बालक[1] का शरीर तो उत्पन्न हो जाता है किंतु उसे जड़ से चेतन रूप में बदलने का काम तो चेतन आत्मा[3] ही करता है। उस चेतन आत्मा के स्वरूप[6] की हम बलिहारी[5] जाते हैं।

मात पिता तिल रूप हैं, सुत शरीर बिचि तेल।
फहम[1] फूल मिलि मगन[2] ह्वै, पलट्या[3] और हि खेल[4] ॥२०॥

तिलों में से तेल तो उत्पन्न हो जाता है किंतु पुष्पों से मिलने पर उसमें सुगंध अधिक हो जाती है, जिसको सूंघकर प्राणी मग्न[2] होता है। वैसे ही माता-पिता के रज-वीर्य से माता के शरीर में पुत्र का शरीर तो बन जाता है किंतु जब वह ज्ञान[1] सम्पन्न होता है तब अज्ञानी से बदल[3] कर ज्ञानी बन जाता है। यह और भी अति अद्भुत काम[4] होता है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति द्वारा ज्ञानी उत्पन्न होता है।

धर[1] गिरि[2] रूपी मातु पितु, चेलक[3] चकलो[4] धात[5]।
छाप[6] छबीले[7] छिपि[8] दई[9], करने लागी बात ॥२१॥

माता-पिता पृथ्वी[1] और पर्वत[2] के समान हैं, पुत्र[3] धातु[5] की शिल्ली[4] के समान है। जैसे पर्वत-पृथ्वी की स्वर्ण आदि धातुओं की शिल्ली पर सुंदर चित्र बना दिया जाय तब वह और भी सुंदर बन जाती है और मानो बात ही करेगी ऐसा ज्ञात होता है। वैसे ही माता पिता से उत्पन्न पुत्र के शरीर में परम शोभायुक्त[7] प्रभु गुप्त[8] रूप से आत्मा रूप चित्र[6]

बना देते[६] हैं तब वह शरीर वार्तालाप करने लगता है। इस प्रकार वचन बोलने की शक्ति उत्पन्न होती है।

नारी पुरुष सु काठ तन, लट्टू चकरी बाल[१]।
डोरी दृढता भिन्न भलि[२], अचल चलाये चाल ॥२२॥

काष्ठ से लट्टू और चक्री बनती है किंतु उनसे भिन्न डोरी दृढ़ता से भली[२] प्रकार उनके बांधकर फेंकते हैं तब ही वह डोरी अचल लट्टू और चक्री को खूब घुमाती है। वैसे ही नारी-पुरुषों के शरीर से बालक[१] उत्पन्न होते हैं किंतु उन बालक शरीरों से भिन्न जीवात्मा जब उन शरीरों में प्रवेश करता है तब उन अचल शरीरों को भी चला देता है। इस प्रकार चलने की शक्ति उत्पन्न होती है।

लोह तार तीवी[१] सु तन[२], तहां सूई सुत होय।
तेज[३] ताग[४] कूं ताक[५] तूं, वो[६] है और हि कोय ॥२३॥

लोहे के तार से सुई बनती है किंतु तूं देख[५] धागे[४] बिना वह सीने का काम कब कर सकती है? वह धागा उससे भिन्न ही होता है। वैसे ही नारी[१] शरीर[२] से पुत्र शरीर उत्पन्न होता है किंतु तूं देख, वह आत्म[३] रूप तेज के बिना क्या कर सकता है? वह[६] आत्मरूप तेज शरीर से भिन्न कोई और ही शक्ति है। उसी से सब शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

मणियां और[१] हि जाति का, और हि कुल का ताग[२]।
पिंड[४] प्राण[३] ऐसे मिले, नारी पुरुष सुहाग[५] ॥२४॥

मणियें, रत्न, धातु, काष्ठ आदि अन्य[१] जाति के होते हैं और धागा[२] कपासादि अन्य ही जाति का होता है। दोनों मिलकर माला बन जाती है। वैसे ही प्राणात्मा[३] और शरीर[४] भिन्न भिन्न जाति के होने पर भी नारी पुरुष के सौभाग्य[५] से दोनों मिल कर पुत्र बन जाते हैं। इस प्रकार संतान की उत्पत्ति होती है।

अस्त[१] कड़ी[२] तन पाटड़ी[३], उपजी रीती ठाम।
जीव समाना जुगति सों, गोरख धंधा नाम ॥२५॥

पहले काष्ठ लोहादि की खाली पटड़ी[३] ही बनती है फिर मनुष्य युक्ति से उसमें कड़ियां[२] फंसा कर उसका नाम गोरखधंधा रखता है। वैसे ही पहले गर्भाशय में मांस पिंड रूप खाली शरीर ही बनता है फिर उसमें हड्डियाँ[१] बनती हैं और युक्ति से जीव प्रवेश करता है, तब उसका नाम प्राणी हो जाता है। यही उत्पत्ति का निर्णय है।

गोप्य[१] बात गोविन्द की, लहै[२] न मन मति लेश।
रज्जब पाई रहम[३] सों, सतगुरु के उपदेश ॥२६॥

उत्पत्ति संबंधी परमेश्वर की वार्ता गुप्त[1] रहने योग्य ही है, उसको मन-बुद्धि लेश मात्र भी नहीं जान[2] सकते। हमने तो प्रभु की कृपा[3] से तथा सद्‌गुरु के उपदेश से प्राप्त की है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित उत्पत्ति निर्णय ग्रंथ ११ समाप्तः।

अथ गृह वैराग्य बोध ग्रंथ १२

गृहस्थ उवाच–गृही ज्ञान[1] करि पूछिया, सुन हु विगत[2] वैराग।
कहा घटे सुन्दरि किये, कहा बढ़ै करि त्याग ॥१॥

इस ग्रंथ में गृहस्थ और विरक्त के प्रश्नोत्तर द्वारा कामिनी कनक के ग्रहण त्याग संबंधी विचार कर रहे हैं—गृहस्थ ने विचार[1] पूर्वक कामिनी से रहित[2] वैराग्य युक्त विरक्त से पूछा, हे वैराग्य युक्त विरक्त! नारी के धारण करने से क्या घटता है? और त्याग करने से क्या बढ़ता है।

वैराग्य उवाच–वैराग्य बुद्धि गहि[1] बोलिया, सुनहु गृही कछु ज्ञान।
तुम बायर[2] के वश भये, हम अबंध स्थान ॥२॥

विरक्त वैराग्य बुद्धि का आश्रय लेकर[1] बोला—हे गृहस्थ! कुछ ज्ञान श्रवण करो, तुम तो घर में नारी[2] के वश हो रहे हो और हम बंधन रहित आश्रम रूप स्थान में रहते हैं।

गृहस्थ उवाच–तुम अबंध कैसे भये, कहो विगत वैराग।
हम विषिया वपु सों करी, तुमहिं मनोरथ लाग ॥३॥

गृहस्थ बोला—कामिनी रहित वैराग्य युक्त विरक्त कहो, तुम बंधन रहित कैसे हो? हम शरीर से विषय भोगते हैं और तुम मनोरथ रूप से विषयों के भोगने में लगे हो।

वैराग्य उवाच–जैसी चोरी मन करै, तैसी जे[1] तन होय।
रज्जब तोड़ तड़ाकि[2] दे, शूली दीजे सोय ॥४॥

वैराग्य युक्त विरक्त बोला—जैसी मन से चोरी करी जाती है, वैसे ही यदि[1] शरीर से की जाय तो शीघ्र[2] ही उसके हाथ तोड़ दिये जाते हैं शूली पर चढा दिया जाता है।

गृहस्थ उवाच–जे[1] मन से चोरी करी, तो पीछे को शाह[2]।
जन रज्जब झूठी दशा[3], किस का ह्वै निर्वाह ॥५॥

गृहस्थ बोला—यदि[1] मन से चोरी कर ली जाय तब पीछे कौन साहूकार[2] रहता है? मन की चोरी कर लेने पर साहूकार की-सी

अवस्था[3] रखना मिथ्या है। इस प्रकार परमार्थ में किसका निर्वाह हो सकता है।

वैराग्य उवाच–मन सरवर तन पाल[1] गति[2], जल तरंग नहि जाय।
रज्जब रोपै पाल पग, उलटि उमंग समाय ॥६

वैराग्य युक्त विरक्त बोला—मन सरोवर के समान है और शरीर की अवस्था[2] बाँध[1] के समान है। जैसे सरोवर की तरंग बाँध के आगे नहीं जाती, बाँध के पास अपने गतिरूप पैर स्थिर कर देती है और उलटी सरोवर में ही समा जाती है, वैसे ही मनमें काम की उमंग उठती है वह शरीर से आगे नहीं जाती और पुन: मन में ही लीन हो जाती है।

गृहस्थ उवाच–जे मन तरंग तन ना चलै, कहो काम[1] क्यों जाय।
रज्जब झरता देखिये, उलटा क्यों न समाय ॥७॥

गृहस्थ बोला—यदि मन की तरंग शरीर से बाहर नहीं जाती हो तो कहो वीर्य[1] शरीर से बाहर क्यों जाता है? वीर्य शरीर से बाहर निकलता हुआ देखा जाता है, जल तरंग के समान उलटकर स्वस्थान में क्यों नहीं समाता है।

वैराग्य उवाच–काम[1] गया तो क्या भया, बिन नारी परसंग[2]।
रज्जब काया कुंभ भरि, ऊपर गया अनंग[3] ॥८॥

वैराग्य युक्त विरक्त बोला—यदि बिना नारी प्रसंग[2] के वीर्य[1] चला गया तो क्या हानि होती है? वह तो जैसे घड़ा भरने पर उसमें अधिक जल नहीं समाता ऊपर ही निकल जाता है, वैसे ही वीर्य[3] अधिक हो जाने से शरीर में नहीं समाता बाहर निकल जाता है।

गृहस्थ उवाच–कहा कुंभ[1] जड़ की दशा[2], रज्जब रुचि[3] नहि माँहि।
यहु[4] तन मन चेतन दशा, सहज काम क्यों जाँहि ॥९

गृहस्थ बोला—घड़े[1] की क्या बात है, वह तो जड़ अवस्था[2] वाला है। उसमें इच्छा[3] होती ही नहीं है किंतु यह[4] शरीर और मन तो चेतन अवस्था वाले हैं, मन में नारी प्रसंग की इच्छा होती है, तब वीर्य जाता है। सहज स्वभाव जाने की कैसे कहते हो।

वैराग्य उवाच–सहज काम ऐसे गया, ज्यों लोही[1] नकसीर[2]।
रज्जब जोरू[3] जोक गति[4], कसि[5] काढै कुल[6] हीर[7] ॥१०

वैराग्य युक्त विरक्त बोला—सहज स्वभाव वीर्य ऐसे जाता है, जैसे नाक में बिना चोट लगने पर भी रक्त[1] की धार[2] बहने लगती है। नारी[3] जोक के समान[4] खेंचकर[5] संपूर्ण[6] शरीर के सार[7] रूप वीर्य को निकाल लेती है।

गृहस्थ उवाच–गृही बुद्धि ने स्तुति करी, धनि धनि तूं वैराय ।
कामिनी तो तुम परहरी[1], कनक लता[2] तुम लाग ॥११

उक्त बात सुनकर गृहस्थ की बुद्धि ने वैराग्ययुक्त विरक्त की धन्य धन्य कह कर स्तुति करी फिर वाणी से गृहस्थ बोला—नारी तो तुमने त्याग[1] दी है किंतु स्वर्ण आदि माया रूप वेलि[2] तो तुम्हारे साथ लग ही रही है।

वैराग्य उवाच–कामिनी ज्योति समान है, कनक रूप प्रकाश ।
पचन पतंगा ज्योति में रज्जब रहै उजास ॥१२

वैराग्ययुक्त विरक्त बोला—नारी ज्योति के समान है और स्वर्णादि धातु प्रकाश रूप हैं, पतंग ज्योति में ही जल कर मरता है, प्रकाश में जीवित रहता है। वैसे ही नर के वीर्य की हानि नारी से ही होती है, स्वर्णादि धातुओं से नहीं होती।

गृहस्थ उवाच–कनक कामिनी एक गति[1], दोनों दग्धनहार[2] ।
रज्जब तोड़े राम सौं, विगता[3] कहा विचार ॥१३

गृहस्थ बोला—स्वर्णादि माया और नारी की एक समान ही अवस्था[1] है, दोनों ही मन को चिंता से जलानेवाली[2] हैं और दोनों प्रकार की माया ही राम में लगी हुई प्रीति को तोड़ती हैं। हे विरक्त[3]! यह मैंने विचार करके ही कहा है।

वैराग्य उवाच–जो कामिनि कण[1] को तजै, सो कूकस[2] कनक न लेय ।
रज्जब यहु वैराग्य मति[3], दोनों चित्त न देय ॥१४

वैराग्य युक्त विरक्त बोला—जो पुरुष अन्न कणों[1] को भी त्याग देता है, वह भूसा[2] को नहीं ग्रहण करता। वैसे ही जो नारी को त्याग देता है वह राग पूर्वक स्वर्ण को भी नहीं ग्रहण करता। वैराग्यवान् पुरुषों की बुद्धि[3] की यही विशेषता है कि वे दोनों में ही अपना मन नहीं लगाते।

गृहस्थ उवाच–बहुत भांति करि देखिया, गृही जु सेवक अंग[1] ।
रज्जब स्वामी[2] विरह मति[3], यहु[4] इनका सु प्रसंग[5] ॥१५

गृहस्थ बोला—बहुत प्रकार से विचार करके देखा है, गृहस्थ में सेवक के ही लक्षण[1] मिलते हैं अर्थात् वह विरक्तों की सेवा ही करता है और कामिनी कनक के त्यागी संतों[2] में भगवद् विरह की बुद्धि[3] की ही विशेषता रहती है। रज्जबजी कहते हैं कि—यही[4] इन गृहस्थ और विरक्तों के व्यवहार का प्रकरण[5] है।

वैराग्य उवाच–अविगत[1] गति[2] गोविन्द की, रज्जब लखी[3] न जाय।
सेवक को स्वामी करै, स्वामी सेव समाय[4] ॥१६

वैराग्य युक्त विरक्त बोला—गोविंद भगवान्‌की रीति[2]-नीति अज्ञात[1] है, मानव से जानी[3] नहीं जाती। वे सेवक को स्वामी बना देते हैं और स्वामी को सेवा में प्रवृत्त[4] कर देते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गृह वैराग्य बोध ग्रंथ १२ समाप्तः।

अथ परा भेद ग्रन्थ १३

प्रथम हि प्राणि परम गुरु पावै, परम पुरुष का भाव[1] उपावै[2]।
परम भेद[3] सो देय बताई, तब परै[4] अंग[5] अंगनि[6] सुध[7] पाई ॥१॥

इस ग्रंथ में श्रेष्ठताओं का परिचय दे रहे हैं—पहले प्राणी को परम गुरु प्राप्त होते हैं, फिर वे परम गुरु उसमें परम प्रभु का प्रेम[1] उत्पन्न[2] करते हैं और परम रहस्य[3] बताते हैं, तब माया से परे[4] प्रिय[5] प्रभु को प्राप्त करने के साधनों[6] का ज्ञान[7] प्राप्त होता है।

जन्म परा[1] गुरु घर शिष जा में, घूंटी परा देय निज नामें।
मन में रोग सु उपजे नाहीं, बालक उपज्या निज मत[2] माहीं ॥२॥

गुरु के आश्रम में रहते हुये शिष्य में शिष्यत्व उत्पन्न होना ही श्रेष्ठ[1] जन्म है। गुरुदेव निज नाम का उपदेश करते हैं, वही जन्मघूंटी श्रेष्ठ है। मनमें कामादि विकार रूप रोग उत्पन्न नहीं हो तब जानना चाहिये कि निज सिद्धांत[2] में निष्ठा रखने वाला शिष्य रूप श्रेष्ठ बालक उत्पन्न हुआ है। नाम तीन प्रकार होते हैं–१ गुणज, जैसे–दयालु। २ कर्मज, जैसे–दामोदर। ३ निज, जो स्वस्वरूप भूत ही हो जैसे—ब्रह्म।

भाव[1] परा[2] भगवंत हि जानें, भेद[3] परा परवर[4] तिहि छानें[5]।
भक्ति परा भगवान हि भावे[6], भाग[7] परा ऐसी निधि पावे ॥३॥

जिसके द्वारा भगवान् का वास्तविक स्वरूप जाना जाय वही विचार[1] श्रेष्ठ[2] है। जो अति-श्रेष्ठ[4] है, उस ब्रह्म का अनुसंधान[5] करना ही श्रेष्ठ रहस्य[3] है। जो भगवान् को प्रिय[6] हो वही भक्ति श्रेष्ठ है। भगवान् को प्रिय हो ऐसी भक्ति रूप निधि प्राप्त करले उसी का भाग्य श्रेष्ठ है।

सेवा परै सु सेवा भाई, ब्रह्मांड पिंड तैं[2] अगम बताई।
सेवक सेवा मांहि समावे[3], सो फिर योनी द्वार न आवै ॥४॥

हे भाई! हाथ-पैरों से होने वाली सेवा से परे[1] जो मानसिक सेवा है, वही श्रेष्ठ सेवा है। मानसिक सेवा ही ब्रह्माण्ड-पिंड से[2] अगम ब्रह्म को बताती है। जो उक्त मानसिक सेवा में संलग्न[3] रहता है, वही श्रेष्ठ

सेवक है, वह सेवक पुनः योनि द्वार से जन्म कर संसार में नहीं आता है ।

नाम परै[1] वह नाम कहावै, जामें आपहि[2] आप न पावै ।
तब तहँ वस्तु[3] रहै भरपूरी, ज्यों दिन आये रजनी दूरी ।।५।।

अन्य नामों से परे[1] जो निज नाम है, वही नाम श्रेष्ठ कहलाता है, जिसके स्वरूप में स्वयं[2] ब्रह्म स्थित है और नेत्रादि इंद्रियों से उसमें स्वयं प्राप्त भी नहीं होता । यह ज्ञान जब साधक को हो जाता है तब उसके हृदय में ब्रह्म[3] रूप वस्तु परिपूर्ण रूप से भरी रहती है अर्थात् निरंतर ब्रह्माकार वृत्ति ही रहती है और जैसे सूर्य उदय होने पर रात्रि दूर हो जाती है वैसे ही ब्रह्मज्ञान होने पर अज्ञान दूर हो जाता है ।

परम धर्म कहिये सो भाई, जा भीतर कामना नहिं काई[1] ।
परम पवित्र पुण्य पुनि सोई, जा मांही बांछा नहिं कोई ।।६।।

हे भाई ! जिसमें कोई[1] कामना नहीं होती वही परम धर्म कहलाता है और जिसमें कोई इच्छा नहीं होती वही परम पवित्र पुण्य कहलाता है ।

परम ज्ञान जिहि गर्व न भावै[1], गहर[2] गरीबो मांहि समावै[3] ।
परम विचार मुक्त ह्वै माया, परम पुरुष प्राणी तिहि पाया ।।७।।

जिसको गर्व प्रिय[1] नहीं लगता और जिसका मन गहरा[2] गरीबी में डूबा[3] रहता है उसी में श्रेष्ठ ज्ञान है । जो माया से मुक्त हो जाता है, उसका ही विचार श्रेष्ठ है और उसी प्राणी ने परम पुरुष प्रभु को प्राप्त किया है ।

ध्यान परा जु निधान[1] हि धारै[2], सो प्राणी कबहूं नहिं हारै ।
मारुत[3] बिना मसकति[4] होई, भेदी[5] भेद[6] लहै[7] यहु[8] कोई ।।८।।

जो सर्व के आधार[1] ब्रह्म का ध्यान है, वही ध्यान श्रेष्ठ है । उक्त ध्यान का करने[2] वाला कभी भी कामादि विकार और माया से नहीं हारता । प्राण[3] वायु के निरोध बिना ही उसका साधन रूप परिश्रम[4] सफल होता है । यह[8] रहस्य[6] ऐसा है कि—इसे कोई परमार्थ तत्त्व का ज्ञाता[5] संत ही जानता[7] है ।

तीर्थ परापरी[1] सतसंगा, जिनमें अगम ज्ञान को गंगा ।
संयम परा[2] जु पंचों धोवै, मन का मैल युगन का खोवै[3] ।।९।।

जिसमें मनेन्द्रियों के अविषय अगम ब्रह्म-ज्ञान रूप गंगा का प्रवाह चलता रहता है, वह सत्संग ही परमश्रेष्ठ[1] तीर्थ है । जो अनेक युगों का संग्रहित पाप रूप मन का मैल नष्ट[3] करता है और विकारों को धोकर पांचों ज्ञानेन्द्रियों को शुद्ध करता है, वही परम[2] संयम है ।

परम शूर इन्द्रियन सौं जूझै[1], ज्ञान खड्ग धारा को बूझै[2] ।
सत यहु ब्रह्म अग्नि में जरिये, मरण परा जो जीवित मरिये ॥१०॥

ज्ञानरूप तलवार की ब्रह्माकार वृत्तिरूप धार को भली भाँति समझ[2] कर, इन्द्रियों से युद्ध[1] करता है अर्थात् विषयों से हटाकर निरंतर अन्तर्मुखता द्वारा ब्रह्म परायण करता है, वही श्रेष्ठ शूरवीर है। शव के साथ अग्नि में जलना ही सत चढना नहीं है। ब्रह्म-ज्ञानाग्नि में जलना है, यही श्रेष्ठ सत चढ़ना कहा जाता है। जीवितावस्था में ही मृतक के समान राग-द्वेष से रहित होना रूप मरण ही श्रेष्ठ मरण है।

वावन[1] खिर[2] अक्षर सो परै, स्याही सुत उपजे अरु मरे ।
चतुर्दशों के परे सु विद्या, परम बोध ता[3] भीतर भिद्या[4] ॥११॥

स्याही से लिखे जाने वाले वामन[1] अक्षर स्याही से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, इससे नाशवान[2] हैं और ओंकार अक्षर अविनाशी ब्रह्म रूप होने से परम श्रेष्ठ है। ब्रह्मविद्या चतुर्दश विद्याओं से परम श्रेष्ठ है। कारण उसके[3] भीतर परम श्रेष्ठ ब्रह्म ज्ञान प्रविष्ट[4] है।

देणें[1] परै[2] ब्रह्म दिल दीजे, लेणें[3] परै बंदगी[4] लीजे ।
देण लेण या ऊपर[5] नाँहीं, समझे समझि लेयँगे माँहीं ॥१२॥

परब्रह्म को मन देना ही सब दानों[1] से श्रेष्ठ[2] दान है। संतों की सेवा[4] का कार्य लेना[3] अर्थात् सेवा करना ही करने योग्य सभी कार्यों से श्रेष्ठ है। उक्त दोनों से अधिक[5] महत्त्वशाली देना-लेना और कुछ भी नहीं है। इन दोनों का महत्त्व हम क्या कहैं, विचारशील समझदार मानव अपने मन में आपही समझ लेंगे।

जीवन परै जीवना सोई, आतमराम जु मिश्रित[1] होई ।
मिले वस्तु बल होय अनन्ता, समझै समझ्या साधू संता ॥१३॥

आत्मा और परब्रह्म राम का एक[1]-रूप जीवन है वही चिर जीवनादि संपूर्ण जीवनों से श्रेष्ठ जीवन है। ब्रह्मरूप वस्तु मिलने पर राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित रहने का अपार बल प्राप्त होता है। आत्मा-ब्रह्म को एक रूप से समझे हुये साधू-संत ही इस रहस्य को समझते हैं।

राज[1] परै सो राज[2] हि भावै[3], माया त्याग सु ब्रह्म समावै ।
लाज परै राखी तेहि[4] लाजा, जीव सीव[5] मिलि सारे[6] काजा ॥१४॥

जो विश्व के राजा[2] प्रभु को प्रिय[3] लगे वही आत्म स्वराज्य[1] संपूर्ण राज्यों से श्रेष्ठ है। उक्त राज्य से युक्त संत रूप राजा ही भली प्रकार माया को त्यागकर ब्रह्म में समाता है। वही[4] लज्जा संसार में संपूर्ण लज्जाओं से श्रेष्ठ रक्खी गई है अथात् मानी गई है, जिससे जीव ब्रह्म[5] से मिलकर अपना मुक्ति रूप कार्य सिद्ध[6] कर सके।

ठाहर[1] परै सो ठाहर साँची[2], पिंड[3] ब्रह्मंड परै[1] लों[4] काची ।
वही सुथल सो प्राण[5] समावै, सो फिर मिथ्या माँहि न आवै ॥१५॥

सत्य[2] ब्रह्म रूप धाम है, वही सम्पूर्ण धामों[1] से श्रेष्ठ है । शरीर[3] तथा ब्रह्मांड और ब्रह्मांड से परे माया तक[4] सभी धाम असत्य होने से कच्चे हैं अर्थात् श्रेष्ठ नहीं हैं । जिसको साधन द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह प्राणी[5] जिस स्थान में प्रवेश करता है, वही मुक्ति रूप स्थान श्रेष्ठ है, उस स्थान में जो जाता है वह पुनः मिथ्या मायिक संसार में नहीं आता ।

दर्शन परै[1] सु दर्शन साँचा[2], सद्गुरु मुंहडे[3] सुन्या सु वाचा ।
जो दीसै सो जाय बिलाई, ठांवों[4] ठौर[5] न सो ठहराई ॥१६॥

मायिक सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के दर्शनों से सत्य[2] ब्रह्म का दर्शन ही श्रेष्ठ[1] है वा सत्य ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला वेदांत दर्शन ही सम्पूर्ण दर्शन शास्त्रों से श्रेष्ठ है । यह सुंदर वचन हमने अपने गुरु दादूजी के मुख[3]-कमल से श्रवण किया है; जो दिखाई देरहा है वह मायिक संसार माया में ही विलीन हो जाता है । वास्तविक[4] ब्रह्म रूप स्थान[5] में वह नहीं ठहर सकता, ब्रह्म में तो आत्मा ही लय होता है ।

ठाकुर परै[1] सु ठाकुर ईशा, जिन सिरजे चाकर[2] चौबीसा ।
आदि नारायण वेद हु गाया, स्याणे[3] साधुन सो ठहराया[4] ॥१७॥

जिसने चौबीस अवतार रूप सेवक[2] उत्पन्न किये हैं, वह ईश्वर रूप ठाकुर ही पत्थरादिक की बनी हुई प्रतिमा रूप ठाकुरों से श्रेष्ठ[1] है । वेद ने उस श्रेष्ठ प्रभु को ही आदि नारायण रूप से कथन किया है और ज्ञानी[3] संतों ने भी उस ब्रह्म को ही आत्मरूप से अपनी वृत्ति में स्थिर[4] किया है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति ही निरंतर रक्खी है ।

तत्त्वों परै तत्त्व सो सारा, ज्योत्यों परै सो ज्योति अपारा ।
निर्गुण परै सु निर्गुण रहता, सूक्षम को सूक्षम नहिं गहता ॥१८॥

जो संसार का सार तत्त्व परब्रह्म है, वही आकाशादि सम्पूर्ण तत्त्वों में श्रेष्ठ तत्त्व है । सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियों से वह परब्रह्म रूप अपार ज्योति ही श्रेष्ठ है । गुणों से रहित आत्मा में भी वह निर्गुण ब्रह्म परम निर्गुण स्थिति में रहता है । कारण आत्मा में तो अंतःकरणादि के गुणों का आरोप होता भी है किंतु ब्रह्म में नहीं होता । उस सूक्ष्म ब्रह्म को मनादि भी नहीं ग्रहण कर सकते, इसी कारण वह सूक्ष्म से भी परम सूक्ष्म है ।

बल हु परै[1] सो बल बलवंता, वा[3] सम और न कोई जंता[2] ।
पल में ब्रह्मांड भानि[4] सँवारे[5], ताके जोर हिं वार न पारे ॥१९॥

जो अपरिमित बलवान ईश्वर का बल है, वह बल ही सबके बल से अति श्रेष्ठ[1] है। उस[3] ईश्वर के समान अन्य कोई भी जीव[2] बलवान् नहीं है। वह ईश्वर एक क्षण में ब्रह्मांड को नष्ट[4] करके पुनः रच[5] सकता है। उसके बल का किसी भी प्रकार आदि अंत नहीं जाना जा सकता।

अंग[1] हुं परैं[2] सु अंग बताये, गुरु दादू परसाद सु पाये।
जन रज्जब यहु[3] किया न खेदा[4], भूरि[5] भाग्य जो पावे भेदा[6] ॥२०॥

हमने सामान्य जन्म गुण, बलादि के स्वरूपों[1] से श्रेष्ठ[2], जन्म, गुण, बलादि के स्वरूपों का परिचय इस 'पराभेद ग्रंथ' में दिया है। इस ग्रंथ में कथित सबके हीनता तथा श्रेष्ठता के ज्ञान प्राप्त करने में हमने शरीर को दुखित[4] नहीं किया है, केवल अपने गुरु दादूजी के कृपा-प्रसाद से अनायास ही यह[3] ज्ञान प्राप्त किया है। जिसका महान्[5] भाग्य होता है वही गुरु कृपा से इस रहस्य[6] को प्राप्त कर सकता है। अन्य को प्राप्त होना कठिन है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित परा भेद ग्रंथ १३ समाप्तः।

अथ दोष दरीबा[1] ग्रंथ १४

दोष अनन्त चलै क्यों जीव। सुन हु संत परसै क्यों पीव ॥१॥

इस ग्रंथ में बता रहे हैं कि—जीव दोषों का बाजार[1] है अर्थात् दोषों से भरा है–हे सतो ! आप ध्यान देकर श्रवण करो, आप लोग जीवों को निरंतर प्रभु की ओर जाने का उपदेश करते हैं किंतु जीवों में तो अनंत दोष हैं। तब वे निर्दोष प्रभु की ओर कैसे चल सकेंगे और कैसे प्रभु से मिल सकेंगे ? ऐसा प्रश्न करके अब आगे दोषों को दिखा रहे हैं।

प्रथम हि देह पाप का मूल, दोष सकल डाली फल फूल ॥२॥

पहले शरीर ही पाप रूप वृक्ष की जड़ है और अन्य सम्पूर्ण दोष हैं, वे ही शाखा, फूल, फल आदि हैं।

तैसे में निपजै[1] क्यों प्राण[2], सकल संत मिलि सुन हु बखाण[3] ॥३॥

हे संतो ! सभी मिलकर मेरा यह कथन[3] ध्यान से सुनो, जो दोषों से परिपूर्ण हैं, वैसे शरीर में रह कर यह जीवात्मा[2] प्रभु प्राप्ति के योग्य कैसे बन[1] सकता है ?

बहुत भांति बहु ज्ञान अपार, तिन में मिलै न सिरजनहार ॥४॥

बहुत प्रकार की कलादि के बहुत से ज्ञान हैं, जिनका पार कोई भी प्राणी नहीं पा सकता किंतु उन सांसारिक कलादि के ज्ञानों को प्राप्त करने में समय लगाते हैं, उन्हें सृष्टिकर्त्ता प्रभु प्राप्त नहीं होते, केवल सांसारिक धनादि पदार्थ ही प्राप्त होते हैं, अतः वे भी दोष रूप ही हैं।

ज्यों ज्यों करै तहीं[1] त्यों मार, कैसे विधि होगा उद्धार ॥५॥

जहाँ पर जैसे-जैसे कर्म करता है, वहां[1] पर ही वैसे-वैसे कर्मों का फल रूप मार खाता है। फिर ऐसी स्थिति में इस प्राणी का संसार से उद्धार कैसे हो सकेगा ? कर्मों के रहते हुये अकर्म रूप ब्रह्म प्राप्ति कठिन ही है।

जे[1] रु[2] गहै रहनी[3] की रेखा[4], तो मो सम तुल्य और नहिं पेखा ॥६॥

और[2] यदि[1] किसी प्रकार के विशेष ढंग से रहने[3] के चिन्ह[4] ग्रहण करे तो हृदय में ऐसा अभिमान रूप दोष उत्पन्न होता है कि मेरे तुल्य रहने वाला तथा मेरे समान श्रेष्ठ व्यक्ति अन्य कोई भी नहीं देखा जाता है।

जे रु कछू करनी[1] में आवैं, तो आपा[2] करि तत्काल लुटावै ॥७॥

और यदि कोई प्रकार के शुभ कर्म[1] में प्रवृत्त होता है तो, उस कर्म के करने का अभिमान[2] करके पुन: पुन: अपने मुख से उसका कथन करके उसके पुण्य को अति शीघ्र लुटवा देता है अर्थात् नष्ट कर देता है।

जे रु कदे[1] तुरकी रह जाये, तो करै खून तिन के फरमाये[3] ॥८॥

और यदि कभी[1] मुसलमानों के धर्म मार्ग[2] में चला जाता है तो उनकी आज्ञा[3] से प्राणियों का वध करने में प्रवृत्त होता है।

जे रु गहै जोगी की छाया[1], तो चेटक[2] नाटक[3] बहुत बताया ॥९॥

और यदि कनफटे जोगियों की शरण[1] ग्रहण करे तो वे जादू[2]-टोना[3] तंत्रा-मंत्रादि बहुत बताते हैं, जिनसे प्राणी भ्रम में पड़ कर क्लेश ही पाता है, शांति नहीं।

जे रु गहै भगवाँ की ओटा[1], तो आपा अधिक मान शिर पोटा[3] ॥१०॥

और यदि भगवाँ वस्त्र धारण[1] करे तो यतिपने का अत्यधिक गर्व[2] हृदय में आ जाता है और अभिमान का बोझा[3] शिर पर रख करके क्लेश ही पाता है।

जे रु गहै ब्राह्मण की किरिया, तो ब्रह्म छाड़ि भरम में परिया ॥११॥

और यदि ब्राह्मण की सकाम कर्म कराना तथा करना रूप क्रियाओं को ग्रहण करता है तो ब्रह्म-चिन्तन छोड़ कर भ्रम में ही पड़ा रहता है।

जे रु पंथ जैन हुके जावहु, तो धणी[1] नांहि चौबीसों ध्यावहु ॥१२॥

और यदि जैनियों के पंथ में चला जाता है तो चौबीस तीर्थंकरों की उपासना में ही अटक जाता है, अपने वास्तविक स्वामी[1] परमेश्वर की उपासना नहीं कर पाता है।

जे रु गहैं भक्त न के भेखा, तो स्वांग[1] हु पहरि सांच[2] नहिं पेखा[3] ॥१३॥

और यदि माला तिलकादि भक्तों के वेष धारण करके ही संतुष्ट हो जाते हैं तो उन वेषों[1] के बनाने-पहननेमें ही समय व्यतीत कर देते हैं। आन्तर साधना नहीं करने से सत्यब्रह्म[2] का साक्षात्कार[3] नहीं कर सकते।

जे रु गहैं षट् दर्शन[1] संगा, तो साहिब नांहि स्वांग सों रंगा[2] ॥१४॥

और यदि-जोगी, जंगम, सेवड़े, बौध, संन्यासी तथा शेष, इन छः प्रकार के भेष[1]-धारियों का संग कर के उनके भेष ग्रहण करते हैं तो उन भेषों के प्रेम[2] में ही अनुरक्त रहते हैं, प्रभु को प्राप्त नहीं कर पाते।

जे रु गहैं खेचर[1] गति[2] ज्ञानी, तो प्रकट सींग अरु पशु समानी ॥१५॥

और यदि दुष्ट[1] राक्षस ज्ञानी की-सी रीति[2] ग्रहण करता है तो उसमें दुराग्रह रूप सींग उत्पन्न हो जाते हैं और उसकी प्रवृत्ति पशु के समान हो जाती है।

जे[1] तीरथ करैं आदि दे जेते, तो भ्रम[2] मुआ हरि सौं नहिं हेते[3] ।१६।

यदि[1] आदि तीर्थ पुष्कर से आदि जितने भी तीर्थ है उनमें स्नान करे और दक्षिणा भी दे तो भी अज्ञान[2] के वश होकर मृत्यु को ही प्राप्त होता है, हरि से प्रेम[3] नहीं कर पाता।

जे रु करैं साधन के करमा, तो संत छुड़ाय गये ये धर्मा ॥१७॥

और यदि स्वर्गादिक सुखों के साधन रूप कर्म करे तो, संत जन ये सकाम कर्मरूप धर्म अपने समय के साधकों से छुड़ा गये हैं तथा छोड़ने का उपदेश भी कर गये हैं।

जे रु गहैं घर वन सौं मेला[1], तो अंतर गति[2] हरि सौं न खेला ॥१८

और यदि घर वालों से तथा वन वासियों से संबन्ध[1] रूप राग करेगा तो आन्तर साधना की रीति[2] से हरि से प्रेम रूप खेल नहीं खेल सकता।

जे काशी करवत गरैं हि हिमालैं, तो जग सौं रुचि राज संभालैं[1] ।१९

यदि काशी करवत लेता है तथा हिमालय में गलता है, तो जगत् के भोगों को प्राप्त करने की रुचि है। इस कारण अगले जन्म में राजा बन कर राज्य का शासन[1]-करता है।

जे ध्यान गहैं हरिजी की ओरा, तो मांगलेय कछु औरहि ठौरा ।२०

यदि जन्मादि संसार दुःख को हरने वाले हरि जी की ओर वृत्ति लगा कर उनका ध्यान करता है तो भी उस ध्यान का फल कोई अन्य ठौर अर्थात् प्रधान मंत्री आदि का पद वा किसी लोक विशेष की याचना करता है, निष्काम नहीं रह सकता।

जे नामहि भजे विहिश्त[1] के भाय[2],
तो साहिब बिन संशय में जाय ॥२१।

यदि स्वर्ग[1] प्राप्ति का भाव[2] मन में रखकर हरि नाम चिन्तन करता है तो प्रभु को प्राप्त न होकर स्वर्ग में जाता है और बुद्धि वृत्ति में निज स्वरूप ज्ञान संबन्धी संशय रहने से स्वर्ग से गिर कर पुनः गर्भ में जा कर जन्मादि क्लेशों को भोगता है।

जे नाम हि भजे मुक्ति की चाहि,
तो ता सम शठ[1] कहूं काहि ॥२२॥

यदि आत्मा की मुक्ति की इच्छा करके प्रभु-नाम का चिन्तन करता है, तब तो उसके समान मूर्ख[1] किसे[2] कहूं अर्थात् आत्मा तो नित्य मुक्त है, प्रभु-नाम चिन्तन तो अन्तःकरण की शुद्धि तथा स्थिरता के लिये किया जाता है। इस रहस्य को न जानने से वह मूर्ख ही है।

यूं लै[1] लीन अमर ह्वै जांव[2], तो साहिब बिना बसाया गाँव ॥२३

और यदि उक्त दोषों से सहित बिना आत्म ज्ञान के ही नाम तथा किसी रूप में वृत्ति[1] लीन करने से ही कोई अमर हो जाय[2] तब तो वह प्रभु के बिनाही सृष्टि उत्पन्न करके ग्राम भी बसा सकता है। अतः दोषों से रहित आत्म ज्ञान होने पर ही प्राणी मुक्ति रूप अमरता प्राप्त करता है अर्थात् जैसे ईश्वर बिना सृष्टि नहीं हो सकती, वैसे ही दोषों से रहित आत्मज्ञान बिना कैवल्य मुक्ति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती।

जे रु करै कछु ऐसा सोच[1], तो आगम[2] निगम[3] नाम बिन पोच[4] ॥२४

और यदि बुद्धि में कुछ ऐसा विचार[1] करे कि-नाम जपने से क्या होता है? तो भगवत् नाम जिनमें नहीं हो वे शास्त्र[2]-वेद[3] भी तुच्छ[4] ही माने जाते हैं अर्थात् जैसे भगवत् नाम होने से ही वेद-शास्त्रादि माननीय हैं, वैसे ही नाम चिन्तन से मानव श्रेष्ठ माना जाता है और नाम विमुख तुच्छ माना जाता है।

जे रु समाधि लगावै जाप, तो खोटा[1] भाव ब्रह्म हुं आप ॥२५॥

और यदि नाम-जप करते हुये समाधि लगावे तो भी उसका भाव अशुद्ध[1] ही कहा जायगा। कारण आत्मा तो स्वयं ब्रह्म स्वरूप है ही, उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये नाम-जप तथा समाधि लगाने की आवश्यकता ही क्या है?

दोष अनन्त कहां लौं[1] कहै, परि[2] येते[3] दोष सकल जग बहै ॥२६॥

दोष तो अनंत हैं, उन्हें कोई कहां तक[1] कह सकता है? परंतु[2] जो इस ग्रंथ में कहे हैं इतने[3] दोषों के प्रवाह में सभी जगत् के प्राणी बह रहे हैं। उक्त दोषों में से कोई न कोई दोष प्राणी में होता ही है।

येते दोष रहित भज राम, जन[1] रज्जब केवल[2] निष्काम ॥२७॥

रज्जब जी कहते हैं—इतने दोषों से रहित होकर जो राम का भजन करता है, वही एकमात्र[2] निष्काम भक्त[1] कहलाता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित दोष दरीबा ग्रन्थ १४ समाप्तः।

अथ जैन जंजाल ग्रन्थ १५

सुन हु संत यहु जैन जंजाल, कपट कर्म की बांधी चाल।
नाम निरंजन सों मन नांहि, भूल रहे चौबीसौं मांहि ॥१॥

इस ग्रंथ में जैनियों के आडम्बर रूप जाल को दिखा रहे हैं—हे संतो! यह जैन जंजाल ग्रंथ श्रवण करो। जैन धर्म के उपदेशकों ने जनता को कपट रूप कर्म की रीति में बांध दिया है। इस कारण माया रहित निरंजन ब्रह्म में तो लोक मन नहीं लगाते, केवल चौबीस तीर्थंकरों में लगा कर मुक्ति के यथार्थ मार्ग को भूल कर भ्रम में पड़ रहे हैं।

द्वादश दूने भूले आय, आतम लाई अपने भाय[1]।
यहु मोटा कीन्हा व्यभिचार, क्यों छोड़ैं भगवत भरतार ॥२॥

इस संसार में आकर चौबीस तीर्थंकरों की सेवा-पूजा में लग गये और परब्रह्म को भूल गये हैं। उपदेशकों ने प्राणियों को अपने ही प्रेम[1] में लगा लिया है, उनके हृदय में परमात्मा का प्रेम उत्पन्न नहीं किया। परमात्मा से जीवात्मा को अलग रखना यह बहुत बड़ा व्यभिचार कर्म किया है। सत्य उपदेश देते तब तो जैन धर्म के अनुयायी अपने स्वामी परमात्मा की उपासना कैसे छोड़ सकते थे?

तांबा लोहा पलट हि अंग[1], सदा सु सुनिये पारस संग।
पर सोने सोना कदे[2] न होय, तो चव छके न सदगति[3] कोय ॥३॥

यह सदा सुनते हैं कि—पारस के स्पर्शसे ताम्र और लोह का स्वरूप[1] बदल कर वे सुवर्ण बन जाते हैं। वैसे ही परब्रह्म चिंतन द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार करके जीव मुक्त हो जाता है किंतु सुवर्ण से ताम्र-लोह कभी[2] भी सुवर्ण नहीं बनते। वैसे ही चव छके—चौबीस तीर्थंकरों के चिंतन से कभी भी जीव की मुक्ति[3] नहीं हो सकती।

जती कहावैं जड़े[1] जंजाल[2], देश देहुरे[3] कीन्हो साल[4]।
तिन आरंभों वार न पार, पर हि प्राणि शिर पाप पहार ॥४॥

कहलाते तो जती हैं और देश में मंदिर[3] तथा स्थान[4] बनाकर जगत् जाल[2] में फँसे[1] हुये हैं। उनके कार्यारंभों का कोई वार-पार नहीं है अर्थात्

अनंत कार्यों का आरम्भ करते हैं। इस कारण उन जती प्राणियों के शिर पर पाप का पहाड़ आ पड़ता है अर्थात् बहुत पाप करते हैं।

शत्रुंजय सुधि[1] हीने जांहि, आगे पाथर बोलै नांहि।
मार हि जीव हु आवत जात, तहां चढ़ावै फूल रु पात ॥५॥

विचार[1] हीन शत्रुंजय पर्वत (सौराष्ट्र प्रांत में पालीताणा नगर के पास जैन तीर्थ) पर जाते हैं। आगे उस पर बने मंदिरों की मूर्तियां पत्थर की होने से कुछ बोलती तो हैं नहीं किंतु आते-जाते जीवों को मार कर हिंसा ही करते हैं और वहाँ मूर्तियों पर पुष्प-पत्र चढ़ाते हैं वह भी हिंसा ही है। कारण जैन सज्जन हरित वृक्ष आदि में जीव मानते ही हैं। अतः वहाँ जाकर अहिंसावादी कहलाने वाले हिंसा ही करते हैं।

पाथर पूज हि जती न जाय, गृहियों को सो देयँ दृढ़ाय।
विष समान गुरु तात[1] न लेय, शिष सुत को सु हलाहल[2] देय ॥६॥

जती लोग तो पत्थर की मूर्तियों को पूजने नहीं जाते और गृहस्थों को वही मूर्ति पूजा रूप साधन दृढ़ करा देते हैं। यह बात उनकी ऐसी है, जैसे पिता[1] जिसको विष के समान समझे, उस महाविष[2] को ही अपने पुत्र को प्रदान करे। उसी प्रकार गुरु मूर्ति पूजा नहीं करते शिष्यों से करवाते हैं।

वैश्य वर्ण समझै नहिं बात, जैन जत्यों में मोटी[1] घात[2]।
आप न पूजे तिन हुं पुजावैं, फीटे[3] फंफ[4] फलौदी आवैं ॥७॥

जैन यतियों के मन में महान्[1] बुराई[2] रहती है, उसे वैश्य जाति के लोग नहीं समझते। देखो प्रत्यक्ष ही है—आप जिन्हें नहीं पूजते, उन मूर्तियों को ही उन वैश्यों से पुजवाते हैं और वे बेचारे दूर की यात्रा के कारण बिगड़े[3] हुये मुख से दौड़ते[4] हुये फलौदी (मेड़ता रोड़) जैन मंदिर के दर्शन पूजनार्थ आते हैं। इस ग्रंथ की रचना के समय रेल आदि नहीं थे, यात्रा बड़ी कठिनाई से होती थी अतः मुख बिगड़ना स्वाभाविक ही था।

दया दृढावैं दुष्ट शरीर, मरतों देय न भोजन नीर।
करैं पर्युषण गुरु कन[1] जांहि, कहैं पुण्य बणियें मिल खांहि ॥८॥

उपदेश द्वारा तो दया को दृढ़ कराते हैं किंतु उनके शरीर में स्थित मन दुष्ट होता है, तभी तो अन्न-जल छुड़ा देते हैं और भूख-प्यास से मरते हुये को भोजन तथा जल नहीं देते। भादवा के कृष्ण पक्ष की तिथि ५ से १४ तक श्वेतांबरी और भादवा के शुक्ल पक्ष की तिथि ५ से १४ तक दिगम्बर पर्यूषण पर्व मनाते हैं। अपने गुरु के पास[1] जाते हैं, पक्वान्न बनाते हैं, आपस में मिलकर वैश्य लोक ही खा लेते हैं। उसी को पुण्य कहते हैं। किसी दीन-गरीब आदि को नहीं देते। दयाव्रत पालन

करने वालों को तो चाहिये पहले दया के पात्र दुःखियों को देकर खायें।

ज्यों बिन पारीछै[1] रहट[2] स्वरूप, पाणी पड़े सु भीतर कूप।
ऐसा धर्म सु दीसै जैन, सुन हुं सकल ये साचे बैन ॥९॥

जैसे कूप से जल निकालने के अरहट[2] यंत्र के स्वरूप में जल पड़ने का स्थान[1] नहीं बना हो तो, उससे निकाला हुआ जल पुनः कूप में ही पड़ता है। हे लोको ! आप ये संपूर्ण सच्चे वचन ध्यान देकर श्रवणकरो। अच्छी प्रकार देखने से वैसा ही जैन धर्म दिखाई देता है, कारण—जैनी अपने पैसे से दीन-गरीब प्राणियों की सेवा आदि धर्म कार्य तो करते नहीं, पर्यूषण पर्वादि के समय अपने पैसे को आपही मिलकर खा लेते हैं वा अपने मंदिर बना लेते हैं इसी को धर्म समझते हैं।

नाक नकपती[1] जीव विचार, रमहिं[2] दिशांतर[3] कोस हजार।
काचा पानी भींटै[4] नांहि, चलते पैठें[5] नदियों मांहि ॥१०॥

नासिका तथा मुख की उष्ण वायु से जीव नहीं मरें इस विचार से मुख और नासिका के पट्टी[1] लगाते हैं किंतु देश-देशांतरों[3] में हजारों कोस भ्रमण[2] करते हैं तब चरणाघात से जीव नहीं मरते क्या ? कच्चे जल का स्पर्श[4] नहीं करते किंतु चलते समय थोड़े जल-प्रवाह वाले नदी नालों के कच्चे जल में प्रवेश[5] करके पार जाते ही हैं।

श्रावण मास शहर की भीख, मारैं जीव जु बीखै[1] बीख।
उनके हेतु उघाड़ै[5] हांडी[2], मर हिं भाफ[6] जिव[3] पूरी भांडी[4] ॥११॥

श्रावण मास में शहर की गलियों में विचरते हुये भिक्षा करते हैं तब पग[1]-पग पर जीवों को मारते हैं। उनको भिक्षा देने के लिये मातायें अपने उष्ण दाल आदि के पात्रों[2] के ढक्कन हटाती[5] हैं तब उनकी अति उष्ण वाष्प[6] से जीव[3] मरते ही हैं। इस प्रकार अहिंसा के स्थान में पूर्ण रूप से हिंसा करते हुये अहिंसा व्रत को नष्ट[4] ही करते हैं।

पृथ्वी आप[1] तेज[2] नभ पवन, तिन के जीव सु टालै[3] कवन।
बाहर भीतर ये ही पांच, तिन में सारे नाच हिं नांच ॥१२॥

पृथ्वी, जल[1], अग्नि[2], वायु, आकाश, इन पांचों से रचित सूक्ष्म जीवों को कौन बचा[3] सकता है ? सबके बाहर-भीतर ये पांच तत्व तथा इन से रचित सूक्ष्म-अति सूक्ष्म जीव सर्वत्र व्याप्त हैं और इन पांच तत्वों में ही संपूर्ण जीव अपनी क्रिया रूप नृत्य कर रहे हैं।

मैली मनसा[1] मैला भेश, लाग हिं पाप उपार हिं केश।
मनमथ[2] कर्म करैं घट[3] मांहि, चर्म दृष्टि देखैं सो नांहि ॥१३॥

बुद्धि[1] वा मन की भावना[1] भी मलीन है और न धोने के कारण भेष भी मलीन ही रहता है। केश उपाड़ते हैं तब पाप भी लगता ही है। अंत: करण[3] में मनोराज्य के द्वारा नारी-संग[2] रूप कर्म भी करते हैं किंतु उस कर्म को विचार हीन चर्म दृष्टि वाले प्राणी जान सकते नहीं। अत: यह दंभ मात्र ही ज्ञात होता है।

लेखै[1] पाप सु उतरै[2] नांहि, चोरी चूक[3] जड़ी[4] जिव[5] मांहि।
एक हि अघ उतरै सो दूरि, चौबीसों सुमिरेभग[6] भूरि[7] ॥१४॥

जिन कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों की गणना[1] पाप कर्मों में है, उन कर्मों का पाप बिना भोगे हृदय से हट[2] नहीं सकता। कारण-मन में अन्य भाव रखते हैं और जनता को अन्य ही दिखाते हैं। इस चोरी रूप कर्म की भूल[3] मन[4]में भूषण में नग के समान जटित[5] है। उक्त पाप एक मात्र ब्रह्म-चिंतन से हट सकता है किंतु वह ब्रह्म-चिंतन इनके चित्त से अति दूर ही रहता है अर्थात् ये ब्रह्म-चिंतन कभी भी नहीं करते। १ ऋषभदेव, २ अजितनाथ, ३ संभवनाथ, ४ अभिनंदन स्वामी, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभ स्वामी, ७ सुपार्श्वनाथ, ८ चंद्रप्रभ स्वामी ९ सुविधिनाथ १० शीतलनाथ ११ श्रेयांतनाथ १२ वासुपूज्य १३ विमलनाथ १४ अनंतनाथ १५ धर्मनाथ १६ शांतिनाथ १७ कुंथुनाथ १८ अरनाथ १९ मल्लिनाथ २० मुनिसुव्रत २१ नमिनाथ २२ नेमिनाथ (अरिष्ट नेमि) २३ पार्श्वनाथ २४ महावीर स्वामी इन चौबीस तीर्थंकरों का ही स्मरण करते हैं, इस कारण अनन्त[7] बार योनि[6] मार्ग से जन्म लेकर क्लेश ही भोगते रहते हैं।

हाथ न कौड़ी हृदये कौड़ि[1], बैठे बणियों सों मन जोड़ि[2]।
बिन विश्वासी फेर[3] न सार, भिक्षा मांग हिं द्वै द्वै बार ॥१५॥

हाथ में तो एक कौड़ी भी नहीं लेते किंतु हृदय में कोटि[1] पति बसा रहता है। अपने ठहरने के स्थान में बैठे हुये भी धनी वैश्यों में मन लगाये[2] रहते हैं। उनको ईश्वर का विश्वास भी नहीं होता। इस कथन में परिवर्तन[3] का अवकाश नहीं है, यह सार रूप है। इस कारण ही तो एक दिन में दो-दो बार भिक्षा मांगते हैं।

अशन[1] वसन[2] सब आछे[3] लेहिं, पांशू[4] कहि कहि फीटे[5] देहिं।
पांशू[7] कहिये तेती[6] बात, विष्टा वस्त्र बाहर जात ॥१६॥

ये लोग भोजन[1]-वस्त्र[2] अच्छे-अच्छे[3] ही लेते हैं किंतु देने वाले मिथ्या बोलने से बिगड़े[5] हुये इनके सेवक अच्छे-अच्छे भोजन वस्त्रों को खाद[4] के समान बेकार[4] कह-कह कर इन्हें देते हैं, बेकार कहे बिना ये लोग लेते नहीं हैं। भोजन विष्टा रूप में आता है तब मानव के खाने के काम में नहीं आता और वस्त्र फट-गलकर कूड़ा बन जाता है तब मानव के पहनने

के काम में नहीं आता । इतनी[1] हीन अवस्था में पहुंचने पर ही भोजन-वस्त्र बेकार[2] कहे जाते हैं किंतु ये लोग जान-बूझ कर भी मिथ्या बोलने का पाप करते ही हैं ।

रिषि[1] मूरख पांगू[2] करि लेंहि, घरके धणी[3] पाप सब देंहि ।
यहु पाखंड कह्यो समुझाय, सो अघराशि कौन घर जाय ॥१७॥

मूर्ख भिक्षु[1] बेकार[2] कहला कर लेता है और घर के स्वामी[3] गृहस्थ यह समझ कर देते हैं कि-घर के सब पाप भिक्षा के साथ ही घर से चले जाते हैं । हमने तो समझा कर कह दिया है, यह वास्तव में दोनों का ही पाखंड है । वह उक्त प्रकार की भिक्षा भी पाप राशि ही है, कौन विचार शील भिक्षु ऐसी भिक्षा लेने घर जायगा ?

अन्न पानि[1] काचे सौं भागै, सोई सांझ सवारे[2] मांगै ।
नीली[3] भाजी[4] दोष लगावैं, पाकी पात्र मांहि घलावैं ॥१८॥

कच्चे अन्न-जल[1] से दूर भागते हैं और पक जाने पर उसी को सांझ-सबेरे[2] माँगते हैं । हरे[3] शाक[4] में दोष बताते हैं और पक जाने पर उसे ही अपने भिक्षा-पात्र में डलवा लेते हैं ।

निषध[1] नारियल शिर सम होय, फोड़्या पीछे दोष न कोय ।
ऐसे कपट घणे[2] घट[3] मांहि, संसारी सो समझै नांहि ॥१९॥

बिना फूटा हुआ नारियल मानव शिर के समान होता है, अतः उसका ग्रहण निषिद्ध[1] होता है, ऐसा कहते हैं अन्य कोई फोड़ कर दे तो पीछे उसके लेने में कोई दोष नहीं मानते । इस प्रकार के बहुत[2]-से कपट इनके अन्तःकरण[3] में रहते हैं किंतु अज्ञानी सांसारिक प्राणी इनके कपट-जालों को नहीं समझ पाते हैं ।

नौ विधि बाड़ सु वामा[1] बोड़े[2], करी आरज्या[3] सो सब तोड़े ।
बोलैं झूठ नाम बिन नीच, शिर ऊपर सूझै नहिं मीच ॥२०॥

नौ (१ ब्रह्मचारी को नारी, पुरुष, नपुंसक से अलग स्थान में रहना चाहिये । २ नारियों से कथा-वार्ता नहीं करना चाहिये । ३ नारी के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिये । ४ नारी के मनोहर और मनोरम अङ्गों को नहीं देखना चाहिये । ५ घृतादि गरिष्ठ पदार्थ सेवन नहीं करने चाहिये । ६ रूखा-सूखा भोजन भी अधिक नहीं खाना चाहिये । ७ पहिले भोगे हुये भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिये । ८ नारियों के शब्द, रूप और ख्याति (वर्णन) पर ध्यान नहीं देना चाहिये । ९ पुण्योदय के कारण प्राप्त अनुकूल वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में आसक्त नहीं होना चाहिये । उक्त नौ प्रकार की मर्यादा रूप बाड़ नारी[1] से मिल कर नष्ट[2] कर देते हैं और जो साधुनी[3] ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा करती है, वह सब

भी तोड़ देते हैं। इनको अपने शिर पर खड़ी हुई मृत्यु नहीं दीखती है, इसीलिये ये नीच लोग ईश्वर का नाम तो नहीं बोलते किन्तु मिथ्या तो बोलते ही रहते हैं।

आगि अनन्त मुख सेकैं नांहि, मूये सौ दीजे ता मांहि।
सकल व्रत की फोड़ी पाल, जन रज्जब जग जैन जंजाल ॥२१॥

ये लोग अग्नि से तापते तो नहीं हैं किंतु इनके मुख में अनंत अग्नि रहता है। इस कारण मरने पर उसी अग्नि में जलाते हैं जिसको अच्छा नहीं मानते थे। इनने सभी व्रतों की मर्यादा को तोड़-फोड़ डाला है। अतः जगत में जैन धर्म जम जंजाल रूप ही है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जैन जंजाल ग्रन्थ १५ समाप्तः।

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित लघु ग्रन्थ भाग ४ समाप्तः ॥

अथ छप्पय ग्रंथ भाग ५

अथ गुरुदेव का अंग १

वैरागर[1] मय[2] बिभौ[3], अष्ट कुल[4] पारस धरिये।
कल्पवृक्ष वनराय, फूल फल अमरस[5] भरिये ॥
सप्त समुद्र हु सुधा, सोइ सरिता रु तलाब हिं।
पीवन को पीयूष[6], कौन मारग गुरु आवहिं ॥
नगर पुरी वैकुण्ठ विधि, चिन्तामणि घर दर[7] चिणें।
'रज्जब' गुरु पूजा[8] सु जीव, नामहिं सरवरि[9] ना गिणें[10] ॥१॥

इस छप्पय में श्री गुरुदेव के स्वागत-सत्कार की सामग्री का विचार कर रहे हैं—हीरा[1] रूप[2] पृथ्वी[3] हो, जिससे गुरुदेव को मार्ग सुन्दर प्रतीत हो। उस पृथ्वी पर आठ प्रकार के सर्व[4] पर्वत पारस के रक्खे जायें, जिससे दरिद्रता रूप दोष से पीड़ित लौकिक कामना वाले प्राणी याचना से गुरुदेव को विक्षिप्त नहीं कर सकें। सम्पूर्ण वन तथा सब वृक्ष कल्प वृक्ष रूप हों, जिससे गुरुदेव की मार्ग में इच्छानुसार सेवा होती रहे और उन वृक्षों के फूल तथा फलों में अमृत[5] रूप रस भरा हो, जिससे गुरुदेव को सुगंध तथा खाने का सुख मिलता रहे। सातों समुद्रों में अमृत भरा हो और वही अमृत नदी तथा तलावों में भी भरा हो, जिससे गुरुदेव को पीने के लिये अमृत[6] मिलता रहे। शंका—गुरुदेव जिस मार्ग से आयें उसमें उक्त व्यवस्था होनी चाहिये, सभी स्थानों में क्या आवश्यकता है? उत्तर—कौन जानता है, श्री गुरुदेव किस मार्ग से पधारें। सर्व नगर तथा

पुरी वैकुण्ठ के समान हों, और उनके घरों के द्वार[७] चिंतामणि (इच्छानुसार पदार्थ देने वाली मणियों) से बनाये हुये हों, जिससे गुरुदेव जहाँ भी निवास करें, वहाँ उनको सर्व प्रकार का आराम रहे। यदि जीव गुरुदेव के स्वागत-सत्कार[८] के लिये ऐसी सुन्दर सामग्री तैयार कर सके, तो भी गुरुदेव ने किया जो निज नाम का उपदेश रूप उपकार उसके समान[९] नहीं मानी[१०] जा सकती है। भाव यह है–जितनी संसार में वस्तुयें हैं वे सभी विनाशी हैं और सीमित फल देने वाली हैं। गुरुदेव ने दिया जो ईश्वर-नाम वह ज्ञान द्वारा मुक्ति रूप फल का दाता है। इससे उक्त स्वागत-सत्कार की सर्व सामग्री नाम के समान नहीं हो सकती।

गुरु को दीजे कहा, परम निधि जिन से पाई।
भाव भक्ति भल भीख, गिरा गोरख ज्यों गाई॥
साँच शील[१] संतोष, दृष्टि दत[२] दीरघ[३] दीन्हा।
जीव जड़्या[४] जग माँहि, कर्म हत[५] मुक्ता कीन्हा॥
सकल अंग[६] सांई[७] सहित, कौन मौज[८] ऐसी करे।
दादू दीन दयालु बिन 'रज्जब' रीता[९] को भरे॥२॥

श्री गुरु के उपकार को दिखाते हुये कहते हैं कि-गुरु के उपकार के बदले में हम शिष्य उन्हें क्या दें? जिन श्री गुरु देव से आत्म ज्ञान रूप श्रेष्ठ निधि हमने प्राप्त की है और भाव-भक्ति रूप उत्तम भिक्षा जिन से हम को मिली है तथा जिनने गोरक्षनाथजी के समान उत्तम वाणी से उपदेश करते हुये, सत्य उत्तम–चरित्र[१], संतोष और महान्[३] विचार-दृष्टि रूप दान[२] दिया है तथा जगत् में हम जैसे जीव कर्म रूप बन्धन से बँधे[४] थे, उस हमारे कर्म-बन्धन को नष्ट[५] करके हमको मुक्त कर दिया है और ईश्वर प्राप्ति के संपूर्ण साधनों[६] से हमको संपन्न करके परमात्मा[७] के साथ एकता रूप संबन्ध करा दिया है। ऐसा आनन्द[८] गुरु बिना और कौन दे सकता है? भक्ति, वैराग्य और विवेकादि उत्तम गुणों से खाली[९] मेरे जैसे जीव के हृदय को आत्म ज्ञान से दीनों पर दया करने वाले दादू जी के बिना और कौन भर सकता है? ऐसे गुरु को गुरु ऋण से मुक्त होने के लिये हम क्या भेंट दें? ऐसी कोई वस्तु भेंट देने योग्य संसार में नहीं दिखाई देती, जो गुरु उपकार के समान हो। गुरु-ऋण तो आत्म साक्षात्कार हो जाने पर गुरुत्व प्राप्त होता है तभी उतरता है, किसी वस्तु की भेंट देने से नहीं उतरता।

सु गुरु हंस मधुरीख[१], पुनः चुम्बक ज्यों सारा[२]।
तन मन काढ़े सोधि[३], किरच[४] कंचन ज्यों पारा॥
करे सु दाई कर्म, नित्य न्यारे जिमि धोवहिं।
रज लागी पट प्राण, रजक[५] जिमि कश्मल[६] खोवहिं॥

सु गुरु वैद्य रोग हि हरे, मरजीवे ल्यावें सु धन ।
जन 'रज्जब' बलि बलि सदा, भृंगी ज्यों पलटे सु तन ।।३।।

३-४ में श्री गुरुदेव की विशेषताओं को दिखा रहे हैं—श्रेष्ठ गुरु हंस के समान हैं, जैसे हंस दूध और जल को भिन्न-भिन्न कर देता है, वैसे ही गुरु भी देहादि असत्य हैं और आत्मा सत्य है, ऐसा उपदेश कर के देहात्मा की भिन्नता का विवेक कराते हुये उनकी एकता रूप भ्रांति को नष्ट कर देते हैं और गुरु शहद् की मक्खी[१] के समान हैं। जैसे मधु मक्षिका पुष्पों से शहद् निकालती है, पुष्प वा वृक्षादि के टेढ़े पन आदि दोषों को नहीं देखती, वैसे ही गुरु शास्त्र से भक्ति-ज्ञान आदि उत्तम तत्त्व ही ग्रहण करते हैं। शास्त्र कर्त्ता के दोषों पर वा शास्त्र में जो नारी श्रृंगारादि हैं, उन पर दृष्टि नहीं डालते तथा गुरु चुम्बक पत्थर के समान हैं। जैसे चुम्बक की समीपता से पृथ्वी में स्थित लोह[२]-खंड चुम्बक की ओर खिच आते हैं, वैसे ही गुरु के संग से सांसारिक विषयों में आसक्त प्राणी भी गुरु की ओर खिच आते हैं अर्थात् विरक्त हो जाते हैं। गुरु पारा के समान हैं। जैसे पारा राख में पड़े हुये स्वर्ण के कण[४] समूह को निकाल लेता है (उड़कर राख में गिरे हुये स्वर्ण कणों को स्वर्णकार राख में पारा की गोली फेर कर निकाल लेते हैं) वैसे ही गुरु असार संसार से शिष्यों के तन तथा मन को जिस-जिस विषय में आसक्त होते हैं उस-उस का ठीक पता[३] लगा कर उन सब से उपराम करा कर निकाल लेते हैं और भगवान् में जोड़ देते हैं। गुरु दाई के समान हैं। जैसे दाई बच्चे के अंग सुधारना रूप सुन्दर कर्म करती है, वैसे ही गुरु भी शिष्यों के कर आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय रूप अंगों की चेष्टा सुधारकर शास्त्र विहित तथा मर्यादित बनाते हैं, इसी प्रकार ईश्वर प्राप्ति की कारण साधन पद्धति का भी सुधार करते हैं। गुरु धूलि आदि से छानना आदि क्रिया द्वारा चाँदी-सोना आदि निकालने वाले न्यारे के समान हैं। जैसे न्यारिया भूमि में से धूलि आदि को धो-छान कर नित्य ही रत्नादिक निकालने में तत्पर रहता है, वैसे ही गुरु भी शिष्यों के संशय रूप मैल को धोते हुये तथा उनके मनों को अनात्मा से भिन्न करते हुये उनकी छिपी हुई उत्तम शक्तियों को जाग्रत करने में तत्पर रहते हैं। गुरु धोबी[५] के समान हैं। जैसे धोबी वस्त्र की रज आदि मैल को धोकर हटाता है, वैसे ही गुरु भी प्राणी के अन्तःकरण का पाप[६] भगवत् नामादि के उपदेश से हटाते हैं। गुरु वैद्य के समान हैं। जैसे वैद्य अपनी अनुभूत औषधियों से रोगी का रोग नाश करता है, वैसे ही गुरु भी अपने अनुभव ज्ञान द्वारा जीव के जन्म-मरणादि रोग हरते हैं। गुरु समुद्र में गोता लगा कर मोती निकालने वाले मरजीवे के समान हैं। जैसे मरजीवा समुद्र में गोता लगा कर मोती प्राप्त करता

है, वैसे ही गुरु भी समाधि अवस्था में जाकर ईश्वर दर्शन प्राप्त करते हैं। गुरु भृंगी के समान हैं। जैसे भृंगी अपने शब्द से कीट के तन को बदल देता है, वैसे ही गुरु भी जीव के मनादि के भावादि बदल देते हैं। कीट को बदलने की भृंगी की पद्धति—भृंगी प्रथम घरों की दीवाल आदि पर मिट्टी का घर बनाता है, फिर कीड़ों को खोजने जाता है। कीट मिलते हैं तब उनके डंक मारता है, जो कीट डंक लगने से शिथिल हो जाते हैं, उन्हें नहीं पकड़ता और जो डंक लगने से संकुचित हो जाते हैं, उन्हें भी नहीं पकड़ता परंतु जो डंक लगने से भृंगी के संमुख हो अपने मुख को ऊपर की ओर करते हैं, उनको पकड़ के अपने बनाये घर में बंद कर देता है और अपना शब्द सुनाता रहता है। उन में जो भृंगी का शब्द चित्त लगा कर सुनता है वह कीट तो सुनते-सुनते भृंगी बन जाता है। अन्य सब मरकर सूख जाते हैं। वैसे ही गुरु भी अपने शब्दों से शिष्यों को अपने समान कर देते हैं किंतु जो गुरु के शब्दों को सुनकर शिथिल हो जाते हैं, चित्त लगा कर नहीं सुनते और जो सुनकर संकुचित हो जाते हैं अर्थात् ये तो विषय-सुख छुड़ाते हैं ऐसा विचार करके मौन रहते हैं, ये दोनों प्रकार के शिष्य नहीं बदलते किंतु जो सुनते ही सन्मुख होते हैं अर्थात् सुने अर्थ में जो संशय रहता है, उसको पूछते हैं और सुनते रहते हैं, वे ब्रह्म का साक्षात्कार करके गुरु बन जाते हैं। ऐसे गुरु की हम बारंबार बलिहारी जाते हैं।

परम पद जु गुरु देव, परम सो प्राण प्रमानं।
परम पिता पर प्रान, परम सो मित्र बखानं॥
परम हि निधि दातार, परम भंडार लुटावे।
परम सुःख दे सबन, परम सो भेद[1] बतावे॥
परम सिद्धि खानिन क्षिता[2], परम मुक्त मुक्ती करे।
परम सु रीती ठौर पर, सु गुरु रहम[3] 'रज्जब' भरे॥४॥

गुरुदेव परम पद अर्थात् ब्रह्म रूप हैं और वे गुरुदेव परम प्राण अर्थात् प्राणों के भी प्राण हैं। प्राण जिस सत्ता के आश्रित हैं, वह सत्ता उनका वास्तविक रूप है। गुरु परम पिता हैं, शिष्य के लिये पिता से भी अधिक हितकर हैं। पिता लौकिक वस्तुयें दे सकता है, आत्म ज्ञान नहीं। पर प्राण हैं अर्थात् साधारण प्राणियों से अति उत्तम हैं। वे गुरुदेव शास्त्र संतों द्वारा जीव के परम मित्र कहे गये हैं, संतोष रूप परम निधि के देने वाले हैं। ईश्वर के नाम रूप परम भंडार को वितरण करते हैं। उपदेश द्वारा सबको परम सुख देते हैं। जीव-ब्रह्म की एकता रूप जो परम रहस्य[1] है, वह अधिकारी जनों को बतलाते हैं। आत्म ज्ञान रूप परम सिद्धि की खानियों की तो आधारभूत पृथ्वी[2] ही हैं। आप परम मुक्त हैं और

शरणागतों को संसार से मुक्त करते हैं। उक्त दिव्य गुणों से युक्त गुरुदेव दयादि[3] दैवी गुणों से अत्यन्त खाली जीव के हृदय रूप स्थान को दयादिक प्राणी मात्र के उपकारक सिद्धांत से भर देते हैं।

मणि अहि[1] पत्री[2] विहग[3], उड़े गुटिका मुख धारं।
अतर तिरावे तुम्बि, नाव से पत्थर पारं॥
सु सिद्धि से पर पिण्ड, धार अचरज हैरानं।
मुहरे[4] ताग न अग्नि, दिव्य[5] से दहत न पानं॥
गुरु देव साथ दें नाथ, यूं माँगत का मष्टिका[6]।
(रज्जब) बढत बुद्धि गुरु ज्ञान से, कर वामन जिमि लष्टिका[1]।५।

गुरुदेव के साथ रहने की याचना प्रभु से करना चाहिये इससे निष्कामता की हानि नहीं होती यह कहते हैं–जैसे मणि से सर्प[1] को लाभ मिलता है। सर्प अपनी मणि पृथ्वी पर रख देता है, फिर उसके प्रकाश से जो भी लघु जीव वहाँ आते हैं, उनसे अपनी क्षुधा निवारण करता है, वैसे ही शिष्य को भी गुरु के संग रहने से ज्ञान प्रकाश प्राप्त होकर आशा दूर हो जाती है।

जैसे पक्षी[3] के संग से पत्र[2] विदेश में पहुंच जाता है, वैसे ही गुरु के संग से शिष्य भगवान् के पास पहुँच जाता है। पक्षी द्वारा पत्र पहुंचने की पद्धति– पहले किसी समयमें व्यापारी लोग पालतू कबूतर के जोड़े रखते थे,वे कबूतर घर तथा ५–१० कोस जहाँ दुकान होती थी उन दोनों स्थानों से परिचित होते थे। जब समाचार भेजना होता था तब एक के गले में पत्र बाँधकर दूसरे को उसके अनजान में छिपा देते थे, तब पत्र वाला समझता था कि वह दूसरे स्थान को गया, उड़ करके वहाँ जाता था, वहाँ के लोग पत्र खोल लेते थे और जवाब का पत्र बाँध देते थे फिर वह वहाँ अपने साथी को न देखकर जहां से जाता था वहाँ ही लौट आता था, किसी समय इसी प्रकार डाक चलती थी। जैसे योगी पारे आदि औषधियों से बनायी हुई गोली को मुख में धारण करके आकाश में उड़ने लगता है, वैसे ही शिष्य गुरु के संग से ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म रूप आकाश में उड़ने लगता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होता है। जैसे तुम्बिका तैरना नहीं जानता हो उसे भी जल पर तिराती है, डूबने नहीं देती, वैसे ही गुरु के संग से संसार सागर में डूबने वाला प्राणी संसार को पार कर जाता है। जैसे नाव पत्थरों को भी नदी आदि से पार कर देती है वैसे ही गुरु जड़ मति शरणागतों को भी अविद्यादि से पार कर देते हैं। जैसे श्रेष्ठ सिद्धि से सिद्ध दूसरे के शरीर को धारण कर लेता है, यह कैसी आश्चर्य और हैरानी की बात है, वैसे ही गुरु की संगति से शिष्य परब्रह्म में प्रवेश करता है। यह गुरु संगति का कार्य कितना आश्चर्य रूप है। जैसे मोर पंख से

निकाले हुये ताँबे के बनाये हुये मणियें[४] में जितना धागा रहता है, उसे अग्नि नहीं जलाता, वैसे ही शिष्य गुरु के संग में जब तक रहता है वा गुरु के उपदेश में जब तक दृढ़ रहता है, तब तक चिन्ता नहीं जलाती जैसे सत्यासत्य की परीक्षा करने के प्राचीन समय के न्यायालयों के तप्त लोहे के गोले[५] से पीपल का पत्ता और हाथ दोनों ही नहीं जलते थे, वैसे ही गुरु के संग से सच्चा शिष्य शोक से नहीं जलता।

तप्त लोह के गोले से सत्यासत्य की परीक्षा पद्धति—लोहे के गोले को अग्नि राशि में डाल कर अग्नि वर्ण करके दोषी के हाथ पर पीपल का पत्ता रख कर, दोषी से—"मैं सच्चा हूं तो यह मेरे हाथ को न जलावे, झूठा हूं तो जलावे" ऐसा कहा कर गोला रखते थे। सच्चे के हाथ पर का पत्ता तथा हाथ दोनों ही नहीं जलते थे, झूठे के जलते थे। पीपल भगवत् स्वरूप माना गया है, इस से भगवत् साक्षी के लिये पीपल का ही पत्ता रखते थे। जैसे वामन भगवान् बढ़े थे तब उनके हाथ की लकड़ी[६] भी बढ़ गई थी, वैसे ही गुरुदेव के संग से उनके ज्ञान द्वारा मंद मति शिष्य की भी बुद्धि परमार्थ में बढ़ती है। जिन गुरु देव के संग से उक्त महान् लाभ प्राप्त होते हैं, उन गुरु देव का संग यदि हम शिष्य गण परमात्मा से माँगें कि-"हे नाथ! हमें गुरु देव का संग दें" तो ऐसी याचना में हमको क्या संकोच है अर्थात् ऐसी याचना करने में हम चुप[७] क्यों रहें? गुरुदेव का संग अवश्य प्रभु से माँगना चाहिये।

कूप छांह गज पंक[१], मूस[२] पारा पी पंगुल।
साधन समीर[३] नींद, सधे[४] सरके नहिं अंगुल॥
काम हनू[५] कर्पूर, मिरच चुम्बक असु[६] नाले[७]।
अहमन[८] चक्काव्यूह[९], जहाज न वायस[१०] चाले॥
सु गुरु वैद्य पारा सु मन, गरुड़ भवंगम[११] कर गह्या।
निधि[१२] सु पाज[१३] तोड़े भँवर, 'रज्जब' पड़ पंखो रह्या॥६॥

श्रेष्ठ गुरु के संग से मन स्थिर हो जाता है, यह कहते हैं—जैसे कूयें की छाया कूयें में ही रहती है, बाहर नहीं निकलती है, वैसे ही गुरु उपदेश से विरक्त हुआ शिष्य का मन विषयों में नहीं जाता, ब्रह्म-चिंतन में ही स्थिर रहता है। जैसे हाथी दल दल की कीचड़[१] में फँस जाता है तब वह अपने आप उससे बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही जब गुरु कृपा से शिष्य का मन आत्म स्वरूप में निमग्न हो जाता है, तब दूसरों की प्रेरणा विना स्वतः वहिर्मुख होकर व्यवहार में नहीं लग सकता। जैसे चूहा[२] पारा पीकर पंगुल हो जाता है, चल नहीं सकता, वैसे ही गुरु उपदेश से मन महान् हो जाता है, इस कारण मनोरथ त्याग कर स्थिर रहता है। चूहे को पारा पिला कर पंगुल करने की पद्धति-पहले किसी समय में चूहा पकड़ना होता था तब एक छोटे पात्र में पारा

भर कर रख देते थे, चूहा उसे पी जाता था, फिर बोझे के कारण चल नहीं सकता था, तब पकड़ लेते थे और मुख नीचा करके हिलाकर पारा निकाल लेते थे, फिर चूहे को जंगल में छोड़ देते थे, जैसे साधन करने से प्राण वायु[3] तथा मनुष्य की निद्रा जब सध[4] जाती है अर्थात् अपने वश हो जाती है, तब साधक की इच्छा से विपरीत एक अंगुल अर्थात् किंचित मात्र भी अधिक वा कम नहीं होती है। जितना प्राण रोकना चाहता है उतना ही रुक जाता है। जितना सोना चाहता है, उतनी ही निद्रा आती है, अधिक नहीं आती। वैसे ही गुरु प्रदत्त मनोनिग्रह के साधन के सिद्ध हो जाने पर मन वश में हो जाता है, किंचित् मात्र भी त्याज्य विषय पर नहीं जाता। जैसे काम को हनुमान्जी[5] ने जीत लिया था, वैसे ही गुरु कृपा से शिष्य मन की कामुक वृत्तियों को जीत लेता है। जैसे कपूर की डब्बी में काली-मिरच रख देने से कपूर नहीं उड़ता है, वैसे ही गुरु प्रदत्त साधन में स्थित रहने से मन स्वर्गादिक की आशा लेकर काम्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता है। जैसे लोहे की नाल[7] लगे हुये घोड़े[6] के पैर चुम्बक पत्थर पर पड़ जाने से वह वहां से चल नहीं सकता है, वैसे ही गुरु उपदेश से संतोष पर आरूढ हो जाने से शिष्य का मन सांसारिक विषयों के लिये नहीं दौड़ता है। जैसे अभिमन्यु[8] चक्रव्यूह[9] से नहीं निकल सका था, वैसे ही गुरु उपदेश से दैवी-गुणव्यूह में प्रविष्ट हुआ शिष्य का मन बाहर नहीं निकल सकता। जैसे जहाज को त्याग करके काक[10] पक्षी नहीं जा सकता, वैसे ही गुरु उपदेश से निग्रहीत शिष्य का मन ईश्वर नाम का त्याग नहीं करता। पहले किसी समय में समुद्र पार की यात्रा करते थे तब जहाज वाले दिशा ज्ञान के लिये काक पक्षी साथ रखते थे। काक अपने देश की ओर ही मुख करके बैठता है, इस से उन को देश की दिशा का ज्ञान रहता था। समुद्र में बहुत दूर निकल जाने पर काक को छोड़ देते थे, तब वह समुद्र में अन्य आश्रय नहीं देख कर अपने आप ही जहाज को नहीं छोड़ता था। जैसे गरुड़जी के पंजे में आया हुआ सर्प[11] नहीं निकल सकता, वैसे ही गुरु के विचार रूप हाथ में आया हुआ शिष्य का मन कुविचार में नहीं जा सकता। जैसे भगवान् राम की बाँधी हुई समुद्र[12] की सुन्दर सेतु[13] के तोड़ने से जो भँवर पड़ा है, उसके ऊपर होकर पक्षी नहीं जा सकता, उसी में गिर जाता है, वैसे ही श्रेष्ठ शिष्य का मन गुरु आज्ञा से आगे सांसारिक विषयों की ओर नहीं बढ़ता, गुरु आज्ञा में ही रह कर आत्मानन्द में निमग्न होता है। जैसे वैद्य के द्वारा किये गये संस्कारों से पारा उड़ना त्याग कर सुन्दर बन जाता है, वैसे ही गुरु के उपदेश के द्वारा शिष्य का मन भेद-भावना परित्याग करके ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। अतः गुरु कृपा से ही मन शिष्य के अधीन होकर परम शांति को प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं।

चन्द हि कुमुद अचाह, कमल कब अलि[1] हि बुलावे।
दीपक दिल न पतंग, आप अहि[2] चन्दन आवे॥
सलितन सिन्धु निराश, धूम आकाश न आशा।
घर[3] उर ध्यान न धाम, होय घर बड़ा तमाशा॥
मुकुर[4] मनोरथ कौन मुख, पाठों[5] पाठ न भाव ही।
'रज्जब' गुरु विश्वास विधि, सिरजा शिष[6] सो आवही॥७॥

गुरुदेव की निस्पृहता दिखा रहे हैं—चन्द्रमा यह नहीं चाहता कि मेरे को देख के कुमुद खिलें। परन्तु चन्द्रमा के उदय होते ही कुमुद अपने आप ही खिल जाते हैं। वैसे ही गुरु यह इच्छा नहीं करते कि मेरे दर्शन से कोई प्रसन्न हों किंतु गुरुदेव को देखते ही अधिकारियों का हृदय आप ही विकसित हो जाता है। कमल भँवरों[1] को कब बुलाता है? वे तो सुगन्ध द्वारा अपनी तृप्ति के लिये अपने आप ही आते हैं। वैसे ही गुरु शिष्य बनाने के लिये कब प्रेरणा करते हैं? किंतु गुरु-ज्ञान द्वारा अपनी तृप्ति के लिये सुजन लोग अपने आप ही आकर शिष्य बन जाते हैं। दीपक यह कब चाहता है कि-पतंग मेरे में आकर मरें? किंतु पतंग प्रकाश में लय होने के लिये अपने आप ही पड़-पड़ के मरते हैं। वैसे ही गुरु यह अभिलाषा कब करते हैं कि-मेरी ज्ञान ज्योति में गिर के जीव जीवभाव को नष्ट करें? परंतु अधिकारी जन अपने आप ही आत्म प्रकाश में लय होने के लिये आकर जीवत्त्व भाव नष्ट करते हैं। चंदन यह कब चाहता है कि-सर्प[2] आकर मेरे ऊपर लिपटें? किंतु सर्प अपने विष की जलन को शांत करने के लिये अपने आप ही आकर लिपटते हैं। वैसे ही गुरु यह प्रेरणा कब करते हैं कि-तुम मेरे पास आकर शांति प्राप्त करो किंतु त्रिविधि ताप से जलते हुये प्राणी अपनी शांति के लिये अपने आप ही गुरु की शरण लेते हैं। चंदन पर जाने की सर्प की पद्धति-सर्प जब विशेष आयु का हो जाता है तब विष बढ जाता है और पंख आ जाते हैं। फिर उड़कर चन्द्रमा की ओर जाता है, जब आकाश में चंद्र की शीतल किरणों से भी अधिक शीतल और सुगंध युक्त चंदन की वायु उसको प्राप्त होती है तब उस वायु के द्वारा जाकर चंदन पर लिपट जाता है, चंदन की शीतलता से विष की गरमी कम हो जाती है। समुद्र नदियों की आशा नहीं करता किंतु वे सब अपनी वृद्धि के लिये अपने आप ही समुद्र में प्रवेश करती हैं। वैसे ही सच्चे गुरु यह आशा नहीं करते कि-सब मेरे सिद्धान्त में ही आवें, परंतु प्रगति-शील मानव समाज अपनी पारमार्थिक उन्नति के लिये गुरु के उत्तम सिद्धांत में अपने आप ही प्रवेश करते हैं। धुआँ की आशा आकाश कब करता है? किंतु धूम रसोई घर की तुच्छता और आकाश की विशालता को देखकर अपने आप ही आकाश में जाता है। वैसे ही जिज्ञासु जन विषयों की तुच्छता

को देख कर तथा गुरु की वाणी के अर्थ की विशालता को देखकर अपने आप ही गुरुदेव की शरण जाते हैं। पृथ्वी[3] के हृदय में यह ध्यान नहीं होता कि-मेरे पर घर बनावें किंतु पृथ्वी की धारणा शक्ति तथा सहन शक्ति देख कर सब लोक अपने आप ही घर बनाते हैं। वैसे ही गुरु की धारणा शक्ति, सहन शक्ति और शरणागत रक्षा शक्ति आदि को देख कर अधिकारी जन अपने आप ही गुरु देव का आश्रय लेते हैं। घर कब चाहता है कि-मेरे में विशाल तमाशा हो, किंतु लोक अपनी प्रसन्नता के लिये अपने आप ही घर को सजाकर तमाशा करते हैं। वैसे गुरु कब चाहते हैं कि- मेरे शरीर पर चंदनादि लगा कर तथा माला आदि धारण कराकर पूजा करें किंतु भक्त जन अपने कल्याण के लिये अपने आप ही पूजा-सत्कारादि करते हैं। दर्पण[4] को क्या यह मनोरथ होता है कि-मेरे में लोक अपने मुख देखें ? किंतु लोक अपने मुख के दोष-गुणों को देखने के लिये अपने आप ही अपना मुख दर्पण में देखते हैं वैसे ही गुरु को भी ऐसा मनोरथ नहीं होता कि-जिज्ञासु जन अपने अंत:करण के गुण-दोषों का निर्णय करके गुण ग्रहण करने के लिये मेरा उपदेश मनन करें, किंतु वे तो अपने स्वरूप ज्ञान के साधन रूप दैवी गुणों की प्राप्ति के लिये तथा स्वरूप ज्ञान के लिये अपने आप ही मनन करते हैं। पुस्तकों[5] को यह अभिलाषा नहीं है कि—लोक हमारा पाठ करें, किंतु लोक अपनी उन्नति के लिये अपने आप ही पढ़ते हैं। वैसे ही गुरु को भी ऐसी अभिलाषा नहीं होती कि—जिज्ञासु जन मेरे वचनों का पाठ करें किंतु अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये वे अपने आपही पढ़ते हैं । गुरुदेव तो संतोष पूर्वक स्वस्वरूप में स्थित हैं, उनको कोई प्रकार की इच्छा नहीं है, परंतु जो शिष्य[6] उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मुक्त होने को उत्पन्न हुआ है वह उनके पास आप ही आ जाता है। भाव यह है—गुरु पूर्ण काम होते हैं, वे यदि शिष्य के साथ विशेष व्यवहार नहीं भी रक्खें तो भी शिष्य को उनसे उपराम कभी भी नहीं होना चाहिये।

भोगी योग बखान, शील[1] गणिका[2] सु सुनावे।
सूम[3] दृढ़ावे पुण्य, कौन के हिरदै आवे ॥
अंध अंध कर गहे, नार[4] रोगी जु टटोरे।
अतर तिरावे अतर, बूड़ सो और हिं बोरे ॥
सकल अंग[5] से भंग[6] गुरु, किये कार्य हो कौन सिधि।
आप मरे और हिं अमर, 'रज्जब' करे सु कौन विधि ॥८॥

सरल मति साधकों को सचेत करने के लिये अयोग्य गुरु का निराकरण करते हैं—आप तो पूर्ण भोगी हो और दूसरों को कहे कि—विषयों का परित्याग करके योग साधन करो, बहुत लाभ होगा। तो ऐसे उपदेशक

गुरु की योग शिक्षा में श्रद्धा करके कौन योग साधना करेगा ? प्रत्युत बुद्धिमान् श्रोता कहेंगे—'यदि योग साधना आपके कथनानुसार उत्तम है तो आप क्यों नहीं करते ? वैश्या[२] नारी सभा में खड़ी होकर पतिव्रत[१] धर्म का उपदेश अति सुन्दर रीति से सुनावे, तो भी सुनने वाली नारियाँ उसमें श्रद्धा करके पतिव्रत के लिये कब प्रतिज्ञा करेंगी ? प्रत्युत बुद्धिमती महिलायें कहेंगी—'तू तो प्रतिदिन अनेक पुरुषों से संग करती है और अन्य नारियों को पतिव्रत धर्म का उपदेश करती है, इससे तुझे लज्जा नहीं आती । वैसे ही गुरु आप तो व्यभिचारी हो और शिष्यों को ब्रह्मचर्य पूर्वक साधन करने का उपदेश करे तो कौन मानेगा ? कृपण[३] मनुष्य लोकों को कहे—भाइयो ! अपने धन में से कुछ धन पुण्य कार्यों में भी खर्च किया करो, तो इस बात को अपने हृदय में कौन धारण करेगा ? उलटा कहेंगे—आप तो पुण्य में एक पैसा भी खर्च नहीं करता है और हमको पुण्य करने का उपदेश करता है, इसे लज्जा नहीं आती । उक्त दो पादों से कहा कि—जिसने स्वयं साधन नहीं किया हो उसके उपदेश से कोई साधन नहीं कर सकता । नीचे के दो पादों से कहते हैं कि अयोग्य गुरु से लाभ के स्थान में हानि ही होती है—जैसे कोई अंधा किसी अन्य अंधे का हाथ पकड़ कर अपने जाने योग्य लम्बे मार्ग में आनन्द के साथ नहीं पहुँच कर मध्य में गड्ढे आदि में गिरने का महान् दुःख ही भोगता है, वैसे ही ज्ञान-नेत्र हीन गुरु की शरण से मोहाँध प्राणी अपने पहुँचने योग्य भगवत् प्राप्ति रूप स्थान को नहीं पहुँच कर काम-क्रोधादि रूप गड्ढों से परिपूर्ण संसार मार्ग में ही जन्म-मरण रूप महान् क्लेश भोगते हैं । नारी[४] किसी रोगी पर पुरुष को अपनी अभिलाषा पूर्ण करने के लिये टटोरती है अर्थात् अपने हाथ से उसके अंग स्पर्श करती है, तब उसे विषयानन्द तथा संतान रूप लाभ न मिलकर लोकापवाद रूप महान् क्लेश ही मिलता है । वैसे ही काम-क्रोधादि रूप रोगों से युक्त रोगी गुरु से शिष्य को संतोष रूप आनन्द तथा ज्ञान रूप संतान की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत गुरु की निन्दा सुनने से महान् क्लेश ही होता है । जो तैरना नहीं जाने वह किसी अन्य को तिराने का आश्वासन देता है, तो वह स्वयं डूबता है तथा दूसरे को भी डूबोता है । वैसे ही जो गुरु स्वयं ज्ञान हीन है, वह औरों को ज्ञान द्वारा संसार-सागर से पार करने का आश्वासन देता है, तो अपने सहित उन सबको भी संसार-सिंधु में ही डूबोता है, पार नहीं कर सकता । अब दो पादों से कहते हैं कि—जो व्यक्ति आप मर रहा हो वह दूसरे को अमर किस प्रकार कर सकता है । वैसे ही जो मुक्ति के सकल साधनों[५] से हीन[१] है, उसको गुरु बनाने से कौन कार्य सिद्ध होगा ? मुक्ति तो दूर रही मुक्ति के साधन रूप कार्य भी सिद्ध नहीं हो सकते । अतः ठीक समझ-बूझ कर, गुरु के लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति को ही गुरु बनाना चाहिये ।

बस्ती पूजे[1] आश, शरण जिहिं धका[2] न आवे।
सो राजा प्रतिपाल, प्रजा सकल हि सुख पावे॥
वैद्य सु खोवे रोग, राग जिहिं दीपक जागे।
सोई तीरंदाज, निशाने चोट सु लागे॥
खोजी खोज न चूक ही, सो सराफ परखे खरा।
आतम राम मिलाव ही, 'रज्जब' सो गुरु शिर धरा॥६॥

अब यह कहते हैं कि—गुरु ऐसा होना चाहिये—उत्तम बस्ती वही मानी जाती है जिसमें आये अतिथि की आशा पूर्ण[1] हो सके। वैसे ही उत्तम गुरु वह माना जाता है, जिसके उपदेश से जीव की ब्रह्म प्राप्तिरूप अक्षय सुख की आशा पूर्ण हो जाय। शरण उसकी ही श्रेष्ठ होती है, जिसकी शरण जाने पर जिस दुःख निवृत्ति के लिये गया, वह दुःख[2] फिर नहीं आवे। वैसे ही श्रेष्ठ गुरु वह है, जिसकी शरण जाने पर जन्मादि दुःख पुनः नहीं हो सके। वही राजा प्रजा पालक कहा जाता है, जिसकी सभी प्रजा सुख से रहती हो। वैसे ही गुरु वही कहलाता है, जिसके सम्पूर्ण शिष्य चिन्तादि दुःखों से रहित, समतादि जन्य सुख के भागी हों। वैद्य वही उत्तम होता है, जो रोग का नाश कर सके। वैसे गुरु वही श्रेष्ठ माना जाता है, जो अज्ञान का नाश कर सके। गायक वही उत्तम माना जाता है, जिसके 'दीपक राग' गाने से अपने आप दीपक जल उठें। वैसे गुरु वही उत्तम है, जिसके उपदेश से ज्ञान दीपक जग उठे। बाण चलाने वाला वही निपुण माना जाता है, जिसके बाण की चोट ठीक निशाने पर लगे। वैसे गुरु वही उत्तम होता है, जिसका वचन-बाण शिष्य के ठीक मर्मस्थान पर लगे अर्थात् शिष्यों में जो दोष हो उसकी निवृत्ति के उपदेश से उसे दूर करे। खोजी वही कुशल होता है, जो एक बार खोज देख लेने पर उसे भूले नहीं। वैसे गुरु वही श्रेष्ठ है, जो एक बार शिष्य का अधिकार देख लेने पर उसे भूले नहीं, सदा उसके अधिकार के समान ही उसे कल्याण का उपदेश देता रहे। सराफ वही अच्छा माना जाता है, जो खरी परीक्षा करे। वैसे गुरु वही श्रेष्ठ है, जो शिष्य के हृदय की ठीक परीक्षा कर सके। मैंने तो जो आत्मा को राम में मिलावे अर्थात् आत्मा-राम का अभेद बोध करावे ऐसे गुरु दादूजी को ही शिरोधार्य माना है। भाव यह है—अज्ञानी गुरु नहीं कहला सकता, गुरु शब्द का अर्थ ज्ञानी में ही घटित होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित गुरुदेव का अंग १ समाप्तः। छ० ६।

अथ उपदेश का अंग २

श्रवण परीक्षित रूप, शब्द शुकदेव सु गावे।
पवन भजन प्रहलाद, सु मनसा[2] श्री[3] पद ध्यावे॥

पूज अर्च[४] पृथु प्रेम, अंकुर[५] अक्रूर सु वन्दन ।
हेत[६] दास हनुमान, प्राण पारथ[७] सु प्रीतिपन ॥
वलि ज्यों बल बलिहारि[९], 'रज्जब' रामहिं दीजिये ।
इस विधि नवधा भक्ति नित, आतमा[१०] अंतर[११] कीजिये ॥१॥

प्रथम नवधा भक्ति करने की विधि का उपदेश करते हैं—जैसे परीक्षित ने चित्त एकाग्र करके श्रवण भक्ति की थी, वैसे ही अपने श्रवण को निश्चल करके श्रवण भक्ति करें अर्थात् एकाग्रता के साथ अपने भीतर होने वाले अनाहत नाद को सुने अथवा हृदय रूप आकाश में प्रकट होने वाले भक्ति, वैराग्यादि विचारों का निश्चय रूप श्रवण करें । जैसे शुकदेव ने एकाग्रता से कीर्तन भक्ति की थी, उसी प्रकार एकाग्रता से अपने शब्दों द्वारा कीर्तन भक्ति करते हुये अपने मन आदि को उपदेश करें । जैसे प्रह्लाद ने निर्भयता से स्मरण भक्ति की थी, वैसे अपने श्वासों[१] द्वारा निर्भयता पूर्वक अखंड स्मरण भक्ति करें । जैसे लक्ष्मी[३] ने पाद सेवन भक्ति की थी, वैसे ही उत्तम मनोवृत्ति[२] से हृदय स्थित अपने आत्माराम के भावमय चरणों की सेवा करें । जैसे राजा पृथु ने अर्चना[४] भक्ति की थी, वैसे ही हे साधक ! प्रेम से मनोमय सामग्री द्वारा अपने हृदय स्थित आत्मा रूप राम की पूजा कर । जैसे अक्रूर ने स्तुति-प्रणाम रूप वन्दना भक्ति की थी, वैसे ही अंतःकरण की वृत्ति[५] से बारंबार अपने हृदय के भीतर ही रमता राम की वन्दना भक्ति करें। जैसे हनुमान्‌ने दासत्व भक्ति की थी, वैसे ही स्नेह[६] से दासत्व भक्ति करें । जैसे अर्जुन ने[७] सख्य भक्ति की थी, वैसे ही प्राणी को ईश्वर की सखापन[८] भक्ति करनी चाहिये । जैसे राजा वलि ने आत्म निवेदन भक्ति की थी, वैसे ही धन, जन, बुद्धि आदि अपनी संपूर्ण शक्ति को प्रभु पर निछावर[९] करके आत्म निवेदन भक्ति करें अथात् मैं, मेरा आदि अहंकार को लय करे, सब कुछ राम का ही है ऐसी भावना करे । इस उक्त विधि से अंतःकरण[१०] के भीतर[११] ही आत्म स्वरूप में नित्य नवधा भक्ति करते हुये सर्व प्रकार से भगवत् परायण रहना चाहिये । शंका—जिन परमात्मा की नवधा भक्ति का शास्त्र में विधान है, वे तो आकाश में स्थित वैकुण्ठ में निवास करते हैं । आप शरीर के भीतर ही उनका निवास तथा भक्ति करना कैसे कहते हैं ? छप्पय नं० दो से उक्त शंका का उत्तर दे रहे हैं—

आतमा अगम अकाश, भवन तिहिं वसे विश्वंभर ।
मन रु पवन शशि सूर्य, प्रीति परदक्षिण ऊपर ॥
तत[१] तारे तहँ चलें, सन्त ही सेवक सारे ।
पांचों इन्द्रिय अभ्र[२], गगन[३] में गुप्त सु गारे[४] ॥
खिवे[५] न मनसा[६] बीजली, सलिल[७] स्रवे[८] नहिं लेश भी ।
'रज्जब' सूक्ष्म सु देश को, लखते सु सन्त जन सभी ॥२॥

जैसे ब्रह्मांड के आकाश में स्थित वैकुण्ठ भवन में भगवान् विष्णु निवास करते हैं, वैसे ही शरीर के हृदयाकाश में स्थित अष्टदल कमल रूप अगम अर्थात् जिसमें वहिर्मुख प्राणियों की गम नहीं हो सकती ऐसा भवन है, उसी भवन में विश्व को धारण-पोषण करने वाले विश्वंभर भगवान् वसते हैं। शंका-ब्रह्मांड के आकाश में तो चन्द्र-सूर्य भगवान् की प्रदक्षिणा करते हैं, पिंड में चन्द्र-सूर्य कहां हैं ? उत्तर-मनरूप चन्द्रमा और शरीर के भीतर विचरने वाला वायु रूप सूर्य हैं और प्रीति रूप प्रदक्षिणा करते रहते हैं अर्थात् प्रेम से निज कार्य में लगे रहते हैं। शंका–ब्रह्मांड के आकाश में तारे विचरते हैं, पिंड में तारे कहां हैं ? उत्तर–पिंड में जो विविध तत्त्व[1] शरीर स्थिति के निमित्त चल रहे हैं, वे ही तारे हैं। शंका–ब्रह्मांड के आकाश में स्थित वैकुण्ठ निवासी भगवान् की सेवा में तो पार्षद तत्पर रहते हैं, पिंड के विश्वंभर की सेवा कौन करता है ? उत्तर—सम्पूर्ण सन्त जन ही ध्यान द्वारा हृदयस्थ भगवान् की सेवा में तत्पर रहने से सेवक हैं। शंका–ब्रह्माण्ड के आकाश में तो बादल होते हैं, पिंड के आकाश में बादल कहाँ हैं ? उत्तर—पंच ज्ञानेन्द्रिय ही बादल[2] हैं, जैसे बादल वर्षा से लोकों को आनंदित करते हैं, वैसे ही इन्द्रिय भी भोग-सुखों द्वारा अज्ञानियों को आनंदित करती हैं। जैसे बादल सूर्य प्रकाश को मंद करते हैं, वैसे ही इन्द्रिय भी भोग-लालसा द्वारा आत्मा के ज्ञान-प्रकाश को विकसित नहीं होने देती हैं तथा जैसे आकाश[3] में बादलों को वायु नष्ट कर देता है, वैसे ही इस गुप्त आकाश में भजन रूप वायु इन्द्रियों की भोग-लालसा को भली प्रकार गाल[4] देता है अर्थात् नष्ट कर देता है। जैसे आकाश में बादल नष्ट हो जाने पर बिजली नहीं चमकती[5] है, वैसे ही पिंड के आकाश में इन्द्रियों की भोग-लालसा नष्ट हो जाने पर सांसारिक आशा युक्त मनोवृत्ति[6] रूप बिजली नहीं चमकती है। जैसे आकाश में बादल नहीं रहते हैं, तब वर्षा भी नहीं होती हैं, वैसे ही इन्द्रियों को जीत लेने पर वे विषयाकार वृत्तिरूप जल[7] लेश भी नहीं वर्षाती[8] हैं अर्थात् इन्द्रिय भोग-वासना को त्याग के विषयों में भी परमात्मा का ही साक्षात्कार करती हैं। शंका—पिंड के आकाश में स्थित अष्टदल कमल रूप प्रदेश का आपने वर्णन किया है, पर इसको देखा किसने है, यह तो कहने मात्र ही है ? उत्तर—अज्ञानियों की दृष्टि में नहीं आने वाले इस सूक्ष्म और अत्यन्त सुन्दर अष्ट दल कमल रूप भवन प्रदेश को सभी श्रेष्ठ संत जन अपने ध्यान नेत्रों से सदा ही देखते हैं अर्थात् प्रतिदिन ही ध्यान करते हैं। अतः हृदयस्थ आत्मा राम की ही उपासना करनी चाहिये।

मति[1] मराल[2] मधुरीख[3], वारि वनराय सु छाने।
देख कबूतर काम, पंख पत्री घर आने॥

चन्दन जाय पनंग[४], स्वाति ऋतु सीप सु लोड़े[५] ।
अजा[६] न बैठे कूप, रूख[७] रैनी कर जोड़े ।।
आदम सन्यास परखे मनुष, श्वान सु व्रत दिन ठानिया[८] ।
'रज्जब' मानुष देह धृक, जिहिं आतमराम न जानिया ।।३।।

इस पद्य में कहते हैं कि—ईश्वर प्राप्ति का उत्तम साधन मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी हृदयस्थ आत्म स्वरूप राम को जानने का प्रयत्न नहीं किया, उसे धिक्कार है—हंस[२] और शहद् की मक्खी[३] की बुद्धि[१] को देखो जो जल और विविध वृक्ष तथा लताओं से दूध और शहद् को भिन्न कर लेते हैं । हंस जल से दूध को निकाल लेता है और शहद् की मक्खी फूलों से शहद् निकाल लेती है । कबूतर का कार्य भी देखो पक्षी होने पर भी पत्र को घर पहुँचा देता है । कबूतर की पत्र पहुंचाने की पद्धति गुरुदेव के अंग के पाँचवे छप्पय की टीका में देखो, सर्प[४] भी चन्दन के पास जाकर उसके लिपट जाता है । सर्प की चन्दन के पास जाने की पद्धति गुरुदेव के अंग के सातवें छप्पय की टीका में देखो । सीप भी स्वाति नक्षत्र की वर्षा को पहचान कर उसकी विन्दुओं को प्राप्त करने के लिये इच्छा[५] करती है और शीघ्र समुद्र जल के ऊपर आकर अपना संपुट खोल के स्वाति विन्दुओं को ग्रहण करती है । मोती की सीप समुद्र में रहती है परंतु समुद्र का जल नहीं पीती है । चातक पक्षी के समान ही यह भी स्वाति की अधर विन्दुओं को ही पीती है । देखो बकरी[६] भी पृथ्वी में दबे हुये कूएँ पर नहीं बैठती है । कोई पुराणा कुआ जब पृथ्वी में दबकर गुप्त हो जाता है, तब उसे खोजने के लिये बकरियों का समुदाय, खेत में बैठाते हैं । बकरी कुएँ की नाल की मध्य की पृथ्वी को छोड़ कर बठती हैं । इससे पता लग जाता है और खोद के निकाल लेते हैं । वृक्ष[७] भी रात्रि में अपने पत्ते रूप कर जोड़ लेते हैं । सिरसादि कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जिनके पत्ते सूर्य अस्त होने पर जुड़ जाते हैं और सूर्योदय होने पर कमल कोश के समान खुल जाते हैं । आदमसन्यास पक्षी होने पर भी अपनी पंख से मनुष्य की परीक्षा कर देता है । आदम-सन्यास पक्षी की पंख नेत्रों के ऐनक के समान लगाकर मनुष्य को देखने से मनुष्य का पूर्व जन्म का शरीर दीखता है अर्थात् पहले जन्म में मनुष्य होगा तो मनुष्य दीखेगा और अन्य बैल आदि होगा तो वह दीखेगा । कुत्ता भी अपने व्रत के श्रेष्ठ दिन रविवार को पक्का[८] रखता है भूलता नहीं है । कोई २ कुत्ता रविवार को नहीं खाता है और उस दिन को अपने आप जान जाता है कि—आज मेरे व्रत का दिन रविवार है । ये उक्त—हंस, मक्खी, कबूतर, सर्प, सीप, बकरी, वृक्ष, आदमसंन्यास और कुत्ता, कैसे २ अद्भुत कार्य करते हैं परन्तु सब शरीरों में श्रेष्ठ मनुष्य

शरीर प्राप्त करके भी जिसने अपने आत्म स्वरूप राम को नहीं जाना और जानने का उद्योग भी नहीं करता, उसे धिक्कार है। भाव यह है—मनुष्य को हंस की क्षीर-नीर की भिन्नता के समान आत्मा-अनात्मा को भिन्न करके आत्म परायण रहना चाहिये। शहद की मक्खी के समान सार-तत्त्व ग्रहण करना चाहिये। कबूतर के पत्र के समान मन को विषयों से उठाकर परमात्मा के पास पहुँचाना चाहिये। सर्प पंखों द्वारा चंदन की ओर जाता है, वैसे ही भक्ति-वैराग्य द्वारा ईश्वर के पास जाना चाहिये। जैसे सीप स्वाति को पहचान कर विंदु लेती है, वैसे ही गुरु को पहचान कर उपदेश ग्रहण करना चाहिये। जैसे बकरी कूएँ पर नहीं बैठती है, वैसे ही नीच कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। जैसे रात्रि में वृक्ष अपने पत्ते जोड़े रहते हैं, वैसे ही अज्ञानावस्था में ईश्वर उपासना में मन-बुद्धि को जोड़े रखना चाहिये। अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो तब तक उपासना नहीं छोड़नी चाहियें। जैसे आदमसन्यास की पंख से मनुष्य, मनुष्य के पूर्व जन्म को जान लेता है, वेसे ही गुरु-ज्ञान द्वारा अपने पूर्व रूप ब्रह्म स्वरूप को जानना चाहिये। जैसे कुत्ता अपने व्रत के दिन के विषय में संशय रहित होता है, वैसे ही संशय विपर्यय रहित स्वरूप में स्थित रहना चाहिये।

देहिं अमर फल डारि, तजे पारस चिन्तामणि।
कामधेनु तरु कल्प, काट आवे सु कहा बणि॥
सु गुरुसजीवन[1] छोड़ि, पाय पोरष शिर काटहिं।
ज्ञान रसायन त्याग, वीर बहुते धन बाँट हिं॥
चक्र सु चकवे[2] से गया, छाप[3] सुलेमा खोइये।
मनुज देह हरि से विमुख, 'रज्जब' हानि सु रोइये॥४॥

हरि विमुखता महान् हानिकारक है, यह कहते हैं—जैसे कोई बहुत बड़ी आयु देने वाले अमर फल को फेंक देने के पश्चात् यह जानके कि—वह अमर फल था, तो पश्चाताप करता है, वैसे ही मुक्ति रूप अमरता देने वाले मनुज शरीर को विषयों में खो देने से पछताना ही पड़ेगा। जैसे कोई पारस को पत्थर समझके समुद्र में फेंक देने के पीछे यह जान कर कि—वह तो पारस था पछताता है, वैसे ही लोहे के समान हीन प्राणी को मनुष्य देह साधन द्वारा सुवर्ण के समान श्रेष्ठ बनाने वाला है, इसे विषय रूप समुद्र में फेंकने से पछताना ही पड़ेगा। जैसे कोई इच्छानुसार देने वाली चिन्तामणि को पत्थर समझ कर बच्चे को खेलने के लिये देकर खो दे, फिर ज्ञात होने पर कि–वह तो चिंतामणि थी पछताता है, वैसे ही मनुज शरीर की आयु रूप चिंतामणि को इंद्रिय विलास के लिये देकर, खो के पछताना ही पड़ेगा। जैसे कोई मूर्ख कामधेनु को माँस के लोभ से काट डाले फिर ज्ञात होने से कि—वह तो कामधेनु थी पछताता

है, वैसे ही सुंदर स्वर्गादिक के भोगों के वा मुक्ति के साधन रूप मनुज देह को अनाचार से काट देता है अर्थात् पाप कर्मों में लगकर खो देता है, तब पछताना ही पड़ता है। जैसे कोई कल्प वृक्ष को लकड़ियों के लोभ से जड़ से काट देने के पश्चात् यह जानकर कि–यह तो कल्पवृक्ष था पछताता है, वैसे ही मनुष्य शरीर को सांसारिक वासना पूर्ति के लोभ से महा पाप रूप कुठार से काट देने पर पुन: मनुष्य शरीर पाने योग्य नहीं रहने पर क्या बनेगा ? कुछ नहीं, पछताना ही पड़ेगा। जैसे शिष्य उत्तम गुरु का परित्याग करके पछताता ही है, वैसे ही सर्वोत्तम मनुष्य शरीर से हित साधन नहीं करके चौरासी लाख योनि में जाने पर पछताना ही पड़ेगा। जैसे किसी को संजीवनी बूंटी प्राप्त होने पर उसे साधारण घास जानके अग्नि में डाल देने के पश्चात् यह जानके कि–वह तो संजीवनी थी पछताता है, वैसे ही मनुष्य शरीर सब शरीरों से अधिक विचार संपन्न तथा मुक्ति का साधन होने से सचेत[1] है, उसे भोग–चिंतन रूप अग्नि में डाल देने पर तो पछताना ही पड़ेगा। जैसे कोई पौरषा को प्राप्त करके उसका शिर काटने पर पछताता है, वैसे ही परम पुरुषार्थ का दाता मानव शरीर प्राप्त करके भगवत् प्राप्ति का साधन रूप उसका शिर काट के अर्थात् ईश्वर उपासना नहीं करके अंत में पछताना ही पड़ेगा। पौरषा मनुष्याकार स्वर्ण का पुतला होता है। इसके लिये दो पहर के पौने बारह बजे से साढ़े बारह बजे तक वर्तने वाले अभिजित मुहूर्त्त में ही, मंदिर बनाया जाय, मंदिर तैयार होने पर विधि के साथ पौरषे का आवाहन करने से वह आकर मंदिर में के सिंहासन पर विराज जाता है फिर प्रतिदिन उसकी पूजा करके उसके हाथ-पैर काट लेते हैं, वे स्वर्ण रूप हाथ-पैर प्रतिदिन फिर पूर्ववत ही आ जाते हैं किंतु कोई अनजान में अधिक स्वर्ण के लोभ से उसका शिर काट ले तो फिर न हाथ-पैर आते हैं और न शिर ही आता है। तब वह पौरषे का शिर काटने वाला प्राणी अपनी प्रतिदिन की स्वर्ण की आय को स्मरण करके पछताता है।

जैसे कोई ज्ञानी संत का संग प्राप्त होने पर भी उनकी ज्ञान रूप परम रसायन का त्याग करके, अन्य किसी दांभिक रसायनी से जिससे ताम्र का सोना होना कहा जाता है उस कल्पितयोग रूप रसायन को प्राप्त करने के लिये वीरता के साथ बहुत प्रकार के अन्न-वस्त्र रुपया आदि धन बाँटता है अर्थात् खर्च करता है किन्तु अन्त में अपना निजी धन खो देने पर जब कुछ भी हाथ नहीं लगता तब शिर पीटकर रोता-पछताता है, वैसे ही मानव शरीर की आयु भोग-प्राप्ति के लिये खर्च करके अन्त में जब भोगों से कुछ भी संतोष नहीं होगा तब पछताना ही पड़ेगा। जैसे जिस का अदृष्ट चक्र चलता था उस चक्रवर्ती[2] अजैपाल नामक राजा के हाथ से वह श्रेष्ठ चक्र जब चला गया तब उसके प्रभाव को स्मरण करके अजैपाल प्रतिदिन रोता था, वैसे ही मनुष्य शरीर की

आयु हरि भजन में नहीं लगकर जब सांसारिक वासना पूर्ति में खर्च होने पर मानव देह का प्रभाव जानने के पश्चात् उसे स्मरण करके प्रतिदिन रोना ही पड़ेगा । अजैपाल का विशेष परिचय–अजपाल एक साधारण क्षत्री थे, पुष्कर क्षेत्र के नाग पहाड़ में बकरी चराया करते थे । वहाँ उनकी सेवा से प्रसन्न होकर एक संत ने उनको यह वर दिया था–तुम्हारा अदृष्ट चक्र चलेगा अर्थात् जो तुम्हारी आज्ञा वा शपथ न मानेगा उसका शिर कट जाया करेगा किन्तु यह बात किसी अन्य व्यक्ति को नहीं कहना, कह देने पर वह चक्र नहीं चलेगा बंद हो जायगा । इस वर के प्रभाव से वे राजा हो गये थे । फिर एक समय उनकी रानी ने यह जानने के लिये कि–हमको यह राज्य किस शक्ति के प्रभाव से मिला है, राजा से बहुत आग्रह किया । राजा ने कहा–यह तुमको वा अन्य किसी को भी कहने से वह शक्ति लुप्त हो जायगी परंतु रानी ने जब किसी प्रकार भी नहीं माना तब राजा को कहना पड़ा, कहने से जो किसी को भी नहीं दीखता था वह अदृष्ट चक्र चला गया । उसके जाने से राजा उसका प्रभाव स्मरण करके प्रतिदिन रोते थे । जैसे यहूदी जाति के प्रसिद्ध बादशाह सुलेमान, जो पैगंबर भी माने जाते हैं, वे अपनी मुद्रिका[3] खोकर रोये थे, वैसे ही हरि से विमुख रहकर अर्थात् ईश्वर भजन नहीं करके मानव शरीर विलासता में खो देना महान् हानि है । इस हानि से अंत में महान् पश्चाताप के साथ रोना ही पड़ेगा । सुलेमान का विशेष परिचय–सुलेमान दाउद के पुत्र और मिश्र के मम्ब्रे नामक एक सिद्ध के शिष्य थे । ये छोटी अवस्था में ही अपने पिता से अधिक विचारवान थे । सुलेमान राज्य प्राप्त करके अन्य प्रदेश विजय करते हुये जब जेरुसलम तक पहुंच गये थे, तब वहां के पर्वत के नीचे की भूमि में उनको–वायु, जल, यक्ष-भूत-प्रेत और पशु इन चारों के अधिदेव मिले और इनने सुलेमान को अपनी शक्ति दी और ४ रत्न भी दिये । वे रत्न लोहे और कांसे की एक मुद्रिका बनवाकर उसमें जड़वा दिये थे । उस मुद्रिका के प्रभाव से ही सुलेमान की आज्ञा सब पर चलती थी । इनकी सेना में मनुष्य, पक्षी और प्रेतादि सब थे । हुपो नामक एक पक्षी इनका दूत का काम करता था । उक्त मुद्रिका के अधीन रहने वाला गलीचे के आकार का एक विमान भी इनके पास था । उस पर अपना सब सामान रखके वे जहां जाना चाहते थे वहां ही चले जाते थे । वे प्रातः सीरिया से उस विमान में बैठकर चलते थे और सायंकाल अफ़गानिस्थान में आ जाते थे । अफ़गानिस्थान के दक्षिण भाग में एक पर्वत अब भी तखत सुलेमानी नाम से बोला जाता है । सुलेमान जब किसी नदी आदि में स्नान करने जाते थे तब उक्त मुद्रिका अपनी रानी अमीना सकर को दे जाते थे । कारण वह जल का स्पर्श होते ही जल में पड़ जाती थी । एक समय उनके अधीन रहने वाले एक यक्ष ने सुलेमान का रूप बनाकर

धोखे से अमीना सकर से वह मुद्रिका माँगली थी। सुलेमान की सभी शक्तियाँ उस मुद्रिका के अधीन थी। मुद्रिका यक्ष के हाथ लग जाने से उसकी शक्तियाँ भी यक्ष को प्राप्त हो गईं। यक्ष ने सुलेमान को राज्य से निकाल दिया और स्वयं राजा बन गया। मुद्रिका खो जाने से सुलेमान भारी पश्चाताप करता हुआ भटकता रहा, फिर वह यक्ष एक दिन उक्त विमान पर बैठकर किसी नदी के तट पर घूम रहा था, प्यास लगने पर नीचे उतरकर जल में हाथ धोने लगा तब मुद्रिका अंगुली से निकलकर जल में गिर पड़ी, उसी क्षण एक मच्छी उसे निगलकर भाग गयी। यह मच्छी राज्य खोने के ४० दिन के पीछे सुलेमान को मिल गई। उसने मच्छी को खाने के लिये उसे काटा तब उसके पेट में उक्त मुद्रिका मिल गई, मिलते ही सुलेमान फिर शक्तिशाली हो गये और अपना राज्य फिर प्राप्त कर लिया।

उड़े कपूर सु देख, फेरि सो क्यों कर आवे।
सिता[1] सिन्धु में पड़े, शोध[2] कैसी विधि पावे॥
कदली[3] एक हि बार, फूल फल हो सो होई।
कागद ऊपर अंक, दूसरे लिखे न कोई॥
सती शृङ्गार एक ही, ओला[4] गले न पाइये।
त्यों 'रज्जब' मानुष जनम, हरि भज ठौर सु लाइये॥५॥

मनुष्य जन्म बारंबार नहीं मिलता, यह कहते हैं–हे प्राणी ! भली प्रकार विचार करके देख, जैसे कपूर हाथ से उड़ जाने के पीछे फिर हाथ में नहीं आता है। मिश्री[1] समुद्र में पड़ जाने के पश्चात् खोज[2] करने पर किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं होती है। केले[3] के फूल-फल एक बार ही आते हैं सोई आते हैं फिर नहीं आते हैं। कागज पर एक बार ही अंक लिखे जाते हैं, लिखे हुये अंकों पर फिर कोई भी नहीं लिखता। पति के देह का अंत होने पर सती शृंगार करके पति के शव के साथ जलने को जाती है, तब जल ही जाती है। पीछी घर पर आकर पुनः शृंगार नहीं करती है। हिम-वर्षा-का-पत्थर[4] गल के मिट्टी में मिल जाने के पश्चात् नहीं मिलता है। वैसे ही मनुष्य शरीर बारंबार नहीं मिलता है। इसलिये मनुष्य शरीर की आयु हरि-भजन करके भगवत् प्राप्ति करने के लिये ही खर्च करे। कारण–मनुष्य देह भगवत् प्राप्ति के लिये ही मिला है। भगवत् प्राप्ति होने पर ही इसकी सफलता है। शंका—सब भजन ही करेंगे तो संसार कैसे चलेगा ? इसका उत्तर देने के लिये अगले छप्पय में संसार को प्रतीति मात्र बताते हैं–

शीतकोट संसार, झूंठ स्वप्ना रिधि[२] रागी ।
मृग जल जगत स्वरूप, रु माया कपि[४] की आगी[५] ॥
शक्ति सलिल[७] के झाग, अजा[८] कुच कंठ न काजै ।
कहा सु विगत उजास[१०], बाल बालू गृह साजै ॥
अति अयान[११] कपि कूड़[१२]-मति, कृत्रिम[१३] काष्ठ सु पूतली ।
'रज्जब' रैनि भुजंग रजु, आ अथार[१४] आतम[१५] छली ॥६॥

यह संसार गंधर्व-नगर[१] के समान प्रतीति मात्र ही है, वास्तवमें सत्य नहीं है । गंधर्व नगर का परिचय—शीतकाल में पर्वतादि ऊंचे स्थान में शीत से एक मकान-सा वा नगर-सा बन जाता है, प्रात:काल दिखाई देता है । सूर्य की किरणें पड़ने पर शनैः शनैः सब नष्ट हो जाता है । सांसारिक ऐश्वर्य[२] में जो राग है वह स्वप्न संपत्ति के राग के समान मिथ्या है । जैसे स्वप्न संपत्ति के प्रेमी[३] को उसके अभाव का ही अनुभव होता है, वैसे ही सांसारिक संपत्ति से किसी की भी तृप्ति नहीं होती है । यह जगत् मृग-तृष्णा के जल के समान प्रतीति मात्र ही है, सत्य नहीं है । जैसे प्यास से व्याकुल मृग, मृग तृष्णा के जल को देख कर पीने के लिये दौड़कर जाते हैं, वहाँ जल नहीं मिलता है, तब यह सोच कर कि—जल पीछे छोड़ आये हैं, पीछे देखते हैं तो भरा दिखाई देता है, फिर पीछे जाते हैं । इस प्रकार बेचारे बारंबार दौड़-दौड़ कर दुःख उठाते हैं । उस जल से मृगों की तृष्णा बढती ही है कम नहीं होती है । इसी से उसे मृग तृष्णा कहते हैं । वैसे ही मनुष्य अपनी तृष्णा शाँत करने के लिये भोगों की ओर दौड़ते हैं किंतु भोगों से तृष्णा शांत नहीं होकर बढ़ती ही है । माया वानर[४] की अग्नि[५] के समान भ्रम से ही सुख दाता प्रतीत होती है, वास्तव में सुख दाता नहीं है । वानर की अग्नि का परिचय-शीत काल में वानर गण चिरमियों को संग्रह करके उन की राशि को अग्नि मान कर उसके चारों ओर बैठ कर तापते हैं । एक स्थान में ठसाठस बैठने से शरीरों की गरमी हो जाने से समझते हैं कि—यह गरमी गुंजाओं की है परंतु उन चिरमियों में गरमी कहां है ? वह तो उनके ही शरीरों की है । भ्रम वश वैसा मानते हैं और बैठने के लिये एक दूसरे से लड़ते भी हैं । वैसे ही सांसारिक वैभवमें सुख कहां है ? वह तो इच्छित पदार्थ की प्राप्ति द्वारा चित्त की स्थिरता से आत्म सुख का ही भान होता है किंतु प्राणी भ्रम वश पदार्थों में सुख मान लेते हैं और उनकी प्राप्ति के लिये युद्धादिक भी करते हैं और यह माया[१] जल[७] के झागों के समान है । जलके झाग दीखते तो बहुत हैं परंतु वस्तुतः जलके बिना कुछ भी नहीं है । वैसेही माया तथा मायिक पसारा दीखने मात्र ही है, विचार पूर्वक खोज करने पर एक परमात्मा के बिना अन्य कुछ भी सत्य नहीं है ।

जैसे बकरी[८] के कंठ के स्तन प्रतीति मात्र ही होते हैं, उन से तृप्ति का हेतु दूध प्राप्ति रूप कार्य नहीं होता है, वैसे ही मायिक पदार्थ प्रतीति मात्र ही हैं, इन से तृप्ति नहीं होती है, उलटी आशा बढ़ती ही है। जैसे खद्योत[९] के प्रकाश[१०] से क्या भली प्रकार मार्ग देखने का कार्य हो सकता है ? वह तो प्रतीति मात्र ही हैं। वैसे ही क्या मायिक विज्ञान से मुक्ति धाम के मार्ग को देखने का कार्य हो सकता है ? उसका चातुर्य तो प्रतीति मात्र ही है और प्रतीति मात्र पदार्थों का ही बोध करा सकता है, सत्य स्वरूप ब्रह्म वस्तु का नहीं। जैसे बालक खेलने के लिये रेती के घर बनाते हैं, वे क्या स्थिरता पूर्वक रहने के काम में आते हैं ? वे तो प्रतीति मात्र ही होते हैं। वैसे ही इस प्रतीति मात्र मायिक प्रपंच में राग कर के स्थिरता पूर्वक कोई भी नहीं रह सकता। इस से विरक्त होकर तथा आत्म स्थिति प्राप्त करके ही स्थिरता पूर्वक रह सकता है।

शंका–माया और माया का कार्य संसार प्रतीति मात्र ही है तो सत्य क्यों दीखता है और साँसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्राणी क्यों कष्ट उठाता है ? उत्तर–जैसे अति अज्ञानी[११] कुबुद्धि[१२] वानर को काष्ठ की बनाई[१३] हुई पुतली ही सच्ची वानरी दीखती है और उसके लिये वह कष्ट भी उठाता है। वैसे ही अज्ञानी प्राणियों को अज्ञान वश यह प्रतीति मात्र मायिक प्रपंच सत्य-सा दीखता है। इसी से मायिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये कष्ट उठाते हैं किंतु आत्म ज्ञानी को तो यह प्रपंच मिथ्या ही भासता है। काष्ठ पुतली से वानर को कष्ट होने का परिचय–पहले किसी समय लाल मुख के वानर को पकड़ने के लिये बाजीगर जहाँ वानर होते थे वहाँ काष्ठ की वानरी रख देते थे, उसे सच्ची वानरी समझ कर वानर कामवश हो उसके पास आता था, तब वानरी के हाथ के यंत्र की डोरी जिसे बाजीगर पकड़के दूर बैठा रहता था, उसे खींचता, इससे वानर के मुख पर चोट लगती थी। चोट खाकर दूर चला जाता था किन्तु काम-वश होने के कारण फिर आता था ; इस प्रकार जब कुछ घायल सा हो जोता था तब बाजीगर पकड़ लेते था। जैसे रात्रि में रस्सी के अज्ञान से बिना हुआ ही सर्प भासता है, रस्सी का ज्ञान होने पर नहीं भासता, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से बिना हुआ संसार भासता है, आत्म ज्ञान होने पर नहीं भासता। जैसे शयन के समय छाती पर हाथ[१४] आ जाने से मनुष्य की बुद्धि[१५] छली जाती है अर्थात् छाती पर हाथ आजाने से उसे बिना हुआ ही भूत मान कर भयभीत होता है, वैसे ही अपने अज्ञान से अपने स्वरूप से भिन्न बिना हुये संसार को मानकर भयभीत होता है। शयन के समय जब अपना ही हाथ अपनी छाती पर आ जाता है, तब ऐसा ज्ञात होता है कि–मुझे किसी ने दबा लिया है, उस समय बोलना चाहता है किन्तु बोला नहीं जाता है, बड़ा दुःख होता है फिर जगने पर कहता

है मुझे भूत ने दबा लिया था। भाव यह है—असत्य संसार से विरक्त होकर परमात्म परायण होना चाहिये।

अघ[1] अंघ्रिप[2] अवतार[3], एक मुर[4] इन्द्रिय हारे।
पुनि गोते बिन ज्ञान, जीव जल योनिन डारे॥
कर्म कीट कुल गात, लात सब की शिर लागहिं।
विपत विहंग विहार, देख मानुष उड़ भागहिं॥
पशू खानि परवश सदा, विविध विघ्न का से कहैं।
'रज्जब' जोखिम[5] जाय जग, मनुष देह उनमन रहैं॥७॥

मनुष्य शरीर की विशेषता बता रहे हैं—पाप[1] से वृक्ष[2] योनि में जन्म[3] होता है, जिसमें एक और तीन[4] इन्द्रियें खोकर एक इन्द्रिय वाला हो जाता है। वृक्षों में एक स्पर्श इन्द्रिय ही प्रकट रूप से देखी जाती है, छाल उतारने पर वृक्ष सूख जाते हैं, जड़ पर छाल होती है तब ही वृक्ष हरे रहते हैं और ज्ञान में गोता नहीं लगाने से अर्थात् बिना विचार कर्म करने से अपने पाप कर्मों के द्वारा जीव जल-जंतुओं की योनियों में डाला जाता है तथा बिना विचार किये जीव को निजी कुकर्म से ही कृमि-योनि का शरीर प्राप्त होता है, जिस शरीर के शिर पर सबकी लात लगती है अर्थात् सबके पैरों के नीचे आता है। बिना विचार करे हुये अपने पाप कर्म का ही फल पक्षी शरीर है, उन पक्षी गणों का खान-पानादि विहार भी दुःखमय ही है।

वे मनुष्य को देखते ही उड़ कर भाग जाते हैं। जल भी निर्भयता से नहीं पान कर सकते। पशु योनि भी पाप कर्म का ही फल है, जो सदा परवश ही है। और भी चौरासी लक्ष योनि में नाना प्रकार के दुःख हैं। उन सब को हम किससे कहैं अर्थात् न तो वे सब हमारी वाणी से कहे जा सकते हैं और न उन सब को कोई धैर्य पूर्वक सुन ही सकता है। शंका—उक्त दुःखों की निवृत्ति किस प्रकार से हो सकती है? उत्तर—यदि जगत् में मनुष्य शरीर प्राप्त करके जीव जगत् के भोगों से उदास अर्थात् विरक्त होकर अपने आत्माराम को जान के स्वरूप में स्थित रहे तो उक्त सब दुःख[5] नष्ट होकर जीव नित्य सुख स्वरूप निज रूप में लीन हो सकता है। भाव यह—पाप कर्मों को त्याग कर आत्माराम को जानने का प्रयत्न निरंतर करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित उपदेश का अंग २ समाप्तः।छ.१६।

अथ मिलाप महात्म्य का अंग ३

आज दिवस धनि उदित, आज द्रव[1] हैं जगदीशं।
आज[2] दरिद्र दुख दूर, आज दीरघ दत दीसं॥

आज[3] भाव कर भक्ति, आज[4] पुनि प्रेम प्रकासं[5] ।
आज[6] अगम सब सुगम, आज[7] रस राम विलासं ।।
आज[8] काज सारे सरहिं[9], आत्मा[10] आंखों पेखिया[11] ।
जन 'रज्जब' सफल सु जनम, दर्श साधु सो देखिया ।।१।।

महात्मा पुरुषों के मिलन से प्राप्त होने वाले लाभ का वर्णन करते हैं—आज के दिन का सूर्योदय होना धन्य है, क्योंकि आज हमारे ऊपर जगदीश्वर कृपालु[1] हुए हैं अर्थात् महान् कृपा की है, जिससे अब[2] हमारा दरिद्रता का दुःख दूर हो गया अर्थात् सांसारिक आशा नष्ट हो गई है। आज ईश्वर ने हमको सुन्दर तथा अति महान् साधु दर्शन रूप दान दिया है। जिस साधु दर्शन के प्रताप से इस जन्म[3] में हमारे हृदय में भाव पूर्वक ईश्वर भक्ति उदय हुई है और इस साधु दर्शन के समय[4] में हमारे हृदय में प्रभु के परम प्रेम का आविर्भाव[5] हुआ है। अब[6] हमारे लिये संसार में जो कठिन कार्य थे, वे सब सुगम हो गये हैं और साधु दर्शन के प्रताप से इस जन्म[7] में हमको राम-भक्ति रूप रस पान का आनन्द प्राप्त हुआ है। अब[8] हमारे सब कार्य सिद्ध[9] हो जायँगे, क्योंकि जिस साधु ने अपने स्वरूप[10] को ज्ञान-नेत्रों से देखा[11] है, उस दर्शन करने योग्य साधु को मैने देख लिया है। इस साधु दर्शन से हमारा जन्म सफल हो गया है। भाव यह है–मनुष्य जन्म की सफलता का सुगम और श्रेष्ठ साधन साधु संग को छोड़ कर अन्य नहीं है।

आज अगम आनन्द, आज[1] उर पूरी आसं ।
आज[2] सकल संतोष, आज[3] बिच ब्रह्म सु वासं ।।
आज[4] हि परम पुनीत, आज[5] आत्मा में एकं ।
आज गुप्त धन प्रकट, आज[7] अंकूर अनेकं ।।
आज[8] नीच ऊँचे निरख, लाभ जन्म फल लेखिया ।
जन 'रज्जब' साधू दरश दुख भंजन[8] सुख पेखिया[9] ।।२।।

साधु दर्शन का माहात्म्य दिखा रहे हैं—आज साधु दर्शन होने से हमको अपार आनंद प्राप्त हुआ है और अब[1] हृदय की आशा पूर्ण होकर हृदय परम संतुष्ट हुआ है। उसी प्रकार इस साधु दर्शन के समय[2] में सर्व इन्द्रियों को भी सर्व प्रकार से संतोष हुआ है और अब[3] ब्रह्म के मध्य सम्यक् निवास हुआ है। इस ब्रह्मानंद प्राप्ति के समय[4] में हम अविद्या रूप मल से रहित होकर परम-पवित्र हुये हैं। इस ज्ञान प्राप्ति के समय[5] में आत्मा में एक भाव प्राप्त हुआ है अर्थात् सर्व आत्मा एक ब्रह्म रूप हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय बुद्धि में हुआ है। ऐक्य निश्चय के समय[6] में ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार रूप गुप्त धन प्रकट हुआ है। अब[7] ब्रह्मात्मा का अभेद रूप से साक्षात्कार होने पर विचार परिपूर्ण अनेक अनुभव रूप

अंकुर प्रकट हुये हैं। अनुभव होने पर आज भ्रम वश जीव रूप तुच्छता को प्राप्त हुई आत्मा को ब्रह्म भाव प्राप्ति रूप ऊंची अवस्था में देखकर मनुष्य जन्म के लाभ का जो ब्रह्म प्राप्ति रूप वास्तव फल है, सो हमने प्रत्यक्ष देख लिया है। उक्त साधु दर्शन का फल जन्मादि दुःखों को नाश[८] करके ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होना हमने ही नहीं लोकमें सभी साधकों ने प्रत्यक्ष देखा[९] है। भाव यह है–आत्म ज्ञानी संत के दर्शन का फल अपार होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मिलाप माहात्म्य का अंग ३ समाप्तः।छ०१८।

अथ साधु संगति का अंग ४

पारस पलटे लोह, वनो[१] संगति ज्यों बावन[२]।
वारि[३] वारुणी[४] विविध, पैठि[५] गंगा मधि पावन॥
चुम्बक हल चल लोह, आंख आदित[१] संग खेलहिं।
रोगी होय निरोग, सु औषधि मुख में मेलहिं॥
सु साधु संग जहाज जग, यथा स्वाति सीप हि पड़ी।
'रज्जब' छाह हमाय[७] शिर, त्यों सत-संगति की घड़ी॥१॥

संत संग का माहात्म्य कह रहे हैं—पारस के संग से हीन लोहा भी अपने अवगुण को छोड़कर सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही दीन-हीन प्राणी भी संत संग से अपने दोषों को त्यागकर परम महान् हो जाता है। कहा भी है—"हलका हिंसक कठिन कालिमा, अन आदर नित भंग। षट् विकार शिष लोह के, गुरु पारस सत संग" वामन[२] नामक चंदन के संग से अर्थात् उसकी सुगंध से विविध वृक्ष समूह रूप वन[१] अपनी पूर्व स्थिति के नाना भेदों को त्याग कर चन्दन हो जाता है। वैसे ही प्राणी संत संग से अपने जाति आदि स्वभावों को त्याग कर संत बन जाता है। खारा, गंदा, भारी आदि विविध प्रकार का जल[३] और मदिरा[४] ये सब गंगा के जल प्रवाह में पड़कर[५] अपनी तुच्छता को त्याग के पवित्र हो जाते हैं वैसे ही संत संगति में कामी, क्रोधी, लोभी, अहंकारी, छली आदि नाना प्रकार के वा विविध नीच जाति के प्राणी और उनको उन्मत्त करने वाली उनकी भोग वासना रूप मदिरा ये सब अपनी तुच्छता को त्याग के पवित्र और महान् हो जाते हैं। जैसे चुम्बक के संग से लोहे में कंपन होता है अर्थात् लोह चुम्बक की ओर चलने लगता है वैसे ही संत संग से प्राणी के मन में हलचल हो जाती है अर्थात् विषयों से उपराम होकर भगवद् भक्ति करने लगता है। जैसे प्राणी के नेत्र सूर्य[१] प्रकाश से विषयों का साक्षात्कार रूप खेल खेलते हैं, वैसे ही प्राणी संत संग से ज्ञान प्रकाश प्राप्त करके हृदय-नेत्रों से सर्व रूप ब्रह्म का साक्षात्कार करना

अथ माया मध्य मुक्ति का अंग ६

कमल सीप जल जुदे, बसे अहि[1] मणि मुख मांहीं ।
बडवानल पुनि बीज[2], वारि मधि भीजे नांहीं ।।
दर्पण में प्रतिबिम्ब, शून्य[3] सब ही घट न्यारी ।
लोई[4] रंगे न सूत, देखि अचरज हो भारी ।।
अठारह भार अग्नि रहित, सूर सलिल ले दे जुदा ।
'रज्जब' सु साधु शक्तियों, मिले अमिल पाया मुदा[5] ।।१।।

पूर्ण ज्ञानी माया में रहता हुआ भी माया के राग–द्वेष से रहित मुक्त ही रहता है, यह कहते हैं—कमल जल में रहता हुआ भी जल से ऊपर ही रहता है और कमल का प्रेम भी सूर्य में होता है, जल में नहीं। वैसे ही आत्म ज्ञानी संत भी माया में रहता हुआ अर्थात् राज्यादि करता हुआ भी उन से लिप्त नहीं होता है और संत का प्रेम भी अपने स्वरूप आत्माराम में ही होता है। सीप समुद्र में रहती है किन्तु समुद्र का जल नहीं पीती है, स्वाति विन्दु से ही तृप्त रहती है। वैसे ही ज्ञानी संत मायिक संसार में रहता है किंतु उसकी मनोवृत्ति मायिक सुखों को ग्रहण नहीं करती है, आत्मानन्द में ही तृप्त रहती है। सर्प[1] की मणि सर्प के मुख में जहां विष रहता है, वहां ही रहती है किंतु विष को ग्रहण नहीं करती है। वैसे ही संत प्रपंच पूर्ण घर में रहते हुये भी उसके दोष ग्रहण नहीं करते हैं। समुद्र का बड़वानल अग्नि समुद्र में रहते हुये भी उसके जल से नहीं बुझता है। वैसे ही संसार में रहने पर संत का ज्ञान सांसारिक राग-द्वेष से नष्ट नहीं होता है। बिजली[2] बादल के जल में रहती है किंतु भीजती नहीं है। वैसे ही संत की मनोवृत्ति भी मायिक प्रपंच रूप घटा में रहते हुये भी उसके काम रूप जल से नहीं भीगती है अर्थात् कामाधीन नहीं होती है। दर्पण में जो भी उसके सन्मुख आता है उसका प्रतिबिम्ब भासता है किंतु उसके भीतर तो कुछ भी नहीं है। वैसे ही संत के जीवन में बाहर से माया दिखाई देती है किंतु मन में तो लेश मात्र भी नहीं होती है। आकाश[3] सब घटों में रहते हुये भी सब से भिन्न है, घटों के विकार आकाश में नहीं आते हैं। वैसे ही संत भी मायिक संसार में रहते हुये भी सांसारिक विकारों से लिप्त नहीं होते हैं। जिसमें ऊन और सूत दोनों होते हैं ऐसी कम्बली[4] एक रंग में रँगने से उसकी ऊन तो रँगी जाती है किंतु सूत के रंग नहीं चढ़ता है। इस विचित्रता को देख कर बड़ा आश्चर्य होता है। (वह रंग राजस्थान में बीकानेर की ओर प्रसिद्ध है, कुछ वस्तुओं को मिलाकर बनाया जाता है) जैसे वह रंग ऊन पर ही लगता है, सूत पर नहीं लगता है, वैसे

ही मायिक रंग अन्य प्राणियों पर ही लगता है, संत पर नहीं लगता है। अठारह भार सर्व वृक्षादि में अग्नि रहता भी है, तो भी उन से भिन्न ही है। उनके विकार अग्नि में नहीं आते हैं। वैसे ही संत संपूर्ण मायिक प्रपंच में रहते भी हैं किंतु प्रपंच के विकार उनमें नहीं आते हैं। सूर्य मलीन जल को अपनी किरणों से खींच कर मलीन नहीं होते हैं और उसे त्याग कर के पवित्र नहीं होते हैं। वे तो जल के विकारों से रहित सदा एक रस रहते हैं। वैसे ही आत्म ज्ञानी संत मायिक पदार्थों के ग्रहण त्याग से विकारवान नहीं होते हैं, स्वस्वरूप निष्ठा में एक रस रहते हैं। श्रेष्ठ साधुओं की शक्ति ऐसी ही है, वे माया में मिले हुये भी वास्तव में माया से अलग ही होते हैं। यह संतों की माया मध्य मुक्ति का अभिप्राय[४] हमने ठीक २ जान लिया है वा संतों ने उक्त रीति से माया में रहते हुये भी अलिप्त रह कर ब्रह्मानन्द[५] प्राप्त किया है। भाव यह है—मुक्ति ज्ञान से प्राप्त होती है। माया अर्थात् घर में वा वन में रहने से नहीं किन्तु माया में रहता हुआ अर्थात् मायिक कार्य करता हुआ संशय-विपर्य्यय रहित पूर्ण ज्ञानी ही मुक्त हो सकता है, केवल बातें बनाने वाला नहीं हो सकता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित माया मध्य मुक्ति का अंग ६
समाप्तः। स. छ. २१।

अथ निर्पक्ष मध्य का अंग ७

काफ़िर[१] ईमां[२] नहीं, जमी जाहिर[३] जग जाने।
जल भी दीसे जुदा, पेख काके पख पाने[४]॥
अग्नि उभय गुण रहित, करो कुछ ज्ञान विचारा।
मारुत मध्य शरीर, निरखि निर्पख निज न्यारा॥
'रज्जब' रूह[५] आकाश रुख[६], तोहीद[७] इलम[८] पढिये वरक[९]।
इन पंचन से पिंड यह, क्यों कहिये हिन्दू तुरक॥१॥

पक्ष-विपक्ष को त्याग कर निर्पक्ष मध्य मार्ग में रहने का उपदेश कर रहे हैं—पृथ्वी मुसलमानों-से-भिन्न-धर्मानुयायी[१] और मुसलमान[२] इन दोनों में से किसी एक का पक्ष ग्रहण नहीं करती हैं, निर्पक्ष रहकर दोनों को ही आश्रय देती है। यह बात प्रकट[३] है, सब जगत जानता है। विचार करके देखो, जल भी पक्ष विपक्ष भाव से रहित ही दीखता है। वह किस के पक्ष में पड़ता[४] है? किसी की भी पक्ष नहीं करके प्यास बुझानादिक कार्य सबके ही करता है। कुछ बुद्धि से विचार करके देखो, अग्नि भी तो पक्ष विपक्ष रूप दोनों गुणों से रहित ही है, सभी के भोजनादि पचाना रूप कार्य करता है देखिये वायु भी शरीरके मध्य अपनी

निर्पक्षता को लिये हुये पक्ष-विपक्ष से रहित ही रहता है, सभी के शरीरों में रह कर निर्पक्ष भाव से अपने करने योग्य कार्य सभी के करता है। देखो, आत्मा[५] और आकाश की चेष्टा[६], ये दोनों भी निर्पक्ष ही हैं। आकाश सभी के शरीरों तथा घरों में समान भाव से ही रहता है। यदि इन आकाशादि पंच और आत्मा की निर्पक्षता को श्रवण करके भी निर्पक्ष मध्य मार्ग समझ में नहीं आया है तो, तोहिद (वहद) जिसे हिन्दी में तवहुद भी कहते हैं, वह मुसलमानों का एकत्व वाद का दार्शनिक[७] सिद्धान्त[७] है, उसके पत्रे[६] पढ़ करके देखो, निर्पक्षता ही मिलेगी वा सूफी-साधना की पंचम[७]-भूमिका को भी तोहिद कहते हैं। उसमें भी भेद नहीं रहता है। आकाशादि पांच से ही शरीर बनता है। ये पांचों निर्पक्ष हैं। 'कारण के गुण कार्य में आते हैं'। इस न्याय से निर्पक्ष तत्त्वों के कार्य शरीर में—"यह हिन्दू और यह मुसलमान है," ऐसा व्यवहार क्यों किया जाता है ? और इस अविद्या कल्पित कल्पना के द्वारा युद्धादिक करके सर्व में सम अपनी आत्मा का ही अपकार क्यों किया जाता है ? भाव यह है—काल्पनिक पक्ष-विपक्ष को त्याग कर ईश्वर भजन द्वारा ईश्वर प्राप्ति के लिये मानव शरीर मिला है। इस कारण निर्पक्ष व्यवहार करते हुये भगवत् प्राप्ति का यत्न करना चाहिये।

फक्कर[१] जाति खुदाय, तुरक हिन्दू न कहावे।
पारस तांबा लोह, नाम सोना मिल पावे ॥
निर्पख मोती होय, पेख पख सीप हि न्यारा।
मणि उपजे मुख सर्प, जहर जोड़े सु मझारा[२] ॥
कलम अंट कुल दोय, अलफ[३] अतीत[४] अलाहदा[५]।
बीज दाल 'रज्जब' सु रज, हो अंकुर फल दिशि विदा[६] ॥२॥

निर्पक्षता का माहात्म्य कहते हैं—निर्पक्ष संत[१] की जाति ईश्वर रूप ही होती है, वह ईश्वर रूप ही होता है। संसार में वह मुसलमान वा हिन्दू नाम से नहीं पुकारा जाता है संत नाम से पुकारा जाता है। जब जीव निर्पक्ष होता है तब ही ब्रह्म प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। लोह और ताम्र जब स्वपक्ष रूप अंतराय को त्यागकर पारस से मिलते हैं, तब ही सोना नाम प्राप्त करते हैं और बहुमूल्य भी हो जाते हैं। वैसे ही जीव जब स्वपक्ष रूप अंतराय को त्याग कर संत से मिलता है, तब भक्त नाम प्राप्त करता है सन्मान का पात्र भी होता है। सीप में दो जाली होती हैं उन दोनों जालियों की पक्ष से रहित होकर बीच में स्वाति विन्दु रहता है, तब तो उसका सुन्दर मोती बनता है, नहीं तो काणां तथा खराब हो जाता है। वैसे ही हिन्दू-तुरकादिक पक्ष त्याग करने से ही श्रेष्ठ संत हो सकता है अन्यथा नहीं। देखो, निर्पक्षता का माहात्म्य सर्प के मुख में विषयुक्त दो दांतों के ठीक

मध्य[३] में सर्प मणि उत्पन्न होती है परन्तु निर्पक्ष होने के कारण उसके विष को ग्रहण नहीं करती है। वैसे ही संत स्वपक्ष-विपक्ष से युक्त संसार में ही उत्पन्न होते हैं किंतु आप निर्पक्ष होने से संसार के राग-द्वेषादिक उनको स्पर्श नहीं कर सकते प्रत्युत उनके समीप में आने वालों के भी नष्ट हो जाते हैं। कलम के दो अंट होते हैं, उन दोनों का पक्ष न करके दोनों के बीच से स्याही पड़ती है तब अक्षर[३] सुन्दर बनता है। वैसे ही जीव जब दोनों कुल (हिन्दू-मुसलमान) की पक्ष से अलग[४] होकर ईश्वर शरण होता है, तब त्रिगुणातीत[५] संत बनता है, अन्यथा नहीं। उगने के समय बीज फट कर दो दाल बन जाती है, उन दोनों की पक्ष न करके दोनों के मध्य में अंकुर निकलता है और दोनों दालों को त्यागकर ऊंचा जाता[६] है, तब ही उस अंकुर के फल लगता है। वैसे ही जो प्राणी हिन्दू-तुरक पने की पक्ष न करके परमात्मा की ओर आगे बढ़ता है, वही परमात्मा के स्वरूप ज्ञान रूप फल को प्राप्त करता है। अति कोमल रज जब किसी का आश्रय रूप पक्ष नहीं लेकर सीधी आकाश को जाती है तब दशों दिशा में व्याप्त हो जाती है। वैसे ही जब प्राणी निर्पक्ष होकर एक परमात्मा की ओर ही जाता है अर्थात् ईश्वर परायण होता है तब ब्रह्म रूप होकर सब संसार में व्याप्त होता है। भाव यह है—स्वपक्ष-विपक्ष का आग्रह रहने से राग-द्वेष होते हैं और राग-द्वेष युक्त व्यक्ति को भगवत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान बिना मुक्ति नहीं हो सकती है। इस लिये साधक को निर्पक्ष होकर ही साधना करनी चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित निर्पक्ष मध्य का अंग ७ समाप्तः

॥ सर्व छ० २३ ॥

अथ विवेक समता का अंग ८

अठार भार इक अग्नि, एक धूआँ इक धरणी।
एक हि मधु पय एक, वनी तंवी[१] बहु वरणी[२] ॥
एक वह्नि[३] बहु दीप, अमित[४] आभा[५] इक पानी।
कुल[६] भूषण गल कनक, पात्र पुहमी[७] नहि छानी ॥
चार वर्ण षट् दर्श मधि, एक रूप एक हि मिले।
'रज्जब' इमि समता सुलक्ष[८], समक्ष[९] साधु सो मिल चले[१०] ॥१॥

अठारह भार वृक्षादि उद्भिज जाति भिन्न २ हैं परन्तु उन सब में व्यापक रूप से रहने वाला अग्नि तो एक ही है। विविध भांति लकड़ियों की अग्नि से भी धूआँ एक ही रंग की निकलती है। ग्राम नाना हैं तो भी पृथ्वी तो एक ही है। वृक्ष समूह रूप वनी में वृक्ष तो यद्यपि

भिन्न २ प्रकार के हैं तो भी उन सब में शहद् तो एक ही रंग का होता है। गायें[1] विविध रंग[2]-की होती हैं किन्तु उन सब का दूध तो एक ही रंग का होता है। बहुत प्रकार के दीपक होने पर भी उनकी बत्ती में स्थित अग्नि[3] तो एक ही होता है। बादल[4] अनन्त[5] होते हैं किंतु उन सब में जल तो एक ही होता है। स्वर्ण भूषण विविध प्रकार के होने पर भी, उन्हें गलाने से भूषण पना त्याग कर संपूर्ण[6] भूषण शुद्ध स्वर्ण रूप ही भासते हैं। पृथ्वी[7] की मिट्टी से विविध प्रकार के पात्र बनते हैं, किंतु उन सब के विविध नाम तथा आकार होने पर भी सब में मिट्टी तो एक ही है। यह बात छिपी हुई नहीं है। वैसे ही विचार पूर्वक देखने से—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण तथा—कनफटे नाथ, टाली बजाने वाले जंगम, जैन मत के सेदड़े, बौद्ध भिक्षु, संन्यासी, पैग़म्बर मुहम्मद के वंशज फकीर शेख, ये ६ प्रकार के साधु रूप षट् दर्शन भिन्न होने पर भी इन सब में आत्मा तो एक रूप ही है और आत्मा के यथार्थ रूप का ज्ञान होने पर सब एक ब्रह्म में ही मिलते हैं। इस प्रकार विवेक से आत्म समता द्वारा भेद दृष्टि रूप बन्धन से निकलकर[8] ब्रह्म ज्ञान[9] द्वारा एक रूप होकर संसार में विचरे[10] हैं, वे ही साधु कहलाये हैं। भाव यह है—समता बिना आत्म साक्षात्कार नहीं होता है, इस लिये साधक को विवेक पूर्वक समता संपादन करनी चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विवेक समता का अंग ८
समाप्तः। स. छ. २४।

अथ भजन प्रताप का अंग ९

सूर तेज तम तार[1], मोर चन्दन सु भुजंगा।
सुनत तुपक की त्रास, वृक्ष सब तजे विहंगा[3]।।
शीतकोट[4] ज्यों भानु, जानि जागे ज्यों सपना।
गरुड़द्वार विष दूर, औषधी रोग सु अपना।।
सिंह हेरि[6] सुरही[7] गई, ओले[8] आदित[9] देख करि।
'रज्जब' अघ[10] ऐसे रमें[11], हिरदै आवत नाम हरि।।१।।

भजन प्रताप बता रहे हैं—सूर्य के प्रकाश से अंधकार और तारे[1] चले जाते हैं, दृष्टि में नहीं आते। विष की शांति के लिये सर्प चंदन पर लिपटा रहता है किंतु मोर का शब्द सुनते ही चंदन को त्याग कर चला जाता है। छोटी तोप[2] वा बंदूक[2] का दुःख दाता शब्द सुनते ही सर्व पक्षी[3] वृक्ष को छोड़ कर उड़ जाते हैं। सूर्य की किरण पड़ने से गंधर्व[4]-नगर नष्ट हो जाता है। जगने पर जानते हुये भी स्वप्न नहीं रहता है।

मोर पंख से निकाले हुये ताम्र[५] को गरुड़द्वार कहते हैं, उसे मुख में रखने से विष दूर हो जाता है। औषधि खाने से जिसको वह दूर करती है, वह रोग चला जाता है। सिंह को देख[६] कर गाय[७] भाग जाती है। सूर्य[६] को देख कर बर्फ के कंकर[८] गल जाते हैं। वैसे ही हृदय में हरि का नाम आते ही पाप[१०] चले[११] जाते हैं। निष्पाप होने का परम साधन हरि भजन ही है।

मुख[१] ब्रह्मा कुल[२] कमल, मेंडकी माँडप[३] जाया।
वेदव्यास मत्स्येन्द्र, गर्भ मच्छी के आया॥
सारंगी[४] के पेट, साधु शृंगी ऋषि होई।
अंजनि से हनुमान, सु कुल कारण नहिं कोई॥
वालमीकि बम्बी[५] जनम, गरुड़ जती पक्षी कुले।
'रज्जब' जानो जाति सब, ब्रह्म भजन सारे भले॥२॥

ब्रह्म भजन से जातित्व दोष भी नहीं रहता है, यह कह रहे हैं—सब संसार में मुख्य[१] ब्रह्मा का वंश[२] कमल है, ब्रह्मा कमल से उत्पन्न हुये हैं। माँडव्य[३] ऋषि मेंडकी से जन्मे थे। वेदव्यास तथा मत्स्येन्द्र नाथ ये दोनों मच्छी के गर्भ से जन्मे थे। वेदव्यास मच्छोदरी के गर्भ से जन्मे थे और मत्स्येन्द्र नाथ भगवान् शंकर की कृपा से मच्छ से ही मनुष्य हुये थे; मृगी[४] के पेट से अति श्रेष्ठ शृंगी ऋषि उत्पन्न हुये थे। हनुमान् अंजनी नामक वानरी से जन्मे थे। वाल्मीकि ऋषि का जन्म वल्मीक[५] से हुआ था। यति श्रेष्ठ गरुड़ पक्षीकुल में जन्मे थे। उक्त महापुरुषों के जन्म को देखते हुये निश्चय होता है कि श्रेष्ठता में कोई उत्तम कुल कारण नहीं है, क्योंकि उक्त सभी महापुरुषों की जाति हमने जानली है, ये उत्तम जाति के नहीं हैं फिर भी परमात्मा की उपासना करके ये सभी अति श्रेष्ठ लोकमान्य हुये हैं। ब्रह्म भजन का प्रताप ही ऐसा है।

राँका नाम[१] कबीर, सेन सदना कुल हीना।
पदम परस रैदास, धना नापा सु कमीना॥
देगू दीपू कौन, कौन कीता सु कनेरी।
विदुर वाँदरा[२] वंश, जाति सब ही की हेरी[३]॥
शुक्ल हंस से गोत[४] गत[५], नीच न को इन से करें।
'रज्जब' भजन प्रताप से, सकल वंश शिर पर धरें॥३॥

नीच जाति वाले भी भजन के प्रताप से उत्तम जाति वालों के शिरोमणि हो जाते हैं, यह कह रहे हैं—राँका कुम्हार थे। नामदेव[१]

छीपा थे। कबीर जुलाहा थे। सेन भक्त नाई थे। सदना भी कसाई होने से हीन कुल के थे। पदमा भक्त तेली थे। परसा भक्त खाती थे। रैदास चमार थे। धना भक्त जाट थे। नापा भक्त भी कमीन अर्थात् माली थे। देगू भक्त मीणा थे। दीपू भक्त कौन थे ? वे भी ब्राह्मण नहीं थे, कायस्थ थे। कीता भक्त कौन सुकुल के थे ? वे भी तो टोकरी बनाने वाले कनेरी थे। विदुर भी दास[२] वंश में जन्मे थे। इन सबकी जाति देखी[३], इन सब में कौन उत्तम वर्ण का है ? शुक्ल हंस धोबी थे, शुक्ल हंस के समान भक्त हीन[४] जाति[४] के हुये हैं किंतु इन नीच जाति वाले भक्तों से नीच जाति का-सा व्यवहार कोई भी नहीं करता है। भजन के प्रताप से संपूर्ण उत्तम वंश भी इनको शिरोमणि समझते हैं। भाव यह है—भक्त को नीचा नहीं समझना चाहिये। शंका—नीच जाति में उत्पन्न मनुष्य श्रेष्ठ कैसे बन सकता है ? अगले छप्पय में कथित लौकिक दृष्टांतों द्वारा इसका समाधान कर रहे हैं—

क्षार सिन्धु कुल सुधा, शहत अजरी[१] से जाया।
अहि[२] मुख मणि उत्पन्न, पाट[३] किहि ठाहर[४] आया॥
मंजारी[५] कुल मेद[६], पद्मनी लघु घर आणे।
वीर कोउ भी जाति, अप्सरा वर वरियाणे[७]॥
सीसें[८] सुत रूपा[९] जन्या, कागज निपजें टाट के।
'रज्जब' हरि भज गोत[१०] गत[११], पलटे अंक ललाट के॥४॥

जैसा कुल हो वैसी ही संतान हो ऐसा नियम नहीं है। देखो कुल तो खारा समुद्र है किंतु उसमें अति मधुर अमृत निकला है। श्रेष्ठता में कुल कारण होवे तो अमृत भी खारा ही होना चाहिये था। शहद की मक्खी[१] के द्वारा शहद् संग्रह किया जाता है किन्तु मक्खी को हीन और शहद् को अति श्रेष्ठ माना गया है। सर्प[२] के मुख से मणि उत्पन्न होती है किंतु सर्प तो भय दाता है और मणि भय दाता नहीं है, कुल के अनुसार ही संतान हो तो मणि से भी भय होना चाहिये था। रेशम[३] किस स्थान[४] से जन्मता है ? नीच योनि के कीड़ों से ही उत्पन्न होता है यदि श्रेष्ठता में कुल कारण हो तो रेशम श्रेष्ठ नहीं होना चाहिये था। मेद का कुल भी बिल्ली[५] है। मेद एक जाति की बिल्लो के शरीर पर गुदा के पास गाँठ होती है। यह बिलाई पाली जाती है। पालने वाले इसको खूंटे के बाँध कर रखते हैं। उस गांठ[६] में खाज बहुत होती है। बिलाई खूंटे से खुजाती है। इससे गांठ का पीप खूंटे के लगता रहता है और सूखता रहता है। फिर उसे उतार लेते हैं। उसमें सुगंध बहुत होती है, इससे उसे उत्तम लोग भी ग्रहण करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि—मेद जुन्दवदस्तुर[१] को कहते हैं। जुन्दवदस्तुर, एक जाति के बिलाव के अंडकोश

को कहते हैं। जैसे मृग में कस्तूरी और गाय में गोरोचन होता है, वैसे ही एक जाति के बिलाव के अंडकोश में जुन्दवदस्तुर होता है। इसी को सूंधा भी कहते हैं। यदि उत्तमता में कुल ही कारण माना जाय तब मेद का ग्रहण नहीं करना चाहिये। कारण—वह तो बिल्ली से उत्पन्न होता है। पद्मनी जाति की नारी प्रायः नीच जाति में ही होती है किंतु राजा-महाराजा उससे विवाह करके उसे अपने घरमें लाते हैं। यदि नीचसे ऊंच नहीं हो सकता है तो नीच कुल में ऊंची नारी कैसे उत्पन्न होती है ? और उसे श्रेष्ठ मानकर राजा लोग कैसे ग्रहण करते हैं ? वीर पुरुष किसी भी जाति का क्यों न हो, जब वह वीरता के साथ युद्ध भूमि में युद्ध करता हुआ मरता है, तब उसे अप्सरा वर रूप से वरण[७]-करके ले जाती है। यदि कुल से ही श्रेष्ठ माना जाय तो कायरता से मरे हुये क्षत्रिय को अप्सरा क्यों नहीं ले जाती है। इससे ज्ञात होता है, वे वीरता रूप गुण को ही श्रेष्ठ मानती हैं जाति को नहीं। यदि नीच से ऊंच नहीं होता तो राँगा[८] से चाँदी[९] कैसे उत्पन्न होती है। और उसे राँगा से उत्तम क्यों मानते हैं ? और देखो, निकृष्ट टाट से कागज कैसे बनते हैं और उनको श्रेष्ठ मानकर पंडित गण वेदादिक ग्रंथ कैसे लिखते हैं ? जैसे उक्त सभी कुल से ऊंच नहीं होने पर भी अपने २ गुणों से ऊँचे बने हैं, वैसे ही हरि-भजन रूप महान् गुण के द्वारा जाति[१०] दोष चला[११]-जाता है और ललाट के अङ्क अर्थात् प्रारब्ध भी पलट जाता है। भाव यह है—हरि भजन से जब प्रारब्ध और जीवत्व आदि भी बदल जाते हैं, तब केवल स्वीकृति के आधार रहने वाली जाति आदि के दोष नष्ट होकर भक्त सर्व शिरोमणि बन जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

पूजा पाज[१] न आज[२], सिन्धु सो शिला तिराई।
दारु[३] देव नहिं सेव[४], हरी शूली हो आई ॥
खेत हेतु नहिं कोइ, धना सब कोई जाने।
राम नाम निज ठौर, करे मूरति पय[५] पाने ॥
'रज्जब' जीई[६] मृतक गो, जग पग लगे न गाय के।
छाप सु छीपे की पड़ी, हिरदै राणा राय[७] के ॥५॥

पूर्व हुये भक्तों के चरित्र का उल्लेख करके भजन का प्रताप दिखा रहे हैं—इस समय[२] में बहुत से सेतु[१] बनाये जाते हैं किंतु उनकी कोई पूजा नहीं करता और भगवान् राम ने लंका जाते समय जो समुद्र पर शिला तिराकर बाँधा था सो आज भी राम नाम के प्रताप से पूजा जाता है वा इस समय[२] में जो समुद्र के सेतु की पूजा होती है वह पूजा सेतु की नहीं है, वह तो जिसके नाम के प्रताप से शिला तिरी थी उन रामजी तथा राम नाम की ही है। उसके पूजने में कारण भजन का प्रताप ही है सेतु के गुण नहीं हैं। देखो हरि होना रूप चमत्कार तो शूली के काष्ठ[३] में हुआ था किंतु

काष्ठ को देव मानकर उसकी पूजा[४] किसी ने भी नहीं की, कारण उसके हरी होने में हेतु भर्तृहरि का भजन प्रताप ही था। इससे भर्तृहरि की ही पूजा की गयी थी। शूली हरी होने का परिचय–एक समय किसी चोरके भरोसे भर्तृहरि को शूली चढ़ाया था तब शूली का लोहे का भाग तो मोम के समान कोमल हो गया था और काष्ठ का भाग हरा हो गया था। यह बात भी सब कोई जानते हैं कि–धना भक्त का खेत बिना बीज ही निपजा था उसके निपजने में खेत की उत्तमता तो हेतु नहीं थी। वह धना भक्त के भजन के प्रताप से ही निपजा था। अपने स्थान पर ही अचल रूप से रहने वाली मूर्ति ने नामदेव के हाथ से दूध[५] पान किया था। यह मूर्ति की विशेषता नहीं थी। वह तो राम नाम के भजन के प्रताप से ही पान किया था। जब नामदेव के घर के द्वार पर दुर्जनों ने मरी हुई गाय डाल कर उन्हें गो वध का दंड दिलाने के लिय षडयंत्र रचा था तब नामदेव ने नाम कीर्तन करते हुये गाय को जीवित[६] की थी, उस समय जीवित होना रूप चमत्कार तो गो में हुआ था किंतु जगत के लोक गाय के पैरों में नहीं पड़े थे वह सिद्धि गाय की नहीं समझी थी। नामदेव के भजन के प्रताप से ही गाय जीवित हुई थी, इससे नामदेव जी छीपे की ही छाप राजा महाराजाओं के हृदय में पड़ी थी अर्थात् नामदेव बड़े सिद्ध भक्त हैं, यह बात राजा[७] महाराजाओं के मन में स्थित हो गई थी, उक्त कथायें भी भजन का महान् प्रताप सूचित करती हैं। जब भजन का ऐसा प्रताप प्रसिद्ध है तब प्राणियों को ईश्वर भजन अवश्य करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भजन प्रताप का अंग ९ समाप्तः

।स० छ० २९।

अथ पीव पहचान का अंग १०

आदि नारायण अमर, भागवत वेद बोल हीं।
विविध भांति वपुधार[१], डार[२] जग नहीं डोल[३] हीं॥
दो दो गुण से रहित, भले[४] सिध साधक भाखहिं।
पूरे[५] पुरुष पिछान[६], रत्त मति तासे राखहिं॥
साचे थापें साच नित, 'रज्जब' रीति विचारिये।
परम पंथ[७] प्राणी चलें, रहते[८] की रह[९] धारिये॥१॥

पूर्व भजन प्रताप के अंग में भजन करने की प्रेरणा की है, उसमें प्रश्न उठता है कि जिसका भजन करने को कहते हो उस ईश्वर का स्वरूप कैसा है ? इसका उत्तर इस अंग में दे रहे हैं—जिसका वर्णन वेद

और भागवतादि सद् ग्रन्थ वा भक्त सब विश्व के आदि स्वरूप, मृत्यु रहित अमर, नारायण अर्थात् नर शरीर ही जिसकी प्राप्ति का मार्ग है, इत्यादिक शब्दों से करते हैं—जो स्वस्वरूप निर्गुण स्थिति को त्यागकर विविध भांति के शरीर[1] धारण करके यूथ[2] रूप से जगत् में भ्रमण[3] नहीं करते हैं, निराकार हैं, जो काम क्रोधादि दो दो साथ बोले जाते हैं, उन द्वंद्वों से रहित हैं। जो उत्तम[4] सिद्ध कोटि के संत तथा साधक संत हैं वे भी परमात्मा की पहचान के लिये उक्त बात ही कहते हैं। जो पूर्ण[5] ज्ञानी पुरुष हैं, वे उक्त परीक्षा से परमात्मा को पहचान[6] कर अपनी बुद्धि को उसी में रत्त रखते हैं। सत् पुरुष अपने हृदय में नित्य सत्य स्वरूप परमात्मा की ही स्थापना करते हैं अर्थात् प्रतिपल ईश्वर भजन ही करते हैं। इस प्रकार संतों की रीति का विचार करके माया रहित[8] परमात्मा की भक्ति रूप मार्ग[9] को धारण करना चाहिये। उत्तम प्राणी उक्त रीति से ही परमात्मा के स्वरूप की परीक्षा करक परम ज्ञान[7] मार्ग से ही संसार में चलते हैं अर्थात् स्वस्वरूप को प्राप्त करके निस्संग होकर विचरते हैं। अतः निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पीव पहचान का अंग १० समाप्तः

। स० छ० ३० ।

अथ हित (स्नेह) का अंग ११

नेत्र कमल शशि सूर, दूर हाजिर[1] हित[2] मांहीं।
पाप पुण्य जिव[3] करैं, दिवस दश अन्तर नांहीं॥
कहाँ शूर कहँ सती, मरण बिच विघ्न विलाने[4]।
नमो नमो निज नेह, जन्म जिहि और हि जाने॥
साधु सिद्ध सांई सहित, हित चित में आगे खरे[5]।
मृतक जिलावत मंत्र ही, 'रज्जब' सो ठाहे[6] करे॥१॥

प्रेम का प्रभाव दिखा रहे हैं—देखो, प्रेम का प्रभाव—नेत्र, कमल, चंद्रमा और सूर्य दूर-दूर भी हैं किंतु प्रेम[2] के द्वारा तो समीप[1] ही हैं। आकाश में स्थित सूर्य-चन्द्र को देखते ही कमल खिल जाते हैं और नेत्र भी सब कुछ देखने लगते हैं। जीव[3] पाप पुण्य को उत्पन्न करने वाली क्रिया करता है, तब उसी क्षण कर्त्ता के हृदय में पुण्य पाप स्थित हो जाते हैं। दश दिन का भी अंतर नहीं पड़ता है। क्योंकि—क्रिया के साथ पाप-पुण्य का प्रेम है। शूर वीर कहाँ होता है अर्थात् युद्ध भूमि में प्राण त्याग करता है और उसकी धर्म पत्नी कहाँ होती है अर्थात् घर में होती है फिर भी जब वह सती होना चाहती है, तब सती होने रूप कार्य में

जितने विघ्न आते हैं, वे सब प्रेम के प्रभाव से नष्ट[४] हो जाते हैं। जीव के निज प्रेम को तन, मन, वचन से नमस्कार है, क्योंकि–जिस प्रेम के प्रभाव से अन्य जन्म में भी अपने प्रेम-पात्र को जान लेता है। जैसे द्रव्य का प्रेमी मर कर सर्प होता है और सर्प योनि में जान लेता है कि–यह मेरा द्रव्य है, इत्यादि। परमात्मा के सहित साधक संत तथा सिद्ध संत भी चित्त में प्रेम हो तो प्रेमी के सन्मुख खड़े[५] प्रतीत होते हैं, प्रेम के प्रभाव से मंत्र, मृतक को भी जीवित कर देता है। साधक का सजीवन मंत्र के सिद्ध करने में अत्यंत प्रेम होता है तो वह मंत्र सिद्ध होकर मुरदे को भी जीवित कर देता है। वह प्रेम ही प्राणियों को श्रेष्ठ[६] बनाता है। श्रेष्ठ पुरुषों से प्रेम करने से प्राणी श्रेष्ठ बन जाते हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित हित (स्नेह) का अंग ११ समाप्तः

। स० छ० ३१ ।

अथ पतिव्रत का अंग १२

सुस्थिति[१] अनल अकाश, अवनि ऊँदर मठ माँडहि।
ज्यों जोगी मृग सींग, जनेऊ विप्र न छाँडहि॥
वायस[२] वास न तज हिं, श्वान हित[३] सदन सु सांई।
गहो सु त्यागें नहीं, वीर बाँधें जे बांई[४]।
हारेल ज्यों लकड़ी लगन, शशि चकोर आँखें गहै।
'रज्जब' गुरु गोविन्द से, शिषका त्यों पतिव्रत रहै॥१॥

अनल नामक पक्षी की सम्यक् स्थिति[१] आकाश में है। जैसे पतिव्रता का प्रेम पति में होता है, वैसे ही उसका प्रेम आकाश में होता है। वह आकाश को छोड़ पृथ्वी पर नहीं रहता। चूहा वृक्षों पर चढने में समर्थ होते हुये भी अपना घर पृथ्वी में ही बनाता है। उसका व्रत पृथ्वी में रहने का ही है। नाथ संप्रदाय के योगी का व्रत मृग सींग रखने का है, वह उसके बिना नहीं रह सकता है। ब्राह्मण का व्रत जनेऊ रखने का है, वह उसे नहीं छोड़ सकता। काक[२] पक्षी का व्रत रात्रि में अपने निवास पर रहने का है। दिन को कहीं भी चला जाय किंतु रात्रि को निवास स्थान पर ही रहता है। कुत्ते का प्रेम[३] रूप व्रत अपने स्वामी के घर पर रहने का है। वह दंड देने पर भी स्वामी का घर नहीं छोड़ता है। जो वीर तलवार[४] बाँधते हैं, वे जब युद्ध में तलवार से युद्ध करते हैं तब मर जाते हैं किन्तु हाथ में ग्रहण करी हुई तलवार का ग्रहण करना रूप व्रत नहीं छोड़ते, मरणे तक तलवार चलाते रहते हैं। हारिल पक्षी का लकड़ी से प्रेम रूप व्रत है। वह काष्ठ खंड को अपने पंजे से नहीं त्यागता

एक तृण पंजे में हर समय रखता है। चकोर पक्षी का अपने नेत्रों से निरंतर चन्द्रमा को देखना रूप व्रत है। चकोर चन्द्रोदय से चन्द्रास्त तक चन्द्रमा से अपने नेत्र नहीं हटाता है। उक्त प्रकार ही शिष्य का गुरु और गोविन्द से व्रत रहना चाहिये अर्थात् गुरु और गोविन्द ही संसार क्लेश से रक्षा कर सकते हैं, अन्य नहीं। ऐसे विश्वास से युक्त उनकी उपासना करना रूप व्रत रखना चाहिये। भाव यह है—साधक को कभी भी गुरु-गोविन्द का आश्रय छोड़ कर अन्य संसारी प्राणियों का आश्रय नहीं लेना चाहिये।

मणि भुजंग[1] जल मीन, तेम[2] सारस पतिवरता।
सारँग[3] सीप सु स्वाति, नियम निशि दिन मन धरता॥
नर[4] मादा[5] नग नेह[6], किरण सूरज के संगा।
सती कन्त[7] के साथ, निजी तन करती भंगा[8]॥
तरुवर छाया शशि कमल, नित व्रत ऐसा बानिये[9]।
'रज्जब' गुरु गोविन्द सों, पतिव्रत इस विधि ठानिये॥२॥

मणिधारी सर्प[1] मणि बिना, मच्छी जल बिना, तैसे[2] सारस पक्षी जोड़े बिना नहीं रह सकते। वैसे ही गुरु-गोविंद के ध्यान बिना साधक को नहीं रहना चाहिये। चातक[3] पक्षी और सीप रात्री-दिन सुन्दर स्वाति बिंदु के पान का नियम मन में धारण करते हैं, अन्य जल नहीं पीते, स्वाति के भरोसे ही रहते हैं। वैसे ही साधक को गुरु-गोविंद के भरोसे रहकर भजनानंद में मग्न रहना चाहिये। विषयानंद की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये। नगों में हीरा[4], हीरी[5] के बिना नहीं रहता उनका साथ रहने का ही प्रेम[6] रूप व्रत है। सूर्य की किरण भी सूर्य के संग ही रहती है। सती नारी पति[7] के साथ जाने के लिये अपने शरीर को जला कर नष्ट[8] कर देती है, पति के बिना नहीं रह सकती है। छाया वृक्ष को नहीं त्यागती है। वैसे ही गुरु-गोविंद से अलग साधक को नहीं रहना चाहिये। चन्द्रमा को देखते ही चंद्रमुखी कमल खिल जाते हैं, वसे ही गुरु-गोविंद के दर्शन से साधक को आनंदित होना चाहिये। नित्य ऐसा ही व्रत बना[9]-लेना चाहिये कि गोविंद रूप गुरु दर्शन से आनंद हो हो उनमें दोषारोपण करके कभी भी खिन्न नहीं होना चाहिये। साधक को उक्त प्रकार से गुरु-गोविंद के साथ पतिव्रत रखना चाहिये अर्थात् सदा गुरु-उपदेश के अनुसार गोविंद परायण रहना चाहिये।

आदित[1] संग उजास[2], सुधा शशिहर[3] अनुरागे[4]।
वायु बादले विन्दु, बीजली शून्य[5] सु लागे॥

सरितन सिन्धु सनेह, वनी वसुधा के संगा ।
लग मात्रा की लगन[1], अजब[7] अक्षर के अंगा[8] ॥
शब्द उदय[9] संयोग मधि, धनु अरु घटा सु देखिये ।
जन रज्जब यूं राम से, सोई पतिव्रत लेखिये[10] ॥३॥

जैसे सूर्य[1] को प्रकाश[2] नहीं त्यागता, अमृत चंद्रमा[3] से प्रेम[4] करता है, चंद्रमा को नहीं त्यागता । वायु, बादल, जल कण और बिजली, ये आकाश[5] से भली प्रकार लगे हुये हैं, आकाश बिना नहीं रहते । नदियों का समुद्र से प्रेम है, समुद्र में ही जाती हैं । वृक्ष समूह रूप वनी पृथ्वी के संग रहती है, वृक्ष पृथ्वी पर ही उगते हैं पृथ्वी पर ही रहते हैं । इ, उ, आदि लग मात्राओं का लगाव[1] अक्षर के स्वरूप[8] में अनोखी[7] रीति से होता है । अक्षर को छोड़कर "ि, ी, ु, ू, ऐसे नहीं लिखे जाते किंतु "कि, की, कु, कू" ऐसे लिखे जाते हैं । ध्वनि रूप शब्द वा वर्ण रूप शब्द की उत्पत्ति[9] संयोग के मध्य से होती है । दो के संयोग बिना शब्द नहीं होता है । भली प्रकार विचार करके देखो, इन्द्र धनुष बादल-समूह बिना नहीं होता । उक्त प्रकार ही राम से व्रत रखना है, सोई इस अंग में पतिव्रत शब्द का अर्थ जानना[10] चाहिये । सर्व भांति राम परायण रहना चाहिये ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पतिव्रत का अंग १२ समाप्तः । स.छ.३४ ।

अथ सर्वंगी पतिव्रत का अंग १३

सूर सैल दिशि एक, दृष्टि सब ही दिशि देखे ।
कायथ कथा अनेक, लगन चूके नहिं लेखे ॥
चक्र चाल चौगिरद, जाय सूधा सु निशाने ।
विगति बगूलै फेर, गमन गगन हिं दिशि ठाने ॥
अंकुर बीज बूंटी व्यथा, पत्र रोम रम ठौर लिये ।
जन 'रज्जब' यों राम से, सर्वंगी पतिव्रत किये ॥१॥

पूर्व अंग में कहा था—राम से पतिव्रत रक्खें । इस में शंका होती है, क्या धर्मादिक शुभ काम नहीं करें, इस का उत्तर दे रहे हैं—सूर्य दृष्टि से तो सभी दिशाओं को देखते हैं अर्थात् प्रकाश तो सभी दिशाओं को देते हैं किंतु गमन तो एक पश्चिम दिशा को ही करते हैं । लिखने में विशेष निपुण कायस्थ जाति का लिखने वाला लिखने के समय अनेक बात सुनता है किंतु उसकी लगन अपने लेख में रहती है वह भूलता नहीं है । कायस्थ जाति का लिखने का विशेष कार्य रहा है, इसी से यहां कायस्थ शब्द लेखक का बोधक दिया है ।

चक्र को जब कोई वीर पुरुष चलाता है तब वह चारों ओर फिरता हुआ भी भली प्रकार सीधा अपने निशाने पर ही जाता है। वायु के बवंडर की गति भी विशेष करके फेर खाती हुई होती है अर्थात् बगूरा भी चारों ओर फिरता हुआ ही चलता है किंतु उसकी चोटी तो ऊंची आकाश में ही जाती है। बीज का अंकुर वृक्ष के पत्ते-पत्ते में फिरता हुआ भी अपने स्थान पर ही जाकर अर्थात् फल में जाकर बीज रूप से निकलता हैं। औषधि भी खाने पर शरीर के रोम-रोम में रमती हुई जहां दुःख होता है, वहाँ ही जाती है। उक्त प्रकार सर्व विहित अर्थात् उत्तम कर्मों का अनुष्ठान अंगीकार करते हुये भी राम से पतिव्रत किया जाता है। भाव यह है-अन्य शुभ कर्म करते हुये भी ईश्वर से अनन्य प्रेम रह सकता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सर्वंगी पतिव्रत का अंग १३ समाप्तः। स० छ० ३५॥

अथ आज्ञाकारी का अंग १४

नीति नियम पतिवरत, कृत्य[1] उत्तम तिन कीन्हे।
हित सनेह रस रंग[2], इष्ट आज्ञा पग दीन्हे॥
अदब[3] मेंड[4] मरजाद, बंदगी सेवा धारी[5]।
बुद्धि विवेक रु सांच, बड़ों की बात विचारी॥
लेखे[6] चूक[7] न चोट[8] कुछ, धर्म धारते सब भले।
जन 'रज्जब' तिन सब किये, गुरु आज्ञा शिर धर चले॥१॥

अपने उपास्य देव तथा गुरु-आज्ञा मानने वालों की स्तुति कर रहे हैं-जो पुरुष उपास्यदेव की आज्ञा में चले हैं, उन्होंने नीति, नित्य नियम, पतिव्रत और सब उत्तम कर्तव्य कर्म[1] मानो कर ही लिये हैं। वे ही हित कारक स्नेह रूप रस में निमग्न[2] हुये हैं और उन्हीं ने शिष्टाचार[3] का पालन किया है। वे ही कुल की मर्यादा[4] में रहे हैं। उन्हीं ने धर्म मर्यादा पालन की है। उन्हीं ने ईश्वर की वंदना स्तुति करी है। उन्हीं ने गुरु तथा संत सेवा करी[5] है। उन्हीं की बुद्धि ने विवेक और सत्य तत्त्व को ग्रहण किया है। उन्होंने महापुरुषों की बातों का विचार किया है। जैसे हिसाब[6] में भूल[7] नहीं हो तो हिसाब करने वाले पर कोई आपद[8] नहीं आती है, वैसे ही अपने उपास्य देव तथा गुरु आदि पूज्य पुरुषों की आज्ञा में चलने से कोई आपद नहीं आ सकती है। ऐसे तो धर्म को धारण करने वाले सभी पुरुष अच्छे हैं किंतु जो गुरु आज्ञा को शिरोधार्य्य मान के उसमें चले हैं उन ने उक्त वा अन्य भी सभी साधन

कर लिये हैं अर्थात् कृतार्थ हुये हैं । भाव यह है—वृद्धों की तथा इष्ट देव की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आज्ञाकारी का अंग १४ समाप्त:। स.छ.३६।

अथ आज्ञा भंगी का अंग १५

ईश्वर[1] आज्ञा भंग, राशि रत्नों विष पाया ।
त्यों ही रावण सीत, लीक लोपे सु मराया ।।
हजरत हुकम सु हता, करी काका में कैसी ।
हठ मूसे का हेर,[2] सहित कोतूर[3] सु तैसी ।।
अइम पिण्ड गोदावरी, अजाजील गह रानिया ।
चक्कर चकवे चोट तिंहि, 'रज्जब' शब्द न मानिया ।।१।।

ईश्वर तथा महा पुरुषों की आज्ञा नहीं मानने वालों को जो हानि होती है सो बता रहे हैं—महादेवजी[1] ने हरि की आज्ञा नहीं मानी थी इसीलिये शंकरजी को रत्नों की राशि से भी विष ही मिला था। यह कथा परंपरा से इस प्रकार सुनी जाती है—एक समय पार्वतीजी किसी नदी और समुद्र के संगम पर जल का घड़ा भर के शिर पर रख रही थी, उसी समय समुद्र ने तरंग से घड़े को गिरवा दिया। पार्वती ने यह घटना शंकरजी को कही, तब शिव रुष्ट होकर समुद्र का मंथन करके उससे उत्तम उत्तम रत्न छीनने का विचार करने लगे। यह बात जब समुद्र को ज्ञात हुई तब उसने शंकरजी से प्रार्थना की, भगवन् ! एक घट के फोड़ने के दंड रूप में, मैं आपके हजार घड़े चढाया करूंगा, आप मेरे मथने का विचार छोड़ दें किंतु शङ्करजी ने नहीं माना। तब समुद्र ने विष्णुजी से उक्त घटना सुनाकर कहा–आप शङ्करजी को समझावें, जिससे मेरे मथने का विचार छोड़ दें। विष्णुजी ने समझाया किंतु शङ्करजी ने विष्णुजी की समझाना रूप आज्ञा नहीं मानी और देव-दैत्यों को प्रेरणा करी कि- समुद्र में अमृत के सहित उत्तम उत्तम रत्न हैं। इसलिये समुद्र को मंथन करके वे निकालने चाहिये। अमृत से आप सब अमर हो जायेंगे। तब देव-दैत्यों ने मिलकर समुद्र मथना आरम्भ कर दिया। अन्य रत्न तो अन्य देवतादि ने स्वीकार कर लिये किंतु जब विष निकला तब सब व्याकुल होकर शंकरजी की शरण गये और बोले आपके कहने से यह कार्य आरम्भ किया था इससे इस महाविष को आप ही धारण करें। इसे धारण करने का सामर्थ्य हममें नहीं है। तब शंकरजी ने उसे कंठ में धारण करके सबको निर्भय किया था। यदि विष्णु की बात मान लेते, समुद्र मंथन का कार्य नहीं करवाते तो विष क्यों मिलता ?

रावण नें तथा सीता नें लक्ष्मण की निकाली हुई लकीर रूप आज्ञा नहीं मानी थी, इसी से रावण को कुल सहित मरणा पड़ा, और सीता को भी बड़ा दुःख उठाना पड़ा था। हज़रत मुहम्मद की आज्ञा नहीं मानने से, हज़रत मुहम्मद ने अपने काका आवुलाहव में कैसी करी थी, अंत में आवुलाहव को दुःखी होकर मरणा पड़ा था। हज़रत मुहम्मद के काकाओं में आवुलाहव नामक काका से हज़रत का धर्म विरोध था। व्यक्तिगत विरोध नहीं था। मुहम्मद प्राचीन धर्म, मूर्ति पूजा आदि के विरोधी थे और आवुलाहव मूर्ति पूजा आदि के समर्थक थे। इसी से विरोध था, वे मुहम्मद की बात नहीं मानते थे। आवुलाहव ओमाइया वंश के लोकों से मिलकर हज़रत मुहम्मद को दुःख दिया करते थे। मुहम्मद के धर्म प्रतिष्ठा के दूसरे वर्ष में मक्का के कोरेश जाति वालों ने हज़रत मुहम्मद के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ किया था। उस समय आवुलाहव बीमार थे। इस से युद्ध में नहीं जा सके थे। बदर के युद्ध में कोरेशों की भारी पराजय हुई थी, उस पराजय का समाचार सुनकर अति दुःख से जलते हुये आवुलाहव मर गये थे। हज़रत मुहम्मद की आज्ञा मान लेते तो आवुलाहव को पराजय संबंधी जलन नहीं होती। मूसा पैगम्बर का हठ भी देखो[१], ईश्वर की आज्ञा नहीं मानने से कोहतूर[२] के सहित उनमें कैसी हुई ? अर्थात् उक्त आज्ञा न मानने वालों को पीड़ा हुई वैसे ही मूसा को भी व्यथा हुई थी, उनके शिष्य मारे गये स्वयं भी मूर्च्छित हुये और कोहतूर भी भस्म हो गया। मूसा की कथा—मूसा यहूदी जाति के पैग़म्बर थे। इन का जन्म अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर-पूर्व में लाल-सागर के तट पर मिस्र देश में हुआ था। मिस्र के राजा जिनकी उपाधि फैरवा थी, उनने एक समय यहूदी जाति को गुलाम बनाया था। उसी समय उन गुलामों के वंश में मूसा का जन्म हुआ था। मूसा भगवद्-भक्त थे। इससे फैरवा ने उन्हें छोड़ दिया था। वे अन्य बहुत से यहूदियों को साथ लेकर फिलस्तीन में जाने के लिये चलकर लाल सागर पर आये तब ईश्वर ने उनको एक दंडा दिया था। उसको आगे करके चलने से लाल सागर ने उनको मार्ग दिया था। एक समय मूसा के शिष्यों के पास आकर अजाजिल शैतान ने कहा—तुम लोगों को मूसा ने ईश्वर का साक्षात्कार कराया या नहीं। उन सबने कहा अभी तक तो हमको ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ है। अजाजिल ने कहा—मेरे साथ चलो, मैं तुमको अतिशीघ्र ईश्वर का साक्षात्कार करवा दूंगा। उन लोकों ने मूसा से कहा—या तो आप हमको ईश्वर का साक्षात्कार करावें, नहीं तो हम जाते हैं—तब मूसा ने ईश्वर से प्रार्थना करी इन सबको आप दर्शन दें। ईश्वर ने कहा—ये सब अभी मेरे दर्शन के योग्य नहीं हुये हैं। उक्त ईश्वर की आज्ञा न मानकर मूसा ने शिष्यों को दर्शन देने के लिये हठ किया तब ईश्वर ने तूर नामक पर्वत पर अपना स्वरूप प्रकट किया,

उसके तेज से शिष्यों के सहित कोहतूर भस्म हो गया और मूसा को भी मूर्च्छा आ गई, फिर जब मूसा मूर्च्छा से उठे तब उनकी ईश्वर पर अति श्रद्धा भक्ति हुई थी। आज्ञा नहीं मानने से ही गोदावरी नदी के तट पर बहुत-से नाथों के शरीर पाषाण हो गये थे। वह कथा इस प्रकार है–

नासिक कुंभ मेले के समय गोरक्षनाथ अपने गुरु की धूनी के लिये लकड़ियां लाने वन को जा रहे थे। मार्ग में एक मतीरों की गाड़ी मिली, गोरक्षनाथ जी ने गाड़ी वाले से पूछा–मतीरे कहां ले जायगा ? उसने कहा–नाथों की मंडली में। गोरक्षनाथ जी ने कहा–मैं भी नाथ हूं, मुझे भूख तथा प्यास भी है। इस लिये मेरे को यहां ही मतीरा दे दे, उसने कहा–वहां ही मिलेगा। गोरक्षनाथ जी ने कहा–मैं भूखा-प्यासा हूं मुझे यहां ही दे दे, फिर भी तो देगा ही। उसने कहा–अच्छा ले लो। गोरक्षनाथ जी ने आधा मतीरा ले लिया और कहा–आधा-आधा सब के आ जायगा। उसने गाड़ी ले जाकर मंडलेश्वर को समर्पण कर दी। उसमें आधा मतीरा देख कर साधुओं ने पूछा–यह आधा क्यों है ? उसने कहा–आधा गोरक्षनाथ ने ले लिया है और यह भी कहा है कि–आधा-आधा सबके आ जायगा। यह सुनकर नाथ लोक गोरक्षनाथ से चिड़ गये। गोरक्षनाथ के आने पर पंचायत करके गोरक्षनाथ तथा उनके गुरु को समुदाय की वस्तु बीच में लेने के दंड रूप में दोनों के हाथ पीछे की ओर बांध कर शिर पर शिलायें रख के पंचायत केसामने खड़े करने का निश्चय किया। तब जो अच्छे-अच्छे संत थे उनने उनको ऐसा करने से रोका किन्तु उनकी रोकना रूप आज्ञा नहीं मानकर वैसा ही किया। तब अच्छे-अच्छे सब संत मुख में अंगुलियां देकर खड़े हो गये। उस समय गोरक्षनाथ यह विचार करके कि अच्छे-अच्छे संत तो खड़े हैं और ये केवल भेषधारी बैठे हैं। इनसे संसार को तथा इनको भी क्या लाभ है ? ये पत्थर होने ही योग्य हैं। शाप दे दिया—खड़े-खड़े सिद्ध और बैठे-बैठे पत्थर हो जायं। बस इतने में ही बैठे-बैठे सब पत्थर हो गये। तब खड़े संतों ने कहा–गोरक्षजी यह तो आपने अच्छा नहीं किया। ये तो मूर्ख थे, आप इन पर दया करें। गोरक्षजी ने कहा–अब तो जो हो गया सो हो गया किंतु आप लोग कहते हैं तो प्रत्येक कुंभ मेले में इनमें से दो व्यक्ति मनुष्य होकर उठ जाया करेंगे। सुनते हैं वैसा ही होता रहा है। एक कुंभ मेले की बात है, एक तेली ने अपनी घाणी पर उन पत्थरों में से लाकर चार पत्थर रक्खे थे। स्नान के दिन, रात्रि में उनमें से दो उठ गये थे। ईश्वर की आज्ञा नहीं मानने से ही अजाजिल को पकड़कर फरिश्ताओं से निकाल दिया था। कहा भी है–रज्जब रजा रजानिकर, अजाजील शैतान। हुआ फजीहत,

फरिश्ता, मेट अलह फरमान। (साखी भाग, आज्ञाकारी आज्ञाभंगी अंग ७ साखी १८) अर्थ साखी भाग में देखो। शब्दार्थ इस प्रकार है--रजा= आज्ञा। रजानिकर=मिटाकर। अजाजिल, शैतान और इब्लिस,ये तीनों नाम एक व्यक्ति के हैं। शैतान=जो सत्य से दूर करे। इब्लिस=कल्याण का अनाधिकारी। फजीहत=बेइज्जत। फरिश्ता=भगवान् का सेवक, जो पैग़म्बरों के पास भगवान् का आदेश लाता है। अलह=ईश्वर। फरमान=आज्ञा। अजाजिल की कथा-एक समय भगवान् ने हूरों (स्वर्ग की अप्सराओं) से कहा—मैं पृथ्वी के लिये एक अपना प्रतिनिधि रचूंगा। ऐसा कहकर आदि मानव आदम नामक एक पुरुष को रचा और अप्सराओं से तथा फरिश्ताओं से कहा—आदम को प्रणाम करो। तब और सबने तो आदम को प्रणाम किया किन्तु अजाजिल ने यह ईश्वर की आज्ञा नहीं मानी, आदम को प्रणाम नहीं किया। फिर ईश्वर ने आदम को कहा-तुम पृथ्वी के बगीचे में रहो परंतु इस वृक्ष (ज्ञान) का फल नहीं खाना अर्थात् ज्ञान-चतुराई में नहीं पड़ना, मेरी भक्ति करना और यदि खाओगे तो तुम्हारा पतन हो जायगा। फिर एक समय आदम के पास अजाजिल जा पहुँचा और कहा-आपने इस वृक्ष (ज्ञान) का फल खाया ? आदम ने कहा-नहीं। अजाजिल ने पूछा क्यों नहीं खाया ? आदम ने कहा-ईश्वर की आज्ञा नहीं है। तब अजाजिल ने उन्हें यह कह कर भ्रम में डाला कि-खाने योग्य तो यही एक उत्तम फल है। आप अवश्य खाइये। इस प्रकार आदम को वहकाने से आदम ने उस वृक्ष (ज्ञान) का फल खाया अर्थात् लौकिक भोग चतुराई में पड़ गये। तब से उनको नाना संसार क्लेशों का अनुभव होने लगा। उक्त प्रकार ईश्वर-आज्ञा स्वयं नहीं मानने से तथा आदम को वहका कर ईश्वर-आज्ञा भंग कराने से अजाजिल को फरिश्ताओं से निकाल दिया था। चक्रवर्ती राजा की शपथ नहीं मानने से ही नहीं मानने वाले कबूतरके अदृष्ट चक्र की चोट लगी थी। यह कथा इस प्रकार है-दो कबूतर दाणा चुग रहे थे, उन में से एक, दूसरे के आगे जाकर चुगने लगा। तब उसने कहा-तू मेरे आगे का दाणा मत चुग किंतु उसकी बात उसने नहीं मानी। उस समय मान्धाता राजा राज्य करते थे। उस कबूतर ने कहा-तुझे महाराज मान्धाता की शपथ है, मेरे आगे से दाणा मत चुग। उक्त शपथ रूप आज्ञा को उसने नहीं माना, तब उसी समय उसका शिर कट कर पृथ्वी पर पड़ गया था। देखो, उक्त जनों ने ईश्वर तथा महा पुरुषों की आज्ञा रूप शब्द नहीं माने थे, इसी से उनको अति दुःख ही उठाना पड़ा था। भाव यह है-ईश्वर तथा महा पुरुषों की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित आज्ञा भंगी का अंग १५ समाप्तः

। स० छ० १७।

अथ सार ग्राही का अंग १६

हंस गहे निज क्षीर[1], वनी मधुरिख[2] मधु[3] काढहिं ।
अलि[4] ज्यों परिमल[5] लीन, पहुप[6] पंखुरी नहिं डाढहिं ॥
चुम्बक चुनले सार[7], पुनः पारा ज्यों कंचन ।
तत[8] वेता तत गहैं, पिण्ड परिहर[9] गुण पंचन ॥
छाज नाज कण काढले, गऊ दूध ज्यों वत्स मुख ।
'रज्जब' त्यों गुण को गहे, आपा पर उपजे सु सुख ॥१॥

सार ग्राहकों का वर्णन करते हुये सार ग्रहण करने की प्रेरणा कर रहे हैं—हंस जल-दूध[1] के मिले होने पर भी निज हित कारक दूध रूप गुण को ही लेता है, जल को नहीं लेता । शहद-की-मक्खी[2] वन के वृक्षों से शहद[3] को ही निकालती है अन्य कुछ भी नहीं लेती है । भ्रमर[4] पुष्प की सुगन्ध[5] को ही लेता है, पुष्प[6] की पंखुड़ियों को नहीं काटता है तथा कण्टक आदि को भी नहीं देखता है । चुम्बक धूलि में मिले हुये लोह[7] को ही चुग लेता है, धूलि को नहीं चुनता है । पारा भस्म में मिले हुये स्वर्ण कणों को चुन लेता है, भस्म को नहीं । तत्त्व[8] वेत्ता ज्ञानी पुरुष शरीर के सुरूप कुरूपादि तथा सुजाति कुजाति आदि गुण और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँच गुणों को त्याग[9] कर अर्थात् इन्द्रिय गण को जीतके इन सबमें तथा अन्य सबमें तत्त्व को ही ग्रहण करता है अर्थात् सर्व में आत्मा ही देखता है । छाज भूसा से नाज के कण काढ लेता है । गाय के वत्स का मुख दूध ही ग्रहण करता है, स्तनों में रहने वाले रक्त को नहीं ग्रहण करता है । उक्त प्रकार गुण ग्रहण करने से अपने को और दूसरों को भी श्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है । भाव यह है—सर्वकाल में सर्व वस्तु से गुण ही ग्रहण करना चाहिये ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित सार ग्राही का अंग १६ समाप्त ।स०छ०३८।

अथ असार ग्राही का अंग १७

चलणी कोल्हू ईख, कन[1] हि तज कूकस[2] राखे ।
मीन मैल[3] मुख गहे, पाय परिमल[4] को नाखे[5] ॥
धोवन धावन लेहि, जैन तज निर्मल नीरा ।
विरचे[6] बावन[7] वास, निरख सो नरक[8] सु कीरा[9] ॥
चीचड़ त्याग सु धेनु पय, मेंडक माता[10] कीच ही ।
'रज्जब' विधि[11] बूटी व्यथा, त्यों अवगुण ले नीच ही ॥१॥

अवगुण ग्राहकों का वर्णन कर रहे हैं—चलणी सार[१] रूप आटे को त्यागकर तुष ही रखती है, ईख-रस निकालने का कोल्हू ईख-रस रूप सार को त्याग कर अपने में केवल भूसा[२] ही रखता है। मच्छी सुगंधित[४] वस्तु को त्याग[५] कर अपने मुख में मलीन[३] वस्तु को ही ग्रहण करती है। जैन निर्मल जल को त्याग कर जिससे कुछ धोया गया हो वह जल ही लेते हैं। देखो, मल का कीड़ा[६] श्रेष्ठ[७] चंदन की सुगंध से विरक्त[१] होकर भली प्रकार मल[८] को ही चाहता है। चौपायों के शरीर में चिपटकर रक्त पीने वाला चीचड़ नामक छोटा जीव गाय के सुन्दर दूध को त्यागकर रक्त ही पीता है। मेंढक भी शुद्ध सुगंधित जल की इच्छा नहीं करके अवगुण रूप कीचड़ में ही मस्त[१०] रहता है। औषधि की रीति[११] भी यही है। वह भी अवगुणरूप रोग को ही पकड़ती है। इस प्रकार ही नीच प्राणी अवगुण रूप असार को ही ग्रहण करते हैं। भाव यह है—अवगुण रूप असार को ग्रहण नहीं करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित असार ग्राही का अंग १७ समाप्तः।स.छ.३१।

अथ पारख का अंग १८

गणक[१] वैद्य वैदंग[२], उदक[३] निर्णय सिरहारं[४]।
सूंघत, धन गिरि धातु, खबर अह निशि खनिवारं[५]॥
श्वान व्रत रु अज[६] कूप, सर्प परिमल[७] गति जाने।
निशि वायस[८] दिन स्यार, बोल सुन विघ्न बखाने॥
सहदेव न लहि ग्वाल गम, सुत संकट माता थनों।
'रज्जब' सोझ[९] न सूण[१०] लगि, ये आगम जानें घनों[११]॥१॥

केवल भविष्य बात को जान लेने से ही कोई परमात्म-प्राप्ति रूप सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है। यह कह रहे हैं—ज्योतिषी[१] ज्योतिष के द्वारा भविष्य की बात जान लेता है। वैद्य भी आयुर्वेद[२] के द्वारा औषधियों के गुण आदिक जान लेता है। पृथ्वी को सूंघ कर जल[३] बताने वाला सिरहार[४] भी बिना देखे, बिना पान किये ही पृथ्वी को सूंघ कर जल मधुर वा खारा निकलेगा इस का निश्चय करके बता देता है। पृथ्वी को सूंघ कर धन बताने वाला भी बिना देखे ही दबे हुये धन को बता देता है। सूंघ कर के ही पर्वत में धातुओं की खानियों को बता देता है। बड़ी-बड़ी खानियों में दीपकों के प्रकाश से काम करने वाले[५] लोक पृथ्वी के भीतर रहते हुये ही सूर्य का उदय होना तथा अस्त होना जान लेते हैं। सूर्योदय पर दीपकों का प्रकाश मंद और अस्त होने पर तेज हो जाता है। इसी से जानते हैं। कुत्ता अपने व्रत के दिन को जान लेता है। बकरा[६] पृथ्वी में दबे हुये कूप को जान लेता है।

सर्प सुगंध[९] की गति को जान जाता है। जिधरसे चंदन की सुगंध आती है, उधर जाकर चंदन पर लिपट जाता है। कुत्ता और बकरे का दृष्टांत उपदेश अंग के छप्पय तीन की टीका में और सर्प का दृष्टांत गुरु देव के अंग के छप्पय सात की टीका में देखो। रात्रि में काक[८] तथा दिन में सियार की बोली सुन कर सुनने वाले लोक भविष्य में आने वाले संकट को जानकर पहले ही कह देते हैं कि—संकट आयेगा। जिस बात को एक बहुत बड़े ज्योतिषी सहदेव भी नहीं जान सके, उसमें ग्वाल की गमं हो गई अर्थात् ग्वाल ने उसे जान लिया। कथा—एक समय वर्षा के दिनों में बहुत दिन वर्षा नहीं होने से लोकों ने सहदेव ज्योतिषी से पूछा—वर्षा कब आयेगी ? उस ने कहा—इन दिनों में तो शीघ्र वर्षा आने का योग नहीं है। दूसरे दिन प्रातः काल गायें चराने वाला लग भग १५ वर्ष का एक लड़का गायों को खोल कर वन में ले जाने लगा तब अपनी माता को बोला—माँ ! आज गायों की रस्सियां खोलकर घर में रख देना वर्षा आयेगी। माँ ने कहा—बेटा ! अभी वर्षा कहां है ? गत दिन तो सहदेव ज्योतिषी ने कहा ही था कि—अभी वर्षा का योग नहीं है। लड़का बोला—सहदेव कुछ भी कहैं, वर्षा तो आज अवश्य आयेगी, रस्सियां खोल कर घर में रख देना। माँ ने बच्चा समझ कर उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया किंतु उस दिन वर्षा बहुत हुई। रस्सियां भीग गईं। सायंकाल लड़के ने कहा—रस्सियां नहीं रक्खीं। माँ ने कहा—मैंने तो सहदेव की बात सत्य मानी थी, इससे नहीं रक्खी थी। तेरे को वर्षा आने का कैसे पता लगा यह तो बता ? उसने कहा—जब मैंने प्रातः काल गायों को खोला था तब रस्सियां सर्दी हुई थीं। इसी से मुझे निश्चय हो गया था कि—वर्षा अवश्य आयेगी। वर्षा के आगमन में मूंज की रस्सियां सर्द कर कुछ करड़ी हो जाती हैं। पुत्र विदेश में हो और वहां उसमें कोई दुःख आपड़े तो माता के स्तनों में एक विलक्षण पीड़ा होती है, जिस से चतुर माता जान जाती है कि—मेरे पुत्र में कोई संकट आपड़ा है। ये उक्त सब शकुनों[१०] के द्वारा भविष्यत् की बातें तो बहुत[११] सी जान लेते हैं परंतु सिद्ध[६] नहीं हो जाते अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति रूप सिद्धि भविष्यत् बातें जानने से ही नहीं मिलती है। वह तो भक्ति आदि साधन द्वारा ज्ञान होने पर ही मिलती है।

रैन दिवस नहिं दुर[१] हिं, दुरे नहिं चन्द्र प्रकाशा।
दामिनि दमक न दुरे, गोप्य[२] नहिं उर की आशा॥
छिपे न भुवि भूचाल, ग्रहण गति सब ही जाने।
इन्द्र गाज बड़नाल[३], बोल छूटे नहिं छाने॥
जग जाने जामण मरण, उगे बीज जो बोइये।
त्यों 'रज्जब' मन माँहिली, कहो कौन विधि गोइये[४]॥२॥

पूर्व छप्पय में कहा था : भविष्य ज्ञानादि से मुक्ति रूप सिद्धि नहीं प्राप्त होती, तब शंका होती है : प्रभु प्राप्ति रूप सिद्धि की पहचान क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—रात्रि-दिन छिपते[1] नहीं हैं, उनकी परीक्षा अपने आप ही हो जाती है। चन्द्रमा का प्रकाश भी नहीं छिपता है। बिजली की चमक गुप्त नहीं रहती है। प्राणी के हृदय की आशा गुप्त[2] रहने योग्य नहीं है। प्रकट हो ही जाती है। भूचाल होने पर पृथ्वी पर छिपता नहीं है। सूर्य-चन्द्र का ग्रहण भी गुप्त नहीं रहता है, कब होगा कितना होगा। इत्यादिक गति को सब लोक पहले से ही जान लेते हैं। मेघ की गर्जना और तोप[3] का शब्द क्या गुप्त होता है ? इनकी परीक्षा अपने आप ही हो जाती है जन्म-मरण को भी सब जगत् जानता है, ये दोनों छिपते नहीं हैं, पृथ्वी में बोया हुआ बीज भी नहीं छिपता है, उगता है तब प्रकट हो ही जाता है। उक्त प्रकार जो प्रभु को प्राप्त करने वाले पुरुष की आंतरिक निष्ठा है, वह कहो किस प्रकार छिपाई[4] जा सकती है। उसकी परीक्षा तो अपने आप ही हो जाती है।

भोडल दीप न दुरे[1], पुनः पानन के खाये ।
घास घुसेरी[2] आग, छिपे नहिं सूंधा लाये ।।
जल तर शीशी माँहि, पाणि[3] पातर[4] सु लखावे ।
अमल[5] न छाना रहे, निरख नख शिख जब आवे ।।
अंक[6] फिटकरी उघड़े[7], जन 'रज्जब' जल में यथा ।
तैसी विधि मन माँहिली, बाहर दीसे है तथा ।।३।।

अभ्रक के पत्ते से छिपाने पर भी दीपक का प्रकाश छिपता[1] नहीं है। बहुत नागर पान खाने वाले मनुष्य का मुख छिपाने पर भी छिपता नहीं है। घास में छिपाया[2] हुआ अग्नि क्या सूंधा लगाने पर भी छिपेगा ? सूंधा का विवरण भजन प्रताप अंग ६ के चौथे छप्पय की टीका में देखो, वहाँ इसका नाम भेद दिया है वा सूंधा-सुगंधित पदार्थ लगाने से अग्नि छिपेगा क्या ? नहीं छिपेगा। श्वेत शीशी जल से भरके, उसको बंद करके हिलाने से जो उसके भीतर बुद्-बुदा-सा दीखता है—उसे जलतर कहते हैं। वह शीशी में छिपता है क्या ? नृत्य के समय वेश्या[4] का हाथ[3] छिपाने पर भी क्या छिपता है ? उलटा भली प्रकार दीखने लगता है। नशा[5] जब नख से शिखा तक भली प्रकार चढ जाता है, तब क्या छिपा रहता है ? फिटकड़ीके पानीसे लिखे हुये अक्षर[6] पहले नहीं दीखने पर भी कागज को पानी में डालने से प्रकट रूप से दीखने[7] लगते हैं, छिपते नहीं हैं। उक्त प्रकार ही प्राणी के मन के भीतर की निष्ठा छिपी होने पर भी जैसी होती है वैसी ही बाहर दीखने लगती है, छिपती नहीं है।

धर[1] उर[2] में रिधि[3] रहे, प्रकट मस्तक मधि दीपत[4] ।
सांच न दुर[5] ही दिव्य[6], अग्नि कर को नहिं छूवत[7] ॥
होय ऊत[8] घर पूत,[9] यथा जीते सु जुवारी ।
कैसे गोया[10] जाय, महा मंगल मन भारी ॥
सिधि संकट आगे खड़ी, शक्ति[11] सिद्धि सो आठ की ।
'रज्जब' छिपे न माँहिली, जैसे रसना पाठ की ॥४॥

धन[3] तो पृथ्वी[1] के भीतर[2] गड़ा हुआ रहता है किन्तु उस धन का तेज धनी मनुष्य के ललाट पर प्रकट रूप से चमकता[4] रहता है । चतुर नर उसे देखकर जान जाते हैं कि यह धनाढ्य है । सत्यासत्य की परीक्षा का साधन तप्त लोहे का गोला[6] हाथ पर रखने से सत्यता छिपती[5] नहीं है । दिव्य का अग्नि सच्चे मनुष्य के हाथ को छूता[7] भी नहीं है । दिव्य का विवरण गुरुदेव अंग १ के पांचवें छप्पय की टीका में देखो । संतान[8]-रहित के बड़ी अवस्था में पुत्र[9] होता है, तब कब छिपता है ? उत्सव के द्वारा अधिक प्रकट होता है । जिस जुआरी की जुआ में अच्छी जीत होती है, तब उसके हृदय का हर्ष क्या छिपता है ? किसी के मन में किसी प्रकारसे महानन्द प्रकट होता है,तब वह भारी आनंद कैसे छिपाया[10] जासकता है ? मायिक सिद्धियाँ—१ अणिमा, २ महिमा, ३ लघिमा, ४ गरिमा ५ प्राप्ति, ६ प्रकाम्य, ७ ईशित्व, ८ वशित्व ये आठ प्रकार की होती हैं । सो सभी सिद्धियां तपस्या रूप क्लेश के आगे खड़ी हैं अर्थात् गुप्त होने पर भी तपस्या करने वाले को माया[11] की सिद्धियां प्रत्यक्ष में प्राप्त होती हैं । पाठ करने वाले पंडित की रसना छिपती नहीं है । शुद्ध उच्चारण करने से श्रोता को तत्काल पता लग जाता है कि—यह पंडित है । उक्त प्रकार ही आंतरिक भगवत् प्राप्ति रूप परम सिद्धि भी नहीं छिपती है, अंत में प्रकट हो ही जाती है । उक्त तीनों छप्पयों का भाव यह है—अच्छे-बुरे भक्त-अभक्त की परीक्षा शनैः शनैः अपने आप ही हो जाती है ।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित पारख का अंग १८
समाप्तः । स. छ. ४३ ।

अथ शब्द का अंग १९

शब्द हुई सब सृष्टि, शब्द सब ही घट माँहीं ।
शब्द रूप गुरुदेव, सुरति शिष बाहर नाँहीं ॥
शब्द हि वेद कुरान, शब्द सब शब्द पढ़ावे ।
शिव रु शक्ति का भेद, शब्द शब्द हि सु बतावे ॥

प्रकट शब्द संयोग लग, पुनि वियोग गुप्त हि रहे ।
'रज्जब' कहिये कौन से, शब्द भेद विरला लहे ।।१।।

एक से तीन छप्पयों तक शब्द की विशेषता बता रहे हैं—"मैं एक से बहुत हो जाऊं" इस ईश्वर के शब्द से ही सब सृष्टि हुई है । सभी शरीरों में भी शब्द व्यापक है और शरीरों की आंतरिक बात भी भली प्रकार शब्द से ही जानी जाती है । ज्ञान गर्भित शब्द ही गुरुदेव रूप हैं, कारण—ज्ञान शब्दों से ही होता है, शरीर से नहीं होता । वैसे ही शिष्य भी शब्द से भिन्न नहीं है । गुरु उपदेश में प्रेम करने वाली मनोवृत्ति रूप हृदय का अव्यक्त शब्द ही शिष्य है । वेद तथा कुरान भी शब्द रूप ही हैं । शब्द ही वेदादिकों के सब शब्दों को पढाते हैं अर्थात् शब्द ही दूसरे शब्द का अर्थ बताता है । ब्रह्म और माया का भेद भी शब्द रूप ही है अर्थात् कहने मात्र ही है । वास्तव में तो सब ब्रह्म रूप ही हैं । शिव और शक्ति के एकता रूप रहस्य को भी शब्द ही भली प्रकार बताते हैं । शब्द संयोग होने से ही प्रकट होते हैं । वर्णात्मक शब्द कण्ठ तालु आदि के संयोग से और ध्वन्यात्मक शब्द भेरी दंडादि के संयोग से प्रकट होते हैं और संयोग के वियोग अर्थात् अभाव में गुप्त ही रहते हैं । शब्द की विशेषता महान् है, किससे कहैं अर्थात् धैर्य पूर्वक उसे कोई भी नहीं सुन सकता । शब्द रहस्य को तो कोई विरले महा पुरुष ही जान पाते हैं ।

शब्दों में निधि सकल, गुरु रु गोविन्द बताव हिं ।
सब संतों सब कहा, शब्द शोधत[1] सब पाव हिं ।।
उरझे[2] सुरझे[3] शब्द, शब्द सब संशय भाग हिं ।
शब्दों माया तज हिं, शब्द सुन ब्रह्म सु लाग हिं ।।
आदि अन्त मधि[4] मांड[5] में, सब कारज शब्दों सरे[6] ।
'रज्जब' संतन शब्द धन, धनि श्रोता श्रवणों धरे ।।२।।

शब्दों में ही कुबेर का १ पद्म २ महापद्म ३ शंख ४ मकर ५ कच्छप ६ मुकुन्द ७ कुन्द ८ नील ९ वर्च्च, नौ प्रकार का खजाना रूप संपूर्ण निधि हैं वा सर्वसद्गुण हैं किन्तु उनका अपने आप पता नहीं लगता, जब गुरु और गोविन्द कृपा करके बताते हैं, तब ही भासने लगते हैं । सब सन्तों ने शब्दों में ही व्यावहारिक तथा पारमार्थिक संपूर्ण विचार कहे हैं । संतों के शब्दों का एकाग्र मन से विचार[1] करने पर सब कुछ प्राप्त होता है । मोह जाल में फंसे[2] हुये प्राणी संतों के शब्दों से ही मुक्त[3] हुये हैं और संतों के शब्दों से ही सब प्रकार के संशय दूर होते हैं ।

संतों के वैराग्य युक्त शब्दों से ही प्राणी माया और मायिक कार्य को तजते हैं और अभेद बोधक संत-शब्द सुनके ब्रह्मात्मा की एकता रूप अहंग्रह उपासना में भली प्रकार लगते हैं। कहां तक कहैं, सृष्टि के आदि से लेकर मध्य[४] और प्रलय तक संपूर्ण ब्रह्मांड[५] में सब कार्य शब्दों से ही सिद्ध[६] होते हैं। संत का धन भी शब्द ही है वा संतों के शब्द धन्यवाद के योग्य हैं। ऐसे तो शब्द सृष्टि अनन्त है, उसके सुनने वाले भी अनंत हैं, किंतु धन्यवाद तो उस श्रोता को है जो संतों के भक्ति, वैराग्य और ज्ञान गर्भित शब्दों को अपने श्रवणों द्वारा सुनकर हृदय में धारण करता है। प्रथम छप्पय के पंचम पाद में कहा था— "प्रकट शब्द संयोग लग, पुनि वियोग गुप्त हि रहे" उसी को दृष्टांतों से स्पष्ट करते हैं—

पूणी बिना न सूत, तार मकड़ी लग होई।
बादल बिना न वारि, विन्दु दीखे नहिं कोई॥
सोवत स्वप्ना होय, जगे विनशे सो बाखर[१]।
खरी डरी घट जाय, निरख निक से नहिं आखर[२]॥
तथा शब्द संयोग लग, उदय अस्त[४] वायक[३] कही।
'रज्जब' फेर[५] न सार[६] यहु, सत्य सत्य मानो सही[७]॥३॥

रूई के पहल से बनी हुई पूणी और चरखा के संयोग बिना सूत नहीं होता। मकड़ी किसी अन्य काष्ठादि के लगकर लटकती है, तब ही तार होता है अन्यथा नहीं होता। आकाश में बादल के संयोग से ही जल भासता है। जल और वायु के संयोग बिना जल की विन्दु भी कोई प्रकार से बनती हुई नहीं दीखती हैं। सोने से अर्थात् निद्रा के संयोग से ही स्वप्न होता है। जग जाने पर तो वह मिथ्या[१] स्वप्न निश्चय करके नाश हो जाता है। खड़िया मिट्टी की डली समाप्त हो जाती है तब देखो अक्षर[२] नहीं निकलते हैं अर्थात् नहीं लिखे जाते हैं। पट्टी और खड़िया के संयोग से ही अक्षर लिखे जाते हैं, अन्यथा नहीं। उक्त प्रकार ही शब्द[३] भी कंठ तालु और भेरी दंडादि के संयोग होने से ही उदय होता है और संयोग के अभाव में तिरोहित[४] रहता है। ऐसे ही श्रेष्ठ वक्ता-गण ने कहा है। उक्त कथन में असत्यता[५] नहीं है, सत्यता[६] ही है। इसलिये इसको प्रामाणिक[७] रूप से सत्य-सत्य ही मानो।

गात[१] बात[२] निज ज्ञान, शीश तिहिं[३] समझ सुजाना।
नयन सु निरत[४] स्वरूप, सुरत[५] श्रवणों असथाना॥
नासिक पण[६] मुख मत्त,[७] कंठ भाषा सु छतीसे।
कर[८] विवेक उर[९] रुचि, जीव जगदीश्वर दीसे॥

'रज्जब' पग बावन उसे, रसन रसातल डोल ही।
सुप्त[10] अचेत आसन[11] सु चुप, चला सु जब उठ बोल ही ॥४॥

इस छप्पय में शब्द रूप शरीर और उस के अंगों का वर्णन कर रहे हैं—शब्द[2] का निज ज्ञान अर्थात् लिखने तथा उच्चारण करने का ज्ञान है, वही शब्द का शरीर[1] है। जब शरीर हुआ तो उसमें अंग उपांग भी होने चाहिये, ऐसी शंका होने पर अंग-उपांगों का वर्णन करते हैं—शब्द के वाच्य अर्थ को अच्छी प्रकार समझना ही उस[3] शब्द का शिर है। शब्द के लक्ष अर्थ में भली प्रकार बुद्धि[4] लगाकर उसका स्वरूप समझना है सोई शब्द के नेत्र हैं। शब्द के सुनने में वृत्ति[5] लगाना, वही शब्द रूप शरीर में श्रवणों का स्थान है अर्थात् श्रवण है। शब्द के उच्चारण की मर्यादा[6] है, वही शब्द की नासिका है। शब्द में जो मात्रा[7]-स्वर हैं सोई शब्द का मुख है। छत्तीस प्रकार की भाषा ही शब्द का कण्ठ है। अच्छे-बुरे शब्दों के विवेक विचार हैं, वे ही शब्द के हाथ[8] हैं। शब्द में जो रुचि अर्थात् सौन्दर्य है सोई शब्द का हृदय[9] है। शब्द में जो अस्ति, भाति और प्रियरूप से व्यापक चेतन रूप जगदीश्वर भासते हैं, वे ही शब्द रूप शरीर में जीव हैं। उस शब्द रूप शरीर के वामन अक्षर ही चरण हैं। शंका-शरीर धारी तो पृथ्वी पर फिरते हैं, शब्द कहां फिरता है ? उत्तर-शब्द का शरीर रसना रूप पृथ्वी तल पर घूमता फिरता ह। शंका-शरीर सोते हैं, बैठते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। क्या शब्द के शरीर में ये क्रियायें होती हैं ? उत्तर-शब्द का अचेत होना अर्थात् बुद्धि में नहीं फुरना ही सूता[10] रहना है। भली प्रकार वैखरी वाणी में नहीं आना ही बठना[11] है। भली प्रकार स्पष्ट उच्चारण होना ही शब्द का उठ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना है। अब पुन: शब्द की विशेषता दिखा रहे हैं—

शब्द मिले संसार, शब्द सुन पक्ष समावे।
शब्द धरे सब स्वांग,[1] शब्द अड़सठ[2] को धावे[3] ॥
शब्द करे षट् कर्म, शब्द सब देव अराधे।
शब्द संग कुल[4] कष्ट, शब्द साधन सब साधे ॥
शब्द माँहि सारे भरम, शब्द सँग संकट परे[5]।
जन 'रज्जब' निज शब्द का, शोध[1] साधु विरला करे ॥५॥

द्रव्य नारी आदि की प्रशंसा के शब्द सुन कर विरक्त भी पुन: संसार में मिल जाते हैं अर्थात् विषयी बन जाते हैं। एक पक्ष की विशेषता के शब्द सुन कर निर्पक्ष मानव भी उस पक्ष में प्रवेश करता है अर्थात् पक्ष-पाती बन जाता है। शब्दों के द्वारा ही सब प्रकार के भेष[1] धारण करे

जाते हैं। जिस भेष की उत्कृष्टता प्राणी सुनता है, उसी भेष को धारण कर लेता है। ६८[२] तीर्थों को भी उनके माहात्म्य युक्त शब्द सुन कर के ही जाते[३] हैं। ब्राह्मण लोक अपने—१ यज्ञ करना २ यज्ञ कराना ३ पढ़ना ४ पढाना ५ दान लेना ६ दान देना रूप षट कर्म भी स्मृति रूप शब्द सुन के ही करते हैं। देवताओं की महिमा के शब्द सुन कर ही सब लोक देवताओं की आराधना करते हैं। कु संग में सुने हुये शब्दों के अनुसार काम करने से ही संपूर्ण[४] कष्ट उठाने पड़ते हैं। साधनों की विशेषता के शब्द सुन कर के ही सब साधन साधे जाते हैं। शब्दों को यथार्थ रूप से नहीं समझने से शब्दों में ही सब भ्रम हैं। ज्ञान गर्भित शब्दों के विचार में स्थित होने से सर्व दुःख दूर[५] हो जाते हैं। ऐसे तो संसार में सभी कार्य शब्दों से ही होते हैं किन्तु सोहं रूप निज शब्द का विचार[६] पूर्वक चिन्तन तो कोई विरला ही महात्मा करता है। इस अंग का भाव यह है—महा पुरुषों के शब्दों का भली भांति विचार करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित शब्द का अंग १६ समाप्तः।स०छ०४८।

अथ भयभीत भयानक का अंग २०

करे वरत[१] पर बाट,[२] निरख नटनी भय मेला[३]।
वायस[४] बैठ जहाज, रहा उड़बे का खेला॥
उभय[५] सिंह बिच अजा,[६] अहार सु पोख न पावे।
नमो नमो डर[७] रूप, कीट भृंगी हो आवे॥
चोर जार भय राज नित, शिर न उकासे[८] सो कही।
'रज्जब' सांई सोच[९] मधि,[१०] गुण इन्द्रिय ऐसे रही॥१॥

भय दाता के भय से डरा हुआ रहना ही उत्तम है, यह कह रहे हैं—भय से युक्त[३] होकर नटनी आकाश में मोटे[१]-रस्से रूप मार्ग[२] में चलती है, निर्भय हो तो गिर पड़े। भय के द्वारा ही काक[४] उड़ने रूप खेल को त्याग कर जहाज के स्तंभ पर स्थिर होकर बैठता है। यदि उसको समुद्र में गिर के मरने का भय नहीं हो तो उड़ कर चला जाय। काक पक्षी का दृष्टांत गुरुदेव अंग १ के छठे छप्पय की टीका में देखो। दो[५] सिंहों के पींजरों के बीच में बकरी[६] को बाँध कर रक्खें और अच्छा खाने को दें, तो भी वह सिंहों के भय से पुष्टि को प्राप्त नहीं होती है, कृश ही रहती है। भय[७] के स्वरूप को मन वचन से नमस्कार है। देखो भय की विशेषता, कीट भी भृंगी के भय से भृंगी होकर ही घर के बाहर आता है। कीट भृंगी का दृष्टांत गुरु देव अंग १ के छप्पय तीन की टीका में देखो। राजा के भय से चोर-जारादि सदा डरते रहते हैं। तब ही चोरी आदि

उपद्रव करना रूप शिर ऊंचा[८] नहीं करते। यह जो भय के विषय में उक्त बातें कही हैं सो सत्य ही कही हैं। ईश्वर के भय[९] से युक्त विचार में[१०] लगे रहने से पूर्व साधकों के काम क्रोधादि गुण और इन्द्रियां उक्त प्रकार ही उपद्रव रहित सम अवस्था में रही हैं। भाव यह है—संसार दशा में डरते हुये रहना ही उत्तम है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित भयभीत भयानक का अंग २० समाप्तः
॥ स० छ० ४६ ॥

अथ लघुता का अंग २१

लघु[१] अंगुरी निज छाप[२], पेख[३] पंचन में पावे।
त्यों ही शशि अरु शेष, देख सब ही शिर नावे॥
अर्भक[४] लेवें गोद, मातु पितु सुखी सु राख हिं।
कली[५] सु कैरी[६] संग, फूल फल तरुवर नाखहिं॥
लघु मूरति नित कंठ शिर, दीर्घ[७] रूप दीसे जुदा।
बावन[८] तरु मेवा[९] मधुर, जन 'रज्जब' पाया[१०] मुदा[११] ॥१॥

लघुता की विशेषता दिखा रहे हैं—देखो,[३] पाँचों अंगुलियों में छोटी[१] अंगुली को ही उत्तम मुद्रिका[२] प्राप्त होती है, प्रायः छोटी अंगुली में ही अंगूठी पहनी जाती है। उक्त प्रकार ही दूज के छोटे चन्द्रमा को सब प्रणाम करते हैं और शेषजी की जाति के एक फुट भर के श्वेत सर्प को देखके उसे सब सर्प शिरोमणि मानकर नमस्कार करते हैं। यह कभी-कभी बड़े सर्प के शिर पर दृष्टि में आता है। छोटे बालक[४] को गोद में लेकर सभी प्यार करते हैं और माता-पिता आप दुःख भोग कर भी छोटे बच्चे को भली प्रकार सुख से रखते हैं। बिना-फूला[५]-फूल और कच्चा[६]-फल को छोटा होने से वृक्ष भली भाँति संग रखते हैं और बड़े होने पर फूल-फल को वृक्ष त्याग देते हैं। स्वर्ण वा चांदी की छोटी मूर्ति को लोक सदा कंठ और शिर पर रखते हैं और बड़ी[७] मूर्ति तो सदा सेवक से अलग मंदिर में ही देखी जाती है। छोटे[८] वृक्ष का फल[९] मधुर होता है। उक्त बातों के द्वारा लघुता का अभिप्राय[११] हमने जान[१०]-लिया है कि—लघुता में ही विशेषता है, बड़प्पन में नहीं है। भाव यह है—अपने में बड़े पने का अहंकार नहीं आने देना चाहिये, सदा नम्र भाव से ही हरि भजन करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित लघुता का अंग २१
समाप्तः। स. छ. ५०।

अथ कसौटी का अंग २२

मेहंदी चन्दन चाय, समझ सुरमा कसि[1] केशर।
कंचन पनी[2] कपास, काष्ठ कस[3] हो कंघी शर[4]॥
मसि[5] कागज तिल ईख, तीर पारा पच[6] पेखो[7]।
असु[8] कस उज्वल केश, काच कस चश्मा देखो॥
लोह तार[9] अरु अन्न कण, सकल कसौटी[10] कर भले।
यों 'रज्जब' रामहिं मिले, जों गुरुमुख कसणी[11] चले॥१॥

मेंहदी में लाली पीसना रूप कष्ट सहन करने से ही आती है और तभी हाथ-पैरों के लगाई जाती है। चंदन घिसना रूप कष्ट सहन करता है, तभी ठाकुरजी के चढ़ाया जाता है। चाय भी उबाली जाती है तभी पान करी जाती है। बुद्धि भी विचार रूप कष्ट सहन करती है, तभी उत्तम होती है। सुरमा भली भाँति खरल में पीसा जाता है, तभी आँखों में डाला जाता है और रोग नाश करता है। केशर भी घोटना रूप कष्ट[1] सहन करती है, तभी भगवान् के चढ़ती है। स्वर्ण अग्नि में तपाने से ही अच्छा होता है। पनड़ी[2] कष्ट सहन करती है तभी उससे तेल तथा इत्र बनता है। पनड़ी एक सुगंधित पत्ती होती है, जिसे कपड़ों में भी रखते हैं। उससे तैल तथा इत्र बनता है। कपास लोढना-पींजना आदि कष्ट सहन करती है तभी वस्त्ररूप अवस्था प्राप्त करती है। काष्ठ काटना आदि कष्ट[3] सहन करता है, तभी कंघी होकर शिर[4] के केश साफ करने के काम में आता है। स्याही[5] घुटाई रूप कष्ट सहन करती है, तभी उससे वेदादि ग्रंथ लिखे जाते हैं और आदर पाती है। काग़ज भी घुटाई रूप कष्ट सहन करने से ही अच्छा बनता है। तिल भी घाणी जनित कष्ट सहन करके ही तैल की अवस्था प्राप्त करता है। ईख कोल्हू आदिक से होने वाले कष्टों को सहन करके ही मिश्री रूप अवस्था को प्राप्त होता है। बाण भी बनाने वाले के हाथ से होने वाले कष्ट को सहन करता है, तभी वीर के द्वारा लक्ष वेध करता है। पारा अग्नि-देना[6] रूप कष्ट से उड़ना छोड़ कर भस्म बन जाता है, तब देखो[7] उस में रोग नाशक शक्ति कितनी बढ़ जाती है। घोड़े[8] के केश भी कष्ट सहन करने से ही श्वेत होते हैं। जो घोड़ा अधिक सवारी के काम में आता है, उसके पीठ पर जीन के नीचे के केश श्वेत हो जाते हैं। देखो, काच जब कष्ट सहन करता है, तभी उसका चश्मा बनता है। लोह भी अग्नि का ताप रूप कष्ट सहन करता है, तभी उत्तम बनता है। चाँदी[9] भी साफ करना रूप कष्ट सहन करके है। अन्न के दाने भी कष्ट सहन करके ही भोजन रूप अवस्था को प्राप्त होते हैं। ये उक्त सभी कष्ट[10] सहन करके ही

उत्तम बनते हैं। उक्त प्रकार से ही जो गुरु की आज्ञा रूप साधन में तत्पर रहने वाले व्यक्ति हुये हैं, वे भी साधन जनित कष्ट[११] को सहन करते हुये चले हैं अर्थात् साधन में आगे बढ़े हैं, तभी राम को प्राप्त हुये हैं। भाव यह है—साधन जनित कष्ट से व्याकुल नहीं होना चाहिये।

कर[१] कुम्हार कस[२] खाय[३], भूमि बरतन बन जावत।
लेखनि शीश[४] कटाय, कान कर ठौर सु पावत॥
जंत्री[५] चढै सु तार, निकस जंती में सारे।
जिह्वा बाज कुरंग[६], पाठ पीड़ा सह प्यारे॥
लाल[७] कंठ वेधे बंधे, सतजुग[८] अग्नि सु सोलहाँ[९]।
'रज्जब' निपज[१०] हि शिष्य गुरु, कठिन कसौटी[११] हो जहाँ॥२।

कुम्भार के हाथ[१] का कष्ट[२] सहन[३] करके पृथ्वी की मिट्टी के बरतन बन जाते हैं और कलम अपना आगे[४]-का-भाग कटाना रूप कष्ट सहन कर के ही कान पर तथा हाथ में भली प्रकार स्थान प्राप्त करती है। सभी तार जंती में से निकलना रूप कष्ट सहन करके ही श्रेष्ठ बनते हैं और सितार[५] पर चढाये जाते हैं। जिह्वा पढाई रूप कष्ट सहन करती है, तभी सबको प्यारी लगती है। बाज पक्षी और मृग[६] भी पढाई रूप कष्ट सहते हैं, तभी सबको प्यारे लगते हैं। मानिक[७] भी जब छेद निकालना रूप कष्ट सहन करते हैं, तभी कंठ में बाँधे जाते हैं। प्राचीन[८] काल में अग्नि की ज्वाला[९] रूप कष्ट सहन करने वाले को श्रेष्ठ समझा जाता था अर्थात् अग्निपरीक्षा में जो उत्तीर्ण हो जाता था, वह शुद्ध समझा जाता था, जैसे सीताजी। इस का अर्थ यह भी करते हैं—प्राचीन काल में स्वर्ण को बारंबार तपाने से ही वह श्रेष्ठ बन जाता था किन्तु स्वर्ण का दृष्टांत इस अंग के प्रथम छप्पय में आ गया है, इससे यहां अर्थ भिन्न किया गया है। उक्त प्रकार ही जहां गुरु के द्वारा शिष्यों को साधन रूप कठिन कष्ट[११] होता है वहां ही उत्तम शिष्य सिद्धावस्था[१०] को प्राप्त होते हैं। भाव यह है—गुरु के उपदेशानुसार साधन करने में कष्ट सहन किया जाता है, तब ही यथार्थ लाभ होता है, अन्यथा नहीं होता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कसौटी का अंग २२ समाप्तः

। स० छ० ५२ ।

अथ जीवित मृतक का अंग २३

मारा[१] पारा सार[२], रोग रोगी का टारे।
बैठे मृतक[३] जहाज, अतर आतमा[४] हो पारे[५]॥

जीवित डूबे जलहिं, मुवां ऊपर तिर आवे।
देखें मृतक महत्व, कंध पट पिंड सु पावे॥
स्वर्ग न देखे मीच[६] बिन, आदि शब्द ऐसे कहैं।
'रज्जब' रमिये[७] रैन[८] ज्यों, सांई सूरज तो लहैं॥१॥

इस अंग में जो जीवितावस्था में भी मृतक के समान राग-द्वेषादि से रहित रहते हैं, ऐसे देहाध्यास रहित महात्मा की महिमा कह रहे हैं—जैसे भस्म[१] किया हुआ पारा और लोहा[२] रोगी के रोग को हटाता है, वैसे ही जीवित मृतक भी प्राणी के जन्मादिक रोग हटाता है। सूखे[३] काष्ठ से बने हुये जहाज में बैठकर तैरना नहीं जानने वाला प्राणी[४] भी पार[५] हो जाता है, वैसे ही जीवित मृतक के संग में बैठने से साधारण प्राणी भी संसार-सागर से पार हो जाता है। जीवित जल में डूब जाता है और मुरदा जल के ऊपर तैरता है, वैसे ही भेद दृष्टि वाले विषयी प्राणी संसार-सागर में डूबते हैं और अभेद दृष्टि वाला जीवित मृतक रूप ज्ञानी संसार-सागर के ऊपर तैरता है अर्थात् स्वस्वरूप में स्थित रहता है। मृतक की महिमा देखो, मुरदे को कंधा रूप आसन, अन्न का पिंड और सुन्दर नवीन वस्त्र भी मिलता है, वैसे ही जीवित मृतक की सेवा भी लोग श्रेष्ठ आसन, अन्न और वस्त्रादि से करते हैं। आदि शब्द रूप वेद वा आदि काल में हुये ऋषियों के ग्रंथ रूप शब्द ऐसे कहते हैं कि—मरे[६] बिना स्वर्ग को भी नहीं देख सकता है। वैसे ही जीवित मृतक हुये बिना ब्रह्म का साक्षात्कार भी नहीं कर सकता है। रात्रि[८]-सर्वथा चली[७]-जाती है, तभी सूर्य का दर्शन प्राप्त होता है वैसे ही अहंता-ममता आदि से सर्वथा दूर होता है, तभी ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त होता है। भाव यह है—जीवितावस्था में ही शव के समान सम होना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जीवित मृतक का अंग २३ समाप्तः

। स० छ० ५३ ।

अथ विश्वास का अंग २४

अंडे कूंजी[१] अनल, पोख[२] कैसे विधि पावहिं।
अश्म[३] कीट अहि[४] करंड[५], अशन[६] किहिं ठाहर आवहिं॥
पहले थन हो क्षीर[७], पुनः पीछे हो बाला।
अजगर ठौर अहार, दैव[८] ऐसे प्रति पाला॥
धर[९] अम्बर[१०] पहनाव ही, भार अठार आभा[११] अमित।
मूरति मुरदा पट लहे, 'रज्जब' गह विश्वास मत॥१॥

क्रौंच[1] पक्षी और आकाश में रहने वाले अनल पक्षी के अण्डों का पोषण[2] किस प्रकार होता है ? वे विश्वास से ही पलते हैं। क्रौंच पक्षी हिमालय पर्वत पर अण्डा देकर दूर देश को जाता है। वह अंडा शीत काल में बर्फ़ के नीचे दब जाता है, गलता नहीं है, विश्वास से ज्यों का त्यों बना रहता है फिर जब वैशाख मास आता है तब बर्फ गलकर नदियों में बह जाता है। उसी समय क्रौंच पक्षी भी आ जाता है और अण्डे के बच्चे को निकाल लेता है, यदि क्रौंची दूर देश में मर जाय तो अण्डा गल जाता है। अनल पक्षी आकाश में रहते हैं। जब अनली अण्डा देती है, तब वह पृथ्वी की ओर चलता है और मार्ग में ही पक कर तथा फूट कर विश्वास बल से ही पलता हुआ पीछा ऊंचा आकाश की ओर ही जाकर माता से मिल जाता है। पत्थर[3] के कीड़े और सपेरे की पिटारी[4] के सर्प[5] को भोजन[6] कैसे स्थान में अर्थात् बंद रहते हुये भी विश्वास से प्राप्त होता है। पत्थर का कीड़ा पत्थर में ऐसा अवरुद्ध रहता है कि कुछ भी नहीं कर सकता। किंतु खाने को तो उसे भी मिलता है। देखो, पहले माता के स्तनों में दूध[7] आता है फिर पीछे बालक जन्मता है। बहुत मोटे अजगर सर्प को विश्वास के बल पर अपने स्थान पर ही भोजन मिलता है। इस प्रकार प्रारब्ध[8] सबका पालन करता है। रोगादिक के समान ही बिना उद्योग ईश्वर पर विश्वास रखकर भजन करने वालों को भोजन भी मिलता है। यहां तक भोजन के विषय में कहा है अब वस्त्र के विषय में कहते हैं। पृथ्वी[9] को अठारह भार वनस्पति रूप वस्त्र और आकाश[10] को अनन्त बादल[11] रूप वस्त्र भगवान् पहनाते हैं। पत्थर आदि की मूर्ति को तथा मुरदे को भी वस्त्र प्राप्त होते हैं। उक्त बातों का विचार करके विश्वास का सिद्धान्त धारण करो अर्थात् तृष्णा को त्याग करके ईश्वर भजन और लौकिक कार्य करो। भाव यह है—भक्ति पथ के पथिक को भोजन-वस्त्र की चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित विश्वास का अंग २४ समाप्तः

।स० छ० ५४।

अथ तृष्णा का अंग २५

तृष्णा नग[1] जम भूख, अवधि मुद्रा[2] नहिं नेरी[3]।
ज्वाला मुखी सु आग, हटत[4] नहिं अशन[5] सु हेरी[6]॥
सरित समुद्र समाव, सलिल वम्बी[7] स्थल जाहीं।
वडवानल रुचि नीर, अरुचि कहुँ दीसे नाहीं॥
प्यास क्षुधा स्वप्ने बढी, सो सूतां नहिं भाग ही।
'रज्जब' हो संतोष सुख, हरि सुमरण जिव[8] जाग ही॥१॥

तृष्णा की प्रबलता का वर्णन कर रहे हैं—जिसकी कीमत अंधेरे घर में उस पर जितने रुपये डालने से उसका प्रकाश बन्द हो जाय उतने रुपये होती है उसे तृष्णा नग कहते हैं। इस जाति का जो श्रेष्ठ हीरा[1] होता है, उसकी किरण का रुकना रूप अवधि रुपयों[2] से समीप[3] ही नहीं आती है अर्थात् उसका प्रकाश रुपयों से रुकता नहीं है। इसी लिये उसे तृष्णा नग कहते हैं। यमराज की भूख की भी अवधि नहीं आती है। ज्वालामुखी की सुन्दर अग्नि में कितना ही सुन्दर भोजन[4] डालो तो भी वह बुझता[5] हुआ नहीं दिखाई[6] देता है। समुद्र में कितनी ही बड़ी-बड़ी नदियां प्रवेश करती हैं किन्तु वह कभी भी पूर्ण रूप से भरता नहीं है। जिस तालाब में महा सर्प का बिल[7] वा पृथ्वी में विवर[7] हो वह शीघ्र सूख जाता है, भरा नहीं रहता है। समुद्र के वडवानल अग्नि की जल शोषण की रुचि सदा बनी रहती है, कभी भी अरुचि उस में नहीं दिखाई देती है। उक्त प्रकार ही प्राणी की तृष्णा नहीं भरती है। स्वप्न में जो भूख-प्यास बढती है वह स्वप्न में तो बिना अन्न-जल के नष्ट नहीं होती है किन्तु जागने पर तो दोनों ही नहीं रहती हैं। वैसे ही जब जीव[8] मोह-निद्रा को त्याग कर हरि स्मरण द्वारा ज्ञान रूप जाग्रतावस्था में आता है तब ही जीव को संतोष पूर्वक ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। भाव यह है—भगवद् भक्ति पूर्वक आत्म ज्ञान बिना जीव की तृष्णा दूर नहीं होती है।

पेट काज तज लाज, हेर[1] हूनर[2] सब साजे[3]।
षट् दर्शन[4] पुनि[5] पाठ, नृत्य नर राग निवाजे[6]॥
नाज[7] काज[8] भूपति हि, नर हु नर शीश निवा हिं।
भूख[9] भूमिपति शाह[10], लेन धरणी को धाव[11] हिं॥
सुत पुत्री शिर देहिं सब, अन्न काज[12] अन[13] आन[14] करे।
'रज्जब' ऊंडा[15] उदर[16] अति, करणहार बिन को[17] भरे॥२॥

देखो[1] पेट के लिये लज्जा त्याग कर सब प्रकार की विद्या[2] सजाते[3] हैं अर्थात् सीखते हैं। पेट भरने की तृष्णा लेकर के ही—१ योगी २ जंगम ३ सेवडा ४ बौद्ध भिक्षु ५ संन्यासी ६ शेष ये छः प्रकार के भेषधारी[4] पुण्य[5]-पाठ, कथा आदिक करते हैं। कितने ही नर नृत्य करते हैं, कितने ही राग-गायन का आश्रय[6] लेते हैं। अन्न[7] की तृष्णा के लिये[8] ही राजा को तथा अन्य धनी मनुष्यों को साधारण नर शिर नमाते हैं। तृष्णा[9] से राजा और बादशाह[10] अन्य राजाओं की भूमि लेने के लिये धावा[11] करते हैं। तृष्णा वश पुत्र, पुत्री और अपना मस्तक आदि सब कुछ भी दे देते हैं। अन्न के लिये[12] अन्य[13] प्रिय मानव की

शपथ[१४] करते हैं वा अन्यान्य कार्य जो नहीं करने योग्य होते हैं उनको भी करते हैं। यह तृष्णा रूप पेट[१६] अतिशय गहरा[१५] है, इस को सृष्टि कर्त्ता ईश्वर के बिना कौन[१७] भर सकता है ? भाव यह है—भगवान् की कृपा बिना तृष्णा नष्ट नहीं होती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित तृष्णा का अंग २५ समाप्तः। स.छ.५६।

अथ काम का अंग २६

काम राम हल चल्ल, काम रावण घर खोये।
अनंग[१] ईश्वर[२] ठगे, बीज[३] ब्रह्मा जु विगोये[४]॥
काम किचर[५] कीचक रु, इन्द्र गोतम घर आये।
मैन[६] मच्छंदर मोड़[७], साठ सुत नारद जाये।
भरथरि[८] भरमा दूब भख[९], कहु सुव्रत कैसे चली॥
'रज्जब' मारे धौम[१०] रिषि, अति गति मदन महाबली॥१॥

काम की प्रबलता दिखा रहे हैं—काम से राम जी के हृदय में भी हल चल-सी हो गई थी। सीता हरण के समय राम जी ने कामी के समान अभिनय रूप विलाप-सा किया था। काम-वश होकर सीता को हरने से ही रावण के घर का नाश हुआ था। महादेव[२] जी को भी काम[१] ने ठग लिया था। भगवान् विष्णु के मोहनी रूप को देख के शंकर कामातुर होकर उनके पीछे भागे थे। यह कथा भागवत, स्कंध ८ अ. १२ में विस्तार से है। काम[३] ने ब्रह्मा जी को भी अपने नीचे छिपा[४] लिया था अर्थात् जीत लिया था, ब्रह्मा कामातुर होकर अपनी पुत्री के पीछे भागे थे। काम की प्रबलता से ही कीचक का कीचड़[५] निकाला गया था। कीचक राजा विराट का साला था। द्रौपदी पर इसकी कामुक दृष्टि थी, इस कारण भीमने उसको मार डाला था। यह कथा महाभारत विराट पर्वमें विस्तार से है। कामातुर होकरके ही इन्द्र गोतम ऋषि के घर गोतम का रूप बना कर आये थे। यह कथा अति प्रसिद्ध है। काम[६] ने ही गोरक्षनाथ जी के गुरु मत्सेन्द्रनाथ जी को तपस्या से हटा[७]-कर भोग विलास में डाला था। वे गृहस्थ बन गये थे फिर गोरक्षनाथ जी ने अपनी योग शक्ति से उनको गृहस्थ से निकाला था। यह कथा 'माया मत्सेन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। काम की प्रबलता से ही नारद जी से साठ पुत्र उत्पन्न हुये थे। यह कथा इस प्रकार है—एक समय नारद जी घोर तपस्या में लगे हुये थे। इन्द्र ने उनका तप छुड़ाने के लिये काम-सेना भेजी, काम सेना ने अति प्रयत्न किया किन्तु नारद तपस्या से विचलित नहीं हुये। इससे नारद जी के मन में काम पर विजय पाने का अभिमान खड़ा हो गया। यह भगवान् को अच्छा नहीं लगा फिर

एक समय भगवान् नारद जी के पास सहसा प्रकट हुये और कहने लगे नारद जी ! बड़ी प्यास लगी है। नारद जी ने कहा—मैं अभी जल लाता हूं। नारद एक तालाब पर गये और तुम्बी को जल पर छोड़ कर हाथ धोने लगे, इतने में तुम्बी वायु से जल में दूर चली गयी। नारद जी तुम्बी को लाने जल में घुसे तब उन को स्नान की इच्छा हुई। जल में गोता लगा कर ऊपर निकले तो स्त्री रूप बन गये।

इसी समय एक धोबी, जिसकी स्त्री गत दिन रुष्ट होकर घर से निकल गयी थी, उसको खोजता हुआ तालाब पर आ पहुँचा। नारद रूप स्त्री का आकार साक्षात् धोबी की स्त्री का-सा था, इस से धोबी उसको अपनी स्त्री जानकर पीटता हुआ घर ले गया। इस स्त्री के धोबी से साठ पुत्र हुये। साठ पुत्र होने के पश्चात् एक दिन धोबिन किसी कारण से उसी तालाब पर जा पहुँची और वह तुम्बी जो नारद शरीर में जल पर छोडी थी तथा जल में लय हो गई थी, उसने तैरती हुई देखी। उसको लेने के लिये तालाब में घुसी और गोता भी लगाया तब पुन: नारद बन गई और पूर्व की स्मृति भी आ गई कि भगवान् के लिये जल लेकर शीघ्र चलना है। जल लेकर नारद जहां भगवान् को छोड़ा था वहां गये। भगवान न नारदजी से कहा—बड़े शीघ्र आये, क्या जल यहाँ पास ही मिल गया। यह सुन, भगवान् को प्रणाम करके नारदजी ने अपनी सब कथा सुनायी। भगवान् ने कहा—आपने तो काम को जीत लिया था फिर आपके साठ पुत्र कैसे हुये। नारदजी नीचा मुख किये हुये चुप ही खड़े रहे कुछ भी नहीं बोले। भर्तृहरि[८] दूब का भोजन[९] करते हुये भी काम के द्वारा भ्रम में पड़ गये थे। यह कथा इस प्रकार है—एक समय भर्तृहरि को स्वप्न-दोष हो गया था। तब उनके मनमें यह विचार हुआ कि–यह विन्दु यदि अपने स्थान में गिरता तो इससे संतान रूप रत्न जन्मता, यह व्यर्थ ही नष्ट हो गया। इससे घर ही चलना चाहिये। वे अपनी राजधानी की ओर चल पड़े। तब भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—देवीजी आज तो हमारा एक उत्तम भक्त पीछा संसार में मिलने की इच्छा करके घर को जा रहा है। पार्वती ने पूछा—वह कौन है और क्यों जा रहा है ? शंकरजी ने उक्त कथा सुनायी। पार्वती ने कहा–उनको तो मैं अभी रोक देती हूं। शिवजी बोले–जाओ रोको। पार्वती भर्तृहरि के मार्ग में एक मायिक कूप बनाकर उस पर जल भरने लगीं और भर्तृहरि को भारी प्यास लगा दी। भर्तृहरि ने कूप पर आकर उनसे जल माँगा। माई ने कहा–घड़ा भरके पिलाऊंगी। भर्तृहरि ने देखा, घड़ा तो भरा है फिर भी माई उसमें जल डाल रही है। वे बोले माई जल तो पात्र के अनुसार ही रहेगा, अब जो आप इसमें डाल रही हैं, वह तो एक विन्दु भी नहीं रहेगा। माई ने कहा–क्या यह नियम है ? भर्तृहरि बोले–हाँ ! माई ने कहा–फिर

तुम क्यों भ्रम में पड़कर घर को जा रहे हो ? जितना विन्दु का पात्र है उतना ही रहेगा शेष का पश्चाताप क्यों करते हो ?

बस इतने में ही भर्तृहरि सावधान हो गये, फिर देखा तो न कूप है और न माई है। फिर ध्यान द्वारा सब बात जानकर तपस्या में आरूढ हो गये। हे सज्जनो ! कहो सुन्नत भी कैसे चली है ? अर्थात् कामाधीन प्राणियों के कारण ही चली है। सुन्नत यहूदी जाति में एब्राहिम के समय से चली थी। सुन्नत हो जाने पर मूत्रेन्द्रिय की चमड़ी कठोर हो जाती है और मूत्रेन्द्रिय के रोग कम होते हैं। कामाधीन प्राणियों को उसमें लाभ ज्ञात होने से चली थी। काम की गति अर्थात् प्रयत्न महान् है। वह साधकों का महाबली शत्रु है। देखो, पराशर[10] ऋषि जैसे तपस्वी भी इसने मारे हैं। पराशरजी ने कामातुर होकर योजनगन्धा से संग किया था। यह कथा महाभारत आदि पर्व में विस्तार से है। भाव यह है—साधकों को काम वर्धक वस्तु तथा संग से सदा ही दूर रहना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित काम का अंग १३
समाप्तः। स० छ० ५७॥

अथ रहत का अंग २७

रहत[1] सु गुरु गोरक्ष, मदन[2] जिन अजर[3] सु जारा[4]।
लक्ष्मण सुदृढ़ लांग[5], रहत बल रावणि[6] मारा॥
शुक्र यती आकाश, असुर सारे शिर राख हिं।
पति[7] रथ[8] गरुड़ विशेष, वेद चारों मुख भाख हिं॥
स्वामिकतर[9] मारा मदन, वैर विहोड़ा[10] बाप का।
रहत हेत[11] हनुमंत हद, 'रज्जब' मोल न माप का॥१॥

काम से रहित ब्रह्मचर्य की महिमा कह रहे हैं—गोरक्षनाथ ने ब्रह्मचर्य[1] से जो पच-नहीं[3]-सके, ऐसे काम[2] को भली प्रकार पचाया[4] था, इसी से वे सु महान् बने थे। लक्ष्मणजी ने भी जो पीठ में अटकाया जाता है वह अपनी धोती का छोर[5] सुदृढ़ रक्खा था अर्थात् भली प्रकार ब्रह्मचर्य से रहे थे, उस ब्रह्मचर्य के बल से ही उनने रावण के पुत्र मेघनाद[6] को मारा था। शुक्राचार्य भी ब्रह्मचारी थे, इसीलिये आकाश में अन्य तारों से अधिक प्रकाश युक्त प्रतीत होते हैं और सब असुर उनको गुरु मानकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य समझते हैं। विष्णु[7] के वाहन[8] गरुड़ भी ब्रह्मचर्य युक्त थे, इसी से विशेष रूप से चारों वेद अपने मुख से उनके यशका कथन करते हैं। स्वामीकार्तिकेय[9] ने भी काम को मार कर अपने पिता

शंकरजी से जो छेड़छाड़ की थी उस वैर का बदला लिया[१०] था। इसी से वे देव सेनापति होकर महान् पूज्य हो गये थे। ब्रह्मचर्य पालन सम्बन्धी प्रेम[११] करने में हनुमानजी ने तो हद ही करदी है अर्थात् ब्रह्मचर्य में उनसे अधिक और कोई भी नहीं हो सकता। हनुमनाजी के ब्रह्मचर्य संबंधी प्रेम का मोल-माप नहीं किया जा सकता है, उनका ब्रह्मचर्य अखंड है। उक्त छप्पय में षट् यतियों के नाम और उनकी विशेषता बतायी गई है।

ईख मिठाई रहत[१], रहत पानों में लाली।
जतमत[२] नयनों ज्योति, जो न इन्द्री वह चाली॥
नग पाणी[३] बहु मोल, बांझ तो जाय सु गन्धी।
बावन बेधक[४] वास, अवशि[५] जिन इन्द्री बन्धी[६]॥
'रज्जब' रीझे[७] रहत पर, मोर पंख मस्तक चढे।
निरख मैन[८] बिन धेनु का, नाम विदित कन्हा कढे[९]॥२॥

ब्रह्मचर्य[१] युक्त होने से ही ईख में इतना मिठास है। नागर बेल के पानों में लाली भी ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही होती है। ईख और पान की बेल के फल नहीं आता है। जिसकी इन्द्री नहीं बही है, जो ब्रह्मचर्य[२] से रहता है, उसके नेत्रों की ज्योति कम नहीं होती है। जिस नग में प्रकाश[३] अधिक होता है, वही अधिक मूल्य का होता है। जाय-लता भी बांझ होती है तब ही उसमें सुगन्धी अधिक होती है। बावना चंदन की सुगंध भी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही अन्य वृक्षों को चंदन बनाती[४] है। बावना चंदन के फल-फूल नहीं लगते हैं। वैसे ही जिन महात्माओं ने इन्द्री को जीता[६] है, वे अपने उपदेश से अन्यों को भी अवश्य[५] साधु बना देते हैं। परमात्मा भी ब्रह्मचर्य पर ही प्रसन्न[७] हुये हैं। इसी कारण मोर पंख ईश्वर के शिर पर चढता है। मोरड़ी मोर का अधर आँसू लेती है, उसी से बच्चे होते हैं। यदि आंसू पृथ्वी पर पड़ जाय, फिर उठाये तो बिना पुच्छ के बच्चे होते हैं। देखो, जो गाय काम[८] रहित होती है अर्थात् बिना बच्चा दूध देती है उसका नाम कन्हा निकालते[९] हैं। यह लोक में प्रकट है, उसे श्रीकृष्ण भगवान् की गाय कहते हैं। भाव यह है—ब्रह्मचर्य में अनन्त गुण हैं, ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित रहत का अंग २७ समाप्तः

। स० छ० ५६।

अथ स्वांग साधु निर्णय का अंग २८

मनुज भये पाषाण, सिद्धि सो गोरख पाई।
और भरथरी भाव, हरी शूली हो आई॥
लहा जलंधर जोग, भूमि में भी प्रतिपाले।
अजैपाल के चक्र, कौन करनी[1] जग चाले॥
उलटे खेड़े धोंधली, चोरंगी[2] कारज सरे[3]।
जन 'रज्जब' वह वस्तुबल,[4] दर्श[5] दशा[6] बहुते करे॥१॥

भेष श्रेष्ठ है वा साधुता रूप गुण श्रेष्ठ है इसका निर्णय कर रहे हैं—यदि भेष श्रेष्ठ है तो अन्य भेषधारी नाथ पत्थर के क्यों हुये थे ? और गोरक्षनाथजी ने पत्थर बनाने की सिद्धि कैसे प्राप्त करी थी ? अर्थात् गोरक्षनाथजी में वस्तुबल था। इसलिये भेष से वस्तुबल विशेष है। यह कथा आज्ञा भंगी अंग १५ की टीका में देखो। यदि भेष श्रेष्ठ है तो भर्तृहरि के भाव से ही शूली हरी क्यों हुई थी, अन्य भेषधारियों के लिये क्यों नहीं होती है ? यह कथा-भजन प्रताप अंग ६ छप्पय पांच की टीका में देखो। महात्मा जालंधरने योग प्राप्त किया था, इसी कारण उनकी पृथ्वी के गर्भ में भी रक्षा हुई थी। यदि भेष में बल हो तो अन्य भेषधारियों की भी उक्त प्रकार रक्षा होनी चाहिये। यह कथा इस प्रकार है-जब गोपीचंद की माता ने गोपीचंद को योगी होने का उपदेश दिया था तब गोपीचंद के स्वीकार करने पर माता ने योगीराज जालंधर के पास ले जाकर उनका शिष्य बना दिया था। फिर जालंधर ने गोपीचंद को यह उपदेश दिया था-"माता मारे धी धरे, गऊ सपुच्छी खाय। ब्राह्मण मारे मद पिये, सोउ मुक्ति पद पाय॥" इसको सुनकर गोपीचंद समझ न सके भ्रम में पड़ गये फिर किसी पंडित से पूछा, वह भी यथार्थ अर्थ न समझ सका, उसने कहा-माता को मारे, पुत्री को पत्नी बनावे, पुच्छ सहित गायको खाये, ब्राह्मण को मारे, मद्य पान करे, वही मुक्ति पद प्राप्त करता है। यह अर्थ है। यदि आप ऐसा करेंगे तो मुक्ति तो नहीं, नरक तो अवश्य प्राप्त कर लेंगे। ऐसा कहने वालेको तो देश में भी नहीं रहने देना चाहिये। इत्यादि पंडित की बातों से गोपीचंद को क्रोध आ गया, उसने जालंधर को कूप में डलवाकर कूप को घोड़ों की लीद से भरवा दिया, फिर माता के पास गया। माता ने कहा-गुरुजी को छोड़कर यहां क्यों आये हो ? गोपीचन्द बोला-उसको तो कूप में डालकर ऊपर लीद भरा दी है। माता बोली-क्यों ? गोपीचंद ने कहा-उसका उपदेश ठीक नहीं था। माता ने पूछा-उनने क्या उपदेश दिया था ? गोपीचंद ने कहा-"माता

मारे घी घरे, गऊ सपुच्छी खाय । ब्राह्मण मारे मद पिये, सोउ मुक्ति पद पाय ।" माता ने कहा–यह तो अति श्रेष्ठ उपदेश है । तुमने बिना समझे गुरु को कूप में डाला हैं । गोपीचंद ने पूछा, इसमें क्या श्रेष्ठता है ? माता बोली–तुम एकाग्र मन से सुनो, मैं इसका अर्थ सुनाती हूं । ममता रूप माता को मारे, ब्रह्म ज्ञानियों की बुद्धि रूप पुत्री को हृदय में धारण करे, इन्द्रिय रूप गाय को इन्द्रियों की निषिद्ध विषयाकार वृत्ति रूप पूंछ के सहित खाय अर्थात् जीते । रजोगुण रूप ब्राह्मण को मारे, हरि स्मरण रूप मद्य रस का पान करे, वही मुक्ति पद को प्राप्त करता है । हे पुत्र ! इसमें क्या अश्रेष्ठता है ? गोपीचंद गुरुजी के उपदेश को माता के द्वारा समझ कर नम्र भाव से कहने लगे, माताजी गुरुजी का उपदेश अति श्रेष्ठ है तथापि मैं बहिर्मुख होने से उनके गूढ़ उपदेश को समझ न सका, इसी से गुरुजी को कूपमें डालना रूप अपराध मेरे से हुआ है अब मैं आपसे क्षमा चाहता हूं और गुरुजी को निकालने जाता हूं । माता ने कहा–नहीं पुत्र अब तू उनको निकालने का उद्योग मत करना । तेरे निकालने से शाप का भय है । अब तो जब गोरक्षनाथ जी आयेंगे तब निकालेंगे । गोपीचंद ने कहा–गोरक्षनाथजी का क्या पता वे कब आयें । इतने दिन गुरुजी पृथ्वी में कैसे जीवित रह सकेंगे । माता ने कहा–उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा, न वे जल में डूबेंगे और न उनको लीद स्पर्श करेगी । वे मध्याकाश में सुख पूर्वक समाधिस्थ रहेंगे । इन्हीं दिनों विचरते हुये गोरक्षनाथजी विदर्भ देश की राजधानी में जा पहुँचे । वहाँ का राजा जालंधर के शिष्य कनिपा का शिष्य था । उसने गुरु आज्ञा से नगर के द्वारों के शिखरों पर नाद लटका रक्खे थे और यह आज्ञा दे रक्खी थी कि–जो साधु नीचे खड़ा मृग सींग रूप नाद को बजा सके, वही नगर में भिक्षा कर सकता है अन्यथा कनिपा के आश्रम में भोजन करे । गोरक्षनाथजी का एक शिष्य भिक्षा लाने गया, तब नगर द्वार पर द्वारपाल ने उसको रोक कर उक्त राजाज्ञा सुनादी । वह पीछा लौट गया और गोरक्षनाथजी को उक्त सब बात सुनादी । तब गोरक्षनाथजी गये और नाद बजाकर भिक्षा ले आये । यह समाचार राजा तथा कनिपा को जब मिला तब कनिपा ने जान लिया कि–गोरक्षनाथ होगा । कनिपा ने अपने एक शिष्य को भेज कर गोरक्षनाथजी को बुलवाया । गोरक्ष आये तब कुशल समाचार प्रश्न के पश्चात् बातों ही बातों में कनिपा ने गोरक्षनाथजी को कहा–गुरुजी तो गृहस्थ में पड़े हुये हैं और आप सिद्धियां दिखाते फिरते हैं । तब गोरक्षनाथजी ने कहा–आपके गुरुजी तो कूप में पड़े हैं । कनिपा बोले–मैं तो अभी जाकर निकालता हूं । गोरक्षनाथ बोले–मैं तुम से पहले अपने गुरुजी को गृहस्थ से निकाल के लाऊंगा । यह कह कर गोरक्षनाथ जिसमें जालंधर दबे थे उस कूप पर आये और लीद से कहा–दिन दूनी रात चौगुनी होती रहना । यह कह कर काम-

रूप देश में गये और अपनी योग शक्ति से गुरुजी को ले आये। वह कथा माया मच्छंदर के नाम से प्रसिद्ध है। उधर कनिपा भी जिस कूप में गुरुजी दबे थे, उसकी लीद निकालने में तत्पर थे किन्तु वह कूप किंचित् मात्र भी खाली नहीं होता था। कुछ दिनों में गोरक्षनाथ गुरुजी को लेकर वहाँ पहुंचे और कनिपा से कहा–अभी तक गुरुजी को नहीं निकाला। देखो, मैं तो मेरे गुरुजी को ले आया हूं। कनिपा लज्जित होकर बोले– हम तो खोदते-खोदते हैरान हो गये हैं किन्तु यह कूप कुछ भी खाली नहीं होता है। गोरक्षजी ने कहा–अच्छा अब आप इसको शीघ्र खाली हुआ देखेंगे। मैनावती भी गोपीचंद को साथ लेकर गुरु गोरक्षनाथजी के पास आयी और नमस्कार करके प्रार्थना की आप जालंधरजी को इस रीति से निकालें जिससे वे गोपीचंद को शाप न दे सकें। तब गोरक्ष आदि योगियों ने कहा–तुम कुछ भी भय मत करो, हम ऐसा ही यत्न करेंगे। फिर भविष्यत् को जानने वाले गोरक्ष आदि योगियों ने गोपीचंद के आकार की सर्व धातु की सात मूर्ति बनवायीं। ये सब मूर्तियां मनुष्य के समान चलती फिरती थीं और भी जो जालंधर के क्रोध को शाँत करने के उपाय उन लोकों ने सोचे थे, उन सबके तैयार हो जाने पर गोरक्षजी ने कूप की लीद को कहा–"टीडी होकर उड़ जा" बस योगिराज की आज्ञा पाते ही लीद अति अल्प समय में ही उड़ गई।

कूप खाली हुआ तब उपस्थित योगियों तथा गृहस्थों ने जल के कुछ ऊपर पद्मासन लगाये हुये समाधिस्थ योगिराज जालंधर का दर्शन किया। फिर योगियों ने उन को समाधि से जगाया और अपने-अपने नाम सुना कर उन को नमस्कार करने लगे, फिर कनिपा गोपीचन्द की एक धातु मूर्ति को साथ लेकर प्रदक्षरणा करते हुए गुरु जी की स्तुति करने लगे। जालंधर ने दो मनुष्यों की छाया देख कर कहा—कनिपा! तुम्हारे साथ और कौन है ? कनिपा ने कहा—गोपीचंद। यह सुन कर जालंधर बोले—भस्म हो जा। बस इतना कहते ही वह धातु मूर्ति भस्म हो गयी। इसी प्रकार सातों मूर्ति भस्म हो जाने पर गोरक्ष नाथ जी ने अष्टम बार गोपीचंद को कनिपा के साथ कर दिया। जालंधर ने पूछा—कनिपा ! तेरे साथ कौन है ? कनिपा ने कहा–गोपीचंद। जालंधर बोले—अमर हो जा। बस गोपीचंद को अमर होने का वर मिलते ही जालंधर को बाहर निकाला। बाहर आकर जालंधर ने कनिपा से कहा–कनिपा ! मैंने सात बार गोपीचंद को भस्म होने के लिये कहा था, फिर भी गोपीचंद भस्म कैसे नहीं हुआ ? कनिपा ने कहा—महाराज! आपके वचन व्यर्थ नहीं गये, मैंने गोपीचंद की रक्षा के लिये गोपीचंद के आकार की सर्व धातु की सात मूर्ति बनायी थीं, वे भस्म हो गयीं हैं। यह सुनकर जालंधर ने कनिपा को शाप दिया—"सात वचन लोपे हैं मेरे, सर्प गोहिरा खिलावें तेरे।" तूने मेरे सात वचन व्यर्थ किये हैं, इसलिये तेरे शिष्य

सर्प गोहिरे आदि को पाल करके जीविका करेंगे। सपेरे कनिपा के शिष्य हैं, ये सर्प आदि से ही अपनी जीविका चलाते हैं। जगत् में अजैपाल का अदृष्ट चक्र चला था, वह किस कर्त्तव्य' से चला था? वह भी वस्तुबल से ही चला था, भेष से नहीं। अजैपाल के चक्र की कथा उपदेश अंग २ छप्पय ४ की टीका में देखो। धोंधली नाथ ने ग्राम उलटे थे सो भी वस्तुबल अर्थात् कर्त्तव्य-बल॰ से ही उलटे थे, भेष के बल से नहीं। धोंधली नाथ की कथा—धोंधली नाथ अपने एक शिष्य के साथ विचरते हुये किसी पट्टण नामक ग्राम के पास पहुंचे। वहां एक सुन्दर आश्रम देखकर नाथ जी ने शिष्य से कहा—"मैं यहां १२ वर्ष की समाधि लगाऊंगा।" शिष्य ने कहा—"जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही कीजिये।" वहां ठहर गये, गुरु जी ने समाधि लगा ली। उनका शिष्य ग्राम में भिक्षा के लिये जाता था परंतु उस ग्राम के लोक भिक्षा नहीं देते थे। गाँव के बाहर एक कुम्हार का घर था। उसमें एक बुढिया थी, वह उसे रोटी देती थी किंतु कुछ दिन के पश्चात् माई ने कहा—भाई देखो, हम गरीब हैं और तुमको १२ वर्ष यहां रहना है। एक-दो रोटी तो मैं सदा दे सकती हूं किंतु सब भोजन देना मुझ से नहीं बन सकेगा। इस लिये मैं कहूं वैसा करो—वन से एक काष्ठ की भारी लाया करो, उसे बेच कर अपने खाने जितना अन्न ला दिया करो और सब सेवा मैं करूंगी। यह बात नाथ के शिष्य के समझ में आ गयी, वे वैसा ही करने लगे। १२ वर्ष पूरे हो गये तब नाथ जी समाधि से उठे और एक दिन अपने शिष्य से कहा—आज भिक्षा हम लायेंगे। शिष्य ने कहा—आप क्यों कष्ट करते हैं, मैं ही ले आता हूं किंतु उनने नहीं माना, भिक्षा लाने गये। किसी ने भी भिक्षा नहीं दी। केवल कुम्हारी माई ने दी। धोंधली नाथ आश्रम पर आये और शिष्य से पूछा—तुमने १२ वर्ष कैसे निकाले? यहां भिक्षा तो नहीं मिलती है, प्रत्युत लोक छेड़-छाड़ करते हैं। शिष्य ने अपनी सब कथा सुना दी, सुन कर धोंधली को क्रोध आ गया। वे बोले—शीघ्र जा कर उस माई को कह दो कि—वह अपने परिवार और सब सामान को लेकर ग्राम की हद से शीघ्र बाहर निकल जाय। शिष्य ने गुरु जी की आज्ञा माई को सुना दी। माईने आज्ञानुसार ही किया। फिर धोंधली नाथ ने शाप दिया—"पट्टण-पट्टण सब डट्टण।" पट्टण-पट्टण सब उलट जाँय। इतना कहते ही जितने पट्टण नाम वाले ग्राम थे सब उलटने लगे। तब गोरक्ष नाथ जी ने यह बात योगबल से जान कर सोचा अपराधी एक ग्राम है और ये सब ग्राम व्यर्थ ही उलटे जा रहे हैं फिर अन्य ग्रामों की रक्षा गोरक्षनाथजी ने की और वह पट्टण उलट गया। पूर्णमल के कार्य भी भेष से सिद्ध नहीं हुये थे किंतु वस्तु बलसे ही सिद्ध हुये थे। पूर्णमल की कथा—पूर्णमल॰ पंजाब के स्याल-कोट नगर के राजा शालीवाहन के पुत्र थे। जब इनका जन्म हुआ था

तव ज्योतिषियों ने कहा था १२ वर्ष तक पिता को इस का मुख नहीं देखना चाहिये। यदि देखा जायगा तो इसको तथा पिता को मृत्यु का भय है। तब उस को ऐसे स्थान में रख दिया था, जिस से उसका मुख राजा न देख सके। १२ वर्ष पूर्ण होने पर आये तब पिता ने उसको देखने की शीघ्रता की, इससे भूल के कारण एक दिन पहले ही राजा ने उसका मुख देख लिया था। इसी से पूर्णमल में नीचे लिखी विपत्ति आयी थी, ऐसा कहते हैं। पिता अपने पुत्र को देख कर बडे प्रसन्न हुये। कुछ दिन पश्चात् पिता ने पूर्णमल से विवाह के लिये कहा किंतु पूर्णमल नट गये। एक दिन की बात है, पूर्णमल के पिता की जो छोटी रानी थी जिसका नाम लूंणा था। पूर्णमल उस के पास गये थे। लूंणा पूर्णमल की सुन्दरता को देख कर काम वश हो गई और अपनी इच्छा पूर्ति के लिये पूर्णमल को कहा। पूर्णमल ने कहा—आप तो मेरी माता हो, यह क्या कह रही हो ? इस पर भी उसे लज्जा नहीं आई, उसने पुनः कहा। तब पूर्णमल वहां से जाने लगे, उस समय लूंणा ने बल से पूर्णमल का हाथ पकड़ लिया। पूर्णमल ने झटका देकर अपना हाथ छुडाया और वहां से शीघ्रता के साथ चल दिये। पूर्णमल को इस प्रकार जाता देख कर लूंणा ने कहा—अच्छी बात, समझूंगी। फिर जब रात को राजा रानी के पास आये तब रानी ने क्रोध में भर कर राजा से कहा—आज आपके पुत्र ने मेरी इज्जत बिगाड़ने में कोई कमी नहीं रक्खी थी किंतु ईश्वर ने मेरी रक्षा की, जिससे मैं उस दुष्ट से बच सकी। जो माता के साथ भी इस प्रकार का अन्याय करने से नहीं डरता है, ऐसे पुत्र के जीवित रहने से क्या लाभ है ? इत्यादिक रानी की बातें सुनने से राजा का भी क्रोध बढ गया। राजा बोले—मैं प्रातः उसको व्याधों के द्वारा मरवा दूंगा। राजा ने प्रातःकाल व्याधों को बुलवा कर कहा—तुम पूर्णमल को वन में ले जाकर मार आओ। व्याध पूर्णमल को वन में ले गये किंतु मारते समय दया आ गयी, इस से हाथ-पैर काट कर कूप में डाल दिया और चले गये। थोड़ी देर में उधर अपने शिष्यों के साथ गोरक्षनाथ जी आ निकले। उन में से एक नाथ उस कूप पर जल लाने गया तब पूर्णमल ने उस से कहा—भगवन् ! मुझे निकालें। उसने अन्य नाथों को बुलाया और पूर्णमल को बाहर निकाला। फिर गोरक्षनाथ जी ने पूर्णमल से पूछा—तुम्हारी यह दशा कैसे हुई ? पूर्णमल ने सब बात सुना दी। गोरक्षनाथ जी ने पूर्णमल पर दया की जिससे उस के हाथ-पैर पीछे आ गये। देखा, नारी से बचना, संतों का दर्शन, हाथ-पैर आना आदि कार्य भेष[२] के बल से तो नहीं हुये थे। वह वस्तुवल से ही हुये[३] थे। वह वस्तु-बल[४] ही था जिससे उक्त कार्य हुये हैं। यदि भेष की अवस्था[१] देखें तो भेष तो आज भी बहुतेरे करते हैं किंतु उनमें उक्तों के समान शक्ति कहां है ?

जल जोखिम[1] नहिं साँच, भूमि प्रह्लाद न पीरा।
गिरिवर[2] गिरत न मीच, विविध संकट नहिं नीरा[3] ॥
गरुड़द्वार[4] मुख नाम, जहर का जोर[5] न हूआ।
कंचन विधि प्रह्लाद, अग्नि घूंघचि तन भूआ ॥
खड्ग खंभ माँही निकस, वैरी बाप सु मारिया।
'रज्जब' कहँ दर्शन दशा,[1] बालक लघु सु उबारिया ॥२॥

सत्य परमात्मा के भजन के प्रताप से प्रह्लाद जी को समुद्र में डालने पर भी हानि[1] नहीं हुई थी ? और भूमि में दबा ने से भी कोई पीड़ा नहीं हुई थी। ऊँचे पर्वत[2] से गिराने पर भी मृत्यु नहीं हुई थी और भी नाना प्रकार के संकट दिये थे किंतु वे प्रह्लाद जी के समीप[3] भी नहीं आये थे। जैसे मोर की पंखों से निकाला हुआ ताँबा[4] मुख में रखने से सर्प के विष का प्रभाव[5] नहीं होता है, वैसे ही मुख में राम-नाम होने से प्रह्लाद पर विष का प्रभाव भी नहीं पड़ा था। जब उनकी भूआ घूंघची (होलिका) उनको जलाने के लिये साथ लेकर अग्नि में बैठी, तब प्रह्लाद का तेज तो जैसे अग्नि में स्वर्ण का तेज बढता है, वैसे हो बढा और वही जल गयी थी और देखो, खड्ग में होते हुये खंभ में प्रकट होकर पिता रूप शत्रु को मारा था। जो उक्त प्रकार से लघु बालक प्रह्लाद की भली प्रकार रक्षा की थी, वह भजन रूप वस्तु का ही बल था। भेष की स्थिति[1] देख ने से यह बात कहाँ प्रतीत होती है ? इस से ज्ञात होता है भेष श्रेष्ठ नहीं है किंतु साधुता रूप कर्त्तव्य ही श्रेष्ठ है।

मूर्ति पिलाया दूध, नाम जन[1] गाय जिवाई।
फेरा देवल[2] द्वार, पुनः घर छान छवाई ॥
अन्तर्यामी लखा, श्वान में सांई जाना।
मुगल रूप हो मिला, सोइ छीपे पहचाना ॥
अतुल[3] राख ररंकार निधि[4], सरिता सेज मंगाइये।
'रज्जब' कहु दर्शन दशा[5], ग्यारस विप्र जिवाइये ॥३॥

भक्त[1] नामदेवजी का मूर्ति को दूध पिलाना, मरी गाय को जीवित करना, नामदेव के लिये भगवान् का मंदिर[2]-द्वार फेरना, उनके घर की छान स्वयं भगवान् द्वारा छाई जाना, ये उक्त कार्य भगवान् ने भेष पर ही रीझ कर नहीं किये थे। नामदेव ने जो अन्तर्यामी का साक्षात्कार किया और कुत्ते में भी परमात्मा को जानकर उसका सत्कार किया था। भगवान् जब नामदेव से मुगल रूप बनाकर मिले तो भी नामदेव छीपे ने

उनको पहचान लिया था। राम नाम के संक्षिप्त स्वरूप ररंकार को सेठ के संपूर्ण धन[४] के बराबर[३]-नहीं होने दिया था और नदी से बहुत-सी शय्याओं का मंगवाना, एकदशी को अपने घर-द्वार पर भूख से ब्राह्मण के मर जाने पर उसे जीवित करना, ये सभी उक्त कार्य नामदेव जीके भजन के बल से हुये थे, भेष के बल से नहीं। कहो ? भेष की स्थिति[१] देखने से यह बात कहाँ है ? नामदेवजी की उक्त कथायें भक्त माल में विस्तार से हैं, जिनको देखना हो वे वहां देखें। यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखी हैं। प्रसिद्ध कथाओं के लिखने की आवश्यकता भी नहीं है।

बालद[१] द्वार कबीर, आवती सब जग जानी।
तार[२] कंध रैदास, जनेऊ जगत न छानी॥
पीपे चँदवा बुझे, भवन खाँडे पत[३] राखी।
बिन हिं बीज हो खेत, धना के सु साधु साखी[७]॥
नाई उबरा नाम बल, सत न दिव्य[४] देत हि जरे।
'रज्जब' सीझे[५] साँच में, स्वाँग[६] झूठ तब अब करे॥४॥

कबीरजी के द्वार पर सामान से लदे बैलों-की-पंक्ति[१] आई थी, उसको सब जगत् जानता है। रैदासजी ने अपने कंधे पर चाँदी[२] के तारों की जनेऊ सबको दिखाई थी, वह भी जगत् में छिपी हुई नहीं है। पीपाजी ने टोडा नामक ग्राम में रहते हुये ही द्वारिका में भगवान् के चँदवे के अग्नि लग जाने पर बुझाया था। भवनसिंह की काष्ठ की तलवार को लोहे की बनाकर भवनसिंह की लज्जा[३] भगवान् ने रक्खी थी। धना भक्त का खेत बिना बीज के ही निपजा था, जिसकी साक्षी[७] श्रेष्ठ साधु भी देते हैं। ये उक्त सभी कार्य भेष से नहीं हुये थे, साधुता रूप गुण से ही हुये थे। सेन भक्त राज-दंड से बचा था सो भी नाम जप के बल से ही बचा था, भेष से नहीं। ये उक्त सभी कथायें भक्त मालों में विस्तार से हैं। वहाँ देखो। तप्त लोहेका गोला[४] हाथ पर रख देने पर भी सत्य के बल से हाथ को नहीं जलाता है, यह सत्य का ही बल है, भेष का नहीं। दिव्य का दृष्टांत गुरुदेव अंग १ छप्पय ५ की टीका में देखो। ये उक्त कबीरादि के सभी कार्य सत्यता से ही सिद्ध[५] हुये हैं, यदि मिथ्या भेष[६] से होवे तो अब कोई भी भेषधारी क्यों नहीं सिद्ध करले। इससे सिद्ध होता है साधुता रूप गुण ही श्रेष्ठ है, भेष में श्रेष्ठता नहीं है।

विलँदखान की बेर, दुनी[१] दादू दो देखे।
शाहपुरा के समय, उभय ठाहर पुनि पेखे॥
चीरी[२] पलटे अंक[३], सिन्धु से जहाज काढ़े[४]।
साँभर खाटू हस्ति, रहे मह[५] मत्त[६] जु ठाढ़े[७]॥

कौंस[8] लाय[9] काजी मुवा, अरु उरमायल घर जरे ।
'रज्जब' साचे साधु के, बिन बाने[10] कारज सरे[11] ॥५॥

साँभर नगर में दादू जी का उत्तम उपदेश देना सहन नहीं होने से कुपित होकर विलँदखानने दादूजी को बंदीगृह में बन्द कर दिया था तब उनका एक शरीर तो बंदीगृह में और दूसरा बाहर दुनियां[1] के सब लोकों ने देखा था। शाहपुरा में ठहरने के समय भी दादू जी दो स्थानों में एक साथ देखे गये थे। शाहपुरा की कथा—श्री दादूजी महाराज डीडवाने से किरड़ोली नामक ग्राम को जा रहे थे तब बीच में ही शाहपुरा का तिलोक नामक साहूकार उन्हें अपने ग्राम शाहपुरे ले गया था। वहां कुछ दिन रहने के पश्चात् जब दादूजी जाने लगे तब तिलोक के मन में संकल्प हुआ—महाराज इतने दिन रहे किंतु कोई चमत्कार नहीं देखने में आया। भक्त के मन का यह संकल्प जानकर दादूजी जाते समय अपना एक शरीर साफ करने का साफा तखत पर छोड़ आये और थोड़ी दूर आकर कहा—भक्तजी ! मैं तखत पर अपना साफा छोड़ आया हूं, तुम जाकर ले आओ। फिर दादूजी शिष्यों सहित वहां खड़े रहे और तिलोक वस्त्र लाने गया, तब उसने आगे तखत पर दादूजी को बैठे हुये देखा और सोचने लगा–महाराज को तो मैं मार्ग में छोड़कर आया था, यह क्या बात है। उसने पीछे देखा तो दादूजी शिष्यों के सहित मार्ग में खड़े हैं। यह देखकर आश्चर्य में भर गया, फिर तखत से वस्त्र लेकर आया। दादूजी ने कहा–मेरी कमर के बांध दे। वह बाँधने लगा किंतु कमर नहीं बंधती थी कपड़े में गाँठ आ जाती थी। दो चार बार बांधा जब न बंधा तब दादूजी ने कहा–लाओ मुझे दे दो। दादूजी वस्त्र लेकर चले गये। तिलोक ने विचार किया–मेरा संकल्प चमत्कार देखने का था सो उसे संतों ने पूर्ण कर दिया है संतों की महिमा ऐसी ही है। साँभर नगर में पत्र[2] के अक्षर[3] भी बदले थे। अक्षर बदलने की कथा—दादूजी के उपदेश का बहुत प्रभाव पड़ता था। इससे वहाँ के लोकों को यह भय हुआ कि–इनके पास जाने से संभव है बहुत से युवक साधु हो जाँय। इसलिये सबने मिलकर यह लिखावट लिखी थी–"जो दादूजी के जायगा, उसे प्रतिशत पाँच रुपये दंड देना होगा।" दूसरे दिन जो विशेष भावुक थे वे तो गये ही। उन्हें दादूजी ने कहा—तुम लोक क्यों आये हो, तुम्हारा पैसा दंड रूप से व्यर्थ खर्च होगा। भक्तों ने कहा–जब तक पैसा है तब तक दंड भरते रहेंगे किंतु दर्शन तो अवश्य करेंगे। उनका दृढ़ निश्चय देखकर दादूजी ने कहा–ऐसा है तो लिखावट को ठीक-ठीक पढ़कर दंड देना। आश्रम से बाहर निकलते ही इन लोकों को पुलिस ने पकड़ लिया और कचहरी ले गये। वहां दंड देने को कहा तब भक्तों ने कहा—वह लिखावट हम को दिखाइये, पढ़ कर दंड देगे। पढ़ी तब उसमें लिखा

था—"जो दादू जी के न जायगा उसे प्रतिशत पांच रुपये दंड देना होगा।" तब अधिकारियों ने लज्जित होकर उन भक्तों को छोड़ दिया था। दादूजी ने समुद्र से जहाज तारी[४] थी। यह कथा इस प्रकार है—समुद्र में एक जहाज डूबने लगा था तब उसमें बैठे हुये यात्रियों ने अपने-अपने इष्ट देव मनाये किंतु जहाज डूबता ही चला गया। तब उस जहाज में हिंगोल और कपिल नामक दो संत बैठे थे उनने सब लोकों को कहा—"भाइयो! वर्तमान में एक दादू नामक महान् संत हैं, वे आज-कल राजस्थान के आँमेर नगर में रहते हैं। हम सब उनकी शरण लें तो अवश्य जहाज तैर जायगा। तब सबने दादू जी की शरण ली। दादू जी के पास उस समय आमेर का राजा मान बैठा था। दादूजी ने वहां बैठे ही हाथ का सहारा देकर जहाज को तारा था। मान ने दादू जी के चोले की बाँह से जल गिरता देखा तब आग्रह पूर्वक पूछा—स्वामी जी! जल तो समीप में है नहीं यह क्या लीला है? सत्य-सत्य सुनाइये। दादूजी ने उक्त कथा सुना दी। कुछ दिन में उस जहाज के यात्रियों का संघ भी दादूजी के दर्शन करने आया तब सब को निश्चय हो गया कि—वह बात सत्य थी। साँभर तथा खाटू ग्राम में जो महान्[५] मतवाले[६] हाथी दादू जी को मारने के लिये छोड़ गये थे, वे भी दादू जी के चरण छू कर खड़े[७] रहे थे, कोई प्रकार की विपरीत चेष्टा नहीं की थी। उक्त दोनों कथायें इस प्रकार हैं—साँभर में काजियों ने मार्ग में आते समय मतवाला हाथी दादूजी को मराने के लिये छोड़ा था किंतु हाथी ने आकर शांति पूर्वक चरण छूये और पीछा ही लौट गया। बीकानेर के भुरुटिये राव ने दादूजी को खाटू ग्राम में बुलाया था, दादूजी ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया था। पीछे उस के एक मंत्री ने कहा—आपने जिस साधु को बुलाया है, क्या उसकी परीक्षा की है वह कैसा है? नरेश ने कहा—नहीं की है, तुम करो। परीक्षा के निमित्त खाटू ग्राम में आने पर मत-वाला हाथी छोडा था। उस समय उसका सामना करने संत रज्जब जाने लगे थे किंतु दादूजी ने कहा—भाई! अपना रक्षक तो इस हाथी में भी है, क्यों आगे बढ़ रहे हो? हाथी आया और दादू जी के चरण सूंड से छूकर चला गया था। साँभर में दादूजी के गाल पर मुक्का[८] लगा[९] कर एक काजी मर गया था। यह कथा इस प्रकार है—एक काजी जो दादूजी के उपदेश की पद्धति पर जलता था, उसने एक दिन प्रातःकाल दादू जी भजन बोल रहे थे तब यह कह कर कि—काफिर हमारी नमाज में विघ्न करता है, गाल पर मुक्का मारा था। तब क्षमा मूर्ति दादू दयालु जी ने बड़ी नम्रता से कहा—"भाई! दोनों गाल भाइयों के समान बराबर हैं, एक को तो तुम ने प्रसाद दे ही दिया अब इस दूसरे को भी दे दो, नहीं तो यह नाराज हो जायगा।" ऐसा कह कर अपना दूसरा गाल उसकी ओर किया। उसने भी उसके मारने को हाथ

ऊंचा उठा कर अपना मुक्का ताना, वह हाथ वहां ही रुक गया और हाथ गल कर वह काजी मर गया। दादू जी को मारने का संकल्प करने वाले अजमेर नगर निवासी उरमायल के घर भी जल गये थे। यह कथा इस प्रकार है—जिसकी हाथ गल कर मृत्यु हुई थी उस काजी का उरमायल संबन्धी था। जब उरमायल ने सुना कि—एक साधु के मुक्का मारने से काजी जी का हाथ गल गया और वे मर गये हैं, तब उरमायल को क्रोध आ गया और क्रोध के वेग में उस ने लोकों से कहा— "मैं सांभर जाऊंगा और उस साधु को गले तक पृथ्वी में गाड़ कर दोनों गालों पर खूब मारूंगा, तब उसकी शक्ति का आप ही पता चल जायगा। "इसने जाने का निश्चय कर लिया। इस के रुई का व्यापार था। रात्रि को रुई में अग्नि नहीं होने पर भी अग्नि लगा, जिससे इसकी स्त्री, पुत्रादि भी जल कर मर गये। दूसरे दिन लोकों ने कहा— "देख संकल्प करने मात्र से ही इतना दुःख उठाना पड़ा है। अब उस संत को वहां जाकर नहीं सताना। वह भी समझ गया और दादू जी को मारने साँभर नहीं गया। देखो, इन सच्चे संत दादू जी महाराज के उक्त सर्व कार्य बिना भेष[१०] के ही सिद्ध[११] हुये थे, काषाय वस्त्रादि भेष तो वे रखते ही नहीं थे। इससे यह सिद्ध होता है कि—साधुता रूप गुण ही श्रेष्ठ है, भेष श्रेष्ठ नहीं है। भाव यह है-भेष के भरोसे कभी भी नहीं रहना चाहिये, साधन करके साधुता प्राप्त करनी चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित स्वांग साधु निर्णय का अंग २८ समाप्तः। स. छ. ६४।

अथ स्वांग साँच निर्णय का अंग २९

व्योम[१] वायु शशि सूर, सलिल[२] धरणी मत लीया।
षट् दर्शन ये आदि, इन्होंने वर्ण[३] न कीया॥
शेष भेष कहु कौन, कौन शुकदेव जु बाना[४]।
दत्त देह नहिं दर्श[५], सु गुरु चौबीस न छाना[६]॥
सकल सुर गुरु बृहस्पती, शुक्र यती सादे सदा।
'रज्जब' नर नग[७] छाप[८] बिन, पेखि[९] प्राणि पाया मुदा[१०]॥१॥

भेष श्रेष्ठ है वा सत्य श्रेष्ठ है, इसका निर्णय कर रहे हैं—आदि षट् दर्शनों ने कोई भेष[३] नहीं किया है। आदि षट् ये हैं-१ आकाश[१], २ वायु ३ चन्द्रमा ४ सूर्य ५ जल[२] ६ पृथ्वी। इनको षट् दर्शन कहने का कारण यह है—६ प्रकार के भेषधारियों ने इन्हीं से ही उपदेश लिया है। कहा भी है—"व्योम संन्यासी वायु शेख, शशि सेवड़े जान। सूर्य जंगम बौद्ध

जल, जोगी धरणि पिछान ।।" आकाश से संन्यासियों ने यह शिक्षा ली है कि—"हमको आकाश के समान निर्विकार रहना चाहिये।" शेखों ने वायु से शिक्षा ली है कि—"हमको वायु के समान सदा पवित्र रहना चाहिये।" सेवड़ों ने चन्द्रमा से शिक्षा ली है कि—"हमको चन्द्रमा के समान शीतल रहना चाहिये।" जंगमोंने सूर्यसे शिक्षा ली है कि—"जैसे सूर्य संसारमें प्रकाश को फैलाता है, वैसे ही हमको सत्य विद्याका प्रचार करना चाहिये।" बौद्धों ने जल से शिक्षा ली है कि—"जैसे जल सबका हित करता है, वैसे ही हमको प्राणी मात्र पर दया करनी चाहिये।" नाथ योगियों ने पृथ्वी से शिक्षा ली है कि—"हमको पृथ्वी के समान सब पर क्षमा करनी चाहिये।" इस प्रकार ६ प्रकार के भेष धारी रूप षट् दर्शनों ने आकाशादि ६ का ही मत ग्रहण किया है। और इस सत्य शिक्षा पर ही षट् दर्शन निर्भर हैं, भेष पर नहीं। इस से सत्य ही श्रेष्ठ है भेष नहीं हैं। कहा भी है—"षट् दर्शन दर्शन बिना, देखो अवनि प्रकास। चन्द्र सूर्य पानी पवन, कौन भेष इन पास।" कहो शेष जी के कौन-सा भेष है? शुकदेव के शरीर पर कौन-सा भेष[४] है? दत्तात्रेयजी के शरीर पर भी भेष[५] नहीं है, वे भी २४ गुरुओंकी सत्य शिक्षा पर ही निर्भर रहे हैं। उनके चौबीस गुरुओं की कथा छिपी[६] हुई नहीं है अति प्रसिद्ध है, संपूर्ण देवताओं के गुरु बृहस्पति और संपूर्ण असुरों के गुरु यति शुक्राचार्य, ये दोनों भी सदा भेष रहित सादे ही रहते हैं। इनने भी भेष नहीं बनाया था—सत्य के बल से ही उन्नति को प्राप्त हुये थे। जैसे रत्न[७] बिना भेष[८] के अर्थात् स्वर्ण आदि में जड़े बिना तथा बिना किसी छाप के भी अपनी योग्यता के अनुसार मूल्य को प्राप्त करते हैं, वैसे ही नर भी अपने सत्य के बल से ही उन्नति को प्राप्त होते हैं, भेष से नहीं। संपूर्ण प्राणियों में सत्य की विशेषता देखकर[९] हमने भेष की कल्पना त्यागी है और सत्य निष्ठा में ही परमानन्द[१०] प्राप्त किया है। अतः सत्य साधन से ही आनन्द प्राप्त होता है।

चन्दन सर्प सु जाहिं, पंखि[१] पत्री घर आने[२]।
मधुरिख[३] मधुले शोधि,[४] हंस पय पानी छाने[५] ।।
ज्यों ज्योतिषि जिय[६] पैठि[७], ग्रहण गति[८] गिरा जिआई[९]।
जाने जौहरि अधिक, रत्न की पारख पाई[१०] ।।
नट आसन देखे अधर, शिशु सुरही[११] के थन लिया।
'रज्जब' सांचे साधु यूं, कहु किसने बाना[१२] किया ।।२।।

भेष से ही कार्य सिद्ध होता हो तो इस पद्य में कथित सर्पादि के कार्य नहीं होने चाहिये थे, इनके तो कोई भेष था नहीं, यह कह रहे हैं—यदि भेष से ही कार्य करने की योग्यता आती है तो सर्प ने तो कोई भेष नहीं बनाया है, फिर वह चन्दन के पास कैसे चला जाता है? सर्प का दृष्टांत

गुरुदेव अंग १ छप्पय ७ की टीका में देखो। कबूतर पक्षी[1] भी बिना भेष ही पत्र को घर ले[2] जाता है। कबूतर का दृष्टाँत गूरुदेव अंग १ छप्पय ५ की टीका में देखो। शंहद् की मक्खी[3] भी बिना भेष ही फूलों से शहद् निकाल[4] लेती है। हंस बिना भेष ही दूध और जल को भिन्न-भिन्न[5] कर देता है। ज्योतिषी बिना भेष ही हृदय[6] में प्रवेश[7] करके अर्थात् वृत्ति को आन्तर करके विचार करता है तब ग्रहण होने की स्थिति[8] रूप वाणी उसकी जिह्वा[9] पर आ जाती है, वह ग्रहण के समय को वाणी द्वारा बता देता है। जौहरी भी बिना भेष ही विशेष रूप से रत्नों की परीक्षा करना जानता है, यह योग्यता भी उसने भेष से नहीं प्राप्त की है, अभ्यास से ही प्राप्त[10] की है। नटों के आसन बिना भेष ही अधर देखे जाते हैं, गाय[11] के बछड़े को भी बिना भेष ही जन्म के समय में अपने आप ही स्तन ग्रहण करके दूध पीते देखा जाता है। उक्त प्रकार ही सच्चे साधुओं को भी जानो। उनके कार्य भी बिना भेष ही हुये हैं कहो किस सच्चे संत ने भेष[12] किया है? अर्थात् किसी ने भी नहीं किया है। भाव यह है—ब्रह्म प्राप्ति रूप कार्य भेष से नहीं होता, साधन सिद्ध ज्ञान से ही होता है। शंका—साधुता में भेष कारण नहीं है, तो भेषयुक्त को ही साधु क्यों कहते हैं? उत्तर—

बिन सनाह[1] मर शूर, पहर बकतर[2] पुनि अंगा।
सती तजे शृंगार, करे नोसत[3] तन भंगा[4]॥
माँडे[5] मेंगल[6] मल्ल[7], तथा सादे[8] बल होई।
खड्ग[9] सु पाने[10] वहे[11], निकस[12] का फेर[13] न कोई॥
सुत कंठी[14] युत रहित वा, पूत पियारा बाप[15] को।
'रज्जब' सोना साधु शुचि, छाडें नाहीं छाप को॥३॥

शूरवीर युद्ध में बिना कवच[1] पहने हुये मरे वा कवच[2] पहने हुये मरे, उसे तो अप्सरा विमान में बैठाकर स्वर्ग को ले ही जायगी। यदि स्वर्ग ले जाने में भेष कारण हो तो कवच रहित वीर को नहीं ले जाना चाहिये और ले जाती है, इस से भेष कारण नहीं है। सती शृंगार तज कर पति के साथ सती हो वा १६[3] शृंगार करके सती हो, वह तो जब अपना शरीर पति के साथ जला कर नष्ट[4] करेगी तभी पति लोक को प्राप्त करेगी। यदि पति लोक प्राप्ति में भेष कारण हो तो शृंगार रहित सती को पति लोक नहीं मिलना चाहिये और मिलता है, इस से भेष कारण नहीं है। हाथी[6] और पहलवान[7] चित्रित[5] हों वा चित्र-रहित[8] हों युद्ध में विजय तो उनकी होगी, जिन में बल अधिक होगा। यदि विजय में भेष कारण हो तो चित्रितों की ही विजय होनी चाहिये किंतु ऐसा तो होता नहीं है। इस से भेष कारण नहीं है, बल ही है। तलवार[9] की जैसी धार[10] होगी वैसी ही चलेगी[11]। उसके उद्गम[12] वा

द्वार वा निकालने का फेरफार होने से चलने में कोई परिवर्तन[13] नहीं होता अर्थात् तलवार का म्यान रंग विरंगा सुन्दर बना हो वा सादा बना हो वा म्यान के द्वार पर सोना चाँदी का काम हो वा नहीं हो वा निकालने में फेरफार हो वा नहीं हो, मस्तक के ऊपर से निकालो वा बांई ओर करके निकालो वा सम्मुख करके निकालो, छेदन तो धार के अनुसार ही होगा। यदि काटने में भेष कारण हो तो बिना धार सुन्दर म्यानादि वाली तलवार से काटने का काम अच्छा होना चाहिये, सो तो होता नहीं है ! इससे छेदन में भेष कारण नहीं है, धार ही है। छोटा बच्चा कंठ का भूषण[14] पहने हो वा नहीं, पिता[15] को तो प्यारा ही होता है। यदि प्यारा होने में भेष कारण हो तो भूषण रहित पुत्र प्यारा नहीं लगना चाहिये और प्यारा लगता है, इससे भेष कारण नहीं है। शुद्ध सोना पर चिन्ह हो वा नहीं हो वह तो सोना ही कहलायेगा और पूरा मूल्य भी पायेगा। यदि भेष कारण हो तो चिन्ह रहित शुद्ध सोना, सोना नहीं कहलाना चाहिये और पूरा मूल्य भी नहीं पाना चाहिये और वह सोना भी कहलाता है तथा पूरा मूल्य भी प्राप्त करता है। उक्त प्रकार ही शुद्ध साधु भी भेष युक्त हों वा रहित हों, वे अपनी साधुता की छाप को नहीं छोडते हैं अर्थात् बिना भेष भी साधु ही कहलाते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ, साधुता में भेष कारण नहीं है। उत्तम गुण और ईश्वर भजन ही साधुना के कारण हैं। भाव यह है—केवल भेष मात्र से ही अपने को साधु मान कर नहीं बैठना चाहिये। साधन-द्वारा साधुता प्राप्त करनी चाहिये।

सादी[1] सह शृंगार, नारि नर मिल फल पावहिं।
नालि रंग नहिं रंग, जंत्र[2] चढ़ तानन[3] आवहिं॥
होय ऊत[4] घर पूत, दोउ दुःख संध[5] सु सन्धी[6]।
माला बन्दनवार, वार[7] बन्धी अन बन्धी॥
घटा श्वेत बहु वर्ण[8] वा, वरषत बादल सब भले।
'रज्जब' सोझे[9] साँच में, बिन दर्शन दर्शन[10] चले॥४॥

परमात्मा की प्राप्ति में भी भेष कारण नहीं है, यह कह रहे हैं—नारी चाहे शृंगार-रहित[1] हो वा शृंगार सहित हो, नर से मिलने पर ही संतान रूप फल को प्राप्त कर सकेगी। संतान प्राप्ति में भेष कारण हो तो शृंगार करके क्यों नहीं संतान उत्पन्न कर ले किंतु नहीं कर सकती, इससे भेष कारण नहीं है। सितार[2] की नाली रंगी हुई हो वा बिना रंगी हो, तानें[3] तो तब ही आयेंगी, जब तार चढ़ेंगे। यदि तानें आने में भेष कारण हो तो बिना तारों के नाली के रंगने मात्र से ही

तानें आनी चाहिये अर्थात् बजना चाहिये और बजता नहीं है। इससे बजने में भेष कारण नहीं है, तार ही हैं। जिसके पहले पुत्र नहीं हुआ हो उस अपुत्र[४] पुरुष के वृद्धावस्था में पुत्र हो तब उस घर में माता तथा पिता दोनों के दुःखों की दरार[५] भली प्रकार जुड़[६] जाती है अर्थात् पुत्र के अभाव का दुःख नहीं रहता है, फिर द्वार[७] पर माला तथा बन्दनवार बांधी जाय वा नहीं बांधी जाय। भेष ही कारण हो तो माला तथा वन्दनवार बांधने ही से उनका दुःख दूर हो जाना चाहिये और होता है नहीं, इससे भेष कारण नहीं है। बादलों की घटा चाहे श्वेत हो वा बहुत रंग[८] की हो जो बादल वर्षते हैं, वे ही सब अच्छे कहलाते हैं, वा उन्हीं को सब अच्छे कहते हैं। यदि भेष ही कारण हो तो बहुत रंग वाली घटा को ही श्रेष्ठ कहना चाहिये और कहते हैं नहीं, इससे भेष कारण नहीं है। उक्त प्रकार ही सत्य साधन में लग करके ही प्राणी परमात्मा की प्राप्ति रूप सिद्धि[९] को प्राप्त होता है और सत्य साधन के बिना किये तो जोगी, जंगम, बौद्ध, संन्यासी, सेवड़े, शेख, इन ६ प्रकार के भेषधारी[१०] रूप षट् दर्शन के लोक भी ब्रह्म दर्शन के बिना ही शरीर छोड़ कर अन्य शरीर में चले जाते हैं अर्थात् जन्मादिक संसार को ही प्राप्त होते हैं मुक्त नहीं होते। भाव यह है—ज्ञानादिक सत्य साधनों के द्वारा ही ब्रह्म प्राप्ति होती है, भेष से नहीं होती।

गनिका[१] सजे[२] शृंगार, भेष बहु करहिं भवैये[३]।
चित्रे हस्ती बैल, साधु पद नांहीं पइये[४]॥
बाने रासभ[५] देव, पीर कहिये लोल्हरिया।
वह कुम्हार घर बहे[६], काष्ठ कृति[७] वासे[८] करिया[९]॥
मोहर[१०] छाप पीतल धरी[११], कली लोह पर कीजिये।
'रज्जब' धारे रूप बहु, सत्य समान न लीजिये॥५॥

केवल भेष को देखकर ही विश्वास नहीं करना चाहिये यह कह रहे हैं—यदि भेष की विशेषता हो तब तो वैश्या[१] भी अपने शरीर को शृंगार से खूब सजाती[२] है। बहुरूपिये[३] भी बहुत से भेष बनाते हैं। हाथी और बैलों को भी चित्रित करते हैं। गेरू आदि से रंगते हैं किंतु इन उक्तों में से किसी को भी साधु पद की प्राप्ति[४] नहीं होती है अर्थात् इनको कोई भी साधु नहीं कहता है। शंका—इनका साधु का-सा भेष नहीं है किंतु साधु का-सा भेष होने पर तो विश्वास करना ही चाहिये। देखो, एक राजा ने गधा पर लदी हुई मिट्टी की बोरी पर गेरुवां वस्त्र देखकर उसको प्रणाम करके उसकी पूजा की थी। कोई एक भक्त राजा मार्ग में जा रहा था। उसी समय एक कुम्हार गधे पर मिट्टी लाद कर ला रहा था। राजा ने

गधे की मिट्टी की बोरी पर गेरुवाँ वस्त्र का टुकड़ा लगा देखा, तब सवारी से उतर कर उसे प्रणाम की तथा पूजा भी करी थी। "बाने रासभदेव" में यही कथा ग्रथित है। उत्तर–ठीक है, भेष के द्वारा गधा[४] को देव मान तो लिया किंतु कुम्हार के घर तो वह मिट्टी ही ढोयेगा[६], संत का काम तो नहीं करता है।

वैसे ही वृक्ष को लील्हरिया पीर मान तो लिया किंतु खाती तो उस[८] से काष्ठ का काम[७] ही लेता है, देवता के समान नहीं पूजता है। खाती उसे काटता है तब उसे तो वह पीर पना नहीं दिखाता। ग्रामीण लोक किसी एक वृक्ष के कपड़े की लीरियां बाँधते रहते हैं और उस को "लील्हरिया पीर" नाम से बोलते है। कोई लील्हरिया भैंरू भी कहते हैं। प्रणाम, पूजा आदि भी करते हैं किंतु वह जब बुद्धिमान् खाती के हाथ लग जाता है, तब तो उसे काट कर उस के काष्ठ से होने वाला काम कर[९] ही लेता है। यदि भेष में विशेषता हो तो पीतल पर अशरफ़ी[१०] की छाप लगा[११] देने पर उसकी कीमत अशरफ़ी के बराबर होनी चाहिये परंतु होती तो नहीं है। लोह पर जिस धातु को कली करे वह उसके भाव बिकना चाहिये किंतु ऐसा तो नहीं होता है। इस से भेष की विशेषता नहीं है, सत्य की ही है। उक्त प्रकार ही चाहे बहुत–से रूप धारण करें परंतु बुद्धिमान् लोक तो उन बनावटी रूपों को सत्य के समान ग्रहण नहीं करते हैं। भाव यह है—साधु-स्वांग (भेष) से ही नहीं माना जाता है। जो साधु-भेष पर ही विश्वास करते हैं, सत्यता पर ध्यान नहीं देते हैं, उन्हें धोखा होता है। कारण साधु–भेष तो असाधु लोक भी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये करते देखे जाते हैं।

एक दिगम्बर[१] फिरहि, एक पहरे बाघम्बर[२]।
एक हु पट[३] पेटकूल[४], एक दीसे श्वेताम्बर[५]॥
एक सु भगवां करहि, एक पहने पट नीला।
एक काथियों[६] माँहि, एक मैले मधि[७] कीला[८]॥
इक कंथा[९] मुंडित जटा, एक सु खुशी खुशावहीं[१०]।
'रज्जब' कीये बहु वरण[११], आतमराम न पावहीं॥६॥

अब कुछ भेषों का निर्देश करते हुये कहते हैं कि–इन भेषों से प्रभु नहीं मिलते हैं—कोई एक नंगे[१] होकर फिरते हैं। कोई-कोई एक व्याघ्र-चर्म[२] ही पहनते हैं। कोई एक रेशमी[४] वस्त्र[३] पहनते हैं। कोई एक समाज के लोक श्वेत-वस्त्र[५] पहनते दिखाई देते हैं। कोई एक समाज के लोक सुन्दर भगवां भेष धारण करते हैं। कोई-कोई नीले वस्त्र पहनते हैं। कोई एक समाज के लोक कत्थई[६] रंग के वस्त्रों में ही मग्न रहते

हैं। कोई एक समाज के लोक मैले वस्त्रों में[९] ही रह कर क्रीड़ा[८] (खेल) करते हैं अर्थात् आनन्दित रहते हैं। कोई एक समाज के लोक गुदड़ी[६] ही पहनते हैं। कोई शिर का मुंडन कराते हैं। कोई जटा बढ़ाते हैं। कोई समाज के लोक बड़े आनन्द के साथ शिर के केश उपड़वाते[१०] हैं। इस प्रकार बहुत-से भेष[११] किये जाते हैं। परन्तु इन भेषों से अपना आत्म स्वरूप राम तो नहीं प्राप्त होता देखा जाता है। भाव यह है—आतमाराम बाहर के भेषों से प्राप्त नहीं होता, वह तो आन्तरिक सत्य साधनों से ही प्राप्त होता है। इसलिये केवल भेष के भरोसे नहीं रहना चाहिये। पूर्ण प्रयत्न से आन्तरिक सत्य साधन करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित स्वांग साँच निर्णय का अंग २९ समाप्त:

। स० छ० ७० ।

अथ अज्ञान कसौटी का अंग ३०

एक सु भूखा मरहिं, एक खाके हो भारी।
एक सु वजरी[१] भखहिं[२], एक हो पवन[३] अहारी॥
एक सु नीली[४] तजहिं, एक फल कन्द हि खाहीं।
एक सु पीवे दूध, एक मन मेवों माहीं॥
इक रूखा इक तैल ले, सुमरण सुरति[५] न ठाहरे।
मनोवृत्ति जग ठगन को, 'रज्जब' बहु पाखंड करे॥१॥

अज्ञानी प्राणी हरि-भजन न करके जो नाना कष्ट उठाते हैं, सो सांसारिक स्वार्थ सिद्धि के लिये उठाते हैं, मुक्ति के लिये नहीं। यह कहते हैं–विचार की कमी के कारण कोई-कोई बड़े-बड़े उपवास करते हैं। कोई-कोई खा-खा कर शरीर से बहुत भारी बन जाते हैं, जिससे शारीरिक क्रिया भी परतंत्र हो जाती है। कोई-कोई मल[१]-मूत्र को ही खाते[२]-पीते हैं। कोई-कोई एक वायु[३] का ही आहार करते हैं। कोई-कोई हरी[४] वस्तुएं पत्र शाकादि को त्याग देते हैं। कोई-कोई फल-कंद ही खाते हैं। कोई-कोई सम्यक् नियम पूर्वक एक मात्र दूध ही पीते हैं। कोई-कोई का मन सदा बादाम आदि सूखे फलों में ही लगा रहता है अर्थात् मेवा ही खाते हैं। कोई-कोई घृत तैलादि से रहित रूखा-सूखा अन्न ही खाते हैं। कोई-कोई तैल का सेवन करते हैं, घृत नहीं खाते। इत्यादिक दिखावे के काम तो अज्ञानी प्राणी बहुत करते हैं परन्तु वास्तव में कल्याण के साधन ईश्वर स्मरण में उन लोकों की मनोवृत्ति[५] स्थिरता पूर्वक नहीं ठहरती है। शंका–उपवासादि सब साधन तो ईश्वर स्मरण के लिये ही करते हैं, फिर उनकी वृत्ति ईश्वर स्मरण में क्यों नहीं ठहरती है? उत्तर–वे अज्ञानी

लोक उक्त साधन तथा अन्य भी बहुत-से पाखण्ड केवल जगत् के भोले लोकों को ठगने के लिये ही करते हैं। इस कारण उनकी मनोवृत्ति जगत् को ठगने रूप कार्य में ही लगी रहती है, ईश्वर स्मरण में नहीं ठहरती है।

पंच अग्नि तन सहे, शीत वर्षा जल माँहीं।
ऊभा[1] द्वादश वर्ष, विशेष सु बैठैं नाँहीं॥
ऊंधे घोंटैं[2] धूम, नग्न हो देह जरावहिं।
अड़सठ तीरथ करहिं, देव दर्शन को आवहिं॥
अज्ञान कष्ट आतम[3] पड़ी, गुफा सु वन को धाइये।
जन 'रज्जब' निज नाम बिन, निरालंभ[4] नहिं पाइये॥२॥

विचार बिना जो नाना कष्ट उठाने पड़ते हैं, उनका वर्णन करते हुये कहते हैं, इन से प्रभु प्राप्त नहीं होते—विचार की कमी के कारण कोई-कोई ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न के समय पंच धूणी के अग्नि से शरीर को तपाते हैं। कोई-कोई सूर्योदय से पहले ही बहुत समय तक शीतल जल की धारा अपने शिर पर गिरवाते हैं। कोई-कोई शीतकाल में तालाब आदि के गले तक गहरे शीतल जल में खड़े रहते हैं। कोई-कोई वर्षा काल में बाहर खड़े होकर वर्षा के पानी से भीगते रहते हैं। कोई कोई बारह वर्ष तक विशेष करके खड़े[1] ही रहते हैं, बैठते नहीं हैं। कोई-कोई नीचे धूणी लगा कर अपने पैर ऊंचे वृक्षादि के बाँधकर ऊँधे लटकते हैं अर्थात् ऊंचे पैर और नीचा मस्तक करके झूलते हुये धूम से घुटते[2] हैं। कोई-कोई नग्न होकर अपने शरीर को भस्म कर डालते हैं। कोई-कोई ६८ तीर्थों की यात्रा करने के लिये तथा देवताओं के दर्शन के लिये मार्ग में होने वाले नाना कष्टों को सहन करते हैं। इत्यादिक कष्टों में जीव[3] अज्ञान के द्वारा ही पड़ा हुआ है और अज्ञान के द्वारा ही दौड़-दौड़ कर गुफाओं में तथा महान् वनों में जाते हैं। निज नाम अर्थात् अपने आत्मस्वरूप ब्रह्म के नाम चिन्तन बिना उक्त तथा इसी प्रकार के अन्य कष्टों से निराश्रय[4] निराकार ब्रह्म प्राप्त नहीं होते। भाव यह है—निराकार ब्रह्म की प्राप्ति अभेद जाप पूर्वक अभेद ज्ञान से ही होती है।

हेर[1] हिमालय गलहिं, होय पुनि झंपा पाती।
शंकर सेव सु करहिं, शीश काटैं निज काती[2]॥
काशी करवत लेहिं, कठिन कूंडी सु करावहिं।
काष्ठ भख[3] भयभीत, देख निज देह जरावहिं॥
सकल कष्ट हद मीच लग, आदम[4] सो सब आदरे।
'रज्जब' राम न पाइये, बिन अक्षर एके ररे[5]॥३॥

मृत्यु पर्यन्त कष्टों का आदर करने पर भी कष्टों से रामजी प्राप्त नहीं हो सकते, यह कहते हैं—देखो,[१] कोई तो हिमालय में जाकर शरीर को गलाते हैं। कोई-कोई झंपा-पाती के शिकार होते हैं अर्थात् पर्वत शिखर से गिर कर मर जाते हैं। कोई-कोई भली प्रकार शंकरजी की पूजा करके अपने हाथों से ही धनुषाकार-शस्त्र[२] से अपना मस्तक काटकर उनके समर्पण करते हैं। काती द्वारा मस्तक काट कर जब देवता के चढाना होता है, तब शिर चढाने वाला व्यक्ति देवता के पास बैठकर काती के दोनों सिरे अपने हाथों में पकड़ कर जोर से गर्दन पर मारता है, जिससे शिर कटके देवता के आगे गिर जाता है। कोई-कोई काशी करवत लेकर मर जाते हैं। कोई-कोई कठिन कूंडी बनवाकर उसमें प्राण त्याग करते हैं। पृथ्वी में गले जितना गहरा खड्डा खोदकर उसमें आप खड़ा होकर तथा उसको बकरियों के खाद से भरवा कर गला ऊपर रखके उसमें अग्नि लगवा कर शरीर को भस्म कर देने को कठिन कूंडी कहते हैं।

कोई-कोई अधर्म से भयभीत होकर काष्ठ की चित्ता बना के उसमें बैठकर काष्ठ का भक्षण[३] करने वाले अग्नि में सब के देखते-देखते शरीर को जला देते हैं। संसार में सब कष्टों की सीमा मृत्यु तक ही है अर्थात् मृत्यु से अधिक कोई कष्ट नहीं है। यदि मनुष्य[४] इस महा कष्ट रूप मृत्यु से आदि सब कष्टों का आदर करे अर्थात् उन सब कष्टों को भोगना स्वीकार करे तो भी राम जी के बीज मंत्र 'रां[५]' रूप एक अक्षर के चिन्तन बिना राम का वास्तव स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। भाव यह है—राम प्राप्ति का मुख्य साधन राम मंत्र का चिन्तन ही है, अन्य सब गौण साधन हैं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अज्ञान कसोटी का अंग ३०

समाप्तः। स.छ. ७३।

अथ अज्ञान दानका अंग ३१

कनक तुला चढ़ दान, दान पुनि गुप्ता दीजे।
हय[१] गय[२] वसन[३] प्रवाह[४], विविध वेदों गति[५] कीजे॥
कोटि गऊ कुरुक्षेत्र, देंहि रवि पर्व[६] सु देखे।
अड़सठ तीरथ न्हाय, दान जग करे अलेखे[७]॥
भोजन भूमि भंडार दें, सुत नारी उदके[८] धरम।
सुमरण बिन सीझे[९] न जिव[१०], जन 'रज्जब' पाया मरम[११]॥१॥

अज्ञानी कितना भी दान करे किंतु ईश्वर स्मरण बिना केवल दान से उसको मुक्ति रूप परम सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती है, यह कह रहे हैं—चाहे तराजू पर चढकर अपने शरीर के बराबर स्वर्ण तोल कर

उसे दान कर दें। चाहे गुप्त दान दें। चाहे घोड़े[1], हाथी[2] और वस्त्रों[3] से आदिक विविध प्रकार का दान लगातार[4] वेदोक्त विधि[5] का आश्रय लेकर बहुत समय तक करते रहें। चाहे कुरुक्षेत्र में सूर्य ग्रहण[6] को देखते हुये भली प्रकार से करोड़ गायों का भी दान दें। चाहे अड़सठ तीर्थों में स्नान करके जगत् में हिसाब से रहित अपार[7] दान करें। चाहे असंख्य प्राणियों को भोजन दें। चाहे भूमि का दान दें। चाहे विविध वस्तुओं से भरे हुये भँडारों का दान करें। चाहे पुत्र और नारी को भी धर्मार्थ दे[8] दें तो भी ईश्वर स्मरण के बिना जीव[10] मुक्ति रूप सिद्धा[9]-वस्था को नहीं प्राप्त होता है। यह रहस्य[11] हमने सद्गुरु द्वारा प्राप्त कर लिया है अर्थात् जान लिया है। ईश्वर स्मरण के बिना इन दानादि से जीव की मुक्ति नहीं हो सकती है। मुक्ति का उत्तम साधन ईश्वर स्मरण द्वारा ज्ञान ही है। मुक्ति चाहने वाले को अपना मन अधिकतर प्रभु स्मरण में ही लगाना चाहिये।

देंहि रसायन दान, दान पुनि पारस कीजे।
पौरष[1] करें प्रवाह[2], दत्त[3] गिरि कंचन दीजे॥
सप्त धातु की खानि, देंहि वैरागर[4] संगा।
सर्व तोयनिधि[5] त्याग[6], जहां निपजे नग चंगा[7]॥
अवनि[8] उदक[9] अवतार[10] विधि[11], अब बिन दीन्ही क्या रही।
पै[12] 'रज्जब' हरि नाम बिन, जीव न सीझे[13] सो[14] सही[15]॥२॥

चाहे तांबे को सोना बनाने का प्रयोग रूप रसायन का दान दें। चाहे पारस को दान करें। चाहे मनुष्याकार स्वर्ण-पुतला[1] जो प्रति दिन स्वर्ण देता है, उसका भी लगातार[2] दान[3] दें। पौरषे का विशेष विवरण उपदेश अंग २ छप्पय ४ की टीका में देखो। चाहे स्वर्ण-पर्वत का दान दें। चाहे सात धातुओं की खानियों के साथ हीरों[4] की खानि भी दान में दे दें। चाहे जहां बहुत-से उत्तम[7]-उत्तम नग उत्पन्न होते हैं ऐसी समुद्र[5] की संपूर्ण खाडियों का दान[6] करें। चाहे परशुराम[10] अवतार के समान[11] संपूर्ण पृथ्वी[8] भी दान[9] कर दें। अब कहो बिना दान करी क्या वस्तु रह जाती है अर्थात् सर्व पृथ्वी के दान से पृथ्वी भर की सभी वस्तुओं का दान हो चुकता है, शेष कुछ भी नहीं रहता है। तो[12]-भी हरि-नाम स्मरण बिना जीव मुक्ति रूप परम सिद्धि[13] को नहीं प्राप्त होता है। उक्त[14] बात मैंने सत्य[15] ही कही है, मिथ्या नहीं। भाव यह है—हरि-स्मरण बिना केवल दान से ही मुक्ति नहीं होती है।

करामात[1] दे दान, ऋद्धि[2] अरु सिद्धि सु दीजे।
नव निधि का सु प्रवाह[3], कई ठाहर[4] यूं[5] कीजे॥

कामधेनु का पुण्य, दत्त[६] दीरघ[७] कर देखें ।
चिन्तामणि मंत्रादि, दान पुनि करें अलेखें[८] ॥
कल्पवृक्ष संकल्प कर, कमला[९] सहित सु दीजिये ।
'रज्जब' नाम अधार[१०] बिन, दान असंख्य न सीझिये[११] ॥३॥

चाहे लोकों को आश्चर्य में डालने वाले चमत्कारों[१] का दान करें। चाहे ऐश्वर्य[२] का दान करें। चाहे १ अणिमा=अत्यन्त छोटा रूप धारण करने की शक्ति। २ महिमा=बहुत बड़ा रूप बनानेकी शक्ति। ३ गरिमा=भारी होने की शक्ति। ४ लघिमा=छोटा वा हलका होने की शक्ति। ५ प्राकाम्य=स्वतंत्रता देने वाली शक्ति। ६ प्राप्ति=इच्छा पूर्ण करने की शक्ति। ७ ईशत्व=सब पर शासन करने की शक्ति। ८ वशित्व=अन्यों को वश में करने की शक्ति। इन आठ प्रकार की योग सिद्धियों का भी दान करें। चाहे कुबेर के नौ प्रकार के खजाने-१ पद्म २ महापद्म ३ शंख ४ मकर ५ कच्छ ६ मुकुन्द ७ कुन्द ८ नील ९ वर्च्च, इन नव निधि का भी कई तीर्थ स्थानों[४] पर भली प्रकार लगातार[३] ऐसा[५] दान करे जैसा किसी ने भी नहीं किया हो। चाहे कामधेनु का महान्[७] दान[६] रूप पुण्य कर्म भी करके देख लें। चाहे इच्छानुसार पदार्थ देने वाली चिन्तामणि का तथा मंत्रादि का भी हिसाब रहित अपार[८] दान करें। चाहे लक्ष्मी[९] के सहित कल्प वृक्ष का दान देने का संकल्प करके भली प्रकार विधि सहित दान दें। तो भी ईश्वर नाम का आधार अर्थात् नाम चिन्तन रूप साधन का आश्रय[१०] लिये बिना उक्त तथा अन्य असंख्य प्रकार के दान करने पर भी प्राणी को मुक्ति रूप परम सिद्धि[११] प्राप्त नहीं होती है। भाव यह है—ईश्वर भजन द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। दान से नहीं होती। सकाम दान से जिस वस्तु का दान किया है वह वस्तु अधिक मात्रा में दाता को पुनः प्राप्त होती है। निष्काम दान से अन्तःकरण शुद्ध होता है और ईश्वर भजन से अन्तःकरण शुद्ध तथा स्थिर होकर ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान बिना भ्रम रूप बन्धन निवृत्त नहीं होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अज्ञान दान का अंग ३१ समाप्त ।स०छ०७६।

अथ सांच चाणक का अंग ३२

इस अंग में साँच चाणक (सत्य वचन रूप चाबुक) से ब्राह्मणों को सचेत कर रहे हैं अर्थात् दोषी के हित की अभिलाषा करके सत्यता पूर्वक उसके दोषों को दिखा रहे हैं—

लेंहि अमावस दान, ग्रहण थावर[१] को माँग हिं ।
तजें न सती रु ऊत[२], मृतक मुख मिसर[३] न खाँगहिं[४] ।

सूतक पातक[५] लेहिं, प्रयोजन[६] पेखि[७] करार्वाह ।
रण खेड़े[८] लख लगन[९], देव दिन जीव मरार्वाह ।।
कर्म अशौच[१०] उच्छिष्ट[११] लें, शंका शौच[१२] न ब्राह्मण हु ।
'रज्जब' आये[१३] पाप शिर, तोल माप नांहि न मण हु ।।१।।

इस छप्पय में कहते हैं—अयोग्य दान लेना और अयोग्य कर्म करना उचित नहीं है—अमावस्या तिथि को क्रूर दान ले लेते हैं। ग्रहण के दिन भी दान लेते हैं। शनिवार[१] के दिन शनिश्चरजी के निमित्त तिल, लोह आदि भी मांगना नहीं छोड़ते। सती जब पति के साथ जलने को जाते समय दान करती है, वह दान भी नहीं त्यागते। जिसका वंश-नष्ट[२] प्राय: है अर्थात् जिसके कोई भी संतान नहीं हुई है और अब होने योग्य रहा नहीं है उसका भी दान नहीं छोड़ते। मुरदे के मुख में डाला हुआ स्वर्ण का छोटा टुकड़ा[३] भी लेने में कम[४] नहीं रहते अर्थात् उसको भी ले लेते हैं। जन्म-मरण के समय के अपवित्र दिनों में भी दान ले लेते हैं। पाप[५] का अर्थात् पाप कर्म करने वाले का भी दान ले लेते हैं। देखो[७], ग्राह्य अग्राह्य का कुछ भी विचार नहीं करके लोकों से अपना कार्य सिद्ध[६] करवाते हैं। दूसरों के ग्राम[८] दबाने के लिये युद्ध का मुहूर्त्त[९] देखकर बताते हैं। देवी, भैरव आदि देवताओं के बलि के दिन सहर्ष जीवों को मरवाते हैं। उक्त कार्य करने कराने वालों के कर्म अपवित्र[१०] ही होते हैं। ये लोक मुरदे के मुख का जूठा[११] स्वर्ण भी ले लेते हैं। कोई प्रकार की शंका नहीं करते। इससे उक्त कार्य करने वाले ब्राह्मणों में पवित्रता[१२] नहीं रहती है। उक्त क्रूर दान लेने वालों तथा क्रूर कर्म करने वालों के शिर पर तो पाप ही चढ़ते[१३] हैं। उन पापों का कोई तोल वा माप नहीं हो सकता कि ये इतने मण हैं। इतना ही कहा जा सकता है कि—वे बहुत हैं। भाव यह है—उक्त कार्य ब्राह्मणों को नहीं करने चाहिये।

पलक सु काढैं घड़ी, घड़ी काढैं पहरों तहिं[१] ।
पहर दूर[२] दिन करहिं, दिवस टारें[३] मासों महिं ।।
बारह पूनों वर्ष, करें सो तेरह मासा ।
द्वादश सूरज चन्द्र, कहैं यह बड़ा तमासा ।।
पलक घड़ी अरु पहर दिन, मास वर्ष सरके कबै ।
'रज्जब' विप्र सु बालमति[४], फिरत फिरत देखे सबै ।।२।।

काल के भेदों को काल्पनिक बताते हुये काल की नित्यता का कथन करते हैं—घड़ी में से पलक निकालते हैं। पहरों में से[१] घड़ी निकालते हैं। दिन में से पहर निकाल[२] लेते हैं। महीनों में से दिन निकाल[३] लेते हैं अर्थात् घटा देते हैं। इस प्रकार घटाते-घटाते बारह मास के वर्ष को तेरह मास

का बना देते हैं और कहते हैं—बारह सूर्य हैं और बारह चन्द्रमा हैं। एक-एक सूर्य-चन्द्र को १२-१२ कहते हैं, यह बड़े खेल की-सी बात कहते हैं। पलक, घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष, ये कब कम होते हैं? वे तो जितने जिस समय ईश्वर संकल्प से होते आये हैं, उतने ही होते हैं। अधिक या कम करना तो मानव कल्पना है। विप्र लोक अज्ञात[४] तत्त्व हैं अर्थात् काल तो नित्य है, उससे अधिक कम होना रूप क्रिया नहीं होती है, इस तत्त्व को नहीं जानते तब ही अपनी अस्थिर बुद्धि से पलक घड़ी आदि सबको फिरते हुये अर्थात् अधिक कम होते हुये से देखते हैं। भाव यह है—काल नित्य है, उसमें घटा बढी करना केवल कल्पना है। वैसे ही १२ मास की उपाधि से १२ सूर्य और १२ राशि की उपाधि से १२ चन्द्रमा कहे जाते हैं, वास्तव में तो एक-एक ही हैं।

परशुराम भरमाय, मही[१] मुर[२] बार सु लीन्ही।
पुनि दूजे अवतार, देख उर[३] लात सु दीन्ही॥
विप्र रूप वपु धार, उठे[४] वलि से नहिं थोरे।
देख डरें द्विज[५] रूप, करण के दांत सु तोरे॥
प्रह्लाद पिंड पांडे[६] सु पड़, पूत बाप बिच वथा[७] धरी[८]।
हरिचन्द्र हेरि 'रज्जब' रहसि[९], ब्रह्म वंश संगति करी॥३॥

इच्छा युक्त महान् ब्राह्मण के संग से भी दुःख होने की संभावना है, यह कहते हैं—परशुरामजी ने छत्रियों को तीन[२] बार जीतके पृथ्वी[१] अपने अधीन कर ली थी, किंतु ब्राह्मणों ने उनको भ्रम में डाल कर अर्थात् पृथ्वी दान का माहात्म्य बतलाकर उनसे तीन बार ही दान में ले ली थी और देखो दूसरे अवतार भगवान् विष्णुजी के हृदय[३] पर भी ब्राह्मण भृगु ने ही लात मारी थी। यह कथा इस प्रकार है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन तीनों में बड़ा कौन है? ऐसा प्रश्न सुर समाज में उठा था। इसका निर्णय करने का काम भृगु जी ने लिया था। भृगु जी महादेव जी के पास गये तब उनके पास पार्वती जी बैठी थीं, देवीजी को शिव जी ने कहा—"भृगु आ रहे हैं, हम उनसे वार्तालाप करेंगे, तुम यहां से हट जाओ।" वे हट गयीं। भृगु जी ने कहा—"अब तक तो नारी को पास बिठा रखी थी, अब मेरे आने पर आप त्यागी बन रहे हैं।" इस वचन पर शंकर जी को क्रोध आ गया। तब भृगु वहां से भागे और ब्रह्मा जी के पास आकर बिना प्रणाम करे ही स्तंभ के समान खड़े हो गये। इस व्यवहार से ब्रह्मा जी भी रुष्ट हुये, तब भृगु विष्णु जी के पास गये, वहां जाकर खड़े हो गये। विष्णु जी भी शांत भाव में स्थित रहे। तब भृगु जी ने उनकी छाती[३] पर जोर से लात मारी। उस पर भी विष्णु जी ने उनको कहा—"आप के कोमल चरण पर चोट आयी होगी। मेरी छाती तो असुरों की गदाओं की चोटों से पक्की हो रही है।" यह सुन कर भृगु ने विष्णु

को बड़ा बताया था। ब्राह्मण के रूप के समान शरीर धारण करके राजा वलि से भी कम नहीं बिगड़े,[४] बहुत बिगड़े थे। वलि का सर्वस्व छीन लिया था। यह कथा अति प्रसिद्ध है। हम तो इस प्रकार के ब्राह्मण[५] का रूप देख कर के ही डरते हैं। देखो तो सही मरते समय भी कर्ण के दाँत तुड़वा डाले थे। यह कथा इस प्रकार है—कर्ण जब अर्जुन से युद्ध स्थल में घायल होकर पड़े थे तब भगवान् ने कर्ण की दान शीलता की परीक्षा करने के लिये तथा उसे दर्शन देनेके लिये, एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाया और उसके पास जाकर बोले–कर्ण! तुम बड़े दानी हो, तुम्हारी प्रशंसा सुन कर मैं भी कुछ दान लेने आया हूं। कर्ण ने मधुर वाणी से कहा—"महाराज ! इस समय तो मेरे पास कुछ भी नहीं है।" ब्राह्मण बोला–"तुम्हारे दाँतोंमें जो स्वर्ण लगा है, वह तो तुम्हारे पास है, मुझे वही दे दो।" कर्ण ने कहा—"ठीक है, आप उसे तोड़ कर ले लें।" ब्राह्मण ने कहा—"मैं दान लेने आया हूं, इसलिये तोड़ नहीं सकता, तुम ही तोड़ कर दो।" कर्ण ने पत्थर से अपने स्वर्ण युक्त अगले दाँत तोड़ कर ब्राह्मण को दे दिये। फिर भगवान् ने उसे दर्शन दिया तथा वर माँगने को कहा, तब कर्ण ने वर माँगा-मुझे ऐसी भूमि पर दग्ध करें जहां पहले किसी को न जलाया हो। फिर भगवान् ने तथास्तु कह कर अपने बाँये हाथ पर उसे जलाया था। प्रह्लाद के शरीर के पीछे पड़ कर पंडित[६] ने पुत्र और पिता के बीच में कैसी[७] शत्रुता करा[८] दी थी। यह कथा इस प्रकार है—प्रह्लाद को जब पढाने के लिये भेजा था तब प्रह्लाद के व्यवहार को देखकर उन को पढाने वाले गुरु-पुत्र षण्ड और अमर्क ने हिरण्यकशिपु को कहा था कि—"यह बालक पढने में मन नहीं लगाता है, विष्णु भक्ति में ही मन लगाता है।" इस बात से ही पिता-पुत्र में शत्रुता हुई थी। हरिश्चन्द्र को भी देखो, विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र में क्या-क्या किया था अर्थात् उनका राज्य ले लिया था और राजा, रानी, पुत्र तीनों को अलग-अलग बेच दिया था। उस से उनको कितना दुःख उठाना पड़ा था। हरिश्चन्द्र की कथा प्रसिद्ध है। उक्त लोकों ने ब्राह्मण वंश की संगति करी थी। अब पाठक गण ब्राह्मण वंश की संगति का रहस्य[९] स्वयं ही समझ लें कि—वह कैसी है ? भाव यह है—आशायुक्त व्यक्ति चाहे कोई भी हो उसके संग से अन्त में दुःख ही होता है।

इस अंग का नाम "सांच चाणक" (सत्य की चाबुक) रखा है। जैसे तांगे का घोड़ा सड़क छोड़कर खराब मार्ग में जाने लगता है तब ताँगे को चलाने वाला उसके चाबुक मार कर उसे मार्ग पर लाता है, तब तांगे, घोड़े, यात्री और चलाने वाला, इन सब की रक्षा होती है। कारण—घोड़ा खड्डे में पड़ेगा तब सबके चोट आयेगी। इसी प्रकार सबको

सन्मार्ग में ले जाने वाले ब्राह्मण ही हैं। जब वे सन्मार्ग को त्याग करने लगते हैं तब विरक्त भगवद् भक्त संत जन उनके तथा सर्व प्राणी वर्ग और अपने भी हित के लिये उनके सत्य वचन रूप चाबुक लगाकर उनको सन्मार्ग में लाने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि विचार से देखें तो वह उनका निजी कर्त्तव्य ही है ! ऐसा नहीं करने से उन्हें उल्टा दोष लगता है। इसीलिये इस अंग में रज्जबजी ने ब्राह्मण गण को सचेत करने के लिये ही उनकी समालोचना की है। दोष दृष्टि से नहीं, कारण—संत के हृदय में दोष दृष्टि नहीं रहती है किन्तु सुधार दृष्टि ही रहती है। जो मानव अपनी समालोचना धैर्य के साथ पढ करके उसका रहस्य समझते हैं तथा दोषों को त्यागते हैं। तब उनकी और उनसे संबन्धित लोकों की सर्वथा उन्नति ही होती है और जो लोक समालोचना को ईर्ष्या समझ लेते हैं, वे न तो आप उन्नत हो सकते और न अपने साथियों को ही उन्नत बना सकते हैं। इस लिये उन्नति चाहने वालों को समालोचना से व्यथित नहीं होना चाहिये। इस अंग के पहले छप्पय में अनुचित दान लेने वाले ब्राह्मणों को तथा हिंसा प्रधान कर्म कराने वा करने वाले ब्राह्मणों को अपार पाप होता है, यह कहा है। सो प्राचीन ऋषियों ने भी यह बात स्मृति ग्रन्थों में तथा इतिहास पुराणों में बहुत मात्रा में कही है। दूसरे छप्पय में काल भेद तथा सूर्य-चन्द्र की अनेकता, बाल मति विप्रों ने अपनी कल्पना से ही मानी है। यह भी ठीक ही है, क्योंकि वास्तव में तो काल भेद शून्य और नित्य ही है। सूर्य-चन्द्र भी एक-एक ही हैं। तीसरे छप्पय में महा पुरुष ब्राह्मणों के संग से हानि का निर्देश किया है। वह वर्तमान ब्राह्मणों को अभिमान शून्य करने के लिये किया है। इस रीति से विचार करने पर यह अंग ब्राह्मणों के लिये बड़ा हितकर सिद्ध होता है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित साँच चाणक का अंग ३२ समाप्तः

।स० छ० ७६।

अथ कुसंगति का अंग ३३

राहु केतु शशि सूर्य, नूर[१] की ठोर[२] उठाई[३]।
रावण संग समुद्र, शीश पर पाज[४] बँधाई ॥
वंश वनो पापिष्ठ[५], नाव पर करगस[६] तीरं।
गंगोदक[७] मद[८] मिलत, क्षार मधि[९] भाजन[१०] क्षीरं ॥
तीरथ गये[११] समुद्र मिल, दूध देखि कांजी परे।
'रज्जब' अज्जबता[१२] गई, एक कुसंगति के करे ॥१॥

कुसंग से होने वाली हानि का वर्णन कर रहे हैं—राहु और केतु के कुसंग से चन्द्रमा और सूर्य ने अपने प्रकाश[1] के स्थान[2] में से प्रकाश को खो[3] कर कालिमा प्राप्त की है। दोनों ग्रहण के समय प्रकाश हीन काले पड़ जाते हैं। अमृत पान के समय थोड़ी देर राहु केतु के पास चंद्र-सूर्य बैठे थे उतने-से कुसंग का फल आज तक ग्रहण रूप से भोगते हैं। सीता जी को रावण ने हरा था, समुद्र ने तो भगवान् राम का कुछ भी नहीं बिगाड़ा था किंतु रावण के कुसंग से ही समुद्र को अपने शीश पर सेतु[4] बँधानी पड़ी थी।

एक बाँस के कुसंग से सर्व वन भस्म हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में बांसों के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होकर वन को जला देता है। मनुष्यों से भरी हुई नौका में एक भी महा पापी[5] बैठा हो तो उसके कुसंग से सब नौका डूब जाती है। काक की पांखों से युक्त बाणों के तूणीर में एक भी गिद्ध[6] वा उल्लू पक्षी की पंख से युक्त बाण रख दिया जाय तो उसके कुसंग से सब बाण खराब हो जाते हैं। गंगा जल[7] में मद्य[8] मिल जाने से, मद्य के कुसंग से गंगा-जल खराब हो जाता है। दूध के पात्र में[9] वा दूध-चावल से बनाई हुई खीर के पात्र[10] में क्षार पड़ जाने से क्षार के कुसंग से दूध वा खीर खराब हो जाती है। समुद्र में मिलकर समुद्र के कुसंग से सर्व तीर्थ तीर्थपने को खो[11] बैठते हैं अर्थात् समुद्र रूप ही हो जाते हैं। देखो दूध में राई आदि से बनने वाला एक खट्टा पदार्थ कांजी पड़ने से दूध खराब हो जाता है। उक्त सबकी एक मात्र कुसंग के कारण ही विलक्षणता[12] चली जाती है। वैसे ही कुसंग से मनुष्यों की महान् हानि होती है। भाव यह है—कभी भी कुसंग नहीं करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित कुसंगति का अंग ३३

समाप्तः। स० छ० ८० ॥

अथ जूठण का अंग ३४

मन पर मल मंडान, गैल मल स्थूल सु मूलं।
जल थल मल हो किरषि[1], मलहि क्षिति[2] खात सुधूलं॥
मल मिष्टान्न सु[3] मेल, मल हि साँभर सुत[4] सीरं[5]।
मल मुख लेहिं अफीम, मलै मल भुगतें वीरं॥
कहो हींग घृत कौन मधि, सूप[6] चालणी शोधिये[7]।
'रज्जब' लीजे मेद मधु, क्या आचार प्रबोधिये॥१॥

अति आचार करने वालों को चेतावनी देते हैं कि—अति आचार मिथ्या व्यवहार है —मन के ऊपर पापों का मंडान है अर्थात् पाप छाये हुये हैं। स्थूल शरीर के साथ भी आदि से ही कफ, मूत्रादि मल रहते हैं। कृषि[1] भी जल और पृथ्वी की मिट्टी के मल से बनी हुई चिकनी काली मिट्टी से ही अच्छी होती है। पृथ्वी[2] पर भी खाद है सो भी पशु आदि का मल ही है। उसी से हमारी सब खाने की वस्तुयें उत्पन्न होती हैं। जिससे हम अपने हाथ तथा पात्र पवित्र करने के लिये माँजते हैं, वह धूलि भी तो मल ही है। सब मिष्ठान्न भी भली[3] प्रकार से ईख के मल गुड़ादि और गाय आदि के मल घृतादि के मेल से ही बनते हैं। साँभर-के-नमक[4] में भी तो मल का ही मिलाव है। उसके पानी में जो भी अपवित्र वस्तुयें बहकर आती हैं, वे सब गल कर उसी में मिल[5] जाती हैं। अफीम भी तो अफीम के डोडों के चीरा देकर निकाला हुआ होने से मल ही है। उसे भी सब मुख में लेते हैं। मैल रूप शरीरों के द्वारा बड़ी वीरता के साथ प्राणी मल रूप शरीरों का तथा मल रूप वस्तुओं का ही उपभोग करते हैं और कहो—हींग और घृत किससे तैयार होते हैं! हींग वृक्ष का गोंद होने से मल है। घृत भी पशुओं के रक्त, माँसादि के शरीरों से निकले हुये दूध से तैयार होता है, इससे मल ही है। छाज[6] और चलणी को भी देखिये[7] ये भी तो चमड़े से युक्त होते हैं और सबके काम आते हैं। छाज में चमड़े के तन्तु लगते थे और चलणी भी पहले चमड़े से युक्त होती थी। अब तो दोनों लोहादि धातुओं के बनने लग गये हैं। इस ग्रन्थ की रचना के समय दोनों चमड़े से युक्त होते थे।

देखो, मेद एक प्रकार की बिल्ली के फोड़े का पीप वा गाँठ होती है वह मल ही है किन्तु उसे भी सुगँधित होने से ग्रहण करते हैं। मेद का वर्णन भजन प्रताप अंग ६ छप्पय ४ की टीका में देखो। शहद् भी शहद् की मक्खी का मल है, फिर भी सब ग्रहण करते हैं। भगवान् का पंचामृत भी शहद् बिना नहीं बनता है। फिर भी हे अति आचार करने वाले महानुभाव, आप अति आचार का क्या प्रबोध कर रहे हैं? अति आचार मिथ्या भ्रम है। भाव यह है—आचार पद्धति शरीरादि की शुद्धि के लिये है? वस्तुओं का ग्रहण त्याग तो गुण और अवगुण से होता है। विचार युक्त आचार होना चाहिये। दूसरों को विक्षिप्त करना रूप आचार उचित नहीं होता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जूठण का अंग ३४ समाप्तः
। स० छ० ८१ ।

अथ अप लक्षण अपराध का अंग ३५

सारंग[1] स्वर सु विनाश, मीन रसना रस आशा।
पावक[2] देख पतंग, भ्रमर नासिक भिदि[3] वासा॥

पटसल वारण[४] बाघ[५], मुग्ध[६] मति मर्कट[७] सूवा[८]।
मूष[९] चुरावत बाति, पवंग[१०] पावक परि मूवा॥
श्वान मीच दर्पण महल, मकड़ी मूंदे द्वार को।
'रज्जब' मरे संघोर[११] बक, पाया नहीं विचार को॥१॥

प्राणी अपने कुलक्षण रूप अपराध से ही नाश को प्राप्त होते हैं, यह कह रहे हैं—मृग[१] अपने कुलक्षण से ही व्याध की वीणा के सुन्दर स्वर से विनाश को प्राप्त होता है। व्याध को जब मृग की शिकार अनायास नहीं मिलती है तब वह वीणा के स्वर से बरवे राग गाता है। वीणा के बरवे राग के स्वर को सुन कर मृग खंभे के समान अचल खड़ा होकर बड़े प्रेम से उसे सुनता है। जब व्याध को निश्चय हो जाता है कि—वह अब राग में मस्त हो गया है, दौड़ नहीं सकता, तब उसे मार देता है। इस प्रकार मृग अपने अपराध से ही मारा जाता है। यदि नहीं खड़ा रहे तो क्यों मारा जाय। मच्छी भी जिह्वा के विषय रस की आशा करके अर्थात् रस में आसक्त होकर अपने अपलक्षण से ही नाश को प्राप्त होती है। मच्छी पकड़ने वाले लोहे के कांटे में आटा आदि की गोली लगा कर उसे डोरी में बाँध कर जल में छोड़ देते हैं। तब मच्छी दौड़ कर उसे खाती है। वह काँटा उसके गले में फंस जाता है। उसी क्षण डोरी खेंच कर मच्छी को अपने टोकरे आदि में रख लेते हैं। पतंग अग्नि[२] को देखकर अपने कुलक्षण से ही अग्नि में पड़कर मरता है, अन्य कोई भी उसे अग्नि में नहीं डालता। भ्रमर नासिका के विषय सुगंध में आसक्त होकर देखो कैसी विधि से नाश[३] को प्राप्त होता है अर्थात् अपने कुलक्षण से ही नाश होता है। भंवरा सायंकाल सूर्यमुखी कमल पर बैठता है, तब सूर्य के छिपते ही कमल पुष्प संकुचित होने लगता है, भंवरा सुगंध की आसक्ति के कारण पुष्प से उड़ता नहीं है, उसी में बन्द हो जाता है। पुष्प दलों को काटने में समर्थ होते हुये भी राग के कारण काट करके भी नहीं निकलता है। फिर रात्रि में श्वास बन्द होने से वा हाथी के चरण की चोट से मारा जाता है। पृथ्वी में एक गहरा तथा चौड़ा खड्डा खोदकर उसको पतली लकड़ी और वृक्षों के पत्तों से छाप करके उस पर थोड़ी-थोड़ी रेती बिछाकर पृथ्वी के समान कर देते हैं इसी को 'पटसल' कहते हैं। उस पटसल पर हाथी[४] पड़कर अपने कुलक्षण से ही बन्धन को प्राप्त होता है। उसे कोई पकड़ के तो नहीं डालता। पूर्व काल में जब हाथी को पकड़ना होता था तब वन में पटसल बना कर उस पर एक कागज की हथिनी रख देते थे। हाथी उसे देख के काम वश होकर उस पर कूद पड़ता था तब पटसल की छपत टूट कर नीचे के गहरे खड्ढे में गिर जाता था। फिर कई दिन उसे भूखा-प्यासा रख के कमजोर करते थे।

कमजोर होने पर खड्ढे को एक ओर मिट्टी से भर के मार्ग बना कर पकड़ के निकाल लेते थे। सिंह[५] भी अपने कुलक्षण से ही पींजरे में प्रवेश करके बन्धन को प्राप्त होता है। सिंह को पकड़ने के लिये वन में जहां प्रायः सिंह रहता है वहां एक पींजरा रख देते हैं, उस में एक बकरा बाँध देते हैं। पींजरे का द्वार खुला रखते हैं, द्वार का किवाड़ एक यंत्र से ऊपर अटका रहता है। सिंह बकरे को खाने के लिये पींजरे में प्रवेश करता है, तब द्वार बन्द हो जाता है। पटसल पर भी बकरा बाँध देते थे, सिंह बकरे को खाने जाता था तब पटसल टूट कर सिंह खड्ढे में पड़ जाता था। उक्त दोनों ही प्रकार से पकड़ा जाता था, उस पकड़ने में सिंहका कुलक्षण ही हेतु है, अन्य कोई नहीं है। मूर्ख[६] बुद्धि वानर[७] तथा शुकपक्षी[८] भी अपने अविचार रूप कुलक्षण से ही बन्धन में पड़ते हैं। पूर्व काल में वानर को पकड़ने वाले, जहां वानर रहते थे वहां संकुचित मुख की एक हँडिया पृथ्वी में गाड कर उसमें चने डाल देते थे। वानर उस में अपने दोनों हाथ डाल कर चने की दोनों मुट्ठी एक साथ निकालने का यत्न करता था। हँडिया का मुख सकड़ा होने से दोनों एक साथ निकलती नहीं थीं। इतने में ही पकड़ने वाला आकर पकड़ लेता था। यदि एक-एक करके निकालता तब तो दौड़ जाता, परन्तु एक-एक निकालता नहीं है, अपनी गलती से ही पकड़ा जाता है। तोता पकड़ने वाले एक जल का कूंडा भर कर जहां तोते प्रायः आया करते थे, वहां रख के उसके दोनों ओर दो लकड़ियाँ गाड कर कूँडे से थोड़ी ऊंची एक लड़की में एक नलिका डाल कर उसे कूंडे के मध्य भाग में पानी निकालने की भौंणी के समान उन दोनों लकड़ियों के बाँध देते थे। तोता जल पीने के लिये उस के ऊपर बैठ कर के ज्यों ही झुकता था तब नली फिर जाने से उस के पैर ऊपर को और मस्तक नीचे को हो जाता था। तब वह नीचे तालाब भरा देखता था और समझता था कि किसी ने मुझे बाँध लिया है। इस से जोर-जोर से बोलता था, तब पकड़ने वाला आकर पकड़ लेता था। यदि शुकपक्षी नलिका को छोड़ कर उड जाता तो क्यों पकड़ा जाता किंतु अपने अविचार रूप कुलक्षण के कारण नहीं उडता तब पकड़ा जाता है। चूहा[९] जलते हुये दीपक की बत्ती चुराता है, तब अपने अविचार रूप कुलक्षण से आप भी जल कर मरता है अन्यों को भी मारता है। चूहा तृणों से छाये हुये छान के घर में जलते हुये दीपक की बत्ती को उठा कर छान में जा घुसता है। इस से छान में अग्नि लग जाता है; तब वह भी जल मरता है और छान में रहने वाले अन्य जन्तु भी जल मरते हैं। घोड़ा[१०] भी अपने अविचार रूप कुलक्षण से ही अग्नि में पड़कर जल मरता है। घोड़े के पास अग्नि लग जाता है तो अन्य ओर नहीं जाकर अग्नि में ही कूद पड़ता है। कुत्ता काच-महल में जाकर अपने अविचार रूप कुलक्षण से ही मरता है। कुत्ता काच-महल में अपने प्रति विम्ब रूप

अन्य कुत्तों को देख के भूक-भूक कर मर जाता है। मकड़ी भी अपने घर का द्वार आप ही बन्द कर के मर जाती है। बगला नारियल[11] में चोंच मार कर अपने अविचार रूप कुलक्षण से ही मरता है। बगला वृक्ष पर लटकते हुये कच्चे नारियल का दूध पीने के लिये उसमें चोंच मारता है। तब पीने के लोभ से चोंच को उस से शीघ्र नहीं निकालता है। इस से चोंच उसमें चिपक जाती है। फिर जब निकालने के लिये जोर से झटका लगता है, तब उसके पैर छुट जाते हैं। चोंच नहीं निकलती है। फिर वह ऊपर ही लटक कर मर जाता है। काक पक्षी भी उक्त प्रकार से नारियल का दूध पान करता है किंतु चतुर होने से चोंच को शीघ्र शीघ्र निकाल कर के साफ करता रहता है। इससे काककी चोंच नहीं चिपकती है। उक्त प्रकार ही प्राणी आत्म-विचार को नहीं प्राप्त कर के अपने अविचार रूप कुलक्षण से ही बारंबार जन्म-मरण रूप दु:ख भोगते हैं। दु:ख का कारण अपने अविचार को छोड़ कर अन्य कोई भी नहीं है। भाव यह है—तत्त्व वेताओं के पास बैठ कर आत्म विचार करना चाहिये। अपने दोष से ही अपनी हानि नहीं करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित अपलक्षण अपराध का अंग ३५

समाप्त:। ।स. छ. ८२।

अथ असाध्य रोगी का अंग ३६

बांझ न होवे बाल, कहा ऊषर के बाहे।
अन्न चढ़े नहिं हाथ, देख कूकस[1] के गाहे[2] ॥
चन्दन बिधे[3] न वंश, अंध अंजन क्या होई।
बहिरे आगे बात, बहुत कर देखो कोई ॥
असाध्य रोग औषधि नहीं, गांझा ज्ञान हि क्या करे।
श्याम ऊन शंख न रंगहि, 'रज्जब' क्यों गुरु पच मरे[4] ॥१॥

इस अंग में यह कहते हैं कि—पहले तो रोग ही असाध्य हो, फिर औषधि भी नहीं हो, तब श्रेष्ठ वैद्य हो तो भी क्या कर सकता है—बाँझ के बालक नहीं होता। अतिक्षार युक्त ऊषर भूमि में अन्न बोने से क्या अन्न होता है ? उलटा बीज भी नष्ट हो जाता है। देखो, जिस से भली भांति अन्न निकाल लिया है, उस भूसा[1] को पुन: बैलादि के पैरों से कुचलाने[2] से अन्न हाथ में नहीं आता है। चन्दन की सुगंध से अन्य वृक्ष तो चंदन बन जाते हैं किंतु बांस को तो चंदन की सुगंध नहीं वेध[3] सकती अर्थात् बांस में प्रवेश कर के उसे चंदन नहीं बना सकती। जन्मांध

के आँखों में अंजन डालने से क्या होता है ? कुछ भी नहीं होता है। बहिरे मनुष्य के आगे कोई भी बहुत-सी बातें करके देख ले उसे तो कुछ नहीं सुनेगा। असाध्य रोग की औषधि नहीं होती है अर्थात् वह औषधि से नष्ट नहीं होता है। गांझा अर्थात् जो अंधा, बहिरा और गूंगा भी हो वह ज्ञान के द्वारा क्या लाभ प्राप्त कर सकता है ? कुछ भी नहीं। श्याम ऊन और शंख को रंग के पात्र में डुबोने से उनके रंग नहीं चढता है। उक्त प्रकार ही जिस शिष्य का जड़ता आदि रोग असाध्य हो अर्थात् उपदेश का कोई लाभ नहीं दिखाई दे तो ऐसे शिष्य के साथ गुरु व्यर्थ ही क्यों पच-पच के दुखी[१] होवे। वह तो सुधरेगा नहीं।

सांभर सर गिरि हिम[१] हिं, बाग तरुवर नहिं जामहिं।
मीन माग[२] खग पंथ, व्याल[३] थल पोल न ठामहिं[४]॥
कच्छप गेंडा बान, छिदे नहिं चक्र सु पींडा।
सेल सहस इक मार, वारि दर्शे नहिं छींडा[५]॥
हनुमंत हांक हारी त्रिया, गोली गुंमट[६] सु गिर परे[७]।
असाध्य रोग औषधि बिना, 'रज्जब' सु वैद्य क्या करे ॥२॥

साँभर के सर में और हिमालय[१] पर्वत के ऊपर वृक्षों का बाग नहीं लग सकता। मच्छी का मार्ग[२] जल में नहीं मिलता है। पक्षी का रास्ता आकाश में नहीं मिलता है अर्थात् मच्छी के जल में और पक्षी के आकाश में पद चिन्ह नहीं मिलते हैं। सर्प[३] रेतीली भूमि में प्रवेश कर जाता है परन्तु उस स्थल में[४] सर्प के जाने के मार्ग में पोल नहीं रहती है। रेती पीछी ही मिलती जाती है कई सर्प ऐसे होते हैं जो बिना बिल ही रेती में प्रवेश कर जाते हैं, फिर पता नहीं लगता कि वह किधर से गया है। कच्छप की पीठ और गेंडा बाण से काटे नहीं जाते हैं। वेग पूर्वक फिरते हुये कुम्हार के चक्र पर स्थित मिट्टी का पिंड भी बाण से नहीं छेदा जाता है। एक हजार भाले मारे तो भी जल में छेद[५] नहीं दीखता है। संगलद्वीप में हनुमानजी की हाँक नारियों से हार गयी है उसका प्रभाव नारियों पर नहीं पड़ता है। संगलद्वीप में श्री हनुमानजी किसी नियत समय पर जोर से शब्द करते हैं। उस शब्द को सुनने वाले पुरुष नपुंसक हो जाते हैं किन्तु नारियों का कुछ नहीं बिगड़ता है। पुरुषों की रक्षा के लिये तहखाने बनाये हुये होते हैं। जब हनुमानजी की हाँक का समय आता है तब सब पुरुष अपने अपने कान बन्द करके तलगृहों में प्रवेश कर जाते हैं। तल घरों के द्वारों पर नारियाँ नगाड़े आदि बाजे बजाने लगती हैं। जिससे हनुमानजी की हाँक पुरुषों को नहीं सुनायी पड़ती है। इस रीति से पुरुषों की रक्षा होती है। ऊपर उठी हुई गोल छत्त रूप

गुंबज[६] पर गोली नहीं ठहरती, गिर पड़ती[७] है। उक्त प्रकार ही जड़ता आदिक रोग भी असाध्य हो और गुरु रूप श्रेष्ठ वैद्य की प्रदान करी हुई भक्ति-ज्ञानादिक औषधि भी सेवन नहीं करे अर्थात् न तो भक्ति करे और न विचार ही करे तब उक्त औषधि सेवन बिना श्रेष्ठ गुरु रूप वैद्य भी क्या कर सकते हैं ? कुछ नहीं कर सकते। भाव यह है—जिसका अन्य जन्म होना रूप प्रारब्ध शेष है, तब तक श्रेष्ठ गुरु से भी उसे आत्म ज्ञान नहीं होता है। विलक्षण प्रारब्ध की समाप्ति होने पर पूर्व किये साधन का फल अवश्य होता है, वह निष्फल नहीं हो सकता।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित असाध्य रोग का अंग ३६ समाप्त।स०छ० ८४।

अथ क्रोध का अंग ३७

तामस[१] ताखा[२] होत, अचल[३] उर[४] रहे सु आगी।
रावण रत मत रोष, चिता पावक रह लागी॥
सिन्धुजीव[५] किस ठोर[६], चकोर अहार अंगारे।
शैल[७] सु दामा[८] होय, प्राण[९] पाहण[१०] हंकारे[११]॥
वैर रूप वपु[१२] वंशधर, आप जले जाले सु तर[१३]।
जन रज्जब' जुग जुग दुखी, प्राण जु[१४] पैठे[१५] क्रोध घर॥१॥

इस अंग में क्रोध का फल दिखा रहे हैं—तामसी प्राणी क्रोध[१] की अधिकता से तक्षक[२] जाति का सर्प होता है। जिससे विष रूप अग्नि उसके हृदय[४] में सदा[३] जलता रहता है। रावण भी क्रोध से रत्तमत्त था अर्थात् अति क्रोधी था। इसी लिए उसकी मरण तिथि को उसकी चिता का अग्नि लगा रहता है अर्थात् सदा जल उठता है विजयदशमी को भी सदा जलता ही रहता है। अग्निकीट[५] भी क्रोध के कारण ही कैसे स्थान[६] में रहता अर्थात् उसे सदा अग्नि में ही रहना पड़ता है। अग्निकीट अग्नि बिना जीवित नहीं रह सकता है। वह जहां बारह मास अग्नि रहता है, वहां ही रहता है। क्रोधी प्राणी ही चकोर पक्षी बनता है। इसीलिए वह अगारों का आहार करता है। अहंकारी[११] प्राणी[९] पहाड़[७] का पत्थर[१०] बनता है, जिससे उसमें अग्नि[८] सम्यक प्रकार सदा ही रहता है। बांस भी वैर रूप शरीर[१२] धारण करके ही उत्पन्न होता है अर्थात् क्रोधी प्राणी ही बांस बनता है। इसीलिए आप भी जलता है तथा अन्य श्रेष्ठ-श्रेष्ठ वृक्षों[१३] को भी जला देता है। ग्रीष्म ऋतु में विशेष वायु चलने से बांस की डालियों का आपस में संघर्षण होता है, उससे अग्नि प्रकट हो जाता है। वह अग्नि बांस तथा वन को जला देता है। वर्षा बिना बुझता नहीं है। जो[१४] भी प्राणी क्रोध रूप घर में प्रवेश[१५] करता है, वह युग-युग में सदा ही

दुखी रहता है अर्थात् जो अति क्रोधी होता है, वह कभी भी शांति नहीं पाता है। भाव यह है—क्रोध नहीं करना चाहिए।

राहु केतु शशि सूर्य, ग्रहण गति[1] दोष विचारे।
रामानन्द पति सीत, वैर विधि बाणन मारे॥
कंसासुर हठ बीज[2], पड़े कांसन पर टूटी।
होरी हित[3] प्रहलाद, बरी[4] बारत नहिं छूटी॥
देखो हजरत दंत दिशि, पाहन[5] बदला लीजिये।
जन 'रज्जब' ये साखि[6] सुन, वैर न काहू कीजिये॥२॥

वैर किसी से भी नहीं करना चाहिए, यह कह रहे हैं—विचार करके देखो, चंद्र-सूर्य ने अमृत पान के समय वैर दृष्टि से राहु-केतु की ओर केवल निर्देश ही किया था कि—'ये देव नहीं हैं।' उस निर्देश रूप[1] दोष का फल ग्रहण रूप से सूर्य-चंद्र को आज तक मिल रहा है। लक्ष्मणजी तथा सीता पति रामजी भी वैर के कारण बाणों से बेधे गये थे। रामचंद्रजी ने बाली के अनजान में बाण मारा था। इसी लिए रामजी के दूसरे अवतार कृष्ण के, यादव विनाश के समय में बाली के अवतार व्याध ने बाण मारा था। लक्ष्मणजी ने मेघनाद को मारा था, उसका बदला लेने के लिए मेघनाद काबुल में एक पठान के रूप में प्रकट हुआ था और लक्ष्मणजी के अवतार स्वामी रामानंद जी को उसने मारा था। स्वामी रामानंदजी शुद्धि करते थे इसी निमित्त से मारा था। कंस ने हठ पूर्वक कैद में स्थित देवकी से लेकर जिस कन्या को शिला पर पटका था, वह आकाश में जाकर बिजली[2] हो गयी थी और उस वैर के कारण अब तक भी कंस और कास्य पात्रों की राशि एक होने से काँसी के पाँत्रों पर टूट कर पड़ती है। होली ने प्रहलाद को जलाने के लिये[3] यत्न किया था, सो वह आप ही जल[4] गयी और अब तक भी उसे जलाते हैं, जलने से उस का छुटकारा नहीं हुआ है। होली के पास एक ऐसा वस्त्र था जिसको पहन के अग्नि में बैठने से अग्नि नहीं जलाता है, उसका नाम शीतल चीर था।

इसी से उस ने सोचा था कि—मैं तो शीतल चीर ओढ कर बैठ ने से बच जाऊंगी और प्रहलाद जल जायगा किंतु हुआ विपरीत, वह जल गयी और प्रहलाद बच गये। हजरत मुहम्मद के दांत की ओर भी देखो, पत्थर[5] ने भी बदला लिया था। यह कथा इस प्रकार है—मुहम्मद के धर्म प्रतिष्ठा के पंचम वर्ष की बात है, उहद के युद्ध में 'उत्वाविनआवि-वाग्गस' नामक शत्रु व्यक्ति ने हजरत मुहम्मद पर एक पत्थर फेंका था, उसकी चोट से एक दांत टूट गया। उस पत्थर को देख कर हजरत

मुहम्मद ने कहा था कि—यह वह पत्थर है, जिस को गरम करके हमने अपना फोड़ा सेका था। इसीलिये इसने वह बदला लिया है। ये उक्त साक्षियां[1] सुन करके किसी से भी वैर नहीं करना चाहिये। क्योंकि उक्त सभी वैर भावनाओं का परिणाम बुरा ही निकला है। भाव यह है—वैर से क्रोध की वृद्धि होती है और क्रोध प्राणी का महा शत्रु है। इस लिये क्रोध का वर्धक वैर कभी किसी से भी नहीं करना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित क्रोध का अंग ३७ समाप्तः। स० छ० ८६

अथ जरणा का अंग ३८

सरित समुद्र समाय, वारि[1] वडवानल जारे।
चौरासी के चरण, धमस[2] धरणी शिर धारे॥
लात गात सह विष्णु, क्षमा किस भांति दृढ़ाई।
गत[3] उर में अहँकार, जासु के हिरदै आई॥
साधु श्रवण शत[4] शून्य[5] सम, कुवचन झल[6] बल ना चले।
क्रोध काष्ठ नाशत जहाँ, कहु[7] 'रज्जब' तहँ क्या जले॥१॥

इस अंग में क्षमा की विशेषता दिखा रहे हैं—जैसे नदियां समुद्र में समा जाती हैं अर्थात् सब नदियों को समुद्र हजम कर जाता है, बाहर नहीं फेंकता है, वैसे ही अपने साधनसे प्राप्त हुये लाभ को हजम कर जाना चाहिये। दूसरों को कहना नहीं चाहिये। कहने से हानि होती है। जैसे समुद्र के जल[1] को समुद्र में रहने वाला वडवानल अग्नि हजम कर जाता है, वैसे ही अपने विरोधी काम, क्रोधादि को हजम कर जाना चाहिये अर्थात् जीतने चाहिये। उन से उखड़ना नहीं चाहिये। जैसे चौरासी लाख योनियों की धूमस[2] को पृथ्वी अपने शिर पर धारण करती है। किसी को कुछ भी नहीं कहती है। सब पर क्षमा करती है, वैसे ही दुर्जनों के द्वारा किये गये निन्दा, कटु भाषणादि को सहन करना चाहिये। शंका-क्षमा करना तो कमजोरों का काम है, बलवान् तो दोषी को दंड ही देते आये हैं। उत्तर—दंड देने में समर्थ होकर भी दंड नहीं देने का नाम ही क्षमा है और वह बलवानों का ही भूषण है। क्षमा बिना बलवानों की शोभा नहीं होती है। भगवान् विष्णु ने भृगु की लात अपने शरीर पर सहन करके क्षमा की शिक्षा किस भांति से दृढ़ता के साथ दी है। उनने सर्व समर्थ होते हुये भी क्षमा की थी। विष्णु जी के भृगु ने लात मारी थी उसकी कथा 'साच-चाणक अंग ३२ के छप्पय ३ की टीका में देखो। देखो, क्षमा का कैसा महत्व है—जिस के हृदय में क्षमा आ जाती[3] है, उसके हृदय से सर्व प्रकार का अहंकार

चला जाता है। क्षमा की अधिकता संतों में देखी जाती है। उसी के प्रताप से साधुओं के श्रवण सैंकड़ों[४] आकाश[५] के सम हो जाते हैं अर्थात् निर्विकार हो जाते हैं। जैसे आकाश में अग्नि ज्वाला के बल आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव से कोई विकार नहीं होता है, वैसे ही संत अपने प्रतिकूल शब्दों को अपने श्रवण से सुन कर भी निर्विकार रहते हैं। उनके श्रवणों में कुवचन रूप अग्नि ज्वाला[६] का बल प्रवेश नहीं करता है अर्थात् वे कुवचनों से विचलित नहीं होते हैं। जिस हृदय रूप चुल्हे में क्रोध रूप काष्ठ नष्ट हो गया है अर्थात् नहीं रहा है। तब हे सज्जनो ! कहो[७] ? उस हृदय रूप चुल्हे में क्या जलेगा अर्थात् कुछ नहीं क्योंकि क्रोध से ही हृदय जलता है। भाव यह है—क्रोध दुःख का मूल है और क्रोध की नाशक क्षमा है। इसीलिये शांति चाहने वाले को क्षमा का आश्रय लेना चाहिये।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित जरणा का अंग ३८ समाप्त ।स०छ०८७।

अथ परम जरणा दुष्ट दातार का अंग ३९

शैल[१] सीप पौरषा[२], वैरियों वित्त[३] सु दीया।
ईख रु महँदी पान, कष्ट रस रंग सु कीया॥
वैरागर[४] की खानि, त्रास तरुवर फल दाता।
रसना दन्त न वैर, क्षीर सरवे सुत माता॥
बावन कुठार पारस घनहिं, निधि[५] दधि मैणारंभ[६] कर।
'रज्जब' औषधि अन्न ज्यों, करहिं आप उपकार मर॥१॥

इस अंग में परम क्षमा अर्थात् सताने वाले दुष्ट को सर्वथा क्षमा करके फिर भी इच्छित वस्तु देने वालों का वर्णन कर रहे हैं—पहाड़[१], सीप और मनुष्याकार स्वर्ण का पुतला[२] रूप पौरषा। इन तीनों ने अपने शत्रुओं पर क्षमा कर के उलटा उन को श्रेष्ठ धन[३] ही दिया है। पर्वत अपने को खोदने वाले पर क्रोध नहीं करके उलटा उस को इच्छित पदार्थ ही देता है। सीप अपने को मारने वाले पर क्रोध न कर के उलटा उसे मोती देती है। पौरषा भी अपने हाथ पैर काटने वाले पर क्रोध न कर के उलटा उसे स्वर्ण ही देता है। पौरषे का विशेष विवरण उपदेश अंग २ छप्पय ४ की टीका में देखो। ईख अपने को दबा कर रस निकाल ने वाले पर क्रोध न कर के उलटा उसे मधुर रस ही देता है। महँदीं पीसनादि कष्ट सहन करके भी हाथ पैरोंको अपने रंगसे सुंदर बनाती हैं। नागर पान आप चबना रूप कष्ट पाकर भी चबाने वाले पर क्रोध न कर के उलटा उसे सुन्दर रस प्रदान करता है तथा सुन्दर लाल रंग देकर उस के मुख की शोभा बढाता है। हीरों[४] की खानी खोदने वाले पर क्रोध

न कर के उलटा उसे हीरा देती है। विशाल वृक्ष भी अपने को दुःख देने वाले पर क्रोध न करके उलटा उसे फल, फूल, पत्र आदि देता है। जिह्वा भी अपने को काटने वाले दाँतों से वैर न करके उलटी उनकी रक्षा करती है। माता अपने स्तन काटने वाले पुत्र पर क्रोध न करके उलटा दूध स्रवती है अर्थात् पिलाती है। बावन चंदन अपने काटने वाले कुल्हाड़े पर क्रोध न करके उलटा उसे सुगंध देता है। पारस अपने को तोड़ने वाले लोहे के घन पर क्रोध न करके उलटा उसे सोने का बना देता है। समुद्र[४] ने और दही ने अपने को मथन[१] करने पर भी मथन करने वालों पर क्रोध न करके उलटे उन को रत्न और नवनीत ही दिया है। समुद्र ने अपने को मथन करने वालों को १ लक्ष्मी २ कौस्तुभ ३ पारिजात ४ सुरा ५ धनवन्तरि ६ चंद्रमा ७ कामधेनु ८ ऐरावत हाथी ९ रंभा १० सात मुख का उच्चैःश्रवा घोड़ा ११ विष १२ हरि-धनुष १३ शंख १४ अमृत, ये चौदह रत्न दिये थे और दही भी मथन करने पर मक्खन देता ही है। औषधि आप मर कर भी अपने को मारने वाले अर्थात् खाने वाले पर क्रोध न करके उलटा उसे रोग रहित कर देती है। अन्न आप मर कर भी अपने को मारने वाले अर्थात् खाने वाले पर क्रोध न करके उलटा उसकी भूख दूर करके उसे बल देता है। उक्त प्रकार ही सत पुरुष भी आप मर करके भी मारने वालों पर क्रोध न करके उनका उपकार ही करते हैं। भाव यह है—अपना बुरा करने वालों का भी भला ही करना चाहिये। इस से परिणाम में अपना भी भला ही होगा और उसका भी सुधार होगा। बुरा चाहने से दोनों को ही अन्त में हानि होती है।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित परम जरणा दुष्ट दातार का अंग ३९ समाप्तः ।स० छ० ८८।

अथ मूल विस्तार का अंग ४०

कुलाल[१] पात्र तरु पत्र, जलहि जलचर सब होई।
बादल निपजे बूंद, बात विगती[२] नहिं गोई[३] ॥
चित्र चितेरे[४] माँहि, खानि निपजे सब नानें[५]।
साधु शब्द हरि जीव, होंय सब यह नहिं छाने[६] ॥
उजास[७] अमृत सूर्य शशि, किये न कर्त्ता को करे।
अब या पै उलटी कहे, जन 'रज्जब' तासे डरे ॥१॥

सब जीव ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, सबका मूल कारण ईश्वर ही है, यह कहते हैं—जैसे कुम्हार[1] से घटादिक पात्र बनते हैं। वृक्ष से पत्ते होते हैं। संपूर्ण जल जन्तु जल से ही होते हैं। आकाश में जल विन्दुयें बादल से ही प्रकट होती हैं। इस बात में विशेष करके सबकी गति[2] है अर्थात् इसको सब जानते हैं। यह बात छिपि[3] हुई नहीं है। जितने चित्र बनते हैं वे चित्र बनाने[4] वाले के हृदय में बन करके ही बाहर प्रकट होते है। सब धातु[5] खानियों से ही निकलती हैं। ज्ञान गर्भित शब्द साधु पुरुषों से ही प्रकट होते हैं। प्रकाश[6] सूर्य से ही होता है। अमृत चन्द्रमासे ही वर्षता है। उक्त प्रकार सब जीव हरि से ही होते हैं। यह बात छिपी[1] हुई नहीं है, वेदादि शास्त्रों द्वारा भली भांति प्रकट है। सर्व जीव परमात्मा ने ही उत्पन्न किये हैं, परमात्मा ही सबका निमित्त तथा उपादान कारण है। उक्त युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध होने पर भी, ईश्वर जीव सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। ऐसा निषेध कौन कर सकता है ? अर्थात् बुद्धिमान तो ऐसा कह नहीं सकता। इतने पर भी अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है। इसके सिद्ध होने पर भी जो व्यक्ति उलटी बात कहता है कि–सृष्टि स्वभाव से ही होती है, ईश्वर से नहीं। तब तो हे सज्जनो ! हम तो उस नास्तिक से डरते हैं। कारण—ऐसे व्यक्तियों के साथ व्यर्थ विवाद करने से तो सतपुरुषों के साधन में विघ्न होने से उन्हें विक्षेप ही होता है। भाव यह है—ईश्वर भजन करने वालों को व्यर्थ विवाद नहीं करना चाहिये। कारण—उससे हानि ही होती है, लाभ कुछ नहीं।

इति श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित मूल विस्तार का अंग ४०

समाप्तः। स.छ. ८९।

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित छप्पय ग्रन्थ भाग ५ समाप्तः ॥

उपसंहार

इंदव सवैया-दादु दयालु दयाब्धि बढा हरि इंदु निहार सु जीवन राका।
वारिद वाक्य समूह चढा उससे वर बोध सु जीवन जाका ॥
पाथ सु पंथ सरोवर पूरण संत सरोज बडा वन वाका।
रज्जब स्वर्ण सरोल सुगंध गिरामय ग्रंथ बना यह ताका।१।

दादु दिवाकर रश्मि निहार खिला यह रज्जब पंकज नीका।
सुन्दर गंध गिरा इसकी करती सब रोम प्रसन्न सु जी का ॥

ज्ञान प्रदीप जगाकर के हरती भ्रनयास महा तम ही का ।
सो सबके उपयोगि बनी सु लगा निज भाल 'नरायण' टीका।२।
तेल सुटीक हि गंध गिरा मिल और मनोरम रूप भयी है ।
साधक कर्ण गुहा भल पैठत शांतिद है अनुभूत सही है ।।
शांति चहै मन सो जन संतत सोच लहै यह शांति मयी है ।
बात मृषा न लखो सु विचार 'नरायण' ने यह सत्य कही है ।३।

दोहा–श्री रज्जब साहित्य यह, निश्चय परम अगाध ।।
'नारायण' मति कौन विधि, पा सकती थी गाध ।।४।।
किन्तु संत जन संग से, कछुक हुआ जो ज्ञान ।
लिखा भूल इस में रही, सो मेरा अज्ञान ।।५।।
उसे सुधारें विज्ञ जन, बालक मुझ को जान ।
शिशु सु कार्य त्रुटि युत तदपि, वृद्ध करें सन्मान ।।६।।
क्योंकि कार्य करने लगा, तजकर निजो प्रमाद ।
अस नय हिय में सोचकर, पढ पावें अहलाद ।।७।।
पुण्यद पुष्कर तीर्थ में, कृष्ण कृपा कुटि मांहि ।
लिखी गई टीका सु यह, शांतिद संशय नांहि ।।८।।
विक्रम संबत दो सहस, बाईस अक्षय तीज ।
रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका, पूर्ण परम सुख बीज ।।९।।

शांतिपाठ-मम मन में स्थित कृष्ण अरु, शिर स्थित दादु दयालु ।
सन्मुख स्थित धनराम को, नति होवें सु कृपालु ।।१०।।

अरिल–वाग्मी वाग्जाल जहँ सफल न होय है ।
नेति नेति कथ निगम अंत चुप होय है ।।
सर्व रूप सब से पर सर्वाधार है ।
उस सत् चित् सुख को नति बारंबार है ।।११।।
पूरण वह यह पूर्ण पूर्ण ही पूर्ण का ।
उद्गम थल यह वचन 'नरायण' पूर्ण का ।।
पूरण का ले पूर्ण शेष रह पूर्ण है ।
उसी पूर्ण को प्रणति शांति दे पूर्ण है ।।१२।।

दोहा—सर्वाधार अचिन्त्य अज, निराकार साकार ।
सर्व रूप परमात्म को, वन्दन बारंबार ॥१३॥
वक्ता श्रोता को सदा, दें ईश्वर विश्रांति ।
ओ३म् शांति मन में रहे, वचन शाँति तन शांति ॥१४॥

इति श्री पूज्य चरण स्वामी धनराम शिष्य स्वामी नारायणदास कृत श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका सहित संपूर्ण रज्जब वाणी समाप्त: ।

संतकवि कविरत्न श्री स्वामी नारायणदासजी कृत प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रंथों की नामावलि

१ श्री दादू गिरार्थ प्रकाशिका सम्पूर्ण श्री दादू वाणी की टीका, मू. सजिल्द ८) अजिल्द ७) पता-दादू द्वारा नरेना (जयपुर) राजस्थान
२ प्लवंगम पुष्प माला
३ श्री सुन्दरवाणी स्तव सप्तक
४ विनय भूत चेतावनी शतक
५ श्री दादू प्रार्थना पंचक
६ श्री दादू प्रार्थना अष्टक
७ श्री दादू सहस्र नाम ।)
८ श्री दादू महिम्न -)
९ ,, दादू वाणी अष्टक
१० ,, दादू गिरा गरिमा
११ ,, शिक्षा सप्तशती ।)
१२ श्री परमेश्वर पंच सहस्र नाम ।=)
१३ ,, परमेश्वराष्टक
१४ ,, राम सहस्र नाम =)॥
१५ ,, राम महिम्न
१६ ,, रामाष्टक
१७ ,, शंकर सहस्र नाम -)
१८ ,, शंकराष्टक
१९ ,, गणपति सहस्र नाम -)॥
२० ,, गणपलि अष्टक
२१ ,, सूर्य सहस्र नाम -)
२२ ,, सूर्याष्टक
२३ ,, शक्ति सहस्र नाम -)
२४ ,, शक्ति अष्टक
२५ ,, ब्रह्म सहस्र नाम -)
२६ ,, ब्रह्माष्टक
२७ ,, नृसिह सहस्र नाम -)
२८ ,, नृसिहाष्टक
२९ ,, कृष्ण सहस्र नाम ।)
३० ,, कृष्ण कवच
३१ ,, कृष्ण महिम्न
३२ ,, कृष्णाष्टक
३३ ,, गुरुनानक सहस्र नाम-)॥
३४ ,, नानकाष्टक
३५ ,, सद्गुरु सहस्र नाम =)
३६ ,, सद्गुरु महिम्न
३७ ,, सद्गुरु अष्टक

३८ ,, हनुमत सहस्र नाम -)

३९ ,, हनुमत अष्टक

४० ,, स्वामी सुन्दरदासजी और उनकी बाणी

४१ ,, शिक्षा शतक

४२ (क) श्री साधक सुधा (यह साधकों के लिये अति उपयोगी है) प्र. खं. संक्षिप्त टीका सहित मूल्य १।।।)
(ख) साधक सुधा २।।)

४३ नारायण–प्रश्नोतरी (इसमें १००० से अधिक उपयोगी प्रश्नों के उत्तर हैं) मू. ।)

४४ श्री दृष्टांत सुधा सिन्धु ६ भागों में दृष्टांतों का अति उपयोगी ग्रन्थ, इसमें उपयोगी सभी विषयों पर ३१०० से अधिक दृष्टांत हैं।

१ प्र. खं. मूल्य २)
२ द्वि. खं. २।।)
३ तृ. खं. २।।)
४ च. खं. २।।)
५ पं. खं. २।।)
६ षष्ठ खं. २।)

४५ वाह्यान्तर वृत्ति वार्ता १।) (हमारी बाहर और आन्तर वृत्तियों की बातें)

४६ भक्ताष्टक

४७ श्री कृष्ण कृपाफल १।।) (११२ अंगोंमें ३१४८ दोहे)

४८ श्री नारायण भजनावलि ।।।) (२०८ रागों में ५०५ भजन)

४९ अबोध बोध भूमिका

५० अवस्था व्यवस्था

५१ सुधारक सप्त सूत्री

५२ सद् वचन सुधावली

५३ श्री मदध्यात्म रामायण पद्यानुवाद ६)

५४ श्री रज्जब छप्पयार्थ प्रकाशिका

५५ श्री रज्जब गिरार्थ प्रकाशिका टीका सहित सम्पूर्ण रज्जब वाणी मू. ३०)

अप्रकाशित ग्रंथ

५६ श्री सन्त प्रसाद

५७ नारायण कवितावलि

५८ श्री दृष्टांत दोहावलि

५९ उत्तम उपदेश

६० शिक्षा सूत्र

६१ उभय तन शोधक सुधा

उक्त श्री नारायण ग्रंथावलि के ग्रन्थों को खरीद कर पढ़िये और नास्तिक भावना तथा भ्रष्टाचार को रोकते हुए सदाचार और भक्ति प्रचार में सहायक बनिये।

पुस्तकें मिलने के स्थान—

श्री दादू महाविद्यालय, मोती डूंगरी, जयपुर सिटी (राज०)

श्री दादूद्वारा नरेना, जिला जयपुर (राज०)

बाबू जमनालाल अग्रवाल पट्टी कटला अजमेर (राज०)

सटीक रज्जब वाणी का शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	४	जीन्मुक्त	जीवन्मुक्त
११३	१४	मोती और	और मोती
१७१	१३	रामदेव	नामदेव
२०२	३	शान	नाश
२१४	२७	उहे	उन्हें
२१६	८	संयम	संशय
३२५	२५	ह्म	ब्रह्म
३३६	२	ह	है
४८६	११	हो गया	होयगा
५१७	१०	बाँध	बांध ले
५३४	५	डकु	डाकु
५३७	२६	जोड़ा	जोड़ी
६०८	२१	के	का
६६१	१५	रज्बज	रज्जब
७१४	५	रहीत	रहति
७८१	३०	बँध	बाँधा
१०३१	१६	जीता	जाती
१२२०	२४	जान	ज्ञान
१२२४	१६	है, अटल	अटल है
१३१०	२७	विधि	निधि